हिन्दी साहित्य कोश

भाग २

[नामवाची शब्दावली]

हिन्दी साहित्य कोश

भाग २

[नामवाची शब्दावली]

सम्पादक

धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)
ब्रजेश्वर वर्मा
रामस्वरूप चतुर्वेदी
रघुवंश (संयोजक)

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

भूमिका

'हिन्दी साहित्य कोश' (जो अब द्वितीय संस्करण में भाग १ के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है) के प्रकाशन के समय हम अनुभव कर रहे थे कि 'प्रस्तुत प्रयास में हम कुछ अन्य अत्यन्त उपयोगी विषयों को सम्मिलित नहीं कर सके', और उसी समय मनमें यह विचार भी था कि 'हिन्दी साहित्य के लेखकों, रचनाओं, प्रधान पात्रों तथा पौराणिक संदर्भों' का एक दूसरा भाग तैयार करने पर ही यह कार्य पूर्ण हो सकेगा। 'हिन्दी साहित्य कोश' के प्रकाशन के साथ इस विचार को संकल्प रूप प्रदान करने में कई दिशाओं से प्रेरणा प्राप्त हुई। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वानों और लेखकों, हमारे पाठकों तथा सहयोगी लेखकों ने इस संकल्प को कार्य रूप देने के लिए हम को प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया। साथ ही हमारे प्रकाशक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, विशेषकर उसके संचालक श्री सत्येन्द्रकुमार गुप्त तथा प्रकाशन-विभाग के अध्यक्ष श्री देवनारायण द्विवेदी का भी प्रस्तुत कार्य को पूर्ण बनाने के लिए आग्रह रहा। वस्तुतः इस कार्य के सम्पन्न होने में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इन सभी का हाथ रहा है; उनके श्रेय को स्वीकार करते हुए हम उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

'हिन्दी साहित्य कोश' (अब भाग १) में सैद्धान्तिक, पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दावली को स्वीकार करने में हमारी एक दृष्टि थी। प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग २) में साहित्यके अध्ययन में प्रयुक्त होनेवाली नामवाची शब्दावली को एक साथ प्रस्तुत करने में भी एक दृष्टि रही है–

१. लेखक
२. प्रमुख कृतियाँ
३. प्रधान पात्र (रचनाओं के)
४. प्रमुख साहित्यिक संस्थाएँ
५. प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ
६. पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्र तथा कथा संदर्भ (हिन्दी साहित्यमें प्रयुक्त)

यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक है कि अनूदित रचनाओं तथा अनुवादों के नाम हमने कोश में सम्मिलित नहीं किये हैं। लेखकों तथा कृतियों के चुनाव में भी एक सीमा-रेखा निर्धारित करना आवश्यक था। हमने सन् १९१५ ई० तक जिनका जन्म हो चुका था, ऐसे लेखकों तथा उन्हीं की प्रमुख रचनाओं को, जिनका प्रकाशन सन् १९५० ई० तक हो चुका है, सम्प्रति कोश में सम्मिलित किया है। लेखकों की टिप्पणियों में उनकी सभी रचनाओं की चर्चा तथा विवेचन है। अगले संस्करणों में काल की सीमा क्रमशः आगे बढ़ायी जा सकेगी। हिन्दी साहित्य के प्रस्तुत संदर्भ को ध्यान में रखते हुए कृति लेखकों के साथ हमने हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वानों, प्राध्यापकों, प्रचारकों, सेवियों तथा विभिन्न विषयों के हिन्दी के माध्यम से लिखनेवाले विद्वानों को भी प्रस्तुत कोश में सम्मिलित किया है, यद्यपि हमारा मुख्य केन्द्र साहित्य तथा साहित्यकार ही हैं और अन्य लोगों की स्थिति सीमावर्ती ही समझी जानी चाहिये।

सामान्यतः लेखकों तथा कृतियों पर प्रस्तुत की गयी टिप्पणियों का एक सीमा तक सानुपातिक विस्तार उनके सापेक्ष महत्त्व तथा उपलब्धि का संकेत दे सकता था। कार्य शुरू करते समय यह बात ध्यानमें थी। परन्तु इस सिद्धान्त का निर्वाह कई कारणों से नहीं किया जा सका। इनमें लेखकों पर प्राप्त सामग्री, उनकी रचनाओं की संख्या तथा सहयोगी लेखकों की शैलियों की विभिन्नता प्रमुख कारण माने जा सकते हैं। इस स्थिति में प्रस्तुत टिप्पणियों के आकार से लेखकों के महत्त्व या मूल्यांकन का कोई भी निश्चित सम्बन्ध नहीं है, यह मानकर चलना चाहिये।

कई दृष्टियों से प्रस्तुत कार्य पिछले कार्य से अधिक कठिन था। हिन्दी साहित्य के वादों, परम्पराओं तथा साहित्यिक युगों के अध्ययन के विषय में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता है और व्यवस्था है। पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दावली के बारे में भी अस्थिरता की सम्भावना कम ही होती है। परन्तु हिन्दी के लेखकों तथा कृतियों के बारे में पर्याप्त अध्ययन और अनुशीलन हो चुकने के बाद भी अभी तक स्पष्टता तथा स्थिरता नहीं है। यही नहीं कि प्राचीन तथा मध्य युग के लेखकों के विषय में हमारे पास बहुत कम प्रामाणिक सामग्री है, आधुनिक काल के लेखकों के बारे में भी स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। तिथियों तथा जीवन-वृत्त के बारे में अनिश्चित स्थिति है, रचनाओं का काल-क्रम

आदि भी बहुत व्यवस्थित रूप से प्राप्त नहीं है। वस्तुतः संदर्भ ग्रन्थों का निर्माण आधार-ग्रन्थों और शोध कार्यों पर आश्रित होता है। संदर्भ-ग्रन्थों में ऐसी अनेक गलतियों, भ्रमों तथा कमियों के रह जाने की सम्भावना रहती है, जो आधार-ग्रन्थों में चली आती हैं। ज्यों-ज्यों हिन्दी साहित्य में लेखकों तथा रचनाओं के बारेमें स्थिर तथा प्रामाणिक मत बनते जायँगे, संदर्भ-ग्रन्थों की सामग्री भी अधिक स्थिर तथा प्रामाणिक हो सकेगी। फिर भी हम अपने सहयोगी लेखकों के कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपने अध्यवसाय से यथासाध्य प्रस्तुत सामग्री को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

हम अपने प्रकाशक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, विशेषकर श्री देवनारायण द्विवेदी के विशेष आभारी हैं क्योंकि उन्होंने इस कार्य को पूरा करने में हमको हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं और सहयोग दिया। श्री वाचस्पति पाठकजी ने इस कार्य में निरंतर रुचि ली है, इस अवसर पर हम उनके इस सहज स्नेह का स्मरण करते हैं।

प्रस्तुत कार्य की महत्ता के साथ ही हम उसकी त्रुटियोंके प्रति पूर्णतः सजग हैं। पर इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि भविष्य में विद्वानों के दिशा-निर्देशन तथा अपने लेखकों के सहयोग से यह कार्य अधिकाधिक पूर्ण और प्रामाणिक हो सकेगा। हम 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग २) हिन्दी जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करते समय हर्ष का अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि हर अगला कदम आगे बढ़ने का प्रतीक होता है।

इलाहाबाद

सम्पादक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'हिन्दी साहित्यकोश' के द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण आप के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें एक मिश्रित अनुभूति हो रही है। एक ओर गहरा आत्म-तोष है इस बात का कि अनेक वर्षों तक अलभ्य रहने के बाद 'कोश' का यह भाग अब पुनः सर्वजन सुलभ हो रहा है, वहीं दूसरी ओर इस बात को लेकर मन में कुछ खेद भी है कि इस लंबे अंतराल के बाद प्रकाशित होने वाले इस संस्करण में वे सारे सुधार नहीं किए जा सके जो अपेक्षित थे और हो जाने चाहिए थे। इस स्थिति की व्याख्या के लिए ग्रंथ के इस नये संस्करण का प्रकाशन-इतिहास बताना होगा।

द्वितीय भाग का प्रथम संस्करण जब प्रकाशित हुआ था तो उस समय इसके अंतर्गत ऐसे लेखकों पर टिप्पणियाँ सम्मिलित की गई थीं जिनकी जन्म-तिथि १९१५ ई० तक थी। योजना यह थी कि हर संस्करण में इस तिथि को पाँच वर्ष आगे बढ़ाया जाएगा। इस रूप में वर्तमान संस्करण तक यह तिथि आसानी से १९३० तक पहुँच सकती थी, जो हर प्रकार के समकालीन साहित्यिक परिदृश्य के अनुरूप होती। पर ऐसा हो नहीं सका। द्वितीय संस्करण के लिए लेखकों की जन्म-तिथि की सीमा-रेखा १९२० तक निर्धारित की गई, और उसी रूप में सामग्री का पुनर्लेखन तथा सम्वर्धन किया गया। प्रायः डेढ़ दशक पूर्व पाण्डुलिपि तैयार करके प्रकाशकों को मुद्रण के लिए दे दी गई। प्रकाशकों की अपनी कुछ कठिनाइयाँ थीं जिनके कारण इस ग्रन्थ का मुद्रण उस समय हाथ में नहीं लिया जा सका और प्रकाशन टलता गया, टलता गया। एक स्थिति ऐसी आई कि लगने लगा कि कोश का पुनः प्रकाशन अब न हो सकेगा। फिर ज्ञानमण्डल की नयी पीढ़ी के अधिकारियों, विशेषतः उसके निदेशक शार्दूल विक्रम गुप्त तथा प्रकाशनाध्यक्ष विजयकृष्ण त्रिपाठी को लगा कि 'कोश' का नया संस्करण प्रकाशित करना उनकी व्यवस्था-क्षमता के लिए एक सर्वथा योग्य चुनौती है और उन्होंने इसे सहर्ष तथा सोत्साह स्वीकार किया। इसका फल यह है कि वर्षों से दुर्लभ यह कोश (चाहें तो यहाँ श्लेष का प्रयोग भी माना जा सकता है) अब आप के सामने नयी सज्जा में सुलभ है।

पर नयी सज्जा के लिए आर्थिक दृष्टि से अलग भी कीमत चुकानी पड़ी है। 'कोश' के पिछले संस्करण मुद्रण की पुरानी व्यवस्था में छापे गए थे, जब छपते-छपते तक लेखक और सम्पादक मशीन-प्रूफ की स्थिति में आवश्यक संशोधन-परिवर्धन कर देते थे। इस नये संस्करण को इलाहाबाद के पेपर पैकेजिंग कं० विवेकानंद मार्ग, इलाहाबाद में छापा गया जिनके प्रूफ इतने सुस्पष्ट और सुपाठ्य थे कि पुरानी शैली की छपी पुस्तकें उनके आगे धुँधली लगने लगें। २१वीं शती के निकट दशकों में आफसैट मुद्रण की सारी व्यवस्था इस बीच बदल चुकी थी और सम्पादकों को इससे ताल-मेल बैठाने में अपनी मानसिक गति को काफी तीव्र करना पड़ा। इसके बावजूद अनेक आवश्यक संशोधन और सुधार इसलिए नहीं किए जा सके क्योंकि अंतिम प्रूफ की स्थिति में पहुँच कर सम्पादक सामग्री से छेड़-छाड़ करने की स्थिति में नहीं रह जाते थे। फलतः लेखकों के बारे में नवीनतम जानकारी होते हुए भी हम उसे बहुत बार टिप्पणियों में शामिल नहीं कर सके। अनेक स्थलों पर लेखकों की मृत्यु तिथि बड़े आकस्मिक रूप से जोड़नी पड़ी है। यह भी ठीक है कि कुछेक स्थितियों में यह जानकारी हमें उपलब्ध भी नहीं हो सकी। इस रूप में कोश की सामग्री में समरसता का अभाव कहींकहीं खटक सकता है। कई स्थलों पर टिप्पणियों के आकार बेअनुपात दिख सकते हैं। इस दृष्टि से टिप्पणियों के आकार का मूल विषय के सापेक्षिक महत्व से अनिवार्य संबंध नहीं है।

नये संस्करण से संतोष का एक कारण सम्पादकों को इस दृष्टि से अवश्य है कि जहाँ उपजीव्य लेखकों को नवीनतम संदर्भों तक नहीं लाया जा सका—जैसा कहा गया इस संस्करण में शामिल लेखकों की जन्म तिथि की सीमा-रेखा १९२० ई० है—वहाँ नयी टिप्पणियाँ लिखने वाले लेखकों में काफी-कुछ नयी पीढ़ी के हैं, और वे हिन्दी आलोचना तथा शोध के नये दृष्टिकोण का बखूबी प्रतिनिधित्व करते हैं।

पिछले संस्करण में देखी गई प्रूफ की भूलें ठीक कर दी गई हैं। पर मुद्रण की नयी प्रक्रिया में कुछ नयी भूलों का छूट जाना अस्वाभाविक नहीं है। हम अपने कृपालु पाठकों से अनुरोध करेंगे कि उन्हें प्रूफ की, और तथ्यों की भी, जहाँ कहीं कोई भूल दिखे उसे वे प्रकाशक के पते पर सूचित करने की कृपा करेंगे। इस प्रकार की कोश रचना और उसका परिष्कार कई स्तरों पर विद्वत् और पाठक समाज के सामूहिक प्रयत्नों पर ही निर्भर करता है। एक पक्ष का प्रयत्न आपके सामने है, दूसरे पक्ष के प्रयत्न की बराबर प्रतीक्षा रहेगी।

विजयादशमी, १९८६ ई० **सम्पादक**

हिन्दी साहित्य कोश (भाग २) के लेखक

अ० रा०	**अर्जुन राय**, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर (वाराणसी)
आ० प्र० दी०	**आनन्द प्रकाश दीक्षित**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
उ० कां० गो०	**उमाकान्त गोयल**, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
उ० शं० शु०	**उमाशंकर शुक्ल**, (स्व०)
ओं०, ओ० प्र०	**ओमप्रकाश**, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ओ० प्र० स०	**ओमप्रकाश सक्सेना**, इलाहाबाद
कि० ला०	**किशोरी लाल**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
कुँ० ना०	**कुँवरनारायण**, ३, शाहनजफ रोड, लखनऊ
के० प्र० चौ०	**केशनी प्रसाद चौरसिया**, (स्व०)
कृ० शं० पा०	**कृपाशंकर पाण्डेय**, रिसर्च स्कॉलर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
कृ० दे० उ०	**कृष्णदेव उपाध्याय**, वाराणसी
गं० प्र० पा०	**गंगा प्रसाद पाण्डेय**, (स्व०)
गो० ना० ति०	**गोपीनाथ तिवारी**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
ज० उ०	**जनार्दन उपाध्याय**, वाराणसी
ज० गु०	**जगदीश गुप्त**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
ज० प्र० श्री०	**जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
ज० रा० मि०	**जयराम मिश्र**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद डिग्री कॉलेज (अ० प्रा०)
ज्ञा० द०	**ज्ञानवती दरबार**, नयी दिल्ली
टी० तो०, टी० सिं० तो०	**टीकमसिंह तोमर** (स्व०)
त्रि० ना० दी०	**त्रिलोकी नारायण दीक्षित**, (स्व०)
दे० ना० द्वि०	**देवनारायण द्विवेदी**, प्रकाशनाध्यक्ष, ज्ञानमण्डल, वाराणसी (अ० प्रा०)
दे० शं० अ०	**देवीशंकर अवस्थी**, (स्व०)
न०	**नगेन्द्र**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
न० कि० रा०	**नवलकिशोर राय**, वाराणसी
न० वि० श०	**नलिनविलोचन शर्मा**, (स्व०)
नि० ति०	**नित्यानन्द तिवारी**, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
प० च०	**परशुराम चतुर्वेदी**, (स्व०)
प्र० ना० ट०	**प्रतापनारायण टण्डन**, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
प्रे० ना० ट०	**प्रेमनारायण टण्डन**, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
प्रे० शं०	**प्रेमशंकर**, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय
ब० ना० श्री०	**बदरीनारायण श्रीवास्तव**, पूर्व प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल
ब० सिं०	**बच्चन सिंह**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हि० प्र० विश्वविद्यालय, शिमला (अ० प्रा०)
बा० कृ० रा०	**बालकृष्ण राव**, (स्व०)
भ० प्र० सिं०	**भगवती प्रसाद सिंह**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
भ० मि०	**भगीरथ मिश्र**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
भो० ना० ति०	**भोलानाथ तिवारी**, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
मा० प्र० गु०	**माताप्रसाद गुप्त**, (स्व०)
मा० ब० जा०	**माताबदल जायसवाल**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
मो० अ०	**मोहन अवस्थी**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
यो० प्र० सिं०	**योगेन्द्र प्रताप सिंह**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
र० च० शा०	**रमेश चन्द्र शाह**, अंग्रेजी विभाग, हमीदिया कॉलेज, भोपाल

र० भ्र०	**रवीन्द्र भ्रमर**, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
रा० कु०	**राजेन्द्र कुमार वर्मा**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
रा० कु० व०	**रामकुमार वर्मा**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
रा० गु०	**राकेश गुप्त**, प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल (अ० प्रा०)
रा० चं० ति०	**रामचन्द्र तिवारी**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
रा० च० व०	**रामचन्द्र वर्मा**, (स्व०)
रा० तो०, रा० सिं० तो०	**रामसिंह तोमर**, अध्यक्ष, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्ति निकेतन (अ० प्रा०)
रा० त्रि०	**रामफेर त्रिपाठी**, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
रा० पू० ति०	**रामपूजन तिवारी**, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन (अ० प्रा०)
रा० र० भ०	**रामरतन भटनागर**, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
ल० का० व०	**लक्ष्मीकान्त वर्मा**, इलाहाबाद
ल० सिं० ब०	**लक्ष्मणसिंह बिष्ट 'बटरोही'**, हिन्दी विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल
ल० ना० ला०	**लक्ष्मीनारायण लाल**, नई दिल्ली
ल० शं० व्या०	**लक्ष्मीशंकर व्यास**, वाराणसी
ल० सा० वा०	**लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
वि० का० शा०	**विष्णुकान्त शास्त्री**, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
वि० ना० प्र०, वि० प्र०	**विश्वनाथ प्रसाद**, (स्व०)
वि० प्र० मि०, वि० प्र०	**विश्वनाथ मिश्र**, मुजफ्फरनगर
वि० मो० श०	**विनयमोहन शर्मा**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
वि० स्ना०	**विजयेन्द्र स्नातक**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
व्र० व०	**व्रजेश्वर वर्मा**, निदेशक केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (अ० प्रा०)
शं० ना० च०	**शम्भूनाथ चतुर्वेदी**, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
शं०, श० ना० सिं०	**शम्भूनाथ सिंह**, हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ (अ० प्रा०)
शि० प्र० सिं०	**शिव प्रसाद सिंह**, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
शि० शे० मि०	**शिव शेखर मिश्र**, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
श्या० प०	**श्याम परमार**, नई दिल्ली
श्री० प०	**श्रीकृष्ण पन्त**, वाराणसी
श्री० रा० व०, श्री० व०	**श्रीराम वर्मा**, हिन्दी विभाग, डी० ए० वी० कॉलेज, आज़मगढ़
श्री० शु०	**श्री शंकर शुक्ल**, वाराणसी
श्री० सिं० क्षे०	**श्रीपाल सिंह 'क्षेम'**, जौनपुर
स० ना० त्रि०	**सत्य नारायण त्रिपाठी**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय
स० प्र० मि०	**सत्यप्रकाश मिश्र**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
स० व्र० सि०	**सत्यव्रत सिनहा**, (स्व०)
स० शु०	**सरला शुक्ल**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
सु० कु०	**सुरेश कुमार**, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
ह० दे० बा०	**हरदेव बाहरी**, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (अ० प्रा०)
ह० प्रा० द्वि०	**हजारीप्रसाद द्विवेदी**, (स्व०)
ह० मो०, ह० मो० श्री०	**हरिमोहन श्रीवास्तव**, हिन्दी विभाग, नेशनल डिफेंस एकेडेमी, खड़गवासला, पूना

जिन टिप्पणियों के साथ कोई संकेत नहीं है अथवा केवल सं० दिया गया है, वे सम्पादकीय हैं।
लेखक-सूची में (अ० प्रा०) का अर्थ है 'अवकाश प्राप्त'।

संकेत-सूची

संक्षिप्त रूप	ग्रन्थ	लेखक तथा संस्थाएँ
क०	कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
क० कौ० भा०	कविता कौमुदी भाग	रामनरेश त्रिपाठी
खो० रि०	खोज रिपोर्ट	काशी नागरीप्रचारिणी सभा
खो० वि०	खोज विवरण	काशी नागरीप्रचारिणी सभा
गी०	गीतावली	गोस्वामी तुलसीदास
दि० भू०	दिग्विजयभूषण (भूमिका)	सं० भगवतीप्रसाद सिंह
दे० क०	देव और उनकी कविता	नगेन्द्र
ब्र० सा० ना०	ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद	प्रभुदयाल मीतल
मा०	मानस (रामचरित)	गोस्वामी तुलसीदास
मा० अ०	मानस अयोध्याकाण्ड	गोस्वामी तुलसीदास
मा० बा०	मानस बालकाण्ड	गोस्वामी तुलसीदास
मि० वि०	मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
वि० (विनय प०)	विनय-पत्रिका	गोस्वामी तुलसीदास
रा० ह० खो० (रा० ह० ग्रं०खो०)	राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
री० भू०	रीतिकाव्य की भूमिका	नगेन्द्र
शि० स०	शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर
सू० (सू० सा०, सूर०)	सूरसागर	सूरदास
हि० अ० सा०	हिन्दी अलंकार साहित्य	ओमप्रकाश
हि० का० इ० (हि० का० शा० इ०)	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	भगीरथ मिश्र
हि० ना० उ० वि०	हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास	दशरथ ओझा
हि० ना० सा० अ०	हिन्दी नाटक साहित्य का अध्ययन	सोमनाथ गुप्त
हि० भा० और सा० इ०	हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
हि० सा०	हिन्दी साहित्य	सं० धीरेन्द्र वर्मा, व्रजेश्वर वर्मा
हि० सा० इ०	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हि० सा० वृ० इ०	हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
हि० ह० ग्रं० खा० वि०	हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों का खोज विवरण	काशी नागरी प्रचारिणी सभा

अन्य संकेत

अध्य०	अध्याय
अ०, अप्र०	अप्रकाशित
ई०	ईसवी सन्
ई० पू०	ईसवी पूर्व सन्
उदा०	उदाहरण
ख०	खण्ड
ग्र०	ग्रन्थावली
द० स्कं०	दशम स्कन्ध (श्रीमद्भागवत)
दे०	देखिये
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाश
प्र० सं०	प्रथम संस्करण
भा०	भाग
बि० रा० भा०	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
वि० सं० (वि०)	विक्रम संवत्
सं०	सम्पादक
हि०	हिजरी

कोश में सामान्यतः ईसवी सन् का प्रयोग किया गया है।

भूल — सुधार

पृष्ठ और प्रविष्टि		अशुद्ध	शुद्ध
१२.	**असेय** : प्रविष्टि लेखक, कालम १ पंक्ति ८	क० ना०	कुँ० ना०
१४.	**अनामिका** : कालम २ पंक्ति ३०	गरुण	गरुड़
१४.	**अनामिका** : प्रविष्टि लेखक, कालभर पंक्ति ४०	—	स० प्र० मि०
१६.	**अबूबक्र** : कालम १ नीचे से पंक्ति ५, ६, कालम २ पंक्ति ३	अबूबक	अबूबक्र
१६.	**अमरनाथ झा**: जन्म कालम २, पंक्ति नीचे से ५	१८५७	१८९७
१७.	**अमीरखुसरो** : जन्म, कालम २, पंक्ति नीचे से १२	१९५४	१२५४
२१.	**अयोध्याप्रसाद गोयलीय** : कालम ३, पंक्ति नीचे से ९	१९५९	१९५१
२१.	**अयोध्या प्रसाद गोयलीय** : कालम २, पंक्ति नीचे से ४	नग्नए हरम	नग्मए हरम
३६.	**आलम** : कालम १, पंक्ति २६	ब्रजभाषा हीन	ब्रजबास हीन
६४.	कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी : कालम २, पंक्ति नीचे से १७	गरुण	गरुड़
९०.	**किशोरी लाल गोस्वामी** : कालम २, पंक्ति १	किशोरी लाल गुप्त	किशोरी लाल गोस्वामी
१०७.	**केशवदास** : जन्मकाल, कालम १ पंक्ति नीचे से १३, १५	१५५९ ई०	१५६१ ई०
११६.	**गंग** : कालम १ पंक्ति २५	अतिवैचित्र्य	उक्ति वैचित्र्य
१३२	**गिलक्राइस्ट** : प्रविष्टि के अंत में कालम २	—	दे० जान गिलक्राइस्ट पर पूर्व प्रविष्टि पृ० २१७
४१३	**भीष्म साहनी** : जन्म	१९८५	१९१५
५४९	**ललिता प्रसाद सुकुल** : जन्म	१८०४	१९०४
५९५	**शिव प्रसाद गुप्त** : प्रविष्टि लेखक, कालम २ के अंत में	सा० दे०	ज्ञा० दे०
६००	**शेखर : शेखर भाग १** : कालम २, पंक्ति अंतिम	(१९४० ई०)	(१९४१ ई०)

हिन्दी साहित्य कोश

भाग २

अंगद–किष्किन्धाके राजा बालि तथा पंचकन्या ताराके पुत्र तथा सुग्रीवके भतीजे अंगद अपने दूत-कर्मके लिए प्रसिद्ध रहे हैं। वे रामके सेवक एवं सेनापतिके रूपमें भी विभिन्न स्थलोंपर स्मरण किये गये हैं। अंगद सम्बन्धी प्राचीन आख्यानकोंमें केवल वाल्मीकि रामायण ही प्रमाण है। यद्यपि वाल्मीकिके अंगदमें हनुमान्‌के समान बल, साहस, बुद्धि और विवेक है, परन्तु उनमें हनुमान् जैसी हृदयकी सरलता और पवित्रता नहीं है। सीता-शोधमें विफल होनेपर जब वानर प्राणदण्डकी सम्भावनासे भयभीत होकर विद्रोह करनेपर तत्पर दिखाई देते हैं, तब अंगद भी विचलित हो जाते हैं। यदि वे अन्ततोगत्वा कर्तव्य-पथपर दृढ़ रहते हैं तो इसका कारण हनुमान्‌के विरोधकी आशंका ही है। वाल्मीकिकृत अंगद-चरित्र ही परवर्ती राम-काव्योंके लिए आधार रहा है, यद्यपि अध्यात्म रामायणने उनके चरित्रमें धार्मिकताका किंचित् समावेश कर दिया है। अंगदके दूतकर्मको लेकर बादमें अनेक काव्य और संवादोंकी रचना हुई। इस दृष्टिसे अंगदका चरित्र एक स्पष्ट-वक्ता, योद्धा, नीति-कुशल आदि रूपोंमें प्रकट हुआ है। 'हनुमन्नाटक'में स्पष्ट उल्लेख है कि वे अपने पिताके वधके प्रतीकारार्थ रावणका उसकी सभामें अपमान करते हैं। वे रावणको उत्तेजित करनेके लिए वचनोंका प्रयोग करते हैं जिससे कि राम-रावण युद्ध अशक्य न रह जाय। संस्कृत साहित्यके रामसम्बन्धी अनेकानेक काव्योंमें अंगदकी वीरता एवं राजनीति- पटुताकी प्रशंसाकी गयी है। १३ वीं शतीके अंतमें सुभट्टकृत 'दूतांगद' नामक कृति उनके चरित्रपर विशेष प्रकाश डालती है।

१६ वीं शतीमें हिन्दीमें भी 'अंगद-पैज' नामक एक लघु काव्यके प्रणीत होनेका उल्लेख प्राप्त होता है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में अंगदका चरित्र बालिके पुत्र, हनुमान्‌के सखा, रामके सेवक तथा वानरोंके सेनानायकके रूपमें प्राप्त होता है। तुलसीदासने आदि काव्यके अंगदके चरित्रकी कोई दुर्बलता अपने चरित्र-चित्रणमें नहीं रहने दी, अपितु उन्हें एक आदर्श भक्तके रूपमें प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिसे वानरादिमें उनका स्थान हनुमान्‌के बाद ही आता है। लंकासे लौटनेके बाद अंगद अयोध्यामें ही रहकर राम-सेवामें आजीवन निरत रहनेकी इच्छा प्रकट करते हैं तथा रामकी स्वीकृति न पानेपर जब अपने देशको लौटने लगते हैं तब हनुमान्‌से प्रार्थना करते हैं कि वे रामको उनकी याद दिलाते रहें। सेवक और सखाके अतिरिक्त तुलसीदासने अंगदके पुत्र रूपका चित्रण करके अपनी मौलिकताका परिचय दिया है। अंगद-रावण संवादमें तुलसीदास अंगदकी नीतिज्ञतासे अधिक रावणके प्रति अपनी घृणासे प्रेरित होकर उसके तिरस्कारका चित्रण करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। इसी कारण तुलसीके अंगदकी नीतिज्ञतापर कुछ लोग सन्देह करते हैं। रावणकी सभामें पैर रोपनेके प्रसंगको लेकर भी 'मानस' के प्रेमियोंमें प्रायः विवाद चलता है। परन्तु अंगदके वाक्‌चातुर्यका जो परिचय तुलसीने दिया है वह राजदरबारकी मर्यादाके विरुद्ध भले ही हो, अंगदके प्रत्युत्पन्नमतित्वका सुन्दर प्रमाण देता है। इस दिशामें केशवदासकी 'रामचन्द्रिका' अंगदकी कूटनीतिज्ञता एवं नीतिनिपुणताका प्रभावशाली उदाहरण प्रस्तुत करती है। आधुनिक युगमें हरिदयालुसिंह ने 'रावण महाकाव्य' में अंगद-रावण- संवादको नवीन रूपमें समायोजित करनेका प्रयत्न किया है, किन्तु उसमें किसी विशिष्टताके दर्शन नहीं होते।

(सहायक ग्रन्थ-रामकथा : डॉ० कामिल बुल्के तथा तुलसीदास : डॉ० माता प्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, विश्व विद्यालय इलाहाबाद)

–यो० प्र० सिं०

अंग-दर्पण–सैयद गुलाम नबी बिलग्रामी (हरदोई), 'रसलीन' द्वारा रचित नख-शिख वर्णनका यह प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें कुल १८० दोहे हैं और इसका रचनाकाल १७३७ ई० माना जाता है। इस ग्रंथका तीसरा संस्करण काशीके भारत जीवन प्रेससे १९०५ ई० में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि रसलीनने इसे 'ब्रजबानी सीखन रची' ऐसा घोषित किया है, पर भाषा तथा शैलीकी दृष्टिसे यह प्रौढ़ और सुकुमार रचना है। इसमें नायिकाके अंग-प्रत्यंगों, आभूषणों, भंगिमाओं तथा चेष्टाओं तकका वर्णन सौन्दर्यके साथ किया गया है। जिन दोहोंमें भावात्मक सौन्दर्य व्यंजित हुआ है, वे बहुत मार्मिक हैं। 'अमिय हलाहल'के प्रसिद्ध दोहेके अतिरिक्त–'मुख छबि निरखि चकोर अरु, तनपानिप लखि मीन। पद पंकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन।'–में भी वही व्यंजना है। इसमें नख-शिखका वर्णन बहुत ही अच्छे ढंगसे किया गया है। सूक्तियोंके चमत्कारके लिए रसग्राही पाठकोंका यह प्रिय ग्रन्थ है। इसमें उपमा तथा उत्प्रेक्षाका आश्रय लेकर कविने उक्ति-वैचित्र्य और कल्पनाकी कला बड़े ही अच्छे ढंगसे प्रकटकी है।

(सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ०, भाग ६; कृ० कौ०, प्र० भाग।)

—सं०

अंगिरा—एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि (ऋग्वेद ८/८५/१-९ और ८।८५।५) जिनका स्थान मनु, ययाति तथा भृगु आदिके समकक्ष माना जाता है। इसके अतिरिक्त सप्त ऋषियों तथा दस प्रजापतियोंमें भी इनकी गणनाकी जाती है। कालांतरमें इस नामके एक ज्योतिषी तथा स्मृतिकार भी हो गये हैं। नक्षत्रोंमें बृहस्पति तथा देवताओंमें पुरोहित यही है। 'अंगिरस्' भी उसी धातुसे निकला है जिससे 'अग्नि' और एकमतसे इनकी उत्पत्ति भी आग्नेयी (अग्निकी कन्या)के गर्भसे मानी जाती है। मतान्तरसे इनकी उत्पत्तिब्रह्माके मुखसे मानी जाती है। स्मृति, श्रद्धा, स्वधा, सती तथा दक्षकी दो कन्याएँ इनकी पत्नियाँ मानी जाती हैं और हविष्यत् इनके पुत्र तथा वैदिक ऋचाएँ इनकी कन्याएँ मानी जाती हैं। उतथ्य, मार्कण्डेय इनके पुत्र कहे गये हैं भागवतके अनुसार रथतर नामक किसी निःसन्तान क्षत्रियकी पत्नीसे इन्होंने ब्रह्मणोपम पुत्र उत्पन्न किये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नामके अनेक व्यक्ति थे। किन्तु सम्भवतः नामकी एकताके कारण कालप्रवाहके साथ विभिन्न व्यक्तियोंकी अनेक कथाएँ इसके साथ जुड़ती गयीं।

—रा० कु०

अंचल—दे० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'।

अंजना—कुंजर नामक वानरीकी कन्या और केशरी नामक बानरकी पत्नी थी। अंजनाको मतान्तरसे गौतमकी पुत्री भी बताया जाता है। हनुमान् इन्हींके पुत्र-रत्न थे। हनुमान्की उत्पत्ति पवनसे बतायी जाती है। कहा जाता है कि किसी कारण-वश महादेवका वीर्यस्खलन हो गया। पवनने उसे उड़ाकर अंजनीके कानमें फूँक दिया और फलस्वरूप हनुमान्का जन्म हुआ। अंजनीका पुत्र होनेके कारण ही हनुमान्को 'अंजनीको नन्दन' (मानस, बा० ८) 'अंजनी कुमार' (मानस, बा० १५) आदि नामोंसे भी सम्बोधित किया जाता है।

—ज० प्र० श्री०

अंजनी—दे० 'अंजना'।

अंजनी कुमार—दे० 'हनुमान्'।

अंदाल—प्रसिद्ध सन्त आलवारका जन्म विक्रम सं० ७७० में हुआ था। कहा जाता है कि वयस्क होनेपर ये भगवान्के लिए जो माला गूँथतीं उसे भगवान्को पहनानेसे पूर्व स्वयं पहनकर दर्पणके समक्ष खड़ी हो जातीं और भगवान्से पूछतीं, 'प्रभु, मेरे इस श्रृंगारको ग्रहण कर लोगे? और यह सब कर लेनेके उपरान्त कृष्णको जूठी माला पहनाया करतीं। इन्होंने अपना विवाह श्रीरंगनाथके साथ बड़े धूमधामके साथ किया था। विवाहके बादये मतवाली होकर श्रीरंगनाथकी शय्यापर चढ़ गयीं। इनकी इस क्रियाके साथ मन्दिरमें सर्वत्र आलोक फैल गया। इनके शरीरसे भी बिजलीके समान एक ज्योति किरण फूटी तथा दूसरे ही पल अनेक दर्शकोंके देखते-देखते ये श्रीरंगनाथमें बिलीन हो गयीं। इनके विवाहसे सम्बद्ध उत्सव अब भी प्रतिवर्ष दक्षिणके मन्दिरोंमें मनाया जाता है। अंदालकी भक्ति प्रसिद्ध भक्त मीराके समान कही जाती है।

—ज० प्र० श्री०

अंधक—सहस्र सिर, सहस्रबाहु तथा दो सहस्र नेत्रों वाले अन्धक दैत्यके पिताका नाम कश्यप और माताका नाम दिति था। मदोन्मत्त अन्धेकी भाँति चलनेके कारण इसका नाम अन्धक रखा गया था। इसे वरदान प्राप्त था कि शिव और विष्णुके अलावा कोई भी इसका वध न कर सकेगा। इसके अत्याचारसे त्रिलोक कंपित हो उठा। इसने स्वर्गकी उर्वशी, इंद्रावती आदि अप्सराओंका अपहरण कर लिया। नन्दन काननसे जब यह पारिजात लेकर जा रहा था, उस समय शिवने इसका संहार किया। इसी कारण शिवको 'अन्धकरिपु' कहा जाता है—'त्रिपुर मद भंगकर, मत्त गज चर्मधर, अन्धकोरग ग्रसन पन्नगारी' (विनय प० ४९)। मतान्तरसे अन्धक हिरण्याक्षका पुत्र था जो उसे शिवसे वरदान स्वरूप मिला था। इसकी उत्पत्ति पार्वतीके प्रस्वेदसे मानी जाती है। पार्वतीकी अवज्ञा करनेके कारण शिवसे इसका भीषण युद्ध हुआ। इसके रक्त-बिन्दुओंसे नये अन्धकोंके उत्पन्न होनेपर शिवने इसके गिरे रक्तका पान करनेके लिए मातृका उत्पन्न की। मातृकाके तृप्त होनेपर नये अन्धकोंकी वृद्धि देख शिवने विष्णुकी युक्तिसे इसे पराभूत कर त्रिशूलपर लटका दिया। किन्तु इसने जब आकुल हो उनकी आराधनाकी तो शिवने इसे गणाधिपति बना दिया।

—ज० प्र० श्री०

अंध तापस—दे० 'अंधमुनि'।

अंधमुनि—श्रवणकुमारके पिता अन्धमुनिके नामसे प्रसिद्ध हैं। एक बार राजा दशरथ सरयू तट स्थित एक वनमें मृगयाके लिए गये हुए थे। उसी समय श्रवणकुमार अपने अन्धे माता-पिताको एक स्थानपर बिठाकर पानी लेने गये। उनके घड़ा डुबोनेकी आवाजको किसी हिंस्र पशुके जल-पानकी कण्ठ ध्वनि समझकर राजा दशरथने शब्दवेधी बाण मारा। फलतः श्रवणकुमार आहत होकर कराहने लगे। दुर्घटना-स्थलपर श्रवणकुमारको पाकर महाराजको अत्यन्त खेद हुआ। वे मरणोन्मुख श्रवणकुमारके निर्देशानुसार उनके माता-पिताको पानी पिलाने गये। श्रवणके माता-पिताके आग्रहपर दशरथको सच बात बतानी पड़ी। परिणामस्वरूप अन्धे-अन्धीने पुत्र वियोगमें जल-ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया तथा मरनेसे पूर्व दशरथको शाप दिया कि दशरथकी भी मृत्यु उन्हींके समान पुत्रवियोगमें होगी—'बिधि बस बन मृगया फिरत दीन्ह अन्धमुनि शाप' (प्र० १।२।३)। इस शापका स्मरण उन्हें अपनी मृत्युके पूर्व हुआ भी था—'तापस अन्ध साप सुधि आई। कौसिल्यहि सब कथा सुनाई' (मा० अ०)।

—ज० प्र० श्री०

'अंधेर नगरी' (र० का० १८८२ (इ०)— भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत यह प्रहसन अत्यन्त प्रसिद्ध और लोक-प्रचलित है। उसमें छः अंक हैं। पहले अंकमें एक महन्त अपने दो शिष्यों, नारायणदास और गोबरधनदास में-से दूसरेको भिक्षा माँगनेके सम्बन्धमें अधिक लोभ न करनेका उपदेश देता है। दूसरे अंकमें बाजारके विभिन्न व्यापारियोंके दृश्य हैं जिनकी माल बेचनेके लिए लगायी गयी आवाजोंमें व्यंग्यकी तीव्रता है। शिष्य बाजारमें हर एक चीज टके सेर पाता है और नगरी और राजाका नाम (अन्धेर नगरी—चौपट राजा) ज्ञातकर और मिठाई लेकर महन्तके पास वापस आता है। गोबरधनदाससे

नगरीका हाल मालूमकर वह ऐसी नगरीमें रहना उचित न समझ तीसरे अंकमें वहांसे चलनेके लिए अपने शिष्योंसे कहता है। किन्तु गोबरधनदास लोभके वशीभूत हो वहीं रह जाता है और महन्त तथा नारायणदास चले जाते हैं। चौथे अंकमें पीनकमें बैठा राजा एक फरियादीकी बकरी मर जानेपर कल्लू बनिया, कारीगर, चूनेवाले, भिश्ती, कसाई और गड़रियाको छोड़कर अन्तमें अपने कोतवालको ही फाँसीका दण्ड देता है क्योंकि अन्ततोगत्वा उसके सवारी निकलनेसे ही बकरी दबकर मर गयी। पाँचवें अंकमें कोतवालकी गर्दन पतली होनेके कारण गोबरधनदास पकड़ा जाता है ताकि उसकी मोटी गर्दन फाँसीके फन्देमें ठीक बैठे। अब उसे अपने गुरुकी बात याद आती है। छठे अंकमें जब वह फाँसीपर चढ़ाया जानेको है गुरुजी और नारायणदास आ जाते हैं। गुरुजी गोबरधनदासके कानमें कुछ कहते हैं और उसके बाद दोनोंमें फाँसीपर चढ़नेके लिए होड़ लग जाती है। इसी समय राजा, मन्त्री और कोतवाल आते हैं। गुरुजीके यह कहनेपर कि इस साइतमें जो मरेगा सीधा बैकुण्ठको जायगा, मन्त्री और कोतवालमें फाँसीपर चढ़नेके लिए प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु राजाके रहते बैकुण्ठ कौन जा सकता है, ऐसा कह राजा स्वयं फाँसीपर चढ़ जाता है। जिस राज्यमें विवेक-अविवेकका भेद न किया जाय वहाँकी प्रजा सुखी नहीं रह सकती, यह व्यक्त करना इस प्रहसनका उद्देश्य है। —ल० सा० वा०

अंबरीष—अयोध्याके सूर्यवंशी राजा अम्बरीष। ये इक्ष्वाकुवंशकी २८ वीं पीढ़ीमें हुए थे। इन्हें कहीं प्रशुश्रकका पुत्र कहा गया है और कहीं नाभागका। ये भगीरथके प्रपौत्र थे। ये अत्यन्त पराक्रमी तथा वीर थे। कहा जाता है कि इन्होंने १० लाख राजाओंको रणमें पराजित किया था। ये एक पहुँचे हुए विष्णु-भक्त भी थे। ये अपना समस्त राज्य-कार्य कर्मचारियोंके सरक्षणमें छोड़कर अधिकांश समय भगवत्‌भजनमें बिताते थे। इनकी कन्याका नाम सुन्दरी था जो कि गुणोंकी दृष्टिसे भी सार्थक था। एक बार देवर्षि नारद तथा पर्वत सुन्दरीपर मोहित हो गए और उसे पानेकी चेष्टा में विष्णुके पास गये। नारदने पर्वतके लिए और पर्वतने नारदके लिए विष्णुसे प्रार्थनाकी कि वे उनका मुख बन्दरका-सा बना दें। विष्णुने दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार कर दोनोंका मुख बन्दरका बना दिया। दोनों व्यक्तियोंकी आकृति बन्दरोंकी देख सुन्दरी भयभीत होकर पिताके पास गयी। जब अम्बरीषके साथ वापस आयी तो दोनोंके मध्य भगवान् विष्णुको भी बैठे पाया। सुन्दरीने वरमाला उनके गलेमें डाल दी और विष्णुकी प्रेरणासे अन्तर्धान हो गयी। दोनों ऋषियोंने क्रोधावेशमें अम्बरीषको शाप दिया कि वे स्वयं अन्धकारावृत होकर अपना शरीर तक न देख सकें। इसपर अम्बरीषके रक्षार्थ विष्णुका चक्र सुदर्शन उपस्थित हुआ और अन्धकारका विनाश कर मुनियोंकी खबर लेनेको तत्पर हुआ। दोनों मुनि भागते-भागते विष्णुकी शरणमें गये, तब भगवान् द्वारा क्षमा किये जानेपर चक्र-सुदर्शनके आतंकसे मुक्त हुए। सब बात यह थी कि राधा (लक्ष्मी) सुन्दरीके रूपमें अम्बरीषके यहाँ अवतीर्ण हुई थीं और उन्होंने श्रीकृष्ण (विष्णु) को पति रूपमें पानेके लिए अपूर्व तपस्याकी थी। इसी प्रकार एक बार द्वादशीके दिन अम्बरीष पारण करने जा रहे थे कि दुर्वासा ऋषि अपने शिष्यों समेत आ पहुँचे। अम्बरीषने भोजनके लिए उन्हें आमन्त्रित किया पर वे निमन्त्रण स्वीकार कर सन्ध्या वंदनके लिए चले गये। वहाँ उन्होंने जान-बूझकर देर कर दी। द्वादशी केवल एक पल शेष रह गयी द्वादशीमें पारण न करनेसे दोषका भागी होना पड़ता है। अतः अम्बरीषने विद्वान ब्राह्मणोंकी सम्मति लेकर भगवान्‌का चरणामृत ग्रहण कर लिया। जब दुर्वासा आये तो वे इस अवज्ञाके लिए अम्बरीषपर बरस पड़े। भावावेशमें उन्होंने अपनी जटाका एक बाल तोड़कर पृथ्वीपर पटक दिया जो कृत्या राक्षसी बनकर राजाका विनाश करनेके लिए झपटी। ठीक उसी समय सुदर्शन-चक्र प्रकट हुआ। वह कृत्याका संहार कर दुर्वासाके पीछे दौड़ा। दुर्वासा भागते हुए क्रमशः ब्रह्मा, शिव और विष्णुकी शरणमें गये किन्तु उन्होंने उनकी रक्षा करनेमें अपनी अक्षमता व्यक्तकी। फलस्वरूप वे अम्बरीषकी शरणमें आये। अम्बरीषकी प्रार्थनापर चक्र शान्त हुआ। राजा तब तक प्रतीक्षा कर रहे थे, अतएव दुर्वासाने उनका आतिथ्य स्वीकार कर भोजन किया और उनकी प्रशंसा करते हुए वे अपने आश्रम लौटे। भरत जब रामको वापस लौटानेके लिए चित्रकूट गये थे, उस समय देवताओंको अम्बरीष और दुर्वासाकी कथाका स्मरण कर अत्यन्त निराशा हो रही थी—'सुधिकर अम्बरीष दुरवासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा।।' (मा० अ०)। यह कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। सूरदासने भी इसका उल्लेख 'दुरवासाको साप निवारयो अम्बरीष पत राखी' ईश्वरकी भक्तवत्सलताके सन्दर्भमें किया है (सू० ५४९)। कबीरके बीजकमें भी इनका उल्लेख हुआ है (बीजक २५७।९२)।

—ज० प्र० श्री०

अंबा—काशीराज इन्द्रद्युम्नकी तीन कन्याओंमें ज्येष्ठ कन्या अम्बा थी। भीष्मने अपने दो सौतले छोटे भाइयों—विचित्रवीर्य और चित्रांगदके विवाहके लिए काशिराजकी पुत्रियोंका अपहरण किया था। भीष्मके पराक्रमके कारण वे उनपर मुग्ध थी और उनसे विवाह करना चाहती थीं। किन्तु भीष्म आजीवन ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः यह विवाह सम्पन्न न हो सका। इस अपहरणकी घटनाके पूर्व इनका विवाह शाल्वके साथ होना निश्चित हो चुका था। परन्तु इस घटना के कारण उन्होंने भी अम्बासे विवाह करना अस्वीकार कर दिया। प्रतिशोधकी भावनासे प्रेरित होकर अम्बाने कठिन तपस्याकी और शिवका वरदान प्राप्त कर आगामी जन्ममें शिखण्डीके रूपमें अवतीर्ण होकर अर्जुनके द्वारा भीष्मको जर्जर कराकर बदला लिया। भीष्म इस वास्तविकतासे अवगत थे। —ज० प्र० श्री०

अंबालिका—काशिराज इन्द्रद्युम्नकी कनिष्ठा कन्या अम्बालिका थीं। सत्यवतीके पुत्र विचित्रवीर्य इनके पति थे और पांडु इनके पुत्र। पांडुकी उत्पत्ति व्यासके द्वारा मानी जाती है।

—ज० प्र० श्री०

अंबिका—१. संहिताओंमें अम्बिकाको रुद्रकी भगिनीके रूपमें सम्बोधित किया गया है तथा रुद्रके साथ बलिदानका अंश ग्रहण करनेके लिए आह्वान किया गया है। मैत्रायिणी संहितामें इन्हें रुद्रकी योनि (माता ? पत्नी ?) भी बताया गया है। इन्हें हेमन्तके प्रतीकके रूपमें वर्णित किया गया है।

कालान्तरमें इन्हें क्रमशः दुर्गा और उमा मानकर पूजा गया—"गए सरस्वती तट इक दिन सिव-अम्बिका पूजन हेत" (सूर० पद० २२९१)। दे० 'उमा', 'दुर्गा'।

२. काशिराज इन्द्रद्युम्नकी मँझली कन्याका नाम भी अम्बिका था। भीष्मने उन्हें अपहरण कर विचित्रवीर्यसे उनका विवाह कर दिया गया था। विचित्रवीर्यकी मृत्युके पश्चात् व्यासने उनसे नियोग किया जिनसे धृतराष्ट्रका जन्म हुआ।

—ज० प्र० श्री०

अंबिकादत्त व्यास—भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समसामयिक हिन्दी सेवियोंमें (पण्डित) अम्बिकादत्त व्यास प्रसिद्ध हैं। ये भारतेन्दु मण्डलके सुप्रतिष्ठित कवि एवं लेखक रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्धके काशीके साहित्यकारोंमें इनका उल्लेख विशेष रूपसे किया जाता है। इनका जन्म सन् १८४८ ई० और मृत्यु सन् १९०० ई० में हुई।

अम्बिका दत्त व्यास कवित्त-सवैयाकी प्रचलित शैलीमें काव्य रचना करनेवाले ब्रजभाषाके सफल कवि थे। तत्कालीन काशी-कवि-समाजके सक्रिय सदस्यके रूपमें इन्होंने जो समस्या पूर्त्तियाँकी हैं वे बड़ी सरस बन पड़ी है। इनके कवि-रूपकी सबसे बड़ी देन इनका 'बिहारी-बिहार (सन् १८९८ ई०) नामक ग्रन्थ है। इसमें बिहारी-सतसईके दोहोंके आधारपर रचित इनकी कुण्डलियाँ संकलित हैं। बिहारीके दोहोंके मूल भावको पल्लवित करनेमें इन्हें बड़ी सफलता मिली है। अम्बिकादत्त व्यास अपने समयके नयी धाराके नवयुवक कवियोंसे भी प्रभावित हुए थे। इन्होंने खड़ी बोलीमें नये-नये विषयोंपर बहुत-सी फुटकर रचनाएँ की हैं। बँगला काव्यकी नयी धारासे प्रभावित होकर इन्होंने कुछ अतुकान्त काव्य-रचनाकी चेष्टा भी की थी, परन्तु इस कार्यमें इन्हे सफलता नहीं मिल पायी। इनकी पुरानी-नयी परिपाटीकी फुटकर रचनाएँ इनके समसामयिक पत्रों (पीयूष प्रवाह, समस्या-पूर्ति-प्रकाश) में प्रकाशित मिलती हैं। किसी स्वतन्त्र संकलनके विषयमें कुछ पता नहीं चलता। रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी एक 'पावस-पचासा' नामक पुस्तकका उल्लेख मात्र किया है।

अम्बिकादत्त व्यासने भातेन्दुसे प्रभावित होकर कुछ नाटक लिखे थे। इनकी दो नाट्य-कृतियाँ उल्लेख्य रही है। पहली कृति 'ललिता' (नाटिका) १८८४ ई० ब्रजभाषामें है। यह भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली' की शैलीमें लिखी गयी है। इसकी विषय-भूमि कृष्ण-लीलासे सम्बद्ध है। दूसरी कृति 'गोसंकट' १८८७ ई० गोरक्षा आन्दोलन विषयक एकांकी नाटक है। इसकी कथा वस्तुको ऐतिहासिक परिवेश दिया गया है और मुगलकालमें अकबर द्वारा गो-बध बन्द किये जानेकी बात कही गयी है सन् १८९३ ई० में 'आश्चर्यबृतान्त' नामक मनः कल्पना (फेंटेसी)प्रकाशित हुई। नाट्य-शिल्पकी दृष्टिसे इनकी कृतियाँ बहुत सफल नहीं हो पायी है। इनमें आधुनिकताका अभाव है।

अम्बिकादत्त व्यास अपने समयके प्रख्यात पण्डित और कुशल वक्ता थे। हिन्दी और संस्कृतपर इन्हें समान रूपसे अधिकार था। ये कट्टर सनातनधर्मी थे और अपने व्याख्यानों द्वारा सनातनधर्मका प्रचार किया करते थे। इन्होंने कुछ धार्मिक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें 'अवतारमीमांसा' प्रसिद्ध है। इन्होंने गद्य और पद्यपर भी सम्यक् रूपसे विचार-विवेचन किया है। इनकी भाषा-शैली सदोष है। जगह-जगहपर पण्डिताऊ प्रयोग प्राप्त होते हैं। विरामादिक चिन्होंके व्यवहारमें बड़ी अव्यवस्था मिलती है। विभक्तियोंके प्रयोग भी प्रायः अशुद्ध है। इनके गद्य-ग्रन्थोंमें 'गद्य-काव्य-मीमांसा' (१८९७) उल्लेखनीय है।

अम्बिकादत्त व्यासने सन् १८८४ ई० में काशीसे एक पत्र निकाला था। पहले यह 'वैष्णव-पत्रिका'के नामसे सनातन धर्मकी सेवामें संलग्न हुआ, बादमें 'पीयूष प्रवाह' नामसे साहित्य-सेवाके क्षेत्रमें अग्रसर हुआ।

—र० भ्र०

अंबिकाप्रसाद बाजपेयी—जन्म कानपुरमें सन् १८८० के दिसम्बर मासमें हुआ। शिक्षा कानपुरमें हुई। आपने संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी एवं फारसी भाषाओंका अध्ययन किया। आप कलकत्तामें भी कुछ दिन रहे। सन् १९०० ई० में आपने इंट्रेंसकी परीक्षा पासकी।

प्रारम्भमें आपने तीन वर्ष बैंककी नौकरीकी। इसके बाद आपका वास्तविक जीवन प्रारम्भ हुआ। कलकत्तासे प्रकाशित 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' (१९११-१९) के आप संपादक रहे। इसके अतिरिक्त आपने १९२० से लेकर १९३० तक दस वर्ष तक 'स्वतन्त्र' (जो कलकत्तासे निकलता था) का संपादन किया।

सन् १९०४ से १९१९ तक आप व्याकरणपर विचार करते रहे। परिणाम-स्वरूप 'हिन्दी कौमुदी' नामक पुस्तक लिखी। आपका एक निबन्ध 'हिन्दीपर फारसीका प्रभाव' बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है।

आपकी सेवाओं और विद्वत्ता तथा सम्पाद्दन-कलासे प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलनने काशीमें अपने बीसवें अखिल भारतीय अधिवेशनमें आपको अपना सभापति बनाकर आपको सम्मान दिया। उत्तर-प्रदेशीय विधान परिषदमें आपको मनोनीत सदस्य बनाया गया।

—ह० दे० बा०

अंबिकाबन—इलावृत्त खण्डका एक स्थान विशेष, जहाँ जाने मात्रसे पुरुष स्त्री हो जाता था—"एक दिवस सो अखेटक गयो। जाइ अम्बिकाबन तिय भयो" (सूर० पद ४४६)। इस स्थानको अम्बाबन भी कहा गया है—'पुनि सुद्युम्न वसिष्ठ सों कह्यों। अम्बाबनमें तिय ह्वै गयो' (सूर० पद ४४६)।

—ज० प्र० श्री

अंशुमान्—सूर्यवंश में उत्पन्न अंशमान असमंजस के पुत्र तथा सगरके पौत्र थे। ये अपने योग्य पिताके योग्य पुत्र थे। एक बार जब राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया तो उनका अश्व इन्द्रने चुरा लिया। अश्वकी खोजमें जाने वाले राजा सगरके साठ सहस्त्र पुत्र कपिल मुनिके शापसे भस्म हो गये। अंततोगत्वा अंशुमानने पाताल लोकमें जाकर अश्वका पता लगाया तथा अपनी बुद्धि और व्यवहार-कुशलतासे कपिलको प्रसन्नकर अश्वको प्राप्त किया। इस प्रकार इन्होंने अपने पितामहके यज्ञको सफलतापूर्वक सम्पन्न कराया। इनके प्रार्थना करनेपर कपिलने इन्हें यह वरदान भी दिया कि उनके पौत्र भगीरथ द्वारा मर्त्यलोकमें गंगावतरण होनेपर सगरके मृत पुत्रोंको सद्गति मिलेगी। (दे० सू० सा० प० ४५३ तथा

गंगावतरण : जगन्नाथदास रत्नाकर।)   –ज० प्र० श्री

अकंपन–रावणका एक अनुचर, एक प्रधान सेनानायक और रिश्तेमें उसका मामा था। सुमाली इसके पिता थे तथा केतुमाली इसकी माता। इसके अन्य दो भाई प्रहस्त और धूमांस थे। खर-दूषणकी मृत्युका समाचार सर्वप्रथम रावणको इसीने सुनाया था। रावण-पक्षका यह एक पराक्रमी योद्धा था–"अनिप अकंपन अस अतिकाया। विचलित सेन कीन्हि इन माया।।" (मा० लं०) इसकी मृत्यु हनुमान्‌के हाथोंसे हुई थी–"वारिदनाथ अकंपन कुंभकरन से कुंजर केहरि-बारो" (बा० १९)।

–ज० प्र० श्री०

अकबर–प्रसिद्ध मुगल सम्राट् बाबरके पौत्र तथा हुमायूंके पुत्र जलालुद्दीन मुहम्मद अकबरका जन्म सन् १५४२ ई० में अमरकोटमें हुआ था। इनकी माता हमीदा बानू बेगम थीं। सन् १५५६ ई० में हुमायूँकी मृत्युके बाद पानीपतके मैदानमें हेमूके साथ इनका युद्ध हुआ जिसमें सेनापति बैरमखाँकी योग्यताके कारण इनकी विजय हुई। तबसे जीवन पर्यन्त इनका प्रभाव बढ़ता ही गया और कालान्तरमें इन्होंने लगभग सारे भारतवर्षपर अधिकार कर लिया। ये पढ़े-लिखे न होनेपर भी अत्यन्त बुद्धिमान्, दूरदर्शी तथा सफल राजनीतिज्ञ थे। इनकी रानियोंमें जोधाबाईका नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। सलीम (जहाँगीर) इन्हींके पुत्र थे। मुराद और दानियाल इनके दो अन्यभाई थे जो अत्यधिक मद्यपानके कारण मर गये थे। अकबरकी मृत्यु सन् १६०५ ई० में संग्रहणीसे हो गयी थी। अकबरको प्रायः 'मुगल सम्राट्' कहा गया है किन्तु वास्तवमें उनका वंश तैमूरका तुर्क वंश था। इनके पितामह बाबर स्वयं तैमूरके वंशराज एक तुर्क थे (दे० 'हल्दीघाटी' : श्यामनारायण पाण्डेय)।

अकबरका काल हिन्दी साहित्यका महत्त्वपूर्ण युग माना जा सकता है। एक ओर इस कालमें सूर तथा तुलसी जैसे महत्त्वपूर्ण कवि विद्यमान थे, तो दूसरी ओर अकबरके दरबारमें नरहरि, गंग जैसे कवियों तथा तानसेन जैसे संगीतज्ञों को प्रश्रय मिला था। अकबरने स्वयं ब्रजभाषामें रचनाकी है, इसका भी साक्ष्य मिलता है। 'दिग्विजय भूषण'में इनके तीन श्रृंगार सम्बन्धी छन्द मिलते हैं। ग्रियर्सनने यद्यपि 'अकबर राय' छापसे लिखे गये छन्दोंको तानसेन रचित माना है, पर मायाशंकर याज्ञिकने अकबरकी स्फुट रचनाओंका संकलन 'अकबर संग्रह' नाम से प्रकाशित कर इस धारणाको निर्मूल सिद्ध किया है। 'शिवसिंह सरोज'में अकबरके संकलित छन्द वस्तुतः 'दिग्विजय भूषण'से ही लिये गये हैं।

अकबर द्वारा रचित छन्दोंके आधारपर कहा जा सकता है कि कविका ब्रजभाषापर पूरा अधिकार है और उसकी कल्पना तथा उक्ति-वैचित्र्य रीतिकालीन उच्च कवियोंकी कोटिका है।

(सहायक ग्रन्थ–दि० भू० : भूमिका, शि० स०; अकबर संग्रह ; सं० मायाशंकर याज्ञिक।)

–ज० प्र० श्री०

अकूती–स्वायंभुव मनु (पिता) तथा सतरूपा (माता) से उत्पन्न अकूती उनकी दूसरी लड़की थीं। इनके पति महर्षि रुचि थे। उत्तानपाद और प्रियव्रत इनके दो भाई थे। इनकी सन्तान यज्ञ और दक्षिणा मानी जाती हैं। ये पतिव्रता और हरिभक्तके रूपमें प्रसिद्ध हैं (दे० सूर० पद ३९३-३९४)।

–ज० प्र० श्री०

अक्रूर–कृष्णकाव्यमें अक्रूर कंसके दूत, पुण्यात्मा, व्रजवासी तथा मथुरावासी कृष्णकी कथाके संयोजक और कृष्ण भक्तके रूपमें चित्रित हुए हैं। अक्रूरके चरित्र और उससे सम्बन्धित कथाओंका मूलाधार भागवत (दशमस्कन्ध ३८।३९।४०।५६।५७) में प्राप्त है। भागवतके अक्रूर कृष्णके शुभचिन्तक, संरक्षक, अभिभावक और अन्ततः भक्त हैं। लोक प्रसिद्धिके अनुसार वे यादववंशी तथा वसुदेवके भाई कहे जाते हैं। इनकी माताका नाम गांदिनी तथा पिताका नाम श्वफल्क था, अतएव इनके लिए 'सुफलक सुत' शब्दका भी प्रयोग हुआ है। अक्रूरकी पत्नीका नाम उग्रसेना था। कहा जाता है कि अनादृत होनेपर ये कृष्णकी राजसभामें रहने लगे थे। कंसके आदेशपर ये धनुषयज्ञके बहाने बलराम और कृष्णको मथुरा लानेके लिए गोकुल जाते हैं। मूलतः कृष्ण भक्त होनेके कारण ब्रजगमनपर कृष्णके रूप तथा अलौकिक व्यक्तितवके चिंतन द्वारा अक्रूरकी भक्तिभावना अभिव्यंजित होती हैं। कदाचित् अक्रूरके भक्ति प्रवण व्यक्तित्वके ही कारण कृष्ण उनका आतिथ्य स्वीकार करते हैं। कृष्णके मथुरा एवं द्वारिका प्रवासमें अक्रूर उनके अनुगामी भक्त ही रहते हैं। धन्वासे प्राप्त स्यमंतक मणिके संरक्षणके कारण अक्रूरका विशेष महत्व बढ़ जाता है क्योंकि इस मणिके संरक्षकको विपुल धनराशिकी प्राप्तिकी प्रसिद्धि थी तथा इसके द्वारा अनावृष्टि आदिका नियंत्रण भी संभव था। एक बार किसी कारणवश अक्रूरके द्वारिका छोड़कर अन्यत्र चले जानेके कारण द्वारिकामें अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, अकाल आदिका प्राबल्य हो उठा। कृष्णके निर्देशपर द्वारिकावासी अक्रूरको द्वारिका वापस लाये जिससे समस्त उपद्रव शान्त हो गये। यद्यपि ये मणिको छिपाकर रखते थे, परन्तु कृष्णके कहनेपर अक्रूरने उन्हें मणि दिखा दी।

सूरदासने भागवतमें प्राप्त कथाके परिवर्धित एवं विस्तृत रूपके माध्यमसे अक्रूरका चरित्र प्रस्तुत किया है (दे० सू० सा०, दशम् स्कंध प० ३६२९-३६५१, १६४५, ४८०९)। भागवतके अनुसार मथुरा जाते समय मार्गमें अक्रूर यमुना स्नान करते हैं तो इन्हें जलमें कृष्णके दर्शन होते हैं, किन्तु फिरकर देखनेपर कृष्ण रथमें उसी प्रकार बैठे हुए दिखाई देते हैं। इस घटनासे अक्रूर कुछ उद्विग्न हो जाते हैं। भागवतमें कृष्णके इस प्रकारके दर्शनका कोई कारण निर्दिष्ट नहीं हुआ, किन्तु सूरने अक्रूरकी भक्तिनिष्ठताकी व्यंजना करते हुए अन्तर्द्वन्द्वमें फँसे भक्तके सन्देह निवारणार्थ आराध्य कृष्णका दर्शन कराया है। इसी प्रकार अक्रूरके श्यामवर्ण एवं रूपकी विशिष्ट कल्पना सूरकी मौलिक उद्‌भावना है जिसके कारण भ्रमरगीतके प्रसंगमें वे अकारण ही गोपियोंकी उपेक्षाके भागी बनते हैं।

वैष्णवदास, रसखान, आनन्ददास, जयराम, सबलस्याम हितदास, कृष्णदास आदि द्वारा किये गये भागवत दशमस्कन्धके भाषानुवादोंमें अक्रूरका चरित्र भागवतके ही आधारपर चित्रित हुआ है। सूरदासके समान किसी भी कविने उनके व्यक्तित्वमें भक्तिका रंग उभारनेका यत्न नहीं किया।

रीतियुगमें अक्रूरका चरित्र कृष्णकथा की संकुचित परिधि एवं सीमित दृष्टिकोणोंके कारण उपेक्षित-सा रहा। भ्रमरगीत

एवं गोपियोंकी विरहानुभूतिके सन्दर्भमें प्रसंगवश उनके उपेक्षाभागीके रूपमें स्फुट कवित्तोंके अन्तर्गत अक्रूरका नामोल्लेख मात्र हुआ है।

आधुनिक कृष्ण काव्योंमें केवल द्वारिकाप्रसाद मिश्र कृत 'कृष्णायन' (अवतरण, मथुरा द्वारिका काण्ड) के अतिरिक्त अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'प्रिय प्रवास' (सर्ग २।३) तथा मैथिलीशरण गुप्त कृत 'द्वापर' (पृ० १२२-१३१) आदि काव्य-ग्रन्थोंमें कृष्णकथाके संकोचन एवं दृष्टिकोणगत परिवर्तनके कारण अक्रूरका चरित्र पूर्णताके साथ वर्णित न हो सका। अधिकतर वे ब्रजवासी तथा द्वारिकावासी कृष्णकी कथाके संयोजक ही रूपमें वर्णित हुए हैं। वे बलराम और कृष्णको ब्रजसे मथुरा लानेके अपने क्रूर कर्मके लिए पश्चात्ताप करते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक युगका बुद्धिवाद उनके भक्तिप्रवण व्यक्तित्वको प्रभावित करता हुआ दिखाई पड़ता है। कृष्णायन, प्रिय प्रवास, द्वापरमें अन्य पात्रोंके समान वे भी अपने परम्परागत रूपकी अपेक्षा प्रबुद्ध दिखाये गये हैं।

—रा० कु०

अक्ष या अक्षय कुमार—यह रावण तथा मन्दोदरीका कनिष्ठ पुत्र था। हनुमान् लंकामें स्थित अशोक वाटिकामें जिस समय रक्षकोंको भगाकर फल खा रहे थे, उस समय रावणने अपार सुभटोंको साथ देकर उसे हनुमान्‌को अंकुशमें लानेके लिए भेजा था—"पुनि पठयउ तेहिं अछयकुमारा। चला संग ले सुभट अपारा।।" मानस सुन्दरकाण्ड, दो० १८)। हनुमानके द्वारा इसकी मृत्यु हुई थी—"सुनि सुत वध लंकेस रिसाना।" (मानस सुन्दरकाण्ड, दो० १९)

—ज० प्र० श्री०

अक्षयवट—१. प्रयागमें गंगा-यमुनाके संगमपर स्थित बरगदके वृक्षको पुराणोंमें अक्षयवट कहा गया है। वर्तमान समयमें इलाहाबादमें अकबर द्वारा निर्मित किलेके अन्दर एलनबरा बैरकके पूर्वमें एक पुराने मन्दिरके निकट स्थित वट वृक्षको पौराणिक अक्षयवटका अवशेष कहा जाता है। चीनी यात्री ह्नेनसांगने इसका उल्लेख अपनी यात्राके सन्दर्भमें किया है। इसके दक्षिणकी ओर सम्राट् अशोक और समुद्रगुप्तका लेख स्तम्भ है। अकबरके समयमें हिन्दू लोग इसी वृक्षसे गंगामें कूदकर आत्म-बलि देते थे। इस वृक्षके चारों ओर पक्की चुनाई है और जहाँ यह स्थित है वहाँ अत्यधिक अन्धकार रहता है। सीढ़ियोंसे उतरकर इसके दर्शनके लिए जाना होता है। पुराणोंके अनुसार इस वृक्षकी पूजा करनेसे अक्षय फल प्राप्त होता है। पुराणोंमें वर्णन है कि प्रलय होनेपर जब सम्पूर्ण सृष्टि जलमग्न हो जाती है, तब यह वृक्ष बच जाता है और भगवान् विष्णु इसके एक पत्तेपर लेटे अपना अंगूठा चूसते दिखाई देते हैं। सूरदासने कृष्णकी बाललीलाके वर्णनमें इसका सन्दर्भ दिया है—"चरन गहे अँगुठा मुख मेलत....बढ्यो वृच्छ वट सुर अकुलाने, गगन भयो उत्पात।।" (सूर० पद० ८२)।

२. गयामें भी इसी प्रकारका एक अक्षयवट है। लोमश ऋषिके उपदेशानुसार पाण्डवोंने वनवासकालमें इस वृक्षका दर्शन किया था। तुलसीदासने 'रामचरित मानस' में इसके महत्त्वकी ओर संकेत किया है—"पूजहिं माधव पद जल जाता। परसि अक्षय बटुहरषहिं गाता।"—ज० प्र० श्री०

अक्षर-अनन्य—अक्षर अनन्य सेनुहरा (दतिया)के राजा पृथ्वीचन्द्रके दीवान कहे जाते हैं। स्वतः आत्मोल्लेखोंमें उन्होंने अपनेको आरम्भसे साधु प्रवृत्तिका कहा है। हिन्दी-साहित्यके इतिहास-लेखकों द्वारा इनका जन्म सं० १७१० वि० (सन् १६५३ ई०) निर्दिष्ट किया गया है। इनके द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—'ज्ञानयोग'; 'विज्ञानयोग', 'ध्यानयोग', 'विवेक-दीपिका', 'ब्रम्हज्ञान', 'अनन्य प्रकाश' आदि। इनके ग्रन्थ अद्वैत-वेदान्तके गूढ़रहस्योंको सरल-भाषामें उद्घाटित करते हैं। यद्यपि इनकी गणना सन्त कवियोंमेंकी जाती है, किन्तु सन्तोंकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ इनमें नहीं मिलतीं। इनके ग्रन्थोंमें वैष्णव-धर्मके साधारण देवताओंके प्रति आस्था तो मिलती ही है, साथ-साथ कर्मकाण्डके प्रति सजगताके अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं। इन्होंने सम्पूर्णतः दोहे, चौपाई एवं पद्धरि छन्दोंका प्रयोग किया है (दे० 'उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा': परशुराम चतुर्वेदी)।

—यो० प्र० सिं०

अगस्त्य—एक ऋषि थे जिन्होंने ऋग्वेदकी कई ऋचाओंकी रचनाकी थी। उर्वशीके सौन्दर्यको देखकर मित्र और वरुण-के स्खलनसे इनकी और वशिष्ठकी उत्पत्ति हुई थी। (ऋग्वेद ७।३३।१३)। भाष्यकार सायणके अनुसार इनकी उत्पत्ति घड़ेसे हुई थी। इसीलिए इन्हें कुम्भज, कलसी-सुत, कुम्भसम्भव और घटोद्भव आदि भी कहा जाता है। माता-पिताके सन्दर्भमें इन्हें मैत्रा, वारुणि और और्वशीय भी कहा जाता है। जन्मके समय अगस्त्य एक अँगूठेके बराबर लम्बे थे, इसीलिए इन्हें मान भी कहा गया है। मतान्तरसे ये वसिष्ठके बहुत बादके हैं और प्रजापतियोंमें नहीं गिने जाते हैं। कहा जाता है कि एक बार विन्ध्याचल-को इस बातकी ईर्ष्या हुई कि सुमेरूकी प्रदक्षिणा सभी करते हैं, उसकी कोई नहीं। अतः वह रुष्ट होकर इतना बढ़ा कि सूर्यका मार्ग अवरुद्ध हो गया। देवताओंके प्रार्थना करनेपर अगस्त्य विन्ध्यके पास गये। शापके भयसे वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और सेवाके लिए प्रार्थना करने लगा। अगस्त्य उसे यह कहकर कि जब तक वे वापिस नहीं लौटें, वह वहीं रहें, उज्जैन चले गये और लौटे ही नहीं। झुकनेके ही कारण विन्ध्य अपनी ऊँचाई खो बैठा। इनके अगस्त्य नाम पड़नेका कारण पर्वतका झुकना ही है। इसी चमत्कारके कारण इन्हें विन्ध्यकूट भी कहा जाता है। देवासुर संग्राम में जब दानव सागर में जाकर छिप गये और सागर ने इन्हें भी क्षुब्ध कर दिया था तो ये सागरको ही पी गये। एक बार सागर इनकी पूजाकी सामग्री बहा ले गया। अगस्त्यने क्रोधित होकर समस्त जल पी डाला। तत्पश्चात् देवताओंकी प्रार्थनापर लघुशंका द्वारा उसे मुक्त कर दिया। समुद्रके जलके खारे होनेका यही कारण बताया जाता है। सागरका जल पीने ही के कारण ये 'पीताब्धि' या 'समुद्र चुलुक्य' कहलाये। तदनन्तर इनकी गणना सप्त ऋषियोंमें होने लगी। पुराणोंकी मान्यताके अनुसार इन्हें पुलस्त्य ऋषिका पुत्र कहा गया है। ये ब्रह्म् पुराण के कथावाचकों में भी कहे गये हैं। इन्होंने ओषधियोंपर भी लिखा है। महाभारतमें अगस्त्यकी पत्नीके सम्बन्धमें एक कथा आयी है। वस्तुतः ये विवाह नहीं करना चाहते थे किन्तु इन्होंने देखा कि उनके पितृव्य पुरुष एक गर्तमें अधोमुख लटक रहे हैं। अगस्त्यने कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी सद्गति अगस्त्यके वंशोत्पन्नसे ही

सम्भव है। इससे अगस्त्यने इच्छा शक्तिसे एक सुन्दरीको उत्पन्न किया और उसे पुत्र कामनासे तपस्या करनेवाले विदर्भ राजाको समर्पित कर दिया। इसी लोपामुद्रा नामक स्त्रीसे अगस्त्यने अपना विवाह किया जिससे इनके इदमवाहु मतान्तरसे कवि दृढ़स्युका जन्म हुआ। ये कुंजर पर्वतपर एक कुटीमें रहते थे जो विन्ध्यके दक्षिणमें बड़े रमणीय प्रदेशमें थी। ये दक्षिणके साधुओंमें सबसे प्रसिद्ध थे। इनका राक्षसोंपर इतना अधिकार था कि वे इनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकते थे।

रामकथामें अगस्त्यका माहात्म्य और भी बढ़ गया है। सुतीक्ष्ण मुनिने रामको अगस्त्याश्रमका मार्ग दिखाया था (रामायण ११।३७)। 'रामचरितमानस' में भी राम और अगस्त्यके मिलनकी चर्चा पंचवटी पहुँचनेके पूर्व ही मिलती है। वहाँ भी सुतीक्ष्ण मुनिने अगस्त्यको रामके आगमनकी सूचना दी थी—"नाथ कोशलाधीस कुमारा। आये मिलन जगत आधारा। सुनत अगस्त तुरत उठि धाये"....आदि। अगस्त्यके जीवन चरित विषयक अनेक कथाओं से उनके तेजस्वी एवं अलौकिक व्यक्तित्वकी व्यंजना होती है।

—रा० कु०

अग्नि— ऋग्वेदके अनुसार अग्निका जन्म परमपुरुषके मुखसे माना गया है। इनकी गणना इन्द्र, वायु और सूर्यके साथ वैदिक त्रिदेवोंमें भी होती थी। कालान्तरमें इन्हें दक्षिण-पूर्व दिशाका पालक भी कहा गया। पुराणोंके आधारपर इन्हें आंगिरसका पुत्र और एक सप्तर्षि शाण्डिल्यका प्रपौत्र भी बताया गया। महाभारतके समय अजीर्ण होनेपर ओषधि रूपमें खाण्डव वनको ग्रहण करनेपर ये रोगमुक्त हो सके। नीरोग होनेपर इन्होंने अपने सहायक कृष्णको कौमोदकी गदा तथा एक शक्ति और अर्जुनको गाण्डीवं धनुष प्रदान किया। विष्णुपुराणके अनुसार ये ब्रह्मा के अभिमानी ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी पत्नीका नाम स्वाहा था जिससे पावक, पवमान और सुचि पुत्र हुए और इनसे उनचास प्रपौत्र उत्पन्न हुए। इनके स्वरूपके विषयमें इनके श्यामवस्त्रधारी तथा चतुर्हस्त होनेका उल्लेख मिलता है। इनके रथचक्रोंमें सप्त-पवनकी स्थिति मानी जाती है। रथाश्वोंका वर्ण रक्तिम है। अजको भी इनका वाहन कहा गया है। रावणने अन्य देवताओंके साथ इन्हें भी अपने वशमें कर रखा था—'अगिनि काल जम सब अधिकारी' (मा० १।१८१।१०)।

—ज० प्र० श्री०

अग्निबाहु—ये राजा प्रियव्रतके दसपुत्रोंमें एक थे। इन्हें अपने पूर्वजन्मकी स्मृति थी। पूर्वजन्मके संस्कारोंके प्रभावके कारण इन्होंने राज्यलक्ष्मीको ठुकराकर अपना सारा जीवन ईश्वरकी भक्तिमें व्यतीत किया। इनमें अद्भुत साहस तथा शारीरिक शक्ति थी।

—ज० प्र० श्री०

अग्निमित्र—'प्रसाद'के अपूर्ण उपन्यास 'इरावती'का पात्र। मगधके दण्डनायक पुष्यमित्रका पुत्र। बाल्यकालसे ही इरावतीसे प्रेम करता है। अपनी माँके दाह-संस्कारके बाद अकेली बैठी इरावतीको वह सान्त्वना देता है, उसकी सहायता करनेका प्रण करता है। कुछ दिनोंके वियोगके उपरान्त महाकालके मन्दिरमें वह पुनः इरावतीसे मिलता है, बृहस्पति मित्रसे उसकी रक्षा करनेके लिए प्रस्तुत हो जाता है। अग्निमित्रका व्यक्तित्व तीन रूपोंमें हमारे सामने आता है। इरावतीके सच्चे प्रेमीके रूपमें, पराक्रमी योद्धाके रूपमें और बौद्ध-धर्मके निर्वाणका विरोध करनेवाले प्रवृत्तिमार्गीके रूपमें। इरावतीके प्रेमीके रूपमें वह एक आदर्श कहा जा सकता है। इरावतीका प्रेम ही उसे महाकालके मंदिरकी ओर खींच लाता है। उसकी रक्षाके लिए वह सदैव प्रस्तुत रहता है। विहारसे नदीमें कूदनेवाली इराको बचानेके अपराधमें बन्दी होना, युद्धमें जानेसे पूर्व इरासे मिलनेका प्रयत्न करना, उसके प्रेमके लिए कालिन्दीके प्रणयका तिरस्कार करना और अन्तमें सेठ धनदत्तके यहाँ अवगुण्ठनवती इराके प्रति कलिंग-युवक (खारवेल) का आकर्षण देखकर कृपाणपर हाथ रखना आदि सभी बातें इराके प्रति उसके गहन प्रेमकी परिचायक है। कालिन्दीके प्रेमको वह तनिक भी प्रोत्साहन नहीं देता, कहता है "मैं प्रणयके स्वाध्यायमें असफल विद्यार्थी हूँ।" अग्निमित्र प्रेमीके रूपमें दुर्बलता प्रदर्शित करनेपर भी वीर है, पराक्रमी है। सम्राट् वृहस्पतिमित्र द्वारा अपनी वीरतापर वह आँच नहीं आने देता। उनसे कहता है कि "सम्राट् इसकी परीक्षा ले लें। मनुष्य या व्याघ्र चाहे जिससे द्वन्द्व कराकर मेरा पुरुषार्थ देख लिया जाय।" सेठ धनदत्तकी रक्षाके लिए प्रस्तुत हो जाना भी उसकी वीरताका द्योतक है। उसकी वीरता या पराक्रमके सम्बन्धमें एक बात अवश्य खटकनेवाली है कि वह प्रणयमें असफल या निराश होकर युद्धके प्रति उदासीनता प्रकट करता है। संगीत सुननेकी लालसा और युद्धके प्रति उपेक्षा, उसके पराक्रमको हल्का बना देती है। उसका पराक्रम देशहितके लिए न होकर व्यक्तिगत लाभ या द्वेषपर आधारित है। अग्निमित्र प्रवृत्तिमार्गी है—बुद्धके निर्वाणकी अपेक्षा मानव जीवनकी उपयोगिताके प्रति उसे अधिक मोह है। इसी कारण भिक्षुओंके विहारोंके विनाशकी कामना वह करता है।

—शं० ना० च०

अग्रअलि—दे० 'अग्रदास'।

अग्रदास—स्वामी अग्रदास 'भक्तमाल'के प्रसिद्ध लेखक स्वामी नारायणदास या नाभादासके गुरु थे। प्रियादासने आमेरके राजा मानसिंहका इनकी सेवामें उपस्थित होना कहा है। मानसिंह अकबरके समकालीन एवं उसके प्रिय दरबारी थे। अतः अग्रदासका समय सन् १५५६ ई० तथा उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। नाभादासने इनकी प्रशंसामें एक छप्पय लिखा है, जिसका आशय यह है—"अग्रदास सदाचारनिरत एवं भगवत्सेवानुरागी थे, इन्होंने एक पुष्पवाटिका लगायी थी और इससे ये बड़ा अनुराग रखते थे, अपने हाथों ही उसकी देख-रेख करते थे; ये नित्य रामनाम जपा करते थे। ये पयोहारी कृष्णदासके शिष्य तथा रामके अनन्य भक्त थे।" प्रियादासने इस छप्पयकी टीका करते हुए लिखा है कि जब मानसिंह इनसे मिलने गये, तो उन्होंने नाभादासको इन्हें अपने आनेकी सूचना देनेको भेजा; नाभादासने इन्हें एक वृक्षके नीचे ध्यानस्थ पाया और वे स्वयं भावविव्हल होकर वहीं जड़ हो गये। विलम्ब देख मानसिंह स्वयं बागमें गये और गुरु शिष्य दोनोंकी यह स्थिति देखकर आश्चर्यचकित हो गये। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल'में जीवारामने इन्हें रसिकोंका संगम तथा रसिक भावकी भक्तिका प्रचारक कहा है। उनके अनुसार

इनकी रचनाओंमें वाल्मीकि जैसी मधुरता थी। रैवासा (राजस्थान)में इन्होंने जानकीवल्लभकी रहस्योपासनाकी थी, इनको लोग जनकललीकी अग्रसहचरी कहा करते थे। प्रियके मिलनेके हेतु ही इन्होंने एक पुष्पवाटिका लगायी थी। इन्हें इन्द्रकला सखीका अवतार भी कहा जाता है। इन्होंने यथेच्छ ध्यान-रसका पान किया था। भक्तमालके टीकाकार श्री वासुदेवदासके अनुसार ये शीलके आचार्य थे। ज्ञानको मिटाकर माधुर्यभाव इन्हींका चलाया हुआ है, ये बारहों महीने रास किया करते थे; भक्ति, रसिकता, दम्पति-विलास और रामसागरकी ये नौका थे। इन्होंने कील्हकी आज्ञासे ही रेवासेको अपना केन्द्र बनाया था। यहीं इन्होने 'लली लाल'का मन्दिर बनवाया और अनेक कुंजोंकी रचनाकी। अनेक पाकशालाएँ भी इन्होंने बनवायीं। रासके लिए अनेक नाटक-मंडलियोंकी इन्होंने स्थापनाकी।

अग्रदासके प्रमुख शिष्य थे—जंगी, प्रयागदास, विनोदी, पूरनदास, बनवारीदास, नरसिंहदास, भगवानदास, दिवाकर, किशोर, जगतदास, जगन्नाथदास, सल्कधो, खेमदास खींची, धर्मदास, लघुऊधो। नाभा तो इनके प्रिय शिष्य थे ही। अग्रदासकी गुरु परम्परा यों हैं: रामानन्द-अनन्तानन्द-कृष्ण दास पयोहारी-अग्रदास। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—'ध्यानमंजरी या राम ध्यानमंजरी', 'कुण्डलिया या हितोपदेश उपषाखाँ बावनी', 'श्रृंगार रस सागर', 'अष्टयाम' (संस्कृतमें)। इनमें ध्यानमंजरीका प्रकाशन सन् १९२२ में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई तथा सन् १९४० में मणिरामजीकी छावनी अयोध्यासे हुआ। अग्रग्रन्थावली प्रथम खंडमें कुण्डलियाका प्रकाशन महात्मा राजकिशोरी शरणने अयोध्यासे सन् १९३५ ई० में किया। 'अष्टयाम' का प्रकाशन रामकृष्णदास उत्श्रसवीने अयोध्यासे १९३६ ई० में किया। 'श्रृंगार रस सागर' अप्रकाशित एवं अप्राप्य ग्रन्थ है।

'अष्टयाम'में रामकी अष्टयामीयोपासनाका विस्तृत वर्णन है, 'कुण्डलिया'में नीति और उपदेशसे सम्बन्धित छन्द हैं। 'ध्यानमंजरी'में रामके ध्यानका वर्णन है।

अग्रदासका विशेष महत्त्व रामभक्तिमें माधुर्य भावके प्रवर्त्तकके रूपमें है। नाभादास इन्हींके शिष्य थे, जिन्होंने मध्ययुगके भक्तोंकी प्रमुख विशेषताओंपर बड़े प्रामाणिक ढंगसे लिखा है। साम्प्रदायिक दृष्टिसे अग्रदास द्वारा स्थापित गादी वैष्णवोंकी अनेक शाखाओंका मूल स्थान मानी जाती है। अकेले रैवासासे ११ गादियाँ स्थापित हुईं।

[सहायक ग्रन्थ——नाभादास भक्तमाल युगलप्रिया रसिक प्रकाश भक्तमाल।]

—ब० ना० श्री०

अघासुर—कहा जाता है कि अघासुर बकासुर तथा पूतना का छोटा भाई था। इस राक्षसको कंसने कृष्णकी हत्या करनेके लिए गोकुल भेजा था। गोकुल पहुँचकर इसने कृष्णको समवयस्क गोपोंके साथ वन भोजनका समायोजन करते देखा। उसने सोचा कि जैसे कृष्णने उसके भाई-बहिनका संहार किया है, उसी प्रकार वह भी उन्हें मारकर प्रतिशोध ले। अत: वह एक योजनका अजगर बनकर मार्गमें लेट गया। गोप बालक उसके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करते हुए कृष्णके साथ उसके मुखमें प्रविष्ट हो गये। कृष्णने उसके मुखमें सीधे खड़े होकर अपनी शक्तिका प्रसार किया। फलस्वरूप अघासुर की श्वास अवरुद्ध हो गयी तथा उसका ब्रह्म रन्ध फट गया और वह मर गया। उसके शरीरकी ज्योति निकलकर कृष्णमें आकर विलीन हो गयी। कृष्ण द्वारा अघासुरके वधके अनेक उल्लेख मिलते हैं—सूरसागरमें अघासुर बधकी कथा पद १०४९ से १०५३ तक दी गयी है।

—ज० प्र० श्री०

अचलसुता—(दे० पार्वती) ''अचलसुता मन अचल बयारि कि डोलइ?'' (पार्वतीमंगल, तुलसी०, ६५)—ज० प्र० श्री०

अज—दिलीपके पुत्र थे। मन्तातरसे इन्हें रघुका पुत्र भी कहा जाता है। ये अयोध्याके सूर्यवंशी राजा दशरथके पिता और रामके पितामह थे। इनकी पत्नीका नाम इंदुमती था जो विदर्भराजकी पुत्री थीं। इंदुमतीको ये स्वयंवरसे लाये थे। रघुवंशके अनुसार स्वयंकी यात्राके समय एक पागल हाथीने इन्हें बहुत परेशान किया। क्रोधमें आकर इन्होंने उस हाथीका वध कर डालनेका आदेश दे दिया। हाथीके मरते समय उसके शरीरसे एक गन्धर्व निकला। उस गन्धर्वने स्वयंवरमें विजयी होनेके लिए एक दिव्यास्त्र प्रदान किया। जिससे ये इंदुमतीको प्राप्त करनेमें सफल हुए।

ज० प्र० श्री०

अजबेस—इनका जन्म असनी में सं० १८४१ वि० में हुआ था। शिवसिंह सरोजकारने अजवेश नामके प्राचीन और नवीन दो कवियों की कल्पनाकी है। इसीकी पुनरावृत्ति डा० ग्रियर्सनने भीकी है। डा० किशोरीलाल गुप्तका विचार है कि बाँधव नरेश वीर मानसिंहके दरबारमें अजवेश नामक कोई कवि नहीं हुआ। शिवसिंह सरोजकारने भ्रमवश अजवेशको जोधपुरके वीरभानुके दरबारमे पहुँचा दिया। दो अजवेश कवि होनेका भ्रम मिश्रबन्धुओंको भी हुआ है। डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने इस भ्रमात्मक बातोंका प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि 'जोधपुर, उदयपुर और रीवाँके अजवेश नामक कवि असनीकी नरहार-शाखा वाले कवि ही हैं, उनका पृथक पृथक अस्तित्व नहीं था।

वस्तुत: ये नरहरि महापात्रके पुत्र कविवर हरिनाथ महापात्र की असनी वाली शाखाके शिवनाथ बन्दीजनके पुत्र थे। शिवनाथ कवि रीवांके विश्वनाथ सिंह जूदेव बहादुरके दरबारी कवि थे। इन्हें शिवनाथ बन्दीजनने संस्कृत और फारसीकी उच्च शिक्षा प्राप्त कारवाई थी। स्वयं अजवेशको एक सुयोग्य कवि का पुत्र होनेका गौरव प्राप्त था।

श्रृंगारिक और वीर रसात्मक रचनाओंमें आपका महत्वपूर्ण स्थान है। आपकी काव्यात्मक प्रतिभासे संतुष्ट होकर रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जू ने आपको एक ग्राम दिया था। आपकी बौद्धिक दक्षता को देखकर उन्होंने अपनी 'पंचमुसाहिबी' कचहरीका स्थायी सदस्य बना दिया। सं० १९०० में रींवा-नरेशने आपको अपने दरबारका वकील बना लिया जहाँ आप आजीवन बने रहे।

'विश्वनाथ सिंह जू के पश्चात् महाराजा रघुराज सिंह जू की भी कृपा दृष्टि बनी रही। कहा जाता है कि सन् १८५७ ई० के गदर में अंग्रेजोंको सहयोग देनेके कारण महाराज रघुराजसिंह को तत्कालीन अंग्रेजी सरकार द्वारा पुरष्कारमें सोहागपुर पराना दे दिया गया था, इस अवसर पर प्रस्तुत

अजवेश जी की वीर रसात्मक रचना अधिक श्लाध्य है।

अजवेशने सं० १८६८ में बिहारी सतसई की एक टीका लिखी और स० १८९२ में बघेला वश वर्णन नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इनके फुटकर श्रृंगारिक छन्द सुंदरी तिलक, सुन्दरी सर्वस्व और श्रृंगार सुधाकर आदि विभिन्न संग्रह ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।

अजातशत्रु १—अजातशत्रु प्रसादकृत 'अजातशत्रु' नाटक का नायक मगध-सम्राट् बिम्बसार (ई० पू० ५४३-४११) का पुत्र है। अजातशत्रुसम्बन्धी चर्चाके मुख्य आधार महावंश, जातकग्रन्थ, जैन-सूत्र, थेरीगाथा, धम्मपद, अठ्ठकथा, विनयपिटक, मज्झिम निकाय आदि प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ हैं। इसे दर्शक और कुणीकके नामसे भी पुकारा गया है। उत्तरीय भारतमें यह इतिहास कालका प्रथम सम्राट् हुआ। अजातशत्रु कथाप्रसंग—गौतमबुद्धके निर्वाण (ई० पू० ४८३) से ८-९ वर्ष पूर्व इसका राज्यभिषेक हुआ। इसकी माता चल्हना (छलना) वैशालीके राजवंशकी थी। पिताके जीवनकालमें वह चम्पा (भागलपुर) का शासक था। अजातशत्रु ही नाटकके सम्पूर्ण कार्य व्यापारोंका मूल उद्गमस्थल एवं फलका उपभोक्ता है। नाटकमें उसका पदार्पण हिंसक मनोवृत्तियोंसे युक्त उच्छृंखल अविनीत युवकके रूपमें होता है। अनुश्रुति तो यहाँ तक है कि संघकी प्रधानताके लिए बुद्धके प्रतिस्पर्धी और चचेरे भाई देवदत्तके उकसानेसे अजातशत्रुने अपने पिताको बन्दी कर लिया और कारागारमें उसे मार डाला (भगवतशरण उपाध्याय: प्राचीन भारतका इतिहास, पृष्ठ १०५)। शासक बन जानेपर तो उसकी निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता और भी अधिक बढ़ जाती है। काशीकी प्रजा इसीलिए ऐसे अत्याचारी राजाको कर देनेसे इनकार करती है क्योंकि वह अधर्मके बलसे पिताके जीतेजी सिंहासन छीनकर बैठ गया है। काशीकी प्रजा द्वारा राज न देनेपर अजातशत्रुका रोष राजन्यशीलताका अतिक्रमणकर प्रज्वलित हो उठता है: "मैं यह क्या सुन रहा हूँ। प्रजा भी ऐसा कहनेका साहस कर सकती है..... 'राजकर मैं न दूँगा'—यह बात जिस जिनस्वासे निकली, बातके साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गयी।" अजातशत्रुका नवीन रक्त राज्य श्रीको सदैव तलवारके दर्पणमें देखनेका अभिलाषी है। उसकी क्रूरता और दुर्विनीतताके मूलमें लिच्छवी रक्तकी उष्णता है जो उसे संस्कारोंके रूपमें अपनी माता छलनासे प्राप्त हुई है।

इन संस्कारोचित एवं सहवासजनित दुर्बलताओंके होते हुए भी वह एक साहसी, कार्यकुशल एवं व्यवहारपटु शासक है। महामान्य परिषद्के सभ्यगणोंके साथ उसकी युक्तिपूर्ण बातचीत उसकी व्यवहारपटुताकी प्रतीक है। वह अपने प्रचण्ड पराक्रमसे प्रसेनजित्को पराजित करता है। आत्मसम्मानकी भावनासे परिचालित होकर वह बन्दी दशामें भी दीर्घकारायणके मुँह न लगकर सतेज स्वरोंमें कहता है: "मैं तुमको उत्तर नहीं देना चाहता। तुम्हारे महाराजसे मेरी प्रतिद्वन्द्विता है—उनके सेवकोंसे नहीं।" मल्लिकाके माधुर्यपूर्ण महामहिम व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर अजातशत्रुमें सात्त्विक गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। अजातके जीवनका मधुरपक्ष अतीव हृदयग्राही है। कोशलकुमारी बाजिराके सौन्दर्य-दर्शन एवं प्रेमके प्रभावसे उसकी सारी कठोरता लुप्त हो जाती है। उसकी बिनम्रता क्षमाशीलताके रूपमें फूट पड़ती है : "कौन विमाता? नहीं तुम मेरी माँ हो। माँ, इतनी ठण्डी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैने जननीकी शीतलताका अनुभव किया?" पिता बन जानेपर उसे स्वयं पुत्र-प्रेमकी अनुभूति होती है और वह बिम्बसारके समक्ष अपनी उस भूलको स्वीकारकर क्षमा याचना करता है। इस प्रकार अन्तमें अजातशत्रु पूर्ण मनुष्यत्वको प्राप्तकर सबका स्नेह भाजन बनता है और नाटकके भौतिक फल राज्य द्वारा पुत्रादिको प्राप्तिकर आध्यात्मिक फल आत्मपरिष्कार एवं पूर्ण मनुष्यत्वको प्राप्तकर आदर्श न्यायककी कसौटीपर खरा उतरता है।

—के० प्र० चौ०

अजातशत्रु २—जयशंकर प्रसाद कृत नाटक 'अजातशत्रु'का प्रकाशन १९२२ ई० में हुआ था। इसके पूर्व राज्यश्री, विशाख आदि प्रसादके जो नाटक प्रकाशित हुए थे, उनमें लेखकने आगे चलकर कुछ परिवर्तन किये थे। 'अजातशत्रु' के प्रथम और द्वितीय संस्करणमें अन्तर है। द्वितीय संस्करणमें वे पद्यांश हटा दिये गये हैं जिनका प्रयोग पात्र कथोपकथनके बीच करते थे। 'अजातशत्रु' का कथानक बौद्धकालसे सम्बन्ध रखता है। समस्त कथा मगध; कोशल तथा कौशांबीके तीन प्रसिद्ध स्थानोंपर घटित होती है और तीन अंकोंमें विभक्त है। सम्राट् बिम्बसार जीवनके प्रति विरक्त भाव रखते हैं। उनपर बौद्ध धर्मकी छाया है। वे परिवारके पारस्परिक विद्वेषके कारण क्षुब्ध हैं और भगवान् बुद्धके आदेशसे सम्पूर्ण राज्य अजातशत्रुको सौंपकर विरक्त हो जाते हैं। मगधमें होनेवाली इस घटनाका प्रभाव कोशलपर पड़ता है। कोशलके राजा प्रसेनजित् और युवराज विरुद्धकमें अजातके राज्याभिषेकको लेकर विरोध उत्पन्न हो जाता है और विरुद्धक अपनी माता शक्तिमतीके साथ पिताके विरुद्ध हो जाता है। कौशांबीकी घटना इस दृष्टिसे मनोरंजक है कि मागधीका षडयन्त्र इतना भीषण होता है कि उदयन और पद्मावतीके सम्बन्ध कुछ समय के लिए बिगड़ जाते हैं। नाटकमें अजातशत्रु और विरुद्धकके एक ओर तथा उदयन और प्रसेनजित् उनके विरोधमें दिखाई देते हैं। नाटककी परिसमाप्तिमें बौद्धधर्मका स्पष्ट प्रभाव है, क्योंकि सभी व्यक्ति पश्चात्ताप प्रकट करते हैं। शान्त रसकी स्थापनाके साथ यह नाटक समाप्त होता है।

'अजातशत्रु'के शिल्पमें समीक्षक पाश्चात्य नाटकोंका प्रभाव पाते हैं। नाटकका आरम्भ एक विरोधकी स्थितिसे होता है इस विरोध और विषमताके विकासके साथ कथा आगे बढ़ती है। यह विरोध दो रूपोंमें प्रकट है। सम्राट् बिम्बसारके मनमें जो पश्चात्ताप और विक्षोभ है वह उनके आन्तरिक द्वन्दको प्रकाशमें लाता है। राजनैतिक स्तरपर जो संघर्ष है वह बाह्य जगतसे सम्बन्ध रखता है। दोनों प्रकारके विरोध और संघर्ष बौद्ध धर्मकी छायामें शमन पाते हैं। नाटकमें समस्त चरित्रांकन दो पक्षोंमें विभक्त है—दैवी और आसुरी वृत्तियोंके पात्र। लेखकने संघर्ष के लिए इनका उपयोग किया है। अजातशत्रुके नामपर नाटकका नामकरण इसी आधारपर है क्योंकि वह समस्त संघर्षमें प्रमुख भूमिकाका कार्य करता है। नायकके रूपमें अजातशत्रु आदर्श नहीं कहा जा सकता किन्तु नाटकका कथाचक्र उसके आस-पास परिक्रमा करता है। भगवान् बुद्ध 'अजातशत्रु'में एक विशिष्ट व्यक्तित्वके रूपमें आये हैं जो शान्त रसकी प्रतिष्ठा करते हैं।—प्रे० शं०

अजामिल–कान्यकुब्ज ब्राम्हण था। कहा जाता है कि एक दिन लकड़ी लेने जंगल गया। वहाँ एक निम्नवर्गकी वेश्याको मधुपानसे उन्मत्त होकर एक शूद्रके साथ प्रेमालाप करते देखा। यह उस वेश्याके प्रति अनुरक्त हो गया और अन्ततः उसे अपने घर ले आया। वेश्याकी इच्छापूर्त्तिमें इसने अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति नष्ट कर दी। उस वेश्याके कारण इसने अपनी परिणीता पत्नीका भी परित्याग कर दिया। पतित होकर यह शराबी, जुआड़ी, चोर और हिंसक हो गया। उस वेश्यासे इसके दस पुत्र उत्पन्न हुए। सबसे छोटे पुत्रका नाम नारायण रखा गया। इस बालकसे यह अत्यधिक स्नेह करता था। वेश्याके साथ अट्ठासी वर्ष व्यतीत करनेके बाद जब इसका अन्तिम समय आया तो इसने देखा कि तीन भयावह यमदूत हाथमें पाश लिए हुये उसके प्राण लेने आ पहुँचे। त्रस्त होकर वह अपने प्रिय पुत्र नारायणको पुकारने लगा। नारायण नामका इतना प्रभाव हुआ कि विष्णुके दूत उसे आकर स्वर्ग ले गये–'जौ सुत हित लिए नाम अजामिल के अघ अमित न दहते' (विनय पत्रिका ९७) आदि। इस प्रकार पुत्रका नारायण नाम मात्र अजामिलको मोक्ष दिलानेमें समर्थ हुआ–"नाम अजामिल ते खलकोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े" (कवितावली २-५)। सूरसागरमें अजामिलकी कथा विस्तारसे दी गयी है (दे० सूर० पद ४१५)। –ज० प्र० श्री०

अजितकुमार सिंह–भगवतीचरण वर्मा कृत उपन्यास 'तीन वर्ष'का दूसरा मुख्य पात्र। प्रथम भागका वही वास्तविक नायक है। "वह जीवनको पहचानता था और पहचाननेके साथ ही उसे अपनाना भी जानता था।" रमेशको वह उच्च वर्गमें ही नहीं लाया, उसके मध्यवर्गीय थोथे आदर्शवादके प्रति सचेत भी करता रहा, पर इन चेतावनियोंको रमेश कभी ग्रहण नहीं कर सकता और फिर उसे गहरे गर्तमें गिरना पड़ा। अजितके लिए प्रेमका अर्थ 'एक दूसरेसे हँसना-खेलना, एक दूसरेको अच्छी-तरह समझना' भर है, उसे वह नितान्त अस्थायी मानता है एवं इसी कारण प्रेमको गम्भीरतापूर्वक नहीं लेता। पर उसे लम्पट नहीं कहा जा सकता। वह अपने विचारोंको अत्यधिक निर्भीकता और स्पष्टतया रखनेमें हिचकता नहीं। प्रारम्भमें ऐसा भी लगता है कि पढ़नेमें उसकी दिलचस्पी नहीं है, रईसका वह लड़का केवल मौज करता है, पर शीघ्र ही यह सिद्ध हो गया कि "वह उतना बेवकूफ नहीं है, जितना इम्तिहानोंके नतीजोंने साबित करनेकी कोशिशकी है।" चाहनेपर वह प्रथम श्रेणी भी पा गया। विदेश घूमा, घाट-घाटका पानी पिए हुए यह नौजवान रईस वाक्पटु ही नहीं विचारक भी है तथा वैयक्तिक स्वाधीनता, स्त्रीके समानाधिकार आदिके सिद्धानतोंसे तनिक भी अभिभूत नहीं। वह विचित्र विरोधोंका शिकार है। –दे० शं० अ०

'अज्ञेय'–सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, जन्म, मार्च १९११। मुख्यतः कवि और उपन्यासकार, यद्यपि साहित्य के अन्य क्षेत्रोंको भी उनकी महत्त्वपूर्ण देन हैं जिनमें कहानियाँ, यात्रा-साहित्य और आलोचना विशेष उल्लेखनीय हैं। बचपन अधिकांश लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता; शिक्षा मद्रास और लाहौरमें हुई। बी० एस्-सी० करके अँग्रेजी विषयमें एम० ए० की पढ़ाई करते समय क्रान्तिकारी आन्दोलनके सिलसिलेमें फरार हुए और १९३० के अन्तमें पकड़े गये; चार वर्ष जेलमें और दो वर्ष नजरबन्द रहे; किसान आन्दोलनमें भाग लिया; 'सैनिक', 'विशाल भारत', 'बिजली', 'प्रतीक', 'वाक्' (अंग्रेजी त्रैमासिक) आदिका सम्पादन किया। कुछ वर्ष ऑल इण्डिया रेडियोमें रहे, तीन वर्ष सेनामें (१९४३-४६)। सन् १९५५-५६ में योरप और सन् १९५७-५८ में पूर्वेशिया गये। १९७० तक समाचार साप्ताहिक 'दिनमान' के संस्थापक-संपादक थे। जोधपुर विश्वविद्यालय में भारतीय साहित्य विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष रहे।

'अज्ञेय' मुख्यतः अन्तर्मुखी कलाकार हैं : उनके जीवन का उनके साहित्यसे विशेष सम्बन्ध है। क्रान्तिकारी जीवन तथा जेलका अनुभव उनके उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' तथा कहानी संग्रह 'कोठरीकी बात'की आधार प्रेरणा है। वस्तुतः अज्ञेयका व्यक्तित्व उनके रचनाओंकी मूल शक्ति है– और शायद सीमा भी। अक्सर ऐसा लगता है कि यह व्यक्तित्व भोक्ता उतना नहीं जितना चिन्तक है : पाठक को जितना एक सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत मस्तिष्कका अनुभव होता है उतना एक जीवनका नहीं। अधिकांश कृतियोंमें यदि मानसिक प्रतिक्रियाओंका एक विचारशील वेग आकर्षित करता है तो अक्सर परिस्थितियों और चरित्रोंका उथलापन निराश भी करता है।

१९४८ में अज्ञेयका 'हरी घासपर क्षण भर' काव्यसंकलन प्रकाशित हुआ। प्रौढ़ता और उपलब्धिकी दृष्टिसे यह संग्रह न केवल 'चिन्ता' (१९४१) और 'इत्यलम्' (१९४६) से बहुत आगे है, बल्कि आगामी संग्रहों 'बावरा अहेरी' १९५४, 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' १९५७, तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय' १९५१ को देखते हुए कविकी सबसे सिद्धकृति मानी जा सकती है–सिद्ध इस अर्थमें कि आगे चलकर उनकी टेकनीक और शैली परिमार्जित अवश्य हुई पर जैसी अचानक नवीनताका प्रभाव 'हरी घासपर क्षण भर'का पड़ा वैसा अन्य किसी संग्रहका नहीं। इस संग्रहमें कविकी भाषा, प्रतीक, शब्द, बिम्ब, लय, विचार आदि सम्बन्धी कई धारणाओंकी व्यावहारिक पुष्टि हुई जिनका आजकी कविताके सन्दर्भमें क्रान्तिकारी महत्त्व है। यहाँसे कविकी 'चिन्ता' और 'इत्यलम्'वाली कुछ छायावादी ढंगकी रूमानी रहस्यात्मकता एक नया मोड़ लेती है: "प्रत्येक स्वप्नदर्शीके आगे। गति से अलग नहीं पथ की यति कोई! अपनेसे बाहर आनेको छोड़ा। नहीं आवास दूसरा।" ('हरी घासपर क्षण भर') लेकिन 'बाहर आने' का अर्थ कविके लिए भीड़में अपनी विशिष्टताको खो देना नहीं; बल्कि उससे जीवनको समृद्ध करना है। "यह दीप अकेला स्नेह भरा। है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्तिको दे दो।"–'बावरा अहेरी' में जहाँ कवि समष्टिके प्रति दायित्व अनुभव करता है वहीं व्यक्तिकी प्रतिष्ठामें विश्वास भी व्यक्त हुआ है। कविका व्यक्तित्व उसकी सीमा नहीं सुन्दर द्वारा श्रेष्ठतक पहुँचनेका साधन है। अज्ञेयके अनुसार "उच्च-कोटिका नैतिक-बोध और उच्चकोटिका सौन्दर्य बोध, कमसे कम कृतिकारमें प्रायः साथ चलते हैं। क्यों? इसलिए कि दोनों बोध, मूलतः बुद्धिके व्यापार हैं, मानवका विवेक ही दोनों के मूल्योंका स्रोत है....."('समालोचना और नैतिक मान' शीर्षक लेखसे)। "व्यक्तित्व कविके लिए निरीस्व-रति नहीं, वह विकसित

मानव है जो जीवनको प्रतिष्ठा दे सकनेके योग्य हो—अन्यायों और कुरीतियोंके विरुद्ध आवाज उठा सके। वह अपनेको औरोंसे अलग नहीं मानता, 'मैं सेतु हूँ'। किन्तु शून्यसे शून्यतकका सतरंगी सेतु नहीं। वह सेतु जो मानवसे मानवका हाथ मिलनेसे बनता है'' ('इन्द्र धनु रौंदे हुए' से) लेकिन इस भावनाका निर्वाह कहाँ तक लेखककी कृतियोंसे सम्भव हो सका है इसपर शंकाएँ उठती रही हैं। व्यक्ति तथा समष्टिके बीच वैसा सामंजस्य नहीं मिलता जैसा कवि घोषित करता है। कविताओंमें बराबर एक सूक्ष्म या स्पष्ट संघर्ष परिलक्षित होता है मानों कविका अन्तर्मन उस विषमताके प्रति सचेत है जिसका व्यक्ति—विशेषकर यदि वह एक मौलिक एवं क्रान्तिकारी कलाकार है—तथा समष्टिके बीच बना रहना लाजिम है। ऐसी दशामें कविका झुकाव किधर होगा, स्पष्ट है, ''अच्छी कुण्ठा-रहित इकाई। साँचे ढले समाजसे, अच्छा। अपना ठाठ फकीरी। मँगनीके सुख साजसे।'' (अरी ओ करुणा प्रभामय) यह सन्देह कि व्यक्तिकी विशिष्टता कविके लिए जनसाधारणकी इच्छासे अधिक महत्त्व रखती है, उनकी दृष्टिमें अक्षम्य हो सकता है जो जनरुचिके विकाससे अधिक जनरुचिमें आस्था रखते हैं। व्यक्तिवादी या समष्टिवादी या कोई 'वादी' होनेसे अधिक आवश्यक है विवेकशील और संवेदनशील होना जिसके बिना एक कला-कृतिका सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। अज्ञेयकी—बल्कि आजकी अधिकांश कवितासे बिलकुल ही अप्रभावित रह जाना असम्भव नहीं, यदि पाठक आधुनिक जीवनके क्रान्तिकारी परिवर्तनोंके अनुरूप ही कलामें भी परिवर्तनको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं। साधारणीकरणपर विचार करते हुए अज्ञेयने नयी काव्य-चेतनापर प्रकाश डाला है, 'राग वही रहनेपर भी रागात्मक सम्बन्धोंकी प्रणालियाँ बदल गयी हैं,....जैसे वाह्य वास्तविकता बदलती है—वैसे-वैसे इससे हमारे रागात्मक सम्बन्ध जोड़नेकी प्रणालियाँ भी बदलती हैं—और अगर नहीं बदलतीं तो उस वाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। जो उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में असमर्थ हैं वे उसे केवल वाह्य वास्तविकता मानते हैं जब कि हम उससे वैसा सम्बन्ध स्थापिता करके उसे आन्तरिक सत्य बना लेते हैं।'' (भूमिका : 'दूसरा सप्तक')।

अज्ञेयकी प्रयोगात्मकता एवं नवीनताको लेकर काफी आलोचना होती रही है। 'छायावाद' नामकी ही तरह यह भी एक आलोचनात्मक धाँधली है कि अज्ञेय एक प्रबुद्ध कलाकारसे अधिक तथाकथित 'प्रयोगवाद'के प्रवर्तक और पोषकके रूपमें जाने जायँ जबकि वे स्वयं हिन्दी आलोचकों द्वारा जबरदस्ती उन्हींके वक्तव्योंसे गढ़े गये इस नामको भ्रामक मानते हैं। 'दूसरा सप्तक' (१९५१) अज्ञेय द्वारा सम्पादित सात नये कवियोंका द्वितीय संकलन है। पहला संकलन 'तार सप्तक' तथा तीसरा संकलन 'तीसरा सप्तक' नामसे क्रमशः १९४३ और १९५१ में प्रकाशित हुए। 'दूसरे सप्तक'की भूमिकामें वे लिखते हैं, ''प्रयोगका कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आपमें इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविताका भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने आपमें इष्ट या साध्य नहीं है अतः हमें प्रयोगवादी कहना इतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।''

उपन्यास-क्षेत्रमें भी अज्ञेयकी देन काव्य-क्षेत्रसे कम महत्त्व नहीं रखती। प्रेमचन्द कालके आदर्शवादी उपन्यासोंके बाद आत्मकथात्मक शैलीमें लिखित 'शेखर'का व्यक्तिप्रधान खुला विद्रोह हिन्दी साहित्यमें एक नया दिशासंकेत था (व्यक्तिके विद्रोह-शक्तिकी गाथा) जिसमें अपनी परिस्थितियोंको बदलनेकी सामर्थ्य होती है) जिसने पाठकों को विशेष आकर्षित किया। (दे० 'शेखर-एक जीवनी') लेकिन जब हम 'शेखर'को उसके ऐतिहासिक संदर्भसे अलग एक स्वतंत्र उपन्यासके रूपमें विचारते हैं तो कुछ हदतक उसके आयामको उन्हीं कारणोंसे सीमित भी पाते हैं जिन्होंने परिस्थिति विशेषमें 'शेखर' को ख्याति दी। १९५२ में प्रकाशित लेखकका दूसरा उपन्यास 'नदीके द्वीप' यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे उतना सार्थक नहीं जितना 'शेखर' किन्तु इस सत्यको फिर पुष्ट करता है कि हिन्दी साहित्यको अज्ञेयकी शायद सबसे मान्य देन उनकी अत्यन्त समर्थ भाषा है। जैसा उपयुक्त शब्द-शिल्प और वाक्योंका कुशल-विन्यास उनके गद्य और पद्यमें मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है : नये विचारोंके अनुरूप ही अज्ञेय हिन्दीको एक नयी भाषा दे सके हैं। अज्ञेयकी प्रतिभा मुख्यतः कविताके योग्य है जो साहित्यकार से सबसे कम तटस्थताकी माँग करती है। उनकी 'व्यक्ति' और 'व्यक्तित्व'के पक्षमें पूर्वग्रहको लेकर जो आलोचनाएँ होती रही हैं वे शायद इस दृष्टिसे सर्वथा निराधार नहीं कि उसे पचा सकना अक्सर पाठकसे अधिक उनकी अपनी रचनाओंके लिए कठिन हो जाता है। 'शेखर'की आत्मकथात्मक शैलीमें लेखकके व्यक्तितवके लिए फिर भी गुंजाइश थी; 'नदीके द्वीप'में हम उसे न केवल एक बाधा वरन् ऐसी पृष्ठभूमि बन जाते देखते हैं जो चरित्रोंको ही नहीं सारे उपन्यासके विकासको कुण्ठित कर देती है। फिर भी 'नदीके द्वीप' एक अत्यन्त सतर्क एवं भावसम्पन्न कलाकारकी कृति है जिसका प्रमाण उपन्यासकी समग्रतासे अधिक उन तमाम छोटे-छोटे प्रसंगों और उक्तियोंमें मिलता है जिनका कथानक और चरित्रोंके बावजूद भी मूल्य है। अनेक आलोचनाओंके बावजूद इस सत्यकी अवहेलना नहीं की जा सकती कि अज्ञेय उन साहित्य निर्माताओंमेंसे हैं, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्यको एक नया मान दिया। वास्तविक अर्थमें समूचे साहित्यको आधुनिक बनानेका श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। अपने आपमें एक समर्थ कलाकार होनेके साथ-साथ वे हिन्दी साहित्यके संदर्भमें एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी हैं।

प्रकाशित रचनाएं : कविता—भग्नदूत १९३३ चिन्ता १९४२, इत्यलम् १९४६, हरी घासपर क्षण भर १९४९, बावरा अहेरी १९५४, इन्द्रधनु रौंदे हुये ये १९५७, अरी ओ करुणा प्रभामय १९५९, आँगन के पार द्वार १९६१ समुद्रमुद्रा—१९७० ई० प्रिजन डेज एण्ड अदर पोएम्स (अंग्रेजीमें) १९४६।

कहानियाँ—विपथगा १९३७, परम्परा १९४४, कोठरीकी बात १९४५, शरणार्थी १९४८, जयदोल, १९५१। **उपन्यास**—शेखर—एक जीवनी, प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, नदीके द्वीप, १९५२, अपने-अपने अजनबी १९६१। **भ्रमण वृतान्त**—अरे यायावर रहेगा याद? १९५३ एक बूँद सहसा उछली १९६०। **आलोचना**—त्रिशंकु १९४५, आत्मनेपद १९६०, भवन्ती १९७१ आलवाल १९७१ ई०।

संपादित ग्रंथ—आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध संग्रह) १९४२, तार सप्तक (कविता संग्रह) १९४३, दूसरा सप्तक (कविता संग्रह) १९५१, तीसरा सप्तक (कविता संग्रह) १९५९, पुष्करिणी (कविता संग्रह) सम्पूर्ण १९५९, नये एकांकी १९५२, रूपांबरा १९६०।

[सहायक ग्रन्थ—'आत्मनेपद' : अज्ञेय; 'अज्ञेय और आधुनिक रचनाकी समस्या' रामस्वरूप चतुर्वेदी।]

—क० ना०

अटवी देवी—पार्वती या भवानीका नामान्तर है। कहा जाता है कि एक बार भव मनुष्यों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने के लिए अरण्य गये। भवानीने भवको बन जाते देख लिया और प्रत्येक वृक्षसे खेलती हुई वनमें घूमने लगीं। भवानीके रूपालोकसे एक सुन्दर देवता उत्पन्न हुए। अनन्तर भवानी और सुन्दर देवता दोनों अटवीवनमें आकर खेलने लगे। इस वनमें भवानी अटवीदेवीके नामसे अभिहित हुईं। पुराण में इस वनका भवाटवी नामसे उल्लेख किया गया है। विलफोर्डके अनुसार अटवीवन अफ्रीकाकी नीलनदीके तटपर स्थित था। यूनानियोंकी अरण्यदेवी डायनाका मन्दिर पहले इसी जगह था जिन्हें यूनानी बटोई (Butoi) कहते थे। —ज० प्र० श्री

अतिकाय—रावण इसका पिता था और राक्षसी धन्यमालिनी इसकी माता थी। स्थूलकाय होनेके कारण इसका नाम अतिकाय रखा गया था। इसने तप करके ब्रह्मा से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे। ब्रह्मा ने इसे यह भी वरदान दिया था कि इसे न देवता मार सकेंगे और न असुर। इसने बाणोंकी वर्षा कर इन्द्रका वज्रास्त्र और वरुणका पाश हस्तगत कर लिया था। जब रावण की आज्ञा लेकर यह राम से युद्ध करने पहुँचा, तब इसके विशाल शरीरको देख वानर भयभीत होकर भागने लगे। रामने भी साश्चर्य विभीषणसे इसका परिचय पूछा। इसने लक्ष्मणके साथ युद्धमें अपूर्व निपुणता दिखाई। यह लक्ष्मणके अर्द्धचंद्रबाग (ब्रह्मास्त्र) द्वारा मारा गया था। पृथ्वीपर गिरनेपर इसके मुण्डने रामनामका उच्चारण किया था—"मेघनाद अतिकायबट, परे महोदर खेत" (प्र० ५।७।१)। "अनिप अकंपन अरु अतिकाया।" (मा० ६।४६।५)।

—ज० प्र० श्री०

अत्रि—१. ब्रह्मा के पुत्र थे जो उनके नेत्रों से उत्पन्न हुए थे। ये सोमके पिता थे जो इनके नेत्रसे आविर्भूत हुए थे। इन्होंने कर्दमकी पुत्री अनसूयासे विवाह किया था। इन दोनोंके पुत्र दत्तात्रेय थे। इन्होंने अलर्क, प्रहलाद आदिको अन्वीक्षकीकी शिक्षा दी थी। भीष्म जब शर-शैय्यापर पड़े थे, उस समय ये उनसे मिलने गये थे। परीक्षित जब प्रायोपवेशका अभ्यास कर रहे थे, तो ये उन्हें देखने गये थे। पुत्रोत्पत्तिके लिए इन्होंने ऋक्ष पर्वतपर पत्नीके साथ तप किया था। इन्होंने त्रिमूर्तियोंकी प्रार्थनाकी थी जिनसे त्रिदेवोंके अंश रूपमें दत्त (विष्णु), दुर्वासा (शिव) और सोम (ब्रह्मा) उत्पन्न हुए थे। इन्होंने दो बार पृथुको घोड़े चुराकर भागते हुए इन्द्रको दिखाया था तथा हत्या करनेको कहा था। ये वैवस्वत युगके मुनि थे। मंत्रकारके रूपमें इन्होंने उत्तानपाद को अपने पुत्रके रूपमें ग्रहण किया था। इनके ब्रम्हावादिनी नामकी एक कन्या थी। परशुराम जब ध्यानावस्थित रूपमें थे उस समय ये उनके पास गये थे। इन्होंने श्राद्ध द्वारा पितरोंकी अराधना की थी और सोमकी राजक्ष्मा रोग से मुक्त किया था। ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि की रचना के लिए नियुक्त किये जानेपर इन्होंने 'अनुत्तम' तप किया था जब कि शिव इनसे मिले थे। सोमके राजसूय यज्ञमें इन्होंने होताका कार्य किया था। त्रिपुरके विनाशके लिए इन्होंने शिवकी आराधनाकी थी। वनवासके समय राम अत्रिके आश्रम भी गये थे—"अत्रिके आश्रम जब प्रभु गयऊ" आदि (मा० अ० २।४)

२. वारुणि यज्ञमें अग्निकी लपटोंसे उत्पन्न हुए थे। इनके दस सुन्दर और पवित्र पत्नियाँ थीं। जो कि भद्राश्व और घृताची की कन्याएँ थीं। इनके दसों पुत्र अत्रेय और स्वस्त्यात्रेय नामसे प्रसिद्ध थे।

—ज० प्र० श्री०

अथर्वण—१. इन्होंने कर्दमकी पुत्री शान्तिसे विवाह किया था। इन्होंने ही संसारमें यज्ञका प्रचार कियाथा। इनके पत्र दध्यंच थे जिनका सिर घोड़ेका-सा था।

२. एक ब्राह्मण पुजारी थे जिन्हें युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञमें पौरोहित्यके लिए आमंत्रित किया था।

—ज० प्र० श्री०

अदिति—दक्ष प्रजापतिकी कन्या और देवताओंकी माता थीं। इन्हींसे द्वादश आदित्योंका भी जन्म हुआ था। ये कश्यपकी पत्नी थीं जिनसे विष्णुका वामन अवतार हुआ था। कश्यप अदिति की महान् तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवानुने उनसे वरदान माँगनेको कहा। इसपर इन्होंने विष्णुको ही पुत्र रूपमें पानेकी इच्छा व्यक्तकी। इस इच्छाको भगवानुने तीन बार पूरा किया—"कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन कहँ मैं पूरब वर दीन्हाँ।" या रामावतारकी कौशल्या और कृष्णावतारकी देवकी अदितिकी प्रतिमूर्ति थीं। (दे० सूर० पद ६२२) नरकासुरका बध करनेपर कृष्णको जो दो कुण्डल प्राप्त हुए थे, कृष्णने उन्हें अदितिको दे दिया था। इंद्र और कृष्णके बीच पारिजात पुष्पको लेकर जो संघर्ष हुआ था, उसका निर्णय अदितिने किया था।

—ज० प्र० श्री०

अधिरथ—अंगवंशमें उत्पन्न सत्कर्माके पुत्र थे। इनकी पत्नीका नाम राधा था। ये धृतराष्ट्रके सखा और सारथी थे। कर्णको पाल-पोसकर इन्होंने ही बड़ा किया था। कर्णके जन्म ग्रहण करते ही कुन्तीने उन्हें एक मंजूषामें रखकर गंगामें प्रवाहित कर दिया। यह पेटी अधिरथ और राधा-को गंगामें जल-क्रीड़ा करते समय मिली। दम्पति निस्सन्तान थे, अतः कर्णका पुत्रकी भाँति भरण-पोषण किया (दे० 'कुन्ती और कर्ण' शीर्षक कविता : मैथिलीशरण गुप्त)। —ज० प्र० श्री०

अनंग—कामदेवका नामान्तर अनंग भी है। तारकासुरके अत्याचारोंसे देवता अत्यधिक भयभीत हो गये। देवताओंको त्रसित जानकर ब्रह्माने उन्हें बताया कि 'संभु सुक्र संभूत सुत' (मानस) कार्त्तिकेय ही उसे पराजित कर सकते हैं। महादेवजी उस समय सतीके दक्ष-यज्ञमें भस्म हो जानेके बाद, समाधिस्थ थे। उनकी तपस्याको भंगकर उमासे उनका विवाह सम्पन्न करानेपर ही कार्त्तिकेयकी उत्पत्ति सम्भव थी। अतः देवताओंकी प्रार्थनापर लोक कल्याणके लिए कामदेवने शिवपर तीक्ष्ण सुमनोंके शरसे प्रहार किया जिससे उनकी समाधि भंग हो गयी। इसपर क्षुब्ध शिवने कामदेवको तृतीय नेत्रसे जलाकर क्षारकर दिया। रतिके प्रार्थना करनेपर शिवने

बतायाकि 'अब तें रति तव नाथकर होइहि नाम अनंग'। हिन्दी साहित्यमें अनंग अथवा कामदेवके अनेकानेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।—ज० प्र० श्री

अनंग अराती (+ अरि)—(दे० अनंग) कामदेवको भस्म करनेके कारण ही महादेवका नाम पड़ा—"सादर जपहु अनंग अराती" (मा० १।१०८।४) अथवा "गंग-जनक, अनंग-अरिप्रिय कपट बटु बलिछरन" (वि० २१८)।

—ज० प्र० श्री

अनंत—शेषनागका नामान्तर अनन्त भी है। ये नागोंके तथा पातालके अधिपति थे। महाप्रलयके अन्तमें विष्णु इनके शरीरकी शय्यापर शयन करते हैं। इससे इन्हें अनन्तशयन भी कहते हैं। कहा जाता है कि ये सहस्रफनवाले हैं और इन्हींपर ब्रह्माण्ड की स्थिति है। कहीं-कहीं शेष और वासुकि दो माने गये हैं। इनके पिताका नाम कश्यप और माताका नाम कद्रू था। अनन्तशीर्षा इनकी पत्नी थीं। अनन्तचतुर्दशीका पर्व इन्हींके उपलक्षमें मनाया जाता है दशरथके पुत्र लक्ष्मण इन्हींके अवतार कहे जाते—"सानुकूल कोसलपति रहहु अनन्त समेत" (मा० ६।१०७)। द्वापरके बलराम भी इन्हींके अवतार माने गये हैं। अन्य सन्दर्भोंके अतिरिक्त मध्ययुगीन-विशेषतः भक्ति साहित्यमें सहस्रजिह्वा अनन्तको भी अतिशयोक्तिके रूपमें प्रायः गुण-वर्णनसे असमर्थ कहा गया है। ब्रह्म रूप नामको अनन्त कहा है—"कह दुहु करजोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करों अनन्ता" (मा० १।१९२। छं० २)।

—ज० प्र० श्री०

अनंतदेवी—प्रसादकृत नाटक 'स्कन्दगुप्त'की पात्र। अनन्तदेवी बूढ़े सम्राट् कुमारगुप्तकी छोटी रानी और पुरगुप्तकी माता है। वह बड़ी ही साहसशीला और महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर कार्य करनेवाली स्त्री हैं। वह सपत्नी पुत्र स्कन्दगुप्तके स्थानपर अपने कनिष्ठ पुत्र पुरगुप्तको राजसिंहासनपर बैठाने एवं स्वयं महादेवी बननेके लोभसे महाबलाधिकृत भटार्कसे मिलकर षडयंत्रकी योजना बनाती है। अपने उग्र स्वभाव एवं महत्त्वाकांक्षाके आवेशमें वह राज मर्यादाका भी अतिक्रमण कर जाती है। वह महादेवी देवकीको राजमाताके पदसे च्युत करनेके लिए सब कुछ करनेको तत्पर हो जाती है। उसका दृढ़ निश्चय है कि "अपनी नियतिका पथ मैं अपने पैरों चलूँगी।" अपने इस कथनकी पूर्तिके लिए वह साहस, कठोरता, कुटिलता एवं कौशल आदि सभी उचित-अनुचित उपायोंको प्रयुक्त करती है। वह 'विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट्'को विलासिताके पंकमें डुबोकर अपने लिए अनुकूल वातावरणका निर्माणकर लेती है तथा पुरगुप्तको सिंहासनपर बैठानेके लिए क्रूरकर्मा प्रपंचबुद्धि और भटार्कको अपनाती है। भटार्कको महाबलाधिकृत बनवाकर उसे अपने कृतज्ञतापाशमें बाँध लेती है। इन दोनोंके सहयोगसे अनन्तदेवी मगधमें 'पारसीक मदिरा'के स्थानपर रक्तकी धारा बहाती है। कुमारगुप्तकी रहस्यात्मक कौशलपूर्ण मृत्युमें अनन्तदेवीका हाथ है। इसी प्रकार महादेवी देवकीकी हत्याके आयोजनमें भी उसकी सक्रिय चेष्टा प्रतिभासित होती है। उसने आर्य जाति और गुप्त साम्राज्यकी सुरक्षा और शान्तिकी चिन्ता न करके हूणोंसे उत्कोच लेकर उनके साथ षड्यन्त्र किया। नगरहारके रणक्षेत्रमें स्कन्दगुप्तकी हार अनन्तदेवीकी कुमन्त्रणाकी कलंककथा दुहराती है। अपने पुत्र पुरगुप्तकी निर्वीर्यता एवं भटार्ककी अस्थिरताके कारण अनन्तदेवीको अपनी लक्ष्य प्राप्तिमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। अवसरके अनुकूल अपने अमर्यादित व्यक्तित्वको मोड़नेमें अनन्तदेवी अद्भुत क्षमता रखती है। उसमें कुटिलता एवं महत्त्वाकांक्षाके साथ-साथ विषयलोलुपता और विलासिताकी मात्रा भी यथेष्ट है। वह प्रथम परिचयमें ही भटार्कको काम-पिपासाके संकेतोंकी सूचना देकर अपने प्रेम-पाशमें बाँधना चाहती है। इस प्रकार अनन्तदेवी निम्न स्वार्थोंसे प्रेरित होकर पतिकी हत्या, स्कन्दसे विरोध, देवकीके वधकी चेष्टा और साम्राज्यके विरुद्ध षड्यन्त्र करते हुए हूणोंको सहायता प्रदान करके भी अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें असफल रहती है।

—के० प्र० चौ०

अनंतबंधु—लक्ष्मण अनन्तके अवतार हैं, अतः रामको अनन्तबन्धु कहा गया है—"सुनु हनुमन्त अनन्तबन्धु करुना सुभाव सीतल कोमल अति" (गी० ५।९)। दे० अनन्त। —ज० प्र० श्री०

अनन्य अलि—राधावल्लभ सम्प्रदायके अन्य कवियोंमें अनन्य अलि अपनी 'लीला स्वप्न प्रकास सुधी बात'शीर्षक गद्य वार्ताके कारण पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। स्वप्न प्रकाशके अन्तः साक्ष्यके आधारपर वे वैश्य जातिके प्रतीत होते हैं। उनके घरमें व्यापार वाणिज्यका काम होता था। उनके पिता भी राधावल्लभीय थे, अतः सेवा-पूजाका वातावरण पहलेसे ही घरमें विद्यमान था। उनका जन्म संवत् १७४० (सन् १६८३) के आसपास हुआ, बीस वर्षकी आयुमें वैराग्य होनेपर घरबार छोड़कर वृन्दावन चले आये। रचनाकी शैली तथा भाषाके आधारपर वे बुन्देलखण्डके निवासी प्रतीत होते हैं। उनके लिखे हुए ८० ग्रन्थ बताये जाते हैं। 'अनन्य अलीकी वाणी' नामसे उनका संकलन हुआ है। ग्रन्थोंके आधारपर अनन्य अलिका रचना-काल संवत् सन् १७०२ से १७३३ तक है। अतः इसीके आस-पास उनका निधन मानना चाहिए।

अनन्य अलीका पूर्व नाम भगवानदास था। उन्होंने अपने तेरह स्वप्नोंका वर्णन गद्यमें किया है। उसीमें लिखा है कि राधाने प्रसन्न होकर मुझे नया नाम 'अनन्य अली' दिया। स्वप्न लिखनेमें प्रवृत्त होनेसे पहले उन्हें स्वयं संकोचका अनुभव हुआ। उन्होंने लिखा है—"ये सुपने लिखने उचित नाहीं हैं, ये मेरो हियो अति काचौ है, वस्तु परी पच्यौ नाहीं। तातैनिकसि परचो तातै लिखी है। और मोसों पतित कोऊ नाहीं, सकल ब्रह्मांडके पतितन कौ हौं महाराज हौं।"

अनन्य अलीकी वाणीका विपुल विस्तार है। उन्होंने सिद्धान्त नित्य विहार, वृन्दावन वर्णन, विविध लीला वर्णन, ऋतु वर्णन, नखशिख वर्णन, राधाकृष्ण रूपवर्णन आदि अनेक विषयोंपर रचनाकी है। सम्पूर्ण, रचनाका संकलन लगभग ६००० पदोंका है।

अनन्य अलीकी वाणीमें प्रसाद और माधुर्यका सुन्दर योग है। जातिसे वैश्य होनेके कारण वाणिज्य-व्यापारके अनेक रूपक उन्होंने बाँधे हैं। प्रत्येक ग्रन्थका शीर्षक उसके विषयके आधारपर दिया गया है। काव्य-रस की दृष्टिसे भी उनकी वाणी अत्यन्त समृद्ध है। लीलाएँ लिखनेमें उन्हें पूर्ण सफलता

मिली है। 'स्वप्न प्रसंग' के गद्यको देखकर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन गद्य लेखकोंमें यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय और सिद्धान्त ३९०—विजयेन्द्र स्नातक; गोस्वामी हितहरिवंश और उनका सम्प्रदाय—श्री ललिता चरण गोस्वामी]—वि० स्ना०

अनल— लंकापतिके भाई विभीषणका मन्त्री था।

ज० प्र० श्री

अनसूया—१. दक्ष प्रजापतिकी चौबीस कन्याओंमें एक अनुसूया भी थी। मतान्तरसे इन्हें कर्दम तथा देवहूतिकी कन्या भी बताया जाता है। ये अत्रि मुनिकी पत्नी थीं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर क्रमशः चन्द्रमा, दत्तात्रेय, दुर्वासाके रूपमें इनके पुत्र हुए थे। ये पतिव्रता पत्नीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। तुलसीने अपने मानसमें सीतासे इनकी भेंटका वर्णन किया है—"अनुसूयाके पद गहि सीता, मिली बहोरि सुसील विनीता" (मा० ३।५।१)। इस भेंटके समय ये वृद्ध हो चुकी थीं। पोर शिथिल हो गये थे, त्वचापर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और केश श्वेत हो चुके थे। सीताको इन्होंने पातिव्रतका शिक्षाप्रद उपदेश दिया था—'अमित दान भर्ता वैदेही। अधम नारि जो सेव न तेही' आदि (मा० ३।५-६)। इसके अलावा इन्होंने सीताको कभी न मुरझानेवाली माला, थोड़ेसे अलंकार और चंदनका आलेप भेंट स्वरूप प्रदान किया था।

२. अभिज्ञान शाकुन्तलमें कालिदासने अनसूया नामकी महर्षि द्वारा पालित शकुन्तलाकी एक अंतरंग सखीका उल्लेख किया है। —ज० प्र० श्री०

अनामिका—निरालाका तीसरा तथा प्रौढ़तम काव्य संग्रह है जिसकी अधिकांश कविताएँ सन् १९३५ से ३८ के बीच लिखी गयी हैं। इस नामका एक और काव्य संग्रह १९२२ ई० में प्रकाशित हो चुका था। पर इस 'अनामिका' में पूर्व प्रकाशित अनामिकाका कोई अवशिष्ट चिह्न नहीं है। उस 'अनामिका' के सभी अच्छे गीत 'परिमल' में समाविष्ट कर लिये गये। इस अनामिकाका प्रकाशन सन् १९३८ ई० में हुआ।

सन् ३५ से ३८ के बीच लिखी गयी रचनाओंमें, जो अनामिकामें संगृहीत हैं, प्रयोगकी विविधता मिलती है। पर छन्दोंके विस्तृत प्रयोग, भाषाकी क्लिष्टता, व्यक्तिगत घटनाओंके सन्निवेश, दार्शनिक तथ्योंकी ओर अपेक्षाकृत झुकाव, संस्कृत गर्भ पदावली तथा रूपकके सफल निर्वाहकी चेष्टासे स्पष्ट हो जाता है कि कवि पांडित्य तथा कलात्मक प्रौढ़ताके समस्त उपदानोंको लेकर आगे बढ़ रहा है। इस समय इस तरहकी रचनाओंके अतिरिक्त कवि व्यंग्यात्मक कविताएँ भी लिख रहा था। यह कविकी एक ही मनोवृत्तिके दो पहलू हैं। एक ओर वह अपनी कलापूर्ण प्रौढ़ कृतियों द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर रहा था और दूसरी ओर व्यंग्यात्मक रचनाओंसे विरोधियोंपर तीव्र कशाघातकर उनकी रुढ़ मान्यताओंकी हंसी उड़ा रहा था। 'प्रेयसी', 'रेखा', 'सरोजस्मृति', 'रामकी शक्तिपूजा' में उनके भाव और कलाके श्रेष्ठ स्थापत्यको देखा जा सकता है जब कि 'दान', 'वनबेला', 'सेवा-प्रारम्भ' आदि दूसरे प्रकारकी रचनाएँ हैं।

रामकी शक्ति पूजाके भाव तथा शैलीमें महाकाव्यात्मक औदात्य पाया जाता है। रावणके अव्यर्थ शरोंकी मारसे विकल वानरी सेनाको देखकर रामकी व्याकुल मनःस्थितिका इसमें बहुत ही मनोवैज्ञानिक तथा प्रभावपूर्ण चित्रण किया गया है। यह एक अलंकृति प्रधान रचना है, पर अलंकृतिका यह संभार वीररसके पोषकके रूपमें आया है। कविकी नवीन कल्पना तथा मनोवैज्ञानिकताके पुटने इसे पूर्णतया आधुनिकोंके अनुकूल बना दिया है। 'सरोजस्मृति' हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ शोकगीत (एलेजी) है। इस अतिशय वैयक्तिक वस्तुकी अभिव्यंजनामें कविकी आत्यन्तिक निर्लिप्तता उसकी श्रेष्ठताका परिचायक है। अनुभूतिकी गहरी व्यंजनाकी दृष्टिसे भी यह बेजोड़ रचना है। बीच-बीचमें आयी हुई व्यंग्योक्तियाँ व्यथाके भारको और भी बढ़ा देती है। दान, वनबेला आदिमें कवि तथा कथित दानियों, नेताओं आदिका पर्दाफाश कर उनकी वास्तविकताको उद्घाटित कर देता है। —ब० सिं०

अनामिका--२४ दिसम्बर १९५५ ई० को अनामिकाकी स्थापना कलकत्तेमें हुई। इस तिथि से आज तक इस संस्थाके नाटकोंके ६७, आठ एकांकियोंके १० और १५ रुपान्तरित नाटकोंके १३६ प्रदर्शन हो चुके हैं। कलकत्ता जैसे महानगरमें इतने प्रदर्शन करनेका साहस नाटकके प्रति अनुरागका प्रमाण है। १९५७ ई० में हिन्दी नाट्य लेखनको प्रोत्साहित करनेके लिए १०००/ का पुरस्कार भी संस्थाने प्रदान किया। २६ मई १९५८ को संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित अखिल भारतीय नाट्य प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त करनेके कारण सम्मानित हुई।

आरम्भिक प्रदर्शनोंपर ५००/ प्रति प्रदर्शनका घाटा उठाते हुए भी संस्था अपने धर्मसे विचलित न हुई। घाटा क्रमशः कम होता गया है। सन् ७१ ई० तक यह कमी केवल २००/ की रह गयी थी। इन प्रदर्शनोंका परिणाम यह हुआ कि अनामिकाको करीब १५०० ऐसे दर्शक मिले जो अपना पैसा खर्च करके नाटक देखते थे। इसमें बंगाली और गुजराती भाषा भाषियोंके अलावा मराठी और द्रविण भाषी भी हैं। उन प्रदर्शनोंमें दर्शकोंकी संख्या अधिक देखी गयी है जिनमें गम्भीरता और गहराई अधिक थी। 'आधे अधूरे, एवम् इन्द्रजित पगला घोड़ा को राम श्याम का जादू और बल्लभपुरकी रूककथा जैसे हास्य प्रधान नाटकोंसे अधिक पसन्द किया गया। अनामिकाको अधिकांश प्रस्तुतियोंका निर्देशन श्यामानन्द जालान और प्रतिभा अग्रवालने किया है। २०० के लगभग महिला और पुरुष कलाकारोंके परिवारसे युक्त यह संस्था रंगमंचके विकास प्रतिष्ठापन और उपलब्धिकी दृष्टिसे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

अनिरुद्ध—प्रद्युम्नके पुत्र तथा कृष्णके पौत्र अनिरुद्धका विवाह कृष्णकी चचेरी बहिन सुभद्रा से हुआ था। किन्तु इनकी पत्नी के रूप में उषा की ख्याति है। वह शोणितपुर के राजा वाणासुर की कन्या थी। पार्वती के वरदान से उषा ने स्वप्न में अनिरुद्ध के दर्शन किये तथा उन पर रीझ गयी उषा की मनोदशा जानकर चित्र लेखा ने अनेक राजकुमारों के चित्र के साथ उनका भी चित्र निर्मित किया। उषा ने हावभाव द्वारा चित्र लेखा के सामने प्रकट कर दिया कि अनिरुद्ध ही उसका प्रेम-पात्र है। चित्र लेखा ने योग बल से सुप्तावस्थामें उनका अपहरण किया और दोनों का गान्धर्व-विवाह कराकर चार

मास तक दोनों को गुप्त स्थान में रखा। वाण को सेवकों द्वारा जब यह रहस्य ज्ञात हुआ तो उसने अनिरुद्ध को पकड़ने के लिए उन्हें भेजा किन्तु अनिरुद्ध ने उन सबको गदा से मार गिराया। इस पर वाण ने उन्हें माया युद्ध में पराजित कर बन्दी कर लिया। यह समाचार मालूम होने पर कृष्ण, बलराम तथा प्रद्युम्न ने वाण को पराजित किया। बाण की माता कोटरा की प्रार्थना पर कृष्ण ने वाण को जीवनदान दिया। इस पर वाण ने विधिवत् उषा-अनिरुद्ध का विवाह कर इन्हें विदा किया। सूरसागर में उषा-अनिरुद्ध की कथा संक्षेप में दी गयी है। (पद ४८१५-४८१६)। परन्तु इस कथा को लेकर अनेक प्रेमाख्यान रचे गये हैं। भारतीय साहित्य में कदाचित् यह एक अनोखी प्रेम-कथा है जिसमें एक प्रेमिका स्त्री द्वारा पुरुष का हरण वर्णित है।

—ज० प्र० श्री०

अनीस—केवल एक छन्द—"सुनिये विटप हम पुहुप तिहारे" के आधार पर अनीस कवि हिन्दी के चिर-परिचित कवि हो गये हैं। इस छन्द को 'दिग्विजय भूषण' में स्थान मिला है और 'शिवसिंह सरोज' में भी सम्भवतः वहीं से संकलित किया गया है। मिश्र-बन्धुओं के अनुसार दलपतराय वंशीधर के काव्य-शास्त्र ग्रन्थ 'अलंकार रत्नाकर' में अनीस के अनेक छन्द संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ की रचना १७४१ ई० में हुई है, अतः इससे पूर्व ही अनीस का समय माना जा सकता है। परन्तु सरोज-कारने किस आधार पर इस कवि का उपस्थिति-काल १८५४ ई० माना है, कहना कठिन है।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका); मि० वि०।]—सं०

अनूपलाल मंडल—जन्म सन् १८१७ में पूर्णिया जिले के अन्तर्गत समेली ग्राम में हुआ। प्रारम्भ में इन्होंने लोअर प्राइमरी स्कूल में शिक्षण-कार्य किया। फिर सन् १९२८ में सेठिया कालेज, बीकानेर में अध्यापन करने लगे। कुछ समय पश्चात् युगान्तर साहित्य मन्दिर के नाम से भागलपुर में अपनी प्रकाशन संस्था की स्थापना की और वहीं से अपनी कृतियों का प्रकाशन करने लगे। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने सन् १९२७ में अपनी सम्पादित पुस्तक 'रहिमन-सुधा' के साथ प्रवेश किया। सन् १९२९ में इनके प्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास 'निर्वासित' का प्रकाशन हुआ। सन् १९४० में 'बहूरानी' के नाम से इनके 'मीमांसा' नामक उपन्यास का चलचित्र भी बना। इनकी पुस्तकों में 'अलंकार प्रवेशिका', 'रहिमन सुधा' (सम्पादित), 'पंचामृत' (सम्पादित) 'महर्षि रमण', 'योगी अरविन्द', उपनिषदों की कहानियाँ (२ भाग), उपदेश की कहानियाँ (४ भाग), समाजशास्त्र (अनुवाद), भगवद्गीता (अनुवाद), केन्द्र और परिधि (उपन्यास) तथा रक्त और रंग (उपन्यास) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह दो वर्ष तक पाण्डीचेरी के अरविन्द आश्रम में साधक के रूप में रहे, जिसकी आजीवन सदस्यता इन्होंने स्वीकार की है। सन् १९५१ से यह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के प्रकाशन अधिकारी के पदपर कार्य कर रहे हैं। बिहार के प्रमुख उपन्यासकारों में इनका नाम लिया जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के षष्ठ वार्षिकोत्सव का विवरण।]—प्रे० ना० टं०

अनूपशर्मा—जन्म 'कविता-कौमुदी' भाग २ के अनुसार नवीनगर, जिला सीतापुर में सन् १९०० ई० में हुआ। पिता का नाम पं० बदरी प्रसाद त्रिपाठी था। नबीनगर सीतापुर जिले का वह भाग है जहाँ ब्रजभाषा के अनेक सिद्धहस्त कवि हो चुके हैं। ये एम० ए० एल० टी० हैं और सीतामऊ हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक भी रहे। आकाशवाणी लखनऊ के पंचायत घर-कार्यक्रम में कार्य करते रहे हैं। इधर इनके मन पर विक्षेप का कुछ प्रभाव आ गया है स्वभाव से विनोदी व्यक्ति हैं।

'सिद्धार्थ' इनकी प्रथम प्रकाशित कृति है जो नाथूराम प्रेमी, बम्बई द्वारा सन् १९३७ में प्रकाशित हुई। यह १८ सर्गों में लिखित एवं संस्कृत वर्ण वृत्तों में विन्यस्त एक महाकाव्य है। 'सिद्धार्थ', ब्रजभाषा के एक परिमार्जित एवं सिद्धहस्त कवि की खड़ी बोली की रचना है, जिसमें संस्कृत के खरे तत्सम रूपों का बाहुल्य स्वाभाविक एवं कवि के लिए मनोवैज्ञानिक था। 'हरिऔध' की भाँति ही इस काव्य में भी भाषा प्रलम्ब, समास-युक्त क्लिष्ट एवं इतिवृत्तात्मकता प्रधान है। सिद्धार्थ के रंग-भवन का वर्णन विलाससज्जा से पूर्ण है। गृह-त्याग का सगे करुणा-मय एवं सम्बोध प्राप्ति का प्रभात-वर्णन अन्तराह्लाद-पूर्ण है। प्रभात पर भगवान् बुद्ध का सतोगुणी प्रभाव प्रतिबिम्बित किया गया है। ब्रजभाषा के पूर्व संस्कार के कारण संस्कृत के 'यदा'-'तदा' आदि अव्ययों के साथ ब्रजभाषा के 'पे' 'के' ('कर' पूर्वकालिक रूप के स्थान पर) 'लोनी', 'बिलोक' 'बिहाय' आदि शब्द-रूप भी मुक्त भाव से प्रयुक्त हुए हैं। विशेषण और विशेष्यों के प्रयोग में संस्कृत की भाँति लिंग-साम्य की प्रवृत्ति भी परिलक्षणीय है। अभिधात्मकता के आधिक्य के साथ भी यथास्थान रसात्मकता एवं वाक्चातुर्य का सुन्दर विधान संघटित हुआ है। 'फेरि मिलिबो' नामक सन् १९३८ में प्रकाशित ब्रजभाषा-प्रबन्ध-काव्य ७५ अध्यायों में श्रीमद्भागवत की कृष्ण-राधा-पुनर्मिलन की मर्ममयी घटना पर लिखा गया द्वितीय प्रकाशित ग्रन्थ है। नारद ने ब्रज का सन्देश सुनाया। रुक्मिणी ने प्रणय-प्राणा राधिका के दर्शन की लालसा व्यक्त की। नारद गोपियों को लेकर कुरुक्षेत्र गये। कृष्ण के साथ गयी रुक्मिणी ने गोपि-शिरोमणि राधिका की साधना-मूर्ति के दर्शन कर अपने प्रेम-गर्व का संवरण : किया। 'गद्य-पद्य-मयंचम्पूरित्यभिधीयते' ('काव्य-प्रकाश') के अनुसार इसे 'चम्पू' की श्रेणी में गिना जायगा। शास्त्रानुसार सन्धियों, रीतियों एवं अलंकारों का सजग प्रयोग हुआ है। पांचाली वृत्ति प्रधान है। प्रसाद एवं माधुर्य गुणों की प्रधानता और ओज का सर्वथा अभाव है। कृष्ण इसके धीरोदात्त नायक है। 'राधिका छन्दसे ग्रन्थका प्रारम्भ हुआ है पर 'रोला' छन्द ही सर्वातिशायी है। ब्रजभाषाके सीमित संस्कारोंके भीतर लिखी जाकर भी यह रचना शर्माजीकी नादमयी भाषा-शक्ति अनुप्रास प्रियता तथा अभिव्यक्ति-कौशलकी सिद्धि है। अनेक छन्द ब्रजभाषाके पुराने प्रसिद्ध कवियोंके सुज्ञात छन्दोंके आदर्शपर लिखे जानेपर भी कविके अभ्यास, चिर-संस्कार, एवं बुद्धि-कौशलका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। 'सुमनांज्जलि' कवित्त-छन्दोंमें लिखित एवं सन् १९३९ में प्रकाशित स्फुट काव्य-रचना है। इन रचनाओं में छायावादी प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट है। 'सुनाल' कुणाल-चरित्रपर रचित खंड-काव्य है। 'वर्धमान' शर्माजीकी प्रबन्धात्मक प्रतिभाका सर्वाधिक

प्रमाण, सन् १९५१, जुलाईमें प्रकाशित और जिनाचार्य महावीर स्वामी (वर्धमान) के चरित्रको लेकर रचित एक शास्त्रीय महाप्रबंध कृति है। वर्णनात्मकता एवं इतिवृत्तके होते हुए भी प्रकृति-वर्णन, देश-काल चित्रण एवं रस-भावावेशकी दृष्टिसे कविको इस ग्रन्थमें सर्वाधिक सफलता मिली है। इस कृतिको 'सिद्धार्थ' का सुपरिष्कृत एवं सुष्ठु-विकसित प्रयास कहा जा सकता है। रस, वृत्ति, सन्धि, गुण आदिके शास्त्रीय विन्यासके साथ चमत्कारोत्पादनकी रुचि शर्माजीकी प्रतिभाकी अपनी विशेषता है। ये प्रधानतः 'द्विवेदी-युगीन' प्रसिद्ध कवि है; भाषा-शैलीमें 'हरिऔध' जीके सामयिक हैं। छायावादी स्फुट रचनाओंके आत्मनिष्ठ युगमे भी वस्तु-प्रधान प्रबन्ध-शैलीके विस्तारकोंमें इनका नाम अनुपेक्षणीय है। इन्हें 'फेरिमिलिबो' पर देव-पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। 'सिद्ध शिला' अप्रकाशित रचना है।

[सहायक ग्रन्थ–कविता-कौमुदी भाग २,–रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी-सेवी ससार, द्वि० सं०–प्रेमनारायण टण्डन, हिन्दीके महाकाव्य और महाकाव्यकार–प्रो० रामचरण महेन्द्र, बीसवीं सदीके महाकाव्य–डा० प्रतिपाल सिह, मिश्रबन्धु-विनोद भाग ४–मिश्रबन्धु।] –श्री० सिं० क्षे०

अनेकार्थमंजरी–दे० 'नन्ददास'।

अन्नपूर्णानंद–(जन्म : २१ सितम्बर १८९५ ई० और मृत्यु ४ दिसम्बर १९६२ ई०)। हिन्दीमें शिष्ट हास्य लिखनेवाले कलाकारोंमें अग्रणी। प्रमुखतः कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें हास्यकी योजना भाषाके स्तर और परिस्थितियोंकी विडम्बनापर आधारित है। अधिकांश कहानियोंमें काशी नगरके वातावरणको मूर्तिमान् किया गया है। लेखक स्वयं बराबर काशीमें ही रहे। कुछ दिनोंतक अपने बड़े भाई श्री सम्पूर्णानन्द (जो उत्तर-प्रदेशके मुख्यमन्त्री थे)के साथ लखनऊमें भी रहे। 'मनमयूर', मेरी हजामत, 'मंगलमोद', 'मगन रहु चोला' महाकवि चच्चा' (१९३२ ई०), 'पं० विलासी मिश्र' आदि-आदि रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। आप दानवीर श्री शिवप्रसाद गुप्तके निजी सचिव थे। गुप्तजीके साथ ही आपने संसारभ्रमण भी किया था। सं०

अपर्णा–मैनासे उत्पन्न हिमालयकी ज्येष्ठ कन्याका नाम। उमा तथा पार्वतीके नामसे प्रसिद्ध शिवकी पत्नी। नारदके उपदेशानुसार शिवको वर रूपमें प्राप्त करनेके लिए इन्होंने दुस्साध्य तप किया, यहाँ तक कि कालान्तरमें इन्होंने वृक्षोंकी कोपलोंका खाना भी त्याग दिया। तभी से इनका नाम अपर्णा' हुआ–''उमहि नाम तब भयउ अपरना'' (मा० १।७४।४) । –ज० प्र० श्री०

अपाला–अत्रि मुनिकी पुत्री। इन्हें कुष्ठ रोग हो गया था रोग-मुक्त होनेके लिए इन्होंने कठिन तप करके इन्द्रसे सोम प्राप्त किया था। इन्हें ब्रह्म-ज्ञान भी था। इनका एक सूक्त ऋग्वेदमें प्राप्त है। –ज० प्र० श्री०

अबूबक– इस्लाम धर्म के प्रथम खलीफा। इनके पिता अबूकोहाफा थे। अबबूक ने मोहम्मद साहब को सर्वप्रथम पैगम्बर रूपमें स्वीकार किया। ये मोहम्मद साहबके साथ एक गढ़ेमें रहते थे। वहाँ उन्हें एक सर्पने डँस लिया। पर कहा जाता है कि मोहम्मद साहबके थूक लगानेपर ठीक हो गये थे। गढ़ेमें साथ रहनेके कारण इनको यारगार भी कहा जाता है। मोहम्मद साहबका इन्हे प्रथम यार (मित्र) भी कहा जाता है। मैथिलीशरण गुप्तकी काबा-कर्बला-नामक-रचनामें अबूबकका चरित्र आदर्शके धरातलपर चित्रित हुआ है। दे० (काबा-कर्बला, पृ० ४३।) –रा० कु०

अभिजित–राजा नलके पुत्र थे। –ज० प्र० श्री०

अभिमन्यु–अर्जुनके पुत्र। कृष्णकी बहिन सुभद्रासे उत्पन्न हुए थे। इनकी पत्नीका नाम उत्तरा था जो विराटकी कन्या थीं। मृत्युके समय इनकी अवस्था १६ वर्षकी थीं। उत्तरा उस समय गर्भिणी थी। जिससे बादमें परीक्षित उत्पन्न हुए। महाभारतके युद्धमें आचार्य द्रोणने षड्यन्त्र द्वारा एक दिन अर्जुनको स्थानान्तरित कर चक्रव्यूह बनाकर युद्ध किया जिससे पाण्डव पक्षके भीम आदि जैसे महारथी घबरा गये। ऐसी संकटपूर्ण स्थितिमें इन्होंने युधिष्ठिरसे चक्रब्यूहको छिन्न-भिन्न करनेकी आज्ञा माँगी। ब्यूहभेदनकी विधि इन्होंने गर्भावस्थामें ही जान ली थी, क्योंकि अर्जुनने इसका उल्लेख सुभद्रासे किया था परन्तु इन्हें ब्यूह से बाहर निकलने का उपाय ज्ञात न था। युधिष्ठिरकी अनुमति पाकर इन्होंने सफलतापूर्वक चक्रब्यूह तोड़ा; और लौटते समय कौरवपक्षके सप्तमहारथियोंके सामूहिक प्रयत्न द्वारा मारे गये। इनकी मृत्युके प्रतिशोधके लिए अर्जुनने जयद्रथ वधकी प्रतिज्ञाकी थी। मैथिलीशरण गुप्तने 'जयद्रथ-वध' नामसे अभिमन्यु और उत्तराकी वीरता और करुणापूर्ण कथा काव्य-बद्धकी है। अभिमन्युकी कथाको लेकर कुछ नाटक भी रचे गये हैं।

ज० प्र० श्री०

अमरकांत–प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' का पात्र। 'कर्मभूमि'का अमरकान्त अच्छे विद्यार्थियोंमें-से था, किन्तु अधिक उच्च-शिक्षा प्राप्त न कर सका। सौतेली माँके कारण अपने पिता समरकान्तसे स्नेहपूर्ण सम्बन्ध नहीं रह जाता, दोनोंकी रुचि अलग-अलग है। बचपनमें माताका देहान्त हो जानेके कारण वह मातृ-स्नेहसे वंचित रहा। विमाता मिली वह भी डाइन। पिता शत्रु हो जाता है। वह अपने घरको घर नहीं समझता। चिन्ताका भार उसपर सवार रहता है। पत्नी सुखदा भी ऐसी मिली जिसके साथ मानसिक सामंजस्य स्थापित न हो सका। अपनी सास रेणुकाके कारण उसके विचार रईसजादोंके-से हो जाते हैं। उसे कीर्ति-लाभका चस्का पड़ जाता है। धीरे-धीरे रेणुका और सुखदाके स्नेहसे उसके हृदय की जलन मिट जाती है। वह राष्ट्रीय भावों से पूर्ण है, किन्तु वह कान्तिकारी न होकर सुधारवादी है। साथ ही वह आदर्शवादी एवं सहिष्णु है क्रियाशील, परिश्रमी और उदार होनेके साथ अमरकान्त सेवा-भावसे पूर्ण और वैधानिक रीतिसे स्वराज्य प्राप्त करनेका पक्षपाती है। व्यक्तिगत जीवनमें वह मानवतावादी है। सकीनाकी ओर वह आकृष्ट होता है, किन्तु मनोवैज्ञानिक कारणोंसे। अपने अतृप्त मानसिक जीवनके कारण ही वह मुन्नीकी ओर आकृष्ट होता है। अन्तमें वह सुखदाको अपनाकर सुखी होता है। –ल० सा० वा०

अमरनाथ झा–जन्म २५-२-१८५७ ई० को हुआ। मृत्यु १९५७ ई० में हुई। इनके पिता महामहोपाध्याय डाक्टर सर गंगानाथ झा, विद्यासागर, एम० ए०, डि० लिट्० एल० एल० डी०, पी० एच० डी०, एफ० बी० ए० थे। आपने सन् १९०३ से १९०६ तक कर्नलगंज स्कूलमें पढ़ाईकी। सन् १९१३ में

स्कूल लीविंग परीक्षामें प्रथम श्रेणीमे उत्तीर्ण और अंग्रेजी, संस्कृत एवं हिन्दीमें विशेष योग्यता प्राप्तकी। फिर १९१३ से १९ तक आप म्योर सेण्ट्रल कालेज, प्रयागमें शिक्षा ग्रहण करते रहे। इन्ही दिनों १९१५ में इण्टरमीडिएटमें विश्वविद्यालयमें चतुर्थ स्थान प्राप्त किया। फिर १९१७ मे बी० ए० की परीक्षामें एवं १९१९ में एक० ए० की परीक्षामे प्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १९१७ मे म्योर कालेजमें बीस वर्षकी अवस्थामें ही अंग्रेजीके प्रोफेसर हुए। सन् १९२९ में विश्वविद्यालयमें अंग्रेजीके प्रोफेसर हुए। १९२१ मे प्रयाग म्युनिसिपैलिटीके सीनियर वाइसचेयरमैन हुए। उसी वर्ष पब्लिक लाइब्रेरीके मन्त्री हुए। आप पोयट्री सोसायटी, लदनके उप-सभापति रहे और रायल सोसाइटी आफ लिटरेचरके फेलो भी रहे। कितने एसोशियेसनोंके सभापति भी रहे। आप १९३८ से १९४७ तक प्रयाग विश्वविद्यालयके उपकुलपति थे। १९४८ में आप पब्लिक सर्विस कमीशनके चेयरमैन हुए।

आपकी रचनाएँ निम्नांकित हैं—संस्कृत गद्यरत्नाकर (१९२०), दशकुमार चरितकी संस्कृत-टीका (१९१६), हिन्दी साहित्य संग्रह (१९२०), पद्मपराग (१९३५), शक्सपीयर कामेडी (१९२९), लिटरेरी स्टोरीज (१९२९), एकेजनल एड्रेसेज (१९४१), हेमलेट (१९२४), मर्चेण्ट आफ वेनिस (१९३०), सेलेक्शन्स फ्राम लार्ड मार्ले (१९१९), 'विचारधारा' (१९५४) तथा 'हाईस्कूल पोयट्री'। आप कई महत्वपूर्ण कार्योंके लिए विदेश गये। शिक्षा-जगतके आप एक स्तम्भ थे।

आप एक उच्चकोटिके शासक थे और साथ ही खिलाड़ी भी। शिक्षा-जगत्में आपके कार्य अत्यन्त सराहनीय हैं। आपका अध्ययन विशाल था। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी इन सभी भाषाओंके साहित्यसे बहुत प्रेम करते थे। 'विचारधारा' नामक हिन्दी पुस्तकमें आपकी आलोचनाओंसे इसका पता चलता है। आप बंगालीके भी अध्येता थे। संगीत प्रेमी थे, सासथ ही चित्रकलासे भी आपको लगाव था। आपकी भावना सीमाबद्ध नहीं थी। आप आधुनिकतासे प्रभावित एक वैज्ञानिक विचारक थे।

झा साहब नागरी प्रचारिणी सभाके अध्यक्ष रहे तथा हिन्दी साहित्यके बृहत् इतिहासके प्रधान सम्पादक थे। विभिन्न रूपोंमें की गयी आपकी हिन्दी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। —श्री० रा० व०

अमरपालसिह, रायसाहब—प्रेमचन्द्रकृत 'गौदान'का पात्र। अमरपाल सिह गान्धी युगके उन जमींदारोंकी भाँति है जो दोनों रकाबोंपर पैर रखते थे। राष्ट्रीय आन्दोलनमें सहयोग प्रदान करनेके साथ वह हुक्कामोंसे मेल रखनेमें ही अपना कल्याण समझता। साहित्य, संगीत, ड्रामा आदिमें वह रुचि प्रकट करता है। निस्स्वार्थ बननेकी चेष्टा करता है, जन-हितकी ओर संलग्न दिखाई पड़ता है और पुरानी मर्यादाका पालन करता है। सत्याग्रह संग्राममें भी केवल लोकप्रियता हासिल करनेके लिए भाग लेता है। उसमें गुफावासी मनुष्य अभी जीवित है। किन्तु अन्तमें वह अन्तर्मुखी हो उठता है और उसके मनमें उच्च संस्कारोंका जन्म होता है। ल० सा० वा०

अमरसिह—राजस्थानके इतिहासमें अमरसिह नामसे अनेक व्यक्तियोंका उल्लेख मिलता है—

१. जोधपुरके शासक मानसिहके मन्त्री अमरसिंह थे।

२. मेवाड़के महाराणा अमरसिह (सं० १७५५-१७६७)। इनके समयमें 'पृथ्वीराजरासो'की संवत् १७६० की प्रति लिपिबद्ध हुई थी।

३. चित्तौड़के महाराणा अमरसिह प्रथम (सं० १६५३-१६७६) एक कवि थे। राजस्थानी साहित्यके दोहाकारोंमें इनका अच्छा स्थान है।

४. अमरसिह (सं० १६१०-१७९१)के प्रति एक प्रशस्ति काव्य 'राव अमरसिह जी राव दूदा' प्राप्त है जिसके रचयिता महाकवि केशवदास हैं।

५. अमरसिह राठौर जिन्होंने बादशाहकी भरी सभामें बख्शी सलावत खाँको मारा था। इनके पिता गजसिहने इन्हें इनकी स्वेच्छा चारी प्रवृत्तिके कारण देशनिकाला दे दिया था। अतः इनके छोटे भाई जयसिह १२ वर्षकी अवस्थामें गद्दीपर बैठे थे। यही जयसिह हिन्दीमें 'भाषाभूषण' आदिके रचनाकार हुए हैं। अमरसिहके शौर्य एवं पराक्रमी व्यक्तित्वकी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं (दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य)। —रा० कु०

अमरेश—तुलसीके समकालीन एक श्रृंगारिक कवि। शिवसिंहने इनका जन्मकाल १५७८ ई० माना है और इनकी कविताओंको 'कालिदास हजारा'में संकलित स्वीकार कियाहै। 'दिग्विजय भूषण'में भी इनके दो छन्द मिलते हैं जिनमें एक 'सरोज'में भी संगृहीत है। इन उदाहृत छन्दोंसे ये रीतिकालीन कोमल कल्पनाके कवि जान पडते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; दि० भू० (भूमिका)।]—स०

अमिताभ—गौतमबुद्धका नामान्तर। दे० 'बुद्ध'।

अमीर अली 'मीर'—जन्म १९३० वि० में सागरमे हुआ। पुलिस विभागमें कर्मचारी रहे। एक समस्यापूर्ति 'लोभ ते अमीके अहि चढ़यो जात चन्द्र पे' के माध्यमसे साहित्यिक जीवनका सूत्रपात्र हुआ। धीरे-धीरे इनके प्रोत्साहनसे देवरीमें, जहाँ ये अवकाश प्राप्त करके रहने लगे थे, मीर मण्डल-कवि समाजकी स्थापना हुई। हिन्दू-मुस्लिम एकता और गौ-रक्षके ये समर्थक थे। इसकी रचनाओंके विषय सामान्य जीवनसे सम्बद्ध हैं। खड़ी बोली का स्वरूप भी वैसा ही सरल सहज है। इनकी कुछ रचनाओंके नाम इस प्रकार हैं—'बूढ़ेका ब्याह', 'नीति दर्पण'की भाषा-टीका तथा 'सदाचारी बालक'। १९३७ ई० में रेलसे कटकर इनकी मृत्यु हुई। —सं०

अमीर खुसरो—मध्य एशियाकी लाचन जातिके तुर्क सैफुद्दीनके पुत्र अमीर खुसरोका जन्म सन् १९५४ ई० (६५२ हि०) में एटा (उत्तर प्रदेश)के पटियाली नामक कस्बेमें हुआ था लाचन जातिके तुर्क चंगेज खाँके आक्रमणोंसे पीड़ित होकर बलबन (१२६६-१२८६ ई०) के राज्यकालमें शरणार्थीके रूपमें भारतमें आ बसे थे। खुसरोकी माँ बलबनके युद्ध मन्त्री इमादुतुल मुल्क की लड़की, एक भारतीय मुसलमान महिला थी। सात वर्षकी अवस्थामें खुसरोके पिताका देहान्त हो गया, किन्तु खुसरो की शिक्षा-दीक्षा में बाधा नहीं आयी। अपने समयके दर्शन तथा विज्ञानमें उन्होंने विद्वत्ता प्राप्तकी, किन्तु उनकी प्रतिभा बाल्यावस्थासे ही काव्योन्मुख थी। किशोरावस्थामें उन्होंने कविता लिखना प्रारम्भ कियाऔर २० वर्षके होते-होते वे कविके रूपमें प्रसिद्ध हो गये। जन्मजात

कवि होते हुए भी खुसरोंमें व्यावहारिक बुद्धिकी कमी नहीं थी। सामाजिक जीवनकी उन्होंने कभी अवहेलना नहींकी। जहाँ एक ओर उनमें एक कलाकारकी उच्च कल्पनाशीलता थी, वहाँ दूसरी ओर वे अपने समयके सामाजिक जीवनके उपयुक्त कूटनीतिक व्यवहार-कुशलतामें भी दक्ष थे। उस समय बुद्धिजीवी कलाकारोंके लिए आजीविकाका सबसे उत्तम साधन राज्याश्रय ही था। खुसरोने भी अपना सम्पूर्ण जीवन राज्याश्रयमें बिताया। उन्होंने गुलाम, खिलजी और तुगलक—तीन अफगान राज-वंशों तथा ११ सुल्तानोंका उत्थान-पतन अपनी आँखों देखा। आश्चर्य यह है कि निरन्तर राजदरबारमें रहनेपर भी खुसरोने कभी भी उन राजनीतिक षड्यन्त्रोंमें किंचिन्मात्र भाग नहीं लिया जो प्रत्येक उत्तराधिकारके समय अनिवार्य रूपसे होते थे। राजनीतिक दाँव-पेंचसे अपनेको सदैव अनासक्त रखते हुए खुसरो निरन्तर एक कवि, कलाकार, संगीतज्ञ और सैनिक ही बने रहे। खुसरोकी व्यावहारिक बुद्धिका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वे जिस आश्रयदाताके कृपापात्र और सम्मानभाजन रहे, उसके हत्यारे उत्तराधिकारीने भी उन्हें उसी प्रकार आदर और सम्मान प्रदान किया।

सबसे पहले सन् १२७० ई० में खुसरोको सम्राट् गयासुद्दीन बलवनके भतीजे, कड़ा (इलाहाबाद)के हाकिम अलाउद्दीन मुहम्मद कुलिश खाँ (मलिक छज्जू)का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। एक बार बलवनके द्वितीय पुत्र नसीरुद्दीन बुगरा खाँ की प्रशंसामें कसीदा लिखनेके कारण मलिक छज्जू उनसे अप्रसन्न हो गया और खुसरोको बुगरा खाँका आश्रय ग्रहण करना पड़ा। जब बुगरा खाँ लखनौतीका हाकिम नियुक्त हुआ तो खुसरो भी उसके साथ चले गये। किन्तु वे पूर्वी प्रदेशके वातावरणमें अधिक दिन नहीं रह सके और बलवनके ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान मुहम्मदका निमन्त्रण पाकर दिल्ली लौट आये। खुसरोका यही आश्रयदाता सर्वाधिक सुसंस्कृत और कला-प्रेमी था। सुल्तान मुहम्मदके साथ उन्हें मुल्तान भी जाना पड़ा और मुगलोंके सथ उसके युद्धमें भी सम्मिलित होना पड़ा। इस युद्धमें सुल्तान मुहम्मदकी मृत्यु हो गयी और खुसरो बन्दी बना लिये गये। खुसरोने बड़े साहस और कुशलताके साथ बन्दी-जीवनसे मुक्ति प्राप्तकी। परन्तु इस घटनाके परिणामस्वरूप खुसरोने जो मर्सिया लिखा वह अत्यन्त हृदयद्रावक और प्रभावशाली है। कुछ कुछ दिनों तक वे अपनी माँके पास पटियाली तथा अवधके एक हाकिम अमीर अलीके यहाँ रहे। परन्तु शीघ्र ही वे दिल्ली लौट आये। दिल्लीमें पुनः उन्हें मुईजुद्दीन कैकबादके दरबारमें राजकीय सम्मान प्राप्त हुआ। यहाँ उन्होंने सन् १२८९ ई० में 'मसनवी किरानुससादैन'की रचनाकी। गुलाम वंशके पतनके बाद जलालुद्दीन खिल्जी दिल्लीका सुल्तान हुआ। उसने खुसरोको अमीरकी उपाधिसे विभूषित किया। खुसरोने जलालुद्दीनकी प्रशंसामें 'मिफ्तोलफ तह' नामक ग्रन्थकी रचनाकी। जलालुद्दीनके हत्यारे उसके भतीजे अलाउद्दीनने भी सुल्तान होनेपर अमीर खुसरोको उसी प्रकार सम्मानित किया और उन्हें राजकविकी उपाधि प्रदानकी अलाउद्दीनकी प्रशंसामें खुसरोने जो रचनाएँ की वे अभूतपूर्व थीं। खुसरोकी अधिकांश रचनाएँ अलाउद्दीनके राजकालकी ही है। १२९८ से १३०१ ई० की अवधिमें उन्होंने पाँच रोमाण्टिक मसनवियाँ—१. 'मल्लोल अनवर', २. 'शिरीन खुसरो', ३. 'मजनू लैला', ४. 'आईन-ए-सिकन्दरी' और ५ 'हश्त विहिश्त' लिखीं। ये पंच-गंज नामसे प्रसिद्ध हैं। ये मसनवियाँ खुसरोने अपने धर्म-गुरु शेख निजामुद्दीन औलियाको समर्पित की तथा उन्हें सुल्तान अलाउद्दीनको भेंट कर दिया। पद्यके अतिरिक्त खुसरोने दो गद्य-ग्रन्थोंकी भी रचनाकी—१. 'खजाइनुल फतह', जिसमें अलाउद्दीनकी विजयोका वर्णन है और २. 'एजाजयेखुसरवी', जो अलंकारग्रन्थ हैं। अलाउद्दीनके शासनके अन्तिम दिनोंमें खुसरोने देवलरानी खिज्रखाँ नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक मसनवी लिखी।

अलाउद्दीनके उत्तराधिकारी उसके छोटे पुत्र कुतुबद्दीन मुबारकशाहके दरबारमें भी खुसरो ससम्मान राजकविके रूपमें बने रहे, यद्यपि मुबारकशाह खुसरोके गुरु शेख निजामुद्दीनसे शत्रुता रखता था। इस कालमे खुसरोने नूहसिपहर नामक ग्रन्थकी रचनाकी जिसमें मुबारकशाहके राज्य-कालकी मुख्य मुख्य घटनाओंका वर्णन है।

खुसरोकी अन्तिम ऐतिहासिक मसनवी 'तुगलक' नामक है जो उन्होंने गयासुद्दीन तुगलकके राज्य-कालमें लिखी और जिसे उन्होंने उसी सुल्तानको समर्पित किया। सुल्तान के साथ खुसरो बंगालके आक्रमणमे भी सम्मिलित थे। उनकी अनुपस्थितिमें ही दिल्लीमें उनके गुरु शेख निजामुद्दीनकी मृत्यु हो गयी। इस शोकको अमीर खुसरो सहन नहीं कर सके और दिल्ली लौटनेपर ६ मासके भीतर ही सन् १३२५ ई० मे खुसरोने भी अपनी इहलीला समाप्त कर दी। खुसरोकी समाधि शेखकी समाधिके पास ही बनायी गयी।

शेख निजामुद्दीन औलिया अफगान-युगके महान् सूफी सन्त थे। अमीर खुसरो आठ वर्षकी अवस्थासे ही उनके शिष्य हो गये थे और सम्भवतः गुरुकी प्रेरणासे ही उन्होंने काव्य-साधना प्रारम्भ की। यह गुरुका ही प्रभाव था कि राज-दरबारके वैभवके बीच रहते हुए भी खुसरो हृदयसे रहस्यवादी सूफी सन्त बन गये। खुसरोने अपने गुरुका मुक्त कंठ से यशोगान किया है और अपनी मसनवियों में उन्हें सम्राट्से पहले स्मरण किया है।

अमीर खुसरो मुख्य रूपसे फारसीके कवि हैं। फारसी भाषापर उनका अप्रतिम अधिकार था। उनकी गणना महाकवि फिरदोसी, शेख सादिक और निजामी फारसके महाकवियोंके साथ होती है। फारसी काव्यके लालित्य और मार्दवके कारण ही अमीर खुसरोको 'हिन्दीकी तूती' कहा जाता है। खुसरोका फारसी काव्य चार वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—ऐतिहासिक मसनवी जिसमें किरानुससादैन, मिफतोलफतह, देवलरानी खिज्रखाँ, नूहसिपहर और तुगलकनामा नामकी रचनाएँ आती हैं; रोमाण्टिक मसनवी—जिसमें मतलऊ लअनवार, शिरीन खुसरी, आईन-ए-सिकन्दरी, मजनू-लैला और हश्त विहश्त गिनी जाती है; दीवान—जिसमें तुहफ तुम सिगहर, वास्तुलहयात आदि ग्रन्थ आते हैं; गद्य रचनाएँ—'एजाजयेखुसरवी' और 'खजाइनुलफतह तथा मिश्रित'—जिसमें 'वेदऊलअजाइब', 'मसनवी शहरअसुब', 'चिश्तान' और 'खालितबारी' नामकी रचनाएँ परिगणित हैं।

यद्यपि खुसरोकी महत्ता उनके फारसी काव्यपर आश्रित है, परन्तु उनकी लोकप्रियताका कारण उनकी हिन्दवीकी रचनाएँ ही हैं। हिन्दवीमे काव्य-रचना करनेवालोंमें अमीर खुसरोका नाम सर्वप्रमुख है। अरबी, फारसीके साथ-साथ अमीर खुसरोको अपने हिन्दवी ज्ञानपर भी गर्व था। उन्होंने स्वय कहा है—'मैं हिन्दुस्तानकी तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी मे पूछो! मै तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।'' अमीर खुसरोने कुछ रचनाएँ हिन्दी या हिन्दवीमें भी की थीं, इसका साक्ष्य स्वयं उनके इस कथनमें प्राप्त होता है—''ज़ुजवे चन्द नज्मे हिन्दी नजरे दोस्ता करदाँ अस्त।'' उनके नामसे हिन्दीमे पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने और कुछ गजले प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उनका फारस-हिन्दी कोश खालिकबारी भी इस प्रसगमे उल्लेखनीय है।

दुर्भाग्य है कि अमीर खुसरोकी हिन्दवी रचनाएं लिखित रूपमे प्राप्त नहीं होतीं। लोकमुखके माध्यमसे चली आ रही उनकी रचनाओंकी भाषामे निरन्तर परिवर्तन होता रहा होगा और आज वह जिस रूपमें प्राप्त होती है वह उसका आधुनिक रूप है। फिर भी हम निस्सन्देह यह विश्वास कर सकते हैं कि खुसरोने अपने समयकी खड़ी बोली अर्थात् हिन्दवीमें भी अपनी पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि रची होंगी। कुछ लोगोंको अमीर खुसरोकी हिन्दी कविताकी प्रामाणिकतामें सन्देह होता है। स्व० प्रोफेसर शेरानी तथा कुछ अन्य आलोचक विद्वान् खालिकबोरीको भी प्रसिद्ध अमीर खुसरोकी रचना नहीं मानते। परन्तुखुसरोकी हिन्दी कविताके सम्बन्धमे इतनी प्रबल लोकपरम्परा है कि उसपर अविश्वास नही किया जा सकता यह परम्परा बहुत पुरानी है। 'अरफतुलआसितीन' के लेखक तकीओहदी जो १६०६ ई० मे जहाँगीरके दरबारमें आये थे खुसरोकी हिन्दी कविताका जिक्र करते हैं। मीरतकी 'मीर' अपने 'निकातुसस्वरा'में लिखते हैं कि उनके समय तक खुसरोके हिन्दी गीत अति लोकप्रिय थे (दे० यूसुफ हुसन : 'ग्लिम्प्सेज आव मिडीवल इण्डियन कल्चर', पृ० १९५। इस सम्बन्धमें सन्देहको स्थान नहीं है कि अमीर खुसरोने हिन्दवीमें रचनाकी थी। यह अवश्य है कि उसका रूप समयके प्रवाहमें बदलता आया हो। आवश्यकता यह है कि खुसरोकी हिन्दी-कविताका यथासम्भव वैज्ञानिक सम्पादन करके उसके प्राचीनतम रूपको प्राप्त करनेका यत्न किया जाय। काव्यकी दृष्टिसे भले ही उसमें उत्कृष्टता न हो, सास्कृतिक और भाषा वैज्ञानिक अध्ययनके लिए उसका मूल्य निस्सन्देह बहुत अधिक है। —मा० ब० जा०

अमृतलाल चक्रवर्ती—जन्म बंगालके नावरा ग्राममें १८६३ ई० में हुआ। कुछ समय तक इलाहाबाद में नौकरीकी 'लोको' विभागमें फि रंगी साहब से झगड़ा होनेपर काम छोड़ दिया। 'प्रयाग समाचार'के माध्यमसे हिन्दी संसारमें प्रविष्ट हुए। फिर कुछ समय तक 'भारतमित्र'में कार्य किया। नौकरी करते-करते बी० ए० (ऑनर्स) १८९० में किया। इसी वर्ष 'साप्ताहिक बंगवासी' आपके सम्पादनमें प्रकाशित हुआ। बाद में **'वेंकटेश्वर'** और **'कलकत्ता समाचार'** के सम्पादन-विभागमें भी रहे। हिन्दी पत्रकारिताके आरम्भिक युगमें आपका कार्य विशेष महत्त्वका है आंपके दो उपन्यास 'सतीसुखदेई' तथा कुसुम क्रमशः १९०२-तथा १९०३ ई० में प्रकाशित हुए। हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके सोलहवे अधिवेशनके लिए अध्यक्ष मनोनीत हुए। —स०

अमृतलाल नागर—जन्म दो सौ वर्षोंसे उत्तर प्रदेशमें बसे, सुसस्कृत गुजराती ब्राह्मण परिवारमें १७ अगस्त १९१६ को गोकुलपुरा आगरा (ननिहाल) मे। पितामह पं० शिवराम नागर १८९५ ई० से लखनऊवासी। तब से परिवार वहीं। पिता पं० राजाराम नागरकी मृत्युके समय नागर जी कुल १९ वर्षके थे। अर्थोपार्जनकी विवशताके कारण विधिवत् शिक्षा हाई स्कूल तक ही, किन्तु निरन्तर स्वाध्याय द्वारा साहित्य, इतिहास, पुराण, पुरातत्व, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयोंपर तथा हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला एव अंग्रेजी आदि भाषाओंपर अधिकार प्राप्त। एक छोटी सी नौकरीके बाद कुछ समय तक मुक्त लेखन एवं हास्यरस के प्रसिद्ध पत्र 'चकल्लस' के सम्पादनके अनन्तर ४० से ४७ तक कोल्हापुर, बम्बई एव मद्रासके फिल्म क्षेत्रमे लेखन-कार्य। हिन्दी फिल्मोंमें 'डबिग' कार्यमें अग्रणी। दिसम्बर ५३ से मई ५६ तक आकाशवाणी, लखनऊमें ड्रामा प्रोड्यूसर, तदुपरान्त स्वतंत्र लेखन कार्य।

१९२८ से छिटपुट एवं १९३२-३३ से जमकर लिखना शुरू। प्रारंभिक कविताएँ मेघराज इन्द्रके नामसे, कहानियाँ अपने नामसे तथा व्यंग्यपूर्ण रेखाचित्र-निबन्ध आदि तस्लीम लखनवीके नामसे लिखित। क्रमशः कथाकार के रूपमें सुप्रतिष्ठित। 'बूँद और समुद्र' (१९५६) के प्रकाशनके साथ हिन्दीके प्रथम श्रेणीके उपन्यासकारके रूपमें मान्य। नाटक, रेडियोनाटक, रिपोर्ताज, निबन्ध, संस्मरण, अनुवाद, बाल साहित्य आदिके क्षेत्रमे भी महत्वपूर्ण योगदान। प्रमुख कृतियाँ **कहानी एवं रेखाचित्र**—वाटिका' (१९३५), 'अवशेष' (१९३८), 'नवाबी मसनद' (१९३९), तुलाराम शास्त्री (१९४१), आदमी नहीं, नही (१९४७), 'पाँचवाँ दस्ता' (१९४८), 'एक दिल हजार दास्ताँ' (१९५५), 'एटम बम' (१९५६), 'पीपल की परी' (१९६३), 'कालदंड की चोरी' (१९७३), मेरी प्रिय कहानियाँ (१९७०), पाँचवाँ दस्ता और सात अन्य कहानियाँ (१९७०) **उपन्यास** 'महाकाल' १९४२-४३ में रचित प्रका० १९४७, सेठ बाँकेमल (१९४४), 'बूंद और समुद्र' (१९५६), 'शतरंज के मोहरे' १९५९, 'सुहाग के नूपुर (१९६०), 'अमृत और विष' (१९६६), 'सात घूँघटवाला मुखड़ा' (१९६८) 'एकदा नैमिषारण्ये' (१९७१), 'मानस का हंस' (१९७२), **रिपोर्ताज भेंटवार्ता एवं संस्मरण**—'गदर के फूल' (१९५७), 'ये कोठेवालियाँ' (१९६१), 'जिनके साथ जिया' (१९७३)। **अनुवाद**—'बिसाती' (मोपासाँ की कहानियां, १९३५), 'प्रेम की प्यास' (गुस्ताव फूलाबेर कृत 'मदाम बोवारी' का संक्षिप्त भावानुवाद १९३७), 'काला पुरोहित' (एंटन चेखब की कहानियाँ, १९३९), 'आँखों देखा गदर' (विष्णुभट्ट गोडसे कृत 'माझा प्रवास' (१९४८), 'दो फक्कड़' (कन्हैयालाल (माणिकलाल मुंशीके तीन गुजराती नाटक, १९५५), 'सारस्वत' (मामा वरेरकर का मराठी नाटक १९५६), **बाल साहित्य**—'नटखट चाची' (१९४७), 'निंदिया आजा' (१९५०), 'बजरंगी नौरंगी' (१९६९), 'बजरंगी पहलवान' (१९६९), 'इतिहास झरोखे (१९७०), 'बाल महाभारत'

(१९७१), 'भारत पुत्र नौरंगी लाल' (१९७१)। इनके अतिरिक्त नागर जीके तीन रंगमंचीय नाटक एवं २५ से अधिक रेडियो नाटक तथा फीचर, बहुत से निबंध है, जो अभी तक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुए है।

नागर जी को 'बूंद और समुद्र' पर काशी नागरी प्रचारिणी सभाका बटुक प्रसाद पुरस्कार एवं सुधाकर रजत पदक, 'सुहागके नूपुर' पर उत्तर प्रदेश शासनका 'प्रेमचन्द्र पुरस्कार', 'अमृत और विष' पर साहित्य अकादमी का १९६७ का पुरस्कार एवं सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार (१९७०) तथा साहित्यिक सेवाओंपर युगान्तरका १९७२ का पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है।

अमृतलाल नागर हिन्दीके गंभीर कथाकारोंमें सभवतः सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसका अर्थ ही यह है कि वे विशिष्टता और रजकता दोनो तत्वोंको अपनी कृतियोंमें समेटनेमें समर्थ हुए हैं। उन्होंने न तो परम्परा को नकारा है, न आधुनिकतासे मुँह मोड़ा है, फलतः उन्हें अपने समयकी पुरानी और नयी दोनों पीढ़ियोंका स्नेह-समर्थन मिला और कभी-कभी दोनोंका उपालंभ भी। आध्यात्मिकता पर गहरा विश्वास करते हुए भी वे समाजवादी हैं, किन्तु जैसे उनकी आध्यात्मिकता किसी सम्प्रदायके कठघरेमे बन्दी नहीं है, वैसे ही उनका समाजवाद किसी राजनीतिक दलके पास बन्धक नहीं है। उनकी कल्पनाके समाजवादी समाजमें व्यक्ति और समाज दोनोंका मुक्त स्वस्थ विकास अपेक्षित है। एक व्यक्ति या चरित्र की भीतरी या बाहरी समस्या को समझने और चित्रित करने के लिए उसे समाजके भीतर रखकर देखना ही नागर जीके अनुसार ठीक देखना है। इसीलिए बूंद (व्यक्ति) के साथ ही माथ वे समुद्र (समाज) को नहीं भूलते।

जगतके प्रति उनकी दृष्टि न अतिरेकवादी है, न हठाग्रही। एकांगदर्शी न होने कारण वे उसकी अच्छाइयों और बुराइयां दोनो देखते है, किन्तु बुराइयों से उठ कर अच्छाइयोंकी ओर बढ़ने को ही मनुष्यत्व मानते हैं। जीवन की क्रूरता, कुरूपता, विफलता को भी वे अंकित करते चले हैं, किन्तु उसी को मानव निर्यात नही मानते। जिस प्रकार संकीर्ण आर्थिक स्वार्थों और मृत धार्मिकता के ठेकेदारोंसे वे अपने लेखनमें जूझते रहे है, उसी प्रकार मूल्योंके विघटन, दिशाहीनता, अर्थहीनता आदि का नारा लगा कर निष्क्रियता और आत्महत्या तक का समर्थन करने वाली बौद्धिकताको भी नकारते रहे हैं। अपने लेखक-नायक अरविन्द शंकरके माध्यमसे उन्होंने कहा है, जड़-चेतन भय, विष-अमृत मय, अन्धकार-प्रकाशमय जीवनमें न्यायके लिए कर्म करना ही गति है। मुझे जीना ही होगा, कर्म करना ही होगा, यह बन्धन ही मेरी मुक्ति भी है। इस अन्धकार में ही प्रकाश पानेके लिए मुझे जीना है। (अमृत और विष, पृ० स० ७१६)

नागर जी आरोपित बुद्धि से काम नहीं करते, किसी दृष्टि या वाद को जस का तस नहीं लेते। अपने व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभवोंकी कसौटीपर वे विचारोंको कसते रहते हैं और जितनी मात्रामें उन्हें खरा पाते हैं, उतनी ही मात्रामें ग्रहण करते हैं, चाहे उन पर देशी छाप हो या विदेशी, पुरानी छाप हो या नयी। उनकी कसौटी मूलभूत रूपसे साधारण भारतीय जनकी कसौटी है, जो सत्य को अस्थिर तर्कोंके द्वारा नहीं, साधनालब्ध श्रद्धाके द्वारा पहचानती है। अन्धश्रद्धाको काटनेके लिए वे तर्कोंका प्रयोग अवश्य करते हैं, किन्तु तर्कोंके कारण अनुभवोंको नहीं झुठलाते, फलतः कभी-कभी पुराने और नये दोनों उन पर झुँझला उठते हैं। 'एकदा नैमिषारण्ये' में पुराणों और पौराणिक चरित्रों का समाजशास्त्रीय, अर्ध ऐतिहासिक स्वच्छन्द विश्लेषण या 'मानस का हस' मे युवा तुलसी दासके जीवनमें 'मोहिनी प्रसंग' का सयोजन आदि पुराण पंथियोको अनुचित दुस्साहस लगता है तो बाबा रामजीदास और तुलसीके आध्यात्मिक अनुभवोंको श्रद्धाके साथ अंकित करना बहुतेरे नयोंको नागवार और प्रगतिविरोधी प्रतीत होता है। नागर जी इन दोनो प्रकारोंके प्रतिवादोसे विचलित नहीं होते। अपनी इस प्रवृत्तिके कारण वे किसी एक साहित्यिक खानेमें नहीं रखे जा सकते।

नागर जी किस्सागोई में माहिर है। यद्यपि गंभीर उत्तरदायित्वोंका निर्वाह करनेके कारण कहीं-कहीं उनके उपन्यासोमें बहसोके दौरान तात्विक विवेचनके लम्बे-लम्बे प्रसग भी आ जाते है, तथापि वे अपनी कृतियोंको उपदेशात्मक या उबाऊ नही बनने देते। रोचक कथाओ और ठोस चरित्रोंकी भूमिकासे ही विचारोंके आकाशकी ओर भरी गयी इन उड़ानोका साधारण पाठक भी झेल लेते है। उनके साहित्यका लक्ष्य भी साधारण नागरिक है, अपनेको असाधारण माननेवाला साहित्यकार या बुद्धिजीवी समीक्षक नहीं। समाजमें खूब घुल मिलकर अपने देखे, सुने और अनुभव किये चरित्रो, प्रसगोंको तनिक कल्पनाके पुटसे वे अपने कथा साहित्यमें ढालते रहे है। अपनी आरंभिक कहानियोंमे उन्होंने कहीं-कहीं स्वच्छन्दतावादी भावुकताकी झलक दी है, किन्तु उनका जीवन बोध ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों वे अपने भावातिरेक को संयत और कल्पनाको यथार्थाश्रित करते चले गये। अपने पहले अप्रौढ़ उपन्यास 'महाकाल' में सामाजिक यथार्थ के जिस स्वस्थ बोध का परिचय उन्होंने दिया था, निहित स्वार्थ के विविध रूपोंको-साम्राज्यवादी उत्पीड़न, जमीन्दारों-व्यापारियों द्वारा साधारण जनताके शोषण, साम्प्रदायिकतावादियोंके हथकंडों आदिको-बेनकाब करनेका जो साहस दिखाया था, वह परवर्त्ती उपन्यासोंमें कलात्मक संयमके साथ-साथ उत्तरोत्तर निखरता चला गया है। 'बूंद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' जैसेवर्त्तमान जीवनपर लिखित उपन्यासोंमें ही नहीं, 'एकदा नैमिषारण्ये' तथा 'मानसका हंस' जैसे पौराणिक-ऐतिहासिक पीठिकापर रचित सांस्कृतिक उपन्यासोंमें भी उत्पीड़कोका पर्दाफाश करने और उत्पीड़ितोंका साथ देनेका अपना व्रत उन्होंने बखूबी निभाया है। अतीतको वर्त्तमानसे जोड़ने और प्रेरणाके स्रोतके रूपमें प्रस्तुत करनेके संकल्पके कारण ही 'एकदा नैमिषारण्येमें पुराणकारोंके कथा-सूत्रको भारतकी एकात्मताके लिए किये गये महान् सांस्कृतिक प्रयास के रूपमें, तथा 'मानसका हंस' में तुलसीकी जीवन-कथाको आसक्तियों और प्रलोभनोंके संघातोंके कारण डगमगा कर अडिग हो जानेवाली 'आस्थाके संघर्षकी कथा' एवं उत्पीड़ित लोकजीवनको संजीवनी प्रदान करने वाली 'भक्तिधाराके प्रवाहकी कथा' के रूपमें प्रभावशाली ढंगसे अंकित किया है।

सामाजिक परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्तिके

अन्तर्मनमें कामवृत्तिके घात प्रतिघात का चित्रण भी उन्होंने विश्वसनीय रूपसे किया है। कामको इच्छाशक्ति गति और सृजनके प्रेरक रूपमें ग्रहण करनेके कारण वे उसे बहुत अधिक महत्व देते हैं। काम अपने आधारों (व्यक्तियों) के सत, रज, तम के अंशोंकी न्यूनाधिकताके कारण सहस्रों रूप धारणकर सकता है। अपने निकृष्ट रूपमें वह बलात्कार या इन्द्रिय भोग मात्र बन कर रह जाता है तो अपने उत्कृष्ट रूपमें प्रेमकी संज्ञा पाता है। नागर जीने कुंठारहित हो कर किन्तु उत्तरदायित्वके बोध के साथ काम की विकृत (विरहेश और बड़ी, लच्छू और उमा माथुर, लवसून और जुआना आदि), स्वस्थ (सज्जन और वनकन्या, रमेश और रानीबाला आदि) और दिव्य (सोमाहुति और हज्या, तुलसी और रत्नावली) एवं इनके अनेकानेक मिश्रित रूपोंकी छवियां अपनी कृतियोंमें आँकी है। पीड़िता नारीके प्रति उनकी सदा सहानुभूति रही है चाहे वह कन्नगी के सदृश एकनिष्ठ हो, चाहे माधवी के सदृश वेश्या। स्वार्थी पुरुषकी भोग-वासना ही नारीको वेश्या बनाती है, अतः पुरुष होनेके कारण उनके प्रति नागर जी अपने मनमें अपराधबोधका अनुभव करते हैं, जिसका आंशिक परिमार्जन उन्होंने सद्भावना पूर्ण भेंटवार्ताओंपर आधारित ये कोठेवालियाँ जैसी तथ्यपूर्ण कृतिके द्वारा किया है।

नागर जीकी जिन्दादिली और विनोदी वृत्ति उनकी कृतियोंको कभी विषादपूर्ण नहीं बनने देती। 'नवाबी मसनद' और 'सेठ बाँकेमल' में हास्य व्यंग्य की जो धारा प्रवाहित हुई है, वह अनंतधाराके रूपमें उनके गंभीर उपन्यासोंमें भी विद्यमान है, और विभिन्न चरित्रों एवं स्थितियोंमें बीच-बीच में प्रकट होकर पाठकको उल्लसित करती रहती है।

नागर जीके चरित्र समाजके विभिन्न वर्गोंसे गृहीत हैं। उनमें अच्छे बुरे सभी प्रकारके लोग हैं, किन्तु उनके चरित्र-चित्रणमें मनोविश्लेषणात्मकताको कम और घटनाओंके मध्य उनके व्यवहार को अधिक महत्त्व दिया गया है। अनेकानेक एकायामी सफल विश्वसनीय चरित्रोंके साथ-साथ उन्होंने बूँद और समुद्रकी 'ताई' जैसे जटिल चरित्रोंकी सृष्टि की है, जो घृणा और करुणा, विद्वेष और वात्सल्य, प्रतिहिंसा और उत्सर्ग की विलक्षण समष्टि है।

कई समीक्षकोंकी शिकायत रही है कि नागर जी अपने उपन्यासोंमें 'संग्रहवृत्ति' से काम लेते हैं 'चयनवृत्ति' से नहीं, इसीलिए उनमें अनपेक्षित विस्तार हो जाता है। वस्तुतः नागर जीके बड़े उपन्यासोंमें समग्र सामाजिक जीवनको झलकानेकी दृष्टि प्रधान है, अतः थोड़े से चरित्रोंपर आधारित सुबद्ध कथानक पद्धति के स्थानपर वे शिथिल सम्बन्धोंसे जुड़ी और एक दूसरेकी पूरक लगनेवाली कथाओंके माध्यमसे यथासंभव पूरे सामाजिक परिदृश्य को उभारनेकी चेष्टा करते हैं। महाभारत एवं पुराणों के अनुशीलन ने उन्हें इस पद्धति की ओर प्रेरित किया है। शिल्प पर अनावश्यक बल देनेको वे उचित नहीं मानते। उनका कहना है, फॉर्म के लिए मैं परेशान नहीं होता, बात जब भीतर-भीतर पकने लगती है तो वह अपना फॉर्म खुद अपने साथ लाती है। मैं सरलता को लेखकके लिए अनिवार्य गुण मानता हूँ। जटिलता, कृत्रिमता, दाँव-पेंच से लेखक महान् नहीं बन सकता। इसीलिए केवल 'फार्म' के पीछे दौड़ने वाले लेखक को मैं टुटपुँजिया समझता हूँ।' (ज्ञानोदय, मार्च ६८) इसका मतलब यह भी नहीं है कि वे शिल्प के प्रति उदासीन हैं। अपने पुराने शिल्प से आगे बढ़नेकी चेष्टा बराबर करते रहे हैं। 'बूँद और समुद्र' में पौराणिक शिल्प के अभिनव प्रयोगके अनन्तर 'अमृत और विष' में अपने पात्रोंकी दुहरी सत्ताओंके आधारपर दो-दो कथाओंको साथ-साथ चलाना, 'मानस का हंस' में फ्लैश बैक के दृश्य रूप का व्यापक प्रयोग करना उनकी शिल्प सजगता के उदाहरण है। फिर भी यह सत्य है कि उनके लिए 'कथ्य' ही मुख्य है, शिल्प नहीं।

भाषाके क्षेत्रीय प्रयोगोंको विविध वर्गोंमें प्रयुक्त भिन्नताओंके साथ ज्योंका त्यों उतार देनेमें नागर जी को कमाल हासिल है। बोलचालकी सहज, चटुल, चंचल भाषा गंभीर दार्शनिक सामाजिक प्रसंगोंकी गुरुता एवं अन्तरंग प्रणय प्रसंगोंकी कोमलता का निर्वाह करनेके लिए किस प्रकार बदल जाती है, इसे देखते ही बनता है। सचमुच भाषापर नागर जीका असाधारण अधिकार है। उनकी कृतियोंने हिन्दी साहित्य की गरिमा बढ़ायी है, यह असन्दिग्ध है।

[सन्दर्भ ग्रंथ-आस्थाके प्रहरी-सत्यपाल चुध; अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य प्रकाश चन्द्र मिश्र, अमृतलाल नागर व्यक्ति और साहित्य-हरिमोहन बुधौलिया]

वि० कां० शा०

अयोध्याप्रसाद खत्री—खड़ी बोली हिन्दीके प्रारम्भिक समर्थकों और पुरस्कर्ताओंमे अयोध्याप्रसाद खत्रीका नाम प्रमुख है। ये मुजफ्फरपुरमें कलक्टरीके पेशकार थे। १८८८ ई० में इन्होंने 'खड़ी बोलीका आन्दोलन' नामक पुस्तिका प्रकाशित करायी। इनके अनुसार खड़ी बोली पद्यकी चार 'स्टाइलें' थीं—मौलवी स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पण्डित स्टाइल, मास्टर स्टाइल। १८८७-८९ में इन्होंने 'खड़ी बोलीका पद्य' नामक संग्रह दो भागोंमें प्रस्तुत किया जिसमें विभिन्न 'स्टाइलों'की रचनाएँ संकलित की गयीं। इसके अतिरिक्त सभाओं आदिमें बोलकर भी वे खड़ी बोलीके पक्षका समर्थन करते थे। 'सरस्वती' मार्च १९०५ में प्रकाशित 'अयोध्याप्रसाद' खत्री शीर्षक जीवनीके लेखक पुरुषोत्तमप्रसाद शर्माने लिखा था कि खड़ी बोलीका प्रचार करनेके लिए इन्होंने इतना द्रव्य खर्च किया कि राजा-महाराजा भी कम करते है।

—सं०

अयोध्याप्रसाद गोयलीय—जन्म १९०२ ई० में बादशाहपुर (जिला गुड़गाँव) में हुआ। साहू जैनके औद्योगिक प्रतिष्ठानसे सम्बद्ध रहे। भारतीय ज्ञानपीठ, काशीका मन्त्रित्व भार कई वर्षोंतक सँभाला। इन्होंने संस्मरणात्मक कथाएँ तथा उर्दू शायरीका क्रमबद्ध इतिहास लिखा है। प्रकाशन—'गहरे पानी पैठ' (कहानियाँ।) १९५९ ई०, 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' (१९५५ ई०), 'कुछ मोती कुछ सीप'(१९५७ ई०) —कहानियोंके संकलन। 'शेर ओ शायरी' (१९४६ ई०), 'शेर ओ सुखन'—५ भाग (१९५१-१९५४ ई०)। 'शायरीके नये दौर' (१९५८-६१ ई०), 'शायरीके नये मोड़' (१९५८-५९ ई०), 'नग्मए हरम' (१९६१ ई०) 'लो कहानी सुनो' (१९६१ ई०)

म०

अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध'—यह सातन पुरवा, जिला

रायबरेलीके निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म १८०३ ई० में हुआ। इनके पिता नन्दकिशोर बाजपेयी पण्डिताई तथा लेन-देनका कार्य करते थे, परन्तु इन्होंने गजाधर प्रसादसे व्याकरण, ज्योतिषके साथ काव्यशास्त्रका अध्ययन किया और काव्य रचना भी सीखी। इनका अधिकांश समय राज-दरबारोंमें कविके रूपमें बीता। इनके आश्रयदाताओंमें दिग्विजयसिंह (बलरामपुर; गोंडा), सुदर्शनसिंह (चन्दापुर; बहराइच), हरदत्तसिंह (बोंड़ी; बहराइच), मुनीश्वरबख्श सिंह (मल्लापुर; सीतापुर) और पाण्डे कृष्णदत्तराम (गोंडा) विशेष रूपसे रहे हैं। हरदत्त सिंहने इनको बाजपेयीका पुरवा नामक गाँव प्रदान किया जिसमें इनके वंशज अब भी बसते हैं। सन् १८५७ की क्रान्तिमें बोंड़ी राज्यके साथ इनकी माफी भी जब्त हो गयी, अतः अपनी जन्मभूमि लौट आये।

पद्माकरसे इनकी भेट होनेकी जनश्रुति है। अयोध्याके महात्मा उमापति, बाबा रघुनाथदास और युगुलानन्यशरणकी इनपर कृपा थी। अपने जीवनका अन्तिम समय भी इन्होंने अयोध्यामें ही बिताया और वहीं इनकी मृत्यु १८८५ ई० (कार्तिक शुक्ला २, सं० १९४२) में हुई। इनके ग्रन्थोंमें अवध शिकार, रागरत्नावली, साहित्य सुधा-सागर राम कवितावली, छन्दानन्द, शंकर शतक, ब्रज-ब्रज्या, चित्र-काव्य और रास सर्वस्व खोजमें उपलब्ध हुए हैं। इनको रीतिकालीन काव्य-धाराके अन्तिम कवियोंमें माना जा सकता है। इनमे इस परम्पराकी समस्त रुढ़ियाँ परिलक्षित होती हैं। इनके ग्रन्थोंसे यह भी प्रकट होता है कि इनपर भक्तिका भी पर्याप्त प्रभाव रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका)।] —सं०

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—खड़ी बोलीको काव्य-भाषाके पदपर प्रतिष्ठित करने वाले कवियोंमें अयोध्यासिंह उपाध्यायका नाम बहुत आदरसे लिया जाता है। आपका जन्म जिला आजमगढ़के निजामाबाद नामक स्थानमें सन् १८६५ ई० में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम दशकमें १८९० ई० के आस-पास आपने साहित्य सेवाके क्षेत्रमें पदार्पण किया। आपकी मृत्यु १९४७ ई० में लगभग छिहत्तर वर्षकी अवस्थामें हुई।

यह आरम्भमें नाटक तथा उपन्यास—लेखनकी ओर आकर्षित हुए। इनकी दो नाटच कृतियाँ 'प्रद्युम्न विजय' तथा रुमिणी परिणय' क्रमशः १८९३ ई० तथा १८९४ ई० में प्रकाशित हुई। १८९४ ई० ही में इनका प्रथम उपन्यास 'प्रेमकान्ता' भी प्रकाशमें आया। बादमें दो अन्य औपन्यासिक कृतियाँ 'ठेठ हिन्दीका ठाठ' (१८९९ ई०) और 'अधखिला फूल' (१९०७ ई०) नामसे प्रकाशित हुई। ये नाटक तथा उपन्यास साहित्यके उनके प्रारम्भिक प्रयास होनेकी दृष्टिसे उल्लेख्य हैं। इन कृतियोंमें नाटचकला अथवा उपन्यासकलाकी विशेषताएँ ढूँढ़ना तर्कसंगत नहीं है।

इनकी प्रतिभाका विकास वस्तुतः कवि-रूपमें हुआ। खड़ी बोलीका प्रथम महाकवि होनेका श्रेय इन्हींको है। 'हरिऔध'के उपनामसे इन्होंने अनेक छोटे-बड़े काव्योंकी सृष्टि की, जिनकी संख्या पन्द्रहसे ऊपर है—'रसिक रहस्य' (१८९९ ई०), 'प्रेमाम्बुवारिधि' (१९०० ई०), 'प्रेम प्रपंच' (१९०० ई०), 'प्रेमाम्बु प्रश्रवण, (१९०१ ई०), प्रेमाम्बु प्रवाह' (१९०१ ई०), 'प्रेम पुष्पहार' (१९०४ ई०), 'उद्बोधन' (१९०६ ई०), 'काव्योपवन' (१९०९ ई०), 'प्रियप्रवास' (१९१४ ई०), 'कर्मवीर' (१९१६ ई०), 'ऋतु मुकुर' (१९१७ ई०), 'पद्मप्रसून' (१९२५ ई०), 'पद्मप्रमोद' (१९२७ ई०), 'चोखेचौपदे' (१९३२ ई०), 'वैदेही बनवास' (१९४० ई०), 'चुभते चौपदे', 'रसकलश' आदि।

हरिऔधको कविरूपमे सर्वाधिक प्रसिद्धि उनके प्रबन्ध काव्य 'प्रियप्रवास'के कारण मिली। 'प्रियप्रवास'की रचनासे पूर्वकी काव्यकृतियाँ कविताकी दिशामें उनके प्रयोगकी परिचायिका है। इन कृतियोंमें प्रेम और श्रृगारके विभिन्न पक्षोंको लेकर काव्य-रचनाके लिए किये गये अभ्यासकी झलक मिलती है। 'प्रियप्रवास'को इसी क्रममें लेना चाहिए। 'प्रियप्रवास'के बादकी कृतियोंमे 'चोखे चौपदे तथा 'वैदेही बनवास' उल्लेखनीय है। 'चोखे चौपदे' लोकभाषाके प्रयोगकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। 'प्रियप्रवासकी रचना संस्कृतकी कोमल कान्त पदावलीमे हुई है और उसमें तत्सम शब्दोंका बाहुल्य है। 'चोखे चोपदे'में मुहावरोंके बाहुल्य तथा लोकभाषाके समावेश द्वारा कविने यह सिद्ध कर दिया कि वह अपनी सीधी सादी जबानको भूला नहीं है। 'वैदेही बनवास'की रचना द्वारा एक और प्रबन्ध सृष्टिका प्रयत्न किया गया है। आकारकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ छोटा नहीं है किन्तु इसमें 'प्रियप्रवास' जैसी ताजगी और काव्यत्वका अभाव है।

'प्रियप्रवास' एक सशक्त विप्रलम्भ काव्य है। कविने अपनी इस कृतिमें कृष्ण-कथाके एक मार्मिक पक्षको किंचित् मौलिकता और एक नूतन दृष्टिकोणसे प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्णके मथुरा-गमनके उपरान्त ब्रजवासियोंके विरहसन्तप्त जीवन तथा मनोभावोंका हृदयग्राही अंकन प्रस्तुत करनेमें उन्हें बहुत सफलता मिली है। संस्कृतकी समस्त तथा कोमल-कान्त पदावलीसे अलंकृत एवं संस्कृत वर्ण वृत्तोंमे लिखित यह रचना खड़ीबोलीका प्रथम महाकाव्य है। रामचन्द्र शुक्लने इसे आकारकी दृष्टिसे बडा कहा किन्तु उन्हे इस कृतिमें समुचित कथानकका अभाव प्रतीत हुआ और इसी अभावका उल्लेख करते हुए उन्होंने इसके प्रबन्धत्व एवं महाकाव्यत्वको अस्वीकार कर दिया है। (हि० सा० का इतिहास, पं० सं०, पृ० ६०८)। शुक्लजीसे सरलतापूर्वक सहमत नहीं हुआ जा सकता। प्रबन्ध काव्य-सम्बन्धी कुछ थोड़ी-सी रुढ़ियोंको छोड़ दिया जाय तो इस काव्यमें प्रबन्धत्वका दर्शन आसानीसे किया जा सकता है। यह सच है कि ऊपरसे देखनेपर इसका कथानक प्रवास-प्रसंग तक ही सीमित है, किन्तु हरिऔधने अपने कल्पना-कौशल द्वारा, इसी सीमित क्षेत्रमें श्रीकृष्णके जीवनकी व्यापक झाँकियाँ प्रस्तुत करनेके अवसर ढूँढ़ निकाले हैं। इस काव्यकी एक और विशेषता यह है कि इसके नायक श्रीकृष्ण शुद्ध मानव रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं, वे लोकसंरक्षण तथा विश्वकल्याणकी भावनासे परिपूर्ण मनुष्य अधिक है और अवतार अथवा ईश्वर नाममात्रके।

हरिऔधके अन्य साहित्यिक कृतित्वमें उनके ब्रजभाषा काव्य-संग्रह 'रसकलश' को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इसमें उनकी आरम्भिक स्फुट कविताएँ संकलित है। ये

कविताएँ श्रृंगारिक है और काव्य-सिद्धान्त निरूपणकी दृष्टिसे लिखी गयी हैं।

इन्होंने गद्य और आलोचनाकी ओर भी कुछ-कुछ ध्यान दिया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमे हिन्दीके अवैतनिक अध्यापक पदपर कार्य करते हुए इन्होंने 'कबीर वचनावली'का सम्पादन किया। 'वचनावली'की भूमिकामे कबीरपर लिखे गये लेखसे इनकी आलोचना-दृष्टिका पता चलता है। इन्होने 'हिन्दी भाषा और साहित्यका विकास' शीर्षक एक इतिहास ग्रन्थ भी प्रस्तुत किया, जो बहुत लोकप्रिय हुआ।

अयोध्यासिह उपाध्याय खड़ी बोली काव्यके निर्माताओंमें आते हैं। इन्होंने अपने कविकर्मका शुभारम्भ ब्रजभाषासे किया। 'रसकलश'की कविताओंसे पता चलता है कि इस भाषापर इनका अच्छा अधिकार था, किन्तु इन्होंने समयकी गति शीघ्र ही पहचान ली और खड़ीबोलीमें काव्य-रचना करने लगे। काव्य-भाषाके रूपमे इन्होंने खड़ीबोलीका परिमार्जन और संस्कार किया। 'प्रियप्रवास' की रचना करके इन्होंने संस्कृत-गर्भित कोमल-कान्तपदावली-संयुक्त भाषाका अभिजात रूप प्रस्तुत किया। 'चोखे-चौपदे' तथा 'चुभते-चौपदे' द्वारा खड़ी बोलीके मुहावरा सौन्दर्य एवं उसके लौकिक स्वरूपकी झाँकी दी। छन्दोकी दृष्टिसे इन्होंने सस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू सभी प्रकारके छन्दोंका धड़ल्लेसे प्रयोग किया। ये प्रतिभासम्पन्न मानववादी कवि थे। इन्होंने 'प्रियप्रवास'में श्रीकृष्णके जिस मानवीय स्वरूपकी प्रतिष्ठा की है उससे इनके आधुनिक दृष्टिकोणका पता चलता है। इनके श्रीकृष्ण 'रसराज' या 'नटनागर' होनेकी अपेक्षा लोकरक्षक नेता हैं।

जीवन-कालमें ही इन्हें यथोचित सम्मान मिला था। १९२४ ई० में इन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलनके प्रधान पदको सुशोभित किया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने इनकी साहित्य सेवाओंका मूल्यांकन करते हुए इन्हें हिन्दीके अवैतनिक अध्यापकका पद प्रदान किया। एक अमेरिकन 'एनसाइल्कोपीडिया'ने इनका परिचय प्रकाशित करते हुए इन्हें विश्वके साहित्य सेवियोकी पंक्ति प्रदानकी। खड़ी-बोली काव्यके विकासमें इनका योग निश्चित रूपसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि 'प्रियप्रवास' खड़ी बोलीका प्रथम महाकाव्य है तो 'हरिऔध' खड़ी बोलीके प्रथम महाकवि! —र० भ्र०

अरिंदम—रामनृत्यके पूर्व गोपियोंने कृष्णको इसी नामसे सम्बोधन किया है। इस प्रकार का नाम देनेका कारण कदाचित् कृष्णका कंस द्वारा प्रेषित अनेक असुरोंका दमन करना है। —ज० प्र० श्री०

अरिकेसी—कृष्णका नामान्तर है। अश्वरूप केशी राक्षसकी हत्या करनेके कारण कृष्णको इस नामसे अभिहित किया गया है।

—ज० प्र० श्री०

अरिष्ट—भागवतके अनुसार बलिका पुत्र अरिष्ट कंसके द्वारा कृष्णकी हत्या करनेके लिए वृन्दावन भेजा गया था। इसकी आकृति वृषके समान थी। ब्रजमें पहुँचकर यह वहाँके पशुओंमें मिल गया लेकिन पशु तथा गोप-गोपी सभी इसे देखकर डर गये। इस वस्तुस्थितिको समझकर कृष्णने इसको मार डाला—'अघ-अरिष्ट, केसी, काली मथि दावा-नलहिं पियो' (सूर० पद० १२१२)। सूरसागरमे अरिष्टा सुरको वृषभासुर कहा गया है जो गोचारणके समय वनमें गायोंके समूहमे घुसकर उपद्रव करने लगा था तथा कृष्णके ऊपर चढ़ दौड़ा था। कृष्णने उसे टांग पकड़कर घुमाकर पृथ्वीपर पटक दिया था (सूर० पद० २००४-२००५)।

—ज० प्र० श्री०

अरुंधती—१ : यह कर्दम मुनिकी पुत्री तथा वसिष्ठकी स्त्री थी। महाभारतकी एक कथाके अनुसार अरुन्धतीके मनमे वसिष्ठ जैसे निष्ठावान् पतिके प्रति भी उनके दुश्चरित्र होनेकी आशंका सदैव बनी रहती थी। उसी पापके फल स्वरूप उनकी प्रभा घूमारुणकी भाँति म्लान हो गयी और वह कभी दृश्य और कभी अदृश्य रहने लगीं।

२ : दक्ष प्रजापतिकी एक पुत्रीका नाम भी अरुन्धती था जो धर्मकी स्त्री थीं—"अरुन्धती मिलि मैनहि बात चलाइहि" (तुलसी मां० ८८)।

३ : अरुन्धती नामका एक नक्षत्र भी है। आकाशमे सप्तर्षिमण्डलमें वसिष्ठके समीप इसकी स्थिति है। ऐसी मान्यता है कि मरणासन्न व्यक्तियोंको यह दृष्टिगत नहीं होता। ब्याहमें सप्तपदी परिक्रमाके पश्चात् वर-वधूको इस नक्षत्रका मुख्यरूपसे दर्शन कराया जाता है। —ज० प्र० श्री

अर्जुन १— कृष्णके साथ अर्जुनके अनेक प्राचीन सन्दर्भ मिलते हैं। अर्जुनकी माता कुन्ती और पिता पाण्डु थे। किन्तु ये पाण्डुके क्षेत्रज, और कुन्तीके दुर्वासा द्वारा विरचित मन्त्रसे इन्द्रका आह्वान कर उनके साथ सहवास करनेके कारण इन्द्रके औरस पुत्र थे। ये आचार्य द्रोणके प्रमुख शिष्य एवं बाणविद्यामें प्रवीण थे। इस कलामे इनकी समता केवल कर्ण ही कर सकता था। बाणविद्याके ही बलसे अर्जुनने स्वयंवरमें मत्स्यवेधकर द्रौपदीसे विवाह किया, जो नियतिके विधानसे पाँचों पाण्डवोंकी वधू बनी। पाण्डवोंके द्वादशवर्षके गुप्तवासके समय इन्होंने परशुरामसे अस्त्रविद्यामें दीक्षा ली थी। इसी बीच नागकन्या उलूपीसे प्रेम हो जानेके कारण उससे इरावत नामक पुत्रका जन्म हुआ। अर्जुनने मणिपुरके राजा चित्रभानुकी पुत्री चित्रांगदासे भी विवाह किया जिससे बभ्रुवाहनका जन्म हुआ। कृष्णकी भगिनी सुभद्रासे विवाह करनेके उपरान्त उससे अभिमन्यु उत्पन्न हुए। महाभारतमें अभिमन्युके निर्दयतापूर्वक वध किये जानेपर अर्जुनने उसके प्रतिशोधस्वरूप जयद्रथवधकी प्रतिज्ञाकी थी (दे० जयद्रथ वध, सर्ग ३ : मैथिलीशरण गुप्त)। अर्जुनका द्रौपदीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र महाभारतके युद्धमें अश्वत्थामा द्वारा मारा गया। अर्जुनके पौरुष एवं पराक्रमसे प्रसन्न होकर अनेक देवताओंने इन्हें दिव्यास्त्र दिये थे। युधिष्ठिरने कौरवोंके साथ द्यूतक्रीडामें जब सर्वस्व गँवा दिया तो ये हिमालयपर तप करने चले गये। वहाँ किरात वेशधारी शिवसे, इनका युद्ध हुआ। शिवने इनकी वीरतासे प्रसन्न होकर इन्हें पाशुपत अस्त्र दिया था। कृष्णकी सहायतासे खाण्डव बन दहन करनेके बाद अग्निदेवने प्रसन्न होकर अर्जुनको आग्नेयास्त्र और गाण्डीन प्रदान किये। इन्द्रके साथ अमरावतीमें विहार करते समय उर्वशी इनपर रीझ गयी। उर्वशीकी इच्छापूर्ति न करनेपर उसने इन्हें नपुंसक होकर स्त्रीके समक्ष नृत्य करनेका शाप दिया, जिसके कारण अज्ञातवासमें इन्हें 'बृहन्नला'के रूपमें विराट्की राजकुमारी

उत्तराको नृत्यकी शिक्षा देनी पडी। कुरुक्षेत्रके युद्धमें कृष्ण इनके सारथी बने। युद्धारम्भके पूर्व इनके मोहाविष्ट होनेपर कृष्णने इन्हें जो उपदेश दिया वह गीताके नामसे विख्यात कहा जाता है (दे० कृष्णायन, गीता काण्ड) महाभारत युद्धमें अर्जुनने कौरव पक्षके अनेक सेनानियोंका वध किया। अन्तमें ये द्वारिका गये तथा यादवोंका विनाश होनेपर हिमाचल चले गये, जहाँ इनका देहावसान हुआ। महाभारत, गीता और पौराणिक साहित्यमें अर्जुनके लिए कौन्तेय, गुडाकेश, धनंजय, विष्णु किरीटिन्, श्वेतवाहन, पाकशासन, सव्यशाचिन्, पार्थ, बीभत्सु आदि इनके नाम मिलते हैं। महाभारत तथा पुराणोंमें अर्जुन और कृष्णको क्रमशः नर-नारायण रूपमें भी अभिहित किया गया है।

भक्ति युगके कृष्णपरक भक्त कवियोंमें सूरदासने अर्जुनके व्यक्तित्वमें भक्तिभावकी प्रतिष्ठा करते हुए 'भागवत'के अनुकरणपर, सूरसागरमें उनकी कथा वर्णित की है। महाभारत एवं पौराणिक मान्यताके अनुसार अर्जुन और कृष्णकी नर-नारायणकी कल्पनाके आधारपर उन्होंने द्रौपदीको नर-नारी नामसे उल्लेख किया है (दे० सू० सा० दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध)। भागवतके भाषानुवादोंमें (दे० 'अक्रूर'मे दी गयी सूची)। अर्जुनकी कथा उसीके अनुकरणपर मिलती है। आधुनिक युगके कृष्ण कथा-काव्योंमें 'कृष्णायन' (दे० पूजा, गीता, जप, आरोहण कांड)के अन्तर्गत अर्जुनका आदर्शपरक पुरुषार्थ और व्यक्तित्व रचनाके उपनायक के रूपमें उभरा हुआ मिलता है।

अर्जुन २–हैहय राजा कृतवीर्यके पुत्र जो कार्तवीर्य नामसे प्रसिद्ध हैं।

अर्जुन ३–कृष्णके एक गोपमित्र।

अर्जुन ४–एक मध्यकालीन प्रसिद्ध वैष्णव भक्त।–रा० कु०

अर्जुनदास केडिया–सेठ अर्जुनदास केडिया हिन्दीमें अलंकारशास्त्रीके रूपमें माने जाते हैं। इनका जन्म राजपूतानाकी जयपुर रियासतके 'महनसर' नामक ग्राममें सन् १८५७ ई० में हुआ था। ये अग्रवाल वैश्य थे। इनका बाल्यकाल इनके पिता द्वारा बसाये गये 'रतननगर' नामक शहरमें व्यतीत हुआ। कवि स्वामी गणेशपुरी इनके काव्यगुरु थे। इन्होंने संस्कृत, फारसी, गुजराती, गुरुमुखी और उर्दू तथा हिन्दीका अच्छा अध्ययन किया था। ज्योतिष, वैद्यक आदिमें भी इनकी अच्छी गति थी।

केडियाजी हिन्दीके कवि और काव्यशास्त्रके पण्डित दोनों रूपोंमें परिचित हैं। 'काव्य-कलानिधि' नामसे इन्होंने अपनी कविताओंका संचयन किया था जो तीन भागोंमें है। प्रथम भागकी श्रृंगारी कविताओंका शीर्षक 'रसिक रंजन' है। द्वितीय भागको 'नीति-नवनीत' तथा तृतीय भागको 'वैराग्य वैभव' नाम लेखकने दिया था। किन्तु 'भारती भूषण' नामक अलंकार ग्रन्थ ही इनकी प्रसिद्ध कृति है, जिसकी रचना १९२८ ई० में हुई थी। इसमें अलंकार-शास्त्रका विवेचन ही केडियाजीका अभिप्रेत रहा है।

–नि० ति०

अर्ध कथानक–अर्ध कथानककी रचना जैन कवि बनारसीदास (सन् १५८६-१६४३) ने सन् १६४१ ई० में की। अर्ध कथानक प्राप्त हिन्दी साहित्यमें सबसे प्राचीन पद्यबद्ध आत्मचरित है। इस महत्त्वपूर्ण कृतिके दो संस्करण निकल चुके है–प्रयाग विश्वविद्यालयकी हिन्दी परिषद्से डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित सन् १९४३ ई० में तथा हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बईसे सन् १९४३ ई० में जिसके सम्पादक हैं स्व० नाथूराम प्रेमी। प्रेमीजीके संस्करणमें लेखककी जीवनी आदिसे सम्बन्धित अनेक ज्ञातव्य बातें भी दी हुई हैं, अतः गुप्तजीके संस्करणकी तुलनामें प्रेमीजीका संस्करण महत्त्वपूर्ण है। बनारसीदासने इस कृतिकी रचना सन् १६४१ में की थी, कृतिमें उन्होंने रचनाकालका उल्लेख किया है–"सोलहसै अट्ठानवे, संवत् अगहन मास। सोमवार तिथि पंचमी, सुबल पक्ष परगास।" 'अर्ध कथानक' नामके सम्बन्धमें उन्होंने कहा है कि वर्तमान समयमें मनुष्यकी आयुका परिमाण ११० वर्ष है, उन्होंने उसकी आधी अवस्था, पचपन वर्षका, अपना विवरण दिया है, इसीसे बनारसीदासके चरित्रका यह अर्धकथानक है। यथा–

"अपना चरित कहों विख्यात। तब तिनि बरस पंच पंचास।। परिमिति दसा कही मुख भाषा। आगे ज्यु कछु होइगी और।। तैसी समुझैगे तिस ठौर। वरतमान-नर-आउ बखान।। बरस एक सौ दस परवान। ताते अरध कथान यह बनारसी चरित्र"। 'अर्ध कथानक' ६७५ छंदोंमें समाप्त हुआ है।

बनारसीदासने अपने जीवनके प्रसंगमें अनेक ऐसी घटनाओंका उल्लेख किया है जिनसे तत्कालीन परिस्थितिका सजीव परिचय मिलता है। उस समय व्यापारियों विशेषकर हिन्दुओंकी स्थिति संकटापन्न रहती थी। ठगों और चोरोंकी कमी नहीं थी। मुसलमान शासक मनमाना व्यवहार करते थे।

आत्मकथा कहनेके लिए जैसी निर्भीकताकी आवश्यकता होती है, वह बनारसीदासमें थी। अपनी संकटपूर्ण स्थिति, जीवनके उतार-चढ़ावों और दुर्बलताओंका जिस साहस और सरलतासे उन्होंने चित्रण किया है उससे कृतिका मूल्य बहुत बढ़ गया है। बनारसीदासका परिवार समृद्ध और सम्भ्रान्त था किन्तु उन्हें सारे जीवन व्यापारके लिए इधरसे उधर भागना पड़ा। उन्होंने शिक्षा थोड़ी ही पायी थी किन्तु कविता करनेकी उनमें प्रतिभा थी। अपने उच्छृंखल प्रेमी जीवनका भी उन्होंने उल्लेख किया है जिसका उन्हें भारी मूल्य चुकाना पड़ा था। अनेक प्रकारके अंन्ध विश्वास उस समय प्रचलित थे और बनारसीदास स्वयं भी उनमें विश्वास करते थे। एक संन्यासीके दिये हुए मंत्रका जाप शौचालमें बैठकर नियमित रूपसे एक वर्ष तक वे इस आशामें करते रहे कि मन्त्र-सिद्धिके पश्चात् उन्हें प्रतिदिन एक दीनार पड़ा मिलेगा। यज्ञोपवीत धारी ब्राह्मणोंका उनके समयमें सम्मान था–चोर ब्राह्मणोंको नहीं लूटते थे। अकबरकी लोकप्रियताका भी उन्होंने उल्लेख किया है। मृगावती-मधुमालती कथाकृतियाँ लोकप्रिय थीं। सती तथा प्रेतोंकी पूजामें लोग विश्वास करते थे।

कृतिमें अनेक नगरों और गाँवोंका उल्लेख है, जहाँ बनारसीदासको व्यापारके लिए यात्राएँ करनी पड़ी थीं। इलाहाबादको इलाबास कहा जाता था। आगरा, जौनपुर, पटना, बनारस व्यापारके अच्छे केन्द्र थे। अपनी कृतिकी भाषाको कविने 'मध्यदेशकी बोली' कहा है। उनकी भाषाका मूल ढाँचा ब्रजभाषाका है जिसमें खड़ी बोलीका भी पुट मिलता

है। कृति अत्यन्त सहज और सरल शैलीमे लिखी गयी हे। अलंकारोंके प्रयोगका प्रयास उसमें नहीं है, न कवि-कल्पनाके ही दर्शन होते है। स्वाभाविकता और आत्मीयता बनारसीदासकी शैलीके आकर्षक गुण हैं। उनकी शब्दावलीमे अरबी, फारसीके प्रचलित अनेक शब्दोका प्रयोग; जैसे—"बहुत पढ़े बाभन अरु भाट, बनिक पुत्र तो बैठे हाट। बहुत पढ़े सो माँगे भीख, मानतु पूत बड़ेनि की सीख।" (अर्ध क० पद्य २००)। 'नदी नाव संजोग ज्यों, बिछुरि मिले नहि कोई'। (अर्ध क० पद्य २४३)।

'अर्ध कथानक'का प्रधान छन्द चौपाई और दोहा है। चौपाई और दोहोके प्रयोगमे किसी निश्चित सख्या-क्रमका पालन नही किया गया है। यथा सुविधा कहीं अनेक दोहे एक साथ रखे गये हैं, कही बीच-बीच में चौपाइयाँ रखी है, फिर दोहे। अन्य छन्दोंमे कवित्त (जिसको बनारसी दासने सवैया इकतीसा कहा है—छन्द २, २९, ४८६), छप्पय (छन्द ७०) के प्रयोग हुए हैं।

[सहायक ग्रन्थ—अर्ध कथानक : सम्पादक माता प्रसाद गुप्त, इलाहाबाद, १९४३; अर्ध कथानक : सम्पादक पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९४३; हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास : कामताप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।]

—रा० तो०

अलंकार पंचाशिका—'अलंकार पंचाशिका'को कुछ लोगोंने प्रसिद्ध मतिरामकृत न मानकर किन्हीं दूसरे मतिरामकी रचना मानी है। इसका प्रधान प्रमाण यह दिया जाता है कि 'रसराज', 'ललितललाम' और 'सतसई'में काफी समान दोहे मिलते हैं तथा कुछ छन्द भी ऐसे हैं जो प्रथम दो ग्रन्थोंमें समानरूपसे पाये जाते हैं। अतः यदि 'अलंकार पंचाशिका' भी मतिरामकी होती, तो उसमे भी कुछ छन्द ऐसे मिलते, जो दूसरे ग्रंथकेहो। परन्तु यह तर्क बहुत ठोस नहीं है। केवल ५० अलंकारोंका वर्णन करनेवाले कुल ११६ छन्दोंके ग्रन्थमें आवश्यक नहीं कि दूसरे ग्रन्थोंके भी छन्द रखे जायँ। साथ ही एक बात यह भी हो सकती है कि ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हो चुके होंगे और कुमायूँ नरेश महाराज उदोतचन्द्रके पुत्र ज्ञानचन्द्रने यह कहा होगा कि वे नवीन छन्दोंपर ही पुरस्कृत करेंगे, अतः 'अलंकार पंचाशिका'में पुराने छन्दोंका समावेश नहीं किया गया।

इस प्रसंगमें 'मतिराम : कवि और आचार्य'के लेखकका विचार है कि भाषा और भावकी दृष्टिसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह मतिरामका ही लिखा गया ग्रन्थ है (पृ० ५८-६०)। अनेक भाव जो 'अलंकार पचाशिका'में ज्ञानचन्द्रकी प्रशंसामें लिखे गये हैं, वही हैं जो 'ललितललाम' मे भावसिंहकी प्रशंसामें। इस प्रकार इनका मत है कि यह प्रसिद्ध मतिरामकृत ग्रन्थ है और कुमायूँके राजा ज्ञानचन्द्रके आश्रयमें लिखा गया। यह बात ग्रंथके प्रारम्भिक दस छन्दोंसे प्रकट हो जाती है जो आश्रयदाता और कविपरिचयसे सम्बन्धित हैं। साथ ही कुमायँ नरेशकी दानवीरता एवं विद्वानोंका सम्मान इतिहास-प्रसिद्ध था।

'अलंकार पंचाशिका'का रचनाकाल १६९० ई० है जो निम्नलिखित दोहेसे स्पष्ट हो जाता है—"सवंत् सत्रहसै जहाँ,सैतालिस नभ मास। अलंकार पंचासिका, पूरन भयो प्रकास।।११६।।" इस ग्रन्थकी रचना 'कुवलयानन्द' और 'काव्यप्रकाश'के आधारपर हुई है। १०५ छन्दोंमें अलंकारोंके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। 'अलकार पचाशिका' के उदाहरणोंमे एक छन्दको छोडकर अन्य समस्त छन्द आश्रयदाताकी प्रशसामे रचे गये हैं।

विचार करनेपर भाषा और कवित्वकी दृष्टिसे 'पंचाशिका'के छन्द काफी शिथिल है। रचनाकालके विचारमे यह ग्रन्थ 'ललितललाम'के बादका है; फिर भी 'ललितललाम'के समान प्रौढ़, प्रसन्न एवं प्रतिभापूर्ण रचना 'अलंकार पंचाशिका' नही है। महेन्द्रकुमारने भावसाम्यकी बात कही है, पर वह इसी तथ्यको सिद्ध करती है कि वे दूसरे मतिरामके हैं। मतिरामने 'रसराज'के छन्द 'ललितललाम'मे रख दिये है, यह बात सत्य है; पर 'रसराज' के किसी छन्दके भावके आधारपर दूसरा छन्द 'ललितललाम'में रचनेकी पुनरावृत्ति नहींकी। यह कार्य तो कोई दूसरा ही व्यक्ति कर सकता है। ऐसी दशामें 'अलंकार पंचाशिका' प्रसिद्ध मतिरामकी रची हुई न होकर 'वृत्तकौमुदी'के रचयिता वत्सगोत्रीय वनपुर निवासी मतिरामकी है। दोनों मतिरामोंकी शैलीपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे मतिरामका काव्य शिथिल है।

'अलंकार पंचाशिका'में श्रृंगार रसकी रचनाएँ नहीं है। केवल एक श्रृंगारिक छन्द है। शेष छन्द ओजपूर्ण वीर रसके हैं; पर वे प्रसाद गुणसे भी युक्त हैं। छन्द दोष भी ग्रन्थके अनेक छन्दोंमें दिखलाई देता है। 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' या 'वृत्तकौमुदी'के छन्द अवश्य ही एक शैलीके जान पड़ते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्र कुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह।] —भ० मि०

अलंकार मंजरी—सेठ कन्हैयालाल पोद्दारने १८९६ ई० में अलंकारकी एक पुस्तक 'अलंकार प्रकाश' लिखी। १९२३ ई० में इसमें काव्यके सभी अंगोंका विवेचन करके इसको एक ग्रन्थ 'काव्य-कल्पद्रम'का रूप दे दिया गया। इसके एक पूर्वरूपका प्रकाशन वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बईसे १९०२ ई० में हुआ था। 'काव्य-कल्पद्रुम'की एक मंजरी (भाग) 'अलंकारमंजरी' है। यह अलंकार विषयकी सबसे पूर्ण एव उपादेय पुस्तक है। लेखकने संस्कृत साहित्यके सुप्रसिद्ध ग्रन्थोंके आधारपर इस पुस्तककी रचनाकी है; इसमें विषय विस्तारके साथ-साथ प्रतिपादन भी पर्याप्त मात्रामें है।

५९ पृष्ठोंके प्राक्कथनमें लेखकने 'अलंकार साहित्यका संक्षिप्त इतिहास' प्रस्तुत किया है। संस्कृत तथा हिन्दीके प्राचीन आचार्योंकी तो प्रशंसा है, परन्तु समकालीन लेखकोंकी कटु आलोचना है। 'अलंकार-मंजरी'में 'काव्य-कल्प द्रुम'के अन्तिम तीन स्तवक हैं। शब्दालंकार ६ हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, चित्र। अर्थालंकार १०० हैं। अन्तमें संसृष्टि-संकरका विवेचन है।

अलंकार लक्षण तथा विवेचन गद्यमें है। उदाहरण स्वरचित, अनूदित तथा अन्य रचित तीनों प्रकारके हैं। गद्य तथा खड़ीबोलीके उदाहरण अपवाद-मात्र ही हैं। इस रचनापर संस्कृतका अत्यधिक प्रभाव है और युग-प्रवाहकी उपेक्षा है। पाण्डित्यकी दृष्टिसे हिन्दीमें अलंकार विषयकी यह सबसे प्रौढ़ रचना है।

—ओं०

अलंबुषा—सौन्दर्य तथा नृत्य कलामें बेजोड एक देवांगना थी। एक बार वह ब्रह्माके लोकमें नृत्य कर रही थी विधूम नामक गन्धर्व उसे देखकर मुग्ध हो गया। कामातुर हो दोनो ही ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंकी उपस्थिति (भूलकर अवांछनीय चेष्टा करने लगे। फलतः ब्रह्मा (मतान्तरसे इन्द्र) ने उन्हें मनुष्य होनेका शाप दे डाला। कालान्तरमें अलंबुषा राजा कृतवर्माके वंशमें मृगावती हुई और विधूम पाण्डव कुलमें सहस्रानीक हुआ। दोनोका विवाह हुआ। मृगावतीकी गर्भावस्थामें नररक्तसे स्नान करनेका दोहद हुआ। स्नानोत्तर कोई पक्षी उसे मांसपिण्ड समझकर लेकर उड़ गया। उसकी रक्षा एक दिव्य पुरुषने की और उस पुरुषने उसे उदयगिरिमें जमदग्निके आश्रममें रखा। उससे तेजस्वी उदयनकी उत्पत्ति हुई। एक दिन एक सँपेरेको साँप पकड़ते देखकर, मदारीको अपनी माँका कंकण प्रदान कर सर्पको छुडा दिया। कंकण लिए हुए मदारी सहस्रानीकके राज्यमें पहुँचा जहाँ वह उसका विक्रय करते हुए पकड़ा गया। १४ वर्षोंकी अवधिके बाद रानीका पता पाकर सहस्रानीक उससे उदयनगिरिमें जा मिला। वियोगका कारण तिलोत्तमाका शाप था। उदयनको राज्यभार देकर मृगावती और सहस्रानीकने चक्रतीर्थमें स्नान किया और शापमुक्त होकर पूर्व योनियाँ प्राप्तकीं।

—ज० प्र० श्री०

अलका—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' की पात्र। तक्षशिलाकी राजकुमारी अलका देश-भक्ति, वीरता एवं चतुरतासे विभूषित होनेके कारण 'चन्द्रगुप्त'के स्त्री-पात्रोंके बीच अपना एक प्रभावशाली महत्त्व रखती हैं। वह सिंहरण, चन्द्रगुप्त और चाणक्यसे प्रभावित होकर स्वदेश-सेवाको अपना कर्त्तव्य निर्धारित करती हैं। उसके पिता और भाई विदेशियोंसे अभिसन्धिकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। उसका भाई आंभीक यवनोकी सहायताके लिए उद्भाण्डमें सिन्धुपर सेतु बनवा रहा है। अलका उसका मानचित्र बनवाकर देशभक्त सिंहरणको अर्पित करती है। मानचित्रको प्राप्त करनेमें उसकी सूझ-बूझ, निर्भीकता एव साहसका सुन्दर परिचय मिलता है। इस प्रकार वह मानचित्र सिंहरणको सौंपकर अपनी देश-भक्तिके दायित्वका निर्वाह सफलतापूर्वक करती है। अलका स्वदेश हितके लिए अपने परिजनोंसे भी विद्रोह करती है। वह पर्वतेश्वरकी सेनामें नटीके रूपमें वेष बदलकर अपना कार्य सिद्ध करती है। मालव-दुर्गकी रक्षामें एक वीर सैनिककी भाँति तत्पर होकर अपने पराक्रमसे अनेक यवन सैनिकोंको घायल करके सिकन्दरपर भी प्रहार करती है। सिल्यूकसके आक्रमणके समय हाथमें आर्यपताका धारणकर स्वदेश-प्रेमके गीत गाते हुए जनतामें उत्साह फैलाती है। आम्भीक भी उसके इस ओजस्वी व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर अपने पूर्व कार्योंके प्रति खेद प्रकट करता है। आचार्य चाणक्य अलकाके स्वदेश-हित, त्याग एवं कष्टोंकी सराहना करते हुए नहीं थकते : 'मेरी लक्ष्मी—अलकाने आर्य गौरवके लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये।' अलकामें वाक्चातुरी और कार्य-कुशलता भी यथेष्ट मात्रामें है। वह वन-प्रदेशमें सेनापति सिल्यूकसको धोखा देकर उसके चंगुलसे निकल जाती है। पर्वतेश्वरको अपनी वाक्चातुरीसे प्रभावित कर थोड़े समयके लिए पंचनदकी शासिका बनती है। इस प्रकार वह बड़े कौशलसे सिंहरणको कारागारसे मुक्त कराकर सिकन्दरके लिए पर्वतेश्वरकी सैनिक सहायताको रुकवाकर देशके हितमें योग देती है। प्रसादने स्वदेशानुरागिणी अलकाके चरित्रका निरूपण करनेमें पूर्ण सफलता प्राप्तकी है।

—के० प्र० चौ०

अलबेली अलि—ब्रजभक्तिके उन्नायकोंमें अलबेली अलि संस्कृत भाषाके परम्परागत विद्वानोंमें माने जाते है। वंशी अलिके वे शिष्य थे। वंशी अलि अपनी उपासना पद्धतिको नवीन रूप देनेवाले प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं। विष्णुस्वामीकी दार्शनिक विचारधारासे वे प्रभावित थे। अलबेली अलि ने संस्कृत भाषामें 'श्रीस्तोत्र' नामक काव्य यमक और अनुप्रासकी छटामें लिखा है। ब्रजभाषामें इनकी 'समय प्रबन्ध पदावली' प्रसिद्ध है। पदावलीमें राधाकृष्णकी रूपमाधुरीका बड़े सरस रूपमें वर्णन किया गया है। राधाके रूप दर्शनको ही मोक्षसुख मानने वाले ब्रजके भक्तोंमें उनके अनेक पद गाये जाते हैं। रूपमधु ही भक्तोंका भोजन है। उनकी मान्यता है कि—"नेही नेह बिना नहि जानत, चातक स्वाति बिन किनकोरी। अलबेली अलि रसिकन जीवन नैननि नैन मिलन इनकोरी।"

वि० स्ना०

अलाउद्दीन—'पदमावत'का सुल्तान अलाउद्दीन एक ऐतिहासिक व्यक्ति है, इसमें संदेह नहीं। यह तुर्कोंके खिलजी वंशका बादशाह था जो अपने चाचा सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी (सन् १२९० ई०) की हत्या कराकर उसका उत्तराधिकारी बना और दिल्लीके सिंहासनपर सन् १२९६ ई० से आरूढ़ हुआ तथा सन् १३१६ ई० अर्थात् लगभग २० वर्षों तक राज्य करता रहा। इस प्रेमाख्यानके अन्तर्गत यह एक प्रतिनायकके रूपमें आता है और इसके नायक राजा रतनसेनके गढ़ चित्तौड़पर विजय प्राप्त कर उसके नाशका भी कारण बनता है। यहाँपर इसका प्रथम परिचय हमें उस समय मिलता है जब इसे राघवचेतन दिल्लीके दरबारमें पाता है और देखता है कि "संसारमें जहाँतक सूर्य तपता है वहाँ तक यह राज्य करता है" तथा "चारों खण्डोंके राजा वहाँ आते हैं और ऐसी भीड़ होती है कि वे दरबारमें उसे प्रणाम करनेका अवसर भी नहीं पाते" ३९ : १। किन्तु 'भिखारी' राघवचेतन वहाँ प्रवेश पा जाता है और अपने हाथमें लिये हुए पदमावती वाले कंगन द्वारा, उसे आकृष्ट करके, फिर उस रूपवती रानीके प्रति इसकी जिज्ञासा जागृत करने तथा इसपर उसे पानेकी धुन सवार करा देनेमें भी वह सफल हो जाता है। अलाउद्दीनको, उस परम सुन्दरीके अनुपम सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनते ही, मूर्छा आ जाती है (४१-२०) और संज्ञा प्राप्त करते ही, यह राघवचेतनको अनेक अनमोल वस्तुएँ पारितोषिक रूपमें देने लगता है तथा उससे यह भी कह देता है—"जिस दिन मैं पदुमिनीको पा जाऊँगा उस दिन, हे राघव, मैं तुझे चित्तौड़के सिंहासनपर बैठा दूँगा।" और इसके साथ यह एक पत्रमें वहाँ लिख भी भेजता है, "सिंहलकी जो पदुमिनी तुम्हारे पास है, उसे मैं शीघ्र यहाँ चाहता हूँ" (४१-२२)। फिर तो राजा रतनसेनके इसे अस्वीकार कर देनेपर, इसकी ओरसे उसपर चढ़ाई कर दी जाती है और चित्तौड़पर आठ बरसों तक 'छेंका' पड़ा रहता है (४३-१८)। कुछ दिनों तक मेल की बातें भी चलती हैं और इसका वहाँपर सम्मानके साथ स्वागत किया जाता है, किन्तु जब यह चौपड़

खेलते समय पद्मावतीका प्रतिबिम्ब किसी दर्पणमें देख लेता है और बेसुध हो जाता है (४६-१८) तो इसे छल करनेकी सूझती है और तदनुसार यह वहाँसे चलते समय पहुँचाने आये हुए रतनसेनको दुर्गके फाटकपर ही बन्दी बना लेता है और उसे अपने यहाँ लाकर लोहेकी बेडियाँ तक पहना देता है (४७-३)। यह एक बार किसी पातुरको जोगियाके वेषमें पद्मावतीके पास भेजकर, उसे बहकानेकी चेष्टा भी करता है किन्तु सफल नहीं हो पाता और फिर अन्तमें, जब राजाकी मृत्यु हो जानेपर यह चित्तौड़ पहुँचता है तो देखता है कि वह रानी अपनी अन्य सपत्नियोंके साथ सती हो चुकी है (५७-४)।

इस प्रकार जायसीने अलाउद्दीनको अपने प्रेमाख्यानके अन्तर्गत अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, किन्तु परनारी लोलुपके रूपमें भी चित्रित किया है। इतिहासके अनेक ग्रन्थोंमें भी इसकी उस चित्तौड़की चढ़ाई (सन् १३०३ ई०) का मुख्य कारण पद्मावतीको प्राप्त करनेकी लालसा ही बतलाया गया दीख पड़ता है और उनमें उपर्युक्त कई घटनाओंका संक्षिप्त विवरण तक दिया गया पाया जाता है परन्तु आश्चर्यकी बात है कि ऐसे प्रसगोंका कोई भी उल्लेख अमीर खुसरो अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'खजाइनुल फुतुह'में नही करता। उसके उल्लेखों द्वारा यही पता चलता है कि, "सोमवार ८ जमादी उस्सानी ७०२ हिजरी (२८ जनवरी १३०३ ई०)को सुल्तानने चित्तौड़की विजयका दृढ़ संकल्प कर लिया.....सुल्तान सेना लेकर चित्तौड़ पर पहुँच गया।....शाही सेना दो मास तक आक्रमण करती रही, किन्तु विजय प्राप्त नहीं हो सकी।....सोमवार ११ मुहर्रम ७०३ हिजरी (२५ अगस्त १३०३ ई०) को सुल्तान उस किलेमें जहाँ चिड़िया भी प्रविष्ट नही हो सकती थी, दाखिल हो गया। उसका दास अमीर खुसरो भी उसके साथ था। राय सुल्तानकी सेवामें क्षमा याचनाके लिए उपस्थित हो गया। उसने रायको कोई हानि नही पहुँचायी, किन्तु उसके क्रोध द्वारा ३० हजार हिन्दुओंकी हत्या हो गयी (खि० का० भा०, पृ० १६०)।" अतएव, सम्भव है कि जायसीकी अधिकांश बातें या तो कल्पित हों अथवा किन्हीं ऐसी अनुश्रुतियोंपर आधारित हों जो उसके समय तकके लगभग २५० वर्षोंमें किसी समय यों ही गढ़ ली गयी हों। अनुमान तो यहाँ तक किया जाता है कि 'पद्मावती प्रसंग'की प्रायः सारी बातें सर्वप्रथम इस कविके ही मस्तिष्ककी उपज बनकर प्रचलित हुई थीं। परन्तु इस सम्बन्धमें कोई अन्तिम निर्णय देनेके लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत नही है। जहाँ तक अलाउद्दीनके चरित्र-चित्रणका प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं कि जायसीने एक ऐतिहासिक व्यक्तिके स्वभावको, अपने कथानकके अनुरूप अतिरंजित करके ही दिखलाया है।

[सहायक ग्रन्थ—पद्मावतः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल चिरगाँव, सं० २०१२; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, १३, १५, वर्ष ६४, काशी; गोरा बादलकी कथा : सं० अयोध्याप्रसाद शर्मा, दारागंज, प्रयाग, सं० १९९१; खिलजीकालीन भारत : सैयद अतहर अब्बास रिजवी, अलीगढ़, सन् १९५४ ई०; जायसी ग्रन्थावली : सं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सन् १९२४ ई०; छिताई वार्ता : सं० डा० माता प्रसाद गुप्त, बनारस, सं० २०१५; दि देहली सल्तनत, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६०।] —पं० च०

अली—अली मोहम्मद साहबके मित्र (सोहाबी) थे। अली रिश्तेमें मोहम्मदके चाचा और दामाद भी थे। इन्हें 'खलीफा'का भी पद प्राप्त हुआ था। अलीके व्यक्तित्वमें वीरता और दानशीलताके गुणोंका समावेश था। अलीकी वीरताकी अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ खैबरके किलेके फाटकको इन्होंने उखाड़कर फेंक दिया था। मुसलमान पहलवान आज भी 'या अली' कहकर कुश्ती लड़ते हैं (दे० 'काबा-कर्बला')।

—रा० कु०

अली अकबर—इमाम हुसैनके लड़के थे। इनकी माताका नाम शहरबानो था। हुसैनके साथ ये भी कर्बला के धर्मयुद्धमें शहीद हुए थे। कहा जाता है कि शहीद होनेके एक दिन पहले इनका विवाह हुआ था। मुहर्रमके त्योहारमें जो 'मेंहदी' उठाई जाती है वह इन्हीं की स्मृति में होती है (दे० 'काबा-कर्बला')।

—रा० कु०

अलीमुहीब खाँ—इनका उपनाम 'प्रीतम' था। ये आगरेके रहनेवाले थे। इनकी जन्मतिथि अज्ञात है। प्रीतमका रचनाकाल १८ वीं सदीका पूर्वार्द्ध है। इनकी केवल एक कृति 'खटमल बाईसी' मिलती है, जिसका रचनाकाल उसके रचनाकाल विषयक दोहेसे सन् १७३० है। यह पुस्तिका 'खटमल बाईसी' शीर्षकसे चन्द्रप्रभा प्रेस, काशीसे १८१६ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। ऐसा अनुमान है कि इन्होंने और रचनाएँ भी की होंगी, यद्यपि आज वे उपलब्ध नहीं हैं। प्रीतमकी 'खटमल बाईसी' हास्य रस की रचना है, जिसमें बाईस छन्दोंके कवित्तमें खटमलको आधार मानकर बड़े सुन्दर एवं शिष्ट हास्यकी सृष्टिकी गयी है। कविकी कल्पना शक्ति बड़ी उर्वर है। जैसा कि रामचन्द्र शुक्लने कहा है 'इन्हें एक उत्तम श्रेणीका पथप्रदर्शक कवि माना जा सकता है। पथप्रदर्शक इस मानेमें कि इन्होंने हास्य-रसकी स्वतन्त्र रचनाकी परम्परा चलायी, यद्यपि इनका अनुकरण करनेवाले सम्भवतः कम ही लोग हुए। संस्कृतकी खटमलविषयक सूक्तियोंका इनपर यत्र-तत्र प्रभाव दृष्टिगत होता है।

[सहायक ग्रन्थ—१. हिन्दी साहित्यका इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; २. खटमल बाईसी : प्रीतम।]—भो० ना० ति०

अवधनाथ—दे० १. 'दशरथ' अथवा, 'राम', यथा "अवधनाथ गवने अवध" (मा० ६।१।५)।

—ज० प्र० श्री०

अवधपति—दे० 'अवधनाथ'—यथा "राम अनादि अवधपति सोई" (मा० १।१२७।३)।

—ज० प्र० श्री०

अवधूतेश्वर—शिवका एक नाम। शिवपुराणके अनुसार एक बार वृहस्पति और इन्द्र शिवके दर्शनके लिए चले। शिवने उनकी परीक्षाके लिए भयानक रूप धारण कर उनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इसपर इन्द्रने अपना वज्र प्रहार किया जिसे शिवने रोक लिया। फलस्वरूप अग्निकी ज्वाला प्रस्फुटित हो गयी। यह अग्नि वृहस्पतिके प्रार्थना करनेपर शान्ति हुई।

—ज० प्र० श्री०

अवधेस—दे० 'अवधनाथ', 'दशरथ' अथवा 'राम', यथा "अवधेसके द्वारे सकारे गई, सुत गोदकै भूपति लै निकसे" (क० १।१)।

—ज० प्र० श्री०

अवनिकुमारी—सीताका पर्याय। यथा—"धरि धीरज उर अवनिकुमारी" (मा० २।६४।२)।

—ज० प्र० श्री०

अशरफ—एक ख्याति-प्राप्त सूफी सन्त थे। ये पद्मावतके रचयिता मलिक मुहम्मद जायसीके गुरु एवं मार्गदर्शक थे।

—ज० प्र० श्री०

अशोक—

१ : ये राम के अमात्य तथा उच्चकोटि के भक्त थे। ये एक महान् तत्त्वज्ञानी तथा नीति-विशारद भी थे।

—ज० प्र० श्री०

२ : इनके पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य थे। ये २७४ ई० पू० सिंहासनपर बैठे थे किन्तु इनका राज्याभिषेक चार वर्षके उपरान्त हुआ था। सिंहासनपर आरूढ़ होते ही इन्होंने 'प्रियदर्शी' तथा 'देवानाम्प्रिय' जैसी उपाधियाँ धारण कर ली थीं। २६२ ई० पू० के लगभग इन्होंने कलिंगपर आक्रमण किया था और भीषण रक्तपातके बाद उसपर विजय करके उसे अपने राज्यमें मिला लिया था। इस युद्धके परिणामस्वरूप इनके जीवनमें महान् परिवर्तन हुआ। इन्हें युद्धके प्रति ऐसी विरक्ति हुई कि इन्होंने आजीवन युद्ध न करनेका संकल्प कर लिया तथा कुछ समय पश्चात् बौद्ध धर्मकी दीक्षा ग्रहण कर ली। इन्होंने बौद्ध-धर्मके प्रसार और प्रचारमें महत्त्वपूर्ण योग दिया। इनके पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा इनके आदेशानुसार लंकामें बौद्ध धर्मके प्रचारके लिए गये थे। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें अनेक काव्य और नाटक अशोककी जीवनीसे सम्बन्धित लिखे गये हैं।

—ज० प्र० श्री०

अशोकवाटिका—रावण जब सीताको अपहृत कर लंका ले गया तो उसने उन्हें अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये किन्तु जब वह अपने समस्त प्रयत्नोंमें असफल रहा तो अन्ततोगत्वा उसने सीताको इसी विशेष स्थानमें निर्वासित किया। विभीषणसे सीताका पता जानकर हनुमान् इसी वाटिकाके एक अशोक वृक्षपर छिपकर बैठे थे। हनुमान्‌से अशोकवाटिकामें रावणपक्षको सर्वप्रथम अपनी अपूर्व वीरताका परिचय दिया था तथा अशोकवाटिकाको उजाड़ डाला था—"तेहि अशोक वाटिका उजारी" (मा० ५।१७।३)।

—ज० प्र० श्री०

अश्क—दे० उपेन्द्रनाथ 'अश्क'।

अश्वकेतु—कौरव पक्षका साथ देने वाले एक वीर राजा। महाभारत युद्धमें अर्जुनके पुत्र अभिमन्युने इनका संहार किया था (दे० 'जयद्रथ-वध' : मैथिलीशरण गुप्त)

—ज० प्र० श्री०

अश्वत्थामा—इनके पिताका नाम द्रोण तथा माताका नाम कृपा था जो शरद्वानकी लड़की थी। जन्म ग्रहण करते ही इनके कण्ठसे हिनहिनानेकी सी ध्वनि हुई जिससे इनका नाम अश्वत्थामा पड़ा। महाभारत युद्धमें ये कौरव-पक्षके एक सेनापति थे। एक बार रातमें ये पाण्डवोंके शिविरमें गये और सोतेमें अपने पिताके हनन करनेवाले धृष्टद्युम्न और शिखंडी तथा पाण्डवोंके पाँचो लड़कोंको मार डाला। पुत्र वियोगके कारण द्रौपदी करूण विलाप करने लगी। इसपर क्षुब्ध हो अश्वत्थामाको अर्जुनने चुनौती दी। अश्वत्थामाने अर्जुनपर ऐशिकास्त्रसे आक्रमण किया। अर्जुनने प्रत्याक्रमणके लिए ब्रह्मशिरास्त्र उठाया, तब ये भागे "अश्वत्थामा भय कर भग्यो" आदि (सूर० पद २८९)। व्यास, नारद, युधिष्ठिर आदिने अर्जुनको अस्त्र-प्रयोग करनेसे रोका। द्रौपदीने इनकी मणि उतार लेनेका सुझाव दिया। अतः अर्जुनने इनकी मुकुटमणि लेकर प्राणदान दे दिया। अर्जुनने यह मणि द्रौपदीको दे दी जिसे द्रौपदीने युधिष्ठिरके अधिकारमें दे दिया।

—ज० प्र० श्री०

अश्वपति—ये कैकय देशके अधिपति थे। दशरथकी सुन्दर रानी कैकेयी इन्हींकी कन्या थीं।

—ज० प्र० श्री०

अश्वमेध—यह प्राचीन कालका एक महान् यज्ञ था। इसमें घोड़ेके मस्तकपर जय-पत्र बाँधकर भू-मण्डलकी दिग्विजयकी जाती थी। दिग्विजयके बाद घोड़ेकी चर्बीसे हवन किया जाता था। यह यज्ञ एक वर्षमें समाप्त होता था।

—ज० प्र० श्री०

अश्वसेन—सर्पराज तक्षकके पुत्र थे। पाण्डवों द्वारा खाण्डववनमें आग लगाये जानेपर इनकी प्राण-रक्षा करनेमें इनकी माताको प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। इनका आधा शरीर जल चुका था जबकि इन्द्रने मूसलधार वर्षाकर इनकी जीवन-रक्षाकी। महाभारत युद्धके समय माँकी मृत्युके प्रतिशोधार्थ ये कर्णके तूणीरमें निवसित हो गये। कर्णने जब इनका सन्धान अर्जुनपर किया तो अर्जुनने अपना सिर झुका लिया जिससे केवल उनके मुकुटको क्षति पहुँची और इनकी इच्छा पूरी न हो सकी। इसपर इन्होंने कर्णको अपना रहस्य बताया और पुनः शर रूपमें प्रयुक्त होनेकी प्रार्थनाकी जिसे कर्णने अस्वीकृत कर दिया। अन्तमें ये प्रतिकारके लिए अर्जुनकी ओर बढ़े किन्तु मारे गये।

—ज० प्र० श्री०

अश्विनी— १ : प्रजापति दक्षकी लडकी थीं। इनका विवाह चन्द्रमाके साथ सम्पन्न हुआ था। मतान्तरसे ये त्वष्टाकी पुत्री थीं। इनका प्रारम्भिक नाम प्रभा था। इनका एक अन्य नाम संज्ञा भी है। ये सूर्यकी पत्नी थीं तथा इनकी दो सन्तान यम और यमुना थे। एक बार सूर्यका तेज सहन करनेमें असमर्थ होकर ये अपनी छाया तथा सन्ततिको त्यागकर अश्विनीका रूप धारण

कर तप करने लगी। तभीसे इनका नाम अश्विनी पड़ा। प्रभाकी छायासे भी सूर्यको दो सन्तान हुए—शनि और ताप्ती। अपनी सन्तति पाकर छाया प्रभाके पुत्रोंका अनादर करने लगीं। इस प्रकार प्रभाके भागनेकी बात सूर्यको ज्ञात हुई। सूर्य इस रहस्यको जानकर अश्व रूपमें अश्विनीके पास गये जिससे अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए (दे० 'अश्विनीकुमार')।

२ : एक नक्षत्र हैं जिसका मुख अश्वका-सा माना जाता है। आश्विन मासकी शरत् पूर्णिमाको चन्द्र इसी नक्षत्रमे होता है। मतान्तरमे यह तिथि कार्त्तिकी पूर्णिमाको होती है।

—ज० प्र० श्री०

अश्विनीकुमार—अश्विनीसे उत्पन्न, सूर्यके औरस पुत्र, दो वैदिक देवता थे। ये देव चिकित्सक थे। उषाके पहले ये रथारुढ़ होकर आकाशमे भ्रमण करते है और सम्भव है इसी कारण ये सूर्य-पुत्र मान लिये गये हों। पुराणोके अनुसार नकुल और सहदेव इन्हीके अंशसे उत्पन्न हुए थे। निरुक्तकार इन्हे 'स्वर्ग और पृथ्वी' और 'दिन और रात'के प्रतीक कहते है। राजा शर्यातिकी पुत्री सुकन्याके पातिव्रतसे प्रसन्न होकर महर्षि च्यवनका इन्होंने वृद्धावस्थामें कायाकल्प करा उन्हें चिरयौवन प्रदान किया था। चिकित्सक होनेके कारण इन्हें देवताओंका यज्ञ भाग प्राप्त न था। च्यवनने इन्द्रसे इनके लिए संस्तुति कर इन्हे यज्ञ भाग दिलाया था। दध्यंग ऋषिके सिरको इन्होंने ही जोड़ा था। पर ब्रह्मा रामके विराट् रूपका उल्लेख करते हुए मन्दोदरीने रावणके समक्ष इन्हे रामका लघु-अंश बताया है—"जासु घ्रान अश्विनी कुमारा" (मा० ६।१५।२)।

—ज० प्र० श्री०

अष्टकृष्ण— बल्लभ सम्प्रदायमें कृष्णके आठ रूप माने जाते है जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. श्रीनाथ, २. नवनीतप्रिय, ३. मथुरानाथ, ४. विट्ठलनाथ, ५. द्वारकानाथ, ६. गोकुलनाथ, ७. गोकुलचन्द्र तथा ८. मदनमोहन।

—ज० प्र० श्री०

अष्टयाम१— वैष्णव सम्प्रदायके मन्दिरोंमें सेवा-पूजा विधिके अन्तर्गत अष्टयाम या आठ प्रहरकी सेवा-पूजाका विधान पाया जाता है। इस सम्प्रदायमें आठ पहरकी पूजाका बहुत ही विशद विस्तार पाया जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथने इसको व्यापक बनानेके लिए इसमे एक ओर वैभवकी सामग्रीका संकलन किया और कीर्तनको भी इसमे जोड़कर पद रचनाके लिए अवकाश कर दिया। कीर्तनका आठ पहरकी सेवा-पूजासे सम्बन्ध जुड़ जानेपर अन्य कवियोंने 'अष्टयाम' नामसे ग्रन्थ रचना करना प्रारम्भ कर दिया। वृन्दावनके वैष्णव भक्ति सम्प्रदायोंमें अष्टयाम नामसे शताधिक रचनाएँ उपलब्ध होती है। वल्लभ सम्प्रदायमें आठ समयकी कीर्तन-सेवा इस प्रकार है—मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या-आरती, शयन इन आठ समयोंके अनुसार पद रचना करके उन्हें एक ग्रन्थमें संकलित करनेको ही अष्टयाम कहते हैं।

राधावल्लभ, निम्बार्क, हरिदासी और गौड़ीय सम्प्रदायोंके वृन्दावनस्थ मन्दिरोंमें भी आठ पहरकी सेवा-पूजाका क्रम चलता है और उसीके अनुसार कीर्तन या समाजके लिए पद रचनाकी पद्धति प्रचलित है। राधावल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदायमें अष्टयाम ग्रन्थ बहुत लिखे गये हैं। इस सम्प्रदायके अनुसार अष्टयाम सेवा इस प्रकार है—मंगला, श्रृंगार, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या, शयन, शैया। इसीके आधारपर ध्रुवदास, नेही नागरीदास, अनन्यअली, चाचा वृन्दावनदास आदि अनेक अन्य कवियोंने अष्टयाम ग्रन्थोंकी रचनाकी है।

—वि० स्ना०

अष्टयाम २—नाभादासकृत 'अष्टयाम' या 'रामाष्टयाम'का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बईसे सन् १९४४ में हुआ। एक प्रकाशन स्वामी परमानन्दने अयोध्यासे सन् १९३५ ई०मे कराया था। रचना ब्रजभाषा पद्यमे है। 'रामाष्टयाम' ब्रजभाषा गद्यमे लिखा कहा गया है, परन्तु अभी तक उसका प्रकाशन नहीं हो सका। 'अष्टयाम'के रचनाकालका कोई संकेत ग्रन्थमे नहीं मिलता और न तो नाभादासके समयकी ही लिखी गयी कोई प्रति उपलब्ध है। प्रकाशकोंने भी किसी हस्तलिखित प्रतिकी ओर कोई संकेत नहीं किया है। प्रकाशित दोनो ही प्रतियोंमें थोड़ा-बहुत पाठभेद मिलता है। प्राचीन हस्तलिखित पोथियोंके अभावमे यह कहना अत्यन्त कठिन है कि प्रकाशित प्रतियोंमें किस प्रतिका पाठ नितान्त शुद्ध है।

इस ग्रन्थमें रामकी अष्टयामीय लीलाका वर्णन है। प्रारम्भमें साकेतके मनोरम वर्णनके पश्चात् रामके रंग महल 'कनक भवन'का वर्णन है। कनक भवनके चारो ओर सखियोंके कुंजों तथा सात कक्षोंका वर्णन है। उसके पश्चात् प्रातःकाल राम तथा सीताका उत्थापन, मज्जन, आरती आदिका वर्णन है। फिर राम सखाओं एवं भाइयोंसे मिलने बाहर आते हैं, उधर सीताजी भी बहिनों, पुरस्त्रियोंसे परिवृत होकर रामके पास आती हैं। सखियोंमे सुभगा, सहजा, सरयू, तुलसी, कमला, विमला, चन्द्रकला आदि प्रधान हैं। सखाओको दर्शन देकर राम-सीता फिर स्नान कुंजके लिए विदा होते हैं, स्नानके उपरान्त सखियाँ उनका श्रृंगार करती हैं। राम यज्ञ-स्थल जाकर यज्ञ भी करते हैं। फिर प्रिया-प्रीतम भोजन कुंज जाते हैं। यहाँ सीता-रामके पारस्परिक विनोदका भी वर्णन किया गया है फिर दम्पति ताम्बूलादि लेकर शयनकुंजमें प्रवेश करते हैं। शयनोपरान्त राम राज-सभा में चले जाते हैं और सीता सासो के पास। राज-सभा में पिता से मिलकर राम भाइयों की इच्छा पर विभिन्न शालाओं (अश्व, गज आदि) का निरीक्षण करने चले जाते हैं। फिर अवध की बीथियों मे भ्रमण करते हुए, घर-घर लोगो से भेंट करते हुए राम-भरत-लक्ष्मणादि द्वारा लगाई गयी वाटिकाओं का निरीक्षण करते हैं। वहाँ से सभी हाथियो पर चढ़कर सरयू तटपर जाते हैं। वहाँ चौगान आदि खेल होता है। फिर अर्द्धयाम दिन के शेष रहने पर राम घर लौटते है। मार्गमें ललनाएँ उनकी छवि का पान करती हैं। फिर राम घर आकर माताओं से मिलते हैं और कुछ जलपान करके सखाओ के साथ पतंग उड़ाते हैं और सन्ध्या का समय देखकर सखाओं को विदाकर देते हैं। उधर सीता जी पुरस्त्रियों से मिलती हैं, फिर सासों की परिचर्या करती हैं। सन्ध्या को जब चारों कुँवर आ जाते है, सभी बैठकर व्यालू करते हैं। फिर वहाँ से लौटकर राम-सीता कनक भवन जाते हैं। यहाँ सखियाँ आरती के पश्चात् नृत्यगीत आदि से उनका मनोरंजन करती हैं। अर्द्धरात्रि के समय रस-लीला (विवाह लीला) होती है। मानादि लीलाएँ भी होती हैं। फिर दम्पति के दृगों में आलस्य देखकर सखियाँ विदा लेती हैं। रंग महल में आकर प्रभु परदा गिराकर शयन करते है।

संक्षेप में लली-लाल का यही आहलादिक चित्र है।
संक्षेप में लली-लाल का यही आह्लादिक चित्र है।
'राम चरितमानस' की भाषा की भी छाप मिलती है। छन्द, दोहा-चौपाई और सोरठा हैं। 'भक्तमाल' जैसी प्रौढ़ता इस भाषा मे नहीं है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता के लिए यदि विक्रम की १७ वीं शती की हस्तलिखित प्रतियों की अपेक्षा की जाय तो अनुचित न होगा।

[सहायक ग्रन्थ—रामाष्टयाम : नाभादास, वें० प्रेस बम्बई, १८९४ ई०।]

—ब० ना० श्री०

अष्टावक्र—उद्दालक की कन्या सुजाता और कड़ोह ब्राह्मणकी सन्तान थे। कहा जाता है कि गर्भ की स्थिति में ही कड़ोह को अशुद्ध वेदपाठ के लिए टोक दिया था जिससे कुपित होकर इनके पिता ने इन्हें 'अष्टावक्र' होने का अभिशाप दे डाला था। आठ स्थानों पर वक्रता होने पर भी ये प्रखर बुद्धि थे। इनके पिता को मिथिला के राजपण्डित से शास्त्रार्थ मे हारने पर पानी में डुबा दिया गया था। इन्होंने बारह वर्ष की आयु में ही उस पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित किया और पुरस्कृत हुए और अपने पिता का जीवनोद्धार किया था। पिता की आज्ञा से इन्होंने मिथिला से लौटते समय समंगा नदी में स्नान कर शरीर की वक्रता से मुक्ति पायी। शास्त्रार्थसम्बन्धी इनके प्रश्नोत्तर 'अष्टावक्र संहिता' में सकलित हैं।

—ज० प्र० श्री०

असमंजस—इनके पिता का नाम सगर और माता का नाम केशिनी था। प्रसिद्ध राजा अंशुमान् इनके लड़के थे स्वभाव से ये उद्धत और आत्मचारी थे। इनसे तंग आकर सगर ने इन्हें देशनिष्कासन का दण्ड दिया था। समयान्तर में ये राज्य के उत्तराधिकारी हुए तथा ख्याति प्राप्त की (दे० सूर० पद ४५३)।

—ज० प्र० श्री०

अस्ति, अस्ती—जरासन्ध की ज्येष्ठा पुत्री थीं। इनका विवाह मथुरा के राजा कंस से हुआ था। इनकी छोटी बहिन प्राप्ती भी कंससे ब्याही गयी थीं और इस प्रकार इनकी सपत्नी थीं। कंस के वध पर कृष्ण ने इन दोनों को सांत्वना दी थी (दे० सूर० पद ३६९६-३७०२)।

—ज० प्र० श्री०

अहमद—जहाँगीर बादशाह के समकालीन आगरानिवासी ताहिर अहमद नामक कवि हैं। इन्होंने अपने 'कोकसार' नामक ग्रन्थ की रचना १६२१ ई० (सं० १६७८, आषाढ़ बदी पंचमी) में की, इससे इनका जहाँगीर के शासन-काल में विद्यमान होना प्रमाणित है। इनकी रचनाओं में 'अहमद बारामासी', 'रतिविनोद', 'रसविनोद' और 'सामुद्रिक' की गणना भी की जाती है। इन ग्रन्थों से व्यक्त होता है कि ये श्रृंगारी भावना के कवि हैं। वैसे नागरी प्राचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इन्हें कहीं सूफी और कहीं वैष्णव कहा गया है। 'दिग्विजय भूषण' में इनके दो कवित्त उद्धृत हैं। ये अपनी प्रेम की कोमल कल्पना के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका)।] —सं०

अहल्या १—हल का अर्थ है कुरूप, अतः इनमें कुरूपता न होने के कारण ब्रह्मा ने इन्हें अहल्या नाम दिया था। ये पंचकन्याओं में ज्येष्ठा थीं। इनके पिता मुद्गल थे। एक अन्य मत के अनुसार इनकी माता मेनका और पिता वृद्धाश्व थे। ये महर्षि गौतम की पत्नी थीं (दे० "गौतम') वाल्मीकि के अनुसार ब्रह्मा ने इनका निर्माण विश्व की सुन्दरतम वस्तुओं का सार लेकर किया था और इनका सर्जन कर इन्हें गौतम को समर्पित कर दिया था। इनके सौन्दर्य के कारण इन्द्र इनके प्रति आसक्त हो गये थे और उन्होंने एक दिन महर्षि की अनुपस्थिति में छद्मवेश धारण कर चन्द्र की सहायता से इनके साथ सम्भोग किया। गौतम को जब यह रहस्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने इन्द्र और अहल्या दोनों को शाप दिया जिससे इन्द्र नपंसुक और सहस्रयोनि हुए और अहल्या पाषाणी—"गौतम नारि शापवश उपल देह धरि धीर" (मा० १।२१०)। मतान्तर से अदृश्य इन्द्र की शाप से निवृत्ति देवताओं के प्रयास स्वरूप हुई। रामावतार मे रामका दूलह के रूप में दर्शन करने पर इन्द्र की योनियाँ नेत्रों में परिवर्तित हो गयीं (दे० 'इन्द्र')। अहल्या भी रामावतार में राम के चरणों के स्पर्श से मोक्ष पाकर देव लोक मे जाकर पति से मिलीं—"चरन-कमल-रज परस अहल्या, निजपति लोक पठाई" (गी० १।५०)। कुमारिल भट्टने इस समस्त आख्यान को एक रूपक माना है तथा इन्द्र को सूर्य और अहल्या को रात्रि का प्रतीक माना है। एक भिन्न मत के अनुसार अहल्या जड़बुद्धि तथा अनुर्वरा पृथ्वी की प्रतीक स्वीकार की गयी है। अहल्या के पुत्र का नाम शतानन्द था जो राजा जनक के पुरोहित थे। सूरसागर मे इन्द्र-अहल्या की कथा भागवत के आधार पर दी गयी है। (दे० सूर० पद ४१९)।

—ज० प्र० श्री०

अहल्या २—प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' की पात्र। अहल्या का बचपन का नाम सुखदा था और ठाकुर विशाल सिंह की पुत्री थी (यह रहस्य उपन्यास में बहुत बाद को उद्घाटित होता है)। सूर्यग्रहण के समय त्रिवेणी के मेले में वह यशोदानन्दन और ख्वाजामहमूद को खोई हुई बालिका के रूप में मिली। तब से वह यशोदानन्दन की पोष्य पुत्री हुई। बड़ी होकर वह सुन्दर, लज्जाशील, शान्त-स्वभाव और चित्तको मोहित करनेवाली, कवि-कल्पना की भाँति मधुर और रसमयी सिद्ध हुई। उसका शील, स्वभाव और चातुर्य सब को मुग्ध कर लेता है। प्रारम्भ में वह अपने पति चक्रधर के आदर्श को ही अपना आदर्श समझती है और उसके चित्त की वृत्ति उसी पर केन्द्रित हो जाती है। उसमें लेखन शक्ति है और समय पड़ने पर धनोपार्जन भी कर सकती है। पत्नी और गृहिणी के रूप में अहल्या गृह-प्रबन्ध में कुशल, पति-सेवा में प्रवीण, उदार, दयालु और नीति-चतुर है। शंखधर उसका पुत्र है। अपने पिता ठाकुर विशालसिंह के यहाँ आकर उसकी कायापलट हो जाती है। वह दिन-पर-दिन आमोद-प्रमोद और विलास की ओर झुक जाती है। उसका सेवा-भाव, साधना, आदर्श आदि बातें लुप्त हो जाती हैं। वह पति-प्रेमसे भी अधिक ऐश्वर्य-प्रेम को समझने लगीं। इस ऐश्वर्य-प्रेम को पाकर वह पति को खो बैठी, किन्तु पति को खोकर उसने अपने को पा लिया।

—ल० सा० वा०

अहल्याबाई ३—ये माणको जी शिंदे की पुत्री थीं। इनके पति का नाम खण्डूजी था जो मल्हार राव होलकर के लड़के थे। इनको मालेराव नाम का एक लड़का तथा मुक्ताबाई नामक

लड़की थी। इनके पति की मृत्यु तोप का गोला लग जाने के कारण हुई थी। पति की मृत्यु के बाद ये सती होना चाहती थीं किन्तु इनके ससुर ने इन्हें ऐसा नहीं करने दिया। क्षमा और दया इनके मूलमन्त्र थे किन्तु ये कठोर अनुशासन करना भी जानती थीं। मल्हार राव की मृत्यु के बाद चन्द्रावत राजपूतों ने इनके सेनापति तुकोजी होलकर की अनुपस्थिति में विद्रोह किया। इन्होंने सेना लेकर व्यक्तिगत रूपसे विद्रोह का दमन किया। इसी प्रकार एक बार सतपुडा के भीलों ने उपद्रव करना चाहा। इन्होंने उनके सरदार को पकड़वाकर फाँसी दिलवा दी। मालेराव की मृत्यु के बाद राघोबा पेशवा ने इनके राज्य को हस्तगत करना चाहा। इन्होंने स्त्रियों की एक सेना एकत्र कर राघोबा के पास सन्देश भेज दिया कि इनके युद्ध में हारने पर कोई क्षति न होगी किन्तु राघोबा की पराजय उनके लिए अपमानजनक होगी। फलतः राघोबा ने आक्रमण का विचार त्याग दिया। इनकी मृत्यु १३ अगस्त सन् १७९५ में लगभग ६० वर्ष की अवस्था में हुई थी। इनके स्मरणीय कार्यो में कलकत्ता से बनारस तक सड़क का निर्माण तथा सोमनाथ (सौराष्ट्र), विष्णु (गया), विश्वेश्वर (बनारस) के मन्दिरों की स्थापना करना है (दे० 'अहल्याबाई' उपन्यास : वृन्दावन लाल वर्मा)।

—ज० प्र० श्री

अहिपति—दे० 'कालिय नाग'।

अहिरावण—रावण का मित्र जो महिरावण के साथ पाताल में रहता था। राम-रावण-युद्ध में इनके पराक्रम तथा आसुरी कर्मो का उल्लेख हुआ है। हनुमान् की सहायता से इनका नाश हुआ था।

—ज० प्र० श्री०

आंभीक—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' का पात्र। आम्भीक विवेकशून्य, स्वार्थी और दम्भसे भरा हुआ तक्षशिला का अविनीत राजकुमार है। अपने व्यक्तिगत द्वेष के कारण वह पर्वतेश्वर से विरोध करके विदेशी शत्रु सिकन्दर की सहायता का वचन देकर अपनी विवेक-शून्यता एवं देशद्रोहिता का परिचय देता है। अपने पूज्यजनों के प्रति उसमें श्रद्धाका भी एकान्त अभाव है। उसकी बहन अलका और उसके पिता आम्भीक की इस दुर्नीति एवं दुर्विनीतता के कारण अपना देश और घर छोड़कर चले जाते हैं। अपने अहं से ग्रस्त आम्भीक आचार्य चाणक्य की भी आज्ञा का तिरस्कार कर देता है। अलका के गृह-त्याग से उसमें थोड़ी देर के लिए सद्‌वृत्ति का संचार होता है और वह पश्चात्ताप करता हुआ सोचता है—"इस अवस्था में तो लौट आता, पर वे यवन सैनिक छातीपर खड़े हैं। पुल बँध चुका है।" इसके पश्चात् वह अपने स्वभावोचित आचरणों से कुछ समय तक अपनी दुर्नीति के वात्याचक्र में इतने वेग से उड़ता है कि वह अपनी बहन अलका को भी पर्वतेश्वर की सहायता करने के अभियोग में बन्दी बना लेता है। अन्त में वह यवनों की पराधीनता से पीड़ित होकर आत्म ग्लानि में गलने लगता है। चाणक्य के उपदेश एवं अलका के अपूर्व आत्मत्याग से प्रभावित होकर आम्भीक अपनी दाम्भिकता एवं तुच्छ आत्म-गौरव की भावना को छोड़कर शुद्ध हृदय से प्रायश्चित करता है। हृदय-परिवर्तन के पश्चात् वह मौर्य-साम्राज्य का सदस्य बन जाता है तथा प्रायश्चित स्वरूप अलका और सिंहरण को गान्धार महाप्रदेश का शासक बना देता है। अन्त में सिल्यूकस के साथ द्वन्द्व-युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त करके अपना कलंक धोने में समर्थ होता है।

—के० प्र० चौ०

आँसू—'आँसू' जयशंकर प्रसाद की एक विशिष्ट रचना है। इसका प्रथम संस्करण १९२५ ई० में साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी से प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण १९३३ ई० में भारती भण्डार, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। 'आंसू' का रचनाकाल लगभग १९२३-२४ ई० है। कहा जाता है पहले कवि का विचार इसे 'कामायनी' के अन्तर्गत ही प्रस्तुत करने का था, किन्तु अधिक गीतिमयता के कारण तथा प्रबन्ध काव्य के अधिक अनुरूप न होने के कारण उसने यह विचार त्याग दिया। 'आँसू' के दोनों संस्करणों में पर्याप्त अन्तर है। प्रथम संस्करण में केवल १२६ छन्द थे। उसका स्वर अतिशय निराशापूर्ण था। उसे एक दुःखान्त रचना कहा जायगा। नवीन संस्करण में कवि ने कई संशोधन किये। छन्दों की संख्या १९० हो गयी और उसमें एक आशा-विश्वास का स्वर प्रतिपादित किया गया। कतिपय छन्दों की रूप रेखा में भी कवि ने परिवर्तन किया और छन्दों को इस क्रम से रखा गया कि उससे एक कथा का आभास मिल सके।

'आँसू' एक श्रेष्ठ गीतसृष्टि है, जिसमें प्रसाद की व्यक्तिगत जीवनानुभूति का प्रकाशन हुआ है। अनेक प्रयत्नों के बावजूद इस काव्य की प्रेरणा के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, किन्तु इतना निर्विवाद है कि इसके मूल में कोई प्रेम-कथा अवश्य है। 'आँसू' में प्रत्यक्ष रीति से कवि ने अपने प्रिय के समक्ष निवेदन किया है। कवि के व्यक्तित्व का जितना मार्मिक प्रकाशन इस काव्य में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं दिखाई देता। अनेक स्थलों पर वेदना में डूबा हुआ कवि अपनी अनुभूति को उसके चरम ताप में अंकित करता है। काव्य के अन्त में वेदना को एक चिन्तन की भूमिका प्रदान की गयी है। इसे वियोग और पीड़ा का प्रसार कह सकते हैं। कवि के व्यक्तित्व की असाधारण विजय और क्षमता इसी अवसर पर प्रकट होती है। स्वानुभूति का सामाजीकरण इस काव्य के अन्त में सफलता पूर्वक व्यंजित है। मुख्यतया वियोग की भूमिका पर प्रतिष्ठित होते हुए भी 'आँसू' के अन्त में आशा-विश्वास का समावेश कर दिया गया है। शिल्प की दिशा से 'आँसू' वैभवसम्पन्न है। प्रिया के रूप वर्णन में सार्थक प्रतीकों का प्रयोग बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक गुणों का भी प्रकाशन करता है।

—प्रे० शं०

आकुलि—प्रसादकृत 'कामायनी' में असुर पुरोहित के रूप में चित्रित। किलात के साथ मिलकर वह मनु को यज्ञ करने के लिए प्रेरित करता है। इन दोनों की निगाह श्रद्धा द्वारा पाले हुए पशु पर थी, जिसकी ये उस यज्ञ में बलि करवाते हैं। क्रमशः इन दोनों का प्रभाव मनु के ऊपर बढ़ता जाता है। पर बाद में ये ही सारस्वत प्रदेश की प्रजा को मनु के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काते हैं, और जनक्रान्ति का नेतृत्व करते हैं। युद्ध में मनु इन दोनों को मार डालते हैं।

—सं०

आज—वाराणसी (उत्तर प्रदेश) से प्रकाशित हिन्दी का प्रमुख दैनिक समाचार-पत्र। ५ सितम्बर, सन् १९२० ई० (सं०

१९७७ की कृष्णाष्टमी) को प्रकाशन आरम्भ हुआ। राष्ट्ररत्न श्री शिव प्रसाद गुप्त (दे० 'शिव प्रसाद गुप्त') द्वारा संस्थापित एवं संचालित तथा श्री श्रीप्रकाश (दे० 'श्रीप्रकाश') एवं पण्डित बाबूराव विष्णु पराडकर (दे० 'बाबूराव विष्णु पराड़कर') द्वारा सम्पादित। श्री गुप्तजी ने संसार भ्रमण के बाद हिन्दी का आदर्श दैनिक समाचार पत्र निकालने का संकल्प किया। फलस्वरूप आपने पराडकर जी को मई, सन् १९२० ई० में लोकमान्य तिलक से 'आज' की नीति के सम्बन्ध में परामर्श लेने के लिए भेजा। 'आज' के प्रकाशन की योजना पराड़कर जी ने बनायी और उसका अन्तिम स्वरूप लोकमान्य तिलक, डाक्टर भगवान दास श्री शिव प्रसाद जी गुप्त, श्री श्रीप्रकाश जी तथा पराड़कर जी के विचार विमर्श के अन्तन्तर स्थिर किया गया। 'आज' के प्रथम अग्रलेख में सम्पादकीय नीति का आधार एवं उद्देश्य इस प्रकार स्थिर किया गया है—"हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सर्वप्रकार से स्वातन्त्र्य उपार्जन है। हम हर बात मे स्वतन्त्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ावें, अपने देशवासियों मे स्वाभिमान का संचय करें, उनको ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हे अभिमान हो, संकोच न हो। यह स्वाभिमान स्वतन्त्रता देवी की उपासना करने से मिलता है। जब हम में आत्म-गौरव होगा तब अन्य लोग भी हमको आदर और सम्मान की दृष्टि से देखेगे। इसके लिए न द्रोह की आवश्यकता है, न अनुचित प्रेम की, न किसी से सम्बन्ध त्याग की आवश्यकता है, न बन्धन दृढ़ करने की। सबसे अधिक आवश्यकता आत्मपरिचय और आत्मगौरव की है। अतः हम अपने देश का गौरव अपनी आँखों और दूसरों की आँखों में बढ़ाते हुए स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यथासाध्य प्रयत्न करेंगे। सामयिक राजनीतिक सुधार, नयी परिषदों आदि के सम्बन्ध में अपना मत तो हम देते ही रहेंगे पर मूलमन्त्र हमारा यही है कि हमारे देशका गौरव बढ़े, भारत और भारतीयता का नाम संसार में आदर के साथ लिया जाय।"

इस प्रकार 'आज' लोकमान्य तिलक के निर्देशानुसार तथा महात्मा गान्धी की प्रेरणा से राष्ट्रभाषा हिन्दी में राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता संग्राम का महान् अग्रदूत बना। विदेशी शासन, सरकारी कोप दृष्टि एवं दमन नीति का सामना करता हुआ यह अपने कर्त्तव्य-पथपर अडिग रहा और स्वाधीनता आदि के लक्ष्यको कभी ओझल नहीं होने दिया। सन् १९३० ई० तथा '४२ ई० में सरकारी आज्ञा के कारण 'आज' का प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा था। रंगून से प्रेषित राघवदास के अंग्रेजों के अत्याचार सम्बन्धी समाचार प्रकाशन के लिए सन् १९२५ ई० में पराड़कर जी को जेल की सजा तथा दण्ड हुआ था। सन् १९३० ई० मे 'आज' तथा ज्ञानमण्डल यंत्रालय से दो-दो हजार की जमानत मांगी गयी, जिसे देना 'आज' ने स्वीकार नहीं किया। सन् '४२ ई० में हड़ताल आदि सम्बन्धी समाचारों के प्रकाशन पर सरकारी प्रतिबन्ध के विरोध में 'आज' बन्द कर दिया। २९ अक्तूबर, १९३० ई० से ८ मार्च, १९३१ ई० तक सरकारी नीति के विरोध में सम्पादकीय स्तम्भ खाली रखा गया। उस स्थान पर केवल यह वाक्य होता था—"देश की दरिद्रता, विदेश जानेवाली लक्ष्मी, सरपर बरसने वाली लाठियाँ, देशभक्तों से भरनेवाले कारागार—इन सबको देखकर प्रत्येक देशभक्त के हृदय में जो अहिंसामूलक विचार उत्पन्न हों, वही सम्पादकीय विचार है।" १९३२ ई० के आरम्भ में गान्धी जी की गिरफ्तारी तथा सन् '४२ की अगस्त क्रान्ति के समय भी यही किया गया।

'आज' हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र रहा है, जिसने देशविदेशके ताजे समाचार देने के लिए अपने कार्यालय में 'टेलिप्रिण्टर' यन्त्र लगाया। इसके पूर्व आरम्भ से ही रायटर तथा असोशियेटेड प्रेस की समाचार सेवा ली जाती थी। अब 'आज' की अपनी स्वतन्त्र टेलिप्रिण्टर लाइन राजधानी दिल्ली से स्थापित हो गयी है, जिसमें नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा में देश-विदेश के महत्त्वपूर्ण समाचार शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने की व्यवस्था है। लखनऊ, पटना, गोरखपुर आदि से भी ऐसी ही टेलिप्रिण्टर लाइन स्थापित करने की योजना कार्यान्वित हो रही है। प्रारम्भ से ही 'आज' के देश-विदेश स्थित संवाददाताओं तथा विशेष प्रतिनिधियों के द्वारा व्यवस्था थी। प्रेमचन्द्र, लक्ष्मणनारायण गर्दे, 'उग्र' आदि विशिष्ट लेखक 'आज' के नियामत स्तम्भ लेखकोंमें रहे हैं। आरम्भ में प्रख्यात विद्वान् विनयकुमार सरकार 'आज' के यूरोप स्थित विशेष संवाददाता थे। राजा महेन्द्र प्रताप चीन तथा जापान से विशेष चिट्ठियाँ भेजते थे। डाक्टर तारकनाथ दास अमेरिका से विशेष सामग्री भेजते थे। अब भी उसी परम्परा की रक्षा विदेशों की महत्त्वपूर्ण चिट्ठियों के प्रकाशन से हो रही है। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण अवसरों पर विशेषांकों की योजनाएँ 'आज' की विशेषता है। प्रदेश की राजधानियों के अतिरिक्त 'आज' के सैकड़ों संवाददाताओं की नियुक्ति सुदूर गाँवों में भी की गयी है। 'आज' के अग्रलेखों का महत्त्व न केवल देशमें, अपितु विदेशों की राजधानियों में भी भारत की वास्तविक स्थिति तथा जनमत जानने के लिए स्वीकृत होता था। पश्चिमी तथा पूर्वी देशों की राजधानियों में समानरूप से इसके मतों को मान्यता दी जाती थी। इसके सम्पादकीय लेखों का अंग्रेजी अनुवाद किया जाता था, जिससे ब्रिटेन तथा अन्य देशो के प्रमुख राजनीतिज्ञ भारतीय जनता की आकांक्षा तथा भावनाओं का वास्तविक परिचय प्राप्त करते थे।

'आज' देश का निष्पक्ष एवं निर्भीक राष्ट्रीय दैनिक पत्र है। कांग्रेस की नीति का समर्थक होते हुए भी 'आज' ने स्वाधीनता संग्राम के दिनों में कांग्रेसी नेताओं की रचनात्मक टीका कर उनका मार्ग निर्देशन किया। देश के स्वाधीनता संग्राम तथा राष्ट्रीय जागरण में 'आज' का योगदान असाधारण और ऐतिहासिक है। इसीलिए प्रेस आयोग ने अपने विवरण में 'आज' को हिन्दी पत्रकारिता की संस्था की संज्ञा दी है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी यह पत्र दलगत राजनीति से पृथक् रहकर देश में लोकतन्त्र के रचनात्मक निर्माण तथा उसके स्वस्थ विकास के लिए सशक्त विरोधी दल के संघटन पर बल देता रहा है। सन् १९६२ ई० के अक्टूबर-नवम्बर में चीनी आक्रमण के समय 'आज' ने देश की जनता के मनोबल को बनाये रखने, त्याग बलिदान की भावना भरने तथा देश की सुरक्षा के लिए सर्वस्व निछावर करने की भावना अपने सम्पादकीय लेखों, विशेष लेखों तथा राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत रचनाओं के प्रकाशन द्वारा की। भारत-भारती और भारतीयता की निरन्तर गौरववृद्धि आज भी 'आज' की

सम्पादकीय नीति का मूल आधार एव लक्ष्य है।

समाचार पत्र जगत् में 'आज' के नेतृत्व एवं विशिष्ट योगदान का सहज अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इसने सन् १९२१ ई० मे अपने दैनिक सम्करण के साथ उसका अर्ध साप्ताहिक सस्करण भी प्रकाशित किया। सन् १९२२ ई० में 'आज' का साप्ताहिक अग्रेजी 'सप्लीमेण्ट' प्रकाशित हुआ। अग्रेजी के समाचार पत्र प्रतिष्ठानो से तो अनेक बड़े हिन्दी दैनिक पत्रो का प्रकाशन हुआ किन्तु 'आज' को देश में इसका गौरव प्राप्त है कि उसने 'आज' का अंग्रेजी संस्करण 'टुडे' नाम से सन् १९३१ ई० में प्रकाशित किया, जिसके सम्पादक सम्पूर्णानन्द जी थे। १८ जुलाई १९३८ ई० से 'आज' का साप्ताहिक संस्करण प्रकाशित हुआ, जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ हिन्दी साप्ताहिक था। साप्ताहिक 'आज' के सम्पादक थे मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव (दे० मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव)। बाद मे राजवल्लभ सहाय (दे० राजवल्लभ सहाय) इसके सम्पादक हुए। साप्ताहिक 'आज' के प्रत्येक अक मे विविध विषयो पर अधिकारी विद्वानो के लेख रहा करते थे। इनके विभिन्न स्तम्भो में राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं सम्बन्धी प्रामाणिक लेख सहज, सुबोध शैली मे रहते थे। ग्रामीण समस्याओं पर लेख इसकी अपनी विशेषता है। साप्ताहिक 'आज' के अनेक विशेषांक स्थायी महत्व के निकले जिन में कांग्रेस स्वर्ण जयन्ती अंक, शिक्षा अंक, शिव प्रसाद गुप्त स्मृति अंक, होली विशेषांक आदि उल्लेखनीय है। प्रति वर्ष कांग्रेस अधिवेशन के समय इसका विशेषांक प्रकाशित होता था, जो अपनी महत्वपूर्ण सामग्री के कारण स्थायी महत्व का एवं संग्रहणीय रहता था। इसी में देश के सभी शीर्षस्थ नेताओं, विद्वानों तथा लेखकोंके विशिष्ट सन्देश तथा हस्ताक्षर हिन्दी लिपि मे सर्वप्रथम प्रकाशित हुए थे। साप्ताहिक 'आज' बाद में 'समाज' बनकर निकला, जिसके सम्पादक मण्डल के अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्र देव जी (दे० नरेन्द्र देव, आचार्य) थे।

सन् १९४४ ई० से 'आज' का सोमवार संस्करण प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी पत्रों के रविवार विशेषांक के रूप में इसका प्रकाशन बड़े आकार के पृष्ठों मे पहले किया गया। इसके पहले इंचार्ज सम्पादक हुए बलदेव प्रसाद मिश्र। बाद में सन् १९४५ ई० से ५० तक इसका सम्पादन लक्ष्मीशंकर व्यास (दे० 'लक्ष्मीशंकर व्यास') ने किया। सन् १९५० ई० के बाद से मोहन लाल गुप्त (दे० 'मोहन लाल गुप्त') साप्ताहिक विशेषांक का सम्पादन कर रहे हैं। अपनी विशिष्ट लेख सामग्री के कारण 'आज' का सोमवार विशेषांक हिन्दी जगत् का सर्वश्रेष्ठ रविवासरीय साप्ताहिक बन गया। इसके सन् ४२ शहीद अंक, मालवीय श्राद्ध अंक, हिन्देशिया अंक, जयपुर कांग्रेस अंक, विधान सम्मेलनाक, आजाद हिन्द फौज अंक, साहित्य सम्मेलनांक, सन् ४७ स्वाधीनता विशेषांक उल्लेखनीय है। बाद में यही सोमवार विशेषांक 'आज' के साप्ताहिक विशेषांक के रूप में निकलने लगा और आज देश का सर्वश्रेष्ठ रविवासरीय साप्ताहिक विशेषांक है। इसके वार्षिक साहित्य समीक्षा विशेषांक ने नयी परम्परा स्थापित की है। इसके पराड़कर स्मृति अंक, निराला श्रद्धांजलि अंक, मोती लाल नेहरू शती तथा मालवीय शती विशेषांकों ने हिन्दी जगत् में नवीन कीर्तिमान् स्थापित किया है। राष्ट्रीय अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक लेखो के अतिरिक्त इसके साहित्य, समीक्षा, कहानी, निबन्ध, महिला, विज्ञान, कला, इतिहास, संस्कृति तथा बाल समद के स्तम्भो मे उच्चकोटि की सुरुचिपूर्ण, सचित्र एव सुसंपादित पाठ्य सामग्री प्रकाशित होती है। 'आज' का नगर विशेषांक भी अपनी विशिष्ट एवं विशेष ज्ञान वर्द्धक, मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद पाठ्य-सामग्री के लिए स्मरणीय रहेगा।

'आज' की सम्पादन परम्परा जिस प्रकार विशिष्ट है, उसी प्रकार उसके सम्पादकों की परम्परा भी। श्री श्रीप्रकाश इसके प्रथम सम्पादक थे। उनके बाद सम्पादकाचार्य पण्डित बाबूराम विष्णु पराड़कर उसके प्रधान सम्पादक हुए। सर्वश्री कमला पति त्रिपाठी, विद्याभास्कर, श्री कान्त ठाकुर तथा रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर (स्वर्गीय) इसके भूतपूर्व सम्पादक रहे हैं। सम्प्रति राष्ट्ररत्न श्री शिव प्रसाद गुप्त के दौहित्र श्री सत्येन्द्र कुमार गुप्त 'आज' के सम्पादक हैं। इस समय सम्पादकीय विभाग के वरिष्ठ सदस्यों में सर्वश्री लक्ष्मीशंकर व्यास, मोहनलाल गुप्त, चन्द्रकुमार, ईश्वरचन्द्र सिन्हा आदि हैं। इसके विज्ञापन व्यवस्थापक श्यामदास तथा मुद्रक एवं प्रकाशन ओमप्रकाश कपूर है। ज्ञानमण्डल जिसके अन्तर्गत 'आज' का प्रकाशन होता है—के सचिव तथा संचालक श्री विश्वनाथ प्रसाद हैं। 'आज' दैनिक का मूल्य ८० नये पैसे हैं और ८ पृष्ठों के साप्ताहिक विशेषांक का २० नये पैसे। प्रतिदिन लगभग ३ लाख पाठक 'आज' पढ़ते हे। यह १० प्वाइण्ट टाइप में कम्पोज होता है, जिससे इसमे अन्य हिन्दी पत्रों से प्राय. १।। गुनी अधिक पाठ्यसामग्री रहती हे। उत्तर प्रदेश के अंग्रेजी, हिन्दी उर्दु सभी दैनिक समाचार पत्रों में इसकी प्रसार संख्या सर्वाधिक है। राष्ट्रीय सेवाओं तथा स्वाधीनता आन्दोलन में अपने ऐतिहासिक योग के कारण यह देश के समाचार पत्रों में विशिष्ट स्थान एवं महत्व रखता है। —ल० शं० व्या०

आजम—ये मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के आश्रित कवि थे। इन्होने उनकी आज्ञा मे १७२९ ई० में 'श्रृंगार दर्पण (श्रृंगाररस दर्पण) नामक रस तथा नायिका-भेद विषयपर ग्रन्थ लिखा जो साधारण रचना है।

—सं०

आत्मदेव—ये तुंगभद्रा नदी के किनारे रहने वाले प्रसिद्ध ब्राह्मण थे। संतान न रहने के कारण ये चिन्तित रहा करते थे। एक बार किसी सिद्ध ने इनकी पत्नी को पुत्रोत्पत्ति के लिए एक फल प्रदान किया। इनकी पत्नी ने वह फल अपनी बहिन को खाने के लिए दे दिया। बहिन ने वह फल एक गाय को खिला दिया। इनके पुत्र का नाम धुंधकारी हुआ और गायके पुत्रका नाम गोकर्ण क्योंकि उसके कान बैल के कानों के सदृश बड़े थे। धुंधकारी अत्यधिक अत्याचारी था तथा गोकर्ण को सताया करता था। गोकर्ण ने ज्ञानमार्ग अपना कर परमार्थ लाभ किया।

—ज० प्र० श्री

आदम—यहूदियों तथा मुसलमानोंके अनुसार मनुष्य का आदि प्रजापति था। उनका विश्वास है कि ईश्वर ने सबसे पहले 'आदम' को तथा उनके बाद बीबी हव्वा को उत्पन्न किया। संसार के समस्त स्त्री-पुरुष इन्हीं के सन्तान हैं आदम की आयु

७०० वर्ष की थी। ये ९ गज लम्बे थे। जिस प्रकार हमारे नाखून हैं उसी प्रकार की 'आदम' की खाल थी। इस रूप मे हम सबको थोडी-थोडी निशानी (नाखून) मिली है तथा इसीलिए हम सब 'आदमी' कहलाते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि 'आदम' और 'हव्वा' मे एक सन्तान प्रातःकाल और एक शाम को होती थी (दे० काबा-कर्बला)।

–रा० कु०

आदि कवि– महर्षि वाल्मीकि का नामान्तर है। उन्हें यह नाम इसलिए दिया गया कि वे प्रथम काव्य-रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं–"जान आदि कवि नाम प्रतापू" (मा० १।१९।३)। (दे० 'वाल्मीकि') कालिदास और आनन्द वर्धन ने इसका उल्लेख काव्य की महत्ता के संदर्भ मे किया है, ३ प्रकार के वाल्मीकियों का नाम मिलता है। वाल्मीकि वस्तुतः व्यासों की भांति एक प्रकार के वर्ग विशेष का सम्बोधन था।

–ज० प्र० श्री०

आदिवराह–भगवान् विष्णु का द्वितीय अवतार से सम्बद्ध स्वरूप था। एक बार हिरण्याक्ष पृथिवी को लेकर पाताल को भाग रहा था। पृथिवी का उद्धार करने के लिए उस समय भगवान् को अवतरित होना पडा। उन्होंने हिरण्याक्षका वध करके पृथिवीको सकटसे मुक्त किया था–"आदि वराह विहरि वारिधि मनो उठचो है दसन धरि धरिनी" (गी० २।५०)।

–ज० प्र० श्री०

आनंद–१. ये महर्षि गालव्य के वंश में उत्पन्न एक ख्यातिलब्ध ब्राह्मण थे।

२. ये महात्मा गौतम बुद्ध के एक प्रिय शिष्य थे। बुद्ध का इनपर अटूट विश्वास था। वे इन्हें अपने ही समान मानते थे (दे० प्रसादकृत 'अजातशत्रु')।

–ज० प्र० श्री०

आनंद कादंबिनी– यह मासिका पत्र जुलाई १८८१ में मीरजापुर से निकला। इसके सम्पादक थे बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। यह पत्र ४४ पृष्ठों का होता था और ५०० प्रतियाँ ही बिकती थीं। पुस्तकों की आलोचना सबसे पहले इसी पत्र में निकलने लगी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'प्रेमघन' जी ने अपने ही उमड़ते हुए विचारों और 'भावों' को अंकित करने के लिए यह पत्रिका निकाली थी, और लोगो के लेख नहीं के बराबर रहा करते थे। भारतेन्दु ने इस नीति के विरुद्ध लिखा भी। इस पत्रिका की भाषा बड़ी रंगीन, अनुप्रासमयी और पाण्डित्यपूर्ण होती थी।

–ह० दे० बा०

आनंदरघुनंदन–रींवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंदरघुनंदन' नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य की एक विशेष श्रृंखला है और हिन्दी जगत में इसे मान भी बहुत मिला है। अनेक विद्वानों ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना है (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, २००९ वि० पृ० ३४५; हिन्दी नाटक साहित्य, वेदपाल खन्ना, पृ० सं० २२; हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० सं० ६)। इसका कारण यह है कि इस नाटक में नान्दी, विष्कम्भक, भरत-वाक्य के साथ-साथ रंग-निर्देश भी प्रयुक्त हुए हैं जो संस्कृत में दिये गये हैं। साथ ही ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग हुआ है और भाषा वैभिन्य भी है। इन्हीं कारणों से इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना गया है। इस नाटक का ऐतिहासिक मूल्य है, अन्यथा नाटक की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना नहीं है और इसमें अनेक दोष है–१. इस नाटक का सबसे बड़ा दोष है इसकी दुर्बोधता। इस दुर्बोधता का प्रधान कारण है, इसके पात्रों के नाम, जो अर्थानुसार रखे गये हैं। कुछ पात्रों के प्रयुक्त नाम नीचे दिये जाते हैं–

रामायण के पात्र	नाटक में प्रयुक्त नाम
दशरथ	दिग्जान
राम	हितकारी
भरत	डहडह-जगकारी
लक्ष्मण	डील धराधर
शत्रुघ्न	डिभींदर
वशिष्ठ	जगधोनिज
विश्वामित्र	भुवनहित
जनक	शीलकेतु
सीता	महिजा
बाणासुर	सुरासुर
रावण	दिग्शिर

दुर्बोधता का दूसरा कारण है संस्कृत का अत्यधिक प्रयोग तथा कई भाषाओं का प्रयोग। २. नाटक का कथानक शिथिल एवं विश्रृंखल है। इसका कारण है नाटककार का यह प्रयास कि राम की पूरी कथा को समेट लिया जाय। फलतः पात्रो के चरित्र पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। ३. नाटककार ने देश-काल का ध्यान नहीं रखा है। संस्कृत, प्राकृत, भोजपुरी, मैथिली, बंगला, करनाटकी एवं पैशाची के साथ-साथ अंग्रेजी और फारसी भाषाओं का भी प्रयोग किया है। ४ नाटक में सरलता, सरसता और प्राञ्जलता नहीं है। ब्रजभाषा के अन्य अनेक नाटकों की (करुणाभरण, हनुमान् नाटक, शकुन्तला नाटक) कविता सरस है। इस नाटक की कविता या इसके गीतों में वह सरसता नहीं मिलती। इसका कारण हैं कि नाटककार कथा को दौड़ा रहा है, काव्य-कल्पना का प्रयोग करने का उसे अवसर नहीं है। नाटककार ने इसकी रचना पढ़ने और सुनने के लिए की थी, यथा–"सो नाटक आनन्द रघुनन्दन भाषा रचि है आउ पढ़ाऊँ" (प्रस्तावना)। सूत्रधार–"अब होनहार आनन्द रघुनन्दन नामनाटक प्रकार पढ़िबे को मेरी मति त्वरा करे है।" गुरु–"वत्स भली कही, पढ़ि ही लेहु" (प्रस्तावना)। भले ही यह पढ़ने के लिए ही रचा गया हो, फिर भी इसमें काव्यत्व भरा जा सकता था। ५. नाटककार ने औचित्य का भी ध्यान नहीं रखा है और राम के राज्य-तिलक के समय राम-सीता के सम्मुख अप्सराएँ, नाच-नाचकर स्वकीया, मुग्धा, ज्ञात यौवना, अज्ञात यौवना, धीरा, अधीरा, नवोढ़ा, प्रौढ़ा गुप्ता, क्रियाविदग्धा, कुलटा मुदिता, लक्षिता, अनुगमना, गणिका इत्यादि ३५ नायिकाओं के लक्षण बताती हैं।

–भो० ना० ति०

आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव–जन्म फतेहपुर में १८९९ ई० में हुआ। छायावादी युग के कवियों में शायद इतने अल्पकाल में इतना अधिक लिखनेवाला कवि कोई दूसरा नहीं है। इनका महत्त्व उन कवियों के समान है जो किसी भी नयी प्रवृत्ति में अधिकाधिक लिखकर उसकी सम्भावनाओं को विभिन्न

दिशाओं में परिमार्जित करते हैं। छायावादी अनुभूति की इस प्रक्रिया का अत्यन्त सफल परिचय हमें इनकी काव्यबोली में इसी प्रकार मिलता है। इनका कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हो सका यह इनका दुर्भाग्य है। 'सरस्वती', 'माधुरी', 'विशाल भारत' आदि पत्र-पत्रिकाओ मे हमे उनकी कृतियाँ प्रकाशित हुई मिलती हैं। संग्रह न होने के कारण उनका कोई निश्चित रूप नहीं बन पाता।

इनकी कविताओ मे प्रकृति का एक ऐसा साहचर्यभाव हमें मिलता है जो अन्य छायावादी कवियों में उदात्त बनकर या तो आतंकजन्य रूप में चित्रित हुआ है या फिर उनके यहाँ प्रकृतिको समझ सकने की कोई परिमार्जित भाषा या प्रतीक पद्धति ही नहीं बन पायी है। भाषा की दृष्टि से आनन्दीप्रसाद उस हिन्दी भाषा के निकट लगते हैं जो आगे चलकर कुछ सुन्दर और सरल मुहावरों मे ढलती हुई दीख पड़ती है। विचारों में यद्यपि उतनी मौलिकता नहीं है फिर भी अभिव्यक्ति में व्यापकता कुछ अधिक मात्रा में पूर्ण लगती है।

बी० ए० पास करने के बाद आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव प्रयाग के के० पी० स्कूल में अध्यापक थे। कहा जाता है कि एक दिन किसी बात पर नाराज होकर घर छोड़ भाग गये और तबसे कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं इसका कुछ भी पता नहीं।

कृतियाँ—अछूत नाटक (नाटक), मकरन्द (कहानी संग्रह), अबलाओं का बल (सामाजिक उपन्यास) तथा कुछ बालोपयोगी रचनाएँ। —ल० कां० व०

आनकदुंदुभि—यह कृष्ण के पिता वसुदेव का एक इतर नाम है। कहा जाता है कि इनके जन्मोत्सव पर देवताओं ने विशेष रूप से दुदुभी बजाकर अपने हर्षातिरेक का प्रकाशन किया था, इसी कारण इन्हें यह नाम दिया गया (दे० 'वसुदेव')। —ज० प्र० श्री

आयशा—मुसलमानों में आयशा 'इजरत बीबी आयशा सिद्दीका' नाम से विख्यात है। ये मुहम्मद साहब की सर्वाधिक प्रिय पत्नी तथा अबूबक्र की पुत्री थीं। मुहम्मद साहब की नौ पत्नियों में से एक थीं। आयशा का निवास स्थान अरब के 'मक्का' नामक नगर में था। कहा जाता है कि इन्हें अनेक धार्मिक पुस्तकें (हदीसे) कण्ठस्थ थीं तथा अनेक सेहाबी इनसे आकर धर्मविषयक जानकारी प्राप्त करते थे। अपनी धर्म-परायणता तथा मुहम्मद साहब की पत्नी होने के कारण ये मुसलमानों की माता (उम्मुल मोमेनीन) के रूप में विख्यात हैं। मुसलमानों का ऐसा विश्वास है कि 'आयशा' इनका वास्तविक तथा 'सिद्दीका' खुदा का दिया हुआ नाम था (दे० 'काबा-कर्बला', पृ० ४२) —रा० कु०

आयोदधौम्य—ये वैदिक कालीन एक ख्याति-लब्ध ऋषि थे। इनके शिष्यों में उपमन्यु, आरुणि और वेद उल्लेखनीय थे। —ज० प्र० श्री०

आरसीप्रसाद सिंह—जन्म १९ अगस्त, १९११ ई० को एरोत रोसड़ा, जिला दरभंगा (बिहार) में हुआ। कोशी कालेज, खगड़िया मुँगेरा में प्राध्यापक रहे। आकाशवाणी में कई वर्ष सेवा की और हिन्दी कार्यक्रम के आयोजक रहे हैं। इनके प्रकाशन मुख्यतः 'तारा-मण्डल' द्वारा हुए हैं।

बिहार के कवियों में आरसीप्रसाद का ऊँचा स्थान है और वे प्रतिष्ठा एवं सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। दलबन्दियों से ये सदैव अलग रहते आये है। माधुरी' मे इनकी रचनाएँ बडे सम्मान के साथ छपती रही हैं। अपनी अन्तः क्षमता एवं साहित्य-शक्ति के कारण इन्होंने छायावाद के तृतीय उत्थान के कवियों में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। इनकी कविताएँ भाव एवं भाषा दोनों दृष्टियो से उत्तम हैं। विभिन्न विषयों पर ये सुन्दरता एवं सफलता के साथ लिखते आ रहे है। इनका प्रकृति-वर्णन सूक्ष्मतापूर्ण, चित्रात्मक एवं कलात्मक होता है। पीड़ा की आन्तरिकता एव मार्मिक भावों की अभिव्यंजना मे इनकी कवि-लेखनी को कौशल प्राप्त है। आरम्भ मे सुमित्रानन्दन पत के रहस्यात्मक प्रकृतिवर्णन का इनपर प्रभाव पड़ा था। 'शतदल' ('नवयुग काव्यविमर्श', पृ० ३२१) नामक रचना में स्वर्ण-विहान, श्याम बादल, पुलकित हिमकर, गुंजित निर्झरिणी एव सिन्धु की उत्ताल तरगावलि में विश्व की मूल रहस्य-शक्ति के दर्शन किये हैं। इनका कवि-स्वभाव पूर्ण स्वच्छन्दतावादी है, अतएव बाद को इसी वृत्ति का इनकेकाव्य मे पूर्ण विकास हुआ है। ये शुद्ध छायावादी कवियो की भाँति प्रकृति और जीवन की अन्तःछवियों के अवगाहन में तल्लीन रहे हैं; इसी से इनकी रचनाओ मे जटिलता एवं क्लिष्टता नही, सरलता, सहजता, मधुरता एवं संगीत तरलता का वैशिष्ट्य है।

प्रकृति-चित्रण में मानवीकरण शैली की प्रधानता है। कहीं-कहीं प्रकृति के भीतर कवि विश्वास रूप मे चेतना का अनुभव करता दिखाई पडता है। अलकरण की प्रवृत्ति भी इनकी रचना शैली की विशेषता है। भाषा संस्कृत की मधुर-कोमल तत्सम-पदावली से पूर्ण, सुजटित एवं कलात्मक होती है। तत्समता के होते हुए भी शब्दों का लोष्टवत् प्रयोग कहीं नहीं मिलेगा। भाषा मे एक मधुर मंथर किन्तु सुनियोजित प्रवाह है। —श्री० सि० क्षे०

आरुणि—इनके पिता का नाम औपवेशि गौतम था। ये आयोदधौम्य के शिष्य थे। इनका श्वेतकेतु नामक एक पुत्र था। ये सामाजिक विधि-निषेध के प्रवर्तक माने जाते हैं। ब्रह्मविद्यापर इन्हें विशेष अधिकार प्राप्त था। इनकी गुरुभक्ति की एक कथा उल्लेखनीय है। एक बार इनके गुरु ने इन्हें एक नाली बन्द करने का आदेश दिया। जल में वेग अधिक था जिसके परिणाम-स्वरूप ये कृतकार्य न हो सके। अतः जलावेग को रोकने के लिए ये उस स्थान पर स्वयं लेट गये। अधिक समय बीतने पर गुरु घटनास्थल पर आये तो इन्हें अचेत पाया। इनकी गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें 'उद्दालक' नाम प्रदान किया। —ज० प्र० श्री०

आर्यक—ये कद्रू के लड़के थे। इनकी कन्या मारीषा का विवाह मथुरा के यदुवंश में उत्पन्न महाराज शूरसेन से हुआ था। शूर सेन वसुदेव के पिता और कृष्ण के पितामह थे। —ज० प्र० श्री०

आर्यावर्त—भारत के मध्यकालीन इतिहास में उत्तर भारत के लिए 'आर्यावर्त' शब्द का प्रयोग मिलता है। मनुस्मृति में आर्यावर्त की सीमाओं का निर्देश करते हुए उत्तर भारत में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम में समुद्रतटों तक उसका विस्तार बताया गया है। आर्यावर्त के लिए अन्य पाँच भौगोलिक नामों का भी उल्लेख मिलता है—उदीची (उत्तर), प्रतीची (पश्चिम), प्राची (पूर्व), दक्षिण

और मध्य। आर्यावर्त का मध्य भाग ही हिन्दी भाषा और साहित्य का उद्‌गम एवं विकास स्थल मध्यदेश कहलाता है। १२ वीं शतीतक के साहित्य में इस नाम का निरन्तर प्रयोग हुआ है। तत्पश्चात इसका प्रयोग कम होता गया। विभिन्न युगों में आर्य संस्कृति के विस्तार एवं विकास के साथ आर्यावर्तकी भी सीमाएँ बदलती रही हैं ('स्कन्दगुप्त', पृ० ७०)

[सहायक ग्रन्थ—मध्य देश : डा० धीरेन्द्र वर्मा।]

—रा० कु०

आर्येन्द्रशर्मा—जन्म १ अक्टूबर १९१० ई० में कुँवरगाँव जिलाबदायूँ) में हुआ। शिक्षा प्रयाग तथा जर्मनी के म्यूनिख (१९३६-१९४० ई०) विश्वविद्यालयों में हुई। संस्कृत तथा भाषा विज्ञान अध्ययन के मुख्य विषय हैं। हैदराबाद में उस्मानिया विश्व विद्यालय में १९४१-१९७० तक संस्कृत विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सन् १९५४ से १९७० तक सस्कृत अकादमी उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, के निदेशक तथा १९७१ तक गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग के प्रिंसिपल रहे। आप भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध अनेक उच्च्व संस्थानो के ऊँचे पदों पर रह कर उनका संचालन करते रहे हैं। आप ने हिन्दी भाषा पर सात और संस्कृत भाषा-साहित्य पर बीस पुस्तकों का प्रणयन किया है। भारत सरकार के तत्त्वाधान में प्रकाशित हिन्दी व्याकरण (१९५८ ई०) का प्रारूप आपने ही प्रस्तुत किया है। मासिक 'कल्पना' के सम्पादक-मण्डल के प्रधान रहे है।

—सं०

आलम—ब्रजभाषा के मुसलमान कवियों में प्रमुख। 'ब्रजभाषा हेतु ब्रजभाषा हीन अनुमानों' को प्रमाणित करने के लिए भिखारी दास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में जिन कवियों के नाम गिनाये हैं उनमें रहीम, रसखान, और रसलीन से पूर्व आलम को स्थान दिया है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' 'कविता कौमुदी', मिश्रबन्धु विनोद', 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' आदि हिन्दी के अनेक ग्रन्थों में अब तक यह प्रतिपादित किया जाता रहा है कि आलम नाम के दो कवि हुए हैं। एक आलम अकबर के समकालीन सूफी कवि थे जिन्होंने 'माधवानल कामकन्दला' की रचना की और दूसरे आलम औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के आश्रित थे। यह दूसरे आलम ही रीतिकालीन प्रसिद्ध कवित्त-सवैया में शृंगारिक मुक्तकों के रचयिता थे। शेखवाली किंवदन्ती भी इन्हीं के साथ सम्बद्ध है (दे० 'शेख')।

दो आलमों के इस प्रवाद की उत्पत्ति का आधार मुअज्जमशाह की प्रशंसा में लिखित यह छन्द रहा है जिसे शिव सिंह ने अपने 'सरोज' में उद्‌धृत करके इस धारणा का सूत्रपात किया—''जानत औलि किताबन को जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हें। पालत हौं इत 'आलम'को उत नीके रहीमके नाम कों लीन्हे।। मौजमसाह तुम्हें करता, करिबेको दिलीपति है वर दीन्हें। काबिल हैं ते रहे कितहूँ, कहूँ काबिल होत है काबिल कीन्हें।।'' इसमें आलम शब्द संसार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतएव आवश्यक नहीं है कि इसे आलम कविकृत माना ही जाय विशेषतः तब जब उनके स्फुट छन्दों के प्राचीन हस्तलिखित संग्रहों में यह कहीं भी समाविष्ट नहीं मिलता। भवानी शंकर याज्ञिकने इस सम्बन्ध में विशेष शोध करके प्रमाणित कियाहै कि यह छन्द जेत कविकृत 'माजम-प्रभाव' नामक ग्रन्थ का है। आलम का काव्य-काल इसी छन्द के आधार पर १६५५ ई० (सं० १७१२) के आस पास माना जाता रहा है जो भ्रामक है। याज्ञिक के अनुसार दो आलम न होकर एक ही आलम थे और वे अकबर के समकालीन थे (दे० 'आलम और रसखान' शीर्षक लेख, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २९१-३०२)।

प्रारम्भ से ही आलम एक विख्यात कवि रहे हैं। कहते हैं कि 'गुरु-ग्रन्थ साहब' के अन्तिम भाग में दी हुई 'रागमाला' इनके ग्रन्थ 'माधवानल कामकन्दला' का अंश है। 'गुरुग्रन्थ साहब' का वर्तमान रूप वही है जो १५०४ ई० (सं० १६६१) तक निश्चित हो चुका था और अकबर का राज्य १६०५ ई० तक रहा। मुअज्जम शाह के समय के कवि आलम की रचना का अंश उसमें होना सम्भव नहीं है इस विचार से कुछ सिक्ख 'रागमाला' को प्रक्षिप्त मानने लगे, परन्तु दो आलमों के प्रवाद के निराधार सिद्ध होने से उस शंका का भी शमन हो गया। 'प्रबोधसुधासागर', सुजानचरित्र', 'अलंकार रत्नाकर' तथा कालिदास के 'हजारा' में आलम के अनेक पद्य समाविष्ट मिलते हैं। १६८६ ई० में विरचित कुलपति मिश्र की 'युक्तितरंगिणी' में आलम की प्रशस्ति में यह दोहा लिखा है—''नवरसमय मूरति सदाँ, जिन बरने नँदलाल। आलम आलम बस कियो, दै निज कविता जाल।।''

पूर्वनिर्दिष्ट लेख में आलमविषयक पर्याप्त नवीन सामग्री प्रस्तुत की गयी परन्तु कतिपय निष्कर्ष अतिरंजनापूर्ण हैं, जैसे ''रीतियुक्त कवियों में आलम का स्थान सर्वोच्च है।'' अथवा ''कवित्त-सवैया की पद्धति का प्रवर्तक गंग के स्थान पर आलम को ही मानना चाहिये।'' भाषा और वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भी आलम के कृतित्व पर सम्यक् विचार होने के अनन्तर ही कोई निश्चयात्मक बात कही जा सकती है।

आलम की निम्नलिखित तीन कृतियाँ प्रामाणिक मानी जाती है—१. माधवानल कामकन्दला, २. श्याम सनेही, ३. आलम के कवित्त। एक चौथी कृति 'सुदामाचरित्र' का भी उल्लेख मिलता है पर वह सन्दिग्ध ही लगता है। 'माधवानल कामकंदला' में माधवानल और कामकंदला के पारस्परिक प्रेम की कथा प्रेमाख्यानक शैली में सूफी प्रभाव के साथ वर्णित की गयी है। इसके दो रूप मिलते हैं। छोटा रूप बड़े की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतीत होता है। कामकंदला के नृत्य-गान वर्णन में कवि ने अपने संगीत ज्ञान का विशेष परिचय दिया। यही अंश 'रागमाला' नाम से 'गुरु-ग्रन्थ साहब' में संगृहीत हुआ है।

'श्याम सनेही' में रुक्मिणी विवाह की कथा है और इसकी रचना भी दोहा चौपाई शैली में हुई है। 'आलम के कवित्त' कवि के रीति शैली के स्फुट पद्यों का संग्रह है। प्राचीन हस्त लिखित प्रतियों में इसके अनेक नाम मिलते हैं; जैसे-'कवित्त आलमके', 'रसकवित्त', 'आलमकेलि', 'अक्षरमालिका' और 'चतुःशती' आदि जिनमें से कोई सर्वमान्य नहीं हैं। 'आलमकेलि' का प्रकाशन उमाशंकर मेहता द्वारा बनारस से १९२२ ई० में हुआ है। कुछ कवित्तों में 'शेख' छाप मिलती है, कुछ में 'आलम'। ग्रन्थ की पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि कवि का पूरा नाम 'शेख आलम' था तथा उसे 'शेखसाईं' नाम से भी

जाना जाता था। 'शेख' आलम की स्त्री थी, इस मान्यता पर आधारित किंवदन्तियाँ 'शेख' के आलम की उपाधिमात्र सिद्ध होने से निराधार हो जाती हैं।

कॉंकरौली के द्वारकेश पुस्तकालय में 'चतु.शती' नाम से आलम के ४०० के लगभग मुक्तकों की जो पाण्डुलिपि मिलती है उसका लिपिकाल १६५५ ई० है। लिपिकाल से युक्त इससे प्राचीन कोई अन्य प्रति प्राप्त न होने से यह तिथि आलम के सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही है और इसी आधार पर बहुधा उनका कविता-काल भी निर्दिष्ट किया गया है। लाला भगवानदीन ने १८८३ वि० की एक अन्य प्रति के आधार पर 'आलमकेलि' नाम से आलम के कवित्त-सवैयों का प्रसिद्ध संकलन प्रकाशित कराया तथा उसमें कविताकाल १६८३-१७०३ ई० माना। कॉंकरौली में ही ४७१ छन्दों का एक अन्य संकलन 'अक्षरमालिका' नाम से मिलता है जिसमें आलम के मुक्तकों को व्यंजन और स्वर क्रम से प्रस्तुत किया गया है। इसमें आलम के अन्य ग्रन्थों के भी कुछ पद्य समाविष्ट कर लिये गये हैं।

आलम की ख्याति अधिकतर मुक्तकों के कारण ही हुई, अतएव 'आलमकेलि' कवि की सर्वप्रमुख रचना कही जा सकती है। यह नाम 'कवित्त आलम के लिख्यते' से ही गृहीत प्रतीत होता है। संग्रहकार्य सम्भवतः किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा सम्पन्न हुआ। इस संग्रह के मुक्तकों में निश्चय ही अनेक ऐसे है जिनमें भावात्मक तीव्रता कथन की अतिशयता के साथ मिलकर सूफी काव्य की प्रकृति का परिचय देती है। कवि के भीतर प्रेम की पिपासा विशेष लक्षित होती है। यह तत्त्व ब्रजभाषा के अन्य रीतिमुक्त प्रेमी कवियों मे भी उपलब्ध होता है; पर आलम के छन्दों में उत्सर्गभावना एवं तन्मयता का ऐसा रूप भी मिलता है जिसे उनके कवि व्यक्तित्व की निजी विशेषता कहा जा सकता है। उनके इस मार्मिक सवैया से हिन्दी-काव्य-प्रेमी सुपरिचित हैं—"जाथल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कॉंकरी बैठि चुन्यो करे।"

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०; हि० सा०।]

—ज० गु०

आल्हखंड—जगनिक कवि आल्हखण्ड के रचयिता माने गये हैं। ये कालिंजर तथा महोबा के शासक परमाल (परमर्दि देव) के दरबारी कवि थे। कुछ विद्वानों के अनुसार जगनिक भाट तथा कुछ के मत में बन्दी जन थे। जगनिक ११७३ ई० के आस-पास वर्तमान थे। उन्होंने महोबा के दो ख्याति-लब्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में किया था जगनिक कृत आल्हखण्ड की अभी तक कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। इस काव्य का प्रचार समस्त उत्तरी भारत वर्ष में है। उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा-भाषी-प्रान्तों के गाँव-गाँव में सुनायी पड़ते हैं। ये गीत वर्षा ऋतु में गाये जाते हैं।

फर्रुखाबाद में १८६५ ई० में वहाँ के तत्कालीन कलक्टर सर चार्ल्स इलियट ने अनेक भाटों की सहायता से इसे लिखवाया था। सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिहार में (इण्डियन) एण्टीक्वेरी, भाग १४, पृष्ठ २०९, २२५) और विसेंट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड (लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया, भाग ९, : १ :, पृ० ५०२) में भी आल्हखण्ड के कुछ भागों का संग्रह किया था। इलियट के अनुरोध से डब्ल्यू० वाटरफील्ड ने उनके द्वारा संगृहीत 'आल्हखण्ड' का अंगरेजी अनुवाद कियाथा, जिसका सम्पादन ग्रियर्सन ने १९२३ ई० में किया। वाटरफील्डकृत अनुवाद 'दि नाइन लाख चेन' अथवा 'दि मेरी फ्यूड' के नाम से कलकत्ता-रिव्यू में सन् १८७५-७६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

इस रचना के आल्हखण्ड नाम से ऐसा आभास होता है कि आल्हा सम्बन्धी ये वीरगीत जगनिककृत उस बड़े काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत थे जो चन्देलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया था।

साहित्य के रूप में न रहने पर भी जनता के कण्ठ मे जगनिक के संगीत की वीर-दर्पपूर्ण-ध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ समय मे देश और काल के अनुसार आल्हखण्ड के कथानक और भाषा मे बहुत कुछ हेर-फेर हो गया है। बहुत से नये हथियारो (बन्दूक, किरिच), देशों और जातियो के नाम सम्मिलित हो गये हैं और बराबर होते जा रहे हैं। इसमें पुनरुक्ति की भरमार है। युद्ध मे एक ही प्रकार के वर्णन मिलते हैं। कथा में पूर्वा पर सम्बन्ध के निर्वाह का अभाव है। अनेक स्थलो पर शैथिल्य और अत्युक्तिपूर्ण वर्णनो की अधिकता है।

आल्हखण्ड 'पृथ्वीराजरासो' के 'महोबा-खंड' की कथा मे साम्य रखते हुए भी एक स्वतन्त्र रचना है। मौखिक परम्परा के कारण इसमें बहुत से परिवर्त्तनों और दोषों का समावेश हो गया है, पर इस रचना मे वीरत्व की मनोरम गाथा है जिसमें उत्साह और गौरव की मर्यादा सुन्दर रूप से निबाही गयी है। इसने जनता की सुप्त भावनाओ को सदैव गौरव के गर्व से सजीव रखा है। 'आल्हखण्ड' जन-समूह की निधि है और इसी दृष्टि से इसके महत्त्व का मूल्यांकन होना चाहिये।

[सहायक-ग्रन्थ—१. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, सं० २००३ वि०, पृ० ५१-५२; २. राम कुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, तृतीय बार, १९५४ ई०, में १७४-१७६; ३. धीरेन्द्र वर्मा, प्रधान सम्पादक—ब्रजेश्वर वर्मा, सहकारी सम्पादक : हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, प्रथम संस्करण, मार्च, १९५९ ई०, पृ० १६२।]

— रा० सिं० तो०

आसकरन—कछवाहा राजा पृथ्वीराज की वंश परम्परा में ये राजा भीमसिंह के पुत्र, एवं एक उच्चकोटि के वैष्णव तथा कील्हदेव स्वामी के शिष्य थे। ये नरवरगढ़ के अधिपति थे। इनके उपास्य देव युगलमोहन (जानकी मोहनराम तथा राधा मोहन कृष्ण) थे। इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये ईश्वर की आराधना करते समय पूर्णतया तन्मय हो जाते थे। एक बार इनके एक शत्रु ने इन पर आक्रमण कर दिया। इनकी तन्मयता भंग करने के लिए उसने तलवार से इनके पैर की एँड़ी काट दी लेकिन इतने पर भी इनकी ध्यानावस्था पर कोई प्रभाव न पड़ सका। इनकी ईश्वर-भक्ति देखकर वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि इनके राज्य की विजय करने की भावना का

त्याग कर वापस चला गया।

—ज० प० श्री०

आस्तीक १—जरत्कारु ऋषि इनके पिता थे। इनकी माता का नाम भी जरत्कारु था जो नागराज वासुकि की भागिनी थीं। एक बार जब जरत्कारु सो रहे थे, उनकी पत्नी ने उन्हें जगा दिया। इस पर वे क्रोधित होकर अपनी पत्नी को छोड़कर चले गये। जाते समय उन्होंने 'अस्ति' (गर्भ है) कहा था। फलस्वरूप, इनका नाम आस्तीक पड़ा। जनमेजय के नागयज्ञ में जब सारे संसार के सर्पों की बलि दी जा रही थी, उस समय इन्होने ही वासुकि तथा उसके परिवार की रक्षा की थी (दे० 'जनमेजय का नागयज्ञ' · जयशंकर प्रसाद) —ज० प्र० श्री०

आस्तीक २—प्रसादकृत नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' का पात्र। आस्तीक जरत्कारु ऋषि तथा नागकन्या मनसा का पुत्र है। इस प्रकार उसके शरीर मे आर्य और अनार्य रक्त समान मात्रा में प्रवाहित हो रहा है इसीलिए उसके हृदय में किसी एक के लिए पक्षपात और दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना नहीं है। ऋषि-स्वभाव की ही भाँति वह शान्त, स्निग्ध, विवेकपूर्ण, दार्शनिक और विश्वकल्याण का इच्छुक है। उसमें नाग जाति की-सी बर्बरता और कुटिलता का अभाव है। वह अपनी विवेकपूर्ण निर्मल बुद्धि द्वारा आर्य एव नागजाति के पारस्परिक वैमनस्य को मिटाकर शाश्वत मैत्री का अभिलाषी है। वह माणवक से कहता है : 'दो भयंकर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।' नागों की हिसक वृत्ति रोकने के कारण माता उसे त्याज्य पुत्र मानकर छोड़ देती है। शीलवश अपनी माता की आज्ञा न मानने का अपराध आस्तीक अपने ऊपर लिये रहता था। माता की स्नेह छाया से वंचित होकर कुछ काल के अनन्तर अपने पिता को भी खो देता है क्योंकि जरुत्कारु की जनमेजय के द्वारा आखेट में धोखे से मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार विपत्तियों का साक्षात्कार करने के कारण उसकी बुद्धि दार्शनिकता से सम्पन्न हो जाती है। शैशवकाल से ही विश्व की जटिलताओं का प्रत्यक्षीकरण हो जाने से उसके हृदय में सात्विकता का प्राधान्य हो जाता है। आस्तीक का अवतरण एक महान् उद्देश्य लिये हुए होता है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता। उसमें आत्मविश्वास की दृढ़ता एवं निश्छल निर्भीकता पर्याप्त मात्रा में है।

शील की मात्रा आस्तीक में विशेष रूप से है। माँ के क्रुद्ध होने पर भी आस्तीक अपना ही अपराध समझता हुआ आत्मग्लानिवश व्यास के समक्ष निवेदन करता है : 'भगवान्! मैं मातृद्रोही हो गया हूँ। मैंने माता की आज्ञा नहीं मानी। मेरे सिर पर यह एक भारी अपराध है।'' आस्तीककी आत्मग्लानि व्यास के सदुपदेशों से मिट जाती है। कृती पुरुष आस्तीक का आविर्भाव किसी विशेष कार्य के लिए हुआ है। केवल वहीं नागयज्ञ में तत्पर जनमेजय की प्रतिहिंसाग्नि को शमन करने में समर्थ है। जनमेजय उसके सरल मुख-मण्डल और आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे अपना रक्त-दानतक करने को प्रस्तुत हो जाता है और उसके समक्ष जरुत्कारु की हत्या का अपराध स्वीकार करता है। जनमेजय के प्रसन्न होने पर आस्तीक अपनी स्वार्थसिद्धि न करके दो जातियों में स्थायी मैत्री-भाव देखने का अभिलाषी है। उसका कथन है कि 'मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिये। सम्राट् शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिये। यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल है।' उसी के अनुरोध से नागयज्ञ समाप्त होता है। इस प्रकार आस्तीक अपनी माता के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा पूरी करता है। —के० प्र० चौ०

आहुक— इनके पितामह राजा नल तथा पिता मृत्तिकावत् नगरी के पराक्रमी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न भोजवंशी राजा अभिजित थे। मतान्तर से ये पुनर्वसु के पुत्र थे। इनकी पत्नी का नाम काश्या था जिससे देवक तथा उग्रसेन नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। अन्य मतके अनुसार इनके पुत्र का नाम शम्भर था। महाभारत में उल्लेख है कि इनका कृष्ण के साथ युद्ध भी हुआ था। (दे० 'उग्रसेन')।

—ज० प्र० श्री०

इंजील—दे० 'बाइबिल'।

इंदु—प्रेमचन्द कृत 'रंगभूमि' में इन्दु का प्रमुख स्थान है। वह विनय की बहिन और राजा महेन्द्र की पत्नी है। सरल और सुशील होने के अतिरिक्त वह भी अपनी माता के नियन्त्रण में पालित-पोषित और देश-प्रेम से ओत-प्रोत है। बहिन के रूप में वह अगाध स्नेह से पूर्ण है, तो पत्नी के रूप में दुःखी है। उसे अपने पति की नाम-लालसा तनिक भी अच्छी नहीं लगती। वह कृपण नहीं है, दया की मूर्ति है और मानवधर्म पहचानती है। उसे अपने घर में ही अपनी परवशता खटकती है, किन्तु माता द्वारा सिखाई हुई पति-परायणता के सामने विवश हो जाती है। 'वह अपने को एक जाति सेवक की पत्नी के रूप में देखना चाहती है। यह न होते देख कर उसकी पति-परायणता और उसके जीवनादर्श में संघर्ष छिड़ जाता है। इसी संघर्ष के फलस्वरूप उसके भीतर के नारीत्व का पूर्णरूपेण उदय होता है और वह ईश्वर पर भरोसा रखकर देश-सेवा के लिए निकल पड़ती है।

—ल० सा० वा०

इंद्र—ऋग्वेद के अनुसार ये निष्टिग्री के पुत्र थे। इनकी माता ने इन्हें सहस्र मास तक गर्भ में धारण कर रखा था। इनका जब जन्म हुआ तो ये वीर्यपूर्ण थे, अतएव इन्हें देखते ही इनकी माता इनपर मुग्ध हो गयी थीं। ऋग्वेद के एक उल्लेख के अनुसार इन्होंने पिता के दोनों पैर पकड़कर उनका वध कर डाला था। अथर्ववेद के अनुसार इनकी माता एकाष्टका थीं। एकाष्टकाने घोर तपस्या करके इन्हें उत्पन्न किया था। देवताओं ने दस्युओं और असुरोंका संहार इन्हीं महाशक्ति सम्पन्न इन्द्र की सहायता से किया था। इनके पिता सोम थे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इनकी उत्पत्ति प्रजापति से हुई थी। पौराणिक मत के अनुसार पिता कश्यप और माता अदिति थीं। इन्द्र के क्षेत्रज पुत्र सम्भवतः नहीं थे। इनके औरस पुत्रों में बलि और अर्जुन का नाम लिया जाता है। ये वैदिककाल के ही एक सर्वप्रमुख देवता के रूप में स्मरण किये जाते हैं। ऋग्वेद के त्रिदेवों में अग्नि और सूर्य अथवा वरुण के साथ इनका भी नाम लिया जाता है। ऋक् संहिता में इनके विषय में सर्वाधिक (लगभग २५०) मन्त्र मिलते हैं। इन मन्त्रों में इन्द्र से दासों और दस्युओं के नगरों का विध्वंस करने की बार-बार प्रार्थना की गयी है। ये मूलतः आकाश और बादलों के प्रतीक-स्वरूप मान्य देवता थे। इसीलिए इनका स्मरण जल-वृष्टि के लिए भी किया गया है।

इनके देवेन्द्र होने की कथा यह है कि दस्युओं द्वारा आतंकित होने पर एक बार देवता प्रजापति के पास गये और कहा कि राजा के अभाव मे युद्ध करना सम्भव नहीं है। प्रजापति के निर्देशानुसार उन्होंने इन्द्र से राजा बनने की प्रार्थना की। तब से इन्द्र देवपक्ष के राजा हुए। ऋग्वेद मे अनेक स्थानों पर इन्द्र के वृत्र को पराजित करने का उल्लेख मिलता है। पुराणों मे इस कथा का विकास और विस्तार किया गया है। पुराणो में लिखा है कि वृत्रासुर के संहार के लिए इन्द्र ने महर्षि दधीचि की हड्डियाँ प्राप्त कर उनका वज्र बनवाया था और इस वज्र से वृत्रासुर का वध किया था। तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवताओं ने सम्मिलित रूप से प्रजापति को बताया कि असुरोंकी सृष्टि होने पर इनके दमन करने वाले की भी आवश्यकता होगी। प्रजापति ने देवताओं को अपने समान ही तपोबल द्वारा इन्द्र को उत्पन्न करने की प्रेरणा दी। देवताओं ने प्रजापति के कथनानुसार दीर्घकाल तक घोर तपस्या की। तप करने पर उन्हें अपनी आत्मामे ही इन्द्र का आभास मिला। उन्होने इन्द्र से जन्म लेने की प्रार्थना की। फलस्वरूप इन्द्र ने यथासमय अवतार ग्रहण किया। इस ग्रन्थ में इन्द्राणी के साथ विवाह होने के सम्बन्ध में लिखा है कि इन्द्र ने उसके पिता पुलोमा को मारकर उसे हस्तगत किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में इनकी पत्नी का नाम प्रसहा मिलता है। वैदिककाल के उपरान्त इन्द्र की महत्ता क्षीण होती दिखाई देती है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों मे उनका स्थान पौराणिक त्रिदेव की तुलना में उत्तरोत्तर हीन दिखाया गया है तथा इनकी चारित्रिक दुर्बलताओं के अनेक उल्लेख किये गये हैं। वाल्मीकि रामायण में मेघनाद द्वारा इनके पराभूत होने और उसके द्वारा बन्दी बनाये जाने की वार्ता मिलती है। इनकी मुक्ति के लिए देवताओं को रावण को अमर होने का वरदान देना पड़ा था। महाभारत के अनुसार इन्होंने छद्मवेश धारणकर गौतम की परिणीता पत्नी अहल्या से रतिदान प्राप्त किया था। मुनि के शाप से ये सहस्रभग वाले हो गये थे। रामावतार में स्वयम्वर के अवसर पर राम के दर्शन से इनके भग नेत्रों में परिणत हुए थे और तब से ये सहस्राक्ष कहलाये। काठक के मतानुसार ये विलिस्तेंगा नामक दानवी पर अनुरक्त हुए थे। एक बार वृहस्पति का सम्मान न करने के कारण देवताओं के साथ इन्हें असुरों से पराजित होना पड़ा था। तब ये ब्रह्मा की शरण में गये, विश्वरूप ऋषि इनके गुरु बने; तभी इन्हें विजयश्री मिली। कृष्ण कथा से भी इनके महत्त्व को कम करने के प्रमाण मिलते हैं। कृष्ण से पूर्व ब्रजवासी इनकी उपासना किया करते थे। कृष्ण ने ब्रजवासियों को गोवर्धन की उपासना करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया। इस पर इन्द्र ने कोप करके प्रलयंकर बादलों को ब्रजप्रदेश को जलमग्न कर देने के लिए भेजा। कृष्ण ने अपनी कनिष्ठा अँगुली पर गोवर्धन को उठाकर ब्रजवासियों की रक्षा की और इस प्रकार इन्द्र के दर्पको मिटाया— "सूरदास प्रभु इन्द्र-गर्व हरि, ब्रज राख्यौ करवरतें" (दे० सूर० पद १४२९-१६०१)। इसी प्रकार की इन्द्र के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ हैं (दे० 'कृष्ण')। इन्द्र के नाम भी अनेक हैं—महेन्द्र, शक्रधनु, ऋभुक्षु, अर्ह, दत्तेय, वज्रपाणि, मेघवाहन, पाकशासन, देवपति, दिवस्पति, उलूक, स्वर्गपति, जिष्णु, मरुत्वान्, उग्रधन्वा, पुरन्दर आदि। इनका वाहन-ऐरावत, अस्त्र—वज्र; स्त्री:—शची, पुत्र—जयन्त नगरी—अमरावती, वन-नन्दन, घोड़ा—उच्चैश्रवा:, और सारथि—मातल है। वृत्र, वलि और विरोचन इनके प्रधान शत्रु हैं। ये ज्येष्ठा नक्षत्र और पूर्व दिशा के स्वामी हैं।

—ज० प्र० श्री०

इंद्रकील—यह मंदराचल का नामान्तर है। अर्जुन ने इस पर्वत पर तपस्या की थी। शिव से उनका यही युद्ध हुआ था। शिव ने अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर उन्हे पुरस्कार स्वरूप पाशुपतास्त्र दिया था। शिशुपाल का वध करने के पूर्व कृष्ण ने यहाँ क्रीड़ा की थी।

—ज० प्र० श्री०

इंद्रजित, इंद्रजीत—मेघनाद का अन्य नाम, जो इन्द्र को पराजित करने के कारण पड़ा—"चला इन्द्रजित अतुलित जोधा" (मा० ५।१९।२)।

—ज० प्र० श्री

इंद्र देव—प्रसाद के उपन्यास 'तितली' का पात्र। धामपुर के जमींदार के पुत्र, जो लन्दन से बैरिस्टरी पास कर, शैला को साथ लेकर अपने देश लौटते हैं। इन्द्र देव शैला के प्रति आकर्षित हैं, और इसी कारण उसकी सुख-सुविधा और गौरव बढ़ाने के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। शैला के प्रति घरवालो की उपेक्षा उन्हें असह्य है। प्रेमी के रूप मे इन्द्र देव की कुछ दुर्बलताएँ हैं। एक तो उन्हें तितली और अनवरी के प्रति हल्का-सा आकर्षण यह सोचने के लिए विवश करता है कि क्या वे शैला को वैसा ही प्यार करते हैं? दूसरे शैला की उदासीनता और वाटसन केस्नेहपूर्ण पत्र की चर्चा उनमें 'कंकाल' के मंगल के समान शंका और ईर्ष्या उत्पन्न करती हैं। वे सदेह करते हैं कि शैला उन्हें जान-बूझ कर दूर रखना चाहती है। हम कह सकते हैं कि इन्द्रदेव का चरित्र स्वजनों के प्यार की धुरी पर ही परिचालित होता है और इसमें शैथिल्य आते ही वे क्षुब्ध और निराश हो उठते हैं। शैला से विवाह करने तथा श्यामदुलारी, माधुरी और शैला के प्रेममय मिलन से उन्हें अत्यन्त संतोष होता है। शैला के प्रति प्रेम उनके व्यक्तितव के अन्य पक्षों को नहीं उभरने देता। धन के प्रति निर्मोह उनके चरित्र की दूसरी विशेषता है। धन के लिए षड्यन्त्र रचने वाली माधुरी के प्रति वह क्षुब्ध रहते हैं। माँ के स्नेह में बाधक सम्पत्ति को वह उन्हीं के नाम लिख देते हैं। व्यक्ति और समाज का आर्थिक सुविधा के प्रति मोह सम्मिलित कुटुम्ब और धर्म तथा संस्कृति के प्रति अनास्थावादी भी बना देता है। गाँवों के सुधार के लिए वह प्रथम आवश्यकता समझते हैं सम्पत्तिशालियों के स्वार्थत्याग की। अतीत काल से संचित पुरुष के जिस अधिकार संस्कार की चर्चा वह करते हैं, उसका कोई सशक्त रूप उनमें नहीं उपलब्ध होता—सम्पूर्ण उपन्यास में दूसरों की भावनाओं के समक्ष वह नतमस्तक होते दिखाई पड़ते है; अधिकार-लालसा अधिक-से-अधिक उनकी खीझ या निराशा की मन:स्थिति से उद्भूत जान पड़ती है।

—शं० ना० च०

इंद्रद्युम्न—ये मालव देश के एक राजा थे जिन्होंने उत्कलस्थ पुरुषोत्तम देव का मन्दिर बनवाया था। उसमें विश्वकर्मा स्वयं आकर दारुमयी मुर्त्ति का निर्माण कर गये थे। मुकुन्दराम के जगन्नाथ मंगल के अनुसार ये मन्दिर बनवाकर ब्रह्मा के पास

मूर्त्ति-स्थापन के लिए गये। अत्यधिक प्रार्थना करने पर ब्रह्मा सन्तुष्ट हुए। चूँकि वे सन्ध्यावन्दन करने जा रहे थे अतः उन्होंने इनसे एक मुहूर्त ठहरने को कहा। ब्रह्मा का एक मुहूर्त ६० हजार वर्ष का होता है। ये एक मुहूर्त तक ठहरे रहे। ब्रह्मा जब सन्ध्या करके लौटे तो इनसे बोले, 'एक बार अपने राज्य तक वापस जाकर फिर आओ तो तुम्हें मूर्ति देंगे। अपने राज्य में आने पर ये उसे पहचान तक न सके। कारण वहाँ सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। अन्ततोगत्वा एक पेचक और कूर्मने इन्हें सम्पूर्ण पूर्वकथा से परिचित कराया। ये पुनः राजा हुए और कौमाद्य राजा की कन्या मालावती से विवाह किया। इन्होंने फिर प्रस्तर का जगन्नाथ का मन्दिर बनवाया। एक दिन किसी दूत ने आकर इन्हें बताया कि समुद्रतटपर एक काष्ठ तैर रहा है। इन्होंने ब्रह्मा से सुन रखा था कि भगवान् कृष्ण एक निंब वृक्ष पर प्राण त्यागेगे और बहकर समुद्रतीर पहुँचेंगे। अतः दूत से काष्ठ की बात सुनकर ये अविलंब समुद्र तट पर गये और अपूर्व महा समारोह करके काष्ठ ले आये। विश्वकर्मा ने आकर उसी काष्ठ से जगन्नाथ की मूर्ति निर्मित की थी। इन्होंने अपनी कन्या सत्यवती का जगन्नाथ देव से विवाह कर दिया था।

२. मार्कण्डेय से पूर्व इस नाम के एक अत्यन्त प्राचीन ऋषि हुए थे जिन्हें पथभ्रष्ट होने के कारण मर्त्यलोक में आना पड़ा था।

३. सुमति के पुत्र तथा भरत के पौत्र थे।

४. एक असुर राजा था जिसकी मृत्यु महाभारत (वन० १२ अ०) के अनुसार कृष्ण के हाथों हुई थी।

५. एक राजा जो कि अगस्त्य ऋषि के अभिशाप से गज हो गया था। गज और ग्राह का जो युद्ध हुआ था, उसमें नारायण ने इसका उद्धार किया था।

इंद्रनाथ मदान—जन्म, १९१० ई० में शाहपुर जिले में हुआ। शिक्षा, एम० ए०, पी० एच० डी०। अनेक वर्षो से पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक और अब अध्यक्ष हैं। अधिकतर समीक्षाकृतियाँ प्रकाशित की हैं और आधुनिक साहित्य की विभिन्न स्थितियो पर विचार किया है। हिन्दी और अँग्रेजी दोनों ही माध्यमों से लिखा है। अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी के बारे में लिखने वाले व्यक्तियों में इन्द्रनाथ मदान का नाम काफी पहले आता है। आपकी प्रकाशित कृतियाँ हैं—'हिंन्दी कलाकार' (१९४७), 'प्रेमचन्द्र' (१९५१), 'शरचन्द्र चटर्जी' (१९५४); अँग्रेजी में—'मॉडर्न हिन्दी लिट्रेचर', (१९३९), 'शरच्चन्द्र चटर्जी' (१९४४); 'प्रेमचन्द्र' (१९४६)।—सं०

इंद्रवर्मन—ये महाभारत कालीन मालवा-नरेश थे। इन्होंने युद्ध में कौरवों का पक्ष ग्रहण किया था। प्रसिद्ध अश्वत्थामा नामक हाथी इन्हीं का था जिसकी मृत्यु होने पर युधिष्ठिर ने जीवन में प्रथम और अन्तिम बार 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुँजरों वा'' मिथ्याकथन किया था।

—ज० प्र० श्री०

इंद्र विद्यावाचस्पति—जन्म ९ नवम्बर १८८९ ई० में नवाँशहर, जिला जालन्धर में हुआ और मृत्यु २३ अगस्त १९६० ई० को दिल्ली में हुई। गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त करते समय ही अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द के साथ 'सद्धर्मप्रचारक' का सम्पादन करने का सुअवसर इन्हें प्राप्त हुआ। तभी से वे हिन्दी-पत्रकारिता की ओर प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी पत्रों और लेखन द्वारा हिन्दी-सेवा का व्रत स्नातक बनते ही लिया। जिस समय 'सद्धर्मप्रचारक' का कार्यालय कांगड़ी से दिल्ली में स्थानान्तरित हुआ उस समय से 'सद्धर्मप्रचारक' का कार्य वे स्वतन्त्ररूप से करने लगे। पत्रकारिता में उनकी विशेष रुचि थी। उन्होंने 'विजय' नामक समाचारपत्र का भी सम्पादन आरम्भ किया। 'विजय' दिल्ली का प्रथम हिन्दी-समाचार पत्र था। इसके कुछ समय पश्चात् 'वीर अर्जुन' का प्रकाशन आरम्भ हुआ जिसके सम्पादक भी इन्द्र जी थे। हिन्दी में 'वीर अर्जुन' का स्थान बहुत ऊँचा है। इसका श्रेय इन्द्रजी की लेखन-शैली को ही है। पच्चीस वर्ष तक इस पत्र का सम्पादन करने के पश्चत् इन्द्र जी ने 'जनसत्ता' के सम्पादन का कार्यभार सँभाला। इस प्रकार इन्द्र जी का साहित्यिक जीवन पत्रकारिता से आरम्भ हुआ।

एक कुशल पत्रकार होने के साथ-साथ इन्द्रजी एक विचारक और इतिहास के गम्भीर विद्यार्थी भी थे। उन्होंने इतिहास पर जो ग्रन्थ लिखे उनकी गणना इस विषय पर हिन्दी में लिखे गये प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में होती है। 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अन्त', 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' और 'मराठों का इतिहास' उनमें विख्यात हैं। इन्द्रजी की अन्य पुस्तको मे 'आर्यसमाज का इतिहास', 'उपनिषदों की भूमिका', 'स्वतन्त्र भारत की रूप रेखा', 'सम्राट रघु', 'मेरे पिता', 'स्वराज्य और चरित्र-निर्माण', 'जीवन-ज्योति', 'मैं इनका ऋणी हूँ', 'महर्षि दयानन्द', 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति' और 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' हैं। ये सभी ग्रन्थ विचारपूर्ण हैं और इनकी भाषा प्रांजल है। ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विषयों के अतिरिक्त इन्द्रजी ने कतिपय उपन्यास भी लिखे हैं। इनके आरम्भ के उपन्यासों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक रहती थी जैसे 'शाहआलम की आँखें'। किन्तु सामाजिक पृष्ठभूमि को लेकर भी इन्होंने कतिपय उपन्यासों की रचना की है जैसे 'सरला की भाभी', 'जमींदार' और 'अपराधी कौन'।

कथा-साहित्य की दिशा में जो प्रयोग इन्द्र जी ने किये, वे लोकप्रिय भले ही हुए हों, पर पूर्ण सफल नहीं कहे जा सकते। इन्द्र जी भाषा पर पूरा अधिकार रखते थे, किन्तु उनके उपन्यासों के कथानक कहीं-कहीं शिथिल हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की घटनाएँ इस प्रकार छायी हुई हैं कि वे कल्पना को स्थान देने में संकोच करती हैं। पाठक को उपन्यास पढ़ने मे आनन्द आता है किन्तु उसे ऐसा आभास होता है मानो वह कल्पना की सूक्ष्मता के स्थान पर इतिहास का रोचक वर्णन पढ़ रहा हो। 'शाह आलम की आँखें' में इतिहास ने कल्पनावस्तु को गौण बना दिया है। जिसने अंग्रेजी उपन्यास कार थैकरे की रचनाओं को पढ़ा हो, उसे यह दोष और भी अधिक खटकेगा। इतिहास और कल्पना में जो समन्वय थैकरे ने स्थापित किया है, उसका इन्द्र जी की रचनाओं में हमें अभाव मिलता है। वास्तविकता यह है कि इन्द्र जी की विचार और लेखन-शैली पर पत्रकारिता, इतिहास और चालू विषयों का अत्यधिक प्रभाव है। वस्तुस्थिति का निरूपण ही उनकी ग्रन्थ-रचनाओं का आदर्श रहा है। इसलिए कल्पना-जगत् में प्रवेश करके भी इन्द्र जी वहाँ अजनबी रहे।

इन्द्रजी के जीवन के प्राय: चालीस वर्ष धार्मिक हलचलों और राजनीतिक आन्दोलनो मे बीते। इस सरगरमी के बीच उनकी लेखनी को अनुकूल वातावरण मिला और उन्होंने पत्रकार तथा लेखक के रूप में हिन्दी ससार मे प्रवेश किया। अपने सार्वजनिक जीवन मे साहित्य-सर्जन के अतिरिक्त उन्होने हिन्दी प्रचार के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष रूप से कार्य किया। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन तथा उसके प्रान्तीय सम्मेलनो से उनका निकट का सम्बन्ध रहा, किन्तु इन्द्र जी की सबसे बड़ी सेवा उनके द्वारा गुरुकुल कागड़ी का सचालन तथा पथ-प्रदर्शन था। इन्ही के कुलपतिकार्यकाल मे गुरुकुल महाविद्यालय से विश्वविद्यालय मे परिणत हुआ, उसका शिक्षा-क्रम सर्वांगीण हुआ, जिसके फलस्वरूप गुरु-कुल की उपाधियो को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा मान्यता मिली। अनेक दिशाओं मे आधुनिकीकरण और व्यापक परिवर्तन के बावजूद हिन्दी का स्थान गुरुकुल मे वही रहा जो उसकी स्थापना के समय था। तकनीकी विषयों का शिक्षण भी आज गुरुकुल मे हिन्दी के माध्यम से हो रहा है। इसका अधिकांश श्रेय इन्द्र जी को ही है और कदाचित् उन सस्कारो को है जो उन्हे अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द से विरासत मे मिले। अपने पिता के पदचिन्हो पर चलकर इन्द्रजी ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र मे अथक कार्य करके हिन्दी की अमूल्य सेवा की थी।

इन्द्रजी द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची—'नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी' (जीवन-चरित्र) सन् १९१२, 'उपनिषदों की भूमिका' (भारतीय सस्कृति) सन् १९१४, 'प्रिंस बिस्मार्क' (जीवन-चरित्र') सन् १९१४, 'सस्कृत साहित्य का अनुशीलन (साहित्य) सन् १९१६, 'राष्ट्रों की उन्नति, (राजनीति) सन् १९१५, 'राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र' सन् १९१६, 'गौरीबाल्डी' (जीवन-चरित्र) १९१६, 'स्वर्ण देश का उद्धार' (नाटक) सन् १९२१, 'महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र' (जीवन-चरित्र) सन् १९१२७, 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (इतिहास १, २) सन् १९३०, 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (३, ४) सन् १९३१, 'अपराधी कौन' (उपन्यास) १९३२, 'शाहआलम की आँखें' (उपन्यास) सन् १९३२, 'जीवन की झाँकियाँ—दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन' (संस्मरण) सन् १९३५, 'पण्डित जवाहर लाल नेहरू' (जीवन-चरित्र) सन् १९३६, 'जमींदार' (उपन्यास) सन् १९३६, 'सरला की भाभी' (उपन्यास) सन् १९४४, 'जीवन की झाँकियाँ—मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला' (संस्मरण) सन् १९४५, 'स्वतन्त्र भारत की रूप रेखा' (राजनीति) सन् १९४५, 'जीवन संग्राम' (राजनीति) सन् १९४५, 'सरला' (उपन्यास) सन् १९४६, 'जीवन की झाँकियाँ—मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव' (संस्मरण) सन् १९४७; 'आत्मबलिदान' (उपन्यास) सन् १९४८, 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति' (संस्मरण) सन् १९५२; 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण' (सामाजिक) सन् १९५२, 'रघुवंश' (साहित्य) सन् १९५४, 'किरातार्जुनीय' (साहित्य) सन् १९५५, 'ईशोपनिषद् भाष्य' (भारतीय संस्कृति) सन् १९५५, 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त—प्रथम भाग' (इतिहास) सन् १९५६, 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति' सन् १९५६, 'मेरे पिता' (सस्मरण) सन् १९५७, 'भारतीय सस्कृति का प्रवाह' सन् १९५८, 'मै उनका ऋणी हूँ' (सस्मरण) सन् १९५९, 'भारत के स्वाधीनता-सग्राम का इतिहास' सन् १९६१, 'लोकमान्य तिलक' (अप्रकाशित); 'मेरे पत्रकारिता सम्बन्धी अनुभव' (अप्रकाशित); 'आत्मचरित्र' (अप्रकाशित)।

—ज्ञा० द०

इंद्राणी—इन्द्र की पत्नी शची को कहा जाता है किन्तु इसके अतिरिक्त भी इन्द्राणी शब्द से अनेक अर्थो का बोध होता है, यथा, बड़ी इलायची, बाईं आँख की पुतली, दुर्गा देवी, इन्द्रायन आदि।

—रा० कु०

इंदिरा—लक्ष्मी का एक पर्याय। 'सती विधात्री इन्दिरा देखी अमित अनूप' (मा० १।५४)।

—ज० प्र० श्री०

इंदुज—बुध का नामान्तर है। यह तारा के गर्भ से उत्पन्न चन्द्र का औरस पुत्र है। एक बार चन्द्र ने राजसूय यज्ञ करने पर विवेकशून्य होकर वृहस्पति की पत्नी तारा का अपहरण किया था। देवताओ द्वारा यह बताये जाने पर ब्रह्माने स्वयं तारा को ले जाकर वृहस्पति को समर्पित कर दिया था। वृहस्पति ने तारा को गर्भवती देखकर कहा कि वह उनके घर मे रहते हुए उस गर्भ को धारण नही किये रह सकेगी। इस पर तारा ने तुरन्त गर्भस्थ पुत्र को जलस्तंभ पर फेंक दिया था। वह पुत्र जन्म लेने के बाद ही ज्वलंत अग्नि के सदृश चमकने लगा था। पुत्र को देखकर ब्रह्मा ने तारा से पूछा कि वह किसका पुत्र है। तारा ने सविनय बताया कि वह चन्द्र का पुत्र है। इस पर चन्द्र ने उसे अंक में लेकर उसका नाम बुध रखा।

—ज० प्र० श्री०

इंदुमती—ये विदर्भराज भोज की बहिन, राजा अज की पत्नी और महाराज दशरथ की माता थी। पूर्व जन्म में ये 'हारिणी' अप्सरा थी। इन्द्र ने इन्हे 'तृणविन्दु' ऋषि की तपस्या भंग करने के लिए भेजा था। ऋषि ने इन्हें मनुष्य योनि में जन्म पाने का अभिशाप दिया था और इनके अत्यन्त विनय करने पर ऋषि ने इन्हें स्वर्गीय पुष्प का प्रदर्शन करने पर फिर से इन्द्र लोक में वापस हो सकने का वचन प्रदान किया था। एक बार जब ये अज के साथ वाटिका-विहार कर रही थीं, उस समय इन्हें नीद आ गयी। ये लतामंडप में सोई हुई थी। नारद जी, जो उसी समय संयोगवश स्वर्ग से आ रहे थे, वीणा से पारिजात की माला इनके ऊपर गिर पड़ी। फलतः ये दिवंगत होकर पुनः इन्द्रलोक जा सकीं।

—ज० प्र० श्री०

इंशा अल्ला खाँ—हिन्दी-खड़ी बोली-गद्य के उन्नाय कों में इंशा अल्ला खाँ का विशिष्ट स्थान है। इनके पिता मीर माशा अल्ला खाँ कश्मीर से दिल्ली आकर बस गये थे और शाही हकीम के रूप में कार्य करते थे। मुगल सम्राट् की स्थिति चिन्त्य होने पर ये मुर्शिदा बाद के नवाब के यहाँ चले गये। यहीं इंशा का जन्म हुआ। बंगाल की स्थिति बिगड़ने पर इशा को दिल्ली में शाह आलम द्वितीय के आश्रय में आना पड़ा। इंशा बड़े ही खुशमिजाज, हाजिर जवाब और व्युत्पन्न व्यक्ति थे। शाह आलम नाम के ही शाह थे। वे इंशा की शायरी की कद्र करते थे

किन्तु उनको यथोचित पुरस्कार से सन्तुष्ट नहीं कर पाते थे। अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी न होते देख इशा लखनऊ चले आये और शाहजादा मिर्जा सुलेमान की सेवा में नियुक्त हो गये। धीरे-धीरे इनका परिचय वजीर तफज्जुल हुसेन खाँ से हो गया। इन्हीं की सहायता से ये नवाब सहादत अली खाँ के दरबार में पहुँचे। पहले तो नवाब से इनकी खूब पटी किन्तु बाद को इनके एक अभद्र मजाक पर नवाब साहब बिगड़ गये और इन्हें दरबार से अलग होना पड़ा। इनके जीवन के अन्तिम वर्ष कठिनाइयों में व्यतीत हुए। सन् १८१७ ई० में इनकी मृत्यु हो गयी।

इंशा अल्ला खाँ उर्दू-फारसी के बहुत बड़े शायर थे। इन्होंने 'उर्दू गजलों का दीवान', 'दीवान रेख्ती', 'कसायद उर्दू-फारसी', 'फारसी मसनवी', 'दीवाने फारसी', 'मसनवी बेनुक्त', 'मसनवी शिकारनामा', 'दरयाये लताफत' आदि अनेक कृतियाँ उर्दू-फारसी मे प्रस्तुत की हैं। हिन्दी-खड़ी-बोली-गद्य में इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना 'रानी केतकी की कहानी' या 'उदयभान चरित' है। इस कहानी का महत्त्व भाषा, शैली और वर्ण्य वस्तु सभी दृष्टियों से है। स्वयं लेखक के अनुसार इसमें 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट नहीं' है। लेखक ने इसमें मुअल्लापन के साथ ही ब्रजभाषा, अवधी और संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी अलग रखना चाहा है। यह कहानी शुद्ध सांसारिक प्रेम को आधार बनाकर मनोरंजन के लिए लिखी गयी है। इंशा की गद्य-शैली बड़ी ही चटपटी, मनोरंजक और हास्यपूर्ण है। इनकी भाषा मुहावरेदार और चलती हुई है। ठेठ घरेलू शब्दों के प्रयोग के कारण वह बड़ी प्यारी लगती है। इंशा मे सानुप्रास विराम देने की प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने पुरानी उर्दू के अनुकरण पर कृदन्तों और विशेषणों मैं भी बहुवचन सूचक चिन्ह लगाये है। उदाहरण के लिए 'कुंजनियाँ', 'रामजनियाँ' और 'डोमिनियाँ' के साथ वे 'धूमे-मचातियाँ', 'अँगड़ातियाँ' और 'जम्हातियाँ' का प्रयोग करना आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार के प्रयोग, आज, अशोभन लगते हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रारंभिक गद्य-लेखकों में इंशा को महत्त्व की दृष्टि से पहला स्थान दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी भाषा सबसे अधिक चलती हुई और मुहावरेदार है किन्तु उसका झुकाव उर्दू की ओर अधिक है। उसमें हम वर्तमान हिन्दी-गद्य का पूर्वाभास नहीं पाते। जो भी हो, अपनी मनोरंजक वर्णन शैली, चटपटी और लच्छेदार वाक्यावली तथा विशुद्ध हिन्दवी-लेखन के साहसिक प्रयोग के कारण हिन्दी-गद्य साहित्य के इतिहास में इंशा अल्ला खाँ सदैव स्मरणीय रहेंगे।

[सहायक ग्रन्थ—उर्दू साहित्य का इतिहास : रामबाबू सक्सेना; हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।]

—रा० चं० ति०

इक्ष्वाकु, इच्छ्वाकु—१ ये वैवस्वत मनु के पुत्र प्रथम सूर्यवंशी राजा थे। अयोध्या में कोसल राज्य की स्थापना इन्हीं के द्वारा हुई थी। सूरदास ने लिखा है "दस सुत मनु के उपजे और भयौ इच्छवाकु सबनि सिरमौर" (सूर० पद० ४४६)। इनके सौ पुत्र थे जिनमें विकुक्षि ज्येष्ठ थे। निमि और दण्ड इनके दो अन्य प्रसिद्ध पुत्र थे। शकुनि आदि पचास पुत्र उत्तरापथ के और शेष दक्षिणापथ के राजा हुए थे। इनकी उत्पत्ति मनु की छींक से हुई थी अतः इन्हें इश्वाकु कहा गया। राम इन्हीं के वशज थे।

२. सुबन्धु के एक पुत्र काशी नरेश का नाम भी इक्ष्वाकु है। बौद्धों के 'महावस्त्ववदान' नामक संस्कृत ग्रन्थ मे इनकी उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि एक बार सुबन्धु ने स्वप्न में देखा कि उनका शयनागार इक्षुदण्डों से भर गया। निद्रा भंग होने पर स्वप्न सत्य निकला। कालान्तर में इक्षुदण्डों में से एक शेष रहा। सुबन्धु ने दैवज्ञों को बुलाकर कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि इक्षु के मध्य से उनके पुत्र उत्पन्न होगा। हुआ भी वही। इस पुत्र का नाम इक्ष्वाकु हुआ। इनकी प्रधान रानी अलिदा थीं जिनसे 'कुश' नामक बालक का जन्म हुआ था।

—ज० प्र० श्री०

इड़ा—१. ये वैवस्वत मनु की कन्या थीं। इड़ा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण से प्रकाश पड़ता है। मनु ने प्रजासृष्टि करने के लिए पाकयज्ञ का अनुष्ठान किया। जल में घृत, नवनीत, आमिक्षा छोड़ने से एक कन्या उत्पन्न हुई। मित्रावरुण ने पूछा—"तुम कौन हो?" इन्होंने कहा—"मनु-पुत्री"। उन्होने कहा—"तुम हमारी हो"। इड़ा ने कहा—"नही, मैं अपने जन्मदाता की हूँ"। और मित्रावरुण की ओर ध्यान दिये बिना वह मनु के पास चली गई। मनु ने भी इनसे पूछा कि तुम कौन हो। इड़ाने बताया कि मै उनके यज्ञ से उत्पन्न उनकी पुत्री हूँ। मनु ने इनके साथ कठिन यज्ञ का अनुष्ठान किया और अन्ततः प्रजापति बने। इनका विवाह बुद्ध से हुआ था। इनके पुत्र का नाम पुरुरवा था। 'प्रसादजी' ने मनु और इड़ा के आख्यान का सन्निवेश 'कामायनी' में किया है। मनु इड़ा से सारस्वत प्रदेश में मिलते हैं जहाँ कि दोनों का परस्पर परिचय आदि होता है। वह बोली, "मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल" (कामायनी, इड़ा, २२)। मतान्तर से इनका पाणिग्रहण मित्रावरुण ने किया था।

२. मानव शरीर में स्थित एक नाड़ी विशेष को कहते हैं इड़ा—गंगा, पिंगल—यमुना और सुषुम्णा—सरस्वती की प्रतीक मानी गयी हैं। इड़ा नाड़ी पीठ की रीढ़ से बायें नथने तक है। इसका प्रधान देवता चन्द्रमा माना गया है। 'इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज सुता में बसे मुरारी"(सू० पद० ३४४२।८)। नाड़ियों की चर्चा संस्कृत के योग साहित्य तथा हिन्दी के सन्त साहित्य में प्रायः मिलती है।

—ज० प्र० श्री०

इड़ा २— 'प्रसाद' कृत 'कामायनी' की एक पात्र। इड़ा मनु के पाक यज्ञ से उत्पन्न है। श्रद्धा को छोड़ देने के अनन्तर मनु सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं, जहाँ की अधिष्ठात्री इड़ा है। इड़ा के साथ मिलकर वे एक नयी वैज्ञानिक सभ्यता को जन्म देते हैं। पर इड़ा के ऊपर निर्वाधित अधिकार चाहने की लालसा के कारण उनके ऊपर शिव का कोप होता है, क्योंकि इड़ा स्वयं मनु की दुहिता है। बाद में मनु को खोज लेने पर श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा के संरक्षण में छोड़कर मनु के साथ चली जाती है।

इड़ा का उल्लेख और कथा शतपथ ब्राह्मण में है, जिसके आधार पर 'प्रसाद' ने अपने पात्र का निर्माण किया है। इड़ा का प्रमुखतः चित्रण 'इड़ा' सर्ग में है, जो 'कामायनी' के श्रेष्ठतम

अंशो में से एक है। बुद्धि के प्रतीक रूप में चित्रित इड़ा मनु को सहज ही आकर्षित कर लेती है, पर श्रद्धा के बिना उसका वैभव अपूर्ण और जड़ है। इसीलिए बुद्धिपथ और हृदयपक्षका समन्वय प्रतिपादित करने के लिए प्रसाद श्रद्धा द्वारा उत्पन्न मानव को इडा के सरक्षण मे छोड देते है।

—स०

इरावती १—प्रसाद का अपूर्ण उपन्यास जिसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद १९४० ई० मे हुआ। पूर्ववर्ती दो उपन्यासों में प्रसाद ने वर्तमान समाज को अंकित किया है पर 'इरावती' में वे पुनः अतीत की ओर लौट गये है। इस अधूरे उपन्यास की कथा सामग्री इतिहास से ग्रहण की गयी है। बौद्ध धर्म किसी समय भारत का प्रमुख नियामक धर्म रहा है। उसकी करुणा और दया ने राष्ट्र के प्रमुख सम्राटों को प्रभावित किया। तथागत की वाणी घर-घर में गूँजी। लंका, चीन, ब्रह्मा आदि अनेक पड़ोसी देश भी उससे प्रभावित हुए और बौद्ध धर्म दूर-दूर स्थानों पर अपना मानवीय सन्देश प्रचारित करने मे समर्थ हुआ पर सम्राट् अशोक के समाप्त होते ही जैसे इस महान् धर्म को पाला मार गया। 'इरावती' की मुख्य भूमिका एक महाधर्म की पतनोन्मुख अवस्था मे सम्बन्धित है। अमात्यकुमार वृहस्पति मित्र अपनी हिसात्मक प्रवृत्ति का प्रकाशन 'इरावती' में स्थल-स्थल पर करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह अहिसा का एक विपर्यय बनकर आया है। मौर्य साम्राज्य का यह प्रतिनिधि प्रियदर्शी अशोक की तुलना में उसका विरोधी प्रतीत होता है। इसी प्रकार बदले हुए वातावरण का सकेत करते हुए एक स्थान पर 'इरावती' में प्रसाद ने एक पात्र से कहलाया है, "धर्म के नाम पर शील का पतन, काम सुखों की उत्तेजना और विलासिता का प्रचार तुम को भी बुरा नहीं लगता न! स्वर्गीय देवप्रिय सम्राट् अशोक का धर्मानुशासन एक स्वप्न नहीं था। सम्राट् उस धर्म-विजय को सजीव रखना चाहते थे किन्तु वह शासकों की कृपा से चलने पावे तब तो! तुम्हारी छाया के नीचे ये व्यभिचार के अड्डे, चरित्र के हत्यागृह और पाखण्ड के उद्गम स्थल हैं.....।" देवमन्दिरों में विलासिता का वातावरण धर्म की पतनावस्था को घोषित करता है। मन्दिरों के प्रांगण मे नर्तकियों का गायन इसका प्रमाण है।

इस अधूरे उपन्यास का गौरव एक ओर यदि इतिहास के माध्यम से सांस्कृतिक पतन के चित्रण में है तो दूसरी ओर उसके परिपुष्ट शिल्प में निहित है। बौद्ध युग के वातावरण को सजीव रूप में अंकित करने का सामर्थ्य प्रसाद की भाषा में है। इतिहास युग के अनुरूप सामग्री का संचयन 'इरावती' में हुआ है, यथा—"एक साथ तूर्य्य, शंख, पटह की मन्दध्वनि से वह प्रदेश गूँज उठा! स्वर्ण-कपाट के दोनों ओर खड़े कवचधारी प्रहरियों ने स्वयनिर्मित राजचिन्ह को ऊपर उठा लिया.....।" इससे यह स्पष्ट है कि प्रसाद ने उस युग का विस्तृत अध्ययन किया था। काव्यमयी भाषा 'इरावती' में सर्वत्र सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक वातावरण को जागृत रखती है। उपन्यास का आरम्भ ही कितना काव्यमय है—"उसकी आँखें आशाविहीन संध्या और उल्लासविहीन उषा की तरह काली और रतनारी थीं। कभी-कभी उनमें विदाह का भ्रम होता, वे जल उठतीं; परन्तु फिर जैसे बुझ जातीं। वह न वेदना थी न प्रसन्नता....।" इरावती के लिए प्रसाद ने कुछ सकेतपत्र तैयार किये थे जिनसे यह ज्ञात होता है कि मानवता के भावात्मक विकास की एक रूप रेखा 'इरावती' के निर्माण के समय उनके समक्ष थी।

—प्रे० शं०

इराबती २—प्रसाद के अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' की पात्र, एक अनाथ युवती, जो जीविका के लिए महाकाल के मन्दिर मे नर्तकी के रूप में रहती है। अग्निमित्र से उसका पुराना परिचय है। उसे अकेले छोड़ जाने के कारण ही वह अग्निमित्र के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करती है। अपनी कला को स्वावलम्बन का साधन बना लेती है। इरावती बिहार के नियम-संयम और भिक्षुणी के बन्दिनी जीवन के प्रति क्षुब्ध रहने पर भी अपनी भावनाओं को स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं दे पाती। इरावती अपनी आकांक्षाओ पर बाह्य, झूठा नियन्त्रण रखना चाहती है। भिक्षुणी के प्रश्न करने पर कि क्या शील और संयम की कहीं सीमा भी है वह अपनी आंतरिक अभिलाषा को दबाकर उत्तर देती है—"काम-गुणों से बचकर मन को आकांक्षा की लहरों से दूर ले जाना होगा।" इरावती की प्रमुख विशेषता या दुर्बलता यही है कि वह हठात् अपने ऊपर विवशता के बोझ को लादना चाहती है—सम्पूर्ण उपन्यासमें उसके क्रियाकलाप विवशता से प्रेरित जान पड़ते हैं; महाकाल के मन्दिर में अग्निमित्र द्वारा विरोध प्रस्तुत करने पर भी बिहार में चले जाने का निर्णय करने से लेकर वृहस्पति मित्र के प्रणय-प्रस्ताव को अस्वीकृत करने तक सभी में एक बेबसी या लाचारी ही उसके व्यक्तित्व में झलक पाती है। इरावती आद्यन्त निराशा से घिरी रहती है, और स्यात् इसी कारण अपनी इच्छाओं के प्रतिकूल भी परिस्थितियों से समझौता कर लेती है। प्रेमिका के रूप में भी वह किसी आदर्श की सृष्टि नहीं कर पाती। अग्निमित्र के प्रेम का वह प्रत्युत्तर नही देती। अग्निमित्र की सहायता या प्रेम को यह जान-बूझकर ठुकरा देती है। उसके चरित्र के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है मानों वह अग्निमित्र से स्वयं ही दूर हटना चाहती है।

—शं० ना० च०

इला—श्रद्धा इनकी माता और वैवस्वत मनु इनके पिता थे। इनके जन्म के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मनु ने पुत्रोत्पत्ति की कामना से यज्ञ किया था किन्तु श्रद्धा कन्या का जन्म चाहती थीं। कन्या होने के लिए वे नियमपूर्वक दूध पीकर रहती थीं और होता से प्रार्थना करवाती थीं। इस प्रकार जो सन्तान उत्पन्न हुई, वह इला थीं। विष्णु के वरदान से ये पुरुष होकर सुद्युम्न कहलाने लगी थीं। एक बार शिव के द्वारा अभिशप्त वन-प्रदेश में प्रवेश करने के कारण पुनः नारी हो गयीं। मनु ने अपने इस दुःख को वशिष्ठ से कहा। वशिष्ठ ने आदि पुरुष शिव की आराधना कर इनके एक माह पुरुष और एक माह स्त्री होकर रहने का वरदान प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार ये सुद्युम्न और इला दोनो रूपों में प्रसिद्ध हैं (दे० 'सुद्युम्न'; 'इड़ा')।

—ज० प्र० श्री

इलावृत्त—एक वन है जो मेरु पर्वत के बीच में है। इसे शिव का निवास स्थान कहा जाता है। —ज० प्र० श्री०

इलाचंद्र जोशी—जन्म १३ दिसम्बर १९०३ ई० में अल्मोड़ा में एक प्रतिष्ठित मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। अल्मोड़ा जैसे

प्राकृतिक रमणीय स्थान ने इनके व्यक्तित्व पर असर डाला है। इनका जीवन-दर्शन अन्तर्जीवन, अन्तर्दृष्टि एवं अन्तर्द्वन्द्व के अडिग स्तम्भों पर आरुढ़ है। इनको किशोरकाल में ही संसार के श्रेष्ठतम साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन का जो अवसर मिला वह सबको सुलभ नहीं। हाईस्कूल-जीवन में ही ये रामायण, महाभारत, कालिदास की रचनाएँ, शेली और कीट्स की कविताएँ, टालस्टाय, दोस्ताएव्सकी और चेखब की रचनाओ का रसास्वादन कर चुके थे। इन्होंने बँगला-अंग्रेजी कोश के सहारे बँगला भाषा और साहित्य का अध्ययन किया था। उसी समय स्वयं एक हस्तलिखित पत्रिका का सम्पादन भी करने लगे थे। संचित ओज की अधिकता के कारण इनका मन पाठ्य पुस्तकों से ऊबने लगा था। मैट्रिक पास किया नहीं कि घर से भाग निकले। उन दिनों कलकत्ता का पुस्तकालय देश भर में वरेण्य माना जाता था। ये किसी तरह कलकत्ता पहुँच गये। वहाँ इन्हें 'कलकत्ता समाचार' नामक दैनिक पत्र मे कुछ काम मिल गया।

सन् १९२१ में शरत् बाबू से इनकी भेंट हुई। इनकी उस समय की रचनाओं में अन्तर्निहित प्रज्ञा और वाद-विवाद में प्रस्फुटित विचारावली से शरत् बाबू बहुत प्रभावित हुए। ये सन् १९३६ तक बराबर इधर-उधर घूमते रहे। प्रयाग आते ही इन्हें 'चाँद' मे सहयोगी सम्पादक की जगह मिल गयी। सम्पादन के साथ इनकी पढ़ाई-लिखाई भी चलती रही। उन दिनों ये न केवल हिन्दी मे वरन् बँगला तथा अँग्रेजी में भी लिखते थे। सन् १९२९ में इन्होंने 'सुधा' का सम्पादन करना शुरू किया, पर सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण ये वहाँ अधिक दिन तक न टिक सके। इस वर्ष इनका पहला उपन्यास जो सन् १९२७ में लिखा गया था, प्रकाशित हुआ। सन् १९३० में पुनः कलकत्ते जाकर इन्होंने बड़े भाई के साथ 'विश्ववाणी' पत्रिका निकाली, जो आर्थिक कठिनाइयों के कारण बन्द हो गयी थी। सन् १९३१ में इन्होंने साप्ताहिक 'विश्वमित्र' के सम्पादन का भार सँभाला। सन् ३६ सम्भवतः इनके जीवन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्ष था। इसी वर्ष 'विजनवती' छपवाने के लिए प्रयाग पधारे। यहाँ 'सम्मेलन पत्रिका' तथा 'भारत' में काम करते हुए साहित्य का सृजन अबाध-रूप से करते रहे। 'संगम' का सम्पादन आधुनिक पत्रकारिता का चरम उदाहरण माना जाता है। 'धर्मयुग' का सम्पादन-प्रकाशन करने भी ये गये, पर साल भर बाद ही वापस आ गये। प्रयाग के साहित्यकार संसदके मुख पत्र 'साहित्यकार' का सम्पादन ये कर ही रहे थे कि इनको अखिल भारतीय आकाशवाणी में काम करने का निमन्त्रण मिला। इनकी साहित्यिक सृष्टि व्यापक और सारगर्भित है। इन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, काव्य और समालोचना आदि का बड़ी कुशलता से सृजन किया है। पत्रकारिता के प्रति इनकी रुचि और सूझ-बूझ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में मनस्तत्व के आधार पर अपने उपन्यासों में व्यक्तिमानव की प्रतिष्ठा करने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार इलाचन्द जोशी हैं। इनकी कहानियों और उपन्यासों के कथानकों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. विशुद्ध व्यक्तिवादी, २, सामाजिक, ३. मिश्रित। प्रथम रूप के दर्शन इनके प्रथम पांच उपन्यासों 'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी, 'प्रेत और छाया', तथा 'निर्वासित' में होते है। इन उपन्यासों के सभी पात्र और इनमें घटित सभी घटनाएँ किसी न किसी मनोवैज्ञानिक सत्य की आत्मा का उद्घाटन करते हैं।

सामाजिक उपन्यास—'मुक्ति-पथ' और 'सुबह के भूले' का कथानक वर्णनात्मक होते हुए भी अन्तर्मन की झाँकियों से अछूता नहीं है। 'जिप्सी', और 'जहाज का पछी' मिश्रित कथानकों से अनुबन्धित है।

आत्म-विश्लेषण प्रणाली में 'सन्यासी' और सामाजिक प्रभाव प्रणाली में 'जहाज का पंछी' इलाचन्द्र जोशी के दो श्रेष्ठतम उपन्यास कहे जा सकते हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं—उपन्यास : १. 'घृणामयी' (१९२९), २.'सन्यासी' (१९४०), ३.पर्दे की रानी' (१९४२), ४. 'प्रेत और छाया' (१९४४), ५. 'निर्वासित' (१९४६), ६. 'मुक्तिपथ' (१९४८), ७. 'सूबह के भूले' (१९५१), ८. 'जिप्सी' (१९५२), ९. 'जहाज का पंछी' (१९५४), कहानी : १. 'धूपरेखा' (१९३८), २. 'दीवाली और होली' (१९४२), ३. 'रोमांटिक छाया' (१९४३), ४. 'आहुति' (१९४५), ५. 'खँडहर की आत्माएँ (१९४८), ६. 'डायरी के नीरस पृष्ठ' (१९५१), ७. 'कटीले फूल लजीले काँटे' (१९५७)।

समालोचना तथा निबंध . १. 'साहित्य सर्जना' (१९३८), २. 'पिवेचना' (१९४३); ३. 'विश्लेषण' (१९५३), ४. 'साहित्य चितन' (१९५४), ५. 'शरत्-व्यक्ति और कलाकार' (१९५४), ६. 'रवीन्द्रनाथ' (१९५५), ७. 'देखा-परखा' (१९५७)। विविध : १. 'दैनिक जीवन और मनोविज्ञान' (१९३८) २. 'ऐतिहासिक कथाएँ' (१९४२), ३. 'उपनिषदों की कथाएँ (१९४३), ४. 'गोर्कीके संस्मरण' (१९४३), ५. 'इक्कीस विदेशी उपन्याससार' (१९४४), ६. 'महापुरुषों की प्रेम कथाएँ' (१९५४), ७. 'सूदखोर की पत्नी' (१९५४) तथा दोस्ता एव्सकी की दो कहानियों का अनुवाद।

—गं० प्र० पा०

इल्वल—एक दैत्य था। वह सिंहिका के गर्भ से उत्पन्न विप्रचित्ति का औरस पुत्र था। इसका एक अन्य नाम सिंहिकेय भी था। इसके भाइयों का नाम व्यंश्य, शल्य, नभ वातापि, नमुचि, खसुम, आंजिक, नरक, कालनाभ और राहु आदि थे। यह मणिमतीपुर का निवासी था। इसके कनिष्ठ भाई वातापि ने किसी तपस्वी ब्राह्मण से इन्द्र के समान पुत्र पाने का वर माँगा था और वर न मिलने पर इल्वल और वातापि दोनों इस पर क्रुद्ध हो गये। इल्वल ने ब्रह्महत्याका संकल्प कर लिया। यह अपने मायाबल से मृत व्यक्ति को सशरीर यम के लोक से बुलाने की शक्ति रखता था। इस युक्ति को जानने के कारण यह वातापि को भेड़ बनाकर ब्राह्मण के सामने लाता और उसका मांस बना कर ब्राह्मण का पेट फाड़कर निकल आता। इस प्रकार ब्राह्मण मर जाता था। एक दिन अगस्त्य कुछ मुनियों के साथ इसके घर पर आये। इसने सब का सत्कार किया और वातापिका मांस बनाया। ऋषि लोग यह सब विचित्र क्रियाकलाप देखकर चकराये। किन्तु अगस्त्य ने अविचलित भाव से कहा, 'कोई भय की बात नहीं, मैं यह मांस खाऊँगा। आप लोग प्रतीक्षा कीजिये।' जब अगस्त्य मांसाहार कर चुके तो इसने वातापिको पुकारना प्रारम्भ किया। अगस्त्य इस बीच

उस मांस को खाकर पचा भी चुके थे। उन्होने इल्वल से कहा, आपका वातपि अब कहाँ रहा। उसे तो मैंने पचा डाला। मायावी इल्वल ने अगस्त्य को धमकी देना चाहा किन्तु वह भी अगस्त्य के नेत्र से निर्गत अग्नि द्वारा भस्म हो गया।

—ज० प्र० श्री०

ईशान—शिव अथवा रुद्र का नाम ईशान भी है। ये उत्तर-पूर्व दिशा के स्वामी के रूप मे माने गये हैं।
"नमामीशमीशान निर्वाणरूपं" (मा० ७।१०८। श्लोक १)।

—ज० प्र० श्री०

ईश्वरीप्रसाद शर्मा— द्विवेदी-युग में ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने अपने बँगला उपन्यास के अनुवादो और हास्य-रस की कविताओं के लिए बड़ी ख्याति पायी थी। आपने बंकिम चन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्दमठ' का बड़ा ही सजीव अनुवाद किया था। आप कवि, अनुवादक, उपन्यासकार, नाटककार, कहानीकार, इतिहासलेखक और कोशकार सभी कुछ हैं। 'हिरण्यमयी' (१९०८ ई०), 'कोकिला' (१९०८ ई०), 'स्वर्णमयी' (१९१०), 'मागधी कुसुम' (१९१० ई०), 'नलिनी बाबू' (१९११ ई०), 'चन्द्रकला', 'नवाब नन्दिनी', 'चन्द्रधर' (१९१८ ई०), 'गल्पमाला' (१९१२ ई०), 'अन्योक्ति तरंगिणी' (१९२० ई०), 'मातृवदना' (१९२० ई०), 'सौरभ' (१९२१ ई०), 'महन्त रासायण', 'सूर्योदय' (१९२५ ई०), 'चना-चबेना' (१९२५ ई०), 'रंगीली दुनिया' (१९२६ ई०), 'हिन्दी-बँगला कोष' (१९१५ ई०), 'सन् सत्तावन का गदर' (१९२४ ई०) आदि आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ है। आप कलकत्ता से निकलने वाले 'हिन्दू पत्र' के सम्पादक थे। आपका व्यक्तित्व बहुस्तरीय है। इसलिए आपकी भाषा-शैली के कई रूप लक्षित होते हैं। बँगला अनुवादों मे आपने तत्सम प्रधान स्निग्ध कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया है। स्वतन्त्र गद्य कृतियों में आपने अँग्रेजी के प्रचलित और ठेठ बोल-चाल के अप्रचलित शब्दों के मेल से निर्मित खड़खड़ाती हुई भाषा का प्रयोग किया है। आपकी सबसे बडी देन अनुवादों के रूप में ही है और एक उच्चकोटि के अनुवाद के रूप में आप सदैव स्मरणीय रहेंगे। आपने बँगला के प्रसिद्ध उपन्यास 'इन्दुमती' का अनुवाद भी किया था जो सन् १९२०-२१ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था।

ईसा—ईसाइयों के धर्मग्रंथ बाइबिल की इंजील के अनुसार उनका जन्म बेथलेहेम में हुआ था। मैथ्यू का कथन है कि उनकी माता के वाग्दत्त यूसुफ को ज्ञात हुआ कि मेरी विवाहित होने के पूर्व से ही गर्भिणी है। अतः उन्होंने मेरी को छोड़कर रहने का निश्चय किया। एक दिन उन्होंने निद्रावस्था में स्वप्न देखा जिसमें एक देवदूत ने उनसे कहा कि मेरी के गर्भ में भ्रूण रूप में विद्यमान शिशु को पवित्रात्मा समझो और जब तक यह उत्पन्न न हो, तब तक यह संवाद छिपाये रहो, मेरी को पत्नी रूप में स्वीकार करो तथा शिशु का नाम ईसा रखो। स्वेच्छाचारी राजा हिरोद को इनके जन्म के समय अलौकिक घटनाओं को देखकर अत्यन्त विस्मय और साथ ही इनसे अपने जीवन को संकट का आभास मिला। फलतः उसने बेथेलहम और निकटवर्ती स्थानों के दो वर्ष तक के शिशुओं को मार डालने का आदेश दिया। इस अवसर पर यूसूफ को एक देवदूत ने स्वप्न देकर ईसा को साथ लेकर मिस्र राज्य मे चले जाने का निर्देश दिया। लूक के मतानुसार मेरी और यूसूफ बालक को लेकर जेरूसलम गये तथा वहाँ से नजरेथ गये। ईसा अपूर्व प्रतिभासम्पन्न थे। इनके जीवनकाल मे सम्बद्ध अनेकानेक अलौकिक तथा आश्चर्य पूर्ण कथाएँ प्रचलित हैं। इन्हें अपने धर्म के प्रचार के लिए आजीवन आपत्ति उठानी पड़ी और अन्ततः इसी कारण इन्हे क्रूसपर चढ़ाया गया। इन्हे मृत्यु के उपरान्त विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। ईसाई धर्म का प्रवर्तन करने वाले ये पहुँचे हुए साधु थे। ईसाई धर्मानुयायी इन्हे जगत् का त्राणकर्ता, ईश्वर का पुत्र और त्रित्व (पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा) का एकाग मानकर पूजते है (दे० 'महात्मा ईसा' . पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र')।

—ज० प्र० श्री०

उक्ति रत्नाकर—साधुसुन्दर गणी-कृत उक्तिरत्नाकर (राजस्थान पुरातन ग्रन्थ माला, जयपुर १९५७ ई०) मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित सत्रहवीं शती की रचना है। यह मनोरंजक औक्तिक ग्रन्थ है। लोकभाषा मे प्रचलित शब्दरूपों को संस्कृत रूपों की सहायता से समझाया गया है। प्रारम्भ में कारको का विवेचन संस्कृत में है। उसके पश्चात् लगभग २४०० बोलियों मे प्रचलित शब्दों का संकलन है और उनके संस्कृत पर्याय दिये गये है। अनेक शब्द प्राचीन हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त मिलते हैं। भाषा और साहित्य की दृष्टि से ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। संग्रहकर्ता ने इन शब्दों को 'देशी शब्द' कहा है अर्थात् देश में प्रचलित शब्द। उदाहरणतः छावडउ (सन्देशरासक में प्रयुक्त हुआ है)—शावकः; बतचीत—वार्ताचिन्ता; पणीहारि—पानीयहारिका; जुआ जुआ—पृथक्—पृथक्; पोटली—पोट्टलिकाः; नाहर—नाखर; रसोई—रसवती। क्रिया पदो की सूची अलग है। मनावइ—मानयति, चोपउई—म्रक्षयति।

—रा०तो०

उग्र १—१. धृतराष्ट्र का पुत्र था। इसका वध भीम ने महाभारत के युद्ध में किया था।

२. एक राक्षस था। इसके पुत्र का नाम वज्रहा था।

—ज० प्र० श्री०

उग्र २—दे० पाण्डेय बेचनशर्मा 'उग्र'।

उग्रकर्मा—महाभारतकालीन एक साल्व राजा था। इसका संहार भीम ने किया था।

—ज० प्र० श्री०

उग्रचंडी—यह दुर्गादेवी का एक अन्य नाम है। आश्विन महीने की कृष्ण पक्ष की नवमी को विशेषतया शाक्तलोग इनका पूजन करते हैं। इनके हाथों की संख्या १८ मानी जाती है। दक्ष ने अपने यज्ञ में शिव और उमा को बलि नहीं दी थी। इसी अपमान का प्रतिकार करने के लिए इन्होंने उग्रचण्डी बनकर पिता के यज्ञ का विध्वंस किया था।

—ज० प्र० श्री०

उग्रतप—ये एक पहुंचे हुए प्राचीन ऋषि थे। इन्होंने कृष्ण के उस स्वरूप की आराधना की थी जिसमें कृष्ण गोपिकाओं के साथ विहार करने में रत रहते थे। परिणामस्वरूप इनका जन्म कृष्णवतार के समय में गोकुलवासी गोप सुनन्द की पुत्री के रूप में हुआ था। एक गोपिका के रूप में इन्होंने कृष्ण की

अनन्यभाव से सेवा की थी।

—ज० प्र० श्री०

उग्रतारा—यह देवी भगवती का अन्य नाम है। इनकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है—एक बार शुम्भ और निशुम्भ राक्षस देवताओं के यज्ञ का अंश चुराकर दिक्पाल बन बैठे थे। इनके अत्याचारो से त्रस्त होकर देवता हिमालय पर मातंग ऋषि के आश्रम पर एकत्र हुए। देवताओं ने महामाया भगवती का स्तवन किया जिससे प्रसन्न होकर ये मातंग मुनि की पत्नी के रूप में अवतरित हुई। देवी के वपु से एक दिव्य तेज उत्पन्न हुआ जिससे कि शुम्भ—निशुम्भ राक्षसों का वध सम्भव हुआ। उग्रतारा चतुर्भुजा (खड्ग, चामर, करपालिका और खर्पर युक्त), कृष्ण वर्णा, मुण्डमालधारिणी थीं। इनका बायाँ पैर शव—वक्ष पर तथा दायाँ सिंह की पीठ पर था। इन्हे मातंगी भी कहा गया है (दे० 'ध्रुवस्वामिनी' : जयशंकर प्रसाद)।

—ज० प्र० श्री०

उग्रसेन—उग्रसेन मथुरा के अत्याचारी शासक कंस के पिता थे। इनके पिता का नाम साहुक और माता का नाम काश्या था। ये मथुरा के यदुवंशी राजा थे। उग्रसेन के नौ पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं। कंस इनमे ज्येष्ठ था। वयस्क होने पर कंस ने उग्रसेन को कारागृह में डालकर मथुरा का शासन अपने हाथों में ले लिया। कृष्ण ने कंस को मारकर उग्रसेन को कारागार से मुक्तकर उन्हें पुनः राजसिंहासन पर बिठाया।

कृष्ण—काव्य में उग्रसेन की उपर्युक्त कथा ही प्रयुक्त हुई है किन्तु इसके अतिरिक्त परीक्षित के पुत्र, जनमेजय के भाई और धृतराष्ट्र के पुत्र के रूप में भी उनके नाम का उल्लेख मिलता है। कृष्ण—भक्त कवियों ने उनमें प्रकारान्तर से कृष्ण के कृपाभाजन भक्त के व्यक्तिव की प्रतिष्ठा की है। कृष्ण—कथा के गीतिप्रबन्धों और भागवत के भाषानुवादों को छोड़कर उग्रसेन का चरित्र सर्वत्र उपेक्षित रहा है। आधुनिक युग में 'कृष्णायन' तथा 'द्वापर' में उसे स्थान मिला है। 'द्वापर' के उग्रसेन राज्यच्युत दीन राजा, पुत्र प्रपीड़ित, प्रबुद्ध एव सरल—स्वभाववाले तथा मानवतावादी आदर्शों के समर्थक के रूप में चित्रित हुए हैं। उनके स्वर मे आसुरी सत्ता से प्रपीडित प्रबुद्ध जनता का स्वर है।

—रा० कु०

उग्रहय—जिस समय श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किया था उस समय यह लक्ष्मण के साथ यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए गया था।

—ज० प्र० श्री

उच्चैः श्रवस्, उच्चैः श्रवा—समुद्र-मन्थन से जो चौदह रत्न निकले थे, उनमें से यह भी एक था। कीर्ति और श्रुति के सर्वत्र फैलने के कारण इसका नाम उच्चैः श्रवा रखा गया था। यह इन्द्र को प्राप्त हुआ था। इसके सात मुँह थे। इसके कान खड़े थे। "निकसे सबै कुँवर असवारी उच्चैः श्रवा के पीर" (सूर० पद ३०६)।

उजियारे कवि—ये वृन्दावननिवासी नवलशाह के पुत्र थे। इन्होंने हाथ-रस के जुगलकिशोर दीवान के आश्रय में 'जुगलरस-प्रकाश' तथा जयपुर के दौलतराम के लिए 'रसचन्द्रिका' नामक रस-ग्रन्थों की रचना की है। वस्तुतः ये दोनों एक ही ग्रन्थ हैं, दोनों में लक्षण-उदाहरण हैं। आश्रयदाताओं के नाम पर ग्रन्थ के नाम हो गये हैं। दोनो में प्रथम रचना 'जुगल-रस-प्रकाश' ही है, जिसकी रचनातिथि सन् १७८० ई० (सं० १८३७) दी हुई है, 'रसचन्द्रिका' की प्रति मे तिथिवाला अंश खण्डित है। दोनो की हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के याज्ञिक संग्रहालय में प्राप्त है। कवि ने 'जुगल-रस-प्रकाश' का आधार भरत का 'नाट्यशास्त्र' स्वीकार किया है। 'रसचन्द्रिका' में प्रश्नोत्तरी शैली का प्रयोग किया गया है। यह १६ प्रकाशों में विभक्त है, जिनमें विभाव, अनुभाव, संचारी और रसों का अन्य रस सम्बन्धी ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विस्तार है। कभी-कभी 'रस नौ क्यों है, अधिक क्यों हैं, अधिक क्यो नहीं हैं?' ऐसे प्रश्नों के माध्यम से कवि गम्भीर विषयों को भी उठाता है। यद्यपि मौलिकता का अभाव है फिर भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें प्रत्येक रस को एक-एक प्रकाश में समुचित विस्तार से विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है। 'जुगल रस-प्रकाश' केवल बारह प्रकरणो मे समाप्त हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ— हि० सा० बृ० इ० (भाग ६)।]

—सं०

उजियारे लाल—लगता है कि उजियारे कवि से भिन्न कवि हैं। खोज रिपोर्ट से कवि के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात होता है कि उसने 'गंगालहरी' नामक एक रचना की थी। इसके अतिरिक्त उसके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। इसके अनुसार 'गंगालहरी' की एक हस्तलिखित प्रति मथुरा में रमनलाल हरिचन्द्र जौहरी के यहाँ देखी गयी थी। रचना में कुल १६५ कवित्त और सवैये है। कवि ने परिपाटी बद्ध पद्धति पर ही गगा का स्तवन किया है। वर्णन में न तो कोई नवीनता है और न कोई निखार ही। कवि में चमत्कार और अलंकार प्रदर्शन के प्रति मोह है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० रि० (संख्या १०; सन् १९१७-१८); मि० वि०]।

— रा० त्रि०

उत्तंक, उतंक १—१. मतंग ऋषि के शिष्य थे। ये ईश्वर के परम भक्त थे। मतंग ने आज्ञा दी थी कि ये त्रेतायुग में जब तक राम के दर्शन न हो जायें, तब तक तप करें। तदनुसार ये दण्डकारण्य में अनवरत तपस्या में लगे रहे। फलतः दण्डकारण्य मे ही इन्हें भगवान् रामका दर्शन हुआ था।

२. वेदमुनि के एक शिष्य का नाम उत्तंक था। ये जितेन्द्रिय, धर्मपरायण और गुरुभक्त थे। एक बार गुरु प्रवासपर गये थे। वेद पत्नी ने अवसर पाकर इनसे अपनी कामेच्छा प्रकट की, जिसे इन्होंने अस्वीकार कर दिया। गुरु ने वापस आने पर इनके चारित्रिक दृढ़ता की बात जानकर मनोकामना पूर्ति का आर्शीवाद दिया। जब इन्होंने गुरु-दक्षिणा देने का प्रस्ताव किया तो गुरु-पत्नी ने पोष्यराज की पत्नी के कुण्डलों की याचना की। इन्होंने पोष्यराज के पास जाकर कुण्डलोंकी याचनाकी। पोष्यराजने कुण्डल देते हुए तक्षक के प्रति सजग रहने को कहा क्योंकि वह इन कुण्डलों को प्राप्त करना चाहता था। कुण्डलों को लेकर आते समय उतंग का क्षपणकके छद्मवेश में तक्षक ने पीछा किया और जब ये कुण्डलों को पृथ्वी पर रखकर सरोवर में स्नान-तर्पणादि के लिए गये, तो तक्षक उन्हें लेकर नाग लोक चला गया। कुण्डलोंके चोरी चले जाने पर इन्हें पोष्यराज की बात याद

आयी। इन्होंने अत्यन्त कठिनाई से इन्द्रलोक जाकर वज्र प्राप्त किया और उसके सहारे नागलोक जाकर, वहाँ से कुण्डलों को प्राप्त किया। इस प्रकार इन्होंने गुरु-दक्षिणा में गुरु-पत्नी को कुण्डल प्रदान किये। गुरुसे विदा लेकर ये जनमेजय के पास गये थे तथा तक्षक को मारने की प्रेरणा देकर इन्होने उनसे सर्पयज्ञ कराया था।

३. गौतम मुनि के एक शिष्य भी उत्तंग नाम के थे। ये गुरु के परम भक्त थे। इन्होंने गुरु-पत्नी अहल्या को गुरु-दक्षिणा में राजपत्नी के कुण्डल प्रदान किये थे। गौतम ने इनके साथ अपनी कन्या का विवाह किया था। गुरुके प्रेममें तन्मय होकर ये अपना गृह-धर्म भूल गये थे। एक बार ये वन से लकड़ी लाने में थक गये अतः आश्रम मे पहुँचकर इन्होंने लकड़ियाँ फेंकना प्रारम्भ किया। इस प्रक्रिया में इनके कुछ बाल टूटकर गिर पड़े। अपने सफेद बाल देखकर इन्हें वयोवृद्ध होने का आभास हुआ और ये रोने लगे। इनके रुदन का कारण जानकर गुरु ने इन्हें अपने घर जाने की आज्ञा प्रदान की थी।

—ज० प्र० श्री०

उत्तंक २—प्रसादकृत नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' का पात्र। वेद का प्रिय शिष्य ब्रह्मचारी उत्तंक चरित्रवान, संयमी, विनम्र, दृढ़प्रतिज्ञ और कर्त्तव्यशील नवयुवक है। मेधावी छात्र के रूप में वह अपने सहपाठियों की अपेक्षा 'दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ' शीघ्र समझ जाता है। गुरुपत्नी दामिनी उसके प्रति आकर्षित होती है और अनेक प्रकार की श्रृंगारिक बातों से उसे लुभाती है किन्तु वह आत्म-संयम का सदा ध्यान रखता है। गुरु-पत्नी के प्रति उत्तंक का अनुराग पूर्ण सात्त्विक है, वासनाजन्य नहीं। वह गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु-पत्नी की आज्ञानुसार उनके लिए मणि-कुण्डल लाने में प्राणो की परवाह न करते हुए अपनी अनुपम निर्भीकता का परिचय देता है। छात्र-जीवन समाप्त कर जब वह सांसारिक जीवन में प्रवेश करता है तो समाज की सुव्यवस्था एवं सुरक्षा के लिए बर्बर नागजाति का दमन कल्याणकारी समझता है। नागयज्ञ की प्रेरणा जनमेजय में उसी के द्वारा प्रादुर्भूत होती है। कर्त्तव्य की दृढ़ता एवं ध्रुव इच्छा-शक्ति ये गुण उसके चरित्र के मूलाधार हैं। ब्राह्मणों द्वारा हिंसामूलक नागयज्ञ का विरोध किये जाने पर भी वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं होता। इस प्रकार का कार्य वह लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर करवाता है। उसके कथनानुसार राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ़ करना ही इस यज्ञ का एकमात्र उद्देश्य है। लोक को पीड़ित करने वाले नागों के दमन से ही राष्ट्र और समाज की दृढ़ता और उसका मंगल सम्भव है। नागजाति के दमन का सारा श्रेय उत्तंक को मिलना चाहिए। वही अपने ओजस्वी वचनों द्वारा किंकर्तव्यविमूढ़ जनमेजय को नागयज्ञ के विधान में नियोजित करता है। उत्तंक नागयज्ञ के इस अमानवीय कार्य व्यापार में हृदय की उत्तेजना से प्रवृत्त होता है किन्तु जब दामिनी उसे समझाती है कि नागयज्ञ शाश्वत मानवता की दृष्टि से श्लाघ्य नहीं है तो वह उस क्रूर हिंसापूर्ण कार्य से विरत हो जाता है। इस प्रकार उसके चरित्र का क्रमिक विकास परिस्थितिसापेक्ष मानव मनोवृत्तियों पर आधारित है। प्रसाद ने पूर्ण स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए उत्तंक के चरित्र-चित्रण में आदर्श की प्रतिष्ठा प्रकृत रूप में की है।

—के० प्र० चौ०

उत्कल— ये राजा सुद्युम्न के लड़के थे। इन्होने अपने नाम पर उत्कल राज्य की स्थापना की थी। वर्तमान समय में उत्कल उड़ीसा राज्य के नाम से प्रसिद्ध है।

—ज० प्र० श्री०

उत्तम—इनकी माता सुरुचि तथा पिता राजा उत्तानपाद थे। ये प्रियव्रत के भतीजे और ध्रुव के सौतेले भाई थे। एक बार ये शिकार खेलने गये थे जब कि ये वन में मार्ग भूल गये। वहीं कुबेर के हाथों मारे गये। इनकी माता सुरुचि इनके वापस न लौटने पर इन्हे खोजने गयीं और वही उनकी भी मृत्यु हो गयी (दे० सूर पद ४०२-४०४)।

—ज० प्र० श्री०

उत्तमौजस्—ये पंचाल देश के राजकुमार थे। इन्होने महाभारत के युद्ध में पाण्डवों का साथ दिया था। अभिमन्यु के मारे जाने के बाद अर्जुन ने दूसरे दिन पुत्र-वध का प्रतिकार करने के लिए सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ का वध करने का संकल्प किया था। उस दिन इन्होंने अपने भाई युधामन्यु के साथ अर्जुन के अंगरक्षक के रूप में कार्य किया था। उस दिन युद्ध में इन्होंने अपने अनुपम शौर्य का प्रदर्शन किया था (दे० 'जयद्रथ वध' : मैथिलीशरण गुप्त)

—ज० प्र० श्री०

उत्तर—ये राजा विराट के पुत्र थे। पाण्डवो की अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने पर भीष्म, द्रोणाचार्य आदि महारथियों को साथ लेकर कौरवों ने राजा विराट की गोशाला पर आक्रमण कर अनेक गायों का अपहरण कर लिया था। कौरवों की विशाल सेना को देखकर राजकुमार उत्तर आतंकित हो गये थे। उस समय अर्जुन ने, जो वृहन्नला के छद्मनाम से रह रहे थे, अपना वास्तविक परिचय देकर इन्हें साहस प्रदान किया था। अर्जुन का सारथी बनकर इन्होंने उस युद्ध में भाग लिया था। इन्होंने महाभारत के युद्ध मे पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया था। इनकी मृत्यु उस युद्ध में शल्य के हाथ से हुई थी।

—ज० प्र० श्री०

उत्तरप्रदेशीय हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग—स्था०— सन् १९२०; कार्य—कुछ दिन तक कार्य स्थगित रहा। सन्१९४० से कुछ साहित्यकारोंके प्रयत्नों से फिर कार्यारम्भ हुआ। अब तक इसके कई अधिवेशन हो चुके हैं। 'रेडियो की भाषा नीति' पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई, रेडियो विरोधी-दिवस मनाया गया। कचहरियों में हिन्दी प्रयोग के लिए आन्दोलन किया। अब वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप से होते हैं।

—प्रे० ना० टं०

उत्तरा १—राजा विराट की पुत्री थीं। जब पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे, उस समय अर्जुन वृहन्नला नाम ग्रहण करके रह रहे थे। वृहन्नला ने उत्तरा को नृत्य, संगीत आदि की शिक्षा दी थी। जिस समय कौरवों ने राजा विराट की गायें हस्तगत कर ली थीं, उस समय अर्जुन ने कौरवों से युद्ध करके अपूर्व पराक्रम दिखाया था। अर्जुन की उस वीरता से प्रभावित होकर राजा विराट ने अपनी कन्या उत्तरा का विवाह अर्जुन से करने का प्रस्ताव रखा था किन्तु अर्जुन ने यह कहकर कि उत्तरा उनकी शिष्या होने के कारण उनकी पुत्री के समान थी, उस सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया था। कालान्तर में उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ सम्पन्न हुआ था। चक्रव्यूह तोड़ने के लिए

जाने से पूर्व अभिमन्यु अपनी पत्नी से विदा लेने गया था। उस समय उसने अभिमन्यु से प्रार्थना की थी—"हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही" (जयद्रथ वध : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग)। परीक्षित का जन्म इन्हीं की कोख से अभिमन्यु की मृत्यु के बाद हुआ था।

—ज० प्र० श्री०

उत्तरा २—(१९४९ ई०) कवि पन्त का दसवाँ काव्य-संकलन है। इसे 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' का ही भाव प्रसार कहना उपयुक्त होगा क्योकि इसमें भी कवि ने चेतनावादी अरविन्द दर्शन को मूलाधार माना है। इस संकलन की ७५ रचनाओ मे कवि की भावधारा का रूप प्रायः वही है जो उपर्युक्त दो संकलनों में मिलता है, परन्तु भावभूमि अधिक व्यापक, सुस्पष्ट और परिमार्जित हो गयी है तथा अभिव्यंजना भी सहज, प्रासादिक एवं विविध है। 'उत्तरा' की प्रस्तावना मे कवि ने अरविन्द-दर्शन के ऋण को स्वीकार करने के साथ अपनी नयी मनोभूमिका विश्लेषण भी किया है और अपने नवीन जीवन-तन्त्र की व्याख्या भी प्रस्तुत की है जो भौतिक और आध्यात्मिक जीवन-पद्धतियो के समीकरण एवं परिष्करण में विश्वास रखता है। कवि इस भूमिका में भारतीय दर्शन के प्रति एक नया दृष्टिकोण सामने लाता है : "भारतीय दर्शन भी आधुनिक भौतिक दर्शन् (मार्क्सवादी) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण, क्योंकि वह पदार्थ, प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट), रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलो का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषत् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है।" इस चिन्तन को आगे बढ़ाकर कवि गाधीवादी विचारधारा को विश्वचिन्तन का अनिवार्य अंग मानता है। उसके विचार मे "भारत का दान विश्व को राजनीतिक तन्त्र या वैज्ञानिक तन्त्र का दान नहीं हो सकता, वह सस्कृत और विकसित मनोयन्त्र की ही भेंट होगी। इस युग के महापुरुष गांधी जी अहिसा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक के ही रूप में दे गये हैं, जिसे हम मानव-चेतना का नवनीत, अथवा विश्वमानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं।" इस प्रकार कवि गांधीवाद के सत्य अहिंसा के सिद्धान्तों को अन्तः संगठन (संस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता है, परन्तु सत्य की व्यवस्था में उसने दो भेद माने हैं—एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक और दूसरा समदिक, जो हमारे नैतिक और सामाजिक आदर्शों के रूप में विकासोन्मुख होता है। इस योजना के द्वारा कवि को अपने नये राजनीतिक और सामाजिक तन्त्र में अध्यात्मवाद को मार्क्सवाद और गांधीवाद के साथ रखने की सुविधा प्राप्त हुई है। फलतः वह मानव-विकास के अन्तर्वहिश्चेतनास्रोतों को अधिक व्यापक और सन्तुलित चिन्तन दे सका है। 'उत्तरा' की कविताएँ इसी मनोभूमि का काव्यचित्र हैं। उनमें चिन्तन की अपेक्षा ग्रहण, आस्वादन और आनन्द ही अधिक उभरा है। इसी में उनकी विशिष्टता भी समझी जा सकती है।

'उत्तरा' के गीत नये युग की गीता है। इन गीतों में सद्यः स्वतन्त्र भारत की अन्तरात्मा के पुनर्निर्माण की चेतना स्पष्ट है। गीतों की भूमि बौद्धिक वाद-विवाद को प्रश्रय नहीं देती। कवि का मन अतर्क्य, अचिन्त्य है। वह क्रांतदर्शी है। नये भू-मन की अनिवार्यता के प्रति उसका दृढ़ विश्वास है और वह उसका अभिनन्दन करना चाहता है। उसकी आस्था है कि इस नये परिवर्तन को पहले कवि ही अपने मन में मूर्तिमान करेगा। इसीलिए उसके कई गीतों मे उसकी भावसाधना के स्वरूप को वाणी मिली है। यहाँ वह नवजीवन का शिल्पी कलाकार बन जाता है जिसका प्रत्येक प्रहार प्रस्तर के उर में छिपी नवमानवता को उत्कीर्ण करने में समर्थ है। 'स्वप्नक्रान्त' शीर्षक रचना मे वह अपने उत्तरदायित्व का प्रकाशन इन शब्दों में करता है :

"स्वप्न-भार से मेरे कन्धे, झुक झुक पड़ते भूपर, क्लान्त भावना के पग डगमग, कँपते उर में निःस्वर। ज्वालगर्भ शोणित का बादल, लिपता धराशिखर पर उज्ज्वल, नीचे, छाया की घाटी में, जगता क्रन्दन मर्मर।"

इसी प्रकार 'युगसंघर्ष' में:

"गीतक्रान्त रे इस युग के कवि का मन, नृत्यमत्त उसके छन्दों का यौवन। वह हँस-हँसकर चीर रहा तम के घन, मुरली का मधुरव कर भरता गर्जन। नव्य चेतना से उसका उर ज्योतित, मानव के अन्तर्वैभव से विस्मित। युगविग्रह मे उसे दीखती बिंबित, विगत युगों की रुद्ध चेतना सीमित।"

'जीवनदान', 'स्वप्न-वैभव', 'अवगाहन', 'भू-स्वर्ग', 'गीताविभव', 'नव-पावक', 'अनुभूति', 'काव्यचेतना' और 'गीतविहग' शीर्षक रचनाओं में कवि की अपने प्रति जागरूकता और आस्था ही प्रकट होती है। उसका विश्वास है कि वह नयी चेतना का अग्रदूत है। वह कहता है :

"मैं रे केवल उन्मन मधुकर, भरता शोभा स्वप्निल गुंजन, कल आयेंगे उर तरुण भृंग, स्वर्णिम मधुकण करने वितरण (नवपावक)।"

इन रचनाओं में हम कवि को केवल उद्गाता के रूप में ही नहीं पाते, वह नये यज्ञ का अध्वर्यु भी बन जाता है। सामान्यतः यह आरोप लगाया जाता है कि पन्त का चेतनावाद उनकी मौलिक प्रेरणा नहीं है, परन्तु कवि ने अरविंदवाद की भूमिका पर किस प्रकार आस्था, प्रेम, उल्लास और सौन्दर्य के नये-नये रंगों की रंगोली बनायी है, इसकी ओर आलोचकों का ध्यान ही नहीं जाता। विचार, धर्म और दर्शन काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किये जा सकते। देखना यह है कि उनमें कवि के स्वप्न बन जाने की सामर्थ्य है या नहीं अथवा वे कवि की कल्पना और भावुकता को गर्भित करने में सफल हैं या नहीं। पंत की रचनाओं में दिव्य जीवन की दार्शनिक और ऊहात्मक अभिव्यक्ति नहीं हुई है। वे भावप्रवण कवि की प्रत्यक्षानुभूति और संकल्पसिद्धि के उल्लास से ओत-प्रोत हैं। उनमें बहिरंतर-रूप को कल्पना, भावना, सौन्दर्य और भावयोग को विषय बनाया गया है। अतः इन रचनाओं को हम अरविन्दवाद का काव्यसंस्करण अथवा भावात्मक परिणति भी मान सकते हैं।

'उत्तरा' का आरम्भ, 'युगविषाद', 'युगसन्धि', 'युग संघर्ष' जैसी रचनाओं से होता है जिनमें कवि अपनी पीढ़ी के संघर्षों से उत्पन्न घनीभूत पीड़ा को वाणी देता है। इस मनोभव से कवि का शीघ्र ही त्राण हो जाता है और वह चित्सत्ता के प्रति विनत होकर प्रार्थी होता है :

"ज्योतिद्रवित हो, हे घन। छाया संशय का तम, तृष्णा करती गर्जन, ममता विद्युत-नर्तन, करती उर में प्रतिक्षण।

करुणा-धारा मे झर स्नेह-अश्रु बरसा कर, व्यथा-भार उरका हर, शान्त करो आकुल मन।'' (अंतर्व्यथा)

वह प्रार्थना उसके मन में जागरण के नये द्वार खोल देती है। स्वय कवि नव मानव का प्रतीक बन जाता है और 'अग्निचक्षु' कहकर अपना अभिवादन करता है। इस नव मानव को घेरकर ही उसके नव-मानववादी सपने मँडराते है। 'उत्तरा' में इन नये सपनो को मुक्त छोड़ दिया गया, किसी बौद्धिक तन्त्र मे नहीं बाँधा गया। इसी से उनमें भावोद्वेलन की अपार शक्ति है। 'भू-जीवन', 'भू-यौवन', 'भू-स्वर्ग' और 'भू-प्रांगण' शीर्षक रचनाओं में उत्तर पंत भावजगत् की जिस मधुरिमा को वाणी देते है, वह अन्तर्राष्ट्रीय ही नहीं, सार्वभौमिक है क्योंकि उसका उत्स मानव की अन्तरात्मा है। पन्त की इस नयी विचारणा को भू-वाद कहा गया है और स्वयं उन्होंने भूमिकाओं और निबन्धो मे अपने इस नये जीवन-दर्शन को तन्त्र की व्यवस्था देने की चेष्टा की है परन्तु कविता में जो मनोमय स्वप्न-सृष्टि इस विचारणा से जाग्रत है उसकी अपनी सार्थकता है। वह चिर नवीन जीवनैषणा के सौरभ से गन्धमधुर बन गयी है। कवि ने कुछ रचनाओं में (जैसे—'जागरण-गान', 'उद्बोधन' आदि) भारत के तारुण्य को इस 'असिधारव्रत' के लिए ललकारा है जो मनोदधि का मन्थन कर वृद्ध धरापर नये चेतना-स्वर्ग का निर्माण करने में समर्थ है। उसने मानव को देवोत्तर और भारतभू को स्वर्गभू बनाने की चुनौती दी है।

'उत्तरा' का प्रकृति-काव्य भी एक नयी सुषमा से ओतप्रोत है जो 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' की प्रकृति चेतना की परिणति है परन्तु उसमें भावना और सौन्दर्य चेतना के जो शत-शत कमल खिले है, वे अपनी प्रतिभा में स्वयं पंत के प्रौढ़ व्यक्तित्व और उनकी अन्तःसाधना का जैसा बहुमुखी, सार्थक और समर्थ प्रकाशन है वैसा कदाचित् कोई दूसरा संकलन नही। कवि का विषादग्रस्त मन अनेक विचारविवर्त्तों और भावावर्त्तों में खुलकर नव जागरण की दीपशिखा में बदल जाता है। युग के गरलका आकण्ठ पान कर उसने नीलकंठ शिव की भाँति नवचेतना का वरदान ही बिखेरा है। इस आंतरिक और आध्यात्मिक साधना की परिपूर्णता और उत्कर्षमयता का प्रतीक वे प्रकृति रचनाएं हैं जो मानव-चेतना के रूपांतर को ही नया रूप रंग देती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'गुंजन' की भाँति ही 'उत्तरा' भी कवि की अन्तर्मुखी सौन्दर्यसाधना और अध्यात्म चेतना की महागीति है। उसकी स्फुट रचनाओं में अतिमानसी ऊर्ध्व-चेतना और अधिमानसी-चेतना के सारे सरगम दौड़ गये हैं। कुछ आत्मा के अकुंठित और अपरिमेय सौन्दर्य एवं उल्लास के नाते ही मनोरम हो उठा है।

—रा० र० भ०

उत्तानपाद—इनकी माता शतरूपा और पिता स्वायंभुव मनु थे। इनके दो रानियाँ थीं—सुनीति तथा सुरुचि। सुनीति से ध्रुव, कीर्तिमान् तथा आयुष्मान् और सुरुचि से उत्तम का जन्म हुआ था। एक बार राजकुमार उत्तम को पिता की गोद में बैठा देखकर ध्रुव ने भी उनके अंक में बैठना चाहा। सुरुचि इस अवसर पर उपस्थित थी। उन्होंने ध्रुव को इस स्पर्धा के लिए झिड़क दिया। सौतेली माता के इस व्यवहार से बालक ध्रुव मर्माहत हो गया अपने को अपमानित समझकर वह अपनी माता के पास जाकर फूट-फूट रोया और बचपन में ही तपस्या करने के लिए वन को चला गया। मार्ग मे नारद मिल गये। उन्होंने ध्रुव को उपदेश दिया। जिससे बालक ध्रुव ने ईश्वर का साक्षात्कार किया। ध्रुव के प्रताप से ही राजा उत्तानपाद को ज्ञान हुआ था—''नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरि भगत भयउ सुत जासू।।' (मा० १।१४२।२); (दे० सूर०, पद ४०४-४०६)।

—ज० प्र० श्री०

उदंत मार्तंड—यह पत्र एक साप्ताहिक के रूप मे कलकत्ता से मई, १८२६ में निकला। इसके सम्पादक कानपुर निवासी जुगुल किशोर सुकुल थे। इसे हिन्दी का प्रथम पत्र होने का श्रेय दिया जाता है।

इस पत्र की दो प्रमुख विशेषताएँ थी। पहली तो यह कि यह पत्र पुस्तकाकार (१२x८) छपता था। आधुनिक पत्रों के रूप की कल्पना का आधार इस पत्र मे देखा जा सकता है। दूसरी यह कि यह पत्र ''हर सतवारे मगलवार को छापा जाता'' था।

इसके कुल ७९ अंक ही निकल पाये थे कि डेढ़ साल बाद दिसम्बर १८२७ में बन्द हो गया। इसके अन्तिम अंक में लिखा है—

उदन्त मार्तण्ड की यात्रा

मिति पौष बदी १ भौम संवत् १८८४ तारीख दिसम्बर सन् १८२७।

''आज दिवस लौं उग चुक्यौ मार्तण्ड उछन्त

अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त।''

इस पत्र में ब्रज और खड़ी बोली दोनों ही भाषाओं का प्रयोग किया जाता था। इस पत्र मे खड़ी बोली को मध्यदेश की भाषा कहा गया है। उस समय अंग्रेजी, फारसी और बँगला मे तो पत्र निकल रहे थे किन्तु हिन्दी में कोई पत्र नहीं था। इसीलिए यह पत्र निकाला गया। इस विषय में एक उद्धरण द्रष्टव्य है—''उनका सुख उन बोलियों के जानने और पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देख आप पढ़ ओ समझ लेयँ ओ पराई अपेक्षा न करें जो अपने भाषे की उपज न छोड़ें....इसलिए.... ऐसे साहस में चित्र लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा।'' इस पत्र ने अपनी भाषा को 'मध्यदेशीय भाषा' कहा है।

—ह० दे० बा०

उदयन—१. वत्सराज नाम से भी विख्यात थे। इनके पिता सहस्रानीक थे। ये कोशाम्बी के प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा थे। एक बार ये बन्दी बनाकर उज्जयिनी लाये गये थे उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता इहें स्वप्न में देखकर इनके प्रति आकृष्ट हो गयी। अपने कूटनीतिज्ञ मन्त्री योगन्धरायण के प्रयत्न से जब ये स्वतन्त्र हुए और इन्हें वासवदत्ता के आकर्षण की बात मालूम हुई तो इन्होंने उसका अपहरण कर उसके साथ विवाह किया। संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' इसी कथा पर आधारित है। इसके अलावा संस्कृत का 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण' नाटक भी इनके चरित्र के आधार पर रचा गया था। इनके मन्त्री ने यह संकल्प किया था कि वह इन्हें एक चक्रवर्ती सम्राट बनायेगा और अपने इस उद्देश्य को प्राप्त

करने मे वह कृतकार्य हुआ था। हिन्दी में उदयन की कथा काव्य और नाट्य रचना का विषय रही है। जय शकर प्रसाद के अजातशत्रु में इसका उपयोग हुआ है।

२. विष्णु पुराण में एक अन्य उदयन का उल्लेख है जिनके पिता का नाम दर्भक कहा गया है। ब्रह्माण्ड और वायु पुराणों में इनका नाम उदयिन मिलता है और भविष्य में उदयाश्व। इन्होंने गंगा नदी के किनारे पुष्पनगर की स्थापना की थी जो कि कालातर में पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

—ज० प्र० श्री०

उदयनारायण तिवारी—जन्म १९०३ ई० मे बलिया जिले के पीपर पाँती ग्राम में हुआ। शिक्षा प्रयाग, आगरा तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुई। मुख्य कार्यक्षेत्र भाषाविज्ञान है। आपके शोध-प्रबन्ध—'भोजपुरी भाषा का उद्गम और विकास' (प्रकाशन १९६० ई०)'का प्रर्याप्त मान है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के आप उत्साही कार्यकर्ताओ और सचालकों में थे। आप बहुत समय तक प्रयाग विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर तथा जबलपुर विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर रहे। इनकी मृत्यु जुलाई ८४ में हुई।

—स०

उदयशंकर भट्ट—इनका जन्म (१८१८) इटावा में अपने ननिहाल में हुआ। पूर्वज गुजरात के सिहपुर से आकर इन्दौर नरेश के न्यायाधीश नियुक्त होकर बुलन्द शहर के कर्णवास ग्राम मे बस गये थे। घर का वातावरण संस्कृतमय। पितामह पं० दुर्गाशंकर का संरक्षण। बचपन में ही संस्कृत में बातचीत का अभ्यास; कभी-कभी अनुष्टुप छन्दों की रचना भी। पिता पं० मेहता फतेहशंकर भट्ट अंग्रेजी पढ़े-लिखे, फिर भी संस्कृतनिष्ठ। वे ब्रजभाषा में कवित्त, सवैयों की रचना करते और कभी-कभी गोष्ठियों में पढ़ते भी थे। भट्ट जी को भी इन्हीं गोष्ठियों से लिखने की प्रेरणा मिली। सर्व प्रथम ब्रजभाषा में काव्य निर्माण। शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी० ए०, पंजाब से शास्त्री और कलकत्ता से काव्यतीर्थ। लाला लाजपतराय के नेशनल कॉलेज लाहौर में प्रथम अध्यापन। फिर लाहौर के खालसा कॉलेज, सनातनधर्म कालेज आदि में रहे। अध्यापन काल में नाटक लिखने की रुचि विकसित हुई। सन् १९२१-२२ में 'असहयोग और स्वराज्य' तथा 'चितरंजनदास' शीर्षक रचनाएँ लिखीं और खेलीं। कांग्रेस द्वारा संचालित स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी भाग लेते रहे तथा सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा करने वालों से भी सम्पर्क रहा। देश के स्वाधीन होने के बाद आकाशवाणी के परामर्शदाता एवं निर्देशक रहे।

भट्ट जी ने सर्वप्रथम कवि रूप में 'तक्षशिला' (१९३१) —एक आख्यानक काव्य की रचना से साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया। उसके बाद उनकी काव्य रचनाओं के कई संग्रह 'राका' (१९३५), 'मानसी' (१९३५), 'विसर्जन' (१९३६), 'युगदीप' (१९३९), 'अमृत और विष' (१९३९) तथा 'यथार्थ और कल्पना' (१९५०) में प्रकाशित हुए। इन संग्रहों की रचनाओ में छायावादी भावुकता ही मुखर है। सन् १९४८ में उन्होंने फिर एक खण्ड काव्य 'विजय पथ' की रचना। नवीन काव्य सग्रह 'अन्तर्दर्शन' (१९५८) मे रावण, राम और सीता का किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों मे आत्मविश्लेषण है।

भट्ट जी के प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'विक्रमादित्य' (१९३०) में पश्चिम की सघर्ष प्रधान नाटचशैली का प्रयोग है। दूसरी रचना 'दाहर अथवा सिंधपतन' (१९३२) मे दुःखान्त पद्धति को भी ग्रहण कर लिया गया है। इसके बाद के ऐतिहासिक नाटकों 'मुक्ति पथ' (१९३८) और 'शक विजय' (१९५३) में पश्चिम की स्वच्छन्दतावादी नाटचशैली और निखर उठी है। पौराणिक नाटकों—'अम्बा' (१९३३) और 'सगर विजय' (१९३४) में पुरुष के अहं, अधिकार-भाव एवं आतंकपूर्ण नीति के विरुद्ध नारी के विद्रोह का चित्रण है। सामाजिक नाटकों—'कमला' (१९३६) और 'अन्तहीन अन्त' (१९३७) में भी नारी की बौद्धिक जागरूकता का प्रदर्शन है, किन्तु वह परिस्थितियों के आगे नतशिर हो गयी है। 'क्रान्तिकारी' (१९५४) में सशस्त्र विद्रोह का प्रयास करने वाले नवयुवको के अनुशासनपूर्ण जीवन, अपूर्व त्याग, असीम साहसिकता, एवं अतुल पराक्रम को प्रस्तुत किया गया है। 'नया समाज' (१९५५) मे जमींदारी उन्मूलन से विपन्न एक अभिजात परिवार की दुःखमय गाथा के साथ 'फ्रायड' द्वारा निर्देशित पितृ-रतिग्रन्थि को नाटकीय रूप दिया गया है। 'पार्वती' (१९६०) में एक अर्ध-शिक्षित, पाश्चात्य सभ्यता से मोहाविष्ट नारी पर बड़ा तीखा व्यंग्य है।

भट्ट जी की साहित्यिक प्रतिभा उनके गीति नाटकों 'मत्स्य-गन्धा' (१९३४), 'विश्वामित्र' (१९३५) और 'राधा' (१९३६) में विशेष रूप से निखर उठी है। इन रचनाओ में पुरुष के प्रति नारी के चिरन्तन विद्रोह का चित्रण है; पर अन्त मे नारी को पुरुष के आगे आत्मसमर्पण करना पड़ा है। 'अशोकवन वन्दिनी' (१९५९) में भट्ट जी ने चार पद्य नाटक प्रस्तुत किये है : प्रथम में सीता का आधुनिक तर्कशील नारी के रूप मे चित्रण हैं; 'सन्त तुलसीदास' रेडियोरूपक की शैली में 'मानसकार' के आध्यात्मिक जागरण को उपस्थित करता है; 'गुरु द्रोणका अन्तर्निरीक्षण' वस्तुतः महाभारत के इस महामहिम चरित्र की नाटकीय स्वीकारोक्ति है; और इसी प्रकार 'अश्वत्थामा' भी, पाण्डव पुत्रों का सुप्तावस्था में वध कर देने के अनन्तर आत्मग्लानिका चित्र है। अन्तिम दोनों अमित्राक्षर छन्द के स्वोक्ति नाटक हैं।

भट्ट जी की एकांकी रचनाओं के भी कई संग्रह हैं : 'स्त्री का हृदय', 'आदिम युग' (१९४७), 'धूमशिखा' (१९४८), 'पर्दे के पीछे' (१९५०), 'अन्धकार और प्रकाश', 'समस्या का अन्त' (१९५२) तथा 'आज का आदमी' (१९६०)। इनमें भट्ट जी ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रतीकात्मक, समस्या-प्रधान, हास्यपूर्ण सभी प्रकार की रचनाएँ उपस्थित की हैं। इनमें वैदिक युग की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से लेकर आज की ज्वलन्त समस्याओं तक का चित्रण है। भट्ट जी के आदिम युग से सम्बन्धित एकांकी उन्हें अनुसन्धाता के रूप में उपस्थित करते हैं; ऐतिहासिक एकांकियोंमें युगविशेष की दुर्बलताओं का उद्घाटन है; और आज के जीवन का चित्रण करने वाली रचनाएँ सामाजिक विकृतियों एवं विद्रूपताओं से बचने का संकेत देती हैं।

भट्ट जी ने उपन्यास भी लिखे हैं : 'वह जो मैंने देखा' (१९३७-४२), नया नाम 'एक नीड दो पंछी' (१९५६) सस्मरणात्मक रचना है। 'नये मोड़' (१९५६), नवीन नामकरण 'डॉ० शेफाली' (१९६०) एक दृढ़चरित्र, कर्त्तव्यपरायण, जन सेवा निरत नवयुवती की जीवनगाथा है। 'सागर लहरें और मनुष्य' (१९५६) बम्बई के पास के मछुआरो के जीवन का चित्रण है। 'लोक परलोक' (१९५८) ग्रामीण जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता के बढ़ते हुए दुष्प्रभाव का चित्र है। 'शेष अशेष' (१९६०) मे साधुओं और सन्यासियो के जीवन का प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से उद्घाटन है।

भट्ट जी के व्यक्तित्व में प्राचीनता के प्रति अनुराग और नवीन के प्रति आकर्षण का अद्‌भुत संयोग है और उनकी यही द्विधावृत्ति उनकी रचनाओ में भी प्रकट हुई है। मन से वे संस्कृतनिष्ठ और आदर्शवादी है परन्तु बुद्धि से यथार्थ द्रष्टा और विश्लेषक। अपने ब्राह्य जीवन और अन्तर्मन के प्रकोष्ठों मे जो कुछ उन्होंने देखा है, उसे ही व्यक्त किया है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर राष्ट्र के पतन के कारणों का दिग्दर्शन है। उसके बाद ये आज के जीवन की कटुता और कुरूपता के उद्‌घाटन मे सलग्न हुए। उनकी इधर की कृतियों में अन्तः निरीक्षण है तथा साथ ही व्यक्ति को अपने कर्तव्य के प्रति सजग और समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने का आग्रह है। भट्ट जी की रचनाओ में पीड़ा का राग है किन्तु वह हमे 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का मन्त्र देता है।

[सहायक ग्रन्थ—जयनाथ 'नलिन' : हिन्दी नाटककार; रामचरण महेन्द्र : हिन्दी एकांकी—उद्‌भव और विकास; नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक।]

उदवसु—ये राजर्षि जनक के पुत्र तथा सीता के भाई थे। जनक के बाद ये मिथिला के अधिपति हुए थे।

—ज० प्र० श्री०

उद्दालक—ओपवेशि गौतम के पुत्र और साथ ही शिष्यपरम्परा में थे। इनका वास्तविक नाम उद्दालक आरुणि था। इनके एक पुत्र था जिसका नाम श्वेतकेतु था। ये याज्ञवल्क्य के गुरु भी रहे। ये ब्रह्मविद्या के अन्यतम विद्वान् और ऋषि थे। इन्हें सामाजिक विधि-निषेध का प्रवर्तन करने वाला माना गया है।

—ज० प्र० श्री०

उद्धव १— भागवत के अनुसार श्री कृष्ण के प्रिय सखा और साक्षात् बृहस्पति के शिष्य महामतिमान् उद्धव वृष्णिवंशीय यादवों के माननीय मन्त्री थे (भागवत, दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध, अध्याय ४६)। उनके पिता का नाम उपंग कहा गया है। कहीं-कहीं उन्हें वसुदेव के भाई देवभाग का पुत्र, अतः श्री कृष्ण का चचेरा भाई भी बताया गया है। एक अन्य मत के अनुसार ये सत्यक के पुत्र तथा कृष्ण के मामा कहे गये हैं। मथुरा प्रवास में जब श्री कृष्ण को अपने माता-पिता तथा गोपियों के विरह-दुःख का स्मरण होता है, तो वे उद्धव को नन्द के गोकुल भेजते हैं तथा माता-पिता को प्रसन्न करने तथा गोपियों के वियोग-ताप को शान्त करने का आदेश देते हैं। उद्धव सहर्ष कृष्ण का सन्देश लेकर ब्रज जाते हैं और नन्दादि गोपों तथा गोपियों को प्रसन्न करते हैं। कृष्ण के प्रति गोपियों के कान्ताभाव के अनन्य अनुराग को प्रत्यक्ष देखकर उद्धव अत्यन्त प्रभावित होते हैं, वे कृष्ण का यह सन्देश सुनाते है कि तुम्हे मेरा वियोग कभी नही हो सकता, क्योंकि मै आत्मरूप हो सदैव तुम्हारे पास हूँ। मैं तुमसे दूर इसलिए हूँ कि तुम सदैव मेरे ध्यान में लीन रहो। तुम सब वासनाओ से शून्य शुद्ध मन से मुझमे अनुरक्त रहकर मेरा ध्यान करने से शीघ्र ही मुझे प्राप्त करोगी। प्रियतम का यह सन्देश सुनकर गोपियों को प्रसन्नता हुई तथा उन्हे शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होने प्रेम विह्वल होकर कृष्ण के मनोहर रूप और ललित लीलाओ का स्मरण करते हुए अपनी घोर वियोग-व्यथा प्रकट की तथा भावातिरेक की स्थिति में कृष्ण से ब्रज के उद्धार की दीन प्रार्थना की। परन्तु श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर उनका विरहताप शान्त हो गया। उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् को इन्द्रियों का साक्षी परमात्मा जानकर उद्धव का भलीभाँति पूजन और आदरसत्कार किया। उद्धव कई महीने तक गोपियों का शोक-नाश करते हुए ब्रज मे रहे। गोपियों की कृष्णासक्ति से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने गोपियो की चरण रजकी वन्दना की तथा इच्छा प्रकट की कि मै अगले जन्म मे गोपियों की चरण रज से पवित्र वृन्दावन की लता, ओषध, झाड़ी आदि बनूं। इस प्रकार कृष्ण के प्रति ब्रजवासियों के प्रेम की सराहना करते हुए तथा नन्दादि, गोप तथा गोपियों से कृष्णादि के लिए अनेक भेट लेकर वे मथुरा लौट आये।

श्रीमद्‌भागवत के अतिरिक्त गोपाल कृष्ण की लीला के वियोग—पक्ष का विस्तृत वर्णन अन्य पुराणो में नहीं मिलता। ब्रह्मवैवर्त में यद्यपि उद्धव के ब्रज भेजे जाने का प्रसंग आया है (श्री कृष्ण जन्म खण्ड,अध्याय ९४) परन्तु इस प्रसंग मे भी प्रायः एकान्ततः राधा की विरह—व्याकुलता की ही प्रधानता है, उद्धव उन्हीं के प्रेम से प्रभावित होकर उन्हें सान्त्वना देने में प्रयत्नशील दिखाये गये है। वे राधा की माता-सदृश स्तुति करते हैं, उनकी मूर्च्छा दूर करने के उपाय करते है और अन्त मे उन्हें कृष्ण का मिलन का आश्वासन देकर मथुरा लौटते हैं तथा कृष्ण को शीघ्र गोकुल जाने के लिए प्रेरित करते है। ब्रह्मवैवर्त में वियोग के वर्णन भी विलासोन्मुख हैं, अतः इस प्रसग में उद्धव के व्यक्तित्व की कोई विशेषता उभरती नहीं दिखायी देती।

हिन्दी कृष्ण काव्य के प्रथम गायक विद्यापति ने यद्यपि विरह का विशद वर्णन किया है,परन्तु उसमें उद्धव के प्रसंग को स्थान नहीं मिला, केवल एक—आधा पद में उद्धव का नाम मात्र आया है जहाँ विरह-विह्वल राधा को इंगितकर सखी कहती है—"हे उद्धव, तू तुरन्त मथुरा जा और कह कि चन्द्रवदनी अब बचेगी नहीं, उसका वध किसे लगेगा?" इस एक सन्दर्भ से ही उद्धव के भागवत से भिन्न व्यक्तित्व की सूचना मिलती है। वस्तुतः कृष्ण-कथा लोक-विश्रुत रूप मे उद्धव कृष्ण और गोपियों अथवा कृष्ण और राधा के बीच प्रेम सन्देश-वाहक रहे हैं। हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में भी उन्हें इसी रूप में ग्रहण किया गया, यद्यपि हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य का प्रधान स्रोत और उपजीव्य भागवत ही था।

भक्त कवियों में सूरदास ने ही उद्धवसम्बन्धी प्रसंग का सम्यकरूप से विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने वियोग का मार्मिक चित्रण करने के साथ इस प्रसंग के माध्यम से भक्ति के स्वतः पूर्ण ऐकान्तिक स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसकी महत्ता प्रतिपादित करने के लिए इतर साधनों—वैराग्य, योग

जप तप कर्मकाण्ड आदि की हीनता प्रमाणित की है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उद्धव के व्यक्तित्व का जो नव निर्माण किया, वही अद्यावधि हिन्दी कृष्ण-काव्य की स्वीकृत परम्परा मे सुरक्षित है। सूर के उद्धव स्वय कृष्ण के शब्दो में काठकी भाँति निठुर,प्रेमभजन से सर्वथा शून्य, अद्वैतदर्शी, 'निठुर जोगी जग' और 'भुरंग' सखा है। वे निर्गुण का ब्रत लिए हुए हैं, कृष्ण को 'त्रिगुण तन' समझते हैं तथा ब्रह्म को उनसे भिन्न मानते हैं, योग की बातें करते है तथा प्रेम की बाते सुनकर विपरीत बोलते है। वे अत्यन्त दम्भी, पाखण्डी और अहकारी है। कृष्ण उन्हें सीधे मार्ग पर लाने के लिए उनका अद्वैतवादियों, निर्गुणवादियों, अलखवादी योगियों जैसा अभिमान चूर करके प्रेमभक्ति मे दीक्षित करने के उद्देश्य से ही छल करके ब्रज भेजते है। ब्रज की गोपियाँ उनके 'ज्ञान' की धज्जियाँ उड़ा देती हैं तथा सिद्ध कर देती है कि प्रेम से शून्य होने के कारण गम्भीर पांडित्य एक दुर्वह बोझ के सदृश है, वे वस्तुतः ज्ञानी नहीं, महामूर्ख है, क्योंकि वे अनपढ़ गँवार, ग्रामीण युवतियो को योग सिखाने का हास्यास्पद प्रयत्न करने आये हैं। सूरदास ने अपने समय के भक्ति-बाह्य सभी मतमतान्तरों के प्रतिनिधित्व का दायित्व उद्धव पर लाद दिया और अन्त मे उद्धव को प्रेमभक्ति का यहा तक समर्थक बना दिया है कि मथुरा लौटकर वे स्वयं श्रीकृष्ण की निष्ठुरता की आलोचना करने लगते हैं तथा उनसे ब्रजवासियों के विरह-दुःख दूर करने की प्रार्थना करते हैं। श्रीमद्भागवत के उद्धव के व्यक्तिव को पुनः लोक-विश्रुत कृष्ण—कथा की ओर किंचित् मोड़ देकर सूरदास ने प्रेमदूत के माध्यम से जहाँ एक ओर अत्यन्त व्यंजनापूर्ण प्रेम विरह काव्य की रचना की है, वहाँ दूसरी ओर भक्ति मार्ग की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने में अनुपम सफलता प्राप्त की है। सूरसागर के इस प्रसंग में साढ़े सात सौ पद हैं।

सूरदास के समकालीन अष्टछाप के अन्य कवियो में नन्ददास को छोड़कर सभी ने सूर के ही आधार पर उद्धवसम्बन्धी प्रसंग पर स्फुट रचना की है, अतः उनके द्वारा उद्धव के चरित्र-चित्रण में कोई नवीनता नहीं मिलती। केवल नन्ददास ने अपने 'भँवरगीत' में उद्धव को एक अद्वैत वेदान्त के समर्थक ज्ञानमार्गी पण्डित के रूप में उपस्थित किया है जो न केवल गोपियों की उत्कट प्रेम-भक्ति, बल्कि उनके पाण्डित्यपूर्ण तर्को का लोहा मानकर भक्तिमार्ग में दीक्षित हो जाते हैं। यद्यपि कृष्ण भक्ति के राधावल्लभी सदृश कुछ सम्प्रदायों में विरह की महत्ता नहीं मानी गयी और इस कारण उद्धव सम्बन्धी प्रसंग उनमें लोकप्रिय नहीं हुआ, फिर भी मुख्यतः सूर के उद्धव गोपी संवाद तथा भ्रमर गीत का आधार लेकर आधुनिककाल तक दर्जनों रचनाएँ हुई और उनमें उद्धव का व्यक्तित्व बहुत कुछ सूर के उद्धव की ही भाँति चित्रित हुआ है। तुलसीदास ने भी अपनी कृष्णगीतावली में इस प्रसंग में सरस पद रचे हैं। सच तो यह है कि कृष्ण भक्त कवि ही नहीं, मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक ब्रजभाषा का ऐसा कोई कवि न होगा जिसने इस प्रसंग पर कुछ छन्द न रचे हों। यह निर्विवाद सत्य है कि ब्रजभाषाकाव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण की लीला ही रहा है और इस लीला में सबसे अधिक मार्मिक, रसिकों में लोकप्रिय प्रसग उद्धव-गोपी संवाद और भ्रमरगीत है। इन सभी कवियों में उद्धव के तथाकथित ज्ञानमार्ग की खिल्ली उड़ाने, उद्धव की मूढ़ता प्रमाणित करने तथा प्रेम और भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करने मे परस्पर प्रतिस्पर्द्धा भी देखी जाती है।

आधुनिक काल में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'उद्धवशतक' मे भक्ति और रीति काव्य की परम्पराओं का समन्वय-सा करते हुए उद्धव के व्यक्तित्व में सवेदनशीलता का कुछ अधिक सन्निवेश किया है वैसे उनके उद्धव ब्रजभाषा के जाने पहचाने उद्धव ही हैं। खड़ीबोली के काव्यों 'प्रियप्रवास' (हरिऔध) और 'द्वापर' (मैथिलीशरण गुप्त) के उद्धव गोपियों के हासपरिहास के आलम्बन नही बनते, उनके व्यक्तित्व में गम्भीरता पायी जाती है। दोनो कवियो ने उन्हे अधिक सवेदनशील, विचारशील तथा बुद्धिमान् चित्रित किया है।

[सहायक ग्रन्थ—सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा : डा० स्नेहलता श्रीवास्तव,]

—ब्र० व०

उद्धव २—नाभादासकृत भक्तमाल मे उद्धव नाम के चार भक्तों का उल्लेख है। एक प्रसिद्ध वैष्णव भक्त उद्धव नाभादास के यजमान थे। दूसरे उद्धोजी नाम के एक अन्य वैष्णव भक्त अग्रदास के शिष्य और नाभादास के समकालीन थे। तीसरे उद्धव भी एक वैष्णव भक्त थे जो होशंगाबाद के निवासी थे तथा जिन्होंने अपनी कोठी भक्तों को दान कर दी थी। चौथे उद्धव हनुमान्-वंशीय वनचर उद्धव कहे गये हैं। ये भी वैष्णव भक्त थे।

—ब्र० व०

उद्धव-शतक—जगन्नाथदास रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' दूतकाव्य की भ्रमरगीत परम्परा में है। इसका प्रकाशन १९३१ ई० में हुआ। भाषा अलंकृत ब्रजभाषा और छन्द घनाक्षरी हैं। छन्द मुक्तक-काव्य की विशिष्टताओं से संयुक्त होते हुए भी प्रसंगानुकूल संगृहीत होने के कारण इसे प्रबन्धात्मक रूप प्रदान करते हैं। कथानक गोपियों के विप्रलम्भ, कृष्ण सन्देश और उद्धव गोपी-संवाद के प्रसंगों से गुम्फित है। गोपियाँ अनन्य प्रेमिकाएँ और उद्धव परम ज्ञानी हैं। विप्रलम्भ श्रृंगार और शान्त प्रधान रस हैं। विरह-निवेदन, गम्भीर उक्तियाँ, चमत्कारपूर्ण संवाद, नाटकीय और दार्शनिक प्रतिपादन स्पष्ट है। रसायन, वेदान्त, तर्क, योग और विज्ञानसम्बन्धी कथन कवि की बहुज्ञता के परिचायक हैं।

—स० ना० त्रि०

उपनिषद्—उपनिषद् को मुनियों ने वेद का शिरोभाग और वेदान्त कहा है। यह संस्कृत वाङ्मय के उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें सबसे पहली बार तत्त्वचिन्तन की चेष्टा की गयी थी। ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि दार्शनिक विषयों का मौलिक विवेचन इन ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया था। वेदान्त, सांख्य इत्यादि षट्-दर्शनों का विकास इन्हीं ग्रन्थों के द्वारा हुआ था। धर्म की दृष्टि से ये वेदों के समान माने जाते हैं, यद्यपि प्राचीनता में इनका स्थान वेदों के बाद है। उपनिषदों की संख्या के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् केवल चार उपनिषदों को प्रामाणिक मानते हैं। 'सर्वोपनिषदर्थानुभूति प्रकाश' ग्रन्थ में विद्यारण्य

स्वामी ने बारह उपनिषदों को प्रधान माना है। मुक्तिकोपनिषद् में १०८ के नाम मिलते हैं। आधुनिक खोजों के आधार पर इनकी संख्या २३५ है। इनमें छान्दोग्य, केन, ईश, कठ और बृहदारण्यक प्रमुख हैं। उपनिषदों में तत्त्वचिन्तन के चार मुख्य विषय है—(१) आत्मा की व्यापकता, (२) आत्मा का देहान्तर या पुनर्जन्म ग्रहण, (३) सृष्टि तत्त्व और (४) प्रलय तत्त्व।

—ज० प्र० श्री०

उपमन्यु (वासिष्ठ)—वसिष्ठ-कुल के श्री व्याघ्रपाद के पुत्र थे। इनकी माता का नाम अम्बा था। आयोदधौम्य इनके गुरु थे। इनकी प्रसिद्धि का कारण इनकी गुरुभक्ति है। गुरु की आज्ञा से ये गोचारण करते थे। इनके जीविकोपार्जन का साधन भिक्षा थी। इनके स्थूलकाय को देखकर एक दिन आयोदधौम्य ने इसका कारण पूछा और इनकी भिक्षावृत्ति की बात जानकर उसका निषेध किया। अन्त में इनकी परीक्षा लेने के लिए निराहार रहने का आदेश दिया। एक दिन भूख से व्याकुल होकर इन्होंने अर्कपत्र खा लिया जिससे ये अन्धे हो गये और फलस्वरूप एक कुएँ में गिर पड़े। इनके गुरु ने इनकी खोज की और इन्हे विपन्नावस्था में देखकर अश्विनीकुमारो की स्तुति करने का निर्देश दिया। इनके स्तवन से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने इन्हें ओषध दी। उस ओषध को खाने के लिए इन्होंने गुरु से आज्ञा लेनी चाही। इस पर अश्विनीकुमारो ने प्रसन्न होकर इन्हे दिव्य चक्षु प्रदान किया। गुरु के आशीर्वाद से इन्हें वेदशास्त्रादि का ज्ञान हुआ। नन्दिकेश्वरकृत काशिका पर टीका, अर्द्धनारीश्वराष्टक, तत्त्वविमर्षिणी, शिवाष्टक, शिवस्तोत्र और उपमन्यु निरुक्त इनके छः प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

—ज० प्र० श्री०

उपरिचर—इनका अन्य नाम वसु भी है। इनके पिता का नाम कृती (मतान्तर से कृतयज्ञ, कृतक) था। ये चन्द्रवंशी सुधन्वा के वंशज थे। प्रत्यग्रह, कुशाम्ब (मणि वाहन), वृहद्रथ (महारथ), मावेल्ल और मत्स्य (यदु) इनके पाँच पुत्र थे तथा मत्स्यगन्धा कन्या। इन्हे मृगया का व्यसन था। कालान्तर में यह व्यसन छूट गया और इन्हें तपश्चर्या के प्रति विशेष अनुराग हो गया। इनकी साधना देखकर इन्द्र को अपना आसन छिन जाने की आशंका होने लगी जिससे इन्द्र ने इन्हें विरत करने के लिए इनके पास देवताओं को भेजा। इन्होंने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इससे इन्द्र ने प्रसन्न होकर इन्हें एक वैजयन्ती माला तथा स्फटिक का विमान भेंट किया था।

—ज० प्र० श्री०

उपसुंद—निकुम्भ अथवा निसुन्द नामक राक्षस का छोटा लड़का था। यह हिरण्यकशिपु का वंशज था। इसके बड़े भाई का नाम सुन्द था। इन दोनों भाइयों ने विन्ध्याचल पर्वत पर कठोर तपस्या की। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने दोनों भाइयों को वरदान दिया कि वे आपस में लड़कर भले ही अपने प्राण त्याग दें लेकिन अन्य कोई उनका वध न कर सकेगा। शक्ति प्राप्त कर सुन्द और इसने अत्यधिक अत्याचार किया। इनके अत्याचार से त्रस्त होकर देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। ब्रह्मा ने देवताओ का दुःख दूर करने के लिए विश्वकर्मा को एक अनुपम सुन्दरी का निर्माण करने का आदेश दिया। विश्वकर्मा ने सृष्टि के सुन्दर उपकरणों से तिल-तिलभर सुन्दरता लेकर तिलोत्तमा अप्सरा की रचना की। जब तिलोत्तमा दोनों भाइयों के सामने पहुँची तो दोनों ही उस पर आसक्त होकर उसे हस्तगत करने के लिए लड़ बैठे। फलस्वरूप दोनो ही एक-दूसरे के हाथ से मारे गये (दे० 'तिलोत्तमा' : मैथिलीशरण गुप्त)।

—ज० प्र० श्री०

उपेंद्रनाथ अश्क—जन्म पंजाब प्रान्त के जालन्धर नामक नगर में १४ दिसम्बर १९१० को एक मध्यवित्त के ब्राह्मण परिवार में हुआ। ये छ. भाइयों में दूसरे हैं। इनके पिता पण्डित माधोराम स्टेशन मास्टर थे। जालन्धर से मैट्रिक और वहीं के डी० ए० वी० कालेज से इन्होंने १९३१ में बी० ए० की परीक्षा पास की। बचपन से ही अश्क अध्यापक बनने, लेखक और सम्पादक बनने, वक्ता और वकील बनने, अभिनेता और डायरेक्टर बनने और थियेटर अथवा फिल्म में जाने के अनेक सपने देखा करते थे। बी० ए० पास करते ही ये अपने ही स्कूल में अध्यापक हो गये, पर १९३३ में उसे छोड़ दिया और जीविकोपार्जन हेतु साप्ताहिक पत्र 'भूचाल' का सम्पादन किया और एक अन्य साप्ताहिक 'गुरु घण्टाल' के लिए प्रति-सप्ताह एक रुपये में एक कहानी लिखकर दी। १९३४ में अचानक सब छोड लॉ कालेज में प्रवेश लिया और १९३६ में लॉ पास किया। पर उसी वर्ष लम्बी बीमारी और प्रथम पत्नी के देहान्त के बाद इनके जीवन में एक अपूर्व मोड़ आया। १९३६ के बाद अश्क के लेखक व्यक्तित्व का अति उर्वर युग प्रारम्भ हुआ। अश्क ने इससे पहले भी बहुत लिखा था। उर्दू में 'नव-रत्न' और 'औरत की फितरत' उनके दो कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके थे। प्रथम हिन्दी कहानी संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत' (१९३३) की अधिकाश कहानियाँ उर्दू मे छप चुकी थीं।

जैसा कि अश्क ने स्वयं लिखा है, '१९३६ के पहले की ये कृतियाँ उतनी अच्छी नहीं बनीं। वे आदर्शोन्मुख, कल्पनाप्रधान अथवा कोरी रोमानी थीं। अनुभूति का स्पर्श उन्हें कम मिला था।' १९३६ के बाद अश्क की कृतियों में सुख-दुःखमय जीवन के व्यक्तिगत अनुभव से अद्भुत रंग भर गया। 'उर्दू काव्य की एक नयी धारा' (आलोचना ग्रन्थ), 'जय पराजय' (ऐतिहासिक नाटक), 'पापी', 'वेश्या', 'अधिकार का रक्षक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'जोंक', 'पहेली' और 'आपस का समझौता' (एकांकी), 'स्वर्ग की झलक' (सामाजिक नाटक); कहानीसंग्रह 'पिंजरा' की सभी कहानियाँ, 'छींटे' की कुछ कहानियाँ और 'प्रात प्रदीप' (कविता संग्रह) की सभी कविताएँ उनकी पत्नी की मृत्यु (१९३६) के दो ढाई साल के ही अल्प समय में लिखी गयीं।

अश्क उर्दू से हिन्दी में लिखने तो १९३५ मे ही लगे थे पर हिन्दी में अधिकाश कृतियाँ उन्होंने इसी ढाई वर्ष की अवधि में लिखीं। १९३९ में अश्क पौने दो साल के लिए प्रीतनगर चले गये। वहाँ से निकलने वाली एक मासिक पत्रिका के उर्दू-हिन्दी दोनो संस्करणों का सम्पादन करने लगे। यहाँ उन्होंने कुछ कहानियों के अतिरिक्त 'छठा बेटा' नाटक और 'गिरती दीवारें' उपन्यास का काफी भाग लिखा।

१९४१ में दूसरा विवाह किया। उसी वर्ष आल इण्डिया रेडियो में नौकरी की। १९४५ के दिसम्बर में बम्बई के फिल्म जगत् के निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ फिल्मों में लेखन कार्य करने लगे।

१९४७-४८ में निरन्तर अस्वस्थ रहे। पर यह उनके साहित्यिक सर्जन की उर्वरता का स्वर्ण-समय था। १९४८ से १९५३ तक अश्क दम्पत्ति (पत्नी कौशल्या अश्क) के जीवन में संघर्ष के वर्ष रहे। पर इन्हीं दिनों अश्क यक्ष्मा के चंगुल से बचकर इलाहाबाद आये, नीलाभ प्रकाशन गृह की व्यवस्था की, जिससे उनके सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व को रचना और प्रकाशन दोनों दृष्टि से सहज पथ मिला।

अश्क ने कहानी, उपन्यास, निबन्ध, लेख, संस्मरण, आलोचना, नाटक, एकांकी, कविता आदि के क्षेत्रों में कार्य किया है।

नाटक के क्षेत्र में १९३७ से लेकर उन्होंने जितनी कृतियाँ सम्पूर्ण नाटक और एकांकी के रूप में लिखी है, सब प्रायः अपने लेखनकाल के उपरान्त उसी वर्ष क्रम से प्रकाशित हुई है।

नाटक—१. 'जय पराज्य' (१९३७), २ 'स्वर्ग की झलक' (१९३९); ३. 'छठा बेटा' (१९४०), ४. 'कैद और उड़ान' (१९५०) ५. 'पैंतरे' (१९५३), ६. 'अलग-अलग रास्ते' (१९५४), ७. 'आदर्श और यथार्थ' (१९५४), ८ 'अंजोदीदी' (१९५५), एकांकी-'पापी' (१९३८), 'वेश्या' (१९३८), 'लक्ष्मी का स्वागत' (१९३८), 'अधिकार का रक्षक' (१९३८), 'जोंक' (१९३९), 'आपस का समझौता' (१९३९), 'पहेली' (१९३९), 'विवाह के दिन' (१९४०), 'देवताओं की छाया में' (१९३९), 'खिड़की' (१९४१), 'सूखी डाली' (१९४१), 'चमत्कार' (१९४१), 'नया पुराना' (१९४१), 'बहनें' (१९४२), 'कामदा' (१९४२), 'मेमूना' (१९४२), 'चिलमन' (१९४२), 'चरवाहे' (१९४८), 'चुम्बक' (१९४२), 'तौलिये' (१९४३), 'भँवर' (१९६१), 'आदि मार्ग' (१९५०), 'पक्का गाना' (१९४४), 'तूफान से पहले' (१९४७), 'कइसा साब कइसी आया' (१९४६), 'अन्धी गली के आठ एकांकी' (१९५६), 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' (१९५१), 'बतसिया' (१९५०), 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' (१९५०), 'मस्केबाजों का स्वर्ग' (१९५१), 'साहब को जुकाम है' (१९५४-५९ के एकांकी)। उपन्यास—'सितारों के खेल' (१९४०), 'गिरती दीवारें' (१९४७), 'गर्म राख' (१९५२), 'बड़ी-बड़ी आँखें' (१९४५) तथा 'पत्थर अलपत्थर' (१९५७). 'शहर में घूमता आइना' (१९६३), 'एक नन्हीं किंदील' (१९६९)। कहानियाँ—'अंकुर', 'नासूर', 'चट्टान', 'डाची', 'पिजरा', 'गोखरू', बैगन का पौधा', 'मेमने', 'दालिये', 'काले साहब', 'बच्चे', 'उबाल', 'केप्टन रशीद आदि अश्क की प्रतिनिधि कहानियों के नमूने सहित कुल डेढ़-दो सौ कहानियों में अश्क का कहानीकार व्यक्तित्व सफलता से व्यक्त हुआ है। काव्य-ग्रन्थ-'दीप जलेगा' (१९५०), 'चाँदनी रात और अजगर', (१९५२), 'बरगद की बेटी' (१९४९)। संस्मरण—'मण्टो मेरा दुश्मन' (१९५६)। निबन्ध, लेख, पत्र, डायरी और विचार ग्रन्थ—'ज्यादा अपनी कम परायी' (१९५९), 'रेखाएँ और चित्र' (१९५५)। अनुवाद—'रंग साज' (१९५८)—रूस के प्रसिद्ध कहानीकार 'ऐंटन चेखव' के लघु उपन्यास का अनुवाद, 'ये आदमी ये चूहे' (१९५०)—स्टीन बैक के प्रसिद्ध उपन्यास 'आव माइस एण्ड मैन' का अनुवाद, 'हिज एक्सेलेन्सी' (१९५९)—अमर कथाकार 'दास्तवस्की' के लघु उपन्यास 'डर्टी स्टोरी' का हिन्दी अनुवाद। सम्पादन—'प्रतिनिधि एकांकी' (१९५०), रंग एकांकी' (१९५६), 'संकेत' (१९५३)।

सृजन की इतनी क्षमता से सहज ही अश्क की लेखन-शक्ति और भाव जगत की समृद्धता का अनुमान लगाया जा सकता है। उपन्यास, नाटक, कहानी और काव्य-क्षेत्र में अश्क की उपलब्धि मुख्यतः नाटक, उपन्यास और कहानी में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में यथार्थवादी परम्परा के उपन्यास हैं।

सम्पूर्ण नाटकों में 'छठा बेटा', 'अंजोदीदी' और 'कैद' अश्क की नाट्यकला के सफलतम उदाहरण है। 'छठा बेटा' के शिल्प में हास्य और व्यंग; 'अंजोदीदी' के स्थापत्य में व्यावहारिक रंग-मंच के सफलतम तत्त्व और शिल्प का अनूठापन तथा 'कैद' में स्त्री का हृदयस्पर्शी चरित्र-चित्रण तथा उसके रचना-विधान में आधुनिक नाट्यतत्व की जैसी अभिव्यक्ति हुई है उससे अश्क की नाट्य कला और रंग-मंच के परिचयका संकेत मिलता है। एकांकी नाटकों में 'भँवर', 'चरवाहे', 'चिलमन', 'तौलिए' और 'सूखी डाली' अश्क की एकांकी कला के सुन्दरतम् उदाहरण है। सभी एकांकी रंगमंच के स्वायत्त अधिकारी है।

अश्क की कहानियाँ प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अथवा विकास-क्रम से प्राप्त विशुद्ध यथार्थवादी परम्परा की हैं। कहानी-कला और रचना-शिल्प स्पष्ट कथा-तत्व के सहित मूलत. चरित्र के केन्द्र बिन्दु से पूर्ण होता है। अश्क के समस्त चरित्र उपन्यास, नाटक अथवा कहानी किसी भी साहित्य प्रकार में जो आये हैं, वे सर्वथा यथार्थ हैं। उनसे सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की समस्त समस्याओं-राग द्वेषका प्रतिनिधित्व होता है।

[सहायक ग्रन्थ—१. ज्यादा अपनी कम परायी : उपेन्द्र नाथ 'अश्क'; २. नाटककार 'अश्क' : नीलाभ प्रकाशन।]

—ल० ना० ला०

उभयबाई—भक्तमाल के अनुसार यह दो राजकुमारियों का सामूहिक नाम है। ये दोनों ही अत्यन्त साधु स्वभाव की थीं। एक बार सन्तों के दर्शन के लोभ में यह सोचकर कि इनके पुत्रों के मर जाने पर इनका रोना-धोना सुनकर सन्त लोग अवश्य आयेंगे, अपने लड़कों को विषपान करा दिया। हुआ वही जो दोनों कन्याओं ने सोचा था। लड़कों के मृत होने पर इनका करुण विलाप सुनकर सन्त लोग आये। अपने प्रति इनके प्रेम-भाव को जानकर सन्तो ने इनके बालको को फिर से जीवनदान दिया तथा इनका नाम उभयबाई रखा।

—ज० प्र० श्री०

उभयभारती—ये मण्डन मिश्र की पत्नी थीं। इनके अन्य नाम शारदा तथा सरसवाणी भी मिलते है। शंकराचार्य जिस समय अपनी दिग्विजय सम्बन्धी यात्रा करते हुए मिथिला पहुँचे तो उन्होंने मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया। इस पर मण्डन मिश्र की पत्नी उभयभारती ने शंकराचार्य को कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ करने के लिए चुनौती दी। शंकराचार्य उस समय तो इस चुनौती को स्वीकार न कर सके किन्तु कालान्तर में कामशास्त्र का विशेष अध्ययन कर उन्होंने इन्हें पराजित किया जिससे कि पति-पत्नी दोनों को उनका

अनुयायी होने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

—ज० प्र० श्री०

उमर—इस्लाम के अनुसार उमर मोहम्मद साहब के सोहाबी (मित्र) थे। मोहम्मद साहब के पश्चात् 'खिलाफत' (नमाज पढ़ाने) का कार्य इन्ही को मिला था। 'उमर' की न्यायपरायणता अत्यन्त प्रसिद्ध है। मुसलमानों का विश्वास है कि डाक-व्यवस्था का सूत्रपात उमरने ही किया (दे० 'काव्बाकर्बला)

—रा० कु०

उमा—मेनका के गर्भ से उत्पन्न, हिमालय की औरस पुत्री। महादेव इनके पति थे। महादेव को वररूप मे पाने के लिए ये कठोर तपसया कर रही थी। अपनी चिन्ता न करते देख एक दिन इनकी माता ने इनसे कहा था—'उ, मा' अर्थात् इतनी कठोर तपस्या मत करो। उसी समय से इनका नाम उमा हो गया। इन्होंने दु:साध्य साधना करके महादेव को पतिरूप मे प्राप्त किया। उमा का प्रथम उल्लेख केन उपनिषद् में अन्य देवताओं के साथ मिलता है। इनके अनेक नाम है—'नाम उमा, अबिका भवानी' (मा० १।६७।१)। 'मानमजरी नाममाला' (नददास) मे अपर्णा, ईश्वरी, गौरी, गिरिजा, मृडा, चडिका, भवा, मेनकजा, आर्या, अजा, सर्वमगला, माया आदि अन्य नामान्तर मिलते है।

—ज० प्र० श्री०

उमाशंकर शुक्ल—जन्म १९०९ ई० में। प्रयाग विश्व विद्यालय से एम० ए० करने के उपरान्त वहीं सूरसागर' की पाठ समस्यां पर कार्य करना आरम्भ किया। मध्यकालीन साहित्य और साहित्य शास्त्र के विशेषज्ञों में प्रमुख। इसके अतिरिक्त आपका विशेष कार्य पाठ-विज्ञान के क्षेत्र मे है। इस अपेक्षाकृत नवीन क्षेत्र मे आपका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। 'नन्ददास' की समस्त रचनाओं का पाठ आपने सम्पादित करके प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराया है। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' का भी आपने वैज्ञानिक पद्धति से संस्करण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः हिन्दी पाठालोचन के क्षेत्र में आपका कार्य आधार-शिला के रूप में है। आप हिदुस्तानी एकेडेमी के सचिव थे। आपकी मृत्यु २८ जुलाई १९८० को हुई।

—सं०

उमेशचन्द्र देव मिश्र—जन्म फर्रुखाबाद में १९०४ ई० में वैद्यक की शिक्षा प्राप्त की, पर रुचि सदैव साहित्य और पत्रकारिता में रही। 'सरस्वती' के सम्पादकीय विभाग में रहे। १९५१ मे मृत्यु हो गयी।

कृतियाँ—'विश्वकवि रवीन्द्रनाथ', 'वंचिता', 'प्रतिरोध' और 'अतीत के बिखरे पत्र।'

उमेश मिश्र—जन्म बिनही जिला दरभंगा में १८९७ ई० मे। शिक्षा एम० ए०; डी० लिट्, महामहोपाध्याय। आप भारतीय दर्शन के मान्य विद्वानों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपकी अधिकांश कृतियाँ अंग्रेजी में हैं किन्तु सन् १९५७ ई० में 'भारतीय दर्शन' नाम से एक उच्चकोटि की रचना हिन्दी में भी प्रकाशित हुई है। अपनी इस अकेली हिन्दी रचना से ही हिन्दी में दार्शनिक विषयों पर लिखने वाले लेखकों में आपका विशिष्ट स्थान सुरक्षित हो जाता है। आपकी लगभग ३० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है, जिनमे कुछ ये हैं— अंग्रेजी :'कान्सेप्शन ऑव मैटर एकार्डिंग टू नव्य वैशेषिक फिलासफी' (१९३६ ई०), 'निम्बार्क स्कूल ऑव वेदान्त' (१९४० ई०), 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी' (१९५७ ई०), सस्कृत : महादेव पुन्ताम्बेकर का न्याय कौस्तुभ' (१९३० ई०) तथा 'भारतीय दर्शन' (हिन्दी मे)

श्री० शु०

उर्वशी—नारायण की जंघा से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है। पद्म पुराण के अनुसार कामदेव के ऊरू से इसका जन्म हुआ था। श्रीमद्भागवत के अनुसार यह स्वर्ग की सर्वसुन्दर अप्सरा थी। एक बार इन्द्र की सभा में नाचते समय राजा पुरु के प्रति आकृष्ट हो जाने के कारण ताल बिगड़ गया। इस आपराध के कारण इन्द्र ने रुष्ट होकर मर्त्यलोक में रहने का अभिशाप दे दिया। मर्त्यलोक में इसने पुरु को अपना पति चुना किन्तु शर्त यह रखी कि यदि वह पुरु को नग्न अवस्था मे देख ले, या पुरुरवा उसकी इच्छा के प्रतिकूल समागम करे अथवा उसके दो भेष स्थानान्तरित कर दिये जायँ तो वह उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर स्वर्गलोक जाने के लिए स्वतन्त्र हो जायेगी। उर्वशी और पुरुरवा बहुत समय तक पति-पत्नी के रूप मे साथ-साथ रहे। इनके नौ पुत्र आयु, अमावसु, विश्वायु, श्रुतायु, दृढायु, शतायु आदि उत्पन्न हुए। दीर्घ अवधि बीतने पर गन्धर्वो को उर्वशी की अनुपस्थिति अप्रिय प्रतीत होने लगी। गन्धर्वो ने विश्वावसु को उर्वशी के मेष चुराने के लिए भेजा। जिस समय विश्वावसु मेष चुरा रहा था, उस समय पुरुरवा नग्नावस्था में थे। आहट पाकर वे उसी अवस्था में विश्वावसु को पकड़ने दौडे। अवसर से लाभ उठाकर गन्धर्वो ने उसी समय प्रकाश कर दिया जिससे उर्वशी ने पुरुरवा को नग्न देख लिया। आरोपित प्रतिबन्धों के टूट जाने पर उर्वशी शाप से मुक्त हो गयी और पुरुरवा को छोड़कर स्वर्गलोक चली गयी। महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक की कथा का आधार उक्त प्रसग ही हैं। महाभारत की एक कथा के अनुसार एक बार जब अर्जुन इन्द्र के पास अस्त्र-विद्या की शिक्षा लेने गये थे तो उर्वशी इन्हें देखकर मुग्ध हो गयी थी। अर्जुन ने उर्वशी को मातृवत् देखा, अतः उसकी इच्छा पूर्ति न करने के कारण इन्हे शापित होकर एक वर्ष तक पुस्त्व से वंचित रहना पड़ा। रामाधारी सिंह 'दिनकर' ने उर्वशी की कथा को काव्य रूप प्रदान किया है।

—ज० प्र० श्री०

उर्वशी—१९६१ में प्रकाशित इस काव्य-नाटक में दिनकर ने उर्वशी और पुरुरवा के प्राचीन आख्यान को एक नये अर्थ मे जोड़ना चाहा है। इस कृति में पुरुरवा और उर्वशी अलग-अलग तरह की प्यास लेकर आये हैं। पुरुखा धरती पुत्र है ओर उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है। पुरुखा के भीतर देवत्व की तृषा है और उर्वशी सहज निश्चित भाव मे पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है। 'उर्वशी' का दर्शन-पक्ष है—प्रेम और ईश्वर, जैव और आत्म धरातल को परस्पर मिलाना। वैसे तो यह एक शाश्वत प्रश्न है जो इस युग के मूलभूत प्रश्नो मे जुड़ता नहीं दीखता, किन्तु प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि धरती और स्वर्ग, स्वर्ग और धरती के मिलने के स्वर को ऊँचा करना और उपेक्षित धरती की महत्ता स्थापित करना मुख्यतः आज की प्रवृत्ति है। उर्वशी की चर्चा को दार्शानिक उहापोह से

निकालकर काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाये तो निश्चय ही कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ लक्षित होंगी। उर्वशी प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है। प्रेम और सौन्दर्य की मूलधारा में जीवन दर्शन संबंधी अन्य छोटी-छोटी धाराएँ आकर मिल जाती हैं। प्रेम और सुन्दर का विधान कवि ने बहुत व्यापक धरातल पर किया है। समस्त परिवेश इससे अनुप्राणित हो उठा है। कवि ने प्रेम की छवियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पहचाना है। प्रेम भी निर्विकल्प की अवस्था नही है, उसमें भी अनेक स्फुलिंग उड़ा करते है और मन को शांत करने के स्थान पर बेचैनी से भर देते है। दिनकर की भाषा में हमेशा एक प्रत्यक्षता और सादगी दिखी है, परन्तु उर्वशी मे भाषा की सादगी अलंकृति और अभिजात्य की चमक पहन कर आयी है—शायद यह इस कृति की वस्तु की माँग रही हो।

—कृ० श० पा०

उर्मिला १—वाल्मीकि रामायण मे लक्ष्मण की पत्नी के रूप में उर्मिला का नामोल्लेख मिलता है। महाभारत, पुराण तथा काव्य मे भी इससे अधिक उर्मिला का कोई परिचय नहीं मिलता। केवल आधुनिक काल मे उर्मिला के विषय मे विशेष सहानुभूति प्रकट की गयी है। युग की भावना से प्रेरित होकर आधुनिक युग में दलितों, पतितो और उपेक्षितो के उद्धार के जो प्रयत्न किये गये हैं उनमें प्राचीन काव्यों के विस्मृत और उपेक्षित पात्रों, विशेषकर स्त्री पात्रों का भी अन्यतम स्थान है। सर्वप्रथम महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने अपने एक निबन्ध में अत्यन्त भावुकतापूर्ण शैली में उपेक्षिता उर्मिला का स्मरण किया और आदि कवि वाल्मीकि तथा अन्य परवर्ती कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता की आलोचना की। उसी लेख से प्रेरणा लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में एक लेख लिखा और कवियों को उर्मिला का उद्धार करने का आह्वान किया। मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी के लेख से प्रेरणा लेकर 'उर्मिला-उत्ताप' रचना प्रारम्भ की। 'उर्मिला-उत्ताप' के चार सर्ग सन् १९२० के पहले ही रचे जा चुके थे किन्तु बाद में गुप्त जीने अपनी रचना को सम्पूर्ण रामकथा का रूप देने का विचार किया और इसे 'साकेत' के नाम से रचकर प्रकाशित किया। राम कथा में उर्मिला जैसे एक गौण पात्र को जितनी प्रमुखता दी जा सकती थी, गुप्त जी ने उसे देने का भरपूर प्रयत्न किया। उन्होंने उर्मिला के अल्पकालीन संयोग का मनोहर चित्र देकर उसके दीर्घ और दारुण वियोग का अत्यन्त मार्मिक और प्रभावशाली चित्र देने में सफलता प्राप्त की। 'साकेत' के नवम सर्ग में उर्मिला के विरही जीवन के बड़े ही मर्मस्पर्शी चित्र मिलते हैं। गुप्तजी ने इस चित्रांकन में प्राचीन कवियों के वर्णनों और उक्तियों का प्रयोग कर अपने काव्यानुशीलन का भी परिचय दिया है। 'साकेत' के अन्तिम सर्ग में लक्ष्मण और उर्मिला का पुनर्मिलन वैसा ही हृदयावर्जक है, जैसा कि प्रथम सर्ग में वर्णित उनका संयोगसुख आह्लादकारी है। उर्मिला विषयक कुछ अन्य रचनाएँ भी हुई जिसमें बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' का 'उर्मिला' शीर्षक खण्डकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। इस खण्डकाव्य में केवल उर्मिलाविषयक घटना प्रसंगों को लेने के कारण कवि कथानक की एकात्मकता और स्वतन्त्रता को अधिक सुरक्षित रख सका है (दे० 'साकेत' : मैथिलीशरण गुप्त; 'उर्मिला' . बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')।

—यो० प्र० सि०

उर्मिला २—वीरपुंगव लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला मैथिलीशरण गुप्तकृत महाकाव्य 'साकेत' की नायिका है। वह अनिंद्य सुन्दरी, ललित कलानिपुण एवं सुसंस्कृत कुलवधू है। सर्वप्रथम वह एक प्रेमिका के रूप में उपस्थित होती है तथा उसका प्रेम भोग-प्रधान है। परन्तु अवसर आने पर वह बलिदान करती है। लक्ष्मण जब राम के साथ वनगमन का निश्चय कर लेते है तब उर्मिला अपने मन को प्रिय-पथ का विघ्न नही बनने देती। पति को कर्तव्य पालन से विमुख न कर स्वयं चौदह वर्ष के विरह का वरण करती है। विरहिणी उर्मिला की वेदना अपार है। परिस्थिति की विषमता उसके विरह को और भी करुण बना देती है। परन्तु वह ईर्ष्याद्वेष से सर्वथा मुक्त है। विरह-काल में उसके हृदय का और भी प्रसार हो जाता है। क्षुद्र जीवों और प्रकृति के प्रति भी उसके मन में सहानुभूति उत्पन्न होती है। उर्मिला का विरह नित्य-प्रति के पारिवारिक जीवन मे प्रतिफलित हुआ है। अतएव संयमित एवं मर्यादित है। वह एक वीर नारी के रूप मे भी उपस्थित होती है—अयोध्या की सेना के साथ लंका प्रस्थान को प्रस्तुत है। कुल मिलाकर उर्मिला एक अनन्य प्रेमिका, आदर्श पत्नी तथा कुलवधू है।

—उ० का० गो०

उलूपी—ऐरावत वंश के कौरव्य नामक नाग की कन्या थी। इस नाग कन्या का व्याह एक नाग से हुआ था। इसके पति को गरुड़ने मारकर खा लिया जिससे यह विधवा हो गयी। एक बार अर्जुन, जो प्रतिज्ञा भग करने के कारण बारह वर्ष का वनवास कर रहे थे, ब्रह्मचारी के वेश में तीर्थाटन करते हुए गंगा द्वार के निकट पहुँचे जहाँ इससे उनका साक्षात्कार हुआ। उलूपी अर्जुन को देखकर उनपर विमुग्ध हो गयी। वह अर्जुन को पाताल लोक में ले गयी और उनसे विवाह करने का अनुरोध किया। अपनी मनोकामना पूर्ण होने पर उसने अर्जुन को समस्त जलचरों का स्वामी होने का वरदान दिया। जिस समय अर्जुन नागलोक में निवास कर रहे थे, उस समय चित्रागदा से उत्पन्न अर्जुन का पुत्र बभ्रुवाहन, जो अपने नाना, मणिपुर नरेश का उत्तराधिकारी था, उनके स्वागत के लिए उनके पास आया। बभ्रुवाहन को युद्ध-सज्जा में न देखकर यथोचित व्यवहार नहीं किया। उलूपी बभ्रुवाहन की देख-रेखकर चुकने के कारण उस पर अपना प्रभाव रखती थी। उसने बभ्रुवाहन को अर्जुन के विरुद्ध भड़काया। फलतः पिता और पुत्र में युद्ध हुआ उलूपी की माया के प्रभाव से बभ्रुवाहन अर्जुन को मार डालने में समर्थ हुआ किन्तु अपने इस कार्य के लिए उसे इतना दुःख हुआ कि उसने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया। बभ्रुवाहन के सकल्प को जानकर उलूपी ने एक मणि की सहायता से अर्जुन को पुनः जीवनदान दिया। विष्णुपुराण के अनुसार अर्जुन से उलूपी ने इरावान् नामक पुत्र को जन्म दिया। उलूपी अर्जुन के सदेह स्वर्गारोहण के समयतक उनके साथ थी।

—ज० प्र० श्री०

उषादेवी मित्रा—१८९७ ई० मे जबलपुर में जन्म हुआ। लगभग १५ पुस्तकों की लेखिका हैं जिनमें 'वचन का मोल'

'नष्ट नीड़' और 'सोहनी' नामक उपन्यास तथा 'सन्ध्या', 'पूर्वी', 'रात की रानी' कहानी—संग्रह मुख्य है।

उषा देवी मित्रा की कहानियाँ विशेष रूप से प्रेमचन्द और उत्तर प्रेमचन्द काल के लेखको से भिन्न है। रोमानी जीवन की घटनाओ में अनुभूति का एक सर्वथा नया बिन्दु ढूंढ़ निकालना और समस्त कहानी के रचना—विधान मे उस एक छोटे बिन्दु को ऐसे केन्द्र में रखकर समस्त घटना को नया सन्दर्भ और नया परिप्रेक्ष्य दे देना कि सर्वथा नया अनुभव हो जाय, आपकी कहानी की विशेषता है। यथार्थ के साक्ष्य मे मानव जीवन के अन्तरग मे उठने वाली छोटी-छोटी लहरिया को एक सार्थक रूप दे देना उषा देवी मित्रा की कहानियो की मूलभूत धारणा है। नारी सुलभ कोमलता से द्रवित, उसकी करुणा और पीड़ा को यथार्थवादी रूप में चित्रित करने के साथ-साथ, रोमानी तत्त्वो के मधुर वातावरण मे जीवन और उसके भाग्य को साकार रूप मे देखना, शायद यही लेखिका की कहानियों की प्रमुख विशेषता है।

उपन्यासों में कहानी की यह शैली केवल 'नष्ट नीड़' में उभर कर आयी है। कहानी की तात्कालिक अनिवार्यता उपन्यास के रचना-विधान मे तीव्रता खो देती है इसीलिए अनुभूति होने के बावजूद उषा देवी मित्रा के उपन्यासों म वह ताजगी और आभिजात्य गुण नही मिल पाता। फिर भी भाषा नितान्त यथार्थोन्मुखी और घटनाएँ सजीव, कोमल एव मानवीय होने के साथ-साथ बहुत सुन्दर प्रभाव डालती हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण लेखन शैली, नारी सुलभ कोमलता, भावपक्ष के चित्रण और मानवीय विशिष्टता को देखते हुए लगता है कि महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' में जिस मानवीय करुणा, सन्निकटता और सहजता को अत्यन्त निश्छलता के साथ विकसित किया था, 'उसी सवेदना और उसी वातावरण को सर्वथा नये सन्दर्भों के साथ जोड़कर उषा देवी मित्रा ने उस परम्परा में एक नयी कड़ी जोड़ी है। सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों में लक्ष्यपूर्ति की ओर विशेष आग्रह मिलता है लेकिन उषा देवी मित्रा की शैली उस भावुकता से ऊपर उठ जाती है।

—ल० का० व०

उसमान १—इस्लाम धर्म के अनुसार ये 'हजरत उसमान गनी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब के बाद 'खिलाफत' (काबे में नमाज पढ़ाने का कार्य) का पद तीसरी बार इन्हें ही समर्पित किया गया था। 'गनी' इनका खुदा का दिया हुआ नाम कहा जाता है। इस्लामी विश्वासों के अनुसार मुहम्मद साहब के पास आकाशवाणी से खुदा का संदेश स्फुट रूप में आता जाता था तथा पास बैठे हुए 'सोहाबी' (मित्र) उसे कहीं तखतियों पर और कहीं पत्तों पर लिखते जाते थे। इन सभी को क्रमानुसार संकलित करने के कारण ये 'जामे उल कुरान' कहलाये। मुसलमानों के बीच इनके व्यक्तित्व की उदारता, सहिष्णुता एवं शालीनता की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं (दे० 'काबा—कर्बला', पृ० २२)।

—रा० कु०

उसमान २—उसमान सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में उनकी रचना 'चित्रावली' का एक प्रमुख स्थान है। 'चित्रावली' के सिवा इनकी किसी और रचना का पता अभी तक नहीं चला है। हिन्दी के अन्य सूफी कवियों की तरह इनके भी जीवन के परिचय का एकमात्र आधार इनकी रचना 'चित्रावली' हैं। इन्होंने अपनी इस रचना में अपना जो भी परिचय दिया है उससे पता चलता है कि ये सूफी मत से प्रभावित तो थे, लेकिन मलिक मुहम्मद जायसी की नाई ये सूफी साधक नही थे। 'चित्रावली' की रचना इन्होंने इसलिए की कि इनका यश अमर रहे। अपनी रचना का उद्देश्य उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियों मे व्यक्त किया है—"भगवान् की कृपा से मैंने चार अक्षर पढ़ लिये हैं और मैंने देखा है कि ससार में सब कुछ तो नष्ट हो जाता है, लेकिन वाणी अमर है और यह ससार में अमृत के समान है जिसे पाकर कवि अमर हो जाते है।" अतएव ये कहते है—"मोहूँ चाउ उठा पुनि हीए। होऊँ अमर यह अमिरित पीए।।" ('चित्रावली', नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० १२)।

उसमान गाजीपुर के निवासी थे तथा इनके पिता का नाम शेख हुसेन था। उसमान के अनुसार गाजीपुर नगर सुख-शान्ति और समृद्धि से परिपूर्ण था। नगर में नाना प्रकार के गुणों से विभूषित लोग निवास करते थे। ज्ञानी, वीर, पिंगल और सगीत के जानकार सभी प्रकार के लोग गाजीपुर में थे। नाना प्रकार की जातियां, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, मुगल, पठान, वैश्य और शूद्र आदि से गाजीपुर सुशोभित था।

उसमान पाँच भाई थे। उसमान ने अपने अन्य चार भाइयो का भी परिचय दिया है। कवि ने बतलाया है कि इनके एक भाई का नाम शेख अजीज था जो बहुत बड़े विद्वान्, शीलवान् तथा दानी थे। दूसरे भाई इमानुल्लाह (मानुल्लाह) योग-मार्ग की साधना मे रत रहते थे। तीसरे भाई शेख फैजुल्लाह (सेख फेजुल्लह) एक बहुत बड़े वीर थे और चौथे भाई शेख हसन सगीत के अच्छे जानकार थे।

उसमान बादशाह जहाँगीर के काल मे हुए। उन्होंने 'चित्रावली' में शाहे वक्त की प्रशसा में जहाँगीर का नाम लिया है। जहाँगीर का शासनकाल सन् १६०५ ई० से सन् १६२७ ई० है। उसमान ने 'चित्रावली' में जहाँगीर की न्यायप्रियता और उसके घण्टे का उल्लेख किया है। उस काल में बादशाह के दरबार में आने वाले विदेशियों का भी उसमान ने वर्णन किया है। अंग्रेजों का नाम लेकर उनके आचार—विचार, खान-पान आदि की भी चर्चा की है। उसमान ने इस देश के बहुत से नगरों का भी नाम लिया है। इससे उसमान की बहुज्ञता का परिचय मिलता है। तत्कालीन समाज, रस्म-रिवाज, उत्सव-अनुष्ठान आदि का उसमान ने सुन्दर चित्रण किया है। समाज में प्रचलित आचार-विचार आदि का उसमान ने सूक्ष्म निरीक्षण किया था। उसमान में कविप्रतिभा तो थी ही साथ ही अपने आसपास की दुनिया को देखने की पैनी दृष्टि भी।

उसमान ने अपने गुरु का नाम बाबा हाजी बतलाया है। वे चिश्ती-सम्प्रदाय के थे। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उन पर श्रद्धा करते थे। उसमान ने उन्हें सिद्धि प्रदान करने वाला बतलाया है। चिश्ती सम्प्रदाय की जिस शाखा में बाबा हाजी अन्तर्भुक्त थे, उसके पीर नारनौलि के शाह निजाम चिश्ती थे। कवि उसमान के जीवन के सम्बन्ध में इससे अधिक ज्ञात नहीं, वैसे 'चित्रावली' के अध्ययन से पता चलता है कि वे विनयी, गुणी तथा उदार प्रकृति के थे।

कवि की दृष्टि से हिन्दी के सूफी कवियों में जायसी के बाद

उसमान को ही स्थान दिया जा सकता है। 'चित्रावली' में पद-पद पर कवि की काव्य-प्रतिभा, वाग्वैदग्ध्य और रचना-कौशल का परिचय मिलता है। कवि बड़े परिश्रम से काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसे सफलता भी मिली। कवि ने स्वय कहा है—"कहत करेज लोहू भा पानी। सोई जान पीर जिन्ह जानी।। एक एक वचन मोति जनु पोवा। कोऊ हँसा कोऊ सुनि रोवा।।" ('चित्रावली', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ १४)।

कवि भारतीय विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित था वैसे उसे सूफी परम्परा की भी जानकारी थी। नगर, उद्यान, नायिका के सौन्दर्य आदि के वर्णन मे कवि ने परम्परा का पालन पूरी मात्रा में किया है (दे० 'चित्रावली')।

(सहायक ग्रन्थ—जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य : सरला शुक्ल; हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका . रामपूजन तिवारी।)

—रा० पू० ति०

ऋषभचरण जैन—पहली जनवरी १९१२ को सराय सदर नामक स्थान पर जन्म हुआ। साहित्यलेखन और पत्रकारिता ही जीविका के साधन रहे। कुछ दिनोतक 'मानव' के उपनाम से भी लिखते रहे। भावुकतापूर्ण शैली में प्रेमचन्दयुगीन यथार्थवादी दृष्टि के लेखक है। विशेषतः उपन्यास और कहानियाँ ही लिखी हैं। १९२३ में आपका प्रथम उपन्यास 'भाई', १९२९ में दूसरा उपन्यास 'मास्टर साहब' और १९३० में 'रहस्यमयी' उपन्यास प्रकाशित हुए। १९३७ में दो कहानी संग्रह 'मन्दिर दीप' और 'चाँदनी रात' प्रकाशित हुए। सामाजिक जीवन और छोटी—छोटी घटनाओं पर आधारित ये कहानियाँ हिन्दी साहित्य मे एक विशेष स्थान रखती हैं। १९५५ में आपका नवीनतम उपन्यास 'वह कौन थी' प्रकाशित हुआ। जैन के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन के मध्यकालीन संस्कारों और आधुनिक युग के गतिमय जीवन के साथ-साथ आदर्शोन्मुखी यथार्थ के संघर्षों की सर्वाधिक झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। रोमानी प्रेम और गांधी युग के उदात्त आदर्शवाद—दोनों को आपने भारतीय जीवन की संस्कार बद्ध रूढ़ियों के साथ सफलतापूर्वक चित्रित किया है।

—ल० कां० व०

ऋषभदेव—जैनधर्म के प्रथम तीर्थकर माने जाते है। इन्हें 'आदि देव' भी कहा जाता है। पौराणिक साहित्य के विकास—क्रम में इन्हें भी विष्णु—अवतार के अंश रूप में लिया गया है। भागवत पुराण में इनका उल्लेख विष्णु के अंश के रूप में किया गया है। इनके पिता का नाम राजा नाभि तथा माता का नाम मेरू था। इनकी पत्नी जयन्ती अत्यन्त पतिव्रता थीं। ऋषभदेव के ९९ पुत्र पैदा हुए थे। सभी पुत्र नव-नव खण्डों के राजा हुए। ऋषभदेव के भरत नामक पुत्र ने भरत खण्ड का राज्य पाया था। भागवत में इनकी वंशावली भी दी हुई है। इनके वंश का सम्बन्ध ब्रह्मा के पुत्र स्वायंभू मनु से था। सूरदास ने सूरसागर के पद सं० ४०९ में इनका अवतार रूप में उल्लेख किया है।

—यो० प्र० सि०

ऋषिनाथ—उनका निवास-स्थान असनी जिला फतेहपुर था। ये जाति के ब्रह्म भट्ट और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता तथा भारतेन्दु के समसामयिक कविवर सेवक के प्रपितामह थे। इनके आश्रयदाता थे काशिराज बरिबण्ड (बलवन्त) सिह के दीवान रघुबरदयाल के पिता कायस्थ सदानन्द, जिनकी आज्ञा से इन्होंने 'अलंकारमणि-मंजरी' संज्ञक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। कुछ समय तक ऋषिनाथ काशिराज के भाई देवकीनन्द सिंह के यहाँ भी रहे। 'अलंकारमणि-मंजरी' का रचनाकाल मंगलवार १७ जनवरी, सन् १७७३ ई० है। इसका प्रकाशन आर्ययन्त्र, काशी से सन् १८८२ ई० में हुआ। इसमे कवि ने उपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, अनुमान, अपन्हुत्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा शब्दालंकार आदि का सांगोपांग एवं उत्कृष्ट विवेचन किया है। विषय-प्रतिपादन बड़ा सुबोध और सुन्दर है। यद्यपि इसमें घनाक्षरी और छप्पय छन्दों का भी प्रयोग किया गया है तथापि सबसे अधिक संख्या दोहो की ही है। इनकी कविता अच्छी और भावपूर्ण होती थी। रामचन्द्र शुक्ल ने इनका काव्य-काल सन्१७३३ से १७७४ ई० तक माना है। इनकी कविता के कुछ नमूने 'शिवसिंह सरोज' और 'दिग्विजय-भूषण' में मिलते हैं।

(सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (त्रै० ११); दि० भू०; शि० स०; हि०सा० इ०।)

—रा० त्रि०

एक घूँट—जयशंकर प्रसाद का नाटक जो १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। यह एकांकी नाटक है और विशेष उद्देश्य को लेकर इसकी रचना की गयी है। आदि से अन्त तक इसमें एक ही विषय का प्रतिपादन है, इसलिए इसे अन्यापदेशिक रचना अथवा रूपक(Allegory) कहना अधिक उचित होगा। एक अंक और एक दृश्य के इस नाटक में केवल कथोपकथन के द्वारा कथा को विकसित किया गया है और उसमें अधिक नाटकीय तत्वों का समावेश नहीं हो पाया है। तर्क और वार्तालाप के आधार पर संवादो की रचना कर ली गयी है। उन्हें बहुत प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता। कथा का प्रमुख घटनास्थल है-हरे भरे प्राकृतिक वन मे अरुणाचल आश्रम। वहाँ लोगों की जीवनयात्रा निराले ढंग से चलती है। नाटककार उन परिवारों में नागरिक तथा ग्रामीण जीवन की सन्धि पाता है, जिनका आदर्श है सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य। यदि समस्त एकांकी पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि जीवन और उसके उद्देश्य को लेकर नाटक के पात्र विचार-विमर्श करते हुए दिखाई देते हैं कुछ-कुछ दार्शनिकों की भाँति। जीवन के प्रति व्यावहारिक, सैद्धान्तिक, यथार्थवादी, आदर्शवादी अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। 'एक घूँट' के पात्र अपनी-अपनी जीवन—दृष्टियों से परिचालित हैं। आनन्द स्वतन्त्र प्रेम का पक्षपाती, यायावर प्रवृत्ति का एक सुन्दर युवक है। मुकुल में अपार उत्साह है और वह तर्क के सहारे आगे बढ़ना है। अरुणाचल आश्रम का मन्त्री कुण्डा एक सफल प्रबन्धकर्ता है और सदैव प्रसन्न रहता है। रसाल एक निश्छल हृदय का भावुक कवि है। वह प्रकृति और मनुष्य का निरीक्षण करने में व्यस्त रहता है। नारी पात्रों में वनलता भावुक कवि रसाल की पत्नी है जिसे अपने पति की भावुकता से घोर असन्तोष है। प्रेमलता मुकुल की बहिन लगती है जिसके हृदय में प्रेम की लालसा है। झाड़ूवाला एक सन्तोषी जीव है किन्तु उसकी पत्नी में इच्छाओं की अपूर्ति के

कारण कुण्ठाएँ है, विक्षोभ है।

इसमें प्रसाद की जीवन और जगत् के प्रति जो दृष्टि है वह प्रतिफलित हुई है। सिद्धान्त का प्रचार करने वाला आनन्द प्रायः आदर्शवादिता से परिचालित होता है। वह शैवागम के आनन्दवाद का पक्षपाती है। बुद्धि और हृदय, व्यावहारिकता और सैद्धान्तिकता के उभयपक्ष एकांकी में आये हैं। इन दोनो पक्षों के मिलान का समर्थन करते हुए नाटककार ने आनन्द के मुख से एक स्थान पर कहलाया है–"मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित सन्देश मे सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया।
मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है...।" एकाकी के अन्त में उद्देश्य प्रतिपादित करते हुए वनलता कहती है– "आज से यही इस अरुणाचल आश्रम का नियम होगा उच्छृंखल प्रेम को बाँधने का।" एक घूँट आनन्द का प्रतीक बनकर आया है। इस उद्देश्यपरक रचना में जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने निबन्ध के अधिक तत्व स्वीकार किये हैं। उनका कथन है–"सभा-सोसाइटियों में जिस प्रकार व्याख्याएँ की जाती हैं उसी प्रकार आश्रमों और संघों का चित्र लेकर प्रसाद ने भी रूपक खड़ा किया है। अभ्यन्तर के खोखलेपन का मार्मिक उद्‌घाटन ही इसका उद्देश्य है।"

–प्रे० शं०

एकनाथी भागवत–एकनाथी भागवत की रचना सन् १५७० और सन् १५८० ई० के मध्य हुई। इसके रचयिता श्री एकनाथजी वैष्णव कवि थे। इन्होंने दो प्रकार की रचनाएँ की–अध्यात्म-विषयक एवं चारित्र-विषयक। अध्यात्म-विषयक रचनाओं में 'एकनाथी भागवत', 'स्वात्म-सुख', 'चतुःश्लोकी भागवत टीका', 'हस्तामलक' तथा 'आनन्दलहरी' प्रसिद्ध हैं। चरित्रविषयक ग्रन्थों में 'भावार्थ रामायण' एवं 'रुक्मिणी स्वयंवर' का नाम लिया जाता है।

इनका जन्म सन् १५३३ ई० के लगभग हुआ। मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण जन्म के थोड़े समय बाद ही माता-पिता का देहावसान हो गया। इनका पालन-पोषण वृद्धा दादा–दादी ने किया। इनके दादा का नाम चक्रपाणि था। इनका उपनयन संस्कार छठे वर्ष में हुआ। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण थोड़े ही समय में इन्होंने पुरुष सूक्त आदि कण्ठ कर लिया। बारह वर्ष की आयु में इन्होंने महाभारत तथा श्रीमद्‌भागवत की कथाएँ पढ़ लीं। १३वें वर्ष में ये श्री जनार्दन स्वामी की सेवा में रहकर योगसाधन करने लगे। २५ वर्ष की अवस्था में ये पैठण गये और भजन कीर्तन में तत्पर हो गये। इनकी धर्मपत्नी का नाम गिरिजा देवी था। सन् १५९९ ई० में इनकी मृत्यु हो गयी।

इन्होंने भागवत की रचना वाराणसी मुक्तिक्षेत्र में, आनन्दवन में, मणिकर्णिका महातीर पर समाप्त की। ये केवल स्वतन्त्र रचना करने में ही सिद्धहस्त न थे वरन् एक भाषा से अन्य भाषा में अनुवाद करने में भी उतने ही कुशल थे। संस्कृत के पण्डित थे। संस्कृत में काव्य लिखने की उनमें पूर्ण क्षमता थी किन्तु साधारण जनता संस्कृत के मर्म को समझने में असमर्थ थी। अतः जन-साधारण को संस्कृत रहस्य समझाने के लिए सरल मराठी भाषा में भागवत की रचना की। इस सम्बन्ध में इन्होने सन्त ज्ञानेश्वर की परम्परा का निर्वाह किया है। इस ग्रन्थ में श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें अध्याय पर इन्होंने अपना समस्त पारमार्थिक अनुभव न्यौछावर कर दिया है।

इनके काव्य मे कृत्रिमता का अभाव है। भाषा सरस, सुबोध, शुद्ध, सरल एव प्रभावशाली है। ज्ञानेश्वरकालीन प्राचीन और क्लिष्ट शब्दो का समावेश इन्होंने अपनी भाषा मे नहीं किया है। यत्र-तत्र फारसी के शब्दों का प्रयोग अवश्य हो गया है।

इनकी वर्णन शैली बड़ी रोचक है। यहाँ तक कि वेदान्त के कठिन विषयों को इन्होंने अत्यधिक मनोरंजक बना दिया है। कहीं-कहीं पर तो मूल अर्थ को सुबोध बनाने के लिए एक-एक श्लोक पर अनेक अध्याय लिखे हैं। तुलसी की भाँति इन्होंने नामस्मरण को परमार्थ की प्राप्ति का सर्वसुलभ उपाय बतलाया है। इनका मत है कि नाम के चिन्तन से समस्त कार्यो की सिद्धि होती है।

"चिन्तनें तुटेआधि व्याधि। चिन्तनें तुटत से उपाधि।।
चिन्तनें होय सर्वसिद्धि। एका जनार्दनाचे चरणीं।।"

पूजन एवं ध्यान के लिए भगवान् की मूर्ति कैसी होनी चाहिए इस सम्बन्ध मे उनका कथन है–

"मूर्ति साजिरी सुनयन। सम सपोस सुप्रसन्न। पाहतां निवे तन मन। देखतां जाय भूक तहान।"

अर्थात्–भगवान की मूर्ति पुष्ट एवं हँसमुख होनी चाहिए जिसको देखते ही तन-मन शान्त हो जाय तथा दृष्टि पड़ते ही भूख-प्यास न रहे।

एकनाथ तथा तुलसी दोनों के ग्रन्थों में विचार एवं अध्यात्म की दृष्टि से अत्यधिक साम्य है। दोनों के जीवन में भी सादृश्य दिखाई पड़ता है। दोनों का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था जिसके कारण उनके माता-पिता की मृत्यु उनके बाल्यकाल में ही हो गयी थी। दोनों का लालन-पालन उनके मातामह-पितामह के द्वारा हुआ। बाल्यावस्था से ही दोनों की परमार्थ-साधना में रुचि थी। दोनों की जन्मतिथि एवं मृत्युकाल के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है किन्तु इस बात को सभी विद्वान मानते हैं कि इन दोनों ने ईसा की सोलहवीं शताब्दी के मध्य अपनी-अपनी रचनाएँ कीं।

एकनाथ ने पैठण जैसे प्राचीन आचार-विचारों एवं संस्कृतसाहित्य के केन्द्र में रहकर भागवत धर्म का प्रचार किया तथा संस्कृत के स्थान में मराठी का प्रभुत्व स्थापित किया। वेदान्त के उच्च विचारों को संस्कृत से मराठी में लाकर महाराष्ट्र में उनका प्रचार करना एकनाथ जैसे कर्मयोगी का कार्य था। एकनाथ के समय में संस्कृतसाहित्य की भाषा, मराठी जनसाधारण की भाषा तथा फारसी राजभाषा के पद पर आरूढ़ थी। इन्होंने मराठी को साहित्य की भाषा बनाकर उसका प्रचार किया। सर्वप्रथम ज्ञानेश्वरी को शुद्ध रूप प्रदान करके उसी के आधार पर अपने प्रवचन आरम्भ किये। बाद को भागवत धर्म के साथ ही साथ मराठी भाषा का प्रचार करने लगे। इस प्रकार इन्होंने केवल धर्मपरायण जनता में ही जागृति उत्पन्न नहीं की वरन् उस समय के साहित्यकारों का भी पथ-प्रदर्शन किया। पैठण में अब भी हर वर्ष फाल्गुन कृष्ण

पर सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करनेवाला लेखक अपने विचारों को किसी न किसी प्रकार प्रकट करेगा ही। 'कंकाल' की शक्ति उसका समाज-दर्शन है, जिसमें निश्चित रूप से व्यक्ति की प्रतिष्ठा है पर व्यक्ति का यह स्वातन्त्र्य सामाजिक दायित्व तथा व्यापक मानवीयता पर आधारित है। बीसवी शती में जो सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना देश में विकसित हुई है, उसका प्रभाव कंकाल पर स्पष्ट है। -प्रे० शं०

कंस—कृष्ण काव्य में कृष्ण जन्म तथा कृष्ण की अधिकांश असुर संहारक ब्रज और मथुरा-लीलाओं के अन्तर्गत कंस के उल्लेख मिलते हैं। वह मथुरा के महाराज उग्रसेन का क्षेत्रज तथा दानवराज का वीर्यज पुत्र था। इसकी माता का नाम ऋतुस्नाता था। बड़े होकर कंस ने मगधराज जरासन्ध की अस्ति तथा प्राप्ति नामक दो कन्याओं का पाणिग्रहण किया था। तत्पश्चात अपने पिता उग्रसेन को राज्यच्युत करके स्वयं राज्यसिंहासन ग्रहण किया था। कंस ने अपनी पितृव्य की पुत्री देवकी का विवाह वासुदेव के साथ किया था। देवकी के आठवें पुत्र द्वारा अपने वध की आकाशवाणी सुनकर उसे मारने को उद्यत हुआ किन्तु प्रत्येक शिशु के जन्म पर ही उसे समर्पित कर देने के आश्वासन पर छोड़ दिया। फिर भी कंस आत्म-रक्षा के किसी उपाय का प्रयोग करने से नहीं चूका। उसने कृष्णवध के लिए पूतना, श्रीधर, काग, शकट, केशी आदि अनेक असुरों को भेजा, किन्तु वे विफल हो गये। इससे उसका मन व्याकुल हुआ (सू० सा० पद ६६९—६८०)। कंस मूढ़मति था। नारद के परामर्श पर उसने नन्द के यहाँ कालीदह के कमलपुष्पों को भेजने का आदेश-पत्र भेजा। ब्रजवासियों ने भयवश उसकी इच्छा पूरी की। कंस की प्रभुता एवं अत्याचार का ब्रज में आतंक था। गोपियों ने कृष्ण से इसकी दुहाई दी (सू० सा०, पद २१२९—२१३०)। कृष्ण-काव्यों में उसका व्यक्तित्व सर्वत्र भय और चिन्ताकातर दिखाया गया है किन्तु प्रकारान्तर से उसने इन्हीं वृत्तियों से कृष्ण की उपासना की है। इसीलिए उसे निर्वाण पद की प्राप्ति हुई (सू० सा०, पद २६९६—३७०१)।

माधुर्यभाव के परिपोषक न होने के कारण कंस का चरित्र निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ, और हरिदासी सम्प्रदायों के कृष्णकाव्य में उपेक्षित रहा। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में भी सूरदास ने ही कंस का सविस्तार चरित्र-चित्रण किया है तथा भागवत के भाषानुवादों मे (दे० 'अक्रूर') उसकी कथा आयी है। रीति-युग में भी इन्हीं कारणों से वह काव्य का विषय न बन सका। सम्पूर्ण कृष्ण-कथा के सन्दर्भ में कंस को खलनायक की संज्ञा दी जा सकती है। वह आसुरी प्रवृत्तियों का पोषक भक्त था। कृष्ण-कथा के अधिकांश असुर यथास्थान उसके व्यक्तित्व के उद्दीपक हैं। लीलावतारी कृष्ण के अतिप्राकृत व्यक्तित्व की समग्र भूमिकाएँ प्रस्तुत करने में उसका महत्त्व असन्दिग्ध है।

[आधुनिकयुगीन कृष्णकथाकाव्यों में 'कृष्णायन' (काण्ड १/२) और 'द्वापर' (पृ० ११०—१२१) में कंस का चरित्र क्रमशः परम्परागत एवं किंचित् परिवर्तित रूपों में वर्णित हुआ है। 'द्वापर' में वह अग्निधर्म का समर्थक तथा अतिरेकपूर्ण पुरुषार्थी एवं विश्वासी शासक था। वह कृष्ण-वध के उपक्रम हेतु अक्रूर का स्मरण करता है, इससे आगे उसकी कथा नहीं है।]

—रा० कु०

कचदेवयानी—कच और देवयानी पुराणों के दो पात्र हैं। कच देवगुरु बृहस्पति का पुत्र था जिसने देवताओं के अनुरोध से मृत संजीवनी विद्या सीखने के लिए छद्मवेश में दैत्यगुरु शुक्राचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया। देवयानी शुक्राचार्य की पुत्री थी। वहाँ दोनों में अनुराग उत्पन्न हो गया। यह रहस्य जानकर दैत्यों ने पुनः उसका वध करके उसे जला डाला तथा शवभस्म को मदिरा में मिलाकर शुक्राचार्य को पिला दिया। मन्त्रबल से आचार्य शुक्र ने उसे अपने पेट में ही जीवित कर वहीं मृत संजीविनी विद्या की शिक्षा दी। शिक्षा प्राप्त करने पर गुरु की आज्ञा से वह उनका पेट फाड़कर बाहर निकला और उसी मन्त्र बल से उन्हें जिला दिया। शिक्षा समाप्ति के बाद देवयानी ने उससे विवाह के लिए अनुरोध किया किन्तु गुरुकन्या होने के कारण उसने अस्वीकार कर दिया। देवयानी ने उसकी विद्या को अफलवती होने का शाप दे दिया। यद्यपि उसकी विद्या उसके लिए फलवती नहीं थी, किन्तु दूसरों के लिए तो थी ही, उसने देवताओं के बीच उस विद्या का प्रचार किया और देवतागण दैत्यों के संहार से बच गये।

—यो० प्र० सिं०

कट्टो—जैनेन्द्र कुमार लिखित 'परख' नामक उपन्यास की प्रमुख पात्री। यह एक बाल-विधवा ग्राम बाला है, इसके भविष्य में कोई आशासूत्र नहीं है। अपने बाल सखा सत्यधन से प्रेम करती है। उसका स्नेह व्यवहार इसे प्रोत्साहित करता है और यह सत्यधन को पति रूप में कल्पितकर सधवा बनना चाहती है। एक दिन बिहारी के आगमन से उसे सत्यधन और गरिमा के होनेवाले सम्बन्ध का आभास मिलता है। यह नाटकीय रूप से सत्यधन के मार्ग से हट जाती है और उसका गरिमा के साथ विवाह हो जाने देती है। इस नाटकीयता की सीमा तब आती है जब वह बिहारी के साथ सेवापथ पर अग्रसर होने का प्रण कर लेती है। आरम्भ में वह सत्यधन से कहती है, "जो कुछ भी तुम चाहते हो सब में कट्टो की राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच में उसकी मौत है। अपने कामों में कट्टो की गिनती मत करो। वह गिनने लायक नहीं है। उसकी खुशी तुममें शामिल है। बस तुम ब्याह करना चाहते हो। कट्टो सबसे पहले तुम्हारा ब्याह चाहती है। वह तुम्हारी नाखुशी लेकर जिन्दा नहीं रह सकेगी। तुम तो कट्टो के मालिक हो फिर उसकी फिक्र क्यों करते हो" और सत्यधन के विवाह के बाद वह बिहारी से कहती है, "हम दोनों वैधव्य यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। दोनों का एक ही उद्देश्य होगा। दोनों अपनी नहीं दूसरों की सोचेंगे।" इस प्रकार से इसके चरित्र के आधारसूत्र अस्वाभाविक एवं अवास्तविक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उसकी प्रतिक्रियाएँ और व्यवहार इस कथन में निहित और संकेतित स्थिरता की भावना से रहित हैं।

—प्रे० ना० टं०

कर्णेरी—सिद्ध साहित्य में इनके काणेरी, काणोरी, कानपा, कृष्णपाद, कानफा आदि नाम पाये जाते हैं। सिद्ध परम्परा में इन्हें नागार्जुन का शिष्य कहा जाता है। एक पद में इन्होंने स्वयं कहा है—"पूछे काणोंरी सुनि हो नागा अरजन्द, पिण्ड छूटे प्रान

कहाँ समाई।" कुछ विद्वान् इन्हे मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्य मानते हैं क्योंकि इन्होंने एक स्थल पर आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख किया है। राहुल जी ने संकेत किया है कि ये कर्णाटदेशीय ब्राह्मण थे किन्तु डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने उड़ीसावासी बताया है तथा इनकी भाषा को उड़िया कहा है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथ सिद्धों की बानियाँ में सती कणेंरी और कणेंरीपाद के पदों को अलग—अलग रखा है। यद्यपि उन्होंने लिखा है कि 'कणेंरी' शब्द के ईकारान्त होने के कारण बाद में उन्हें स्त्री समझ लिया गया किन्तु कणेंरीपाद ने स्वयं अपने पदों में सती कणेंरी का उल्लेख किया है—"आदिनाथ नाती, मछेन्द्रनाथ पूता। सती कणेंरी हम बोल्यो रे ले।।" प्रेमदास की 'सिद्ध वन्दना' मे भी कृष्णपाद के लिए 'नमो कान्हो' तथा सती कणेंरी के लिए 'नमो सिद्ध कणरी' का प्रयोग हुआ है।

राहुल सांकृत्यायन ने इनके मगही में लिखित जिन छः ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वे हैं—कन्हूपा गीतिका, महाढुंढुल मूल, बसन्त तिलक, असम्बद्ध दृष्टि, वज्रगीति और दोहाकोश। इनमें से दोहाकोश महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो गया है। डा० द्विवेदी ने नाथ सिद्धों की बानियाँ मे इनके कुछ पदों को संकलित किया है।

(सहायक ग्रन्थ—पुरातत्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; योगप्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)।

—यो० प्र० सि०

कण्व—कश्यपगोत्रीय एक ऋषि के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने शकुन्तला का उनकी माता के छोड़ देने पर लालन—पालन किया था। कण्व की गणना सप्त—ऋषियों में की जाती है। कण्व की अनेक सूक्तियों का उल्लेख मिलता है, जिनके कथासूत्र परस्पर उलझे हुए हैं।

—रा० कु०

कथा षिजरषां साहिजादे व देवल दे की—यह रचना एक प्रेमाख्यान है जिसके रचयिता जानकवि हैं। जानकवि का मूल नाम न्यामत खाँ अथवा नियामत खाँ था और ये फतहपुर (शेखावटी) के क्यामखानी नवाबों के वंशज तथा नवाब अलफ खाँ के पुत्र थे। इनकी छोटी-बड़ी ७६ रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें से अधिक संख्या कथाओं और विशेषकर प्रेम-कहानियों की है। यह कथा भी उनमें से एक है। जानकवि के जन्म और मरण की तिथियाँ ज्ञात नहीं, किन्तु उनकी कई रचनाओं के अन्तर्गत लिखित रचनाकाल के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने कम-से-कम सन् १६१४ ई० से लेकर सन् १६६४ ई० तक अपने काव्यग्रन्थ लिखे थे और इस प्रकार ये एक दीर्घजीवी कवि रहे होंगे। 'कथा षिजरषां साहिजादे व देवल दे की' जानकवि की अन्य ६९ रचनाओं के साथ हस्तलिखित ग्रन्थों की एक पोथी में बँधी मिली थी जिसका लिपिकाल सं० १७७७—७८ अर्थात् सन् १७२०—२१ ई० पड़ता है और उसके लिपिकार कोई फतेहचन्द हैं जिनके विषय में विशेष पता नहीं चलता। पूरी पोथी पहले रावतमल सारस्वत के किसी परिचित व्यक्ति के पास रही और अब वह प्रयाग की हिन्दुस्तानी अकादेमी के संग्रहालय में सुरक्षित है। कथा की रचना दोहों-चौपाइयों में की गयी है और विस्तार ८६ दोहों का है। इसमें सर्वप्रथम 'कर्ता' की स्तुति की गयी है और फिर मुहम्मद नबीका नाम लिया गया है जिसे उसने अपने 'कौतुक' दिखलाये थे और जिससे बातें भी की थीं। इसके अनन्तर हजरत मुहम्मद के चार यारों अर्थात् अबूबक्र, उमर, उसमान तथा अली की भी चर्चा की गयी है और अपने पीर का नाम शेख मुहम्मद दिया गया है। कथा का रचना-काल स० १६९४ अर्थात् सन् १६३८ ई० दिया गया है जो पूस सुदी दूज को 'दयालु' बादशाह शाहजहाँ के राज्यकाल मे लिखी गयी थी।

कथा का सारांश इस प्रकार है—सुल्तान अलाउद्दीन की बड़ी धाक थी। अनेक हिन्दू तुर्क बना दिये जाते थे और जो नहीं बन पाते थे वे मार दिये जात थे। उसके सभी पुत्रों में खिज्र खाँ शाहजादा निराला था और उसे वह सबसे अधिक प्यार भी करता था। खिज्र खाँ का मामू अलफ खाँ सुलतान का सिपहसालार था जो बड़ा शूरवीर था और वह सर्वत्र विजय प्राप्त कर लेता था तथा उसे भी सुलतान बहुत मानता था। सुलतान ने देवगिर लिया, दिल्ली से रुकनुद्दीन को भगाया, गूजरखण्ड के राज को लुटवाया, रणथम्भोर और चित्तौर के दुर्ग ले लिये और मालवा, सिवाना तथा तिलंगाना के राजाओं को अपने अधीन किया। करनराइ के विरूद्ध अलफ खाँ को भेजा गया जिसके सामने वह प्राण लेकर भागा और अपनी स्त्रियों तक को निराश्रित छोड़ गया। उन स्त्रियों को अलफ खाँ दिल्ली ले आया जहाँ पर उनमें से एक रानीकंवल दे को सुलतान ने अपनी पटरानी बना लिया। एक दिन कंवल दे ने सुलतान से आँखों में आँसू भरकर कहा कि मेरी प्यारी पुत्री देवल दे मुझसे बिछुड़ गयी है, उसे भी यहाँ मँगा लीजिए जिसे स्वीकार करके सुलतान ने इसके लिए अलफ खाँ को भेजा और उसने उसे करनराइ द्वारा देवगिर के राजा सिंघदेव के यहाँ भेजे जाते समय मार्ग में ही अपने हाथ कर लिया और उसे लेकर दिल्ली आया जहाँ पर सुलतान ने उसका विवाह खिज्र खाँ के साथ कर देने का विचार किया। खिज्र खाँ उस समय केवल १० वर्ष का था और देवलदे भी ८ वर्ष से अधिक की नहीं थी। दोनों एक साथ खेलते थे और दोनों में प्रेमभाव जागृत हो गया था। सुलतान ने एक दिन खिज्र खाँ की माँ को बुलाकर कहा कि देवल दे एक रावकी लड़की है और चेरी है इसलिए उसे खिज्र खाँ के यहाँ जाने न दो और उसने यह भी कहा कि शाहजादे का विवाह उसके मामू अलफ खाँ की पुत्री के साथ कराया जाय जिसे बेगम ने पसन्द किया।

खिज्र खाँ की माँ ने दोनों प्रेमियों को अलग-अलग करा दिया और एक चेरी देवल दे को कन्धे पर लेकर किसी दूर के मकान में पहुँचा आयी। फलतः दोनों एक दूसरे के विरह में तड़पने लगे तथा चम्पा, करना, कूजा एवं गुलाल नामक दूतियों के द्वारा एक दूसरे के पास अपना-अपना सन्देश भेजने लग गये। कभी-कभी ये एक दूसरे को देख भी लिया करते थे जिसकी शिकायत खिज्र खाँ की माँ के पास पहुँची तो उसने देवल दे को और भी दूर भेजवा देना चाहा। एक दिन दूतियों ने मिलकर जब दोनों प्रेमियों को एकत्र किया तो चाँदनी के कारण इन्हें बड़ी बाधा जान पड़ी और ये भली भाँति न मिल सके तथा

इन्होंने दुःख का अनुभव किया। जब अकस्मात् बादल आ गये तो दोनों दो खम्भों के सहारे खड़े हुए और किसी प्रकार एक दूसरे को देखते रहे। जब देवल दे को और भी दूर भेजा जाने लगा तो वह पालकी में बिठाकर भेजी गयी जिसका पता पाकर खिज्र खाँ ने सिर दे मारा। उसने सिर के बाल भी नोच डाले और देवल दे ने उसे एक अँगूठी भी दी। इधर सुलतान ने खिज्र खाँ के विवाह की तैयारी की और इसके लिए लग्न देखा गया तथा बाजे बजाये जाने लगे। विवाह के दिन वह स्वयं भी बारात में गया। विवाह यथाविधि सम्पन्न हो गया, किन्तु यह उससे मिलकर सुखी नहीं हुआ। यह बराबर देवलदे को ही स्मरण करता रहा और फिर इसके साथ उसका पत्र-व्यवहार भी चलने लगा। अन्त में जब इनके दुःख का पता सुलतान को चला तो उसने दोनों को मिला दिया। दोनों को एक दूसरे से मिलकर अपार आनन्द हुआ, किन्तु इसके कारण दूसरी पत्नी दुखी हो गयी और खिज्र खाँ की माँ भी पछताने लगी। उसने खिज्र खाँ से कहा कि तुम मेरे भाई की पुत्री को जिसके साथ तुमने विवाह किया है छोड़ रहे हो, इसलिए मैं अनशन करूँगी। इस पर इसने दोनों को ही एक साथ गले लगाया परन्तु कवि के अनुसार यद्यपि खिज्र खाँ ने अपनी माता के अनुरोध की लाज रख ली, उसके चित्त में सदा देवल दे ही बनी रही, दूसरी केवल कहने को ही पत्नी थी।

जान कवि ने इस प्रेम कहानी को 'सुक्षिप' (स्वल्प) अर्थात लघु-कथाओं की कोटि में रखा है और कहा है कि इसमें वर्णित विजयों की बातें पढ़ी गयी किताबों पर आधृत हैं। वे किसी ऐसे ग्रन्थ का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते, किन्तु सारी रचनाओं के पढ़ लेने पर यह प्रकट भी हो जाता है कि इसका मूलाधार अमीर खुसरो की फारसी रचना 'देवल रानी व खिज्र खाँ' रही होगी जो प्रायः 'आशिकी' नाम से भी प्रसिद्ध कही जाती है तथा जिसका अधिकांश वस्तुतः कल्पना-प्रसूत ही समझा जाता है। जानकवि ने, अमीर खुसरो की ही भाँति, इसमें गुजरात के कर्णराय के विरुद्ध किसी ऐसी चढ़ाई की कल्पना करके, उसकी किसी देवल दे नाम की पुत्री को पकड़कर दिल्ली लाये जाने की बात लिखी है जिसका कोई मेल वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं के साथ नहीं खाता तथा उसका ही अनुसरण करते हुए इन्होंने यहाँ पर लगभग उन सारे प्रसंगों की भी चर्चा कर डाली है जो खिज्र खाँ तथा उसके प्रेम से सम्बद्ध हैं। कर्णराय की किसी पुत्री का देवल दे होना भी सिद्ध नहीं है। इस प्रेम कथा के आरम्भ में कवि का सुलतान अलाउद्दीन की विभिन्न विषयों की चर्चा छेड़ देना तथा खिज्र खाँ के साथ अलफ खाँ की पुत्री का विवाह होते समय विविध उत्सवादि को अनावश्यक विस्तार देने लगना भी, यथार्थ में, अमीर खुसरो के अनुकरण ही का परिणाम है; फिर भी जानकवि ने, अमीर खुसरो की भाँति, इस कथा को दुःखान्त नही बनाया है, प्रत्युत सुखान्त कर दिया है और इसी प्रकार, खिज्र खाँ के पतन और अन्त का वर्णन नहीं किया है। इस रचना की प्रारम्भिक पंक्तियों में ही रूप सौन्दर्य के महत्त्व का वर्णन आ जाता है और प्रसंगानुसार अन्यत्र व्यक्त की गयी प्रेम एवं विरहसम्बन्धी अनेक मार्मिक उक्तियाँ भी पायी जाती हैं जिनसे जान पड़ता है कि इसके रचयिता का प्रधान लक्ष्य प्रेम कहानी का वर्णन ही हो सकता है। इसके अप्रासंगिक उल्लेख इसके मुख्य अंग नहीं हो सकते। जानकवि ने कर्णराय की भागती हुई स्त्रियों का जो करुणाजनक वर्णन किया है (दो० १३) तथा जो दोनों प्रेमियों के क्षणिक मिलन का चित्र खींचा है (दो० ३७—८) वह बहुत ही सुन्दर और सजीव है।

(सहायक ग्रन्थ—खिलजीकालीन भारत, अप्रकाशित ग्रन्थावली, हिन्दुस्तानी एकेडमी : सं० सैयद अतहर अब्बास रिजवी, अलीगढ़, सन् १९५४ ई०; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, अंक ४, पृ० ४०७—३७।)

—प० च०

कद्रू—पौराणिक स्रोतों के अनुसार कद्रू दक्ष प्रजापति की कन्या तथा कश्यप ऋषि की पत्नी थीं। ये अत्यन्त सुन्दरी और गुणवती थीं। ऐसा कहा जाता है कि कद्रू ने एक सहस्र नागों को जन्म दिया था, जिनमें वासुकी और शेष मुख्य हैं।

—रा० कु०

कनकावती या कनकावती की कथा—यह रचना एक प्रेमाख्यान है जिसके रचयिता जान कवि हैं (दे० 'कथा खिजरखां')। 'कनकावती की कथा' उनकी एक प्रेमकहानी है जो हस्तलिखित ग्रन्थों की एक बड़ी 'पोथी' में जान कवि के अन्य ६९ ग्रन्थों के साथ बँधी मिली थी। उसका लिपिकाल सं० १७७७ से लेकर १७७८ अर्थात् सन् १७२० से लेकर सन् १७२१ ई० तक जान पड़ता है और उसके लिपिकार कोई फतेहचन्द हैं। यह पोथी पहले श्री रावतमलजी सारस्वत के किसी परिचित व्यक्ति के पास थी और अब हिन्दुस्तानी एकेडमी (प्रयाग) के सग्रहालय में सुरक्षित है। 'कनकावती कथा' दोहा-चौपाइयों में रची गयी प्रेमकहानी है जिसका विस्तार ८१ दोहों का है और कवि के अनुसार केवल तीन दिनों में पूरी हुई थी। इसका रचनाकाल सं० १६७५ अर्थात् सन् १६१८ ई० है जिस समय मुगल सम्राट् जहाँगीर (सन् १६०५—२७ ई०) का राज्यकाल था।

कथा का सारांश इस प्रकार है—भरथ नामक एक राजा था जिसकी राजधानी का भरथनेर नगर चारों ओर से जल के बीच बसा था। राजा की कई रानियाँ थीं किन्तु किसी प्रकार उसे केवल एक पुत्र हुआ जिसका नाम उसके अत्यन्त सुन्दर होने के कारण परम रूप रखा गया। परम रूप ने एक दिन स्वप्न में किसी सुन्दरी को देखा जिससे वह पागल हो उठा और उसके कथनानुसार एक चित्रकार ने कोई चित्र बनाया जिसे देखकर 'विप्र' ने बतलाया कि वह सिंधपुरी के राजा की पुत्री कनकावती है और भरथनेर से ४०० कोस की दूरी पर है। उसने यह भी कहा कि वह किसी जगपतिराय के हाथ में है। परम रूप ने यह सुनकर जोगी का वेष धारण कर सेना सहित यात्रा कर दी और उधर 'विप्र' ने कनकावती के यहाँ पहुँचकर उसे परम रूप के प्रति आकृष्ट किया। भरथराय को कनकावती के लिए एक युद्ध भी ठानना पड़ा जिसमें वह पराजित हो गया और परम रूप को लेकर कोई संन्यासी वन में चला गया किन्तु 'विप्र' ने किसी प्रकार उस राजकुमार का पता लगाया और उसके तथा कनकावती के बीच वह पत्रवाहक का काम करने लगा। फलतः दोनों प्रेमियों का प्रेमभाव क्रमशः दृढ़तर होता गया और परम रूप एक दिन संन्यासी से सीखी गयी 'कच्छपनिधि' विद्या के सहारे सिंधनगर पहुँच गया जहाँ पर कनकावती द्वारा उसके बिना विवाह के अस्वीकृत कर दिये जाने पर 'विप्र' ने उन दोनों के विवाह की विधि भी अनुष्ठित कर दी परन्तु किसी दिन केलि करते समय परम रूप को संयोगवश भरथनेर स्मरण हो आया

जिस कारण दोनो बीहड यात्रा समाप्त कर वहाँ चले आये। इधर सिंधपुरी के राजा को अपनी पुत्री के इस प्रकार चले जाने का मार्मिक कष्ट हुआ और उसने ये सारी बातें जगपतिराय से कह दीं। तदनुसार जगपतिराय अपनी सेना लेकर भरथनेर पर चढ़ आया और उसने उस नगर के आधे भाग को सुरंग द्वारा उड़ा दिया। नगरवासी पानी मे बहने लग गये और इस प्रकार परम रूप भी बहता-बहता किसी जगराम के हाथ लग गया जिसने उसका पुत्रवत् पालन किया। उधर कनकावती भी बहती हुई जगपतिराय के पास जा पहुँची जिसने इसे अपनी पुत्री की भाँति अपने पास रख लिया। परन्तु कनकावती उसके यहाँ रहकर सदा परम रूप के विरह मे तड़पा करती थी, इस कारण, जब एक बार संयोगवश जगराम ने जगपतिराय के यहाँ इस बात का प्रस्ताव भेजा कि मेरे पुत्र के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दीजिए और इसे जगपतिराय ने सहर्ष स्वीकार कर लिया तो उसके दुःख दूर हो गये। दोनो की मंगनी तय हो गयी, विवाह सम्पन्न हो गया तथा अन्त में क्रमशः जगपतिराय और जगराम के साथ भरथनेर और सिंधपुरी के राजा भी मिल गये।

इस कहानी में हमें किसी ऐतिहासिक या पौराणिक-तत्त्व का अंश नही दीख पड़ता और न किसी देश या नगर की भौगोलिक स्थिति का ही पता चलता है। भरथनेर नगर का जल के बीच बसा होना, उसके आधा नष्ट हो जाने पर दोनो प्रेमियों को इतस्ततः बह निकलने को बाध्य कर देता है और इस प्रकार उन दोनों को फिर एक बार विरह के कारण अपने तपाये जाने का अवसर मिल जाता है। कहानी दुःखान्त न होकर सुखान्त बन जाती है, किन्तु आश्चर्य है कि ऐसे अवसर पर हमे उस 'विप्र' के दर्शन नहीं हो पाते जो वस्तुतः इन दोनो को प्रणय सूत्र में बाँधने का प्रमुख कारण बना था। कवि के द्वारा किये गये संकेतों से प्रकट होता है कि इस कथा का कोई रूप लोगों में प्रचलित भी रहा होगा। जो हो, इसका अधिकांश हमें पूरा काल्पनिक सा ही लगता है और इसके कम-से-कम दो नाम 'परम रूप' एवं 'जगपति राय' प्रसंगानुसार सोद्देश्य रखे गये प्रतीत होते हैं। इस रचना की भाषा का नाम कवि ने 'ग्वारेरी' दिया है जो 'ग्वालियरी' का अन्य रूप है।

(सहायक ग्रन्थ—अप्रकाशित ग्रन्थावली, हिन्दुस्तानी एकेडमी (प्रयाग) सूफी काव्य संग्रह : सं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन 'प्रयाग', शक १८८०।)

—प० च०

कनिष्क—भारत के प्राचीन शासकों में कनिष्क अत्यन्त प्रसिद्ध है। कनिष्क का समय (७८—१०१ ई०) तक माना जाता है। कनिष्क के पिता का नाम वित्र था। कुछ इतिहासकारों की ऐसी धारणा है कि कनिष्क वित्र के परिवार का न होकर कुषाणों के किसी दूसरे घराने का था। राज्यारोहण के साथ कनिष्क ने एक नये संवत् का प्रवर्तन किया जो 'शक संवत्' के नाम से विख्यात है। कनिष्क कुषाण वंश का सर्वाधिक प्रतापी शासक था। कनिष्क के राज्यकाल में बौद्ध धर्म, कला एवं साहित्य की अच्छी प्रगति हुई। उसने बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाकर उसके प्रसार एवं प्रचार में अपूर्व योग दिया। उसने अनेक स्तूपों और बौद्धभवनों का निर्माण करवाया। बौद्धधर्म के महायान मत के प्रसिद्ध आचार्य वसुमित्र तथा बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द आदि ग्रन्थों के रचनाकार अश्वघोष कनिष्क के आश्रय में रहते थे। इनके अतिरिक्त चरक, नागार्जुन, सघरक्ष, माठर आदि अनेक कवि-कलाकार तथा मनीषी कनिष्क के संरक्षण में रहते थे (दे० 'स्कन्दगुप्त', पृ० १३१)

—रा० कु०

कन्हैयालाल पोद्दार—ये 'काव्य—कल्पद्रुम' ('रसमंजरी', 'अलकार मजरी') के रचयिता के विरद से विख्यात हैं। इनका जन्म १८७१ ई० में हुआ था। इनके पूर्वजों का निवासस्थान बीकानेर राज्य में चूरू था। पीछे वे लोग जयपुर राज्य के रामगढ़ स्थान पर रहने लगे। १८४३ ई० से उन लोगों ने मथुरा मे श्रीगोविन्दजी का मन्दिर बनवाया और वहीं निवास भी करने लगे। व्यापारीसमाज, भक्तसमाज तथा साहित्यकों में पोद्दारों का बड़ा सम्मान रहा है। कन्हैयालाल ने १८९० ई० से १९४८ ई० तक निरन्तर साहित्य की सेवा की है। भर्तृहरि के तीनो शतकों का अनुवाद, अलकार-प्रकाश, गंगालहरी का अनुवाद, भागवत दशमस्कन्ध का अनुवाद, हिन्दी मेघदूत विमर्श, काव्य-कल्पद्रुम, सस्कृत साहित्य का इतिहास आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। साहित्यिक सेवाओं का महत्त्व स्वीकार करते हुए सेठजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान किया गया था। इन्होने मथुरा मे १९४८ ई० में शरीर त्याग किया (दे० 'अलंकार-मजरी')।

—ओं० प्र०

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी—जन्म २९ दिसम्बर सन् १८८७ ई० को भड़ोच (गुजरात) में भार्गव ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उच्च और सुशिक्षित परिवार के अनुरूप ऊँची शिक्षा पायी। अपनी प्रतिभा, परिश्रम और कानून-ज्ञान के कारण सफल वकील बने। प्रारम्भ से ही साहित्य-सर्जन में रुचि रही और उसे गति भी सहज ही मिल गयी। पत्रकार के रूप में भी बड़े सफल रहे। गाधीजी के साथ १९१५ ई० मे 'यंग इण्डिया' के सहसम्पादक बने। कई मासिक पत्रिकाओं का सम्पादन किया और गुजराती साहित्य परिषद् में प्रमुख स्थान पाया। साहित्य के क्षेत्र में मुंशीजी की गतिविधि अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

मुंशीजी गुजराती और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के उच्च साहित्य-सर्जक होते हुए भी हिन्दी के महान् समर्थक और प्रेमी थे। ऊँचा साहित्यकार किसी भाषा का साहित्य हो, उसका स्तर ऊँचा ही देखना और रखना पसन्द करता है। अंग्रेजी भाषा में प्रवीण मुंशीजी की यह धारणा है कि हिन्दी की भाव-प्रेषणीयता अंग्रेजी से अधिक है। वे गठीली परिमार्जित और परिष्कृत संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक हैं। भाषा भावनाओं से भरी हो, उद्‌गारों से ओत—प्रोत हो और उस पर कल्पना का रंग चढ़ा होऐसी शैली मुंशीजी की मनभावनी लेखन-शैली है।

अपने लेख 'हिमालय की ओर' में वे लिखते हैं—"हम कत्थूर राजाओं की पुरानी राजधानी गरुण गये किन्तु इस बार आकाश पर बादल थे और हम घाटी मे बरफ नहीं देख सके। गाँव का मुखिया शुद्ध हिन्दी बोलता था और हमारी उपलब्धियों में उसकी सहज पैठ थी। यदि वे लोग जो यह कहते हैं कि शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी (बाजारू किस्म की हिन्दी नहीं) एक कृत्रिम भाषा है, इन भागों में आयें और इन मुखियों की भाषा सुनें तो उन्हें आश्चर्य होगा। उन लोगों की बोलचाल की

भाषा बनकर हिन्दी ने इतनी सामर्थ्य और प्रेषणीयता अर्जित कर ली है कि हम अंग्रेजी बोलनेवालो मे से बहुतों को उसमे ईर्ष्या होगी।''

जीवन भर वकील, मन्त्री, राज्यपाल और एक अत्यन्त व्यस्त राजनीतिज्ञ रहते हुए भी श्री मुन्शी ने ५० से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं जो अधिकतर गुजराती मे हैं, कुछ अंग्रेजी में। इनमे उपन्यास, कहानी, नाटक, इतिहास, ललित कलाएँ शामिल हैं। इसी कारण श्री मुंशी की गणना देश के महान् साहित्यकारो में होती है, और उनका नाम शरद, बंकिमचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ लिया जाता है। उनकी रचनाओं में अमर भारतीय साधना, उसकी मूलभूत ज्योति तथा आध्यात्मिकता और उसकी सार्वभौम उदारता के दर्शन होते हैं। यही उनकी प्रेरणा के स्रोत हैं और इन्ही का निखरा हुआ रूप उनकी प्रत्येक रचना से मुखरित हुआ है। अतः मुंशी का साहित्य अधिकतर गुजराती में होते हुए भी किसी भाषा विशेष की सीमाओं में बँधकर रह जाने वाला साहित्य नहीं है। उसका भारतीय रूप, सामान्य प्रेरणास्रोत और प्रत्येक पंक्ति से झलकती राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता उसे सहज सार्वदेशीय बना देती है। भारतीय भाषाएँ एक दूसरे से इतनी निकट हैं कि किसी भी भाषा के महान् लेखक की कृतियों का अन्य भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। मुंशी की साहित्यिक रचनाओं का परोक्ष रूप से हिन्दी पर प्रभाव पड़ा और इन रचनाओं के हिन्दी अनुवाद से यह प्रभाव प्रत्यक्ष हो गया है। इनके ऐतिहासिक उपन्यास और पौराणिक कथाओं पर आधारित रचनाएँ हिन्दी में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई हैं मानो मूलरूप से वे इसी भाषा में लिखी गयी हों।

हिन्दी के लिए उनके मन में सदा विशेष स्थान रहा है और अपने कृतित्व में उन्होंने इसका प्रमाण भी दिया है। डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में "हिन्दी उनको अपने प्रबल और अविकम्प्य समर्थक के रूप में जानती है।" मुंशी की यह धारणा रही है—"विद्या की कोई भी संस्था वास्तविक अर्थ में भारतीय नहीं कही जा सकती जबतक कि उसमें हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध नहीं है" (दे० 'मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ' : डा० विश्वनाथ प्रसाद का लेख 'मुंशी और हिन्दी' से)। उन्होंने हिन्दी प्रचार के कार्य में सक्रिय भाग लिया है। महात्मा गांधी ने मुंशी को इस ओर खींचा था। उन्हीं के निर्देश से मुंशी ने प्रेमचन्द के साथ बम्बई से लगभग तीस वर्ष हुए सर्वांग सुन्दर मासिक 'हंस' चलाया था जिसका उद्देश्य हिन्दी को अखिल भारतीय अन्तःप्रान्तीय रूप देना था। उसमें प्रत्येक भाषा का साहित्य हिन्दी और नागरी अक्षरों में प्रकाशित करने का आयोजन था। आज भी उनके द्वारा संचालित भारतीय विद्याभवन की पाक्षिक पत्रिका 'भारती' के द्वारा हिन्दी में समस्त भारतीय जीवन, साहित्य और संस्कृति की सन्देशवाहिनी क्षमता का ही विकास हो रहा है। हिन्दी के प्रति उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन ने मुंशी को सन् १९५६ में होनेवाले वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष चुना था। इस अवसर पर हिन्दी के इतिहास और स्थिति के विषय में उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया था उसमें उन्होंने कहा था : "राष्ट्रभाषा हिन्दी एकमात्र संयुक्त प्रान्त की स्वभाषा नहीं है, राजस्थान की भी है...हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा होना है तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौन्दर्य इसमें लाना चाहिये" (दे० 'अ० भा० साहित्य सम्मेलन' के उदयपुर अधिवेशन मे अध्यक्ष कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का भाषण—१९५६)। "हिन्दी ही हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है। यह किसी प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं, बल्कि समस्त भारत की भारती के रूप में ग्रहण की जानी चाहिये" (दे० 'भारतीय हिन्दी परिषद्' १९५६ में अध्यक्ष पद से भाषण)।

उन्होंने अपने 'हिन्दी और हिन्दी का भविष्य' शीर्षक लेख में हिन्दी का समर्थन इन शब्दों मे किया है—"हमे यह भी नहीं सोचना चाहिये कि हम हिन्दी को केवल व्यवहारमात्र या शासन की भाषा बनाना चाहते हैं। हमको तो जैसी इंग्लैंड की अंग्रेजी भाषा है और फ्रांस की फ्रेंच भाषा है उसी तरह की भारत की भारती हिन्दी को बनाना है।" (दे० 'त्रिपथगा', दिसम्बर १९५५, पृ० १३२)।

भारतीय संविधान में हिन्दी को जो स्थान मिला, उसमें भी मुंशी का बड़ा हाथ था। जब हिन्दी के प्रश्न पर संविधानसभा में विवाद होना था, श्री मुंशी संयोग से सभा की कांग्रेस पार्टी के स्थानापन्न अध्यक्ष थे, क्योंकि डा० पट्टाभि सीतारामैया अस्वस्थ हो गये थे। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर स्वयं कांग्रेस पार्टी में कई मत वाले थे, जिनमें हिन्दी के कट्टर समर्थको से लेकर इसके विरोधीतक शामिल थे। यह श्रेय मुंशी और उनके कुछ मित्रों को है कि उन्होंने समझौते का ऐसा सूत्र निकाला जिसपर सब कांग्रेसी ही नहीं बल्कि दूसरे सदस्य भी सहमत हो सके और इस तरह हिन्दी को सर्वसम्मति मे राष्ट्रभाषा का स्थान देने की व्यवस्था की जा सकी।

—ज्ञा० द०

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का जन्म सन् १९०६ ई० में सहारनपुर जिला के देवबन्द ग्राम में हुआ था। प्रारम्भ से ही राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यो मे गहरी दिलचस्पी लेने के कारण आपको अनेक बार जेल-यात्रा करनी पड़ी। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी आपने बराबर कार्य किया है। 'ज्ञानोदय' का आप सम्पादन कर चुके हैं तथा सहारनपुर से आप आजकल 'नयाजीवन' नामक पत्रिका सम्पादन कर रहें हैं। आपने अपने लेखन के अतिरिक्त अपने वैयक्तिक स्नेह और सम्पर्क से भी हिन्दी के अनेक नये लेखकों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया है।

प्रभाकर की अबतक सात पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें 'नयी पीढ़ी, नये विचार' (१९५०), 'जिन्दगी मुस्करायी' (१९५४), 'माटी हो गयी सोना' (१९५७), आपके रेखाचित्रों के संग्रह हैं। 'आकाश के तारे—धरती के फूल' (१९५२) प्रभाकरजी की लघु कहानियों के संग्रह का शीर्षक है। 'दीप जले, शंख बजे' (१९५८)में, जीवन में छोटे पर अपने-आपमें बड़े व्यक्तियों के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों का संग्रह है। 'जिन्दगी मुस्करायी' (१९५४) तथा 'बाजे पायलिया के घुँघरू' (१९५७), नामक संग्रहों में आपके कतिपय छोटे प्रेरणादायी ललित निबन्ध संगृहीत हैं।

'प्रभाकर' हिन्दी के श्रेष्ठ रेखाचित्रों, संस्मरण एवं ललित निबन्ध लेखकों में हैं। यह द्रष्टव्य है कि उनकी इन रचनाओं में कलागत आत्मपरकता होते हुए भी एक ऐसी तटस्थता बनी

रहती है कि उनमें चित्रणीय या संस्मरणीय ही प्रमुख हुआ है—स्वयं लेखक ने उन लोगो के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को स्फीत नही करना चाहा है। उनकी शैली की आत्मीयता एवं सहजता पाठक के लिए प्रीतिकर एवं हृदयग्राहिणी होती है।

—दे० श० अ०

कपिल—'कपिल' नाम से प्राचीन साहित्य मे अनेक संदर्भ मिलते हैं—

१. कपिल विष्णु के पाँचवें अवतार थे। इनकी उत्पत्ति कर्दम मुनि की पत्नी देवाहूति से हुई थी। देवाहूति की विष्णु सदृश पुत्र उत्पन्न करने की कामना विष्णु अवतार का कारण थी। भोग-विलास एवं आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने के अनन्तर कर्दम और देवाहूति ने भगवान् से ज्ञान प्राप्ति की प्रार्थना की। अपने माता-पिता के प्रश्नों के उत्तरस्वरूप कपिल मुनि की स्फुरित वाणी ही साख्य ध्वनि के रूप में प्रसिद्ध हुई। हरिवंश पुराण के अनुसार कपिल वितथ के तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। कपिल के रचे हुए ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—(१) 'साख्यसूत्र', (२) 'तत्त्वसमास', (३) 'व्यास प्रभाकर', (४) 'कपिल गीता', (५) 'कपिल पांच रात्र', (६) 'कपिल संहिता', (७) 'कपिल स्मृति', (८) 'कपिल स्तोत्र'।

२. कपिल का दूसरा उल्लेख अग्निविशेष के नाम के रूप में मिलता है जो कर्म (विश्वपति अग्नि) तथा हिरण्यकशिपु की पुत्री रोहिणी के पुत्र थे।

३. कश्यप तथा दनु से उत्पन्न एक दानव पुत्र का नाम 'कपिल' था।

४. कश्यप तथा कद्रू से उत्पन्न एक सर्प 'कपिल' था।

५. विन्ध्यवासी एक वानर 'कपिल' नाम से विख्यात है।

६. रुद्र गणों में एक का नाम 'कपिल' है।

७. शिवावतार दधिवाहन के एक शिष्य रूप में कपिल का उल्लेख मिलता है।

८. 'कपिल' एक यज्ञ का भी पर्याय है।

९. भद्राश्व के पुत्र कपिल थे।

—रा० कु०

कपिला—१. कश्यप की पत्नी का नाम था जो दक्ष की कन्या थी।

२. कश्यप तथा श्वसा से उत्पन्न एक कन्या का नाम था।

—रा० कु०

कबीर—उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात वैष्णव आचार्यों की प्रेरणा से हुआ। यह भक्ति आन्दोलन केवल सिद्धान्तों की मंजूषा में ही बन्द रह जाता यदि इसे जनकवियों की वाणी प्राप्त न होती। इन कवियों ने तत्कालीन जन-भाषाओं में भक्ति की किरणों का आलोक विकीर्ण कर जन-जन के मानस को पवित्र कर दिया। ऐसे जन-कवियों में पहला नाम कबीर का ही है।

कबीर का आविर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। उनका जन्म ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार सम्वत् १४५५ (सन् १३९८ ई०) को सिद्ध होता है। अनन्तदास रचित 'श्री कबीर साहबजी की परचई' का समय खोज रिपोर्ट (१९०९—११) के अनुसार विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध संवत् १६५७ (सन् १६०० ई०) ही माना जाता है। इसके अनुसार कबीर के जीवन के सम्बन्ध में जो संकेत मिलते हैं वे निम्नलिखित हैं—

१. कबीर जुलाहे थे और वे काशी में निवास करते थे।

२. वे गुरु रामानन्द के शिष्य थे।

३. बघेल राजा बीरसिंह देव कबीर के समकालीन थे।

४. सिकन्दरशाह का काशी में आगमन हुआ था और उन्होंने कबीर पर अत्याचार किये थे।

५. कबीर ने १२० वर्ष की आयु पायी।

इनमें कुछ संकेतों के सम्बन्ध में शकाएँ हो सकती हैं। अनन्तदासजी ने कबीर की जन्मतिथि नहीं दी है किन्तु 'पीपाजीकी वाणी' में कबीर की प्रशसा मे एक पद आता है—

"जो कलि माँझ कबीर न होते। तौ ले...वेद अरु कलियुग मिलि करि भगति रसातल देते" (हस्तलिखित प्रति सरबगोटिका, सं० १८४२, पत्र १८८)।

पीपा का जन्म सन् १४२५ (संवत् १४८२) में हुआ था। पीपा ने कबीर की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है। इससे यह सिद्ध होता है कि या तो कबीर पीपा से पहले हो चुके होंगे अथवा कबीर ने पीपा के जन्म-काल मे ही यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली होगी। भक्तमाल के अनुसार पीपा रामानन्द के शिष्य थे अतः कबीर भी रामानन्द के सम्पर्क में आ सकते हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि कबीर सन् १४२५ (संवत् १४८२) के पूर्व ही हुए होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि कबीर का जन्म 'कबीर चरित्र बोध' के अनुसार संवत् १४५५ में होना अधिक सम्भव है जो गणना के अनुसार भी ठीक बैठता है। संवत् १४५५ के ज्येष्ठ शुक्ल १५ को सोमवार ही पड़ता है।

बील, फर्कुहर, हण्टर, ब्रिग्स, मेकालिफ, वेसकट, स्मिथ, भण्डारकर और ईश्वरी प्रसाद आदि इतिहासलेखक कबीर और सिकन्दर लोदी को समकालीन ही मानते हैं। सिकन्दर लोदी कट्टर मुसलमान था जिसका इतिहास मन्दिर गिराने और मूर्ति तोड़ने की घटनाओं से परिपूर्ण है। कबीर की वाणी में हिन्दू विचारधारा का प्राधान्य होने के कारण सिकन्दर लोदी ने कबीर को अनेक प्रकार के दण्ड दिये होंगे जिनका संकेत अन्तःसाक्ष्य से भी मिलता है।

कबीर की १२० वर्ष की आयु कुछ अधिक समझी गयी है। जनश्रुति से वे १५७५ में मगहर गये और वहाँ उनकी मृत्यु हुई होगी। मगहर जाने पर भी कबीर उसकी क्रूर दृष्टि से न बच सके होंगे। सिकन्दर लोदी का पूर्वी प्रदेशों पर आक्रमण सं० १५५१ में हुआ है (दे० 'हिस्ट्री आव दी राइज आव मोहमडन पावर इन इण्डिया' : जान ब्रिग्स, लन्दन, १८२९, पृ० ५७१—७२)। उसी समय उनकी मृत्यु हुई होगी। इस दृष्टि से कबीर की आयु ९६ वर्ष की निश्चित होती है। कबीर का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियाँ अपने चरम शिखर पर थीं। राजनीतिक परिस्थितियों में कोई स्थिरता नहीं थी। न तो राजवंशों में कोई स्थिरता थी और न उनकी नीति ही निश्चित थी। किसी समय भी राज-परिवर्तन की सम्भावना हो सकती थी और जनता पर उसका मनमाना अत्याचार चल सकता था। यही कारण है कि सामान्य जनता में राजवंश और राजनीति के प्रति कोई आस्था नहीं थी। "कोउ नृप होय, हमें का हानी" की प्रवृत्ति थी। उस समय तो लोदी वंश की कट्टर राजनीति थी, जिससे जनता में

भय और आतंक था।

धार्मिक परिस्थितियो में अनेक मतवाद थे। पूर्ववर्ती नाथ सम्प्रदाय की धारा तो हिन्दू और मुसलमानों मे समान रूप से चल रही थी। इसी प्रकार मुसलमानो का सूफी धर्म भी समान रूप से गृहीत था। वेदान्त के अद्वैत का सिद्धान्त आठवीं शती से ही प्रचार पा रहा था। इसके साथ रामानन्द का भक्ति आन्दोलन राम और कृष्ण के अनन्त नामों के साथ जन-जन के मानस में बसने जा रहा था। दक्षिण के संतो ने अपने पर्यटन के साथ निर्गुण ब्रह्म की सेवा विट्ठल के नाम से प्रचारित की थी। इस प्रकार धार्मिक परिस्थितियाँ अपने विविध प्रकार के विश्वासों के साथ बल संग्रह कर रही थी।

सामाजिक परिस्थितियाँ वर्णाश्रम धर्म के कारण धीरे-धीरे विच्छिन्न हो रही थीं। ब्राह्मण और शूद्रों में मनोमालिन्य बढ़ रहा था। इसी के साथ मुसलमान शासको के शासन मे मुसलमानों की महत्-ग्रन्थि बढ़ रही थी जिससे हिन्दू और मुसलमानों मे दिनोंदिन विद्वेष बढ़ रहा था। जाति का आधार प्रत्येक स्थल में कर्मकाण्ड बनता जा रहा था और बाहरी वेश और आचार की विविधा ही सामाजिक स्तर का मूल्याकन कर रही थी।

कबीर का आविर्भाव जैसे इन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियो का एक आग्रहपूर्ण आमन्त्रण था और कबीर ने धर्म और समाज के संघटन के लिए समस्त बाह्याचारो का अन्त करने और प्रेम से समान धरातल पर रहने का एक सर्वमान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया। परम्पराओं के उचित संचयन तथा परिस्थितियों की प्रेरणा में कबीर ने ऐसे विश्व-धर्म की स्थापना की जो जन-जीवन की व्यावहारिकता में उतर सके और अन्य धर्मो के प्रसार में समानान्तर बहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख सके। वह रूप सहज और स्वाभाविक हो तथा अपनी विचारधारा में सत्य से इतना प्रखर हो कि विविध वर्ग और विचारवाले व्यक्ति अधिक-से-अधिक संख्या में उसे स्वीकार कर सकें और अपने जीवन का अंग बना लें। कबीर शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान को अधिक महत्त्व देते थे। उनका विश्वास सत्संग में था। उन्होंने अद्वैत से तो इतना ग्रहण किया कि ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं। जो कुछ भी दृश्यमान है, वह माया है, मिथ्या है और उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भाँति पथभ्रष्ट करनेवाली समझा। उनका ईश्वर एक है जो निर्गुण और सगुण के भी परे है, वह निर्विकार है, अरूप है। उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना ब्रह्म की सर्वव्यापकता का निषध करना है। इस निराकार ब्रह्म की उपासना योग और भक्ति से की जा सक्ती है। इनमे भी भक्ति महत्तर है। भक्ति के लिए किसी व्यक्तित्व की अपेक्षा है। इस व्यक्तित्व को अवतार में प्रतिष्ठित न कर कबीर ने प्रतीकों में स्थापित किया। उन्होंने ब्रह्म से अपना मानसिक सम्बन्ध जोड़ा। ब्रह्म गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में है। पति का रूप मानने पर आत्मा उसकी प्रेयसी बन जाती है। इसी प्रियतम और प्रेयसी के सम्बन्ध में जो दाम्पत्य प्रेम लक्षित हुआ है, उसी में कबीर के रहस्यवाद की सृष्टि हुई। उनकी मानसिक भक्ति में न तो किसी कर्मकाण्ड की आवश्यकता है न मूर्ति और अवतार की। यह बात दूसरी है कि कबीर ने अपने ब्रह्म के लिए अवतारवादी नाम भी स्वीकार किये है क्योंकि ब्रह्म के नाम अनन्त हैं—"हरि मोरा पीव भाई हरि मोरा पीव। हरि बिन रहि न सकै मोरा जीव।।"

कबीर का व्यक्तित्व और निर्द्वन्द्व दृष्टिकोण इतना प्रभावशाली था कि उनके विचारों के आधार पर एक सम्प्रदाय चल पड़ा जिसे सन्त सम्पदाय की संज्ञा मिली। इस सम्प्रदाय में अनेक कवि हुए-दादू, सुन्दरदास, गरीबदास, चरनदास आदि।

कबीर की भाषा पूरबी जनपद की भाषा थी। यह भाषा यद्यपि अत्यन्त साधारण थी तथापि इसमे भावों की अभिव्यंजना की बड़ी शक्ति है। इसे मधुक्कड़ी भाषा का नाम भी दिया गया किन्तु मेरी दृष्टि से इनमे जो रूपक और प्रतीक प्रयुक्त हुए उनसे इस भाषा का साहित्यक महत्त्व भी है। इसमे सामान्य रूप से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, यमक आदि अलंकार सरलता से आ गये हैं। कबीर का प्रमुख दृष्टिकोण भावना और अनुभूति को व्यक्त करना था, उन्होंने भाषा के सौष्ठव की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया तथापि उनकी भाषा सरस और सुबोध है। रूपक और प्रतीको के साथ उन्होंने 'उलट वाँसी' का प्रयोग किया जिससे कार्यव्यापार की स्थिति में विपर्यय ज्ञात होता है। यह अध्यात्मवाद का मर्म समझाने का उनके पास बड़ा प्रभावशाली साधन है। 'पहले पूत पिछैरी माई' कहकर उन्होने जीव के उत्पन्न होने पर माया के प्रभाव को लक्षित किया है। अध्यात्मवाद का विषय इस शैली में अभिव्यक्त करने के कारण उनके काव्य में शान्त और अद्भुत रस बिना प्रयास के ही आ गये हैं।

कबीर के काव्य का प्रभाव इतना व्यापक रहा है कि वह देश-काल की सीमाओ को पार कर अनेक भाषाओं मे अनुवादित हुआ। उन्होंने जाति, वर्ग एवं सम्प्रदायों की सीमाओ का अतिक्रमण कर एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना की जिसमें विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले व्यक्ति भी निस्संकोच होकर सम्मिलित हुए। यही कारण है कि कबीर पंथ में हिन्दू और मुसमानो का प्रवेश समान रूप से देखा जाता है। कबीर वास्तव में एक ऐसे महाकवि थे जिन्होंने जीवनगत सत्य का सन्देश सौन्दर्य के दृष्टिकोण से रखा। जीवन की स्वाभाविक और सात्त्विक क्रियाशीलता में ही उनके धर्म की व्यवस्था है जिसका प्रसार उन्होंने 'सबदों' और 'साखियां' में किया।

—रा० कु० व०

कबीर की परिचई—भक्तिकाल में जिन महान् कवियों और सन्तों ने अपने सरल जीवन और कृतित्व से जनता का कल्याण किया उनके जीवन को सरल छन्दों में लिखने की प्रवृत्ति उनके अनुयायियोंऔर भक्तों में उत्पन्न हुई। ऐसे ही महान् सन्तों और कवियोंमें कबीर भी हुए जिनके चरित्र का परिचय देने के लिए 'परिचई' लिखी गयी। इस 'परिचई' के लिखनेवाले श्री अनन्तदासजी थे। उनका आविर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अर्थात् संवत् १६०० के आस-पास माना जाता है। कबीर परिचई की ६ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। दो प्रतियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, एक मलूकदास की गद्दी, कड़ेमें, एक पण्डित गणेशदत्त मिश्र और एक मेरे पास है। मेरे पास की प्रति श्री सरबगोटिका वाणी नौ हजार के अन्तर्गत है जिसका लिपिकाल संवत् १८४२ पौष शुक्ल ५ मंगलवार है और लिपिकर्ता हैं साधु ब्रह्मदास, जो

अमरदास के शिष्य और सेवादास के पोता शिष्य है।

इस परिचई में कबीर के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है। इसमें कबीर के जीवन की तिथि तो नहीं दी गयी परन्तु उनके १२० वर्षतक जीवित रहने का उल्लेख है। इस 'परिचई' से यह स्पष्ट होता है कि—

(१) कबीर मुसलमान जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे।

(२) उन्होंने रामानन्द से दीक्षा प्राप्त की थी।

(३) वे बघेल राजा वीरसिंह देव के समकालीन थे।

(४) सिकन्दरशाह ने जब काशी में प्रवेश किया तो उसने कबीर पर अनेक अत्याचार किये।

'परिचई' में कबीर के आध्यात्मिक चमत्कारों का भी उल्लेख है। समस्त ग्रथ चौपाई और दोहों में लिखा गया है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये :

चौपाई—"हम तौ भगति मुकति मैं आया। गुरु परसाद राम गुन गाया।। राम भरोसै गिनौं न काहू। सब मिलि राजा रक रिसाहू।।" दोहा—"राषनहारा राम है, मारि न सकै कोइ। पातिसाह हूँ ना डरौ, करता करै सो होइ।।" (२७/११६)।

—रा० कु० व०

कमच्छ—विष्णु के एक अवतार का नाम है। इसे 'कच्छ' तथा 'कच्छप' भी कहा जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि देवासुर संग्राम के अनन्तर जो वस्तुएँ संघर्ष में खो गयी थी, उनकी प्राप्ति के लिए समुद्र मन्थन का आयोजन हुआ। मन्दराचल तो मथानी बने, शिव तथा विष्णु ने कच्छप का रूप धारण किया। वासुकि नाग की रस्सी बनायी गयी और देवताओं तथा असुरों ने एक-एक ओर खडे होकर समुद्रमन्थन किया जिससे निम्नलिखित चौदह वस्तुएँ प्राप्त हुई—१.अमृत, २.धन्वन्तरि, ३.लक्ष्मी, ४.सुरा, ५.चन्द्र, ६.रम्भा, ७.उच्चैःश्रवा, ८.कौस्तुभ मणि, ९.पारिजात वृक्ष, १०.सुरभि गाय, ११.ऐरावत हाथी, १२.शंख, १३.धनुष तथा १४ विष (सू० सा० प० ३७८)।

—रा० कु०

कमल जोशी—जन्म वैशाखी पूर्णिमा, सन् १९२० ई०—अलवर (राजस्थान) में हुआ। मूल निवासी मथुरा (उ० प्र०) के है। पिता स्व० पं० नन्दकुमार देव शर्मा हिन्दी के जाने-माने लेखक और सम्पादक थे। मिस्र और मराठा इतिहास सम्बन्धी उनकी अनेक पुस्तकें है। हिन्दी में पत्रकारिता के सम्बन्ध में पहली पुस्तक 'पत्र सम्पादन कला' (सन् १९२० ई० में प्रकाशित) लिखने का श्रेय उन्हीं को है।

तीन वर्ष की उम्र से लेकर अठाईस वर्ष की उम्र तक कमल जोशी कलकत्ता रहे तथा वहीं कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। एक वर्ष दिल्ली मे रहने के उपरान्त सन् १९५० ई० से टाटा कम्पनी के गृह-पत्र 'टिस्को समाचार' के सम्पादक हैं।

कमल जोशी की पहली कहानी 'भाभी' सोलह वर्ष की उम्र में कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले पत्र 'साप्ताहिक विश्वमित्र' में प्रकाशित हुई। पहला कहानी संग्रह 'शीराजी' मई १९४१ ई० मे प्रकाशित हुआ जिसकी उस समय खूब चर्चा हुई। सर्वश्री अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी तथा राहुल साकृत्यायन आदि लेखकों-समीक्षकों ने उसे सराहा।

प्रकाशित पुस्तकें: (१) शीराजी (मई १९४१), (२) चार के चार (नवम्बर १९५२), (३) पत्थर की आँख (फरवरी १९५५), (४) फूलों की माला (१९५५), (५) ब्रह्म और माया (१९५७), (६)बादलों के बीच धूप (१९७०) (कहानी संग्रह), (७) बहता तिनका (१९५५ ई०) (लघु उपन्यास)। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त ३ अंग्रेजी तथा ३ बंगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। जमशेदपुर आने से पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली सुप्रसिद्ध कहानी प्रधान मासिक पत्रिका 'रानी' के सम्पादक थे।

कमल जोशी का जीवन संघर्षपूर्ण रहा। फिल्म कम्पनी के सहायक प्रचार अधिकारी से लेकर सेल्समैन, अनुवादक के रूप में सरकारी नौकरी, शेयर मार्केट तथा इन्जीनियरिंग टूल्स का व्यवसाय तथा छद्म लेखन (गोस्ट राईटिंग) तक अनेक विविधतापूर्ण कार्य किये है। अपनी कहानियों में भी उन्होंने मध्यवर्गीय व्यक्ति की इन्हीं विषमताओ का चित्रण किया है। अन्तर्द्वंद्व और संघर्ष की विविध मनोग्रंथियों को खोलने तथा उन्हें विश्लेषित करने के अतिरिक्त उनकी कहानियाँ अर्द्धप्रस्फुटित मनोभूमियो को आलोकित करती हैं, तथा अर्द्धचेतन मन की उन गुत्थियों को नग्न और निर्मम ढग से प्रकाशित करती है जो दम्भ, अज्ञान या आत्म—प्रवंचना के कुहासे में आवृत रहकर मनुष्य को अन्दर ही अन्दर कचोटती रहती हैं। इस संदर्भ मे उनकी कहानियाँ 'वे' 'बादलों के बीच धूप' तथा 'शीर्षकहीन कहानी' विशेष उल्लेखनीय है।

—ल० सिं० ब०

कमला—दे० 'लक्ष्मी'।

—रा० कु०

कमलाकांत वर्मा—पिछले दो दशको मे आपकी कहानियाँ और एकाकी नाटक काफी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। १९३० से लेकर १९५० तक आप बराबर पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे किन्तु इधर काफी दिनों से आपकी कोई चीज प्रकाश में नहीं आयी है। कमलाकान्तजी में मानव के प्रति एक उदात्त सहानुभूति है और जीवन की छोटी—छोटी घटनाओं को मार्मिक ढंग से व्यक्त करने की क्षमता है।

आपकी कहानियों में आधी नगर और आधी कस्बे की जिन्दगी की बड़ी मार्मिक झाँकी मिलती है। मध्यम वर्ग के जीवन में राग, विराग, प्रेम और व्यग्य की बड़ी ही रोचक झलक एवं उनकी समस्याओं का बड़ा ही सुन्दर चित्रण मिलता है। वर्माजी जिन समस्याओं को कहानियों में अंकित करते हैं वे साधारण जीवन स्तर की होते हुए भी नितान्त अनिवार्यता लिए होती हैं। कमलाकान्त वर्मा की कुछ कहानियाँ १९३० से ४० तक की उस भाव-स्थिति का परिचय कराती हैं जिसमें प्रेमचन्द्र का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और नितान्त भावनात्मक यथार्थवाद साथ-साथ विकसित होकर एक दूसरे के पूरक होते हैं।

एकांकी नाटकों में भी कमलाकान्त वर्मा की यही प्रवृत्ति है। नाटकों में उन्हें कहानियों से अधिक सफलता मिली है। प्रथम युद्ध के बाद और दूसरे युद्ध के पूर्व मध्यमवर्गीय जीवन में खुशहाली और सम्पन्नता के जो आसार दिखायी पड़े थे उससे

प्रभावित मनःस्थिति का चित्रण इन नाटकों में भावुकता और सहजता से किया गया है। उसके बाद तो मध्यवर्ग विघटन की ओर बढ़ने लगा।

आपकी भाषा साधारण व्यवहार की भाषा है यद्यपि कहीं-कहीं उसमें आभिजात्य गुण भी तीव्र रूप में व्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द के यथार्थ की भाषा भावुकता में लिपटी हुई रहती थी। कहीं-कहीं उसमें सूक्तियों के अंकुर भी झाँकते से दीखते थे किन्तु उत्तर प्रेमचन्द-युग में लेखकों की भाषा उस आवेश को तोड़कर अधिक सामान्य धरातल पर बहती हुई लगती है किन्तु आदर्श की गहरी संवेदना के प्रति इनका वह आग्रह नहीं है।

—ल० कां० व०

कमलादेवी चौधरी—१९०८ ई० में लखनऊ में जन्म। कहानियाँ और कविताएँ लिखती थीं। विशेषरूप से इनकी कहानियों का हिन्दी कथा साहित्य के विकास में बड़ा योग रहा है। अबतक लगभग १० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

कमलादेवी चौधरी की कहानियों में पारिवारिक जीवन की झाँकियाँ और छोटी-छोटी घटनाओं के चित्रण से व्यापक जीवन की आस्था और उसके व्यंग्यों की सफल झाँकी हमें मिलती है। नारी सुलभ कोमलता के साथ-साथ शिल्प में नये यथार्थ के आयामों के घटित होने से विभिन्न प्रकार की विपन्नताएँ हमें सहज ही दीख पड़ती है; इनकी रचनाओं में सहज मानवीय वेदना बहुत ही गम्भीर होकर व्यक्त हुई है। इनकी कहानियों में दूसरी विशेष बात यह है कि ये प्रेमचन्द के आदर्शवाद में एक भिन्न प्रकार का पुट देकर मानव जीवन की स्थितियों का चित्रण करती हैं।

'अपना मरण जगत की हँसी' नामक काव्य—संग्रह में इनकी समकालीन प्रतिभा का स्पष्ट चित्रण मिलता है। उस समय की इनकी कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे रोमानी द्वन्द्वों की कविता अपना कलेवर बदलकर नये अन्वेषित यथार्थों की ओर शीघ्रता के साथ अग्रसर हो रही है। उमर खैय्याम का अनुवाद—'खैय्याम का जाम' (जो उस काल के लेखकों की आह्लादवादी दृष्टि का परिचायक है और जिसका अनुवाद करना उस समय का फैशन-सा था) भी इनकी कृतियों में से एक है। खैयाम की मूल भावना और उसके जीवन-दर्शन से संलग्न जो छायावादी भाषा कुछ-कुछ तुतलाकर यथार्थ की वाणी अपनाना चाहती थी, उसकी भी झलक हमें इस अनुवाद में मिलती है।

इन दृष्टियों से कमला देवी की कृतियाँ हिन्दी साहित्य के उस अन्तरिम काल के लक्षणों का परिचय कराती हैं जिनसे होकर हमारी साहित्य-धारा नये मोड़ ढूँढ़ रही थी। 'पिकनिक' कहानी-संग्रह की अधिकांश कहानियाँ और 'यात्रा' संग्रह की अधिकांश कहानियाँ प्रायः उसी मानसिक स्थिति में अपना चिह्न अंकित कर जाती हैं। इनकी रचनाएँ 'विशाल भारत', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'माया', 'रानी', आदि में प्रकाशित होती रही हैं।

प्रकाशित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है——कहानी-संग्रह : 'उन्माद' (१९३४), 'पिकनिक' (१९३९), 'यात्रा' (१९४६), 'प्रसादी कमण्डल' (१९५७)। काव्य-संग्रह : 'अपना मरण जगत् की हँसी' (१९५२), 'खैय्याम का जाम'—रूबाइयात उमर खैय्याम का अनुवाद (१९५२)। —ल० कां० व०

कमलापति त्रिपाठी—जन्म वाराणसी में सन् १९०५ में हुआ। शिक्षा काशी विद्यापीठ में पायी और शास्त्री की उपाधि मिली। स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया, कई बार जेल गये। उत्तर प्रदेश विधान सभा और लोकसभा के सदस्य, सूचना—मन्त्री, गृह-मन्त्री, तथा शिक्षा-मन्त्री पद का गौरव प्राप्त किया आप उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री रहे इसके बाद केन्द्रीय परिवहन तथा रेल मन्त्री हुए। इसके बाद कांग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष हुए। आप हिन्दी के अच्छे विद्वान और वक्ता हैं। गान्धी-दर्शन का विशेष अध्ययन किया है तथा इसी विषय पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी पाया है। आपने गान्धीजी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के निमित्त 'गान्धीजी' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। यह पत्रिका काशी विद्यापीठ ने बापू के विचारों को कम-से-कम व्यय में भारत के कोने-कोने में पहुँचा देने के लिए प्रकाशित की थी। इसमें देश-विदेश के महान् व्यक्तियों तथा सस्थाओं की श्रद्धांजलि के अतिरिक्त गान्धीजी के लेख, प्रवचन, भाषण इत्यादि का समावेश किया गया।

त्रिपाठीजी दैनिक 'आज' के सहायक सम्पादक तथा कुछ दिनों तक दैनिक 'संसार' के सम्पादक रहे हैं। 'पत्र और पत्रकार, इस विषय पर उनकी सर्वप्रथम पुस्तक मानी जाती है। हिन्दी पत्रों का विकास और इतिहास तथा अन्य सामग्री, जिसका समावेश इस पुस्तक में किया गया है, प्रमाणित समझी जाती है। अपनी वक्तृत्व कला के लिए आप विशेष प्रसिद्ध हैं। विधान सभा में और सार्वजनिक सभाओं में आप धाराप्रवाह विशुद्ध हिन्दी में बोलते हैं और आपके भाषण का श्रोताओं पर समुचित प्रभाव पड़ता है। 'बापू और मानवता' तथा 'बापू और भारत' ये दो पुस्तकें आपने गान्धीजी पर लिखी हैं।

सन् १९४२ में आप प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने थे। इस प्रकार हिन्दी की प्रगति में आपने सदा रूचि ली है और पूरा योगदान दिया है। सफल पत्रकार, उत्तम वक्ता और निपुण लेखक के रूप में आपने हिन्दी भाषा की शैली और उसके रूप को सुन्दर बनाया है।

—ज्ञा० द०

करन कवि—इस नाम के तीन लेखकों का उल्लेख 'सरोज' कार ने किया है। एक करन कवि बन्दीजन जोधपुरवाले हैं जिनका उपस्थित—काल सन् १७३१ (सं० १७८७) बतलाया गया है। दूसरे करन भट्ट पन्नानिवासी हैं जो सन् १७३८ में उपस्थित थे और जिन्होंने बुन्देलवंशावतंस राजा सभासिंह हृदयसाहि पन्ना—नरेश की आज्ञा से 'बिहारी—सतसई' की 'साहित्य—चन्द्रिका' नामक टीका लिखी है। तीसरे हैं कर्ण ब्राह्मण बुन्देलखण्डी जिनका उपस्थितकाल सन् १८०१ (सं० १८५७) बतलाया गया है और जो राजा हिन्दूपति पन्नानरेश के यहाँ रहे थे। इनकी 'साहित्यरस' (सन् १८०४) तथा 'रस कल्लोल' (सन् १८२९) नामक दो कृतियाँ हैं, जिनमें दूसरी की प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में उपलब्ध है। तीनों लेखकों में इन अन्तिम की ही विशेष प्रतिष्ठा है। आलंकारिक कवियों में आपका ही नाम लिया जाता है। ये षट्कुल भारद्वाज—गोत्रीय पाण्डेय थे। इनके पिता का नाम श्रीधर था।

करन कवि ने 'रस कल्लोल' में एक छन्द में करुणरस में

छत्रसाल महाराज की मृत्यु का उल्लेख किया है और अन्य छन्दो में उनकी प्रशंसा है। इन्होंने पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इन्होंने स्वयं बताया है कि इनका मत भरत के रस—वर्णन के अनुकूल है। रस का इन्होंने सांगोपांग वर्णन किया है तथा रसों के रंग, देवता, विभाव तथा अनुभाव आदि का पृथक्—पृथक् उल्लेख किया है। इसके साथ—साथ शब्द—शक्ति तथा वृत्ति का भी वर्णन किया है।

'साहित्य रस' नामक दूसरे ग्रन्थो में इन्होने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि—भेद, रस—भेद, गुण, दोष आदि सभी काव्यविषयों का विस्तार से वर्णन किया है। इनको काव्यांगों का सर्वांगपूर्ण वर्णन करनेवाले अधिकारी लेखकों में स्थान मिलना चाहिए। ये सफल कलाकार कवि होने के साथ ही उत्तम रीति—ग्रन्थों के सफल लेखक भी थे। इनकी प्रवृत्ति मुख्यतः आलंकारिक थी। इनकी रचनाओं में सरस, मनोहर कविता के दर्शन तो होते ही हैं, सुविज्ञता भी अच्छी झलकती है। इनकी कविता में रीतिकालीन प्रवृत्तियों के पूर्ण दर्शन होते हैं तथा यमक एवं अनुप्रासादि के साथ अन्य काव्यगुणों का सम्यक् समावेश किया गया है। प्रवाहमयी रचना होने के कारण वह स्मरण करने योग्य भी बन गयी है और भावानुकूल शब्दावली का प्रयोग और भी प्रभावशाली सिद्ध होता है।

(सहायक ग्रन्थ—शि० स०; हि० सा० इ० : 'रसाल'; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६)।)

—आ० प्र० दी०

करनेस—अकबर के दरबार से जिन हिन्दी—कवियों का सम्बन्ध हैं, उनको दो वर्गों में रखा जा सकता है—'केवल दरबार में आने—जाने वाले और अकबर के सम्पर्क में आये हुए कवि' तथा 'स्थायी वृत्ति पाने वाले कवि' (सरयूप्रसाद अग्रवाल : अकबरी दरबार के हिन्दी—कवि)। इन कवियों की नामावली का कुछ संकेत निम्नलिखित सवैये से मिलता है—

''पाय प्रसिद्ध सुन्दर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी। गोकुल गोप गोपाल गुनी करनेस गुनागर गंग सुजानी।। जोध जगन्न जगे जगदीस जगामग जैत जगत्त है जानी। कोरे अकब्बर सों न कथी इतने मिलि के कविता जु बखानी।।'' अकबर के सम्पर्क में आनेवाले कवि या तो प्रतिभा की दृष्टि से सामान्य हैं या उनका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। करनेस का भाग्य इस पिछले वर्ग में पड़ा हुआ है। उनके सम्बन्ध में जितना मिश्रबन्धुओं को ज्ञात था उससे अधिक पीछे के लेखकों को विदित न हो सका।

करनेस के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे नरहरि कवि (जन्म १५०५ ई०) के साथ अकबर के दरबार में आया—जाया करते थे ('मिश्रबन्धु विनोद', भाग १, पृ० ३२४, सं० १९९४) और उन्होंने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण', तथा 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रन्थ अलंकार सम्बन्धी लिखे थे (रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० २३२, सं० सप्तम)। इनका जन्मकाल सन् १५५४ और रचनाकाल सन् १५८० के लगभग माना गया है (भगीरथ मिश्र : 'हिन्दी काव्यशास्त्र इतिहास', पृ० ३७ द्वितीय संस्करण)।

मिश्रबन्धुओं के अनुसार 'करनेस' ने खड़ीबोली में भी कविता की थी। इनका काव्य सामान्यतः साधारण श्रेणी का है। करनेस के तीनों ग्रन्थ अलंकार सम्बन्धी अथवा अलंकारशास्त्र सम्बन्धी माने जाते हैं। अभीतक की खोज के फलस्वरूप न तो इनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध हुआ और न पुस्तको का कोई उद्धरण किसी अन्य कवि की रचना अथवा संकलन में प्राप्त होता है।

करनेस के नाम को विभिन्न विद्वानों ने अलग—अलग ढंग से लिखा है। रामचन्द्र शुक्ल तथा विजयेन्द्र स्नातक ('हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास', षष्ठ भाग) 'करनेस कवि' लिखते हैं, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा भगीरथ मिश्र 'करनेस बन्दीजन' तो सरयूप्रसाद अग्रवाल ने 'करनेश' लिखा है (अकबरी दरबार के हिन्दी—कवि)। 'करनेसि', 'करणेश', 'कर्नेश' आदि एक ही नाम के विभिन्न रूप मात्र हैं।

,भगीरथ मिश्र ने ('हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', द्वितीय संस्करण, पृ० १८०) चन्द्रशेखर बाजपेयी के प्रसंग में 'असनी निवासी महापात्र करनेश कवि' की चर्चा की है। चन्द्रशेखर का जन्म स० १८५५ अर्थात सन् १७९८ ई० में हुआ था। उनके गुरु 'महापात्र करनेश कवि' का जन्म सन् १७५० के आसपास माना जा सकता है। दोनों करनेश कवियों में दो सौ वर्ष का अन्तर है, दोनों अलग—अलग व्यक्ति हैं।

शिवसिंह सेंगर के अनुसार पन्ना नरेश के आश्रय में करन नाम के किसी कवि ने सन् १७०० अथवा सन् १८०० के आसपास 'रसकल्लोल' नामक ग्रन्थ लिखा था। भगीरथ मिश्र ने 'करन' नाम के एक कवि की चर्चा की है जिसने सं० १८६० अर्थात् सन् १८०३ में 'साहित्य रस' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था ('हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', द्वितीय संस्करण, पृ० ४२)।

(सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६); मि० वि०।)

—ओं० प्र०

करुणाभरण नाटक—करुणाभरण नाटक के निर्माणकाल के विषय में मतभेद है। बाबू ब्रजरत्नदास ('हिन्दी नाट्य साहित्य', च० सं०, पृ०६०) एवं डा० दशरथ ओझा ('हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास', प्र० सं०, पृ० १६१) ने इस काव्य नाटक का निर्माण—काल १७१५ ई० (१७७२ वि०) माना है। इन विद्वानों के इस निर्णय का आधार है सरस्वती भवन, उदयपुरवाली हस्तलिखित प्रति जो १७७२ वि० की है, किन्तु याज्ञिक संग्रह की एक हस्तलिखित पुस्तक में ('याज्ञिक संग्रह' ८१२।३६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय) लिपिकाल १६९४ ई० (१७५१ वि०) मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह काव्य—नाटक १६९४ ई० के पूर्व ही कभी निर्मित हुआ होगा। करुणाभरण नाटक के सातवें अंक में लिखा है कि लछिराम ने इस नाटक को बनाकर तत्कालीन प्रसिद्ध संन्यासी कवीन्द्र सरस्वती को दिखाया। महात्मा कवीन्द्र सरस्वती 'योगवशिष्ठ सार' के प्रणेता है। 'योगवशिष्ठ सार' का रचनाकाल १६५७ ई० है। अतः हम करुणाभरण का निर्माणकाल १६५७ ई० के लगभग कूत सकते हैं।

लछिराम ने कृष्णजीवन से सम्बन्धित इस काव्य—नाटक को दोहे, चौपाईवाली शैली में लिखा। नाटक अंकों में विभाजित है और अंकों का नामकरण राधा अवस्था, राधा मिलन आदि शीर्षकों में किया गया है। एक बार महाराज कृष्ण

अपनी रानी रुक्मिणी, सत्यभामा इत्यादि के साथ सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरूक्षेत्र पधारे। उधर ब्रजवासी भी आये, जिनमें थे नन्द, यशोदा, राधा गोपियाँ एव गोप। नाटक मे नद, यशोदा, राधा एव गोप—गोपियो से कृष्ण का मिलन ही वर्णित है।

यद्यपि काव्य—नाटक में सात अक मिलते हैं किन्तु ऐसा भासित होता है कि मूलतः कवि ने छः ही अक लिखे थे, सातवाँ अंक बाद में जोड़ा गया है। इस निष्कर्ष के कई प्रमाण हैं—१. नाटक के जितने हस्तलेख मिले है उनमे से अधिकांश छः अंक ही रखते हैं। २. सातवाँ अक अलग से मिलता है। ३.छठे अक के अन्त में कवि का कथन है—"लछिराम की बुद्धि विसाला। छन्द तीन से करे रसाला।।" यदि छन्दों की गणना की जाय तो छठे अंक के अन्ततक तीन सौ छन्द प्राप्त होते हैं। सातवें अंक मे ३५ छंद है। यदि सातवे अक को भी सम्मिलित माना जाय तो छन्द संख्या ३३५ हो जाती है। ४. छठे अक के अन्ततक नाटक दुःखान्त है क्योंकि राधा और कृष्ण विलग होकर अपने—अपने देश को चले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने मूलतः दुःखान्त नाटक ही लिखा था। नाटक के नामकरण से भी यही ज्ञात होता है कि नाटक करुणा से भरा हुआ है। नाटक के दो हस्तलेखों में नाम हैं—'करुणाभर' और 'करुणाभरण'। एक हस्तलेख मे 'करुणानाटक' नाम भी मिलता है (हस्तलेख २८६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा)। कवि का कथन भी इसी बात की पुष्टि करता है—"नाटक करुनाभरनि तुम लछिराम करि देहु। प्रेम बढ़े उर निपट ही, अरु आवै अवरोई। करुणा और सिगार रस, जहाँ बहुत करि होइ।।" लोगों ने इस दुःखान्त काव्य नाटक को देखकर भला—बुरा कहा होगा या संभव है कि कवीन्द्र सरस्वती ने देखकर कहा हो—"भई अन्त ठीक नहीं रहा।" फलतः कवि ने सातवाँ अंक जोड़ दिया। ५. सातवें अंक के अन्त में पुष्पिका है—"इतिश्री करुणा नाटक देवीदासकृत सम्पूर्ण।" इससे यह भी अनुमान होता है कि सातवाँ अंक किसी देवीदास द्वारा निर्मित हुआ हो। यह देवीदास कौन है? एक दूसरे हस्तलेख के अन्त में 'देवदत्त गुरु' नाम भी मिलता है (हस्तलेख ५७१।२०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय)। देवीदास और देवदत्त गुरु एक ही व्यक्ति के नाम हो सकते हैं। ये लक्षिराम के गुरु थे। सम्भवतः गुरु ने कहा हो—दुःखान्त नाटक ठीक नहीं अतः कवि ने सातवाँ अंक रचा हो।

काव्य—नाटक का कथानक अत्यन्त प्रौढ़ एवं श्रृंखलित है। पात्र मनोवैज्ञानिक भूमिपर खड़े हैं और उनमें अन्तर्द्वन्द्व भी दिखलाई पड़ता है। नाटक में संघर्ष भी है जो मानसिक अधिक है। सत्यभामा की ईर्ष्या काव्य-नाटक का केन्द्र बिन्दु है। भाषा, सरल और प्रवाहपूर्ण है। वर्णनों एवं संवादों में भी बड़ी सरसता है।

'करुणाभरण नाटक' ब्रजभाषा काल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य—नाटक है—(१) यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ क्योंकि इसके अनेक हस्तलेख प्राप्त होते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में ही इसके पाँच हस्तलेख सुरक्षित हैं और सरस्वती भवन उदयपुर में तीन। (२) आगे उदय कवि ने 'राम करुणाकार' नाटक इसी से अनुप्राणित होकर लिखा, नाम से यहं प्रकट है। (३) प्रबन्ध काव्य की शैली पर लिखे ब्रजभाषा काव्य—नाटकों को प्रायः सभी आलोचको ने नाटक नहीं माना है। यह नाटक इन सभी विद्वानो को उत्तर देते हुआ कहता है—हम नाटक हैं, हाँ है काव्य—नाटक, जन—नाट्य शैली के। आप प्रमाण चाहते है। मेरे पास है (१) 'करुणाभरण नाटक' का अभिनय हुआ था। कवि कहता—"रसिक भगत पण्डित कविन कही, महाफल लेहु नाटक करुनाभरनि तुम लछिराम करि देहु।।१।। लछिराम नाटक कियो, दीनो गुनिन पढ़ाय। भेष—नेष निर्तन निपुन लाए नट निस धाइ।।३।। सुहृद मण्डली जोरि तहाँ कीनो बड़ो समाज। जो उनि नाच्यो (काछ्यो पाठान्तर) सरे कह्यो कविता मे सुष साज।।४।।" नाटककार स्पष्टतः घोषित करता है कि रूप—वेश—निपुण नट बुलाये गये। इनको नाटककार ने नाटक पढ़ा दिया। तब जननाट्यशैली पर नाचकर इसका अभिनय हुआ। अभिनय रात्रि मे हुआ। (४) नाटक का दूसरा नाम 'कुरुक्षेत्र लीला' भी मिलता है। "अथ कुरुक्षेत्र लीला लीषते।" इससे भी प्रमाणित होता है कि यह जन नाट्य शैली रासलीला शैली में लिखा गया था। (५) नाटक का निर्माण रस की दृष्टि से किया गया था—" करूना और स्यंगार रस, जिहाँ बहुत करि होय।" (६) इस नाटक की पहाड़ी शैली के सत्रह चित्र प्राप्त हुए हैं ('कलानिधि पत्रिका', सम्पादक . रामकृष्णदास, श्रावण २००५ में श्री गोपालकृष्ण का लेख 'करुणाभरण नाटक और उसकी चित्रावली')। ऐसा अनुमान है कि ये चित्र या तो नाटक के चित्राभिनय के लिए बने थे अथवा दृश्यों की आयोजना के लिए। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस नाटक को अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी थी। (७) नाटक का महत्त्व इससे भी आँका जा सकता है कि तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् कवीन्द्र सरस्वती ने इस नाटक की परीक्षा की और इसकी सराहना की—"जब कवइन्द्र यूँ लई परिक्षा। तब जानी सबगुरू की सिक्षा। अंक ७।।"

—गो० ना० ति०

कर्ण— कर्ण महाभारत के मुख्य पात्र एवं दानवीर के रूप में प्रसिद्ध हैं किन्तु नाम से और भी अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है।

१. कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न सूर्य के पुत्र थे। कुन्ती ने एक बार दुर्वासा का विशेष आदर—सत्कार किया था। प्रसन्न होकर उन्होंने कुन्ती को एक मन्त्र बताया था, जिसके द्वारा वे किसी भी देवता से सहवास कर सकती थीं। कुन्ती उस समय कुमारी ही थीं। उत्सुकतावश उन्होंने सूर्य का आह्वान किया। उनके सहवास से कर्ण का धनुष, बाण, कुण्डल, कवच सहित जन्म हुआ। परन्तु कुन्ती ने सामाजिक मर्यादावश अपने नवजात शिशु को अश्व नदी में छोड़ दिया। वहाँ से धृतराष्ट्र के सूत अधिरथ ने उसे लाकर अपनी पत्नी राधा को दे दिया। इस सूत दम्पति ने ही कर्ण का पालन—पोषण किया था। इसी से कर्ण के लिए 'सूतपुत्र' तथा 'राधेय' नामो का भी प्रयोग मिलता है। कर्ण को शस्त्र विद्या की शिक्षा द्रोणाचार्य ने ही दी थी किन्तु कर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्दिग्ध होकर उन्होंने इन्हें ब्रह्मास्त्र का प्रयोग नहीं सिखाया। अतः कर्ण परशुराम के पास गये और अपने को ब्राह्मण बताकर शस्त्र विद्या सीखने लगे। एक दिन परशुराम को किसी प्रकार यह ज्ञात हो गया कि यह ब्राह्मण नहीं है। इसलिए उन्होंने कर्ण को शाप दिया कि

जिस समय तुम्हें इस विद्या की आवश्यकता होगी उस समय तुम इसे भूल जाओगे। कर्ण और दुर्योधन प्रारम्भ से ही मित्र थे। कर्ण ने दुर्योधन के लिए सफलतापूर्वक अश्वमेध यज्ञ भी किया था। जिस समय द्रौपदी के स्वयंवर के लिए राजागण द्रुपद के यहाँ एकत्र हुए थे दुर्योधन ने कर्ण को इसके उपयुक्त सिद्ध करने के लिए कलिंग देश का अधिपति बनाया था। द्रुपद के यहाँ अर्जुन के पूर्व कर्ण ने मत्स्यवेध किया था परन्तु द्रौपदी ने कर्ण के साथ विवाह करना अस्वीकार कर दिया। फलतः कर्ण ने अपने को विशेष रूप से अपमानित समझा। कर्ण की पत्नी का पद्मावती तथा पुत्रों का वृषकेतु, वृषसेन आदि नामोल्लेख मिलता है। कर्ण और अर्जुन बाल्यकाल से ही परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे। सूतपुत्र होने के कारण अर्जुन कर्ण को हेय समझते थे। उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि कर्ण उनके बड़े भाई हैं। भीष्म भी कर्ण को इसी कारण अधिरथ कहते थे। कर्ण ने पाँचो पाण्डवों का वध करने का संकल्प किया था पर माता कुन्ती के कहने पर उन्होंने अपने वध की प्रतिज्ञा अर्जुनतक ही सीमित कर दी थी।

कर्ण की दानवीरता के भी अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। उनकी दानशीलता की ख्याति सुनकर इन्द्र उनके पास कुण्डल और कवच माँगने गये थे। कर्ण ने अपने पिता सूर्य के द्वारा इन्द्र की प्रवंचना का रहस्य जानते हुए भी उनको कुण्डल और कवच दे दिये। इन्द्र ने उसके बदले में एक बार प्रयोग के लिए अपनी अमोघ शक्ति दे दी थी। उससे किसी का वध अवश्यम्भावी था। कर्ण उस शक्ति का प्रयोग अर्जुन पर करना चाहते थे किन्तु दुर्योधन के निर्देश पर उन्होंने उसका प्रयोग भीम के पुत्र घटोत्कच पर किया था। अपने अन्तिम समय में पितामह भीष्म ने कर्ण को उनके जन्म का रहस्य बताते हुए महाभारत के युद्ध में पाण्डवों का साथ देने को कहा था किन्तु कर्ण ने इसका प्रतिरोध करके अपनी सत्यनिष्ठा का परिचय दिया। भीष्म के अनन्तर कर्ण कौरव सेना के सेनापति नियुक्त हुए थे। अन्त में तीन दिन तक युद्ध संचालन के उपरान्त अर्जुन ने उनका वध कर दिया। कर्ण के चरित्र में आदर्शों का दर्शन उनकी दानवीरता एवं युद्धवीरता के युगपत् प्रसंगों में किया जा सकता है।

२. कर्ण का दूसरा उल्लेख मध्ययुग में मेवाड़ के प्रसिद्ध राणा प्रतापसिंह के पौत्र के रूप में प्राप्त होता है। इनका पूरा नाम कर्णसिंह था। ये अमरसिंह के पुत्र थे। राजकीय सत्ता की दुर्बलता एवं अस्वस्थता के कारण अमरसिंह ने सं० १६७१ में तत्कालीन मुगल शासक जहाँगीर से सन्धि कर ली थी। उसी समय कर्णसिंह राज्य का कार्यभार देखने लगे थे। इनका औपचारिक राज्याभिषेक सं० १६७६ में हुआ था। इन्होंने अपने राज्यकाल में कई महल बनवाये, पुराने महलों की मरम्मत करायी। ये पुण्यात्मा भी थे। सं० १६८४ में इनका देहावसान हो गया।

३. कर्ण का तीसरा उल्लेख गुजरात के प्रसिद्ध राजा भीमदेव के पुत्र के रूप में प्राप्त होता है। इनका राज्यकाल सं० ११२० से ११५० तक रहा। इतिहासप्रसिद्ध जयसिंह सिद्धराज इन्हीं का पुत्र था (दे० मैथिलीशरण गुप्त का 'सिद्धराज')।

४. गुजरात में ही एक अन्य चालुक्य राजा का भी नाम कर्ण था। इनके पिता का नाम सारंगदेव था। इनके राज्यकाल का उल्लेख सं० १३५३ से १३६० तक प्राप्त होता है।

कृष्ण—कथा काव्यो में कर्ण का चरित्र वर्णित हुआ है (दे० 'कृष्णायन' आदि काव्य ग्रन्थ : द्वारिकाप्रसाद मिश्र)। इसके अतिरिक्त कृष्ण—काव्य के कवियों ने भी परम्परागत विशेषताओ के साथ कर्ण का नामोल्लेख किया है (सू० सा० प० ७६०)।

—रा० कु०

कर्णाभरण—इस नाम की दो अलंकार—सम्बन्धी पुस्तकों का उल्लेख मिलता है; एक के रचयिता करनेस थे, दूसरी के गोविन्द। करनेस अकबर के समकालीन कवि थे और नरहरि के साथ उनका अकबरी दरबार में आना—जाना भी था। नरहरि और करनेस के जन्मकाल में इतना अन्तर है कि करनेस को नरहरि का शिष्य माना जा सकता है, भिन्न नहीं। करनेस का कहीं भी नरहरि के बिना उल्लेख नहीं है।

करनेस की तीन पुस्तकें है—'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण'। इनकी रचना सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद में हुई होगी। अनुपलब्धि के कारण इन रचनाओं के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। केवल दो अनुमान लगाये जा सकते है। प्रथम यह कि इन पुस्तकों के नाम से विदित होता है कि इनका विषय अलंकार अथवा अधिक—से—अधिक अलंकार—शास्त्र रहा होगा। दूसरा यह कि इन तीनों में महत्त्व की सर्वाधिक अधिकारिणी कृति 'कर्णाभरण' ही रही होगी—सभी विद्वानों ने 'कर्णाभरण'को प्रथम स्थान दिया है। यदि कर्णाभरण अथवा करनेस की अन्य कोई रचना प्राप्त हो सके तो वह हिन्दी रीति—साहित्य का एक प्रमुख प्रकाश—चिन्ह होगी, क्योंकि उसका रचनाकाल केशवदास की रचनाओं से भी पहिले का होगा। अलंकार—विषय पर करनेस से पूर्व हिन्दी में लिखने वाले दो कवियों के नाम ही लिये जाते हैं, 'पुष्य' तथा 'गोपा', किन्तु उनकी रचनाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं।

गोविन्द कवि ने सन् १७४० में अलंकार—विषय पर 'कर्णाभरण' नाम की एक पुस्तक लिखी जो सन् १८९४ में भारत जीवन प्रेस, काशी से मुद्रित तथा प्रकाशित हुई। यह ४६ पृष्ठें में दोहों में केवल अलंकार—विषय का वर्णन करती है (ओमप्रकाश 'हिन्दी—अलंकार—साहित्य', पृ० १४४)। इसकी भाषा सरल तथा शैली सुबोध है; विद्यार्थियों के लिए यह 'भाषा—भूषण' से भी अधिक उपयोगी हो सकती है। यह 'भाषा-भूषण, की शैली में लिखी गयी है पर कवि ने उपयोगिता का विशेष ध्यान रखा है। श्रुतिमधुर शैली में संक्षेपतः विषय को हृदयंगम कराया है। पुस्तक के अन्तिम दोहे में इसकी रचना—तिथि भी दी हुई है।

(सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० अ० सा०।)

—ओं० प्र०

कर्दम—एक प्रजापति थे। इनके पिता के नाम कीर्तिभानु तथा पुत्र का नाम अनेग था। इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा की छाया से मानी जाती है। कर्दम का विवाह स्वायंभुव मनु की कन्या देवाहुति से हुआ था। देवाहुति ने कपिल ऋषि को जन्म दिया। कपिल सांख्य—दर्शन के रचयिता थे। ऐसा कहा जाता है कि सुयोग्य पुत्र प्राप्ति की कामना से कर्दम ने दस सहस्र वर्षों तक

घोर साधना की थी (मू० सा० प० ३९४)।

—रा० कु०

कर्बला—अरब मे 'फरात' नदी के किनारे एक विशाल मैदान है। इसका पूरा नाम 'कर्बला ए मुअल्ला' है। इस्लाम के अनुसार इस मैदान मे हजरत इमाम हुसैन अपने परिवार सहित इस्लाम धर्म की रक्षा हेतु धर्मयुद्ध (जेहाद) के लिए आये थे तथा अपने परिवारसहित तीन दिनोतक भूखे—प्यासे रहे। अन्त मे उन्हे वही वीरगति (शहादत) प्राप्त हुई। उसी समय से यह मैदान इस्लामी तीर्थ स्थान के रूप मे प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष विश्व के विभिन्न देशो से अनेक मुसलमान यात्री यहाँ आते हैं (दे० 'काबा—कर्बला', पृ० ६५)।

—रा० कु०

कर्मभूमि—पाँच भागों में विभाजित प्रेमचन्द के इस उपन्यास (प्रका० १९३२ ई०) मे लाला समरकान्त, उनके पुत्र अमरकान्त, पुत्रवधू सुखदा, रेणुकान्त (सुखदा का पुत्र), पुत्री नैना, अमरकान्त की सास रेणुका देवी, पठानिन और उसकी पुत्री सकीना, हाफिज हलीम और उनके पुत्र सलीम, धनीराम और उनके पुत्र मनीराम, डा० शान्तिकुमार और स्वामी आत्मानन्द, गूदड़, प्रयाग, काशी, सलोनी और मुन्नी आदि की कहानी है। 'कर्मभूमि' में परिवारो की कथा है। इसमें प्रेमचन्द देशानुराग, समाज—सुधार, मदिरा—निवारण, अछूतोद्धार, शिक्षा, गरीबों के लिए मकानों की समस्या, देश के प्रति कर्त्तव्य, जन—जागृति आदि की ओर संकेत करते हैं। कृषकों की समस्या उपन्यास में है तो, किन्तु वह प्रमुख नहीं हो पायी। सम्पूर्ण कथा का कार्य—क्षेत्र प्रधानतः काशी और हरिद्वार के पास का देहाती इलाका है।

अमरकान्त बनारस के रईस समरकान्त के पुत्र हैं। वे विद्यार्थी—जीवन से ही सार्वजनिक जीवन मे कार्य करने के शौकीन हैं। अपने मित्र सलीम की आर्थिक सहायता भी करते रहते हैं। प्रारम्भ में उनके और उनके लोभी पिता के आदर्शों में काफी अन्तर बना रहता है। अमरकान्त का विवाह लखनऊ के एक धनी परिवार की एकमात्र सन्तान सुखदा से हो तो जाता है, किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में साम्य नहीं है। साथ—साथ रहते हुए भी दोनों को एक—दूसरे से प्रेम नहीं है। सुखदा को अपने पति का खादी बेचना और सार्वजनिक कार्य पसन्द नहीं। पत्नी से प्रेम न पाकर अमरकान्त सकीना की मुहब्बत में पड़ जाते हैं। वे पहले से ही डॉ० शान्तिकुमार के साथ काशी में कार्य करते थे। गोरे सिपाहियों द्वारा सताई गयी मुन्नी के मुकदमे के सम्बन्ध में उन्होंने काफी कार्य किया। व्यवहारिकता और आदर्श में संघर्ष होने के कारण अपने पिता तथा सुखदा से उनका पहले से ही जी ऊबा हुआ था, लेकिन जब सकीना के साथ उनका प्रेमपूर्ण व्यवहार देखकर पठानिन ने उन्हें फटकारा तो वे शहर छोड़कर चले गये।

शहर छोड़कर वे हरिद्वार के पास एक ऐसे देहाती इलाके में पहुँचे जहाँ मुर्दाखोर और अछूत कहे जाने वाले लोग और किसान रहते थे। वे सलोनी के यहाँ रहते हुए गूदड़,प्रयाग, काशी आदि के सम्पर्कमें आये और गाँववालों में शिक्षा, अच्छी—अच्छी आदतों, सफाई आदि का प्रचार करने लगे। यहाँ रहते हुए उनकी मुन्नी से भेंट हुई। दोनों में परस्पर आकर्षण भी उत्पन्न हुआ। काशी से आये आत्मानन्द से उन्हें अपने सेवा—कार्य में बराबर सहायता प्राप्त होती रहती थी। कृषकों की सहायता के लिए वे महन्त आशाराम गिरि से मिले किन्तु उन्हे अधिक सफलता प्राप्त न हुई किन्तु काशी में सुखदा के त्याग समाचार सुनकर वे भी उत्तेजित हो उठते हैं और लगानबन्दी का आंदोलन शुरू कर देते हैं। उनका पुराना मित्र सलीम, अब आई० सी० एस० ऑफिसर और उस इलाके का इंचार्ज, उन्हें पकड़ ले जाता है। किन्तु लाला समरकान्त, जिनमें अब परिवर्तन हो चुका था, जन—सेवा की ओर मुड़कर उसी इलाके में पहुँच जाते हैं और किसान—आन्दोलन के सिलसिले मे कारावासदण्ड भी भुगतते हैं। उनके प्रभाव से सलीम के भी हृदय मे परिवर्तन हो जाता है। वह स्वयं आन्दोलन की बागडोर सम्हालता है और अन्त में पकड़ा जाता है। तत्पश्चत् मुन्नी और सकीना (वह भी उस इलाके में पहुँच जाती हैं) भी गिरफ्तार हो जाती हैं। उग्र आत्मानन्द भी सरकारी शिकंजे से बच नहीं पाते।

उधर काशी के मन्दिरों में अछूतों के प्रवेश, गरीबों के लिए मकान बनवाने आदि समस्याओं को लेकर आन्दोलन छिड़ जाता है और सरकारसे संघर्ष होता है। इस आन्दोंलन का संचालन सुखदा, पठानिन, रेणुकादेवी और यहाँतक कि समरकान्त भी करते हैं। ये सब और डॉ० शान्तिकुमार जेल—यात्रा करते हैं। नैना भी वहाँ आ जाती है और एक जुलूस का नेतृत्व करते हुए चुंगी की ओर जाती है। वहाँ उसका पति मनीराम उसे गोली मार देता है। उसकी मृत्यु से चुंगी के मेम्बरों में भी हृदय—परिवर्तन हो जाता है और वे गरीबों के मकानों के लिए जमीन दे देते हैं। जो आन्दोलन सुखदा ने प्रारम्भ किया था, उसका अन्त नैना की बलि से होता है। लखनऊ के सेण्ट्रल जेल में अमरकान्त, मुन्नी, सकीना, सुखदा, पठानिन, रेणुका आदि सब मिल जाते हैं। धनीराम का पुत्र मनीराम मृत्यु को प्राप्त होता है।

अन्त में सेठ धनीराम की मध्यस्थता से सरकार द्वारा एक कमिटी नियुक्त हो जाती है जो सरकार से मिलकर किसानों और गरीबों की समस्याओं पर विचार करेगी। उस कमिटी में अमर और सलीम तो रहते ही हैं, उनके अतिरिक्त तीन अन्य सदस्यों को चुनने का उन्हें अधिकार दिया गया। सरकार ने भी उस कमिटी में दो सदस्य अपने रखे। यह समझौतेवाली नीति १९३० के कांग्रेस और सरकार के अस्थायी समझौते के प्रभाव के रूप में है। सरकार तब कैदियों को छोड़ देती है। अमरकान्त, सकीना और मुन्नी को बहन के रूप में स्वीकार करते हैं और वे (अमरकान्त) और सुखदा एक दूसरे का महत्व पहचानते हैं।

—ल० सा० वा०

कलिंग—कलिंग प्रदेश का वर्णन सर्व—प्रथम महाभारत में कटक के सुदूर—दक्षिण स्थित 'कोरो—मण्डल' प्रायद्वीप के रूप में मिलता है। महाभारत के अनुसार 'दीर्घाला' या 'सुदेशना' के पुत्र कलिंगनरेश ने सर्वप्रथम यहाँ के निवासियों को एकत्रकर यहाँ राज्य की स्थापना की थी। एक दूसरी परम्परा के अनुसार यह द्वीप उड़ीसा से दक्षिण गोदावरी नदी के मुहाने पर स्थित एक देश—विशेष है जिसकी राजधानी का नाम कलिंग कहा जाता है। अशोक ने कलिंगविजय के अनन्तर ही ग्लानि के कारण युद्ध—विराम करके बौद्ध—धर्म ग्रहण किया था।

—रा० कु०

कल्कि—विष्णु का अन्तिम अवतार माना जाता है। इसके अतिरिक्त इसी आधार पर 'कल्कि पुराण' का भी नामकरण हुआ है। इसके अनुसार विष्णुका 'कल्कि' अवतार कलियुग के अन्त में होगा। कल्कि रूप में अवतरित होकर विष्णु 'कलि' का संहार कर सतयुग का आविर्भाव करेंगे। इनके साथ ही पद्मा रूप में लक्ष्मी भी अवतार लेगी। कल्कि इनका पाणिग्रहण करेंगे। इसके बाद विश्वकर्मा द्वारा निर्मित 'शंभल' नगर में ये वास करेंगे। वहीं बौद्धों का दमन तथा कुथोदर नामक राक्षसी का वध करेंगे। इसके उपरान्त 'मल्लाह' नामक राजा की मुक्ति होगी। इसके उपरान्त भूलोक के समस्त अत्याचारों के विनाश के बाद सतयुग का आविर्भाव होगा। भूतल पर देव तथा गन्धर्व आदि प्रकट होगे। अन्त में कल्कि भगवान बैकुण्ठ लौट जायेंगे।

—रा० कु०

कल्पना—मासिक पत्र जो १९४९ से १९५१ तक द्वैमासिक रहा। प्रकाशन हैदराबाद से होता है। प्रारम्भ से ही इसका स्वरूप साहित्यिक रहा है। इसके प्रधान सम्पादक रहे हैं आर्येन्द्र शर्मा। सम्पादक—मण्डल में बदरी विशाल पित्ती, जगदीश मित्तल, गौतम राव, मुनीन्द्र हैं। कल्पना के भाषा और हिज्जे सम्बन्धी अपने नियम हैं जिनका वह पालन करती है। सामग्री—चयन से लेकर मुद्रणतक में उसकी सुरूचि द्रष्टव्य है।

साहित्यिक दृष्टि से कल्पना हिन्दी पत्रो में अपना अग्रिम स्थान रखती है। वर्तमान हिन्दी साहित्य को अग्रसर करने में कल्पना का महत्त्वपूर्ण योगदान है। नये तथा पुराने सभी प्रकार के लेखकों का सहयोग उसे प्राप्त रहा है। वैसे भी कल्पना ने कभी अपने आपको किसी एक लेखक—मण्डल में बाँधना नहीं चाहा। उसकी सम्पादकीय नीति उदार है, पर सामग्री के चयन में स्तर का बराबर ध्यान रखा जाता है।

—श्री० रा० ब०

कल्याण—इसका प्रकाशन अगस्त १९२६ से बम्बई में हुआ। एक वर्ष के बाद यह पत्रिका गोरखपुर से निकलने लगी। इसके सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार थे। हिन्दी पत्रों में इसकी ग्राहक संख्या सबसे अधिक है। इसके प्रमुख लेखक हैं श्री चक्र, भगवान्, जयदयाल गोयन्दका, साधु—सन्त तथा संस्कृत के मर्मज्ञ। इसके अतिरिक्त कभी—कभी विदेशियों के लेखों के अनुवाद भी प्रकाशित होते हैं। ये विद्वान् निश्चय ही भारतीय धर्म के पोषक होते हैं।

इस पत्रिका के विषय भजन, योग, धर्म तथा अध्यात्म हैं। इसके प्रतिवर्ष निकलनेवाले विशेषांक महत्त्व रखते हैं। प्रमुख विशेषांकों में कुछ के नाम निम्नांकित हैं—

भगवन्नामांक, भक्तांक, गीतांक, रामायणांक, कृष्णांक, ईश्वरांक, शिवांक, शक्ति—अंक, योगांक, संतांक, मानसांक, गीता—तत्त्वांक, साधनांक, श्रीमद्भागवतांक, गौ—अंक, नारी अंक, उपनिषदांक।

—ह० दे० बा०

कल्याणी—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' की पात्र। मगध की राजकुमारी कल्याणी नन्द के विलास भवन में पली हुई है फिर भी वह वीरता, साहस एवं आत्म—सम्मान की भावना से परिपूर्ण है। महलों के कुत्सित विलास की छाया उसके गरिमापूर्ण व्यक्तित्व को विकृत नहीं कर पाती। उसके जीवन की दो आकांक्षाएँ थीं—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र—विलास—सी चन्द्रगुप्त की छवि और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध; क्योंकि उसने उसके पिता नन्द द्वारा प्रस्तावित कल्याणी के विवाह—सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया था। कल्याणी उसे नीचा दिखाने के लिए एक गुल्म—सेना लेकर ग्रीक—युद्ध के अवसर पर उपस्थित होती है। घनघोर युद्ध के पश्चात् जब पर्वतेश्वर अपनी पराजय स्वीकार करता है तब भी कल्याणी उसे युद्ध करने के लिए ललकारती है—"इन थोड़े से अर्धजीवी यवनों को विचलित करने के लिए पर्याप्त मगध सेना है। महाराज, आज्ञा दीजिए।" उसकी यह साहसपूर्ण दर्पमयी वाणी पर्वतेश्वर के हृदय में भयंकर भाले के आघात से भी अधिक तीव्र प्रहार करती है। वह हतप्रभ होकर उसे अपनी निकृष्ट पराजय मानता है। मगध की क्रान्ति के समय भी कल्याणी ही पर्वतेश्वर को बन्दी बनाने का प्रयत्न करती है, परन्तु असफल होती है। फिर भी उसका यह कार्य उसके असीम साहस एवं रण—कौशल का परिचायक है।

कल्याणी के जीवन का मधुर पक्ष अत्यन्त निराशापूर्ण है। वह अपने शैशव के साथी चन्द्रगुप्त को ही अपना उपयुक्त वर समझती है क्योंकि चीते से उसकी रक्षा करके चन्द्रगुप्त ने उसके हृदय को जीत लिया है। वह पंचनद के युद्ध में पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के साथ ही चन्द्रगुप्त को देखने के लिए जाती है तथा अपने इस भाव को उसके समक्ष व्यक्त करती हुई कहती है—"केवल तुम्हें देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे।" किन्तु दुर्भाग्य से उसके कोमल हृदय की पुकार को उसके निकट सम्बन्धी भी नहीं सुन पाते। उसे न तो उसका पिता समझ पाता है और न चन्द्रगुप्त। जीवन के अन्तिम पलों में ही चन्द्रगुप्त उसे पहचान पाता है। एक ओर पिता की भक्ति और आत्म—सम्मान की भावना और दूसरी ओर पितृघाती चन्द्रगुप्त से प्रेम सम्बन्ध—इन्हीं दो परस्पर विरोधी भावों में कल्याणी पिस जाती है। कुछ समयतक तो वह अपनी इस आन्तरिक पीड़ा को छिपाये रखती है किन्तु बाद में उसे आत्महत्या के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही नहीं मिलता। आदि से अन्ततक कल्याणी का चरित्र द्वन्द्व एवं दुःख से परिपूर्ण है। वह अपनी वंश की मर्यादा के अनुकूल नारी जाति के आत्म—सम्मान की रक्षा करते हुए विरोधी परिस्थितियों का साहस के साथ सामना करती है। कल्याणी का चन्द्रगुप्त से परिणय प्रदर्शित न कर नाटककार ने आत्म-बलिदान द्वारा उसे सदा के लिए भावुकों की चिरकालीन सहानुभूति प्राप्त करने का अधिकारी बना दिया है।

—के० प्र० चौ०

कवि कल्पद्रुम (साहित्यसार)—रामदास, जिनका वास्तविक नाम राजकुमार था, द्वारा रचा हुआ काव्यशास्त्र ग्रन्थ। इसकी रचना सन् १८४४ में आगरा में हुई थी। इसकी एक हस्तप्रति टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय में है। यह ग्रन्थ काव्य—शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर रचा गया है और इसमें ध्वनि—सिद्धान्त को मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है। मम्मट के 'काव्य—प्रकाश' के समान इसी के अन्तर्गत शास्त्र के अन्य अंगों का विवेचन किया गया है। कवि—आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक

शास्त्र—ग्रन्थो का अनुशीलन करने के बाद ही की है।

रामदास मे विवेचन की प्रतिभा विशेष रूप से देखी जा सकती है। तुलसी की चौपाई "आषर अर्थ अलकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना" के आधार पर अपनी वार्ता मे रामदास ने विषय का विवेचन किया है। इस प्रकार की व्याख्याओं की विशेषता है कि कवि ने तुलसी के कथन से सम्बद्ध करके काव्य—सिद्धान्तो का विवेचन किया है जो अपने—आप में महत्त्वपूर्ण कार्य है। इनकी शैली सरल तथा स्पष्ट है और सभी शास्त्रीय विषयों के विवेचन में लेखक की विद्वता प्रकट होती है। काव्य—हेतु, काव्य—फल, भाषा—भेद, काव्य—प्रकार, शब्दार्थ—भेद, रस के अंग, अलंकार, गुण तथा दोष आदि सभी विषयों का विवेचन ध्वनि—सिद्धान्त के आधार पर सुस्पष्ट शैली में इस ग्रन्थ में मिलता है। ग्रन्थ में आचार्यत्व की छाप है और इस दृष्टि से यह हिन्दी रीति—परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० रि० (सं० १, १३); ग० ह० ग्र० खो० (भा० ३); दि० भू०; शि० स०; मि० वि० (भा० २)।]

—सं०

कविकुलकंठाभरण—कवि दूलहकृत अलंकारों का यह एक श्रेष्ठ और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल क्या है, ग्रन्थ से पता नहीं चलता पर अनुमानतः सन् १७४३ माना जा सकता हैं। प्रकाशित रूप में दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ से प्राप्त है। कुल ८५ छन्दों में (८ दोहे, १ सवैया और शेष कवित्त) कवि ने ११५ अलंकारों का (मिश्र बन्धुओ ने अपनी टीका में भ्रमवश ११७ संख्या दी है) वर्णन इस प्रकार किया है कि स्पष्ट परिभाषा के साथ ही साथ पाठक को लक्षण और उदाहरण के लिए कठिनाई न उठानी पड़े। इसलिए लक्षण के ठीक बाद उदाहरण दिये गये हैं। कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग ही इस सुविधा का कारण है, क्योंकि दोहा जैसे छोटे छन्द का प्रयोग करने के कारण 'भाषा—भूषण' जैसे अलंकार ग्रन्थों में इसकी गुंजाइश सम्भव नहीं हो सकती। दूलह का मुख्य उद्देश्य पाठक को इस योग्य बनाना था कि वह सभा में अपनी विद्वत्ता प्रकट कर सके इसलिए प्रारम्भ में ही उन्होंने इसे स्पष्ट कर दिया है कि—"जो या कण्ठाभरन को कण्ठ करे चितलाय। सभा मध्य सोभा लहे अलंकृती ठहराय।" प्रायः अन्य अलंकार ग्रन्थों के समान ही दूलह ने भी 'कवि कुल कण्ठाभरण' की रचना के लिए 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' को ही अपना आधार बनाया। इसे वे स्वीकार भी करते हैं—" 'कुवलयानन्द' चन्द्रालोक के मते ते कहीं लुपता ये आठों—आठों प्रहर प्रमानिये।" किन्तु उनसे इनकी भिन्नता भी कहीं—कहीं स्पष्ट है। इन्होंने इन ग्रन्थों के समान दोहा जैसे छोटे छन्दों में लक्षण—उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये, यद्यपि "थोरे क्रम—क्रम ते कही अलंकार की रीति" के द्वारा अपनी शैली को भी संक्षिप्त माना है। विषयप्रतिपादन में कहीं—कहीं अन्तर भी है।

दूलह ने उन पन्द्रह अलंकारों का वर्णन किया है जिन्हें प्राचीन कवियों ने छोड़ दिया था तथा 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' में जिनमे सात अलंकारों रसवत्, प्रेय, उर्जस्वित्, समाहित्, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता का सम्बन्ध रस से माना गया है, किन्तु दूलह ने अन्य आठ अलंकारो—यथा, अनुमिति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य का वर्णन मीमांसा और तर्कशास्त्र के शब्दों के माध्यम से किया है। दूलह और पद्माकर के अतिरिक्त इनका वर्णन पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलता। केवल भिखारीदास ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, सम्भव और अर्थापत्ति का उदाहरण मात्र दिया है जबकि दूलह ने लक्षण और उदाहरण के साथ ही साथ ऐतिह्य आदि नाम के नये अलंकारों को भी जोड़ा है, संकर और संसृष्टि अलंकार का भी न्याय शब्दावली में विवेचन किया है और संकर के भेदों द्वारा अलंकारों की श्रीवृद्धि की है। इस प्रकार उन्होंने काव्यगत रस और भाव की स्थितियों में उत्पन्न चमत्कारिक स्थलों की पहचान करके अपनी तीव्र कविदृष्टि द्वारा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से शब्द लेकर उनको प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है।

उद्देश्य की सीमा के कारण प्रायः लक्षणों को संक्षिप्त कर देना पड़ा है। अधिक से अधिक अलंकारों का कम—से—कम स्थान में वर्णन करने की प्रवृत्ति के कारण कहीं—कहीं अत्यधिक क्लिष्टता आ जाती है। जिन अलंकारों के कई भेद प्रचलित है, उनके लक्षण न देकर केवल भेदों की विशेषताओं को समझाया गया है पर इनके लक्षण स्पष्ट और सुगम है—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना और विभावना। ये परिभाषाएं इतनी पूर्ण है और इनका वर्णन इस कुशलता के साथ किया गया है कि ग्रन्थ अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० इ० (भ० मि०); हि० सा० इ० : रा० शु०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ह० मो०

कविकुलकल्पतरु—इस ग्रन्थ का रचनाकाल मिश्रबन्धुओ तथा रामचन्द्र शुक्ल ने १६५० ई० (सं० १७०७) माना है परन्तु इसमें 'श्रृंगार मजरी' का भी उल्लेख है जिसकी रचना १६६३ ई० (सं० १७२०) के लगभग मानी गयी है। ऐसी दशा में सत्यदेव चौधरी का विचार है कि इसका रचनाकाल १६६८ ई० (सं० १७२५) के आसपास होगा (दे० 'हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य', पृ० ३६)। भगीरथ मिश्र ने इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रतिका दतिया के राजकीय पुस्तकालय में होने का उल्लेख किया है। इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस लीथो टाइप में सन् १८७५ ई० में लखनऊ से हुआ है।

'कविकुलकल्पतरु' में कुल ११३३ पद्य है और यह आठ प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम प्रकरण में काव्य—भेद, काव्य—लक्षण, काव्य—पुरुष—रूपक और गुण विवेचन है। दूसरे और तीसरे प्रकरणों में शब्द और अर्थ के भेद के साथ अलंकारों का निरूपण है। चौथे प्रकरण में काव्यगत दोषों पर विचार किया गया है। पाँचवें प्रकरण के तीन भाग हैं—प्रथम भाग में शब्दार्थ निरूपण है, दूसरे में रसध्वनि को छोड़कर ध्वनि के शेष भेदोपभेदों का तथा तीसरे में रसध्वनि का समावेश किया गया है। नायिकाभेद का प्रसंग दूसरे भाग के अन्तर्गत सन्निहित है तथा नायकभेद तीसरे भाग में। दोनों की समाप्ति 'राधावर्णनम्' और 'कृस्नप्रत्यंगवर्णनम्' के नाम से की गयी है। चिन्तामणि ने नायक—नायिका—भेद के प्रसंग को रस—निरूपण के अन्तर्गत रखकर विश्वनाथ का पहली बार अनुसरण किया है। मम्मट की तरह उन्होंने ध्वनि—प्रकरण में

इसकी उपेक्षा नहीं की। भानुदत्त का आश्रय अवश्य अतिरिक्त रूप मे लिया है, जैसा रीतिकाल के अन्य अनेक कवियो ने किया है। ध्वनि का विस्तार ग्रन्थ के अन्ततक है और श्रृगार रस आदि विषय तथा ध्वनि से सम्बद्ध अन्य प्रसग इसी अन्तिम अश में निरूपित किये गये है। गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण चिन्तामणि ने नही किया है, यह विशेषकर उल्लेखनीय है। 'काव्य—प्रकाश' और 'साहित्य—दर्पण' उनके मुख्य आधार ग्रन्थ रहे है। वस्तु विभाजन और क्रम निर्धारण मे कही—कही चिन्तामणि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०, हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ज० गु०

कवितावली—'कवितावली' गोस्वामी तुलसीदास की प्रमुख रचनाओ में है। इसमे हमे अनेक कवित्त, सवैयों का सग्रह मिलता है। ये छन्द ब्रजभाषा मे लिखे गये है और इनकी रचना प्रायः उसी परिपाटी पर की गयी है जिस परिपाटी पर रीतिकाल का अधिकतर रीति—मुक्त काव्य लिखा गया। इन छन्दों को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है. एक तो वे जो रामकथा के सम्बन्ध के है और दूसरे वे जो अन्य विविध विषयो के है। समस्त छन्द सात खण्डो मे विभक्त हैं। प्रथम प्रकार के छन्द रचना के लंका—काण्डतक आते हैं और द्वितीय प्रकार के छन्द उत्तरकाण्ड में रख दिये गये है।

कथा—सम्बन्धी छन्द 'गीतावली' के पदो की भाँति—वरन् उससे भी अधिक स्फुट ढंग से लिखे गये हैं। अरण्य—काड का एक ही छन्द है जिसमें हरिण के पीछे राम के जानेमात्र का उल्लेख है। किष्किन्धाकाण्ड की कथा का एक भी छन्द नहीं है; जो एक छन्द किष्किन्धाकाण्ड के शीर्षक के नीचे दिया भी गया है, वह वास्तव में सुन्दर काण्ड की कथा का हैं, क्योंकि उसमे हनुमान् के समुद्र लाँघने के लिए सिन्धु—तीर के एक भूधरपर उचक कर चढ़ने का उल्लेख हुआ है। रचना में उत्तरकाण्ड का कथा—विषयक कोई छन्द नही है। इसके उत्तरकाण्ड मे प्रारम्भ में राम के गुण—गान के कुछ छन्द है और तदनन्तर कुछ स्फुट विषयों के छन्दों के आने के बाद आत्म—निवेदन—विषयक छन्द आते हैं। इन आत्म—निवेदन—विषयक छन्दों में कवि ने प्रायः अपने जीवन के विभिन्न भागों पर दृष्टिपात किया है, जो उसके जीवनवृत्त के तथ्यों को स्थिर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए है। इनके अतिरिक्त कुछ छन्दों में कवि ने सीधे—सीधे भी अपने और समाज के अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला है। उत्तर काण्ड के ये समस्त छन्द अप्रतिम महत्त्व के हैं।

'कवितावली' का काव्य—शिल्प मुक्तक काव्य का है। उक्तियों की विलक्षणता, अनुप्रासों की छटा, लयपूर्ण शब्दों की स्थापना कथा भाग के छन्दों में दर्शनीय है। आगे रीति—काल में यह काव्य—शैली बहुत लोकप्रिय हुई और इस प्रकार तुलसीदास इस काव्य—शैली के प्रथम कवियों में से ज्ञात होते है फिर भी उनकी 'कवितावली' के छन्दों में पूरी प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। कुछ छन्द तो मुक्तक—शिल्प की दृष्टि से इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि उनसे सुन्दर छन्द पूरे रीति—साहित्य में भी कदाचित् ही मिल सकेंगे, यथा बालकाण्ड के प्रथम सात छन्द। इसका कारण कदाचित् यह है कि इसके अधिकतर छन्द तुलसीदास के कवि—जीवन के उत्तरार्द्ध के हैं। इसकी कथा पूर्ण रूप से 'रामचरित मानस' का अनुसरण करती है, यह तथ्य भी इसी अनुमान की पुष्टि करता है। हिन्दी म रीति—धारा का प्रारम्भ केशव की 'कविप्रिया' (स० १६५८) तथा 'रसिकप्रिया' से माना जा सकता है। हो सकता है कि 'कवितावली' के अधिकतर छन्द इनके रचना—काल के आस—पास और बाद के हों। आत्मोल्लेख के जो छन्द उत्तरकाण्ड मे आते है उनमे भी तुलसीदास के कवि—जीवन के उत्तरार्द्ध की ही घटनाओ का उल्लेख हुआ है। कुछ छन्द तो कवि के जीवन के निरे अन्त के ज्ञात होते हैं। इसलिए 'कवितावली' के छन्दों का रचना—काल स० १६५५ से १६८० तक ज्ञात होता है।

'कवितावली' का सकलन कब हुआ होगा, यह विचारणीय है, क्योंकि रचना-तिथि का उल्लेख नही हुआ है। इसकी जो भी प्रतियाँ अभीतक मिली है, उनके छन्दो तथा छन्द—क्रम मे अन्तिम कुछ छन्दो को छोड़कर कोई अन्तर नही मिलता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इसका सकलन कवि ने अपने जीवन—काल में ही कर दिया था। उसके देहावसान के बाद जो कवित्त—सवैये और भी प्राप्त हुए उन्हें रचना के अन्त मे जिस प्रकार वे प्राप्त होते गये, लोगों ने जोड लिया; इसीलिए अन्त के कुछ छन्दो के विषय में प्रतियों मे यह अन्तर मिलता है।

—मा० प्र० गु०

कवित्त रत्नाकर—सेनापति कवि का प्राप्त एक मात्र ग्रन्थ। इसका रचनाकाल सं० १७०६ वि० (सन् १६४९ ई०) है। यह कवि की स्फुट रचनाओं का संकलन ग्रन्थ है। इसमें पाँच शीर्षक अथवा अध्याय है, जिन्हें 'तरग' की सज्ञा दी गयी है। पहली तरंग में ९६, दूसरी में ७४, तीसरी में ६२, चौथी में ७६ तथा पाँचवीं मे ८६ और सब मिलाकर पूरे ग्रन्थ में ३९४ छन्द है। इनमे से कुछ छन्द ऐसे भी है जो दो तरंगो में समान रीति से प्राप्त होते हैं। १० पुनरावृत्ति वाले छन्दों को छोड़कर 'कवित्त—रत्नाकर' में परिशिष्ट रूप में पृथक् दिये हुए मिलते हैं। ये छन्द रचना—शैली की दृष्टि से सेनापति के ही प्रतीत होते हैं किन्तु केवल एक ही हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होने के कारण इन्हे असम्पादित रूप में मुद्रित किया गया है (दे० 'हिन्दी परिषद्', प्रयाग विश्वविद्यालय संस्करण, पृ० ११९)।

'कवित्त—रत्नाकर' की ११ हस्तलिखित प्रतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनमे से ९ प्रतियाँ भरतपुर के राजकीय पुस्तकालय में प्राप्त है। एक अन्य हस्तलिखित प्रति भी भरतपुर के राजकीय पुस्तकालय में थी। प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजीविभाग के भूतपूर्व अध्यापक शिवाधार पाण्डेय ने सन् १९३२ ई० में इस प्रति की एक प्रतिलिपि प्रस्तुत की थी, जिसका उपयोग हिन्दी परिषद् के संस्करण में हुआ है, किन्तु मूल हस्तलिखित प्रति अब भरतपुर के पुस्तकालय में नहीं है। इन दस प्रतियो मे ज्ञात प्राचीनतम प्रति सं० १८१८ (सन् १७६१ ई०) की है। भरतपुर की दो अन्य हस्तलिखित प्रतियों का लिपिकाल ज्ञात है—सं० १८३२ (सन्१७७५ ई०) और सं० १८८० (सन् १८२३ ई०)। इन दस प्रतियों मे ४ प्रतियाँ खण्डित रूप में प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त कवित्त रत्नाकर की ज्ञात ग्यारहवीं प्रति सं० १९४१ (सन् १८८४ ई०) की है जो सीतापुर निवासी प्रसिद्ध विद्वान स्व० कृष्णबिहारी के संकलन में

प्राप्त है। इस सामग्री के आधार पर प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने कवित्त रत्नाकर का एक संस्करण उमाशंकर शुक्ल द्वारा प्रस्तुत करवाया था, जो पहली बार सन् १९३६ ई० में हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

'कवित्त–रत्नाकर' की पहली तरग का दूसरा नाम श्लेष–वर्णन है। इसके दस प्रारम्भिक छन्दो मे 'मंगलाचरण', 'राम–स्तुति', 'गुरु–वन्दना', वंश–परिचय' तथा 'काव्य–परिचय' वर्णित है; छन्द ८ से ९६ तक ८९ श्लिष्ट छन्द संकलित हैं जिनकी प्रासादिकता तथा सरसता की आलोचकों ने सराहना की है। ब्रजभाषा की साधारण–से–साधारण शब्दावली का ऐसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग कवि ने किया है कि इसकी वाणी से छन्दो के दोहरे अर्थ बरबस निकलते चले आते हैं, एक कवित्त तो तीन अर्थ देता है। श्लेष के पश्चात् दूसरी तरंग में श्रृंगारिक रचनाएँ संकलित हैं। इस तरग के आधे से अधिक छन्दों मे रूप–वर्णन तथा नायिक–भेद का विस्तार मिलता है, शेष रचना विरह का अतिरंजित रूप प्रस्तुत करती है। इन तीनो विषयों का कोई निश्चित क्रम नहीं है। इनके छन्द मिले–जुले रूप में पाये जाते हैं। तीसरी तरग के ६२ छन्दो मे ९ मे बसन्त, १५ मे ग्रीष्म, १२ मे पावस, ६ में शरद, ९ में शिशिर तथा ११ में हेमन्त ऋतु का चित्रण हुआ है। जिस प्रकार दूसरी तरंग में श्रृंगार रस के 'आलम्बन–विभाव' का चित्रण मिलता है, उसी प्रकार तीसरी तरंग में 'उद्दीपन विभाव' की दृष्टि से षट्ऋतु वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह अवश्य है कि इसमें कवि का दृष्टिकोण सामान्य रीतिकालीन दृष्टिकोण से भिन्न है, क्योंकि उसके प्रकृति–चित्रण में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों के प्रति कवि का सच्चा अनुराग झलकता है। चौथी तरग का सम्बन्ध रामकथा से है। रामकथा की विशालता से कवि परिचित था इसलिए उसने प्रारम्भ मे ही कथा–क्रम को नमस्कार कर लिया है (दे० 'तरंग' ३, छन्द ६) और 'रामकथा' के प्रमुख मार्मिक स्थलों पर स्फुट रचनाएँ प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ की अन्तिम तरंग में भक्ति–ज्ञान–वैराग्यसम्बन्धी स्फुट रचनाएँ संगृहीत हैं। अन्त मे 'चित्रालंकार' विषयक कमलबद्धोत्तर, अमत्त, एकाक्षरी, द्व्यक्षरी तथा लाटानुप्रास के थोड़े से छन्द संकलित है जो कवि की अलंकार–प्रियता के सूचक हैं।

—उ० श० शु०

कविप्रिया—यह केशवदास की प्रमुख कृति है और इसका रचनाकाल सन् १६०१ (सं० १६५८) है। इसके निम्नलिखित मुद्रित संस्करण हैं—

मूल—(१) नवल किशोर प्रेस लखनऊ (१९२४ ई०)। (२)'केशव–ग्रन्थावली', प्रथम खण्ड : श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद (१९५४ ई०)

टीका—(१) श्री हरिचरणदास : पं० बन्दीदीन द्वारा संशोधित, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (१८९० ई०)। (२) श्रीसरदार कवि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ। (३) लाला भगवानदीन, साहित्य–भूषण कार्यालय, वाराणसी, (१९२५ ई०, सं० १९८२)। द्वितीयवृत्ति–'प्रिया प्रकाश' नाम से कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी (१९५७ ई०, सं० २०१४)। (४) श्री लक्ष्मी निधि चतुर्वेदी, मातृभाषा मन्दिर, प्रयाग।

'कविप्रिया' कविशिक्षा की पुस्तक है। केशव ने इसका प्रणयन अपनी साहित्य–शिष्या तथा अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह की प्रधान दरबारी पातुर प्रवीणराय के हेतु किया था। फिर भी "समुझें बाला बालकहु, बर्नन पन्थ अगाध" केशव की दृष्टि में था। 'कविप्रिया' में १६ प्रभाव हैं। पहले दो प्रभावों मे वन्दना, नृपवंश और कविवंश का वर्णन है। तत्पश्चात् काव्य–दोषों और अलकारों का वर्णन किया गया है। अन्तिम सोलहवें प्रभाव में चित्र–काव्य है। शिखनखसहित 'कविप्रिया' में ८९६ छन्द हैं।

'कविप्रिया' में केशव ने तत्कालीन सभी प्रकार के काव्योपयोगी प्रवाहों का संग्रह किया है। इसमें शास्त्रप्रवाह और जनप्रवाह के अतिरिक्त विदेशी फारसी 'साहित्य' के प्रवाह का भी नियोजन है। 'कविप्रिया' श्रृंगार का ग्रन्थ नहीं है, पर उदाहरण का अच्छा समन्वय किया गया है। विवेचन की शैली उत्तम है। वर्णन कठिन होते हुए भी स्पष्ट है। काव्य–दूषण का विवेचन सबसे अधिक स्पष्ट है। दोषों की कल्पना संस्कृत–शास्त्रों के अतिरिक्त चारणों की परम्परा में भिन्न प्रकार से हुई है। उनके नाम अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक रखे गये हैं। अन्य शास्त्रीय दोषों का भी थोड़ेमें विचार कर दिया गया है।

इसके अनन्तर कवियों के भेद का विचार है। वे तीन प्रकार के कहे गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। भक्तिभावित रचना करनेवाले उत्तम, मानुषी काव्य करनेवाले मध्यम तथा दोषयुक्त काव्य के रचयिता अधम की श्रेणी में रखे गये हैं।

कवियों की कविसमय–सम्बन्धी तीन रीतियों का भी इसमें उल्लेख है। राजशेखर वर्णित त्रिविध कविसमय, असत्–निबन्धन, सत्–निबन्धन और नियम–निबन्धन को यों कहा है—"साँची बात न बरनहीं, झूठी बरनन बानि। एकनि बरनत नियम करि, कविमत त्रिबिध बखानि।"

इसमें केशव की सबसे अद्भुत कल्पना अलंकार सम्बन्धी है। उन्होंने काव्यालंकार दो रूप का माना है—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य के चार प्रकार बताये हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राज्यश्री। वर्णालंकार ७ प्रकार के तथा वर्ण्यालंकार २८ प्रकार के बताये हैं। भूमिभूषण १२ रखे हैं और राज्यश्रीभूषण १७ प्रकार के निर्दिष्ट किये हैं। विशिष्ट अलंकार के अन्तर्गत ४४ अलंकारों का वर्णन है। इनमें से आक्षेपालंकार के अन्तर्गत शिक्षाक्षेप में बारहमासा रखा गया है। क्रमालंकार में एक से दसतक की संख्या के सूचक शब्दों की गणना आयी है। उपमालंकार का सबसे अधिक विस्तार कर उसके अंगरूप में नखशिख और शिखनख का समावेश है।

केशव श्लेष के और श्लेषानुप्राणित अलंकारों के विशेष प्रेमी थे। इन्होंने हिन्दी में श्लिष्ट कविताएँ अधिक लिखी हैं। केशव ने षट्ऋतुओं का भी श्लिष्ट वर्णन किया है। विरोधाभास भी उन्हें प्रिय है। व्यक्तियों के वर्णन में अधिकतर विरोधाभास का और राज्य के वर्णन में बहुधा परिसंख्या का प्रयोग किया है। इसके व्यवहार में ये बड़े सिद्धहस्त थे। 'कविप्रिया' में परिसंख्या श्लेष के ही अन्तर्गत है। उसे 'नियमश्लेष' लिखा है। केशव ने इसमें चित्रकाव्य भी पर्याप्त दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ तो चित्रकाव्य को अधमाधम काव्य कहते हैं। इन्होंने इसमें एक स्थान पर संस्कृत के नियम

से 'भाव' के लिए 'भव' लिखा है जो हिन्दी में भ्रामक है।

नखशिख, शिखनख और बारहमासा पहले 'कविप्रिया' के ही अन्तर्गत थे। आगे चलकर ये अलग से प्रचारित हुए। सम्भव है इनकी रचना 'कविप्रिया' के पूर्व ही हुई हो और बाद में इन सबका या किसी का इसमें समावेश हुआ हो। 'कविप्रिया' की प्राचीन प्रतियो में नखशिख उसके पन्द्रहवे प्रभाव में रखा हुआ है और उपमालंकार का अंग माना गया है किन्तु उनके शिखनख का अभीतक पता न था। प्राचीन कविता—संग्रह मे केशव के कुछ ऐसे छन्द अवश्य मिलते थे जो उनके नखशिख में प्राप्त नहीं थे या उनके और किसी ग्रन्थ के अंग नहीं थे। अतः सामान्यतया यही धारणा होती थी कि इनका नखशिख बड़ा रहा होगा और ये सब उसी के अंग रहे होंगे। इधर 'कविप्रिया' के सबसे प्राचीन हस्तलेख (१६६७ ई०, सं० १७२४) में नखशिख के साथ 'शिखनख' भी जुड़ा हुआ मिला है। इस शिखनख की स्वतन्त्र हस्तलिखित प्रति अभय जैन भण्डार (बीकानेर) से प्राप्त हुई जो सं० १७५१ (१६९४ ई०) की लिखी है। इसपर एक गुजराती टीका भी है, जिसका हस्तलेख सं० १७६२ (१७०५ ई०) का है। जान पड़ता है कि शिखनख स्वतन्त्र रूप से भी केशव द्वारा प्रचारित किया गया, जैसे नखशिख। शिखनख के स्वतन्त्र हस्तलेख के अन्त में कुछ अंगों का वर्णन ऐसा भी है जो नखशिख में आ चुके हैं। सारी, समस्त भूषण और अंगवास के वर्णन वे ही हैं जो नखशिख को उनके उपसंहार के छन्द भी मिलते हैं। शिखनख में इतने अंग—उपांग, भूषणादि का वर्णन अधिक है—त्रिवली, नाभि, उदर, कुचान्त, कुचाग्र, भुजमूल, मुख, तारे, पाटी माँग और नख। नखशिख के वर्णन में यह बताया गया है कि अमुक अंग का वर्णन करते हुए किन—किन उपमानों की योजना करनी चाहिए पर शिखनख में यह योजना नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नखशिख के निर्माण के अनन्तर शिखनख का निर्माण किया गया, इसलिए इसमें इस प्रकार की शिक्षा की अपेक्षा नहीं थी। शिखनख में जिन अंगों का वर्णन नहीं आया है। उनमें से कुछ का उल्लेख नख शिख के दोहों में हुआ है, पर नख शिख में उनका वर्णन नही है। दूसरा स्पष्ट अन्तर यह है कि नखशिख में स्थान—स्थान पर 'वृषभानु की कुमारी', 'राधिका कुँअरि' ऐसे शब्दों, विशेषणों और संकेतों की योजना है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नखशिख राधिकाजी का है। नायक के रूप में नन्दलाल, मुकुन्दजू आदि शब्द बराबर रखे गये हैं। शिखनख में केवल ग्रीवा वर्णन में न जाने क्यों 'कुँवरि राधिका' पदावली आ गयी है। अभय जैन भण्डार (बीकानेर) प्रति में इसका पाठान्तर "कुँवरि काम—कामिनी को" मिलता है। इसलिए नखशिख में शिखनख के जो छन्द आये हैं उनमें से केवल एक ही छन्द ऐसा है जो राधिकाजी से सम्बन्ध रखता है। शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार मण्डन, शिक्षा, शोभावर्णन आदि सखी के कर्म माने जाते हैं। नखशिख में इस प्रकार की योजना नहीं है। शिखनख की योजनाएँ अत्यन्त मार्मिक हैं। केशव के नखशिख से उनका शिखनख काव्योत्कर्ष और कल्पना के अद्भुत नियोजन की दृष्टि से उत्कृष्टतर है।

ऋतुवर्णन संयोग और वियोग दोनों पक्षों में होता है, किन्तु 'बारहमासा' केवल वियोगपक्ष में ही नियोजित होता है। ऋतुवर्णन की परम्परा पण्डितों द्वारा प्रवर्तित है तो 'बारहमासा' लोक द्वारा प्रवर्तित। केशव ने 'कविप्रिया' के अन्तर्गत दोनों प्रकार की परम्पराओ का नियोजन करने का प्रयास किया है। उनके ऋतुवर्णन में श्लिष्ट प्रयोगों का आधिक्य है। 'कविप्रिया' के सातवें प्रभाव मे ऋतुओं का वर्णन पूरा—का—पूरा श्लिष्ट रखा गया है। ऋतुवर्णन श्लिष्ट लिखना एक प्रकार की रूढ़ि हो गयी है।

भाषा पर केशव का अधिकार 'कविप्रिया' की उक्तियों में स्पष्ट दिखाई देता है।

[सहायक ग्रन्थ—केशव की काव्यकला : कृष्णशकर शुक्ल; आचार्य कवि केशव : कृष्णचन्द्र वर्मा; हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०।]

—वि० प्र० मि०

कविराजा मुरारिदान—कविराजा 'जसवन्त जसोभूषण' की रचना के लिए प्रसिद्ध हैं। ये जोधपुर—नरेश महाराज जसवन्तसिंह के आश्रय में थे। संस्कृत के ये प्रकाण्ड पण्डित थे। 'जसवन्त जसोभूषण' की रचना १८९३ ई० (सं० १९५०) में हुई थी। इसका लघु—संस्करण 'जसवन्त—भूषण' ग्रन्थ हैं। आधुनिक काव्यशास्त्र में इस पुस्तक का एक विशेष महत्त्व है। इसमें अलंकारों के लक्षण उनके नामों से ही निकाले गये हैं। समकालीन साहित्यिकों में इसकी आलोचना और चर्चा भी खूब हुई है (दे० 'जसवन्त जसोभूषण')।

—ओं० प्र०

कविवचनसुधा—यह पत्रिका भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की १७ वर्ष की आयु में उन्हीं द्वारा काशी से निकाली गयी थी। पहले इसका रूप मासिक था। १८६७ से यह पाक्षिक हो गयी, फिर १८८१ से साप्ताहिक हो गयी। प्रथम संस्करण २५० प्रतियों मात्र का था। २२ पृष्ठों की इस पत्रिका का मूल्य केवल ४ आने था।

इसमें वर्तमान समस्याओं पर छन्दों में कविताएँ छपती थीं। पहले प्राचीन कवियों की कृतियाँ प्रकाशित होती थीं। धीरे—धीरे गद्य की ओर ध्यान गया। भारतेन्दु भी इस ओर प्रेरित हुए।

इसमें राजनीति, समाजशास्त्र, साहित्य आदि विषयों पर लेख प्रकाशित होते रहते थे।

पहले इसमें समाचार नहीं छपते थे। जब साप्ताहिक हुआ तो समाचार और निबन्ध भी छपने लगे। इसकी नीति का सिद्धान्तसूत्र—है "खल जनन से सज्जन दुखी मत होहिं हरिपद मति रहै, उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै। बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंहि जग आनंद लहैं, तजि ग्राम कविता सुकवि जनकी अमृत बानी सब कहैं।"

स्वामी दयानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ग्रिफिथ जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों के लेख इसमें प्रकाशित होते रहते थे। इसे जो सरकारी सहायता मिला करती थी, वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सरकारविरोधी विचारों के कारण बन्द हो गयी, किन्तु तब भी यह पत्रिका सन् १८८५ ई० तक प्रकाशित होती रही।

—ह० दे० बा०

कवींन्द्र—वास्तविक नाम उदयनाथ, बनपुरा के कालिदास त्रिवेदी के पुत्र। सन् १६८० के आसपास इनका जन्म हुआ

था। बहुत दिनोंतक ये अमेठी के राजा हिम्मत सिंह तथा उनके पुत्र कवि तथा काव्यप्रेमी भूपति कवि (गुरूदत्त) के आश्रय मे रहे। बूँदी के राव बुद्ध सिंह तथा भगवन्तराय खीची के यहाँ भी इनको काफी सम्मान प्राप्त हुआ था। वैसे तो इनके द्वारा रचित तीन पुस्तकों : (१) 'रस–चन्द्रोदय', (२) 'विनोद चन्द्रिका' तथा (३) 'जोगलीला' का नाम लेते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'विनोद चन्द्रिका' सं० १७७७ और 'रसचन्द्रिका' सं० १८०४ में बनी (हि० सा० इ०, पृ० १७०–७१) किन्तु भगीरथ मिश्र का कहना है कि 'रस चन्द्रोदय' और 'विनोदचन्द्रोदय' एक ही ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने एक उद्धरण दिया है—"संवत् सतक ललित अट्ठारह चार। नाइक नाइकाहिं, निरधार।। लिखी कविन्द रस ग्रन्थ। कियो विनोद चन्दोदय ग्रन्थ।।"

ज्ञातव्य यह है कि शुक्लजी ने 'रसचन्द्रोदय' का जो रचनाकाल माना है, वही इस दोहे में 'विनोदचन्द्रोदय' का भी है। अतः भगीरथ मिश्र का मत ठीक लगता है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा मे है और एक संस्करण नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् फरवरी १८८२ में प्रकाशित हुआ है। 'रसचन्द्रोदय' श्रृंगार का एक अच्छा ग्रन्थ है। इसमें लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त, सवैया छन्दों में दिये गये हैं। उदाहरण बहुत ही रोचक और सुन्दर हैं, अस्तु इसका काव्यात्मक महत्त्व अधिक है, शास्त्रीय कम।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० इ०।]

—ह० मो०

कवींद्र कल्पलता—कवीन्द्राचार्य सरस्वती की एकमात्र प्राप्त ब्रजभाषा में लिखी कृति 'कवीन्द्रकल्पलता' (राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३४, जयपुर १९५८ ई० : सम्पादक श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारीजी चूड़ावत) है। कवीन्द्राचार्य काशी के अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् थे। शाहजहाँ ने काशी–प्रयाग के हिन्दू यात्रियों पर जो कर लगाया था उससे उन्हें सरस्वतीजी ने ही मुक्त कराया था। गोदावरीतीर के किसी स्थान से वे काशी आये थे। 'कवीन्द्र–कल्पलता' का प्रधान विषय मुगल सम्राट शाहजहाँ का यश वर्णन है। थोड़े से पद्य कृष्ण तथा तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित हैं। अन्त में दारासाहि की प्रशंसा में कुछ पद्य हैं। दोहा, छप्पय, सरसी, सवैया, कवित्त, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

—रा० तो०

कांतानाथ पाण्डेय—उपनाम 'चोंच', बाद में 'राजहंस'। जन्म १९१४ ई० में काशी नगरी के मुहल्ला नगवा मे। हास्य रस के कवि, लेखक और कथाकार हैं। वैसे गम्भीर साहित्य भी आपने लिखा है किन्तु आपकी प्रसिद्धि हास्य–लेखक के रूप में ही है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों ही में आप लिखते हैं। आप हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज में हिन्दी के प्राध्यापक रहे।

हास्य रस में आपका एक विशिष्ट स्थान है। जीवन की विभिन्न स्थितियों, विरोधाभासों और व्यंगों को आपने हास्य में रखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सामाजिक जीवन, धार्मिक रूढ़ियों, अधिनूतन, विवेकहीन अनुकरणों पर भी आपने अच्छी रचनाएँ लिखी हैं। आधुनिक सभ्यता के अन्धे अनुकरण और उनके कुसंस्कारों के प्रति भी आपने व्यंग्य किये हैं। हास्य को सुलभ बनाने के साथ–साथ ज्ञेय और जीवन्त बनाने में जिन कुछ लोगों ने विशेष योग दिया है उनमें से चोंच बनारसी का विशेष स्थान रहा है।

जिस युग में चोंचजी ने हास्य–रस लिखना आरम्भ किया था उस समय साहित्यिक वातावरण का एक जबरदस्त प्रभाव था। कवियों की विभिन्न भाव–स्थितियो, उनकी कुण्ठाओं और अपवादों को लेकर भी चोंचजी ने काफी हास्य लिखा है। उस हास्य मे कवियों और साहित्यकारों के अहकार और उनके विभिन्न आचार–विचारों पर चोंचजी ने काफी व्यंग्य किये हैं। चोंचजी के व्यंग्य में व्यावहारिकता के ऊपर अथवा उसके अभाव में हास्यास्पद स्थितियों को लेकर हास्य रस की पूर्ण रसानुभूति कर देने की बड़ी प्रबल शक्ति है।

पत्रकार के रूप में भी चोंचजी की काफी ख्याति रही है। 'आज', 'ससार', 'नोक–झोंक' आदि मे आपकी रचनाएँ छपती रही हैं। इधर आपने रेडियो के लिए भी नये प्रकार के हास्य–व्यग्य लिखने प्रारम्भ किये हैं। चोंच के हास्य और व्यंग्य मे एक प्रकार की विशेषता यह है कि उसमें न तो किसी प्रकार का आक्रोश होता है और न निन्दा।

चोंचजी ने गम्भीर साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें 'कादम्बिनी' और 'शिव ताण्डव' काव्य–रचनाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हुई हैं। रचनाएँ——हास्य–काव्य : 'चोंच चालीसा', 'महाकवि साँड़', 'पानी पांड़े', 'टाल मटोल', 'खरी खोटी', 'छेड़छाड़'। हास्य–कहानी : 'मौसेरे भाई', 'विचारे मुशी', 'ठेंगा सिर', 'मसलन'। गम्भीर रचनाएँ : 'कादम्बिनी', 'शिव ताण्डव'। आपका देहान्त २२ फरवरी सन् १९७२ ई को हुआ

—ल० का० व०

काकभुशुंडि—विष्णु के अवतार राम के काक रूपधारी परम भक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं। मानस के अनुसार ये शाश्वत है। काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्म मे ब्राह्मण थे किन्तु लोमशमुनि के शाप से कौए की योनि में आ गये। ये प्रकाण्ड ज्ञानी थे। काकभुशुण्डि राम के बाल–रूप के उपासक थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार राम अपने आँगन में खेल रहे थे तो काकभुशुण्डि उनके हाथ से पुए का टुकड़ा लेकर भागे। राम की प्रेरणा से गरुड़ ने काकभुशुण्डि का पीछा किया। गरुड़ के पीछा करने से काकभुशुण्डि घायल हुए। उन्हें तीनो लोकों में कहीं त्राण न मिला। अन्त में राम ने काकभुशुण्डि की रक्षा की। तुलसी के 'रामचरित–मानस' में काकभुशुण्डि ही राम कथा के वक्ता हैं। शंकर ने हंस का रूप धारण कर काकभुशुण्डि से रामायण सुनी थी (मानस, बालकाण्ड)।

—रा० कु०

काका कालेलकर—जन्म १ दिसम्बर १८८५, महाराष्ट्र के सातारा नगर में।

जिन नेताओं ने राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य में विशेष दिलचस्पी ली और अपना समय अधिकतर इसी काम को दिया, उनमें प्रमुख काकासाहब कालेलकर का नाम आता है। उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रचार को राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत माना है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अधिवेशन में (१९३८) भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—"हमारा राष्ट्रभाषा प्रचार एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है।"

उन्होंने पहले स्वयं हिन्दी सीखी और फिर कई वर्षतक दक्षिण में सम्मेलन की ओर से प्रचार—कार्य किया। अपनी सूझ—बूझ, विलक्षणता और व्यापक अध्ययन के कारण उनकी गणना प्रमुख अध्यापकों और व्यवस्थापकों में होने लगी। हिन्दी—प्रचार के कार्य में जहाँ कहीं कोई दोष दिखाई देते अथवा किन्हीं कारणों से उसकी प्रगति रुक जाती, गाँधी जी काका कालेलकर को जाँच के लिए वही भेजते । इस प्रकार के नाजुक काम काका कालेलकर ने सदा सफलता से किये। इसलिए 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना के बाद गुजरात में हिन्दी—प्रचार की व्यवस्था के लिए गाँधीजी ने काका कालेलकर को चुना। काका साहब की मातृभाषा मराठी है। नया काम सौंपे जाने पर उन्होंने गुजराती का अध्ययन प्रारम्भ किया। कुछ वर्षतक गुजरात में रह चुकने के बाद वे गुजराती मे धाराप्रवाह बोलने लगे। साहित्य अकादमी में काका साहब आज गुजराती भाषा के प्रतिनिधि हैं। गुजरात में हिन्दी—प्रचार को जो सफलता मिली, उसका मुख्य श्रेय काका साहब को है।

काका कालेलकर उच्चकोटि के विचारक और विद्वान् है। उनका योगदान हिन्दी—भाषा के प्रचारतक ही सीमित नहीं है। उनकी अपनी मौलिक रचनाओं से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है। सरल और ओजस्वी भाषा में विचारपूर्ण निबन्ध और विभिन्न विषयों की तर्कपूर्ण व्याख्या उनकी लेखन—शैली के विशेष गुण है। मूलरूप से विचारक और साहित्यकार होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति की अपनी शैली है, जिसे वह हिन्दी—गुजराती, मराठी और बँगला में सामान्य रूप से प्रयोग करते हैं। उनकी हिन्दी—शैली में एक विषेष प्रकार की चमक और व्यग्रता है जो पाठक को आकर्षित करती है। उनकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है, इसलिए उनकी लेखनी से प्रायः ऐसे चित्र बन पड़ते हैं जो मौलिक होने के साथ—साथ नित्य नये दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। उनकी भाषा और शैली बड़ी सजीव और प्रभावशाली है। कुछ लोग उनके गद्य को पद्यमय ठीक ही कहते हैं। उसमें सरलता होने के कारण स्वाभाविक प्रवाह है और विचारों का बाहुल्य होने के कारण भावों के लिए उड़ान की क्षमता है। उनकी शैली प्रबुद्ध विचार की सहज उपदेशात्मक शैली है, जिसमें विद्वत्ता, व्यंग्य, हास्य, नीति सभी तत्व विद्यमान हैं।

काका साहब मजे हुए लेखक हैं। किसी भी सुन्दर दृश्य का वर्णन अथवा पेचीदा समस्या का सुगम विश्लेषण उनके लिए आनन्द का विषय है। उन्होंने देश, विदेशों का भ्रमण कर वहाँ के भूगोल का ही ज्ञान नहीं कराया, अपितु उन प्रदेशों और देशों की समस्याओं, उनके समाज और उनके रहन—सहन, उनकी विशेषताओं इत्यादि का स्थान—स्थान पर अपनी पुस्तकों में बड़ा सजीव वर्णन किया है। वे जीवन—दर्शन के जैसे उत्सुक विद्यार्थी हैं, देश—दर्शन के भी वैसे ही शौकीन हैं।

काका कालेलकर की अबतक लगभग ३० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें अधिकांश का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ ये हैं—'स्मरण-यात्रा', 'धर्मोदय' (दोनों आत्मचरित); 'हिमालयनो प्रवास'; 'लोकमाता' (दोनों यात्रा विवरण); 'जीवननो आनन्द'; 'अवरनावर' (दोनों निबन्ध संग्रह)

काका कालेलकर सच्चे बुद्धिजीवी व्यक्ति हैं। लिखना सदा से उनका व्यसन रहा है। सार्वजनिक कार्य की अनिश्चितता और व्यस्तताओ के बावजूद यदि उन्होंने बीस से ऊपर ग्रन्थों की रचना कर डाली इस पर किसी को आश्चर्य नही होना चाहिये। इनमें—से कम—से—कम ५—६ उन्होंने मूल रूप से हिन्दी में लिखी हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख भी अनुपयुक्त न होगा कि दो—चार को छोड़ बाकी ग्रन्थो का अनुवाद स्वयं काका साहब ने किया है अतः मौलिक हो या अनूदित वह काका साहब की ही भाषा शैली का परिचायक हैं। हिन्दी में यात्रा—साहित्य का अभीतक अभाव रहा है। इस कमी को काका साहब ने बहुत हदतक पूरा किया है। उनकी अधिकांश पुस्तकें और लेख यात्रा के वर्णन अथवा लोक—जीवन के अनुभवों के आधार पर लिख गये हैं। हिन्दी, हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में भी उन्होंने कई लेख लिखे है।

—ज्ञा० द०

काकासुर—सूरसागर के अनुसार यह कस का सहायक एक असुर था जिसने कृष्ण को मारने के लिए कौए का रूप धारण कर लिया था। कंस की आज्ञा से ब्रज में आकर बालकृष्ण की आँखें निकालने के उद्देश्य से यह उनके पालने के पास पहुँचा। बालकृष्ण ने अपने कोमल हाथों से उसे जैसे ही पकड़ा, उसकी दशा शोचनीय हो गयी और वह घबराकर कस के पास जा गिरा तथा उसने कंस को बतलाया कि ब्रज में किसी महाबली ने अवतार लिया है। कस इस दुःसंवाद को सुनकर भयभीत और चिन्तित हो गया (दे० सूर० पद ६७७—६७८)।

—स०

कात्यायन—प्राचीन साहित्य में 'कात्यायन' के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं—

१.'कात्यायन' विश्वामित्र कुलोत्पन्न एक प्राचीन ऋषि थे। उन्होंने 'श्रौतसूत्र', 'गृह्यसूत्र' आदि की रचना की थी।

२.गोभिल नामक एक प्राचीन ऋषि के पुत्र का नाम कात्यायन था। इनके रचे हुए तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं—'गृह्य—संग्रह', 'छन्दःपरिशिष्ट' और 'कर्म प्रदीप'।

३.'कात्यायन' एक बौद्ध आचार्य थे जिन्होंने 'अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनका समय बुद्ध से ४५ वर्ष उपरान्त माना जाता है।

४.एक अन्य बौद्ध आचार्य थे जिन्होंने 'पालि व्याकरण' की रचना की थी और जो पालि में 'कच्चयान' नाम से प्रसिद्ध हैं।

५.प्रसिद्ध महर्षि तथा व्याकरण शास्त्र के प्रणेता जिन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी का परिशोधन कर उस पर वार्तिक लिखा था। कुछ लोग 'प्राकृत प्रकाश' के रचनाकार वररुचि को इनसे अभिन्न मानते हैं। कात्यायान के समय के प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कात्यायन का समय मैक्समूलर के अनुसार चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तथा बेबर के अनुसार ईसा के जन्म के २५ वर्ष पूर्व है। व्याकरण के अतिरिक्त 'श्रौत सूत्रों' और 'यजुर्वेद प्रातिशाख्य' के भी रचयिता कात्यायन ही माने जाते हैं। बेबर ने इनके सूत्रों का सम्पादन किया है। कात्यायन को एक स्मृति का भी रचनाकार कहा जाता है। कथा सरित्सागर के अनुसार ये पुष्पदन्त नामक गन्धर्व के अवतार थे। कात्यायन के नाम से प्राप्त प्रसिद्ध ग्रन्थों की सूची इस प्रकार हैं—(१) 'श्रौत सूत्र' (२) 'इष्टि पद्धति', (३) 'गृह परिशिष्ट', (४) 'कर्म प्रदीप', (५) 'श्राद्ध कल्प सूत्र', (६) 'पशु

बन्ध सूत्र', (७) 'प्रतिहार सूत्र', (८) 'भ्राजश्लोक', (९) 'रुद्रविधान', (१०) 'वार्तिक पाठ', (११) 'कात्यायनी शांति', (१२) 'कात्यायनी शिक्षा' (१३) 'स्नान विधि', (१४) 'कात्यायन कारिका', (१५) 'कात्यायन प्रयाग', (१६) 'कात्यायन वेद प्रातिग', (१७) 'कात्यायन शाखा भाष्य', (१८) 'कात्यायन स्मृति', (१९) 'कात्यायनोपनिषद्', (२०) 'कात्यायन गृह कारिका', (२१) 'वृषोत्सर्ग पद्धति', (२२) 'आतुर सन्यास विधि', (२३) 'गृह्यसूत्र', (२४) 'शुक्ल यजु प्रातिशाख्य', (२५) 'प्राकृत प्रकाश', (२६) 'अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान'। भ्रमवश ये सभी ग्रन्थ वररुचि कात्यायन के मान जाते हैं किन्तु यह उचित ज्ञात नहीं होता। इनमें से अनेक ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

—रा० कु०

कान्ह—इस छाप के चार कवियों का उल्लेख मिलता है। इनमें तीन का उपनाम 'कान्ह' है, उनके वास्तविक नाम कन्हैयालाल भट्ट (१७०४ ई०), कन्हैया बख्श बैस (१८४३ ई०) तथा कन्हईलाल (१८५७ ई०) हैं। पर कान्ह कवि का समय १८वीं शताब्दी के अन्त में माना गया है। शिवसिंह ने इन्हीं को प्राचीन कान्ह माना है और नायिका—भेद विषयक एक ग्रन्थ का रचयिता माना है। इनकी एक रचना 'रसरंग नायिका' है जिसका रचना—काल १७४७ ई० (सं० १८०४) दिया हुआ है। इसके आधार पर सरोजकार के द्वारा दिया हुआ इनका उदयकाल १८४३ ई० ठीक नहीं ठहरता है। ये वृन्दावन में रहते थे और इनका ग्रन्थ नायिका—भेद से सम्बद्ध है।

[सहायक गन्थ—शि०स०; दि०भू० (भूमिका)।]

—स०

कान्हड़दे प्रबन्ध—कवि पद्मनाभ ने १५१२ ई० में इस कृति की रचना की। कवि पद्मनाभ जालोर के निवासी थे। प्रसिद्ध चौहान वीर कान्हड दे की वीरता का कृति में वर्णन मिलता है। कृति चार खण्डों में विभक्त है। ऐतिहासिक काव्य की भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी है। कुछ विद्वानों ने कृति की भाषा को गोर्जर अपभ्रंश कहा है। 'कृति' के कई संस्करण निकले हैं। राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ने इसका नया संस्करण १९५३ ई० में प्रकाशित किया है जो सम्पादन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है दोहा, चौपाई आदि छन्दों से युक्त यह कृति काव्य, भाषा आदि अनेक दृष्टियों से उत्कृष्ट कृति है।

-रा० सि० तो०

कानन कुसुम—जयशंकर प्रसाद कृत 'कानन कुसुम' के वर्तमान संस्करण में केवल खड़ी बोली की ही रचनाएँ मिलती हैं। इसका प्रथम संस्करण सन् १९१२ ई० में हुआ था। इसमें सन् १९०९ से लेकर १९१७ तक की स्फुट कविताएँ संकलित हैं। प्रथम संस्करण में चालीस कविताएँ विभिन्न शीर्षकों से स्वतन्त्र रूप में संकलित हैं और पराग शीर्षक के अन्तर्गत बीस रचनाएँ हैं। इसमें पृष्ठों की संख्या ६६ है। दूसरे संस्करण में इसे ११२ पृष्ठों तक पहुँचा दिया गया है। दूसरे संस्करण के ६६ पृ० पर 'शम' शब्द लिखकर प्रसाद जी ने उसके बाद की रचनाओं को जोड़ दिया है। कानन कुसुम का तृतीय संस्करण १९२९ ई० में पुस्तक भंडार लहेरिया सराय से प्रकाशित हुआ था। तब से यह उसी रूप में आज तक प्रकाशित हो रहा है।

प्रथम संस्करण में 'कानन कुसुम' में ब्रज भाषा और दूसरे संस्करण में परिनिष्ठित खड़ी बोली और ब्रज भाषा की रचनाएँ संकलित हैं। लेकिन 'कानन कुसुम' के तृतीय संस्करण में सिर्फ खड़ी बोली की रचनाएँ मिलती हैं। इसमें भी उस समय तक सभी खड़ी बोली में लिखी गयी कविताओं को नहीं रखा गया है। कुछ कविताएँ झरना और 'लहर' में जोड़ दी गयी है। द्वितीय संस्करण की जिन कविताओं में ब्रजभाषा की पंक्तियाँ विद्यमान हैं उन्हें तृतीय संस्करण में हटा दिया गया। ब्रजभाषा की विकास यात्रा तय करने के पश्चात पुनः वे उस ओर नहीं मुड़े। ऐसा उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को देखकर संकेत मिलता है। इन रचनाओं के संस्करणगत अध्ययनों से कवि के विकास शील व्यक्तित्व का आभास मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—प्रसाद की रचनाओं में संस्करणगत परिवर्तनों का अध्ययन अनूप कुमार]

कृ० श० पा०

काबा—इस्लाम धर्म में 'काबा' के लिए 'काबा शरीफ' नाम का प्रयोग मिलता है। खुदा के आदेश पर हजरत इब्राहीम ने अपने पुत्र हजरत इस्माईल के साथ अरब में एक मस्जिद बनवाई, इसी का नाम 'काबा' है। इस्लाम के विश्वास के अनुसार यह पृथ्वी की नाभि पर स्थित है। इसके पूर्वी—दक्षिण द्वार पर एक पत्थर गड़ा है, जो स्वर्ग से गिरा हुआ (हजर-ए-अस्वद) बताया जाता है। मुसलमान लोग इसी 'काबे शरीफ' की ओर मुख करके नमाज पढ़ते हैं। यह स्थान मुसलमानों का प्रमुख तीर्थ स्थान है। प्रतिवर्ष यहाँ विश्व के विभिन्न देशों से बड़ी संख्या में मुसलमान यात्री नमाज पढ़ने आते हैं (दे० 'काबा—कर्बला', पृ० १४)।

—रा० कु०

कामताप्रसाद गुरु—जन्म सागर में १९३२ वि० में हुआ। १७ वर्ष की अवस्था में इण्ट्रेंस की परीक्षा पास की। १९२० में प्रायः एक वर्षतक प्रयाग के इण्डियन प्रेस में 'बालसखा' और 'सरस्वती' का सम्पादन किया। विविध भाषाओं का इन्हें अच्छा ज्ञान था। हिन्दी व्याकरण के ये अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं। वैसे रचनात्मक प्रतिभा बहुमुखी थी। इनकी कृतियों में 'सत्य', 'प्रेम' (उपन्यास), 'भौमासुर बध' तथा 'विनय पचासा' (ब्रजभाषा काव्य), 'पार्वती और यशोदा' (उपन्यास), 'पद्य पुष्पावली', 'सुदर्शन' (पौराणिक नाटक), और 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार' उल्लेखनीय हैं।

पर हिन्दी में गुरुजी की असाधारण ख्याति का कारण उनका कृति साहित्य न होकर उनका व्याकरण ग्रन्थ है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने इस 'हिन्दी व्याकरण' (१९२०) का प्रकाशन किया था जो आज भी अपनी मान्यता अक्षुण्ण बनाये हुए है। आपकी मृत्यु १५ नवम्बर सन् १९४७ ई० में हुई।

—सं०

कामदेव—प्रेम और सौन्दर्य के देवता माने गये हैं। ऋग्वेद में अद्वैत में इच्छा की उत्पत्ति मानी गयी हैं। यह इच्छा ही आगे चलकर प्रेम के देवता के प्रतीक—स्वरूप कामदेव के नाम से विख्यात हुई। अथर्ववेद में काम की उत्पत्ति का विवेचन देते हुए ऐसा उल्लेख मिलता है कि काम की उत्पत्ति सर्व—प्रथम हुई तथा उनके समान कोई देवता नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कामदेव को न्याय के अधिष्ठाता धर्मराज तथा विश्वास के

प्रतीकस्वरूप स्वीकृत देवी श्रद्धा का पुत्र कहा गया है। हरिवंश पुराण में कामदेव को लक्ष्मी—पुत्र कहा गया है। कुछ स्रोतों से कामदेव के ब्रह्मा के पुत्र होने के भी उल्लेख प्राप्त होते है। कामदेव के लिए आत्मभू, अज तथा अनन्यज भी कहा जाता है। इन शब्दों में ऐसा संकेतित होता है कि कामदेव का जन्म बिना माता—पिता के ही हो गया था। पौराणिक स्त्रोतों में कामदेव की स्त्री को रति अथवा रेवा कहा गया है। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार शंकर ने ध्यान—भंग करने के कारण इन्हें भस्म कर दिया था किन्तु कामदेव की पत्नी रति के विलाप करने पर शंकर उसे अंगहीन (अनंग)होकर भी जिवित रहने तथा कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेने की बात कही थी। रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न का जन्म हुआ था तथा रति मायावती के रूप में उत्पन्न हुई थी। प्रद्युम्न से अनिरूद्ध नामक पुत्र तथा तृषा नामक पुत्री का जन्म हुआ। वसन्त कामदेव का सहयोगी माना गया है। कामदेव के वाहन कोकिल और शुक हैं और अस्त्र फूलों का बाण कहा जाता है। इनकी ध्वजा में मकर का चिन्ह है। कामदेव के पाँच बाणों के दो वर्ग है—

(क) द्रवण, शोषण, तपन, मोहन और उन्माद।

(ख) पाटल, चम्पा, केवडा, कमल और आम्र बौर (पुष्प बाण)

कामदेव श्रृंगार का देवता होने के कारण सौन्दर्य एवं उन्माद के लिए उपमान रूप में प्रयुक्त होता है। महान् कवियों ने अपने आराध्य के सौन्दर्य को कामदेव के सौन्दर्य से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य के अन्य अनेक प्रसंगों में भी कामदेव की चर्चा आती है।

—रा० कु०

कामधेनु—समुद्र मथन से प्राप्त चौदह रत्नों में एक का नाम 'कामधेनु' है। इससे यथेष्ट वर की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। 'कामधेनु' का साहित्य में उपमान रूप में पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

—रा० कु०

कामरूप—स्थूल रूप से कामरूप 'असम' के पर्याय रूप में प्रयुक्त होता है किन्तु वर्तमान रंगपुर, जलपाईगुड़ी तथा कूच बिहार आदि असम के जिलों को प्राचीन कामरूप का क्षेत्र माना जाता है। कथा सरित्सागर तथा अन्य लोकप्रचलित कथाओं से ज्ञात होता है कि कामरूप किसी समय कौल साधना का प्रमुख केन्द्र रहा है। इसके अतिरिक्त कामरूप एक तीर्थ के रूप में भी विख्यात है।

—रा० कु०

कामलता वा कामलता कथा— यह रचना एक प्रेमकहानी है जिसके रचयिता का नाम जानकवि है। 'जानकवि' केवल एक उपनाम मात्र है। उसका वास्तविक नाम न्यामत खाँ या नियामत खाँ था और वह जयपुर राज्य के अन्तर्गत फतहपुर (शेखावाटी) का निवासी था। उसके पिता का नाम नवाब अलफा खाँ था और क्यामखानी नवाबों का वंशज था। वह एक सिद्धहस्त कवि था और उसके द्वारा लिखित अभीतक ७६ छोटे बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं जिनमें से अधिकांश को हम कथाकाव्य या चरितकाव्य कह सकते हैं। जानकवि के जन्म अथवा मरण की तिथियों का अभीतक पता नहीं चला है। किन्तु अपनी विविध रचनाओं के रचनाकाल के अनुसार वे मुगलसम्राट जहाँगीर से लेकर औरंगजेब तक के समयामयिक ठहरते है और इस प्रकार वे एक दीर्घजीवी कवि भी कहे जा सकते है। 'कामलता कथा' की हस्तलिखित प्रति उनके अन्य अनेक ग्रंथों की भाँति एक बड़ी 'पोथी' में बँधी मिली थी जो इस समय प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडमी में सुरक्षित है। इस पोथी का लिपिकर्ता कोई फतेहचन्द है जो डीडवाणे का निवासी जान पडता है और इसका लिपिकाल सं० १७७७—७८ अर्थात् सन् १७२०—२१ दिया गया मिलता है। 'कामलता कथा' उक्त एकेडमी की तिमाही पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के भाग १५, अंक ३ जुलाई, सितम्बर, १९४५ ई०, पृष्ठ १२४ से लेकर १३३ पर प्रकाशित भी है। इसका रचनाकाल सं० १६७८ दिया गया मिलता है। यह दोहों, चौपाइयों में रची गयी हैं तथा इसका विस्तार केवल ३२ दोहों तक ही सीमित है।

कथा का सारांश इस प्रकार है—हंसपुरी नामक नगरी में कोई रसाल नाम का राजा रहा करता था जिसका प्रधान बुधवन्त एक बहुत योग्य व्यक्ति था। राजा ने किसी दिन स्वप्न में किसी सुन्दरी को अपने साथ मिलते देखा और संयोगवश स्वप्नावस्था में ही बुधवन्त के जगा देने से वह उसपर क्रुद्ध हो गया। राजा के क्रोध एवं विरह दशा से प्रेरित होकर बुधवन्त ने उसके कथनानुसार एक चित्र तैयार किया और उसे राजा को दिखलाया जिससे वह और भी विचलित हो उठा। चित्र को किसी मार्ग में रख दिया गया जिससे उसे देखकर कोई पथिक उसके मूल का परिचय दे सके। एक दिन किसी पथिक ने उसको देखकर बतलाया कि वह सुन्दरपुरी का शासन करने वाली कामलता है, जिसने प्रण कर लिया है कि किसी पुरूष के साथ विवाह नही करूँगी और वह विवाह या पुरूष—मैत्री का नाम लेने पर भी चिढ़ जाया करती है। इस पर बुधवन्त एवं रसाल दोनों ही सुन्दरपुरी की ओर चल पडे और वहाँ किसी प्रकार पहुँचकर बधुवन्त ने अपने को चित्रकार बतलाकर प्रसिद्ध कर दिया तथा कामलता के कथनानुसार चित्र बनाते समय उसने कलाकौशल द्वारा उसमें रसाल को भी चित्रित कर दिया जिससे वह प्रभावित हो गयी। बुधवन्त ने रसालवाले चित्र में यह भी दिखला दिया था कि किसी घटना से प्रेरित होकर राजा ने स्त्रियों के प्रति घृणा प्रदर्शित की है। कामलता पर इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा और रसाल पर मोहित होकर उसने तत्क्षण बुला भेजा। फिर तो वहाँ राजा के उपस्थित होते ही अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे और दोनों का विवाह सम्बन्ध हो गया तथा वे दोनों सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे।

जानकवि ने इस प्रेमकहानी को सुनी सुनाई बातों पर आश्रित बतलाया है और उसका अधिकांश काल्पनिक सा भी लगता है। इसके आरम्भ में उन्होंने परमात्मा को एक विलक्षण चित्रकार के रूप में स्मरण कर कथा का सूत्रपात किया है। उनका कहना है कि यह सारा जगत् उस 'चित्रकार' की सृष्टि है और इसका प्रत्येक चित्र एक दूसरे से भिन्न है तथा मैंने भी यह 'लघुचित्र' उसकी प्रेरणा से ही तैयार किया है। उन्होंने उस 'करतार' के अनन्तर फिर हजरत मुहम्मद का भी नाम लिया है और कहा है कि उनके आदर्श पर ही हम उसका स्पर्श कर सकते हैं। आगे इस कवि ने शाहेवक्त की चर्चा की है किन्तु न अपने पीर का परिचय दिया है और न अपने विषय में ही कुछ कहा है। कथा के अन्त में फलश्रुति की भाँति कहा गया मिलता

है कि सावधान रहकर जो प्रयत्न किया करता है वह प्रेम के प्रमाद से सच्चे परिणाम का अधिकारी होता है। अन्त में इसका रचना काल 'सोलह सै अठहत्तर' बताकर पाठकों को कुछ परामर्श भी दिया गया है। इस रचना के अन्तर्गत चित्रकला को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया मिलता है और जान पड़ता है कि इसके कवि ने इसी कारण परमेश्वर को भी सर्वप्रमुख 'चित्रकार' ठहराया होगा। यहाँ पर कामलता के प्रति रसाल का प्रेम, स्वप्नदर्शन द्वारा जागृत होने पर भी वस्तुत: चित्रदर्शन से ही परिपुष्टि पाता है और चित्रदर्शन के प्रभाव में आकर कामलता अपने पुरुषों के प्रति घृणाभाव रखनेवाले स्वभाव का सर्वथा परित्याग कर देती है। प्रेमलीला की प्राय: सारी घटनाओं का मूल सूत्राधार बुधवन्त भी यहाँ पर एक अत्यन्त निपुण चित्रकार के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है तथा वह चित्रकार ही यहाँ गुरु या पथप्रदर्शक भी है। इस रचना में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है और इसके अनेक स्थल काव्यकला की दृष्टि से भी बहुत उत्कृष्ट है।

[सहायक ग्रन्थ—अप्रकाशित ग्रन्थावली; हिन्दुस्तानी एकेडमी (प्रयाग), भाग १५, अंक ३।]

—प० च०

कामायनी—'कामायनी' जयशंकर प्रसाद की और सम्भवत: छायावाद युग की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। प्रौढ़ता के विन्दु पर पहुँचे हुए कवि की यह अन्यतम रचना है। इसे प्रसाद के सम्पूर्ण चिन्तन—मनन का प्रतिफलन कहना अधिक उचित होगा। इसका प्रकाशन १९३६ ई० में हुआ था। इसमें आदिमानव मनु की कथा ली गयी है। इस काव्य की कथावस्तु वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से प्रेरित है किन्तु मुख्य आधार शतपथ ब्राह्मण को स्वीकार किया गया है। आवश्यकतानुसार प्रसाद ने पौराणिक कथा में परिवर्तन कर उसे न्यायोचित रूप दिया है। 'कामायनी' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—पृथ्वी पर घोर जलप्लावन आया और उसमें केवल मनु जीवित रह गये। वे देवसृष्टि के अन्तिम अवशेष थे। जलप्लावन समाप्त होने पर उन्होंने यज्ञ आदि करना आरम्भ किया। एक दिन काम की पुत्री श्रद्धा उनके समीप आयी और वे दोनों साथ रहने लगे। भावी शिशु की कल्पना निमग्न श्रद्धा को एक दिन ईर्ष्यावश मनु अनायास ही छोड़ कर चल दिये। उनकी भेंट सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री इड़ा से हुई। उसने इन्हें शासन का भार सौंप दिया। पर वहाँ की प्रजा एक दिन इड़ा पर मनु के अत्याचार और आधिपत्य—भाव को देखकर विद्रोह कर उठी। मनु आहत हो गये तभी श्रद्धा अपने पुत्र मानव के साथ उन्हें खोजते हुए आ पहुँची किन्तु पश्चात्ताप में डूबे मनु पुन: उन सबको छोड़कर चल दिये। श्रद्धा ने मानव को इड़ा के पास छोड़ दिया और अपने मनु को खोजते—खोजते पा गयी। अन्त में सारस्वत प्रदेश के सभी प्राणी कैलास पर्वत पर जाकर श्रद्धा और मनु के दर्शन करते है।

'कामायनी' की कथा पन्द्रह सर्गों में विभक्त है, जिनका नामकरण चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा आदि मनोविकारों के नाम पर हुआ है। 'कामायनी' आदि मानव की कथा तो है ही, पर इसके माध्यम से कवि ने अपने युग के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार भी किया है। सारस्वत प्रदेश की प्रजा जिस बुद्धिवादिता और भौतिकवादिता से त्रस्त है, वही आधुनिक युग की स्थिति है। 'कामायनी' अपने रूपकत्व में एक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मन्तव्य को प्रकट करती है। मनु मनका प्रतीक है और श्रद्धा तथा इड़ा क्रमश: उसके हृदय और बुद्धिपक्ष हैं। अपने आन्तरिक मनोविकारों से संघर्ष करता हुआ मन श्रद्धा—विश्वास की सहायता से आनन्द लोकतक पहुँचता है। प्रसाद ने समरसता सिद्धान्त तथा समन्वय मार्ग का प्रतिपादन किया है। अन्तिम चार सर्गों में प्रतिपादित दर्शन पर शैवागम का प्रभाव है। 'कामायनी' एक विशिष्ट शैली का महाकाव्य है। उसका गौरव उसके युगबोध, परिपुष्ट चिन्तन, महत् उद्देश्य और प्रौढ़ शिल्प में निहित है। उसमें प्राचीन महाकाव्यों का सा वर्णनात्मक विस्तार नहीं है पर सर्वत्र कवि की गहन अनुभूति के दर्शन होते है। यह भी स्वीकार करना होगा कि उसमें गीतितत्त्व प्रमुखता पा गये है। मनोविकार अत्यन्त सूक्ष्म होते है। उन्हें मूर्त रूप देने में प्रसाद ने जो सफलता पायी है वह उनके अभिव्यक्ति कौशल की परिचायक है। कहीं—कहीं भावपूर्ण प्रकाशन में सम्भव है, सफल न हो, पर शिल्प की प्रौढ़ता 'कामायनी' का प्रमुख गुण है। प्रतीक भण्डार इतना समृद्ध है कि अनेक स्थलों पर कवि चित्र निर्मित कर देता है। इस दृष्टि से श्रद्धा का रूप—वर्णन सुन्दर है। लज्जा जैसे सूक्ष्म भावों के प्रकाशन में 'कामायनी' में प्रसाद के चिन्तन—मनन को सहज ही देखा जा सकता है। इसे हम भाव और अनुभूति दोनों दृष्टियों से छायावाद की पूर्ण अभिव्यक्ति कह सकते हैं। १९७२ में 'कामायनी' की प्रसाद द्वारा प्रस्तुत मूल पांडुलिपि का प्रकाशन हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—कामायनी अनुशीलन : रामलालसिंह; प्रसाद का काव्य : प्रेमशंकर, कामायनी—मूल्यांकन और मूल्यांकन : सं० इन्द्रनाथ मदान।]

—प्रे० शं०

कामिल बुल्के— जन्म १ सितम्बर १९०९ ई० में बेलजियम देश के रैम्सकैपल स्थान में हुआ। मिशनरी कार्य के लिए भारत आये और यहीं के नागरिक हो गये। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से सम्बद्ध रहकर आपने अपना शोध प्रबन्ध 'राम कथा—उत्पत्ति और विकास' (१९५० ई०) प्रस्तुत किया, जो अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। मातरलिंक के प्रसिद्ध नाटक 'ब्लू बर्ड' का 'नीलपंछी' नाम से रूपान्तर किया (१९५८ ई०)। इसके अतिरिक्त आप की दो और प्रमुख कृतियाँ 'अंग्रेजी—हिन्दी कोश, (१९६८ ई०); तथा 'सुसमाचार'—(न्यूस्टामेंट के चारों ईसा चरित—१९७० ई०)। राँची के सेंट जेवियर्स कॉलेज में हिन्दी तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष थे। आपका निधन १९८४ में हुआ।

—सं०

कायाकल्प—'कायाकल्प' (१९२८ ई०) प्रेमचन्द का एक नवीन प्रयोग—शील किन्तु शिथिल उपन्यास है। चक्रधर की कथा के साथ उन्होंने रानी देवप्रिया की अलौकिक कथा जोड़ दी है। चक्रधर की कथा के माध्यम द्वारा लेखक ने विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याएँ उठायी हैं। रानी देवप्रिया की कथा द्वारा आत्मज्ञान से विहीन जड़ विज्ञान की निरर्थकता और जन्मान्तरवाद का प्रतिपादन हुआ है। इसी दूसरी कथा से 'कायाकल्प' में नवीनता दृष्टिगोचर होती है अन्यथा उसके बिना यह उपन्यास प्रेमचन्द के अन्य

उपन्यासों की परम्परा में नहीं रखा जा सकता है। विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं के अतिरिक्त रानी देवप्रिया, ठाकुर विशालसिंह, शंखधर और यहाँ तक कि स्वयं चक्रधर की पत्नी अहल्या के जीवन—क्रम के आधार पर उपन्यास की मूल समस्या दाम्पत्यप्रेम की पवित्रता है। नारी का आदर्श प्रेम और पति—भक्ति और वागीश्वरी का अहल्या को उपदेश, ये दोनों बातें इसी मूल समस्या की ओर संकेत करती हैं अर्थात् साधना तथा आत्मिक संयोग के अभाव में विलास और तृष्णा पर आधारित दाम्पत्यजीवन सुखमय नहीं हो सकता।

अपने अन्य उपन्यासों की भाँति प्रेमचन्द 'कायाकल्प' में भी परिवारों को लेकर चले हैं—यशोदानन्द और वागीश्वरी का परिवार, ख्वाजा महमूद का परिवार, मुंशी वज्रधर और निर्मला का परिवार, ठाकुर विशालसिंह का परिवार, रानी देवप्रिया का परिवार और अन्त में चक्रधर और अहल्या का परिवार।

—ल० सा० वा०

कार्तिकप्रसाद खत्री—जन्म सन् १८५२ ई० और मृत्यु सन् १९०५ ई० में हुई। हिन्दी पत्रकारिता के विकास काल में जब बहुत सी पत्रिकाएँ आर्थिक अभाव और पाठकों की कमी के कारण अकाल ही कालकवलित हो जाया करती थीं, इन्होंने हिन्दी समाचारपत्रों के प्रचार के लिए कठिन साधना की थी। सन् १८८२ में खत्रीजी ने 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' नाम से स्वयं एक पत्रिका निकाली थी किन्तु पाठकों का तो सर्वथा अकाल था। इसलिए पाठकों में पत्रिका के प्रति सुरूचि उत्पन्न करने मात्र के उद्देश्य से खत्री जी अत्यधिक दौड़—धूप करते थे। यहाँ तक कि लोगों के घर जा—जा करके वे पत्रिका पढ़कर सुनाते थे, पर महीनों बीत जाते थे और ग्राहक लोग चन्दा देने का नामतक नहीं लेते थे। परिणामस्वरूप इन्हें 'हिन्दी—दीप्ति—प्रकाश' का प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा। लेकिन हिन्दी के प्रति इनका प्रेम निरन्तर बना रहा और हिन्दी में रुचि लेनेवाले विदेशी विद्वानों से भी ये पत्र—व्यवहार करते रहते थे। फ्रेडरिक पिन्काट के सन् १८८७ के एक पत्रसे, जिसे उन्होंने खत्रीजी को लिखा था, पता चलता है कि सरकारी व्यवहारसम्बन्धी कार्यो के विषय में उन्होंने पत्रव्यवहार किया था। यही नहीं जब सन् १८९४ में नागरी और हिन्दी प्रचार का उद्देश्य लेकर काशी में श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह के सहयोग और उत्साह से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई तो आगे चलकर कार्त्तिक प्रसाद खत्री भी उसके सभापति निर्वाचित हुए थे। अप्रैल सन् १८७३ में इनका 'रेल का विकट खेल' नामक एक नाटक प्रकाशित हुआ जिसे जनता ने बहुत पसन्द किया किन्तु वह अधूरा ही रह गया। वैसे खत्रीजी की किसी मौलिक साहित्यिक कृति का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु उन्होंने अनेक बँगला के उपन्यासों यथा 'इला', 'प्रमिला', 'जया', 'मधु—मालती' आदि का अनुवाद करके हिन्दी—साहित्य को समृद्ध किया है।

—ह० मो०

कार्तिकेय—इनके लिए कार्तिक, गणेश, स्कन्ध आदि पर्याय भी मिलते हैं (दे० 'गणेश')।

—रा० कु०

कार्नेलिया—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' की पात्र। यवनबाला ग्रीककुमारी कार्नेलिया स्वभाव से भावुक, संवदनशील एवं आर्य संस्कृत में पली हुई है। भारत की प्रकृति—श्री की नैसर्गिक छटा प्रथम दर्शन में ही उसके हृदय को रस से आप्लावित कर देती है। प्रकृति की रम्य छटा का वर्णन करते वह कभी तृप्त नहीं होती : "यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहिने हुए शैल—श्रेणी, हरी—भरी वर्षा, शीतकाल की धूप, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ है।" वह भारत के निवासियों के सरल निश्छल जीवन एवं उच्च दार्शनिक चिन्तन पर समान भाव से मुग्ध है। दाण्डयायन के आश्रम में जाकर वह उनके आध्यात्मिक प्रभाव को देखकर स्तम्भित सी रह जाती है। कुल मिलाकर इस अनुपम भारत—भूमि का प्रभाव उसके मन पर अमिट रूप से अपनी छाप छोड़ जाता है : यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि है।" वस्तुत: एक विदेशी पात्रों के विचारों एवं नाटक पर नाटककार ने देश—प्रेम और राष्ट्रीयता की इतनी गहरी छाप छोड दी है कि नाटक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत कुछ स्वाभाविक—सा बन गया है।

दाण्डयायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त से कार्नेलिया का प्रथम साक्षात्कार होता है। वहीं पर चन्द्रगुप्त के विषय में भावी सम्राट् होने की घोषणा सुनकर उसके गौरव की गरिमा से प्रभावित होकर वह उससे प्रेम करने लग जाती है। भावुक एवं गम्भीर कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के वाह्य आकर्षण रूप एवं वीरता से ही नहीं, वरन् उसकी उदार प्रकृति एवं सौजन्य—पूर्व व्यवहार से ही उसकी ओर आकृष्ट होती है। प्रेम का यह अंकुर चन्द्रगुप्त के द्वारा सिल्यूकस के प्रति शीलयुक्त भद्र व्यवहार के साथ और भी अधिक पल्लवित होता है। कार्नेलिया का प्रेम क्षणिक भावावेश का परिणाम नहीं, वरन्‌गम्भीरता एवं संयम के द्वारा सुस्थिर चिन्तन का फल है जिसकी जडें बहुत गहराई तक गयी हैं। युद्ध होना निश्चित जानकर कार्नेलिया नारी जाति के अनुकूल पूर्ण आत्म—सम्मान के साथ अपने साहस को बटोर कर प्राणविसर्जन के लिए प्रस्तुत हो जाती है, किन्तु ठीक समय पर चन्द्रगुप्त सहसा आकर उसे सौभाग्य प्रदान करता है। कार्नेलिया का वास्त्य रूप भले ही विदेशी हो किन्तु उसका अन्तर विशुद्ध भारतीय है।

"वह यवनबाला सिरसे लेकर पैरतक आर्य सस्कृति में पली हुई है" वररुचिका उसके विषय में यह कथन अक्षरश: सत्य है। आचार्य चाणक्य उसके इसी विशिष्ट गुण को पहिचानकर उसे भारत की सम्राज्ञी बनाते हैं।

—के० प्र० चौ०

कालनेमि—'कालनेमि' शब्द का प्रयोग कई दैत्यों के लिए मिलता है—

१. लंका का एक राक्षस जो लक्ष्मण को शक्ति लगने पर ओषधि के लिए जाते हुए हनुमान् के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने के लिए रावण द्वारा भेजा गया था। यह ऋषि का वेश धारणकर उस स्थान पर बैठा था जहाँ हनुमान् जलपान के लिए रुके थे। प्रबुद्ध हनुमान को इस रहस्य का तुरन्त आभास हो गया तथा उन्होंने क्षण मात्र में ही उसको समाप्त कर दिया।

२.पातालवासी एक दैत्य का नाम जिसका वध विष्णु द्वारा हुआ था। 'पद्म—पुराण' में ऐसी मान्यता है कि अगले जन्म में वही कृष्ण हुआ।

३ शम्भर—मख के एक दैत्य का नाम।

हिन्दी के भक्त कवियो ने राम—कथा के अन्तर्गत कालनेमि की कथा का समावेश किया है।

—रा० कु०

कालयवन—एक प्राचीन राजा था। इसके पिता महर्षि गर्ग के पुत्र गार्ग्य तथा माता गोपाली नामक अप्सरा थी। कालयवन की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि एक बार भर्ग सभा मे यादवो ने गार्ग्य को नपुसक कहकर उनका उपहास किया। इससे क्षुब्ध होकर इन्होने बारह वर्ष तक लौहचूर्ण खाकर पुत्र प्राप्ति की कामना से शिव की घोर तपस्या की। कालयवन इसी तपस्या के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। यह अन्धको तथा वृष्णियो का घोर शत्रु था। शैशव मे इसका पालन एक यूनानी (यवन) राजा ने किया। इसीलिए इसका नाम कालयवन पडा। यह अत्यन्त पराक्रमी राजा था। एक बार कालयवन ने जरासन्ध के साथ यादवो पर आक्रमण कर दिया था, जिससे भयभीत होकर सारे यादव कृष्ण के परामर्श से द्वारिका भाग गये। युद्ध मे पराजित होकर कृष्ण स्वयं हिमालय की एक गुफा मे भाग गये जहाँ मान्धाता के पुत्र मुचकुन्द सो रहे थे। कालयवन भी इनका पीछा करता हुआ वहाँ पहुँचा तथा मुचकुन्द को कृष्ण समझकर उन्हे पाँव की ठोकर से उठाने लगा। निद्रा भग होकर ज्यों ही मुचकुन्द ने कालयवन की ओर देखा वह भस्म हो गया (दे० सू० सा० प० ७७८ आदि)।

—रा० कु०

कालिंजर—यह वस्तुत एक पर्वत का नाम—विशेष है। साथ—साथ महाभारत मे कलिजर एक—विशेष प्रकार के तान्त्रिककेन्द्र के रूप मे उल्लखित मिलता है। यह कलिजर पर्वत बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत करवी के पास स्थित है। अस्तु इस प्रदेश का नाम कालिजर एव यहाँ के निवासियो को कलिजर कहा जाता है। कालिजर का दुर्ग भी अत्यन्त प्रसिद्ध है।

—यो० प्र० सि०

कालिंदी—दे० 'यमुना'।

कालिंदी—प्रसाद के अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' की पात्र। नन्दवश की कुमारी, जो सम्राट् शतधनुष की वासनापूर्ति के लिए प्रासाद में लायी गयी, परन्तु संयोगवश उसी दिन सम्राट् की मृत्यु हो गयी। वह नन्द की निधि पर अपना अधिकार समझती है और इसी कारण मन्दिर के पुजारी से ताम्रपत्र और निधि की चाभी लेना चाहती है। मन्दिर मे अग्निमित्र से उसकी भेंट होती हैं। प्रथम मिलन मे ही वह अग्निमित्र पर विश्वास कर लेती है और अग्निमित्र से पुजारी से ताम्रपत्र और निधि का रहस्य प्राप्त करने का अनुरोध करती है। वह अग्निमित्र से प्रेम करने लगती है। कालिन्दी का व्यक्तित्व उपन्यास में दो रूपों में प्रकाशित हुआ है—एक तो मौर्य्य वंश के विनाश और वृहस्पतिमित्र को सिहासन—च्युत करने मे प्रयत्नशील महत्त्वाकांक्षिणी नारी के रूप में और दूसरे अग्निमित्र के प्रेम मे विह्वल नारी के रूप में। पहला रूप उसके पराक्रम, वैचारिक दृढ़ता और क्षमता का परिचायक है। दूसरे रूप में उसके हृदय की दुर्बलता अभिव्यक्ति पा सकी है। कालिन्दी अपने अधिकारों और गौरव के प्रति जागरूक नारी है। वह मौर्यो से अपने वंश का प्रतिशोध लेना चाहती है। वह नन्द की निधि पर जन्मजात अधिकार समझती है। अग्निमित्र उसे सच्ची अधिकारिणी समझकर ताम्रपत्र दे देता है और निधि का रहस्य भी बता देता है। अपनी अधिकार—पूर्ति में वह किसी की सहायता की इच्छुक नहीं। परन्तु प्रेमिका के रूप में अपने हृदय की दुर्बलता वह नहीं छिपा पाती। प्रेयसी के रूप में भी उसकी अधिकार—लालसा शिथिल नहीं हो सकी। उसका उद्घोष है कि अग्निमित्र को मुझसे कोई नहीं छीन सकता। भिक्षुणी इरावती की अपेक्षा वह अग्निमित्र के लिए अपने को अधिक उपयुक्त समझती है। उसका प्रणय महत्त्वाकांक्षा के उत्सर्ग की प्रेरणा देता है। अग्निमित्र को मगध साम्राज्य देकर वह केवल उसे पाना चाहती है। उसका प्रेम निष्क्रिय नहीं—अधिकार—लालसा की पूर्ति के समान ही वह अग्निमित्र को पाने के लिए भी प्रयास करती है। वृहस्पतिमित्र के सम्मुख वह प्रेम और भय का अभिनय करती है और उसकी दुर्बलताओं को उसी के मुख से स्वीकार करवाती है। वह इरावती के ठीक विपरीत है—अपनी कूटनीति, चातुर्य और स्पष्टवादिता की दृष्टि से।

—शा० सा० स०

कालिका प्रसाद—जन्म मीरजापुर जिले के मकरौंडी ग्राम में। मृत्यु काशी में। प्रारंभिक शिक्षा स्कूल मे। बाद मे घर पर ही अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं का अध्ययन। आपने 'हिन्दी केसरी' के सयुक्त सम्पादक के रूप मे साहित्य क्षेत्र मे प्रवेश किया, जहाँ आप प्रायः तीन वर्ष रहे। तदनन्तर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोश विभाग मे एक वर्षतक कार्य किया। आप 'आज' के जन्मकाल सन् १९२० ई० मे ही सहायक सम्पादक होकर आये और जीवन के अन्तिम दिनोतक ज्ञानमण्डल के कोश विभाग मे सम्पादक पद पर कार्य करते रहे। 'आज' तथा ज्ञानमण्डल के सुदीर्घ सेवाकाल मे आपने 'आज' के साहित्य सम्पादक, प्रबन्ध सम्पादक तथा सम्पादकीय लेखक आदि विभिन्न पदो पर कार्य किया। बाद मे आप 'आज' के प्रधान सहायक सम्पादक के रूप में सन् १९४४ ई० तक कार्य करते रहे। इसी समय आपके सम्पादकत्व मे 'मकरन्द' नामक हिन्दी का प्रथम डाइजेस्ट मासिक पत्र निकालने की योजना बनी और पूरी भी हो चुकी थी किन्तु सरकारी अनुमति न मिलने से स्थगित रही। पश्चात् आप कोश विभाग मे सम्पादक होकर गये। हिन्दी के वरिष्ठ सम्पादक तथा कोशकार के रूप मे आपकी सेवाएँ स्मरणीय रहेगी। आपकी प्रमुख विशेषता यह थी कि जो कुछ कार्य करते थे, उसमें कुछ विलम्ब अवश्य होता था किन्तु वह इतना श्रेष्ठ एवं उच्चकोटि का होता था कि उसमे कोई त्रुटि नहीं निकाली जा सकती थी। आपकी लेखन तथा भाषा शैली सरस, मुहावरेदार, प्रभावशाली और अत्यन्त सजीव थी।

आपने सन् १९४५ ई० मे 'आज' के रजत जयन्ती विशेषाक का सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी के बहुप्रशंसित 'बृहत् हिन्दी कोश' का सम्पादन किया, जिसमे अब १ लाख ३८ हजार शब्द हैं और जो हिन्दी जगत् मे सर्वश्रेष्ठ शब्दकोश के रूप मे समादृत है।

—ल० श० व्या०

कालिदास कपूर—जन्म १८९२ ई० मे लखनऊ में हुआ। अनेक वर्षोतक कालीचरण हाई स्कूल के प्रिंसिपल रहे। शिक्षा तथा समीक्षा से सम्बद्ध आपकी कई कृतियां प्रकाशित हुई हैं,

यथा, 'साहित्य समीक्षा' (१९३० ई०), 'शिक्षा समीक्षा' (१९३७ ई०)।

—स०

कालिदास त्रिवेदी—कालिदास त्रिवेदी बनपुरा (अन्तर्वेद) के निवासी थे। इनके जन्म—मरण की तिथियाँ अज्ञात है। १६९२ ई० में ये विद्यमान थे। १६८८ ई० मे गोलकुण्डा की चढ़ाई में औरगजेब के पक्ष के किसी राजा के साथ ये उपस्थित थे। १६९२ ई० मे त्रिपदा नदी के किनारे पर स्थित जम्बू नगर के नरेश जालिम जोगाजीत के लिए इन्होंने 'वधू—विनोद' नामक नायिका भेद का ग्रन्थ बनाया (इतिहास लेखको द्वारा जम्बू नगर तथा त्रिपदा नदी की भौगोलिक स्थिति मालूम करने का अभीतक कोई प्रयत्न किया गया प्रतीत नही होता)। प्रसिद्ध कवि उदयनाथ 'कवीन्द्र' इनके पुत्र थे तथा दूलह इनके पौत्र थे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख है—(१) 'राधा माधव मिलन बुध विनोद' (१९०१ की रिपोर्ट, क्रमसंख्या ६८)। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में किशोरीलाल गुप्त ने अपने अप्रकाशित शोध—प्रबन्ध 'सरोज—सर्वेक्षण' में यह धारणा व्यक्त की है कि 'वधु—विनोद' का ही मात्रा के हेरफेर से 'बुध—विनोद' हो गया है; (२) 'जंजीराबन्द' (१९०४ की रिपोर्ट, क्रमसंख्या ५ तथा १९०६—८ की रिपोर्ट, क्रमसंख्या १७८ ए)—३२ कवित्तों की यह छोटी सी रचना श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से (प्रकाशन—काल अज्ञात) तथा आर्य भास्कर प्रेस मुरादाबाद से प्रकाशन—काल १८९८ ई०) प्रकाशित हो चुकी है; (३) 'कालिदास हजारा' (१९०६—८ की रिपोर्ट, क्रमसंख्या १६२) —यह संग्रह—ग्रन्थ है। इसमें १४२३ ई० से १७१८ ई० तक के २१२ कवियों के एक सहस्र कवित्त संकलित हैं। शिवसिंह ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'सरोज' में स्वीकार किया है कि उन्हें 'सरोज' की रचना में 'कालिदास हजारा' से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। रामचन्द्र शुक्ल ने भी कवियों के काल आदि के निर्णय में इसे बड़ा उपयोगी पाया है।

कवि के रूप में इनकी प्रसिद्धि का आधार इनका 'वधू—विनोद' नामक ग्रन्थ ही है जो 'वरवधू—विनोद' अथवा 'बारवधू—विनोद' नामों से भी प्रख्यात है। इसमें ३४० छन्द हैं और ललिता सखी द्वारा राधा को विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का परिचय दिया गया है। नायिका भेद—कथन में शास्त्रीय दृष्टि से कोई मौलिकता नहीं है; प्रायः भानुदत्त की 'रस—मंजरी' का ही अनुकरण किया गया है किन्तु उदाहरण बड़े सरस और कवित्वपूर्ण हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें 'सरस सूक्तियों का चित्ताकर्षक रचयिता' कहा है। (हि० सा०, १९५० ई० पृ० ३१५)। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'ये अभ्यस्त और निपुण' कवि हैं (हि० सा० इ०, १९५० ई०, पृ० ३१५)। अनेक स्थलों पर रूप का वर्णन उक्तिवैचित्र्य से युक्त होकर भाव—व्यंजक तथा मार्मिक बन पड़ा है। अन्य आलोचकों ने भी इनके कवित्व की प्रशंसा की है।

[साहायक ग्रन्थ—शि० सा०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ०, भाग ६; सरोज सर्वेक्षण (अ० प्र०) : किशोरीलाल गुप्त।]

—रा० गु०

कालियानाग—दे० 'कालीनाग'।

काली—'काली नाम का प्रयोग अनेकार्थी है—

१.एक विशेष देवी का नाम 'काली' है। 'कालिकापुराण' में इसके चार हाथों की कल्पना है, जो दाहिने हाथों में खट्वांग और चन्द्रहास तथा बाएँ हाथों में ढाल और पाश धारण किये हैं। इसके गले में नरमुण्ड की माला है। व्याघ्रचर्म इसका परिधान तथा शीर्षरहित शव इसका वाहन है।

२.उपरिचर बसु की कन्या का नाम जो मत्स्यगन्धा, योजनगन्धा तथा सत्यवती के नाम से भी विख्यात है।

३.भीम की दूसरी पुत्री का नाम जिनसे सर्वगत नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई थी।

—रा० कु०

कालीदह—यमुना की धारा में ब्रजभूमि मे एक दह का नाम है। गरुड के भय से आकर यहाँ 'काली' नामक नाग के रहने का उल्लेख मिलता है। सौमरि मुनि के शाप के कारण गरुड़ उस दह में प्रवेश नहीं कर सकता था। वर्तमान समय में यह स्थान यमुना के तट पर है तथा कृष्ण-भक्त कवियों में सूर, भागवत के अनुवादको आदि ने कालीदह का वर्णन किया है (दे० 'कालीदमन')।

—रा० कु०

कालीनाग—काली नाग के लिए 'नागराज' भी कहा जाता है। गरुड़ के भय से यह नागों के निवास—स्थान रमणक द्वीप से भागकर सौमरि मुनि के शाप से गरुड़संरक्षित ब्रजभूमि में एक दह में आकर रहने लगा था। इसी के नाम से 'ब्रज' में यमुना तट पर कालीदह नामक स्थान प्रसिद्ध है। ऐसी प्रसिद्धि है कि इसके वहाँ रहने से वह स्थान उजाड़—सा हो गया था। एक बार कृष्ण जब छोटे थे तो खेलते—खेलते उस स्थान में पहुँचकर दह में गिर पड़े। कालिय ने अन्य नागों के साथ कृष्ण को घेर लिया। ब्रज के गोप—गोपियाँ, नन्द—यशोदा आदि इससे अत्यन्त चिन्तित हुए। अन्त में कृष्ण ने इसे अपने वश में कर लिया तथा इसके फन पर खड़े होकर नृत्य किया। ब्रज—मण्डल में ऐसी प्रसिद्धि है कि कृष्ण के उस समय के अंकित पद—चिन्ह आजतक काले नागों में देखे जा सकते हैं। कृष्ण ने कालियानाग को पुनः अपने समूह के साथ रमणीक द्वीप में जाकर रहने की आज्ञा दे दी थी। गरुड़ ने उस पर कृष्ण के पदचिन्ह अंकित देखकर उसे क्षमा कर दिया। हिन्दी कृष्ण—भक्त कवियों में सूरदास (दे० सू० सा० प० १११८—१२०७ तक), ब्रजवासीदास (ब्रजविलास) तथा भागवत के भावानुवादों (दे० 'अक्रूर') आदि में कालीदमन की कथा आयी है। भक्तकवियों की दृष्टि में कालिनाग कृष्ण का भक्त एवं कृपाभागी के रूप में चित्रित हुआ है।

—रा० कु०

काव्यकल्पद्रुम १—'कवित्त—रत्नाकर' के रचयिता सेनापति की दूसरी रचना जो अद्यावधि अप्राप्त है। अनुमान किया गया है कि इस रचना का विषय काव्य—शास्त्र रहा होगा। सम्भवतः ग्रन्थ का नाम ही इस कल्पना का मुख्य आधार है।

—उ० शं० शु०

काव्यकल्पद्रुम २—दे० 'अलंकारमंजरी', 'रसमंजरी'।

काव्य—दर्पण—आधुनिक काव्यशास्त्रियों में सुपरिचित रामदहिन मिश्र द्वारा लिखित 'काव्य—दर्पण' का प्रकाशन

ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर से सन् १९४७ में हुआ। हिन्दी का परिवर्द्धित साहित्य और पाश्चात्य प्रभाव इन दो कारणों से साहित्य—शास्त्र नया कलेवर धारण कर सकता है, वस्तुत: यही विचार 'काव्य—दर्पण' की रचना का मूल रहा है। फलत लेखक ने 'काव्य—प्रकाश' और 'साहित्य—दर्पण' का सारांश लेकर कुछ नयी बातो को जोड़ने का भी प्रयत्न किया है। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि पाश्चात्य आचार्य भी घूम फिरकर रस—सिद्धान्त का ही चक्कर काटते है और इस तरह प्रस्तुत कृति में भी 'काव्य की आत्मा रस है' की ही व्याख्या की गयी है। यद्यपि पाश्चात्य और प्राच्य साहित्यचिन्तको को तुलनात्मक दृष्टि से समझने का इसमे अच्छा प्रयास हुआ है, किन्तु इसके बीच से साहित्य—चिन्तन की कोई मौलिक दृष्टि प्रस्तुत ग्रन्थ में उभरती हुई नहीं लगती। प्राचीन विवेचन दृष्टि मे ही कुछ विषयों को और जोड़ लिया गया है, जैसे लेखक का विचार है कि ९ की जगह १०, ११ या इसी तरह बहुत से रस हो सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे १२ प्रकाश है। पहले प्रकाश में काव्य, जिसमें साहित्य—शास्त्र, काव्य के फल, कारण, लक्षण, कवि, कविता, रसिक आदि पर विचार हुआ है। दूसरे प्रकाश मे अर्थ और तीसरे में रस का विवेचन हुआ है। रस के साथ ही साथ साधारणीकरण और व्यक्ति—वैचित्र्यवाद, सौन्दर्यानुभूति, रसानुभूति, रसनिष्पत्ति, अभिव्यक्तिवाद, रस और मनोविज्ञान, रसों का वैज्ञानिक भेद इत्यादि बहुत से प्रसंगों का इस तीसरे प्रकाश में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन हुआ है। सम्भवत: पुस्तक का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। चौथे प्रकाश में एकादश रस, पाँचवें में रसाभास, छठें में ध्वनि, सातवें में काव्य के भेद, आठवें में दोष, नवें में गुण, दसवें में रीति, ग्यारहवें में अलकारों के लक्षण, काव्य मे अलंकारों की स्थिति, अलंकारों के रूप, कार्य उनकी अनन्तता, आडम्बर, वर्गीकरण, अलंकार और मनोविज्ञान इत्यादि पर अच्छा विचार हुआ है और बारहवें प्रकाश में अलंकारों के भेद, लक्षण उदाहरण सहित दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ में ९४ पृष्ठ की भूमिका है जिसमें लेखक ने पूर्व—पश्चिम के चिन्तकों की साहित्य—शास्त्र सम्बन्धी विवेचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है, साथ ही विभिन्न आक्षेपों के उत्तर देने का प्रयास भी है।

काव्यशास्त्र पर इस ढंग की आधुनिक युग में लिखी गयी पुस्तकों में 'काव्य—दर्पण' का महत्त्व असन्दिग्ध है। विवेचन और प्रतिपादन में लेखक ने अत्यधिक कुशलता और काव्य—प्रतिभा का परिचय दिया है।

—नि० ति०

काव्यनिर्णय—यह सुकवि और आचार्य भिखारीदास का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसकी रचना हिन्दूपति सिंह के नाम पर सन् १७४६ (सं० १८०३) में की गयी। 'रससारांश' के समान इसका संक्षिप्त संस्करण लेखक ने स्वय प्रस्तुत किया था। इसमें केवल लक्षण हैं। इसमें २५ उल्लास तथा १२१० पद्य हैं। इसके कई संस्करण हुए हैं—श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई (१९३९ ई०); भारत जीवन प्रेस, काशी (१९४२ ई०)। जवाहरलाल चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित संस्करण अधिक उपयोगी है। नागरी प्रचारिणी सभा ने 'दास ग्रन्थावली' भी प्रकाशित की है।

इसकी रचना 'काव्यप्रकाश' तथा 'चन्द्रालोक' के आधार पर लेखक ने की है किन्तु उन्होंने संस्कृत आचार्यों के उन्ही तथ्यों को स्वीकार किया है जो भाषा की रुचि के अनुकूल थे, क्योंकि विषयवर्णन का क्रम उनकी मौलिकता को प्रकट करनेवाला है। उनका ढग बड़ा ही स्पष्ट और वैज्ञानिक तथा विवेचनापूर्ण है। इसमे २५ उल्लास है : प्रथम में प्रयोजन और काव्यांग का वर्णन है; द्वितीय में पदार्थ, शब्दशक्ति; तृतीय मे अलंकार; चतुर्थ में रस, रसांग; पंचम में अपरांग (रसवत् आदि अलंकार); छठे में ध्वनि; सप्तम में गुणीभूत व्यंग्य; अष्ट से अष्टादश तक अलकार; उन्नीसवें में गुण वृत्ति आदि; बीसवें मे शब्दालंकार; इक्कीसवे में चित्रालंकार; बाईसवें में तुक (अनुप्रास) निर्णय; तेईसवें मे काव्यदोष वर्णन; चौबीसवें में दोषोद्धार तथा पचीसवें में रसदोष आदि के वर्णन हैं। इस प्रकार १४ उल्लास तो केवल अलंकार मे, ३ दोष विषय में, ४ रस आदि मे, १ गुणादि में, १ काव्यप्रयोजन में और १ उल्लास तुक में लगाया गया है। इस प्रकार मुख्य रूप से 'काव्यनिर्णय' के विषय विभाग छः है।

काव्यप्रयोजन के वर्णन मे दास ने मौलिकता का आभास दिया है केवल हिन्दी के कवियों के उदाहरण द्वारा तथा यश, अर्थ, व्यवहार, ज्ञान के स्थान पर साधना, सम्पत्ति, यश, और सुख को प्रयोजन मानकर। शक्ति, शिक्षा, निरीक्षण की एकत्र स्थिति से ही कविता रोचक हो सकती है। काव्य लक्षण में उन पर विश्वनाथ का प्रभाव है, किन्तु भाषा लक्षण के प्रसग में ब्रजभाषा को मान्यता देकर उसके रूप की वास्तविक कसौटी का जो आधार उदारता के गुण के कारण दिया है, वह उनकी अपनी देन है। अलंकारों के भेदोपभेद, व्याख्या तथा उदाहरण का प्रसंग 'चन्द्रालोक' और 'काव्य प्रकाश' के चक्कर में पड़ कर अवैज्ञानिक हो गया है। तृतीय उल्लास में ४४ अलंकारों के ११ वर्ग दास ने दिये हैं जो स्वेच्छानुशासित हैं और किसी रीति अथवा सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। आठवें उल्लास से अठारहवें उल्लास तक आने वाले अलंकार के वर्गों का निर्धारण करने मे लेखक ने स्वतन्त्रता से काम लिया है।

[सहायक गन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६); हि० का० शा० इ०।]

—ह० मो०

काव्यप्रभाकर—एक स्थान में काव्य के समस्त विषयों के समावेश के लिए काव्य—प्रभाकर की रचना जगन्नाथ प्रसाद भानु द्वारा की गयी। इसका प्रकाशन सन् १९०९ ई० में लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से हुआ। लेखक के अनुसार "इस ग्रन्थ का सम्बन्ध साहित्य तथा काव्य ग्रन्थों से है, यह प्राचीन तथा अर्वाचीन रीत्यनुसार काव्य—निर्माण की रीति का पथ—प्रदर्शक है।" भानुजी ने इसमें भाषा—काव्य के सम्पूर्ण विषयों का वर्णन करने का यत्न किया है।

यह ग्रन्थ १२ मयूखों मे समाप्त होता है। प्रथम मयूख में छन्द—वर्णन, द्वितीय में ध्वनि, तृतीय में विभाव (नायिकाभेद), चतुर्थ में उद्दीपन विभाव, पंचम में अनुभाव, षष्ठ में संचारी भाव, सप्तम में स्थायी भाव, अष्ट में रस वर्णन, नवम् में अलंकार, दशम में दोष, एकादश मे काव्य—निर्णय का विवेचन है तथा द्वादश में लोकोक्तिसंग्रह है। भूमिका में कवि और काव्य, काव्य का प्राचीन इतिहास, काव्य से लाभ और उसके प्रयोजन इत्यादि पर सक्षेप में विचार हुआ है, जो प्राचीन

चिन्तकों का चर्वित—चर्वण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने काव्यशास्त्रसम्बन्धी अपने पाण्डित्य का पूरा प्रदर्शन किया है, किन्तु वह मात्र प्राचीन विश्लेषण, व्याख्या की जानकारी के रूप में ही है। लेखक ने कहीं भी अपनी मौलिक व्याख्या या उद्भावना देने की चेष्टा नहीं की है। अनेक संस्कृत ग्रन्थों की सहायता से विषय को हिन्दी में उसी रूप में समझाने का यत्न किया है। उदाहरणों के चयन में लेखक ने काफी परिश्रम किया है। कहीं—कहीं फुटनोट और सूचनाएँ हैं जो उपयोगी है। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों को समझाने में सहायक हैं।

—नि० ति०

काव्य—मंजरी—यह पद्मदास का काव्य ग्रन्थ है जो काव्य के सभी अंगों पर लिखा हुआ है। इसका रचनाकाल १६८४ ई० (स० १७४१ वि०) दिया हुआ है। इसका प्रकाशन लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से १८९७ ई० में हुआ। इसमें कवि—शिक्षा के विषय को विशेषरूप से लिया गया है। हिन्दी में इस विषय पर बहुत कम ग्रन्थ है। इसमें १४ कलिकाएँ (प्रकरण) हैं। कवि के अनुसार इसमें ७१६ छन्द हैं। पहले अध्याय में मुख्यत: कवि—शिक्षा का प्रसंग है। दूसरे 'प्रत्यंग वर्णन' नामक अध्याय में नायिका का नख—शिख वर्णन है। तीसरे में पुरुष के अंगों का वर्णन है। चौथे अध्याय में केशव के आधार पर, 'सामान्यालंकार' के अन्तर्गत राजा, रानी, नगर, देश, ग्राम घोटक, गज, प्रयाण, आखेट, युद्ध, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, सरोवर, सिन्धु, गिरि, तरु तथा ऋतुओं का वर्णन है। पाँचवे अध्याय का नाम 'वर्णकरत्न' है जिसमें अन्धकार, वय:सन्धि, अभिसार, ब्याह, स्वयम्बर, सुरापान, संभोग, जलकेलि, विरह तथा उद्यान का वर्णन है। छठे अध्याय में एक से सोलहतक संख्याओं तथा बत्तीस संख्या वाले पदार्थों की सूचियाँ दी गयी है। सातवें अध्याय में सरल, कोमल, निश्चल, सदागति, साँच—झूठ, दुःखद और सुखद वस्तुओं की सूची उदाहरण के साथ दी गयी है। यहाँतक की विषय—वस्तु व्यापक रूप से कवि—शिक्षा के अन्तर्गत ही आती है। इस पर 'कविकव्यसता' का प्रभाव स्पष्ट है।

अगले अध्याय मे काव्यशास्त्र का विषय लिखा गया है। इसमें रीतियों, उक्ति—प्रसंगों और दोष—प्रसंग की चर्चा है। नवें अध्याय में काव्यगुणों की विवेचना की गयी है। दसवें और ग्यारहवें में अलंकारों पर विचार किया गया है। आगे के अध्यायों में भाव तथा रस की चर्चा की गयी है। इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता कवि—शिक्षा के विषय को विस्तार से ग्रहण करना है। काव्य शास्त्रीय भाग साधारण है। इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग लक्षणपरक है, इसमें उदाहरण के छन्द कम हैं। काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ को केशव की 'कविप्रिया' की परम्परा में रखा जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

काव्यरसायन—रीतिकाल के प्रख्यात कवि देव के इस एक मात्र सर्वांग निरूपक लक्षण—ग्रन्थ का दूसरा नाम 'शब्द—रसायन' भी मिलता है। इसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से 'शब्दरसायन' नाम से ही हुआ है। इसका सम्पादन जानकीनाथ 'मनोज' ने किया था। कवि द्वारा ग्रन्थ में भी एक स्थान पर यह नाम आया है—यथा, "शब्द रसायन नाम यह, शब्द अर्थ रस सार।" नगेन्द्र ने इसी आधार पर इसी संज्ञा को प्रामाणिक माना है परन्तु पाठ—विज्ञान की दृष्टि से इसकी पाण्डुलिपियों का अध्ययन करके लक्ष्मीधर मालवीय ने 'काव्यरसायन' को ही इसका प्रामाणिक नाम स्वीकार किया है। 'शिवसिंह सरोज' में देव के ग्रन्थों की जो सूची मिलती है उसमें इसका समर्थन होता है (दे० 'देव')। सेंगर के अनुसार इस ग्रन्थ का उपयोग काव्यरीति के जिज्ञासु पाठ्य—ग्रन्थ की तरह करते थे। कवि ने इसका समर्पण किसी आश्रयदाता को नहीं किया है। इसका निर्माण अनुमानत: स० १८०० (१७४३ ई०) के आसपास माना जा सकता है। पूर्वोक्त मुद्रित संस्करण के अतिरिक्त इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। मिश्रबन्धुओं तथा मैथिलीशरण गुप्त की प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित हैं और कृष्णबिहारी मिश्र की उनके परिवार के पास हैं। इनके अतिरिक्त दो—तीन प्रतियाँ जानकीनाथ 'मनोज' के पास थीं जिनके आधार पर उन्होंने इसका सम्पादन किया था और जो सम्भवत: उनके सम्बन्धियों के अधिकार में हैं।

जिस प्रकार 'रसविलास' नायिकाभेद का कोश है उसी तरह यह काव्यशास्त्रीय—कोश कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें काव्य—विषयक प्राय: सभी शास्त्रीय विषयों का न्यूनाधिक समावेश कर लिया गया है। शब्द—शक्ति, रीति, गुण, रस, दोष, अलंकार, पिंगल आदि प्रत्येक वस्तु को देखने पूर्वाचार्यों के मत का ध्यान रखते हुए इसमें अपने अन्य लक्षण—ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व के साथ निरूपित किया है। इसी कारण उदाहरणों पर ही नहीं, लक्षणों पर भी कवि की सजग दृष्टि लक्षित होती है। यह अवश्य है कि कहीं—कहीं अनेक वस्तुओं के लिए एक ही उदाहरण दे दिया गया है अथवा लक्षण सर्वथा स्पष्ट नहीं हो सका है। प्रथम—द्वितीय प्रकाश में 'काव्यप्रकाश' आदि के अनुरूप शब्द—शक्तियों का निरूपण है। लक्षणादि तीन शक्तियों के अतिरिक्त देव ने मीमांसकों की तरह 'तात्पर्य' को भी स्वीकार किया है। लक्षणा का वर्णन अत्यन्त विस्तृत है। तृतीय—पचम प्रकाश में भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के अनुरूप रसनिर्णय है। षष्ठ में नायक—नायिकाभेद को निरूपित किया गया है। देव ने अभिधा को स्वकीया और व्यंजना को परकीया से एक करके "अभिधा उत्तम काव्य है" जैसा चकित करनेवाला निष्कर्ष सामने रख दिया है जिससे रामचन्द्र शुक्ल कुछ क्षुब्ध भी हो गये थे। सप्तम प्रकाश में 'रीति' का गुण से एकीकरण करते हुए वर्णन है और अष्ट में चित्र काव्य को अधम काव्य मानते हुए समाविष्ट किया गया है। नवम में अलंकार वर्णन है जो 'भावविलास' की अपेक्षा कहीं अधिक परिवृद्ध है। देव ने उपमा को सब अलंकारों का मूल मानकर उसका विशेष विस्तार किया है। अन्तिम दो प्रकाशों में पिंगल अथवा छन्दशास्त्र का निरूपण है जिसमें कवि ने छन्द—कल्पना, वर्गीकरण प्रस्तार, लक्षण आदि के क्षेत्र में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ करने का यत्न किया है (दे० 'देव')। इसकी एक विशेषता यह भी है कि लक्षण—उदाहरण दोनों एक ही छन्द में दिये गये हैं। इस ग्रन्थ से देव का व्यक्तित्व कवि के अतिरिक्त आचार्य रूप में विशेष उभरता है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; मि० वि०; हि० का० शा० इ०; री० भू० तथा दे० का० देव के लक्षण—ग्रन्थों का पाठ और पाठ—समस्याएँ(अ० प्र०) . लक्ष्मीधर मालवीय ।]

—अ० गु०

काव्यविलास—प्रतापसाहिकृत विविध काव्यांग निरूपक यह ग्रन्थ सन् १८३० ई० मे लिखा गया । यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के याज्ञिक संग्रह मे सुरक्षित है । इसमे ६ प्रकाश तथा ४११ पद्य हैं । 'व्यंग्यार्थ—कौमुदी' के समान इसमें भी वृत्ति से काम लिया गया है । पहले प्रकाश मे गणेशवन्दना के पश्चात् काव्य—लक्षण, पयोजन, कारण तथा भेदो पर सक्षेप मे विचार व्यक्त किये गये हैं। दूसरे प्रकाश में शब्द—शक्ति, तीसरे में ध्वनि तथा चौथे मे गुणीभूत—व्यंग का वर्णन है। पाँचवें में गुण तथा छठे मे दोष का वर्णन है।

ग्रन्थ सामान्य होने के साथ ही भ्रान्तिपूर्ण भी है। काव्यलक्षण में 'साहित्यदर्पण' तथा 'रस गंगाधर' के मत के नाम पर मम्मट—परवर्ती वाग्भट आदि आचार्यों के लक्षणों की छाया रख दी गयी है। शब्दशक्ति विवेचन मे सकेतग्रह, लक्षणामूला व्यंजना के भेद, लक्षणा के भेदोपभेद की गणना, कतिपय दोषो के लक्षणोदाहरण आदि मे प्राय शिथिलता तथा भ्रान्ति रह गयी है। ग्रन्थ मे मौलिकता तो है ही नही, शास्त्रानुकूलता का अभाव भी है और भाषा के असमर्थ प्रयोग उसे अस्पष्ट भी बना रहे हैं। विशेष रूप से कुलपति का आधार ग्रहण किया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—आ० प्र० दी०

काशिराज चेतसिंह—काशी के प्रसिद्ध नरेश महाराजा चेतसिह बड़े काव्यरसिक थे। उनके आश्रय में कवि गोकुलनाथ ने सन् १७८३ ई० से सन् १८१३ ई० के बीच 'चेतचन्द्रिका' ग्रन्थ की रचना की थी। उनके पुत्र बलवानसिह स्वय कविता करते थे। उन्होंने १८३२ ई० से प्रारम्भ करके १८७४ ई० तक 'चित्र—चन्द्रिका' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस पुस्तक में बलवानसिंह ने अपना परिचय इन शब्दो मे दिया है—"तासु तनय जग विदित है, चेतसिह महाराज। हौं सुत तिनको जानिए, विदित नाम बलवान।।" इस ग्रन्थ में सर्वत्र काशिराज के पाण्डित्य, विशद अध्ययन तथा शास्त्र—ज्ञान का परिचय मिलता है। गद्य की व्याख्या ने विषय को सुबोध बना दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० अ० सा०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६) ।]

—ओं० प्र०

काशीनाथ खत्री—जन्म आगरा मे सन् १८४९ ई० में हुआ था। जीविकोपार्जन के निमित्त ये आरम्भ में कुछ दिनोंतक गवर्नमेंट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर का कार्य करते रहे और बाद में लाट साहब के दफ्तर में पुस्तकाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए। इनकी मृत्यु सन् १८९१ ई० मे सिरसा (इलाहाबाद) मे हुई।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में काशीनाथ खत्री मातृभाषा के सच्चे सेवक, थे, किन्तु "नीति, कर्त्तव्य पालन, स्वदेश हित ऐसे विषयों पर ही लेख और पुस्तके लिखने की ओर इनकी रूचि थी। शुद्ध साहित्य कोटि में आनेवाली रचनाएँ इनकी बहुत कम हैं।" ('इतिहास', पृ० ४७१)। फिर भी, इनकी चार—पाँच कृतियाँ मौलिक और साहित्यिक मानी गयी हैं। इनमें से तीन तो नाटक या रूपक हैं और शेष दो चरित्रवर्णनसम्बन्धी हैं—(१) 'बाल विधवा सन्ताप नाटक', (२) 'ग्रामपाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक', (३) 'तीन ऐतिहासिक रूपक', (४) 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के चरित्र'। 'तीन ऐतिहासिक रूपक' नामक जिल्द के अन्तर्गत 'सिन्धु देश की राजकुमारियाँ', 'गुन्नौर की रानी' तथा 'लवजी का स्वप्न' नामक तीन लघुकृतियाँ संकलित हैं। हिन्दी नाट्यसाहित्य के विकास में अभी इन कृतियों का उचित मूल्यांकन नहीं हो सका है।

काशीनाथ खत्री की प्रतिभा मूलत: अनुवादक की थीं। इन्हें अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान था। अंग्रेजी पुस्तकों—व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद करने में इन्हें बहुत सफलता मिली। इन्होंने कर्नल अलकाट के व्याख्यानों का अनुवाद 'भारत त्रिकालिक दशा' के नाम से, ह्यूम के व्याख्यानों का अनुवाद 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' के नाम से तथा ब्लैकीकृत 'सेल्फ कल्चर' का अनुवाद 'नीत्युपदेश' नाम से प्रस्तुत किया है। इन्होंने लैंबकृत शेक्सपियर के नाटकोपाख्यानों का भी एक अनुवाद किया था।

—र० भ्र०

काशीप्रसाद जायसवाल—जन्म मीरजापुर मे १८८१ ई० में हुआ था। आप पटना में बैरिस्टरी करते थे। प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्र मे आपका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य में आपकी प्रारम्भ से ही रूचि थी। काफी समयतक आप नागरी प्रचारिणी सभा से सम्बद्ध रहे। भारतीय साहित्य तथा संस्कृति पर हिन्दी माध्यम से लिखनेवालो मे आपका नाम अग्रणी रहेगा। १९३७ मे आपकी मृत्यु हुई

—सं०

काशीराम—सरोजकार के अनुसार इनका जन्म १६६८ ई० में हुआ। ये औरंगजेब के सूबेदार निजामत खाँ के आश्रित कवि थे। इनका जन्म कायस्थ कुल में हुआ था। 'दिग्विजय भूषण' मे उदाहृत इनके एक कवित्त में निजामत खाँ की वीरता का वर्णन है, जिससे इनका औरंगजेब के समय मे होना निश्चित है। खोज विवरण के अनुसार इनके तीन ग्रन्थों का पता चला है—'कनक मंजरी', 'परशुराम संवाद' और 'कवित्त काशीराम'। तीसरा ग्रन्थ कवि की स्फुट रचनाओ का सकलन मात्र हैं। इनके काव्य में पर्याप्त सरसता और शब्द—कौशल है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

काष्ठ जिह्वस्वामी—काशी के निवासी और संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। ये पहले शैव थे, बाद में वैष्णव भक्त राम सखे के प्रभाव में वैष्णव धर्म स्वीकार कर अयोध्या रहने लगे थे। एक बार शास्त्रार्थ में इनके गुरु को भी इनसे मात खानी पड़ी जिसके पश्चाताप मे इन्होने जीभ छिदवा कर उसमे लकड़ी की एक सलाई डाल दी, तब से इनका नाम काष्ठ जिवह्व स्वामी पड़ गया। इनकी रचनाओं से सीता-राम की बड़ी अनन्य भक्ति प्रकट होती है और इसी से इनका दूसरा नाम 'सीता रमैया'

काष्ठ चिवह्न स्वामी भी है।

इनके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—'विनयामृत, 'राम लगन' 'रामायण', 'परिचर्या', 'वैराग्य प्रदीप' और 'पदावली'। अन्तिम ग्रन्थ की रचना स० १८९७ मे हुई थी। यह काशी के भूतपूर्व महाराज ईश्वरी नारायण सिंह जी के गुरु थे और इनके पदों को आज भी काशी दरबार में गाया जाता है। [सहायक ग्रन्थ—सन्तकाव्य सग्रह-परशुराम चतुर्वेदी]

कृ० शं० पा०

किन्नर—विष्णु तथा वायु पुराणो की मान्यता के अनुसार सुनक्षत्र के पुत्र का नाम किन्नर था। 'किन्नर' एक अश्वमुखी देवता को भी कहा जाता है। किन्नर संगीत के देवता माने गये हैं। इनका निवास स्थान कैलास पर्वत पर कुबेरपुरी है। ऐसी प्रसिद्धि है कि किन्नरों की उत्पत्ति ब्रह्मा के अँगूठे में हुई और ये पुलस्त्य के वशज और कश्यप के पुत्र हैं।

—रा० कु०

किरात—शिव का एक अवतार प्रसिद्ध है। इस रूप मे उन्होंने मूक नामक राक्षस का वध किया था तथा अर्जुन से युद्ध करके उन्हे पाशुपतास्त्र दिया था। 'किरात' एक आदिवासी जाति का भी नाम है।

—रा० कु०

किलात—दे० 'आकुलि'।

किशोर—इस कवि का पूरा नाम जुगलकिशोर बताया गया है। इनके पिता का नाम बालकृष्ण और बाबा का नाम निहचलराम दिया गया है। ये मुगल बादशाह मुहम्मद शाह (१७०९ ई० से १७४८ ई० तक) के आश्रित कवि थे। इनको दरबार से राजा का पद प्राप्त हुआ था। इन्होंने अपने 'अलंकार निधि' नामक ग्रन्थ में अपना परिचय दिया है। इस ग्रन्थ की रचना सन्१७४८ ई० में हुई थी। 'शिवसिंह सरोज' में इनके 'किशोर संग्रह' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है। इनके 'कवित्त संग्रह' और 'फुटकर कवित्त' नाम के दो संग्रह—ग्रन्थ और मिलते हैं जिनमें अन्य समकालीन कवियों के छन्द भी दिये गये हैं। इनके काव्य में वर्णन का विशेष लालित्य मिलता है। शब्द—चयन की दृष्टि से भी कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

किशोरीदास बाजपेयी—जन्म रामनगर (कानपुर) में हुआ। हिन्दी के वैयाकरणों में आपका प्रमुख स्थान है। आपने भाषा तथा शैली की अनेक समस्याओं पर विविध रूपों में विचार किया है। हिन्दी के प्रचार कार्य में भी आपका पर्याप्त योगदान है। 'हिन्दी शब्दानुशासन' आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है।

बाजपेयी की अबतक छब्बीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—'साहित्यजीवन के अनुभव और संस्मरण', 'काव्य में रहस्यवाद', 'संस्कृति के पाँच अध्याय', 'मानवधर्म मीमांसा', 'हिन्दी शब्दानुशासन', 'सुभाषचन्द्र बोस', 'भारतीय भाषा विज्ञान', 'अच्छीहिन्दी', 'साहित्यमीमांसा', 'साहित्य निर्माण' 'आचार्य द्विवेदी और उनके संगी—साथी' 'काव्य और काव्यशास्त्र' 'ब्रजभाषा का व्याकरण'।

—सं०

किशोरी लाल गुप्त – जन्म सन् १८६५ ई० में काशी मे हुआ। इनके नाना गोस्वामी कृष्णचैतन्य काशी मे ही रहते थे। यही इनकी शिक्षा—दीक्षा भी हुई। कुछ समय तक ये बिहार में रहने के उपरान्त स्थायी रूप से काशी में रहने लगे। गोस्वामी कृष्ण चैतन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य—गुरु थे। भारतेन्दु के सम्पर्क में आनेवाले साहित्यकारों से इनका घनिष्ठ सम्पर्क था। इनके मन में भी साहित्य—सर्जन की इच्छा जागरित हुई। ये मस्त तबीयत के जीव तथा बड़े सरस व्यक्ति थे। इस कारण इनकी रचनाओं में सर्वत्र सरसता और सजीवता दिखायी पडती है। कहीं—कहीं यह सरसता आवश्यकता से अधिक घनी हो जाती थी। ऐसे ही स्थलों की ओर संकेत करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड सकता है। उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यो की अपेक्षा निम्नकोटि की वासनाएँ प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी।" (हि० सा० इ०, छठां संस्करण पृ० ५००)।

ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनकी सनातन हिन्दूधर्म के प्रति गहरी निष्ठा और श्रद्धा थी। १८५७ की क्रान्ति के विफल होने के पश्चात् देश में धार्मिक सुधारों का आन्दोलन काफी जोर पर था। राष्ट्रीय मत का प्रचार बड़ी तेजी से चल रहा था। बाहरी धर्मों के आक्रमण से अपनी रक्षा और हिन्दू धर्म के आन्तरिक सुधार के लिए दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। इन सभी आन्दोलनों के घात—प्रतिघात को गोस्वामी जी ने निकट से देखा था। ये हिन्दूधर्म के विरोध में पड़नेवाले सभी आन्दोलनों के कट्टर विरोधी थे। अपने उपन्यासों में अक्सर ये यथावसर इस तरह के हिन्दू—विरोधी तत्त्वों की निन्दा करते हैं। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि किशोरीलाल की रचनाओं में तत्कालीन स्वस्थ सामाजिक चेतना का अभाव है, जो भारतेन्दु तथा श्री निवास दास आदि लेखकों में दिखाई पड़ती है। इन्होंने अपने उपन्यासों का उद्देश्य 'प्रेम के विज्ञान' का प्रचार माना है। 'सुख शर्वरी' के निर्देशन में लिखा "प्रेम और प्रेमतत्त्व को सभी चाहते है; पर इसका उपाय बहुत कम लोग जानते होंगे। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है इसलिए प्राचीनतम सृष्टि की जो बात झूठ—सच से नहीं होती, तन्त्रमन्त्र से नहीं बनती वह 'प्रेम के विज्ञान' उपन्यास से सिद्ध होती है।"

ये मुख्यतया उपन्यासकार थे। इन्होंने १८९८ ई० में उपन्यास नामक एक मासिक पत्र भी निकाला। हिन्दी गद्य के विकास के द्वितीय उत्थान काल (सन् १८९३—१९१८) के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे और चीजें लिखते—लिखते उपन्यास की ओर भी वे जा पड़ते थे, पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गये (हि० सा० इ०, छठा संस्करण, पृ० ५००)। गोस्वामीजी ने पाँच दर्जन से भी अधिक उपन्यास लिखे। इनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—'त्रिवेणी' (१८९० ई०), 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' (१८९१ ई०), 'प्रणयिनी परिणय' (१८९० ई०), 'लवंग लता वा आदर्श बाला' (१९०४), 'सुख शर्वरी' (१८९१), 'लीलावती' (१९०१), 'प्रेममयी' (१९०१), 'राजकुमारी' (१९०२), 'तारा' (१९०२), 'चपला व नव्य समाज चित्र' (१९०३),

'कनककुसुम वा मस्तानी' (१९०४), 'चन्द्रावली वा कुलटा कुतूहल' (१९०४), 'हीराबाई या बेहयाई का बोरका' (१९०४), चन्द्रिका वा जड़ाऊ चम्पाकली' (१९०४), कटेमूड की दो—दो बातें या तिलस्मी शीश महल' (१९०४), 'याकूती तख्ती या यमज सहोदरा' (१९०६), 'जिन्दे की लाश' (१९०६), 'तरुण तपस्विनी या कुटीरवासिनी' (१९०५), 'लखनऊ की कब्रया शाही महलसरा', 'रजिया बेगम या रंग महल में हलचल', 'मल्लिका देवी या बंगसरोजिनी', 'लीलावती वा आदर्श सती', 'पुर्नजन्म या सौतियाडाह', 'गुलबहार', 'इन्दुमती या वनविहंगिनी', 'लावण्यमयी', 'मालती माधव वा मदन मोहिनी' आदि उपन्यास भी काफी लोकप्रिय हुए।

गोस्वामीजी ने सभी प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। उपरिलिखित सूची से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी, तिलस्मी—ऐयारी आदि विभिन्न प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया। चूँकि गोस्वामीजी ने उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य प्रेम के विज्ञान का प्रचार मान लिया था, इस कारण उनके अधिकाश उपन्यास यदि समविषय प्रेम के नाना रूपों के इर्द—गिर्द चिपके मालूम होते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। गोस्वामीजी को प्रायः विकृत और अनैतिक प्रेम के चित्रण में मजा आता था। इसी कारण उनके उपन्यासों में वेश्याओं के कृत्रिम प्रेमाभिनय, साली बहनोई का अवैध प्रेम, व्यभिचार, भ्रूणहत्या देवदासियों का घृणित जीवन, कुटनियों की करामातें, सौतियाडाह आदि का बड़ा चटक चित्रण किया गया है। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि एक तरफ लेखक हिन्दूधर्म के गौरव और नारी मर्यादा की रक्षा के लिए बड़े—बड़े उपदेश देता है और दूसरी ओर पतित नारियों के रूप—यौवन और हाव—भाव का रंगीन वर्णन करने में अजीब आनन्द का अनुभव करता है। माधवी माधव या मदन मोहिनी, सौतियाडाह, लीलावती त्रिवेणी, कुलटा कुतूहल आदि उपन्यासों में सर्वत्र यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कभी—कभी जब लेखक का हिन्दू संस्कार और आदर्शवाद प्रबल होता है तो वे इन चरित्रों में आकस्मिक और अविश्वसनीय परिवर्तन भी उपस्थित कर देते हैं और ऐसे चरित्र अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करते हुए सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं। गोस्वामीजी न केवल पात्रों से अपराध कराते हैं बल्कि उनके दण्ड—विधाता भी बनते हैं। ऐसे चरित्र अन्त में अपने किये का फल पाते हैं और कभी अस्पताल में गर्भपात के समय, (माधवी—माधव) कभी व्यभिचार के समय छत गिर जाने, कभी नाव उलट जाने आदि दुर्घटनाओं से अपने पाप का फल भोगते है। सज्जन चरित्र अन्ततः अपने शुभ कार्यों के लिए प्रेमिका—प्राप्ति, धन—प्राप्ति, पुत्र—प्राप्ति आदि विभिन्न तरह के सुपरिणामों से पुरस्कृत होते हैं।

गोस्वामीजी ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि "हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं—कहीं कल्पना के आगे ऐतिहासिक घटना को दूर से ही नमस्कार कर दिया है" ('तारा', भूमिका)। इसी कारण इनके उपन्यास शुद्ध ऐतिहासिक न होकर सस्ते ऐतिहासिक रोमांस की कोटि में परिगणित किये जा सकते हैं। हिन्दुत्व का गौरव और जात्यभिमान इन उपन्यासों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। कहीं अत्याचारी सिराजुद्दौला के फन्दे से लवंगलता के छूटने का दास्तान है ('आदर्श बाला') तो कहीं प्रताप की पौत्री तारा की दारा जैसे लफंगे और बदमाश शाहजादे के हाथ से निकलने के लिए तिकडमबाजी का बयान, 'हीराबाई या बेहयाई का बोरका' मे ऐतिहासिक तथ्यों को बदलकर लेखक ने अपने मनपसन्द किस्से को ऐतिहासिक तथ्य का जामा पहना दिया है कि काठियावाड की रानी कमला के स्थान पर उसकी आश्रिता हीराबाई अलाउद्दीन के पास गयी थी और खिज्र खाँ का व्याह देवलदेवी से नहीं, हीराबाई की पुत्री लाछन से हुआ था। 'लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा' मे ऐय्याश नवाब नासरुद्दीन हैदर के महल के अजीब कारनामों का हाल बयान किया गया है। बेगमो की प्रणय—कहानियों, बादशाह की कामुक प्रवृत्तियो, खूबसूरत औरतों के जमावडे, बाँदियो और कुटनियों की ऐयारी तथा जासूसी के सनसनीखेज वर्णनों से उपन्यास भरा हुआ है।

—शि० प्र० मि०

कीर्ति—वाङ्मय में तीन कीर्तियों का उल्लेख मिलता है—

(१) राजा प्रियव्रत की पत्नी का नाम। (२) दक्ष प्रजापति की एक कन्या का नाम जो धर्म की पत्नी थीं। (३) ब्रज के प्रसिद्ध गोप वृषभानु की पत्नी और राधा की माता (दे० 'वृषभानु पत्नी')।

—रा० कु०

कीर्तिलता—कीर्तिलता परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ भाषा में लिखा हुआ काव्य है। यह अपनी संक्रान्तिकालीन भाषा और काव्यशैली के कारण विशेष महत्त्व रखता है। कीर्तिलता के रचनाकाल के विषय मे काफी मतभेद है। अब तक के शोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इसकी रचना सन् १४०२ या १४०४ ई० के आसपास हुई। कीर्तिलता सर्वप्रथम बंगीय सन् १३३१ अर्थात् १९२४ ई० में हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुई। शास्त्रीजी सन् १९२२ में नेपाल गये थे और वहाँ से कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये थे। इस प्रति की नकल जय जगज्ज्योतिर्मल्लेख की आज्ञा से देवज्ञनारायण सिंह ने नेपाल मे बसे हुए किसी मैथिल पण्डित की प्रति से की थी। यह प्रति नेवारी लिपि में है। सन् १९२९ ई० में कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। इसमें तीन पाण्डुलिपियों का प्रयोग किया गया है पर शास्त्रीजी के संस्करण से इसे किसी भी अर्थ में उत्तम नहीं कहा जा सकता। इस संस्करण के लिए पहली पाण्डुलिपि श्रीगंगानाथ झा ने नेपाल दरबार की प्रति से नकल करके मँगवायी थी। दूसरी प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रसिद्ध महादेवप्रसाद चतुर्वेदी से प्राप्त की थी। तीसरी प्रति शास्त्रीजी के बंगला सस्करण की है। दूसरी प्रति अब प्राप्त नहीं है। कीर्तिलता की एक प्रति संस्कृत टीका के साथ प्राप्त हुई है जो अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में सुरक्षित है। कीर्तिलता का नया संस्करण १९५५ ई० में शिवप्रसाद सिंह ने प्रस्तुत किया, जो साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में यथासम्भव पाठ और अर्थ की अनेकानेक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

कीर्तिलता की भाषा में पुरानी मैथिली के प्रयोग भी प्रचुर

मात्रा में मिल गये है। विद्यापति ने इस पुस्तक में अपने आश्रयदाता कवि कीर्तिसिंह द्वारा तिरहुत का सिंहासन प्राप्त किये जाने का वर्णन किया है। कवि अपने को कीर्तिसिंह का 'खेलन कवि' कहता है जिससे प्रतीत होता है कि दोनो समवयस्क थे। लक्ष्मण सवत् २५२ मे असलान नामक सुल्तान ने धोखे मे तिरहुत नरेश गणेश्वर का वध कर दिया। राजा के वध के बाद मिथिला की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का ह्रास होना स्वाभाविक था। कीर्तिसिंह और उनके भाई वीरसिंह जौनपुर के शासक इब्राहीम शाह से सहायता माँगने गये। इब्राहीम शाह तिरहुत—उद्धार के लिए ससैन्य चला, पर कुछ कारणवश उसे दूसरे युद्ध में जाना पड़ा। वहाँ से निबटकर उसने तिरहुत पर आक्रमण किया। असलान युद्ध मे हार गया और कीर्तिसिंह ने उसे प्राणदान दिया। तिरहुत के सिंहासन पर कीर्तिसिंह बैठे और बहुत उत्सव मनाया गया।

इस रचना से कवि विद्यापीठ की प्रबन्ध—प्रतिभा का पता चलता है। यद्यपि यह काव्य मध्यकालीन ऐतिहासिक कथा—काव्यों की शैली में लिखा गया है किन्तु कवि ने परिपाटी के प्रतिकूल इसमें अपने संरक्षक नरेश की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा बहुत कम की है। मध्यकालीन कथा—काव्य प्रायः पद्य मे लिखे गये हैं। कीर्तिलता प्रचलित चरित्—काव्यों से किंचित् भिन्न शैली में लिखी गयी है। इसमे अलकृत गद्य भी है। इस तरह इसमें कथा के कुछ लक्षण तो विद्यमान हैं किन्तु कुछ नहीं मिलते। इसीलिए विद्वानों के मत से विद्यापति ने कीर्तिलता को कथा न कहकर 'कहाणी' कहा है। कीर्तिलता में मध्यकालीन कथाकाव्यों की रूढ़ियो यथा सज्जन प्रशंसा, दुर्जननिन्दा, नगरवर्णन, युद्धवर्णन आदि प्राप्त होती हैं। यह रासो के शुकशु की संवाद की तरह भृंग—भृंगी सम्वाद की शैली में लिखी गयी है।

[सहायक ग्रन्थ—कीर्तिलता : बाबूराम सक्सेना, काशी, १९२९ ई०; कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा:शिवप्रसादसिंह, प्रयाग, १९५५ ई०।]

—शि० प्र० सि०

कुंती—महाराजा पाण्डु की पत्नी तथा युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन की माता का नाम था। ये पाँच कन्याओं में से एक थीं और अपने समय की श्रेष्ठ सुन्दरी थीं। कुन्ती के पिता का नाम शूरसेन था। वे मथुरा के राजा थे किन्तु इनका लालन—पालन राजा कुन्तिभोज ने किया। जब ये कुमारी थीं तभी महर्षि दुर्वासा ने इन्हें एक ऐसा मन्त्र दिया था जिससे आवाहन करने पर मनोनुकूल देवता आकर इनसे सहवास कर सकता था। कुन्ती ने एक बार विवाह के पूर्व ही इस मंत्र के प्रयोग से सूर्य का आवाहन किया था जिनके सहवास से महावीर और महादानी कर्ण की उत्पत्ति हुई। लज्जावश कुन्ती ने सद्योजात शिशु को भागीरथी में फेंक दिया। वह बहता हुआ शूद्र अधिरथ के हाथ लगा। वह निःसन्तान था। उसकी स्त्री का नाम राधा था। शूद्र दम्पत्ति ने बच्चे का पालन—पोषण किया। इसके अनन्तर पाण्डु से कुन्ती का विवाह हुआ और विवाहित जीवन में धर्म, पवन तथा इन्द्र के आवाहन एवं सहवास से क्रमशः युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन नामक पाण्डवों का जन्म हुआ। कुन्ती ने अपनी सपत्नी माद्री को भी दुर्वासा द्वारा प्राप्त मन्त्र बता दिया था जिससे उन्होंने अश्विनी कुमारों का आवाहन कर नकुल तथा सहदेव को उत्पन्न किया था। माद्री से ईर्ष्या होनेपर भी कुन्ती ने उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके बच्चो का यत्नपूर्वक लालन—पालन किया था। महाभारत युद्ध के अनन्तर कुन्ती धृतराष्ट्र तथा गधारी के साथ बन मे चली गयीं जहाँ अन्त में सभी दावानल में भस्म हो गये।

—रा० कु०

कुंभकर्ण—यह पुलस्त्य ऋषि के पौत्र तथा विश्वास के पुत्र के रूप में विख्यात हैं। सुमाली की कन्या केकसी से उत्पन्न यह रावण का भाई था। उत्पन्न होते ही यह सहस्रो नरो का भक्षण कर गया। हाहाकार सुनकर इन्द्र ने इस पर वज्र चलाया किन्तु घोर गर्जना करके इसने ऐरावत का एक दाँत उखाड़ लिया तथा उसे इन्द्र के ऊपर चलाया। इस पर लोगों की प्रार्थना से ब्रह्मा ने इसे शाप दिया कि यह सदैव निद्रामग्न रहेगा। रावण के बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा कि यह वर्ष मे ६ माह सोया करेगा। कुबेर की समकक्षता हेतु उसने कठोर तपस्या की। जब ब्रह्मा वर देने आये तो लोग हाहाकार करने लगे। दैवात् सरस्वती इसके कण्ठ में जा बैठीं जिससे इसने शयन करते रहने का ही बरदान माँगा। राम—रावण युद्ध के समय रावण ने इसके जगाने का बहुत यत्न किया। इसके गले में एक रस्सी बाँध दी गयी जिसे हजारों व्यक्तियों ने मिलकर खींचा। क्षुब्ध होकर रावण इस पर प्रहार भी करने लगा। बड़ी कठिनाई से जगने पर सीताहरण के लिए रावण की निन्दा की और सीता को उसी रूप में लौटा देने को कहा, किन्तु रावण ने यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर उसे युद्ध के लिए उत्तेजित किया। युद्ध में इसने रामदल में हाहाकार मचा दी। इसने हनुमान् को मींज दिया और सुग्रीव को लंका की ओर फेंक दिया। अन्त में राम ने इसका वध किया। राम—कथा—काव्यों में आसुरी शक्तियों के संहार तथा राम के पराक्रम के दिग्दर्शन के उद्देश्य से इसकी कथा प्रयुक्त हुई है।

—रा० कु०

कुंभज—दे० 'अगस्त्य'।

कुंभनदास—अष्टछाप के कवियों में सबसे पहले कुम्भनदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। अनुमानतः कुम्भनदास का जन्म सन् १४६८ ई०, सम्प्रदायप्रवेश सन् १४९२ ई० और गोलोकवास सन् १५८२ ई० के लगभग हुआ था। पुष्टिमार्ग में दीक्षित तथा श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तनकार के पद पर नियुक्त होने पर भी उन्होंने अपनी वृत्ति नहीं छोड़ी और अन्ततक निर्धनावस्था में अपने परिवार का भरण—पोषण करते रहे। परिवार में इनकी पत्नी के अतिरिक्त सात पुत्र, सात पुत्र—वधुएँ और एक विधवा भतीजी थी। अत्यन्त निर्धन होते हुए भी ये किसी का दान स्वीकार नहीं करते थे। राजा मानसिंह ने इन्हें एक बार सोने की आरसी और एक हजार मोहरों की थैली भेंट करनी चाही थी परन्तु कुम्भनदास ने उसे अस्वीकार कर दिया था। इन्होंने राजा मानसिंह द्वारा की गयी जमुनावतो गाँव की माफीकी भेंट भी स्वीकार नहीं की थी और उनसे कह दिया था कि यदि आप दान करना चाहते हैं तो किसी ब्राह्मण को दीजिए। अपनी खेती के अन्न, करील के फूल और टेटी तथा झाड़ के बेरों से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहकर ये श्रीनाथजी की सेवा में लीन रहते थे। ये श्रीनाथजी का वियोग एक क्षण के लिए भी सहन नहीं कर पाते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने इन्हें

फतहपुर सीकरी बुलाया था। सम्राट की भेजी हुई सवारी पर न जाकर ये पैदल ही गये और जब सम्राट ने इनसे कुछ गान सुनने की इच्छा प्रकट की तो इन्होंने गाया—"भक्तन को कहा सीकरी सों काम। आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गयो हरि नाम। जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन करी परनाम। कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।" अकबर को विश्वास हो गया कि कुम्भनदास अपने इष्टदेव को छोड़कर अन्य किसी का यशोगान नहीं कर सकते फिर भी उन्होंने कुम्भनदास से अनुरोध किया कि वे कोई भेंट स्वीकार करें, परन्तु कुभन दास ने यह माँग की कि आज के बाद मुझे फिर कभी न बुलाया जाय। कुंभन दास के सात पुत्र थे। परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ के पूछने पर उन्होंने कहा था कि वास्तव में उनके डेढ़ ही पुत्र हैं क्योंकि पाँच लोकासक्त हैं, एक चतुर्भुजदास भक्त हैं और आधे कृष्णदास हैं, क्योंकि वे भी गोवर्द्धन नाथजी की गायो की सेवा करते हैं। कृष्णदास को जब गायें चराते हुए सिंह ने मार डाला था तो कुम्भनदास यह समाचार सुनकर मूर्च्छित हो गये थे परन्तु इस मूर्च्छा का कारण पुत्र—शोक नहीं था, बल्कि यह आशंका थी कि वे सूतक के दिनों में श्रीनाथजी के दर्शनों से वंचित हो जायेंगे। भक्त की भावना का आदर करके गोस्वामीजी ने सूतक का विचार छोड़कर कुम्भनदास को नित्य—दर्शन की आज्ञा दे दी थी। श्रीनाथजी का वियोग सहन न कर सकने के कारण ही कुम्भनदास गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ द्वारका नहीं गये थे और रास्ते से लौट आये थे। गोस्वामीजी के प्रति भी कुम्भनदास की अगाध भक्ति थी। एक बार गोस्वामीजी के जन्मोत्सव के लिए इन्होंने अपने पेड़े और पूड़ियाँ बेंचकर पाँच रूपये चन्दे में दिये थे। इनका भाव था कि अपना शरीर, प्राण, घर, स्त्री, पुत्र बेचकर भी यदि गुरु की सेवा की जाय, तब कहीं वैष्णव सिद्ध हो सकता है।

कुम्भनदास को निकुंजलीला का रस अर्थात् मधुर—भाव की भक्ति प्रिय थी और इन्होंने महाप्रभु से इसी भक्ति का वरदान माँगा था। अन्त समय में इनका मन मधुर—भाव में ही लीन था, क्योंकि इन्होंने गोस्वामीजी के पूछने पर इसी भाव का एक पद गाया था। पुनः पूछने पर कि तुम्हारा अन्तःकरण कहाँ है, कुम्भनदास ने गाया था—"रसिकिनि रस में रहत गड़ी। कनक बेलि वृषभान नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी।। विहरत श्री गोवर्धनधर रति रस केलि बढ़ी।।" प्रसिद्ध है कि कुम्भनदास ने शरीर छोड़कर श्रीकृष्ण की निकुंज—लीला मे प्रवेश किया था।

कुम्भनदास के पदों की कुल संख्या जो 'राग—कल्पद्रुम', 'राग—रत्नाकर' तथा सम्प्रदाय के कीर्तन—संग्रहों में मिलते हैं, ५०० के लगभग हैं। इन पदों में आठ पहर की सेवा तथा वर्षोत्सवों के लिए रचे गये पदों की संख्या अधिक है। जन्माष्टमी, राधा की बधाई, पालना, धनतेरस, गोवर्द्धनपूजा, इन्द्रमानभंग, संक्रान्ति, मल्हार, रथयात्रा, हिंडोला, पवित्रा, राखी, वसन्त, धमार आदि के पद इसी प्रकार के हैं। कृष्णलीला से सम्बद्ध प्रसंगों में कुम्भनदास ने गोचारण, छाप, भोज, बीरी, राजभोग, शयन आदि के पद रचे हैं जो नित्यसेवासे सम्बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त प्रभुरूप वर्णन, स्वामिनी रूप वर्णन, दान, मान, आसक्ति, सुरति, सुरतान्त, खण्डिता, विरह, मुरली, रूक्मिणीहरण आदि विषयों से सम्बद्ध श्रृंगार के पद भी हैं। कुम्भनदास ने गुरुभक्ति और गुरू के परिजनो के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए भी अनेक पदो की रचना की। आचार्यजी की बधाई, गुसाईजी की बधाई, गुसाईजी के पालना आदि विषयो से सम्बद्ध पद इसी प्रकार के हैं। कुम्भनदास के पदो के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इनका दृष्टिकोण सूर और परमानन्द की अपेक्षा अधिक साम्प्रदायिक था। कवित्त की दृष्टि से इनकी रचना में कोई मौलिक विशेषताएँ नहीं है। उसे हम सूर का अनुकरण मात्र मान सकते हैं।

कुम्भनदास के पदो का एक संग्रह 'कुम्भनदास' शीर्षक से श्रीविद्या विभाग, कांकरोली द्वारा प्रकाशित हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—चौरासी वैष्णवन की वार्ता; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त; अष्टछाप परिचय : श्रीप्रभुदयाल मीतल।]

—व्र० व०

कुकुरमुत्ता—सन् १९४२ ई० मे प्रकाशित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की व्यंग्य—प्रधान कविताओ का संग्रह है। इसमे 'कुकुरमुत्ता' के साथ—साथ अन्य छः कविताएँ—गर्म पकौड़ी, प्रेमसंगीत, रानी और कानी, खजोहरा, मास्को डायलाग्ज और स्फटिक शिला—संगृहीत हैं। प्रौढ़तर रचनाओ की सर्जना के बाद 'निराला' के जीवन में एक परिवर्तन आया, जिसके फलस्वरूप वे अवसादपूर्ण तथा व्यंग्यात्मक रचनाएँ करने लगे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों प्रकार की रचनाएँ एक ही मनोवृत्ति की द्योतक हैं।

इस संग्रह की 'कुकुरमुत्ता' रचना के सम्बन्ध में अब भी कम भ्रम नहीं फैला है। कोई इसे साम्यवादविरोधिनी रचना मानते हैं तो कोई साम्यवाद की समर्थक रचना। इसका मूल स्वर साम्यवादियों के विरोध मे पड़ता है—फैशनपरस्त साम्यवादियों के विरोध में। 'कुकुरमुत्ता' इसी तथ्य का परिचायक है। कुकुरमुत्ता सर्वहारा का प्रतीक है, तो गुलाब पूँजीवादी वर्ग का। कुकुरमुत्ते की दृष्टि मे दुनिया की गोलाई, डमरू, तबला, तानपूरा, पिरामिड, विक्टोरिया मेमोरियल, आर्य—पारसीक तथा गाथिक मेहराबे सभी पूँजीवादी संस्कृति की ही चीजें हैं, अहकारवश वह यह कहने से भी नहीं चूकता—"तू नहीं मैं ही बड़ा।" 'कुकुरमुत्ता' में चित्रित नवाब केवल सुनी—सुनाई बातों के आधार पर ही फैशनपरस्त साम्यवादी बनना चाहता है। सर्वहारा के प्रति उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं है। सच्ची साम्यवादी भावना भीतर से उत्पन्न होती है, यह बाहर की वस्तु नहीं है। 'गर्म पकौड़ी, और 'प्रेम—संगीत' रोमान्सविरोधी रचनाएँ हैं। 'रानी और कानी' तथा 'खजोहरा' यथार्थवादी कविताएँ हैं। 'स्फटिक शिला' तो बहुत कुछ अश्लील हो गयी है।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, वह हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी की खिचड़ी है जो हिन्दस्तानी से कई कदम आगे बढ़ी हुई है। भूमिका के स्थान पर 'जियाफत' बिठाया हुआ है।

—ब० सिं०

कुणाल—सम्राट अशोक का प्रथमपुत्र, जिसकी आँखें उसकी सौतेली माँ तिष्यरक्षिता ने अपनी वासनापूर्ति न करने के कारण ईर्ष्यावश फुड़वा डाली थी। इसका प्रामाणिक वृत्त अप्राप्य है। काल्पनिक कथा—संघटनों के आधार पर पण्डित सोहनलाल द्विवेदी ने हिन्दी में 'कुणाल' नामक खण्ड काव्य की रचना

प्रस्तुत की है।

—यो० प्र० सिं०

कुतबन—अभी तक हिन्दी सूफी कवियों के सम्बन्ध में जितनी भी जानकारी प्राप्त हुई है उनके आधार पर मुल्ला दाऊद को हिन्दी का पहला सूफी कवि मान सकते हैं तथा कुतबन को दूसरा। कुतबन सन् ईसवी की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा सोलहवी शताब्दी के प्रथम भाग मे वर्तमान थे। इनकी एक रचना 'मृगावती' का ही अभी तक पता चला है। 'मृगावती' का जितना भी अश प्राप्त है उसी मे कुतबन के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है।

कुतबन ने 'मृगावती' में अपने काल के शासक का नाम हुसेनशाह बतलाया है। हुसेनशाह जौनपुर के शासक थे। कुतबन शेख बुढन के शिष्य थे। कुतबन के जीवन के सम्बन्ध में अभी तक इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। वैसे 'मृगावती' के रचनाकाल का उन्होंने जिक्र किया है जिसके अनुसार वह सन् १५०३ ई० की रचना ठहरती है। कुतबन ने यह भी बतलाया है कि दो महीने दस दिनों मे उन्होंने इस ग्रन्थ को पूरा किया।

कुतबन के गुरु तथा तत्कालीन शासक को लेकर विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके गुरु का नाम शेख बुरहान बतलाया है (हिन्दी साहित्य का इतिहास, सातवाँ संस्करण, पृ० ९४)। लगता है जैसे 'मृगावती' में आये हुए 'सेख बुढन' शब्द को ही आचार्य शुक्ल ने 'शेख बुरहान' मान लिया है। डा० मोहनसिंह बुढन को ब्राह्मण बोडढन कहते हैं। मुसलमान इतिहासकारों ने बतलाया है कि वे बड़े उदार और सभी धर्मों की अच्छाई को स्वीकार करते थे। इसीलिए सिकन्दर लोदी ने उन्हें मरवा डाला (कबीर एण्ड द भक्ति मूवमेन्ट, १९३४, पृ० ९३)। 'आईने अकबरी' मे शेख बुढन शत्तारी का नाम आया है जो सुल्तान सिकन्दर लोदी के काल में वर्तमान थे। 'आईने अकबरी' में कहा गया है कि उसके रचयिता के पिता के बड़े भाई शेख रिज़क उल्लाह, शेख बुढन के सम्पर्क मे आये थे और उनसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था। परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि यही बुढन कुतबन के भी गुरु थे (सूफी काव्य संग्रह, पृ० ९६)।

इसी प्रकार से हुसेनशाह को आचार्य शुक्ल ने जौनपुर का शासक कहा है। परशुराम चतुर्वेदी उसे बंगाल का शासक मानने के पक्ष में है। मेरा अनुमान है कि कुतबन ने 'मृगावती' में जौनपुर के शासक हुसेनशाह की ओर ही संकेत किया है।

'मृगावती' का जितना भी अंश प्राप्त है उससे कुतबन की कवित्व शक्ति का पता चलता है। कुतबन ने काव्य—रूढ़ि तथा कथानक—रूढ़ियों में भारतीय परम्परा का पालन किया है। उन्होंने स्वयं ही बतलाया है कि 'मृगावती' की रचना जिस कहानी के आधार पर हुई है उसका प्रचार पहले से ही था। छन्दों के सम्बन्ध में भी कवि ने स्पष्ट ही कहा है कि दोहा, चौपाई, सोरठा, अरिल्ल आदि छन्दों के सहारे उसने कथा की रचना की है। कुतबन ने अवधी भाषा का प्रयोग किया है। हिन्दी के सूफी कवियों का कुतबन ने मार्ग—प्रदर्शन किया है।

—रा० पू० ति०

कुवलयापीड—कुवलया एक पागल हाथी था जो कंस के संरक्षण में था। कुवलया को कंस ने कृष्ण को मारने के लिए चुना था। कृष्ण जब मथुरा गये तो राजमहल के मुख्य द्वार पर इससे कृष्ण की मुठभेड़ हो गयी। अन्त में कृष्ण ने इसे मार डाला—"सूरदास प्रभु सुर सुखदायक, माण्यो नाग पछारि।" (दे० सू० सा० पद० ३६७०, ३६७१, ३६७८, ३६९५)।

—रा० कु०

कुबेर—अलकापुरी के अधिष्ठाता का नाम कुबेर है। कुबेर की माता भारद्वाज की पुत्री देववर्णिनी, पिता विश्रवा तथा पितामह महर्षि पुलस्त्य थे। पिता के आदेश से ये पहले लंकापुरी में रहते थे। वहाँ ब्रह्मा के प्रसाद से माल्यवान्, माली तथा सुमाली नाम के तीन राक्षस मनमाना अत्याचार करते थे जिन्हें दबाने के लिए स्वयं विष्णु को आना पड़ा। विष्णु के आतंक से माल्यवान् तथा माली तो पाताल में चले गये और सुमाली मृत्युलोक में विहार करने लगा। धनाधिप कुबेर को पुष्पक पर विहार करते हुए देखकर इसे ईर्ष्या हुई और इसने सोचा कि कोई ऐसा प्रतापी पुत्र उत्पन्न किया जाय जो कुबेर को लंका से बहिष्कृत करे दे। इस अभिप्राय से इसने अपनी कन्या केकसी को विश्रवा के पास सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से भेज दिया। उसके गर्भ से महाप्रतापी रावण ने जन्म लिया। रावण के अत्याचार से कुबेर को लंका छोड़कर कैलास पर आश्रय लेना पड़ा। कुबेर यक्षों के स्वामी तथा शिव के धनरक्षक कहे जाते हैं। ये अपनी कुरूपता के लिए विख्यात हैं। कुबेर के लिए 'वैश्रवण' नामका भी प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा की सेवा के फलस्वरूप ये चौथे लोकपाल भी हो गये। साहित्य में कुबेर धनाढ्यों के लिए उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

—रा० कु०

कुब्जा—१. दुर्भाग्य से बाल—वैधव्यप्राप्त नारी के रूप में कुब्जा ने ६० वर्षोंतक पुण्य कर्म करते हुए अपना जीवन व्यतीत किया था। माघस्नान के पुण्य से उसे बैकुण्ठ प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् सुन्द—उपसुन्द नामक राक्षसों का वध करने के लिए वह तिलोत्तमा नाम से अवतरित हुई। सुन्द—उपसुन्द के वध के अनन्तर ब्रह्मदेव ने उसे अभिनन्दित कर सूर्यलोक भेज दिया

२. कंस की दासी पीठ पर कूबड़ होने के कारण 'कुब्जा' नाम से ज्ञात थी। इसका शरीर तीन जगह से टेढ़ा था। कंस द्वारा आमन्त्रित होकर जब कृष्ण और बलराम मथुरा गये उसी अवसर पर कृष्ण की सेवा में इसका शरीर सीधा हो गया। साहित्य में 'कुब्जा के' लिए 'कुबरी' नाम भी प्रयुक्त हुआ है।

कृष्णभक्त कवियों ने उसे मथुरा में रंगभूमि के अवसर पर कृष्ण की अर्चना की भावना से चन्दन का अंगराग लिए हुए वर्णित कर उसकी भक्ति—भावना व्यंजित की है। कृष्ण ने उसे उर्वशी के समान रूपवती बना दिया (दे० सू० सा० प० ३६६९)। 'भ्रमर गीत' के प्रसंग में गोपियों की दृष्टि में कुब्जा अत्यन्त हीन और वक्रशील नारी है। वे उसे अनेक प्रकार से उलाहना देती हैं। कुब्जा और कृष्ण का संग उन्हें काग और हंस, लहसुन और कर्पूर तथा कंचन और काँच के समान अनुपयुक्त लगता है। (दे० सू० सा०, प० ३७६०-३७७०)। कुब्जा का चरित्र कृष्णोपासना के सद्भाव में निमग्न भक्त का चरित्र है। वह सरल, विनयशील, उदार किन्तु कृष्ण—कृपा प्राप्त कर लेने के कारण गर्ववती है (सू० सा०, प० ४०६१—४०६५)। प्रकारान्तर से कुब्जा का चरित्र भक्त कवियों की दृष्टि में राधा और गोपियों के प्रेम का उद्दीपक है।

भागवत के भाषानुवादो तथा आधुनिक—युगीन 'कृष्णायन' आदि कृष्णपरक काव्यो मे वह कृष्ण—प्रिया के रूप में ही आयी है। 'द्वापर' की (पृ० १४१—१५९) कुब्जा कृष्ण—वियोग मे उन्मत्त एवं दुखी है। उसकी विरहानुभूति कृष्ण के प्रति उसके अनुराग की व्यजक है।

३ कैकेयी की दासी मन्थरा का भी कुब्जा के नाम से उल्लेख मिलता है।

—रा० कु०

कुमारगिरि—भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में जहाँ एक ओर जीवन की क्रियाशीलता, भोग एवं वैभव को चित्रलेखा—बीजगुप्त के माध्यम से प्रकट किया गया है वहीं कुमारगिरि को विराग एवं तप के मूर्तिमान् प्रतीक रूप मे उपस्थित किया गया है। रत्नाम्बर के शब्दो में "यौवन और विराग ने मिल कर उसमें एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न कर दी है।" "संयम उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य।" उसमें "ज्ञान है और कल्पना है।" अपनी इस अलौकिक शक्ति, ज्ञान एवं कल्पना का परिचय वह सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में चाणक्य की चुनौती का उत्तर ईश्वर का रूप दिखाकर देता है।

यद्यपि एक स्थान पर कुमारगिरि कहता है, "मानापमान से उसका कोई सम्बन्ध नही रह गया"; परन्तु वास्तव में उसका स्वभाव अपमान से क्षुब्ध हो उठने का है और प्रारम्भ से ही एक प्रकार की अहन्ता उसके व्यक्तित्व में भासित होती है। विशालदेव से कहा गया उसका यह वाक्य कि, "मैं तुम्हें पुण्य का रूप दिखला दूँगा, और पुण्य को जानकर तुम पाप का पता लगा सकोगे" उसकी अहन्ता को द्योतित कर देता है। उसके अहंकार को प्रकाशित करने वाले अंश उपन्यास में विरल नहीं हैं।

उसके ज्ञान के आलोकमय संसार में स्त्री का कोई स्थान नहीं है। उसके लिए शान्ति या तथाकथित अकर्मण्यता का अर्थ है—"जिस शून्य से उत्पन्न हुए हैं, उसी में लय हो जाना और वही शून्य—जीवन का निर्धारित लक्ष्य है।" तथा "दुःखमय संसार को छोड़ देने को ही सुख कहते हैं।" वह मानता है कि "सत्य अनुभव की वस्तु है।"

सब मिलाकर उसका चरित्र आदर्श योगी की ऊँचाई को नहीं पहुँच पाता। उपन्यासकार ने जाने—अनजाने उसे भोग एवं सांसरिकता के प्रतीक चित्रलेखा, बीजगुप्त से निम्न कोटि का चित्रित किया है। वह अपनी निर्बलता को जीत नहीं पाता; चित्रलेखा के प्रति वह भीषण रूप से आकर्षित होता है और वासना के प्रवाह में बह जाता है।

—दे० शं० अ०

कुमारमणि भट्ट—ग्रियर्सन के अनुसार कवि का जन्म सन् १७४६ ई० में हुआ। वैसे उनका स्थायी निवास—स्थान गोकुल (ब्रज प्रदेश) था, किन्तु बहुत दिनों तक वे दतिया दरबार में रहे। वे वत्सगोत्री तैलंग ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम हरिवल्लभ भट्ट था। प्रसिद्ध गाथा—सप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य इसी वंश के थे। हरिवल्लभ की विद्वता एवं पाण्डित्य से प्रसन्न होकर सागर जिले (मध्यप्रदेश) के गढ़—मण्डला—राज्य की रानी दुर्गावती ने उन्हें कनेश और धर्मसी नामक दो गाँव दिये थे, जिन पर अब भी उनके वंशजों का अधिकार है। कुमारमणि संस्कृत और हिन्दी दोनो ही भाषाओं के पण्डित थे। क्षेमनिधि ने अपने ग्रन्थ 'सक्षेप भागवतामृत' मे कुमारमणि को गुरु रूप मे याद किया है।

अब तक की खोजो ने कवि की कुल तीन रचनाओं का पता चला है: 'सूक्ति—सग्रह' (प्राप्त) तथा 'सप्तशती' (अप्राप्त) संस्कृत मे और 'रसिक रसाल' हिन्दी में। 'रसिक रसाल' का रचनाकाल सन् १७१९ ई० है। यह ग्रन्थ ककरौली राजस्थान से संवत् १९९४ में प्रकाशित हो चुका है। यह 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा गया कवि का प्रसिद्ध रीति—ग्रन्थ है। इसमें काव्य—कारण, शब्द—शक्तियों, काव्य—भेदो तथा रस के विभिन्न अगों एवं भेदों, अलकारों और काव्य के भिन्न—भिन्न गुण—दोषों आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। विवेचन—शैली पुष्ट और प्राञ्जल है। कवि ने वात्सल्य को लेकर रसों की संख्या दस मानी है। मिश्रबन्धुओ ने इनको काव्य—परिपाक और प्रौढ़ता पर विचार करते हुए पद्माकर की कोटि का कवि बतलाया है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (भा० १, १२), मि० वि०; शि० स०, हि० सा० इ०;हि० का० शा० इ०।]

—रा० त्रि०

कुरान—अरबी भाषा में लिखा हुआ इस्लाम का धर्म ग्रन्थ है। आदर के कारण इसे 'कुरान शरीफ' भी कहते हैं। 'कुरान' का अर्थ है ईश्वरप्रदत्त धर्मोपदेशों का संग्रह जो मोहम्मद साहब (७वीं शती) के साथ अवतीर्ण हुआ था। इस्लाम के अनुसार 'कुरान' के स्फुट संदेशों का संग्रह उनके धर्मनेता एवं मोहम्मद साहब के मित्र (सोहाबी), उसमान गनी ने किया। इसलिए वे 'जामेउल कुरान' कहलाते हैं। कुरान की रक्षा का भार स्वयं ईश्वर ने अपने ऊपर लिया है। इसे 'अल्लाह का कलाम' भी कहते हैं। 'कुरान' में जीवनयापन, शासन, सैन्यसंगठन, धार्मिक और वैधानिक नियमों का सांगोपांग निर्देश है। 'कुरान' में ईसाई धर्म के 'क्राइस्ट' और 'मोजेज' को भी पैगम्बर माना गया है लेकिन सर्वश्रेष्ठ स्थान मोहम्मद का ही है। राजा 'कुरान' को लेकर राज्याभिषेक के समय इस्लाम धर्मानुसार राज्य संचालन की सौगन्ध लेता है (दे० 'काबा—कर्बला')।

—रा० कु०

कुरु—कुरु नाम से निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होते हैं:—

१. 'कुरु' एक प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा थे। वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख मिलता है। कुरु के पिता का नाम संवरण तथा माता का नाम तपती था। शुभांगी तथा वाहिनी नामक इनकी दो स्त्रियाँ थीं। वाहिनी के पाँच पुत्र हुए जिनमें कनिष्ठ का नाम जनमेजय था। उन्हीं के वंशज धृतराष्ट्र एवं पाण्डु हुए। वास्तव में धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों के वंशज कौरव कहे जा सकते हैं किन्तु धृतराष्ट्र के ही वंशज कौरव कहे जाते हैं।

२. अग्नीध्र के एक पुत्र का नाम 'कुरु' था जिनकी स्त्री मेरुकन्या प्रसिद्ध है।

—रा० कु०

कुरुनाथ— दे० 'दुर्योधन'।

कुरुवंश—मधुराजा के पुत्र का नाम था। कुरुवंश के पुत्र अनु हुए।

—रा० कु०

कुलजम स्वरूप—प्रणामी सम्प्रदाय की अनुश्रुति के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वामी 'प्राणनाथ' द्वारा प्रणीत १८ हजार चौपाइयाँ इस वृहत् ग्रंथ में संगृहीत हैं। इसका सम्पादन लगभग सन् १६९४ ई० में स्वामी प्राणनाथ के परमधामप्रवेश के बाद उनके एक प्रमुख शिष्य केसोदास ने पन्ना में किया था। उसी रूप में सम्प्रदाय में आज तक यह ग्रन्थ सुरक्षित है। गुरु ग्रन्थ साहब की तरह यह भी एक धर्म ग्रन्थ के रूप मे प्रत्येक प्रणामी मन्दिर में पूजा जाता है। पन्ना के प्रणामी मन्दिर में, जिसका निर्माण महाराज छत्रसाल ने किया था, एक प्रणामी पाठशाला लगती है जिसमे प्रणामी धर्म के बालकों को कई वर्षों तक इस ग्रन्थ का अध्ययन कराया जाता है। इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ देखने को मिली हैं, यत्र—तत्र कुछ शब्द रूपों की भिन्नता के अतिरिक्त वे सब पाठ की समानता प्रकट करती है। इस दृष्टि से हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो में इसका विशेष महत्त्व है।

सम्प्रदाय मे इस ग्रन्थ को 'कुलजम स्वरूप', 'स्वरूप साहब' 'तारतम्य सागर', अथवा 'निजानन्द सागर' के नाम से अभिहित किया जाता है। 'कुलजम स्वरूप' का अर्थ है प्राणनाथ की उन बानियो का पूर्ण संग्रह (कुलजमा) जिनमें स्वामीजी का वास्तविक स्वरूप सुरक्षित है। छत्रसाल के समसामयिक शिष्य ब्रजभूषण द्वारा रचित वृत्तान्त मुक्तावली में कहा गया है—"बानी श्रीमुख की सकल कुलजम लीला रूप" (वृत्तान्त मुक्तावली, प्रकरण ६६, चौपाई १४)। स्वर्गीय डॉक्टर हीरालाल ने 'कुलजम' को अरबी कुलजम (सागर) का तद्भव रूपान्तर माना है। कुलजम स्वरूप लगभग १००० पृष्ठों का बृहदाकार ग्रन्थ है जिसे १४ खण्डों में विभाजित किया गया है। ये खण्ड निम्नलिखित हैं—(१) रास (१०१० चौपाइयाँ, गुजराती भाषा), (२) प्रकाश (११७६ हिन्दी अनुवाद सहित गुजराती चौपाइयाँ), (३) षट्रुत् (२३० गुजराती चौपाइयाँ), (४) कलस (७६८ हिन्दी अनुवाद सहित गुजराती चौपाइयाँ), (५) सनन्ध (१६९१ हिन्दी अनुवाद सहित हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (६) किरन्तन (२१०३ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ, (७) खुलासा (१०१९ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (८) खिलवत (१०९४ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (९) परकरमा (२४८४ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (१०) सागर (११२८ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (११) सिंगार (२२०९ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (१२) सिंधी बानी (५९९ हिन्दी अनुवाद सहित सिन्धी चौपाइयाँ), (१३) मारफत (१०३४ हिन्दी या हिन्दुस्तानी चौपाइयाँ), (१४) क्यामतनामा छोटा ओ क्यामतनामा बड़ा (६६७ हिन्दी या हिन्दुस्तानी पद)।

स्वामी प्राणनाथ की जीवनी से सम्बद्ध बानियों में उपयुक्त ग्रन्थों की रचना—तिथि, स्थान आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। स्वामी प्राणनाथ ने सबसे पहले सन् १६५५ ई० मे प्रमोधपुरी (बन्दीगृह) में बानियों की रचना प्रारम्भ की थी। उसके बाद सूरत, अनूपशहर तथा पन्ना मे उन्होंने सन् १६९४ ई० तक बानियों का प्रणयन किया।

'कुलजम स्वरूप' का मुख्य वर्ण्य—विषय प्रणामी धर्म या निजानन्द सम्प्रदाय का विवेचन ही है। यह धर्म एक सुधार आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ था। क्षर—अक्षर से परे अक्षरातीत पर—ब्रह्म श्रीकृष्ण इसके उपास्य हैं। रास, प्रकाश, षट्रुत और कलस में कृष्ण—भक्ति का ही विवेचन मिलता है। सनन्ध मे भागवत पुराण और कुरान का समन्वय किया गया है। खुलासा, मारफत, क्यामतनामा आदि मे इस्लाम की व्याख्या की गयी है और हिन्दू एवं इस्लाम धर्म के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। परकरमा में परमधाम के सौन्दर्य का वर्णन है। इससे स्वामी प्राणनाथ के विस्तृत भौगोलिक तथा वनस्पति जगत्, वास्तुकला, चित्रकला और मूर्तिकला विषयक ज्ञान का परिचय मिलता है। सागर और सिंगार में राधा और कृष्ण के विराट् श्रृंगार तथा उनकी आठों यामकी लीला का वर्णन है। शुद्ध काव्य की दृष्टि से किरन्तन के पद ही पूर्ण रूप से साहित्यिक कहे जा सकते हैं। किरन्तन नामक ग्रन्थ को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थ चौपाई, छन्द में लिखे गये हैं, किरन्तन में पद शैली का प्रयोग हुआ है परन्तु वास्तव में ये पद तुकान्त गद्य मात्र कहे जा सकते हैं। प्राणनाथ द्वारा प्रयुक्त चौपाई छन्द मे भी अनेक दोष पाये जाते हैं।

स्वामी प्राणनाथ ने अपनी भाषा को 'हिन्दोस्तानी' (हिन्दवी या हिन्दुस्तानी) कहा है। इनकी भाषा में खड़ी बोली या हिन्दवी का मध्यकालीन रूप सुरक्षित है। उसमें तद्भव शब्दों की प्रधानता है। संस्कृत, फारसी, अरबी आदि के शब्द भी स्वतन्त्रतापूर्वक तद्भव रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। इस्लामधर्म के विवेचन मे फारसी और अरबी शब्दों की बहुलता से भाषा कुछ दुरूह हो गयी है। प्राणनाथ की भाषा में प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है।

स्वामी प्राणनाथ ने अपने को सच्चा हिन्दू और सच्चा मुसलमान या मोमिन घोषित किया है और औरंगजेब के कट्टर अनुयायियों को सर्वत्र काफिर बताया है। धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक तथा भाषिक दृष्टि से 'कुलजम स्वरूप' एक अमूल्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। अभीतक यह केवल हस्तलिखित रूप में प्राप्त है।

—मा० ब० जा०

कुलपति मिश्र—ये आगरा—निवासी परशुराम मिश्र के पुत्र थे। इनके मामा महाकवि बिहारी प्रसिद्ध हैं। 'संग्रामसार' में इन्होंने किन्हीं केशवराम को अपना नाना बताया है। ये पहले विष्णुसिंह नामक किसी सामन्त के आश्रय में रहे। बाद में बिहारी के आश्रयदाता कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के यहाँ रहे। ये भूषण के समकालीन थे। 'मिश्रबन्धु विनोद' में इन्हें भूषण—काल के अन्तर्गत 'परमोत्तम' कवियों में स्थान दिया गया है और सुखदेव मिश्र के साथ इन्हें 'भारी आचार्य' कहकर इनकी प्रशंसा की गयी है। अन्य विद्वान भी इनके आचार्यत्व तथा संस्कृतज्ञान की प्रशंसा करते हैं। इनका रचनाकाल सन् १६६७ ई० से १६८६ ई० तक ठहरता है।

इनकी प्रमुख रचना 'रस रहस्य' (१६७० ई०) के अतिरिक्त अन्य रचनाएँ 'द्रोणपर्व (१६८० ई०), 'युक्तितरंगिणी' (१६८६ ई०), 'नखसिख' और 'संग्रामसार' हैं। भगवतीप्रसाद सिंह 'दुर्गाभक्ति चन्द्रिका' को एवं रामशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा भगीरथ मिश्र 'गुण रस—रहस्य' को भी इन्हीं की रचनाएँ मानते हैं। कुलपति ने 'रस रहस्य' में एक सीमातक मम्मट का आधार ग्रहण किया है किन्तु 'काव्य

प्रकाश' की अपेक्षा विवेचन शिथिल और अपरिपक्व है। कुछ पुस्तकों में 'संग्रामसार' के स्थान पर 'सग्रह—सार' तथा 'संग्राम—सागर' और 'युक्तितरंगिणी' के स्थान पर 'मुक्ति तरंगिणी' भी छपा है। 'गुण रस—रहस्य' भी रस—रहस्य' ही प्रतीत होता है। रस रहस्य स० १९५४ में इण्डियन प्रेस प्रयाग से मुद्रित हो चुका है।

हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों मे, जिनकी प्रवृत्ति काव्य—शास्त्र के गम्भीर प्रसंगों के विवेचन की है, कुलपति भी परिगणनीय हैं। इनकी गिनती लक्ष्य तथा लक्षण दोनों को समान रूप से समुचित स्थान देनेवाले आचार्य चिन्तामणि, मतिराम, देव, श्रीपति, सोमनाथ तथा भिखारीदास के साथ की जाती है। विवेचन की दृष्टि से ये कारिकावृत्ति शैली के आचार्यों की श्रेणी में और विषय—प्रतिपादन की दृष्टि से समग्र—विषयों पर लिखकर भी रसवादी आचार्यों में गणनीय ठहरते हैं। मौलिक सिद्धान्तप्रतिपादनकर्त्ता आचार्यों की कोटि में तो इन्हें स्थान नहीं दिया जा सकता और न हिन्दी के अधिकांश आचार्य इस कोटि में रखे ही जा सकते हैं, किन्तु विषय को सरल और सुबोध बनाकर प्रस्तुत करने में तथा अधिक से अधिक सही रूप में उपस्थित करने में ये श्रेष्ठ आचार्यों में स्थान पाने योग्य हैं। विशेषता यह है कि अन्होंने गद्य—वार्त्तिक का भी सहारा लिया है। गद्य की भाषा परिमार्जित, प्रायः अस्पष्ट और वाक्य—रचना दुरूह सी जान पड़ती है। स्वयं रसवादी होते हुए भी इनकी रचना में रसनिर्वाह सम्यक् रूप से नहीं हो सका है। इनका ध्यान विशेषतः आचार्यत्व पर ही केन्द्रित रहा, कवित्व उपेक्षित—सा रह गया है। कल्पना, चित्रयोजना और सुकोमलता पद—विन्यास की दृष्टि से इनका काव्य द्वितीय श्रेणी का ही माना जा सकता है। आचार्यत्व में अवश्य ही इन्होंने सोमनाथ तथा प्रतापसाहिकी कृतियों को प्रभावित किया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० मा० बृ० इ० (भा० ६); हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; हि० अ० सा०; दिग्विजयभूषण : सं० भगवतीप्रसाद सिंह। आचार्य कुलपति मिश्र—व्यक्तित्व और कृतित्व—विष्णुदत्त शर्मा 'राकेश'।]

आ० प्र० दी०

कूबरी—दे० 'कुब्जा', दे० 'अन्तरा'।

कूर्म—'कूर्म' शब्द से निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होते हैं—

१. 'कूर्म' विष्णु के द्वितीय अवतार का नाम है। प्रजापति ने सन्तति प्रजनन के अभिप्राय से कूर्म का रूप धारण किया था। इनकी पीठ का घेरा एक लाख योजन का था। कूर्म की पीठ पर मन्दराचल पर्वत स्थापित करने से ही समुद्र—मन्थन सम्भव हो सका था। 'पद्मपुराण' में इसी आधार पर विष्णु का कूर्मावतार वर्णित है।

२. अठारह पुराणों में एक पुराण 'कूर्मपुराण' कहलाता है। इसकी श्लोक संख्या १७ हजार तथा प्रकृति तामसी कही गयी है। पुराणों के अन्तः साक्ष्य से ज्ञात होता है कि इसमें भगवान् विष्णु ने अपनेकच्छपावतार में ऋषियों से जीवन के चार लक्ष्यों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का वर्णन किया था। इसमें प्रमुख रूप से शैव सिद्धान्त ही प्रतिपादित हुए हैं। इसके अधिकांश भाग में शिव तथा दुर्गा की उपासना का ही प्रतिपादन है। इस पुराण की रचना बारहवीं शती के उपरान्त हुई है।

—रा० कु०

कूर्मवंश यशप्रकाश या लावारासा— यह सीकरनिवासी चारण कवि गोपालदास (१८१५—१८८५ ई०) कृत वीररसात्मक ग्रन्थ है। अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में उत्तरी भारत में जो अराजकता फैली हुई थी, इसमे उसकी एक झलक मिलती है। इस कृति के पाँच प्रसगो मे अमीर खाँ नामक पठान पिण्डारी और कछवाहा क्षत्रियों की नरूका शाखा के वीर राजपूतों के युद्धों का वर्णन मिलता है। युद्ध लावा नामक स्थान पर हुआ था। कृति की भाषा ब्रज है। इसमें अरबी फारसी और खडी बोली के शब्दों का भी मुक्त रूप से प्रयोग हुआ है। कृति मे गद्य वचनिकाएँ भी मिलती है और छन्दों में दोहा, सोरठा, छप्पय, पदधरी आदि का प्रयोग हुआ है। वर्णित युद्धों की घटनाएँ तो सत्य हैं किन्तु कवि—कल्पना का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। बहुत पहले गोपालदासकृत 'शिखरवंशोत्पत्ति' काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुकी है। इसमें मानमर्यादा तथा विवाहों आदि के प्रश्नों को लेकर राजपूत रजवाड़ों में होनेवाले कलह एवं युद्धों के वर्णन पढ़ते हुए पृथ्वीराज रासो की शैली और भाषा का स्मरण हो आता है।

—रा० सिं० तो०

कृतांत—दे० 'यमराज'।

कृपानिवास—कृपानिवास श्रृंगारी रामोपासना के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें एक कल्पित व्यक्ति कहा है, किन्तु इनके विषय में जो सन्दर्भ हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक स्रोतों में मिलते हैं, उनसे इनकी सत्ता असंदिग्ध ठहरती है। ये द्रविड़ देश (दक्षिण भारत) में १७५० ई० के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम सीतानिवास और माता का गुणशाली था। ये श्रीरंग के उपासक थे। छोटी आयु में ही पिता ने इन्हें रामानुजीय वैष्णव सन्त आनन्द विलास से दीक्षा दिला दी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही ये घरबार त्याग कर विरक्त हो गये। इन्होंने दक्षिण भारत से मिथिला आने पर रसिक भावना का आश्रय लिया। चारों धाम की पैदल यात्रा करते हुए ये अग्रदास के आचार्य रेवासा (जयपुर) गये। वहाँ से आयोध्या जाकर इन्होंने एक वर्ष तक सीताकुण्ड पर निवास किया। इसके बाद कुछ दिन उज्जैन में व्यतीत करके ये चित्रकूट गये। इनके जीवन के शेष वर्ष यहीं बीते। चित्रकूट में ही स्फटिकशिला के पास इनका साकेतवास हुआ।

युगलप्रिया के अनुसार इन्होंने लक्षावधि छन्दों की रचना की थी किन्तु इस समय इनके प्राप्त निम्नलिखित २४ ग्रन्थों में छन्द—संख्या २५ हजार से अधिक न होगी—'गुरु महिमा', 'प्रार्थना शतक', 'लगन पचीसी', 'युगलमाधुरी प्रकाश', 'भावना शतक', 'जानकी सहस्रनाम', 'राम सहस्रनाम', 'अनन्य चिंतामणि', 'समैय प्रबन्ध', 'नित्यसुख', 'रहस्योपास्य', 'वर्षोत्सव पदावली', 'रूपरसामृत सिंधु', 'रससार', 'हनुमत पचीसी', 'पदावली', अष्टयाम', 'सीताराम रहस्य', 'रास पद्धति', 'प्रीति प्रार्थना' और 'सम्प्रदाय निर्णय'। इन रचनाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कृपानिवास रूपासक्त रामभक्त थे। इनका अधिकांश साहित्य साम्प्रदायिक है। उसमें कवित्व की अपेक्षा सिद्धान्त निरूपण की ही प्रधानता है। कुछ पद भावात्मक भी हैं, जो विभिन्न राग—रागिनियों में लिखे गये हैं। इनकी भाषा अवधी है जिसमें

उनका वासुदेवत्व मिथ्या है तथा वे ही स्वयं एकमात्र वासुदेव हैं।

महाभारत, हरिवंश तथा विष्णु, वायु, वामन, भागवत आदि पुराणों मे कृष्ण की तुलना मे इन्द्र की हीनता सिद्ध करने के लिए अनेक कथाएँ दी गयी हैं; परन्तु फिर भी गोवर्द्धन धारण के प्रसग में उनके इन्द्र द्वारा अभिषिक्त होने और 'उपेन्द्र' नाम से स्वीकृत होने का उल्लेख हुआ है। पुराणो में विविध कथाओं के माध्यम से उत्तरोत्तर कृष्ण की महत्ता और उसी अनुपात मे इन्द्र की हीनता प्रमाणित की गयी है। महाभारत में कृष्ण के ऐश्वर्य और देवत्व का प्रचुर वर्णन है परन्तु उनके लालित्य और माधुर्य का कोई सकेत नही मिलता। महाभारत उनके गोपजीवन और गोपीप्रेम के सम्बन्ध मे सर्वथा मौन है। सभा पर्व के उस प्रसंग मे भी, जिसे प्रक्षिप्त कहा जाता है और जिसमे शिशुपाल कृष्ण की निन्दा करते हुए उनके द्वारा पूतना, बकासुर, केशी, वत्सासुर और कंस के वध तथा गोवर्द्धन धारण किये जाने का उल्लेख करता है, गोपियों से उनके प्रेम का कोई संकेत नही किया गया है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि गोपाल कृष्ण का ललित और मधुर चरित मूलत: महाभारत के कृष्ण के चरित से भिन्न था। पुराणों मे वर्णित कृष्णकथासम्बन्धी प्रसंगो को देखने से यह विदित होता है कि गोपालकृष्णसम्बन्धी ललित कथाएँ उनमें उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गयी हैं। उदाहरण के लिए हरिवंश में जिसे वास्तव में महाभारत का परिशिष्ट कहा जाता है, उनके गोपाल रूप सम्बन्धी सन्दर्भ अत्यन्त संक्षिप्त हैं। उनकी तुलना में उनके ऐश्वर्य रूप की भोग–विलाससम्बन्धी अनेक कथाएँ कहीं अधिक विस्तार से वर्णित हैं। विष्णु पुराण में भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। किन्तु भागवत, पद्म, ब्रह्मवैवर्त तथा कुछ अन्य पुराणों में, जिन्हें परवर्ती कहा जा सकता है, गोपालकृष्णसम्बन्धी कथन अधिक विस्तृत होते गये हैं। पुराणो के भोग–ऐश्वर्यसम्बन्धी आख्यानों और गोप–गोपी लीला सम्बन्धी मधुर कथाओ में वातावरण का बहुत अन्तर पाया जाता है। यदि एक में घोर भौतिकता, विलासिता और नग्न ऐन्द्रियता है तो दूसरे में भावात्मक कोमलता, हार्दिक उत्फुल्लता, सूक्ष्म अनुभूति और अलौकिकता की ओर उन्मुख उदात्तता है।

अनुमान है कि गोपाल कृष्ण मूलत: शूरसेन प्रदेश के सात्वत वृष्णिवंशी पशुपालक क्षत्रियों के कुल देवता थे और उनके क्रीड़ा कौतुक की मनोरंजक कथाएँ मौखिक रूप में लोक–प्रचलित थीं। इन कथाओं के लोक–प्रचलित होने के प्रमाण कुछ पाषाण मूर्तियों और शिलापट्टों पर उत्कीर्ण चित्रों में मिले हैं। मथुरा में प्राप्त एक खण्डित शिलापट्ट में वसुदेव नवजात कृष्ण को एक सूप में सिर पर रखकर यमुना पार करते हुए दिखाये गये हैं। यह शिलापट्ट प्रथम शताब्दी ईसवी का अनुमान किया गया है। ५वीं शताब्दी ईसवी के एक दूसरे खण्डित शिलापट्ट में कालिय–दमन का दृश्य अंकित है। मथुरा में ही एक अन्य कृष्ण मूर्ति मिली है जिसमें गोवर्द्धन धारण का दृश्य दिखाया गया है। यह छठी शताब्दी ईस्वी की अनुमान की गयी है। बंगला के पहाड़पुर नामक स्थान में छठी शताब्दी की कुछ मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें धेनुकासुर वध, यमलार्जुन उद्धार तथा मुष्टिक चाणूर के साथ मल्ल–युद्ध के दृश्य दिखाये गये हैं। यही पर एक अन्य मूर्ति मिली है जिसमे कृष्ण को किसी गोपी के साथ प्रसिद्ध मुद्रा में खड़े दिखाया गया है। अनुमान किया गया है कि यह गोपी सम्भवत: राधा का सबसे प्राचीन मूर्तिगत प्रमाण प्रस्तुत करती है। राजस्थान के मण्डोर तथा बीकानेर के पास सूरतगढ़ मे क्रमश: द्वारपाटों पर उत्कीर्ण गोवर्द्धन–धारण, नवनीत–चौर्य, शकटभंजन और कालिय–दमन के चित्र उत्कीर्ण मिले है तथा गोवर्द्धन–धारण और दान–लीला का दृश्यांकन प्रस्तुत करनेवाले कुछ सुन्दर मिट्टी के खिलौने प्राप्त हुए हैं। मण्डोर के चित्र चौथी–पाँचवी शताब्दी ईस्वी के अनुमान किये गये है। दक्षिण भारत के बादामी के पहाड़ी किले पर कृष्ण–जन्म, पूतना–वध, शकट–भंजन, कंस–वध आदि के अनेक दृश्य गुफाओं में उत्कीर्ण मिले हैं जो छठी–सातवी शताब्दी ईस्वी के माने जाते हैं (दे० आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९२६–२७, १९०५–६ तथा १९२८–२९ ई०)।

काव्य में गोपाल कृष्ण की लीला का पहला सन्दर्भ प्रथम शताब्दी ईसवी मे रचित अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (१–५) मे मिलता है। अनुमानत: प्रथम शताब्दी ईस्वी में हाल सातवाहन द्वारा सगृहीत 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) में कई गाथाएँ कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि से सम्बद्ध मिलती हैं (दे० 'गाहासत्तसई' १।२९, ५।४७, २।१२, २।१४)। इन गाथाओं मे कृष्ण द्वारा नारियों के गौरवहरण, मुखमारुत से राधिका के गोरज के अपनयन आदि के उल्लेख हुए हैं। इन उल्लेखों से सूचित होता है कि कृष्ण के गोपी–प्रेमसम्बन्धी प्रसंग कम से कम पहली शताब्दी ईस्वी के पहले से ही लोक–प्रचलित थे। यह अवश्य द्रष्टव्य है कि 'गाहासत्तसई' में भक्तिभावना का कोई संकेत नहीं मिलता, उसका वातावरण सर्वथा लौकिक शृंगार का ही है परन्तु इससे भिन्न दक्षिण के आलवार सन्तों द्वारा रचित गीत पूर्णतया भक्तिभावना से प्रेरित और अनुप्राणित है। इन सन्तों का समय पाँचवी से नवीं शताब्दी ईसवी अनुमान किया गया है। आलवार सन्तों के इन गीतों में विष्णु, नारायण अथवा वासुदेव तथा उनके अवतारों–राम और कृष्ण के प्रति अपूर्व भक्ति–भाव प्रकट किया गया है। इनमें गोपाल–कृष्ण की ललित लीला के ऐसे अनेक प्रसंग वर्णित हैं जो उत्तर भारत के मध्यकालीन कृष्ण भक्ति–काव्य के प्रिय विषय रहे हैं। इन गीतों में कृष्ण की प्रेम–लीलाओं से सम्बद्ध एक नाप्पिन्नाय नामक गोपी का प्रमुख रूप में वर्णन है। उसे कृष्ण की प्रियतमा और विष्णु की अर्द्धांगिनी लक्ष्मी का अवतार कहा गया है। अनुमान है कि यह गोपी उत्तर भारत की कृष्णकथा में प्रयुक्त राधा ही है। राधाकृष्ण कथा की प्राचीनता की दृष्टि से तमिल साहित्य का यह प्रमाण महत्त्वपूर्ण है।

आठवीं शताब्दी में रचित भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नामक नाटक में नांदीश्लोक में तथा वाक्पतिराज द्वारा लिखित प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' के मंगलाचरण में कृष्ण की स्तुति उनके राधा और गोपी–प्रेम तथा यशोदा के वात्सल्यभाजन होने की स्पष्ट सूचना देती है। 'गउडवहो' में उन्हें 'विष्णुस्वरूप' और 'लक्ष्मीपति' भी कहा गया है। नवीं शताब्दी ईसवी के 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत दो श्लोकों में कृष्ण और राधा के मधुर प्रेम के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। दसवीं

शताब्दी के त्रिविक्रम भट्ट द्वारा रचित 'नलचम्पू' के एक श्लोक मे परम पुरुष कृष्ण के साथ राधा के अनुराग का संकेत प्राप्त होता है। दसवीं शताब्दी की ही बल्लभदेव द्वारा रचित 'शिशुपालवध' की टीका तथा सोमदेवसूरि के 'यशस्यतिलकचम्पू' मे भी राधा के प्रिय कृष्ण का जिस रूप में उल्लेख मिलता है उसमे कृष्ण के गोपीवल्लभ रूप की सूचना प्राप्त होती है। 'कवीन्द्रवचन समुच्चय' नामक कवितासंग्रह भी दसवीं शताब्दी का माना गया है। इसमे संकलित अनेक श्लोकों मे कृष्ण की गोपी और राधासम्बन्धी प्रेमक्रीड़ाओं का सन्दर्भ मिलता है जिनसे कृष्ण के यशोदा के वात्सल्य–भाजन, गोपियो के कान्त, गोपो के सुहृद् तथा राधा के अनन्य प्रेमभाजन व्यक्तित्व की सूचना मिलती है। इन सभी सन्दर्भों में कृष्ण के दक्षिण और धृष्ट नायकत्वके भी स्पष्ट संकेत हैं। दशवीं शताब्दी तक राधा और कृष्ण के प्रति पूज्यभाव भी विकसित हो चुका था। इसका प्रमाण मालवाधीश वाक्पति मुंजपरमार के एक अभिलेख से भी मिलता है जिसमे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उनका विष्णु रूप में बर्णन है और साथ ही उन्हे राधा के विरह मे पीडित कहा गया है। दशवी शताब्दी के आसपास रचित श्रीमद्भागवत में कृष्णचरित का व्यापक वर्णन है इसमें उनके सभी स्वरूपों का वर्णन और सकेत है।

कृष्ण के व्यक्तित्व के लालित्य और माधुर्य के साथ उनके दैवत रूप की प्रतिष्ठा १२वीं शताब्दी तक और अधिक दृढ़ता के साथ हो गयी थी। इसका प्रमाण लीलाशुक द्वारा रचित 'कृष्णकर्णामृतस्तोत्र', ईश्वरपुरी द्वारा रचित 'श्रीकृष्णलीलामृत' तथा महाकवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' है। 'श्रीकृष्णलीलामृत' का श्रृंगार रस निश्चित रूप से माधुर्य भक्ति है। इसी प्रकार 'गीतगोविन्द' में राधा–माधव के जिस उद्दाम श्रृंगार का वर्णन किया गया है, उसकी मूल प्रेरणा भी धार्मिक है। कृष्ण के व्यक्तित्व में इस प्रकार जिस लोक-रंजनकारी लालित्य का उदात्तीकरण वैष्णव भक्ति के विकास में होता गया उसी की चरम परिणति हम परवर्ती साहित्य में पाते हैं।

बारहवीं शताब्दी के बाद कृष्ण–काव्य मुक्तकों के अतिरिक्त प्रबन्धों के रूप में भी प्राप्त होता है। 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक एक मुक्तक संग्रह १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ का हैं जिसमें गोपाल कृष्ण की लीला से सम्बद्ध साठ श्लोक हैं। इन श्लोकों में गोपाल कृष्ण के शैशव, कैशोर और यौवन की ललित लीलाओ का ही वर्णन मिलता है। १३वीं–१४वीं शताब्दी में रचित बोपदेव की 'हरिलीला' तथा वेदान्तदेशिककी 'यादवाभ्युदय' नामक रचनाएँ तथा पन्द्रहवीं शताब्दी की 'ब्रजबिहारी' (श्रीधरस्वामी), 'गोपलीला' (रामचन्द्र भट्ट), 'हरिचरित'–काव्य (चतुर्भुज), 'हरिविलास'–काव्य (ब्रजलोलिम्बराज), 'गोपालचरित' (पद्मनाभ), 'मुरारिविजय'–नाटक (कृष्ण भट्ट) और 'कंस–निधन' महाकाव्य (श्रीराम) आदि अनेक काव्य और नाटक गोपालकृष्ण के मधुर, ललित और पूज्य चरित का चित्रण करते हैं। १६वीं शताब्दी से कृष्णभक्ति आन्दोलन सम्पूर्ण उत्तर भारत में व्याप्त हो गया और कृष्ण–काव्य आधुनिक भाषाओं में रचा जाने लगा। इस काव्य का मूलाधार श्रीमद्भागवत था, परन्तु साथ ही कवियों ने लोक में प्रचलित कृष्णसम्बन्धी उन असख्य कथा प्रसंगों का भरपूर उपयोग किया जिनमें कृष्ण का चरित वात्सल्य, सख्य और माधुर्यव्यंजक लीलाओ से समन्वित रहा है।

हिन्दी का कृष्ण–भक्ति काव्य यद्यपि सूरदास से प्रारम्भ होता है परन्तु इससे पहले १५वीं शताब्दी में विद्यापति ने अपने पदों में कृष्ण के श्रृंगारी रूप का जो वर्णन किया था उसकी प्रकृति भले ही लौकिक श्रृंगार की रही हो, उसका उपयोग भक्तो ने माधुर्य भक्ति के सन्दर्भों में ही किया। विद्यापति की पदावली कृष्ण–चरित के जिस पक्ष का परिचय देती है वही आगे चलकर काव्य में श्रृंगार–रस के नायक का लोकप्रिय विषय बन गया। परन्तु विद्यापति और हिन्दी के रीतिकालीन राधाकृष्णसम्बन्धी श्रृंगार–काव्य के बीच हिन्दी भक्ति–काव्य का एक लम्बा व्यवधान है जिसमें कृष्ण का व्यक्तित्व कवियों ने अत्यन्त कुशलता के साथ मानव और अतिमानव के परस्पर विरोधी तत्त्वों से निर्मित कर चित्रित किया है। कृष्ण के इस चरित–चित्रण मे बड़ी विलक्षणता है। एक ओर उन्हें विष्णु का अवतार, ब्रह्मा–विष्णु और महेश से परे तथा साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा गया है, तो दूसरी ओर उनकी शैशव, बाल्य और किशोरकाल की अत्यन्त मानवीय और स्वाभाविक लीलाओं का मनोहर वर्णन किया गया है। हिन्दी कृष्ण–काव्य के रचयिताओ में कृष्ण का सम्यक् चरित्र–चित्रण वास्तव में सूरदास ने ही किया किन्तु सूरदास का चरित्र–चित्रण वस्तुत: भावात्मक है। प्रधान रूप से उन्होंने कृष्ण को वात्सल्य, सख्य और माधुर्य का आलम्बन बनाया है और इन भावों का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण करते हुए दैन्य और विस्मय के भावों के सहारे उनके प्रति पूज्य भावना व्यक्त की है।

कृष्ण के चरित्र–चित्रण में सूर की अन्य विशेषता यह है कि यद्यपि वे नन्द–यशोदा, गोप–गोपी आदि के साथ राग–रंग में आचूल मग्न रहते हैं, फिर भी उनके व्यवहार से व्यंजित होता है कि वास्तव में वे भावातीत और वीतराग हैं। कृष्ण के मथुरा और द्वारका–प्रवास तथा उनके प्रति ब्रजवासियों और विशेषकर गोपियों के विरह–भाव का वर्णन करते हुए सूरदास ने कृष्ण के इस विलक्षण व्यक्तित्व का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण किया है। इसके द्वारा हमे गीता के योगिराज कृष्ण की अनासक्ति का व्यावहारिक परिचय मिलता है।

सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्ण–भक्त कवियों ने कृष्ण के सम्पूर्ण चरित का चित्रण नहीं किया। बहुत थोड़े से कवियों ने कृष्ण के बाल्य और किशोरकाल के जीवन का परिचय दिया। अधिकांश कवि उनके माधुर्यपूर्ण चरित की ओर ही झुके और राधा और गोपियों के साथ उनके प्रेम सम्बन्धों के चित्रण में ही निमग्न रहे। कृष्ण के प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों रूपों के चित्रण में अनेक कवियों ने तन्मयता प्रदर्शित की, परन्तु सूरदास ने उनमें वीतरागत्व और अनासक्ति के संकेतों तथा अन्य उपायों द्वारा जिस आध्यात्मिकता की उच्च काव्यमयी व्यंजना की थी, वह कोई अन्य कवि नहीं कर सका। सूरदास ने कृष्ण के असुर–संहारी रूप का भी विशद वर्णन किया था। यद्यपि उनके वर्णन में कृष्ण की वीरता और पराक्रम के स्थान पर उनके विस्मयकारी क्रीडा–कौतक की ही प्रधानता है, परन्त उनका

उद्देश्य जिस अलौकिक की व्यंजना करना था उसे परवर्ती कवि नही समझ सके। इस कारण उन्होंने कृष्ण–चरित के इस पक्ष की प्रायः उपेक्षा ही की। श्रीकृष्ण के सहज मानवीय श्रृंगारी रूप को सूरदास ने उनके प्रति दैन्य भावना व्यक्त करके तथा उनके अलौकिक कृत्यों के वर्णन द्वारा विस्मय की व्यंजना करके उनके चरित में जिस उदात्तता का सन्निवेश किया था, परवर्ती कवियों ने उसे विस्मृत कर दिया और श्रीकृष्ण का चरित लगभग पूर्ण रूप में इहलौकिक हो गया और उसमें मानव व्यक्तित्व की संकुचित एकांगिता ही शेष रह गयी। फलतः जीवन की व्याख्या की कसौटी पर कसने पर वह अत्यन्त कल्पित और अयथार्थ लगता है, जैसे राग–रंग और आनन्द–विहार में लिप्त जीवन का कोई उद्देश्य ही न हो। वास्तव में तथ्य यही है कि कृष्ण–चरित जीवन के वास्तविक चित्रण अथवा आदर्श चित्रण के रूप में रचा ही नहीं गया, उनका चरित वास्तव में परब्रह्म की लीलामात्र हैं जिसका प्रयोजन लीलानन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। उसका उद्देश्य अखण्ड आनन्द मे जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की व्यंजना करना ही है। भक्त कवियों ने उस आनन्द का रूप स्त्री–पुरुष के रति–भाव में कल्पित किया है–श्रीकृष्ण परम–आनन्द रूप में परम पुरुष हैं और उनकी परा शक्ति रूप प्रकृति स्वरूपा राधा हैं जिनके संयोग से ही परम आनंद की परिपूर्णता सिद्ध होती है।

भक्ति–काव्य के प्रथम उन्मेष के बाद ज्यों–ज्यों कृष्ण–भक्ति एक ओर सम्प्रदायों के संकुचित कर्मकाण्ड में तथा दूसरी और लौकिक श्रृंगार के गर्हित वातावरण में आबद्ध होती गयी, त्यों–त्यों श्रीकृष्ण का चरित भी उत्तरोत्तर अत्यन्त सामान्य विलासी नायक के रूप में परिणत होता गया, यहाँ तक कि उसमें सामान्य शिष्टता और सुसंस्कार का भी अभाव होता गया। यद्यपि आधुनिक काल में श्रीकृष्ण के श्रृंगारी रूप का परम्परागत वर्णन–चित्रण ब्रजभाषा के कवियों द्वारा मुक्तक रचनाओं में चलता रहा, परन्तु वह युग की भावना के अनुकूल नहीं था। पुरानी परम्परा में कोई मौलिक उद्‌भावना वास्तव में सम्भव ही नहीं थी। फिर भी जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धवशतक' के द्वारा कृष्ण के चरित्र–चित्रण में भक्ति–भावना, श्रृंगारिकता और चमत्कारपूर्ण काव्य–कला का एक साथ ही समन्वय करके उसके चिर–परिचित रूपों को नवीन सज्जा से विभूषित करने का सराहनीय प्रयत्न किया। किन्तु रत्नाकर के श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व भी एक ऐसे प्रेमी का ही व्यक्तित्व है जिसका जीवन एकान्ततः प्रेमासक्ति में ही लीन रहता है। वियोगी हरि के 'प्रेमांजलि', 'प्रेमशतक' आदि काव्य–संग्रहों में भी कृष्ण के भक्तिकालीन स्वरूप की झांकी मिल जाती है। यद्यपि उनका चित्रण आत्मानुभूतिपूर्ण है, फिर भी उसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं देखी जा सकती।

आधुनिक युग की भावना से प्रेरित होकर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सन् १९१४ में 'प्रिय-प्रवास' के द्वारा श्रीकृष्ण के जिस चरित्र की अवतारणा की, उसमें पर्याप्त मौलिकता और नवीनता है। यद्यपि 'हरिऔध' के श्रीकृष्ण भक्तिकालीन श्रीकृष्ण की ही भाँति क्रीड़ा–कौतुकप्रिय लीलाधारी अलौकिक पुरुष ही हैं, फिर भी उनका चरित्र एक आदर्श जन–नायक का चरित्र है। इन्द्रका दमन कर, असुरों का संहार कर तथा अपनी अपौरूषेय शक्ति से नहीं, बल्कि अपनी बुद्धिमता और नीति–कुशलता से लोक–जीवन के सुख के लिए अनेक कल्याणकारी कार्य कर वे अपने युग–प्रवर्तक और लोक–सेवक नेता का रूप प्रमाणित करते हैं। 'हरिऔध' ने कृष्ण के चरित में गौरव और गरिमा का सन्निवेश कर उसे नया रूप प्रदान किया है। कृष्ण के चरित–चित्रण में द्वारकाप्रसाद मिश्र द्वारा रचित 'कृष्णायन' के द्वारा भी युग–भावना के अनुरूप नवीन दृष्टि का परिचय मिलता है। मिश्रजी एक राजनीतिक नेता हैं और उन्होंने गान्धीजी के नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रतासंग्राम मे सक्रिय भाग लिया है, अतः श्रीकृष्ण के चरित्र–चित्रण में वे भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के समय की राजनीति से पूर्णतया प्रभावित हुए हैं। उनके श्रीकृष्ण सच्चे अर्थ में लोकनायक हैं। मिश्रजी ने कृष्ण की उन चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है जो उनके उत्तरचरित अर्थात् मथुरा और द्वारका के चरित से सम्बद्ध हैं जिनकी कृष्णभक्त कवियों ने अपेक्षाकृत उपेक्षा की है।

मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध', 'विरहिणी बृजांगना' (अनूदित) तथा 'द्वापर' में भी कृष्ण के चरित्र की कुछ विशेषताएँ उद्घाटित हुई हैं परन्तु गुप्तजी ने चरित्र–चित्रण का कोई सम्यक् प्रयास नहीं किया। 'द्वापर' के श्रीकृष्ण विविध भावों के प्रेम के आलम्बन ही हैं। न केवल यशोदा, वसुदेव, देवकी, उग्रसेन, अक्रूर, राधा और उद्धव उनके प्रति अपने भाव–प्रेमानुभूति–वात्सल्य, मैत्री और कान्तारति आदि, प्रकट करते हैं, बल्कि कंस आदि के मन में भी उनके प्रति प्रेम–भावना व्यंजित की गयी है। आधुनिक काल के कृष्णसम्बन्धी काव्यों में रामचरित उपाध्याय का 'देव–द्रौपदी' नामक काव्य उल्लेखनीय है परन्तु उसमें भी सम्यक् चरित्र–चित्रण का प्रयास नहीं मिलता, केवल कृष्ण की उदारता का वर्णन हुआ है। कृष्णचरित्र को समसामयिक विचारधारा के अनुरूप चित्रित करने के अनेक प्रयासों मे तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' द्वारा लिखित श्रीकृष्ण काव्य का उदाहरणस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें कृष्ण को कृषकों की दीनदशा तथा भारतवासियों की दरिद्रता, निर्धनता आदि पर आँसू बहाते चित्रित किया गया है परन्तु ऐसे प्रयास नीरस और काव्य–दृष्टि से सर्वथा रहित हैं।

छायावादी काव्य–धारा के अन्तर्गत यद्यपि प्रेम का विविध रूपचित्रण हुआ, परन्तु युग–युग से चले आते हुए प्रेम के प्रतीक श्रीकृष्ण को छायावादी कवियों ने विस्मृत कर दिया। यही नहीं, कृष्ण–काव्य के श्रृंगारी रूप के प्रति उन्होंने अरुचि और घृणा के भाव भी व्यक्त किये। फिर भी यदा–कदा किसी किसी कवि की दृष्टि पीछे की ओर मुड़ी है और उसने प्रेम और आनन्द के आगार श्रीकृष्ण को स्मरण कर लिया है। 'निराला' की 'यमुना के प्रति' शीर्षक कविता इसका प्रमाण है।

छायावादोत्तर काल में जब कवियों की दृष्टि वैयक्तिक अनुभूतियों से मुक्त होकर बाह्य जीवन की ओर उन्मुख हुई, तब किसी–किसी का ध्यान काव्य के चिरन्तन उपजीव्य कृष्णाख्यान की ओर भी गया। रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'रश्मिरथी' गीता के उपदेष्टा कृष्ण के विराट् स्वरूप का परिचय देता है। मध्ययुग में कृष्णकथा के सुदामासम्बन्धी प्रसंग को लेकर अनेक काव्यों की रचना हुई थी, जिनमें कृष्ण के आदर्श मैत्रीभाव और उनकी अपरिमित दानशीलता का

मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। आधुनिक युग में भी इस प्रसंग को लेकर कुछ रचनाएँ की गयीं। गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का 'प्रयाण' नामक खण्डकाव्य ऐसी ही एक रचना है, जिसमें युगानुकूल मर्यादाओं का समन्वय किया गया है।

हिन्दी काव्य की नवरचना के प्रयोगों में यद्यपि यथार्थ जीवन की कठोर वास्तविकताओं को ही काव्य में उतारने के प्रयत्न होते हैं, फिर भी कुछ कवियों का ध्यान कृष्ण–कथा की ओर मुड़ता हुआ कभी–कभी दिखाई दे जाता है। धर्मवीर भारती की 'अन्धा–युग' नामक पद्य–नाटचकृति तथा 'कनुप्रिया' नामक काव्य इसी दिशा के उल्लेखनीय प्रयत्न हैं। इन दोनों कृतियों में कृष्ण का चरित्र–चित्रण नये कवि की नवीन मान्यताओं और उसकी व्यक्तिगत भावनाओं और आस्थाओं से प्रभावित है। 'अन्धायुग' के कृष्ण में एक लोकनायक का स्वरूप मुखर हुआ है, तो 'कनुप्रिया' में प्रणयी और प्रणय–पिपासु कृष्ण का स्वरूप सम्मुख आया है। दोनों रूपों में कृष्ण का चरित्र–चित्रण वेदना की उस अन्तर्धारा से प्रभावित है, जो कवि की अपनी विशेषता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का अनेकमुखी विलक्षण व्यक्तित्व निरन्तर कवियों को प्रेरणा देता रहा है। उसमें प्रत्येक युग के अनुरूप परिवर्तन की असीम सम्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। फिर भी भक्त कवियों ने उसमें जिस शाश्वत प्रेम, चिरन्तन आनन्द, असीम सौन्दर्य और अलौकिक रसवत्ता का समावेश किया था, वह किसी न किसी रूप में निरन्तर वर्त्तमान रही है। वस्तुतः कृष्ण प्रेम और आनन्द के प्रतीक बन गये हैं।

[सहायक ग्रन्थ–हिन्दी साहित्य (खण्ड २), भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद; सूरदास : व्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

—व्र० व०

कृष्ण कवि—प्रसिद्ध कवि बिहारी के पुत्र कहे जाते हैं, पर यह समझ में आने की बात नहीं है कि इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं क्यों नहीं किया। बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के मन्त्री राजा आयामल्ल की आज्ञा से इन्होंने 'बिहारी सतसई' पर टीका लिखी और उसमें ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया। इस टीका में जयसिंह का उल्लेख वर्तमानकालिक क्रिया में किया गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि ये जयसिंह के समसामयिक हैं। लगभग सन् १७२८ से ३३ के बीच यह टीका की गयी है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि बिहारी के दोहों के भाव को पूरी तरह अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए इन्होंने सवैया छन्द का प्रयोग किया था और वार्तिक में काव्यांग स्फुट किया। वास्तव में काव्यांग ही इनकी टीका का प्रधान अंग हैं। यद्यपि इन्होंने अन्य की भावना को ही पल्लवित और विकसित किया है, किन्तु भाषा पर अधिकार तथा सहृदयता इनकी कविप्रतिभा को पूरी तरह प्रकट करते हैं।

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा० इ०; हि० भा० और सा० इ० : चतुरसेन; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ह० मो०

कृष्णकांत मालवीय—प्रयाग के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी पत्र 'अभ्युदय' के सम्पादक। जन्म १८८३ ई० में। 'अभ्युदय' की स्थापना मदनमोहन मालवीय ने की थी (१९०७)। बाद में कृष्णकान्तजी ने उसका सम्पादन भार सम्भाला। १९१० में 'अभ्युदय' प्रेस से ही 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका निकली, जिसके सम्पादक प्रारम्भ में पुरुषोत्तमदास टण्डन थे; फिर कृष्णकान्त मालवीय अन्त तक उसके सम्पादक रहे। आपकी पुस्तक 'सोहागरात' भी पर्याप्त रूप से लोकप्रिय सिद्ध हुई है। आपकी मृत्यु १९४१ ई० में हुई।

—स०

कृष्णगीतावली—यह तुलसीदास के कृष्ण–चरितसम्बन्धी गीतों का संग्रह है। कुल गीत केवल ६१ है। कृष्ण चरित के कोमल और मधुर अंशों को चित्रित करने के लिए तुलसीदास को इन गीतों में कुछ अनुकूल क्षेत्र मिला था। इसीलिए वे वर्णन विस्तार में बिलकुल नहीं गये और रूप–रेखा मात्र से उन्होंने कृष्ण–कथा कह डाली।

'कृष्णगीतावली' में सूर सागर के चार पद भी पाये जाते हैं। उनके सम्बन्ध में प्रायः यह कहा गया है कि वे स्वतः कवि द्वारा अथवा उसके किसी भक्त द्वारा 'सूरसागर' से लेकर 'कृष्णगीतावली' में रख लिये गये हैं। वस्तुस्थिति जो भी हो, एक बात बिना किसी खटके के कही जा सकती है कि जिन तुलसीदास ने लगभग सात सौ गीतों की रचना की है और वे गीत शिल्प में किसी से पीछे नहीं हैं, वे 'गीतावली' के तीन और 'कृष्णगीतावली' के चार– कुल मिलाकर सात गीत 'सूरसागर' से लेकर अपनी रचनाओं में कभी नहीं रख सकते थे।

इन गीतों में एक बात दर्शनीय है–कृष्णकथा जैसे विषय को लेकर भी उन्होंने अपने मर्यादावाद को काफी हद तक निभाया है। रचना छोटी है, किन्तु कला की दृष्टि से सुन्दर है; पद–योजना सरस और प्रयासहीन है। सम्भव है इसमें उस समय तक बन चुके कृष्ण–विषयक विशाल गीत–साहित्य का भी सहारा हो। शैली बहुत सुव्यवस्थित और भाषा ठेठ बोलचाल की ब्रज है जिसके कारण रचना में ब्रज प्रदेश का एक वातावरण भी मिलता है।

रचना छोटी है, उसमें पुनरावृत्तियाँ किसी रूप में नहीं मिलतीं और कथा की रूपरेखा सम्यक् प्रकार से आ जाती है, इसलिए यह रचना न उतने स्फुट ढंग से निर्मित हुई ज्ञात होती है, और न उतनी विस्तृत अवधि में लिखी ज्ञात होती है, जितनी 'गीतावली'। ऐसा ज्ञात होता है कि 'गीतावली' के संग्रह के तैयार हो जाने पर तुलसीदास को यह लगा कि कृष्ण–चरितसम्बन्धी भी एक 'गीतावली' उन्हें रचनी चाहिए और उसी का परिणाम यह है। इसका रचना–काल 'गीतावली' के कुछ ही पीछे होना चाहिए।

—मा० प्र० गु०

कृष्णचंद्र दारोगा—प्रेमचन्दकृत सेवा–सदन का पात्र। दारोगा के रूप में कृष्णचन्द्र ने सदैव दूसरों के साथ भलाई की और निःस्पृह भाव से अपने कर्तव्य का पालन किया। वह रसिक, उदार और सज्जन मनुष्य है। उसने कभी रिश्वत नहीं ली। वह निर्लोभ है किन्तु बच्चों और स्त्री के आराम के लिए कभी किफायतशारी न की। साथ ही अपनी अकर्मण्यता के कारण अपनी पुत्री सुमन के लिए योग्य वर न ढूँढ सका। दहेज–प्रथा भी उसके मार्ग में एक बड़ी भारी बाधा थी। इस बाधा को दूर करने के लिए ही उसने रिश्वत ली और अन्त में जेल–यात्रा की। वास्तव में सीधे रास्ते पर चलनेवाला कृष्णचन्द्र जीवन की पेचीदा गलियों में फँसकर रास्ता भूल जाता है। वह आत्मा

और धर्म के बन्धन मे फँसकर झूठी मर्यादा के चक्कर में पड जाता है। जेल से छूटने के बाद वह अपने साले उमानाथ के यहाँ रहते हुए विक्षिप्तो का सा व्यवहार करता है। उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है और वह अपना कर्त्तव्य भूल जाता है। जब उसे सुमन के कलकपूर्ण जीवन की बात ज्ञात होती है तब तो वह अपना संतुलन बिलकुल खो बैठता है। उसे अपने ऊपर क्षोभ होता है। प्रेमचन्द उसे फिर आत्म—परिष्कार की ओर ले जाते हैं फिर भी वह जीवन और मृत्यु के बीच सघर्ष करता हुआ गगा की लहरों मे विलीन हो जाता है।

—ल० सा० वा०

कृष्णदास १—मीरजापुर निवासी कृष्णदास माधुर्यभक्ति को स्वीकार करनेवाले भक्त कवि है। इनकी एक विशाल रचना 'माधुर्य लहरी' प्राप्त है जिसमें गीतिका छन्द में राधाकृष्ण के नित्यविहारसम्बन्धी प्रसंगों का बड़ी सरस एवं परिष्कृत शैली मे वर्णन है। 'माधुर्य लहरी' के प्रारम्भ में कवि ने अपना परिचय तथा लहरी का रचनाकाल भी दिया है जिसके आधार पर संवत् १८५२—५३ (सन् १७९५—९६ ई०) इस ग्रन्थ का रचनाकाल है। लहरी में गीतिका छन्द के साथ और छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। कृष्णदास को निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी बताया जाता है। इनका बनवाया हुआ एक स्थान 'मीरजापुरवाली' कुंज' नाम से आज भी वृन्दावन में विद्यमान है। 'माधुर्य लहरी' की कविता का प्रयोग रासलीला मे आज भी वृन्दावन में किया जाता है।

'माधुर्य लहरी' की भाषा पर संस्कृत की गहरी छाप है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णदास ने संस्कृत भाषा का अच्छा अध्ययन किया था क्योंकि भाषा ही नहीं, विषय वर्णन मे भी दार्शनिक विचारों का ऊहापोह संस्कृत ग्रन्थों से प्रभावित है।

—वि० स्ना०

कृष्णदास २—अष्टछाप के प्रथम चार कवियों में अन्तिम कृष्णदास अधिकारी हैं। उनका जन्म सन् १४९५ ई० के आसपास गुजरात प्रदेश के एक ग्रामीण कुनबी परिवार में हुआ था। सन् १५०९ ई० में वे पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए और सन् १५७५ और १५८१ ई० के बीच उनका देहावसान हुआ। बाल्यकाल से ही कृष्णदास में असाधारण धार्मिक प्रवृत्ति थी। १२—१३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने पिता के एक चोरी के अपराध को पकड़कर उन्हें मुखिया के पद से हटवा दिया था। इसके फलस्वरूप पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया और वे भ्रमण करते हुए ब्रज में आ गये। उसी समय श्रीनाथजी का स्वरूप नवीन मन्दिर में प्रतिष्ठित किया जाने वाला था। श्रीनाथजी के दर्शन कर वे बहुत प्रभावित हुए। बल्लभाचार्यजी से भेंट कर उन्होंने सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। कृष्णदास में असाधारण बुद्धिमत्ता, व्यवहार—कुशलता और संघटन की योग्यता थी। पहले उन्हें बल्लभाचर्य ने भेंटिया (भेंट उगाहनेवाला) के पद पर रखा और फिर उन्हें श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी का पद सौंप दिया। अपने इस उत्तरदायित्व का कृष्णदास ने बड़ी योग्यता से निर्वाह किया। मन्दिर पर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के बंगाली ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ता देखकर कृष्णदास ने छल और बल का प्रयोग कर उन्हें निकाल दिया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृष्णदास को बंगालियों की झोपड़ियों में आग लगानी पड़ी तथा उन्हें बाँसो से पिटवाना पडा। श्रीनाथजी के मन्दिर में कृष्णदास अधिकारी का ऐसा एकाधिपत्य हो गया था कि एक बार उन्होने स्वय गोसाई विट्ठलनाथ से सेवा का अधिकार छीनकर उनके भतीजे श्री पुरुषोत्तमजी को दे दिया था। लगभग ६ महीने तक गोसाईजी श्रीनाथजी से वियुक्त होकर परासौली में निवास करते रहे। महाराज वीरबल ने कृष्णदास को इस अपराध के दण्डस्वरूप बन्दीखाने में डलवा दिया था परन्तु गोसाईजी ने महाराज वीरबल की इस आज्ञा के विरूद्ध अनशन कर कृष्णदास को मुक्त करा दिया। विट्ठलनाथजी की इस उदारता से प्रभावित होकर कृष्णदास को अपने मिथ्या अहंकार पर पश्चाताप हुआ और उन्होंने गोस्वामीजी के प्रति भी भक्ति—भाव प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया तथा उनकी प्रशसा में वे पद—रचना भी करने लगे। वास्तव मे गोस्वामीजी के प्रति कृष्णदास ने जो दुर्व्यवहार किया था, उसका कारण कुछ और था। गगाबाई नामक एक क्षत्राणी से कृष्णदास की गहरी मित्रता थी। एक बार गोस्वामीजी ने उनके इस सम्बन्ध पर कुछ कटु व्यंग किया जिससे कृष्णदास ने असन्तुष्ट होकर उनसे यह बदला लिया। एक बार विषम ज्वर की अवस्था में प्यास लगने पर उन्होंने वृन्दावन के अन्यमार्गीय वैष्णव ब्राह्मणो के यहाँ जल नहीं पिया, जब एक पुष्टिमार्गीय भंगी के यहाँ का जल लाया गया तब उन्होंने अपनी प्यास बुझायी। कृष्णदास के अन्तिम समय की घटना भी उनके स्वभाव की तामसी प्रवृत्ति को चरितार्थ करती है। किसी वैष्णव के कुएँ के निमित्त दिये हुए ३०० रूपये में से उन्होंने दो सौ रूपये कुएँ में व्यय करके १०० रूपये छिपा लिए थे। उसी अधूरे कुएँ में गिरकर उनका शरीर लुप्त हो गया और वे प्रेत बन गये। जब उन्होंने एक ग्वाल से कहकर गोसाईजी के द्वारा गड़े हुए रूपये निकलवाये और गोसाईजी ने कुआँ पूरा कराया तब उनकी सद्गति हुई।

चरित्र की इतनी दुर्बलताएँ होते हुए भी कृष्णदास को साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का बहुत अच्छा ज्ञान था और भक्तगण उनके उपदेशों के लिए अत्यन्त उत्सुक रहा करते थे। जाति के शूद्र होते हुए भी सम्प्रदाय मे उनका स्थान उस समय अग्रगण्य था और उन्होंने पुष्टिमार्ग के प्रचार में जो सामयिक योग दिया वह कदाचित् अष्टछाप मे अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक सराहा जाता था। कृष्णदास ने कृष्णलीला के अनेक प्रसंगों पर पद—रचना की है। प्रसिद्ध है कि पदरचना में सूरदास के साथ वे प्रतिस्पर्धा करते थे। इस क्षेत्र में भी अपने स्वभाव के अनुसार उनकी इच्छा सर्वोपरि स्थान ग्रहण करने की थी। भले ही कृष्णदास ने उच्चकोटि की काव्यरचना न की हो, उन्होंने अपने प्रबन्ध—कौशल द्वारा उन परिस्थितियों के निर्माण में अवश्य महत्त्वपूर्ण योग दिया, जिनके कारण सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास आदि महान् कवियों को अपनी प्रतिभा का विकास करने के लिए अवसर मिला।

कृष्णदास के 'राग—कल्पद्रुम', 'राग—रत्नाकर' और सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों में प्राप्त पदों का विषय लगभग वही है जो कुम्भनदास के पदों का है। अतिरिक्त विषयों में चन्द्रावलीजी की बधाई, गोकुलनाथजी की बधाई और गोसाईजी के हिंडोरा के पद विशेष उल्लेखनीय हैं। कृष्णदास के कुल पदों की संख्या २५० से अधिक नहीं है।

कृष्णदास के पदों का संग्रह विद्याविभाग, कांकरोली से

प्रकाशित हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—चौरासी वैष्णवन की वार्ता; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त; अष्टछाप परिचय : श्री प्रभुदयाल मीतल।]

—व्र० व०

कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब'—जन्म ११ नवम्बर १८९५ ई० में वाराणसी में हुआ। एम० ए० की परीक्षा समाप्त करने के बाद आप वहीं के डी० ए० वी० कालेज में प्राध्यापक और प्रधानाचार्य के पद पर कार्य करते रहे। 'बेढब' के उपनाम से आप हिन्दी साहित्य मे हास्य और व्यंग्य की रचनाएँ लिखते रहे। गद्य और पद्य दोनों विधाओं को आपने अपने हास्य के लिए समान सरलता के साथ प्रयुक्त किया है। दोनों में ही आपकी कृतियाँ एक निश्चित हास्य स्तर की हैं।

'बेढब' की कविताओ मे हमें प्रेम, रोमान्स, आधुनिकता और राजनीतिक समस्याओं पर काफी सरस चित्रण मिलते है किन्तु इस सरसता का कोई सार्थक उद्देश्य नजर नहीं आता। आधुनिकता का विरोध भी औपचारिक रूप में ही दीख पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि 'बेढब' ने इस विधा को उस समय अपनाया, जब साहित्य में गम्भीर लिखनेवालों की संख्या अधिक थी और जब सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन में पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ जोर पर थीं। 'बेढब' की हास्यप्रधान कविताओं में हमें समसामयिक विडम्बनाओं पर तीखी टिप्पणी मिलती हैं। आज भी बिना इन टिप्पणियों के मानसिक स्तर का ज्ञान अधूरा ही रहेगा।

'बेढब' की कहानियों में हमे अधिकतर नागरिकों की विरोधी मनोग्रन्थियों के दर्शन होते हैं। इसी विरोध में 'बेढब' की पैनी विवेचना हमें हास्य रस की अनुभूति देती है। वस्तुतः जिस युग में 'बेढब' हास्यप्रधान रचनाएँ लिख रहे थे, उस युग में मध्यवर्ग के जीवन में सामाजिक और आर्थिक स्तर पर कई प्रकार के उथल—पुथल चल रहे थे। न तो गाँव वाला अपने ग्रामीण मूल्यों के प्रति आस्थावान् था और न शहर का गतिशील जीवन ही आत्मविश्वास प्राप्त कर सका था। परिणामस्वरूप इस समय समस्त भावस्थिति गाँव और शहर, किसानी और नौकरी, पूर्वी और पश्चिमी मूल्यों के बीच भाग—दौड़ की स्थिति में थी। 'बेढब' की कहानियों में भी हमें उसी द्वन्द्व में डूबा हास्य मिलता है।

'बेढब' के कुछ प्रकाशित ग्रन्थ ये हैं—'बेढब की बहक', 'काव्य कमल' (काव्य—संग्रह १९४०), 'बनारसी एक्का', 'गान्धी का भूत' और 'टनाटन' (कहानी—संग्रह), 'अभिनेता' (नाटक)। आपका देहान्त सन् १९६५ में हुआ।

—ल० का० व०

कृष्णदेव सिंह—जन्म १८६५ ई० में भरतपुर के प्रसिद्ध राजवंश में हुआ था। भारतेन्दु—युग के लेखक थे। इनका लिखा हुआ 'माधुरी रूपक' नामक एक मौलिक नाटक मिलता है तथा कुछ स्फुट कविताएँ भी हैं।

—दे० शं० अ०

कृष्णबिहारी मिश्र—जन्म सन् १८९० में गन्धौली, जिला सीतापुर में हुआ था। पितृव्य श्रीयुगल किशोर मिश्र 'ब्रजराज' तथा पिता श्री रसिकबिहारी मिश्र की साहित्य—मर्मज्ञता का इन पर समुचित प्रभाव पड़ा।

इन्होंने सीतापुर के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल से एण्ट्रेन्स तथा कैनिंग कालेज, लखनऊ से १९१३ ई० में बी० ए० पास किया, प्रयाग से एल० एल० बी० पास किया और वकालत करने लगे। १९१७ से १९२४ तक ये यही कार्य करते रहे।

छात्र—जीवन में ही इन्होंने 'सम्राट' (कालाकाकर से प्रकाशित) में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। बाद में 'मर्यादा', 'इन्दु' तथा 'अभ्युदय' आदि में भी इनकी कविताएँ और लेख प्रकाशित होने लगे। चीन का इतिहास भी इन्होंने लिखा।

वकालत छोड़कर इन्होंने 'माधुरी' का सम्पादन किया और फिर लखनऊ से 'साहित्य—समालोचक' निकाला, जो पहले त्रैमासिक था, बाद मे द्वैमासिक हो गया। इसके पूर्व ये 'आज' के सम्पादकीय विभाग में भी रहे।

आपके मौलिक ग्रन्थ हैं—'चीन का इतिहास', 'देव और बिहारी' तथा सम्पादित ग्रन्थ हैं—'गंगाभरण', 'नवरस तरग', 'मतिराम ग्रन्थावली', 'नटनागर विनोद', तथा 'मोहन विनोद।'

'देव और बिहारी' तुलनात्मक आलोचना का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे पक्षपातपूर्ण आलोचना के स्पष्ट दर्शन होते है। इन्होंने पद्मसिंह शर्मा को उत्तर देने के लिए देव को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका महत्वपूर्ण है। विवेचनात्मक आलोचना की दृष्टि से इसकी भूमिका द्रष्टव्य है। उसमें कृष्णबिहारी मिश्र के पाण्डित्य के दर्शन होते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "मिश्र बन्धुओं की अपेक्षा पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते हैं। मिश्रजी ने जो कुछ कहा है, शास्त्रीय विवेचन के साथ कहा है।"

—ह० दे० बा०

कृष्णशंकर शुक्ल—आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। इसके बाद कान्यकुब्ज इण्टरमीडिएट कालेज, कानपुर में अध्यापक हो गये। बाद में आप डी० ए० वी० कालेज में प्राध्यापक हुए। आचार्य रामचन्द शुक्ल की परम्परा में कार्य करने वाले इने—गिने व्यक्तियों में से आप एक हैं।

आप एक उत्कृष्ट आलोचक और इतिहासलेखक के रूप में प्रसिद्ध है। आपकी ये पुस्तके प्रकाशित हैं—(१) 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', (२) 'कविवर रत्नाकर', (३) 'केशव की काव्यकला', (४) 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा।' जिस समय सन्त साहित्य पर विशेष रूप से कार्य कर रहे थे। उसी समय १६ फरवरी सन् १९८० को आपकी मृत्यु हो गई।

—ह० दे० बा०

कृष्णानन्द गुप्त—जन्म ललितपुर (झाँसी) में सन् १९०६ में हुआ था। लेखक के रूप में इनकी प्रसिद्धि 'प्रसाद के दो नाटक' (१९३३) नामक पुस्तक से हुई। इस पुस्तक में कृष्णानन्दजी ने 'स्कन्दगुप्त' एवं 'चन्द्रगुप्त' नामक प्रसाद के दो नाटकों की कटु आलोचना की है। इन्होंने इन नाटकों पर अनैतिहासिकता का भी आक्षेप लगाया है तथा इब्सन के यथार्थवादी रंगमंच के आधार पर इन नाटकों को अत्यन्त त्रुटिपूर्ण बताया है। इस पुस्तक की काफी चर्चा भी हुई, परन्तु इसके बाद इनकी कोई आलोचनात्मक कृति प्रकाश में नहीं आयी है। इनके दो कहानी—संग्रह 'अंकुर' और 'पुरस्कार' क्रमशः १९२९ और

१९३९ मे प्रकाशित हुए हैं तथा 'केन' नामक एक उपन्यास भी १९३० में प्रकाशित हुआ था किन्तु इनके कथा—साहित्यसम्बन्धी इस लेखन को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। जीवशास्त्र पर भी एक पुस्तक 'जीव की कहानी' (१९४१) प्रकाशित हुई है।

इनका मुख्य कार्यक्षेत्र पिछले कुछ वर्षों से लोक वार्ता सम्बन्धी रहा है। इन्होंने लोक—वार्ता से सम्बद्ध 'मधुकर' नामक पत्र का सम्पादन भी किया है। 'बुन्देलखण्डी कहावत संग्रह' एवं 'बृहत् हिन्दी कहावत—कोश' इस क्षेत्र में इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। वास्तव में हिन्दी में लोक—वार्ता के शोधकर्ता और संग्राहक के रूप मे इनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

—दे० शं० अ०

कृष्णायन—सुप्रसिद्ध राजनीतिक नेता, मध्यप्रदेश के विख्यात पत्रकार और भूतपूर्व गृहमन्त्री पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र की प्रसिद्ध अवधी महाकृति जो सन् १९४२ ई० के स्वतन्त्रता सग्राम के दिनों कारागृह में लिखित एवं सन् १९४७ ई० में नवशताधिक पृष्ठों की पृथुलता के साथ प्रकाश में आयी है। यह कृतिकार की एकमात्र काव्य—कृति है, जिस पर उसका समस्त कार्य—अस्तित्व आधृत है। समाजसेवी, पत्रकार, जन—नायक एवं बहुविध अनुभवशाली होने के कारण लेखक ने इस ग्रन्थ की जीवन की विशालता, विविधता, यथार्थता, आदर्शमयता एवं व्यवहार—सत्य को एक प्रवहमान राष्ट्रीय सांस्कृतिक चिन्ताधारा का स्वरूप दिया है। नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में "भारतीय जीवन और उसकी सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक परम्परा को विशुद्ध भारतीय स्वरूप में उपस्थित करने के लिए 'कृष्णायन' का निर्माण किया गया है" (आधुनिक साहित्य प्र० सं०, पृ० १०६—७)।

ग्रन्थ की कथावस्तु मुख्यतः 'महाभारत' के कथानक पर आधृत है। मिश्रजी ने 'श्रीमद्भागवत' और 'सूरसागर' का कथाधार तो अपनाया ही है, वर्णन एवं स्थल—काल चित्रण में 'शिशुपाल वध' आदि संस्कृत ग्रन्थों से भी रचनात्मक सहायता ली है। एक साथ ही ब्रज के लीला—कृष्ण, द्वारिका के प्रणयी कृष्ण एवं गीता के कर्मयोगी कृष्ण के तीनो पक्षों का समाहारकर कवि ने श्रीकृष्ण को विस्तृत एवं आदर्श महापुरूष प्रदान करने का महान् प्रयास किया है, जो अपने विस्तार, प्रकीर्णता एवं वैचित्र्य के कारण एक साथ सर्वांशतः अबतक किसी द्वारा स्पष्ट नहीं हुआ था। जिस प्रकार मध्ययुग के दासत्व काल में राम जैसे महानुचरित्र की अवतारणा करते हुए तुलसी ने तत्कालीन एव सर्वकालीन भारतीय जीवन को एक चिरन्तन चरित्राधार देने का प्रयास किया था, उसी प्रकार मिश्रजी ने अपने युग को 'कृष्णायन' के कृष्ण द्वारा एक पूर्ण एवं अनुकरणीय कर्मठ चरित्र प्रदान करने का प्रयत्न किया है, जो एक साथ राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक ऐक्य, आदर्श, यथार्थ, राजनीतिक, व्यवहार—नीति, युद्धनीति एवं व्यक्ति के सामाजिक जीवन को उज्जवल आलोक प्रदान कर समस्या—ग्रन्थियों को समाधान दे सके। कथानक जहाँ एक ओर अतीतकालीन जीवन—दर्शन एवं जिजीविषादर्श को प्रस्तुत करता है, वहीं अतीत की पृष्ठभूमि से वर्तमान को भी उपयुक्त संदेश देता हुआ भविष्य का मार्ग निर्दिष्ट करता दिखाई देता है। 'कृष्णायन' आज के भारत को अखण्ड देश—व्यापी एव प्रान्तीयतानिर्मुक्त राष्ट्रीय ऐक्य—भावना का आदर्श प्रदान करता है। 'कृष्णायन' की असुर राजनीतिक को अधिनायकता, नात्सीवाद, भौतिकवाद, साम्राज्यवाद एव आतकवाद का अतीत—गत प्रतिनिधि मान सकते हैं और 'आर्यनीति' को 'रामराज्य' आदर्श लोकतन्त्र एव प्रेम—शासन का प्रतीक। चार्वाक स्वार्थमय भौतिकवाद एव छद्म शासन का आचार्य है। मिश्रजी ने 'भक्ति' के आराध्य कृष्ण को समाजनीति, राजनीति एवं जीवन यथार्थ का आदर्श बनाया है, जिसमे उन्होंने वर्तमान की पुकार को देश की सांस्कृतिक पीठिका से सम्बद्ध कर दिया है।

—श्री० सि० क्षे०

कृत्या—मन्त्र के द्वारा आवाहन करके प्रकट की गयी अनिष्टकारक देवी विशेष को कृत्या के नाम से सम्बोधित किया गया है। यह वस्तुतः अनिष्ट और विनाश की देवी समझी जाती हैं। कहीं—कही यह 'काली' के पर्याय रूप मे भी स्वीकृत हुई हैं।

—यो० प्र० सि०

केतु—साहित्य में 'केतु' के निम्नलिखित विवरण प्राप्त होते हैं—

(१) नवग्रहो में से एक ग्रह का नाम केतु है। इसके रथ को लाख के रंग के आठ घोड़े खींचते हैं। प्रति संक्रान्ति यह सूर्य को ग्रसित करता है। मतान्तर से यह एक दैत्य का नाम है, जिसको धड़मात्र होता है। समुद्रमन्थन के उपरान्त सब देवता अमृत पान करने बैठे। यह भी अमरत्व की इच्छा से देवताओं की पंक्ति में बैठ गया लेकिन सूर्य और चन्द्र ने इसे पहचान कर इसके रहस्य को खोल दिया किन्तु अमृत इसके गले में उतर चुका था। फलस्वरूप कटे होने पर भी इसके सिर और धड़ अलग—अलग हो गये। मस्तक का नाम राहु पड़ा और धड़ का केतु। सूर्य और चन्द्रमा से अपना बैर चुकाने के लिए राहु और केतु सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसित करते हैं। ज्योतिष में इसीलिए ये पापग्रह कहे जाते हैं। विंशोवटी गणना के अनुसार केतु की दशा का फल सात वर्षतक विद्यमान रहता है। केतु के पूर्व बुद्ध और बाद में शुक्र की दशा आती है। केतु की माता का नाम सिंहिका था। मतान्तर से यह कश्यप तथा दनु का पुत्र था।

(२) ऋषभदेव तथा जयन्ती के १०० पुत्रों में से एक का नाम केतु था।

(३) 'तामस' मनु के पुत्र के रूप में भी विख्यात हैं। इन्हें तपोधन भी कहा जाता है।

(४) ब्रह्मा ने अपनी प्रजा की अत्यधिक वृद्धि होते देखकर मृत्यु नाम की एक कन्या उत्पन्न की। उससे असंख्य प्रजा का संहार होते देखकर वह रोने लगी। उसके अश्रुओं से सहस्रों रोग पैदा हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने तप किया जिससे उन्हें यह वर मिला कि इस नाश से उनको कोई पाप न लगेगा। इस आश्वासन से उन्होंने एक दीर्घ श्वास ली, जिससे केतु उत्पन्न हुआ। धूमकेतु इसी का शिष्य था (मानस १:१०:३)।

—रा० कु०

केदारनाथ अग्रवाल—जन्म बाँदा जिले के गाँव में १९११ ई० में हुआ। प्रयाग और आगरा विश्वविद्यालय से बी० ए०, एल० एल० बी० की परीक्षा पास की और तभी से बाँदा में वकालत कर रहे हैं। हिन्दी के प्रगतिवादी आन्दोलन से

अग्रवालजी का गहरा सम्बन्ध रहा है। आप किसी जमाने में प्रमुख प्रगतिवादी कवियो में से थे। 'हंस', 'नया साहित्य' और इसी प्रकार की अन्य प्रगतिवादी पत्रिकाओ में आपकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं।

कवि के रूप में अग्रवालजी प्रगतिवादी कवियों में सबसे अधिक कलात्मक कवि हैं। आपके पास शब्दचयन हैं, भावभिव्यक्ति है, एक काव्यगत तटस्थता की सम्भावना भी है किन्तु जहाँ आप इन विशेषताओं के साथ प्रगतिवादी आग्रहों को कविता में जोड़ने लगते हैं, वहीं उसका सौन्दर्य, उसकी मार्मिकता कम हो जाती है।

आपके काव्य की विशेषता जीवन और उससे उपजी रागात्मकता का साक्षात्कार करना है। यह साक्षात्कार जहाँ सहज मानवीय स्तर पर हुआ है वहाँ तो पूर्ण सफलता भी मिली है, किन्तु जहाँ कवि मतवाद और वर्गवाद की आँखों से इस यथार्थ को देखने लगता है, वहाँ कवि—सत्य का बहुत बड़ा अंश उसके हाथ से छूट जाता है। 'युग की गंगा' की अधिकांश कविताएँ नयी तो हैं किन्तु उनमे यह दोष हमे समान रूप से मिलता है। 'नीद के बादल' सग्रह में भी आपसे वह त्रुटि सँभल नहीं सकी है। इस संग्रह की कविताओं में सुन्दर और सजीव प्रकृतिचित्रण या सुगठित काव्य—रचना में शिथिलता आने का एकमात्र कारण है—अनुभूति और उद्देश्य दोनों को अनावश्यक रूप में जोड़ने का प्रयास।

शैलीकार के रूप में मुक्त छन्दों और गीत के छन्दों का प्रयोग आपने कहीं—कहीं बड़ी सफलता के साथ किया है बिम्बों और उपमाओं में भी आपके पास काफी नवीनता है।

अग्रवालजी की भाषा यथार्थ और छायावाद की भाषा से मिलती—जुलती है। वस्तुतः आप जिस युग के कवि हैं उस युग की सम्पूर्ण संवेदना छायावाद का विरोध करते हुए भी छायावाद से मुक्त नहीं हो पा रही थी। उस युग के कवियों में आपका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अबतक आपके ये काव्य—संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—

'युग की गंगा' (१९४७), 'नींद के बादल' (१९४७) और 'लोक और आलोक' (१९५७), 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं' (१९६५), 'आग का आईना' (१९७०), 'देश देश की कविताएँ' (१९७०), समय समय पर (निबन्ध संग्रह—१९७०)। अपूर्वा (१९८४) आधुनिक कवि (१९७८) कहे केदार खरी-खरी (१९८३) जमुन जल तुम (१९८५) पंख और पतवार (१९७९) मार प्यार की थापें (८१) विचार और बांदा (८०) विवेक विवेचन (८१) हे मेरी तुम (८१)

—ल० का० व०

केदारनाथ पाठक—पण्डित केदारनाथ पाठक मूलतः मीरजापुर के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे। परन्तु इनकी ससुरालवालों का एक मकान काशी में था, जिसमें ये अपने विवाह के उपरान्त आकर रहने लगे थे। काशी में नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष के रूप में लगभग पचीस वर्षोंतक काम करते रहे। ये बाल्यावस्था से ही कान से बहुत ऊँचा सुनते थे। इसीलिए पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी इन्हें 'बहरे खुदा' (खुदा के लिए) कहा करते थे। ये हिन्दी के बहुत बड़े उपासक और प्रेमी थे। इसलिए एक अवसर पर स्वर्गीय पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने इन्हें 'हिन्दी गढ़ का फाटक' कहा था। ये स्वयं तो कदाचित् ही कुछ लिखते थे क्योंकि इनके अक्षर बहुत ही बेढंगे होते थे पर ये ढूँढ़—ढूँढ़कर, पकड़—पकड़कर लोगो को हिन्दी—सेवा में लगाते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मीरजापुर से काशी लाने और नागरीप्रचारिणी सभा से सम्बद्ध कराने में ये प्रमुख कारण थे।

उस समय के समस्त हिन्दी—साहित्य के भाण्डार का इन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था और किसी पुस्तक का नाम आते ही चट बतला देते थे कि यह किसकी लिखी हुई है, कब और कहाँ छपी थी इत्यादि। उस समय की साहित्यिक चोरियाँ पकड़ने में ये बहुत सिद्धहस्त थे और तुरन्त बतला देते थे कि यह तो बंगला की अमुक पुस्तक की चोरी है। ये बहुत ही सरल और शुद्ध स्वभाव के तथा सज्जन थे। जरा—सी बात पर नाराज हो जाना और फिर दो—चार मीठी—मीठी बातें सुनते ही सारा रोष भूलकर गद्‌गद् होकर रोने लग जाना इनका स्वभाव सा था। एक बार पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की किसी बात से चिढ़कर ये उनके घर जूही (कानपुर) जा पहुँचे और परम क्रुद्ध होकर द्विवेदी पर गरजने लगे थे। द्विवेदीजी उनकी योग्यता से भी और इनके स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। अतः उन्होंने हाथ जोड़कर बहुत ही नम्र भाव से कहा—देवता! आप पहले बैठकर जलपान कर लीजिए, ठण्डे हो लीजिये और तब मेरे इस डण्डे से मेरा सिर फोड़ लीजियेगा। बस फिर क्या था कि पाठकजी उनके चरणों पर गिरकर बहुत देरतक रोते और पश्चात्ताप करते रहे और द्विवेदीजी ने उन्हें उठाकर गले लगा लिया।

इनका सारा जीवन आर्थिक दृष्टि से बहुत ही साधारण रूप मे बीता था और इनके दोनों पुत्र इनके जीवनकाल ही में चल बसे थे, जिससे इनके अन्तिम दिन बहुत ही कष्ट में बीते थे। नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में अब भी हजारों पुस्तकें ऐसी होंगी, जो ये लोगों से बहुत ही दीनतापूर्वक गिड़गिड़ाकर और माँगकर लाये थे। इन्हें नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय का मूल स्तम्भ ही समझना चाहिये क्योंकि ठाकुर गदाधर सिंह से उनका 'आर्य भाषा पुस्तकालय' सभा को दिलवाने में इन्होंने बहुत अधिक परिश्रम तथा प्रयत्न किया था।

—रा० चं० वर्मा

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'—जन्म आरा में १२ अगस्त सन् १९०७ में हुआ। शिक्षा—स्थान क्रमशः सासाराम, बक्सर और पटना रहे हैं। जन—जीवन में प्रथम प्रवेश १९२२ में हुआ। १९२९ में पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० और १९३९ में एम० ए० किया। १९२७ में भरतपुर में आयोजित अखिल भारतीय 'बसन्त प्रतियोगिता' में प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया।

'कलेजे के टुकड़े' नाम से १९२८ में सर्वप्रथम इनकी षटपदियों का संग्रह निकला। इसका मूल स्वर वैयक्तिक है। सन् १९२९ में 'ज्वाला' नाम से स्वतन्त्रता सम्बन्धी गीतों का 'नवीन'जी की भूमिकासहित एक संकलन निकला, जिसे अवैधता और निषिद्धता के भय से प्रकाशक ने समस्ततः नष्ट कर दिया। सन् १९३६ में 'श्वेत नील' (गीत—संग्रह), १९४० में 'कलापिनी' (गीत—संग्रह), १९४२ में 'कम्पन'

(दार्शनिक कविता–संग्रह), १९४४ में 'संवर्त्त' (गीति–नाट्य), १९५० मे 'कैकेयी' (प्रबन्ध–काव्य), १९५१ मे 'स्वर्णोदय' (सांस्कृतिक गीति–नाट्य), १९५१ मे 'कर्ण', १९५१ मे 'चिरस्पर्श' (आध्यात्मिक कविता–संग्रह), १९५२ में 'सत्यं, शिव, सुन्दरम्' (बालकों के लिए पत्र–संग्रह), सन् १९५२ में ही 'समुद्र के मोती', 'आश्चर्यजनक कहानियाँ', 'मनोरंजक कहानियाँ' और 'मूर्खों की कहानियाँ' (सभी किशोर साहित्य); १९५४ में 'तप्तगीत (प्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय) और १९५७ में 'ऋतम्भरा' (मानवता के भविष्य और सृष्टि एवं मानव प्रगति से सम्बद्ध प्रबन्ध) प्रकाशित हुए। 'कैकेयी' में 'प्रभातजी' ने कैकेयी के कुत्सित चरित्र को राष्ट्रमाता के रूप में उभारा है। उनके अनुसार कैकेयी ने राम को रावण के विरूद्ध अभियान के नेता बनाया। दशरथ की असमर्थता में यह उनकी प्रतिभा का उज्जवल प्रमाण है।

'प्रभात'जी प्रशासकीय सेवा–विभाग में रहकर भी साहित्यसाधना करते रहे है। गीत–रचना के क्षेत्र में उन्हें चाहे अधिक महत्त्व न दिया जाय, पर प्रबन्धकारों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। छायायुगीन कवियों मे उनकी देन अनुपेक्षणीय है। उनकी रचना का आधार भावुकता और कल्पना से अधिक अनुशीलन और चिन्तन है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) हिन्दी सेवी ससार, द्वि० सं०:प्रेमानाराण टण्डन; (२) आधुनिक साहित्य–नन्ददुलारे बाजपेयी।]

–श्री० सिं० क्षे०

केशवदास–हिन्दी के एक प्रमुख आचार्य, जिनका समय भक्ति–काल के अन्तर्गत पड़ता है, पर जो अपनी रचना में पूर्णतः शास्त्रीय तथा रीतिबद्ध हैं। शिवसिंह सेंगर तथा ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित क्रमशः सन् १५६७ ई० (सं० १६२४) तथा १५८० ई० (स० १६३७) इनका कविताकाल है, जन्मकाल नहीं। 'मिश्रबन्धुविनोद' प्रथम भाग में १५५५ ई० (सं० १६१२) तथा 'हिन्दी नवरत्न' में १५५१ ई० (सं० १६०८) में अनुमानित जन्मकाल रामचन्द्र शुक्ल ने १५५५ ई० (सं० १६१२) जन्मकाल माना है। गौरीशंकर द्विवेदी के 'सुकवि सरोज' में उद्धृत दोहों के अनुसार इनका जन्मकाल १५५९ ई० (सम्वत् १६१८) तथा जन्म–मास चैत्र प्रमाणित होता है। लाला भगवानदीन इनकी वंशपरंपरा में मान्य जन्मतिथि सम्वत् १६१८ (१५५९ ई०) के चैत्रमास की रामनवमी की पुष्टि करते हैं। तुंगारण्य के समीप बेतवा नदी के तट पर स्थित ओड़छा नगर में इनका जन्म हुआ था। मिश्रबन्धु और रामचन्द्र शुक्ल १६१७ ई० (सं० १६७४) में तथा लाला भगवानदीन और गौरीशंकर द्विवेदी १६२३ ई० (सं० १६८०) में इनका निधन मानते हैं। तुलसीदास द्वारा केशव के प्रेत–योनि से उद्धार किये जाने की किंवन्दती के आधार पर इनका निधन सन् १६२३ ई० के पूर्व ठहरता है। इनकी अन्तिम रचना 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' का रचनाकाल १६१२ ई० (सं० १६६९) है। इन्होंने वृद्धावस्था का मार्मिक वर्णन किया है। अतः १५६१ ई० में इनका जन्म हुआ तो मृत्यु सन् १६२१ ई० (सं० १६७८) के निकट तक जा सकती हैं।

केशवदास ने 'कविप्रिया' में अपना वंशपरिचय विस्तार से दिया है, जिसके अनुसार वंशानुक्रम यो है–कुंभवार–देवानन्द–जयदेव–दिनकर–गयागजाधर–जयानन्द–त्रिविक्रम––भावशर्मा–सुरोत्तम या 'शिरोमणि'–हरिनाथ–कृष्णदत्त–काशीनाथ–बलभद्र–केशवदास–कल्याण। 'रामचन्द्रिका' और 'विज्ञानगीता' के आरम्भ मे उल्लिखित परिचय संक्षिप्त है। 'विज्ञानगीता' मे वंश के मूल पुरूष का नाम वेदव्यास उल्लिखित है। इनके परिवार की वृत्ति पुराण की थी। ये भारद्वाज गोत्रीय मार्दनी शाखा के यजुर्वेदी, मिश्र उपाधिधारी ब्राह्मण थे। ओड़छाधिपति महाराज इन्द्रजीत सिंह इनके प्रधान आश्रयदाता थे, जिन्होंने २१ गाँव इन्हें भेंट में दिये थे। वीरसिंहदेव का आश्रय भी इन्हें प्राप्त था। तत्कालीन जिन विशिष्ट जनों से इनका घनिष्ठ परिचय था, उनके उल्लिखित नाम ये हैं–अकबर, बीरबल, टोडरमल और उदयपुर के राणा अमरसिंह। तुलसीदासजी से इनका साक्षात्कार महाराज इन्द्रजीत के साथ काशी यात्रा के समय सम्भव है। उच्चकोटि के रसिक होने पर भी ये पूरे आस्तिक थे। ये व्यवहारकुशल, वाग्विदग्ध और विनोदी थे। अपने पाण्डित्य का इन्हें अभिमान था। नीति–निपुण, निर्भीक एवं स्पष्टवादी केशव की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। साहित्य और संगीत, धर्मशास्त्र और राजनीति, ज्योतिष और वैद्यक सभी विषयों का इन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था।

केशवदास की प्राप्य प्रमाणिक रचनाएँ रचनाक्रम के अनुसार ये हैं–'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०), 'कविप्रिया' और 'रामचन्द्रिका' (१६०१ ई०), 'वीरचरित्र' या 'वीरसिंहदेव चरित्र' (१६०६ ई०), 'विज्ञानगीता' (१६१० ई०) और जहाँगीरजसचन्द्रिका' (१६१२ ई०)। 'रतनबावनी' का रचनाकाल अज्ञात है, पर यह इनकी सर्वप्रथम रचना है। नखशिख, शिखनख और बारहमासा पहले 'कविप्रिया' के ही अन्तर्गत थे। आगे चलकर ये प्रथक् प्रचारित हुए। सम्भव है इनकी रचना 'कविप्रिया' के पूर्व ही हुई हो और बाद में इन सबका या किसी का उसमें समावेश किया गया हो। 'छन्दमाला' का रचनाकाल भी अज्ञात है। 'रामअलंकृतमंजरी' ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। लाला भगवानदीन इसे अलंकार का तथा अन्य कुछ विद्वानों ने छन्दशास्त्र का ग्रन्थ अनुमित किया है। 'जैमुनि की कथा', 'बालचरित्र', 'हनुमानजन्मलीला', 'रसललित' और 'अमीघूँट' नामक रचनाएँ प्रसिद्ध कवि केशव द्वारा प्रणीत नहीं हैं। 'जैमुनि की कथा' जैमिनीकृत 'अश्वमेध' का हिन्दी रूपान्तर है। केशव की छाप से भिन्न इसमें 'प्रधान केसौराइ' छाप मिलती है। इसका रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। 'बालचरित्र' और 'हनुमानजन्मलीला' की रचना अति शिथिल है। इसमें ब्रज तथा अवधी का मिश्रण तथा बुन्देली का अभाव है। 'रसललित' में कृष्णलीला वर्णित है तथा 'अमीघूँट' किसी निर्गुणमार्गी कवि केसव की रचना है। 'अमीघूँट की भाषा, शैली और विषय तीनों सन्त–परम्परा के अनुरूप हैं। केशव निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे, अतः ये रचनाएँ इनकी सिद्ध नहीं होतीं।

'रसिकप्रिया' में नायिकाभेद और रस का निरूपण है। इसमें प्रियजू और प्रियाजू की प्रशस्ति वर्णित है। रसास्वादियों

के लिए निर्मित होने के कारण इसमे उदाहरणों पर विशेष दृष्टि है। 'कविप्रिया' कविशिक्षा की पुस्तक है, इसलिए इसमे शास्त्रप्रवाह और जनप्रवाह के अतिरिक्त विदेशी साहित्यप्रवाह का भी नियोजन है। 'रामचन्द्रिका' में रामकथा वर्णित है। 'छन्दमाला' में दो खण्ड हैं। पहिले मे वर्णवृत्तों का और दूसरे में मात्रावृत्तों का विचार किया गया है तथा उदाहरण अधिकतर 'रामचन्द्रिका' से ही रखे गये हैं। 'वीरचरित्र' में वीरसिंह देव का चरित्र चित्रित है। संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' के आधार पर 'विज्ञानगीता' निर्मित हुई, जिसमें अपनी ओर से बहुत सी सामग्री पौराणिक वृत्तिवाले पण्डित कवि ने जोड़ रखी है। 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' में जहाँगीर के दरबार का वर्णन है। 'रतनबावनी' में रत्नसेन के वीरोत्साह का वर्णन है। मूल के मुद्रित संस्करणों का उल्लेख उनके स्वतन्त्र विवरण के साथ यथास्थान है तथा केशव ग्रन्थावली के रूप में केशव के सभी प्रामाणिक ग्रन्थ विश्वनाथपसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग से सन् १९५९ में प्रकाशित कर दिये गये हैं।

केशवदास ने लक्षण—ग्रन्थ ही नहीं, लक्ष्य—ग्रन्थ भी लिखे हैं। श्रृंगार की ही नहीं, अन्य रसों की भी रचनाएँ की हैं। मुक्तक ही नहीं, प्रबन्ध भी प्रणीत किये हैं। इनके लक्षण—ग्रन्थ तीन हैं—'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', और 'छंदमाला'। 'रसिकप्रिया' का आधार ग्रन्थ रूद्रभट्ट का 'श्रृंगारतिलक' है। इसमें संस्कृत के तद्विषयक बहुप्रचलित ग्रन्थों से कुछ विभिन्नता है। इन्होंने उसमें कुछ बातें 'कामतन्त्र' की भी जोड़ दी हैं। केशव ने 'काव्यकल्पलतावृत्ति', 'काव्यादर्श' आदि के आधार पर कविशिक्षा की पुस्तक 'कविप्रिया' प्रस्तुत की। 'कविप्रिया' मे इन्होंने 'अलंकार' शब्द को उसी व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है, जिसमें दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने। इसी से पारिभाषिक अर्थ के अनुसार विशेषालंकार के अतिरिक्त इन्होंने सामान्यालंकार के अन्तर्गत काव्य की शोभा बढ़ानेवाली सभी सामग्री जुटा दी है। 'छन्दमाला' का आधार संस्कृत के 'वृत्तरत्नाकर' आदि पिंगलग्रन्थ ही हैं। इसमें लक्षण देने की प्रणाली केशव ने अपनी रखी है। वस्तुतः इस क्षेत्र में केशव ने कोई नयी उद्भावना नहीं की है।

केशव के लक्ष्य—ग्रन्थों में पूर्ण अवधानता नहीं दिखायी देती। इनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' में कथा के क्रमबद्ध रूप और अवसर के अनुकूल विस्तार—संकोच का अपेक्षित ध्यान नहीं रखा गया है। ये वस्तुतः दरबारी जीव थे इसलिए इसमें दरबार के अनुकूल बातों का ही वर्णन विस्तार से किया गया है। 'रामचन्द्रिका' के छन्दों का परिवर्तन इतना शीघ्र और इतने अधिक रूपों में किया गया है कि प्रवाह आ ही नहीं पाता। केशव ने इसमें नाट्यतत्त्व का अच्छा नियोजन किया है, जिससे यह लीला के उपयुक्त हो गयी है। 'वीरचरित्र' प्रबन्धकाव्य है, किन्तु इसमें प्रबन्ध के गुण पूर्ण मात्रा में नहीं पाये जाते। 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' प्रशस्ति—काव्य है। चमत्कार के चक्कर में अधिक रहने से इनकी रचनाओं में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष प्रधान हो गया है।

केशव ने अपने ग्रन्थ, साहित्य की सामान्य काव्यभाषा, ब्रज में लिखे हैं। बुन्देलप्रान्त निवासी होने के कारण उसके कुछ शब्द और प्रयोग इनकी रचना में आ गये हैं। संस्कृत ग्रन्थों का अनुवदन और उनकी छाया का ग्रहण केशव ने संस्कृत वर्ण—वृत्तों में अधिक किया है। इसलिए ऐसे स्थलों की भाषा मे, विशेष रूप से 'रामचन्द्रिका' और 'विज्ञानगीता' में, संस्कृत प्रभाव अधिक है। केशव की दुरूहता का कारण संस्कृत के प्रयोगों या शब्दों का हिन्दी मे रखना है। 'रसिकप्रिया' में इन्होंने हिन्दी—काव्य—प्रवाह के अनुरूप सशक्त, समर्थ और प्रांजल भाषा रखी है। वह सबसे अधिक वाग्योगपूर्ण है। उसमें ब्रज का पूर्ण वैभव दिखाई देता है। 'रतनबावनी' की भाषा मे पुरानापन अधिक है। वह बतलाती है कि अपभ्रंश के रूप हिन्दी में पारम्परिक प्रवाह के कारण चलते रहे हैं। इन्होंने सब प्रकार की भाषा में रचना करने का अभ्यास किया होगा। केशव ने अपने साहित्यिक नवयौवन में अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में हाथ माँजा, फिर इन्होंने ब्रज में रचना की और उसे काव्य के अनुरूप परिष्कृत किया। अन्त में ये संस्कृत प्रधान भाषा की ओर मुड़े। यही मोड़ ये सँभाल न सके।

केशव की रचना में इनके तीन रूप दिखाई देते हैं—आचार्य का, महाकवि का और इतिहासकार का। ये परमार्थतः हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। आचार्य का आसन ग्रहण करने पर इन्हें संस्कृत की शास्त्रीय पद्धति को हिन्दी में प्रचलित करने की चिन्ता हुई जो जीवन के अन्त तक बनी रही। इन्होंने ही हिन्दी मे संस्कृत की परम्परा की व्यवस्थापूर्वक स्थापना की थी। आधुनिक युग के पूर्व तक उसका अनुगमन होता आया है। इनके पहले भी रीतिग्रन्थ लिखे गये, पर व्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ सबसे पहले इन्होंने ही प्रस्तुत किये। यद्यपि कविशिक्षा की पुस्तकें बाद में भी लिखी गयीं, तथापि उनका साहित्य में पठन—पाठन उतना नहीं हुआ। हिन्दी की सारी परम्परा को इन्होंने प्रभावित कर रखा है, 'कविप्रिया' के माध्यम से। इनकी सबसे अद्भुत कल्पना अलकार सम्बन्धी है। श्लेष के और श्लेषानुप्राणित अलंकारों के ये विशेष प्रेमी थे। इनके श्लेष संस्कृत—पदावली के हैं। हिन्दी में श्लेष के दूसरे पण्डित सेनापति के श्लेष हिन्दी पदावली के हैं। दोनों की श्लेष योजना में यही भेद है। इनका कविरूप, इनकी प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी के परवर्ती प्रायः सभी श्रृंगारी कवि इनकी उक्तियों एवं भावव्यंजकता से प्रभावित हैं। बिहारी ने इनसे भाव, रूपक आदि ग्रहण किये तथा देव ने उपमा और उक्ति तक लेने में संकोच नहीं किया। इनमें एक विशिष्ट गुण है सम्वादों के उपयुक्त विधान का। मानव मनोभावों की इन्होंने सुन्दर व्यंजना की हैं। संवादों में इनकी उक्तियाँ विशेष मार्मिक हैं, पर प्रबन्ध के बीच अनावश्यक उपदेशात्मक प्रसंगों का नियोजन उसके वैशिष्ट्य में व्यवधान उपस्थित करता है। इनके प्रशस्ति काव्यों में इतिहास की प्रचुर सामग्री भरी है। ओड़छा राज्य का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करने में वे बड़े सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

प्राचीन काव्य जगत् में केशव का जो माहात्म्य था, उसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। मध्यकाल में इनका काव्य—प्रवाह में जैसा मान था, वैसा अन्य का नहीं, प्राचीन युग में सुरति मिश्र ऐसे पंडित और सरदार कवि ऐसे कविसरदार ने इनकी कृतियों की टीकाएँ लिखीं। यह इस बात का प्रमाण है कि इनके काव्य का मनन करनेवाले जिज्ञासु की संख्या पर्याप्त थी।

नैषध का हिन्दी मे उल्था करनेवाले गुमान ने इनकी 'रामचन्द्रिका' के जोड़तोड़ मे 'कृष्णचन्द्रिका' लिखी। इनका लोहा सभी मानते थे और इनकी रचना का अध्ययन निरन्तर होता रहा। इनकी कुत्सा काव्यपाण्डित्य के स्खलन के कारण नहीं थी। मध्यकाल में तो किसी के पाण्डित्य या विदग्धता की जाँच की कसौटी थी, इनकी कविता। 'कवि को दीन न चहै बिदाई, पूछे केसव की कबिताई' यह उक्ति इसका प्रमाण है। इनकी रचनाओं के अर्थ की कठिनाई का अर्थ लगाया गया कि इनकी कविता मे 'रस' नही, 'सहृदयता' नही। इनके हृदय में प्रकृति के प्रति उतना राग नहीं था जितना कवि के लिये अपेक्षित है पर ये ही नही, हिन्दी का सारा मध्यकाल प्रकृति के प्रति उदासीन है।

'केसव अर्थ गम्भीरकों' की चर्चा अब कोई नहीं करता। यदि केशव 'रसिकप्रिया' की सी भाषा लिखते रहते तो इनका इतना विरोध न होता। प्रसंग—कल्पनाशक्ति—सम्पन्न तथा काव्य—भाषा—प्रवीण होने पर भी केशव पाण्डित्य प्रदर्शन का लोभ संवरण नहीं कर सके, अन्यथा ये 'कठिन काव्य के प्रेत' होने से बच जाते।

[सहायक ग्रन्थ—(१) केशव की काव्यकला:कृष्णशंकर शुक्ल, (२) आचार्य केशवदासः हीरालाल दीक्षित, (३) केशवदास:चद्रबली पाण्डेय, (४) केशवदास:रामरतन भटनागर, (५) आचार्य कवि केशव:कृष्णचन्द्र वर्मा, (६) बुन्देल—वैभव (भा० १):गौरीशंकर द्विवेदी, (७) सुकवि—सरोज प्रथम भाग:गौरीशंकर द्विवेदी, (८) हि० सा० इ०:रा० च० शुक्ल, (९) हि० सा० बृ० इ० (भा० ६):सं० नगेन्द्र, (१०) हि० का० शा० इ०: भगीरथ मिश्र।]

—वि० प्र० मि०

केशव पुत्र—वधू—'मिश्र बन्धु विनोद' में केशव पुत्र—वधू के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है, वह बहुत थोड़ा है। उसमें इनका रचनाकाल सं० १६६० के पूर्व माना गया है और कहा गया है कि इनकी कविताएँ 'कविता सार संग्रह' में हैं। इधर केशव पुत्र—वधू के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कुछ नये तथ्यों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि शिवसिंह सरोज मे दिल्ली वाले घनानन्द के नाम पर जो दो सवैये उद्धृत हैं, उनमें एक सवैया केशव पुत्र—वधू का है। उक्त सवैया यों हैं:-

जैहै सबै सुधि भूल तुम्है फिरि भूलि न मो तन भूलि चितै है।
एक कौ आंक बनावत मेटत पोथिय कांख लिये दिन जै है।
सांची हौ भाषति मोंहि कका की सौं प्रीतम की गति तेरिह व्है हैं।
मोसों कहा अठिलात अजासुत कै हौं ककाजी मौं सो तो हैं सिखै हैं।

आचार्य मिश्र ने इस सम्बन्ध में जो किंवदन्ती बतलायी है वह इस प्रकार है:—

कहा जाता है कि आचार्य केशवदास की रसिकप्रिया को पढ़कर उनके आत्मज विषय वासना में ऐसे फंस गये कि केशव को इससे छुटकारा पाने के लिए 'विज्ञान-गीता' की रचना करनी पड़ी। इस ग्रन्थ को पढ़ कर केशव के आत्मज को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया और वे दार्शनिक बने हुए घूमने लगे। एक बार इस प्रकार की घटना घटी कि घर के बकरा ने केशव पुत्र—वधू को देख कर कुछ शरारत बाजी की इस पर केशव पुत्र—वधू ने अपने कका (आचार्य केशवदास) को लक्ष्य करके अजासुत के प्रति यही सवैया पढ़ा।

इस सवैया के सम्बन्ध मे बुन्देल वैभव कार ने कुछ दूसरी कथा गढ़ डाली। उनका कथन है कि केशवदास के पुत्र वैद्य थे और उन्होने वैद्यक विषय पर 'वैदमनोत्सव' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कहा जाता है कि वे दैव वशात् क्षय रोग के रोगी हो गये थे उन्हीं के उपचार के लिए आंगन में बकरा बंधा रहता था। आयुर्वेद के अनुसार क्षय रोग के रोगी को इससे बहुत लाभ होता है। एक दिन उस बकरे ने उनकी पत्नी के पैर पर पैर रख दिया इस पर पत्नी ने अपने पति देव को लक्ष्य करके बकरे से उक्त सवैया कहा। इस छन्द के अतिरिक्त केशव पुत्र—वधू की अन्य रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं। यह छंद 'बुन्देल वैभव' में भी किञ्चित पाठान्तर के साथ मौजूद है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को यह छन्द 'सरोज के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय के हस्तलेख संख्या ८५९ के १२५वें पन्ने पर केशव पुत्र—वधू के नाम पर मिल गया।

[सहायक ग्रन्थ—घन आनन्द—सं० आचार्य प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, मिश्र बन्धु विनोद प्रथम भाग (प० सं०), शिवसिंह सरोज, बुन्देल-वैभव प्रथम भाग-गौरीशंकर द्विवेदी।]

—कि० ला०

केशवप्रसाद पाठक—जन्म १९०६ ई० में जबलपुर में हुआ। एम० ए० (हिन्दी) तक की शिक्षा प्राप्त की। इनके द्वारा प्रस्तुत उमरखैयाम की रूबाइयात का अनुवाद अत्यन्त सफल माना जाता है। 'त्रिधारा' इनकी दूसरी रचना है। इनकी मृत्यु १९५७ ई० में हुई।

—सं०

केशवप्रसाद मिश्र—जन्म काशी में १८८५ ई० (१९४२ वि०) में हुआ; मृत्यु १९५१ ई० में हुई। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिन्दी—भाषा तथा साहित्य की सेवा का व्रत ग्रहण करनेवाले लोगों में काशी के पण्डित केशवप्रसाद मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। आप भाषा, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र के अच्छे पण्डित माने जाते थे। काशी की नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से आपने हिन्दी की जो सेवाएँ कीं, वे बहुत मूल्यवान् सिद्ध हुई। आपके प्रकाशित कार्यों में 'मेघदूत' का पद्यात्मक अनुवाद प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ की आलोचनात्मक भूमिका में आपने रसानुभूति की प्रक्रिया का शास्त्रीय विवेचन किया है तथा 'मधुमती भूमिका' के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी। केशवप्रसाद मिश्र के फुटकर लेख पत्र—पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ नागरी प्रचारिणी पत्रिका की दसवीं जिल्द में इनके 'उच्चारण' शीर्षक लेख को लिया जा सकता है। इस प्रकार के लेखों से इनके गम्भीर पाण्डित्य का पता चलता है और इनकी भाषा—शैली के सम्बन्ध में यह धारणा बनती है कि ये अत्यन्त परिमार्जित तथा अर्थपूर्ण लेखन में सिद्धहस्त थे।

—र० भ०

केशवप्रसाद सिंह—इनका रचनाकाल १९०५ ई० है। द्विवेदी युग में आकर हिन्दी—गद्य में विविधता और शैली में

अपेक्षाकृत प्रौढ़ता आती है। श्रीकृष्ण लाल के अनुसार "विकास का प्रथम चिन्ह केशव प्रसाद सिंह के आपत्तियों का पहाड़' नामक निबन्ध में पाया जाता है, जो अगरेजी के एक निबन्ध के आधार पर लिखा गया था" (आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३४९)। स्वप्नो के रूप में कथात्मक निबन्ध 'भारतेन्दु—युग' में भी लिखे गये थे, पर भाषा की जो व्यंजनाशक्ति एवं कला का जितना अभिराम रूप इस निबन्ध में प्राप्त होता है, उतना पहले के निबन्धो में नहीं। लेखक सुकरात की एक उक्ति पर विचार करते हुए सो जाता है और उसे एक बहुत ही रोचक स्वप्न दिखायी देता है। एक स्थान पर लोगों द्वारा फेंकी गयी आपत्तियों के बण्डलों से पहाड़ बन जाता है, फिर सभी लोग अपने—अपने मन की एक आपत्ति चुनना चाहते हैं। एक नयी आपत्तियों के अनुभव का बर्णन करते—करते लेखक जाग पड़ता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचना में लेखक की कल्पना को खुलकर खेलने एवं व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का अपूर्व अवसर मिलता है। इसी कारण कलारूप की दृष्टि से यह निबन्ध बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। इसके अनुकरण पर अन्य कथात्मक निबन्ध भी लिखे गये हैं।

—दे० शं० अ०

केशवराम भट्ट—इनका नाम उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बिहार के हिन्दीसेवियों में लिया जाता है। इनका जन्म सन् १८५४ ई० में एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने हिन्दी के साथ—साथ उर्दू की भी शिक्षा प्राप्त की थी। ये बँगला साहित्य के भी सम्पर्क में आये थे। ये सरकारी शिक्षा विभाग से सम्बद्ध थे और उस हैसियत से इन्होंने स्कूली पाठ्यक्रम विषयक कई पुस्तकें लिखी थीं।

भारतेन्दुकालीन हिन्दी भाषा और साहित्य के नूतन विकास में केशवराम भट्ट का योगदान अत्यल्प है किन्तु वह अनुल्लेखनीय नहीं है। भारतेन्दु युग हिन्दी के व्यापक आन्दोलन का युग था। उसे सक्रिय बनाये रखने के लिए उस युग में अनेक पत्र—पत्रिकाएँ निकाली गयीं थीं। उनमें एक पत्र 'बिहार—बन्धु' केशवराम भट्ट के सम्पादन में निकलता था। इसका सम्पादन—प्रकाशन इन्होंने १८७२ ई० में ही आरम्भ किया था। इस समय तक हिन्दी के नाम पर दो—एक पत्र ही निकल पाये थे। भारतेन्दुकालीन अन्य पत्र—पत्रिकाओं की बाढ़ तो बाद में आयी। अपने पत्रको और अधिक स्थायित्व प्रदान करने के लिए केशवराम भट्ट ने १८७४ ई० में 'बिहारबन्धु प्रेस' की भी स्थापना की थी।

केशवराम भट्ट के साहित्यिक कृतित्व के रूप में उनकी दो पुस्तकें उल्लेखनीय हैं—'सज्जाद सुम्बुल' और 'शमशाद शौसन'। इनकी रचना क्रमशः बँगला की 'शरत् और सरोजिनी' एवं 'सुरेश मोहिनी' नामक कृतियों के आधार पर हुई है। इनकी चर्चा भारतेन्दुयुगीन यथार्थवादी नाटकों के अन्तर्गत की जानी चाहिये। इनमें विभिन्न सम्प्रदाय और विभिन्न वर्गों के पात्रों के चरित्रांकन द्वारा समसामयिक जीवन की विद्रूपताएँ चित्रित की गयी हैं। इन दो नाट्य—कृतियों के अतिरिक्त इन्होंने सामयिक विषयों पर कुछ टिप्पणियाँ (सम्पादकीय) और साधारण ढंग के लेख भी लिखे हैं। 'बिहारबन्धु' के कुछ अंकों में इन्हें देखा जा सकता है।

इनकी भाषा उर्दूप्रधान थी। इनकी कृतियों मे उर्दू—फारसी के शब्दों तथा मुहावरों की भरमार है। इनकी मृत्यु लगभग पचास वर्ष की आयु में सन् १९०५ में हुई थी।

—र० अ०

केशी—केशी का उल्लेख दो रूपों में प्रात होता है—

१.वृहदाकार का अश्वरूपधारी एक राक्षस जो कंस द्वारा कृष्ण—वध के लिए भेजा गया था। वह ब्रज की गायों को मारकर खा जाता था, जिसके भय से गोपों ने गायें चराना बन्द कर दिया, अन्त में कृष्ण ने उसका वध करके ब्रजवासियों को आतंकमुक्त कर दिया। कृष्ण—भक्त कवियों ने भागवत में वर्णित केशी की कथा में भक्ति—भावना का रंग घोलते हुए कृष्ण की असुरसहारक लीलाओं का क्रम वर्णन किया है (दे० सू० सा०, प० २३८)।

२.नाभादास के अनुसार केशी मध्ययुग की एक हरिभक्त परायणा नारी थी।

किन्तु अधिकतर 'असुर केशी' से ही हिन्दी के पाठक परिचित हैं।

—रा० कु०

केसरी कुमार—जन्म सन् १९१९ ई० सदनपुर, पटना में। पटना से हिंदी में एम० ए० हैं। आपकी कहानी, कविता, ललित निबन्ध, शोध एवं समीक्षा मे समान गति है जिनका प्रकाशन विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में हुआ है। आप हिंदी में प्रपद्यवाद के प्रवर्तक हैं। बिहार सरकार की हिंदी प्रगति समिति के आप अध्यक्ष भी रह चुके हैं। पटना विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त कर सम्प्रति राजेन्द्र नगर पटना-१६ से साहित्य सेवा कर रहे हैं।

केसरी कुमार की सेवा हिंदी साहित्य में 'नकेन' के नाम से जानी जाती है। इसका मतलब यह नहीं है कि काव्य में प्रपद्यवाद के सहारे जिस सीमा तक नलिन एवं नरेश पहुँचना चाहते हैं, आप उसके अनुगामी हैं। आपकी अपनी दृष्टि है। हाँ यह अवश्य है कि इनके अर्थ संबंधी प्रयोग शब्द संबंधी प्रयोग की अपेक्षा कम हैं। अर्थ प्रयोगों में उन्होंने ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की जो गोपनीय हैं अथवा परंपरागत सौंदर्य चेतना पर आघात करती हैं। संधि और समास के नये प्रयोगों द्वारा उन्होंने ऐसे प्रयोग किए हैं जिनका लक्ष्य पाठकों को चौंकाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे-उसे-औरुसे और अंधकार-औरंधकार।

आपकी कृतियों में साहित्य और समीक्षा , साहित्य के नये धरातल शंकाएं और दिशाएँ, हिंदी के कहानीकार, भारतेंदु ओर उनके नाटक, प्रसाद और उनके नाटक, पंत और उनका गुंजन, हरिऔध और उनका महाकाव्य, बिरवरेमोती आदि मुख्य हैं।

केशरी नारायण शुक्ल—जन्म १९१४ ई० में उत्तर प्रदेश के बाराबंकी जिले में हुआ। उच्च शिक्षा क्रमशः लखनऊ और काशी विश्वविद्यालयों में हुई। काशी विश्वविद्यालय से उन्होंने १९३७ ई० में एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए उत्तीर्ण की तथा १९४० में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निर्देशन में 'आधुनिक हिन्दी कविता का विकास' विषय पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् वे वहीं अध्यापक हो गये तथा १९४३ ई० में

लखनऊ विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। यहाँ वे १९६२ ई० तक रहे। इस बीच उन्होंने अध्ययन और अध्यापन के सम्बन्ध में यूरोपीय देशों की कई बार यात्राएँ कीं। वे लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल ऑव ओरियन्टल स्टडीज तथा मास्को विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन कर चुके हैं। शुक्ल जी ने हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, फेंच, जर्मन और रूसी भाषाओं की विशेषज्ञता अर्जित की है। १९६२ ई० में वे गोरखपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी–विभाग के अध्यक्ष होकर चले गये, परन्तु १९६९ ई० में वे पुनः लखनऊ चले आये और यहाँ हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। सम्प्रति ये अवकाश प्राप्त करके यहीं साहित्य की सेवा कर रहे हैं।।

शुक्ल जी का कृतित्व शोध और आलोचना के क्षेत्र में विकसित हुआ है। उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं:–१. 'आधुनिक काव्य धारा' २. 'आधुनिक हिन्दी काव्य का सांस्कृतिक स्रोत' ३ 'भारतेन्दु के निबन्ध' ४. 'रूसी साहित्य का इतिहास' ५. 'रूसी लोकसाहित्य' ६. 'मानस की रूसी भूमिका' ७. 'पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त'।

शुक्लजी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य पर उस समय लिखना प्रारम्भ किया, जबकि इस विषय पर समसामयिक पत्रिकाओं में स्फुट लेखों से अधिक लिखने की सम्भावना नहीं थी। सांस्कृतिक संदर्भों में आधुनिक साहित्य को सर्वप्रथम परखने का श्रेय उन्हीं को है। उनकी भाषा और शैली पर आचार्य शुक्ल की शैली की छाप स्पष्ट है जिसमें समस्त शैली में विभिन्न संदर्भों को विश्लेषित करने की पूर्ण क्षमता है।

–रा० कु०

केहरी–ये आचार्य केशव के समकालीन और ओरछानरेश के ही आश्रित कवि थे। 'दिग्विजयभूषण' में दिये हुए छन्द से ये मधुकरशाह के पुत्र रतनसिंह के दरबार के कवि ठहरते हैं। 'शिवसिंह सरोज' और 'दिग्विजयभूषण' में इनका एक ही छन्द दिया गया है, पर इससे उनके वीरतापरक काव्य का संकेत मिलता है। इनकी रचनाएँ प्राचीन संग्रहों में प्राप्त होती हैं।

–सं०

कैकेयी १–अयोध्या के महाराज दशरथ की पत्नी कैकेयी के चरित्र की कल्पना आदिकवि वाल्मीकि की कथागत शिल्पयोजना की कुशलता का प्रमाण है। यद्यपि पौराणिक एवं अन्य रामायणों के ऐतिहासिक साक्ष्यों से कैकेयी कैकयनरेश की पुत्री ठहरती हैं, किन्तु इसके लिए प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। सम्पूर्ण रामकथा में कैकेयी की महत्ता का कारण उनकी वस्तुनिष्ठा है, आदर्शवादिता नहीं। उनका महत्त्व इस दृष्टि से नहीं है कि वे भरत सदृश आदर्शनिष्ठ पुत्र की माता हैं, अपितु इसलिए कि वे मुख्य कथा को अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए एक अप्रत्याशित मोड़ देती हैं।

वाल्मीकि रामायण में कैकेयी स्वाभिमानिनी, सौंदर्यवती एवं सांसारिक लिप्सा के प्रति आकर्षित रमणी के रूप में आती हैं। वाल्मीकि उन्हें प्रारम्भ से ही इस रूप में चित्रित करते हैं कि अपने स्वार्थपूर्ण अधिकार की प्राप्ति के लिए वे स्वभावतः राम को वन भेजने जैसा क्रूर कर्म करने में भी संकोच नहीं करतीं। मन्थरा द्वारा प्रेरणा तथा उत्तेजना पाना वस्तुतः प्रासंगिक मात्र है। वस्तुस्थिति को समझकर वे सौभाग्यमद से गर्वित, क्रोधाग्नि से तिलमिलाती हुई कोप–भवन में प्रविष्ट हो जाती हैं। सम्पूर्ण अयोध्या को शोक–सतप्त करने का कारण बनकर भी उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता और वे अन्ततक वस्तुनिष्ठ ही बनी रहती हैं। उनके चरित्र को वाल्मीकि ने नायक–विरोधी कथागत तत्त्वों से निर्मित किया है।

कैकेयी के विवाह आदि के सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण के अनन्तर राम–कथाकाव्यों में कहीं–कहीं किंचित् भिन्नता मिलती है। 'पउम चरिउ' (पुष्पदत्त) में कैकेयी को ही 'अग्रमहिषी' कहा गया है। दशरथ की प्रथम विवाहित रानी वे ही थीं। 'दशरथ जातक' में कहा गया है कि दशरथ अपनी राजमहिषी की मृत्यु के अनन्तर दूसरी रानी से विवाह करते हैं, जिससे भरत का जन्म होता है। 'पद्मपुराण' में भरत की माता का नाम 'सुरूपा' मिलता है।

वाल्मीकि रामायण की परम्परा में लिखे गये काव्यों और नाटकों में कैकेयी को राम–वनवास के लिए दोषी ठहराया गया है। उनके लिए असहिष्णु, कलंकिनी आदि न जाने कितने सम्बोधनों का प्रयोग करके उनकी निन्दा की गयी है। इसी दिशा में उनके कलंक को दूर करने के लिए 'अध्यात्म रामायण' में सम्भवतः सर्वप्रथम सरस्वती के प्रेरणा की कल्पना की गयी है। तुलसीदास उसी आदर्श को लेकर सम्पूर्ण रामायण में उनके चरित्र को कलुषित होने से बचाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु फिर भी तुलसी की दृष्टि में उनका चरित्र सम्पूर्णतः धुल नहीं पाता। उनके साथ कवि की सहानुभूति कभी नहीं जुड़ पाती। अतः अयोध्यावासियों के मुँह से उनके लिए 'पापिन' 'कलंकिनी' आदि अनेक सम्बोधनों का प्रयोग तो वे करवाते ही हैं, साथ ही स्वयं भी अवसर पाकर 'कुटिल', 'नीच' कहने में संकोच नहीं करते। तुलसी की कैकेयी अन्ततक एकान्त–नीरव, भयावह एवं ग्लानियुक्त ही बनी रहती हैं। कवि उन्हें पश्चात्ताप करने का अवसर भी नहीं देता।

तुलसीदास के अनन्तर लिखे गये राम–साहित्य में कैकेयी के चरित्र–निर्माण की ओर कोई कवि सजग नहीं हो सका। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'साकेत' में जनजीवन की जागरण तथा युग–युग से पीड़ित भारतीय नारी के उत्थान की भावना से प्रेरित होकर कैकेयी के चिर–लांछित, निन्दित और दुःखपर्यवसायी चरित्र को उज्जवल करने का प्रयत्न किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने उनके निन्दित कार्य का कारण न तो दैवी प्रभाव बताया है और न मन्थरा अथवा स्वयं उसके प्रभाव की कुटिलता; वरन् उन्होंने कैकेयी को सरलस्वभाव, सहज वात्सल्यमयी, वात्सल्य की साक्षात् प्रतिमा माता के रूप में चित्रित करते हुए दिखाया है कि जब उनके मन में यह सन्देह पैदा हो जाता है कि राज्याभिषेक के अवसर पर न बुलाने का कारण उनके चरित्र पर सन्देह करना है, तभी उनका आत्माभिमान जाग उठता है और वह आवेशयुक्त होकर सारा विवेक खो बैठती हैं। इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की कैकेयी वाल्मीकि की कैकेयी की भाँति यथार्थवादी, वस्तुनिष्ठ स्वभाव की नारी नहीं हैं, वरन् अत्यन्त भावनाशील, संवेदनशील और भावप्रवण नारी हैं, जिसका वात्सल्य उन्हें अन्धा और विवेकहीन बना देता है। चित्रकूट की सभा में उनके व्यक्तित्व की सराहनीय विशेषताओं का उद्घाटन होता है और उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होता है और वे 'रघुकुल की अभागिन रानी' के रूप में अपना दोष भी स्वीकार करती हैं। वे

क्षमा–याचना के ही सबल तर्कों का प्रयोग नहीं करतीं, अपितु राम के पुनः प्रत्यागमन के लिए अपने अधिकार एवं विनय के प्रयोग से भी पीछे नही हटतीं। इस दृष्टि से कैकेयी के चरित्र का स्वाभाविक विकास 'साकेत' में उपलब्ध होता है। राम–काव्य के अन्य कवियों ने कैकेयी के चरित्र–चित्रण मे किसी उल्लेखनीय विशेषता का संकेत नहीं किया है।

[सहायक ग्रन्थ–रामकथाःडा०कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; तुलसीदासःडा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

–यो० प्र० सिंह

कैकेयी २–केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का १३ सर्गों का विविध मात्रिक छन्दों में रचित प्रबन्धकाव्य है। प्रथम संस्करण आवरण पत्र पर शिवपूजन सहाय द्वारा अभिनन्दित १९५० में पटना से प्रकाशित हुआ है। प्रथम सर्ग में आर्य धर्म के गौरवभाव, वरेण्यता का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में कैकेयी अनार्य अभियान का भयकारी स्वप्न देखती है। तृतीय सर्ग में संघर्षशील यौवन, कर्ममय पौरुष, वास्तविक शान्ति की महिमा, क्रान्ति और कैकेयी के संकल्प के उदय का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग कैकेयी के मातृत्व, वात्सल्य, क्रान्ति के मगल सौन्दर्य–दर्शन, कर्तव्य के द्वन्द्व एवं राम के राज्योत्तर व्यक्तित्व के मानसिक प्रतिघातो का पुंज है। षष्ठ सर्ग भी रक्षात्मिका प्रतिहिंसा की वांछनीयता एवं मातृत्व, सिंदूर तथा कर्त्तव्य के बीच अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् कर्तव्य–संकल्प के विजय का सर्ग है। सप्तम सर्ग युग–धर्म एवं विध्वंस के मूल्यों से सम्बद्ध है। अष्टम सर्ग का विषय दशरथ–कैकेयी–संवाद, दशरथ–व्यामोह का नाश एवं युग–सन्देश–वाहिनी कैकेयी के संकल्प की विजय है। नवम सर्ग राम द्वारा लोकानुभूति एवं ज्ञान, कर्तव्य और सेवा–माहात्म्य का चित्रण है। दशम सर्ग कैकेयी के ममता के समक्ष मनः प्रबोध, एकादश सर्ग कैकेयी के वैधव्य–संकेत में भी अटलता, द्वादश सर्ग भरत–भर्त्सना एवं विबोधन और अन्तिम त्रयोदश सर्ग पंचवटी–वर्णन, कर्तव्य के स्वरूप–चित्रण एवं राम, लक्ष्मण तथा सीता के क्रमशः कर्तव्य, शौर्य और शक्ति रूपों में उपस्थापन से सम्बद्ध है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध कैकेयी की अभिनव चरित्र–कल्पना पर आधृत है। कैकेयी का नव-निर्मित एवं सुष्ठु-विकसित व्यक्तित्व ही सारे काव्य का प्राण तत्त्व और मौलिक उपादान है। शेष दशरथ और भरत–रामादि चरित्र उसके पोषणार्थ आये हैं। रचना की मूल प्रेरणा भारतीय वाङ्मय की उपेक्षिताओं से सम्बद्ध रवीन्द्र का वह प्रसिद्ध लेख है, जिसे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में दुहराया था और जिसे मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'साकेत', 'यशोधरा', 'पंचवटी' आदि में प्रेरणाधार बनाया है। लक्ष्मण, उर्मिला, भरत आदि सभी पात्रों पर आधुनिकयुगीन मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र–परक अध्ययनों की नवीन रश्मियाँ पड़ी हैं। 'प्रभात' जी ने कैकेयी को अपनी सहानुभूति, मानवीयता, बौद्धिकता एवं आधुनिकता का पात्र बनाया है। वाल्मीकि की कैकेयी में मानवीयता हैं और तुलसी ने भी 'मानस' की कैकेयी के अपराध को देव–माया की छाया से कुछ न्यूनतर किया है, पर फिर भी वह जग–कुत्सा की पात्र एक कलंकिनी के रूप में ही उपस्थित हुई है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में मातृत्व एवं पुत्र–स्नेह के मनोविज्ञान की सहानुभूति देकर कैकेयी के चरित्र को मनःशास्त्रीय स्तर पर उठाने का प्रयास किया है। 'प्रभातजी' ने कैकेयी को एक सर्वथा नवीन दृष्टि से देखा है। राष्ट्र–प्रेम, सभ्यता–संस्कृति के अभिरक्षण, धर्मप्रतिष्ठा, युग–धर्म की पुकार, लोक–सेवा के आदर्श, राष्ट्र के लिए वात्सल्य के संवरण एवं युग–कल्याण के लिए सर्वोत्सर्ग की उत्कट चेतना का परिप्रेक्ष्य देकर कवि ने कैकेयी के व्यक्तित्व को एक क्रान्तिकारिणी युग–दर्शिका का स्वरूप प्रदान किया है।

–श्री० सि० क्षे०

कौटिल्य–दे० 'चाणक्य'।

कौरव–कुरू के वंशजों को 'कौरव' कहा जाता है परन्तु धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के लिए 'कौरव' शब्द रूढ़ हो गया है। धृतराष्ट्र और पाण्डु क्रमशः अम्बिका और अम्बालिका के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये दोनों विचित्रवीर्य की पत्नियाँ थीं। इन दोनों को सत्यवतीपुत्र व्यास का औरस पुत्र माना जाता है। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए, जो कौरव कहे जाते हैं और पाण्डु के युधिष्ठिर आदि पाँच पुत्र हुए, जो पाण्डव कहलाते हैं। कौरव और पाण्डवों के ही बीच 'महाभारत' युद्ध हुआ। भक्ति–काव्य में कौरवों का वर्णन मिलता है किन्तु कौरवों के प्रति परम्परा से भारतीय जन–मानस में सहानुभूति की भावना नहीं मिलती। महाभारतसम्बन्धी ऐतिहासिक एवं पौराणिक काव्यों में ('जयद्रथ वध' आदि) 'कौरवों' का उल्लेख प्राप्त होता है।

–रा० कु०

कौशलेन्द्र राठौर–जन्म डालूपुर (एटा) में १८९६ ई० में हुआ। ये खड़ी–बोली के परिष्कारकाल के अत्यन्त प्रतिभावान् कवि हैं। इन्होंने अधिकतर कवित्त छन्द का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा के इस काव्य–रूप को खड़ी–बोली में कवि ने कुछ अधिक चमत्कृत रूप में ही प्रस्तुत किया है। इनका एक संकलन 'काकली' १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी सभी प्रतियाँ स्वयं कवि के साथ घर में आग लग जाने के कारण जल कर भस्म हो गयीं। द्वितीय संस्करण, जिसका सम्पादन हरिशंकर शर्मा ने किया, १९३३ ई० में छपा। स्फुट रूप में कवि की रचनाएँ 'सुधा' और 'माधुरी' में बराबर छपती रहीं।

कौशलेन्द्र के समस्त काव्य में भाषा के निखरे स्वरूप के अतिरिक्त एक ऐसी मर्मस्पर्शिता मिलती है, जो अपनी प्रकृति में अत्यन्त करुण है। इस करुणामय संवेदना से कवि की दुःखद और असामयिक मृत्यु का जैसे कुछ आभास मिलता है। २८ अप्रैल १९३० को घर में भीषण आग लग जाने से परिवार के कई अन्य व्यक्तियों के साथ कौशलेन्द्र की मृत्यु हुई। कवि का एक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है–"काँपता पवन अविराम पन्थ चलने से, धरा हुई धूल भार जग का उठाने से। जलती अनल अपने ही में निरन्तर है, नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से। 'कौशलेन्द्र' जल भी बना कवल प्यास का है, बच सका कौन जगती में दुःख पाने से। डाल दिया मुझको कहाँ हे भगवान्; हाय, दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से।"

–सं०

कौशल्या–कथावस्तु की दृष्टि से रामकाव्य में कौशल्या का

अन्य प्रमुख पात्रों की तुलना में अधिक महत्त्व नहीं है। वे दशरथ की अग्रमहिषी एवं राम जैसे आदर्श पुत्र की माता हैं। उनका सर्वप्रथम उल्लेख वाल्मीकि रामायण में पुत्र—प्रेम की आकांक्षिणी के रूप में मिलता है। वाल्मीकि की परम्परा मे रचित काव्यो और नाटकों मे कौशल्या सर्वत्र अग्रमहिषी के रूप ही चित्रित हैं, केवल आनन्द—रामायण में दशरथ एवं कौशल्या के विवाह का वर्णन विस्तार से हुआ है। गुणभद्रकृत 'उत्तर—पुराण' मे कौशल्या की माता का नाम सुबाला तथा पुष्पदन्त के 'पउम चरिउ' में कौशल्या का दूसरा नाम अपराजिता दिया गया है। रामकथा में अवतार के प्रभाव के फलस्वरूप पुराणों मे कश्यप और अदिति के दशरथ और कौशल्या के रूप में अवतार लेने का वर्णन हुआ है।

परिस्थितिवश कौशल्या जीवनभर दुःखी रहती हैं। अपने वास्तविक अधिकार से वंचित होकर उनका जीवन करुण और दयनीय हो जाता है। अतः उन्हें क्षीणकाया, खिन्नमना, उपवासपरायणा, क्षमाशीला, त्यागशीला, सौम्य, विनीत, गंभीर प्रशांत, विशालहृदया तथा पति—सेवा—परायणा आदर्श महिला के रूप मे चित्रित किया गया है। अपने निरपराध पुत्र के वनवास पर वे अपने इन गुणों का और भी अधिक विकास करती हुई देखी जाती हैं। इस अवसर पर अनेक कवियों न उनके मातृ—हृदय की भूरि—भूरि सराहना की है। इस अन्याय का समाचार सुनकर वाल्मीकि की कौशल्या का संयम और धैर्य टूट जाता है और सांकेतिक शब्दावली का प्रयोग करके वे राम को पिता से विद्रोह करने के लिए प्रेरित करना चाहती हैं। अध्यात्म—रामायण में उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट तथा राम को वन जाने से रोकते हुए चित्रित करके उनके मन की द्विविधा का वर्णन किया गया है तथा उनके हृदय में प्रेम—भावना और बुद्धि का परस्पर संघर्ष दिखाया गया है परन्तु तुलसीदास ने इस प्रसंग के वर्णन में कौशल्या के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है। उन्होंने बड़ी कुशलता से कौशल्या का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित करते हुए कर्तव्य—कर्म और विवेक—बुद्धि की विजय का जो चित्रण किया है, वह अकेला ही तुलसीदास की महत्ता को प्रमाणित करने में सक्षम हैं। इस प्रसंग के अतिरिक्त अन्यत्र भी तुलसी ने कौशल्या के चरित्र की महनीयता चित्रित की है। भरत को राजमुकुट धारण करने का उपदेश तथा वनयात्रा में भरत—शत्रुघ्न से रथ पर चढ़ने का तर्कपूर्ण अनुरोध उनके हृदय की विशालता, बिना किसी भेदभाव के चारों पुत्रों के प्रति उनके मातृ—हृदय का सहज वात्सल्य तथा सभी अयोध्यावासियों के प्रति हार्दिक ममत्व का प्रमाण देता है। मानस में कौशल्या के चरित्र में उच्च बुद्धिमत्ता का भी चित्रण हुआ है। जब वे चित्रकूट में सीता की माता को विषम परिस्थिति में धैर्य धारण करने को कहती हैं, उनके कथन में एक दार्शनिक दृष्टि के साथ—साथ गहरी आत्मानुभूति के दर्शन होते हैं परन्तु मानस से भिन्न 'गीतावली' में तुलसीदास कृष्ण—काव्य की यशोदा की भाँति कौशल्या को एक स्नेहमयी माता के वात्सल्य—वियोग की करुणामूर्ति के रूप में चित्रित करते हैं। मानस में कौशल्या का चरित्र जितना गम्भीर और धैर्यनिष्ठ है, गीतावली में उतना ही संवेद्य और तरल बन जाता है। जब राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ चले जाते हैं, कौशल्या उनके लिए अत्यंत चिन्ताकुल होती हैं। उनकी व्यथा क्रमशः राम—वन—गमन, चित्रकूट से लौटने तथा वनवासी की अवधि समाप्ति के पूर्व के अवसरों पर करुण से करुणतर चित्रित की गयी है।

आधुनिक युग में कौशल्या के चरित्र का मातृ—पक्ष मानस से कहीं अधिक विस्तारपूर्वक बलदेवप्रसाद मिश्र के 'कोशल—किशोर' में उभरा है, किन्तु वह राम की युवा अवस्थातक की घटनाओं तक ही सीमित रह गया है। मैथिली शरण गुप्त के 'साकेत' मे भी कौशल्या का पुत्र—प्रेम स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु चरित्र—चित्रण की सम्पूर्णता तथा प्रभाव—समष्टि उसमें नहीं मिलती। उनकी तुलना में साकेतकार ने कैकेयी पर अधिक ध्यान दिया है परन्तु कौशल्या के चरित्र में आदिकवि से प्रारम्भ होकर तुलसीदास के द्वारा जिस आदर्श की परिणति हुई है, वही वस्तुतः लोकमत में प्रतिष्ठित होकर रह गया है।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा:डा० कामिल बुल्के तथा तुलसीदास:डा० माताप्रसादगुप्त, हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

—यो० प्र० सिं०

कौशिक—दे० 'विश्वामित्र' (मानस १,२४७,३)।

'कौशिक' विश्वंभरनाथ शर्मा—पण्डित हरिश्चन्द्र कौशिक के पुत्र तथा अपने चाचा पण्डित इन्द्रसेन के दत्तक पुत्र पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का जन्म १८९१ ई० (सं० १९४८ वि०) में अम्बाला में हुआ था। उनके पूर्वज मूलतः जिला सहारनपुर के गंगोह नामक कस्बे के निवासी थे। पण्डित इन्द्रसेन के कारण वे अम्बाला से कानपुर चले आये और हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फारसी की शिक्षा प्राप्त करते हुए उन्होंने मैट्रिक परिक्षा उत्तीर्ण की। प्रारम्भ में उनकी रूचि उर्दू की ओर थी। १९०९ ई० से उन्होंने हिन्दी—क्षेत्र में पदार्पण किया और १९११ ई० से नियमित रूप से हिन्दी में लिखने लगे। कानपुर के साप्ताहिक पत्र 'जीवन' में उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाशित हुई। ये रचनाएँ कहानियाँ थीं। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप उन्होंने कुछ बँगला कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया और साथ ही हिन्दी में भी मौलिक कहानियाँ लिखीं। उस समय उन्होंने 'षोडशी' नामक बँगला कहानी—संग्रह में से 'निशीथे' नामक कहानी का अनुवाद किया और 'रक्षाबन्धन' (१९१३ ई०) नामक मौलिक कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित करायी। १९१२ ई० से उनकी कहानियों का प्रकाशन—काल प्रारम्भ होता है। उनकी रूचि विशेषतः कहानियों और उपन्यासों की रचना की ओर ही रही। उत्कृष्ट कथा—साहित्य के निर्माण की दृष्टि से 'कौशिक' का हिन्दी साहित्य में ऊँचा स्थान है। उनकी अपनी बहुत—सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें प्रेमचन्द से पृथक् करती हैं और उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं। १९४५ ई० में उनका देहान्त हो गया।

'कौशिक' की प्रारम्भिक प्रकाशित पुस्तकों में 'भीष्म' (कानपुर, १९१८ ई०) और 'गल्प—मन्दिर' (कानपुर, १९१९ ई०) का उल्लेख किया जा सकता है। उनके मौलिक कहानी—संग्रहों में 'चित्रशाला' (लखनऊ, १९२४ ई० दो भाग) मणिमाला (लखनऊ १९२९) और 'कल्लोल' (मीरजापुर, १९३३ ई०) प्रसिद्ध हैं। उपन्यासों में 'माँ'

(लखनऊ, १९२९ ई०) और 'भिखारिणी' (लखनऊ, १९२९ ई०) उनके उच्चकोटि के उपन्यास हैं। 'रूस का राहु' (रासपुटीन की जीवनी, कानपुर, १९१९ ई०), 'संसार की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ' (कानपुर, १९२४ ई०), 'जारीना' (रूस की महारानी जारीना का जीवन—चरित्र) उनकी अन्य मौलिक एवं संकलित रचनाएँ हैं। 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' शीर्षक चिट्ठियों का एक संग्रह भी 'कौशिकजी' ने प्रकाशित किया था। उनकी अन्तिम रचना 'पेरिस की नर्तकी' (इलाहाबाद) १९४२ ई० में प्रकाशित हुई।

'कौशिकजी' की कहानियों में मानव—हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रस्फुटन अत्यन्त सुन्दर रूप में हुआ है। वे पारिवारिक एवं व्यक्तिगत चित्रण करने में प्रवीण हैं। 'माँ' उपन्यास में यदि माता के वात्सल्य और उदात्त स्नेहमय रूप का यथार्थवादी—आदर्शवादी भूमि पर चित्रण हुआ है, तो 'भिखारिणी' में एक भिखारिनी के अनुराग और अनुपम त्याग की कहानी है। 'माँ' में सुलोचना अपने पुत्र शम्भु को जीवन के प्रशस्त एवं आदर्श मार्ग पर ले जाकर माता के रूप में अपनी महत्ता सिद्ध करती है। सावित्री लाड—प्यार से अपने पुत्र श्याम् को बिगाड़ देती है। 'भिखारिणी' में भिखारिनी जस्सो के चिथड़ों में एक हृदय—रत्न छिपा हुआ मिलता है। उपन्यासों का कथा—सघटन सरल, प्रवाहपूर्ण, स्वाभाविक और सुसम्बद्ध घटनावली से पूर्ण है। उनके पात्र समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं भाषा की व्यावहारिकता, स्वाभाविकता और उसके संयमित रूप ने 'कौशिकजी' की कथोपकथन—शैली में एक अनूठापन उत्पन्न कर दिया है।

'दुबेजी की चिट्ठियाँ' हास्य—व्यंग्य मिश्रित शैली में समकालीन समस्याओं पर विचार हैं। इन चिट्ठियों को उन्होंने विजयानन्द दुबे के नाम से 'चाँद' में प्रकाशित कराया था।

—ल० सा० वा०

क्लार्क—प्रेमचन्दकृत 'रंगभूमि' की कथा में क्लार्क जिले का हाकिम है। मिसेज सेवक ने उसे अपनी पुत्री सोफी के लिए चुना है। व्यक्ति के रूप में क्लार्क धार्मिक प्रवृत्ति का है, सद्गुणी है, सुयोग्य, शीलवान्, उदार और सहृदय है। उसने सोफी के प्रति ही नहीं, विनय के प्रति भी शील का व्यवहार किया। वह शिष्टाचार में प्रवीण है और भौतिक दृष्टि से किसी भी स्त्री को सुखी रख सकता है, किन्तु वह भारत में साम्राज्यशाही का एजेण्ट है। उसमें त्याग और सेवा—भाव नहीं है, उच्चादर्श नहीं है। राजनीति को राजनीति ही समझकर वह प्रजा पर आतंक जमाये रखने में विश्वास करता है। सोफी के व्यवहार से उसमें नैराश्य, दुःख, अविश्वास और क्रोध अवश्य उत्पन्न होता है किन्तु तब भी वह अपनी सज्जनता नहीं छोड़ता।

—ल० सा० वा०

क्लियोपेट्रा—मिस्र देश की असाधारण रूपवती रानी के रूप में प्रसिद्ध है। इसने ज्यूलियस सीजर को आसक्त कर लिया था। सीजर उसे अपने साथ रोम ले गया। सीजर की मृत्यु के अनन्तर वह पुनः लौट गयी और एण्टोनी को अपने रूप से आसक्त कर लिया। एण्टोनी की मृत्यु पर परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार उसने एक विषैले सर्प को अपने वक्षःस्थल पर लपेट कर उसके विष से आत्महत्या कर ली।

—रा० कु०

क्षितिमोहन सेन—आचार्य क्षितिमोहन सेन का जन्म १८८० ई० में हुआ और निधन १९६० ई० में। आपकी शिक्षा क्वीन्स कालेज वाराणसी में हुई। वहाँ से आपने शास्त्री और एम० ए० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। आप रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्ध शिक्षा—संस्थान विश्वभारती के अन्तर्गत विद्याभवन के अध्यक्ष थे। आप मध्यकालीन सन्त—साहित्य के महान् समीक्षक, मर्मज्ञ विवेचक और अन्यतम व्याख्याता एवं शोधकर्ता थे। आपके सतत अनुशीलन और अनुसन्धान ने भारतीय संस्कृति के अभिज्ञान को एक नयी दिशा दी है। भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की आत्मा के पास पहुँचने के लिए कोई भी अध्येता आपके कृतित्व की उपेक्षा नहीं कर सकता। आपकी अब तक लगभग १५ रचनाएँप्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें कुछ के ये नाम हैं—बंगला: 'भारतीय मध्ययुगेर साधनार धारा' (१९३०), 'दादू' (१९३८), 'बलाका काव्य परिक्रमा' 'साहित्यालोचना ग्रन्थ' (१९५२), 'बांगलार बाउल' (१९५४)। हिन्दी: 'भारत में जातिभेद' (समाजशास्त्र)। गुजराती: 'तन्त्र की साधना'। अंग्रेजी: 'मिडीवल मिस्टिसिज्म' (१९३५)।

—सं०

खगेस—दे० 'गरुड़'।

खन्ना—प्रेमचन्दकृत 'गोदान' का पात्र। मिल मालिक खन्ना पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व करनेवाला पात्र है। उसमें स्वार्थ और धनके प्रति जितना मोह है, उतना मानवता के प्रति नहीं। अपनी सीधी—सादी, स्नेह और त्याग की मूर्ति पत्नी, गोविन्दी में उसे कुछ भी आकर्षण दिखाई नहीं देता। इसलिए वह मालती के 'तितली' वाले रूप की ओर आकृष्ट होता है और विलास—आवरण ओढ़े हुए उसे अपनी हृदयेश्वरी बनाने की चेष्टा करता है। प्रेमचन्द ने उसके चरित्र को दो—रुखी चित्रित किया है। एक ओर वह स्वार्थ, विलास और प्रभुता का भक्त था, तो दूसरी ओर त्याग, जन—सेवा और उपकार का। उसके इन अधम और उत्तम रूपों में निरन्तर संघर्ष हुआ करता था। मिल में आग लग जाने के बाद उसके उत्तम रूप की विवृति होती है। दौलत से मिलने वाला सम्मान अब उसे खोखला प्रतीत होने लगता है। उसकी निर्जीव, निराश और आहत आत्मा सान्त्वना के लिए छटपटाने लगती है। यह सान्त्वना उसे गोविन्दी के स्नेहांचल में मिली। खन्ना का अर्थ पर आधारित आत्मसेवा, भोग और विलास में लिप्त, अर्थपरायण जीवन अब ऊँचे और पवित्र मार्ग का अवलम्बन करता है। अब वह आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों के सामंजस्य को वास्तविक धन समझने लगता है।

—ल० सा० वा०

खरदूषण—'खरदूषण' नाम के निम्नलिखित सन्दर्भ मिलते हैं—

(१) एक राक्षस था। खरदूषण रावण तथा सूर्पणखा का भाई था। सुमाली राक्षस की कन्या इसकी माता तथा विश्वावसुमुनि इसके पिता थे। वनवास में पंचवटी में जब लक्ष्मण ने सूर्पणखा के नाक—कान काट लिए तो अपनी भगिनी के प्रतिवाद हेतु यह रामचन्द्रजी से युद्ध करने आया था। उसी समय राम ने इसका वध कर दिया। कहा जाता है कि यह अत्यन्त पण्डित था।

(२) खरदूषण एक राक्षस था, जो कंस का अनुचर था।
(३) रावणपक्षीय एक अन्य राक्षस भी 'खरदूषण' नाम से प्रसिद्ध है।
(४) त्रिजटा नामक राक्षसी के पुत्र का नाम था।
(५) लम्बासुर नामक राक्षस के भाई का नाम था।

रामचरितमानस मे जिस खरदूषण की कथा है, वह सूपर्णखा का भाई खरदूषण है।

—रा० कु०

खलीफा—मोहम्मद साहब के बाद जिस व्यक्ति को धर्मसंरक्षक का कार्य प्राप्त होता था, उसे खलीफा की पदवी दी जाती थी। इस्लाम के अनुसार खलीफा शासक का निर्देशक है। अबूबक्र, उमर, उसमानगनी, अली, आदि प्रमुख खलीफा माने जाते हैं। (देखिए 'काबा—कर्बला')

—रा० कु०

खान कवि—इनके विषय में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका काव्य—रचनाकाल सन् १८६८ ई० का पूर्वकाल है। 'शिवसिंह—सरोज' तथा 'दिग्विजय—भूषण' में इनका केवल एक ही छन्द उद्धृत मिलता है, जिसमें किसी 'रानाजू' की प्रशंसा की गयी है। ये 'राना' कौन थे, कहाँ के रहनेवाले थे, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। शायद यह कवि के आश्रयदाता थे। कवि साधारण श्रेणी का जान पड़ता है।

—रा० त्रि०

खिलजी—'खिलजी' अफगानिस्तान की सीमा पर रहने वाली पठानों की एक जाति का नाम है। भारतीय इतिहास में सल्तनत युग के राजवंशों में खिलजी वंशों (१२९० से १३२० ई० तक) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। खिलजी वंश के शासकों में अलाउद्दीन खिलजी सबसे प्रसिद्ध है। उसकी राज्य—सीमा उत्तर में लाहौर से लेकर दक्षिण में द्वारसमुद्र तक तथा पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में लखनौतीतक थी। वह उग्र साम्राज्यवादी था। हिन्दुओं पर उसने अनेक अत्याचार किये। उसने कठोर सैनिक शासन की स्थापना की थी तथा शासक को इस्लाम के धर्म नेताओं से उच्चतर माना। अलाउद्दीन के अतिरिक्त खिलजी वंश के शासकों में जलालुद्दीन (अलाउद्दीन का पूर्ववर्ती) तथा कुतुबुद्दीन मुबारक शाह का नाम लिया जाता है (दे० 'अलाउद्दीन')।

रा० कु०

खुमान बन्दीजन—खुमान का उपनाम 'मान' था। ये जाति के बन्दीजन थे। बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत चरखारी राज्य के महाराज विक्रमसाहि इनके आश्रयदाता थे। ये छतरपुर राज्य के खरगवा ग्राम के निवासी बतलाये जाते हैं। खुमान के पुत्र का नाम ब्रजलाल बन्दीजन था। मान कवि का कविता—काल १७७३—१८२३ ई० माना जा सकता है। कहा जाता है कि ये जन्मान्ध थे। एक संन्यासी की कृपा से इन्हें कविता का बोध हुआ था। इन्होंने संस्कृत और हिन्दी दोनों में रचनाएँ की हैं।

खुमान ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—(१) 'अमर—प्रकाश' (१७७६ ई०)—यह ग्रन्थ अमरकोश का अनुवाद है। (२) 'अष्टजाम' (१७९५ ई०)—इसमें खुमान ने अपने आश्रयदाता चरखारी के शासक विक्रमसाहि की प्रतिदिन की दिनचर्या का वर्णन किया है। (३) 'नृसिंह चरित्र'—इसमें नृसिंह अवतार का वर्णन हुआ है। (४) 'नीति—विधान'—इसमें दीवान पृथ्वीसिंह का वर्णन किया गया है। (५) 'हनुमत—पचीसी'—इसमें हनुमान् की स्तुति की गयी है। (६) 'हनुमत—नख—शिख' (हनुमान्—नखशिख)—इसमें हनुमान् के रूप का वर्णन है। (७) 'हनुमान—पचक'-इसमें भी हनुमान् की स्तुति एवं प्रार्थना की गयी हैं। (८) 'समरसार'—इसका रचनाकाल १७९५ ई० है। चरखारी के महाराजकुमार धर्मपाल सिंह ने किसी उच्च पदाधिकरी अंग्रेज को वश में किया था। इस कृति में इसी घटना का वीररसात्मक शैली में चित्रण हुआ है। (९) 'लक्ष्मण—शतक'—इस काव्य की रचना १७९८ ई० में हुई थी। इसमें १२९ छन्द हैं। इसमें लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का वर्णन बड़ी प्रभावोत्पादक शैली में किया गया है। वस्तुतः खुमान की कीर्ति का स्तम्भ यही ग्रन्थ है। इसमें ओजस्विनी शब्दावली प्रयुक्त हुई है। खुमान ने अपनी हिन्दी रचनाओं में साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। ये अनुप्रास के बड़े भक्त थे। इस प्रकार भक्ति तथा वीर—काव्यधारा दोनों में खुमान बन्दीजन का एक विशिष्ट स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०; खो० वि० (संक्षिप्त विवरण, भाग १)]

—टी० तो०

खुसरो—दे० 'अमीर खुसरो'।

ख्यात बाँकीदास री—बाँकीदास (१७८१—१८३३ ई०) राजस्थान के प्रसिद्ध चारण कवि थे। इनकी छब्बीस कृतियाँ दो भागों में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से बाँकीदास ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग दस कृतियाँ अप्रकाशित हैं। 'ख्यात' (राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, जयपुर १९५६ ई०) में विशेष रूप से राजपूतों की प्रसिद्ध शाखाओं के सम्बन्ध में राजस्थानी गद्य में सूचनाएँ दी गयी है। कुछ अन्य विषयों से सम्बद्ध सूचनाएं भी हैं। इतिहास की दृष्टि से कृति महत्त्वपूर्ण है।

—रा० तो०

गंग—इनके विषय में अभी तक कोई निश्चित वृत्त ज्ञात नहीं हो सका है। प्रसिद्ध है कि गंग भट्ट नाम के एक कवि अकबर के दरबार में रहते थे। गंग कवि को कुछ लोग ब्राह्मण मानते हैं। गंग के सम्बन्ध में जो कुछ वृत्त ज्ञात हुआ है उससे विदित होता है कि इस नाम के एक ही कवि थे और ये ब्रह्मभट्ट थे। ये अकबर के दरबार में रहते थे। इन्हीं को ब्राह्मण भी कहा गया है। इनका जन्म १५३८ ई० में हुआ माना जाता है। कहते हैं कि रहीम (अब्दुल रहीम खानखाना) इनका बहुत सम्मान करते थे। ये बीरबल, मानसिंह तथा टोडरमल के भी कृपापात्र थे।

गंग के नाम से 'चन्द छन्दवर्णन की महिमा' नामक एक खड़ी—बोली गद्य की पुस्तक प्रसिद्ध है, जिसमें प्रत्यक्ष रूप में अकबर का उल्लेख हुआ है। यदि इसे प्रामाणिक माना जाय तो गंग का अकबर के दरबार में होना सिद्ध होता है। 'गंग ऐसे गुनी को गयन्द से चिराइये' तथा 'गंग को लेन गनेश पठाये आदि कथनों से इस किंवदन्ती की पुष्टि होती है कि इन्हें किसी राजा ने हाथी से कुचलवाकर मरवा डाला था। पर यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता कि वह राजा कौन था। कहते हैं कि नूरजहाँ का भाई जेन खाँ इनसे रूष्ट हो गया था, जिसके कारण इन्हें

जहाँगीर का कोपभाजन होना पड़ा। गंग जैसे स्पष्टवादी तथा निर्भीक प्रकृति के व्यक्ति का ऐसे कष्ट में पड़ जाना तत्कालीन स्थिति के अनुरूप है। यह घटना प्रायः १६२५ ई० की मानी गयी है। इसका साक्ष्य 'सब देवन को दरबार जुरयो' से प्रारम्भ होनेवाले सवैया में तथा गंग की इन पंक्तियों में भी निहित माना जाता है—"संगदिल शाह जहाँगीर से उमंग आज, देते है मतंग मद सोई गंग छाती में।" चन्द्रवली पाण्डे के विचार हैं कि ब्राह्मणों को उकसाने के कारण अकबर के मन्त्री बैरमखाँ ने ही गंग को यह दण्ड दिया था। कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि औरंगजेब ने उन्हें मरवाया था। यह भी कहा जाता है कि वे स्वतः हाथी की चपेट में आ गये थे।

गंग की तीन रचनाएँ प्राप्त हैं—'गंगपदावली', 'गंग पचीसी', और 'गंगरत्नावली'। 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' इनकी एक अन्य कृति कही जाती है, जो खड़ी—बोली गद्य की पहली रचना मानी गयी है। गंग की अद्यावधि प्राप्त रचनाओं का एक सुसंपादित संस्करण 'गंग कवित्त' नाम से काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। इनके 'दिग्विजय भूषण' में उद्धृत तीन छन्द ऐतिहासिक सन्दर्भों को प्रस्तुत करते हैं। दो में बीरबल तथा रहीम की दानशीलता का वर्णन है और एक में मिर्जा भावसिंह (मिर्जा जयसिंह के पिता) के किसी पठान (जालौर के शासक गजनी खाँ) से युद्ध का वर्णन है। भावसिंह की मृत्यु १६२१ ई० में हुई थी।

गंग के अनेक कवित्त काव्य—रसिकों की मण्डलियों में कहे—सुने जाते हैं। निःसन्देह इनमें एक सच्चे कवि की प्रतिभा थी और इनके समय में इनकी अच्छी ख्याति थी। इनके काव्य में आलंकारिक चमत्कार अति—वैचित्र्य तथा वाग्वैदग्ध्य तो पाया जाता है, पर साथ ही सरसता तथा मार्मिकता भी पर्याप्त है। हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों में उनकी चर्चा सर्वोच्च कोटि के कवियों के साथ महाकवि के रूप में होती रही है। इसीलिए भिखारीदास ने तुलसीदास के साथ इनका उल्लेख किया है, यथा—"तुलसी गंग दुवो भये सुकविन के सरदार।"

[सहायक ग्रन्थ—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि:सरयू प्रसाद अग्रवाल; मि० वि०; हि० सा० इ०; दि० भू० (भूमिका)।]

—यो० प्र० सिं०

गंगा—पुराणों के अनुसार गंगा एक पुण्य सरिता का नाम है। पुराणों में गंगा देवी के रूप में वर्णित हुई हैं। विष्णुपदी, मन्दाकिनी, सुरसरि, देवपगा, हरिनदी आदि गंगा के पर्याय हैं। ऋग्वेद में भी गंगा का उल्लेख मिलता है। गंगा की उत्पत्ति एवं स्थिति के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो कथाएँ प्रचलित हैं—

(१) गंगा की उत्पत्ति विष्णु के चरणों से हुई थी। ब्रह्मा ने इन्हें अपने कमण्डल में भर लिया था। ऐसी प्रसिद्धि है कि विराट अवतार के आकाशस्थित तीसरे चरण को धोकर ब्रह्मा ने अपने कमण्डल में रख लिया था। इसके सम्बन्ध में एक भिन्न व्याख्या भी मिलती है। समस्त आकाश में स्थित मेघ का ही पौराणिक गण विष्णु जैसा वर्णन करते हैं। मेघ से वृष्टि होती है और उसी से गंगा की उत्पत्ति हुई।

(२) गंगा का जन्म हिमालय की कन्या के रूप में सुमेरू तनया अथवा मैना के गर्भ से हुआ था। किसी विशेष कारणवश गंगा ब्रह्मा के कमण्डल में जा छिपीं। देवी भागवत के अनुसार लक्ष्मी सरस्वती और गंगा तीनों नारायण की पत्नी हैं। पारस्परिक कलह के कारण उन्होंने एक दूसरे को शाप देकर नदी रूप में अवतरित होकर मृत्यु लोक में निवास करने को बाध्य कर दिया था। फलस्वरूप तीनों ही पृथ्वी पर अवतरित हुईं। पुराणों में गंगा शान्तनु की पत्नी और भीष्म की माता कही गयी हैं।

पृथ्वी पर गंगा—अवतरण की कथा इस प्रकार है—कपिल मुनि के शाप से राजा सगर के साठ हजार पुत्र भस्म हो गये। उनके वंशजों ने गगा को पृथ्वी पर लाने के लिए घोर तपस्या की। अन्त में भगीरथ की घोर तपस्या से ब्रह्मा प्रसन्न हो गये। उन्होंने गंगा को पृथ्वी पर ले जाने की अनुमति दे दी, किन्तु पृथ्वी ब्रह्मलोक से अवतरित होनेवाली गंगा का भार सहन कर सकने में असमर्थ थीं। अतएव भगीरथ ने महादेव जी से गंगा को अपने जटाओं में धारण करने की प्रार्थना की। ब्रह्मा के कमण्डल से निकलकर गंगा शिव की जटाओं में खो गयीं। मार्ग में जह्नु ऋषि अपने यज्ञ की सामग्री नष्ट हो जाने के कारण गंगा को पान कर गये। भगीरथ के प्रार्थना करने पर उन्होंने फिर गंगा को पुनः अपनी जाँघ से निकाल दिया। इसी समय से गंगा का नाम जाह्नवी पड़ा। भगीरथ आगे—आगे चलकर गंगा को अपने पूर्वजों की मातृ—भूमि तक ले आये। इस प्रकार उन्होंने उन्हें मुक्ति दिलायी। भगीरथ के प्रयत्नों से प्रवाहित होने के कारण गंगा को भागीरथी कहा जाता है।

हिन्दी साहित्य में गंगा—माहात्म्य प्रचुर मात्रा में वर्णित हुआ है। भक्त कवियों ने गंगा के माहात्म्य के वर्णन के अतिरिक्त विष्णु के हृदयप्रदेश पर सुशोभित मुक्ता—माला आदि की उपमा गंगा से दी है। इसके अतिरिक्त विषय रूप में भी उसकी महिमा का आख्यान हुआ है (सू० सा०, प० ४५३; मानस १, ११६, २०, १३, ६४)। गंगा का धार्मिक महत्त्व तो स्पष्ट ही है। गंगा के अवतरित होने की कथा पर आधारित रत्नाकर का 'गंगावतरण' नामक प्रबन्ध काव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। पुण्य—सलिला के रूप में तो उसके अनेक सन्दर्भ मिलते हैं।

—रा० कु०

गंगाधर—ये 'महेश्वरभूषण' (सन् १८९५ ई०) के लेखक हैं। इनका उपनाम 'द्विजगंग' था। इनके पिता द्विज बलदेवप्रसाद भी अच्छे कवि थे। इन्होंने महाराज प्रताप रूद्रसिंह के आश्रय मे 'प्रताप—विनोद' नामक अलंकार—ग्रन्थ की रचना की थी। द्विजगंग प्रतापरूद्रसिंह के अनुज महेश्वरवत्स सिंह के आश्रय में थे। इन्हीं के नाम पर 'महेश्वरभूषण' की रचना हुई है। गंगाधर अवधान्तर्गत सीतापुर प्रदेश के रहनेवाले थे। ये सामान्य कोटि के कवि हैं।

—ओं० प्र०

गंगापति—शिवसिंह के अनुसार इनका उदयकाल १६८७ ई० है। मिश्रबन्धुओं तथा ग्रियर्सन ने इनकी 'विज्ञान विलास' नामक रचना का उल्लेख किया है। इसका रचनाकाल १७१८ ई० है। 'दिग्विजयभूषण' तथा 'शिवसिंह सरोज' में उद्धृत छन्द से ये रीतिकालीन परम्परा के श्रृंगारी कवि जान पड़ते हैं।

—सं०

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री—हिन्दी में पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का सूत्रपात करनेवालों में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री अग्रणी हैं।

आपका जन्म मध्यप्रदेश के नागपुर शहर में श्रावणकृष्ण ७, सन् १८७० ई० में हुआ था। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण आपकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो सका। ज्यों–त्यों आप एण्ट्रेंस की परीक्षा में सम्मिलित हुए और अनुत्तीर्ण होकर रह गये। आपनें वैकल्पिक विषय के रूप में मराठी और संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

सन् १८९२ ई० में आप असिस्टेंट सेटिलमेंट आफिसर जगन्नाथ प्रसाद भानु के सम्पर्क में आये। उनकी कृपा से आपको दुहरा लाभ हुआ। जीविका के लिए नकलनवीसी का काम मिल गया और साहित्यिक विकास के लिए निरन्तर प्रेरणा मिलती रही। सबसे पहले आपने चिपलूणकर शास्त्री के 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध का अनुवाद मराठी से हिन्दी मे किया, जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के पहले वर्ष (१८९६ ई०) में पहले अंक में प्रकाशित हुआ। आपको ख्याति मिली और उत्साहित होकर आपने चिपलूणकर शास्त्री की पूरी पुस्तक 'निबन्धमालादर्श' का अनुवाद किया। फिर तो आप बराबर लिखते रहे 'रसवारिका' सं० १९६४ में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से मुद्रित हो चुका है। 'राष्ट्रभाषा' (१८९९ ई०) (मराठी से हिन्दी में अनुवाद), 'प्रणयीमाधव' (मराठी से अनुवाद), 'संस्कृत कविपंचक', 'मेघदूत', 'निबन्धमालादर्श', 'डॉ० जानसन की जीवनी' (अप्रकाशित), 'नर्मदा विहार', 'संसार सुख साधन' (१९१७ ई०), 'किसानों की कामधेनु' आपकी प्रसिद्ध अनूदित और मौलिक कृतियाँ हैं।

आपकी भाषा तत्समप्रधान है। उसमें प्रायः उर्दू शब्दों का अभाव है। अँग्रेजी के बहुप्रचलित शब्दों को आपने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। आप हिन्दी के प्रबल समर्थक थे और उसे ही राष्ट्रभाषा के लिवए सर्वथा उपयुक्त समझते थे।

आपकी सबसे बड़ी देन हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में है। जिस समय हिन्दी में आलोचना के नाम पर या तो पुस्तक–परिचय लिखे जाते थे या रीतिकालीन मानदंडों के आधार पर गुण–दोष विवेचन किया जाता था, उस समय पाश्चात्य समीक्षा–सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाली पद्धति का सूत्रपात करके आपने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

जीवन के अन्तिम दिनों में उन्नति करते हुए आप कोरिया रियासत के नायब दीवान हो गये थे। सन् १९३१ ई० में आपकी मृत्यु हुई।

–रा० च० ति०

गंगाप्रसाद पांडे–जन्म १३ जुलाई १९१८ ई० को कोठी राज्य जिला सतना (मध्य प्रदेश) के कंचनपुर गाँव में हुआ था। ग्रामीण वातावरण, सामंती परम्परा (कोठी राज्य के माध्यम से) और धार्मिकता का व्यापक प्रभाव पांडे जी के मानस पर पड़ा। हनुमानजी पर उनकी पहली कविता है। कोठी राज्य के कवि दरबार और कविराम सुजान सिंह की कविता ने उन्हें यह विश्वास प्रदान किया कि काव्य ही जीवन की सार्थकता है। प्रकृति और राजकुमारों के सहवास का परिणाम भावुकता और आत्मलीनता के रूप में हुआ। उनका विवाह ग्रामीण परम्परा के अनुसार १६ वर्ष से पहले ही कर दिया गया। मिडिल स्कूल में महादेवीजी के संग्रह 'नीहार' के 'मुरझाया फूल' से प्रभावित हुए। मिडिल पास करने के बाद वे प्रयाग आये और मृत्यु पर्यन्त (३० जुलाई १९६८ ई०) प्रयाग में ही रहे। इविंग क्रिश्चियन कॉलेज और प्रयाग विश्वविद्यालय से उन्होंने उच्चतम शिक्षा (एम. ए.) प्राप्त की। इसी बीच उनका सम्पर्क पंत, निराला, शांतिप्रिय द्विवेदी और महादेवी आदि से हुआ। विभिन्न गोष्ठियों 'संगम' 'लहर' और 'साहित्यकार' आदि पत्रो मे उन्होंने सहयोग दिया। 'साहित्यकार संसद' के वे व्यवस्थापक और संचालक सभी कुछ थे। वे शरीर से विशाल काय तथा मन से उसी परिमाण में तरल थे। महादेवी जी की उन पर विशेष कृपा थी। प्रयाग में वे महादेवीजी के साथ ही रहते थे। प्रयाग महिला विद्यापीठ में अध्यापन का कार्य किया। साहित्यिक मित्रों से कॉफीहाउस आदि में बहस या गद्य, पत्रकारिता और अध्ययन यही उनका शगल था। पर्वतीय स्थलों और प्राकृतिक स्थानों की यात्रा वे प्रायः करते थे। साहित्य के प्रति गहरी निष्ठा के कारण उन्होने कहानी, कविता आदि विधाओ मे रचनाएँ की, परन्तु आलोचक के रूप मे ही उनका विशेष योगदान है।

कृतियाँ:– काव्य संग्रह–'पर्णिका' (१९३७ ई०) 'वासन्तिका' (१९४० ई०) 'नवीना' (१९५४ ई०)।
कहानी संग्रहः– 'रोना हँसना' (१९४९ ई०)।
उपन्यासः– 'देखा सुना' (१९५० ई०)।
आलोचनाः– 'आधुनिक कथा साहित्य' (१९४४ ई०)। 'बीसवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ कृति कामायनी' (१९६४ ई०), 'महाप्राण निराला' (१९६७ ई०), 'छायावाद रहस्यवाद' (१९६८ ई०), 'महीयसी महादेवी' (१९६८ ई०)।
निबन्ध संग्रहः– 'नीरक्षीर' (१९३९ ई०)।
संस्मरणः– 'ये दृश्य ये लोग' (१९६८ ई०)।

पांडेजी की साहित्यिक दृष्टि जीवन के राग और उल्लास से सम्बद्ध थी। वे यह मानते थे कि "साहित्य की महत्ता मानव मन की सरस और रागात्मक अभिव्यक्ति में है। इसी आदर्श को सामने रखकर हमें साहित्य की चर्चा करनी चाहिए।" उनके तीनों काव्य संग्रहों में यह जीवन दृष्टि है। 'पर्णिका और वासन्तिका' में किशोर सुलभ भावुकता का जहाँ आधिक्य है, 'नवीना' में छायावादी परिपक्वता अधिक है। इसकी अंतिम कविताओं में नयी कविता का 'रूप' भी प्रयुक्त किया गया है। 'पर्णिका' पर प्रसाद और 'वासन्तिका' तथा 'नवीना' पर महादेवी का प्रभाव और अनुकरण दोनों है। वस्तुतः यह छायाभासी कविताएँ हैं न कि छायावादी कविताएँ। 'हँसना रोना' में संकलित १२ कहानियों में 'किशोर सुलभ भावुकता' के बावजूद 'दीनू की दीवाली' और 'हँसना रोना' कहानियाँ प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियों का स्मरण करातीं हैं। कहानियों में कौतूहल और रोमांस की प्रधानता के बावजूद कविताओं से अधिक रचनात्मकता है। यथार्थ के प्रति संस्कारी दृष्टि के बावजूद उनके उपन्यास में सामाजिक जीवन के यथार्थ का भावुक प्रयोग है। 'देखा सुना' नाम भी आदर्शमूलक यथार्थता का द्योतक है।

पांडेजी छायावादी आलोचक थे और इसी रूप में उनका मूल्यांकन होना चाहिए। अनुभूति की व्यापकता और गहराई में यथार्थ का कितना महत्त्व है इसका स्पष्ट विवेचन किये बिना ही वे प्रगतिवाद की भाषिक देन और दृष्टिकोणीय उन्मुखता को अस्वीकार करते हैं। वह छायावाद को विराटता और सूक्ष्मता के आधार पर मूल्यांकित करते हैं। 'छायावाद और रहस्यवाद' नामक पुस्तक में विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण

छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है; स्वीकार करके वे छायावाद के विषय का संकेत करते हैं। विस्मय, मानसिक आकुलता और प्रेम प्रकाश की प्राप्ति छायावाद की तीन अवस्थाएँ मानते हैं। छायावादी काव्य की विशेषता उनके हृदय में सदैव स्थिर रहेगी, ऐसी पांडेजी की प्रतिज्ञा है। (छायावाद और रहस्यवाद पृ० ११६) 'नीर–क्षीर' निबन्ध संग्रह में छायावाद से सम्बद्ध तीनों निबन्धों का 'छायावाद रहस्यवाद' में उपयोग किया गया है। 'महीयसी महादेवी', महाप्राण निराला' और 'बीसवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ कृति कामायनी' की आपस में तुलना करने पर लगता है कि पांडेजी निराला को छायावाद का प्रौढ़तम सर्जक मानते थे। यद्यपि पुस्तक में संस्मरण अधिक हैं आलोचना कम, परन्तु निरालाजी के मानस (सर्जक के मानस) का आभास इसमें निश्चय ही होता है। पांडेजी ने निराला के प्रति श्रद्धा भाव से ही सब कुछ लिखा है। 'कामायनी' से सम्बद्ध पुस्तक में प्रत्येक सर्ग का व्याख्यात्मक विवेचन है। इस पुस्तक की अपेक्षा इनकी पहली पुस्तक अधिक समीक्षात्मक है। काव्य से सम्बद्ध इनकी आलोचनाओं से कविता में पैठने की दृष्टि मिलती है। काव्यत्त्व की पहचान और महत्ता का भी उन्हें गहरा अनुभव है। रचना की व्यापकता को वे वैयक्तिकता की ही व्यापकता के रूप में स्वीकार करते हैं। 'महीयसी महादेवी' में महादेवी के रचनात्मक व्यक्तित्व का श्रद्धाविगलित आख्यान ही नहीं, काव्य की प्रभाववादी समीक्षा भी है। पांडेजी प्रारंभ से अंत तक धारा के विरूद्ध बहने वाले आलोचक और रचनाकार नहीं थे। पर उन्होंने धारा के साथ भी बहना नहीं सीखा था। वे वस्तुतः स्थिर और निर्मल जलाशय में ही तैरने के आदी थे।

कथा साहित्य से सम्बद्ध लेखों और पुस्तकों को पढ़कर लगता है कि इस दिशा में उनकी पकड़ काव्य की आधुनिक कथा साहित्य में कहानियों और उपन्यासों की संस्कारिकता से न मुक्त होने के बावजूद अच्छी समीक्षा की है। स्थिर व्यक्तित्व के व्यक्ति होने के नाते वे रचनात्मकता को महसूस करते हुए भी स्वीकार नहीं कर पाते थे। जैनेन्द्र और अज्ञेय की सर्जनात्मक उपलब्धि को वस्तु शिल्प आदि में नया और महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उन्हें लगता था कि 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में या तो ''मानवातीत प्रेम प्रतीत होता है या मानवता की आड़ में वासना का विकृत रूप''। रचना समग्रता में अधिकांश निषेधों से ऊपर उठ जाती है पर पांडेजी नहीं मानते थे। वे अवयव और अवयवी में दोनों को समान महत्त्व देते थे। अवयवी की सुन्दरता का स्वतंत्र प्रतिमान (समग्रता में) न मानकर उनका माध्यम अवयव का सौन्दर्य ही था। मनोविज्ञान, यथार्थता आदि की दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी उनकी दृष्टि में सफल कथाकार थे। तथ्य और यथार्थ दोनों को रचना में भाव की अपेक्षा गौण महत्त्व देने के बावजूद उन्हें जोशी और प्रेमचन्द प्रिय थे। उनके संस्मरणात्मक ग्रन्थ 'ये दृश्य ये लोग' में वर्णनात्मक भाषा और भावुकता की समतुलित स्थिति के कारण शक्ति और प्रभावात्मकता दोनों है।

काव्य की शक्ति और सीमा की जानकारी पांडेजी के निबंधों और आलोचनात्मक ग्रंथों की विशेषता है। रचनाकार और भोक्ता को वह एक ही मानकर आलोचना करते हैं। बल्कि कहना तो उचित होगा कि रचनाकार का रचनात्मक महत्त्व ही उसका व्यक्तित्व है। हर बड़े रचनात्मक व्यक्तित्व ने उन्हें प्रभावित किया है। प्रभाववादी समीक्षक होने के बावजूद उनकी कथा साहित्य सम्बंधी दृष्टि व्याख्यात्मक है। काव्य और कथा साहित्य की आलोचना के रचनात्मक विधाओं को संरचना के अनुसार अलग समीक्षा पद्धतियों का प्रयोग उनकी विशिष्टता प्रतीत होती है।

—स० प्र० मि०

गंगाप्रसाद सिंह, अखौरी—जन्म १९०१ ई० मे हुआ। 'विश्वदूत' (कलकत्ता) तथा 'भारतजीवन', आदि पत्रों के सम्पादकीय विभाग में कार्य किया। 'हिन्दी में मुसलमान कवि', 'देवदास', 'अभागिनी' 'पद्माकर की काव्य साधना' (सं० १९९१) आदि आपकी प्रकाशित रचनाएँ हैं। कुछ दिनों तक आप 'भारतमित्र' के व्यवस्थापक भी रहे।

—सं०

गंगाप्रसाद उपाध्याय—जन्म ६ सितम्बर, १८८१ ई० को नदराई (कासगंज) में हुआ। एम० ए० की उपाधि अंग्रेजी साहित्य (१९१२) तथा दर्शन में (१९१३) प्रयाग विश्वविद्यालय से प्राप्त की। १९१८ में सरकारी नौकरी छोड़कर डी. ए० वी० हाईस्कूल, इलाहाबाद में प्रधान अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए और १९३९ तक इसी पद पर कार्य करते रहे। आर्य समाज के आन्दोलन में सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को अग्रसर तथा पुष्ट करने में जिन विचारकों का योग रहा है, उनमें उपाध्यायजी भी एक हैं। अंग्रेजी तथा हिन्दी माध्यम से प्रमुखतः धर्म, दर्शन तथा संस्कृति सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। वृद्धावस्था में भी आपकी निष्ठा और उत्साह में कोई कमी नही आयी।

प्रमुख कृतियाँ—हिन्दी में : 'अंग्रेज जाति का इतिहास' (१९२२), 'विधवा विवाह मीमांसा' (१९२३), 'आर्यसमाज' (१९२४) 'आस्तिकवाद' (१९२६), 'अद्वैतवाद' (१९२८), 'सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह' (१९३८), 'सनातन धर्म और आर्यसमाज' (१९५१), 'जीवन चक्र' (१९५४), 'मीमांसा रहस्य' (१९६१)। अंग्रेजी में : रीजन एण्ड रिलीजन' (१९३९), 'आई एण्ड माई गॉड' (१९३९), 'वैदिक कल्चर' (१९४९), कम्यूनिज्म' (१९५०), 'फिलॉसफी ऑफ दयानन्द' (१९५५), 'सोशल रिकंस्ट्रक्शन बाई बुद्ध एण्ड दयानन्द' (१९५६)।

—सं०

गंगाभरण—गन्धोलीनिवासी नन्दकिशोर मिश्र, उपनाम 'लेखराज' ने सन् १८७८ में 'गंगाभरण' की रचना की। इसका प्रकाशन सूर्यवली लाल ने गन्धोल (सिधोली, जिला सीतापुर) से १९११ ई० में किया था। यह छोटी सी अलंकार पुस्तक दोहे तथा कवित्तों में लिखी हुई हैं। कवि में भक्ति की प्रबलता है। उसने अलंकारों के व्याज से गंगा का गुणगान किया है—''कहे लेखराज लिखो लख कवि—पन्थ या ते, अलंकार मिस कीन्हों गंगा गुन गान मैं।'' 'गंगाभरण' के तीन भाग हैं—प्रथम में अर्थालंकार प्रायः 'भाषाभूषण' के अनुसार हैं। द्वितीय में शब्दालंकार के पाँच भेद दिये हैं। तृतीय में चित्रकाव्य में ६ भेदों का वर्णन है। पुस्तक सामान्य एवं सरल है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० अ० सा०।]

—ओं० प्र०

गंगालहरी—पद्माकर की अन्तिम रचना। अतः इसका रचनाकाल सन् १८३० ई० के आसपास माना जा सकता है। अन्तिम समय निकट समझ कर पद्माकर गंगा—तट पर निवास करने की दृष्टि से सात वर्ष कानपुर मे रहे। इन्ही वर्षों में उन्होंने 'गंगालहरी' की रचना की, जिसमें उनकी विरक्ति तथा भक्ति—भावना अभिव्यक्त हुई है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं, जिससे इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसका प्रथम सस्करण श्रीधर शिवलाल द्वारा बम्बई से १८७४ ई० मे प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त दिलकुशा प्रेस, मुरादाबाद से १८८६ ई० में; रामस्वरूप शर्मा द्वारा मुरादाबाद से १८९९ ई० में; जैन प्रेस, लखनऊ मे १८९९ ई० में इसके विभिन्न संस्करण निकले।

—स०

गंगावतरण— 'गंगावतरण' जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का एक आख्यानक प्रबन्ध काव्य है। इसकी समाप्ति सन् १९२७ ई० मे हुई और प्रकाशन १९३३ ई० मे हुआ। इसमें कपिल मुनि के शाप से भस्म हुए सगर के साठ हजार पुत्रो के उद्धार के लिए भगीरथ के अथक प्रयास से गंगा के अवतरित होने की कथा विस्तार से तेरह सर्गों के अन्तर्गत रोला छन्दों में कही गयी है। कथानक का मूल स्रोत वाल्मीकीय रामायण है। भाषा ब्रज और मुख्य रस श्रृंगार, करुण एवं वीर हैं। चरित्रों में सगर धर्मनिष्ठ, अशुमान् विनयशील, दिलीप प्रजावत्सल और भगीरथ कर्मठ हैं। रत्नाकर की रचनाओ में 'उद्धव—शतक' के बाद इसी का स्थान है।

—स० ना० त्रि०

गंगाशंकर मिश्र—जन्म सन् १८८७ ई०, स्थान भगवन्त नगर (जिला हरदोई)। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९१७ ई० में एम० ए० पास किया। विश्वविद्यालय में एम० ए० की वह प्रथम परीक्षा थी, जिसमें दो ही छात्र थे—उनमें एक मिश्रजी भी थे। सन् १९१९ ई० में महामना मालवीयजी ने आपको विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया। १९४७ ई० तक आप उक्त पद पर काम करते रहे। काशी से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'इन्दु' में आपका पहला लेख प्रकाशित हुआ था। तब से आप बराबर पत्र—पत्रिकाओं में महत्त्वपूर्ण लेख लिखते रहे। 'किताबी कीड़ा' के नाम से आप बहुत दिनों तक दैनिक 'आज' में अनेक तरह के खोजपूर्ण लेख लिखते रहे। उन दिनों आपके उन लेखों की विद्वानों में काफी चर्चा हुआ करती थी और लोग 'किताबी कीड़ा' के पाण्डित्य पर मुग्ध थे। आपकी लिखी दो पुस्तकें काफी प्रसिद्ध हुई हैं—'भारतवर्ष का इतिहास' तथा 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य'। मिश्रजी का अध्ययन बहुत ही गम्भीर है। आप काशी और कलकत्ता से निकलने वाले हिन्दी दैनिक 'सन्मार्ग' के सम्पादक थे। सन् १९६७ में आपका देहान्त हुआ।

—दे० द्वि०

गंजन—काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका समय सन् १७२८ ई० के आस—पास है। इनके ग्रन्थों में वंश—परिचय है। प्रपितामह मुकुटराय अकबर के कृपापात्र थे। मुकुटराय के पुत्र थे मानसिंह। मानसिंह के पुत्र गिरिधर, गिरिधर के पुत्र मुरलीधर और उनके पुत्र गंजनराय हुए। इनकी कविप्रतिभा बहुत प्रखर नहीं थी। अपने कृपालु अमीर और दिल्ली बादशाह के (बादशाह मुहम्मदशाह के) वजीर कमरूद्दीन खाँ की प्रशंसा करने के लिए सन् १७३० ई० मे इन्होंने 'कमरूद्दीन खाँ हुलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें ३२७ छन्द हैं। इसका मुख्य उद्देश्य अपना वंश परिचय देना और अमीर तथा अपने प्रपितामह मुकुटराय की प्रशंसा करना ही प्रतीत होता है। वैसे भावभेद, रस—भेद के साथ षटऋतु का वर्णन आता है, किन्तु ऋतुवर्णन में विलास और ऐयाशी के सामानों की गणना ही अधिक है। गजन की कृति में भाषा और कवित्वशक्ति दोनो का ही अभाव है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० भा० सा० इ०:चतुरसेन।]

—ह० मो०

गंधर्व—'गन्धर्व' नाम से निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होते हैं—

(१) गन्धर्व एक वैदिक देवता है, जिन्होंने विश्व का रहस्य जानकर उसे जन—साधारण के लिए प्रकट किया।

(२) कद्रपुत्र एक सर्प का भी नाम गन्धर्व है।

(३) गन्धर्व देवताओ की एक जातिविशेष है, जिनका निवास स्वर्ग तथा अन्तरिक्ष था। इनका मुख्य कार्य देवताओं के लिए सोमरस तैयार करना था। गन्धर्व स्त्रियों के अपूर्व अनुरागी थे और उन पर अपूर्व अधिकार रखते थे। अथर्ववेद में ६३३३ गन्धर्वों का उल्लेख किया गया है। इन्हें औषधि तथा वनस्पतियों का विशेषज्ञ बताया गया है। 'विष्णु पुराण' के अनुसार गन्धर्वों की उत्पत्ति ब्रह्मा से तथा 'हरिवंश' के अनुसार ब्रह्मा की नाक से हुई थी। गन्धर्वों में चित्ररथ प्रधान कहे गये हैं। मतान्तर से चित्ररथ की उत्पत्ति कश्यप की पत्नी मुनि से हुई। कहा जाता है कि गन्धर्व और नागों का युद्ध हुआ था। महाभारत के अनुसार गन्धर्व एक जातिविशेष थी, जो जंगलों में रहती थी। नागों ने विष्णु की अनुमति से अपनी भगिनी नर्मदा को पुरुकुत्स के पास भेजकर इनका संहार करवाया था।

—रा० कु०

गज—'गज' से सम्बद्ध अनेक कथासन्दर्भ मिलते हैं—

(१) दुर्योधन के मामा शकुनि के एक भाई का नाम गज था।

(२) 'गज' एक वीर बालक था, जो राम-सेना के सेनापतियों में-से एक था।

(३) 'गजासुर' नाम से प्रसिद्ध एक दैत्य भी 'गज' कहलाता है।

भक्तिकाव्यों में 'गज' के उद्धार की कथा का उल्लेख मिलता है।

—रा० कु०

गजाधर—प्रेम चन्दकृत 'सेवासदन' का पात्र। सुमन का पति, निर्धन, कृपण और संयमशील गजाधर अपनी पत्नी की 'खा-पी-बराबर' वाली प्रवृत्ति के कारण परेशान रहनेवाला व्यक्ति है, किन्तु प्रेम और परिश्रम से सुमन के हृदय पर विजय प्राप्त न कर वह उसपर शासनाधिकार जमाना चाहता है, जिसके फलस्वरूप पति-पत्नी में तनाव पैदा हो जाता है। सुमन सुन्दर है किन्तु निर्धन की पत्नी है। इससे गजाधर को उसके चरित्र के सम्बन्ध में बराबर सन्देह बना रहता है और अन्त में वह उसे घर से निकाल देता है। आगे चलकर उसे अपनी

असज्जनता और निर्दयता पर क्षोभ होता है, क्योंकि उसी के कारण सुमन को वेश्या-वृत्ति धारण करनी पड़ी। गजाधर गजानन्द नाम से साधु हो जाता है। वह आत्मघात न कर अपनी आत्मा की कालिमा धोने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। वह आत्मबल विकसित करने में प्रवृत्त होता है और कई अवसरों पर सुमन, कृष्णचन्द्र आदि को आत्महत्या करने से बचाता है। वह अपने उच्च भावों से सुमन को सेवा-मार्ग की ओर ले जाता है।

—ल० सा० वा०

गजानन माधव 'मुक्तिबोध'—जन्म १३ नवम्बर १९१७ को श्यौपुर (ग्वालियर) में हुआ था। आरम्भिक शिक्षा उज्जैन में हुई। इन्दौर के होल्कर से सन् ३८ में बी० ए० करके उज्जैन के माडर्न स्कूल में अध्यापक हो गए। सन् ४० में मुक्तिबोध शुजालपुर के शारदा शिक्षा सदन में अध्यापक होकर गए। आगरा से नेमिचन्द्र जैन वहाँ पहुँच गए थे। प्रभाकर माचवे भी अक्सर आ जाते। 'तार-सप्तक' की मूल परिकल्पना भी यहीं बनी। सन् ४३ में अज्ञेय के सम्पादन में 'तार-सप्तक' का प्रकाशन हुआ जिसकी शुरूआत मुक्तिबोध की कविताओं से होती है। सन् ४५ में मुक्तिबोध बनारस् गए और 'हंस' के सम्पादन में शामिल हुए। वहाँ से जल्दी ही जबलपुर लौट आए और फिर नागपुर जा निकले। नागपुर का समय बीहड संघर्ष का समय था; किन्तु रचना की दृष्टि से अत्यन्त उर्वर। 'नया खून' साप्ताहिक में वे नियमित रूप से लिखते रहे। सन् ५४ मे उन्होने नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया जिसके फलस्वरूप राजनाँदगाँव के दिग्विजय कालेज में नियुक्त हुए। उनकी कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कविताएँ यहीं लिखी गईं। कृतियाँ :

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' -कविता-संग्रह : १९६४.

२. 'एक साहित्यिक की डायरी' -१९६५ 'वसुधा' में धारावाहिक रूप से छपी थी]:

३. 'कामायनी : पुनर्विचार' [आलोचना; १९५२] ४. 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध' [१९६८]; ५. 'काठ का सपना' [कहानी संग्रह १९६६]। इनके अलावा अनेक गद्य और पद्य रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं। एक लबी बीमारी के बाद मुक्तिबोध की मृत्यु १९६४ ई० मे हुई।

मुक्तिबोध मूलतः कवि हैं। उनकी आलोचना उनके कवि व्यक्तित्व से ही निःसृत और परिभाषित है। वही उसकी शक्ति और सीमा है। उन्होंने एक ओर प्रगतिवाद के कठमुल्लेपन को उभार कर सामने रक्खा, दूसरी ओर नयी कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश किया। यहाँ उनकी आलोचना दृष्टि का पैनापन और मौलिकता असन्दिग्ध है। उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा में तेजस्विता है। प्रसाद, शमशेर, कुंवरनारायण जैसे कवियों की उन्होंने जो आलोचना की है, उसमें पर्याप्त विचारोत्तेजकता है और विरोधी दृष्टि रखने वाले भी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। काव्य की सृजन प्रक्रिया पर उनका निबन्ध महत्त्वपूर्ण है। खासकर फैण्टेसी का जैसा विवेचन उन्होंने किया है, वह अत्यन्त गहन और तात्त्विक है। उनकी यह पहचान भी महत्त्वपूर्ण है कि 'जिस कवि में आत्मनिरीक्षण जितना तीव्र होगा वह कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्स से उतना ही जूझ सकेगा।''

इसका यह मतलब नहीं कि मुक्तिबोध की आलोचना सदैव विश्वसनीय और कारगर ही होती है। उसकी सीमाएँ हैं और ये सीमाएँ उनकी मार्क्सवादी दृष्टि-आग्रह का अनिवार्य परिणाम हैं। इसी के चलते वे प्रसाद के साथ न्याय नहीं कर पाए। इसे एक विडम्बना ही कहेंगे कि नयी कविता के दोनों महारथियों ने अज्ञेय और मुक्तिबोध ने प्रसाद के साथ अन्याय किया। *मुक्तिबोध का अन्याय ज्यादा तार्किक आधारों पर टिका हुआ है'*- इतना जरूर है। जीवन-दर्शन उनका चाहे जितना भिन्न रहा हो, रचना दर्शन में मुक्तिबोध प्रसाद के ही कायल जान पड़ते हैं। दार्शनिक पार्श्वभूमि का वही आग्रह, एलेगरी और फैण्टेसी का वही आकर्षण, यथार्थ के प्रति वैसी ही आसक्ति किन्तु आदर्श का भी उतना ही सम्मोहन दोनों में समान रूप से सक्रिय देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की आलोचना का प्राणतत्त्व वही है जो उनकी कविता का भी प्राणतत्त्व है : उनका निरन्तर आत्मसंघर्ष। इसी से वह हमें बाँधती नहीं, मुक्त करती है। उनसे असहमत होना भी उतना ही स्फूर्तिप्रद होता है, जितना उनसे सहमत होना। उन्होंने नयी कविता का अपना शास्त्र ही गढ़ डाला है, पर वे निरे शास्त्रीय आलोचक नहीं है। उनकी कविता की ही तरह उनकी आलोचना में भी वही चरमता है ईमान और अनुभव की वही पारदर्शिता, जो प्रथम श्रेणी के लेखकों में पाई जाती है। उन्होंने अपनी आलोचना द्वारा ऐसे अनेक तथ्यों को उद्घाटित किया है जिन पर साधारणतः ध्यान नहीं दिया जाता रहा। 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' तथा 'व्यक्ति के अन्तःकरण के संस्कार मे उसके परिवार का योगदान' उदाहरण के रूप में गिनाए जा सकते हैं।

मुक्तिबोध की कविता और कथा कृतित्व एक चीख है उस अयथार्थ बौद्धिकता और अयथार्थ कलात्मकता के विरुद्ध, जिसके चलते बहुत जल्दी नयी कविता में गतिरोध के लक्षण आ गए थे। मुक्तिबोध की कविता के कवितापन के बारे में बहुत से लोग शंकित और परेशान हैं। उन्हें जवाब इस विरोधाभासी तर्क द्वारा ही दिया जा सकता है कि यह कविता न सही, कविता को पैदा करने वाला तेज खमीर तो है ही। कविता से बड़ा कवित्व है यह। ''अरे जन-संग ऊष्मा के बिना व्यक्तित्व के स्तर जुड़ नहीं सकते''....''कि अपनी मुक्ति के रस्ते अकेले में नहीं मिलते''...जैसी पंक्तियों को इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। यह ऐसी कशिश है जो कविता को तोड़-फोड़ देती है; उसे गद्य के इतना समीप ले आती है कि जितना समीप लाने का साहस किसी अन्य कवि ने नहीं किया। यह मुक्तिबोध की ईमानदारी का तकाजा है कि ....''अपना भाव दबा डालने की मेरी आदत है, यह मेरी बौद्धिक संस्कृति है। किन्तु इसमें एक आत्म-विरोध भी है। वह निस्संगता जल्दी ही खुलने लगती है। मन चाहता है सभी साथी रहे, नशा रहे।''...निस्सन्देह मुक्तिबोध रोमैण्टिक हैं। पर यह सरल रोमान नहीं है। उसमें चरमता है आवेग की और निश्चित सुपरिभाषित बौद्धिक यन्त्रणा भी। 'एक साहित्यिक की डायरी' में मुक्तिबोध लिखते हैं :—''नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती.....परम स्वाधीन है वह विश्व यात्री है'', तब हमारे निकट यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कवि कर्म को कितनी गंभीरता से लेते हैं। ऐसे

कवि की रोमैण्टिकता में भी एक चरमता होती है, जो उसे हमारे लिए सार्थक बनाती है। इस दृष्टि से हिन्दी कवियों के बीच मुक्तिबोध की विलक्षणता स्वतःसिद्ध है। हमें यह भी पहचानना होगा कि मुक्तिबोध की कविता अकेले मुक्तिबोध की कविता नहीं है। उसमें हमारे भारतीय समूह-जन की कहना चाहिए समूह मन की—भी कविता शामिल और सक्रिय है। नामवर सिंह का यह कथन सही लगता है कि "मुक्तिबोध की भाषा 'काव्यात्मक' नहीं है, इस आरोप से उसकी व्यंजकता असिद्ध नहीं हो जाती।"

मुक्तिबोध में प्रसाद की विचारपरकता और निराला की आवेगात्मकता का आदर्श संतुलन नहीं तो कम से कम उनके दूसरे सहयोगियों की तुलना में एक अधिक संतोषप्रद मेल अवश्य मिलता है। छायावाद और नयी कविता के बीच जो एक दरार सी है उसे मुक्तिबोध का काव्य-व्यक्तित्व पूरी तरह पाटता है। व्यक्तित्व की खोज की बात उस वक्त के रचना सन्दर्भ में जितनी जरूरी थी उतने ही मूलभूत महत्त्व की बात यह देखने की भी थी कि व्यक्ति के अस्तित्व की जड़ें जिस समाज, परिवेश और इतिहास में हैं, वह अपने-आप में कितना रचनात्मक या रचना-द्रोही हैं, स्वयं अपने-आप में कितना जड़ और गतिशील है। जरूरत थी ऐसे कवि की जो सामाजिक अस्तित्व की दी हुई शर्तों पर अपने व्यक्तित्व व कृतित्व की शोध करता। आखिर कोई रिश्ता, कोई अनुपात तो होता होगा व्यापक जीवन और उसको अभिव्यक्त करने का दावा करने वाले साहित्य के बीच। जो 'कला' हमारे जीवन में नहीं है, जो सौन्दर्य और लय हमारे परिवेश में नहीं है, वह हमारे साहित्य में आए भी तो क्या एक फाँक पैदा नहीं होती? स्थिति की माँग थी कि कविता और आलोचना का दुहरा दायित्व ढोने वाली अपराध बोध सम्पन्न कविता सामने आए चाहे इसके लिए कविता कला की कितनी भी जोखम क्यों न उठानी पड़े।

मुक्तिबोध की कविता में एक अद्‌भुत स्नायविक ऊर्जा है जो उनकी तथाकथित रूपहीनता का प्रतिकार करती है। उन्होंने कविता के लिए कविता को नष्ट किया। उनकी कविताओं में पुरानी छन्द-गतियों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक और सटीक लगता है। इससे पूरी हिन्दी कविता का मिजाज गहरे में बदलता है। छन्दों का बासीपन झड़ता है। परम्परा और प्रयोग के सर्जनात्मक सम्बन्ध का जो नया आयाम प्रयोगवाद ने खोला था, उसमें मुक्तिबोध का जो महत्त्व है वह अज्ञेय के महत्त्व का पूरक है। मुक्तिबोध की कविता का पिछड़ापन हमारे समाज का पिछड़ापन है। यही नहीं मुक्तिबोध की कविता हमारे समाज के भावात्मक, बौद्धिक और आवेगात्म पिछड़ेपन से अपने को समरस करके ही संभव हुई है। यही कारण है कि मुक्तिबोध का कृतित्व हमें एक नियमित प्रेरित अनिवार्य घटना की तरह लगता है।

मुक्तिबोध का रोमानी आदर्शवाद आधुनिक साहित्य की शर्तों के खिलाफ जाता है। प्रसाद ने अपने स्वभाव और परिस्थिति में बद्धमूल रोमानियत को भारतीय संस्कृति और दर्शन के व्यक्तिगत पुनर्मूल्यांकन द्वारा संतुलित निराकृत किया था। मुक्तिबोध वैसा नहीं कर सके। उन्होंने मार्क्स की प्रासंगिकता को संवेदना के स्वर पर उद्‌घाटित किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह काम उनसे ज्यादा अच्छा तरह कोई नहीं कर सका। उनका चिंतन भी एक प्रकार से मार्क्स का अपनी चेतना में पुनराविष्कार है। मार्क्स का भारतीयकरण है। यह अन्तः प्रमाणित मार्क्सीयता उस प्रेरणा के विदेशीपन का पूरी तरह परिहार कर देती है। महज प्रगतिवादी भावावशेष वह नहीं है। महत्त्व की बात यह है कि इस प्रेरणा को मुक्तिबोध ने संवेदना के किस गहरे स्तर पर झेला-पचाया है। उनकी कविता आध्यात्मिक संघर्ष के वैशिष्ट्य से सम्पन्न है : सामाजिक अन्तरात्मा का द्वन्द्व और नाटक वहाँ उसी स्तर पर कार्यशील है और हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की भारतीयता प्रसाद की भारतीयता की पूरक है। काल के आयाम में अज्ञेय की भारतीयता अधिक पुष्ट लगती है; पर देश के आयाम में मुक्तिबोध की भारतीयता अधिक समृद्ध है।

मुक्तिबोध के बिना हिन्दी कविता की आधुनिकता अकालपक्व लगती है। आत्मविश्लेषण की निर्ममता के साथ-साथ छायावादी भाव संकुलता भी उनमें बहुत है। समाज के प्रति जिम्मेदारी का भाव एक अटल बोझ की तरह उन पर हमेशा हावी रहता है। इसीलिए कुछ-कुछ प्रसाद की तरह मुक्तिबोध का काव्य भी एकरसता से ग्रस्त है। उसमें एक ही धुन है, एक ही रटन है। पर जैसी सीधी मार इस कविता की हमारे मन पर पड़ती है वैसी किसी अन्य कवि की नहीं। कारण मुक्तिबोध की भावुकता भारतीय मन की भावुकता है और मुक्तिबोध की बौद्धिकता अपने सारे पैनेपन के बावजूद उस भावुकता से गहरे में सम्पृक्त है। हम कह सकते हैं कि छायावाद युग में हिन्दी कविता के माध्यम से हमारे सामूहिक मन ने जो कुछ कमाया था, उस पर खड़े होकर ही मुक्तिबोध ने नयी कविता में छलाँग लगाई है और हम सबको साथ लेकर छलाँग लगाई है। इसीकारण वे हमारी साहित्यिक प्रगति को विश्वसनीय बना सके हैं। उनका काव्य बावजूद अपने अभिव्यक्ति साधनों के पिछड़ेपन के, हमें औरों की अपेक्षा कहीं अधिक अपने हृदय की बात लगता है। "गहन गंभीर छाया आगमिष्यत् के लिए उनकी कविता विशिष्ट अर्थ में 'जन-चरित्री' है। यह उसकी ताकत है और रोमानी शब्द आज के सन्दर्भ में सिर्फ ऋणात्मक ही नही है तो कहना होगा कि मुक्तिबोध छायावादियों से भी ज्यादा रोमैण्टिक कवि थे। और उनकी कमी को उन्होंने पूरा किया। अधूरा रोमान कुण्ठित करता है। युवा कवियों के लिए मुक्तिबोध की कविता के आकर्षण का यही रहस्य है कि वह सच्ची और तीक्ष्ण है और उसमें भरपूर रोमैण्टिकता है और उसमें सचमुच का युवा तत्त्व है जिसकी हिन्दी कविता को सख्त जरूरत थी। मुक्तिबोध में शैली का बायवीपन नहीं हैं पर वह बेचैनी और छटपटाहट जरूर है दुनिया को बदलने की। भारतीय मनुष्य में अस्तित्वगत सच्चाइयों पर उनकी पकड़ मजबूत है। इसी कारण अपने सारे पिछड़े रोमानी आदर्शवाद के बावजूद उनकी कविता हमारी आधुनिक संवेदना को भी छू लेती हैं, छूती ही नहीं, उसे आघात भी देती है।

मुक्तिबोध की कहानियों का संसार उनकी कविताओं के संसार का ही अंग है। उनकी कविताओं की तरह उनकी कहानियों का विन्यास भी रूप कथात्मक है। उनकी कहानियाँ उनकी कविताओं की तरह उनके विचारों का 'ड्रामा' ही है। उनके कथा-चरित्र अज्ञेय के कथा चरित्रों की तरह स्वतंत्र

व्यक्तित्ववान् नहीं है। उनकी जीवन्तता का स्रोत दूसरा है · स्वयं मुक्तिबोध का वैचारिक संघर्ष।

मुक्तिबोध की कविता दूसरे कवियोंकी कविता की अपेक्षा कहीं अधिक एक चुनौती की शक्ल हमारे लिए अख्तियार करती हैं। हम उसके प्रति अपनी धारणा को स्थिर नहीं कर पाते। मुक्तिबोध की कविता ही नहीं, मुक्तिबोध का समूचा कृतित्व किसी भी तरह की साहित्यिक आत्मतुष्टि के खिलाफ सबसे बड़ा तर्क और सबसे कड़ी कार्रवाई है।

[सं० ग्रं०-'मुक्तिबोध का रचना-संसार ;सं० गंगा प्रसाद विमल; 'आलोचना' का मुक्तिबोध स्मृति अंक]

—र० चं० शा०

गणिका—वैष्णव भक्त-कवियों के काव्य में गणिका का प्रसंग अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। यह 'जीवन्ती' नामक एक वेश्या थी, जो अपने तोते से अत्यधिक प्रेम करती थी। एक दिन एक महात्मा उसके घर की ओर से निकले। उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि यह किसी वेश्या का घर है। अतः भूल से वे वहाँ भिक्षा हेतु चले गये। उसकी वास्तविकता तथा उसके तोते के प्रति अगाध प्रेम का ज्ञान होने पर उन्होंने वेश्या से कहा कि तुम इसे नित्य प्रति रामनाम पढ़ाया करो। महात्मा के निर्देश पर वह तोते को रामनाम पढ़ाने लगी। वेश्या राम नाम के माहात्म्य से अनभिज्ञ थी। अभ्यास के कारण मृत्यु के समय भी वह राम नाम का उच्चारण करती रही, जिसके फलस्वरूप वह भवसागर तर गयी।

—रा० कु०

गणेश—एक देवता के रूप में अधिक विख्यात हैं, किन्तु गणेश का उल्लेख एक अन्य रूप में भी मिलता है। कविगण काव्य रचना के पूर्व सरस्वती के साथ गणेश की भी वन्दना करते हैं—

१. गणेश को शिव के गणों का अधिपति तथा शिव और पार्वती का पुत्र कहा गया है। गणेश का समस्त शरीर मनुष्य का तथा मुख हाथी का है। ऐसी प्रसिद्धि है कि जन्म के समय इन्हें शनि भी देखने आये थे। शनि जिसे देख लेते थे, उसका सिर धड़ से अलग हो जाता था शनि के देखते ही गणेश का सिर धड़ से अलग हो गया। उस समय विष्णु के परामर्श से उत्तर दिशा में सिर किये हुए इन्द्र के हाथी ऐरावत का सिर काटकर गणेश को लगा दिया गया। इनके एकदन्त होने के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि एक बार शंकर और पार्वती निद्रामग्न थे। गणेश उस समय द्वारपाल थे। परशुराम शंकर से मिलने आये। गणेश ने उन्हें रोका, जिससे क्रुद्ध होकर परशुराम ने इनका एक दाँत काट डाला। कहा जाता है कि देवताओं ने एक बार पृथ्वी की परिक्रमा करनी चाही। सभी देवता पृथ्वी के चारों ओर गये, किन्तु गणेश ने सर्वव्यापी रामनाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर डाली, जिससे देवताओं में सर्वप्रथम इन्हीं की पूजा होती है। महाभारत में यह भी उल्लेख है कि व्यास के महाभारत के बोलने पर गणेश ने इसे लिपिबद्ध किया था। गणेश का वाहन चूहा है। लम्बोदर, हेरम्ब, द्वैमातुर, इकदन्त, मूषकवाहन, गजबदन, गजमुख, गणपति, विनायक, कार्तिकेय आदि 'गणेश' के ही पर्याय हैं।

२. नाभादास के अनुसार एक वैष्णव-भक्त था।

—रा० कु०

गणेश प्रसाद द्विवेदी—आपका जन्म १९०० ई० में हुआ। हिन्दी एकांकीकारों में आपका नाम विशेष महत्त्व रखता है। आपने वैसे कहानियाँ भी लिखी हैं लेकिन आपकी प्रसिद्धि एकांकी नाटकों के कारण है।

द्विवेदी जी के नाटकों में सामाजिक यथार्थ का निपुण चित्रण मिलता है। आप क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से कहीं-कहीं बड़ा सफल और रोचक दृश्य प्रस्तुत करते हैं। इस स्वाभाविकता के कारण आपके नाटकों में जितने भी पात्र आते हैं, वे सभी अपनी स्थितियों और अपने संस्कारों की सफल अभिव्यक्ति करते हैं। यही कारण है कि द्विवेदी जी के नाटक न तो भुनेश्वर के नाटकों की भाँति तीव्र बौद्धिक व्यंग्य और कटुता की मार्मिक पृष्ठभूमि लेकर चलते हैं और न उनमें राम कुमार वर्मा के एकांकियों की भाँति सरल लालित्य होता है। स्वाभाविकता के कारण आपके नाटक आभिजात्य की अतिवादी दृष्टि से बराबर बचते जाते हैं और हमारे सामने ऐसे दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जो वास्तव में जीवन के होते हैं। आपकी शैली सहजता और स्वाभाविकता के कारण विभिन्न स्थितियों में उलझे हुए मानव जीवन के मानवीय पक्ष को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती हैं। आपके 'सोहाग बिन्दी' (१९३५) शीर्षक संकलन में ६ एकांकी नाटक संकलित हैं।

—ल० का व०

गणेशशंकर विद्यार्थी—आपका जन्म सितम्बर १८९० ई० में अपने ननिहाल प्रयाग में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री जयनारायण था। वे अध्यापक थे और उर्दू-फारसी खूब जानते थे।

गणेशशंकर विद्यार्थी की शिक्षा-दीक्षा मुंगावली (ग्वालियर) में हुई थी। आपने उर्दू-फारसी का अध्ययन किया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण एण्ट्रेंस तक ही पढ़ सके, किन्तु उनका स्वतन्त्र अध्ययन अनवरत चलता रहा। इसके बाद कानपुर में करेंसी आफिस में नौकरी की किन्तु अंग्रेज अधिकारी से नहीं पटी। अतः उक्त नौकरी छोड़कर अध्यापक हो गये।

महावीर प्रसाद द्विवेदी आपकी योग्यता पर रीझे हुए थे। फलतः उन्होंने आपको अपने पास 'सरस्वती' के लिए बुला लिया। आपकी रुचि राजनीति की ओर थी। फलतः आप एक ही वर्ष बाद 'अभ्युदय' नामक पत्र में चले गये और कुछ दिन वहीं रहे।

इसके बाद सन् १९०७ से १९१२ ई० तक का जीवन अत्यन्त संकटापन्न रहा। आपने कुछ दिनों तक 'प्रभा' का भी संपादन किया था। १९१३ अक्तूबर मास में 'प्रताप' (साप्ताहिक) के सम्पादक हुए।

आपने अपने पत्र में किसानों की आवाज बुलन्द की। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर आपके विचार बड़े ही निर्भीक होते थे। आपने देशी रियासतों की प्रजा पर किये गये अत्याचारों का भी तीव्र विरोध किया।

आप कानपुर के लोकप्रिय नेता तथा पत्रकार, शैलीकार, एवं निबन्ध-लेखक रहे हैं। आप अपनी अतुल देश-भक्ति और अनुपम आत्मोत्सर्ग के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे। आपकी मृत्यु कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में निस्सहायों को बचाते हुए सन् १९३१ ई० में हुई।

विद्यार्थी जी ने प्रेमचन्द की तरह पहले उर्दू में लिखना

प्रारम्भ किया था। उसके बाद हिन्दी मे पत्रकारिता के माध्यम से वे आये और आजीवन पत्रकार रहे। उनके अधिकाश निबन्ध त्याग और बलिदान सम्बन्धी विषयों पर हैं। इसके अतिरिक्त वे एक बहुत अच्छे वक्ता भी थे। विद्यार्थी जी की भाषा में अपूर्व शक्ति है। उसमें सरलता और प्रवाहमयता सर्वत्र मिलती है। उनकी शैली मे भावात्मकता, ओज, गाम्भीर्य और निर्भीकता भी पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती है। उसमें आप वक्रता प्रधान शैली ग्रहण कर लेते है, जिससे निबन्ध कला का ह्रास भले होता दीखे किन्तु पाठक के मन पर गहरा प्रभाव पडे बिना नहीं रहता।

—ह० दे० बा०

गढ़ कुंडार—वृन्दावनलाल वर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका समाप्तिकाल १७ जून, १९२७ और प्रकाशन तिथि १९२८ है। इसकी कथा इस प्रकार है—कुण्डार गढ़ का आधिपत्य हुरमत सिंह खंगार की दो सन्तानों नागदेव और मानवती को प्राप्त हैं। हुरमत सिंह नागदेव का विवाह सोहनपाल बुन्देल की लडकी हेमवती से करना चाहता है। सोहन पाल अपने भाई से प्रताडित होकर अपने धीरप्रधान के साथ भरतपुर की गढ़ी में ठहरता है जहाँ एक रात्रि को नागदेव और उसका मित्र अग्निदत्त दोनो मिलकर मुसलमानो के आक्रमण से उनकी रक्षा करते हैं। नागदेव द्वारा सहानुभूति पाकर सोहनपाल अपने पुत्र सहजेन्द्र और पुत्री हेमवती तथा धीरप्रधान और उसके पुत्र दिवाकर के साथ गढ़ कुण्डार में ही रहने लगते हैं। यहाँ अग्निदत्त का मानवती के प्रति तथा दिवाकर का अग्निदत्त की बहिन तारा के प्रति प्रेम विकसित होता है। अपने जातीय अभिमान के कारण हेमवती नागदेव से न तो प्रेम करती है और न विवाह ही करना चाहती है। फलस्वरूप दोनों राजघरानों में भीतर ही भीतर वैमनस्य फैल जाता है। नागदेव से रूष्ट होकर अग्निदत्त बुन्देलों से मिलकर खंगारों से प्रतिशोध की तैयारी करता है। बुन्देले झूठ ही हेमवती की शादी का वचन देते हैं और विवाह के दिन खंगारों को खूब मदिरापान कराते हैं। खंगारो और बुन्देलों में भयंकर युद्ध होता है, जिसमें खंगार मारे जाते हैं और गढ़ कुण्डार पर बुन्देलों का अधिकार हो जाता है।

हुरमत सिंह कुण्डारगढ़ का राजा है। नागदेव उसका पुत्र तथा मानवती पुत्री है। अग्निदत्त नागदेव का मित्र तथा मानवती का प्रेमी है। सोहनपाल, हेमवती का पिता है। धीरप्रधान, सोहनपाल बुन्देले का मन्त्री है, जो राजनीतिज्ञ और स्वामिभक्त है। सहजेन्द्र सोहनपाल का वीर पुत्र है। दिवाकर, धीरप्रधान का पुत्र तथा आदर्श प्रेमी है। हेमवती इस उपन्यास की नायिका है। तारा अग्निदत्त की बहिन तथा दिवाकर की प्रेमिका है।

गढ़ कुण्डार अहंकारजन्य व्यर्थता की कहानी है। जातियों के उत्थान—पतन एवं युद्धों के निर्माण में इसी भावना का हाथ रहता है। खंगारों का नाश इसी अहंकार वृत्ति के कारण हुआ।

शैली मुख्य रूप से वर्णनात्मक है, परन्तु कहीं-कहीं भावात्मकता एवं तज्जन्य काव्यात्मकता का भी समावेश है। भाषा परिस्थिति और पात्रों के अनुकूल और भावसंवहन में समर्थ है।

यह लेखक की प्रथम प्रौढ़ कृति है जिसमें औपन्यासिक कला उत्कृष्ट रूप मे विद्यमान है। हिन्दी का यह प्रथम सफल ऐतिहासिक उपन्यास कहा जाता है। इस कृति के निर्माण ने अपने समय मे हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की। आज भी यह वर्माजी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासो मे प्रमुख स्थान रखता है।

—ज० गु०

गदाधर सिंह (ठाकुर)—इनका जन्म सन् १८६९ ई० में एक मध्यवर्गीय राजपूत परिवार मे हुआ था। आरम्भ में इन्होंने एक सफल सैनिक का जीवन व्यतीत किया। बाद में यात्रा—वृत्तान्त लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। १९०० ई० में इन्होंने चीन की यात्रा की थी। उसी समय चीन में 'बाक्सर—विद्रोह' हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने उसके दमनार्थ भारत से जो सातवीं राजपूत सेना भेजी थी, गदाधर सिंह उसके एक सैनिक सदस्य थे। ये इंगलैंड भी हो आये थे। सम्राट् एडवर्ड के तिलकोत्सव के अवसर पर इन्हें इस यात्रा का सुअवसर प्राप्त हुआ था। सन् १९१८ ई० में उनचास वर्ष की अल्पायु में ही इनकी मृत्यु हो गयी।

गदाधर सिंह की दो कृतियाँ उल्लेख्य हैं—

(१) 'चीन मे तेरह मास' (ग्रन्थकार, लखनऊ, १९०३ ई०); (२) 'हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा' (लाला सीताराम, जुही, कानपुर)

'चीन में तेरह मास' नामक ग्रंथ ३१९ पृष्ठों में है और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में इसकी एक प्रति सुरक्षित है। लेखक ने इस पुस्तक में अपनी चीन देश की यात्रा का मनोहर वृत्तान्त तथा अपने सैनिक जीवन की साहसपूर्ण कहानी बडे रोचक ढंग से लिखी है। इसमे "युद्ध के समाचार सुनाने के साथ—साथ चीन देश के अन्यान्य वृत्तान्त भी संग्रह किये गये हैं" (दे० मूल पुस्तक का निवेदन पृष्ठ)। 'एडवर्ड तिलक यात्रा' नामक कृति में लेखक की इंगलैण्ड यात्रा के रोचक संस्मरण अंकित हैं।

बीसवी शताब्दी ईस्वी के आरम्भिक दशक के हिन्दी गद्य—लेखकों में गदाधरसिंह एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। उस समय तक हिन्दी गद्य—रचना का कोई शुद्ध स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। भाषा के परिष्कार और उसकी व्यंजना शक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा था। गदाधर सिंह की कृतियों ने हिन्दी गद्य के इस आरम्भिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनकी भाषा का स्वरूप सहज और सरस था। हास्य—व्यंग्ययुक्त मनोरंजक शैली के कारण ये और अपने पाठकों को आकर्षित कर लेते थे।

गदाधर सिंह के कृतित्व का महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक हो जाता है कि ये आधुनिक हिन्दी के यात्रा—वृत्तान्त लेखकों में अग्रगण्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी गद्य की इस महत्त्वपूर्ण विधा का कोई सुनिश्चित विकास नहीं हो पाया था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भी यात्राओं के विवरण अथवा तत्सम्बन्धी लेख अधिकतर पत्र—पत्रिकाओं में ही निकलते रहते थे। ऐसी परिस्थिति में गदाधर सिंह ने हिन्दी को यात्रा—वृत्तान्तविषयक दो स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रदान किये।

—र० भ०

गदाधरसिंह (बाबू)— भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समसामयिक साहित्यसेवियों और भारतेन्दु के सहयोगियों में बाबू

गदाधरसिंह का नाम भी आता है। इनका जन्म सन् १८४८ ई० में हुआ था। लगभग २५ वर्ष की आयु में ही इन्होंने 'भाषा—सेवा' का व्रत लिया और फिर आजीवन इस कार्य में निष्ठापूर्वक सलग्न रहे। इनकी मृत्यु पचास वर्ष की आयु मे सन् १८९८ ई० में हुई।

गदाधरसिंह मातृभाषा हिन्दी के अतिरिक्त बँगला के भी अच्छे जानकार थे। भारतेन्दु द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर इन्होंने बंगभाषा से अनुवाद—कार्य करना आरम्भ किया। इनकी प्रतिभा का विकास अनुवाद के रूप में ही हुआ। बँगला से अनूदित इनकी निम्नलिखित पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—(१) ओथेलो (२) बंग—विजेता और (३) दुर्गेशनन्दिनी। इनके अतिरिक्त, इन्होंने संस्कृत की बाणकृत 'कादम्बरी' की कथा भी बँगला के आधार पर लिखी थी।

'ओथेलो' को रेवेन्यु सुपरिटेण्डेण्ट ने इटावा से १८९४ ई० में प्रकाशित किया था। यह पुस्तक पहले अँगरेजी से बँगला में अनूदित हुई और फिर गदाधरसिंह द्वारा बँगला से हिन्दी में रूपान्तरित होने पर इसका सहज रूप जाता रहा। इसका थोड़ा बहुत महत्त्व भाषानुवाद की दृष्टि से ही है। 'बंग—विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' बँगला के तत्कालीन लोकप्रिय उपन्यास रहे हैं। इनके अनुवादों में, बँगला के अच्छी जानकारी प्राप्त होने के कारण, गदाधरसिंह को अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। 'बंग—विजेता' का अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुआ था। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा सम्पादित 'आनन्द—कादम्बिनी' नामक पत्रिका में इसकी 'आलोचना' स्वयं 'प्रेमघन'जी ने ही की थी।

गदाधरसिंह को साहित्य के क्षेत्र में 'कादम्बरी' की कथा लिखने के कारण अधिक यश प्राप्त हुआ था। यह इनके आरम्भिक कार्यों में है। इसका प्रकाशन सन् १८७८ ई० मे ही हुआ था। यह रचना औपन्यासिक है। डाक्टर श्याम सुन्दरदास इसे हिन्दी साहित्य की प्रथम कथात्मक कृति मानने के पक्ष में हैं (दे० 'हिन्दी के निर्माता', भाग १, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २७)। जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है, गदाधरसिंह ने अपनी इस कृति के प्रणयन के निमित्त संस्कृत की मूल 'कादम्बरी' का आधार नहीं लिया था। इनकी यह कृति वस्तुतः बँगला की कादम्बरी कथा का हिन्दी रूपान्तर प्रतीत होती है। थोड़े बहुत परिवर्तन की स्वतन्त्रता इन्होंने अवश्य ली है।

गदाधरसिंह के उक्त अनुवाद कार्य भाषा—सेवा और भाषा प्रचार की दृष्टि से किये गये हैं। अस्तु, उनमें भाषा को यथासम्भव सहज और सरल रखने का प्रयास किया गया है। भाषा और वाक्य—रचना सम्बन्धी सामान्य त्रुटियाँ यत्र—तत्र परिलक्षित होती हैं।

गदाधरसिंह की महत्त्वपूर्ण साहित्य—सेवाओं के साथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा नामक संस्था का नाम जुड़ा हुआ है। ये नागरी प्रचारिणी सभा के आरम्भिक सहायकों में गिने जाते हैं। 'सभा' के वर्तमान आर्य भाषा पुस्तकालय की स्थापना सन् १८८४ ई० में इन्होंने ही की थी। आरम्भ में १८९४ ई० तक यह पुस्तकालय इनके संचालन में स्वतन्त्र रूप से कार्य करता रहा और बाद में 'सभा' की स्थापना हो जाने पर उसका अविच्छिन्न अंग बना दिया गया।

गदाधरसिंह आधुनिक हिन्दी के इतिहास में एक निश्चित स्थान के अधिकारी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब कि खड़ी—बोली के आन्दोलन के साथ हिन्दी की बहुमुखी उन्नति का युग आरम्भ होता है, इन्होंने साहित्य की जो यत्—किंचित् सेवाएँ कीं वे महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा के प्रचार की दृष्टि से इनके अनुवादों ने एक स्वस्थ परम्परा को जन्म दिया था। 'सभा' के 'आर्यभाषा पुस्तकालय' के संस्थापक के रूप में इनकी कीर्ति अमर है।

—र० प्र०

गबन—मध्यवर्गीय जीवन और मनोवृत्ति का जितना सफल चित्रण प्रेमचन्द ने 'गबन' (प्र० १९३० ई०) में किया है, उतना उनके साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। औपन्यासिक कला की दृष्टि से भी यह उनकी एक सुन्दर रचना है। इसमें दो कथानक हैं—एक प्रयाग से सम्बद्ध और दूसरा कलकत्ते से सम्बद्ध। दोनों कथानक जालपाकी मध्यस्थता द्वारा जोड़ दिए गये हैं। कथानक में अनावश्यक घटनाओं और विस्तार का अभाव है।

प्रयाग के छोटे से गाँव के जमींदार के मुख्तार महाशय दीनदयाल और मानकी की इकलौती पुत्री जालपा को बचपन से ही आभूषणों, विशेषतः चन्द्रहार की लालसा लग गयी थी। वह स्वप्न देखती थी कि विवाह के समय उसके लिए चन्द्रहार जरूर चढ़ेगा। जब उसका विवाह कचहरी में नौकर मुंशी दयानाथ के बेकार पुत्र रमानाथ से हुआ तो चढ़ावे में और गहने तो थे, चन्द्रहार न था। इससे जालपा को घोर निराशा हुई। दीनदयाल और दयानाथ दोनों ने अपनी—अपनी बिसात से ज्यादा विवाह में खर्च किया। दयानाथ ने कचहरी में रहते हुए रिश्वत की कमाई से मुँह मोड़ रखा था। पुत्र के विवाह में वे कर्ज से लद गये। दयानाथ तो चन्द्रहार भी चढ़ाना चाहते थे लेकिन उनकी पत्नी जागेश्वरी ने उनका प्रस्ताव रद्द कर दिया था। जालपा की एक सखी शहजादी उसे चन्द्रहार प्राप्त करने के लिए और भी उत्तेजित करती है। जालपा चन्द्रहार की टेक लेकर ही ससुराल गयी। घर की हालत तो खस्ता थी, किन्तु रमानाथ ने जालपा के सामने अपने घराने की बड़ी शान मार रखी थी। कर्ज उतारने के लिए जब पिता ने जालपा के कुछ गहने चुपके से लाने के लिए कहा तो रमानाथ कुछ मानसिक संघर्ष के बाद आभूषणों का सन्दूक चुपके से उठाकर उन्हें दे आते हैं और जालपा से चोरी हो जाने का बहाना कर देते हैं किन्तु अपने इस कपटपूर्ण व्यवहार से उन्हें आत्मग्लानि होती है, विशेषतः जब कि वे अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते हैं। जालपा का जीवन तो क्षुब्ध हो उठता है। अब रमानाथ को नौकरी की चिन्ता होती है। वे अपने शतरंज के साथी विधुर और चुंगी में नौकरी करनेवाले रमेश बाबू की सहायता से चुंगी में तीस रूपये की मासिक नौकरी पा जाते हैं। जालपा को वे अपना वेतन चालीस रूपये बताते हैं। इसी समय जालपा को अपनी माता का भेजा हुआ चन्द्रहार मिलता है किन्तु दया में दिया हुआ दान समझकर वह उसे स्वीकार नहीं करती। अब रमानाथ में जालपा के लिए गहने बनवाने का हौसला पैदा होता है। इस हौसले को वे सराफों के कर्ज से लद जाने पर भी पूरा करते हैं। इन्दुभूषण वकील की पत्नी रतन को जालपा के जड़ाऊ कंगन बहुत अच्छे लगते हैं। वैसे ही कंगन लाने के लिए

वह रमानाथ को ६०० रू० देती हैं। सर्राफ इन रूपयों को कर्जखाते में जमाकर रमानाथ को कंगन उधार देने से इनकार कर देता हैं। रतन कंगनों के लिए बराबर तकाजा करती रहती है। अन्त में वह अपने रूपए ही वापिस लाने के लिए कहती है। उसके रूपये वापिस करने के ख्याल से रमानाथ चुंगी के रूपये ही घर ले आते हैं। उनकी अनुपस्थिति में जब रतन अपने रूपये माँगने आती हैं तो जालपा उन्हीं रूपयों को उठाकर दे देती हैं। घर आने पर जब रमानाथ को पता लगा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। गबन के मामले में उनकी सजा हो सकती थी। सारी परिस्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने अपनी पत्नी के नाम एक पत्र लिखा। वे उसे अपनी पत्नी को देने या न देने के बारे में सोच ही रहे थे, कि वह पत्र जालपा को मिल जाता हैं। उसे पत्र पढ़ते देखकर उन्हें इतनी आत्म–ग्लानि होती है कि वे घर से भाग जाते हैं जालपा अपने गहने बेचकर चुंगी के रूपये लौटा देती है। इसके पश्चात् कथा कलकत्ते की ओर मुड़ती है।

कलकत्ते में रमानाथ अपने हितैषी देवीदीन खटिक के यहाँ कुछ दिनों तक गुप्त रूप से रहने के बाद चाय की दुकान खोल लेते हैं। वे अपनी वास्तविकता छिपाये रहते हैं। एक दिन जब वे नाटक देखकर लौट रहे थे, पुलिस उन्हें सुबहे में पकड़ लेती है। घबराहट में रमानाथ अपने गबन आदि के बारे में सारी कथा सुना देते हैं। पुलिसवाले अपनी तहकीकात द्वारा उन्हें निर्दोष पाते हुए भी नहीं छोड़ते और उन्हें क्रान्तिकारियों पर चल रहे एक मुकदमें के गवाह के रूप में पेश कर देते हैं। जेल–जीवन से भयभीत होने के कारण रमानाथ पुलिसवालों की बात मान लेते हैं। पुलिस ने उन्हें एक बँगले में बड़े आराम से रखा और जोहरा नामक एक वेश्या उनके मनोरंजन के लिए नियुक्त की गयी। उधर जालपा रतन के परामर्श से शतरंज–सम्बन्धी ५०) का एक विज्ञापन प्रकाशित करती है। जिस व्यक्ति ने वह विज्ञापन जीता, वह रमानाथ ही थे और इससे जालपा को मालूम हो गया कि वे कलकत्ते में हैं। खोजते–खोजते वह देवीदीन खटिक के यहाँ पहुँच जाती है और रमानाथ को पुलिस के कुचक्र से निकालने की असफल चेष्टा करती है। रतन भी उन्हीं दिनों अपने बूढ़े पति का इलाज कराने के लिए कलकत्ते आती है। पति की मृत्यु के बाद वह जालपा की सहायता करने में किसी प्रकार का संकोच प्रकट नहीं करती। क्रान्तिकारियों के विरूद्ध गवाही देने के पश्चात् उन्हें जालपा का एक पत्र मिला, जिसने उनके भाव बदल दिये। उन्होंने जज के सामने सारी वास्तविकता प्रकट कर दी, जिससे उसको विश्वास हो गया कि निरपराध व्यक्तियों को दण्ड दिया गया है। जज ने अपना पहला निर्णय वापस ले लिया। रमानाथ, जालपा, जोहरा आदि वापस आकर प्रयाग के समीप रहने लगे।

जालपा के कारण रमानाथ में आत्म–सम्मान का फिर से उदय हो जाता है। जोहरा वेश्या–जीवन छोड़कर सेवा–व्रत धारण करती है। रमानाथ और जालपा भी सेवा–मार्ग का अनुसरण करते हैं। जोहरा ने अपनी सेवा, आत्म–त्याग और सरल स्वभाव से सभी को मुग्ध कर लिया था। रतन मृत्यु को प्राप्त हुई। एक बार प्रयाग के समीप गंगा में डूबते हुए यात्री को बचाते समय जोहरा भी बह गयी। रमानाथ ने कोशिश की कि उसे बचाने के लिए आगे बढ़ जाय। जालपा भी पानी में कूद पड़ी थी। रमानाथ आगे न बढ़ सके। एक शक्ति आगे खींचती थी, एक पीछे। आगे की शक्ति में अनुराग था, निराशा थी, बलिदान था। पीछे की शक्ति में कर्त्तव्य था, स्नेह था, बन्धन था। बन्धन ने रोक लिया। कलकत्ते मे जोहरा विलास की वस्तु थी। प्रयाग में उसके साथ घर के प्राणी–जैसा व्यवहार होता था। दयानाथ और रामेश्वरी को यह कह कर शान्त कर दिया गया था कि वह देवीदीन की विधवा बहू है। जोहरा में आत्मशुद्धि की ज्योति जगमगा उठी थी। अपनी क्षीण आशा लिये रमानाथ और जालपा घर लौट बये। उनकी आँखों के सामने जोहरा की तस्वीर खड़ी हो जाती थी।

—ल० सा० वा०

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—उन्नाव जिले के हड़हा नामक ग्राम में सन् १८८३ ई० में जन्म हुआ। मृत्यु १९७२ ई० में हुई। हिन्दी और उर्दू के साथ उन्हें मिडिल स्कूल तक की शिक्षा प्राप्त हुई। इसके पश्चात् १६ वर्ष की आयु में ही सन् १८९९ ई० मे मिडिल स्कूल के अध्यापक हो गये। अध्यापन के साथ ही हिन्दी के प्राचीन साहित्य, उर्दू एवं फारसी साहित्य आदि का अध्ययन उन्होंने बराबर जारी रखा। प्रारम्भ से ही साहित्य के इस प्रेम ने उन्हें शीघ्र ही साहित्यसर्जन के क्षेत्र में ला खड़ा किया। सन् १९०४ या १९०५ में मनोहरलाल मिश्र के 'रसिकमित्र' में उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई थी। युवक कवि 'सनेही' को एक बात का विश्वास पहले से ही था कि कवि को शिक्षा, साधना एवं अभ्यास की बड़ी आवश्यकता होती है। वे यावज्जीवन इस तैयारी में लगे रहे। इसी कारण उनकी अभिव्यंजना सदा अत्यधिक अनुशासित एवं रचना मर्यादित रही है। कुछ दिनों की इस तैयारी एवं अभ्यास के बाद सन् १९१३ में गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में उनकी 'कृषक–क्रन्दन' कविता प्रकाशित हुई थी। इस कविता ने तत्काल आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने 'सरस्वती' में लिखने के लिए 'सनेही'जी को आमन्त्रित करते हुए दहेज की कुप्रथा पर लिखने का आग्रह किया। उसी वर्ष द्विवेदीजी द्वारा दिये गये इस विषय पर उनकी कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। फिर वे लम्बे अरसेतक नियमित रूप से 'सरस्वती' में लिखते रहे। इस प्रकार गणेशजी ने उन्हें राष्ट्रीय कविताओं के लिए प्रेरणा दी एवं द्विवेदीजी ने समाज–सुधार तथा ऐतिहासिक पौराणिक आख्यानों की ओर आकर्षित किया। स्वामी नारायणानन्द द्वारा सम्पादित 'कवीन्द्र' पत्रिका में भी 'सनेही'जी नियमित रूप से लिखते रहे—पर यहाँ पर क्षेत्र परम्पराप्राप्त विषयों का चित्रण रहा। 'कवीन्द्र' के बन्द हो जाने के कुछ दिन बाद सन् १९२८ में उन्होंने 'सुकवि' नामक 'काव्य–पत्रिका' निकाली, जिसने सन् १९५० तक अनवरूद्ध गति से हिन्दी कविता के सर्जन एवं प्रसार में अपने ढंग से योग दिया है। सैकड़ों कवियों की काव्याभिव्यक्तियों को इसने उपस्थित कर उस भूमि का काम किया है, जिस पर खड़ी–बोली कविता का भवन खड़ा हो सका। समस्या–पूर्तियों आदि के द्वारा भाषा का परिष्करण एवं भाव–क्षेत्र का विस्तार ही नहीं हुआ, वाग्वैदग्ध्य की भी स्थापना खड़ी–बोली में हो सकी। आज के कितने ही प्रसिद्ध कवियों या लेखकों की प्रारम्भिक रचनाओं को प्रकाशित करके

'सुकवि' ने उन्हें प्रोत्साहन दिया था तथा उनकी रचनाओं की अभिव्यंजना पद्धति को 'सुकवि' सम्पादक 'सनेही' ने संवारा था। इस क्षेत्र में उनके प्रभाव एवं आचार्यत्व का इस बात से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी में कवियों का एक 'सनेही—सम्प्रदाय' ही है, जो कानपुर में ही नहीं, कानपुर के बाहर भी दूर—दूर तक फैला है—तथा 'सनेही' जी को अपना गुरु कहकर गौरव का अनुभव करता है। कवित्त और सवैया छन्दों में काव्यरचना इस सम्प्रदाय की मुख्य शैली हैं।

गयाप्रसाद शुक्ल का प्रारम्भ में कविनाम 'सनेही' था। परन्तु 'प्रताप' में छपनेवाली राष्ट्रीय कविताएँ उस युग में एक अध्यापक लिखे—यह सरकार को सह्य न था। परिणाम स्वरूप नाना प्रकार के दबाओं से बचने के लिए उन्होंने 'त्रिशूल' उपनाम से कविताएँ लिखनी शुरू कर दी एवं उनकी भाषा में भी उर्दू का रंग कुछ गहरा कर दिया। 'सनेही' ही त्रिशूल हैं, यह बात तबतक रहस्य ही बनी रही, जबतक कि वे मई सन् १९२१ में अध्यापकी छोड़कर कानपुर नहीं आ गये। परन्तु 'त्रिशूल' नाम से लिखना उन्होंने फिर बन्द नहीं किया। परुष संवेदनाएँ एवं राष्ट्रीय संघर्ष का स्वर 'त्रिशूल' नामांकित कविताओं में प्रकाश पाता रहा एवं श्रृंगार आदि परम्पराप्राप्त विषयों पर कविता लिखने का काम 'सनेही' नाम के जिम्मे रहा। 'सनेही' नाम से लिखी जानेवाली कविताओं में खड़ीबोली एवं ब्रजभाषा दोनों ही का टकसाली रूप हमें प्राप्त होता है। 'त्रिशूल' ने खड़ीबोली हिन्दी तथा उर्दू का समन्वय अपने काव्य में करके उसे हिन्दी—उर्दू भाषी जनता के लिए सुबोध बनाना चाहा था परन्तु भाषा का यह समन्वय बहुत दूरतक सफल नहीं हो सका। इन तीनों ही काव्यभाषाओं में उन्होंने अनुमानत. बीस सहस्त्र से ऊपर छन्द लिखे हैं, जो दुर्भाग्यवश अबतक पूरी तरह संगृहीत नहीं हो सके हैं। इसी कारण उनके काव्य का समुचित मूल्यांकन फिलहाल कुछ कठिन है। 'प्रेम—पचीसी', 'कृषक क्रन्दन', 'राष्ट्रीय मन्त्र', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'कला में त्रिशूल', 'संजीवनी' और 'करुणा कादम्बिनी' नामक उनकी कुछ छोटी—छोटी पुस्तिकाएँ ही प्रकाशित हुई हैं। खड़ीबोली हिन्दी को काव्य—माध्यम के रूप में विकसित, पुष्ट एवं प्रसारित करने में उनका स्थान किसी भी अंश में श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' एवं मैथिलीशरण गुप्त से कम नहीं हैं। उर्दू की परम्परा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण खड़ी बोली की प्रकृति का उन्हें ज्ञान था और इसी कारण उसे वे इतने परिष्कृत रूप में उपस्थित कर सके थे। द्विवेदीयुग के कुछ पहले से ही ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली का जो विवाद प्रारम्भ हो गया था उसमें बहुधा खड़ीबोली के समर्थकों को दोनों ही माध्यमों में लिखकर खड़ीबोली की शक्ति प्रमाणित करनी पड़ी थी। 'सनेही' जी भी ऐसे ही कवियों में थे।

राष्ट्रीय भावधारा की अपनी कविताओं में 'सनेही' जी ने एक ओर तो प्राचीन आदर्श चरित्रों एवं पौराणिक आख्यानों का इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है तो दूसरी ओर दलित—पीड़ित—शोषित जन की वेदना का मार्मिक चित्रण करते हुए उसके निराकरण का आवाहन कर उन्होंने पाठक की चेतना को जागृत एवं विशद बनाने का ऐतिहासिक कार्य किया है। 'करुणा कादम्बिनी' में संगृहीत ये रचनाएँ समसामयिक कष्ट शोक एवं करुणा की कहानियाँ हैं, जो सीधे—सीधे भी अभिव्यक्त हुई हैं एवं इतिवृत्तात्मक युग के कवि के मुख से मिलते—जुलते पौराणिक आख्यानों के रूप में भी फूट पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह संग्राम में जानेवाले वीरों का उन्होंने स्वागत ही नहीं किया, उनके गाने के लिए बलिदानी गीतों एवं प्रयाण गीतों का भी प्रणयन किया। आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता, भेदभाव, देश, भाषा की समस्याएँ विविध रूपों में 'त्रिशूल' के काव्य में अभिव्यक्त हुई हैं।

पर गयाप्रसाद शुक्ल केवल 'त्रिशूल' ही नहीं थे, वे 'सनेही' भी थे। अपने इस 'सनेही' रूप में उन्होंने कलात्मक क्षमता का पूरा परिचय दिया है। 'त्रिशूल' की कविताएँ जहाँ अत्यधिक सामयिक एवं क्षणिक—आवेगसम्मत हैं, वहाँ 'सनेही' अधिक प्रशान्त, पर स्थायी हैं। इस दूसरे रूप में भाषा एवं संवेदना दोनो ही अधिक अनुशासित हैं। उनके श्रृंगार या नीति के छन्द ब्रजभाषा के सिद्धहस्त छन्दों के साथ सुविधापूर्वक रखे जा सकते है। अन्तरमात्र इतना है कि अत्यधिक अलंकरण के स्थान पर एक प्रकार की रोमांटिक कल्पना और वैयक्तिक अनुभूति उन्हें बराबर नया बनाये रही है। इसके अतिरिक्त अर्थगाम्भीर्य, बिम्बविधान, शब्दचयन एवं मुहावरेदार भाषा का प्रवाह इन छन्दों को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बना सके हैं। उर्दू परम्परा से निकट का परिचय होने के कारण उनकी अभिव्यंजना में उक्ति का चमत्कार एवं सीधेपन की वक्रता और चोट भी प्रकट हुई है। ऊहात्मक प्रसंग और चमत्कार लाने में उन्होंने अपने उर्दू—फारसी ज्ञान का समुचित प्रयोग किया है।

हिन्दी कविता को कवि—सम्मेलनों के माध्यम से जनता तक पहुँचाने का मुख्य श्रेय भी 'सनेहीजी' को ही है। वे कवि—सम्मेलनों के वास्तविक प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। इस कार्य ने हिन्दी—कविता को समाज से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित रखने में बड़ी सहायता दी है—परन्तु कवि—सम्मेलनों ने उनकी रचनाक्षमता को भी धक्का पहुँचाया है। प्राचीन परिपाटी के रसबोध में पगी जनता को परितुष्ट करने में वे अपनी नवीनता खोते गये—उनके भाव जगत् का भी सूक्ष्मता के स्तर पर विकास नहीं हो सका। इसी कारण जहाँ छायावादी कवि शिल्प एव भाव के अत्यधिक समृद्ध एवं नूतन प्रयोगों की ओर बढ़े, वहीं वे द्विवेदीयुगीन प्रणालियों से भी पीछे हटकर रीतिकाल के प्रभाव को अधिकाधिक ग्रहण करते गये। इसका प्रमाण और प्रभाव कवि—सम्मेलनों में अत्यन्त स्थूल रूप से पाया जा सकता है। छायावादी काव्यचेतना के रसबोध में पगे श्रोता—समाज ने धीरे—धीरे 'सनेही' स्कूल के छन्दकारों को अपदस्थ कर दिया एवं नये गीतकार उस पर अपना कब्जा जमाते गये।

—दे० शं० अ०

गरीबदास—सन्त कवि गरीबदास का जन्म रोहतक जिले की झज्जर तहसील के छुड़ानी ग्राम में सं० १७७४ (सन् १७१७ ई०) की वैशाख सुदी १५ को हुआ था। इनके पिता जाति के जाट तथा व्यवसाय से ज़मींदार थे। जनश्रुति है कि गरीबदास जब १२ वर्ष की आयु के थे, उस समय भैंसें चराते हुए उन्हें कबीर साहब के दर्शन हुए थे। एक अन्य जनश्रुति यह है कि गरीबदास को स्वप्न में कबीर साहब के दर्शन हुए और उसी क्षण से इन्होंने उन्हें अपना गुरु मान लिया। सत्य यह है कि गरीबदास, कबीर साहब को अपना पथप्रदर्शक मानते थे और

उन्हीं के सिद्धान्तों से प्रभावित भी थे। गरीबदास ने कभी भी किसी सम्प्रदाय विशेष का भेष धारण नहीं किया और न उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन का परित्याग ही किया। पारिवारिक जीवन में रहते हुए इन्हें चार पुत्र तथा दो पुत्रियाँ प्राप्त हुई। वे आजीवन छुड़ानी में रहकर सत्संग करते रहे। छुड़ानी में भादों सुदी २, सं० १८३५ को इन्होंने पार्थिव शरीर का परित्याग करके स्वर्गारोहण किया। गरीबदास के साकेतवास हो जाने के बाद उनके गुरुमुख शिष्य सलोतजी गद्दी पर बैठे। अपने जीवनकाल में गरीबदास ने छुड़ानी में एक मेला लगवाया था, जो अब तक वर्ष में एक दिन लगता है।

गरीबदास 'गरीब—पन्थ' के संस्थापक थे। पूर्वी पंजाब, दिल्ली, अलवर, नारनोल, विजेसर तथा रोहतक इसके केन्द्र हैं। पूर्वी पंजाब में यह पन्थ बड़ा जनप्रिय है। इस पन्थ के शिष्यों में सभी वर्ग, सभी वर्ण तथा सभी जातियों के व्यक्ति पाये जाते हैं, हिन्दू मुसलमानों का भी कोई भेद नहीं माना जाता है।

गरीबदास बड़े भावुक, शीलवान् तथा श्रद्धालु प्राणी थे। उन्होंने २४ हजार साखियों और पदों का संग्रह 'हिखर बोध' नाम से प्रस्तुत किया था। इनमें से १७ हजार रचनाएँ इनकी हैं और शेष कबीरदास की हैं। इन १७ हजार पदों एवं साखियों में से कुछ का संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से 'गरीबदास की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रसिद्ध है कि कबीर साहब की शैली पर उन्होंने भी एक बीजक नामक ग्रन्थ की रचना की थी। गरीबदास के सम्बन्ध मे अनेक चमत्कार प्रसिद्ध है। बादशाह के कैदखाने से चमत्कार द्वारा निकल भागना, श्रद्धाविहीन व्यक्तियों में श्रद्धा का बीज अंकुरित कर देना आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गरीबदास शब्दातीत, निर्गुण—सगुण से परे ब्रह्मा के उपासक थे। उन्होंने कहा भी है—"शब्द अतीत अगाध है, निरगुन सरगुन नाहि।" यह ब्रह्माण्ड उस ब्रह्माण्ड से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। सामान्य मानव को भ्रान्ति का जो आभास होता है, उसका कारण माया है—'दास गरीब वह अमर निज ब्रह्म हैं, एक ही फूल, फल, डाल है रे।" गरीबदास ने स्वानुभूति के लिए "सुरत व निरत का परचा" हो जाना अनिवार्य बताया है।

—त्रि० ना० दी०

गरुड़—गरुड़ एक पौराणिक पक्षी के रूप में विख्यात है, जिसका आधा शरीर पक्षी का और आधा शरीर मनुष्य का था। गरुड़ के अनेक पर्याय हैं; यथा—गरुत्वान् ताक्ष्र्य, वैनतेय खगेश, नागान्तक, विष्णुरथ, सुपर्ण, पन्नगाशन, पक्षसिंह, उरगाशन, शाल्मलीस्थ, खगेन्द्र आदि। गरुड़ विष्णु का वाहन है। पुत्रेष्टि यज्ञ के अनन्तर बालखिल्यों की तपस्या के फलस्वरूप कश्यप और विनता से पक्षीराज—गरुड़ की उत्पत्ति हुई। कद्रु और विनता की शत्रुता के कारण ये कद्रुपुत्र सर्पों के बहुत बड़े शत्रु हैं। इनका मुख श्वेत, पंख लाल और शरीर सुनहला है। इनके पुत्र का नाम सम्पाती और पत्नी का नाम विनायका है। अपनी माता को कद्रु से स्वतन्त्रता दिलाने के लिए इन्होंने पाताल लोक से अमृत चुराया था, जिसके फलस्वरूप इन्द्र से घोर युद्ध हुआ। अन्त में अमृत इन्द्र को प्राप्त हुआ। मानस के अनुसार एक बार गरुड़ के मन में राम के परम ब्रह्मत्व पर सन्देह उत्पन्न हुआ क्योंकि लंका युद्ध में मेघनाद ने उनको नागपाश में आबद्ध कर लिया और गरुड को उनका बन्धन काटने के लिए जाना पड़ा। इस सन्देह को गरुड़ ने नारद आदि से कहा किन्तु किसी भी प्रकार सन्देह दूर नहीं हुआ। अन्त में शंकरजी ने इन्हें काकभुशुण्डि के पास भेजा। वहाँ जाते ही इनका सन्देह दूर हो गया। रामचरित मानस के चार वक्ता और श्रोता वर्ग में से काकभुशुण्डि और गरुड़ भी एक वर्ग हैं (दे० मानस १, १४५, २९२, ४, ५, २०, ४)। कृष्णकाव्य में भी गरुड़ के उल्लेख मिलते हैं (सू० सा०, प० ७ आदि)।

—रा० कु०

गरुड़ पुराण—अठारह पुराणों में से एक। गरुड़ पुराण की प्रकृति सात्त्विक मानी गयी है। गरुड़ कल्प में विष्णु भगवान ने इसे सुनाया था। इसमें विनतानन्दन गरुड़ के जन्म की कथा कही गयी है। गरुड़ पुराण के वर्ण्य विषय का अधिकांश तन्त्रों के मन्त्र और ओषधियों से सम्बद्ध है। रत्न, धातु आदि की परीक्षा—विधि सविस्तार दी गयी है। इसके पश्चात सृष्टिप्रकरण से लेकर सूर्य तथा यदुवंशी राजाओं तक का इतिहास वर्णित किया गया है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस पुराण की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया है।

—रा० कु०

गांगेय नरोत्तम शास्त्री—इनका जन्म १९०० ई० में वाराणसी में हुआ। ये कुछ समय तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे संस्कृत के अध्यापक रहे। बाद में कलकत्ता चले गये। वहाँ हिन्दी साहित्य के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने में इन्होंने पर्याप्त योगदान दिया। ये प्रमुखतः कवि थे। १९५५ ई० मे इनकी मृत्यु हुई।

कृतियाँ—'गांगेय दोहावली', 'गांगेय तरंग', 'समस्या पूर्ति चन्द्रिका', 'प्रणय पूरण', 'करुणा तरंगिणी'।

—सं०

गांडीव—अर्जुनका प्रिय धनुष था। एक बार अर्जुन ने अग्नि का अजीर्ण रोग मिटाया था, जिससे प्रसन्न होकर अग्नि ने उन्हें गाण्डीव नामक धनुष वरुण से दिला दिया था। गाण्डीव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इसका निर्माण ब्रह्मा ने किया था। तत्पश्चात् उन्होंने सोम को और सोम ने वरुण को दे दिया था। मृत्यु के पूर्व इस विशालकाय गाण्डीव का उपयोग न कर सकने के कारण अर्जुन ने इसे पुनः वरुण को समर्पित कर दिया ('जयद्रथ वध', ८०)।

—रा० कु०

गांधारी—गान्धार देश के सुबल नामक राजा की कन्या थी। इसीलिए इसका नाम गान्धारी पड़ा। गान्धारी धृतराष्ट्र की पत्नी और दुर्योधनादि की माता थीं। शिव के वरदान से गांधारी के १०० पुत्र हुए, जो कौरव कहलाये। गान्धारी पतिव्रता के रूप में आदर्श थीं। पति के अन्धा होने के कारण विवाहोपरांत ही गान्धारी ने आँखों पर पट्टी बाँध ली थीं तथा उसे आजन्म बाँधे रहीं। महाभारत के अनन्तर गान्धारी अपने पति के साथ वन में गयीं। वहाँ दावाग्नि में वे भस्म हो गयीं (सू० सा०, प० २८४)।

—रा० कु०

गाधि—ये विश्वामित्र के पिता के रूप में विख्यात हैं। वायु—पुराण के अनुसार गाधि कुशाश्व के पुत्र थे। इनके

माता पुरुकुत्स की कन्या थीं। ऋचीक ऋषि के दिये हुए चरु के प्रभाव से इनके विश्वामित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस बालक में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के गुण विद्यमान थे। इनकी कन्या का नाम सत्यवती था। ये कान्यकुब्ज देश के राजा थे। नाभादास के अनुसार इन्हीं के कन्या के पुत्र जमदग्नि मुनि हुए, जिनके आत्मज परशुराम कहे जाते हैं।

—रा० कु०

गायत्री— प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' की पात्र। प्रारम्भ में गायत्री एक गौरवशीला नारी हैं। उसे अपने सतीत्व और स्वर्गीय पति के प्रति अनुरक्ति पर गर्व है। ज्ञानशंकर के कुचक्र में पड़कर वह पहले तो अपने प्रेम को धर्म पर आधारित करती है, किन्तु शीघ्र वह उसके मनोवेगों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। वास्तव में ज्ञानशंकर की तीव्र बुद्धि, लेखनशक्ति, भाषण—कला आदि ने गायत्री को अभिभूत कर लिया था। उसके कारण गायत्री को सम्मान भी मिला। इसीलिए उसका ज्ञानशंकर के प्रति 'राधा—भाव' धारण कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। धीरे—धीरे इस बात का उद्घाटन भी हो जाता है कि गायत्री का भक्ति—भाव उसकी विलासिता का आवरणमात्र है किन्तु इतने पर भी वह अपना सर्वनाश न कर पायी थी। विद्या की मृत्यु ने जब उसकी आँखें खोल दीं तो वह आत्म—मन्थन मे प्रवृत्त हुई और उसने सज्जनता के आरवण में ज्ञानशंकर की असज्जनता पहचानी। उसकी गौरवशीला प्रकृति फिर स्वच्छन्द होने के लिए तड़पने लगी। जिस नारी को अपने आत्मबल पर घमण्ड था, जो इन्द्रिय—सुख को तुच्छ समझती थी, वह ज्ञानशंकर के मन्त्र से ऐसी मारी गयी कि आत्म—ग्लानि के सिवा उसके जीवन में कुछ और न रह गया। अब वह आत्म—शुद्धि की क्रियाओं में तल्लीन रहने लगी। आत्म—ग्लानि की विषम और भीषण पीड़ा से पीड़ित होकर ही वह पहाड़ से गिरकर मर जाती है। गायत्री का अन्त एक मृदु, सरल, निष्कपट, उदार, नम्र और प्रेममयी रमणी का भीषण अन्त है।

—ल० सा० वा०

गार्गी—'गार्गी' नाम से दो सन्दर्भ मिलते हैं—

(१) 'गार्गी' एक अत्यन्त ब्रह्मनिष्ठ तथा पण्डिता वैदिक स्त्री थी। जनक की राज्यसभा में याज्ञवल्क्य मुनि से इसने शास्त्रार्थ किया था। पाणिनि ने भी इनका उल्लेख किया है।

(२) 'गार्गी' दुर्गा का एक पर्याय भी है।

—रा० कु०

गार्सां द तासी—गार्सां द तासी का जन्म फ्रांस में हुआ था। ये वहाँ के एक राजकीय स्कूल में प्रचलित पूर्वी भाषाओं के प्राध्यापक थे। इसके अतिरिक्त वे फ्रांसीसी इंस्टीटयूट, पेरिस, लन्दन, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई की एशियाटिक सोसाइटियों के सदस्य भी थे। सेण्ट पीटर्सवर्ग की इम्पीरीयल एकेडमी ऑव साइन्सेज, म्यूनिख, लिस्बन और ट्यूरिन की रॉयल एकेडेमियों, नार्वे, और कोपेनहेगेन की रॉयल सोसाइटियों, अमेरिका के ओरियण्टल, लाहौर के 'अंजुमन' और अलीगढ़ इन्स्टीटयूट ने इन्हें अपनी सदस्यता प्रदान की थी। इन्हें 'नाइट ऑव दि लिजियन ऑव ऑनर' (फ्रांस), 'स्टॉर ऑव दि साउथ पोल' आदि उपाधियाँ भी मिली थीं।

गार्सां द तासी की पुस्तकें निम्नांकित हैं—'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी', 'ले ओत्यूर ऐंदूस्तानी ऐ़ल्यूर डवरज' (हिन्दुस्तानी लेखक और उनकी रचनाएँ १८६८, पेरिस संस्करण), 'ल लाँग ऐ ल लितरेत्यूर ऐंदुस्तानी द १८५० अ १८६९' (१८५० से १८६९ तक हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य), 'दिस्कुर द डवरत्यूर दु कुर द ऐंदुस्तानी' (हिन्दुस्तानी की प्रारम्भिक गति पर भाषण, १८७४, पेरिस, द्वितीय संस्करण), 'ल लॉग ऐल लितरेत्यूर ऐंदूस्तानी—रेव्यू ऐन्युऐल, १८७०—१८७६', (हिन्दुस्तानी भाषा और सहित्य, वार्षिक समीक्षा १८७०—१८७६, १८७१ और १८७३—१८७६ में पेरिस से प्रकाशित), 'रूदीमाँ दल लाँग ऐंदूस्तानी' (हिन्दुस्तानी भाषा के प्राथमिक सिद्धान्त), 'मेम्वार सूरल रेलिजिओं मुसलमान दाँ लिंप' (भारत में मुसलमानों के धर्म का विवरण), 'ल पोएजी फिलोसोफिक ऐ रेलिज्यूस शौ लै पैर्सा' (फारस—निवासियों का दार्शनिक और धार्मिक काव्य), 'र्हतोरिक़ दै नैसिओं मुसलमान' (मुसलमान जातियों का काव्य—शास्त्र) तथा अन्य।

इनके इतिहास ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इन्होंने भारत के लोकप्रिय उत्सवों का भी विवरण प्रस्तुत किया था। 'खुतबात तासी' नाम से उनके कुछ भाषण उर्दू में अनूदित हुए हैं, अन्य ग्रन्थों का अनुवाद उपलब्ध नहीं है। केवल 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी के ऐंदुई (हिन्दई) से सम्बन्धित अंश का अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध है।

गार्सां द तासी ने 'महाभारत' का भी एक संस्करण प्रकाशित किया था। तासी भाषाओं में हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के साहित्यिक एवं भाषात्मक पक्षों में विशेष ज्ञान रखते थे। भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक जीवन से भी उनका पुष्कल परिचय था। ये काव्य—शास्त्र के भी मर्मज्ञ थे।

'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' हिन्दी और हिन्दुस्तानी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास ग्रन्थ माना जाता है। उसमें हिन्दी—उर्दू के अनेक कवियों और लेखकों की जीवनियाँ, ग्रन्थ—विवरण और उद्धरण हैं। इसका पहला संस्करण दो भागों में १८३९ तथा १८४७ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा परिवर्द्धित संस्करण तीन भागों में १८७०—७१ मे प्रकाशित हुआ था। सरजार्ज ग्रियर्सन ने इसका उपयोग किया था और 'दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' लिखते समय इससे लाभ उठाया था। इस ग्रन्थ ने हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन परम्परा के बिखराव को सूत्रबद्ध किया है। तासी के ग्रन्थ से बहुत विस्तृत सूचनाएँ मिलती हैं।

गार्सां द तासी के अनुसार हिन्दुस्तानी 'हिन्दी' या 'हिन्दकी' के अनिश्चित नाम से तथा यूरोपियन लोगों द्वारा 'हिन्दुस्तानी' के नाम से पुकारी जाती है। स्थान और व्यक्तियों की रूचि के अनुसार उसे प्रायः फारसी लिपि में लिखा जाता है तथा हिन्दू देवनागरी लिपि में लिखते हैं। गार्सां द तासी हिन्दुस्तानी साहित्य के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और उसे किसी दूसरी भाषा से हीन नहीं समझते।

—ह० दे० बा०

गिरती दीवारें—यह उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास है। इसका रचनाकाल १९३८ ई० से प्रारम्भ होकर १९४५ ई० में समाप्त होता है। इसके तीन संस्करण हो चुके हैं—प्रथम १९४७, द्वितीय १९५१, तृतीय १९५७। तीसरे संस्करण में उपन्यास की कथावस्तु में पर्याप्त विस्तार हुआ है।

'गिरती दीवारें' में १९३५–४० ई० के पंजाब के निम्न मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है। प्रायः सात सौ पृष्ठों के इस उपन्यास के कथानायक चेतन शराबी, अत्यन्त जीवित, परन्तु उग्र स्वभाव के पण्डित शादीराम पण्डित का एक लड़का है–छः भाइयो में दूसरा। उपन्यास के प्रारम्भ में चेतन बी० ए० पास करके स्कूल में अध्यापक हो चुका है। कुमारावस्था में उसका प्रथम प्रेम कुन्ती से होता है, पर उससे उसका विवाह न होकर, उसका इच्छा के विरुद्ध दीनबन्धु की लड़की चन्दा से होता है। चन्दा चेतन को बिलकुल पसन्द नही है, अतः वह जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले से भागकर लाहौर पहुँचता है और अनेक प्रकार के जीवनसंघर्ष करता है। चंगड मुहल्ले में वह प्रकाशो और केशर नामक दो लड़कियों के सम्पर्क में आता है। फिर वह अपनी पत्नी चन्दा की चचेरी बहन लीला को अपने हृदय में स्थान देता है। किन्तु एक मानवसुलभ भूल के कारण लीला और उसके बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। इसी बीच चेतन कविराज रामदास के सम्पर्क में आता है। इधर लीला का विवाह रंगून में काम करनेवाले एक अधेड़, कुरूप मिलिट्री एकाउण्टेण्ट से हो जाता है।

'गिरती दीवारें' की विशेषता इसके कथासूत्र मे नहीं है, वरन् इसके परम यथार्थवादी चरित्र–चित्रण, व्यक्तित्व–प्रतिष्ठा और समूचे निम्न मध्यवर्गीय समाज और उसके बीच एक युवक की कुण्ठाओं, इच्छाओं तथा उसकी विकसनशील चेतना के दिग्दर्शन में इसकी सारी कलात्मकता प्रकट हुई है। चेतन इस समाज के युवक वर्ग, उसकी समस्त इच्छाशक्ति और कुण्ठाओं का सजीव प्रतिनिधि है, जिसे उपन्यासकार की सौन्दर्यदृष्टि के माध्यम से प्रतीक की भी संज्ञा दी जा सकती है। चेतन नाम स्वभावतः उस चेतना की ओर सफल संकेत है, जो किसी भी मध्यवर्गीय युवक के सम्पूर्ण मन का चित्र उपस्थित करती है। अपने रक्त में परम्परा से प्राप्त रूढ़ मान्यताओं का संस्कार लिए हुए तथा अर्थाभाव तथा उग्र पिता के दमन के फलस्वरूप चेतन में कितनी मनोग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं तथा उसे कैसे गन्दे वातावरणों और कटु संघर्षो से गुजरना पड़ता है, इसका एक अपूर्व हृदयग्राही, अणुवीक्षक दृष्टिमय चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है।

चेतन ही उपन्यास की समूची चेतना का चरित–नायक है जिसके इर्द–गिर्द अन्य अनेक मध्यवर्गीय चरित्रों के जीवन्त रूप उभरे हैं। निश्चय ही इस वर्ग के साथ 'अश्क' की अनुभूति और लगाव गहरा और व्यापक है। चेतन के बड़े भाई रामानन्द, कट्टर क्रोधी, और शराबी पिता पण्डित शादीराम, धैर्य, स्नेह उदारता और त्याग की मूर्ति उसकी माँ, झगड़ालू तथा कर्कश स्वभाववाली चेतन की भाभी; उसकी सीधी–सादी पत्नी चन्दा; सुन्दर–आकर्षक वयःसन्धि को पार कर दमकते हुए रूपवाली लीला, केशर, प्रकाशो, धूर्त कविराज, बेइमान हुनर साहब तथा इस तरह के अन्य अनेक सजीव पात्रों के व्यक्तित्व–प्रतिष्ठा से यह सर्वथा स्पष्ट है कि 'गिरती दीवारें' के चरित्र सर्वत्र यथार्थ, सहज, अकृत्रिम तथा सीधे जीवन से लिये गये हैं।

अथक, लम्बाई, व्यापकता, गहनता तथा छोटे–छोटे तफसीलों को लेकर चलनेवाली रचना–शैली, उसके शिल्प की अन्यतम विशेषताएँ हैं। 'पैटर्न' में नायक के अन्दर–बाहर की उलझनों, संघर्षों की कलात्मक बुनावट सर्वत्र उजागर है। 'अश्क' की अन्य औपन्यासिक कृतियों 'गर्म राख', 'बड़ी–बडी आँखें' आदि की अपेक्षा 'गिरती दीवारें' का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

–ल० ना० ला०

गिरिजा–दे० 'पार्वती'।

–रा० कु०

गिरिजाकुमार घोष–आप इण्डियन प्रेस, प्रयाग के मैनेजर थे। आपके समय में ही 'सरस्वती' (१९०० ई०) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'पार्वतीनन्दन' के नाम से लिखी हुई आपकी कहानियाँ हिन्दी कथा साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं में हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी का हिन्दी में पहला अनुवाद आपने ही किया, जो १९०१ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। कुछ समय तक आपने लीडर प्रेस में भी मैनेजर के पद पर कार्य किया। आपकी मृत्यु ४२ वर्ष की अवस्था में १९२० ई० में हुई।

–सं०

गिरिजा कुमार माथुर–जन्म अगस्त १९१९ में, अशोक नगर (म० प्र०) में। एम० ए० (अंग्रेजी) एल० एल० बी०। १९४३ से आकाशवाणी से सम्बद्ध। आप निदेशक, विविध भारती, आकाशवाणी, दिल्ली रहे।

'तार सप्तक' के कवि। गिरिजा कुमार माथुर राग, रस, रोमान, प्रगति, इतिहास–बोध और शिल्पगत नूतन प्रयोगो के कवि हैं। उनकी कविता, निरंतर परिवर्तनशील परिवेश से जुड़ने और टूटने वाले मन की प्रतिक्रियाओं का अंकन है। अतर्विरोधों से ही उनका रचना–संसार विनिर्मित हो पाता है। 'मंजीर' की प्रारम्भिक कविताओं में प्रणय, वासना और निराशा के स्वर अधिक हैं, परन्तु छायावादी वायवीयता से अलगाव के साथ। 'नाशऔर निर्माण' में कवि ने अपने प्रेमिका के साथ काव्य और संगीत–सिन्धु मे डूबने की आकांक्षा प्रकट की है। परन्तु इसके साथ ही मध्यवर्गीय मन के अभावों के प्रति वे सवेदनशील भी हैं। यह संवेदना ही उन्हें प्रगतिवादी बनाती है। रोमेण्टिक निराशा से आशा की ओर अग्रसर होना इनका प्रमुख काव्य–स्वर है। गिरिजा कुमार इतिहास–बोध और इतिहास–रस के रचनाकार हैं। परन्तु इतिहास के जरिये इन्होंने अतीत मोह नहीं पाला है। वे वर्तमानजीवी हैं–अतीत और भविष्य को वे वर्तमान के दो छोर मानते हैं। ऐतिहासिकता का आग्रह माथुर को आधुनिक होने से नहीं रोकता–वे इतिहास और आधुनिकता को वे इतिहास के वातायन से देखने वाले और आधकुनिकता को वे इतिहास के वातायन से देखने वाले कवि हैं। वे मूल्यबद्धता के कवि हैं, मूल्यहीनता के नहीं। समय–संसक्ति और समयातीत क्षण दोनों के ही कवि हैं गिरिजा कुमार माथुर।

रोमानी भावनाओं के साथ नये, ताजे शिल्प की जरूरत माथुर ने महसूस की है। ऐसी रचनाओं में ऐन्द्रिकता का भरपूर समावेश हुआ है। उनका कवि न तो रीता है, न छीजा है– वे समय और स्थितियों के साथ निरन्तर सृजनशील रहने वाले कवि हैं। उन्हें महसूस होता रहता है कि अभी कुछ अनकहा रह गया है और यह अनकही अनुभूतियाँ ही उनके मन में 'एक शब्द' को घुमड़ने देती हैं–आंतरिक विवशता उनकी

रचनात्मक सामर्थ्य की परिचायक कही जा सकती हैं। वे फैशनपरस्त होकर कवि—धर्म को नहीं स्वीकरते—'तारसप्तक' से लेकर 'अकविता' तक की रचनाओं की पृष्ठभूमि में उनकी यही भावात्मक विवशता छिपी हुई है। मानव—विश्व—मानव उनकी रचनाओं का केन्द्र बिन्दु है। पाशविकता को उन्होंने अपनी कविताओं में नहीं छुआ। वस्तु की अपेक्षा 'टेकनीक' पर उन्होंने जोर दिया है। वातावरण—अंकन, नूतन बिम्बों, उपमानों और विशेषणों का प्रयोग, नाद—सौन्दर्य, विदेशी छन्दों का इस्तेमाल, मुक्त—छन्द का धारावाहिक प्रयोग, स्वर—ध्वनियों के आधार पर संगीत—निर्माण, सवैया के आधार पर व्यंय—विधान और एकालाप का संयोजन, उनकी शिल्पगत उपलब्धियाँ हैं। उनका कृतित्व वस्तु और रूपाकार का संगम है।

रचनाएँ : मंजीर (१९४१), नाश और निर्माण (१९४६), धूप के धान (१९५४) शिलापंख चमकीले (१९६१) जो बँध नहीं सका (काव्य—संग्रह), जनम कैद (नाटक), नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ (आलोचना)।

—शं० ना० च०

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'—आपका जन्म १८९९ ई० में जौनपुर में हुआ। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० की डिग्री ली। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आपके गुरु थे। उन्हीं के निर्देशन में आपने काव्य—कला की साधना शुरू की।

'गिरीश'जी कवि, आलोचक एवं कथाकार थे। आलोचना के क्षेत्र में 'गुप्तजी की काव्यधारा' (१९३७), 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (१९५५) एवं 'महाकवि हरिऔध' (१९३४) उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। कथा—साहित्य के अन्तर्गत 'बाबू साहब', 'जगद्गुरू', 'प्रोफेसर', 'विद्रोह', 'पण्डाजी', 'लम्बोदर त्रिपाठी' एवं 'बहता पानी' उल्लेखनीय हैं। कविता के क्षेत्र में आपकी पत्र—पत्रिकाओं में प्रकाशित छिटपुट कविताएँ तथा 'तारेक—वध' (१९५८) नामक महाकाव्य महत्त्वपूर्ण है।

एक आलोचक के रूप में गिरीशजी में वे सभी गुण थे, जो सफल आलोचक के लिए अनिवार्य हैं तो भी कवियों की तुलना करते समय वे पक्षधर हो ही गये हैं। रामचन्द्र शुक्ल पर उनका कार्य अवश्य सराहनीय है।

एक कवि के रूप में वे उतने विख्यात नहीं हुए। उनकी महत्त्वाकांक्षा का अन्तिम प्रयास उनका महाकाव्य 'तारक वध' है। 'तारक वध' इतिवृत्तात्मक शैली में लिखा गया कदाचित् हिन्दी का सबसे बड़ा महाकाव्य है। इसकी कथा 'कुमारसम्भव' के अनुरूप है।

'गिरीश'जी का मुख्य कार्य—क्षेत्र आलोचना ही माना जायगा। हिन्दी आलोचना के प्रारम्भिक दिनों में किया गया उनका कार्य बराबर आदर की दृष्टि से देखा जायगा।

—ह० दे० बा०

गिरिधर कविराय—गिरिधर के समय तथा जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि अन्त: साक्ष्य या बहि: साक्ष्य, किसी से भी कोई आधार प्राप्त नहीं है। इनकी कुण्डलियाँ अधिकांशतः अवधी में मिलती हैं। इससे अनुमान होता है कि ये अवधी प्रदेश के रहनेवाले थे। नाम के साथ 'कविराय' या 'कविराज' लगे होने से ये भाट जाति के ज्ञात होते हैं। इलाहाबाद के आस—पास के भाटों से पूछने पर भी इसी की पुष्टि होती है। ये भाट इनकी कुण्डलियाँ तथा इसी प्रकार के अन्य छन्द गा—गाकर भीख माँगते फिरते हैं। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इनका जन्म सन् १७१३ में हुआ था। इस आधार पर इनका रचनाकाल १८वीं सदी का मध्य माना जा सकता है। इनके सम्बन्ध में एक अत्यन्त प्रसिद्ध जनश्रुति है। कहा जाता है कि एक बढ़ई से किसी कारण इनकी अनबन हो गयी। बढ़ई ने इनसे बदला लेने के बारे में सोचा और उसने एक ऐसी चारपाई बनाकर वहाँ के राजा को दी कि इस चारपाई पर ज्यो ही कोई सोता था, उसके चारों कोनों पर लगे चार पंखे चलने लगते थे। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसी प्रकार की कुछ और चारपाइयाँ बनाने की आज्ञा दी। उसने कहा कि इसके बनाने के लिए बेरकी लकड़ी चाहिए, गिरिधर कविराय के आँगन में एक बेर का अच्छा पेड़ है, वह मुझे दिलवा दीजिये। राजा ने गिरिधर से कहा। गिरिधर ने बहुत अनुनय विनय की, किन्तु कोई फल न हुआ और उनके आँगन का पेड़ काट ही लिया गया। गिरिधर को स्वाभवतः बहुत बुरा लगा और वे पत्नी को साथ लेकर राज्य छोड़कर निकल गये। वे फिर कभी उस राज्य में नहीं लौटे और आजीवन पत्नी के साथ घूमते तथा अपनी कुण्डलियाँ सुनाकर माँगते—खाते रहे। कहा जाता है कि उनकी जिन कुण्डलियों में 'साईं' शब्द की छाप है वे उनकी पत्नी द्वारा पति को अर्थात् (स्वामी या साईं) को सम्बोधित करके लिखी गयी हैं। यदि यह बात ठीक है तो उनके नाम से प्रचलित काफी कुण्डलियाँ उनकी स्त्री की भी लिखी हैं।

ये कुण्डलियाँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में भी मिलती हैं। इनके छोटे—बड़े लगभग दस संस्करण निकल चुके हैं, जिनमें 'कुण्डलियाँ', मुस्तफाए प्रेस, लाहौर (१८७४ ई०); 'कुण्डलियाँ', नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (१८३३); 'गिरिधर कविराय', गुलशने पंजाब प्रेस, रावलपिण्डी (१८९६) और 'कुण्डलियाँ', भार्गव बुकडिपो बनारस (१९०४) प्रमुख हैं। सबसे बड़ा संग्रह 'कविराय गिरिधराकृत कुण्डलियाँ', खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई (१९५३) है, जिसमें ४५७ कुण्डलियाँ हैं। इन कुण्डलियों के अतिरिक्त इनके लिखे कुछ दोहे, सोरठे और छप्पय भी मिलते हैं।

उत्तरी भारत की हिन्दी जनता में गिरिधर की कुण्डलियों का बहुत अधिक प्रचार है। इस प्रचार का कारण है, इनकी कुण्डलियों में दैनिक जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण बातों का सरल और सीधी भाषा—शैली में वर्णित होना। इनके नीति—काव्य के प्रमुख विषय जाति, पिता, पुत्र, युग, यश, नारी, गृहिणी, चिन्ता, बैर, विश्वास, बनिया, सत्य, संग, शत्रु, धन, गुण व्यवहार, राजा, चुगला, धर्म, भाग्य, मन, दान, होनहार, मूर्ख तथा ईश्वर आदि हैं। इनमें नीति की परम्परागत बातें भी हैं और अपने अनुभव पर आधारित नयी बातें भी। इनमें काव्यत्व का प्रायः बिल्कुल ही अभाव है और इस रूप में इन्हें कवि या सूक्तिकार न कहकर पद्यकार कहना अधिक उचित है। हाँ, इनकी कुछ अन्योक्तियाँ अवश्य मिलती हैं, जिन्हें काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, किन्तु ऐसे छन्द सामान्य होने के साथ—साथ संख्या में भी अधिक नहीं है। पर्याप्त मात्रा में नीति—काव्य लिखनेवाले थोड़े ही कवि हैं और उनमें गिरिधर भी हैं, किन्तु मात्रा को छोड़ यदि कविता पर

ध्यान दिया जाय तो नीतिकारों में भी इनका स्थान बहुत सामान्य है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी नीति-काव्य—संग्रह भोलानाथ तिवारी।]

—भो० ना० ति०

गिरिधरदास—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र 'गिरिधर दास' 'गिरिधर' उपनाम से ब्रजभाषा की कविता करते थे। इनका जन्म १८३३ ई० (पौष कृष्ण, १५ स० १८९०) में हुआ था। गोपालचन्द्र काव्यमर्मिक तथा विद्वान् थे। "इन्होंने अपने निज के परिश्रम से संस्कृत और हिन्दी में बड़ी स्थिर योग्यता प्राप्त की और पुस्तकों का एक बहुत बड़ा अनमोल संग्रह किया। पुस्तकालय का नाम इन्होंने 'सरस्वती भवन' रखा, जिसका मूल्य स्वर्गीय डा० राजेन्द्रलाल मित्र एक लाख रुपया तक दिलवाते रहे।" (हि० सा० इ०)। इनकी मृत्यु १८६० ई० में हुई।

गिरिधरदास ने ४० ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से कुछ ही प्राप्त हैं। इनमें मुख्य ये हैं—जरासंधवध महाकाव्य, भारतीभूषण, बलराम कथामृत, बुद्धकथामृत, नहुष नाटक, वाल्मीकि रामायण, छन्दोवर्णन। इन रचनाओं के भाव—पक्ष पर भक्ति काव्य—परम्परा और कलापक्ष पर रीतिकाव्य परम्परा का प्रभाव है। 'भारतीभूषण' अलंकार ग्रन्थ है। 'नहुष नाटक' हिन्दी भाषा का प्रथम नाटक है। इसका रचनाकाल सन् १८५७ ई० है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० अ० सा०।]

—ओं० प्र०

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी—जन्म २९ दिसम्बर, सन् १८८१ ई० जयपुर में। शिक्षा—शास्त्री (पंजाब विश्वविद्यालय), व्याकरणाचार्य (जयपुर) तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वाचस्पति। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा साहित्यवाचस्पति, भारत सरकार द्वारा महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित तथा राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित। सन् १९०८ से १९१७ ई० तक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार के आचार्य। सन् १९१८ से १९२४ ई० तक सनातनधर्म संस्कृत कालेज, लाहौर के आचार्य। सन् १९२५ से १९४४ ई० तक जयपुर के महाराजा संस्कृत कालेज में दर्शन के प्राध्यापक। सन् १९५० से १९५४ ई० तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत अध्ययन एवं अनुशीलन मण्डल के अध्यक्ष। सन् १९६० ई० से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सम्मानित प्राध्यापक। सन् १९५१—५२ ई० में भारत सरकार की संविधान संस्कृतानुवाद समिति के सदस्य। सन् १९३० और १९४०ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन—परिषद् के सभापति। वेद, दर्शन तथा संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित, महान् व्याख्याता, समर्थ लेखक तथा अनेक पत्र—पत्रिकाओं के सम्पादक। आपने बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया है। आपकी संस्कृत तथा हिन्दी की कृतियाँ इस प्रकार हैं—'महाकाव्य संग्रह', 'महर्षि कुलवैभव', 'ब्रह्म सिद्धान्त', 'प्रमेयपारिजात', 'चातुर्वर्ण्य', 'पाणिनीय परिचय', 'स्मृति विरोध परिहार', 'गीता व्याख्यान', 'वेद विज्ञान विन्दु' (संस्कृत), 'वैदिक विज्ञान', 'भारतीय संस्कृति' तथा 'पुराण पारिजात'। 'गीता व्याख्यान' तथा 'पुराण पारिजात' आपकी नवीनतम कृतियाँ हैं। आपकी 'वैदिक विज्ञान' और 'भारतीय संस्कृति' पुस्तक उत्तरप्रदेश और राजस्थान सरकारों द्वारा पुरस्कृत हुई है। सन् १९६२ ई० में आपकी यह पुस्तक साहित्य अकादमी द्वारा भी पुरस्कृत हुई। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद भी हो रहा है। वर्तमान युग की बहुमुखी जिज्ञासुओं तथा प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्व का है। महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी के उपर्युक्त १३ ग्रन्थों के अतिरिक्त ७० छोटे—बड़े उल्लेखनीय निबन्ध प्रकाशित हैं। इनमें १८ संस्कृत के हैं और शेष हिन्दी के। इनमें भारतीय वैदिक तथा शास्त्रीय परम्पराओं के महत्त्व पर विचार के साथ ही उनका वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

— ल० शं० व्या०

गिरिधर शर्मा नवरत्न—जन्म ६ जून १८८१ दिन रविवार झालरापाटन। पिता ब्रजेश्वर शर्मा, माता पन्ना देवी। आरम्भिक में घर पर ही हिंदी, अंग्रेजी संस्कृत, प्राकृत, फारसी आदि भाषाओ की शिक्षा के बाद जयपुर से प्रश्न वर श्री कान्ह जी व्यास तथा परम वेदज्ञ द्रविड़ श्री वीरेश्वर जी शास्त्री से संस्कृत पंज्च काव्य तथा संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। काशी में पं० गंगाधर शास्त्री से संस्कृत साहित्य तथा दर्शन का विशिष्ट अध्ययन किया। सन् १९१२ ई० में उन्होंने झालरापाटन में श्री राजपूताना हिन्दी साहित्य सभा की स्थापना की जिसके संरक्षक झालावाड़ नरेश श्री भवानी सिंह जी बने। इस सभा का उद्देश्य 'हिन्दी-भाषा की हर तरह से उन्नति करना और हिन्दी भाषा में व्यापार वाणिज्य, कला कौशल, इतिहास विज्ञान वैद्यक, अर्थशास्त्र समाज, नीति राजनीति, पुरातत्व, साहित्य उपन्यास आदि विविध विषयों पर अच्छे ग्रन्थ तैयार करना और सस्ते मूल्य पर बेचना था।' सन् १९१२ में ही भरत पुर में हिन्दी साहित्य समिति की स्थापना करके वहाँ के कार्यकर्ताओं को हिन्दी भाषा की श्री वृद्धि, प्रचार प्रसार और साहित्य संवर्द्धन का कार्य सौंपा। सन् १९३५ में श्री भारतेन्दु समिति कोटा के अध्यक्ष बने। सन् १९०६ में राजपूताना से 'विद्या भास्कर' नामक मासिक पत्र निकाला। इन्दौर में सन् १९१४ में मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति की स्थापना कर चुकने के बाद बम्बई गए। वहीं गांधी जी से आपकी मुलाकात हुई और उन्हें राष्ट्र-भाषा हिन्दी का दीक्षा मन्त्र दिया जिसके परिणाम स्वरूप अगले ही वर्ष लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी घोषित कर दी गयी। सन् १९६१ की एक जुलाई को आपका देहान्त हुआ। आपकी प्रकाशित रचनाएँ निम्नलिखित हैं—श्री भवानी सिंह कारक रत्नम्, 'अमरशक्ति सुधाकर श्री भवानी सिंह सद्वृत्त गुच्छ :, 'नवरत्न नीति : 'गिरिधर सप्तशती' 'प्रेम पयोधि' 'योगी' 'अभेद रस :' 'माय वाक्सुधा सौरमण्डलम्', 'जापान विजय आदि।

[सहायक ग्रन्थ—मधुमती पत्रिका मध्य प्रदेश, हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल]

कृ० शं० पा०

'मातृवन्दना' आपकी प्रमुख मौलिक कवितापुस्तक है। अनुवाद के क्षेत्र में आपने पुष्कल कार्य किया है। 'आर्यशास्त्र', 'व्यापार-शिक्षा', 'शुश्रूषा', 'कठिनाई में विद्याभ्यास,' 'आरोग्य दिग्दर्शन', 'जया जयन्त', 'राइ का पर्वत', 'सरस्वती यश', 'सुकन्या', 'सावित्री', 'ऋतु-विनोद', 'शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त-रहस्य', 'चित्रांगदा', 'भीष्म-प्रतिज्ञा', 'कविता-कुसुम', 'कल्याण-मन्दिर', 'बार-भावना', 'रत्न करण्ड' एव 'निशापहार' आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। अंग्रेजी के 'हरमिट' काव्य के मूल एवं अनुवाद दोनों को आपने संस्कृत में ही पद्यबद्ध किया है। 'गीतांजलि' का भी आपने हिन्दी पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। आपने सन् १९२८ ई० में संस्कृत काव्य 'शिशुपाल वध' के दो सर्गों का हिन्दी में पद्यानुवाद किया। 'मेरो सब लगे प्रभो देश की भलाई में' जैसी पंक्तियों से सम्पन्न 'मातृ-वन्दना' की रचना राष्ट्रीयता एवं स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा से हुई है। उस समय तक स्वदेश प्रेम विषयक प्रकाशित हिन्दी रचनाओं में वह तृतीय थी। इस विषय पर गोपाल दास कृत 'भारत भजनावली' (सन् १८९७ मे प्रकाशित) एवं गुरुप्रसाद सिह द्वारा रचित 'भारत संगीत' (सन् १९०१ में प्रकाशित) दो पूर्ववर्ती रचनाएँ और प्राप्त हुई हैं। इनकी तुलना में उक्त रचना पुष्टतर और सुन्दरतर हैं। इसमें राष्ट्रीयता के शुद्ध भाव का प्रसार हुआ है। 'मातृ-वन्दना' का जो पावन स्वर बंगकाव्य में मुखरित हुआ था, हिन्दी-क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रहा। जिस समय अधिकांश कवि मध्यकालीन वातावरण में ही साँस ले रहे थे और काव्य धारा ह्रासोन्मुखी हो रही थी, स्वदेश-भाव का यह जागरण देश-प्रेम का शंखनाद ही माना जायगा। आपने अतीत के प्रति निष्क्रिय मोह एवं प्रतिक्रियात्मक आसक्ति तथा राष्ट्रीयता में अन्तर करते हुए जागरण का जो शंखनाद किया, उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। अनुवाद कार्य विषय-वस्तु की विस्तृत भूमि से सम्बद्ध है। आयुर्वेद, दर्शन, व्यवहारशास्त्र, समाजशास्त्र नीति एवं आचरण सभी विषयों पर आपकी लेखनी चली है। आपने 'विद्या भास्कर' का सम्पादन भी किया। १९६१ में आपकी मृत्यु हुई।

—श्री सिह० क्षे०

गिलक्राइस्ट—जन्म सन् १७५९ में एडिनबरा में। चिकित्सीय शिक्षा प्राप्त कर वे अप्रैल १७८३ को ईस्ट इंडिया कंपनी में एक चिकित्सक के रूप में कलकत्ता आए जहाँ २१ अक्टूबर सन् १७९४ को सर्जन का पद दिया गया। यहां उन्होंने हिन्दुस्तानी के अध्ययन के लिए विशेष प्रयत्न किया और ए डिक्शनरी आफ इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी, दो भाग (१७८७-१७९०) ए ग्रामर आफ हिन्दुस्तानी लैंवेज (१७९६), दी ओरियंटल लिंग्विस्टिक (१७९८) की रचना की। फोर्ट विलियम कालेज में (१८००) अध्यक्ष नियुक्त हुए जिसके बाद अनेक पाठ्य पुस्तकों का सम्पादन किया, जैसे-दी एन्टीजार्गोनिस्ट (दी ओरियंटल लिंग्विस्टिक का संक्षिप्त संस्करण (१८००), दी स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडिया कम्पनी गाइड टू दी हिन्दुस्तानी (१८०२) द्वितीय संस्करण लंदन से १८०८, तृतीय संस्करण (१८२०), दी हिन्दी स्टोरी टेलर (१८०२), ए कलैक्शन ऑव डाय लॉग्स इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी (१९०४ एडिनबरा से द्वितीय सस्करण १८०९ लंदन से तृतीय संस्करण, १८२०), दी हिन्दी मारेल प्रीसेप्टर (१८०३), दी ओरियंटल फैब्यूलिस्ट (१८०३) आदि।

स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण इस पद से त्याग पत्र देकर इग्लैण्ड वापस हो गये (१८०४) ३० अक्टूबर सन् १८०४ को एडन बरा विश्व विद्यालय ने उन्हें एम० एल० डी० की उपाधि प्रदान की। ६ जनवरी सन् १८०९ ई० को उन्होंने नौकरी छोड़ दी। जिसके पश्चात् ३०० रु० वार्षिक पेंशन लेकर स्वतन्त्र रूप से एक चिड़िया घर और जेमा इंगलिश की सहकारिता में इंगलिश वर्थ विक गिलक्राइस्ट के नाम से एक बैंक खोला, जिसे कुछ दिनों के बाद बन्द कर दिया। १८१५ में उन्होंने ग्लासगो से एक सनसनी पूर्ण राजनीतिक रचना प्रकाशित की। तत्पश्चात् भारत में नौकरी पाने के इच्छुक व्यक्तियों को निजी तौर से पूर्वी भाषाओं की शिक्षा देकर धनोपार्जन की दृष्टि से वे १८१६ में लंदन चले गए। इसके दो वर्ष बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पुनः ओरियंटल इंस्टीट्यूशन में प्रोफेसर नियुक्त किया और अन्त में सन्देह दोष लगाकर कम्पनी ने उन्हें आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया। अपने जीवन का शेष भाग वे अवकाश में बिताते हुए ९ जनवरी सन् १८४१ को पेरिस में मृत्यु को प्राप्त हुए।

[सहायक ग्रन्थ—फोर्ट विलियम कॉलेज लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, खड़ी बोली की अभिव्यंजना-आशा गुप्ता।]

कृ० शं० पा०

गीतावली—यह तुलसीदास की एक प्रमुख रचना है। इसमें गीतों में राम-कथा कही गयी है अथवा यों कहना चाहिए कि राम-कथा सम्बन्धी जो गीत तुलसी दास ने समय-समय पर रचे, वे इस ग्रन्थ में संगृहीत हुए हैं। सम्पूर्ण रचना सात खण्डों में विभक्त है। काण्डों में कथा का विभाजन प्रायः उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार 'रामचरित मानस' में हुआ है, किन्तु न इसमें कथा की कोई प्रस्तावना या भूमिका है और न 'मानस' की भाँति इसमें उत्तरकाण्ड में अध्यात्मविवेचन। बीच-बीच में भी 'मानस' की भाँति आध्यात्मिक विषयों का उपदेश करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। सम्पूर्ण पदावली राम-कथा तथा रामचरित से सम्बन्धित है। मुद्रित संग्रह में ३२८ पद हैं।

इधर इसका एक पूर्ववर्ती रूप भी प्राप्त हुआ है, जो इससे छोटा था। उसका नाम 'पदावली रामायण' था। इसकी केवल एक प्रति प्राप्त हुई है और वह भी अत्यन्त खण्डित है। इसमें सुन्दर और उत्तरकाण्डों के ही कुछ अंश बचे हैं और उत्तरकाण्ड का भी अन्तिम अंश न होने के कारण पुष्पिका नहीं रह गयी है। इस लिए प्रति की ठीक तिथि ज्ञात नहीं है।

यह संग्रह वर्तमान से छोटा रहा होगा। यह इससे प्रकट है कि प्राप्त अंशों में वर्तमान संग्रह के अनेक पद बीच-बीच में नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि यह वर्तमान का कोई चयन होगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कभी-कभी छन्दों का क्रम भिन्न मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके साथ की ही एक प्रति 'विनय पत्रिका' की प्राप्त हुई है—जिसका प्रति में ही 'राम गीतावली' नाम दिया हुआ है। वह भी 'विनयपत्रिका' का वर्तमान से छोटा पाठ देती है। इसलिए यह प्रकट है कि

'पदावली रामायण' का वह पाठ जो प्रस्तुत एक मात्र प्रति में मिलता है, 'गीतावली' का ही कोई पूर्व रूप रहा होगा।

'गीतावली' में कुछ पद (बालकाण्ड, २३, २४, २८) ऐसे भी हैं, जो 'सूरसागर' में मिलते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि ये पद उसमें 'सूरसागर' से गये होंगे। सूरदास, तुलसी दास से कुछ ज्येष्ठ थे, इसलिए कुछ आलोचक तो यह भी कहने में नहीं हिचकते कि इन्हें तुलसी दास ने ही 'गीतावली' में रख लिया होगा और जो इस सीमा तक नहीं जाना चाहते, वे कहते हैं कि तुलसी दास के भक्तों ने उनकी रचना को और पूर्ण बनाने के लिए यह किया होगा किन्तु एक बात इस सम्बन्ध में विचारणीय है। 'गीतावली' की प्रतियाँ कई दर्जन संख्या में प्राप्त हुई हैं और वे सभी आकार-प्रकार में सर्वथा एक-सी हैं और उन सबों में ये छन्द पाये जाते हैं। 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें आकार-प्रकार भेद अधिक है। कुछ में केवल कुछ सौ पद हैं तो कुछ में कुछ हजार पद हैं, उनमे क्रम आदि में भी परस्पर काफी वैभिन्न्य है और फिर 'सूरसागर' की सभी प्रतियों में ये पद पाये भी जाते हैं, या नहीं, यह अभी तक देखा नहीं गया है। 'सूरसागर' के मुद्रित पाठ में अन्य अनेक ज्ञात कवियों-भक्तों के पद भी सम्मिलित मिलते हैं। ऐसी दशा में वास्तविकता तो उलटे यह जान पड़ती है कि ये पद तुलसी दास की ही 'गीतावली' के थे, जो अन्य कवियों-भक्तों की पदावली की भाँति 'सूरसागर' में सूरदास के प्रेमियों के द्वारा सम्मिलित कर लिये गये। तुलसी दास ने कुल लगभग सात सौ पदों की रचना की है और गीति शिल्प में वे किसी से पीछे नहीं हैं। ऐसी दशा में वे तीन पद 'गीतावली' में और तीन-चार पद 'कृष्ण गीतावली' में सूरदास या किसी अन्य कवि से लेकर क्यों रखते?

इसमें जो राम-कथा आती है, वह प्रायः 'रामचरित मानस' के समान ही है, केवल कुछ विस्तारों में अन्तर है। ये अन्तर दो प्रकार के हैं: कुछ कथा-विस्तार ऐसे हैं जो 'रामचरित मानस' के पूर्व रचे ग्रन्थों में ही मिलते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो कवि की किसी भी अन्य कृति में नहीं मिलते हैं। प्रथम प्रकार के अन्तर निम्नलिखित हैं।

(१) परशुराम-राम-मिलन मिथिला की स्वयंवर भूमि में न होकर बारात की वापसी में होता है और उसमें विवाद परशुराम-राम में ही होता है, लक्ष्मण से नहीं। (२) राम के राज्यारोहण के अनन्तर 'स्वान, यती, खग' के न्याय, ब्राह्मण बालक के जीवन-दान, सीता के निर्वासन और लव-कुश जन्म की कथाएँ आती हैं। इसी विस्तार में 'रामाज्ञा प्रश्न' भी है। दूसरे प्रकार के अन्तर निम्नलिखित हैं—

(१) स्वयंवर भूमि में जब विश्वामित्र राम को धनुष तोड़ने के लिए आज्ञा देते हैं, जनक राम के कृतकार्य होने के विषय में सन्देह प्रकट करते हैं, इस पर विश्वामित्र जनक के योग-वैराग्य की सराहना करते हुए कहते हैं कि ऐसा वे राम के स्नेह के वश में होने के कारण समझते हैं और राम भी जनक के योग-वैराग्य की उस सराहना का समर्थन करते हैं; जब इन सबके अनन्तर जनक की शंका का निवारण हो जाता है, 'गीतावली' में तब राम धनुष तोड़ने के लिए आगे बढ़ते हैं। (२) विश्वामित्र के साथ गये हुए राम-लक्ष्मण के विषय में माताएँ चिन्तित होती हैं। (३) वनवास की अवधि में कौसल्या अनेक बार राम-विरह में व्यथित होती हैं। (४) राम जटायु के प्रति पितृ-स्नेह और शबरी के प्रति मातृ-स्नेह व्यक्त करते हैं। (५) रावण के द्वारा सीता के हरी जाने की सूचना राम को देव-गण देते हैं। (६) हनुमान जब सीता को राम की मुद्रिका देते हैं, सीता मुद्रिका से राम का कुशल पूछती हैं और मुद्रिका उसका उत्तर देती है। (७) रावण से अपमानित होकर विभीषण सीधे राम की शरण में नहीं जाता है, वह अपने एक अन्य बन्धु कुबेर से परामर्श करके जाता है। (८) युद्धस्थल में लक्ष्मण के आहत होने का समाचार पाकर सुमित्रा हनुमान् से अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को भी राम की सहायता के लिए भेजने को उद्यत होती हैं। (९) राम के राज्याभिषेक के अनन्तर दोलोत्सव, दीपमालिकोत्सव तथा बसन्तोत्सव आदि होते हैं, जिसमे अयोध्या का समस्त नर-नारी समाज निस्संकोच भाव से सम्मिलित होता है।

'मानस', 'गीतावली' की तुलना में आकार-प्रकार में चौगुना है और प्रबन्धकाव्य है, फिर भी ये कथा-विस्तार उसमें नहीं मिलते हैं, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है।

उपर्युक्त पृथक् प्रकार के कथा-विस्तार से ज्ञात होता है कि 'गीतावली' के कुछ अंश 'मानस' के पूर्व की रचना अवश्य होंगे और इसी प्रकार उपर्युक्त दूसरे प्रकार के कथा-विस्तारों से ज्ञात होता है कि उसके कुछ अंश 'रामचरित मानस' के बाद की रचना होंगे। 'रामचरित मानस' के समान तो 'गीतावली' का अधिकांश है ही, जिसका यहाँ पर कोई, प्रमाण देना अनावश्यक होगा और यह 'रामचरित मानस' के आस-पास रचा गया होगा। इस प्रकार 'गीतावली' के पदों की रचना एक बहुत विस्तृत अवधि में हुई होगी। अन्तिम रूप से इसका संकलन कब हुआ होगा, कहना कठिन है। इसके उपर्युक्त सीता-मुद्रिका संवाद की कल्पना यदि तुलसीदास ने केशव की 'रामचन्द्रिका' (सं० १६५८) देखकर की हो, तो इसका संकलन-काल सं० १६५८ के बाद किसी तिथि को हुआ होना चाहिए। 'पदावली रामायण' में यह संवाद नहीं है, इसलिए 'गीतावली' का यह रूप असम्भव नहीं यदि सं० १६५८ के पूर्व का हो।

'गीतावली' का तुलसीदास की रचनाओं में एक विशिष्ट स्थान है, जिस पर अभी तक यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। अनेक बातों में यह 'रामचरित मानस' के समान होते हुए भी गीतों के साँचे उसी की राम-कथा को ढाल देने का प्रयास मात्र नहीं है। यह एक प्रकार से 'मानस' का पूरक है। 'मानस' में जीवन के कोमल और मधुर-पक्षों को जैसे जान-बूझकर दबाया गया हो; 'मानस' में कौसल्या राम को वन भेजकर केवल एक बार व्यथित दीख पड़ती है—वह है भरत के आगमन पर, किन्तु फिर पुत्र शोकातुरा कौसल्या के दर्शन नहीं होते; 'गीतावली' में तो अनेक बार वह रामविरह में धैर्य खोती चित्रित होती हैं; उसमें तो वह राम विरह में उन्माद-ग्रस्त हो चुकी हैं: 'कबहुं प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे। उठहु तात, बलि मातु बदन पर अनुज सखा सब द्वारे।। कबहुँ कहति यों बड़ी बार भई जाहु भूप पहं भैया। बन्धु बोलि जेंइय जो भावै गई निछावरी मैया (अयो० ५२)।।'' आदि पदों में कौसल्या का जो चित्र अंकित किया गया है, वह 'मानस' में नहीं किया गया है और कदाचित् जान-बूझकर नही किया गया है। फिर, सीता के साथ राम की जिस 'माधुरी-विलास-हास' का चित्रण

चित्रकूट की दिनचर्या में 'गीतावली' (अयो० पद ४४) में हुआ है अथवा उसके उत्तरकाण्ड में भोर में 'प्रिया प्रेम रस पागे' अलसाये हुए राम का जो चित्रण हुआ है (उत्तर० २), और विभिन्न प्रसगों में अयोध्या के नारी-समाज द्वारा राम के जिस सौन्दर्य-पान का वर्णन किया गया है (उत्तर० १८-१९ तथा २१-२२) उनका एक भी समतुल्य 'मानस' में नहीं है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ है। इसका एक मात्र कारण कदाचित् यह है कि 'मानस' की रचना उन्होंने सम्पूर्ण समाज के लिए की थी : 'सुर सरि सम सब कहँ हित होई' यह भावना उनकी रचना के मूलमें काम कर रही थी और इसलिए उसके मर्यादावाद की सीमाओं का कहीं भी अतिक्रमण नहीं होने दिया, जब कि 'गीतावली' के अधिकतर पदों की रचना उन्होंने सम्भवत: केवल भक्त और रसिक समुदाय के लिए की, इसलिए इसमें हमे 'मानस' के तुलसी दास की अपेक्षा एक अधिक वास्तविक और हाड़-मांस के तुलसी दासके दर्शन होते हैं।

—मा० प्र० गु०

गीतिका—इसका प्रकाशन-काल सन् १९३६ ई० है। इसमें सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के नये स्वर-तालयुक्त शास्त्रानुमोदित गीत संगृहीत हैं। खड़ी बोली में इस प्रकार के प्रथम गीत-स्रष्टा जयशंकर प्रसाद हैं। उनके नाटकों के अन्तर्गत जिन गीतों की सृष्टि हुई है, वे सर्वथा शास्त्रानुमोदित हैं किन्तु ये गीत विशेष वातावरण में उनके पात्रों द्वारा गाये जाते हैं। ये गीत पात्र तथा वातावरण सापेक्ष हैं। शास्त्रानुमोदित निरपेक्ष गीतों की सर्जना का श्रेय 'निराला' को ही है। शास्त्रानुमोदन का तात्पर्य यह नहीं है कि ये गीत भी पुरानी राग-रागनियों के बन्धनों से बँधे हुए हैं। बंगाल में रहने के कारण 'निराला' का ध्यान बंगला के उन गीतों की ओर गया जिनकी स्वर-लिपियाँ अंग्रेजी संगीत के आधार पर तैयार की गयी थीं किन्तु बंगला में भी अंग्रेजी स्वर-शैली की हूबहू नकल नहीं की गयी। 'गीतिका' की भूमिका में 'निराला' ने स्वयं लिखा है, "अंग्रेजी संगीत की पूरी नकल करने पर उससे भारत के कानों को कभी तृप्ति होगी, यह संदिग्ध है। कारण, भारतीय संगीत की स्वर-मैत्री में जो स्वर प्रतिकूल समझे जाते हैं, वे अंग्रेजी संगीत में लगते हैं।..." अस्तु, अंग्रेजी संगीत के नाम पर जो कुछ लिया गया, उसे हम "अंग्रेजी ढंग का संगीत कह सकते हैं, स्वर मैत्री हिन्दुस्तानी ही रही....।"

संगीत और काव्य में जहाँ विशेष सम्बन्ध है, वहाँ इनका अन्तर भी स्पष्ट है। संगीत में स्वर की प्रधानता होती है और यह अपेक्षा कृत अपरिवर्तनशील कला है। संगीत के लिए काव्य अनिवार्य नहीं है, पर काव्य के लिए एक प्रकार के संगीत की अनिवार्यता मानी जा सकती है। 'गीतिका' में संगृहीत गीतों में संगीत-तत्त्व के साथ ही काव्य-तत्त्व का भी प्रचुर विनियोग हुआ है। इसमें कई प्रकार के गीत हैं—आत्मनिवेदन या प्रार्थनाप्रधान गीत, नारी सौन्दर्य-चित्रणप्रधान, प्रकृति वर्णनपरक, दार्शनिक एवं राष्ट्रीय गीत।

इसके गीतों को संगीतात्मक बनाने के लिए शब्द ध्वनि पर विशेष ध्यान दिया गया है। व्यापक सांस्कृतिक परिवेश ग्रहण करने के कारण वे वस्तुमूलक, बौद्धिक तथा अधिक गूढ़ भावों के द्योतक हो गये। कहीं-कहीं लघुकाय गीतों में भाव अँट नहीं पाया है और कहीं-कहीं दुरूह शब्दयोजना प्रेषणीयता में विशेष बाधा डालती हुई दीख पड़ती है। किन्तु ऐसे गीतों की संख्या अल्प है।

—ब० सिं०

गुंजन—यह कवि सुमित्रानन्दन पन्त का काव्य-संग्रह है। इसका प्रकाशन सन् १९३२ में हुआ था। इसे कवि पन्त ने अपने प्राणों का 'उन्मन-गुंजन' कहा है। यह संकलन 'वीणा', 'पल्लव' काल के बाद कवि के नये भावोदय की सूचना देता है। इसमें हम उसे मानव के कल्याण और मंगलाशा के नये सूत्र काव्यबद्ध करते पाते हैं। कल्पना और भावना का वह उद्दाम प्रवाह जो 'पल्लव' की रचनाओं को उन्मादक बनाता है, 'गुंजन' में नहीं है। एक आकर्षक कोमल आभिजात्य से संकलन की रचनाएँ ओतप्रोत हैं। दो-चार रचनाओं को छोड़कर जो १९२२ और १९२७ की रचनाएँ हैं या जिनका रचनाकाल कुछ पहले १९१८ तक जाता है, शेष रचनाएँ १९३२ की ही सृष्टि हैं। यह वर्ष पन्त के कवि-जीवन का मोड़ कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उनकी संवेदना, अभिव्यंजना तथा चिन्तन को नयी दिशा मिलती है। 'मदन-दहन' (दे० 'पल्लव' की समापनकविता) के बाद नूतन अनंग का यह जन्म स्वयं कवि के स्वस्तिवाचन का विषय बना है।

ग्रन्थ में ४५ गीतियाँ संकलित हैं। इनमें प्रगीतात्मकता के साथ संगीत की स्वर-लहरी भी मिलेगी। वस्तुत: इनमें अनेक रचनाएँ 'गान' की कोटि में आयेंगी। नये गीतकण्ठ ने भाषा-शैली, छन्द और मूर्त्त-विधान सभी दिशाओं में नया समारम्भ प्रस्तुत किया है। इन प्रगीतों में अन्तस् का माधुर्य, भावबोध, सौन्दर्य-सम्भार एवं गीत-विलास आशा और मंगल के स्वर-सन्धान के द्वारा सार्थक हुआ है। 'ज्योत्स्ना' में रूपक के रंग में ढालकर जिस मानव-कल्याणकामना को योजनाबद्ध किया गया है, उसका प्रथम उन्मेष 'गुंजन' की गीतियों में ही मिलेगा। 'पल्लव' काल की कल्पना-प्रचुरता हमें केवल एक रचना 'अप्सरी' में मिलती है, जिसमें कवीन्द्र रवीन्द्र की 'उर्वशी' की छाया स्पष्ट है परन्तु जिसमें एक भिन्न कोटि की मायाविनी मानसी को मूर्त्तिमान किया गया है, जो आदिमकाल से मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना को उकसाती रही है। मानव ने अपने चारों ओर जो कल्पना, रहस्य और सौन्दर्य का छाया-जगत् बिछाया है, वह इसी छाया-मूर्ति की देन है। इसीलिए रचना के समापन पर कवि कहता है—

"जग के सुख-दुख, पाप-ताप, तृष्णा-ज्वाला से हीन।
जरा-जन्म-भय-मरण-शून्य, यौवनमयि, नित्यनवीन।
अतल विश्व-शोभा-वारिधि में, मज्जित जीवन-मीन। तुम
अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी, निज सुख में तल्लीन।"

परन्तु यहाँ कवि इन्द्रजाली कल्पना से नीचे उतर कर ऐसे संयत भाव-चित्रों को ही चुनता है, जो हमारे चिर परिचित आयामों से भिन्न नहीं हैं।

'गुंजन' की श्रेष्ठतम रचनाएँ हैं—'नौकाविहार', 'एक तारा', 'मधुबन', 'भावी पत्नी के प्रति' और 'चाँदनी'। इन रचनाओं में कवि की आत्मिक तल्लीनता प्राकृतिक सौन्दर्य तथा रूपात्मक संकेतों के भीतर से नया रसबोध जाग्रत करने में सफल हुई है। विराट्, विश्रृंखलित और क्षिप्रगति से बदलते हुए उपमानों के स्थान पर संयत कल्पना चित्र और अमूर्त्तविधान हमें बराबर आश्वस्त रखते हैं, किंचिन्मात्र भी झकझोरते

नहीं। इस रचना में पन्त का काव्य आभिजात्य की एक सीढ़ी और चढ़ गया है। उसका आत्मनियन्त्रण आश्चर्य जनक है। भावनाओं की बाढ़ जैसे उतर गयी हो और तरुण कवि नये शरदाकाश के उज्ज्वल वैभव को अर्घ्य-दान दे रहा हो। 'चाँदनी' पर दो रचनाएँ हैं और उसे हम कवि की साम्प्रतिक चेतना का बाह्य प्रतीक कह सकते हैं।

'गुंजन' में कवि का प्रकृति-काव्य अधिक प्राकृतिक हो गया है। उसमें वर्ण्य विषय खुलता है, उपमाओं की झड़ी मे मुँद नहीं जाता। प्रकृति की सहज, प्रसन्न, शान्त चित्रपटी 'गुंजन' में मिलेगी क्योंकि वही कवि के नये भावपरिवर्त्तन के अनुकूल है। मधुमास पर लिखी हुई कुछ रचनाओं में वर्ण की चटुलता भी है परन्तु वह क्रीड़ामात्र न होकर यौवन की आन्तरिक सम्पन्नता की ही द्योतक है। इस संकलन की दूसरी विशेषता मिलन-सुख और प्रेमोल्लास सम्बन्धी कुछ गीतियाँ हैं, जो सम्भोग-श्रृंगार के रीतिकालीन स्वरूप से भिन्न नयी भावमाधुरी से ओतप्रोत हैं। ये रचनाएँ कवि का मन:कल्प ही कही जा सकती हैं। इन आकांक्षामधुर रचनाओं में जिस नारी-मूर्त्ति का आह्वान है, वह 'भावी पत्नी के प्रति' और 'रूपतारा, तुम पूर्ण प्रकाम' रचनाओं में पुष्पित हुआ है। 'गुंजन' की ये कविताएँ कवि के 'उच्छ्वास', 'आँसू' प्रभृति विप्रलम्भ काव्य की पूरक हैं। सम्भवतः पिछली रचनाओं से अधिक सहज होने के कारण ये लोकप्रिय भी अधिक हैं। 'गुंजन' की तीसरी दिशा कवि का दार्शनिक चिन्तन है जो वेदान्ती होकर भी स्वानुभूत सत्य के प्रकाशसे ज्योतिर्मान् है। कवि जब कहता है :

"मैं प्रेम उच्चादर्शों का, संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का। जीवन के हर्ष-विपर्शों का, लगता अपूर्ण मानव-जीवन" तो हम इन पंक्तियों में उत्तर पन्त का समस्त काव्य-विकास झांकता पाते हैं। 'साठ वर्ष' में कवि ने इस काल की अपनी निर्जनता की भावना का उल्लेख किया है और एकाकी जीवन को चिन्तन, भावना और आत्मसंस्कार से भरने का प्रयत्न ही 'गुंजन' है। इसलिए अनेक गीतियों में कवि अपने मन से सम्बोधित होता है और उससे खिलने अथवा तपने का आग्रह करता है। वास्तव में 'गुंजन' पंत की आत्मसाधना का प्रतीक ग्रन्थ है। यह साधना प्रकृति-सौन्दर्य से आगे बढ़कर मानव-सौन्दर्य तक पहुँचती है। इसमें जीवन के आनन्द, उल्लास, सहज संवेदन तथा माधुर्य का प्रकाश भरा गया है। सब कुछ जैसे जादू की छड़ी से सुन्दर और सार्थक बन गया है। इस सुन्दरता का केन्द्र मानव है, जो प्रकृति के आनन्द, उल्लास और सौन्दर्य का मूल उत्स है। इसी मानव को पंत ने अपनी मंगल-कामना समर्पित की है। यह ठीक है कि 'गुंजन' की मंगल-कामना अनिर्दिष्ट है, उसमें किसी प्रकार का तन्त्र या 'वाद' दर्शित नहीं होता, परन्तु कवि के सहज, सौम्य, प्रसन्नचेता व्यक्तितव के माध्यम से प्रकृति और मानव के समस्त सुन्दर और शोभन आयामों का संकलन स्वतः हो जाता है। लगता है, कवि बालसुलभ चापल्य और वयःसन्धि के स्वप्नों को पीछे छोड़कर तथा कौसानी की चित्रशलभ-सी पंख खोलकर उड़ने वाली घाटी से नीचे उतर कर गंगा के उन्मुक्त कछार में आ गया है और उसकी कवि-चेतना से नीलाकाश में आबद्ध अनन्त दिक् प्रसाद को हृदयंगम किया है। उत्तर पन्त की रचनाएँ यहीं से आरम्भ होती हैं और निरन्तर नये आयाम ग्रहण करती जाती हैं। —रा० र० भ०

गुमान द्विज—'शिवसिंह सरोज' और खोज-विवरणों में गुमान नाम के दो कवियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उनमें-से एक हैं गुमान द्विज और दूसरे गुमान मिश्र। फिर भी मिश्रबन्धुओं और रामचन्द्र शुक्ल ने दोनों को एक ही समझ लेने की भूल की है। प्रथम गुमान सन् १७३१ ई० में विद्यमान थे और वे महोबावासी त्रिपाठी-कुलीय द्विज गोपालमनि के पुत्र थे। द्विज गुमान के तीन और भाई थे—दीपसाहि, खुमान और अमान। इन्होंने 'श्रीकृष्ण चन्द्रिका' और 'छन्दाटवी' संज्ञक ग्रन्थों की रचना की, जिनमे प्रथम का निर्माण-काल सन् १७८१ ई० है। इस ग्रन्थ के आदि में कवि ने मंगलाचरण के अतिरिक्त पिंगल आदि का वर्णन किया है। इसके बाद भागवत के प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध तथा दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में पायी जानेवाली कथाओं को भाषान्तरित किया है। 'छन्दाटवी' पिंगल-ग्रन्थ है। ये साधारण श्रेणी के कवि ज्ञात होते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (वा० १९०५; त्रै० १,३,१२, १३); मि० वि०; शि० स०; हि० सा० इ०।]

—रा० त्रि०

गुमान मिश्र—शिवसिंह सेंगरने गुमान मिश्र की साँडीवासी और सन् १७४८ ई० में वर्तमान बताया हे। कवि ने स्वयं अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वे मिश्र ब्राह्मण और सबसुख मिश्र के शिष्य हैं। ये हिन्दी तथा संस्कृत भाषा एवं साहित्यशास्त्र के पण्डित थे। ये सर्वप्रथम कुछ दिनो तक दिल्ली में मुहम्मद बादशाह के यहाँ राजा युगलकिशोर भट्ट के पास रहे; फिर पिहानी के महमूदी महाराज अकबर अली खाँ के यहाँ चले गये। उन्हीं से प्रोत्साहन प्राप्त कर इन्होंने हर्षकृत 'नैषध' का 'काव्यकलानिधि' नाम से हिन्दी में उल्था किया। इसका अनुवादकाल सन् १७४६ ई० है। प्रकाशन भी इसका श्रीवेंकटेश्वर प्रेस से हो गया है, जो नितान्त अशुद्ध है। खोज—विवरणों में इसके अतिरिक्त भी इस कवि की दो कृतियाँ बतायी गयी हैं—(१) 'अलंकार—दर्पण' और (२) 'गुलाल चन्दोदय'। क्रम से इनका रचनाकाल सन् १७६० और १७६१ ई० है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, प्रथम रचना अलंकार—विवेचन से सम्बन्धित है और दूसरी बिसवाँ (जिला सीतापुर) के तालुकेदार की संरक्षकता में लिखी गयी है। यद्यपि कवि ने यथासम्भव नाना छन्दों आदि में 'नैषध' के अनुवाद को सफल बनाने की चेष्टा की है तथापि वह पूर्ण सफल नहीं हो पाया है। बिना मूल ग्रन्थ को सामने रखे अनूदित पंक्तियों का अर्थ खुलता नहीं है। कवि को काव्य—चमत्कार कितना प्रिय था, यह 'नैषध' के आदि भाग में अली अकबर खाँ की प्रशंसा में लिखे गये बहुत से कवित्तों में बड़ी स्पष्टता से देखा जा सकता है। ये साहित्य तथा कला—मर्मज्ञ थे। भाषा पर इनका पूरा—पूरा अधिकार था। इनकी अनुप्रासबहुल भाषा पद्माकर की भाषा की याद दिला देती है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (वा० १९०५; त्रै० १, ३, १२, १३); मि० वि०; हि० सा० इ०; क० को० भा० १।]

—रा० त्रि०

गुरु अर्जुनदेव—गुरु अर्जुनदेव सिक्खों के पाँचवें गुरु थे। उनका जन्म अप्रैल सन् १५६३ ई० (बैसाख बदी ७, संवत् १६२० वि०) में गोइन्दवाल नामक स्थान में हुआ। उनके पिता सिक्खों में चौथे गुरु रामदास जी तथा माता भानी थीं।

दिया। इसके पश्चात् एक काजी ने गुरुजी को सूचित किया, "या तो जुर्माना दो, या सजा भोगो।" लाहौर के सिक्ख जुर्माना देना चाहते थे, किन्तु गुरु ने उन्हें यह कहकर रोक दिया, "धार्मिक व्यक्ति और ईश्वर भक्त कभी जुर्माना नहीं देते। जुर्माना नगो–लुच्चों तथा चोरों बदमाशों के लिए है।"

गुरु अर्जुनदेव का यह निश्चय जानकर, उन्हें कठोर नारकीय यातनाएँ दी गयीं। वे मुर्तजा खाँ को सौंप दिये गये। मुर्तजा खाँ ने अत्यन्त क्रूरतापूर्वक गुरु अर्जुनदेव को यातनाएँ दीं, पर वे टस–से–मस नहीं हुए। उनके मुखमण्डल पर वही तेज, और वही शान्ति विराजमान थी। गुरु अर्जुनदेव उबलते देग में रखे गये। उनके ऊपर गर्म बालू और धधकते लोहे भी रखे गये। गुरुजी ने कहा, "वाहिगुरु (परमात्मा) तेरा नाम शीतल है। तू आग को आग बनी रहने दे, किन्तु मुझे अपने नाम की शीतलता प्रदान कर, ताकि मैं अग्नि की उष्णता सहन करने में समर्थ होऊँ।" गुरु अर्जुनदेव ने अपने उपर्युक्त कथन को अक्षरशः सत्य प्रमाणित करके दिखा दिया।

गुरु अर्जुनदेव के रक्त से भरे हुए शरीर को रावी नदी के ठण्डे पानी में डाला गया। अन्त में 'जप जी' का पाठ करते हुए वे अपने नश्वर शरीर को त्यागकर सन् १६०६ ई० में 'ज्योति–ज्योति' में लीन हुए। नदी के किनारे ही उनके शरीर का दाह–संस्कार हुआ। उस स्थान पर एक गुरुद्वारा बनाया गया है, जिसका नाम 'डेहरा साहब' है।

पिनकाट के अनुसार गुरु ग्रन्थ साहिब में १५५७५ बन्द हैं। जिनमें से गुरु अर्जुनदेव के ६२०४ बन्द हैं। इस प्रकार गुरु अर्जुनदेव की वाणी समस्त गुरुओं और भक्तों से अधिक है। गुरु अर्जुनदेव की प्रमुख वाणियाँ निम्नलिखित हैं–बारांमाह, बावन अक्खरी, गउड़ी स्थिती, सुखमनी साहब और गाथा। बारांमाह में परमात्मा से बिछुड़े जीवों का वर्णन है और मिलन की युक्ति भी बतायी गयी है। इसी प्रकार थिती (स्थिति) के माध्यम से भी परमात्मा के ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया गया है।

गुरु अर्जुनदेव की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'सुखमनी साहब' है। 'सुखमनी साहब' में २४ अष्टपदियाँ हैं। सुखमनी साहब का भाव यह है कि परमात्मा के नाम का स्मरण अन्य सभी धार्मिक कार्यों से श्रेष्ठ है (अष्टपदी १, २ तथा ३)। माया में आसक्त जीव के ऊपर यदि प्रभु की कृपा हो जाय, तभी उसे नाम का दान प्राप्त होता है ('अष्टपदी' ४, ५ और ६)। जब प्रभु की कृपा होती है तो मनुष्य गुरुमुखों की संगति में रहकर 'नाम' प्राप्त करता है। वे गुरुमुख चाहे साधु कहे जाँय, चाहे ब्रह्मचारी, चाहे किसी अन्य नाम से सम्बोधित किये जाँय, किन्तु वे सदैव परमात्मा से युक्त रहते हैं ('अष्टपदी' ७, ८ और ९)। उस अकाल पुरुष की स्तुति में जगत् के समस्त प्राणी लीन हैं, यह सर्वव्यापी है, प्रत्येक जीव को उसी से सत्ता और शक्ति प्राप्त होती है ('अष्टपदी' १०, ११)। प्रभु के भक्त को दीन स्वभाव रखना चाहिए ('अष्टपदी' १२)। वह निन्दा से बचा रहे ('अष्टपदी' १३)। वह एक अकाल पुरुष में ही प्रीति रखे, क्योंकि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताओं को जानने और पूर्ण करने वाला प्रभु ही है ('अष्टपदी' १४, १५)। वह अकाल पुरुष सभी में व्याप्त होता हुआ भी माया से परे है ('अष्टपदी' १६)। वह शाश्वत है ('अष्टपदी' १७)। सद्‌गुरु की शरण में जाने से उसका प्रकाश हृदय में होता है ('अष्टपदी' १८)। प्रभु का नाम ही मनुष्य के साथ सदैव निभता है ('अष्टपदी' १९)। प्रभु से प्रार्थना करने पर ही इस धन की प्राप्ति होती है ('अष्टपदी' २०)। निर्गुण स्वरूप परमात्मा ने ही जगत् स्वरूप अपना सगुण रूप बनाया है। प्रत्येक स्थान में वह आप ही व्याप्त है ('अष्टपदी' २१ और २२)। जब मनुष्य को सद्‌गुरुप्रदत्त ज्ञानरूपी अंजन प्राप्त होता है, तभी उसे यह बोध होता है कि परमात्मा सर्वत्र है ('अष्टपदी' २३)। प्रभु सारे सुखों का भण्डार है। उसके नाम के स्मरण से अनन्त गुण प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए नाम को सुखों की मणि (सुखमनी) कहा गया है ('अष्टपदी' २४)।

गुरु अर्जुनदेव की रचना में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की अबाध मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है। उनकी भाषा पंजाबी मिश्रित ब्रजभाषा है और प्रसाद गुण से ओत–प्रोत है। उनकी रचनाएँ अध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं। उनमें जीवन की अद्‌भुत निर्माणकारिणी शक्ति है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) द आदि ग्रन्थ : आर्नेस्ट ट्रम्प, लन्दन १८७७ ई०; (२) द सिक्ख रिलीजन : मैक्स आर्थर मैकालिफ, खण्ड ३, क्लैरण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड, १९०९ ई०; (३) द बुक आफ टेन मास्टर्स : पूरनसिंह, सिक्ख युनीवर्सिटी प्रेस, निस्वत रोड, लाहौर, १९२० ई०; (४) मार्टर्डम आफ गुरु अर्जुनदेव हरनामसिंह, सिक्ख ट्रेक्ट सोसायटी, अमृतसर, १९२४ ई०; (५) द मेसेज आफ गुरु अर्जुन : पूरनसिंह, लाहौर बुक शाप, निस्बत रोड, लाहौर, १९४५ ई०; (६) सुखमनी साहिब (सटीक) : साहिबसिंह, लाहौर बुक शाप, निस्वत रोड, लाहौर, १९४५ ई०।]

–ज० रा० मि०

गुरु गोविंदसिंह–गुरु गोविन्द सिंह सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु थे। उनका जन्म पौष, सुदी सप्तमी, संवत् १७२३ विक्रमी, तदनुसार सन् १६६६ ई० में पटना (बिहार) में हुआ था। उनके पिता सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर तथा माता गूजरी थीं। उनका नाम गोविन्दराय रखा गया। उनकी बाल्यावस्था पटना में ही व्यतीत हुई। बड़े यत्न और सावधानी से उनकी शिक्षा–दीक्षा हुई। पाँच वर्ष की अवस्था में उन्हें माता गूजरी ने स्वयं गुरुमुखी सिखायी। गुरु तेग बहादुर ने उन्हें शस्त्र–शास्त्र दोनों की शिक्षा दिलायी। बाल्यावथा में ही इन्होंने बिहारी और बंगला भी सीख ली।

बचपन में ही उनमें अलौकिकता दिखायी देती थी। बाल–सखाओं की सेना बनाकर तथा स्वयं सेनापति बनकर उन्हें युद्ध करना सिखाते थे। एक दिन वे कुछ बालकों के साथ खेल रहे थे, उसी समय पटने के नवाब की सवारी निकली। चोबदार ने कहा, "बच्चो नवाब साहब आ रहे हैं। खड़े हो जाओ, सलाम करो और सिर झुकाओ।" बालकों के सरदार गोविन्दराय ने कहा, "खड़े मत हो, सलाम मत करो, सिर मत झुकाओ।"

कश्मीरी पण्डितों को औरंगजेब ने जब मुसलमान बनाना चाहा, तो सब मिलकर गुरु तेगबहादुर के पास आनन्दपुर गये और उन्हें अपनी करुण कहानी सुनायी। उनकी बातों से गुरु तेगबहादुर मौन, उदास और दुखी हो गये। उसी समय नववर्षीय गोविन्दराय उनके पास आये। उन्होंने पिता से

उनकी उदासी का कारण पूछा। पिता ने बताया, "कश्मीरी पण्डितों पर घोर संकट है। औरंगजेब उन्हें मुसलमान बनाना चाहता है।" गोविन्दराय ने पूछा, "इससे बचने का उपाय क्या है।?" गुरु तेगबहादुर ने उत्तर दिया, "औरंगजेब की प्रचण्ड धर्म की द्वेषाग्नि में किसी महान् धर्मात्मा की आहुति ही इससे बचने का उपाय है।" गोविन्दराय तुरन्त बोल उठे, "आपसे बढ़कर कौन धर्मात्मा भारतवर्ष में होगा? आप ही उस अग्नि की आहुति बनिये।" हर्षातिरेक के कारण गुरु तेगबहादुर ने उनका मुख चूम लिया और मन—ही—मन समझ लिया कि मेरा पुत्र मेरे न रहने पर गुरु—गद्दी का भार सुन्दर रीति से संभाल लेगा।

सन् १६७५ ई० में गुरु तेगबहादुर हँसते—हँसते दिल्ली में शहीद हुए। उनकी शहादत से सारा देश थर्रा उठा। गुरु—गद्दी का उत्तरदायित्व अल्पायु में ही गोविन्दराय के ऊपर आ पड़ा। उन्होंने उस समय शक्ति संघटन के लिए हिमालय की शरण ली और वहीं पहाड़ियों में अपना निवास—स्थान बनाया तथा २० वर्षतक ऐकान्तिक साधना की। इस ऐकान्तिक साधना के अनेक निम्नलिखित शुभ परिणाम निकले—(१) उन्होंने फारसी और संस्कृत के ऐतिहासिक—पौराणिक ग्रन्थों का विशद अध्ययन कर लिया; (२) हिन्दी कवियों द्वारा उन्होंने पंजाब में पहली बार वीर—रस के काव्य का प्रणयन कराया और स्वयं भी काव्य—रचना की; (३) घुड़सवारी और तीरन्दाजी में असाधारण निपुणता प्राप्त कर ली; (४) आखेट विद्या में दक्षता प्राप्त की और कठोर जीवन व्यतीत करने का अभ्यास किया; (५) हिन्दू जाति की दयनीय दशा को देखते हुए यह अनुभव किया कि परमात्मा ने मुझे देश, जाति और धर्म का उत्थान करने के लिए भेजा है। इसी समय उन्होंने अपना भावी कार्यक्रम बना लिया (दे० गोकुलचन्द : 'ट्रांसफार्मेशन आव सिक्खिज्म', पृ० १२७—१२८)।

अनंगपाल के पश्चात् गुरु गोविन्दसिंह के समान कोई भी राजनीतिक नेता नहीं हुआ। गुरु गोविन्दसिंह ने भलीभाँति समझ लिया कि हिन्दुओं में धर्म तो है, किन्तु राजनीतिक जागरूकता और चेतना नहीं है और राष्ट्रीय एकीकरण में तत्कालीन जाति—व्यवस्था अत्यधिक बाधक है।

गुरु गोविन्दसिंह द्वारा "खालसा पन्थ" का निर्माण उनके जीवन की सर्वोपरि सफलता है। उन्होंने वैशाख बदी १, सम्वत् १७५६, तदनुसार १६९९ ई० में आनन्दपुर के केशगढ़ नामक स्थान पर दयाराम, धर्मदास, मुहकमचन्द, साहिबचन्द, हिम्मत इन पाँच सिक्खों को मृत्युंजयी बनाकर 'सिंह' बनाया और स्वयं उनसे दीक्षा लेकर गोविन्दराय से गोविन्दसिंह बने। उन्होंने कहा कि इन पाँचों सिक्खों में से एक—एक ऐसे हैं, जिन्हें मैं सवा लाख से लड़ा सकता हूँ। जिस प्रकार कायरता संक्रामक होती है, उसी प्रकार वीरता भी संक्रामक होती है। गुरु गोविन्दसिंह का यह मन्त्र संजीवनी शक्ति बन गया। उन्होंने 'खालसा पन्थ' को बाह्य दृष्टि से शक्तिशाली बनाने के लिए प्रतिपादित किया कि—(१) सभी सिक्ख समान हैं, उनकी एक ही जाति है और वह है सिंह, अतः सभी के नाम के आगे 'सिंह' लगाया जाय; (२) सभी एक ढंग से "सत् श्री अकाल" कहकर नमस्कार करें; (३) 'गुरु ग्रन्थ साहिब' को छोड़कर अन्य बाह्य वस्तुओं की पूजा न की जाय; (४) केवल एक 'अमृतसर' ही तीर्थ हो; (५) सिर में साफा बाँधना आवश्यक हो; (६) कोई भी 'सिंह' तम्बाकू का सेवन न करे तथा (७) प्रत्येक 'सिंह' केश, कंघा, कृपाण, कड़ा और कच्छ धारण करे।

आन्तरिक दृष्टि से इस प्रकार सिंहों को दृढ़ करने के लिए उन्होंने घोषित किया कि—(१) प्रत्येक 'सिंह' के ऊपर परमात्मा की छत्रछाया है, जहाँ कहीं भी उनकी जमात एकत्र होगी, वहीं परमात्मा और गुरु रहेगा; (२) प्रत्येक 'सिंह' विजय प्राप्ति के लिए उत्पन्न हुआ है और उसका नारा है—"वाह गुरुजी का खालसा, वाह गुरुजी की फतेह।" (३) वीर—रस के साहित्य का अध्ययन प्रत्येक 'सिंह' के लिए आवश्यक है।

गुरु गोविन्दसिंह ने भंगाणी, गुलेर, आनन्दपुर, चमकोर तथा मुकतार आदि की लड़ाइयाँ बहादुरी से लड़ीं। गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों के धर्म के व्यावहारिक रूप का आदर्श उदाहरण देश के सामने प्रस्तुत किया और वे अन्याय अत्याचार से जीवनपर्यन्त जूझते रहे तथा एक—एकको सवा लाख से जुझाते रहे। उन्होंने अपने चार पुत्रों—अजीत सिंह, जोरावर सिंह, जुझार सिंह और फतेह सिंह को देश की रक्षा के लिए कुरबान कर दिया और उनके दिवंगत होने पर कहा, "मैंने अपने चार पुत्रों को इसलिए कुरबान किया है कि मेरे सहस्रों पुत्र आनन्दपूर्वक जीवनयापन कर सकें।"

उनका नाम धर्मसुधारकों में तो है ही, राष्ट्र—उन्नायकों में भी उनका नाम अग्रगण्य है। उन्होंने गीता के प्रसुप्त आदर्शों को पंजाब में फिर से जागरित किया तथा लोक और परलोक एवं व्यवहार और अध्यात्म में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया। उनका जीवन संघर्षमय, त्यागमय और सेवामय था। वे पूर्ण निष्काम कर्मयोगी थे।

दक्षिण भारत के नदेड़ (हैदराबाद दक्षिण) नामक स्थान पर सन् १७०८ ई० में एक पठान ने उन्हें आहत कर दिया। मरहम पट्टी से अच्छे होने लगे थे, किन्तु धनुष पर तीर का सन्धान करते समय उनके घाव का टाँका टूट गया और वे अपनी देहलीला समाप्त कर 'ज्योती—ज्योति' में लीन हो गये। उन्होंने गुरु—गद्दी के भावी संघर्षों की भीषणता का अनुमान कर गुरुत्व का समस्त भार 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' में केन्द्रित कर दिया। ट्रम्प, मैकालिफ, तेजसिंह और गण्डासिंह आदि विद्वानों के अनुसार 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में उनका रचा हुआ एक दोहरा है, परन्तु शेरसिंह इनका खण्डन करते हैं उनका कथन है कि वह दोहरा गुरु गोविन्द सिंह का बनाया नहीं है बल्कि गुरु तेगबहादुर द्वारा उसकी रचना हुई है।

दशम ग्रन्थ गुरु गोविन्दसिंह से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता के सम्बन्ध में मतभेद है। मैकालिफ तो इसे सामूहिक कवियों का प्रयास मानते हैं, किन्तु कतिपय निर्मला सम्प्रदाय वाले इसे गुरु गोविन्दसिंह द्वारा रचित मानते हैं। इस ग्रन्थ में हिन्दू पौराणिक गाथाएँ, धर्म, दर्शन, इतिहास और साहित्य का संग्रह है। इस ग्रन्थ के स्वतन्त्र अध्ययन एवं शोध की बहुत बड़ी आवश्यतकता है। दशम ग्रन्थ का विभाजन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है—(१)जापजी (पृष्ठ १-११), (२) अकाल उसतत (पृष्ठ ११—३८), (३) विचित्र नाटक (पृष्ठ ३९—११८), (४) वार श्री भगउतीजी की (पृष्ठ ११९—१२७), (५) ज्ञान प्रबोध (पृष्ठ १२७—१५४), (६)

चौपाया (पृष्ठ १५५–७०८), (७) शब्द हजारे–रामकली (पृष्ठ ७०९–७१२) (८) सवैया बत्तीस (पृष्ठ ७१३–७१७), (९) शास्त्र नाम माला (पृष्ठ ७१८–८०८), (१०) स्त्री चरित्र (पृष्ठ ८०९–१३५९) तथा (११) जफरनामा और हिकायत (पृष्ठ १३५९–१४२७)।

दशम ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। ये भाई मनीसिंहजी द्वारा लिखी गयी हैं। एक प्रति राजा गुलाबसिंह सेठी, ४७ हनुमान रोड, दिल्ली के अधिकार में है, दूसरी पटना के एवं तीसरी संगरूर के गुरुद्वारे में है। दशम ग्रन्थ की प्रकाशित प्रतियां (गुरुमुखी लिपि में) शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर से प्राप्य हैं।

गुरु गोविन्दसिंह के 'जापु साहिब' में परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का वर्णन है। इसमें कुल १९९ छन्द हैं। 'अकाल उसतति' अकाल पुरुष की स्तुति है। 'विचित्र नाटक' पौराणिक काव्य–रचना है। इसमें गुरु गोविन्दसिंहजी ने अपने जीवन की बातें कही हैं तथा अपने पूर्व–जन्म की बातें भी बतायी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है। 'चण्डी चरित्र' दुर्गा–सप्तदशती के आधार पर लिखा गया है। इसमें २२७ छन्द हैं। 'ज्ञान प्रबोध' में दान, धर्म एवं राजधर्म का वर्णन है। 'शास्त्र नाम माला' में शास्त्रों के नाम के माध्यम द्वारा परमात्मा का स्मरण है। चौपाई में 'दुलह दई' और 'श्वास वीर्य' राक्षस के युद्ध का वर्णन है। 'जफरनामा' सन् १७०६ ई० में औरंगजेब को लिखा हुआ पत्र है, जिसमें गुरु गोविन्दसिंहजी के आदर्शों की व्याख्या है। उनकी वाणी में परमात्मा की भक्ति तथा देश भक्ति का अलौकिक वर्णन है।

गुरु गोविन्द सिंहजी की वाणी में शान्त एवं वीर–रस की प्रधानता हैं। परमात्मा की स्तुति में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है। युद्धों के वर्णन में वीर–रस प्रधान है। रौद्र और वीभत्स रस उसके अंगीभूत हैं। इसमें यों तो सभी अलंकारों के उदाहरण मिल सकते हैं, किन्तु उपमा, रूपक और दृष्टान्त का बाहुल्य है। शब्दालंकारों में अनुप्रास की प्रधानता है। छन्दों की दृष्टि से इसमें विविधता पायी जाती है। छप्पय, भुजंगप्रयात, कवित्त, चरपट, मधुभार, भगवती, रसावल, हरबोलनमना, एकाक्षरी, कवित्त, सवैया, चौपाई, तोमर, पाधड़ी, तोटक, नराच, त्रिभंगी आदि अनेक छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

गुरु गोविन्द सिंह की भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा है, किन्तु बीच–बीच में अरबी, फारसी और संस्कृत शब्दों की भी प्रचुरता है। उनकी भाषा में सरिता का प्रवाह एवं निर्झर का कलकल निनाद है। उदाहरणार्थ–"करुणालय हैं। अरिघालय हैं।। खल खंडन हैं। महि मंडन हैं। जगतेस्वर हैं। परमेश्वर हैं।। कलि कारन हैं। सर्वउबारन हैं।।" (जाप साहिब)। "कई वेद रटंत। कई सेख नाम उचरंत। बैराग कहूँ संन्यास। कहूँ फिरत रूप उदास।। सब कर्म फोकट जान। सब धर्म विचार।।" (अकाल उसतति)।

[सहायक ग्रन्थ–(१) आर्नेस्ट ट्रम्प : द आदि ग्रन्थ, लन्दन, १८७७ ई०; (२) एम० ए० मैकालिफ : क्लेरण्डन प्रेस, आक्सफर्ड, १९०९ ई०; (३) गोकुलचन्द नारंग : ट्रांसफारमेशन आफ सिक्खिज्म, तृतीय संस्करण, न्यू बुक सोसायटी, लाहौर, १९४६ ई०।]

–ज० ग० सि०

गुरु ग्रन्थ साहिब– यह सिक्खों का परम पूज्य धर्म–ग्रन्थ है। १४३० पृष्ठों के इस बृहत्काय धर्म–ग्रन्थ से ही सिक्खों के सम्पूर्ण धार्मिक और दार्शनिक विचारों का परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ 'आदि ग्रन्थ' के नाम से भी विख्यात है। गुरु गोविन्द सिंह के दशम ग्रन्थ से विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए 'आदि' शब्द प्रारम्भ में जोड़ दिया गया है। 'ग्रन्थ' का पूरा नाम 'आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी' है। गुरु ग्रन्थ साहिब की प्रथम प्रति करतारपुर, जिला अमृतसर के सोधियों के अधिकार में है। यह करतार पुर के गुरुद्वारे में देखी जा सकती है। गुरु ग्रन्थ साहिब की प्रकाशित प्रतियाँ, गुरुमुखी एवं देवनागरी लिपि में, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर से प्राप्य हैं।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' का सकलन सिक्खों के पंचम गुरु अर्जुन देव (१५६३ ई०–१६०६ ई०) ने सन् १६०४ में बड़े परिश्रम से पूरा किया था। सिक्ख–गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध भक्तों की ऐसी वाणियाँ भी इसमें संकलित कर ली गयी हैं, जो तत्कालीन धार्मिक सुधार–भावना के अनुरूप थीं और सिक्ख–गुरुओं की शिक्षा के विरुद्ध अथवा प्रतिकूल नहीं पड़ती थीं। इन भक्तों की वाणियों में यदा–कदा परिवर्तन भी दिखायी पड़ते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि उनकी वाणियाँ गुरु अर्जुनदेव के समय के उनके अनुयायियों तक आते–आते परिवर्तित हो गयीं, उनमें पंजाबी शब्द आ गये। प्रायः गुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित सन्त वाणियाँ अन्यत्र नहीं मिलतीं। इतना निश्चित है कि १६०४ ई० के संग्रह के बाद उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। 'संग्रह' की समाप्ति के पश्चात् भाई बुड्ढा और भाई गुरुदास की सलाह से 'गुरु ग्रन्थ साहिब' की प्रति अमृतसर के हर–मन्दिर में अत्यधिक सम्मान के साथ प्रतिष्ठित कर दी गयी (दे० 'द सिक्ख रिलीजन', भाग ३ : एम० ए० मैकालिफ, पृष्ठ ६५)।

संग्रह की समाप्ति के पश्चात् गुरु अर्जुनदेव ने अपने सिक्खों से कहा, "ग्रन्थ साहिब गुरुओं की ही प्रतिमूर्ति है, अतएव इन्हें (ग्रन्थ साहिब को) वही प्रदान करना चाहिये" (दे० वही)। 'श्री ग्रन्थ साहिब' की स्थापना के बाद उनकी सेवा का भार भाई बुड्ढा को सौंपा गया।

पिनकाट के अनुसार 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में ३३८४ वाणियाँ हैं और १५५७५ बन्द हैं। इनमें से ६२०४ बन्द पाँचवें गुरु अर्जुनदेव द्वारा, २९४९ बन्द आदि गुरु नानक देव द्वारा, २५२२ बन्द तीसरे गुरु अमरदासजी द्वारा, १७३० बन्द चौथे गुरु रामदासजी द्वारा, १९६ बन्द नवम गुरु तेगबहादुर द्वारा और ५७ बन्द द्वितीय गुरु अंगदेव द्वारा रचे गये हैं। अवशिष्ट बन्दों में से कबीर के बन्द सबसे अधिक हैं और 'मरदाना' के सबसे कम (दे० 'जर्नल आव द रायल एशियाटिक सोसायटी', भाग १८ में फ्रेडरिक पिनकाट का लेख)।

सुविधा के लिए 'गुरु ग्रन्थ साहिब' के रचयिताओं का क्रम और उनकी रचनाओं का विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है: (क) सिक्ख गुरु, (ख) भक्त गण, (ग) भट्ट समुदाय, (घ) फुटकर वाणीकार। (क) सिक्ख गुरु–१. गुरु नानक (महला पहला), २. गुरु अंगदेव (महला दूजा), ३. गुरु अमरदास (महला तीजा), ४. गुरु रामदास (महला चौथा), ५.

गुरु अर्जुनदेव (महला पाँचवाँ), ६. गुरु तेगबहादुर (महला नवाँ), ७. गुरु गोविन्द सिंह (महला दसवाँ)। ट्रम्प मैकालिफ, तेजसिंह और गण्डासिंह आदि विद्वान् 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में गुरु गोविन्द सिंह द्वारा रचित केवल एक दोहरा मानते हैं। शेरसिंह ने इसे भी गुरु तेगबहादुर द्वारा रचित माना है (शेरसिंह : फिलासफी आव द सिक्खिज्म, पृ० ४९)। सभी गुरुओं ने 'नानक' नाम से ही वाणियाँ रची हैं। उन्हें पृथक रूप से जानने के लिए 'महला पहला', 'महला दूजा' आदि कहकर महला के बाद गुरु की क्रम संख्या का निर्देश कर दिया गया है। (ख) ट्रम्प और गोकुलचन्द नारंग इन भक्तों की संख्या १४ मानते हैं—१. जयदेव, २. नामदेव, ३.त्रिलोचन, ४. सदना, ५. बेनी, ६. रामानन्द, ७. धन्ना जाट, ८. पीपा, ९. सेन, १०. कबीर, ११. रवदास अथवा रविदास अथवा रैदास, १२. फरीद, १३. भीखन और १४. सूरदास (मदनमोहन)।

मैकालिफ उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त दो नाम और जोड़ते हैं—मीराबाई और परमानन्द। मीराबाई का एक पद भाई बन्नों के 'ग्रन्थ साहिब' की प्रति में है किन्तु वह प्रति प्रामाणिक नहीं समझी जाती। परमानन्द का एक पद राग सारंग में १२५३ पृष्ठ पर है। शीर्षक में अन्य भक्तों के नामों की भाँति उनका नाम नहीं दिया गया है। पद के अन्त में उनका नाम अवश्य मिलता है। (ग) भट्ट समुदाय की वाणियों में प्रथम पाँच गुरुओं की स्तुति सवैया छन्दों में की गयी है। उनके नामों और संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ट्रम्प ने भट्टों के नामों की संख्या १५ बतलायी है। गोकुलचन्द नारंग ने भी ट्रम्प की दी हुई संख्या और नामावली की पुष्टि की है। मोहनसिंह ने केवल १२ नाम गिनाये हैं। साहबसिंह के मत से उनकी संख्या ११ है। शेरसिंह ने १७ नामों की सूची दी है। (घ) फुटकर वाणीकार सुन्दर, मरदाना, सत्ता और बलवड हैं। सुन्दर का रामकली का पद, मरदाना की वाणी और सत्ता तथा बलवड की वार 'ग्रन्थ साहिब' मे संगृहीत हैं।

'ग्रन्थ साहिब' का क्रम इस प्रकार:—(क) जपुजी पृष्ठ १—८ तक, (ख) सोदरु पृष्ठ ८—१० तक, (ग) सोपुरखु पृष्ठ १०—१२ तक, (घ) सोहिला पृष्ठ १२—१३ तक और (ङ) पृष्ठ १४ से पृष्ठ १३५३ तक। निम्नलिखित ३१ राग हैं : १. सिरी रागु, २. रागु माझ, ३. रागु गउड़ी, ४. रागु आसा, ५. रागु गूजरी, ६. रागु देवगन्धारी, ७. रागु विहागड़ा, ८. रागु वडहंसु, ९.रागु सोरठि, १०. रागु धनासिरी, ११. रागु जैतासिरी, १२. रागु टोड़ी, १३.रागु बेराड़ी, १४. रागु तिलंगु, १५. रागु सूही, १६. रागु बिलावलु, १७. रागु गोड़, १८.रागु रामकली, १९. रागु नट नाराइन, २०. रागु माली गउड़ा, २१. रागु मारू, २२. रागु तुखारी, २३. रागु केदारा, २४. रागु भैरउ, २५. रागु बसन्त, २६. रागु बसन्तु २७. रागु मलार, २८. रागु कनाड़ा, २९. रागु कलिआन, ३०. रागु जैजावन्ती। (च) पृष्ठ १३५३ से पृष्ठ १४३० तक, जिसका क्रम इस प्रकार है—१. सलोक सहस—कृती, २. गाथा, ३. फुनहे, ४. चउबोले ५. सलोक कबीर और फरीद के, ६. महला ५ तथा भट्टों के सवैये, ७. सलोक वारां तेवधीक, ८. मुंदावणी, ९. रागमाला। प्रत्येक राग में साधारणतया वाणियाँ निम्नलिखित क्रम से रखी गयी हैं—१. सबद, (शुद्ध), २. असटपदाआ (अष्टपदियाँ), ३. छन्त (छन्द), ४. वार और ५. भक्तो की वाणियाँ।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' की भाषा में अनेकरूपता है। उसमें फारसी, मुल्तानी, सिन्धी, हिन्दी, मराठी, पुरानी पंजाबी तथा अन्य बोलियों के रूप पाये जाते हैं।

इस ग्रन्थ में ईसा की बारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सोलहवीं शताब्दी के मध्यतक के विभिन्न सम्प्रदायी भक्तों की विचारधारा उपलब्ध है। इस दृष्टि से 'गुरु ग्रन्थ साहिब' का अतुलनीय महत्त्व है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में पाखण्डों और बाह्याडम्बरों का खण्डन किया गया है, चाहे वह हिन्दू ब्राह्मणों का हो, चाहे जैनों का हो, चाहे योगियों का हो, चाहे मुल्लाओं अथवा काजियों का हो। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में सामाजिक कुरीतियों का बुरी तरह से खण्डन किया गया है। जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में इस प्रकार की उक्ति मिलती है—"जाणहु जोति न पूछहु जाती आगे जाति न हे।।" १ रहाउ।।३।। ('गुरु ग्रन्थ साहिब', आसा, महला १, पृष्ठ ३४९) अर्थात् परमात्मा की ज्योति ही समस्त प्राणियो में समझो। अतः जाति का प्रश्न न करो, क्योंकि पहले किसी प्रकार की जाति—व्यवस्था नहीं थी।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में उपेक्षित नारी—समाज को फिर से प्रतिष्ठा एवं गौरव के आसन पर बिठाया गया है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' मे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। जहाँ एक ओर सच्चे मुसलमान बनने की विधि बतायी गयी है, वहीं दूसरी ओर यह भी बताया गया है कि सच्चा ब्राह्मण कौन है?

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में परमात्मा को अव्यक्त, निर्गुण स्वरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अवतारवाद का खण्डन करके एकेश्वरवाद स्थापित किया गया है। परमात्मा के सम्बन्ध में 'गुरु ग्रन्थ साहिब' एवं उपनिषदों की विचारावली में बहुत कुछ समानता है। गुरु ग्रन्थ साहिब में माया को स्वतन्त्र न मानकर परमात्मा के अधीन माना गया है। स्थान—स्थान पर माया के सर्वव्यापी स्वरूप का चित्रण मिलता है। अहंकार और द्वैतवाद के कारण जीव बँधा रहता है। अहंकार नाश के निमित्त विविध उपाय भी बताये गये हैं, जिनमें कर्म—मार्ग, योग—मार्ग और ज्ञान—मार्ग प्रधान हैं। भक्ति—मार्ग सर्वोपरि साधन है। इसी के अन्तर्गत सभी साधन मार्ग आ जाते है। भक्ति—मार्ग के विविध उपकरणों की चर्चा भी इस ग्रन्थ में मिलती है, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—सद्गुरु, नामोपासना, साधु—संगति, परमात्मा में भय एवं दृढ़ प्रीति, दैन्य भाव, आत्म—समर्पण भाव, परमात्मा का स्मरण एवं कीर्तन तथा भगवत्कृपा आदि।

[सहायक ग्रन्थ—(१) डा० आर्नेस्ट ट्रम्प : द आदि ग्रन्थ, लन्दन, १८७७ ई०; (२) एम० ए० मैकालिफ : द सिक्ख रिलीजन, क्लेरेण्डन प्रेस, आक्सफर्ड, १९०९ ई०; (३) डा० शेरसिंह : फिलासफी ऑव सिक्खिज्म, सिक्ख यूनीवर्सिटी प्रेस, लाहौर, १९४४ ई० तथा (४) डा० जयराम मिश्र : श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९६० ई०।]

—ज० रा० मि०

गुरु तेगबहादुर—दे० तेगबहादुर 'गुरु'।

गुरुदत्त— ये मकरन्दपुर, जिला फर्रुखाबाद के निवासी

शिवनाथ के पुत्र थे। ये १८०७ ई० में विद्यमान कहे जाते हैं। इनका 'पक्षी विलास' विषय'वस्तु की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अन्योक्ति शैली में विविध पक्षियों को सम्बोधित करके उनका वर्णन किया गया है। 'दिग्विजय–भूषण' मे उद्धृत सवैयों में शुक, चातक तथा पपीहा की विशेषताओं को लक्ष्य करके अन्योक्ति की गयी है।

–सं०

गुरुदीन–'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये सन् १८३५ (सं० १८९१) में उपस्थित थे। इनका वृत्तान्त ज्ञात नहीं होता। केवल इतना पता चलता है कि इन्होंने 'वाक्मनोहर पिंगल' अथवा 'बागमनोहर पिंगल' नाम का एक बृहद् ग्रन्थ सन् १८०४ ई० में रचा था, जिसमें पिंगल के अतिरिक्त अलंकार, षट्ऋतु, नखशिख, रस, अलंकार, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि विषयों का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ के रूप में उपस्थित किया गया है और केशवकृत 'कविप्रिया' की शैली पर लिखा गया है। विशेषता यह है कि पिंगल का सुविस्तृत वर्णन भी किया गया है। सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग करते हुए भी विशेषतः संस्कृत वर्ण–वृत्त अधिक अपनाये गये हैं। उदाहरण सरस, सुन्दर तथा उपयुक्त हैं। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें बेनी–प्रवीन काल का प्रमुख कवि माना है।

[सहायक ग्रन्थ– शि० सिंह सरोज; हि० सा० इ०; मि० वि०।]

–आ० प्र० दी०

गुरु नानक– दे० 'नानकगुरु'।

गुरु भक्तसिंह 'भक्त'–इनकी जन्म–तिथि ७ अगस्त, सन् १८९३ है। जन्म गाजीपुर जिले के जमानियाँ तहसील के शासकीय औषधालय में हुआ। पिता ठाकुर कालिकाप्रसाद सिंह पृथ्वीराज चौहान के वंशज, सहायक सर्जन एवं सुशिक्षित अरबी–फारसी–प्रेमी परिवार के काव्यानुरागी सहृदय व्यक्ति थे। ये बलिया में ही बस गये। 'भक्तजी' बी० ए०; एल०-एल० बी० थे। कई रियासतों में दीवान रहने के बाद आजमगढ़ नगरपालिका के कार्याधिकारी हुए। अब उस पद से अवकाश लेकर साहित्य–साधना करते हुए आपका देहान्त सन् १९८३ में हुआ।

'सरस सुमन' (रचना–काल १९२०–२५ ई०, प्रकाशन–काल १९२५ ई०), 'कुसुम कुंज' (प्रका० १९२७), 'वंशी–ध्वनि' (रच० १९२६–३०, प्रका० १९३२), 'वन श्री' (प्रका० १९४० ई०), 'नूरजहाँ' (रच० १९३२–३३, प्रका० १९३५) एवं 'विक्रमादित्य' (रच० १९३९–४४, प्रका० १९४४) उनकी प्रकाशित रचनाएँ हैं। 'प्रेम पाश' (नाटक, रच० सन् १९१९ ई०), 'राधिया' (उपन्यास, रच० १९२२), 'वे दोनों' (उपन्यास, रच० १९२४), 'नूरजहाँ' (अंग्रेजी काव्यानुवाद, रच० १९४८–६०) 'प्रमद वन' (गीत, मुक्तक, हिन्दी–गजल, चतुष्पदियों का नवीन संग्रह, रच० १९४४–६०) एवं 'आत्मकथा' (अद्यतन जीवनी) जीवन की झाँकियाँ (रच० सन् १९४५ ई०), कुसुमाकर (रच० सन् १९६८ से १९७२ तक की रचनाएँ) अप्रकाशित रचनाएँ हैं। 'सरस सुमन', 'कुसुम कुंज', 'वंशी–ध्वनि' एवं 'वन श्री' स्फुट कविताओं के संग्रह हैं। ये कविताएँ ग्रामीण प्रकृति, ग्राम्य जीवन एवं वन, पुष्प और पक्षियों से सम्बद्ध अपने समय में काव्य के व्यापक वस्तु–विषय तथा शेष सृष्टि के प्रति नवीन राग–विस्तार का संकेत करती हैं। प्रकृति के प्रति आत्मीयता, ग्राम्य जीवन–रूपों के आत्म–स्पर्श और अपरिचित, उपेक्षित निसर्ग–पक्षों के सरस विवरणों से युक्त इन रचनाओं के कारण इन्हें 'हिन्दी का वर्ड्सवर्थ' कहा गया है। 'नूरजहाँ' इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तित्व नूरजहाँ पर लिखित महाकाव्य के रूप में विख्यात ललित प्रबन्ध है। 'विक्रमादित्य' भारतीय इतिहास के स्वर्ण–काल से सम्बद्ध छठी शती के संस्कृत नाटककार विशाखदत्त के 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक के सुप्रसिद्ध अंश पर आधृत उनका द्वितीय महाकाव्य है। 'भक्तजी' ने शोध, अध्यवसाय एवं विधायक कल्पना द्वारा इस प्रबन्ध को 'नूरजहाँ से भी आगे ले जाकर जीवन की गहनतर विशालता में फैला दिया है। तत्कालीन इतिहास इस प्रबन्ध में पुनरूज्जीवित होकर अन्तर्बाह्य चित्रण की विविधता, जीवन प्रश्नों की गम्भीर सूक्ष्मता, चरित्रांकन की यथार्थता एवं भाषा प्रांजलता की विशेषताओं के साथ नाटकीय संघर्ष की गति पाकर मूर्तिमान् हो उठा है।

'भक्तजी' ने द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता को सरस वर्णन सौन्दर्य, आदर्शवाद को मानवीय यथार्थ की मनोदृष्टि, प्रकृति संकोच को नूतन विस्तार एवं भाषा की गद्यात्मक रुक्षता को तरल प्रवाह एवं मुहाविरों को जीवन्त मधुरिमा प्रदान की है। ये छायावादी अमूर्तता एवं वैयक्तिकता से परे अपरोक्ष अनुभूतियों के सहज प्रसारक एवं तत्कालीन काव्य–विषय को नूतन अर्थभूमि प्रदान करने वाले प्रकृत स्वच्छन्दतावादी कवि हैं। इनके प्रयास से छायावादी काव्य एक नवीन मोड़ लेता है।

–श्री० सिं० क्षे०

गुलाबरत्न बाजपेयी–इनका जन्म उन्नाव में १९०१ ई० में हुआ। इनकी कविताएँ मासिक 'माधुरी' में प्रायः प्रकाशित होती रहीं। 'चित्रकला', 'लतिका', 'मृत्युंजय', 'मल्लिका', 'कर्मरेखा' इनकी रचनाएँ हैं। कलकत्ता के एक चलचित्र प्रतिष्ठान से सम्बद्ध रहे।

–सं०

गुलाबराय–इनका जन्म इटावा में १८८८ ई० (माघ शुक्ल ४, सवंत् १९४४) और मृत्यु १३ अप्रैल १९६३ ई० को हुई। दर्शनशास्त्र में एम० ए० और बाद में एल० एल० बी०; आगरा विश्वविद्यालय से सम्मानार्थ डी० लिट्० की उपाधि; ८वें दर्जे तक फारसी पढ़ी, फिर संस्कृत ली। बी० ए० में संस्कृत पढ़ने के अतिरिक्त काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के अध्ययन के सिलसिले में संस्कृत का घर पर भी अध्ययन किया।

गुलाबराय के साहित्यिक कृतित्व के अनेक रूप हैं–काव्यशास्त्रकार, आलोचक, निबन्धकार, दार्शनिक। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उनकी कृतियाँ हैं– (१) 'नवरस' (१९२१), (२) 'सिद्धान्त और अध्ययन' (१९४६), (३) 'काव्य के रूप' (१९४७), (४) 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि; आलोचनात्मक कृतियों में उल्लेखनीय हैं–(१) 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', (२) 'अध्ययन और आस्वाद' (३) 'हिन्दी काव्य विमर्श'। प्रमुख निबन्ध–संकलन हैं–(१) 'ठलुआ क्लब', (२) 'फिर निराशा क्यों', (३) 'मेरी असफलताएँ'

(हास्य—व्यंग शैली में प्रस्तुत आत्म—कथा), (४) 'मेरे निबन्ध' (१९५५), (५) 'कुछ उथले, कुछ गहरे', (६) 'मनोवैज्ञानिक निबन्ध', (७) 'राष्ट्रीयता', (८) 'जीवन—रश्मियाँ' (प्रेस में); और दार्शनिक ग्रन्थों के अन्तर्गत आते हैं—(१) 'मन की बातें' (१९५४), (२) 'तर्कशास्त्र' (तीन भाग, दो भागों में पाश्चात्य तर्कशास्त्र और तीसरे में भारतीय तर्कशास्त्र), (३) 'कर्तव्यशास्त्र', (४) 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास', (५) 'बौद्ध धर्म'।

इनकी प्रतिभा का विशिष्ट गुण है समन्वय—प्राचीन और नवीन का समन्वय, पौरस्त्य और पाश्चात्य का समन्वय, बौद्धिक और रागात्मक का समन्वय। काव्यशास्त्र में इन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैली में प्राचीन और नवीन अथवा भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का समजन कर भारतीय काव्य की विवेचना करने के लिए एक प्रकार के समन्वित काव्यशास्त्र के विकास में योगदान किया है। दर्शन और मनोविज्ञान का पुष्ट आधार होने के कारण इनके सिद्धान्त प्रतिपादन में प्रामाणिकता, संगति और तारतम्य के गुण विद्यमान रहते हैं। शुक्लजी का सा गाम्भीर्य और दृढ़ता न होने पर भी इनमें दूसरे पक्ष के प्रति एक सहज सहिष्णुता मिलती है, जिससे उनके सिद्धान्त—प्रतिपादन में अनायास ही औदार्य का समावेश हो जाता है। इनका ग्रहण—पक्ष उनके त्याग—पक्ष से कहीं अधिक प्रबल है। इससे कभी—कभी दृढ़ता का अभाव हो जाने पर भी उनकी समन्वय—भावना का पोषण ही होता है।

व्यावहारिक आलोचना में इन्होंने प्रायः व्याख्यात्मक पद्धति का अवलम्बन किया है। इनके विचार सुलझे और निर्णय कोमल होते हैं—अर्थात् ये प्रायः अप्रिय निष्कर्ष कम ही निकालते हैं; जहाँतक सम्भव होता है, आलोच्य के दोषों की अपेक्षा गुणों का ही अनुसन्धान इन्हें रूचिकर होता है। इस क्षेत्र में भाव—पक्ष की अपेक्षा विचार—पक्ष का विश्लेषण, दर्शन और मनोविज्ञान में सहज गति होने के कारण, उनके लिए अधिक सुकर होता है—रागात्मक समृद्धि अथवा शैल्पिक सूक्ष्मताओं तक इनकी पहुँच इतनी नहीं है।

निबन्धकार की दृष्टि से इनकी सफलता और भी अधिक है। अहंकार की उग्रता से मुक्त भीनी व्यक्ति—गन्ध इनके ललित निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। व्यक्ति—तत्त्व के तीखे कोनों को खरादने के लिए वे प्रायः हास्य का आश्रय लेते हैं—अपनी सतही कमजोरियों पर मीठी हँसी हँसते हुए वे अत्यन्त सहज भाव से पाठक की सहानुभूति पर और अन्ततः उसके आदर—भाव पर अधिकार कर लेते हैं। इस प्रकार इनके व्यक्तित्व का कोमल प्रभाव प्रच्छन्न रूप से इनके निबन्धों में व्याप्त रहता है। उस दृष्टि से ये हिन्दी—निबन्ध के क्षेत्र में अकेले हैं। तीखे व्यंग्य से मुक्त कोमल हास्य की धवलता स्निग्ध रूप से उन निबन्धों की वस्तु और शैली में रमी रहती है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों में यह कला और भी विकसित हुई है। मनोविश्लेषणशास्त्र की नवीन पद्धतियों के आधार पर चेतन और अवचेतन मन की आन्तरिक प्रक्रियाओं के चित्रण हास्य के कोमल स्पर्शों से बड़े मनोरम बन गये हैं। व्यक्तिपरक निबन्धों के अतिरिक्त वस्तु—परक निबन्ध भी गुलाबराय ने अनेक लिखे हैं। इसमें विषय—प्रतिपादन स्वच्छ एवं स्पष्ट शैली में किया जाता है—प्रत्येक विचारविन्दु सहज रूप में खुलता जाता है और उनमें आपस में तर्क—सम्मत सम्बन्ध रहता है। इन विचारों के पीछे लेखक का नैतिक दृष्टिकोण सर्वत्र विद्यमान रहता है, किन्तु यह नैतिकता कठोर नहीं होती—लेखक के व्यक्तित्व की कोमलता उसे सहिष्णु बनाये रखती है। इनके जीवन—सम्बन्धी निबन्धों में धर्म, अर्थ, काम के सुखद समन्वय से अनुप्राणित जीवन—दर्शन विद्यमान है।

दार्शनिक के रूप में गुलाबराय का योगदान मौलिक चिन्तन की दृष्टि से नहीं है। हिन्दी में अध्ययन योग्य गम्भीर सामग्री उपस्थित करने में उनका योगदान सराहनीय है। ये जीव ब्रह्म की एकता मानते हुए भी संसार को मिथ्या नहीं मानते। यही दृष्टिकोण इनके निबन्धों को अनुप्राणित करता है। पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, बौद्धधर्म और कर्तव्यशास्त्र आदि के मूलतत्त्वों को हिन्दी—पाठक के लिए बोधगम्य बनाकर लेखक ने आज से लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व एक बड़ा काम किया था। द्विवेदी युग में हिन्दी—गद्य को ज्ञान—विज्ञान के क्षेत्र में गम्भीर विवेचन के उपयुक्त बनाने में जिन विद्वानों का हाथ था, उनमें गुलाबराय अग्रणी थे।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी—गद्य के उन्नायकों में डाक्टर गुलाबराय का महत्त्वपूर्ण स्थान है—काव्यशास्त्र, व्यावहारिक आलोचना, ललित निबन्ध, गम्भीर निबन्ध, ज्ञान साहित्य आदि के विकास में सम्यक् योगदान देकर, द्विवेदीयुग से लेकर नयी कविता और नयी आलोचना के इस अत्याधुनिक युगतक की विकासशील चेतना को आत्मसात् कर, मन्थर किन्तु स्थिर गति से, आगे बढ़ा हुआ यह वयप्राप्त लेखक विशेष ऐतिहासिक गौरव का अधिकारी है।

—न०

गुलाबसिंह—ये 'वनिताभूषण' के लेखक हैं। ये बूँदीपति रघुवीरसिंह के आश्रय में रहते थे। 'वनिताभूषण' की रचना इन्होंने १८९८ ई० (सं० १४४९) में की थी। इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता है नायिका—भेद तथा अलकार-विषय का एकत्र विवेचन।

—आ० प्र०

गुलाल—इतिहास ग्रन्थों में इनका जीवन वृत्त नहीं मिलता। शिव सिंह ने इनका समय १८१८ ई० माना है। 'शालि होत्र' नामक इनकी एक रचना की चर्चा की जाती है और षट् ऋतु तथा नायिका भेद पर इनके कुछ छन्द संग्रह ग्रन्थों में मिलते हैं। "शिवसिंह सरोज' और दिग्विजय भूषण' में उद्धृत इनके छन्द में बसन्त का वर्णन है।

सं०

गुलाल साहब—ये प्रसिद्ध सन्त बुल्ला साहब के शिष्य थे। ये जिला गाजीपुर, परगना सादियाबाद, तालुका बसहरी के जमींदार और जाति के क्षत्रिय थे। इनका जन्म १७वीं शती के अन्तिम चरण में हुआ था। इनके गुरु बुल्ला साहब पहले बुलाकीराम कुर्मी के रूप में इनकी हलवाही करते थे। अपने हलवाह के उच्च आध्यात्मिक जीवन से प्रभावित होकर ये उसके शिष्य हो गये। 'भुरकुड़ा' इन्हीं की जमींदारी में पड़ता है। बुल्ला साहब के बाद सन् १७०९ ई० में स्वयं इस गद्दी के महन्त हुए। इनकी मृत्यु सन् १७६० ई० में हुई। भीखा साहब और हरलाल साहब इनके प्रसिद्ध शिष्य हुए। इनकी बाणियों का एक संग्रह 'गुलाल साहब की बानी' नाम से बेलवेडियर प्रेस

प्रयाग में प्रकाशित हो चुका है। भुरकुड़ा गद्दी से प्रकाशित 'महात्माओं की बानी' में स्फुट पदों के अतिरिक्त इनकी दो अन्य रचनाएँ—'ज्ञान गुष्टि' और 'राम सहस्र नाम' भी संगृहीत हैं। इनकी साधना ऊँचे दर्जे की जान पड़ती है। निर्विकल्प मन की समावस्था की दिव्य अनुभूति का वर्णन अनेक रूपों में करते हुए ये अघाते नहीं। इनकी रचनाओं में भोजपुरी शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। काव्य दृष्टि से इनकी रचनाएँ साधारण हैं।

[सहायक ग्रन्थ—महात्माओं की बानी, भुरकुड़ा (गाजीपुर) संस्करण; उत्तरी भारत की सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी।]

—रा० चं० ति०

गोकुल—गोकुल ब्रज का एक ग्राम है। यह वल्लभ सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र रहा है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के "श्रीमद् गोकुल सर्वस्व, श्रीमद् गोकुल मंडनम्। श्रीमद् गोकुल दृक्तारा, श्रीमद् गोकुल जीवनम्।" नामक श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है। 'वार्ता साहित्य' के निर्माण का कार्य यहाँ ही पूरा हुआ। गोकुल में वल्लभ सम्प्रदाय की २४ हवेलियाँ हैं, जो पुष्टिमार्गीय भक्तों और आचार्यों से सम्बद्ध हैं। गोकुल के द्रष्टव्य स्थानों में आचार्य महाप्रभु की भीतरली और बाहरली बैठक, दामोदर हरसानी की बैठक, गुसाईं गोकुलनाथजी की बैठक, गोविन्द घाट, वल्लभ घाट, गोकुलनाथजी का मंदिर, ब्रजराजजी का मन्दिर आदि उल्लेखनीय हैं। नवनीत प्रियजी के मन्दिर के कारण गोकुल का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

कृष्ण कथा के अन्तर्गत कृष्ण की गोकुल लीलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोकुल लीलाओं के लौकिक और अलौकिक दो रूप मिलते हैं। लौकिक लीलाओं में कृष्ण के संस्कार, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्णछेदन, रक्षाबन्धन, बाललीला, चन्द खिलौना, प्रभाती, माखन चोरी और गोदोहन तथा अलौकिक लीलाओं में कृष्ण जन्म, पूतना, सिद्धवर ब्राह्मण, कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त्त आदि सम्मिलित हैं। गोकुल लीलाएँ अधिकतर भागवत पर आधारित हैं। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि वात्सल्य भक्ति का निधान होने के कारण गोकुल लीलाओं का वर्णन वल्लभ सम्प्रदाय के ही काव्य में मिलता है। निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों में माधुर्योपासना की प्रधानता रही है। इसलिए उनके सम्प्रदायों में गोकुल लीलाओं का वर्णन नहीं मिलता, न उनके भक्तों का गोकुल के प्रति आकर्षण ही था।

[सहायक ग्रन्थ—ब्रज और ब्रज यात्रा : सेठ गोविन्द दास; ब्रजभाषा और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन : डाक्टर जगदीश गुप्त; सूरदास : डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा।]

—रा० कु०

गोकुलनाथ—रीतिकाल में प्रबन्ध और रीति ग्रन्थ लिखने में समान सफलता प्राप्त करने वाले काशीनिवासी गोकुलनाथ का जन्म संवत् १८२० के आस—पास स्थिर किया जाता है। गोकुलनाथ ने अपने ग्रन्थों में उनका जो रचनाकाल दिया है उसी के आधार पर उनकी जन्मतिथि का निर्णय किया गया है। वे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बन्दीजन के पुत्र थे। उन्होंने काशीनरेश श्री उदितनारायण सिंह के आदर्श से महाभारत और हरिवंश का हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सुन्दरता के साथ किया। इस अनुवाद कार्य में कवि गोपीनाथ और मणिदेव ने भी उनका साथ दिया था। यह एक सामूहिक प्रयत्न से सम्पन्न साहित्यिक अनुष्ठान है। कथा—प्रबन्ध का दो सहस्र पृष्ठों में व्यापक प्रयोग इससे पहले हिन्दी में किसी ने नहीं किया। विविध छन्दों में यह कार्य पूर्ण किया गया है। भाषा अत्यन्त प्रांजल और काव्योचित है। दीर्घकाल तक तीनों कवि इस विशाल कथा—काव्य के अनुवाद में संलग्न रह कर इस अनुष्ठान को पूर्ण कर सके थे।

गोकुलनाथ की रचनाओं के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में और भी सूचनाएँ दी हैं। उनके लिखे हुए आठ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—'चेत चन्द्रिका', 'राधा नखशिख', 'नाम रत्नमाला' (कोश), 'सीताराम गुणार्णव', 'राधा—कृष्ण विलास', 'अमरकोष (भाषा)' और 'कवि मुखमण्डल'। इस सूची को देखकर गोकुलनाथ की बहुमुखी प्रतिभा का पता चलता है। 'चेत—चन्द्रिका' अलंकार—ग्रन्थ है। 'सीताराम गुणार्णव' आध्यात्म रामायण का अनुवाद है। 'कवि मुख—मण्डल' भी अलंकार ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों का रचनाकाल संवत् १८४० से १८७० तक स्थिर किया गया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "रीति ग्रन्थ रचना और प्रबन्ध रचना दोनों में समान रूप से कुशल और दूसरा कवि रीतिकाल के भीतर नहीं पाया जाता।"

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास : डा० नगेन्द्र; अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त; चौरासी वैष्णवन की वार्ता, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।]

—वि० स्ना०

गोकुलनाथ गोस्वामी—इनका जन्म विक्रम संवत् १६०८ में हुआ था और देहावसान संवत् १६९७ में। ये गोसाईं विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। विट्ठलनाथजी के सातों पुत्रों के सात गृह और पीठ हैं। ६ भाइयों के साम्प्रदायिक विचारों तथा सिद्धान्तों में विशेष विभिन्नता नहीं है, परन्तु इनके गृह और पीठ के साम्प्रदायिक विचार अन्य पीठों की अपेक्षा तनिक भिन्न हैं। इनके अनुयायी भड़ूची वैष्णव कहलाते हैं। इनके विचार—विभिन्नता के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है। कहा जाता है, जब इनका जन्म हुआ था तब गोस्वामी विट्ठलनाथ ठाकुरजी की सेवा में संलग्न थे। अतएव पुत्र—जन्म के समाचार को सुनकर उन्हें सेवा स्थगित करनी पड़ी। तब क्षुब्ध होकर उन्होंने कहा था कि 'इसके कारण सेवा में बाधा पड़ी है। अतएव इसके अनुयायी ठाकुरजी की स्वरूप सेवा से वंचित रहेंगे।' सम्प्रदाय में विश्वास है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ के उपर्युक्त 'वचनों' का ही यह परिणाम है कि गोकुलनाथ के अनुयायी भड़ूची—वैष्णव गोकुलनाथजी के पीठ को ही मानते—पूजते हैं।

ये पुष्टि—सम्प्रदाय के प्रबल प्रचारक थे। इन्होंने अपनी सरस व्याख्यान—शैली से भक्तों को मुग्ध बना रखा था। ये अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों के अवसर पर भक्तों के चरित्रों का भी बखान किया करते थे, जिससे श्रोता उनका जीवन में अनुसरण करने को उत्साहित हों। इन्हीं मौखिक भक्त—चरित्रों को हरिरायजी ने लेखबद्ध किया था, जो बाद में 'चौरासी' और 'दो

सौ बावन वैष्णवों' की वार्ताओं के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'वार्ताओं' को गोकुलनाथकृत कहने का आशय इतना ही है कि ये उनके श्रीमुख से निःसृत हुई थीं। यद्यपि इनके द्वारा रचित कई ग्रन्थ और वचनामृत प्रसिद्ध हैं पर ये वार्ताकार के रूप में ही विशेष रूप से स्मरण किये जाते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इनके कृतित्व पर प्रकाश नहीं डाला गया। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखा है कि "इनकी पुस्तकों का उद्देश्य एकमात्र धार्मिक ही है क्योंकि उनमें साहित्यिक सौन्दर्य नाममात्र को नहीं है। एक ही बात अनेक बार दुहरायी गयी है। उनमें अनेक भाषाओं के शब्द भी हैं। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि गोकुलनाथ को अपने धर्म-प्रचार में यथेष्ट पर्यटन करना पड़ा होगा और अनेक स्थानों में जाने के कारण वहाँ के शब्द भी अज्ञात रूप से इनकी भाषा में मिल गये होंगे। इतनी बात अवश्य है कि इस चित्रण में स्वाभाविकता अधिक है। इसमें जीवन के अनेक चित्र मिलते हैं।" इन्हें यदि पुष्टि-सम्प्रदाय रूपी मन्दिर का कलश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। हरिरायजी इनके लिपिकार और टीकाकार हैं।

[सहायक ग्रन्थ-अष्टछाप : प्रभुदयाल मीतल; हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा।]

—वि० मो० श०

गोकुलप्रसाद 'ब्रज'—इनका जन्म १८२० ई० (चैत्र कृष्ण १, सं० १८७७) में श्रीवास्तव कायस्थ वंश में बलरामपुर के बलुहा मुहल्ला में हुआ था। इनके पिता का नाम भाईलाल और पितामह का नाम रंगीलाल था। ये बहुभाषाविद् थे। इन्होंने कुलपरम्परा के अनुसार घर पर हिन्दी तथा फारसी का अध्ययन करने के बाद संस्कृत की शिक्षा भी प्राप्त की थी। इनको नैपाली, द्रविड़, पंजाबी आदि भाषाओं का भी पर्याप्त ज्ञान था। इन्होंने काव्य-शास्त्र का अध्ययन गदाधर शर्मा से किया है। प्रारम्भ से ही इनका बलरामपुर के राजा दिग्विजय सिंह के दरबार में आना जाना था। इन्होंने काशी में परमहंस दीनदयाल गिरि से रीति-शास्त्र का भलीभाँति अनुशीलन किया। काशी से वापस आने पर बलरामपुर राज्य की नौकरी कर ली और इनको कटरा तथा पहाड़पुर की कोतवाली मिली। इस काल में सिहा चन्दा (जिला गोंडा) के ताल्लुकेदार कृष्णदत्त पाण्डे से अपनी मित्रता के फलस्वरूप इन्होंने 'कृष्णदत्त भूषण' की रचना की। इस पद से ये तुलसीपुर (गोंडा) के राजा द्रिग्गराज के आश्रय में चले गये, पर उनसे सन्तुष्ट न रहने के कारण पुनः दिग्विजयसिंह के आमन्त्रण पर बलरामपुर वापस आ गये। सं० १९०५ से फूलपुर (बस्ती) मे भवन-निर्माण के निरीक्षक तथा सीर के अधिकारी रहने के बाद राजा ने इनकी काव्य-शक्ति से आकर्षित होकर इनको दरबार में बुला लिया और ये राजा का निजी पत्र-व्यवहार तथा तोशक-खाना की देख-रेख करने लगे। इस कार्य में इनको काव्य-साधना का अधिक अवसर मिला। राजा की ओर से इनको दो गाँव प्राप्त हुए थे, जो इनके वंशजों के पास बहुत दिनों तक रहे। इन आश्रयदाताओं के अतिरिक्त गोकुल कवि मेहनोन (गोंडा) के राजा अचल सिंह और पयागपुर (बहराइच) के ठकुर विजयपाल सिंह के कृपापात्र रहे हैं और इन्होंने उनके नाम पर 'अचल प्रकाश' तथा 'महावीर प्रकाश' की रचना की है। काव्य-शास्त्र पर शास्त्रार्थ तथा समस्या-पूर्त्ति की प्रतिद्वन्द्विता में इनकी विशेष रूचि थी।

शिवसिंह सेंगर ने गोकुल कवि की केवल चार रचनाओं की चर्चा की है-दिग्विजय भूषण, अष्टयाम, चित्रकलाधर और दूतीदर्पण। ग्रियर्सन ने भी इन्हीं चार का उल्लेख किया है। किशोरीलाल गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'सरोज सर्वेक्षण' में २१ ग्रन्थों की सूची दी है, जिनमें भगवतीप्रसाद सिंह के अनुसार 'टिट्टिभि आख्यान' 'सुहृदोपदेश' के अन्तर्गत आता है। इनकी सूची में कवि की अन्तिम रचना 'गद्दी प्रकाश' सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार कुल संख्या २१ ही रहती है, जिनके साथ 'अर्जुन विलास' की भूमिका को भी स्वीकार किया जा सकता है। कवि ने इसका सम्पादन सन् १८६२ के लगभग किया। अन्य कृतियों की सूची इस प्रकार है—१. 'अष्टयाम प्रकाश' (१८६२ ई०), २. 'दूतीदर्पण' (१८६२ ई०) ३. 'दिग्विजय भूषण' (१८६२-६८ ई०), ४. 'नीतिरत्नाकर' (दिग्विजय सिंह के सहयोग से १८६४ ई०), ५. 'चित्रकलाधर' (१८६४ ई०), ६. 'पंचदेव पंचक' (१८६७ ई०), ७. 'नीतिमार्त्तण्ड' (१८६९ ई०), ८. 'सुतोपदेश' (१८७१ ई०), ९. 'वामविनोद' (१८७२ ई०), १०. 'चौबीस अवतार' (१८६९-७५ ई०), ११. 'शोकविनास' (१८७५ ई०), १२. 'शक्ति प्रभाकर' (१८७६ ई०), १३. 'सुहृदोपदेश' (टिट्टिभि आख्यान १८७८ ई०), १४. 'मृगया मयंक' (१८८० ई०), १५. 'दिग्विजय प्रकाश' (१८८२ ई०), १६. 'एकादशी माहात्म्य' (१८८२ ई०), १७. 'महारानी धर्मचन्द्रिका' (१८९७ ई०), १८. 'गद्दी प्रकाश' (१९०० ई०), १९. 'कृष्णदत्त भूषण', २०. 'अचल प्रकाश' तथा २१. 'महावीर प्रकाश'।

'अर्जुनविलास' दिग्विजयसिंह के पिता के आश्रित कवि मदनगोपाल शुक्ल की रचना है (सन् १८१९), जिसका प्रकाशन १८६३ ई० में गोकुल कवि की भूमिका के साथ दिग्विजय सिंह ने कराया। 'अष्टयाम प्रकाश' में रीतिकालीन अष्टयाम शैली में दिग्विजय सिंह के आठ प्रहर के कृत्यों का वर्णन है। इसका प्रकाशन जंगबहादुरी यन्त्रालय (लीथोप्रेस) बलरामपुर से १८६३ ई० में हुआ। 'दूतीदर्पण' की मूल प्रति अप्राप्त है, 'दिग्विजय भूषण' में केवल इसका सन्दर्भ आया है। इसके अनुसार इस ग्रन्थ में ३६ जाति की दूतियों के सन्देश का वर्णन है। 'नीतिरत्नाकर' के रचयिता के रूप में दिग्विजय सिंह का नाम भी आता है, पर ग्रन्थान्त से यह गोकुल कवि की रचना ही सिद्ध होती है। भगवतीप्रसाद सिंह के अनुसार यह असंदिग्ध रूप से गोकुल की रचना है। इसमें दिग्विजयसिंह के छन्दों को स्थान अवश्य मिला है। इसकी रचना का उद्देश्य प्रजा-जन का मार्ग-प्रदर्शन है, परन्तु इसमें नीति के साथ रस तथा नायिका भेद का विषय भी वर्णित है। इसका प्रकाशन उपर्युक्त प्रेस से हुआ था। 'चित्रकलाधर' में चित्रकाव्य के चमत्कार के साथ आश्रयदाता के ऐश्वर्य का वर्णन है। उपर्युक्त यन्त्रालय से ही सन् १८६६ में इसका प्रकाशन हुआ था। 'पंचदेव पंचक' पंच देव (गणेश, शिव, दुर्गा, सूर्य, विष्णु) की स्तुति के रूप में लिखा गया है। मूल ग्रन्थ अप्राप्त है। इस दरबार के अन्य कवि दलपतिराय के 'श्रवणाख्यान' की भूमिका में गोकुल की इस रचना के कतिपय छन्द संकलित हैं। 'नीतिमार्त्तण्ड' नीति-विषयक इनकी दूसरी रचना है। 'सुतोपदेश' में

इतिवृत्तात्मक शैली में पुत्र के कर्त्तव्यों और उसकी जीवन–यात्रा के सहायक तत्त्वों का पिता के द्वारा उपदेश दिया गया है।

'वामविनोद' स्त्री–शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें १९वीं शती की स्त्री–शिक्षा की समस्या पर प्रकाश पड़ता है। 'चौबीस अवतार' के प्रथम खण्ड में बीस अवतारों का वर्णन है और दूसरे खण्ड में व्यास, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि के चरित्र पौराणिक आधार पर वर्णित हैं। इसका प्रकाशन उपर्युक्त प्रेस से १८७६ ई० में हुआ। चरित्र–वर्णन के साथ इसमें काव्यांगों की छटा का चमत्कार दिखाने का प्रयत्न भी किया गया है। 'सोकविनास' कवि का पुत्र–शोक के आधार पर लिखी शांत रस की रचना है। 'शक्ति प्रभाकर' ब्रजभाषा में 'अद्भुत रामायण' का पद्यानुवाद है। व्यापक शक्तिप्रभाव के कारण इसे कवि ने यह नाम दिया है। 'सुहृदोपदेश' सस्कृत के 'टिट्टिभ आख्यान' का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद है, कवि ने इसे 'आत्मपुराण' से संकलित कहा है। आखेट पर कवि ने 'मृगया मयंक' नामक ग्रन्थ लिखा, जो अपने वर्ण्य–विषय से काफी रोचक है। ये तीनों ग्रन्थ उपर्युक्त यन्त्रालय से क्रमशः १८७९ ई०, १८७८ ई० तथा १८८० ई० में प्रकाशित हुए। महारानी इन्द्र कुँवरि के आदेश से कवि ने अपने आश्रयदाता का जीवन–वृत्त 'दिग्विजय प्रकाश' में लिखा, जो समसामयिक इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। इसमें तत्कालीन जीवन का चित्रण है, साथ ही १८५७ ई० के विद्रोह का प्रत्यक्ष चित्रण भी है। 'एकादशी माहात्म्य' की मूल प्रति उपलब्ध नहीं है, पर वर्ण्यविषय नाम से स्पष्ट है। 'महारानी धर्म चन्द्रिका' दिग्विजय सिंह की छोटी रानी जपमाल कुँवरि की इच्छानुसार किया हुआ 'मनुस्मृति' का पद्यानुवाद है। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना मे १९०४ ई० में हुआ। गोकुल कवि की अन्तिम रचना 'गद्दी प्रकाश' मानी जाती है, जो दिग्विजय सिंह के उत्तराधिकारी भगवतीप्रसाद सिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर लिखी गयी है। इसका प्रकाशन राजकीय यन्त्रालय, बलरामपुर से १९०१ ई० मे हुआ। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सिंहाचन्द (गोंडा) के राजा कृष्णदत्त पाण्डे के नाम पर 'कृष्णदत्त भूषण', मेहनोन (गोंडा) के राजा अचलसिंह के नाम पर 'अचल प्रकाश' तथा पयागपुर (बहराइच) के ठाकुर विजयपाल सिंह के आश्रय में 'महावीर प्रकाश' की रचना की गयी।

गोकुल कवि ने इस प्रकार अनेक विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं, पर इनका स्थान रीतिकालीन काव्य–परम्परा में सुरक्षित है। यद्यपि इस क्षेत्र में इन्होंने परम्परा का अनुसरण किया है फिर भी इनके काव्य में पर्याप्त मौलिक उद्भावना तथा स्वतन्त्र कल्पना देखी जा सकती है। इनको चमत्कारपूर्ण प्रयोग में विशेष सफलता मिली है।

[सहायक ग्रन्थ–शि० स०; दि० भू० (भूमिका)।]

–भ० प्र० सिं०

गोदान–प्रेमचन्द का अन्तिम और सबसे प्रसिद्ध उपन्यास है। यह १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ। हिन्दी उपन्यासों में 'गोदान' कृषक–जीवन का महाकाव्य माना जाता है। उनके कुछ अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में भी दो कथानक हैं–एक तो प्रधान और ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध और दूसरा प्रासंगिक तथा नागरिक जीवन से सम्बद्ध। होरी बेलारी (अवध प्रान्त) का रहनेवाला एक किसान है। उसकी पत्नी धनिया, पुत्र गोबर और सोना तथा रूपा दो पुत्रियाँ हैं। शोभा और हीरा उसके दो भाई हैं। होरी अपने कठिन परिश्रम द्वारा जीविकोपार्जन करता और परिवार की प्रतिष्ठा बनाये रहता है। भाइयों में बँटवारा हो जाने के पश्चात् घर की आर्थिक स्थिति विषम हो जाती है। ऐसी स्थिति में होरी सेमरी गाँव में रहनेवाले राय साहब अमरपालसिंह (जमींदार) को प्रायः सलाम करने चला जाता है और अपनी व्यावहारिक कृषक–बुद्धि का परिचय देता है। एक बार जमींदार के यहाँ जाते समय भोला की गाय देखकर उसके हृदय में भी गाय की लालसा उत्पन्न होती है। अपनी मान–मर्यादा के लिए उसे गाय रखना आवश्यक प्रतीत होता है। वह भोला को उसका दूसरा विवाह करा देने और मुफ्त भूसा देने का लोभ दिखाता है। गोबर को साथ लेकर वह भोला के घर भूसा डाल भी आता है। इसी अवसर पर गोबर और भोला की विधवा लड़की झुनिया एक–दूसरे पर मुग्ध हो जाते हैं। शाम को गोबर गाय लेकर पहुँचा तो होरी ने आँगन में बाँध दी। इससे कुछ ही समय पूर्व होरी ने जब साझे के बाँस बेचने चाहे तो उसके भाई हीरा की पत्नी पुनिया ने विरोध किया था। इसीलिए जब गाँव के सभी आदमी गाय देखने आये तो हीरा और पुनिया न आये। एक दिन अवसर पाकर हीरा गाय को जहर दे देता है और घर से भाग जाता है। होरी की पत्नी धनिया इस बात पर तूफान मचा देती है। गाँव के चौकीदार की सूचना के आधार पर पुलिस थानेदार आकर जब हीरा के घर की तलाशी लेता है, तो होरी कुल की प्रतिष्ठा बनाये रखने की दृष्टि से इस बात का विरोध करता है। होरी कर्ज लेकर थानेदार को रिश्वत तक देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है किन्तु धनिया अपना उग्र रूप प्रकट कर होरी को कर्ज लेने और रिश्वत देने से बचाती है। थानेदार सूखा ही वापिस लौट जाता है। होरी सब प्रकार के कष्ट सहन करते हुए भी अपनी सज्जनता, सरलता और हृदय की विशालता नहीं छोड़ता। यहाँतक कि गोबर और झुनिया के गुप्त प्रेम–व्यवहार के कारण गाँववालों के लांछन सहता है। होरी की हालत दिन पर दिन खराब ही होती जाती है। खलिहान मे जब अनाज तैयार हुआ तो उसे प्रसन्नता हुई। लेकिन झुनिया को लेकर जब पंचायत ने उस पर सौ रूपये नकद और तीस मन अनाज का जुर्माना किया तो उसकी आर्थिक दशा और भी बिगड़ गयीं। इतने पर भी उसने और उसकी पत्नी ने, मिजाज की तेज होते हुए भी, झुनिया के प्रति अपना मानवोचित कर्त्तव्य न छोड़ा। उसी दिन रात को झुनिया के लड़का हुआ और होरी ने लाचार होकर कुछ अनाज और अस्सी रूपये पर अपना घर झिंगुरी सिंह के हाथ गिरवी रखकर बिरादरी का जुर्माना अदा किया। गोबर घर छोड़कर लखनऊ शहर में मजदूरी करने लगता है। होरी महाजनों के शिकंजो में पूरी तौर से फँस चुका था। ऐसी दुर्दशा में भी वह अपने भाई की पत्नी पुनिया की सहायता करता रहता है। भोला भी उससे अपने रूपयों के लिए बार–बार तकाजा करता है और एक दिन कुछ गाँववालों के मना करने पर भी, उसके बैल खोल ले जाता है। विवश होकर होरी दातादीन के साझे में आधी बँटाई पर काम करता है। जब ईख काटी जा रही थी तो झिंगुरी सिंह और नोखेराम उसकी

सारी कमाई ले लेते हैं। वह खेतिहर से मजदूर हो जाता है। वह दातादीन का नौकर हो जाता है। साथ में धनिया, सोना और रूपा भी मजदूरी करती हैं। सारा घर आर्थिक विषमता के कारण पिस गया। एक दिन काम करते–करते होरी को लू लग गयी और वह बीमार पड गया। उधर गोबर अचानक आ पहुँचा। वह गाँव में अपना खूब रोब जमाता है और भोला के यहाँ से अपने बैलों की जोड़ी भी वापिस ले आता है। वह चाहता है कि होरी अपनी सिधाई छोड़ दे, जिसके लिए होरी तैयार न था। वह अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकता था। अन्त में गोबर झुनिया और बच्चे को लेकर फिर लखनऊ वापिस चला जाता है। वह बात करने में तेज था, परन्तु घर की स्थिति सम्हालने मे असमर्थ था। होरी अब महाजनो के चंगुल में पूर्णतः फँस चुका था। दुलारी सहुआइन और नोहरी से उधार लेकर सोना का विवाह मथुरा के एक किसान के बेटे से किया। साथ ही गाँव की सिलिया चमाइन को भी घर में आश्रय दिया। लेकिन अब वह ऋण के बोझ से दबा जा रहा था। जीवन के संघर्ष में वह चूर–चूर हो जाता है। गोबर घर वापिस आ जाता है और अबकी बार पिता के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हृदय लेकर आता है। होरी मजदूरी कर उदर–पूर्ति करता है। उसके भाई हीरा और शोभा भी लौट आते हैं। होरी उनका सहृदयतापूर्वक स्वागत करता है किन्तु अब उसमें शक्ति नहीं रही। पुत्र, भाई आदि सब उसके हृदय की विशालता से द्रवीभूत हो चुके थे। भौतिक दृष्टि से भले ही वह पराजित हो गया हो, लेकिन मन से वह प्रसन्न था, उसमें पुलक और गर्व था। उसके टूटे–फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकाएँ थीं। मजदूरी करते हुए उसे एक दिन लू लग गयी, उसकी मृत्यु के दिन समीप आ गये। गाय की लालसा पूर्ण न हो सकी। धनिया की आँखों से आँसू बहने लगे। हीरा ने रोते हुए कहा–'भाभी दिल कड़ा करो, गोदान करा दो, दादा चले।' धनिया उस दिन सुतली बेचकर बीस आने लायी थी। पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली–'महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो–दान है!'

नगर से सम्बन्धित प्रासंगिक कथा के रायसाहब अमरपालसिह, 'बिजली' पत्र के सम्पादक पण्डित ओंकारनाथ, बीमा कम्पनी के दलाल मि० तनखा, प्रोफेसर मेहता, लेडी डाक्टर मालती, मिल–मालिक खन्ना, उनकी पत्नी गोविन्दी, मिर्जाजी आदि प्रमुख पात्र हैं। रामलीला में धनुष–यज्ञ के अवसर पर सभी एक–दूसरे से परिचित हो जाते हैं और अपने–अपने सामाजिक एवं राजनीतिक विचार प्रकट करते हैं। सभी अपने–अपने वर्ग के अनुसार विचार रखते हैं। मिर्जाजी के कारण इस मित्र–मण्डली का काफी मनोरंजन होता रहता है। अभिनय, शिकार, कबड्डी आदि से इन लोगों को मनबहलाव के साधन मिल जाते हैं। शिकार पार्टी में मेहता और मालती में घनिष्ठता बढ़ती है, यद्यपि दोनों के विचारों में बहुत साम्य नहीं है। मालती बाहर से तितली, भीतर से मधुमक्खी है। प्रारम्भ में मेहता अपने भावुकतापूर्ण आदर्श के कारण उसे ठीक–ठीक नहीं समझ पाते। खन्ना रसिक व्यक्ति हैं, अपनी पत्नी गोविन्दी से उनकी नहीं पटती और रूपये के बल पर मालती के हृदय पर विजय प्राप्त करने में सचेष्ट रहते हैं किन्तु इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिलती। वे पूरे व्यवसायी और पूँजीपति हैं, स्वार्थ–साधना उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। मजदूरों की हड़ताल का सामना करने के बाद जब उनकी मिल जल जाती है तो उनका हृदय परिवर्तित हो जाता है और वे अपने पिछले जीवन पर क्षोभ प्रकट करते हैं। उधर मेहता और मालती धीरे–धीरे एक दूसरे के और निकट आ जाते हैं। वे विवाह द्वारा अपने व्यक्तित्वों को संकीर्ण परिधि में न बाँधकर मित्र–भाव से साथ–साथ रहकर समस्त विश्व को ही अपना परिवार मानकर, दीनजनों और पीड़ितों की सेवा में रत हो जाते हैं।

उपन्यास का अन्त अत्यन्त हृदयद्रावक है। इसमें प्रेमचन्द का जीवन–संचित अनुभव और उनकी कला का निखरा हुआ रूप मिलता है। उन्होने चारों ओर के जीर्ण–शीर्ण एवं विशृंखल होते हुए समाज का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। कानून बदलने या थोड़े से सुधारवादी कार्यों द्वारा इस समाज का त्राण नही हो सकता। उसमें तो आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। होरी भी बहुत–कुछ इसी समाज की उपज है, किन्तु सामन्तों, पूँजीवादियों, धर्म के ठीकेदारों आदि से वह कहीं महान् है क्योंकि इस समाज में इहलोक और परलोक सभी पैसेवालों का है, इसीलिए होरी संघर्ष की चक्की में पिस जाता है। वह समाज को चुनौती देकर संसार से चला जाता है। उसकी चुनौती जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के पीड़ित एवं दलित व्यक्ति की चुनौती है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में जनवाद और सेवा–मार्ग की स्थापना भी की है। उन्होंने अपने समकालीन भारतीय जीवन का 'गोदान' में सुन्दर और विशद चित्रण किया है।

–ल० सा० वा०

गोप–ये ओरछानरेश पृथ्वीसिंह के आश्रित कवि थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका रचना–काल सन् १७१६ है। अलंकार विषय पर लिखे गये इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। इनके 'रामअलंकार' की चर्चा मिश्रबन्धुओं ने की है तथा भगीरथ मिश्र ने 'रामचन्द्र भूषण' तथा 'रामचन्द्राभरण', इन दो ग्रन्थों की और चर्चा की है। इनमें पहले की प्रति दतिया राजपुस्तकालय में और टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा में और दूसरे की केवल महेन्द्र पुस्तकालय में पायी गयी है। 'रामअलंकार' की सूचना प्रथम त्रैमासिक खोज रिपोर्ट (सन् १९०६–०८) से प्राप्त है। इस ग्रन्थ में कवि ने अपना पूर्वज दक्षिण से आये हुए नन्दनाथ दीक्षित को माना है। इन्हीं के वंश में जदुनाथ कवि के मझले पुत्र गोप कवि हैं। इन्होंने ओरछा के पृथ्वीसिंह के पास रह कर इस ग्रन्थ की रचना की।

गोप के तीनों ग्रन्थ वस्तुतः नाम तथा विषय दोनों ही दृष्टियों से समान हैं। सामान्यतः 'चन्द्रालोक' और 'भाषा–भूषण' के आधार पर लिखे गये ग्रन्थ हैं। भगीरथ मिश्र ने 'रामचन्द्र भूषण' में दी हुई अलंकार की परिभाषा को महत्त्व दिया है–"इनके विचार से शब्दों और अर्थों की रूचिकर रचना अलंकार है, जिनका विकास भाव, रस और गुणों के सौन्दर्य से होता है" (का० शा० इ०, पृ० ११५)। पर ओम् प्रकाश ने इसमें कोई विशेषता नहीं मानी है–"इसका अर्थ यही होगा कि शब्दार्थ रचना काव्य के शोभाकारक धर्म का नाम अलंकार हैं, यह भावादि तथा गुण से भिन्न प्रकार का होता है" (हि० सा० बृ० इ०, पृ० ४५६)। इनके ग्रन्थों में

दोहों में लक्षण तथा उदाहरण दोनों दिये गये हैं, प्रथमार्ध में लक्षण और द्वितीयार्ध में उदाहरण। उदाहरण राम के चरित्र से सम्बद्ध हैं। गोप कवि का आचार्यत्व सामान्य स्तर का है, भाषा सरल तथा उदाहरण सहज हैं।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

गोपा—साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में केशव के पूर्व अलंकारशास्त्र पर लिखनेवाले आचार्यों में करनेस के साथ साथ इनका नाम भी लिया जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'अलंकार—चन्द्रिका' माना जाता है। भगीरथ मिश्र ने (हि० का० शा० इ०) गोपा को गोप कवि से अभिन्न माना है और इनका समय १५५८ ई० के बजाय १७१६ ई० स्वीकार किया है।

—सं०

गोपाल प्रसाद व्यास—जन्म ३० जनवरी १९१६ ई० को मथुरा जिले के पारासोली ग्राम मे हुआ। पिता पं० ब्रजकिशोर शास्त्री परम वैष्णव तथा संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान थे। बचपन अधिकांशतः अपने नाना ब्रज के प्रसिद्ध नन्दन जी के सामीप्य में बीता। कला, साहित्य और संस्कृति की परम्परा व्यासजी को उन्हीं से प्राप्त हुई। प्रारंभिक शिक्षा भरतपुर में फिर मथुरा में अग्रवाल विद्यालय में शिक्षा प्रारम्भ हुई। जब ७वीं कक्षा में थे तभी माता का देहान्त हो गया। पढ़ाई बन्द हो गई, पिता ने इनका ब्याह भी कर दिया, अब जीविकोपार्जन के लिए आठ रूपये मासिक पर एक प्रेस में कम्पोजिटरी की नौकरी व्यासजी को करनी पड़ी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से साहित्यरत्न की परीक्षा उत्तीर्ण की। मौखिक परीक्षा में बाबू गुलाबराय भी थे, वे इनके उत्तरों से अधिक प्रभावित हुए, उन्होंने बाद मे 'साहित्य—सन्देश' का सह—सम्पादक बना दिया। व्यास जी ने इस पत्र में काफी परिश्रम से काम किया, और कई महत्त्वपूर्ण विशेषांक निकाले। १९४० ई० में आपने श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, लक्ष्मी रमण आचार्य के सहयोग से 'भारतीय ब्रज साहित्य मण्डल' की नींव डाली। १९४४ से १९५०ई० तक व्यास जी दिल्ली में जैनेन्द्रजी के साथ रहे। जैनेन्द्र जी बोलते थे और व्यास जी लिखते थे। सितम्बर १९४४ ई० में ही 'दैनिक हिन्दुस्तान' में उप संपादक के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। दिल्ली में हिन्दी के काम का सही प्रारम्भ व्यास जी के आगमन से होता है। राजर्षि टण्डन जी आपको 'दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में ले आये। इस संस्था के पिछले १५ वर्षों का इतिहास व्यास जी की कर्मठता का इतिहास है। साहित्य के क्षेत्र में आपकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने २६ जनवरी १९६५ ई० को इन्हें पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किया।

व्यास जी की साहित्यिक कृतियाँ इस प्रकार हैं :
कविता—'अजी सुनो' (१९४८), 'चले आ रहे हैं' (१९५९), 'पत्नी को परमेश्वर जानो', 'रंग जंग और व्यंग' (१९६६), 'कदम कदम बढ़ाए जा' (१९४६)।
हास्य निबन्ध—'उन्नीसवाँ पुराण', 'तो क्या होता' (१९६९)', 'मैंने कहा' (१९५१), 'कुछ सच कुछ झूठ' (१९५८)।

हिन्दी जगत में व्यास जी दो ही रूपों से माने जाते हैं : हास्य रसावतार तथा हिन्दी नेता। व्यास जी के व्यग्य विनोद ने उनके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को एक प्रकार से दबा दिया है। जिस समय व्यास जी हिन्दी कविता में अवतरित हुए, हास्यरस उपेक्षित था। व्यास जी ने हास्य को सबसे पहले साहित्यिक शैली से साहित्य, समाज और राजनीति पर प्रहार करने के लिए चुनकर आह्लाद के भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने हास्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों, राजनीतिक, दाँव—पेंच तथा धार्मिक प्रपंचो पर बड़े तीखे प्रहार किए हैं।

—ओ० प्र० स०

गोपाल बन्दीजन—ये असोथर (जिला फतेहपुर) के भगवन्तराय खीची के आश्रित कवियों में श्यामदास बन्दीजन के पुत्र थे। ये चरखारी नरेश रतनसिंह के भी आश्रय में रहे हैं और इन्ही से 'सुकवि' की उपाधि भी इनको प्राप्त हुई। आश्रयदाताओं के आधार पर इनका रचनाकाल १८०० ई० से १८३५ ई० तक माना जा सकता है। इन्होंने बलभद्रकृत 'नख शिख' की टीका 'नखशिख दर्पण' नाम से की है। रामचन्द्र शुक्ल ने इनका नाम गोपाल कवि दिया है और कहा है कि बलभद्र के तीन ग्रन्थों की सूचना इसी टीका से प्राप्त होती है—'बलभद्री व्याकरण', 'हनुमन्नाटक' और 'गोवर्द्धन सतसई' (टीका)। भगवतीप्रसाद सिंह ने 'दिग्विजय भूषण' की भूमिका में इनके दो अतिरिक्त ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है—'भगवन्तराय की विरुदावली' और 'पुरुष—स्त्री संवाद'।

—सं०

गोपाल भाट—पटियाला के महाराज कर्मसिंह के छोटेभाई अजीतसिंह इनके आश्रयदाता माने गये हैं। ये चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी वृन्दावन के रामबख्श के शिष्य थे। 'दिग्विजय भूषण' की भूमिका में इनके १२ ग्रन्थों की सूची दी गयी है—'दम्पति काव्य विलास', 'दूषण विलास', 'ध्वनि विलास', 'भाव विलास', 'भूषण विलास', 'मान पचीसी', 'रस सागर', 'रासपंचाध्यायी सटीक', 'वंशी लीला', 'वर्षोत्सव', 'वृन्दावनधामानुरागावली' और 'वृन्दावन माहात्म्य'। इनमें कुछ ग्रन्थ कृष्ण—भक्ति—परक हैं और कुछ काव्य—शास्त्रीय विषय पर हैं।

—सं०

गोपाल राम गहमरी—आपका जन्म गाजीपुर जिले के 'गहमर' गाँव में सन् १८६६ ई० में हुआ था। 'गहमर' में उत्पन्न होने के कारण आप 'गहमरी' नाम से प्रसिद्ध हुए। आप बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार माने जा सकते हैं। कवि, अनुवादक, उपन्यासकार, निबन्ध लेखक, नाटककार, कहानी लेखक आदि कई रूपों में आपकी साहित्य प्रतिभा व्यक्त हुई है। प्रारम्भ में आपने बंगला के कुछ नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद प्रस्तुत किया। आप द्वारा अनूदित नाटकों में 'विद्या विनोद' (१८९२ ई०), 'देश दशा' (१८९२), 'यौवन योगिनी' (१८९३ ई०), 'दादा और मैं' (१८९३ ई०), 'चित्रांगदा' (१८९५ ई०) तथा 'बनबीर' और 'बभ्रुवाहन' प्रसिद्ध हैं। आपने कुछ मौलिक 'प्रहसन' भी लिखे थे, जिनमें 'जैसे को तैसा' विशेष प्रसिद्ध हुआ था। इसमें वृद्ध—विवाह को परिहास का विषय बनाया गया है। अनूदित उपन्यासों में 'चतुर चंचला' (१८९३ ई०) 'भानुमती' (१८९४ ई०), 'नये बाबू' (१८९४ ई०), 'नेमा' (१८९४ ई०), 'सास—पतोहू' (१८९९ ई०),

'बड़ा भाई (१९००), 'देवरानी जेठानी' (१९०२ ई०), 'दो बहिन' (१९०३ ई०) तथा 'तीन–पतोहू' (१८०५ ई०) उल्लेखनीय हैं। प्रायः इन सभी उपन्यासों में सामान्य जीवन–क्रम में उठने वाले पारिवारिक प्रश्नों को महत्त्व दिया गया है। लेखक का दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है। न तो वह प्राचीन अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों का हिमायती है और न अतिशय् नवीनता को सहज रूप में स्वीकार कर सका है। आपने समय–समय पर पत्र–पत्रिकाओं में स्फुट निबन्ध भी लिखे थे। इन निबन्धों के विषय सामयिक होते थे। निबन्धशैली व्यंग्य–पूर्ण है। भाषा में वक्रता, प्रगलभता और चटपटापन है। वस्तुतः आपकी गद्य शैली पर बंगला के प्रसिद्ध लेखक बंकिम चन्द्र का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। आपकी गद्य–शैली की भंगिमा बंकिम की वक्रता का हिन्दी संस्करण है।

आपको सर्वाधिक ख्याति जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में प्राप्त हुई। हिन्दी में आपको जासूसी उपन्यासों का प्रवर्तक माना जाता है। सन् १८९६ ई० से आपके जासूसी उपन्यासों की अखण्ड–परम्परा आरम्भ होती है, जो १९४६ ई० तक चली आयी है। सन् १९०० में आपने गहमर से 'जासूस' नामक एक मासिक पत्र निकाला। इसके लिए अनिवार्यतः आपको प्रतिमास एक जासूसी उपन्यास की रचना करनी पड़ी। फलस्वरूप आज आपके जासूसी उपन्यासों की संख्या २०० से ऊपर है। आपके प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास निम्नलिखित हैं—'अद्‌भुत लाश' (१८९६ ई०), 'गुप्तचर' (१८९९ ई०), 'बेकसूर की फाँसी' (१९०० ई०), 'सरकती लाश' (१९०० ई०), 'खूनी कौन' (१९०० ई०), 'बेगुनाह का खून' (१९०० ई०), 'जमुना का खून' (१९०० ई०), 'डबल जासूस' (१९०० ई०), 'मायाविनी' (१९०१), 'चक्करदार चोरी' (१९०१), 'जासूस की भूल' (१९०१ ई०) 'भयंकर चोरी' (१९०१ ई०), 'जादूगरनी मनोरमा' (१९०१ ई०), 'मालगोदाम में चोरी' (१९०२ ई०), 'जासूस की चोरी' (१९०२ ई०), 'अद्‌भुत खून' (१९०२ ई०), 'जासूस पर जासूसी' (१९०४ ई०), 'डाके पर डाका' (१९०४ ई०), 'जासूस चक्कर में' (१९०६ ई०), 'खूनी का भेद' (१९१० ई०), 'खूनी की खोज' (१९१० ई०), 'इन्द्रजालिक जासूस' (१९१० ई०), 'लाइन पर लाश' (१९१० ई०), 'किले में खून' (१९१० ई०), 'भोजपुर की ठगी' (१९११ ई०), 'गुप्तभेद' (१९१३ ई०), 'जासूस की ऐय्यारी' (१९१४ ई०) आदि। उपन्यासों के अतिरिक्त आपने कुछ जासूसी कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनमें 'जासूस की डाली' (१९२७ ई०) और 'हंस राज की डायरी' (१९४१ ई०) प्रसिद्ध हैं। ध्यान देने पर इन जासूसी उपन्यासों में अद्‌भुत एकरूपता लक्षित होती है। कुल ५ या ६ घटना–प्रकार हैं, जिन पर प्रायः सभी उपन्यासों की कथा आधारित है। जासूसी का प्रश्न गुप्त, रहस्यमयी और सनसनीखेज घटनाओं के साथ ही उठ सकता है। इसलिए लेखक ने खून, चोरी, डकैती, ठगी, जादू और इन्द्रजाल आदि की घटनाओं को लेकर ही समस्त उपन्यासों का ढाँचा खड़ा किया है। ये उपन्यास भी तिलस्मी उपन्यासों की भाँति घटनाप्रधान होते हैं। प्रारम्भ में एक भयंकर और अद्‌भुत काण्ड हो जाता है। प्रसिद्ध जासूस उसके रहस्यों को सुलझाने की चेष्टा करते हैं। क्रमशः उसी प्रकार के अन्य काण्ड घटित होते हैं और कथानक उलझ जाता है और अन्ततः जासूस का धैर्य, उत्साह और बुद्धिवैलक्षण्य विपक्षी को विफल करके रहस्य को सुलझा लेता है। इसी नुस्खे का प्रयोग सभी जासूसी उपन्यासों में किया जाता है। इन उपन्यासों का लक्ष्य भी हल्का मनोरंजन है, इसलिए उच्च कोटि के सुरूचिपूर्ण साहित्यिक कृतित्व के अन्तर्गत इन्हें नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार उद्देश्य, स्वरूप और टेकनीक की दृष्टि से ये उपन्यास तिलस्मी–ऐय्यारी उपन्यासों के निकट हैं। अन्तर केवल यह है कि ये अपेक्षाकृत जीवन के अधिक निकट होते हैं। इनकी घटनाएँ सम्भाव्य और बुद्धिग्राह्य होती हैं और उनमें एक सूत्रता भी होती है। इनमें एक सीमा तक चरित्र–चित्रण की प्रवृत्ति भी मिलती है, यद्यपि घटनाओं के जाल में वह उभर नहीं पाती। अँग्रेजी साहित्य में जासूसी उपन्यासों की स्वस्थ और सुरूचिपूर्ण परम्परा है। इस क्षेत्र में 'कॉनन डायल' का कृतित्व अविस्मरणीय है। गोपालराम गहमरी को हिन्दी का 'कॉनन डायल' कहा जा सकता है। यद्यपि दोनों में बड़ा अन्तर है। कॉनन डायल की घटनाएँ बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होती है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों से कथा–सूत्र चुन सकता है। उसके पात्र सजीव और यथार्थजीवी हैं। उसके कथानक सुरूचिपूर्ण हैं। वस्तुतः हिन्दी में, जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में, उस कोटि की प्रतिभा के अवतरित होने के पहले ही इस परम्परा का विकास अवरूद्ध हो गया। यहाँ तो हम गोपाल राम गहमरी से चलकर गोपालराम गहमरी तक ही पहुँचते हैं। वस्तुतः हिन्दी जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में आपका व्यक्तित्व अन्यतम है। आपके साहित्यिक वैशिष्ट्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष आपकी वक्रतापूर्ण गद्य–शैली है। जासूसी के चक्कर में गहमरी का निबन्धकार–रूप पूर्ण विकसित नहीं हो सका, अन्यथा हिन्दी को एक बड़ा शैलीकार प्राप्त हुआ होता। सन् १९४६ ई० में आपकी मृत्यु हो गयी।

—रा० चं० ति०

गोपालराम (राय)—इतिहास ग्रन्थों में इस कवि के बारे में कुछ ज्ञात नहीं होता। केवल इसके दो ग्रन्थ 'रस सागर' और 'भूषण विलास' का उल्लेख किया गया है। 'रस सागर' का रचनाकाल १६६९ ई० (सं० १७२६) दिया गया है, पर आधार का उल्लेख नहीं है। इसको ठीक माना जाय तो इनके रचना–काल का अनुमान किया जा सकता हैं।

—सं०

गोपालशरण सिंह (ठाकुर)—गोपालशरण सिंह, द्विवेदीयुग के सुप्रसिद्ध कवि हैं। इनका जन्म सन् १८९१ ई० में रीवाँ राज्य के नयीगढ़ी के एक प्रतिष्ठित जमींदार घराने में हुआ था। इनकी शिक्षा–दीक्षा क्रमशः रीवाँ और प्रयाग में हुई। इनकी प्रथम रचना १९११ ई० में प्रकाश में आयी और आगामी तीन–चार वर्षों में (१९१४ ई० तक) ये कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। क्रमशः इनकी ये काव्य–कृतियाँ प्रकाश में आयीं—'माधवी' (कविता–संग्रह), 'कादम्बिनी' (गीत काव्य), 'मानवी' (नारी जीवन–सम्बन्धी गीत–काव्य), 'सुमना' (गीत–संग्रह), 'ज्योतिष्मती' (गीत–संग्रह) और 'संचिता' (कविता–संग्रह)। खड़ीबोली का परिमार्जन एवं संस्कार करनेवाले कवियों में गोपालशरण सिंह का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपनी काव्य–भाषा में शुद्ध, सहज एवं

साहित्यिक प्रयोग बड़ी सतर्कता से किये। विषय एवं भावानुरूप शब्द–चयन में इन्हे अपूर्व सफलता मिली। खड़ीबोली में लिखे गये इनके कवित्त और सवैये प्राचीन ब्रजभाषा छन्दों से टक्कर लेते हैं। उनमे सरसता और मार्मिकता का निर्वाह आद्यन्त हुआ है। उदाहरणार्थ 'वह छवि' ('माधुरी', १९२५ ई०) शीर्षक रचना ली जा सकती है–''तेज धारियों में है कृशानु का भी नाम बड़ा, किन्तु भानु सबसे महान् तेजवान है। पादपों में पारिजात, पर्वतों मे हिमवान, नदियों में जाह्नवी मनोज्ञता की खान है। मोरसा मनोहर न कोई खग रूपवान, फूल कौन दूसरा गुलाब के समान है ? यद्यपि सभी हैं उपमान इन्हें मान चुके, किन्तु उस छबिसा न कोई छबिमान है।'' गोपालशरणसिंह की अधिकांश रचनाएँ इसी प्रकार की मार्मिक उद्भावनाओं से ओतप्रोत हैं और उनमें अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति परिलक्षित होती है। इनकी रचनाओं में जीवन की नाना दशाओं के चित्र उपलब्ध हो जाते हैं। ये वस्तुतः धरती की चेतना के कवि रहे हैं। इनके काव्यगत दृष्टिकोण को समझने के लिए इनकी एक प्रार्थना उल्लेखनीय है–''पृथ्वी पर ही मेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे।'' गोपालशरणसिंह की कविताओं में कहीं–कहीं छायावाद की भी झलक मिलती है। भावों की व्यंजना तथा रमणीय लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से ये अपने कुछ प्रगीत मुक्तकों में छायावाद के निकट आ जाते हैं। गोपालशरणसिंह कवि के अतिरिक्त एक सक्रिय साहित्यिक व्यक्तित्व रहे हैं। रघराज साहित्य परिषद्, रीवाँ; कविसमाज, प्रयाग तथा मध्यभारतीय साहित्य समिति, इन्दौर के सभापति के रूप में इनकी साहित्य सेवाएँ उल्लेख्य हैं। १९६० ई० में आपका देहावसान हो गया।

–र० भ्र०

गोपालसिंह 'नेपाली'-इनका जन्म सन् १९१३ ई० (संवत् १९६० वि०) में बेतिया, चम्पारन में हुआ और मृत्यु १९६३ में हुई। ये एक लड़ाकू सिपाही के बेटे थे, जिसमें अथक युद्धोत्साह, अदम्य साहस एवं संकटों को झेलने का अटूट सामर्थ्य था। अपने जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण 'नेपाली' को भारत के सुदूर भागों में भ्रमण का पर्याप्त अवसर मिला। वन, पर्वत, निर्झर, बीथिका, सहकार–वन, घाटी और बीहड़ स्थलों को देखने एवं भ्रमण करने का इन्हें विशिष्ट अनुभव प्राप्त था। भारतीय प्रकृति की विविधता के इस परिदर्शन ने इन्हें प्रकृति के प्रति एक प्रगाढ़ प्रेम और सहज अनुराग प्रदान किया। प्रकृति के प्रति यह उत्साहपूर्ण प्रेम इनके काव्य में गुंजरित हुआ है। इन्होंने प्रवेशिका तक शिक्षा प्राप्त की थी। इन्हें पत्रकारिता का भी अनुभव था। 'रतलाम टाइम्स' मालवा, 'चित्रपट' दिल्ली, 'सुधा' लखनऊ, और 'योगी' (साप्ताहिक) पटना के सम्पादन–विभाग में रहे थे। इन्होंने चलचित्रों में गीतकार का कार्य भी किया। चलचित्र निर्माण में भी प्रयास किये और हिमालय–पिक्चर्स एवं नेपाली–पिक्चर्स के निर्माता भी रहे।

सन् १९२९ ई० से ही इनका रचना–काल प्रारम्भ हो जाता है। इतनी कम शिक्षा होने पर भी काव्य–रचना का यह अनवरत एवं सुन्दर प्रयास सिद्ध करता है कि इनमें प्रतिभा का सहज और सशक्त प्रकाश था, जो वयोविकास के साथ समृद्ध होता गया। जुलाई, १९३४ ई० मे प्रकाशित 'उमग' इनकी प्रथम–काव्यकृति है। 'उमग' वस्तुतः कवि के तरंगित यौवन की उमग है। भावों की मादकता, मोहकता, आन्तरिक महत्त्वाकांक्षा एवं रोमानीपन से आवेष्ठित इस संग्रह की रचनाएँ उस समय बड़ी प्रत्यग्र एवं नव्यता–मण्डित थी। इनमें काव्य–प्रतिभा का सहज उन्मेष, कैशोर का नूतन पावित्र्य एवं हृदय का मुक्त–मधुर प्रवाह था। भाषा अत्यन्त मधुर, सरस, प्रांजल एवं कोमल है–''यह घास नही है, पनप उठी मेरे जीवन की मधुर आस'' जैसी पंक्तियाँ प्रकृति के प्रति कवि के सहज तादात्म्य एवं एकात्म उल्लास की परिचायिका तथा छायावाद की उद्यानमुखी प्रकृति–सज्जा से विलग, उसके मुक्त, सहज एवं नैसर्गिक स्वरूप के प्रति अनुराग की सन्देशवाहिनी है। बीच–बीच में आनेवाले मधुरता–मण्डित तद्भव शब्द–रूप 'नेपाली' जी की भाषा की निजी विशेषता है। सन् १९३४ ई० में प्रकाशित 'पंछी' उनका दूसरा काव्य–संकलन है। जिस प्रकार 'उमंग' की हरी घास, पीपल, 'पंछी, सरिता आदि कविताएँ प्रमुख रूप से कवि के मानस का प्रतिनिधित्व करती हैं, उसी प्रकार 'पंछी' संग्रह में कवि के प्रभातकाल की 'पन्द्रहमिनटी' रचनाओं का संकलन हुआ है। सन् १९३५ ई० में तीसरा स्फुट काव्य–संकलन 'रागिनी' नाम से प्रकाश में आया। काव्य ने प्रेम के भारी रहस्य–केन्द्र को छू लिया और उसकी वाणी को पहचान गया। 'टुकड़ी', 'विद्रोही' आदि रचनाएँ उसकी प्रगति–मनस्कता की भी द्योतिका हैं। 'नीलिमा' संग्रह में कवि का मानस–क्षितिज और भाव–प्रवाह बदला है। 'दार्जिलिंग की बूँदाबाँदी', 'गंगा किनारे' जैसी रचनाएँ प्रमुख हैं। इनमें कवि के छवि–चित्र अत्यन्त मधुर एवं पूर्ण हैं। सन् १९४२ ई० में प्रकाशित 'पंचमी' काव्य–संग्रह साहित्य–देवता के मन्दिर में कवि की पाँचवीं पुकार है। इसकी विशाल भारत एवं राष्ट्रीयतापरक रचनाएँ उच्च मानसिक भूमि की परिचायिका हैं। 'सावन' शीर्षक १०१ रूबाइयों में लिखित और सुन्दर उपमाओं से सुसज्जित रचना 'पन्त' जी की 'बादल' कविता की भाँति एक ही वस्तु के विविध दर्शन एवं पूर्ण निरीक्षण का प्रमाण है। 'कल्पना', 'आंचल', 'नवीन', 'रिमझिम' और 'हमारी राष्ट्रवाणी' इनकी अन्य पुस्तकें हैं।

'छायावाद' के 'तृतीय–उत्थान' के मानववादी–स्वच्छन्दतावादी कवियों में 'नेपाली' का प्रमुख एवं अविस्मरणीय स्थान है। नरेन्द्र शर्मा के मानववाद को 'नेपाली' ने प्रकृति की सहज सुषमा का मधुरालोक और प्रेम की तरल हार्दिकता प्रदान कर लोक–निकटतर बनाया है। प्रकृति के सहज अनगढ़ स्वरूप के प्रति जो तन्मयता 'नेपाली' की रचनाओं में है, वह इस उत्थान के कवियों में ही नहीं, प्रथम एवं द्वितीय उत्थान के कवियों में भी दुर्लभ है। गुरूभक्तसिंह 'भक्त' ने प्रकृति के जिस नैसर्गिक एवं ग्राम्य सौन्दर्य का अनावरण किया था, वह 'नेपाली' के गीतों में रस–सिक्त और चुने रूप में चित्रित हुआ है। कुछ ही सीधे–सादे और मधुर–शब्दों की रेखाओं में सारे वातावरण के माधुर्य को बाँध लेने की इनमें अद्भुत क्षमता है। मस्ती, निर्भीकता एवं तरंगिता का जो रोमानी उल्लास इन पंक्तियों में संकेतित है, वह 'नेपाली' मे उच्छल व्यक्तित्व की सहज श्री हैं–''गंगा यमुना की रेती में सुन्दर महल बनाना हो। कालिन्दी के हरित कूल में रूठा हृदय मनाना हो। तो चुपचाप

निकल परदेसी, भूल भटक जा रहा कहीं। नंगे पग चलने वालों को है नद—नदी अथाह नहीं।" 'नेपाली' के प्रेम—विरह की निश्छल तड़प का नमूना इस पंक्ति में मिल सकता है— "तनका दिया, नेह की बाती, दीपक जलता रहा रातभर।" इसी प्रकार 'नवीन' संग्रह की 'कल्पना करो, नवीन कल्पना करो' रचना युवकों को नवीन दृष्टि और नव—सर्जनोत्साह देने में अत्यन्त सफल हुई है। चल जीवन—क्रम में मिले प्रेम के दो क्षणों की मधुरिमा को चित्रित करनेवाली ये पंक्तियाँ भी कितनी सजीव हैं—'दो मेघ मिले डोले—बोले, बरसाकर दो—दो बूँद चले।' अनुभूतियों की सहजतम अभिव्यक्ति इनके गीतों का प्राण है। रसपूर्ण भाषा, लय, संगीतमय, छन्द, सहज—कोमल प्रतीक, काठिन्य से सर्वथा परे रहनेवाले पद—विन्यास, सुकुमार भाव—शैय्या, सौन्दर्यमयी वृत्ति, श्रृंगारिका से अधिक रोमानी भावावेश, आन्तरिक स्फुरण, मनकी सहज प्रेरणा और कल्पना—प्रवण यौवन की ऊष्मता के लिए 'नेपाली' का गीतकार अविस्मरणीय रहेगा।

—श्री० सिं० क्षे०

गोपीचंद—हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि गोपीचन्द बंगाल के गोविन्दचन्द ही थे, जिन्हें वर्णरत्नाकर में दी हुई सिद्धों की सूची में गोविन्द नाम से ७१ वें स्थान पर रखा गया है। बंगाल में प्राप्त 'गोविन्दचन्देरगान' से भी सूचित होता है कि गोविन्दचन्द ही गोपीचन्द थे। यदि यह ठीक है तो गोविन्दचन्द और दक्षिण के राजा राजेन्द्र चोल के बीच हुए युद्ध के आधार पर गोपीचन्द का समय ११वीं शताब्दी के आस—पास माना जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने गोपीचन्द का नाम सिद्धों की सूची में नहीं रखा है। चर्पटीनाथ ने अपने एक ५२ वें सबद में गोपीचन्द और भरथरी की एक साथ वन्दना की है (दे० नाथ सिद्धों की बानियाँ)। गोपीचन्द ने भी अपने पदों में गोरखनाथ को अपना गुरु तथा चर्पटीनाथ को गुरु—भाई कहा है, यथा—"गुरु हमारे गोरख बोलिये, चर्पट हैं गुरु भाई।" इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि गोपीचन्द ११ वीं शताब्दी में हुए होंगे किन्तु जब हम देखते हैं कि उन्होंने दो सबदों में जालन्धरपाद के अनुग्रह की इस प्रकार चर्चा की है कि जैसे वे उनके समकालीन रहे हों तब उनके समय के विषय में सन्देह होने लगता है। उक्त 'सबद' इस प्रकार है—"तजिला बंगाल देश मैंणाबंती माई। जलंध्री प्रसादे गोपीचन्द चौपदी गाई।" (सबदी ४)। तथा "जलंध्रीपाव हाथि दे डीबी गोपीचंद षंदाया जी" (सबदी १४)। सम्भव है गोपीचन्द ने जलन्धरपाद का इस प्रकार स्मरण गुरु परम्परा के कारण किया हो। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अवश्य अनुमान किया है कि गोपीचन्द जलन्धरपाद के शिष्य कानपा द्वारा सिद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे।

गोपीचन्द के सम्बन्ध में अनेक लोक—कथाएँ और लोक—गीत विशेष रूप से पूर्वी भारत में प्रचलित रहे हैं। प्रसिद्ध है कि गोपीचन्द ने अपनी माता मैनावती के उपदेश से अपनी दो रानियों उदयनी और पद्मिनी को त्यागकर वैराग्य धारण कर लिया था। गोपीचन्द के पदों से प्रकट होता है कि उनकी रानियों ने उनसे पुनः विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने का आग्रह किया था। परन्तु गोपीचन्द में विरक्ति का भाव इतना दृढ़ था कि उन्होंने बारम्बार राज्य—वैभव के प्रति घृणा प्रकट करते हुए अपनी रानियों की भी भर्त्सना की है। गोपीचन्द की सबदी में बैराग्य की भावना ही प्रमुख है, सिद्ध संकेतों का उसमें एकान्त अभाव है। सबदी तथा बंगाल में प्राप्त 'गोविन्दचन्देरगान' के अतिरिक्त गोपीचन्द की किसी कृति का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्त्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी; योगप्रवाह : डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं०

गोपीनाथ—गोपीनाथ नाम से तीन उल्लेख प्राप्त होते हैं—

१. गोपीनाथ शब्द भक्तिकाल तथा रीतिकालीन हिन्दी कविता में कृष्ण का अभिधान बन गया था। भागवत पुराण में भी गोपीनाथ श्रीकृष्ण का पर्याय है। रास—लीला के प्रसंग में श्रीकृष्ण को गोपीनाथ शब्द द्वारा ही अभिहित किया गया है। ब्रज की युवतियों को गोपी की संज्ञा पुराणों में प्राप्त हुई थी, उसके बाद गोपीवल्लभ, गोपीनाथ, गोपीपति शब्दों का प्रयोग श्रीकृष्ण के लिए हिन्दी साहित्य में प्रचुर मात्रा में हुआ है (दे० 'कृष्ण')।

२. गोपीनाथजी श्रीवल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५६८ (सन् १५०१), अप्रैल में प्रयाग में हुआ था। वल्लभाचार्यजी के बाद ये पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य हुए। इनकी सहज प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी। साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे। पुष्टि सम्प्रदाय की गद्दी के स्वामी होते हुए भी उसकी ओर इनका ध्यान बहुत कम रहता था तथा तीर्थाटन में रहने के कारण अपने छोटे भाई विट्ठलनाथ को ही सब कार्यभार सौंप देते थे। गोपीनाथ ने गुजरात, काठियावाड़ और पूर्वदेश की यात्रा करके पुष्टि सम्प्रदाय का प्रचार किया। इनका निधन संवत् १६१० में हुआ। गोपीनाथ का लिखा हुआ एक ही ग्रन्थ 'साधनदीपिका' उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में पुष्टिमार्गीय भक्ति की सेवाविधि का विवरण है। यह संस्कृत में लिखा गया है।

३. रीतिकाल के कवियों में गोपीनाथ का नाम महाभारत और हरिवंश पुराण के अनुवादकों में आता है। यह अनुवाद कार्य संयुक्त रूप से गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव ने किया था। गोपीनाथ हिन्दी के प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बन्दीजन के पौत्र बताये जाते हैं। महाभारत और हरिवंश पुराण का हिन्दी पद्यात्मक अनुवाद जो लगभग ५० वर्ष में तैयार हुआ था, उस युग का सहकार भावना से किया हुआ एक स्तुत्य प्रयास है। यह कार्य काशीनरेश उदितनारायणसिंह की आज्ञा से किया गया था। गोपीनाथ अठारहवीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे। इनकी काव्य रचना शैली सरस और आकर्षक है। इन्होंने अपने महाभारत अनुवाद में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है (दे० 'गोकुलनाथ')।

—वि० स्ना०

गोपीनाथ कविराज—महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराजजी का जन्म सन् १८८७ ई० में ढाका जिले के धामराई नामक ग्राम में हुआ था। वहाँ इनके मातामह रहते थे। इनका परम्परागत पैतृक स्थान जिला मैमनसिंह टागाइज

मर्वाडिविजन के अन्तर्गत दान्या ग्राम था, जो कि अब पूर्वी पाकिस्तान मे है। आपके पिता का नाम गोकुलनाथ कविराज था। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण आप जिला मैमनसिंह के अन्तर्गत कांटालिया ग्राम मे अपने मामा काला५८द सान्याल द्वारा लालित-पालित हुए। पैतृक घर मे कोई नहीं था। घर, जमीन, पोखरा, बाग-बगीचा आदि सब कुछ रहते हुए भी वहाँ का सम्बन्ध टूट गया।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा धामराई हाईस्कूल में हुई। तदुपरान्त ढाका जुबली हाई स्कूल मे प्रविष्ट हुए। ये एन्ट्रेन्स विशिष्ट सम्मान के साथ पास हुए। तदुपरान्त एक वर्ष तक मलेरिया ज्वर से आक्रान्त रहने के कारण अध्ययन स्थगित रहा। उसके अनन्तर एक वर्ष बाद १९०७ ई० में एफ० ए० में पढ़ने के लिए कलकत्ता गये किन्तु यहाँ से ये जयपुर चले गये। उस समय संसारचन्द्र सेन जयपुर स्टेट के प्रधान मन्त्री थे। उनके यहाँ प्राइवेट टयूटर के रूप में उनके पौत्र और छोटे पुत्र को पढ़ाने लगे। वहीं महाराज कालेज मे एफ० ए० कक्षा में प्रविष्ट हुए।

ढाका में अध्ययन करते समय ये संस्कृत और अंग्रेजी के बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन विशेष रूप से कर चुके थे। जयपुर में भी लगन के साथ उसी की अनुवृत्ति यथापूर्व अक्षुण्ण रही। प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास की ओर भी आपका ध्यान उसी समय आकृष्ट हुआ। जयपुर की पब्लिक लाइब्रेरी अत्यन्त विशाल है। कालेज लाइब्रेरी तथा कान्तिचन्द्र मुखोपाध्याय, जो भूतपूर्व प्रधान मन्त्री थे, की भी फैमिली लाइब्रेरी बड़ी विशाल थी। इन सब पुस्तकालयों में कविराजजी का अप्रतिहत प्रवेश था। जब कविराजजी महाराज कालेज में प्रविष्ट होने के लिए गये तब वहाँ इन्हें वर्ड्सवर्थ के एक सानेट (कविता) की व्याख्या करने को दी गयी। व्याख्या इतनी सुन्दर हुई कि सब छात्रों के सामने वहाँ के प्रोफेसर ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि इससे अच्छी व्याख्या मैं भी नहीं कर सकूँगा। उसी समय से उन्होंने कविराजजी के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था कर दी जो बराबर चलती रही।

सन् १९१० ई० मे बी० ए० पास कर आपने जयपुर छोड़ दिया और घर वापस चले आये। वहाँ से आप काशी आये और क्वींस कालेज में एम० ए० कक्षा में प्रविष्ट हुए। पंचम वर्ष की परीक्षा पास करने के बाद ही आप बीमार पड़ गये। क्वींस कालेज के प्रिंसिपल डा० वेनिस की सलाह से पढ़ना छोड़कर चिकित्सार्थ कलकत्ता चले गये। कुछ स्वस्थ होने पर वहाँ से वायु-परिवर्त्तन के निमित्त पुरी चले गये।

कविराजजी स्वस्थ होकर काशी लौटे और षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट हुए। इसी समय आचार्य नरेन्द्रदेवजी से आपका परिचय हुआ। सन् १९१३ ई० में आप एम० ए० में सर्वप्रथम आये। एम० ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के बाद अजमेर तथा लाहौर से कालेज में अध्यापन कार्य के लिए आपके पास कई पत्र आये। किन्तु डा० वेनिस चाहते थे कि जो छात्रवृत्ति इन्हें पहले से मिलती थी, उसमें वृद्धि कर दी जाय और ये काशी छोड़कर अन्यत्र न जाँय और अनुसन्धान कार्य करने के लिए बनारस में ही रहें। उस समय सरस्वती भवन लाइब्रेरी का भवन बन रहा था। डा० वेनिस की इच्छा थी कि लाइब्रेरी भवन का उद्घाटन होने पर सर्वप्रथम लाइब्रेरियन इन्हें ही बनाया जाय। कविराजजी प्रायः एक वर्षतक परिवर्द्धित छात्रवृत्ति लेकर अपने विषय में गवेषणा करते रहे। क्वींस कालेज बोर्डिंग हाउस में पहले से रहते ही थे। सरस्वती भवन का उद्घाटन होने के थोडे दिन बाद ही आप सरस्वती भवन में प्रधान अध्यक्ष के रूप मे अप्रैल, सन् १९१४ के प्रारम्भ मे नियुक्त हो गये। इस लाइब्रेरी में प्रारम्भ में क्वींस कालेज की संस्कृत तथा जर्मन सेक्शन की सभी पुस्तकें आ गयीं। आप अपना गवेषणा का कार्य करते रहे तथा अन्यत्र से जो गवेषी आते थे, उनका भी पथप्रदर्शन करते रहे। कविराजजी प्रारम्भ से ही यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी के जर्नल में लिखते रहे।

कविराजजी ने प्रस्ताव किया था कि सरस्वती भवन में जो मूल्यवान संस्कृत आदि की पुस्तकें हैं, उनकी गवेषणा के प्रकाशन के लिए एक जर्नल निकाला जाय। दूसरा प्रस्ताव यह किया कि विभिन्न विषयों की हस्तलिखित पुस्तकों में प्रकाशित करने योग्य अंशों का सम्पादन किया जाना चाहिये। फलस्वरूप 'सरस्वती भवन स्टडी' और 'सरस्वती भवन टैक्स्ट' की स्थापना हुई। दोनों के सम्पादक आप ही हुए। लगभग १९२४ ई० में कविराजजी क्वींस कालेज के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। आपने बहुत से विशिष्ट ग्रन्थों का सम्पादन किया है।

आप संस्कृत कालेज के अध्यक्ष पद पर सन् १९३७ ई० तक रहे। आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर भारत सरकार ने सन् १९३४ ई० में आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया। डा० वेनिस के समान ही आप भी गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष, संस्कृत परीक्षाओं के रजिस्ट्रार, सुपरिण्टेण्डेण्ट ऑव संस्कृत स्टडीज आदि पदों का कार्यभार अकेले सँभालते रहे।

आपके गुरुदेव योगिसम्राट् परमहंस श्री विशुद्धानन्दजी थे, जो असाधारण योगी और विज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने तिब्बत के एक आश्रम में कई वर्षोंतक रहकर योग तथा विज्ञान की ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १९३७ ई० में उनका तिरोभाव होने के बाद कविराजजी ने अपने गुरुदेव के नाम से 'विशुद्धानन्द' नामक ग्रन्थ पाँच खण्डों में प्रकाशित किया था। आपने 'विशुद्धानन्द वाणी' नाम से सात खण्डों में एक और ग्रन्थ की रचना की थी। उनके विषय में आपने 'सूर्य विज्ञान' नाम से एक लेख 'कल्याण' के योगांक में प्रकाशित किया था, जिससे उनका कुछ परिचय मिल सकता है।

अवकाश ग्रहण करने के बाद आप काशी में एकान्त भाव से भारतीय प्राचीन ज्ञान-विज्ञान तथा आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे।

आपका एक ग्रन्थ 'अखण्ड महायोग' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'भारतीय संस्कृति और साधना' का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया है और द्वितीय खण्ड छप चुका है। 'तान्त्रिक वाङमय में शाक्त दृष्टि' नामक आपका एक और ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। उत्तर-प्रदेश की हिन्दी समिति की ओर से आपका एक ग्रंथ 'तान्त्रिक साहित्य' (विवरणात्मक ग्रन्थ सूची) संकलित होकर छपने के लिए तैयार है, छप चुकी है। 'काशी की सारस्वत साधना' नाम से आपका एक ग्रन्थ 'राष्ट्रभाषा परिषद पत्रिका' में धारावाहिक रूप से छपा है, जो

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से प्रकाशित हुआ है। डा० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में जो 'हिस्ट्री ऑव फिलासफी—ईस्टर्न ऐण्ड वेस्टर्न शाक्त फिलासफी' तैयार हुई है, उसे आप ही ने लिखा है।

हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला और संस्कृत में आपके दो—ढाई सौ महत्त्वपूर्ण लेख विभिन्न पत्र—पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, जो अभीतक ग्रन्थाकार नहीं छपे हैं।

—श्री० पं०

गोपीनाथ पुरोहित—आपका जन्म १८६३ ई० में जयपुर में हुआ। भारतेन्दु—युग में ही अंग्रेजी—साहित्य की विश्वप्रसिद्ध कृतियों के अनुवाद की ओर हिन्दी—लेखकों ने ध्यान दिया था। स्वयं भारतेन्दु ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया था। सन् १८९६ ई० में जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ एम०ए० एक अच्छे अनुवादक के रूप में सामने आये। आपने शेक्सपियर के तीन नाटकों—'मरचेण्ट ऑफ वेनिस' 'ऐज यू लाइक इट' और 'रोमियों ऐण्ड जूलियट' का अनुवाद क्रमशः 'वेनिस का बैपारी', 'मनभावन' (१८९६ ई०) और प्रेमलीला (१८९७ ई०) नाम से किया। आपने पद्यांशों को भी गद्य में ही अनूदित किया है। आपने सिसरो के निबन्ध का 'मित्रता' शीर्षक और 'ग्रेज एलेजी' का 'शोकोक्ति' शीर्षक से अनुवाद किया। 'शोकोक्ति' भाषा छन्दों में अनूदित है। आपने 'वीरेन्द्र' (१८९७) नामक एक वीर और श्रृंगार रस—प्रधान उपन्यास भी लिखा है, जो किसी अँग्रेजी उपन्यास की छाया पर लिखा गया है। इसमें एक ऐतिहासिक उपन्यास का सा वातावरण प्रस्तुत किया गया है और भाषा पात्रों के अनुसार कहीं शुद्ध उर्दू और कहीं शुद्ध हिन्दी है। आपको संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था और आपने 'भर्तृहरि शतकत्रयम्' (१८९६ ई०) का अंग्रेजी अनुवाद और हिन्दीभाषान्तर (टिप्पणी और व्याख्या सहित) भी प्रस्तुत किया है। 'सतीचरित—चमत्कार' (१९०० ई०) नामक आपकी एक मौलिक कृति भी प्राप्त होती है। आप अविकल अनुवाद के पक्ष में थे और कवि के आशय को कवि के ही शब्दों, वाक्यों और मुहावरों में प्रकट करना चाहते थे। इस प्रयत्न में कहीं-कहीं आपके अनुवादों में अंग्रेजी के मुहावरे ज्यों के त्यों भाषान्तरित होकर आ गये हैं। आपकी भाषा परमार्जित और प्रवाहमयी है। अपने युग के अनुवादको में आपका श्रेष्ठ स्थान है।

—रा० चं ति०

गोबर—प्रेमचन्दकृत उपन्यास 'गोदान' का पात्र। गोबर नयी पीढ़ी के किसान—युवक का प्रतीक है। उसमें तेजी, स्पष्टवादिता है, हाकिमों और महाजनों के हथकण्डे समझने की शक्ति है और अधिकार भावना है किन्तु उसके सामने कोई सुनिश्चित और स्पष्ट योजना नहीं है। वह केवल विद्रोह और असन्तोष प्रकट करना जानता है—पिता के प्रति और समाज के प्रति भी। खण्डनात्मक रूप उसका तीव्र और प्रखर है। रचनात्मक दृष्टि से उसमें कर्त्तव्य—निष्ठा, रचनात्मक दृष्टिकोण और समझदारी का अभाव है। अपनी अदूरदर्शिता के कारण ही वह मारा—मारा फिरता है। उसकी स्वालम्बन शक्ति दुर्बल है। गाँव के रोमांस में वह भाग लेता है, लेकिन अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने का साहस उसमें वहाँ भी नहीं है। शहर में जाकर तो वह और बिगड़ जाता है। अन्त में प्रेमचन्द ने उसे एक ऐसे नवयुवक के रूप में चित्रित किया है, जो बुद्धिमान हो जाता है, जो यह समझने लगता है कि "अपना भाग्य खुद बनाना होगा—कोई देवता और गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आवेगी।" उद्दण्डता और गरूर के स्थान पर उसमें गहरी संवेदना सजग हो उठती है, वह अपना कर्त्तव्य (केवल अधिकार नहीं) समझने लगता है और नम्र तथा उद्योगशील हो जाता है। उसे पिता के प्रति किये गये अपने पिछले दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप भी होता है।

—ल० सा० वा०

गोरखनाथ (गोरक्षनाथ)—सिद्धों से सम्बद्ध सभी जनश्रुतियाँ इस बातपर एकमत है कि नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक चार महायोगी हुए हैं। आदिनाथ स्वयं शिव ही है। उनके दो शिष्य हुए, जालंधरनाथ और मत्स्येंद्रनाथ या मच्छन्दरनाथ। जालन्धर के शिष्य थे कृष्णपाद (कान्हपाद, कान्हपा, कानफा) और मत्स्येंद्रनाथ के गोरख (गोरक्ष) नाथ। इस प्रकार ये चार सिद्ध योगीश्वर नाथ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक हैं। परवर्ती नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ का ही अधिक उल्लेख पाया जाता है। इन सिद्धों के बारे में सारे देश में जो अनुश्रुतियाँ और दन्त कथाएँ प्रचलित हैं, उनसे आसानी से इन निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है—(१) मत्स्येन्द्र और जालन्धर समसामयिक गुरुभाई थे और दोनों के प्रधान शिष्य क्रमशः गोरखनाथ और कृष्णपाद (कानपा) थे, (२) मत्स्येन्द्रनाथ किसी विशेष प्रकार के योग मार्ग के प्रवर्तक थे परन्तु बाद में किसी ऐसी साधना में जा फँसे थे, जहाँ स्त्रियों का अबाध संसर्ग माना जाता था, 'कौलज्ञान निर्णय' से जान पड़ता है कि यह वामाचारी कौल साधना थी, जिसे सिद्ध कौशल मत कहते थे; गोरखनाथ ने अपने गुरु का वहाँ से उद्धार किया था। (३) शुरू से ही मत्स्येन्द्र और गोरख की साधना पद्धति जालन्धर और कृष्णपाद की साधना पद्धति से भिन्न थी।

इनके समय के बारे में ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित कहे जानेवाले ग्रन्थ 'कौलज्ञान निर्णय' की प्रति का लिपिकाल डाक्टर प्रबोधचन्द्र बागची के अनुसार ११ वीं शती के पूर्व का है। यदि यह ठीक हो तो मत्स्येन्द्रनाथ का समय ईस्वी ११वीं शती से पहले होना चाहिए। (२) सुप्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में मच्छन्द विभु को बड़े आदर से स्मरण किया गया है। अभिनवगुप्त निश्चित रूप से सन् ई० की दसवीं शती के अन्त में और ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ इस समय से काफी पहले हुए होंगे। (३) मत्स्येन्द्रनाथ का एक नाम मीननाथ है। ब्रजयानी सिद्धों में एक मीनपा हैं जो मत्स्येन्द्रनाथ के पिता बताये गये हैं। मीनपा राजा देवपाल के राजत्वकाल में हुए थे। देवपाल का राज्यकाल ८०९ से ८४९ ई० तक है। इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्र ई० सन् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। (४) तिब्बती परम्परा के अनुसार कानपा (कृष्णपाद) राजा देवपाल के राज्यकाल में आविर्भूत हुए थे। इस प्रकार मत्स्येन्द्र आदि सिद्धों का समय ई० सन् के नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और दशवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझना चाहिए। कुछ ऐसी भी दन्तकथाएँ हैं जो गोरखनाथ का समय बहुत बाद में रखने का संकेत करती हैं जैसे कबीर और नानक से उनका संवाद, परन्तु

ये बहुत बाद की बाते हैं, जब मान लिया गया था कि गोरखनाथ चिरंजीवी हैं। गूँगा की कहानी, पश्चिमी नाथो की अनुश्रुतियाँ, बगाल की दन्तकथाएँ और धर्मपजा सम्प्रदाय की प्रसिद्धियाँ, महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानेश्वर आदि की परम्पराएँ इस काल को १२०० ईस्वी के पूर्व ले जाती हैं। इस बात का ऐतिहासिक सबूत है कि ईस्वी तेरहवीं शताब्दी मे गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसी लिए इसके बहुत पूर्व गोरखनाथ का समय होना चाहिए। बहुत से पूर्ववर्ती मत गोरक्षनाथी सम्प्रदाय मे अन्तर्भुक्त हो गये थे। इनकी अनुश्रुतियों का सम्बन्ध भी गोरखनाथ से जोड दिया गया है। इसलिए कभी—कभी गोरक्षनाथ का समय और भी पहले निश्चित किया जाता है। लेखक ने 'नाथ—सम्प्रदाय' नामक पुस्तक मे उन सम्प्रदायो के अन्तर्भुक्त होने की प्रक्रिया का सविस्तार विवेचन किया है। सब बातों पर विचार करने से गोरखनाथ का समय ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही माना जाना ठीक जान पडता है।

गोरक्षनाथ के नाम से बहुत—सी पुस्तके सस्कृत में मिलती हैं और अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं मे भी चलती हैं। निम्नलिखित पुस्तके गोरखनाथ की लिखी बतायी गयी हैं— (१) 'अमवस्क', (२) 'अवरोधशासनम्', (३) 'अवधूत गीता', (४) 'गोरक्षकाल', (५) 'गोरक्षकौमुदी', (६) 'गोरक्ष गीता', (७) 'गोरक्ष चिकित्सा', (८) 'गोरक्षपंचय', (९) 'गोरक्षपद्धति', (१०) 'गोरक्षशतक', (११) 'गोरक्षशास्त्र', (१२) 'गोरक्षसंहिता', (१३) 'चतुरशीत्यासन', (१४) 'ज्ञान प्रकाश शतक', (१५) 'ज्ञान शतक', (१६) 'ज्ञानामृत योग', (१७) 'नाड़ीज्ञान प्रदीपिका', (१८) 'महार्थमंजरी', (१९) 'योगचिन्तामणि', (२०) 'योगमार्तण्ड', (२१) 'योगबीज', (२२) 'योगशास्त्र', (२३) 'योगसिद्धासन', पद्धति', (२४) 'विवेक मार्तण्ड', (२५) 'श्रीनाथसूत्र', (२६) 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति', (२७) 'हठयोग', (२८) 'हठ संहिता'। इसमें महार्थ मञ्जरी के लेखक का नाम पर्याय रूप में महेश्वराचार्य भी लिखा है और यह प्राकृत में है, बाकी संस्कृत में हैं। कई एक दूसरे से मिलती हैं; कई पुस्तकों के गोरक्षलिखित होने में सन्देह है। हिन्दी में सब मिलाकर ४० छोटी बड़ी रचनाएँ गोरखनाथ की कही जाती हैं, जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं है— (१) 'सबदी', (२) 'पद', (३) 'सिष्यादर्सन', (४) 'प्राणसंकली', (५) 'नरवे बोध', (६) 'आतम बोध' (पहला), (७) 'अभैमात्रा योग', (८) 'पन्द्रह तिथि', (९) 'सप्नवाद', (१०) 'मछींद्रगोरख बोध', (११) 'रोमावली', (१२) 'ग्यानतिलक', (१३) 'ग्यान चौतींस', (१४) 'पंचमात्रा', (१५) 'गोरखगणेश गोष्ठी', (१६) 'गोरावदत्त गोष्ठी', (१७) 'महादेवगोरख गुष्ट', (१८) 'सिस्टपुराण', (१९) 'दयाबोध', (२०) 'जाती भौरावली' (छन्द—गोरख), (२१) 'नवग्रह', (२२) 'नवरात्र', (२३) 'अष्ट पारछ्या', (२४) 'रहरास', (२५) 'ग्यानमाल', (२६) 'आतमाबोध' (दूसरा), (२७) 'व्रत', (२८) 'निरंजन पुराण', (२९) 'गोरखवचन', (३०) 'इन्द्री देवता', (३१) 'मूल गर्भावती', (३२) 'खाणवारूणी', (३३) 'गोरखसत', (३४) 'अष्टमुद्रा', (३५) 'चौबी सिधि', (३६) 'डक्षरी', (३७) 'पंच अग्नि', (३८) अष्टचक्र', (३९) 'अवलि सिलूक', (४०) 'काफिर बोध'।

इन ग्रन्थों मे अधिकाश गोरखनाथी मत के सग्रहमात्र हैं। ग्रन्थ रूप मे स्वय गोरखनाथ ने इनकी रचना की होगी, यह बात संदिग्ध है। अन्य भारतीय भाषाओं मे भी, जैसे बगाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि मे इसी प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगिसम्प्रदाय मुख्य रूप से बारह शाखाओं मे विभक्त है। इसीलिए इसे बारहपन्थी कहते हैं। इस मत के अनुयायी कान फडवाकर मुद्रा धारण करते हैं इसीलिए उन्हे कनफटा, भाकतफटा योगी भी कहते हैं। बारह मे से छ तो शिवद्वारा प्रवर्तित माने जाते हैं और छः गोरख द्वारा—(१) भुज के कठरनाथ (२) पागलनाथ, (३) रावल, (४) पख या पंक जिससे सतनाथ, धरमनाथ, गरीबनाथ और हाडीभरग सम्बद्ध हैं, (५) वन और (६) गोपाल या राम के सम्प्रदाय कहे जाते हैं और (७) चाँदनाथ कपिलानी, जिससे गंगानाथ, मायनाथ, कपिलानी, नीमनाथ, पारसनाथ आदि के सम्बन्ध हैं, (८) हेठनाथ, जिससे लक्ष्मणनाथ या कालनाथ, दरियाथ, नाटसेरी, जाफर पीर आदि का सम्बन्ध बताया जाता है। (९) आई पन्थ के चोलीनाथ जिससे मस्तनाथ, आई पन्थ से छोटी दरगाह, बड़ी दरगाह आदि का सम्बन्ध है, (१०) वैराग पन्थ, जिससे भाईनाथ, प्रेमनाथ, रतननाथ आदि का सम्बन्ध है और कायानाथ या कायमुद्दीन प्रवर्तित सम्प्रदाय भी सम्बन्धित हैं, (११) जैपुर के पावनाथ, जिससे पापन्थ, कानिया, बामारग आदि का सम्बन्ध है और (१२) धजनाथ, जो हनुमानजी के द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है, गोरखनाथ के सम्प्रदाय कहे जाते हैं। इसका विश्लेषण करने से पता चलता है कि इनमें अनेक पुराने मत, जैसे कपिल का योगमार्ग लकुलीशमत, कापालिक मत, वाममार्ग आदि सम्मिलित हो गये हैं।

गोरक्षमत के योग को पतंजलि वर्णित अष्टांगयोग से भिन्न बताने के लिए षडंग योग कहते हैं। इसमें योग के केवल छः अंगों का ही महत्त्व है, प्रथम दो अर्थात् यम और नियम इसमें गौण हैं। इसका साधनापक्ष या प्रक्रिया—अंग हठयोग कहा जाता है। शरीर में प्राण और अपान, सूर्य और चन्द्र नामक जो बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी शक्तियाँ हैं, उनको प्राणायाम, आसन, बन्ध आदि के द्वारा सामरस्य में लाने से सहज समाधि सिद्ध होती है। जो कुछ पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है। इसीलिए हठयोग की साधना पिण्ड या शरीर को ही केन्द्र बनाकर विश्व ब्रह्माण्ड में क्रियाशील शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास है। गोरक्षनाथ के नाम पर चलनेवाले ग्रन्थों में विशेष रूप से इस साधना प्रक्रिया का ही विस्तार है। कुछ अंग दर्शन या तत्त्ववाद के समझाने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। अवरोधशासन, सिद्ध—सिद्धान्त पद्धति, महार्थ मंजरी (त्रिक दर्शन) आदि ग्रन्थ इसी श्रेणी मे आते हैं। अवरोध शासन में (पृ० ८—९) गोरखनाथ ने वेदान्तियों, मीमांसकों, कौलों, व्रजयानियों और शाक्त तान्त्रिकों के मोक्षसम्बन्धी विचारों को मूर्खता कहा है। असली मोक्ष वे सहज समाधि को मानते हैं। सहज समाधि उस अवस्था को बताया गया है, जिसमें मन स्वयं ही मन को देखने लगता है। दूसरे शबदो मे स्वसंवेदन ज्ञान की अवस्था ही सहज समाधि है। यही चरम लक्ष्य है।

आधुनिक देशी भाषाओं के पुराने रूपों में जो पुस्तकें

मिलती हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हैं। इनमे अधिकतर योगांगों, उनकी प्रक्रियाओं, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, सदाचार आदि के उपदेश हैं और माया की भर्त्सना है। तर्क–वितर्क को गर्हित कहा गया है, भवसागर में पच–पचकर मरनेवाले जीवों पर तरस खाया गया है और पाखण्डियों को फटकार बतायी गयी है। सदाचार और ब्रह्मचर्य पर गोरखनाथ ने बहुत बल दिया है। शंकराचार्य के बाद भारतीय लोकमत को इतना प्रभावित करनेवाला आचार्य भक्तिकाव्य के पूर्व दूसरा नहीं हुआ। *निर्गुणमार्गी भक्ति शाखा* पर भी गोरखनाथ का भारी प्रभाव है। निस्सन्देह गोरखनाथ बहुत तेजस्वी और प्रभावशाली व्यक्तित्व लेकर आये थे।

[सहायक ग्रन्थ–नाथ सम्प्रदाय : डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी।]

–ह० प्र० द्वि०

गोरखप्रसाद–जन्म १८९६ ई० में गोरखपुर में हुआ। अनेक वर्षोंतक प्रयाग विश्वविद्यालय के गणित विभाग में प्राध्यापक रहे। हिन्दी माध्यम से वैज्ञानिक विषयों पर लिखनेवालों मे डॉ० गोरखप्रसाद का नाम सदैव बड़े सम्मान के साथ लिया जायगा। देवनागरी लिपि के सुधार के सम्बन्ध में भी आपके विचार महत्त्वपूर्ण रहे हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त आप नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी विश्वकोश' के एक सम्पादक नियुक्त हुए। पर दुर्भाग्यवश १९६१ में नदी में डूब जाने से काशी में आपकी मृत्यु हो गयी। आपकी प्रकाशित कृतियाँ इस प्रकार हैं–'फोटोग्राफी' (१९३१), 'सौर परिवार' (१९३२), 'नीहारिकाएँ' (१९५५), 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' (१९५६)।

–सं०

गोवर्धन–ब्रज के एक ग्राम और पुराणप्रसिद्ध पर्वत का नाम गोवर्धन है। गोवर्धन को श्रद्धा के कारण 'गिरिराज' कहा जाता है। गोवर्धन को कृष्ण ने इन्द्र की प्रलयंकारी वर्षा से ब्रज को बचाने के लिए इसे अंगुली पर धारण किया था। भागवत (१०–२४–३५) के अनुसार इस पर्वत की पूजा के समय कृष्ण ने ही गिरिराज पर्वत पर प्रत्यक्ष देवरूप धारण करके पूजा ग्रहण की थी। अतः इस पर्वत को साक्षात् कृष्ण का रूप मानकर पूजा जाता है। गोवर्धन को ब्रजमण्डल का छत्र भी कहा जाता है। गिरिराज गोवर्धन के तीर्थों में ब्रह्मकुण्ड, चक्रतीर्थ, चक्रेश्वर शिव, हरिदेवजी, मनसादेवी, लक्ष्मीनारायणजी, गिरिराज जी का मन्दिर, दानघाटी, दानघाटी के गिरिराजजी, और चारकुण्ड (धर्मरोचन, पापमोचन, गुणमोचन, गोरोचन) प्रसिद्ध हैं। गोवर्धन में मानसी गंगा के निकट अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास निवास किया करते थे। प्रतिवर्ष श्रावण मास में होने वाली ब्रज–यात्रा में गोवर्धन की यात्रा का विशेष महत्त्व है। वैसे भी गिरिराज की परिक्रमा की प्रथा है।

गर्ग संहिता के गिरिराज खण्ड के अनुसार गोवर्धन की उत्पत्ति के अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। पुराणों के अनुसार गिरिराज की उत्पत्ति द्रोणाचल पर्वत से है तथा ब्रज में उसे पुलस्त्य ऋषि लेकर आये थे। गिरिराज ने ऋषि से यह वचन लिया था कि वे जहाँ भी उसे रख देंगे, वहाँ से वह फिर नहीं हटेगा। वे उन्हें काशीपुर ले जाना चाहते थे। परन्तु मार्ग में ब्रजभूमि के सौन्दर्य और कृष्णावतार की अपने सेवाओं का स्मरण कर गिरिराज ने प्रभु को स्मरण किया और उन्होंने मुनि को लघुशंका के वेग से आकुल कर दिया। मुनि ने सहसा गिरिराज को उनके वर्तमान स्थान पर रख दिया, जहाँ वे अभी तक स्थित हैं। वाराह पुराण के अनुसार हनुमान् सेतुबन्ध के समय उत्तराखण्ड से इन्हें ला रहे थे। उस समय सेतुबन्ध बंध चुका था। अतः राम की आज्ञा हुई जो पर्वत लिए जहाँ हों, वही रख दें। राम की ऐसी आज्ञा सुनकर उन्होंने गिरिराज को ब्रज में ही छोड़ दिया।

कृष्ण की अलौकिक वृन्दावनलीलाओं में गोवर्धन–धारणलीला का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इस लीला का वर्णन अधिकतर वल्लभ सम्प्रदाय के ही कवियों ने किया है। निम्बार्क, राधावल्लभ, चैतन्य और हरिदासी सम्प्रदायों के ही कवियों ने माधुर्योपासना के फलस्वरूप गोवर्धनधारणलीला की उपेक्षा की है। गोवर्धन वल्लभसम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। अन्य सम्प्रदायों का इसकी ओर विशेष आकर्षण नहीं दिखायी पड़ता।

[सहायक ग्रन्थ– ब्रज और ब्रज यात्रा : सेठ गोविन्ददास; ब्रजभाषा और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन : डाक्टर जगदीश गुप्त; मथुरा परिचय : पं० कृष्ण दत्त बाजपेयी।

–रा० कु०

गोवर्धन–ब्रजमण्डल में स्थित गोकुल के समीप एक प्रसिद्ध पर्वत। ब्रजवासी पहले इन्द्र की पूजा करते थे। लीलाबिहारी कृष्ण ने ब्रजवासियों को इन्द्र की पूजा छोड़कर उनकी उपासना करने का परामर्श दिया। इससे इन्द्र ने कुपित होकर मूसलाधार वर्षा द्वारा ब्रज को डुबाने की प्रतिज्ञा की। फलस्वरूप गोकुल में वर्षा के आधिक्य के कारण त्राहि–त्राहि मच गयी। जब भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपने हाथ की छिगुनी पर उठा लिया, तब एक भी बूँद पानी ब्रज पर नहीं पड़ा और ब्रजवासी इन्द्र के कोप से बच गये। अन्ततः इन्द्र ने हार स्वीकार कर ली। गोवर्धन पर्वत को धारण करने ही कें कारण कृष्ण 'गिरिधर', 'गोवर्धननाथ', 'गिरधारी', आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं। ब्रजवासी गोवर्धन के लिए गिरिराज सम्बोधन का प्रयोग करते हैं। सावन मास में गोवर्धन–पर्वत की परिक्रमा की जाती है। कृष्ण–काव्य में कृष्ण की अतिप्राकृत व्यक्तित्व की व्यंजक लीलाओं में उनकी गोवर्धन लीला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस लीला के द्वारा कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण के लोक–मंगलकारी एवं ब्रजरक्षक रूप का उद्घाटन किया है। वर्तमान समय में 'गोवर्धन' नाम से कस्बा भी बस गया है। इस कस्बे में अनेक कृष्ण मन्दिर हैं (दे० सूरसागर–गोवर्धनलीला)।

–रा० कु०

गोवर्धन लीला–दे० 'नन्ददास'।

गोरा बादल–'पदमावत' के अन्तर्गत गोरा बादल का परिचय सर्वप्रथम हमें वहाँ पर मिलता है, जहाँ सुल्तान अलाउद्दीन का चित्तौड़गढ़ में स्वागत होता रहता है और वह उसके भीतर सभी कुछ देखता तथा राजा रतनसेन से बात–चीत करता रहता है। जायसी के अनुसार 'गोरा और बादल' राजा के पास थे, दोनों रावत (प्रमुख सामान्तों में से) थे और उसकी दोनों भुजाओं के

समान थे। उन्होंने राजा के कान में आकर कहा कि "हमने वाणी से परीक्षा ली है और तुर्क को समझ लिया है, यह प्रकट में मेल और गुप्त रूप में सेना की बातें सोचता है। तुर्कों से मेल मत कीजिये, अन्त के दाँव में ये अवश्य छल करते हैं। आज हमारा छत्र इस दुष्ट के हाथ में गया है, मूल के नष्ट होने पर संग के पत्ते भी नहीं रहते" (४६—७)। परन्तु इन बातों को राजा ने पसन्द नहीं किया और शिष्टाचार की बातें करने लगे जिस पर क्रोध में आकर वे यहाँ से अपने भवन वापस चले आये (४६—८)। तब से इन्होंने इधर कोई रूचि लेना बन्द सा कर दिया था, किन्तु जब राजा के बन्दी हो जाने पर दु:खित हो पद्मावती इनके द्वार पर स्वयं पैदल पहुँची तो इन्होंने उसका बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ अभिनन्दन किया और कहा कि "आज गंगा की धार उल्टी बहने लगी है, सेवक के द्वार पर कभी रानी नहीं आया करती। ऐसा कष्ट क्यों किया? शीघ्र ही आज्ञा करें, हमारे प्राण आपके कार्य के लिए समर्पित है" (५१—१)। रानी की बातें सुनकर ये दोनों क्षुब्ध हो जाते हैं, अपने प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर दरबार से पहले रूठ कर चले आने की चर्चा करते हैं और फिर रानी के हाथ का बीड़ा भी स्वीकार कर लेते हैं तथा राजा के छुड़ाने का इतना दृढ़ संकल्प कर लेते हैं कि बादल अपने माँ के अनुरोध की कुछ भी परवाह नहीं करता तथा अपनी गौने में आयी हुई नव—वधू के आग्रह को भी अनसुनी कर देता है और उसका स्पर्शतक नहीं करता (५२—१ और ८)। ये दोनों वीर फिर एक अनुपम योजना के अनुसार "सोलह सौ चंडोल" तैयार करते हैं। गोरा बन्दीगृह के संरक्षक को दस लाख टके भेंट करके अनुमति मँगवा लेता है और राजा मुक्त होकर बादल के साथ चित्तौढ़ गढ़ पहुँच जाता है तथा गोरा इधर युद्ध करते—करते काम आ जाता है (५३—२ से ७तक और १५)। उधर बादल के भुजदण्डों की रानी द्वारा पूजा की जाती है (५४—४)। और इसी को गढ़ सौंपकर रतनसेन भी अपने प्राण छोड़ता है (५६—१)। परन्तु, अन्त में दोनों रानियों के सती हो जाने पर जब सुल्तान फिर गढ़ पर धावा बोलता है तो बादल भी उसके विरूद्ध लड़ते—लड़ते "दुर्ग की पोर में" जूझ जाता है (५७—४)।

गोरा—बादलविषयक उपर्युक्त कथा बहुत प्रसिद्ध है और इस पर अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ भी प्रस्तुत की जा चुकी हैं परन्तु फिर भी इन दोनों वीरों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का हमें आजतक स्पष्ट और प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं हो पाया है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने कर्नल टाड की पुस्तक के आधार पर लिखा है—"गोरा पद्मिनी का चचा लगता था और बादल गोरा का भतीजा था" (जा० ग्र० पृ० २५), किन्तु यदि पदमावती सचमुच सिंघल के राजा की पुत्री थी, उस दशा में इन दोनों के वहाँ से आने के विषय में भी कोई संकेत मिलना चाहिए था, जो अप्राप्य है। इसके विरूद्ध म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कहना है, "गोरा बादल दो नाम नहीं, किन्तु राठौर दुर्गादास, सीसोदिया मत्ता आदि के समान एक नाम होना सम्भव है, उसका पहला अंश उसके वंश का सूचक और दूसरा उसका व्यक्तिगत नाम है" (ना० प्र० पत्रिका, भाग१३, पृ० १६)। उन्होंने पत्रिका के पृष्ठ ७ से लेकर ११ तक पर किसी 'गोर' नामक अज्ञात क्षत्रियवंश का कुछ ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर एक परिचय भी दिया है और इतना यह भी कहा है "वि० स० की १४ शताब्दी में भी गोरवंशी राजपूत मेवाड़ के राजाओं की सेना में थे (पृ० १०) तथा जिन पुस्तकों में गोरा और बादल जैसे दो भिन्न—भिन्न व्यक्तियों को माना गया है वे गोरा बादल के मृत्युकाल से बहुत पीछे रची गयी थीं, इस कारण इतने दीर्घकाल में नामों में भ्रम होना संभव है" और "गोरा बादल का वास्तविक अभिप्राय गोर (गोरा) वंश के बादल नामक पुरूष से हो सकता है" (पृ० ११)। इससे उनके मत के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। अतएव, स्पष्ट है कि जायसी ने यहाँ पर परम्परागत जनश्रुतियों के आधार पर केवल एक ही ऐतिहासिक व्यक्ति को भी दो पृथक्—पृथक् रूपों मे देखा होगा और इस प्रकार ऐसे दो व्यक्तियों की कार्य—कुशलता एव शौर्य प्रदर्शन के आधार पर उपर्युक्त चण्डोल वाली योजना को कार्यान्वित करने की कथा भी तैयार कर ली होगी। तथ्य जो भी रहा हो, उन्होंने इन दोनों पात्रों के चरित्र—चित्रण में इनकी स्वामिभक्ति, वीरता, कार्यपटुता एवं दूरदर्शिता को प्रदर्शित कर सफल चरित्र—चित्रण किया है।

—प० च०

गोराबादल री बात—हस्तलिखित प्रतियों में जटमल की इस कृति के 'गोरा बादल की कथा', 'गोरे बादल की कथा', 'गोरा बादलरी कथा', 'गोरा बादल की बात', विभिन्न नाम मिलते हैं। एक सौ पचास पद्यों की इस कृति की रचना जटमल ने १६२३ या १६२८ ई० में की थी। 'गोरा बादल की कथा' का कथानक इतिहास प्रसिद्ध चित्तौड़ की पद्मिनी से सम्बन्ध रखता है। रत्नसेन और सिंहल की पद्मिनी के परिणय, राघवचेतन और अलाउद्दीन की भेंट और पद्मिनी के सौन्दर्य के प्रति उसके आकर्षित होने तथा सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा रत्नसेन को बन्दी बनाकर कष्ट देने की कथा की मोटी रूपरेखा भिन्न न होते हुए भी जटमल ने अनेक नवीन तथ्यों की कल्पना की है। अलाउद्दीन के आक्रमण के सामना करने में गोरा बादल की वीरता का चित्रण कृति का प्रधान उद्देश्य है। कथा का लोकप्रचलित रूप ही जटमल ने ग्रहण किया है; इतिहास से वे परिचित नहीं जान पड़ते, क्योंकि रत्नसेन को उन्होंने चौहानवंशी कहा है। अलाउद्दीन का सिंहल पर आक्रमण करना और फिर चित्तौड़ पर आक्रमण करना भी इसी प्रकार की ऐतिहासिक त्रुटि है।

कृति में वीर और श्रृंगार रस का परिपाक हुआ है। कृति की भाषा मिश्रित ब्रजभाषा कही जा सकती है, जो राजस्थानी से प्रभावित है। तत्सम शब्दों के स्थान पर जटमल तद्भव शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। कृति में वीर काव्यों की द्वित्ववर्णप्रधान कृत्रिम शैली के दर्शन कम ही होते हैं। अलंकारों के प्रयोग में भी जटमल ने आग्रह नहीं किया है दोहा और छप्पय जटमल के प्रिय छन्द कहे जा सकते हैं। छन्दों की विविधता 'गोरा बादल की बात' में नहीं मिलती। कृति के अच्छे संस्करण की आवश्यकता है। तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय, प्रयाग से एक संस्करण निकला था जो कठिनाई से मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य, खण्ड २, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग; राजस्थानी भाषा और साहित्य : मेनारिया।]

—रा० तो०

गोविंद कवि—जन्म सन् १९१२ ई०, मथुरा में। ये प्रसिद्ध

कवि नवनीतजी के पुत्र हैं। इन्होंने आठ वर्ष की अवस्था मे कविता करना प्रारम्भ किया। इन्होंने वैदिक, तान्त्रिक तथा काव्य दीक्षा अपने पिता नवनीतजी से तथा संस्कृत शिक्षा श्रीधरजी से ली। इनकी 'ब्रजवानी' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जो अब अप्राप्य है। 'ध्वनि विमर्श', 'ध्वन्यालोक' का ब्रजभाषा में सटीक अनुवाद आदि इनके कई ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हैं। आपने अपने परिचय में लिखा है—"मृदु मंजुल माथुर मालती को अध फूल्यो सुवासित फूल हौं मैं। मनमोहिनी श्री मथुरा की करील निकुंजन कौ इक सूल हौं मैं।। नवनील दु कौ नवनीत गुविंद कुरीतिन ते प्रतिकूल हौं मैं।। गुनवानन की पदधूलि हौं मैं बिधिना के विधान की भूल हौं मैं।।।"

—दे० द्वि०

गोविन्द गिलाभाई—का जन्म गुजरातमे सन् १८४८ ई०। गुजराती भाषी होते हुए भी एक लम्बी अवधि तक अबाध रूप से ब्रजभाषा कविता करते रहे। एक उदाहरण दर्शनीय है—
बारिद के बुंद मंद मंद बरसत, अरु मंद मंद बोलत मयूर मनभावनों।
चंचला चमक चहु ओर लसे मंदमंद, मंदमंद मारुत सुहात सुख छावनो।
मंदमंद झूलत हिंडोरे नर-नारी सबै, मंदमंद पपिहा पुकार पिय आवनो।
गोविंद अनेक ऐसे कौतुक उपावन को, आयो मनभावन ये सावन सुहाव
नो कहते हैं कि इनका बहुत अच्छा सम्बन्ध काशी के कवि समाजो से था। रीतिकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ श्रृंगारिकता और आचार्यत्व प्रदर्शन की छाप इनकी रचनाओंमे पाई जाती है। आचार्यत्व के क्षेत्र में रस अलंकार, पिंगल और नायिका भेद पर इनकी अनेक कविताएं उपलब्ध हैं। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रज होते हुए भी कहीं-कहीं प्रान्तीय प्रयोगों से प्रभावित दिखाई पड़ती है। उसमें प्रसाद, माधुर्य और ओजगुण का पर्याप्त समावेश है। आपकी मृत्यु सन् १९२६ ई० में हुई।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०- रामचन्द्र शुक्ल, आधुनिक ब्रज भाषा काव्य जगदीश वाजपेयी]

कृ० श० पा०

गोविंद दास, सेठ—इनका जन्म जबलपुर, मध्य प्रदेश के एक विशेष सम्पन्न और धार्मिक मनोवृत्ति के, वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति अनुरक्त, परिवार में १८९६ ई० में हुआ था। पितामह गोकुलदास के धर्मप्राण और सुसंस्कृत व्यक्तित्व का सेठजी पर विशेष प्रभाव पड़ा। उन्हीं के संरक्षण में सेठजी के अध्ययन की व्यवस्था थी। घर पर ही अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी की शिक्षा मिली। इन्होंने हिन्दी तथा अंग्रेजी साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया। बचपन में ही रेनाल्ड्स और देवकीनन्दन खत्री की रचनाएँ पढ़ीं और तिलस्मी उपन्यास लिखने की रुचि हुई। बारह वर्ष की अवस्था में एक तिलस्मी उपन्यास 'चम्पावती' की रचना की। शुरू से ही वल्लभ सम्प्रदाय के ललित उत्सवों, रामलीला, पारसी नाटक कम्पनियों के अभिनयों में आपकी विशेष रुचि थी। इन्हीं से नाटक—रचना की ओर प्रवृत्ति हुई। सन् १९१६ में 'शारदा भवन पुस्तकालय' की स्थापना, 'श्री शारदा' साहित्यिक मासिक के प्रकाशन और 'शारदा पुस्तकमाला' के प्रारम्भ से साहित्यिक क्षेत्र में व्यवस्थित कार्य प्रारम्भ हुआ। १९१९ में पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव के लिए 'विश्वप्रेम' नाटक लिखा और खेला। इसी वर्ष सेठजी सार्वजनिक जीवन में भी प्रविष्ट हुए। गाँधीजी के प्रभाव में आये और स्वाधीनता—आन्दोलन में भी भाग लेने लगे। सन् १९३० में पहली बार जेल गये। अधिकांश साहित्य जेलों मे ही लिखा गया। सन् १९३४ में सेठजी ने बम्बई में 'आदर्श चित्र लिमिटेड' नाम की फिल्म कम्पनी भी स्थापित की थी और अपने नाटक 'कुलीनता' का 'धुआँधार' नाम देकर, फिल्मीकरण किया था। देश के स्वतन्त्र होने के बाद से संसद—सदस्य थे। हिन्दी को संसद द्वारा राष्ट्र—भाषा स्वीकृत कराने में आपका विशेष योग रहा है।

आपके बहुधंधी व्यक्तित्व में साहित्य—निर्माण के प्रति विशेष आग्रह है। आपने अधिकतर नाटकीय रचनाएँ लिखी। पौराणिक आख्यानों के श्रद्धाभिभूत चित्रण से लेकर उन्होंने आधुनिक पद्धति के बुद्धिवादी नाटकों तक की रचना की है। पौराणिक नाटकों में सबसे पहले 'कर्तव्य' (१९३६) आता है। पूर्वार्ध मे रामचरित तथा उत्तरार्ध में कृष्ण के जीवन के विशिष्ट प्रसंगों का चित्रण है। राम के प्रति अत्यधिक श्रद्धावनत होते हुए भी सेठजी ने उन्हें अवतार के रूप में नहीं वरन् जागरूक आत्मा के महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। जब किसी मर्यादा का खण्डन होता है तो उनके मन में द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। कृष्ण का चित्रण भी एक विद्रोही एवं नयी मान्यताओं के प्रतिष्ठाता के रूप में है। महाभारत के एक चरित्र को लेकर लिखित नाटक 'कर्ण' (१९४६) में उन्होंने स्वगत कथनों के सहारे एक अवैध सन्तान के रूप में कर्ण के और ऐसे पुत्र की माता के रूप में कुन्ती के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया है। 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६) गीति—नाट्य में यूनान के एक पौराणिक आख्यान को भारतीय रूप देकर एक जागरूक व्यक्तित्व की नारी का चित्रण किया गया है। ऐतिहासिक नाटक 'कुलीनता' (१९२७) में विन्ध्य प्रदेश के एक मध्ययुगीन आख्यान को लेकर कुल के स्थान पर पौरुष की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन है। 'हर्ष' (१९३५) में स्वच्छन्दतावादी नाट्य—कला के साथ बुद्धिवादी नाटकीय पद्धति का समन्वय है। 'शशिगुप्त' (१९४२) भी इसी समन्वित शैली को लेकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य की प्रसिद्ध कथा उपस्थित करता है। 'शेरशाह', 'अशोक', 'सिंहलद्वीप', 'विजयबेलि', 'भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु', में भी इसी नाट्य—शैली का उपयोग है। 'विश्वासघात' में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के प्रति मीरजाफर और सेठ अमीचन्द के अंग्रेजों से मिलकर किये गये धोखे का वर्णन है। सेठजी ने कुछ ऐतिहासिक जीवनी नाटक भी लिखे हैं : 'वल्लभाचार्य', 'रहीम', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', और 'महात्मा गान्धी'।

आपके सामाजिक नाटकों में प्रथम 'विश्वप्रेम' (१९१७) है। इसके बाद उन्होंने 'प्रकाश' (१९३५), 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' (१९३६), 'पाकिस्तान' (र० १९४२, प्र० १९४६) और 'भूदान' राजनीतिक समस्याओं पर लिखे। 'दलित कसम' और 'पतित सुमन' सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के दमन—चक्र में पिसते नारी—जीवन का चित्रण है। 'सेवापथ', 'दु:ख क्यों', 'महत्त्व किसे', 'बड़ा पापी कौन', 'त्याग या ग्रहण', हिंसा या अहिंसा', 'प्रेम या पाप', 'सन्तोष कहाँ', 'सुख किसमें' तथा 'गरीबी और अमीरी' वैयक्तिक समस्याओं पर आधारित हैं। इन सभी में सामान्य रूप से सेठजी ने ये दिखाने का प्रयत्न किया है कि वैभव और ऐश्वर्य का प्रकाश क्षण भर के लिए अपनी इन्द्रधनुषी आभा

फैलाकर विलीन हो जाता है; किन्तु जीवन की सहज भावना चाँदनी की भाँति बहुत समयतक अपना शीतल आलोक बिखेरती रहती हैं।

आपके प्रयोगशील नाटकों में 'विकास' (१९३६) स्वप्न चित्रण की शैली में गौतमबुद्ध, ईसा और गान्धी की अवतारणा करके यह दिखाता है कि सृष्टि चक्रवत् नहीं घूम रही, वरन् विकास के पथ पर अग्रसर है। 'नवरस' (र० १९३०, प्र० १९४०) प्रतीकवादी नाटक हैं। इसमें भारतीय साहित्यशास्त्र के नवरसों का मानवीकरण करके एक ऐतिहासिक आख्यान के सहारे हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखायी गयी है। 'षट्दर्शन' में उदात्त प्रकृतिवादी शैली में भारतीय नारी के जीवन—क्रम का चित्रण है।

आपके एकांकी—संग्रह 'सप्तरश्मि' (१९४०), 'एकादशी' (१९४२), 'चतुष्पथ', 'पचभूत' आदि हैं। इनमें भी सेठजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रतीकात्मक—सभी प्रकार के इतिवृत्त लिये हैं। 'चतुष्पथ' में उनके चार एकपात्रीय नाटक सगृहीत हैं। हिन्दी मे सेठजी ने इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात किया है।

आपने इधर एक विस्तृत उपन्यास इन्दुमती भी लिखा है। इसमें १९२० से लेकर अब तक की राजनीतिक, सामाजिक हलचलों के साथ कृत्रिम गर्भाधान से उत्पन्न समस्या का भी चित्रण है। डाक्टर भगवानदास ने इस उपन्यास को व्यवहार ज्ञान का कोश कहा है। सेठजी ने अपने यात्रा—विवरण 'भू परिक्रमा' में और आत्मवृत्त 'आत्मनिरीक्षण' में लिखे हैं। सन् १९१९ में उन्होंने 'बाणासुर पराभव' नामक महाकाव्य भी लिख ा प्रारम्भ किया था। हिन्दी साहित्य में आपकी विशेष प्रतिष्ठ। नाटककार के रूप में ही है।

[सहायक ग्रन्थ—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ : नगेन्द्र (सं०); हिन्दी नाटककार : जयनाथ नलिन; सेठ गोविन्ददास—नाट्य कला तथा कृतियाँ : रामचन्द्र महेन्द्र।]

—वि० मि०

गोविन्दनारायण मिश्र—हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में गोविन्दनारायण मिश्र अपनी सुदीर्घ वाक्यावली और समासबहुल शैली के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे। आपका जन्म सन् १८५९ ई० में हुआ था। आप संस्कृत और हिन्दी के अच्छे पण्डित थे। आपके निबन्ध 'सारसुधानिधि' पत्र में बराबर निकलते रहते थे। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन के सभापति बनाये गये थे। इस अवसर पर आपने जो सारगर्भित वक्तृता दी थी, इसका ऐतिहासिक महत्त्व माना जाता है। 'विभक्ति विचार' (१९११ ई०) और 'गोविन्द निबन्धावली' (१९२५ ई०) आपकी दो प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। 'शिक्षा सोपान' और 'सारस्वत सर्वस्व' नामक दो अन्य कृतियों का उल्लेख भी मिलता है। सन् १९२६ ई० में आपका स्वर्गवास हो गया।

आप शैली के सम्बन्ध में संस्कृत के महान् गद्यकार बाण और दण्डी को अपना आदर्श मानते थे। आपको यह ध्यान ही नहीं था कि हिन्दी अयोगात्मक भाषा है और इसकी जातीय प्रवृत्ति संस्कृत से सर्वथा भिन्न है। रामचन्द्र शुक्ल ने अनुप्रास में गुँथे शब्द—गुच्छों का अटाला" कहा है। आपके एक—एक वाक्य दो—दो पृष्ठों के होते हैं। आपकी शब्दावली में संस्कृत के तत्सम और ब्रज भाषा के प्रचलित शब्दों का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है। पाठक शब्द—गुच्छों में उलझकर रह जाता है। वह अभिप्रेत अर्थतक पहुँच ही नहीं पाता। जब आपको 'कवि' शब्द का प्रयोग करना होगा तो आप कहेंगे—"अभिनव सब नवरस रसीली नित नव—नव भावरस रसीली अनूप रूप सरूप गरबीली सुजन मनमोहन मन्त्र की कीली गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलकार—सिंगार—साज सजीली छबीली कविता कल्पना कुशल कवि—"इस शैली वैशिष्ट्य के कारण आप सदैव हिन्दी—गद्य—साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी रहेंगे।

—रा० चं० ति०

गोविन्दवल्लभ पंत १—आपका जन्म रानीखेत मे सन् १८९८ ई० में हुआ। परिवार का वातावरण संस्कृतनिष्ठ था। ज्येष्ठ भ्राता पण्डित अम्बिकादत्त पन्त (वैद्य) की प्रेरणा से साहित्य के प्रति रुचि हुई। सन् १९१३ मे एण्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके बाद काशी के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में प्रवेश किया किन्तु असहयोग आन्दोलन के समय पढ़ना छोड़ दिया। आपने 'ज्ञानमण्डल' में भी कार्य किया है। इसके बाद विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' के 'व्याकुल भारत' नाटक कम्पनी में सम्मिलित हो गये। इस संस्था के लिए आपने अनेक नाटक लिखे और अन्य लोगों की रचनाएँ सशोधित भी कीं। उस काल की रचनाओं में पण्डित बनारसीदास के साथ लिखित विल्वमंगल के चरित पर आधारित नाटक 'प्रेमयोगी' उल्लेखनीय है। आपने 'मातृभक्ति' नाम का भी एक नाटक लिखा। वर्ष भर तक यह सब कार्य करने के अनन्तर आप रानीखेत वापस आ गये और अध्यापन कार्य करते हुए 'वरमाला' (१९२४) का निर्माण किया। फिर ताड़ीखेत के गान्धी आश्रम में अध्यापक हुए और विद्यार्थियों के आग्रह पर ऐतिहासिक नाटक 'राजमुकुट' (१९३२) की रचना की। कुछ समय तक पण्डित राधेश्याम कथावाचक के साथ भी रहे और रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव बढ़ाया। फिर बम्बई गये और फिल्म व्यवसाय में साहित्यिक कार्य करने लगे। उन्हीं दिनों आपने 'पृथ्वी थियेटर्स' के लिए 'अहंकार' नाटक लिखा। कुछ समय पहले दिल्ली मे आकाशवाणी के संगीत और नाट्य—विभाग में कार्य कर रहे थे।

आपने १८—१९ वर्ष की अवस्था से ही काव्य रचना प्रारम्भ कर दी थी। काशीप्रवास में प्रसादजी से भी आपकी घनिष्ठता रही और १९१९ में उन्हीं की प्रेरणा से 'आरती' काव्य संग्रह प्रकाशित किया। इसके अनन्तर नाटक रचना के क्षेत्र में आ गये। 'कंजूस की खोपड़ी' (१९२३) आपका हास्य नाटक है। 'वरमाला' (१९२५) और 'अन्तःपुर का छिद्र' (१९४०) भावनाट्य है और 'राजमुकुट' (१९३५) ऐतिहासिक नाटक है। 'अंगूर की बेटी' (१९३५) और 'सुहाग बिन्दी' (१९४०) में आज के समाज के चित्रण हैं। 'ययाति' (१९४७) में पौराणिक प्रसंग लिया गया है। पन्तजी के नाटकों में रंगमंच से सम्पर्क होने के कारण अभिनेता विशेष रूप से है। रचना शैली की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी पद्धति इन्हें विशेष प्रिय है। इसीलिए सामाजिक नाटकों में भी गीतों का प्रयोग हुआ है। कुछ रचनाओं में प्रारम्भ में मंगलगीत और अन्त में भरतवाक्य की योजना है। आपका एक एकांकी संग्रह

'विषकन्या' (१९५९) भी प्रकाशित हुआ है, इसमें आपके पौराणिक, ऐतिहासिक, समस्यात्मक और हास्यपूर्ण सभी प्रकार के एकांकी हैं।

आपने कथा साहित्य की भी रचना की है। आपने प्रारम्भ में कहानियाँ लिखीं, जिनके दो संग्रह 'एकादशी' (१९२४) तथा 'संध्याप्रदीप' (१९३१) प्रकाशित हुए। इसके बाद आप उपन्यासों की रचना की ओर प्रवृत्त हुए। 'प्रतिमा' (१९३४) में पद्मराग नामक एक द्वीप की कल्पना करके उसकी पृष्ठभूमि में मानवीय सम्बन्धों का चित्रण किया गया है। 'मदारी' (१९३५) आंचलिक उपन्यास है। इसमें एक युवा मदारी के पर्वत प्रदेश में घूमने-फिरने और उसके माध्यम से वहाँ की सभ्यता और संस्कृति का चित्रण हुआ है। 'तारिका' (१९३४) और 'तारों के सपने' (१९०७) फिल्मी जीवन पर आधारित है। 'अनुरागिनी' (१९४२) मे श्रम की महत्ता घोषित की गयी है। 'एकसूत्र' (१९४४) में मुगलसम्राट अकबर द्वारा बच्चों को लेकर भाषा का उद्गम जानने के विषय में किये गये प्रयोग की एक मनोरंजक कथा का रूप दिया गया है। 'अमिताभ' (१९४५) में गौतम बुद्ध की जीवन्त कथा को काव्यात्मक शैली में उपस्थित किया गया है। 'नूरजहाँ' (१९४५) में जहाँगीर की इतिहासप्रसिद्ध प्रेयसी का मनोरंजक चरित्र चित्रित है। 'मुक्ति के बन्धन' (१९४८) 'जलसमाधि' (१९५३) और 'फारगेट मी नाट' (१९४९) पहाड़ी जीवन पर आधारित रचनाएँ हैं। 'मैत्रेय' (१९४९) तिब्बत की पृष्ठभूमि पर लिखित उपन्यास है। आपके अन्य उपन्यास 'चक्रकान्त' (१९४८), 'प्रगति की राह' (१९४८), 'यामिनी' (१९५२) और 'नौजवान' (१९५३) आदि हैं।

आपकी ख्याति हिन्दी जगत् में विशेष रूप से नाटककार के रूप में रही है। आपके नाटकों का मूल तत्त्व संघर्ष है। साथ ही उनमें मनोभावों का भी बड़ा सूक्ष्म चित्रण मिलता है। नाटक हो या उपन्यास, कथा-रस के लिए इसमें रहस्य ग्रन्थि की स्थापना करके फिर उसे घटना प्रवाह में धीरे-धीरे खोलना आपको भली प्रकार आता है। चरित्र चित्रण में श्वेत और श्याम के प्रति आपका विशेष आग्रह है। आपकी सभी रचनाओं में हमें कथा-प्रसंग की विचित्रता दृष्टिगत होती है। आप भावुक और कल्पनाशील प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। आपकी रचनाओं में इसीलिए भावपूर्ण स्थलों और कल्पना का प्राचुर्य है। आपकी रचनाओं के विचित्र प्रसंगों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे आप आत्म'प्रतिष्ठा का प्रयास कर रहे हो। आपकी रचनाएँ कभी तो जीवन के व्यापक स्वरूप की अभिव्यक्ति, कभी समाज-परिष्कार और कभी मात्र मनोरंजन के लिए लिखित हैं।

—वि० मि०

गोविंदवल्लभ पंत २—आपका जन्म १० सितम्बर १८८७ को अल्मोड़ा जिले में हुआ और मृत्यु ७ मार्च १९६१ को दिल्ली में हुई। पन्तजी ने उच्च शिक्षा प्राप्त कर १९०७ में नैनीताल में वकालत आरम्भ की। आप राजनीति में भी सक्रिय भाग लेते रहे। आपने स्थानीय समस्याओं के निराकरण के लिए १९१६ में 'कुमायूँ परिषद्' की स्थापना की और कुमायूँ के जिलों को माण्टफोर्ड शासन सुधारों के अन्तर्गत शामिल करवाया। उसी वर्ष अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के और १९२३ में उत्तरप्रदेशीय विधान परिषद् के सदस्य चुने गये। सात वर्षतक आप इस परिषद की स्वराज्य पार्टी के नेता रहे। सन् १९२७ में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बने। पन्तजी को साइमन-कमीशनविरोधी आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू के साथ लाठी की मार पड़ी और एक प्रकार से उन्होंने नेहरूजी की ढाल बनकर उनकी रक्षा की, जिसका प्रभाव नेहरूजी के हृदय पर अन्ततक बना रहा। पन्तजी जीवन के अन्तिम वर्षों में उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री और बाद में केन्द्रीय गृहमन्त्री रहे।

आधुनिक युग में, विशेषकर सन् १९३७ के पश्चात्, जब शासन का सूत्र राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में आया, हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रसार में उत्तरप्रदेश का प्रमुख स्थान रहा है और इस प्रदेश के मुख्यमन्त्री होने के नाते इस साहित्यिक गतिविधि में पन्तजी का बहुत हाथ रहा है। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के निर्माण से हिन्दी के प्रसार और साहित्य निर्माण को अपूर्व प्रोत्साहन मिला। उत्तरप्रदेश में प्रशासन के कामकाज में तथा शिक्षा-विभाग में हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने का श्रेय पन्तजी को है। सबसे पहले सन् १९३८-३९ में पारिभाषिक शब्दकोष बनाने की दिशा में पन्तजी के नेतृत्व में उत्तरप्रदेश की सरकारने ही पग उठाया था। यह स्वाभाविक था कि ऐसे विशाल परिवर्तन के साथ अनेक नयी समस्याएँ उत्पन्न हो जाय। पन्तजी की व्यवहार-बुद्धि और उनका हिन्दी-स्नेह इन सब समस्याओं को सुलझाने में सफल रहा है। परिणामतः विभिन्न राजकीय विभागो में और विशेषकर जिला-स्तर के प्रशासन-कार्य में आंशिक अथवा पूर्णरूप से अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का उपयोग होने लगा। सन् १९३९ में सहसा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग के परिणामस्वरूप यह परीक्षण उस समय अधूरा रह गया, किन्तु सन् १९४५ में मन्त्रिपदग्रहण के कारण पन्तजी को वही अवसर फिर से प्राप्त हुआ और उन्होंने सचिवालय में ही हिन्दी के कार्य का प्रसार नहीं किया, बल्कि हिन्दी-सम्बन्धी सार्वदेशिक समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया। राजकीय प्रकाशन विभाग का विस्तार कर उन्होंने आधारभूत पारिभाषिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थों के हिन्दी-रूपान्तर की योजना बनायी। यह कार्य एक विशेष अनुवाद-समिति के सुपुर्द किया गया। कृषि, वन्य-विज्ञान और अन्य सम्बद्ध वैज्ञानिक विषयों पर पहली बार हिन्दी-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ।

देवनागरी लिपि-सुधार और टाइपराइटर तथा टेलीप्रिन्टर के लिए देवनागरी को उपयुक्त बनाने के प्रयत्न उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री द्वारा सन् १९४८ में आरम्भ किये गये थे यद्यपि इस काम में यथोचित सफलता अभी तक नहीं मिल पायी है, किन्तु विभिन्न शासनों तथा हिन्दी के हितैषियों का ध्यान बराबर इस ओर रहा है और अब भी है। उन्हीं दिनों उत्तरप्रदेश सरकार के तत्त्वावधान में ही हिन्दी-शीघ्र लिपि में सुधार तथा उसके प्रतिमानीकरण की दिशा में भी बहुत कुछ किया गया है, और ये प्रयत्न अधिक सफल हुए हैं। केन्द्रीय गृहमन्त्री के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् पन्तजी के सुझाव पर संविधान की धारा के अनुसार राष्ट्रपति ने भाषा-आयोग की नियुक्ति की थी। आयोग के और तत्पश्चात् वैधानिक समिति के प्रतिवेदनों पर गृहमन्त्रालय की ओर से पन्तजी हिन्दी

के पक्ष का सोत्साह समर्थन करते रहे। उनका सबसे बडा योगदान सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी—कक्षा की सुविधा उपलब्ध कराना था। उन्होंने सभी अहिन्दी—भाषी केन्द्रीय कर्मचारियों के शिक्षण के लिये बृहत् योजना का निर्माण किया और उसके अनुसार सहस्रों व्यक्ति हिन्दी सीख चुके हैं और अन्य लोग इस समय सीख रहे हैं। उन्ही के मन्त्रालय द्वारा समय—समय पर हिन्दी—विद्यापीठों द्वारा दिये गये प्रमाण—पत्रों की स्वीकृति पर सहानुभूतिपूर्वक विचार होता रहा है, जिसके फलस्वरूप गुरूकुल कागड़ी, कन्या गुरूकुल (देहरादून), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, द० भा० हि० प्रचार सभा, राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा आदि के प्रमाण—पत्रों तथा उपाधियों को केन्द्रीय परीक्षाओं और सरकारी नौकरियों में भर्ती के लिए स्वीकृत किया गया। भाषा—आयोग के प्रतिवेदन पर वाद—विवाद के समय पन्तजी ने लोकसभा में जो उद्गार प्रकट किये थे, उनकी हिन्दी क्षेत्रों में व्यापक प्रशंसा हुई थी। हिन्दी द्वारा केन्द्र में अंग्रेजी का स्थान लेने का कार्यक्रम चाहे किसी स्थिति में हो, पत जी के प्रयास से केन्द्रीय कर्मचारियों में हिन्दी शिक्षण का कार्यक्रम बराबर पूर्व योजनानुसार चलता रहा है। पन्तजी हिन्दी के अच्छे लेखक और प्रभावशाली वक्ता थे। उनके भाषणों के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और काशी नागरी प्रचारिणी सभा को पन्तजी से आवश्यकतानुसार सदा सहयोग मिलता रहा है। इन तीनों संस्थाओं के मंच से वे हिन्दी के समर्थन में बोल चुके हैं। अपने कर्मठ सार्वजनिक जीवन में नेता के रूप में तथा सत्तारूढ़ होकर हिन्दी का प्रत्यक्ष समर्थन करके तथा अनेक अवसरों पर प्रतिकूल हवाओं से हिन्दी की रक्षा करके पन्तजी ने संकट के समय राष्ट्रभाषा की इतनी अधिक सेवा की है कि उनकी निजी रचनाओं का अभाव नहीं खटकता।

—ज्ञा० द०

गोविंद शास्त्री दुगवेकर—जन्म सन् १८८१ ई० सागर में। निधन तिथि—२६ जून, सन् १९६१ ई० जबलपुर में। संस्कृत, हिन्दी और मराठी के प्रकाण्ड विद्वान्। आप हिन्दी भाषा और साहित्य के अनन्य सेवक तथा बहुमुखी प्रतिभा—सम्पन्न कृतिकार थे। आप कुशल लेखक, समर्थ अनुवादक, प्रवीण पत्रकार, रससिद्ध कवि, सिद्धहस्त नाटककार तथा सफल अभिनेता थे। आपके नाटकों और अभिनयों के महत्त्व की चर्चा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में यह अभिमत प्रकट किया है—"गद्य साहित्य के प्रसार के द्वितीय उत्थान में नाटक की गति बहुत मन्द रही। प्रयाग में पण्डित माधव शुक्लजी और काशी में पण्डित दुगवेकरजी अपनी रचनाओं और अनूठे अभिनयों द्वारा बहुत दिनों तक दृश्य—काव्य की रूचि जगाये रहे।"

दुगवेकरजी ने पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य—शास्त्र एवं नाट्य—साहित्य का गहन अध्ययन किया था। 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' के रूप में शास्त्र शुद्ध हिन्दी—रंगमंच की सर्वप्रथम स्थापना में आपका प्रमुख हाथ था। उनके नाटकों में 'सुभद्राहरण' और 'हर—हर महादेव' बहुत ही प्रसिद्ध हैं और अनेक बार विभिन्न नाट्य संस्थाओं द्वारा अभिनीत भी हो चुके हैं। 'कालधर्म' नामक अधूरा नाटक अप्रकाशित हैं। महाकवि कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का गद्य—पद्यमय हिन्दी में अनुवाद बहुत ही उत्कृष्ट अनुवादों में गिना जाता है। इसके पद्य भाग का अनुवाद ब्रजभाषा मौलिक रूप से किया गया है। दुगवेकरजी के नाट्यगुरू कालीप्रसन्न चटर्जी, प्रोफेसर उनवाल और बंगीय नाट्य सम्राट् गिरीशचन्द्र घोष थे।

आप सन् १९०१ ई० के आस—पास काशी चले आये थे और जीवन के शेष ६० वर्षों में अधिकांशतः काशी में ही रहकर साहित्य साधना की। पत्रकार के रूप में आपने भारतधर्म महामण्डल से प्रकाशित मराठी पत्रिका का और हिन्दी 'आर्य महिला' का बहुत दिनोंतक सम्पादन किया था। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी पंच', 'अरूणोदय' तथा 'गृहस्थ मासिक' के भी सम्पादक रहे। आप बहुत उच्चकोटि का हास्य—व्यंग्य भी लिखते थे। 'गृहस्थ मासिक' में प्रकाशित 'झब्बू शाही' लेखमाला के अन्तर्गत आपने बडे विनोदपूर्ण ढग से महन्तों और मठाधीशों के कार्यकलापों का उद्घाटन किया था।

आप ब्रजभाषा तथा खडीबोली में बड़ी ही उत्कृष्ट कविता करते थे। बाल—साहित्य के अभाव की पूर्ति के लिए चित्र—कथा के रूप में बहुत सी कहानियाँ भी लिखी हैं।

ग्रन्थकार के रूप में भारत धर्म महामण्डल द्वारा प्रस्तुत धर्मसम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थों के प्रणयन में शास्त्रीजी का विशेष योग था। आप हिन्दी की पत्र—पत्रिकाओं में विविध विषयों पर सामयिक और सुरूचिपूर्ण अनूठे लेख बराबर लिखा करते थे। तंत्र शास्त्र, फलित ज्योतिष और संगीत शास्त्र का भी आपने विशेष अध्ययन किया था। जीवन के ६० वर्षोंतक आपने हिन्दी की अनन्य भाव से सेवा की तथा उसे राष्ट्रभाषा के पदपर प्रतिष्ठित कराने के लिए भी प्रयत्नशील रहे। अन्य भाषाभाषी हिन्दी सेवकों में आप चिरस्मरणीय रहेंगे।

—न० कि० रा०

गोविन्द सिंह—दे० 'गुरु गोविन्द सिंह'।

गोविंद स्वामी—अष्टछाप के उन चार कवियों में जो गोसाई विट्ठलनाथ के शिष्य थे, कालक्रम के अनुसार सबसे पहला नाम गोविन्द स्वामी का है। अनुमान है कि वे भरतपुर राज्य के एक गाँव में सन् १५०५ ई० के आसपास पैदा हुए थे। सन् १५३५ ई० उन्होंने गोसाईजी से दीक्षा ली थी और सन् १५८५ ई० में उनका गोलोकवास हुआ था। घर छोड़कर गोविन्द स्वामी कुछ दिन महाबन में आकर रूके। फिर उन्होंने गोकुल और महाबन के टीलों पर बैठकर कीर्तन करते हुए अनेक वर्ष बिता दिये। अन्त में वे गोवर्धन जाकर पर्वत की कदमखण्डी में अपना स्थायी निवास—स्थान बना कर रहने लगे। जाति के सनाढ्य ब्राह्मण बताये गये हैं परन्तु उनकी वैराग्य की प्रवृत्ति सदैव से उन्हें सांसारिक जीवन से उदासीन बनाये रही। गोविन्द स्वामी की गानविद्या की ख्याति पुष्टि—मार्ग में दीक्षित होने से पहले ही फैल चुकी थी। उनके अनेक सेवक हो गये थे और वे स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। वैष्णव लोग गोविन्द स्वामी के पदों से प्रभावित होकर गोसाई विट्ठलनाथ के पास उनकी प्रशंसा पहुँचाने लगे और गोस्वामीजी उनकी ओर आकृष्ट होने लगे। गोविन्द स्वामी भी मन—ही—मन विट्ठलनाथजी के प्रति श्रद्धा की भावना रखते थे। एक दिन गोकुल में यमुनाघाट पर उन्होंने विट्ठलनाथजी को सन्ध्या—वन्दन करते हुए देखा तो उन्हें

आश्चर्य हुआ कि भक्ति—मार्ग में यह कर्मकाण्ड कैसा? विट्ठलनाथजी से उन्होंने अपनी शंका प्रकट की और उनसे कर्म एव भक्ति का सामंजस्य समझकर उन्होने विट्ठलनाथजी से शरण में लेने की प्रार्थना की। गोविन्द स्वामी बडे विनोदी स्वभाव के थे। एक बार उन्होंने अपने पुराने सेवकों से कह दिया कि गोविन्द स्वामी कई वर्ष हुए मर गये। सेवको को आश्चर्य हुआ परन्तु बाद में जब गोविन्द स्वामी ने बताया कि अब वे गोविन्द स्वामी नहीं, गोविन्ददास हैं, उनका 'स्वामीपना' बहुत दिनों से छूट गया है तब वे समस्त सेवक विट्ठलनाथजी के सेवक बन गये। गोविन्ददास को श्रीनाथजी की कीर्तन—सेवा का कार्य मिला था और उन्होंने श्रीनाथजी के पास रहकर सखा—भाव की भक्ति की थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे इनके और श्रीनाथजी के विनोद की बडी रोचक और विलक्षण कहानियाँ मिलती हैं। गुरु के प्रति भी गोविन्ददास की भक्ति प्रगाढ़ थी। जब विट्ठलनाथजी ने श्रीकृष्ण की लीला में प्रवेश किया था, उसी समय गोविन्ददास ने भी सशरीर गोवर्धन की गुफा मे प्रवेश करके इस लोक से विदा ली थी।

गोविन्द स्वामी काव्य—रचना में तो निपुण थे ही, गान—विद्या में भी उनकी विशेष ख्याति थी। वार्ता में लिखा है कि प्रसिद्ध गवैया तानसेन उनसे संगीत सीखने आते थे। गोविन्द स्वामी द्वारा सहस्रावधि पद रचे जाने का उल्लेख है परन्तु उनके दो सौ बावन पद बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके पदों का विषय लगभग वही है, जो कुम्भनदास के पदों में मिलता है (दे० 'कुम्भनदास')। उनके पदों का एक संग्रह विद्या—विभाग, कांकरौली से 'गोविन्ददास' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

[सहायक ग्रन्थ—दो सौ वैष्णवन की वार्ता; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त; अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल।]

—व्र० व०

गोसाई चरित्र—'सरोज' में 'गोसाई चरित्र' के लेखक बेनीमाधवदास कहे गये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने एक अन्य 'गोसाईचरित' की खोज की है, जिसके लेखक भवानीदास कहे गये हैं। 'सरोज' में गोसाईचरित' की जो पक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं, वे भवानीदास के 'गोसाई चरित' से बहुत मिलती—जुलती हैं। यही नहीं, डाक्टर गुप्त के अनुसार भवानीदास के शेष ग्रन्थ की शैली में पर्याप्त समता भी है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह 'गोसाई चरित्र' जो शिवसिंह सेंगर ने देखा था, हमें भी बहुत—कुछ उसी रूप में उपलब्ध हो गया है। दूसरे 'गोसाई चरित' के लेखक भवानीदास सरीलानिवासी स्वामी नन्दलाल की शिष्यपरम्परा के महात्मा योधाराम के शिष्य थे। लेखक ने अयोध्या, बड़ा स्थान के महन्त रामप्रसाद के, जो नन्दलाल की शिष्य परम्परा में थे, आदेश से 'गोसाई चरित' की रचना की थी। रामप्रसादजी का जीवनकाल सन् १७०३—१८०४ तक था, प्रौढ़ावस्था में उन्होंने महन्थी पायी होगी और उसके पर्याप्तकाल बाद भवानीदास को आदेश दिया होगा 'गोसाई चरित्र' लिखने के लिए। अतः लगभग सन् १७४० ई० में 'गोसाई चरित' लिखा गया होगा। बेनीमाधवदास का 'मूल गोसाई चरित' अब उपलब्ध है किन्तु उसमें वे पक्तियाँ नहीं मिलतीं, जिनका उल्लेख 'सरोज' में किया गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भवानीदासकृत 'गोसाई चरित' ही शिवसिंह सेंगर को उपलब्ध हुआ हो और उन्होंने उसे बेनीमाधवदासकृत मान लिया हो। भवानीदास का 'चरित्र' नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा रामचरणदास की टीका के साथ प्रकाशित 'मानस' की भूमिका के रूप में मिलता है और यह तीस हजार शब्दों का है। उसमें अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के उल्लेख हैं, किन्तु तिथियों आदि का कोई विस्तार नहीं मिलता किन्तु गंग के सम्बन्ध में उसका उल्लेख ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ के अनुसार गंग को बादशाह ने तुलसी के जीवनकाल में ही मरवा डाला था। स्पष्ट है कि यह चरित्र जनश्रुति पर अधिक आधृत है।

बेनीमाधवदास की रचना का नाम है 'मूल गोसाई चरित'। इसकी एक हस्तलिखित प्रति डाक्टर चन्दा, जिला गया (बिहार) के रामानन्द तिवारी के पास है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है—"इति श्री वेणीमाधवदासकृत मूल गोसाइ चरित समाप्तम्। श्री शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन त्रिपाठी रामरक्षामणिरामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजयादशमी, संवत् १८४८ भृगुवासरे।" गणना से यह तिथि ठीक उतरती है। इस ग्रन्थ में तुलसी के जीवन का विस्तृत वर्णन मिलता है घटनाओ के साथ तिथियों का भी समावेश किया गया है। कुछ प्रमुख तिथियाँ ये हैं—तुलसी की जन्मतिथि—श्रावण शुक्ल ७ सं० १५०४ (सन् १४९७ ई०); यज्ञोपवीत तिथि—माघ शुक्ल ५, शुक्रवार सं० १५६१ (सन् १५०४ ई०); विवाह तिथि—ज्येष्ठ शुक्ल १३, गुरुवार सं० १५८३ (सन् १५२६ ई०); मानस की समाप्ति तिथि—मार्ग शीर्ष शुक्ला ५, मंगलवार सं० १६३३ (सन् १५७६ ई०); देहावसान तिथि—श्रावण कृष्णा तीज शनि सं० १६८० (सन् १६२३ ई०)। गणना से यज्ञोपवीत और विवाह की तिथियाँ ठीक उतरती हैं। अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों से तुलसीदास के साथ सम्पर्क स्थापित करने की भी चर्चा इस ग्रन्थ में की गयी है, किन्तु इतिहास की कसौटी पर वे खरी नहीं उतरतीं। इसके साथ ही अनेक ऐसे उल्लेख तथा विस्तार इस ग्रन्थ में मिलते हैं, जो तुलसीदास की कृतियों तथा उनके आत्मोल्लेखों के विरूद्ध पड़ते हैं। डाक्टर गुप्त ने अपने 'तुलसीदास' ग्रन्थ में उन पर विस्तार से विवेचन किया है।

'मूल गोसाई चरित' में कुछ ऐसी शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है, जो उसे आधुनिक कृति सिद्ध करती है। "धुनि सुने सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" ऐसी ही एक शब्दावली है।

भवानीदासकृत 'गोसाई चरित' से इसकी अनेक प्रकार से समता होने के कारण यह सम्भव है कि या तो 'मूल गोसाई चरित' 'गोसाई चरित' के आधार पर लिखा गया हो या इन दोनों का आधार जनश्रुतियाँ हों, जो पूर्णतया प्रामाणिक नहीं हैं।

[सहायक ग्रन्थ—तुलसीदास : डॉ माताप्रसाद गुप्त; हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल।]

—ब० ना० श्री०

गौतम १—राजा शुद्धोधन के पुत्र। ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर गौतम बुद्ध के नाम से विख्यात हुए। सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही निर्विकार भाव के थे। इनके पिता ने बड़े होने पर इनका विवाह

अपूर्व रूपवती युवती यशोधरा से कर दिया। उससे सिद्धार्थ के राहुल नाम के एक पुत्र का भी जन्म हुआ किन्तु इन सांसारिक आकर्षणों से उनकी निर्विकारता समाप्त नहीं हुई। वे तत्त्व—चिन्तन तथा सत्य की खोज में संलग्न रहे। एक दिन रात्रि में अवसर पाकर वे अपने पिता, राजपाट, पत्नी, पुत्र सबका परित्याग करके सत्य की खोज में चल निकले। उन्होंने पर्याप्त साधना की और अन्त में उन्हें एक पीपल के वृक्ष के नीचे एकाएक आत्मतत्त्व एवं सत्य ज्ञान की उपलब्धि हुई। तभी से वे गौतमबुद्ध के नाम से विख्यात हो गये। उन्हें बौद्ध—धर्म का प्रवर्तक कहा जाता है। बौद्धधर्म के सिद्धान्त गौतम द्वारा दी गयी शिक्षाओं पर ही आधारित हैं। बौद्ध—धर्म वस्तुतः हिन्दूधर्म के दोषों के परिष्कारहेतु एक सुधार आन्दोलन के रूप में आया था। बाद में यह एक स्वतन्त्र धर्म बन गया। प्राचीनकाल में अशोक, कनिष्क, आदि शासकों ने इसे अपना राजधर्म घोषित करके देश और विदेशों में इसका प्रचार एवं प्रसार किया। बाद में बौद्ध—धर्म के भिक्षु—भिक्षुणियों में भ्रष्टाचार बढ़ने लगा। इसका उत्कर्ष प्रायः एक हजार वर्षोंतक रहा। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ऐसे विद्वानों ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के अनेक यत्न किये। उनकी प्रतिद्वन्द्विता में बौद्ध धर्म विकसित नहीं हो सका। आगे चलकर हीनयान, महायान, बज्रयान, मन्त्रयान, सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदायों के रूप में इसका विकास हुआ।

हिन्दी के आदिकालीन सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों के साहित्य पर बौद्ध धर्म के तान्त्रिक मत से संयुक्त परिवर्तित रूप का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

मध्ययुग के वैष्णव भक्तिप्रवण वातावरण में बौद्ध धर्म हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं कर सका। अतः गौतम के चरित्र एवं उनकी धार्मिक विचारधारा से सम्बद्ध साहित्य का अभाव मिलता है। आधुनिक युग के पुनरुत्थानवादी एवं अहिंसात्मक दृष्टिकोण के प्रभाव स्वरूप गौतम का चरित्र हिन्दी साहित्य में वर्णित हुआ है (दे० 'अजातशत्रु', 'यशोधरा', 'सिद्धार्थ' आदि रचनाएँ)। गौतम के जीवनचरित्र और सिद्धांतों से सम्बद्ध इन रचनाओं में अहिंसा, उदारता, सहिष्णुता, दार्शनिकता, लोकमंगल की भावना आदि दिव्य गुणों के सन्निवेश द्वारा कथा के अन्तर्गत उनके चरित्र का आदर्श के ही धरातल पर चित्रण किया गया है।

—रा० कु०

गौतम २—बौद्ध—धर्म के प्रवर्तक गौतम (बुद्ध) का समय ५६३ से ४८३ ई० पूर्वतक है। प्रसादकृत 'अजातशत्रु' नाटक में वे सरल—चित्त, करुणा, विश्व—मैत्री एवं अहिंसा के सन्देशवाहक रूप में हमारे समक्ष आते हैं। उनमें कर्त्तव्यपालन एवं सत्कर्म की भावना का प्राधान्य है। वे परोपकारिता, संवेदनशीलता एवं परदुःखकातरता के साकार प्रतीक हैं। वे अपने निश्छल आचरण द्वारा विरोधियों का भी अहित नहीं चाहते। किसी के प्रति भी वे विरोध—भाव नहीं रखते। सहनशीलता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण दुर्लभ है। बौद्ध—मत में बुद्ध ने कृत, दृष्ट और उद्दिष्ट—इन तीन प्रकार की हिंसाओं का निषेध किया था। यदि भिक्षा में माँस भी मिले, तो वर्जित नहीं था किन्तु देवदत्त यह चाहता था कि संघ में यह नियम हो जाय कि कोई भिक्षु माँस खाये ही नहीं। गौतम द्वारा इन प्रकार की आज्ञा न दिलवाने एवं अहिंसा की जैन धर्मानुकूल व्याख्या न प्रचारित करवाने के कारण देवदत्त उनका विरोधी हो गया। इसने धर्म के बहाने छलना की सहानुभूति पाकर अजातशत्रु को उकसाकर गृहकलह करवा दिया। यह अनेक कुचक्रों से गौतम के प्राण लेने की चेष्टा करने लगा। इसके इन प्रयासों द्वारा गौतम में किसी प्रकार का आक्रोश उत्पन्न नहीं हुआ और न उनके सात्त्विक स्वभाव में किसी प्रकार का विकार आया। भिक्षुओं द्वारा यह सुनकर कि देवदत्त उनका प्राण लेने आ रहा है, गौतम ने शान्तभाव से यही कहा कि "घबराओ नहीं, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नहीं आ सकता, उसमें इतनी शक्ति नही।" और सचमुच देवदत्त उन तक न पहुँच सका, रास्ते में किसी जलाशय में डूब मरा। गौतम की वाणी सच निकली। वे लोकोत्तर गुणों से सम्पन्न हैं, उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। वे सर्वत्र भ्रमण करते हुए तटस्थ भाव से राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाते हैं तथा असद् भावनाओं का विरोध करते हुए सदाचार, उच्चादर्श एवं विश्वमैत्री की प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी गति कहीं भी अवरूद्ध नहीं होती। मगध में बिम्बसार और अजातशत्रु के बीच होनेवाले संघर्ष का निवारण करते हैं। कोशल जाकर प्रसेनजित् को सन्मार्ग दिखलाते हैं। गौतम के ही कहने से प्रसेनजित् अपनी परित्यक्ता पत्नी एवं विद्रोही पुत्र विरुद्धक को पुनः अंगीकार करता है। वे क्षमा के अनुगामी, करुणा के पुजारी तथा अपने आचरण द्वारा समाज को शिक्षा देनेवाले एक व्यावहारिक आचरणशील व्यक्ति हैं। संसार को उनका सन्देश है कि "विश्वंभर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है। शीतल वाणी, मधुर व्यवहार से क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते?" गौतम "शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म" करने वाले उच्चाशयशील महात्मा हैं। शैलेन्द्र द्वारा मारी हुई मागन्धी को मृतप्राय स्थिति में वे उठाकर आश्रम में ले जाते हैं तथा उचित उपचार से उसे पुनः जीवनदान देते हैं। उनके वशीकरणात्मक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अजातशत्रु, छलना, मागन्धी, शक्तिमती, विरुद्धक आदि अपने पुराने दोषों से मुक्ति पाकर सन्मार्गगामी एवं सदाचरणशील बनते हैं। 'अजातशत्रु' के अनेक कथा—सूत्रों से गौतम किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से अजातशत्रु और बिम्बसार के बीच में गौतम का कोई स्थान नहीं था किन्तु इनके माध्यम से नाटककार नाटक में करुणा को प्रतिष्ठित कर सका है। अजातशत्रु और बिम्बसार के संघर्ष में गौतम की अवतारणा प्रसाद की अपनी मौलिक सूझ है। इस प्रकार प्रसाद ने ऐतिहासिक वृत्तों में कल्पना का योग करके एक नये जगत् की सृष्टि की है तथा इतिहास की विकीर्ण सामग्री को एकसूत्र में ग्रथित करके एवं कल्पनाजन्य सम्बन्ध योजना का आश्रय लेकर एक अनोखे ऐतिहासिक रस की अन्विति की है। गौतम का उल्लेख प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' नाटक (अंक १, २, ४) में तथा उनकी 'स्वर्ग के खण्डहर में' नामक कहानी में भी हुआ है।

—के० प्र० चौ०

गौरीदत्त—जन्म सन् १८३६ में हुआ था। इनका जन्मस्थान मेरठ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे और अध्यापनकार्य करते

थे। इन्होंने स्त्री–शिक्षाविषयक तीन पुस्तकों की रचना की थी, जिनके विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने 'गौरी नागरी कोश' का भी सम्पादन किया था। इसके अतिरिक्त इन्होने 'देवनागरी की पुकार' नामक एक और पुस्तक सम्पादित की थी। इन्हें भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त था और इनकी गद्य शैली बहुत सरल, स्पष्ट और परिमार्जित थी। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में गौरीदत्त के योगदान का असाधारण महत्त्व इस कारण है कि इन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्वर्गवास के कुछ काल पूर्व नागरी–प्रचार का आन्दोलन आरम्भ किया, जो राष्ट्र–भाषा के प्रचार के उद्देश्य से किया गया सर्वप्रथम सुसंगठित आन्दोलन था। ये दृढ़ निश्चयी थे। इन्होंने लगभग चालीस वर्ष की अवस्था में अपनी समस्त–सम्पत्ति नागरी प्रचार–कार्य के लिए रजिस्ट्री कर दी। तब इन्होंने अध्यापन कार्य से अवकाश ले लिया और जीवन भर नागरी–प्रचार पर घूम–घूमकर व्याख्यान देते रहे। इन्होंने मेरठ के निकट अनेक देवनागरी स्कूल खुलवाये, जिनमें मेरठ का नागरी स्कूल विशेष प्रसिद्ध है। नागरी–प्रचार के उद्देश्य से इन्होंने अनेक रोचक खेल बनाये। जहाँ कहीं भी कोई मेला या सार्वजनिक उत्सव होता था, वहाँ यह नागरी का झण्डा लगा देते थे और लड़कों की भीड़ लगाकर खेलों का प्रदर्शन करते थे। इससे लोगों का मनोरंजन होता था और वे नागरी–लिपि भी सीखते थे। इन्होंने मेरठ नागरी प्रचारिणी सभा की भी स्थापना की और उसका संचालन किया। इस प्रचार–कार्य में इन्हें अयोध्याप्रसाद खत्री आदि का भी सहयोग मिला। नागरी के ये इतने कट्टर प्रेमी थे कि किसी से भेंट होने पर 'प्रणाम', 'नमस्कार', या 'जयराम' न कहकर 'जयनागरी' ही कहा करते थे। सन् १८९४ में इन्होंने दफ्तरों में नागरी–प्रयोग के लिए अपने सहयोगियों के साथ एक स्मरण–पत्र भी सरकार को भेजा था। ये राष्ट्रभाषा के संबंध में सरकार की नीति का निरन्तर विरोध करते रहे। आगे चलकर नागरी का जो प्रचार हुआ, उसका अधिकांश श्रेय इन्हीं को है। सन् १९०५ में इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी समाधिपर 'गुप्त संन्यासी नागरी प्रचारानन्द' अंकित है।

–प्रे० ना० टं०

गौरीशंकर हीराचंद ओझा–जन्म सन् १८६३ में (सं० १९२० भाद्रपद शुक्ला २ को) सिरोठी के रोहेड़ा गाँव में सहस्र औदीच्य जाति में हुआ था। इनके पिता का नाम हीराचन्द था। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा घरपर प्राप्त की। फिर बम्बई जाकर इन्होंने इतिहास, पुरातत्त्व तथा लिपियों आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर उदयपुर में राजकीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। इस बीच इनके शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे थे और उनकी संख्या कम नहीं थी। सन् १८९८ में अपने विषय पर विश्व की सर्वश्रेष्ठ रचना 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के प्रकाशन के बाद इन्हें उच्चकोटि का शोधकर्ता मान लिया गया। सन् १९०८ में राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) की स्थापना होने पर ये वहाँ के अध्यक्ष हुए और सन् १९३८ तक उक्त पद पर कार्य करते रहे। इन्होंने सन् १९२८ में हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद में मध्यकालीन भारतीय संस्कृतियों पर तीन भाषण दिये। १९३३ में ये ओरियण्टल कान्फ्रेंस, बड़ौदा में इतिहास विभाग के अध्यक्ष हुए। आपको रायबहादुर, महामहोपाध्याय की उपाधियाँ क्रमशः सन् १९१४ और २८ में मिली। १९२७ में सम्मेलन एवं गुजरात साहित्य सभा के सभापति हुए। १९३३ में भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ से अभिनन्दित हुए। १९३७ में साहित्य वाचस्पति एवं वाचस्पति की उपाधियों से विभूषित हुए। १९३७ में ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि एवं आन्ध्र विश्वविद्यालय ने पुरातत्त्ववेत्ता की मान्यता दी। १९२० में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक थे।

इनकी मृत्यु रोहेड़ा में ही सन् १९४७ (सं २००४ वैशाख वदी ११) में हुई। वे राजपूताना की ऐतिहासिक संघर्ष-जर्जर मानवता के शताब्दियों तक के घटना–क्रम के एक व्यासकार थे। ताम्र–पत्र, पट्टे, परवाने और रेकार्ड ओझाजी को सहज पाठ्य थे। पनघटों, मन्दिरों, धर्मशालाओं, खण्डहरों, गढ़ों, किलों, विजन स्थानों के मौन पाषाण शिला–लेखों के वे महान् विद्यार्थी थे।

इनकी अनेक रचनाएँ हैं–इन्होंने कर्नल टाड के इतिहास का सम्पादन (१९०२) तथा 'सोलंकियों का इतिहास' १९०८ में लिखा। पृथ्वीराज विजय' तथा 'कर्मचन्द वंश' सम्बन्धी पुस्तकों का सम्पादन किया। १९१८ में 'प्राचीन लिपिमाला' का बृहद् संस्करण निकला, जिस पर सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी दिया। इन्होंने १९२३ में 'राजपूताना का इतिहास' लिखना शुरू किया। उदयपुर, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर और बीकानेर राज्यों का इतिहास लिखा। फिर मुँहरगोल नेणसी की ख्यात का सम्पादन किया तथा १५० पृष्ठों के लगभग शोध–लेख लिखे। इसके अतिरिक्त साहित्य–संस्थान रा० वि० विद्यापीठ द्वारा 'ओझा निबन्ध संग्रह' के नाम से उनके सभी निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

–श्री० व०

ग्रंथि–यह सुमित्रानन्दन पन्त की प्रारम्भिक रचनाओं में से है। प्रकाशनकाल १९२० ई०। इसे प्रेमाख्यानक गीतिकाव्य कह सकते हैं। स्वयं पन्त ने इसे "छोटा–सा खण्ड–काव्य" कहा है। यह कहना कठिन है कि इसमें कवि की आत्मानुभूति किस मात्रा में उपयोग में आयी है क्योंकि स्वयं कवि ने इस रचना पर अपने आकाशवाणी आलेख में उन प्रवादों का प्रतिकार किया है जो इस रचना में व्यक्तिगत पक्ष को लेकर चले हैं। वे इसे विशुद्ध काव्य–प्रयत्न मानते हैं। कालिदास की 'मेघदूत' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' जैसी रचनाओं से कवि ने अपने काशी–प्रवास में जो संस्कार संचित किये थे, उन्हें ही यहाँ उसने कल्पित कथा के सहारे वाणी दी है। ऐसे सन्दर्भ जैसे नायक की मातृहीनता, मामा द्वारा लालन–पालन आदि कवि की स्वोक्ति पर भी पूरे उतरते हैं, अतः निर्भ्रान्त रूप से कुछ भी कहना असम्भव है। सच तो यह है कि 'ग्रन्थि', 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'आँसू की बालिका से' शीर्षक रचनाएँ कवि की प्रारम्भिक कृतियों में एक सुनिश्चित श्रृंखला का निर्माण करती हैं और उनके प्रेम का विप्रलम्भ–पक्ष अत्यन्त मर्म–मधुर बन गया है। उसे कवि की स्वानुभूति न मानना कठिन है। संकल्पात्मक अनुभूति में उतनी विदग्धता असम्भव है, जितनी इन रचनाओं में दिखलायी पड़ती है।

'ग्रन्थि' की कथा चार खण्डों में बँटी है, जिनका निर्देश

प्रत्येक खण्ड की पहली पंक्ति के प्रथम दो शब्दों से किया गया है। प्रथम खण्ड में कवि कल्पना के प्रति सम्बोधित होकर पूर्वस्मृति को जाग्रत करने के लिए उसका आवाहन करता है और मधुमास की भूमिका बाँधकर पाठक को अपनी प्रणय—गाथा के लिए तैयार करता है। सूर्यास्त के साथ ही नाव ताल में डूब जाती है और नायक जब मूर्च्छा मे आँखें खोलता है तो एक कोमल निःश्वास उसे पुनर्जीवन देता जान पड़ता है। उसे आभास होता है कि उसका सिर किसी बाला की सुकोमल जाँघ पर टिका है, जिसने कदाचित् उसके प्राण बचाये हैं। प्रथम दृष्टि में ही दोनो में प्रेम का संचार हो जाता है और प्रेमी की जिज्ञासा का उत्तर नायिका के मुख से उच्चरित 'नाथ' शब्द की मधुरिमा मे झंकृत हो जाता है। प्रथम दर्शन के संकोच, आह्लाद और भावद्वन्द्व को कवि ने अत्यन्त सफलता से अंकित किया है। दूसरे खण्ड में नायिका के भावपरिवर्तन को लेकर सखियों की वार्ता उल्लिखित है, जिसपर 'अभिज्ञान—शाकुन्तलम्', विद्यापति की पदावली और रीतिकवियों की भाव—मधुरिमा का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। अन्त में कवि बतलाता है कि इस प्रकार प्रति दिवस सखियों में हुई प्रेमचर्चा नायिका के भाव—जगत् को उकसा कर मधुर बना रही थी। इस भाग को कवि का प्रेमदर्शन कहा जा सकता है जिस पर रोमांटिक काव्य की अतीन्द्रियता और स्वर्गीयता की छाप भी स्पष्ट है। तीसरे खण्ड में कवि नायक जीवन के नये मोड़ की सूचना देता है। उसके दुःखद बाल—जीवन और कठिन किशोर—काल की पृष्ठभूमि देकर वह हमें उस घटना या दुर्घटना के लिए तैयार करता है जो इस दुःखान्तकीय प्रगतिका प्राण है। कवि के शब्दों में : ''हाय, मेरे सामने ही प्रणयका, ग्रन्थिबन्धन हो गया, वह नवकमल मधुप—सा मेरा हृदय लेकर, किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया। पाणि, कोमल पाणि। निज बन्धूक की मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः?''

इसके पश्चात् कवि बड़ी भावकुता से अपनी आत्मव्यथा का चित्रण करता है। प्रकृति की विराट् मिलनस्थली में एक मात्र वही सब प्रकार अकेला, कंगाल खड़ा है। वह अपने हृदय को धिक्कारता और उस विमोहक सौन्दर्य को भी उपालम्भ देने से नहीं चूकता, जिसने इस प्रकार आँखमिचौनी का खेल खेलकर उसके हृदय में घाव कर दिया। अन्त में वह अपनी वेदना को विश्वव्यापी रूप देकर अपने सन्ताप को हल्का करता है : ''वेदना!—कैसा करूण उद्गार है। वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह, तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में, तारकों में, व्योम में है वेदना। वेदना!—कितना विशद यह रूप है। यह अन्धेरे हृदय की दीपक—शिखा। रूप की अन्तिम छटा। औ' विश्व की अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी।''

अन्तिम 'प्रेमवंचित' खण्ड में कवि विरह—व्यथित नायक के मनोजगत् का चित्रण करता हुआ नियति की दुर्वहता की शिकायत कर कथा का पटाक्षेप करता है और विज्ञ वाचक को आश्वस्त कर विदा लेता है कि छलकती आँखों के शेष आँसुओं को वह फिर कभी उनके कर—कमलों में भेंट देगा।

स्पष्ट है कि इस कथानक में भावचित्रण की ही प्रधानता है और पात्रों का व्यक्तित्व कथा—सूत्रों के उभारने भर में सार्थक है। मिलन की अपेक्षा विरह—वर्णन में कवि का मन अधिक रमा है। ऐसा जान पड़ता है कि वयःसन्धि के हृदय की अनजान आकुलता को वाणी देने के लिए ही कवि ने इस प्रेमकथा की कल्पना कर डाली है। इसी से कथा और पात्र दोनों वायवीय बने रहे हैं, केवल अव्यक्त हृदय—पीडा ही विप्रयोग के रूप मे प्रकट हुई है। स्वयं पन्त इस रचना को द्विवेदी युग की काव्य—कला का विकास या प्रसार मानते हैं। अतः इसे हम श्रीधर पाठक की रचना 'एकान्तवासी योगी' और रामनरेश त्रिपाठी की 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' कृतियो तथा प्रसाद की 'प्रेमपथिक' कोटि की रचना ही मान सकते हैं। स्वच्छन्द और ऐकान्तिक किशोर-प्रेम का उदात्त और मनोनिष्ठ चित्रण इस रचना की विशेषता है।

भाषा और शैली की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि 'ग्रन्थि' की भाषा द्विवेदीयुगीन काव्य—भाषा के अधिक निकट है और उसमें इतिवृत्तात्मकता का भी पर्याप्त निर्वाह है परन्तु उसमें 'उपमा कालिदासस्य' के आदर्श का निर्वाह करते हुए कवि जिन अनूठी और सरस उपमाओ—उत्प्रेक्षाओं का संचयन करता है, वे रचना को एकदम नयी कोटि दे देती हैं। इस भावविदग्ध प्रणय—गाथा मे अनेक छोटे—छोटे स्मृतिखण्ड अँगूठी में नगीने की तरह जड़ गये हैं। बीच में भविष्यत्, स्मृति, वेदना आदि के प्रति सम्बोधन काव्य को सम्बोधि—गीति की मार्मिकता प्रदान करते हैं। यद्यपि इस रचना में कवि का भावबोध परम्परा से एकदम विच्छिन्न नहीं हुआ है, उसका स्वर स्वीकारी ही बना रहा है, परन्तु उसमें काव्य का रसात्मक, कल्पनाप्रवण तथा भाषामधुर स्वरूप नयी काव्यचेतना की ओर ही इंगित करता है। सरस और प्रासादिक भाषा में अतुकान्त शैली की यह प्रेमगीति पन्त की प्राथमिक कृति होने पर भी अपने मे पूर्ण कलासृष्टि है।

—रा० र० भ०

ग्रंधप—ग्रन्धप वस्तुतः गन्धर्व का परिवर्तित रूप है। ऋग्वेद मे गन्धर्व आकाशचारी एक योनिविशेष के रूप में मिलते हैं। इसी परम्परा के दूसरे उल्लेख से ये गम्भीर जलनिवासी देव ठहरते हैं। इनके अधीश्वर वरुण बताये जाते हैं। एक तीसरी परम्परा के अनुसार ये सोम के रक्षक एवं भैषज् जाति के रूप में उल्लिखित प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र ने गन्धर्व—जाति के लोगों को परास्त किया था। इस दृष्टि से कुछ विद्वान् इन्हें एक मानव जाति विशेष का होना निश्चित करते हैं। सभी परम्पराओं में इन्हें नृत्य गीत के प्रतिनिधि के रूप में स्मरण किया गया है। पुरुरवा वस्तुतः ऋग्वेद के अनुसार गन्धर्व जाति से ही सम्बद्ध थे। इन्होंने इन्द्र के लिए नृत्यशाला को तैयार किया था।

इनके बारे में इतिहासकारों का विचार है कि यह निश्चय ही विलासी, नृत्य—संगीत—प्रिय जाति रही होगी। इनके आदि देश के विषय में मतैक्य का अभाव है। (दे० 'कबीर ग्रन्थावली', २९९)।

—यो० प्र० सिं०

ग्राम्या—(प्र० १९४० ई०) सुमित्रानन्दन पन्त की ५३ कविताओं का संकलन है। उनके काव्य—संकलनों में इसकी संख्या छठी है। 'युगवाणी' में पन्त की संवेदना का चिन्तन—पक्ष या धारणा—पक्ष सामने आता है। 'ग्राम्या' में

सहानुभूति के माध्यम से कवि का चिन्तन ग्रामीण जीवन के आवर्त्तों—विवर्त्तों को छूना चाहता है। इस प्रकार 'युगवाणी' कवि की मार्क्सवादी चिन्ता का बौद्धिक पक्ष है तो 'ग्राम्या' काव्यात्मक एवं व्यावहारिक पक्ष। उसे हम 'युगवाणी की क्रियात्मक भूमि भी कह सकते हैं। इस रचना के सम्बन्ध में स्वयं कवि ने निवेदन में लिखा है—"इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम—जीवन में मिलकर, उसके भीतर से, अवश्य नहीं लिखी गयी हैं। ग्रामों की वर्त्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।" इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि कवि ने अपनी सहानुभूति के पंख बाँध दिये हैं और उसकी उड़ान मर्यादित है। 'ग्राम्या' के प्रगीतों में पन्त का अभिव्यंजनसम्बन्धी दृष्टिकोण 'वाणी' शीर्षक रचना से प्रकट हो जाता है, जिसमें वह चुनौती के स्वर में अपनी वाणी से सम्बोधित होता है: "तुम वहन कर सको जन—जन में मेरे विचार, वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।"

'कवि—किसान' शीर्षक रचनामें उन्होंने कवि को युग का सांस्कृतिक नेता मानकर चेतना—भूमि में चिर जीर्ण विगत की खाद डालने, उसे सम बनाने, बीज वपन करने और निराने का रूपक बाँधा है। यह नयी दृष्टि उसके कवि—कर्म की नयी दिशा पर प्रकाश डालती है।

परन्तु अभिव्यंजना के क्षेत्र की यह नवीनता ही कवि का लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है धरती के समीप सिमट कर रहने वाली काली—कुरूप और उच्छिष्ट मानवता का चित्रण। कवि ग्रामीण जीवन और संस्कारों को निर्ममता से देखता—परखता है। वह उनके ऊपर रोमांस का झीना आवरण नहीं चढ़ाना चाहता। उसकी पहुँच बौद्धिक है, भाविक नहीं। इसी से उसने ग्राम को स्वर्ग के रूप में कल्पित नहीं किया है। उसका ग्राम कल्पना का ग्राम न होकर यथार्थ ग्राम है जहाँ—"यहाँ, खर्व नर, बानर रहते युग—युग के अभिशापित। अन्न—वस्त्र—पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित। यह तो मानव—लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित। यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित। झाड़—फूँक के विवर, यही क्या जीवन—शिल्पी के घर? कीड़ों से रेंगते कौन ये? बुद्धिप्राण नारी—नर? अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में। गृह—गृह में कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।"—(ग्रामचित्र)।

ग्रामीण जीवन की इस करुणा को कवि ने 'भारत—ग्राम', 'ग्राम-वधू', 'ग्राम देवता', 'वह बुड्ढा', 'गाँव के लड़के', 'वे आँखें', 'कठपुतले', 'ग्राम—नारी' आदि रचनाओं में बड़ी सहानुभूति से उतारा है। उसने विश्व को ग्रामीण नयनों से देखना चाहा है और 'ग्राम-दृष्टि' शीर्षक रचना में अपने इस नये दृष्टिकोण को उजागर भी किया है। इन रचनाओं में हम जीवन की कुरूपता और कठोरता का ऐसा चित्र पाते हैं जो हमें स्तम्भित कर देता है, विशेषत: 'वे आखें' जैसी रचना में उभरता हुआ चित्र। ये आखें स्वाधीन किसान की अभिमान—भरी आखें थीं, जिसके जीवन ने उससे छल किया। उसके लहराते खेत बेदखल हो गये, एकमात्र पुत्र भरी जवानी में कारकुनों की लाठी से मारा गया, महाजन ने बैलों की हृष्ट-पुष्ट जोड़ी बिकवा दी, बिना दवा-दारू के गृहिणी चल बसी, दुधमुँही बिटिया दो दिन बाद मर गयी और अन्त में विधवा पतोहू ने कोतवाल द्वारा बलात् भ्रष्ट किये जाने पर कुँए में डूब कर प्राण दे दिये। इन आँखों का अथाह नैराश्य, उनका दारुण दु:ख-दैन्य और नीरव रोदन नागरी संस्कृति के लिए धिक्कार है। इस धिक्कार को दग्धाक्षरों में बाँध कर काव्य का रूप देना साधारण कार्य नहीं है, यद्यपि जीवन की इस कठोर वास्तविकता को काव्य के दर्पण में देखने के लिए समीक्षक तैयार नहीं थे।

एक अन्य प्रकार का ग्राम भी इन रचनाओं में उभरा है, कदाचित् कवि के अनचाहे—यह सुन्दरता, उल्लास, नृत्य, पर्व, आमोद—प्रमोद और वर्ण संस्कारों आदि के भीतर से ही झाँकता हुआ उद्दाम मानव—भाव का संसार है। 'ग्रामयुवती', 'धोबियों का नृत्य', 'ग्राम—श्री', 'नहान', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र—नृत्य' जैसी रचनाएँ इन नये ग्राम से भी हमारा परिचय कराती हैं। यह ग्राम जीवन की ऊर्जा से ओतप्रोत, कुसंस्कारों में आबद्ध, परन्तु प्राणवान् मानव—चेतना से आन्दोलित सांस्कृतिक इकाई है। ग्रामीण जीवन के इस सौन्दर्य को उद्घाटित करने के लिए कवि को नयी भाषा शैली, नये छन्द, नयी भावोन्मुक्ति की रूप रेखा गढ़नी पड़ी है, परन्तु वह इस नयी दिशा में भी पूर्णतः सफल है। उसकी तूलिका वर्णन—कला में सिद्ध होती गयी है और ग्राम—जीवन के अनेक गत्यात्मक चित्र उसने बाँधे हैं। जन—जीवन की प्रतिनिधि ये रचनाएँ अनाविल सौन्दर्य और रेखा विरल चातुर्य से पूर्ण हैं परन्तु बौद्धिकता से अनुशासित रहने पर भी इन रचनाओं में भारतीय जन—जीवन का अवचेतनीय सौन्दर्य असंख्य रंगों—रूपों में खिल पड़ा है।

संकलन की केन्द्रीय रचनाएँ दो हैं—'भारत—माता', जो नवोदित भारत—राष्ट्र का जनगीत बन गयी है और 'ग्राम—देवता', जिसमें कवि भारतीय जनवाद का समर्थक बनकर ग्राम—संस्कृति के प्रति अपना अभिवादन प्रकट करता है। नये मानवतावाद में जन—संस्कृति को समाविष्ट करने की लालसा इस रचना में परिव्याप्त है। ग्राम—देवता की यह प्रशस्ति व्यंगप्राण होकर भी नवयुग के लिए अशेष आशीष बन गयी है क्योंकि इसी से हमने ग्राम—भारत के यथार्थ रूप को पहचाना है। रचना का धरातल बौद्धिक है और उसमें कवि की अद्यतन चिन्ता की स्पष्ट झलक है परन्तु उसकी सप्राणता उसमें पर्याप्त भावुकता का संचार कर देती है। नि:सन्देह यह रचना 'ग्राम्या' का शीर्ष है।

अन्य संकलनों की भाँति 'ग्राम्या' में प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं, जो ग्रामीण प्रकृति—पटको खुली आँखों और विरल रंगरेखाओं से उतारते हैं। अधिकांश रचनाओं में प्रकृति पृष्ठभूमि बनकर आयी है परन्तु उसने ग्राम—शोभा में वृद्धि ही की है। 'सन्ध्या के बाद', 'दिवास्वप्न', 'खिड़की से' जैसी रचनाएँ हमें कवि की परिचित मनोभूमि की झाँकी देती हैं यद्यपि प्रौढ़ता के साथ चिन्तन और चित्रण के क्षेत्र में काफी परिवर्तन भी हुआ है, जो विकासमान कलाकार के अनुरूप ही कहा जा सकता है। अन्तिम श्रेणी ऐसी कविताओं की है, जिसमें कवि ने आधुनिक नारी को चित्रित किया है और उसके अस्वाभाविक जीवनदर्शन तथा क्रियाकलाप के प्रति लज्जा प्रकट की है। 'आधुनिका', 'नारी', 'स्वीट पीके प्रति', 'द्वन्द्व प्रणय' जैसी रचनाओं में कवि ग्रामीण और श्रमिक नारी के स्वस्थ प्रणय के

समकक्ष अभिजाती प्रेम की कृत्रिमता और आत्महीनता को उभारकर रख देता है। यह उसके चिन्तन की नयी दिशा है जो बाद में उसकी सांस्कृतिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी है। इन कविताओं का रचनाकाल द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से त्रस्त था। अतः पन्त का काव्यचिन्तन जनजीवन की ओर मुड़ा और उन्होंने हिंसा—अहिंसा के द्वन्द्व से ऊपर उठकर तरुण शक्ति को ग्रामों की ओर ललकारा, जहाँ जनजीवन अतिरुद्ध और मूर्च्छित था। 'अहिंसा' शीर्षक कविता में उसका वह स्वर स्पष्ट है:''बन्धन बन रही अहिंसा आज जनों के हित।''

—रा० र० भ०

ग्रियर्सन, जार्ज अब्राहम—(१८५१—१९४१) सन् १८६८ मे राबर्ट एट्किन्सन से सस्कृत वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने भारत की पौराणिक गाथाओं में इतिहास का दर्शन किया और ग्रामीणों की कहावतों में ज्ञान प्राप्त किया। ये वेद और संस्कृत से भी बहुत प्रभावित थे। इनके सहायकों में गौरीकान्त, स्टेनकोनो ई० एच० हाल आदि रहे हैं। एक भाषा—वैज्ञानिक एवं इतिहासज्ञ रूप में ये प्रसिद्ध हैं।

इन्होंने बिहार में काम करना प्रारम्भ किया था। वहीं इन्होंने बिहारी भाषाओं का अध्ययन किया और 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' १८८३ से १८८७ ई० तक प्रकाशित किये।

ग्रियर्सन को हिन्दी से अतिशय प्रेम था। इसीलिए,इन्होंने ३३ वर्ष तक पर्याप्त परिश्रम कर असंख्य व्यक्तियों से पत्राचार एवं सम्पर्क स्थापित करके भारतीय भाषाओं एवं बोलियों के विषय में भरसक प्रामाणिक आँकड़े और विवरण एकत्र किये (लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया)। भाषाओं और बोलियों के सम्बन्ध में खोज तथा छानबीन का इतना विशाल एवं विस्तृत प्रयत्न किसी भी देश में नहीं किया गया। अंग्रेजी में यह ११ जिल्दों में प्रकाशित हुआ था।

ग्रियर्सन के ही शब्दों में''इसका विवरणात्मक भाग दो हिस्सों में विभक्त है। पहले का शीर्षक 'भूमिका' है और इसमें उन सभी पूर्व प्रयत्नों का विवरण प्रस्तुत है, जो भारत की भाषाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में किये गये थे।'दूसरे भाग में सर्वेक्षण के परिणामों तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओ पर दृष्टिपात करने का प्रयत्न किया गया है।'इन दो खण्डों के अतिरिक्त इस सर्वेक्षण में दो अन्य संग्रह भी हैं जिनमें समस्त सर्वेक्षण के लिए बृहत् योग एवं लघु योग तथा शोधनीय सामग्री है।...अन्त में तीन परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं। इनमें भारत की सभी भाषाओं की वर्गीकृत सूची, उन भाषाओं की सूची, जिनके ग्रामोफोन रेकार्ड इस देश में तथा पेरिस में उपलब्ध हैं तथा सभी भारतीय भाषाओं के नाम हैं।'' इसमें विभिन्न भाषाओं के नमूने भी हैं।

'भाषा—सर्वेक्षण' नामक यह ग्रन्थ साहित्य, भाषा तथा उसके इतिहास के लिए एक अनुपम सन्दर्भ ग्रन्थ है। वे इसे १८९४ से प्रारम्भ कर १९२७ ई० में समाप्त कर सके। इसी से उसकी विशालता का अन्दाज लगेगा।

इसके अतिरिक्त इनकी एक पुस्तक 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ नादर्न हिन्दुस्तान' भी है, जिसका प्रकाशन सन् १८८९ ई० में हुआ। १९०६ ई० में पिशाच भाषा तथा १९११ में कश्मीरी पर (२ भागों में) भी इनके प्रामाणिक ग्रन्थ निकले। १९२४ मे ४ भागों मे इनका 'कश्मीरी कोष' प्रकाशित हुआ।

ग्रियर्सन का भाषा सम्बन्धी वर्गीकरण भले ही उचित न हो पर महत्त्वपूर्ण अवश्य है। उनकी दृष्टि में हिन्दी, हिन्दुस्तानी का ही एक रूप है। हिन्दुस्तानी को उन्होंने मूल भाषा माना है। इसकी परिणति वे उर्दू में मानते हैं। ग्रियर्सन के भाषा—सर्वेक्षण में विभिन्न बोलियों के उदाहरण तो हैं किन्तु अरबी—फारसी शब्दों की संख्या नगण्य है। वे ठेठ हिन्दुस्तानी को साहित्यिक उर्दू तथा हिन्दी की जननी मानते हैं। ग्रियर्सन फारसी की तरह संस्कृत को भी विदेशी मानते हैं। जो भी हो, ११ जिल्दों में (जिनमें से कुछ कई भागों में विभक्त हैं) सभी भारतीय भाषाओं एवं बोलियों का उदाहरण एवं उनका व्याकरण दे देना ग्रियर्सन के अमरत्व के लिए पर्याप्त है। उनकी सुविस्तृत भूमिका उनके श्रेष्ठ पाण्डित्य का उत्कृष्ट प्रमाण है।

—ह० दे० बा०

ग्वाल कवि—'सरोज' में सन् १६५९ में इस कवि का उपस्थित होना माना गया है और कालिदास के 'हजारा' मे उद्धृत प्राचीन ग्वाल तथा सन् १८२३ में उपस्थित मथुरानिवासी बन्दीजन ग्वाल के नाम से दो कवियो का उल्लेख किया है, जिनमें दूसरे व्यक्ति ही विशेष प्रसिद्ध हैं। ये सेवाराम बन्दीजन के पुत्र थे और समकालीन कवि नवनीत चतुर्वेदी तथा रामपुर दरबार के अमीर अहमद मीनाई की पुस्तक 'इन्तखावे यादगार' के उल्लेख के आधार पर ये वास्तविक निवासी वृन्दावन के सिद्ध होते हैं तथा वहीं कालिया घाट पर इनके मकानों के चिन्ह तथा इनके वंशज अब भी हैं। मथुरा से भी उनका सम्बन्ध रहा है और वहाँ भी इन्होंने मकान बनवाया था। इनके 'रसिकानन्द' नामक ग्रन्थ से इनके पिता का नाम मुरलीधर राव भी मिलता है। इनके गुरु का नाम दयालजी बतलाया जाता है। इनका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीय सं० १८४८ (सन् १७९२) में हुआ। इनका रचनाकाल सन् १८२२ से १८६१ तक माना जाता है। ये शतरंज के खिलाड़ी थे और फक्कड़ स्वभाव के होने के कारण इधर—उधर बहुत घूमे। ये नाभानरेश महाराज जसवन्तसिंह, महाराज रणजीतसिंह, सुकेत मण्डी तथा रामपुर रियासत के आश्रय में विशेष रूप से रहे। रामपुर में ये दो बार रहे और वहीं १६ अगस्त सन् १८६७ को इनकी मृत्यु हुई। इनके दो पुत्र खूबचन्द (या रूपचन्द) तथा खेमचन्द नाम से थे।

ग्वाल के ग्रन्थों की संख्या ५० के लगभग बतायी जाती है और प्रत्येक इतिहासकार अथवा ग्वाल के आलोचक ने कुछ न कुछ नयी पुस्तकों के नाम जोड़ दिये हैं, किन्तु 'रसरंग', 'अलंकारभ्रमभंजन' तथा 'कवि—दर्पण' महत्त्व की हैं। इनमें से अनेक रचनाएँ तो प्राप्त भी नहीं हैं। 'रसरंग' सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के निजी पुस्तकालय में तथा शेष दो ना० प्र० सभा, काशी में खण्डित रूप में सुरक्षित हैं। इनके अब तक बताये जानेवाले ग्रन्थों के नाम तथा रचनाकाल इस प्रकार हैं: १. 'यमुना लहरी' सन्१८२४ (प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९२४ ई०), २. 'रसिकानन्द' सन् १८२४, ३. 'हमीरहठ' सन् १८२६, ४. 'राधामाधवमिलन', ५. 'राधाअष्टक', सन् १८२६, ६. 'श्रीकृष्ण जूको नखशिख' सन् १८२८ ई० (प्र० लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद), ७. 'नेह—निबाहन', ८. 'बंशीलीला', ९. 'गोपी—पच्चीसी', १०.

'कुब्जाष्टक' सन् १८२८, ११. 'कवि—दर्पण' सन् १८३६, १२. 'साहित्यानन्द' सन् १८४८, १३. 'रसरंग' सन् १८४७, १४. 'अलंकार—भ्रमभंजन', १५. 'प्रस्तार प्रकाश', १६. 'भक्तिभावन या भक्तभावन' सन् १८६४,१७. 'साहित्य भूषण', १८. 'साहित्यदर्पण', १९. 'दोहा श्रृंगार', २०. 'श्रृंगार कवित्त' २१. 'दूषण दर्पण' सन् १८३५, २२. 'कवित्त बसन्त', २३. 'बंशी बीसा', २४. 'ग्वाल पहेली', २५. 'रामाष्टक', २६. 'गणेशाष्टक' १—२, २७ 'दृगशतक', २८. 'कवित्त ग्रन्थमाला', २९. 'कवि—हृदय विनोद', ३०. 'इश्क लहर दरियाव' सन् १८६३, ३१. 'विजय विनोद' सन् १८४९, ३२. 'षट्ऋतु वर्णन (प्र० भारत जीवन प्रेस, बनारस. १९३६ ई०।

राजेश्वर चतुर्वेदी 'कवि दर्पण' को ही 'दूषण दर्पण', 'साहित्यदर्पण' तथा 'साहित्यभूषण' के नाम से प्रचलित मानते हैं तथा 'कवि हृदय विनोद' को 'भक्तिभावन' या 'भक्तिपावन' का प्रकाशित लघु—संस्करण बताते हैं। इसी प्रकार हो सकता है 'बंशीलीला भी एक ही पुस्तक के दो नाम हों। अभी तो अनुमान से ही आलोचकों ने इन सब ग्रन्थों के विषय भी निर्धारित कर लिए हैं। इन ग्रन्थों से ग्वाल का काव्यांगों का विवेचक होना तो सिद्ध होता ही है, उनकी भक्ति तथा श्रृंगारिक कविता का भी संकेत मिलता है। काव्यशास्त्र में रस, अलंकार तथा पिंगल ही उनके विषय रहे। 'रसिकानन्द' में नायक—नायिका भेद, हाव—भाव तथा रस—निरूपण है और उदाहरणों का ही विशेष वर्णन है। (हि० का० शा० इ० तथा हि० सा० बृ० इ० में इसे अलंकार—ग्रन्थ माना गया है)। 'रसरंग' में दोहों में रस—रसांगों के लक्षण संक्षिप्त तथा स्पष्ट रूप में दिये गये हैं। 'कृष्ण जूका नखशिख' बलभद्र के 'नखशिख' के अनुकरण पर है और अलंकाराधिक्य में स्वाभाविकता खो बैठा है। यह अलंकार का ग्रन्थ है। साथ ही 'अलंकार—भ्रम—भंजन अलग से इसी विषय के लिए लिखा गया है। 'प्रस्तार प्रकाश' पिंगल—निरूपक ग्रन्थ है और 'कवि—दर्पण' रीति—ग्रन्थ। 'रसिकानन्द' की रचना नाभानरेश महाराज जसवन्तसिंह के यहाँ हुई थी और 'कृष्णाष्टक' की रचना टोंक के नवाब की इच्छा से हुई थी। मीर हसन की मसनवी 'सहरूल—बयान' का 'इश्कलहर दरियाव' (सं० १९२०) के नाम से अनुवाद है और 'विजय विनोद' (सं० १९०८) में महाराज रणजीतसिंह के दरबार की घटनाएँ हैं। इसमें राजा ध्यानसिंह का यश वर्णित है और उन्हे 'हिन्दूपति' कहा गया है। 'विजय विनोद' की हस्तलिखित प्रति भाई साहब बागड़िया तथा महाराज पटियाला के पुस्तकालय में उपलब्ध बतायी जाती है।

घुमक्कड़ होने के कारण इन्हें १९ भाषाओं का अभ्यास था। दरबारी वाग्विलास में ये सिद्ध हो चुके थे और उसी के प्रभाव से उक्तियों में अश्लीलता का पुट लाने से बचे न रह सके। प्रान्तीय भाषाओं में छन्द—रचना करने के साथ ही इन्होंने फारसी—अरबीबहुल हिन्दी का प्रयोग किया है। इनके वर्णनों में वैभव के प्रति आकर्षण तथा इनकी पद्माकरी शैली में वस्तु—परिगणन तथा वाग्विलास की ओर विशेष प्रवृत्ति है। भाषा में पद्माकर के समान अनुप्रासमयता, चमत्कार—विधान, कल्पना का विशेष पुट, अलंकृति और मुहावरे के उचित प्रयोग के रहते हुए भी बाजारूपन अवश्य आ गया है। भोग—विलास की वस्तुओं के परिगणन, षट्ऋतुवर्णन तथा श्रृंगारोद्दीपक ऋतु वर्णन से प्रायः काव्य में अस्वाभाविकता आ गयी है। वैसे ऋतुवर्णन विस्तृत है और विदग्धता के साथ किया गया है। ये जगदम्बा तथा शिव के उपासक थे, किन्तु कविता के वर्ण्य—विषय के लिए इन्होंने राधा—कृष्ण को ही विशेष रूप से चुना और उनको नायक—नायिका के रूप में वर्णित किया है। इनमें भक्ति तो यत्किंचित ही है, रीतिका अनुकरण और निर्वाह ही मुख्य है। फिर भी देव, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवियों के साथ इनकोआसन नहीं दिया जा सकता। रस—परिपाक तथा अभिव्यंजना—प्रभाव दोनों में ग्वाल समर्थ और सफल हुए हैं, किन्तु अनुकरण, बाजारूपन तथा प्रतिभाजन्य विशिष्टता की कमी के कारण इन्हें प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं दिया जा सकता। षट्ऋतु—वर्णन में ग्वाल सेनापति के अतिरिक्त अपना सानी नहीं रखते।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; शि० स०; मि० वि०; क० को० (भा० १); दि० भू०; ब्रजभारती (९—४)।]

आ० प्र० दी०

घंटी—प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' की पात्र। यह नन्दो की पुत्री है। रामदेव ने उसे एक मेले में लड़के के बदले में छोड़ दिया था। गोविन्दी चौबाइन ने उसका पालन पोषण किया। उसके मरने पर वह अनाथ हो गयी। वह बाल—विधवा थी। घण्टी हँसोड़ प्रकृति की, निर्लज्ज, स्पष्टवादिनी युवती है। वृन्दावन में विजय और किशोरी से उसकी भेंट होती है। विजय के प्रति वह आकर्षित होती है। प्रेमिका के रूप में घण्टी स्वच्छन्दतावादी है। पुरुष के प्रति प्रणय और आकर्षण को वह नारी की सहज प्रवृत्ति मानती है और इसी कारण न तो विजय के साथ घूमने में उसे संकोच होता है और न उसके आलिंगन—पाश में बँधने में लज्जा की अनुभूति होती है। विजय के साथ वह मथुरा चली जाती है। विजय के हत्या—अपराध के भय से भाग जाने पर वह भी एक दिन बाथम के चक्कर से निकल भागती है। घण्टी यमुना के विपरीत पुरुषों के अत्याचारों का अधिक आक्रोशपूर्ण विरोध करती है। पगली घन्टी की मुलाकात अनायास ही अपनी माँ नन्दो से हो जाती है। किशोरी दोनों को निर्वासित कर देती है। घण्टी अन्त में भारत—संघ में समाज—सेविका के रूप में काम करने लगती है। विजय के दाह—संस्कार की व्यवस्था में सहयोग देना उसके सेविका स्वरूप का परिचायक है।

—शं० ना० च०

घनश्याम—इनका जन्म असनी (जिला फतेहपुर) के कान्यकुब्ज कुल में १६८० ई० में हुआ और मृत्यु १७७८ ई० में। 'दिग्विजयभूषण' में उद्धृत छन्द के अनुसार ये बांधवगढ़ (रीवाँ) के बघेल राजा के आश्रित कवि थे। 'शिवसिंह सरोज' में उद्धृत छन्द के अनुसार काशिराज के आश्रय में इनका कुछ दिन रहना भी सिद्ध होता है। शिवसिंह ने 'कालिदास हजारा' में इनके छन्दों का संकलित होना माना है, जो भगवतीप्रसाद सिंह के अनुसार (दि० भू० की भूमिका) उचित नहीं है, क्योंकि इसके संकलन—काल १६९३ ई० में इनकी अवस्था केवल १३ वर्ष ठहरती है। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, शिवसिंह ने इनके २०० छन्द संगृहीत किये थे। इनके काव्य में आलंकारिक चमत्कार तथा ऊहात्मक कल्पना विशेष रूप से पायी जाती

है।

—स०

घनश्यामदास बिरला—देश के प्रसिद्ध उद्योगपति। आपका जन्म पिलानी (राजस्थान) में १८९१ ई० में हुआ। हिन्दी भाषा और साहित्य में प्रारम्भ से ही रुचि रही है। स्वयं भी लिखते रहे हैं। महात्मा गान्धी के निकट सम्पर्क में रहे। 'बापू' नामक आपका ग्रन्थ विशेष रूप से आदृत हुआ। इसकी भूमिका स्वर्गीय महादेव देसाई ने लिखी थी। अंग्रेजी में आपकी कृति 'इन द शैडो ऑव द महात्मा' प्रकाशित हुई है। —सं

घनानंद—ये रीतिकालीन कवि हैं। इनके जीवन—चरित्र का व्यवस्थित विवरण कहीं भी प्राप्त नहीं होता। ग्रियर्सन ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य—इतिहासकारों महादेवप्रसाद और शिवसिंह के आधार पर अपने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' में इनके सम्बन्ध में थोड़ी जानकारी दी है। वे इन्हें जाति का कायस्थ और बहादुरशाह का मीर मुंशी बतलाते हैं। जब ये विरक्त हो मथुरा, वृन्दावन चले गये तब नादिरशाह के सिपाहियों के द्वारा तलवार से मार डाले गये। महाराज रघुराज सिंह जू देवके 'भक्तमाल' ग्रन्थ में भी इनका चरित्र दिया गया है। ज्ञात होता है कि उसमें मथुरा में प्रचलित किंवदन्ती का आधार लिया गया है। मथुरा में जब दिल्ली के किसी शाहजादा को जूते की माला पहनाकर अपमानित किया गया तब उसने दिल्ली से सेना बुलाकर नागरिकों का 'कत्लेआम' करवाया। उस समय घनानन्द सखी—भाव से भगवान् कृष्ण की उपासना कर रहे थे। सैनिकों ने उन पर तलवार का वार किया, पर वे मरे नहीं। उन्होंने भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना की और सैनिकों से पुनः 'वार' करने को कहा। इस बार उनके प्राण निकल गये पर शरीर से रक्त की एक बूँद भी नहीं निकली—"घन आनन्द तन कढ्यौ न लोहू, सो चरित्र लखि पर्यौ न कोऊ" गोस्वामी श्री राधाचरण ने इनके सम्बन्ध में एक छप्पय लिखा है—"दिल्लीश्वर नृप निमित्त एक धरपद नहिं गायौ। पै निजप्यारी कहे सभा को रीझि रिझायौ। । कुपित होय नृप दियं निकास वृन्दावन आये। परम सुजान सुजान छाप पद कवित बनाये। । नादिरशाही ब्रजरज मिले किय न नेक उच्चार मन। हरिभक्ति बेलि सिंचन करी घनआनन्द आनन्द घन।"

इसमें कवि का वेश्या सुजान से प्रेम—सम्बन्ध उल्लिखित है। कहा जाता है कि कवि ने उसी के नाम को श्रीकृष्ण के नाम पर ढालकर छन्द रचना की। इस प्रकार कवि के जीवन की सामग्री का मुख्य आधार रघुराजसिंह जू की 'भक्तमाल' और राधाचरण गोस्वामी का 'छप्पय' है। इनकी सामग्री किंवदन्ती पर ही आधारित है। किंवदन्ती के आधार पर ही ये निम्बार्क—मतानुयायी और सखी भावोपासक भक्त माने जाते हैं। मनोहर लाल गौड़ को भवानीशंकर याज्ञिक द्वारा प्राप्त 'जय कवित्त' के चार भड़ौआ छन्दों में कवि की जीवनी का उल्लेख मिला है। छन्दों के प्रारम्भ में ही लिखा है—"कायथ आनन्दघन महा हरामजादो हो। सुब्रज की कटा में आयो परन्तु अपजस वाको थिर हे—ताको वर्णन"। एक भड़ौआ जिसमें कवि का 'तुरकिनी सुजान' में प्रेम—सम्बन्ध का वर्णन है, यहाँ दिया जा रहा है—"डफरी बजावे डोम ढाढ़ी सम गावै, काहू तुरकै रिझावै तब पावै झूठौ नाम है। तुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है, तजि रामनाम वाकौ पूजै काम धाम है।"

'मिश्रबन्धु विनोद' में इन्हे वेश्यासक्त बतलाया गया है। रामचन्द्र शुक्ल ने भी मिश्रबन्धु—विनोद और गोस्वामीजी के छप्पय का आधार लिया है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने उनकी जन्मभूमि बुलन्दशहर जिला मानी है और यही अनुमान ठीक जान पड़ता है। इनके जन्म और मृत्यु के समय में भी विद्वानों में मतभेद है परन्तु यह तो उनके यत्र—तत्र बिखरे हुए पदों तथा अन्य ग्रन्थो के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये विक्रम १८वीं और १९वीं शताब्दी मे विद्यमान थे। लाला भगवानदीन इनका जन्म १६५८ ई० (सं० १७१५) और मृत्यु १७३९ ई० (सं० १७९६ वि०); रामचन्द्रशुक्ल जन्म—समय १६८९ ई० (सं० १७४६) के लगभग और विश्वनाथप्रसाद मिश्र १६७३ ई० (सं० १७३०) के आसपास मानते हैं, जिसका समर्थन मनोहरलाल गौड़ भी करते हैं। कवि की मृत्यु मथुरा में नादिरशाह के आक्रमण के समय हुई। इस आक्रमण का समय ११ मार्च सन् १७३९ है। इस समय का समर्थन ग्रियर्सन, राधाचरण गोस्वामी और रामचन्द्र शुक्ल करते हैं परन्तु इतिहास—ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि नादिरशाह का आक्रमण केवल दिल्ली पर हुआ और वहीं भयंकर नर—संहार भी हुआ था। उसने मथुरा पर चढ़ाई की ही नहीं। मथुरा पर अब्दाली दुर्रानी का दो बार आक्रमण हुआ और प्रत्येक बार नागरिकों का कत्लेआम भी। ज्ञानवती त्रिवेदी का यह मत समीचीन जान पड़ता है कि कवि मथुरा पर अब्दाली दुर्रानी के दूसरे कत्लेआम के समय १६६० ई० (सं० १८१७) में मारे गये।

हिन्दी में आनन्द घन, घन आनन्द, आनन्द और घनानन्द नाम से अनेक रचनाएँ प्रचलित हैं। पहले इन सबको एक ही माना जाता रहा है। बहुत कुछ गड़बड़—झाला तो आनन्द घन कवि की अनेक नामों की छाप के कारण पैदा हुआ है। उसने आनन्द घन, अनन्दघन, आनन्दमोद, आनन्दनिधान, आनन्द, आनन्दमेघ, आनन्दमेह, घन आनन्द आदि का प्रयोग किया है। कदाचित् छन्दोभंग की रक्षा के लिए कवि का नाम आनन्दघन और उपनाम घनानन्द जान पड़ता है। आनन्द घनानन्द से पृथक् कवि सिद्ध होते हैं। कुछ समयतक जैनधर्मी आनन्दघन कवि और घनानन्द की एकता मानी जाती रही है, पर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने दोनों कवियों की पृथक्—पृथक् रचनाएँ छापकर भिन्नता स्पष्ट कर दी।

घनानन्द ने सुजान का इतनी तन्मयता से अपने पदों में उल्लेख किया है कि उसका आध्यात्मीकरण सा हो गया है। उसका उनकी प्रेयसी होना ही अधिक सिद्ध होता है। कहा जाता है कि वह मुहम्मदशाह के दरबार में, जहाँ कवि भी थे, नर्तकी (वेश्या) थी और उसी के प्रेम में कवि ने अपने को अर्पित कर दिया था—उसी में भगवान् के नाना रूपों के दर्शन किये थे।

आनन्दघन या घनानन्द की रचनाएँ मुक्तक और निबन्ध रूप में प्राप्त होती हैं। इनकी कतिपय रचनाओं का सर्वप्रथम प्रकाशन हरिश्चन्द्र ने 'सुन्दरी तिलक' में कराया था। सन् १८७० में उन्होंने 'सुजान सतक' नाम से इनके ११९ कवित्त प्रकाशित किये। इसके पश्चात् जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने सन् १८९७ में 'सुजान सागर' छपवाया। सन् १९०७ में काशीप्रसाद जायसवाल ने इनकी 'वियोग बेलि' और 'विरह लीला' को काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

कराया। शम्भुप्रसाद बहुगुना ने कवि की कृतियों का विशेष अध्ययन कर उनके ६५ कवित्त, सवैये, दोहे आदि और ५८ गेय पद अपनी 'घन—आनन्द' पुस्तक में खोजपूर्ण भूमिका सहित छपाये। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कवि पर विशेष शोध—कार्य किया और उनकी रचनाओं के तीन संग्रह प्रकाशित कराये—१.घनानन्द कवित्त (जिसमें २८८ सवैये ओर २१४ कवित्त हैं) में कवि के सम—सामयिक काव्य—प्रेमी ब्रजनाथ द्वारा संगृहीत प्रति का उपयोग किया गया है, जो कवि की कृतियों का प्राचीनतम संग्रह माना जाता है। २.दूसरा संग्रह सं० २००२ में छपा हैं, इसमें कवित्त, सवैयों के अतिरिक्त घनानन्द के ५०० पद, 'वियोग बेलि', 'इश्कलता', 'यमुनायश', 'प्रीति पावस' तथा 'प्रेम पत्रिका' का संग्रह है। कवि के सवैयों के संग्रह में कवि का 'सुजान हित' प्रबन्ध मुख्य है। ३. घनानन्द ग्रन्थावली का प्रकाशन १९५२ ई० (सं० २००९) में हुआ। इसमें वृन्दावन तथा लन्दन के संग्रहालयों की हस्तप्रतियों का प्रयोग कर अन्य विकीर्ण सामग्री का भी संग्रह किया गया है। इसमें आनन्दघन की कई पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं—(१) 'कवित्त सवैयों का संग्रह', (२) 'पदावली', (३) 'कृपानन्द', (४) 'वियोग बेलि', (५) 'इश्कलता', (६) 'यमुनायश', (७) प्रीतिपावस', (८) 'प्रेम पत्रिका', (९) 'अनुभवचन्द्रिका', (१०) 'रंगबधाई', (११) 'प्रेम पद्धति', (१२) 'वृषभानपुर सुषमा वर्णन', (१३) 'गोकुल गीत', (१४) 'नाममाधुरी', (१५) 'गिरि पूजन' (१६) 'विचार सार', (१७) 'दानघटा, (१८) 'भावना प्रकाश', (१९) 'ब्रजस्वरूप', (२०) 'प्रेम—पहेली', (२१) 'रसायनयश', (२२) 'गोकुल विनोद', (२३) 'कृष्ण कौमुदी', (२४) 'धाम चमत्कार', (२५) 'प्रिया प्रसाद', (२६) 'वृन्दावन मुद्रा', (२७) 'ब्रजप्रसाद', (२८) 'गोकुलचरित्र', (२९) 'मुरली का मोद', (३०) 'मनोरथ मंजरी', (३१) 'गिरिगाथा', (३२) 'ब्रजव्योहार', (३३) 'छंदाष्टक', (३४) 'त्रिभंगी', (३५) 'परमहंसावली', (३६) 'कर्तृत्व तथा शीर्षक परीक्षा' आदि।

रामचन्द्र शुक्ल ने कवि को रोमांटिक—धारा का श्रेष्ठ कवि कहा है। उसकी ब्रजभाषा सजीव, लाक्षणिकता तथा व्यंजना प्रचुर और व्याकरणसम्मत है। अपने भावों में फारसी काव्य से अनुप्राणित होते हुए भी कवि ने भाषा में उसका बेमेल मिश्रण नहीं होने दिया। कवि ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग में पटु है। उसके समकालीन भड़ौआकार ने उसकी कविता की आलोचना करते हुए लिखा है—"हुरकिनी सुजान है तुरकिनी को सेवक है, तजि राम नाम बाकों पूजे काम धाम है। और बेन को चुरावे बाको मजमून लावें।" आदि। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने आत्माभिव्यक्ति द्वारा मुक्त काव्य—धारा का जो रूप प्रस्तुत किया, वह उसकी अपनी सूझ है।

[सहायक ग्रन्थ—घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा : मनोहरलाल गौड़; हि० सा० इ०; घनानन्द ग्रन्थावली : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; मि० वि०; माडर्न वनाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान : ग्रियर्सन।]

—वि० मो० श०

घाघ—ये जाति के दुबे (ब्राह्मण) और कन्नौज के रहनेवाले कहे जाते हैं तथा इनका जन्म सन् १६९६ ई० में हुआ माना जाता है। शुक्लजी, रसालजी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि प्रायः सभी इतिहासकारों ने इन्हें हिन्दी का कवि या हिन्दी का लोककवि माना है। रामनरेश त्रिपाठी ने घाघ के सम्बन्ध में काफी छानबीन की है और इन्हें अकबर का समकालीन स्वीकार किया है। इनका यह भी कहना है कि घाघ ने अपने समकालीन बादशाह अकबर के नाम पर 'अकबराबाद सराय घाघ' नाम का गाँव बसाया था, जो आज भी है और 'सराय घाघ' या 'चौधरी घाघ' नाम से पुकारा जाता है। लगता है कि इन विद्वानों का ध्यान 'डाक' नाम के प्रसिद्ध आसामी तथा उड़िया लोक—कवियों की ओर नहीं गया है। आसामी में 'डाक' नाम के प्रसिद्ध लोककवि हो गये हैं, जिनके 'वचन' का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। उनके छन्द भी घाघ जैसे हैं। अधिकांश तो ऐसे हैं, जिनको हिन्दी छन्दों का आसामी रूपांतर कहा जा सकता है। उड़ीसा के 'डाक' कवि के बारे में भी यही बात है। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीनों ही एक कवि ही हैं। बिहार और राजस्थान में घाघ 'डाक' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इससे भी डाक और घाघ या उक्त तीनों कवियों के एक मानने को बल मिलता है। मजे की बात यह है कि उड़ीसावाले इनका जन्मस्थान उड़ीसा में, आसामवाले आसाम में और राजस्थानवाले राजस्थान में मानते हैं। ऊपर इनके कन्नौज के होने की बात भी कही जा चुकी है। ऐसी स्थिति में यह एक समस्या है कि ये मूलतः कहाँ के थे और मूलतः किस भाषा के कवि थे।

पूरे उत्तर भारत में क्षेत्रीय भाषाओं में इनके खेतीविषयक तथा अन्य व्यावहारिक छन्द मिलते हैं। स्थान के अनुसार इनकी भाषा तथा कभी—कभी शब्दावली बदलती गयी है। ये छन्द मौसम, वर्षा, बुवाई, कटाई, दँवाई, गोड़ाई, भोजन, स्वास्थ्य तथा व्यवहार आदि के सम्बन्ध में हैं। इनके बहुत से छन्द तो लोकोक्ति बन चुके हैं। छन्द काव्य न होकर तुकबन्दी मात्र हैं, किन्तु हैं बड़े काम के। देहात के अनपढ़ किसानों के लिए वे कृषि—विज्ञान के जीते—जागते सूत्र हैं। प्रायः उनमें साहित्य—परम्परा में बहु प्रचलित छन्दों का प्रयोग नहीं है। अलंकार आदि भी प्रायः नहीं के बराबर हैं।

इनके छन्दों की कोई पुरानी पाण्डुलिपि नहीं मिलती। लोगों से सुन—सुनकर बहुत से लोगों ने इन्हें संगृहीत किया है। सबसे अच्छा संग्रह रामनरेश त्रिपाठी का है जो 'घाघ और भड्डरी' नाम से (हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३१ ई०) छप चुका है।

[सहायक ग्रन्थ—१. हिन्दी नीति काव्य—संग्रह भोलानाथ तिवारी।]

—भो० ना० ति०

घासीराम—इनका जन्म मल्लावाँ (जिला हरदोई) के एक ब्राह्मण कुल में १५९६ ई० में हुआ और जीवन—काल १६२५ ई० तक माना जाता है। शिवसिंह ने 'कालीदास हजारा'—में इनके छन्द संकलित बतलाये हैं। इनकी एकमात्र रचना 'पक्षी विलास' १५२३ ई० की मानी जाती है, जो अन्योक्ति शैली में लिखी हुई स्वीकार की गई है। मुक्तक छन्द प्राचीन संकलनों में मिलते हैं। 'शिवसिंह सरोज' तथा 'दिग्विजयभूषण' में उद्धृत इनके छन्दों से जान पड़ता है कि इन्होंने नख—शिख, नायिका—भेद तथा अलंकार जैसे विषय पर छन्द रचना की है। इनके काव्य में आलंकारिक चमत्कार

विशेष रूप से परिलक्षित होता है। मिश्रबन्धुओं ने भरतपुरवासी एक अन्य घासीराम की भी चर्चा की है जिनका रचनाकाल १८१० सं० बताया है। उनके ग्रन्थों में 'काव्य प्रकाश' और रसगंगाधर की टीका तथा 'भाषागीत गोविंद, का उल्लेख है। (मिश्रबन्धु विनोद भाग द्वि० सं०)।

—सं०

चंडीप्रसाद 'हृदयेश'—जन्म १८९८ ई०, मृत्युतिथि १९३६ ई० के लगभग। ये जाति के क्षत्रिय थे। पिता का नाम शंभूनाथ सिंह था। आधुनिक हिन्दी गद्य में एक शैलीकार के रूप में 'हृदयेश' का विशेष स्थान है। भाषा के अलंकृत तथा समृद्ध रूप का प्रयोग आपने बड़ी कुशलता के साथ किया है। आपके उपन्यास और कहानियों में जैसे पूर्व छायावाद का गद्यरूप देखने को मिलता है। अवश्य ही इनकी कथा—दृष्टि नितान्त आरम्भिक ढंग की रही। 'हृदयेश' के कहानी—संग्रह हैं—'नन्दन निकुंज', 'गल्प संग्रह', 'वनमाला', और उपन्यास हैं 'मंगल प्रभात' तथा 'मनोरमा'। अपने प्रकाशन के समय 'मंगल प्रभात' अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ था। यह भावपूर्ण शैली में एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें सेवा, त्याग, आत्मशुद्धि आदि उच्च वृत्तियों की महिमा का वर्णन है।

चंद—चन्द 'पृथ्वीराज रासो' में दो प्रकार से आता है, एक तो कथा—नायक के सहचर के रूप में और दूसरे काव्य के कवि के रूप में। कहीं तो यह चन्द विरदिआ है, कहीं चन्द, कहीं चन्द वरदाइ और कहीं भट्ट चन्द। 'विरदिआ' या 'विरुदिआ' का अर्थ है विरुद (प्रशस्ति) का गान करने वाला। 'वरदाई' का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है किन्तु रचना में एक स्थान पर आता है कि उसे हर से सिद्धि का वर प्राप्त था। पृथ्वीराज उससे कयमासवध के अनन्तर पूछता है—"कहा भुजंग कहा उदे सुर निकमु कव्व कवि चंडि। कइ छ्यमास बताहि मो कइ हर सिद्धीवर छंडि।।" किन्तु अन्यत्र यह ध्वनित होता है कि उसे सरस्वती का वर प्राप्त था, यथा, कन्नौज में जयचन्द के भेजे हुए कवि उसका स्वागत करते हुए उससे कहते हैं—"जउ सरसइ वरु जानहु रंचउ। तउ अदिट्ठ वरनउ नृत संचउ।।" इस स्थान पर यह अवश्य सम्भव है कि 'वरु' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध स्तुति—पाठक जाति 'भाट' के अर्थ में हुआ है। 'विरुदिआ' और 'भट्ट' प्रायः समानार्थी माने जा सकते हैं। इसीलिए कहा जा सकता है कि वह जाति से भट्ट था और विरुद—गान करना उसका कार्य था। उसे हर से किसी प्रकार की सिद्धि का वरदान प्राप्त था। उसके सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता था, यह भी माना जा सकता है।

इस चन्द का स्वभाव कदाचित् उग्र था, इसीलिए रचना में इसे 'चंड चंद' और 'चंडिय' भी कहा गया है। 'चंड चंद' स्वयं चन्द के मुख से कहलाया गया है। कन्नौज राजा जयचन्द की प्रशंसा में वह कहता हैं—"जपिय सच्च सो चंद चंड। थप्पियं जाय तिरहुति पिंड।।" 'चंडिय' कवि करके उसका उल्लेख किया गया है। कयमासवध के अनन्तर पृथ्वीराज की सभा में वह इसी रूप से आता है—"सकल सूर बोलिव सभ मण्डिय। आसिष आइ दीघ कवि चंडिय।" 'चंडिअं' का अर्थ 'कृत', 'छिन्न' अथवा 'काटा हुआ' होता है, जो यहाँ सम्भव नहीं है। असम्भव नहीं कि 'चंडिय' 'चंड' के अर्थ में ही प्रयुक्त हो और 'मंडिय' से तुक मिलाने के लिए 'चंड' का ही एक विकृत रूप कर लिया गया हो।

इस चन्द के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रसिद्ध रहा है कि इसका जन्म पृथ्वीराज के साथ—साथ हुआ और दोनों का प्राणान्त भी साथ—साथ हुआ। पहली प्रसिद्धि का आधार 'रासो' का एक दोहा रहा है, जो उसके समस्त रूपों में नहीं मिलता है और इसीलिए जिसकी प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध है। दूसरी प्रसिद्धि का आधार 'रासो' की कथा रही है जिसमें शब्दवेधी बाण की सहायता से पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का वध कराने के अनन्तर पृथ्वीराज और चन्द का प्राणान्त होना कहा गया है—"मरन चन्द बरदिआ राज धुनि साह हन्यउ सुनि। पुहपन्जलि असमान सीस छोड़ीत देवतनि।।" किन्तु 'चन्द बरदिआ और राजा का मरण हुआ' के स्थान पर "मरन चन्द बरदिआ राज" से अर्थ 'चन्द बरदिआ कहता है, राजा का मरण हुआ' भी लगाया जा सकता है।

एक प्रसिद्धि और रही है कि इसी कारण चन्द अपने काव्य को पूरा नहीं कर सका था, और वह इस सम्भावना को जानते हुए जब पृथ्वीराज का उद्धार करने गजनी जाने लगा था, उसने अपने पुत्र जल्ह को इस रचना को पूरा करने का कार्य सौंपा था। इसका आधार भी 'रासो' में आये हुए छन्द हैं किन्तु ये छन्द 'रासो' के सबसे अधिक प्रक्षिप्त रूप में ही मिलते हैं अन्य में नहीं, इसलिए विश्वसनीय नहीं है।

यह चन्द वास्तव में पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सहचर था, यह रचना से पूर्णतः प्रामाणित नहीं होता है, कारण यह है कि रचना के जितने भी रूप—रूपान्तर प्राप्त हैं, कुछ न कुछ अनैतिहासिकता सभी में पायी जाती है। यह अवश्य है कि जो रूप—रूपान्तर आकार में जितने ही बड़े हैं, उनमें यह अनैतिहासिकता उतनी ही अधिक है। उदाहरण के लिए रचना के समस्त रूपों में तत्कालीन आबूपति को सलष और उसके पुत्र को जैत कहा गया है, और इन्हें पृथ्वीराज का सामन्त कहा गया है जो उसके साथ क्रमशः जयचन्द और गोरी से हुए युद्धों में मारे जाते हैं किन्तु यह इतिहास से प्रमाणित है कि उस समय आबूपति धारावर्ण था जो गुजरिश का सामन्त था। ऐसी दशा में यही ज्ञात होता है कि 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता कोई परवर्ती कवि है, जिसने चन्द के नाम से सारे काव्य की रचना की है। यदि यह कहा जाय कि कोई चन्द पृथ्वीराज का समकालीन और उसका आश्रित रहा होगा, जिसकी स्फुट रचनाओं के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' का पुनर्निर्माण बाद में किसी अन्य कवि ने किया हो, तो यह एक कल्पना ही कही जायगी। क्योंकि 'रासो' के जितने भी पाठ हैं, उनकी सहायता से उसका कोई भी ऐसा पाठ नहीं तैयार किया जा सकता जो इतिहास से कुछ न कुछ विरुद्ध न जाता हो। फिर भी रचना अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए उसका महत्त्व प्रमाणित है।

—मा० प्र० गु०

चंदन—चन्दनराय नाहिल पुवायाँ (जिला शाहजहाँपुर' के रहनेवाले बन्दीजन थे। धर्मदास इनके पिता, फकीरेराम पितामह और भीषम प्रपितामह थे। चन्दन के दो पुत्र भी थे—प्रेमराम और जीवन। इनका काव्य—काल सन् १७५३ और १८०८ के बीच का समय है। ये हिन्दी, संस्कृत और फारसी के मर्मज्ञ विद्वान् थे। फारसी में भी ये अच्छी शायरी करते थे और उसमें इनका तखल्लुस 'संदल' था। १२ इनके

ऐसे चेले बताये जाते हैं, जिनमें सबके सब कवि थे, उनमे भी कोई मनभावन बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। ये इतने मनमौजी, विद्वान् और स्वाभिमानी थे कि राजा केशरीसिंह के अतिरिक्त ये किसी के यहाँ आश्रयार्थ नहीं गये। कहा जाता है कि एक बार इनकी प्रसिद्धि सुनकर अवध के नवाब ने बुलावा भेजा और इन्हें अपने यहाँ आने पर मजबूर किया। इस पर कवि ने उत्तर में निम्नलिखित दोहा लिखकर भेजा और स्वयं नाहिल छोड़कर काशी चले गये—"खरी टूक खर खरथुआ खारी नोन सँजोग। ये तौ जो घर ही मिले चन्दन छप्पन भोग।"

कवि की कुल रचनाएँ ५२ कही जाती हैं, जिनमें विशेष रूप से केवल ८ का ही पता चलता है—१. 'कृष्ण काव्य' (रचना काल १७५३ ई०), २. 'केशरी प्रकाश' (१७६० ई०), ३. 'राधाजी को नखशिख' (१७६८ ई०), ४. 'प्राग्य विलास' (१७६८ ई०), ५. 'काव्याभरण' (१७८८ ई०), ६. 'रस कल्लोल' (१७८९ ई०), ७. 'तत्त्वसंज्ञा' और ८. 'पीतम बीर विलास' (१८०८ ई०)। 'काव्याभरण' की हस्तलिखित प्रति कृष्णबिहारी मिश्र के संग्रह में है। इनके अतिरिक्त भी 'चन्दन सतसई', 'पथिक बोध', 'श्रृंगार सार', 'नाममाला' (कोश), 'तत्त्व संज्ञा' और 'सीत बसन्त' नामक रचनाएँ भी बतायी गयी हैं। 'दीवाने संदल' कवि की फारसी की रचना है। 'श्रृंगार सार', 'काव्याभरण' और 'रस कल्लोल' रीति रचनाएँ हैं तथा 'तत्त्व संज्ञा' एवं 'प्राग्य विलास' में तत्त्वज्ञान की बातें वर्णित की गयी हैं। 'चन्दन सतसई' बिहारी सतसई के आदर्श तर रची गयीं है और 'सीत बसन्त' संवेदना को तरल बनानेवाली एक रुचिकर लोक कहानी है। इसे देखकर स्पष्ट ही यह कहा जा सकता है कि कवि परम्परित रीति के पचड़े में ही पड़ा रहना नहीं चाहता था। वरन् भिन्न-भिन्न विषयों को अपनाना चाहता था। 'सीत बसन्त' जैसी जनप्रिय कहानी को अपने कृतित्व का विषय बनाना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इस दृष्टि से भी कवि का अनूठा महत्त्व है। भाव और भाषा पर कवि का महत्त्वपूर्ण अधिकार था। इनका काव्य सरस, सरल और रमणीय है। मिश्रबन्धुओं ने इसी नाते इन्हें दास—श्रेणी का कवि माना है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (बा० १९०१; त्रै० २, १०, १२, १३); शि० स०; दि० भू०; हि० सा० इ०।]

रा० त्रि०

चंदर बदन ओ माहियार—यह रचना दक्खिनी हिन्दी का प्रेमाख्यान है और इसके रचयिता 'मुकीमी' हैं। मुकीमी के जीवन—वृत्त या उनके जीवन—कालतक के विषय में पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री अभीतक उपलब्ध नहीं है। 'उर्दू ए कदीम' के लेखक सैयद शम्शुल्ला कादिरी ने "सदी बारह्वीं में थे कम साल दो। लिख्या नज्म कूँ मैंने वातर्ज नौ" उदधृत करके इसके आधार पर उसका रचनाकाल सन् १०९८ हि० (१६८६ ई०) ठहराया है (पृ० ९४) किन्तु यह पंक्ति प्रकाशित रचना या इसके किसी प्राप्त एवं माननीय हस्तलिखित प्रति में नहीं मिलती। ऐसी दशा में 'योरप में दमनी मख्तूतात' के लेखक नसीरुद्दीन हाशमी ने, "बाज अन्दरूनी शहादतों" के आधार पर अनुमान किया है कि यह पुस्तक सन् १०३७ हि० और सन् १०५० हि० के बीच (या सन् १६२७—३९ ई० में) किसी समय लिखी गयी होगी (पृ० २१०)। परन्तु अपनी "दकन में उर्दू" के अन्तर्गत उन्होंने फिर इसका रचनाकाल सन् १०५० हि० (सन् १६३९ ई०) ही मान लिया है (पृ० १५४) जिसके लिए वे कोई कारण भी नहीं बताते। इसके विपरीत 'उर्दू मस्नवी का इर्तका' के लेखक अब्दाल कादिर सर्वरी ने मुहीउद्दीन कादरी 'जोर' की पुस्तक 'उर्दू शहपारे' (भा० १ पृ० ३९) के आधार पर कहा है कि यह समय सन् १०३५ हि० और १०४८ हि० के बीच (या सन् १६२५—३८ ई० में) कभी होगा, क्योंकि "इससे पहले गोलकुण्डा में गवासी की मस्नवी 'सेकुल मुलूक और वदीउज्जमाल' (सन् १०३५ हि० में ही) लिखी जा चुकी थी" (पृ० ४९-५०) जिसकी ओर 'मुकीमी' ने संकेत किया है। इस बात की पुष्टि डा० जोर ने अपनी पुस्तक 'तजकिरा उर्दू मखतूतात' (पृ० ३८) के अन्तर्गत भी फिर की है और उन्होंने यह भी कहा है 'अमीन' कवि के प्रेमाख्यान 'बहराम व हुस्नबानू' (रचनाकाल सन् १०५० हि०) में 'मुकीमी' की ऐसी काव्य—रचना की चर्चा आ गयी है। प्रकाशित 'चन्दर बन्दन और महियार' के सम्पादक मुहम्मद अकबरुद्दीन सिद्दीकी ने सम्भवतः कोई स्पष्ट प्रमाण न मिलने के ही कारण इसके लिए निश्चित सन् देना उचित नहीं समझा है।

परन्तु 'मुकीमी' के पूरे नाम मिर्जा सैयद मुहम्मद मुकीमी के साथ बहुत लेखकों ने जहाँ 'अस्तरबादी' जोड़कर इस कवि के जन्म स्थान का उत्तरी ईरान के अस्तराबाद (या असमाबाद) होना सिद्ध करना चाहा है वहाँ सिद्दीकी ने यह अनुमान किया है कि वह सन् १०१० हि० और १०१५ हि० के बीच (या १६०१—६ ई० में) किसी समय, दक्षिण भारत के बीजापुर नगर में ही उत्पन्न हुआ होगा जहाँ पर उसके पिता मीर मुहम्मद रजा रिजवी (मला रजाई) मशहदी का कुछ प्रमाणों के आधार पर सन् ९८८ हि० (सन् १५७९ ई०) में वर्तमान रहना सिद्ध होता है, इन्होंने हाशमी तथा अन्य अनेक लेखकों के भी इस कथन के प्रति कि उसने जन्मस्थान अस्तरावाद से दक्षिण शीराज में शिक्षा पायी थी तथा अपने पिता का देहान्त हो जाने पर जीविका की खोज में वह बीजापुर आया था, कहीं अपनी सहमति नहीं प्रकट की है, प्रत्युत अपने मत के समर्थन में बहुत से तर्क उपस्थित किये हैं तथा इसके लिए कई तत्कालीन प्रमाण भी उपस्थित किये हैं। इनका यह भी कहना है कि 'मुकीमी' का मृत्युकाल भी सन् १०७५ हि० और सन् १०८० हि० के बीच कभी हो सकता है, वह अपनी फारसी रचनाओं में 'मुकीम' या 'सलमी' उपनाम रखता होगा और दक्खिनी हिन्दी में 'मुकीमी' देता होगा तथा उसने जीवन—काल का अधिकांश बीजापुर में ही व्यतीत किया होगा। 'मुकीमी' का कुछ कालतक गोलकुण्डा एवं अहमदनगर में रहना भी बतलाया जाता है और उसके फारसी दीवान में सन् १०६७ हि० (१६५६ ई०) लिखित मिलता है। नजीर अहमद ने अपने 'जुहूरी—लाइफ ऐण्ड वर्क्स' नामक अंग्रेजी निबन्ध में 'मुकीमी' के ईरानी होने पर, उसका दक्खिनी हिन्दी में भी किसी मस्नवी का सफलतापूर्वक रचना करना सम्भव नहीं समझा है (पृ० १६३) तथा इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लेखकों ने भी सन्देह प्रकट किया है परन्तु उसके जन्म से ही बीजापुरीय सिद्ध हो जाने पर तथा इस बात के कारण भी कि उस समय कतिपय अन्य फारसी कवियों ने भी ऐसा किया था, यह तर्क निर्बल पड़ जाता है।

'मुकीमी' की यह दक्खिनी हिन्दी रचना 'किस्सा सोमहार'

के नाम से भी प्रसिद्ध है जिसे 'उर्दू ए कदीम' के अन्तर्गत (पृ० ९४) "गुर्वत देहकान का फिसाना" बतलाया गया है किन्तु जिसकी 'चन्दर वदन ओ माहियार' से तुलना कर लेने पर सिद्दीकी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि दोनों वस्तुत: एक और अभिन्न हैं।

उन्होंने अपने सम्पादित 'चन्दर बदन ओ माहियार' के संस्करण के 'मुकद्दम:' के प्राय: अन्त में कुछ हस्तलिखित प्रतियों का पता देकर यह भी बतलाया है कि हामिदुल्ला नदवी के अनुसार इसका एक संस्करण 'करीमी' प्रेस बम्बई से सन् १२९० हि० (१८७२ ई०) में प्रकाशित हुआ था। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ यूरोप में हैं जिनमें से एक इण्डिया आफिस में है और दूसरी एडिनबरा यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में है किन्तु प्रथम प्रति का विवरण देते समय इसके रचयिता का नाम भूल से 'अजीज' दे दिया गया है जो भ्रमात्मक हो जाता है। 'चंदर बदन ओ माहियार' का आरम्भ 'खुदा' या परमात्मा के प्रति विनय से होता है और फिर उसकी स्तुति के अनन्तर क्रमश: हजरत मुहम्मद तथा उनके चार यारों की प्रशंसा की जाती है, ततुपश्चात् न तो नियमानुसार किसी शाहे वक्त की चर्चा की जाती है न आत्म–परिचय दिया जाता है और न रचनाकाल का उल्लेख ही किया जाता है। अपने पीर या धार्मिक सम्प्रदाय के विषय मे कुछ नहीं कहा जाता और न स्पष्ट शब्दों में इस रचना के कथानक का कोई आधार ही बतलाया जाता है। सर्व प्रथम "पिरितका रत्न" या प्रेमरत्न को अनुपम ठहराकर उसका महत्त्व वर्णन करते हुए कवि ने अपने को "मुहब्बत में मदहोश" कहा है और तब यह भी प्रकट किया है कि एक बार उससे किसी ने एक ऐसी प्रेम कहानी कही जिसे सुनकर लैला और मजनू को भी भूला जा सकता है तथा उसी से प्रेरणा पाकर इसे लिखना आरम्भ किया और उसके शब्द नये ढंग से निकलने लग गये। उसने यहाँ पर अपने समकालीन गवासी कवि का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है किन्तु फिर यह भी कह दिया है कि मैं किसी का अनुसरण नहीं करता तथा वैसा करना 'नन्हा काम' भी होता है।

कथा का सारांश इस प्रकार है–सुन्दर पटन में एक हिन्दू राजा रंगरापती था। वहाँ पर एक मन्दिर भी था जिसमें पूजा करने बहुत से लोग आया करते थे। राजा को कोई लड़का नहीं था, केवल एक लड़की थी जो परम रूपवती थी और उसका नाम चन्दर बदन था। वर्ष में एक बार वहाँ मेला लगा करता था जहाँ लाखों की भीड़ हुआ करती थी और चंदर बदन भी वहाँ पूजा करने जाया करती थी। एक दूसरे नगर का कोई व्यापारी था जिसकी कई पत्नियाँ थीं किन्तु एक ही लड़का था जिसका नाम माहियार (महीउद्दीन) था और वह अपने प्रारम्भिक जीवन से ही सौंदर्योपासक था। माहियार को किसी प्रकार चन्दर बदन के रूप की प्रशंसा सुन पड़ी और वह इसे देखने के लिए आतुर हो उठा। वह किसी बहाने वार्षिक मेले के अवसर पर सुन्दर पटन आया और वहाँ पर चन्दर बदन को देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने इससे साग्रह अनुरोध किया कि मुझे कभी अपने से दूर न होने दे और अनुनय विनय करता हुआ वह इसके चरणों पर गिर पड़ा परन्तु चन्दर बदन ने उस पर कुछ भी दया नहीं की। इसने कहा कि "मैं हिन्दू हूँ और तूँ तुर्क है। तुझसे मुझसे कोई सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है?" ऐसा कहते हुए इसने उसे झिड़की भी दी और कह दिया, "अरे मूर्ख, क्या तू दीवाना हो गया है?" जिससे अत्यन्त मर्माहत होकर वह पागल–सा बनकर निकल पड़ा और देश–विदेश भ्रमण करने लगा। घूमता फिरता माहियार किसी प्रकार बीजानगर पहुँचा और जहाँ का बादशाह फाजिल बहुत गुणवान और परोपकारी भी था। उसने जब इसे बुरी विरहावस्था में पाया तो इसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। वह इसे अपने महल में हाथ पकडकर ले गया और इसे अपनी सुन्दर युवतियों को दिखलाया, किन्तु इस पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न उस नगर या देश की अन्य सुन्दरियों की ओर ही वह आकृष्ट हुआ। बादशाह के पूछने पर इसने सुन्दर पटन, उसके राजा रंगरापती उसकी लड़की चन्दर बदन का परिचय दिया तथा उससे अपनी कथा भी कह दी।

बादशाह ने यह सुनकर इसे धैर्य दिया और इसे अपने साथ ले सुन्दर पटन के वार्षिक मेले के अवसर पर आ पहुँचा। यहाँ पर उसने राजा रंगरापती के यहाँ सन्देश भेजकर उसे अपनी लड़की चन्दर बदन को इसे दे देने का प्रस्ताव किया जिसे राजा ने हिन्दू होने के नाते ठुकरा दिया। बादशाह ने तब इसके साथ फकीरी वेष में रहकर इसकी सहायता करने की ठान ली। इधर फिर तीसरे वार्षिक मेले का भी अवसर आ गया जब माहियार चन्दर बदन के निकट गया और यह उसके चरणों पर शीश रखकर प्रार्थना करने लगा। चन्दर बदन इस बार कुछ प्रभावित अवश्य जान पड़ी, किन्तु, अपनी बेवशी के कारण उसने इससे कह दिया "क्या ऐ दीवाने तूँ अभी तक जीता है?" जिसका कठोर आघात यह सह नहीं सका। इसका देहान्त हो गया, जिससे सभी को आश्चर्य हुआ और लोगों ने इसके ऊपर कफन डालकर इसकी अरथी तैयार की। परन्तु जब लोग अरथी ले जाने लगे तो वह केवल उसी ओर बढ़ पाती थी, जिधर चन्दर बदन का मकान था दूसरी ओर ले जाने पर उसमें रुकावट आ जाती थी। अन्त में अरथी उसके द्वार पर आकर अटक गयी और लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं टली, जिस बात को सुनकर राजा रंगरापती भी वहाँ आ पहुँचा। बादशाह के फिर सन्देश भेजने पर एवं अनुरोध करने पर राजा ने चन्दर बदन से बातचीत की और यह उस घटना से इतनी प्रभावित हुई कि इसने अपने पिता से आज्ञा मांगी। इसने अपनी माता एवं सहेलियों से भी विदा ले ली और बादशाह फाजिल के पास अपने लिए कोई 'आलिम' भेजने के लिए कहला दिया। आलिम आने पर इसने उससे इस्लाम धर्म के रहस्य का परिचय प्राप्त किया तथा अपना हृदय शुद्ध करके उसे ग्रहण कर लिया। मुस्लिम होकर यह फिर जाकर सो गयी और माहियार की अरथी बिना किसी रूकावट के आगे बढ़ने लगी। जब उसके शव को लोगों ने कब्र में दफनाने के लिए अरथी से निकाला तो उन्हें यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि उसकी तथा चन्दर बदन की 'लाशें' एक दूसरे को आलिंगन कर रही थीं।

इस प्रेमाख्यान के कथानक का आधार एक वास्तविक घटना बतलायी जाती है, जो बीजापुर के आदिल शाही सुल्तान इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय (सन् १५७९–१६२८ ई०) के समय घटी थी तथा यह भी कहा जाता है कि अन्तिम समय वह स्वयं भी यहाँ वर्तमान था। सिद्दीकी के अनुसार इस बात की

चर्चा काजी नूरूल्ला एवं शाहतजली अली नामक इतिहास लेखकों ने क्रमशः अपनी 'तारीख आदिलशाहिया' एव 'तुजुक आसफिया' में कुछ विस्तार से की है तथा दोनो प्रेमियों की कब्र भी इस समय तक मद्रास नगर से ८० मील दूर उत्तर–पश्चिम 'कदरी कोटा' में वर्तमान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह वृत्त कवि के जीवन–काल का भी हो सकता है, किन्तु इस ओर कोई संकेत नहीं किया है। कथा प्रसंग में उसने 'शाह सुल्तान फाजिल' का नाम लेकर उसे शहर 'बीजानगर' का बतलाया है तथा उसे 'शहंशाह आदिल' भी कह डाला है, इसे यदि सच मान लें तो हो भी सकता है। इस कहानी की रचना का मुख्य उद्देश्य केवल प्रेमतत्त्व का महत्त्व प्रदर्शित करना मात्र ही नहीं, अपितु इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा और महत्ता सिद्ध करना भी है। इसकी कथावस्तु को लेकर दक्खिनी में सर्वप्रथम मुकीमी ने ही लिखा और फारसी में 'आतशी' ने रचना की, जिसका उर्दू अनुवाद 'बुलबुल' ने किया। इनके अतिरिक्त फारसी में लिखी एक रचना किसी 'अखगर' की भी मिलती है, किन्तु उर्दू की रचनाएँ कई एक हैं। कहते हैं कि किसी 'इश्क' नामक कवि ने भी लिखा है और 'आगाह' तथा 'शाकिर' ने तो अपनी–अपनी कहानियों में तसव्वुफ (सूफीमत) की बातें भी सम्मिलित कर ली हैं। 'वाकिफ' नाम के एक कवि ने इसके प्रायः प्रत्येक प्रसंग को बहुत विस्तार देकर लिखा है और उसमें अपना काव्य–चमत्कार भी दिखलाया है। उत्तरी भारत के उर्दू कवियों में से भी 'सेफुल्ला' ने इस विषय को लेकर लिखा है तथा प्रसिद्ध मीरत की 'मीर' तक ने भी अपनी तीन मसनवियों की रचना करते समय और दक्खिनी सैयद मुहम्मद ने अपनी 'तालिव व मोहनी' लिखते समय इससे प्रेरणा ग्रहण की है। फिर भी मुकीमी की इस रचना का महत्त्व जितना कथा विशेष पर आधारित होने के कारण है, उतना इसके साहित्यिक सौष्ठव के कारण नहीं। यहाँ पर न तो कहीं काव्य–सौन्दर्य की छटा दीख पड़ती है और न कवि का दक्खिनी भाषा पर वैसा अधिकार ही सूचित होता है। उसकी भावुकता अवश्य कहीं न कहीं लक्षित हो जाती है।

[सहायक ग्रन्थ–चन्दर बदन ओ माहियार : सं० मुहम्मद अकबरुद्दीन सिद्दकी, दक्खिनी साहित्य प्रकाशन समिति, हैदराबाद, १९५६ ई०; उर्दू ए कदीम : हकीम सैयद शम्सुल्ला 'कादरी', नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९२५ ई०; योरप में दखनी मखतूतात : नसीरुद्दीन हाशमी हैदराबाद, १९३२ ई०; उर्दू मसनवी का इर्तका : कादिर 'सर्वरी', हैदराबाद, १९४० ई; दकन में उर्दू : नसीरूद्दीन होशमी, लाहौर, १९५२ ई; जुहुरी : नाजिर अहमद; इलाहाबाद, १९५३ ई०; दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५९ ई०।]

–प० च०

चंदायन–यह लोर या लोरिक तथा चन्दा की प्रेमकथा है, जो दाऊद द्वारा रचित है। लोर या लोरिक का इस समय जो प्राचीनतम उल्लेख मिलता है, वह 'लोरिक नाचों' अर्थात् 'लोरिक नृत्य' के प्रसंग में मिलता है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'वर्ण रत्नाकर' में, जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी विक्रमीय में हुई थी, नगर–वर्णन का विवरण देते हुए एक स्थान पर 'लोरिक नाचो' का उल्लेख किया है। इससे यह प्रकट होता है कि लोरिक की कथा को लेकर निर्मित किसी लोकगीत से सम्बन्धित एक नृत्य मिथिला में चौदहवीं शताब्दी विक्रमीय में प्रचलित था। इस समय भी लोरिक गीत अनेक नामों से उत्तरी भारत के अनेक भूभागो मे प्रचलित है। इसी के किसी रूप को लेकर मौलाना दाऊद ने उक्त प्रेमकथा लिखी थी, जो सामान्यतः 'चन्दायन' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह रचना अनेक दृष्टियों से बड़े महत्त्व की है और यह प्रसन्नता की बात है कि इधर इसकी कुछ अत्यन्त प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। यद्यपि किंचित् दुःख इस बात का अवश्य है कि उन प्राप्त प्रतियों को मिलाकर भी रचना का पूर्णरूप हमारे सामने नहीं आ रहा है, किन्तु जितना अंश प्राप्त हुआ है, उतना ही इस रचना का पर्याप्त परिचय प्रस्तुत करता है। इसीलिए उसी अंश को लेकर रचना का कुछ परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रतियों की लिपि अरबी, फारसी होने के कारण, जो अवधी की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए बहुत ही अनुपयुक्त और अपर्याप्त थीं और इन अंशों के भी अलग–अलग एक ही प्रति में पाये जाने के कारण पाठ के पुनर्निर्माण में बड़ी भारी कठिनाई है और अनेक स्थलों पर पाठ की उलझनें सुलझ नहीं सकेंगी। आशा है यदि इस महत्त्वपूर्ण रचना की कुछ और भी प्रतियाँ प्राप्त हो सकेंगी तो इसका सन्तोषजनक रूप से सम्पादन हो सकेगा।

'मुन्तखबुत्तवारीख' में आनेवाले अलबदायूनी के एक उल्लेख के कारण इस रचना का नाम 'चन्दायन' प्रसिद्ध रहा है, किन्तु रचना का जितना अंश प्राप्त हुआ है, उसमें यह नाम कहीं नहीं आता है। इस अंश में इसका नाम 'लोर–कहा' आता है जो 'लोर–कथा' का अपभ्रंश है– "लोर कहा मइं हिय खंड गाऊँ (गावउँ)। कथा काब कइ लोग सुनाऊँ (सुनावउँ)।" अतः जब तक रचना में अन्यत्र 'चन्दायन' नाम न मिल जाय 'लोर कहा' ही रचना का वास्तविक नाम मानना चाहिये। हो सकता है कि 'रामायण' के अनुसरण पर पीछे यह रचना 'चन्दायन' नाम से प्रसिद्ध हुई हो।

कवि ने ग्रन्थ में रचनातिथि देते हुए कहा है–"बरस सात से होई एक्यासी। तिहि माह कवि सरसेउ भासी। साहि पीरोज दिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना।" अलबदायूनी के अनुसार ७७२ हि० (१३७० ई०) में जूनाशाह फीरोजशाह का प्रधान मंत्री हुआ था। इसलिए ७८१ हि० (१३७९ ई०) में जूनाशाह के मन्त्रित्वकाल में इस रचना का प्रस्तुत किया जाना ही ठीक लगता है।

सम्पूर्ण प्रतियों के अत्यधिक खण्डित होने के कारण रचना कितनी बड़ी रही होगी, इसका कोई निश्चित ज्ञान हमें नहीं है। प्रयुक्त छन्द केवल दो हैं– चौपाई और दोहा। पाँच अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम बराबर निबाहा गया है किन्तु दोहों के सम्बन्ध में हम प्रायः देखते हैं कि प्रथम अथवा द्वितीय अथवा दोनों चरणों में चौबीस के स्थान पर अट्ठाईस मात्राएँ आती हैं। जायसी के 'पद्मावत' में भी हमें यह बात प्रायः मिलती है।

रचना की भाषा ठेठ अवधी है। सूफी साहित्य के प्रसिद्ध अन्वेषक प्रो० अस्करी ने लिखा है कि इसकी भाषा पर प्राकृत भाषाओं–मागधी, शौरसेनी तथा अर्धमागधी का प्रभाव ढूँढ निकालना उपयोगी होगा। इसमें अवधी के अनेक रूपों में पूर्वी का रूप–पछाहीं या वैसवारी की तुलना में–बहुत अधिक

स्पष्ट है और इसमें खड़ीबोली के तत्त्व पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने रचना से उदाहरण भी दिये हैं किन्तु उनके उदाहरण प्रायः पढ़ने की भूलों के कारण ऐसे लगते हैं। पर ठीक पढ़े जाने पर इसके प्रयोगों को देखा जाय तो वे सभी मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' तथा तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में मिलेंगे। दाऊद की रचना ठेठ अवधी और विशुद्ध अवधी में है।

रचना के प्राप्त अंशों में दो बार लोरिक कथानायक से उसका पूर्व-परिचय दिलाया गया है और इन परिचयों में उस प्रारम्भिक कथा की भी रूपरेखा प्रायः आ जाती है, जो प्रतियों के खण्डित होने के कारण अभी तक पर्याप्त रूप से प्राप्त नहीं है। कथा संक्षेप में कुछ इस प्रकार बनती है : लोरिक एक अहीर है, जो गोबर में रहता है। वह विवाहित है। उसकी विवाहिता पत्नी का नाम मैना है। उसी नगर में बावन नाम का एक अन्य अहीर है, जिसका विवाह उस नगर के एक सम्पन्न अहीर सहदेव की कन्या चाँदा से हुआ है। किसी प्रसंग में लोरिक और चाँदा एक दूसरे को देख लेते हैं और वे परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। बृहस्पति नाम की एक दूती दोनों का मिलन कराती है। तदनन्तर लोरिक चोरी-चोरी चाँदा के घर जाने लगता है। एक दिन लोरिक और चाँदा पण्डित से साइत लेकर गोबर से भाग निकलते हैं। लोरिक का एक भाई है, जिसका नाम कुँवरु है। वह उसे मार्ग में मिलता है और लोरिक को उसकी बूढ़ी माता तथा उसकी स्त्री मैना के जीवन का ध्यान दिलाकर इस कार्य से विरत करना चाहता है, किन्तु वह कृतकार्य नहीं हो पाता। आगे चलने पर उन्हें गंगा पार करना पड़ता है। केवट चाँदा के रूप पर मुग्ध हो जाता है तब तक चाँदा का विवाहित पति बावन भी पहुँच जाता है और चाँदा को धिक्कारता है किन्तु लोरिक से भयभीत होकर वह लौट जाता है। इधर केवट जाकर राजा करिंगा से चाँदा के सौन्दर्य के विषय में कहता है। राजा गंगेऊ नामक मल्ल को भेजता है, जिसे लोर परास्त कर देता है। तदनन्तर राजा बोदई नामक मल्ल को भेजता है, जिसे लोरिक बुरी तरह क्षत-विक्षत करके वापस करता है। तब राजा दस विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें लोर को लिवा आने के लिए भेजता है और उनके साथ लोरिक राजा के सामने उपस्थित होता है। राजा लोरिक के शिष्ट-व्यवहार से प्रसन्न होकर उसके पथ-प्रदर्शन के लिए दस ब्राह्मणों को साथ कर विदा करता है। उनके साथ चलकर लोरिक उड़ीसा पहुँचता है, जहाँ एक नाग चाँदा को डस लेता है। इस घटना से लोरिक अत्यन्त दुखी होता है और रोता है। यहाँ पर कवि प्रेम की अग्नि की दुर्दान्तता का उल्लेख करता है। लोरिक चिता पर चाँदा के साथ जल मरने के लिए प्रस्तुत होता है। तब तक एक गारुड़ी आ जाता है, जिसके प्रयोग से चाँदा जी उठती है। यहाँ पर कवि अपने तथा रचना के नाम का उल्लेख करता है और रहस्यात्मक कथा के स्वरूप की ओर संकेत भी करता है। लोरिक तदनन्तर वहाँ से चलकर सारंगपुर आता है। चाँदा स्वप्न में देखती है कि एक सिद्ध ने आकर उससे कहा कि उसे एक तोता योगी भगा ले जायेगा। लोरिक वहाँ एक मढ़ी में चाँदा को छिपाकर नगर को चला जाता है। इस बीच तोता योगी वहाँ आकर सिंगीनाद करता है और चाँदा पर चेटक डालकर उसे भगा ले चलता है। लौटकर जब लोरिक मढ़ी को सूनी देखता है, वह चाँदा की खोज में निकल पड़ता है। खोजते-खोजते वह तोता को जा पकड़ता है। दोनों कहते हैं कि चाँदा उन्हीं की है। झगड़ा निपटाने के लिए दोनों नगर-सभा के सामने उपस्थित होते हैं। दोनों अपना-अपना दावा पेश करते हैं। लोरिक से उसका परिचय पूछा जाता है, जिसे वह संक्षेप में देते हुए अपनी पूर्ववर्ती कथा भी संक्षेप में कहता है। अन्ततः चाँदा उसको मिल जाती है। मैना विरह में किसी प्रकार दिन काटती है और फिर एक सुरजन के द्वारा लोरिक के पास सन्देश भेजती है। इस सन्देश को पाकर लोरिक चाँदा के साथ गोबर लौटता है। लोरिक के घर लौटने पर चाँदा का पिता सहदेव महर चाँदा और लोरिक का स्वागत करता है और उनके सम्बन्ध पर अपनी स्वीकृति देता है। पूर्वविवाहिता मैना तथा चाँदा में झगड़ा होता है। चाँदा श्रृंगार करती है और दोनों का शैया पर मिलन होता है। जेवनार होती है, जिसमें गालियाँ गायी जाती हैं। कथा का अन्त किस प्रकार होता है, वह ज्ञात नहीं है।

प्रो० अस्करी ने लिखा है कि "जायसी से भिन्न, जिनके 'पद्मावत' में सूफी रहस्यवाद पर्याप्त मात्रा में है......हमारे १४वीं शताब्दी के मौलाना ने अपने को केवल लोक प्रचलित विश्वासों तथा हिन्दुओं के धर्माख्यानों तक ही सीमित रखा है।" किन्तु रचना का एक छन्द इसका स्पष्ट प्रतिवाद करता है। अपनी रचना के 'अर्थ विचार' पर बल देते हुए उस छन्द में कवि का कहना है कि "हिरदइँ जानि सो चांदा रानी" और "लोर कहा मइं हिय खण्ड गावउँ" जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से कथा के रहस्य-परक होने का निर्देश करते हैं। उसके उपदेश-लक्षित होने का भी प्रमाण कवि के निम्नलिखित कथन में मिलता है, जो चाँदा के साँप से डँसे जाने पर लोरिक द्वारा कहाया गया है "जासकी नेउँ तस पाएउ रहेउँ चाँद मन लाइ। जो बाउर मनु सहि चित बाँधइ सो अइसनहि पछिताइ।।" फलतः इसमें सन्देह नहीं कि 'चन्दायन' (लोर कहा) प्रायः सभी अर्थों में 'पद्मावत' की एक यशस्विनी पूर्वज है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्व का स्थान रखती है। अतः प्रो० अस्करी के उपर्युक्त कथन से सहमत होना सम्भव नहीं है।

—मा० प्र० गु०

चंद्रकांता—देवकीनन्दन खत्री की प्रथम रचना है। हिन्दी में तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों की परम्परा इसी से प्रारम्भ होती है। इसका प्रथम संस्करण सन् १८८८ ई० में काशी के हरिप्रकाश यन्त्रालय में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। इसका उनतीसवाँ संस्करण सन् १९४६ ई० में लहरी बुक डिपो से प्रकाशित हुआ है। ऐयारों के अद्भुत कारनामों के प्रदर्शन के लिये किये गये कार्य-व्यापार-विस्तार को अलग कर देने पर, अपने मूल-रूप में, यह एक प्रेम-कहानी है। सुरेन्द्रसिंह नौगढ़ के महाराज हैं और जयसिंह विजयगढ़ के राजा। नौगढ़ का राजकुमार वीरेन्द्रसिंह विजयगढ़ की राजकुमारी चन्द्रकान्ता को प्यार करता है। यह प्रेम उभय पक्षों में सम है। विजयगढ़ राज्य के मन्त्री कुपथसिंह का लड़का क्रूरसिंह भी चन्द्रकान्ता को चाहता है। क्रूरसिंह चुनार गढ़ के महाराजा शिवदत्त सिंह से सहायता लेता है। चन्द्रकान्ता की रूप-चर्चा सुनकर शिवदत्त सिंह स्वयं उसे प्राप्त करना चाहते

गीत मे राष्ट्रीय भावना मुखर है। अलका के जीवन मे त्याग की दृष्टि से परीक्षा का अवसर उस समय आता है, जब राज्य के कल्याणार्थ कुछ समय के लिए उसे पर्वतेश्वर रानी भी बनना पड़ता है।

'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद ने कई दशको का इतिहास प्रस्तुत करना चाहा है। महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओ को ही ग्रहण किया गया है। नाटकों में इतिहास की कथावस्तु के साथ पात्रो के चरित्र को विकसित करने में प्रसाद को सफलता प्राप्त हुई है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य तथा अलका और सिंहरण जैसे राष्ट्रसेवी पात्रों का भी आन्तरिक द्वन्द्व कई स्थानों पर झलक आया है। समन्वित प्रभाव की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' प्रसाद की एक अत्यन्त सफल रचना है। कुछ समीक्षकों का मत है कि नाटक तीन अंकों में ही समाप्त हो सकता था पर उस अवस्था में चाणक्य के व्यक्तित्व का जो वैराग्यपूर्ण, निष्काम पक्ष है, वह पूर्ण स्पष्ट न हो पाता। सांस्कृतिक दृष्टि से कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का विवाह भारतीय पक्ष की पूर्णता है। राष्ट्रीय भावना और सांस्कृतिक चेतना की छाया 'चन्द्रगुप्त' में सर्वत्र देखी जा सकती है।

—प्रे० शं०

चंद्रगुप्त २—प्रसादकृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक चन्द्रगुप्त, मौर्य—साम्राज्य का संस्थापक माना जाता है। इतिहास मे उसका राज्यकाल ३२२—२९८ ई० पूर्व निर्धारित किया गया है। ग्रीक साहित्य में इसे सन्ड्रोकोटस के नाम से अभिहित किया गया है। कतिपय इतिहासकारों के मत से चन्द्रगुप्त मोरिय जाति का क्षत्रिय था। कुछ लोगों ने इसे मुरा नाम की दासी—नापितकन्या से उत्पन्न बताया है किन्तु नाटककार प्रसाद को यह मत मान्य नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भूमिका से पता चलता है कि प्रस्तुत नाटक के कथानक के लिए लेखक ने समस्त बिखरी हुई सामग्री का उपयोग किया है। बौद्ध ग्रन्थों में अट्ठकथा, महावंश जैनग्रन्थो में त्रिकाण्ड शेष और हेमचन्द्र अभिधान, पुराणों में वायु और विष्णु पुराण, ग्रीक इतिहासकारों में डायोडोरस, जस्टिनस, स्ट्राबो एवं प्लूटार्क का नाम लिया गया है। इसके अतिरिक्त कथा सरित्सागर, मुद्राराक्षस, मैक्समूलर, टाड और विसेण्टस्मिथ से भी यथास्थल आवश्यक सामग्री ग्रहण की गयी है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक का धीरोदात्त नायक चन्द्रगुप्त ही है। उसमें धैर्य, वीरता, उत्साह, उदारता, त्याग आदि समस्त आदर्श गुणों का समन्वय मिलता है। निर्भीकता एवं मधुरता उसके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। कार्नेलिया के कथनानुसार वह "श्रृंगार और रौद्र का संगम" है। "उनमें कितनी विनयशील वीरता है।" यदि एक ओर चन्द्रगुप्त में कैशोरिक चांचल्य है तो दूसरी ओर परिपक्व आयु की गम्भीरता भी। इस प्रकार उसके चरित्र में कौमार्य की चंचलता, यौवन का उत्साह और प्रौढ़ावस्था की गम्भीरता का क्रमिक विकास मिलता है। देशकाल की परिस्थिति के अनुसार अपने अद्भुत पुरुषार्थ एवं अडिग संकल्प के कारण चन्द्रगुप्त साधारण स्थिति से उठकर भारत कर सम्राट् बन जाता है। वह शस्त्र और शास्त्र दोनों में पूर्ण पारंगत तक्षशिला का सुयोग्य स्नातक है। चन्द्रगुप्त की शिक्षा उसके चरित्र में स्वावलम्बन एवं आत्मसम्मान के भावों को जागकर उसे कर्त्तव्यशीलता का पाठ पढ़ाती है। अपने इसी गुण के कारण वह आम्भीक को गुरुकुल में ही "प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतन्त्रता" के नाम पर फटकार देता है। चन्द्रगुप्त अपने अद्भुत पराक्रम एव साहस के बल पर नन्द के कारागार में एकाकी प्रवेश करता है और राक्षस तथा वररुचि के समक्ष ही चाणक्य को बन्धन से छुड़ा लेता है तथा अन्यत्र अपने प्रचण्ड पराक्रम से फिलिप्स को द्वन्द्व युद्ध में पराजित करता है। युद्ध में विश्वविजयी का सामना करते हुए उसे भी घायल कर देता है। अपनी इसी अद्भुत वीरता के बल पर वह साधारण स्थिति से ऊपर उठकर समस्त उत्तरापथ का एकछत्र सम्राट् बन जाता है। चन्द्रगुप्त के चरित्र की अन्य उल्लेखनीय विशेषता स्वावलम्बन एवं आत्मसम्मान की भावना है। चन्द्रगुप्त के कथनानुसार "आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" अपने इसी गुण के कारण वह आचार्य चाणक्य एवं सिंहरण को भी रुष्टकर स्वावलम्बन के द्वारा जीवन पथ पर आगे बढ़ता है। कर्मभाव से प्रदीप्त एकाकी चन्द्रगुप्त की यह घोषणा सचमुच आत्मसम्मान एव उसके स्वालम्बन की प्रबल परिचायिका है: "पिता गये, माता गयी, गुरुदेव गये, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला चिर सहचर सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और वह रहेगा।" "मैं आज सम्राट् नहीं सैनिक हूँ! चिन्ता क्या? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या?" कर्त्तव्यपरायणता के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त में निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता की भी कमी नही है। जब सिकन्दर आम्भीक के समान उसे भी अपनी ओर मिलाकर मगध पर आक्रमण करना चाहता है तब चन्द्रगुप्त सिकन्दर को अपनी निर्भीकता से हतप्रभ कर देता है: "मुझे लोभ से पराभूत गान्धारराज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए; मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूं। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।" वीरता के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त में आर्त्तपरायणता की भावना भी है। उसका व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभविष्णु और आकर्षक है, जिससे प्रभावित होकर दाण्डचायन उसके बारे में भारत का भावी सम्राट् होने की भविष्यवाणी करते हैं। चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का मधुर पक्ष उसके ओजस्वी जीवन की भाँति ही परम स्पृहणीय है। वह मालविका की सरलता पर मुग्ध होकर युद्ध में जाने के पूर्व मुरली की एक मीठी तान सुनने की आकांक्षा करता है। उसके चरित्र में "साधारण जनसुलभ दुर्बलता" केवल एक बार इसी अवसर पर दिखायी पड़ती है।

कार्नेलिया के साथ चन्द्रगुप्त का प्रेम—प्रसंग भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। दाण्डचायन के आश्रम में दोनों एक दूसरे से परिचित होते हैं। फिलिप्स को पराजित करने के पश्चात् कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के शक्ति—शील—सौन्दर्य से प्रभावित होती है। चन्द्रगुप्त भी ग्रीककुमारी के सहज सौन्दर्य एवं उसकी भारतीय संस्कृति के प्रति अभिरुचि को देखकर उसकी ओर आकर्षित होता है किन्तु कुछ समय के लिए राजनीतिक संघर्ष के बीच अनुरागजन्य स्मृतिलता मुरझा जाती है। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय परम श्रेयस्कर सिद्ध होता है। इससे भारत और यूनान, इन दो सबल प्राचीन राष्ट्रों की राजनीतिक एकता स्थायी होकर और भी सुदृढ़ बन जाती है तथा दोनों देशों में सांस्कृतिक आदान—प्रदान के नये क्षितिज खुलते हैं।

चन्द्रगुप्त के चरित्र को उद्घाटित करनेवाले अन्य नाटकों में उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। 'मुद्राराक्षस' का चन्द्रगुप्त चाणक्य के संकेतों पर चलनेवाला उसके हाथ की कठपुतली मात्र है। इसी प्रकार डी० एल० राय के 'चन्द्रगुत नाटक' में चन्द्रगुप्त की अपेक्षा चाणक्य का चरित्र ही प्रधान है। चाणक्य के समक्ष चन्द्रगुप्त के चरित्र का विशद विकास नहीं हो सका। प्रसाद ने स्वतन्त्र रूप से चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का विकास प्रस्तुत किया है। चाणक्य से प्रभावित एवं अनुप्रेरित होते हुए भी चन्द्रगुप्त अपने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को बनाये रखता है तथा नाटक का नायक होने के नाते उसको ही नाटक का फल अर्थात् सम्पूर्ण आर्य—साम्राज्य एवं नायिका कानेर्लिया की प्राप्ति होती है।

—के० प्र० चौ०

चंद्रगुप्त ३—चन्दगुप्त प्रसादकृत 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का नायक है। वह वीर, साहसी, एवं धैर्यवान् है। अपनी वंश—परम्परा की गौरवरक्षा के प्रति चन्द्रगुप्त पूर्ण सजग है। नाटककार ने उसके चरित्र का विकास क्रमिक रूप से दिखाया है। गुप्तवंश की गौरव—रक्षा की भावना चन्द्रगुप्त में विशेष रूप से सुरक्षित है। पारिवारिक शान्ति को बनाये रखने के लिए ही पिता द्वारा प्रदत्त राज्य को वह सहर्ष रामगुप्त को दे देता है, यहाँ तक कि अपनी वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी के वरण के लिए भी किसी प्रकार की शक्ति का प्रयोग नहीं करता। चन्द्रगुप्त का यह अपूर्व त्याग उसके शील—सौजन्य का परिचायक है किन्तु रामगुप्त द्वारा जब नारी का अपमान होता है एवं कुल के गौरव पर आँच आती है तो उसके शील को चोट लगती है और स्वभावतः पुरुषार्थयुक्त स्वाभिमान स्फुर्लिंग प्रज्जवलित हो उठता है। वह ध्रुवस्वामिनी से स्पष्ट कहता है : "यही नहीं हो सकता। महादेवि! जिस मर्यादा के लिए, जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित होना न पड़ेगा।" चन्द्रगुप्त में विचारों की दृढ़ता एवं कर्त्तव्य—पथ पर अविचलित भाव से चलते रहने की स्पृहणीय क्षमता है। वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय का अवलम्ब ग्रहण करता है। ध्रुवस्वामिनी के वेश में शकराज के अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर अपना वास्तविक रूप प्रकट करता है और उसे चुनौती के स्वर में ललकारता हैं : "मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल! मैं अकेला आया हूँ तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने के लिए।" द्वन्द्व युद्ध में शकराज के लिए कालस्वरूप बन जाता है तथा बड़े पराक्रम से गुप्तवंश की कुल—लक्ष्मी का उद्धार करता है। पराक्रमी और शक्तिशाली होते हुए भी अपने सहज शील के कारण अपने भाई रामगुप्त की आज्ञा के अनुसार बन्दी बन जाता है किन्तु ध्रुवस्वामिनी को बन्दी बनाये जाने पर उसकी सज्जनता का बाँध फूट जाता है और बन्धन से अपने को मुक्त करता हुआ वह अन्यायियों को ललकारता है। यहाँ तक कि वह रामगुप्त को भी नहीं छोड़ता : "आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित्त की पुकार कर रहे हैं। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपराधों को सुनो।" वह वस्तुतः वंश की मर्यादा एवं नारी सम्मान की सुरक्षा के लिए ही संघर्ष में पड़ता है।

चन्द्रगुप्त की बाह्य आकृति उसके आन्तरिक गुणों के पूर्ण अनुरूप है। ध्रुवस्वामिनी तो उसे "निरभ्र प्राची का बालारुण" कहती है। उसका "विश्वासपूर्ण मुखमण्डल" सहज ही सबकी दृष्टि अपनी ओर खींच लेता है। उसके अंगों की गठन में सुदृढ़ता के साथ कोमलता एवं कमनीयता भी है तभी तो वह ध्रुवस्वामिनी का कृत्रिम वेश बनाने में सफल होता है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगप्त के इन्हीं बाह्य—आन्तरिक गुणों से प्रभावित होती है और हृदय से उसे चाहती है। दोनों की एक सी परिस्थितियाँ एवं जीवन विकास क्रम भी उन्हें स्नेह—सूत्र में बाँध देता है। दोनों साथ—साथ मृत्युगह्वर में प्रवेश करने के लिये जाते हैं और शकराज को पराजित कर सौभाग्य श्री का वरण करते हैं। विनम्रता की अतिशयता से चन्द्रगुप्त अपनी वास्तविकता प्रकट करने में हिचकता है किन्तु अनीति की जब इतनी अधिक अतिरंजना हो जाती है कि वस्तुस्थिति विपरीत दिशा को संक्रमण करने लगती है तभी चन्द्रगुप्त सहजोद्दीप्त आचरण से अपने वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर राज्य पद एवं राजलक्ष्मी को प्राप्त करता है। प्रस्तुत नाटक में पुरुष पात्रों के बीच सबसे अधिक ओजस्वी एवं उदात्त व्यक्तित्व से सम्पन्न पात्र चन्द्रगुप्त ही है, जिसका चित्रण नाटककार ने बड़ी सफलता के साथ किया है।

—के० प्र० चौ०

चंद्रगुप्त विद्यालंकार—जन्म १९०६ ई० में मुजफ्फरगढ़ जिले में हुआ। पिछले तीस वर्षों से आप हिन्दी में पत्रकारिता से लेकर कहानी, नाटक और निबन्ध आदि लिखते रहे हैं। विशेष रूप से आपकी कहानियाँ और उसके बाद एकांकी नाटकों का हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। आपकी कहानियों में हमें शिल्प की प्रौढ़ता अधिक मिलती है। शिल्प के प्रति अधिक जागरूक रहने के कारण कभी—कभी कहानियों का मानवीय पक्ष छूट जाता है। पाश्चात्य शिल्प की सम्पूर्ण मार्मिकता को चन्द्रगुप्तजी बड़ी सफलता से अपनी कहानियों में प्रस्तुत करते हैं। ऐसा लगता है जैसे सौमरसेट मॉम की कहानियों का शिल्प और चन्द्रगुपत विद्यालंकार की कहानियों का शिल्प समान स्तर पर व्यवहृत होता है। मॉम की कहानियों की तरह इनकी कहानियों में भी हमें उनकी शिल्पगत विशेषता अधिक प्रभावित करती है, कहानी कम। शिल्प की प्रौढ़ता के अतिरिक्त जिस रोमानी वातावरण का चित्रण चन्द्रगुप्तजी करते हैं, उसमें पूर्व निश्चित योजना की झलक मिल जाती है। मानव नियति के मुक्त और स्वच्छन्द अस्तित्व की अपेक्षा उनकी यह शैलीगत मान्यता उनके पात्रों को पालतू सा बना देती है। चन्द्रगुप्तजी के एकांकी नाटक भी एकांकी शिल्प का सफल परिचय देते हैं। इनके नाटकों में मानवीय संवेदनाओं की अतिनाटकीयता होती है और यथार्थ का खिंचा हुआ रूप देखने को मिलता है, लेकिन एकांकी के शिल्प का निर्वाह कुछ अंशों में बड़ा ही सफल होता है।

सम्पूर्ण नाटकों में 'न्याय की रात' और 'देव और मानव' महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्तजी का कहानी और एकांकी कलाकार सम्पूर्ण नाटक की मर्मपूर्ण, विस्तृत योजना को दायित्वपूर्ण ढंग से निभा नहीं पाया है क्योंकि जैसा कि नाटकों के नामों से ही स्पष्ट है, चन्द्रगुप्तजी के इन नाटकों में कोमलता और पूर्वनिश्चित उद्देश्यों की पुष्टि की बात अधिक

सिद्ध होती है। दोनों नाटकों मे पात्रों के चरित्र का निर्माण या उनके व्यक्तित्व का विकास, नाटक मे प्रस्तुत घटनाएं कम करती हैं, लेखक की पूर्वनिश्चित दृष्टि और उसकी काव्यात्मक भावुकता अधिक उभर कर आती है। यही कारण है कि जहाँ एकांकी नाटकों और कहानियो मे चन्द्रगुप्तजी अधिक सफल होते हैं, वहाँ सम्पूर्ण नाटकों में नाटक का मर्म जैसे इनसे छूट जाता है।

कहानी और नाटक दोनो में ही वातावरण के अनुकूल भाषा का आपने प्रयोग किया है। कहीं—कहीं नाटकों में गुप्तजी की निरी साहित्यिक भाषा खटकती है, लेकिन ऐसे स्थान बहुत कम हैं।

आपकी प्रकाशित रचनाओं में से कहानी—संग्रह 'वापसी' (१९५४) और 'चन्द्रकला' (१९२९) काफी महत्त्वपूर्ण है; एकांकी नाटकों में 'कासमोपोलिटन क्लब' नामक संग्रह जो १९४५ में प्रकाशित हुआ है, अधिक रुचिसम्पन्न है। सम्पूर्ण नाटकों में 'अशोक' (१९३४) 'देव और मानव' (१९५६) 'न्याय की रात' (१९५८) हैं। इस समय आप मासिक 'आजकल' (हिन्दी) के सम्पादक हैं।

—ल० कां० व०

कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह—जन्म शरद पूर्णिमा १९१० ई० को उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले मे हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा सीतापुर तथा उच्च शिक्षा क्रमशः लखनऊ, काशी और नागपुर विश्वविद्यालयों में हुई। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी) तथा डी० लिट्० की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। वे अपने विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भ में ही प्रसिद्ध समालोचक पं० कृष्ण बिहारी मिश्र के सम्पर्क में आये, तदनन्तर बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं० नंद दुलारे वाजपेयी के विशेष सम्पर्क में रहने के कारण उनमें साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन के प्रति विशेष अनुराग उत्पन्न हो गया। वे क्रमशः युवराजदत्त पोस्टग्रेजूएट कालेज लखीमपुर खीरी (१९४३—५८ई०), बड़ौदा विश्वविद्यालय (१९५८—१९६५ ई०), और जोधपुर विश्वविद्यालय (१९६५—६९ ई०) के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। वे मगध विश्वविद्यालय गया (बिहार) में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य करके अवकाश प्राप्त कर चुके हैं।

कुँवर साहब की शोध प्रतिभा उनकी हिन्दी और गुजराती के मध्यकालीन तथा नाट्य साहित्य के अनुशीलन में मुखरित हुई है। उनकी शोध कृतियाँ इस प्रकार हैं—(१) 'हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा' (दो खण्ड) (२) 'मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु' (३) 'गोविन्द दुलारा नाटक' (४) 'अक्षय रस' (५) 'काव्य प्रभाकर रुक्मिणीहरण' (६) 'भुज कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला' (६) 'श्रवणास्थान' (८) 'शोध साधना' (९) शिवहत दौलत बाग विलास (१०) 'हिन्दी नाट्य साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास'। इन शोध कृतियों के अतिरिक्त उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में 'पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ग्रन्थावली' भी महत्त्वपूर्ण है। वे १९६८ से १९७० तक भारतीय हिन्दी परिषद् के सभापति रहे हैं।

कुँवर साहब का साहित्य सर्जक व्यक्तित्व काव्य और नाटक रचना के क्षेत्र मे विकसित हुआ है। उनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ इस प्रकार हैं (१) 'शेफा' (राष्ट्रीय एव सास्कृतिक काव्य संग्रह (२) 'मेघमाला' (गीत संग्रह), 'प्रतिपदा', 'अपराजिता', और 'विजया' (प्रबन्धकाव्य)। नाट्य कृतियाँ . (१) 'कवि कुल—गुरु' (२) 'जनकवि जगनिक' (३) 'कविवर नरोत्तम दास' (४) 'पाँच एकांकी' (५) 'आचार्य' (६) 'अग्नि परीक्षा' (७) 'तुलसीदास'।

—रा० कु०

चंद्रधरशर्मा गुलेरी—जन्म सन् १८८३ ई० तथा मृत्यु १९२० ई० में। आधुनिक हिन्दी कहानी, निबन्ध तथा समीक्षा एवं भाषाशास्त्र के विकास में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का योगदान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आप संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे। बहुत दिनों तक अजमेर के मेयो कॉलेज में अध्यापक पद पर कार्य करने के उपरान्त आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृत महाविद्यालय में प्रधानाध्यापक होकर आये।

कहानीकार की हैसियत से चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने कुल तीन कहानियाँ लिखीं। आपकी पहली कहानी 'सुखमय जीवन' १९११ ई० में 'भारत मित्र' में छपी थी। आपकी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' कोई चार वर्ष बाद १९१५ ई० की 'सरस्वती' (भाग १६, खण्ड १, पृ० ३१४) में प्रकाशित हुई। यह रचना हिन्दी कहानी की शिल्प—विधि तथा विषय—वस्तु के विकास की दृष्टि से 'मील का पत्थर' मानी जाती है। इसमे एक यथार्थपूर्ण वातावरण में प्रेम के सूक्ष्म तथा उदात्त स्वरूप की मार्मिक व्यंजना की गयी है। तीसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' है।

निबन्ध लेखन के क्षेत्र में 'चन्द्रधर शर्मा गुलेरी विलक्षण शैलीकार के रूप में आते हैं। आपने गूढ़ शास्त्रीय तथा सामान्य कोटि के विषयों पर समान अधिकार से लिखा है। पाण्डित्यपूर्ण हास तथा अर्थगत वक्रता की दृष्टि से आपकी शैली विशिष्ट है। आपके दो निबन्ध 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोहिं कुठाउँ' बहुत प्रसिद्ध हुए थे।

'सरस्वती' के मंच पर चन्द्रधरशर्मा गुलेरी शोध—विद्वान् तथा समीक्षक के रूप में भी आये थे। १९१० ई० की 'सरस्वती' के 'जयसिंह काव्य' तथा १९१३ ई० की 'सरस्वती' में 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' शीर्षक आपके दो लेख उल्लेखनीय हैं। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की दूसरी जिल्द में प्रकाशित 'पुरानी हिन्दी' विषयक स्थापनाएँ आपकी भाषा वैज्ञानिकता का परिचय देती हैं। यह निबन्ध हिन्दी भाषा के इतिहास—प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है।

चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने १९०० ई० के आसपास जयपुर से अपने सम्पादकत्व में 'समालोचक' नाम का एक पत्र निकलवाया था। १९२० ई० में आप नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) की व्याकरणसंशोधन—समिति के सदस्य भी रहे।

—र० भ्र०

चंद्रबली पांडेय—जन्म १९०४ ई० में तथा मृत्यु १९५८ ई० में हुई। आप आजमगढ़ के निवासी थे। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया। वहीं पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा महेशप्रसाद के निकट सम्पर्क में आये। अंग्रेजी और संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू, अरबी और फारसी का

भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति रहे। आपका पूरा जीवन त्यागमय व्यतीत हुआ। प्राय: अपना सारा समय अध्ययन और हिन्दी प्रचार में लगाया। आप नागरी प्रचारिणी सभा के भी सभापति थे।

हिन्दी में विश्वविद्यालीय वृत्त के बाहर जिन लेखको ने खोजपूर्ण तथा एकेडेमिक कार्य किया, उनमें चन्द्रवली पाण्डेय का नाम अग्रणी है। आपकी शैली प्रखर तथा विचार उग्र थे, पर अपने विचारों का प्रतिपादन आपने बराबर सफलतापूर्वक किया। उर्दू—हिन्दी के प्रश्न को लेकर आपने गहराई से विचार किया था। आपकी कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं: 'उर्दू का रहस्य' (१९४० ई०), 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत', (१९५४ ई०), 'भाषा का प्रश्न' (१९३९ ई०), 'राष्ट्रभाषा पर विचार' (२००२ वि०) 'कालिदास'। हिन्दी उर्दू समस्या तथा सूफी साहित्य और दर्शन से सम्बद्ध आपके विचार ऐतिहासिक महत्त्व के हैं।

[सहायक ग्रन्थ—नागरी प्रचारिणी पत्रिका—'चन्द्रबली पाण्डेय स्मृति अंक'।]

ह० दे० बा०

चंद्रलेखा—प्रसाद के 'विशाख' नाटक की नायिका चन्द्रलेखा प्रतिष्ठित नागराज सुश्रुवा की कन्या है। सम्भ्रान्त परिवार में उत्पन्न होने के कारण समस्त अभिजात संस्कार—आतिथ्य भावना, आचरण की पवित्रता एवं मर्यादा की भावना उसके आचरण में पाये जाते हैं। नाटक का समस्त इतिवृत्तचक्र उसके व्यक्तित्व के चतुर्दिक् घूमता है। नाटककार ने उसके चरित्र का विस्तार अपेक्षाकृत अन्य स्त्री पात्रों से कहीं अधिक किया है। अन्त में विशाख से उसका परिणय भी होता है। अत: चन्द्रलेखा ही प्रस्तुत नाटक में नायिका के पद पर प्रतिष्ठित होने में पूर्ण सक्षम है। नाटक के प्रारंभ में वह सर्वप्रथम अपनी बहिन इरावती के साथ अत्यन्त मलिन वेश में एक दरिद्र रमणी के रूप में उदरपूर्ति के लिए खेत से सेम की फलियाँ तोड़ती हुई दिखलायी पड़ती है। मलिनवेश में भी वह अनुपम रूपवती प्रतीत होती है। लोकदृष्टि में इस प्रकार का निन्द्य कार्य करने में उसे लज्जा का अनुभव होता है। विशाख के द्वारा औपचारिक ढंग से पूछे जाने पर वह अत्यन्त शालीनता से उत्तर देती है: "क्षमा कीजिए अब मैं कभी इधर न आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसी से आज सेम की फलियाँ पेट भरने के लिए तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूँ।" चन्द्रलेखा में स्त्रीसुलभ प्रेम की पवित्र भावना विशाख की सौम्य मूर्ति का दर्शन करते ही अंकित हो जाती है। विशाख के प्रति उसका प्रेम सुदृढ़ एवं अखण्डित है। बड़े—से—बड़े वैभव के प्रलोभन भी उसे अपनी एकनिष्ठ प्रेम—भावना से विचलित नहीं कर पाते। महापिंगल एवं कश्मीर नरेश नरदेव के प्रस्तावों को भी वह ठुकरा देती है और राजरानी बनने की अपेक्षा अपनी अकिंचन झोपड़ी में ही राजमन्दिर से कहीं बढ़कर आनन्द का अनुभव करती है। वह अपने पति की कल्याण—कामना के निमित्त अर्धरात्रि में एकाकी चैत्य में दीप जलाने जाती है। वहाँ वह प्रवंचक भिक्षु की देववाणी के रूप में ध्वनित आज्ञा की भी अवहेलना कर देती है। वह अपने पति की सच्ची चिरसंगिनी है। सुख—दु:ख सब प्रकार की परस्पर विरोधी परिस्थितियों में वह विशाख का साथ देती है। महापिंगल की हत्या करने के अभियोग में जब विशाख राजकीय अनुचरो द्वारा बन्दी बना लिया जाता है तो वह भी उसके पीछे—पीछे स्वेच्छया चली जाती है। एक बार अपने को समर्पित कर सतीसाध्वी की भाँति अन्त तक अपने धर्म का पालन करती रहती है। विशाख के अतिरिक्त उसे संसार में अन्य किसी वस्तु की कामना नही है। विदेश जाने को उत्सुक विशाख के प्रति उसका यह कथन चन्द्रलेखा की अनन्य निष्ठा का परिचायक है: "मैं क्या जानूं कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ। मेरे सकीर्ण हृदय मे तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आ जायँ।" चन्द्रलेखा में आतिथ्य—सत्कार की भावना भी उसके आदर्श आचरण की सुषमा को द्विगुणित कर देती है। अपनी झोपड़ी में आये हुए महापिंगल एवं नृपति नरदेव का बड़े उत्साह एवं निश्छल पवित्रता से वह स्वागत करती हुई कहती है: "मैं आतिथ्य करने के योग्य नहीं, तब भी दीनों की भेंट फलमूल स्वीकार कीजिए।" नरदेव के घृणित प्रेम—प्रस्ताव का प्रतिरोध उसको एक अतिथि मानकर परिस्थितिजन्य विवशता के कारण कितनी शालीनता के साथ करती है: "राजन्, मुझसे अनादृत न हूजिए। बस यहाँ से चले जाइये।" प्रेम—प्रस्ताव के ठुकराने में चन्द्रलेखा की प्रशंसनीय निर्भीकता, आत्मदृढ़ता एवं सतीत्व की पवित्रता का परिचय मिलता है। यही उसके चरित्र का सर्वोत्तम गुण है। कानीर बिहार में भी सत्यशील के प्रलोभनों को ठुकराकर अपने इसी वैयक्तिक गुण का परिचय दिया था।

—के० प्र० चौ०

चंद्रशेखर पाठक—जन्म १८८५ ई० के लगभग और मृत्यु १९३२ ई० के लगभग। आपका बाल्यकाल तो काशी में बीता; किन्तु जीवन का अधिकांश भाग कलकत्ता में। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी, हिन्दी और बंगला भाषाओं के ज्ञाता थे। आप सरल और मुहावेदार भाषा लिखने में बड़े ही कुशल थे। पृथ्वीराज, महाराणा प्रताप, नेपोलियन बोनापार्ट, वारांगना रहस्य (छ: भागों में सामाजिक उपन्यास), मायापुरी, हेमलता, भीमसिंह, भीष्म पितामह आदि आपकी मुख्य कृतियाँ हैं। आपने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद भी किया था, जिनमें मटेरिया मेडिका आदि ८—१० होमियोपैथिक के बड़े ग्रन्थों के अनुवाद बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित हैं।

चंद्रशेखर वाजपेयी—चन्द्रशेखर वाजपेयी का जन्म पौष शुक्ल १०, सं० १८५५ (१७९८ ई०) को फतेहपुर के अन्तर्गत मोजबाबाद में हुआ था। इनके पिता मनीराम भी एक अच्छे कवि थे। यह असनीनिवासी महामात्र करनेश कवि के शिष्य थे। २२ वर्ष की अवस्था में ये दरभंगा की ओर गये और सात वर्ष तक वहाँ के राजाओं के आश्रय में रहे। तदनन्तर जोधपुराधीश मानसिंह (१७८३ ई०—१८४३ ई०) के दरबार में ६ वर्ष व्यतीत किये। इसके पश्चात् पटियाला नरेश कर्मसिंह (१८१३—१८४५ ई०) तथा महाराज नरेन्द्रसिंह (१८४५—१८६२ ई०) के आश्रय में रहे। इनकी मृत्यु १८७५ ई० में हुई।

इनके निम्नलिखित ग्रन्थों की चर्चा की जाती है—१. विवेक—विलास, २. हरि—भक्ति—विलास (हरि—मानस—विलास), ३. नख—शिख, ४.

वृन्दावन–शतक (कहा जाता है कि इस काव्य का निर्माण इन्होंने वृन्दावन में रहकर किया था), ५ गुरुपचाशिका, ६ ज्योतिष का ताजक, ७ माधवी–बसन्त, ८ हम्मीर हठ (चन्द्रशेखर ने अपने आश्रयदाता नरेन्द्र सिंह के आदेशानुसार इस काव्य की रचना फाल्गुन कृष्ण ४, सं० १९०२ (१८४५ ई०) को की थी (छन्द ३–५)। इसमे ४०३ छन्द है। 'हम्मीरहठ' में रणथम्भोर के हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। यह रचना वीर–रस का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रासंगिक रूप से श्रृंगार का भी चित्रण हुआ है। विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है। भाषा में आलंकारिक छटा और प्रवाह है। यह ग्रन्थ लहरी बुक डिपो, वाराणसी मे छप चुका है–('तृतीय संस्करण'), ९. रसिक विनोद–शेखर ने इस ग्रन्थ की रचना माघ शुक्ल सप्तमी, शनिवार, स० १९०३ (१८४६ ई०) को की थी। यह कृति उक्त नरेन्द्र सिंह के लिए रची गयी थी। इसमें ७४७ छन्द हैं। प्रारम्भ मे मंगलाचरण के पश्चात् आश्रयदाता का वर्णन किया गया है। (छन्द १२, २८, २९, ३२)। तदनन्तर लक्षणा के लक्षण, नायक–नायिका भेद तथा रस–वर्णन किया गया है। 'रसिक–विनोद' की रचना 'रसमजरी', भरत कृत 'नाटयशास्त्र' तथा 'रसतरंगिणी' के आधार पर की गयी है। स्थान–स्थान पर कवि ने अपनी स्वच्छंदता एवं मौलिकता का परिचय दिया है। आचार्यत्व और कवित्व दोनों दृष्टियों से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार चन्द्रशेखर श्रृंगार और वीररस दोनो के सफल कवि हैं। इनकी वर्णन–शक्ति प्रभावोत्पादक थी और भाषा पर अधिकार था। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों का प्रयोग इनके काव्य को दीप्ति प्रदान करता है। रीतिकार कवियों में चन्द्रशेखर का प्रमुख स्थान है; पर ये वीररस के चित्रण में अधिक सफल हुए हैं।

[सहायक ग्रन्थ–मि० वि०; हि० सा० इ०; हि० सा० वृ० इ० (भा० ६)।]

–टी० तो०

चंद्रहास–इतिहास ग्रन्थों से इनका परिचय प्राप्त नहीं होता। इनके 'श्रृंगार सागर' नामक ग्रन्थ की चर्चा अवश्य हुई है। इसका रचनाकाल ग्रन्थ में १७५४ ई० (सं० १८११) दिया हुआ है। कवि ने वह ग्रन्थ 'रासपंचाध्यायी' के आधार पर रचा है। इसमें श्रृंगार रस भक्तिपरक है और राधाकृष्ण के ऐश्वर्य तथा विलास से सम्बद्ध है। इसमें १६ श्रृंगारों का वर्णन है, कुछ अंश नायिका–भेद ग्रन्थों के समान हैं।

–सं०

चंद्रावली–राधा की प्रधान एवं अभिन्न सखी के रूप में चन्द्रावली को कृष्णकाव्य तथा कृष्णभक्ति में अन्यतम प्रसिद्धि मिली है। पुराणों में ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराण (पाताल खण्ड) में इसका राधा की सखी के रूप में चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त रूपगोस्वामीकृत 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में भी इसका परिचय उसी रूप में मिलता है। वहाँ उसके पति का नाम गोवर्धनमल्ल और सास का नाम जरती प्राप्त होता है। कृष्णभक्ति के सभी सम्प्रदायों में सहचरी के उपास्य भाव की स्वीकृति के कारण चन्द्रावली के चरित्र को स्थान मिला है। कृष्णकथा के अन्तर्गत उसका सर्वप्रथम उल्लेख गोवर्धनपूजा के प्रसंग में (सू० सा० प० १४५५) मिलता है। चन्द्रावली के पिता राजा चन्द्रभानु हैं। इसके उपरान्त दानलीला के अन्तर्गत (सू० सा० प० ४०७९–४०८५) उसकी झलक मिलती है। वह राधाकृष्ण की नित्यनिकुंजलीलाओं में योग देकर उनके दर्शन का सुख प्राप्त करती हैं। कृष्ण के राधा के छद्मवेश मे गोपी का रूप धारण करके विचरण करने पर चन्द्रावली इस तथ्य का रहस्य जानने का यत्न करती है। वह राधा से कृष्ण को अपनी सखी बता देती है, किन्तु अन्त में इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। राधा–कृष्ण से चन्द्रावली की घनिष्ठता के और भी अनेक सन्दर्भ मिलते है (सू० सा० प० २७७५–२७७८)। राधा की सहचरी के अतिरिक्त चन्द्रावली का ललिता के समान खण्डिता नायिका के भी रूप में चित्रण हुआ है। कृष्ण उसे मिलन का आश्वासन देकर एक अन्य गोपी सुषमा के साथ रतिक्रीड़ा करने चले जाते हैं। प्रातःकाल कृष्ण के मिलने पर वह कुपित होकर अन्तःकक्ष मे किवाड़ बन्द कर लेट जाती है परन्तु लीलाविहारी कृष्ण उसके पास उसकी मनोकामना पूर्ति हेतु पहुँच जाते है। इसमे चन्द्रावली को अभूतपूर्व सुख की अनुभूति होती है।

कृष्णभक्त कवियो ने उसके व्यक्तित्व में सहचरी के उपास्य रूप का आदर्श उपस्थित किया है। मध्ययुग में रासलीला एवं छद्मलीलाओं के अन्तर्गत चन्द्रावली का चरित्र अनेक नवीन सन्दर्भों में प्रस्तुत होता रहा। आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने चन्द्रावली की परम्परागत कल्पना के आधार पर 'चन्द्रावली' नाटिका में उसे नायिका का पद प्रदान कर उसके व्यक्तित्व मे भक्ति और श्रृंगार का अद्भुत समन्वय दिखाया है। वह श्रीकृष्ण की पूर्वानुरागिनी प्रेमिका है। भारतेन्दु ने चन्द्रावली का आदर्श रूप में चित्रण किया है। उसमें व्यक्तित्व के मानसिक अन्तर्द्वंद्व का अभाव होते हुए भी भक्ति और श्रृंगार के समन्वित पक्षों को उभार मिला है। नाटिका की कथा के विकास के साथ वह इन्हीं आदर्शों की ओर उत्तरोत्तर उन्मुख होती दिखायी देती है। चन्द्रावली पुष्टिमार्गीय भक्ति की पोषिका है। लौकिक बन्धन उसकी प्रेम भावना के उद्दाम प्रवाह को रोक नहीं पाते और अन्ततः वह प्रेम की एकनिष्ठता के कारण कृष्ण की कृपाभाजन बनती है।

–रा० कु०

चंद्रावली नाटिका–भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'चन्द्रावली नाटिका' (रचनाकाल १८७६ ई०) में चन्द्रावली कृष्ण के प्रति पूर्वानुरागजनित दिव्य प्रेम, विरह और मिलन चित्रित किया गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपनी यह रचना अत्यन्त प्रिय थी। इसमें उनका भक्त हृदय प्रकट हुआ है। चन्द्रावली का उल्लेख भागवत और सूरसागर में भी मिलता है, किन्तु जिस रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसका वर्णन किया है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। इस दृष्टि से कथा मौलिक ही मानी जाय तो अनुचित न होगा। विष्कंभक के अन्तर्गत नारद–शुकदेव–संवाद द्वारा और मुख्यकथा का विकास प्रस्तुत करते समय उन्होंने अपनी पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रतिपादन किया है। नाटिका में चार अंक हैं, जिनमें चन्द्रावली कृष्ण के प्रति उत्कट प्रेम, उसका विरह और विरहोन्माद, उसकी पाती, सखियों द्वारा चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन का उपाय सोचना, और अन्त में योगिनी के वेष में कृष्ण के प्रकट होने आदि का वर्णन हुआ है। प्रसंगवश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने

वर्षा, झूला आदि का भी मनोहारी वर्णन किया है। 'चन्द्रावली नाटिका' भक्ति, काव्य और प्रकृति का सुन्दर सम्मिश्रण है। वह प्राचीन नाटच—शास्त्र के लगभग सभी सिद्धान्तों से समन्वित रचना है। भाषा यद्यपि प्रधानतः खड़ीबोली है, तो भी बीच—बीच में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह एक टकसाली रचना मानी जाती है। नाटिका के विधान पर समकालीन लोकमंच का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।

—ल० सा० वा०

चंपतराय—ओरछानरेश चम्पतराय अपनी वीरता के लिए विशेष प्रसिद्ध नहीं रहे हैं। वे शाहजहाँ के समकालीन लगभग सन् १६५० ई० के आस—पास ओरछा नामक एक छोटी रियासत के सामन्त थे। इतिहासज्ञ उनकी प्रियता वस्तुतः उनके पुत्र छत्रसाल के कारण सिद्ध करते हैं। चम्पतराय एवं उनकी रानी सारंधा को विषय बनाकर मुंशी प्रेमचन्द्र ने 'रानी सारंधा' नामक कहानी की रचना की है। इसके भी पूर्व भूषण ग्रन्थावली में 'छत्रसाल' के सन्दर्भ में इनका नाम आ चुका है।

—यो० प्र० सि०

चक्रधर—प्रेमचन्द्रकृत उपन्यास 'कायाकल्प' का पात्र। चक्रधर मुंशी वज्रधर सिंह का पुत्र है। अपने बुद्धि—बल से उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की और विद्यार्थी—जीवन से ही वह एक आदर्श से अनुप्राणित नवयुवक है। स्वतन्त्र रहकर सेवा—कार्य कर, साधना और संयम में संलग्न रहकर वह आत्मगौरव का अनुभव करना चाहता है। वह सुशील, गम्भीर और सिद्धान्तप्रिय है। पिता के लाख समझाने पर भी उसने अपना निर्धारित मार्ग न छोड़ा। अपनी आजीविका स्वयं उत्पन्न करने के लिए वह जगदीशपुर के दीवान ठाकुर हरिसेवक सिंह की पुत्री मनोरमा को पढ़ाता है। वह कर्त्तव्य—पालन और सिद्धान्त—प्रेम के कारण ही माता—पिता की इच्छा के विरूद्ध अहल्या से विवाह करता है। चक्रधर आत्मा को धन से ऊपर समझनेवाला व्यक्ति है। वह निर्भीक और साहसी है, जिसका परिचय वह आगरे के हिन्दू—मुस्लिम दंगे के समय और ठाकुर विशाल सिंह के तिलकोत्सव के समय मजदूरों के विद्रोह करने पर देता है। उसमें वात्सल्य और आत्मीयता की भी कमी नहीं। वह पीड़ित जनों के प्रति सहानुभूति रखता है। उन्हीं के कारण वह जेल—यातना सहन करता है। वास्तव में चक्रधर राष्ट्र—प्रेमी और जन—प्रेमी तो है, किन्तु उसकी मानसिक अवस्था से उसका जीवन असन्तुलित हो जाता है। अहल्या से उसने विवाह कर्त्तव्य के वशीभूत होकर किया था। उसका मन तो मनोरमा में रमा हुआ था, किन्तु मनोरमा के सामने अपना प्रेम प्रकट करने में उसे संकोच होता है। उस समय प्रेम और इच्छा के स्थान पर वह धर्म और कर्त्तव्य की बातें करने लगता है। फलस्वरूप वह आजीवन एक कुण्ठित और दमित व्यक्तित्व लिए रहता है। जब वह जगदीशपुर छोड़कर चला जाता है तब भी उसका व्यक्तित्व स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। चक्रधर महामानव बनना चाहता है, किन्तु अपने सहज मानवत्व को भुलाकर। इसीलिए जहाँ आत्म—विश्वास की आवश्यकता पड़ती है वहाँ वह डगमगाने लगता है।

—ल० सा० वा०

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी—इनका जन्म सेलम जिले के हौसूर नामक स्थान में ८ दिसम्बर सन् १८७९ में हुआ। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व सर्वविदित है। नेता के रूप में तो इनका व्यक्तित्व प्रतिभाशाली रहा ही है, लेखक के रूप में भी इनकी प्रतिभा चमकी है। हिन्दी के मौलिक लेखक न सही, राजाजी हिन्दी के बड़े पुराने प्रचारक हैं, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के सदस्य रहे हैं। हिन्दी के प्रचार में उन्होंने योग दिया है और हिन्दी का समर्थन भी किया है। कई अधिवेशनों में सभा के अध्यक्ष रहे हैं और हिन्दी के प्रति उन्होंने लोगों को आकर्षित किया है तथा सभा का मार्गदर्शन किया है।

राजाजी ने स्वर्गीय जमनालाल बजाज के साथ सन् १९२९ में हिन्दी प्रचारार्थ दौरा किया और इसी दौरान ९ फरवरी १९२९ को एर्नाकुलम में हिन्दी पुस्तकालय का उद्घाटन किया। इस अवसर पर उन्होंने अपने जो विचार व्यक्त किये, उससे ज्ञात होता है कि वे हिन्दी के कितने बड़े हिमायती थे। उस समय कोचीन को उन्होंने हिन्दी—प्रचार आन्दोलन में अग्रणी रहने के लिए बधाई दी थी और हिन्दी के भारत की सर्वमान्य भाषा बनने की आशा व्यक्त की थी। इससे भी आगे बढ़कर तत्कालीन राज्य—सरकार से हिन्दी को अनिवार्य विषय बना देने की प्रार्थना और घोषणा की थी। मदुरा में 'मदुरा टीचर्स' ऐसोसिएशन के सम्मेलन में राजाजी ने हिन्दी का समर्थन किया था।

'भारतीय शिक्षा में हिन्दी का क्या स्थान है' इस विषय पर बोलते हुए राजाजी ने 'इंटरनेशनल फैलोशिप' के सम्मेलन में निश्चित् रूप से दक्षिण भारत में हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया था और कहा था कि स्वतन्त्रता—प्राप्ति के बाद गणराज्य की राष्ट्रभाषा एकमात्र हिन्दी ही हो सकती है।

वर्तमान काल में राजनीतिक कारणों से राजाजी हिन्दी के विरोधी बन गये मालूम होते हैं, किन्तु उनका पुराना हिन्दी प्रेम टूट गया हो, यह नहीं माना जा सकता। राजनीति समय के अनुसार मनुष्य के विचारों को बदल दे सकती है किन्तु भाषा और साहित्य की स्थिरता विचारों को पूर्णरूप से हिला नहीं सकती। राजाजी का योग हिन्दी को मिलता रहा, निश्चय ही इसमें तनिक भी सन्देह करने की गुंजाइश नहीं। उनके द्वारा लिखित 'दशरथनन्दन श्री राम' का अनुवाद उनकी पुत्री लक्ष्मी देवदास गान्धी ने किया है। अपने पिता राजाजी और श्वशुर गान्धीजी से पाये संस्कारों का ही यह फल कहा जा सकता है और पिता की पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करके राजाजी की ओर से हिन्दी—साहित्य की यह सेवा मानी जा सकती है। राजाजी इस प्रकार निरंतर हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में योगदान दे रहे, यह सत्य भुलाया नहीं जा सकता।

—ज्ञा० द०

चतुरसेन शास्त्री—इनका जन्म सन् १८९१ ई० में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनूप शहर में तथा मृत्यु ६९ वर्ष की उम्र में दिल्ली में सन् १९६० ई० में हुई। इन्होंने १९०६ ई० से लिखना आरम्भ किया था और १९१४ ई० तक कहानी लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। इन्होंने हिन्दी गद्य के विभिन्न रूपों को अंगीकार करते हुए लगभग चवालीस वर्ष तक विपुल मात्रा में लिखा। कहानी, उपन्यास, गद्यकाव्य, नाटक तथा इतिहास के अतिरिक्त धर्म, राजनीति, चिकित्सा, कामशास्त्र तथा पाकशास्त्र जैसे विषयों को भी अपने लेखन का आधार

बनाया। इनकी कुल प्रकाशित कृतियों की संख्या १८६ बतायी जाती है और कहा जाता है कि कोई ५२ कृतियाँ अब भी अप्रकाशित रह गयी हैं।

चतुरसेन द्वारा लिखित कहानी साहित्य के अन्तर्गत लगभग ४५० कहानियाँ आती हैं। इन कहानियों की विषय भूमि बौद्धकालीन, राजपूतकालीन एवं मुगलकालीन समाज और संस्कृति है। अनेक कहानियाँ आधुनिक सामाजिकता से भी सम्बद्ध हैं। चतुरसेनकृत इस समस्त कहानी साहित्य की कुछ थोड़ी सी कहानियाँ शिल्प, गठन और मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से सफल बन पायी हैं। ऐसी कहानियों मे 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' उल्लेखनीय है। इस प्रकार की कहानियों में एक विचित्र प्रकार का रोमानी 'इतिहास–रस' परिलक्षित होता है। चतुरसेनकृत सम्पूर्ण कहानी साहित्य १९६१ ई० में दिल्ली से एक साथ पाँच भागों में प्रकाशित हुआ है–(१) 'बाहर–भीतर', (२) 'दुखवा मैं कासे कहूँ', (३) 'धरती और आसमान', (४) 'सोया हुआ शहर', और (५) 'कहानी खत्म हो गयी'।

इनके उपन्यासों की संख्या ३२ कही गयी है। इनमें से कुछ कृतियाँ इस प्रकार हैं–'हृदय की परख' (१९१७ ई०), 'व्यभिचार' (१९२४ ई०), 'हृदय की प्यास' (१९२७ ई०), 'अमर अभिलाषा' (१९३३ ई०), 'आत्मदाह' (१९३५ ई०), 'वैशाली की नगर वधू' (दोभाग) (१९४९ ई०), 'नरमेध' (१९५० ई०), 'अपराजिता' (१९५२ ई०), 'बगुला के पंख' (१९५८ ई०), 'उदयास्त' (१९५९ ई०) 'पत्थर युग के दो बुत' (१९५९ ई०), 'सोना और खून' (दो भाग) (१९६० ई०), 'सह्याद्रि की चट्टानें' (१९६० ई०), 'खग्रास' (१९६० ई०)। कहानियों की भाँति चतुरसेन के उपन्यास भी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक पृष्ठिका पर आधारित हैं। सामाजिक विषयों पर लिखते समय इनकी दृष्टि यथार्थवादी अधिक रही है। यथार्थ के प्रति अधिक मोह होने के कारण कहीं–कहीं अश्लीलता और अस्वाभाविकता को भी प्रश्रय देना पड़ा है। उदाहरणार्थ 'अमर–अभिलाषा' नामक कृति को लिया जा सकता है। इसमें एकाधिक विधवा स्त्रियों के माध्यम से विधवा जीवन की यन्त्राणापूर्ण कहानी कही गयी है। विधवा समस्या के निदान की ओर भी संकेत किया गया है किन्तु परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण के कारण कई अंश नंगे और अश्लील हो गये हैं। सामाजिक उपन्यासों की तुलना में चतुरसेन को ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक उपन्यासों में अधिक सफलता मिली है। इनके दो उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' तथा 'वयं रक्षामः' बहुत लोकप्रिय हुए हैं। 'वैशाली की नगर वधू' का कथानक बौद्धकालीन है। इसमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक गतिविधियों का बड़ा कलात्मक अंकन प्रस्तुत किया गया है। 'वयं रक्षामः' 'प्रागैतिहासिक अतीत की कृति' है। इसके कथानक के मूलाधार राक्षसराज रावण तथा महापुरुष राम हैं।

चतुरसेनकृत गद्य–काव्यों के चार संग्रह प्रकाशित हैं–१. अन्तस्तल (१९२१ ई०), (२) तरलाग्नि (१९३६ ई०), ३. मरी खालकी हाय (१९३९ ई०) तथा (४) जवाहर (१९४६ ई०)। इनमें से पहली पुस्तक 'अन्तस्तल' गद्य काव्यात्मक प्रबन्धों का संग्रह है, जिनमें वैयक्तिकता तथा भावात्मकता का समावेश पूरी मात्रा में हुआ है। शेष तीनो पुस्तकों की रचनाएँ देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं मे ओतप्रोत हैं। चतुरसेन की नाट्यकृतियो में से दो का–'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग'–उल्लेखमात्र किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चतुरसेन ने मात्रा और परिमाण की दृष्टि से बहुत अधिक लिखा है। शायद यही कारण है कि उनके लेखन मे फैलाव और विस्तार की अपेक्षा गहराई तथा गठन का अभाव है। अधिक लिखना कठिन नहीं है किन्तु अधिक लिखना और अच्छा लिखना बहुत कठिन है। भाषा–शैली की दृष्टि से चतुरसेन अन्त तक आधुनिक नहीं हो पाये हैं। इनके आरम्भिक उपन्यासों में व्याकरण और वाक्यरचनासम्बन्धी भयंकर अशुद्धियाँ पायी जाती हैं। बाद में भी उनकी वर्णनशैली बहुत आकर्षक नहीं बन पायी है। उनकी भाषाशैली का अपेक्षाकृत परिपुष्ट रूप उनकी इतिहास–रसवाली कुछ थोड़ी सी कहानियों में दिखलायी पड़ता है।

–र० भ्र०

चतुरानन–दे० 'ब्रह्मा'।

–रा० कु०

चतुर्भुज–रीति परम्परा में इस नाम के दो कवियों का उल्लेख मिलता है। एक अयोध्या प्रसाद बाजपेयी 'औध कवि' के भाई थे, जिनका जन्म–स्थान सातन पुरवा (जि० रायबरेली) था। भगवती प्रसाद सिंह ने इनका उपस्थिति–काल १८०३ ई० माना है (दि० भू० भूमिका) और दूसरे कुलपति मिश्र के वंशज भरतपुर के राजा जसवन्त सिंह के दरबारी कवि हुए हैं, इनका समय १८१२ ई० के आसपास माना गया है। 'दि० भू०' में प्रथम के छन्द उदाहृत हो सकते हैं, क्योंकि गोकुल कवि तथा औध कवि में मित्रता थी और 'अलंकार–आभा' नामक काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थ द्वितीय का माना जा सकता है। भगीरथ मिश्र ने इस ग्रन्थ का रचना–काल १८३९ ई० माना है।

[सहायक ग्रन्थ–शि० स०; दि० भू० (भूमिका); हि० का० शा० इ०।]

–सं०

चतुर्भुज औदीच्य–चतुर्भुज औदीच्य (रचना–काल १९०४ ई०) द्विवेदी–युग के निबन्धकार थे। ऐसा लगता है कि ये उन लेखकों में–से थे, जो साहित्य को जीवन का अनिवार्य अंग या व्यापार न बनाकर कभी–कभी लिखते हैं। ऐसे लेखक गौण होते हुए भी साहित्य के लिए अपेक्षित वातावरण बनाने में सहायक होते हैं। औदीच्यजी का 'कवित्व' नामक निबन्ध बहुप्रशंसित है। 'कवित्व' निबन्ध में भाव, उपादान और शैली सभी महत्त्वपूर्ण थे (श्रीकृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० ३५४)। इस निबन्ध का मूलाधार बंगला के पंचानन तर्करत्न का 'कवित्व' शीर्षक निबन्ध है। यह रूप और शैली में खण्ड–काव्य के निकट पहुँचता है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कवित्व की प्रशंसा, द्वितीय में कवित्व का जन्म, तृतीय में कवित्व का भाषा से विवाह तथा चतुर्थ में मिथ्या (कल्पना) का कवित्व से सम्बन्ध स्थापन किया गया है। "इस प्रकार लेखक ने एक बहुत ही कवित्वपूर्ण रूपात्मक कहानी की सृष्टि की, जिसमें कवित्व,

भाषा, मिथ्या और कल्पना का मानवीयकरण हुआ है।" सम्भवतः ऐसे ही निबन्धों को ध्यान में रखकर रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की भाषा का प्रयोग आलोचना के क्षेत्र में अनुचित माना है ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', सप्तम संस्करण, पृ० ५१५—५१६)। वस्तुतः इस निबन्ध को आलोचना के क्षेत्र से अलगकर शुद्ध कलात्मक निबन्ध के अन्तर्गत परिगणित करना चाहिए।

—दे० शं० अ०

चतुर्भुज (अष्टछापी)—हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में चतुर्भुजदास नाम से दो प्रसिद्ध कवियो का उल्लेख प्राप्त होता है। चतुर्भुजदास नाम के एक भक्त कवि अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवि हैं और दूसरे राधावल्लभ सम्प्रदाय के भी एक भक्त कवि इसी नाम के हुए हैं। प्रारम्भ में दोनों की ही रचनाओ को भ्रमवश एक ही समझा जाता रहा, किन्तु डा० दीनदयालुगुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' ग्रन्थ में इस भ्रम का निवारण किया है।

अष्टछाप के भक्त कवि चतुर्भुजदास का चरित 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'अष्टसखान की वार्ता' में मिलता है। उनका जन्म सन् १५३० में स्थिर किया जाता है। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार उन्होंने सन् १५४० ई० में दीक्षा ग्रहण करके पुष्टिमार्ग स्वीकार किया था। उनका निधन सन् १५८५ ई० में हुआ। चतुर्भुजदास की शैशव से ही कविता में रुचि दिखने लगी थी। अष्टछापी कवि कुंभनदास की वे सातवीं सन्तान थे। अपने पिता के काव्य—रचना संस्कारों से परिपूर्ण होने के कारण आपने पिता द्वारा सर्वाधिक प्रेम और वात्सल्य प्राप्त किया था। उनका जन्म—स्थान जमुनावतो नामक गाँव था, जो गोवर्धन के समीप ही है।

चतुर्भुजदास ने किसी ग्रन्थ विशेष की रचना नहीं की। स्फुट पदों के रूप में ही उनकी काव्य—रचना प्रक्रिया आजीवन चलती रही। उनके पदों के तीन संग्रह कांकरोली विद्या विभाग की ओर से 'चतुर्भुज कीर्तन संग्रह', 'कीर्तनावली' और 'दानलीला' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। उनकी कविता में भक्ति—भावना और माधुर्य श्रृंगार की अच्छी छटा दृष्टिगत होती है। भगवान् कृष्ण के जन्म से लेकर गोपी विरह तक के प्रसंगों का उनके पदों में वर्णन है। 'मधुमालती' नामक एक रचना चतुर्भुजदास के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु यह रचना किसी और चतुर्भुजदास की प्रतीत होती है। सभी अन्वेषक विद्वान् इसे अन्य व्यक्ति की कृति स्वीकार करते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप निर्णय : प्रभुदयाल मीतल; अष्टछाप : डा० धीरेन्द्र वर्मा।]

—वि० स्ना०

चतुर्भुजदास (राधावल्लभीय)—राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त चतुर्भुजदास का वर्णन नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' में किया है। उसमें जन्मस्थान, सम्प्रदाय, छाप और गुरु का भी स्पष्ट संकेत है। ध्रुवदास ने भी 'भक्त नामावली' में इनका वृत्तान्त लिखा है। इन दोनों जीवन वृत्तों के आधार पर चतुर्भुजदास गोंडवाना प्रदेश, जबलपुर के समीप गढ़ा नामक गाँव के निवासी थे। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द्वादश यश' में रचना संवत् दिया है। सेवकजी दामोदरदास के वे समकालीन थे, अतः इन दोनों आधारों पर इनका जन्म संवत् १५८५ (सन् १५२८) के आसपास निश्चित किया जाता है। इनके बारह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो 'द्वादश यश' नाम से विख्यात है। सेठ मणिलाल जमुनादास शाह ने अहमदाबाद से इसका प्रकाशन करा दिया है। ये बारह रचनाएँ पृथक्—पृथक् नाम से भी मिलती हैं। 'हितजू को मंगल', 'मंगलसार यश' और 'शिक्षासार यश' इनकी उत्कृष्ट रचनाएँ है।

चतुर्भुजदास की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है, उस पर बैसवाड़ी और बुन्देली का गहरा प्रभाव है। वे संस्कृत भाषा के भी विद्वान् थे, उन्होंने अपने ग्रन्थ की टीका स्वयं संस्कृत में लिखी है। उनकी संस्कृत भाषा में अच्छा प्रवाह है। 'द्वादश यश' के अध्ययन से यह भी विदित होता है कि भक्ति को जीवन का सर्वस्व स्वीकार करने पर भी उन्होंने दम्भ और पाखण्ड का पूरे जोर के साथ खण्डन किया है। कुछ स्थलों पर अपने युग के दुष्प्रभावों का भी वर्णन है। गुरु सेवा आदि पर बल दिया गया है। काव्य की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि की रचना इसे नहीं कहा जा सकता, किन्तु भाव—वस्तु की दृष्टि से इसका महत्त्व है।

[सहायक ग्रन्थ—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त; अष्टछाप निर्णय : प्रभुदयाल मीतल; राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक।]

—वि० स्ना०

चतुर्मुख—दे० 'ब्रह्मा'।

—रा० कु०

चरक—एक महर्षि एवं आयुर्वेद—विशारद के रूप में विख्यात हैं। 'चरक संहिता' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'चरक संहिता' के अनुसार इनको यह विद्या अग्निवेश से प्राप्त हुई थी तथा उनको यह विद्या आत्रेय भारद्वाज से मिली थी। चरक को शेषनाग का अवतार भी कहा जाता है। ८वीं शती में 'चरक संहिता' का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था। वैद्यक शास्त्र में 'चरक संहिता' का अद्वितीय स्थान है।

—रा० कु०

चरनदास—इनका जन्म मेवात (राजपूताना) के डेहरा गाँव में भाद्र शुक्ल ३, मंगलवार सन् १७०३ ई० में एक ढूसर वैश्यकुल में हुआ था। इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजो था। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें पण्डितपुर निवासी ब्राह्मण कहा है। मेवात के ढूसर अपने को वधूसर (भार्गव) ब्राह्मण कहते हैं, कदाचित् इसीलिए मिश्रबन्धुओं को उपर्युक्त भ्रम हुआ था। इन्होंने अपने गुरु का नाम शुकदेव बताया है और इन्हें भागवत के व्याख्याता व्यास पुत्र शुकदेव मुनि से अभिन्न माना है किन्तु कहा जाता है कि इनके गुरु मुजफ्फरनगर के समीपवर्ती शुकताल गाँव के निवासी कोई सुखदेव सा सुखानन्द थे। इनकी मृत्यु अगहन सुदी ४ सन् १७८२ ई० में दिल्ली में हुई थी। यहीं इन्होंने अपना सन्त—जीवन व्यतीत किया था।

इनकी कुल २१ रचनाएँ बतायी जाती हैं। इनमें १५ का एक संग्रह वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से इनकी प्रायः सभी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'ब्रज चरित', 'अमरलोक अखण्ड धाम वर्णन', 'धर्म जहाज वर्णन', 'अष्टांग योग वर्णन', 'योग सन्देह

सागर', 'ज्ञान स्वरोदय', 'पंचोपनिषद्', 'भक्ति पदार्थ वर्णन', 'मनविकृत करन गुटकासार', 'ब्रह्मज्ञान सागर' 'शब्द और भक्ति सागर' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त 'जागरण माहात्म्य', 'दानलीला' 'मटकी लीला', 'कालीनाथ—लीला' 'श्रीधर ब्राह्मण लीला', 'माखन चोरी लीला', 'कुरुक्षेत्र लीला', 'नासकेत लीला', और 'कवित्त' अन्य रचनाएँ हैं जो इन्हीं की कृतियाँ मानी जाती हैं। इनकी समस्त रचनाओं का प्रमुख विषय—योग, ज्ञान, भक्ति, कर्म और कृष्ण चरित का दिव्य सांकेतिक वर्णन है। भागवत पुराण का ग्यारहवाँ स्कन्ध इनकी रचनाओं का प्रेरणा स्रोत है। समन्वयात्मक दृष्टिकोण होते हुए भी इन्होंने योगसाधना पर अधिक बल दिया है। इसीलिए रामदास गौड़ ने इनके सम्प्रदाय को योगमत के अन्तर्गत रखा है। विल्सन महोदय ने इसे वैष्णव पंथ माना है जो गोकुलस्थ गोस्वामियों के महत्त्व को कम करने के लिए प्रवर्तित हुआ था। बड़थ्वाल ने प्रेमानुभूति की प्रगाढ़ता के कारण इसे निर्गुण सन्त—सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही उचित माना है। परशुराम चतुर्वेदी ने इसे ज्ञान, भक्ति, योग का समन्वय करनेवाला पन्थ कहा है।

इनके शिष्यों की कुल संख्या ५२ बतायी जाती है जिन्होंने विभिन्न स्थानों पर पन्थ का प्रचार किया था। सहजोबाई और दयाबाई इनकी प्रसिद्ध शिष्याएँ हैं। समन्वयात्मक दृष्टिकोण होने पर भी इनका मूल स्वर सन्तों का ही है। इनमें काव्य रचना की अच्छी क्षमता थी और इनकी रचनाएँ सामान्य सन्तों से उत्कृष्ट हैं।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; सन्तबानी संग्रह (पहिला भाग), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; चरनदासजी की बानी (भाग पहिला और भाग दूसरा), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।]

—रा० चं० ति०

चर्पटीनाथ—चौरासी सिद्धों में से एक, जिन्हें राहुल सांकृत्यायन की सूची में ५९वाँ और 'वर्ण रत्नाकर' की सूची में ३१वाँ सिद्ध बताया गया है। राहुलजी ने इन्हें गोरखनाथ का शिष्य मानकर इनका समय ११वीं शती अनुमित किया है। 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में इनकी सबदी संकलित है। उसमें एक स्थल पर कहा गया है—"आई भी छोड़िये, लैन न जाइये। कुहे गोरष कूता विचारि—विचारि षाइये।।" सबदी में कई स्थलों पर अवधूत या अवधू शब्द का भी प्रयोग हुआ है। एक सबदी में नागार्जुन को सम्बोधित किया गया है—"कहै चर्पटी सोंण हो नागा अर्जुन।" इन उल्लेखों से विदित होता है कि चर्पटीनाथ गोरखनाथ के परवर्ती और नागार्जुन के समसामयिक सिद्ध थे, अतः अनुमान किया जा सकता है कि वे ११वीं १२वीं शताब्दी में हुए होंगे। रज्जब की सर्वांगी इन्हे चारणी के गर्भ से उत्पन्न कहा गया है किन्तु डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इनका नाम चम्ब रियासत की राजवंशावली में खोज निकाला है। एक सबदी में "सत—सत भाषन्त श्री चरपटराव" कहकर कदाचित् चर्पटीनाथ ने स्वयं राजवंश से अपने सम्बन्ध का संकेत किया है।

चर्पटीनाथ की किसी स्वतन्त्र रचना का प्रमाण नहीं मिला। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनकी एक तिब्बती भाषा में लिखी कृति 'चतुर्भवाभिशन' का उल्लेख किया है। 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' मे चर्पटीनाथ की ५९ सबदियाँ और ५ सलोक संकलित हैं। इनका वर्ण्य—विषय लौकिक पाखण्डों का खण्डन तथा कामिनी—कंचन की निन्दा आदि है। एक सलोक में पारद का यशोगान किया गया है और इसी सन्दर्भ में स्वर्ण या स्वर्णभस्म बनाने की विधि का उल्लेख भी हुआ है। इसीलिए चर्पटीनाथ रसेश्वरसिद्ध कहे जाते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्त्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; योग प्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं०

चर्यागीत—बौद्ध साहित्य में चर्या का अर्थ चरित या दैनन्दिन कार्यक्रम का व्यावहारिक रूप है। बुद्धचर्या, जिसका वर्णन राहुल सांकृत्यायन ने अपने इसी नाम के ग्रन्थ में किया है, बौद्धों की चर्या का आदर्श बन गयी और उसी का प्रयोग दैनन्दिन कार्यक्रम में बोधिचित्त के लिये होने लगा। सिद्ध और नाथ परम्परा में संगीत का प्रभाव बढ़ने पर जब गायन का प्रयोग साधना की अभिव्यक्ति के लिए होने लगा तो बोधिचित्त अर्थात चित्त की जाग्रत् अवस्था के गानों को 'चर्यागीत' की संज्ञा दी गयी। चर्यागीत सिद्धों के वे गीति पद हैं, जिनमें सिद्धों की मनःस्थिति प्रतीकों द्वारा व्यक्त की गयी है। इनमें योगिनियों के सम्मिलन, साधक की मानसिक अवस्थाओं में क्रमशः राग और आनन्द के प्रस्फुटन तथा बोधिचित्त की विभिन्न स्थितियों के सरस वर्णन किये गये हैं। इनमें प्रायः श्रृंगार, वीभत्स और उत्साह की मार्मिक व्यंजनाएँ मिलती हैं। आलम्बन के रूप में मुख्यतः स्वयं साधक आता है। नायिकाओं में प्रायः निम्न कुल से सम्बन्धित डोमनी, चाण्डाली, शबरी आदि मिलती हैं। चर्यागीत की शैली में संधाभाषा का प्रयोग हुआ है। अतः इन गीतों में प्रयुक्त नायिकाओं का प्रतीकात्मक अर्थ ही निकाला जा सकता है। कापालिक साधना के विविध उपकरणों तथा योगसाधना, तन्त्राचार आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन भी इन गीतों में प्राप्त होता है। इनमें गीतिकाव्य के अनेक तत्त्व देखे जा सकते हैं। कदाचित् सिद्धों ने जन साधारण को आकृष्ट करने के लिए ही गीति—शैली का प्रयोग किया है। गीतिशैली तथा प्रतीकात्मक भाषा के प्रयोग की दृष्टि से चर्यागीत हिन्दी के सन्त कवियों की रचना की पृष्ठभूमि का सुन्दर परिचय देते हैं। सन्तों की उलटवासियाँ चर्यागीतों की संधाभाषा की ही परम्परा में आती हैं। इन गीतों में अनेक राग—रागिनियों का प्रयोग हुआ है। वीणपा आदि की रेखाकृतियों तथा गोपीचन्द द्वारा निर्मित गोपीयन्त्र (सारंगी) आदि से प्रमाणित होता है कि इन गीतों का प्रयोग विभिन्न राग—रागिनियों के अनुसार गाकर किया जाता था। सरहपा के विषय में प्रसिद्ध है कि वे कई रागों के जन्मदाता थे। महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने चर्यागीतों के १८ रागों का उल्लेख किया है। गीतों में प्रयुक्त छन्दों के सम्बन्ध में डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनमें पयार छन्द का प्रयोग हुआ है। पयार छन्द वास्तव में संस्कृत का पादाकुलक छन्द ही है।

पर नहीं समझना चाहिए कि सिद्धों का सम्पूर्ण

गीति—साहित्य चर्यागीत ही है। उनके साधनासम्बन्धी गीत 'वज्रगीत' के एक भिन्न नाम से अभिहित हैं। सिद्धों ने वज्रगीत और चर्यागीत की भिन्नता का बराबर संकेत किया है। चर्यागीत की भाषा आधुनिक आर्य भाषाओं के पूर्व की अपभ्रंश भाषा है परन्तु हिन्दी के संत—साहित्य की भाषा, छन्द—विधान, शैली, प्रतीक, रागतत्त्व आदि के अध्ययन के लिए इन गीतों का परिचय आवश्यक है।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्त्व निबन्धवली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन : हिन्दीकाव्य धारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; योग प्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सि०

चाँद—मासिक पत्र। इसका प्रकाशन इलाहाबाद से १९२३ ई० में हुआ। इसके सम्पादक नन्दगोपाल सिंह सहगल, महादेवी वर्मा, नन्दकिशोर तिवारी रहे हैं। कुछ दिनों तक इसका सम्पादन मुंशी नवजादिक लाल ने किया था।

नारी जीवन से सम्बद्ध समस्याओं पर इसमें अधिक चर्चा रहती थी। 'चाँद' का 'मारवाड़ी अंक' अपने समय में बहुचर्चित था। साहित्यिक होते हुए भी इस पत्र में समाज सुधार की प्रवृत्ति बलवती रही। इसका एक विशेषांक 'फाँसी' नाम से भी प्रकाशित हुआ था।

—ह० दे० बा०

चाणक्य १—प्राचीन भारतीय इतिहास में चाणक्य एक विद्वान्, अर्थशास्त्री एवं कूटनीतिज्ञ के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने अपमानित होने के कारण कुपित होकर नन्दवंश का नाश करके चन्द्रगुप्त मौर्य को गद्दी पर बिठाया था। चाणक्य चन्द्रगुप्त के निर्देशक आचार्य थे। उनका 'अर्थशास्त्र' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'चाणक्यसूत्र' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी इनका रचा हुआ कहा जाता है। 'चाणक्य सूत्र' का अंग्रेजी अनुवाद वेबर ने किया है। हिन्दी कथा साहित्य में चाणक्य के चरित्र पर आधारित अनेक ऐतिहासिक नाटकों एवं उपन्यासों की रचना हुई है। प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त', सत्यकेतु विद्यालंकार का 'आचार्य चाणक्य' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

—रा० कु०

चाणक्य २—प्रसादकृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक में नायक चन्द्रगुप्त के पश्चात् अत्यन्त तेजस्वी और महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व चाणक्य का है। विशुद्ध ब्राह्मण—शक्ति के सर्वोत्तम परिचायक आचार्य चाणक्य के विष्णुगुप्त, पक्षिल स्वामी, वात्स्यायन, द्रुमिल, कौटिल्य आदि अनेक नाम मिलते हैं। जस्टिस तैलंग, बी० ए० स्मिथ, हेमचन्द्र, कर्निघम आदि ने चाणक्य का चरित्र अंकित किया है। इनकी रचनाओं में चाणक्य—नीति, अर्थशास्त्र, कामसूत्र और न्यायभाष्य की गणना की जाती है। चाणक्य की कथाओं में मिलता है कि वे श्यामवर्ण के पुरुष तथा कुरूप थे, इसी कारण वे नन्द की सभा से श्राद्ध के समय हटाये गये। वे नन्द द्वारा अपमानित होने पर नन्द—वंश का नाश करने की प्रतिज्ञा करके बाहर निकल पड़े और चन्द्रगुप्त से मिलकर उसे अपनी कूटनीतिपरक चतुरता से नन्दराज्य का स्वामी बना दिया।

विष्णुगुप्त चाणक्य मौर्य साम्राज्य का निर्माता एवं ब्राह्मणत्व के गर्व से परिपूर्ण है। उसका चरित्र अत्यन्त गरिमापूर्ण एवं विविध घटनाओं से संकुलित है। नाटक में जहाँ चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय—तेज अपने चरम—विकास के साथ चित्रित किया गया है, वहाँ चाणक्य में ब्राह्मणत्व के पूर्ण तप का निदर्शन बड़ी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। निर्भीकता, स्पष्टवादिता, दृढ़ता, कष्ट सहिष्णुता और सतत कर्मशीलता चाणक्य के प्रखर व्यक्तित्व के सबल अंग हैं। तक्षशिला से लौटने पर वह शास्त्रव्यवसायी न होकर सरल कृषक जीवन बिताना चाहता था किन्तु देश की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति ने उसे समस्त उत्तरापथ की राजनीतिक बागडोर को अपने हाथ में लेने के लिए विवश किया। उसने अपनी प्रखर दूरदर्शिता से आर्यावर्त को विदेशी विजेता से पददलित न होने देने के लिए पारस्परिक ऐक्य संघटन की भावना जगायी। एक ओर चाणक्य स्वदेश—प्रेम से अनुप्राणित होकर यवनों के आक्रमण को विफल बनाने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए मगध के राज्य—शासन को उलटने के लिए कृत—संकल्प होता है। ब्राह्मणत्व एवं उग्र तप का चरम निदर्शन हमें चाणक्य के व्यक्तित्व में देखने को मिलता है। उसका कथन है कि "त्याग और क्षमा, तप और विद्या, तेज और सम्मान के लिए हैं— लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग ब्राह्मण नहीं बने हैं। हमारी ही दी हुई विभूति से हमी को अपमानित किया जाय, ऐसा नहीं हो सकता।" पर्वतेश्वर द्वारा पिप्पली कानन के मौर्यों को वृषल करने पर उसका प्रतिकार करते हुए चाणक्य स्पष्ट घोषणा करता है : "ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि—वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा।" इसी प्रकार पर्वतेश्वर द्वारा राज्य से निर्वासित किये जाने पर चाणक्य का ज्वलित ब्राह्मणत्व पुनः फुंकार कर उठता है : "रे पददलित ब्राह्मणत्व देख! शूद्र ने निगड़—बद्ध किया। क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल— एक बार अपनी ज्वाला से जल।" अमात्य राक्षस चाणक्य के बुद्धि—वैभव की प्रशंसा करते हुए नहीं थकता : "चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है। उसकी प्रखर प्रतिभा कूट—राजनीति के साथ दिन—रात जैसे खिलवाड़ किया करती है।" अपने इसी बुद्धि—बल और संगठनशक्ति से सिकन्दर को पराजित कर उसके जगद्विजेता बनने के गर्व को चूर कर देता है। वह अपनी प्रखर प्रतिभा से समस्त आर्यावर्त को एक शासन—सूत्र में बाँधकर गान्धार से लेकर मगध तक का एकछत्र राज्य चन्द्रगुप्त के हाथ में सौंप देता है। चाणक्य परम निर्भीक, साहसी एवं अपने सिद्धान्तों में दृढ़ता से स्थिर रहनेवाला जीवटपूर्ण व्यक्ति है। अधिकार और शक्ति प्राप्त होने पर चाणक्य अपने समस्त विरोधियों को या तो निर्मूल कर देता है या अपना अनुगामी बना लेता है। "चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों।" वह छल से राक्षस से मुद्रा लेकर उसके और नन्द के बीच में द्वेष फैलाता है, पर्वतेश्वर को मगध का आधा राज्य देने का प्रलोभन देकर मगध की क्रान्ति में उससे सहायता लेता है और अन्त में कल्याणी द्वारा उसकी हत्या करवाकर चन्द्रगुप्त को सब ओर से निष्कण्टक बना देता है, वह क्रूर तथा महत्त्वाकांक्षी है। चाणक्य के कथनानुसार "महत्त्वकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।"

किन्तु उसकी क्रूरता स्वाभावोचित न होकर परिस्थितियो से उद्‌भूत होती है। उसकी महत्त्वाकाक्षा निःस्वार्थ भावना से प्रेरित है। वह राजाओं का नियामक है, उसे स्वयं सम्राट्—पद की लालसा नहीं। उसमें ब्राह्मणोचित विद्वत्ता और निर्भीकता के साथ उदारता और क्षमाशीलता भी है। नन्द, मौर्य सेनापति, सिकन्दर और राक्षस के प्रति उसकी अन्तिम मंगल कामनाएँ कितनी उदार और भव्य हैं। चाणक्य राजनीति के जटिल जीवन में निरन्तर व्यस्त रहने पर भी अपने हृदय के मधुरपक्ष की अवहेलना नहीं कर देता। सुवासिनी से शैशवकालीन प्रणय होने पर भी "विजन बालुकासिन्धु मे सुधा की लहर" दौड़ पडने पर वह अपना विवेक नहीं खो देता, वरन् उसके हित की चिन्ता करके उसे राक्षस से विवाह करने की आज्ञा देता है। इस प्रकार वह "अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिपक्षी को" सौपकर अपनी अनुपम त्यागशीलता का परिचय देता है। उसके त्यागमय कर्मनिष्ठ जीवन की प्रशंसा सभी मुक्तकण्ठ से करते हैं। पर्वतेश्वर, राक्षस, आम्भीक, सेल्यूकस, सिकन्दर, कार्नेलिया सभी उसके महामहिम व्यक्तित्व का गौरव स्वीकार करते हैं। "मेघ के समान मुक्त—वर्षा सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।" और चाणक्य के व्यक्तित्व में समाहित इसी ब्राह्मणत्व के समक्ष सभी का मस्तक श्रद्धा से झुक आता है। —के० प्र० चौ०

चार्वाक—'चार्वाक' के दो उल्लेख प्राप्त होते हैं—

१. चार्वाक एक राक्षस था। यह दुर्योधन का मित्र था। महाभारत युद्ध के उपरान्त विजेता के रूप मे जब युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर मे प्रवेश किया तो छद्‌मवेशी ब्राह्मण के रूप में युधिष्ठिर को उनके किये गये पापों के लिए दोषी ठहराया। परन्तु ब्राह्मणों ने इस रहस्य को जानकर अपनी नेत्र ज्योति से इसे भस्म कर दिया। उसके द्वारा भाइयों की हत्या का आरोप लगाये जाने पर युधिष्ठिर को इतना क्षोभ हुआ कि वे वनवास के लिए प्रस्तुत हो गये। ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर को रहस्य बतलाकर वैराग्य से विरत कर लिया।

२. एक नास्तिक एवं तत्त्वज्ञानी के रूप मे विख्यात हैं। क्षिप्रा और चामला नदी के संगम पर स्थित शंखद्वार नामक क्षेत्र में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम इन्दुकान्त और माता का नाम रूक्मिणी था। पुष्करतीर्थ के यज्ञगिरि नामक पर्वत पर इनकी मृत्यु हुई थी। वंचना—शास्त्र के रचनाकार वृहस्पति के शिष्य थे। यह चार्वाक ध्वनि के रचयिता थे। —रा० कु०

चिंतामणि—ये रीतिकाल के दो अन्य प्रमुख कवि मतिराम और भूषण के सगे भाई माने जाते हैं। इनका जन्म १६०९ ई० में स्वीकार किया गया है। 'काव्य निर्णय' में दास ने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करते हुए चिन्तामणि का नाम मतिराम और भूषण के साथ लिया है—जो संयोगवश भी हो सकता है और सम्बन्धसूचक भी। इनका जन्मस्थान भी तिकवाँपुर (कानपुर) बतलाया जाता है। पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। विविध स्रोतों से अब तक उनके सम्बन्ध में यही ज्ञात हुआ है कि वे शाहजहाँ, रुद्रसिह, मोलकी, जैनदी अहमद के अतिरिक्त नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरन्द शाह के दरबार में पर्याप्त समय तक राजकवि के रूप में सम्मान पाते रहे।

प्रामाणिक रूप से उनके रचे अभी तक निम्नलिखित ६ ग्रन्थ मिले है—१. 'काव्य विवेक', २. 'कविकुलकल्पतरु', ३ 'काव्यप्रकाश', ४. 'रामायण', ५ 'रसमंजरी'। इनके तीन ग्रन्थ 'कविकल्पतरु', पिंगल' तथा 'श्रृंगारमंजरी' दतिया के राजपुस्तकालय में है। 'रसमजरी' के समानान्तर 'श्रृंगारमंजरी' नामक एक अन्य ग्रन्थ उनका रचा माना जाता है, जो वस्तुत: उनकी मौलिक रचना न होकर इसी नाम के तेलगु लिपि में लिखित संस्कृत के गद्यग्रन्थ का उनके द्वारा किया हुआ अशतः पद्यमय अनुवाद है। इस सम्बन्ध मे सत्यदेव चौधरी का एक लेख 'हिन्दी अनुशीलन', जनवरी—मार्च, १९५७ में प्रकाशित हुआ है। इससे पूर्व भगीरथ मिश्र ने 'श्रृगारमजरी' को चिन्तामणि का मौलिक ग्रन्थ मानकर सम्पादित एव प्रकाशित किया था। इस ग्रन्थ में लक्षणो की सरल व्याख्या और उदाहृत पद्यभाग चिन्तामणि की अपनी वस्तु है तथा शेष भाग अनूदित है। 'रामायण' को छोड़कर उपर्युक्त छः ग्रन्थों में से शेष सभी काव्य—शास्त्र से सम्बद्ध है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो में सबसे प्रमुख ग्रन्थ, जिस पर चिन्तामणि की ख्याति मुख्य रूप से आधारित है, 'कविकुलकल्पतरु' है।

चिन्तामणि त्रिपाठी रीति—काव्य के एक प्रमुख आचार्य कवि हैं। उनका आचार्यत्व उनके कविरूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य के रूप मे उनकी मान्यता इस दृष्टि से विशेष है कि उन्होंने केशव द्वारा अपनाये गये भामह—दण्डी की परम्परा को छोड़कर मम्मट और विश्वनाथ की परम्परा को अपनाया और उसके पश्चात् रीतिकाल के अन्य अनेक आचार्यों ने भी इसी परम्परा को ग्रहण किया किन्तु इसका सम्पूर्ण श्रेय चिन्तामणि को है, यह कहना कठिन है। रीतिकाव्य के कतिपय मान्य विद्वानों ने परम्परा—प्रवर्तन का मुख्य श्रेय देकर उन्हें रीति—काव्य का आदि आचार्य घोषित किया है। सर्वप्रथम रामचन्द्र शुक्ल ने ही अपने इतिहास में लिखा—"हिन्दी रीति ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अत. रीतिकाल का प्रारम्भ उन्हीं से मानना चाहिये (पृ० २५९)।" नगेन्द्र ने इसका प्रतिवाद करते हुए लिखा "चिन्तामणि को भी यह गौरव देना अन्याय है, क्योंकि यह केवल एक संयोग था कि उनके उपरान्त रीतिकाल की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो चली"। (विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य, रीतिकाव्य संग्रह, पृ० १९—२३)।

आचार्यत्व की दृष्टि से चिन्तमाणि का स्थान दास और कुलपति के समकक्ष आता है। वस्तु की दृष्टि से उनका निरूपण मम्मट और विश्वनाथ के निरूपण से साम्य रखता है। संस्कृत की कारिका—वृत्ति—शैली के समानान्तर उन्होंने गद्य का भी कहीं—कहीं प्रयोग किया है, परन्तु अधिकतर लक्षण और उदाहरण दोनों के लिए पद्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। उनकी यह शैली जयदेव और अप्पय दीक्षित के अनुरूप है। इसी के आग्रह से उन्होंने 'श्रृंगार मंजरी' के सूत्रों तक का अनुवाद पद्य में कर दिया है। उनकी व्याख्याएँ गम्भीर, लक्षण प्रायः उपयुक्त तथा उदाहरण अधिकतर लक्षणानुरूप हैं। मौलिकता की दृष्टि से उनकी कोई विशेष देन नहीं है।

आचार्य होने पर भी कवित्व की दृष्टि से चिन्तामणि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। रसवादी कवि होने के कारण इनके काव्य में श्रृंगार रस का विशेष परिपाक देखा जा सकता है। पर इनमें देव तथा मतिराम जैसे परवर्ती कवियों की भावशीलता या चित्रमयता नहीं है। भाषा के प्रसाद गुण तथा अनुभूति की सरलता में ये मतिराम के समान जरूर कहे जा सकते हैं। भाषा शैली की दृष्टि से इनकी रचनाएँ परिष्कृत है। इनके काव्य में भाषा के सहज और स्वच्छन्द प्रयोग, अनुप्रास—योजना और पदावली का लालित्य मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ०; (भा० ६); हि० मा०; रीति काव्य संग्रह : सं० जगदीश गुप्त।]

—ज० गु०

चित्रकेतु—कथा साहित्य में 'चित्रकेतु' के अनेक संदर्भ मिलते हैं :—

१. पुराणों के अनुसार चित्रकेतु एक राजा थे। उसके अनेक स्त्रियाँ थी। नारद और अंगिरा के यज्ञ कराने से 'कृत दुती' नामक एक स्त्री से उसके एक पुत्र हुआ था, जिसे अन्य रानियों ने सपत्नी भाव से विष दे दिया। स्नेह के कारण चित्रकेतु उसका दाह—कर्म नहीं करना चाहता था। कहा जाता है कि अन्त में उस बालक के उपदेश से ही उसका मोह छूटा और तत्पश्चात् उसकी अन्त्येष्टि—क्रिया की। नारद ने चित्रकेतु को एक मन्त्र दिया था, जिसके प्रभाव से केवल सात ही दिन में उसने अप्रतिहत गति पायी तथा सर्वत्र उसकी अबाध गति हो गयी। एक दिन विमान पर बैठकर वह कैलास पर्वत पर शिवजी के पास पहुँचा एवं उन्हे पार्वती को अपनी जाँघ पर बिठाये देखकर ज्ञानोपदेश देने लगा। शिवजी तो इस पर मुस्कराये परन्तु पार्वती ने आगामी जन्म में उसे राक्षस होने का शाप दिया, जिसके फलस्वरूप अगले जन्म में वह वृत्रासुर हुआ।

२. स्वायम्भुव मन्वन्तर में वशिष्ठ—ऋषि के एक पुत्र का नाम चित्रकेतु था। इनकी माता का नाम अर्जा था।

३. शूरसेन नामक जनपद के एक राजा का नाम चित्रकेतु था। इनके अनेक स्त्रियाँ थी, फिर भी ये निःसन्तान रहे। अन्त में अंगिरा ऋषि की कृपा से इनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

४. लक्ष्मण के दूसरे पुत्र का नाम चित्रकेतु था। ये चन्द्रकान्त नामक नगर में रहते थे।

५. पांचाल देश के राजा द्रुपद के पुत्र का नाम चित्रकेतु था। द्रोणाचार्य ने इसके भाई वीर्यकेतु को मँगाया, जिससे क्रुद्ध होकर द्रोणाचार्य पर इसने आक्रमण किया पर उनके हाथ से ही इसकी मृत्यु हुई।

—रा० कु०

चित्रगुप्त—इनकी उत्पत्ति की कथा बड़ी मनोरंजक है। एक बार जब ब्रह्मा ध्यानस्थ थे, उनके अंग से अनेक वर्णों से चित्रित लेखनी और मसि पात्र लिए एक पुरुष उत्पन्न हुआ, इन्हीं का नाम चित्रगुप्त था। ब्रह्मा की काया से उत्पन्न होने के कारण इन्हें कायस्थ भी कहते हैं। उत्पन्न होते ही चित्रगुप्त ने ब्रह्मा से अपने कार्य के सम्बन्ध में पूछा। ब्रह्मा पुनः ध्यानस्थ हो गये। योग निद्रा के अवसान के उपरान्त ब्रह्मा ने चित्रगुप्त से कहा कि यमलोक में जाकर मनुष्यों के पाप और पुण्य का लेखा तैयार करो। उसी समय से ये यमलोक में पाप और पुण्य की गणना करते है। अम्बष्ट, माथुर तथा गौड़ आदि इनके बारह पुत्र हुए। गरुण पुराण में यमलोक के निकट ही चित्रलोक की भी कल्पना की गयी है। कार्तिक—मास की शुक्ला द्वितीया को इनकी पूजा होती है। इसीलिए इसे यमद्वितीया भी कहा जाता है। शापग्रस्त राजा सुदास इसी तिथि को इनकी पूजा करके स्वर्ग के भागी हुए। भीष्म पितामह ने भी इनकी पूजा करके इच्छा मृत्यु का वर प्राप्त किया था। मतान्तर से चित्रगुप्त के पिता मित्त नामक कायस्थ थे। इनकी बहन का नाम चित्रा था, पिता के देहावसान के उपरान्त प्रभास क्षेत्र में जाकर सूर्य की तपस्या की, जिसके फल से इन्हे ज्ञानोपलब्धि हुई। यमराज ने इन्हें न्यायालय में लेखक का पद दिया। उसी समय से ये चित्रगुप्त नाम से प्रसिद्ध हुए। यमराज ने इन्हे धर्म का रहस्य समझाया। चित्रलेखा की सहायता से चित्रगुप्त ने अपने भवन की इतनी अधिक सज्जा की कि देवशिल्पी विश्वकर्मा भी स्पर्धा करने लगे। वर्तमान समय में कायस्थ जाति के लोग चित्रगुप्त के ही वंशज कहे जाते हैं (मु० मा० प० १२५)।

—रा० कु०

चित्रचंद्रिका—काशीनरेश के साथ दो समाभिधानी पुस्तकों का सम्बन्ध है, एक 'चेत—चन्द्रिका' और दूसरी 'चित्रचन्द्रिका'। 'चेतचन्द्रिका' की रचना कवि गोकुलनाथ ने सन् १७८३ से १८१३ ई० के बीच महाराज चेतसिंह के आश्रय में की थी, उसका नाम आश्रयदाता के नाम पर था। 'चित्र—चन्द्रिका' एक अन्य पुस्तक है, जिसके लेखक ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—"तासु तनय जग विदित है, चेतसिंह महाराज। हौं सुत तिन को जानिए, बिदित नाम बलवान।।" बलवानसिंह महाराज चेतसिंह के सुपुत्र थे। उन्होंने १८३२ ई० में 'चित्र' के अगाध समुद्र की थाह लेने के लिए भाषा में 'चित्र—चन्द्रिका' की रचना प्रारम्भ की—"निधि, सिद्धि, नाग, चन्द्र, विक्रम सुअब्द" तथा "चित्र समुद्र अगाध कोऊ कवि थाह न ल्यायो।" यह रचना सन् १८७४ ई० में ही पूर्ण हो सकी—"इन्दु राम ग्रह ससि बरस, मार्ग शुक्ल रविवार। चित्र—चन्द्रिका पूर्ण भो, पचम तिथि सविचार।।" इसका प्रकाशन इलाही प्रेस, आगरा से १८८९ ई० में हुआ। तीसरा संस्करण कानपुर स्थित मुंशी नवल किशोर प्रेस से हुआ है।

'चित्र—चन्द्रिका' अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें लेखक का अध्ययन तथा अध्यवसाय दोनों ही सराहनीय हैं। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का मनन तथा प्राकृत, हिन्दी एवं फारसी की छाया स्थान—स्थान पर प्रतिबिम्बित है। भाषा—टीका तथा चित्रों ने ग्रन्थ को और भी उपयोगी बना दिया है। इसमें चित्र के तीन भेद हैं—शब्द चित्र, अर्थ चित्र, संकर चित्र। शब्दचित्र के ७ भेद—वर्ण चित्र, स्थान चित्र, स्वर चित्र, आकार चित्र, गति चित्र, आकार बन्ध चित्र, गुण बन्ध चित्र, प्रथम ७ प्रकाशों में वर्णित हैं। अर्थ चित्र के ६ भेदों—प्रहेलिका, सूक्ष्मालंकार, गूढ़ोत्तर, अपह्नुति, श्लेष तथा यमक—का वर्णन अष्टम प्रकाश में है। अन्तिम प्रकाश में पदार्थ (शब्दार्थ) संकर, चित्र या उभयालकार का वर्णन है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० अ० सा०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ओं० प्र०

चित्रलेखा १—१९३४ ई० में प्रकाशित भगवतीचरण वर्मा का सुप्रसिद्ध उपन्यास। 'चित्रलेखा' हिन्दी के उन विरले उपन्यासों में से है, जो सफल तथा महत्त्वपूर्ण दोनों ही हैं। इस उपन्यास को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसे प्रादेशिक भाषाओं में अनूदित किया गया और इसका एक अँग्रेजी रूपान्तर प्रकाशित हुआ है। उपन्यास के आधार पर एक चलचित्र भी बनाया गया है।

'चित्रलेखा' का प्रेरणा—स्रोत अनातोले फ्रांस का उपन्यास 'थायस्' माना जाता है। दोनों के कथानक में समता होने पर भी 'चित्रलेखा' का संघटन एकदम अपना है। कुछ ऐतिहासिक पात्रों के नामों का प्रयोग करके उपन्यास को गुप्तकालीन संस्कृति में प्रतिष्ठित किया गया है। महाप्रभु रत्नाम्बर के दो शिष्य आचार्य से प्रश्न करते हैं कि 'पाप क्या है'? गुरु उत्तर के लिए एक को नगर के प्रसिद्ध सामन्त बीजगुप्त के पास भेज देते हैं और दूसरे को योगी कुमारगिरि के पास। प्रसिद्ध नर्तकी 'चित्रलेखा', जो अपूर्व सौन्दर्य के साथ अपूर्व बुद्धि की भी स्वामिनी है, बीजगुप्त की सहचरी है। फिर एकाएक वह कुमारगिरि की ओर आकर्षित होती है। बीजगुप्त, चित्रलेखा और कुमारगिरि के अन्तरसम्बन्धों के माध्यम से कथा को बड़े रोचक और प्रभावशाली ढंग से कहा गया है। रत्नाम्बर के शिष्य इन सम्बन्धों के आधार पर अपने अनुभव को समृद्ध करते हैं और पाप—पुण्य का विवेक करना चाहते हैं। अंत में रत्नाम्बर इसी निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हैं कि पाप—पुण्य वस्तुतः कुछ नहीं है। उनका अपना स्वरूप विभिन्न दृष्टियों से देखने पर निर्भर है।

—सं०

चित्रलेखा २—चित्रलेखा भगवतीचरण वर्मा द्वारा रचित 'चित्रलेखा' उपन्यास की प्रमुख नायिका ही नहीं, केन्द्रीय संवेदना भी है। समस्त कथावस्तु एवं सारे पात्र कहीं न कहीं उसके सम्पर्क में आते हैं और वह इन सबके माध्यम से मानो अपने किसी न किसी अंश को अभिव्यक्त करती है। ये पात्र और घटनाएँ उसके चरित्र की व्याख्या करते हैं। आद्यन्त उसके चरित्र का प्रभा—मण्डल समस्त उपन्यास को आच्छादित किये रहता है।

चित्रलेखा के जीवन के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है—वह एक ब्राह्मण विधवा है, जो किसी कृष्णादित्य के सम्पर्क में आकर समाजच्युत हो जाती है। कृष्णादित्य एवं उससे प्राप्त पुत्र की मृत्यु हो जाती है तब उसे एक नर्तकी के यहाँ आश्रय मिलता है। धीरे—धीरे यह अद्भुत रूपवती नर्तकी बनकर 'समुदाय' के सामने आने लगती है। पाटलिपुत्र के ऊपर उसका रूप, यौवन और कला छा जाती है, पर उसके जीवन में 'व्यक्ति' का कोई स्थान नहीं। फिर अचानक बीजगुप्त में उसे कृष्णादित्य की छाया दिखायी पड़ जाती है और एक बार प्रत्याख्यान करने के बाद वह फिर बीजगुप्त को अपने जीवन में बुला लेती है। पर अभी एक व्यक्ति को उसके जीवन में और आना था—वह था कुमारगिरि। यह योगी उसे आकर्षित भी करता है, पर वह उसे अपनी आत्मशक्ति से पराजित करती है, परन्तु प्रतिक्रिया के एक वेदनापूर्ण क्षण में उसे समर्पित भी हो जाती है। अन्ततः वह अपनी समस्त सम्पत्ति को त्यागकर बीजगुप्त के साथ देशाटन के लिए निकल पड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाती है पति के प्रति उसका प्रेम उसे स्वयं ईश्वरीय प्रतीत होता था; कृष्णादित्य के प्रसंग में वह प्रेम प्राकृतिक स्तर पर उतर आता है। बीजगुप्त से प्रणय करते समय उसे लगा कि जीवन में प्रेम के अतिरिक्त अन्य उद्गार भी होते हैं; पर कुमारगिरि के प्रति वह क्यों आकर्षित हुई, यह वह स्वयं नहीं जानती थी।

उपन्यास के प्रारम्भ में ही पता लग जाता है कि चित्रलेखा जीवन को अविकल पिपासा माननेवाली, उद्दाम वासनाओं की लहरों पर तैरनेवाली सुन्दरी ही नहीं है, उसमें एक तेज और बौद्धिक व्यक्तित्व भी है। उस व्यक्तित्व के कारण उसमें भाषा का प्रत्युत्पन्नमतित्व प्रभूत मात्रा में है। योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा था और प्रभावित हुआ था। वह "तपस्या को आत्मा का हनन" मानती है और प्रेम को प्रकृति के अन्तर्गत परिवर्तनीय भी स्वीकार करती है। अपनी आत्मशक्ति में वह योगी एवं मन्त्री चाणक्य के सदृश ही सिद्ध हुई थी। इस शक्ति से घबड़ाकर योगी ने उसे दीक्षा देना भी अस्वीकार किया था और वह उसी क्षण तक कुमारगिरि की ओर आकृष्ट रही, जब तक उसमें शक्ति रही, पर जिस क्षण से कुमारगिरि विपथगामी होते हैं, वह उन्हें छोड़ देती है। उसका सिद्धान्त है कि "स्त्री उसी मनुष्य से प्रेम कर सकती है, जो उसपर विजय पा सके।"

—दे० शं० अ०

चित्राधार :—जयशंकर प्रसाद के इस संग्रह का प्रथम संस्करण सन् १९१८ में हिंदी ग्रन्थ भंडार, बनारस, तथा द्वितीय संस्करण सन् १९२८ ई० में साहित्य सरोज कार्यालय, बनारस से निकला था। इसके बाद इसका प्रकाशन भारती भण्डार इलाहाबाद से हुआ था। अब इसका प्रकाशन 'प्रसाद प्रकाशन' से प्रसाद के पुत्र रत्नशंकर जी की देख रेख में हो रहा है।

प्रसाद के समय में ही इसके दो संस्करण निकले, जिनमें पर्याप्त भिन्नता थी। इसके प्रथम संस्करण में निम्नलिखित दस रचनाएँ संकलित थीं—कानन कुसुम, प्रेम पथिक, महाराणा का महत्त्व, सम्राट चन्द्र गुप्त मौर्य, छाया, उर्वशी, राज्यश्री, करूणालय, प्रायश्चित, कल्याणी परिणय। ये सभी संकलित रचनाएं १९१८ ई० तक लिखी जा चुकी थीं और इनका प्रकाशन भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में हो चुका था। नर्मदा प्रसाद जी के विशेष आग्रह पर प्रसाद ने इन रचनाओं का पुस्तकाकार रूप सन् १९१३ से ही देना प्रारम्भ कर दिया था और सन् १९१८ में खड़ी बोली और ब्रजभाषा में लिखित सभी रचनाओं के संकलन को चित्राधार नाम से अभिहित किया।

चित्राधार के दूसरे संस्करण (सन् १९२८) में पर्याप्त भिन्नता थी। इसमें निम्नलिखित रचनाएं संकलित हुई—उर्वशी वभ्रुवाहन, आयोध्या का उद्धार, वन-मिलन, प्रेम-राज्य, प्रायश्चित, सज्जन, ब्रह्मर्षि, पंचायत, प्रकृति, सौन्दर्य सरोज, भक्ति, अष्टमूर्ति, कल्पना सुख, मानस, शारदीय शोभा, रसाल मंजरी, वर्षा में नदी कूल, उद्यान-लता, प्रभात कुसुम, विनय शारदीय, महा पूजन विभो, विदाई नीरद, शरदपूर्णिमा, संध्या तारा, चन्द्रोदय, इन्द्र-धनुष भारतेन्दु प्रकाश, नीरव-प्रेम, विस्मृत-प्रेम, विसर्जन। अंतिम खंड 'मकरंद बिंदु' में ब्रजभाषा के कवित्त सवैये और पद संकलित हैं। ये सभी रचनाएँ नाट्य कथा-प्रबन्ध और कविता के रूप में हैं। चित्राधार का दूसरा संस्करण अब अपने इसी रूप में मुद्रित

हो रहा है। द्वितीय संस्करण में कविताओं की भाषा ब्रज है। इन रचनाओं में प्रसाद का बहुआयामी व्यक्तित्व झाँकता सा दिखता है।

[सहायक ग्रन्थ—प्रसाद की रचनाओ में संस्करणगत परिवर्तनों का अध्ययन-अनूप कुमार हिंदी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जयशंकर प्रसाद-नन्द दुलारे वाजपेयी]

कृ० शं० पा०

चित्रावली—हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में 'चित्रावली' का स्थान महत्त्व का है। इसके रचयिता कवि उसमान थे। इस ग्रन्थ की रचना जहाँगीर के शासनकाल में सन् १६१३ ई० में हुई। 'चित्रावली' का कथानक कल्पना—प्रसूत है। कवि ने अत्यन्त ही रोचक ढंग से कहानी कही है। इस रचना से कवि के काव्यकौशल का पता चल जाता है। अमर यश की प्राप्ति की लालसा से कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी, अतएव कलात्मकता की ओर कवि का ध्यान जाना आवश्यक था

कथा आरम्भ करने के पहले कवि ने ईश्वर—स्तुति की है। इसके बाद मुहम्मद साहब, उनके चार 'मीत' अर्थात् प्रथम चार खलीफों तथा तत्कालीन बादशाह जहाँगीर की प्रशंसा की है। शाह निजाम चिस्ती को स्मरण कर उसमान ने अपने गुरु बाबा हाजी की ही प्रशंसा की है। फिर अपने निवासस्थान गाजीपुर, पाँच भाइयों के वर्णन तथा रूप, प्रेम और विरह के वर्णन के बाद कवि ने कहानी प्रारम्भ की है। रूप, प्रेम और विरह शीर्षक देकर कवि ने जो वर्णन किया है, वह उसकी अपनी विशेषता है। इस प्रकार की परम्परा हिन्दी के अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो में देखने को नहीं मिलती।

'चित्रावली' का सम्पादन श्री जगमोहन वर्मा ने सन् १९१२ ई० में किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा को इस ग्रन्थ का पता सन् १९०४ ई० में चला। इस पुस्तक की अखण्डित प्रति काशी नरेश पुस्तकालय में मिली। इस पुस्तक का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९१२ ई० के दिसम्बर में हुआ।

कथा के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उसमान ने तत्कालीन काव्य तथा कथानक—रूढ़ियों और परम्पराओं का निर्वाह किया है फिर भी कवि की प्रतिभा का परिचय सर्वत्र मिलता है। प्रारम्भ में जहाँगीर के दरबार का परिचय देते हुए कवि कहता है—"कहीं न जग पतियाउ कोउ, सुनि अजरज संसार। होहिं छहों रितु एकठों, जहाँगीर दरबार।।" कवि ने अपनी कल्पना शक्ति और मौलिक सूझ का परिचय देते हुए बतलाया है कि किस प्रकार जहाँगीर के दरबार में छः ऋतुएँ एक साथ ही वर्तमान रहती हैं। कवि ने कहा है कि बादशाह सूर्य की तरह प्रकाशित हो रहा है, इससे संसार में ग्रीष्मऋतु बनी है। बादशाह के दरवाजे पर हाथी झूमते रहते हैं, जिससे वहाँ पावस ऋतु बनी रहती है। मस्त हाथी बादलों के रंग के हैं, उनके दाँत बगुलों की पंक्ति जैसे हैं, हाथियों का चिग्घाड़ना बादलों के गरजने जैसा है। श्रेष्ठ सुन्दरियों का दल शरद् ऋतु की तरह है। पराजित गढ़पतियों के हृदय में हिम ऋतु विराजित है, जिससे वे काँप—काँप उठते हैं। गढ़पतियों की स्त्रियाँ शिशिर ऋतु जैसी सजी हैं जिनके हृदय में जाड़ा है और वे चीर धारण किये हुए हैं, तथा—"बरन बरन उमराव तन चोवा चन्दन चारु। फूले मनहुँ बसन्त रितु, महंकि रहा दरबारु।।" ('चित्रावली', नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ७—८)।

'चित्रावली' की कथा सन्तान के लिए नेपाल के राजा धरनीधर के राजपाट त्यागकर शिव की आराधना के वर्णन से शुरू होती है। शिव प्रसन्न होकर राजा को वरदान देते हैं कि वे अपने अंश से राजा के पुत्र के रूप में अवतरित होंगे। उसमान ने शिव का जो वर्णन किया है वह पूरा का पूरा हिन्दू परम्परा के अनुसार है। निम्नलिखित कुछ पंक्तियों मे शिव का वर्णन जिस प्रकार से किया गया है, उससे उपर्युक्त कथन को समझा जा सकता है-"सुरसरि सीस कलानिधि माथे। फनपति ग्रीव बसहकर नाथे। चहुँ दिस जुत्थ जटा छहरानी। आठहुँ अंग भसम लपटानी।। आक पात पुनि मुखहिं चबाहीं। बाउर जानि धतूरा खाही ('चित्रावली', पृ०१९)।" यथा समय राजा के घर पुत्र उत्पन्न होता है और सब कुछ का विचार कर ज्योतिषी उसका नाम सुजान रखते हैं। सुजान अत्यन्त तीव्र बुद्धिवाला है और शीघ्र ही सारी विद्याएँ सीख लेता है। उसे शिकार का शौक है। एक दिन उसके शिकार खेलकर लौटते समय आँधी आती है और वह अपने साथियों से बिछुड़ जाता है। भटकता हुआ वह पर्वत के पास पहुँचता है, जहाँ एक देव रहता है। रात को सुजान उसकी मढ़ी में जाकर सो जाता है। देव, राजकुमार को सोया हुआ देखकर देश के राजा के एकमात्र पुत्र की रक्षा के लिए द्वार पर बैठ जाता है। उसका एक मित्र दूसरा देव आता है और रूपनगर की राजकन्या चित्रावली की वर्षगाठ का उत्सव देखने के लिए उसे निमन्त्रित करता है लेकिन देव राजकुमार को अकेला छोड़कर जाना नहीं चाहता। फिर दोनों निश्चय करते हैं कि सोये हुए राजकुमार को लेकर रूपनगर जाँय। वहाँ जाकर वे राजकुमार को चित्रावली की चित्रसारी मे सुला देते हैं। देवों के इस तरह राजकुमार को उड़ा ले जाने और नायिका के कमरे में पहुँचा देने की कथानक—रूढ़ि के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह फारसी काव्य की परम्परा है लेकिन भारतीय कथा—साहित्य में इस कथानक—रूढ़ि का प्रयोग मिलता है। नेमिचन्द्रकृत 'लीलावती' में सोते हुए नायक को नायिका की शय्या पर सुलाने और फिर उसे उसके स्थान पर पहुँचाने की बात कही गयी है ('हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका', पृ० ६५)।

चित्र देखकर मोहित होने की कथानक—रूढ़ि का भी प्रयोग 'चित्रावली' में है। राजकुमार सुजान की नींद जब चित्रसारी में खुलती है तब वह चित्रावली के चित्र को देखकर मोहित हो जाता है। चित्रावली के चित्र में उसके पैरों के निकट राजकुमार अपना चित्र बनाकर फिर सो जाता है। उत्सव समाप्त होने पर देव उसे मढ़ी में लाकर सुला देता है। दूसरे दिन राजकुमार के चित्र को देखकर चित्रावली मोहित हो जाती है। दोनों की व्याकुलता का कवि ने वर्णन किया है।

उसमान ने भी तत्कालीन सूफी तथा सूफीतर प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्पराओं और काव्य—रूढ़ियों का 'चित्रावली' में उपयोग किया है। जैसे, सखियों सहित चित्रावली का सरोवर में स्नान करने जाना तथा क्रीड़ा करना। इस स्थल पर अन्य सूफी कवियों की नाईं उसमान ने भी पीहर और ससुराल के रूपक के सहारे तत्त्व की चर्चा की है। सखियाँ चित्रावली से कहती हैं—"एह नहियर औरं पितु कै राजू। ससुरे गये आव

नहिं काजू। दिन दुइचार इहाँ कर रहना। खेलन हँसन सोई पै लहना'' आदि ('चित्रावली', पृ० ४५)।

सुजान के चित्र और उसके प्रति चित्रावली के प्रेमासक्त होने की बात एक नपुंसक उसकी माता रानी हीरा से कहता है। रानी क्रुद्ध होकर चित्र धुलवा देती है। तत्कालीन मुगल बादशाहों के अन्तःपुर में रहनेवाले खोजों की छाया चित्रावली के नपुंसक में है। उसमान ने नाना देशो के वर्णन का सुयोग भी पाया है। चित्रावली चार नपुसकों को सुजान की खोज में भेजती है। उसमान ने विभिन्न स्थान जैसे हरिद्वार, श्रीनगर, कुमायूँ, बद्री, केदार आदि का जिक्र इस स्थल पर किया है।

चित्रावली का एक दूत परेवा जोगी के वेश में राजकुमार को खोजता उसके पास पहुँचता है। जोगी से जब कुँवर उसके देश का परिचय पूछता है, तब वह रूपनगर के राजा चित्रसेन तथा चित्रावली की बातें बतलाता है। यहाँ भी कवि उसमान को अवसर मिल गया है, अतएव परम्परा—पालन के लिए वह नगर, सरोवर, पक्षी, फल-फूल आदि के नाम गिना डालता है—''मंजुल जँभीरी अति बहुताई। नेबू डारन गलगल जाई। अमिरित—फर ओ दाड़िम दाखा। सन्तति जिये निमिष जो चाखा।।'' ('चित्रावली', पृ० ६१)। इसी प्रकार पक्षियों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—''भृंगराज और भृंगी, हारिल चात्रिक जूह। निसि बासर तेहि बारि महँ, कुरलहिं पंछि समूह।।'' ('चित्रावली', पृ० ६२)। फूलों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—''केलि कदम नवमल्लिका, फुल चम्पा सुरतान। छ ऋतु बारह मास तहं, ऋतु बसन्त अस्थान।।'' ('चित्रावली', पृ० ६२)। चित्रावली का नख—शिख वर्णन भी परम्पराभुक्त ही हैं—''भौंह धनुष बरुनीं विषबाना। देखि मदन धनु गहन लजाना।। बरुनी बान गड़े जेहि हीये। बहुरिन निकसे जब लहुं जीये।।...अधर सुरंग जनु खाए तंबोला। अबहीं जनु चाहे हँसि बोला।।'' ('चित्रावली', पृ० ६१—६४)

जायसी के 'पद्मावत' में जिस प्रकार हीरामन सुग्गा मार्ग—प्रदर्शक का काम करता है, उसी प्रकार 'चित्रावली' में परेवा मार्ग—प्रदर्शन का कार्य करता है। चित्रावली का परोक्ष सत्ता के रूप में वर्णन करते हुए परेवा कुँअर से कहता है कि उसी के आदेश से उसने जोगी का वेश धारण किया है और देशभ्रमण को निकला है।

उसमान ने मूर्ति—पूजा का खण्डन किया है लेकिन कवि ने किसी विद्वेष के कारण ऐसा नहीं किया है। मध्ययुगीन सन्तों की परम्परा इस खण्डन के मूल में है। कवि कहता है—''जो न आपु आप हि पहिचाना। आन क पेम कहाँहुत जाना।। जैसे कुबुध जानिके देवा। बहुत करहिं पाहन की सेवा।। पाहन पूजि सिद्धि किन पाई। सेमर सेई सुआ पछिताई।।'' ('चित्रावली', प० ६८)।

कवि ने तत्कालीन अन्य सूफी कवियों की नाईं नखशिख वर्णन, षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा, नाना प्रकार के भोजन तथा मिष्टान्न आदि का वर्णन किया है। भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों तथा निवासियों की विशेषताओं का वर्णन कवि ने बड़े रोचक ढंग से किया है। उसमान ने बलंदीप में अंग्रेजों का भी वर्णन किया है। कवि ने कहा है—''बलंदीप देखा अंगरेजा। जहाँ जाइ नहिं कठिन करेजा। ऊँच नीच धन सम्पति हेरा। मद बराह भोजन जिन केरा।।'' ('चित्रावली', पृ० १६०)। बंगाल और बंगालियों की विशेषता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—''सब कइ अमिरित पाँच है, बगाली कहं सात। केला काँजी पान रस साग माछरी भात।।'' ('चित्रावली', पृ० १६१)।

चित्रावली के नगर में पहुँचने की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए कवि ने मार्ग में चार नगर और उन्हे घेरे हुए चार परकोटे बतलाये हैं। इस वर्णन मे कवि के सामने 'सूफीमार्ग' की चार मंजिलें और चार अवस्थाएँ थीं। इस काव्य मे भी नायक के दो विवाहों की बात कही गयी है। कुँअर चित्रावली और कोलावती से विवाह करता है और बहुत दिनों तक पत्नियों सहित आनन्द से समय बिताता हुआ राज्य का भार सँभालता है। उसमान ने अन्य सूफी कवियों की तरह अपने काव्य को दुःखान्त नहीं बनाया है। कवि स्वयं कहता है—''कवितन मरन कथा कै गाई। मोहिं मरत हिय लागु छोहाई।। ओ जे प्रेमअमी रस पीया। मरे न मारे जुग—जुग जीया।।' ('चित्रावली', पृ० २३६)।

इस रचना से कवि उसमान की काव्य—प्रतिभा का पता चलता है। वह सहज भाव मे अपनी कहानी कहता है। प्रसिद्ध सूफी कवियों में कवि उसमान को अन्तिम सूफी कवि कहा जा सकता है, जिसमें विचारों की उदारता थी। उसने किसी प्रकार की धार्मिक संकीर्णता का परिचय नहीं दिया है, जैसा बाद के सूफी कवि नूर मुहम्मद, शेख निसार आदि मे पाते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—चित्रावली : काशी नागरी प्रचारिणी सभा; हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका : रामपूजन तिवारी, ग्रन्थ वितान, पटना—१, सन् १९६० ई०; जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य : सरला शुक्ल, स० २०१३ वि०।]

—रा० पू० ति०

चेतक—महाराणा प्रताप के कृष्णवर्णी प्रिय अश्व का नाम चेतक था। 'हल्दी घाटी' के युद्ध में चेतक ने अपनी स्वामिभक्ति एवं वीरता का परिचय दिया था। अन्ततः वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। 'हल्दी घाटी' महाकाव्य मे चेतक के पराक्रम एवं उसकी स्वामिभक्ति की कथा वर्णित हुई है। आज भी चित्तौड़ में 'चेतक' की समाधि बनी हुई है।

—रा० कु०

चेतन—उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'गिरती दीवारें' का कथानायक और चरितनायक चेतन है। वह अत्यन्त भावप्रवण, किन्तु साधारण व्यक्तित्व का पात्र है जिसके व्यक्तित्व निर्माण में अनेक विरोधी तत्त्व और संस्कार कार्यान्वित हैं। उसके कुमार जीवन तथा यौवन के प्रारम्भिक वर्षों; २० से २५ तक के चरित्र से समग्र भारतीय जीवन के निम्न मध्यवर्ग की युवक चेतना का प्रतिनिधित्व होता है। ''उसकी दशा उस मृगशावक की सी थी, जिसकी टाँगें जन्म से ही निर्बल हों और जो अपने मन की समस्त चंचलता के बावजूद दुनिया की रंगीनी को मुटर—मुटर ताकता और कुलांचे भरने की इच्छा को मन ही मन दबाकर रह जाय।'' चेतन पूरे उपन्यास में एक संघर्षशील, महत्त्वाकांक्षी, निर्बल पर दृढ़ संकल्प, भाव—प्रवण—प्रेमी चरित्र है, जो निश्चय ही अपने वर्ग के युवक की चेतना और कुंठाओं का एक जीवित प्रतीक है। वह बचपन से ही एक कवि, लेखक चित्रकार, अभिनेता, वक्ता,

सम्पादक और न जाने कितने असंख्य स्वप्निल आदर्शवादी रूपों की कामना करता रहा, पर परिस्थितियों तथा विषमनाओं ने कितनी ही दीवारें इनके बीच खड़ी कर दीं। उसके जीवन की सबसे बड़ी व्यथा उसकी भावुकता, सकोच, हीनता के भाव और इनसे उद्भूत कटु क्षोभ के भाव में मिलती है।

अनीति, शोषण, अत्याचार, छल, कपट के प्रति उसके मन में कटु विद्रोह था, पर उसने कभी भी खुलकर उनका विरोध नहीं किया। सदैव वह असफल विरोध आँसू और क्रुद्रन के रूप में प्रकट करता रहा। चेतन के मन मे और समाज में कितनी दुर्लंघ्य और अभेद्य दीवारें हैं और "उन स्थूल दीवारों के साथ सूक्ष्म दीवारें भी हैं जो नायक (चेतन) के मन—मस्तिष्क को बाँधे हैं और जो उसके अनुभवों के बढ़ने के साथ गिरती हैं जिनके गिरने से उसके मस्तिष्क का अन्धकार दूर होता है और यथार्थता के ज्ञान का प्रकाश उसके कोने—अँतरे जगमगाता है।" (गिरती दीवारें : द्वितीय संस्करण की भूमिका)।

—ल० ना० ला०

चोखे चौपदे—अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत चार पंक्तियोंवाले मुक्तक छन्दों का यह संग्रह पहली बार सन् १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ था। अबतक इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। इसमें सकलित चौपदे फुटकर तथा विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। इनकी रचना बोलचाल की मुहावरेदार भाषा मे की गयी है। 'हरिऔध' ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'प्रियवास' की रचना पाण्डित्यपूर्ण समासयुक्त शैली मे की थी। 'चोखे चौपदे' की फुटकर कविताओं द्वारा उन्होंने बोलचाल की महज भाषा शैली पर भी अपना अधिकार सिद्ध किया।

—र० भ्र०

चौरंगीनाथ—'बौद्धगान ओ दूहा' के अनुसार चौरगीनाथ चौरासी सिद्धों में तीसरे थे, किन्तु राहुल सांकृत्यायन ने इन्हें अपनी 'पुरातत्त्व निबन्धावली' में दसवाँ स्थान दिया है। चौरंगीनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरु—भाई थे। इनका जन्म स्यालकोट के राजा शालिवाहन के घर हुआ था किन्तु इनकी विमाता ने इनके पैर कटवा दिये थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि पंजाब तथा कुछ अन्य प्रदेशों में प्रचलित पूरनभगत की कथा के नायक चौरंगीनाथ ही हैं। अनुमानतः इनका समय नवीं—दसवीं शताब्दी माना जा सकता है। चौरंगीनाथ की प्रसिद्ध कृति 'प्राणसंकली' है, जिसके द्वारा न केवल उनकी सिद्धि का प्रमाण मिलता है, वरन् उनके सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक संकेत भी मिल जाते हैं। 'प्राणसंकली' के अतिरिक्त 'वायुतत्त्व—भावनोपदेश' नामक एक अन्य कृति भी इनकी बतायी जाती है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने 'योग—प्रवाह' में इनके कुछ पद संकलित किये हैं।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्त्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; योगप्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं०

चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दौ सौ बावन वैष्णववन की वार्ता—महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के पुष्टि—सम्प्रदाय मे इन वार्ताओं का बड़ा महत्त्व है। इनमें पुष्टि—सम्प्रदाय के भक्तों की, जिनमें हिन्दी के आठ प्रमुख कवि भी सम्मिलित है, जीवनियाँ संकलित हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे वल्लभाचार्य के शिष्यों की कथाएं सकलित हैं और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों की कथाएं सकलित हैं।

इन वार्ताओं के रचयिता के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। सामान्यतः इनके रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के संवत् १९८६ के सस्करण में इसे गोकुलनाथकृत माना है। वे लिखते हैं, "ये दोनों वार्ताएँ वल्लभाचार्य के पौत्र और विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ की लिखी हैं" (पृ० ४८१) परन्तु सम्भवतः जब डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के अप्रैल सन् १९३२ के अंक में इस मत का सप्रमाण विरोध प्रकाशित हुआ तो आचार्य शुक्ल ने भी अपनी सम्मति में संशोधन कर लिखा,......"इनमें से प्रथम आचार्य श्री वल्लभाचार्य के पौत्र और विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर गोकुलनाथ के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है, क्योंकि इसमें गोकुलनाथ का कई जगह बड़े भक्ति भाव से उल्लेख है" (संस्करण २०१४, पृ० ३७१)। हिन्दी साहित्य के प्रथम फांसीसी इतिहासकार गार्सा द तासी ने इन्हें गोकुलनाथ कृत माना है। मिश्रबन्धुओं ने भी तासी का समर्थन किया है।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा को 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' को गोकुलनाथकृत मानने में विशेष आपत्ति नहीं जान पड़ती, किन्तु 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' को वे गोकुलनाथकृत मानने में झिझकते हैं। उनका कथन है, 'चौरासी वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वार्ता' के इस समय के डाकोर के संस्करण प्रामाणिक हैं किन्तु इनके मुखपृष्ठ पर इनके गोकुलनाथकृत होने का उल्लेख नहीं है। 'चौरासी वार्ता' 'चौरासी वार्ता' में कोई ऐसे विशेष उल्लेख देखने में नही आते हैं, जो इसके गोकुलनाथकृत होने में सन्देह उत्पन्न करते हों किन्तु 'दो सौ बावन वार्ता' में अनेक ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे इसका गोकुलनाथकृत होना अत्यन्त संदिग्ध हो जाता है" ('विचारधारा', द्वितीयसंस्करण, पृ० ११३)। सबसे पहली बात तो यह है कि इस वर्ता में अनेक स्थलों पर गोकुलनाथ का नाम इस तरह आया है, जिस तरह कोई भी लेखक अपना नाम नहीं लिख सकता। उदाहरणार्थ—"जब कहते कहते अर्थ रात्र बीती तब, श्री गुसाई जी पौढ़े। गोविन्द स्वामी घर कूं चले। तब श्रीबालकृष्णजी तथा श्री गोकुलनाथजी तथा श्रीरघुनाथजी तीनों भाई वैष्णवन के मण्डल में विराजते हैं। जब गोविन्द स्वामी ने जाय के दण्डवत करी। तब श्रीगोकुलनाथजी ने पूछे जो श्रीगुसाईजी के यहाँ कहा प्रसंग चलतो हतो।" ऐसे अनेक गोकुलनाथजी के प्रति आदर—सूचक उल्लेख 'वार्ताओं' में मिलने के कारण डा० धीरेन्द्र वर्मा और बाद में पं० रामचन्द्र शुक्ल को संदेह हुआ कि इनके रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ नहीं हो सकते। घटनाओं में ऐतिहासिक उल्लेखों से भी उनके गोकुलनाथकृत होने में संदेह दृढ़ हो जाता है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में ऐसा

पहला स्थल श्रीगुसाईजी की सेवक लाडबाई तथा धारबाई शीर्षक १९९वीं वार्ता में है। वे कदाचित् वेश्याएँ थीं। उन्होंने अपने जीवन भर की कमाई "नव लक्ष रूपया" पहले विट्ठलनाथ को तथा कुछ दिनों बाद उनके पुत्र गोकुलनाथ को अर्पण करना चाहा, किन्तु दोनो ने आसुरी धन समझकर अंगीकार नहीं किया। "तब गोकुलनाथ के अधिकारी ने गोकुलनाथ के पूछे बिना एक छात में द्रव्य बिछाय के ऊपर कंकर डराय के चूनो लगाय दियो सो वा छात में रह्यो आयो। फेर साठ वर्ष पीछे औरंगजेब बादशाह की जुल्मी के समय मे म्लेच्छ लोक लूटवे कूं आये तब श्री गोकुल मे सु सब लोग भाग गये और मन्दिर सब खाली होय गए! कोई मनुष्य गॉव में रह्यो नाहीं तब गाँव में जितने मन्दिर हते सब मन्दिरन की छात खुदाय डारी।"

उक्त घटना से डा० वर्मा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इतिहासकार स्मिथ के अनुसार औरंगजेब ने मन्दिर तुड़वाने की नीति सन् १६६९ में प्रारम्भ की और खोज के अनुसार गोकुलनाथ का समय सन् १५५१ से १६४७ ई० तक माना गया है। इस तरह गोकुलनाथकृत ग्रन्थ में औरंगजेब के राज्य की इस घटना का उल्लेख सम्भव नहीं है। इस उल्लेख से यह भी ध्वनि निकलती है कि वार्ता कदाचित् औरंगजेब के राज्यकाल के बाद लिखी गयी है।

दूसरा स्थल गुसाईजी की सेवक 'गंगाबाई क्षत्राणी' शीर्षक ५१वीं वार्ता में है, उसमें गंगाबाई का जन्म–समय "सोले से अट्ठाईस और भूतलदास सत्रे सो छत्तीस" उल्लिखित है। गंगाबाईका श्रीनाथजी के साथ मेवाड़ जाने का उल्लेख 'श्री गोवर्धननाथजी के प्रागटच की वार्ता' शीर्षक में इस प्रकार आया है, "मिति असाढ़ सुदी १५ शुक्ल संवत् १७२६ के पहिली पहर रात्रि श्रीवल्लभजी महाराज पयान सिद्ध कराए, आरोगाए। पीछे रथ हाके चले नही तब श्री गोस्वामि बिनती कीउ तब श्री जी की आज्ञा की जो गंगाबाई को गाड़ी मे बैठाय के संग लै चलौ।" यह घटना भी इस प्रमाण के अनुसार १६६९ ई० में ही पड़ती है। गंगाबाई के सम्बन्ध में निश्चित उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' गोकुलनाथकृत नही हो सकती। तीसरा प्रमाण डा० वर्मा ने वार्ताओ के व्याकरणिक रूप का दिया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि एक ही लेखक अपनी दो कृतियों में व्याकरण के इन छोटे–छोटे रूपों में इस तरह भेद नहीं कर सकता।

यद्यपि डा० वर्मा ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के गोकुलनाथकृत होने में विशेष सन्देह व्यक्त नहीं किया, पर आचार्य शुक्ल उसे "गोकुलनाथ के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना" मानते हैं। हिन्दी के कुछ अन्वेषक तो समग्र 'वार्ता साहित्य' को ही अप्रामाणिक मानते हैं। इसके विपरीत द्वारिकादास पारिख और कण्ठमणि शास्त्री उसे प्रामाणिक सिद्ध करते हैं। इन दोनों विद्वानों के तर्कों के आधार पर प्रभुदयाल मीतल ने उपर्युक्त विद्वानों की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न किया है। वे दोनों 'वार्ताओं' को गोकुलनाथकृत मानते हैं; दोनों ग्रन्थों को गोकुलनाथ के मुख से निःसृत प्रवचन मानते हैं जो "बाद में हरिराय द्वारा सम्पादित होकर चौरासी और दो सौ वैष्णवन की वार्ता के रूप में प्रसिद्ध हुए।" ऐसा ज्ञात होता है कि चौरासी वार्तावाले प्रवचन पहले लिपिबद्ध किये गये और दो सौ बावनवाले बाद को। इन प्रवचनों की मूल प्रतियाँ भी लिखित रूप में इधर–उधर मिल जाती हैं। उनका मत है, "सम्भवत: किसी गुजराती लेखक की लिपिबद्ध चौरासी वार्ता की पुस्तक शुक्लजी ने देखी होगी, जिसके कारण उनकी उक्त धारणा हो गयी होगी।" 'वार्ता' के पाठक से यह छिपा नही है कि उसमें गोकुलनाथ की अपेक्षा गोसाईजी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर की विशेष प्रशंसा मिलती है। यदि यह पुस्तक गोकुलनाथ के किसी शिष्य की लिखी होती तो उसमें ऐसा होना सम्भव नही था, क्योंकि गोकुलनाथ के शिष्य अपने गुरु से बढ़कर किसी को भी नही मानते है। दो सौ बावन वार्ता में गोकुलनाथ का नाम इस प्रकार उल्लिखित हुआ है कि यह उनकी रचित ज्ञात नही होती। इस तर्क के सम्बन्ध में मीतल का कथन है कि हरिराय ने उनके सम्पादन मे प्रसगवश गोकुलनाथ के नाम का समावेश कर दिया है। वे वास्तव में गोकुलनाथ के प्रवचन ही हैं।

दो सौ बावन वार्ता मे गोकुलनाथ के बाद की घटनाओ के उल्लेख के सम्बन्ध में उनका कहना है कि उनका समावेश हरिराय ने अपने 'भाव–प्रकाश' में किया था। उन्होंने प्रसग की पूर्णता और भावो की स्पष्टता के लिए अनेक घटनाएँ अपने अनुभव के आधार पर वार्ताओ की टिप्पणी स्वरूप 'भाव–प्रकाश' में व्यक्त की थीं। ये घटनाएँ गोकुलनाथ के प्रवचन अथवा वार्ताओं के अगरूप से नहीं लिखी गयीं, अत: उनको गोकुलनाथ की कृति समझना ठीक नहीं है। वे हरिराय के शब्द हैं, जिनके लिए गोकुलनाथ उत्तरदायी नहीं हैं। हरिराय का देहावसान सं० १७७२ में हुआ था। अत: उनके समय मे घटित औरंगजेब के मन्दिर तोडने अथवा अन्य इसी प्रकार की घटनाओं से वार्ताओ की प्रामाणिकता में सन्देह नही होना चाहिए। हरिराय के बाद के लेखकों की असावधानी से मूल वार्ता और भाव–प्रकाश का सम्मिश्रण हो गया है, जिसके कारण हरिराय द्वारा लिखी हुई गोकुलनाथ के बाद की घटनाएँ भी गोकुलनाथ की लिखी हुई सी ज्ञात हो सकती हैं।

'चौरासी' और 'दो सौ बावन वार्ताओं' के रूपो की व्याकरणिक विभिन्नता के सम्बन्ध में उनका कथन है कि चौरासी वार्ता के मूल प्रवचनों को पहले लिपिबद्ध किया गया था और दो सौ बावन के प्रवचनों को बाद में। फिर इन प्रवचनों को भिन्न–भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न–भिन्न समय में लिपिबद्ध किया था और यह लिपि–प्रतिलिपि का क्रम बहुत समय तक चलता रहा। प्रत्येक लेखक ने अपनी रुचि और विद्याबुद्धि के कारण भी 'वार्ताओं' के रूपों में कुछ उलट–फेर कर दिया होगा। इसलिए दोनों वार्ता–पुस्तकों की व्याकरणसम्बन्धी विभिन्नता कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं। वार्ताओं की प्राचीनता के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उनमें से कतिपय नीचे दिये जाते हैं–(१) चौरासी वार्ता की प्राप्त प्रतियों में सं० १६१७ की चैत्र शुक्ल ५ लिखी हुई प्रति सबसे प्राचीन है, जो कांकरौली में सुरक्षित है। यह प्रति गोकुलनाथ के देहावसान के ११ महीने पूर्व उनकी विद्यमानता में गोकुल में लिखी गयी थी। इस प्रति को डा० दीनदयाल गुप्त आदि विद्वानों ने प्राचीन और प्रामाणिक माना है। इस प्रति से सिद्ध होता है कि वार्ताएँ सं० १६९७ तक लिखित रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थीं। (२) वार्ताओं पर गोकुलनाथ के समकालीन

शिष्य हरिराय का 'भाव प्रकाश' प्राप्त है। इससे सिद्ध होता है कि वार्ताओं की रचना 'भाव प्रकाश' से पहले हो चुकी थी। 'भाव प्रकाश' की रचना का अनुमान सं० १७२९ के बाद और सं० १७५० के पूर्व किया गया है। सं० १७५२ की लिखी हुई चौरासी और 'अष्टसखान की वार्ता' की संयुक्त प्रति 'पाटन' से प्राप्त हो चुकी थी। इससे सिद्ध होता है कि सं० १७५२ तक 'भाव प्रकाश' की रचना हो चुकी थी। हरिरायजी गोकुलनाथ के अतिरिक्त किसी सामान्य व्यक्ति की रचना पर शायद 'टीका' का श्रम नहीं करते। (३) वार्ताएँ पुष्टि—सम्प्रदाय में 'गुरु—वाक्य' के समान श्रद्धास्पद मानी जाती हैं। यदि उनकी रचना साधारण वैष्णव द्वारा होती तो ऐसा सम्भव न था। (४) गोकुलनाथ के समकालीन देवकीनन्दनकृत 'प्रभुचरित्र चिन्तामणि' में वार्ताओं का उल्लेख है। श्री नाथभट्ट ने सं० १७२७ के लगभग चौरासी वार्ता का 'संस्कृत मणिमाला' नामक ग्रन्थ में संस्कृत मे अनुवाद किया है। (५) हरिराय के शिष्य विट्ठलनाथ भट्ट ने सं० १७२९ में 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' में गोकुलनाथ के रचे ग्रन्थों में वार्ताओं का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से 'चौरासी वार्ता' का गोकुलनाथ के समय में रचित होना सिद्ध हो जाता है, पर 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' की मूल या अतिप्राचीन प्रति न उपलब्ध हो सकने से उसकी प्रामाणिकता अभी सन्दिग्ध बनी हुई है। वार्ताओं का साहित्यिक महत्त्व इसलिए है कि उनमें सत्रहवीं शती के प्राचीन ब्रजभाषा—गद्य का रूप मिलता है और उनसे कई वैष्णव कवियों के जीवन—चरित्र पर प्रकाश भी पड़ता है। कृष्ण—भक्ति—साहित्य की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि समझने के लिए भी इनका अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—विचारधारा : डा० धीरेन्द्र वर्मा; अष्टछाप : मीतल और डा० दीनदयाल गुप्त; हिन्दी साहित्य का इतिहास . रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा; प्राचीन वार्ता रहस्य (द्वितीय भाग), विद्या विभाग, कांकरोली।]

—वि० मो० श०

च्यवन—ऋग्वेद के अन्तर्गत च्यवन ऋषि का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुसार च्यवन की माता पुलोमा ओर पिता भृगु थे। 'च्यवन' का अर्थ है 'गिरा हुआ'। ऐसी प्रसिद्धि है कि जब च्यवन की माता गर्भवती थी तो एक राक्षस उन्हें ले भागा। मार्ग में भयवश उनका गर्भपात हो गया। राक्षस ने द्रवीभूत होकर उन्हें पुत्र को साथ ले चलने की आज्ञा दी। गर्भपात द्वारा उत्पन्न होने के कारण वे 'च्यवन' कहलाये। च्यवन एक महान् ऋषि थे। कहा जाता है कि नर्मदातट पर एक बार ये साधना में इतने मग्न हुए कि केवल नेत्रों को छोड़कर इनके सारे शरीर को दीमकों ने ढँक लिया। फलस्वरूप उनके समस्त शरीर में केवल नेत्र ही चमकते रहे। उनके आश्रम में एक बार राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या पहुँच गयी। उसने इनके नेत्रों को जुगनू समझकर कुरेद दिया। फलस्वरूप इनके नेत्रों से रक्त प्रवाहित हो निकला। इससे राजा शर्याति इनसे क्षमा माँगने आये, लेकिन कन्या को स्त्री रूप में देने की शर्त पर ही च्यवन क्षमा करने को राजी हुए। च्यवन की वृद्धावस्था एवं जीर्णकाय शरीर तथा सुकन्या के रूप और यौवन का परस्पर कोई साम्य न देखकर सब लोग उस कन्या पर हँसते थे। कहा जाता है कि एक बार च्यवन ऋषि के बुढ़ापे का उपहास करके अश्विनी कुमारों ने सुकन्या को विचलित करना चाहा। उन्होंने उसके सतीत्व की परीक्षा की। एक बार कुमारों को सरोवर में च्यवन के साथ स्नान कराया गया। दिव्यदेह धारण करके वे सभी क्रमशः निकले तथा सुकन्या से एक को चुनने के लिए कहा। किन्तु उसने च्यवन को ही चुना। इससे अश्विनी कुमार सुकन्या से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा च्यवन को स्थायी ओषधि द्वारा यौवन प्रदान किया। 'च्यवन ऋषि' के ही नाम पर 'च्यवनप्राश' नामक पौष्टिक ओषधि प्रसिद्ध है। कुमारों के इस उपकार के फलस्वरूप च्यवन ने इन्द्र से कहकर कुमारों को यज्ञ में भाग दिलवाया (सू० सा० प० ४४७)।

—रा० कु०

छंद—प्रभाकर—जगन्नाथप्रसाद 'भानु' द्वारा रचित 'छन्द—प्रभाकर' लगभग ,२२४ पृष्ठों का पिंगल ग्रन्थ है, जिसका प्रकाशन सन् १८९४ ई० में वर्धा से हुआ था। इस ग्रन्थ में लगभग ७०० छन्दों पर विचार हुआ है। छन्दशास्त्र के ज्ञान में उत्तरोत्तर अवनति के कारण प्रस्तुत लेखक ने इस ग्रन्थ की लिखने की आवश्यकता समझी। अन्य पुस्तकों की विषय की अपूर्णता, वर्णनप्रणाली की क्लिष्टता इत्यादि को ध्यान में रखकर उसे अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण, सरल और दोषरहित बनाने का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। हिन्दी—संस्कृत छन्दों के साथ—साथ कई छन्द उर्दू और मराठी के भी लक्षण और उदाहरणों सहित दिये गये हैं। मात्रा—प्रस्तार, वर्ण—प्रस्तार, मेरु, मर्कटी, पताका प्रकरण, मात्रिक सम, अर्द्धसम, विषम और वर्णसम, अर्द्धसम तथा विषमवृत्त प्रकरणों का वर्णन सरल ढंग से किया गया है। लक्षण और उदाहरणों के साथ टीका और टिप्पणियों में उन्हें अधिकाधिक बोधगम्य बनाने का यत्न किया गया है।

—नि० ति०

छंदमाला—इस ग्रन्थ के लेखक केशवदास हैं। इसका रचनाकाल अज्ञात है। 'छन्दमाला' की जैन ग्रन्थ भण्डार (बीकानेर) से उपलब्ध प्रति अधूरी जान पड़ती है। इसकी प्रतिलिपि किसी खण्डित प्रति से हुई प्रतीत होती है। 'रामचन्द्रिका' में आये सभी छन्दों का लक्षण तो इसमें होना ही चाहिए था पर उसके भी कई छन्द इसमें नहीं आ सके हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति गुरुमुखी लिपि में पटियाला में भी है। यह अभी तक अप्रकाशित कृति है।

'छन्दमाला' पिंगलशास्त्र का ग्रन्थ है और इसमें दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में वर्णवृत्तों का विचार किया गया है और दूसरे मात्रावृत्तों का। पहला खण्ड महादेव की स्तुति से तथा दूसरा गणेश और पिंगलाचार्य की स्तुति से आरम्भ होता है। इसमें लक्षण लक्ष्य सहित छन्दों की संख्या १५७ है। मात्रिक की अपेक्षा वर्णिक वृत्तों के विवेचन की ओर अधिक दृष्टि रही है। इसका आधार संस्कृत के 'वृत्तरत्नाकर' आदि पिंगल ग्रन्थ ही हैं। इसमें कोई नवीनता नहीं है।

केशव ने 'छन्दमाला' में भाषाकल्पवृत्त की तीन शाखाएँ कही हैं—सुरभाषा, नागभाषा और नरभाषा। सुरभाषा के आदि कवि वाल्मीकि, नागभाषा (प्राकृत—अपभ्रंश भाषा) के महसु (सहसु सहस्रशीर्ष—शेषनाथ) और नरभाषा या देशभाषा

के पिंगलनाग (जो शेष के अवतार माने जाते हैं) बताये गये हैं। इन्होंने वर्णवृत्त के केवल सम छन्दों को ही लिया है। कलावृत्ति में सम और विषम दोनों को स्वीकृति दी है। छन्दोभंग में 'प्राकृतपैंगलम्' के आधार पर श्रवणतुला को प्रमाण माना है। अंत में सूची दी गयी है।

इसमें लक्षण देने की प्रणाली केशव ने अपनी रखी है। ऐसा ही प्रवाह परवर्ती प्राचीन हिन्दी छन्द—ग्रन्थों में दिखायी देता है। इसमें लक्षणों को बहुत सरल बनाकर रखने का प्रयास किया गया है फिर भी कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द व्यवहृत हैं जिनसे पिंगल से परिचित व्यक्तियों को भी होती है, जैसे प्रिय (।।), द्विज(।।।।) नन्द (S।) धुजा (।S) करना (।।) तिरना (।।।।) कहीं-कहीं बड़े छन्द के लक्षणों में छोटे छन्द को परिभाषिक रूप में रख दिया गया है। 'छन्दमाला' के अधिकतर उदाहरण 'रामचन्द्रिका' से उद्धृत हैं, कुछ ही नवनिर्मित हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'रामचन्द्रिका' में प्रयुक्त छन्दों के ही आधार पर 'छन्दमाला' पिरो दी गयी है। पुस्तक की पूर्ति कुछ नये उदाहरणों से की गयी है।

—वि० प्र० मि०

छंद-विचार—दे० 'पिंगल'

—सं०

छंदसार पिंगल— मतिराम द्वारा प्रणीत छन्दशास्त्र पर लिखा 'छन्दसार पिंगल' नामक ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' और 'मिश्रबन्धु विनोद' में उल्लिखित हुआ है पर इसकी सम्पूर्ण प्रति देखने में नहीं आयी है। नागरी प्रचारिणी सभा में ग्रन्थ की एक प्रति है, वह भी खण्डित है अतः 'छन्दसार पिंगल' का पूरा परिचय देना सम्भव नहीं जान पड़ता। भगीरथप्रसाद दीक्षित ने इसे 'वृत्तकौमुदी' से अभिन्न माना है। वृत्त—कौमुदीकार मतिराम की जो वंश—परम्परा है, वह प्रसिद्ध मतिराम की वंश—परम्परा से भिन्न है। 'वृत्तकौमुदी' के रचयिता ने ग्रन्थ के अन्त में 'छन्दसार—संग्रह' भी उसका नाम दिया है। हो सकता है कि 'छन्दसार संग्रह' और 'छन्दसार पिंगल' एक ही ग्रन्थ हों और उन्हें 'छन्दसार' (पिंगल) नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। यदि 'वृत्तकौमुदी' और 'छन्दसार संग्रह' या 'पिंगल' एक ही ग्रन्थ हैं, तो यह ग्रन्थ श्रीनगर (गढ़वाल) के स्वरूप साहि बुन्देला के आश्रय में लिखा गया। यह बात 'वृत्तकौमुदी' के एक छन्द से स्पष्ट हो जाती है (पंचम प्रकाश)।

छन्द की शिथिलता और कल्पना—कवित्तहीनता ही इस बात को सिद्ध करती है कि यह प्रसिद्ध मतिराम की रचना नहीं है। इस ग्रन्थ की रचना का समय यों दिया गया है—"संवत् सत्रह सौ बरस अट्ठावन सुभ साल। कार्तिक शुक्ल त्रयोदसी, करि विचार तिहि काल।।" (पंचम प्रकाश)। इस प्रकार इसकी रचना १७०१ ई० (सं० १७५८) की निश्चित होती है।

इस 'छन्दसार संग्रह' या 'वृत्तकौमुदी' का वर्ण्य विषय पाँच प्रकाशों में विभक्त है। आश्रयदाता की प्रशंसा के बाद गण, देवता, जाति, वर्ण आदि का वर्णन, मात्रिक, वर्णिक विवेचन तथा इन छन्दों के भेद—प्रभेदों का वर्णन किया गया है। प्रत्यय, प्रस्तार, पताका आदि का विवेचन भी इसमें है। 'पंचम प्रकाश' में दण्डक के भेदों का विवरण दिया गया है। ग्रन्थ प्रमुखतया भट्ट केदारकृत 'वृत्त रत्नाकर' और हेमचन्द्रकृत 'छन्दोनुशासन' पर आधारित है। छन्द की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अवश्य है, पर कवित्व की दृष्टि से यह ग्रन्थ सामान्य है।

[सहायक ग्रन्थ— शि० स०; मि० वि०; हि० मा० इ०; मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्रकुमार।]

—भ० मि०

छंदोर्णव पिंगल—भिखारीदासरचित यह पिंगल ग्रन्थ हिन्दी मे छन्दो पर लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि यह बहुत व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध है। इसकी रचना सन् १७४३ ई० में हुई। सन् १८१५ ई० में काशिराज के किसी दरबारी ने प्रतिलिपि करते समय इसमें 'छन्दप्रकाश' नामक परिशिष्ट जोड़ दिया है। इसके मुख्य सस्करणों का प्रकाशन गोपीनाथ पाठक, बनारस (१९१२ ई०), लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ (१९३७ ई०) तथा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (१९१८ ई०) से हुआ है।

'छन्दोर्णव' मे १५ तरंगे हैं। पहली तरग में छन्दशास्त्र सम्बन्धी सामान्य चर्चा है, दूसरी लघु—गुरुविचार तथा मात्रिक एवं वर्णिक गणों का विवेचन है, तीसरी तथा चौथी मे क्रमशः मात्रिक और वर्णिक प्रस्तारो का विवेचन है। पाँचवीं तरंग में २ से ३२ मात्रा वाले सम छन्दों पर विचार है, छठी मे मात्रिक मुक्तक छन्दों का, सातवी में मात्रिक अर्द्धसम छन्दो का, आठवीं में प्राकृत भाषा मे प्रयुक्त छन्दों का और नवी मे मात्रिक दण्डक छन्दों (३२ मात्रा से अधिक) का विवेचन है। दसवीं तरंग में १ से १६ वर्ण वाले वर्णिक छन्दो का ११ वीं में २१ से २६ वर्णवाले वर्णिक छन्दों का (वर्ण सवैया), बारहवी में संस्कृत के प्रसिद्ध छन्दों का विवेचन किया गया है। तेरहवीं तरंगों में अर्द्धसम तथा विषम छन्दो का और चौदहवीं में वर्णिक मुक्त छन्दों का विस्तार है। अन्तिम तरंग मे २६ से अधिक वर्ण वाले वर्णिक दण्डकों का विवेचन है।

इस प्रकार इसमें कुल ३६१ मात्रिक तथा वर्णिक छन्दो का विस्तार है। २ मात्रा से लेकर ४६ मात्रा तक के मात्रिक छन्दो का प्रस्तार दिया गया है। ३२ मात्रा के बाद दण्डक छन्द हो जाता है, अतः इनमे कुछ का विवेचन है—३७, ३८, ४०, ४५, तथा ४६ मात्रा के। इसी प्रकार १ वर्ण से ४८ वर्ण तक के वर्णिक छन्दों का विस्तार है, पर ५, २८, २९, ३५, ३७, ४०, ४१, ४३. ४४, ४६, ४७ वर्णो के छन्दों पर विचार नहीं है।

'छन्दशास्त्र' का इतना विशद तथा विस्तृत निरूपण हिन्दी में दूसरा नहीं है। इस ग्रन्थ की विशेषता वर्गीकरण—प्रियता है, विशेष गणों पर आधारित मात्रिक छन्दों को एक स्थान पर, संस्कृत तथा प्राकृत छन्दों को अलग—अलग तरंगों में रखा गया है। सातवीं तरंग में अवश्य मिश्र वर्ग के छन्दों को एक साथ रख दिया गया है। वर्णिक छन्दों में सवैया के १४ प्रकारों का विवेचन महत्त्व का है। इसका उदाहरण भाग भी सुन्दर है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० मा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

छत्रप्रकाश—इसकी रचना लाल कवि उपनाम गोरेलाल ने सन् १६५८—१७१० ई० में की थी। छत्रसाल के जीवन की 'छत्रप्रकाश' में वर्णित अंतिम घटना 'लोहागढ़—विजय' है। इस घटना का समय १७६४ वि० (१७०७ ई०) मानकर

मिश्रबन्धुओ, रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने उक्त तिथि को ही लाल कवि की सम्भावित मरण—तिथि होने की कल्पना की है, पर यह अशुद्ध है। वस्तुत: छत्रसाल बुन्देला ने लोहागढ़ को १६ दिसम्बर, १७१० ई० को जीता था। अतएव यदि 'छत्रप्रकाश' की वर्तमान प्रति को पूर्ण माना जाय तो गोरेलाल ने इस काव्य की रचना दिसम्बर, १७१० ई० में की होगी और उनकी मृत्यु भी इसी तिथि के आसपास हुई होगी। इन्होंने छत्रसाल बुन्देला की आज्ञा से इस ग्रन्थ का निर्माण किया था ('छत्रप्रकाश', पृ० ६६)। यह २६ अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम ५ अध्यायों में क्रमश: बुन्देल—जन्म, बुन्देल—वंश, चम्पतिराय के पुत्र सारवाहन, छत्रसाल की बाल—लीला, चोर—वध और पहाड़सिंह—प्रपंच का उल्लेख है। अध्याय ६—७ में औरंगजेब का उत्तराधिकार—युद्ध, चम्पतिराय और बहादुर खाँ का वैमनस्य, शुभकरन—पराजय आदि घटनाओं का वर्णन है। अष्टम अध्याय में इन्द्रमणि धन्धेरा तथा चम्पतिराय की मृत्यु चित्रित है। अध्याय ९—१० में जयसिंह—छत्रसाल—मिलन तथा देवगढ़ विजय का वर्णन है। अध्याय ११—१६ में छत्रसाल—शिवाजी मिलन तथा छत्रसाल की प्रारम्भिक विजयों, शाहजादा अकबर के विद्रोह आदि घटनाओं का उल्लेख किया गया है। अध्याय १७—२२ में सुजानसिंह की मृत्यु, इन्द्रमनिका राज्याभिषेक, छत्रसाल की विजयों की विस्तृत सूची, सुतरदीन—पराजय, हमीद, सैद लतीफ, बीस—गवासी—युद्ध, अब्दुल समदपराजय, बहलोल खाँ मयातो—मरण, मोधा—मठौध विजय आदि घटनाओं का वर्णन है। अध्याय २३—२५ में छत्रसाल और सैद अफगन—युद्ध, प्राणनाथ—वरदान आदि घटनाओं का उल्लेख है तथा अध्याय २६ में बहादुरशाह के राज्याभिषेक और छत्रसाल द्वारा लोहागढ़—विजय का वर्णन है।

'छत्रप्रकाश' में दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें वर्णन की विशदता और वीररस की प्रधानता है। इसकी भाषा ब्रजभाषा का प्रचलित साहित्यिक रूप है, जिस पर बुन्देलखण्डी का पर्याप्त प्रभाव है। अरबी तथा फारसी के प्रयोगो से भाषा अधिक सजीव हो गयी है। इस प्रकार 'छत्रप्रकाश' साहित्य और इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी कृति है। यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा १९१६ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी वीरकाव्य (१६००—१८०० ई०) : टीकमसिंह तोमर, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ० प्र० इलाहाबाद प्रथम संस्करण, १९५४ ई०, पृ० २७—३०, ४४—४६, ६६—६८, ८७—८८, १०९—१११, १६६—१६७, २६७—२८७; हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड): धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, प्रथम संस्करण, मार्च, १९५९ ई०, पृ० १६९—१७०]।

—टी० सिं० तो०

छत्रसाल—दे० 'छत्रप्रकाश'।

—सं०

छत्रसालदशक—इसके रचयिता भूषण (१६१३—१७१५ ई०) हैं। 'छत्रसालदशक' में केवल दस छन्द—९ कवित्त और एक छप्पय—हैं। इन्होंने इस काव्य में अपने आश्रयदाता बुन्देल वंशावतंस वीर केशरी छत्रसाल बुन्देला के आतंक, पराक्रम, रण, तलवार, तोपखाना, प्रताप तथा शौर्य का वर्णन किया है। छत्रसाल बुन्देला ने अनेक शत्रुओं को पराजित किया था। भूषण ने इनमें से चकत्ता (औरंगजेब), अब्दुस्समद, महमद अमीं खाँ, तहवर खान, सुतरुदीन, बहलोल खाँ, मियाना, सेर अफगन आदि छत्रसाल के विपक्षियों का उल्लेख किया है।

यह एक मुक्तक रचना है। भूषण ने इसमें अपने चरित्र—नायक के विशिष्ट गुणों का अच्छा चित्रण किया है। इसमें वीररस और युद्ध—सामग्री का सफल चित्रण देखने को मिलता है। इसके छन्दों में अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, यमक, उपमा, उदाहरण, अत्युक्ति, रूपक आदि अलंकारों का सफल एवं स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है। इस प्रकार यह वीररस की एक उत्कृष्ट रचना है। यह रचना अनेक स्थानों से भूषण—ग्रन्थावली में प्रकाशित हो चुकी है, जिनमें से कुछ ये हैं—

(क) सम्पादक—विश्वनाथप्रसाद मिश्र : भूषण—ग्रन्थावली, साहित्य—सेवक—कार्यालय, काशी, द्वितीयावृत्ति, शरत्पूर्णिमा, १९९३।

(ख) सम्पादक—श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र : भूषण—ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पंचम—सशोधित संस्करण सं० १९९६ वि०।

(ग) सम्पादक—राज नारायण शर्मा, भूषण—ग्रन्थावली, हिन्दी, भवन लाहौर।

(घ) सम्पादक—ब्रजरत्नदास, भूषण—ग्रन्थावली, रामनारायणलाल इलाहाबाद, प्रथम बार, १९३० ई०।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी वीर काव्य (१६००—१८०० ई०) : टीकमसिंह तोमर, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ० प्र० इलाहाबाद, पृ० २४—२६, ४३; हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) : धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), हिन्दी परिषद् प्रयाग, प्रथम संस्करण, मार्च, १९५९ ई० पृ० १६६—६७।]

—टी० सिं० तो०

छत्रसाल रासो—बूँदी के रावराजा छत्रसाल (शत्रुसाल) १६३१ ई० में गद्दी पर बैठे। शाहजहाँ तथा औरंगजेब का अनेक युद्धों में इन्होंने साथ दिया। फलस्वरूप ये शाहजहाँ के बड़े कृपापात्र थे। छत्रसाल वीर थे और दानी भी। इन्होंने आजीवन औरंगजेब के साथ संघर्ष किया और उसी की सेना के साथ युद्ध में मारे गये। इनकी दानवीरता का उल्लेख भूषण, मतिराम तथा लाल ने अपनी कृतियों में किया है। छात्रुसल के आश्रय में राव डूंगरसी भी थे। छात्रुसाल के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं को लेकर राव डूंगरसी ने सन् १६५३ ई० के लगभग 'छात्रुसाल रासो' की रचना की। कृति की काव्य—शैली बहुत कुछ अन्य इस प्रकार की वीर—श्रृंगार—रसात्मक कृतियों से मिलती—जुलती है। दूहा, साटक, छप्पय, भुजंगी, मौक्तिकदाम आदि छन्दों का प्रयोग कृति में हुआ है। छात्रुसाल रासो की एक हस्तलिखित प्रति कलकत्ता के 'सूरजमल नागरमल पुस्तकालय' में हैं।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थान पिंगल साहित्य : पं० मोतीलाल मेनारिया।]

—रा० तो०

छद्म विनोद—लीला—'रास छद्म विनोद' हित वृन्दावनदास

रचित लीलाओ का संग्रह है। इन लीलाओं का राम लीलानुकरण में प्रयोग होता है। कृष्ण छद्म रूप से वेशपरिवर्तन करके राधा से मिलने आते हैं, किन्तु प्रत्येक बार भेद खुल जाता है। कृष्ण कभी मालिन का रूप धारण करते है, कभी चितेरिन, कभी धोबिन, नाइन, तमोलिन, मैनावारी आदि का रूप धारण करके राधा से मिलने का उपक्रम करते हैं। इनमे सात लीलाएँ कृष्ण के जोगी रूप की हैं। काव्य—सौष्ठव की दृष्टि से इन लीलाओ का विशेष महत्त्व नहीं है। इनमें वचनिका (गद्य) का भी प्रयोग है। रासधारी मण्डलियाँ इनमें अपनी रुचि से बीच—बीच मे गद्य—पद्य का समावेश करके इनका ब्रज मे अभिनय करती आ रही हैं, अतः इनके भीतर कितना प्रक्षिप्तांश है, यह कहना कठिन है।

—वि० स्ना०

छलना—प्रसादकृत नाटक 'अजातशत्रु' की पात्र। छलना मगध—सम्राट् बिम्बसार की छोटी रानी और अजातशत्रु की माँ है। बौद्ध इतिहास मे इसे वैशाली की वृजिजाति के राजवंश से सम्बन्धित होने के कारण वैशाली की राजकुमारी और वैदेही के नाम से अभिहित किया गया है। यह भी किंवदन्ती है कि छलना जैनमत की अनुयायिनी थी, इसीलिए देवदत्त के द्वारा जैनमतानुकूल अहिंसा के सिद्धान्त को बुद्ध से मनवाने के कारण वह उस पर प्रसन्न हुई और उसे प्रश्रय दिया, भले ही देवदत्त की अभिलाषा पूरी न हो सकी। मगध की राजमाता छलना, "जिसकी धमनियों मे लिच्छवी रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है", अपनी महत्त्वाकांक्षा, क्रूरता और कुटिलता के बल पर उच्च पद प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प होती है। अपने पुत्र अजात को "हिंसामूलक" शिक्षा का अविनीत पाठ पढ़ाकर मगध के राजपरिवार में विघटन उत्पन्न कर देती है। वह स्वभाव से ही क्रूर, स्वार्थी, कुटिल और ईर्ष्यालु है। शिष्टता और सज्जनता तो जैसे उसके स्वभाव में ही नहीं है। वह बड़ी रानी वासवी का स्थान—स्थान पर अपमान करती है। पैनी कटूक्तियों से उनके मर्म पर प्रहार करती है और अपनी दुर्नीति में जरा भी सफल हो जाने पर मिथ्या गर्व का प्रदर्शन करती हुई इतराती चलती है। वह अजातशत्रु को बलपूर्वक बिम्बसार से कहकर युवराज पद पर आसीन करवाती है। छलना बिम्बसार से राज्यसत्ता हस्तगत करके सन्तुष्ट नहीं हो जाती, वरन् उन पर सैनिक नियन्त्रण रखने की भी कुचेष्टा करती है। अपनी संस्कारोचित दुर्वृत्तियों से विवश होकर वह अजातशत्रु को कोशल के साथ युद्ध करने के लिए प्रेरित करती है। उसकी अदूरदर्शिता के कारण अजातशत्रु बन्दी बनता है, छलना की प्रतिहिंसा सजग होकर वासवी को अपना लक्ष्य बनाती है। वह अपने कलुषित हृदय से विष को उगलती हुई देवी तुल्य वासवी के समक्ष जाकर ललकारती हुई कहती है :—"वासवी, सावधान मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।" वह अपनी अदूरदर्शिता के कारण हिताहित की पहिचान न करके देवदत्त के संकेतों पर चलकर स्वयं अनिष्ट का वरण करती है। नारी हृदय की सहज प्रवृत्तियों के विरुद्ध चलने के कारण अपने उद्देश्यों में असफल होती है और अपने पति से विद्रोह करने के पश्चात् पुत्र को भी खो बैठती है, किन्तु अन्त में बार—बार असफलता प्राप्त होने पर वासवी के द्वारा उसमें सद्बुद्धि का जागरण होता है। आत्मबोध को पाकर वह पश्चात्ताप करती हुई वासवी के अंचल मे मुँह डालकर उससे अपनी पुत्री की भीख माँगती है और पति से अपने दुराचरणों के प्रति ग्लानि प्रकट करती हुई क्षमा की याचना करती है। अन्त में वासवी के सत्प्रयासो से उसे पुनः अपने खोये हुए मातृत्व एवं पत्नीत्व की प्राप्ति होती हैं।

—के० प्र० चौ०

छबिनाथ पांडेय—जन्म चैत्र शुक्ल पूर्णिमा सं० १९४९ तदनुसार सन् १८९२ ई० मे मीरजापुर जिलान्तर्गत जलालपुर ग्राम मे हुआ। शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय मे हुई। आपने साहित्य के विभिन्न रूपों को अपनाया है। कुल ग्रन्थ सख्या ७५ है। प्रमुख कृतियाँ 'सफल जीवन' (१९२४),—'विद्रोही' (१९४२)—दोनों निबन्ध; 'माँ की ममता' (१९२४), 'अस्पताल मे' (१९५३) 'वे तीनों' (१९३१), 'इन्द्रधनुष' (१९४५), 'सुरा सुन्दरी संग्राम' (१९४६)—उपन्यास; 'अपनी बात और अटपटे चित्र' (संस्करण १९५४), 'मुद्रण कला' (१९५७)। आप सन् १९१९ से १९२१ तक डेढ़ वर्ष तथा १९४५ से १९४७ तक पौने दो वर्ष तक ज्ञानमण्डल प्रेस तथा ज्ञानमंडल के प्रबन्धक थे। १९४७ से १९५३ तक बिहार सरकार के शिक्षा—विभाग में प्रकाशन अधिकारी के पद पर काम करके अवकाश ग्रहण किया।

छबीलेलाल गोस्वामी—ये हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी के एकमात्र पुत्र थे। इनकी बाल्यावस्था काशी में बीती थी और यहीं इन्हे अंग्रेजी और हिन्दी की साधारण शिक्षा भी मिली थी। वयस्क होने पर ये भी अपने पिता के अनुकरण पर कहानियाँ, उपन्यास आदि लिखने लगे थे। परन्तु आगे चलकर देश में असहयोग आन्दोलन शुरू होने पर ये भी साहित्य—सेवा छोड़कर राजनीतिक कामो में लग गये और वृन्दावन जाकर वहीं आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। कुछ दिनों बाद वे वृन्दावन नगरपालिका के अध्यक्ष भी हो गये थे और अनेक प्रकार से लोक—सेवा के कामों में लगे रहते थे। परन्तु प्रौढ़ावस्था में इन्हें एक बहुत बड़ा दुःख देखना पड़ा। इनका एकमात्र पुत्र बी० ए० पास करने के बाद पागल हो गया और कुछ दिनों बाद मर गया। उसी दुःख में इनका शरीर दिन—पर—दिन जर्जर होने लगा और अन्त में वृन्दावन में इनका परलोकवास हो गया।

—रा० चं० व०

छीत स्वामी—अष्टछाप के कवियों में छीत स्वामी एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने जीवनपर्यन्त गृहस्थ—जीवन बिताते हुए तथा अपने ही घर रहते हुए श्रीनाथजी की कीर्तन—सेवा की। ये मथुरा के रहनेवाले चौबे थे। इनका जन्म अनुमानतः सन् १५१० ई० के आसपास, सम्प्रदायप्रवेश सन् १५३५ ई० तथा गोलोकवास सन् १५८५ ई० में हुआ था। इनका प्रारम्भिक जीवन बहुत उच्छृंखल और उद्दण्डतापूर्ण था। वार्ता में लिखा है कि ये बड़े मसखरे, लम्पट और गुण्डे थे। एक बार गोसाँई विट्ठलनाथ की परीक्षा लेने के लिए वे अपने चार चौबे मित्रों के साथ उन्हें एक खोटा रुपया और एक थोथा नारियल भेंट करने गये, किन्तु विट्ठलनाथ को देखते ही इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने हाथ जोड़कर गोसाई जी से क्षमा याचना की और उनसे शरण में लेने की प्रार्थना की। शरण में लेने के बाद गोसाईजी ने श्रीनाथजी की सेवा—प्रणाली के निर्माण में छीतस्वामी से बहुत सहायता ली। महाराज बीरबल के वे

पुरोहित थे और उनसे वार्षिक वृत्ति पाते थे। एक बार बीरबल को उन्होंने एक पद सुनाया, जिसमें गोस्वामीजी की साक्षात् कृष्ण के रूप में प्रशंसा वर्णित थी। बीरबल ने उस पद की सराहना नहीं की। इस पर छीत स्वामी अप्रसन्न हो गये और उन्होंने बीरबल से वार्षिक वृत्ति लेना बन्द कर दिया। गोसाईंजी ने लाहौर के वैष्णवों से उनके लिए वार्षिक वृत्ति का प्रबन्ध कर दिया। कविता और संगीत दोनों में छीत स्वामी बड़े निपुण थे। प्रसिद्ध है कि अकबर भी उनके पद सुनने के लिए वेष बदलकर आते थे।

छीत स्वामी के केवल ६४ पदों का पता चला है। उनका वर्ण्य–विषय भी वही है, जो अष्टछाप के अन्य प्रसिद्ध कवियों के पदों का है यथा–आठ पहर की सेवा, कृष्ण लीला के विविध प्रसंग, गोसाईंजी की बधाई आदि। इनके पदों का एक संकलन विद्या–विभाग, कांकरोली से 'छीतस्वामी' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

[सहायक ग्रन्थ–दो सौ वैष्णवन की वार्ता; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त; अष्टछाप परिचय प्रभुदयाल मीतल।]

–ब्र० व०

छीहल–इनकी अभी तक एकमात्र कृति 'पंच सहेली' ही उपलब्ध हो सकी है। इस कृति का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें तीसरी श्रेणी का कवि स्वीकार किया है। इन्होंने 'पंच सहेली' की रचना तिथि सं० १५७५ वि० दी है। इनका जीवन–काल इसी के आसपास निर्धारित किया जाता है यद्यपि इनकी गणना कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों के साथ की गयी है किन्तु सम्पूर्णतः ये भक्त कवि नहीं ठहरते। 'पंच सहेली' कृति में ये 'पाँच सखियों' के क्रमशः विप्रलम्भ और सम्भोग श्रृंगार निरूपण के प्रति सजग दिखायी पड़ते हैं। इनकी राजस्थानी बहुल भाषा देखकर राजस्थानी–साहित्य के इतिहास लेखक इन्हें राजस्थानी कवि स्वीकार करते हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि इनके द्वारा लिखी गयी एक अन्य रचना 'बावनी' का भी उल्लेख किया है, किन्तु अभी तक उसके प्रकाश में आने की सूचना नहीं मिली है।

[सहायक ग्रन्थ–मिश्रबन्धु विनोद (भाग १); हि० सा० इ० : रामचन्द्र शुक्ल; राजस्थानी भाषा और साहित्य : पं० मोतीलाल मेनारिया।]

–यो० प्र० सिं०

जंगनामा–रचयिता 'श्रीधर', उपनाम मुरलीधर। इसमें वर्णित अन्तिम घटना जनवरी, १७१३ ई० की है। अतएव इस ग्रन्थ का निर्माण इसी तिथि के आसपास हुआ होगा।

जंगनामा में १६३० पंक्तियाँ हैं। इसमें बहादुरशाह के मरने पर फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के मध्य लड़े गये युद्ध का वर्णन किया गया है। इस काव्य में अब्दुलगफ्फार खाँ और अबुलहसन का युद्ध, फर्रुखसियर का प्रयाग–आगमन, खजुआ का युद्ध और ऐजुद्दीन की पराजय, जहाँदारशाह का दिल्ली–दरबार तथा उसका आगरा–आगमन, फर्रुखसियर का आगरा पहुँचना, युद्ध और जहाँदारशाह पर फर्रुखसियर की विजय का वर्णन है।

श्रीधर ने जंगनामा में अमीरों और वीरों की दीर्घ सूची की बार–बार आवृत्ति की है। इसमें दोहा, तोमर, हरिगीतिका, भुजंगप्रयात आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा ब्रजभाषा का प्रचलित रूप है, जिस पर बुन्देली, डिंगल, अवधी आदि भाषाओं की स्पष्ट छाप वर्तमान है। किंबहुना जंगनामा इतिहाससम्बन्धी मौलिक एवं तथ्यपूर्ण सामग्री प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत करके ऐतिहासिक ज्ञान की श्रीवृद्धि करने में सहायक होता है। यह ग्रन्थ श्री राधा कृष्णदास और श्री किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९०४ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

[सहायक ग्रन्थ–हिन्दी वीरकाव्य (१६००–१८०० ई०) : टीकमसिंह तोमर, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ० प्र० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०, पृ० ३०–३१, ४६–४७, ८८–८९, १६७, २८८–३०६; हिन्दी साहित्य, (द्वितीय खण्ड) : धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, पृ० १७०–१७१।

–टी० सिं० तो०

जम्बूद्वीप–पौराणिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि जम्बूद्वीप सात द्वीपों से घिरे एक मुख्य द्वीप का नाम है। इसके विस्तार को ९ खण्डों में विभाजित किया गया, जिसमें एक भारतवर्ष भी है। महाभारत में मेरुपर्वत को घेरकर स्थित सप्त द्वीपों को ही 'जम्बूद्वीप' कहा गया है। कुछ स्रोतों से ऐसा भी ज्ञात होता है कि मेरु पर्वत के चारों ओर जम्बू (जामुन) के वृक्ष स्थित होने के कारण ही यह जम्बूद्वीप के रूप में प्रख्यात हुआ। वर्तमान समय के जम्बू द्वीप की ऐतिहासिकता आज अनिश्चित है।

–रा० कु०

जंभनाथ–सन्त कवि जम्भनाथ का जन्म जोधपुर राज्य के नागोर इलाके के पीपासर (अथवा पयासर) नामक ग्राम में सोमवार, भाद्र पद कृष्ण अष्टमी सं० १५०८ (सन् १४५१ ई०) को राजपूत परमार लोहित के गृह में हुआ था। इनकी माता का नाम हाँसा देवी था। बाल्यावस्था में इनके माता–पिता प्रेम के कारण इन्हें जम्भो नाम से बुलाते थे। कालान्तर में जम्भनाथ के साथ ही साथ इनका जम्भोजी नाम भी प्रचलित हो गया। इनके नाम के सम्बन्ध में श्री एच० ए० रोज का मत है कि चौंतीस वर्ष की अवस्था तक इन्होंने एक भी शब्द उच्चारित नहीं किया और अनेक एवं विस्मयजनक कार्य किये, अतः जनता ने इन्हें जम्भाजी कहना प्रारम्भ किया। सिद्धि प्राप्त हो जाने के अनन्तर ये मुनीन्द्र जम्भ ऋषि के नाम से विख्यात हुए।

जम्भनाथ अपने माता–पिता की एक मात्र सन्तान थे। इनकी शिक्षा–दीक्षा के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं मिलता है। जनश्रुति है कि जम्भनाथ के चौंतीसवें वर्ष में पदार्पण करने पर इनके माता–पिता को इनके गूँगेपन पर विशेष चिन्ता हुई। नागोरकी देवी के मन्दिर में बारह दीप जलाकर उन्होंने अपने पुत्र के हेतु वाणी–वरदान की याचना की। यह देखकर जम्भनाथ ने दीपक बुझा दिये और वहाँ पर उपस्थित जनता को ब्रह्मविषयक उपदेश देने लगे। किंवदन्ती है कि वे आजीवन ब्रह्मचारी का पवित्र निष्कलंक तथा वासनाहीन जीवन व्यतीत करते रहे। वे बड़े विनयशील, नम्र तथा उदारचेता थे तथा सेवा–भाव में सदैव दत्तचित्त रहा करते थे। जाति–पाँति और कुल में उनकी आस्था कभी नहीं रही। सन्तों की भाँति वे भ्रमणशील थे। प्रसिद्ध है कि राजस्थान के बाहर जाकर भी

अन्य प्रदेशों में उन्होंने अपने उपदेशों का प्रसार और प्रचार किया था। अनुमान किया जाता है कि उत्तर-प्रदेश के मुरादाबाद, बरेली और बिजनौर तक यात्रा करके इन्होंने अपने आदर्शों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था।

वे अच्छे कवि थे। परन्तु दुर्भाग्य से उनकी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं हैं। कतिपय संग्रहों में उनकी स्फुट रचनाएँ संगृहीत है। इन रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका भाषा पर अच्छा अधिकार था और अभिव्यंजना की सराहनीय शक्ति थी। उनकी काव्यभाषा अवधी थी, जिसमें खड़ीबोली का विकासमान रूप उपलब्ध होता है उदाहरणार्थ यहाँ पर कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

"गगन हमारा बाजा बाजे, मूल मन्तर फल हाथी। संसे का बल गुरुमुख तोडा, पाँच पुरुष मेरे साथी। जुगति हमारी छत्र सिंघासन, महासक्ति में बाँसे। जम्भनाथ वह पुरुष विलच्छन, जिन मन्दिर रचा अकासे।" उन्होंने अपने आदर्शों के प्रचारार्थ विश्नुई सम्प्रदाय की स्थापना की। अपने जीवनकाल में उन्होंने ४ प्रमुख शिष्यों को मान्यता प्रदान की। इनके नाम हैं—हावली, पावजी, लोहा पागल, दत्तनाथ तथा मालदेव। नाम से ये शिष्य नाथपन्थी प्रतीत होते हैं। सम्भव है कि विश्नुई सम्प्रदाय नाथ पन्थ के आदर्शों से किसी अंश तक प्रभावित रहा हो। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि इनकी उपलब्ध रचनाओं में भी वस्तुतः देहभेद, योगाभ्यास, कायासिद्धि जैसे विषय अधिकतर पाये जाते हैं। फिर भी उन सबके देखने से यही प्रतीत होता है कि वे सन्त मत के अनुयायी थे, किन्तु नाथ पन्थ का भी प्रभाव उन पर विशेष रूप से पड़ा था।

इनकी रचनाओं में ओंकार जप, निरंजन की उपासना, अजपाजप, गगन मण्डल, पंच पुरुष, सतगुरु महिमा, सोहंजप, अमृत पान से जरामरण मुक्ति, अनन्य भक्ति आदि का बारम्बार उल्लेख हुआ है। हिन्दी के अन्य सन्तों की रचनाओं में सिद्धान्तप्रतिपादन तथा साधना—उपदेश प्रसंग में यही शब्दावली सहस्त्रों बार प्रयुक्त हुई है।

जम्भनाथ ने सं० १५८० वि० (सन् १५२३ ई०) के लगभग तालबा, बीकानेर में समाधि लेकर जीवनलीला समाप्त की।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारती की सन्त परम्परा : पं० परशुराम चतुर्वेदी।]

—त्रि० ना० दी०

जगजीवनदास—निर्गुण सन्त—परम्परा में इस नाम के तीन सन्तों का उल्लेख मिलता है। जगजीवन दादूपंथी, जगजीवन निरंजनी और जगजीवन सत्तनामी। इनमें सर्वाधिक ख्याति जगजीवनदास सत्तनामी को मिली है। डब्ल्यू० क्रुक साहब के अनुसार इनका जन्म सन् १६८२ ई० में बाराबंकी जिले के सरदहा ग्राम में हुआ था। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार इनका जन्म १६७० ई० मानते हैं। ये जाति के चन्देल ठकुर थे। साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार इनके गुरु काशी के कोई विश्वेश्वर पुरी थे, किन्तु इन विश्वेश्वर पुरी का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। एक दूसरी परम्परा के अनुसार ये बावरी पन्थ के सन्त बूला साहब और गोविन्द साहब के शिष्य थे। भीखा पन्थी लोग इन्हें गुलाल साहब की परम्परा में मानतें हैं।

जगजीवनदास की कुल सात रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—शब्द सागर, ज्ञानप्रकाश (प्रथम ग्रन्थ), आगमपद्धति, महाप्रलय, प्रेम ग्रन्थ और अघविनाश। इनमें से केवल, 'शब्द—सागर' जगजीवन साहब की वाणी के नाम से (दो भागो में) बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है।

इन्होंने गृहस्थ जीवन यापन किया था। भौतिक जीवन एव आध्यात्मिक साधना मे पूर्ण समन्वय स्थापित कर लेना ही इनकी विशेषता है। इनकी निश्चित मान्यता थी कि संसार के कार्यों में लगे रहने पर भी 'सत्तसमरथ' में एकान्त निष्ठा होने पर पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। 'सत्तसमरथ' की प्रतिष्ठा के कारण ही इनका सम्प्रदाय 'सत्तनामी' कहा गया। इनके शिष्यों में सभी वर्णों और जातियों के लोग पाये जाते हैं। सत्तनामियों की इतिहास प्रसिद्ध नारनौल शाखा से (जिसने औरंगजेब के विरुद्ध घोर विद्रोह किया था) इनका सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। इनके शिष्यों में दूलनदास, देवीदास, गुसाईदास और खेमदास चार पावा कहे जाते हैं। इन सभी की रचनाएँ प्राप्त हैं।

जगजीवनदास 'सत्तनाम' के उपासक हैं और उसे अनादि—अनन्त मानते हुए भी उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उसके प्रति समर्पण भावना व्यक्त करते हुए सगुण भक्तों की शब्दावली में बोलने लगते हैं और उसके मिलन और विरह की तीव्र आध्यात्मिक अनुभूति की व्यंजना करते समय कृष्ण—काव्य—शैली के अभिप्रायों और प्रतीकों का प्रयोग भी कर देते हैं। इनकी वाणी अधिक परिमार्जित नहीं है। उसमें यत्र—तत्र अवधी के प्रयोग भी मिल जाते हैं। वस्तुतः जगजीवनदास का महत्त्व उनकी अनुभूति की निश्छलता एवं उच्च नैतिक मूल्यों की व्यावहारिक स्तर पर सहज प्रतिष्ठा के कारण है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त—परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; हिन्दी—काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल; सन्त काव्य : परशुराम चतुर्वेदी; जगजीवन साहब की वाणी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।]

—रा० च० ति०

जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'—जन्म सन् १८९५ में उन्नाव जिले में हुआ तथा सन् १९५७ में कानपुर में मृत्यु हुई। वे संस्कृत, बंगला, फारसी और उर्दू के भी अच्छे जानकार थे। कानपुर में लोहे का अच्छा व्यवसाय था।

'हितैषी' की 'मातृगीता', 'कल्लोलिनी' तथा 'वैकाली' नामक तीन कविता—पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मूल फारसी से उमरखैयाम की रुबाइयों का एक अनुवाद तथा 'दर्शना' नामक काव्य—ग्रन्थ के कतिपय अंश कानपुर से प्रकाशित होनेवाली 'प्रतिमा' में प्रकाशित हुए थे—पर पुस्तक रूप में वे नहीं आ सके। इनके अतिरिक्त उनकी फुटकल कविताओं, भड़ौवों, गजलों एवं रुबाइयों का भी संकलन और प्रकाशन होना है।

'हितैषी'— जी उस परम्परा के सर्वोत्तम कवि थे, जिसे 'सनेही स्कूल' के नाम से अभिहित किया जाता है। कवित्त और सवैयों के माध्यम से उन्होंने पुराने काव्य—विषयों पर ही नहीं लिखा, नयी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों एवं उपेक्षित विषयों को भी चित्रित करना चाहा है। 'कल्लोलिनी' वस्तुतः इनकी कविताओं का प्रतिनिधि संग्रह है। सवैया के अन्तर्गत

मत्तगयन्द इन्हे विशेष प्रिय रहा है तथा उसे उप—अन्त्यानुप्रास की स्थापना द्वारा अधिक नाद—सक्षम बनाया है। उनके सवैये अत्यन्त अर्थगर्भित हो सके हैं। चतुर्थ पंक्ति पर अधिक बल दिये जाने के बावजूद उनके सवैयो की सभी पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। कवित्त—सवैयों के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णवृत्तों एवं उर्दू छन्दों का भी उन्होंने कुशल प्रयोग किया है। उनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में लिखा है, "यदि खड़ी बोली की कविता आरम्भ में ऐसी ही सजीवता के साथ चली होती, जैसी इनकी रचनाओं में पायी जाती है तो उसे रूखी और नीरस कोई न कहता" (पृ० ६११)। छायावादी युग में जिस दार्शनिकता और प्रकृति—प्रेम के दर्शन हमें होते हैं वे इनके काव्य में भी विद्यमान हैं। आपकी बहुत सी कविताएँ हास्य—व्यंग्य सम्बन्धी भी हैं। स्वाधीनता संग्राम के दौरान बहुप्रचलित पंक्तियाँ—"शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले। वतन पर मरनेवालों का यही बाकी निशाँ होगा' आप की ही लिखी हुई हैं।

—दे० शं० अ०

जगतसिंह—ये बिसेन वश की भिनगा (जि० बहराइच) वाली शाखा के दिग्विजयसिह के पुत्र थे, जो बलरामपुर से पाँच मील दूर देवतहा के ताल्लुकेदार थे। इन्होंने 'भारती कण्ठाभरण' में अपने कुल का परिचय दिया है। इनका रचनाकाल १८०० ई० से १८२० ई० तक माना जा सकता है। इनके काव्य—गुरु शिवकवि अरसेला बन्दीजन थे। इन्होंने मुख्यतः शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है और संस्कृत के आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव के सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या करने में इनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी है। ये केशवदास से भी प्रभावित थे और उनकी 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' की टीकाएँ लिखकर अपनी शास्त्रीय रुचि का परिचय दिया है।

इनका सर्वाधिक चर्चित ग्रन्थ 'साहित्य सुधानिधि' है। ग्रन्थ की रचना—तिथि 'हि० का० शा० इ०' में सं० १८५८ वि० (१८०१ ई०) दी गयी है, इसमे पाठ इस प्रकार है— "संवत वषु शर बसुशशि अरु गुरुवार"। और हि० सा० बृ० इ०', भा० ६ में यह तिथि १८९२ वि० (१८३५ ई०) मानी गयी है और इसमें पाठ इस प्रकार दिया गया है—"दृग रस वसु ससि संवत अनु गुरुवार"। इनका प्रमुख आधार ग्रन्थ है 'चन्द्रालोक' पर कवि ने अन्य प्रमुख ग्रन्थों—'नाटयशास्त्र', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि से सहायता लेने की घोषणा की है। इसमें १० तरंगे और ६३६ बरवै हैं। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विषय को विस्तार से दिया गया है। इनके अन्य ग्रन्थें में 'चित्र—मीमांसा' की हस्तलिखित प्रतियाँ ना० प्र० स० काशी में हैं। यह चित्रकाव्य विषयक ग्रन्थ है। इसी में कवि के नायक—नायिका विषयक एक ग्रन्थ 'रसमृगांक' (१८०६ ई०) का उल्लेख हुआ है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'दिग्विजयभूषण' की भूमिका में भगवतीप्रसाद सिंह ने इनके अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है—'रसमंजरी कोष' (१८०६ ई०), 'उत्तम—मंजरी', 'जगतविलास', 'नखशिख', 'भारती—कण्ठाभरण' (लिपिकाल १८०७ ई०), 'जगतप्रकाश' (१८०८ ई०) और 'नायिकादर्शन' (१८२० ई०)। इन्होंने 'साहित्य सुधानिधि' का उल्लेख नहीं किया है।

जगतसिंह में कवि की अपेक्षा आचार्य प्रधान है। आचार्यत्व की दृष्टि से उन्होंने सक्षेप में काम लेने का प्रयत्न किया है। काव्य—शास्त्र के विविध पक्षों की मीमांसा करने का प्रयत्न इन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है परन्तु संस्कृत आचार्यों की उक्तियों को प्रस्तुत करने के प्रयत्न में इसमे काव्य-सौन्दर्य नही आ पाया है। काव्य में 'ध्वनि को महत्त्व देने पर भी इनके काव्य में वैसी व्यंजना नहीं है। भाषा सरल और छन्दों के अनुकूल है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का०शा० इ०; हि० सा० बृ० इ०, भाग ६; दि० भू०।]

—सं०

जगदीशचन्द्र माथुर—जन्म १९१७ ई० खुर्जा जिला बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा खुर्जा में हुई। उच्च शिक्षा युइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद और प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय का शैक्षिक वातावरण और प्रयाग के साहित्यिक संस्कार रचनाकार के व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका हैं। १९३९ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० (अंग्रेजी) करने के बाद १९४१ ई० में "इंडियन सिविल सर्विस" में चुन लिए गये। सरकारी नौकरी में ६ वर्ष बिहार शासन के शिक्षा सचिव के रूप में, १९५५ से १९६२ ई० तक आकाशवाणी—भारत सरकार के महासंचालक के रूप में, १९६३ से १९६४ ई० तक उत्तर बिहार (तिरहुत) के कमिश्नर के रूप में कार्य करने के बाद १९६३—६४ में हार्वर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका में विजिटिंग फेलो नियुक्त होकर विदेश चले गये। वहाँ से लौटने के बाद विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करते हुए १९ दिसंबर, १९७१ ई० से भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार रहे। इन सरकारी नौकरियों में व्यस्त रहते हुए भी भारतीय इतिहास और संस्कृति को वर्त्तमान संदर्भ मे व्याख्यायित करने का प्रयास चलता ही रहा। अध्ययनकाल से ही उनका लेखन प्रारंभ होता है। १९३० ई० में तीन छोटे नाटकों के माध्यम से वे अपनी सृजनशीलता की धारा के प्रति उन्मुख हुए। प्रयाग में उनके नाटक "चांद", "रूपाभ" पत्रिकाओं में न केवल छपे ही, बल्कि इन्होंने "वीर अभिमन्यु", आदि नाटकों में भाग लिया। "भोर का तारा" में संग्रहीत सारी रचनाएँ प्रयाग में ही लिखी गयीं। यह नाम प्रतीक रूप में शिल्प और संवेदना दोनों दृष्टियों से माथुर के रचनात्मक व्यक्तित्व के "भोर का तारा" ही है। इसके बाद की रचनाओं में समकालीनता और परम्परा के प्रति गहराई क्रमशः बढ़ती गयी है। व्यक्तियों, घटनाओं और देश के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त अनुभवों ने सृजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

रचनाएँ:— 'भोर का तारा' (१९४६ ई०), 'कोणार्क' (१९५० ई०), 'ओ मेरे सपने' (१९५० ई०), 'शारदीया' (१९५९ ई०), 'दस तसवीरें' (१९६२ ई०), 'परम्पराशील नाट्य' (१९६८ ई०), 'पहला राजा' (१९७० ई०) और 'जिन्होंने जीना जाना' (१९७२ ई०)।

माथुर जी के प्रारंभिक नाटकों में कौतूहल और स्वच्छन्द प्रेमाकुलता है। 'भोर का तारा' में कवि शेखर की भावुकता किसी न किसी रूप में 'शारदीया' में भी है। नाटकों को इतिहास

पर्यावरण में घटित करने या रचने का मोह भी प्रारंभ से मिलता है। परन्तु समसामयिक को अनुभव के रूप मेंअनुभूत करके उसकी प्रामाणिकता को सस्कृति के माध्यम से सिद्ध करने का जो आग्रह उनके नाटकों में है उसकी रचनात्मक संभावना का प्रमाण 'कोणार्क' में है। परम्परा को माध्यम ओर संदर्भ के रूप में प्रयोग करने की कला में माथुर सिद्धहस्त हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यही उनका सब कुछ है, बल्कि उन्होंने रीढ़ की हड्डी आदि ऐसे नाटक भी लिखे जिनका संबंध समाज के भीतर के बदलते रिश्तों और मानवीय संबंधों से है। 'शारदीया' के सारे नाटकों में समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का आभास अवश्य है, परन्तु समस्या मात्र का परिवृत इतना छोटा है कि वह किसी व्यापक सत्य का आधार नहीं बन पाती। वस्तुतः माथुर छायावादी संवेदना के रचनाकार हैं। यह संवेदना 'भोर का तारा' से लेकर 'पहला राजा' तक में कमोबेश मिलती है। यह अवश्य है कि यह छायावादिता नाटक के विधागत संस्कार और यथार्थ के प्रति गहरी संसक्ति के कारण 'कोणार्क' और 'पहला राजा' में काफी संस्कारित हुई है।

'कोणार्क' उत्तम नाटक है। इतिहास, संस्कृति और समकालीनता मिलकर निरवधिकाल की धारणा और मानवीय सत्य की आस्था को परिपुष्ट करते हैं। घटना की तथता और नाटकीयता के बावजूद महाशिल्पी विशु की चिन्ता और धर्मपद का साहसपूर्ण प्रयोग, व्यवस्था की अधिनायकवादी प्रवृत्ति से लड़ने और जूझने की प्रक्रिया एवं उसकी परिणति का संकेत नाटक को महत्त्वपूर्ण रचना बना देता है। कल्पना की रचनात्मक सामर्थ्य और संस्कृति का समकालीन अनुभव कोणार्क की सफल नाट्य कृति का कारण है। कोणार्क के अन्त और घटनात्मक तीव्रता तथा परिसमाप्ति पर विवाद संभव है, परन्तु उसके सम्प्रेषणात्मक प्रभाव पर प्रश्न चिन्ह संभव नहीं है। 'पहला राजा' नाटक के रचना—विधान और वातावरण को 'माध्यम' और 'संदर्भ' मे रूप में प्रयोग करके लेखक ने व्यवस्था और प्रजाहित के आपसी रिश्तों को मानवीय दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। स्पुतनिक, अपोलो आदि के प्रयोग के कारण समकालीनता का अहसास गहराता है। पृथु, उर्वी, कवष आदि का प्रयास और उसका परिणाम सब मिलकर नाटक की समकालीनता को बराबर बनाये रखते हैं। पृथ्वी की उर्वर शक्ति, पानी और फावड़ा—कुदाल आदि का उपयोग रचना के काल को स्थिर करता है।

'परम्पराशील नाट्य' महत्त्वपूर्ण समीक्षा—कृति है। इसमें लोक नाट्य की परम्परा और उसकी सामर्थ्य के विवेचन के अलावा नाटक की मूल दृष्टि को समझाने का प्रयास किया गया है। रामलीला, रासलीला आदि से सम्बद्ध नाटकों और उनकी उपादेयता के संदर्भ में परम्परा का समकालीन संदर्भ में महत्त्व और उसके उपयोग की संभावना भी विवेच्य है। 'दस तसवीरें' और 'इन्होंने जीना जाना है' रचनाकार के मानस पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों की तसवीरें और जीवनियाँ हैं, जिनका महत्त्व उनके रेखांकन और प्रभावांकन की दृष्टि से अक्षुण्ण है।

—स० प्र० मि०

जगदीशलाल—इनके नायिका—भेदविषयक 'ब्रज—विनोद' नामक ग्रन्थ का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में मिलता है। यह १८०० ई० के आसपास की रचना मानी गयी है (हि० सा० बृ० इ०; भा० ६)। इनके एक अन्य ग्रन्थ 'परमानन्द—रस—तरंग' का उल्लेख और हुआ है (हि० का० शा० इ०)।

—स०

जगद्विनोद—पद्माकर द्वारा रचित नवरस—निरूपक यह ग्रन्थ जयपुर राजा जगतसिंह के आश्रय में उन्हीं के लिए सन् १८११ ई० में लिखा गया था। इसका प्रकाशन नवल किशोर, प्रेस, लखनऊ से १८७९ ई० में तथा लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस से १८९५ ई० में हुआ है। इसमें 'श्रृंगार की श्रेष्ठता मानते हुए नायिकाभेद के साथ उसका विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसके कारण रामचन्द्र शुक्ल इसे श्रृंगार रस का सारग्रन्थ मानते हैं। लक्षण—ग्रन्थ की अपेक्षा यह काव्यगुण सम्पन्न कृति के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मतिराम के 'रसराज' के समकक्ष माना जाता है। नायिकाभेद वर्णन में भानुदत्तकी 'रसमंजरी' का अनुकरण किया गया है। इसमें अष्टविध नायिकाओं के केवल उदाहरण ही दिये गये हैं, लक्षण नहीं। नायिकाभेद के पश्चात् नायकभेद, दर्शन—उद्दीपन, नायकसखा, सखी—कर्म षट्ऋतु, अनुभाव, हाव, संचारी भाव तथा स्थायीभाव के वर्णन के बाद रस का निरूपण किया गया है।

ये श्रृंगार का भाव जागरित करनेवाली को नायिका कहते हैं, पति के बाद भोजन—शयन करनेवाली तथा उससे पहले उठनेवाली स्त्री को स्वकीया मानते हैं। ये शान्त को भी रस स्वीकार करते हैं। इन्होंने चित्त में रतिभाव अनुभव करानेवाले अनुभाव, स्वभाव तथा अंग—विकासकों को सात्विक भाव कहा है और हावों के साथ उन्हें भी अनुभावों में रखा है। जृम्भा को भानुदत्त के समान सात्विक माना है। बोधक नाम से ११वाँ हाव और जोड़ दिया है। संचारी के लक्षण में भरत मतके अतिरिक्त दशरूपक का मत भी स्वीकार किया है। रसानुकूल विकार को स्थायीभाव, जुगुप्सा को ग्लानि, विस्मय को अचरज नाम दिया है और स्थायी भाव के रसरूप में परिवर्तन को दूध से दही में परिवर्तन से उपमित किया है।

वियोग श्रृंगार के केवल पूर्वानुराग, मान, प्रवास भेद मानते हुए मानको लघु, मध्यम तथा गुरु तथा प्रवास को भविष्यत्, भूत और वर्तमान नामक भेद से तीन प्रकार का माना है। प्रत्येक रस के देवता, रंग, हाव—भाव, अनुभावादि का वर्णन किया गया है, अन्य रसों के भी जैसे सफल उदाहरण इस रचना में हैं, वैसे बहुत कम रचनाओं में मिलेंगे। यह निश्चय ही एक अत्यन्त सरस नवरस—निरूपक सफल रचना है। विवेचन पर मतिराम, कुमारमणि तथा 'काम—शास्त्र' का प्रभाव लक्षित होता है। अनभिज्ञ नायक तथा गणिका के वर्णन में आचार्यत्व के फेर में पड़ने से अस्वाभाविकता आ गयी है। विवेचन के लक्षण के लिए दोहा लिखने के बाद कवित्त—सवैया में उदाहरण देकर किया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६): रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन राजेश्वर चतुर्वेदी; काव्य में रस सिद्धान्त का स्वरूप विश्लेषण : आनन्द प्रकाश दीक्षित]

—आ० प्र० दी०

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—'रत्नाकर' के पूर्वज अकबर के

शासन–काल में अपने मूलस्थान सफीदो, जिला पानीपत से आकर दिल्ली में बस गये और बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी करने के बाद मुगलों के पतनकाल में लखनऊ आ गये। आगे चलकर इन लोगो का सम्बन्ध काशी से हो गया। 'रत्नाकर' के पिता पुरुषोत्तमदास हरिश्चन्द्र के समकालीन और उनकी जाति बिरादरी के थे। वे अत्यन्त समृद्ध, फारसी के अच्छे जानकार और हिन्दी के परम प्रेमी थे। 'रत्नाकर' का जन्म १८६६ ई० में इसी सम्पन्न वैश्य घराने में काशी मे हुआ था। उनकी शिक्षा का आरम्भ उर्दू–फारसी से हुआ। फिर छठें वर्ष में हिन्दी और आठवें वर्ष में अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू हुई। क्वीन्स कालेज, बनारस से १८९१ ई० में बी० ए० पास करने के बाद एल० एल० बी० और एम० ए० (फारसी) का अध्ययन प्रारम्भ किया किन्तु माता की मृत्यु के कारण पूरा न हो सका। १९०० ई० में अवागढ़ के खजाने के निरीक्षक, १९०२ ई० में अयोध्या–नरेश प्रतापनारायण सिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी और १९०६ ई० में महाराज की मृत्यु के पश्चात् महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए। शादियाँ दो हुई थीं। प्रथम पत्नी से दो सन्तानें हुईं–कमलामणि देवी और राधेदास। दूसरी से कोई सन्तान न थी। दोनो अल्पायु मे ही मर गयीं।

'रत्नाकर' का ठाट–बाट रईसाना था। हुक्का, इत्र, पान, घुड़सवारी, व्यायाम और कबूतरों के वे विशेष शौकीन थे। प्राचीन संस्कृति, धर्म और साहित्य में उनकी विशेष अभिरुचि थी। मध्यकालीन हिन्दी काव्य, उर्दू, फारसी, संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, बंगला, पंजाबी, आयुर्वेद, संगीत, ज्योतिष, व्याकरण, छन्दशास्त्र, विज्ञान, योग, दर्शन इतिहास, पुरातत्त्व आदि की अच्छी जानकारी थी। हरिद्वार, श्रीनाथद्वारा, जगन्नाथपुरी, कश्मीर, कलकत्ता आदि भारत के लगभग सभी प्रसिद्ध स्थानों का भ्रमण उन्होंने किया था।

'रत्नाकर' की साहित्यिक साधना का प्रारम्भ बचपन की समस्यापूर्तियो से हुआ था। विद्यार्थी–जीवन में वे 'जकी' उपनाम से उर्दू एवं फारसी में भी कविता करते थे, किन्तु आगे चलकर हिन्दी कवियों से प्रभावित होकर केवल ब्रजभाषा में कविता करने लगे। यद्यपि सन् १९०७ से १९२० ई० तक अत्यधिक कार्यव्यस्तता और मानसिक अशान्ति के कारण कुछ भी न लिख सके, किन्तु फिर भी उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन, मौलिक कृतियों की रचना की और विभिन्न प्रकार के साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेख लिखे। इनसे उनके गम्भीर अध्ययन, मौलिक प्रतिभा और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। 'साहित्य–सुधानिधि' तथा 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं के सम्पादन और रसिक–मण्डल प्रयाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना एवं विकास में सक्रिय योग दिया। १९२२ ई० में कलकत्ते के बीसवें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य–सम्मेलन, १९२५ ई० में कानपुर के अखिल भारतीय कवि–सम्मेलन और १९२६ ई० में चौथे ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स के हिन्दी विभाग का सभापतित्व किया। देहावसान २१ जून, १९३२ ई० को हरिद्वार में हुआ।

काव्य–कृतियाँ : 'हिंडोला'–सौ रोला छन्दों का अध्यात्मपरक श्रृंगारिक निबन्ध–काव्य (प्रकाशन १८९४ ई०), 'समालोचनादर्श' पोप के 'एसेज आन क्रिटिसिज्म' का रोला में अनुवाद (प्र० १९१९) भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक पर आधारित ४ सर्गों का खण्डकाव्य, 'कलकाशी'–१४२ रोला छन्दों का काशी सम्बन्धी वर्णनात्मक अपूर्ण प्रबन्धकाव्य, 'श्रृंगारलहरी'–श्रृगारपरक १६८ कवित्त–सवैया, 'गंगा तथा विष्णुलहरी' ५२–५२ छन्दों के भक्तिविषयक काव्य, 'रत्नाष्टक'–देवताओं, महापुरुषों तथा षट्ऋतुओ से सम्बन्धित १६ अष्टक (रचनाकाल १९२२–२७ ई०), 'वीराष्टक'–१३ ऐतिहासिक वीरों तथा वीरांगनाओं से सम्बन्धित १४ अष्टक, 'प्रकीर्ण–पद्यावली'–फुटकर छन्दों का संग्रह, 'गंगावतरण'–गंगावतरण से सम्बन्धित १३ सर्गों का आख्यानक प्रबन्धकाव्य (प्रकाशन, १९२७ ई०), 'उद्धवशतक'–घनाक्षरी छन्दों में लिखित प्रबन्ध–मुक्तक दूतकाव्य (प्रकाशन १९३१ ई०)। नागरी प्रचारिणी–सभा, काशी से ब्रजभाषा की इन रचनाओं का संग्रह दो भागों में 'रत्नाकर' नाम से प्रकाशित हुआ है। खड़ीबोली के छन्द भी इसी में संगृहीत हैं।

संपादित ग्रन्थ : 'सुधासर'–प्राचीन कवियों के श्रृंगारपरक छन्दों का संग्रह (प्रकाशन, सम्पादन १८८७ ई०), 'कविकुल कण्ठाभरण'–दूलह कवि का अलंकार–ग्रन्थ (प्रकाशन १८८९ ई०), 'दीपप्रकाश'–ब्रह्मदत्त कवि का लक्षण ग्रन्थ (प्र० १८८९ ई०), 'सुन्दर श्रृंगार'–सुन्दरकृत श्रृंगारपरक ग्रन्थ, नृपशम्भुकृत 'नखशिख' (प्र० १८९३ ई०), चन्द्रशेखर वाजपेयीकृत 'नखशिख' (सम्पादन १८९४ ई०), 'हम्मीरहठ'–चन्द्रशेखर वातजपेयी की रससम्बन्धी रचना (प्र० १८९३ ई०), चन्द्रशेखर वाजपेयीकृत 'रसिक विनोद' (प्र० १८९४ ई०), 'समस्यापूर्ति' (भाग १)–विभिन्न समकालीन कवियों की समस्या पूर्तियों का संग्रह (प्र० १८९४ ई०), 'वासोख्ते कलक'–लखनऊ के उर्दू शायर कलक की रचना, 'हिततरंगिनी'–कृपारामकृत श्रृंगार–ग्रन्थ (सम्पादन–प्रकाशन १८९४ ई०), केशवदासकृत 'नखशिख' (सं० प्र० १८९६ ई०), 'सुजानसागर'–घनानन्द की कृति (प्र० १८९७ ई०), 'बिहारी रत्नाकर', 'बिहारी सतसई' की टीका (सं० १९२२ ई०), 'सूरसागर' (अपूर्ण), जिसे नन्ददुलारे वाजपेयी ने पूरा किया।

साहित्यिक लेख–'रोला छन्द के लक्षण' (प्र० १९२४ ई०), 'महाकवि बिहारीलाल की जीवनी'–बिहारी सतसई–सम्बन्धी साहित्य (प्र० १९२८), 'साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री', 'बिहारी सतसई की टीकाएँ' तथा 'बिहारी पर स्फुट लेख', 'साहित्य रत्नाकर' (१८८८ ई०), 'घनाक्षरी नियमरत्नाकर' (प्र० १८९७ ई०) 'कवित्त सवैया छन्द' (प्र० १९०२ ई०), 'तिथियों तथा वारों को मिलाने की सुगम रीति' (प्र० १९२२ ई०), 'श्री देवदत्त कवि का शिवाष्टक' (प्र० १९२८ ई०), 'कविवर बिहारी' (पुस्तकाकार सम्पादित बिहारी सम्बन्धी ७६ लेख)।

ऐतिहासिक लेख–'महाराज शिवाजी का एक नया पत्र' (प्र० १९२२ ई०), 'शुंगवंश का एक नया शिलालेख' (प्र० १९२४ ई०), 'एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति' (प्र० १९२७ ई०), 'एक प्राचीन मूर्ति' (प्र० १९२७ ई०), 'समुद्रगुप्त के पाषाणाश्व की प्राप्ति' (प्र० १९२८ ई०)।

लिखित व्याख्यान–प्रथम अखिल भारतीय कविसम्मेलन

के सभापति पद से दिया गया भाषण (२६ दिसम्बर, १९२५ ई०), बीसवें अखिल भारतीय हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन के सभापति पद से दिया गया भाषण (२६ मई, १९३० ई०) और चतुर्थ प्राच्य सम्मेलन में दिया गया अंग्रेजी भाषण (६ नवम्बर १९२६ ई०)।

'रत्नाकर' की भक्ति का दार्शनिक आधार मध्व, वल्लभ और चैतन्य की समन्वित विचारधारा है। वह राधाकृष्ण को उपास्य मानकर वैष्णव—धर्म की उदारता लेकर चली है। राजनीतिक दृष्टि से वे सर्वतोमुखी क्रान्ति के समर्थक और राष्ट्रीय गौरव के उन्नायक थे। उनकी राष्ट्रीयता जातीय उत्थान की भावना से अनुप्राणित है। वे सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक रूढ़ियों का उन्मूलन कर स्वस्थ परम्पराओं का पुनरुद्धार करना चाहते थे। उनका साहित्यिक आदर्श परम्परावादी और प्राचीनता—पोषक है। कविता का धरातल वैचारिक, अभिव्यक्ति रीत्यनुमोदित और अन्तरंग आत्मनिष्ठ है। वाणी की अतिशय अलंकृति भावाभिव्यंजन अथवा रसोद्रेक में कहीं भी बाधक नहीं हुई है। अभिनव कल्पनाओं से स्फीत होने के कारण उक्तियों की सम्प्रेषणीयता बढ़ गयी है। वासनामय प्रेमोद्गारों में भी शिष्टोचित शालीनता है। शिल्प—विधान बहुत कुछ मध्ययुगीन है। कथात्मक, वर्णनात्मक एवं निबन्धात्मक प्रबन्ध और गेय, पाठ्य सूक्ति तथा प्रबन्धमुक्तक आदि शैलियों के प्रयोग काफी सफल हैं। अन्य समकालीन कवियों ने पूर्ववर्ती काव्य की एकाधिक प्रवृत्तियों का श्रृंगार किया है, किन्तु 'रत्नाकर' की कृतियाँ भक्ति, श्रृंगार, वीर, तथा नीति आदि सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस तरह वे भावना से रससिद्ध, अभिरुचि से अलंकारवादी और प्रवृत्या समन्वयवादी कलाकार हैं। उनमें एक आचार्य की प्रतिभा भी थी। एक ओर उनकी काव्य—कृतियों में बिहारी की भाँति नायिका—भेद, रीति, अलंकार आदि की शास्त्रीयता प्रच्छन्न रूप से स्वीकृत है और दूसरी ओर निबन्धों एवं भूमिकाओं में छन्द, भाषा एवं समालोचनादर्श को लेकर वैज्ञानिक दृष्टि से शास्त्रीय मान्यताओं को नये निष्कर्षों से संशोधित किया गया है। उनका काव्य पुरातनता का नवीन संस्करण है। उसका सबसे बड़ा आकर्षण जीवन के शाश्वत मूल्यों का युग—चेतना—परक आकलन है।

[सहायक ग्रन्थ—कविवर—रत्नाकर : कृष्णशंकर शुक्ल]।

—स० ना० त्रि०

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—जन्म १८७५ ई० में नदिया जिले के छिटका गाँव में हुआ। पूर्वज आगरा जिले के मई थान के निवासी थे। एफ० ए० की परीक्षा में असफल होकर पढ़ना छोड़ दिया। कॉलेज छोड़ने पर इनका परिचय 'भारतमित्र' के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त से हुआ। तभी से ये बराबर 'भारतमित्र' में लिखते रहे। इन्हीं दिनों 'संसारचक्र' नामक उपन्यास भी लिखा, पर इनकी प्रमुख ख्याति हास्य—रसात्मक कविताओं के कारण है, जिससे इन्हें हास्यरसावतार कहा जाता था। द्वादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लाहौर के ये सभापति थे। इनका देहान्त १९३९ ई० में हुआ। कृतियाँ—'वसन्त मालती', 'संसारचक्र', 'तूफान', 'विचित्र विचरण', 'भारत की वर्तमान दशा', 'स्वदेशी आन्दोलन', 'गद्य—पद्यमाला', 'निरकुंशता निदर्शन', 'कृष्णचरित', 'राष्ट्रीय गीत', 'अनुप्रास का अन्वेषण', 'सिंहावलोकन', 'हिन्दी लिंग विचार', 'मधुर मिलन' (नाटक)।

—सं०

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—इनका जन्म मध्यप्रदेश के नागपुर में श्रावण शुक्ल दशमी, सं० १९१६ (ता० ८ अगस्त १८५९ ई०) को हुआ था। इनके पिता बख्शीराम भी कवि थे। 'भानु' जी का बाल्यकाल अधिकतर बिलासपुर में व्यतीत हुआ। स्वाध्याय से इन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी, उड़िया और मराठी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने शिक्षा विभाग से नौकरी प्रारम्भ की और बाद में ये असिसटेन्ट सेटेलमेंट अफसर हो गये थे। ये अपने कार्य में अत्यन्त कुशल होने के साथ ही साथ सामाजिक कार्यों में भी काफी रुचि रखते थे। इन्होंने लगभग १० साहित्यिक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'छन्द प्रभाकर' (रचना सन् १८९४ ई०) और 'काव्यप्रभाकर' (१९०९ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। रामायण, गणित इत्यादि पर भी इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। यह इनकी विभिन्न विषयों की समर्थता का द्योतक है। १९३८ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने महात्मागान्धी तथा ग्रियर्सन जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के साथ 'भानु' जी को भी 'साहित्य—वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की। इनकी मृत्यु २५ अक्तूबर १९४५ ई० में हुई।

ये छन्द—शास्त्र और काव्य—शास्त्र के निष्णात पण्डित थे। साथ ही इनके ग्रन्थों में काव्य—प्रतिभा भी प्रस्फुटित हुई है। इन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का विवेचन करने के साथ ही साथ उदाहरणों द्वारा उन्हें बोधगम्य बनाने का प्रयास पूर्णतः किया है। प्राचीन ढंग की काव्य और विवेचनशैली इनकी प्रमुख विशेषता है (दे० 'काव्यप्रभाकर')।

—नि० ति०

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'—इनका जन्म १९०७ ई० मुरार, ग्वालियर में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा मुरार में ही मिली। उसके बाद काशी विद्यापीठ में साहित्य, इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। हिन्दी—संस्कृत और अंगेजी के अतिरिक्त स्वाध्याय से उर्दू, मराठी, बंगला, और गुजराती भाषाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। विश्वभारती, शान्ति—निकेतन तथा महिला आश्रम वर्धा में अध्यापन। प्रयाग और अजमेर में साहित्यिक एवं राजनीतिक कार्य। पंजाब तथा ग्वालियर से अनेक पत्र तथा पत्रिकाओं का सम्पादन। कांग्रेस और समाजवादी पार्टी में कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे। इस समय निष्पक्ष पत्रकार के रूप में कार्य करते हुए अध्ययन और साहित्यिक निर्माण में संलग्न है।

'मिलिन्द' जी ने सन् १९२२ के लगभग काव्य रचना प्रारम्भ की। सन् १९२८ में अपनी जन्मभूमि मुरार के कुछ विद्यार्थियों के आग्रह पर 'प्रताप प्रतिज्ञा' नाटक की रचना की। इसमें केवल पुरुष पात्रों को लेकर महाराणा प्रताप के मुगल सम्राट् अकबर से राजनीतिक संघर्ष का चित्रण है। नाटक में बाह्य द्वन्द्व की प्रधानता है और अन्त में महाराणा प्रताप की बड़े तीव्र मानसिक विक्षोभ में मृत्यु दिखायी गयी है। इस प्रकार यह दुःखान्त की रचना है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य हमारे मन में विषाद का भाव जगाना नहीं, वरन् हमें देश के प्रति अपने

कर्त्तव्य निर्वाह की ओर सचेष्ट करना है। सन् १९५० में 'मिलिन्द' जी का दूसरा नाटक 'समर्पण' प्रकाशित हुआ। यह पश्चिम की बुद्धिवादी नाटकीय शैली में लिखित समस्या नाटक है और उसमें आज की सामाजिक परिस्थिति का चित्रण किया गया है। इनकी तीसरी नाटचकृति 'गौतम नन्द' (१९५२) में राज्याभिषेक की घोषणा हो जाने पर, गौतम बुद्ध का नवपरिणीता पत्नी तथा राजसी वैभव को छोड़कर भिक्षु होने का प्रसंग है। बाह्य द्वन्द्व अथवा क्रियाशीलता के स्थान पर इसमें भी वाद—प्रतिवाद ही अधिक है।

'मिलिन्द' जी की काव्य रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं : 'जीवन संगीत' (१९४० ई०), 'नवयुग के गान' (१९४२ ई०), 'बलिपथ के गीत', 'भूमि की अनुभूति' एवं 'मुक्तिका'। इन रचनाओं मे देशभक्ति का स्वर ही प्रधान है। इनके दो निबन्धसंग्रह 'चिन्तन कण' और 'सांस्कृतिक प्रश्न' (१९५४ ई०) भी प्रकाशित हुए हैं तथा एक व्यंग्य विनोद कथा—संग्रह 'बिल्लो का नखछेदन' भी छपा है। इनकी सभी रचनाओं में राष्ट्रीयता और आदर्शवाद का स्वर प्रधान है। नाटकीय क्षेत्र में प्रारम्भ में इन्होंने स्वच्छन्दतावादी पद्धति अपनायी थी। बाद की रचनाओ में यद्यपि इन्होंने बुद्धिवादी नाटकों की यथार्थ चित्रण की शैली ग्रहण कर ली है, तथापि पहले की शैली का भी कुछ प्रभाव शेष रह गया है। इसीलिए इनके बुद्धिवादी नाटकों में हमें गीतों का प्रयोग मिलता है।

—वि० मि०

जगन्नाथप्रसाद शर्मा—जन्म १० जुलाई १९०५ ई० में उँचेहरा (जिला नागौद) में। शिक्षा हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में (एम० ए०; डी० लिट०), जहाँ आप सन् १९३१ ई० में प्रवक्ता, १९६० में प्रोफेसर तथा अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहाँ से १९६७ में प्रोफेसर तथा अध्यक्ष होकर काशी विद्यापीठ चले गए। सन् १९७० में सेवानिवृत्त होकर सम्प्रति यू० जी० सी०—रिटायर्ड प्रोफेसर हैं। हिन्दी समीक्षा के प्रारम्भिक काल में आपने उसे समृद्ध बनाने में पूरा योग दिया। 'हिन्दी की गद्य शैली का विकास' (१९३० ई०), प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (१९४३ ई०), कहानी का रचना—विधान (१९५३ ई०) 'हिन्दी गद्य के युगनिर्माता' (१९५० ई०), 'हिन्दी गद्यसाहित्य का इतिहास' (१९५६ ई०) आप की प्रमुख कृतियाँ हैं।

—सं०

जगमोहन वर्मा—ये बस्ती जिले के रहनेवाले कायस्थ थे और बाल्यावास्था में वहीं इन्हें अंग्रेजी, उर्दू और हिन्दी की साधारण शिक्षा मिली थी परन्तु बड़े होने पर इन्होंने संस्कृत, पालि और प्राकृत का भी कुछ अध्ययन किया था। कुछ दिनों तक ये कालाकांकर में सुप्रसिद्ध राजा रामपाल सिंह के यहाँ रहकर उस समय के एकमात्र दैनिक 'हिन्दुस्थान' के सम्पादन विभाग में काम करते थे। राजा साहब की मृत्यु के उपरान्त इधर—उधर कई जगह होते हुए अन्त में ये काशी आ गये थे और नागरीप्रचारिणी सभा के 'हिन्दी शब्द सागर' के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए थे, जहाँ इन्होंने पालि और प्राकृत व्याकरणों पर कई लेख लिखे थे। 'सरस्वती' में अंकों के विकास पर धारावाहिक रूप से कुछ लेख भी लिखे थे और सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के लिए स्वामी विवेकानन्द के 'ज्ञानयोग' आदि कई ग्रन्थों के अनुवाद भी किये थे। आरम्भिक जीवन में पहले इन पर आर्यसमाजी विचारों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा था पर आगे चलकर ये प्रायः नास्तिक से हो गये थे। इनका हृदय बहुत शुद्ध था और तर्क—शक्ति भी बहुत प्रबल थी। हर चीज और हर बात की हँसी उड़ाना इनका एक विशेष गुण था। अन्त मे काशी में इनका स्वर्गवास हुआ।

—रा० चं० व०

जगमोहन सिंह (ठाकुर)—जगमोहन सिंह का नाम 'भारतेन्दु युग' के सहृदय साहित्य सेवियों में आता है। आप मध्यप्रदेश स्थित विजयराघव गढ़ के राजकुमार और अपने समय के बहुत बड़े विद्यानुरागी थे। आपका जन्म सन् १८५७ ई० और मृत्यु बयालीस वर्ष की आयु में १८९९ ई० में हुई। शिक्षा—दीक्षा के सिलसिले में आपको कुछ दिनों के लिए काशी आना पड़ा था और उसी बीच आपको काशी के तत्कालीन सुप्रसिद्ध साहित्यकारों से परिचित होने का सुअवसर भी मिला था। आप मूलतः कवि थे। आपने जो गद्य लिखा है, उस पर भी आपके कवि—व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

आप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के उन स्वनामधन्य कवियों में प्रमुख माने जाते हैं, "जिन्होंने एक ओर तो हिन्दी साहित्य की नवीन गति के प्रवर्त्तन मे योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाटी की कविता के साथ भी अपना पूरा सम्बन्ध बनाये रखा।" इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आपको "एक प्रेम—पथिक कवि" के रूप में स्मरण किया है (दे० 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', संशोधित संस्करण, काशी १९४८ ई०, पृ० ४७४, ५८०)। आपकी काव्य भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा थी। सरस श्रृंगारी भावभूमि को लेकर कवित्त—सवैया की रचना करने में आप बहुत निपुण थे। उनकी रचनाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता इस बात में है कि वे प्रकृति के ताजा मनोहर चित्रों से अलंकृत हैं। उनमें प्रकृति के विस्तृत सौन्दर्य के प्रति व्यापक अनुराग दृष्टि बिम्बित हुई है। छायावाद युग आरम्भ होने के कोई २५—३० वर्ष पूर्व ही जगमोहन सिंह की कृतियों में मानवीय सौन्दर्य को प्राकृतिक सौन्दर्य की तुलनामूलक पृष्ठभूमि में देखने—परखने का एक संकेत उपलब्ध होता है और उस दृष्टि से उनकी तत्कालीन रचनाएँ "हिन्दी काव्य में एक नूतन विधान का आभास देती हैं।"

आपकी कविताओं के तीन संग्रह प्रसिद्ध हैं—१. प्रेम सम्पत्ति लता (१८८५ ई०), २. श्यामा लता (१८८५ ई०) ३. श्यामा—सरोजिनी (१८८६. ई०)। 'प्रेमसम्पत्ति लता' से इनकी एक बहुउद्धृत श्रृंगारिक रचना (सवैया) निम्नांकित है—"अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगि कै छतियाँ। मनकी करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ।। हम हारि अरि करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ। जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुख की रतियाँ।।"

आप हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृतसाहित्य के भी अच्छे ज्ञाता थे। आपके समस्त कृतित्व पर संस्कृत—अध्ययन की व्यापक छाप है। आपने ब्रजभाषा के कवित्त और सवैया छन्दों में कालिदास कृत 'मेघदूत' का बहुत सुन्दर अनुवाद भी किया है।

आप अपने समय के उत्कृष्ट गद्य लेखक भी रहे हैं। हिन्दी

निबन्ध के प्रथम उत्थानकाल के निबन्धकारों में आपका स्थान महत्त्वपूर्ण है। आप ललित शैली के सरस लेखक थे। इनकी भाषा बड़ी परिमार्जित एवं संस्कृतगर्भित थी और शैली प्रवाहयुक्त तथा गद्य काव्यात्मक। फिर भी हिन्दी के आरम्भिक गद्य में उपलब्ध होनेवाले पूर्वी प्रयोगों और 'पण्डिताऊपन' की चिन्त्य शैली से आप बच नहीं पाये हैं। 'धरे हैं', 'हम क्या करें', 'चाहती हौ', 'जिसै दूं' और 'ढोल पिटै' जैसे अशुद्ध प्रयोग आपकी रचनाओं में बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। आप अगरेजी के भी अच्छे ज्ञाता थे।

'श्यामा स्वप्न' जगमोहन सिंह की प्रमुख गद्य कृति है। इसका एक प्रामाणिक स्वरूप श्रीकृष्णलाल द्वारा सम्पादित होकर काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। लेखक के समसामयिक युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार अम्बिकादत्त व्यास ने इस कृति को गद्य—काव्य कहा है। स्वयं लेखक ने इसे "गद्यप्रधान चार खण्डों में एक कल्पना" कहा है। यह वाक्यांश इस पुस्तक के मुख पृष्ठ पर अंकित है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है किन्तु गद्य की तुलना मे पद्य की मात्रा बहुत कम है। यह कृति वस्तुतः एक भावप्रधान उपन्यास है। इसकी शैली वर्णनात्मक है और इसमें चरित्र—चित्रण की उपेक्षा करके प्रकृति तथा प्रेममय जीवन के सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं।

आपने आधुनिक युग के द्वार पर खड़े होकर शायद पहली बार प्रकृति को वास्तविक अनुराग—दृष्टि से देखा था। आपके कविरूप की यह एक विशेषता है। निबन्धकार के रूप मे आपने हिन्दी की आरम्भिक गद्यशैली को एक साहित्यिक व्यवस्था प्रदान की थी।

—र० भ्र०

जटमल—अपनी कृति 'गोरा बादल री बात' में जटमल ने जो कुछ उल्लेख किये हैं, उनके आधार पर जटमल के विषय में केवल इतना पता चलता है कि वे मोरछड़ों के पठान शासक नासिरनन्दअली खाँ न्याजी खाँ के समकालीन थे। उनके पिता का नाम धरमसी था और उनका पूरा नाम 'नाहर जाट जटमल' (नाहर खाँ जटमल) था। अपनी एकमात्र कृति 'गोरा बादल' की रचना उन्होंने १६२८ ई० (अथवा १६२३ ई०) में सांवेला (संवला या सुबुला) ग्राम में की थी। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि नाहर खाँ जटमल की उपाधि थी, वास्तव में वे हिन्दू थे और पीछे मुसलमान हो गये थे। सांवेला ग्राम की निश्चित स्थिति के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव है जटमल जाट हों, जैसा कि उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है। अली खाँ के राज्य की सुख—शान्ति का जैसा वर्णन उन्होंने किया है, उससे लगता है कि जटमल उसके आश्रय में रहे होंगे। इनके समय के सम्बन्ध में केवल इतना कहा जा सकता है कि ये सन् १६२३—१६२८ में विद्यमान थे।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य, खण्ड २, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग।]

—रा० तो०

जटायु—परम्परानुसार एक प्रसिद्ध गृद्ध तथा दशरथ के मित्र थे। इनके पिता विनतानन्दन सूर्य—सारथि अरुण थे। जटायु के भाई का नाम संपाती था। दोनों प्रबल पराक्रमी थे। एक बार इन्होंने आकाश मार्ग में उड़कर सूर्य का रथ रोकने का दुस्साहस किया था। जटायु पंचवटी में निवास करते थे। सीता का अपहरण कर आकाश मार्ग से जाते हुए रावण से इन्होंने युद्ध किया और प्रारम्भ मे रावण को पछाड़ भी दिया, किन्तु अन्त में रावण ने इनके पख काट डाले और मुमूर्ष अवस्था में छोड़कर भाग गया। सीता को खोजते हुए राम ने मूर्च्छितावस्था मे इन्हे देखा। इन्होने राम के सामने प्राण त्यागे। राम ने अपने हाथों इनकी अन्त्येष्टि क्रिया की (दे० 'सूरसागर', प० ४२४ तथा 'मानस', सीताहरण प्रसंग)।

—रा० कु०

जटाशंकर—'नीलकण्ठ'।

—सं०

जटासुर—१. जटासुर महाभारतकालीन एक असुर था। महाभारत में लिखा है कि जब अर्जुन बदरिकाश्रम में ठहरे थे तो जटासुर द्रौपदी पर मोहित हो गया था। जटासुर भीम से भयभीत रहता था। अतः वह एक बार भीम की अनुपस्थिति में ब्राह्मण वेश धारण करके द्रौपदी को हरने आया। हरण करके जाते समय भीम मिल गये तथा उन्होने इसका वध कर डाला। जटासुर के पुत्र अलम्बुश ने महाभारत युद्ध में कौरवों का साथ दिया था।

२. युधिष्ठिर की राजसभा में एक राजा के रूप में भी जटासुर का उल्लेख मिलता है।

—रा० कु०

जड़भरत—भागवत में वर्णित है कि जड़भरत एक प्राचीन राजा थे, जो परम विद्वान् और शास्त्रज्ञ होते हुए भी सांसारिक वासनाओं से पीछा न छुड़ा सके। वानप्रस्थ धारण करके भी उन्होंने सद्योजात एक मृग शावक को पालकर उससे अत्यन्त स्नेह किया था। अन्त में ईश्वर के स्थान पर उसी का ध्यान करते हुए गोलोकवासी हुए। इसके अनन्तर चौरासी योनियाँ भोगते हुए पुनः मनुष्य योनि में अवतीर्ण हुए, किन्तु फिर भी इनकी जड़ता नहीं गयी। इसीलिए 'जड़भरत' नाम से प्रसिद्ध हुए। परम विद्वान् होते हुए भी इन्हें लोग मूर्ख समझते थे और केवल भोजन देकर इनसे खूब काम लेते थे। एक बार राजा सौबीर ने इन्हें पालकी ढोने में लगाना चाहा। इसी अपमान से इन्हें आत्मज्ञान की अनुभूति हुई। पालकी ढोने की अवज्ञा करने पर इन पर मार पड़ी, किन्तु ये विचलित नहीं हुए। अन्त में राजा सौबीर ने इन्हें पहिचाना और क्षमायाचना करते हुए इनसे ज्ञानोपदेश प्राप्त किया। भरत ने भी ज्ञानोद्रेक द्वारा मोक्ष प्राप्त किया (दे० सू० सा०, प० ४१०—४११)।

—रा० कु०

जनक—सीता के पिता। जनक अपने अध्यात्म तथा तत्त्वज्ञान के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जनक के पूर्वज निमि कहे जाते हैं। निमि ने एक बृहत् यज्ञ का आयोजन करके वशिष्ठ को पौरोहित्य के हेतु आमन्त्रित किया, किन्तु वसिष्ठ उस समय इन्द्र के यज्ञ में संलग्न थे। अतः वे असमर्थ रहे। निमि ने गौतम आदि ऋषियों की सहायता से यज्ञ आरम्भ करा दिया। वशिष्ठ ने उन्हें शाप दे दिया, किन्तु प्रत्युत्तर मे निमि ने भी शाप दिया। परिणामतः दोनों ही भस्म हो गये। ऋषियों ने एक विशेष उपचार से यज्ञसमाप्ति तक निमि का शरीर सुरक्षित रखा। निमि के कोई सन्तान नहीं थी, अतएव ऋषियों ने अरणि से उनका शरीर मन्थन किया, जिससे इनके एक पुत्र उत्पन्न

हुआ। मृतदेह से उत्पन्न होने के कारण यही पुत्र जनक कहलाया। शरीर मन्थन से उत्पन्न होने के कारण जनक को मिथि भी कहा जाता है। इसी आधार पर इन्होंने मिथिलापुरी बसायी। (सू० सा० प० ४९२९, मानस १. ११. ३)।

—रा० कु०

जनकराज किशोरीशरण 'रसिक अली'—इनका आविर्भाव १८१८ ई० के आस—पास काठियावाड़ के एक नागर ब्राह्मण के परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में ही किसी साधु के साथ गुजरात से अयोध्या चले आये और यहाँ महात्मा राजराघवदास के शिष्य हो गये। गुरु—कृपा से ये थोड़े ही दिनों में संस्कृत और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता हो गये। राजराघवदास की आस्था दास्यभाव की थी किन्तु इनकी रुझान श्रृंगारी उपासना की ओर अधिक थी। अतः गुरु से अनुमति लेकर इन्होंने रसिकाचार्य रामचरण दास से माधुर्य भक्ति की दीक्षा ले ली। इनका 'रसिक अली' नाम इसी समय रखा गया। तब से ये इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। कुछ समय तक अयोध्या में निवास करके ये बुन्देलखण्ड चले गये और बारह वर्ष तक इस प्रदेश में श्रृंगारी रामभक्ति का प्रचार करते रहे। झाँसी, जालौन आदि जिलों में इनकी शिष्यपरम्परा अब तक चल रही है। बुन्देलखण्ड से अयोध्या आकर इन्होंने 'रसिक निवास' की स्थापना की। इसके पश्चात् इन्होंने मिथिला में प्रियाप्रियतम की माधुर्य लीला गान करते हुए जीवन के शेष दिन व्यतीत किये। वहीं मार्गशीर्ष पूर्णिमा १८४८ ई० को इनका लीलाप्रवेश हुआ।

'रसिकअली' के द्वारा विरचित ग्रन्थों की संख्या २४ है। उनकी नामावली इस प्रकार है—'सिद्धान्त मुक्तावली', 'अनन्य तरंगिनी', 'आन्दोलरहस्य दीपिका', 'तुलसीदास चरित्र', 'विवेकसार चन्द्रिका', 'सिद्धान्त चौंतीसा', 'बारह खड़ी', 'ललित श्रृंगार दीपक', 'कवितावली', 'जानकीकरणभरण', 'श्रीसीतारामरहस्य तरंगिनी', 'आत्मसम्बन्ध दर्पण', 'होलिका', 'विनोद' वेदान्त सार शुभ दीपिका 'श्रुति दीपिका 'श्रीराम रास दीपिका', 'दोहावली', 'रघुबर करुणाभरण', 'मिथिला विलास', 'अष्टयामप्रबन्ध', 'वर्षोत्सव पदावली', 'जिज्ञासा पंचक', 'श्रीसीतारामसिद्धान्त तरंगिनी' और 'अमर रामायण'। ये श्रृंगारी रामोपासना के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। मौलिकता और विचार स्वतन्त्रता इनकी रस—साधना का प्रधान गुण है। इसका प्रमाण इनके द्वारा परम्परागत तत्सुखी सिद्धान्त के विपरीत स्वसुखी सिद्धान्त का प्रवर्त्तन है। इनकी रचनाएँ जिज्ञासु साधकों तथा साहित्य रसिकों के लिए समान रूप से रुचिकर हैं। ब्रज तथा अवधी के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में भी इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनका 'अमर रामायण' रामचरित को लेकर संस्कृत में लिखे गये प्रबन्धों की परम्परा का अन्तिम महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवती प्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

जनमेजय—जनमेजय के नाम से निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं—

१. जनमेजय एक महान राजा थे। ये अर्जुन के प्रपौत्र तथा परीक्षित और माद्रवती के पुत्र थे। ब्रह्महत्या दोष से मुक्त होने के लिए इन्होंने वैशम्पायन से महाभारत सुना था। इनके पिता की मृत्यु तक्षक नामक सर्प के डँसने से हुई थी। अतः इन्होंने सर्पों को समाप्त करने की प्रतिज्ञा से एक सर्प यज्ञ आयोजित किया था, जिसमे समस्त सर्प मन्त्राहूत होकर यज्ञाग्नि में समा गये। केवल आस्तीक की प्रार्थना से शेष सर्प बचे। जनमेजय और आस्तीक ऋषि का संवाद भी प्रसिद्ध है। जनमेजय को सरमा ने शाप दिया था।

२. नीप के वंश एक कुलघातक राजा का भी नाम 'जनमेजय' था।

३. राजा दुर्मख के पुत्र और युधिष्ठिर के एक सहायक के रूप में भी विख्यात हैं।

४. चन्द्रवशी राजा कुरु के पुत्र का नाम जनमेजय था। जनमेजय की माता का नाम कौशल्या तथा स्त्री का नाम अनन्ता था। कहा जाता है कि जनमेजय ब्रह्म—हत्या के भागी हुए थे तथा यज्ञ द्वारा उससे मुक्त हुए थे।

५. चन्द्रवंशी राजा अविक्षित के वंशज थे।

६. जनमेजय एक नाग विशेष के लिए भी प्रसिद्ध है।

किन्तु इनमे नागयज्ञकर्ता जनमेजय ही अधिक प्रसिद्ध हैं(दे० सू० सा० ४९३६)।

—रा० कु०

जनमेजय २—'जनमेजय का नाग—यज्ञ' नाटक की भूमिका में प्रसाद ने लिखा है कि इस नाटक में ऐसी कोई रचना समाविष्ट नहीं हैं, जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। इन नाटक के पात्रों में कल्पित केवल चार—पाँच हैं। पुरुषों में माणवक और त्रिविक्रम तथा स्त्रियों में दामिनी और शीला। जहाँ तक हो सका है, उसके आख्यान भाग में भारत—काल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गयी है तथा कल्पित पात्रों से मूल घटनाओं का सम्बन्धसूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है। कथा का सम्बन्ध आर्य और नागजाति के भारतकालीन संघर्ष से है। कथा के मूलाधार ग्रन्थ महाभारत का शान्ति पर्व, हरिवंश का भविष्य पर्व, शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण हैं। परीक्षित—पुत्र जनमेजय ने भूल से एक ब्रह्महत्या कर दी थी, जिस पर उन्हें प्रायश्चित्तस्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा, जिसमें पुरोहित बने शौनक (शान्तिपर्व अध्याय १५०) क्योंकि कश्यप पुरोहितो ने राजा का साथ छोड़ दिया था। इस पर आंगिरस काश्यप ने अपने पुरोहित बनाये जाने के लिए ब्रह्म—आन्दोलन तक किया था। पूर्वकाल में अर्जुन ने खाण्डव—दाह करके भारतवर्ष की प्राचीन नागजाति को बहुत पीड़ित किया था, अवसर पाकर विपीड़ित नागजाति ने पुनर्विद्रोह किया। नागराज तक्षक ने काश्यप आदि से मिलकर परीक्षित की हत्या की। इस राजनीतिक षड्यन्त्र और क्रान्ति का पूर्णतया उन्मूलन करने के लिए जनमेजय को विशेष प्रयत्न करना पड़ा। फलस्वरूप सर्प—सत्र अर्थात् तक्षशिलाविजय और नागजाति का पूर्ण पराभव हुआ। इस पराजय के कारण दोनों पक्षों में मित्रता हो गयी और राज्य में पुनः शान्ति स्थापित हो जाने पर हजारों वर्षों तक भारतीय प्रजा फलती—फूलती रही।

प्रस्तुत नाटक का नायक जनमेजय इन्द्रप्रस्थ का सम्राट् है, जिसमें धीरोदात्त नायक के समस्त गुण पाये जाते हैं। वह तेजस्वी, वीर, उत्साही, कर्त्तव्यशील तथा राजशक्ति से गर्वित क्षमाशील सम्राट् है। नाटक के प्रारम्भ में ही उसकी विनम्रता

और सहनशीलता का सुन्दर परिचय मिलता है। वह पाखण्डी काश्यप के प्रगल्भ आचरण पर क्रुद्ध न होकर उसे दक्षिणादि से सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता है। जरत्कारु ऋषि की अज्ञानता से हत्या हो जाने के कारण उसे बड़ी ग्लानि होती है, इससे उसके हृदय की शुद्धता प्रकट होती है। यद्यपि उसके इस निरपराध कृत्य की बड़ी आलोचना होती है, फिर भी वह राजशक्ति का अनुचित प्रयोग कर किसी का प्रतिकार नहीं करता वरन् प्रायश्चित्तस्वरूप अश्वमेध यज्ञ का विधान करता है। वंशगत विरोध का स्मरण करके उसके हृदय मे नागजाति के प्रति बड़ा विद्वेष भरा है। उसमें साहस और दृढ़ता की मात्रा यथेष्ट है। पहले तो ब्राह्मणों के षडयन्त्र से कुछ देर के लिए विचलित हो जाता है, किन्तु उत्तक की मन्त्रणा से नागयज्ञ करने के लिए कृत–संकल्प हो जाता है। उसमें जातीय अभिमान की भावना लहरें ले रही हैं, इसीलिए नागपरिणय करने वाली यादवी सरमा का तिरस्कार करते हुए कहता है . "चुप रहो! पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यो पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है।" अपने पिता की हत्या करनेवाली नागजाति का दमन वह राज्यधर्मानुकूल बडी कठोरता से करता है क्योंकि बर्बर नागजाति दस्यु वृत्ति ग्रहण करके शान्त आर्य–जनपदों की सुख–शान्ति भंग करती है। क्रूर दण्डादि कर्मों का विधान करते हुए भी जनमेजय अपने हृदय की स्निग्धता एवं विवेकशीलता को खो नहीं, देता, इससे आस्तीक की प्रार्थना को न्यायसगत मानकर तक्षक को मुक्त कर देता है। न्यायविधान के नीरस वातावरण में समय बितानेवाले जनमेजय में सौन्दर्यानुभूति की मात्रा भी कम नहीं है। वह नागकन्या मणिमाला के नैसर्गिक सौन्दर्य से प्रभावित होता है तथा नाटक के अन्त में सरमा के अनुरोध तथा अपनी पत्नी वपुष्टमा की स्वीकृति मिल जाने पर उसे पत्नी बनाता है। इस सम्बन्ध का परिणाम सांस्कृतिक एवं लोक दृष्टि से बड़ा कल्याणकारी सिद्ध होता है। आर्य और नागजाति पारस्परिक सांस्कृतिक भाव–प्रदान करके एक दूसरे के दृढ़ मैत्री सूत्र में बँध जाती हैं।

जनमेजय के चरित्र की मानवोचित दुर्बलता उसकी नियतिवादिता है। शक्तिशाली सम्राट् होते हुए भी वह भाग्य के फेर में पड़कर निरुत्साहित सा हो जाता है, यह उसके चरित्र का एक दुर्बल पक्ष कहा जा सकता है। सम्भवतः प्रसाद ने अपने नियतिवाद की उस पर गहरी छाप लगा दी है। इसीलिए वह प्रायः कहता रहता है : "मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।" नियतिवादी होने के कारण ही वह कभी–कभी किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है, लेकिन व्यास एवं उत्तंक के द्वारा उत्साहित किये जाने पर शीघ्र सजग हो जाता है।

—के० प्र० चौ०

जनराज—इनका वास्तविक नाम डेढ़राज था। इनके कविता–गुरु श्री आचार्य से इनको यह नाम प्राप्त हुआ। इनकी रचना 'कविता–रस–विनोद' के आधार पर ये सिहलगोत्रीय अग्रवाल वैश्य थे। इनके पिता का नाम दयाराम और पितामह का नाम हीरानन्द था। इनके पूर्वज पहले गठवारे नामक गाँव के रहने वाले थे, पर पिता जयपुर में बस गये थे। तत्कालीन जयपुर नरेश पृथ्वीसिंह इनके आश्रयदाता रहे हैं और इस ग्रन्थ पर इन्होंने कवि को पुरस्कृत भी किया।

'कविता–रस–विनोद' की रचना १७७६ ई० (स० १८९३३) मे की गयी। नागरी प्रचारिणी सभा के भवानीशंकर याज्ञिक के सग्रह मे इसकी हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें २४ विनोद और २०२५ छन्द हैं। इस विस्तृत ग्रन्थ मे काव्यशास्त्र के विविध अगों के साथ छन्दशास्त्र के विषय को भी लिया गया है, पर विषय–विवेचन मे कोई नवीनता नहीं है। पहले चार विनोद मे पिंगल–शास्त्र का विवेचन है। पाँचवे विनोद मे 'व्यग्य–भेद' वर्णन है। छठे, सातवे और आठवें मे क्रमशः ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत व्यग्य (मध्यम) तथा अलकार (अधम) के विषय को लिया गया है। नवें विनोद मे गुण–दोष विवेचन है। यहाँ तक प्रायः 'साहित्यदर्पण' का आधार है। दसवें से बीसवें विनोद तक रस, भाव, नायक–नायिका भेद, सखी, दूत, दूती, नायकसखा तथा नख–आदि का विस्तृत वर्णन है, जो प्रायः भानुदत्त के ग्रन्थो के आधार पर है। इक्कीसवे विनोद मे अन्य रसों का विवेचन है, बाइसवें मे प्रहेलिका और यमक अलंकारो का वर्णन है और तेईसवें में चित्र–अलंकारो को लिया गया है। अन्तिम में नगर (जयपुर), राजा तथा वंश परिचय आदि देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

काव्य की दृष्टि से जनराज का महत्त्व अधिक है। वे इस दृष्टि से मतिराम की परम्परा में आते है। इनके काव्य में सरल भावचित्र विशेष रूप से मिलते हैं। भाषा अवश्य मतिराम जैसी निखरी हुई नहीं है, वरन् भूषण आदि के समान शब्दों की तोड़–मरोड़ इनके काव्य में मिलती है। अभिव्यंजना, रस–निर्वाह तथा कल्पना के वैचित्र्य की दृष्टि से भी इनका काव्य शिथिल है पर अपनी निश्छल अभिव्यक्ति तथा छन्द–योजना में कवि को सफलता मिली है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ० : हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)]

—सं०

जर्नादनप्रसाद झा 'द्विज'—जन्म स्थान रामपुर डीह, भागलपुर, जिला बिहार राज्य। जन्म–तिथि जनवरी २४, १९०४ ई०। मृत्यु पूर्णिमा मई ५, १९६४ ई०। हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० पास करके शिक्षण कार्य में लग गये। १९३८–१९४४ ई० तक राजेन्द्र कालेज छपरा में हिन्दी के व्याख्याता, सन् १९४४–१९४८ सच्चिदानंद सिनहा कॉलेज तथा १९४८–१९६४ तक पूर्णिमा कालेज के प्रिंसिपल रहे। लगभग ८ पुस्तकों के लेखक हैं। कहानी, रेखाचित्र और कविता के क्षेत्र में लेखन अभ्यास करते रहे। १९२९ में कहानियों का प्रथम संग्रह 'किसलय' नाम से प्रकाशित हुआ। सन् १९२९ से १९४३ के बीच 'किसलय' (कहानी संग्रह) 'मृदुदल', 'मालिका', 'मधुमयी' (सभी कहानी–संग्रह), 'अनुभूति' तथा 'अन्तर्ध्वनि' (कविताएँ), 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' (समीक्षा), रचनाएँ प्रकाश में आयीं। १९४३ में 'चरित्र रेखा' नामक रेखाचित्रों का संग्रह छपा।

काव्य–शैली में छायावादी प्रवृत्ति ही अधिक उभर कर आयी है। आत्मव्यंजक शैली में 'अनुभूति' और 'अन्तर्ध्वनि' दोनों काव्य–संकलन अपने समय की मूल प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। भाषा में छायावादी बिम्बों और प्रतीकों

का प्राधान्य है।

कहानीकार के रूप में 'द्विज' की कहानियाँ यथार्थ की अपेक्षा भावुकता को अधिक चित्रित करती हैं। आदर्शवादी चरित्र नायकों की खोज की, जो प्रेमचन्द के साहित्य से प्रारम्भ हुई थी, छाया 'द्विज' जी की कहानियो में मिलती है।

आलोचना की शैली अधिक वर्णनप्रधान होने के नाते आलोचनात्मक कम, प्रभावव्यंजक अधिक है। 'द्विज' जी ने 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' में उन तत्त्वों पर विशेष ध्यान नहीं दिया, जो प्रेमचन्द की मानसिक स्थिति और विभिन्न उपन्यासों की पृष्ठभूमि में कार्य करते रहे हैं। उन्होंने केवल उनकी प्रशंसात्मक व्याख्या ही अधिक की है।

'रेखाचित्रों' की वैसे भी हिन्दी साहित्य में बड़ी कमी रही है। कुछ ही लोगों ने इस विधा को अपनाया है। 'द्विज' जी भी उनमें से एक हैं। किन्तु 'द्विज' जी इन रेखा—चित्रो मे यथार्थ और भावना दोनो ही मानवीय सन्दर्भो मे मनुष्य के निर्माण और अनुभूतियो को अन्यतम स्तर पर हस्तातरित करते हैं। फिर भी अधिकांश रेखाचित्र रोचक और हृदयग्राही बन पड़े हैं।

इनका कृतिकार के रूप में ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि जिस युग के ये कवि या लेखक हैं, उस युग में तीन शैलियों का विचित्र द्वन्द्व था—इतिवृत्तात्मक शैली, आदर्शवादी शैली और आत्मव्यंजक शैली का। 'द्विज' की कृतियों में इन तीनों का स्वरूप स्थान—स्थान पर स्पष्ट दीख पड़ता है। कविताओं कहानियों और रेखाचित्रों के माध्यमों को शायद इसीलिए उन्हें मजबूरन स्वीकार करना पड़ा।

—ल० कां० व०

जमनालाल बजाज—आपका जन्म राजस्थान में ४ नवम्बर १८८९ ई० को हुआ और निधन ११ फरवरी १९४२ ई० को वर्धा में। जमनालालजी बहुतकम पढ़े—लिखे होते हुए भी साहित्यिक थे और कभी कानून की किताब न देखने पर भी सरदार पटेल के शब्दों में कांग्रेस कार्यकारिणी के वकील थे। उनका व्यक्तित्व अद्भुत था। हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्होंने बड़ी सेवा की। हिन्दी के प्रति उनका स्नेह इतना अधिक था कि निजी अभिव्यक्ति के लिए उन्हें लिपि—बद्ध रचनाओं की अपेक्षा न थी। उनके पास इस स्नेह के प्रदर्शन के लिए और मार्ग थे, जो उन्हें सुलभ थे जो भाषाओं के लिए साधारणतः प्रायः भाषा का रूप ले लेता था और कभी उनका सेवाव्रत और दृढ़ संकल्प उनके पत्रों और औपचारिक वक्तव्यों में साहित्यिक तत्त्व आरोपित कर देता था। इसी प्रकार उनके जीवन से सम्बन्धित किन्हीं घटनाओं के बारे में मतभेद हो सकता है किन्तु उनके साहित्यप्रेमी होने के विषय में सब एकमत हैं।

ये १९३७ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मद्रास अधिवेशन में सभापति रहे। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के मुख्य संचालकों में रहे और हिन्दी साहित्य के प्रकाशनार्थ उन्होंने दो संस्थाओं की स्थापना की। एक बम्बई में (गान्धी हिन्दी पुस्तक भण्डार) और एक अजमेर में (सस्ता साहित्य मण्डल)। सन् १९१८ में गान्धी जी के सुझाव पर जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने दक्षिण में हिन्दी प्रचार करने का निर्णय किया, उस कार्य के लिए साधन भी जमनालालजी के दान द्वारा ही जुटाये जा सके और स्वयं सक्रियरूप से हिन्दी प्रचार के लिए राजाजी के साथ सन् १९२९ में दक्षिण का दौरा किया। अपने जीवन में उन्होने आर्थिक सहायता द्वारा कई हिन्दी पत्रो को जन्म दिया और अनेक प्रचलित पत्रों को धराशायी होने से बचाया। पहली श्रेणी मे आनेवाले पत्रो में 'हिन्दी नवजीवन' उल्लेखनीय है और दूसरी श्रेणीवालों में 'कर्मवीर', 'प्रताप', 'राजस्थान केसरी' आदि। उनके इसी व्यक्तित्व के कारण हिन्दी को 'श्रेयार्थी जमनालालजी', 'पाचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' और 'स्मरणांजलि' जैसी पुस्तके प्राप्त हो सकीं।

—ज्ञा० दे०

जमलार्जुन—नलकूबर और मणिग्रीव नामक कुबेर के दो पुत्र नारद के शाप से यमलार्जुन नाम से वृक्ष के रूप में परिणत होकर गोकुल में उगे। नारद के वरदान के कारण जड़ वृक्ष होने पर भी पूर्व जन्म की बातें उन्हें स्मरण थीं। बाल कृष्ण के उधम से ऊबकर एक बार यशोदा ने उन्हें ऊखल में बाँध दिया था। संयोग से श्री कृष्ण ऊखल को घसीटते हुए वहाँ जा पहुँचे, जहाँ यमलार्जुन वृक्ष थे। श्रीकृष्ण का चरण स्पर्श होते ही वे दोनों वृक्ष लुप्त हो गये और उनके स्थान पर दो सिद्ध पुरुष उपस्थित हुए, जो श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उत्तर की ओर चले गये। 'सूरसागर' में जमलार्जुन उद्धार की कथा मिलती है। सूरदास ने उनके व्यक्तित्व में भक्ति भाव दर्शाया है ('सूरसागर' पद १०००—१००२)।

—रा० कु०

जमाल—जमाल जमालुद्दीन जाति के मुसलमान थे यद्यपि कुछ लोग इन्हे हिन्दू भाट मानते है। इनका जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार सन् १५४५ ई० में हुआ था। ये हरदोई जिले में पिहानी के रहने वाले थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। एक किंवदन्ती के अनुसार इनकी एक बार अकबर से भेंट हुई थी। अकबर ने इनके काव्य से प्रसन्न होकर इनकी सवारी हाथी पर बिठलाकर निकाली और उन पर अशर्फियों की वर्षा की। इनके नाम से 'जमाल पचीसी' तथा 'भक्तमाल की टिप्पणी' नाम के दो ग्रन्थ कहे जाते हैं। आज इनके लगभग पौने चार सौ फुटकल दोहे तथा छप्पय मिलते हैं। छप्पय तथा कुछ दोहों के बारे में कुछ लोगों को सन्देह है। इनके कुछ दोहे कूट हैं, जिनका विषय श्रृंगार है। इनके अधिकांश छन्दों प्रेम, नीति तथा कृष्णविषयक हैं। कूटों में इनकी बौद्धिक उड़ान दिखायी पड़ती है तो अन्य छन्दों में ये एक अत्यन्त सुन्दर कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। भाव की दृष्टि से इनकी देन परम्परागत है।

[सहायक ग्रन्थ—जमाल दोहावली : महावीरसिंह गहलोत, काशी, १९४५ ई०।]

—भो० ना० ति०

जयंत—'जयंत' नाम से अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है—१. जयन्त एक प्रसिद्ध मध्यकालीन वैष्णव भक्त थे। २. जयन्त पाचाल देश के एक क्षत्रिय राजा थे। इन्होंने महाभारत युद्ध में पाण्डवों की सहायता की थी। ३. अज्ञातवास के समय भीम का एक नाम जयन्त था। ४. राजा दशरथ के आठ महात्माओं में से एक थे। ५. अष्टवसुओं में से एक को जयन्त कहा जाता है। ६. द्वादश आदित्यों में से एक जयन्त थे। ७. रामचन्द्र के एक भक्त तथा सचिव थे (दे० मानस २।१४२)।

इसके अतिरिक्त इन्द्र और शची से उत्पन्न जयन्त था।

कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न से जयन्त का युद्ध हुआ था। जयन्त ने कौवे का रूप धारण करके सीता पर चोंच से प्रहार किया था, जिसके फलस्वरूप राम ने उसे मारना चाहा था किन्तु वह रामचन्द्रजी की शरण में आ गया। राम ने उसे प्राणदान देते हुए भी उसकी एक आँख फोड़ दी थी। जयन्त के लिए 'उपेन्द्र' पर्याय भी प्रयुक्त होता है।

—रा० कु०

जयचन्द्र विद्यालंकार—आपका जन्म ५ दिसम्बर १८९८ ई० में हुआ। गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त करने के बाद वहीं तथा गुजरात विद्यापीठ में कार्य किया। उपरान्त १९२१ ई० में लाहौर के कौमी महाविद्यालय मे भारतीय इतिहास के अध्यापक नियुक्त हुए। १९३७ ई० में डा० राजेन्द्र प्रसाद के सहयोग से भारतीय इतिहास परिषद् की स्थापना की। १९४२ ई० में भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया, जिसके फलस्वरूप पकड़े जाने पर तीन वर्ष का कारावास भोगना पड़ा। १९४९ ई० में भारतीय संविधान की हिन्दी अनुवाद करने वाली विज्ञ समिति के सदस्य मनोनीत हुए तथा १९५८ ई० में पंजाब सरकार द्वारा पंजाब की भाषा समस्या को हल करने के लिए नियुक्त किए गए।

इनकी कृतियों में 'भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार' (१९२५ ई०), 'भारत भूमि और उसके निवासी' (१९३१ ई०), 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (१९३३ ई०), 'इतिहास प्रवेश' (१९३८—४०), 'पुरखों का चरित' (१९५४), 'भारतीय कृषि का क, ख,' (१९५४ ई०), 'भारतीय इतिहास की मीमांसा' (१९६० ई०)। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारतोषिक तथा 'भारतीय कृषि का क ख' भारत सरकार द्वारा हिन्दी की श्रेष्ठ पुस्तक रूप में पुरस्कृत।

आपने अपनी रचनाओं के द्वारा भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टिकोण से लिखा। विशेषकर प्राचीन भारतीय इतिहास पर लिखे गये आपके निबन्धोंमें प्राचीन भारतीय संस्कृति और गौरव का दर्शन होता है। आपकी रचनाओं के द्वारा आपके गहरे ज्ञान; विशद आलोचक दृष्टि, सुलझी मौलिक विचारधारा, तलस्पर्शी चिन्तन, ओजस्वी भाषा और सजीव शैली का चित्र आँखों के सामने आ जाता है।

—ओ० प्र० स०

जयसिंह—इतिहास में जयसिंह नामक अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है—

१. इनमें सर्वप्रथम हैं रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी के आश्रयदाता आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह, जो अपने पितामह की मृत्यु के उपरान्त १६१७ ई० में गद्दी पर बैठे थे। आरम्भ में जहाँगीर के आदेशानुसार शाहजहाँ का विरोध करते हुए भी बाद में वे उसके प्रबल समर्थक बन गये। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने सन् १६३९ ई० में इन्हें 'मिर्जा राजा' की उपाधि दी थी। १६४७ ई० में मुगल सेना के अध्यक्ष रूप में इन्होंने बल्ख और बदख्शा के युद्धों तथा कन्धार के तीन घेरों में अपूर्व शौर्य का परिचय दिया था ('आधुनिक राजस्थान' पृ० १०४)। बिहारी ने इन घटनाओं से सम्बन्धित अनेक दोहे लिखे थे (दे० 'बिहारी रत्नाकर' ७१०।११।१२)। साथ ही रीति कवियों की प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने जयसिंह के औदार्य की भी प्रशंसा की है (दे० 'बिहारी रत्नाकर' १५६)। इन जयसिंह के कवि रूप की सूचना (दे० 'शिवसिंह सरोज' पृ० ४२३), ग्रियर्सन ('मा० व० लि० आ० हि०', पृ० १९८), कर्नल टाड ('राजस्थान' भाग २, पृ० ३५६—६८ तथा पृ० ३९३—४०७), नकछेद तिवारी ('कवि कीर्ति कलानिधि', पृ० २८) आदि ने दी है किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। बहुत सम्भव है कि कवियों के संसर्ग से इनकी काव्य—प्रतिभा का विकास हुआ हो किन्तु सरोज में उद्धृत कवित्त जयसिंह का न होकर 'आलम' का है। 'कवि कीर्ति कलानिधि' में इनके 'जयसिंह कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की चर्चा की गयी है।

२.दूसरे जयसिंह औरंगजेब के प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी उदयपुर के महाराजा राजसिंह (१६४२ से १६७५ ई० तक) के पुत्र राणा जयसिंह के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन जयसिंह का समय सन् १६७५ से १६९८ तक रहा है। शिवसिंह ने इन्हें भी कवि कहते हुए इनके 'जयदेव कवि विलास' नामक ग्रन्थ संकलित करने का उल्लेख किया है ('शिवसिंह सरोज' ४२३)। इनके दरबार के दयाराम और मुरली उल्लेखनीय कवि हुए हैं।

३.तीसरे जयसिंह जयपुर नगर के बसानेवाले सवाई जयसिंह (सन् १६९९ से १७४३ तक) हैं। रीतिकाल के कवि घनानन्द के गुरु वृन्दावन देवाचार्य से इन्होंने भी दीक्षा ली थी। इनके समय में जयपुर के प्रसिद्ध कवि देवर्षि मण्डन हुए थे।

४. चौथे जयसिंह गुजरात के सोलंकी शासकों की परम्परा में हुए थे। इसी जयसिंह के वीरचरित का आधार लेकर मैथिलीशरण गुप्त ने 'सिद्धराज' नामक महाकाव्य की रचना की है। इन्हे सिद्धराज जयसिंह भी कहा जाता है।

—रा० कु०

जयद्रथ वध—इसका प्रकाशन १९१० ई० में हुआ। मैथिलीशरण गुप्त की प्रारम्भिक रचनाओं में 'भारत—भारती' को छोड़कर 'जयद्रथ वध' की प्रसिद्धि सर्वाधिक रही। हरिगीतिका छन्द में रचित यह एक खण्ड—काव्य है। कथा का आधार महाभारत है। एक दिन युद्ध—निरत अर्जुन के दूर निकल जाने पर द्रोणाचार्यकृत चक्रव्यूह—भेदन के निमित्त शस्त्रास्त्र—सज्जित अभिमन्यु उसमें प्रविष्ट हुआ। अप्रतिम वीर अभिमन्यु के समक्ष एकाकी ठहर सकने में असमर्थ योद्धाओं में से सात रथियों ने षड्यन्त्र द्वारा उसकी हत्या की। इसमें जयद्रथ का विशेष हाथ था, अतः अर्जुन ने अगले दिन सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ का वध न कर सकने पर स्वय जल मरने की प्रतिज्ञा की। आचार्यविरचित चक्र—व्यूह में रक्षित जयद्रथ का वध कौन्तेय उक्त समय तक न कर सके। फलतः अर्जुन स्वयं जलने के लिए तैयार हुए। अपने शत्रु को जलता हुआ देखने के लिए जयद्रथ सामने आ गया। तब श्रीकृष्ण ने "अस्ताचल के निकट घन—मुक्त मार्तण्ड" के दर्शन करा अर्जुन को शर—संधान का आदेश दिया। जयद्रथ का सिर आकाश में उड़ता हुआ उसके पिता की गोद में जा गिरा, जिससे पुत्र के साथ पिता की भी मृत्यु हुई (जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र को ऐसा ही शाप मिला था)। प्राचीन कथा को ज्यों का त्यों लेकर भी कवि ने अपनी सरस—प्रवाहपूर्ण शैली द्वारा नवजीवन प्रदान किया है—अपनी लेखनी के स्पर्श से उसे रुचिकर एवं सप्रभाव बना दिया है।

काव्य की दृष्टि से 'जयद्रथ वध' मैथिलीशरणजी के कृतित्व के आरम्भिक काल की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। सुभद्रा और उत्तरा के विलाप में करुण की अप्रतिबद्ध धारा प्रवाहित है। चित्रणकला और अप्रस्तुत—विधान काफी अच्छा है। भाषा में प्रवाह और ओज है। यद्यपि संस्कृत के बोझिल और पण्डिताऊ शब्द भी प्रयुक्त हैं—किन्तु खड़ीबोली की यह पहली सरस रचना है। ब्रजभाषा के 'चढ़े हुए नशे' को उतारने वाला प्रथम काव्य यही है।

—उ० का० गो०

जयप्रकाश नारायण—जन्म ११ अक्तूबर १९०३ को बिहार के सारन जिले के सोनभद्र नामक ग्राम में हुआ। जयप्रकाश नारायण समाजवादी दल के सैद्धान्तिक पक्ष के प्रतिनिधि थे। समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों पर उन्होंने अनेक लेख लिखे हैं और कुछ पुस्तकें भी।

जयप्रकाशजी गम्भीर विचारक और चिन्तक थे और यही गुण उनके लेखों और उनकी लेखनशैली में प्रतिबिम्बित होते हैं। उनके विचार युक्तिसंगत होते हैं, जिसकी झलक उनकी शैली में स्पष्ट मिलती है। जयप्रकाशजी लेखकों के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं, इसलिए वे तभी लिखते है, जब कुछ कहने को बाध्य हों। यद्यपि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल में वे अधिकतर अंग्रेजी में लिखते थे, किन्तु सर्वोदय और विनोबाजी के प्रभाव में आने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया था। 'छात्रों के बीच' के अतिरिक्त 'जीवन दान', (१९५५) 'मजदूरों से', 'मेरी विदेश यात्रा' (१९६०) और 'समता की खोज में' (अनूदित) इत्यादि इनकी तीन—चार पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी भाषा सरल, अलंकार रहित, किन्तु सारगर्भित है। सीधी उक्ति इनकी शैली की विशेषता है।

जयप्रकाशजी सात वर्ष तक (सन् १९२२ से १९२९) अमेरिका में विद्याध्ययन के लिए रहे। वहाँ से जो स्वातन्त्र्य—प्रेरणा उन्होंने पायी, वही दिन—प्रति—दिन धनी होती गयी और सतत चिन्तानुभूति तथा जनजीवन से उसे अभिव्यक्ति मिली।

संविधान द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति से पहले ही वे हिन्दी के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ लेखों द्वारा हिन्दी के पक्ष का समर्थन भी किया है। इसलिये जयप्रकाश नारायण के योगदान का मूल्यांकन करते समय इन बातों का विशेष ध्यान रखना होगा—सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी स्थिति तथा इस जीवन का उनका अनुभव, उनकी भाषा में विचारतत्त्व और उनके विचारों तथा व्यक्त मत की लोकप्रियता। इन सभी बातों की दृष्टि से उनकी प्रकाशित पुस्तकें सर्वोदय—साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

—ज्ञा० द०

जय यौधेय—'जय यौधेय' (१९४४) राहुलजी का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। राहुल को भारतीय इतिहास के वे अछूते अंग विशेष रूप से रुचिकर लगे हैं, जिन्हें ऐतिहासिक ग्रन्थों में स्थान नहीं मिले हैं और जिनमें जनतन्त्रीय प्रणाली प्रमुख रूप से उजागर हुई है। 'वोल्गा से गंगा' लिखते समय उन्होंने 'सुपर्णयौधेय' नामक कहानी लिखी थी, परन्तु उससे सन्तोष नहीं हुआ था। यौधेयों पर उपन्यास लिखने का निश्चय उस समय हुआ, जब उन्होंने १ जनवरी १९४४ को वाराणसी में होनेवाले 'प्राच्य परिषद्' में डाक्टर अलतेकर द्वारा पढ़ा गया एक लेख सुना कि कुषाणों के हाथ से मध्यदेश को मुक्त कराने का श्रेय गुप्तों को नहीं, यौधेयों को है। स्वभाववश राहुलजी ने गुप्तो के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया और यौधेयों के नाम से पाये जानेवाले सिक्कों एवं शिलालेखों का परीक्षण किया।

ई० सन् ३५०—४०० के भारतीय इतिहास में यौधेय गणतन्त्र बड़ा बलशाली था। गुप्तवंश के साम्राज्यविस्तार में इस गणतन्त्र का विशेष हाथ रहा है। यद्यपि गुप्तों के प्रखर प्रभाव के सम्मुख यौधेय क्षीण हो गये, परन्तु उनकी कीर्तिकथा अलवर, गुड़गाँव, भावलपुर आदि प्रदेशों की गाथाओं एवं गीतों में आज भी सुरक्षित है। राहुलजी ने उपन्यास की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि "उपन्यास के शरीर में ऐतिहासिक सामग्री ने अस्थिपंजर का काम किया है किन्तु मांस मैंने अपनी कल्पना से पूरा किया है"। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा यौधेयों के कल्पित वीर पुरुष 'जय' के क्रिया—कलापों का बहुविध वर्णन है। यह उपन्यास 'आत्मकथा' शैली में लिखा गया है। यौधेय पुगव 'जय' स्वयं अपनी कथा कहता है। राहुलजी ने कथा सूत्र को सुगठित करने के लिए उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ही सिद्ध कर दिया है कि सम्राट् समुद्रगुप्त ने यौधेय कन्या दत्ता से विवाह कर यौधेयों को अपने पक्ष में कर लिया और यौधेयों को आश्वासन भी दिया कि दत्ता से उत्पन्न पुत्र ही गुप्त सिंहासन का उत्तराधिकारी होगा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य उसी यौधेय कन्या दत्ता की कोख से उत्पन्न द्वितीय पुत्र है और उपन्यास नायक 'जय' दत्ता का छोटा भाई है। गुप्तों और यौधेयों के इस रक्त—संयोजन से उपन्यास—कथा अति स्वाभाविक हो गयी है और साथ ही इतिहास की भी रक्षा हुई है।

राहुलजी ने इस उपन्यास में हिमालय से लेकर सिंहलतक की सामाजिक रीतियों विभिन्न जातियों, शासन एवं धर्म प्रणालियों आदि प्रायः प्रत्येक विषय पर प्रकाश डाला है। इसमें नायक 'जय' बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् एवं अभिधर्म कोश के रचयिता वसुबन्धु से शिक्षा प्राप्त करता है। अन्त में उसकी भेंट महाकवि कालीदास से भी होती है। राहुल जी ने गुप्त काल के सभी श्रेष्ठ पुरुषों, विद्वानों एवं कलाकारों से नायक 'जय' की भेंट करायी है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में 'जय' जैसे कम नायक मिलते हैं। भारत का भावी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जहाँ एक ओर विलास में मग्न है, वहाँ 'जय' ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है। चन्द्रगुप्त जहाँ कला में विलास ढूँढता है, वहाँ 'जय' नृत्य, नाटक वीणावादन, गायन, मूर्तिकला आदि में निपुण होते हुए भी स्थितप्रज्ञ जैसा है। गुप्तों का सेनापति अथवा मन्त्रिपद स्वीकार न करते हुए वह यौधेय भूमि में चला जाता है और उनमें नवजागरण उत्पन्न करता है। वह चन्द्रगुप्त की नीति से अप्रसन्न है, इसलिए गुप्तों का आधिपत्य नहीं स्वीकार करता। उसके नेतृत्व में यौधेयगण गुप्त वाहिनी से लड़ते हैं। चन्द्रगुप्त अनेक प्रलोभन देता है परन्तु यौधेयों का नेता 'जय' अपनी जाति और यौधेयों की गणतन्त्रीय प्रणाली को श्रेष्ठ समझता है और अन्ततक वह गुप्तों को स्वीकार नहीं करता। कालिदास से

वह कहता है कि 'मैं भरत—खण्ड को इसी तरह स्वतन्त्र गणों का स्वच्छन्द संघ देखना चाहता हूँ' वस्तुतः उपन्यास रचना का यही मूल स्वर है और मूल उद्देश्य भी। उपन्यास का अन्त गुप्तों और यौधेयों के युद्ध और यौधेयों की हार के साथ होता है।

उपन्यास के अन्य चरित्र सर्वथा गौण हैं, यहाँतक कि चन्द्रगुप्त भी। सम्पूर्ण उपन्यास में ही नहीं, अपितु उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद में 'जय' का ही चरित्र छाया हुआ है। कोई भी अन्य चरित्र स्वतन्त्र होकर विकसित नहीं हो सका है। इस उपन्यास के विषय में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इसकी रचना केवल इक्कीस दिनों में हुई है। मराठी तथा गुजराती भाषा में इस उपन्यास के अनुवाद हुए हैं।

—स० व्र० सि०

जयरामदास गुप्त—ये काशी के राजघाट मुहल्ले के रहनेवाले थे और इनकी आरम्भिक शिक्षा स्थानीय हरिश्चन्द्र स्कूल में हुई थी, जहाँ से इन्होंने सन् १९०४ ई० में मिडिल पास किया था। उन दिनों काशी में उपन्यासों और उपन्यासमालाओं के प्रकाशन की धूम थी, जिसका इन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। और इन्होंने भी 'उपन्यास बहार' नामक एक औपन्यासिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसमें बंगला और अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवाद और छायानुवाद प्रकाशित हुए। इनमें से कुछ के अनुवाद तो स्वयं इन्होंने किये थे और कुछ के औरों से कराये थे। प्रकाशन कार्य में इन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी पर इन्हें आयु अधिक नहीं प्राप्त हुई और प्रौढ़ावस्थातक पहुँचने से पहले ही काशी में ही इनका स्वर्गवास हो गया था।

—रा० चं० व०

जयशंकर प्रसाद—जन्म सन् १८८९ ई० (माघ शुक्ल दशमी, संवत् १९४६ वि०) वाराणसी में। कवि के पितामह शिव रत्न साहु वाराणसी के अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक थे और एक विशेष प्रकार की सुरती (तम्बाकू) बनाने के कारण 'सुँघनी साहु' के नाम से विख्यात थे। उनकी दानशीलता सर्वविदित थी और उनके यहाँ विद्वानों कलाकारों का समादर होता था। जयशंकर प्रसाद के पिता देवीप्रसाद साहु ने भी अपने पूर्वजों की परम्परा का पालन किया। इस परिवार की गणना वाराणसी के अतिशय समृद्ध घरानों में थी और धन—वैभव का कोई अभाव न था। प्रसाद का कुटुम्ब शिव का उपासक था। माता—पिता ने उनके जन्म के लिए अपने इष्टदेव से बड़ी प्रार्थना की थी। वैद्यनाथधाम के झारखण्ड से लेकर उज्जयिनी के महाकाल की आराधना के फलस्वरूप पुत्रजन्म स्वीकार कर लेने के कारण शैशव में जयशंकर प्रसाद को 'झारखण्डी' कहकर पुकारा जाता था। वैद्यनाथधाम में ही इनका नामकरण संस्कार हुआ। जयशंकर प्रसाद की शिक्षा घर पर ही आरम्भ हुई। सस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू के लिए शिक्षक नियुक्त थे। इनमें 'रसमय सिद्ध' प्रमुख थे। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के लिए दीनबन्धु ब्रह्मचारी शिक्षक थे। कुछ समय बाद स्थानीय क्वीन्स कालेज में प्रसाद का नाम लिखा दिया गया, पर यहाँ वे आठवीं कक्षा तक ही पढ़ सके। प्रसाद एक अध्यवसायी व्यक्ति थे और नियमित रूप से अध्ययन करते थे।

इनकी बारह वर्ष की अवस्था थी, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। इसी के बाद परिवार में गृहकलह आरम्भ हुआ और पैतृक व्यवसाय को इतनी हानि पहुँची कि वही 'सुँघनीसाहु' का परिवार, जो वैभव में लोटता था, ऋण के भार से दब गया। पिता की मृत्यु के दो—तीन वर्षों के भीतर ही प्रसाद की माता का भी देहावसान हो गया और सबसे अधिक दुर्भाग्य का दिन वह आया, जब उनके ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरतन चल बसे तथा सत्रह वर्ष की अवस्था में ही प्रसाद को एक भारी उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ा। प्रसाद का अधिकांश जीवन वाराणसी में ही बीता। उन्होंने अपने जीवन मे केवल तीन—चार बार यात्राएँ की थीं, जिनकी छाया उनकी कतिपय रचनाओं में प्राप्त हो जाती है। प्रसाद को काव्यसृष्टि की आरम्भिक प्रेरणा घर पर होने वाली समस्यापूर्तियों मे प्राप्त हुई, जो विद्वानों की मण्डली में उस समय प्रचलित थी। यक्ष्मा के कारण कवि का देहान्त १५ नवम्बर, १९३७ ई० में हो गया।

कहा जाता है कि नौ वर्ष की अवस्था में ही जयशंकर प्रसाद ने 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखकर अपने गुरु रसमयसिद्ध को दिखाया था। उनकी आरम्भिक रचनाएँ यद्यपि ब्रजभाषा में मिलती हैं, पर क्रमशः वे खड़ी बोली को अपनाते गये और इस समय उनकी ब्रजभाषा की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। प्रसाद की ही प्रेरणा से १९०९ ई० में उनके भानजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त के सम्पादकत्व में 'इन्दु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। प्रसाद इसमें नियमित रूप से लिखते थे और उनकी आरम्भिक रचनाएँ इसी के अंकों में देखी जा सकती हैं। कालक्रम के अनुसार 'चित्राधार' प्रसाद का प्रथम संग्रह है। इसका प्रथम संस्करण १९१८ ई० मे हुआ। इसमें कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध सभी का संकलन था और भाषा ब्रज तथा खड़ीबोली दोनों थी। लगभग दस वर्ष बाद १९२८ में जब इसका दूसरा संस्करण आया, तब इसमें ब्रजभाषा की रचनाएँ ही रखी गयीं। साथ ही इसमें प्रसाद की आरम्भिक कथाएँ भी सकलित हैं। 'चित्राधार' की कविताओं को दो प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक खण्ड उन आख्यानक कविताओं अथवा कथा काव्यों का है, जिनमें प्रबन्धात्मकता है। अयोध्या का उद्धार, वनमिलन, और प्रेमराज्य तीन कथाकाव्य इसमें सगृहीत हैं। 'अयोध्या का उद्धार' में लव द्वारा अयोध्या को पुनः बसाने की कथा है। इसकी प्रेरणा कालिदास का 'रघुवंश' है। 'वनमिलन' में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की प्रेरणा है। 'प्रेमराज्य' की कथा ऐतिहासिक है। 'चित्राधार' की स्फुट रचनाएँ प्रकृतिविषयक तथा भक्ति और प्रेमसम्बन्धिनी हैं। 'कानन कुसुम' प्रसाद की खड़ीबोली की कविताओं का प्रथम संग्रह है। यद्यपि इसके प्रथम संस्करण में ब्रज और खड़ी बोली दोनों की कविताएँ हैं पर दूसरे संस्करण (१९१८ ई०) तथा तीसरे संस्करण (१९२९ ई०) में अनेक परिवर्तन दिखायी देते हैं और अब उसमें केवल खड़ीबोली की कविताएँ हैं। कवि के अनुसार यह १९६६ वि० से १९७४ वि० तक की कविताओं का संग्रह है। इसमें भी ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखी गयी कुछ कविताएँ हैं। अन्य कविताओं में विनय, प्रकृति, प्रेम तथा सामाजिक भावनाएँ हैं। 'कानन कुसुम' में प्रसाद ने अनुभूति और अभिव्यक्ति की नयी दिशाएँ

खोजने का प्रयत्न किया है। इसके अनन्तर कथाकाव्यों का समय आया है। 'प्रेम पथिक' का ब्रजभाषा स्वरूप सबसे पहले 'इन्दु' (१९०९ ई०) में प्रकाशित हुआ था और १९७० वि० में कवि ने इसे खड़ीबोली पें रूपान्तरित किया। इसकी विज्ञप्ति में उन्होंने स्वयं कहा है कि "यह काव्य ब्रजभाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था।" 'प्रेमपथिक' में एक भावमूलक कथा है, जिसके माध्यम से आदर्श प्रेम की व्यंजना की गयी है। 'करूणालय' की रचना गीतिनाटच के आधार पर हुई है। इसका प्रथम प्रकाशन 'इन्दु' (१९१३ ई०) में हुआ। 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण में भी यह है। १९२८ ई० में इसका पुस्तक रूप में स्वतन्त्र प्रकाशन हुआ। इसमें राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। 'महाराणा का महत्त्व' १९१४ ई० में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। यह भी 'चित्राधार' में संकलित था, पर १९२८ में इसका स्वतन्त्र प्रकाशन हुआ। इसमें महाराणा प्रताप की कथा है।

'झरना' का प्रथम प्रकाशन १९१८ ई० में हुआ था। आगामी संस्करणों में कुछ परिवर्तन किये गये। इसकी अधिकांश कविताएँ १९१४–१९१७ के बीच लिखी गयीं, यद्यपि कुछ रचनाएँ बाद की भी प्रतीत होती हैं। 'झरना' मे प्रसाद के व्यक्तित्व का प्रथम बार स्पष्ट प्रकाशन हुआ है और इसमें आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों को अधिक मुखर रूप में देखा जा सकता है। इसमें छायावाद युग का प्रतिष्ठापन माना जाता है। 'आँसू' प्रसाद की एक विशिष्ठ रचना है। इसका प्रथम संस्करण १९८२ वि० (१९२५ ई०) में निकला था। दूसरा संस्करण १९९० वि० (१९३३ ई०) में प्रकाशित हुआ। 'आँसू' एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य है, जिसमें कवि की प्रेमानुभूति व्यंजित है। इसका मूलस्वर विषाद का है पर अन्तिम पंक्तियों में आशा–विश्वास के स्वर हैं। 'लहर' में प्रसाद की सर्वोत्तम कविताएँ संकलित हैं। इसमें कवि की प्रौढ़ रचनाएँ हैं। इसका प्रकाशन १९३३ ई० में हुआ। 'कामायनी' प्रसाद का प्रबन्ध काव्य है। इसका प्रथम संस्करण १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ था। कवि का गौरव इस महाकाव्य की रचना से बहुत बढ़ गया। इसमें आदि मानव मनु की कथा है, पर कवि ने अपने युग के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है।

प्रसाद के नाटकों की संख्या लगभग बारह है। 'सज्जन' का प्रकाशन 'इन्दु' में १९१०–११ में हुआ था। 'कल्याणी परिणय' नागरी प्रचारिणी पत्रिका में १९१२ में निकला। 'प्रायश्चित्त' 'इन्दु' में ही १९१४ में और 'राज्यश्री' १९१५ में। 'राज्यश्री' के प्रथम और द्वितीय संस्करण में पर्याप्त अन्तर है। अन्य नाटकों का क्रम इस प्रकार है—'विशाख' (१९२१), 'कामना' (१९२७), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६), 'स्कन्दगुप्त' (१९२८), 'एक घूँट' (१९३०), 'चन्द्रगुप्त' (१९३१) 'ध्रुवस्वामिनी (१९३३)। 'छाया' (१९१२), 'प्रतिध्वनि' (१९२६), 'आकाशदीप' (१९२९), 'आँधी' (१९३१), 'इन्द्रजाल' (१९३६) प्रसाद के कथा संग्रह हैं। 'कंकाल' (१९२९), 'तितली' (१९३४), 'इरावती'—अपूर्ण (१९४०) उनके उपन्यास हैं और 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (१९३९) उनका निबन्ध संग्रह है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार हैं।

प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि वे एक विकासमान व्यक्तित्व के कलाकार हैं। उनकी आरम्भिक रचनाएँ शिथिल हैं और उनमें परम्परा की छाया भी दिखायी देती है, पर प्रसाद ने अनुभूति और शिल्प दोनों ही दिशाओं में सतत जागरूक दृष्टि का परिचय दिया और इसी कारण वे 'चित्राधार' जैसी साधारण कृतियो की आरम्भिक भूमिका से उठकर 'कामायनी' जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं तक जा सके। प्रसाद मुख्यतया अनुभूति, गहन अनुभूति के रचनाकार हैं। उनके अनुभव की सीमाएँ हैं और इसी कारण यथार्थवादी लेखकों जैसी व्यापकता उनमें प्राप्त नहीं होती। पर अध्ययन, मनन के द्वारा उन्होंने इतिहास की दृष्टि प्राप्त की थी और 'कामायनी' में उनका युगबोध सहज ही देखा जा सकता है। प्रसाद का समस्त साहित्य मानवीय और सांस्कृतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है। प्रेम, सौन्दर्य आदि की अनुभूतियाँ उनकी मानवीयता से सम्बन्ध रखती हैं। नाटकों में सांस्कृतिक दृष्टि अधिक स्पष्ट है। कविताओ में प्रसाद की आन्तरिक अनुभूतियों का प्रकाशन अधिक स्पष्ट है। 'आँसू' तो उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिफलन ही बन गया है। नाटकों में प्रसाद ने एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रयास किया है। इतिहास के माध्यम से वे भारतीय अतीत की सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। भारतीय इतिहास, दर्शन और संस्कृति के प्रति कवि की रागात्मकता सर्वत्र देखी जा सकती है। अपनी भावनामयता और अनुभूतिप्रवणता के कारण प्रसाद की मूलचेतना कवि से सम्बद्ध है, पर उसमें मानवीयता और सास्कृतिक दृष्टि का योग भी है।

प्रसाद छायावाद युग के कृती हैं और इस साहित्य आन्दोलन की जितनी अधिक प्रवृत्तियाँ उनके साहित्य में मिलती हैं, उतनी अन्य किसी में नही। अनुभूति की गहनता, लाक्षणिक शैली, गीतिमयता, प्रेमानुभूति, सौन्दर्य चेतना, कल्पना तत्त्व, सांस्कृतिक भावना, आदर्शवादी दृष्टि, आत्मप्रकाशन आदि के जो गुण छायावादी काव्य में प्रमुखता से प्राप्त हैं, उनका सर्वाधिक प्रतिफलन प्रसाद में मिलता है। हम कह सकते हैं कि 'कामायनी' जैसी कृतियों में छायावाद अपने चरम विन्दु पर व्यक्त हुआ है। उसमें उसका सर्वोत्तम प्रतिफलन है। 'झरना' में छायावाद की जो प्रवृत्तियाँ संकेत रूप में दिखायी देती हैं, वे प्रसाद के महाकाव्य में पूर्ण अभिव्यक्ति पा सकी हैं।

शिल्प की दिशा में प्रसाद का व्यक्तित्व उनकी मौलिकता का परिचायक है। प्रांजल प्रसादगुण सम्पन्न उनकी भाषा कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास सभी में एकरूप हैं और कहीं-कहीं भाव परिचालित होने के कारण गद्य में भी वह कवित्वपूर्ण हो जाती है। भाषा के सामर्थ्य से सम्पन्न होने के कारण प्रसाद को अभिव्यंजना में कठिनाई का अनुभव नहीं होता। शब्दों में लाक्षणिकता का गुण उनकी प्रमुख विशेषता है। शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का उनमें प्राधान्य है। प्रसाद की प्रतीक–योजना भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। वास्तव में वे प्रायः संकेत और ध्वनि से काम लेते हैं और जब किसी वस्तु का वर्णन करना होता है तो वे उसका चित्र ही प्रस्तुत कर देते हैं। 'कामायनी' में मनोविकारों का मूर्तीकरण किया गया है। छन्द की दिशा में प्रसाद ने विविध प्रयोग किये। आरम्भिक ब्रजभाषा–रचनाओं की सवैया, कवित्त परम्परा का कवि ने

शीघ्र परित्याग कर दिया। 'आँसू' में चौदह मात्राओं का आनन्द छन्द है। 'कामायनी' का प्रमुख छन्द ताटक है। प्रसाद ने अतुकान्त कविताएँ भी कीं। जयशंकर प्रसाद के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि उन्होंने अपनी अनुभूति और चिन्तना को विभिन्न माध्यम से प्रस्तुत किया है। नाटकों में उनकी इतिहास और संस्कृति की दृष्टि प्रमुख है। काव्य में आन्तरिक अनुभूत का प्रकाशन करते है। कहानियो में गीतिमयता है—पात्रों की द्वन्द्वात्मक स्थिति के कारण। उपन्यासों की भूमिका अधिक यथार्थवादिनी है। प्रसाद का निधन अपेक्षाकृत जल्दी हो गया और उस समय हुआ जबकि प्रौढ़ता के बिन्दु पर पहुँच चुके थे। यदि वे कुछ काल तक और जीवित रहते तो अन्य प्रौढ़ कृतियाँ भी हमारे समक्ष आतीं। अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' इसका प्रमाण है।

[सहायक ग्रन्थ—जयशंकर प्रसाद:नन्ददुलारे वाजपेयी: प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : जगन्नाथप्रसाद शर्मा: प्रसाद का काव्य : प्रेमशंकर।]

—प्रे० शं०

जरासंध—प्राचीन स्रोतों के द्वारा जरासंध के दो उल्लेख प्राप्त होते हैं—

१. मगधाधिपति वृहद्रथ के पुत्र का नाम जरासंध था। वृहद्रथ ने पुत्रप्राप्ति के लिए चन्द्र कौशिक की प्रार्थना की। उन्होंने एक फल देकर राजा से कहा कि इसे रानी को खिला दो। राजा के दो रानियाँ थीं, फलतः बीचोबीच से काटकर उन्होंने एक-एक टुकड़ा रानियों को दे दिया। समय आने पर दोनो रानियों के आधा—आधा पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने उन्हें फेंकवा दिया किन्तु श्मशाननिवासिनी 'जरा' नामक राक्षसी ने दोनों को जोड़ 'सन्धि' कर दी। इसलिए इसका नाम जरासंध पड़ा। कालान्तर में यह एक महान् योद्धा हुआ। अस्ति और प्राप्ति नामक कंस की दो कन्याएँ इसी को ब्याही थीं। कृष्ण द्वारा कंस के मारे जाने के बाद जरासंध ने कृष्ण को अपने आक्रमणों से मथुरा छोड़ने को बाध्य किया। कृष्ण द्वारका मे रहने लगे। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के पूर्व जरासंध और भीम में द्वन्द्व युद्ध कराया। कृष्ण के संकेत से भीम ने जरासंध के शरीर की सन्धि तोड़ दी और वह मर गया।

२. धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम भी जरासन्ध था। जरासन्ध का उल्लेख कृष्ण कथा—काव्यों में (दे० सू० सा० प० ४८२४) मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक काव्य—ग्रन्थों में भी उसके उल्लेख मिलते हैं (दे० 'शिवाबावनी' १)।

—रा० कु०

जल्ह—जल्ह के विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। एक जल्ह 'बुद्धि रासो' नामक अप्रकाशित कृति के रचयिता हैं। कृति का रचनाकाल अनिश्चित है, अतः जल्ह के समय के विषय में कुछ नही कहा जा सकता। 'पृथ्वीराज रासो' की एक हस्तलिखित प्रति में जल्ह को 'रासो' को पूरा करनेवाला कहा गया है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' मे (१५ वीं शती वि०) दो छप्पय मिलते हैं, जिनमें जल्ह का रचयिता के रूप में उल्लेख हुआ है। डा० मेनारिया ने पता नहीं किस आधार पर जल्ह को जैन कहा है और उनका काल १५६८ ई० बताया है। उनकी कृति से जो उद्धरण दिये गये हैं, उनके आधार पर जल्ह को जैन मानने योग्य कोई सकेत नही मिलता। सम्भव है तीनो जल्ह एक ही हो। इस प्रकार जल्ह १५ वीं शती मे रहे होंगे।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थान का पिंगल साहित्य, बम्बई १९५८; राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्रयाग १९४९ ई०; हिन्दी साहित्य का इतिहास (भाग २)—भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग १९५९।]

—रा० तो०

जवाहरलाल चतुर्वेदी—जन्म मथुरा में १८ नवम्बर १८९० ई०। १९३० में प्रकाशित रचना 'आँख और कविगण' से जहाँ एक ओर इनकी श्रृंगारिक अभिरुचि का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर 'भक्त और भगवान्' से भक्तिभावना का। इसका प्रकाशन १९३३ ई० में हुआ। आलोचना के क्षेत्र में इन्होंने दो ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं—'श्रृंगार लतिका—सौरभ' (द्विजदेव) और 'काव्यनिर्णय'। दोनों का प्रकाशन क्रमशः १९३६ ई० और १९५६ ई० में हुआ है। प्रथम समीक्षा ग्रन्थ है और दूसरा काव्यशास्त्र सम्बन्धी। चतुर्वेदीजी ने १९३६ ई० में 'नन्ददास—ग्रन्थावली' और १९५३ ई० में 'पोद्दार अभिनन्दन गन्थ' का सम्पादन किया। आपने 'सूर पदावली' का भी सम्पादन किया है। अन्य प्रकाशित ग्रन्थों में 'ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रन्थ कोश' 'रास पंचाध्यायी' (नददास), 'महाकवि सूरदास और उनका कृतित्व', प्रमुख हैं।

—स० ना० त्रि०

जवाहरलाल नेहरू—जन्म प्रयाग में १४ नवम्बर १८८९ ई०। मृत्यु दिल्ली में मई १९६४ ई०। किसी भी असाधरण प्रतिभाशाली व्यक्ति की तरह उनके व्यक्तित्व के विभिन्न अंग हैं। उन अंगों मे उनका साहित्य प्रेम और लेखनकला सर्वोपरि है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रशासक, राजनीतिज्ञ और राजनयिक के रूप मे उनकी ख्याति अन्तरराष्ट्रीय है, किन्तु सबसे पहले सफल लेखक के रूप में ही उन्हें मान्यता मिली। उनकी 'मेरी कहानी', 'हिन्दुस्तान की कहानी' और 'विश्व इतिहास की झलक' उनके प्रधान मन्त्री बनने और विश्वमंच पर पदार्पण से कहीं पहले अपनी प्रतिभा बिखेर चुकी थीं।

जवाहरलाल की विचारधारा और लेखनशैली में पर्याप्त दृढ़ता और स्पष्टता है। ज्यों—ज्यों राजनीति में वे गहरे उतरते गये लेखन—शैली परिपक्व होती गयी। 'मेरी कहानी' में जो सरल और निष्कपट वर्णन है, 'विश्व इतिहास की झलक' में इन गुणों में तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन जोड़ दिये गये हैं। 'हिन्दुस्तान की कहानी' में और विभिन्न भाषणों के संग्रहों में आत्मगत भाव नम्र हो वस्तुस्थिति को ग्रहण करने के लिए आतुर दिखायी देते हैं। आदर्शवाद यथार्थवाद के भार को खुशी से वहन करता है, कल्पना ठोस तथ्यों के हाथ बनने—बिगड़ने को तैयार रहती है। उन्होंने जो कुछ लिखा, उसका हर शब्द जागता—बोलता चित्र है और शाश्वत साहित्य का नमूना है। प्रबुद्ध एवं परिपक्व कल्पना, उच्चाशयता, भावुकता, काव्यमयता, सभी कला—साहित्य के अनिवार्य उपकरण इसमें विद्यमान हैं।

नेहरू जी की विचारधारा पर विज्ञान का गहरा प्रभाव है। इसके बाद व्यापक अध्ययन के परिणामस्वरूप उनकी रुचि मानव की आधारभूत समस्याओं में हुई। यही कारण है कि उनके उन्मुक्त विचार यदि कभी देहातों में कंकाल और दरिद्रता

इनकी लिखी हुई कई पुस्तकें बतायी जाती हैं। (१) 'भाषाभूषण', (२) 'सिद्धान्तबोध', (३) 'आनन्दविलास', (४) 'अपरोक्ष सिद्धान्त', (५) 'अनुभव प्रकाश', (६) 'सिद्धान्तसार' नामक ६ मौलिक कृतियाँ तो सभी के द्वारा स्वीकृत हैं किन्तु भगवती प्रसाद सिंह ने इनका एक सातवाँ ग्रन्थ 'इच्छा—विवेक' भी बताया है। इन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक कृष्ण मिश्र के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया था। इस प्रकार इनकी कुल आठ पुस्तकें हैं, जिनमे 'भाषाभूषण' उनके आचार्य पक्ष को सिद्ध करनेवाला अलंकार—निरूपण का ग्रन्थ है, शेष ज्ञान तथा वैराग्य सम्बन्धी कृतियाँ हैं। 'भाषाभूषण' सन् १६४४ की रचना है और 'इच्छा—विवेक' सन् १६६८ की। 'प्रबोध चन्द्रोदय' का रचनाकाल सन् १६४३ है। यह ब्रजभाषा गद्य तथा पद्य में लिखा गया है। अनुवाद बहुत सुन्दर और अक्षरशः मूल के अनुकूल रहने का प्रयत्न करते हुए किया गया है। जोधपुर पुस्तकालय में इसकी एक हस्तलिपि सुरक्षित है। सोमनाथ गुप्त तथा वीरेन्द्र शुक्ल ने कलात्मक दृष्टि से इसे हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक बताया है। यों इसमें नाटकीयता कम है और आध्यात्मिक तत्त्वों का विश्लेषण अधिक किया गया है। हिन्दी में इस नाटक के लगभग एक दर्जन अनुवाद हुए और इसकी शैली से प्रभावित होकर अन्य रचनाएँ भी प्रकाश में आयीं। भारतेन्दु से पूर्व शाहजहाँ के मुंशी कनवासीदास का फारसी अनुवाद 'गुलजारे हाल' अनाथदास, सुरति मिश्र, ब्रजवासीदास, कविवर आनन्द, गुलाबसिंह, नानकदास, धौकल मिश्र, हरिवल्लभ, जन अनन्यकृत अनुवादों के साथ उल्लिखित होता है और भारतेन्दु के समय भी शीतलाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद चौधरीकृत अनुवादों का नाम लिया जाता है। इसमें महाराज जसवंतसिंहकृत अनुवाद शुद्ध अनुवाद की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय है।

'भाषाभूषण' की रचना चन्द्रालोक—शैली में अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' से प्रभावित होकर की गयी है। जसवंतसिंह महाराज को न तो किसी आश्रयदाता को स्वरचित उदाहरण देकर प्रसन्न करने की चिन्ता थी, न राजसभाओं में दूसरे कवियों को अपने पदों के वैचित्र्य से हतप्रभ करने की ही आवश्यकता थी। वे इन दोनों स्वार्थों से मुक्त रहे, अतएव उन्होंने लक्षणोदाहरण की स्पष्टता और यौक्तिकता का विशेष ध्यान रखा है। अलंकारों को वे जितने सच्चे और सही रूप में समझा सकते थे, उन्होंने उसका पूरा प्रयत्न किया है। इसके लिए इन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का सहारा लेकर सरल रूप में लक्षणोदाहरणों को एक ही दोहे में प्रस्तुत करते हुए अद्भुत सफलता का परिचय दिया है। यद्यपि इन्होंने अलंकारों का विवेचन किया है, तथापि जयदेव के समान काव्य में अलंकारों को अनिवार्य मानकर ये नहीं चले हैं। इनके इस ग्रन्थ का परवर्ती आचार्यों के विवेचन तथा उनकी शैली पर विशेष प्रभाव पड़ा है तथा आज तक इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं और उनके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। स्वयं पद्माकर इनसे प्रभावित जान पड़ते हैं। रामसिंह के 'अलंकारदर्पण' में दिये गये लक्षणों पर इनका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' में इन्हीं से प्रभावित होकर अर्थालंकारों का वर्णन किया है। इनके बाद श्रीधर ओझा ने अपने 'भाषाभूषण' नामक ग्रन्थ मे इनका ही अनुकरण किया है। साराशं यह है कि महाराज जसवन्तसिंह की प्रतिभा कई रूपों में विकसित हुई है। वे सफल आचार्य तो थे ही, वेदान्त-विशेषज्ञ तथा अनुवादक भी थे। इनकी रचनाओ का उत्तम संकलन जसवन्तसिंह ग्रंथावली नाम से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा शीघ्र निकल रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० का० इ०; हि० अ० सा०; दि० भू०; हि० ना० उ० वि० : दशरथ ओझा; ना० सा० आ० अ० : वेदपाल खन्ना]

—आ० प्र० दी०

जसवंतसिंह (द्वितीय)—बघेल क्षत्रिय हम्मीर सिंह के पुत्र तथा तिरवा कन्नौज के पास के राजा थे। 'शिवसिंह सरोज' से सन् १८०० ई० के लगभग इनकी उपस्थिति तथा सन् १८१५ के लगभग इनकी मृत्यु की सूचना मात्र मिलती है। जन्मतिथि का कोई पता नहीं चलता। केवल १८०० ई० के आसपास आपका रचनाकाल माना गया है। सस्कृत भाषा तथा फारसी के पण्डित, अमूल्य ग्रन्थों के बृहद् भाण्डार के स्वामी, ग्वाल कवि के आश्रयदाता और सिद्धहस्त साहित्य—रसिक कवि के रूप में आपकी ख्याति है। 'सरोज' में आपके 'श्रृंगार—शिरोमणि' (पं● कृष्णबिहारी मिश्र के संग्रह में सीतापुर में हस्तलिखित प्रति), 'शालिहोत्र' तथा 'भाषाभूषण' नामक तीन ग्रन्थ बताये गये हैं, जिनमें 'भाषाभूषण' भ्रम से इनके नाम लिखी गयी जान पड़ती है। यह रचना जसवन्त सिंह महाराज प्रथम की है। 'श्रृंगार शिरोमणि' सम्भवतः १८०० ई० के आसपास की श्रृंगार रस का विस्तृत विवेचन करनेवाली रचना है, जिसमे श्रृंगार रस को रस—शिरोमणि के रूप में प्रतिष्ठित किया गया हैं। इसमें उत्पन्न होते हुए रस के प्रथम विकार को स्थायीभाव कहा गया है और रति के श्रवण तथा दर्शन नामक दो भेद किये गये हैं। विशेषता इस बात में है कि नायक के सहायक नर्मसचिव आदि के ज्ञानभेद से वैयाकरणी, नैय्यायिक आदि बहुत से भेद बताये गये हैं, जो अपने—अपने सिद्धान्तो के अनुकूल प्रेम की बातें सिखाते हैं। इसके छः अंगों में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, संचारी भाव तथा हावों का वर्णन है। विवेचन विद्वित्तापूर्ण नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; दि० भू० (भूमिका)।]

आ० प्र० दी०

जहाँगीरजसचंद्रिका—यह केशवदास की कृति है और इसका रचनाकाल १६१२ ई० है। इसका मुद्रण 'केशवग्रन्थावली' के तृतीय खण्ड में हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद से सन् १९५९ ई० में हुआ है।

यह केशवदास की सबसे अन्तिम प्राप्त रचना है। इसमें २०१ छन्दों में जहाँगीर के दरबार का वर्णन है। दरबार में अब्दुर्रहीम खानखाना के पुत्र एलचशाह ने केशव से पूछा कि उद्यम बड़ा है या कर्म। इस पर उद्यम और कर्म (भाग्य) के संवादरूप में कथा का विकास होता है। कथा यों बतायी गयी है कि कभी गंगातट पर उदय और भाग्य शरीरी के रूप में बैठे थे। किसी दरिद्र ब्राह्मण ने उनसे दरिद्रता दूर होने का उपाय पूछा। उसकी पृच्छा पर उदय और भाग्य ने क्रमशः उद्यम और

कर्म का पक्ष लेकर विवाद प्रारम्भ किया। वाद—विवाद बहुत बढ़ जाने पर आकाशवाणी हुई कि आप मथुरापुरी के भूतेश महादेव के निकट जाकर अपना निर्णय करा ले। भूतेश ने उन्हें जहाँगीर के पास भेज दिया। वहाँ जाकर उन्होंने जहाँगीर का दरबार देखा। प्रश्नोत्तर के रूप में उसके दरबारियों का उन्होंने वर्णन किया। उदय और भाग्य ने विप्र वेश मे बादशाह से पूछा कि उद्यम और कर्म में कौन बडा है। उसने उत्तर दिया—"जग में उद्दिम कर्म ये मेरे जान समान।" जहाँगीर के सम्बन्ध मे केशव ने लिखा है—"केसवराय जहाँन मे कियो राय ते राज'।

इसमें कोई ऐतिहासिक वृत्तान्त तो नहीं है पर जहाँगीर के दरबार का प्रत्यक्षदर्शी के रूप में वर्णन, उसके दरबारियों और उनके देशों का उल्लेख तथा बादशाह और उसके दरबारियों का प्रशस्ति—गायन होने से इसका भी कुछ ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

'रामचन्द्रिका' में धनुषयज्ञ के प्रसग मे सुमति और विमति का जैसा संवाद विभिन्न नरेशो के वर्णन में संस्कृत के नाटक प्रसन्नराघव के आधार पर रखा गया है, वैसा ही सवाद नूतन उद्भावनपूर्ण उदय और भाग्य के द्वारा जहाँगीर के दरबारियों के सम्बन्ध में इसमें दिया गया है। 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' में अधिकाश में कवित्त—सवैयों को अपनाया गया है। दोहे को छोड़कर अन्य छन्द बहुत ही कम प्रयुक्त है।

—वि० प्र० मि०

जहूरबख्श—जन्म १८९९ ई० में सागर में हुआ। अध्यापक वृत्ति स्वीकार की और हिन्दी साहित्य आपको अध्यापक जहूरबख्श के नाम से ही जानता है। चुस्त और मुहावरेदार खड़ीबोली लिखने में आप जैसी कुशलता कम ही लेखकों में मिलेगी। बालोपयोगी साहित्य का भी सृजन किया है। मूलतः आप पारिवारिक वृत्त के लेखक रहे हैं। प्रकाशित कृतियाँ 'मजेदार कहानियाँ' (१९२३) 'मनोरंजक कहानियाँ' (१९२५), 'समाज की चिनगारियाँ' (१९२८), 'शबनम' (१९५०), 'स्फुलिंग' (१९३१), 'हवाई कहानियाँ' (१९३५), 'हम पिरशीडण्ट हैं' (१९५५), 'गुलिस्ताँ' (१९५६)। कुल रचनाओं की संख्या लगभग १७५ है। 'शबनम' रूसी भाषा में अनुवादित और प्रकाशित (१९६१) हुई है।

जांबवंत (जामवंत)—जामवन्त के सम्बन्ध में सम्भावना की जाती है कि वे कोई अनार्य राजा थे। पौराणिक स्रोतों के अनुसार जाम्बवन्त ब्रह्मा के पुत्र थे। त्रेता में राम—रावण युद्ध में जाम्बवन्त राम के सहायक थे। द्वापर में स्यमंतक मणि (दे० 'अक्रूर') के लिए कृष्ण ने जाम्बवन्त से युद्ध किया था। संघर्ष के अनन्तर जाम्बवन्त ने अपनी कन्या जाम्बवती तथा स्यमंतक मणि कृष्ण को समर्पित कर दी। मध्ययुग के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' में नाभादास के अनुसार जाम्बवन्त राम के अग्रगण्य भक्त थे। रामकथा काव्यों ('वाल्मीकि—रामायण', 'रामचरित मानस', 'रामचंद्रिका' आदि) तथा कृष्ण काव्यों ('सूरसागर', 'भागवत के भाषानुवाद', 'कृष्णायन— आदि) में जाम्बवन्त का चरित्र क्रमशः राम और कृष्ण भक्त के रूप में वर्णित हुआ है।

—रा० कु०

जातुधान—जातुधान मूलतः संस्कृत की 'यातु' धातु से निर्मित तद्भव रूप है। 'यातु' का शाब्दिक अर्थ है 'निकृष्ट आत्मा' तथा 'धान का अर्थ है 'धारण करना'। आगे चलकर निकृष्ट आत्मा के धारण करने के कारण 'जातुधान' राक्षस के अर्थ मे रूढ़ हो गया। वाल्मीकीय रामायण मे 'यातुधान' रावण की सेना विशेष का संकेतक है। इस सेना का संचालक खरदूषण था। तुलसी ने वाल्मीकि के अनुकरण पर 'जातुधान' शब्द राक्षसों की सेना के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया है।

—रा० कु०

जान कवि—राजस्थान में सीकर के समीप फतहपुर में मुसलमानी शासनकाल में कायमखानी नवाबों का राज्य था। फतहपुर को नवाब खाँ ने बसाया था। इसी के खानदान में न्यामत खाँ हुए, जो जान उपनाम से कविता करते थे। जान के समय की निश्चित तिथियाँ ज्ञात नहीं हैं, किन्तु अपनी कृतियों में जान ने रचनाकाल का उल्लेख किया है, जिसके आधार पर जान का रचनाकाल १६१४—१६६४ ई० ठहरता है। संस्कृत, अरबी, फारसी, ब्रजभाषा पर जान का अच्छा अधिकार था। 'कायम रासो' में जान के कायमखानी वंश का इतिहास विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। जान की छोटी बड़ी ७६ रचनाओं का पता चला है, जिनमें 'कायमखाँ रासो' जैसी एकाध कृति ही प्रकाशित हुई है। प्रेम—कथाओं मे 'कनकावती', 'कामलता', 'मधुकर मालती', 'रतनावली', 'छीता' आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। प्रेम—कथाओं के अतिरिक्त नाममाला अनेकार्थी कोश जैसी रचनाएँ भी मिलती हैं। श्रृंगार रस से सम्बन्धित कृतियाँ ही अधिक हैं। जानकी कृतियों में कहानीकार की क्षमता मिलती है, काव्य की दृष्टि से वे विशेष महत्त्व की नहीं है। जान की भाषा सरल, प्रवाहयुक्त है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थान का पिंगल साहित्य : डा० मोतीलाल मेनारिया, बम्बई, १९५८ ई०; हिन्दुस्तानी, भाग ५, अंक ३; कायमखाँ रासो, जयपुर, १९५३।]

—रा० तो०

जानकी मंगल—गोस्वामी तुलसीदास की एक रचना। इसमें सोहर और हरिगीतिका छन्दों में राम—सीता—विवाह वर्णित है। रचना के मुद्रित पाठ में १९२ सोहर की द्विपदियाँ और २४ हरिगीतिकाएँ हैं। इस रचना का एक अन्य पाठ भी मिलता है, किन्तु वास्तव में वह इससे भिन्न रचना है, नाम मात्र का इससे साम्य है। वह किन्हीं बालकृष्ण की कृति है। इस रचना में राम—सीता—विवाह का वर्णन प्रायः उतने ही विस्तार से किया गया है, जितने विस्तार से वह 'रामचरित मानस' में मिलता है।

किन्तु राम—विवाह के सीमित कथा—विस्तारों की भी यदि दोनों में तुलना की जाय तो दोनों में कुछ अन्तर दीख पड़ेगा। उदाहरणार्थ, इसमें धनुर्भंग के पूर्व का वह पुष्प—वाटिका—विहार का प्रसंग नहीं है, जो 'मानस' में आता है; परशुराम विवाद इसमें 'मानस' की भाँति स्वयम्बर—भूमि में न होकर बारात की वापसी में अयोध्या के मार्ग में होता है और विवाद में लक्ष्मण नहीं सम्मिलित होते हैं, जैसे वे 'मानस' में हुए हैं। 'रामाज्ञा—प्रश्न' भी इसी प्रकार 'मानस' से भिन्न है।

दूसरी ओर इसमें भी 'मानस' के समान ही कुछ प्रसंग आते हैं, जो 'रामाज्ञा—प्रश्न' में नहीं आते हैं, यथा—बन्दीजन का जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करना और लक्ष्मण का धनुर्भंग के

पूर्व दिक्पालो को सावधान करना।

इसके साथ ही यह भी दर्शनीय है कि 'जानकी मगल' और 'मानस' की शैली, शब्द और उक्ति—योजनाओ मे पर्याप्त साम्य है। इसलिए यदि यह मान भी लिया जाय कि 'मानस' मे मिलनेवाले और 'रामाज्ञा प्रश्न' से भिन्न जो कथा विस्तार रामाज्ञा प्रश्न मे नही आते है, वे 'रामाज्ञा प्रश्न' में इस कारण भी न आये हो कि वह एक अति संक्षिप्त रूप में रामकथा को प्रस्तुत करती है, तो भी शैली शब्द और उक्ति—योजनाओं—विषयक 'मानस' और 'जानकी मंगल' का साम्य विचारणीय है और इसका समाधान कदाचित् यही है कि 'जनकी मंगल' 'मानस' से (सं० १६३१) पूर्व की किन्तु 'रामाज्ञा प्रश्न' (स० १६२१) से बाद की रचना है। इसलिए यदि 'जानकी मगल' का समय दोनों के बीच मे सं० १६२६ के लगभग रखा जाय, तो कदाचित् हम वास्तविकता से दूर न होगे।

—मा० प्र० गु०

जानकी वल्लभ शास्त्री—जानकी वल्लभ शास्त्री का जन्म गया जिले के मैगरा गांव के एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार मे २ जनवरी, १९१६ ई० को हुआ। १९३१ ई० तक वह प्राय अपने पिता के पास रहकर ही अध्ययन कार्य करते रहे। १९३२ से १९३८ ई० की अवधि रचनाकार जानकी वल्लभ की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस बीच काशी विश्वविद्यालय में रहकर उन्होंने अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत करके साहित्याचार्य आदि उपाधियाँ ही नहीं ग्रहण कीं बल्कि निराला आदि कवियों के संपर्क और प्रभाव के कारण संस्कृत से हिन्दी में काव्य रचना करने की ओर उन्मुख भी हुए। उनकी प्रथम रचनात्मक कृति 'काकली' १९३५ ई० में संस्कृत भाषा में प्रकाशित हुई। इस कृति में जयदेव और विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट है। साधनों के अभाव में शास्त्री जी को १९३८ ई० में नौकरी करनी पड़ी। लाहौर में अध्यापन कार्य, रायगढ़ में राजकवि का दायित्व स्थायी न रहा। १९४० से १९४४ तक प्राइवेट ट्यूशन के द्वारा जीविकोपार्जन करना पड़ा। १९४४ ई० से १९५२ ई० तक गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, मुजफफरपुर में साहित्य विभाग के अध्यक्ष रहे। रामदयाल सिंह कालेज, मुजफफरपुर में हिन्दी—संस्कृत के प्राध्यापक रहकर अवकाश ग्रहण किया।

शास्त्री जी की रचनात्मक शक्ति के आकलन के लिए अब तक प्रकाशित उनकी निम्न कृतियाँ द्रष्टव्य हैं। काव्य—'काकली' (१९३५ ई०), 'रूप-अरूप' (१९३६ ई०), 'गाथा' (१९४२ ई०), 'तीर तरंग' (१९४४ ई०), 'शिप्रा' (१९४५ ई०), 'मेघगीत' (१९५० ई०), 'उत्पलदल' (१९६७ ई०), 'अवन्तिका' (१९५३ ई०), 'राधा'—महाकाव्य (१९७१ ई०)। 'एक किरण सौ झांइयां' (१९६८ ई०), 'तमसा' (१९६८ ई०), 'पाषाणी' (१९५८ ई०)। कहानी—'कानन' (१९४१ ई०), 'अपर्णा' (१९४२ ई०), 'लीलाकमल' (१९५७ ई०)। संस्मरण—'स्मृति के वातायन' (१९६८ ई०)। निबन्ध—आलोचना—'साहित्य दर्शन' (१९४२ ई०), 'त्रयी' (१९५६ ई०), 'चिन्ताधारा' (१९५५) 'प्राच्य साहित्य' (१९५७ ई०) 'महाकवि निराला' (१९६३ ई०)।

शास्त्री जी मूलतः छायावादी कवि हैं। वे 'माधुरी' के माध्यम से निराला जी की प्रेरणा के कारण हिन्दी मे आये। उनके काव्य मे छायावादी आवेग और भाषा सस्कार निरंतर वर्त्तमान है। शास्त्री जी छंद, लय आदि सरचनात्मक उपादानो को महत्व देने के साथ ही साथ रचना मे सास्कृतिक सम्प्रेषण का बराबर ध्यान रखते हैं। सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ और पंडित होने के कारण उन्हे शब्दो और उनकी सामर्थ्य का ज्ञान भी अद्भुत है। उनके प्रथम हिन्दी काव्य सग्रह 'रूप अरूप' मे दार्शनिकता अनुभूति का आधार बनकर नही, बल्कि अनुभव के रूप में प्रयुक्त हुई है। शास्त्री जी के सभी काव्यो और 'पाषाणी' जैसे गीति नाट्यों मे सास्कृतिक गरिमा मिथकों के माध्यम से अवश्य प्रयुक्त है। वे अपने अनुभव के अनुकूल प्रतीको की खोज उर्वशी, राधा, शिप्रा आदि सांस्कृतिक मिथको में से करते हैं, परन्तु समकालीन अन्तर्विरोध और अन्तःसघर्ष के आधार पर उनको अपने अनुभव के सम्प्रेषण का कालहीन माध्यम बना देते है। शास्त्री जी राग और रागिनियो को भी सजगतापूर्वक अपने गीति नाट्यों में प्रयुक्त करते है। उनके काव्यो पर भी इसका प्रभाव है। 'शिप्रा' और 'तीरतरग' मे असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि है। रसवादी आचार्य होने के कारण ही नहीं बल्कि व्यक्तित्व से संवेदनशील होने के कारण भावुकता इन कृतियों में कही—कहीं विह्वलता का रूप ले लेती है। निराला जी के प्रति श्रद्धाभाव ने रचनाकार जानकी वल्लभ को अधिक लाभ नहीं पहुँचाया।

शास्त्री जी की कहानियों में प्रेम की परिणति और सामाजिक स्थिति का अन्तर्विरोध प्रमुख है। 'कानन' नामक कहानी संग्रह की सभी कहानियाँ एक प्रकार की नासमझी को सकेतिक करती है। 'विनाश के पथ पर' और 'वेश्या' कहानी शास्त्री जी की संस्कारवादी दृष्टि की मानवीयता और व्यवस्था की अनैतिकता के दबाव को उद्घाटित करती है। 'अपर्णा' और 'लीलाकमल' नामक संग्रहो की कहानियों मे भी मानव बनाम परिस्थिति और मानव बनाम समाज का द्वन्द्व प्रमुख है। भाषा कहानी की रचनात्मक शक्ति को संतुलित करती चलती है। वस्तुतः शास्त्री जी कहानीकार की अपेक्षा कवि ही अधिक है।

'साहित्य दर्शन' और 'प्राच्य साहित्य' के निबन्धों की दृष्टि तुलनात्मक और पांडित्यपूर्ण है। 'साहित्य दर्शन' में साहित्य, राजनीति, धर्म—दर्शन आदि के अलगाव और समत्व पर भी कई निबन्ध हैं। इस संग्रह में 'निराला की काव्यकला' नामक निबन्ध गुणात्मकता की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है। 'त्रयी' में पंत, प्रसाद और निराला का मूल्यांकन निश्चय ही शास्त्री जी की काव्यात्मक चेतना का प्रमाण है। यद्यपि तुलनात्मक प्रभाववादिता भी विद्यमान है। शास्त्री जी की कवियों संबधी आलोचना में प्रभाववादिता प्रायः परिलक्षित होती है।

उपन्यासों और नाटकों में घटना और कौतूहल की स्थिति के साथ ही साथ अतीत के प्रति श्रद्धा का भाव भी मिलता है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद इन कृतियों का गुण है। शास्त्री जी के संस्मरण अद्भुत हैं। 'स्मृति के वातायन' संस्मरणों की सजीवात्मकता की दृष्टि से यथार्थ की तथता के बावजूद उत्तम कृति है। शास्त्री जी विदग्ध गीतकार, सजग कवि और पण्डित आलोचक हैं।

—स० प्र० मि०

जाबालि—प्राचीन स्रोतों से जाबालि नामक चार ऋषियों का

उल्लेख प्राप्त होता है—

१.इस नाम के एक प्रसिद्ध ऋषि राजा दशरथ के मन्त्री तथा पुरोहित थे। ये एक महान् दार्शनिक थे। जाबालि ऋषि ने राम को निज मतावलम्बी बनाने की चेष्टा की, किन्तु राम ने इनके मत का विरोध किया। ये एक नैय्यायिक थे। किसी विशेष कारण से इन्होंने अपने अनीश्वरवादविषयक मत प्रकट किये। ये हरिभक्त थे। नाभादास ने इन्हें प्रमुख हरिभक्तों की श्रेणी में रखा है। 'रामचरितमानस', 'साकेत' आदि रामकथा—काव्यों मे इनका उल्लेख है।

२. मन्दराचल पर्वत पर निवास करनेवाले एक तपस्वी महर्षि जाबालि का उल्लेख हुआ है, जिन्होंने ऋतुम्भर नामक एक निःसन्तान राजा को विष्णु सेवा, गो—सेवा और शिव की आराधना का उपदेश दिया था। एक बार ये वन में गये और वहाँ उन्होंने एक परम सुन्दरी स्त्री को तपस्या करते देखा। इन्होंने उससे प्रश्न करना चाहा किन्तु उसका ध्यान नहीं हटा। अन्त में इन्हे मालूम हुआ कि वह कृष्ण की आराधना में मग्न थी। इससे इनके मन में कृष्णोपासना की भावना जगी और गोकुल में चित्रगन्धा नामक गोपी के रूप में जन्म लिया।

३. भृगु—कुलोत्पन्न एक जाबाल नामक स्मृतिकार। हेमाद्रि और हलायुध ने इन्हें आधार माना है।

४. विश्वामित्र के एक पुत्र जाबालि कहे गये हैं। ये एक प्रसिद्ध ऋषि थे।

जाबालि नामक उपर्युक्त ऋषि वस्तुतः परस्पर भिन्न—भिन्न व्यक्ति थे, यह नहीं कहा जा सकता।

—रा० कु०

जालंधरपा—नाथ संप्रदाय में जालन्धरपा का आदिनाथ के रूप में स्मरण किया गया है और उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का गुरु बताया गया है। जालन्धरपा को जलन्धरीपाँव, जलन्धरीपा भी कहा गया है। ये विभिन्न नाम जलन्धरपाद के विकृत रूप हैं। किसी का अनुमान है कि इनका मूल नाम जालधारक (जाल धारण करने वाला) था और यह मछुए जाति के थे किन्तु तिब्बती परम्परा में इन्हें भोगदेश का निवासी पण्डित (ब्राह्मण) माना गया है। राहुल सांकृत्यायन ने इनके चार शिष्यों—कर्णपा, मीनपा, धर्मपा, और तन्तिपा का उल्लेख किया है। मीनपा अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ को जनश्रुति के अनुसार जालन्धरपा का गुरु—भाई भी बताया गया है। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में गोरक्षपाद ने इन्हें नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तकों में गिनाया है। स्वयं जालन्धरपा ने अपनी कृति 'विमुक्त मंजरी' में अपनने को आदिनाथ कहा है। चन्द्रनाथ योगी द्वारा रचित 'योगि सम्प्रदाय विष्कृति' में एक कथा दी गयी है, जिसमें बताया गया है कि इनकी उत्पत्ति गुप्त साम्राज्य के उच्छेदक बृहद्रथ द्वारा रचित यज्ञ की अग्नि से हुई थी और इसी कारण इनका नाम जलेन्द्रनाथ पड़ा था। जलेन्द्रनाथ जलन्धरपाद के रूप में बदल गया। इन उल्लेखों से प्रकट होता है कि जालन्धरपा सिद्ध सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्यों में से एक है। यदि उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का गुरुभाई स्वीकार किया जाय तो उनका समय आठवीं—नवीं शताब्दी ठहरता है। गोपीचन्द की कथा में जालन्धरपा को गोपीचन्द की माता मैनामती का गुरु बताया गया है। इससे भी जालन्धरपा का समय आठवीं—नवीं शताब्दी ही जान पड़ता है। जालन्धरपा मूल रूप में पंजाब के निवासी बताये गये है। कहा जाता है कि जालन्धर नगर उन्ही के नाम पर बसाया गया था। वहाँ पर उनका एक मठ या पीठ था, जहाँ आज भी एक टीला उनकी स्मृति को सुरक्षित किये हुए है।

जालन्धरपा की दो पुस्तकें मगही भाषा मे रची बतायी गयी हैं—'विमुक्त मजरी गीत' और 'हुँकार चित्त विन्दुभावना क्रम'। इन पुस्तकों मे साधना के विभिन्न उपक्रमो और सिद्धि की अवस्थाओ का वर्णन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' के अन्तर्गत जालन्धरपाद के पद शीर्षक से इनके १३ पद (सबदी) दिये गये है। इनके पदो का विषय गुरु, ज्ञान, निरंजन, धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि का वर्णन है। पाँचवीं सबदी में गोपीचन्द का उल्लेख है, जिससे इनके समय का अनुमान किया जा सकता है। जालन्धरपा की पाँच संस्कृत रचनाओं का भी उल्लेख किया गया है किन्तु उनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। 'वज्र प्रदीप' पर लिखी इनकी टीका 'शुद्धि वज्र प्रदीप' नाथ परम्परा में प्रसिद्ध है।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; योग प्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं

जालपा—प्रेमचन्दकृत 'गबन' की पात्र। सामन्ती वातावरण मे पली जालपा रमानाथ की पत्नी है। एक ओर तो वह रमानाथ जैसे दुर्बल मनोवृत्तिवाले व्यक्ति की पत्नी है, दूसरी ओर उसमें आभूषणो, विशेषतः चन्द्रहार के प्रति उत्कट प्रेम है। उसके पति ने घर की वास्तविक स्थिति छिपाकर उसका आभूषण—प्रेम और भी अधिक तीव्र कर दिया। इसके अतिरिक्त जालपा में आत्म—सम्मान की तीव्र भावना है। वह माँ का भेजा हुआ चन्द्रहार वापस कर देती है किन्तु जालपा है दृढ़ चरित्र की नारी। जब उसे घर की वास्तविकता और पति की दुर्बलता का पता लग जाता है तो वह अपने आभूषण—प्रेम पर विजय प्राप्त कर गबन का रुपया चुका देती है। ऐसा कर उसने अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त करने की शक्ति और अवसरानुकूल कार्य करने की क्षमता प्रकट की किन्तु उसके चरित्र में एकाएक परिवर्तन हो जाता है। यदि धीरे—धीरे होता तो अधिक स्वाभाविक लगता। वह सदैव साहस और धैर्य से काम लेती है और अन्त में पति को खोज ही नहीं लेती, वरन् उसे सुधार भी देती है। जालपा का चरित्र ऊर्ध्वगामी है और वह नारीजीवन का आदर्श प्रस्तुत करती है। वह परिस्थितियों से टक्कर लेती है। जालपा जाग्रत् नारीत्व का आदर्श लिए हुए है।

—ल० सा० वा०

जाहरपीर—ये मुसलमानों के पंचपीरों में से एक प्रधान पीर हैं। गुरु गुग्गा और जाहर पीर, दोनों एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। टेम्पुल महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी लीजेण्ड्स ऑव दी पंजाब' में लिखा है कि, "गुग्गा की समस्त कहानी महान् अन्धकार में पड़ी हुई है। आजकल वह मुसलमानों के प्रधान फकीरों में से हैं। ये जाहर पीर के नाम से भी विख्यात हैं।"

जगदीश सिंह गहलोत का कथन है कि "गौगा या गुग्गा पंजाब के हरियाना जिले के मेहरी नामक गाँव का चौहान राजपूत था। सं० १३५३ मे दिल्ली के बादशाह फिरोजशाह द्वितीय के सेनापति अश्वक से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। हिन्दू इसे देवता तुल्य मानकर भादों बदी नवमी को इसकी जयन्ती मनाते हैं। मुसलमान इसे जाहर पीर के नाम से पूजते हैं।" इन दोनों उद्धरणों से गुग्गा और जाहर पीर अभिन्न व्यक्ति ठहरते हैं। गुग्गा की कथा से पता चलता है कि उसकी माता बद्दल और पिता देवराय थे। इसका विवाह कामरूप, आसाम के राजा सजा की बेटी सिरियल से हुआ था। गुग्गा विषवैद्य था। यह सर्पों के द्वारा काटे गये मनुष्यों के जहर को अपने प्रभाव से नष्ट कर देता था। सम्भवतः इसीलिए मुसलमान लोग इसे जहर, वीषपीर, साधु या जाहर पीर के रूप में पूजते हैं। इसने संजा की बेटी सिरियल के सर्प—दंश को दूर कर दिया था।

देवी के जागरण की भाँति ब्रज में एक जागरण जाहर पीर का भी होता है। एक पट, जिसे चन्दोवा कहते हैं, टाँग दिया जाता है। इस पट पर जाहर पीर सम्बन्धी विविध वृत्तों के चित्र कढ़े रहते हैं। वहीं मोरछली की एक ध्वजा बाँस में बाँधकर खड़ी कर दी जाती है। इस जागरण में जाहर पीर का गीत गाया जाता है। मारवाड़ तथा पंजाब में जाहर पीर की पूजा का बड़ा प्रचार है। वहाँ नाग पंचमी के दिन, जिसे गुग्गा पंचमी कहते हैं, इसकी पूजा होती है।

—कृ० दे० उ०

जाह्नवी—'रंगभूमि' में जाह्नवी के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपना नारी—संबंधी आदर्श प्रस्तुत किया है। वह इन्दु और विनय की माँ है। विनय को वह यदि स्वदेशानुरागी, सेवाव्रती और कर्त्तव्य—परायण आदि बनाना चाहती है, तो इन्दु को पति—परायण बनाने में तत्पर रहती है। वह विनय और इन्दु दोनों पर कठोर अनुशासन रखती है किन्तु इस कठोरता के पीछे अगाध वात्सल्य छिपा हुआ है। उसकी कोमल काया में उच्च और परिष्कृत विचार छिपे हुए हैं। वह स्त्री जाति के प्रति सदिच्छाओं से पूर्ण है और भारतीय नारी की अवनति को ही भारत की अवनति का कारण समझती है। मिथ्यावाद, स्वार्थवाद और जड़वाद से वह ऊपर उठना चाहती है। उसमें कुल—मर्यादा और भारतीय धर्म की श्रेष्ठता का ख्याल बराबर बना रहता है। वह सोफी की आत्मा पर मुग्ध है, किन्तु जबतक उसे यह शंका बनी रहती है कि वह (सोफी) विनय के कर्त्तव्य—पथ में बाधक सिद्ध होगी तभी तक वह दोनों को अलग रखना चाहती है। सोफी और विनय की तपस्या और उनकी पवित्र आत्माओं को जब वह पहचान जाती है तो उसका वास्तविक मातृत्व प्रकट होने लगता है। वात्सल्य के कारण उसमें भी कभी—कभी कमजोरी दृष्टिगोचर होती है किन्तु विनय की मृत्यु के बाद वह तपस्विनी का वेष धारणकर बड़ी स्फूर्ति और तत्परता के साथ सेवक—दल का संघटन और संचालन करने में संलग्न हो जाती है।

—ल० सा० वा०

जॉन गिलक्राइस्ट—(१७५९—१८४१) जन्म एडिनबरा में हुआ। उन्होंने वहाँ के जार्ज हेरियट्स अस्पताल में चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण की। १७८३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में सहायक सर्जन होकर भारत आये। तब तक शासन कार्य फारसी में होता था। जॉन गिलक्राइस्ट ने फारसी के स्थान पर शासनकार्य को हिन्दुस्तानी के माध्यम से चलाने की बात सोची। वे स्वयं अध्ययन करते रहे और दूसरों को भी इस बात के लिए प्रेरणा देते रहे।

डिक्शनरी के लिए सामग्री जुटाने के लिए उन्होंने गाजीपुर में (१७८७—१७९४) नील की खेती और अफीम का कार्य शुरू किया। इसी सिलसिले मे वे कुछ दिन बनारस में भी रहे और इस प्रकार गहन अध्यवसाय के बाद १७८७-१७९० ई० में 'डिक्शनरी इंग्लिश ऐण्ड हिन्दुस्तानी' के दो भाग प्रकाशित किये।

१७७४ में वे कलकत्ता में निवास करने लगे। वहीं उन्होंने 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' (१७९६-९८) तथा 'ओरियण्टल लिंग्विस्ट' १७९८ ई० में लिखा।

इन्हीं दिनों कम्पनी के विदेशी कर्मचारियों को फारसी और हिन्दुस्तानी सिखाने की एक योजना तैयार की गयी। १७७८ से परीक्षाएँ भी आरम्भ कर दी गयीं। 'ओरियण्टल सेमिनरी' नामक एक सरकारी सस्था का भी जन्म हुआ। लार्ड वेलेजली के आने पर फोर्ट विलियम कॉलेज में जॉन गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी भाषा के विभागाध्यक्ष हो गये।

१८०० ई० मे 'ओरियण्टल लिंग्विस्ट' का संक्षिप्त संस्करण निकला। १८०२ ई० में 'हिन्दुस्तानी टेल्स एण्ड प्रिंसिपल्स', 'पालिग्लॉट' और 'गुलिस्ताँ' के अनुवाद प्रकाशित हुए।

१८०३ ई० में 'द हिन्दी मारल प्रेसेप्टर' लिखा। १८०४ में 'ए कलेक्शन ऑफ डायलाग्स' की रचना की। इसी बीच लल्लूलाल और सदल मिश्र को वे फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी पढ़ाने के लिए ले गये।

१८०४ में वे यूरोप चले गये। उनका कार्यक्षेत्र प्रायः लन्दन रहा। उन्हें एडिनबरा से एल—एल० डी० की उपाधि मिली। यूरोप में रहकर वे कोई रचना प्रकाशित न कर सके। निजी रूप से वे १८१६—२६ तक पढ़ाते रहे। पहले वे 'ओरियण्टल इन्स्ट्रक्टर' रहे, फिर हिन्दुस्तानी की कक्षाएँ लेने लगे।

'डिक्शनरी इंग्लिश ऐण्ड हिन्दुस्तानी' में अधिकांश शब्द अरबी फारसी के हैं। इसमें शब्द फारसी लिपि में हैं।

'हिन्दुस्तानी ग्रामर' में फारसी छन्दों के उदाहरण हैं। पारिभाषिक शब्दावली अरबी फारसीकी है। उद्धरण उर्दू साहित्य से भी दिये गये हैं, जैसे वली, दर्द, ताबाँ, अफजल, जुरअत, मीर, सौदा, बेदार आदि।

'मिलिट्री—टर्म्स', 'आर्टिकिल्स ऑफ वार', 'टेल्स ऐण्ड एनेक्डोट्स', 'ओड्स', 'स्ट्रेन्जर्स गाइड', 'हिन्दी डिक्शनरी' (१८०२) भी हिन्दुस्तानी व्याकरण हैं।

'हिन्दी मैनुअल' मौलिक रचना नहीं, संग्रह है। इसमें अपने विभाग के अध्यापकों की कृतियों से विचित्र शैलियों के नमूने चुने गये हैं।

'हिन्दी स्टोरी टेलर' इनकी मौलिक रचना है।

'हिन्दी मारल प्रेसेप्टर' हिन्दी से फारसी और फारसी से हिन्दी का व्याकरण है। यह भी मौलिक नहीं है।

'हिन्दी रोमन आन ग्रैफिकल अल्टीमेटम' में रोमन लिपि

की श्रेष्ठता प्रमाणित की गयी है। यह भी मौलिक कृति है।

जॉन गिलक्राइस्ट की दृष्टि में 'हिन्दुस्तानी' दरबारी भाषा है। उन्होंने इसे हिन्दी, उर्दू, उर्दवी और रेखता भी कहा है। हिन्दवी को वे केवल हिंन्दुओं की भाषा मानते थे। इसे गँवारू कहते थे। शैली के लिए फारसी भाषा और लिपि का ज्ञान अनिवार्य मानते थे। उन्हीं के शब्दों में हिन्दुस्तानी हिन्दी, अरबी और फारसी का मिश्रित रूप है। वह भाषा आया, मुशी और खानसामा की भाषा है।

जॉन गिलक्राइस्ट के भाषा और लिपि सम्बन्धी दृष्टिकोणों से आज असहमति हो सकती है, किन्तु साहित्य के इतिहास में खड़ीबोली के आधुनिक गद्य के उन्नायक के रूप में उनका नाम सदाशयता से लिया जायेगा।

—ह० दे० बा०

जॉनसेवक—जॉन सेवक प्रेमचन्द कृत 'रंगभूमि' में "धन का देवता" है। वह भारतवर्ष में अकुरित नवीन पूँजावादी व्यवस्था और व्यावसायिक लोलुपता का प्रतीक है और व्यवहार तथा व्यापार—कुशल है। उसका व्यक्तित्व आकर्षक है। वह अनुभवशील और मानव—चरित्र का ज्ञाता है। जॉन सेवक जिस कार्य को हाथ में लेता है उसे किसी—न—किसी प्रकार पूरा कर ही लेता है—भले ही उसे साम्राज्यवादी और सामन्तवादी शक्तियों की सहायता लेनी पड़ती हो। उसका उद्देश्य सूरदास की जमीन और पाण्डेपुर गाँव लेना है। इसके लिए वह कानूनी विधानों, कूटनीति, धमकियों आदि सबका सहारा लेता है। उसका गिरजाघर जाना भी व्यावहारिक बुद्धि का परिचायक है। धर्म और व्यापार में वह कोई सम्बन्ध नहीं समझता। वह मानता है कि सफलता सब दोषों को ढक लेती है। उसमें राजनीतिक पृथकृत्व की भावना है, किन्तु वह भी व्यावसायिक दृष्टि से प्रेरित है। स्वार्थ की दृष्टि से ही राजभक्त है और स्वदेशी चीजों का समर्थक। सूरदास के साथ संघर्ष में वह जीता अवश्य था, किन्तु वह जीत कर भी दुखी था। इतने पर भी धन—प्रेम ही उसकी जीवनधारा का मुख्य स्रोत बना रहता है। उसके लिए संसार के अन्य सब धन्धे इसी एक बात के अन्तर्गत आते हैं किन्तु ऐसा व्यक्ति भी अपनी पत्नी से मजबूर है। मिसेज सेवक का उसपर पूर्ण आधिपत्य है।

—ल० सा० वा०

जी० पी० श्रीवास्तव—पूरा नाम गंगाप्रसाद श्रीवास्तव। हिन्दी के पाठकों मे आप जी० पी० श्रीवास्तव के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। जन्मस्थान छपरा, जिला सारन, बिहार प्रान्त। जन्मतिथि २३ अप्रैल १८९० ई० है। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए०, एल—एल० बी० की परीक्षा पास करके गोण्डा जिला में वकालत करते रहे। हिन्दी के हास्य—रस के लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। हास्य—रस की जिस परम्परा को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' में स्थापित किया था, आपने हास्य को उसी दिशा में विकसित किया है। आपकी प्रतिभा प्रायः सभी विधाओं में समान रूप से व्यक्त हुई है। नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता एवं शुद्ध परिकल्पना के आधार पर गल्प भी आपने लिखे हैं। कुल मिलाकर अबतक आपकी बाईस पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

कहानी संग्रह 'लम्बी दाढ़ी' १९१३ ई० मे प्रकाशित हुई। नाटक 'उलट फेर' १९१८ ई० और काव्यसंग्रह 'नोक झोंक' १९१९ ई० में प्रकाश में आया। १९३१ ई० में आपका प्रथम उपन्यास 'लतखोरी लाल' प्रकाशित हुआ जो आप के समय में बहुचर्चित उपन्यास रहा, १९३२ में दूसरा उपन्यास 'दिल की आग उर्फ दिल जले की आग' प्रकाशित हुआ। १९५३ में आपका एक नाटक 'बौछार' के नाम से प्रकाशित हुआ।

—ल० कां० व०

जीवन—ये लखनऊ के नवाब मुहम्मद अली (१८३७ ई०—१८४२ ई०) के आश्रित कवि थे। इनका जन्म १७४६ ई० में पुवायाँ (जिला शाहजहाँपुर) में हुआ था और इनके पिता चन्दन कवि थे। इन्होंने बरगाँव (जिला सीतापुर) के बरिबण्ड सिंह के आश्रय में 'बरिबण्ड विलास' की रचना की। इनका काव्य श्रृंगारपरक है।

—सं०

जीवाराम 'युगलप्रिया'—ये सारन (बिहार) निवासी पण्डित शंकरदास के पुत्र थे। घर पर पिता से व्याकरण और ज्योतिष पढ़कर इन्होंने उसी जिले के खरोंद नामक गाँव में मंसाराम से अष्टांग योग सीखा। इसके बाद पिता की अनुमति लेकर ये अयोध्या आये और रसिकाचार्य रामचरणदास का शिष्यत्व प्राप्त किया। इनकी चार कृतियाँ उपलब्ध हैं—'रसिक प्रकाश भक्तमाल' (१८३९ ई०), 'पदावली', 'श्रृंगार रसरहस्य' और 'अष्टयाम वार्तिक'। इनमें 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। रसिक परम्परा के सन्तों का वृत्त इसमें भक्तमाल की शैली पर प्रस्तुत किया गया है। श्रृंगारी रामभक्ति शाखा में 'युगलप्रिया' जी 'चन्द्रकलापरत्व' के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। अयोध्या के प्रसिद्ध रसिक महात्मा युगलानन्यशरण इन्हीं के शिष्य थे।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवती प्रसाद सिंह; रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना : भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव'।]

—भ० प्र० सिं०

जुगल विलास—महाराज पृथ्वीसिंह अपर नाम पीथल कुशलगढ़ नरेश ने सन् १७४६ ई० में 'जुगलविलास' की रचना की। माधुर्यपूर्ण ब्रजभाषा में श्रीकृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं का इस कृति में वर्णन है। नखशिख वर्णन, नायक—नायिका निरूपण, दूती वचन, संयोग और वियोग वर्णन, ऋतु वर्णन कृति के प्रधान विषय हैं। दोहा, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया, मौक्तिकदाम आदि छन्दों का कृति में प्रयोग हुआ है। राजस्थान पुरातन ग्रन्थ माला में जयपुर से सन् १९५८ ई० में कृति प्रकाशित हुई है।

—रा० तो०

जुलेखा—फारसी और सूफी प्रेमकाव्यों की एक प्रसिद्ध नायिका जुलेखा अत्यन्त रूपवती थी। इसके पिता पश्चिम देश के वैमूस नामक सुल्तान थे। उसका स्वप्न दर्शन में यूसुफ से प्रेम हो गया था (दे० 'यूसुफ—जुलेखा')। उसका यह प्रेम इतना घनीभूत हो गया कि यदि उससे आकर कोई कह देता कि मैंने यूसुफ को देखा है तो वह उसे गले का हार दे देती। उसके पास सत्तर ऊंट हीरे थे। धीरे—धीरे वे सब समाप्त हो गये। वह केवल यूसुफ को स्मरण करती थी। यहाँ तक कि आकाश में तारों में उसे यूसुफ ही दिखाई देता था। जुलेखा के प्रेम में

उदात्तता एवं एकनिष्ठता का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है।
–रा० कु०

जैनेंद्रकिशोर–ये आरा के निवासी अग्रवाल जैन थे। इनके परिवार में जमींदारी का काम होता था। इन्होंने 'कमलिनी', 'मनोरमा', 'सोमा सती' तथा 'परख' आदि उपन्यासों की रचना की थी। 'परख' पर इन्हे हिन्दुस्तानी अकादमी से पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। इनकी लिखी हुई 'खगोल विज्ञान' नामक एक और पुस्तक भी मानी जाती है। यह बहुत मँजे हुए गद्य–लेखक थे। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था, परन्तु भाषा के विषय में इनका एक कट्टर आग्रह यह था कि ये ठेठ हिन्दी लिखने के समर्थक थे, जिसकी शब्दावली में संस्कृत के शब्दों की अधिकता थी। अपने उपन्यासो में भाषा का प्रयोग इन्होने इसी कट्टरता से किया है। उदाहरण के लिए 'कमलिनी' मे इन्होंने 'नाक बह रही है' लिखने के स्थान पर "नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है" लिखा है।

–प्र० ना० टं०

जैनेंद्र कुमार–जन्म सन् १९०५, स्थान कौड़ियागंज (जिला अलीगढ़)। इनकी मुख्य देन उपन्यास तथा कहानी है। एक साहित्य विचारक के रूप में भी इनका स्थान मान्य है। इनके जन्म के दो वर्ष पश्चात् इनके पिता की मृत्यु हो गयी। इनकी माता एवं मामा ने ही इनका पालन–पोषण किया। इनके मामा ने हस्तिनापुर में एक गुरुकुल की स्थापना की थी। वहीं जैनेन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा हुई। उनका नामकरण भी इसी संस्था में हुआ। उनका घर का नाम आनन्दी लाल था। सन् १९१२ में उन्होंने गुरुकुल छोड़ दिया। प्राइवेट रूप से मैट्रिक परीक्षा में बैठने की तैयारी के लिए वह बिजनौर आ गये। १९१९ में उन्होंने यह परीक्षा बिजनौर से न देकर पंजाब से उत्तीर्ण की। जैनेन्द्र की उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई। १९२१ में उन्होने विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ दी और कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के उद्देश्य से दिल्ली आ गये। कुछ समय के लिए ये लाला लाजपतराय के 'तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स' में भी रहे, परन्तु अन्त मे उसे भी छोड़ दिया।

सन् १९२१ से २३ के बीच जैनेन्द्र ने अपनी माता की सहायता से व्यापार किया, जिसमें इन्हें सफलता भी मिली। परन्तु सन् २३ में वे नागपुर चले गये और वहाँ राजनीतिक पत्रों में संवाददाता के रूप में कार्य करने लगे। उसी वर्ष इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और तीन माह के बाद छूट गये। दिल्ली लौटने पर इन्होंने व्यापार से अपने को अलग कर लिया। जीविका की खोज में ये कलकत्ते भी गये, परन्तु वहाँ से भी इन्हें निराश होकर लौटना पड़ा। इसके बाद इन्होंने लेखन कार्य आरम्भ किया।

जैनेन्द्र की सर्वप्रथम औपन्यासिक कृति 'परख' का प्रकाशन सन् १९२९ में हुआ। सत्यधन, कट्टो, बिहारी और गरिमा नामक पात्र–पात्रियों के चरित्र पर आधारित यह मनोवैज्ञानिक कथा अप्रत्यक्ष रूप से विधवा विवाह की समस्या से सम्बन्ध रखती है, जो भारतेन्दुयुगीन औपन्यासिक प्रवृत्ति है। जैनेन्द्र के आगामी उपन्यासों की अपेक्षा 'परख' में चरित्र–चित्रण अशक्त प्रतीत होता है। मुख्यतः इसी कारण से 'परख' को वह महत्त्व नही प्राप्त हो सका, जो जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासो विशेष रूप से 'सुनीता' (१९३५) तथा 'त्यागपत्र' (१९३७) को प्राप्त हुआ। इसका एक कारण इस उपन्यास की अविश्वसनीय कथा भी है। इसके प्रधान पात्र–पात्रियाँ अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए भी अधिकाशतः नाटकीय व्यवहार करते हैं। आदर्शवादी कथा–तत्व यत्र–तत्र उभरे हुए हैं, जिनमें आत्मबलिदान की भावना को प्रमुखता मिली है।

सन् १९३५ में जैनेन्द्र के दूसरे उपन्यास 'सुनीता' का प्रकाशन हुआ। आरम्भ में इसका दो तिहाई अंश 'चित्रपट' में प्रकाशित हुआ था। गुजराती की एक पत्रिका में यह धारावाहिक रूप से अनूदित भी हुआ। 'सुनीता' और जैनेन्द्र की पूर्वप्रकाशित औपन्यासिक कृति 'परख' के कथानक में दृष्टिकोणगत बहुत कुछ समानता है। इस उपन्यास की कमियाँ भी स्पष्ट है। इसके पात्र–पात्रियो के व्यवहार और प्रतिक्रियाएँ निरुद्देश्य एवं अप्रत्याशित लगती हैं। अप्रत्याशित व्यवहार प्रदर्शन की भावना के कारण ही उपन्यास में क्षीण स्थल आये हैं। उपन्यास कार का पहेली बुझाने का आग्रह कृति में हलकापन ला देता है, परन्तु कहीं–कहीं उपन्यास के चरित्र अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके अतिशय उच्चता का परिचय देते हैं। जैनेन्द्र की अटपटी कथा शैली इस उपन्यास में सहजता, स्वाभाविकता से युक्त प्रतीत होती है। इस दृष्टि से 'सुनीता' को जैनेन्द्र की सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृति कहा जा सकता है। उपन्यास के प्रभावशाली वातावरण और सप्राण चरित्रों के बीच पात्र चकित सा रह जाता है। जैनेन्द्र की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि और सशक्त वातावरण का चित्रण पाठक पर अमिट प्रभाव डालता है। 'सुनीता' के कथा–चक्र की सबसे भारी घटना निर्जन वन मे अर्धरात्रि के समय उपन्यास की प्रधान पात्री सुनीता का हरि प्रसन्न के सामने निर्वसना हो जाना है। परन्तु 'सुनीता' के चरित्रों की मानसिक अस्थिरता को देखते हुए इस घटना को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। इसके आधार पर जैनेन्द्र पर नग्नवादिता के आरोप अनौचित्यपूर्ण हैं।

जैनेन्द्र की तीसरी औपन्यासिक कृति 'त्यागपत्र' है। इसका प्रकाशन सन् १९३७ में हुआ। इसका अनुवाद अनेक प्रादेशिक तथा विदेशी भाषाओं में हो चुका है। हिन्दी के भी सर्वश्रेष्ठ लघु उपन्यासों में मृणाल नामक भाग्यहीना युवती के जीवन पर आधारित यह मार्मिक कथा अत्यन्त प्रभावशाली बन सकी है। उसका भतीजा प्रमोद उसकी पीड़ा को समझता है। वह अपने सर्वस्व की बाजी लगाकर भी अपनी बुआ के दुर्भाग्य पर विजय प्राप्त करना चाहता है, परन्तु मृणाल सदैव ही उसकी कृपा को अस्वीकृत कर देती है। वह स्वयं कभी इसके लिए जोर नहीं दे पाता, क्योंकि वह दुविधा में पड़ा रहता है। उसके हृदय के किसी कोने में दबी स्वार्थवृत्ति भी उसे पीछे खींचती है। जीवन भर वह अपने आपको मृणाल की ओर से भुलावे में रखने में सफल होता है, परन्तु मृणाल की अन्तिम अवस्था उसे आन्दोलित कर देती है और वह अपने पद जजी से त्यागपत्र देकर प्रायश्चित्त करता है। मृणाल की सूक्ष्म चारित्रिक प्रतिक्रियाओं, विवश इच्छाओं, दमित स्वप्नों तथा निरुद्वेग विकारों की यह मनोवैज्ञानिक कथा अत्यन्त मार्मिक बन सकी है। प्रथम पुरुष के रूप में कही गयी यह रचना पाठक

की मनोभावनाओं और संवेदनाओं को आन्दोलित करने मे समर्थ है। आकर्षक और उपयुक्त शिल्प रूप में ढाली गयी यह कृति जैनेन्द्र की रचनाओं में प्रमुख स्थान रखती है।

सन् १९३९ में जैनेन्द्र के चौथे उपन्यास 'कल्याणी' का प्रकाशन हुआ। यह उपन्यास भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। सामान्यतः इस शैली में जो उपन्यास लिखे जाते हैं, उनमें कथा के किसी महत्वपूर्ण पात्र की ओर से ही उसका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता है परन्तु इस उपन्यास की विशेषता यह है कि कथा का प्रस्तुतकर्ता उपन्यास का गौण पात्र है। उपन्यास की प्रधान पात्री श्रीमती असरानी हैं, जिनके नाम पर ही उपन्यास का नामकरण भी हुआ है। प्रस्तुतकर्ता ने अपने कुछ परिचितों की जीवनकथा के रूप में यह कहानी सामने रखी है। चूँकि वह स्वयं कथा में प्रधानता नहीं रखता, इसलिए उसके प्रति अपना दृष्टिकोण भी अधिकांशतः तटस्थ रखने का प्रयत्न करता है। इसी कारण कथानक के विकास–चक्र में कहीं–कहीं कुछ ऐसे अंश आ गये हैं, जो उसके प्रवाह की गति भंग कर देते हैं। प्रासंगिक रूप से जो दार्शनिक विचार इसमें समावेशित किये गये हैं, वे भी चिन्तनपूर्ण नहीं हैं।

जैनेन्द्र का पाँचवां उपन्यास 'सुखदा' (१९५३ ई०) है, जो प्रारम्भ मे धारावाहिक रूप से 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था। इसका कथानक घटनाओं के वैविध्य बोझ से आक्रान्त है। जैसा कि इस उपन्यास के शीर्षक से स्पष्ट है इसकी प्रधान पात्री सुखदा है। उसका जीवन उसके लिए भार बन चुका है। वह एक धनी घराने की कन्या और विवाहिता है। वैचारिक असमानताओं के कारण उसके सम्बन्ध अपने पति से सन्तोषप्रद नहीं हैं। उपन्यास की यह परिस्थिति तो स्पष्ट है, परन्तु इसको आधार बनाकर कथा का जो ताना–बाना बुना गया है, वह पाठक को विचित्र लगता है। कथा का उद्देश्य अन्त तक अप्रकट ही रहता है। सुखदा के लाल की ओर आकर्षित होने पर भी कथानक का तनाव नहीं खत्म होता। अनेक स्वभावविरोधी प्रतिक्रियाओं तथा नाटकीय मोड़ो के बाद सुखदा पति को त्यागकर अस्पताल में भरती हो जाती है। अनेक अनावश्यक, अप्रासंगिक विवरणों तथा चमत्कारिक तत्त्वों से कथा अशक्त हो गयी है।

जैनेन्द्र की छठीं औपन्यासिक कृति 'विवर्त' का प्रकाशन सन् १९५३ में हुआ। प्रारम्भ में यह उपन्यास 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के कथानक का केन्द्र जितेन का चरित्र है। उसकी सामान्य पारिवारिक स्थिति से कथा का व्यावहारिक आरम्भ होता है। उसकी असाधारण प्रसिद्धि आदि बताकर लेखक कथा–विकास का भावी मार्ग खोलता है। भुवनमोहिनी के कथानक में प्रवेश से उसमें गति आती है परन्तु जब भुवनमोहिनी जितेन से विवाह न करके नरेशचन्द्र की पत्नी बन जाती है तब कथा की समस्या का अन्त हो जाता है। उसका असफल प्रेम उसे क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो जाने की प्रेरणा देता है। चार वर्ष के बाद जितेन का आना, शरण पाना, भुवनमोहिनी के गहने चुरा कर भागना, उसके दलवालों का भुवनमोहिनी को पकड़ ले जाना, जितेन का पुलिस को समर्पण आदि नाटकीयतापूर्ण घटनाएँ क्रमशः घटित होने लगती हैं। उसका अन्त भी इन्हीं के जाल में बँधकर आकस्मिक रूप से होता है और पाठक के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता।

जैनेन्द्र का सातवाँ उपन्यास 'व्यतीत' है, जो सन् १९५३ में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का नायक कवि जयन्त है। वह अपने जीवन की प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर अपने आपको टूटा–सा अनुभव करता है। अनिता उसके प्रति प्रेम–भाव रखती है परन्तु उसका विवाह पुरी से हो गया है। वह पचहत्तर रुपये की नौकरी कर लेता है। इसी बीच पिता की मृत्यु हो जाने के कारण उसे ढाई हजार रुपया मिलता है। वह रुपया भी अपनी बड़ी बहिन को दे देता है। जयन्त के मालिक को पता लगता है कि उसका परिचय पुरी से है। वह इससे लाभ के उद्देश्य से अपनी पुत्री को जयन्त के सम्पर्क में लाता है। वह जयन्त के साहचर्य की कामना करने लगती है। कुमार चाहता है कि चन्द्री का विवाह जयन्त से हो जाय। जयन्त इसमें असमर्थता प्रकट करता है और पुनः अनिता के पास लौट जाता है। वह निश्चय करता है कि वह युद्ध में जाकर प्राण दे देगा। बीच में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपजती हैं कि वह चन्द्री से विवाह कर लेता है। इसके आगे की कथा उलझी हुई है। जयन्त, अनिता, चन्द्री, पुरी तथा कपिला आदि पात्र–पात्रियाँ कठपुतलियो की भाँति व्यवहार करते हैं और कथानक की गति रुद्ध हो जाती है। ऐसी ही परिस्थिति में 'व्यतीत' की कथा समाप्त हो जाती है।

जैनेन्द्र की नवीनतम औपन्यासिक कृति 'जयवर्द्धन' है। इसका प्रकाशन सन् १९५६ में हुआ। 'जयवर्द्धन' की कथा को एक अमेरिकन पत्रकार विलवर दस्टन की लिखी गयी डायरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कथात्मकता एवं विचारात्मकता की दृष्टि से यह उनके पूर्व उपन्यासों से पर्याप्त भिन्नता रखता है। इस कथा का नायक स्वयं 'जयवर्द्धन' ही है। उसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण चरित्रों में आचार्य स्वामी चिदानन्द, इन्द्रमोहन, लिजा, इला तथा नाथ आदि हैं। कथा प्रारम्भ से ही प्रायः दो सूत्रों में विभक्त होकर विकसित हुई है। यों दोनों सूत्र कथानायक जयवर्द्धन के वैयक्तिक तथा राजनीतिक जीवन को आधार बनाकर गतिशील रहते हैं। यह उपन्यास पात्रों के तर्क सूत्रों, विचार तत्त्वों, सामाजिक आदर्शों एवं राजनीतिक दर्शन से बोझिल हो गया है। ऐसा भासित होता है कि इस कृति में जो विषय प्रस्तुत किये गये हैं, उनके लिए उपन्यास उपयुक्त माध्यम नहीं है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में जैनन्द्रकुमार का विशिष्ट स्थान है। वह हिन्दी उपन्यास के इतिहास में मनोविश्लेषणात्मक परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में मान्य हैं। जैनेन्द्र अपने पात्रों की सामान्यगति में सूक्ष्म संकेतों की निहिति की खोज करके उन्हें बड़े कौशल से प्रस्तुत करते हैं। उनके पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ इसी कारण से संयुक्त होकर उभरती हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों में घटनाओं की संघटनात्मकता पर बहुत कम बल दिया गया मिलता है। चरित्रों की प्रतिक्रियात्मक सम्भावनाओं के निर्देशक सूत्र ही मनोविज्ञान और दर्शन का आश्रय लेकर विकास को प्राप्त होते हैं।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यासों में दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के समावेश से दुरूहता आयी है परन्तु ये सारे तत्त्व जहाँ–जहाँ भी उपन्यासों में समाविष्ट हुए हैं, वहाँ वे

पात्रों के अन्तर का सृजन प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि जैनेन्द्र के पात्र बाह्य वातावरण और परिस्थितियों से अप्रभावित लगते हैं और अपनी अन्तर्मुखी गतियों से संचालित। उनकी प्रतिक्रियाएँ और व्यवहार भी प्रायः इन्हीं गतियों के अनुरूप होते हैं। इसी का एक परिणाम यह भी हुआ है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में चरित्रों की भरमार नहीं दिखायी देती। पात्रों की अल्पसख्या के कारण भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में वैयक्तिक तत्त्वों की प्रधानता रही है।

क्रान्तिकारिता तथा आतंकवादिता के तत्त्व भी जैनेन्द्र के उपन्यासों के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। उनके सभी उपन्यासों के प्रमुख पुरुष पात्र सशस्त्र क्रान्ति में आस्था रखते हैं। बाह्य स्वभाव, रुचि और व्यवहार में एक प्रकार की कोमलता और भीरुता की भावना लिए होकर भी ये अपने अन्तर में महान् विध्वंसक होते हैं। उनका यह विध्वंसकारी व्यक्तित्व नारी की प्रेमविषयक अस्वीकृतियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप निर्मित होता है। इसी कारण जब वे किसी नारी का थोड़ा भी आश्रय, सहानुभूति या प्रेम पाते हैं, तब टूटकर गिर पड़ते हैं और तभी उनका बाह्य स्वभाव कोमल बन जाता है।

जैनेन्द्र के नारी पात्र प्रायः उपन्यास में प्रधानता लिए हुए होते हैं। उपन्यासकार ने अपने नारी पात्रो के चरित्र–चित्रण मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। स्त्री के विविध रूपों, उसकी क्षमताओं और प्रतिक्रियाओं का विश्सनीय अंकन जैनेन्द्र कर सके हैं। 'सुनीता' 'त्यागपत्र' तथा 'सुखदा' आदि उपन्यासों में ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जब उनके नारी चरित्र भीषण मानसिक संघर्ष की स्थिति से गुजरे हैं। नारी और पुरुष की अपूर्णता तथा अन्तर्निर्भरता की भावना इस संघर्ष का मूल आधार है। वह अपने प्रति पुरुष के आकर्षण को समझती है, सर्मपण के लिए प्रस्तुत रहती है और पूरक भावना की इस क्षमता से आह्लादित होती है, परन्तु कभी-कभी जब वह पुरुष में इस आकर्षण मोह का अभाव देखती है, तब क्षुब्ध होती है, व्यथित होती है। इसी प्रकार से जब वह पुरुष से कठोरता की अपेक्षा के समय विनम्रता पाती है, तब यह भी उसे असह्य हो जाता है।

एक कहानीकार के रूप में भी जैनेन्द्र की उपलब्धियाँ महती हैं। उनकी विविध कहानियाँ–'फाँसी' (१९२९), 'वातायन' (१९३०), 'नीलम देश की राजकन्या' (१९३३), 'एक रात' (१९३४), 'दो चिड़ियाँ' (१९३५), 'पाजेब' (१९४२) तथा 'जयसन्धि' (१९४९) शीर्षक संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। जैनेन्द्र की लिखी हुई समस्त कहानियाँ 'जैनेन्द्रकी कहानियाँ' के नाम से सात भागों मे छपी हैं। इनमें से पहले भाग में राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी, दूसरे में बाल मनोविज्ञान और वात्सल्य की कहानियाँ, तीसरे में दार्शनिक और प्रतीकात्मक, चौथे में प्रेम ओर विवाह–सम्बन्धी कहानियाँ, पाँचवें में प्रेम के विविध रूपों की कहानियाँ, छठे में सामाजिक कहानियाँ तथा सातवें में अन्य कहानियाँ हैं। सामान्य रूप से जैनेन्द्र की कहानियों में भी प्रायः वे ही तत्त्व विद्यमान हैं, जो उनके उपन्यासों में।

'प्रस्तुत प्रश्न' (१९३६), 'जड़की बात' (१९४५), 'पूर्वोदय' (१९५१), 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' (१९५३), 'मन्थन' (१९५३), 'सोच विचार' (१९५३), 'काम, प्रेम और परिवार' (१९५३)', 'ये और वे' (१९५४), 'समय और हम' आदि जैनेन्द्र के विचारप्रधान निबन्धसग्रह है। इन सग्रहों के माध्यम से जैनेन्द्र एक गम्भीर चिन्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनके विषय साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति तथा दर्शन आदि है। जैनेन्द्र के ये निबन्ध जहाँ एक ओर वैचारिक गहनता के गुण से पूरित हैं, वहाँ भाषा की अस्पष्टता और दुरूहता भी इनमे देखी जा सकती है। इनकी शैली भी अटपटी लगती है। गम्भीर विषयों के सूक्ष्म विवेचन के लिए विचार–क्रम में जो सुलझाव और सुचिन्तन अनिवार्य है, उसका भी इनमे अभाव प्रतीत होता है। जैनेन्द्र के उपर्युक्त विषयो पर जो विचार प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किये गये है, उन पर भी उपर्युक्त कथन लागू होता है।

सर्जनात्मक क्षेत्र मे कार्य करने के अतिरिक्त जैनेन्द्र अनुवाद क्षेत्र मे भी सक्रिय रहे है। उन्होने मैटरलिक के एक नाटक का अनुवाद हिन्दी में 'मन्दालिनी' के नाम से किया है। इसका प्रकाशन सन् १९३५ मे हुआ। सन् १९३७ में उन्होंने 'प्रेम में भगवान' शीर्षक से टाल्सटाय की कुछ कहानियों का अनुवाद प्रस्तुत किया। इसी साहित्यकार के एक नाटक का अनुवाद भी उन्होंने 'पाप और प्रकाश' के नाम से किया, जिसका प्रकाशन सन् १९५३ में हुआ।

जैनेन्द्रकुमार की प्रकाशित रचनाएँ ये है–उपन्यास : 'परख' (१९२९), 'सुनीता' (१९३५), 'त्यागपत्र' (१९३७), 'कल्याणी' (१९३९), 'विवर्त' (१९५३), 'सुखदा' (१९५३), 'व्यतीत' (१९५३) तथा 'जयवर्धन' (१९५६)। कहानी–संग्रह : 'फाँसी' (१९२९), 'वातायन' (१९३०), 'नीलम देश की राजकन्या' (१९३३), 'एक रात' (१९३४), 'दो चिड़ियाँ' (१९३५), 'पाजेब' (१९४२), 'जयसन्धि' (१९२९) तथा 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' (सात भाग)। निबन्ध–संग्रह : 'प्रस्तुत प्रश्न' (१९३६), 'जड़ की बात' (१९४५), 'पूर्वोदय' (१९५१), 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' (१९५३), 'मन्थन' (१९५३), 'सोच विचार' (१९५३), 'काम, प्रेम और परिवार' (१९५३), तथा 'ये और वे' (१९५४)। अनुवादित ग्रन्थ : 'मन्दालिनी' (नाटक–१९३५), 'प्रेम में भगवान' (कहानी संग्रह–१९३७), तथा 'पाप और प्रकाश' (नाटक–१९५३)। सह लेखन : 'तपोभूमि' (उपन्यास, ऋषभचरण जैन के साथ–१९३२)। सम्पादित ग्रन्थ : 'साहित्य चयन' (निबन्ध सग्रह–१९५१) तथा 'विचारवल्लरी' (निबन्ध संग्रह–१९५२)।

[सहायक ग्रन्थ–जैनेन्द्र–साहित्य और समीक्षाः रामरतन भटनागर।]

–प्र० ना० टं०

जैमिनि पुराण भाषा–कृष्णद्वैपायन व्यास के शिष्य, मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि के 'अश्वमेध पर्व' के अनुवाद हिन्दी साहित्य में बहुत उपलब्ध होते हैं। अधिकांशतः ये रीतिकालीन कवियों के अनुवाद हैं। आधुनिकतम खोजों के आधार पर निम्नलिखित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं–

१. जैमिनि पुराण भाषा–सेवादासकृत। रचनाकाल संवत् १७०० वि०। ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह प्राचीन ग्रन्थ है, किन्तु साहित्यिकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसकी भाषा सधुक्कड़ी है। उदाहरणार्थ–"जैमुणि कहें

जणमेजय काजा। परम पुणीत कथा यह राजा।।

२. महाभारत अश्वमेध पर्व–सबलसिंह चौहानकृत। रचनाकाल संवत् १७१८ वि० तथा १७८१ वि० के मध्य। लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित। दोहा, चौपाई, सोरठा में रचित। शैली– वर्णनात्मक। भाषा–अवधी। उदाहरण–"अर्जुन सुत इमि मार किया महावीर प्रचंड। रूप भयानक देखियत जिमि जम लीन्हे दंड।।"

३. जैमुन की कथा–केशोदासकृत। ये केशोदास 'रामचन्द्रिका' के रचयिता आचार्य केशवदास से भिन्न हैं। ग्रन्थ की एक हस्तलिपि खखरा, मैगलगंज, जिला सीतापुर के निवासी पण्डित रामनारायण मिश्र के पास है। यह सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ का अनुवाद है, किन्तु यह महाकाव्य की शैली और गाम्भीर्य से रहित है। ग्रन्थ में ६७ अध्याय हैं और ३५६५ छन्द। उदाहरण–"तीनों देव वन्दना करत जाकी प्रीति हुत, जुग जुग तीनों लोक प्रभुता बढ़त है।"

४. जैमिनि पुराण–प्राणनाथकृत। रचनाकाल १७५७ वि०, प्रतिलिपि काल संवत् १९१६ वि०। इस ग्रन्थ मे रस, अलंकार एवं पिंगल का सम्यक् विधान है। उदाहरण–"गजमुख सनमुख होत ही, बीतहिं कुमति कुतर्क। कोक सोक मेंचक महा, जथा विलोकत अर्क।।"

५. जैमिनि पुरान भाषा–शिवदुलारे वाजपेयीकृत। यह आधुनिककाल की कृति है। रचनाकाल के सम्बन्ध में ग्रन्थ के आरम्भ में इस प्रकार का उल्लेख हैं–"रसवेदाक शशाङ्कशुभ, संवत् दिनकर वार। मास दमोदर शुक्ल महँ, भयो ग्रन्थ अवतार।।"

रस ६, वेद ४, अंक ९, शशांक १। 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार संवत् १९४६ में इसकी रचना हुई। इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा हुआ, जिसकी तृतियावृत्ति १९०९ ई० में हुई। यह गद्यात्मक रचना है तथा मूल संस्कृत के 'अश्वमेध पर्व' का अक्षरशः अनुवाद है। इसमें ६६ अध्याय है।

६. जैमिनीय अश्वमेध–पुरुषोत्तमदासकृत। इसका रचनाकाल अज्ञात है। कथानक दोहा, चौपाइयों में सरल रीति से वर्णित है।

७. जैमिनि पुराण–सरयूराम पण्डितकृत। यह रचना सभी प्रकार से साहित्यिक है। इसकी रस सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वीर–रस प्रधान काव्य है, किन्तु यत्र–तत्र श्रृंगार का भी पुट है। उदाहरणार्थ नीचे की चौपाई में सम्भोग श्रृंगार का वर्णन है–"लै–लै सुमन सकल गन आली। की उहि जित–तित मदन मराली।।"

सरयूराम की भाषा मे सबसे अधिक संस्कृत के ही शब्द हैं। भाषा विशुद्ध साहित्यिक अवधी है। कवि ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु मात्रिक छन्दों के प्रयोग में वह अधिक सफल है। रचनाकाल के सम्बन्ध में एक दोहा है–"विशिख व्योम बसु बुद्धिवर, सुकुल अष्टमी फाग। पूरण भइ श्री गुरु कृपा, कथा युधिष्ठिर याग।।"

विशिख ५, व्योम ०, वसु ८, बुद्धिवर १।

'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार संवत् १८०५ वि० शुक्ल पक्ष ८ फाल्गुन मास में इसकी रचना हुई।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वेंकटेश्वर प्रेस से तीन 'जैमिनीयाश्वमेध' के संस्करण पृथक्–पृथक् निकल चुके हैं, किन्तु उनके लेखको के विषय मे कुछ ज्ञात नही। सरयूरामकृत 'जैमिनि पुराण' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है–

१. कालिका निवारी, महेशपुर (सीतापुर) निवासी द्वारा की गयी प्रतिलिपि। प्रतिलिपिकाल सन् १८८०।

२. कालिका तिवारी के वंशज दिवाकर नाथ त्रिपाठी के पास प्रतिलिपि। यह जीर्ण–शीर्ण दशा में है।

३. कृष्ण बिहारी मिश्र, गन्धौली (सीतापुर) के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रतिलिपि। इसमे अन्तिम पृष्ठ न होने के कारण रचनाकाल अज्ञात है।

४. ग्राम सागरगढ़ी जिला हरदोई में लाला जंग बहादुर के पास सुरक्षित।

५. प्रतिलिपिकार ललितादीन पाण्डेय–प्रतिलिपि काल सन् १८२८ ई०। यह 'मिश्र बन्धुओं' के पास थी।

–शि० शे० मि०

जोधराज–जोधराज नीमराणा (अलवर) के चौहानवंशीय राजा चन्द्रभाण के आश्रित थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। जोधराज का निवामस्थान बीजवार ग्राम था। यह अत्रिगोत्रीय गौड़ वंशोत्पन्न ब्राह्मण थे। जोधराज काव्य–कला और ज्योतिष–शास्त्र के पूर्ण पण्डित थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता की आज्ञा से 'हम्मीररासो' लिखा था ('हम्मीररासो' छन्द ५–१३)।

जोधराज ने इसकी रचना–तिथि इस प्रकार दी है–"चन्द्र नाग वसु पंचगिनि संवत् माधव मास। शुक्ल सुतृतीया जीव जुत ता दिन ग्रन्थ प्रकास।" (छन्द ९६८)। नाग को सात का पर्यायवाची मानने से 'हम्मीररासो' की रचना–तिथि सं० १७८५ वि०, वैशाख शुक्ला ३, जीव (गुरुवार) ठहरती है। गणना करने पर ज्ञात होता है कि १७८५ वि० में वैशाख शुक्ल तृतीया को गुरुवार नहीं पड़ा था। नाग का अर्थ आठ लेने से जोधराज कथित तिथि १८८५ वि० वैशाख शुक्ल तृतीया वृहस्पतिवार आती है। यह तिथि गणना करने पर खरी उतरती है। अतएव जोधराज ने 'हम्मीररासो' की रचना सं० १८८५ वि०, वैशाख शुक्ल ३, वृहस्पतिवार तदनुसार १७ अप्रैल, १८२८ ई० को की थी। मिश्रबन्धओं, श्यामसुन्दरदास आदि विद्वानों ने इसकी रचना–तिथि १७८५ वि० (१७२८ ई०) तथा रामचन्द्र शुक्ल ने १८७५ वि० (१८१८ ई०) मानी है पर ये मत भ्रामक हैं।

'हम्मीररासो' में ९६९ छन्द हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने गणेश और सरस्वती की स्तुति, आश्रयदाता तथा अपना परिचय देने के पश्चात् सृष्टि–रचना, चन्द्र–सूर्य–वंश–उत्पत्ति, अग्नि–कुल–जन्म आदि का वर्णन किया है। तदनन्तर रणथम्भौर के राव हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्ध का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है।

जोधराज की रचना पर पौराणिक आख्यानों, 'पृथ्वीराजरासो' तथा 'रामचरितमानस' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इन्होंने ऐतिहासिक तथ्यनिरूपण में असावधानी से काम लिया है। इस काव्य में वीर–रस का सफल चित्रण किया गया है। साथ ही इसमें श्रृंगार, रौद्र और वीभत्स आदि रसों का भी अच्छा निर्वाह हुआ है और दोहरा, मोतीदाम, नाराच, कवित्त,

छप्पय आदि विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है। हम्मीर के प्रतिद्वन्द्वी अलाउद्दीन के द्वारा आखुत (चूहा) को मरवाकर उसके चरित्र को उपहासास्पद बना दिया गया है। इसमें ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप के दर्शन होते है, पर कहीं—कहीं पर उसने बोलचाल का रूप धारण कर लिया है। फारसी, अरबी आदि के तद्भव प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मुहावरों के प्रयोग द्वारा जोधराज ने अपनी भाषा को अधिक सबल, व्यापक और प्रौढ़ बनाया है। इस प्रकार जोधराज वीर—रस के उत्कृष्ट कोटि के कवि हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० वी०; हि० सा० इ०; हि० सा० (भा० २)।]

—टी० तो०

जौहर—व्रत—इस व्रत का प्रथम उल्लेख इतिहास में अलाउद्दीन एवं राणा रत्नसेन के युद्ध (सन् १३०१ ई० के आसपास) में मिलता है। इसके अनन्तर राजस्थान के इतिहास में 'जौहर—व्रत' के अनेक प्रमाण प्राप्त होते है। इतिहासकारों का मत है कि शक एवं हूणों से अपने धर्म एवं मर्यादा की रक्षा के लिए भारतीय स्त्रियों में अग्नि में जलकर नष्ट हो जाने की प्रथा चली थी। इतिहास में 'राज्यश्री' के अग्नि में जलने का वर्णन बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' में मिलता है। हिन्दी मे पद्मावती के जौहरव्रत का महत्त्व श्यामनारायण पाण्डेय ने 'जौहर' नामक एक काव्य की रचना करके दर्शाया है।

—यो० प्र० सिं०

ज्ञानपरोछि—दे० 'मलूकदास'।

ज्ञानबोध—दे० 'मलूकदास'।

ज्ञानशंकर—'प्रेमाश्रम' का पात्र ज्ञानशंकर, प्रेमचन्द के शब्दों में, कुशिक्षा का प्रतीक है। वह योग्य है, कार्य—पटु है, किन्तु है स्वार्थ—भक्त। उसे वह शिक्षा ही नहीं मिली, जिससे वह स्वार्थ से ऊपर उठ सकता। स्वार्थ के लिए ज्ञानशंकर आत्मा और ईमान का बलिदान कर सकता है और मिथ्या भक्ति का ढोंग रच सकता है। वैभव—लालसा की बलिवेदी पर वह अपने मनुष्यत्व को चढ़ा देता है। वह इच्छाओं और कुवासनाओं का दास है तथा अनात्मवादी है। द्वेष और वैमनस्य उसके चरित्र के प्रधान अंग हैं। उसकी संकीर्णता, क्षुद्रता और अमानुषिकता के फलस्वरूप ही उसकी पत्नी विद्या आत्महत्या कर लेती है। सम्पत्ति—लोलुपता के कारण ही वह गायत्री के साथ झूठा 'आध्यात्मिक प्रेम—सम्बन्ध' स्थापिता करता है और अपनी कुवासनाओं को भी तुष्ट करना चाहता है। उसका ससुर राय कमलानन्द ही उसे अच्छी तरह पहिचानता है। ज्ञानशंकर देवता के स्वरूप में पिशाच हैं, रँगा सियार है। बुद्धि—बल और दुर्जनता, चातुरी और कपट का वह अद्भुत सम्मिश्रण है। इसलिए वह बहुत खतरनाक है।

—ल० सा० वा०

ज्ञानोदय—इस मासिक पत्र का प्रकाशन सन् १९४९ में बनारस से हुआ। बाद में कलकत्ता से प्रकाशन होने लगा। इसके प्रथम सम्पादकों में लक्ष्मीचन्द्र जैन एवं जगदीश थे।

यह पत्र कलात्मक, सुरुचिपूर्ण एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रतिवर्ष इसके विशिष्टांक निकलते रहे हैं, जिनमें 'इतिहास अंक', 'विज्ञान अंक' आदि महत्त्वपूर्ण है। इसका लेखक—परिवार बहुत विस्तृत है। हिन्दी साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों और गतिविधियों को 'ज्ञानोदय' ने बड़े उत्साह से प्रतिफलित किया है।

—ह० दे० बा०

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'—जन्म १५ जनवरी १९०३ ई० को सिंहगढ़ (जिला इलाहाबाद) मे हुआ। पत्रकारिता आपका प्रधान कार्य—क्षेत्र रहा। प्रथम बार सन् १९२५ में 'मनोरमा' मासिक पत्र के सम्पादक नियुक्त हुए। चार वर्ष तक 'मनोरमा' का सम्पादन किया। पुनः मतभेद होने के कारण उससे अलग हो गए, और 'भारतेन्दु' नाम से नयी पत्रिका निकाली, जो अर्थाभाव के कारण अधिक समय तक नहीं चली। बाद मे आपने 'साप्ताहिक भारत' (१९३० ई०), तथा साप्ताहिक 'देशदूत' के सम्पादक के रूप में विशेष ख्याति अर्जित की। 'निर्मल' जी कुशल सम्पादक के साथ—साथ एक सफल लेखक भी हैं। 'स्त्रीकविकौमुदी', 'नवयुगकाव्य विमर्श' (आलोचना), 'रत्नहार' (कहानी सग्रह), 'हजामत' (एकाकीसंग्रह), 'अभिमान' 'जीवन—मरण' (उपन्यास), 'सक्षिप्त हिन्दी साहित्य' आप की प्रमुख कृतियाँ है। कुछ समय तक आप 'सम्मेलन—पत्रिका' का सम्पादन करते रहे। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के प्रधान कार्यकताओं में रहे है।

—सं०

ज्योत्स्ना—(प्र० १९३४ ई०) सुमित्रानन्दन पन्त का प्रसिद्ध प्रतीकरूपक है। 'गुंजन' के पश्चात् इस रचना का प्रकाशन एक नया अर्थ रखता है। 'गुंजन' यदि कवि का मनःकल्प है तो 'ज्योत्स्ना' संकल्प। इस रचना में कवि अपने मन के मानव के लिए नयी जीवन—दिशा कल्पित करता हैं। सौन्दर्य, प्रेम, प्राकृतिक उन्मेष तथा मानसिक एवं नैतिक स्वास्थ्य से परिपूर्ण नर—नारी के ऐहिक जीवन के प्रति उत्साह और साहस से भरकर इस रूपक में कवि नये जीवन—तन्त्र की ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जो अत्यन्त आकर्षक है। इसे हम पन्त के परवर्ती काव्य की सौन्दर्यजड़ित भूमिका कह सकते हैं। राष्ट्र—जाति—वर्णगत भेद—विभेद के ऊपर चिरन्तन मानवत्व की प्रतिष्ठा इस सुकुमार कल्पना में हुई है, जो स्वर्ग की रानी ज्योत्स्ना द्वारा परिचालित है। यह ज्योत्स्ना कवि मानस की मांगलिक उज्ज्वलता का ही प्रतीक है। रामराज्य का यह नया संस्करण नवजागरणशील राष्ट्रीय चेतना का सबसे सुन्दर उपहार कहा जा सकता है, 'ज्योत्स्ना' की मूल मंगल—भावना को कवि ने एक काल्पनिक रूपक के रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की है। नाटक का कथानक न बहुत महत्त्वपूर्ण है, न बहुत संगठित। अपने विचारों को प्रकट करने के लिए कवि ने नाटक का माध्यम चुना है। यह माध्यम ही उसकी मौलिकता है। इस माध्यम के नाते ही उसे पात्रों और वार्तालाप की योजना करनी पड़ी है। कथा इस प्रकार है—संसार में सर्वत्र ऊहा—पोह और घातक क्रान्ति देखकर इन्द्र उसके शासन की बागडोर अपनी महिषी ज्योत्स्ना को दे देता है जो स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि अथवा स्वप्न और कल्पना की सहायता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श स्थापित करती है। यह कथा पाँच अंकों में कही गयी है। पहले अंक में संध्या और छाया का पारस्परिक वार्तालाप सूचना देता है कि इन्द्र अपने शासन की बागडोर बहू ज्योत्स्ना को देना चाहता है और इस

प्रकार नये जीवनतन्त्र की अवतारणा के साथ पृथ्वी पर स्वर्ग के उतारने की इच्छा प्रकट करता है। दूसरे अंक में यह सूच्य कार्य मे परिणत होता है। इन्द्र भूलोक का शासन ज्योत्स्ना को सौंप देता है। नाटक का तीसरा अंक सबसे सशक्त और केन्द्रीय है क्योंकि उसमें पवन और सुरभि के साथ ज्योत्स्ना के अवतरण की सुन्दर कल्पना मूर्त्त हुई है और आधुनिक ससार की विषम जीवन—स्थितियों की विशद विवेचना है। धर्मान्धता, अन्धविश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से त्रस्त मानव स्वयं एक विडम्बना बन गया है। वैभव और शक्ति के मोहने उसे पूर्णतः श्रृंखलाबद्ध कर रखा है। बुद्धि के अहंकार ने मनुष्य के मूलभूत चैतन्य और देवत्व को बुरी तरह दबा लिया है। मृत्युलोक के दूत झींगुर के मुँह से कवि ने आधुनिक युग के शक्तिवादी दर्शन को स्पष्ट रूप मे मुखरित किया है, जो समर्थ और शक्तिमान् को ही जीने का अधिकार देता है। इस पार्थिव दर्शन से ज्योत्स्ना के भाव—जगत् पर कठोर आघात होता है और वह विचलित होकर नये निर्माण के लिए आकुल हो उठती है। वह पवन और सुरभि पर हाथ फेर कर उन्हें स्वप्न और कल्पना का रूप दे देती है और उन्हे काव्य, संगीत और शिल्प के द्वारा उत्कृष्ट मानव-मूल्यों के धरातल पर नवनिर्माण की आज्ञा देती है। स्वप्न और कल्पना ज्योत्स्ना की आज्ञा शिरोधार्य कर मानव के मनोलोक में अज्ञात रूप से प्रवेश करते है और अनेक कोमल और स्वस्थ मानसी भावनाओं को जन्म देकर मर्त्यलोक का कायाकल्प कर देते हैं। भक्ति, शक्ति, दया, सत्य, श्रेय, समता, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, ममता, स्नेह और कला के द्वारा मानव पृथ्वी पर विश्वबन्धुत्व की स्थापना में सफल होता है और समस्त संसार एक आदर्श गृहस्थी का रूप धारण कर लेता है। इस अंक में ही हम कवि की विभिन्न भावनाओं और विचारधाराओं के प्रतिरूप पात्र-पात्रियो को अपने-अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते पाते हैं। अपने कार्य की समाप्ति पर ज्योत्स्ना स्वर्गलोक की ओर प्रयाण करती है और चौथे अंक में छाया और उल्लूक के माध्यम से कवि तामसी प्रवृत्तियों के पलायन की सूचना हमें देता है। इस अंक के अन्त में लावा पक्षीका अवतरण नये प्रभात की सूचना देता है और अगले पाँचवें अंक में ऊषा के आगमन के साथ संसार में नये स्वर्ग की स्थापना हो जाती है। इस नये स्वर्ग का भावोल्लास ओस, तितली, लहर आदि के सुन्दर गीतों के रूप में फूट निकलता है और नयी मानवता के जन्म के साथ नाटक का पटाक्षेप होता है। यह स्पष्ट है कि नाटकीयता की दृष्टि से यह कथानक उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें न कार्य का उचित संगठन है, न पात्रों का चारित्रिक वैशिष्टय। पात्र वायवीय भावना-चित्र मात्र रह गये हैं। सारा नाटक रूपक मात्र है। उसमें सैद्धान्तिक विवेचना तो अवश्य है परन्तु प्राणों का रस किंचित् मात्र भी नहीं। पात्रों के वार्त्तालाप के दार्शनिक विवेचनाओं से भरे होने के कारण लोक-रुचि उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सकती। वस्तुतः नाटक की यह कृति असमर्थ ही कही जायगी, परन्तु फिर भी इस रचना को एकदम असफल नहीं कहा जा सकता। कवि ने जिस रूप में उसकी कल्पना की है, वह नाटकीय होते हुए भी काव्यात्मक है। काव्य के भीतर से 'ज्योत्स्ना' पूर्णतः सफल है। उसमें कवि ने अपने मनःस्वप्न को सफलतापूर्वक अंकित किया है। मूर्त्त और अमूर्त्त अनेक वस्तुओं का अत्यन्त सुन्दर और काव्यात्मक चित्रण हुआ है। प्रकृति और मानव-मन के अनेक उपादान इतने सुन्दर और चटकीले वस्त्र पहन कर उपस्थित होते है कि हम मुग्ध रह जाते हैं। एक नया ही जगत् हमारी आँखों के सामने नाचने लगता है। फिर इस नाटक मे हमें कवि की सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का परिचय मिलता है। जीवन के सर्वांगीण विकास-पथ पर मनुष्य कैसे बढ़े, यही 'ज्योत्स्ना' का केन्द्र-बिन्दु है। मनुष्य को यदि इसी पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण करना है तो वह 'ज्योत्स्ना' के आदर्श से परिचालित हुए बिना नहीं रह सकता। इस रचना में हम कवि पन्त को जीवन—चिन्तक और सौन्दर्यद्रष्टा कवि के रूप मे देखते हैं और किशोर कण्ठ तारुण्य के स्वप्निल आवेश और निर्माणोन्मुख कल्पनावैभव में परिवर्तित हो जाता है। परवर्त्ती रचनाओं में पन्त अध्यात्म, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन के सूत्रों के सहारे मानव-जीवन के लिए नये-नये तन्त्रों की योजना करते हैं, परन्तु 'ज्योत्स्ना' में प्राकृतिक रूपक के सहारे कवि की कल्पना ने जो चमत्कारी सौन्दर्यसृष्टि प्रस्तुत की है वह वायवी और अनिर्दिष्ट होने पर भी मनोहारी है और ये परवर्त्ती रचनाएँ अधिक प्रौढ़ चिन्तन की उपज होने पर भी उसका स्थान नहीं ग्रहण कर सकतीं। पन्त की रचनाओं में उनके इस मनःस्वप्न का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहेगा।

—रा० र० भ०

ज्वालादत्त शर्मा—जन्म १८८८ ई० में किसरौल, मुरादाबाद में। घर पर ही संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, बंगला आदि का ज्ञान प्राप्त किया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से परिचय होने पर कहानी-रचना में प्रवृत्त हुए। ज्वालापुर के 'भारतोदय' पत्र में बाणभट्ट के नाम से लिखते थे। १९५८ ई० में रेल—दुर्घटना में मृत्यु हुई। आधुनिक हिन्दी कहानी के विकास में योग देनेवाले लेखकों में ज्वालादत्त शर्मा का नाम आता है। ये १९१४ ई० में कहानी लेखन की ओर उन्मुख हुए थे और इनकी प्रथम रचना इसी वर्ष 'सरस्वती' में छपी थी। इनकी कहानियाँ प्रायः कथानक-प्रधान हैं और किसी न किसी सुधारवादी दृष्टिकोण से प्रेरित प्रतीत होती हैं। इस प्रकार इन्हें 'सुदर्शन' अथवा 'कौशिक' आदि तत्कालीन कथा-लेखकों की कोटि में रखा जा सकता है। इन लोगों ने सामाजिक यथार्थ की व्यंजना करने के निमित्त कहानी जैसे लोकप्रिय माध्यम को स्वीकार किया था। ज्वालादत्त शर्मा की भाषा शैली सरस और परिमार्जित है। इनकी कहानियों में यत्र—तत्र भावुकता और भाव-प्रवणता भी पायी जाती है (दे० 'भाग्य का चक्र')। द्विवेदीयुग के अधिकांश लेखक किसी न किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादक थे। ज्वालादत्त शर्मा ने भी 'प्रतिभा' नामक पत्र का सम्पादन किया था। आपकी अन्य कृतियों में 'हाली और उनका काव्य' तथा 'गीता में ईश्वरवाद' (अनुवाद) हैं।

—र० भ०

झरना—जयशंकर प्रसाद के इस काव्य संकलन का प्रथम प्रकाशन १९१८ ई० में हुआ। इसमें अपेक्षाकृत कम कविताएँ थीं। आगामी संस्करणों में कुछ कविताएँ नयी रख दी गयीं और कुछ को हटा दिया गया। आज जिस रूप में 'झरना' उपलब्ध है, उसे देखने पर एक विविधता प्रतीत होती है। कतिपय रचनाएँ ऐसी हैं, जो प्रौढ़ हैं, पर अधिकांश कविताएँ शिथिल

और अपरिपक्व हैं किन्तु इन कविताओं में कवि के आगामी विकास का आभास प्राप्त हो जाता है और इसी कारण समीक्षक इसे छायावादयुग का एक महत्त्वपूर्ण सोपान मानते हैं। 'झरना' की अधिकांश कविताएँ यद्यपि १९१४-१७ के बीच लिखी गयीं, पर कतिपय ऐसी भी हैं, जिनका निर्माण १९१७ के बाद हुआ है। 'झरना' कवि के यौवनकाल की रचना है और इसकी कविताओं से उसकी मनोदशा का बोध होता है प्रसाद को इस काव्य में मानसिक द्वन्द्व की भूमिका से गुजरते हुए देखा जा सकता है। कहीं-कहीं यह अभिव्यक्ति अतिशय स्थूल और साधारण हो गयी है, पर 'झरना' में ऐसी भी पंक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें भावोत्कर्ष, लाक्षणिकता और मार्मिक अभिव्यंजना का स्वरूप द्रष्टव्य है। आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप उसमें मिल जाते हैं। लाक्षणिकता और सांकेतिकता जो आगे चलकर प्रसादकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ बनीं, उनके आरम्भिक सूत्र 'झरना' में उपलब्ध हैं। प्रकृति का मानवीय भावों के साथ एकीकरण भी इन कविताओ मे देखा जा सकता है। चित्रात्मकता कतिपय रचनाओं का प्रमुख गुण है। 'झरना' मे जयशंकर प्रसाद ने भाव और शिल्प, दोनों दृष्टियों से प्रयोग करना चाहा है, और इसलिए कवि के काव्य-विकास में उसका विशेष महत्त्व है।

—प्रे० शं०

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—लेखक वृन्दावनलाल वर्मा, प्रकाशन तिथि सन् १९४६ ई०। पेशवाई समाप्त हो जाने के पश्चात् बाजीराव द्वितीय अपने कामदार मोरोपन्त के साथ बिठूर में रहने लगे। मोरोपन्त की एक लड़की मनूबाई थी। बाजीराव ने नाना धोड़पन्त नामक एक बालक को गोद लिया था। नाना का छोटा भाई राव साहब, भी साथ ही रहता था। ये तीनों बालक—नाना, राव साहब और मनूबाई—साथ-साथ खेलते थे तथा मलखम्भ, कुश्ती, तलवार चलाना, अश्वारोहण आदि से अपने मनोरंजन करते थे। मनूबाई तीनों बालकों में कुशाग्रबुद्धि एवं तेजस्विनी थी। १३ वर्ष की उम्र में मनूबाई का विवाह झाँसी के अधेड़ विधुर राजा गंगाधर राव से हुआ और मनूबाई का नाम लक्ष्मीबाई रखा गया। उसकी सेवा के लिए सुन्दर, मुन्दर और काशी नामक तीन दासियाँ रखी गयीं।

रानी के सम्पर्क में आने पर गंगाधर राव की सहज कठोर प्रकृति में मधुरता का संचार हुआ। अपने मधुर व्यवहार के कारण रानी भी लोकप्रिय हो चलीं। वे अपनी सहेलियों तथा नगर की स्त्रियों को भी युद्ध-विद्या एवं अश्वारोहण की शिक्षा देने लगीं।

समयानुसार रानी को एक पुत्र हुआ, किन्तु वह असमय ही कालकवलित हुआ। कुछ समय पश्चात् गंगाधर राव की मृत्यु हो गयी। रानी ने दामोदर राव नामक एक बालक को गोद लिया, लेकिन गवर्नर जनरल ने उसे अवैध करार देकर झाँसी को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया तथा रानी को कुछ पेंशन दे दी।

उधर नाना की भी पेंशन जब्त कर ली गयी। इसीलिए नाना और तात्या टोपे (नाना का एक सरदार) झाँसी आये और रानी से मिले। रानी, नाना तथा तात्या टोपे ने मिलकर देशव्यापी स्वराज्य-आन्दोलन की योजना का निर्माण किया। गंगाधर राव के पुराने सरदार जवाहरसिंह, रघुनाथसिंह खुदाबख्श आदि ने तथा राजनर्तकी मोतीबाई और जूही ने भी इस योजना में योग दिया।

अनेक माध्यमों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति करने की भावना का प्रचार जनता एवं सैनिकों में होने लगा। रानी तथा उनके सहयोगियों ने यह निश्चय किया कि ३१ मई १८५७ के ११ बजे दिन को एक साथ सम्पूर्ण उत्तरी भारत में क्रान्ति हो, किन्तु कुछ सैनिकों की उतावली के कारण यह क्रान्ति पहिले ही प्रारम्भ हो गयी।

इस क्रान्ति को दबाने के लिए जनरल ह्यूरोज इंगलैण्ड से एक विशाल सेना लेकर चला। विद्रोहियों को दबाता हुआ झाँसी पहुँचा। रानी का मुकाबला किया, भयंकर युद्ध हुआ। रानी अपने कुछ विश्वस्त अनुचरों को लेकर दामोदर राव के साथ कालपी भाग निकलीं। कालपी में पेशवा की सेना अस्त-व्यस्त अवस्था में थी। रानी ने उसमें सुधार किये। वहाँ बानपुर, शाहगढ़, बाँदा आदि के राजे और नवाब भी अपनी सेना लेकर उपस्थित हुए। जनरल रोज से फिर एक टक्कर हुई। रोज हार गया।

रोज ने फिर सँभलकर आक्रमण किया। सेना में अत्यधिक अव्यवस्था के कारण पेशवा की हार होती चली गयी। रानी वीरता से लड़ीं, किन्तु असफल रहीं। एक अंग्रेज सिपाही के वार से रानी स्वर्ग सिधार गयीं। बाबा गंगादास की कुटिया पर रानी का दाह-संस्कार हुआ और इस प्रकार रानी स्वराज्य की नींव का पत्थर बनीं।

उपन्यास की सबसे प्रमुख पात्री हैं, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, जो उपन्यास की नायिका है। लेखक ने रानी को एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है। रघुनाथ सिंह और जवाहर सिंह रानी के देशभक्त एवं कर्मठ सेनापति हैं। तात्या टोपे, राव साहब की सेना का वीर सिपाही है। पीर अली एवं अली बहादुर देशद्रोही है। बरहानुद्दीन, गुल मुहम्मद, खुदाबख्श, गौस खाँ भी भारतीय स्वतन्त्रता के कर्मठ सेनानी, धीर और वीर हैं। स्त्री पात्रों में सुन्दर, मुन्दर तथा काशीबाई रानी की दासी होने के साथ ही उनकी सहेली भी हैं। ये भी राष्ट्रप्रेम से युक्त हैं। जूही तथा नर्तकी मोतीबाई भी स्वतन्त्रता के युद्ध में अपने को होम कर देती हैं। झलकारी, बख्शन जू तथा बख्शी भी आदर्श पात्र ही हैं।

पारसनीस ने लिखा है कि रानी जनरल रोज की ओर से झाँसी का प्रबन्ध करते हुए बाध्य होकर अंग्रेजों से लड़ीं। पारसनीस का यह कथन लेखक को मान्य नहीं है। इस कथन की व्यर्थता को सिद्ध करने के लिए ही लेखक ने अनेक तथ्य एकत्र किये, वर्षों परिश्रम किया और इस उपन्यास द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि रानी बाध्य होकर नहीं, बल्कि स्वराज्य के लिए लड़ी थीं। इसी तथ्यात्मकता के कारण ही इस कृति की औपन्यासिकता क्षीण हो गयी है। अनेक स्थलों पर घटनाएँ विवरण की तरह प्रस्तुत की गयी हैं।

शैली अत्यधिक वर्णनात्मक है। देशज शब्दों एवं वाक्यांशों का प्रयोग बहुलता से हुआ है।

—ज० गु०

ठाकुर—ये रीतिकाल के अन्तर्गत अपेक्षाकृत गौण, किन्तु स्वतन्त्र रीति से प्रवाहित, रीतिमुक्त प्रेमी कवियों की महत्त्वपूर्ण

भावधारा के एक विशिष्ट कवि थे। उनका जन्म १७६३ ई० (सं० १८२३) तथा देहावसान १८२४ ई० (स० १८८०) के लगभग माना जाता है। ठाकुर बुन्देलखण्ड के निवासी तथा उसी क्षेत्र में स्थित जैतपुर के राजा केसरीसिंह के दरबारी कवि थे। उनके पिता गुलाबराय ओरछा महाराजा के मुसाहब थे और पितामह खगराय कांकोरी के मनसबदार थे। इनके पुत्र दरियावसिंह 'चातुर' और पौत्र शंकर प्रसाद भी कवि थे। नाम से ठाकुर होते हुए भी वे जाति के कायस्थ थे। बिजावर के राजा ने भी उनको एक गाँव देकर सम्मानित किया था। केसरीसिंह के पुत्र पारीछत ने सिंहासनारूढ़ होने पर ठाकुर को अपनी सभा का एक रत्न बनाया। वे पद्माकर के समकालीन थे तथा बाँदा के राजा हिम्मतबहादुर गोसाईं के, जो पद्माकर के एक प्रमुख आश्रयदाता थे, दरबार में आमन्त्रित किये जाने पर कभी-कभी उनकी और पद्माकर की पारस्परिक काव्य-स्पर्धा हो जाया करती थी। इस सम्बन्ध में ठाकुर की व्युत्पन्नमति को व्यक्त करने वाली अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

ठाकुर स्वभाव से स्पष्टवादी, विरोधियों के प्रति उग्र और सहयोगियों के प्रति सहृदय एवं भावुक थे। हिम्मतबहादुर द्वारा कटु वचन कहे जाने पर उन्होंने भरे दरबार में तलवार खींचकर जो कवित्त पढ़ा था, वह उनकी आन्तरिक प्रकृति को पूर्णतया व्यक्त करता है—"सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के, दान जुद्ध जुरिबे में नेंकु जो न मुरके। नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को, हिये के विसुद्ध हैं सनेही साँचे उर के। 'ठाकुर' कहत हम बैरी बेवकूफनके, जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के। चोजिन के चोजी, महा मौजिन के महाराज, हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के।"

स्फुट रूप से ठाकुर के मुक्तक अनेक प्राचीन-अर्वाचीन काव्य-संग्रह में स्थान पाते रहे हैं, परन्तु उनके पद्यों के संग्रह दो ही सामने आये हैं। प्रथम संग्रह 'ठाकुर शतक' नाम से रामकृष्ण वर्मा की देखरेख मे काशी से १९०४ ई० में मुद्रित हुआ था। इसके संग्रहकर्ता थे चरखारी-निवासी काशीप्रसाद। परिचय के रूप में प्रारम्भ में इस पर एक पंक्ति छपी है—"जिसमें ठाकुर कवि रचित एक सौ उत्तम सवैया और कवित्त हैं।" दूसरा संग्रह जो वास्तव में इसी का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण कहा जा सकता है, 'साहित्य-सेवक' कार्यालय, काशी से १९२६ ई० में शंकर पुस्तकमाला के तृतीय पुष्प के रूप में प्रकाशित किया गया इसका सम्पादन लाला भगवानदीन ने किया है। इसमे 'ठाकुर शतक' के १०७ छन्दों में से केवल तीन (छन्द संख्या ५, ६५, ८७) को छोड़कर शेष सभी 'ठाकुर ठसक' में समाविष्ट कर लिये गये हैं, यद्यपि सम्पादक ने 'शतक' को ठाकुरों की कविता की 'खिचड़ी' कहा है। दीनजी ने इतना श्रेयस्कर कार्य अवश्य किया है कि शतक में प्राप्त छन्दों के अतिरिक्त ८८ छन्द और खोजकर प्रकाशित कर दिये हैं। किसी पाण्डुलिपि के अभाव में उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध ही कही जायगी। अपने संग्रह में दीनजी ने उन चार छन्दों (संख्या ११४, ९१, १०१, १०८) को भी सम्मिलित कर लिया है, जिन्हें आरम्भ में उन्होंने स्वयं असनीवाले ठाकुरों की रचना बताया है।

'ठाकुर ठसक' दीनजी द्वारा सम्पादित ठाकुरकी स्फुट कृतियों का प्रसिद्ध संग्रह है। उसकी भूमिका में उनके सम्बन्ध मे स्पष्टतया लिखा है—"हमारे हिन्दी साहित्य में तीन व्यक्ति ठाकुर नाम के कवि हो गये है, दो तो असनी (फतेहपुर) के थे। और एक जैतपुर (बुन्देलखण्ड) के। असनीवाले भट्ट थे और जैतपुरवाले कायस्थ, जिनकी कविता प्रायः लोगों के मुख से सुनी जाती है और जिनका लोगों में अधिक मान है, वे जैतपुर वाले ठाकुर थे। दीनजी के अनुसार असनीवाले ठाकुरों की कविता ठेठ रीतिबद्ध परम्परा की कविता थी और उनकी भाषा रीतिकाव्य में प्रचलित परिनिष्ठित ब्रजभाषा। जैतपुरी ठाकुर की भाषा में बुन्देलीपन और काव्य-वस्तु में प्रेम-तत्त्व की प्रधानता के साथ रीतिपरम्परा के विषयो का प्रायः अभाव मिलता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के "सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के" से अन्त होने वाले आत्मपरिचयपरक कवित्त पर ठाकुर के ऊपर उद्धृत छन्द की छाया प्रतीत होती है। भारतेन्दु के और छन्दों, विशेषकर सवैयों पर ठाकुर की भाव-भंगिमा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सवैया छन्द में ठाकुर की सहज गति थी। भाषा शैली अकृत्रिम और ओजस्वितापूर्ण होते हुए भी कोमल भावो को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। लोकोक्तियों और लोक-प्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर पर्याप्त उपयुक्त ढंग से किया है।

ठाकुर द्वारा अपने समय में प्रतिष्ठित एवं प्रचलित काव्य को लक्ष्य में रखकर दी गयी कविता की परिभाषा अत्यन्त मार्मिक है—"मोतिन की-सी मनोहर माल गुहै तुक अक्षर जोरि बनावै। प्रेम को पन्थ कथा हरि नाम की उक्ति अनूठी बनाइ सुनावै। 'ठाकुर' सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै। पण्डित और प्रबीनन को जोइ चित्त हरे सो कवित्त कहावै।" इसके अतिरिक्त "डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच, लोगन कवित्त कीवो खेलि करि जानो है" लिखकर उन्होंने अपने काल की ह्रासोन्मुखी कविता पर तीव्र व्यंग भी किया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; शि० स०; मि० वि०; ठाकुर-ठसक : सं० लाला भगवानदीन।]

—ज० गु०

ठाकुर असनीवाले—असनी के ठाकुर नामवाले दो कवि प्रसिद्ध हैं, जिनमें प्राचीन ठाकुर का समय सन् १६४५ के लगभग माना गया है किन्तु इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती और छन्द भी अन्य ठाकुरनामधारी कवियों के साथ मिश्रित हो गये हैं। ये ब्रह्मभट्ट थे और इनकी रचना भी स्वच्छ है।

असनी के दूसरे ठाकुर ऋषिनाथ कवि के पुत्र थे और इनके पौत्र सेवक कवि के भतीजे श्रीकृष्ण द्वारा लिखित अपने पूर्वजों की कथा से इनके पूर्वज देवकीनन्दन मिश्र गोरखपुर के सरयूपारीण ब्राह्मण ठहरते हैं जिन्होंने मझोली के राजा के यहाँ विवाहोत्सव में एक कवित्त पढ़कर पुरस्कार तो पाया किन्तु उन्हें इसी बात पर जातिच्युत होकर रहना पड़ा और बाद में असनी के प्रसिद्ध भाट नरहर कवि की पुत्री से विवाह करके ये भाट बनकर असनी में ही बस गये। रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार ठाकुर का जन्म सन् १७३६ (सं० १७९२) में हुआ था।

रीतिमुक्त कवियों में आपका विशिष्ट स्थान है और यत्र-तत्र आयी हुई अश्लीलता की झलक को छोड़कर इनकी

रचना प्रायः शिष्ट तथा मानव-प्रकृति के अनुकूल है। इनका रचनाकाल सन् १८०४–५ के आस-पास बताया जाता है और उसी समय की इनकी 'बिहारी सतसई' की देवकीनन्दन टीका सतसई वर्णनार्थ बतायी जाती है। देवकी नन्दन काशिराज के सम्बन्धी और काशी के प्रसिद्ध रईस एवं ठाकुर के आश्रयदाता थे। उन्हीं के नाम पर टीका है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; हि० सा० इ; क० कौ० (भा० १)।]

—आ० प्र० दी०

डगर—एक भक्त। चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रभावित अष्टादश प्रधान वैष्णव प्रचारको में इनका प्रमुख स्थान था। नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में इनका उल्लेख किया है।

—मो० अ०

डिंभ—हंस का अनुज तथा जरासंध का सेनापति। दुर्वासा ऋषि का अपमान करने के अपराध में भगवान् श्रीकृष्ण ने इससे भयंकर युद्ध किया। युद्ध करते-करते जब यह बहुत दूर निकल गया तो इसे अपने भाई हंस की मृत्यु का समाचार मिला। तब दुःख एवं भय से व्याकुल होकर वह यमुना में कूद पड़ा और अपने प्राण छोड दिये।

—मो० अ०

ढोला—ढोला राजस्थान, मालवा, ब्रज और उत्तरभारतीय हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र का लोककाव्य है। वर्षाऋतु में प्रायः 'चिकोड़े' (चिकारा अथवा सारंगी की आकृति का एक छोटा तन्तुवाद्य) पर इसे गाया जाता है। ढोलक और मजीरे साथ में बजते हैं। 'सुरैया' नामक दूसरा गायक बीच-बीच में प्रमुख गायक को विश्राम देने के लिए सुर भरता है। ढोला की कथा राजस्थाज के 'ढोरा मारू' पर आधारित है, जिसमें युवा होने पर ढोला अपनी बालपन में ब्याही पत्नी मरवण को अनेक कठिनाइयों के पश्चात् प्राप्त करता है। 'ढोला मारूरा दूहा' ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना तथा सबसे पुराना स्वरूप ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। छत्तीसगढ़ में प्राप्त ढोला की कथा में केवल मारू के गौने का वर्णन है। इसमें 'रेवा' नामक जादूगरनी ढोला पर मोहित होकर बाधाएँ उपस्थित करती है। कथा के और भी रूप प्राप्त हैं। सन् १८९० ई० में यह कथा दो बार लिपिबद्ध की गयी। 'आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट' के अनुसार ढोला की कथा पौराणिक नल और दमयन्ती से जोडी गयी है। छंतीसगढ़ की दूसरी कथाओं में ढोला को 'दूल्हा' कहा गया है, जिसका विवाह बचपन में गढ़पिंगला राजकुमारी मरवण से हुआ था। राजकुमारी ने युवा होने पर ढोला के पास कई सन्देश भेजे, पर अपनी दो रानियों के प्रेम में फँसा हुआ ढोला उन्हें प्राप्त नहीं कर सका। अन्त में सन्देश प्राप्त होने पर वह अन्धी ऊँटनी पर सवार होकर मरवण के पास पहुँचता है और उसे प्राप्त करता है। एक कथा में मारू तोते के हाथ ढोला को सन्देश भेजती है। रेवा कहीं–कहीं मालिन भी घोषित की गयी है। ब्रज में प्रचलित ढोला 'दूलह' या 'दुर्लभ' से बना प्रतीत होता है। स्त्रियों में गाये जाने वाले 'ढोला' 'डोलना' क्रिया से सम्बद्ध गीत है, जो मार्ग में चलते समय गाये जाते हैं। अपनी विशेष प्रसिद्धि के कारण 'ढोला' राजस्थान और मालवा में प्रियतम का पर्याय बन गया है। ढोला गाने वाले बहुत कम मिलते हैं। उन्हे दुलैया कहा जाता है। कालान्तर में ढोला की कथा के कई रूपान्तर बन गये। गोरख सम्प्रदाय और शाक्तों का प्रभाव इस कथा पर स्पष्ट है।

[(दे० 'ढोला मारूरा दूहा'—ना० प्र० स०; 'दी स्टोरी ऑफ ढोला', पृ० ३७१; 'लोक सांग्ज ऑफ छत्तीसगढ़' : एलविन; छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' . दुबे; 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन', पृ० ३५७ तथा 'ढोला राहचिकाड़े में' : गजाधरसिंह भूदेव एव 'नल चरित्र ढोला' : छेदीलाल करकौली)।]

—श्या० प०

ढोलामारू—'ढोला मारू' की कथा राजस्थान की अत्यन्त प्रसिद्ध लोक–गाथा है। इस प्रेम-गाथा में मानव-हृदय के कोमल भावों तथा बाह्य प्रकृति के बड़े ही मनोहर चित्र अंकित किये गये हैं। इस गाथा की लोकप्रियता का अनुमान निम्नलिखित दोहे से लगाया जा सकता है, जो राजस्थान में अत्यन्त प्रचलित है—"सोरठियों दूहो भलो, भलि मरवणरी बात। जोबन छाई धण भली, ताराँ छाई रात।।" हेमचन्द्र के 'प्राकृत–व्याकरण' में जो अपभ्रंश के उदाहरण दिये गये है, उनमें ढोला शब्द आया है। वहाँ ढोला से आशय नायक का है। ढोला नाम नायक का क्यों पड़ा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बहुत सम्भव है, इस लोकगाथा के नायक की सुप्रसिद्धि के कारण ही नायक की संज्ञा ढोला हो गयी हो।

ढोला मारू की गाथा ऐतिहासिक आधार पर प्रतिष्ठित है। ढोला कछवाहा वंश के राजा नल का पुत्र था। मारवणी पूगल के राजा पिंगल की कन्या थी। दोनों का विवाह ऐतिहासिक घटना है। राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक मुँहणोत नैणसीकी 'ख्यात' में ढोला के मारवणी और मालवणी दो स्त्रियों के होने का उल्लेख पाया जाता है। एक बार पूगल देश में अकाल पड़ा। राजा पिंगल सपरिवार नल के देश में आया। नल के पुत्र ढोला को—जिसका दूसरा नाम साल्ह कुमार भी था—देखकर पिंगल की रानी रीझ गयी। उसने आग्रह करके अपनी कन्या मारवणी का विवाह ढोला के साथ करवा दिया। इन्हीं ढोला और मारवणी के प्रेम का वर्णन बड़ी ही सुन्दर रीति से इस गाथा में किया गया है।

विद्वानों ने राजा नल का समय संवत् ९५० और १००० वि० के बीच माना है। अतएव ढोला-मारू की कथा १००० वर्ष पुरानी है। जैसी कि लोक-गाथाओं की विशेषता होती है, वैसे ही इस गाथा में भी समय–समय पर परिवर्तन होते गये हैं। जैसलमेर के रावल हरिराज के आश्रित जैन कवि कुशल लाभ ने, जिनका समय १५६१ ई० के आस-पास है, दूहों में प्रचलित इस गाथा के छिन्न–भिन्न कथासूत्रों को मिलाने के लिए चौपाइयों की रचना की। आजकल ढोला-मारू काव्य के चार रूपान्तर उपलब्ध होते हैं—१. जिसमें केवल दूहे हों और जो प्राचीन हैं, २. जिसमें दूहे और कुशल लाभ की चौपाइयाँ हैं; ३. जिसमें दूहे और गद्य-वार्ता है और ४. जिसमें दूहे, कुशल लाभ की कुछ चौपाइयाँ और गद्य–वार्ता है। नरोत्तमदास स्वामी और उनके मित्रों ने इन प्राचीन दूहों का सुन्दर सम्पादन कर विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ 'ढोला-मारू रा दूहा' के नाम से काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित किया है।

'ढोला मारू रा दूहा' में प्रेम का बड़ा ही मनोरम दृश्य

दिखलाया गया है। मारवणी का सन्देश, मालवणी का विरह वर्णन, प्रकृति का सजीव चित्रण आदि इस ग्रन्थ के कतिपय रमणीय पसंग हैं, जो पाठकों के चित्त को आकर्षित कर लेते हैं। लोककवि ने राजस्थान के विशेष पशु—उँट का भी वर्णन किया है। वह राजस्थान की बालूकामयी भूमि और उसकी पैदावार का चित्रण करना भी नहीं भूलता। इस प्रकार प्रस्तुत लोक-गाथा को राजस्थान की प्रतिनिधि-गाथा कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। ढोला-मारू की गाथा मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में भी प्रचलित है। भोजपुरी लोकगाथा में ढोला ने ढोलन का रूप धारण कर लिया है। प्राचीनता तथा काव्यत्व की दृष्टि से वर्तमान गाथा अद्वितीय है।

—कृ० दे० उ०

ढोला मारू चौपाई—खरतरगच्छीय जैन कवि कुशलाभ ने सन् १५६० ई० के लगभग 'ढोला मारू चौपाई' की रचना की। नलवरगढ़ के राजा नल के पुत्र साल्ह का लोकप्रिय नाम ढोला (सं० दुर्लभ—दुल्लह—दूल्हा और ढोला?) है। मारवाड़ के राजा की सुन्दरी कुमारी का नाम था मारव, मारवणी या मारू। ढोला और मारू की प्रेम-कथा को लेकर अनेक प्रेम-काव्यों की रचना हुई है। 'ढोला मारू रा दूहा' इस कथा को लेकर रची गयी सरस काव्यकृति है। कुशल लाभ ने चौपाइयों में अपनी कृति की रचना की है। ढोला मारू की कथा में ऐतिहासिकता खोजना व्यर्थ है। कृति की रचना जैसरमेर के युवराज हरराज के आग्रह से की गयी थी। कुशल लाभ के ग्रन्थ की भाषा सरल पश्चिमी हिन्दी है, जिसमें ब्रजभाषा, गुजराती और राजस्थानी सभी की कुछ न कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। शैली सहज प्रवाहयुक्त है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य, खण्ड २, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग।]

—रा० तो०

तंतिपाल, तंत्रिपाल—सहदेव (पाण्डव) का छद्मनाम, जो उन्होंने अज्ञातवास काल में धारण किया था।

—मो० अ०

तक्ष—भरत तथा मण्डवी के पुत्र। इन्होंने अपने भाई पुष्कर के साथ जाकर गान्धार प्रदेश पर विजय प्राप्त करके तक्षशिला नामक नगरी बसायी।

—मो० अ०

तक्षक—श्रृंगी ऋषि से शापित परीक्षित को काटनेवाला, कश्यप और कद्रू का पुत्र, अष्टकुली सर्पों में श्रेष्ठ एक प्रसिद्ध सर्प। परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने प्रतिशोधवश जब नागयज्ञ किया तो यह स्वरक्षार्थ इन्द्र की शरण में चला गया किन्तु मन्त्र-शक्ति के कारण जब तक्षक सहित इन्द्रासन भी यज्ञ-कुण्ड की ओर खिंचने लगा तो इन्द्र ने तक्षक को छोड़ दिया। तब वासुकि ने अपने भानजे आस्तीक को भेजकर येन-केन-प्रकारेण उसके प्राणों की रक्षा करवायी (दे० सूर० पद ४९३६ तथा 'जनमेजय का नाग यज्ञ' : जयशंकर प्रसाद)।

—मो० अ०

तत्वा—कबीर के शिष्य एक प्रसिद्ध दाक्षिणात्य ब्राह्मण। जुलाहे के शिष्य होने के कारण जातिवालों ने इनका बहिष्कार कर दिया था। इनके जीवा नामक एक भाई थे। एक भाई के पुत्र तथा दूसरे के एक कन्या थी, जिसका विवाह न होने पर कबीर ने दोनों के परस्परिक विवाह की आज्ञा दी। अन्त में जातिवालों ने घबराकर दोनों का अलग-अलग विवाह करा दिया।

—मो० अ०

तबई—'तबई' नाम दक्खिनी हिन्दी के प्रेमाख्यान 'बहराम ओ गुल अन्दाम' के रचयिता का था। यह उसका केवल उपनाम मात्र था अथवा उसका पूरा नाम, इसका कुछ भी पता नहीं चलता और न उसके जीवनवृत्त की सामग्री ही उपलब्ध है। 'बहराम ओ गुल 'अन्दाम' के प्रायः अन्त में पायी जाने वाली शाहे वक्त की 'मदह' या प्रशंसा द्वारा जान पड़ता है कि यह कवि गोलकुण्डा राज्य के सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह (सन् १६३६-७२ ई०) का समकालीन था और उसके दामाद एवं उत्तराधिकारी सुल्तान अबुलहसन तानाशाह (सन् १६७२-८६ ई०) के दरबार का एक प्रसिद्ध कवि भी रहा। तानाशाह गोलकुण्डा का अन्तिम सुल्तान था, जिस पर सन् १६८७ ई० में विजय प्राप्त करके सम्राट् औरंगजेब के पुत्र शाहजादा आजमन ने उसे बन्दी बनाया था तथा जिसका इसी कारण दौलताबाद के दुर्ग में १४ वर्षों तक नजरबन्द रहने के अनन्तर सन् १७०० ई० में देहान्त हुआ था। 'तबई' ने उक्त रचना के ही प्रारम्भिक अंश (दी बाचा) को शाह राजू हुसेनी (सन् १६९३ ई०) के साथ सम्बन्धित किया है, जो सम्भवतः तानाशाह के गुरु और प्रसिद्ध ख्वाजा गेसूदराज के वंशज भी थे। पता नहीं इस कवि के साथ शाह राजू हुसेनी का भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध था या नहीं। हो सकता है कि उन्हें यह अपना 'पीर' भी मानता रहा हो। 'तबई' की एकमात्र उपलब्ध रचना 'बहराम ओ गुल अन्दाम' एक उच्चकोटि का काव्यग्रन्थ है और कहते हैं कि केवल इसी एक के आधार पर वह दक्खिनी हिन्दी का अन्तिम श्रेष्ठ कवि भी समझा जाता है। इस प्रेमाख्यान के अन्तर्गत ईरान के सासनी वंशवाले चौदहवें बादशाह बहराम गोर (सन् १४२१-३८ ई०) के विलासप्रिय जीवन की कहानी कही गयी है, जो बहुत रोचक भी है। इससे कवि की योग्यता न केवल इसके सुव्यवस्थित रूप एवं कथा-प्रवाह में ही दीख पड़ती है, अपितु इसमें प्रसंगानुसार निर्मित हुए कतिपय पाण्डित्यपूर्ण स्थलों से भी प्रकट हो जाता है कि वह कितना बड़ा विद्वान् एवं अनुभवी रहा होगा। उसे स्वयं भी अपनी विलक्षण प्रतिभा पर गर्व है, जिस कारण वह कभी-कभी अन्य कवियों की चुटकी भी लेता जान पड़ता है परन्तु फिर भी 'तबई' को हम केवल इसी दोष के कारण निरा घमण्डी भी नहीं ठहरा सकते। इस रचना के अन्य अनेक स्थलों से हमें ऐसा भी समझ पड़ता है कि उसे अपनी मर्यादा का भी ध्यान रहता है और वह इस बात को भली-भाँति जानता है कि किसी वास्तविक योग्यतावाले व्यक्ति के प्रति हमें अपनी श्रद्धा किस प्रकार दिखानी चाहिए। उदाहरण के लिए उसमें प्रसिद्ध कवि मुल्ला वजही के प्रति गम्भीर सम्मान की भावना जान पड़ती है। वह इस रचना के ही अन्तर्गत एक स्थल पर कहता है कि इस मसनवी (प्रेमाख्यान) की रचना करते समय मुझे एक दिन वजही ने स्वप्न में अपने दर्शन दिये और इस पर प्रसन्न होकर कहा कि "तबई यह तेरी कृति बहुत सुन्दर है", जिसे

सुनते ही मैं हर्षित हो गया और उन्होंने मेरे हाथ अपने हाथो में लेकर मेरे प्रति अपना प्यार प्रकट किया। 'तबई' का अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि "मैं कोई ऐसा काम कर दूँ कि वह 'कयामत' तक स्मरण किया जाता रहे।" 'तबई' को अपनी जन्मभूमि के प्रति भी अनुराग है और वह इसके लिए भी "वतन सबको दुनिया मे प्याराऊ है" कहता दीख पडता है। 'बहराम ओ गुल अन्दाम' को पढ़ने से पता चलता है कि यह रचना सम्भवत: उसकी स्वतन्त्र कृति भी हो सकती है। इसके पहले फारसी एवं दक्खिनी हिन्दी तक मे इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था, किन्तु यह उनके अनुकरण में नहीं बनी।

[सहायक ग्रन्थ—यूरोप में दक्खिनी मखतूतात : नसीरुद्दीन हाशमी, हैदराबाद, सन् १९५३ ई०; ए हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर : ग्राहम बेली, एसोसियेशन प्रेस, कलकत्ता, सन् १९३२ ई०; दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पटना, १९५९ ई०।]

—प० च०

ताड़का—मारीच-सुबाहु की माता, सुकेतु नामक यक्ष की पुत्री, जो अगस्त्य ऋषि के शाप से राक्षसी हो गयी थी। यह सरयू के निकट ताड़का वन मे रहकर ऋषियों के यज्ञो में बाधा डालती थी। अत्याचार से पीड़ित होकर विश्वामित्र उसके वध के लिए राम-लक्षमण को दशरथ से माँगकर ले गये। स्त्री जानकर राम उसे मारने में संकोच कर रहे थे, किन्तु विश्वामित्र की आज्ञा पाकर उन्होंने उसे मार डाला। इसका दूसरा नाम 'सुकेतुसुता' भी है (दे० 'रामचरितमानस' बालकाण्ड)।

—मो० अ०

तानसेन—अकबर के नवरत्नों तथा मुगलकालीन संगीतकारों में तानसेन का नाम परम-प्रसिद्ध है। यद्यपि काव्य-रचना की दृष्टि से तानसेन का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, परन्तु संगीत और काव्य के संयोग की दृष्टि से, जो भक्तिकालीन काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता थी, तानसेन साहित्य के इतिहास में अवश्य उल्लेखनीय हैं।

तानसेन की जीवनी के सम्बन्ध में बहुत कम ऐसा वृत्त ज्ञात है, जिसे पूर्ण प्रामाणिक कहा जा सके। प्रसिद्ध है कि वे ग्वालियर के एक ब्राह्मण थे और किसी सुन्दर स्त्री के प्रेम के वशीभूत होकर मुसलमान हो गये थे। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त स्वामी हरिदास इनके दीक्षा-गुरु कहे जाते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर से इनके भेंट का उल्लेख हुआ है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में गोसाईं विट्ठलनाथ से भी इनके भेंट करने की चर्चा मिलती है।

तानसेन के तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—'संगीतसार', 'रागमाला' और 'श्रीगणेश स्तोत्र'। भारतीय संगीत के इतिहास में ध्रुपदकार के रूप में तानसेन का नाम सदैव अमर रहेगा। इसके साथ ही ब्रजभाषा के पद साहित्य का संगीत के साथ जो अटूट सम्बन्ध रहा है, उसके सन्दर्भ में भी तानसेन चिरस्मरणीय रहेंगे।

[सहायक ग्रन्थ—संगीतसम्राट् तानसेन (जीवनी और रचनाएँ) : प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; अकबरी दरबार के हिन्दी कवि . डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल।]

—यो० प्र० सिं०

तारक—देवविरोधी एक राक्षस, जो वज्राग का पुत्र था। ब्रह्मा ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर उसे वर दिया कि वह ससार मे अजेय होगा और सात दिन के बालक द्वारा उसकी मृत्यु होगी। अत: देवताओं के कहने से कामदेव शिवजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए गया, जिससे शिव पार्वती से विवाह कर ले किन्तु कामदेव शिव का तीसरा नेत्र खुलते ही भस्म हो गया। अन्त मे देवताओं की प्रार्थना पर शिव ने पार्वती से विवाह किया और उनसे उत्पन्न कार्तिकेय द्वारा तारक का वध हुआ। गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'तारक-वध' काव्य मे तारक का चरित्र-चित्रण हुआ है।

—मो० अ०

तार सप्तक—१९४३ मे 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी कविता में प्रयोग-युग का आरम्भ माना जा सकता है। इसमे सात कवियों की (गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय') कविताएँ संकलित है। संगृहीत कवि किसी एक मत या विचारधारा के नहीं हैं, यहाँ तक कि उन कवियों में भी पर्याप्त अन्तर है, जो सामान्यत: एक ही विचारधारा के लगते हैं, जैसे मार्क्सवादी कवि, भारतभूषण अग्रवाल मार्क्सवाद को आज के समाज के लिए रामबाण मानते हैं, गजानन मुक्तिबोध को मार्क्सवाद से "अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त हुआ", नेमिचन्द्र "व्यक्तित्व की सामाजिकता में विश्वास करते हैं—व्यक्तित्वहीनता में नहीं", रामविलास शर्मा को हिन्दुस्तान के गाँव और किसान पसन्द हैं। इनसे अलग वर्ग में रखे जा सकते हैं, गिरिजाकुमार माथुर, जिन्होंने कविता में टेकनीक, भाषा, रंग, रस आदि पर अधिक ध्यान दिया है, प्रभाकर माचवे, जो कविता में प्रयोगादि का अधिक शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक आधार खोजते हैं तथा 'अज्ञेय' जो अनुभव करते हैं कि "भाषा का पुरान व्यापकत्व उसमें नहीं हैं—शब्दो के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है। जो व्यक्ति की अनुभूति है, उसे उसकी सम्पूर्णता तक कैसे पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"

संकलनकर्ता 'अज्ञेय' के शब्दों में इन सातों कवियों के एकत्र होने का कारण एक तो बिलकुल व्यावहारिक था—छोटे-छोटे फुटकल सग्रह छापने के बजाय एक संयुक्त संग्रह छापना, जिसका अधिक व्यापक प्रभाव पड़ सके, दूसरा मूल (साहित्यिक) सिद्धान्त यह था कि "संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे, जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं,

राहों के अन्वेषी।"

कविताओ का आज गुणात्मक महत्त्व इतना नहीं है, जितना ऐतिहासिक। यह उन कवियों के लिए और भी सच है, जो 'तार सप्तक' के बाद स्वतन्त्र दिशाओं मे विकसित होते रहे। संग्रह की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उसमें तथाकथित प्रगतिवादी और प्रयोगवादी, दोनों ही प्रकार के कवियों की रचनाएँ हैं, और इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करती है कि आगे चलकर कविता मे जो विकास और परिवर्तन हुआ, वह विचारो या मतो पर कम आश्रित रहा, कविता-सम्बन्धी, बल्कि भाषासम्बन्धी तत्त्वों पर अधिक। यदि १९५१ और १९५९ में क्रमशः प्रकाशित केवल 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के ही आधार पर नयी काव्यधारा का अध्ययन किया जाय तो भी विकास का क्रम विषय-वस्तु की अपेक्षा रूप-पक्ष में अधिक स्पष्ट दीखता है, यद्यपि इससे यह अभिप्रेत नही कि कविता का नया रूप नये विचारों से प्रभावित नहीं रहा।

—कुँ० ना०

तारा १—१. बालि की पत्नी तथा अगद की माता। बालि-वध हो जाने के पश्चात् ये अपने देवर सुग्रीव के साथ पत्नी-भाव से रहने लगीं। सुषेण नाम के वानरराज इनके पिता थे।

२. वृहस्पति की स्त्री, जिसका अपहरण चन्द्रमा ने कर लिया था।

इसी कारण देवासुरसंग्राम हुआ। शुक्र ने सोम (चन्द्र) का और शिव तथा इन्द्र ने वृहस्पति का पक्ष लिया। अन्ततोगत्वा ब्रह्मा के बीच-बिचाव करने पर तारा वृहस्पति को लौटा दी गयी।

—मो० अ०

तारा २—प्रसादकृत उपन्यास 'कंकाल' की पात्र। विधवा रामा की पुत्री, जो एक कुटनी के कुचक्र में पड़कर लखनऊ के चौक मे वेश्या के रूप में रहने को बाध्य की गयी। यहीं मंगल से उसकी भेट होती है और वह उसके साथ युक्ति-पूर्वक निकल जाती है। मंगल समाज-भय से विवाह-मण्डप में बैठी तारा को छोड़कर चला जाता है। वह उस समय गर्भवती थी। एक अनाथालय मे अपने पुत्र को छोड़कर वह भाग जाती है और किशोरी के यहाँ दासी का काम करती है। अपना नाम वह यमुना बताती है यमुना के चरित्र की विशेषता है, परुष और कोमल, विद्रोही और सहिष्णु भावनाओं के समन्वय की। एक ओर यदि वह पुरुष-जाति पर कटु आक्षेप करती है, पुरुषों को राक्षस बताती है, तो दूसरी ओर नारी की दुर्बलता स्वीकार कर उसे "आघात सहने की क्षमता" रखने का सन्देश देती है। विजय जब मंगल की प्रशंसा करता है तो वह विद्रोह करती है—"मंगल ही नहीं, सब पुरुष राक्षस हैं, देवता कदापि नहीं हो सकते।" परन्तु दूसरे ही क्षण विजय और किशोरी द्वारा मंगल से जलपान के लिए न पूछने पर उसे क्षोभ होता है। पुरुष-जाति पर आक्षेप करने के साथ ही साथ वह नारी की सहनशीलता और उत्सर्ग की भावना को कायम रखने की बात कहती है। यमुना में जागरूकता होने पर भी विद्रोहपूर्ण आक्रोश नहीं है। यमुना निर्बल नारी और माँ है। अपने पुत्र मोहन को छोड़ आने पर वह क्षुब्ध रहती है और अन्त में माँ की ममता ही उसे किशोरी और श्रीचन्द के यहाँ नौकरी करने के लिए विवश करती है। भाई के जिस स्नेह की माँग उसने विजय से की थी, वह उसे उससे मिल जाता है। उत्सर्ग की भावना भी उसमे प्रबल है। विजय की हत्या के अपराध को वह अपने सिर ले लेती है। मंगल और माला के विवाह के अवसर पर भी चुप रहती है। हिन्दू समाज और उसकी निष्ठुरता पर उसे क्षोभ है, परन्तु विद्रोह वह नहीं कर पाती। विजय की अंत्येष्टि-क्रिया के लिए श्रीचन्द से दस रुपये लेना उसकी सहृदयता और स्नेह का परिचय देता है।

—शं० ना० च०

तारा पांडेय—जनम १९१५ ई० में दिल्ली में हुआ। १९ वर्ष की ही अवस्था में आपका काव्य-संग्रह 'सीकर' (१९३४) प्रकाशित हुआ।

तारा पाण्डेय में हमें छायावादी काव्य-शैली की कोमल किन्तु मार्मिक मानव-सवेदनाओं के दर्शन होते हैं। गीतो में महादेवी वर्मा जैसा आभिजात्य गुण तो नही है किन्तु सवेदनशील क्षणो की अनुभूति-स्पष्टता और उसका सार-तत्त्व हमें तारा पाण्डेय के गीतो मे मिलता है।

तारा पाण्डेय के गीतों मे हमें एक तत्त्व और मिलता है। वह है नारीसुलभ कोमलता और वेदना की मानवता में ही उपलब्धि की खोज। रोमानी अनुभूतियों के इन दोनो तत्त्वों ने कवयित्री को और भी व्यापक स्तर पर ला खड़ा किया है। तारा पाण्डेय मे निहित नारीसुलभ लज्जा, शील और वेदना गीत की शैली को एक नया आयाम देने में समर्थ हुई है।

कृतियाँ : 'सीकर' (काव्य-सग्रह—१९३४), 'उत्सर्ग' (कहानी-संग्रह—१९२८), 'रेखाएँ' (काव्य-संग्रह—१९४१), 'गोधूली' (काव्य-संग्रह—१९४४), 'अन्तरंगनी' (काव्य-संग्रह—१९४६), 'विपंची' (काव्य-संग्रह—१९५०), 'काकली' (काव्य-संग्रह—१९५३)। म्युनिसिपल बोर्ड, नैनीताल में उप-प्रधान। अब भी उसी तन्मयता के साथ लिखने में व्यस्त है।

—ल० का० व०

तारापीड—सूर्यवंशी राजा चन्द्रावलोक का पुत्र। 'कादम्बरी' का नायक, जो प्रतापादित्य का पुत्र था। इसके भाई का नाम चन्द्रापीड था। राज्य के लोभ से इसने अपने अग्रज की हत्या करवा दी थी (दे० 'कादम्बरी', हिन्दी-अनुवाद)।

—मो० अ०

तारामती—राजा हरिश्चन्द्र की राजमहिषी, शैव्य देश के राजा की पुत्री। इन्हें शैव्या भी कहते हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र डोम के हाथ बिक गये थे और तारामती एक ब्राह्मण के यहाँ दासी का काम करने लगीं। वहाँ इनके पुत्र रोहिताश्व की सर्प-दंश से मृत्यु हो गयी। अतः वे उसे श्मशान लेकर पहुँची, जहाँ डोम द्वारा नियुक्त हरिश्चन्द्र ने कर माँगा। शैव्या के पास कर चुकाने के लिए बालक का कफन भी नहीं था किन्तु कर्त्तव्यारूढ़ हरिश्चन्द्र बिना कर लिये दाह नहीं करने दे रहे थे। उनकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होकर इन्द्र प्रकट हुए और विश्वामित्र ने परीक्षा में सफल हरिश्चन्द्र के पुत्र को जीवित कर दिया (दे० 'सत्यहरिश्चन्द्र' : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)।

—मो० अ०

तालकेतु—१. एक दानव, जो दाम अक्षौहिणी सेना के साथ शून्यक नगरी के उत्तरी द्वार का रक्षक था।

२. एक राक्षस, जिसे कृष्ण ने मारा था।

३ बलदेव की पताका।

—मो० अ०

तालजंघ—सौ पुत्रों का पिता, वीतिहोत्र का सबसे बडा पुत्र जयध्वज का पुत्र। परशुराम से भयभीत यह हिमालय की ओर भाग गया था, फिर शान्ति स्थापित हो जाने पर यह अपनी राजधानी में वापस आया। अयोध्या मे जब इसकी विजयवाहिनी पहुँची तो वहाँ का राजा फल्गुतन्त्र अपनी स्त्री तथा पुत्र सहित भाग गया। कालान्तर में यह सगर द्वारा पराजित हुआ। वीतिहोत्र, शर्याति, तुडिकर, भोज तथा अवन्त्य इन पाँच गणो का सम्मिलित नाम तालजघ है।

—मो० अ०

तालवन— वृंदावन के निकट एक ताड़ का वन जहाँ धेनुक नाम का एक दानव रहता था जिसे कृष्ण तथा वलराम ने मार डाला था।

मो० अ०

तितली १—जयशंकर प्रसाद का उपन्यास, जो १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ। 'तितली', ग्राम्यजीवन से सम्बद्ध उपन्यास है, यद्यपि कथानक के आगे बढ़ने पर उसमें कलकत्ता आदि महानगरों के छायासंकेत भी मिल जाते है। इसकी कथा धामपुर नामक गाँव के चारों ओर परिक्रमा करती है। इसके जमींदार इन्द्रदेव हैं, जो विलायत से अपने साथ शैला नामक विदेशी युवती को ले आये हैं। इस विदेशी बाला का सम्बन्ध प्रसाद ने भारत से स्थापित कर दिया है, क्योंकि उसका जन्म यहीं हुआ था। धामपुर का प्रमुख पात्र मधुबन अथवा मधुआ है, जिसके पिता कभी शेरकोट दुर्ग के स्वामी थे। गाँव में भारतीय संस्कृति और दर्शन की साक्षात् मूर्ति बाबा रामनाथ हैं, जिनकी पालिता कन्या बंजो अथवा तितली है। इसी तितली से मधुआ का विवाह होता है। मधुआ की विधवा बहिन राजकुमारी के शरीर से धामपुर का महन्त खेलना चाहता है। मधुआ उसका गला दबाकर भाग निकलता है। यहीं से उसका जीवन-संघर्ष आरम्भ हो जाता है। कलकत्ते में वह गिरहकटों के साथ रहता है। फिर रिक्शा चलाते हुए पकड़ा जाता है। आठ वर्ष जेल में रहकर घर वापस आता है। मधुआ के जीवन के अतिरिक्त इन्द्रदेव और उनके परिवार की कथा है, जिसमें एक धनी परिवार की पारिवारिक समस्याएँ अंकित हैं।

'तितली' में प्रमुख रूप से ग्राम्य जीवन के चित्र और समस्याओं का समावेश किया गया है। भारतीय ग्रामो में आज भी संस्कृति के मूल तत्त्व विद्यमान हैं, यद्यपि वातावरण पर्याप्त विकृत और दूषित हो गया है। एक ओर इन्द्रदेव को लेकर सामन्ती वातावरण का चित्रण है तो दूसरी ओर बाबा रामनाथ और मधुआ ग्रामीण जीवन का प्रकाशन करते हैं। भूमिहीन किसानों में क्रान्ति-विद्रोह का जो भाव है, वह मधुबन में स्पष्ट है। ग्राम्य-जीवन के उद्धार का प्रयत्न इन्द्रदेव और शैला करते हैं। बैंक, अस्पताल, ग्रामसुधार आदि की योजनाएँ उन्हीं के द्वारा कार्यान्वित होती हैं। मिटती हुई सामन्तवादी प्रथा की सूचना 'तितली' में मिलती है। महाजनों का शोषण, महन्तों का पाखण्ड इसमें अंकित है। 'गोदान' जैसी विशाल आधारभूमि 'तितली' को नहीं प्राप्त हो सकी है, पर समस्याएँ उसी तरह की हैं। शैला रामनाथ से तर्क करती है और अन्त में भारतीय संस्कृति की उच्चता स्वीकार कर लेती है। बाबा रामनाथ भारतीय उदार मानवीयता के प्रतिनिधि पात्र हैं, जिन्हें कृषि परम्परा का आधुनिक प्रतीक कहा जायगा। पारिवारिक विषमता के कारण टूटती हुई संयुक्त कुटुम्बव्यवस्था इन्द्रदेव के परिवार में स्पष्ट है। यद्यपि उपन्यास की अधिकांश कथा ग्रामीण जीवन की है पर नगर-सभ्यता के संकेत भी मिल जाते है, जैसे कलकत्ता नगरी के जीवन में। 'तितली' का कथानक अधिक सम्बद्ध और संग्रथित है। दोनों कथाओं को (मधुआ और इन्द्रदेव) इस प्रकार संग्रथित कर दिया गया है कि उनमें अलगाव नहीं रह जाता। कतिपय अविश्वसनीय कथा-प्रसंगों को छोड़कर अधिकांश घटनाएँ स्वाभाविक हैं। कवि का रूप भाषा और शैली दोनों में झलक आया है। अनेक स्थलों पर कवि प्रसाद की भाषा जाग उठी है और 'तितली' का अन्त इसी काव्यमय शैली मे होता है। 'कंकाल' नगर जीवन से सम्बद्ध है तो 'तितली' ग्रामीण जीवन से। एक में यदि नग्न यथार्थ हैं तो दूसरे मे अपेक्षाकृत प्रक्षिप्त और इस दृष्टि से 'कंकाल' और 'तितली' दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

—प्रे० शं०

तितली २—प्रसाद के उपन्यास 'तितली' की पात्र। सिंहपुर के प्रमुख किसान देवनन्दन की पुत्री, जिसे बाबा रामनाथ ने पाला। वह मधुबन को प्यार करती है, और उससे विवाह कर लेती है। प्रारम्भ की भोली-भाली, लाजवन्ती तितली के व्यक्तित्व का विकास एक आदर्श नारी के रूप में हमें बाद में देखने को मिलता है। अपनी एकाध दुर्बलताओं, जैसे शेरकोट में मधुबन और मैना के आश्रय लेने से उत्पन्न क्षोभ को छोड़कर, तितली प्रसाद की आदर्श नारी पात्र कही जा सकती है। वह नारी के सम्मान की रक्षा के प्रति जागरूक रहने के कारण ही मधुबन से, श्यामलाल द्वारा अनाहूत मलिया को अपने यहाँ रखने का अनुरोध करती है। तितली गार्हस्थिकि और बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में आदर्श की सृष्टि करती है। वह अपनी लघुता का प्रदर्शन नहीं करना चाहती और इसी कारण मधुबन के मुकदमे के लिए इन्द्रदेव की सहायता को अस्वीकार करती है। वह अपनी शक्तियों के सहारे ही संघर्ष करना चाहती है। बालिकाओं को पढ़ाकर अपनी जीविका निर्वाह करती है और वाट्सन की उदारता का तिरस्कार करती है। दो दृष्टियों से तितली श्रद्धा के अधिक निकट प्रतीत होती है—एक तो शैला को हिन्दू नारी के समर्पण के सन्देश देने की दृष्टि से और दूसरे सुन्दर और शिवं के प्रति हृदय की समीपता बढ़ाकर सत्य और पवित्रता की उपलब्धि की दृष्टि से।

—शं० ना० च०

तिलोत्तमा—ब्रह्मा के आदेशानुसार विश्वकर्मा द्वारा संसार की प्रत्येक सुन्दर वस्तु से तिल-तिल भर सौन्दर्य लेकर निर्मित तिलोत्तमा एक अप्सरा थी। वही सुन्द तथा उपसुन्द नामक महा अत्याचारी राक्षसों की मृत्यु का कारण हुई। तिलोत्तमा के अप्रतिम सौन्दर्य पर मोहित होकर उसे प्राप्त करने के लिए दोनों आपस में लड़ने लगे। युद्ध में दोनों ने एक-दूसरे को मार डाला (दे० 'सुन्द-उप-सुन्द')।

—मो० अ०

तिसिर—१. एक राक्षस, जो दूषण का मन्त्री था।
२. कश्यप और श्वसा का पुत्र, जिसका वध राम ने किया था।
३. कुबेर का एक नाम।
४. ज्वर—गर्मी, सर्दी और पसीना, इसकी तीन अवस्थाएँ हैं।

—मो० अ०

तीनवर्ष—भगवती चरण वर्मा का प्रसिद्ध उपन्यास। रचना की भाव-भूमि सामाजिक है और शैली अत्यन्त रोचक। अजित, रमेश, प्रभा और सरोज नामक चरित्रों के व्यूह में कथा चलती है। अजित और प्रभा सम्पन्न परिवार के हैं और रमेश के सहपाठी हैं, जो स्वयं निम्न मध्यम वर्ग का है। सरोज एक वेश्या है। तीन वर्षों के अन्तराल में घटनाक्रम इस स्थिति को स्पष्ट करता है कि प्रभा, जो सुशिक्षित-सुसंस्कृत मानी जाती है, वस्तुतः धन-लिप्सा से ऊपर नहीं उठ पाती। दूसरी ओर सरोज, जो वेश्या होने के कारण समाज में तिरस्कृत है, जीवन के उच्चतर मूल्यों से प्रेरित है। प्रभा का रमेश के प्रति प्रेम धनाभाव के कारण अवरुद्ध है, सरोज मरते-मरते अपनी सारी सम्पत्ति रमेश के नाम लिख जाती है।

—सं०

तुंबुरु—संगीत-विशारद नारद के अनुग एक गन्धर्व। जब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारण किया तो यह उनका गुणगान करते रहे। कुबेर के शाप के कारण ये विराध नामक राक्षस हुए। त्रेता में राम के हाथों मृत्यु पाकर मुक्त हुए। तम्बूरा वाद्य इन्हीं के नाम पर प्रचलित है।

—मो० अ०

तुलसी—पूर्व जन्म में राधा की एक सखी। कृष्ण के साथ विहार करते देख राधा ने उसे शाप दिया, जिससे वह धर्मध्वज राजा की पुत्री हुई। कृष्ण सम्भोग की लालसा से उसने घोर तप किया। ब्रह्मा के आदेशानुसार उसने शंखचूड़ राक्षस से विवाह किया। शंखचूड़ को वरदान था कि जबतक उसकी स्त्री का सतीत्व भंग न होगा तब तक उसकी मृत्यु न होगी। जब देवता लोग शंखचूड़ से बहुत पीड़ित हो गये तो विष्णु ने शंखचूड़ का रूप धारण कर तुलसी का सतीत्व नष्ट किया। शंखचूड़ की मृत्यु हुई परन्तु तुलसी ने कुपित होकर विष्णु को पत्थर हो जाने का शाप दिया। तभी से विष्णु शालिग्राम बने और उनके वरदान से तुलसी तुलसी का पौधा बनी, जो सदा शालिग्राम की पिण्डी के समीप रहकर पत्ते उनके वक्षःस्थल पर गिराती रहती है। तुलसी का नाम उसके अतुलनीय सौन्दर्य के कारण पड़ा था।

—मो० अ०

तुलसी चरित—महात्मा रघुबरदास द्वारा लिखित 'तुलसी चरित' नामक ग्रन्थ की सर्वप्रथम सूचना ज्येष्ठ सं० १९६९ (सन् १९१२ ई०) में स्वर्गीय बाबू इन्द्रदेव नारायण ने 'मर्यादा' पत्रिका में दी। उनके अनुसार इस ग्रन्थ में एक लाख चौंतीस हजार नौ सो बासठ छन्द हैं। 'तुलसी चरित' में चार खण्ड कहे जाते हैं—अवध, काशी, नर्मदा और मथुरा। ग्रन्थ के कुछ अंशों (५३ छन्द) का उन्होंने प्रकाशन भी कराया। समूचा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका, अतः उसकी रचना-तिथि, प्रामाणिकता आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ का जो भी अंश प्रकाशित है, उसके अनुसार तुलसी का जीवन-वृत्त इस प्रकार है—तुलसी के प्रपितामह परशुराम मिश्र थे। उनके पुत्र थे शंकर मिश्र और शंकर मिश्र के पुत्र थे रुद्रनाथ मिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के पुत्र थे मुरारी। मुरारी मिश्र के चार पुत्र थे—गणपति, महेश, तुलसी या तुलाराम और मंगल। तुलसी के तीन विवाह हुए थे। पहले दो विवाहों से आयी स्त्रियाँ मर गयीं। अतः तीसरा विवाह कंचनपुर के उपाध्याय लछिमन की कन्या से हुआ। इस विवाह से तुलसी के पिता को पर्याप्त द्रव्य मिला था, किन्तु यही विवाह तुलसी के गृहत्याग का कारण भी हुआ। इस ग्रन्थ से यह भी विदित होता है कि मारवाड़ियों से इस वंश को पर्याप्त दान मिला करता था, जिससे इस कुल के लोग प्रायः राजाओं तक का सम्मान अस्वीकृत किया करते थे। इस ग्रन्थ के अनुसार परशुराम सरवार में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम में रहते थे। तीर्थाटन करते हुए वे चित्रकूट गये और फिर राजापुर में बस गये। इस ग्रन्थ में तुलसी की जन्मतिथि सन् १४९७ ई० दी हुई है तथा उन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण कहा गया है।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रन्थ को कल्पित एवं अप्रामाणिक कहा है, क्योंकि "यह समस्त वृत्त कवि द्वारा किये गये उन आत्मोल्लेखों के सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है, जो उसने अपने अनेक ग्रन्थों में अपने बाल्यजीवन के सम्बन्ध में किये हैं।"

'तुलसी चरित' के पूर्ण प्रकाशित हो जाने के पश्चात् ही तुलसीदास के जीवन-निर्माण में इस ग्रन्थ के योग का सही मूल्यांकन किया जा सकेगा।

[सहायक ग्रन्थ—'मर्यादा' पत्रिका, ज्येष्ठ, सं० १९६९ वि०; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त; हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल।]

—ब० ना० श्री०

तुलसीदास—(प्र० सन् १९३८ ई०) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का अन्तर्मुखी प्रबन्धकाव्य है। यह उनकी प्रौढ़तम रचनाओं में एक है। इसका कथानक जन-सामान्य में प्रचलित उस कहानी पर आधृत है जिसमें गोस्वामीजी को अपनी स्त्री पर अत्यधिक आसक्त बताया गया है। इस छोटे से कथा सूत्र को तुलसी के मानसिक संघर्ष, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन तथा रहस्य-भावना के संगुम्फन द्वारा सम्पुष्ट करते हुए इसे काव्यात्मक उत्कर्ष की अपेक्षित ऊँचाई तक पहुँचा दिया गया है।

स्थूल रूप से इसकी कथा को दो-तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग में, जिसे कथा की पृष्ठभूमि भी कह सकते हैं, भारतीय संस्कृति के ह्रास का बहुत ही प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय भाग में तुलसीदास को प्रकृति द्वारा जड़ देश में नवजीवन के संचार का सन्देश मिलता है पर इससे उन्हें अपेक्षित प्रेरणा नहीं मिल पाती। तृतीय भाग में वे अपनी पत्नी को खोजते हुए उसके मायके पहुँच जाते हैं वहाँ पर उसकी कटूक्तियाँ उसके ज्ञान का कपाट खोल देती हैं। फिर तो वे अज्ञात भाव से अनन्त की ओर बढ़ते चले जाते हैं।

तुलसी की सफलता में ऊर्ध्वमन की प्रतिक्रिया का विशेष योग है। इसी साधना द्वारा जीवन आत्म-साक्षात्कार करता

है। अधिकांश भारतीय दार्शनिकों ने अंत:साधना पर विशेष जोर दिया है। आत्मा और परमात्मा का अभेद एक विशेष आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसी को 'निराला' ने मन की ऊर्ध्वगति की संज्ञा दी है। जब तक साधक भौतिक संस्कारों से मुक्त होकर निस्संग न होगा, उसे आत्मदर्शन नहीं हो सकता। तुलसी के भी जीवन के द्वन्द्व और बन्धन इसी निस्संगावस्था के कारण टूट गये। दृष्टिभेद से ही व्यक्ति को बन्धन और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तुलसी के इस आत्मबोध के पीछे लोक की विपन्नता का प्रभाव था। राम का सम्पूर्ण जीवन आदर्शवादी लोक-जीवन के अनुकूल था। तुलसी की चिन्ता का मुख्य अंश लोक-वेदना से ही परिचालित था। इसीलिए देश के कल्मष, छल तथा अमंगल को पराभूत करने के लिए उन्होंने रामचरित का आश्रय ग्रहण किया।

बीच-बीच में तीखे व्यंग्यों के प्रयोग से कथा का सौष्ठव और भी समृद्ध हो गया है। हाँ, अनगढ़ शब्दों के व्यवहार से अपेक्षित अर्थ तक पहुँचने में कठिनाई होती है, पर इससे हिन्दी की व्यंजना शक्ति बढ़ी ही है।

—ब० सिं

तुलसीदास (गोस्वामी)—तुलसीदास का जन्म किस तिथि को हुआ था, यह निश्चित नहीं है। उनके जन्म की विभिन्न तिथियाँ मानी जाती रही हैं, किन्तु सबसे अधिक सं० १५८९ की तिथि प्रचलित रही है। इसका आधार कदाचित् तुलसीदासजी की किसी शिष्य-परम्परा की मान्यता थी। इधर एक और साक्ष्य से इस तिथि की पुष्टि हुई है। हाथरस के सन्त तुलसी साहब (सं० १८२०-१९००) ने अपने 'घट रामायण' में यह लिखते हुए कि वे पूर्ववर्ती जन्म में तुलसीदास थे, स० १५८९, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार को जन्म लेना लिखा है और यह पूरी तिथि ज्योतिष की गणना से ठीक आती है। सं० १५८९ की तिथि की तुलसीदास के सम्बन्ध में अन्य ज्ञात तथ्यों और तिथियों से भी कोई असंगति नहीं है। इसलिए यह तिथि उनकी जन्मतिथि मानी जा सकती है।

तुलसीदास की मृत्यु-तिथि के बारे में भी यथेष्ट निश्चयात्मकता नहीं है। लोक-परम्परा सं० १६८० में श्रावण शुक्ला सप्तमी को उनका निधन मानती रही है, किन्तु उनके स्नेही टोडर के वंशज श्रवण कृष्णा तृतीया को उनकी वर्षी मनाते रहे हैं। इसलिए सं० १६८० की श्रावण कृष्णा तृतीया को तुलसीदास की निधन-तिथि माना जा सकता है।

तुलसीदास का जन्म एक अच्छे कुल में हुआ था। यह उनके 'दियो सुकुल जन्म' (विनय० १३५) लिखने से निश्चित ज्ञात होता है। उनका ब्राह्मण होना भी कदाचित् निर्विवाद है। उनके गोत्रादि के सम्बन्ध में अवश्य कुछ ज्ञात नहीं है। उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में काशी में, उनकी जाति-पाँति को लेकर एक वितंडावाद छिड़ा था, जिसका कुछ परिचय 'कवितावली' और 'विनय पत्रिका' के कुछ उल्लेखों से मिलता है (कवि० उत्तर १०६, १०७ तथा विनय० ७६)। फिर भी तुलसीदास के ब्राह्मण होने में सन्देह नहीं ज्ञात होता है। उनके माता-पिता के नाम बताये जाते हैं, किन्तु उनकी प्रामाणिकता सर्वथा सन्दिग्ध है।

उनका जन्म कहाँ हुआ था, इस प्रश्न पर तो पिछले कुछ समय से काफी विवाद चल रहा है। बीस वर्ष पूर्व तक तो राजापुर (जिला बादा) ही उनका जन्म-स्थान समझा जाता था, किन्तु कुछ नवप्राप्त आधारों पर सोरो (जिला एटा) को कुछ लोग उनका जन्म-स्थान प्रमाणित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ये तथाकथित नवप्राप्त आधार बहुत सन्दिग्ध हैं। इनके आधार पर सोरो को तुलसीदास का जन्म-स्थान मानना ठीक न होगा। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में यह उल्लेख अवश्य किया है "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिं तसि बालपन तब मति रहेऊं अचेत" (बाल० ३०) किन्तु इससे इतना ही परिणाम निकलता है कि सूकरखेत में उन्होंने अपने गुरु से बालपन में रामकथा सुनी, यह सूकरखेत यदि सोरों ही रहा हो—जिसकी सम्भावना यथेष्ट है—तो भी इससे सूकर खेत में तुलसीदास का जन्म भी हुआ होगा, यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता। स्थिति यह है कि जन्म-स्थान का निर्णय करने के लिए प्राप्त साक्ष्य न तो यथेष्ट रूप से विश्वसनीय हैं और न पर्याप्त ही। उपर्युक्त सन्त तुलसी साहब ने तुलसीदास के रूप में राजापुर में अपना पूर्व का जन्म अवश्य बताया है और तुलसीदास साहब हाथरस के रहने वाले थे। अतः इतना अवश्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अबसे सवा सौ—डेढ़ सौ वर्ष पहले भी राजापुर ही तुलसीदास के जन्मस्थान के रूप में प्रसिद्ध था।

तुलसीदास का बालपन बड़ी कठिनाइयों में बीता था। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही उनके माता-पिता से उनका विछोह हो गया था और तदनन्तर वे भिक्षा माँग-माँगकर उदरपूर्ति कर रहे थे। अपनी इस अवस्था का तुलसीदास ने बहुत करुण चित्र उपस्थित किया है (कवि० उत्तर० ५७, ७३ तथा विनय० २२७, २७५)। उनके भोजनाच्छादन की कुछ सन्तोषजनक व्यवस्था तब हुई जब उनको किसी हनुमान् मन्दिर में आश्रय मिल गया। इस मन्दिर के साथ लगी हुई खोंची माँग-माँगकर वे निर्वाह करने लगे थे (बाहुक २१, २९, ३४ तथा विनय० ३३)।

कदाचित् इसके कुछ ही समय पश्चात् तुलसीदास ने राम भक्ति की दीक्षा ली। उनके गुरु कौन थे, यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। 'मानस' के एक सोरठे (बाल० वन्दना) से यह ध्वनि ली जाती है कि उनके गुरु का नाम नरहरि या नरहरि दास था, किन्तु उक्त सोरठे से न यह अर्थ निश्चित रूप में लिया ही जा सकता है, और न इस नाममात्र के ज्ञान से हमारा कोई लाभ ही हो सकता है, क्योंकि उस युग में इन नामों के अनेक व्यक्ति हुए हैं। उनके गुरु रामभक्त अवश्य थे, यह तुलसीदास के ही एक आत्मोल्लेख से ज्ञात होता है : "गुरु करयो राम भजन नीको मोहिं लागत राज डगरोसो" (विनय० १७३)।

कुछ और काल व्यतीत होने पर उन्होंने कदाचित् विवाह भी किया। 'दोहावली' के एक दोहे में विरक्त तुलसीदास से उनकी स्त्री का उसे साथ ले जाने का आग्रह है। यह भी कहा जाता है कि स्त्री के वचनों से ही प्रभावित होकर तुलसीदास ने गृहत्याग किया, किन्तु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो वे सम्भवतः इस तथ्य का कृतज्ञतापूर्वक कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य करते।

विरक्त तुलसीदास कुछ समय तक चित्रकूट में रामभक्ति की साधना करते रहे, यह 'रामाज्ञा प्रश्न' (२, ६, १-३ तथा

७, ४, ७) से प्रकट है। अन्य कुछ तीर्थों की भी उन्होंने यात्राएँ की थीं (कवि० उत्तर १३८-१४०, १४४-१४७, विनय० ६०), किन्तु कब-कब की थीं, यह नही कहा जा सकता। 'रामचरित मानस' की रचना सं० १६३१ में उन्होंने अयोध्या में आरम्भ की थी (बा० ३४-३५), किन्तु उसका कुछ अश उन्होंने काशी में भी लिखा (किष्किं० वन्दना)। पीछे तो वे काशी में ही रहने लगे थे और यही उनका देहावसान भी हुआ। काशी मे वह स्थान अब भी है, जहाँ तुलसीदास रहते थे और जो आजकल तुलसीघाट के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर तुलसीदासजी द्वारा स्थापित रामपचायतन की प्रतिमा और बीसा यन्त्र पर प्रतिष्ठित हनुमानजी की प्रतिमा अब भी वर्तमान है, जिसकी पूजा होती है। तुलसीदासजी द्वारा प्रयुक्त नाव का एक अंश, उनकी चरणपादुका और उनके हाथ से लिखे गये 'मानस' का एक अंश आज भी वहाँ सुरक्षित है। इसके साथ ही तुलसीदास का प्राचीनतम चित्र भी उपलब्ध हैं, जिसमें उनके शिष्य टोडरमल चँवर डुलाते दिखाये गये हैं। इसी स्थान के अन्तर्गत तुलसीदासजी द्वारा काशी में स्थापित हनुमानजी का मन्दिर आजकल 'संकटमोचन' के नाम से विख्यात है।

हिन्दी हस्त-लिखित पुस्तकों के खोज-विवरणों के अनुसार निम्नलिखित रचनाएँ तुलसीदास की कही जाती हैं—१. 'रामलला नहछू', २. 'रामाज्ञा प्रश्न', ३. 'जानकीमगल', ४ 'रामचरितमानस', ५. 'पार्वतीमंगल', ६ 'गीतावली', ७. 'कृष्ण गीतावली', ८. 'विनयपत्रिका', ९. 'बरवै रामायण' १०. 'दोहावली', ११.'कवितावली', १२. 'हनुमान वाहुक', १३. 'बैराग्य-सन्दीपिनी', १४. 'सतसई', १५. 'कुण्डलिया रामायण', १६. 'अंकावली', १७. 'बजरंग वाण', १८. 'बजरंग साठिका', १९. 'भरत मिलाप', २०. 'विजय दोहावली', २१. 'बृहस्पति काण्ड', २२. 'छन्दावली रामायण', २३. 'छप्पय रामायण', २४. 'धर्मराय की गीता', २५. 'ध्रुव प्रश्नावली', २६. 'गीता भाषा', २७. 'हनुमान् स्तोत्र', २८. 'हनुमान् चालीसा', २९. 'हनुमान् पंचक', ३०. 'ज्ञान दीपिका', ३१. 'राम मुक्तावली', ३२. 'पदबन्द रामायण', ३३. 'रस भूषण', ३४. 'साखी तुलसीदासजी की', ३५. 'संकट मोचन', ३६. 'सतभक्त उपदेश', ३७. 'सूर्य पुराण', ३८. 'तुलसीदासजी की बानी' और ३९. 'उपदेश दोहा'।

तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं की कोई सूची नहीं दी है और न किसी अन्य प्राचीन साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं की सूची निर्मित की जा सकती है, किन्तु कुछ रचनाएँ असन्दिग्ध रूप से उन्हीं की हैं, यथा 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली'। इन्हीं की कसौटी पर उन अन्य रचनाओं को भी कसा जा सकता है, जो तुलसीदास की कही जाती हैं। उनकी अवधी रचनाओं के लिए 'मानस' को और ब्रजभाषा की रचनाओं के लिए 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' को प्रमाण माना जा सकता है। यह अवश्य है कि देश-काल-भेद से भाषा-शैली में अन्तर पड़ता है, फिर भी उसके मूलतत्त्व बहुत-कुछ बने रहते हैं। इस प्रसंग में सबसे अधिक निश्चयात्मक रचनाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए था, किन्तु खेद है कि अभी तक इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं किया गया है।

प्राचीन प्रतियों की प्राप्ति भी इस विषय मे हमारी कुछ सहायता कर सकती थी, किन्तु थोड़ी ही रचनाएँ ऐसी हैं, जिनकी बहुत प्राचीन प्रतियां प्राप्त हैं। कवि के जीवन-काल की निश्चित रूप से मान्य प्रतियाँ केवल तीन हैं—एक 'विनयपत्रिका' की, जो सं० १६६६ की है और दूसरी 'गीतावली' की, जो उसी के साथ की है, यद्यपि अन्त में खण्डित होने के कारण अ-तिथि की हो गयी है। इनके अतिरिक्त स० १६६५ मे लिखी 'रामलला नहछू' की भी एक प्रति प्राप्त हुई है। 'रामाज्ञा प्रश्न' के सस्करण के आधार पर तथा कुछ अन्य साक्ष्यो से यह भी प्रमाणित है कि किसी समय इस रचना की एक प्रति स० १६५५ की थी। 'रामचरित मानस' की अनेक प्रतियाँ तुलसीदास के समय की कही जाती है और कम से कम एक जो राजापुर में है, उनके हाथ की लिखी भी कही जाती है, किन्तु कोई भी प्रति उनके जीवन-काल की भी प्रमाणित नही हो सकी है, उनके हाथ की लिखी होने का तो कोई प्रश्न नहीं है। 'जानकी मंगल' की एक प्रति के शीर्ष में प्रतिलिपिकार से भिन्न व्यक्ति का लिखा हुआ "सं० १६३२ कथा किये सवा" लिखा हुआ है। इसके साक्ष्य पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता है, प्रति का अन्तिम पत्रा अब नहीं है।

भाषा-शैली के साक्ष्य के अनुसार 'रामाज्ञा प्रश्न', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' 'रामचरित मानस' से मेल खाते हैं। 'रामाज्ञा प्रश्न' में एक दोहे में सं० १६२१ की तिथि दी हुई है, यद्यपि कुछ असाधारण ढंग से दिये हुए होने के कारण वह कठिनाई से समझ में आती है; 'पार्वती मंगल' में जय संवत् फाल्गुन शु० ५, गुरुवार की तिथि दी हुई है, जय संवत् १६४२ में पड़ा था, किन्तु उक्त संवत् में तिथि का दिया हुआ विस्तार ठीक नहीं आता है, सं० १६४३ में ठीक आता है, इसलिए सम्भव है कि तिथि के दोहे में कोई सन्देहजनक बात हो किन्तु शेष रचना की भाषा शैली 'जानकी मंगल' और 'मानस' की शैली से पूरा-पूरा मिलती है। 'जानकी मंगल' वस्तु-योजना तथा भाषा-शैली दोनों दृष्टियों से 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'रामचरित मानस' की मध्यवर्तिनी है। भाषा-शैली में 'कृष्ण गीतावली' प्रायः 'गीतावली' का ही अनुसरण करती है। 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' की शैलियों में अभिन्नता है ही। 'हनुमान बाहुक' पूर्ण रूप से 'कवितावली' के अंतिम अंशों की भाषा-शैली में रचा गया है और उसके परिशिष्ट के रूप में प्रायः प्रतियों में मिलता है। 'दोहावली' एक संग्रह है, जिसमें तुलीसदास की पूर्ववर्ती रचनाओं से कुछ दोहे रख लिये गये हैं और कुछ ऐसे निजी दोहे हैं जिनकी भाषा- शैली भी प्रायः संकलित दोहों की भाषा-शैली से मिलती है। 'सतसई' और 'दोहावली' में अनेक दोहे समान रूप से मिलते हैं। लगता यह है कि कुछ दोहे स्फुट रूप में तुलसीदास के देहान्त के बाद मिले। उन्हें तथा अन्य कुछ दोहों को उनकी अन्य रचनाओं से चुनकर, एक बढ़े संग्रह का आकार दे दिया गया। 'सतसई' इसी प्रकार उन्हीं में और नवकल्पित दोहे रखकर बना दी गयी। 'बरवै' की स्थिति भी 'सतसई' जैसी लगती है। रामलला नहछू की भाषा-शैली 'जानकी मंगल' से मिलती-जुलती है, यद्यपि उसमें साहित्यिकता नहीं हैं, किन्तु उसकी सं० १६६५ की प्रति प्राप्त हुई है, इससे उसकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रतीत नहीं होता है।

फलतः ऊपर उल्लिखित रचनाओ में से प्रथम बारह प्रामाणिक रूप से तुलसीदास की मानी जा सकती है। शेष रचनाओ के सम्बन्ध में इस प्रकार के दृढ़ साक्ष्य प्राप्त नहीं है, इसलिए उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। यदि वे तुलसीदास की प्रमाणित भी हों तो उनसे कवि के साहित्यिक योग में कोई अभिवृद्धि नहीं होगी।

तुलसीदास की ये कृतियाँ तत्कालीन अनेक काव्य-रूपों की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। उनका 'रामचरित मानस' 'चउपईबन्ध' परम्परा का काव्य है, जिसमे मुख्य छन्द चौपाई है और बीच-बीच में दोहे, सोरठे, हरिगीतिका तथा अन्य छन्द आते हैं। उनके 'रामलला नहछू', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' तत्कालीन स्त्रियों के प्रचलित छन्द सोहर में लिखे गये हैं। 'नहछू' मे केवल सोहर छन्द हैं, शेष दो में सोहर की निश्चित पंक्तियों के बाद 'हरिगीतिका' की पंक्तियाँ आती हैं। रामाज्ञा प्रश्न तत्कालीन 'दूहाबन्ध' काव्य-परम्परा में लिखा गया है। साथ ही सारी रचना मे रामकथा के साथ-साथ प्रश्न विचार का भी समावेश किया गया है। 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' मे 'गीतबन्ध' परिपाटी की रचनाएँ हैं। 'कवितावली' उस कवित्त-सवैया-पद्धति की एक उत्कृष्ट रचना है, जो तुलसीदास के बाद बहुत अधिक लोकप्रिय हुई। उसके पृथक छः काण्ड रामकथा के हैं और उक्त काण्ड विविध विषयो के छन्दों का है। 'दोहावली' में कवि के स्फुट दोहों का सकलन है। 'हनुमान् बाहुक' बाहु-पीड़ा-निवारण के लिए कवित्त-सवैयों में की गयी हनुमान् की स्तुतिपरक रचना है 'बरवै' की मुद्रित रूप में स्थिति 'कवितावली' जैसी ही है, किन्तु कुछ प्रतियों में उसका एक अन्य रूप भी मिलता है, जिसकी स्थिति 'दोहावली' जैसी है। दर्शनीय यह है कि इतने विविध काव्य-रूपो में तुलसीदास ने रामकथा या रामभक्ति विषयक रचनाएँ ही प्रस्तुत की हैं। 'हनुमान् बाहुक' इस विषय में एक प्रकार का अपवाद है, किन्तु उसे 'कवितावली' का एक परिशिष्ट समझना चाहिये—'कवितावली' में महामारी आदि के जो छन्द उसके उत्तर काण्ड में आते है, 'बाहुक' के छन्द उन्हीं की परम्परा में हैं।

प्रबन्ध और मुक्त, दोनों प्रकार के काव्यों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भी इसी प्रकार उनकी रचनाओं में मिलते हैं। 'रामचरित मानस' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। सोहर छन्दों में लिखे हुए 'नहछू' और दोनों 'मंगल' साधारणतः अच्छे खण्डकाव्य हैं। 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली', 'विनयपत्रिका' हिन्दी के सर्वोत्तम गीतिकाव्यों में से हैं। 'विनयपत्रिका' तो हिन्दी के विनयकाव्यों में अद्वितीय है और 'कवितावली', आगे रीतिकाल में जिस मुक्तक परम्परा का विकास हुआ, उसके प्रारम्भ में आने वाली एक परम उत्कृष्ट रचना है।

हम यह देख ही चुके हैं कि तुलसीदास ने दो भाषाओं में रचना की है। अतः भाषाओं की दृष्टि से यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि दो साहित्यिक माध्यमों—अवधी और ब्रजभाषा—पर एक साथ जितना पूर्ण अधिकार तुलसीदास को था, हिन्दी साहित्य में न पहले मिला और न बाद में।

पुनः काव्य का बहिःपक्ष तुलसीदास में जितना सबल है, उसका अन्तःपक्ष उससे भी सबल है। तुलसीदास ने रामभक्ति से प्रेरित होकर अपने राम-कथा ग्रन्थो में राम तथा उनके भक्तों का जो चरित्र प्रस्तुत किया है, वह मानवता के सर्वोच्च आदर्शों की स्थापना करता है। इस सम्बन्ध में उनका 'रामचरितमानस' एक अद्वितीय रचना है। उनके गीतिकाव्यों 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में भावनाओं की जो सरिता उमडी है, उसकी तुलना हिन्दी साहित्य में केवल सूरदास की भावधारा से की जा सकती हे। पुनः 'विनयपत्रिका' के पदो में जो द्रवित कर देने वाला आत्म-निवेदन उन्होने प्रस्तुत किया है, वह हिन्दी साहित्य में बेजोड है। इस प्रकार तुलसीदास, वस्तुतः ऐसे महाकवि है, जिन पर हिन्दी साहित्य उचित ही गर्व कर सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—१. नोट्स आन तुलसीदास : जी० ए० ग्रियर्सन (१८९३); २. श्री गोस्वामी तुलसीदासजी : शिवनन्दन सहाय (१९१६); ३. गोस्वामी तुलसीदास : श्यामसुन्दर दास (१९३१); ४. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल (१९२३); ५. दि रामायण आव तुलसीदास : जे० एम० मैकफी (१९३०); ६. तुलसी दर्शन : डा० बलदेव प्रसाद मिश्र (१९३८); ७. मानस दर्शन : डा० श्री कृष्ण लाल (१९४९); ८. रामकथा का विकास : डा० कामिल बुल्के (१९५०); ९. तुलसीदास और उनका युग : डा० राजपति दीक्षित (१९५२); १०. तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त (१९४२) तथा ११. तुलसी ग्रन्थावली (१९४९)।]

—मा० प्र० गु०

तुलसी भूषण—रसरूप द्वारा रचित अलकार ग्रन्थ है। इसकी रचना सन् १७५४ ई० में की गयी—"दस बसु सत सवत् हुता, अधिक और दस एक।" 'तुलसी भूषण' की दो हस्तलिखित प्रतियाँ दो भिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं, जिनका लिपिकाल क्रमशः १८२९ ई० और १८४० ई० है। ना० प्र० स० काशी में साँवलदासकृत हस्तलिखित प्रति है। इस ग्रन्थ में कवि ने "औरन के लच्छन (लक्षण) लिए" हैं और "रामायन के लच्छ" (उदाहरण) प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः इसमे 'काव्य-प्रकाश', 'कुवलयानन्द' तथा 'चन्द्रालोक' आदि का आधार लिया गया है और तुलसी के 'रामचरित मानस', 'गीतावली' तथा कहीं-कहीं 'बरवै रामायण' में प्राप्त होने वाले अलंकारों का उदाहरण रूप में निर्देश किया गया है—"श्री तुलसी निज भनित मैं, भूषण धरे दुराय। ताहि प्रकासन की भई, मेरे चित मे चाय।।" (खो० रि० सन् १९०४)।

तुलसी-भूषण' में ५६ पृष्ठ हैं। रसरूप के अनुसार तुलसी ने प्रभेदों को छोड़कर १११ अलंकारों का प्रयोग किया है—"एकादश अरु एक शत मुख्य अलंकृत रूप। विविध भेद इनके धरे तुलसीदास अनूप।" कवि का "रामायण के लच्छ" में रामायण का अर्थ तुलसी द्वारा लिखी राम-कथा है, क्योंकि उदाहरण अन्य कृतियों के भी दिये गये हैं। प्रारम्भ में ६ शब्दालंकार हैं और बाद में शब्दालंकार का विवेचन अकारादि क्रम से किया गया है, यह इस ग्रन्थ की विशिष्टता है। साथ ही लक्षण देकर दूसरे कवि के उदाहरण देना, यह हिन्दी रीति-परम्परा की दृष्टि से नवीन बात है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० रि० (सं० ११, ७६, २६९); मि० वि०; हि० सा० बृ० इ०, (भा० ६) ; हि० सा०।] —सं०

७, ४, ७) से प्रकट है। अन्य कुछ तीर्थों की भी उन्होंने यात्राएँ की थीं (कवि० उत्तर १३८-१४०, १४४-१४७, विनय० ६०), किन्तु कब-कब की थीं, यह नहीं कहा जा सकता। 'रामचरित मानस' की रचना स० १६३१ में उन्होने अयोध्या में आरम्भ की थी (बा० ३४-३५), किन्तु उसका कुछ अश उन्होने काशी मे भी लिखा (किष्किं० वन्दना)। पीछे तो वे काशी में ही रहने लगे थे और यहीं उनका देहावसान भी हुआ। काशी में वह स्थान अब भी है, जहाँ तुलसीदास रहते थे और जो आजकल तुलसीघाट के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर तुलसीदासजी द्वारा स्थापित रामपंचायतन की प्रतिमा और बीसा यन्त्र पर प्रतिष्ठित हनुमान्‌जी की प्रतिमा अब भी वर्तमान है, जिसकी पूजा होती है। तुलसीदासजी द्वारा प्रयुक्त नाव का एक अंश, उनकी चरणपादुका और उनके हाथ से लिखे गये 'मानस' का एक अंश आज भी वहाँ सुरक्षित है। इसके साथ ही तुलसीदास का प्राचीनतम चित्र भी उपलब्ध हैं, जिसमें उनके शिष्य टोडरमल चँवर डुलाते दिखाये गये हैं। इसी स्थान के अन्तर्गत तुलसीदासजी द्वारा काशी में स्थापित हनुमानजी का मन्दिर आजकल 'संकटमोचन' के नाम से विख्यात है।

हिन्दी हस्त-लिखित पुस्तकों के खोज-विवरणों के अनुसार निम्नलिखित रचनाएँ तुलसीदास की कही जाती हैं—१. 'रामलला नहछू', २. 'रामाज्ञा प्रश्न', ३. 'जानकीमंगल', ४. 'रामचरितमानस', ५. 'पार्वतीमगल', ६. 'गीतावली', ७. 'कृष्ण गीतावली', ८. 'विनयपत्रिका', ९. 'बरवै रामायण' १०. 'दोहावली', ११.'कवितावली', १२. 'हनुमान वाहुक', १३. 'बैराग्य-सन्दीपिनी', १४. 'सतसई', १५. 'कुण्डलिया रामायण', १६. 'अंकावली', १७. 'बजरंग वाण', १८. 'बजरंग साठिका', १९. 'भरत मिलाप', २०. 'विजय दोहावली', २१. 'बृहस्पति काण्ड', २२. 'छन्दावली रामायण', २३. 'छप्पय रामायण', २४. 'धर्मराय की गीता', २५. 'ध्रुव प्रश्नावली', २६. 'गीता भाषा', २७ 'हनुमान् स्तोत्र', २८. 'हनुमान् चालीसा', २९. 'हनुमान् पंचक', ३०. 'ज्ञान दीपिका', ३१. 'राम मुक्तावली', ३२. 'पदबन्द रामायण', ३३. 'रस भूषण', ३४. 'साखी तुलसीदासजी की ', ३५ 'संकट मोचन', ३६. 'सतभक्त उपदेश', ३७. 'सूर्य पुराण', ३८. 'तुलसीदासजी की बानी' और ३९. 'उपदेश दोहा'।

तुलसीदासजी ने अपनी रचनाओं की कोई सूची नहीं दी है और न किसी अन्य प्राचीन साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं की सूची निर्मित की जा सकती है, किन्तु कुछ रचनाएँ असन्दिग्ध रूप से उन्हीं की हैं, यथा 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली'। इन्हीं की कसौटी पर उन अन्य रचनाओं को भी कसा जा सकता है, जो तुलसीदास की कही जाती हैं। उनकी अवधी रचनाओं के लिए 'मानस' को और ब्रजभाषा की रचनाओं के लिए 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' को प्रमाण माना जा सकता है। यह अवश्य है कि देश-काल-भेद से भाषा-शैली में अन्तर पड़ता है, फिर भी उसके मूलतत्त्व बहुत-कुछ बने रहते हैं। इस प्रसंग में सबसे अधिक निश्चयात्मक रचनाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए था, किन्तु खेद है कि अभी तक इस प्रकार का कोई प्रयास नही किया गया है।

प्राचीन प्रतियों की प्राप्ति भी इस विषय मे हमारी कुछ सहायता कर सकती थी, किन्तु थोड़ी ही रचनाएँ ऐसी है, जिनकी बहुत प्राचीन प्रतियां प्राप्त हैं। कवि के जीवन-काल की निश्चित रूप से मान्य प्रतियाँ केवल तीन हैं—एक 'विनयपत्रिका' की, जो सं० १६६६ की है और दूसरी 'गीतावली' की, जो उसी के साथ की है, यद्यपि अन्त में खण्डित होने के कारण अ-तिथि की हो गयी है। इनके अतिरिक्त स० १६६५ मे लिखी 'रामलला नहछू' की भी एक प्रति प्राप्त हुई है। 'रामाज्ञा प्रश्न' के संस्करण के आधार पर तथा कुछ अन्य साक्ष्यों से यह भी प्रमाणित है कि किसी समय इस रचना की एक प्रति स० १६५५ की थी। 'रामचरित मानस' की अनेक प्रतियाँ तुलसीदास के समय की कही जाती हैं और कम से कम एक जो राजापुर मे है, उनके हाथ की लिखी भी कही जाती है, किन्तु कोई भी प्रति उनके जीवन-काल की भी प्रमाणित नहीं हो सकी है, उनके हाथ की लिखी होने का तो कोई प्रश्न नहीं है। 'जानकी मंगल' की एक प्रति के शीर्ष में प्रतिलिपिकार से भिन्न व्यक्ति का लिखा हुआ ''स० १६३२ कथा किये सवा'' लिखा हुआ है। इसके साक्ष्य पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता है, प्रति का अन्तिम पत्रा अब नहीं है।

भाषा-शैली के साक्ष्य के अनुसार 'रामाज्ञा प्रश्न', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' 'रामचरित मानस' से मेल खाते हैं। 'रामाज्ञा प्रश्न' में एक दोहे में सं० १६२१ की तिथि दी हुई है, यद्यपि कुछ असाधारण ढंग से दिये हुए होने के कारण वह कठिनाई से समझ में आती है; 'पार्वती मंगल' मे जय संवत् फाल्गुन शु० ५, गुरुवार की तिथि दी हुई है, जय संवत् १६४२ में पड़ा था, किन्तु उक्त संवत् में तिथि का दिया हुआ विस्तार ठीक नहीं आता है, सं० १६४३ में ठीक आता है, इसलिए सम्भव है कि तिथि के दोहे में कोई सन्देहजनक बात हो किन्तु शेष रचना की भाषा शैली 'जानकी मंगल' और 'मानस' की शैली से पूरा-पूरा मिलती है। 'जानकी मंगल' वस्तु-योजना तथा भाषा-शैली दोनों दृष्टियों से 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'रामचरित मानस' की मध्यवर्तिनी है। भाषा-शैली में 'कृष्ण गीतावली' प्रायः 'गीतावली' का ही अनुसरण करती है। 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' की शैलियों में अभिन्नता है ही। 'हनुमान बाहुक' पूर्ण रूप से 'कवितावली' के अंतिम अंशों की भाषा-शैली में रचा गया है और उसके परिशिष्ट के रूप मे प्रायः प्रतियों में मिलता है। 'दोहावली' एक संग्रह है, जिसमें तुलीसदास की पूर्ववर्ती रचनाओं से कुछ दोहे रख लिये गये हैं और कुछ ऐसे निजी दोहे हैं जिनकी भाषा- शैली भी प्रायः संकलित दोहों की भाषा-शैली से मिलती है। 'सतमई' और 'दोहावली' में अनेक दोहे समान रूप से मिलते हैं। लगता यह है कि कुछ दोहे स्फुट रूप में तुलसीदास के देहान्त के बाद मिले। उन्हें तथा अन्य कुछ दोहों को उनकी अन्य रचनाओं से चुनकर, एक बड़े संग्रह का आकार दे दिया गया। 'सतसई' इसी प्रकार उन्हीं में और नवकल्पित दोहे रखकर बना दी गयी। 'बरवै' की स्थिति भी 'सतसई' जैसी लगती है। रामलला नहछू की भाषा-शैली 'जानकी मंगल' से मिलती-जुलती है, यद्यपि उसमें साहित्यिकता नहीं हैं, किन्तु उसकी सं० १६६५ की प्रति प्राप्त हुई है, इससे उसकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रतीत नहीं होता है।

फलतः ऊपर उल्लिखित रचनाओं में से प्रथम बारह प्रामाणिक रूप से तुलसीदास की मानी जा सकती है। शेष रचनाओं के सम्बन्ध मे इस प्रकार के दृढ़ साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं, इसलिए उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। यदि वे तुलसीदास की प्रमाणित भी हों तो उनसे कवि के साहित्यिक योग मे कोई अभिवृद्धि नहीं होगी।

तुलसीदास की ये कृतियाँ तत्कालीन अनेक काव्य-रूपों की प्रतिनिधि रचनाएँ है। उनका 'रामचरित मानस' 'चउपईबन्ध' परम्परा का काव्य है, जिसमें मुख्य छन्द चौपाई है और बीच-बीच में दोहे, सोरठे, हरिगीतिका तथा अन्य छन्द आते हैं। उनके 'रामलला नहछू', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' तत्कालीन स्त्रियो के प्रचलित छन्द सोहर में लिखे गये हैं। 'नहछू' में केवल सोहर छन्द है, शेष दो में सोहर की निश्चित पंक्तियों के बाद 'हरिगीतिका' की पंक्तियाँ आती है। रामाज्ञा प्रश्न तत्कालीन 'दूहाबन्ध' काव्य-परम्परा में लिखा गया है। साथ ही सारी रचना में रामकथा के साथ-साथ प्रश्न विचार का भी समावेश किया गया है। 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' मे 'गीतबन्ध' परिपाटी की रचनाएँ हैं। 'कवितावली' उस कवित्त-सवैया-पद्धति की एक उत्कृष्ट रचना है, जो तुलसीदास के बाद बहुत अधिक लोकप्रिय हुई। उसके पृथक छः काण्ड रामकथा के हैं और उत्त काण्ड विविध विषयो के छन्दों का है। 'दोहावली' में कवि के स्फुट दोहों का सकलन है। 'हनुमान् बाहुक' बाहु-पीड़ा-निवारण के लिए कवित्त-सवैयों में की गयी हनुमान् की स्तुतिपरक रचना है 'बरवै' की मुद्रित रूप में स्थिति 'कवितावली' जैसी ही है, किन्तु कुछ प्रतियों में उसका एक अन्य रूप भी मिलता है, जिसकी स्थिति 'दोहावली' जैसी है। दर्शनीय यह है कि इतने विविध काव्य-रूपों में तुलसीदास ने रामकथा या रामभक्ति विषयक रचनाएँ ही प्रस्तुत की हैं। 'हनुमान् बाहुक' इस विषय में एक प्रकार का अपवाद है, किन्तु उसे 'कवितावली' का एक परिशिष्ट समझना चाहिये—'कवितावली' में महामारी आदि के जो छन्द उसके उत्तर काण्ड में आते हैं, 'बाहुक' के छन्द उन्हीं की परम्परा में हैं।

प्रबन्ध और मुक्त, दोनों प्रकार के काव्यो के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भी इसी प्रकार उनकी रचनाओं में मिलते हैं। 'रामचरित मानस' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। सोहर छन्दों में लिखे हुए 'नहछू' और दोनों 'मंगल' साधारणतः अच्छे खण्डकाव्य हैं। 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली', 'विनयपत्रिका' हिन्दी के सर्वोत्तम गीतिकाव्यों में से हैं। 'विनयपत्रिका' तो हिन्दी के विनयकाव्यों में अद्वितीय है और 'कवितावली', आगे रीतिकाल में जिस मुक्तक परम्परा का विकास हुआ, उसके प्रारम्भ में आने वाली एक परम उत्कृष्ट रचना है।

हम यह देख ही चुके हैं कि तुलसीदास ने दो भाषाओं में रचना की है। अतः भाषाओं की दृष्टि से यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि दो साहित्यिक माध्यमों—अवधी और ब्रजभाषा—पर एक साथ जितना पूर्ण अधिकार तुलसीदास को था, हिन्दी साहित्य में न पहले मिला और न बाद में।

पुनः काव्य का बहिःपक्ष तुलसीदास में जितना सबल है, उसका अन्तःपक्ष उससे भी सबल है। तुलसीदास ने रामभक्ति से प्रेरित होकर अपने राम-कथा ग्रन्थो मे राम तथा उनके भक्तों का जो चरित्र प्रस्तुत किया है, वह मानवता के सर्वोच्च आदर्शों की स्थापना करता है। इस सम्बन्ध में उनका 'रामचरितमानस' एक अद्वितीय रचना है। उनके गीतिकाव्यो 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में भावनाओं की जो सरिता उमड़ी है, उसकी तुलना हिन्दी साहित्य मे केवल सूरदास की भावधारा से की जा सकती है। पुनः 'विनयपत्रिका' के पदों मे जो द्रवित कर देने वाला आत्म-निवेदन उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। इस प्रकार तुलसीदास, वस्तुतः ऐसे महाकवि हैं, जिन पर हिन्दी साहित्य उचित ही गर्व कर सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—१. नोट्स आन तुलसीदास . जी० ए० ग्रियर्सन (१८९३); २. श्री गोस्वामी तुलसीदासजी : शिवनन्दन सहाय (१९१६); ३. गोस्वामी तुलसीदास : श्यामसुन्दर दास (१९३१); ४. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल (१९२३); ५. दि रामायण आव तुलसीदास जे० एम० मैकफी (१९३०); ६ तुलसी दर्शन : डा० बलदेव प्रसाद मिश्र (१९३८); ७. मानस दर्शन : डा० श्री कृष्ण लाल (१९४९); ८. रामकथा का विकास · डा० कामिल बुल्के (१९५०); ९. तुलसीदास और उनका युग : डा० राजपति दीक्षित (१९५२); १०. तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त (१९४२) तथा ११. तुलसी ग्रन्थावली (१९४९)।]

—मा० प्र० गु०

तुलसी भूषण—रसरूप द्वारा रचित अलंकार ग्रन्थ है। इसकी रचना सन् १७५४ ई० में की गयी—"दस बसु सत संवत् हुता, अधिक और दस एक।" 'तुलसी भूषण' की दो हस्तलिखित प्रतियाँ दो भिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं, जिनका लिपिकाल क्रमशः १८२९ ई० और १८४० ई० है। ना० प्र० स० काशी में साँवलदासकृत हस्तलिखित प्रति है। इस ग्रन्थ मे कवि ने "औरन के लच्छन (लक्षण) लिए" हैं और "रामायन के लच्छ" (उदाहरण) प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः इसमें 'काव्य-प्रकाश', 'कुवलयानन्द' तथा 'चन्द्रालोक' आदि का आधार लिया गया है और तुलसी के 'रामचरित मानस', 'गीतावली' तथा कहीं-कहीं 'बरवै रामायण' से प्राप्त होने वाले अलंकारों का उदाहरण रूप में निर्देश किया गया है—"श्री तुलसी निज भनित मैं, भूषण धरे दुराय। ताहि प्रकासन की भई, मेरे चित में चाय।।" (खो० रि० सन् १९०४)।

तुलसी-भूषण' में ५६ पृष्ठ हैं। रसरूप के अनुसार तुलसी ने प्रभेदों को छोड़कर १११ अलंकारों का प्रयोग किया है—"एकादश अरु एक शत मुख्य अलंकृत रूप। विविध भेद इनके धरे तुलसीदास अनूप।" कवि का "रामायण के लच्छ" में रामायण का अर्थ तुलसी द्वारा लिखी राम-कथा है, क्योंकि उदाहरण अन्य कृतियों के भी दिये गये हैं। प्रारम्भ में ६ शब्दालंकार हैं और बाद में शब्दालंकार का विवेचन अकारादि क्रम से किया गया है, यह इस ग्रन्थ की विशिष्टता है। साथ ही लक्षण देकर दूसरे कवि के उदाहरण देना, यह हिन्दी रीति-परम्परा की दृष्टि से नवीन बात है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० रि० (सं० ११, ७६, २६९); मि० वि०; हि० सा० बृ० इ०, (भा० ६) ; हि० सा०।] —सं०

तुलसी साहिब—ये 'साहिब पन्थ' के प्रवर्तक थे। 'शब्दावली' के (भाग १), सम्पादक ने इनका जन्म सन् १७६३ ई० और मृत्यु सन् १८४३ ई० में माना है। क्षितिमोहन सेन ने जन्म सन् १७६० ई० और मृत्यु सन् १८४२ ई० में माना है। कहा जाता है कि ये मराठा सरदार रघुनाथ राव के ज्येष्ठ पुत्र और बाजीराव द्वितीय के बड़े भाई थे। इनका घर का नाम श्याम राव था। इतिहास इस अनुश्रुति का समर्थन नहीं करता। इतिहास ग्रन्थों के अनुसार रघुनाथ राव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम अमृतराव था। प्रसिद्ध है कि १२ वर्ष की अवस्था में ही ये घर से विरक्त होकर निकल पड़े थे और हाथरस में आकर रहने लगे थे। क्षिति बाबू के अनुसार पहले ये 'आवापन्थ' में दीक्षित हुए थे और बाद को सन्तमत में आये किन्तु ऐसा मानने को कोई ऐतिहासिक आधार नही है।

तुलसी साहब ने हृदयस्थ 'कंज गुरु' या 'पद्मगुरु' को ही अपना पथ-निर्देशक माना है। इसे ही कहीं-कहीं इन्होंने 'मूल सन्त' भी कहा है। इस प्रकार ये किसी लोक-पुरुष को अपने गुरु-रूप मे स्वीकार नहीं करते। 'घटरामायन', 'शब्दावली', 'रत्नसागर' और 'पद्मसागर' (अपूर्ण) इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं, जो सभी वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता, सृष्टि-रहस्य, ज्ञान, योग, भक्ति, वैराग्य, कर्मवाद और सत्संग-महिमा इनकी रचनाओं के प्रमुख विषय हैं। 'घट रामायन' के अनुसार काशी में रहते हुए इन्हें मुसलमान, जैनी, गुसाईं, पण्डित, संन्यासी, कबीरपन्थी और नानकपन्थी साधुओं से आध्यात्मिक प्रश्नों पर विवाद करना पड़ा था और इन्होंने सभी का समाधान किया था। इसी कृति में इन्होंने अपने को पूर्व जन्म में गोस्वामी तुलसीदास बताया है और अपना जीवन-वृत्तान्त भी दिया है, जो तर्क-सम्मत नहीं है। बड़थ्वाल साहब इस वृत्तान्त को क्षेपक मानते हैं।

तुलसी साहब ने मनोमय जगत् से सूक्ष्मतर आध्यात्मिक भूमियों की कल्पना भी की है और सूक्ष्मतम भूमि को 'महाशून्य', 'सत्तलोक' या 'अगमपुर' कहा है। इस प्रकार की कल्पनाएँ अन्य परवर्ती सन्तों में भी पायी जाती हैं। इन्होंने सन्तमत को साम्प्रदायिक भावना से मुक्त करने की चेष्टा की है किन्तु ऐसा लगता है कि इनमें आत्म-महत्त्व-स्थापना की प्रवृत्ति अत्यधिक सबल थी, इसीलिए कहीं-कहीं परस्पर-विरोधी, असंगत और दुरूह कल्पनाएँ करने में भी इन्हें संकोच नहीं हुआ। इनमें कौशल, चतुरता और आडम्बर अधिक है, सन्तों की सहजता कम। काव्य-दृष्टि से इनकी रचनाएँ उत्कृष्ट नहीं हैं। आध्यात्मिक विषयों की आग्रहपूर्ण अभिव्यक्ति के कारण इनकी वाणी सरस नहीं हो सकी है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; सन्तबानी संग्रह, पहिला भाग, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; घटरामायन, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।]

—रा० चं० ति०

तुष्टिमत्, तुष्टिमान्—उग्रसेन का पुत्र, कंस का भाई।

—मो० अ०

तृणावर्त—कंस का सहायक एक असुर। इसे कंस ने कृष्ण के प्राण लेने के उद्देश्य से गोकुल भेजा था। उसने भयंकर बवण्डर रूप में सारे गोकुल को धूल-कंकड़ों के भीषण वातचक्र में डालते हुए कृष्ण को आकाश में उठा लिया। कृष्ण ने उसकी गर्दन कसकर पकड़ ली और अपने शरीर को इतना भारी बना लिया कि भार सम्भालने में असमर्थ वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। कृष्ण द्वारा दबाये जाने से उसके नेत्र फट गये और उसका प्राणन्त हो गया। (दे० सू० पद० ६९४–६९५)।

—मो० अ०

तेग अली—ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन थे। १९ वीं शताब्दी के अन्त में जब कि काशी में लावनीबाजों का बहुत जोर था और उनके अखाड़े तथा दल थे, उसी समय तेग अली भी एक प्रसिद्ध लावनीबाज हुए थे, जिनका अपना अखाड़ा अलग था। इन्हें कसरत और पहलवानी का भी बहुत शौक था और अच्छी कुश्ती लड़ते तथा शागिर्दों को भी कुश्ती लड़ाया करते थे। उन दिनों काशी में गुण्डों का भी बहुत जोर था। तेग अली ने उन गुण्डों के आचार-विचार, बोल-चाल और रहन-सहन का बहुत अच्छी तरह अध्ययन किया था और उनके अनुसार काशी की ठेठ बोली में कविताएँ भी रची थीं। उन दिनों होली की रात में १०-११ बजे के लगभग खमसे गानेवालों के बड़े-बड़े दल नयी सड़क की ओर से चलकर दालमण्डी से होते हुए चौक आते थे। बीच में जगह-जगह लोग उन्हें घेरकर घण्टों उनके गाने सुनते थे और पान, इलायची आदि से उनकी खातिर करते थे। ये खमसे सितार, ढोलक और मंजीरे पर बहुत ही सुरीलेपन से गाये जाते थे, जिससे कि विलक्षण समाँ बँध जाता था। उन्हीं में एक प्रसिद्ध दल तेग अली का भी होता था, जिसके खमसे बहुत अधिक लोकप्रिय हुए और इसीलिए जिन्हें भारत जीवन प्रेस के स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'बदमाश दर्पण' नाम की छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया था। गुण्डों की बोल-चाल और रंग-ढंग के परिचायक तेग अली के कुछ पद्य इस प्रकार हैं—"देके सारनके बहाली तू घरे चल आव। आज न आ सक तो कौनो बखत कल आवंसंझा के आज आवे क कैले करार बाय। राजन क रजा राम-धै राजा हमार बाय।"

कहीं-कहीं तो इनके पद्य बहुत अलंकारपूर्ण और कवित्व के गुणों से युक्त भी होते थे। यथा—"सुरमा आँखी में नाहीं, तु इ लगावत बाट जहर के पानी में तरुआर बुझावत बाटभौं चूम लेइ ला कोई सुन्नर जे पाइला। हम ऊ हई जो ओंठे पै तरुआर खाई लां। हम फारे वाला बाटी, हजारन में राम-धै। पर तुहैं से रजा बेंत मतिन थरथराई ला।"

—रा० चं० वर्मा

तेगबहादुर गुरु—सिखों के नवें गुरु तेगबहादुर का जन्म १ अप्रैल, सन् १६२१ (५ बैसाख बदी, संवत् १६७८ वि०) को गुरु के महल, अमृतसर में हुआ। इनके पिता का नाम गुरु हरगोविन्द साहब था। वे सिखों के छठे गुरु थे। उनकी माता श्रीनानकी देवी थीं। गुरु तेगबहादुर वैराग्य के मूर्तिमान् स्वरूप थे। वे बचपन में ही सन्त-स्वभाव, गम्भीर प्रकृति और विरागी-वृत्ति के महात्मा थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा गुरु हरिगोविन्दजी की ही निगरानी में हुई। छठे गुरु हरिगोविन्दजी उनके सम्बन्ध में प्रायः कहा करते, "हमारा पुत्र शूरवीर और तलवार का धनी होगा।" इसलिए उनका नाम ही तेगबहादुर रखा गया। गुरु तेगबहादुरजी अत्यन्त, सुन्दर, हृष्टपुष्ट, शूरवीर, विद्वान्, अस्त्र-शस्त्र में निपुण और राजनीतिज्ञ थे।

गुरुजी का विवाह करतारपुर-निवासी लालचन्द की सुपुत्री श्री गुजरीजी के साथ हुआ, जिनके गर्भ से श्री गुरु गोविन्दसिंह उत्पन्न हुए थे। गुरु तेगबहादुर सिंह की गृहस्थी बड़ी सुखमय थी। अपने पिता श्री गुरु हरगोविन्द के ज्योति-ज्योति मे लीन होने के उपरान्त, गुरु तेगबहादुर सन् १६४४ ई० में अपनी माता नानकी देवी तथा सहधर्मिणी गुजरी देवी के साथ बकाला गाँव में जा बसे। वहाँ गुरु तेगबहादुर अपना जीवन कठोर साधना, संयम, चिन्तन और ध्यान में व्यतीत करते थे।

आठवें गुरु हरिकृष्णजी के ज्योति-ज्योति में लीन होने के पश्चात् गुरु तेगबहादुर अप्रैल, सन् १६६४ ई० में ४३ वर्ष की आयु में गुरु-गद्दी पर आसीन हुए। गुरु-गद्दी पर विराजमान होते ही वे तरनतारन और गोइन्दयाल आदि स्थानों का दर्शन करने गये। ततृपश्चात् 'हरि मन्दिर' के दर्शनार्थ अमृतसर पहुँचे। वहाँ से थोड़ी दूर पर गुरुद्वारा 'थड़ा साहब' में जाकर गुरु तेगबहादुरजी विराजमान हुए। इसके बादकीर्तिपुर गये। यह स्थान होशियारपुर जिले में है। मार्ग में स्थित जालन्धर, नवाशहर, दुर्गा आदि नगरों में भी धर्म-प्रचार किया। गुरु तेगबहादुर ने कीर्तिपुर से छः-सात मील की दूरी पर आनन्दपुर नगर बसाया। यह स्थान सतलज के तट पर जैना देवी के पर्वत के पास है। कुछ ही दिनों में आनन्दपुर सुन्दरी नगरी मे परिवर्तित होकर सिखों का प्रमुख केन्द्र बन गया। सिखों के इतिहास में आनन्दपुर का बड़ा महत्त्व है। यह वही स्थान है, जहाँ कश्मीर के पण्डितों ने औरंगजेब के अत्याचारों से भयभीत होकर गुरु तेगबहादुर से धर्मरक्षा की भिक्षा माँगी थी, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया था।

सन् १६६५ ई० में गुरु तेगबहादुर ने अपनी धर्म-प्रचार यात्रा आरम्भ की। इस यात्रा में उन्होंने अनेक स्थानों में विचरण किया। वे मालवा और बांगर आदि क्षेत्रों से होते हुए उत्तर-प्रदेश और बिहार में सिख धर्म के प्रचार के लिए गये। मंजी साहब (पटियाला), कड़ा-मानिकपुर (जिला इलाहाबाद), अहियापुर (इलाहाबाद), बनारस, पटना (बिहार), थोबड़ी (आसाम) आदि स्थानों में उनके यात्रा-सम्बन्धी गुरुद्वारे हैं। आगरा, मथुरा, गया शहरों में भी गुरु तेगबहादुर की स्मृति में गुरुद्वारे हैं।

राजा विशनसिंह जोधपुरी ने आसाम के राजा पर आक्रमण करना चाहा। आक्रमण करने के लिए जाते हुए वे गुरु तेगबहादुर से गया शहर के पास मिले। गुरु तेगबहादुर स्थिति की गम्भीरता देखकर विशन सिंह के साथ आसाम चले गये ओर परिवार को पटना (बिहार) में छोड़ दिया। उन्होंने दोनों राजाओं में सन्धि करा दी और जनता का रक्तपात होने से बचा दिया। आसाम में ही उन्हें (गुरु) गोविन्द सिंहजी के जन्म का समाचार प्राप्त हुआ।

कलकत्ता और जगन्नाथपुरी होते हुए गुरु तेगबहादुरजी पटना वापस आ गये। वे पटना में तीन महीने रहे। तत्पश्चात् परिवार को फिर वहीं छोड़कर बनारस और अयोध्या होते हुए सन् १६६८ ई० में आनन्दपुर पहुँचे। उन्होंने सन् १६७२ ई० में अपने परिवार को आनन्दपुर बुलवा लिया। वे मई, १६६८ ई० से जून १६७५ ई० तक आनन्दपुर ही में रहे।

औरंगजेब ने कश्मीर के हिन्दुओं पर महान् अत्याचार करना प्रारम्भ किया। उन्हें बलात् मुसलमान बनाया जाने लगा। कश्मीरी हिन्दुओ ने अपने कुछ प्रतिनिधि गुरु तेगबहादुर की सेवा में भेजे। उन प्रतिनिधियों ने अत्यन्त करुण भाषा में अपना दुःख सुनाया। गुरु तेगबहादुर उनका दुःख सुनकर अत्यन्त दुःखी हुए। इसी बीच गोविन्द सिंहजी (तब गोविन्दराय) गुरु तेगबहादुर के पास आ गये और पिता से उदासी का कारण पूछा। पहले तो गुरु तेगबहादुर ने उन्हें ९ वर्ष का अबोध बालक जानकर कारण नहीं बताया। किन्तु गोविन्द सिंहजी के हठ करने पर कहा, "कश्मीरी हिन्दुओं पर घनघोर विपत्ति पडी है। औरंगजेब बलात् उन्हे मुसलमान बनाना चाहता है। इसलिए मैं दुःखी हूँ।" इस पर गोविन्द सिंह ने पूछा, "पिताजी, इनके बचने का भी कोई उपाय है?" गुरु तेगबहादुर कर उत्तर था, "हाँ, है।" गोविन्द सिंह ने फिर जिज्ञासा की, "क्या है पिताजी ?" गुरु तेगबहादुर ने आँखों में आँसू भरकर कहा, "बेटा, यदि कोई महान् धार्मिक एवं पवित्रात्मा औरंगजेब की धर्मान्धता की कोपाग्नि में अपनी आहुति दे, तो यह विपत्ति टल सकती है।" गोविन्द सिंह ने तुरन्त ओजस्वी बाणी में कहा "पिताजी, आपसे बढ़कर इस समय भारतवर्ष में कौन धार्मिक और पवित्र है? आप ही इस अग्नि की आहुति बनिये।" गुरु तेगबहादुर ने मन ही मन समझ लिया कि ९ वर्ष के गोविन्द सिंह गुरु-गद्दी का भार भलीभाँति सँभाल लेंगे और हर्षातिरेक से उनका मुख चूम लिया। उन्होंने कश्मीरी पण्डितों से कहा, "पण्डितजी, आप लोग दिल्ली चले जायँ और औरंगजेब से कहें कि हमारे धार्मिक नेता गुरु तेगबहादुर हैं। यदि वे इस्लाम धर्म कबूल कर लें, तो हम लोग भी मुसलमान बन जायेंगे।" पण्डित लोग दिल्ली पहुँचे औरंगजेब से सारी बत कह दी। औरंगजेब ने प्रसन्न होकर गुरु तेगबहादुर की गिरफ्तारी का हुक्म जारी किया।

इधर गुरु तेगबहादुरजी आनन्दपुर का सारा प्रबन्ध करके दिल्ली की ओर रवाना हो गये। उन्होंने अपने को जान-बूझकर आगरे में गिरफ्तार करवा दिया। गुरुजी के साथ उनके पाँच शिष्य भी थे--भाई मतिदास, भाई दयाला, भाई जेता, भाई ऊदा और भाई गुरदित्ता।

औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर को मुसलमान बनाने के लिए बड़े—बड़े प्रलोभन दिये किन्तु वे हिमालय की भाँति अडिग रहे। भाई मतिदास को आरे से चिराया गया और भाई दयाला को देग में उबाला गया किन्तु न तो उन्होंने 'उफ' किया और न धर्म-परिवर्तन ही। कहते हैं कि जिस समय भाई मतिदास के ऊपर आरा चलाया जा रहा था, उस समय वे शान्त भाव से 'जपजी' का पाठ कर रहे थे। सन् १६७५ ई० में चाँदनी चौक में गुरु तेगबहादुरजी का सिर काटा गया। बड़ा रोमांचकारी दृश्य था। भाई जेता अवसर पाकर उनका सिर आनन्दपुर ले गये। लक्खी व्यापारी की सहायता से भाई ऊदाजी ने सद्गुरु के शरीर की दाह-क्रिया अपने गाँव में जाकर की। अब वह स्थान 'रकाबगंज' गुरुद्वारे के नाम से प्रसिद्ध है। गुरु तेगबहादुर के इस आत्म-बलिदान को देखकर लोगों ने उन्हें 'हिन्दकी की चादर' की उपाधि दी। गुरु तेगबहादुर का जहाँ सिर काटा गया था, वहाँ अब एक गुरुद्वारा है, जिसका नाम 'शीशगंज' है। 'शीशगंज' चाँदनी चौक में है और 'रकाबगंज' नयी दिल्ली में।

'विचित्र नाटक' में गुरु गोविन्द सिंहजी नें गुरु तेगबहादुर

की शहीदी के बारे मे इस प्रकार लिखा—"धर्म हेत साका जिन कीया, सीस दिया पर सिर न दीया। साधन हेत इति जिन करी। सीस दिया पर सी न उचरी।" गुरु तेगबहादुर की सारी आयु ५४ वर्ष और आठ महीने रही।

गुरु तेगबहादुरजी की वाणी 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में 'महला ९' के नाम से दर्ज है। उनके ५९ 'सबद' और ५७ 'सलोक' हैं। 'सलोक' 'गुरु ग्रन्थ साहिब' के अन्त में है। च उनके सबद १५ रागों में हैं—गउड़ी में ९, आसामें १य, देवगन्धारी में ३, बिहागड़ा में १, सोरठि में १२, धनासरी में ४, जैतसरी में ३, टोड़ी में १, तिलंग में ३, विलावल में ३, रामकली में ३, मारू में ३, बसन्त में ५, सारंग में ४ तथा जैजावंती में ४।

गुरु तेगबहादुर की सारी वाणी ब्रजभाषा में है। हाँ, यत्र-तत्र पंजाबी के शब्द अवश्य हैं। उनकी वाणी भक्ति एव वैराग्यपूर्ण है। वैराग्य की अधिकता प्रायः सर्वत्र दिखलायी पड़ती है। उन्होंने यही बतलाया है कि मन को समस्त विकारों से हटाकर परमात्मा की शरण में जाना चाहिये। सांसारिक वैभव रात्रि के स्वप्न और बादल की छाया के समान हैं। मोह, अभिमान और मायिक आकर्षणों को त्याग कर मुक्तिमार्ग का अन्वेषण करना चाहिये। अनेक जन्म-जन्मान्तरों में भटकने के बाद मानव-जीवन प्राप्त होता है। मनुष्य-योनि में ही परमात्मा का आश्रय त्यागकर सांसारिक ऐश्वर्यों के लिए जन-जन का मुहताज बनकर मनुष्य अपने आपको उपहास्य ही बनाता है।

[सहायक ग्रन्थ—(१) द आदि ग्रन्थ : आर्नेस्ट ट्रम्प, लन्दन, १८७७ ई०; (२) द सिक्ख रिलीजन : मेक्स आर्थर मैकालिफ, खण्ड ४, क्लेरेण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड, १९०९ ई०; (३) द बुक आफ टेन मास्टर्स : पूरनसिंह, सिख युनीवर्सिटी प्रेस, निस्बत रोड, लाहौर, १९२० ई०।]

—ज० रा० मि०

तेजनारायण काक—जन्म १९०४ ई० में। गद्य-काव्य और खलील जिब्रान के ढंग की सूक्तियाँ लिखी हैं। माध्यम के अनुकूल आपकी रचनाओं में संक्षिप्ति और मार्मिकता है। गद्य-काव्यों का संकलन 'मदिरा' नाम से प्रकाशित हुआ है।

—सं०

तोताराम—प्रेमचन्द के उपन्यास 'निर्मला का पात्र। तोताराम निर्मला का विधुर पति है। उसमें वैयक्तिकता का अभाव और कृपणता, ये दो बातें विशेष रूप से पायी जाती हैं। कृपण होते हुए भी दम्पत्ति-विज्ञान में कुशल है, क्योंकि नयी पत्नी पर खूब खर्च करता है। वह विलासी है, उसमें सहृदयता का अभाव है और अवस्था के अनुसार शंकालुहृदय है। मानवीय गुणों का विकास उसमें नहीं मिलता। वह पूर्णतः घटना-चक्रों के अधीन बना रहता है। अपनी कपटपूर्ण नीति द्वारा मंसाराम और निर्मला में विरोध उत्पन्न करना चाहता है, जिससे वह अपने को घृणित बना डालता है। अपने पुत्र सियाराम के चले जाने पर उसके हृदय में ममता जगती है, नहीं तो उसके चरित्र में उज्ज्वलता कम ही दृष्टिगोचर होती है।

—ल० सा० वा०

तोताराम—(बाबू) तोताराम वर्मा का जन्म सन् १८४७ ई० में अलीगढ़ में हुआ था। बी० ए० की शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त ये फतेहगढ़ के स्कूल में हेडमास्टर नियुक्त हुए। कुछ दिनो बाद वहाँ से इनकी बदली बनारस के लिए हुई थी। सरकारी नौकरी का यह कार्य इनसे बहुत दिनों तक न चल सका। ये प्रकृति से लेखक थे और किसी बन्धन में बँधकर रहना इन्हें प्रिय नही था। १८७६-७७ ई० के आस-पास नौकरी से अलग होकर ये हिन्दी-भाषा तथा साहित्य की श्रीवृद्धि मे संलग्न हो गये। इनकी मृत्यु ५५ वर्ष की अवस्था में सन् १९०२ ई० में हुई थी।

साहित्यकार के रूप में तोताराम वर्मा भारतेन्दु युग के लेखकों मे स्मरणीय हैं। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्रों और सहयोगियों में थे। इनकी कुछेक रचनाएँ 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (मैगजीन) मे प्रकाशित हुई थीं। इन रचनाओं में 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (निबन्ध) और 'कीर्त्ति केतु' (नाटक) विशेष उल्लेखनीय हैं। 'केटो वृत्तान्त' नामक इनकी एक अन्य नाटच-रचना एक सफल कृति के रूप में लोकप्रिय हुई। यह वस्तुतः जोजेफ एडीसनकृत 'केटो' शीर्षक नाटक का अविकल अनुवाद है। इसमें मूल कृति से पात्रों के नाम तक ज्यो-के-त्यों ले लिये गये हैं। दृश्य के स्थान पर गर्भांक का प्रयोग किया गया है। भाषा और शैली की दृष्टि से कोई विशेष बात नहीं मिलती। वाक्य-रचना शिथिल प्रतीत होती है और जहाँ-तहाँ कुछ पूर्वी प्रयोग भी दिखलायी पड़ते हैं। तोताराम वर्मा ने उक्त कृतियों के अतिरिक्त 'स्त्री सुबोधिनी' आदि कुछ और पुस्तकें लिखीं थीं और 'राम रामायण' नाम से वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ किया था किन्तु इनका यह अन्तिम कार्य अधूरा ही रह गया।

तोताराम वर्मा ने हिन्दी की सेवा के लिए कई आन्दोलनात्मक प्रचार कार्य भी किये। इन्होंने १८७७ ई० में अलीगढ़ से 'भारत-बन्धु' नामक पत्र निकाला। 'लायल-लाइब्रेरी' की स्थापना की और श्रेष्ठ पुस्तकों का मुद्रण तथा प्रकाशन के निमित्त 'भाषा संवर्धिनी सभा' स्थापित की। इस सभा की सहायता के लिए ये पुस्तकें लिखकर उसे अर्पित कर दिया करते थे।

तोताराम वर्मा के समस्त साहित्यिक तथा भाषाविषयक कार्यों का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि ये अपने समय के सजग भाषा-सेवी और सक्रिय लेखक थे। सरकारी नौकरी का परित्याग करके इन्होंने हिन्दी की बहुमुखी उन्नति में अपना योग प्रदान किया। "हिन्दी का हर एक प्रकार से हित साधन करने के लिए जब भारतेन्दुजी खड़े हुए थे, उस समय उनका साथ देनेवालों में ये भी थे।"

[सहायक ग्रन्थ—(१) आधुनिक हिन्दी साहित्य : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्, प्रयाग; (२) हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० स० काशी।]

—र० भ्र०

तोशलक—कंस का मल्ल, जो मुष्टिक आदि अन्य पहलवानों के साथ कृष्ण द्वारा कंस के अखाड़े में मारा गया था।

—मो० अ०

तोषनिधि—ये कंपिला (जिला फरुखाबाद) के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण ताराचन्द अवस्थी के पुत्र थे। इनको 'सुधानिधि' के रचयिता प्रसिद्ध तोष कवि से भिन्न माना गया है। रामचन्द्र शुक्ल ने भ्रम से तोष को ही तोषनिधि मान लिया है। 'दिग्विजय भूषण' की भूमिका में भगवतीप्रसाद सिंह ने

इनके तीन ग्रन्थो का उल्लेख किया है—'व्यंग्यशतक', 'रतिमंजरी' और 'नखशिख'। 'रतिमजरी' का रचनाकाल १७३७ ई० दिया गया है, जिससे कवि के उपस्थिति-काल का अनुमान लगाया जा सकता है।

—सं०

तोषमणि—इनके जीवनवृत्त और काल के समय मे कुछ निश्चित पता नहीं चलता। रामचन्द्र शुक्ल ने इनको तोषनिधि भ्रमवश मान लिया है। इनके 'सुधानिधि' ग्रन्थ के एक दोहे से पता चलता है कि इन्होंने सं० १६९१ अर्थात् सन् १६३५ मे गुरुवार, आषाढ़ पूर्णिमा के दिन उपर्युक्त ग्रन्थ की रचना की थी। तोष श्रृगवेरपुर (सिंगरौर) के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। एक सवैया—"शुक्ल चतुर्भुज को सुत तोष बसे सिगरौर जहाँ रिषि थानो। दक्षिन देव नदी निकटै दस कोस प्रयागहि पूरब मानो।" से प्रकट होता है कि इनके पिता प्रयाग की पूरब दिशा से दस कोस दूर गंगा के तट पर सिंगरौर गाँव के रहने वाले थे। सिंगरौर ग्राम रामायण का श्रृंगवेरपुर है, जो श्रृंगी ऋषि की तपोभूमि था, किन्तु शुक्लजी ने 'सुधानिधि' का काल सं० १७९१ दिया है, जो ठीक नहीं लगता। ये भाषा पर अधिकार रखने वाले रसज्ञ कवि थे।

'सुधानिधि' के अतिरिक्त इनके दो और ग्रन्थों का पता चला है—'विनयशतक' और 'नखशिख'। इनमे काव्य प्रतिभा और आचार्यत्व दोनों का समावेश तो था ही, किन्तु कल्पना और भावकी सघनता इनके काव्य-गुण को अधिक द्योतित करती है, यद्यपि कहीं-कहीं उहात्मकता से पूर्ण अत्युक्तियों के दर्शन भी होते हैं। इनकी रचना मे उक्ति चमत्कार तथा सरसता का सयोग रसखान के समान हुआ है। भाषा-प्रवाह और आलंकारिक सौन्दर्य विशेष रूप से पाया जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ह० मो० श्री०

त्यागपत्र—दे० 'जैनेन्द्रकुमार'।

त्रिकूट—(१) एक पर्वत जिसपर लंका स्थित थी।

(२) मेरु के चरण पर स्थित एक पर्वत, जिसकी रजत, लौह, स्वर्ण की तीन चमकदार चोटियाँ हैं। इसी की उपत्यका में देवबालाओं का विहार-वन है।

—मो० अ०

त्रिजटा—एक साध्वी राक्षसी, जिसे रावण ने सीता की देखरेख के लिए अशोकवाटिका में नियुक्त किया था। इसने रावण द्वारा त्रस्त सीता को सान्त्वना देते हुए अपना स्वप्न सुनाया था कि रावण का नाश हो जायगा। इसी ने वह विशिष्ट स्वप्न देखा था, जिसके फलस्वरूप राक्षसों के विनाश की सम्भावना हुई थी (दे० 'रामचरितमानस', लंकाकाण्ड)।

—मो० अ०

त्रिपुर—तारकासुर के तीन पुत्रों (तारकाक्ष, कमलाक्ष, विद्युन्माली) के लिए मयदानव द्वारा निर्मित सोने, चाँदी और लोहे के तीन नगर, जो बाद में सामूहिक रूप से त्रिपुर कहलाये। इन राक्षसों से पीड़ित देवों की प्रार्थना पर शिव ने एक ही बाण से त्रिपुर का नाश कर दिया। तभी शिव का नाम त्रिपुरारि हुआ।

—मो० अ०

त्रिपुरदास—प्रसिद्ध वैष्णव भक्त। प्रियादास के मतानुसार यह स्वामी विट्ठलनाथजी के सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे।

—मो० अ०

त्रिपुर सुंदरी—एक देवी। इन्होने अर्जुन को बाणविद्या सिखायी थी। अल्मोड़े में इनका एक मन्दिर है।

—मो० अ०

त्रिपुरहरि—अग्रदासजी के गुरुभाई, रामानन्दी सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध भक्त। ये पयहारीजी के चौरासी शिष्यों में गिने जाते हैं।

—मो० अ०

त्रिलोकी नारायण दीक्षित—जन्म १९१९ में जिला उन्नाव में। शिक्षा लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई। वहीं अनेक वर्षो तक हिन्दी विभाग के प्राध्यापक रहे। आपके संत साहित्य से संबंधित शोध-कार्य का विशेष महत्त्व है। कृतियाँ—'सुंदर दर्शन' (१९५३), 'अवधी और उसका साहित्य' (१९५४), 'परिचई' (१९५८)।

—सं०

त्रिलोचन—१. त्र्यम्बक क्षेत्र में शिव का नाम।

२. एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य, जो सन्त ज्ञानदेव और नामदेव के गुरु थे। कहा जाता है कि स्वयं भगवान् ने इनके यहाँ भृत्य बनकर सेवा-कार्य किया था। किंवदन्ती है कि ये रुद्र-सम्प्रदाय के तथाकथित संस्थापक विष्णुस्वामी की परम्परा में हुए थे, जिसमें आगे चलकर वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की।

—मो० अ०

त्रिलोचन २—जन्म : २ अगस्त, १९१७ में, सुल्तानपुर में बी० ए० 'हंस' के सम्पादक रहे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सम्बद्ध। त्रिलोचन की कविताओं का 'कैनवास' विस्तृत है—मानव, मानवीय अभावों, मानवीय संवेदनाओं और मानवीय मूल्यों के प्रति उनका सहज लगाव है। वे सही माने मे विश्व-मानव की मंगलाशा के रचनाकार है। जीवन की रंगीनी में डूबने की अपेक्षा वे उसके अभावों का चितेरा बनना पसन्द करते हैं। उन्होंने हिन्दी-कविता को, उन लोगों की कविता स्वीकारा है, जो श्रमजीवी हैं, जो अभावों से जूझकर भी अपराजेय है उनके गीत पैदल चलने वालों के गीत हैं, भूखे रहने वालों के गीत हैं। 'धरती' के रचनाकार होने के नाते उनमें प्रकृति-सौन्दर्य की परख भी है और सामाजिक संचेतना का आग्रह भी। जन-जीवन के भविष्य में उन्हें आस्था है। वे जेठ की लू से घबराते नहीं, अपितु कोयल की पंचम तान से तपिश को दूर करना चाहते हैं। जिन्दगी की कड़ुवाहट से उन्हें प्रेम है। वे तो जन्म से ही विषपायी हैं। इसीलिए उन्हें जिजीविषा प्रधान कवि कहा जा सकता है।

त्रिलोचन का महत्त्व उनके 'सॉनेट्स' के कारण है। आत्मपरक होने पर भी इनमें विषय-वैविध्य है। व्यक्तिगत रोमान से लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं तक की अभिव्यक्ति इन 'सॉनेट्स' में की गई है। आत्मालोचन और परालोचन दोनों का स्वर इनमें सुनाई पड़ता है। हास्य-व्यंग्य का समावेश भी इनमें है। उनके सॉनेट्स में आत्म-दैन्य का प्रकाशन है, दार्शनिकता है, समष्टि-सुख की आकांक्षा है और है इंसानियत का सशक्त स्वर। उनकी कविता की विशेषता है कि वे जीवन की उलझनों, समस्याओं के बीच भी कला का निखार

करते चलते है। वे जीवन को फूल मानते है और गीतों को जीवन का इत्र। अन्याय और उत्पीड़न ने उन्हें और उनकी कविता को परिधियो से मुक्त किया है—त्रिलोचन का रचनाकार विश्व-नागरिक है। विश्व-मानव की पीड़ा, सत्रास और दीनता को उन्होंने महसूस किया है और इसी के निवारण के लिए कविता का अस्त्र भी ग्रहण किया है। माओप्से-तुग का महत्त्व त्रिलोचन ने दलित मानवता के नायक के रूप में ही स्वीकारा है। तुलसी और गालिब में एक सी आत्मीयता की खोज भी शायद उन्होंने इसीलिए की है। त्रिलोचन ने अपनी कविताओं में नये चित्र के साथ-साथ नई भाषा दी है। यह भाषा विश्व-नागरिक की भाषा है। उनकी काव्य-भाषा किसानों की भाषा है, जिसमें आयासहीनता है और अनगढ़ता भी। यह खुरदरी काव्य-भाषा उन्हें अन्य कवियों से अलग करती है। काव्य-भाषा को जन-भाषा के निकट लाने का उन्होंने प्रयास किया है। उनकी कविता बतकही करती सी प्रतीत होती है। चित्रात्मकता और बिम्ब-प्रयोग के अतिरिक्त उनके शिल्प में सांस्कृतिक चेतना का समावेश है। अन्य प्रगतिवादियों की भाँति केवल वस्तु-तत्त्व से चिपके रहने की कोशिश उन्होंने नही की। वस्तु और रूपाकार का योग उनके रचना-ससार की विशेषता है। उनका कवि भीड़ में नहीं खोना जानता-उनके काव्य-व्यक्तित्व को अलग से पहचाना जा सकता है। उनकी कविताओं का मूल्यांकन परिमाणात्मक आधार पर न होकर गुणात्मक स्तर पर होना चाहिए।

रचनाएँ : धरती, गुलाब और बुलबुल, दिगंत, गीत गंगा।

—शं० ना० च०

त्रिविक्रम—विष्णु के अवतार वामन। बलि के यज्ञ में याचना करने पर जब तीन पग पृथ्वी दान दी तो इन्होंने तीन पगों में स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक नाप लिये। ब्रह्म पुरुषोत्तम की मूर्ति को भी त्रिविक्रम कहते हैं। ऋग्वेद में विष्णु को त्रिविक्रम कहकर जो उनके पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में त्रिपाद-क्षेप करने का उल्लेख हुआ है, उससे कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं, यह त्रिविक्रम विष्णु प्रसिद्ध वैदिक देवता सविता (सूर्य) ही हैं परन्तु त्रिविक्रम शब्द विष्णु के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

—मो० अ०

त्रिविक्रा—एक कुबड़ी दासी, जो कंस के यहाँ लेपनादि द्रव्य पहुँचाया करती थी (दे० 'कुब्जा')।

त्रिवेणी—प्रयाग में गंगा, यमुना, सरस्वती का संगम। तीन धाराएँ। प्रायः तीन वस्तुओं की उपमा इसके माध्यम से दी जाती है।

—मो० अ०

त्रिशंकु—सूर्यवंश में उत्पन्न एक राजा, जो सशरीर स्वर्ग जाना चाहते थे किन्तु वशिष्ठ के शाप से चाण्डाल हो गये थे। इन्होंने विश्वामित्र को अपना गुरु बनाया और अपनी मनोभिलाषा प्रकट की। विश्वामित्र ने यज्ञ करवाकर उन्हें अपने तपोबल से स्वर्ग भेज दिया लेकिन इन्द्र ने क्रोधित होकर उन्हें नीचे फेंका। इस पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्र उनके लिए नये स्वर्ग का निर्माण करने लगे। इस पर देवों ने घबराकर विश्वामित्र से समझौता कर लिया। इसलिए त्रिशंकु अधोमुख आकाश और पृथ्वी के मध्य लटक गये। हिन्दी साहित्य में इनका कभी प्रतीक और कभी उपमा के रूप में उल्लेख मिलता है। 'अज्ञेय' ने अपने विचारो को व्यक्त करते हुए अपने निबन्ध ग्रन्थ का नाम ही 'त्रिशकु' रख दिया है।

—मो० अ०

त्रिशीर्ष—रावण का एक पुत्र, जो हनुमान् द्वारा मारा गया था।

—मो० अ०

त्रेता—चतुर्युगी (सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग) में से एक युग, जिसकी अवधि १२, ९६,००० वर्ष है। इसी युग मे राम का अवतार हुआ था। पुराणों एवं सभी सन्त ग्रन्थो मे इसका उल्लेख मिलता है। मानस में भी इसका उल्लेख है।

—मो० अ०

थान कवि (थानाराय)—ये डौंडियाखेरे (जि० रायबरेली) के निहाल राय के पुत्र और चन्दन बन्दीजन के भानजे थे। इन्होंने बैसवाड़ा के चँड़ेला गाँव के जमींदार दलेल सिंह के नाम पर 'दलेल प्रकाश' नामक काव्य-शास्त्र ग्रन्थ की रचना १७९१ ई० में की। इस ग्रन्थ में रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "विषयों का कोई क्रम नहीं। इसमें गण-विचार, रस-भाव-भेद, गुण-दोष आदि का कुछ निरूपण है और कहीं-कहीं अलंकारों के कुछ लक्षण आदि भी दे दिये गये हैं।" इसकी एक विशेषता है कि कुछ राग-रागनियों के भी लक्षण दिये गये हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसमें छिट-पुट प्रयास ही है, कुछ विषयों में अवश्य सफलता मिल सकी है। भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण और व्यंजक है।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०।]

—सं०

दंड—इक्ष्वाकु के मूर्ख, उन्मत्त एवं अयोग्य पुत्र, जो विन्ध्य तथा शैवल पर्वत के मध्य की भूमि परम धुमत्त नामक नगर बसाकर रहते थे। इनके पुरोहित शुक्र थे। एक बार चैत्र मास में भार्गव के आश्रम में जाकर इन्होंने गुरु-कन्या अरजा से बलात्कार किया। ऋषि ने शाप दिया कि यह राजा राज्य सहित नष्ट हो जाय। क्षमा याचनार्थ इन्होंने सौ वर्ष तक तपस्या की। फिर अनावृष्टि के कारण सौ योजन तक यह भूमि अरण्य हो गयी। तबसे इस प्रदेश का नाम दण्डकारण्य पड़ा।

—मो० अ०

दंडकारण्य—दूसरा नाम दंडक वन। रामचन्द्र ने इसमें वनवास अधिक समय बिताया था। यहां रहकर उन्होंने शवरी के बेर खाये, लक्ष्मण ने शूर्पणखा को विकृतांग बनाया तथा दोनों भाइयों ने अन्य अनेक राक्षसों का वध किया।

—मो० अ०

दंडधर—१. मगध के एक राजा, जो महाभारत में अर्जुन के हाथों मारे गये।

२. धृतराष्ट्र के एक पुत्र, जिन्हें भीम द्वारा युद्ध में वीरगति प्राप्त हुई।

३. पाण्डवपक्षीय एक राजा, जिनका शरीरान्त कर्ण के बाणों द्वारा हुआ।

—मो० अ०

दंडपाणि—१. वहीनर के पुत्र, मतान्तर से मेधावी के पुत्र।

२. काशिराज पौंड्रक वासुदेव के पुत्र। श्रीकृष्ण द्वारा अपने पिता के वध से क्षुब्ध हो इन्होंने कृष्ण महेश्वर नामक यज्ञ करके भगवान् शंकर से कृष्ण के नाश का उपाय पूछा। कृष्ण भयभीत हो द्वारका चले गये और वहाँ से सुदर्शन चक्र द्वारा

उन्होंने दण्डपाणिका उनके नगर सहित संहार कर दिया।

—मो० अ०

वंडभृत—त्रेता के एक क्षत्रिय, जो राम के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े के रक्षार्थ शत्रुघ्न के साथ गये थे।

—मो० अ०

दंडी मुंडीश्वर—शिव का एक अवतार।

—मो० अ०

दंतवक्र—दंतवक्र को दंतवक्त्र भी कहा गया है। इनके पिता का नाम वृद्धशर्मा और माता का श्रुतदेवी था। सहदेव द्वारा ये राजसूय-यज्ञ में पराजित हुए थे। इनकी मृत्यु इन्हीं की इच्छा से कृष्ण द्वारा हुई और इन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ। 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध ४८४० वे पद में इनका उल्लेख मिलता है। यह कथा कृष्ण के औदार्य को प्रकट करती है।

—श्री० व०

दंभ—१. अधर्म का पुत्र, मतान्तर से आयु का पुत्र।

२. कुशद्वीप में एक नदी।

—मो० अ०

दंश—एक दानव। भृगु की स्त्री का अपहरण करने के कारण भृगु ने उसे कीट योनि में जन्म लेने का शाप दिया। तदनुसार वह अलर्क नामक कीड़ा हुआ। जब उसने प्रार्थना और क्षमा याचना की तो भृगु ने कहा कि जा मेरे वंशज राम के द्वारा तेरी मुक्ति होगी। परशुराम के आश्रम में जब कर्ण विद्या सीख रहे थे, तो एक दिन परशुराम उसकी जंघा पर सिर रखकर सो गये। तब उसी कीड़े ने कर्ण की जांघ को बेधना शुरू किया। रक्त के स्पर्श से परशुराम जागे और कर्ण की सहनशक्ति देख उन्होंने अनुमान किया कि यह कोई क्षत्रिय है। साथ ही उन्होंने क्रोधित नेत्रों से कीड़े की ओर देखा और वह भस्म होकर अपने पूर्व रूप को प्राप्त हो गया।

—मो० अ०

दंष्ट्रा—क्रोधवश की कन्या तथा पुलहकी स्त्री, जिससे सिंह, चीता, हाथी आदि की उत्पत्ति हुई।

—मो० अ०

दक्ष—ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से उत्पन्न एक प्रजापति। इन्होंने स्वायंभुव मनु की प्रसूति से विवाह किया। उनकी १६ पुत्रियों में से १३ धर्म को, एक अग्नि को, एक पितृस् को और एक शिव को ब्याही थी। एक सत्र में आने पर सभी उपस्थितों ने खड़े होकर उनका सम्मान किया, केवल ब्रह्मा और शिव बैठे रहे। इस पर क्रोधित होकर दक्ष ने शाप दिया कि शिव को यज्ञ में भाग नहीं मिलेगा। इस पर शिव के नान्दी ने अत्यन्त कुपित होकर दक्ष को अभिशाप दिया कि तुम सारा आत्मज्ञान खोकर बकरी की मुखाकृति के हो जाओगे। यह सुनकर भृगु ने प्रतिशाप दिया कि शिवोपासना पाखण्ड कहलायेगी। ब्रह्मा द्वारा नियामक रूप नियुक्त दक्ष ने एक यज्ञ किया, जिसमें शिव के अतिरिक्त अन्य सभी देवता आमन्त्रित किये गये। सती ने शिव से जाने की आज्ञा माँगी। शिव ने उनका अतीव आग्रह देखकर हाँ कर दी। यज्ञ में शिव का अपमान देखकर सती ने योगाग्नि में भस्म होकर शरीर छोड़ दिया। इस पर शिव-गण यज्ञ विध्वंस करने लगे। लेकिन भृगु ने एक ऐसा देव-वर्ग उत्पन्न किया, जिसने शिव-गणों को पराजित कर दिया। यह सुनकर शिवजी ने क्रोधाभिभूत होकर वीरभद्र को भेजा। उन्होंने जाकर दक्ष का शीश काट लिया और भृगु की दाढ़ी नोच ली। यज्ञ विध्वंस हो गया। बाद में ब्रह्मा ने विग्रह शान्त किया और तब दक्ष को बकरी का सिर तथा भृगु को बकरे की दाढ़ी प्राप्त हुई।

—मो० अ०

दक्षिणा—१. यज्ञ की पत्नी तथा बहिन और बारह याम देवों की माता।

२. रुचि की पुत्री अकूती तथा हरि के अवतार सुयज्ञ की स्त्री। इनके १२ पुत्र स्वायंभुव मनु-युग के तुषित देव कहलाते थे।

—मो० अ०

दत्त १—बलराम तथा कृष्ण के विद्यागुरु संदीपनि का पुत्र, जिसे पंचजन नामक राक्षस उठाकर समुद्र में ले गया था। यह दैत्य समुद्र में शंखरूप धारण कर निवास करता था। संदीपनि ने जब गुरु-दक्षिणा के बदले अपने पुत्र को मांगा तो भगवान् कृष्ण ने समुद्र में प्रवेश कर राक्षस का वध किया और दत्त को निकाल लाये। शंख-रूप पंचजन के मृत शरीर को उन्होंने अपना शंख बना लिया, जो 'पांचजन्य' कहलाया।

—मो० अ०

दत्त २—दत्त नाम के कई कवियों का उल्लेख मिलता है—'सज्जन विलास', 'वीर विलास' तथा 'ब्रजराज पंचाशिका' (१७५१ ई०) के रचयिता गयावासी कुँवर फतेहसिंह के आश्रित दत्त (रचनाकाल १७५१ ई०) प्राचीन माढ़ि, जिला कानपुरवाले दत्त, मऊरानीपुर और गुलजार ग्रामवासी जनगोपाल और दत्तलाल 'दत्त' उपनामधारी दत्त और 'लालित्यलता' नामक ग्रन्थ के रचयिता कवि दत्त। इन सभी कवियों की रचनाओं में प्रायः 'दत्त' अथवा कभी कहीं 'दत्त कवि' (छन्दपूर्ति के लिए कवि शब्द का प्रयोग) की ही छाप मिलती है, जिसके नाते यह निश्चय कर पाना कठिन होता है कि कौन किस दत्त की रचना है। 'दिग्विजय भूषण' में 'कवि दत्त' तथा 'दत्त कवि' नाम से दो, 'शिवसिंह सरोज' में तीन और 'मिश्रबन्धु विनोद' में दो दत्त कवियों का स्पष्ट एवं पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। किन्तु काव्य गरिमा के विचार से इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हैं अन्तिम दत्त, जिन्होंने 'लालित्य लता' नामक उत्कृष्ट रीति-ग्रन्थ की रचना की है। इसलिए इन्हीं के बारे में किंचित् विस्तार से विचार किया जाता है।

ये जाजमऊ के (जिला कानपुर), जो असनी और कन्नौज के बीच स्थित है, रहनेवाले थे। शिवशिंह ने इस कवि का जन्मकाल १७७९ ई० बताया हैं, जबकि ग्रियर्सन उसकी स्थिति १८१५ ई० के बाद मानते हैं किन्तु इतना होते हुए भी दोनों ही यह मानते हैं कि वे चरखारी के राजा खुमानसिंह के दरबारी कवि थे। चूँकि खुमानसिंह का शासन-काल १७६१ से १७८२ ई० तक ही था, इस कारण कवि को उक्त समय ('सरोज' और 'ग्रियर्सन') से सम्बद्ध मानना बिलकुल गलत होगा। 'लालित्य लता' का निर्माण-काल है—सन् १७३४ ई०। इस नाते दत्त १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही पैदा हुए होंगे। 'लालित्य लता' सुन्दर अलंकार-ग्रन्थ है। कविता सरस, चमत्कारिणी एवं मनोहर है। भाव और कलागत, दोनों प्रकार के वैशिष्ट्य उसकी कविता में दिखायी पड़ते हैं। इसी कारण

अधिकांश समीक्षकों ने इनकी गणना पद्माकर-श्रेणी के कवियों में की है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (वार्षिक १९०३, त्रै० २); मि० वि० (भा० २); शि० स०; दि० भू०; हि० सा० इ०।]

—रा० त्रि०

दत्तात्रेय—अत्रि एवं अनुसूया के पुत्र; विष्णु के एक अवतार। ये महान् विद्वान्, योगी एवं प्रसिद्ध ऋषि थे। भागवत के अनुसार इन्होंने पृथ्वी, आकाश, वायु जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, सागर, पतंग, मधुकर, हाथी, मधुहारी, हरिण, मछली, पिंगल, वेश्या, गृद्ध, बालक, कुमारी कन्या, बाण-निर्माता, सर्प, मकड़ी और तितली—ये चौबीस गुरु बनाये थे।

—मो० अ०

दधिमुख—राम सेना का एक गम्भीर बानर। रामाश्वमेध के अश्व की रक्षा में उन्होंने भी शत्रुघ्न का साथ दिया था।

—मो० अ०

दधीचि—एक प्रसिद्ध ऋषि। वृत्रासुर से त्रस्त इन्द्र को भगवान् ने बताया कि दधीचि की हड्डियों से बना अस्त्र ही वृत्रासुर के सिर को काट सकेगा। अतः देवताओं ने दधीचि के पास जाकर यह अभिलाषा प्रकट की। दधीचि ने लोकसेवार्थ अपना शरीर त्याग दिया। तब विश्वकर्मा ने उनकी हड्डियों से बज्र का निर्माण किया, जिसके प्रयोग से इन्द्र द्वारा वृत्रासुर का बध हुआ। तब से दधीचि त्याग के प्रतीक बन गये हैं। त्याग के प्रतीक के रूप में इनके नाम का प्रयोग मानस से लेकर आज तक किया गया है।

—मो० अ०

दनु—कश्यप की स्त्रियों में से एक और दक्ष प्रजापति की पुत्री। यह दानवों की माता थी। इसी से इसके पुत्रों का नाम दानव हुआ।

दम—१. मारुत के पुत्र, राज्यवर्द्धन के पिता।

२. क्रिया के पुत्र।

३. बैकुण्ठ के देवता।

४. नरिष्यन्त के पुत्र एक दण्डधर, विक्रान्त के पिता।

५. दमयन्ती के भ्राता, विदर्भनरेश भीम के पुत्र।

—मो० अ०

दमनक—१. दुर्योधन पक्ष के एक योद्धा।

२. दमयन्ती के एक भाई।

३. अंगिरा और सुरूपा के पुत्र।

४. एक ऋषि, जिनके आशीर्वाद से विदर्भनरेश भीम की सन्तानें हुईं।

५. वासुदेव रोहिणी के पुत्र।

६. तीसरे द्वापर में भगवान् के अवतार।

—मो० अ०

दमयन्ती—विदर्भराज भीम की कन्या, जो हंस द्वारा गुणश्रवण करके नैषधराज नल पर अनुरक्त हो गयी थी। उसने स्वयम्वर में देवताओं तथा अन्य राजाओं को छोड़कर नल को ही जयमाला पहनायी। फलतः कुपिता होकर कील ने उन्हें अनेक कष्ट दिये। नल हृतराज्य होकर दमयन्ती के साथ वन-वन भटकने लगे। एक बार निद्रितावस्था में दमयन्ती की आधी साड़ी फाड़कर नल ने स्वयं पहन ली और उसे छोड़कर चले गये। दमयन्ती अनेक कष्ट सहती हुई सुबाहुनगर पहुँची, जहाँ राजगृह में सैरन्ध्री का कार्य करने लगी। वहाँ से उसके पिता के व्यक्ति ढूँढकर उसे ले गये। वहाँ जाकर उसने स्वयम्वर का मिथ्या समाचार भेजकर नल को बड़े सुन्दर उपाय से बुलवाया और उन्हें पहचान लिया।

—मो० अ०

दयानंद (महर्षि)—जन्म सन् १८२४ ई० में गुजरात (काठियावाड़) के टंकारा ग्राम में औदीच्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुल की परम्परा और विद्वान् पिता के आग्रह से उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा संस्कृत में हुई। बाद में वैदिक-साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया और प्रचलित हिन्दू-धर्म तथा सच्चे वैदिक धर्म के बीच उत्पन्न खाई को पाटने का दृढ़ संकल्प किया। इस प्रकार हिन्दू समाज में प्रचलित रीति-रिवाज और कर्मकाण्ड में सुधार करना उनके जीवन का प्रथम उद्देश्य बन गया। उनके मन में समाज-सुधार के लिए अदम्य उत्साह था, इसलिए इन्होंने देश की सभी सुधारवादी संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित किया, जिनमें सर्वप्रथम बंगाल का ब्रह्मसमाज था। इसके बाद ही उनके हृदय में एक अलग वैदिक-समाज के रूप मे आर्य समाज की स्थापना का विचार जाग्रत् हुआ। ७ अप्रैल, १८७५ ई० मे इन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना बम्बई में की।

जिन सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा हिन्दी को प्रोत्साहन मिला तथा जिन प्रवृत्तियों का इस दिशा में योगदान रहा है, उनमें आर्यसमाज सर्वप्रथम है। यही कारण है कि हिन्दी भाषा अथवा साहित्य का इतिहास लिखने वाले सभी विद्वानों ने हिन्दी-गद्य के निर्माण में आर्यसमाज के योग को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। महर्षि दयानन्द व्यावहारिक पुरुष थे, अतः देश की सार्वजनिक गतिविधि से मिलकर आर्यसमाज का प्रचार करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार किया और अनुभव किया कि इसके व्यापक प्रचार के लिए ऐसी भाषा का आश्रय लिया जाय, जिससे उत्तर, दक्षिण और पूर्व-पश्चिम सभी जगह काम चलाया जा सके। वह भाषा हिन्दी थी। स्वामी दयानन्द ने इस तथ्य को समझकर स्वयं हिन्दी सीखी और यह घोषणा की कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना आवश्यक है और हिन्दी ही 'आर्यभाषा' अर्थात् समस्त देश की भाषा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि आर्यसमाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो और हिन्दी ही इसके प्रचार का प्रमुख माध्यम हो। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और वे अंग्रेजी नहीं के बराबर जानते थे। हिन्दी के बल पर ही वे विभिन्न प्रान्तों की यात्रा कर सके और बड़ी सभाओं में भाषण दे सके। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों में उत्साह था। ग्रन्थों की रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने कई मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाएँ भी निकालनी आरम्भ कीं और कई प्रचलित पत्रिकाओं में लेख इत्यादि भी हिन्दी में ही लिखे, जिससे समाज को उनके विचार मिले और हिन्दी की भी प्रगति हुई। प्रान्तीयता, जातिभेद और अन्य सभी सीमाओं को लाँघकर जहाँ-जहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई, वहाँ हिन्दी-प्रेम भी पहुँचा। इसका सबसे बड़ा उदाहरण पंजाब है। जैसे ही पंजाब आर्यसमाज के प्रभाव में आया, अन्य जातियों के

विरोध और सरकार की उपेक्षा के बावजूद भी हिन्दी का पौधा वहाँ जड़ पकड़ने लगा और बढ़ते-बढ़ते उसने वृक्ष का रूप ले लिया।

आर्य समाज की स्थापना के साथ ही साथ महर्षि दयानन्द ने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया और जो ग्रन्थ उन्होंने पहले संस्कृत में लिखे थे, उनका हिन्दी में अनुवाद कराया। इनमें प्रमुख 'वेदभाष्य' और 'संस्कारविधि' हैं। अपने भाष्य के विषय में दयानन्द ने लिखा है कि भाष्य में ज्ञान, कर्म, उपासना काण्ड का विचार नहीं किया जायगा, क्योंकि दर्शन, उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों मे उनका विवेचन किया गया है, अतः भाष्य मे केवल अर्थ ही दिये जायेगे।

महर्षि दयानन्द के वैदिक ग्रन्थों में 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' सबसे उत्तम मानी जाती है। इससे दयानन्द की असाधारण योग्यता और मौलिकता का परिचय मिलता है। इनकी शैली का मर्म इस ग्रन्थ की पंक्ति-पंक्ति मे प्रतिभासित होता है।

महर्षि दयानन्द के भाष्यों में यौगिक शैली की प्रधानता है। एक प्रकार से दयानन्द की भाष्य-शैली की तुलना निरुक्तकार यास्क से की जाती है। हिन्दी भाषा में इन भाष्यों के अनुवाद हो चुके हैं। अतः हिन्दी भाषा को दयानन्द से वैदिक साहित्य की बहुमूल्य निधि मिली है।

'संस्कार-विधि' में दयानन्द ने हिन्दुओं के सोलह वैदिक संस्कारों की परिपूर्ण व्याख्या की है। उनकी भाषा से यह स्पष्ट होता है कि लेखक अहिन्दी भाषी है, संस्कृत का विद्वान् है और बोलचाल की हिन्दी से उसका विशेष परिचय नहीं है। इसकी चिन्ता न करके वे हिन्दी को अपनाये रहे और आर्यसमाज के आधारभूत ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना मूल रूप से ही उन्होंने हिन्दी में आरम्भ की। 'सत्यार्थप्रकाश' स्वामी दयानन्द का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कोई भी ऐसा विषय नहीं, जिस पर उन्होंने इसमें प्रकाश न डाला हो। उनकी मातृभाषा गुजराती होने के कारण गुजराती, संस्कृत अध्ययन के कारण संस्कृत और मथुरा में दीर्घ निवास के कारण ब्रजभाषा—इन तीन भाषा-शैलियों का सम्मिश्रण 'सत्यार्थप्रकाश' की भाषा में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि दयानन्द में समन्वयात्मक दृष्टि थी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दी उनके लिए साधन रूप थी। उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ, जनजागर्त्ति के आह्वान हेतु हिन्दी भाषा को अपनाकर उसकी उन्नति के द्वार का उद्घाटन किया।

धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और शिक्षा के क्षेत्र में दयानन्द की हिन्दी-सेवा अद्वितीय है। जिस प्रकार स्वराज्य का मूलमन्त्र दयानन्द ने देश को इन शब्दों में दिया—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा के भवन-निर्माण की नींव भी उन्होंने रखी।

हिन्दी आन्दोलन के लिए यह घटना एक ईश्वरीय देन थी। दयानन्द के वेदों के अधिकृत ज्ञान, उनके प्रबल सुधारवाद, ओजस्वी व्यक्तित्व, लेखन और प्रचार से हिन्दी भाषा को असाधारण और अभूतपूर्व गति मिली, व्यापकता मिली और सबसे बढ़कर लोकप्रियता मिली। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक-साहित्य के अतिरिक्त दयानन्द का पत्र-व्यवहार भी महत्त्वपूर्ण है। दयानन्द केवल धर्मिक आचार्य ही नही थे, सार्वजनिक नेता भी थे। प्रचारकार्य के लिए देशभ्रमण में सैकड़ों व्यक्तियों से परिचय और पत्र-व्यवहार हुआ। उनके पत्र-व्यवहार की भाषा पहले संस्कृत और बाद मे बराबर हिन्दी रहती थी, उत्तर भले ही और भाषाओं में आते हों। मदाम ब्लावड्सकी तक को उन्होंने हिन्दी मे लिखा। मदाम ब्लावड्स्की को उन्होंने एक पत्र मे लिखा था "जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें उसको नागरी कराकर हमारे पास भेजा करें।" वैदिक सग्रहालय, अजमेर मे दयानन्द के अनेक हस्तलिखित पत्र सुरक्षित है। इन पत्रों से उनके हिन्दी-प्रेम और अपने सिद्धान्तों में आस्था का पूर्ण परिचय मिलता है। १३ जुलाई १८७९ को अल्कोट को लिखे एक पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने अलकोट को भी हिन्दी सीखने की प्रेरणा दी। इसका प्रमाण इस वाक्य से मिलेगा—"मुझे सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना आरम्भ कर दिया है।"

वैदिक साहित्य को जनसाधारण में सुलभ बनाने की अभिलाषा से एक विज्ञापन में दयानन्द ने लिखा है—"वेद और प्राचीन आर्य-ग्रन्थो के ज्ञान के बिना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता और इसके बिना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है। इसलिए जो सनातन प्रतिष्ठित पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्य नामक व्याकरण है, उसमें अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत और आर्यभाषा में वृत्ति बनाने की इच्छा है" (ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन से)

ग्रामवासियों की सुविधा के लिए भी दयानन्द को हिन्दी और देवनागरी के प्रयोग पर कितना ध्यान रहता था, यह उनके श्यामजी कृष्ण वर्मा को ७ अक्तूबर, १८७८ को लिखे पत्र से ज्ञात होता है। उन्होंने लिखा था—"अबकी बार भी वेदभाष्य के लिफाफे के ऊपर देवनागरी नहीं लिखी गयी। जो कही ग्राम में अंग्रेजी पढ़ा न होगा तो अंक वहाँ कैसे पहुँचते होंगे और ग्रामों में देवनागरी पढ़े बहुत होते हैं। इसलिए अभी इसी पत्र के देखते ही देवनागरी जाननेवाले मुंशी रख लेवें, नहीं तो किसी रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी वाले से नागरी में लिखाकर पास किया करें" (पत्र और विज्ञापन)।

इससे भी ज्ञात होता है कि दयानन्द के लिए भाषा से अधिक भाव तथा कार्य का मूल्य था। वे तो हिन्दी को देशव्यापी बनाने का स्वप्न देखते थे। एक बार एक पंजाबी भक्त ने उनके समस्त ग्रन्थों का अनुवाद करने की अनुमति माँगी। दयानन्द ने अपना भाव इन शब्दों में व्यक्त किया—"भाई मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब काश्मीर से कन्या कुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस 'आर्यभाषा' का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।" इस स्वप्न का साकार दर्शन हम उनके इस शब्द-चित्र में करते हैं।

दयानन्द के सार्वजनिक जीवन की अवधि लगभग २० वर्ष की थी। इस समय में उन्होंने धर्म-प्रचार और आर्यसमाज के लिए जिस साहित्य का स्वयं निर्माण किया और जो निजी प्रेरणा से अपने साथियों द्वारा लेखबद्ध कराया, वह हिन्दी के विकास की दृष्टि से विपुल होने के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण भी है। इस काल की उनकी अपनी छोटी बड़ी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि

उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। उन्हीं की रचनाओं तथा शिक्षा से प्रेरणा लेकर आर्यसमाज के अनुयायियों ने भी साहित्य-निर्माण मे हाथ बँटाया। धर्म, समाज और शिक्षा तीनों ही क्षेत्रो में आर्यसमाज का बड़ा प्रभाव था। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे—"आर्यसमाज ने भारतीय चिन्ता को झकझोर दिया था, पर प्राचीन आप्त वाक्य को मानने की प्रवृत्ति को उसने और भी अधिक प्रतिष्ठित किया। इसका परिणाम सभी क्षेत्रों में देखा गया। साहित्य के क्षेत्र में भी इस समय तक प्रमाण-ग्रन्थों के आधार पर विवेचन करने की प्रथा चल पड़ी थी।" इसका सर्वाधिक श्रेय दयानन्द के भाष्यादि लेखन-साहित्य को ही देना होगा। हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के लिए दयानन्द की यह ठोस सेवा है।

महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित पुस्तकें इस प्रकार हैं :—

१. 'अनुभ्रमोच्छेदन', २. 'अष्टाध्यायी भाष्य', ३. 'आत्मचरित', ४. 'आर्याभिविनय', ५. 'आर्योद्देश्य रत्नमाला', ६. 'कुरान-हिन्दी', ७. 'गोकरुणा-निधि', ८. 'गौतम अहल्या की कथा', ९. 'जालन्धर की बहस', १०. 'पंचमहायज्ञविधि' (सन्ध्या भाष्य), ११. 'भाव्यार्थ', १२. 'पोपलीला', १३. 'प्रतिमापूजन विचार', १४. 'प्रश्नोत्तर हलधर', १५. 'प्रश्नोत्तर उदयपुर', १६. 'भ्रमोच्छेदन', १७. 'मेला चाँदपुर', १८. 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका', १९. 'ऋग्वेद भाष्य', २०. 'यजुर्वेद-भाष्य', २१. 'वेदविरुद्ध मत खण्डन', २२. 'वेदान्तिध्वान्त निवारण', २३. 'व्यवहारभानु', २४. 'शिक्षापत्री ध्वान्त-निवारण', २५. 'संस्कारविधि', २६. 'संस्कृत वाक्य प्रबोध', २७. 'सत्यार्थप्रकाश', २८. 'सत्यासत्य विवेक', २९. 'वर्णोच्चारण', ३०. 'सन्धि-विषय', ३१. 'नामिक', ३२. 'आख्यातिक', ३३. 'पारिभाषिक', ३४. 'सौवर', ३५. 'अनादि कोष', ३६. 'निघण्टु', ३७. 'पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, शिक्षा और प्रातिपादिक', ३८. 'आलंकारिक कथा'।

दयानन्द सरस्वती उन धर्म-प्रर्वतकों की परम्परा में हैं, जिन्होंने जन-भाषा को अपने सिद्धान्तों, विचारों और उद्देश्यों के प्रचार-प्रसार का अनिवार्य और उपयोगी साधन मानकर अपनाया था। सन्यास जीवन में आपने विभिन्न विद्वानों से विद्याध्ययन किया। मथुरा में (स्वामी) विरजानन्द शास्त्री से आप विशेष प्रभावित हुए और तीन वर्षो तक (१८६०-६३ ई०) उनके चरणों में बैठकर अध्ययन करने के बाद लोक-सुधार में प्रवृत्त हुए। सन् १८६३ से १८७५ ई० तक भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करते हुए आपने अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। संकीर्णता और पाखण्ड के आप घोर विरोधी थे। इसलिए अनेक लोग आपके कट्टर शत्रु हो गये थे। २९ सितम्बर, सन् १८८३ ई० में किसी ने आपको दूध के साथ काँच पीसकर पिला दिया, फलस्वरूप सन् १८८३ ई० मे आपका देहावसान हो गया।

संस्कृत-संस्कार के कारण कहीं-कहीं आपने संस्कृत के तत्सम और सामान्यतया हिन्दी में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। 'संयोगज', 'गति परिणामीपन', 'पुरश्चरण', 'अत्युद्युक्त', 'प्राग्भाववत्', 'परिच्छिन्न', 'पृथिवीकाय', 'आर्यावर्तस्थ' आदि अनेक शब्दों का प्रयोग इसी कोटि में आता है। जनता में घुल-मिल जाने के कारण कहीं-कहीं आपने 'टिक्की जमाई', 'गपड़चौथ', 'भेट-भटक्का' जैसे ठेठ ग्रामीण मुहावरों का भी प्रयोग किया है। दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्य को व्यक्त करने के कारण आपकी भाषा में एक प्रकार की पारिभाषिकता भी है। यह सब होने पर भी आपके अथक प्रयत्न से हिन्दी-गद्य की अभिव्यक्ति-क्षमता बढ़ी। गम्भीर विषयों पर तर्क और विवाद करने की शक्ति का विकास हुआ। व्यंग्य-शैली विकसित हुई और हिन्दीतर प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार हुआ। इस दृष्टि से हिन्दी-गद्य को आपकी देन अविस्मरणीय है।

[संदर्भग्रंथ—ऋषि दयानंद—श्री यदुवंश सहाय वर्मा।]

—ज्ञा० द० और रा० चं० ति०

दयाबाई—सन्तचरणदास की शिष्या और सहजोबाई की गुरुभगिनी थीं। इनका जन्म मेवात (राजपूताना) के डेहरा गाँव में हुआ था। गुरु के साथ दिल्ली चली आयी थीं और वहीं सन्त-जीवन व्यतीत किया था। इनकी प्रसिद्ध कृति 'दयाबोध' है, जिसकी रचना सन् १७६१ ई० में हुई थी। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से 'दयाबोध' के साथ ही दयादासरचित 'विनयमालिका' भी प्रकाशित हुई है। 'सन्तबानी पुस्तक माला' के सम्पादक ने 'दयाबाई' और 'दयादास' को अभिन्न माना है। इनकी रचनाओं में प्रायः 'दया' नाम की छाप मिलती है। कहीं-कहीं 'दयाकुँवर' और 'दयादास' की छाप भी मिलती है। अतः 'दयाबाई' 'दया' और 'दयादास' की अभिन्नता मान्य हो सकती है। शिवव्रत लाल के अनुसार इनकी मृत्यु सन् १७६३ ई० में हुई थी। इनकी वाणियों का विषय वही है, जो सहजोबाई या अन्य सन्तकवियों की वाणियों का। इन्होंने परमतत्त्व को 'अजर', 'अमर', 'अविगत', 'अविनासी', 'अभय', 'अलख' और 'आनन्दमय' मानते हुए 'मनिका' में सूत्र की तरह जड़-चेतन सब में व्याप्त माना है। 'विनयमालिका' में इनकी भक्ति दैन्यभावापन्न हो गयी है और सेवक-सेव्य-भावोपासक सगुण कवियों की मनोभूमि को स्पर्श करने लगी है। आपकी अभिव्यक्ति सहज-सरल और प्रवाहमयी है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी; सन्तबानी संग्रह, पहिला भाग, बेलवेडियर प्रेस प्रयाग।]

—रा० चं० ति०

दयाशंकर दुबे—जन्म १८९६ ई० में खण्डवा में हुआ। शिक्षा एम० ए०; एल० एल० बी०। प्रयाग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के अध्यापक थे। हिन्दी माध्यम से अपने विषय पर बहुत पहले से ही लिखते रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से भी विभिन्न रूपों में सम्बद्ध रहे। कृतियाँ—'भारत में कृषि सुधार' (१९२६), 'नर्मदा रहस्य' (१९३४), 'अर्थशास्त्र की रूपरेखा' (१९४०), 'गंगा रहस्य' (१९४२), और 'सरल राजस्व' (१९४७)।

—सं०

दरद—दुर्योधनपक्षीय एक योद्धा, जो कश्मीर के समीपवर्ती, वर्तमान दर्दिस्तान के अधिपति थे।

—मो० अ०

दरियासाहब (बिहारवाले)—दरिया साहब अठारहवीं शताब्दी में आविर्भूत बिहारप्रान्तीय निर्गुण सन्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। कहा जाता है कि इनके पूर्वज उज्जैननिवासी क्षत्रिय थे, जो

बिहार में आकर बस गये थे और बाद को इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया; किन्तु बिहार प्रान्त के वर्तमान उज्जैनी क्षत्रिय-परिवारो से इनका सम्बन्ध नहीं जुड़ता। दलदास दरियापन्थी इनका जन्म सन् १६३४ ई० में और 'दरियासागर के सम्पादक सन् १६७४ ई० में मानते हैं। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने पूरी छान-बीन के बाद सन् १७३४ ई० में इनका जन्मकाल निश्चित किया है। इनकी मृत्यु सन् १७८० ई० में निश्चित है। इनका जन्म शाहाबाद जिले के धरकन्धा गाँव में हुआ था। नौ वर्ष की अल्प आयु में आपका विवाह हो गया था। २० वर्ष की अवस्था में ही विरक्त होकर आपने सन्त-जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। आपकी पत्नी शाहमती सदा आपके साथ रहीं। कहा जाता है कि नवाब मीर कासिम ने आपको १०१ बीघा जमीन प्रदान की थी जिसे आपके उत्तराधिकारी बराबर बढ़ाते रहे।

दरिया साहब अपने को कबीर का अवतार मानते थे। यथा साध्य आपने कबीर के पद-चिह्नों पर ही चलने का प्रयत्न किया है। समकालीन सन्तों में आप शिवनारायण साहब से विशेष प्रभावित प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ में आपको अपने गाँव के ही गणेश पण्डित और उनके साथियों के उग्र विरोध का सामना करना पड़ा था किन्तु धीरे-धीरे आपकी प्रसिद्धि बढ़ती गयी और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही आपके अनुयायी होने लगे। आपके पन्थ में किसी प्रकार की जटिलता नहीं है। साधु और गृहस्थ दोनों ही पन्थ में समान रूप से आदृत होते हैं। साधु नंगे सिर रहते हैं, यही उनका चिह्न है। गृहस्थ टोपी पहन सकते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से पन्थ में प्रवेश पाते हैं। गृहस्थ सन्त समाज में समान आचरण करते हैं किन्तु गृहस्थी में लौटने पर अपना-अपना कुल व्यवहार निभाते हैं। अब धीरे-धीरे यह पन्थ अपना अस्तित्व खोता जा रहा है।

दरिया साहब की कुल बीस रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'अग्रज्ञान', 'अमरसार', 'भक्ति हेतु', 'ब्रह्म चैतन्य', 'ब्रह्मविवेक', 'दरियानामा', 'दरियासागर', 'गणेशगोष्ठी', 'ज्ञानदीपक, 'ज्ञानमूल', 'ज्ञानरत्न', 'ज्ञानस्वरोदय', 'कालचरित्र', 'मूर्ति उखाड़', 'निर्भयज्ञान', 'प्रेममूल', 'शब्द या बीजक' 'सहसरानी', 'विवेक सागर' और 'यज्ञ समाधि'। धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी उपर्युक्त रचनाओंको ही प्रामाणिक मानते हैं। उनके अनुसार बुकानन साहब की शाहाबाद रिपोर्ट, नागरी प्रचारिणी सभा, काशीकी खोज रिपोर्ट तथा 'दरियासागर' और 'ज्ञानदीपक' की प्रकाशित प्रतियों की भूमिकाओं में जो ग्रन्थ उपर्युक्त सूची से भिन्न गिनाये गये हैं वे या तो उपर्युक्त ग्रन्थों में किसी एक के प्रमादजन्य रूपान्तर हैं या किसी बृहत् कृति के भिन्न अंश हैं या अप्राप्य हैं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त कृतियाँ ही प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। इनमें 'ब्रह्म चैतन्य' संस्कृत तथा 'दरियानामा' फारसी में लिखा गया है। शेष कृतियाँ हिन्दी में हैं। 'दरियासागर' (१९१० ई०—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद), 'प्रेममूल' (१९३४ ई०—शान्ति प्रिंण्टिग प्रेस, सहारनपुर) तथा 'ज्ञानदीपक' (१९३६ ई०) प्रकाशित हो चुके हैं। दो संग्रह ग्रन्थ—'दरियासाहब बिहारवालेके चुने हुए पद और साखी' (१९३४ ई०—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) और 'दरिया दर्पण' (ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना) भी प्रकाशित हुए हैं। इधर 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' ने 'दरिया ग्रन्थावली' प्रकाशन माला के प्रथम सुमन के रूप में 'सन्त कवि दरिया—एक अनुशीलन' नामक ग्रन्थ (१९५४ ई०) प्रकाशित किया है, जिसमें दरियासाहब की एक महत्त्वपूर्ण कृति 'ज्ञान स्वरोदय' सम्पादित होकर सामने आयी है। दरिया साहब की कृतियों में 'ज्ञानस्वरोदय', 'दरियानामा', 'दरियासागर', 'ज्ञानरत्न', 'विवेकसागर', 'शब्द' 'ज्ञानदीपक', 'सहसरानी' विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। प्रथम दो कृतियों में योग-पद्धति का वैज्ञानिक निरूपण किया गया है। 'दरियासागर' में 'छपलोप' (एक प्रकार की साधना प्रसूत आनन्दमयी मनोभूमि) या 'अमरलोक' का वर्णन है। 'ज्ञानरत्न' में रामायण और 'विवेकसागर' में महाभारत की कथा को सन्तमत के अनुकूल उपस्थित किया गया है। 'शब्द' गेय पदों का बृहत् संग्रह है। 'ज्ञानदीपक' में प्रायः वे सभी विषय आ गये हैं, जिनका वर्णन संतसाहित्य में किया जाता है। 'सहसरानी' में एक सहस्र से अधिक साखियाँ संगृहीत हैं।

दरिया साहब का प्रतिपाद्य विषय है—सत्पुरुष का स्वरूप, नाम महिमा, बाह्याचार खण्डन, सद्गुरु का महत्त्व, मुक्त और बद्ध जीव, ब्रह्माण्डरूप पिण्ड का महत्त्व, पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त, ज्ञान से मुक्ति, छपलोक का वर्णन, पिपीलिका योग (हठयोग) और विहंगम योग का निरुपण, सृष्टि रचना, माया की जटिलता, भक्ति और प्रेम तथा आत्मानुशासन। योग-पद्धति तथा सूफी प्रेमसाधना की ओर झुकाव, कबीर को आदर्श रूप में स्वीकार करना, 'छपलोक' की कल्पना, रामायण-महाभारत और पौराणिक आख्यानों की सन्तमतानुकूल व्याख्या तथा तुलसीदास के अनुकरण पर अवधी-भाषा का अधिक प्रयोग दरियासाहब की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं।

दरिया साहब में सामान्य सन्तकवियों की तुलना में कवित्वशक्ति कहीं अधिक है। उन्होंने स्थल-स्थल पर अलंकारों और प्रतीकों का सफल प्रयोग किया है। कुल मिलाकर आपने ४० प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। यह प्रयोग-वैविध्य आपके पिंगलज्ञान का परिचायक है। आपने फारसी, संस्कृत तथा भोजपुरी और खड़ी बोली मिश्रित अवधी भाषा का प्रयोग किया है। फारसी और संस्कृत में लिखी गयी रचनाएँ व्याकरणसम्मत नहीं हैं। इन भाषाओं का आपका ज्ञान सामान्य स्तर का ही था। शब्द-समूह की दृष्टि से आपकी भाषा के दो रूप हैं। पंजाबीपन लिये हुए फारसी और अरबी शब्द समूह प्रधान-भाषा और संस्कृत शब्दों के तत्सम-तद्भव रूपों से युक्त देशज-शब्द-समूह प्रधान भाषा। आपमें वर्णन की अच्छी क्षमता थी। आपने प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों शैलियों में रचनाएँ की हैं। आपकी कृतियों में शान्तरस का प्राधान्य है। 'ज्ञानरत्न' में अन्य सभी रसों की स्थिति देखी जा सकती है।

दरिया साहब हिन्दी-सन्त-परम्परा के एक प्रमुख विचारक, प्रसिद्ध प्रचारक तथा प्रभावशाली व्यक्ति थे। उत्तर मध्यकाल में सन्तमत की सम्पूर्ण विशेषताओं का सफल प्रतिनिधित्व करने वाले आप अकेले सन्त हैं।

[सहायक ग्रन्थ—सन्तकवि दरिया—एक अनुशीलन: डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी; उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा: परशुराम चतुर्वेदी; हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय: डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ।]

—रा० चं० ति०

दरीमुख—रामसेना के एक सेनापति वीर वानर योद्धा ।

—मो० अ०

दशमस्कंध—दे० 'नन्ददास' ।

दशरथ १—रामकथा के पात्रों में दशरथ सर्वाधिक प्राचीन ठहरते हैं । ऋग्वेद में दानी यजमानों में दशरथ का नाम सबसे पहले मिलता है । कहीं-कहीं उन्हें इक्ष्वाकुवंशीय भी कहा गया है परन्तु ऋग्वेद मे इसका कोई संकेत नहीं उपलब्ध होता कि यही दशरथ राम के पिता थे ।

रामायण और महाभारत में दशरथ एक प्रतापी नरेश के रूप में चित्रित किये गये हैं । स्वयं देवराज इन्द्र उनके पराक्रम से प्रभावित बताये गये हैं । उन्होंने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की और समय-समय पर देवताओं की सहायता की । इसके अतिरिक्त दशरथ के स्त्रैण होने की दुर्बलता का भी उल्लेख यहीं से मिलने लगता है ।

बौद्ध-साहित्य में दशरथ का उल्लेख सर्वप्रथम 'दशरथ जातक' में मिलता है । वे वाराणसी के एक धर्मनिष्ठ सम्राट बताये गये हैं । उनके तीन पुत्र राम, भरत और लक्ष्मण तथा एक पुत्री सीता थीं । 'दशरथ कथानक' मे भी दशरथ का उल्लेख मिलता है किन्तु उसमें उनके स्वरूप की स्पष्टता नही पायी जाती । 'अनामक जातक' तथा 'बुद्ध जातक' में भी दशरथ राम के पिता बताये गये हैं ।

जैन साहित्य में दशरथ सम्बन्धी जो सन्दर्भ मिलते हैं, उनसे केवल इतना सूचित होता है कि वे अपने युग के एक प्रसिद्ध महात्मा और वीर पुरुष थे ।

वाल्मीकि-रामायण के दाक्षिणात्य पाठ में कश्यप और अदिति के तप का प्रसंग प्राप्त होता है । उसी के अनुसार पुराणों में कश्यप के रूप में दशरथ के अवतार लेने की कथाएँ पायी जाती हैं । अध्यात्म-रामायण में दशरथ के ऊपर राम की कृपा का उल्लेख है, जो इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख कहा जा सकता है । 'स्कन्ध पुराण' में दो स्थलों पर पुत्र-प्राप्ति के लिए दशरथ के तप करने का उल्लेख मिलता है ।

संस्कृत काव्यों में दशरथ का चरित्र वाल्मीकि-रामायण के आधार पर चित्रित हुआ है । कालिदास के 'रघुवंश' में दशरथ एक योद्धा, कान्तिमान्, सौन्दर्यपूर्ण और ललित प्रकृति के सम्राट् के रूप में वर्णित हैं । कालिदास ने एक स्वतन्त्र अध्याय में यमक अलंकार का प्रयोग करते हुए दशरथ के विलास और पौरुषपूर्ण व्यक्तित्व का सुन्दर चित्रण किया है । दशरथ की वीरता से प्रभावित इन्द्र उनकी मैत्री की कामना करते हैं और दशरथ उनकी सहायता करके अपने पौरुष को प्रमाणित करते हैं । संस्कृत के अन्य काव्यों में दशरथ सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय उद्भावना नहीं पायी जाती है ।

हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में ही दशरथ का विस्तृत चरिण-चित्रण मिलता है । पौराणिक परम्परा के आधार पर उन्हें कश्यप का अवतार बताया गया है । राम-वन-गमन के प्रसंग में तुलसीदास ने कैकेयी के प्रति दशरथ की दुर्बलता का चित्रण करते हुए उनके स्त्रैण होने का संकेत किया है । परन्तु तुलसीदास के दशरथ के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है राम के प्रति उनका वात्सल्य, जिसमें तुलसीदास अपनी भावना के अनुसार रामभक्ति की व्यंजना करते हैं । तुलसीदास के इस चित्रण के आधार पर वे भक्तो के एक महान् आदर्श के रूप में प्रसिद्ध हो गये । दशरथ के जीवन का अन्त उन्हें एक 'दुःखपर्यवसायी चरित्र' के रूप में प्रस्तुत करता है परन्तु तुलसीदास ने दशरथ के दुःखद अन्त में ही उनके जीवन की पूर्ण सार्थकता प्रमाणित की है ।

रामभक्ति में रसिकता और माधुर्य के प्रभाव के कारण परवर्ती राम-साहित्य में दशरथ एक उपेक्षित-पात्र के रूप में ही देखे जा सकते हैं । आधुनिककाल में निर्मित रामकथा सम्बन्धी काव्यों—'कोशलकिशोर' और 'साकेत' आदि में भी—दशरथ के चरित-चित्रण में कोई विशेष उल्लेखनीय मौलिकता नहीं पायी जाती । 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने यह अवश्य दिखाया है कि वे यह चाहते हैं कि राम उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके वन जाना अस्वीकार कर दें अथवा लक्ष्मण इस सम्बन्ध में अधिकार और औचित्य का ध्यान रखते हुए राम को वन जाने से रोक लें । इस प्रकार वे सुमन्त से भी कहते हैं कि वे राम, सीता और लक्ष्मण को थोड़ी दूर वन में घुमा-फिराकर किसी प्रकार लौटा लाये । दशरथ के चरित्र की इस दुर्बलता का कारण युग के प्रभाव से प्रसूत वह मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता मानी जा सकती है, जिसका आग्रह साकेत के चरित्र-चित्रण में सर्वत्र देखा जाता है । मैथिलीशरण गुप्त दशरथ के चरित्र को ऊँचा नहीं उठा सके, प्रत्युत वे तुलसीदास के दशरथ की अपेक्षा कुछ गिरे हुए ही लगते हैं । अन्य काव्यों में दशरथ का चरित्र बहुत कुछ प्राचीन परम्परा के अनुसार ही चित्रित हुआ है ।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के; तुलसीदास : डा० माता प्रसाद गुप्त; कल्याण का मानस विशेषांक (गीताप्रेस, गोरखपुर); तुलसीदास और उनका युग : राजपति दीक्षित ।]

यो० प्र० सि०

दशरथ २—इस कवि का जीवन-वृत्त अज्ञात है । इनकी 'वृत्तविचार' नामक पिंगल की रचना महत्त्वपूर्ण है, जिसका रचनाकाल १७९९ ई० (१८५६ वि०) है । इसकी एक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में है । यह रचना आकार में छोटी होने पर भी अनेक नवीन छन्दों की विवेचना के कारण महत्त्वपूर्ण है । इसके चार अध्यायों में से प्रथम में मात्रा, गण तथा वर्गीकरण का विवेचन है । दूसरे में वर्णिक छन्दों का, तीसरे में मात्रिक छन्दों का तथा चौथे में केवल दो छन्दों—श्लोक तथा घनाक्षरी का विवेचन है । सामान्यतः 'प्राकृत पैंगलम' का आधार लिया गया है, पर इसमें २२ नये छन्दों का विवेचन है—महीप, विमला, दामिनी, सुगण, नग, लगन (पाँच अक्षर के), गगन, छगन, अगम, मणिहारबन्द, संवत्, कुशल (छः अक्षर के), सुधा, अभिनव, हरिहर (सात अक्षर के), मातंग (बारह अक्षर के); मात्रिक छन्दों में—मद (७), सैनिक (९), मुक्तावली (१०), सुमन (१२) और अह्न (२१) । विवेचन साधारण कोटि का है और काव्य भी साधारण स्तर

का है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भूमिका)।]

—सं०

दशरथ ओझा—जन्म १९०९ ई० मे वाराणसी जिले में हुआ। शिक्षा एम० ए०, पी-एच० डी०। हिन्दू कालेज, दिल्ली में हिन्दी के अध्यापक थे। हिन्दी नाटक के सम्बन्ध मे आपका शोध-कार्य विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। प्रकाशित कृतियाँ —'हिन्दी नाटक-उद्‌भव और विकास' (१९५४) और 'समीक्षा-शास्त्र' (१९५६)।

—सं०

दाऊ—कृष्ण के भाई बलराम के लिए प्रयुक्त (दे० बलराम)।

—सं०

दाऊद—दाऊद, जो मुल्लादाऊद के नामसे प्रसिद्ध रहे हैं, 'चन्दायन' के रचयिता है। इन्होंने अपना नाम रचना के प्राप्त अंशों में दिया है और साथ ही एक मलिक नथन का नाम भी दिया है, जिन्हे इसमें सम्बोधित किया गया है : "दाऊद कबि जो चांदा गाई। जेइंर (रे) सुना सो गा मुरछाई। धनि ते बोल धनि लेखन हारा। धनि ते आखर धनि अरथ बिचारा। हिरदइं जानि सो चांदा रानी। सांप डंसउ हउं सोइ बखानी। लोर कहा मइं हिय खण्ड गाऊं (गावउं)। कथा काब कइ लोग सुनाऊं (सुनावउं)। मलिक नथन सुनु बोल हमारे। सुनह कान दइ यहि गुनयारे। अउर गीत मइं करउं बीनती सीस नाइ कर जोरि। रकइक (एक एक) बोल मोति जस पिरुवा (पिरोवा) कहौं जो हियरा तोरि।। ५६।।"

इन दाऊद के बारे में हमें अधिक ज्ञात नहीं है। अल्बदाऊनी ने 'मुन्तखिब-उल-तवारीख' में इन्हें 'मौलाना दाऊद' कहा है। और अरबी-फारसी में मौलाना का अर्थ असाधारण विद्वान् होता है, इसलिए दाऊद की प्रसिद्धि अल्बदाऊनी के समय में एक बड़े विद्वान् के रूप में थी, यह प्रकट है, यद्यपि यह असम्भव नहीं किं यह प्रसिद्धि उनकी 'चन्दायन' की रचना के बाद हुई हो।

अगरचन्द नाहटा के अनुसार रचना के एक छन्द में दाऊद के स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्ति आती है—"दल्यौ नयरु बसे नवरंगा। ऊपर कोट तले बह गंगा।" किन्तु वास्तव में शब्द 'दल्यौ' या 'दलेऊ' नहीं 'डलमऊ' है, जो फारसी-अरबी लिपियों की त्रुटि के कारण ऐसा विकृत हो गया है। डलमऊ आज भी गंगापार बसा हुआ एक नगर है, जो रायबरेली जिले में उत्तर प्रदेश में है।

मलिक नथन के बारे में हमें और भी कम ज्ञात है। ऊपर 'चन्दायन' से उद्‌धृत पंक्तियों के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वे दाऊद के कोई कृपापात्र थे, जिनको उन्होने कथा सुनायी है।

मौलाना दाऊद के समय के सम्बन्ध में कुछ विवाद रहा है किन्तु अल्बदाऊनी के उल्लेख से उसका समाधान हो जाता है। 'मुन्तखिब-उल-तवारीख' में उसने लिखा है, खानजहाँ, जो फीरोजशाह का प्रधान मन्त्री था, मर गया और उसका लड़का जूनाशाह उसके पद पर नियुक्त हुआ। 'चन्दायन', जो हिन्दी की एक मनसवी है और लोरिक तथा चाँदा के प्रेम का वर्णन करती है, उसके लिए मौलाना दाऊद द्वारा रची गयी थी। यह इन भूभागों में इतनी अधिक प्रख्यात है कि इसकी प्रशंसा करना अनावश्यक होगा। मखदूम शेख तकीउद्दीन वाइज रब्बानी ने एक अवसर पर इससे कुछ अश पढ़कर सुनाये तो उसे सुनकर लोगों को एक अद्‌भुत आनन्द प्राप्त हुआ। जब उस युग के कुछ विद्वानों ने शेख से इस मसनवी को इस प्रकार महत्त्व देने का कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह पूरी रचना ईश्वरीय सत्य तथा संकेतों से भरी हुई थी, रोचक थी, ईश्वर-प्रेमियों तथा उपासकों को आनन्दपूर्ण चिन्तन की सामग्री प्रदान करती थी, कुरान की कुछ आयतो का मर्म स्पष्ट करने मे उपयोगी थी और भारत के मधुर गीतो की परिचायक थी।

कुछ समय हुआ, अगरचन्द नाहटा ने 'मिश्रबन्धु विनोद' की कुछ भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा था कि मौलाना दाऊद की इस रचना की तिथि ७८१ हि० है, जो १४३१ वि० होती है (किन्तु ७८१ हि० १४३६ वि० है) और यह लिखते हुए उन्होंने उसकी एक प्रति से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्‌धृत की थीं—"बरस सात से होइ एक्यासी। तिहि याह कवि सरसे उमासी। साहि पीरोज दिली सुलताना। जोना साहि जीत बखाना। दल्यो नयरु बसे नवरगा। उपरि कोट तले बह गंगा।" अल्बदाऊनी के ऊपर उद्‌धृत विवरण से उस उद्धरण का मेल बैठता है, इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौलाना दाऊद का समय विक्रमीय पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

—मा० प्र० गु०

दादा कामरेड—यशपाल का प्रसिद्ध उपन्यास। मई सन् १९४१ ई० में प्रकाशित। इसमें यशपाल ने राजनीतिक सिद्धान्तों तथा नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में अपने गत्यात्मक विचारों को व्यक्त किया है। मार्क्सवादी होते हुए भी वे बहुत कुछ अपने चिन्तन में स्वतन्त्र हैं।

हरीश इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है। वह जेल से भागकर अपनी क्रान्तिकारी पार्टी के प्रतिकूल अनुभव करता है—"गुप्त पार्टी बना दस-पाँच आदमियों में अपनी शक्ति को संकुचित कर देने से कोई लाभ नहीं है हमें अपनी टेकनीक बदलना चाहिए। बजाय शहादत के परिणाम की ओर ध्यान देना चाहिए। रूस ने क्या किया ?हम अपने आदमियों के जरिये कांग्रेस में घुसें और दूसरे जन-आन्दोलन में हाथ बटावें।" इसके कारण पार्टी और हरीश में मतभेद उत्पन्न हो जाता है और पार्टी उसे गोली मार देने का निश्चय करती है। पर शैला द्वारा इस निश्चय की सूचना प्राप्त होने पर वह अपने को बचा लेता है। अपनी धारणा के अनुसार वह मजदूर आन्दोलन के संघटन में सक्रिय हो उठता है। पर डकैती के झूठे अपराध में पकड़े जाने पर उसे फाँसी हो जाती है। हरीश के विचारों द्वारा यशपाल ने तत्कालीन गुप्त क्रान्तिकारियों की टेकनीक व्यर्थ बताकर नये टेकनीक में विश्वास प्रकट किया है, जो उनके गत्यात्मक दृष्टिकोण का द्योतक है।

'शैली' की कथा में सेक्स और रोमांस की प्रधानता देखने वाले उसके मूल में निहित वास्तविकता को नहीं देख पाते। वास्तव में उसके द्वारा एक नये मूल्य की स्थापना की गयी है। उससे लोगों का मतभेद हो सकता है पर वह प्रेम तथा भारतीय समाज और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का जीवन्त प्रतीक है। यह उनका पहला उपन्यास है किन्तु उसमें लेखक के भावी

प्राप्त सामग्री के आधार पर दादू की चिन्ताधारा, साधना और व्यक्तित्व का अध्ययन भलीभाँति हो सकता है। दादू की 'वाणी' कबीर की टक्कर की मानी जाती है। उन्होंने भी कबीर की भाँति अपने उपास्य परमतत्त्व को अलख, अनादि, गुणातीत, अप्रमेय, पूर्ण, निश्चल, एकरस, निरंजन और निराकार माना है। उनकी साधना मे भी वैष्णवो की अहिंसा, योगियों का चित्तवृत्ति-निरोध, सूफियों की प्रेमसाधना और पूर्ववर्ती सन्तों के शब्द-योग का समन्वित उत्कर्ष देखा जा सकता है। गुरु-गोविन्द की एकता, नाम-माहात्म्य, आत्म-समर्पण की भावना, संसार का मिथ्यात्व, सामान्य ससारी जीवों की माया-बद्धता, अव्यक्त के प्रति उत्कट राग और उसके विरह की तीव्र अनुभूति, पिण्ड-ब्रह्माण्डकी एकता, अन्तसमें सत्य का सन्निवेश और उच्च नैतिक जीवन की सार्थकता आदि अनेक आध्यात्मिक सत्य उनकी वाणियों में भी व्यक्त हुए हैं, जिन्हें कबीर की साखियों मे भी देखा जा सकता है। फिर भी कबीर और दादू एक नहीं हैं। दोनों के व्यक्तित्वों का अन्तर समझने के लिए दोनों के युग-जीवन के अन्तर को देखना और समझना होगा। कबीर का युग राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संघर्ष का युग है; मानव मूल्यों के संक्रमण का युग है। दादू का युग दो महान् संस्कृतियों के क्रमशः संघर्ष और सम्पर्क की स्थितियों को लाँघकर समन्वयोन्मुख होने का युग है। इसीलिये कबीर उग्र, प्रचण्ड, उद्धत, तीखे, निर्मम, और बेलौस हैं; दादू सहज, सरल, विनम्र, निर्वैर, दयालु और सर्वभूत-हित-रत हैं। दादू वह नवनीत हैं, जो इस्लामी संस्कृति के कठोर मंदराचल द्वारा मथित होकर भारतीय संस्कृति के महान् सागर की अतल गहराई से सहज ही ऊपर उठ आया है। दादू के विचारों का मूल उत्स मानव का सहज जीवन है। उनकी वाणी का एक-एक शब्द पाठक के हृदय पर सीधे चोट करता है। निश्चय ही हिन्दी साहित्य के निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय में कबीर के बाद दादू का स्थान सभी दृष्टियों से अन्यतम है।

[सहायक ग्रन्थ–(१) दादूदयालजी की वाणी, लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर संस्करण, (२) उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; (३) हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, (४) सन्तबानी संग्रह (भाग पहिला), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, (५) दादू जन्मलीला परची, लक्ष्मीराम ट्रस्ट जयपुर से प्रकाशित, (६) इन्फ्लूयेन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर : ताराचन्द।]

–रा० चं० ति०

दमघोषि–दमघोष के पुत्र शिशुपाल का नाम।

–मो० अ०

दामोदर शास्त्री–जन्म सन् १८५२ के लगभग माना जाता है। इनकी रची हुई कृतियों में 'रामलीला', 'मृच्छकटिक', 'बाल खेल', 'राधा माधव', 'मै वही हूँ', 'विमुग्ध शिक्षा', 'पूर्व दिग्यात्रा', 'दक्षिण दिग्यात्रा', 'चित्तौर गढ़', 'लखनऊ का इतिहास', तथा संक्षिप्त रामायण' आदि हैं। इनमें से अधिकांश नाटक हैं और एक नाटककार के रूप में इनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में मान्य है। इन्होंने कुछ अनुवाद कार्य भी किया था।

–प्र० ना० टं०

दारुक–१. कृष्ण के सारथी का नाम।

२. एक शिवावतार।

३. एक राक्षस।

–मो० अ०

दावानल–कृष्ण की अलौकिक लीलाओं के क्रम में दावानल का मूल रूप भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराणों मे प्राप्त है। दोनों मे तात्त्विक अन्तर यह है कि भागवत के कृष्ण दावानल पान कर जाते हैं और ब्रह्मवैवर्त के कृष्ण उसका शमन करते है। पौराणिक साहित्य में दावानल के उद्भव का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं है परन्तु कृष्ण-भक्त कवियों ने दावानल को कंस के राक्षस के रूप में चित्रित किया है। उसने अग्नि का रूप धारणकर ब्रज की प्रकृति को प्रज्वलित कर दिया। कृष्ण ने सब ब्रजवासियों के अग्निग्रस्त अवस्था में नेत्र बन्द करके अपनी अतिप्रकृति शक्ति से उसका पान कर लिया (सू० सा० प० १२०८-१२११)। सूर के समसामयिक नन्ददास ने दावानल को अविचारजन्य चित्रित किया है लेकिन पान करने के कारण का कोई निर्देश नहीं दिया है। उन्होंने दावानल के पान की दो स्थितियों को वर्णित किया है। प्रथम स्तर पर तो कृष्ण की शक्ति उसका पान करती है और द्वितीय स्तर पर स्वयं कृष्ण ('नन्ददास' २८०-२८५)। भागवत के भाषानुवादों और कृष्णचरित के पूर्व रूप का चित्रण करने वाले काव्य-ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। कृष्ण की दावानल-पानलीला का प्रयोजन कृष्ण के बाल-व्यक्तित्व में विरुद्ध धर्माश्रयत्व की प्रतिष्ठा करके उनके अतिप्राकृत रूप की व्यंजना है।

–रा० कु०

दास–दास, जिनका पूरा नाम भिखारीदास है, हिन्दी के अग्रगण्य आचार्यों और कवियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कुछ अंशों में तो ये केशवदास से भी बढ़कर हैं। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, उसका आधार 'काव्य-निर्णय' नामक इनका ग्रन्थ ही है। हिन्दी के अधिकांश कवियों के समान इनके बारे में भी निश्चय के साथ अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। सर्वसम्मत वृत्त यह है कि वे प्रतापगढ़ नरेश राजा पृथ्वीपति सिंह के अनुज हिन्दूपति सिंह के आश्रय में रहे। जन्म-स्थान प्रतापगढ़ से तनिक दूर टोंग्या (टेंउगा) नामक स्थान था। इनके पिता कृपालदास, प्रपितामह रामदास, भाई चैनलाल थे, अवधेश लाल पुत्र तथा पौत्र गौरीशंकर लाल थे, जिनके पुत्रहीन होकर मर जाने के कारण इनका वंश आगे न चल सका। ये जाति के कायस्थ थे। जन्मकाल का ठीक निश्चय नहीं। इनकी रचनाओं के आधारपर इनका काव्यकाल सन् १७२१ से सन् १७५१ तक कहा जा सकता है। इनकी मृत्यु का भी कोई निश्चित समय अथवा स्थान निर्धारित नहीं किया गया है। कुछ लोगों का मत है कि इनकी मृत्यु 'भभुआ', जिला आरा (बिहार) में हुई थी। आरा में इनके नाम का एक मन्दिर अब भी है, जहाँ प्रति वर्ष बैशाख शुक्ला त्रयोदशी को एक मेला लगता है और वहाँ इनकी कविताओं का पाठ किया जाता है, किन्तु मृत्युकाल क्या था, इसके विषय में केवल अनुमान ही किया जा सकता है। जवाहरलाल चतुर्वेदी इनके ग्रन्थ-निर्माण-सवतों को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनकी मृत्यु 'श्रृंगार निर्णय' की रचना (सन् १७५१) के कुछ वर्ष बाद हुई होगी, क्योंकि इसके बाद दासजी द्वारा रचित उनकी कोई अन्य

कृति प्राप्त नहीं हुई है।

दास द्वारा रचित ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कुछ विवाद है। 'रस सारांश' (सन् १७३५), 'नाम प्रकाश' (सन् १७३९), 'छन्दोर्णव पिंगल' (सन् १७४३), 'काव्य निर्णय' (सन् १७४७) तथा 'श्रृंगार निर्णय' (सन् १७५१) के अतिरिक्त 'विष्णुपुराण भाषा', 'शतरजशतिका' तथा किन्हीं-किन्हीं हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में दासकृत (१) 'छन्दप्रकाश', (२) 'बाग बहार', (३) 'रागनिर्णय', (४) 'ब्रज माहात्म्यचन्द्रिका', (५) 'पन्थ पारख्या', (६) 'वर्ण निर्णय' तथा (७) 'रघुनाथ नाटक' इत्यादि ग्रन्थों के नाम भी गिनाये गये हैं। किन्तु 'छन्दप्रकाश' ग्रन्थ इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, अपितु भिखारीदासकृत 'छन्दोर्णव पिंगल' पर किसी अन्य कवि द्वारा की हुई टीका है, जो इनकी मृत्यु के बाद लिखी गयी थी। इसी प्रकार 'बाग बहार' तथा 'राग निर्णय' भी सन्दिग्ध रचनाएँ हैं। 'ब्रज माहात्म्य चन्द्रिका' को लेकर भी उसकी प्रामाणिकता के विषय में विवाद हो चुका है। साधारणतः यह रचना अच्छी होते हुए भी उनके अन्य ग्रन्थों के समान नहीं है। दूसरे दास की कृतियों में उद्धृत छन्दों का बहुत कुछ आपस में विनिमय हुआ है। 'पन्थ पारख्या' भी दादूपन्थियों के सिद्धान्त और नियमों का वर्णन-समूह है तथा इसकी भाषा में राजस्थानी का प्रभाव होना यह निश्चित करता है कि यह दास द्वारा रचित पुस्तक नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'वर्णन निर्णय' के दासकृत होने का उल्लेख केवल माताप्रसाद गुप्त की पुस्तक 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' के पृष्ठ ५३६ पर मिलता है। इसलिए दासकृत अनेक ग्रन्थ विवादास्पद हैं। 'प्रताप सोमवंशावली' के रचयिता कवि द्विजदेव ने भिखारीदास के सात ग्रन्थों का उल्लेख एक स्थल पर किया है। इसके आधार पर इन सात ग्रन्थों, यथा—१. 'काव्य निर्णय', २. 'श्रृंगार निर्णय', ३. 'छन्दोर्णव पिंगल', ४. 'विष्णु पुराण', ५. 'रस सारांश', ६. 'अमर कोश', (शब्द-नाम-प्रकाश) तथा ७. 'शतरंजशतिका' के प्रामाणिक होने में कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचित ग्रन्थों में 'रस सारांश' में रस का प्रसंग है, जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का पर्याप्त विस्तार है। इसके अतिरिक्त नायिकाओं के हावभावादि, सात्त्विक अलंकारों, सात्त्विक भावों, अन्य रसों, भाव तथा भावाभास आदि का निरूपण है। 'श्रृंगार निर्णय' में मुख्यतः श्रृंगार रस विषयक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। 'काव्य निर्णय' इनका प्रमुख ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र की सर्वांगीण दृष्टि को प्रस्तुत करता है, क्योंकि इसमें ध्वनि, रस, अलंकार, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष तथा तुक आदि सभी का विवेचन किया गया है। 'छन्दोर्णव पिंगल' छन्द-शास्त्र का ग्रन्थ है और हिन्दी छन्दशास्त्रीय ग्रन्थों में महत्त्व का है। इन शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में एक शब्दकोश है, दूसरा अनुवाद तथा तीसरा शतरंज पर लिखा गया ग्रन्थ है।

दास में आचार्यत्व और कवित्व दोनों ही प्रकार की प्रतिभा थी। एक ओर जहाँ वे जटिल विषय को भी सरल तथा सुगम रीति से हृदयंगम कराने में केशव से अधिक समर्थ प्रतीत होते हैं, वहीं दूसरी ओर इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी होकर इन्हें श्रेष्ठ कवि बनाती है। शुक्ल जी ने इन्हें आचार्य से अधिक कवि माना है क्योंकि बिना व्याख्या के इनके लक्षण कहीं-कहीं अपर्याप्त और भ्रामक हो जाते है। उपादान लक्षण का लक्षण और उदाहरण दोनों ही अशुद्ध रूप में इन्होंने दिये हैं। ऐसे स्थल यद्यपि अधिक नहीं हैं फिर भी आचार्यत्व की दृष्टि से यह दोष कुछ कम महत्त्व का नहीं है। कवि कर्म में ये अवश्य अधिक सफल रहे हैं। इन्होंने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार सर्वत्र किया है। उस काल के अनुरूप श्रृंगार ही इनका भी मुख्य वर्ण्य विषय रहा, पर इन्होंने सदैव मर्यादा का ध्यान रखा। देवकी तरह निम्नवर्गीय स्त्रियों का नायिका रूप में वर्णन न करके दूती रूप में किया है। शब्दों की कलाबाजी और दूर की कौड़ी लाने का प्रयास इनके काव्य में नहीं मिलता। जिस बात को ये जिस ढंग से कहना चाहते थे, उस बात को उस ढंग से कहने की इनमें पूरी शक्ति थी और कलाकार के अन्दर जो अनासक्ति की भावना उसे श्रेष्ठ बनाती है, वह इनमें पूरी तरह से थी—"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, नत राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो हैं" से यह प्रकट होता है। इसमें सन्देह नहीं कि दास रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों में हैं और प्रमुख आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ०; (भा० ६), हि० का० इ०; हि० अ० सा०।]

—ह० मो० श्री०

दिग्विजय भूषण—गोकुल कवि की काव्य-शास्त्र पर लिखी हुई महत्त्वपूर्ण रचना। इसकी रचना बलरामपुर के महाराज दिग्विजय सिंह के नाम पर सन् १८६२ में प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में कवि का उद्देश्य केवल अलंकार-ग्रन्थ लिखने का था। बाद में रामस्वरूप द्वारा इसकी टीका की जाने के समय कवि ने रीतिकालीन परिपाटी के अनुसरण पर रचना को सर्वांगपूर्ण बनाने की दृष्टि से इसमें पहले चौदह प्रकाशों के साथ क्रमशः नखशिख, षट्ऋतु, नायिका-भेद और कवि प्रौढ़ोक्ति सम्बन्धी प्रकाश जोड़ दिये। प्रस्तुत रूप में टीका सहित इसका पहला संस्करण जंगबहादुर यन्त्रालय, बलरामपुर से १८६८ ई० में प्रकाशित हुआ। इधर इसका भगवतीप्रसाद सिंह द्वारा सुसम्पादित संस्करण अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर से १९५९ ई० (सं० २०१६ वि०) में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में १८६७ ई० (सं० १९२४) की एक घटना का वर्णन (बघेलखण्ड में जंगली हाथी का शिकार) है, जिससे ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिया गया संवत् १९१९ (१८६२ ई०) केवल रचना को प्रारम्भ करने का काल माना जा सकता है। इसके टीकाकार रामस्वरूप कवि के काव्य-गुरु गदाधर के भतीजे हैं।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक चौदह प्रकाशों में विषय का विभाजन इस प्रकार है—१. मंगलाचरण, देश, नगर, २. सृष्टि विधान, ३. सूर्यवंश, ४. चन्द्रवंश, ५. नृपवंश, ग्रन्थरचना-काल, बारह प्रकाश वर्णन, ६. एक छन्द में एक अलंकार, ७. चारों चरणों में एक अलंकार, ८. संकर अलंकार—एक छन्द में दो अलंकार, ९. अक्रम संसृष्टि—एक छन्द में कई अलंकार, १०. संक्रम संसृष्टि—एक छन्द में कई अलंकार वर्णन, ११. दोहों में परिभाषा सहित एक अलंकार वर्णन, १२. चित्रालंकार, १३. अनुप्रास और यमक, १४. वीप्सा, श्लेष और वक्रोक्ति। इस ग्रन्थ के १२ प्रकाशों में (६ से ९, ११ से १८) में कवि ने प्राचीन कवियों की रचनाएँ उदाहरण

के रूप में प्रस्तुत की है। गोकुल कवि ने इन कवियों की संख्या १९२ मानी है, जबकि भगवती प्रसाद सिंह के अनुसार यह संख्या १८९ ठहरती है। गोकुल कवि ने इस ग्रन्थ में संस्कृत अलंकार-शास्त्री की प्राचीन तथा नवीन दोनों पद्धतियों का अनुसरण किया है। इसके दशम प्रकाश में गोकुल कवि ने अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं एक छन्द में कई अलंकारों का बिना संकर के प्रयोग किया गया है। विभाजन मे प्राचीन परम्परा की अपेक्षा लक्षणसाम्य पर बल दिया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका)।]

—भ० प्र० सिं०

दिनकर—दे० रामधारीसिंह 'दिनकर'।

दिनेश—ये टिकारी राज्य (बिहार) के निवासी कवि थे। इनके दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—'रस-रहस्य' (१८२६ ई०) और 'काव्य कदम्ब'। 'रस-रहस्य' को शिवसिंह तथा ग्रियर्सन ने नख-शिख सम्बन्धी ग्रन्थ माना है, जो उसके नाम से स्पष्ट नहीं है। 'दिग्विजयभूषण' में उद्धृत इनके छन्द भी नख-शिख सम्बन्धी हैं। इससे या तो यह माना जा सकता है कि इनका कोई ग्रन्थ नख-शिख पर भी था या 'रस-रहस्य' का विषय नख-शिख है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

दिलीप—१.अंशुमान् और यशोदा के पुत्र तथा भगीरथ के पिता। इन्होंने गंगा को पृथ्वी पर लाने का असफल प्रयास किया तथा दीर्घकाल तक राज्य भोगकर अन्त में वनवास ले लिया।

२.इक्ष्वाकुवंशीय एक प्रसिद्ध राजा, जिन्होंने स्वर्ग से आते समय एक बार कामधेनु को प्रणाम नहीं किया, इसलिए कामधेनु ने शाप दिया कि तुम्हें मेरी पुत्री नन्दिनी की सेवा किये बिना सन्तान न होगी। सन्तानाभाव में वशिष्ठ के आदेश से उन्होंने नन्दिनी की सेवा की तब उनकी रानी सुदक्षिणा के गर्भ से रघु का जन्म हुआ।

—मो० अ०

दिल्ली प्रान्तीय हिंदी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली—स्थापना—मार्च १९४५। कार्य और विभाग—रेडियों की हिन्दी उपेक्षा-नीति का विरोध किया। सम्मेलन की विशेष समिति का आयोजन किया। दिल्ली कारपोरेशन के चुनाव में भाग लेकर कई प्रतिनिधि निर्वाचित कराये। १९६० ई० में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का अभिनन्दन समारोह करके अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त की।

—प्रे० ना० टं०

दिव्या—(प्र० १९४५ ई०) यशपाल का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास। इसमें बौद्धकालीन ऐतिहासिक फलक पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति एवं गति का चित्र अंकित किया गया है। बौद्धकालीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक वातावरण के वर्गगत स्वार्थों और संघर्षों के बीच अनेक परिस्थितियों से होकर गुजरती हुई नारी की जाग्रत् चेतना को इस उपन्यास में अतिशय कलापूर्ण ढंग से अंकित किया गया है। हिन्दी के उपन्यासों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कई भाषाओं में इसका अनुवाद भी हो चुका है।

दिव्या सागल के धर्मस्थ महापण्डित की प्रपौत्री तथा जनपद कल्याणी मल्लिका की शिष्या है। मधुपर्व के अवसर पर 'मराली नृत्य' के कारण उसे 'सरस्वती पुत्री' की सर्वश्रेष्ठ उपाधि मिली। उसी दिन दासपुत्र पृथुसेन को 'सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी' की उपाधि मिली। पृथुसेन से आकृष्ट होकर दिव्या ने उसे आत्मसमर्पण कर दिया। इसी दिन पृथुसेन युद्ध में चला गया। विजय होकर लौटने पर उसने गणपति से विवाह कर लिया। गर्भवती दिव्या को मार्मिक क्लेश हुआ। अब अपने समाज में उसे कोई स्थान नहीं था। वह बाहर निकल पड़ी पर दास-विक्रेताओं के हाथ पड़कर उसे कठोर यन्त्रणाओं का सामना करना पड़ा। इस जीवन से निष्कृति पाने के लिए वह यमुना मे कूद गयी किन्तु मथुरा की प्रसिद्ध नर्तकी ने उसे बचा लिया तथा अपने संरक्षण में नृत्य-संगीत की शिक्षा दी। बाद में मल्लिका उसे फिर सागल ले गयी पर उसी अभिजात वर्ग ने उसे फिर वहाँ से निष्कासित कर दिया। बाहर एक पान्थशाला में उसे उसके पुराने तीनो प्रणयी पृथुसेन, आचार्य रुद्रधीर तथा चार्वाक मारिश मिले। मारिश का व्यावहारिक जीवन दर्शन देखकर दिव्या ने उसे आत्मसमर्पण कर दिया।

दिव्या युग-युग से शोषित नारी के विद्रोह की वाणी है। वर्णाश्रम धर्म, बौद्धसंघ सभी एक सुनिश्चित घेरे में अभिजातीय आकांक्षाओं के पोषक हैं। अभिजातीय गौरव प्राप्त होने पर पृथुसेन भी बदल जाता है। सबके सब नारी को सम्पत्ति से अधिक कुछ नहीं समझते, उसका अपना कोई स्वत्व नहीं है, कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह पशुओं की तरह जगह-जगह बेची जाती है पर उसके रूप के सभी ग्राहक हैं, सभी उसे तथाकथित सम्मान का प्रलोभन देते हैं पर वह उस व्यक्ति को समर्पण करती है, जो नारीत्व की कामना को पहचानता है, जो आश्रय के आदान-प्रदान का विश्वासी है। इस प्रतिपाद्य को जीवन्त बनाने के लिए उस युग के वातावरण—शस्त्र प्रतियोगिता के महोल्लास, रजतपिंजरों में आबद्ध शुक-सारिकाओं के सूत्रोच्चार, मधुशालाओं और पानगोष्ठियों के रंगीन चित्रणों—को बहुत ही संयमपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित किया गया है।

—ब० सिं०

दीनदयाल गिरि—दीनदयाल हिन्दी नीति-काव्य के प्रमुख स्तम्भों में हैं। इनका जन्म सन् १८०२ ई० में बनारस के गायघाट मुहल्ले में हुआ था। ये दशनामी संन्यासी और कृष्णभक्त थे। अन्तःसाक्ष्य से ("सुखद देहली पे जहाँ बसत विनायक देव। पश्चिम द्वार उदार है, कासी को सुर सेव"—'अनुराग बाग') पता चलता है कि ये काशी के पश्चिमी द्वार पर देहली-विनायक पर रहते थे। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये संस्कृत और हिन्दी के महान् पण्डित थे। इनके गुरु का नाम कुशागिरि था। श्यामसुन्दर दास के अनुसार अपने गुरु भाइयों (जो दो थे—स्वयंवर गिरि, रामदयाल गिरि) से पटती नहीं थी, जिसका इन्हें बड़ा दुःख रहता था। इनकी मृत्यु सन् १८६५ में हुई। इनके 'अनुराग बाग', 'दृष्टान्त-तरंगिणी', 'अन्योक्ति माला', 'वैराग्य दिनेश' और 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' ये पाँच ग्रन्थ मिलते हैं, जो श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित होकर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से १९१९ ई० में 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। शिवसिंह सरोज में इनके एक अन्य ग्रन्थ 'बाग

बहार' का उल्लेख मिलता है, किन्तु अभी तक उक्त ग्रन्थ नहीं मिल सका है। श्यामसुन्दर दास का अनुमान है कि यह कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है, अपितु 'अनुराग बाग' का ही दूसरा नाम है। 'अनुराग बाग' कृष्ण लीला विषयक ग्रन्थ है। आलोचकों का ध्यान प्रायः इस ग्रन्थ की ओर नहीं गया है। काव्यत्व की दृष्टि से यह एक उच्चकोटि की रचना है। 'वैराग्य दिनेश' का विषय वैराग्य है। इस पर रीतिकाल का पर्याप्त प्रभाव है। शेष तीन ग्रन्थ नीति विषयक हैं। इनका नीति-काव्य संस्कृत से प्रभावित है किन्तु साथ ही मौलिक अंश भी पर्याप्त है। इनके प्रमुख नीतिविषय राजा, भले-बुरे, सम, मित्र, समय, नारी, सन्तोष, भाग्य, विद्या, गर्व आदि हैं। नीति के कवियों में अधिकांशतः पद्यकार हैं। दीनदयाल उन थोड़े से नीतिकारों में हैं, जिन्हें पद्यकार न कहकर कवि कहना चाहिए। इनकी भाषा संस्कृतमिश्रित और बहुत प्रौढ़ है। व्याकरणिक दृष्टि से वह मूलतः ब्रज है किन्तु अवधी-भोजपुरी का भी कहीं-कहीं प्रभाव है। हिन्दी के अन्योक्तिकारों में दीनदयाल का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके प्रिय छन्द कुण्डलिया और दोहे हैं, यों कवित्त, सवैया आदि का भी इन्होंने प्रयोग किया है। इनकी शैली का विशिष्ट सौन्दर्य इनकी अन्योक्तियों में परिलक्षित होता है। कवि की कल्पनाशक्ति बड़ी उर्वरा है, जिसका पता उसके अप्रस्तुत चयन से लगता है।

[सहायक ग्रन्थ—दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली : सं० श्यामसुन्दर दास।]

—भो० ना० ति०

दीनदयाल गुप्त—जन्म १९०५ ई० में सिंगनपुर (जिला-अलीगढ़) में हुआ। शिक्षा (एम० ए०, डी० लिट्०) प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। आपका शोध-प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' विद्वानों के बीच पर्याप्त रूप से आदृत है। आप लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। हिन्दी के आरम्भकालीन अध्यापन और शोध में आपका योगदान ऐतिहासिक महत्त्व का है। आपकी मृत्यु सन् १९६९ ई० में हुई।

—सं०

दीपशिखा—'दीपशिखा' महादेवी वर्मा का पाँचवाँ काव्य-संग्रह है, जिसका प्रथम संस्करण सन् १९४२ में किताबिसतान, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में कुल ५१ गीत संकलित हैं। प्रत्येक गीत कवयित्री द्वारा बनाये गये एक भावात्मक चित्र के साथ उसी की हस्तलिपि के ब्लाक में छपा है। इस तरह इस संग्रह में महादेवी के काव्य-सौन्दर्य के साथ उनकी सुसंस्कृत सुरुचि और चित्रात्मक सर्जन शक्ति का भी पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। प्रारम्भ में 'चिन्तन के कुछ क्षण' शीर्षक से २३ पृष्ठों की लम्बी भूमिका है, जिसमें काव्य और कला के उद्देश्य, छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, आधुनिकता, वर्तमान सामाजिक स्थिति आदि के सम्बन्ध में विवेचना की गयी है। पूर्ववर्ती काव्य-संग्रह में यदि महादेवी साधनावस्था में थीं तो 'दीपशिखा' में वे सिद्धावस्था में पहुँच गयी हैं, जिसमें साधिका की आत्मा की दीपशिखा अकम्पित और चंचल होकर आराध्य की ज्योति में विलीन हो गयी है। इसी कारण इस संग्रह में १४ गीत तो पूर्णतः दीपक के रूपक पर आधारित हैं और अन्य गीतों में बीच-बीच में दीपक का प्रसंग बार-बार आया है। पूर्ववर्ती संग्रहों में भी दीपक का प्रतीक उन्होंने ग्रहण किया है, किन्तु इस संग्रह में उनका पूरा काव्य दीपक-भावनामय है। तुलसी की चातक भाव की उपासना की तरह महादेवी की दीपक-भाव से आराध्य की उपासना भी हिन्दी साहित्य के लिए एक नयी वस्तु है।

इस दीपक-भावना के मूल में महादेवी का वह जीवन-दर्शन है, जिसने उनकी उपासना पद्धति का रूप स्थिर किया है। उनकी उपासना केवल अपने लिए नहीं, विश्व के हित के लिए है। वे अपने त्याग, दुःख और करुणा से विश्व का मार्ग प्रशस्त करना चाहती हैं, पर उनका अभिनव दुःखवाद गौतम बुद्ध के दुःखवाद से भिन्न है क्योंकि गौतम बुद्ध ने अनन्त करुणा द्वारा निर्वाण का मार्ग प्रशस्त किया पर महादेवी निर्वाण चाहती ही नहीं। दुःख का पथ ही उनका निर्वाण है। "पथ मेरा निर्वाण बन गया" (सं० ३९) त्यागमय दुःख ने स्वयं आराधिका को आराध्य बना दिया, वह "ज्वाला से धुली मोम का देवता" बन गयी है, परिधिहीन व्योम ही उसका मन्दिर है, पृथ्वी चरण पीठ है, सिन्धु गर्जन ही शंखध्वनि और उसकी सांस-सांस आरती है (सं० ६)। इस तरह आँसुओं के देश में प्रिय की अनन्त खोज ही उसे वरदान बन गयी है (सं० १७)। इस अद्वैत स्थिति में आराध्य के पास सन्देश भेजने की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि वह आराधिका के स्वप्न और प्यास में घुल-मिलकर उसी में समा गया है (सं० २२)। यह अद्वैत स्थिति ऐसी विचित्र है कि मिलन हो जाने पर भी विरह बना हुआ है क्योंकि यह एकाकी मिलन है, जो विरह में ही संभव है। अतः कवयित्री को विरहावस्था ही काम्य है (सं० २)। इस तरह विरह-वेदना की चरमावस्था ही महादेवी की मिलन-सिद्धि है। इस अवस्था में पहुँच जाने पर मृत्यु का भय नहीं रह जाता, इसके विपरीत वह ममतामयी माँ जैसी लगती हैं क्योंकि लेखिका पुर्नजन्म में विश्वास करती है, जिसके अनुसार मृत्यु ही नये जन्म का कारण बनती है। महादेवीजी सगुण भक्तों की भाँति बार-बार जन्म लेकर विरह-साधना करना चाहती हैं (सं० १५)।

उपर्युक्त जीवन-दर्शन के अनुरूप ही कवयित्री की उपासना दीपक-भावना से अनुप्रेरित है। दीपक उसके उपासनारत जीवन का प्रतीक और आदर्श है। इसीलिए कभी वह विश्व का तम दूर करने के लिए दीपक राग गाकर बुझे हुए प्राणों के दीपक जलाती है (सं० ५), कभी विराट पुरुष के विश्व मन्दिर के प्रांगण की शून्यता दूर करने और भौतिकता के जड़ अन्धकार में आध्यात्मिक चेतना का प्रतिनिधित्व करने के लिए अपने को ही दीपक रूप में देखती हैं (सं० १३) और कभी उसे विश्व ही दीपक और काल उसकी शिखा प्रतीत होता है (सं०१८)। कभी उसे अपना जीवन काल-प्रवाह में बहता एक ऐसा दीपक प्रतीत होता है जिसकी छाया में काल की लहरें रंगीन हो जाती हैं और जो अपनी ज्वाला से अमर गीतों की सर्जना करता है (सं० ३७) और कभी लौकिक कामनारूपी शलभों को अपने आध्यात्मिक जीवन दीपक के पास आने से मना करती है क्योंकि दीपक का जड़ शरीर तो नाशवान है, जिसके लिए शलभ पागल होते हैं (सं० ३६)। उसका जीवन-दीपक कभी तन्द्रिल होकर सोता नहीं, बाधाओं के

झकोरों के बीच भी अनवरत जलता रहता है (सं० ४५)। इसी कारण उसे यह जानने की आवश्यकता ही नहीं है कि कितनी रात बाकी है? झंझा-झकोरे उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते क्योंकि जलानेवाले आराध्य की अलक्षित हथेलियों का सम्पुट उसे घेरे हुए हैं (सं० ४२)।

इस संग्रह में भी पूर्ववर्ती संग्रहों की भाँति प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप में बहुत कम हुआ है। वैसे तो सभी कविताओं में अप्रस्तुत प्रकृति से ही लिये गये हैं, पर कुछ गीतों मे बादल (स० ८), पक्षी (सं० ११), वर्षान्त के मेघ (सं० २१) रात्रि (स० ३२), प्रातःकाल (सं० ५०), आदि का वर्णन सम्यक् रूप में हुआ है। एक गीत (सं० ४४) में हिमालय के हिमाच्छादित श्रृंगों का पृथ्वी के शतदल के रूप में चित्रात्मक वर्णन हुआ है। पर इन गीतों में भी कवयित्री ने अपने आदर्शों और भावनाओं का आरोप प्रकृति की वस्तुओं पर बहुत अधिक किया है। इस संग्रह में विषय-वैविध्य बिलकुल नहीं है। प्रणय-निवेदन और प्रकृति के अतिरिक्त और किसी विषय पर कविता नहीं है।

'दीपशिखा' में गीतों का रूप-शिल्प बहुत ही परिमार्जित और कलात्मक है। संक्षिप्तता और भावान्विति के साथ विविध गेय छन्दों के प्रयोग के कारण ये गीत आधुनिक हिन्दी काव्य की अमूल्य निधि हैं, किन्तु शिल्पगत उत्कृष्टता के साथ इस संग्रह में एक खटकने वाली बात कुछ विशेष शब्दों की अत्यधिक आवृत्ति भी है।

—श० ना० सिं०

दीर्घजिह्वा—एक राक्षसी, जो अशोक वाटिका में सीताजी की रखवाली करती थी।

—मो० अ०

दीर्घतम—१. धन्वन्तरि के पिता तथा राष्ट्र के पुत्रों में से एक।

२. उशिज के एक पुत्र, जिन्हें गर्भ में ही बृहस्पति ने संज्ञाशून्यता का अभिशाप दे दिया था। एक बार कामवश उन्होंने अपने भाई की स्त्री का आलिंगन कर लिया, जिससे क्रुद्ध भाइयों ने इन्हें गंगा में बहा दिया। विरोचन बलि से भेंट होने पर बलि ने उन्हें क्षेत्रज सन्तानोत्पादनार्थ रख लिया। बलि की रानी से पाँच तथा रानी की दासी से एक पुत्र हुआ। इस पुत्र का नाम कक्षिवत् था, जो गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

३. गर्भ से ही एक साधु।

४. उतथ्य तथा ममता के एक पुत्र; अंग, बंग, कलिंग आदि पुत्रों के पिता। भारद्वाज के सौतेले भाई।

—मो० अ०

दीर्घबाहु—१. खट्वांग के पुत्र दिलीप का नाम दीर्घबाहु भी है। ये रघु के पिता थे।

२. अज के पुत्र के रूप में भी दीर्घबाहु प्रसिद्ध हैं।

—मो० अ०

दीर्घिका—अत्यन्त लम्बी, वीरशर्मा की कन्या। इसे शांडिली भी कहते हैं। अमंगल रूप समझकर कोई इससे विवाह नहीं करता था। अतः दीर्घिका ने वृद्धावस्था तक खूब तपस्या की। एक कोढ़ी की प्रार्थना पर इसने विवाह कर लिया। वह कोढ़ी वेश्यागामी था। दीर्घिका रात में उसे कन्धे पर बिठाकर वेश्या के यहाँ ले जाती थी। एक बार अन्धेरे में पैर छू जाने से माण्डव्य ऋषि ने शाप दिया कि सूर्योदय होते ही पैर छुआने वाला मर जायगा। दीर्घिका ने अपने सतीत्व से सूर्योदय ही न होने दिया। तब अनसूया के कहने से सूर्योदय हुआ। देवताओं ने प्रसन्न होकर दोनों को यौवन एवं स्वास्थ्य प्रदान किया।

—मो० अ०

दुंदुभि—१ मय और रम्भा का एक पुत्र। दीर्घ तपस्या कर सहस्रगजबलप्राप्त यह राक्षस भैसे के रूप मे विचरने लगा। बलि ने इसे मारकर मतंग ऋषि के आश्रम में फेक दिया किन्तु मतंग ने बलि को शाप दिया कि इस आश्रम मे आते ही तू मर जायगा। इसलिए बलि से बचकर सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर रहता था। मतंग का आश्रम इसी पर्वत पर था। यहीं सुग्रीव से राम की मित्रता हुई थी और सुग्रीव के कहने पर राम ने अपने पदांगुष्ठ से दुंदुभि की अस्थियों को १६ योजन दूर फेक कर अपना बल दिखाया था। रामचरित मानस में यह प्रसंग इस प्रकार है—"दुंदुभि अस्थि ताल दिखराए, बिनु प्रयास रघुबीर ढहाए"। (दे० मानस ४।७।६)। —मो० अ०

दुःखभंजन कवि—जन्म काशी के प्रकाण्ड पंडित श्री प्रताप शर्मा के परिवार में। आपके पिता श्री चूड़ामणि शुक्ल का अनेक राज्य-परिवारों से सम्बन्ध था और वे कवि, साधक और प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। दुःखभंजनजी साहित्य, संगीत, ज्योतिष, निगम-आगम के महान् ज्ञाता तथा जगदम्बा के अनन्य आराधक एवं सिद्ध कवि थे। आप अश्वशास्त्र के जानकार थे और तलवार चलाना भी जानते थे। षडंग दर्शन, अलंकार, अद्वैत सिद्धान्त के भी आप विशेषज्ञ थे। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं पर आपका समान रूप से अधिकार था। व्याकरण शास्त्र का आपका पाण्डित्य अद्भुत एवं असाधारण था, जिसके कारण आप एक-एक श्लोक के सैकड़ों अर्थ किया करते थे। काशी के पण्डित समाज में आपका यह पाण्डित्य देखते ही बनता था। एक बार प्रयाग में मकर स्नान के अवसर पर विद्वानों की सभा में किसी ने कहा कि 'मुहूर्त-चिन्तामणि' (ज्योतिष ग्रन्थ) पर त्रिवेणी माहात्म्य सुनाइये। दुःखभंजनजी ने पूछा, किस श्लोक से कथा प्रारम्भ की जाय? प्रस्तावक विद्वान् ने एक श्लोक उनके सामने रख दिया। श्लोक था—"सितां-सिताद्ये..."। दुःखभंजनजी ने उक्त श्लोक से त्रिवेणी माहात्म्य प्रारम्भ कर दिया। "हे सिते, हे शुक्ल वर्णे गंगे! हे असिते, हे कृष्ण वर्णे यमुने!"—इस प्रकार वह 'मुहूर्त्त चिन्तामणि' के श्लोकों का अर्थ त्रिवेणी माहात्म्य पर करते चले गये। आपके समकालीन विद्वानों तथा मित्रों में महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री प्रमुख थे। आप काशिराज की राजसभा के सम्मानित पण्डित एवं कवि थे। संस्कृत में आपके अनेक ग्रन्थ तथा विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ हैं। हिन्दी में 'गुरु गीता' आपकी प्रसिद्ध कृति है। आपकी हिन्दी की स्फुट कविताएँ भी सैकड़ो की संख्या में हैं, जो बेजोड़ हैं।

—लं० शं० व्या०

दुरासद—भस्मासुर का पुत्र, जो शिव से मन्त्र प्राप्त कर जपने से शक्तिवान् बन गया और संसार को पीड़ित करने लगा। अन्त में शक्तिपुत्र ढुंढी ने उसे मार डाला।

—मो० अ०

दुर्गम—दुर्गा द्वारा वध किया गया एक राक्षस। इसने वेदों को नष्ट कर वैदिक कर्म विलुप्त करना चाहा था। इसके वध के कारण ही देवी का नाम दुर्गा पड़ा। (दे० 'दुर्गा')।

—मो० अ०

दुर्गा—शिव की पत्नी सती का एक रूप, जो आदि शक्ति का प्रतीक माना जाता है। इनके अन्य नाम हैं—शिवा, भवानी, देवी, चण्डी, कालिका, भैरवी, कापालिका, काली, भद्रकाली आदि। शान्त, कोमल, मधुर रूप में वे पार्वती, उमा, गौरी आदि नामों से अभिहित की जाती हैं, प्रचण्ड एवं विकराल रूप में चण्डी आदि द्वारा। दुर्गम नाम का असुर संहार करने के कारण दुर्गा कहलाती हैं। आदि शक्ति के उपासक शाक्त कहलाते हैं। दुर्गा देवी के दस हाथ हैं, जिनमें वे विविध आयुध धारण किये हुए हैं। उनके गले में मुण्डमाल है और उनका वाहन सिंह है। वे शुंभ, निशुंभ, महिषासुर, रक्तबीज आदि अन्य राक्षसों की वधकर्त्री हैं। तान्त्रिक उनकी प्रमुखता से पूजा करते हैं, लेकिन स्मार्त भी उन्हें मानते हैं। दुर्गा योगमाया का एक नाम भी है। जामवान की गुहा से कृष्ण के सकुशल वापस आने पर देवकी आदि ने दुर्गा को तुष्ट किया था।

—मो० अ०

दुर्गाप्रसाद खत्री—देवकीनन्दन खत्री के ज्येष्ठ पुत्र। जन्म सन् १८९५ ई० में काशी के लाहौरी टोले में। सन् १९१२ ई० में स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट की परीक्षा विज्ञान तथा गणित में विशेष योग्यता के साथ पास करने के बाद आपने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। राष्ट्रीय आन्दोलनों में बराबर भाग लिया। कई बार जेल जा चुके हैं। स्वभाव से शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। आपकी डेढ़ दर्जन से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—'अभागे का भाग्य' (१९१४ ई०), 'अनंगपाल' (१९१७ ई०), 'बलिदान' (१९१९ ई०), 'प्रोफेसर भोंदू' (१९२० ई०), 'प्रतिशोध' (१९२५ ई०), 'लालपंजा' (१९२७ ई०), 'रक्त-मण्डल' (१९२७ ई०), 'कालाचोर' (१९३२ ई०), 'कलंक-कालिमा' (१९३२ ई०), 'सुफेद शैतान' (१९३५ ई०), 'भूतनाथ' (१९१६-३४ ई०), 'सुवर्ण रेखा' (१९४० ई०), 'स्वर्गपुरी' (१९४१ ई०), 'रोहतास मठ' (१९४९ ई०), 'सागर सम्राट्' (१९५० ई०), 'साकेत' (१९५२ ई०), 'संसार चक्र' (१९५३ ई० द्वि० सं०), 'माया' (१९५६ ई० द्वि० सं०)। इनमें 'माया' के अतिरिक्त शेष सभी उपन्यास हैं। आपके उपन्यासों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है। 'तिलस्मीऐय्यारी-उपन्यास', 'जासूसी उपन्यास', 'सामाजिक उपन्यास' और 'अद्भुत किन्तु सम्भाव्य घटना-प्रधान-उपन्यास'। 'भूतनाथ' और 'रोहतास मठ' ऐय्यारी तिलस्मी उपन्यास हैं और देवकीनन्दन खत्री की परम्परा को जीवित रखने में सहायक हुए हैं। 'प्रतिशोध', 'लालपंजा', रक्तमण्डल', 'सुफेद शैतान' जासूसी उपन्यास हैं किन्तु इनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। 'सुफेद शैतान' में तो सम्पूर्ण एशिया को स्वतन्त्र कराने की मौलिक उद्भावना की गयी है। 'सुवर्ण रेखा', 'स्वर्गपुरी', 'सागर सम्राट्', 'साकेत' और 'कालाचोर' शुद्ध जासूसी उपन्यास हैं, जिनमें वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधार पर जासूसी-कला को विकसित किया गया है। 'कलंक कालिमा' सामाजिक उपन्यास है। इसमें अनैतिक प्रेम का दुष्परिणाम दिखाया गया है। 'बलिदान' की समस्या भी सामाजिक है किन्तु इसके उत्तरार्द्ध में जासूसी की प्रवृत्ति आ गयी है और यह एक 'चरित्र प्रधान' उपन्यास बनते-बनते रह गया है। 'संसार चक्र' अद्भुत किन्तु सम्भाव्य घटना-चक्रों को लेकर लिखा गया है। 'माया' में कुल ६ कहानियाँ संगृहीत हैं। अपने निष्कर्षों में ये कहानियाँ गीता के कुछ श्लोकों को उदाहृत करती हैं। इनकी भाव-भूमि नैतिक-सामाजिक है और घटनाएँ स्थूल। आपके साहित्यिक कृतित्व का महत्त्व दो दृष्टियों से है। एक ओर तो आपने देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी की सम्मिलित परम्परा को विकसित किया है; दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय प्रश्नों को जासूसी तकनीक में प्रस्तुत करके नवीन परम्परा को जन्म दिया है।

—रा० चं० ति०

दुर्गाप्रसाद मिश्र—हिन्दी-गद्य के विकास में हिन्दीतर देश के जिन इने-गिने साहित्यकारों ने योग दिया था, उनमें दुर्गाप्रसाद मिश्र अग्रणी हैं। आपका जन्म कश्मीर के साँबाँ नगर में सन् १८५९ ई० में हुआ था। आपके पितामह कलकत्ते में बस गये थे। आपका अधिकांश जीवन भी वहीं बीता। आपने हिन्दी, डोगरा और बंगला भाषा का अभ्यास घर पर किया था; संस्कृत काशी में पढ़ी थी और अंग्रेजी कलकत्ते के नार्मल स्कूल में सीखी थी। 'अमृत बाजार-पत्रिका' के प्रवर्त्तक-सम्पादक शिशिर कुमार घोष आपके राजनीतिक गुरु थे। उनकी प्रेरणा से आपने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया और आपने जीवन-काल में 'भारत मित्र' (१९७८ ई०) 'सारसुधानिधि', 'उचितवक्ता' (१८८० ई०), 'जम्बू प्रकाश', 'बिहारबन्धु' और 'मारवाड़ी बन्धु' आदि कई पत्रों का सम्पादन किया। जम्मूनरेश रणवीरसिंह के आप विशेष कृपापात्र थे। कुछ दिनों तक कश्मीर राज्य के शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के पद पर भी आपने कार्य किया था।

आपकी कुल २०-२२ कृतियाँ बतायी जाती हैं, जिनमें 'सरस्वती' (१८७८ ई०)—बंगला के 'स्वर्णलता' नाटक के आधार पर रचित हिन्दू-गार्हस्थ्य रूपक, 'चारुपाठ' (भाग १, २, ३), 'कश्मीर कीर्ति', 'लक्ष्मीबाई का जीवन', 'विद्यामुकुल', 'लक्ष्मी' (गार्हस्थ्य रूपक)', 'शिक्षा-दर्शन', 'हिन्दीबोध' (भाग १, २, ३), 'आदर्शचरित्र', 'संक्षिप्त महाभारत', 'नीतिकुसुम', शिवाजी का जीवन चरित', 'प्रभास मिलन' (१८९९ ई०), 'भारतधर्म' (१९०० ई०) 'सर्पदंशनचिकित्सा' प्रसिद्ध है। अधिकांश कृतियाँ बिहार प्रान्त के विद्यार्थियों के पाठ्य-क्रम में निर्धारित थीं और उन्हीं को दृष्टि में रखकर लिखी गयी थीं।

आप बड़े अच्छे वक्ता थे। आपकी भाषा जोरदार और शैली सजीव है। अभिव्यक्ति के प्रवाह में आपने 'डर्टी', 'क्रुयल्टी', 'डार्क', 'फारेस्ट' आदि अंग्रेजी के; 'अख्तियार', 'बेशक', 'उम्दा', 'ख्याल', 'मुतबन्ना,' 'मुलाकात', 'बन्दोबस्त' आदि उर्दू के और 'मनुक्ख' (मनुष्य), 'संझा' (संध्या), 'गिराम' (ग्राम) जैसे ठेठ हिन्दी के शब्दों का प्रयोग निस्संकोच भाव से किया है। स्वभाव से आप हँसमुख थे और राजनीति के गूढ़ प्रश्नों पर भी हास्यगर्भित लेख सहज ढंग से लिखते थे। विदेशी रीति-नीति आपको नहीं भाती थी। अपनी कृतियों में भी आपने अंग्रेजी साहित्य की कुरुचिपूर्ण भावनाओं के ग्रहण करने का विरोध किया है। सन् १९१० ई० में कलकत्ते में आपका देहान्त हो गया।

—रा० चं० ति०

दुर्द्धर—१. राम सेना का एक वानर।

२. रावण का मन्त्री।
३. महिषासुर का अनुगामी।

—मो० अ०

दुर्धर्ष—१. हनुमान् द्वारा हत, रावणपक्षीय एक सेनापति।
२. राम द्वारा मारा गया रावण पक्ष का एक वीर।
३. धृतराष्ट्र का पुत्र।

—मो० अ०

दुर्वासा—ये अनसूया और अत्रि के पुत्र थे। ऋक्षकुल पर्वत पर इस ऋषि दम्पत्ति की तपस्या से प्रसन्न क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के अंशों से चन्द्रमा, दत्त तथा दुर्वासा—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार दुर्वासा रुद्र के अंश कहे जाते हैं। यही कारण है कि 'शतरुद्र संहिता' आदि शैव ग्रन्थों में इन्हें रुद्र का अवतार भी कहा गया है। इनका विवाह और्व मुनि की कन्या कन्दली के साथ हुआ था। ये वस्तुतः अपने क्रोध के कारण प्रायः स्मरण किये गये हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ महाभारत और भागवत में उल्लिखित हैं। इनके शाप से देवराज इन्द्र राज्यभ्रष्ट हुए थे। इन्हीं के शाप से पति-परित्यक्ता शकुन्तला को अनेक कष्ट सहन करने पड़े थे। भागवत में अम्बरीष की परीक्षा का उल्लेख मिलता है। जब सुदर्शन चक्र ने दुर्वासा का पीछा किया तब अम्बरीष की प्रार्थना करने पर शिव के आदेश से यह चक्र शान्त हुआ। इस घटना का सांकेतिक उल्लेख 'सूरसागर' में अनेक स्थलों पर हुआ है (दे० 'अम्बरीष')।

—यो० प्र० सिं०

दुर्मद—१. धृतराष्ट्र का एक पुत्र, जिसे भीम ने मारा था।
२. मय दानव का पुत्र, जिसे बलि ने पराजित किया था।
३. वसुदेव और पौरवी का पुत्र।
४. अंगराज मायावर्मा का एक पुत्र।

—मो० अ०

दुर्मुख—१. पाँचाल के एक नरेश, जिनके पुत्र जनमेजय पाण्डवों के पक्ष में थे।
२. भीम के हाथों मारा जानेवाला धृतराष्ट्र का एक पुत्र।
३. रावणपक्षीय एक वीर।
४. राम-पक्ष का एक वानर।
५. कद्रू का एक पुत्र, सर्प।

—मो० अ०

दुर्योधन—धृतराष्ट्र और गान्धारी के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ। बलराम से उसने गदा चलाना सीखा था। बलराम सुभद्रा से उसका विवाह भी कराना चाहते थे, किन्तु अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण से वह निराश होकर उनका शत्रु हो गया। धृतराष्ट्र युधिष्ठर को राजा बनाना चाहते थे, किन्तु दुर्योधन ने ऐसा नहीं होने दिया। उसने लाक्षागृह में पाण्डवों को जलाने का असफल प्रयत्न किया। युधिष्ठर के राजसूय में मय दानव निर्मित फर्श पर उसे जल का भ्रम हो गया और जहाँ जल था, वहाँ उसे सूखी भूमि दिखायी पड़ी। जिस पर भीम तथा द्रौपदी ने उसकी हँसी उड़ायी। ईर्ष्यावश शकुनि की सहायता से उसने पाण्डवों की सब सम्पत्ति और द्रौपदी को भी जीतकर अपमान का बदला लेने के लिए भरी सभा में द्रौपदी को नंगी करने की आज्ञा दी और अपनी जाँघ खोलकर कहा कि उसे इस पर बिठाओ। कृष्ण की कृपा से द्रौपदी की लज्जा बची और अपने प्रण के अनुसार महाभारत के अन्त में भीम ने गदा से दुर्योधन की जाँघ तोड़ दी। दुर्योधन सूई की नोक के बराबर भी भूमि पाण्डवों को देने को तैयार नहीं था। अतएव महाभारत युद्ध हुआ, जिसमें दुर्योधन अपने सब भाइयों सहित नष्ट हो गया। दुर्योधन जल—स्तम्भन विद्या जानता था। अतः वह एक जलाशय में छिप गया। भीम ने वहाँ जाकर उसे ललकारा। वीर दर्पवश वह बाहर आ गया। दोनों का गदा-युद्ध हुआ और भीम ने उसकी जाँघ पर प्रहार किया। आहत अवस्था में अकेले पड़े हुए दुर्योधन ने अश्वत्थामा से भीम का सर लाने को कहा। अश्वत्थामा रात्रि में पाण्डवों के शिविर में घुसकर पाण्डवों के पुत्रों के शीश काट लाया। जब दुर्योधन को यथार्थता मालूम हुई तो शोकार्त हो उसने शरीर छोड़ दिया। रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत 'कुरुक्षेत्र' में ये वर्णन प्रतीक रूप में आते हैं।

—मो० अ०

दुर्वारण—एक असुर, जो जालन्धर का दूत था। यह देवताओ से समुद्र-मन्थन में उपलब्ध १४ रत्न मांगने गया। इन्द्र के इनकार कर देने पर देवासुर-संग्राम हुआ।

—मो० अ०

दुलारेलाल भार्गव—जन्म १८९५ ई०, लखनऊ में। आपने पहले उर्दू पढ़ी और फिर हिन्दी का अध्ययन किया। आपकी पढ़ाई इन्टरमीडिएट से आगे न चल सकी। इसके बाद आप नवल किशोर प्रेस में काम करने लगे। आपकी विशेष ख्याति 'माधुरी' और 'सुधा' पत्रिका के सम्पादक रूप में है। हिन्दी में सर्वप्रथम विशेषांक निकालने का श्रेय आपको ही है। 'द्विजेन्द्रलाल राय' (उनकी जीवनी और रचनाओं का परिचय, प्रकाशन—१९२३ ई०) जैसी कई पुस्तकें आपने लिखी हैं किन्तु साहित्यिक कृति केवल 'दुलारे-दोहावली' है, जो सतसई-परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमें दोहों के अतिरिक्त सोरठे भी हैं। 'दोहावली' भाव, उक्ति आदि सभी दृष्टियों से बिहारी-सतसई से विशेषतः और विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मतिराम, देव आदि कवियों से सामान्यतः अनुप्रेरित है। इसमें गणेश, राधाकृष्ण, विष्णु और सरस्वती सम्बन्धी दोहे स्तुतिपरक अवश्य हैं किन्तु उनमें भक्तों का अनन्य अनुराग नहीं है। बौद्धिक तन्मयता द्वारा आरोपित आस्था है, जो 'राधा-कन्हाई सुमिरन' से अधिक 'कविताई' है। अतः कवि के राधा-कृष्ण लौकिक प्रेमानुभूति के आलम्बन हैं। इसी तरह ब्रह्म, जीव, जगत् अथवा मुक्ति का ग्रहण गम्भीर दार्शनिक विवेचन के लिए नहीं, अपितु उक्ति-चमत्कार के लिए किया गया है। नायिका-भेद और श्रृंगार निरूपण में शास्त्रीयता का विशेष ख्याल रखा गया है किन्तु न तो कोई मौलिक उद्‌भावना हुई है और न किसी नवीन नायिका-भेद का निर्देश ही। दोहावली का कवि युगचेतना से भी पर्याप्त अनुप्राणित है। स्वराज्य, अछूतोद्धार, सामयिक क्रान्ति और देशप्रेम की सांकेतिक अभिव्यक्ति उसने की है।

दुलारेलाल में एक सफल मुक्तककार की प्रतिभा है। उन्होंने अपने दोहों की रचना में बिहारी का काव्यादर्श स्वीकार किया है। वियोग, शरीर-कृशता तथा विरह-ताप का वैसा ही अत्युक्तिपूर्ण एवं चमत्कारी वर्णन किया है। रूप-सौन्दर्य की अभिनव सृष्टि, नवीन औपम्य-विधान और मनोवैज्ञानिक संस्पर्शों से अनुभावों को मुखरित करने में कवि को विशेष

सफलता मिली है।

—स० ना० त्रि०

दु:शासन—धृतराष्ट्र का पुत्र। जब धर्मराज युधिष्ठिर जुए में सब कुछ के साथ द्रौपदी को भी हार गये तो दु:शासन ने भरी सभा में दुर्योधन की आज्ञा से द्रौपदी को नंगा करने का प्रयास किया। असहाय होकर द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण को पुकारा और कृष्ण ने चीर बढ़ाकर द्रौपदी की लाज रखी। दु:शासन चीर खींचते-खींचते थक गया, किन्तु द्रौपदी को नग्न न कर सका। दु:शासन के इस नीच कृत्य से कुपित भीम ने उसका रक्तपान करने की प्रतिज्ञा की थी, जिसे उन्होंने महाभारत-युद्ध में पूरा किया। भक्त कवियों ने कृष्ण की भक्त-वत्सलता के उदाहरणों में इस कथा का बार-बार सन्दर्भ दिया है।

—मो० अ०

दुष्यन्त—पुरुवंशी राजा दुष्यन्त एक बार मृगया का शिकार करते हुए संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में पहुँचे और उन्होंने ऋषि की पोष्य दुहिता शकुन्तला पर आसक्त होकर उससे गन्धर्व विधि से विवाह कर लिया तथा अपनी मुद्रिका शकुन्तला को प्रदानकर राजधानी में आ गये। शकुन्तला के गर्भ से एक पुत्र पैदा हुआ। शकुन्तला पुत्र को लेकर दुष्यन्त के पास आयी। मार्ग में असावधानीवश स्नानादि के समय अँगूठी किसी सरोवर में गिर गयी। दुष्यन्त ने शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया, किन्तु जब आकाशवाणी हुई कि तुम इसे स्वीकार करो तो दुष्यन्त ने दोनों को स्वीकार कर लिया। एक दूसरे मत से शापवश राजा को सब विस्मरण हो गया था। अत: शकुन्तला निराश होकर लौट आयी। कुछ दिनों बाद एक मछुए को मछली के पेट में वह अँगूठी मिली। जब वह अँगूठी राजा के पास पहुँची तो उसे समस्त घटनाओं का स्मरण हुआ और तब शकुन्तला बुलाकर लायी गयी। उसके पुत्र का नाम भरत रखा गया, जो बाद में चलकर भारतवर्ष या भारत नाम का जनक हुआ।

—मो० अ०

दूलनदास—जगजीवन साहब के प्रमुख शिष्यों में एक थे। सत्तनामियों के अनुसार इनका जन्म सन् १६६० ई० में जिला लखनऊ के समेसी गाँव के एक सोमवंशी क्षत्रिय परिवार में हुआ था। इन्होंने रायबरेली जिले में धर्मे नामक एक गाँव बसाया था और वहीं गृहस्थाश्रम में रहते हुए आध्यात्मिक जीवन यापन किया था। इनकी मृत्यु सन् १७७८ ई० में (११८ वर्ष की अवस्था में) हुई थी। 'भ्रम विनाश', 'शब्दावली', 'दोहावली', मंगलगीत' आदि कई कृतियाँ इनके द्वारा रचित बतायी जाती हैं किन्तु अभी तक इनकी वाणियों का एक छोटा-सा संग्रह ही बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। गुरु माहात्म्य, नाममहिमा, साधुमहिमा, शून्य एवं सहज की आध्यात्मिक अनुभूति, संसार की नश्वरता तथा साध्य परमतत्त्व के प्रति प्रणय-विरह और समर्पण की भावना आदि आपकी वाणियों के प्रमुख विषय हैं किन्तु आपका झुकाव सगुण उपासना के प्रति भी जान पड़ता है। दशरथनन्दन राम और हनुमान् के प्रति आपने प्रगाढ़ भक्ति-भावना व्यक्त की है। आपकी रचनाएँ जगजीवन साहब की अपेक्षा अधिक सरस हैं। [सहायक ग्रन्थ—दूलनदास की वाणी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; सन्त-काव्य : परशुराम चतुर्वेदी।]

—रा० चं० ति०

दूलह कवि—कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र होने के कारण काव्य की प्रतिभा इन्हें विरासत में मिली थी। किसी कवि ने इन्हें "और बराती सकल कवि दूल्हा दूलहराय" कहकर इनकी लोकप्रियता और श्रेष्ठता की प्रशंसा की थी। दूलह वास्तव में इनकी उपाधि है, नाम नहीं। ग्रियर्सन ने इनको दोआब के बनपुरा का रहनेवाला बतलाया है। इनके जन्म और मृत्युकाल के बारे में कुछ निश्चित पता नहीं चलता। वैसे शुक्लजी ने सन् १७४३ से १७६८ ई० तक इनका रचनाकाल माना है। इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का पता इसी से चलता है कि अपनी कुछ ही रचनाओं के बल पर ये रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों—देव, मतिराम, दास आदि के साथ गिने जाते हैं। 'कवि-कुल-कण्ठाभरण' इनका अलंकारों का एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें लक्षण और उदाहरण कवित्तों में दिये गये हैं जो इतने मधुर और सुन्दर हैं कि दूलह के आचार्यत्व और कवित्व, दोनों को ही प्रमाणित करते हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त १५ या २० स्फुट रचनाएँ इनकी और प्राप्त हैं। वे मधुर और चित्ताकर्षक हैं। भाषा पर तो इनका सहज अधिकार था, वे जैसा चाहते थे, भाषा वैसी ही भावानुगामिनी हो जाती थी। इन्होंने केशव के समान यह मत प्रतिपादन किया है कि काव्य में चरण, वर्ण तथा ललित लक्षणों के अतिरिक्त आलंकारिकता भी होनी चाहिए ('बिन भूषन नहिं भूषई कविता, बनिता चार')। साथ ही आत्मसन्तोष के साथ समाज में यश-लाभ कृति को अलंकृत करने पर ही मिलेगा।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ० : रा० शु०; हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास : ग्रियर्सन, अनु० किशोरीलाल गुप्त; ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर : एफ० ई० के।]

—ह० मो० श्री०

दूलह राम कवि—ये 'कविकुलकण्ठाभरण' के रचयिता दूलह कवि से भिन्न थे। इनका जन्म सं० १७७० वि० में ओरछा में हुआ था। इन्होंने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का पद्य में अनुवाद किया था। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं। आपकी रचना सरस और प्रसाद गुण प्रधान है। आपने श्रीमद्भगवद्‌गीता का अनुवाद उल्लाला, पद्धरि, गीतिका और दोहा आदि विविध छन्दों में किया है।

[सहायक ग्रन्थ—बुन्देल वैभव भाग-२]

—कि० ला०

दूषण—रावण के भाई खर का सेनापति। यह खर के साथ पंचवटी में रहता था। राम के साथ युद्ध करते हुए अपने भाइयों एवं मन्त्रियों सहित मारा गया।

—मो० अ०

दृष्टिकोण—इसका प्रकाशन फरवरी १९४८ से बाँकीपुर, पटना से हुआ। इसके दो सम्पादक थे—नलिनविलोचन शर्मा तथा शिवचन्द शर्मा। इस पत्रिका की दो प्रमुख विशेषताएँ थीं—१. भारतीय साहित्य के अतिरिक्त विदेशी साहित्य की आलोचना भी निकलती थीं। इसके लिए अधिकारी विद्वानों से लेख लिये जाते थे। २. पुस्तक-समीक्षा बहुत ही आलोचनात्मक ढंग से की जाती थी। कुल मिलाकर पत्रिका का स्वरूप विचार और समीक्षाप्रधान था।

—श्री० रा० व०

देव (देवदत्त)–रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि 'देव' के अतिरिक्त 'देव' या 'देवदत्त' नामधारी लगभग सात कवि और मिलते हैं। तीन का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में, दो का 'मिश्रबन्धु विनोद' में तथा दो अन्य का अनुमान गोकुलचन्द द्वारा सम्पादित 'श्रृंगारविलासिनी' की भूमिका में दी गयी सामग्री के आधार पर होता है। इनके विषय की ज्ञात सूचनाएँ क्रमशः नीचे निर्दिष्ट की जाती है–

देव १–इनका नाम 'सरोज' के अनुसार देव काष्ठजिह्वा था। यह संस्कृत के 'उद्‌भट विद्वान्' थे तथा साधुवेश में काशी में रहते थे। इनका काव्य भक्तिमय है। तत्कालीन काशीनरेश ईश्वरीनारायण सिंह इनसे प्रभावित होकर इनके भक्त बन गये थे। इनकी रचनाओं में-से 'पदावली' का ही रचनाकाल (१८४० ई०) ज्ञात है। अन्य रचनाओं के नाम हैं–'विनयामृत', 'रामलगन', 'रामायण परिचर्या' और 'वैराग्यप्रदीप'।

देव २–सरोजकार के अनुसार इनका जन्म १६९५ ई० में हुआ और प्रमुख रचना 'योगतत्त्व' है। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें 'कुसवारा' नामक कन्नौज के निकटवर्ती ग्राम का निवासी बताया है। यह नाम प्रसिद्ध देव कवि के ग्राम 'कुसमरा' से इतना मिलता है कि लगता है जैसे उसी का परिवर्तित रूप हो और भ्रमवश कन्नौजवाले इन देव के साथ जुड़ गया हो। इनका जन्म १६४६ ई० तथा कविताकाल १६७३ ई० भी सन्दिग्ध प्रतीत होता है, क्योंकि १६७३ ई० जन्मकाल के रूप में प्रसिद्ध देव से सम्बद्ध है। सम्भव है भ्रमवश वही यहाँ कविताकाल बन गया हो। यदि इनका स्वतन्त्र अस्तित्व मान भी लिया जाय तो ये देव के ही समकालीन रहे होंगे। इनके नाम से उद्‌धृत काव्यांश अवश्य प्रसिद्ध देव की शैली से सर्वथा भिन्न हैं।

देव ३–'सरोज' में इनका जन्म १६४८ ई० देकर काव्य की विशेषता 'ललित' बताते हुए एक कवित्त उद्‌धृत कर दिया गया है, जिसकी अन्तिम पंक्ति का अंश "फिरे अटा अटा बाजीगर को बटा भई" प्रसिद्ध देव की प्रारम्भिक रचना होने का आभास देती है, ऐसा नगेन्द्र का मत है। उन्होंने यह भी अनुमान किया है कि यह एक छन्द या तो उनके किसी प्रारम्भिक ग्रन्थ में समाविष्ट रहा होगा अथवा उनके किसी पूर्ववर्ती कवि द्वारा रचित नायिका-भेद के ग्रन्थ में 'कलहंतरिता' के उदाहरण में आया होगा। इसमें 'देवदत्त' नाम प्रयुक्त हुआ है, जिस छाप का प्रयोग प्रसिद्ध देव ने कभी नहीं किया।

देव ४–'मिश्रबन्धु विनोद' के द्वितीय भाग में इनका रचनाकाल १७४० ई० तथा ग्रन्थ 'रागमाला' दिया हुआ है। इनके आश्रयदाता अमीर खाँ थे।

देव ५–'विनोद' के दूसरे भाग में ही इनका भी उल्लेख है। इनका नाम देवदत्त था और यह कश्मीर के महाराज कुमार ब्रजराज के आश्रित थे।

देव ६–'श्रृंगारविलासिनी' (रचनाकाल १७०० ई०) तथा संस्कृत-ग्रन्थों 'लक्ष्मीदामोदरस्तुति' आदि के रचयिता, वंशीधर दीक्षित के पुत्र और इटावानिवासी इन देवदत्त का एक ग्रन्थ 'शिवाष्टक' भी कहा जाता है। 'रत्नाकर' जी ने प्रसिद्ध देव को भी एक 'शिवाष्टक' का श्रेय दिया है। 'भावविलास' से उनका भी निवास स्थान इटावा नगर ही सिद्ध होता है। लगता है इन देव और प्रसिद्ध 'देव' के जीवन वृत्त और काव्य-रचनाओं के बीच भी भ्रमवश सम्मिश्रण हुआ है या दोनों की स्वतन्त्र स्थिति अस्पष्ट है। गोकुलचन्द्र दीक्षित ने दोनों को अभिन्न माना है।

देव ७–ये नगेन्द्र द्वारा 'श्रृंगारविलासिनी' के रचयिता से भिन्न व्यक्ति रूप में मान्य तथा 'बखतविलास' एवं 'माधव गीत' आदि के रचयिता गोहद के बखतसिंह के आश्रित अत्यन्त साधारण श्रेणी के कवि थे। 'देवदत्त' के साथ इन्होंने 'देव' शब्द का भी अपनी छाप के रूप में प्रयोग किया है। इनका रचनाकाल पूर्वोक्त संस्कृत कवि के बाद का अनुमानित किया गया है।

इन सातों देव या देवदत्त नामक कवियों के काल, कृतित्व आदि के विषय में सम्यक् शोध अभी नहीं हुआ है और न इनके नाम से उल्लिखित ग्रन्थों अथवा काव्यांशों पर ही समुचित विचार किया गया है। सम्भव है कि इनके विषय में स्थिति स्पष्ट होने पर प्रसिद्ध 'देव' की स्थिति भी और स्पष्ट हो सके।

[सहायक ग्रन्थ–मि० वि०; खो० वि०; शि० स०; री० भू० तथा दे० का०; हि० का० शा० इ०।]

–ज० गु०

देव (महाकवि)–देव रीतिकाल के प्रख्यात कवि 'देवदत्त' (जन्म १६७३ ई० के लगभग, मुख्य काव्य-काल १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध) द्वारा स्वत. प्रयुक्त अपने नाम का काव्योपयुक्त लघु रूप है। देव का जीवन-परिचय मुख्यतः तीन आधारों से प्राप्त होता है; प्रथम 'भावविलास' के अन्त में आने वाले तीन दोहे, द्वितीय देव के प्रपौत्र भोगीलाल का दिया हुआ वंश-परिचय तथा तृतीय देव के वंशज मातादीन दुबे के पास सुरक्षित उनका वंश-वृक्ष। 'भावविलास' की कुछ प्रतियाँ इधर ऐसी भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें अन्य प्रतियों में प्राप्त तीनों दोहे समाविष्ट नहीं हैं अतएव अब इन्हें निर्विवाद रूप से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। लक्ष्मीधर मालवीय ने इन्हें स्पष्ट रूप से प्रक्षिप्त माना है। परन्तु यह प्रक्षेप कब और किसके द्वारा किया गया, इस सम्बन्ध में स्थिति सर्वथा स्पष्ट नहीं है। दोहे इस प्रकार हैं–"शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष। कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष। द्योसरिया कवि देव को, नगर इटायो वास। जीवन नवल सुभाद रस, कीन्हों भाव विलास। दिल्ली सुत अवरंग के आजमसाहि सपूत। सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह अष्टजाम संजूत।"

अब तक इन दोहों के आधार पर जो कुछ ज्ञात होता है, उसे ही देव के जीवन-वृत्त का सर्वप्रमुख प्रामाणिक आधार माना जाता रहा है तथा अन्य आधारों से प्राप्त सूचनाओं से उसका खण्डन भी नहीं हुआ है। ऐसी दशा में प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर भी इनका महत्त्व सर्वथा नष्ट नहीं होता। देव का जन्मकाल १६७३ ई० (सं० १७३०) प्रथम दोहे में दिये गये १६८९ ई० (सं० १७४६) में से १६ (चढ़त सोरही वर्ष) घटाकर निकाला गया है। 'द्योसरिया' शब्द से देव का 'दुसरिहा' या 'देवसरिहा' ब्राह्मण होना ज्ञात होता है। मिश्रबन्धुओं ने इस शब्द को 'धौसरिहा' रूप में पढ़कर देव को सनाढ्य ब्राह्मण मान लिया है। श्यामसुन्दर दास तथा रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनका अनुसरण किया। नगेन्द्र ने 'धौसरिहा' पाठ को भ्रमात्मक बताक 'द्योसरिहा' को ही शुद्ध कहा है तथा उसके अनुरूप देव

को कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है। देव के वर्तमान वंशज अपने को 'दुबे' कहते हैं और इटावे से ३० मील दूर 'कुसमरा' नामक स्थान में रहते हैं, जो मैनपुरी में है और जहाँ देव के मकान का भग्नावशेष, उनके द्वारा पूजित शिव की प्रतिमा तथा पुराना नीम का पेड आज भी द्रष्टव्य है। कुछ वर्षों से वहाँ देव का स्मारक बनाने का चेष्टा की जा रही है।

ओरंगजेब के पुत्र आजमशाह के सम्पर्क में आने के अनन्तर देव का सम्बन्ध भवानीदत्त वैश्य से हुआ, जिनके आश्रय में रहकर उन्होंने 'भवानीविलास' की रचना की, पर उनके यहाँ वे स्थिर न रह सके। कानपुर के समीप फफूँद नामक स्थान के राजा कुशल सिंह का आश्रय ग्रहण करके उन्होंने 'प्रेम तरंग' का प्रणयन किया, जिसके परिवर्द्धित रूप 'कुशल बिलास' में अपने आश्रयदाता का परिचय भी दिया है—"कुसल सरूप भूप भूपति कुसलसिंह नगर फफूँद धनी फूले जस जाहि के"। सर्वाधिक परितुष्टि देव को अपने परम गुण ग्राहक सहृदय आश्रयदाता भोगीलाल द्वारा प्राप्त हुई, जिन्होंने उनके काव्य पर रीझकर लाखो की सम्पत्ति प्रदान की। उनको पाकर देव को अपने सभी पूर्ववर्ती आश्रयदाता "राइ रान सुलतान" ही नहीं, लोक—प्रसिद्ध "भोज बलि विक्रम" तक भूल गये। भोगीलाल विषयक प्रशस्ति की अंतिम पंक्ति उल्लेखनीय है—"भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं"। देव ने अपना ग्रन्थ 'रसविलास', जिसमें 'जातिविलास' समाविष्ट है, उन्हीं को समर्पित किया है। भोगीलाल के यहाँ अत्यन्त आदर-सत्कार मिलने पर भी किसी कारण देव को विलासमय जीवन से विरक्ति का अनुभव होने लगा, जिसका संकेत 'रसविलास' के अन्त में 'नरिन्द' से विमुख होकर 'गुविन्द' की ओर उन्मुख होने के भाव से प्राप्त होता है।

बाद के आश्रयदाताओं में देव ने उद्योतसिंह को 'प्रेमचन्द्रिका' अर्पित की। सुजानमणि नामक दिल्ली के रईस काव्य-प्रेमी को 'सुजान विनोद' भेंट किया। 'काव्य रसायन' तथा वैराग्य परक 'देवमाया प्रपंच नाटक' आदि ग्रन्थ उन्होंने किसी को समर्पित नहीं किया, जो स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। किंवदन्तियों के आधार पर भरतपुर के नरेश तथा अलवर नरेश से भी उनका सम्बन्ध अनुमानित किया गया है पर इनके आश्रय पुष्टि अन्तरंग प्रमाण से नहीं होती। नये प्राप्त ग्रन्थ 'सुमिल विनोद' में अवश्य एक अन्य आश्रयदाता हिमातुल्ला खाँ का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है परन्तु उनके विषय में विशेष और कुछ ज्ञात नहीं होता। "विषय के संग" जाने वाले मन की भर्त्सना करते हुए जिस कवि ने उसे "राधावरविरुद के वारिधि" में डुबा देने की कामना की, उसे जीवन के अन्तिम वर्षों में विवश होकर महमदी राज्य में जाकर पिहानी के अकबरअली खाँ की शरण ग्रहण करनी पड़ी। अनुमानत: इस समय देव की अवस्था ९४ वर्ष के लगभग रही होगी क्योंकि अकबरअली खाँ का राज्यकाल १७६७ ई० से प्रारम्भ होता है। ये उनके अन्तिम आश्रयदाता थे और देवने इन्हें अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों के कुछ संचित छन्दों के योग से विनिर्मित अपना 'सुखसागर तरंग' नामक ग्रन्थ अर्पित किया।

देव के ग्रन्थों के विषय में प्रथम महत्त्वपूर्ण उल्लेख शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में किया है। उन्होंने ७२ संख्या का उल्लेख करके ११ के नाम गिनाये हैं।—'प्रेमतरंग', 'भावविलास', 'रस विलास', 'रसानन्द लहरी', 'सुजान विनोद', 'काव्य रसायन पिंगल', 'अष्टयाम', 'देवमाया प्रपंच नाटक', 'प्रेमदीपिका', 'सुमिल विनोद', 'राधिका विलास' (शि० स० पृ० ४३४)। मिश्रबन्धुओं के अनुसार "देव के ग्रन्थों की संख्या ७२ या ५२ कही जाती है।" उन्होंने कुल २४ ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की, जिसमें १५ प्राप्त तथा ९ अप्राप्त माने हैं। शिवसिंह की सूची के अतिरिक्त निम्नलिखित १३ नाम इस प्रकार हैं—'भवानीविलास', 'सुन्दरीसिन्दूर', 'रागरत्नाकर', 'कुशलविलास', 'देवचरित्र', 'प्रेमचन्द्रिका', 'जातिविलास', 'सुखसागरतरंग', 'वृक्षविलास', 'पावस विलास', 'देवशतक', 'प्रेमदर्शन', 'शिवाष्टक'। इसमें भारतेन्दु द्वारा किया हुआ देव के छन्दो का संग्रह 'सुन्दरी सिन्दूर' भी सम्मिलित है।

लक्ष्मीधर ने अपने विषय "देव के लक्षण ग्रन्थों का पाठ और पाठ-समस्याएँ" के अनुरूप देव के लक्षण ग्रन्थों को ही मुख्यतया अपने अन्वेषण का आधार बनाया है, परन्तु कतिपय सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं निष्कर्षों की प्रामाणिकता के लिए उन्हें सम्पूर्ण देव साहित्य का परीक्षण करना पड़ा। उनके शोध के अनुसार देव के निम्नलिखित १३ ग्रन्थ ही प्रामाणिक ठहरते हैं। यदि चारों पच्चीसियों को पूर्वोक्त रीति से स्वतन्त्र माना जाय तो १३ का अर्थ १६ हो जाता है। सूची इस प्रकार है—'अष्टयाम', 'भवानीविलास', 'रसविलास', 'काव्यरसायन', 'भावविलास', 'सुजानविनोद', 'कुशलविलास', 'सुमिलविनोद', 'प्रेमचन्द्रिका', 'सुखसागरतंग', 'देवचरित्र', 'देवमाया प्रपंच नाटक', 'देवशतक'।

देव श्रृंगार के रसराजत्व के उत्कट प्रतिपादक थे और रीतिकाल तक नायिका-भेद, श्रृंगार रस का प्रधान एवं अभिन्न अंग बन गया था। साथ ही देव की स्वाभाविक रुचि भी उसमें विशेष थी, परिणाम यह हुआ कि उनके समस्त लक्षण-ग्रन्थों में श्रृंगार एवं नायिका-भेद अनिवार्य एवं निरपवाद रूप से समाविष्ट है। 'भावविलास' के पहले तीन विलासों में श्रृंगार रस का महत्त्व एवं अंगोपांगों का विस्तार वर्णित है तथा चतुर्थ विलास में नायक-नायिका-भेद। इसमें देव ने नायिकाओं के ३८४ भेद किये हैं। 'भवानीविलास' में इसी विषय-वस्तु का सात विलासों तक सूक्ष्म भेद-प्रभेदों के साथ परिविस्तार है, केवल आठवें में श्रृंगारेतर वीर आदि रसों का समावेश हुआ है। ठीक ऐसी ही स्थिति 'सुमिल-विनोद' के आठ विनोदों की है। 'काव्यरसायन' या 'शब्दरसायन' सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ है। फिर भी ग्रन्थ के ११ प्रकाशों में से तृतीय से पंचम तक रस विवेचन है, जिसमें श्रृंगार को रसराज कहा गया है। षष्ठ प्रकाश में नायिका-भेद अपेक्षाकृत संक्षिप्त वर्णित है। 'रसविलास' तो मुख्य रूप से नायिका-भेद का ही ग्रन्थ है। इसी में 'जातिविलास' के रूप में "देवल रावल राजपुर नागरि तरुनि निवास" के सब लक्षण-भेद आदि देश-जाति क्रम से वर्णित हैं। सत्त्वभेद, वय:क्रम आदि अन्य आधारों पर भी इसमें नायिकाओं का वर्गीकरण किया गया है। रस-विषयक कुछ अन्य विस्तार भी किये गये हैं। 'सुखसागरतरंग' आद्योपान्त श्रृंगारप्रधान है तथा कवि का अन्तिम लक्षण—ग्रन्थ है। नगेन्द्र के मत से इसे

"नायिका-भेद का एक विश्व-कोश समझना चाहिए।" इसमें चौथे अध्याय से लेकर अन्त तक नायक-नायिका भेद का परिवृद्धि के साथ प्रायः वैसा ही विस्तार है, जैसा 'रसविलास' और 'भवानीविलास' आदि पूर्वोक्त ग्रन्थों में मिलता है।

भीतर से श्रृंगार रस और नायिकाभेद से ही सम्बद्ध किन्तु बाह्यतः पृथक् प्रतीत होने वाला अष्टयाम और षट्ऋतु-क्रम से व्यवस्थित प्रकृति-वर्णन भी देव के अनेक ग्रन्थो में पर्याप्त महत्त्व के साथ मिलता है। 'अष्टयाम' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'सुखसागरतरंग' के द्वितीय और तृतीय अध्याय में भी इसका समावेश है। 'सुजानविनोद' में, जो लक्षण-ग्रन्थ नहीं है, पूर्ण तन्मयता के साथ ऋतु-वर्णन किया गया है। देव ने इसमें षट्ऋतुओं का नायिका-भेद के साथ मिश्रण करके एक विचित्र वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। 'सुजानविनोद' के द्वितीय तथा तृतीय विलास में शिशिर-वसंत मे मुग्धा का, चतुर्थ विलास में ग्रीष्म-पावस में मध्या का तथा पंचम विलास में शरद्-हेमन्त में प्रौढ़ा का वर्णन मिलता है। देव के प्रकृति वर्णन मे तत्कालीन विलासमय जीवन पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुआ है।

श्रृंगार के विलास-प्रधान रूप के तरल आत्मोत्सर्गमय उदात्त रूप ने भी देव को पर्याप्त प्रेरणा दी और उनकी 'प्रेमचन्द्रिका' तथा 'देवशतक' में समाविष्ट 'प्रेमदर्शनपचीसी' में प्रेम की ऐसी अनेक भूमिकाओं का निदर्शन है, जो भक्ति और सूफी प्रेम-भावना का स्पर्श करती दिखायी देती हैं। 'देवचरित्र' में कृष्णलीला का वर्णन भक्ति-भाव से ही किया गया है। अनुराग के जितने भी रूप कवि की कल्पना में आ सके, उसने उन्हें सशक्त शब्दों में भावमयता के साथ वर्णित किया है। भक्ति के साथ वैराग्य का उदय होने पर उसने आध्यात्मिक तत्त्वबोध से युक्त रचनाएँ भी कीं। 'देवशतक' की प्रारम्भिक तीनों पचीसियाँ तथा 'देवमाया प्रपंच नाटक' इसी भाव-भूमि की उपज हैं। यह नाटक लिखने की कल्पना देव को संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' से प्राप्त हुई परन्तु वस्तु-योजना में कवि ने पर्याप्त स्वतन्त्रता भी प्रदर्शित की है।

अलंकार का विषय 'भावविलास' के प्रपंच विलास में तथा 'काव्य-रसायन' के नवम् प्रकाश में हुआ है। रसवादी होने के कारण देव ने अलंकार-निरूपण में अधिक मनोयोग नही दिखाया है। 'काव्यरसायन' में रस-अलंकार के अतिरिक्त काव्य-विषयक अन्य शास्त्रीय सामग्री का भी समावेश है। प्रथम और द्वितीय प्रकाश में शब्द-शक्ति, अष्टम् में रीति तथा दशम् और एकादश में छन्द का विषय निरूपित है। काव्यशास्त्र को सम्पूर्णता के साथ देव का यही ग्रन्थ प्रस्तुत करता है।

रीतिकालीन कवियों में देव का स्थान निश्चित रूप से सर्वोपरि है। उनके काव्य में रीति-परम्परा की सारी सीमाएँ होते हुए भी एक ऐसी अन्तर्दृष्टि मिलती है, जो जीवन को यथासम्भव समग्र रूप में देखती हुई भावनाओ को वासना और विलास की निचली सतह से ऊपर उठाकर गम्भीर प्रेम के उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। यह नहीं कि उन्होंने विलास की सूक्ष्मताओं में प्रवेश नहीं किया अथवा श्रृंगारिक चित्र प्रस्तुत नहीं किये, वरन् यह कि ऐसा करते हुए भी श्रृंगार और प्रेम की उस उदात्त भूमिका को विस्मृत नहीं किया है—"बैठो गड़ि गहिरे सु पैठो प्रेम घर में" अथवा "बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किशोर किशोरी" जैसी पंक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि कवि श्रृंगार को जीवन से सुसम्बद्ध करके उसकी गहराई की ओर प्रवृत्त होने की भावना रखता है।

देव के हृदय में अपने युग की परिस्थितियों के प्रति सूक्ष्म असन्तोष की भावना विकसित होती रही, जो वैभव-विलास की तीव्र प्रतिक्रिया से संयुक्त होकर जीवन के अन्तिम काल में विराग के रूप में व्यक्त हुई।

परिष्कृत सौन्दर्य-बोध तथा मौलिक उद्भावना-शक्ति, दोनों उनके काव्य में अतिरिक्त आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं और इस दृष्टि से वे रीतिकालीन कवियों में सबसे अधिक समृद्ध सिद्ध होते हैं। "ब्रज पोरि बिथा की कथा बिथुरी है।" जैसी अद्वितीय कल्पना बिना सौन्दर्य-बोध के असाधारण परिष्कार के रीतिकाल मे सम्भव नहीं थी।

देव का आचार्यत्व उनके कवित्व के समकक्ष सिद्ध नहीं होता। देव उन कवियों में से थे, जिन्होंने काव्य-शास्त्र को युग-धर्म समझकर ग्रहण कर लिया था, जबकि उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति काव्य-रचना की ओर ही विशेष संलग्न रही। उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन इसीलिए काव्य के क्षेत्र में अधिक और शास्त्र विवेचन में कम हुआ। रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य के रूप में देव का कोई विशेष स्थान नहीं माना है।

वास्तव में हिन्दी रीति-कवि के लिए आचार्यत्व उतना प्रेरक नहीं था, जितना कवित्व। राजसभा में यथोचित सम्मानप्राप्ति तथा संस्कृत-साहित्य की परम्परा में सम्बन्धित होने के गौरव की भावना से ही कदाचित् उनकी प्रवृत्ति लक्षण-ग्रन्थ लिखने की ओर हुई। देव भी इसके अपवाद नहीं हैं, वरन् एक प्रकार से वे "कवित्व प्रधान आचार्यत्व" का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। इतना तो निर्विवाद है कि देव के समकक्ष कुलपति, श्रीपति, प्रतापसाहि आदि हिन्दी रीति-काव्य के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें आचार्यत्त्व भले ही हो परन्तु ऐसी काव्य-शक्ति नहीं दिखायी देती, जिसे गण्य कहा जा सके। हिन्दी का प्रतिनिधि रीति-कवि वही हो सकता है, जो पहले कवि है फिर आचार्य। इस दृष्टि से देव की महत्ता अक्षुण्ण है।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनका काव्य : नगेन्द्र; रीतिकाव्य संग्रह : जगदीश गुप्त; देव के लक्षण-ग्रन्थों का पाठ और पाठ समस्याएँ : लक्ष्मीधर मालवीय (अ० प्र०)।]

—ज० गु०

देवक—भोजवंशीय आहुक के पुत्र, उग्रसेन के भाई। कंस इनसे घृणा करता था। इनके सात पुत्रियाँ थीं, जो वसुदेव को ब्याही थीं। इनमें से देवकी के गर्भ से भगवान् कृष्ण का जन्म हुआ था। देववान्, उपदेव, सुदेव तथा सहदेव इनके पुत्र थे।

—मो० अ०

देवकी—मथुरा के राजा उग्रसेन के छोटे भाई देवक की पुत्री, वासुदेव की पत्नी तथा कृष्ण की वास्तविक माता का नाम देवकी था। इसके अतिरिक्त शैव्य की कन्या, युधिष्ठिर की पत्नी, उद्गीथ ऋषि की पत्नी का भी देवकी के नाम से उल्लेख मिलता है। यद्यपि देवकी कृष्ण की वास्तविक माता हैं, तथापि कृष्ण-भक्त कवि यशोदा की तुलना में उसके व्यक्तित्व में

मातृत्व का उभार नहीं दे सके। देवकी को कृष्ण-जन्म के पूर्व ही उनके अतिप्राकृत व्यक्तित्व का ज्ञान था फिर भी जन्म के समय उनके अतिप्राकृत चिह्नों को देखकर वह चिन्तित हो जाती हैं (सू० सा०, प० ६२२-६२५)। इस अवसर पर उनके मातृत्व का आभासमात्र मिलता है। वह वासुदेव से किसी भी प्रकार कृष्ण की रक्षा की प्रार्थना करती हैं (सू० सा० प० ६२७)। कृष्ण-कथा में देवकी की दूसरी झलक मथुरा में उसके कृष्ण से पुनर्मिलन के अवसर पर होती है (सू० सा०, प० ३७०८)। कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के परिचय एवं बलराम के स्वयं को शेषनाग का अवतार कहने पर वह अपना विलाप त्यागकर मौन हो जाती हैं। इसलिए कथा के उत्तरार्द्ध में देवकी का मातृत्व दब सा गया है। अन्त में देवकी का वात्सल्य भक्ति में बदल जाता है। वह कृष्ण से स्वयं को गोकुल में शरण देने की प्रार्थना करती हैं (सू० सा० प० ३७४०)।

भक्ति-युग में सूरदास को छोड़कर सामयिक तथा परवर्ती कवियों की दृष्टि में देवकी का चरित्र प्रायः उपेक्षित ही रहा। परम्परा के अनुसार यशोदा की तुलना में उसका मातृत्व भक्त कवियों को आकर्षित नहीं कर सका। आधुनिक युग में 'कृष्णायन' (१।२) में देवकी परम्परागत रूप में ही चित्रित हुई हैं। 'द्वापर' (पृ० ८२-९८) में वह सरल और कंस के अत्याचार से पीड़ित विलाप करती हुई दिखायी पड़ती हैं। उसका स्वर तीव्र एवं किंचित् क्रान्तिकारी हैं। वह ब्रजवासी गोपाल के लिए उद्विग्न हैं।

—रा० कु०

देवकीनंदन—ये कन्नौज के समीपस्थ गाँव मकरन्द नगर (जिला फर्रुखाबाद) के निवासी और कवि शिवनाथ के पुत्र थे। गुरुदत्त इनके भाई थे। शिवसिंह, मिश्रबन्धु और रामचन्द्र शुक्ल ने देवकीनन्दन को सबली शुक्ल का पुत्र और शिवनाथ को उनका भाई बताया है, जो खोज-विवरणों को देखते हुए गलत है क्योंकि उसमें बार-बार हमारा ध्यान इस ओर खींचा गया है कि शिवनाथ कवि के भाई न होकर पिता थे। कवि के दो आश्रयदाता थे—एक उमराव गिरि महन्थ के पुत्र कुँवर सरफराज गिरि और दूसरे रूद्रामऊ मालाएँ (जिला हरदोई) के रैकवारवंशीय राजा अवधूत सिंह। इन दोनों आश्रयदाताओं के नाम पर कवि ने एक-एक रचना की है।

देवकीनन्दन बड़े विद्वान् और काव्यांगों के प्रकाण्ड पण्डित थे। अबतक उनकी कुल पाँच रचनाओं का पता लग पाया है—(१) 'श्रृंगार चरित्र', (२) 'सरफराज चन्द्रिका', (३) 'अवधूत भूषण', (४) 'ससुरारि पचीसी' और (५) 'नखशिख'। 'श्रृंगार चरित्र' का निर्माण सन् १७८३ ई० में हुआ। इसके अन्तर्गत कवि ने नायक-नायिका, भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी, काव्य-गुण, वृत्तियों, शब्दार्थ एवं चित्रालंकारों आदि का सम्यक् निरूपण किया है। कवि के प्रौढ़ काव्यशास्त्रीय ज्ञान और उत्कृष्ट कवित्व-प्रतिभा का सुन्दर परिचय इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ किसी को समर्पित नहीं किया गया है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस रचना के निर्माण-काल (१७८३ ई०) तक कवि अवधूत सिंह के यहाँ नहीं गया होगा। 'सरफराज चन्द्रिका' का रचनाकाल सन् १७८३ ई० है। यह अलंकार ग्रन्थ कुँवर सरफराज गिरि के प्रीत्यर्थ लिखा गया था। 'अवधूत भूषण' का रचनाकाल सन् १७९९ ई० है। यह भी एक अलंकार-ग्रन्थ है, जो राजा अवधूत सिंह के नाम पर लिखा गया था। 'अवधूत भूषण' 'श्रृंगार चरित्र' का ही किंचित् परिवर्द्धित रूपमात्र है। 'ससुरारि पचीसी' नामक रचना में कवि ने ससुरारि-सुख और नायक-नायिका के कामानन्द का श्रृंगारिक वर्णन किया है।

कवि की उक्त कृतियों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि कवि का झुकाव कलागत वैशिष्ट्य की ओर ही अधिक है तथापि भावों की सहजता, सरलता, स्वाभाविकता और मार्मिकता को उससे कहीं धक्का नहीं लगने पाया है। कला और भाव का सुन्दर समन्वय इस कवि में देखने को मिलता है। इस दृष्टि से हम उसे पद्माकर की कोटि का कवि कह सकते हैं। प्रखर पाण्डित्य के कारण कहीं-कहीं उनकी कविता क्लिष्ट भी हो गयी है; यत्र-तत्र कूट-काव्य भी है। कवि के भावों में सर्वत्र लालित्य, माधुर्य और एक सहज अनूठापन है। भाषा साफ-सुथरी और मँजी हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (भा० १, २, १२, १३); शि० स०; मि० वि०; दि० भू०; हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०।]

—रा० त्रि०

देवकीनंदन खत्री—आपके पूर्वज लाहौरनिवासी थे। महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद जब लाहौर में अराजकता सी फैल गयी थी तब आपके पिता ईश्वरदास काशी चले आये और यहीं स्थायी रूप से रहने लगे। आपका जन्म सन् १८६१ ई० में मुजफ्फरपुर में हुआ था। यहाँ आपका ननिहाल था। ननिहाल में ही आपका बचपन व्यतीत हुआ और उर्दू-फारसी की शिक्षा भी मिली। बड़े होने पर आप काशी चले आये। यहाँ आने पर आपने संस्कृत और हिन्दी का अभ्यास किया। गया जिले के टिकारी राज्य में आपकी पैतृक व्यापारिक कोठी थी। वहाँ के राजदरबार में आपकी पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। चौबीस वर्ष की अवस्था तक यहीं रहकर आपने व्यापार की देखरेख की। टिकारी राज्य में काशीनरेश ईश्वरीनारायण सिंह की बहिन व्याही थीं। इसी कारण आपका काशीनरेश से भी अच्छा सम्बन्ध हो गया था। टिकारी राज्य के सरकारी प्रबन्ध में चले जाने के बाद आप वहाँ का कारबार छोड़कर काशी चले आये और काशीनरेश की कृपा से आपको चकिया तथा नौगढ़ के जंगलों का ठीका मिल गया। इसी सिलसिले में आपको जंगलों और पहाड़ों में घूमने तथा प्राचीन इमारतों के भग्नावशेषों को देखने का अच्छा सुयोग्य प्राप्त हुआ। इस संयोग-सुलभ वातावरण ने आपके भावुक मनको रहस्यमयी रंगीन कल्पनाओं से रंग दिया। आपने ठीकेदारी छोड़कर लिखना आरम्भ किया।

आपका पहला उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' सन् १८८८ ई० में काशी के हरिप्रकाश प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के ११ भाग भी इसी प्रेस में मुद्रित हुए। इन उपन्यासों की लोकप्रियता ने आपको इसी क्षेत्र में रमा दिया। सन् १८९३ ई० में 'नरेन्द्र मोहिनी', नारायन प्रेस, मुजफ्फरपुर से प्रकाशित हुआ। सन् १८९५ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने 'वीरेन्द्र वीर' प्रकाशित किया। सन् १८९८ में आपने 'लहरी प्रेस' नाम से निजी प्रेस खोला। इसी प्रेस से आपके अन्य उपन्यास—'कुसुम कुमारी' (१८९८),

'काजर की कोठरी' (१९०२ ई०), 'भूतनाथ'—प्रथम ९ भाग (१९०७-१३), 'गुप्त गोदना' (१९०६ ई०)—प्रकाशित हुए। आपके अन्य दो उपन्यास—'अनूठी बेगम' फ्रेन्ड्स एण्ड कम्पनी, मथुरा से सन् १९०५ में तथा 'नौलखा हार' कचौडी गली, बनारस से १८९९ ई० में प्रकाशित हुए। सन् १९०० ई० में आपने माधवप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व मे 'सुदर्शन' नामक एक साहित्यिक मासिकपत्र का प्रकाशन आरम्भ किया, जो दो वर्षों तक चलकर बन्द हो गया।

आप हिन्दी-साहित्य मे ऐयारी-तिलस्मी उपन्यासों के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों की प्रेरणा आपको कदाचित् 'तिलस्म-इ-होश्रुबा' से मिली थी। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को उर्दू साहित्य के 'बोस्तान-इ-ख्याल' और 'दास्तान-इ-अमीर हम्जा' के मुकाबले का माना गया है किन्तु ध्यान रखना होगा कि उर्दू के उपन्यास वासनापरक हैं, जबकि आपके उपन्यासों में वासना की गन्ध भी नहीं मिलती। तिलस्मों की प्रेरणा आपको चाहे जहाँ सेमिली हो किन्तु 'ऐयारों' की परम्परा तो शुद्ध भारतीय है। लोक-जीवन में ऐसी बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं, जिनमें एक राजा का 'चतुर चोर' दूसरे राजा के 'चतुर रक्षकों' को छकाकर उसकी कोई बहुमूल्य वस्तु चुरा लाता है और अपने महाराज की सेवा में समर्पित करता है और कौशल की परीक्षा हो जाने पर वह वस्तु पुन: उसके वास्तविक स्वामी को लौटा दी जाती है। लोक-कथाओं का यह 'चतुर चोर' एक प्रकार का 'ऐयार' ही है। संस्कृत के नीति-साहित्य में राजाओं द्वारा शासन की दृढ़ता, स्थिरता एवं रक्षा के लिए 'गूढ़-पुरुषों' की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है। ये 'गूढ़-पुरुष' गुप्त रूप से स्व-पक्ष की रक्षा और शत्रु-पक्ष का नाश करने में सहायता पहुँचाते थे। देवकीनन्दन खत्री का 'ऐयार' संस्कृत-नीति-साहित्य के 'गूढ़ पुरुष' और 'लोककथाओं' के 'चतुर चोर' का ही ध्वंसोन्मुख मध्ययुगीन सामन्तीय संस्करण है। आपने स्वयं राजदरबारों में ऐसे लोगों की नियुक्त होने की बात कही है ('चन्द्रकान्ता' प्रथम संस्करण की भूमिका) जो भी हो, यह सर्वथा मान्य है कि आप हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास लेखक हैं, जिनके उपन्यासों की सर्व-साधारण में धूम मच गयी थी।

इन 'तिलस्मी-ऐयारी' उपन्यासों में कुछ सामान्य 'कथानक-रूढ़ियों' का पालन किया जाता है। कथानक किसी कुलीन राजकुमार और राजकुमारी के सम-प्रेम को लेकर अग्रसर होता है। क्रूर, धूर्त और हिंसक प्रतिनायक और सुन्दरी किन्तु निष्ठुर प्रतिनायिका द्वारा व्याघात उपस्थित होता है। इन क्रूर पात्रों के फेर में पड़कर नायक और नायिका प्राय: किसी तिलस्म में फंस जाते हैं। इन तिलस्मों की रचना पेंचीदी और जटिल होती है। इनमें अपार सम्पत्ति छिपी रहती है। इन तिलस्मों के तोड़ने का ब्योरा 'रक्तगन्ध' नामक पोथी में लिखा रहता है। भाग्यवश यह पोथी नायक को प्राप्त होती है और इसे पढ़कर वह तिलस्म तोड़ने में सफल होता है। प्रत्येक तिलस्म का एक पुस्तैनी दरोगा होता है, जो कुशल ऐयार होता है, जिसे तिलस्म के रहस्यों का ज्ञान होता है। अन्त में नायक अपने चतुर, स्वामिभक्त और वीर ऐयारों की सहायता तथा अपनी शक्ति से विरोधियों पर विजय प्राप्त करता है। उसे नायिका के साथ ही तिलस्म का पूरा खजाना भी प्राप्त होता है। नायिका की सखियाँ—जिनमे बहुत सी कुशल 'ऐयारा' होती हैं—नायक के साथियों और ऐयारों को प्राप्त होती हैं। यह आवश्यक नही कि इन सभी रूढ़ियो का पालन प्रत्येक तिलस्मी उपन्यास मे किया जाय किन्तु अधिकांश रूढ़ियाँ प्राय. सभी मे मिल जाती हैं।

इन उपन्यासों को उच्च साहित्यिक रचनाओ की कोटि मे नहीं रखा जाता क्योंकि न तो इनमें सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चरित्राकंन ही होता है, न रमणीय भाव-रस-विधान ही। कथानक, पात्र और वातावरण सभी कुछ लेखक के संकेत पर निर्भित होता है। मकड़ी के जाले की तरह लेखक अलौकिक-असामान्य घटनाओ के रहस्यमय जंगल में पाठक को भटकाता रहता है। इनसे सामान्य रुचि के अर्द्ध-शिक्षित पाठकों का समय कट जाता है। देवकीनन्दन खत्री ने इनकी रचना करके जन-साधारण के बीज हिन्दी की प्रतिष्ठा स्थापित करने का बहुत बड़ा कार्य पूरा किया। यों, वे उपन्यास नैतिक दृष्टिकोण से सर्वथा हीन नहीं हैं। नायक का निष्ठावान्, भाग्यवादी, वीर और न्यायप्रिय होना; ऐयारों का वीर, स्वामिभक्त, अहिंसक और बात का धनी होना; प्रेम-चित्रों में वासना का अभाव होना; नायिकाओं से प्रेम की अनन्यता का दिखाया जाना और अन्तत: क्रूर-कुविचारी पात्रों का सर्वनाश दिखाना आदि ऐसे तत्त्व इनमें मिलते हैं, जिनसे एक तो भारतीय नैतिक आदर्शवादी दृष्टिकोण की रक्षा हुई है, दूसरे सामान्य जातीय चरित्र की स्थूल रेखाओं का अंकन भी हो गया है। लेखक जिस ढंग से घटनाओं को बिखेर देता है, उलझा देता है और फिर समेट लेता है, सुलझा देता है, उससे उसकी उर्वर कल्पना-शक्ति और अद्भुत स्मरण-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इन उपन्यासों के माध्यम से देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी-भाषा का जो रूप खड़ा किया, उसका—तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए—बहुत महत्त्व है। घटनाओं के रहस्य-जाल में रमने के लिए बहुत से लोगों ने हिन्दी की ओर देखा और अल्पप्रयास से 'खत्रीय-हिन्दी' सीखकर हिन्दी के हिमायती बन गये। बहुत से व्यक्तियों ने 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी, ऐसा कहा जाता है।

पहली अगस्त सन् १९१३ ई० को देवकीनन्दन खत्री का देहान्त हो गया। अपने जीवन-काल में 'तिलस्मी-ऐयारी' उपन्यासों की धूम मचाकर संस्कारों से आस्थावादी, स्वभाव मे मौजी, हृदय से उदार और साधनसम्पन्नता के कारण शौकीन तबीयत देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी का बहुत बड़ा कल्याण किया।

—रा० चं० ति०

देवकीनंदन त्रिपाठी—रचनाकाल सन् १८७६ के लगभग माना जाता है। इनकी कृतियों में 'सीताहरण' और 'रुक्मिणीहरण नाटक' (१८७६), 'रामलीला नाटक' (१८७९ से पूर्व), 'कंसवध नाटक' (१८७९), 'नन्दोत्सव नाटक' (१८८०), 'लक्ष्मी-सरस्वती मिलन नाटक' (१८८१), 'प्रचण्ड गोरक्षण नाटक', और 'बाल-विवाह नाटक' तथा 'गोवध निषेध नाटक' (१८८१) आदि हैं। ये सभी हस्तलिखित हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने 'रक्षाबन्धन' (१८७२), एक-एक के तीन-तीन' और स्त्री-चरित्र' (१८७९), 'वेश्या विलास' 'बैल

छै टके को', 'जय नरसिंहकी' (१८७६ के लगभग), 'सैकड़े में दश दश' तथा 'कलजुगी जनेऊ' (१८८६) आदि प्रहसन भी लिखे थे। ये भी हस्तलिखित ही हैं। इनके लिखे हुए 'होली खगेश' तथा 'चक्षुदान' शीर्षक दो और नाटकों का उल्लेख किया जाता है। ये सफल नाटककार थे और बहुत तीखी शैली में लिखते थे। इन्होंने समाज की अनेक कुप्रथाओं और रूढ़ियों का विरोध किया है तथा उन पर व्यंग्य भी किये हैं। अपने प्रहसनों द्वारा इन्होंने समाज-सुधार का वह प्रशंसनीय कार्य आगे बढ़ाया, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आरम्भ किया था।

—प्र० ना० टं०

देवदत्त—प्रसादकृत नाटक 'अजातशत्रु' का ऐतिहासिक खल पात्र है। यह बड़ा ही कुटिल, कुचक्री और धूर्त है। इतिहास द्वारा पता चलता है कि यह पहले गौतम के संघ मे था और संघ से जैन धर्मानुकूल अहिंसा की व्याख्या कराने के लिए प्रयत्नशील था। अपनी चेष्टा में सफल न होने के कारण वह गौतम का प्रतिद्वन्द्वी बन गया और "संघभेद करके राष्ट्रभेद करने" की अभिलाषा से उसने राजनीति में प्रवेश किया। वह अपने लक्ष्य-भेद में बड़ा व्यवहारकुशल है। 'विनय पिटक', 'दीर्घ निकाय' और 'सुमंगल विलासिनी', के अनुसार देवदत्त ने अजातशत्रु से कहा-"तुम अपने पिता की हत्या कर राजा बनो और मैं बुद्ध की हत्या कर शास्ता बनता हूँ।" वह छलना और अजात के हृदय में वासवी और बिम्बसार के प्रति द्रोहाग्नि प्रज्वलित करता है। अपने कुचक्रों से मगध-परिषद की अध्यक्षता ग्रहण करके राजकुल में आन्तरिक विघटन की भावना को जन्म देता है। शुद्धबुद्ध गौतम को ढोंगी और कपटमुनि समझता है किन्तु वह स्वयं ऐसे कुलक्षणों से युक्त है। देवदत्त ऊपर से विरक्त होने का ढोंग करता हुआ अन्दर से पदलोलुप और पाखण्डी है। भेद खुलने पर छलना कहती है-"पाखण्ड! जब तूने धर्म के नाम पर उत्तेजित करके मुझे कुशिक्षा दी, तब मैं भूल में थी। गौतम को कलंकित करने के लिए कौन श्रावस्ती गया था? और किसने मतवाला हाथी दौड़ाकर उनके प्राण लेने की चेष्टा की थी?" छलना अपने पुत्र अजातशत्रु के पराजित होने का सारा अभियोग देवदत्त पर मढ़ती है और उसे बन्दी बना लेती है। वासवी के कहने पर उसे छोड़ दिया जाता है। प्यासा होने के कारण वह एक सरोवर में उतरता है और ग्राहके द्वारा अथवा लज्जा से डूबकर मृत्यु को प्राप्त होता है। देवदत्त का असद्वृत्तियों ये युक्त कलुषित चरित्र गौतम के पुण्यशील चरित्र को और भी अधिक उज्जवल बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

—के० प्र० चौ०

देवनारायण द्विवेदी—वर्तमाय समान में हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन संस्था—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी—के प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष देवनारायण द्विवेदी का जन्म सन् १८९७ ई० में भाद्रपद शुक्ल १० सं० १९५४ विक्रमी में मिर्जापुर मंडलांर्तगत भैरना ग्राम में हुआ। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इनकी ख्याति सर्वप्रथम इनकी 'देश की बात' नामक पुस्तक के कारण हुई। इस के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि इसका आधार बंगला की 'देशेर कथा' थी फिर भी इसमें मौलिकता का अभाव न था। १२४ ए—राजद्रोह के अन्तर्गत यह पुस्तक जब्त कर ली गयी थी। १९२५ ई० से लेकर १९३७ ई० तक की अवधि मे क्रमशः इनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए—'कर्त्तव्याघात', 'प्रणय', 'पश्चात्ताप' और 'दहेज'। ये कृतियाँ धीरे-धीरे बहुत लोकप्रिय हुई। इनके कई संस्करण निकले। 'दहेज' का तो अठारहवां संस्करण प्रकाशित हो चुका है। आपने गोस्वामी तुलसीदासकृत कई ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं। रामचरित मानस, विनय पत्रिका, कवितावली तथा हनुमान् बाहुक ग्रन्थों पर की गयी टीकाएँ विद्वानों द्वारा समादृत हैं। इन्होंने कई अनुवाद भी किये हैं। बंगला से 'गोरा' 'गीताजलि' तथा 'मिलनमन्दिर' नामक पुस्तकों के अनुवाद बहुत सफल हुए हैं। आपने योगिराज अरविन्दघोष की कई पुस्तकों का अनुवाद किया है, जैसे 'धर्म और जातीयता', 'गीता की-भूमिका', 'अरविन्द मन्दिर' मे आदि। राबर्ट ब्लैक सीरीज के कोई पैंतीस उपन्यासों के अनुवाद लोकरुचि का ध्यान रखकर आपने किये हैं। इन अनुवादों की भाषा सहज और साधारण जनता के लिए बोधगम्य एवं रुचिकर हैं। सन् १९४०-४१ के लगभग आपने 'काशी-समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन किया था। यह पत्र काशी से निकलता था। खड़ीबोली हिन्दी के विकसनशील स्वरूप में द्विवेदीजी का कार्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। ज्ञानमण्डल लिमिटेड के व्यवस्थापक रहकर आपने हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। आप ही के प्रयास से उक्त संस्था द्वारा कोशों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और कई महत्त्वपूर्ण कोश प्रकाशित हुए।

—र० भ्र०

देवप्रिया, रानी—प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' की पात्र। देवप्रिया विनोद और विलास की पुतली है। उसकी रियासत उसके भोग-विलास के लिए साधन मार्ग है। जिस प्रेम में त्याग और भक्ति का समावेश होना चाहिए, वह उससे सदैव वंचित रही। प्रेमचन्द्र भी इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि दाम्पत्य-प्रेम जब तक विलास पर आधारित रहेगा तब तक अमंगलकारी रहेगा। यद्यपि एक बार देवप्रिया ममत्व और विराग लेकर निकल पड़ी थी तो भी वह सब कुछ यौवन के द्वार फिर से खोलने के लिए था। रानी कमलावती के रूप में वह सुख-लालसा की इच्छुक रही। उसकी वासना ही पति-मृत्यु का कारण बनती है। शंखधर की पत्नी के रूप में उसे देखकर ही ठाकुर विशालसिंह सशंकित हो उठा था। शंखधर की मृत्यु भी हुई। उसके बाद विलासिनी देवप्रिया तपस्विनी देवप्रिया बन जाती है और अब उसका भविष्य अन्धकारमय नहीं रह जाता। प्रभात की आशामयी किरणें उसका जीवन-मार्ग आलोकित करने लगती हैं।

—ल० सा० वा०

देव-पुरस्कार—हिन्दी काव्य पर दिया जानेवाला सर्वाधिक प्रसिद्ध पुरस्कार। ओरछानरेश द्वारा प्रदत्त दो हजार रुपये का यह पुरस्कार एक वर्ष खड़ीबोली के और दूसरे वर्ष ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ काव्य पर दिया जाता रहा है। प्रथम पुरस्कार दुलारेलाल भार्गव को उनकी दोहावली पर मिला था।

देवमाया प्रपंच नाटक—यह रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि देव की एकमात्र नाट्यकृति है, जो काव्यमय होने पर भी अपनी वस्तु-योजना के कारण हिन्दी नाटक के इतिहासों में उल्लिखित होती रही है। इसकी रचना कवि ने श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा

विरचित संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की शैली के समानान्तर की है। ग्रन्थ नाम में प्रयुक्त देव शब्द कवि नाम का बोधक भी माना गया है और इसके देवकृत मानने का कारण भी बताया गया है। इसकी एक अत्यन्त प्राचीन प्रति देवके वंशज मातादीन दुबे के पास सुरक्षित है तथा एक अन्य प्रति गन्धौली में कृष्णबिहारी मिश्र के परिवार में प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त में भी कवि ने अपने नाम का समावेश "हृदे बसो कवि देवके सतसंगति को पाय।" लिखकर किया है। नगेन्द्र ने इसकी रचना 'देवचरित्र' के बाद मानी है। निश्चित रचनाकाल अज्ञात है। देव के अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के अनेक छन्द इसमें प्राप्त हैं अतएव इस कारण भी इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

परब्रह्म रूप पुरुष की दो पत्नियाँ हैं—एक प्रकृति और दूसरी माया। प्रकृति से बुद्धि और माया से मन उदभूत हुआ है। नाटकीय कथा-विकास में परपुरुष माया का बन्दी हो जाता है तथा बुद्धि भटक जाती है। जनश्रुति उसे उपदिष्ट करके सत्संगति से मिलाती है फिर धर्म पक्ष और अधर्म पक्ष में घोर युद्ध होता है। कलह और कलंक कलियुग के पक्षधर हैं। तर्क की गुप्त मन्त्रणा से मन मोह-मुक्त होता है। उसे माया के बन्धन से भी मुक्ति मिलती है, तत्पश्चात् वह अपने पिता से मिलता है। युद्ध में अधर्म पक्ष की पराजय और धर्मपक्ष की विजय होती है। इस प्रतीक-कथा का अन्त परपुरुष के साथ प्रकृति, मन और बुद्धि के पूर्ण संयोग से होता है। माया के प्रपंच का शमन ही अभीष्ट है। सम्पूर्ण नाटक छः अंकों में विभाजित है। प्रस्तावना और नान्दी पाठ की भी व्यवस्था है। एक दोहे में कथावस्तु का पूरा संकेत किया गया है—"सुत भूल्यो सुत के भये, पच्यो पिता सों बीचु। मातु मते भगिनी तजी, घर घर नाच्यो नीचु।।"

इसके पद्यों में अनेक ऐसे पद्य हैं, जिनमें देव की विरागवृत्ति पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुई है। कहीं—कहीं ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं, जिनसे लगता है कि देव अपने समय की समाज-व्यवस्था तथा ब्रह्मवाद से भी असन्तुष्ट थे। "वेदन मूँदु कियो जिन दूँदु कि सूदु अपावन पोंड़े।" सम्भवतः इसी प्रकार की उक्ति है।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' से इस नाटक के उद्देश्य में तथा कुछ अंशों में पात्र एवं वस्तु-कल्पना में ही साम्य है। शेष कथावस्तु कवि द्वारा स्वयं संयोजित है, अतः इससे देव कवि की प्रतिभा एवं स्वभाव का एक ऐसा पक्ष सामने आता है, जो उनके अन्य ग्रन्थों में कहीं उपलब्ध नहीं होता। यह नाटक इस प्रकार कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; मि० वि०; हि० का० शा० इ०; री० भू० तथा दे० का०; देव के लक्षण-ग्रन्थों का पाठ और पाठ-समस्याएँ (अ० प्र०) : लक्ष्मीधर मालवीय।]

—ज० गु०

देवयानी—दे० 'कचदेवयानी'।

देवराज उपाध्याय—जन्म सन् १९०८ ई० में शाहाबाद के वामन गाँव में। एम० ए०, पी-एच० डी० की शिक्षा समाप्त करके आप जोधपुर में रह रहे हैं। पटना और राजपूताना विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने के बाद, विद्यार्थी काल से ही आपकी अभिरुचि साहित्य में थी। आपने आलोचना के क्षेत्र को अपनाया है। अब तक लगभग सात-आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से तीन-चार विदेशी उपन्यासों के अनुवाद हैं। शेष आलोचना की पुस्तकें हैं। आपके अनुसन्धान का विषय 'आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान' (१९५६) था। इसी नाम से आपका शोध-ग्रन्थ प्रकाशित भी हुआ है, जिसमे आधुनिक कथा-साहित्य पर मनोवैज्ञानिक रूप से विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त आपकी दूसरी पुस्तक काव्य-शास्त्रसम्बन्धी है, जिसका नाम 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र' (१९५६) है। इस पुस्तक मे काव्य-सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचना और रचना-प्रक्रिया आदि पर भी विचार किया गया है। व्यक्तिगत निबन्धो और साहित्यिक निबन्धों का एक और संकलन प्रकाशित है, जिसका नाम है 'रेखा' (१९४०)। इन पुस्तको के अतिरिक्त लियोनार्ड फ्रेंक द्वारा लिखित पुस्तक 'कार्ल एण्ड एनना' का भी आपने अनुवाद किया है। गांधीजी की पुस्तक 'इण्डिया आफ माई ड्रीम्स" का भी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

—ल० का० व०

देवराज नन्दकिशोर—डा० देवराज की गणना हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचकों में होती है। इनका जन्म १९१७ ई० मे रामपुर में हुआ था। बहुत समय तक आप लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापक रहे। फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र के निदेशक रहे। प्रकाशित ग्रन्थ-'पथ की खोज' (उपन्यास : १९५१); 'साहित्य-चिंता'; 'आधुनिक समीक्षा' (१९५४); 'छायावाद का पतन' (१९४८); 'साहित्य और संस्कृति' (१९५८); 'अजय की डायरी' (उपन्यास : १९६०)। 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' (१९६६); इतिहास पुरुष (कविता संग्रह :१९६५); 'प्रतिक्रियाएँ' (१९६६), मैं वे और आप (उपन्यास १९६९)देव राज की सबसे महत्त्व पूर्ण पुस्तक संस्कृति का दार्शनिक विवेचन है। भारती भाषाओं में कदाचित् यह अपने ढंग की अकेली पुस्तक है। वे मूलतः चिंतक हैं और उनकी साहित्य-चिन्ता भी उनकी व्यापक संस्कृति-चिन्ता के अंतर्गत उपलक्ष्य रूप में ही है। आलोचना में उनका आग्रह सांस्कृतिक आभिजात्य के अपने विशिष्ट आग्रह और दृष्टिकोण से ही साहित्य को देखने—परखने का है। वे मानववादी परम्परा के विचारक हैं और कृति की बजाय कृतित्व के लिए आवश्यक वातावरण और प्रेरणाओं को स्पष्ट करने में सहज उत्साह अनुभव करते हैं। 'क्लासिक्स' के प्रति उनका उत्साह संक्रामक है और उनके निबन्ध उनके विस्तृत अध्ययन तथा सुरुचिसम्पन्नता के कारण हमेशा पठनीय होते हैं। 'हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति : एक निवेदन', 'भारतीय दर्शन और विश्व-दर्शन', 'हमारी सांस्कृतिक समस्या' 'आदिकाव्य' जैसे निबन्धों की उपयोगिता आज भी कम नहीं हुई है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि देवराज पुराने कवियों-वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास आदि का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन करने में सफल हो गए हैं, क्योंकि उसके लिए शायद दूसरी क्षमताएँ भी गंभीर और एकाग्र अध्यवसाय के अलावा अपेक्षित थीं। किन्तु इस अत्यावश्यक उद्यम के प्रति हिन्दी आलोचकों का ध्यान आकर्षित करने के

लिए तथा अपने छिटपुट प्रयत्नों द्वारा इस दिशा में समुचित उत्तेजन देने के लिए हिन्दी-जगत् उनका ऋणी रहेगा। उनका 'रामचरितमानस : एक मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध इस दृष्टि से काफी रोचक है। यों भी देवराज ने काफी संतुलित ढंग से समाजवादी और व्यक्तिवादी विचार पद्धतियो को ग्रहण किया हैं। उनमें कट्टर सिद्धान्तवादिता नहीं है; व्यापक दृष्टिकोण है।

उपन्यास में देवराज की स्थिति आलोचना की अपेक्षा बेहतर है। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि 'अजय की डायरी' हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासों में है, किन्तु फिर भी यहाँ लेखक का आत्मदान अधिक ठोस है। देवराज के व्यक्तित्व का उनके सांस्कृतिक अर्जन का, चिंतनशील मस्तिष्क का अधिक साफ और प्रत्यक्ष उपयोग इस उपन्यास मे हुआ है। डायरी शिल्प का ऐसा समर्थ उपयोग शायद ही कहीं और मिले। उनका विशिष्ट जीवनानुभव और व्यक्तित्व जो अपेषित तीव्रता और निष्कवचता और सूक्ष्म शब्द-संवेदना के अभाव में 'कविता' नहीं बन पाता और उच्चकोटि के आलोचक कर्म के लिए अपेक्षित एकाग्रता और निस्संगता नहीं जुटा पाता, वह इस आत्मकथात्मक डायरी-शिल्प की सुविधावाले उपन्यास में अपना सहज-स्वाभाविक उन्मोचन यथासंभव पा लेता प्रतीत होता है। विद्वत्ता की गहराई और व्यक्तित्व की जटिल समृद्धि कविता और आलोचना दोनों को फल सकती है और फलती ही है। पर शायद इन दोनो ही क्षेत्रों में कमाल करने के लिए एक प्रकार की चरमता भी चाहिए . आसक्ति और अनासक्ति दोनों की चरमता, जोकि संस्कृति या किसी भी कवच को फाड़ देनेवाली चीज है। देवराज के व्यक्तित्व में यह चरमता नहीं है। इसलिए उनकी आलोचना और कविता दोनों ही एक सामान्य दक्षता के धरातल से ऊपर कभी नही उठ पाती। परिष्कार अवश्य है और खरी जिज्ञासु-वृत्ति भी, जो उनके लेखो को पठनीय बनाती है। हिन्दी लेखन और हिन्दी आलोचना का स्तर कैसे ऊँचा उठाया जाय, यह चिंता और तद्विषयक उत्साह इन लेखों में लगातार अनुभव किया जा सकता है।

देवराज के उपन्यासो की केन्द्रीय चिन्ता यह है कि क्या सांस्कृतिक अभिरुचि या बौद्धिकता स्त्री-पुरुष के बीच के सम्बन्ध को पूरी सार्थकता देने के लिए पर्याप्त है। 'अजय की डायरी' में यह चिन्ता अधिक गहरे विन्यस्त है : उसमें नायक का अन्तर्द्वन्द्व भी अधिक गहरा और अनेक जीवन-सन्दर्भों के चिन्तन की जटिलता से युक्त है। लेखक की बौद्धिक संस्कृति का ही नही, उसके संवेदना और अनुभवशीलता की भी क्षमताओ और सीमाओं का भी सही सही अन्दाज इस पुस्तक से लगाया जा सकता है चरित्र की पकड़ यहाँ आकर अधिक मजबूत हुई है।

'आलोचना सम्बन्दी मेरी मान्यताएँ' में देवराज का कथन है कि "आलोचक में यह क्षमता अपेक्षित नहीं है कि वह साहित्यकार की भाँति जीवन की जटिलताओं को स्वयं देख सके, किन्तु उसमें इतनी योग्यता अवश्य होनी चाहिए कि वह लेखक की दृष्टि या सूझ की दाद दे सके। वस्तुतः लेखक और समीक्षक में मुख्य अन्तर यह होता है कि जहाँ द्वितीय में युग-जीवन की धुँधली चेतना होती है, वहाँ प्रथम में चेतना अधिक स्पष्ट और मूर्त्त होती है।" आलोचना कर्म के विषय में देवराज की यह धारणा छिछली और भ्रामक है। लॉरेन्स तक स्वीकार करता है कि "लेखक की ही तरह आलोचक में भी जटिलता और जीवन्तता का संयोग अनिवार्य है।" देवराज के निबन्धों में कई अन्तर्विरोधी बातें एक साथ दिखाई देती हैं, जो प्रतिपादन की शास्त्रीय स्वच्छता और सदाशय चिन्तनशीलता से हल नहीं हो जातीं।

—र० चं० शा०

देवल दे की कथा—दे० 'कथा खिजरषां साहिजादे व देवल दे की'।

—सं०

देवव्रत—भीष्म का एक नाम। ये शान्तनु और जाह्नवी के पुत्र थे और विष्णु की योगशक्ति को जानते थे (दे० 'भीष्म')।

—मो० अ०

देवसेना १— इंद्र की पुत्री। देवसेना का विवाह कार्तिकेय से हुआ था।

मो० म०

देवसेना २—प्रसादकृत नाटक 'स्कन्दगुप्त' की पात्र। बन्धुवर्मा की बहिन मालव-कुमारी देवसेना के चरित्र का निर्माण प्रसाद की अमर कल्पना से हुआ है। उसमें आदर्श नारीचरित्र की प्रमुख विशेषताएँ, यथा सहनशीलता, उदारता भावुकता गभीरता देशप्रेम संगीत प्रियता प्रेमानुभूति एवं दृढ़ता आदि समस्त गुण पाये जाते हैं। अपने इसी सर्वतोंमुखी व्यक्तित्व के कारण देवसेना का चरित्र काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक जान पड़ता है। प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में सर्वप्रथम वह हमारे समक्ष आती है तथा विजया और जयमाला के साथ वार्तालाप करती हुई "देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का" कुछ ध्यान न होने के कारण अपनी चिन्ता व्यक्त करती है। देवसेना अपने सामाजिक—दायित्व के प्रति पूर्ण सजग है। वह "भाव विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई कुरंगी सी कुमारी" लोक-जीवन के संघर्षों में भी अडिग भाव से अपनी व्यावहारिक क्षमता के बल पर निराले व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करती है। संगीत की अनन्य प्रेमिका एवं पवित्र प्रेम की प्रतिमूर्ति देवसेना अपने जीवन और जगत् के कण-कण मे एक लय और तान की समरसता देखती है। वह जीवन की विषमता को भी संगीत की मधुरिम स्वर लहरी में डुबोकर आकर्षक बना देती है। मालव दुर्ग पर जब विदेशियों का आक्रमण होता है, उस संकट की स्थिति में भी अपनी संगीतप्रियता व्यक्त करती हुई जयमाला से कहती है : "तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नही।" देवसेना संगीत को ब्रह्म की सत्ता के समान अणु-परमाणु में सर्वत्र परिव्याप्त देखती है। इस प्रकार वह सामान्य अनुभूति के स्तर से ऊँचे उठकर रहस्यात्मक अनुभूति के क्षेत्र में पहुँच जाती है। देवसेना का चरित्र अपने ढंग का सर्वथा निराला है। सुख-दुख की प्रत्येक स्थिति में निश्चिन्त बनी रहने वाली यह रहस्यपूर्ण रमणी अपने ऐकान्तिक सम्पूर्णता में सदैव डूबी रहती है। उसके जीवन का आदर्श "एकान्त टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ पारिजात वृक्ष" है।

देवसेना की यह रहस्यात्मकता एवं संगीतप्रियता करुण-भावना से परचालित है। जयमाला इस ओर संकेत

करते हुए कहती है : "जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है।" देवसेना के साक्ष्य पर "जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ" के द्वारा इसकी पुष्टि हो जाती है। उसकी रहस्य-भावना के मूल में हृदय-पक्ष की प्रधानता परिलक्षित होती है। इस दृष्टि से वह भावुकता की सजीव प्रतिमूर्ति प्रतीत होती है। गम्भीरता के संयोग से इसकी यही भावुकता रहस्योन्मुखता में परिणत हो गयी है तथा प्रेम के क्षेत्र में पहुँचकर संयम, त्याग एवं दृढ़ता का मंगलकारी विधान प्रस्तुत करती है। देवसेना की प्रणय-गाथा भी उसकी रहस्यात्मकता की भाँति बड़ी नाटकीय एवं रोमांचकारी है। वह अपने यौवन की प्रखर दोपहरी में स्कन्द की जिस मन्मथ मूर्ति का वरण करती है, वही भ्रमवश विजया की ओर आकृष्ट हो जाता है, जिसकी पुष्टि मालव की राजसभा में स्कन्द गुप्त द्वारा अनायास व्यक्त की गयी वाणी द्वारा हो जाती है: "विजया, यह तुमने क्या किया।" फिर भी देवसेना क्षुद्र सपत्नी-भाव का आश्रय ग्रहण न करके असाधारण गम्भीरता और सहनशीलता से अपने भावोद्‌गारों को दबाकर स्वस्थ एवं सन्तुलित बनी रहती है। उसके चरित्र की यह लोकोत्तर अद्वितीयता उसी के कथनों की व्यावहारिक भूमिका प्रस्तुत करती है-"संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल किन्तु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति-सौरभवाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।" देवसेना के चरित्र में अनासक्त कर्मयोग की भावना का सजीव अंकन नाटककार द्वारा किया गया है। जिस समय भीमवर्मा देवसेना को यह सुसंवाद सुनाता है कि तुम्हारे प्राण बचाने के पुरस्कार में स्कन्द ने मातृ-गुप्त को कश्मीर का शासक नियुक्त किया है, उस समय बड़े संयत स्वरों में देवसेना यही कहती है : "सम्राट् की महानुभावना है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य।" इसी प्रकार स्कन्दगुप्त द्वारा आर्य-साम्राज्य की उद्धार चर्चा सुनकर बड़े निर्लिप्त भाव से कहती है : "मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे।" स्कन्द के प्रति देवसेना का प्रेम वासनापरक न होकर आलौकिक दिव्य-भावों से युक्त है। स्कन्दगुप्त जब उसे अपना ममत्व अर्पित करके किसी कानन के कोने में उसके साथ एकान्तवास की कामना करता है, तब उसके इस ममत्वपूर्ण आत्मनिवेदन से देवसेना की पूर्ण आध्यात्मिक तुष्टि हो जाती है फिर भी वह उदात्त व्यक्तित्व से सम्पन्न आदर्श नारी प्रत्युत्तर में कहती है—"क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।...इस हृदय में...आह कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।" देवसेना के इस कथन में स्कन्द के प्रति दायित्वपूर्ण एकनिष्ठ प्रेम एवं नारी जाति की निष्काम-निष्ठा अनुपम ढंग से व्यक्त हुई है। वह लोकोत्तर सात्त्विक प्रेमनिष्ठपूर्ण आत्मसमर्पण करके भी विनिमय में वेदना को स्वीकार करती है—"आह वेदना मिली विदाई"। इस प्रकार देवसेना अपने अलौकिक व्यक्तित्व से केवल "नन्दन की वसन्त श्री, अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी ही नहीं है", वरन् प्रेम की संवेदनशील भावुकता एवं दुर्बलता से मृत्युलोक की कामना एव आशामयी मानवी भी है। प्रसाद ने उसके चरित्र की इस द्वैतपरक-द्वन्द्वता को बडे नाटकीय ढंग से उभारा है।

—के० प्र० चौ०

देवहूति—स्वायम्भुव मनु की पुत्री, प्रियव्रत तथा उत्तानपाद की बहिन, कर्दम प्रजापति की पत्नी एव कपिल मुनि की माता। नारद से कर्दम की महत्ता का बखान सुनकर देवहूति ने कर्दम से विवाह करने का निश्चय कर लिया था। विवाह के पश्चात् १०० वर्षों तक सुखभोग करके देवहूति ने ९ कन्याओं को जन्म दिया। जब कर्दम योग-साधनार्थ विदा होने लगे तो देवहूति ने अपनी रक्षा के साधनो के लिए प्रार्थना की। अतः उन्हे वरदान मिला कि "तुम्हारे गर्भ से भगवान् विष्णु जन्म लेंगे"। तदनुसार कपिल का जन्म हुआ। कर्दम के वन में चले जाने पर कपिल से सांख्य-शास्त्र सुनकर देवहूति ने निर्वाण प्राप्त किया (दे० सूर० पद ३९४)।

—मो० अ०

देवांतक—१. रावण का एक पुत्र, जिसका वध हनुमान् के हाथों हुआ।

२. कालनेमि का पुत्र।

—मो० अ०

देवीदत्त शुक्ल—देवीदत्त शुक्ल हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेंगे। इनका जन्म सन् १८८८ ई० में हुआ था। महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का गुरुतर दायित्व आपको ही सँभालना पड़ा था। आपने २७ वर्षों तक योग्यता के साथ 'सरस्वती' का सम्पादन किया। आप हिन्दी के श्रेष्ठ गद्य लेखक हैं। आपने कहानी, उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा, इतिहास तथा धर्म और दर्शनसम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। 'स्वाधीनता के पुजारी', 'अवध के गदर का इतिहास', 'सम्पादक के पचीस वर्ष', 'हिन्दुओं की पोथी', 'साधक का संवाद', 'कालरात्रि' और 'क्रान्तिकारी' आदि आपकी प्रसिद्ध गद्य-कृतियाँ हैं। आपकी प्रसिद्धि पत्रकार के रूप में ही अधिक है। आपने प्रयाग को अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया है।

—रा० चं० ति०

देवीदयाल चतुर्वेदी—'मस्त' उपनाम। जन्म २० जुलाई, १९११ ई०। ग्राम देवरी, जिला सागर, मध्यप्रदेश। प्रारम्भ से ही पत्रकारिता में रुचि रही है। काफी दिनों तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे हैं। 'मंजरी' 'बालसखा', बिजली आदि पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया है। अब तक लगभग अड़तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

'मस्त' जी मुख्यतः एक कथाकार और कुशल सम्पादक हैं। कथाकार के रूप में आपकी कहानियाँ समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। सामाजिक यथार्थ के प्रति भावुक दृष्टिकोण ही कहानियों में चित्रित हुआ है। प्रेमचन्द की शैली का प्रभाव अधिक है। घटनात्मक वृत्त में एक कथानक को विकसित करके उसको एक नियमित स्थिति में ही पूर्ण कर देना जैसे आपकी कहानियों के चरित्रों का उद्देश्य रहा हो। कहीं भी संवेदना के नये स्तरों को आपने छूने का साहस नहीं किया।

फिर भी कहानियाँ रोचक और सामान्य रूप से पठनीय हैं।

प्रेमचन्द की शैली एक खतरनाक शैली है इसीलिए कि उसमें जब तक तथ्य की गहराई नहीं होगी तब तक वह शैली प्रभावित नहीं कर पायेगी। 'मस्त'जी की कहानियाँ उस शैली के अन्तर्गत आने के कारण भी कुछ उन्हीं सीमाओं में संकुचित हो गयी हैं।

शैलीकार के रूप में उपन्यासों में विशेषकर 'उड़ते पत्ते' में आपने अपनी शैली का लाभ उठाना चाहा है, किन्तु उसमें भी गहराई की कमी है, जिसके कारण वह कृति एक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं पा सकी है। जैसे हर शैली प्रत्येक विषय वस्तु के लिए उपयुक्त नहीं होती, ठीक उसी प्रकार विधा का अपना एक क्षेत्र होता है।

कहानियों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह साधारण है। सरल प्रचलित शब्दावलियों का व्यवहार आपकी कहानियों की विशेषता है। जैसे शिल्प में नयी दिशा के प्रयोग का अभाव है, ठीक उसी प्रकार शब्द-चयन और भाषा के विषय में भी है। फिर भी 'मस्त'जी का स्थान उन कहानीकारों में है, जिन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा और उनकी शैली को प्रतिष्ठित करने के साथ-साथ उसकी सम्भावनाओं को विकसित करने का प्रयास किया है।

कृतियाँ : 'रानी दुर्गावती' (१९३९), 'अनार ज्वाला' (१९३९), 'हवा का रुख' (१९५४), 'रंगीन डोरे' (१९५७) ,—कहानी संग्रह हैं। उपन्यासों में 'उड़ते पत्ते' (१९५६) 'मन की परतें' (१९४२) 'भाग्यहीनों की बस्ती' (१९४५) 'अपना पराया' (१९४७), 'लक्ष्यबोध' (१९४९) ज्वार भाटा (१९४९) 'संकल्प' (१९४७), निबंधों में 'धरती आकाश' (१९५२ ई०)।

—ल० कां० व०

देवीदास—इनका समय १६वीं सदी है। ये शेखाटी (राजस्थान) के राव लूणकरण के मन्त्री थे। एक दिन 'बुद्धि और धन में कौन बड़ा है?' इस प्रश्न पर राव और मन्त्री में विवाद हो गया और देवीदास राव का व्यंग्य सुनकर उनके छोटे भाई के यहाँ चले आये, जो अपेक्षाकृत निर्धन थे। धीरे-धीरे इन्होंने राव के छोटे भाई को अकबर का कृपा-पात्र बनवा दिया और अकबर ने प्रसन्न होकर उनको एक अच्छा जागीरदार बना दिया। इस प्रकार देवीदास ने बुद्धि का बड़ा होना सिद्ध कर दिया। देवीदास दोनों भाइयों और अकबर के सम्मानपात्र थे। इनके जीवन के बारे में कुछ और नहीं ज्ञात है। राजस्थान में एक नीतिकार के रूप में देवीदास प्रसिद्ध हैं। इनका ग्रन्थ 'देवीदास रा कवित्त' है, जो अभी तक अप्रकाशित है। इसमें राज तथा व्यवहार नीतिविषयक एक सौ कवित्त और सवैये हैं। इनकी नीति की बातें अनुभूति पर आधारित हैं, इसी कारण कहने का ढंग बहुत मार्मिक या रचनात्मक न होने पर भी उनमें आकर्षण है। राजाओं के सम्बन्ध में इन्होंने बड़ी व्यावहारिक और लाभप्रद बातें कही हैं। काव्यत्व की दृष्टि से इनके छन्द सामान्य कोटि के हैं। इनके ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि रामनरेश त्रिपाठी के पास थी।

[सहायक ग्रन्थ—कविताकौमुदी (भाग १), १९५४, बम्बई।]

—भो० ना० ति०

देवीदीन—प्रेमचन्दकृत 'गबन' का एकपात्र। देवीदीन कलकत्ता में रहता है। प्रयाग छोड़ने के बाद रमानाथ उसी के यहाँ आश्रय लेता है। वह अल्पशिक्षित और श्रमजीवी है किन्तु उसने एक उन्नत, विशाल और उदार हृदय पाया है। वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखता और अपने आचरण और त्याग से मनुष्यत्व का आदर्श स्थापित करता है। वह दूसरों की सहायता के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। अपने घर में वह एक प्रकार से विरक्त की भाँति रहता है। देवीदीन अकर्मण्यता और उत्साह का मिश्रण है। उसमें उत्कट राष्ट्रीय भावना है और अपने दोनों पुत्रों को राष्ट्रीय-सेवा में लगा देता है। उनकी मृत्यु से वह निराश नहीं होता, किन्तु अपने राष्ट्र-प्रेम का वह ढिंढोरा नहीं पीटता फिरता। रामनाथ को उचित मार्ग पर लाने में जालपा की सहायता ही नहीं करता, वरन् सेठों और नेताओं से सम्बन्धित अपने अनुभवों का यथार्थवादी ढंग से उल्लेख भी करता है।

—ल० सा० वा०

देवीप्रसाद 'कविचक्रवर्ती'—जन्म काशी में सन् १८८३ ई० में तथा मृत्यु सन् १९३८ ई० में। आपने संस्कृत के भारत प्रसिद्ध प्रकाण्ड पण्डित गोस्वामी दामोदरलाल शास्त्री से विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया। अपने प्रसिद्ध और सिद्ध पिता दुःखभंजनजी का आपको आशीर्वाद प्राप्त था। इस प्रकार पिता तथा गुरु के आशीर्वाद से काशी के पण्डित समाज में अल्पकाल में ही आपकी ख्याति फैल गयी। आपको ३० वर्ष की अवस्था में महामहोपाध्याय की उपाधि मिली। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापन का कार्य भी किया। आपकी असाधारण प्रतिभा का समादर पण्डित समाज ने आपको 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि देकर किया। आपने संस्कृत समाज का संघटन करने तथा संस्कृत साहित्य के उन्नयन की प्रेरणा दी। आपके प्रमुख शिष्यों में श्री केदारनाथ शास्त्री 'सारस्वत' और हिन्दी के अमृतपुत्र श्री जयशंकर 'प्रसाद' भी थे।

कृतियाँ—'शारदा-पचीसी' (कवित्त), 'कवित्त सुधानिधि' (संस्कृत-हिन्दी छन्द)। इनके अतिरिक्त आपने १० महाविद्याओं सम्बन्धी अनेक शतक तथा अष्टक लिखे हैं। संस्कृत तथा ब्रजभाषा की सैकड़ों स्फुट कविताएँ भी आपने लिखी है।

—ल० शं० व्या०

देवीप्रसाद मुंसिफ—जन्म सन् १८४७ ई० में जयपुर में हुआ। सन् १८६३ ई० से १८७७ ई० तक आपने टोंक के नवाब के यहाँ नौकरी की। १८७९ में आप महाराज जोधपुर के यहाँ मुंसिफ हो गये। यहाँ आपको राज्य की ओर से प्राचीन शिला-लेखों की खोज का कार्य भी करना पड़ता था। आपका इतिहास का बड़ा अच्छा अध्ययन था और आप हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में समान रूप से लिखते थे। ऐतिहासिक अनुसन्धान के आधार पर आपने अनेक महापुरुषों की प्रामाणिक जीवनियाँ प्रस्तुत कीं। बाबर, हुमायूँ, शेरशाह, अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब आदि मुसलमान बादशाहों; राणा साँगा, उदय सिंह, प्रताप सिंह, मानसिंह, भगवानदास, रतन सिंह, विक्रमादित्य (चित्तौर वाले), बनबीर, पृथ्वीराज (जयपुर), पूरनमल, राजसिंह (जयपुर), आसकरण, कल्याणमल, मालदेव, बीकाजी, जैतसी आदि राजपूत राजाओं

तथा मीराबाई, रहीम, सूरदास, बीरबल आदि कवियों का प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रस्तुत करके आपने ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है। 'हिन्दोस्तान मे मुसलमान बादशाह' (१९०९ ई०), 'यवनराज वंशावली' (१९०९), 'मुगलवंश' (१९११ ई०), 'सिन्ध का इतिहास' (१९२१), 'पड़िहार वंश प्रकाश' (१९११ ई०), 'स्वप्न राजस्थान' (१८९३ ई०), 'मारवाड के प्राचीन लेख' (१८९६ ई०) तथा 'मारवाड़ का भूगोल' आपके इतिहास, पुरातत्त्व और भूगोलविषयक ग्रन्थ हैं। 'राजपूताने मे हिन्दी पुस्तकों की खोज' (१९११ ई०), 'कवि रत्न माला' (१९११ ई०), 'महिलामृदुवाणी' (१९०५ ई०), 'रूठीरानी' (१९०६ ई०) आपकी प्रसिद्ध साहित्य-कृतियाँ हैं। ऐतिहासिक तथ्यों की छान-बीन और इतिहासविषयक ग्रन्थों की रचना के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने आपको पुरस्कार दिया था। आपकी गद्यशैली इतिवृत्तात्मक और भाषा सहज, सरल, सुबोध और व्यावहारिक है। हिंन्दी-गद्य के विकासकाल मे मौलिक इतिहास-लेखक का गुरुतर दायित्व निभाकर सचमुच आपने हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा की है।

—रा० च० ति०

देवीप्रसाद शुक्ल—जन्म १८७७ ई०। अनेक वर्षों तक क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर में अध्यापक रहे। तदुपरान्त प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में नियुक्त हुए। प्राध्यापक के रूप में ५० वर्षों से भी अधिक समय तक आपने कार्य किया। महामना मदनमोहन मालवीय के निकट सम्पर्क में रहे और उनके उद्योगों से स्थापित हिन्दू बोर्डिंग हाउस का बहुत समय तक संचालन किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी के अस्वस्थ होने पर १९१० ई० में एक वर्ष के लिए 'सरस्वती' का सम्पादन भी किया। अनेक वृत्तों में आपके व्यक्तित्व की सरलता और लोकप्रियता चिरस्मरणीय रहेगी। सन् १९५९ ई० में आपकी मृत्यु हुई।

—सं०

देवेन्द्र नाथ शर्मा—जन्म ७ जुलाई १९१८ ई० को बिहार प्रान्त के सारन जिले के कृतपुरा ग्राम में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा मोतीहारी के जिला स्कूल तथा उच्च शिक्षा पटना विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई। वहाँ से उन्होंने बी० ए० आनर्स, एम० ए० (संस्कृत) और एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षायें प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुये उत्तीर्ण कीं। अपनी तत्वान्वेषी तथा विद्यानुरागी प्रवृत्ति के कारण शर्माजी ने अध्यापन को अपनी जीविका के लिये चुना। वे क्रमशः पटना कालेज पटना (१९४३-५६ ई०) में हिन्दी संस्कृत के व्याख्याता तथा बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर (१९५६-६३ ई०) के पदों पर रहे हैं। वे पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए अवकाश प्राप्त कर साहित्य सेवा में रत हैं। अध्यापन कार्य तथा भाषा-विज्ञान और रूसी भाषा की विशेषज्ञता के संदर्भ में शर्माजी ने यूरोप के विभिन्न देशों का भी भ्रमण किया है। १९५२-५४ तक उन्होंने लंदन के स्कूल ऑव ओरियन्टल स्टडीज में हिन्दी का अध्यापन किया।

वे देश की यात्रा और संस्कृति विषयक विभिन्न संस्थाओं से महत्वपूर्ण रूप में सम्बन्धित रहे है। १९७० ई० में वे भारतीय हिन्दी परिषद् के सभापति चुने गये।

देवेन्द्र जी की शोध एवं तत्वान्वेषी प्रतिभा उनकी भाषा-विज्ञान, काव्यशास्त्र और आलोचना विषयक कृतियो मे प्रतिफलित हुई हैं, जो इस प्रकार हैं :—१. 'अलकार मुक्तावली' (१९४८ ई०), २. 'ब्रजभाषा की विभूतियाँ' (१९४९ ई०), ३ 'साहित्य-समीक्षा' (१९५१ ई०) ४. 'हिन्दी कवियों का मूल्यांकन' (१९५२ ई०) ५. 'भामह विरचित काव्यालकार का भाष्य' (१९६२ ई०), ६. 'राष्ट्रभाषा हिन्दी . समस्यायें और समाधान' (१९६५ ई०) ७. 'भाषा-विज्ञान की भूमिका' (१९६६ ई०), ८. 'हिन्दी भाषा का विकास' (१९७१) ९. 'कुन्तक विरचित वक्रोक्ति जीवित-अंग्रेजी भाष्य (१९७२ ई०)। इन कृतियो के अतिरिक्त उनके विभिन्न सभाओं के अध्यक्ष पदों से दिये गये भाषणों में भी उनके एक प्रौढ़ विचारक और चिन्तक व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

देवेन्द्र जी के साहित्य सर्जक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से वैयक्तिक निबन्ध और एकांकी रचना के माध्यम से हुई है। उनके वैयक्तिक निबन्धों के दो संग्रह 'खट्टा-मीठा' (१९५० ई०) और 'आइना बोल उठा' (१९६४ ई०) प्रसिद्ध हैं। इन निबन्धों में निबन्ध कला का उत्कृष्ट रूप लक्षित होता है। देवेन्द्र जी के एकांकी संग्रह हैं :—१. 'पारिजाति मंजरी (१९४९ ई०), २. 'बिखरी स्मृतियाँ' (१९५८ ई०) और 'शाहजहाँ के आँसू' (१९६४ ई०)। देवेन्द्र जी ने अपने अधिकांश एकांकियों की कथावस्तु का चयन इतिहास से किया है। उन्होंने रंगमंचीय एकांकियों के साथ रेडियो एकांकियों की भी रचना की है, तथा उन्हें हिन्दी के रेडियो एकांकियों के प्रारम्भिक सर्जकों में स्वीकार किया जाता है।

देवेन्द्र जी की मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त कुछ अनूदित कृतियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'एवरेस्ट आरोहण' (१९५५ ई०) नाम से उन्होंने जॉन हंट की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद किया। 'लाटरी का टिकट' (१९६४ ई०) नाम से उन्होंने चेखव की कहानियों का मूल रूसी से अनुवाद किया। इधर "मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन" नाम से उन्होंने कलीमुद्दीन अहमद की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद सम्पादित किया है।

देवेन्द्र जी वैज्ञानिक पद्धति से विचार करने वाले ऐसे विचारक हैं जो रूढ़ियों की उपेक्षा करके परम्परा को स्वस्थ एवं नव्य दृष्टि से स्वीकार करते हैं। इसीलिये उनके सम्पूर्ण कृतित्व में पारम्परिक दृढ़ता एवं विकसनशीलता का युगपत् विन्यास मिलता है।

—रा० कु०

देवेंद्र सत्यार्थी—जन्म २८ मई, १९०८ में हुआ। देवेन्द्र सत्यार्थी एक सैलानी एवं साहसी किस्म के लेखक हैं। उन्होंने सम्पूर्ण भारत की यात्राएँ की हैं—कभी पैदल और कभी सवारी से। हर यात्रा का उद्देश्य लोकगीतों एवं लोककलाओं-सम्बन्धी जिज्ञासा की पूर्ति रहा है। आप एक अच्छे पत्रकार, कवि, कहानी एवं उपन्यासलेखक, रिपोर्ताज लेखक, संस्मरण लेखक तथा लोकसम्बन्धी सम्पूर्ण विधाओं के मर्मी आलोचक हैं। लोकसम्बन्धी कलाओं के अनुसन्धाता के रूप में आपका नाम अमर रहेगा।

देवेन्द्र सत्यार्थी कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। पंजाबी उनकी

मातृभाषा है। बंगला, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी वे भलीभाँति जानते हैं।

उनकी बहुत-सी रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। लोकगीत सम्बन्धी पुस्तके चार भाषाओं में हैं–पंजाबी में–'गिद्धा' (१९३६), 'दीवा बले सारी रात' (१९४१); उर्दू में–'मैं हूँ खानाबदोश' (१९४१), 'गाये जा हिन्दुस्तान' (१९४६); अंग्रेजी में–'मीट माई पीपुल' (१९४६); हिन्दी में–'धरती गाती है' (१९४८), 'धीरे बहो गंगा' (१९४८), 'बेला फूले आधी रात' (१९४८), और 'जय लोकगीत' (१९५०)। इनकी कविताएँ भी दो भाषाओं में हैं। पंजाबी में–'धरती दीयां वाजां' (१९४१), 'मुड़काते कणक' (१९५०) और हिन्दी में–'बन्दनवार' (१९५९)। इसी प्रकार कहानियाँ भी हैं। पंजाबी में–'कुंगपोश' (१९४१), 'सोना वाची' (१९५०); उर्दू में–'नये देवता' (१९४३) और 'बाँसुरी बजती रही' (१९४६); हिन्दी में–'चट्टान से पहले' (१९५०)। इनके निबन्ध संग्रह दो हैं : 'एक युग, एक प्रतीक' (१९४८) और 'रेखायें बोल उठीं' (१९४९)। अंग्रेजी में–'डेवलपिंग बिलेज इण्डिया' (१९५६) एवं हिन्दी में 'मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ' (१९५९) संयुक्त रूप से इनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ हैं। 'ब्रह्मपुत्र' और 'दूध गाछ' इनके उपन्यास हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी एक भावुक व्यक्ति हैं। उनकी भावुकता उनके सम्पूर्ण कार्य में प्रतिच्छायित है। लोकगीतों के अध्ययन में वे आलोचक न रहकर रस-मुग्ध हो जाते हैं। उनकी कहानियाँ, स्केच एवं उपन्यास सबमें यह लोक-तत्त्व बड़ी भावुकता से आ जाता है। वे भावाकुल, अकृत्रिम शैली के लेखक हैं।

कुछ वर्षोंतक 'आजकल' के सम्पादक रहे हैं।

–श्री० ब०

देवेश दास–जन्म १९११ ई० कलकत्ता में। शिक्षा कलकत्ता तथा लन्दन विश्वविद्यालयों में हुई। आई० सी० एस० के लिए चुने गये। पर साहित्यिक अभिरुचि बराबर बनी रही। बंगला, हिन्दी तथा अंग्रेजी तीनों माध्यमों से लिखा है। विशेषत: संस्मरणात्मक शैली के क्षेत्र में प्रयोग किये हैं। आपका हिन्दी-गद्य अत्यन्त परिमार्जित तथा अकाल्पनिक माध्यमों के लिए नितान्त उपयुक्त है। संस्मरण-यात्रा-वृत्तान्त रेखाचित्र का एक मिलाजुला और बड़ा ही प्रीतिकर रूप आपकी रचनाओं में मिलता है। हिन्दी-गद्य का स्वरूप आपकी कृतियों से समृद्ध हुआ है।

कृतियाँ-'यूरोप' (निबन्ध-१९४०), 'मास्को से मारवाड़' (१९५५), 'राजसी' (१९६०)।

–सं०

दैत्यवंश महाकाव्य–कालिदास के रघुवंश की पद्धति पर लिखा गया हरदयालु सिंह का 'दैत्यवंश' महाकाव्य १९४० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमे अठारह सर्गों में हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु-बध, वामन की बलि-वंचना, समुद्र-मन्थन और उषा अनिरुद्ध-आख्यान वर्णित हैं। चरित्रों में–प्रह्लाद भक्त, बलिदानी, विष्णु छली, इन्द्र विलासी और उषा एवं लक्ष्मी परम रूपवती हैं। प्रमुख रस श्रृंगार, वीर और भाषा मिश्रित ब्रज है। इसमें महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण हैं। दैत्यवंश को चरितनायक कल्पित कर देवों-दैत्यों के जातिगत संघर्ष के अन्तराल में उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं का किया गया मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस काव्य का विशेष आकर्षण है। 'दैत्यवश' कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

–स० ना० त्रि०

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता–दे० 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'।

दोहावली–यह तुलसीदास के दोहों का एक संग्रह-ग्रन्थ है। इसके मुद्रित पाठ मे ५७३ दोहे हैं। इन दोहों में से अनेक दोहे तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं और उनसे लिये गये हैं। उदाहरणार्थ बहुत से दोहे 'रामचरित मानस' और 'रामाज्ञा प्रश्न' से लिये गये हैं। वे उन्हीं रचनाओ से 'दोहावली' में लिये गये हैं, यह तथ्य इससे प्रमाणित है कि वे प्राय: निश्चित प्रसंगों के हैं और अपने प्रसगों से निकाल लिए जाने पर वे छिन्न-मूल से ज्ञात होते हैं।

'दोहावली' की विभिन्न प्रतियों में उसके कई पाठ भी मिलते हैं। इन पाठों का मिलान नही किया गया है किन्तु इनमें परस्पर अन्तर बहुत है। उदाहरणार्थ सं० १७९७ की एक प्रति में, जो प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन है, केवल ४७८ दोहे हैं और इनमें भी ६ ऐसे हैं, जो मुद्रित पाठ में नहीं मिलते। बहुत-कुछ यही दशा रचना की और प्रतियों की भी है। इससे ज्ञात यह होता है कि इसका सम्पादन कवि अपने जीवनकाल में नहीं कर सका था। सम्भवत: उसके विविध विषयों के कुछ स्फुट दोहे ही थे, जिन्हें अलग-अलग ढंग से अलग-अलग व्यक्तियो ने संकलित कर लिया।

इन्हीं दोहों के साथ नव-कल्पित दोहों को मिलाकर एक 'सतसई' भी तैयार की गयी, जिस पर अन्यत्र विचार किया गया है (दे० 'सतसई' शीर्षक)। यही कारण है कि 'दोहावली' और 'सतसई' के बहुत से दोहे एक ही हैं।

'दोहावली' किसी एक विषय की रचना नहीं है। इसमे अनेकानेक विषयों के स्फुट दोहे संकलित हुए हैं। इनमें-से 'चातक' की अनन्य निष्ठा पर कहे गये छन्द सबसे अधिक मनोहर हैं। कुछ छन्द कवि के जीवन की अनेक घटनाओं से सम्बन्धित हैं। इनका महत्त्व कवि के प्रामाणिक जीवन-वृत्त के निर्माण में बहुत अधिक है। 'कवितावली' के छन्दो के बाद 'दोहावली' के इन दोहों से ही कवि के जीवन-वृत्त निर्माण में हमें उल्लेखनीय सहायता मिलती है।

'दोहावली' के ये दोहे भी 'कवितावली' के उपर्युक्त छन्दों की भाँति कवि के जीवन के अन्तिम भाग से सम्बन्ध रखते हैं। फलत: यह असम्भव नहीं कि 'दोहावली' के छन्दों की रचना भी 'कवितावली' के छन्दों की भाँति तुलसीदास के कवि-जीवन के उत्तरार्द्ध की हो, किन्तु यह बात उतने निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती है, जितने निश्चय के साथ 'कवितावली' के छन्दों के विषय में कही गयी है।

–मा० प्र० गु०

दौलतराम–दौलतरामरचित जैन पद्म पुराण (रविषेणाचार्यकृत) का भाषानुवाद हिन्दी खड़ीबोली गद्य के विकास की प्रकृत-परम्परा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह ७०० पृष्ठों का एक बृहत् ग्रन्थ है। इसकी रचना सन् १७६६ ई० में हुई। दौलतराम मध्यप्रदेश के बसवा नामक स्थान के रहने वाले थे। यह प्रदेश मुसलमानों और अंग्रेजों, दोनों के

प्रभाव-क्षेत्र से पृथक् रहा है। इसलिए 'जैन पद्मपुराण' की भाषा "इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी-उर्दू से कोई सम्पर्क न रखनेवाली अधिकांश शिष्ट जनता के बीच खड़ीबोली किस स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी।" साथ ही इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि खड़ीबोली गद्य का प्रचलन अंग्रेज़ों की प्रेरणा से नहीं हुआ, वह पहले से ही लेखकों और साहित्यिकों में प्रतिष्ठित था। ग्रियर्सन के अनुसार लल्लूलाल ने खड़ीबोली से फारसी-अरबी के शब्दों को निकालकर उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों का समावेश करके एक प्रकार से कृत्रिम खड़ीबोली का रूप प्रतिष्ठित किया। ग्रियर्सन की इस मान्यता ने साहित्य के इतिहास में एक बहुत बड़े भ्रम को जन्म दिया। 'भाषा योगवासिष्ठ' (रामप्रसाद निरंजनीकृत) और 'जैन पद्म-पुराण' दोनों से ही इस भ्रम का निराकरण हो जाता है। 'जैन पद्म-पुराण' की भाषा में पण्डिताऊपन अधिक है। "मगधनामा देश अति सुन्दर है", "सदा भोगापभोग करै है", "भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान है" आदि प्रयोग खटकते हैं।

—रा० चं० ति०

द्रुपद—पाचाल प्रदेश के राजा पृषत् के पुत्र, द्रौपदी और धृष्टद्युम्न के पिता। इनका दूसरा नाम यज्ञसेन भी है। बचपन में द्रोण के घनिष्ठ मित्र थे किन्तु राजा हो जाने पर उन्होंने द्रोण का तिरस्कार किया। प्रतिशोध के भावनावश द्रोण ने गुरु-दक्षिणा रूप में उन्हें पाण्डवों द्वारा बन्दी बनवाकर अपने सामने मंगवाया। उनका आधा राज्य ले लिया किन्तु फिर मुक्त करके राज्य वापस कर दिया। इस अपमान से दु:खी द्रुपद ने द्रोणविनाशक पुत्र-प्राप्ति हेतु श्रौताग्निसाध्य यज्ञ किया। यज्ञ पूर्ण होने पर यज्ञ-कुण्ड से धृष्टद्युम्न और द्रौपदी का जन्म हुआ। इन दोके अतिरिक्त द्रुपद के शिखण्डी तथा शिखण्डिनी नामक दो सन्तानें और थीं। महाभारत युद्ध में जब द्रोण सेनापति हुए तो उन्होंने द्रुपद का वध किया और द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने द्रोण को मार डाला।

—मो० अ०

द्रोणाचार्य—भारद्वाज ऋषि के पुत्र, महाभारत के प्रसिद्ध वीर, कौरव-पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य के जन्म के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार घृताची अप्सरा को विवस्त्र स्नान करते देख भारद्वाज का वीर्य स्खलित हो गया, जिसे उन्होंने द्रोण नामक यज्ञ पात्र में रख दिया। कालान्तर में उसी से एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम द्रोण रख दिया गया। मुनि अग्निवेश्य तथा परशुराम से द्रोण ने धनुर्विद्या सीखी। द्रुपद और द्रोण शैशव के मित्र थे, किन्तु राजा हो जाने के बाद द्रुपद ने मित्रता भुला दी और एक बार स्वयमागत द्रोण का तिरस्कार किया। जब द्रोणाचार्य कौरव-पाण्डवों को शस्त्रशिक्षा देने के लिए नियुक्त किये गये तो उन्होंने पाण्डवों द्वारा पराजित द्रुपद को अपने सम्मुख बन्दी बनवाकर उपस्थित करवाया। द्रोण के पुत्र का नाम अश्वत्थामा था। द्रोण तथा अश्वत्थामा दोनों ही कौरवों की ओर से महाभारत में लड़े थे। जब युद्ध में द्रोण की मृत्यु न हो सकी तो कृष्ण ने अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार फैलाया। वास्तव में अश्वत्थामा नामक एक हाथी मारा गया था। युधिष्ठिर के मुँह से 'अश्वत्थामा मृतो नरो वा कुंजरो वा' कहलाकर कृष्ण ने 'वा कंजरो वा' पर शंखध्वनि कर दी। पुत्र की मृत्यु सुनकर द्रोण विचलित हो गये, बस इसी बीच द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने उनका 'वध' कर दिया। 'जयद्रथ वध' (मै० श० गुप्त), 'कुरुक्षेत्र' ('दिनकर') एवं 'एकलव्य' (रामकुमार वर्मा) में द्रोणाचार्य का एक प्रमुख पात्र के रूप में सुन्दर चित्रण हुआ है।

—मो० अ०

द्रौपदी—महाराज द्रुपद की पुत्री, जो यज्ञकुण्ड से उत्पन्न हुई थी। स्वयंवर में मत्स्य-वेध कर अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया। घर आकर उन्होंने माता कुन्ती से कहा कि हम एक वस्तु लाये हैं। माता ने कहा कि सब लोग आपस में बांट लो। इसी से द्रौपदी पांचों पाण्डवों की पत्नी हुई। युधिष्ठिर के राजसूय में भ्रमित दुर्योधन को देखकर द्रौपदी को हँसी आ गयी थी। इसी का बदला लेने के लिए पाण्डवों द्वारा जुए में हारी हुई द्रौपदी को दुर्योधन ने नंगा करने की आज्ञा दी। दु:शासन ने चीर हरण किया किन्तु भगवान् कृष्ण की कृपा से चीर बढ़ता ही गया। पाण्डवों के अज्ञातवास के समय द्रौपदी ने 'सैरन्ध्री' नाम से विराट् के यहां दासी का कार्य किया। विराट् का साला कीचक सैरेन्ध्री पर आसक्त हो गया। अतः उस कामार्त्त को भीम ने मार डाला। पांचों पतियों से द्रौपदी के पांच पुत्र हुए। पाण्डवों को धोखा देकर अश्वत्थामा इन्हीं बालकों के शीश काटकर दुर्योधन के पास ले गया था (दे० 'दुर्योधन')। महाभारत के बाद वे पतियों के साथ हिमालय पर गयीं और वे ही सबसे पहले गल कर मर गयीं। भगवान् कृष्ण की कृपालुता और भक्तवत्सलता के उदाहरणों में द्रौपदी का उल्लेख भक्ति-काव्य में बारम्बार हुआ है (दे० सूर० पद २४५-२६५)। 'कृष्णायन' (द्वारकाप्रसाद मिश्र) में द्रौपदी का सुन्दर चरित्र-चित्रण हुआ है।

—मो० अ०

द्वारिका—सौराष्ट्र की एक प्राचीन नगरी, जिसे भगवान् कृष्ण ने अपनी राजधानी बनाया था। कृष्ण के सखा सुदामा इसी नगरी में आकर कृष्ण से मिले थे। कृष्ण ने भोज, वृष्णि तथा अंधकवंशियों को यहाँ बसाया था। कहा जाता है कि यह प्रसिद्ध तीर्थस्थान कृष्ण के शरीर-त्याग के पश्चात् समुद्र में निमग्न हो गया। 'सूरसागर', 'सुदामाचरित', 'प्रियवास', 'कृष्णायन' एवं 'सिद्धराज' में द्वारिका का वर्णन एवं उल्लेख हुआ है।

—मो० अ०

द्वारिकाप्रसाद शर्मा, (चतुर्वेदी)—हिन्दी गद्य के विकासकाल के आरम्भिक लेखकों में से। इटावा निवासी थे, प्रयाग में आ कर बस गये थे। १९१० ई० में सरकारी नौकरी छोड़कर साहित्य सेवा में प्रवृत्त हुए। आपकी लिखी पुस्तकों की संख्या १०० से अधिक है, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण कोश भी है। १९५४ ई० में प्रायः ७७ वर्ष की अवस्था में आपकी मृत्यु हुई।

—सं०

द्वारिकाप्रसाद मिश्र—जन्म ५ अगस्त सन् १९०१ ई० में पड़री ग्राम, जिला उन्नाव (उत्तरप्रदेश) में हुआ। पिता का नाम पं० अयोध्याप्रसाद मिश्र। उन्नाव कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का जनपद है। अब यह परिवार मध्यप्रदेश का ही निवासी हो गया है। मिश्रजी ने अपना सामाजिक जीवन मध्यप्रदेश में ही प्रारम्भ किया। शिक्षा की दृष्टि से ये बी० ए०; एल० एल० बी० हैं। मध्यप्रान्त में ये कांग्रेस दल के एम० एल० ए० रहे,

फिर सचिव पद पर पहुँचे। अपनी योग्यता एवं नेतृत्व-क्षमता के कारण ये दिवंगत रविशंकर शुक्ल के साथ मन्त्रि-परिषद् में गृह-मन्त्री तथा उनके दाहिने हाथ रहे। कई साल तक सागर विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर प्रतिष्ठित रहे। साहित्य एवं हिन्दी पत्रकारिता के लिए प्रारम्भ से ही सेवा दान करते रहे हैं। प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सागर अधिवेशन के सन् १९३२ में सभापति भी रह चुके हैं। मध्यप्रदेश के 'लोकमत' पत्र के जन्मदाता हैं तथा मासिक 'श्री शारदा' और साप्ताहिक 'सारथी' के भूतपूर्व सम्पादक हैं। भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध के एक सैनिक एवं श्रद्धेय सेनानी रहे हैं। कई बार एतदर्थ कारा-यात्राएँ कीं और कराकाल मे ही सन् १९४२ में 'कृष्णायन' महाकाव्य की रचना की।

कृतियों के विषय में आपने शालीन संकोच के साथ लिखा है कि "आप ऐसा समझ सकते हैं कि मेरा लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ 'कृष्णायन' ही है।" प्रेमनारायण टण्डनकृत 'हिन्दी सेवी संसार' प्रथम संस्करण के पृ० सं० ११८ के अनुसार लेखक द्वारा प्रणीत एक दूसरा ग्रन्थ 'हिन्दुओं का स्वातन्त्र्य प्रेम' भी है। आपका महाकाव्य 'कृष्णायन' सन् १९४७ ई० मे प्रकाश में आया। भगवान् कृष्ण का जीवन इस प्रकार विविध और साधारणतः परस्पर-विरोधी तत्त्वों एवं परिस्थितियों से पूर्ण तथा इतना फैला हुआ है कि उसे समेट कर एक जीवनदृष्टि का स्वरूप प्रदान कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। सम्भवतः इसीलिए ऐसा प्रयास भी नहीं हुआ है। भक्तों ने उनके लीलामय बाल-रूप एवं गोपी-प्रणय को ही सजाया-सँवारा है। प्रेम-गाथाओं ने द्वारिकाधीश की विलास-मधुरिमा एवं वैभव-गरिमा को अपनाकर प्रेमवर्षा की है। 'महाभारत' ने योगिराज, कर्मवादी एवं राजनीतिज्ञ कृष्ण का गौरव प्रकाश किया है। इन सबको समेटकर एक लोक-नायक, समाज-विधाता और युग-निर्माता व्यक्तित्व का सुसंघटन कठिन भी था और किया भी नहीं गया था। रीतिकाल में गुमानी मिश्र के सन् १८२६ के 'कृष्ण-चन्द्रिका' काव्य में ऐसा प्रयास अवश्य हुआ, पर कृष्ण-काव्य परम्परानुगमन के कारण महाकाव्योचित महाप्राणता, चरित्र-वैविध्य, जीवन-विस्तार, कल्पना-विशालता और गम्भीर दृष्टि के अभाव में वैसा करने में कवि सफल नहीं हो सका। उद्देश्य की महत्ता, जीवनसमग्रता को समेटने की विराट् दृष्टि, राष्ट्रव्यापी महाप्राणता एवं युग-युगान्तरपरक दूरदर्शिता के कारण अबतक के सभी प्रयासों में मिश्रजी 'कृष्णायन' के प्रणयन में सफल हुए हैं। यद्यपि 'कृष्णायन' के सभी चरित्र अपना अपेक्षित उभाड़ नहीं पा सके हैं, कहीं-कहीं कथा में प्रवाह-गतिरोध भी आ गये हैं, शैली प्राचीन 'मानस' अनुवर्त्तिनी एवं मन्थरगामिनी है, पर मिश्रजी का प्रयास सर्वथा स्तुत्य और अभिनन्दनीय है। 'मानस' कवि का आदर्श रहा है, इसीलिए सप्तकाण्डों की योजना, अवधी भाषा और दोहा-चौपाई छन्दों को भी अपनाया गया है। पर 'कृष्णायन' में 'मानस' की पौराणिक शैली का अनुकरण नहीं,. यथोचित नवीनता एवं नाटकीयता का उपयोग हुआ है।

द्वारकाप्रसाद मिश्र तुलसी-काव्य-परम्परा के एक आधुनिक संस्करण हैं। रामचरित के समानान्तर कृष्णचरित देकर उन्होंने भारतीय चिन्ताधारा एवं विराट जीवन की बहुरूपता को एक सुघट इकाई प्रदान की है। 'कृष्णायन'कार अतीतमोही एवं गतानुगतिकताप्रेमी नहीं है, वह वर्तमान दृष्टि को ससम्मान अतीत में प्रवेश देता है और भविष्य पर प्रकाश की किरणों का संकेत भी। वर्तमान युग मे ब्रजभाषा में काव्य के विशाल प्रयास तो हुए, पर अवधी भाषा उपेक्षित ही रही। ब्रज के रसिक कृष्ण को युगानुरूप स्वरूप देने और अवधी की साहित्यिक श्रेष्ठता को अक्षुण्ण रखने में मिश्रजी का ऐतिहासिक योग है। कृष्ण के जीवन के द्वारा उन्होंने कर्म भोग, आदर्श, व्यवहार, क्षमा, दण्ड, योग एवं क्षेम का सर्वतः पूर्ण और व्यापक स्वरूप प्रस्तुत किया है। भारतीय चिन्ताधारा के त्यागमय भोग और भोगमय त्याग की महत्ता को इस ग्रन्थ में समुचित आलोक मिला है।

—श्री० सिं० क्षे०

द्विजदेव—अयोध्या के राजा मानसिंह 'द्विजदेव' के नाम से साहित्य में प्रसिद्ध हैं। ये शाकद्वीपी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता महाराज दर्शनसिंह थे। इनका जन्म १८३० ई० में हुआ था। इनको संस्कृत, फारसी, अरबी, अंग्रेजी की शिक्षा मिली थी (शि० स०)। ये वीर और पराक्रमी भी थे। सन् १८५७ की क्रान्ति में इन्होंने अंग्रेजों की सहायता की थी, जिसके परिणामस्वरूप इनको जागीर प्राप्त हुई परन्तु बाद में विरोधियों के भड़काने से अंग्रेजी शासन का इन्हें कोपभाजन बनना पड़ा। ये सब कुछ त्यागकर वृन्दावन चले गये और वहीं १८७१ ई० में इनकी मृत्यु हुई। लछिराम, पण्डित प्रवीन, बलिदेव तथा जगन्नाथ अवस्थी जैसी कवि इनके दरबारी कवि थे।

इनके तीन ग्रन्थों की चर्चा की जाती है—'शृंगारलतिका', 'शृंगारबत्तीसी' और 'शृंगारचालीसी'। रामचन्द्र शुक्ल आदि ने तीसरे ग्रन्थ को स्वतन्त्र न मानकर दो ही ग्रन्थ माने हैं। 'शृंगारलतिका' की 'सौरभ' नाम की टीका महाराज प्रतापनारायण सिंह ने लिखी और यह सटीक संस्करण अयोध्या की महारानी द्वारा प्रकाशित भी किया गया था (सन् १९९३ ई०)। 'शृंगारबत्तीसी' भी एक बार प्रकाशित हुई, चौथा संस्करण मुंशी नवल किशोर प्रेस लखनऊ से १९०३ में प्रकाशित हुआ था।।

इन्होंने रीति-ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन किया था, इनके काव्य पर इसकी स्पष्ट छाप है। इनका काव्य रीतिकाल की मुक्त शृंगारी-परम्परा में आता है पर उसमें शास्त्रीय परम्परा का पूर्ण निर्वाह है। रामचन्द्र शुक्ल ने इनको ब्रजभाषा के शृंगारी-कवियों की परम्परा का अन्तिम प्रमुख कवि माना है। इनके शृंगार वर्णन में माधुर्य, लालित्य, भाव-योजना तथा कल्पनाशीलता विशेष रूप से मिलती है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'—जन्म १५ सितम्बर १९१५ ई० में बदायूँ जिले के कुमार गाँव में। एम० ए०, साहित्याचार्य और साहित्यरत्न की परीक्षाएँ पास करके आप कुछ समय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में अध्यापन कार्य कर रहे थे। हिन्दी में आपके लगभग एक दर्जन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

'निर्गुण' ने अपनी कहानियों में मध्यवर्ग के जीवन का बड़ी सफलता से चित्रण किया है। 'निर्गुण' की कहानियों में बड़ी ही जीवन्त शैली का आभास मिलता है। छोटी घटनाओ और छोटी-छोटी स्थितियों के साथ स्वाभाविक मानवीय मार्मिकता को सहज शैली में प्रस्तुत करना ही 'निर्गुण' की विशेषता है। 'निर्गुण' ने मध्यवर्ग के उन मानवों की हँसी, खुशी, संवेदनशीलता, वेदना और अनुभूति को अंकित किया है, जो विराट्त्व के नशे में हमसे सदैव छूट जाते रहे हैं। 'छोटा डाक्टर', 'साबुन', 'बहूजी' या 'जिन्दगी' आदि कहानियों में हमें सहसा नये स्तर पर नये मानव व्यक्तित्व की जटिल समस्याओं के दर्शन होते हैं।

करुणा का भाव 'निर्गुण' की कहानियों का मूल भाव है। आज के विघटित मूल्यों में जैसे मनुष्य फँसा रहता है और अपने ही अन्तर में छिपे उदात्त की रक्षा करने में जिस प्रकार टूट रहा है, बिखर रहा है, उसकी सफल और सुन्दर झाँकी 'निर्गुण' की कहानियों में हमें मिलती है।

जीवन के व्यंग्यों के बीच भी मनुष्य अपने व्यक्तित्व का साधारण गुण सुरक्षित रख सकता है और तमाम विरोधाभासों के बावजूद वह समस्त आधारभूत मानवीयता को सुरक्षित रख सकता है—यही 'निर्गुण' का संदेश है। कभी-कभी परिस्थितियों की विडम्बना में सम्पूर्ण मानव व्यवहार और आचरण हमें आधुनिक जीवन के मूल्यहीन और सारहीन तत्त्वों की विवेचना के लिए विवश कर देता है। 'निर्गुण' की कहानियों का इसीलिए नितान्त आत्मपरक तत्त्व प्रमुख रूप से उभर कर आता है। 'निर्गुण' की कहानियों में हमें जिस मनुष्य के दर्शन होते हैं वह संघर्षशील, आधारभूत, मानववादी दृष्टि से ओत-प्रोत ऐसा आदमी है, जो व्यापक विघटन को भोगता हुआ जीवन के व्यंग्यों में जीवित रहने का आकांक्षी है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'निर्गुण' का कलाकार-व्यक्तित्व आधुनिक जीवन की समस्त विश्रृंखलताओं के बीच अपने पात्रों को मुक्त छोड़ देता है। इसीलिए 'निर्गुण' की कहानियों का प्रत्येक पात्र अपनी विवशता को भी झेलता है और साथ ही वह उस विवशता में खोयी हुई आस्था को वर्तमान परिस्थितियों की सापेक्षता में निश्चित करना चाहता है। वह न तो आदर्शवाद की भूल-भुलैया में अपने को खो देता है और न उसमें अपनी पंगुता ही देख पाता है। वह जीवन के गतिशील प्रवाह में विश्वास करता है और प्रत्येक संक्रमण की स्थिति में वह सब कुछ झेल लेने में समर्थ हो जाता है।

'निर्गुण' की कहानियाँ परम्परागत होते हुए भी भावस्तर पर अनुभूति के नये आयामों का अन्वेषण करती हैं। आधुनिक युग की समस्याओं में संस्कार और प्रगति के बीच मिटती और बिगड़ती मानव प्रतिमाओं का स्वल्प निरूपण इनकी कहानियों में समान रूप से व्याप्त है लेकिन इसके बीच मानव अनुभूतियों की जटिलता, उनकी असहाय स्थिति को चित्रित करने में इनकी शैली ने वास्तव में भावस्तर पर कुछ नये और बड़े ही सुन्दर प्रयोग किये हैं।

'निर्गुण' के कहानी-संग्रह इस प्रकार हैं—'पूर्ति' (१९४०), 'बहूजी' (१९४१), 'टीला' (१९३८), 'कच्चा धागा' (१९३८), 'प्यार के भूखे' (१९५४), 'टूटे सपने' (१९५४), 'जिन्दगी' (१९५४)। इसके अतिरिक्त 'छाया' (१९३७), 'लाजवंती' (१९६८), 'दायरे' (१९६७), 'हारूंगी नहीं' (१९६९), 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (१९७१), 'चादबोला' (१९६४), 'खोया-खोया मन' (१९६८) आपकी अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं।

—ल० कां० व०

द्वियक्षी—अशोक वाटिका में वन्दिनी सीता की देखभाल के लिए रावण द्वारा नियुक्त एक राक्षसी।

—मो० अ०

द्विविद—१. नरकासुर का वानर मित्र, सुग्रीव का मन्त्री तथा मयन्द का भाई। नरकासुर के मारे जाने पर कुपित होकर वह कृष्ण के नगरों को नष्ट करने लगा, परन्तु रैवतक पर्वत पर बलराम द्वारा मारा गया (दे० सूर० पद ४८२६)।

२. कंस का मित्र, कृष्ण द्वारा वध किया गया एक दानव।

—मो० अ०

द्वैपायन—द्वापर में २८वें व्यास का नाम। सत्यवती ने पाराशर से वर पाकर इन्हीं के साथ अपनी इच्छा पूरी की, जिससे उन्हें गर्भ रहा। गर्भ से व्यास का जन्म हुआ। यमुना नदी के किनारे एक द्वीप में उत्पन्न होने से वे द्वैपायन और कृष्ण के अंशावतार होने से कृष्ण द्वैपायन कहलाये (दे० 'व्यास')।

—मो० अ०

धनंजय—१. पराक्रम में शक्र के समान, इन्द्र और पृथा के पुत्र, अर्जुन का नामान्तर।

२. काद्रवेय—एक प्रसिद्ध नाग, जो त्रिपुरारि के रथ में घोड़ों के स्थान पर जोता गया था।

३. एक ऋषि, सोलहवें वेद व्यास।

४. विश्वामित्र के पुत्र।

—मो० अ०

धनिया—प्रेमचन्दकृत 'गोदान' की पात्र। होरी के शब्दों में धनिया "सेवा और त्याग की देवी; जबान की तेज, पर मोम जैसा हृदय; पैसे-पैसे के पीछे प्राण देनेवाली, पर मर्यादारक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम कर देने को तैयार" रहने वाली नारी है। चाहे जो कुछ हो जाय, वह होरी का साथ छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। सच्चे अर्थ में वह अर्धांगिनी है। उसमें न तो होरी की सी व्यवहारकुशलता है और न वह लल्लो-चप्पो करना ही जानती है। अपने व्यवहार और आचरण द्वारा वह होरी की सहायता करती है, उसे डगमगाने से बचाती है, ढाढ़स देती है। लेकिन सुनाती भी खूब है। वह निर्भीक और निडर है और कभी-कभी अदूरदर्शितापूर्ण कार्य भी कर जाती है। प्रतिशोध-भावना उसमें उत्पन्न होती है किन्तु किसी की पीड़ा देखकर दब भी जाती है। धनिया जिस बात को ठीक समझती है, उसे जात-बिरादरी, समाज, कानून आदि की परवा किये बिना करती है। एक नारी की भाँति वह मातृ-भावना और स्नेह से पूर्ण है। वास्तव में यदि होरी भारतीय किसान का प्रतीक है, तो धनिया एक कृषक-पत्नी का प्रतीक है। कभी-कभी तो वह अपने आचरण द्वारा गाँव की नाक रख लेती है।

—ल० सा० वा०

धनीराम 'प्रेम'—व्यवसाय से डाक्टर पर रुचि बराबर साहित्य में रही। इंग्लैंड से डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त करके कई वर्षों तक वहीं कार्य करते रहे। बाद में स्वदेश लौट आये। आपके

एकांकी और कहानियों का प्रकाशन 'सरस्वती', 'चाँद' आदि पत्रों में होता रहा।

कृतियाँ—'प्राणेश्वरी', 'वीरांगना पन्ना', 'वल्लरी', 'देवी जोन'।

धन्यकुमार जैन—जन्म १९०० ई० में उत्तरापाड़ा (बंगाल) में। पत्रकारिता के विविध क्षेत्रों में कार्य किया। पर आपका प्रमुख देय बँगला-हिंदी के अनुवाद क्षेत्र में है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरच्चद्र चट्टोपाध्याय की अधिकतर रचनाओं का आपने अत्यंत प्रांजल भाषा में अनुवाद किया है। बंगला संवेदना को हिन्दी क्षेत्र में प्रसारित करने में आपका योगदान ऐतिहासिक महत्त्व का है।

—सं०

धन्या—ध्रुव की स्त्री, मनस की पुत्री। इनके पुत्र का नाम शिष्ट था।

—मो० अ०

धन्वंतरि—विष्णु के अवतार। दीर्घतम् के एक पुत्र, जो आयुर्वेद के जनक तथा केतुमान के पिता थे। पुराणों के अनुसार वे अमृत-मन्थन में निकले १४ रत्नों में से एक थे।

—मो० अ०

धरनीदास—ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में आविर्भूत होने वाले सन्तों में धरनीदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपका जन्म छपरा (बिहार) जिले के माँझी गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। आपके विषय में लोक-प्रसिद्धि है कि "कबिरा पुनि धरनी भयो शाहजहाँ के राज।" इससे प्रकट है कि जनता में आपका पर्याप्त आदर था। आपका जन्म-काल अनिश्चित है। आपके अनुयायी आपका जन्म सन् १५७५ ई०, डॉक्टर बड़थ्वाल १६५६ ई० और रामकुमार वर्मा सन् १६१६ ई० में मानते हैं। 'प्रेम-प्रगास' के साक्ष्य पर सन् १६५६ ई० में आपका विरक्त होना निश्चित है। उस समय यदि आपकी अवस्था ४० वर्ष भी मान ली जाय तो सन् १६१६ ई० को आपका जन्मकाल माना जा सकता है। आपके दीक्षा-गुरु स्वामी विनोदानन्द थे, जो रामानन्द की शिष्य परम्परा की आठवीं पीढ़ी में आते हैं। आपकी तीन रचनाएँ—'शब्द प्रकाश' 'रत्नावली' और 'प्रेम-प्रगास' प्रसिद्ध हैं। 'शब्दप्रकाश' का प्रकाशन नरसिंह शरण प्रेस, छपरा से सन् १८८७ ई० में हुआ था। बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से जो 'धरनीदासजी की बानी' प्रकाशित हुई है, उसमे अधिकांश पद 'शब्द-प्रकाश' से ही संगृहीत हैं। शेष दो कृतियाँ अभी तक अप्रकाशित हैं। 'प्रेम-प्रगास' सूफियों की प्रेमाख्यानक शैली में रचित एक प्रेमगाथा है, जिसमें मनमोहन और प्रान्मती की प्रेम-कहानी वर्णित है। रत्नावली में आपकी गुरु-परम्परा का उल्लेख है और कुछ अन्य सन्तों और नाथ-सिद्धों का परिचय भी दिया गया है। विनय, आत्महीनता, नामस्मरण, उद्बोधन, योगनिरूपण तथा आध्यात्मिक संयोग-वियोग का चित्रण आपकी कृतियों के प्रमुख विषय हैं। आपने 'शब्द-प्रकाश' के गेय पदों की रचना भोजपुरी में और 'प्रेम-प्रगास' का प्रणयन अवधी भाषा में किया है। आपने प्रायः दोहा (साखी), चौपाई, पद और सवैया छन्दों का प्रयोग किया है। आपके पदों में लोकजीवन की सरसता और साखियों में अभिव्यक्ति की प्रांजलता लक्षित होती है। निस्सन्देह ये एक उच्च साधक तथा प्रसिद्ध सन्त और कवि थे।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; धरनीदास की बानी : बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी।]

—रा० चं० ति०

धर्म—१. सृष्टि प्रचारार्थ उत्पन्न प्रथम पाँच पदार्थों में से एक, जो ब्रह्मा के वक्षःस्थल के दाहिने भाग से उत्पन्न हुआ। प्रथम देवता, जिन्होंने दक्ष की तेरह कन्याओं से विवाह किया था। कन्याओं के नाम हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, हनी तथा मूर्ति। मूर्ति से नर-नारायण का जन्म हुआ। धर्म वृषभ के आकार का माना गया है, जिसके पैर गुण, द्रव्य, क्रिया और जाति हैं। सतयुग में वह चारों पैरों से, त्रेतामें तीन, द्वापर में दो और कलियुग मेंएक से प्रजा की रक्षा करता है।

२. एक नक्षत्रसमूह, जो ध्रुव के चारों ओर घूमकर उसे ठीक स्थिति में रखता है।

३. सत्यसेन के पिता, जिनकी स्त्री का नाम सुनृता था।

४. न्याय के नियामक देवता, युधिष्ठिर के पिता; धर्मदत्त के पिता, जो बाद में गया के शील कहलाये।

५. गान्धार के पुत्र और धृत (या घृत) के पिता।

६. हैहय के पुत्र, नेत्र के पिता।

७. पृथुश्रवस् के पुत्र तथा उशनस् के पिता।

८. काशी में चतुर्मूर्ति।

९. दीर्घतपस् के पुत्र।

१०. दस सुतप गणों में से एक।

११. सुव्रत के पुत्र तथा सुश्रव के पिता।

१२. एक बसु, जिनकी पत्नी का नाम मनोहरा था।

—मो० अ०

धर्मदास (धनी)—सन्त कबीर के दृष्टिकोण का जनता में प्रचार करनेवाले सन्तों में धनी धर्मदास का नाम सर्वप्रथम आता है। धनी धर्मदास ने कबीर के उपदेशों को संवाद के रूप में लिखकर बहुत से ग्रन्थों की रचना की है। धर्मसम्बन्धी जिज्ञासाओं को इन्होंने सन्त कबीर के समक्ष रखा और सन्त कबीर ने आध्यात्मिक सत्य की विवेचना उनके समक्ष की। इस भाँति सन्त कबीर के वास्तविक मर्म को स्पष्ट करने में धनी धर्मदास का बहुत बड़ा हाथ है।

ये सन्त कबीर के प्रधान शिष्य थे। इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सन्त सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि धनी धर्मदास कबीर से आयु में छोटे थे और उनकी मृत्यु कबीर की मृत्यु के लगभग पच्चीस वर्ष बाद हुई। इस प्रकार सामान्य रूप से धर्मदास का जीवन संवत् १४७५ और १५८५ के बीच में मानना उचित होगा।

धर्मदास प्रारम्भ में साकारोपासना में विश्वास रखते थे। अपने ग्रन्थ 'अमर सुख निधान' में इन्होंने अपना परिचय स्वयं दिया है : "धरमदास बन्धो के बानी। प्रेम प्रीति भक्ति में जानी।। सालिगराम की सेवा करई। दया धरम बहुतै चित धरई।। साधु भक्त के चरन पखारै। भोजन कराइ अस्तुति निस्तारै। भागवत गीता बहुत कहाई। प्रेम भक्ति रस पियै अघाई।। मनसा वाचा भजै गुपाला। तिलक देइ तुलसी की

माला।। द्वारिका जगन्नाथ होई आए। गया बनारस गंग नहाए।।''

सन्त गरीबदास ने भी अपने वाणी-ग्रन्थ में धर्मदास के सम्बन्ध में इस कथन का समर्थन किया है : ''बाँधो गढ़ है गाम, नाम धर्मदास कहीजै। वैश्यकुली कुल जाति, शूद्र नहीं बात सुनीजै।। सर्गुण ज्ञान सरूप, ध्यान सालिग की सेवा। मलागीर छिरकंत, सन्त सब पूजैं देवा।। अढसढि तीरथ न्हॉन, ध्यान करि करि हम आये। पूजै सालिगराम तिलक गलिमाल चढ़ाये।। धूप दीप अधिकार, आरती करैं हमेशा। राम कृष्ण का जाप, रटत है शंकर सेषा।। नियम धर्म सैं नेह, सनेह दुनिया सैं नाही। आरूढ वैराग्य और की मानौं नाहीं।।'' ('वाणी ग्रन्थ', पृष्ठ २२०)।

उपर्युक्त उद्धरण में विस्तार से धनी धर्मदास के धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। साकारोपासना के विश्वासी बनकर जब ये तीर्थ भ्रमण कर रहे थे, तभी इनकी भेंट सन्त कबीर से हुई। ये उनसे इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने अपना सारा धन लुटाकर कबीर-पन्थ में प्रवेश किया। सन्त कबीर के उपदेशों को काव्य में प्रकट करते हुए इन्होंने प्रचुर साहित्य का निर्माण किया। सन्त तुलसी साहब ने अपने ग्रन्थ 'घटरामायण' में इनके विचारों के परिवर्तन का बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। निर्गुण ब्रह्म के उपासक होकर इन्होंने सपरिवार काशी मे निवास किया। इन्होंने कबीर के सच्चे शिष्य के रूप में इनकी वाणी का संग्रह संवत् १५२१ (सन् १४६४) में किया।

धर्मदास के सम्बन्ध में रेवरेंड एफ० ई० की ने लिखा है कि ''धर्मदास केवल धनी और साहित्य मर्मज्ञ ही नहीं थे, वरन् चरित्र के सुदृढ़ सन्त थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कबीर-पन्थ के प्रसार का बहतु बड़ा श्रेय धर्मदास को है। कबीर के बाद धर्मदास ही कबीर-पन्थ के प्रधान नेता हैं। वे साहित्य में विशिष्ट रूप से उल्लेख्य हैं, जो उनके और कबीर के संवादों मे लिखा गया है ('कबीर एण्ड हिज फालोअर्स', पृष्ठ ९७)।

कहा जाता है कि तत्कालीन बाँधोगढ़ नरेश ने धर्मदास के इस निर्गुण-प्रचार के लिए कड़ी चेतावनी दी। धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, पूजा अदि के विरोध में धर्मदास ने जो काव्य लिखा, उसके लिए बाँधोगढ़ नरेश ने उन्हें दण्डित भी करना चाहा। इस अवसर पर धर्मदास ने कबीर की अराधना की और कहा जाता है कि सन्त कबीर ने उनकी सब प्रकार से रक्षा की। धर्मदास ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनकी रचना कबीर की रचना से इतनी मिल गयी है कि दोनों को अलग करना बहुत कठिन हो गया है। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'सुखनिधान' है, जिसे कबीर पन्थ के अनुयायी बहुत महत्त्व देते हैं। कबीर साहब के सिद्धान्तों की व्याख्या इनसे अधिक कोई नहीं कर सका। यही कारण है कि इनकी रचना का दृष्टिकोण अधिकतर कबीर की रचना के समानान्तर ही है। इन्होंने भी रहस्यवाद की पृष्ठभूमि में प्रतीकात्मक छन्द लिखे हैं और जीवन को 'विरह' का विस्तार मानते हुए को विरहिणी कहा है। कबीर के भक्त होने के कारण इन्होंने उनकी विधिवत् पूजा का विधान भी वर्णित किया है, फलतः इनकी उपासना में विनती, मंगल-प्रश्नोत्तर और आरती का विशेष विधान वर्णित किया गया है। इनकी रचना में प्रतीक शैली आ जाने के कारण बारहमासा, होली और वसन्त में भी विरह और मिलन के अनेक प्रसंग उपस्थित किये गये हैं। इनके काव्य मे विशेष कलात्मक पक्ष तो नहीं है किन्तु भाषा स्वाभाविक और प्रवाहमय है। इनके काव्य में भाषा का रूप स्वाभाविक रूप से बाँधोगढ़ के निवासी होने के कारण बघेलखण्डी होना चाहिये किन्तु कबीर की रचना के प्रति प्रेम और उनके प्रति भक्ति-भाव होने के कारण उन्होंने अपनी स्वाभाविक भाषा तक में परिवर्तन कर उसे 'पूरवी' रूप दे दिया। उदाहरण के लिये उनकी दो पंक्तियाँ देखिये :—

''सूतल रहली मैं सखियाँ तो विष कर आगर हो। सतगुरु दिहलैं जगाइ, पायौ सुख सागर हो।।'' कबीर-पन्थ में कबीर के बाद धर्मदास के प्रति श्रद्धा और भक्ति है।

-रा० कु०

धर्मराज—काल देवता यम का विशेषण। युधिष्ठिर का भी एक नाम धर्मराज है।

—मो० अ०

धर्मवीर एम० ए०—जन्म १९०४ ई० मे, झेलम में। आप पंजाब प्रान्तीय हिन्दू महासभा के मन्त्री थे और गोलमेज कान्फ्रेंन्स में भाई परमानन्द के साथ उनके परामर्शदाता के रूप में इंग्लैण्ड गये थे। आपकी कहानियाँ और रेखाचित्र बराबर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहे हैं। पूर्व एशिया की भी आपने यात्रा की। कृतियाँ—'संसार की कहानियाँ', 'पंजाब का इतिहास', 'दक्षिण का इतिहास', 'अमर-पत्र' और 'बारह कहानियाँ'।

—सं०

धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री—जन्म १९०५ ई० मे जिला सारन में हुआ। शिक्षा एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रमुखतः सन्त-साहित्य के विशेषज्ञ। कृतियों में प्रमुख हैं—'सन्त कवि दरिया—एक अनुशीलन' (१९५४), और 'सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय'।

—सं०

धीरेंद्र वर्मा—जन्म सोमवार, १७ मई, १८९७ को बरेली के भूड़ मुहल्ले में हुआ। पिता का नाम श्री खानचन्द। श्री खानचन्द एक जमींदार पिता के पुत्र होते हुए भी भारतीय संस्कृति से प्रेम रखते थे। वे आर्यसमाज के प्रभाव में आये। धीरेन्द्र वर्मा पर बचपन में पिता के इन गुणों का और इस वातावरण का प्रभाव पड़ा।

प्रारम्भ में इनका नाम सन् १९०८ में डी० ए० वी० कालेज देहरादून में लिखा गया, किन्तु कुछ ही दिनों बाद वे अपने पिता के पास चले आये और इनका नाम क्वींस कालेज, लखनऊ में लिखा गया। इसी स्कूल से सन् १९१४ ई० में प्रथम श्रेणी में स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा पास की और हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। तदनन्तर म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद में नाम लिखाया। सन् १९२१ ई० में इसी कालेज से इन्होंने संस्कृत से एम० ए० किया।

सन् १९२४ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रथम अध्यापक नियुक्त हुए। बाद में वहीं प्रोफेसर तथा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए। ''जो कार्य हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया, हिन्दी शोध के क्षेत्र में वही कार्य धीरेन्द्रजी का है'' (हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० १६)। इनकी चिन्तन-शैली अत्यन्त संश्लिष्ट

है। भाषा और साहित्य को इन्होंने हमेशा संस्कृति के व्यापक परिवेश में ग्रहण किया है। आधुनिक समय में 'मध्यदेश' को एक भौगोलिक तथा सांस्कृतिक इकाई के रूप में पुनरन्वेषित करने का श्रेय धीरेन्द्र वर्मा को ही है।

एक ओर ये हिन्दी विभाग के उत्कृष्ट व्यवस्थापक रहे हैं और दूसरी ओर एक आदर्श प्राध्यापक भी। स्नातक और स्नातकोत्तर परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के निर्धारण, नियोजन और व्यवस्थापन में जो विशद कार्य श्यामसुन्दर दास ने किया था, उसे उन्होंने वैशिष्ट्य प्रदान किया। पाठ्यक्रम में भाषा और साहित्य की व्यापकता को ध्यातव्य मानकर उसे नवीन गति प्रदान की। इनकी अध्यापन शैली अत्यन्त व्यवस्थापूर्ण, सुस्पष्ट एवं क्रमिक विवेचनायुक्त रही है। भाषा-विज्ञान जैसे विषय को भी ये सरल सुबोध बनाकर प्रस्तुत करते थे। हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहास को लेकर इनकी जैसी स्वस्थ और स्पष्ट दृष्टि कम ही देखने को मिलती है।

इनके निबन्धों के आधार पर अनेक गम्भीर शोध-कार्य हुए हैं। भारतीय भाषाओं से सम्बद्ध समस्त शोध-कार्य के आधार पर इन्होंने १९३३ ई० में हिन्दी भाषा का प्रथम वैज्ञानिक इतिहास लिखा। सन् १९३४ ई० में ये पेरिस गये और प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक ज्यूल ब्लॉख के निर्देशन में पेरिस यूनिवर्सिटी से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की।

हिन्दुस्तानी अकादमी के सन् १९२७ ई० से ही सदस्य रहे और दीर्घकाल तक उसके मन्त्री भी। सन् १९५८-५९ ई० में लिंग्विस्टिक सोसायटी आफ इण्डिया के अध्यक्ष पद पर रहे। प्रथम 'हिन्दी विश्वकोश' के प्रधान सम्पादक रहे हैं। सागर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान विभाग के अध्यक्ष रहे। फिर जबलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। वहाँ का कार्यकाल पूरा करने के बाद अपने प्रिय नगर तथा प्रधान कर्मभूमि प्रयाग में निवास करते हुए अप्रैल १९७३ ई० में दिवंगत हुए।

डा० वर्मा की कृतियाँ अनेक हैं और बहुविध हैं। 'हिन्दी भाषा का इतिहास' अपने समय तक के आधुनिक भाषाओं से सम्बन्धित खोज-कार्य के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर लिखा हुआ हिन्दी भाषा का प्रथम वैज्ञानिक एवं महत्त्वपूर्ण इतिहास है।

फ्रेंच भाषा में ब्रजभाषा पर शोध-प्रबन्ध है (सन् १९३५ ई०), जिसका अब हिन्दी अनुवाद हो चुका है। 'हिन्दी भाषा और लिपि', 'हिन्दी भाषा का इतिहास' की भूमिका का स्वतन्त्र रूप है। हिन्दुस्तानी अकादमी ने इसे १९३५ में प्रकाशित किया है। इनके ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

'ब्रजभाषा व्याकरण'—प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९३७; 'अष्टछाप'—प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९३८; 'सूरसागर-सार'—सूरके ८१७ उत्कृष्ट पदों का चयन एवं सम्पादन, प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, १९५४ ई०; 'मेरी कालिज डायरी'—१९१७ से १९२३ तक के विद्यार्थी जीवन में लिखी गयी डायरी का पुस्तक रूप है, प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, १९५४ ई०; 'मध्यदेश'—भारतीय संस्कृति सम्बन्धी ग्रन्थ है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वाधान में दिये गये भाषणों का यह संशोधित रूप है।—प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५५ ई०; 'ब्रजभाषा'—थीसिस का हिन्दी रूपान्तर है।—प्र० हिन्दुस्तानी अकादमी, १९५७ ई०; 'हिन्दी साहित्य कोश'—सम्पादन, प्र० ज्ञानमण्डल लि०, बनारस, १९५८ ई०; 'हिन्दी साहित्य'—सम्पादन, प्र० भारतीय हिन्दी परिषद्, १९५९ ई०; 'कम्पनी के पत्र'—सम्पादन, प्र० इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९५९ ई०; 'ग्रामीण हिन्दी'—प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; 'हिन्दी राष्ट्र'—प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; 'विचार-धारा'—निबन्ध-संग्रह है—प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; 'यूरोप के पत्र'—यूरोप जाने के बाद वहाँ से लिखे गये पत्रों का महत्त्वपूर्ण संचयन है।—प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद।

—ह० दे० बा०

धुंधु—पीत्रायुध का पुत्र, एक असुर, जो अपने २१०० पुत्रों सहित कुवलयाश्व द्वारा मारा गया।

२. मधु राक्षस का पुत्र, जो लोकपीड़क था। उत्तंग की प्रार्थना पर बृहदश्व ने उसे परास्त किया।

३. एक राक्षस, जिसने उत्तंक ऋषि के आश्रम के समीप मरुभूमि में संसार के नाश करने के लिए कठिन तप किया। एक वर्ष में वह एक बार ही श्वास लेता था, किन्तु उसके कारण सात दिन तक पृथ्वी हिलती रहती थी और धूल से सूर्य छिप जाता था। कुवलयाश्व ने उसका वध किया और धुन्धुमार कहलाये।

—मो० अ०

धुंधुमार—कुवलाश्व या कुवलयाश्व का एक नाम, जो धुन्धु को मारने के कारण पड़ा था (दे० धुन्धु)।

—मो० अ०

धृतराष्ट्र—१. विचित्रवीर्य और अम्बिका के बड़े पुत्र। विचित्रवीर्य वस्तुतः निःसन्तान मर गये थे। अतः अम्बिका ने व्यास द्वारा नियोग कराकर धृतराष्ट्र को जन्म दिया। व्यास बड़े भयंकर तथा काले थे, इसलिए सम्भोग के समय अम्बिका ने डर के कारण नेत्र मूँद लिये, फलस्वरूप धृतराष्ट्र जन्मान्ध हुए। इनकी पत्नी का नाम गान्धारी था। ये दुर्योधन आदि १०० पुत्र तथा दुःशला नामक पुत्री मिलाकर १०१ सन्तानों के पिता थे। ये अत्यन्त न्यायप्रिय थे। महाभारत के पश्चात् वन में जाकर गान्धारी कुन्ती सहित अग्नि में जल गयी। आधुनिक युग में धर्मवीर भारती ने इन्हीं के चरित्र के आधार पर 'अन्धा युग' नामक गीति नाट्य की कल्पना की है।

२. एक प्रसिद्ध नाग, जो भूमि-गाय के दुहने तथा त्रिपुरारि के रथ में रज्जुरूप में प्रयुक्त हुआ। नारद से विष्णु पुराण सुनकर उसने वासुकि को सुनाया।

—मो० अ०

धृष्टद्युम्न—ये द्रुपद के पुत्र तथा द्रौपदी के भाई थे, जो यज्ञकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। इनके पुत्र का नाम धृष्टकेतु था। पाण्डवों की ओर से महाभारत में युद्ध लड़े थे। इन्होंने द्रोण का वध किया था (दे० 'द्रोण', 'द्रुपद')।

—मो० अ०

धेनुक—धेनुकासुर १—कंस का सहायक एक धेनुक नाम का असुर भी था, जो गर्दभ रूप धरकर वृन्दावन के समीपस्थ तालवन में रहता था। एक बार गोचारण के समय गोपों की इच्छा पूरी करने के लिए बलराम ताड़ के फल लेने गये। असुर

ने बलराम के वक्ष में दुलत्ती मारी। बलराम ने उसे घुमाकर पटक दिया। उसके अन्य साथी गधे आये, जिन्हे कृष्ण ने वृक्षो पर पटक-पटक कर मार डाला (दे० सूर०, प० १११७)।

—मो० अ०

धेनुकासुर २—एक राक्षस था तथा गर्दभ का रूप धारण करके कृष्ण-वध हेतु आया था। एक बार कृष्ण और बलराम गोकुल के समीप एक वन में फूल-फल तोड़ रहे थे तो धेनुक ने अपने पिछले पैरों से कृष्ण पर आक्रमण किया किन्तु बलराम ने उसके पिछले पैरों को पकड़कर उसे मार डाला। धेनुक के वध के अनन्तर उसके साथी अनेक गर्दभों ने आक्रमण किया पर बलराम ने क्रमशः सबों को मार डाला। बलराम ने उनकी ठठरी को वृक्षों के ऊपर फेंक दिया, जिससे सभी वृक्षों पर गधे दिखायी देने लगे।

धेनुकासुर वध के प्रसंग को लेकर पुराणों की सूचनाओं में भेद मिलता है। 'हरिवंश' और 'भागवत पुराणों' के अनुसार तालवनवासी गर्दभों का स्वामी धेनुकासुर था। वही बलराम पर प्रहार करता है और वे ही उसका संहार करते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त्त' में यह कथा कालियदमन और गोवर्द्धन के बाद दी गयी है तथा धेनुक को दुर्वासाशापित बाल पुत्र बताते हुए उसके वध को कृष्ण द्वारा वर्णित किया गया है। सूर ने भागवत-वर्णन का आधार लिया है (दे० सू० सा०, प० १११७)।

—रा० कु०

ध्यानमंजरी—'ध्यानमंजरी' के लेखक अग्रदास हैं। अग्रदास सन् १५५६ ई० में वर्तमान थे और उस समय तक उनकी ख्याति भी दूर-दूर तक व्याप्त हो चुकी थी, अतः 'ध्यानमंजरी' उसी समय की कृति होगी। इसकी प्रकाशित प्रतियों में रचनातिथि के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में 'अग्रपदावली' नाम से इनकी रचनाएँ सुरक्षित हैं। इसकी एक प्रति सन् १९२२ ई० में वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुई, दूसरी प्रति सन् १९४० ई० में श्री रघुवीर प्रसाद रिटायर्ड तहसीलदार ने अयोध्या से प्रकाशित की। रेवासा में इसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति सुरक्षित कही जाती है, किन्तु अग्रदास के हाथ से लिखी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। साम्प्रदायिक विद्वानों के मत-से यह अग्रदास की प्रामाणिक रचना है। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में उसका उल्लेख मिलता है।

इस ग्रन्थ में राम का ध्यान किस रूप में करना चाहिये, इसकी भूमिका उपस्थित करते हुए लेखक ने सर्वप्रथम मणिकांचन से युक्त अवध का वर्णन किया है। अवध के समीप ही सरयू है, जो कमलकुलों से संकुल है, जिसके जल में स्नानादि करने मात्र से मुक्ति मिल जाती है। सरयू के तट पर अशोक वन है, वहाँ कल्पवृक्ष के समीप ही एक मणिमण्डप है। मंडप में एक स्वर्णवेदिका है, जिसके ऊपर रत्न का सिंहासन है। सिंहासन के मध्य में स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर श्रीरामजी सुशोभित हैं, जिनका किरीट मंजुल-मणियों से युक्त है, जिनके कानों में सुन्दर कुण्डल हैं, जिनका सर्वांग मनोरम है। यहीं पर राम के अंग-प्रत्यंग का सुन्दर वर्णन किया गया है और उनके आभूषणों तथा दिव्यायुधों का विस्तृत निरूपण किया गया है। राम का यह सोलह वर्ष का नित्य किशोररूप परम लावण्ययुक्त है। उनके वामपार्श्व में अनेक सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित जनककुमारी शोभित हो रहीं हैं। उनका भी नख-शिख वर्णन अग्रदास ने यहाँ किया है। लक्ष्मण के हाथ में छत्र, भरत के हाथ मे चँवर है। शत्रुघ्न और हनुमान् भी सेवारत हैं। राम के इसी रूप का ध्यान भक्तों के लिए विधेय है। 'ध्यानमंजरी' ब्रजभाषा में रोला छन्द में लिखी गयी है। इसकी भाषा सरल तथा अनलंकृत है। कहीं-कहीं विभक्तियों में आधुनिकता मिलती है, जैसे कर्मकारक में यहाँ 'को' अनुसर्ग का ही प्रयोग मिलता है—कौं, कैं, कें, कूं, या कुं का नहीं।

कथा में कुछ नवीनता मिलती है। राम के षोडशवर्षीय रूप का ध्यान करने को कहा गया है, इस नवीनता की व्याख्या कदाचित् यह कहकर की जा सकती है कि भगवान् राम का सीता और हनुमान् दोनों से ही निरन्तर साहचर्य रहता है।

इस ग्रन्थ का महत्त्व रामानन्द-सम्प्रदाय में माधुर्यभाव की भक्ति की दृष्टि से विशेष है। अग्रदास इस भक्ति के प्रवर्तक कहे जाते हैं और उनकी 'ध्यानमंजरी', 'अष्टयाम' आदि रचनाएँ इस भाव के उपासकों के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ माने जाते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—ध्यानमंजरी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।]

—ब० ना० श्री०

ध्रुव— राजा उत्तानपाद और सुनीति के पुत्र। उत्तानपाद की दूसरी रानी सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम था। एक दिन पिता की गोद में बैठे हुए ध्रुव को सुरुचि ने गोद से उतार कर अपने पुत्र उत्तम को बिठा दिया। ध्रुव के हृदय में ऐसी चोट लगी कि वह बालपन में ही तपस्या करने चले गये। तपस्या पूर्णकर घर लौटे और राज्य भोगकर अन्त में विष्णु द्वारा प्रदत्त ध्रुव-लोक को चले गये। ध्रुवलोक सब नक्षत्रों से ऊपर अचल एवं अटल है। इला और भ्रमि इनकी स्त्रियाँ थीं, जिनसे कल्प, वत्सर एवं उत्कल नामक पुत्र हुए। सौतेले भाई को यक्षों ने मार डाला था, अतः इन्होंने यक्षों से युद्ध भी किया था। ध्रुव अपनी तपस्या में इन्द्रादि द्वारा अनेक प्रयत्न होने पर भी नहीं डिगे थे। इसलिए ध्रुव अटलता के प्रतीक माने जाते हैं (दे० सूर० पद ४०२-४०४, मानस-१, २६, ३)।

—मो० अ०

ध्रुवचरित—दे० 'मलूकदास'।

ध्रुवदास—सहारनपुर (उत्तरप्रदेश) के देवबन्द कस्बे के एक कायस्थ कुल में उत्पन्न ध्रुवदास के जन्म संवत् का अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है किन्तु उनकी रचनाओं तथा कतिपय साम्प्रदायिक वाणियों के आधार पर सन् १५७५ ई० के आस-पास इनकी जन्मतिथि ठहरती है। 'ब्रज माधुरीसार' में श्री वियोगी हरि ने इनका जन्म सन् १५९३ के आस-पास स्थिर किया है किन्तु यह सन् प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी सन् की 'रसानन्द लीला' नामक इनकी रचना उपलब्ध होती है। ध्रुवदास के वंशजों के विषय में जनश्रुति चली आती है कि ध्रुवदास के पितामह बीठलदास श्रीहित हरिवंश के शिष्य थे और जूनागढ़ राज्य में दीवान थे। ध्रुवदास के पिता श्यामदास भी परम भक्त और साधुसेवी पुरुष थे। इन्होंने हित-हरिवंश के पुत्र गोपीनाथ से राधावल्लभीय दीक्षा ग्रहण की थी। ध्रुवदास वंश-परम्परा से राधावल्लभीय थे। शैशव में ही उन्हें विरक्ति हो गयी थी और घरबार छोड़कर वृन्दावन में आ गये थे। जन्म-पर्यन्त वे वृन्दावन में ही निवास करते रहे और कभी उसकी सीमा से बाहर पैर नहीं रखा।

ध्रुवदास अत्यन्त विनीत, साधुसेवी, सन्तोषी, सहिष्णु और गम्भीर प्रकृति के महात्मा थे। उनका मन राधा-कृष्ण के लीला-गान के सिवाय किसी और काम में नहीं लगता था। भगवत मुदित ने 'रसिक अनन्यमाल' में उनके शीलस्वभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि ध्रुवदास ने राधा को प्रसन्न करके उनसे पद रचना और लीला-वर्णन की अनुमति प्राप्त कर ली थी। एक ओर भक्ति-भावना से उनका अन्तःकरण ओत-प्रोत था, तो दूसरी ओर काव्यशास्त्र तथा छन्दशास्त्र का भी उन्होंने भलीभाँति अध्ययन किया था। फलतः उनके ग्रन्थों में भक्ति-सिद्धान्त, भक्ति-भावना, काव्यसौष्ठव, छन्द-वैविध्य, शैली-वैविध्य आदि सभी तत्त्व पाये जाते हैं। उस समय काव्य-क्षेत्र में जिन शैलियों का प्रचलन था, उन सबका ध्रुवदास ने अपनी रचनाओं में समाहार किया है। उनकी काव्य-भाषा और वर्णन-शैली में सर्वत्र स्निग्धता पायी जाती है। भक्ति-मार्ग की सरसता ही जैसे उनका उपास्य तत्त्व बन गया था, अतः शुष्कता, क्लिष्टता, दुरूहता और रस-विहीनता आदि से वे सदैव दूर रहे।

ध्रुवदासलिखित बयालीस ग्रन्थ विख्यात हैं, जो 'बयालीस-लीला' नाम से तीन बार प्रकाशित हो चुके हैं तथा हस्तलेखों के रूप में भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं। यथार्थ में इन्हें ग्रन्थ नाम से अभिहित करना समीचीन नहीं है, क्योंकि उन सबमें न तो ग्रन्थ-कोटि की व्यापकता है और न वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से ग्रन्थ की मर्यादा का पालन ही। कोई-कोई लीला तो केवल आठ दोहों में वर्णित हुई है। इनके साथ लीला शब्द का व्यवहार भी रस-पद्धति के कारण हुआ है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ग्रन्थ में किसी लीला का वर्णन हो। लीला शब्द का प्रयोग केवल प्रचलित व्यवहार के कारण कर दिया गया है। बयालीस लीला के अतिरिक्त उनके १०३ फुटकर पद भी मिलते हैं।

ध्रुवदास का स्थान राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त महानुभावों में सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से हित हरिवंश गोस्वामी के बाद मूर्द्धन्य है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक स्वरूप उन्हीं के ग्रन्थों में उद्घाटित होता है। ध्रुवदास पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के उद्घाटन के लिए 'सिद्धान्त-विचार' ग्रन्थ में बड़े विस्तार पूर्वक गद्य का प्रयोग किया है और प्रेम के सापेक्षिक महत्त्व पर बड़ी व्यापक शैली से विचार किया है। इतना गम्भीर विचार किसी और भक्त के गद्य में प्राप्त नहीं होता। ध्रुवदास के ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष सहज ही में निकल आता है कि ध्रुवदास ने केवल राधावल्लभीय सिद्धान्तों का उद्घाटन नहीं किया, वरन् माधुर्य भक्ति के लिए हिन्दी में सैद्धान्तिक आधार भी तैयार किया। रूपसनातन गोस्वामी ने जिन सिद्धान्तों को अपने संस्कृत ग्रन्थों में रखा था, उन्हें ध्रुवदास ने पहली बार अपनी काव्यमयी शैली से हिन्दी में प्रस्तुत किया। ध्रुवदास हित-हरिवंश के भाष्यकार और व्याख्याकार होने के साथ ही माधुर्य-भक्ति के ब्रजभाषा द्वारा समर्थ साधक थे। माधुर्य-भक्ति की तल्लीनता और रसव्यंजक पदावली की रोचकता जैसी ध्रुवदास के पदों में है, वैसी मध्ययुगीन भक्तों में बहुत कम देखी जाती है। यदि भाषा-माधुर्य, शैली-वैविध्य, छन्द-कुतूहल को दृष्टि में रखकर उनकी रचना पर विचार किया जाय तो वे भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियों को जोड़ने वाले रस-सिद्ध कवि-भक्त माने जायेंगे।

ध्रुवदास की वाणी में काव्य-सौष्ठव इतनी प्रचुर मात्रा में है कि कहीं-कहीं तो इनकी अलंकृत रचनाएँ रीतिकालीन कवियों से भी बाजी मार ले जाती हैं। 'हित-श्रृंगार लीला', 'रस-मुक्तावली', 'सभामण्डल', 'श्रृंगाररस' आदि रचनाओं का काव्यस्तर रीतिकालीन देव, मतिराम, पद्माकर आदि से टक्कर लेने वाला है। काव्य-रूढ़ियों का उन्हें शास्त्रीय ज्ञान था और उसी के अनुसार उन्होंने नायिका-भेद, नख-शिख, बारहमासा, ऋतु-वर्णन आदि का सर्वांगीण रूप से अपने ग्रन्थों में निर्वाह किया है। एक भक्त-कवि की सीमाओं में रहकर श्रृंगार का ऐसा सजीव वर्णन करना कला की चरम सिद्धि का निदर्शन ही माना जायगा।

ध्रुवदास के ग्रन्थों में विषय-वैविध्य भी अत्यधिक है। 'जीवदशा', 'वैद्यक-लीला', 'मन शिक्षा', 'भक्त नामावली' आदि ग्रन्थ इतने विचित्र हैं कि उन्हें देखकर ध्रुवदास की रुचि की विलक्षणता पर विस्मय होता है। 'भक्त नामावली' एक प्रकार का 'सूत्रात्मक भक्तमाल' है।

ध्रुवदास के कुछ ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से भी प्रकाशित हुए हैं। भारत जीवन प्रेस से बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'ध्रुव सर्वस्व' नाम से कई ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा और इण्डियन प्रेस द्वारा 'भक्त नामावली' प्रकाशित हो चुकी है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इनके ग्रन्थों का स्फुट-रूप में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। 'वृन्दावन सत' का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। ध्रुवदास के ग्रन्थों की संख्या अब बयालीस निर्धारित हो चुकी है और उसी को प्रामाणिक स्थिर कर दिया गया है। उनके चालीस ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. 'जीवदशा लीला', २. 'वैद्यक ज्ञान लीला', ३. 'मन शिक्षा लीला', ४. 'वृन्दावन सत लीला', ५. 'ख्याल हुलास लीला', ६. 'भक्त नामावली लीला', ७. 'बृहद् बावन पुराण की भाषा लीला', ८. 'सिद्धान्त विचार लीला' (गद्यवार्ता), ९. 'प्रीतिचौवनी लीला', १०. 'आनन्दाष्टक लीला', ११. 'भजनाष्टक लीला', १२. 'भजन कुण्डलिया लीला', १३. 'भजन सत लीला', १४. 'भजन श्रृंगार सत लीला', १५. 'मन श्रृंगार लीला', १६. 'हित श्रृंगार लीला', १७. 'सभामण्डल लीला', १८. 'रस मुक्तावली लीला', १९. 'प्रेमावली लीला', २०. 'प्रियाजी नामावली लीला', २१. 'रहस्य मंजरी लीला', २२. 'सुख मंजरी लीला', २३. 'रति मंजरी लीला', २४. 'नेह मंजरी लीला', २५. 'वनविहार लीला', २६. 'रंगविहार लीला', २७. 'रसविहार लीला', २८. 'रंग हुलास लीला', २९. 'रंग विनोद लीला', ३०. 'आनन्ददशा विनोद लीला', ३१. 'रहस्यलता लीला', ३२. 'आनन्दलता लीला', ३३. 'अनुराग लता लीला', ३४. 'प्रेमदशा लीला', ३५. 'रसानन्द लीला', ३६. 'ब्रजलीला', ३७. 'जुगलध्यान लीला', ३८. 'नृत्य विलास लीला', ३९. 'मान लीला', और ४०. 'दान लीला'।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक; गोस्वामी हित हरिवंश और उनका सम्प्रदाय : ललिता चरण गोस्वामी; हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का

आलोचनात्मक इतिहास : डाक्टर राम कुमार वर्मा।]

—वि० स्ना०

ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसादकृत अन्तिम नाटक, जिसका प्रकाशन सन् १९३३ ई० में हुआ। 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु गुप्तकाल से ली गयी है। ध्रुवस्वामिनी समुद्रगुप्त को दिग्विजय के समय प्राप्त हुई थी। समुद्रगुप्त की मृत्यु के अनन्तर रामगुप्त ने छलकपट से राज्य पर अधिकार कर लिया और उसी के साथ ध्रुवस्वामिनी को प्राप्त किया। समुद्रगुप्त ने उत्तराधिकार चन्द्रगुप्त द्वितीय को देना चाहा था पर वह बन्दी बना लिया गया। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में जो प्रेम था, वह विकसित होता रहा और विरोधों में समाप्त न हुआ। शकपति के भय से रामगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी को देना चाहा, पर उसने इसका विरोध किया। चन्द्रगुप्त ने अपनी बुद्धि चातुरी से शकराज का अन्त कर दिया और ध्रुवस्वामिनी से उसका परिणय सम्पन्न हुआ। यद्यपि कथावस्तु इतिहास से ली गयी है पर प्रसाद ने इसमें नारी की विवाह समस्या पर विचार करना चाहा है। क्या नारी विक्रय के लिए है? अन्य सामग्रियों की भाँति क्या उसका व्यापार हो सकता है? स्वयं प्रसाद ने लिखा है—"आज जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जा सकते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझकर हम बहुत शीघ्र उन्हें अभारतीय कह देते हैं, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त्त ने समाज की दीर्घकालीन परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया है।" शकराज और रामगुप्त के संघर्ष में राजनीतिक तत्त्व स्वयं ही आ गये हैं, पर 'ध्रुवस्वामिनी' की मुख्य समस्या नारी जीवन और विवाह से सम्बद्ध है। धर्मशास्त्रों का विरोध प्रसाद ने नहीं किया, पर उन्होंने इस प्रश्न पर आधुनिक दृष्टि डाली है।

ध्रुवदेवी और रामगुप्त का विवाह प्रत्येक दृष्टि से वर्जित और विषम है। केवल पति होने के नाते वह ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व पूँजी की भाँति बेंच देने का अधिकारी नहीं और प्रश्न तो यह है कि वह सच्चा पति भी कहाँ है? ध्रुवस्वामिनी तो कभी उसे स्वीकार ही नहीं करती। वह अन्त तक इस बात का विरोध करती है कि उसे शकराज को समर्पित कर दिया जाय। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है और विवाह उसकी पूर्णता है। रामगुप्त के चरित्र में प्रसाद ने एक कायर और दुर्बल राजा को अंकित किया है, जिसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रजा को पूर्ण अधिकार है। अपनी वासनाओं में बन्दी रामगुप्त मूर्खता का परिचय देता है और अन्त में समाप्त हो जाता है। उसके विपरीत चन्द्रगुप्त एक वीर पुरुष है। अपने विवेकबल से वह ध्रुवस्वामिनी को पा जाता है। ध्रुवस्वामिनी का चरित्र निर्भीक और बुद्धिप्रधान है। समस्त कथा का संचालन उससे सम्बन्ध रखता है। वह अन्त तक रामगुप्त का विरोध करती है—अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति के सहारे। उसके व्यक्तित्व में उस जागरूक नारी का स्वरूप है, जो विक्रय की वस्तु होने से इनकार कर देती है। उसके कथन में ओज और शक्ति है। नये युग की बाग्रत् नारी का प्रतीक उसे कहा जायगा। 'ध्रुवस्वामिनी' नाट्यकला की दृष्टि से प्रसाद की उत्कृष्ट रचना है। इसमें तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक में एक दृश्य। कार्य-व्यापार एक ही स्थान पर इनमें सम्पन्न होता है। एक धारावाहिक क्रम नाटक में आद्योपान्त देखा जा सकता है। इस नाटक के निर्माण में प्रसाद ने रंगमंच का ध्यान रखा है। दृश्यों में अधिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं और संवादों में गति होने के कारण प्रवाहमयता में भी बाधा नहीं है। कतिपय समीक्षक 'ध्रुवस्वामिनी' को समस्या-प्रधान नाटकों के समीप रखते हैं और उसमें आधुनिक नाटककारों का प्रभाव पाते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाट्यकला की दृष्टि से प्रसाद की सफल कृति है।

—प्रे० शं०

नंद—कृष्ण-काव्य के पात्रों में नन्द का स्थान गौण कहा जा सकता है। श्रीमद्भागवत के पूर्व कृष्ण-कथा की परम्परा में यद्यपि नन्द का नाम अनेक स्थलों पर मिल जाता है, परन्तु उनके चरित्र की कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं दिखायी देती। महाभारत में गोपाल कृष्ण की कथा के सन्दर्भ प्रायः नहीं हैं, इसलिए उसमें नन्द का भी नाम नहीं मिलता। बौद्ध घत जातक के अनुसार वासुदेव कण्ह देवगभा के गर्भ से उत्पन्न होकर नन्द गोपा नाम की कंस की दासी के द्वारा पाले गये थे। नन्द गोपा के पति का नाम अंधकवेण्हु था। हरिवंश को यदि महाभारत का परिशिष्ट मानते हुए प्राचीनतम पुराण स्वीकार किया जाय तो कहा जा सकता है कि सबसे पहले हरिवंश में ही नन्द का कृष्ण के पोषक-पिता के रूप में उल्लेख हुआ है। देवकी के गर्भ से उत्पन्न होने के बाद कृष्ण के पिता वसुदेव ने उन्हें कंस के क्रोध से सुरक्षित रखने के लिए गोकुल के नन्द गोप के यहाँ भेज दिया था। इस प्रकार नन्द ने कृष्ण का लालन-पालन किया था परन्तु हरिवंश में गोपाल कृष्ण की कथा का बहुत कम विस्तार है, अतः नन्द का चरित्र भी उसमें विकसित नहीं हुआ। नन्द के चरित्र-विकास का आधार वस्तुतः श्रीमद्भागवत ही है, जिसमें वे एक अत्यन्त सरल स्वभाव ग्रामप्रमुख के रूप में केवल इस उद्देश्य से चित्रित किये गये हैं कि वे कृष्ण के प्रति उत्कट वात्सल्य भक्ति रखते हैं। भागवत (नवमस्कन्ध) में नन्द और उपनन्द नामक वसुदेव के पुत्र भी कहे गये हैं; जो उनकी मदिरा नामक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए थे परन्तु यही नन्द कृष्ण के पोषक पिता नहीं माने जा सकते।

श्रीमद्भागवत के नन्द में एक ऐसे ग्रामप्रमुख का उदाहरण मिलता है, जो सदैव क्रूर शासक से भयभीत रहता है तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए विवश होकर सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में नन्द का उल्लेख मुख्य रूप में उस समय हुआ है, जब वे शिशु कृष्ण को वनप्रान्तर के एकान्त में राधा को सौंप देते हैं तथा राधा एवं राधाकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना व्यक्त करते हैं। नन्द के इस चरित्र में बड़ी कृत्रिमता और अविश्वसनीयता है। जयदेव के 'गीतगोविन्द' में भी ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण के इस प्रसंग का उल्लेख मिलता है। नन्द द्वारा राधा को कृष्ण के सौंपे जाने का उल्लेख हिन्दी के कुछ कवियों ने भी किया है। 'सूरसागर' में भी राधा-कृष्ण मिलन के प्रसंग में इसका संकेत पाया जाता है परन्तु 'सूरसागर' के नन्द का चरित्र काव्य की सीमाओं के भीतर सम्यक् रूप में चित्रित हुआ है। सूरदास ने उन्हें गोकुल के सबसे अधिक सम्भ्रान्त और सम्पन्न 'महर' तथा ग्रामवासी अहीरों के नायक के रूप में चित्रित किया है। सूरदास ने गोकुल

के अन्य महरों को उपनन्द कहा है, जिससे यह भी सूचित होता है कि नन्द कदाचित् ग्रामप्रमुख की कोई पदवी है । उपनन्द के अतिरिक्त कहीं-कहीं उदाहरणार्थ 'सूरसागर सारावली' में धरानन्द, सूरसुरानन्द आदि अन्य नाम भी आये हैं परन्तु हिन्दी कृष्ण-काव्य में नन्द का नाम कृष्ण के पोषक पिता के रूप में रूढ़ हो गया है ।

गोकुल के पंचायती समाज में नन्दपर ही राजा कंस के राज्य अंश तथा अन्य करों के चुकाने का दायित्व रहता है। अपने समाज के वे लोकप्रिय नेता हैं और सभी कार्य सबकी सलाह से करते हैं। कृष्ण जैसा पुत्र पाकर उनकी प्रतिष्ठा और ख्याति में वृद्धि हो जाती,है, परन्तु साथ ही उन्हें इस कारण संकटों का आये दिन सामना करना पड़ता है। ग्रामीणों की सरलता उनके चरित्र की प्रमुख विशेषता है । सरलता के साथ उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता स्नेहशीलता है, जो कृष्ण के सम्बन्ध में आये दिन के संकटों के कारण भय, चिन्ता और आशंका से समन्वित होकर प्रायः कातरता में परिणत होती देखी जाती है। उनके स्वभाव की सरलता के प्रमाण उन अवसरों पर मिलते हैं, जब वे अत्यन्त भयाकुल होते हुए भी कृष्ण के आश्वासनों के द्वारा बहुत जल्द शान्त हो जाते हैं और ऐसे व्यवहार करने लगते हैं, मानों उन्हें किसी का डर न हो। कालियदमन और गोवर्द्धनधारण के प्रसंगों में उनके इस स्वभाव का सुन्दर चित्रण हुआ है। अक्रूर के साथ कृष्ण के मथुरा जाने के अवसर पर नन्द के स्वभाव की सरलता का प्रमाण पुनः प्राप्त होता है, जब वे कृष्ण के भावी वियोग की पीड़ा से व्यथित यशोदा को यह कहकर समझाते हैं कि जिन कृष्ण ने ब्रज के अनेक संकटों का निवारण किया था, उनके विषय में आशंका की आवश्यकता नहीं है । कृष्ण के प्रति नन्द के वात्सल्यभाव की तीव्रता सूरदास ने यशोदा की अपेक्षा किंचित् न्यून व्यंजित की है। इसी कारण वे कृष्ण के अतिलौकिक व्यक्तित्व की अपेक्षाकृत अधिक प्रतीति करते देखे जाते हैं। इसका एक स्वाभाविक कारण यह भी है कि वे पुरुष हैं तथा कृष्ण ने अनेक बार, उदाहरणार्थ वरुण-पाश से छुड़ाने के प्रसंग में, उनके सम्मुख अपनी अलौकिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत किया था। मथुरा में कंस आदि का वध करने के उपरान्त कृष्ण जब उन्हें ब्रज लौट जाने को कहते हैं, उस समय नन्द के स्नेह-कातर हृदय का सूरदास ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया है । नन्द को लौटाने के लिए उन्हें माया की मोहिनी का प्रयोग करना पड़ा है । कृष्ण के वियोग में नन्द की आत्मग्लानि और अधिक मर्मस्पर्शी हो गयी है। नन्द और यशोदा जब कृष्ण को एक दूसरे के द्वारा दिये गये कष्टों का परस्पर लांछन लगाते हैं तब उनके सरल स्वभाव और स्नेहशील हृदय का सुन्दर परिचय मिलता है।

सूरदास द्वारा चित्रित नन्द के हृदय की कृष्ण-वियोगजन्य आत्मग्लानि परवर्ती कृष्ण-काव्य में भी यदा-कदा देखने को मिल जाती है, यद्यपि परवर्ती कृष्ण-काव्य अधिकांशतः माधुर्य, भक्ति और श्रृंगार रस में ही सीमित और संकुचित होता गया तथा सूरदास द्वारा चित्रित वात्सल्य एक प्रकार से विस्मृत-सा हो गया। आधुनिक काल के कृष्णकाव्य के ब्रजभाषा कवियों ने कभी-कभी इसी रूप में नन्द का स्मरणमात्र कर लिया है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धव-शतक' इसका एक उदाहरण है। 'प्रियप्रवास' में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने नन्द के चरित्र-चित्रण में पश्चात्ताप की भावना को प्रमुखता दी है । वे यह सोचकर घोर आत्म-भर्त्सना करते हैं कि उन्होंने स्वयं अपने हाथों से अपना पुत्र कंस जैसे क्रूर व्यक्ति को सौंप दिया । मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपने 'द्वापर' में नन्द को पश्चात्ताप की भावना से अभिभूत होकर एकान्त में रुदन करते हुए चित्रित किया है । इस प्रकार नन्द का व्यक्तित्व निरन्तर वात्सल्य का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ चित्रित हुआ है ।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य (खण्ड २), भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग; सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद ।]

—ब्र० व०

नंदकिशोर—'प्राकृतपैंगलम्' के आधार पर रचा हुआ इनका 'पिंगल प्रकाश' है। इस ग्रन्थ में कोई नवीनता नहीं है। छन्दों के लक्षण, वर्गीकरण और क्रम प्रायः उसी के आधार पर हैं।

—सं०

नंदक—१. एक प्रधान नाग, जिसका निवास तृतीय तल में था।

२. बृकदेवी और वसुदेव का पुत्र ।

३. ब्रह्मा के अनुचर ।

४. विष्णु की तलवार, जो जरासंध से युद्ध करते समय कृष्ण के पास पहुँच गयी थी ।

—मो० अ०

नंददास— अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए हैं । नन्ददास के जीवन के सम्बन्ध में विश्वसनीय सामग्री बहुत कम प्राप्त है। उनका जन्म-स्थान ब्रज के पूर्व कोई रामपुर नामका गाँव था। उनका जन्मकाल सन् १५३३ ई०, सम्प्रदाय-प्रवेश सन् १५५९ ई० तथा गोलोकवास सन् १५८६ ई० के पूर्व अनुमान किया गया है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उन्हें गोस्वामी तुलसीदास का भाई कहा गया है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पहले वे काशी में भी रहे थे । तुलसीदासजी ने उन्हें राम-भक्त बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली । काशी से नन्ददास द्वारिका की यात्रा के लिए चल पड़े। रास्ते में कुरुक्षेत्र के आगे सीहनन्द गाँव के एक खत्री साहूकार की रूपवती स्त्री पर वे इतने मुग्ध हो गये कि द्वारिका की यात्रा भूलकर उसके यहाँ नित्य भिक्षा के लिए जाने लगे। लोकापवाद के डर से साहूकार अपनी स्त्री को लेकर गोकुल की यात्रा पर चल पड़ा किन्तु नन्ददास भी उसके पीछे-पीछे लग गये। जब वे यमुना तट पर पहुँचे तो नाविक ने नन्ददास को पार नहीं उतारा । अतः वे यमुना तट पर बैठकर यमुना-स्तुति के पद रचकर गाने लगे। जब वह साहूकार अपनी स्त्री सहित विट्ठलनाथजी के दर्शन करने गया तो गोस्वामीजी ने पूछा कि उस ब्राह्मण को जमुना के उस पार क्यों छोड़ आये हो। गोस्वामीजी के इस चमत्कार को देखकर साहूकार चकित हो गया। गोसाईजी ने तुरन्त नन्ददास को बुला भेजा और उन्हें अपनी शरण में ले लिया। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के उपरान्त नन्ददास की वह आसक्ति जो पहले खत्रानी के रूप के प्रति थी, परिष्कृत होकर श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी में केन्द्रीभूत हो गयी। कृष्ण-भक्ति के लिए जिस सौन्दर्य, प्रेम और रसिकता की आवश्यकता है, वह नन्ददास में

प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। ऐसा अनुमान है कि उनकी कोई स्त्री-मित्र भी थी, जिनके लिए उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। 'वार्ता' के अनुसार जिस समय अकबर ने मानसी गंगा पर डेरा डाला था, नन्ददास उनकी एक वैष्णवदासी रूपमंजरी से मिलने गये थे। उसी समय बीरबल भी नन्ददास से मिलने आये। यह भी कहा गया है कि नन्ददास का गोलोकवास मानसी गंगा पर अकबर के सामने ही हुआ था।

नन्ददास की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण अष्टछाप कवियों में उनका स्थान अद्वितीय कहा जा सकता है। कवित्व-शक्ति और भक्ति-भावना के अतिरिक्त सिद्धान्तवादिता और शास्त्रीयता भी उनमें सबसे अधिक मुखर रूप में पायी जाती है। कृष्ण-भक्ति के माहात्म्य को वे तर्क और पाण्डित्य द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त-कथन के अतिरिक्त नन्ददास ने अपनी कृष्ण-भक्ति के सन्दर्भ में ही काव्य-शास्त्रीय विवेचन की भी प्रवृत्ति प्रकट की है। अष्टछाप के अन्य कवियों ने कृष्णलीलासम्बन्धी विविध विषयों पर रचना अवश्य की, परन्तु उन विषयों को स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति केवल नन्ददास में पायी जाती है। नन्ददास ने कृष्ण-लीलासम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त कुछ ऐसे विषयों को भी अपनी रचना का विषय बनाया है, जौ लौकिक और साहित्यिक कहे जा सकते हैं। नन्ददास अष्टछाप कवियों में परवर्तीकाल के कवि हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि उनमें हम साम्प्रदायिकता का आधिक्य तथा लौकिक विषयों के प्रति उन्मुखता देखते हैं।

नन्ददास की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' हैं। 'रासपंचाध्यायी' में श्रीमद्‌भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के राससम्बन्धी पाँच अध्यायों (२९-३३) की कथा मनोहर छन्द और ललित पदावली में वर्णित की गयी है। इस रचना द्वारा नन्ददास की दृश्य, रूप और क्रिया-कलाप वर्णन करने की शक्ति, उनका असाधारण भाषाधिकार, विचारों की स्पष्टता, वाणी की वक्रता तथा विषय को तर्कपूर्ण ढंग से उपस्थित करने की योग्यता का परिचय मिलता है। ब्रजभाषा का पद लालित्य 'रासपंचाध्यायी' में उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होता है। इसी रचना के आधार पर प्रायः नन्ददास की तुलना संस्कृत की कोमलकान्त-पदावली में रचना करने वाले महाकवि जयदेव से करते हैं। 'भँवरगीत' में नन्ददास ने कृष्णकथा के उद्धव-गोपीसम्बन्धी प्रसिद्ध प्रसंग को एक स्वतन्त्र खण्ड-काव्य के रूप में रचा है। इस रचना में पर्याप्त नाटकीयता, विषय की स्पष्टता, भाषा की सरलता और प्रांजलता, कथा की क्रमबद्धता और छन्द की अनूठी मनोहारिता है। यह अवश्य है कि इसमें वैसी रसवत्ता और भाव की तल्लीनता नहीं मिलती, जैसी कि सूरदास के 'भ्रमरगीत' के पदों में पायी जाती है। नन्ददास की रचना में बुद्धि और तर्क की प्रधानता है। नन्ददास की गोपियाँ अध्यात्म और न्यायदर्शन की सहायता से उद्धव को परास्त करने का प्रयत्न करती हैं। 'रासपंचाध्यायी' में नन्ददास ने कृष्ण और गोपियों के कान्ता-प्रेम को भक्ति के उज्ज्वल रस के रूप में प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न किया है, उसी का पुनः औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' की रचना की। इसका विषय भी रासलीला ही है किन्तु इसमें रास-वर्णन के स्थान पर उसके आध्यात्मिक पक्ष का उद्घाटन किया गया है। 'स्यामसगाई' राधा और कृष्ण की सगाई के विषय को लेकर एक छोटे से काव्य के रूप में वर्णित की गयी है। इसका आधार 'सूरसागर' के राधा-कृष्ण प्रेम सम्बन्धी 'गारुड़ी प्रसंग' में मिलता है। इसकी भाषा और छन्द तथा शैली में 'भँवरगीत' जैसा आकर्षण है। नन्ददास की पाँच मंजरियों में से 'रसमंजरी' नायक-नायिका भेद की रचना है। इसका आधार भानुकविकृत संस्कृत 'रसमंजरी' है। इसकी रचना का औचित्य बताते हुए नन्ददास ने कहा है कि जो व्यक्ति प्रेमभाव के भेदों को नहीं जानता, वह प्रेम के रहस्य को नहीं समझ सकता। प्रेम मार्ग के अनुयायी को प्रेम का रहस्य अवश्य जानना चाहिये। अतः भगवद्‌भक्ति के लिए श्रृंगार रस का समझना आवश्यक है। नन्ददास ने श्रृंगार के सभी भाव श्रीकृष्ण को नायक मानकर व्यक्त किये हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार अग्नि में पड़कर सब वस्तुएँ भस्म हो जाती हैं, उसी प्रकार बुरे भाव भी भगवान् के संसर्ग में पड़कर भस्म हो जाते हैं। रचना के प्रारम्भ में उन्होंने आनन्दघन, रसरूप, रस के कारण, रस के भोक्ता, आनन्द के मूल स्रोत नन्दकुमार की स्तुति करके अपने प्रेम और रसानन्द को उन्हीं में समर्पित किया है। इस भूमिका के बाद उन्होंने श्रृंगार का जैसा विशद वर्णन किया है, वह रीतिकालीन कवियों का पूर्वगामी कहा जा सकता है। 'अनेकार्थ मंजरी' संस्कृत भाषा न जानने वालों के लिए एक छोटा-सा शब्दकोश है, जिसमें दोहा छन्द में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। रचना का सम्बन्ध पुष्टिमार्गीय भक्ति से केवल इतना है कि मंगलाचरण में अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है और प्रत्येक दोहे के अन्तिम चरण में उसमें वर्णित शब्द को भगवान् के साथ सम्बद्ध किया गया है। 'मानमंजरी नाममाला' भी एक कोश-ग्रन्थ है किन्तु साथ ही इसमें राधा के मान का वर्णन भी है। एक कोश ग्रन्थ में कथानक का क्रमिक वर्णन नन्ददास जैसे कलाकार के लिए ही सम्भव था। 'विरह मंजरी' में एक ब्रजयुवती की वियोग-दशा का वर्णन किया गया है। इसकी शैली बारहमासे जैसी है। ब्रजयुवती का वियोग काल्पनिक रूप में वर्णित है। युवती सोचती है कि कृष्ण द्वारिका चले गये हैं और वह उनके वियोग में व्यथित हो रही है। वास्तविक स्थिति का ध्यान आते ही वह प्रेममग्न हो जाती है। इस रचना का उद्देश्य प्रेमभक्ति में विरह की महत्ता का प्रतिपादन करना है। 'रूप मंजरी' एक छोटा सा कथा-काव्य है, जिसमें एक सुन्दर स्त्री के सौन्दर्य तथा लौकिक प्रेम को छोड़कर कृष्ण के प्रति उसके 'जार भाव' के प्रेम तथा उसकी एक सखी इन्दुमती के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन है। काव्य की नायिका रूपमंजरी स्वयं नन्ददास की मित्र रूपमंजरी है और सखी स्वयं कवि नन्ददास हैं यद्यपि रूपमंजरी का कथानक लौकिक श्रृंगार से सम्बद्ध है किन्तु उसमें नन्ददास ने अपने आध्यात्मिक भावों तथा प्रेम लक्षणा-भक्ति के अन्तर्गत परकीया प्रेम के आदर्श को स्पष्ट किया है। काव्यकला और रसात्मकता की दृष्टि से यह रचना उत्कृष्ट है। 'रुक्मिणी-मंगल' की कथा श्रीमद्‌भागवत के दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध के ५२, ५३ और ५४वें अध्याय से ली गयी है। नन्ददास ने भागवत के कुछ विस्तारों को छोड़ दिया है तथा भावपूर्ण स्थलों को अधिक विशद कर दिया है। 'दशमस्कन्ध'

की रचना नन्ददास ने अपने एक मित्र के अनुरोध से की थी, जिससे उन्हें संस्कृत भागवत के विषय का भाषा द्वारा ज्ञान हो जाय। इसमें भागवत का भावानुवाद किया गया है और साथ ही भागवत की कुछ टीकाओं का भी उपयोग कर लिया गया है। दशमस्कन्ध की कथा का इसमें केवल उन्तीसवें अध्याय तक वर्णन है। कहा जाता है कि नन्ददास सम्पूर्ण भागवत का अनुवाद करना चाहते थे किन्तु बाद में ब्राह्मणों के प्रार्थना करने पर कि उनकी वृत्ति छिन जायगी, उन्होंने अपना संकल्प त्याग दिया। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त नन्ददास ने विविध विषयों पर गेय पदों की भी रचना की थी। कृष्णलीला से सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त उनके ऐसे भी पद हैं, जिनमें गुरु-महिमा, नाम महिमा, विनय-भावना और भक्ति के लक्षणों का वर्णन हुआ है। नन्ददास के नाम से 'गोवर्द्धन लीला' और 'सुदामाचरित' नामक दो रचनाएँ और प्रसिद्ध हैं किन्तु गोवर्द्धनलीला दशमस्कन्ध का ही एक अंश है और वह उसके २४-२५ वें अध्याय में वर्णित है। 'सुदामाचरित' की प्रामाणिकता पर विद्वानों में मतभेद है।

रचना की प्रचुरता तथा विषय की विविधता की दृष्टि से नन्ददास का स्थान अष्टछाप के कवियों में बहुत ऊँचा है। भक्त होने के साथ ही वे ऐसे सचेष्ट और सचेतन कलाकार भी हैं, जिन्हें अपने कविकर्म के उत्तरदायित्व का सदैव ध्यान रहता है। यह अवश्य है कि नन्ददास ने काव्यकला सम्बन्धी जो सामग्री प्रस्तुत की है, उसका स्रोत बहुत अंश में 'सूरसागर' ही है। नन्ददास की विशेषता यह है कि उन्होंने उस विषय को जो सूरदास, परमानन्ददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियोंने प्रच्छन्न रूप में वर्णित किया था, स्पष्ट रूप में सम्मुख रख दिया और इस प्रकार वे हिन्दी के भक्ति-काव्य तथा लौकिक श्रृंगारी—काव्य को जोड़ने वाली एक कड़ी बन गये। काव्यकला की दृष्टि से नन्ददास की इस प्रवृत्ति की सराहना की जा सकती है परन्तु उनके भक्तिभाव की ऐकान्तिकता और तीव्रता में शंका उठना भी स्वाभाविक है। भावानुभूति की गम्भीरता के अभाव के ही कारण नन्ददास की अनुभूति और अभिव्यक्ति में वैसी एकात्मकता और घनिष्ठता नहीं है, जैसी कि पूर्ववर्ती कवियों में पायी जाती है। शब्दो के प्रयोग में नन्ददास बड़ी सावधानी और सतर्कता का परिचय देते हैं और यह कथन सत्य ही है कि जहाँ और कवि 'गढ़िया' हैं, नन्ददास 'जड़िया' हैं परन्तु भाषा सौन्दर्य पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण वे न केवल कभी-कभी भावों की उपेक्षा कर जाते हैं, वरन् यमक, अनुप्रास छन्द की लय और प्रवाह के अनुरोध से शब्दों को विरूप भी कर देते हैं। नन्ददास का छन्द-प्रयोग भी बहुत आकर्षक हैं। रोला-दोहा के संयुक्त छन्द का प्रयोग उन्होंने सूरदास के अनुकरण पर अपनी कई रचनाओं में किया है। इस छन्द के अन्त में एक छोटा चरण जोड़कर पूर्वगामी भाव का सार वे जिस प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हैं, उससे छन्द का आकर्षण और अधिक बढ़ जाता है। अपनी अनेक विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य में नन्ददास का स्थान कुछ चुने हुए महान् कवियों के बाद ही आता है। नन्ददास की सम्पूर्ण कृतियों के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं— उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित तथा प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'नन्ददास', दूसरा ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'नन्ददास ग्रन्थावली' तथा डॉ० सत्येन्द्र और केब्रिज के डॉ० मैकग्रेगर ने भी नददास के ग्रंथों का संपादन किया है।

[सहायक ग्रन्थ—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त; नन्ददास : पण्डित उमाशंकर शुक्ल; नन्ददास ग्रन्थावली : ब्रजरत्नदास।]

—व्र० व०

नंददुलारे वाजपेयी—शुक्लोत्तर समीक्षको में नन्ददुलारे वाजपेयी की गणना शीर्षस्थानीय आलोचकों मे की जाती है। वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सच्चे उत्तराधिकारी हैं, उनकी समीक्षाओं द्वारा शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति विकसित हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने शुक्लजी की समीक्षा-सरणि का अनुकरण किया अथवा उनकी मान्यताओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उन्होंने शुक्लजी की कमियों की ओर, उनके बँधे-बँधाये दृष्टिकोण की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए अपनी निजी मान्यताओं की स्थापना की, जो कहीं-कहीं शुक्लजी की विरोधी होते हुए भी उनकी पूरक हैं। अपने मौलिक दृष्टिकोण, नव्यतर समीक्षात्मक मान, तलस्पर्षी दृष्टि, मार्मिक व्याख्या के कारण वे हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचकों में गिने जाते हैं।

वाजपेयीजी का जन्म सन् १९०६ ई० (स० १९६३) की भाद्रपद अमावस्या को ग्राम मगरैल, जिला उन्नाव के एक कान्यकुब्ज कुल में हुआ था। उनके पिता हिन्दी साहित्य के अच्छे जानकार थे। वाजपेयी जी को साहित्य के प्रति प्रारम्भिक रुचि उन्हीं से प्राप्त हुई। वाजपेयी का बचपन अपने पिता के साथ हजारीबाग में बीता। उनकी उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई। सन् १९२९ में एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा में उन्होंने सर्वोत्तम स्थान प्राप्त किया। वे बाबू श्यामसुन्दर दास के अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से वे अनुसन्धान कार्य में लग गये।

सन् १९३२ ई० में वे हिन्दी के प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'भारत' के सम्पादक होकर प्रयाग चले गये। अपने सम्पादनकाल में उन्होंने आधुनिक साहित्यकारों के सम्बन्ध में अनेक विद्वतापूर्ण समीक्षात्मक निबन्ध लिखे, जो बाद में 'जयशंकर प्रसाद' और 'हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी' में संगृहीत हुए। पर 'भारत' के व्यवस्थापकों से सैद्धान्तिक मतभेद के कारण आप वहाँ टिक न सके। प्रयाग से वे काशी चले आये और नागरी प्रचारिणी सभा में 'सूरसागर' का सम्पादन करने लगे। सन् १९३६ ई० में यह कार्य पूरा कर लेने के पश्चात् सन् '३७ में 'रामचरितमानस' का सम्पादन करने के लिए गीताप्रेस, गोरखपुर चले गये। यह कार्य दो वर्षों तक चलता रहा किन्तु गीता प्रेस की नीति उन्हें सह्य न हुई और वे नौकरी छोड़कर बिना किसी आधार के प्रयाग आ गये। सन् '४१ ई० में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। सन् '४७ ई० से सागर विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। फिर विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में कुलपति नियुक्त हुए। वहीं १९६७ ई० में आपका देहावसान हुआ।

वाजपेयीजी हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में छायावादी-काव्य के समीक्षक-रूप में आये। वे पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने

छायावादी काव्य का गहन और सूक्ष्म विश्लेषण किया। आचार्य शुक्ल की छायावादी काव्य की आलोचनाएँ काल-क्रम की दृष्टि से बाद में लिखी गयीं। छायावाद काव्य के नये जीवन-दर्शन, नयी भाव-धारा, नूतन कल्पना-छवियों और अभिनव भाषा रूपों ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया और उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण को नवीन चेतना दी। छायावादी काव्यालोचन में उन्होंने काव्य के अन्तःसौन्दर्य को उद्घाटित करते हुए उसकी उपलब्धियों और सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने उस काव्य के नवीन मानव-मूल्यो, भाव-सम्पदा और सौन्दर्य-बोध को नये ढंग से विवेचित किया। छायावादी कवियों ने बाह्य जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् को अपने काव्य का विषय बनाया। इसलिए आलोचक के लिए भी उनके मानसिक तथा कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना आवश्यक हो गया।

उनकी पहली पुस्तक 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' (३० से ४० तक के निबन्धों का संग्रह) में साहित्यकारों की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन विशेष रूप से किया गया है। उसी पुस्तक में उन्होंने प्रमुखता के क्रम से अपने सात समीक्षा सूत्रों का उल्लेख किया है, जिनमें से प्रथम तीन हैं—१. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन, २. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन, ३. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन। शेष सूत्रों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति, प्रेरणास्रोत, कवि की व्यक्तिगत जीवनी और उसकी रचनाओं पर उसका प्रभाव और उसके विचार, जीवन-दर्शन को सन्निविष्ट किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही उनकी समीक्षा व्यापक आधार लिये हुए थी, पर जैसा पहले कहा जा चुका है, छायावादी कवियों की समीक्षा प्रस्तुत करते समय उन्होंने उनके मानसिक उत्कर्ष, आस्था, विश्वास आदि का ही मुख्य रूप से आकलन किया।

अपनी दूसरी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' में (१९४० ई०) उनकी समीक्षात्मक दृष्टि और व्यापक हुई। सन् '३२-३३' तक उनका समीक्षा-कार्य प्रगीत काव्यों के विवेचन तक ही सीमित रहा। उसके बाद वे नाटक, उपन्यास, प्रबन्धकाव्य आदि के साहचर्य में आये। आलोच्य के वैविध्य के साथ-साथ उनकी समीक्षा में भी विविधता के दर्शन हुए। 'कंकाल' जैसी यथार्थवादी कृति की प्रशंसात्मक समीक्षा करना, उनकी आलोचना के विकास की अगली मंजिल थी। उनकी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द' है। चौथी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' में (सन् १९५० ई०) सन् '३५-३६' के बाद की हिन्दी साहित्य की प्रगति का विवेचन किया गया है। वाजपेयीजी साहित्य की प्रगति द्वन्द्वात्मक नहीं, धारावाहिक मानते हैं। वे प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पन्त आदि की निष्ठामयी रागिनी और जनवादी स्वर से नीचे उतरने के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखनेवाले रचयिताओं का स्वागत करना उनके लिए सम्भव न था। उनकी पाँचवी पुस्तक 'नया साहित्य-नये प्रश्न' में (सन् १९५५ ई०) उनकी समीक्षात्मक दृष्टि और भी व्यापक तथा संयमित हो गयी है। जिन सात सूत्रों का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक में किया था, वे अब उनकी समीक्षा के अनिवार्य अंग हो गये।

वाजपेयीजी साहित्य अथवा समीक्षा को 'वाद' विशेष में बाँधने के पक्षपाती नहीं हैं। साहित्यकार वादग्रस्त होकर अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को कुण्ठित कर देता है और वादग्रही आलोचक कृतियों की स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार कर अपने मूल्यों को ढूँढ़ने का दुराग्रह करता है। लेकिन उनका विश्वास है कि श्रेष्ठ साहित्य की रचना युग-चेतना को अंगीकृत किये बिना सम्भव नहीं है। वे कविता की श्रेष्ठता 'जीवन चेतना' की श्रेष्ठता पर ही आश्रित मानते हैं। वे उच्चकोटि के साहित्य के लिए आस्था और उच्चकोटि की नैतिक चेतना को अनिवार्य मानते हैं। नैतिक चेतना से उनका तात्पर्य मानव-सम्बन्धों की सम्पन्नता से है। वाजपेयीजी की बाद की आलोचना में प्रकाश्य-रूप से एक तत्त्व और जुड़ गया है, जिसके आधार पर उनकी साहित्य से रचनात्मक और क्रियाशील जनतन्त्र की माँग बढ़ गयी है।

वाजपेयीजी ने कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी है ('प्रेमचन्द' को अपवाद मानना होगा)। सभी पुस्तकें समय-समय पर लिखे गये निबन्धों के संग्रह हैं। जिस प्रकार छायावादी प्रगीतों में काव्य-सौष्ठव देखा जाता है, उसी प्रकार उनके स्फुट निबन्धों में छायावादी काल के समीक्षक की तेजस्विता, मौलिकता, चिन्तन-मनन है। उनकी समीक्षा सरणि से हिन्दी आलोचना पर्याप्त समर्थ हुई है।

—ब० सिं०

नंदन—शिवसिंह ने इनको १५६८ ई० में उपस्थित माना है और कहा है कि इनके छन्द 'कालिदास हजारा' में संकलित हैं। ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धु ने भी इसी का उल्लेख किया है। 'दिग्विजयभूषण' से उद्धृत इनके छन्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये श्रृंगार-रस के अच्छे कवि हैं और इनकी शैली रीति-काव्य के उक्ति-वैचित्र्य तथा वैदग्ध्य से युक्त है।

—सं०

नंदनवन—देवताओं का विहार-वन। यह वन पारिजात पुष्प के लिए प्रसिद्ध है। कृष्ण और उनकी पत्नी सत्यभामा ने इसी उद्देश्य से इसका निरीक्षण किया था।

—मो० अ०

नंदिग्राम—वह स्थान, जहाँ राम के वन चले जाने पर भरत ने निवास किया था। यहीं से वे शासन-कार्य करते रहे। नन्दिग्राम में ही उनकी भेंट हनुमान् से हुई थी। प्रायः सभी रामकथा-सम्बन्धी काव्य-ग्रन्थों में इसका उल्लेख है।

—मो० अ०

नंदिनी—वशिष्ठ की कामधेनु का नाम नन्दिनी प्रसिद्ध है परन्तु नन्दिनी को कामधेनु की पुत्री भी कहा गया है। नन्दिनी की सेवा करने से दिलीप को पुत्र की प्राप्ति हुई थी। द्यौ नामक वसु एक बार उसे चुरा ले गया। फलतः वह भीष्म बनकर उत्पन्न हुआ। एक बार विश्वामित्र लोभवश नन्दिनी को जबरदस्ती लेकर चलने लगे परन्तु नन्दिनी के चिल्लाने से एक सेना निकली, जिसने विश्वामित्र को परास्त कर दिया। 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में नन्दिनी का वर्णन आता है। हिन्दी में उसका वर्णन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुवाद द्वारा उपलब्ध है।

—मो० अ०

नंदी—१. महादेव का एक गण।

२. शिव का वाहन वृषभ, जो बाण के रथ के घोड़े का साज ठीक करता था।

३. धृति का पति, जिसे त्यागकर धृति सोम के पास चली गयी थी।

४. नन्दिवर्द्धन का पुत्र, जो प्रद्योत-वंश का पंचम एवं अन्तिम राजा था।

५. स्वर्ग का पुत्र।

—मो० अ०

नकछेदी तिवारी 'अजान'—डुमरॉंव जिला शाहाबाद निवासी 'अजान' का जन्म हल्दी नामक ग्राम में स० १९१९ में हुआ था। ये भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित होने वाली ब्रजभाषा काव्य की पुस्तकों के एक सुयोग्य सम्पादक थे। आप 'अजान' नाम से ब्रजभाषा में कविताएँ भी लिखा करते थे। कहा जाता है कि ये समस्यापूर्ति करने में अत्यंत निपुण थे। एक बार किसी ने इन्हें 'पर पर भर भर' नामक समस्या दी। उसकी पूर्ति इन्होंने इस प्रकार की—

कन्त चल्यौ परदेस को तीय न बोली बैन,
पर पर पाँव मनावती भर भर आँसू नैन।

आपने शिवसिंह सरोज के आधार पर 'कवि रीति कलाविधि' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना की है, जिसमें हिन्दी के प्राचीन कवियों का संक्षिप्त परिचय है। आप की अन्य पुस्तकें निम्नलिखित हैं—मनोज मंजरी (चार भागों में) भड़ौआ संग्रह (चार भागों में) श्रृंगार चन्द्रिका, वीरोल्लाप, विचित्रोपदेश, खगावली, होरी गुलाल, लछिराम की जीवनी, विज्ञान मार्तण्ड। आपकी सम्पादित पुस्तकें इस प्रकार हैं—काव्य निर्णय (दास) इश्कनामा (बोधा), नखशिख (बलभद्र मिश्र) अंगदर्पण (रसलीन), श्रृंगार लतिका (द्विजदेव) आदि।

[सहायक ग्रन्थ—ब्रजभाषा रीति शास्त्र ग्रंथ कोश-पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी, मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग, खड़ी बोली का हिन्दी साहित्य का इतिहास-सं० ब्रजरत्नदास]

—कि० ला०

नकुल—युधिष्ठिर के चतुर्थ भ्राता, अश्विनीकुमारों के औरस और पाण्डु के क्षेत्रज पुत्र। इनकी माता का नाम माद्री था। इनके सहोदर का नाम सहदेव था। नकुल नीतिपटु तथा पशु-चिकित्सा में दक्ष थे। अज्ञातवास में ये विराट के यहाँ गाय चराते थे। इनकी स्त्री करेणुमती, चेदिराज की कन्या थी। निरमित्र और शतानीक नामक इनके दो पुत्र थे।

—मो० अ०

नन्दराम—रीति परम्परा के अन्तिम कवि नन्दराम का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में बहुत कम हुआ है। मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद में दो नन्दराम की चर्चा की है। जिनमें प्रथम नन्दराम की उन्होंने केवल एक पुस्तक 'नन्दराम पच्चीसी' के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ की चर्चा नहीं की (मिश्रबन्धु विनोद दि० भा० पृ० ५१५)। अपने विनोद में मिश्रबन्धुओं ने द्वितीय नन्दराम के संबंध में कुछ विशेष विवरण नहीं दिया। केवल उनके तीन ग्रन्थों योगसर वचनिका, यशोधा चरित्र, त्रैलोक्य सार पूजा का उल्लेख किया है। (मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग पृ० १०९३)। डा० ग्रियर्सन ने जिस नन्दराम की चर्चा अपने इतिहास में की है वह कोई शान्तरस का कवि है (द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, पृ० १६५) हमें प्रसिद्ध श्रृंगारिक कवि के संबंध में उससे किसी भी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। 'शिवसिंह सरोज' में किसी भी प्रकार सूचना नहीं इनके संबंध में नहीं मिलती। सम्भवतः ग्रियर्सन द्वारा कथित नन्दराम वे ही हैं, जिनकी चर्चा मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' के तृतीय भाग में की है।

प्रसिद्ध श्रृंगारिक कवि नन्दराम की एक मात्र रचना 'श्रृगार दर्पण' है। कवि के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना सं० १९२७ में हुई थी (श्रृंगार दर्पण, पृष्ठ २) यह ग्रंथ काशी के भारत जीवन प्रेस से सन् १८९७ ई० में मुद्रित हो चुका है। यह मुद्रित ग्रंथ १५६ पृष्ठों का है और उसके अन्तिम दो पृष्ठों में नन्दराम के ७ कवित्तों को संगृहीत किया गया है। उसमें कुछ प्रकाश हैं। यों 'ग्रंथ के नाम से तो यही प्रतीत होता है कि इसमें श्रृंगार रस का ही निरूपण हुआ होगा, पर अन्य रसों का भी कथन हुआ है। श्रृंगारेतर रसों का विवरण अन्तिम प्रकाश में दिया गया है। इसमें विवेच्य विषय का प्रतिपादन गहराई के साथ नहीं दिया गया, केवल सामान्य ढंग से मुख्य-मुख्य अंशों को स्पष्ट कर दिया गया है। जहां विषय गम्भीर एवं गूढ़ है, वहां प्रतिपादन शैली में प्रायः जटिलता एवं अस्पष्टता है। श्रृंगार रसों का विवेचन करते समय नन्दराम ने भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बन और उद्दीपन का कथन बहुत विचार पूर्वक किया है। इन रसों के निरूपण में परम्परा से भिन्न कोई नई बात नहीं मिलती: केवल प्रकारान्तर से चर्चित विषयों का पिष्टपेषण मात्र हुआ है। श्रृंगार के स्वरूप विवेचन में किसी भी प्रकार की नवीनता नहीं झलकती है। हाँ, पूरी पुस्तक का अधिकांश कलेवर श्रृंगारिक विवेचन से अधिक सम्बद्ध है, इसके अतिरिक्त उदाहरणों की सरलता प्रायः श्लाध्य है।

[सहायक ग्रन्थ—द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, शिवसिंह सरोज (सं० स०) मिश्रबन्धु विनोद भाग दो, तीन श्रृंगार दर्पण)]

—कि० ला०

नगेन्द्र-हिन्दी के आधुनिक आलोचकों में नगेन्द्र का विशिष्ट स्थान है। उनका जन्म मार्च, १९१५ ई० में अतरौली (अलीगढ़) में हुआ था। उन्होंने अंग्रेजी और हिन्दी में एम० ए० करने के बाद हिन्दी में डी लिट्० की उपाधि भी ली। उनका साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरम्भ होता है। सन् १९३७ ई० में उनका पहला काव्य संग्रह 'वनबाला' प्रकाशित हुआ। इसमें विद्यार्थीकाल की गीति-कविताएँ संगृहीत हैं। एम० ए० करने के बाद वे दस वर्ष तक दिल्ली के कामर्स कालेज में अंग्रेजी के अध्यापक रहे। ५ वर्ष तक 'आल इण्डिया रेडियो' में भी कार्य कर चुके हैं। आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यक्ष पद से निवृत्त होकर वहीं (दिल्ली) रह रहें हैं।

'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित उनके लेखों ने उनकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उनकी तीन आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुईं—'सुमित्रानन्दन पन्त' (१९३८ ई०), 'साकेत—एक अध्ययन' (१९३९ ई०) और 'आधुनिक हिन्दी नाटक'(१९४० ई०)। पहली पुस्तक का पाठकों और आलोचकों के बीच खूब स्वागत हुआ। वे अंग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचकों की कृतियों से खूब प्रभावित थे, और उन कृतियों की तरह ही वे उच्चस्तरीय समीक्षा-पुस्तक प्रस्तुत करना चाहते

थे। 'साकेत--एक अध्ययन' पर इस मनोवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

'आधुनिक हिन्दी नाटक' में उनके आलोचक स्वरूप ने एक नया मोड लिया और वे फ्रायडीय मनोविज्ञान के क्षेत्र मे आ गये। उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर नाटक और नाटककारों की आलोचनाएँ लिखीं। बाद में क्रोचे आदि के अध्ययन के फलस्वरूप उनका झुकाव सैद्धान्तिक आलोचना की ओर हुआ। 'रीति-काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' (१९४९ ई०-शोध ग्रन्थ) के भूमिका भाग मे भारतीय काव्य-शास्त्र पर विचार किया गया है, जिसमे उनके मनोविश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन से काफी सहायता मिली है।

नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक हैं, रस-सिद्धान्त मे उनकी गहरी आस्था है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र को उन्होंने एक उपकरण के रूप में ग्रहण किया है, जो रस सिद्धान्त के विश्लेषण में पोषक ही सिद्ध हुआ है। हिन्दी की आलोचना पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का गहरा प्रभाव पड़ा है और सच पूछिये तो आज की हिन्दी-आलोचना शुक्लजी के सिद्धान्तों का अगला कदम ही है। नगेन्द्र पर भी शुक्लजी का प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि रस-सिद्धान्तों की ओर उनके झुकाव के मूल में शुक्लजी का ही प्रभाव है। नगेन्द्रजी काव्य में रस-सिद्धान्त को अन्तिम मानते है। इसके बाहर न तो वे काव्य की गति मानते है और न सार्थकता।

पौरस्त्य आचार्यों में वे भट्टनायक और अभिनवगुप्त से विशेष प्रभावित है और पाश्चात्य आलोचकों में क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स से। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र दोनों का गहरा आलोडन किया है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनका कहना है कि सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में भारतीय-काव्य शास्त्र पश्चिमी काव्य-शास्त्र से कही आगे बढा हुआ है।

भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य-बोध के सम्बन्ध में अलग-अलग पद्धतियाँ अपनायी हैं। भारतीय आचार्यों ने काव्य-चर्चा करते समय सहृदय को विवेचन का केन्द्रीय विषय माना है तो पाश्चात्य आचार्यों ने कवि को केन्द्रीय विषय मानकर सृजन-प्रक्रिया की व्याख्या की है। ये दोनों दृष्टियाँ एक दूसरे की पूरक हैं, अपने आप मे प्रत्येक एकांगी ही रह जाती है। नगेन्द्र ने इन दोनो पद्धतियों के समन्वय का प्रयास किया है।

नगेन्द्र सुलझे हुए विचारक और गहरे विश्लेषक हैं। उलझन उनमें कहीं नहीं है। अपनी सूझ-बूझ तथा पकड़ के कारण वे गहराई में पैठकर केवल विश्लेषण ही नहीं करते, बल्कि नयी उद्भावनाओं से अपने विवेचन को विचारोत्तेजक भी बनाते जाते हैं। 'साधारणीकरण' सम्बन्धी उनकी उद्भावनाओं से लोग असहमत भले ही हों, पर उसके कारण लोगों को उस सम्बन्ध में नये ढंग से विचार करना पड़ा है। 'भारतीय काव्य-शास्त्र' (१९५५ ई०)की विद्वत्तापूर्ण भूमिका प्रस्तुत करके उन्होंने हिन्दी में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इधर उन्होंने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद' नामक आलोचनात्मक कृति में अपनी सूक्ष्म विवेचन-क्षमता का परिचय दिया है। अरस्तू के काव्य-शास्त्र की भूमिका-अंश उनकी सूक्ष्म पकड, बारीक विश्लेषण और अध्यवसाय का परिचायक है। बीच-बीच में भारतीय काव्य-शास्त्र से तुलना करके उन्होंने उसे और भी उपयोगी बना दिया है।

नगेन्द्र की शैली तर्कपूर्ण, विश्लेषणात्मक तथा प्रत्यायक है। यह सब होते हुए भी उसमें सर्वत्र एक प्रकार की अनुभूत्यात्मक सरसता मिलती है। वे अपने निबन्धों और प्रबन्धो को जब तक अपनी अनुभूति का अंग नही बना लेते तब तक उन्हें अभिव्यक्ति नहीं देते। अतः उनकी समीक्षाओ मे विशेषरूप से निबन्धो मे भी सर्जना का समावेश रहता है। आपकी अन्य मौलिक रचनाओं मे 'विचार और विवेचन' (१९४४), 'विचार और अनुभूति' (१९४९), 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' (१९५१), 'विचार और विश्लेषण' (१९५५), 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' (१९५७), 'अनुसन्धान और आलोचना' (१९६१), 'रस-सिद्धान्त' (१९६४), 'आलोचक की आस्था' (१९६६), 'आस्था के चरण' (१९६९), 'नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ' (१९७०), 'समस्या और समाधान' (१९७१) प्रमुख हैं।

—ब० सिं०

नचिकेता—१. महाभारतानुसार प्रभावशाली उद्दालक ऋषि के पुत्र। एक बार उद्दालक ने नचिकेता को नदी के किनारे जाकर कुश, पुष्प, फलादि ले आने को कहा, जिन्हें वे वहाँ भूल आये थे। नचिकेता गये, किन्तु वस्तुएँ प्राप्त न होने से खाली हाथ लौट आये। उद्दालक ने उन्हें खाली हाथ देख क्रोधित होकर कहा, "जा तुझे यम का दर्शन हो।" तत्काल नचिकेता का शरीर प्राणहीन होकर गिर पड़ा। उद्दालक विलाप करने लगे। प्रात काल होने पर नचिकेता पुनर्जीवित हो उठे और यमलोक के समस्त अनुभव पिता को सुनाने लगे।

२. कठोपनिषद् के अनुसार अत्यन्त धार्मिक वाजश्रवस् (नामान्तर गौतम) राजा के पुत्र। वाजश्रवस् राजा एक बार विश्वजित् यज्ञ करके दक्षिणास्वरूप सब धन दान कर रहे थे। बालक नचिकेता बार-बार हठ करता था कि मुझे भी किसी को दान दे दीजिए। अतएव पिता ने कुपित होकर कहा कि जा तुझे यम को दिया। सत्यपालक बाजश्रवस् ने बाद मे उसे यमसदन भेज दिया। यम के पास नचिकेता ने ब्रह्म विद्या सीखी। आध्यात्म-विद्या का उपदेश करने के पूर्व यमने यद्यपि उसे अनेक प्रलोभन दिये, किन्तु नचिकेता अपने लक्ष्य पर अटल रहा। अन्त में यम ने सर्वदुःख मे मुक्त करने वाले परमात्म-विषय में उसके समस्त सन्देह दूरकर उसे गूढ़ ज्ञानोपदेश दिया एवं अनेक रत्नमालाएँ प्रदान की। इस कथा को प्रतीक रूप मे नये कवियो ने स्पर्श किया है।

—मो० अ०

नबी १—इस्लाम धर्म मे 'नबी' खुदा का पैगाम लानेवाले को कहते है। मोहम्मद साहब को खुदा का भेजा हुआ 'नबी' अथवा 'रसूल' कहते है (दे० 'काबा-कर्बला')।

—रा० कु०

नबी २—शिवसिंह ने इनके 'नखशिख' नामक ग्रन्थ की चर्चा की है। 'दि० भू०' में उद्धृत इनके छन्दों से यह सिद्ध होता है कि इस नाम के किसी ग्रन्थ की रचना इन्होंने की होगी। 'सरोज' में दिया हुआ छन्द भी नख-शिख सम्बन्धी है। कल्पना के चमत्कार और भाषा पर अधिकार की दृष्टि से ये

रीति-परम्परा के अच्छे कवि जान पड़ते हैं।

—म०

नमुचि—अतल के प्रथम तल का निवासी, विप्रचित्ति का पुत्र, इन्द्र का विरोधी एक असुरराज। यह हिरण्यकशिपु का भतीजा था। इसकी स्त्री का नाम सुप्रभा था, जो स्वरभानु की पुत्री थी। इसने इन्द्र के विपक्षी वृत्र की सहायता की थी और बलि तथा इन्द्र के बीच हुए देवासुर संग्राम में भाग लिया था। इसे वरदान था कि वह किसी गीली या सूखी वस्तु से नहीं मरेगा। अतः इन्द्र का वज्र उसका वध न कर सका। तभी इन्द्र को आकाशवाणी द्वारा इसका पता चला और उन्होंने फेन का प्रयोग करके उसका प्राणान्त कर दिया।

—मो० अ०

नर—१. दक्ष की कन्या मूर्ति के गर्भ से उत्पन्न, धर्म के पुत्र, नारायण के छोटे भाई, जो विष्णु के अवतार थे। वे हरि के आदिशेष रूप भी हैं, जो तपस्या के लिए प्रख्यात हैं। कहा जाता है कि इन्होंने नारायण के साथ बदरी-वन में घोर तप किया था। इन्द्र ने भयभीत होकर उनका तप भंग करने को कामदेव और अप्सराएँ भेजी। नर ने उनके सेवार्थ अनेक सुन्दरियाँ उत्पन्न कर दीं और किसी एक को चुनने के लिए कहा, जिससे स्वर्ग की शोभा विवर्द्धित हो। वे उर्वशी को ले गये और इन्द्र से नर की असीम शक्ति का वर्णन किया।

२. तामस मनु के एक पुत्र।

३. सुधृति के पुत्र और केवल के पिता।

४. मन्यु के पुत्र और संस्कृति के पिता।

५. विरत के पिता और गय के पुत्र।

६. चन्द्रमा के रथ के दस घोड़ों में से एक।

७. एक देवर्षि। (दे० 'नारायण')।

—मो० अ०

नरक—यम के अधिकार में वह स्थल, जहाँ पापी पुरुष मरकर जाते हैं और यमदूतों द्वारा उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिये जाते हैं। कष्ट की अवधि समाप्त होने पर स्वकर्मानुसार उन्हें नीच योनियों में जन्म मिलता है। नरक २७ हैं। जिस प्रकार स्वर्ग का स्थान आकाश माना जाता है, उसी प्रकार नरक का पाताल। शेषलोक के नीचे रौरव, शीततप, काल-सूत्र, अप्रतिष्ठ, अवीची, लौहप्रस्थ तथा अविध्यः ये सात अत्यन्त प्रसिद्ध नरक हैं। भागवत और मनुस्मृति के अनुसार उनकी संख्या २१ है, यद्यपि नामों में यत्किंचित् भेद है। दोनों में उल्लिखित प्रसिद्ध नरक हैं—कुम्भीपाक, रौरव, अन्धतामिस्र, शूकरमुख, कृमिभोजन, सूचीमुख, असिपत्र-वन। इसके साथ ही ८४ नरककुण्डों का भी वर्णन मिलता है, यथा—बह्निकुण्ड, तप्तकुण्ड, क्षारकुण्ड, आदि। नरक का वर्णन मानस के उत्तरकाण्ड तथा सन्तकाव्यों में हुआ है (दे० मानस ७।१००।१)।

—मो० अ०

नरकासुर—१. नामान्तर भौम, पृथ्वी का पुत्र, एक राक्षस। वराह अवतार में विष्णु ने पृथ्वी से सम्भोग किया था, जिससे पृथ्वी के गर्भ से नरकासुर की उत्पत्ति हुई थी। यह प्राग्ज्योतिषपुर का राजा था। इसने अनेक राजाओं, ऋषियों की स्त्रियों का अपहरण किया था। यही नहीं, यह अदिति के कुण्डल, वरुण का छत्र भी लेकर भागा और इन्द्र से ऐरावत लेने की याचना करने लगा। इन्द्र की प्रार्थना पर कृष्ण ने इसे चक्र से काट डाला और इसकी सारी सम्पत्ति को देवताओं में वितरित कर इसकी बन्दी स्त्रियों से विवाह कर लिया। यह असुर एक बार शनैश्चर के साथ भी देवासुर संग्राम में लड़ा था।

२. हिरण्यकशिपु का भतीजा, पृथ्वी और विप्रचित्त का पुत्र।

३. कश्यप तथा दनु का पुत्र।

४. दिति कन्या सिंहिका का पुत्र।

—मो० अ०

नरदेव—प्रसाद के 'विशाख' नाटक में नरदेव सर्वप्रथम एक कर्त्तव्यनिष्ठ न्यायपरायण राजा के रूप में दिखाई देता है, किन्तु आगे चलकर चन्द्रलेखा के ऊपर आसक्त होने पर वह क्रमशः नैतिक पतन के गर्त में गिर जाता है। वहाँ पर नरदेव एक कामासक्त मनुष्य की भाँति अविवेकपूर्ण आचरण करता हुआ, कर्त्तव्यपालन एवं न्याय-भावना से शून्य दिखलाई पड़ता है। अन्त में प्रेमानन्द के सात्त्विक उपदेशों एवं आकस्मिक नाटकीय घटनाओं के कारण वह पुनः सत्पथ पर आ जाता है एवं अविवेक के दूर होने पर उसमें सात्त्विक बुद्धि का उदय हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह विशाख और चन्द्रलेखा दोनों से क्षमायाचना करता है। एक प्रजापालक न्यायशील राजा की भाँति नरदेव विशाख द्वारा कानीर विहार के बौद्ध महन्त सत्यशील के दुराचारों की कथा सुनकर शीघ्र ही निश्छल भाव से उन बातों की खोज करने की आज्ञा देता है एवं स्वयं वहाँ जाकर चन्द्रलेखा को मुक्त कराता है तथा सुश्रवा नाग की अपहृत भूमि उसे पुनः वापिस दिलाता है। इतना होते हुए भी नरदेव में न्यायपूर्ण सात्त्विक बुद्धि का अभाव है। वह उच्छृंखल एवं उग्र स्वभाव का है। क्रोध के आवेश में आकर सत्यशील के पापाचारों से उत्तेजित होकर वह समस्त बौद्ध-विहारों को भस्म करने की आज्ञा दे देता है किन्तु प्रेमानन्द के अनुरोध से वह अपनी अविवेकपूर्ण आज्ञा को लौटा लेता है। अपने इसी सद्गुण के कारण वह अन्त में गिरते-गिरते भी सम्हल जाता है।

विलासिता नरदेव के आचरण की एक अपरिहार्य चर्या प्रतीत होती है। वह सदैव नर्तकियों एवं महापिंगल जैसे चाटुकार सभासदों से घिरा रहता है। चन्द्रलेखा के सौन्दर्य को देखते ही अपने नृपोचित मर्यादा को भूलकर उससे घृणित प्रस्ताव कर बैठता है और उसे पाने के प्रयत्न में कुटिलता और क्रूरता का व्यवहार करने लगता है। चैत्य में एक भिक्षुक को भेजकर चन्द्रलेखा के हृदय में राजरानी बनने की भावना उत्पन्न कराने का षड्यन्त्र कराता है। कामवासना में अन्धा बना वह अपनी रानी की कल्याणकारी सीख की भी उपेक्षाकर देता है एवं अनीति तथा अत्याचार की चरमसीमा पर पहुँचकर चन्द्रलेखा के सतीत्व का सौदा हर सम्भव उपायों से करने लगता है और इस प्रकार वह स्वयं अपने लिए विनाश का वातावरण बना लेता है। महापिंगल की हत्या का प्रतिकार वह विशाख को निर्वासित कर, प्राणदण्ड की आज्ञा देकर करना चाहता है, जिससे सारी नाग जाति विद्रोह कर बैठती है और नरदेव को ही अग्नि की तीव्र लपटों में परिवार सहित जलना पड़ता है। किन्तु प्रेमानन्द और चन्द्रलेखा सज्जनता, संवेदनशीलता के कारण उसके प्राण बच जाते हैं और वह पापाचरण का यथेष्ट दण्ड पाकर पुनः अपने पुराने सदाचरण

को ग्रहण करता है। प्रेमानन्द के उदार आचरण से उसका विवेक जागरित हो जाता है। अपने पिछले कुकृत्यो पर सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त करते हुए नरदेव कहता है "हाय हाय मैंने क्या किया, एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी।" इस प्रकार वह आत्मग्लानि की अग्नि में तपकर पुनः एक कर्त्तव्यनिष्ठ न्यायशील नृपति बन जाता है और अपने कुकृत्यों के लिए क्षमा माँगता है। नरदेव के चरित्र में घटनाओं के घात-प्रतिघात और परिस्थितियों के आग्रह से जो परिवर्तन या व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाता है, वह नाटककार द्वारा पूर्ण स्वाभाविकता के साथ चित्रित किया गया है।

—के० प्र० चौ०

नरपति नाल्ह—नरपति नाल्ह पुरानी पश्चिमी राजस्थानी की एक सुप्रसिद्ध रचना 'बीसलदेव रासो' का कवि है। रचना में कहीं पर इसने अपनी छाप 'नरपति' दी है और कहीं पर 'नाल्ह' यथा—"कर जोड़ी नरपति अणइ" (छन्द १) "नाल्ह बषाणइ बेकर जोडि" (छन्द ४)। इन दोनों में से सम्भव है 'नरपति' उसकी उपाधि रही हो, नाम उसका 'नाल्ह' रहा हो। यह कब हुआ और कहाँ का निवासी था, आदि बातें अज्ञात हैं। नरपति नाम का एक जैन कवि सोलहवीं शताब्दी में हुआ है। अगरचन्द नाहटा के अनुसार यह असम्भव नहीं है कि 'बीसलदेव रासो' का रचयिता वही 'नरपति' हो किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। रचना की सोलहवीं शती ईस्वी की प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें पाठ-विषयक अन्तर इतना अधिक है कि रचना की पाठ-परम्परा कम से कम डेढ़-दो सौ वर्ष उनसे पूर्व की होनी चाहिए। पुनः रचना में न जैन नमस्क्रिया है और न जैन कथाओं का विरक्तिमय अन्त है; अन्य कोई जैन तत्त्व भी रचना में नहीं मिलते। नाहटाजी ने कुछ शब्दों और प्रयोगों को दिखाया है जो 'बीसलदेव रासो' और उक्त नरपति की रची हुई एक प्रशस्ति में समान रूप से मिलते है किन्तु इतना साम्य उसी भाषा की मध्ययुग की दो कृतियों में प्रायः मिल सकता है। इसलिए 'बीसलदेव रासो' के रचयिता को १६ वीं शती का नरपति नहीं माना जा सकता है।

सं० १५३८ में भाण कवि की रची हुई 'हम्मीर दे चउपई' में एक नाल्ह का विवरण आता है, जो हम्मीर देव का चारण है (छन्द २७७—३१९)। यह हम्मीर देव के मारे जाने पर भी उक्त रचना के अनुसार अलाउद्दीन के सम्मुख हम्मीर का यशोगान करता है। इस प्रकार क्रुद्ध होकर बादशाह उसे मार डालता है। हम्मीर का निधन सं० १५३८ में हुआ था। 'बीसलदेव रासो' की रचना चौदहवीं शती विक्रमीय की मानी गयी है (अन्यत्र दे० 'बीसलदेव रासो')। इसलिए यह असम्भव तो नहीं है कि 'बीसलदेव रासो' का रचयिता यही नाल्ह हो, फिर भी निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता।

[सहायक ग्रन्थ—बीसलदेव रासो-नरपति नाल्ह : सं० मा० प्र० गुप्त तथा अगरचन्द नाहटा, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय।]

—मा० प्र० गु०

नरसिंह—हिरण्यकशिपु का वध करने वाले विष्णु के एक अवतार। विष्णु ने नृसिंह रूप धारण कर अपने नखों से हिरण्यकशिपु को विदीर्ण कर डाला था। ब्रह्मा से वर प्राप्त कर हिरण्यकशिपु देवों को कष्ट देने लगा। सुरों की प्रार्थना पर नृसिंह भगवान् हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए उसकी सभा में पहुँचे। केवल प्रह्लाद ने भगवान् को पहचाना। अन्य सभी ने उन पर चारों ओर से आक्रमण किया। नृसिंह ने सबको मारकर अन्त में द्वन्द्वार्थ सन्नद्ध हिरण्यकशिपु का भी उदर फाड़ दिया। भागवत के अनुसार नरसिंह खम्भे से प्रकट हुए थे। दूसरा नाम नरहरि है (दे० 'प्रह्लाद', 'हिरण्यकशिपु')।

—मो० अ०

नरहरि—इनका जन्म रायबरेली जिले के पखरौली गाँव में सन् १५०५ ई० में हुआ था। ये संस्कृत और फारसी के अच्छे विद्वान् तथा ब्रजभाषा के कवि थे। हुमायूँ, शेरशाह, सलीमशाह तथा रीवाँ नरेश रामचन्द्र आदि कई लोगों का समय-समय पर इनसे सम्पर्क रहा किन्तु इनका सबसे अधिक सम्मान अकबर ने किया। अकबर ने ही इन्हें महापात्र की उपाधि दी थी। कहा जाता है कि एक बार किसी कसाई के हाथ से छूटकर एक गाय इनके घर में जा छिपी। इन्हें उस पर बड़ी दया आयी और उसके गले में एक छप्पय बनाकर इन्होंने लटका दिया और उसी प्रकार उसे अकबर के सामने पेश किया। प्रसिद्धि है कि उस छप्पय का अकबर पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने अपने राज्य में गोवध बन्द करवा दिया। नरहरि की मृत्यु १६१० ई० में हुई। नरहरि के नाम से तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—'रुक्मिणी मंगल', 'छप्पय नीति', 'कवित्त संग्रह'। इनमें अब तक केवल प्रथम ग्रन्थ ही मिला है। इसके अतिरिक्त इनके लगभग ढाई सौ फुटकर छन्द भी मिलते हैं। उस काल में न केवल हिन्दी प्रदेश में, अपितु बाहर भी मंगल-काव्य लिखने की परम्परा थी। उसी परम्परा में इन्होंने 'रुक्मिणी मंगल' की रचना की। इसमें कुन्दनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी के गन्धर्व-विवाह का वर्णन है। फुटकर छन्दों में कुछ तो 'वाद लोहे सोने के', 'तेल तम्बोल का वाद', 'लज्जा भूख को वाद' आदि रूपों में मनोरंजक विवाद है, कुछ भक्ति या गोपी विरह आदि की कविताएँ हैं और शेष नीतिविषयक हैं। नीति-कवि के रूप में ही इनकी विशेष ख्याति है। अनेक नीति-कवियों की भाँति नरहरि ने सुनी-सुनायी और परम्परागत बातों को ही अपने नीति के छन्दों में नहीं कहा है, अपितु अपनी अनुभूतिजन्य बातों को भी पर्याप्त स्थान दिया है। इनके प्रमुख नीति विषय—नारी, राजा, शठ, लोभ, मित्र, प्रजा, दान, कृपण तथा व्यवहार आदि हैं। इनमें उच्चस्तर का काव्यत्व नहीं है किन्तु इनके नीति छन्द प्रभविष्णुता से शून्य नहीं कहे जा सकते। इनके द्वारा प्रयुक्त छन्द प्रमुखतः छप्पय, दोहा, सोरठा, सवैये तथा कुण्डलियाँ हैं। इनकी रचनाएँ स्वतन्त्र रूप से अभी तक प्रकाशित नहीं हुई हैं। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल के 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' (लखनऊ, २००७ वि०) के परिशिष्ट में वे संगृहीत हैं।

[सहायक ग्रन्थ—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डाक्टर सरयूप्रसाद अग्रवाल।]

—भो० ना० ति०

नरेन्द्रदेव आचार्य—जन्म ३१ अक्तूबर, १८८९ ई० को उत्तर प्रदेश स्थित सीतापुर नामक स्थान में हुआ और मृत्यु १९ फरवरी, १९५६ में हुई। सन् १९२० ई० में असहयोग आन्दोलन में शरीक हुए और वकालत छोड़ी। लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में राजनीतिक कार्य आरम्भ किया और

और समाज दोनो ही नरेन्द्र की काव्य प्रेरणा के हेतु और निमित्त रहे। 'हंसमाला' की भूमिका में उन्होने स्वय स्वीकार किया है."पिछले कुछ वर्षों मे व्यक्ति और समाज के जीवन मे अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं, अनेक संकटकाल आये है और वह आधिभौतिक और आधिदैविक प्रहार हुए है कि कभी तो हमारी चेतना लपटों के पख लगाकर एक महती आकाक्षा के समान ऊपर उठी है और कभी मूढावस्था की राख-मिट्टी मे दबकर मूर्छना बन कर सो गयी है।" इन शब्दों में जहाँ व्यक्ति और समाज की कष्टानुभूति को समान महत्त्व दिया गया है, वहीं आधिभौतिक और आधिदैविक को भी—और नरेन्द्र की कविता का सही मूल्यांकन करने के लिए आधिभौतिक के साथ आधिदैविक, लौकिक के साथ अलौकिक, ज्ञात के साथ अज्ञात, वास्तविक के साथ रूमानी के प्रति उनकी आस्था और आकर्षण को समझना और स्वीकार करना आवश्यक है। विशुद्ध 'प्रगतिवादी' कवियो से नरेन्द्र को अलग करता है उनका व्यक्ति के प्रति और आधिदैविक प्रेरणा-स्रोतों के प्रति सहज आकर्षण, पर उनकी प्रबल सामाजिक चेतना उन्हे एकान्त व्यक्तिवादी अथवा भावुक रूमानी कवियो से भी उतनी ही दूर पहुँचा देती है। उनकी भाषा—शैली प्रांजल और प्रवाहमयी है। उनके गीतात्मक काव्यों मे यथेष्ट तारल्य और अन्विति की ऊष्मा है। इनकी शब्दानुभूति में सच्चाई है और अभिव्यक्ति में स्पष्टता के साथ-साथ सहज संकेतात्मकता का आकर्षक योग है। उनके आरम्भिक काव्य में विरह-मिलन की करुणा-सुषमा है, गीतात्मकता है और प्रकृति-वर्णनों में चित्रमयता है। साथ ही विशेषतः 'अग्नि-शस्य' (१९५०) की कविताओं में विश्व-वेदना की अनुगूँज भी है। नरेन्द्र मूलतः प्रगीतों के कवि हैं। उनके प्रबन्ध काव्य 'द्रौपदी' द्वारा इस बात का खण्डन नहीं होता, प्रत्युत इसकी पुष्टि ही होती है।

कविता-संग्रहों के अतिरिक्त नरेन्द्र का एक कहानी संग्रह 'कड़वी-मीठी बातें' (१९४२) भी है, जिनके पीछे वही भावुक, संवेदनशील व्यक्तित्व परिलक्षित होता है, जिसकी छाप इनकी कविता पर है। इस एक-मात्र संग्रह की कहानियाँ पढ़कर यह नही लगता कि इनका रचयिता अब और कहानियाँ न लिखेगा—और यह तो बिल्कुल भी नहीं लगता कि उसे और कहानियाँ लिखनी ही न चाहिये।

कृतियाँ—'प्रभात फेरी' (१९३८), 'प्रवासी के गीत' (१९३९), 'पलासवन' (१९४०), 'कड़वी मीठी बातें' (कहानियाँ-१९४२), 'अग्निशस्य' (१९५०), 'कदली वन' (१९६०), 'शूल-फूल' (१९३४ ई०), 'कर्णफूल' (१९३६ ई०), 'मिट्टी और फूल' (१९४३), 'मनोकामिनी' (१९४३ ई०), 'हंसमाला' (१९४७), 'रक्त-चंदन' (१९४८ ई०), 'द्रौपदी' (१९६० ई०), 'प्यासा निर्झर' (१९६४ ई०), 'बहुत रात गए' (१९६७ ई०), 'सुवर्णा' (१९७१ ई०)।

—बा० कृ० रा०

नरेश—'बुन्देल वैभव' के रचयिता ने इनका जन्म काल सं० १८६० वि० और कविता काल १८९० वि० माना है। ये ओरछा नरेश महाराज तेजसिंह और महाराज सुजानसिंह के दरबारी कवि थे। इन्होंने 'झांसी की बाई' नामक ग्रन्थ की रचना की है। 'सरोजकार' और मिश्रबन्धुओं ने इस कवि के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं दिया। केवल इतना ही सकेत दिया है कि 'नायिका भेद का कोई ग्रन्थ बनाया है' ऐसा अनुमान है कि ये वे ही नरेश कवि होंगे जिनका उल्लेख 'बुन्देल वैभव' मे हुआ है। प्राचीन काव्य संग्रहो में अधिकतर इनकी शृंगारी रचनाएं ही प्राप्त होती हैं। इनकी शृंगारिक रचनाओ मे भावाभिव्यक्ति की सजगता और प्रभविष्णुता पूर्णतया विद्यमान है।

[सहायक ग्रन्थ—बुन्देल वैभव तृतीय भाग, मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग, शिवसिंह सरोज]

—कि० ला०

नरोत्तमदास—इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनकी जन्म तथा निधनतिथि भी अज्ञात है। शिवसिंह सरोज से यही ज्ञात होता है कि ये विक्रम सवत् १६०२ तक जीवित रहे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले के अन्तर्गत बाड़ी नामक स्थान के रहनेवाले थे। इनके ग्रन्थों में 'सुदामा चरित' ही उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इनके 'ध्रुव-चरित' और 'विचारमाला' नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख किया जाता है, पर ये उपलब्ध नहीं हैं। ये अपने एक ही ग्रन्थ 'सुदामा चरित' के कारण अपनी अक्षय कीर्ति छोड गये हैं। यह खण्ड-काव्य अत्यन्त प्रासादिक एवं सरस शैली में लिखा गया है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो के पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरण में 'नामसंकीर्तन' नामक ग्रन्थ के रचयिता नरोत्तमदास का उल्लेख है। खोज-रिपोर्ट के लेखक का कहना है कि ये गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे। इनके सम्बन्ध में ऐसा संकेत नहीं मिलता कि ये 'सुदामा चरित' के रचयिता नरोत्तमदास हैं या नहीं। 'नामसंकीर्तन' में महाप्रभु कृष्णचैतन्य का संकीर्तन अथवा स्तोत्र है।

—वि० मो० श०

नरोत्तमदास स्वामी—जन्म १९०५ ई० में हुआ। एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। राजस्थान के प्राचीन साहित्य के सम्पादन में विशेष रुचि रही। लोक-साहित्य के क्षेत्र में भी कार्य किया। प्रकाशन-'मीरा मन्दाकिनी', 'राजस्थान रा दूहा', 'राजस्थान के लोकगीत', 'ढोला मारू रा दूहा', आदि।

—मं०

नर्मदा—१. शुकाला पितृ की मानसकन्या, जिसका विवाह उसके भाई उरग ने पुरुकुत्स के साथ कर दिया था। उसके पुत्र का नाम त्रसदस्यु था, जिसने रसातल के किसी उद्धत गन्धर्व को मार डाला था।

२. अम्बरीष के पुत्र युवनाश्व की स्त्री।

३. सोमय पितृ की मानसकन्या, जो हव्यवाहन की १६ स्त्रियों में से एक थी। यह दक्षिणापथ की एक नदी के रूप में परिवर्तित हो गयी।

—मो० अ०

नर्मदाप्रसाद खरे—जन्म ६ अक्टूबर १९१३ ई०। मुख्य साहित्यिक कार्य-क्षेत्र मध्यप्रदेश रहा। सन् १९३० ई० के नवम्बर मास की 'सरस्वती' में प्रथम कविता 'तुम' का प्रकाशन हुआ। सन् १९६५ से १९६८ तक म० प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री रहे। जबलपुर से प्रकाशित मासिक 'प्रेमा' के सहायक सम्पादक, 'युगारम्भ' के सम्पादक पद पर रहकर अपनी कुशल सम्पादन-पटुता का परिचय

दिया। आपकी प्रमुख कृतियां हैं–'ज्योतिगंगा' (१९५६), 'रोटियों की वर्षा' (१९५९), 'चारचिनार दो गलाब' (१९६९), 'साहित्य जगत के विनोबा, बख्शीजी' (सन् १९७२ ई०), 'स्वर पाथेय' (१९५१ ई०), 'नीराजना' (१९४८), 'कथा कलश' (१९५६), 'बांसुरी' (कविता)।

–सं०

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी–जन्म १९१५ में बलिया जिले में। परशुराम चतुर्वेदी के अनुज। कुछ समय तक शांतिनिकेतन रहे। फिर अनेक वर्षों तक साहित्य भवन, प्रयाग के प्रकाशनाध्यक्ष थे। संत साहित्य तथा लोक साहित्य के अध्ययन में विशेष रुचि। कृतियाँ-'संगीतज्ञ कवियों की हिंदी रचनाएँ' (१९५५), 'कवि तानसेन और उनका काव्य' (१९५६)।

–सं०

नल–१ चन्द्रवंशीय निषाधिपति वीरसेन के पुत्र, अश्वपरीक्षा और अश्व-परिचालन के अद्भुत विशेषज्ञ, वेदज्ञ, किन्तु द्यूतक्रीडानुरागी नल विदर्भराज भीम की अप्रतिम सुन्दरी कन्या दमयन्ती का रूप गुण सुनकर आसक्त हो गये। अपना उदास मन बहलाने के लिए उद्यान में रहने लगे। एक दिन वहाँ कुछ सुनहले हंस आये। नल ने एक हंस को पकड़ लिया। हंस ने विनय की "हे राजन् आप मुझे छोड़ दीजिये। मैं दमयन्ती से आपकी प्रशंसा करूँगा, जिससे वह आपको ही वरण करे।" मुक्त होकर हंस अविलम्ब विदर्भ नगर पहुँचा। प्रशंसा सुनकर दमयन्ती ने भी, जो नल में पूर्वानुरक्त थी, प्रतिज्ञा की "कि मैं भी नल के अतिरिक्त किसी का चिन्तन तक न करूँगी।" दमयन्ती को प्राप्त-यौवना देखकर पिता ने स्वयम्वर की तैयारी की। स्वयम्वर के लिए देवता भी चले। रास्ते में नल को देखकर देवताओं ने नल को दूत बनाकर भेजा। नल ने दमयन्ती को सन्देश सुनाया कि इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण मण्डप में उपस्थित हैं किन्तु दमयन्ती अपने निश्चय पर दृढ़ रही। इन्द्रादि को जब यह पता चला तो उन्होंने नल का रूप धारण किया। अत: मण्डप में पाँच नल दिखायी पड़े। दमयन्ती ने स्वेदरहित, निर्निमेष-नेत्र, प्रतिच्छायाहीन आदि लक्षणवाले देवताओं को पहचानकर नल के गले में जयमाला डाल दी। इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण तो प्रसन्न होकर लौट गये, किन्तु मार्ग में कलि तथा द्वापर से भेंट हुई, जो स्वयम्वर में आ रहे थे। समाचार जानकर कलि आग-बबूला हो गये। एक बार नल शौचादि से निवृत्त हो केवल पैर धोकर ही सन्ध्या करने बैठ गये। कलि ने इसी सन्धि को पाकर उनके शरीर में प्रवेश किया। अज्ञान आ जाने से नल अपने भाई पुष्कर से जुए में सर्वस्व हारकर दमयन्ती के साथ वन-वन में भटकने लगे। वहीं वे दमयन्ती को निद्रावस्था में छोड़कर चले गये। कष्ट झेलते-झेलते द्यूत-विद्या विशारद अयोध्यानरेश ऋतुपर्ण के यहाँ बाहुक नाम से उन्होंने सारथी का कार्य किया। इधर दमयन्ती भटकती-भटकती सुबाहु नगर में पहुँची और राजगृह में सैरन्ध्री का कार्य करने लगी। वहाँ से विदर्भ राजदूत खोजकर उसे घर ले गये। नल का पता लगाने के लिए भी आदमी भेजे गये। एक ब्राह्मण ने दमयन्ती को जाकर नल का अयोध्या में होना बताया। अतः दमयन्ती के स्वयम्वर का मिथ्या समाचार ऋतुपर्ण के पास भेजा गया। समय इतना कम था कि नल के सिवा कोई भी नहीं पहुँच सकता था। ऋतुपर्ण को लेकर नल विदर्भ नगर पहुँचे। वहाँ दमयन्ती ने नल से बातचीत करके जान लिया कि वे ही उसके पति हैं। दोनों व्याकुल होकर एक दूसरे से मिले। राजा ऋतुपर्ण को जब नल का पता चला तो उन्होंने क्षमा माँगी। नल ने बदले में उनसे अक्षविद्या सीखी और उन्हें अश्वविद्या सिखायी। बाद में नल ने अपने घर आकर पुष्कर को द्यूत में हराकर अपना राज्य प्राप्त किया।

२. ऋतध्वज ऋषि शाप के कारण विश्वकर्मा के औरस घृताची अप्सरा के गर्भ से गोदावरी के किनारे नल का जन्म हुआ था। यह रामदल का प्रसिद्ध वानर था, जिसने सेतु रचना की थी (दे० मा० ४।२२)।

–मो० अ०

नलकूबर–कुबेर का पुत्र। एक बार अपने भाई मणिग्रीव सहित कुछ सुन्दरियों के साथ नग्न होकर जल क्रीड़ा कर रहे थे। दैवात् नारद का आगमन हुआ। स्त्रियों ने तो वस्त्र धारण कर लिये किन्तु ये दोनों नग्नावस्था में ही बने रहे। इस पर नारद ने उन्हें १०० वर्ष तक वृक्ष-योनि में रहने का अभिशाप दिया। फलतः ये यमलार्जुन वृक्ष यशोदा के घर में उगे और उलूखल-बन्धन के समय कृष्ण द्वारा उनका उद्धार हुआ। (दे० उलूखल-बन्धन, सू० पद ९५९-१००९)।

–मो० अ०

नल दमयंती वा कथा नल नमयंती की–यह एक प्रेमाख्यान है जिसके रचयिता जान कवि हैं। जान कवि का मूल नाम न्यामत खाँ या नियामत खाँ था और ये फतहपुर (शेखावटी) के क्यामखानी नवाबों के वंशज तथा नवाब अलफ खाँ के पुत्र थे। इनकी छोटी बड़ी ७६ रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें से अधिक संख्या कथाओं और विशेषकर प्रेम-कहानियों की है। इनके जन्म या मरण की तिथियाँ अभी तक विदित नहीं हैं, किन्तु इनकी कई रचनाओं के अन्तर्गत लिखित रचना-काल से पता चलता है कि इन्होंने कम-से-कम सन् १६१४ ई० से लेकर सन् १६६४ ई० तक अपने काव्यग्रन्थ लिखे थे और इस प्रकार ये दीर्घजीवी कवि रहे होंगे। 'कथा नल या दमयन्ती' की एक प्रेम कहानी है, जो हस्तलिखित ग्रन्थों की एक बड़ी 'पोथी' के अन्तर्गत इनके अन्य ६९ ग्रन्थों के साथ बँधी मिली थी। उसका लिपिकाल सं० १७७७ से लेकर सं० १७७८ अर्थात् सन् १७२० से लेकर सन् १७२१ ई० तक जान पड़ता है और उसके लिपिकार कोई फतेहचन्द नाम के हैं। पूरी पोथी पहले रावतमल सारस्वत (बीकानेर) के किसी परिचित व्यक्ति के पास थी और अब हिन्दुस्तानी अकादमी (प्रयाग) के संग्रहालय में है। इस कथा की रचना दोहों-चौपाइयों में हुई है, किन्तु बीच-बीच में कुछ सवैये (१४७) हैं, जो ८-८ अर्द्धालियों के अनन्तर आये हैं और पूरी रचना 'पोथी' के ३० वे पृष्ठ तक चली गयी है। रचनाकाल के लिए "सन् हज्जार बहत्तरो" अर्थात् १०७२ हि० दिया गया है, जो सन् १६६१ ई० में पड़ता है और २३ दिन में आदित्यवार को इसका समाप्त किया जाना भी बतलाया गया है। कवि के कथन से जान पड़ता है कि उस समय तक औरंगजेब अपने दो भाइयों अर्थात् दाराशिकोह एवं शुजा को लड़ाइयों में जीत चुका था और मुराद को बन्दी बनाकर ग्वालियर भेज भी चुका था, जिससे यह उसी को आशीर्वाद भी

देता है। इसने अपनी इस रचना के आरम्भ में 'अलख अगोचर' परमात्मा के अतिरिक्त हजरत मुहम्मद तथा उनके चार यारो के विषय मे स्तुतिपरक पंक्तियाँ लिखी है और अपने पीर शेख मुहम्मद का भी उल्लेख किया है, जो हासी के निवासी थे अथवा जिनकी समाधि (विश्राम) हासी में थी।

कथा का सारांश इस प्रकार है। निषध देश के 'उजीन' नगर के राजा वीरसेन थे, जिनके दो पुत्र नल एवं पुहकर नाम के थे और जिनके मरने पर नल राजा हुए। विदर्भ देश के राजा भीम थे, जिनकी रानी पुहपावती थी, किन्तु जिनकी कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने इसके लिए किसी दमन ऋषि से भेट की, जिन्होंने उन्हे एक आम और एक दाख दिया, जिन्हें खा लेने पर पुहपावती के गर्भ से दाम एवं दमयन्ती का जन्म हुआ। दमयन्ती परम सुन्दरी थी और उसका सौन्दर्य अनेक अप्सराओं जैसा था, जिस कारण सर्वत्र उसकी प्रसिद्धि हो गयी किन्तु वह किसी के भी विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती थी, जिसके कारण कई बार अनेक राजाओं को अपमानित भी होना पडा। राजा नल भी वैसे ही सुन्दर थे। इन दोनों को, एक दूसरे के रूप की प्रशंसा सुनकर, परस्पर प्रेम हो गया। दोनो ने एक दूसरे को स्वप्न में देखा तथा चित्र बनवाकर भी देखा। फलत दोनों ही विरह-ताप के कारण व्याकुल हो उठे और एक दूसरे को प्रत्यक्ष देखने के लिए आतुर बन गये। एक दिन अपने उद्यान में नल ने कोई 'स्वर्गपक्ष' हंस देखा, जिसे पकड़कर उन्होंने उसके पैर मे दमयन्ती के नाम पत्र बाँध दिया और उसे विदर्भ भेज दिया। दमयन्ती ने जब यह पत्र पढ़ा तो वह बहुत प्रभावित हुई और उसने भी एक पत्र उसी प्रकार नल के यहाँ भेज दिया। अन्त में जब इसका पता उसकी माता को लगा तो उसने राजा से कहकर एक स्वयवर की रचना करा दी।

स्वयम्वर में दमयन्ती के सौन्दर्य से प्रभावित बहुत से राजा आये थे और उनके साथ इन्द्र, अग्नि, यम एवं वरुण तक बैठे थे। परन्तु इनके छल करने पर भी उसने राजा नल के गले में जयमाला डाल दी और दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया। राजा नल ने घर आकर एक अश्वमेध यज्ञ किया और उन्हें इन्द्रसेन नाम का एक पुत्र तथा इन्द्रसेना नाम की एक पुत्री हुई। राजा नल को इन बातों के कारण गर्व हो गया और उनका भाई पुहकर उनके प्रति ईर्ष्या भी करने लगा। इसने उनके साथ जुआ खेला, जिसमें नल हार गये। दमयन्ती ने अपने बच्चों को मैके भेज दिया और दोनों दम्पति स्वय वन में निकल पड़े। ये तीन दिनों तक बिना कुछ खाये पिये रह गये। नल ने एक पक्षी को पकड़ने के लिए वस्त्र फेंका, जिसे लेकर वह उड़ गया, जिन मछलियो को खाने के लिए भुना, वे जल में तैरकर भाग गयीं और जिस आम के वृक्ष की डाल फल तोड़ने के लिए झुकायी, वह ऊपर चली गयी, जिस कारण दोनों को और भी अधिक कष्ट सहना पड़ गया। नल ने अन्त मे दमयन्ती को किसी बरगद के नीचे सोती हुई छोड़ दिया और स्वयं पृथक् हो गये। दमयन्ती को किसी काले सर्प ने निगल लिया, जिसके पेट से उसे किसी पथिक ने निकाला, उसे बाघ-बाघिन एवं राक्षस का सामना करना पड़ा और फिर किसी तपस्वी से कुछ ढाढ़स मिला। तब दमयन्ती एक नदी को बिना नाव के ही पार कर गयी और चन्देरी की रानी से भेंट हो जाने पर उसने इसे अपनी पुत्री सुनन्दा के लिए रख लिया।

उधर नल को रात के समय वन की आग दीख पडी, जिसमें से उन्होने किसी जलते हुए सर्प को निकाला किन्तु सर्प ने इन्हे डस लिया और ये काले पड़ गये तथा उसने इन्हे यह बतला भी दिया कि इस देश में ही दमयन्ती से भेट हो जायगी। उसने इन्हे अपनी एक केचुल दी तथा एक वस्त्र भी दिया और इन्हें कह-सुनकर अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ बाहुक के नाम से नौकरी करने को भेज दिया। नल वहाँ पर ऋतुपर्ण के निपुण रसोइया तथा 'शालिहोत्र' एव सारथी-कला के एक विशेषज्ञ बनकर समय काटने लगे। राजा भीमसेन को जब नल एव दमयन्ती की दुखमयी कहानी का पता चला तो उन्होने इन्हे ढूँढने के लिए लोग भेजे। एक ब्राह्मण ने चन्देरी जाकर दमयन्ती का पता लगाया और उसका वास्तविक परिचय पाकर वहाँ की रानी ने बताया कि वह इसकी मौसी है तथा उसने इसे प्रसन्नतापूर्वक विदर्भ भेज दिया। यहाँ आकर दमयन्ती ने नल का पता लगाने के लिए बहुत से लोगो को भेजा और किसी 'पर्नाद' ने अयोध्या जाकर उन्हे पहिचान लिया। फिर यहाँ से 'सुदेव' भेजा गया, जिसने ऋतुपर्ण से मिलकर उसे सुन्दरी दमयन्ती के किसी 'नवीन' स्वयवर की ओर आकृष्ट किया। फलतः नल की सहायता से ऋतुपर्ण यथासमय कुण्डनपुर पहुँच गया, किन्तु यहाँ पर स्वयंवर का कोई चिन्ह न देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उधर दमयन्ती ने दूती भेजकर अस्तबल में राजा नल की पहचान करायी और वहाँ जाकर उनसे भेट भी की। तीन वर्षो की दुःख-गाथा का अन्त हुआ। राजा नल ने काले सर्प अथवा कर्कोटक नाग का स्मरण किया, जिसने आकर केंचुल जला दी और उनको पुनः अपना सौंदर्य प्राप्त कर लेने पर वस्त्र भी पहना दिया। राजा नल ने ऋतुपर्ण को अयोध्या पहुँचा दिया और दमयन्ती तथा पुत्र एव पुत्री के साथ 'उजीनी' लौट आये। यहाँ पर पुहकर उन्हें सभी कुछ लौटा देने के लिए तैयार था किन्तु उन्होंने उसे जुआ खेलकर फिर हरा दिया और इस प्रकार सभी कुछ वापस पा लिया। एक दिन उद्यान में पतझड देखकर ये बहुत प्रभावित हुए और इन्द्रसेन को राज्य देकर जंगल में चले गये। जब राजा नल मरे तो दमयन्ती उनके साथ सती हो गयी और इन्द्रसेन उनकी ही भाँति योग्यतापूर्वक राज्य करता रहा।

नल दमयन्ती की कथा एक पौराणिक आख्यान है, जिसकी कथावस्तु 'महाभारत' (वन पर्व, अध्याय ५३-७८) पर आधारित है। जान कवि के समय तक इसे लेकर अनेक रचनाएँ निर्मित हो चुकी थीं और वे विविध भाषाओं में उपलब्ध थी। उदाहरण के लिए कम से कम त्रिविक्रम कवि का 'नलचम्पू' (१० वीं शताब्दी), श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित्र' (१२ वीं शताब्दी) तथा माणिक्यचन्द्र का 'नलायन' (सन् १२२० ई०) में संस्कृत रचनाएँ थीं। बारहवीं शताब्दी में ही महानुभवी कवि नृसिंह ने मराठी में 'नलोपाख्यान' लिख लिया था। श्रीनाथ (१३६५-१४४० ई०) ने तेलगु में 'श्रृगार नैषद' की रचना कर ली थी। ऋषिवर्धन ने गुजराती में 'नल दवदन्तिरास' (सन् १४५६ ई०) तथा महीराज ने अपभ्रंश में 'नलदवदन्तीरास' (सन् १४७६ ई०) रच लिये थे। पीताम्बर ने बंगला में 'नल दमयन्ती चरित्र' (सन् १५४४-४५ ई०) लिखा था तथा हरिदासी कवि कनकदास कन्नड़ में 'नल चरित्रे' (१६ वीं शताब्दी) भी लिख लिया था। कहते हैं कि तमिल

भाषा तक के किसी पुगलेन्दि नामक कवि ने इस विषय में ही सम्बन्धित 'नलवेणवा' की रचना ११वीं शताब्दी में कर डाली थी और वह ४२४ कविताओं का लघु-ग्रन्थ भी 'महाभारत' वाली कथा पर ही आधारित था। 'संदेश रासक' के रचनाकाल (सम्भवतः ११वीं या १२वीं शताब्दी) तक नल-चरित्र एक लोकप्रिय विषय बन चुका था (प्रक्रम २, पद्य ४४)। जान कवि के लिए तब तक फारसी के कवि फैजी द्वारा १६वीं शताब्दी में रचे गये 'नल दमन' का भी एक आदर्श प्रस्तुत किया जा चुका था और अन्य कई भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी एक से अधिक रचनाएँ उपलब्ध थीं। कम से कम मुकुन्दसिंह ने सन् १६४१ ई० में अपना 'नल चरित्र' लिख लिया था और कवि सूरदास ने भी सन् १६५७ ई० में अपनी 'नल दमन' की रचना कर ली थी। इन्होंने कदाचित् इसीलिए कह भी दिया है कि नल दमयन्ती की कथा को मैंने 'बहुग्रन्थन' में पढ़ लिया था, एक भाँति का नहीं पाया' था इस कारण 'जैसा भला लगा लिख दिया''। इस रचना के अन्तर्गत जान कवि की कोई वैसी घटनासम्बन्धी नवीनता नहीं लक्षित होती। यत्र-तत्र प्रसंगवश कतिपय सूक्तियों का समावेश कर दिया है तथा कहीं-कहीं पर काव्य-कौशल प्रदर्शित करने की चेष्टा में रीतिकालीन कवियों की वर्णन-शैली का प्रयोग भी किया है। प्रेमी एवं प्रेमिका दोनों के हृदयों में एक दूसरे के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर आपसे आप प्रेमभाव का जाग्रत हो उठना और फिर क्रमशः स्वप्न-दर्शन एवं चित्र-दर्शन द्वारा उसका उत्तरोत्तर दृढ़तर होता जाना तथा दोनों के लिए बुरे दिन के आ जाने पर प्रायः प्रत्येक अवसर पर किसी न किसी घटना वैचित्र्य का दीख पड़ना इस कहानी की विशेषताओं में से ही हैं।

[सहायक ग्रन्थ—अप्रकाशित ग्रन्थावली, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग।]

—प० च०

नलिन विलोचन शर्मा—जन्म १८ फरवरी सन् १९१६ ई० को बदरघटा पटना में दिन शुक्रवार संध्या ६ बजे हुआ था। उनके पिता पं० रामावतार शर्मा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे, जिनका प्रभाव नलिनजी के व्यक्तित्व पर भी विशेष रहा। १३ वर्ष की उम्र में ही उनके पिता का देहान्त हो गया, जिसका कष्ट पूरे परिवार को झेलना पड़ा। नलिनजी का फक्कड़पन संभवतः इसी प्रकार की परिस्थिति का परिणाम रहा हो। दो छोटे भाई और ६ बहनों के परिवार में रहते हुए भी नलिनजी के अध्ययन में व्यवधान नहीं पड़ा। पिता की मृत्यु के बाद वे पटना कॉलेजियट स्कूल में दाखिल हुए और वहाँ से मैट्रिक करने के बाद पटना कालेज से उन्होंने १९३८ ई० में संस्कृत में एम० ए० किया। इसके उपरान्त कुछ दिनों तक पटना विश्वविद्यालय में ही प्रसिद्ध विद्वान डॉ० अनन्त प्रसाद बनर्जी की देखरेख में शोधकार्य करते रहे। परंतु इसी बीच १९४२ ई० में उनकी नियुक्ति हदप्रसाद दास जैन कालेज आरा में संस्कृत प्रवक्ता के रूप में हो गयी; जिस पद पर कार्य करते हुए १९४२ ई० में ही उन्होंने हिन्दी में एम० ए० भी कर लिया। इसके बाद वे कुछ दिन राँची कालेज में और फिर अप्रैल १९४८ ई० से पटना कालेज में रहे, जहाँ वह आजीवन कार्य करते रहे। इन्हीं दिनों उनकी माता की १९४० ई० में मृत्यु हो गयी और परिवार का रहा सहा अवलम्ब भी समाप्त हो गया। १९४१ ई० में कुमुद शर्मा से उनका विवाह हुआ। अधिकतर साहित्यिक जीवन पटना में व्यतीत हुआ। १२ सितम्बर १९६० ई० को हृदयगति रुक जाने से उनका देहान्त हो गया।

नलिनजी का जीवन शोध और ज्ञानवर्धन में ही समाप्त हुआ। हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्मेलन से प्रकाशित होने वाले पत्र 'साहित्य' तथा मार्मिक 'कविता' के सम्पादक तथा बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महामंत्री के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य के अधिकांश प्रश्नों पर विचार किया। स्वस्थ और प्रशस्त काया, उद्भट प्रतिभा और ज्ञान के प्रति पूर्ण समर्पित भाव यही उनकी समग्रता थी।

कृतियाँ :— 'दृष्टिकोण' (१९४७ ई०), 'नकेन का प्रपद्य' (१९५६ ई०) 'साहित्य का इतिहास दर्शन' (१९६० ई०)।

कहानी संग्रह :— 'विष के दाँत' (१९५१ ई०), 'सत्रह असगृहीतपूर्व कहानी संग्रह' (१९६० ई०)।

सपादित ग्रंथ :— 'लोक कथा कोष', 'लोक साहित्य आकर'।

नलिनजी बिहार के उन प्रतिभा सम्पन्न लोगों में थे जिन्होंने प्रयोगवाद से सीधे संबद्ध न होते हुए भी 'नकेन' की भूमिका (पश्पशा) के माध्यम से उसे एक तार्किक आधार प्रदान किया। 'पुराने' और 'नये' के प्रति उनका आग्रह 'अनुभूति' की मौलिकता पर अधिक था। परम्परा के सम्बध में उनकी धारणा टी० एस० ईलियट की धारणा से सम्बद्ध थी। 'साहित्य का इतिहास दर्शन' नामक ग्रंथ की विवेचनात्मक दृष्टि से उनके विदेशी साहित्य के व्यापक अध्ययन का आभास मिलता है। जर्मन, फ्रेंच, आदि साहित्यों का इतिहास सम्बंधी दृष्टि का सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित मूल्यांकन करते हुए उन्होंने साहित्यिक प्रवृत्तियों और संवेदना के बदलावों को साहित्य की समझ और काल विभाजन का आधार सिद्ध किया है। नलिनजी ग्रियर्सन की ऐतिहासिक दृष्टि को शुक्लजी के काल विभाजन का आधार मानते हैं। उनके अनुसार हजारी प्रसाद द्विवेदी ''कदाचित् समस्त भारतीय भाषाओं में सबसे पहले आचार्य शुक्ल द्वारा प्रवर्तित विधेयवादी साहित्येतिहास से भिन्न, साहित्यिक साहित्येतिहास लिखने के श्रेय के अधिकारी सिद्ध होते हैं।'' शर्माजी ने तर्कपूर्ण दृष्टि से हिन्दी साहित्य की परम्परा का उल्लेख करते हुए समस्त शैली में यथार्थता और मानववाद को उसकी महत्त्वपूर्ण परम्परा के रूप में स्वीकार किया है। उनके इस ग्रंथ में यद्यपि 'रतनहजारा' में संकलित कवियों की सूचना है, परतु इस ग्रंथ का महत्त्व साहित्य के प्रति व्यापक दृष्टि और गहराई की प्रतिष्ठा करने में है। 'दृष्टिकोण' में उनकी प्रतिभा का प्रमाण है। औरतों की शिक्षा, प्रगति का दृष्टिकोण, नवीनता के प्रति आग्रह आदि उनकी विशेषताएँ हैं। वे अश्लीलता को सदा अभिव्यंजना कौशल से सम्बद्ध मानते थे, और इसी कारण जैनेन्द्रजी के 'त्यागपत्र' आदि को विशिष्ट कृति के रूप में स्वीकार करते थे। 'शेखर एक जीवनी', 'गोदान' और 'त्यागपत्र' उनकी दृष्टि में विशिष्ट कृतियाँ थीं। प्रेमचन्द की विशेषता उनके अनुसार यह थी कि उन्होंने पहली बार होरी जैसे साधारण प्राणी को असाधारण न बनाकर, दिलचस्प बनाया। इसके लिए उन्होंने 'इर्ष्येय महाकाव्यात्मक गरिमा' शब्द का प्रयोग किया है। 'शेखर एक जीवनी' को उन्होंने 'बुद्धि की नक्काशी' और 'नदी के द्वीप' को 'रस-स्खलन कहा है। जैनेन्द्र के बारे में उनका स्पष्ट कथन है

कि "उनमें कथा कहने की अद्भुत क्षमता है"।

'नकेन के प्रपद्य' की भूमिका (पश्पशा) मे प्रयोगवाद का समर्थन करते हुए लेखक ने प्रयोगवाद के प्रति आक्षेपों का तर्क पूर्ण ढंग से उत्तर दिया है। 'हिन्दी कविता को अपने मे वयस्क बुद्धि लाना होगा और तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने हृद्‍रोग से मुक्त होना होगा" के माध्यम से छायावादी और परम्पराबद्ध आलोचकों को सतर्क उत्तर देते हुए द्वाष्दृश सूत्रों के माध्यम से प्रयोगवाद की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इन सूत्रों और पश्पशा पर फ्रांस के प्रतीकवादियों और इलियट आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव है। कुछ सूत्र तो अनुवाद हैं, परन्तु इससे नलिनजी के प्रयोगवादी आग्रह का ही आभास होता है। नलिनजी के लेखन की विशिष्टता है मितकथन। यह मितकथन नलिन की कविताओं मे है। 'नकेन के प्रपद्य' में संकलित 'अजन्ता' कविता में 'गुफा' के प्रतीक के माध्यम से वैज्ञानिक युग का विरोधी जीवन, 'नवजातक' में मिथ के द्वारा आधुनिक युग के नये मूल्य का संकेत, 'गीतिदर्शन' में प्रकृति की तथ्यात्मक संवेदना रचनात्मक आग्रह के अतिरिक्त भाषिक सर्जनशीलता का प्रमाण भी प्रस्तुत करती है। परंतु भूमिका भाग इन कविताओं की अपेक्षा अधिक सशक्त है, जिससे यह कहा जा सकता है कि नलिन की आलोचना काव्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहानियों में मनोविश्लेषण की प्रधानता है। यथार्थ के प्रति तथता की दृष्टि मानसिक पकड़ के कारण कहानियों में रचनात्मकता का आभास देती है। रचना की सावयविकता और समग्रता का अन्तरावलम्बन उनकी दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण विचारों से व्यवस्था विरोधी होते हुए भी कला और साहित्य मे उनकी दृष्टि तत्वान्वेषण प्रधान थी। वे चित्रकला में रुचि रखते थे। 'लेटरिंग' में उनकी विशेष रुचि थी। पिकासो के बहुत प्रशंसक होते हुए भी वह उनसे कम प्रभावित थे। विशालकाय नलिनजी का प्रभामण्डल अत्यंत विस्तृत था। जगदीशचन्द्र माथुर ने डॉ० जान्सन से उनकी तुलना करते हुए उन्हें 'स्फुलिंग की भाँति जो अनेक दीपकों को ताप और ज्वाला देता है, स्वीकार किया है।

—स० प्र० मि०

नलिनी मोहन सान्याल—हिन्दी के आरम्भिक भाषा वैज्ञानिकों में प्रमुख। इनकी भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों पर लिखी पुस्तक अनेक वर्षों तक अपने विषय की महत्त्वपूर्ण कृति रही। हिन्दी की कुछ बोलियों के सम्बन्ध में भी आपने कार्य किया। हिन्दी में 'समालोचना तत्त्व', 'मोहनमाला' तथा 'भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास' प्रकाशित हो चुकी है। अपने पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद आपने स्वाध्याय द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की और फिर वही हिन्दी के प्राध्यापक हो गये। ८२ वर्ष की आयु में आपने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपकी मृत्यु १९५१ ई० में ९० वर्ष की आयु में हुई।

—सं०

नवग्रह—रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। कहा जाता है कि ये ग्रह आकाश में विचरण करते हुए मनुष्य के भाग्य पर प्रभाव डालते हैं। इस लिए इन ग्रहों की शान्ति हेतु काम्य-कर्म के पूर्व इनका पूजन किया जाता है (दे० मा० ७।२७।३)।

—मो० अ०

नवनीत—पूरा नाम नवनीतलाल चौबे, उपनाम 'नवनीत'। जन्म सन् १८५८ ई०, मथुरा मे। निधन सन् १९३२ ई० मथुरा में ही। ढाई वर्ष की अवस्था मे माता का तथा सोलह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया था। आपने सोलह वर्ष की अवस्था से ही कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। इनका जीवन-वृत्त स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने 'पद्मपराग' में दिया है। इन्होंने सर्वप्रथम गणपति वन्दना मे अपनी रचना प्रारम्भ की थी। इनकी पहली रचना इस प्रकार है—छप्पय: "वन्दो श्री सिव सुवन प्रथम मंगल सरूप वर। लम्बोदर गज वदन मदन बुधि विमल वेषधर।। भालचन्द भुज चारि पास अकुस विचित्र कर। रक्त मलय सिंदूर अंग सोभित सु आखु पर।। सुज मुकुट कुंडल प्रभा सुभग सुंड मोदक लिये। प्रणत दीन नवनीत उर सो प्रकास कीजै हिये।।"

इन्होंने अष्टाध्यायी का अध्ययन बाल्यकाल में ही दण्डी स्वामी विरजानन्दजी से किया था। पश्चात् पण्डित गंगादत्तजी से 'महाभाष्य', 'नवाह्निक', 'कुवलयानन्द', 'काव्य प्रकाश' पढ़ा। सौराष्ट्र के ब्रजभाषा कवि गीला भाई ने इनसे पत्र द्वारा अपनी साहित्यिक जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करके ज्ञानार्जन किया था। नवनीतजी की ये रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं—'प्रेमरत्न', 'गोपी प्रेम पियूष प्रवाह', 'मूर्ख शतक', 'रहिमन शतक', 'कुब्जा पचीसी', 'हरिहराष्टक' आदि। 'सनेहशतक', 'छन्द नवनीत', 'काव्य नवनीत', 'षट्ऋतु नवनीत', 'मनोर्थ मुक्तावली' तथा दो ढाई हजार मुक्त छन्द अभी अप्रकाशित पड़े हैं। आपने 'गोपी प्रेम पियूष-प्रवाह' में अपना परिचय लिखा है—"श्री मथुरा हरिजन्म भुअ, तरनि तनुजा तीर। लगी रहत निसि दिन जहाँ, मुनि सिद्धन की भीर।। तहाँ घाट वल्लभ विदित श्री हलधर की पौर। ता पीछे मारू गली, उज्ज्वल सुन्दर ठौर। बसत जहाँ माथुर सबै, जग जस चारि हजार। विप्र वेद में विदित जे, जानत सब ससार।। ता कुल कोविद कृष्ण सुत, बूलचन्द सुपनीत। तिन त्रयसुत मे एक लघु, कहत नाम नवनीत।।" इनकी उक्त पुस्तक कांकरौली विद्याविभाग से प्राप्त है।

—दे० द्वि०

नवरंग— भारत के प्रसिद्ध मुगल सम्राट् औरंगजेब का भूषण आदि कवियों द्वारा किया हुआ नामान्तर है। यह शाहजहाँ का पुत्र और दिल्ली का बादशाह था। औरंगजेब का शासनकाल सन् १६५८ ई० से १७०७ ई० तक रहा।

—मो० अ०

नवरसतरंग—यह बेनी प्रवीन की तीनों कृतियों में सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त कृति है। इसकी रचना-तिथि १८१७ ई० है और इसका प्रकाशन कृष्णबिहारी मिश्र के सम्पादन में एम० एम० मेहता द्वारा बनारस से १९२५ ई० में हुआ। इसकी रचना बरवै, दोहा, सवैया, सोरठा एवं मनहरण छन्द में हुई है। ग्रन्थ का विषय रस-वर्णन है। केशवदास ने कृष्ण की वन्दना करते हुए उन्हें 'नवरसमय ब्रजराज' कहा है। उनकी इसी उक्ति का स्मरण करके अपने इस रसविषयक ग्रन्थ का नाम बेनी प्रवीन ने 'नवरसतरंग' रखा है। कुल ५३४ छन्दों में ४९७ तक श्रृंगार संयोग-वियोग पक्ष तथा नायिका-नायक भेद का ही निरूपण है

और शेष रसों को अन्त में छू भर दिया गया है। प्रारम्भ के अतिरिक्त ३३ छन्दों में वन्दना और कवि का आत्मचरित वर्णित है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इसमें गणिका, परकीया और अभिसारिका के बड़े ही विशद वर्णन हैं। जाति के आधार पर दूती के भी अनेक भेद किये गये है।

इस ग्रन्थ में नायिका-भेद के वर्णन में प्रथम स्वकीया, परकीया तथा सामान्या का वर्गीकरण इनके भेदोपभेदों के साथ किया गया है। इन सभी के अन्य सुरतिदुःखिता, गर्विता तथा मानवती भेद किये गये हैं। इसके बाद अवस्था-भेद से प्रोषितपति-का आदि और गुण-भेद से उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा का विवेचन है। फिर नायक-भेद के बाद उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा संचारी के लक्षण और उदाहरण है। भाव शान्ति, सन्धि, सबलता और भावाभास आदि के साथ श्रृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों का वर्णन है। अन्य रसों की संक्षेप में चर्चा है, यद्यपि लक्षण तथा उदाहरणसंगत हैं। उस ग्रन्थ के अनेक उदाहरण 'श्रृंगार भूषण' से ही लिये गये हैं।

अपने पूर्ववर्ती कवियों में बेनी प्रवीन ने केशव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, देव, तोष और प्रतापसाहि आदि अनेक से प्रभाव ग्रहण किया है तथा उनकी उक्तियों का अनुसरण किया है। 'नवरसतरंग' के सम्पादक कृष्णविहारी मिश्र ने उसकी भूमिका में इस पक्ष को उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है तथा विभिन्न कवियो से बेनी प्रवीन की काव्य-कला की तुलना की है। कवि ने अपनी कविता को विविध अलंकारो से अलंकृत करके भी इस परिपाक की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। उसके अनेक छन्द 'टकसाली' है तथा उनका समावेश बहुत से संग्रहकारों ने अपने संग्रहों में किया है। लक्षण भले ही दोषपूर्ण रह गये हों परन्तु उदाहरणों को पूर्णतया परिष्कृत एव प्रभावपूर्ण बनाने का यत्न किया गया है। मध्याधीरा के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत छन्द अनेक काव्य-मर्मज्ञो द्वारा उनका सर्वोत्कृष्ट छन्द माना गया है—"भोर ही न्योति गयी तो तुम्हें वह गोकुल गाँव की ग्वालिनी गोरी।"

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि० : हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०।]

—ज० गु०

नवलसिंह—ये झाँसी के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए ही इन्होंने रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। इनका तत्सम्बन्धी नाम रामानुजदास शरण था। इनके मुख्य आश्रयदाता समथर के महाराज हिन्दूपति थे। टीकमगढ़ तथा दतिया दरबार में भी इनके कवि-जीवन का कुछ समय व्यतीत हुआ था। अब तक इनकी निम्नांकित कृतियों का पता चला है— 'शंकामोचन' (१८१६ ई०), 'जौहरिन तरंग' (१८१८ ई०), 'रसिक रंजनी' (१८२० ई०), 'विज्ञान भास्कर' (१८२१ ई०), 'ब्रजराज दीपिका' (१८२६ ई०), 'शुकरम्भा संवाद' (१८३१ ई०), 'कवितावली' (१८५६ ई०), 'भाषा सप्तदशी' (१८६० ई०), 'कविजीवन' (१८६१ ई०), 'आल्हा रामायण' (१८६५ ई०), 'रुक्मिणी मंगल' (१८६८ ई०), 'मूलढोला' (१८६८ ई०), 'रहस्य लावनी' (१८६९ ई०) 'अध्यात्म रामायण', 'रूपक रामायण', 'नारी प्रकरण', 'सीता स्वयंवर', 'रामचन्द्र विलास' (सात खण्डों में विभाजित—आदि खण्ड, जन्म खण्ड, एवं श्रृंगार खण्ड, मिथिला खण्ड, विलास खण्ड और रास खण्ड), 'भारत वार्त्तिक', 'रामायण सुमिरनी', 'दानलोभ संवाद', 'नाम रामायण', 'रामायण कोश' और 'आल्हा भारत'।

नवलसिंह की कृतियों से यह विदित होता है कि ये रसिक भाव के रामोपासक थे। इनकी साम्प्रदायिक भावना अत्यन्त उदार थी। कृष्ण-चरित का वर्णन इन्होंने उसी तन्मयता के साथ किया है, जैसा राम की श्रृंगारी-लीलाओं का। इनकी रचनाएँ रीतिकाल की श्रृंगारी प्रवृत्ति से अत्यन्त प्रभावित हैं। इन्होंने पद्य एव गद्य दोनो में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनकी काव्यशैली बड़ी समृद्ध और परिष्कृत है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; खोज रिपोर्ट, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।]

—भ० प्र० सिं०

नवीन १—इस नाम के दो कवि पाये जाते हैं। नवीन भट्ट बिलग्रामी (जिला हरदोई) और दूसरे नवीन ब्रजवासी। 'मिश्रबन्धुविनोद' में बिलग्रामी का जन्मकाल सन् १८४१ ई० दिया गया है, साथ ही इन्हें 'शिवताण्डव' और 'महिम्न भाषा' नामक दो ग्रन्थों का रचयिता तथा सरस कवि कहा गया है किन्तु अधिक प्रसिद्धि दूसरे नवीन (ब्रजवासी) की ही है। 'मिश्रबन्धुविनोद' भाग ३ में इस कवि की चार रचनाओं का पता लगता है—(१) 'सुधासार', (२) 'सरस रस', (३) 'नेह निदान' और (४) 'रंग तरंग'। इनमें 'सुधासार' (हि० प० सा० में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा सम्पादित इसका एक संस्करण बनारस से प्रकाशित बताया गया है) और 'सरस रस' किस प्रकार की रचना है, इसके विषय में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती किन्तु कवि की अन्य रचनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध प्रधानतः श्रृंगार अथवा प्रेम-वर्णन से ही होगा। 'नेह निदान' के विषय में सन् १९०५ ई० की वार्षिक खोज-रिपोर्ट (सं० ३९) में किंचित विस्तार से सूचना मिलती है। प्रेम अथवा स्नेह-वर्णन इस रचना का भी मुख्य विषय है। रिपोर्ट के अनुसार इसकी एक हस्तलिखित प्रति छत्तरपुर के किसी जगन्नाथ प्रसाद के यहाँ मिली थी, जिसका लिपिकाल सन् १८५० ई० (सं० १९०७) है। इसके कुल छन्दो की संख्या १४५ है। इसी ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से यह भी ज्ञात होता है कि कवि मालवा-नरेश जसवन्तसिंह का आश्रित था और उसी की प्रेरणा से उसने उक्त रचनाएँ की हैं। जसवन्तसिंह का समय १७वीं शती का उत्तरार्द्ध अर्थात् शाहजहाँ का शासनकाल माना जाता है। अतएव कवि का भी वही समय होना चाहिए। 'रंग-तरंग' कवि की रस-वर्णन प्रधान रचना है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार यह कवि की अन्तिम रचना है, जिसका रचनाकाल सन् १८४२ ई० (सं० १८९९) है।

किन्तु उपर्युक्त चार कृतियों के अतिरिक्त कवि की 'श्रृंगार शतक' और 'श्रृंगार सप्तक' नामक दो अन्य कृतियों का पता त्रयोदश त्रैवार्षिक खोज-रिपोर्ट (सं० ३३० ए, ३३० बी) में चलता है। प्रथम हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७७८ ई० और द्वितीय का १८०३ ई० है। प्रथम में कुल ३२० छन्द हैं और द्वितीय में ४४०। दोनों ही कृतियों के मुख्य वर्ण्य-विषय श्रृंगार और नायिका-भेद हैं। कवि के काव्यालोचन से यह

स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह सुकुमार एवं मार्मिक अनुभूतियों का धनी था। भाव और भाषा पर उसका समान अधिकार था। इसी कारण मिश्रबन्धुओं ने उसे पद्माकर की कोटि का कवि कहा है। काव्यगत उत्कृष्ट भाव-गरिमा और कलात्मक चारुता से कवि का कवित्व ओत-प्रोत है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (सं० ३९, सन् १९०५ और सं० ३३० ए-बी, सन् १९२६-२८); शि० स०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—रा० त्रि०

नवीन २—दे० 'बालकृष्ण शर्मा नवीन'

नवीन चन्द्र राय—हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए जो कार्य संयुक्त प्रान्त मे शिक्षा-विभाग में रहकर राजा शिव प्रसाद ने किया, लगभग वही कार्य पंजाब प्रान्त में नवीन चन्द्र राय ने किया। आपका जन्म सन् १८३७ ई० में हुआ था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण आपकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो सका। अपने अध्यवसाय से आपने हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी मे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे आप शिक्षा—विभाग में उच्चपदस्थ कर्मचारी हो गये। आप 'ब्रह्म समाज' के अनुगामी थे। आपके विचार नवयुग के सुधारवादी दृष्टिकोण के अनुकूल थे। आपने स्त्री-शिक्षा का पूर्ण समर्थन किया और लाहौर में फीमेल नार्मल स्कूल खोलकर स्वयं ही उसका सूत्रपात भी किया। सन् १८६३ ई० से १८८० ई० के बीच सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों पर आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'आचारादर्श' (१८७२ ई०), 'धर्म दीपिका' (१८७३ ई०), 'ब्राह्मधर्म के प्रश्नोत्तर' (१८८० ई०-मित्र विलास प्रेस, लाहौर से प्रकाशित), 'तत्त्वबोध' (१८७५ ई०—गोपाल चन्द्र डे द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित), 'उपनिषत्सार' (१८७५ ई०—स्वयं लेखक द्वारा लाहौर से प्रकाशित), 'जलस्थिति और जलगति' (१८८२ ई०) और 'स्थिति तत्त्व और गतितत्त्व' (१८८२—पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज, लाहौर से प्रकाशित) आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए आपने कई पत्रिकाएँ निकाली थीं, जिनमें 'ज्ञान प्रदायिनी' (१८६७ ई०) प्रसिद्ध है। आप शुद्ध हिन्दी के समर्थक थे। राजा शिवप्रसाद से आपकी भाषा-नीति भिन्न थी। आपने 'हिन्दी' को 'उर्दू' की छाया से सदैव अलग रखा।

सन् १८९० ई० में आपका देहान्त हो गया। हिन्दी-गद्य के आविर्भावकाल में एक हिन्दीतर प्रान्त में सरकारी कर्मचारी की हैसियत से हिन्दी प्रचार के लिए आपने जो कुछ किया, वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

—रा० चं० ति०

नहुष—चन्द्रवंशीय आयु राजा के पुत्र, पुरुरवा के पौत्र। जब वृत्रासुर वध के कारण इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी तो उसके भय से वे १००० वर्ष तक कमलनाल में छिपे रहे। उस समय वृहस्पति के निर्णयानुसार रिक्त इन्द्रासन पर नहुष को प्रतिष्ठित किया गया। नहुष इन्द्राणी पर मोहित हो गये। उन्होंने इन्द्राणी से मिलने की इच्छा प्रकट की। वृहस्पति से सलाह लेकर इन्द्राणी ने कहला भेजा कि यदि आप सप्तर्षियों के कन्धों पर पालकी में आयें तो मुझे आपसे मिलना स्वीकार है। कामार्त नहुष ने ऐसा ही किया। पालकी में बैठे नहुष आतुरतावश सप्तर्षियों को आदेश देते हुए बोले—'सर्प, सर्प,' अर्थात् शीघ्र चलो। इस पर क्रोधित होकर अगस्त्य ऋषि ने उन्हे शाप दिया कि 'मूढ़, तू सर्प हो जा'। तदनुसार स्वर्ग-भ्रष्ट नहुष अनेक वर्षों तक सर्प-योनि में पड़े रहे। महाभारत के अनुसार नहुष का पैर अगस्त्य ऋषि को लग गया था, जिससे उन्होने शाप दिया। जब नहुष ने ऋषि की बहुत विनती की तो उन्होंने कहा कि धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें शाप-मुक्त करेंगे। वनवास के समय द्वैतवन में सर्प रूप इन्ही नहुष ने भीमसेन को पकड़ लिया था। फिर युधिष्ठिर ने जाकर उन्हें छुड़ाया और नहुष को शाप-मुक्त किया (दे० सूर० पद ४१९, 'नहुष' : मैथिलीशरण गुप्त)।

—मो० अ०

नहुष (नाटक)—बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र, उपनाम गिरिधरदास ने १८५७ ई० में नहुष नाटक की रचना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'नहुष' को हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं। वे कहते हैं "विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्रजी) का है" (भारतेन्दु ग्रन्थावली, सं० ब्रजरत्नदास, भाग १, प्र० सं०, पृ० ७५२)। यह प्रथम नाटक है, इसके पक्ष में उन्होंने दो कारण दिये हैं—१. इसमें विशुद्ध नाटक रीति है और २. पात्र प्रवेशादि के नियम की रक्षा हुई है। देवमाया प्रपंच, प्रभावती (सम्भवतः प्रद्युम्न विजय) एवं आनन्द रघुनन्दन को वे नाटक नहीं मानते हैं, क्योंकि ये छन्दःप्रधान ग्रन्थ हैं और इनमें नाटकीय यावत् नियमों का पालन नहीं हुआ है।

तुलना की जाय, तो नहुष नाटक और अन्य ब्रजभाषा नाटकों में बहुत अन्तर नहीं है, वरन् यह नाटक ब्रजभाषा नाटकों की एक कड़ी है। कारण—१. अन्य ब्रजभाषा नाटकों के समान नहुष भी छन्दप्रधान ग्रन्थ है। नहुष में गद्य तो कभी-कभी अपना अवगुंठन हटाता है, वह भी कुछ क्षणों के लिए। आनन्द रघुनन्दन में गद्य की मात्रा इससे अधिक है। २. ब्रजभाषा नाटकों के समान नहुष में भी प्रबन्ध काव्यात्मक शैली प्राप्त होती है। तीसरे अंक में जब अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं तो कवि स्वयं मंच पर आकर उनका वर्णन करता है। नहुष के राज्यतिलक के समय का पूरा-पूरा विधान कवि द्वारा वर्णित है। छठे अंक में अश्वमेध यज्ञ होता है। कवि स्वयं इस यज्ञ का विस्तृत वर्णन करता है। सभी अंकों में यह शैली मिलेगी। ब्रजभाषा नाटकों में जब कोई पात्र रंगमंच पर आता है तो कवि उस पात्र का परिचय देता है एवं पात्र की वेष-भूषा का वर्णन करता है। यह शैली नहुष में मौजूद है। जब राजा नहुष रंगमंच पर आता है तब कवि उसका वर्णन करता हुआ कहता है—"हाटक-सी दमकै दुति देहन हीरन के हिय हार सुहाए। जामा सपेद विराजि रह्यो बाँधि हाथन में धनु बान बसाए। ध्यावत ही 'गिरिधारन' के पद सक्रपने को गरूर बढ़ाए। सोह्यो नरेस सुभेस गुनाकर तेज बिसेस दिनेस लजाए"।।३-२३।।

आरम्भ में शास्त्रीय ढंग की प्रस्तावना है, जिसमें नान्दी, प्ररोचना और कथोद्घात नामक अंग मिलते हैं किन्तु अन्त में शास्त्रीय शैली का भरतवाक्य नहीं है। इन्द्र कहता है कि, विष्णु की कृपा से हमें राज्य मिला है। तो चलो, उनके पास

चलें। जयन्त एवं इन्द्राणी ने सानन्द इसका समर्थन किया और वे चल देते हैं। नाटक के नाम से प्रतीत होता है कि इस नाटक का नायक नहुष है। नाटककार प्रस्तावना में कहता है—"जा विधि राजा नहुष ने कियो स्वर्ग को राज, सो नाटक चाहत करन हुकुम कियो महाराज।" इससे भी सिद्ध होता है कि नाटककार नहुष को नायक बनाना चाहता है एवं स्वर्ग-चरित्र को दर्शकों के सामने रखना चाहता है। यदि पूर्वी नाटच-शास्त्र की दृष्टि से परखा जाय तो नहुष में नायक के गुण नहीं हैं। आधिकारिक फल है-इन्द्रासन एवं उसी से संलग्न इन्द्राणी। नहुष इन्द्रासन पाकर इन्द्राणी को पाने का प्रयास करता है किन्तु वह इन्द्राणी के साथ इन्द्रासन से भी हाथ धोता है, ऊपर से उसे सर्प बनने का श्राप मिलता है और वह सर्प बन जाता है। इस प्रकार नहुष की बड़ी दुर्गति होती है। अवश्य अन्त में नाटककार को नहुष का ध्यान आता है और वह उसे "हरि ढिग" पहुँचा देता है, जिसके लिए नाटक मे कोई कारण उपलब्ध नही है। नहुष कहता है—यह युधिष्ठिर के दर्शन का प्रताप है, जो मैं हरि के निकट जा रहा हूँ। इस प्रकार नहुष में नायक के गुण एवं कर्म नहीं हैं, भारतीय नाटचशास्त्र यही कहेगा। हाँ, पश्चिमी नाटचशास्त्र की दृष्टि से वह नायक सिद्ध हो सकता है क्योंकि कथा उसी से लिपटकर आगे बढ़ती है। नाटककार नहुष के जीवन से शिक्षा देना चाहता है, फलतः वह नहुष को नायक बनाता है। यह पश्चिमी दृष्टिकोण का ही परिणाम है। वैसे चरित्र में इन्द्र नहुष से बढ़कर है। इन्द्र ने देखा कि वृत्रासुर मेरी प्रजा को सता रहा है, फलतः उसने वृत्रासुर का वध किया, यद्यपि इससे उसे ब्रह्महत्या दोष का भागी बनना पडा। इधर नहुष जब इन्द्रासन पा जाता है तो उनमत्त हो उठता है। वह अप्सराओं के नृत्य देखने में लग जाता है और स्वर्ग के सभी भोगों को भोगने की कामना करता है। नहुष पतिव्रता इन्द्राणी का धर्म डिगाना चाहता है और स्वर्ग के सर्वश्रेष्ठ सात ऋषियों को अपने वाहन में जोतता है। पाठक या दर्शक की सहानुभूति इन्द्र के साथ है, नहुष के साथ नहीं। पश्चिमी नाटकों के प्रभाववश होकर ही कवि ने नहुष को नायक बनाया है, इससे यही सिद्ध होता है। नहुष की दृष्टि से नाटक का अन्त दुःखान्त है, भले ही सहसा उसे "हरि ढिग" पहुँचा दिया गया है। उसे सहस्रों वर्ष सर्प-योनि में कष्ट भोगना पड़ा है। नहुष नाटक से ही पूर्वी एवं पश्चिमी नाटच-शैलियों का समन्वय प्रारम्भ हो जाता है। आगे भारतेन्दु-युग के नाटकों में यह समन्वय सतत अग्रसर रहा है।

'नहुष' हिन्दी का प्रथम नाटक है, जिसमें रंग संकेत अधिक स्पष्ट और अधिक मात्रा में है। इसमें भारतीय नाटच-शास्त्र का अनुकरण करते हुए भी पश्चिमी दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसका काव्य-पक्ष सुन्दर है। यह चरित्रप्रधान नाटक है।

—गो० ना० ति०

नाग—कश्यप एवं कद्रू की सन्तान। ये सर्प तथा मानवाकृति के मिश्रित रूप के थे। इनकी राजधानी भोगवती थी। आठ प्रमुख सर्प अष्टकुली कहलाते हैं। इसके नाम हैं— अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख तथा कुलिक।

—मो० अ०

नागमती—पद्मावत की प्रेमगाथा के अन्तर्गत नागमती एक नायिका के रूप में आती है। इसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का हमें कोई परिचय उपलब्ध नहीं है, किन्तु जायसी द्वारा किया गया इसका चरित्र-चित्रण भी हमें कम सजीव प्रतीत नहीं होता। यहाँ पर हमारे सामने वह राजा रतनसेन की अति रूपवती रानी है तथा समस्त रनिवास में उसकी पट्टमहिषी के रूप में आती है (८-१)। वह रूपगर्विता है इस कारण उसे सूए के मुख से 'सिंघल की रानी' की प्रशंसा स्वभावत. अच्छी नहीं लगती (८-२) और इस डर से कि कहीं वह पक्षी उसके पति से भी ऐसी बातें कहकर उसका चित्त मेरी ओर से फेर न दे, वह उस सूए का नाश कर देने पर भी तुल जाती है। वह राजा रतनसेन के जोगी बनकर सिंघल की ओर चलते समय उसके साथ जोगिनी बनकर जाने को उद्यत हो जाती है और इसके लिए दृढ़ आग्रह भी करती है, किन्तु यह वहाँ पर भी यह कहना नहीं भूलती कि "चाहे पद्मिनी रूप में कितनी ही सुन्दर हो, हमसे बढ़कर और कोई भी रूपवती नहीं है" (८-६) और वह अन्यत्र स्वय पद्मावती से भी कहती है, "मैं सारे संसार का सिंगार जीत चुकी हूं" (३६-१०)। वह उससे यहाँ तक कह डालती है, "मैं रानी हूँ और मेरे प्रियतम (रतनसेन) राजा है तेरे लिए तो वे केवल जोगी और नाथ ही हैं" (३६-५)। राजा रतनसेन के सिंहल की ओर चल देने पर वह चित्तौड़ में रहकर उसकी बाट देखा करती है और उसके वियोग को सह न सकने के कारण एक आदर्श विरहिणी के रूप में अपना विरह-सन्देश भेजती है, जो उसकी मनोव्यथा को भलीभाँति प्रकट कर देता है। कवि ने उसके मुख से सन्देश-वाहक द्वारा उसके आषाढ़ से लेकर अगले जेठ तक के पूरे एक वर्ष की दुःखगाथा प्रेषित किये जाने का उपक्रम किया है तथा इसी व्याज से उसने उसके अन्तर्भावों की ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति कर दी है, जो बहुत कुछ काव्य-रूढ़ियों पर आश्रित होती हुई भी हमें किन्हीं स्वाभाविक हृदयोद्गारों का वर्णन जैसा प्रभावित करती जान पड़ती है और इसके लिए जायसी का काव्य-कौशल सर्वथा प्रशंसनीय है। नागमती प्रत्येक प्रकार से एक पतिपरायणा हिन्दू रमणी है और यह बात उसके रोम-रोम से फूट निकलती प्रतीत होती है। जब वह एक विरहिणी के रूप में सभी मनुष्यों से पूछकर हार जाती है और उनसे इसके प्रियतम का कोई पता नहीं चलता तो वह कदाचित् विक्षिप्त-सी बनकर पशु-पक्षियों तक से उसके समाचार पूछने लग जाती और निरन्तर उसके शुभ कल्याण की ही कामना करती रहती है। वह किसी एक पक्षी द्वारा उसे सिंघल सन्देश भेजते समय अपने यहाँ की पूरी दयनीय दशा का परिचय करा देना चाहती है, जिसका प्रभाव स्वाभावतः राजा रतनसेन पर पड़े बिना नहीं रहता और वे वहाँ से यथाशीघ्र चल देने के लिए उद्यत हो जाते हैं। अन्त में नागमती अपने पति राजा रतनसेन की मृत्यु के उपरान्त, अपनी सपत्नी पद्मावती के प्रति भेदभाव भुलाकर उसके साथ एक ही खाट पर बैठकर सती हो जाती है (५७-२)।

—प० च०

नागरीदास—नागरीदास नाम से ब्रज में कई अन्य कवि हुए हैं। नागरी (राधा) के सेवक बनकर उसका गुणगान करने में जो भक्त लीन हुआ, उसी ने अपना नाम नागरीदास रख लिया, किन्तु इनमें कृष्णगढ़ नरेश महाराज सावन्तसिंहजी ही प्रसिद्ध नागरीदास कवि हैं। नागरीदास का जन्म सं० १७५६ (सन् १६९९ ई०) में हुआ था। शैशव से ही इन्हे युद्धविद्या में लगना

पड़ा और तेरह वर्ष की अल्पायु के बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को इन्होंने परास्त किया। इसके बाद पिता की मृत्यु हो जाने पर इनके भाई इनकी अनुपस्थिति में गद्दी पर अधिकार जमा बैठे और इन्हें फिर उनसे भी युद्ध ठानने को विवश होना पड़ा। मराठों की सहायता से इन्होंने अपने भाई बहादुरसिंह को गद्दी से उतार कर राज्य अपने अधिकार में ले लिया किन्तु गृहकलह के कारण इन्हें राजपाट से गहरी विरक्ति हो गयी। सं० १८१४ (सन् १७५७ ई०) में राजगद्दी पर अपने पुत्र सरदारसिंह को आसीन कर विरक्ति भाव से वृन्दावन चले आये और आजीवन वहीं भक्त के रूप में रहे।

नागरीदास ने कृष्णगढ़ में रहते हुए ही काव्य-रचना करना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय वे ब्रजलीलापरक अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिख चुके थे। उनकी रचनाओं में माधुर्य-भक्ति का ही प्राधान्य लक्षित होता है। कुछ ग्रन्थ रीतिकाव्य से भी सम्बन्ध रखते हैं और कुछ वैराग्य-भावना का वर्णन करने वाले भी है। इनके सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद रहा है। कुछ विद्वान् इन्हें वल्लभ-कुल में दीक्षित कहते हैं, किन्तु वृन्दावन में इनका सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से ही माना जाता है। वृन्दावन का नागर कुंज निम्बार्कीय ही कहा जाता है।

इनके ग्रन्थों का संकलन 'नागर समुच्चय' नाम से प्रकाशित हो चुका है। नागर समुच्चय और रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में दी हुई ग्रन्थ सूची को देखकर आश्चर्य होता है कि राजकाज में लगे रहने पर भी नागरी दास जी ने किस प्रकार ७५ ग्रन्थों की रचना की। किशोरी लाल गुप्त द्वारा संपादित नागरीदास की समस्त रचनाओं का उत्तम संस्करण सं० २०२२ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है।

भाषा और काव्यसौष्ठव की दृष्टि से नागरीदास का काव्य साधारण कोटि का ही है। भाषा यद्यपि मुख्यतया ब्रज ही है, किन्तु कहीं-कहीं उर्दू या खड़ीबोली का भी प्रभाव दिखाई देता है। सूफियानी और आशिकी ढंग की प्रेम कविताएँ भी उनके ग्रन्थों में मिलती हैं, जो उस युग के प्रभाव में लिखी गयी प्रतीत होती हैं। पद-रचना में उन्हें अपेक्षाकृत सफलता मिली है। कविता तथा अन्य छन्द साधारण कोटि के ही हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; निम्बार्क माधुरी : ब्रह्मचारी बिहारी शरण; ब्रजमाधुरी सार : वियोगीहरि।]

—वि० स्ना०

नागरी प्रचारिणी पत्रिका—इस पत्रिका का प्रकाशन वाराणसी से जून १८९६ ई० से प्रारम्भ हुआ। इसके प्रथम सम्पादक वेणीप्रसाद थे। उसके बाद मुंशी देवी प्रसाद और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी थे। फिर कालक्रमानुसार गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, राधाकृष्णदास, श्रीकृष्णचन्द्र, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, मंगलदेव शास्त्री, जयचन्द नारंग, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, पद्मनारायण आचार्य, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी क्रमशः सम्पादक या सम्पादक मण्डल में रहे।

२४ वर्ष तक यह पत्रिका मासिक रही। बाद में त्रैमासिक हो गयी। ४८ पृष्ठों की डिमाई आकार में २५० प्रतियाँ शुरू में।) मूल्य पर प्रकाशित होतीं थी। आरम्भ में सभा की सूचनाएँ अथवा हिन्दी भाषा या साहित्य पर टिप्पणियाँ ही प्रकाशित होती थी।

लेकिन सन् १९१७ ई० में 'शिक्षा का माध्यम', 'आँखों देखा नक्षत्र जगत्', 'कोलम्बस की यात्रा', प्रतिमोक्ष सूत्र के साथ-साथ सम्मेलन का विवरण प्रकाशित हुआ।

सन् १९४९ ई० में गुप्त सम्राट् और विष्णु सहस्रनाम, राम-वनवास का भूगोल, मिश्रबन्धु विनोद की भूलें, प्रागैतिहासिक लाट देश जैसे खोजपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "नागरी प्रचारिणी पत्रिका की प्रारम्भिक संख्याओं को यदि हम निकालकर देखें तो उनमें अनेक विषयों के लेखों के अतिरिक्त कहीं-कहीं ऐसी कविताएँ भी मिल जायेंगी, जैसी श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'नागरी तेरी यह दशा'। सम्प्रति पत्रिका का रूप शोध-प्रधान है।

—ह० दे० बा०

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—स्थापित—१६ जुलाई, १८९३ ई०; संस्थापक—बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह; कार्य और विभाग—कार्यकर्त्ताओं के उद्योग से सन् १८९८ ई० में सरकारी कचहरियों में नागरी का प्रवेश हुआ और अदालती आवेदन पत्र तथा सम्मन आदि हिन्दी में लिखे जाने लगे। (१) संगठन—सदस्यों की संख्या २९१७ है, इनमें १३ वाचस्पत्य, ५४ मान्य, ८१ विशिष्ट, ६०७ स्थायी तथा २१६२ साधारण सभासद हैं। हिन्दी प्रचार का उद्देश्य रखनेवाली भारतभर में ५५ संस्थाएँ इससे सम्बद्ध हैं। (२) आर्यभाषा पुस्तकालय—विभिन्न भाषाओं के ३५, ५११ ग्रन्थ संगृहीत हैं, जिनमें ३५१४ हस्तलिखित हैं। वाचनालय में कई भाषाओं की २४४ पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। (३) हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—इसके लिए अनेक रिसर्च स्कॉलर इस विभाग में कार्य करते हैं। यह कार्य सं० १९५७ से किया जा रहा है। सं० १९७९ से प्रतिवर्ष २००० रु० का अनुदान इस कार्य के निमित्त प्राप्त होता रहा है। अब तक १३,७३७ ग्रन्थों के विवरण प्राप्त किये जा चुके है। (४) प्रकाशन—सन् १९४५ ई० में रामचन्द्र वर्मा के सम्पादकत्व में एक अधिकृत 'हिन्दी शब्द सागर का' निर्माण हुआ है। एक 'राजकीय कोश' के प्रकाशन की भी योजना है। अठारह भागों में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' प्रकाशित हो रहा है। इसके तीन भाग विभिन्न विद्वानों के द्वारा सम्पादित होकर छप चुके हैं। इसके संयोजक राजबली पाण्डेय हैं। 'आकर ग्रन्थमाला' के संयोजक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हैं, जिसके अन्तर्गत प्राचीन कवियों की कृतियों का सम्पादन शास्त्रीय एवं आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से हो रहा है। 'राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रन्थमाला' के संयोजक शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' हैं। सं० १९५३ से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन हो रहा है। 'हिन्दी रिव्यू' नामक अंग्रेजी मासिक कई वर्ष तक प्रकाशित हुई। चार वर्षों से 'विधि पत्रिका' भी प्रकाशित हो रही है। इसके अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला', 'मनोरंजन पुस्तकमाला', 'शास्त्र-विज्ञान पुस्तकमाला', 'पाठोपयोगी पुस्तकमाला',

'प्रादेशिक-ग्रन्थमाला', 'वैदेशिक ग्रन्थमाला', 'कोश ग्रन्थमाला', 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला', 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला', 'बालाबक्ष राजपूत चारणमाला', 'रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला', 'श्रीमती रुक्मिणी तिवारी ग्रन्थमाला', 'नवभारत ग्रन्थमाला' आदि प्रकाशन चल रहे हैं। (५) प्रेमचन्द स्मारक—उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द्रजी के जन्मग्राम लमही में भव्य स्मारक का निर्माण हो रहा है। (६) प्रसाद साहित्य गोष्ठी-सन् १९३० से स्थापित इस गोष्ठी मे विविध साहित्यिक समारोह आयोजित होते रहते हैं। (७) पुरस्कार-पदक—सभा की ओर से राजा बलदेवदास बिड़ला पुरस्कार, बटुक प्रसाद पुरस्कार, रत्नाकरपुरस्कार, डा० छन्नूलाल पुरस्कार, जोधसिंह पुरस्कार, माधवीदेवी पुरस्कार, डा० श्यामसुन्दरदास पुरस्कार, भैरवप्रसाद पुरस्कार, माण्डलिक पुरस्कार, हीरालाल स्वर्णपदक, डा० द्विवेदी स्वर्णपदक, सुधाकर पदक, ग्रीब्ज पदक, राधाकृष्ण पदक, बलदेवदास पदक, गुलेरी पदक, रेडिचे पदक, वसुमति पदक, भगवान देवी बाजोरिया पदक, पुच्छरत पदक प्रदान किये जाते हैं। (८) सत्यज्ञान निकेतन—३० नवम्बर १९४३ को स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने ज्वालापुर (हरिद्वार) स्थित अपना आश्रम सभा को समर्पित कर दिया। यहाँ सभा ने पश्चिम भारत के लिए अपना प्रचार-केन्द्र स्थापित कर दिया है। निकेतन की प्रवृत्तियों के चार अंग हैं—(क) पुस्तकालय—पुस्तकों की संख्या १९६६ है, (ख) व्याख्यानमाला, (ग) विद्यालय और (घ) सामयिक प्रचार। सभा ने १५००० रु० की लागत से यहाँ पर भवन बनवा लिया है। (९) विद्यालय—राष्ट्रभाषा मुद्रण, नागरी मुद्रण तथा हिन्दी संकेत लिपि के विद्यालय चल रहे हैं। (१०) भारतीय कला—कवीन्द्र रवीन्द्र के सभापतित्व में सं० १९७७ में स्थापित 'भारत-कला-परिषद' आज 'भारत-कला-भवन' के रूप में कार्यरत हैं। यहाँ भारतीय संस्कृति और साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली अमूल्य वस्तुएँ संगृहीत हैं। सं० २००७ में संग्रहालय के बहुत बढ़ जाने के कारण इसे हिन्दूविश्वविद्यालय काशी में स्थानान्तरित कर दिया गया है। (११) सं० २००० में सभा की अर्द्ध शताब्दी और विक्रम की द्विसहस्त्राब्दी बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। केन्द्रीय सरकार के सहयोग से 'हिन्दी विश्वकोश' की योजना पर कार्य हो रहा है, जिसके अन्तर्गत पहला खण्ड १९६० ई० में प्रकाशित हुआ।
—प्रे० ना० टं०

नागार्जुन १—नागा अरजन्द, नागा अंजन तथा नागनाथ नागार्जुन के ही विकृत रूप माने जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ये सरहपाद के शिष्य थे तथा कांची के निवासी और जाति के ब्राह्मण थे। 'प्रबन्ध चिन्तामणि में' बताया गया है कि नागार्जुन ने पारद सिद्धि के लिए पार्श्वनाथ की मूर्ति के सामने योग साधना की थी। इन्हें शालिवाहन का गुरु भी बताया गया है। अनुमान है कि ये दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें गोरखनाथ की पारसनाथी-शाखा का प्रवर्तक स्वीकार करते हुए इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास अनुमान किया है। कभी-कभी महायान सम्प्रदाय के आदि आचार्य तथा शून्यवाद के प्रवर्तक सिद्ध नागार्जुन से इनकी अभिन्नता का उल्लेख किया जाता है परन्तु यह संगत नहीं जान पड़ता। नागार्जुन की कोई स्वतन्त्र कृति अभी तक नहीं मिली है। 'नाथ सिद्धों की बानिया' मे दो सबदी नागार्जुन की भी दी गयी है, जिनमें सिद्धों की रहस्यवादी साधना का उल्लेख हुआ है। नागार्जुन ने इसे 'सिद्ध संकेत' का नाम दिया है। यह सिद्ध संकेत वास्तव मे नाड़ीचक्र और पिंड मे प्रयुक्त होता था। नागार्जुन इन संकेतों के ज्ञाता जान पड़ते है।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल साकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियां : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; योगप्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं०

नागार्जुन २—असली नाम वैद्यनाथ मिश्र। 'नागार्जुन' और 'यात्री' के नाम से लिखा है। जन्म तरौनी (जिला दरभंगा) में १९१० ई० में हुआ। ये प्रगतिवादी विचारधारा के लेखक और कवि हैं। १९४५ ई० के आस-पास ये साहित्य सेवा के क्षेत्र में आये। अब तक इनकी कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रकाशित कृतियों में पहला वर्ग उपन्यासों का है—(१) 'रतिनाथ की चाची' (१९४८ ई०), (२) 'बलचनमा' (१९५२ ई०), (३) 'नयी पौध' (१९५३ ई०), (४) 'बाबा बटेसर नाथ' (१९५४ ई०), (५) 'दुखमोचन' (१९५७ ई०) और (६) 'वरुण के बेटे' (१९५७)। इन औपन्यासिक कृतियों में नागार्जुन सामाजिक समस्याओं के सधे हुए लेखक के रूप में आते हैं। जनपदीय संस्कृति और लोक-जीवन उनकी कथा-सृष्टि का चौड़ा फलक है। उन्होंने कहीं तो आंचलिक परिवेश में किसी ग्रामीण परिवार के सुख-दुःख की कहानी कही है, कहीं मार्क्सवादी सिद्धान्तों की झलक देते हुए सामाजिक आन्दोलनों का समर्थन किया है और कहीं-कहीं समाज में व्याप्त शोषण वृत्ति एवं धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात किया है। इन सन्दर्भों में नागार्जुन की 'बाबा बटेसर नाथ' रचना उल्लेखनीय एवं परिपुष्ट कृति है। इसमें जमींदारी उन्मूलन के बाद की सामाजिक समस्याओं एवं ग्रामीण परिस्थितियों का अंकन हुआ है। और उनके निदान रूप में समाजवादी संगठन द्वारा व्यापक संघर्ष की परिकल्पना की गयी है। कथा के प्रस्तुतीकरण के लिए व्यवहृत किये जाने वाले एक अभिनव-रोचक शिल्प की दृष्टि से भी नागार्जुन का यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है।

नागार्जुन की प्रकाशित रचनाओं का दूसरा वर्ग कविताओं का है। उनकी अनेक कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है। 'युगधारा' (१९५२) उनका प्रारम्भिक काव्य संकलन है। इधर की कविताओं का एक सग्रह "सतरगे पखोंवाली" प्रकाशित हुआ है। कवि की हैसियत से नागार्जुत प्रगतिशील और एक हद तक प्रयोगशील भी हैं। उनकी अनेक कविताएँ प्रगति और प्रयोग के मणिकांचन संयोग के कारण एक प्रकार के सहजभाव-सौन्दर्य से दीप्त हो उठी हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में शिष्टगम्भीरहास्य तथा सूक्ष्म चुटीले व्यंग्य की दृष्टि से भी नागार्जुन की कुछ रचनाएँ अपनी एक अलग पहचान रखती हैं। इन्होंने कहीं-कहीं सरस मार्मिक प्रकृति-चित्रण भी किया है नागार्जुन की भाषा लोक-भाषा के निकट है। कुछ थोड़ी सी कविताओं में संस्कृत के क्लिष्ट-तत्सम शब्दों का

प्रयोग अधिक मात्रा मे किया गया है, किन्तु अधिकतर कविताओ और उपन्यासो की भाषा सरल है। तद्भव तथा ग्रामीण शब्दों के प्रयोग के कारण इसमे एक विचित्र प्रकार की मिठास आ गयी है। नागार्जुन की शैली गत विशेषता भी यही है। वे लोकमुख की वाणी बोलना चाहते है।

—र० भ्र०

नाट्य दीपिका—यह नारायण कवि की कृति है, जो १९वी शताब्दी तक हिन्दी में नाट्यशास्त्र विषय पर एक मात्र पुस्तक है। कवि के आश्रयदाता दतिया के राजा भवानीसिंह का समय १९वीं शताब्दी में पडता है, अतः इसका रचनाकाल इसी शताब्दी में माना जायगा। इसकी रचना प्रायः भरत तथा शार्ङ्गधर के आधार पर हुई है। ग्रन्थ का प्रारम्भ पौराणिक आधार पर नाटक की उत्पत्ति से हुआ है। भरत ने गन्धर्वों और अप्सराओं के साथ ब्रह्मा के सम्मुख अभिनय किया। महादेव ने अपने गणों को यह कला सिखाई और पार्वती ने बाणासुर की पुत्री उषा को सिखाया। उषा ने गोपियों को और गोपियों ने सुराष्ट्र की स्त्रियों को इस कला की शिक्षा दी। इसमें आधार ग्रन्थों के समान रस, अभिनय और गायन तीनों का विवेचन है। विवेचन की शैली प्रश्नोत्तर की है, जो 'नाट्यशास्त्र' से ग्रहण की गयी है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०।] —सं०

नाथ सिद्धों की बानियाँ—डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सिद्धों और नाथों की दुर्लभ बानियो का संग्रह इस ग्रन्थ में किया है। इसमें कुल मिलाकर २४ प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सिद्ध नाथों की वाणियाँ दी गयी हैं। वास्तव में इसमें नाथों में से तो कोई नहीं छूटा किन्तु सिद्धों में केवल उन्हीं का उल्लेख हुआ है, जो नाथ सम्प्रदाय के आदि ऐसे ही सिद्ध हैं। नागार्जुन, भरत या भर्तृहरि, चर्पटी, गोरखनाथ आदि के अतिरिक्त इसमें कुछ ऐसे अप्रसिद्ध नाथ भी हैं, जिनका उल्लेख पहले नहीं हुआ था। धूँधलीमल, पार्वतीजी, महादेवजी, रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी, सतवन्तीजी आदि इसी प्रकार के साधक हैं।

नाथ सिद्धों की बानियों का कला और शिल्प की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। उनका महत्त्व केवल इतना है कि उनके द्वारा हमें अपनी भाषा और साहित्य की पृष्ठभूमि का अच्छा परिचय मिल जाता है। हिन्दी का सन्त-साहित्य निश्चय ही सिद्ध और नाथ परम्परा का ऋणी है। कबीर की सबदी, साखी, संवाद आदि की भाषा, शैली और विचारधारा का अध्ययन नाथ सिद्धों की वाणियों की तुलना के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। कहीं-कहीं तो कबीर की साखियाँ नाथों की वाणी का अनुवाद मात्र जान पड़ती हैं। निर्गुणवादी सन्तों की वाणी ही नहीं, परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य में कम से कम पद-शैली और विभिन्न रागों में पदों का है। कबीर में तो निरंजन, सतगुरु, सुरत, निरत, उनमन आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नाथों की वाणियों से ही लेकर किया जान पड़ता है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक प्रयोग का इतिहास जानने के लिए इन वाणियों का महत्त्व असन्दिग्ध है। इनके अध्ययन से प्रकट होता है कि हिन्दी-भाषा का रूप १२वीं-१३वीं शताब्दी तक कितना परिमार्जित हो चुका था कि उसमें साहित्य रचना की शक्ति आ गयी थी।

—यो० प्र० सिं०

नाथूरामशर्मा 'शंकर'—सन् १८५९ ई० में अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज नामक कस्बे में जन्म हुआ एवं वहीं सन् १९३५ ई० मे उनका देहावसान भी हुआ। हिन्दी, उर्दू एवं फारसी का आपको प्रारम्भ मे अध्ययन कराया गया, बाद को संस्कृत मे भी पूरी तरह योग्यता अर्जित कर ली। नक्शानवीसी और पैमाइस का काम सीखकर वे कानपुर मे नहर विभाग में नौकरी करने लगे। अपने कार्य मे तो वे दक्ष थे ही, दफ्तर के अंग्रेज अफसरो को हिन्दी भी सिखाते थे। लगभग साढे सात वर्ष वे कानपुर में इस पदपर काम करते रहे, फिर अचानक ही एक दिन स्वाभिमानी नाथूराम शर्मा ने अपने सम्मान के प्रश्न पर नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और जन्म-स्थान को लौट गये। जीविका के लिये उन्होंने नये सिरे से आयुर्वेद का अध्ययन किया और शीघ्र ही पीयूषपाणि वैद्य के रूप मे विख्यात हो गये।

रचना का स्रोत उनमें प्रारम्भ से ही विद्यमान था। कहते है कि तेरह वर्ष की आयु में ही अपने एक साथी पर उन्होने दोहा लिखा था। वह उर्दू-फारसी का जमाना था। मुशायरों का जोर था। बालक नाथूराम की सृजनशक्ति पहले से इस उर्दू माध्यम की ओर ही आकृष्ट हुई और वे हरदुआगंज के मुशायरों में शीघ्र ही अपना 'कलाम' पढ़ने के लिये आमन्त्रित होने लगे। परन्तु इस समय तक आर्य समाज की हवा बहने लगी थी—बालक नाथूराम पर उसका भी प्रभाव पड़ा एवं कानपुर आने पर वह प्रभाव ही गहरा नहीं हुआ, भारतेन्दु मण्डल के अन्यतम नक्षत्र प० प्रतापनारायण मिश्र और उनके 'ब्राह्मण' के सम्पर्क में आये। उनकी प्रतिभा 'हिन्दी' के माध्यम से यहीं से फूटी।

'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज' 'गर्भरण्डा-रहस्य' नामक ग्रन्थ आपके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गये थे। सन् १९५१ ई० में उनकी मुक्तक कविताओं के पाँच संग्रह (गीतावली, कविता कुंज, दोहा, समस्या पूर्तियाँ, विविध रचनाएँ) 'शंकर सर्वस्व' नामक संग्रह में एक साथ संगृहीत होकर प्रकाशित हो गये हैं। इनके अतिरिक्त 'कलित कलेवर' नामक नख-सिख वर्णन सम्बन्धित रीतिकालीन परम्परा का काव्यग्रन्थ और उन्होंने लिखा था, पर समसामयिक जीवन और प्रकृतियों के प्रति जागरूक शंकर जी ने उसे अपने ही हाथों नष्ट कर दिया। 'शंकर सतसई' नामक उनका एक अन्य ग्रन्थ जल कर नष्ट हो गया था।

शंकरजी का रचनाकाल भारतेन्दु-युग से लेकर द्विवेदी युग तक प्रसरित है। वे वास्तव में एक प्रकार से संक्रान्ति युग के कवि थे। उनका रचनाकाल का सबसे अधिक उर्वर समय वह था, जब आर्य समाज एवं भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ रहे थे। भारतेन्दु-युग की परिणति द्विवेदी युग में हो रही थी। साहित्य के विषय ही नहीं, भाषा भी बदल गयी थी। उस समय पुराने के प्रति मोह भी था, विवेक के आलोक में नये को ग्रहण करने की चेष्टा भी की थी। महाकवि 'शंकर' में ये सभी प्रवृत्तियाँ बद्धमूल थीं।

'शंकर'जी अपनी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार तथा युगीन रुचियों में दो पूर्ववर्ती परम्पराओं से सम्बन्धित थे। एक परम्परा उर्दू-काव्य और उसके मुशायरों की थी तथा दूसरी रीतिकालीन ब्रजभाषा के कवित्त, सवैया एवं दोहों की श्रृंगारी परम्परा थी। दोनों ही परम्पराएँ चमत्कार एवं वाक्-कौशल पर बल देती थीं। दोनों में ही अभ्यास एवं लक्षणशास्त्र पर

अत्यधिक बल दिया जाता था। पदक, पुरस्कार उपहार एवं वाह-वाही कवि के लिये नितान्त गौरव का विषय होते थे। 'शंकर' भी उर्दू और हिन्दी में चमत्कारपूर्ण कविताएँ लिखते थे समस्या पूर्तियों में तो वे निष्णात थे। जीवन में सैकड़ों समस्या पूर्तियाँ उन्होंने कीं और उनके आधार पर सम्मानित हुए। 'भारत प्रज्ञेन्दु', 'साहित्य सुधाधर' आदि दर्जनों उपाधियाँ उन्हें अपनी इस सहज चमत्कारिणी कवित्व शक्ति के लिए प्राप्त हुई थी। उनकी अभिव्यंजना का यह वैदग्ध्य नवीन भाषा एवं काव्य के नवीन विषयों को अपनाने के बाद भी सुरक्षित रहा।

उनका वास्तविक महत्त्व इन चमत्कारपूर्ण व्यंजनाओं की अपेक्षा उस शक्ति में निहित है, जिसके कारण वे नये जीवन की समस्याओं को समझ सके थे। उस जीवन ने उन्हे आन्दोलित एवं प्रेरित किया था। यदि यह शक्ति उनमे न होती तो न तो रीतिकाल के रस-बोध में पगा उनका मन देश-भक्ति एवं समाज-सुधार की सैकड़ों फुटकर कविताएँ एवं 'गर्भरण्डा रहस्य' जैसा प्रबन्ध-काव्य एक सामाजिक समस्या पर लिख पाते और न वे खड़ीबोली को काव्य के क्षेत्र में इतने सरस शक्तिपूर्ण ढग से आत्मविश्वासपूर्वक प्रयुक्त कर पाते। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब गद्य-पद्य की भाषाओं को एक रूप करने के लिए 'सरस्वती' के माध्यम से प्रयास प्रारम्भ किया, तब खड़ीबोली की 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं के बारें में अपनी राय लिखते हुए डा० ग्रियर्सन ने उन्हें नीरस बताया था। द्विवेदीजी ने 'शंकर'जी से 'सरस्वती' की लाज रखने की प्रार्थना की। इस प्रार्थना के परिणामस्वरूप 'शंकर' की 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताएँ पढ़कर ग्रियर्सन ने खड़ीबोली की कविताओं के सम्बन्ध में अपनी सम्मति को परिवर्तित करते हुए द्विवेदीजी को लिखा—"अब मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि खड़ीबोली मे भी सुन्दर और सरस कविताएँ हो सकती हैं।" खड़ीबोली में उनके लिखे कवित्त आज भी बेजोड़ माने जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में गतानुगतिकता और आडम्बर को छिन्न-भिन्न करके सर्वथा नवीन प्रणालियों के प्रयोक्ताओं मे से एक प्रमुख प्रयोक्ता का गौरव उन्हें मिलना चाहिये। देश की आर्थिक दुरवस्था, किसानों की गरीबी और दरिद्रता का उन्होंने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है—"कैसे पेट अकिंचन सोय रहे, बिन भोजन बालक रोय रहे, चिथड़े तक भी न रहे तन पै, धिक धूल पड़े इस जीवन पै।" सम्प्रदायवाद गुरुडम, धूर्तता को उन्होंने धिक्कारा है, भारत की शस्त्रहीनता पर क्षोभ प्रकट किया है। पराधीनता पर मर्मान्तक वेदना का प्रकाशन किया है। रिश्वतखोर अफसरों एवं सूदखोर महाजनों को डाँट पिलायी है। शिल्पकला की दुर्दशा पर आँसू बहाये हैं, कूपमण्डूकता का तिरस्कार किया है। धर्म के पाखण्डियों के पाखण्ड का निर्मम-भाव से उद्‌घाटन किया है। अपने युग की समस्त नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक समस्याओं पर उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से विचार किया है।

सुधार एवं संघर्ष-युग की प्रवृत्ति के अनुकूल यह जागरूकता यद्यपि एकदम प्रत्यक्ष एवं स्थूल रूप से प्रकट हुई है पर इससे उस प्रदेश के ऐतिहासिक महत्त्व में कमी नहीं आती, जो 'शंकर' की वाणी द्वारा हिन्दी काव्य के विषयक्षेत्र एवं भाषा को प्राप्त हुआ है। उनके मन में काव्य एवं छन्द की एकता गहरे रूप में विद्यमान थी—इसी कारण पुराने विषयों में ही नहीं, नयी शैली में भी छन्दसम्बन्धी त्रुटियाँ उनमे अपवाद के लिये भी प्राप्त नहीं होती। छन्दों के अनेक नये एवं सशक्त प्रयोग भी उन्होंने किये हैं। दो छन्दों के मिश्रण से नये छन्द भी उन्होंने बनाये हैं जैसे त्रोटकात्मक (मिलिन्दपाद) तथा कजली जैसे लोकछन्दों को भी उन्होंने अपनाया है। मात्रिक छन्दों मे भी समान वर्णों की योजना का दुस्साध्य कार्य उन्होंने किया है। कवित्त छन्द के तो वे पण्डित थे। 'सनेही'जी ने अपने प्रारम्भिक रचनाकाल में उनसे प्रशंसा पायी थी। वास्तव मे 'सनेही' एवं 'रत्नाकर' की परम्परा के वे बीज थे। उनका ब्रजभाषा कवि का रूप रत्नाकर में निखरता है एव खड़ीबोली की घनाक्षरी-सवैया की परम्परा 'सनेही स्कूल' मे पुष्पित-पल्लवित होती है।

अपने हास्य एव व्यग्य काव्य के लिए जिस सचोट भाषा का उन्होंने उपयोग किया है, उसके कारण 'शंकरजी' की भाषा के बारे मे एक भ्रम फैल गया है कि वे परुष शब्दावली का प्रयोग करते हैं। यह बात सत्य नही है। उनके श्रृंगार, करुण एव शान्त रससम्बन्धी छन्दों की भाषा मृदुल एवं श्रुतिप्रिय है। अपने व्यंग्य-काव्य मे अवश्य उन्होंने मधुरता की ओर ध्यान नहीं दिया। पर यह विषय का तकाजा था। व्यंग्य-काव्य लिखने के लिए भाषा को अधिक समर्थ और शक्तिशाली होना भी चाहिए। 'शंकर'जीकी भाषा में यह सत्य पूर्णतया निहित है। 'गर्भरण्डा रहस्य' में विधवाओं की बुरी स्थिति एव मन्दिरों में चलनेवाले दुराचार की इसी करारी भाषा में बखियाउधेडन की गयी है। वास्तव में उनके सामाजिक विषयों पर लिखे गये काव्य का मूलस्वर ओजपूर्ण है। पद्मसिंह शर्मा उनके काव्य में रस, अलंकार, छन्द आदि परम्परागत तत्वों पर मुग्ध थे और इसी कारण आधुनिक कवियों मे उन्हें सर्वश्रेष्ठ एवं अनेक अंशों मे प्राचीन कवियों से भी अच्छा समझते थे। इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल ने उन्हें नयी पद्य-रचना के मूल आचार्यो मे से माना था एवं इस नवीनता से अभिभूत गणेशशंकर विद्यार्थी ने उनमें 'जबरदस्त मौलिकता' देखी थी।

स्वतन्त्र काव्य-रचना के अतिरिक्त उर्दू-फारसी और संस्कृत की कविताओं एव सूक्तियों के वे उत्तम अनुवादक भी थे। पद्मसिंह शर्मा उनसे बहुधा ऐसे अनुवाद कराया करते थे। कानपुर प्रवास में उन्होंने प्रताप नारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' के सम्पादन में भी अपना बहुमूल्य सहयोग दिया था। फिर वे केवल कोरे साहित्यिक ही नहीं थे, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य सग्राम एवं आर्यसमाज के आन्दोलनों में उन्होंने खुलकर निर्भयतापूर्वक काम किया था।

खड़ीबोली के काव्य के प्रथम निर्णायकों में नाथूराम शर्मा अग्रणी हैं एवं कविता को समाज के साथ सम्बन्धित करने का ऐतिहासिक दायित्व उन्होंने निभाया है। खड़ीबोली को उन्होंने काव्यशैली एव छन्दों के साँचे ही नहीं दिये, अभिव्यंजनागत सामर्थ्य भी प्रदान की। उनके इसी ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुये ही प्रेमचन्दजी ने दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य के सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"शायद कोई जमाना आये कि हरदआगंज ('शंकर' की जन्मभूमि) हमारा तीर्थस्थान बन जाय।" काव्य में जिसे 'रेटारिक' तत्त्व कहते हैं, वह हमें उनके काव्य में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है, बल्कि

कहना यों चाहिए कि हिन्दी-काव्य में उनकी परम्पराओं में ही यह तत्त्व आज भी अप्रमुख नहीं हो सका है।

—दे० श० अ०

नादिर—प्रसिद्ध बादशाह नादिरशाह, जिसने मुहम्मदशाह रंगीले के समय भारत पर आक्रमण किया था। इसके सैनिकों ने दिल्ली को बड़ी नृशंसता से लूटा और जी भर कत्लेआम किया। इसी कारण मनमाने अत्याचार के लिए 'नादिरशाही' का प्रयोग किया जाता है।

—मो० अ०

नानक (गुरु)—गुरु नानक सिखों के आदिगुरु थे। कोई उन्हे गुरु नानक, कोई बाबा नानक, कोई नानक शाह, कोई गुरु नानक देव, कोई नानक पातशाह और कोई नानक साहब कहते है। गुरु नानक का जन्म १५ अप्रैल, १४६९ ई० (बैशाख सुदी ३, संवत् १५२६ विक्रमी) को तलवण्डी नामक स्थान में हुआ था। सिख लोग तलवण्डी को 'ननकाना साहब' भी कहते है किन्तु सुविधा के लिए इनकी जन्म-तिथि कार्तिक पूर्णिमा को मनायी जाती है। तलवण्डी लाहौर (पश्चिमी पाकिस्तान) जिले में, लाहौर शहर से ३० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है।

नानक के पिता का नाम कालू एवं माता का तृप्ता था। उनके पिता खत्री जाति एवं बेदी वंश के थे। वे कृषि और साधारण व्यापार करते थे और गाँव के पटवारी भी थे। गुरु नानक देव की बाल्यावस्था गाँव में व्यतीत हुई। बाल्यावस्था से ही उनमें असाधारणता और विचित्रता थी। उनके साथी जब खेल-कूद में अपना समय व्यतीत करते तो वे नेत्र बन्द कर आत्म-चिन्तन में निमग्न हो जाते थे। इनकी इस प्रवृत्ति से उनके पिता कालू चिन्तित रहते थे।

सात वर्ष की आयु में वे पढ़ने के लिए गोपाल अध्यापक के पास भेजे गये। एक दिन जब वे पढ़ाई से विरक्त हो, अन्तर्मुख होकर आत्म-चिन्तन में निमग्न थे, अध्यापक ने पूछा, "पढ़ क्यों नहीं रहे हो?" गुरु नानक का उत्तर था, "क्या आप मुझे पढ़ा सकते है?" इस पर अध्यापक ने कहा, "मैं सारी विद्याएँ और वेद-शास्त्र जानता हूँ।" गुरु नानक देव ने "मुझे तो सांसारिक पढ़ाई की अपेक्षा परमात्मा की पढ़ाई अधिक आनन्दायिनी प्रतीत होती है" कहकर निम्नलिखित वाणी का उच्चारण किया: "जालि मोह घसि मसु करि, मति कागदु करि सारु। भाउ कलम करि चितु लेखारी, गुर पुछि लिखु बीचारु। लिखु नाम सलाह लिखु लिखु अन्त न पारावारु"।१।६। (श्री गुरु ग्रन्थ, सिरी रागु, महला १, पृष्ठ १६) अर्थात्, "मोह को जलाकर (उसे) घिसकर स्याही बनाओ, बुद्धि को ही श्रेष्ठ कागद बनाओ, प्रेम की कलम बनाओ और चित्तको लेखक। गुरु से पूछकर विचारपूर्वक लिखो। नाम लिखो, (नामकी) स्तुति लिखो और यह भी लिखो (कि उस परमात्मा का) न तो अन्त है और न सीमा है।" इस पर अध्यापकजी आश्चर्यान्वित हो गये और उन्होंने गुरु नानक को पहुँचा हुआ फकीर समझकर कहा, "तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।"

इसके पश्चात् गुरु नानक ने स्कूल छोड़ दिया। वे अपना अधिकांश समय मनन, निदिध्यासन, ध्यान एवं सत्संग में व्यतीत करने लगे। गुरु नानक से सम्बन्धित सभी जन्म साखियाँ इस बात को पुष्ट करती हैं कि उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के साधु-महत्माओं का सत्संग किया था। उनमें से बहुत से ऐसे थे, जो धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। अन्त:साक्ष्य के आधार पर यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि गुरु नानक ने फारसी का भी अध्ययन किया था। 'गुरु-ग्रन्थ साहब' में गुरु नानक द्वारा कुछ पद ऐसे रचे गये है, जिनमें फारसी शब्दों का आधिक्य है।

गुरु नानक की अन्तर्मुखी-प्रवृत्ति तथा विरक्ति-भावना से उनके पिता कालू चिन्तित रहा करते थे। नानक को विक्षिप्त समझकर कालू ने उन्हे भैंसे चराने का काम सौंपा। एक दिन ऐसा हुआ कि गुरु नानक देव भैंसे चराते-चराते सो गये। भैंसे एक किसान के खेत में पड गयीं और उन्होंने उसकी फसल चर डाली। किसान ने इसका उलाहना दिया किन्तु जब उसका खेत देखा गया, तो सभी आश्चर्य में पड गये। फसल का एक पौधा भी नही चरा गया था।

९ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। यज्ञोपवीत के अवसर पर उन्होंने पण्डित से कहा: "दइया कपाह सन्तोखु सूतु जतु गंढी सतु वटु, एहु जनेऊ जीअका हई ता पाडे घतु।। ना एहु तुटै न मलु लगै ना एहु जले न जाइ।।" (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा की वार, महला १, पृ० ४७१) अर्थात् "दया कपास हो, सन्तोष सूत हो, संयम गाँठ हो, (और) सत्य उस जनेउ की पूरन हो। यही जीव के लिए (आध्यात्मिक) जनेऊ है। ऐ पाण्डे यदि इस प्रकार का जनेऊ तुम्हारे पास हो, तो मेरे गले में पहना दो, यह जनेऊ न तो टूटता है, न इसमें मैल लगता है, न यह जलता है और न यह खोता ही है।"

सन् १४८५ ई० में नानक का विवाह बटालानिवासी, मूला की कन्या सुलक्खनी से हुआ। उनके वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी है। २८ वर्ष की अवस्था में उनके बड़े पुत्र श्रीचन्द का जन्म हुआ। ३१ वर्ष की अवस्था में उनके द्वितीय पुत्र लक्ष्मीदास अथवा लक्ष्मीचन्द उत्पन्न हुए।

गुरु नानक के पिता ने उन्हें कृषि, व्यापार आदि में लगाना चाहा किन्तु उनके सारे प्रयास निष्फल सिद्ध हुए। घोड़े के व्यापार के निमित्त दिये हुए रुपयों को गुरु नानक ने साधुसेवा में लगा दिया और अपने पिताजी से कहा कि यही सच्चा व्यापार है। नवम्बर सन् १५०४ ई० में उनके बहनोई जयराम (उनकी बड़ी बहिन नानकी के पति) ने गुरु नानक को अपने पास सुल्तानपुर बुला लिया। नवम्बर, १५०४ ई० से अक्तूबर १५०७ ई० तक वे सुल्तानपुर में ही रहे। अपने बहनोई जयराम के प्रयास से वे सुल्तानपुर के गवर्नर दौलत खाँ के यहाँ मोदी रख लिये गये। उन्होंने अपना कार्य अत्यन्त ईमानदारी से पूरा किया। वहाँ की जनता तथा वहाँ के शासक दौलत खाँ नानक के कार्य से बहुत सन्तुष्ट हुए। वे अपनी आय का अधिकाश भाग गरीबों और साधुओं को दे देते थे। कभी-कभी वे पूरी रात परमात्मा के भजन में व्यतीत कर देते थे। मरदाना तलवण्डी से आकर यहीं गुरु नानक का सेवक बन गया था और अन्त तक उनके साथ रहा। गुरु नानक देव अपने पद गाते थे और मरदाना रबाब बजाता था।

गुरु नानक नित्य प्रात: बेई नदी में स्नान करने जाया करते थे। कहते हैं कि एक दिन वे स्नान करने के पश्चात् वन में अन्तर्धान हो गये। उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हुआ। परमात्मा ने उन्हें अमृत पिलाया और कहा, "मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ, मैंने तुम्हें आनन्दित किया है। जो तुम्हारे सम्पर्क में

आयेंगे, वे भी आनन्दित होंगे। जाओ नाम में रहो, दान दो, उपासना करो, स्वयं नाम लो और दूसरों से भी नाम स्मरण कराओ।" इस घटना के पश्चात् वे अपने परिवार का भार अपने श्वसुर मूला को सौंपकर विचरण करने निकल पड़े और धर्म का प्रचार करने लगे। मरदाना उनकी यात्रा में बराबर रहा।

गुरु नानक की पहली 'उदासी' (विचरण यात्रा) अक्तूबर, १५०७ ई० से १५१५ ई० तक रही। इस यात्रा में उन्होंने हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी, गया, पटना, असम, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, सोमनाथ, द्वारिका, नर्मदातट, बीकानेर, पुष्करतीर्थ, दिल्ली, पानीपत, कुरुक्षेत्र, मुल्तान, लाहौर आदि स्थानों में भ्रमण किया। उन्होंने बहुतों का हृदय परिवर्तन किया। ठगों को साधु बनाया, वेश्याओं का अन्तःकरण शुद्ध कर नाम का दान दिया, कर्मकाण्डियों को बाह्याडम्बरों से निकालकर रागात्मिकता भक्ति में लगाया, अहंकारियों का अहंकार दूर कर उन्हें मानवता का पाठ पढ़ाया। यात्रा से लौटकर वे दो वर्ष तक अपने माता-पिता के साथ रहे। उनकी दूसरी 'उदासी' १५१७ ई० से १५१८ ई० तक यानी एक वर्ष की रही। इसमें उन्होंने ऐमनाबाद, सियालकोट, सुमेर पर्वत आदि की यात्रा की और अन्त में वे करतारपुर पहुँचे।

तीसरी 'उदासी' १५१८ ई० से १५२१ ई० तक लगभग तीन वर्ष की रही। इसमें उन्होंने रियासत बहावलपुर, साधुबेला (सिन्ध), मक्का, मदीना, बगदाद, बलख बुखारा, काबुल, कन्धार, ऐमनाबाद आदि स्थानों की यात्रा की। १५२१ ई० में ऐमनाबाद पर बाबर का आक्रमण गुरु नानक ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था।

अपनी यात्राओं को समाप्त कर वे करतारपुर में बस गये और १५२१ ई० से १५३९ ई० तक वहीं रहे।

गुरुनानक का व्यक्तित्व असाधारण था। उनमें पैगम्बर, दार्शनिक, राजयोगी, गृहस्थ, त्यागी, धर्मसुधारक, समाज-सुधारक, कवि, संगीतज्ञ, देशभक्त, विश्वबन्धु सभी के गुण उत्कृष्ट मात्रा में विद्यमान थे। उनमें विचार-शक्ति और क्रिया-शक्ति का अपूर्व सामंजस्य था।

गुरु-गद्दी का भार १५३९ ई० में गुरु अंगद देव (बाबा लहना) को सौंपकर वे १५३९ ई० में करतारपुर में 'ज्योति-ज्योति' में लीन हुए। 'श्री गुरु-ग्रन्थ साहब' में उनकी रचनाएँ 'महला १' के नाम से संकलित है।

गुरु नानक की शिक्षा का मूल निचोड़ यही है कि परमात्मा एक, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सत्य, कर्त्ता, निर्भय, निर्वैर, अयोनि, स्वयंभू है। वह सर्वत्र व्याप्त है। मूर्ति-पूजा आदि निरर्थक है। बाह्य साधनों से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। आन्तरिक साधना ही उसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। गुरु-कृपा, परमात्मा कृपा एवं शुभ कर्मों का आचरण इस साधना के अंग हैं। नाम-स्मरण उसका सर्वोपरि तत्व है, और 'नाम' गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है।

गुरु नानक की वाणी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत है। उनकी वाणी में यत्र-तत्र तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति की मनोहर झाँकी मिलती है, जिसमे उनकी असाधारण देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम परिलक्षित होता है। उन्होंने हिन्दुओं-मुसलमानों दोनों की प्रचलित रूढ़ियों एवं कुसंस्कारों की तीव्र भर्त्सना की है और उन्हें सच्चे हिन्दू अथवा सच्चे मुसलमान बनने की विधि बतायी है। सन्त-साहित्य में गुरु नानक ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने स्त्रियों की निन्दा नहीं की, अपितु उनकी महत्ता स्वीकार की है।

गुरु नानक की कविता में कहीं-कहीं प्रकृति का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। 'तुखारी' राग के बारहमाहाँ (बारहमासा) में प्रत्येक मास का हृदयग्राही वर्णन है। चैत्र में सारा वन प्रफुल्लित हो जाता है, पुष्पों पर भ्रमरों का गुंजन बड़ा ही सुहावना लगता है। वैशाख में शाखाएँ अनेक वेश धारण करती हैं। इसी प्रकार ज्येष्ठ-आषाढ़ की तपती धरती, सावन-भादों की रिमझिम, दादुर, मोर, कोयलों की पुकारें, दामिनी की चमक, सर्पों एवं मच्छरों के दंशन आदि का रोचक वर्णन है। प्रत्येक ऋतु की विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है।

गुरु नानक की वाणी में शान्त एवं शृंगार रस की प्रधानता है। इन दोनों रसों के अतिरिक्त, करुण, भयानक, वीर, रौद्र, अद्भुत, हास्य और वीभत्स रस भी मिलते हैं।

उनकी कविता में वैसे तो सभी प्रसिद्ध अलंकार मिल जाते हैं, किन्तु उपमा और रूपक अलंकारों की प्रधानता है। कहीं-कहीं अन्योक्तियाँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं।

गुरु नानक ने अपनी रचना में निम्नलिखित उन्नीस रागों के प्रयोग किये हैं—सिरी, माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, बडहंस, सोरठि, धनासरी, तिलंग, सूही, बिलावल, रामकली, मारू, तुखारी, भैरउ, बसन्त, सारंग, मलार, प्रभाती।

भाषा की दृष्टि से गुरु नानक की वाणी में फारसी, मुल्तानी, पंजाबी, सिन्धी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि के प्रयोग हुए हैं। संस्कृत, अरबी और फारसी के अनेक शब्द ग्रहण किये गये हैं।

[सहायक ग्रन्थ—आदि ग्रन्थ : आर्नेस्ट ट्रम्प, लन्दन, १८७७ ई०; द सिख रिलीजन : मैक्स आर्थर मैकालिफ (खण्ड १), क्लैरेण्डन प्रेस आक्सफोर्ड, १९०९ ई०; लाइफ आफ गुरु नानक देव : करतार सिंह, सिख पब्लिशिंग हाउस, अमृतसर।]

—ज० रा० सि०

नाभादास—नाभादास अग्रदास के मुख्य शिष्य थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—रामानन्द-अनन्तानाद-कृष्णदास पयहारी-अग्रदास। इनकी सिद्धता से प्रसन्न होकर ही अग्रदास ने इन्हें 'भक्तमाल' की रचना करने की आज्ञा दी थी। प्रियादास के अनुसार ये हनुमान्-वंशीय थे। बाल्यावस्था से ही ये दृगहीन थे। जब ये पाँच वर्ष के थे, देश में भयंकर अकाल पड़ा और इनकी माँ इन्हें लेकर घर से चल पड़ीं। मार्ग में किसी वन में इन्हें छोड़कर चली गयीं। संयोग से कील्ह और अग्र उधर से जा रहे थे। अनाथ बालक को उन्होंने उठा लिया, कमण्डलु के जल के छींटे से बालक की आँखें खुल गयीं और उसने अग्र के कुछ प्रश्नों के उत्तर भी दिये, फिर महात्माओं ने बालक का पुत्रवत् पालन किया।

मुंशी तुलसीराम तथा तपस्वीरामजी के अनुसार हनुमान् वंश के प्रवर्त्तक समर्थ रामदास थे, जो तैलंग में गोदावरी के समीप रामभद्राचल के निवासी थे। इनके वंशज हनुमान् वंशी कहे गये। रघुराज सिंह ने हनुमान्-वंश का 'लांगूली ब्राह्मण' अर्थ किया है। कुछ लोगों ने इन्हें डोम भी कहा है। रूपकलाजी

का मत है कि पश्चिम में डोम भंगी नहीं माने जाते, बल्कि कलावन्त, ढाढ़ी, भाँट, कत्थक की भाँति ही वे भी गान-विद्या से ही जीविकोपार्जन करते हैं। लाखा भक्त का परिचय देते हुए नाभाजी ने इन्हें 'वानरवंशी' कहा है। इस छप्पय की टीका में प्रियादास ने लिखा है : "लाखा नामभक्त ताको बानरौ बखान कियो कहै जग डोम जासो मेरौ सिरमौर हैं।" इनके यहाँ सन्त गणप्रसाद भी आते थे। कुछ भक्तों ने इन्हें ब्रह्मा का अवतार कहा है। भक्ति की वृद्धि के लिए शंकरजी ने नभ से हनुमान् का स्वेद गिराया, फलतः 'नभभूज' या 'नाभा' नाम पड़ा है। दक्षिण भारत में डोमों और मेदारा जातियों में हनुमान् गोत्र मिलते हैं। अतः यह सम्भव है कि नाभाजी का भी जन्म डोम या मेदारा जाति मे हुआ हो और संयोगवश वे उत्तर–भारत आ गये हों।

नाभा जब कुछ बड़े हुए, कील्ह की आज्ञा से अग्र ने इन्हें दीक्षा मन्त्र दिया और साधु-सेवा में नियोजित कर दिया। प्रियादास ने इनकी आज्ञा से सन् १७१२ ई० में 'भक्तमाल' की टीका की थी। इनका नाम 'नाभाअली' भी था। इनका प्रथम नाम 'नारायणदास' था। सन् १५९५ ई० में कान्हरदास के भण्डारे में ये गोस्वामी पद से विभूषित किये गये। 'भक्तमाल' की रचना सन् १५९२ ई० में मानी जाती है। महावीर सिंह गहलोत सन् १६५८ ई० में इसे पूर्ण हुआ मानते हैं। रूपकलाजी के मत से सन् १६६२ ई० में इनकी मृत्यु हुई। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' ने इन्हें विलक्षण रसिक कहा है।

इनकी दो प्रमुख रचनाएँ हैं : १–'भक्तमाल २–'रामाष्टयाम'। 'भक्तमाल' इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह मध्ययुग के सन्तों की प्रमुख विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन करती है। इसका सबसे सुन्दर प्रकाशन सीताराम शरण भगवान प्रसाद, 'रूपकला' ने नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से कराया है। 'रामाष्टयाम' वेंकटेश्वर प्रेस से सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी एक प्रति ब्रजभाषा गद्य में मिली है।

नाभाजी का महत्त्व उनके 'भक्तमाल' के कारण विशेष रूप से है।

[सहायक ग्रन्थ–रामानन्द सम्प्रदाय : डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव; रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह; भक्तमाल : नाभादास; रसिक प्रकाश भक्तमाल युगलप्रिया, सम्मेलन पत्रिका, वैशाख आषाढ़ सन् १९४८ ई०, महावीर सिंह गहलोत लेख, पृ० १२०।]

–ब० ना० श्री०

नामदेव–नामदेव महाराष्ट्र-साहित्य में एक प्रसिद्ध सन्त माने गये हैं, जिनके अभंग सामान्य जनता में भी प्रेम से गाये जाते हैं। उन्होंने हिन्दी में भी कविता लिखी, इस भाँति वे हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी कवि और सन्त के रूप में मान्य हैं। इनका जन्म नरसी-बमनी (सतारा) में सन् १२७० ई० में हुआ। इनके आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डाक्टर भण्डारकर का मत है कि इनकी मराठी कविता सन्त ज्ञानेश्वर की कविता से अधिक परिष्कृत और परवर्ती है। अतः इनका आविर्भाव काल ईसा की तेरहवीं शताब्दी में न होकर बाद में होना चाहिए। उनका कथन है कि चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुसलमानों ने अपना राज्य दक्षिण में स्थापित किया। नामदेव ने अपने एक अभंग में (सं० ३६४) में तुरकों के द्वारा मूर्ति तोड़े जाने की बात कही है। अतः नामदेव ईसा की चौदहवीं शताब्दी के लगभग या उसके अन्त में ही हुए होंगे (वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स : भण्डारकर, पृष्ठ ९२)। किन्तु प्रो० रानाडे का मत है कि नामदेव ज्ञानेश्वर के समकालीन ही थे। नामदेव की भाषा के परिष्करण के सम्बन्ध में उनका कथन है कि नामदेव का काव्य शताब्दियों तक मौखिक रूप में रहा है, अतः उसमें समय-समय पर संशोधन होता रहा। यही कारण है कि जनता की श्रद्धा और काव्यपाठ के सार्वजनिक प्रचार ने भाषा को आधुनिकता का रूप दे दिया। मूर्ति तोड़ने के उल्लेख के सम्बन्ध में प्रो० रानाडे का कथन है कि अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण पर सन् १३०६ ई० में आक्रमण किया था। उसने मलिक काफूर के सेना-नायकत्व मे एक विशाल सेना देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए भेजी। मलिक काफूर ने क्रमशः देवगिरि, वारगल, होयसल और पांड्य राज्यों को जीता। उसने इन स्थानों पर स्वर्ण और रत्नो के असख्य मन्दिर सुने थे। उसने अनेक स्वर्ण मूर्तियाँ और पूजा की अनेक मूल्यवान् सामग्रियाँ तोड़ीं और अमित धन प्राप्त किया। इसी आधार पर प्रो० रानाडे नामदेव का आविर्भाव काल सन् १२७० ई० के लगभग मानते है।

नामदेव दमशेती नामक दर्जी के पुत्र थे। इसीलिए ये छीपा जाति से प्रसिद्ध हैं। इनका विवाह राजाबाई से हुआ था, जिनसे इनके चार पुत्र हुए–नारायण, महादेव, गोविन्द और विट्ठल। इनकी मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था मे सन् १३५० ई० में हुई। इनकी समाधि पंढरपुर मे बनायी गयी।

नामदेव निर्गुण सम्प्रदाय के एक बड़े सन्त हुए। कबीर के पहले होने के कारण इन्हें सन्त सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि उपस्थित करने का श्रेय है। नामदेव ने विट्ठल की उपासना की। इसमें नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्त्व है। यह विट्ठल सम्प्रदाय सन् १२०९ ई० के लगभग दक्षिण में पंढरपुर नामक स्थान मे प्रचारित हुआ। इसके प्रचारक कन्नड़ सन्त पुंडलीक हैं। विट्ठल-सम्प्रदाय, वैष्णव-सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय का मिश्रण है। इस सम्प्रदाय में विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं है। पंढरपुर में शिवलिंग को शीश पर चढ़ाये हुए विष्णु की मूर्ति है। इसी मूर्ति का नाम विट्ठल है। यही विट्ठल एक सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतीक बनकर समस्त महाराष्ट्र के आराध्य हैं। आठवीं शताब्दी के शैव धर्म से ग्यारहवीं शताब्दी के वैष्णव धर्म का समझौता विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में हुआ और इसके सबसे बड़े सन्त नामदेव हुए। ज्ञानेश्वर महाराज और सन्त नामदेव ने साथ-साथ समस्त उत्तर-भारत की यात्रा की और अपने इस व्यापक धर्म का प्रचार किया। इस विट्ठल सम्प्रदाय के अन्तर्गत बहुत से सन्त हुए, जिनमें गोरा कुम्हार, चोखा मेला, जनाबाई, कान्होपात्रा वेश्यापुत्री आदि के नाम लिये जा सकते हैं। विट्ठल सम्प्रदाय में नाम स्मरण से ही भक्ति होती है और भक्ति से आत्मज्ञान। जब एक बार आत्मज्ञान हो गया तो मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है। यह बात दूसरी है कि विट्ठल का नाम स्मरण करने के लिए विट्ठल की मूर्ति भक्त अपने समक्ष रखते हैं। आत्मज्ञानी भक्त ही सच्चे सन्त हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने भी कहा है–"आत्मज्ञानी चोखड़ी सन्त हे माझे रूपड़ी।" अतः यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस विचारधारा में विट्ठल को ब्रह्म

का प्रतीक मानकर उसके प्रेम की पवित्र धारा में जाति और वर्ग का सारा द्वेष बह जाता है और नाम का संस्कार हृदय में स्थिर हो जाता है। भक्ति का यह ऐसा उन्मेष था कि इसमे दरजी, कुम्हार, माली, भंगी, दासी और वेश्यापुत्री समान रूप से भक्ति में लीन हो सकते हैं। उन्होंने जहाँ 'अनाहत नाद' के अलौकिक माधुर्य में परमात्मा की अनुभूति प्राप्त की, वहाँ प्रेम के दिव्य आलोक में उन्होंने आत्मज्ञान का अनुभव प्राप्त किया और परमात्मा की विभूति देखी। महाराष्ट्र में इस भक्ति का संस्कार दो बातों पर निर्भर है। पहली कर्मकाण्ड की अपेक्षा हृदय की पवित्रता और शुद्धता में है और दूसरी व्यक्तिगत और जातिगत संस्कारों से उठकर जीवन-मुक्ति के धरातल तक पहुँचने में है। इन्हीं से उस साधक की संज्ञा 'सन्त' हो जाती है।

माधवराज अप्पाजी मुले ने नामदेव के काव्य के सम्बन्ध मे लिखा है—"उसमें सत्त्व, विश्वास और भक्ति का तथा प्रेम मे आत्मसमर्पण, प्रकाश तथा लोकोत्तर आनन्द का आलोक है। वह हृदय के प्रति हृदय का गीत है।" नामदेव के काव्य में सरसता और सुबोधता दोनों का ही अद्भुत मिश्रण है। उन्होंने ऐसे अभंगों और गीतों की रचना की कि उनके जीवनकाल में ही उनका यश समस्त भारत मे फैल गया।

नामदेव की कविता उनक जीवनकाल की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त की जा सकती है—

१. प्रथम उन्मेष की रचनाएँ—जब वे मूर्तिपूजक थे;

२. मध्यकालीन रचनाएँ—जब वे परम्परा से रहित हो रहे थे; ३. उत्तरकालीन रचनाएँ—जब वे ईश्वर का व्यापक रूप सर्वत्र देखने लगे थे। यही उत्तरकालीन रचनाएँ उनके निर्गुण मार्ग की संपोषिका हैं। वे समान रूप से मराठी और हिन्दी में कविता लिख सकते थे—"गजेन्द्र गणिकेची राखिली तुवालाज, उद्धटिला द्विज अजामिल।।" (मराठी) "तारिले गनिका विन रूप कुब्जा, विआध अजामिलु तारिअले।।" (हिन्दी)

—रा० कु०

नारद—ब्रह्मा के पुत्र, एक देवर्षि। शापवश इन्हें गन्धर्वयोनि प्राप्त हुई थी, किन्तु तपस्या के बल से उन्होंने फिर पूर्व रूप प्राप्त कर लिया। लगभग सभी पुराणों में इनका वर्णन मिलता है। नारद का प्रिय वाद्य वीणा है और वे हरि का गुणगान करते हुए विचरण करते रहते हैं। भागवत में इन्हें एक दासी ब्राह्मण का पुत्र कहा गया है, जो साधु-सन्तों का जूठा प्रसाद खा-खाकर ज्ञानी बन गया था। जब इनकी माता की सर्पदंश से मृत्यु हो गयी तो ये उत्तर दिशा की ओर चले गये। वहाँ एक सरोवर में स्नान कर इन्होंने हरि स्मरण किया तो इन्हें भगवान् का मानस-दर्शन हुआ। जब इन्होंने प्रत्यक्ष दर्शनार्थ व्याकुलता प्रकट की, तब आकाशवाणी हुई 'मैंने तुम्हारे भीतर अपने प्रति अनुराग वृद्धि हेतु दर्शन दिये थे। तुम साधु-सेवा में रत रहो उसी से मेरे पास आ सकोगे।' इस प्रकार कालान्तर में नारद परमधाम को प्राप्त हुए।

एक बार नारद के मन में अभिमान हो गया कि मैंने काम को जीत लिया है। इसका वर्णन उन्होंने ब्रह्मा और शिव से किया। दोनों देवों के मना करने पर भी वे विष्णु के पास गये और अपनी विजय कह सुनायी। विष्णु ने उनका अभिमान दूर करने के लिए मार्ग में एक सुन्दर नगर निर्मित किया। वहाँ की राजकन्या का स्वयम्वर हो रहा था। कन्या के लक्षण देखकर कि इससे विवाह करनेवाला त्रिभुवनपति, अजय, अमर होगा, नारद उससे विवाह करने को बेचैन हो विष्णु के पास रूप माँगने गये। विष्णु ने उन्हें बन्दर का रूप दिया। नारद स्वयम्वर मे पहुँचे। कुमारी ने छद्मवेशी विष्णु को जयमाल पहनायी। बाद में नारद ने अपना बानर रूप देखकर विष्णु को शाप दिया कि तुम भी स्त्री-वियोग में दुःखी होगे और बानर तुम्हारी सहायता करेंगे। ये दोनों शाप रामावतार मे फलित हुए। नारद का वर्णन प्रायः संगीत, भजन, कलह एवं विद्वत्ता के सन्दर्भ में कई ग्रन्थों में आया है। केवल 'मानस' मे उनका हास्यपूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। 'सूरसागर' में आरम्भ से अन्त तक—विशेष रूप से छलपूर्वक कंस को कृष्ण के मारने के लिए विविध उपाय करने की प्रेरणा देने के सम्बन्ध में नारद का उल्लेख हुआ है। 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध उत्तरार्ध में नारद के मोह की कथा भी भागवत के आधार पर दी गयी है।

—मो० अ०

नारायण १—प्राचीन स्रोतो में नारायण के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं—

१. नारायण एक सूत्र-द्रष्टा थे।

२. नर के ज्येष्ठ भ्राता एक ऋषि थे। देवी भागवत पुराण के अनुसार नर और नारायण दक्ष कन्या के पुत्र थे। जब दक्ष प्रजापति यज्ञ कर रहे थे तो नर और नारायण गन्धमादन पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। सती जब यज्ञकुण्ड में कूदीं तो शंकर ने अपना त्रिशूल यज्ञ विध्वंस करने के लिए भेजा। त्रिशूल यज्ञ विध्वंस करने के अनन्तर बड़े जोरों से नारायण की छाती पर लगा। इस पर नारायण ने गर्जना की, जिसे सुनकर त्रिशूल लौट गया। महादेव कुपित होकर स्वयं नारायण से संघर्ष हेतु आये, किन्तु ब्रह्मा द्वारा नारायण के भगवान् रूप का ज्ञान पाने पर उन्होंने नारायण से क्षमा मांग ली। नारायण की उत्कृष्ट तपस्या का एक सन्दर्भ इन्द्र के वैमनस्य के सन्दर्भ में मिलता है। एक बार इन्द्र ने नर और नारायण की तपस्या के भय से स्वर्ग की सुन्दरी कामसेना को उनके पास डिगाने के उद्देश्य से भेजा। नारायण ने इन्द्र तथा अप्सरा को लज्जित करने के उद्देश्य से अपने उर से उर्वशी तथा अन्य अनेक इन्द्र की अप्सराओं से श्रेष्ठ सुन्दरी अप्सराएँ उत्पन्न कीं। इस पर वे अप्सराएँ लज्जित हुई और उन्होंने स्वयं को वरण करने का निवेदन किया। नारायण इस पर राजी हो गये। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार द्वापर में अर्जुन नर और कृष्ण नारायण तथा गोपियाँ अप्सराएँ हुई (दे० 'अर्जुन')।

३. भागवत तथा विष्णु पुराणों के अनुसार भूमित्र के पुत्र थे। कुछ मान्यताओं के अनुसार भूतिमित्र के पुत्र थे।

४. परिहारवंशीय शूरसेन राजा के पुत्र थे।

५. तुषित साध्य देवों में से एक 'नारायण' भी माने गये हैं। 'नारायण' के नाम पर धार्मिक साहित्य में इतनी अधिक उद्भावनाएँ होती गयीं कि उनकी एक सुदृढ़ परम्परा प्राप्त होती है।

—रा० कु०

नारायण २—इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं। ये गोकुल के रहने वाले थे और दतिया के राजा भवानीसिंह की आज्ञा से इन्होंने 'नाटयदीपिका' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। हि० सा० बृ० इ० (भाग ६) में इसका नाम सम्भवतः भ्रम से

'नारायण दीपिका' दिया गया है। यह हिन्दी नाट्यशास्त्र पर लिखी हुई रचना है और वह भी गद्य में है। इसमें मुख्यत: भरत और शार्ङ्गधर का आधार ग्रहण किया गया है। उस कवि के समय का अनुमान भवानीसिंह के अनुसार १९वीं शताब्दी किया जाता है।

—रा० कु०

नारायण प्रसाद अरोड़ा—२७ नवम्बर, १८८१ ई० को कानपुर मे जन्म हुआ। १९०६ ई० में क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर से बी० ए० करके वे अध्यापन-कार्य में प्रवृत्त हुए। लोकमान्य तिलक के प्रभाव में आकर वे राजनीतिक कार्यों मे रुचि लेने लगे, जो यावज्जीवन बनी रही। इन्ही राजनीतिक गतिविधियों के सिलसिले में वे पाँच बार कारावास गये तथा कानपुर नगर, उत्तर-प्रदेशीय एवं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटियो से सम्बंधित रहने के साथ ही सन् १९२४ ई० में प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य भी चुने गये। लाला हरदयाल के सम्पर्क मे रहने के कारण सशस्त्र-क्रान्तिकारियों के भी वे सहायक रहे। समाज-सुधार के विविध कार्यो में उन्होंने योग दिया। लावनीबाजों के भी आप मुख्य पोषक रहे हैं। स्वामी नारायणानन्द द्वारा लावनियों का एक सग्रह कराके उसे आपने स्वयं ही प्रकाशित भी किया है। पत्रकारिता के क्षेत्र में वे कानपुर के 'प्रताप' के प्रारम्भिक संस्थापकों में से हैं तथा 'संसार' और 'विक्रम' का सम्पादन कर चुके हैं। 'कानपुर इतिहास समिति' स्थापित करके उसकी ओर से उन्होंने कानपुर जनपद का इतिहास प्रकाशित किया है। विभिन्न विषयों पर उन्होने लगभग ७० पुस्तकें लिखीं या सम्पादित की हैं। 'फलाहार या फल चिकित्सा', 'पहलवानी और पहलवान', 'मेरे गुरुजन', 'बच्चों से व्यवहार', 'चीटी', 'स्वाधीन विचार', 'कानपुर के प्रसिद्ध पुरुष', 'प्रताप लहरी' (सम्पादित) आदि उनकी मुख्य पुस्तकें हैं। सर्वत्र उनकी भाषा सर्वजनग्राह्य एवं शैली सुबोध है। अरोड़ाजी की मृत्यु ९ फरवरी, १९६१ ई० को हुई।

—दे० शं० अ०

नारायणप्रसाद 'बेताब'— नारायण प्रसाद 'बेताब' कलकत्ता में रहकर अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी के लिए नाटक लिखते थे। इनके पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण थे, जो दिल्ली में आकर बस गये थे। इनके पिता ढलाराय मिर्जा गालिब के शिष्य और अच्छे शायर थे। अल्फ्रेड कम्पनी में कार्य करते समय इन्होंने एक पत्रिका निकाली थी, जिसमें शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद छपता था। 'कतल नजीर', 'जहरी साँप', 'फरेबे मुहब्बत', 'रामायण', 'गोरखधन्धा', और 'कृष्ण-सुदामा' आपके प्रसिद्ध नाटक हैं। 'कतल नजीर' पहला नाटक है, जो आपने कम्पनी के लिए लिखा था। हिन्दी में आपकी धूम 'महाभारत' नाटक से हुई, जो सर्वप्रथम १९१३ ई० में दिल्ली में खेला गया था। नाटकों में संवाद लिखते समय बीच-बीच में आपने पद्य का भी प्रचुर प्रयोग किया है, जो अस्वाभाविक लगता है। इसी प्रकार कहीं कहीं हिन्दी-संस्कृत के शब्दों के साथ प्रयुक्त अरबी-फारसी के शब्द भी बेमेल खिचड़ी जान पड़ते हैं। इन दुर्बलताओं के बावजूद नारायणप्रसाद 'बेताब' हिन्दी में अपने रंगमचीय पौराणिक नाटकों के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे। आपने 'प्रास' कुंज नामक एक संकलन भी प्रकाशित किया था, जो विभिन्न प्रकार के तुकों का कोश कहा जा सकता है। आपके जीवन का अन्तिम समय दिल्ली में बीता।

—रा० च० ति०

नारायण शास्त्री खिसते—जन्म सन् १८८५ ई० मे काशी मे, मृत्यु १३ अप्रैल, सन् १९६१ ई० में। महामहोपाध्याय गगाधर शास्त्री से संस्कृत का अध्ययन। आप सुदीर्घ काल तक वाराणसेय सस्कृत कालेज के सरस्वती भवन के अध्यक्ष रहे। बाद में उक्त कालेज के प्राचार्य भी नियुक्त हुए। सन् १९४६ ई० मे महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित। सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, पचासों दुर्लभ ग्रन्थो का आपने सम्पादन किया है। तन्त्रशास्त्र के देश प्रसिद्ध विशेषज्ञ। ताडकेश्वर मन्दिर के मुकदमे में तन्त्रसम्बन्धी मान्यता एवं सम्मति के लिए कलकत्ता से न्यायिक आयोग काशी आया था और उसने ४० दिनों तक आपकी साक्षी ली थी। संस्कृत के साथ ही आपने हिन्दी मे भी संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी में आपके सैकडों लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'आज' मे प्रकाशित प्राचीन भारत में विज्ञान शास्त्रविषयक लेखमाला उल्लेख्य है। कालिदास-साहित्य के सम्बन्ध में आपकी विशेष मान्यताएँ थीं। आपने वाराणसेय संस्कृत कालेज से प्रकाशित संस्कृत पत्रिका 'अमर भारती' का दो वर्षों तक सम्पादन किया था। जीवन के उत्तरकाल मे आपने हिन्दी भाषा में प्रचुर साहित्य लिखा। आपका डाक्टर वेनिस से घनिष्ठ सम्बन्ध था। विदेश मे आपके शिष्यो में अमेरिका के प्रोफेसर ब्राउन (पिनसेलवानिया विश्वविद्यालय) तथा भाषा शास्त्र के पण्डित श्री एकजरटन (येल विश्वविद्यालय) उल्लेख्य हैं। आपने सरल संस्कृत में मार्मिक कहानियाँ भी लिखी है।

संस्कृत में आप द्वारा लिखित दर्जनों ग्रन्थ हैं तथा कालिदास-साहित्य की अनेक हिन्दी टीकाएँ प्रकाशित हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'स्वप्नवासवदत्ता' की टीकाएँ काफी प्रसिद्ध हैं।

—लं० शं० व्या०

नारी—(प्र० १९३७ ई०) सियारामशरण गुप्त के तीन उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें चिरन्तन नारीत्व की मूक-वेदना अभिव्यक्त हुई है। इसमें नारी की अतृप्त भूख देखना गुप्तजी के साथ अन्याय करना है। जिन उच्चतर मूल्यों—गाँधीवादी मूल्यों में गुप्तजी की अटूट आस्था है वे नारी में ही नहीं, उनके अन्य दो उपन्यासों—'गोद' और 'अन्तिम आकांक्षा' में भी व्याप्त हैं। जैनेन्द्र की मृणाल और गुप्तजी की जमुना को एक ही मापदण्ड से नापना उन पर अपने दृष्टिकोण को आरोपित करना है। मृणाल असामान्य जीव है तो जमुना साधारण प्राणी। मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ प्रायः असामान्य व्यक्तियों में ही देखी जाती हैं। गुप्तजी के अग्रज राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त का लोकप्रिय कथन 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी...' नारी के सम्बन्ध में ठीक उसी प्रकार चरितार्थ है, जिस प्रकार यशोधरा और उर्मिला के सम्बन्ध में। पर उनमें अन्तर भी उतना ही है, जितना काव्य और उपन्यास में होता है।

जमुना, अजित और हल्ली इसके तीन प्रमुख पात्र हैं। जमुना एक सामान्य स्त्री है और जिस तरह सामान्य स्त्री अपने सीमित संसार में सन्तुष्ट रहती है, उसी प्रकार वह अपने

पति-पुत्र की दुनिया में सुखी है पर झूठे कलंकों के कारण वह पति को पाकर भी नहीं पाती। अजित की निःस्वार्थ सेवाओं के कारण उसकी ओर स्वभावतः आकृष्ट होती है लेकिन वह भी उसके हाथ नहीं आता। फिर तो वह ससार के तूफानों में चल निकलती है—केवल हल्ली के सहारे। यदि जमुना की सहनशीलता पर गांधीवादी रंग है तो अजित की निःस्वार्थपरता और सेवापरायणता पर उसी का प्रभाव है। कला की दृष्टि से यह अन्य उपन्यासों की अपेक्षा पेचीदा है, जिसके कारण कुछ प्रभावशाली स्थितियों तथा तज्जन्य चरित्रों की सृष्टि सम्भव हो सकी है।

—ब० सिं०

नाल्ह—दे० 'नरपति नाल्ह'।

नासिकेतोपाख्यान—सदल मिश्र की प्रसिद्ध कृति। इसकी रचना फोर्ट विलियम कालेज मे अध्यापन कार्य करते समय जानगिल क्राइस्ट की आज्ञा से सन् १८०३ ई० में की गयी थी। इसमें महाराज रघु की पुत्री चन्द्रावती और उसके पुत्र नासिकेत का पौराणिक आख्यान खड़ीबोली गद्य में वर्णित है। गंगा में स्नान करती हुई चन्द्रावती ने अज्ञानवश गंगा की धारा में प्रवाहित कमल कोश में बन्द महामुनि उद्दालक का वीर्य सूँघ लिया था। उसी के प्रभाव से उसकी नासिका से नासिकेत उत्पन्न हुआ। नासिकेत के आचरण से क्रुद्ध होकर उद्दालक ने उसे यमपुर जाने का शाप दिया। नासिकेत यमपुर गया और यमराज से अजरामर होने का वरदान प्राप्तकर लौट आया। सदल मिश्र ने यह आख्यान बड़ी ही मनोरंजक और प्रसन्न शैली में लिखा है। यह कृति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई थी। इधर बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् ने (१९६० ई० में) 'सदल मिश्र ग्रन्थावली' के अन्तर्गत इसका पुनः प्रकाशन किया है। प्रारम्भिक हिन्दी खड़ीबोली गद्य के मान्यरूप को उदाहृत करने के कारण इस कृति का विशेष महत्त्व है।

—रा० चं० ति०

निउनिया—हजारी प्रसाद द्विवेदीकृत '*बाणभट्ट की आत्मकथा*' उपन्यास के प्रमुख नारी पात्रों में एक। यह कल्पित पात्र है। नारी के आत्मदान की जीवन्त मूर्ति है, जिसके जीवन की सार्थकता अपने समस्त क्रन्दन, हा-हाकार और वेदना को छिपाकर प्रिय के चरणों में अपने को विसर्जित करने में है। विकलतापूर्ण अन्तर्मथन और गहरी घुटन इसके जीवन में है पर वह उनसे निकलने की राह पा लेती है। लेखक की सर्वाधिक सहानुभूति इस पात्र के साथ है।

—ब० सिं०

निकषा—रावण तथा कुम्भकर्ण की माता, सुमाली की कन्या तथा ऋषि विश्रवा की पत्नी।

—मो० अ०

निकुंभ—१. हर्यश्व राजा के पुत्र, वर्हणाश्व के पिता, राम-रावण युद्ध में इनकी मृत्यु हो गयी। इन्होंने छात्र धर्म का दृढ़ता से पालन किया।

२. सुतल में रहनेवाला एक ब्रह्म-राक्षस, जो स्फूर्जा का पुत्र था।

३. बल का पुत्र।

४. एक गणेश, जिन्होंने राजा दिवोदास के समय अपनी पूजा करने के लिए एक ब्राह्मण को स्वप्न दिया। दिवोदास की रानी सुयशा ने पुत्रकामना से निकुम्भ की पर्याप्त सेवा की, किन्तु पुत्र न होने पर दिवोदास ने उस मन्दिर को नष्ट कर दिया। फलस्वरूप देवताओं ने नगर नष्ट हो जाने का शाप दिया।

—मो० अ०

निपट—सम्भवतः इनका पूरा नाम निपटनिरंजन था। 'दि० भू०' में उद्धृत इनके छन्दों में यही छाप है। इनका जन्म बुन्देलखण्ड के चन्देरी नगर में हुआ था और औरंगजेब के समकालीन होने के कारण इनका समय १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है। ये बचपन में साधुओं के साथ दक्षिण चले गये और औरंगाबाद के समीप एकनाथजी के मन्दिर में रहने लगे। कहते हैं कि औरंगजेब इनसे प्रभावित था। इनकी तीन रचनाओं का पता है—'कवित्त निपटजी के', 'शान्त रस वेदान्त' और एक ग्रन्थ का नाम विदित नहीं है। शिवसिंह ने 'निरंजन संग्रह' और 'शान्त सरसी' ग्रन्थ इनके बताये हैं। सम्भवतः ये उपर्युक्त ग्रन्थों के ही नाम हैं। ये शान्त-रस के कवि हैं।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

निमि—इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने वशिष्ठ से पुत्रेष्टि-यज्ञ कराने की प्रार्थना की। वशिष्ठ ने इन्हें प्रतीक्षा करने को कहा, क्योंकि वशिष्ठ इसी उद्देश्य से इन्द्र के यहाँ जा रहे थे। किन्तु निमि ने वशिष्ठ के लौटने के पूर्व ही अन्य ऋषियों की सहायता से यज्ञ पूरा किया, जिससे वशिष्ठ को बहुत क्रोध हुआ। उन्होंने शाप दिया कि निमि का शरीर छूट जाय। प्रतिशोध में निमि ने भी वशिष्ठ को वही शाप दिया। दोनों के शरीर छूट गये। वशिष्ठ तो मित्रावरुण के वीर्य से पुनः उत्पन्न हुए किन्तु ऋषियों ने जब सात दिन तक निमि का शरीर विभिन्न लेपों द्वारा सुरक्षित रखकर देवों से उनके जीवनदान की प्रार्थना की तो निमि ने देह-बन्धन प्राप्त करने से इनकार कर दिया। इस पर देवताओं ने उन्हें पलकों के ऊपर स्थान दिया। तब से निमि पलकों के देवता कहे जाते हैं "मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल" (मानस)

—मो० अ०

निराला—दे० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'।

निषाद—१. वेणु राजा के शरीरमन्थन से उत्पन्न कृष्णवर्ण एक पुरुष।

२. प्रथम धनुर्धर वसुदेव का पुत्र।

३. मल्लाह नाम की एक जाति, जो विन्ध्यगिरि के निकटवर्ती प्रदेशों में रहती थी। उसी जाति के एक प्रमुख ने वन जाते समय जब राम गंगा पार करने लगे तो अपनी नाव से उन्हें पार किया था। राम के प्रति उस निषादराज ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति दिखायी थी। तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' तथा अन्य ग्रन्थों में निषाद की भक्ति की भूरि-भूरि सराहना की है तथा ऐसी नीच जाति के एक व्यक्ति को अपनाने के कारण राम की भक्त-वत्सलता का एक और प्रमाण दिया है। भक्ति-भावना के ही कारण निषादराज वशिष्ठ जैसे ब्राह्मण विद्वान् ऋषि द्वारा आदर पाने का अधिकारी हुआ था। राम के चित्रकूट निवास तक निषादराज उनका निकटवर्ती

सेवक रहा। तुलसी की दास्यभाव की भक्ति का वह एक उत्तम आदर्श है।

—मो० अ०

निर्गुण—दे० द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'।

निर्मला १—प्रेमचन्दकृत 'निर्मला' (नि० का० १९२३ ई० और प्र० १९२७ ई०) में अनमेल विवाह और दहेज-प्रथा की दुःखान्त कहानी है। उपन्यास के अन्त मे निर्मलाकी मृत्यु इस कुत्सित सामाजिक प्रथा को मिटा डालने के लिए एक भारी चुनौती है। पिता उदयभानु लाल की मृत्यु हो जाने पर माता कल्याणी दहेज न दे सकने के कारण अपनी पुत्री निर्मला का विवाह भालचन्द्र और रँगीली के पुत्र भुवन मोहन से न कर बूढ़े वकील तोताराम से कर देती है। तोताराम के तीन पुत्र पहले ही से थे, इस पर भी उनकी विलासिता किसी प्रकार कम न हुई। इतना ही नही, निर्मला के घर में आने पर एक नवयुवती वधू के हृदय की उमंगों का आदर और उसे अपना प्रेम देने के स्थान पर तोताराम को अपनी पत्नी और अपने बडे लड़के मंसाराम के पारस्परिक सम्बन्ध पर विलासिताजन्य सन्देह होने लगता है, जो अन्ततोगत्वा न केवल मंसाराम के प्राणन्त का कारण बनता है, वरन् सारे परिवार के लिए अभिशाप बन जाता है। दूसरा लड़का जियाराम भी घर के विषाक्त वातावरण के प्रभावान्तर्गत कुसंग में पड़कर निर्मला के आभूषण चुराकर ले जाता है। रहस्य का उद्घाटन होने पर वह भी आत्महत्या कर लेता है। सबसे छोटा लड़का सियाराम विरक्त होकर साधु हो जाता है। परिवार में निर्मला की ननद रुक्मिणी उसको फूटी आँखों भी नहीं देख सकती और प्रायः निर्मला के लिए दुःख और क्लेश का कारण बनती है। तोताराम दो पुत्रों के विरह से सन्तप्त होकर सियाराम को ढूँढ़ने निकल पड़ते हैं। उधर भुवन मोहन निर्मला को अपने प्रेम-पाश में फाँसने की चेष्टा करता है और असफल होने पर आत्महत्या कर लेता है। निर्मला के जीवन में घुटन के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। अन्त में वह मृत्यु को प्राप्त होती है। जिस समय उसकी चिता जलती है, तोताराम लौट आते हैं। इस प्रकार उपन्यास का अन्त करुणापूर्ण है और घटना-प्रवाह में अत्यन्त तीव्रता है।

निर्मला और तोताराम की इस प्रधान कथा के साथ सुधा की कहानी जुड़ी हुई है। तोताराम को जब निर्मला और मंसाराम के सम्बन्ध में निराधार सन्देह होने लगता है और निर्मला अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए मंसाराम के प्रति निष्ठुरता का अभिनय करती है और जब मंसाराम को घर से हटाकर बोर्डिंग में दाखिल कर दिया जाता है, तो बालक मंसाराम के हृदय को मार्मिक आघात पहुँचता है। उसकी दशा दिन-पर—दिन गिरती जाती है और अन्त में अपने पिता का भ्रम दूरकर वह मृत्यु को प्राप्त होता है। तोताराम को मानसिक विक्षोभ होता है। इसी समय प्रेमचन्द ने सुधा और उसके पति डॉ० भुवन मोहन का (जिसके साथ निर्मला का पहले विवाह होने वाला था) निर्मला से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कराया है। सुधा और निर्मला घनिष्ठ मित्र बन जाती हैं। सुधा अपने शील, सौजन्य और सहानुभूतिपूर्ण हृदय से निर्मला को मुग्ध कर लेती है। वह निर्मला की छोटी बहन कृष्णा का विवाह अपने देवर से कराती ही नहीं, वरन निर्मला की माता की गुप्त रूप से आर्थिक सहायता भी करती है। निर्मला के मायके में कृष्णा के विवाह के बाद सुधा का पुत्र मर जाता है। निर्मला के भी एक बच्ची पैदा होती है। उसे लेकर वह अपने घर लौट आती है। एक दिन सुधा की अनुपस्थिति में जब निर्मला उसके घर गयी तो डॉ० भुवन मोहन आत्मसंयम खो बैठते हैं। पता लगने पर सुधा अपने पति की ऐसी भर्त्सना करती है कि वह आत्मग्लानि के वशीभूत हो आत्महत्या कर लेता है। इस घटना के पश्चात् तो निर्मला के जीवन की विषादपूर्ण कथा अपने चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

प्रेमचन्द ने भालचन्द और मोटेराम शास्त्री के प्रसंग द्वारा उपन्यास में हास्य की सृष्टि की है।

आकस्मिक रूप से घटित होने वाली कुछ घटनाओं को छोड़कर 'निर्मला' के कथानक का विकास सीधे-सरल ढंग से होता है। प्रासंगिक कथाओं के कारण उसमें दुरूहता उत्पन्न नहीं हुई है। कथानक मे कसावट है। कथा अत्यन्त दृढ़ता के साथ विवृत होती हुई अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाती है।

—ल० सा० वा०

निर्मला २—प्रेमचन्द के उपन्यास 'निर्मला' की नायिका। आर्थिक कठिनाइयों के कारण निर्मला का विवाह विधुर तोताराम के साथ हो जाता है। यह विवाह अनमेल विवाह है। पति उसे पैसे से, आभूषणों से प्रसन्न करना चाहता है, किन्तु उसे मानसिक सुख और उल्लास प्राप्त नहीं हो पाता परिस्थितियों के चक्र में पड़कर वह अधिकाधिक दुःखी ही होती है। पति का सन्देह और भी उसके जीवन के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। एक अतृप्त नारी-हृदय लिए वह अपने पति के घर में बलि-पशु की भाँति छटपटाया करती है। निर्मला के पास मातृ-हृदय है, सहनशीलता है। मंसाराम को मरते देख वह पति और समाज की परवा न कर अस्पताल पहुँच जाती है। यह नारी के उपयुक्त गर्व और साहस का उदाहरण है। ऐसा साहस उसने पहले दिखाया होता तो सम्भवतः मंसाराम मृत्यु को प्राप्त न होता। मंसाराम की मृत्यु के बाद वह कर्कशा और कृपण स्वभाव की हो जाती है। उस पर डॉ० भुवन का उसके प्रति प्रेम—निवेदन, डॉ० भुवन की मृत्यु और गार्हस्थ जीवन की विषमताएँ उसे घुला-घुलाकर मार डालती हैं, किन्तु वह पति के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर पाती।

—ल० सा० वा०

निर्वासित—मध्यवर्गीय समाज से चुनी हुई रोमांस की रंगीनी में रँगी एक लम्बी कहानी इलाचन्द्र जोशीकृत 'निर्वासित' (१९४६ ई०) में कही गयी है। इसका मुख्य कथानायक महीप प्रेम की त्रिकोणात्मक कथा का आधार बनकर प्रेम-यात्रियों के मन से निर्वासित हो जाता है। प्रेम की यह कथा नवीन न होते हुए भी अपना एक सजग आकर्षण रखती है। इसे हम नायिका-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं।

इसमें नारी पात्रो की विशिष्ट चारित्रिक परम्पराएँ तथा मान्यताएँ हैं। इनकी नारियाँ प्रेम को व्यक्तिगत तथा मानसिक प्रश्न के रूप में स्वीकार करती हैं और पुरुष की अपेक्षा सशक्त, संयमी और प्रभावशाली दिखायी पड़ती हैं। उनका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। अपने प्रेमी पुरुषों को प्रेरित करने की इनमें अद्भुत क्षमता पायी जाती है। उनके जीवन का दृष्टिकोण युगीन नव-जागरण की जाग्रत् नारी का है, जो युगान्तकारी परिवर्तन का प्रतीक है। इनकी नारी पुरुष

परिचालित सामाजिक मान्यताओं को आँख मूँदकर स्वीकार करना नहीं जानती, बल्कि साहस और त्याग के साथ वह पुरुष को उसकी नारीविषयक हीन भावना मे परिवर्तन की सूचना देती है। 'सन्यासी' की शान्ति, 'प्रेत और छाया' की मंजरी तथा 'मुक्ति पथ' की सुनन्दा इस बात की साक्षी है।

पुरुष के च्युत होने पर वे अपना पथ स्वयं चुनती हैं और उस पर चलकर अत्यन्त गौरवमय जीवन व्यतीत करती हैं। पुरुष की अनैतिक गतिविधियों और उसके अत्याचारों से मुक्ति पाने की दो प्रमुख भावनाओ का इनमें उन्मेष पाया जाता है—१. पुरुष की उपेक्षा के प्रति प्रतिशोध की भावना और २. स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने के लिए स्वावलम्बन की भावना। युग-युग से शोषित क्रीड़ा की पुतली नारी ने इस उपन्यास मे जो विशाल चण्डी का रूप धारण किया है, उसे देखकर आश्चर्य के साथ हर्ष होता है। नीलिमा, प्रतिमा और शारदा की अन्तर्वेदना के माध्यम से उपन्यासकार प्रचण्ड नारी सृष्टि का सचयन करते हुए सर्वशोषित भावमात्र शेष नारी की ज्वाला को ज्वालामुखी का रूप देने में सफल हुआ है। असंख्य पीड़नों से जर्जर नारी प्राणों में जैसे कोमलता का कोई अंश शेष नहीं रह गया, वह तो केवल एक दहकती हुई अनुभूति मे एक धधकती हुई आत्मा की चटकती हुई कराह है, जो सत्वहीन खालकी धौंकनी से निकली हुई गरम साँस से ससार भर के नारी-शोषकों को झुलसा देने के लिए पर्याप्त है।

इस उपन्यास के द्वारा इलाचन्द्र जोशी ने नवयुग की उस नारी का स्वरूप सामने रखा है, जो सामाजिक सुख-साधनों के प्रलोभनों के बहाव में बहते हुए भी जीवन के किसी महान् किन्तु अस्पष्ट लक्ष्य की ओर पग बढ़ाने के लिए अपने अन्तर्मन से उत्सुक तथा जागरूक रहती है। चाहे वह अपने आदर्श का स्पष्ट झाँकी न पाती हो, पर इतना तो निश्चित रूप से वह अनुभव करती है कि जीवित से लगने वाले जिस गुड़ियों-गुड्डों के बीच मे वह रहती है, उनके ढोंग और बनावटी जीवन के परे जीवन की स्वाभाविक स्वच्छता कहीं न कहीं अवश्य वर्तमान है।

—गं० प्र० पा०

निशा निमंत्रण—'बच्चन' के गीतों का संकलन, जो १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ। १३-१३ पंक्तियो के ये गीत हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में से हैं। शैली और गठन की दृष्टि से ये गीत अतुलनीय हैं। नितान्त एकाकीपन की स्थिति में लिखी गयी ये त्रयोदशपदियाँ अनुभूति की दृष्टि से वैसी ही सघन हैं जैसी भाषा-शिल्प की दृष्टि से परिष्कृत। सभी गीतों का स्वतंत्र अस्तित्व होते हुए भी रचना का गठन एक मूल भाव से अनुशासित है। प्रथम गीत 'दिन जल्दी-जल्दी ढलता है' से प्रारम्भ होकर 'निशा निमन्त्रण' रात्रि की निस्तब्धता के बड़े सघन चित्र प्रस्तुत करता हुआ प्रातःकालीन प्रकाश में समाप्त होता है। सभी दृष्टियों से 'निशा निमन्त्रण' में बच्चन का कवि अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है।

—सं०

निशुंभ—यह महर्षि कश्यप का औरस पुत्र था, जो दनु के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। निशुंभ के दो भाइयों शुंभ और नमुचि का भी उल्लेख मिलता है। इन्द्र के द्वारा नमुचि के वधित होने पर कुपित होकर शुंभ और निशुंभ ने स्वर्ग पर आधिपत्य करके शासन प्रारम्भ कर दिया। निशुंभ ने दुर्गा के वध का भी उपक्रम किया था पर बाद में दुर्गा से इन दोनों ने अपने में से किसी एक से विवाह करने को कहा। दुर्गा ने एक शर्त रखी कि परस्पर-युद्ध में जो मुझ पर विजयी होगा, उसी के साथ विवाह करूंगी। दोनों का परस्पर युद्ध हुआ तथा देवी ने निशुंभ और शुंभ को क्रमशः मार डाला (दे० 'शिवराज भूषण', २२)।

—रा० कु०

निहालचन्द बेरी—जन्म १८९३ ई०। आपका बाल्य-जीवन बिहार और काशी में, उसके बाद का जीवन सन् १९४० तक कलकत्ते में बीता। आप 'हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय' के नाम से प्रकाशन का काम करते रहे। पाँच पुस्तकें लिखी हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—'मोती महल', 'जादू का महल', 'सोने का महल', 'आनन्द भवन' और 'प्रेम का फल'। सभी तिलस्मी उपन्यास हैं। १९४० ई० से आप काशी में रहने लगे हैं।

—सं०

निहाल दे—निहाल दे राजस्थान और ब्रज के जन-जीवन में रमी हुई लोक-गाथा है, जो गीतो में बद्ध होकर प्रायः सावन के दिनों में गायी जाती है। इसे अपनी विशेष धुन के कारण स्वतन्त्र लोक-राग भी कहा जाता है। राजकुमार सुलतान ने अपने पिता द्वारा देश निकाला पाकर एक राज्य में शरण पायी। वहीं निहाल दे से उसका विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् उसे फिर भागना पड़ा। नरवर गढ़ जाकर उसे फिर आश्रय मिला। उसने ढोला की पत्नी मरवण को भी अपनी धर्म बहन बनाया। इधर निहाल दे ने अपने पति के पास अनेक सन्देश भेजे। जब सुलतान निहाल दे से मिलने के लिए पहुँचा तो वह विरह में तप्त होकर चितारूढ़ हो चुकी थी। राजस्थानी गीत में निहाल दे की विरहावस्था का सजीव चित्रण हुआ है। ब्रज में एक दूसरी ही कथा इस गीत मे निबद्ध है। निहाल दे चन्द्रावली की भाँति माँ के मना करने पर भी झूला-झूलने के लिए बाग में जाती है। वहाँ मुगलों ने उसे पकड लिया। अन्त में भाई आकर बहन को मुक्त कराता है। निहाल दे सावन के गीतों का लोकप्रिय स्त्री चरित्र है। 'निहाल दे-सुलतान' के नाम से कुछ 'ख्याल' भी मारवाड़ी भाषा में उपलब्ध हैं।

—श्या० प०

नीरजा—'नीरजा' महादेवी वर्मा का तीसरा काव्य-संग्रह है, जिसका प्रथम प्रकाशन १९३४ ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग द्वारा हुआ था। इसमें कुल ५८ कविताएँ संकलित हैं। जिस तरह इस संग्रह में उनकी भावनाएँ अधिक संयमित, आत्मनिष्ठ और अभिव्यंजना अधिक भावावेशयुक्त हो गयी है, उसी तरह इसमें कविताओं का काव्यरूप भी गीत-काव्य का है क्योंकि गीतकाव्य में ही संयमित भावातिरेक की अभिव्यक्ति कम से कम शब्दों में और आन्तरिक भावालय के अनुरूप गेय छान्दसिक-लय मे हो सकती है।

'नीरजा' में महादेवी की वह सामंजस्यपूर्ण भाव-चेतना दृष्टिगत होती है, जिसमें दुःख और सुख मिलकर एक हो गये हैं। इसी कारण इस संग्रह में महादेवी का 'अश्रुनीर दुःख से आविल और सुख से पंकिल' है (गीत सं० १)। इस संग्रह की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें प्रकृति-चित्रण की अधिकता है किन्तु प्रकृति को महादेवी ने आलम्बन-रूप में नहीं ग्रहण किया है। कहीं वह उद्दीपन-रूप में गृहीत है, कहीं प्रतीक और संकेत

के रूप मे और कहीं केवल आलंकारिक अप्रस्तुत के रूप में। प्रकृति के विभिन्न रूपों मे कभी कवयित्री को अपने आध्यात्मिक प्रियतम का रूप दिखायी पडता है जैसे "तेरा मुख सहास अरुणोदय, परछाईं रजनी विषाद मय" (सं० १२) और कभी प्रकृति उसे अपने ही समान उसी प्रियतम से मिलने के लिए आकुल दीख पड़ती है, जिसके लिए वह स्वयं तड़प रही है। ऐसे गीतो म प्रकृति अभिसारिका के रूप में दिखायी पड़ती है। इस कारण प्रकृति उसकी सहयोगिनी और सहायिका बनकर प्रिय के आगमन का संकेत करती हैं, "मुसकाता संकेत भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?" (सं० ४१) या "लाये कौन सँदेश नये घन ?" (सं० ४३) अथवा प्रिय का पदचाप सुनकर स्वय प्रसन्न और पुलकित हो उठती है (सं० २)। कुछ ही गीत ऐसे है, जिसमे प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण हुआ है (सं० ११, ३२)। पर इनमे भी प्रकृति को नारी-रूप में ही चित्रित किया गया है। एक गीत (सं० ५४) में कवयित्री अपने प्रिय से इतना तद्रूप हो जाती है कि प्रकृति ही उसे अपनी प्रेयसी प्रतीत होने लगती है। उस विराट् विश्व-प्रकृति को उसने अपनी 'प्रिय-प्रेयसी' कहकर नर्तन करती हुई अप्सरा के रूप में चित्रित किया है "प्रिय प्रेयसि तेरा लास अमर"। गीत सख्या ९, १९, २३, ३६, ३९, ४५, ४७ और ५७ में प्रकृति-चित्रण अलंकार-रूप में हुआ है। इनमें कवयित्री ने कहीं अपने विरही जीवन और दुखी प्राणों के साथ जलजात, मधुमास, घन, पिक, पाटल और कमल दल पर अंकित चित्र का रूपक खड़ा किया है, और कहीं अन्योक्ति और अपह्नुति अलंकारों के रूप में प्रकृति के साथ अपना साम्य प्रस्तुत किया है।

विषयो का वैविध्य इस संग्रह की कविताओं में नहीं के बराबर है केवल तिरपनवें गीत में भारतीय जनता को बुद्ध और कृष्ण का आदर्श सामने रखकर उद्‌बुद्ध किया गया है, जो पूरे संग्रह के लिए विषयान्तर जैसा है। किन्तु एक निश्चित विषय के लघु गागर के भीतर ही महादेवी ने गहरी और विभिन्न आयामों वाली अनुभूतियों का विशाल सागर भर दिया है। संयमित शब्द चयन, गेय छन्द योजना और वक्रतामयी मोहक अभिव्यंजना-पद्धति के कारण इस संग्रह की कविताओं में और भी उत्कृष्टता आ गयी है।

—शं० ना० सिं०

नील—राम-सेना का एक प्रसिद्ध वानर, जो विश्वकर्मा का अशावतार था। इसके साथी का नाम नल था। राम की सेना उतारने के लिए इसने सेतु रचना की थी। यह वीर योद्धा था और राम के अश्वमेध यज्ञ में अश्व के रक्षार्थ साथ गया था।

—मो० अ०

नीलकंठ १—भगवान् शंकर का एक नाम। समुद्र-मन्थन से अमृत के पश्चात् विष निकला, जिसके गन्धमात्र से संसार अचेत होने लगा। तब ब्रह्मा के अनुरोध से शिव ने उसे अपने गले में धारण कर लिया, जिससे उनका कण्ठ कुछ नीला पड़ गया। इसी से उनका नाम नीलकण्ठ है। इस विशेषण का प्रयोग प्रतीक रूप में ऐसे व्यक्ति के लिए होता है जो जनहित के लिए सामूहिक संकट को अपने ऊपर लेकर अपने प्राणों को उत्सर्ग कर सकता है।

—मो० अ०

नीलकंठ २—तिकवाँपुर के रत्नाकर त्रिपाठी के चार कवि पुत्रो में एक नीलकण्ठ नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार ये मतिराम, भूषण तथा चिन्तामणि के भाई है। शिवसिह ने इनका असली नाम जटाशकर दिया है, जिसको अन्य इतिहास ग्रन्थों मे प्राय स्वीकार किया गया है। 'शिवसिह सरोज' में इनका उपस्थितिकाल १६७३ ई० माना गया है। इनकी एक कृति 'अमरेस विलास' 'अमरू-शतक' का छन्दबद्ध अनुवाद है और इसका रचनाकाल १६४१ ई० है। नायिका-भेद विषय पर एक खण्डित ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है। 'दिग्विजय भूषण' में उदाहृत एक छन्द के अनुसार ये औरगजेब के समकालीन थे।

—सं०

नीलदेवी (प्र० १८८१ ई०)—भारतेन्दु हरिश्चन्द ने जिस समय नाटच-रचना प्रारम्भ की, उस समय हिन्दी की अपनी कोई नाटच-परम्परा नही थी। उनके सामने या तो संस्कृत नाटच-साहित्य पद्धति थी या पाश्चात्य नाटच-साहित्य एवं पद्धति। उन्होने दोनो में आवश्यक तत्त्व ग्रहणकर हिन्दी के अपने नाटच-शास्त्र को जन्म दिया और दोनों प्रकार की रचना-पद्धतियों के अनुसार ग्रन्थ प्रस्तुत किये। 'नीलदेवी' नवीन या पाश्चात्य पद्धति के अनुसार लिखा गया ऐतिहासिक गीति-रूपक (वियोगान्त) है। उसमें दस अंक हैं। पहले अंक में कोरस द्वारा भारत की क्षत्राणियों का यशोगान है। द्वितीय अंक में अब्दुश्शरीक खाँ काजी से सूरजदेव की वीरता का वर्णन और किसी न किसी प्रकार उस पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख करता है। तृतीय अंक में सूरजदेव शत्रु का सामना करने का निश्चय तो करता है किन्तु अधर्म द्वारा नहीं। चतुर्थ अंक में भठियारी के यहाँ चपरगट्टू खाँ और पीकदान अली का हास्यपूर्वक वार्तालाप है। पाँचवें अंक में यवनों के विजय की ओर संकेत है। सातवें अंक में सूरजदेव एक लोहे के पिंजड़े में बन्द और भारत की स्वाधीनता के सम्बन्ध में हाय-हाय करता हुआ मूर्च्छित अवस्था में दृष्टिगोचर होता है। आठवें अंक में मियाँ और पागल दो गुप्तचरों द्वारा सूरजदेव के प्राणान्त की सूचना मिलती है। पागल का प्रलाप सोद्देश्य और सारगर्भित है। नवें अंक मे नीलदेवी कौशल द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करती है। दसवें अंक में नशे मे चूर अमीर की मजलिस में गायिका के वेष में नीलदेवी अमीर का वध कर डालती है और उसके संकेत प्राप्त कर कुमार सोमदेव अपने सैनिकों के साथ मुसलमानों पर टूट पड़ता है और विजय प्राप्त करता है। नाटक से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देशभक्ति के साथ-साथ नवोत्थानकालीन उनके नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय भी प्राप्त होता है।

—ल० सा० वा०

नीहार—'नीहार' महादेवी वर्मा की प्रथम काव्य-कृति है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९३० ई० में गाँधी हिन्दी पुस्तक भण्डार, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ था और इसकी भूमिका (परिचय) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने लिखी थी। इसमें महादेवी की सन् १९२३ ई० से लेकर सन् १९२९ ई० तक के बीच लिखी कुल ४७ कविताएँ संगृहीत हैं। यद्यपि ये कवयित्री की प्रारम्भिक रचनाएँ हैं पर इनमें काव्य की वह उत्कृष्टता और व्यक्तित्व की वह छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है, जो उसकी परवर्ती रचनाओं में विशेष रूप से परिस्फुट और

विकसित रूप में सामने आयी। किन्तु इसमें 'फिर एक बार', 'स्मृति', 'नीरव भाषण', 'फूल', 'परिचय' आदि कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं, जो किशोरावस्था-सुलभ भावुकता और अपरिपक्व भावनाओं की अभिव्यक्ति करती हैं और अभिव्यंजना की शिथिलता के कारण कवयित्री का प्रारम्भिक काव्याभास प्रतीत होती हैं।

कविताओं में छायावाद का उन्मेषकालीन आवेग, आवेश और कल्पना की अतिशयता आद्यन्त वर्तमान है, किन्तु महादेवी की दृष्टि केन्द्रगामिनी है, परिधिगामिनी नहीं। इसी कारण इन कविताओं में जगत् के नाना नाम-रूपात्मक विषयों का समावेश नहीं हुआ है, न तो प्रकृति को अज्ञात प्रिय का रूप मानकर उसके सौन्दर्य में उनका मन ही रमा है। वस्तुतः इन कविताओं में प्रारम्भ से ही महादेवी उस भाव-भूमिका में पहुँच गयी हैं, जिसमें कवि अपने परोक्ष प्रिय की खोज, परिचय, दर्शन, मिलन, विरह आदि की रहस्यवादी अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति करता रहता है। उनका आराध्य प्रिय किसी अज्ञात 'उस पार' वाले लोक में रहता है और कभी-कभी प्रकृति के रम्य-रूपों में अपनी झलक दिखा जाता है। प्रिय की झलक मिलते ही कवयित्री उस विरह-वेदना में उन्मत्त हो जाती है, जो सूफी-काव्य की निजी विशेषता है। इस तरह सूफी कवियों की भाँति महादेवी भी इन कविताओं में अपने प्राणों के छालों को अपनी निधि मानने लगती हैं ('मिलन' पृष्ठ ४) और उनके टूटे तारों से करुण विहाग निकलने लगता है ('अतिथि से')। वह जगत् में ही विरह-वेदना में घुलकर मिटने को जीवन का लक्ष्य मानती है, स्वर्ग-अपवर्ग उनके लक्ष्य नहीं हैं। वही कहती हैं "क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार? रहने दो हे देव, अरे यह मेरा मिटने का अधिकार! ("अधिकार" पृष्ठ १२)। वह अपनी वेदना की असीमता के बल पर ही अनन्त करुणामय की तुलना में अपने को छोटा मानने को तैयार नहीं हैं—"उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन! उनमें अनन्त करुणा है, इसमें असीम सूनापन!" ('अभिमान' पृष्ठ ३२)। महादेवी की यह विरह-वेदना अनुभूतिपरक और मनोवैज्ञानिक नहीं, केवल बौद्धिक और काल्पनिक है क्योंकि वे किसी भी मूल्य पर पीड़ा से अपना नाता तोड़ने को तैयार नहीं हैं। वे आराध्य और पीड़ा में कोई अन्तर ही नहीं मानतीं, इसी से पीड़ा ही उनकी क्रीड़ा बन गयी है—"पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा। तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा" ('उत्तर' पृष्ठ ५७)। इस तरह महादेवी वर्मा का माधुर्य-भावना वाला रहस्यवाद, जो आगे चलकर पूर्णतः विकसित हुआ, 'नीहार' में ही अंकुरित और प्रस्फुटित हो गया है।

—शं० ना० सिं०

नूरकचंवा—दे० 'चन्दायन'।

नूरजहाँ—१९३५ ई० में प्रकाशित गुरुभक्त सिंह 'भक्त' का यह प्रथम प्रबन्ध शेर अफगान की विवाहिता एवं मुगल सम्राट् जहाँगीर की प्रेयसी नूरजहाँ के इतिहास-सुरभित चरित्र को लेकर लिखा गया आधुनिक युग का एक बहुचर्चित एवं लोकप्रिय महाकाव्य है। 'नूरजहाँ' में 'वन श्री' के कवि ने प्रेम के कुश-कंटकमय मार्ग से जीवन-संगीत को पकड़ने का प्रयास किया है। अन्तर की समस्त पीड़ा, प्राण के अविकल उच्छ्वास एवं जीवन की समग्र रस-ग्राहिता ने कवि-कल्पना की सपनीली हथेली पर रूप, राग एवं रोमांस से महमहाती इस प्रेम-पीड़ा की कहानी को रखकर मानो उसके तलवर्ती भाव-संवेग का मोहिनी व्यथा से परिणय कर दिया है। यही कारण है कि 'नूरजहाँ' की कहानी में आदि से अन्त तक जीवन की ऊष्मता, संघर्ष का वेग, यथार्थ की मूर्तिमत्ता, मनोविज्ञान की अन्तःस्पर्शिता और प्रकृति शोभा का सजीव परिवेश कसमसा रहा है। द्विवेदी-युगीन अतिआदर्शवाद एवं परिपाटी-बद्ध आचारिकता के समक्ष जीवन की यह यथार्थवादी मानवता एवं अपरोक्ष चित्रण एक नवीन वस्तु एवं दृष्टि है। ये सामान्य मानवीय चरित्र अपनी दुर्बलता एवं सबलता में सजीव एवं अमर हैं। यह मानवतावाद और प्रेम-सौन्दर्य का यथार्थ जीवनदर्शन 'नूरजहाँ' की नवीनता, मौलिकता एवं विभाजक सुन्दरता थी, जिससे हिन्दी जगत् ने उसका पलकों पर स्वागत किया।

नूरजहाँ शकुन्तला की भाँति परित्यक्ता निसर्ग कन्या है। कवि ने उसके अनुरूप ही प्रकृति उल्लास का आयोजन किया है। ईरानी संस्कृति एवं प्रकृति का अत्यन्त मनमोहक चित्रण हुआ है। 'नूरजहाँ' के प्रेम-सौन्दर्य-दर्शन में सूफियों की विराट्ता, ईरानियों की मांसलता एवं भारतीयों की चिन्तनमयता एक साथ घुलमिल गयी हैं। अनारकली प्रेम की उत्सर्गात्मक विराट्ता, नूरजहाँ उसकी मानवीय गम्भीरता एवं जमील उसके ईर्ष्या, छल की प्रतिनिधि है। 'नूरजहाँ' की कथा अभारतीय, पर उसका आत्मस्वर भारतीय है। सर्व सुन्दरी देश-प्रेम और मानवीय प्रणय की इस रंगशाला में प्रेम के लोकोत्तर रूप को प्रकाशित करती है। यह ग्रन्थ इतिहास, रोमांस एवं काव्य की त्रिवेणी है।

—श्री० सिं० क्षे०

नृग—परमदानी एवं न्यायमूर्ति, इक्ष्वाकु के पुत्र, एक प्रसिद्ध राजा। एक बार किसी ब्राह्मण की गाय इनकी गायों में आ मिली, जिसे दूसरे ब्राह्मण को दान में दे डाला। गाय के स्वामी ने अपनी गाय पहचान कर झगड़ा किया। फलतः दोनों राजा के पास आये। नृग उस गाय के बदले एक सहस्र गायें देने को प्रस्तुत हुए किन्तु ब्राह्मणों ने स्वीकार न किया। नृग भयभीत एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ की भाँति मौन रहकर सिर हिलाने लगे। इस पर ब्राह्मणों ने शाप दिया कि तू हमें लड़ाकर बैठा-बैठा गिरगिट की तरह सर हिलाता है, तो जा एक हजार वर्ष गिरगिट योनि में रहेगा। परिणामतः वे मृत्यु के बाद गिरगिट हुए और कृष्णावतार में भगवान कृष्ण द्वारा उनका उद्धार हुआ (दे० सूर० पद ४८७२)।

—मो० अ०

नृपशंभु—शिवसिंह के अनुसार सितारागढ़ के सोलंकी क्षत्रिय राजा थे और इनका वास्तविक नाम शम्भूनाथ सिंह था। भगवतीप्रसाद सिंह ने इनको मराठा कहा है (दि० भू० की भूमिका)। मतिराम से इनकी घनिष्ठता थी। इनका 'नख-शिख' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के सम्पादन में भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुआ (हि० पु० सा० में लहरी प्रेस, बनारस से और नारायण प्रेस मुजफ्फरपुर से १८९३ ई० में प्रकाशित होने की सूचना है)। इनके छन्द 'सरोज' तथा 'दिग्विजयभूषण' में भी उद्धृत हैं। इनके काव्य में शृंगारिक भावना और उक्ति वैचित्र्य

रीति-परम्परा के अनुकूल है, पर कवित्व साधारण स्तर का है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स० दि० भू० (भूमिका)]

—सं०

नेमिचंद्र जैन—जन्म १९१८ में, आगरा में। एम० ए०। १९४२ में कलकत्ते के एक मारवाड़ी दफ्तर में किरानी का काम किया। 'प्रतीक' के सहायक सम्पादक रहे। 'वीणा' (इन्दौर), 'रंग' (दिल्ली) के सम्पादक। संप्रति राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली में प्राध्यापक।

नेमिचंद्र जैन 'तारसप्तक' के कवि हैं। उनकी कविताओं में संक्रान्ति काल के कवि-मन की झलक देखी जा सकती है। वे भविष्य यथार्थ के नहीं, वर्तमान यथार्थ के कवि हैं। रोमानी मनस्थितियों और यथार्थवाद दोनों की ओर उनके कवि का झुकाव रहा है। वे सौन्दर्य-द्रष्टा भी हैं और वास्तविकतावादी भी। प्रणय और रोमान की हल्की-फुल्की मनस्थितियों का चित्रण भी उन्होंने किया है। इस प्रकार की कविताओं में उन्होंने उपमान-योजना का आश्रय अधिक लिया है। प्रकृति सौन्दर्य को उन्होंने निहारा है, अनुभव किया है। लेकिन प्रकृति-सौन्दर्य ने उनके विवेक को सुलाया नहीं है—वे केवल कल्पना-प्रिय, युवक कवि की सौन्दर्यानुभूति से अनुप्राणित नहीं हैं। इस सौन्दर्य-दर्शन में भी मार्क्सवादी प्रभाव वर्ग-संघर्ष की चेतना विद्यमान है। कवि उस पर्वत की ऊँचाई को नहीं स्वीकार कर पाता जिसका योगदान धरती को सरस बनाने में नहीं है। प्रगतिवाद से प्रभावित होने के कारण नेमिचंद्र ने कहीं-कहीं रोमानी कुहेलिका को हटाकर जिन्दगी की राह पहचानने की कोशिश की है। कवि विद्रोह के सहारे आगे बढ़ा है और वही उसका सच्चा पथ-प्रदर्शक है। कहीं-कहीं पर मन की निराशा, कुण्ठा और पराजित स्थिति की स्वीकारोक्ति भी उनमें है। परन्तु इससे कवि की प्रगति अवरुद्ध नहीं हुई है। नेमिचंद्र का कवि प्रमुखतः मार्क्सवादी है। उनका रचनाकार दानवता से रौंदे जाते हुए मनुष्य का पक्षधर है। 'तारसप्तक' में उन्होंने कविता को मानवता की मुक्ति के अस्त्र के रूप में ही स्वीकारा। कालान्तर में मार्क्सवादी प्रभाव से वे मुक्त हुए। वयस्क होने के साथ-साथ वे 'हर प्रकार की वादिता से दम घोंटू प्रभाव को पहचानने लगे हैं'। अपना अलग व्यक्तित्व बनाने की अभिलाषा ने ही उन्हें काव्य-क्षेत्र में अधिक ईमानदारी के साथ अपना दायित्व निभाने को प्रेरित किया। उनकी कविताओं में जीवन और जगत् से कतराने की कनई कोशिश नहीं है। नेमिचन्द्र जैन सौन्दर्य-सृजन को पलायनवाद नहीं मानते। वे कवि से अपनी बेईमानी को भी ईमानदारी से परखने की अपेक्षा रखते हैं। उनका रचनाकार केवल स्वप्न-द्रष्टा बनना पसन्द नहीं करता। द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही रूपों में नेमिचंद्र का कवि उभरा है। 'लक्ष्मण-रेखा' वाली कविताएँ न उन्होंने लिखीं और न पसन्द कीं। वे न्यून कृतित्व में भी रचनाधर्मी की सम्भावनाओं को उजागर करते हैं। वे स्वयं अपने प्रवक्ता हैं और उन्हें किसी क्षण किसी बृहत्तर सत्य के साक्षात्कार की आशा भी है। 'तारसप्तक' के बाद उनकी रचना-प्रकृति संकोचशील रही है—'तारसप्तक' के बाहर उनके रचनाकार का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर कर सामने नहीं आता। उनकी कविताएँ कहीं-कहीं अतिशय बौद्धिकता के कारण 'स्टेटमेण्ट्स' बन कर रह जाती हैं। नेमिचंद्र जैन की काव्य-भाषा लचीली है— छायावाद से लेकर आधुनिकता तक के संस्कार उसमें पाये जाते हैं। अब वे काव्य-रचना की अपेक्षा 'नाट्य-समीक्षा' और 'उपन्यास-समीक्षा' में अधिक रुचि लेने लगे हैं। उनका रचनाकार धीरे-धीरे आलोचक बनता जा रहा है।

रचनाएँ : 'अधूरे साक्षात्कार', 'काव्य में उदात्त तत्त्व' (डॉ० नगेन्द्र के सहलेखन में)।

—शं० ना० च०

नेवाज—इतिहासकारों ने नेवाज नाम के तीन कवियों का उल्लेख किया है। प्रथम नेवाज बिलग्राम जिला हरदोई के निवासी थे और जाति के जुलाहा थे। दूसरे देवाज ब्राह्मण थे और उनकी जन्म भूमि अन्तर्वेद थी। इनकी दो रचनाए प्राप्त हैं—छत्रपाल-विरुदावली और शकुन्तला उपाख्यान। 'शकुन्तला उपाख्यान' कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का ब्रजभाषा के कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई आदि में ही दिया गया भावानुवाद है। यह पुस्तक मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८९५ ई० में मुद्रित हो चुकी है। कहा जाता है कि ये औरंगजेब के पुत्र आजमशाह और महाराज छत्रसाल के आश्रित कवि थे। (बुन्देल वैभव द्वितीय भाग, पृ० ३८५) 'बुन्देल वैभव' के रचयिता ने इनका जन्म काल सं० १७३८ और कविता काल सं० १७६० बताया है।

तीसरे नेवाज बुन्देल खंड के निवासी थे और असोथा जिला फतेहपुर के महाराज भगवन्तराय खीची के दरबारी कवि थे। प्राचीन काव्य संग्रह ग्रन्थों मे प्रायः प्रथम और तृतीय नेवाज की श्रृंगारिक रचनाएं प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। निसंदेह श्रृंगारिक चित्रों की ऐन्द्रिय उद्भावना की दृष्टि से नेवाज का स्थान रीति परम्परा के कवियों में बेजोड़ एवं अप्रतिम है। प्रेम की ऋजु एवं सरल भावाभिव्यक्तियों की चर्चा करते समय नेवाज का नाम गौरव के साथ लिया जायेगा, इसमें दो मत नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ :—दिग्विजय भूषण, बुन्देल वैभव द्वितीय भाग, श्री गौरीशंकर द्विवेदी शंकर, शिवसिंह सरोज, द मार्डनवर्नाक्युलर लेटरेचर आफ हिन्दुस्तान)।

—कि० ला०

नेही नागरीदास—राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी नागरीदास के नाम के साथ नेही विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। हित शब्द के पर्याय के रूप में नागरीदासजी ने इस शब्द को अपने नाम का अंग बना लिया था। नागरीदास बेरघा के निवासी थे। चतुर्भुजदास घूमते हुए बेरघा आ निकले, वहाँ उनका नागरीदास से परिचय हुआ। चतुर्भुजदास की सत्संगति से प्रभावित होकर नागरीदास घर-बार छोड़कर वृन्दावन चले आये। जाति के वे पँवार क्षत्रिय थे। घर पर जमींदारी थी, किन्तु उनकी रुचि प्रारम्भ से ही भगवद्भक्ति की ओर थी। नागरीदास का जन्म संवत् निर्णय करना कठिन है, किन्तु चतुर्भुजदास के समसामयिक होने से आनुमानिक रूप से संवत् १६०० (सन् १५४३ ई०) के आसपास इनका जन्म समय ठहराया जाता है।

वृन्दावन आने पर भी नागरीदास केवल हित-हरिवंश की वाणी के अनुशीलन करने में ही व्यस्त रहते थे। रासलीला या

भागवत-कथा आदि में भी नहीं जाते थे। भागवत कथा के क्रूर कथा-प्रसंगों से उन्हें खीझ पैदा होती थी। केवल कोमल भावनाओं के विचार में लीन रहना ही उन्हें प्रिय वास की इच्छा से वे बरसाना चले गये। वहाँ उन्होंने राधाष्टमी पर्व को बड़े समारोह से मानना प्रारम्भ किया, जो आज तक उसी रूप में मनाया जाता है।

नेही नागरीदास की वाणी को विषयानुसार तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। 'सिद्धान्त दोहावली'-९३५ दोहे, 'पदावली'-१०२ पद, और 'रस-पदावली'-२३२ पद। 'सिद्धान्त दोहावली' में हित हरिवंश द्वारा प्रतिपादित भक्ति 'सिद्धान्त का कथन किया गया है। हरिवंश का यशोगान भी इन दोहों में है। नेही नागरीदास के काव्य में भाव और कला दोनों का समुचित समन्वय है। भाषा परिमार्जित ब्रज है। यत्र-तत्र बुन्देली का प्रभाव अवश्य आ गया है। तत्सम पदावली को दूर ही रखा गया है। अलंकार या रीतिवृत्ति आदि काव्य के उपकरणों का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग नहीं है, सहज रूप में ही उनका प्रयोग हुआ है। अभी तक नागरीदास जी का 'अष्टक' ही प्रकाशित हुआ है। शेष रचनाएँ अप्रकाशित रूप से वृन्दावन के राधावल्लभीय गोस्वामियों तथा साधुओं के पास सुरक्षित हैं।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय : डा० विजयेन्द्र स्नातक; गोस्वामी हितहरिवंश और उनका सम्प्रदाय : ललिताचरण गोस्वामी।]

—वि० स्ना०

नैना—प्रेमचन्दकृत 'कर्मभूमि' में एक पात्र। नैना का व्यक्तित्व अत्यधिक अनुरागपूर्ण है। उसके हृदय में भाई अमरकान्त और भाभी सुखदा दोनों के प्रति स्नेह है। जनसेवा की भावना भी नैना में है। दुर्भाग्यवश उसका विवाह एक निम्नकोटि के व्यक्ति के साथ हो जाता है और गरीबों के लिए मकानों की योजना के आन्दोलन में पति की गोली का शिकार बन जाती है, किन्तु उसके बलिदान से ग़रीबों को सफलता प्राप्त होती है।

—ल० सा० वा०

नैषध—१. कौरवों के पक्ष में लड़ने वाले एक राजा, जो धृष्टद्युम्न द्वारा मारे गये।

२. नल का एक नाम (दे० 'नल')।

—मो० अ०

नैषध (गुमान) २.—संस्कृत के नैषधीयचरित अथवा नैषध महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष हैं। संस्कृत का यह मूल ग्रन्थ २२ सर्गों में उपलब्ध है, जिनमें नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की रोचक कथा वर्णित है। उनकी प्रथम मिलन रात्रि के वर्णन के बाद ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों के मत में यह ग्रन्थ अपूर्ण है। कुछ के अनुसार यह पूर्ण है। कतिपय परम्परागत उक्तियों के अनुसार मूल ग्रन्थ में ६० अथवा १२० सर्ग थे। सत्रहवें सर्ग में कलि नल और दमयन्ती को पृथक् करने का प्रयत्न करता है किन्तु कथा दोनों के विवाह तथा वैवाहिक आनन्द के वर्णन से समाप्त हो जाती है। इसी से ग्रन्थ की अपूर्णता का भ्रम होता है।

गुमान मिश्र ने संस्कृत के नैषध-काव्य का हिन्दी में पद्यानुवाद किया है। गुमान मिश्र ने कथा का विस्तार २३ सर्गों में किया है, जिसके कारण संस्कृत के सर्गों के क्रम में हेर-फेर हो गया है। इस अनुवाद का प्रकाशन दो स्थानों से हुआ है—१. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा श्रावण स० १९५२, शाके १८१७ में और २. काव्य कलानिधि अर्थात् हिन्दी नैषधचरित—गुमान मिश्र विरचित, सम्पादक सत्य जीवन वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा संवत् १९९९ में। नैषध महाकाव्य का एक मूलसहित भाषानुवाद इधर हरगोविन्द शास्त्री ने किया है, जो चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी द्वारा सन् १९५४ ई० में प्रकाशित हुई है। गुमान मिश्र द्वारा अनूदित 'नैषध' के वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण में अनेक अशुद्धियाँ थीं। उसी के आधार पर मूल संस्कृत नैषध से मिलाकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने 'काव्यकलानिधि' नाम से उसका प्रकाशन किया। अन्य किसी हस्तलिपि के अभाव में इस ग्रन्थ का पाठ और प्रामाणिक नहीं बनाया जा सकता था। अभी तक हिन्दी में इसका कोई भी हस्तलिखित ग्रन्थ देखने में नहीं आया है। दोनों संस्करणों में शब्दों में यत्र-तत्र अन्तर मिलता है, जैसे वेंकटेश्वर प्रेस के 'वरणी' और 'प्रकाशु' के स्थान पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्करण में 'बरनी' और 'प्रकासु' शब्द मिलते हैं।

गुमान मिश्र का नाम सर्वसुख मिश्र था। कवि कहता है—"मिश्र सर्वसुख सुकविवर श्री गुरुचरन मनाइ। बरनि कथा हौं कहत हौं होइहैं वई सहाइ।।"

ये महोवे के गोपालमणि के पुत्र थे। इनके तीन भाई थे—दीप साहि, सुमान और अमान। ये जिला खीरी के मोहमदी नगर के राजा अली अकबर खाँ के आश्रित कवि थे। ये विद्वान् और हिन्दी कवियों के आश्रयदाता थे। इनके दरबार में प्रेमनाथ, निधान आदि अन्य कवि भी थे। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने मोहमदी नगर का वर्णन किया है—"धरम के धाम नर नारी अभिराम जहाँ ऐसो महमदी नामनगर बसतु है। पवन अगमगामी भीतें बड़ी भवन नहीं ऐसो गाइयत महमदी के प्रकाशु है। जहं राजत नगर नरेश वर खाँ साहेब अकबर अली।..."

प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि ने अली अकबर खाँ का नाम लिया है। "इति श्री मत्प्रचण्ड दौर्दण्डप्रतापमार्तण्डमण्डित-भूमण्डल। खण्डल श्री खाँ साहब अली अकबर खाँ प्रोत्साहित गुमान मिश्र विरचिते काव्यकलानिधौ...वर्णनं नाम...सर्गः।"

रामचन्द्र शुक्ल ने अकबर अली खाँ को पिहानी का राजा बतलाया है। सम्भवतः अकबर अली खाँ के राज्य का विस्तार हरदोई जिले के पिहानी, गोपामऊ आदि स्थानों तथा खीरी जिले के मोहमदी आदि स्थानों तक था, क्योंकि उक्त स्थान लगभग दोनों जिलों के सीमान्त पर स्थित हैं। राजा अली अकबर खाँ के पिता का नाम अब्दुल्ला खाँ था। ये सोमवंशीय क्षत्रिय थे और इनका हिन्दू नाम बदरसिंह था। ये जिला हरदोई, परगना गोपामऊ के अन्तर्गत बदिय गाँव में अपने नाना दानशाह अहिवंशी के यहाँ रहते थे। जिस समय सैयद खुर्रम ने दानशाह पर आक्रमण किया उसने बदर सिंह को मुसलमान बना लिया। तदन्तर अब्दुल्ला ने सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। उसने मोहमदी नगर में एक दुर्ग बनवाया और राजा की उपाधि धारण की। इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत अंशतः सत्य प्रतीत होता है।

गुमान मिश्र ने संस्कृत के नैषध के आधार पर अपने ग्रन्थ

की रचना की है, जैसा वे स्वय कहते हैं—"खा माहेब के हुकुम ते मिश्र गुमान विचारि, वरणी नैषध की कथा, संस्कृत की अनुहारि।" किन्तु यह केवल अनुवाद ही नहीं है बल्कि अनेक स्थलों पर कवि ने अपनी मौलिक कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। संस्कृत के नैषध मे केवल २२ सर्ग हैं। गुमान मिश्र ने कथा का विस्तार २३ सर्गों मे किया है। इस कारण संस्कृत के सर्गों के क्रम मे हेर-फेर हो गया है। गुमान मिश्र ने आरम्भ का सर्ग प्रस्तावना के रूप में अपनी ओर से जोडा है।

कवि ने ग्रन्थ का आरम्भ संवत् १८२४ शुक्लपक्ष की सप्तमी, दिन वृहस्पतिवार को किया, जैसा वे स्वयं कहते हैं—"संयुक्त प्रकृत पुराण से, मवतसर निरदम्भ। सुरगुरु सह मित मप्तमी कह्यौ ग्रन्थ प्रारम्भ।।"

ग्रन्थ की समाप्ति संवत् १९४५ माघ मास, कृष्ण पक्ष की पंचमी, दिन भौमवार को हुई—"माघमासे कृष्णपक्षे तिथौ पंचम्यां भौमवासरे संवत् १९४५ शुभम भूयात्।"

सोरठा—"शरवेदांकचन्द्रे द्वे नक्रमासाऽसिते दले। अहितिथ्यां भौमसंयोगे ग्रंथोयम् पूर्णतामगमत्।।"

इस अनुवाद की भाषा यत्र-तत्र जटिल हो गयी है किन्तु भाव स्पष्ट हैं। यद्यपि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है किन्तु संस्कृत के भावों के सम्यक् अवतरण में वे असफल है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "जिन श्लोकों के भाव जटिल नहीं हैं, उनका अनुवाद बहुत ही सरस और सुन्दर है। वह स्वतन्त्र रचना के रूप में प्रतीत होता है पर जहाँ कुछ जटिलता है, वहाँ की वाक्यावली उलझी हुई और अर्थ अस्पष्ट है......अतः सारी पुस्तक के सम्बन्ध में यही कहना चाहिये कि अनुवाद में वैसी सफलता नहीं हुई है।"

ग्रन्थ में इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, आदि छन्दों से लेकर दोहा, सोरठा, चौपाइयों तक का प्रयोग हुआ है। छन्दों का परिवर्तन बहुत जल्दी-जल्दी मिलता है। ग्रन्थ में परिसंख्या अलंकार की भरमार है।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज से जो नैषध का भाषानुवाद हुआ है, उसमें मल्लिनाथकृत 'जीवातु' तथा "नैषध प्रकाश अर्थात् 'नारायणी' टीका का आश्रय लिया गया है। दोनों टीकाओं में मूल श्लोकों में अनेकत्र पाठ भेद हैं। ऐसे स्थलों में अनुवादक ने प्रथम 'जीवातु' के आधार पर पुनः 'नैषध प्रकाश' के अनुसार विविधार्थो को लिखा है।

—शि० शे० मि०

नैषादि—निषाद पुत्र एकलव्य का एक नाम।

—मो० अ०

न्यग्रोध—१. उग्रसेन का पुत्र, कंस का भाई, जिसे बलराम ने मारा था।

२. कृष्ण के एक पुत्र का नाम।

३. रमणक का बरगद, जो कमल की आकृति का है, जिसके कारण पुष्कर-द्वीप का नामकरण हुआ। प्रलयकाल में भगवान् नारायण ने बालक रूप में इसके पत्ते पर शयन किया था।

—मो० अ०

पंचकन्या—पुराणानुसार सर्वदा कन्या रहने वाली पाँच स्त्रियाँ—अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा तथा मन्दोदरी। ऐसा माना जाता है कि विवाह आदि हो जाने पर भी इनका कन्यात्व नष्ट नहीं हुआ।

—मो० अ०

पंचतंत्र—विष्णु शर्मा द्वारा विरचित प्रसिद्ध कथा-पुस्तक। ये कथाएँ वास्तव में राजकुमारों को नीति-शिक्षा हेतु कही गयी थीं। बाद में 'हितोपदेश' के नाम से इसका संक्षिप्त रूप अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। अनेक भाषाओं मे इसके अनुवाद हुए। 'अनवर-ए-दानिश' नामक फारसी पुस्तक 'पंच-तंत्र' के आधार पर ही लिखी गयी है।

—मो० अ०

पंचभूत—यह वस्तुतः पंचमहाभूत, पंचभूत, पंचतत्त्व आदि नामों से भारतीय दर्शन में विश्रुत रहा है। भारतीय ईश्वरवादी दर्शन में क्षिति, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के रूप में इसका उल्लेख किया गया है किन्तु जैनियों ने इस परम्परा को जीव, अजीव, आकाश, धर्म, पुद्गल के रूप में परिवर्तित कर दिया है। सांख्य दर्शन में इन तत्त्वों का पूर्णतया ईश्वरवादी दर्शन के वर्णित रूप का ही समर्थन होता है। बौद्ध-दर्शन में इन्हें महाभूतों की संज्ञा दी गयी और रस, स्पर्श, गन्ध आदि इन्द्रियज आसक्तियों का कारण माना गया। उपनिषदों में—वृहदारण्यक (१।२।१-२), छान्दोग्य (६।२।१-४), एतरेय (१।१-३), प्रश्नोपनिषद् (२।१-१२)—प्रायः सृष्टिक्रम निरूपण के सन्दर्भ में इन पंचमहाभूतों की उत्पत्ति का आख्यान मिलता है। अद्वैत वेदान्त में माया तथा सृष्टि निरूपण एवं 'अभ्यास' क्रम में इसका वर्णन हुआ है। हिन्दी के सन्त कवि एवं रामकाव्य में इन तत्वों का प्रायः उल्लेख मिलता है। प्रसाद ने 'कामायनी' में सृष्टि-प्रलय के प्रसंग में पंचभूत तत्त्वों के रौरव मिश्रण का उल्लेख किया है।

—यो० प्र० सिं०

पंचवटी १—एक वन जो दण्डकारण्य में स्थित था। यह स्थान गोदावरी के पास है। लक्ष्मण ने यहीं शूर्पणखा के नाक, कान काटे थे। यहाँ राम का बनाया हुआ एक मन्दिर खण्डहर रूप में विद्यमान है। पंचवटी का वर्णन 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'साकेत', 'पंचवटी' एवं 'साकेत-सन्त' आदि प्रायः सभी रामकथासम्बन्धी काव्यों में मिलता है।

—मो० अ०

पंचवटी २—मैथिलीशरण गुप्त के प्रसिद्ध खण्डकाव्य 'पंचवटी' (प्र० १९८२ वि०) का कथानक राम-साहित्य का चिर-परिचित आख्यान—शूर्पणखा प्रसंग है। पंचवटी के रमणीय वातावरण में राम और सीता पर्णकुटी में विश्राम कर रहें हैं तथा मदनशोभी वीर लक्ष्मण प्रहरी के रूप में कुटिया के बाहर स्वच्छ शिला पर विराजमान हैं। रात्रि के अन्तिम प्रहर में शूर्पणखा उपस्थित होती है। ढलती रात में अकेली अबला को उस वन में देखकर लक्ष्मण आश्चर्यचकित रह जाते हैं। लक्ष्मण को विस्मित देख वह स्वयं वार्तालाप आरम्भ करती है और अन्ततः विवाह का प्रस्ताव करती है। लक्ष्मण को उसका प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं होता। वार्तालाप में ही प्रातःकाल हो जाता है। पर्णकुटी का द्वार खुलता है। अब शूर्पणखा राम पर मोहित हो जाती है और उन्हीं का वरण करना चाहती है। दोनों ओर से असफल होने पर वह विकराल रूप धारण कर लेती है और अन्ततः लक्ष्मण उसके नाक, कान काट लेते हैं। इस पूर्व-परिचित प्रसंग में कवि की कतिपय नूतन उद्भावनाएँ हैं

परन्तु मूलसूत्र प्राचीन ही है। कथा-विकास एवं प्रतिपादन शैली कवि के अपने हैं। मधुर तरल हास्य-विनोद ने इसे सजीवता प्रदान की है। दृश्यों का नाटकीय परिवर्तन पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेता है। चरित्र-चित्रण में प्रायः परम्परा का ही अनुसरण किया गया है, परन्तु फिर भी कवि के दृष्टिकोण पर आधुनिकता की छाप है। पात्रों के इतिहास-प्रतिष्ठित रूप को स्वीकार करने पर भी गुप्तजी ने उन्हे यथासम्भव मानवीय रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। 'पंचवटी' की भाषा निखरी हुई खड़ीबोली है। यद्यपि वह प्रौढ़ नहीं है तथापि प्रांजल एवं कान्तिमयी है।

गुप्त-काव्य के विकास-पथ में 'पंचवटी' एक मार्ग-स्तम्भ है। इसकी रचना से कवि के कृतित्व के प्रारम्भिक काल की समाप्ति एवं मध्यकाल का प्रारम्भ होता है।

—उ० का० गो०

पजनेस—इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। इनका स्थान पन्ना था और 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इनके दो ग्रन्थो की चर्चा की है—'मधुप्रिया' तथा 'नखशिख' पर यह 'नखशिख' इनके ग्रन्थ 'मधुप्रिया' का ही अग है। यह ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है। इनके कवित्त-सवैयों के दो संग्रह भारत जीवन प्रेस, काशी से 'पजनेस पचासा' और 'पजनेस प्रकाश' नाम से १८९२ ई० तथा १८९४ ई० में प्रकाशित हुए हैं। 'शिवसिंह सरोज' तथा 'दि० भू०' आदि में भी इनके छन्द उद्धृत हैं। ये श्रृंगारी प्रवृत्ति के रीतिकालीन शैली के कवि हैं। भाषा में फारसी शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर हुआ है। इन्होंने 'प्रतिकूलवर्णत्व' दोष को स्वीकार नहीं किया है और ऐसे वर्णों का स्वच्छन्द रूप से प्रयोग किया है फिर भी उनकी भाषा मे पद-लालित्य पर्याप्त मात्रा में हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

पर्णादि—एक ब्राह्मण, जिसको दमयन्ती ने नल के पास दूत बनाकर भेजा था।

—मो० अ०

पथिक—रामनरेश त्रिपाठी के प्रेमाख्यानक खण्डकाव्यों में रचनाक्रम की दृष्टि से 'पथिक' उनकी दूसरी कृति है। यह १९२० ई० में प्रकाशित हुई थी। इसकी लोकप्रियता का कुछ अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि १९५४ ई० तक हिन्दी मन्दिर, प्रयाग से इसके इकतीस (३१) संस्करण निकल चुके थे। इस आख्यानक कृति का कथानक सूक्ष्म और मौलिक है। इसका नायक पथिक अपनी प्रिया से अतिशय प्रेम करता है। कालान्तर में परिस्थितियोंवश उसकी यह प्रेम-भावना प्रकृति के प्रांगण से गुजरती हुई स्वराष्ट्र-प्रेम की ओर उन्मुख हो जाती है। मनोरम प्रकृति-चित्रण तथा राष्ट्र-प्रेम की उदात्त भावनाओं का समावेश इस खण्ड-काव्य की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। भाषा सधी-मँजी खड़ीबोली है।

—र० भ०

पदमावत—यह रचना हिन्दी के प्रसिद्ध सूफी-कवि मलिक मुहम्मद जायसी का प्रेमाख्यान है, जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः 'पदमावती' या 'पदुमावति' जैसे नामों के साथ भी पायी जाती हैं। इसकी सर्वप्रथम उल्लेखनीय चर्चा फ्रेंच लेखक गार्सां द तासी ने अपनी पुस्तक 'इस्त्वार द लितरेत्यूर ऐन्दूई ऐ ऐन्दुस्तानी' के द्वितीय भाग में की थी और उन्होंने उस समय (सन् १८४७ ई०) तक देश-विदेशों में पायी जाने वाली तथा नागरी, फारसी एवं कैथी मे लिखित इसकी कई प्रतियों का पता भी दिया था, किन्तु वे इस रचना के विषयादि का कोई विस्तृत विवेचन नहीं कर सके थे। इसके अनन्तर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उन बातों की ओर भी ध्यान देना आरम्भ किया और इस प्रकार यदि किसी-किसी ने इसके साहित्यिक महत्त्व का उल्लेख किया तो दूसरों ने इसकी कथा अथवा भाषा आदि पर भी न्यूनाधिक प्रकाश डाला। इसके सुसम्पादित संस्करणों के प्रकाशन का आरम्भ बीसवीं ईस्वी सदी के दूसरे दशक से हुआ, जब से आज तक यह सानुवाद या केवल मूलपाठ के ही साथ विभिन्न स्थानों से निकल चुकी है। इसके अतिरिक्त इस काव्य-ग्रन्थ पर अब तक अनेक विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार भी होता आ रहा है और इसमें सन्देह नहीं कि इस रचना के ही आधार पर जायसी को हिन्दी के उत्कृष्ट कवियों में उच्च स्थान भी दिया जाता है।

'पदमावत' के रचना-काल के बारे में बहुत से लेखकों में मतभेद है। उन्होंने या तो इसकी अनेक प्रतियों में पाये जाने वाले पाठानुसार उसे ९२७ हि० या (१५२१ ई०) या सन् ९४७ हि० (सन् १५४० ई०) माना है अथवा कभी-कभी इसके सन् ९३६ हि० (सन् १५२९ ई०), ९४५ हि० (सन् १५३८ ई०) या सन् ९४८ हि० (सन् १५४१ ई०) वाले पाठो के आधार पर इसका तदनुसार काल-निर्णय करने की ओर प्रयत्न किया है। परन्तु इस रचना के १३वें अंश से लेकर १७वें अंश तक 'शाहे वक्त' के रूप में सुल्तान शेरशाह सूर (सन् १५४०-४५ ई०) की चर्चा के स्पष्ट रूप में आ जाने तथा उसके अन्तर्गत कवि द्वारा किये गये "सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खण्ड तपइ जस भानू। ओही छाज छात औ पाटू। सब राजा भुइँ धरहिं लिलाटू।" जैसे कथन के हो जाने से भी इस मत को ही अधिक समर्थन मिलता जान पड़ता है कि वह समय सन् ९४७ हि० रहा होगा। सुलतान शेरशाह ने इतिहास के अनुसार १७ मई, सन् १५४० ई० को मुगल बादशाह हुमायूँ पर कन्नौज के युद्ध में पूर्ण विजय प्राप्त कर उसे अपदस्थ कर दिया था और यद्यपि उसका राज्याभिषेक १५ जनवरी, सन् १५४२ ई० के पहले विधिवत् नहीं हो पाया, फिर भी केन्द्र में अधिकार पा जाने के कारण उसका वहाँ वस्तुतः कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया था। अतएव जायसी ने भी यहाँ पर 'तपइ' एवं 'धरहिं' जैसी क्रियाओं का वर्तमानकाल में प्रयोग करके इसकी पुष्टि कर दी है।

'पदमावत' ठेठ अवधी में लिखी गयी है और उसमें उसके रचनाकाल के स्वाभाविक बोल-चाल के उदाहरण मिलते हैं। उसकी भाषा में न तो तत्समों के प्रति कोई आग्रह दीख पड़ता है और न इसके अलंकरण का ही कोई प्रयास लक्षित होता है। सारी बातें सीधे-सादे ढंग से कही गयी प्रतीत होती हैं और गूढ़ से गूढ़ विषयों का प्रतिपादन सरलता के साथ किया गया मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस रचना के अन्तर्गत अवधी भाषा का सोलहवीं सदी का रूप भलीभांति सुरक्षित है। इसकी भाषा की एक विशेषता यह भी कही जा सकती है कि

इसमें प्रचलित सूक्तियों, लोकोक्तियों, मुहावरों तथा कहावतों तक के प्रयोग यथास्थल बड़े सुन्दर ढंग से किये गये दीख पड़ते हैं और इनके कारण वह पूर्णरूप से समृद्ध और सशक्त बन गयी है। यहाँ पर प्रयुक्त देशज शब्द एवं तद्भव तक अपने अनगढ़े रूपों में कभी-कभी हमारे सामने अपरिचित से लगते हैं, किन्तु जब हम उन्हें समझ लेते हैं तो स्वालोचित उपयुक्तता एवं भावपूर्णता का अनुभव कर अत्यन्त आनन्दित भी हो जाते हैं। पूरी रचना दोहों-चौपाइयों में लिखी गयी है और उसमें प्रायः सर्वत्र सात अर्द्धालियों के अनन्तर दोहे का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की रचना-शैली कथात्मक विवरणों के लिए बहुत उपयुक्त समझी जाती है और यह फारसी की मसनवी शैली से भी बहुत कुछ मिलती जुलती है, जिस कारण इसे अधिकतर अन्य अनेक सूफी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं ने भी अपनाया है।

'पदमावत' के प्रामाणिक समझे जाने वाले संस्करण उपर्युक्त दोहों, चौपाइयों में निर्मित ६५३ अंशों में बाँट दिये गये हैं और इनमें से कुछ को एक साथ ले-लेकर उन्हें भिन्न-भिन्न विषयानुसार शीर्षक देने की परम्परा भी दीख पड़ती है। इस पद्धति को स्वीकार करने वाले सम्पादकों ने ऐसे प्रत्येक शीर्षक को 'खण्ड' का नाम दिया है तथा उसे उसके वर्ण्य विषयानुसार परिचित भी कराया है। ये खण्ड 'स्तुति खण्ड' से आरम्भ होकर 'उपसंहार खण्ड' तक समाप्त होते हैं और इनकी कुल संख्या ५८ तक पहुँचती है। प्रेमाख्यान की कथा केवल २५वें से लेकर ६५१वें अंशों तक चलती है और शेष में से प्रथम २४ अंशों तक, जो उक्त 'स्तुति खण्ड' के अन्तर्गत आते हैं क्रमशः 'करतारू' अथवा सृष्टिकर्ता परमात्मा की स्तुति, मुहम्मद और उनके चार 'मीत' अथवा खलीफाओं की प्रशंसा, शाहे वक्त शेरशाह की महत्ता तथा कवि के पीर एवं गुरु के परिचय के साथ-साथ, उसके द्वारा स्वयं अपनी और अपने चार मित्रों की ओर किया गया कुछ परिचयात्मक संकेत भी मिलता है, जो संक्षिप्त होता हुआ भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। २४वें अंश में 'पद्मावत' का रचनाकाल दिया गया है तथा इसी प्रकार आगे आने वाली कथा का सूत्र-रूप में निर्देश भी कर दिया गया है और उसके दो अन्तिम अंशों द्वारा कवि ने पूरी कहानी एवं अपनी वृद्धावस्थाजन्य दयनीय दशा पर भी प्रकाश डाला है। इस रचना के कुछ संस्करणों वाले 'उपसंहार खण्ड' में एक ऐसा अंश भी पाया जाता है, जिसमें पूरी कहानी की आध्यात्मिक ढंग से की गयी व्याख्या दीख पड़ती है किन्तु इसके प्रामाणिक संस्करणों में उसे निकाल दिया गया है।

'पद्मावत' का कथा-साराश इस प्रकार है—सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती परम सुन्दरी थी और उसके योग्य वर कहीं नहीं मिलता था। पद्मावती के पास हीरामन नाम का एक तोता था, जो बहुत बाचाल एवं पण्डित था और उसे बहुत प्रिय था। एक दिन जब वह पद्मावती के साथ उसके वर के विषय में बातचीत कर रहा था, राजा गन्धर्वसेन ने सुन लिया, जिसके कारण उनका कोपभाजन बन जाने के डर से वह चुपके से उड़ गया। एक दिन वह किसी बहेलिये के हाथ पड़ गया, जिसने उसे बाजार में लाकर चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण से फिर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे एक लाख रुपये देकर क्रय कर लिया और वह उसे बहुत मानने लगा। एक दिन जब रतनसेन आखेट को गये थे, हीरामन ने उनकी रूपगर्विणी रानी नागमती से सिंहल द्वीप की पद्मावती के रूप की बड़ी प्रशंसा कर दी, जिसे सुनकर ईर्ष्यावश उसने मरवा डालना चाहा, किन्तु उसकी चेरी ने राजा के भय से उसे अपने घर छिपा लिया। राजा रतनसेन आखेट से लौटकर जब सुए के लिए बहुत उत्कण्ठित हुए तो वह उनके सामने लाया गया और उसने उनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। पद्मावती के रूप एवं गुणों की प्रशसा सुनते ही राजा रतनसेन उसके लिए अधीर हो उठे और उसे प्राप्त करने की आशा में जोगी का वेश धारण कर घर से निकल पड़े। राजा के साथ यात्रा में सोलह सहस्र अन्य राजकुमार भी सम्मिलित हुए और हीरामन उन सभी का पथ-प्रदर्शक बन गया। ये लोग कलिंग की ओर से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चल पड़े, जहाँ ये अनेक कष्ट झेलने पर ही पहुँच सके।

सिंहल द्वीप में पहुँचकर राजा रतनसेन जोगियों के साथ शिव के मन्दिर में पद्मावती का ध्यान एवं नाम जाप करने लगा। हीरामन ने उधर यह समाचार पद्मावती से कह सुनाया, जो राजा के प्रेम से प्रभावित होकर विकल हो उठी। पंचमी के दिन वह शिवपूजन के लिए उस मन्दिर मे गयी, जहाँ उसका रूप देखते ही राजा मूर्छित हो गया और वह भलीभाँति उसे देख भी नहीं सका। जागने पर जब वह अधीर हो रहा था, पद्मावती ने उसे कहला भेजा कि दुर्ग सिंहलगढ़ पर चढ़े बिना अब उससे भेंट होना सम्भव नहीं है। तदनुसार शिव से सिद्धि पाकर रतनसेन उक्त गढ़ में प्रवेश करने की चेष्टा में ही सबेरे पकड़ लिया गया और उसके लिए सूली की आज्ञा दे दी गयी। अन्त में जोगियों द्वारा गढ़ के घिर जाने पर शिव की सहायता से उस पर विजय हो गयी और गन्धर्वसेन ने पद्मावती के साथ रतनसेन का विवाह कर दिया। राजा रतनसेन पद्मावती को लेकर किसी प्रकार चित्तौर लौटा और यहाँ उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगा। राजा के दरबार में राघव चेतन नाम का एक पण्डित था, जिसे यक्षिणी सिद्ध थी और जिसे वहाँ के अन्य पण्डितों के साथ कलह बढ़ जाने के कारण उन्होंने अपने यहाँ से निकाल दिया। राघव चेतन राजा से बदला लेने की इच्छा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के यहाँ गया और उसे पद्मावती का कंगन दिखाकर उसे मुग्ध कर दिया। अलाउद्दीन ने राजा रतनसेन को पद्मावती के लिए पत्र लिख भेजा, जिसे पाकर वह क्रुद्ध हो गया और युद्ध की तैयारी होने लगी।

जब अलाउद्दीन कई वर्ष तक चित्तौरगढ़ पर घेरा डालकर भी उसे तोड़ न सका तो उसने रतनसेन के यहाँ सन्धि का प्रस्ताव भेजा, जिसे राजा ने स्वीकार कर उसे अपने महल में प्रीतिभोज दिया और वहाँ पर उसके साथ शतरंज खेलते समय अपने सामने रखे गये दर्पण में पद्मावती की एक झलक देख बादशाह मूर्छित होकर गिर पड़ा किन्तु फिर जब राजा उसे पहुँचाने के लिए बाहरी फाटक पर गया तो बादशाह ने उसे छलपूर्वक अपने सैनिकों द्वारा पकड़वा लिया और उसे दिल्ली भेज दिया। पद्मावती यह समाचार सुनकर अधीर हो उठी और वह अपने पति को छुड़ाने के उपाय सोचने लगी। तदनुसार गोरा एवं बादल नामक दो वीर सरदार ७०० पालकियों में सशस्त्र सैनिक छिपाये हुए उनके साथ दिल्ली पहुँचे और कहला भेजा कि पद्मावती पहले राजा से मिलना चाहती है। फलतः इसके लिए आज्ञा पाते ही एक ढकी हुई पालकी से

निकलकर किसी लोहार ने राजा की बेड़ियाँ काट दीं और वह घोड़े पर बाहर आ गया। बादशाह की सेना द्वारा उस पर धावा किये जाने पर गोरा कुछ सैनिकों के साथ इधर उसे रोकता रहा और उधर बादल राजा के साथ सकुशल चित्तौर पहुँच गया, किन्तु फिर कुम्भलनेर के राजा देवपाल पर चढ़ाई करने जाने पर उसकी वहीं युद्ध में मृत्यु हो गयी। रतनसेन का शव वहाँ से चित्तौर लाया गया और उसके साथ पद्मावती एवं नागमती दोनों ही रानियाँ सती हो गयीं। अन्त में जब अलाउद्दीन अपनी सेना लेकर चित्तौरगढ़ पहुँचा तो उसे पद्मावती की जगह उसकी चिता की राख मात्र ही मिली, जिससे उसे दुःख एवं ग्लानि का अनुभव हुआ।

'पद्ममावत' की कथा के अन्तर्गत वर्णित घटनाओं के दो प्रधान केन्द्र सिंहल द्वीप एवं चित्तौरगढ़ हैं। इनमें से प्रथम की भौगोलिक स्थिति और उसके ऐतिहासिक परिचय के सम्बन्ध में अभी तक मतभेद चला आता है तथा कुछ लोग उसे लंका का सीलोन, कुछ लोग ब्रह्मदेश के दक्षिणी भाग का कोई स्थल तथा अन्य भारत के ही भीतर स्थित कोई भूभाग ठहराने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु जायसी द्वारा किये गये इसके वर्णन, इससे सम्बन्धित पद्मावती और गन्धर्वसेन जैसे नाम तथा इसकी यात्रा करते समय राजा रतनसेन को मिलते गये समुद्रादि पर विचार कर लेने पर उनमें से किसी के भी साथ इसका पूरा मेल खाता नहीं दीख पड़ता। इन सारी बातों के विषय में अधिकतर कल्पना से ही काम लिया गया प्रतीत होता है और ऐसा लगता है जैसे कवि ने यहाँ लोक-प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर किसी ऐसे भूखंड की सृष्टि कर दी है, जो 'पद्मिनी' कही जाने वाली सुन्दरियों का देश है, जहाँ के निवासी यक्ष-यक्षिणी जैसे हो सकते है, जहाँ की यात्रा करना अत्यन्त कठिन है, जहाँ केवल जोगियों को ही सफलता मिल सकती है तथा जहाँ राजा तक का नाम भी गन्धर्वसेन ही उपयुक्त होगा। अतएव आश्चर्य नहीं कि जायसी ने यहाँ पर 'सिंहलद्वीप' सम्बन्धित सभी स्थलों एवं घटनाओ का वर्णन अपनी प्रेमगाथा के मूल में अवस्थित आध्यात्मिक सूफी-भावनाओं के अनुसार करने की ही चेष्टा की हो और ऐसा करते समय उन लोकपरम्परागत नामों एवं दन्तकथाओं का भी उपयोग कर लिया हो, जो उनकी दृष्टि में इसके लिए उपयुक्त जँचे हों।

परन्तु जहाँ तक चित्तौरगढ़ से सम्बन्धित नामों एवं घटनाओं का प्रश्न है, उसमें से प्रायः सभी किसी न किसी रूप में ऐतिहासिक एव वस्तुस्थिति के अनुरूप सिद्ध होते जान पड़ते हैं और तदनुसार यहाँ पर कल्पना का हाथ उतना अधिक नहीं दिखलाई देता। चित्तौरगढ़ मेवाड़ का प्रसिद्ध दुर्ग है, जहाँ पर सम्भवतः राणा रत्नसिंह के राज्यकाल में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन ने छः महीनों तक घेरा डाला था और जिस पर उसे गोरा और बादल जैसे वीरों से युद्ध कर लेने के अनन्तर सन् १३०२-३ ई० में सफलता मिली थी। परन्तु राणा रत्नसिंह की कोई रानी वास्तव में 'पद्मावती' नाम की थी या नहीं तथा उसकी कोई छाया दर्पण में देखकर अलाउद्दीन उस पर विशेष रूप से आसक्त हुआ, उसने राणा रत्नसिंह को भी बन्दी बनाया और उसे छुड़ाने के लिए डोलियाँ भेजी गयीं या नहीं, जैसे प्रश्नों के उत्तर विशुद्ध इतिहास देता हुआ नहीं दीख पड़ता और इसके लिए केवल अनुश्रुतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। कुछ आलोचकों के अनुसार पद्मावती-प्रसंग जायसी की मनगढ़न्त कहानी है, जिसका वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं के साथ कोई लगाव नहीं। उनका यह भी कथन है कि उसके जितने भी उल्लेख पाये जाते हैं, वे सभी 'पद्मावत' की रचना के अनन्तर के ही किये गये दीख पड़ते हैं परन्तु कवि नारायणदास की रचना 'छिताई वार्ता' (३२१) में, जिसका निर्माण-काल सं० १५८३ (सन् १५२६ ई०) बतलाया जाता है, इसका स्पष्ट उल्लेख है और अनुमान किया जाता है कि कतिपय अन्य ऐसी पुरानी कृतियों में भी इसका कोई न कोई रूप देखने को मिल सकता है। वास्तव में 'छिताई वार्ता' अथवा 'पद्मावत' इन दोनों में से कोई भी ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता तथा पहली रचना के उक्त ३२१ एवं दूसरी के ४९२ की तुलना करने पर कोई भी पाठक सन्देह में पड़ सकता है कि उनमें वर्णित घटनाओं में से किसको पहले की और किसको बाद की कहा जाय और इस प्रकार उनकी आलोचना किसी तथ्य के आधार पर करना अनावश्यक हो जाता है।

'पद्मावत' के कथानक में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, कितना अनुश्रुतियो पर आधारित है तथा कितने को निरा कल्पित अंश ठहरा सकते हैं, यह उसका वास्तविक मूल्य निर्धारित करते समय उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी मूल-कथा का कोई न कोई अंश, चाहे वह जिस किसी भी रूप में रहा हो, जायसी के पहले से विद्यमान था और उसके द्वारा भारतीय वीरों के आत्मत्याग एवं क्षत्राणियों की सतीत्व-रक्षा जैसे महान् आदर्शों को उदाहृत करने वाले साहित्य का सृजन भी होता आ रहा था। जायसी ने उसका 'पद्मावत' के लिए उपयोग करते समय स्वभावतः अपने सूफी मन्तव्यों तथा 'मजहबे इस्लाम' की प्रतिष्ठा की ओर भी ध्यान देना बहुत आवश्यक समझा और तदनुसार इसमें अनेक ऐसी बातों का भी समावेश कर दिया, जो काव्योचित कल्पना की दृष्टि से अस्वीकार्य नहीं है। कम से कम इसके कथानक को लेकर तथा उसके अनेक अंशों को न्यूनाधिक महत्त्व देते हुए जायसी के अनन्तर कई कवियों ने रचनाएँ प्रस्तुत कीं तथा बहुतों ने 'पद्मावत' से प्रभावित होकर इसके अन्य भाषाओं में सुन्दर अनुवाद तक कर डाले। ऐसे अनुवादकों अथवा इसकी कथा के आधार पर प्रायः स्वतन्त्र ढंग से लिखने वालों में कई के नाम लिए जा सकते हैं, जैसे फारसी पद्य में पदमावत' (१०२८ हि०–१६१८ ई०) का रचयिता अब्दुश्शकूर 'बज्मी' और 'शमा परवाना' (१०६९ हि०–१६५८ ई०) का कवि आकिल खाँ 'राजी' तथा फारसी गद्य में इस विषय पर सन् १५९५ ई० में लिखनेवाला राय गोविन्द मुंशी, पश्तो कवि इब्राहिम, उर्दू 'पदमावत' (१०९१ हि०–१६७९ ई०) का कवि गुलाम अली और 'रतन पदम' का रचयिता वली वेल्लोरी तथा बंगला में 'पद्मावती' (सन् १६४५-५२ ई०) का कवि प्रसिद्ध अलाओल और 'पद्मिनी उपाख्यान (सन् १८५८ ई०) का रचयिता रंगलाल वन्द्योपाध्याय आदि। इस अन्तिम रचना के अन्तर्गत उक्त कथा के गोरा बादल वाले युद्ध के प्रकरण को ही विशेष महत्त्व देते हुए उसमें राष्ट्रीयता के भाव भरने की भी चेष्टा की गयी है। हिन्दी के हेमरतन, लब्धोदय एवं जटमल नाहर जैसे कई कवियों ने भी विशेषकर इस अंश को अधिक महत्त्व दिया है और उनकी रचनाओं पर विचार करने पर हमें ऐसा लगता है

कि ये सभी लोग सम्भवतः किसी लोकप्रिय अनुश्रुति का अनुसरण करते आ रहे हैं किन्तु जायसी ने इसके साथ ही पद्मावती वाले प्रसंग का चित्रण ऐसे ढंग से कर दिया है, जिसके अनुसार वह प्रचलित लोकगाथाओं वाली सिंहल की पद्मिनी भी बन जाती है और उसके लिए हीरामन तोता, अपार समुद्र और विकट यात्रादि तक को भी लाना पड़ जाता है।

'पद्मावत' के अन्तर्गत कथावस्तु का सुन्दर संघटन पाया जाता है और विविध घटनाओं का क्रमविकास भी तदनुकूल है। जहाँ तक इसमें प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों का प्रश्न है, वे स्वभावतः इसके पूर्व भाग में ही अधिक संख्या में दीख पड़ती हैं। रचना का वास्तविक उद्देश्य प्रेमतत्त्व एवं विरह का सूफी मतानुसार निरूपण तथा उसी प्रकार प्रेम-साधना का सम्यक् प्रतिपादन करना जान पड़ता है, जिसके लिए जायसी ने रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-कहानी को माध्यम बनाकर उसे अपने ढंग से कहा है। फलतः इसके अनेक स्थलों पर हमें कई ऐसे कथन भी मिल सकते हैं, जिनका मूलकथा के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, किन्तु जिन्हें यदि कवि के मन्तव्यानुसार परखा जाय तो हम बहुत महत्त्वपूर्ण एवं उपयुक्त तक ठहरा सकते हैं। प्रेम का आदर्श यहाँ पर अत्यन्त उच्च और महान् है तथा इसमें उसके लौकिक एवं अध्यात्मिक जैसे दो भिन्न-भिन्न पक्षों का कोई महत्त्व नहीं। अतएव प्रेमी राजा रतनसेन को यहाँ पर अपनी प्रेयसी पद्मावती के लिए ऐसे प्रयत्न करने पड़ते हैं, जो हमें योग-साधना से लगते हैं तथा उसके प्रति ऐसा व्यवहार भी करना पड़ता है, जिसका वर्णन रहस्यवाद गर्भित जान पड़ता है। इस रचना में किया गया रूप सौन्दर्य-वर्णन तथा प्रकृति वर्णन भी हमें इसी कारण अधिकतर वैसे ही रंग में रंजित जान पड़ता है।

'पद्मावत' को हम केवल एक सफल प्रेमाख्यान मात्र ही नहीं कह सकते, इसे एक उत्कृष्ट महाकाव्य तक ठहरा सकते हैं। इसमें न केवल कथोपयुक्त सांगोपांग वर्णन और प्रेमात्मक इतिवृत्त की रोचकता है, अपितु गम्भीर भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति, उदात्त चरित्रों का विशद चित्रण तथा एक आदर्श रचना की सोद्देश्यता भी कम नहीं है। इसके अन्तर्गत हमें उन सभी लक्षणों के उदाहरण अवश्य नहीं मिल सकते, जिन्हें प्राचीन काव्यशास्त्रज्ञों ने गिनाया है, किन्तु केवल इसी के कारण हम इसे महत्त्वहीन भी नहीं बतला सकते, क्योंकि इसकी बहुत-सी वैसी कमियां, इसके अन्य गुणों के रहते कदाचित् क्षम्य भी ठहरायी जा सकती हैं। इसके कवि की निश्छल भावुकता, सहृदयता और समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण इसके अनेक स्थल अत्यन्त आकर्षक बन गये हैं तथा उसकी प्रतीकात्मक वर्णन शैली ने इसमें प्रायः सर्वत्र एक विचित्र सजीवता ला दी है। 'पद्मावत' में पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा बौद्धिकतासूचक स्थलों का अभाव नहीं है, किन्तु वे अधिकतर परम्परा पालन के अनुरोध में ही आये हैं और इसी प्रकार जहाँ तक जायसी की इस्लाम के प्रति एकांत निष्ठा का प्रश्न है, हम उसे भी उनके लिए स्वाभाविक ही मान ले सकते हैं। इनके कारण हम उनकी उस अपूर्व प्रतिभा की उपेक्षा नहीं कर सकते, जिसके प्रभाव में किसी काल्पिनक पात्र का भी रूप निखर कर ऐतिहासिक बन जा सकता है तथा कोई एक मनगढ़न्त प्रसंग तक तथ्यपूर्ण घटना का रंग पकड़ ले सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—पदमावत : व्याख्याकार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, सं० २०१२; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ५७ अंक ४, सं० २००९; जर्नल आफ दि बिहार रिसर्च सोसायटी पटना, भाग ३९ खण्ड १-२, सन् १९५३ ई०; हिन्दी अनुशीलन-भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, चैत्र, ज्येष्ठ २०१० और जुलाई, सितम्बर, १९५८ ई०; सूफी काव्य संग्रह : सं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शक १८८०; दि माडर्न रिव्यू : कलकत्ता, नवम्बर, १९५६ ई०; समालोचक-आगरा, सितम्बर, १९५९ ई०; विश्वभारती अनाल्स-भाग ९, शान्ति निकेतन, वीरभूमि, १९५९ ई०; पद्मिनी उपाख्यान : रंगलाल वन्द्योपाध्याय, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १३५८; योरप में दखिनी मखतूतात : सं० नसीरुद्दीन हाशमी, हैदराबाद, १९३२ ई०।]

—प० च०

पदमिनी चउपई—इस रचना का पूरा नाम 'गोरा बादल कथा पद्मिणी चउपई', भी मिलता है। इसका रचयिता हेमरतन है, जो पूर्णिमा गच्छ के देय तिलक सूरि के पट्टधर ग्यान तिलक सूरि के शिष्य वाचक पद्मराज का शिष्य था। जैसा इसकी प्रशस्ति (६०९-१०) से भी प्रकट है और यहीं पर इस बात का भी पता चलता है कि उसने इसे महाराणा प्रताप के मन्त्री कावेउचा गोत्रवाले भामाशाह के अनुज ताराचन्द के आदेश से सं० १६४५ (सन् १५८८ ई०) की श्रावण सुदी पाँच के दिन सादड़ी ग्राम में रचा था (६११-४)। हेमरतन ने इस रचना को "बात रची ऐ बादल तणी" द्वारा स्वयं कदाचित् "बात" की संज्ञा दी है, तो संस्कृत शब्द 'वार्ता' की भाँति वृत्तान्त अथवा जनश्रुति का भी अर्थ रखता है। उसने बतलाया है कि यहाँ पर वह 'सामि धरमि' (स्वामिधर्म) की कहानी कहता है, जिसमें विशेष कर वीर एवं श्रृंगार रस की कविताएँ हैं तथा 'जैसा सुना है उसके अनुसार' वह इसे ६१६ गाथाओं की रचना द्वारा वर्णन करके प्रस्तुत कर देता है (६१५-७)। इसकी कई उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में से सबसे प्राचीन सं० १६४६ की लिखी समझी गयी है और कहा गया है कि वह श्री रविशंकर देराश्री बनेड़ा के पास है (दे० राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, तृतीय भाग, पृ० ८३), जिसके अन्त के "इतिश्री गोरा बादल चरित्रे। वादिल जय लक्ष्मी वर्णनो नाम प्रथम खण्डः" से सूचित होता है कि वह अधूरी हो सकती है परन्तु उक्त 'खोज' वाले विवरण के सम्पादक उदयसिंह भटनागर का कहना है कि, "इस प्रथम खण्ड से आगे की कथा अब तक कहीं नहीं मिलती है" (वहीं पृष्ठ ८४)। उनका वह भी कथन है कि केवल प्रथम खण्ड का ही प्रचार सर्वत्र दीख पड़ता है तथा यदि अन्य कवियों ने "इसका भाषान्तर कर क्षेपकों द्वारा विविध संस्करण भी तैयार कर दिये हैं" तो भी उनकी रचनाओं में इसके वर्ण्य-विषय से आगे की कथा आती नहीं जान पड़ती। वास्तव में इसका निर्णय मूल प्रति से ही हो सकता है क्योंकि उसी के आधार पर सम्भवतः यह भी पता चल सकता है कि कवि की इच्छा इस कथा को आगे बढ़ाने की रही भी होगी अथवा नहीं।

'गोरा बादल कथा—पद्मिणी चउपई' तथा इसके रचयिता 'हेमरतनसूरि' का उल्लेख 'जैनगुर्जर कविओं' (प्रथम भाग) के

पृ० २०७-११ पर किया गया मिलता है, जो मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा लिखित एवं वि० सं० १९८२ (सन् १९२६ ई०) में अमदाबाद (अहमदाबाद) से मुद्रित होकर प्रकाशित है और उसमं इस रचना के 'आदि' और 'अन्त' की कतिपय पंक्तियाँ भी उद्धृत की गयी हैं परन्तु आश्चर्य है कि वहाँ पर उपर्युक्त सं० १६४६ वाली प्रति में रचनाकाल के विषय में दी गयी पंक्तियाँ क्यों नहीं दीख पड़तीं। इन दोनों उद्धरणों में पाठ भेद भी कम नहीं जान पड़ता, जिस कारण किसी भी पाठक के सन्देह को बल मिलता है। इसके सिवाय उक्त ग्रन्थ के अन्तर्गत दिये गये 'अन्त' वाले उद्धरण के नीचे किसी अन्य प्रति से भी कुछ पंक्तियाँ लेकर दी गयी हैं, जिनमें रचनाकाल 'संवत सोलह से सेताल' का स्पष्ट उल्लेख है तथा दोनों उद्धरणों के पहले लेखक ने स्वयं भी रचना के शीर्षक के आगे 'संवत् १६४७ (५) चै० ब० १४ गुरु सादड़ीया' दिया है। केवल कोष्ठ में पीछे 'टीपमां १६४५-सोलइसइ पणयाल-सबलपुरमां' का भी एक संदिग्ध सा उल्लेख कर दिया है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त 'जैनगुर्जर कविओं' वाले उद्धरण के अन्त में एक 'कलस कवित्त' और ७ दोहे ऐसे भी आ गये हैं, जिनसे जान पड़ता है कि उनका लेखक हेमरतन से भिन्न व्यक्ति होगा, उसका नाम 'भागविजयी' हो सकता है (जिसे अगरचन्द नाहटा ने कुछ अन्य प्रमाणों के भी आधार पर 'संग्राम सूरि' कहा है) और वह उसे चैत बदी १४ गुरुवार के दिन 'साठे बरस' (सम्भवतः सं० १७६० वि०) में लिख रहा है। फिर भी 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (प्रथम भाग) के लेखक मोतीलाल मेनारिया ने उसके पृष्ठ ५३ पर इसी को हेमरतन की 'पदमिणी चउपई' का भी रचनाकाल स्वीकार कर लिया, जिसका प्रभाव काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज सम्बन्धी उन्नीसवीं त्रैमासिक विवरण पत्रिका (सं० २००१-२००३ वि०) पर भी बिना पड़े नहीं रह सका (दे० 'ना० प्र० पत्रिका' वर्ष ५६, अंक १, पृ० ४०) और इस भूल का सुधार पीछे (दे० वहीं, वर्ष ५७, अंक १ पृ० ८८-९०) तभी किया जा सका, जब इस ओर अगरचन्द नाहटा ने 'सभा' का ध्यान दिलाया तथा हेमरतन एवं 'गोरा बादल-पद्मिणी चउपई' सम्बन्धी अनेक बातों पर नवीन प्रकाश भी डाला (दे० 'शोध पत्रिका', उदयपुर भा० ३, अंक ३, पृ० १०५-१४)। अन्त में राजस्थान वाली उक्त 'खोज' विवरण (तृतीय भाग) के लेखक उदयसिंह भटनागर ने उसके पृष्ठ ८३-९ पर न केवल इसकी सबसे प्राचीन (सं० १६४६ की) उपलब्ध प्रति से इसके कुछ आवश्यक अंश उद्धृत कर दिये, अपितु उन्होंने इसकी ऐसी अन्य तीन (सं० १६६१, सं० १७२९ और सं० १७८५ की) प्रतियों का भी उल्लेख कर दिया तथा भाग विजय अथवा संग्रामसूरि की भी उस रचना का पृथक् परिचय दे दिया, जिसका रचनाकाल सं० १७६० पाया जाता है। उन्होंने अन्यत्र (उक्त 'शोध पत्रिका' भाग ३ अंक ४ के पृष्ठ २१२-२१ पर) फिर इसकी ६ हस्तलिखित प्रतियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया तथा इसके विविध उपलब्ध संस्करणों की भी प्रतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि जटमल की 'गोरा बादल री कथा' (र० का० सं० १६८०-६) तथा लब्धोदय लालचन्द का ग्रन्थ 'पद्मिनी चरित्र' (र० का० सं० १७०७) और गिरधारी लाल की वैसी ही कृति (र० का० सं० १८३२) भी वस्तुतः इसी रचना के नवीन संस्करण कहे जा सकते हैं।

उदयसिंह भटनागर के उपर्युक्त 'शोध पत्रिका' वाले लेख द्वारा पता चलता है कि उन्होंने इस रचना का एक 'एक्जास्टिव क्रिटिकल एडीशन' तैयार कर दिया है, जो 'राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर' से प्रकाशित होने वाला है तथा वे अपनी 'थीसिस' से सम्बन्धित कोई लेखमाला भी प्रकाशित करना चाहते हैं, जिसका उक्त लेख 'प्रथमांश' कहा गया है किन्तु यह रचना अभी तक प्रकाशित नहीं सुनी गयी और न इसकी कोई प्रमाणिक हस्तलिखित प्रति भी अभी तक अपने पूरे रूप में देखने को मिल सकी। इस रचना की भाषा राजस्थानी की उपशाखा मेवाड़ी बतलायी जाती है, जिस पर ब्रजभाषा का भी प्रभाव कम नहीं जान पड़ता। यह 'काव्यगत डिंगल से रहित' है किन्तु इसका गम्भीर अध्ययन करने वाले का कथन है कि यह रचना 'साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। 'गोरा बादल की कथा को केवल सुल्तान अलाउद्दीन के यहाँ से राणा रतनसिंह को छुड़ाकर चित्तौर तक वापस ले आने तक की ही घटनाओं के साथ समाप्त कर देना और पद्मिनी के सती होने की चर्चा जैसी बातों का न छोड़ना, इसकी एक विशेषता है। वास्तव में इसके रचयिता का उद्देश्य जितना रतनसेन और पद्मिनी के प्रेम-प्रसंग को महत्त्व देना नहीं हैं, उतना गोरा एवं बादल जैसे शूरवीरों के शौर्य, स्वामिधर्म, आत्मत्याग एवं मर्यादा-पालनविषयक यशोगान करना कहला सकता है। जायसी की रचना प्रसिद्ध 'पद्मावत' एवं हेमरतन की 'गोरा बादल पदमिणी चउपई' की तुलना करने पर उसका अन्तर इस दृष्टि से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। हेमरतन ने अपनी रचना जायसी से ४८ वर्ष अनन्तर पूरी की थी, जिससे उस पर 'पद्मावत' का प्रभाव पड़ना भी असम्भव नहीं है किन्तु दोनों में वर्णित सभी घटनाएँ एक सी नहीं दीख पड़तीं तथा कतिपय व्यक्तियों एवं स्थलों के विषय में भी किंचित् हेर-फेर किया गया जान पड़ता है, जिसका एक कारण यह भी हो सकता है कि हेमरतन ने अपनी बातें किसी भिन्न स्रोत से ग्रहण की होंगी। कम से कम इतना तो निश्चित लगता है कि गोरा बादल के युद्ध-प्रसंग एवं रतनसेन और पद्मिनी के प्रेम-प्रसंग में से किसी एक को विशेष महत्त्व देकर काव्यग्रन्थों की रचना करने की दो भिन्न-भिन्न पद्धतियां चल रही थीं तथा इन दोनों के विशिष्ट कवि क्रमशः हेमरतन एवं जायसी थे। जायसी एक सूफी कवि थे और उनके मार्ग का अनुसरण अधिकतर मुस्लिम कवियों ने किया, जहाँ हेमरतन की रचनाशैली हिन्दू कवियों को अधिक पसन्द आयी। जायसी की 'पद्मावत' अपने ढंग की प्रथम कृति भी हो सकती है, किन्तु हेमरतन की रचना के लिए कदाचित् ऐसा नहीं भी कहा जा सकता है। हेमरतन एक जैन कवि थे और उपर्युक्त 'जैनगुर्जर कवियों' में (पृ० २०७-८) इनके अन्य तीन ग्रन्थों के भी नाम दिये गये हैं, जैसे 'शीलवती कथा' (सं० १६०३ और १६७३(?) 'लीलावती' (सं० १६०३), और 'महिपाल चउपई-गाथा ६९६' (सं० १६३६) जिनमें से पृथक् दो का एक ही रचना होना भी कहा जाता है। इसी प्रकार इनकी अन्य उपलब्ध रचनाओं में से 'अमरकुमार चौपाई', 'जगदम्बा बावनी', 'राम-रासो' तथा 'शनिश्चर छन्द' के भी नाम लिये जाते हैं (शोध पत्रिका, पृ० १११-२)।

[सहायक ग्रन्थ—जैन गुर्जर कविओ (प्रथम भाग) : मोहनलाल दलीचन्द देसाई, श्रीजैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंम आफिस, बम्बई, सं० १९८२ वि०; राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) : मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर, सन् १९४२ ई०; राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित-ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग) : उदयसिंह भटनागर, साहित्य संस्थान, उदयपुर, सन् १९५२ ई०; नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००९; शोध पत्रिका (भाग ३), अक ३ और ४ उदयपुर स० २००९ चैत्र और आषाढ; समालोचक, द्वितीय वर्ष, अक ८, आगरा, सितम्बर, १९५९ ई०।]

—प० च०

पदुमनदास—ये बादम नगर के शासक रामसिंह के पुत्र दलेलसिंह के आश्रित कवि थे। इनका केवल एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है—'काव्यमंजरी'। अपने आश्रयदाता की प्रेरणा से इसकी रचना इन्होंने १६८४ ई० (स० १७४१ वि०) मे की। कवि-शिक्षा ग्रन्थों की दृष्टि में हिन्दी मे केशव के बाद इन्हीं का स्थान है। संस्कृत के आचार्यों के अतिरिक्त इन्होंने केशव की 'कविप्रिया' से भी सहायता ली है। इस ग्रन्थ मे अन्य काव्यांगो का विवेचन भी है पर कवि-शिक्षा विषयक प्रकरण 'कविप्रिया' के इस प्रकरण की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है। ये केशव की परम्परा के कवि माने गये हैं। इनकी रचनाओं में विषय की व्यापकता और भाषा का अनगढ़पन केशव जैसा नहीं है पर उपमान योजना और अभिव्यक्ति शैली उन्हीं के समान है। इस कवि ने किसी विषय वस्तु का वर्णन करने के लिए परम्परागत उपमानों अथवा कवि समयों का चयन मात्र किया है। [सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—जन्म सन् १८९४ ई० में हुआ। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ आप साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आये और 'सरस्वती' मे लिखना प्रारम्भ किया। आपका नाम 'द्विवेदीयुग' के प्रमुख साहित्यकारों में लिया जाता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने साहित्यिक जीवन का शुभारम्भ कवि रूप में किया था। १९१६ ई० से लेकर लगभग १९२५ ई० तक आपकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति की फुटकर कविताएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। बाद में 'शतदल' नाम से आपका एक कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुआ। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को वास्तविक ख्याति आलोचक तथा निबन्धकार के रूप में मिली। आरम्भ में आपकी दो आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुईं—'हिन्दी साहित्य विमर्श' (१९२४ ई०) और 'विश्व साहित्य' (१९२४ ई०)। इन कृतियों में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के सामंजस्य एवं विवेचन की चेष्टा की गयी है। 'विश्वसाहित्य' में यूरोपीय साहित्य तथा पाश्चात्य काव्य-मत पर कुछ फुटकर निबन्ध भी दिये गये हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त बख्शी की दो अन्य आलोचनात्मक कृतियाँ बाद में प्रकाशित हुईं—'हिन्दी कहानी साहित्य' और 'हिन्दी उपन्यास साहित्य'। निबन्ध-कहानी साहित्य' और 'हिन्दी उपन्यास साहित्य'। निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एक विशिष्ट शैलीकार के रूप मे आते है। आपने जीवन, समाज, धर्म, संस्कृति और साहित्य आदि विभिन्न विषयों पर उच्च कोटि के ललित निबन्ध लिखे है। आपके निबन्धो में नाटक की सी रमणीयता और कहानी जैसी रजकता पायी जाती है। यत्र-तत्र शिष्ट तथा गम्भीर व्यंग्य-विनोद की अवतारणा करते चलना आपके शैलीकार की एक प्रमुख विशेषता है। अब तक आपके चार निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—(१) 'पंचपात्र', (२) 'पद्म वन', (३) 'कुछ' तथा (४) 'और कुछ।' बख्शीजी की एक पुस्तक 'यात्री' नाम से प्रकाशित हुई है। यह एक यात्रा वृत्तान्त है और इसमें 'अनन्त पथ की यात्रा' का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की सेवाएँ उल्लेख्य हैं। इन्होंने १९२० ई० से १९२७ ई० तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया। कुछ वर्षो तक 'छाया' (इलाहाबाद) के भी सम्पादक रहे। २८ दिसम्बर, १९७१ को आपकी मृत्यु हुई।

—र० भ्र०

पदुमावती—जायसी ने 'पदमावत' के अन्तर्गत पदुमावती को उसके सभी अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। यह 'सिघल दीप' की 'पदुमिनी रानी' है (१-२४) जहाँ सात विभिन्न समुद्रो को लाँघकर जाना पड़ता है (१५-१)। पदुमावती वहाँ के चक्रवर्ती राजा गन्धर्वसेन की पुत्री है, जिसका जन्म उसकी पटरानी चम्पावती के गर्भ से हुआ है और इसके अनुपम सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा सुनकर 'सप्तदीप' के 'वर' इसके लिए आते हैं किन्तु निराश होकर लौट जाते हैं (३-४)। तदनुसार हीरामन सुए के मुख से इसके नख-शिख का वर्णन सुनते ही चित्तौड़ का राजा रतनसेन भी मूर्च्छित हो जाता है (११-१) और संज्ञा प्राप्त कर लेने पर इसे पाने के लिए राजपाट छोड़ सोलह सहस्र कुँवरों के साथ 'जोगी' बनकर चल देता है (१२-११)। वह दुर्गम और सुदीर्घ मार्ग पार करके ही किसी प्रकार सिघलगढ़ पहुँचता है और वहाँ पर मण्डप में इसका ध्यान करने लगता है परन्तु इसके आने पर इसे देखते ही वह बेसुध भी हो जाता है (२०-१५) और इस प्रकार कृतकार्य न हो सकने पर अधीर हो उठता है तथा फिर किसी प्रकार महेश एवं पार्वती की कृपा से सिद्धिगुटिका लेकर और उसके बल से 'सिंघलगढ़' के ऊँचे दुर्ग में प्रवेश पाकर इसे अपना पाता है और अन्त में इसका आलिंगन करता है (२७-३०)। दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन भी राघवचेतन से इसके रूप की प्रशंसा सुनकर मूर्च्छित हो जाता है (४१-२०) और फिर दर्पण में इसका प्रतिबिम्ब देखकर उसकी ज्योति द्वारा अभिभूत हो जाता है (४६-१८) तथा इसकी प्राप्ति के लिए भीषण युद्ध तक छेड़ता है।

पदुमावती में 'पदुमिनी' कही जाने वाली स्त्रियों के सभी लक्षण पाये जाते हैं और यह 'पृथ्वीराज रासो' के 'पद्मावती समय' की पद्मावती तथा 'लखमसेन पदमावती' की नायिका के समान उस जाति की सुन्दरियों का प्रतिनिधित्व करती भी जान पड़ती है। 'कल्किपुराण' के अन्तर्गत सिंहल के किसी राजा बृहद्रथ की कन्या को भी 'पद्मिनी' कहा गया है तथा उसके कथा वाले कतिपय प्रसंग 'पद्मावत' में भी मिलते हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि कथानक रूढ़ियों की कोई वैसी परम्परा भी चली आती होगी। किसी पदुमावती का चित्तौड़ के

ऐतिहासिक राजा रतनसेन (रावल रतनसी या रत्नसिंह) की रानी होना प्रमाणित नही होता। स्वयं सिघलगढ़ का भौगोलिक अस्तित्व तक भी अभी विवादास्पद है और उसे अधिक से अधिक आजकल की 'श्रीलका' भी मान लेने पर, उसके किसी चौहानवंशीय राजा गन्धर्वसेन का राजा रतनसेन का समकालीन होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस कारण म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अनुमान किया है कि वह स्थान 'सिंगोली नामक प्राचीन स्थान' होगा, जो 'चित्तौड़ से गरीब ४० मील पूर्व में है' तथा वहीं के किसी सरदार की कन्या से राजा रतनसेन का विवाह भी हुआ होगा और 'सिंगोली', 'सिंघलगढ़' के नाम साम्य से उक्त भ्रम उत्पन्न हुआ होगा (ना० प्र० पत्रिका, भाग १३ पृ० १६)। कर्नल टाड के अनुसार विक्रम संवत् १३३१ मे चित्तौड के सिहासन पर बैठने वाले लखमसी के चाचा भीमसी का विवाह सिंहल के चौहान राजा 'हम्मीर शंक' की कन्या पद्मिनी के साथ हुआ था, जो अपने रूप-गुण मे अद्वितीय थी तथा उसकी ख्याति द्वारा आकृष्ट होकर दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ पर चढ़ाई की थी। परन्तु सं० १३३१ (१२९० ई०) तक तो अलाउद्दीन अभी तक दिल्ली के सिहासन पर बैठा भी नहीं था तथा उक्त आक्रमण भी वस्तुतः सल्तान बलवन की ओर से किया गया था।

अतएव आश्चर्य नही कि जायसी ने अपने प्रेमाख्यान की नायिका पद्मावती की कल्पना किसी प्राचीन परम्परागत 'सिंघलगढ़' की 'पद्मिनी' के रूप में ही कर ली हो और अपने सूफी-सिद्धान्तों के अनुसार इसे स्वभावतः 'खुदा का नूर' (दिव्य ज्योति) का प्रतीक मानकर तदनुरूप कथानक की भी सृष्टि कर डाली हो तथा इसी कारण इसके सम्बन्ध की सारी बातों को बहुत कुछ अतिरंजित रूप में चित्रित कर दिया हो। इस प्रकार देखने पर 'पदमावत' की पद्मावती का रूप अलौकिक बन जाता है, जो एक सूफी-प्रेमाख्यान की नायिका की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त भी कहा जा सकता है और वैसी दशा में उसे ऐतिहासिकता की कसौटी पर परखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। यों जायसी ने इसका चरित्र चित्रित करते समय इसमें आदर्श लौकिक गुणों की भी कमी नहीं आने दी है। उनकी यह पद्मावती एक आदर्श प्रेमिका है, जो अपने प्रेमपात्र का वियोग न सह सकने के कारण दुःखिनी बन जाती है (१८-१)। रतनसेन के लिए सूली की आज्ञा सुना दिये जाने पर यह उसे कहला भेजती है, "मत समझो कि मैं तुमसे दूर हूँ, वह सूली मेरे ही नेत्रों में गड़ रही है" तथा "मैंने हृदय में तुम्हारे लिए आसन सजाया है, तुम दोनों लोकों में मेरे राजा हो" (२४ थ २१)। इसी प्रकार यह एक आदर्श गृहिणी भी है, जो 'पुरी' में अवसर आ पड़ने पर अपना एक नग भुनाकर अपने पति की आर्थिक स्थिति को सम्भाल देना चाहती है (३४-२८)। यह एक आदर्श हिन्दू पत्नी है, जो देवपाल की दूती कुमुदिनी के बहकाने पर कह उठती है, "मेरा यौवन वहीं है, जहाँ प्रियतम रतनसेन है, यह यौवन और जीवन मैं उनकी बलि होकर उन्हीं को सौंप चुकी हूँ" (४९-१३)। यह समय पर यथोचित प्रयत्न करना जानती है और तदनुसार कुछ रुष्ट हुए गोरा, बादल के घर-घर स्वयं जाकर इस प्रकार बातें करती हैं, जिससे वे पसीज जाते हैं तथा रतनसेन के छुड़ाने की उपयुक्त योजना भी बनायी जाती है (५१-५२)। यह बड़े उदारहृदय की है और अपने यहाँ से निकाले जाने पर राघव चेतन को अपना कंगन दे देने मे भी नहीं हिचकती (३८-६) तथा यह एक ऐसी राजपूत महिला भी है, जो अपने पति की मृत्यु का समाचार पाते ही उसके शव के साथ सती हो जाती है (५७-१, ३) और इस प्रकार अपने कुल की क्रमागत मर्यादा की रक्षा भी कर लेती है।

—प० च०

पद्म—१. एक प्रसिद्ध सर्प।
२. मणिभद्र और पुण्यजनी का पुत्र, एक यक्ष।
३. सातवें कल्प का नाम।
४ भद्र का पुत्र, जिसने आठ प्रकार के हाथियों को जन्म दिया। यह एलविल का वाहन था।
५. बैकुण्ठ के एक द्वारपाल।
६. सिन्धु और लोहित नदी के बीच का वन।

—मो० अ०

पद्मकांत मालवीय— आपका जन्म इलाहाबाद मे ६ अगस्त सन् १९०८ ई० को महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय के परिवार में हुआ। आप महामना के पौत्र एवं स्वर्गीय पं० कृष्णकान्त मालवीय के पुत्र हैं। शिक्षा ग्रहण करने के बाद आपने राजनीति और पत्रकारिता दोनो में भाग लेना शुरू किया। काफी दिनों तक आप 'अभ्युदय' का सम्पादन और प्रकाशन करते रहे। उग्र विचारों के इस पत्र की एक परम्परा थी, जिसने हिन्दी पत्रकारिता में और हिन्दी के विकास में अपना समुचित योगदान दिया था। पं० कृष्णकान्त मालवीय के बाद पद्मकान्त मालवीय ने १९४८ ई० तक इस पत्र की निश्चित परम्परा को कायम रखने की चेष्टा की किन्तु किन्हीं कारणो से वह पत्र बन्द करना पड़ा। इसीलिए पद्मकान्त मालवीय का प्रथम परिचय हमें पत्रकार के रूप में मिलता है।

किन्तु पद्मकान्त मालवीय का दूसरा परिचय हमे कवि के रूप में भी मिलता है। आपको छायावादोत्तर काल में विकसित कड़ी में गीतों के नये प्रयोगों के मूर्धन्यों में से एक मानना अनुचित न होगा। हिन्दी में यह गीत-शैली कुछ विचित्र प्रकार से आयी। १९३० ई० के आसपास छायावाद की समस्त बिम्ब-योजना और शब्द-योजना जैसे आकर ठहर गयी और उसमें कुछ नयी संवेदना प्रवेश ही नहीं कर पायी। उसी समय उमरखैयाम के अनुवादों की धूम मची। पद्मकान्त मालवीय ने सर्वप्रथम उस छायावादी गीत को नयी अभिव्यंजना का रूप दिया। इसमें सन्देह नहीं कि हालावादी कवियों में से पद्मकान्त मालवीय ही थे, जिन्होंने उमरखैयाम के बन्धनों को छोड़कर नयी दृष्टि भी दी।

किन्तु आज वह सब एकदम हमारी स्मृति से उतर चुका है। पद्मकान्त मालवीय ने उसे एक विधा के साथ प्रयोग किया किन्तु उसकी विविधता एवं उसकी रसग्राह्यता को वे सँभाल नहीं पाये। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हालावादी गीत के लिए मालवीय ने ही पहले भूमिका तैयार की। यही नहीं, हालावादी काव्यधारा को अग्रसर करने में भी इनका प्रमुख हाथ था। छायावाद की सूक्ष्म, उदात्त, भावस्थिति से पृथक् करके गीत को नया स्वर आपने दिया।

आपके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—'त्रिवेणी' (सन् १९२९ ई०), 'प्याला' (सन् १९३२-३३), 'प्रेमपत्र'

(१९३३), आत्मवेदना (सन् १९३३ ई०), 'आत्म विस्मृति' (१९३३), 'हार' (सन् १९३६ ई०) 'कूजन' (सन् १९४१ ई०) 'मालवीयजी को काव्यश्रद्धाञ्जलि' (१९६१ ई०)।

—ल० का० व०

पद्मगंधा—पूर्वजन्म में एक क्रौंची। अपने प्रिय शिशुओं के गंगा मे डूबकर मर जाने के बाद यह इन्द्र की इच्छा से उसकी दासी बन गयी थी।

—मो० अ०

पद्मनाभ—१. भगवान् विष्णु का एक नाम।

२. मणिवर और देवजनी का पुत्र एक यक्ष।

३. एक ब्राह्मण। इन्हें त्रास देने जब एक राक्षस आया तो विष्णु ने अपने चक्र से इनकी रक्षा की। तब से उस स्थान का नाम चक्रतीर्थ हुआ।

४. रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त जो पयहारीजी के शिष्य और नाभाजी के गुरु-भाई थे (दे० भक्तमाल : नाभादास)।

—मो० अ०

पद्मनारायण आचार्य—आपका जन्म मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिलान्तर्गत गाडखारा मे पौष शुक्ल सप्तमी शनिवार, सं० १९६४ (१० जनवरी, १९०८ ई०) को सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपके पिता पण्डित मधुसूदन आचार्य संस्कृत के विद्वान और प्रसिद्ध व्यास थे। पद्मनारायण आचार्य की प्रारम्भिक शिक्षा गाडखारा मे ही हुई। इसके अनन्तर आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संस्कृत और हिन्दी, दो विषयो में एम० ए० किया तथा सन् १९३१ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। आप कुछ दिन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष भी रहे। आपने 'शिक्षा में सुधार', 'वैदिक स्वर', 'शब्द शक्ति', 'साहित्य की आत्मा' आदि अनेक निबन्ध लिखे हैं। आपने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'पण्डित पत्र', 'ब्रह्मविद्या', 'गीताधर्म', आदि पत्रों का सफल सम्पादन किया है। आप धर्मेन्द्र, नाथूराम प्रेमी आदि कई अभिनन्दन-ग्रन्थों के सम्पादकमण्डल में भी रहे। आपके संस्मरण लेख सशक्त और प्रभावशाली बन पड़े है। अभिनन्दन ग्रन्थों में आपकी कई कविताएँ भी छपी हैं। आपने निम्नलिखित संग्रह सम्पादित किये हैं—(१) 'रसायन', (२) 'नयी कहानियाँ', (३) 'गद्यभारती', (४) 'नवरत्न', (५) 'चुने फूल' और (६) 'सफल एकांकी'। आपने सन् १९३४ ई० से १९३७ ई० तक बाबू श्यामसुन्दरदास के कई ग्रन्थों का परिवर्द्धन भी किया। आप प्रसाद साहित्य और 'कामायनी' के विशेष मर्मज्ञ हैं।

—सं०

पद्मसिंह—प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का पात्र। सुभद्रा का पति वकील पद्मसिंह आचारवान् होते हुए भी अपने सिद्धान्तों पर स्थिर रहने की सामर्थ्य नहीं रखता और वेश्या-भक्त मित्रों के आग्रह पर म्युनिसिपैलिटी के चुनाव में जीतने पर भोली का मुजरा करा डालता है। गजाधर द्वारा परित्यक्ता सुमन जब उसके यहाँ आश्रय लेती है तो वह बदनामी के डर से उसे घर से निकाल देता है। सुमन उसके यहाँ से निकलने के बाद ही वेश्यावृत्ति धारण करती है। इस पर पद्मसिंह आजन्म आत्मग्लानि से पीड़ित रहता है। उसका हृदय साफ है, किन्तु उसमे साहस का अभाव है। अपनी पत्नी के सामने उसकी बहुत नहीं चलती। पद्मसिंह विचारशील होते हुए भी किसी मामले मे एकदम फैसला नहीं कर सकता। वह अपनी कर्त्तव्य-निष्ठापर गर्व करता था किन्तु सुमन के प्रति किया गया व्यवहार उसके अभिमान को चूर्ण कर डालता है। कर्त्तव्य-क्षेत्र मे लाने के लिए पद्मसिंह को उत्साहित करने की आवश्यकता पड़ती है। वह जागते हुए भी आलसी है। संघर्षो के फलस्वरूप उसमे धीरे-धीरे सेवा और प्रेम का भाव उत्पन्न होता है।

—ल० सा० वा०

पद्मसिंह शर्मा—बिजनौर जिले के एक गाँव में पद्मसिंह शर्मा का जन्म सन् १८७६ ई० में हुआ था तथा उनकी मृत्यु सन् १९३२ ई० में हुई। शर्माजी हिन्दी, संस्कृत, फारसी और उर्दू के गहरे ज्ञाता थे। उन्होंने 'साहित्य', 'भारतोदय' तथा 'समालोचक' जैसे पत्रो का सम्पादन भी किया था। ज्वालापुर महाविद्यालय में उन्होंने बहुत दिनों तक अध्यापन किया। उनका घर उस समय के साहित्यकारो का प्रमुख केन्द्र था।

शर्माजी की प्रसिद्ध पुस्तक है—'बिहारी की सतसई'। इसके अतिरिक्त 'पद्मपराग' प्रथम भाग (प्र० सन् १९२९ ई०) में उनके कुछ निबन्ध संगृहीत है एवं 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' नाम की पुस्तक मे भाषा-समस्या पर उनके विचार संकलित हैं। शर्माजी का एक सम्पादित ग्रन्थ है—'प्रदीप्त मंजरी'।

भारतेन्दु-युग की प्रारम्भिक साहित्य समीक्षा ने पुस्तक समीक्षाओ एवं दोष दर्शन की प्रवृत्ति के बाद अपने द्वितीय चरण में जो विकास किया, उसका मुख्य श्रेय महाबीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु एवं पद्मसिंह शर्मा को है। इन तीनों में (और इनके माध्यम से उस समय की समस्त समीक्षा मे) एक साम्य स्पष्ट दिखायी देता है कि तीनों का मुख्य आकर्षण-केन्द्र कवियों का अभिव्यंजना-शिल्प रहा है। काव्य की आन्तरिक भाव-संवेदना की ओर इनका ध्यान कम गया है। तीनो ने ही अभिव्यंजन-क्षमता के आकलन में भारतीय काव्य-शास्त्र तथा व्याकरण-शास्त्र का सहारा लिया है।

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के प्रवर्तकों में पद्मसिंह शर्मा का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने जुलाई, १९०७ की 'सरस्वती' में बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक समालोचना प्रकाशित करायी। इसी अंक में शर्माजी का एक लेख और था—"भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य"। यह निबन्ध क्रमशः 'सरस्वती' के अनेक अंकों में निकला और १९११ ई० में जाकर समाप्त हुआ। इसी प्रकार जुलाई, १९०८ ई० की 'सरस्वती' में उनका 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' निकलना शुरू हुआ और १९१२ ई० में जाकर समाप्त हुआ। 'सरस्वती', अगस्त, १९०९ ई० में उन्होंने 'भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' लिखा। इन बड़े—छोटे निबन्धों में तुलनात्मक आकलन तो नहीं था पर पारस्परिक समता दिखाने की इस प्रवृत्ति ने लोगों को उस दिशा में सोचने के लिए प्रेरित किया। वस्तुतः इन निबन्धों की आधारशिला पर ही आगे चलकर तुलनात्मक समालोचना का जोर बढ़ता है।

तुलनापरक इन पद्यों की खोज ने ही शर्माजी को इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। इस दिशा में 'बिहारी की

सतसई', जो बिहारी सतसई के भाष्य की भूमिका है, उनका प्रौढ़ प्रयोग है। इस पुस्तक में 'गाथा सत्तसई', 'आर्यासप्तशती', 'अमरुक शतक' आदि की उस श्रृंगारिक साहित्यिक परम्परा का निरूपण हुआ है, जिसका अनुसरण बिहारी ने किया है। इन ग्रन्थों से बिहारी ने बहुत-कुछ ग्रहण किया है, उसी कारण कुछ आलोचकों ने बिहारी पर भावापहरण और साहित्यिक चोरी का आरोप लगाया है। पद्मसिंह शर्मा ने ऐसे स्थलों का तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण करके बिहारी की विशिष्टता और श्रेष्ठता की ओर संकेत करना चाहा है और उन्हें भावापहरण के आरोप से मुक्त करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह प्रयत्न तटस्थ और निर्भ्रान्ति नहीं है। बिहारी के प्रति आग्रहपूर्ण पक्षपात रखने के कारण वे संस्कृत-ग्रन्थों के काव्य-सौन्दर्य की उपेक्षा करके बिहारी को जबरदस्ती श्रेष्ठकवि घोषित करने की चेष्टा करते है। 'शून्य वासगृह विलोक्य' तथा 'त्वं मुग्धाक्षि विनयैव कर्चुलिकया धत्से मनोहारिणी' में रस-क्षमता बिहारी के 'मैं निसहा सोयो समुझि' अथवा 'पति रति की बतियाँ कही' से कम नहीं है, पर शर्माजी ने उनमें किसी न किसी प्रकार का दोष निकालकर बिहारी को ऊँचा उठाने की चेष्टा की है।

परस्पर साम्य के इस अध्ययन में उन्होंने कतिपय समीक्षा-सिद्धान्त भी निर्धारित किये और इन सिद्धान्तों का पुष्टीकरण उन्होंने संस्कृत के अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर किया है। आनन्दवर्द्धन, राजशेखर आदि द्वारा भावापहरणसम्बन्धी चर्चाओं का उल्लेख करते हुए मौलिकता के सम्बन्ध में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि चिरपरिचित और कवि-परम्परा से प्राप्त तथ्य को उक्ति-वैचित्य के साथ रख देना भी मौलिकता है। इसी प्रकार महाकवित्व के लिए किसी महाकाव्य की रचना को भी उन्होंने आवश्यक नहीं माना। वस्तुत: यह सिद्धान्त भावी स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की भूमिका ही था। शुक्लजी ने जहाँ प्रबन्धकाव्य को ही महत्ता प्रदान की थी, वहीं स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने मुक्तक को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना। शर्माजी इसी सिद्धान्त के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके थे।

शर्माजी का आलोचना के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा प्रदेय है, जिसकी ओर साधारणतः समालोचकों ने ध्यान नहीं दिया है। उनका रचनाकाल यद्यपि शुद्धता और नैतिकतावादी आर्यसमाजी 'द्विवेदीयुग' था, पर साहित्यिक परम्परा के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने श्रृंगार के रसराजत्व को स्थापित किया तथा श्रृंगारमात्र को अश्लील समझने की धारणा को परिवर्तित किया। यह तथ्य भी रोमाण्टिक परम्परा की ओर बढ़ावा है परन्तु इस कथन से यह अर्थ निकालना ठीक न होगा कि वे श्रृंगारी-परम्परा के आलोचक थे। "उनके सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है कि वे श्रृंगारिक परम्परा के आलोचक थे किन्तु वे समीक्षक थे शब्द और अर्थ के, श्रृंगारिकता से उनका सम्बन्ध न था। वे अभिव्यंजना-परीक्षा के आचार्य थे, शब्दगत तथा अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा प्रवेश था, हिन्दी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया।" (हिन्दी–साहित्य–बीसवीं शताब्दी : पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, भूमिका, पृ० २ स० १९४५ ई०)। बिहारी का काव्य-सौष्ठव प्रतिपादित करते हुए उन्होंने बिहारी की अभिव्यंजनासम्बन्धी कारीगरी की ओर ही ध्यान अधिक दिलाया है।

इस अभिव्यंजना-सौष्ठव के स्पष्टीकरण के लिए यद्यपि वे सहारा शास्त्र का ही लेते हैं पर उनकी आलोचना को शास्त्रीय समीक्षा न कहकर प्रभाववादी-समीक्षा कहना उचित है। वे अपनी बात कहने के लिए शास्त्र का उपयोग भर करते है या फिर कभी-कभी शास्त्र को अपनी ओर जबरदस्ती मोड़ लेते हैं, जैसे कि प्रतीयमान अर्थ से उन्होंने उक्तिवैचित्र्य का भाव निकालना चाहा है। तुलनात्मक समीक्षा के लिए जिस तटस्थता की आवश्यकता होती है, उसका उनकी आलोचनाओं में (विशेषकर 'बिहारी की सतसई' में) नितान्त अभाव है। डॉ० भगवत स्वरूप का यह मन्तव्य ठीक लगता है कि वस्तुत: "पण्डितजी (पद्मसिंह शर्मा) की आलोचना का मूल आधार सहृदयता और प्रभावाभिव्यंजकता ही है। पर बिहारी के सौष्ठव प्रतिपादन करते हुए उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्यांगों का निरूपण भी अनेक स्थानों पर किया है।" ('हिन्दी आलोचना–उद्‌भव और विकास', पृ० ३१४)।

इस प्रभाववादी पक्ष के कारण उनकी आलोचनाओं में गम्भीर शैली नहीं रह गयी है। जहाँ किसी उक्ति पर वे रीझे कि बस उछल पड़े और उस प्रभाव के कारणों का विश्लेषण करने के स्थान पर अपने ऊपर पड़े प्रभाव को ही अभिव्यक्त करने लग जाते थे। उनकी इस 'वाह-वाह', 'क्या खूब' वाली शैली की इसी कारण निन्दा की गयी है, परन्तु इन प्रशंसात्मक अंशों को यदि थोड़ा सा भुलाकर पढ़ा जाय तो उनकी शैली अपने लालित्य-प्रवाह तथा व्यंग्य-विनोद के कारण अत्यन्त सुपाठ्य बन पडी है। कहना न होगा कि ऐसी सुपठनीय समीक्षाएँ हिन्दी में कम लिखी गयी हैं। शब्द के अपेक्षित प्रयोग पर उन्होंने बहुत अधिक ध्यान दिया है।

आलोचना के अतिरिक्त शर्माजी ने निबन्धों के क्षेत्र में भी कार्य किया है और उस दिशा में उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। द्विवेदी-युग के प्रमुख निबन्ध-लेखकों में उनकी गिनती की जा सकती है। वे मूलत: शैलीकार थे। निबन्धों में कभी उन्होंने धार्मिक सद्‌भावना की गुहार लगायी है, कभी भगवान् श्रीकृष्ण के पौराणिक चरित्र के वर्णन के माध्यम से आधुनिककाल के नेताओं पर व्यंग्य किये हैं एवं कभी-कभी 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' जैसी मजेदार चर्चा की है। इन निबन्धों ('पद्मराग' में संकलित) की भाषा में उर्दू की महावरेदानी एवं बोलचाल के लहजे का प्रवाह अत्यन्त स्पष्ट है तथा यत्र-तत्र भाषण-कला का भी प्रभाव दिखाई देता है। शर्माजी ने कविताएँ भी लिखी हैं पर उस क्षेत्र में उन्हें अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया जा सकता।

–दे० शं० अ०

पद्‌म सिंह शर्मा कमलेश–जन्म सन् १९१८ ई०। आगरा विश्व विद्यालय से आपने १९४९ में हिन्दी से एम० ए० किया और १९४९ में हिन्दी गद्य काव्य विषय पर यहीं से शोध। आगरा कालेज आगरा में हिन्दी-संस्कृत का अध्यापन। आपने कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं का निम्नलिखित प्रकार से परिचय दिया है–हिन्दी गद्य काव्य (शोध प्रबन्ध), प्रेम चन्द की साहित्य साधना, वृन्दावन लाल वर्मा–एक आलोचनात्मक अध्ययन, गुजराती और उसका साहित्य, भक्ति काल के निर्माता, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, साहित्यिक निबन्ध

र्माण, हिन्दी गद्य : विकास और परम्परा, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह एक आलोचनात्मक अध्ययन, हिन्दी गद्य विधान और विकास तथा 'तू युवक है' 'दूब के आँसू', 'धरती पर उतरो'। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में रीडर रहते हुए आपने सन् १९५९ में दी क्लासिकल एण्ड साइकोलाजिकल इटर प्रेटेशन आफ मार्डन हिन्दी प्रोज फार्म्स' विषय पर डी० लिट्० की। सम्प्रति अवकाश प्राप्त करके आप कुरुक्षेत्र में ही रह रहे हैं।

कृ० श० पा०

पद्माकर भट्ट—रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ आलंकारिक कवि के रूप में पद्माकर भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। इनका प्रभाव अपने परवर्तियों पर भी पड़ा है। ये जाति के तैलंग ब्राह्मण थे और बाँदानिवासी मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त सभी सन् १७५३ ई० में सागर में हुआ बताते हैं। ये मथुरा स्थित शाखा के वैष्णव हो गये थे। इनके पिता तथा कुल के अन्य लोग भी कवि थे और इनके वंश का नाम ही 'कवीश्वर' पड़ गया था। इनकी मृत्यु गंगा तट पर कानपुर में सन् १८३३ ई० में ८० वर्ष की आयु में हुई। ये अनेक राजदरबारों में रहे और इनका वैभव-विलास किसी राजा से कम नहीं था। इनको नागपुर के महाराज रघुनाथराव अप्पा साहब, पन्ना के महाराज हिन्दूपति, जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह, सुगरा के नोने अर्जुनसिंह, गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह, ग्वालियर के महाराज दौलत राव सिंधिया तथा बूँदी दरबार की ओर से बहुत सम्मान, दान आदि मिला और ये पन्ना महाराज तथा नोने अर्जुनसिंह के गुरु रहे। पन्ना महाराज तथा जयपुर नरेश से क्रमशः इन्होंने गाँव प्राप्त किये, 'कविराज शिरोमणि' की उपाधि पायी और जागीर के अधिकारी हुए। सितारे के महाराज रघुनाथराव से इन्हें एक हाथी, एक लाख रुपया तथा दस गाँव मिले। 'दिग्विजय भूषण' में उद्धृत इनके एक छन्द में (दूनी तेज दाहते हैं...काली हैं) आये भगवन्त सिंह नाम से ऐसा लगता है कि यह भी इनके आश्रयदाता थे, किन्तु अन्यत्र इसी छन्द में रघुनाथराव आया है, अतएव दि० भू० में आया नाम भ्रमात्मक है।

पद्माकर के नाम से 'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'पद्माभरण', 'जगद्विनोद', 'प्रबोध पचासा' (भारत जीवन प्रेस, बनारस, १८९२ ई० तथा रामरत्न वाजपेयी, लखनऊ, १८९६ ई०) 'गंगा लहरी', 'राम रसायन' (भारत जीवन प्रेस, बनारस, १८९४ ई०), 'भाषाहितोपदेश', 'ईश्वर पचीसी', 'आलीजाह प्रकाश' तथा 'प्रतापसिंह-विरुदावली' (जयपुर निवासी वंशजों के पास ह० प्र० है) नामक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' वीर-रस की फड़कती रचना है और हिम्मत बहादुर की प्रशंसा में लिखी गयी है। 'जगद्विनोद' रस-विवेचन का ग्रन्थ है और जयपुर महाराज प्रताप सिंह के पुत्र महाराज जयसिंह के यहाँ उन्हीं के नाम पर रचा गया था। सम्भवतः वहीं 'पद्माभरण' की रचना भी हुई। यह अलंकार-ग्रन्थ है। 'प्रताप सिंह विरुदावली' में सवाई महाराज प्रताप सिंह के यश का वर्णन किया गया है। 'आलीजाह प्रकाश' अथवा 'आलीजाह सागर' की रचना पद्माकर ने दौलतराव सिंधिया के नाम पर सन् १८२१ ई० में की है। पद्माकर ने अपने ग्रन्थों में केवल इसी का रचना-काल दिया है। इसमें 'जगद्विनोद' से कम ही अन्तर है।

उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की आज्ञा से इन्होंने 'गनगौर' मेले का वर्णन किया। सिन्धिया दरबार में सरदार ऊदाजी के अनुरोध पर 'हितोपदेश' का गद्य-पद्यात्मक भाषानुवाद प्रस्तुत किया। अन्तिम काल में रोग-ग्रस्त रहने पर 'प्रबोध-पचासा' की तथा गंगा तट पर सात वर्ष रहने के समय 'गंगालहरी' की रचना हुई। इन्होंने वाल्मीकि-रामायण के आधार पर दोहा-चौपाई में 'राम-रसायन' चरितकाव्य की रचना भी की। इस प्रकार रचना की दृष्टि से आप रीति-शास्त्र के ज्ञाता, श्रृंगार तथा भक्ति के साथ-साथ वीर-रस के समान रूप से कवि, मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों शैलियों के सफल रचनाकार, सफल अनुवादक तथा पचासा-शैली के प्रवर्तक माने जायेंगे। काव्यगत रमणीयता की दृष्टि से इनकी समकक्षता में बिहारी ही बैठ पाते हैं। इसी कारण वे रीतिकाल के एक प्रमुख कवि माने जाते हैं।

स्वाभाविक तथा मधुर कल्पना और हाव-भाव के प्रत्यक्षवत् मूर्तिविधान की दृष्टि से शुक्लजी 'जगद्विनोद' को श्रृंगार का सारग्रन्थ मानते है। शब्दाडम्बर और ऊहात्मक वैचित्र्य से मुक्त रहकर चमत्कार-चातुरी के साथ सुघर कल्पनावाले भाव-चित्रों की उपस्थिति, अन्तः भावनाओं की व्यंजना-शक्ति के द्वारा सजीवता और साकारता के साथ बड़े कौशल के साथ सजावट, चित्रांकन तथा बहुज्ञता और विद्वत्ता के एक साथ निर्वाह के लिए पद्माकर अद्वितीय कहे जा सकते हैं। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार था, उसकी समस्त शक्तियों से ये एक-सा काम ले सकते थे। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कही अनुप्रासों की मिश्रित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्धवाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है"। यह गौरव केवल पद्माकर को ही मिला कि भाषा की अनेक रूपता के आधार पर इनकी तुलसीदासजी से तुलना की गयी।

इनकी भाषा सरस, सुव्यवस्थित, व्याकरणानुमोदित तथा सुगुम्फित है। गुणों का पूरा निर्वाह इनके छन्दों में हुआ है। साथ ही सवैया तथा कवित्त पर गतिमयता और प्रवाहपूर्णता की दृष्टि से इनका जैसा अधिकार भी दूसरे कवि को नहीं मिला है। रस-निर्वाह में भी इनको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इन्हें लम्बे अनुप्रासों तथा यमकों की लड़ी गूँथने का बड़ा शौक था और उसमें ये सफल भी हुए हैं। व्यर्थ शब्दों का प्रयोग न करके इन्होंने काव्य को अरुचिकर बनने से बचा लिया है। इन्होंने रस-वर्णन तथा ऋतुवर्णन में भी विस्तार से काम लिया है। श्रृंगार-वर्णन में यत्र-तत्र सीमोल्लंघन दिखाई पड़ने लगा है। इस आलंकारिक प्रवृत्ति से इनकी 'गंगालहरी' भी अछूती नहीं रह सकी। उसमें भी गंगा की स्थिति, उसके नामस्मरण से मुक्ति, स्नान से शिवरूपता आदि के वर्णन के साथ ही जहाँ श्रृंगारहीन मौलिक भावों का निर्वाह किया गया है, वहीं उसे अलंकारों से सुसज्जित करना भी ये नहीं भूले हैं। भक्ति और

श्रृंगार दोनों का समान भाव से इनमें निर्वाह दिखाई देता है, किन्तु किसी एक काव्य में इनकी एकत्र अवस्थिति नहीं है।

पद्माकर पंचदेवोपासक थे और सांसारिक जटिलता का पूरा अनुभव कर चुके थे। अतएव पेट की बेगार, झूठी तृष्णा, शरीर नश्वरता आदि का अच्छा वर्णन कर सके हैं। लोकानुभव के अनुकूल देवताओं मे विश्वास करने की इनमें उदारता थी। इन पर अपने पूर्ववर्तियों का भी प्रभाव पड़ा था। उदाहरण के लिए 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' में 'सुजानचरित' के समान राजपूतों के छत्तीस कुलों, तलवार चलाने की रीतियों तथा तोपों की गणना करायी गयी है। केशवदासजी के समान ऋषि-आश्रम में इलाहाबाद के आस-पास ही अंगूर की बेलें देखने लगे हैं। शास्त्र-विवेचन में 'पद्माभरण' पर 'चन्द्रालोक' का तथा बैरीसाल के 'भाषाभरण' का प्रभाव पड़ा है। उदाहरणों मे स्वतन्त्रता बरतते हुए भी लक्षण संस्कृत के अनुकरण पर ही हैं, साथ ही अस्पष्ट भी।

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा० इ०; मि० वि; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६); दि० भू०; क० को०; शि० स०; पद्माकर पंचामृत।]

–आ० प्र० दी०

पद्माभरण–लेखक पद्माकर भट्ट। रचनाकाल सन् १८११ ई० के लगभग। इसका एक संस्करण रामकृष्ण वर्मा द्वारा सम्पादित भारतजीवन प्रेस, बनारस से १९०० ई० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अलंकार–विवेचन के लिए लिखा गया है और 'चन्द्रालोक', 'भाषा भूषण', 'कविकुलकण्ठाभरण' से प्रभाव ग्रहण करते हुए विशेषतः बैरीसाल के 'भाषा-भरण' ग्रन्थ के अनुकरण पर इसकी रचना हुई है। कहीं-कहीं 'भाषाभरण' ही परिवर्तित रूप में रख लिया गया है। 'भाषाभूषण' से लगभग दुगुना यह ग्रन्थ ३४४ छन्दों में पूरा हुआ है। प्रधानतः दोहा छन्द का प्रयोग किया गया और कहीं-कहीं चौपाइयाँ भी रख दी गयीं हैं। इसमें अर्थालंकार तथा पंचदश अलंकार प्रकरण के नाम से पृथक् रूप से दो प्रकरण रखे गये हैं। प्रथम में स्वीकृत अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण देने के बाद दूसरे में विवादग्रस्त १५ अलंकारों का वर्णन किया गया है। प्रथम प्रकरण में 'कुवलयानन्द' से १०० मुख्य अलंकारों का उसी क्रम में वर्णन है। प्रकरण-भिन्नता के साथ शैलियाँ भी भिन्न अपनाई गयी हैं। पद्माकर ने यह रचना "देखि कविन को पन्थ" लिखी है और एक प्रवाह में बहकर ही रची है। 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा अन्य ग्रन्थों से भी सामग्री ग्रहण की गयी है।

मुख्यतः आधार ग्रन्थ का अनुवाद रखा गया है, तदनन्तर आवश्यकतानुसार अन्य ग्रन्थों का प्रभाव निःसंकोच ग्रहण किया गया है। पहले अलंकार के लक्षण तथा भेद का निरूपण एक दोहे में करके बाद में दोहों में एक-एक भेद का वर्णन किया गया है। कहीं विरल तथा कहीं विस्तृत वात्तिक लिखकर समझाने की चेष्टा की गयी है। उदाहरण दूसरों के रखे गये हैं। विशेषतः बिहारी तथा बैरीसाल का ऋण स्वीकार किया गया है। पुनर्यथा कहकर एकाधिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए चमत्कार लाने का प्रयत्न किया गया है। परम्परागत उदाहरण रखते हुए भी उनमें निर्दोषिता नहीं आ सकी है। उदाहरणतः अवर्ण्य श्लेष, विशेषोक्ति, असंगति, प्रौढ़ोक्ति तथा सम्भावना का विवेचन दोषयुक्त है। सम्भावना के स्थान पर 'साहित्यदर्पण' से अतिशयोक्ति के उदाहरण का अनुवाद रख दिया गया है, ललित का उदाहरण वस्तुतः लोकोक्ति का है और दृष्टान्त का उदाहरण परिसंख्या पर घटित होता है। उत्प्रेक्षा वर्णन में कुछ नवीनता है। उसके भेद, वस्तु, हेतु तथा फलोत्प्रेक्षा के भी उक्त-विषया, अनुक्तविषया नामक दो भेद करके अन्त में गम्योत्प्रेक्षा रखी है, जो 'कुवलयानन्द' में इसी नाम से तथा 'चन्द्रालोक' में गूढ़ोत्प्रेक्षा के नाम से कही गयी है।

मंगलाचरण के बाद ३ दोहों में अलंकार-रीति की चर्चा तो की गयी है, किन्तु अलंकार का लक्षण नहीं दिया गया है और न काव्य में उसका स्थान ही निर्धारित किया गया है, अलंकार के शब्द, अर्थ तथा उभय नामक तीन भेद अवश्य किये गये हैं। केवल अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। पंचदश अलंकार प्रकरण में ४ रसवत्, ३ भावोदयादि, ८ प्रमाण अलंकारो का वर्णन करते हुए आरम्भ में गुरु तथा गणेश की वन्दना की गयी है।

[सहायक ग्रन्थ–हि० अ० सा०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

–आ० प्र० दी०

पद्मावत–दे० 'पदमावत'।

पद्मावती–१. कंस की माता, विदर्भराज सत्यकेतु की पुत्री तथा उग्रसेन की पत्नी। इसे मोहवश कुबेर के एक दूत से गर्भ रह गया था। कंस उसी गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

२.सिंहलदीप के राजा गन्धर्वसेन की अत्यन्त रूपवती कन्या, जिसे प्राप्त करने के लिये रत्नसेन ने अनेक कष्ट सहे थे। इस लोक-कथा के आधार पर जायसी ने पदमावत की रचना की (दे० 'पदमावत')।

३. भक्तमाल के अनुसार रामानन्द की एक प्रमुख शिष्या (दे० 'भक्तमाल' : नाभादास)।

४. कृष्ण की स्त्री, जो भंगकार की पुत्री थी।

–मो० अ०

पद्मिनी–यह मेवाड़ के राजा रत्नसिंह की अतीव सुन्दरी रानी थी। अलाउद्दीन खिलजी ने पद्मिनी की रूप-चर्चा सुनकर इसे प्राप्त करने के लिए मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। राजपूतों और मुसलमानों में घोर युद्ध हुआ। अन्त में राजपूत अपनी अल्प-संख्या के कारण पराजित हो गये। मुसलमानों के हाथों में पड़ने की अपेक्षा रानी ने देह-त्याग ही अच्छा समझा और उन्होंने जौहर किया। उनके साथ अन्य सभी रानियों ने अग्नि में कूदकर अपनी मर्यादा की रक्षा की। परम रूपवती वीर राजपूतानी और मर्यादा के लिए मर मिटने वाली महिला के रूप में पद्मिनी का नाम हिन्दी साहित्य में अमर है (दे० 'पदमावत')

–रा० कु०

पद्मिनी चरित्र–इस रचना के रचयिता का नाम 'लब्धोदय गणि' लिखा मिलता है, जो सम्भवतः उसका दीक्षा नाम था, मूल नाम 'लालचन्द' था। इसका वर्ण्य विषय वस्तुतः वही है, जो हेमरतन की रचना 'गोरा बादल पद्मिणी चउपई' (दे० 'पद्मिनी चउपई') का है। 'जैनगुर्जर कविओ' (बीजो भाग) के पृष्ठ १३४ से लेकर १३८ तक जो इसका परिचय दिया गया है तथा उसके उद्धरण भी दिये गये हैं, उनसे पता चलता है कि

खरतर गच्छी श्री जिनराज सूरि के 'पाटि' श्रीजिनरंग सूरि के आदेश से लब्धोदय ने सं० १७०६ में उदयपुर में चौमासा किया। उस समय दिल्ली का बादशाह शाहजहाँ (सन् १६२८-५८ ई०) था और उदयपुर में राणा जगतसिंह (सन् १६२८-५२ ई०) राज्य करते थे, जिनकी माता जाम्बुवती के मन्त्री केसर के पुत्र हंसराज डुंगरसी एवं भागचन्द के अनुरोध से ज्ञानराज वाचक के शिष्य लब्धोदय ने इसे सं० १७०७ (सन् १६५० ई०) की चैत्र पूर्णिमा को शनिवार के दिन रचकर पूरा किया। लब्धोदय ने यहाँ पर अपने गुरु ज्ञानराज की भी गुरु-परम्परा दे दी है और बतलाया है कि श्रीजिनमानिक सूरि के प्रथम शिष्य विनय समुद्र थे, जिनके शिष्य हर्षशील या हर्षविलास थे और उनके शिष्य ज्ञान समुद्र के शिष्य ज्ञानराज थे, जो इनके दीक्षा गुरु थे। उपर्युक्त कुछ उद्धरणों द्वारा इस बात की भी सूचना मिल जाती है कि इस रचना के अन्तर्गत कवि ने शूरवीरों के 'सिरताज' गोरा बादल का चरित्र वर्णन किया है और पद्मिनी के शील-व्रत पालन की कथा कही है, जिससे यह रचना भी 'सती चरित सिरताज' कहलाने योग्य है। 'जैनगुर्जर कविओ' के लेखक ने इस परिचय के सन्दर्भ में कुछ ऐसी पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं, जिनसे जान पड़ता है कि यह पूरी रचना कम से कम तीन खण्डों में समाप्त हुई होगी, जिनमें से प्रथम एवं तृतीय के नाम भी क्रमशः 'राणा रतनसेन पद्मिनी परणयण' तथा 'श्रीगोरा बादल रिणेंजय प्रापणो' जान पड़ते हैं, किन्तु द्वितीय खण्ड का नाम कहीं पर नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार इस रचना के अन्त में दी गयी पंक्तियों से ज्ञात होता है कि यह 'ढालभाषावन्ध' भी कही गयी है, जिसका तात्पर्य कदाचित् यह है कि यह गेय छन्दों में निर्मित की गयी है। 'जैनगुर्जर कविओ' (त्रीजो भाग, खण्ड २) के पृष्ठ ११८५ पर लब्धोदय का नाम 'लब्धोदय-लालचन्द' के रूप में दिया गया मिलता है। इस ग्रन्थ के लेखक ने लब्धोदय की दो अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया है, जिनमें से एक 'मलय सुन्दरी चौपई' (र० का० सं० १७४३ सन् १६८६ ई०) है और दूसरी 'गुणावली चौपई' (र० का० सं० १७४५ सन् १६८८ ई० का० सु० १०) है तथा इनमें से प्रथम में गुरु ज्ञानराज को महोपाध्याय कहा गया है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वाधान में की जाने वाली हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज के पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९३२-३४ ई०) के देखने से पता चलता है कि 'पद्मिनी चरित्र' के रचयिता का नाम 'लब्धोदय' की जगह 'लक्षोदय' पढ़ा गया था। तथा उसके सम्पादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने उनके नाम 'लालचन्द' पर एक टिप्पणी लिखते हुए उसकी एक रचना 'लीलावती' का भी उल्लेख किया है। परन्तु अगरचद नाहटा ने इन तीनों बातों को भ्रान्तिजन्य ठहराकर उनका ध्यान वास्तविकता की ओर आकृष्ट किया, जिसके फलस्वरूप 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ५६, अंक २ (पृ० १८३-४) की एक टिप्पणी द्वारा भूलसुधार का प्रयत्न किया गया। 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (द्वितीय भाग) के विवरण पृ० १५९ से भी पता चलता है कि जिस 'लीलावती' ग्रन्थ के रचयिता का नाम 'लालचंद' बतलाया जाता है, वह वस्तुतः 'लीलावती रास' (र० का० सं० १७२८, सन् १६७१ ई०) है तथा उसका लालचन्द भी खरतर गच्छीय जैनपति है और वह लब्धोदय से नितान्त भिन्न है। इसी प्रकार उस खोज (तृतीय भाग) वाले विवरण पृ० ८७-८८ से यह भी विदित होता है कि इस रचना की जो तीन हस्तलिखित प्रतियाँ उसके लेखक को मिली हैं, उनमें से तीसरी के अनुसार इसके प्रथम खण्ड में १४४ छन्द हैं, द्वितीय में १५६ हैं तथा तृतीय में ५११ हैं। किन्तु वहाँ पर उन खण्डो का कोई नामानिर्देश भी नहीं किया गया है, जिनके द्वारा उनके विभिन्न वर्ण्य-विषयो का भी कोई स्पष्ट संकेत मिल सके। उसके लेखक उदयसिंह भटनागर ने फिर अन्यत्र (दे० शो० प० उदयपुर, भाग ३, अंक ४, पृ० २१९-२०) इसकी १३ प्रतियों का उल्लेख किया है, जो क्रमशः सं० १७४५, १७५३, १७५८, १७६१, १७७१, १७७३, १७९०, १७९८, १८२१, १८२३, १८२७, १८२९ और १८३७ में लिखित हैं और वहाँ पर उन्होंने यह भी बतलाया है कि "यह रचना गाने की ढाल और दोहों में है, परन्तु भाषा और व्यवस्थित वाक्य हेमरत्न की रचना से ज्यों के त्यों लिये गये हैं और कथा भी रतनसेन की मुक्ति पर समाप्त हो जाती है।" (पृ० २२०)। वास्तव में यह रचना हेमरतन की 'गोरा बादल पदमिणी चउपई' का एक संस्करण विशेष ही कही जा सकती है।

'गोरा बादल पदमिणी चउपई' की रचना-परम्परा के अन्तर्गत आने के कारण इसमें सम्भवतः रतनसेन एवं पद्मिनी के प्रेम-प्रसंग की अपेक्षा गोरा एवं बादल सम्बन्धी युद्ध-प्रसंग को ही अधिक महत्त्व दिया गया जान पड़ता है और इस दृष्टि से यह जटमल की रचना 'गोरा बादल' की कथा के समान भी कही जा सकती है, जिसका निर्माण इससे पहले सं० १६८० एवं १६८६ के बीच किसी समय हो चुका था परन्तु, यदि इसकी तुलना उसके साथ की जाती है तो पता चलता है कि कम से कम कतिपय पात्रों एवं घटनाओं के वर्णनों में अन्तर आ जाने के कारण ये दोनों रचनाएँ एक दूसरे से किंचित् भिन्न सी लगती हैं—यद्यपि जायसी की 'पद्मावत' से भी वहाँ इनकी कोई समानता नहीं है। उदाहरण के लिए जायसी के अनुसार रतनसेन पद्मावती के रूप-सौन्दर्य पर हीरामन तोते के कथन द्वारा मोहित हुआ था और जटमल का कहना है कि 'सिंघलद्वीप' से आये हुए किसी भाट ने 'पद्मिनी' स्त्री की प्रशंसा द्वारा उसे इस ओर उभाड़ा था। किन्तु लब्धोदय के अनुसार राजा की पटराणी परभावती ने उसे ताना देकर पद्मिनी स्त्री व्याह लाने के लिए उकसाया था। इसी प्रकार जायसी के अनुसार जहाँ रतनसेन स्वयं योगी बनकर और अनेक राजकुमारों तथा तोते को साथ लेकर कष्ट झेलता हुआ 'सिंहल' देश पहुँचता है, वहाँ जटमल के अनुसार उसे कोई 'जोगेन्द्र' मृगछाला पर बिठाकर तथा मन्त्र पढ़कर वहाँ तक पहुँचा देता है, किन्तु लब्धोदय का कहना है कि समुद्र तट तक तो राजा स्वयं पहुँच जाता है पर उसे पारकर सिंहल तक जाने में उसे किसी औघड़नाथ सिद्ध से सहायता लेनी पड़ती है, जो इसके लिए योगबल का प्रयोग करता है। जहाँ तक सिंहल में रतनसेन एवं पद्मावती के मिलन का प्रसंग है, वह जायसी के अनुसार तोते की सहायता से बसन्त-पंचमी के दिन शिव के मन्दिर में घटित होता है तथा शिव की आज्ञा पाकर ही उस प्रेमपात्री का पिता दोनों के विवाह की व्यवस्था करता है, किन्तु जटमल के अनुसार रतनसेन का

सहायक जोगेन्द्र उसका परिचय वहाँ के राजा को दे देता है और उसका विवाह पद्मिनी के साथ हो जाता है। लब्धोदय का कहना है कि जिस समय रतनसेन वहाँ पहुँचा, उस समय सिंहल में राजा की बहन पद्मिनी के विवाह के लिए वहाँ ढिंढोरा पिटवाया गया था, जिससे प्रेरित होकर वह वहाँ के अखाड़े में उतरा और अपना पराक्रम प्रदर्शित करके अपनी प्रेयसी को पा सका। फिर विवाहादि सम्पन्न हो जाने पर जायसी, रतनसेन का सिंहल में कुछ दिनों तक रह जाना, किसी पक्षी द्वारा अपनी चित्तौर की रानी नागमती के विरह दुःख को सुनकर दुखित होना तथा वहाँ से विदा होकर किसी प्रकार कष्ट झेलते हुए अपनी राजधानी लौटना बतलाता है, किन्तु जटमल के अनुसार रतनसेन पद्मिनी एवं जोगेन्द्र आदि के साथ किसी "उडण खटोली" पर बैठकर चित्तौर पहुँच जाते हैं और उनके साथ यहाँ तक एक ब्राह्मण राघवचेतन भी आता है, जिसकी चर्चा यहाँ पर न तो जायसी करता है और न लब्धोदय ही उसका नाम लेता है। लब्धोदय यहाँ पर एक नयी बात यह बतलाता है कि रतनसेन सिंहल से लौटकर चित्रकूट में ही ठहर गये और तब तक उनका लड़का वीरभाण में चित्तौर में राज्य करता था। जायसी के अनुसार ब्राह्मण राघवचेतन रतनसेन के यहाँ रहता था और वह जादू-टोने में प्रवीण था, जिसका भेद खुल जाने पर वह दरबार से निकाल दिया गया और इसका बदला उसने अलाउद्दीन से रानी पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा कर उसे चित्तौर पर चढ़ा लाने द्वारा लिया। परन्तु जटमल के अनुसार राघवचेतन सिंहल से आया था और एक बार जब वह रतनसेन के साथ शिकार में गया था, उसने पद्मिनी के वियोग में व्याकुल राजा को उसकी एक ऐसी पुतली बनाकर दे दी, जिसकी जाँघ पर ठीक रानी के जैसा एक तिल विद्यमान था और इस बात से सन्देह करके राजा ने उसे अपने यहाँ से निकाल दिया तथा साधु बनकर दिल्ली पहुँच जाने पर उस ब्राह्मण ने पद्मिनी के सौन्दर्य की प्रशंसा करके अलाउद्दीन को रतनसेन के दुर्ग पर चढ़ायी करने के लिए प्रोत्साहन दिया। इसके विपरीत लब्धोदय के अनुसार 'राघवचेतन' शब्द केवल किसी एक व्यक्ति का नाम न होकर राघव और चेतन नामक दो पण्डितो को सूचित करता है, जो चित्रकूट मे रतनसेन से रुष्ट होकर दिल्ली जाकर ज्योतिष विद्या में निपुण बन अलाउद्दीन के प्रियपात्र बनते हैं तथा अन्त में राजा द्वारा किये गये अपमान का बदला लेने के उद्देश्य से किसी तोते द्वारा पद्मिनी की प्रशंसा वहाँ कराकर बादशाह को चित्तौर पर चढ़ा लाते हैं। तीनों रचनाओं में इनके अतिरिक्त कई अन्य भी ऐसे छोटे-मोटे अन्तर दीख पड़ते हैं, जिनका कारण या तो मूल स्रोतों की भिन्नता है या कल्पना भी कही जा सकती है।

लब्धोदय द्वारा रचित 'पद्मिनी चरित्र' उस काव्यग्रन्थमाला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिसकी रचना का उद्देश्य विशेषतः गोरा बादल की अनुपम वीरता एवं कार्यपटुता को यथोचित उत्कर्ष प्रदान करना रहा। उनकी वीरगाथा पहले सम्भवतः मौखिक रूप में ही प्रचलित थी, जिसे अपने ढंग से कोई न कोई सुव्यवस्थित रूप भी दे देने का प्रचलन, हेमरतन की रचना 'गोरा बादल पदमिणी चउपई' अथवा हो सकता है कि इसके कुछ पहले की किसी अन्य ऐसी कृति से ही आरम्भ हुआ। हेमरतन की रचना से ४८ वर्ष पूर्व सूफी कवि जायसी ने भी इस प्रसंग को लेकर अपने 'पद्मावत' को समाप्त किया किन्तु उसका प्रमुख उद्देश्य कुछ और था। राजा रतनसेन एवं पदमावती के मानवीय-प्रेम को 'इश्क मजाजी' के स्तर से 'इश्क हकीकी' तक ले जाकर ईश्वरीय प्रेम का रूप देने के प्रयत्न में उन्हें उपर्युक्त गौरवपूर्ण प्रसंग को स्वभावतः किंचित् गौण स्थान देना पड़ गया और वे उसके साथ यथेष्ठ न्याय न कर सके। उनकी इस प्रवृत्ति विशेष की ओर कोई ध्यान न देकर हेमरतन तथा उनके अनन्तर आनेवाले जटमल, लब्धोदय, संग्राम सूरि एवं गिरधारीलाल आदि ने उक्त पूर्वपरम्परागत कथा-वस्तु को ही अधिक प्रश्रय दिया तथा उसे अपनी रचनाओं का प्रमुख आधार बनाया। कहते हैं कि लब्धोदय की रचना से लगभग २५-३० वर्ष पीछे रचित कवि दौलतविजय (या पूर्वनाम दलपत) के बृहत् ग्रन्थ 'खुमाण रासड़े' छठे खण्ड में भी उक्त प्रसंग भी पूरी कथा को विस्तार के साथ दिया गया है। फिर भी 'पद्मिनी चरित्र' अपनी विशिष्ट रचना शैली के कारण अपना एक पृथक् स्थान रखती है, जो अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है।

[सहायक ग्रन्थ–जैनगुर्जर कविओ (बीजो भाग): मोहनलाल दलीचन्द देसाई, जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस आफिस, बम्बई, सन् १९३१ ई०; जैन गुर्जर कविओ (त्रीजो भाग), १९४४ ई०; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, अंक ४, भाग १५, अंक २, वर्ष ४४ अंक ४, वर्ष ४६, अंक २; हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९३२-३४ ई०), नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सन् १९५४ ई० (सं० २०११ वि०); राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज (प्रथम भाग), उदयपुर, सन् १९४२ ई०; हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (द्वितीय भाग), सन् १९४७ ई०; राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (द्वितीय भाग), सन् १९४७ ई०; राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग), सन् १९५२ ई०; शोध पत्रिका भाग ३, अंक ३ व ४, उदयपुर, सं० २००९; सम्मेलन पत्रिका, भाग २९, संख्या १-२, सं० १९९८, प्रयाग; गोरा बादल की कथा: अध्योध्या प्रसाद शर्मा, तरुण-भारत ग्रन्थावली, प्रयाग, सं० १९९१; समालोचक, द्वितीय वर्ष, अंक ८, आगरा, सन् १९५९ ई०।]

–प० च०

पनस–१. राम दल का एक वानर।

२. विभीषण के चार मन्त्रियों में से एक।

–मो० अ०

परख–दे० 'जैनेन्द्रकुमार'।

परम प्रबोध विधु नाटक–(प्र० १८४७ ई० से पूर्व) ब्रजभाषा नाटककाल में प्रबोध चन्द्रोदय के अनुवाद एवं छायानुवाद हुए (महाराज यशवन्त सिंह, अनाथदास, सुरति मिश्र, ब्रजवासीदास, आनन्द, गुलाब सिंह, नानकदास, धौंकल मिश्र, हरिवल्लभ, जन अनन्य के)। प्रबोध चन्द्रोदय के अनुकरण पर ही 'परम प्रबोध विधु नाटक' लिखा गया, जो नितान्त मौलिक नाटक है। भारत के राजघरानों में रीवां वंश अपनी साहित्यिक अभिरुचि के लिए प्रसिद्ध है। इसी वंश में महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज विश्वनाथ सिंह प्रसिद्ध भक्त कवि एवं साहित्य-सेवी थे। इन्हीं महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन' नाटक है। महाराज विश्वनाथ सिंह के पुत्र युवराज

रघुराज सिंह ने भी एक नाटक लिखा, जिसका नाम है 'परम प्रबोध विधु नाटक' ("नाती नृप जयसिंह को रघुराज सिंह नाम। विचर्यो परम प्रबोध विधु नाटक यह अभिराम।।")। इस नाटक की टीका लिखी महाराज विश्वनाथ सिंह ने और इसे चन्द्रिका नाम दिया ("ताकी टीका चन्द्रिका नाम करौं अभिराम। अभिराम अधिकारी सियराम को विश्वनाथ मम नाम।।")। नाटक यदि बिधु है तो टीका का चन्द्रिका नाम सार्थक ही है। यह टीका काशिराज पुस्तकालय में सुरक्षित है। टीका की अन्तिम पुष्पिका में सवत् १९०४ वि० दिया गया है—"इति सिद्धि श्री महराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा बहादुर श्री सीतारामचन्द्र कृपा पात्राधिकारी विश्वनाथ सिंह जू देव कृत चन्द्रिका नामी टीका सम्पूर्ण शुभमस्तु ९७ मिति फाल्गुन मासे कृष्णपक्षे पंचमि बुधेक संवत् १९०४।" यहाँ दिया हुआ संवत् १९०४ या तो टीका का संवत् है अथवा उसकी प्रतिलिप का। फलतः यही निष्कर्ष निकलता है कि नाटक की रचना इससे पूर्व हो चुकी थी। टीका की शैली यह है : मूल—"महाराज विम्बनाथ सुत युवराज रघुराज सिंह आयसु सौं मति विस्मै पूरी है।" टीका—"महाराज विश्वनाथ सिंह तिनके सुत हैं ये ही भाँति के युवराज रघुराज सिंह तिनकी आयसु जो है कीजै नाटक बनाउ तासों मेरी मति विसमै में परी है की कहा करौं।" नाटक से अधिक महत्त्व टीका का है क्योंकि टीका में कुछ नाटकीय नामों के लक्षण भी दिये गये हैं। उदाहरण : सूत्रधार का लक्षण—"नाटकीय कथा सूत्र प्रथमं येन सूच्यते, रंगभूमिं समासाद्य सूत्रधार उच्यते।" नेपथ्य का लक्षण—"नेपथ्य जो है कनात को वह पार जामें कोलाहल भयो।" टीका से यह भी प्रतीत होता है कि इस नाटक का अभिनय भी हुआ था। इस अभिनय का सूत्रधार था रामप्रसाद नायक। इस टीका में रामप्रसाद नायक के अभिनय संकेत दिये गये हैं—"मुरलीधर को पूत, नायक रामप्रसाद जो। नाटचकार धर सूत, यदि नाटक को जानियो।।" यह रामप्रसाद का कथन है—"मगै परम प्रबोधै बिधु जीति महा मोहै, मिलि के विवेक जीव राम प्रेम पायो है। पूर्व ब्रह्म परावर रार्माहं विहान भयो, रम रूपा लहैं जीवन जीवन्मुक्त भायी है। फेरि बाधा येको नाहिं को न्यास मैं तेहि काहि, दिव्य सुष सर्म्पात्ति सों सदाहि सुहायो है। महाराज सुत जुवराज रघुराज सिंह, तेमे षुसी होहु रामपरमाद गायो है।।"

—गो० ना० ति०

परमानंददास—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद सबसे अधिक प्रतिभासम्पन्न भक्त-कवि परमानन्ददास ही माने जा सकते हैं। वे कन्नौज के निवासी एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अनुमानतः उनका जन्म सन् १४९३ ई०, सम्प्रदाय प्रवेश सन् १५१९ ई० और गोलोकवास सन् १५८३ ई० के आसपास हुआ। निर्धनता के कारण उनके माता-पिता उनका विवाह भी नहीं कर सके। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र धन कमाकर सद्गृहस्थ बने, परन्तु परमानन्द के मन में बाल्यावास्था से ही वैराग्य के गहरे संस्कार थे। उनके पिता धन कमाने के लिए दक्षिण देश चले गये परन्तु परमानन्द उनके साथ नहीं गये और अपना जीवन भगवद्भक्ति में बिताने लगे। शीघ्र ही वे एक अच्छे कीर्तनकार और पदरचयिता के रूप में प्रसिद्ध हो गये। उनके अनेक शिष्य हो गये और परमानन्द स्वामी कहलाने लगे। एक बार वे मकर-स्नान करने प्रयाग गये, वहाँ उनके कीर्तनों की धूम मच गयी। आचार्य वल्लभ ने भी अरैल में रहते हुए उनकी ख्याति सुनी। एक रात स्वप्न मे परमानन्द को अरैल जाने की प्रेरणा हुई। दूसरे ही दिन वहाँ जाकर उन्होंने महाप्रभु के दर्शन किये। महाप्रभु के अनुरोध पर उन्होंने एक पद गाया, जिसमें विरह-भाव प्रधान था। महाप्रभु ने उनसे बाल-लीला के गायन का अनुरोध किया। परमानन्द के अनभिज्ञता प्रकट करने पर महाप्रभु ने उन्हें स्नान कराकर मन्त्र सुनाया और अपनी शरण मे लिया। बाल-लीला से परिचित होने के उपरान्त परमानन्द ने कुछ दिन अरैल में रहकर नवनीत प्रियजी के कीर्तन की सेवा की और फिर आचार्यजी के साथ ब्रज की यात्रा की। मार्ग में आचार्य जी परमानन्द के गांव कन्नौज में भी रुके। कन्नौज में आज तक आचार्यजी की एक बैठक विद्यमान है। कन्नौज में परमानन्द ने आचार्यजी को एक विरह का पद सुनाया, जिसे सुनकर वे तीन दिन तक ध्यानावस्थित बने रहे। भूतपूर्व परमानन्द स्वामी के कन्नौज में जितने सेवक थे, वे सब आचार्यजी के सेवक बन गये और परमानन्द स्वामी सेवकों सहित पूर्णरूप से परमानन्द दास हो गये। ब्रज पहुँचकर आचार्यजी ने परमानन्द दास को श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा सौंप दी, जिसमें वे आजीवन संलग्न रहे। परमानन्द दास की पद-रचना प्रचुरता और श्रेष्ठता दोनों दृष्टियों से सूरदास को छोड़कर अष्टछाप के कवियों में सर्वप्रथम आती है। महाप्रभु ने उन्हें भी सागर की उपाधि से विभूषित किया था।

परमानन्द दासके गोलोकवासका विवरण बहुत रोचक है। देहावसानके एक दिन पूर्व जन्माष्टमी थी। परमानन्ददासने उस दिन विट्ठलनाथ जीके साथ गोकुल जाकर नवनीत प्रियके समक्ष बधाईके कई पद गाये। दूसरे दिन दधिकान्दो के उत्सवमें आनन्दविभोर होकर उन्होंने इतना नृत्य किया कि उन्हे मूर्च्छा आ गयी। विट्ठलनाथजी ने उपचार करके उन्हें सचेत किया परन्तु गोवर्धनपर आकर श्रीनाथ जीके सामने वे पुनः भाव-मग्न हो गये। कुछ देर बाद मूर्च्छासे जाग कर वे अपनी कुटी-सुरभी कुण्डपर गये। वहाँ जाकर उन्होंने बोलना छोड़ दिया। विट्ठलनाथ जी ने वहाँ पहुँचकर समझ लिया कि अब उनका अन्त समय आ गया है। कुछ देर बाद आँखें खोलकर उन्होने एक भक्तिपूर्ण पद गाया। पुनः एक वैष्णव के पूछनेपर उन्होंने भक्तिका साधन बताते हुए एक और पद गाया, जिसमें आचार्य जी, गोस्वामी जी और उनके सात पुत्रोंके चरणोंकी वन्दनाकी गयी है। यद्यपि विट्ठलनाथजीने नवनीत प्रियजी और श्रीनाथजी के सम्मुख परमानन्द दास की भाव-तल्लीनता देखकर कहा था कि उन्हें बाल-लीला का उसी प्रकार बोध हुआ है, जिस प्रकार कुम्भनदास को निकुंज-लीला का, परन्तु परमानन्द दास ने गोस्वामीजी के पूछने पर कि तुम्हारा मन कहाँ है, अन्त समय में जो पद गाया था वह इस प्रकार है—"रोधे बैठी तिलक सम्भारति। मृग नयनी कुसुमायुध करि धरि नन्द सुवनको रूप विचारत।। दरपन हाथ सिगार बनावति। बासर जुग सम टारति। अन्तर प्रीत स्यामसुन्दर सों हरि संग केलि सम्भारति। बासर गत रजनी ब्रज आवत मिलत गोवर्धन प्यारी। परमानन्द स्वामी के सँग मिलि मुद्रित भई ब्रज नारी।।" इस प्रकार परमानन्द दास ने

युगल-रूप मे अपना मन लीन करते हुए शरीर त्यागा और श्रीकृष्ण की नित्यलीलामे प्रवेश किया। यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि सूरदास और परमानन्द दास दोनों को आचार्यजी ने शरणागति के अवसरपर बाल-लीला के बोधकी प्रेरणा दी थी और उसीके पद गानेका अनुरोध किया था और इन दोनों भक्त-कवियो ने अष्टछाप के अन्य कवियों की तुलना में सबसे अधिक बाल-लीला के पद रचे थे, परन्तु दोनो ने अन्त समय मे मधुर-भाव मे ही अपना मन लीन करके शरीर त्यागा।

अष्टछाप के कवियो मे सूर के अतिरिक्त केवल परमानन्द दास ने कृष्ण की सम्पूर्ण लीला के वर्णन का प्रयत्न किया है। परमानन्ददास के पदो का संग्रह 'परमानन्द सागर' नाम से प्रसिद्ध है। विद्या विभाग कांकरोली की 'परमानन्द सागर की हस्तलिखित प्रतिलिपि में ११०१ पद सगृहीत हैं। वास्तव में 'परमानन्द सागर' की सम्पादन-समस्या भी उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं, जिस प्रकार 'सूरसागर'के सम्पादनकी समस्या। 'परमानद सागर' के अतिरिक्त परमानन्दकृत 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित' नामक दो और ग्रन्थ परमानन्द द्वारा रचित बताये जाते हैं, परन्तु वे दोनों अनुपलब्ध है। अतः इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता। परमानन्द दास के पद सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों तथा 'राग-कल्पद्रुम' और 'राग-रत्नाकर' में मिलते हैं। इनमें से अनेक पद वही है, जो 'परमानन्दसागर' में भी सम्मिलित हैं।

परमानन्द दास के पदों का सग्रह 'परमानन्ददास और उनका काव्य' नाम से भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़से प्रकाशित हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—चौरासी वैष्णवनकी वार्ता; अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त; अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल।]

—ब० व०

परमानंद सागर—अष्टछापके प्रसिद्ध कवि परमानन्द दास के पदों का संग्रह 'परमानन्द सागर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। परमानन्द सागर की एक हस्तलिखित प्रति कांकरोली (उदयपुर, राजस्थान) के श्रीनाथ जी के मन्दिर से सम्बद्ध विद्या विभाग में है। इस प्रति में ११०१ पदों का संग्रह है। 'परमानन्द सागर'में कृष्णलीला की लगभग वैसी ही रूपरेखा प्राप्त होती है, जैसी 'सूरसागर' में है। यद्यपि इस संग्रह के पदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा जा सकता और उसके प्रामाणिक पाठ के प्रकाशन की आवश्यकता है, तथापि उसके द्वारा परमानन्द दास के कवित्व और उनकी भक्ति-भावना के सम्बन्ध में अवश्य कुछ अनुमान किया जा सकता है। 'परमानन्द सागर'में कृष्ण की बाल-लीला के अन्तर्गत जन्म, पालना, छठी, स्वामिनीजी का जन्म, गोपी उपालम्भ, कृष्ण-यशोदा के उत्तर-प्रत्युत्तर, सखाओं के साथ केलि, हास-विनोद, असुरमर्दन, यमुना-विहार, गोदोहन, वन-क्रीड़ा, गोचारण, दानलीला, ब्रज से प्रत्यागमन आदि से सम्बन्धित पद हैं। किशोर-लीला में गोपियों की आसक्ति, राधा की आसक्ति, कृष्ण रूप-वर्णन, राधारूप-वर्णन, युगलरस-वर्णन, रास-क्रीड़ा, अन्तर्धान, जल-क्रीड़ा, खण्डितासमय, मान-लीला, मनुहार, फूलोत्सव, दीप-मालिका, वसन्तोत्सव, धमार, स्वामिनीजी का उत्कर्ष, हिंडोल, यमुनाविहार आदि विषयों के पद हैं। विरह वर्णन के प्रसंग में कृष्ण के मथुरा गमन, गोपियों के विरह और उद्धव-सन्देश, भ्रमरगीत आदि के पद मिलते है। कृष्णलीला के उपर्युक्त प्रसंगों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि 'परमानन्द सागर' और 'सूरसागर' के वर्ण्य-विषय में बहुत अधिक समानता है। यही नही, काव्य-गुणों की दृष्टि से भी 'परमानन्द सागर' के पद 'सूरसागर' के पदों से हीन कोटि के नहीं कहे जा सकते। यही कारण है कि 'परमानन्द सागर' के अनेक पद 'सूर-सागर' मे सम्मिलित हो गये हैं। 'परमानन्द सागर' में कृष्णलीला के अतिरिक्त रामोत्सव तथा नृसिह और वामनावतार आदि से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनसे 'सूरसागर' की भाँति परमानन्द सागर को भी श्रीमद्भागवत से प्रभावित कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त परमानन्द दास ने मन्दिर-शोभा, अक्षय तृतीया, वर्षा ऋतु, पवित्रा, दशहरा, रक्षाबन्धन और रथयात्रा आदि स्फुट विषयों पर भी पद रचना की है। इन पदो की प्रकृति शुद्ध धार्मिक और साम्प्रदायिक है।

'सूरसागर' की भाँति 'परमानन्द सागर' की भी यह विशेषता है कि उसमें वात्सल्य भाव का विस्तार से चित्रण हुआ है। सूरदास की तरह परमानन्द दास के सम्बन्ध में भी यह प्रसिद्ध है कि उन्हे बाल-लीला का बोध हुआ था परन्तु सूरसागर की ही भाँति 'परमानन्द सागर' में भी अधिक परिमाण गोपी और राधा भाव की कान्तारतिसम्बन्धी रचनाका ही है।

परमानन्द दास के पदों का एक संग्रह 'परमानन्द दास और उनका काव्य' शीर्षक से भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ से प्रकाशित हुआ है। विशेष के लिए दे० 'परमानन्द दास'।

[सहायक ग्रन्थ—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त।]

—व्र० व०

परमानन्द सुहाने—इनकी जन्म और मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विवरण प्राप्त नहीं है। अनुमानतः इनका समय १९ वीं शताब्दी माना जाता है। इनका निवास स्थान मिर्जापुर कहा जाता है। इनके पिता का नाम बंगाली लाल था और ये जाति के वैश्य थे। इनके जीवन का बहुत समय मध्यप्रदेश में बीता। ये बहुत काल तक (दी सेन्ट्रल प्राविंसेज मिल्स लिमिटेड), रायपुर में सेक्रेटरी के पद पर रह कर कार्य करते रहे।

इन्होंने प्राचीन छन्दों के संकलनकी दृष्टिसे कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत किए, जिनमें षट्ऋतु हजारा और नखशिख हजारा की विशेष ख्याति है। षट्ऋतु हजारा में २२१ कवियोंके १२५३ छन्दों का आकलन है। यह ग्रन्थ सन् १८८४ ई० में मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार नखशिख हजारा में १४५ कवियों के उत्कृष्ट नखशिख विषय के छन्दों का संग्रह है, जिनमें कुछ कवियों के नाम इस प्रकार हैं—अंबुज, अमरेश, आलम, औध, ईश्वर, उदयनाथ, ऊधव, अध्वराम, कमलापति, कवीन्द्र, कविराज, कामता प्रसाद, कालिदास, कान्ह, काशीराम, किशोर, कुशालसिंह, कृष्ण लाल, केशव आदि।

यह ग्रन्थ भी मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८९३ ई० में मुद्रित हो चुका है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित संग्रह भी अति महत्वपूर्ण हैं और ये सभी नवल किशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित हो चुके हैं :—

पावस कवित्त रत्नाकर (सन् १८९३ ई०), श्री राधाकृष्ण लीला (जनवरी सन् १८९३ ई०), सर्वसार संग्रह (जुलाई सन् १८९३ ई०)

[सहायक ग्रंथ—खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास बाबू ब्रजरत्नदास; ब्रजभाषा रीति शास्त्र ग्रंथ कोष-पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी]

—कि० ला०

परमालरासो—सन् १९१९ ई० (सं० १९७६) में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'परमालरासो' प्रकाशित हुआ। जिन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कृति का सम्पादन श्यामसुन्दर दास ने किया, उनका प्रतिलिपि काल सन् १८६८ ई० तथा १७९२ ई० है। हस्तलिखित प्रतियो में कृति का नाम 'महोबाखण्ड' तथा 'पृथ्वीराज रासो' मिलता है। कृति में पृथ्वीराज चौहान तथा परमर्दिदेव 'परमाल' के बीच हुए युद्ध का वर्णन है, अतः कथा को ध्यान में रखते हुए सम्पादक ने कृति का नाम 'परमाल रासो' दिया है। 'पृथ्वीराज रासो' (नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण) में भी एक 'महोबाखण्ड' मिलता है किन्तु उसकी तुलना में 'परमालरासो' अधिक बड़ा है। ग्रन्थ का ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। आल्हा-ऊदल से सम्बन्धित प्रचलित किंवदन्तियों के आधार पर कृति की रचना हुई है। कृति ३६ खण्डों में विभाजित है और अन्तिम पद्य में कृति का नाम महोबा समय दिया है। 'पृथ्वीराज रासो' के समान प्रस्तुत कृति में दोहा, सोरठा, पद्धडिया, पादाकुलक, भुजग प्रयात, नाराच, छप्पय, रसावला, नग्नमाल, नीसानी, मौक्तिकदाम, कुण्डलिया, अरिल्ल, त्रोटक, हरिगीतिका, तोमर, गाथा आदि का प्रयोग हुआ है, कहीं-कहीं संस्कृत श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं और गद्य का भी प्रयोग हुआ है। कृति सरल इतिवृत्तात्मक शैली में लिखी गयी है। वीर रस प्रधान रस है, बीच-बीच में गोरखनाथ भी आते हैं। पात्रों को स्वप्न द्वारा घटनाओं का पूर्वाभास मिलता है तथा आल्हा को अमर कहा गया है। इस प्रकार 'आश्रय तत्त्व' का भी कृति में पर्याप्त समावेश हुआ है। भाषा बुन्देलखण्डी से प्रभावित ब्रज है, जिसमें कृत्रिमता भी मिलती है। रचयिता चन्द कहे गये हैं। कृति सत्रहवीं शती से पहले की नहीं लगती।

[सहायक ग्रन्थ—परमालरासो : श्यामसुन्दरदास बी० ए०, नागरी प्रचारिणी सभा, १९१९ ई०।]

—रा० च० ति०

परमेश कवि—इस नाम के तीन कवियों का उल्लेख साहित्य के इतिहासकारों ने किया है। नवीन कवि के 'सुधासर' नामक संग्रह की कवि सूची में दो परमेश का कथन है। एक प्राचीन परमेश कहे जाते हैं जिनके छन्द कालिदास कृत हजारे में प्राप्त हैं। डा० किशोरी लाल गुप्त ने अपने 'सरोज सर्वेक्षण' में इनके संबंध में लिखा है कि सं० १७५० के पूर्व उनका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है, पर इनकी कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। उनके संबंध में 'बुन्देल वैभव' के रचयिता का कथन है कि परमेश कवि ओरछा नरेश के आश्रित और दरबारी कवि थे और इनका जन्म काल सं० १६६८ और कविता काल सं० १७०८ है। इनके किसी ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हो सकी है। हाँ, स्फुट छन्द ''श्रृंगार संग्रह' आदि ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं। दूसरे परमेश बन्दीजन हैं, जिन्हें मिश्र बन्धुओं ने परमेश भाट नाम से उल्लिखित किया है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार द्वि० त्रै० रि० में इनकी 'कृष्णा विनोद' नामक रचना प्राप्त हुई है। ऐसा अनुमान है कि परमेश भाट और परमेश एक ही नाम के दो भिन्न कवि न होकर एक ही कवि है।

इन दो कवियों के अतिरिक्त नवीन कवि ने अपने 'सुधासर' में वृन्दावन वासी एक अन्य परमेश कवि की चर्चा की है। इनका उल्लेख 'सरोज' में नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ— बुन्देल वैभव, द्वितीय भाग; शिवसिंह सरोज- सातवा संस्करण; मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग (दि० सस्करण); सरोज सर्वेक्षण-डा० किशोरी लाल गुप्त; सुधासर-नवीन कवि —हस्तलिखित प्रति डा० भवानी शंकार, लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त]।

—कि० ला०

परशुराम—१. भृगुवंशीय जमदग्नि और रेणुका के पुत्र, विष्णु के अवतार परशुराम शिव के परम भक्त थे। इनका नाम तो राम था, किन्तु शंकर द्वारा प्रदत्त अमोध परशु को सदैव धारण किये रहने के कारण ये परशुराम कहलाते थे। एक बार इनके पिता ने अपने सब पुत्रों को माता का वध करने के लिए कहा। परशुराम के अतिरिक्त कोई भी तैयार न हुआ। अतः जमदग्नि ने सबको संज्ञाहीन कर दिया। परशुराम ने पिता की आज्ञा मानकर माता का शीश काट डाला। पिता ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा तो उन्होंने चार वरदान माँगे—एक माँ पुनर्जीवित हो जायँ; दूसरे उन्हें मरने की स्मृति न रहे, तीसरे भाई चेतना-युक्त हो जायँ और चौथे मैं परमायु होऊँ। जमदग्नि ने उन्हें चारों वरदान दे दिये। एक बार कार्त्तवीर्य ने परशुराम की अनुपस्थिति में आश्रम उजाड़ डाला था, जिससे परशुराम ने क्रोधित हो उसकी सहस्र भुजाओं को काट डाला। कार्त्तवीर्य के सम्बन्धियों ने प्रतिशोध की भावना से जमदग्न का वध कर दिया। इस पर परशुराम ने २१ बार पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन कर दिया। रामावतार में रामचन्द्र द्वारा शिव का धनुष तोड़ने पर ये क्रुद्ध होकर आये थे। इन्होंने परीक्षा के लिए उनका धनुष रामचन्द्र को दिया। जब राम ने धनुष चढ़ा दिया तो परशुराम समझ गये कि रामचन्द्र विष्णु के अवतार हैं। इसलिए उनकी वन्दना करके वे तपस्या करने चले गये। ''कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गए बनहिं तप हेतू।।'' यह वर्णन 'राम चरितमानस', प्रथम सोपानमें २६७ से २८४ दोहे तक मिलता है।

२. कृष्ण के पुरोहित, जिन्होंने कुरुक्षेत्र में यज्ञ कराया था।

—मो० अ०

परशुराम चतुर्वेदी—जन्म २५ जुलाई, सन् १८९४ ई० को बलिया से पूर्व दिशा की ओर लगभग ८ मील दूर गंगा के किनारे जबहीं नामक ग्राम में हुआ। पिता का नाम पं० रामछबीले चतुर्वेदी। प्रारम्भिक शिक्षा महाजनी पद्धति पर दी गयी। साथ ही संस्कृत का भी अभ्यास कराया गया। संस्कृत के प्रति आपकी रुचि कुछ ऐसी रही कि बाल्यकाल से अब तक उसका अध्ययन करते आ रहे हैं। हिन्दी की शिक्षा आपको

मात्र कक्षा २ तक ही मिली। बाद मे इन्होंने अपने मामा की महायता से बलिया मे अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ की। इन्ही दिनों आप वन्देमातरम् आन्दोलन (सन् १९११ ई०) के सिलसिले मे स्कूल तथा छात्रावास से निकाल दिये गये। परन्तु इनके चचेरे नाना ने फिर इन्हे भर्ती करा दिया।

सन् १९१४ ई० मे स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् आगे की शिक्षा के लिए परशुरामजी प्रयाग चले आये। यहाँ आकर उन्होने कायस्थ पाठशाला मे अपना नाम लिखाया। रहने की व्यवस्था हिन्दू बोर्डिंग हाउस में हुई। आपके समकालीन छात्रों में आचार्य नरेन्द्र देव, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, कविवर सुमित्रानन्दन पन्त जैसे विद्यानुरागी थे। परशुरामजी भी इन सुरुचि एवं ज्ञानसम्पन्न महानुभावों की गोष्ठी के अन्यतम सदस्य थे।

इन्हीं लोगों में से कुछ ने आगे चलकर प्रयाग विश्वविद्यालय (सन् १९२३-२४ ई० तत्कालीन म्योर सेण्ट्रल कालेज) में हिन्दी परिषद् की स्थापना की। परशुरामजी इसके प्रथम मन्त्री चुने गये।

सन् १९२५ ई० में आपने बलिया में वकालत प्रारम्भ की। यह एक विचित्र तथ्य है कि साधारणत: अपने जीवन में प्राय. मौन तथा सभा-भीरु रहने पर भी वे एक सफल वकील थे।

परशुरामजी की ख्याति आज हिन्दी साहित्य में एक कुशल अनुसन्धानकर्त्ता और आलोचक के रूप मे है, परन्तु इस कोटि के अन्वेषक तथा समीक्षक का साहित्यिक जीवन कविता से प्रारम्भ हुआ था। प्रयाग आने पर इन्होने राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं। 'प्रताप' के सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी इनकी रचनाएँ प्रायः प्रकाशित करते थे।

इसके पश्चात् संस्कृत तथा हिन्दी के सम्पूर्ण भक्ति तथा श्रृगारिक काव्य का इन्होंने अत्यन्त मनोयोग से अनुशीलन किया। सन् १९३४ ई० में इन्होंने 'संक्षिप्त रामचरित मानस' का सम्पादन करके उसे हिन्दूस्तानी प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित करवाया। उनकी प्रकाशित पुस्तकों में यह प्रथम थी। उस समय इस पुस्तक का भूमिका-भाग खो गया था, अतः सन् १९३४ ई० में इस संस्करण में 'रामचरित मानस' का पाठमात्र था। अब उस भूमिका को फिर से लिख कर परशुरामजी ने इन दोनों भागो को 'मानस की राम-कथा' नामक ग्रन्थ में एक साथ प्रकाशित करवाया है। इसकी शोध-पूर्ण विस्तृत भूमिका कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय है।

अब तक चतुर्वेदीजी की २७ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। 'मीरांबाई की पदावली', 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' (१९५१), 'सूफी काव्य-संग्रह' (१९५१), 'सन्त-काव्य', 'हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' (१९५२), 'वैष्णव धर्म, 'मानस की राम कथा' (१९५३), 'गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम सेवा' (१९५२), 'नव-निबन्ध' (१९५१), 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' (१९५२), 'कबीर साहित्य की परख' (सन् १९५४ ई०), 'भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा' (१९५५ ई०), 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' (१९५५ ई०), 'बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक' (१९५८ ई०), 'सन्त साहित्य की भूमिका' (१९६० ई०), 'साहित्य-पथ' (१९६१ ई०) 'भक्तिसाहित्य में मधुरोपासना' (१९६१ ई०), 'मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ' (१९६१ ई०), 'रहस्यवाद-भाषण' (१९६३), 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (१९६८ ई०), दादू ग्रन्थावली' (१९६८ ई०), 'बौद्धसिद्धों के चर्यापद (१९६९), 'कबीर साहित्य चिन्तन' (१९७०)।

'मीरांबाई की पदावली' (१९५१) में मीरा के काव्य और भक्ति के समस्त पदों का विवेचन किया गया है। पाठान्तरों और टिप्पणियों के साथ मीरां के अपेक्षाकृत प्रामाणिक २०० से ऊपर पद दिये गये हैं। 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' मौलिक आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसे उत्तरी भारत के सन्तों और उनके सम्प्रदायों का विश्व-कोश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'सूफी काव्य संग्रह' (१९५१) मे प्रथम बार सारी उपलब्ध सामग्री का उपयोग करके आलोचनात्मक दृष्टि के साथ हिन्दी के प्रधान सूफी कवियों की रचनाएँ संकलित की गयी हैं। 'सन्त काव्य' (१९५२) के प्रारम्भ में सन्त-साहित्य के कला और भाव दोनों ही पक्षों पर बडे वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है। विद्वान् लेखक ने संग्रह का पाठ देने में राजस्थान मे बिखरी पाण्डुलिपियों से सहायता ली है और इस प्रकार इस संग्रह द्वारा बहुत सी नवीन और शुद्ध रूप में सामग्री हिन्दी पाठकों के समक्ष आयी है। 'हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह' मौलिक आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आज तक की प्रेम-पद्धतियो का वैज्ञानिक विश्लेषण है। 'वैष्णव धर्म' (१९५३) भी मौलिक आलोचनात्मक ग्रन्थ है। प्रस्तुत पुस्तक उस लेख का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है जो 'वैष्णव धर्म सम्प्रदाय का क्रमिक विकास' शीर्षक से 'हिन्दुस्तानी' (१९३७) पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। 'मानस की राम-कथा' (१९५३) भूमिका के साथ सम्पादित ग्रन्थ है। यह गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरित मानस' का उसकी कथा-वस्तु के आधार पर किया गया अध्ययन है। इसमें मूल रामकथा के उद्गम, उद्भव एवं विकास के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित राम-कथा के विविध रूपों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। पुस्तक के दो खण्ड हैं। इनमें एक भूमिका रूप में है और दूसरे में 'मानस' की मूल राम-कथा दी गयी है।

परशुरामजी की आलोचना खोजपूर्ण तथा शास्त्रीय स्तर पर है और उनकी समीक्षा-पद्धति वैज्ञानिक है। हिन्दी साहित्य का मध्ययुग तथा सन्त-साहित्य के लेखन आपके अध्ययन के प्रिय विषय हैं। आपकी साहित्यिक सेवाओं से प्रभावित होकर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने १९६५ ई० में 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया।

—ह० दे० बा०

परिचई—सन्त काव्य से सम्बद्ध परिचई साहित्य विशेष महत्त्व रखता है। अनेक सन्तों की परिचइयाँ उनके शिष्यों, प्रशिष्यों द्वारा लिखी गयीं, जिनसे सन्तों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यहाँ उपलब्ध परिचई साहित्य का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

खेमदासकृत 'गोपीचन्द चरित परिचई' में गोपीचन्द के उज्ज्वल चरित का वर्णन हुआ है। परिचईकार ने प्रारम्भ में काल, कर्म और अंजन से परे निरंजन शेष, महेश, ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, नारद, शारदा आदि की वन्दना की है और तब गोपीचन्द के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन और अन्त में उनके योगी हो

जाने तथा वैराग्य का वर्णन किया है। ग्रन्थ के अन्त मे परिचई के माहात्म्य का वर्णन है। इस रचना का समय उसमें नही दिया गया है परन्तु एक स्थान पर रज्जब साहब की वन्दना और कृपा का उल्लेख है, जिससे अनुमान होता है कि इसकी रचना रज्जब साहब के जीवन काल में हुई होगी। अतः इसका रचनाकाल सन् १६८३ ई० (सं० १७४० वि०) के लगभग माना जा सकता है।

'त्रिलोचन परिचई'की एक प्रति संवत् १८९० वि० (सन् १८३३ ई०) की प्राप्त हुई है। इसके प्रतिलिपिकार कोई भक्त रामदास थे। इसके लेखक अनन्तदास हैं परन्तु इसका रचनाकाल अज्ञात है। परिचई के रचित-वर्णन के अन्तर्गत एक रोचक प्रसंग दिया गया है, जिससे त्रिलोचन की उच्च भक्ति-भावना का परिचय मिलता है। उनके यहाँ एक अत्यन्त दीन-हीन शान्त-स्वभाव का व्यक्ति नौकरी की खोज में आया, जिसने दो शर्तों पर नौकरी करना स्वीकार किया—एक थी पाँच-छः सेर भोजन की और दूसरी अधिक भोजन करने की निन्दा सुनते ही नौकरी छोड़ देने की। त्रिलोचन दम्पति ने यह शर्त स्वीकार कर ली परन्तु एक दिन त्रिलोचन की पत्नी ने अपनी पडोसिन से कहा—"पीसत पोवत बल गयो मेरो, भूखो रहो अघाय न चेरो।" नौकर ने जब यह सुना तो वह अन्तर्धान हो गया, जिससे त्रिलोचन दम्पति अत्यन्त दुखी हुए। परिचईकार का संकेत यही जान पड़ता है कि यह नौकर कोई दिव्यपुरुष था।

'रंका-बंका की परिचई' के लेखक भी कवि अनन्तदास थे। इसका भी रचनाकाल नहीं दिया गया है। इसमें रंकाबंका की धर्म-परायणता, उनके पंढरपुर में निवास, उनकी भक्ति-भावना के विकास और सन्तों के मार्ग को ग्रहण करके जाति-पाँति की भावना के प्रतित्याग का वर्णन हुआ है। यह भी उल्लेख है कि सन्त नामदेव रंका के दर्शनार्थ आये थे और रंका ने उन्हें सतगुरु से प्राप्त साधना का मार्ग समझाया था। अनन्तदास द्वारा प्रणीत अन्य परिचइयों की अपेक्षा इसमें अधिक भाव-सौन्दर्य पाया जाता है।

'धनांकी परिचई'के लेखक भी अनन्तदास ही हैं। हरि की वन्दना के उपरान्त इसमें बताया गया है कि धनां जब बीज लेकर बोने के लिए खेत की ओर प्रस्थान करते हैं तो मार्ग में उन्हें भिक्षुक रूप में अन्न की याचना करते हुए भगवान् के दर्शन होते हैं। परन्तु धनां अज्ञानवश अन्न देना स्वीकार नहीं करते। अन्त में भिक्षुक के बहुत हठ करने पर वे बीज का अन्न भिक्षुक को दे डालते हैं। इसी प्रकार धनां की भक्ति की उसमें प्रशंसा की गयी है।

अनन्तदास ने ही 'भक्त रैदास की परिचई'की भी रचना की। कृति के प्रारम्भ में कवि ने कहा है "सद्गुरु मोहीं आज्ञा कीन्हीं तासों मों यहि गरन्थ करि दीनी।" गुरु-गोविन्द तथा सन्तों की वन्दना करने के बाद बताया गया है कि रैदास बनारस में उत्पन्न हुए थे। पूर्व-जन्म में वे मांस-भक्षी ब्राम्हण थे, इसी कारण उन्हें चमार के यहाँ जन्म मिला। रामानन्द को उन्होंने गुरु बनाया और निरन्तर स्वालवम्बी जीवन बिताया। ब्राह्मणों ने इनका बराबर विरोध किया परन्तु इनके जीवनकाल में ही इनकी प्रतिष्ठा और इनका सम्मान इतना व्यापक हो गया कि झालीरानी उनकी शिष्या बन गयीं।

'कबीरजी की परिचई'के लेखक भी अनन्तदास है। कबीर के उज्ज्वल चरित का वर्णन करते हुए लेखक ने इसमें बताया है कि वे रामानन्द के शिष्य हुए थे। तत्पश्चात् माया का परित्याग करके सन्तों को सुख देने के कारण उनकी बहुत प्रतिष्ठा हुई। जीवन में उन्हें बहुत आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा किन्तु भगवान् ने कृपा करके उन्हें यथेष्ट द्रव्य और अन्न प्रदान कर दिया। उन्होंने जुलाहे के व्यवसाय का परित्याग कर दिया। वृद्धावस्था में वे काशी छोड़कर मगहर चले गये। सभी देवताओं ने उनकी प्रशसा और वन्दना की। इस परिचई के भी रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

'नामदेव की परिचई'की रचना भी अनन्तदास ने ही की थी। प्रारम्भ में कृष्णानन्द, रामानन्द, अनन्तानन्द आदि सन्तों की वन्दना की गयी है और तब बताया गया है कि नामदेव पण्ढरपुर मे निवास करते थे। उन्होंने ब्राह्मणोंको जाति-भेद त्यागनेका उपदेश दिया तथा ब्राह्मणों ने राजा के पास जाकर उनकी शिकायत की। राजा ने सम्पूर्ण गाँव को नष्ट करने की आज्ञा दी परन्तु भगवान् ने चक्र लेकर पातसाह पर आक्रमण कर दिया, जिससे उसे वापस लौटना पड़ा। इस परिचई का रचनाकाल भी अज्ञात है।

अनन्तदास द्वारा लिखित 'पीपाजी की परिचई'में एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके अन्त में लेखक ने आत्म-परिचय भी दिया है। भक्त पीपा के उज्ज्वल चरित का वर्णन करते हुए परिचईकार ने बताया है कि राजा पीपा कैसे प्रजापालक और रूप-श्रीसम्पन्न व्यक्ति थे। जब उन्हें राज्य से विरक्ति हुई तो प्रजा अत्यन्त दुखी हुई थी। पीपा द्वारिका लौट आये थे। वियोग के समय रामानन्द पीपा और सीता से स्वयं गले मिले थे। महोत्सव के दिन घर में जब सामान का अभाव हुआ तो सीता एक विषयी बनिये के पास गयी, पीपा स्वयं उसे विषयी बनिये के पास रात को पहुंचाने गये, बनिया अत्यन्त लज्जित हुआ और पीपा का शिष्य बन गया। अन्त में ग्रन्थ के पाठ का माहात्म्य भी दिया गया है।

'दादू जन्मलीला परिचई' के लेखक स्वामी जनगोपाल हैं। वे दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में से थे। स्वामी मंगलदास के कथनानुसार इस परिचई का रचनाकाल १७वीं शताब्दी है। यह परिचई परिचई-साहित्य में सबसे अधिक विस्तृत, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक गुणों से युक्त है। इसका वर्ण्य-विषय सोलह विश्रामों में विभाजित किया गया है। दादू की जीवनी के उच्चादर्श और उनके उज्ज्वल चरित का वर्णन करने के उपरान्त कवि ने अन्त में ग्रन्थ के पाठ का माहात्म्य भी बताया है।

'मलूकदास की परिचई' के लेखक का नाम सथुरादास है। कृति में रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। मलूकदास के जन्म, प्रारम्भिक धार्मिक जीवन, संसार से वैराग्य और हरि-भक्ति में लीन होने के वर्णन के उपरान्त उनके निधन का भी उल्लेख हुआ है। इससे प्रकट होता है कि इसकी रचना मलूकदास के निधन के उपरान्त अर्थात् सं० १७३९ वि० (सन् १६८२ ई०) के बाद हुई होगी (दे० 'मलूकदास')।

'स्वामी सेवादास की परचई' के लेखक का नाम रूपदास है। इसकी रचना रूपदास ने अपने गुरु अमरदास की प्रेरणा से की थी। इसमें ग्रन्थ का रचनाकाल गुरुवार, वैशाख कृष्ण

१२, सं० १८३२ वि० (सन् १७७५) दिया हुआ है। प्रारम्भ में गुरु-गोविन्द, सन्तों, सिद्धों, साधकों और हरि की वन्दना की गयी है। कवि ने अपनी हीनता का भी वर्णन किया है। स्वामी सेवादास के अद्वितीय कान्तिमान् और अलौकिक गुणों से सम्पन्न व्यक्तित्व का चित्रण करने के उपरान्त अन्त में लेखक ने परचई के पढ़ने-पढ़ाने के फल का भी कथन किया है।

'स्वामी हरिदासजी की परचई' की रचना रघुनाथदास ने साक्षात् निरंजन देव (ब्रह्म) की आज्ञा से की थी। अनुमान है कि इसकी रचना सं० १७४६ वि० (सन् १६८९ ई०) के पहले हो चुकी थी। प्रारम्भ में कवि ने निरंजन, कबीर, सुखदेव, ध्रुव, प्रह्लाद, गोरखनाथ, अपने गुरु अमरदास तथा अन्य सन्तों की वन्दना की है। हरिदास के चरित का वर्णन करते हुए लेखक ने उनके जन्म, निरंजन से उनके अभेद, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य में उनकी कुशलता, काम-क्रोध, मद-लोभ मोह से उनकी निर्लिप्ति का वर्णन करते हुए कवि ने बताया है कि किस प्रकार एक कपटी स्वामी ने हरिदास को जहर दिया, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी और उन्होंने महाप्रस्थान किया।

बोधदासकृत 'सन्त परिचई' की रचना नाभादास के 'भक्तमाल' से प्राप्त हुई थी। इसमें जगजीवन साहब के चरित का वर्णन हुआ है। इसकी रचना भौमवार, वैशाख शुक्ल सप्तमी सं० १८४८ वि० (सन् १७९१ ई०) को समाप्त हुई थी। ग्रन्थ में इसके आकार और विस्तार का भी उल्लेख किया गया है तथा अन्त में उसके पाठ माहात्म्य का कथन हुआ है।

'चरनदास की परिचई' स्वामी रामरूप ने लगभग सं० १८४०-४१ वि० (सन् १७८३-८४ ई०) में की थी। स्वामी रामरूप को स्वयं चरनदास ने अपने ग्रन्थों के संग्रह और प्रतिलिपि का कार्य दिया था। स्वामी रामरूप ने अपने गुरु के उज्ज्वल चरित से प्रभावित होकर उनके आदर्श-चरित का भी वर्णन कर दिया।

उपर्युक्त परिचइयों के कुछ लेखकों ने अपनी रचनाओं में प्रसंगवश आत्म-परिचय भी दिया है। अनन्तदास का नाम परिचई लेखकों मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उन्होंने अपने विषय में अधिक उल्लेख नहीं किया परन्तु 'पीपाजी की परिचई' के अन्त में उन्होंने लिखा है—"श्री रामानन्द के अनन्तानन्दा। सदा प्रगट ज्यों पूरण चन्दा।। ताके कृष्णदास अधिकारी। सब कोइ जाने दूधा धारी।। ताके अग्र आगरो प्रेमू। लै बैठे सुमिरन को नेमू।। अग्रको शिष्य विनोदी भाई। ताकी दास अनन्त पै आई।। ता परसाद परिचई भाषी। सुनौ सन्त जन साची साषी।। यह परिचई सुनै जो कोई। सहजय सब सुख पावै सोई।।" इससे ज्ञात होता है कि अनन्तदास नाभादास के गुरु-भाई के शिष्य थे। अनुमान है कि वे नाभादास के समकालीन थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि, "यह राजस्थान जैसे किसी पश्चिमी प्रान्त के रहे होंगे। इनके गुरु का नाम कृष्णदास था और ये विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आसपास वर्तमान थे।"

जगजीवन साहब की जीवनी का परिचय देते हुए 'सन्त परिचई' में बोधेदास ने कुछ अपना परिचय भी दिया है। बोधेदास का जन्म अवध के बरैठा गाँव में हुआ था। कालान्तर में वे बरैठा त्यागकर कोटवा में आ बसे थे। उन्होंने लिखा है—"रामेश्वर को चेला, बोधे भये तेहि नाउ। कीन्ह परावन कोटवा, छाड़ि बरैठा गाउ।।" बोधेदास जगजीवन साहब के समकालीन थे। वे कायस्थ दम्पति के सन्तान थे। उन्होंने लिखा है—"कायथ जात करम कर हीना। सरनायहु पर परबस कीन्हा।। यह अपराध समुझि मन आई। तबही सन्त परिचई बनाई।।" उनके माता-पिता, स्वजन-परिजन उन्हें छोड़कर लखनपुर में जा बसे थे।

'दादू-जन्मलीला परिचई' के लेखक जनगोपाल का जन्म फतहपुर सीकरी में हुआ था। बाद में वे डीडवाणां गाँव में जा बसे थे। जनगोपाल ने अपने जन्म आदि की तिथियो का उल्लेख नहीं किया है परन्तु अनुमान है कि सं० १६४० वि० (सन् १५८३ ई०) के आसपास हुए होंगे क्योंकि वे दादू के प्रमुख शिष्यों में से थे और उनके समकालीन थे। जनगोपाल का जन्म वैश्य कुल में हुआ था-"सतगुरु दादू दी दयालू। जाति महाजन जन गोपालू।।" जनगोपाल ने दादू-जन्म लीला परची के अतिरिक्त १२ ग्रन्थों की रचना और की थी। उनके नाम ये हैं-ध्रुवचरित, प्रह्लाद चरित, मोह-विवेक संवाद, जड़ भरत चरित्र, शुक्र-संवाद, कायाप्राण संवाद, अनन्त लीला, चौबीस गुरुओ की लीला, बारहमासिया, भेंट के सवैये, पद और साखी।

'चरनदास की परिचई' के लेखक स्वामी रामरूप ने अपना परिचय अन्य परिचईकारों की तुलना में अधिक दिया है परन्तु उन्होने अपने जन्मकाल का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने सं० १८११ वि० (सन् १७५४ ई०) में ११ वर्ष की अवस्था में चरनदास से दीक्षा ली थी। इस प्रकार उनका जन्मकाल सं० १८०० वि० (सन् १७४३ ई०) के आसपास ठहरता है। वे ब्राह्मण जाति के थे और उनके पिता का नाम महाराम था। उनका पालन-पोषण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ था। दीक्षा के समय चरनदास ने उनका नाम भक्तानन्द रखा था। परिचई के अतिरिक्त स्वामी रामरूप की कई रचनाएँ चरनदासी सम्प्रदाय के महन्त के पास हस्तलिखित रूप में सुरक्षित हैं। उनकी एक पुस्तक 'गुरु-भक्ति प्रकाश' प्रकाशित हो गयी है।

'गोपीचन्द चरित परिचई' के अन्त में उसके षेमदास ने अपना जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह अत्यन्त अपर्याप्त है। उससे यह भी स्पष्ट नहीं होता कि वे दादू-पन्थ के अनुयायी षेमदास थे अथवा निरंजनी सम्प्रदाय के प्रमुख प्रचारक षेमदास। 'सुन्दर ग्रन्थावली' में श्री हरिनारायण शर्मा ने दादूपन्थी षेमदास का उल्लेख किया है परन्तु पं० परशुराम चतुर्वेदी ने निरंजनी सम्प्रदाय वाले षेमदास का परिचय दिया है। इनमें से गोपीचन्द चरित परिचई के लेखक कौन थे, यह कहना सम्भव नहीं है।

'स्वामी हरिदास की परचई' के अन्त में उसके लेखक रघुनाथ दास ने जो आत्म-परिचय दिया है, वह बहुत अधूरा है। इस परिचई के द्वारा केवल इतना ज्ञात होता है कि रघुनाथ दास के गुरु अमरदास थे और उन्होंने ही उन्हें भक्ति-भाव का वरदान दिया था।

रूपदास ने 'स्वामी सेवादास की परिचई' में इस प्रकार आत्मपरिचय दिया है—"यह परचा पर-ब्रह्म का। कहि गुरु के उपदेश।। श्री स्वामी सेवादासजी। कीया ब्रह्म प्रवेश।। मैं परचा कैसे कहूँ। यह गुरका उपगार।। जन रूपदास वरणे कहा। परचा अनन्त अपार। श्री अमरदास गुरुदेव जी। मेरे

सिरका ताज।। उनके सतगुरु सेवाजी। सकल सुधारण काज।। घटती बढ़ती मातरा। अक्षर तुक अनुसार।। हरिजन जकर सुधार ज्यो। जन रूपदास बलिहार।।" रूपदास निरंजनी सम्प्रदास के अनुयायी थे।

सथुरादास ने मलूकदास की परिचई में अपने सम्बन्ध में बहुत कम परिचय दिया है। उनके विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। डा० बड़थ्वाल ने उनका नाम सथरादास लिखा है परन्तु परिचई की हस्तलिखित प्रतियों से ज्ञात होता है कि उनका नाम सथुरादास ही था, यथा—"जैसें भाखें सथुरादास"। उनकी जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद प्रकट किया गया है। कुछ लोग उन्हें कायस्थ और कुछ खत्री जाति का बताते हैं। इस सम्बन्ध में परिचई के द्वारा महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। उसमें लिखा है—"मलूक के भगिनी सुत जोई। मलूक को पुन शिष्य है सोई।। तिन हित सहित परिचई भाषी। बसे प्रयाग जगत सब साषी।।" इससे स्पष्ट है कि सथुरादास खत्री जाति के थे और प्रयाग के निवासी थे।

परिचई साहित्य और परिचईकारों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि यह साहित्य काव्य की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण न हो, सन्तों की जीवनियो पर इससे अवश्य प्रकाश पड़ता है। सन्त-जीवन के वातावरण का अनुमान लगाने में इससे पर्याप्त सहायत मिल सकती है। भाषा के अध्ययन में भी इसका उपयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

—सा० शु०

परिपूर्णानन्द वर्मा—जन्म वाराणसी में सात फरवरी सन् १९०७ को हुआ। विद्यार्थी जीवन से ही आपने लेखन कार्य आरम्भ कर दिया था। स्नातक होते ही आप की नियुक्ति प्रेम महा विद्यालय (वृन्दावन) मे अंग्रेजी के आचार्य पद पर हुई, जहाँ आप अध्ययन, चिन्तन, लेखन आदि में निरन्तर प्रवृत्त रहे। बीस, इक्कीस वर्ष की आयु से ही आपके लेख सरस्वती में छपने लगे थे।

सन् १९२८-२९ में आप 'लोकमत', दैनिक के सहकारी सम्पादक होकर जबलपुर गए और उसके प्रकाशन की समाप्ति के उपरान्त सन् १९३१-३२ में वहीं श्री रामानुज लाल श्रीवास्तव के साथ 'प्रेमा' मासिक का सम्पादन किया। 'प्रेमा' की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वाराणसी आकर साहित्य सेवा एवं समाज सेवा में जुट गए। आपके ४५ ग्रन्थ हिन्दी तथा ३ ग्रन्थ अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुके हैं। अपराध की समस्याओं पर प्रकाशित आपके ग्रन्थ की ख्याति अन्तरराष्ट्रीय है।

सन् १९३७ से आपका कार्य क्षेत्र कानपुर हो गया। सन् ४५ में आपका ध्यान अपराध-निरोध तथा अपराधियों की दशा सुधारने की ओर गया। इस विषय पर किये गये आपके कार्यों ने आपको समस्त सभ्य संसार में सम्मान का पद दिया है। यूरोप तथा अमेरिका में आप भारत का प्रतिनिधित्व कर चुके हैं।

कृतियाँ—आत्महत्या तथा काम वासना के अपराध, चालीस दिन की कहानी, छः सप्ताह की बात, तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ, निठल्लू की राम कहानी, पतन की परिभाषा, प्रतीक शास्त्र, प्राणदण्ड, बेवस अपराधी, भारत की विभूतियाँ, भारतीय इतिहास की बाल पोथी, रानी भवानी, रूप और रुपया, लोग कहें घर मेरा, वाजिद अलीशाह और अवध राज का पतन, समाज शास्त्र की भूमिका तथा समाज सेवा कार्य आदि।

कृ० शं० पा०

परिमल १—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य-संग्रह। १९२२ ई० में 'अनामिका' नाम से उनका एक काव्य-सग्रह प्रकाशित हो चुका था। इस दृष्टि से यह द्वितीय काव्य-ग्रन्थ है। पर इसमें संगृहीत कविताओं की रचना-तिथियों को देखते हुए इसे प्रथम संग्रह माना जा सकता है। यों इसका प्रकाशन १९२९ ई० में हुआ। इस संग्रह में 'जुही की कली' जैसी कविता भी, जो १९१६ ई० में लिखी गयी, संगृहीत है। पर सामान्यतः 'मतवाला' में (सन् १९२४-२५ ई०) प्रकाशित अधिकांश कविताओं का ही संग्रह इसमें किया गया है।

'निराला' की बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा, प्रगतिशील दृष्टिकोण, दार्शनिक तथा बौद्धिक विचारधारा का परिचय 'परिमल' में संगृहीत रचनाओं से मिलने लगता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादियों के सम्बन्ध में भाव-भूमि के संकोच का जो उल्लेख किया है, वह 'निराला' में नहीं पाया जाता। इस काव्य-संग्रह के तीन खण्ड हैं—प्रथम खण्ड में छन्दोबद्ध रचनाएँ हैं, द्वितीय खण्ड में स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग किया गया है तो तृतीय में मुक्तवृत का।

भारतीय लोकहितवाद के आन्दोलन की ओर अपने सम-सामयिक कवियों में 'निराला' सबसे पहले उन्मुख हुए। 'परिमल' की भिक्षुक, दीन, विधवा, बादल राग आदि कविताएँ उनके नवीन दृष्टिकोण की सूचना देने के साथ-साथ उनके अप्रतिम भावोन्मेष को भी प्रकट करती हैं। यह उनके उद्दाम यौवन का काल था। उसकी प्रखर धारा में अवरोधों का टिकना सम्भव न था—"बहने दो, रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है, यौवन मदकी बाढ़ नदी की, किसे देख झुकती है।"

'परिमल' की भाषा सहज, मधुर तथा आकर्षक है। अभी उससे अलंकृति का स्पर्श नहीं हो पाया है। संस्कृत के बहुप्रचलित तत्सम शब्दों का उन्होंने धड़ल्ले से प्रयोग किया है। सामासिक पदावली तथा नाद-योजना उनकी शैली की प्रमुख पहचान है। 'तुम और मैं' भाषा की दृष्टि से उनकी प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है।

—ब० सिं०

परिमल २—प्रयोगवाद के बाद नये हिंदी साहित्य की विकास-प्रक्रिया बहुत कुछ परिमल के माध्यम से परिलक्षित की जा सकती है। निराला के प्रसिद्ध काव्य-संकलन से मानो प्रेरणा लेते हुए १० दिसम्बर १९४४ ई० को प्रयाग विश्वविद्यालय के साहित्यिक अभिरुचि रखने वाले कुछ उत्साही युवक मित्रों द्वारा 'परिमल' की स्थापना की गयी। इसका लिखित संविधान काफी बाद २३ फरवरी १९५२ को तैयार हुआ। परिमल की प्रथम गोष्ठी से अब तक कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि कितने ही विषयों पर हो चुकी ४०० गोष्ठियों में कविता विषयक गोष्ठियों की प्रमुखता रही है। इन गोष्ठियों के अलावा परिमल की कुछ अखिल भारतीय स्तर की गोष्ठियाँ हैं, जिनमें 'व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा सामाजिक दायित्व' (१९५३ ई०), 'लेखक और राज्य (१९५७ ई०) 'कहानी गोष्ठी (१९६४ ई०)

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। लेखक और राज्य के आपसी रिश्ते को लेकर विचार विमर्श करने वालों में अज्ञेय, रघुवीर सहाय, ताराशंकर बनर्जी, सुन्दरम, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, शिवराम कारंथ, आर. बी. जोशी, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, दयाकृष्ण, यशपाल, अमृतलालनागर, रेणु प्रमुख थे। इस गोष्ठी के प्रमुख संयोजक थे डॉ० हरदेव बाहरी। कहानी गोष्ठी प्रयाग में खुली आलोचना और बातचीत के लिए एक उदाहरण है। इसमें कृष्णा सोबती, मोहन राकेश, रमेश बक्षी, नामवर सिंह, कमलेश्वर, 'अश्क', नरेश मेहता, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, अमरकान्त, गिरिराज किशोर आदि साहित्यकारों ने बहस मे हिस्सा लिया।

'परिमल' की गोष्ठियों मे उन्मुक्त बहस और तीखी आलोचना को कभी बुरा नहीं माना जाता है। गोष्ठियाँ सदस्यों के यहाँ क्रम से संयोजक द्वारा आयोजित की जाती हैं। कोई सदस्य किसी विषय पर लेख पढ़ता है, उसकी तीखी आलोचना और प्रशंसा दोनों हो सकती हैं, और फिर काफी हास्य के बाद गोष्ठी समाप्त होती है। इस सारे तामझाम में कितने ठहाके होते हैं, कहना मुश्किल है। यों तो परिमल के कुल सदस्यों की सख्या ९० है, काफी सदस्य प्रयाग से बाहर हैं। प्रयाग में वर्तमान क्रियाशील सदस्यों की संख्या इस समय संयोजक लक्ष्मीकांत वर्मा सहित ३० है। मनमुटाव और द्वन्द्व कई बार हुए। कुछ लोग वर्षों नहीं आये परन्तु बाद में वे स्वयं आने लगे। एक बार सदस्य हो जाने पर आप यदि इस्तीफा भी दें तो वह निरर्थक है। संस्था के संचालन का सारा दायित्व संयोजक पर होता है। परिमल के अब तक निर्वाचित हुए संयोजक हैं—गिरिधर गोपाल, धर्मवीर भारती, बिशन नारायण, रमानाथ अवस्थी, ओंकार शरद, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, लक्ष्मीकान्त वर्मा, उमाकान्त मालवीय, दूधनाथ सिंह, मलयज, गोपेश, नित्यानंद तिवारी तथा जगदीश गुप्त। कुछ शहरों में 'परिमल' की शाखाएँ भी रही हैं। जौनपुर, बम्बई, मथुरा, पटना, कटनी के सदस्यों में इलाहाबाद के सदस्यों ने भाग भी लिया है।

'परिमल' ने इलाहाबाद में साहित्य चिंतन के प्रति नये दृष्टिकोण का न केवल निर्माण किया है बल्कि शहर के वातावरण को एक साहित्यिक सस्कार देने का प्रयास भी किया है। एक संस्था से अज्ञेय से लेकर प्रमोद सिन्हा तक अनेक लोगों के जुड़ने के कारण श्रीकान्त वर्मा का यह महसूस करना स्वाभाविक था कि "परिमल के सदस्यों ने लेखक और आलोचक की हैसियत से कम से कम दो दशकों तक कविता की बहसों में हिस्सा लिया। यह कहना ज्यादती नहीं होगी कि कुछ हद् तक नयी कविता को अर्थ और आकार दिया"।

—स० प्र० मि०

परीक्षित—ये पाण्डव वंश में उत्पन्न हुए थे। अर्जुन के पौत्र तथा अभिमन्यु के पुत्र थे। उत्तरा इनकी माता थी। इन्हें एक बार तक्षक ने अपराध के कारण शाप दिया कि इनकी मृत्यु आज से ठीक सातवें दिन होगी.। परीक्षित ने सात दिन तक हरि कथा का श्रवण किया और अन्त में इन्हें मुक्ति प्राप्त हुई। महाभारत के बाद परीक्षित ही चक्रवर्ती सम्राट हुए। कलि परीक्षित के समय से ही अवतरित हुआ। परीक्षित भागवत के श्रोता माने गये हैं (दे० सू० सा० प० २६०)।

—रा० कु०

परीक्षा गुरु—'परीक्षा गुरु' (प्र० १८८२ ई०), जैसा श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है, हिन्दी की एक स्थायी निधि है। 'परीक्षा गुरु' को हम हिन्दी उपन्यास के विकास पथ पर मील का पत्थर कह सकते हैं। उन दिनो हिन्दी उपन्यास तिलस्मी, ऐयारी और अन्य तरह की चमत्कारिक घटनाबहुल शैली में लिखा जाता था, जिसमें व्यक्ति और समाज के आन्तरिक संघर्षो और समस्याओं पर नहीं, ऊहात्मक कल्पनाप्रवण ऐन्द्रजालिक वातावरण की सृष्टि पर ज्यादा ध्यान दिया जाता था। एकाध लेखकों ने इस वातावरण की दमघोंट सीमाओं को तोड़कर बाहर निकलने का प्रयत्न भी किया, पर वे अधिक से अधिक अर्ध रोमानी सस्ते प्रेम कथानकों की रचना भर कर सके। यहाँ भी भुईधरों, सुरंगो और पेचों से खुलने-बन्द होने वाली कोठरियों से नजात न मिल सकी। इस तरह की परिस्थिति में लाला श्री निवासदास का 'परीक्षा गुरु' प्रकाशित हुआ, जिसमें जीवन की समस्याओं से मुख मोड़कर तिलस्मी गुहा-कोटरों में शरण लेने की प्रवृत्ति का एक दम अभाव था। उन्होंने अंग्रेजियत और उसके बढ़ते हुए विषैले प्रभाव में घुटती हुई भारतीयता की सुरक्षा की समस्या को सामने रखा। इस प्रकार की समस्यानुकूल कथा-वस्तु के चयन और उसके उपस्थापन के अद्भुत साहस के लिए श्रीनिवास दास की जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

'परीक्षा गुरु' दिल्लीके बिगड़े रईस मदनमोहनके विनिपात और उद्धारकी कथा है। मदनमोहन ह्रासशील रईसीका प्रतिनिधि है, जो अर्थलोलुप और स्वार्थी चाटुकार दोस्तों की चापलूसीके चक्करमें पड़कर मिथ्या प्रतिष्ठा और बड़प्पनके प्रदर्शनमें अपना सब कुछ गँवा बैठता है। एक ओर वह अंग्रेजियत और नयी हवासे प्रभावित होकर विलायती प्रसाधन सामग्रियोंको दूने-चौगुने मूल्योंपर खरीदनेमें अपनी शान समझता है, दूसरी ओर अपने सभासद चुन्नीलाल, मास्टर शम्भूदयाल, पण्डित पुरुषोत्तमदास, हकीम अहमद हुसैन तथा बाबू बैजनाथ जैसे परावलम्बी लोगोंके चाटु-वाक्योंसे गद्गद् होकर रागरंग, फिजूलखर्ची, और आवारागर्दीको झूठी इज्जत मानकर दिवालिया बनता है। पंसारीका लड़का हरगोविन्द बारह-बारह रुपयेकी लखनवी टोपियोंको अट्ठारहके भाव खरीदकर मदन मोहनसे शाबाशी पाता है, तो हकीम अहमद हुसैन एक कल्पित अत्तारकी विपत्तिकी झूठी कहानियाँ सुनाकर रईसी-वस्तुओंके पारखी और संरक्षक मदनमोहनसे एक शीशी इत्रके लिए पचीस रुपये ऐंठ लेता है। मिस्टर ब्राइट, मिस्टर रसल और घोड़ोंके व्यापारी आगाजानसे मिलकर चुन्नीलाल और शम्भूदयाल दलाली और कमीशन में हजारों रुपयों का वारा-न्यारा करते हैं और मदन मोहनको तारीफ और झूठी प्रशंसाके जालमें फँसाकर दिवालिया बना देते हैं। मदनमोहनकी दुरवस्थामें सभी चाटुकार मित्र एक-एक करके खिसक जाते हैं, उस समय उसके मित्र ब्रजकिशोर ने, जो उसे आरम्भ से ही सही रास्ता दिखाकर सुधारनेका प्रयत्न करते रहे, बड़े धैर्यके साथ इस विपत्तिमें उसकी सहायता की और उसे आर्थिक संकट और सामाजिक अपमानसे छुटकारा

दिलाया। मदनमोहनकी पत्नी भी दुःखके दिनोमें सारा तिरस्कार भूलकर पतिके साथ खड़ी रही और हर प्रकारसे उसकी सहायताकी।

मदनमोहनके सिरसे थोथी प्रतिष्ठा और चाटुकारप्रियताका भूत उतर जाता है और जब वह सही बातपर आ जाता है तो ब्रजकिशोर सोचते हैं—"जो बात सौ बार समझानेसे समझमे नहीं आती, वह एक बारकी परीक्षासे भली-भाँति मनमें बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग 'परीक्षा' को 'गुरु मानते हैं।"

'परीक्षा गुरु' उपन्यासकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने हिन्दी उपन्यासकी जीवनहीन एकरस चमत्कार-बहुल कथा-परम्पराको तोड़कर यथार्थवादी वस्तुको ग्रहण किया। 'परीक्षा गुरु'का लेखक सामाजिक सुधारको साहित्यका प्रमुख प्रयोजन मानता है। इसी सोद्देश्यताके कारण यह उपन्यास तत्कालीन अन्य उपन्यासोंसे बिल्कुल भिन्न हो गया है। कभी-कभी सोद्देश्यताका आग्रह इतना प्रमुख हो जाता है कि लेखक उपन्यास की कथा के बीच-बीच में नैतिक उपदेशों से भरे लम्बे-लम्बे अंशों का समावेश कर देता है। इस तरहके अंश कथाके विकास मे निश्चित रूप से बाधक हैं। इसे लेखक भी अच्छी तरह जानते थे। इसी कारण उन्होंने 'निवेदन'में लिखा है "जहांका कुछ विद्याका विषय आ गया है कुछ शब्द संस्कृत आदिके लेने पड़े हैं परन्तु जिनको ऐसी बातोंके समझनेमें कुछ झमेल मालूम हो उनकी सुगमताके लिए ऐसे प्रकरणोंपर ऐसा X चिन्ह लगा दिया गया है जिससे उन प्रकरणोंको छोडकर हरेक मनुष्य सिलसिलेवार वृत्तान्त पढ़ सकता है।"

शैलीकी दृष्टिसे यह उपन्यास समसामयिकोंसे भिन्न और अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक शैलीका प्रतीत होता है, जैसा कि लेखकने खुद लिखा है कि "अब तक नागरी और उर्दू भाषामे अनेक तरहकी अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो गयी हैं परन्तु मेरे जान इस रीतिसे कोई नहीं लिखी गयी इसलिए अपनी भाषामें यह 'नयी चाल' की पुस्तक होगी।" आगे इन्होंने इस 'नयी चाल' की व्याख्या करते हुए लिखा—"अपनी भाषामें अबतक जो वार्तारूपी पुस्तकें लिखी गयी हैं उनमें अक्सर नायक-नायिका वगैरहका हाल ठेठसे सिलसिलेवार लिखा गया है जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ-साहूकारका लड़का था.......उसके मनमें बातसे रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला ......ऐसा सिलसिला इसमें कुछ भी नहीं है।"

इसमें शक नही कि 'परीक्षा गुरु'का आरम्भ बहुत ही सांकेतिक और नाटकीय ढंगसे हुआ है। मदनमोहन अंग्रेजी सौदागरकी दूकानमें नयी चालकी चीजें देखने जाता है और वहीं उसके चाटुकार मित्रों और निःस्वार्थ शुभचिन्तक ब्रजकिशोरके वाद-विवादसे उपन्यासका आरम्भ होता है। आज यह शैली हमारे उपन्यासोंमें इतनी प्रयुक्त हो चुकी है कि इसमें कोई नवीनता नहीं प्रतीत होती पर उस समय तो इस शैलीमें उपन्यास लिखने का प्रयत्न करना 'नयी चाल' अवश्य थी। इस 'नयी चाल' के बावजूद उपन्यासका कथानक अत्यन्त विशृंखल और अव्यवस्थित है। लेखक नैतिक उपदेश और विभिन्न प्रकारके सामयिक असामायिक उद्धरणोंके देनेका मोह संवरण नहीं कर पाता, जो प्रायः कथाकी एकसूत्रताको खण्डित कर देते हैं। —शि० प्र० सिं०

पर्णदत्त—प्रसादकृत नाटक 'स्कन्दगुप्त' का पात्र। गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत पर्णदत्त सम्राट् का स्वामिभक्त सेवक, कर्तव्य परायणता की प्रतिमूर्ति एवं साहस, धैर्य आदि उदात्त गुणों के कारण नाटक का एक तेजस्वी पात्र बन पड़ा है। आदि से अन्त तक उसका निर्मल चरित्र एवं आदर्श व्यक्तित्व अपनी झलक मात्र दिखाकर एक स्थायी प्रभाव मानव-मन पर छोड़ जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जूनागढ़ के शिलालेख के साक्ष्य से वह सम्राट् का विश्वसनीय सहयोगी और सौराष्ट्र का गोप्ता माना गया है। सम्पूर्ण नाटक मे वृद्ध पर्णदत्त की कर्तव्यपरायणता एवं स्वामिभक्ति से संचालित चरित्र की झाँकी केवल दो बार देखने को मिलती है। यद्यपि नाटककार ने पर्णदत्त के शौर्य का परिचय युद्ध-व्यापार द्वारा नही दिया, फिर भी स्कन्दगुप्त आदि की उक्तियों द्वारा उसकी वीरता स्पष्ट व्यंजित हो जाती है—"आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियो से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं।...जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है।" वृद्ध पर्णदत्त साम्राज्य की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए सदैव चिन्तित एवं प्रयत्नशील रहता है। नाटक के प्रारम्भ में ही अयोध्या में होने वाले नित्य नये परिवर्तन एवं युवराज स्कन्द की अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता को देखकर वह अपनी व्यंग्योक्तियों द्वारा इसे प्रोत्साहित करता है—"गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।" स्कन्द गुप्त को क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए जब वह मालव के दूत को शरणागतरक्षाहित आश्वासन देते हुए सुनता है तो उसके आत्मिक आनन्द की सीमा नहीं रहती—"युवराज! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होगी।" पर्णदत्त के स्वय के कथन द्वारा भी उनके अद्भुत रणोत्साह एवं स्वामिभक्ति का परिचय मिलता है-"इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में— उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।" स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण की आनन्दित बेला में भी पर्णदत्त सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्रनीति की देखरेख में संलग्न रहकर अपना कर्तव्यपालन करते रहते हैं। नगरहाट के युद्ध में आर्य-साम्राज्य के सारे सूत्र के छिन्न-भिन्न हो जाने पर वृद्ध सेनापति निराश्रितों के संघटन एवं उनकी सेवा का कार्य-भार अपने वृद्ध कन्धों पर उठाते हैं। अन्न-वस्त्र की समस्या को सुलझाने के लिए गर्हित भिक्षावृत्ति का भी आश्रय ग्रहण करते हैं, जंगल से सूखी लकड़ियाँ बटोरते हैं। देशवासियों की विलासिता और स्वार्थी प्रवृत्ति को देखकर पर्णदत्त की राष्ट्र-भक्ति क्षुब्ध हो उठती है। ये देवसेना से आक्रोशयुक्त वाणी में कहते हैं—"विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिए नहीं।" उनकी कार्यतत्परता एवं त्याग की भावना को देखकर जब लोग जय-जयकार करने लगते हैं, तब उसका विरोध करते हुए पर्णदत्त कहते हैं—"मुझे जय नहीं चाहिए—भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए; कोई देगा भीख में।" सच्चे हृदय की पुकार फलवती

होती है। स्कन्दगुप्त स्वयं प्रकट होकर उसे अपने आपको सौंप देता है। इस प्रकार पर्णदत्त की हार्दिक अभिलाषा पूरी होती है। आदि से अन्त तक पर्णदत्त का चरित्र त्याग, कर्तव्यपरायणता, स्वामिभक्ति-एवं राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत आदर्श गुणों की गौरवगाथा प्रस्तुत करता है।

—के० प्र० चौ०

पर्वतेश्वर—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' का पात्र। पंचनदनरेश पर्वतेश्वर (जिसे ग्रीक इतिहासकारों ने 'पोरस' भी कहा है) सिकन्दर के समय में झेलम और चनाब नदियों के बीच के प्रदेश का शासक और एक देशभक्त राजा है। उसके चरित्र में सद् और असद् वृत्तियों की मिली-जुली रेखाएँ समाहित हैं। पर्वतेश्वर में क्षत्रियोचित साहस, शौर्य एवं अपूर्व रणकौशल है। गज-सेना के विश्रृंखल हो जाने पर जब उसके सैनिक उत्साह खोने लगते हैं तब वह गर्जना करते हुए कहता है—"सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि मे पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसे, सारी राज-सेना छिन्न-भिन्न हो जाय...परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असम्भव है।" पर्वतेश्वर की इस वरेण्य वीरता से सिकन्दर भी आश्चर्यचकित हो जाता है। पराजित होकर भी वह अपने वीर-दर्प से सिकन्दर के हृदय को जीत लेता है। परन्तु इस सत्-पक्ष के दूसरी ओर उसका उद्धत विलासी एवं राजनीतिक शून्यता का भी एक कुत्सित पक्ष है, जिससे वह निरन्तर पतन की ओर बढ़ता जाता है। चाणक्य के समझाने पर वह चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता कर मगध की एक लाख से भी अधिक सेना के सहयोग से स्वयं को वंचित कर लेता है तथा सिकन्दर के साथ अकेला युद्ध करता है। प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा नन्द की कन्या से सम्बन्ध स्थापित करने में भी वह अपना अनादर समझता है। सिकन्दर के साथ मैत्री स्थापित करने के अनन्तर पर्वतेश्वर में विषयलोलुपता एवं स्वदेश-सम्मान की विस्मृति आ जाती है। वह विलास की गम्भीर कालिमा में निमज्जित हो जाता है। वह अलका को अपने विलास-भवन में ले जाना चाहता है। सिकन्दर को सैनिक सहायता न देने की जो प्रतिज्ञा वह अलका से करता है, उसे भी भंग कर देता है। इस प्रकार अपनी विवेकशून्य दुर्नीति के कारण असफलता का स्वयं वरण करता है। वह अलका को खोकर उधर सिकन्दर के द्वारा भी उपेक्षित होता है। फलतः हताश होकर आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होकर अपनी नैतिकताशून्य दुर्बुद्धि का परिचय देता है। मगध की राज्यक्रान्ति में सक्रिय सहयोग देने पर भी वह प्रतिज्ञानुसार आधे राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होता, वरन् कामुकतावश मगध की राजकुमारी कल्याणी को अपनी परिणीता बनाकर आधा राज्य पाना चाहता है। अपने मिथ्यादर्प में आकर उसने पहले जिस विवाह प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था, अब उसी की ओर वह लोलुपतावश आकर्षित होता है। यह भूल उसके निकृष्ट विलासी मनोवृत्ति की सबल परिचायक है। पर्वतेश्वर को इस पतनोन्मुख विलासिता का समुचित दण्ड मिलता है। बलपूर्वक पकड़ने की चेष्टा में कल्याणी छुरा मारकर उसके जीवन का अन्त कर डालती है। प्रसाद ने इतिहास-सम्मत भारतीय संस्कृति के संरक्षक वीर, राष्ट्र-भक्त को सौन्दर्य-लिप्सु, उद्धत एवं राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण कामी, पतित एवं विलासी बनाकर उसके चरित्र के साथ उचित न्याय नहीं किया।

—के० प्र० चौ०

पल्लव—(प्र० १९२८ ई०) पन्तके प्रारम्भिक काव्य-प्रयोगोंकी परिणति है। संकलित रचनाओंकी संख्या ३२ है, जो १९१८ ई० से लेकर १९२५ ई० तक की कृतियाँ है। 'विज्ञापन' में कवि ने लिखा है कि उसने प्रत्येक वर्षकी २-३ रचनाएँ ग्रन्थमें संगृहीत कर दी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस रचनासे कविके काव्य-विकासकी प्रगति स्पष्टतः सूचित होती है। श्रेष्ठतम रचनाएँ अन्तिम चार वर्षो (१९२१-१९२५ ई०) की कृतियाँ हैं। इनमें कवि रसबोधकी परिपूर्णता प्राप्त कर सका है। 'पल्लव' की अन्तिम कविता 'परिवर्त्तन' कविके जीवनदर्शन तथा काव्य-प्रयासमें एक नये मोड़की सूचना देती है और 'छाया-काल' शीर्षक अन्तिम रचनामें अबतकके जीवनको छाया-काल मानकर अन्तमें कविने नये तरुण जीवनका आह्वान स्वीकार किया है, इस मंगलाशाके साथ कि, "दिव्य हो भोला बालापन, नव्य जीवन, पर, परिवर्त्तन। स्वस्ति, मेरे अनंग नूतन। पुरातन मदन-दहन।।" (दिसम्बर, १९२५)

सच तो यह है कि 'पल्लव' कविकी काव्य-प्रतिभाका गौरीशंकर है और काव्य-पारखियोंने उसे इसी रूपमें ग्रहण किया है। कल्पना, कला, मूर्तिमत्ता, भाषा-माधुर्य तथा अभिव्यंजनाकी प्रौढ़तामें कवि इस संकलनमें अपनी सभी पहली रचनाओंको पीछे छोड़ आया है। इस ग्रन्थको हम पन्तके कल्पनाशील किशोर जीवनका सर्वोच्च उत्कर्ष कह सकते हैं।

'पल्लव' की रचनाओं को हम कई श्रेणियों में रख सकते हैं। पहली श्रेणी विप्रलम्भ-प्रधान रचनाओं की है, जिनमें 'उच्छवास' (१९२२), 'आँसू' (१९२१) और 'स्मृति' (१९२२) शीर्षक रचनाएँ आती हैं। इनमें 'उच्छवास' कवि की पहली प्रकाशित रचना भी है। इन रचनाओं को हम 'ग्रन्थि' की भावभूमि से जोड़ सकते हैं यद्यपि अभिव्यंजना के क्षेत्र में ये उससे कहीं आगे बढ़ी रचनाएँ हैं। 'पल्लव' के 'प्रवेश' (भूमिका) में कवि ने 'आँसू' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर इस नयी छन्द-पद्धति पर प्रकाश डाला है। अतः इन रचनाओं में भावभूमि की तात्कालिकता के आग्रह के साथ शिल्पगत प्रयोग की नयी भूमि भी मिलती है। इन्हीं रचनाओं के आधार पर प्रारम्भिक समीक्षकों ने पन्त को विप्रलम्भ का कवि कहा है और उसके काव्य में उसी की पंक्तियों—'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।' को चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। दूसरी श्रेणी की रचनाएँ 'वीणा' काल की अवशिष्ट रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ हैं 'विनय', 'वसन्तश्री', 'मुस्कान', 'निर्झर-गान', 'सोने का गान', 'निर्झरी', 'आकांक्षा', 'याचना' और 'स्याही की बूँद'। इनमें हमें बालकवि का स्वप्न-विलास और तुतला कण्ठस्वर ही अधिक मिलता है। सरस, प्रासादिक भावाभिव्यक्ति से लेकर 'स्याही की बूँद' रचना की दुरूह कल्पना तक, जो काव्यक्रीड़ा जैसी लगती है, इन रचनाओं का भावजगत् फैला है। जिज्ञासा, वैचित्र्य, अद्भुत के प्रति आकर्षण और कोमलता की साधना का वैशिष्टच इन रचनाओं को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करता है परन्तु इन रचनाओं में

कवि का किशोर कण्ठ अभी फूटा नहीं है। तीसरी कोटि की रचनाएँ 'परिवर्त्तन' को छोड़ कर शेष रचनाएँ हैं, जिन्हे पूर्व पन्त की श्रेष्ठतम कृतियाँ कहा जा सकता है। इन रचनाओं मे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों, विशेषतः वर्ड्स्वर्थ और शेली की रचनाओं से स्पर्द्धा स्पष्ट रूप में दिखलाई देती है। कल्पना का अबाध और अप्रतिहत प्रवाह इन रचनाओं की विशेषता है। इससे जहाँ भावोन्मुक्ति की सूचना मिलती है, वहाँ किशोर कवि के दुस्साहस और असंयम का भी पता चलता है। 'छायावाद' शब्द से यही रचनाएँ परिलक्षित थीं, जिनमें द्विवेदीयुगीन काव्य की बँधी-सधी लीक को छोड़कर कवि इन्द्रधनुष के साथ दौड़ लगाता दिखलाई देता है। पन्त ने इन रचनाओं को द्विवेदीयुग का प्रसार माना है परन्तु 'प्रवेश' में उनका विद्रोह और चुनौती का भाव भी स्पष्ट हो जाता है। इन रचनाओं में जहाँ चित्रमय भाषा-शैली और स्वरात्मक माधुर्य का नया वैभव है, वहाँ भावों की कोमलता और नवीनता भी द्रष्टव्य है। 'बीचिविलास', 'अनग', 'नक्षत्र', 'स्वप्न' और 'छाया' इस कोटि की आधी दर्जन सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं, जिनमे स्वच्छन्दतावाद अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ पल्लवित हुआ है। इनके अतिरिक्त 'मौन निमन्त्रण', 'विश्वछवि' और 'विश्वव्याप्ति' जैसी रचनाओं में कवि अद्भुत और प्रकृति का अंचल पकड़ कर रहस्यवाद की अवतारणा करता है और अपने प्राकृतिक संवेदनों में अतीन्द्रिय रहस्यलोक का संकेत देता है। 'मौन-निमन्त्रण' पन्त की अत्यन्त लोकप्रिय कविता है, जिसमे प्रकृति के माध्यम से रहस्यसत्ता की व्यंजना की गयी है। ये सभी रचनाएँ प्रकृति-व्यापार को विषय बनाती हैं परन्तु कवि शीघ्र ही बाह्य प्रकृति का आलम्बन छोड़कर कल्पित रूपजगत् में खो जाता है। भावसाम्य के आधार पर उसके कल्पना-जगत् में असंख्य फूल खिल जाते हैं और उसकी कवि-प्रतिभा किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं मानती। पहली कोटि की रचनाओं मे यदि कवि मानवीय प्रेम और वियोग का कवि है तो इस कोटि की रचनाओं में वह प्रकृति का लाड़ला चितेरा है, यद्यपि वह जिस तूलिका से अपने चित्र बनाता है, वह साधारण तूलिका नहीं है। उसमें प्रकृति को भावों से रंग कर नया रूप रंग और नयी सार्थकता देने की अपार क्षमता है। चौथी कोटि का निर्माण 'परिवर्त्तन' शीर्षक एकमात्र कविता में मिलता है। यह 'पल्लव' की सर्वश्रेष्ठ रचना समझी जाती है परन्तु कवि के सम्पूर्ण काव्य में भी यह प्रथम पंक्ति में रहेगी। इस रचना में अनेक स्वतन्त्र भावानुबन्ध हैं और कवि सामान्य द्वन्द्वबोध से ऊपर उठकर विराट् चित्रों और गम्भीरतम दार्शनिक विचारणा के क्षेत्र में पहुँच जाता है। इस रचना को हम महाकाव्यात्मक रचना कह सकते हैं। इसी में पन्त का कोमल नारी-कण्ठ पहली बार पुरुष-कण्ठ में बदला है। तारुण्य के पंख खोलते हुए कवि ने इस रचना में निस्सीम नीलाकाश में उन्मुक्त उड़ान भरी है।

भाषा और शैली की दृष्टि से 'पल्लव' स्वयं एक अभिनव जगत् है। उसमें संस्कृत के समस्त शब्दकोश को खोज कर मधुर, सानुप्रास, तथा साभिप्राय शब्दों का उपयोग हुआ है। 'प्रवेश' में कवि ने लिखा है—"हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा, उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए, वे केवल नाम मात्र है, उनमें हमें रूप-रस-गंध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला, वे अभी हमारे मनोवेगों के चिरालिंगन-पाश में नहीं बँधे, इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमें रोमांचित नही करता, वे हमे रसहीन, गन्धहीन लगते हैं। जिस प्रकार बडी चुवाने मे पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढांचे में, ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गला कर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।' (पृ० ४५-४६)। इस मंतव्य में स्वय कवि की स्वर-साधना की झंकार प्रकट है। पुल्लिंग-स्त्रीलिंग प्रयोग तथा संयुक्त क्रियाओं के क्षेत्र में कवि ने भावाभिव्यंजना के लिए छूट की माँग की है और इससे उसकी रचना में विशिष्टता ही आयी है। कवि मुक्त-छन्द का समर्थक नहीं हैं, ऐसा भूमिका से जान पड़ता है, परन्तु हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप प्रथित मात्रिक छन्दों को चुन कर उनमें पद-परिवर्त्तन के द्वारा नयी भावभंगिमा भरने में वह समर्थ सिद्ध हुआ है। संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का आदर्श सामने रखते हुए कवि ने हिन्दी के कण्ठ की रक्षा की है। छन्द-विधान पर विशेषतः अंग्रेजी काव्य का प्रभाव परिलक्षित है। तात्पर्य यह कि 'पल्लव' के साथ खड़ी बोली के काव्य का कण्ठ फूटता है और वह समर्थ अभिव्यंजना के साहसी अभियान की दिशा में अग्रसर होता है। भाषा, छन्द और प्रतीक-विधान के क्षेत्र में नये कवि का दृष्टिकोण द्विवेदीयुग के कवि से भिन्न है, इसका दो-टूक पता 'प्रवेश' से लगता है, जिसका आधुनिक काव्य समीक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कॉलेरिज और वर्ड्स्वर्थ की 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका की भाँति 'पल्लव' की भूमिका भी काव्य-जगत् की ऐतिहासिक घटना है। 'पल्लव' का कवि की रचनाओं में क्या स्थान है, यह विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ विद्वानों के विचार में 'पल्लव' की ऊँचाई पर पन्त फिर नहीं उठ सके—वे विचारों और 'वादों' के जगत् में खो गये और उन्होंने अपनी सौन्दर्यान्वेषी कवि-प्रतिभा को पंगु बना लिया। परन्तु 'पल्लव' में पन्त की सौन्दर्यदृष्टि प्रकृति पर केन्द्रित थी और यह दृष्टि नये-नये सन्दर्भों से पुष्ट होकर उनके काव्य मे बराबर सम्पन्न होती गयी है। उत्तर रचनाओं में उन्होंने अपनी अबाध कल्पना को लगाम दी है परन्तु उनका भावप्रवण कल्पनाशील व्यक्तित्व उन्हें तथ्यकथन की नीरसता से निरन्तर उबारता रहा है। निःसन्देह 'पल्लव' में कवि के किशोर स्वप्न मूर्त्तिमान हैं और परवर्त्ती काव्य में उसने इन स्वप्नों को जग के सुख-दुःख से मांसल बनाना चाहा है। जो हो, वयःसन्धिक, कल्पनाप्रवण और विशुद्धताग्रही काव्यरसिकों के लिए 'पल्लव' छायावाद का सर्वोच्च शिखर ही रहेगा।

—रा० र० भ०

पांचजन्य—पांचजन्य का उल्लेख कई रूपों में मिलता है—

१. पांचजन्य कृष्ण के शंख का नाम है। यह शंख उन्हें पंचजन नामक दैत्य से प्राप्त हुआ था।

२. पुराणों के अनुसार पांचजन्य एक ऋषि थे।

३. अग्निपुराण के अनुसार जम्बू द्वीप के एक प्रदेश का नाम।

किन्तु इस नाम से कृष्ण का शंख ही अधिक विख्यात है

(द्वापर, २)।

—रा० कु०

पांडु—विचित्र वीर्य के क्षेत्रज पुत्र। क्षयरोग के कारण विचित्र वीर्य की मृत्यु हो जाने से उनकी माता सत्यवती ने शान्तनु की प्रथम पत्नी गंगा के पुत्र भीष्म से विचित्र वीर्य की विधवा पत्नी अम्बिका तथा अम्बालिका के साथ नियोग कर सन्तानोत्पादन की प्रार्थना की किन्तु आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म ने इसे अस्वीकार कर दिया। तब सत्यवती ने अपने प्रथम पुत्र व्यास का स्मरण किया। व्यास उपस्थित हुए तो सत्यवती ने वंशवृद्धि के लिए उनसे सन्तान उत्पन्न करने की प्रार्थना की। अस्तु, नियोग के समय शर्म से अम्बिका ने आँखें बन्द कर लीं, अतः उनके गर्भ से अन्धे धृतराष्ट्र का जन्म हुआ। अम्बालिका भयभीत होकर पीली पड़ गयी, अतः उसके गर्भ से पीले रंग का बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम पाण्डु हुआ। इनकी दो स्त्रियाँ कुन्ती और माद्री थीं। एक बार मैथुन करते हुए हिरण दम्पति को मार डालने से इन्हें शाप मिला था कि जब तुम किसी के साथ मैथुन करोगे तो तुम्हारा प्राणान्त हो जायगा। इस कारण पाण्डु मैथुन नहीं करते थे। अतएव कुन्ती ने देवताओं का आह्वान करके पाँच पुत्र प्राप्त किये थे। एक बार वसन्त में पाण्डु अत्यन्त कामातुर हो लाख मना करने पर भी माद्री के साथ सम्भोग कर बैठे। परिणाम स्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी।

—मो० अ०

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'—जन्म एक निर्धन परिवार में सन् १९०० ई० में मीरजापुर जिलान्तर्गत चुनार में। बाल्यकाल में पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण काफी गरीबी का संकटपूर्ण जीवन। प्रारम्भिक शिक्षा चुनार में चाचा की कृपा से थोड़ी-बहुत मिली। बचपन में ही उग्र विचारों के कारण स्कूल से निकाल दिये गये। बड़े भाई के साथ बहुत दिनों तक अयोध्या के महन्तों की रामलीला मण्डलियों में सीता और भरत का अभिनय करते रहे। कुछ वर्ष बाद उसे छोड़ दिया। चाचा की दया से बनारस में फिर शिक्षा प्रारम्भ करके उसे छोड़ दिया। चुनार गये तो भाई के डर से कलकत्ता भाग गये। वहाँ एक दूकान में पता लिखने का काम करते रहे। इसी बीच १९२१ ई० में राष्ट्रीय आन्दोलन में काशी आकर जेल चले गये। छूटने के बाद १९२१ से १९२४ ई० तक 'आज' में 'अष्टावक्र' के नाम से राष्ट्रीय कहानी आदि लिखते रहे। क्रान्तिकारी कहानी के आप जन्मदाता हैं। १९२३ ई० में 'महात्मा ईसा' नामक नाटक लिखा। १९२३ ई० में एक नयी हास्य पत्रिका का सम्पादन किया, जिसका नाम था 'भूत'। १९२४ ई० में 'मतवाला' नामक साप्ताहिक के जन्मदाता महादेवप्रसाद सेठ से मीरजापुर में परिचय प्राप्त हुआ। १९२४ ई० में ही गोरखपुर से एक नयी पत्रिका 'स्वदेश' नाम से निकली। एक ही अंक छपने पर इनके नाम वारण्ट निकल गया। इससे वे फिर कलकत्ता गये। वहाँ वे 'मतवाला' का सम्पादन करने लगे। कई वर्ष बाद 'मतवाला' की स्थिति बिगड़ जाने पर आप बम्बई चले गये। कई साल तक बम्बई में साइलेण्ट फिल्म में लेखक का काम करते रहे, लेकिन उसी साल 'स्वदेश' के सम्पादन के जुर्म में बम्बई से पकड़कर गोरखपुर लाये गये। ६ महीने की सख्त कैद की सजा हुई। फिर 'आज' में काम करने लगे, लेकिन दो कहानियाँ 'बुढ़ापा' और 'रुपया' को लेकर सरकार ने इन्हें कैद कर लिया। कलकत्ता-प्रवास में आपने 'चाकलेट' आदि कई पुस्तकें भी लिखीं। बम्बई-प्रवास में काफी कर्जदार हो जाने के कारण वहाँ से इन्दौर भाग गये। वहाँ हिन्दी साहित्य समिति की ओर से हिन्दी का आन्दोलन चलाते रहे। यहीं पर उन्होंने 'वीणा' और 'स्वराज्य' का सम्पादन किया। कुछ दिनों उज्जैन में भी रहे। उज्जैन से निकलने वाले 'विक्रम' पत्र का भी सम्पादन किया। १९४५ से १९४८ ई० तक फिर बम्बई में रहे। 'विक्रम' और 'संग्राम' का सम्पादन भी इसी बीच किया। १९४८ ई० में मीरजापुर आये। यहाँ १९५० ई० तक रहे। १९५० से १९५१ ई० तक फिर कलकत्ता में रहे। कई साल तक आप दिल्ली में रहे। दिल्ली में आपने 'उग्र' नामक पत्र का सम्पादन किया, जो दो-चार अंक निकलने के बाद ही बन्द हो गया। इसी बीच आप कुछ दिनों तक जयपुर में भी रहे।

'उग्रजी' हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों में हैं। गद्य के शैलीकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'उग्र' के पास यथार्थ की अनुभूति बड़ी तीव्र है। जीवन की तिक्तताओं और कटुताओं का आजीवन साक्षी होने के नाते 'उग्रजी' के समस्त कृतित्व पर उसका प्रभाव है। शैली की दृष्टि से 'उग्र' के लेखों, रचनाओं और कृतियों में जीवन की परिस्थितियों के प्रति तीव्र कटाक्ष, कटु आक्रमण और विरोध स्पष्ट झलकता है। 'उग्र' के पास यथार्थ और आक्रोश की भाषा के साथ-साथ नितान्त पौरुषपूर्ण शैली भी है। उनकी जीवनी 'अपनी खबर' (१९६० ई०) की शैली में 'उग्रजी' के नितान्त वैयक्तिक पात्रों और जीवन में आये हुए व्यक्तियों का परिचय पढ़ने को मिला है। जिस 'उग्र' के पास हँसाने, व्यंग्य करने और विनोद करने की भाषा है, उसने इस छोटी सी पुस्तक में 'करुण' के साथ जिन पात्रों का परिचय दिया है, वह स्मरणीय है।

साहित्यिक कृतियों में यद्यपि 'उग्र'जी की दो ही रचनाओं को विशेष ख्याति प्राप्त है फिर भी आपकी हास्य और व्यंग्य की प्रतिभा किंवदन्तियों के रूप में प्रायः साहित्यिक गोष्ठियों और साहित्यिक चर्चाओं का विषय बनी रहती है। 'महात्मा ईसा' नाटक तो आज भी अपनी मौलिकता के नाते उतना ही नया है, जितना कि शायद उस समय रहा हो, जब वह प्रथम प्रकाशित हुआ था। ठीक उसी प्रकार आपका प्रसिद्ध उपन्यास 'चाकलेट' भी बहुचर्चित रहा है। इस पुस्तक की निन्दा लोगों ने महात्मा गान्धी से की। गाँधीजी ने जब पुस्तक पढ़ी तो उसकी नितान्त यथार्थ अभिव्यक्ति को देखकर मौन रह गये। 'उग्र' ने 'अपनी खबर' नामक आत्म-कथा में लिखा है कि गान्धीजी ने कहा कि कटु चाहे जितना हो, सत्य तो है ही। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि कितनी निर्भीक और कितनी साहसपूर्ण दृष्टि एवं प्रतिभा 'उग्र'जी में रही है। साहित्यिक स्तर पर काव्य और गद्य रचनाओं में हमें 'उग्र'जी के उस बेलाग और साहसपूर्ण मिजाज का परिचय मिलता है, जो उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंश है।

'उग्र'जी साहित्यिक पालिटीशियन या पालिटीशियन साहित्यिक के घोर विरोधी थे। 'मतवाला' का सम्पादन भी हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का एक प्रतीक है। 'आज' में जो उस समय उन्होंने हास्य और व्यंग्य लिखे हैं, वे आज भी उतने ही ताजे और नये हैं, जितने कि उस समय थे।

मौलिकता की दृष्टि से 'उग्र' की रचनाओं में साहस और

शक्ति का परिचय मिलता है। 'उग्र' ने सदैव उसी मौलिकता की खोज में कभी-कभी साहित्यिक स्तर की भी परवाह नहीं की है। यही कारण है कि 'उग्र' ने जितना भी लिखा है, वह यद्यपि सबका सब साहित्यिक स्तर से उतना महत्त्वपूर्ण न हो, फिर भी अपनी मौलिकता के कारण उसका एक विशिष्ट स्थान है। 'उग्र' जिस युग में थे, उसमें शायद भाषा और दृष्टि दोनों में एक आदर्शवादी आग्रह अधिक था। प्रत्येक आदर्शवादी युग में समसामयिकता का बोध प्रायः खो जाता है। ऐसे युग में भी अपनी नितान्त समसामयिक अनुभूतियों को लिख देना और उसकी यथार्थात्मक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करा देना कम महत्त्व की बात नहीं है। 'उग्र' की मृत्यु १९६७ ई० में हुई।

—ल० कां० व०

पारस—पारस एक कल्पित पत्थर है, जिसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि यदि लोहा उससे छू जाय तो सोना हो जाता है (सिद्धराज, १६)।

—रा० कु०

पारसनाथ सिंह—बिहारनिवासी। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में शिक्षा हुई। बिड़ला औद्योगिक संस्थान से सम्बद्ध रहे। प्रमुखतः बिड़ला द्वारा नियन्त्रित समाचार पत्रों के निर्देशक थे। उपयोगी विषयों पर लिखी हुई आपकी कुछ पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हुईं।

कृतियाँ—'पक्षी परिचय', 'जगत सेठ', 'कैसर की रामकहानी' आदि।

पार्वती—पर्वत शब्द से पर्वत-पुत्री 'पार्वती' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। प्रथम प्रजापति दक्ष की पुत्री 'सती' के रूप में इनका उल्लेख अध्यात्म रामायण, शिव पुराण आदि में मिलता है। अध्यात्म रामायण की परम्परा के अनुसार सती ने दूसरे जन्म में पार्वती के रूप में जन्म धारण किया। रामचरितमानस में ठीक इसी परम्परा का समर्थन मिलता है। कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य में पार्वती की गहन तपस्या एव शिवविषयक आसक्ति का सुन्दर वर्णन किया है। वस्तुतः शंकर की अर्द्धांगिनी के रूप में पार्वती की कल्पना पौराणिक काल की देन है। महाभारत के किरातार्जुनीय युद्ध के प्रसंग में शिव और उनकी शक्ति का उल्लेख हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि वैष्णव-धर्म के दो देवताओं विष्णु एवं ब्रह्मा के साथ उनकी पत्नीभावना के आधार पर शिव के साथ वैसी कल्पना की गयी। पत्नीत्व की भावना का उद्गम शैव दर्शन के शक्तिसिद्धान्त से उद्भूत हुआ। अतः शक्ति, परमशक्ति दुर्गा, भवानी आदि रूपों में सर्वप्रथम पार्वती का ही उल्लेख मिलता है। 'शिव संहिता' में इनकी महत्ता अनेक रूपों में कही गयी है।

—यो० प्र० सिं०

पार्वती मंगल—यह रचना गोस्वामी तुलसीदास की है। इसका विषय शिव-पार्वती विवाह है। 'जानकी मंगल' की भाँति यह भी सोहर और हरिगीतिका छन्दों में रची गयी है। इसमें सोहर की १४८ द्विपदियाँ तथा १६ हरिगीतिकाएँ हैं। इसकी भाषा भी 'जानकी मंगल' की भाँति अवधी है। इसकी कथा 'रामचरित मानस' में आने वाले शिव-विवाह की कथा से कुछ भिन्न है और संक्षेप में इस प्रकार है—

हिमवान् की स्त्री मैना थी। जगज्जननी भवानी ने उनकी कन्या के रूप में जन्म लिया। वे सयानी हुईं। दम्पति को इनके विवाह की चिन्ता हुई। इन्हीं दिनों नारद इनके यहाँ आये। जब दम्पति ने अपनी कन्या के उपयुक्त वर के बारे में उनसे प्रश्न किया, नारद ने कहा 'इसे बावला वर प्राप्त होगा, यद्यपि वह देवताओं द्वारा वंदित होगा।' यह सुनकर दम्पति को चिन्ता हुई। नारद ने इस दोष को दूर करने के लिए गिरिजा द्वारा शिव की उपासना का उपदेश दिया। अतः गिरिजा शिव की उपासना में लग गयीं। जब गिरिजा के यौवन और सौन्दर्य का कोई प्रभाव शिव पर नहीं पडा, देवताओं ने कामदेव को उन्हें विचलित करने के लिए प्रेरित किया किन्तु कामदेव को उन्होंने भस्म कर दिया। फिर भी गिरिजा ने अपनी साधना न छोड़ी। कन्द-मूल-फल छोड़कर वे बेल के पत्ते खाने लगीं और फिर उन्होंने उसको भी छोड़ दिया। तब उनके प्रेम की परीक्षा के लिए शिव ने बटु का वेष धारण किया और वे गिरिजा के पास गये। तपस्या का कारण पूछने पर गिरिजा की सखी ने बताया कि वह शिव को वर के रूप में प्राप्त करना चाहती हैं। यह सुनकर बटु ने शिव के सम्बन्ध में कहा—'वे भिक्षा मांगकर खाते-पीते हैं, मसान में वे सोते हैं, पिशाच-पिशाचिनें उनके अनुचर हैं—आदि। ऐसे वर से उसे क्या सुख मिलेगा?' किन्तु गिरिजा अपने विचारों में अविचल रहीं। यह देखकर स्वयं शिव साक्षात् प्रकट हुए और उन्होंने गिरिजा को कृतार्थ किया। इसके अनन्तर शिव ने सप्तर्षियों को हिमवान् के घर विवाह की तिथि आदि निश्चित करने के लिए भेजा और हिमवान् से लगन कर सप्तर्षि शिव के पास गये। विवाह के दिन शिव की बारात हिमवान् के घर गयी। बावले वर के साथ भूत-प्रेतादि की वह बारात देखकर नगर में कोलाहल मच गया। मैना ने जब सुना तो वह बड़ी दुःखी हुईं और हिमवान् के समझाने-बुझाने पर किसी प्रकार शान्त हुईं। यह लीला कर लेने के बाद शिव अपने सुन्दर और भव्य रूप में परिवर्तित हो गये और गिरिजा के साथ धूम-धाम से उनका विवाह हुआ।

'मानस' में शिव के लिए गिरिजा की तपस्या तथा शिव का एकाकीपन देखकर राम ने शिव से गिरिजा को अंगीकार करने के लिए कहा है, जिसे उन्होंने स्वीकार किया है। तदन्तर शिव ने सप्तर्षियों को गिरिजा की प्रेम-परीक्षा के लिए भेजा है। 'पार्वती मंगल' में राम बीच में नहीं पड़ते और गिरिजा की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव स्वयं बटु रूप मे जाकर पार्वती की परीक्षा लेते हैं। 'मानस' में जो संवाद सप्तर्षि और गिरिजा के बीच में होता है, वह 'पार्वती मंगल' में बटु और उनके बीच होता है। 'मानस' में कामदहन इस प्रेम-परीक्षा के बाद होता है, जो 'पार्वती मंगल' में पहले ही हुआ रहता है। इसीलिए इसके बाद 'मानस' में विष्णु आदि को मिल कर शिव से अनुरोध करना पड़ता है कि वे पार्वती को अर्द्धांगिनी रूप में अंगीकार करें, जो 'पार्वती मंगल' में नहीं है। तदनन्तर 'मानस' में ब्रह्मा ने सप्तर्षि को हिमवान् के घर लग्न-पत्रिका प्राप्त करने के लिए भेजा है, जिसके लिए 'पार्वती मंगल' में शिव ही उन्हें भेजते हैं। शेष कथा दोनों रचनाओं में प्रायः एक-सी है।

प्रश्न यह है कि इस अन्तर का कारण क्या है? 'मानस' की कथा शिव-पुराण का अनुसरण करती है और 'पार्वती मंगल' की कथा 'कुमार-सम्भव' का। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी समय तुलसीदास ने शिव-विवाह के विषय का भी उसी प्रकार

का एक स्त्री-लोकोपयोगी खण्डकाव्य रचना चाहा, जिस प्रकार उन्होंने राम-विवाह का 'जानकी मंगल' रचा था। इस समय 'शिव-पुराण' की तुलना में उन्हें 'कुमार सम्भव' का आधार ग्रहण करना अधिक जंचा और इसीलिए उन्होंने ऐसा किया।

'पार्वती मंगल' में उसका रचना-काल 'जय संवत्, फाल्गुन शु० ५, गुरुवार' दिया हुआ है। जय संवत् सं० १६४२ में था, किन्तु उक्त तिथि विस्तार सं० १६४२ में ठीक नहीं उतरता, इसकी रचना-तिथि सं० १६४३ मानी जाती है किन्तु तिथि का अशुद्ध होना उस छन्द की प्रामाणिकता में सन्देह उपस्थित करता है, जिसमें तिथि आती है। इस प्रसंग में विचारणीय यह है कि 'रामाज्ञा प्रश्न' के कुछ स्थलों पर कालिदास के 'रघुवंश' का प्रभाव झलकता है, जो 'मानस' के पीछे उन स्थलों पर दिखाई नहीं पड़ा है। यही बात 'जानकी मंगल' में भी दिखाई पड़ती है। फिर 'पार्वती मंगल' अनेक बातों में 'जानकी मंगल' के समान है ही, इसलिए आश्चर्य न होगा यदि 'पार्वती मंगल' 'जानकी मंगल' के आस-पास की ही और 'रामचरित मानस' के पूर्व की रचना प्रमाणित हो।

–मा० प्र० गु०

पिंगला १–यह चिन्तामणि द्वारा लिखा गया 'छन्द-ग्रंथ' है। रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ का 'छन्द-विचार' नाम दिया है। इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और राज पुस्तकालय, दतिया में प्राप्त है और इनसे इसका नाम 'पिंगल' ही प्रमाणित होता है। इसका आधार ग्रन्थ 'प्राकृतपैंगलम्' है, अतः इसी के अनुसार छन्दों के लक्षण दिये गये हैं और छन्दों का क्रम इसी के अनुसार है परन्तु कुछ नये छन्दों की चर्चा भी की गयी है। छन्दों के साधारण नियमों की चर्चा करने के बाद 'वरनमेरु' और 'मात्रामेरु' का निरूपण किया गया है और इसके बाद वरनपताका, मात्रापताका, वरनमर्कटी, मात्रामर्कटी, गाथा, गाहा, विग्गाहा, संघनी और अश्वमेधा का वर्णन है। अनन्तर दोहा प्रकरण में दोहा के भेदो की चर्चा है। आगे रोला, गेधान, चौपैया, घत्ता, घत्तानन्द, पद्धरि, अरिल्ल, पादाकुलक, चौबोला छन्दों का वर्णन है और फिर छप्पय प्रकरण में उसके भेदों का विवेचन किया गया है। अन्त में पद्मावती, कुण्डलिया, अमृतध्वनि, द्विपदी और झुलना की चर्चा करके ग्रन्थ समाप्त हुआ है। यह साधारण स्तर का ग्रन्थ है।

[सहायक ग्रन्थ–हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

–सं०

पिंगला २–पुराणों में 'पिंगला' नाम से दो वेश्याओं के संदर्भ मिलते हैं–

१. अवन्ती नगरी की वेश्या पिंगला पर एक ब्राह्मण आसक्त हो गया। ऋषभ योग्य की सेवा के प्रसाद से यह चन्द्रानन्द नामक राजा की स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुई और कीर्तिमालिनी नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका विवाह भद्रायु से हुआ।

२. मिथिला नगरी की वेश्या पिंगला ने राम से पत्नीत्व स्थापित करने की प्रार्थना की थी किन्तु एक पत्नी-व्रत होने के कारण राम ने उसे अस्वीकार कर दिया। अगले जन्म में यही कुब्जा हुई।

३. इसके अतिरिक्त सन्त साहित्य में 'पिंगला' शब्द का हठयोग पर आधारित उल्लेख भी प्राप्त होता है। मेरुदण्ड में वर्तमान यह एक नाड़ी है, जो उसकी दाहिनी ओर से उठकर सुषुम्ना से लिपटती हुई ऊपर की ओर चली जाती है और अन्त में नाक की दाहिनी ओर समाप्त हो जाती है। इसको सूर्य नाड़ी अथवा यमुना नदी भी कहते हैं।

–रा० कु०

पिनाक–एकादश रुद्रों में पिनाकिन् का नाम आता है। पिनाक धनुष धारण करने के कारण शिव को पिनाकिन् कहा गया है। यह पिनाक दधीचि की अस्थियों का बना था। सीता स्वयंवर के अवसर पर राम ने इस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ायी थी किन्तु जीर्णता के कारण यह टूट गया। शिव के शिष्य परशुराम इस पर बहुत कुपित हुए थे। 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में इसका वर्णन मिलता है।

–यो० प्र० सिं०

पिरामिड–मिस्रवासियों की वास्तुकला का पूर्ण विकास 'पिरामिडों' में देखा जा सकता है। पिरामिड मिस्र के प्राचीन शासकों द्वारा निर्मित विशाल भवन हैं। अधिकांश पिरामिड नील नदी के तट पर 'गिजे' नामक स्थान पर निर्मित हुए थे। इनमें खुफु फरोह का मिरामिड सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसका क्षेत्रफल १३ एकड़ है। पहले इसकी ऊँचाई ४८१ फुट थी लेकिन अब केवल ३५० फुट शेष रह गयी है। इसका निर्माण कुल ३५० लाख शिलाखण्डों से हुआ है। प्रत्येक शिलाखण्ड ढाई टन भार का है। ये परस्पर बड़ी कुशलतापूर्वक जोड़े गये हैं। मिस्र के इतिहास के मध्यकाल में पिरामिड निर्माण की परम्परा परित्यक्त हो जाती है। पिरामिडों के द्वारा मिस्र की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन में अत्यन्त सहायता मिलती है।

–रा० कु०

पीताम्बर–इस नाम के दो कवियों का उल्लेख मिश्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में किया है। प्रथम पीताम्बर–'जैमिनि पुराण भाषा' के रचयिता कहे गये हैं और इनका रचना काल सं० १८०१ माना गया है। दूसरे पीताम्बर के सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं का कथन है कि ये छिन्दवाड़ा मध्यप्रदेश के निवासी तथा नन्दलालके पुत्र थे। इनके सम्बन्धमें अन्य ऐतिहासिक सूचनाएं अभी तक अप्राप्य हैं।

मिश्र बन्धुओंने तृ० त्रै० रि० के अनुसार इनकी एक मात्र रचना 'रामविलास' की चर्चा 'विनोद' में की है। किन्तु 'रामविलास' नाम स्पष्टतया गलत है। पुस्तकका वास्तविक नाम 'रसविलास' है जो सं० १९८५ में वल्लभ कवि के 'मानविलास' के साथ लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बईसे मुद्रित हो चुकी है। मिश्र बन्धुओंने ग्रन्थ का रचनाकाल-अन्तःसाक्ष्य के अनुसार सं० १७०२ बताया है। रचनाकालकी चर्चा 'रसविलास' में योंकी गई हैः–

सत्रह सौ अरु दोय सम, सम्बत लेहु विचार।
रसविलास पोथी रची, डारे दुख निवारि।।

रसविलासमें राधाकृष्ण लीलाका सरस एवं मधुर वर्णन है। विशाखा, ललिता आदिके संवाद अत्यन्त रोचकएवं हृदयग्राही हैं। कवित्त, सवैया और दोहा मिलाकर इनमें कुछ ७० छन्द हैं।

(सहायक ग्रन्थ–मिश्र बन्धु विनोद द्वितीय भाग, रसविलास-पीताम्बर)

–कि० ला०

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल–जन्म जहरखेल (गढ़वाल) मे १९०२ ई० में हआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे एम० ए० किया तथा हिन्दीम डा० [illegible]० की उपाधि प्राप्तकी। काशी तथा लखनऊके विश्वविद्यालयमं प्राध्यापक रहे।

आप[illegible] [illegible]-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय' [illegible]शी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० उपाधिके लिए स्वीकृत प्रथम शोध-प्रबन्ध माना जाता है। हिन्दी-शोधकी आधारशिला रखनेवालोंमें आपका नाम प्रमुख है। असामायिक मृत्यु हो जानेसे आपके कार्यकी अन्य सम्भावनाएँ पूरी न हो सकीं। उक्त प्रबन्ध १९३४ ई० में स्वीकृत हुआ था और अपने विषयका प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। भारतीय विश्वविद्यालयोंमें हिन्दी साहित्यसे सम्बद्ध यह प्रथम शोध-ग्रन्थ कहा जा सकता है।

–सं०

पीपा–रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें इनका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। रामानन्दके अन्य शिष्य कबीर एवं रविदास (रैदास) ने इनका नाम लिया है। 'भक्तमाल'के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादासने 'पीपाजीकी कथा' नामक एक काव्य भी लिखा है, जिसका विवरण काशी नागरी प्रचारिणी सभासे प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थोंके चौदहवें त्रैमासिक विवरणमें प्रकाशित हुआ है। इसमें पीपाजीके सम्पूर्ण जीवनका विवरण प्राप्त होता है। ये गागरौनगढ़ के खीची चौहान राजा थे। इनकी छोटी रानीका नाम सीता था। पीपाजीके जीवनकालका निर्धारण प्रायः जटिल नहीं है। जनरल कनिंघमके अनुसार पीपाजी जैतपालकी चौथी पीढ़ीमें हुए थे। यह पीढ़ी इस प्रकार थी–जैतपाल– सावन्त सिंह– रावकेंरवा– पीपाजी। इस परम्पराके अनुसार कनिंघमने पीपाजीका जन्म सन् १३६० से १३९२ ई० के बीच स्वीकार किया है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल पीपाके पौत्र अचलदास एवं सुल्तान होशंग गोरीके बीच हुए विवाद एवं उसके द्वारा १४२९ ई० में छीने गये गागरौनगढ़के आधारपर प्रायः अनुमान लगाते हैं कि उनका जन्म सं० १४१० और १४६० (सन् १३५३ और १४०३ ई०) के बीचमें रहा होगा। पीपाजीकी वाणीका उल्लेख हस्तलिखित प्रति 'सरब गोटिका' सं० १८४२ (सन् १७८५ ई०), पत्र ११८में प्राप्त है। पीपाजीका महत्त्व प्रायः रामानन्दजीकी परम्परातक ही सीमित है।

–यो० प्र० सिं०

पुरंजन–भागवतके अनुसार पुरंजन पांचाल देशके एक प्रतापी राजा थे। पुरंजनने एक बार पशु बलि यज्ञमें अनेक पशुओंकी बलि दी थी। इससे उनके मनमें अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई। वह इसके प्रायश्चित्तके लिए यत्नशील और चिन्तित थे। इतनेमें नारदने इन्हें आकर यह सन्देश दिया कि तुमने जो पशु यज्ञ में मारे थे, वे सब तुम्हारा मार्ग जोह रहे हैं। इस पर पुरंजनने नारदसे निवेदन कर सतपथ दिखानेका निवेदन किया। नारदने एक अन्य नृपकी कथाके रूपकसे उन्हें हरिभक्तिका उपदेश दिया, जिससे पुरंजनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुई। सूरने भागवतके आधारपर पुरंजनकी कथा कही है (दे० सू० सा० प० ४०६)।

–रा० कु०

पुरंदर–१. वैवस्वत मन्वन्तरके इन्द्रके रूपमें विख्यात हैं। इन्होंने वास्तुशास्त्रपर एक ग्रन्थकी रचनाकी थी।

२. विष्णुको भी पुरन्दर कहा गया है।

३. 'पुरन्दर' शब्दके ज्येष्ठा नक्षत्र, चव्य-चई तथा मिर्च आदि भी अर्थ होते हैं।

–रा० कु०

पुरुरवा–पुरुरवाके ऐतिहासिक और पौराणिक दो व्यक्तित्व मिलते हैं। ऋग्वेदके पुरुरवस् ही वस्तुतः आगे चलकर ऐतिहासिक व्यक्तित्वके रूपमें कल्पित कर लिये गये। इनकी राजधानी गंगा तटपर स्थित प्रतिष्ठानपुर (आधुनिक पुरानी झूँसी) प्रयागमें बतायी जाती है। पुरुरवस् से सम्बद्ध उर्वशी की प्रेम-कथा निश्चित ही अपनी प्राचीनता में महत्त्वपूर्ण है। स्वर्ग से आते समय उर्वशी अप्सराको देखकर उसपर मोहित हो गये। इन्द्रने प्रसन्न होकर इन्हें उर्वशीको दे दिया। एक पुत्र होनेके बाद वह पुनः स्वर्ग चली गयी। इसपर पुरुरवा पुनः म्लान और दुखी हो गये। इसपर उर्वशी पाँच बार लौटी। इस क्रममें इन्हें पाँच पुत्र और हुए। यही कहानी किंचित परिवर्तन के साथ विक्रमोर्वशीय एवं शतपथ ब्राह्मणमें भी मिलती है। सूरने राजा पुरुरवाकी कथा 'सूरसागरमें' वर्णितकी है (दे० सू० सा० प० ४४६)।

–यो० प्र० सिं०

पुरुषोत्तमदास टंडन–जन्म प्रयागमें ११ अगस्त १८८२ ई० में और मृत्यु १ जुलाई, १९६२ ई० में। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी स्थापनाके बाद महामना मालवीयजीने टण्डनको सन् १९०९ ई० में 'अभ्युदय'का सम्पादक बनाया और सम्मेलनका समस्त कार्यभार उनके सुपुर्द कर दिया और उन्होंने इस दायित्वको ऐसी खूबीसे निभाया है कि टण्डनजी अब 'सम्मेलनके प्राण' विख्यात हैं। आरम्भसे अन्त तक वे अपने सुविचारित सिद्धान्तोंपर अडिग रहे हैं और इसके लिए उन्होंने बड़े से बड़े नेताओं और संस्थाओंका मुकाबला किया और हँसी-खुशीसे वैयक्तिक त्याग भी किया। टण्डनजीका कार्यक्षेत्र अधिकतर इलाहाबाद रहा है। वहाँ वे वकालत करते थे। असाधारण रूपसे सफल और अत्यधिक-व्यस्त वकील होते हुए भी सार्वजनिक कार्योंके लिए समय निकालना उनके लिए कठिन न था। इसके कारण शीघ्र ही उत्तर प्रदेशके प्रमुख नेताओंमें उनकी गणना होने लगी। हिन्दी साहित्य सम्मेलनके तो वे सूत्रधार थे ही, कांग्रेसमें भी उनका स्थान प्रथम पंक्तिमें आ गया।

टण्डनजी आस्थावान पुरुष थे किन्तु वे अपने धार्मिक विश्वासोंका प्रदर्शन करना पसन्द नहीं करते थे। इसलिए कम लोग यह जानते हैं कि वे राधास्वामी मतके अनुयायी थे और प्रायः सर्वप्रथम गुरुकी समाधिके समीप बैठकर ध्यानमग्न होना उन्हें रुचता था। राधास्वामी मतसे सम्बन्ध भी इस बातका कारण हो सकता है कि उन्हें सन्तवाणी विशेषकर कबीर, दादू और रैदासकी वाणीसे विशेष मोह था और इन सन्तोंकी शिक्षाका टण्डनजीके जीवनपर प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ा था।

लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लोक सेवा मण्डलके

सदस्य बन जानेसे टण्डनजीका कार्य क्षेत्र पंजाब भी बन गया। १९२६ ई० में मण्डलके सदस्य बन और वकालतको तिलांजलि देकर टण्डनजीने अपना समस्त जीवन सार्वजनिक कार्योंके लिए अर्पित कर दिया। मण्डलका प्रधान कार्यालय लाहौरमें था, इसलिए उन्हें अधिकतर वहीं रहना पड़ा। इस स्थितिसे पंजाबके हिन्दी-आन्दोलनको बड़ी प्रेरणा मिली और टण्डनजीके पथप्रदर्शनमें प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन और आर्यसमाज, सनातन-धर्म सभा, देवसमाज आदि द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओंमें हिन्दीके लिए अधिकाधिक स्थान देनेकी भावनाको बल मिला। हिन्दीके सभी केन्द्रोंसे उनका निकट सम्पर्क रहा। लाहौर, अमृतसर, जालन्धर और अबोहर ये हिन्दीके केन्द्र थे और इन सभीको टण्डनजीसे यथासमय परामर्श और सहायता मिलती रही।

यह सर्वविदित है कि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी साहित्य सम्मेलनके जन्मदाताओंमेंसे हैं। टण्डनजीकी दूसरी हिन्दी-सेवा सम्मेलनके तत्वावधानमे हिन्दी विद्यापीठकी स्थापना है। सन् १९३० ई० में इसे सम्मेलनसे पृथक करके स्वतन्त्र रूप दे दिया गया। हिन्दीके शिक्षण और प्रचारमें विद्यापीठ आज बहुमूल्य कार्य कर रहा है।

उच्चकोटिके नेता और व्यवस्थापककी हैसियतसे ही टण्डनजीने हिन्दीकी सेवा नहींकी, वे स्वयं ऊँचे साहित्यिक और साहित्यके पारखी थे। जिन्होंने टण्डनजीको साहित्यिक गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनोंमें भाग लेते देखा है, वे जानते हैं कि वे कितने काव्यप्रेमी और रसिक थे। यदाकदा वे स्वयं भी कविता करते थे। कबीर और रहीमके वे विशेषप्रशंसकोंमें थे। उन्हींकी प्रेरणासे दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रहीम खानखानाके मकबरेपर प्रतिवर्ष इस महान् कविकी बरसी मनाने लगा है और मकबरेकी इमारतमें सरकार द्वारा सुधारका काम भी उन्हींके सुझावसे होना आरम्भ हुआ है।

टण्डनजी सन् १९२२ ई०में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कानपुर अधिवेशनके सभापति हुए थे और अनेक बार प्रान्तीय सम्मेलनोंका सभापतित्व कर चुके हैं। टण्डनजी सदा हिन्दीके पक्षमें रहे और महात्मा गान्धीकी 'हिन्दुस्तानी'के विरोधी। इसीलिए सन् १९४५ ई० में हिन्दी-हिन्दुस्तानीके प्रश्नपर मतभेदके कारण गान्धीजीने हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने टण्डनजीके नाम पत्रमें लिखा–"जब मैं सम्मेलनकी भाषा और नागरीलिपिको पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ, तब मुझे सम्मेलनसे हट जाना चाहिये, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है।" टण्डनजीने इस पत्रके उत्तरमें कहा कि गान्धीजी और सम्मेलनके दृष्टिकोणमें कोई मौलिक मतभेद नहीं, किन्तु यदि गान्धीजी इस बातसे सहमत न हों तो उनके निर्णयको सम्मेलनको दुःखके साथ स्वीकार करना पड़ेगा। बात सिद्धान्तकी थी। टण्डनजीका कहना था कि देवनागरी अक्षर ही हिन्दीके लिए सबसे अधिक उपयुक्त है और हिन्दीके लिए दो लिपियाँ निर्धारित करना भाषा और उसके व्यापक प्रचारके लिए घातक होगा। टण्डनजीका विचार युक्तिसंगत था। सन् १९४९ ई० में देशकी संविधान परिषद्ने भी हिन्दी और देवनागरी लिपि को ही मान्यता दी।

सन् १९२२ ई० में तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण देते हुए टण्डनजी ने जो उद्गार प्रकट किये और जिस प्रकार अपने विचारों को सजाकर रखा, वह कोई साहित्यिक ही कर सकता है। इस भाषण में उन्होंने कहा–"यह समय भारतवर्ष के लिए महान् परिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही एक ऐसा अवसर है, जबकि वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का सारा मानसिक प्रवाह बदल दे।.....कृत्रिमता छोड़िये, भावुकता संग्रह कीजिये। सूर्य की नैसर्गिक ज्योति का सौन्दर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वत: दिखलाई पड़ता है।.....आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के चलन के अनुसार भी, परकीया नायिका को अधिक होती है। स्वकीया सतीका श्रृंगार आभूषणों पर न निर्भर ही है और न उससे बढ़ता ही है।.....वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँधकर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से वाणी का उद्गार हुआ है।.....आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका श्रृंगार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें।....निस्सार नीचे गिराने वाले रसों और उन्हीं के समान संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़कर दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिये। उनके उपयुक्त संचारी भावों से उन्हें संचरित कीजिये और तब उनके परिणामस्वरूप महत् अनुभावों का दर्शनकर कृतार्थ होइये।" इस प्रकार के सुन्दर और साहित्यिक विचारों द्वारा टण्डनजी सम्मेलन तथा अन्य हिन्दीसेवी संस्थाओं में सतत प्राण भरते रहे। टण्डनजी इस शती के प्रथम दशक से इस समस्त आन्दोलन के प्रवर्तकों में से हैं। रंगमंच के सूत्रधार की भाँति उन्हें इस साहित्यिक मंच के स्थायित्व को बनाये रखने के लिए बराबर सतर्क और सचेष्ट रहना पड़ा। टण्डनजी हिन्दी के ऐसे संरक्षक और प्रहरी थे, जिसने केवल मंच की ही चिन्ता नहीं की, अपितु समय-समय पर स्वयं उस पर आकर साहित्य-भाण्डार की समृद्ध करने का भी यत्न किया। इसका प्रमाण टण्डनजी की रचनाएँ हैं, जो भाषणों, लेखों, पत्रों आदि के रूपमें बिखरी पड़ी हैं और सौभाग्य से संकलित अथवा फुटकर हमें उपलब्ध हैं। उनकी संयत, किन्तु सजीव और ओजपूर्ण शैली ने हिन्दी की साहित्य श्री को समृद्ध किया है। वे गत ५० वर्षों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी संस्थाओं के अटल प्रहरी और साहित्यिकों के अमोघप्रेरणादायक मार्गदर्शक रहे। अपनी हिन्दी सेवाओं के लिए टण्डनजी को १९६१ ई० में 'भारतरत्न' की उपाधि प्रदानकी गयी। –ज्ञा० द०

पुलस्त्य–ये ब्रम्हा के मानस पुत्र और दक्ष के जामातृ थे। हविःश्रवा इनकी पत्नी थीं, जो कर्दम प्रजापति की पुत्री थीं। हविःश्रवा से इनके दो पुत्र उत्पन्न हुए–अगस्त्य और विश्रवा। कुबेर और रावण, विश्रवा के ही पुत्र थे। भागवत के अनुसार हणविन्दु नामक राजाकी कन्या से पुलस्त्य का विवाह हुआ था।

२. सप्तऋषियों मेंसे एक। –मो० अ०

पूरबी कवि–इनके संबंध में विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। मिश्र बन्धुओं के अनुसार–ये महाराजा ब्राम्हण थे और मैनपुरी के समीप कहीं रहते थे सरोज में इनका रचना काल सं० १८०३ माना जाता है। डा० किशोरी लाल गुप्त ने अकबरी दरबार के कवियों की गणना

करने वाला प्रसिद्ध सवैया पुखी प्रसिद्ध पुरन्दर ब्रम्ह......के आधार पर उक्त सम्वत् को अशुद्ध ठहराया है और अनुमान किया है कि पुखी अकबरी दरबार वे कवि थे और इनका रचना काल तदनुसार सं० १६६२ के आस-पास होना चाहिए। इनके किसी ग्रंथ की प्राप्ति अद्यावधि नहीं हो सकी है। हाँ श्रृंगार संग्रह, दिग्विजय भूषण, श्रृंगार सुधाकर और रसकुसुमाकर आदि संग्रह ग्रंथोंमें इनके फुटकर छन्द अवश्य मिलते हैं। इन प्राप्त छन्दों में नखशिख और षटऋतु वर्णन विषयक छन्द अधिक हैं।

[सहायक ग्रंथ—सरोज सर्वेक्षण—डा० किशोरी लाल गुप्त, शिवसिंह सरोज (सं० सं०), दिग्विजय भूषण—सं० डा० भगवती प्रसाद सिंह, मिश्रबन्धु विनोद—द्वितीय भाग (दि सं०)]

—कि० ला०

पूतना—एक राक्षसी। यह बकासुर तथा अघासुर की बहन थी। कंस ने कृष्ण को मार डालने की नीयत से पूतना को गोकुल भेजा था। वह उसमें सफल न हो सकी। कृष्ण ने उसका स्तन पान करते हुए ही उसे मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया। पूतना की यह कथा 'सूरसागर' में वर्णित है। (दे० सू० सा० प० ६६७-६७४)

—श्री० व०

पूषा—पूषा एक वैदिक देव हैं। इन्हें सृष्टि के संरक्षण का कार्य करना पड़ता है। वैदिक-साहित्य में ये गोष्ठें के संरक्षक कहे गये हैं। आदित्य के रूप में विश्व के प्राणरक्षक एवं आत्मा के शान्तिदाता हैं। आत्मा को ब्रम्हलोक में ले जाने में सहायता भी करते हैं। ये सूर्य की बहन के प्रेमी भी कहे जाते हैं। ये प्रायः सोम और चन्द्रमा के साथ रहते हैं। दिन और रात्रि के परिवर्तन में इनका विशेष हाथ है। बाद में ये द्वादश आदित्य में एक विशेष रूप से प्रतिष्ठित होकर रेवती नक्षत्र के अधिदेव हुए। 'कामायनी' में इसी रूप में सविता के साथ इनका नामोल्लेख हुआ है—"विश्वदेव, सविता या पूषा, सोम, मरुत, चंचल पवमान; वरण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान ?" (दे० 'कामायनी'— आशा सर्ग)

—यो० प्र० सिं०

पूर्ण—देखो राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'।

पूर्णसिंह—पूर्णसिंह की चर्चा एक श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबन्धकार के रूपमें लगभग सभी इतिहासकारों ने की है। सिख परिवार में उनका जन्म १८८१ ई० में हुआ था तथा मृत्यु १९३१ ई० में। पेशे से वे अध्यापक थे तथा बाद को केवल अंगरेजी में लिखने लगे थे।

पूर्णसिंह के निबन्धों की संख्या लगभग आधा दर्जन है। पर इतने ही निबन्धों से उन्होंने हिन्दी के निबन्ध-साहित्य पर अपनी छाप छोड़ी है। यद्यपि वे द्विवेदीकाल के निबन्ध लेखक थे परन्तु उनके निबन्धों में द्विवेदीयुग की नीरस निर्वैयक्तिकता एवं तमाम विषयों पर लिखने की विविधता दृष्टिगोचर नहीं होती है। उनके निबन्धों में भावना का वह आवेग एवं कल्पना की वैसी उड़ान मिलती है, जिसने आगे चलकर छायावाद को विकसित किया। वस्तुतः उनके निबन्धों में हमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके निबन्धों में द्विवेदीयुग की प्रमुख प्रवृत्ति उपदेशात्मकता तथा प्यूरिटनिज्म की गन्ध तो अवश्य है परन्तु वह एक ऐसे महत् मानवीय आदर्श से परिचालित है तथा आध्यात्मिकता की एक ऐसी व्यापक किन्तु सूक्ष्म और गहन वृत्ति से प्रेरित है कि सहज ही उनके निबन्ध रोमाण्टिक धरातल का स्पर्श करने लगते हैं।

यूरोप की मशीनी सभ्यता की जो प्रतिक्रिया हमें टाल्स्टॉय, रस्किन एवं बाद को गान्धी में प्राप्त होती है, वही पूर्णसिंह के निबन्धों की वास्तविक भूमिका है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि गान्धी से भी कुछ पहले ही पूर्णसिंह ने चरखा या हाथ से बनी वस्तुओं को मशीनी उत्पादन की अपेक्षा तरजीह दी थी। पूँजीवाद के प्रारम्भिक युग में ही श्रम और श्रमिक को जो महत्त्व उन्होंने प्रदान किया, उसे बाद को राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक प्रमुख मूल्य के रूप में स्वीकार किया। वस्तुतः भौतिक जीवन की समृद्धि के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन को वे सम्पन्न और सशक्त बनाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने "विविध सम्प्रदायों के बाहरी विधि विधान को हटाकर उन सबके भीतर एक आत्मा का स्पन्दन, एक सार्वभौम मानवधर्म का स्वरूप देखा और अपने पाठकों को दिखाने की चेष्टा की।" इस चेष्टा में उन्होंने तार्किकता या बौद्धिकता का सहारा न लेकर मनुष्य के भावनाजगत् का स्पर्श करना चाहा है। इसी कारण उनके निबन्धों में विचार का सूत्र अत्यन्त क्षीण है और कहीं-कहीं तो वह टूट जाता है, पर अपने भावनात्मक प्रवाह में वे निश्चित रूप से पाठक को बहा ले जाते हैं। उनके 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' जैसे निबन्ध वस्तुतः 'निर्बन्ध निबन्ध' के अन्तर्गत रखे जाने चाहिए।

रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्णसिंह की शैली के विषय मे लिखा है, "उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य-साहित्य में नयी चीज थी।....भाषा और भाव की एक नयी विभूति उन्होंने सामने रखी" (हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४८०-८१)। उनकी शैली में दो गुण एक साथ मिले-जुले रहते हैं—एक तो वक्तृत्व कला का ओज और प्रवाह, दूसरे चित्रात्मकता या मूर्तिमत्ता। इन दोनों के सम्मिलन के कारण इन निबन्धों की शैली हिन्दी में अनूठी बन पड़ी है और वह अत्यधिक प्रभावकर हो सकी है। एक ओर उनके निबन्ध स्वयं में प्रभावाभिव्यंजक एवं गहरे रूप में व्यक्तिनिष्ठ है तथा दूसरी ओर पाठकों के लिए नितान्त साधारणीकृत भी।

—दे० शं० अ०

पृथु—शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से पृथु पृथ्वी को समतल बनाने वाले को कहते हैं। किसी-किसी पुराण में इन्हें विष्णु के अवतार के रूप में कल्पित कर लिया गया है। ये सूर्यवंशी चतुर्थ राजा वेणुके पुत्र कहे जाते हैं। अत्रिवंशी अग्नि नामक प्रजापति ने धर्मराज की कन्या सुनिथा से वेणु नामक पुत्र उत्पन्न किया था। वेणु इतने कुमार्गगामी थे कि साक्षात् पृथ्वी उनसे त्रस्त हो गयी थी। वेणु ने अपनी दुश्चरित्रता से पृथ्वी का दोहन कर डाला था। मारीचि आदि देवताओं ने इन्हें सन्मार्ग पर चलने की चेतावनी दी किन्तु ये नहीं माने। अतः ऋषियों ने शाप देकर वेणु को मार डाला और उनकी बाई एवं दाई भुजाओं के मन्थन से निषाद एवं पृथु की उत्पत्ति की। साहित्य में पृथु का धर्म-प्रिय, दानी एवं यशस्वी राजा के रूप में उल्लेख हुआ है। (दे० सूर० पद० ४०५)। 'पहला राजा' नाटक में माथुरजी ने इस पुरा प्रतीक को आधुनिक अर्थ का संवाहक बनाकर मिथक को लोकचेतना और संघर्ष का अभिप्रेरक सिद्ध किया है।

—यो० प्र० सिं०

पृथ्वीराज (राठेड़)—कवि, भक्त तथा शूरवीर पृथ्वीराज राठेड़ का जन्म बीकानेर के राजवंश में १५४९ ई० में हुआ। ये बीकानेरनरेश रायसिंह के छोटे भाई थे। पृथ्वीराज मुगल सम्राट् अकबर के बड़े कृपापात्र थे और उनकी ओर से उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया था। 'मुंहणोत नेणसी' की ख्यात मे प्राप्त एक उल्लेख के अनुसार अकबर ने इनको गागरोन गढ़ का जागीर प्रदान किया था। पृथ्वीराज स्वदेशाभिमानी वीर क्षत्रिय थे। कहा जाता है कि निराश होकर महाराणा प्रताप अकबर से सन्धि करने वाले थे किन्तु पृथ्वीराज के जोशीले पत्र को पढ़कर प्रताप ने उत्साहित हो अपना विचार बदल दिया। उनके दो विवाह हुए थे। उनकी मृत्यु और भक्ति-भावना के महत्त्व के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। १६०० ई० मे मथुरा में मृत्यु हुई। उनकी गणना उच्चकोटि के भक्तों में की जाती थी, इसका सबसे बड़ा प्रमाण नाभादास के 'भक्तमाल' में प्राप्त छप्पय है, जिसमें उनकी काव्य-प्रतिभा तथा भाषा-निपुणता की भी प्रशंसा की गयी है। कर्नल टाड ने पृथ्वीराज की तुलना मध्ययुगीन पश्चिमी यूरोप के वीरयशगायकों (त्रोवादोरे) से की है।

डिंगल भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों में पृथ्वीराज की गणना की जाती है। 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' भक्तिरसपूर्ण डिंगल मे लिखित अत्यन्त सुन्दर कृति है। इसके अतिरिक्त राम की स्तुति से सम्बद्ध लगभग पचास पद्यों में समाप्त 'दसरथरावउत', कृष्ण की स्तुति से सम्बद्ध लगभग १६५ पद्यों में समाप्त 'वसदेवरावउत', 'गंगा लहरी' तथा 'दसम भागवत रा दूहा' अन्य कृतियाँ भी डिंगल भाषा में रचित है। ये सभी रचनाएँ भक्तिविषयक हैं। पृथ्वीराज के नाम से अनेक फुटकर पद्य भी राजस्थान में प्रचलित हैं। ब्रजभाषा (पिंगल) में भी पृथ्वीराज ने कुछ रचनाएँ की होंगी, किन्तु प्रामाणिक रूप से इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीराज को काव्य के अतिरिक्त अन्य अनेक शास्त्रों की जानकारी थी, राजनीति और लोकनीति से तो वे भली भाँति परिचित थे ही, यह उनकी रचनाओं के आधार पर निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थानी भाषा और साहित्य : मेनारिया; वेलि क्रिसन रुकमणी री : रामसिंह, सूर्यकरण पारीक आद।]

—रा० तो०

पृथ्वीराज रासो—कुछ समय पूर्वतक 'पृथ्वीराज रासो' नाम लेने से उसका वह रूप समझा जाता था, जो पहले एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित हो रहा था और तदन्तर उसके द्वारा बीच में ही छोड़ दिये जाने पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। इसकी ऐतिहासिकता के प्रश्न को लेकर प्राय: पचास वर्षों तक विवाद चलते रहे हैं किन्तु पिछले बीस-पचीस वर्षों में रचना के कई और भी रूप-रूपान्तर प्राप्त हुए हैं। सभा से प्रकाशित पाठवाली प्रतियों में १०७०९ रूपक हैं। कुछ प्रतियों में लगभग ३४०० रूपक हैं, कुछ में ११००-१२०० हैं, एक में ५२२ रूपक हैं और एक में केवल ४२२ रूपक हैं। इसलिए अब रचना की ऐतिहासिकता का प्रश्न पीछे चला गया है। इस समय सबसे महत्त्व का प्रश्न सामने तो यह है कि इन नाना रूपों में व्यक्त कृति मूलतः किस आकार-प्रकार की रही होगी। इस प्रश्न को लेकर भी कई मत व्यक्त किये गये है। कोई कहता है कि जो सबसे बड़ा पाठ है, वही मूल पाठ है और उत्तरोत्तर जो छोटे पाठ हैं, वे उसके संक्षेप हैं और कोई कहता है कि ठीक इसका उलटा है और जो सबसे छोटा प्राप्त है, वही मूल या मूल के सबसे अधिक निकट है और जो पाठ जितना ही बड़ा है, वह मूल से उतना ही दूर है। एक बीच की स्थिति की भी कल्पना की जा सकती है (कहा जा सकता है कि वास्तविकता दोनों अतिवादों के बीच में पड़नी चाहिए) उसी से जहाँ एक ओर रचना की आकार-वृद्धि की गयी, दूसरी ओर संक्षेप किया गया। सच पूछिये तो यह प्रश्न इस प्रकार हल नहीं किया जा सकता है। इसका एकमात्र हल पाठालोचन के सिद्धान्तों की सहायता से सम्भव है। वस्तुस्थिति यह है कि सबसे छोटा पाठ ही मूल के सबसे अधिक निकट है किन्तु उसके प्रारम्भ में कुछ छन्द उससे बड़े पाठ के ऐसे कुछ प्रसंगों से, जो उस सबसे छोटे पाठ में पहले नहीं थे, लाकर रख दिये गये हैं और इसी प्रकार रचना के बीच-बीच में भी कुछ छन्द उससे बड़े पाठ से लेकर सम्मिलित कर लिये गये हैं। इसलिए मूल पाठ इस सबसे छोटे पाठ से भी छोटा होना चाहिए। इस मत के आधार अनेक हैं, केवल एक का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

सबसे छोटे पाठ में भी पृथ्वीराज के पूर्वपुरुषों के संक्षिप्त उल्लेख हैं। ये उल्लेख पृथ्वीराज के पूर्व की दो पीढ़ी तक के ही ठीक हैं औरकी पीढ़ियों के प्राय: इतिहास-विरुद्ध हैं। जबकि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज के पूर्व पुरुषों का जो वृत्त मिलता है, वह प्राय: इतिहास-सम्मत है किन्तु विचित्रता यह है कि 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक को 'पृथ्वीराज विजय' से पूरा परिचय था और यह 'पृथ्वीराज रासो' से ही प्रमाणित है। 'कयमास-वध' के अनन्तर 'रासो' में पृथ्वीराज जब अपनी सभा बुलाता है, उसके पूर्व वह पण्डित (जयानक) से शाह (शाहाबुद्दीन) पर उसे जो विजय प्राप्त हुई थी, उसका वर्णन करनेको कहता है—''मज्झ पहर पुच्छई पहु पण्डिअ। कहु कवि विजय साह जिहि दण्डिय। सकल सूर बोलिव सभ मंडिय। आसिष असि दीय कवि चंडिय।।''

इस समय 'पृथ्वीराज विजय' की एक अति खण्डित प्रति मात्र प्राप्त है, जिसमें पृथ्वीराज के शासकीय जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्षों तक के ही विवरण आते हैं। यह प्रति कश्मीर में बूलर को प्राप्त हुई थी। विद्वानों का अनुमान था कि जिस विजय का इसमें वर्णन रहा होगा, वह गोरी पर प्राप्त हुई पृथ्वीराज की विजय रही होगी। 'पृथ्वीराज रासो' के इस उल्लेख ने उस समस्या का हल कर दिया। 'रासो' के लेखक को यह भलीभाँति ज्ञात था कि 'पृथ्वीराज विजय' का विषय क्या था। ऐसी दशा में जहाँ तक बातें 'पृथ्वीराज विजय' में आती हैं, उनसे 'पृथ्वीराज रासो' में आये हुए उल्लेखों का कोई स्पष्ट विरोध न होना चाहिए। फिर भी हम देखते हैं कि 'रासो' के सबसे छोटे पाठ में भी 'विजय' में आयी हुई पृथ्वीराज के पूर्वपुरुषों के वृत्त से बड़ा भारी अन्तर है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि यह और इस प्रकार और भी कुछ अंश 'रासो' के सबसे छोटे पाठ में भी प्रक्षेपों के रूप में बाद में ऐसे व्यक्तियों द्वारा बढ़ाये गये हैं, जो 'पृथ्वीराज विजय' से सर्वथा अपरिचित थे। प्रस्तुत लेखक का ध्यान है कि 'रासो' अपने मूल रूप में उन्हीं घटनाओं तक सीमित था, जो गोरी पर प्राप्त हुई

पृथ्वीराज की उस इतिहास-प्रसिद्ध विजय के बाद आती थी और 'रासो' और 'विजय' के वर्ण्य-विषय एक दूसरे के पूरक थे। बाद में लोगों को 'रासो' कुछ अधूरापन लगा और उन्होंने उसे प्रक्षेपों की सहायता से पूरा कर डालने का प्रयास किया।

'रासो' के इस मूल रूप में प्रस्तुत लेखक का अनुमान है कि मंगलाचरण और कथा की संक्षिप्त भूमिका के अनन्तर जयचन्द के राजसूय और सयोगिता के पृथ्वीराज सम्बन्धी प्रेमानुष्ठानविषयक विवरणों से रचना प्रारम्भ हुई होगी। तदनन्तर उसमें मन्त्री कयमास के वध, पृथ्वीराज के कन्नौजगमन में उसके प्राकट्य, सयोगिता-परिणय, पृथ्वीराज-जयचन्द-युद्ध और दिल्ली आकर पृथ्वीराज-संयोगिता के केलि-विलास की कथाएँ उसके पूर्वार्द्ध की सृष्टि करती रही होंगी और उत्तरार्द्ध में उस केलि-विलास से चन्द के द्वारा किये गये पृथ्वीराज के उद्बोधन, शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज के (द्वितीय) युद्ध तथा शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के अन्त की कथाएँ रही होंगी। इस मूल रूप का आकार लगभग ३६० रूपकों का रहा होगा।

इधर राजस्थान के कुछ विद्वान् 'रासो' को १६वीं, १७वीं शती की रचना बताने लगे हैं। यह बात उसके सबसे बड़े रूप के सम्बन्ध में ही किसी हद तक ठीक मानी जा सकती है और वह भी इस अर्थ में कि यह सबसे बड़ा रूप १६वीं १७वीं शती में इस आकार-प्रकार में आया होगा किन्तु रचना अपने मूल रूप में बहुत प्राचीन रही होगी, इसमें अब कोई सन्देह नहीं रहा है।

लगभग २५ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध जैन विद्वान् मुनि जिन विजयजी को कुछ ऐसे जैन प्रबन्ध मिले हैं, जिनमें पृथ्वीराज और जयचन्द की रचनाएँ आती हैं और इनमें चार छप्पय ऐसे मिले हैं, जिसमें से तीन 'पृथ्वीराज रासो' में मिलते हैं। अन्तर केवल भाषा के रूप का है। जैन प्रबन्धों में इन छप्पयों की जो भाषा मिलती है, वह अपेक्षाकृत पुरानी ज्ञात होती है। इन जैन प्रबन्धों की जो प्रतियाँ मिली हैं, उनमें से एक सं० १५२८ की है, इसलिए यह तो मानना ही पड़ेगा कि उक्त छप्पय सं० १५२८ के इतने काफी पहले रचे गये होंगे कि विद्वानों में उनको मान्यता प्राप्त हो गयी हो। यदि सं० १५२८ की प्रति के सौ-सवा सौ वर्ष पहले भी इन छन्दों की रचना मानी जाय, जो कि किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं होगा तो इन छन्दों की रचना १४०० वि० के आसपास ठहरती है।

कुछ विद्वानों ने इन छन्दों के विषय में यह समाधान सोच निकाला है कि पृथ्वीराज सम्बन्धी कुछ स्फुट छन्द प्रचलित थे, उन्हीं में से कुछ इन जैन प्रबन्धों में उद्धृत किये गये हैं। कोई 'रासो' जैसी प्रबन्धात्मक कृति का होना इन छन्दों से प्रमाणित नहीं होता है किन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार है। ये सभी छन्द ऐसे हैं, जो विशिष्ट प्रसंगों के हैं और किसी प्रबन्ध के बाहर इनकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

वीर-रस के काव्य की दृष्टि से तो 'रासो' अपने लघुतम रूप में भी अप्रतिम है। हिन्दी का कोई भी अन्य काव्य वास्तविक वीरता का, जिसमें अपनी आन के लिए मर मिटने की साध ही सर्वोपरि होती है, इतना ऊँचा आदर्श नहीं प्रस्तुत करता है, जितना यह।

—मा० प्र० गु०

पौंड्रक—पौण्ड्रक के साथ तीन उल्लेख मिलते हैं—

१. भागवत के अनुसार पौण्ड्रक कुम्भकर्ण का पौत्र था। इसका पिता निभुंक था।

२. पौण्ड्रक का उल्लेख मात्स्यक के रूप में प्राप्त होता है। महाभारत मे इसने कौरवों का पक्ष लिया था।

३. पौण्ड्रक वसुदेव नाम से करुष देश के एक राजा का भी उल्लेख मिलता है। चेदि वंश मे ये पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध थे और शरीर पर श्रीकृष्ण के चिह्न धारण करते थे। श्रीकृष्ण ने काशिराज के साथ इनका वध किया था। (दे० पौण्ड्रक वध, सू० सा० प० ४८२४)।

—रा० कु०

प्रकाशचंद्र गुप्त—जन्म १६ मार्च १९०८ ई०। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने अंग्रेजी साहित्य मे एम० ए० किया और वहीं पर अंग्रेजी-साहित्य के अध्यापक तथा बाद में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हो गए। सन् १९७० में आपकी मृत्यु हुई। उनकी निम्नांकित आलोचनात्मक पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं—'नया हिन्दी-साहित्य' (१९४१), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—एक दृष्टि (१९५५), 'हिन्दी-साहित्य की जनवादी परम्परा' (१९५३), 'साहित्यधारा' (१९५५)। इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं मे इनके समीक्षात्मक लेख, टिप्पणियाँ एवं पुस्तक-समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही हैं। आलोचना के अतिरिक्त इन्होंने कृति-साहित्य भी प्रकाशित कराया है। 'रेखा चित्र' (१९४०), 'पुरानी स्मृतियाँ' (१९४७) नामक रेखाचित्र संग्रह तथा 'विशाख' (१९५७) शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

आप हिन्दी में मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली के प्रारम्भिक प्रयोक्ताओं एवं प्रगतिवाद के उन्नायकों में से एक हैं। सन् १९३६ ई० के आस पास से ही प्रगतिशील साहित्य की चर्चा प्रारम्भ हुई और वही उनके लेखन का प्रारम्भिक समय है। मार्क्स-दर्शन के अनुसार उन्होंने बताया कि प्रकृति के साथ होने वाले संघर्ष में जो अनुभूतियाँ मनुष्य अर्जित करता है, साहित्य में उन्हें ही वह शब्द-बद्ध करता है। प्रारम्भ में उन्होंने आधुनिक साहित्य को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया था, पर सन् १९५० ई० के बाद से उन्होंने मध्यकालीन साहित्य पर भी दृष्टिपात किया। पर कबीर, सूर और तुलसी पर लिखे 'आलोचना' त्रैमासिक में प्रकाशित उनके निबन्ध साहित्य की सामाजिक व्याख्या की कसौटी पर बहुत गहरे नहीं लगते। इनमें समाज की अन्तर्विरोधिनी शक्तियों एवं उनकी साहित्यिक प्रतिच्छायाओं के बौद्धिक विश्लेषण की अपेक्षा कुछ प्रभावपरक मन्तव्य प्रकट करने की प्रवृत्ति है अथवा अत्यन्त स्थूल रूप से 'खतियाने' की। आधुनिक साहित्य में सामाजिकता एवं यथार्थ का आग्रह बढ़ाने में उन्होंने सहायता अवश्य दी है, पर बहुधा उनके द्वारा किये गये मूल्यांकन अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सके। उन्हें यह श्रेय अवश्य है कि प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली के प्रारम्भिक रूप को उन्होंने सँवारा है, तथा हिन्दी आलोचना को शास्त्रीयता के वाग्जाल तथा पाण्डित्य के थोथे प्रदर्शन से मुक्त करके सरल, स्पष्ट एवं गतिशील बनाया है।

—दे० शं० अ०

प्रताप—यह कानपुर का साप्ताहिक पत्र था, जिसका प्रकाशन नवम्बर, १९१३ ई० से गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पादकत्व

में हुआ। पहले १६ पृष्ठों का ही निकलता था। बाद में बढ़ते-बढ़ते ४० पृष्ठो तक निकलने लगा। 'प्रताप' नाम राणा प्रताप और प्रतापनारायण मिश्र की स्मृति में रखा गया।

यह पत्र व्यक्तिगत चरित्र को उठाने तथा सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति लाने का पक्षधर था। १९२० ई० से यह दैनिक हो गया। आठ महीने तक यह दैनिक ही रहा, फिर साप्ताहिक हो गया।

सन् १९२३-२४ ई० तक इसके सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी रहे। इसके बाद फिर गणेशशंकर विद्यार्थी आ गये और सात वर्ष तक कार्य करते रहे। सन् १९३१ ई० में उनकी मृत्यु हो जाने के बाद बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इसके सम्पादक हुए। उस समय यह दैनिक पत्र था। इस समय भी इसका प्रकाशन दैनिक रूप में हो रहा है।

—ह० दे० बा०

प्रतापनारायण मिश्र—जन्म उन्नाव जिले के बैजेगाँव में सन् १८५६ ई० में हुआ था। इनके जन्म के कुछ दिनों बाद ही इनके ज्योतिषी पिता पण्डित संकठाप्रसाद कानपुर आकर रहने लगे थे। यहीं पर उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई। पिता उन्हें ज्योतिष पढ़ाकर अपने ही पैतृक व्यवसाय में लगाना चाहते थे, पर इनका मनमौजी स्वभाव उसमें नही रमा। अंग्रेजी स्कूल में कुछ दिनों पढ़ा, पर उनका मन वस्तुतः जमकर अनुशासनपूर्ण ढंग से पढ़ने में न लगता था। यों संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और बंगला में उनकी अच्छी गति थी। बालमुकुन्द गुप्त ने सन् १९०७ ई० में प्रतापनारायण मिश्र का चरित्र 'भारतमित्र' में प्रकाशित करते हुए उसमें लिखा था कि उपर्युक्त भाषाएँ वे धाराप्रवाह बोल लेते थे। कानपुर उन दिनों लावनीबाजों का केन्द्र था और प्रतापनारायण मिश्र लावनी के अत्यन्त शौकीन थे। लावनीबाजों के सम्पर्क में आकर इन्होंने स्वयं लावनियाँ और ख्याल लिखना शुरू किया। यहीं से उनके कवि और लेखक जीवन का प्रारम्भ होता है—फिर तो आजीवन अनेक रूपों में उन्होंने हिन्दी की सेवा की। पर वे कोरे साहित्यकार नहीं थे। समसामयिक जीवन मे उनकी गहरी दिलचस्पी थी। कानपुर की अनेक सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं से उनका सम्पर्क था। इलाहाबाद कांग्रेस अधिवेशन में वे कानपुर से प्रतिनिधि बनकर सम्मिलित हुए थे। कानपुर में नाटक-सभा नामक एक संघटन की नींव उन्होंने डाली थी और उसके माध्यम से पारसी थियेटर के विरोध में उन्होंने हिन्दी का अपना रंगमंच खड़ा करना चाहा था। वे स्वयं कुशल अभिनय करते थे। स्त्री पात्र का अभिनय करने के लिए उन्होने अपने पिता से मूछें मुड़ा लेने की आज्ञा भी प्राप्त कर ली थी। भारतेन्दु के व्यक्तित्व से वे अत्यधिक प्रभावित थे तथा उन्हें अपना गुरु तथा आदर्श मानते थे। उनका स्वभाव अत्यन्त हँसोड़ था। वे वाग्वैदग्ध्य के धनी थे। अपनी हाजिरजवाबी एवं मसखरे स्वभाव के लिए वे अपने समय में कानपुर में अत्यन्त प्रसिद्ध थे। मिश्रजी की मृत्यु कानपुर में ही सन् १८९५ ई० में हुई।

मिश्रजी द्वारा लिखित पुस्तको की संख्या ५० के लगभग है। अधिकांशतः ये सभी उनके पत्र 'ब्राह्मण' में प्रकाशित हुई हैं। उनमें से कतिपय पुस्तकाकार भी बाद को निकलीं। उनकी मौलिक पुस्तकाकार प्रकाशित रचनाएँ हैं—'प्रेम पुष्पावली', 'मन की लहर', 'दंगल खण्ड', 'लोकोक्तिशतक', 'तृप्यन्ताम्', 'प्रताप संग्रह', 'रसखानशतक'—ये उनके कविता संग्रहों के नाम हैं। 'कलि कौतुक', 'भारत दुर्दशा', 'कलि प्रभाव', 'हठी हमीर', 'गो संकट'—उनके नाटक हैं एवं 'जुआरी-खुआरी' प्रहसन तथा 'संगीत शाकुन्तल' लावनियों में लिखा गया उनका पद्य-नाटक है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसकी प्रशंसा की थी। उनके निबन्धों का संग्रह जीवनकाल में नहीं आया, बाद को नारायण प्रसाद अरोड़ा ने 'नारायण निबन्धावली' में उनके कतिपय निबन्ध संकलित किये। अब नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से उनके समस्त लेखन को 'प्रतापनारायण मिश्र ग्रन्थावली' के नाम से संकलित करके प्रकाशित किया गया है। प्रतापनारायणजी ने अपनी समकालीन परम्परा के अन्तर्गत ही बंगला से कुछ अनुवाद भी किये। बंकिमचन्द्र के 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुरीय' उपन्यासों का अनुवाद उन्होंने किया था। 'चरिताष्टक', 'पंचामृत' एवं नीतिरत्नमाला' भी बंगला से अनूदित उनकी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त पाठ्यपुस्तकों के रूप मे भी उनकी कतिपय रचनाएँ मौलिक या अनूदित रूप में प्राप्त होती हैं।

कविता के क्षेत्र में मुख्यतः वे पुरानी धारा के अनुवर्ती थे। ब्रजभाषा में समस्यापूर्तियाँ वे खूब किया करते थे। इन सवैयों या घनाक्षरियों का मूलस्वर भक्ति और श्रृंगार का होता था, पर मुख्य ध्यान देने योग्य बात है कि इन्होंने समसामयिक समस्याओं को भी अपनी काव्य-वस्तु के अन्तर्गत समेटने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। "जिन धन धरती हरी सो करिहें कौन भलाई, बन्दर काके मीत कलन्दर केहि के भाई" में अंग्रेजी राज्य की तथाकथित प्रजाहितैषी रूप पर जितना प्रखरचेतनासम्पन्न व्यंग्य है, वह भारतेन्दु में भी कठिनता से मिलता है। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान' का नारा भी उन्होंने ही दिया था। "सब धन लिहे जात अंगरेज, हम केवल लेक्चर के तेज" में भारतवर्ष के उदारपन्थी समझौतावादियों पर आक्षेप है तथा उनकी पुकार है, "पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देश कलेस, जैसे कन्ता धर रहे तैसे रहे विदेस।" इस प्रकार 'ब्राडला स्वागत' के बहाने उन्होंने भारतवर्ष की दुर्गति का पद्यबद्ध चित्रण किया है। वास्तव में उनका काव्य वह सुदृढ़ भूमि है, जिस पर आगे का राष्ट्रीय एवं राजनीतिक काव्य खड़ा होता है।

मिश्रजी की उग्रता कविताओं से भी अधिक उनके निबन्धकार एवं सम्पादक व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त हुई है। इस युग के लेखकों के इन दो व्यक्तित्वों को एक दूसरे का पूरक समझना चाहिए। 'ब्राह्मण' पत्र का प्रकाशन १५ मार्च, १८८३ ई० से उन्होंने प्रारम्भ किया था। सन् १८९४ ई० तक यह प्रकाशित हुआ। बीच में कुछ दिनों के लिए मिश्रजी कालाकांकर से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दुस्तान' में सम्पादक होकर चले गये थे, तब 'ब्राह्मण' भी वहाँ से प्रकाशित होने लगा था। अपने अन्तिम वर्षों में वह श्री रामदीन सिंह के खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से निकलता रहा। 'ब्राह्मण' के प्रथम अंक में ही उसके स्वरूप की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा था—"...कभी राज्य-सम्बन्धी, कभी व्यापार सम्बन्धी विषय भी सुनायेंगे, कभी गद्य-पद्यमय नाटक से भी रिझायेंगे।" तथा एक अन्य अंक में अपने उद्देश्य को बताते हुए उन्होंने लिखा, "अपने देश भाइयों का दुःख-सुख ज्यों का त्यों

प्रकाश करना हमारा मुख्य कर्तव्य है।" वस्तुत: 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी प्रदीप' ने उस युग की पत्रकारिता को बहुमुखी ही नहीं बनाया, उसे पैनापन भी प्रदान किया इन दोनो ही पत्रों ने अपने समय की हर समस्या का स्पर्श किया है और उस पर अपनी स्पष्ट राय दी है—बिना किसी लाग लपेट के। दोनों ही पत्र (क्रमशः प्रतापनारायण मिश्र एवं बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित) उग्र राजनीतिक विचारधारा वाले पत्र हैं। राजनीतिक चेतना की दृष्टि से प्रतापनारायणजी भारतेन्दु से भी आगे थे। ढुलमुल नीति पर उनका विश्वास नहीं था और साहसपूर्वक वे विदेशी सरकार पर आक्रमण करते थे। गम्भीर विषयों के अतिरिक्त हास्य-व्यंग्य का अनोखा पुट भी 'ब्राह्मण' में हुआ करता था। 'मुच्छ', 'परीक्षा', 'ट', 'द' आदि ऐसे ही निबन्ध हैं।

'ब्राह्मण' की प्रतियों में प्राप्त उनके शताधिक निबन्ध लेखक के व्यक्तित्व की आत्मीयता एवं फक्कड़पन से ओतप्रोत हैं। जब गम्भीर विषयों पर लिखते थे तो भाषा अत्यन्त सधी और निश्चित, पर जहाँ मौज में आये कि फिर मुहावरों, कहावतों, बैसवाड़ी प्रयोगों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व फूट पड़ता था। 'दाँत', 'बुढ़ापा', 'भौंह', 'बात' आदि निबन्धों में हमें जिस आत्मीयता के दर्शन होते हैं, वह निबन्धकला का प्राण है। हिन्दी-निबन्धों के क्षेत्र में आज भी उनके जैसे कलात्मक निबन्धलेखकों की संख्या विरल ही है। इन निबन्धों की शैली में एक अदभुत प्रवाह और आकर्षण है। वे सच्चे अर्थों में हिन्दी-गद्य के निर्माता एवं शैलीकार के रूप में सदैव याद किये जायेंगे। उनके निबन्धों जैसी धार एवं पैनापन हमें उस युग में केवल बालकृष्ण भट्ट में ही प्राप्त होता है। पर भट्टजी में जहाँ पाण्डित्य का गम्भीर स्वर मुख्य था, वहीं प्रतापनारायण में सहजता का भोलापन एवं मस्ती का विलास था।

उनके नाटक यद्यपि कला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु उस युग में नाटक और रंगमंच के लिए जो असफल सा प्रयास उन्होंने किया, वह इतिहास की वस्तु है।

केवल ३९ वर्ष जीवित रहने वाला यह व्यक्ति प्रतिभा एवं परिश्रम से आधुनिक हिन्दी के निर्माताओं की बृहत्त्रयी (भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट एवं प्रताप नारायण मिश्र) में से एक है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतापनारायणजी को न तो भारतेन्दु जैसा साधन और वातावरण मिला था और न भट्टजी जैसी लम्बी आयु, परन्तु उनका महत्त्व इन दोनों ही व्यक्तियों से किसी प्रकार कम नहीं है। इस सम्बन्ध में बालमुकुन्द गुप्त का यह कथन सत्य ही लगता है, "पण्डित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चन्द्र की सी थीं। कितनी ही बातों में यह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे, पर एक आध में बढ़कर भी थे। जिस गुण में वह कितनी ही बार हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी काव्यत्व-शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शैली थी। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने में हरिश्चन्द्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे" (बालमुकुन्द गुप्त : 'निबन्धावली', पृ० २)।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर : नरेशचन्द्र चतुर्वेदी; प्रतापनारायण ग्रन्थावली : विजयशंकर मल्ल; आलोचना और आलोचना : डॉ० देवीशंकर अवस्थी।]

—दे० शं० अ०

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—जन्म १९०४ ई० मे कानपुर में हुआ। आपने अपनी शिक्षा के क्रम में बी० ए० तथा एल-एल० बी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। साहित्य में आप उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध है। आपकी औपन्यासिक कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

'निकुंज' (१९२२ ई०), 'विदा' (१९२८ ई०), 'विजय' (१९३७ ई०), 'विकास' (१९३९ ई०), 'बयालीस' (१९४८ ई०), 'विसर्जन' (१९५० ई०), 'बेकसी का मजार' (१९५६ ई०), 'वेदना' (१९६० ई०), 'विश्वास की वेदी पर)' (१९६० ई०)।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में प्रेमचन्द की अपेक्षा कुछ बाद में आये किन्तु इन्हें प्रेमचन्द युग के उपन्यास-लेखकों में ही मानना चाहिये। वैसे तो ये अब तक लिखते जा रहे हैं लेकिन इनकी प्रथम प्रसिद्ध औपन्यासिक रचना 'विदा' प्रेमचन्द के 'गोदान' से कोई सात वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। इनकी इसी प्रारम्भिक कृति ने इन्हें हिन्दी उपन्यासकार की प्रतिष्ठा दी। अपनी इस कृति में प्रतापनारायण श्रीवास्तव नागरिक जीवन के अभिजात वर्ग के चित्रकार बनकर आये। उन्होंने यूरोपीय सभ्यता में रँगे हुए 'सिविल लाइन्स' के बँगलों की जिन्दगी का अंकन किया और इस दृष्टिकोण के साथ कि उसके मूल में कहीं-न-कहीं भारतीय आत्मा सुरक्षित है। 'विदा' के सभी पात्र आदर्शवादिता के साँचे में ढले हुए जान पड़ते हैं। नागरिक जीवन की शोख और रंगीनी के बावजूद वे आदर्श चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव का दूसरा उपन्यास 'विजय उच्चवर्गीय समाज के विधवा-जीवन की समस्या को लेकर चला है। अपनी इस कृति में भी प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदर्शवादी हैं और एक आदर्श हिन्दू विधवा के लिए वे पुनर्विवाह के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इधर की कुछ नयी कृतियों में प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने यथार्थवादिता का अवलम्बन ग्रहण किया है। इस दृष्टि से इनका ऐतिहासिक उपन्यास 'बेकसी का मजार' उल्लेख्य है। इसमें १८५७ ई० के प्रथम स्वाधीनता समर के सच्चे एवं सजीव चित्र प्रस्तुत करने में इन्हें बहुत सफलता मिली है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अपनी कृतियों से हिन्दी उपन्यास साहित्य की महत्त्वपूर्ण श्रीवृद्धि की है। इन्होंने सामाजिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विषयों एवं समस्याओं को अपने उपन्यासों में सफलतापूर्वक अंकित किया है। इनकी भाषा निखरी हुई और शैली प्रौढ़ है।

—र० भ०

प्रतापसाहि—रीतिकालीन काव्य के चरमोत्कर्ष के अन्तिम व्यक्तियों में प्रतापसाहि का नाम कवि तथा शास्त्रज्ञ दोनों रूपों में प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है। अपार पाण्डित्य और उत्तम रचना-कौशल के कारण इनकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। इनके पिता का नाम रतनसेन बन्दीजन था। 'शिवसिंह सरोज' में सन् १७०४ ई० (सं० १७६०) इनका उपस्थिति काल बताया गया है तथा यह भी कहा गया है कि ये महाराज छत्रसाल परना पुरन्दर के यहाँ थे। इसके अतिरिक्त आपका चरखारी,

बुन्देलखण्ड के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहना भी सिद्ध होता है। इनका रचनाकाल सन् १७२४ से १८४४ ई० तक माना गया है। इससे इनका १९वीं शती के मध्य में रचना में प्रवृत्त रहने का पता चलता है।

इनकी रचनाओं में सर्वाधिक प्रसिद्धि 'व्यंगार्थ-कौमुदी' (सन् १८२७ ई०) तथा 'काव्य-विलास' (सन् १८२९ ई०) को मिली। इनके अतिरिक्त 'जयसिंह प्रकाश' (सन् १७९६ ई०), 'श्रृंगार मंजरी' (सन् १८३७ ई०), 'श्रृंगार शिरोमणि' (सन् १८३९ ई०), 'अलंकार-चिन्तामणि' (सन् १८३९) एवं 'काव्य विनोद' (सन् १८४१ ई०) नामक मौलिक रचनाएँ तथा 'भाषाभूषण' की टीका, 'रसराज' की टीका (सन् १८४१ ई०), 'बिहारी सतसई' की 'रत्नचन्द्रिका' नामक टीका (सन् १८४१ ई०) तथा बलभद्र की 'नखशिख' की टीका और 'जुगल नखशिख' तथा 'रस-चन्द्रिका' नामक पुस्तकें भी लिखीं। सरोजकार ने रचे जिस 'विज्ञार्थकौमुदी' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, वह वस्तुतः 'व्यंगार्थ-कौमुदी' है। 'भाषाभूषण' तथा बलभद्रकृत 'नखशिख' की टीका विक्रमसाहि की आज्ञा से रची गयी थी।

इस रूप में प्रतापसाहि की प्रतिभा का विकास तीन दिशाओं में हुआ। ये यशस्वी कवि, शास्त्रज्ञ तथा शास्त्र प्रतिपादक और टीकाकार थे। इसके अतिरिक्त इनकी यह भी विशेषता है कि इन्होंने स्वरचित ग्रन्थों की सुस्पष्टता के लिए स्वयं ब्रजभाषा गद्य में उनकी वृत्ति भी लिखी है। सिद्धान्त-पक्ष में ये व्यंग को काव्य-जीवित मानते थे। विशेषता यह कि अपनी इस धारणा को इन्होंने अपने काव्य के व्यावहारिक क्षेत्र में उतार लाने का भी प्रयत्न किया है, भले ही उसके निर्वाह के कारण यत्र-तत्र कुछ क्लिष्टता या अस्पष्टता भी जान पड़ती हो। वस्तुतः काव्य-परम्परा और शास्त्र-परम्परा से परिचित पाठक के लिए वह अपरिचित ज्ञात नहीं होगी। सिद्धान्त के प्रति इतनी ईमानदारी अन्य आचार्य-कवियों में नहीं दीख पड़ती। यह ठीक है कि व्यंजना की क्लिष्टता के कारण उससे अपरिचितों को बोध होने से पूर्व रसास्वाद में विघ्न अनुभव होगा, साथ ही प्रतापसाहि में अनुभूति की उतनी तीव्रता नहीं मिलेगी, किन्तु व्यंग का बोध होने पर रसास्वाद की सान्द्रता ही नहीं बढ़ जायगी, अपितु इनकी उत्कृष्ट कल्पना तथा निश्छल अभिव्यंजना पर भी मुग्ध होना पड़ेगा।

इनकी भाषा व्याकरण, भाव तथा व्यंगार्थ के अनुकूल मिलेगी। इनके काव्य-कौशल तथा इनकी सरस हृदयता पर रीझकर ही हिन्दी के आलोचकों ने इन्हें आचार्य तथा कवि दोनों रूपों में मतिराम, श्रीपति तथा भिखारीदास के समकक्ष बताया है। इतिहासकारों को निःसंकोच यह स्वीकार करना पड़ा है कि उक्त लेखकों के अतिरिक्त पद्माकर के द्वारा जिस भाषा और मुक्तक शैली की कलाकारिता को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया गया था, उसे प्रतापसाहि की कविता में ही आकर पूर्णता मिली। लक्षणा-व्यंजना का लक्षणोदाहरणयुक्त विवेचन करने में तो ये मतिराम, श्रीपति, दास और पद्माकर सबसे आगे रहे। इनमें से किसी ने भी उसका विस्तृत निरूपण नहीं किया था। मिश्रबन्धुओं ने इनकी प्रशंसा करते हुए स्पष्ट स्वीकार किया है कि, "इनकी भाषा मतिराम की भाषा से बहुत मिल जाती है और उत्तम छन्दों की संख्या भी इनकी सव्यंग रचना में विशेष है। उसमें उद्दण्डता भी पायी जाती है।" साथ ही इन्हें काव्यांगों का अच्छा ज्ञाता और बड़ा ही प्रशंसनीय कवि भी बताया है।

रामचन्द्र शुक्ल भी इनकी प्रशंसा करते थकते नहीं। उनके शब्दों में "प्रतापसाहि का यह कौशल अपूर्व है कि उन्होंने एक रसग्रन्थ के अनुरूप नायिकाभेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं, जिससे उनके ग्रन्थ को जी चाहे तो नायिकाभेद का एक अत्यन्त सरस और मधुर ग्रन्थ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनीप्रवीन के मेल में जाती है तो उधर आचार्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे दिखाई पड़ता है। इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर की प्रतिभा के साथ-साथ रीतिबद्ध काव्य-कला को पूर्णता पर पहुँचाकर छोड़ दिया। पद्माकर की अनुप्रास-योजना कभी-कभी रुचिकर सीमा के बाहर जा पड़ी है, पर इस भावुक और प्रवीण की वाणी में यह दोष कहीं नहीं आने पाया है। इनकी भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है–उसमें न कहीं कृत्रिम आडम्बर का अड़ंगा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दों की तोड़-मरोड़।" इस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल इन्हें पद्माकर के समकक्ष मानते हैं।

'हि० सा० बृ० इतिहास', षष्ठ भाग में भी आपको रीतिकाल का अन्तिम प्रतिनिधि कवि माना गया है और कारिका शैली के प्रमुख लेखक के रूप में इनकी प्रशंसा की गयी है। संस्कृत शैली से भिन्न स्वनिर्मित उदाहरण रखने वालों में इनकी ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि हिन्दी-रीतिकाव्य में ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी तथा प्रतापसाहि में ही मिलता है। काव्य लक्षणो में मम्मट के लक्षण की आलोचना कुलपति और प्रतापसाहि ही कर पाये, फिर भी 'काव्य-विलास' में प्रतापसाहि के शास्त्रीय-विवेचन की सदोषता देखते हुए सत्यदेव चौधरी को यह निष्कर्ष उपस्थित करना पड़ा है कि प्रतापसाहि 'व्यंगार्थ-कौमुदी' में जितने सफल कवि हैं, 'काव्य विलास' में वे उतने सफल आचार्य नहीं हैं।

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); मि० वि०; हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य : सत्यदेव चौधरी।]

–आ० प्र० दी०

प्रतिज्ञा–प्रेमचन्दकृत उपन्यास (प्र० १९०४ ई० के लगभग)। 'प्रतिज्ञा' में लाला बदरीप्रसाद और देवकी, पण्डित बसन्तकुमार और पूर्णा के परिवारों, विधुर अमृतराय और दाननाथ की कथा है और प्रेमचन्द ने विधवा नारी की समस्या उठाई है। लाला बदरीप्रसाद की एक पुत्री प्रेमा और एक पुत्र कमलाप्रसाद तथा पुत्रवधू सुमित्रा हैं। अमृतराय और दाननाथ घनिष्ठ मित्र हैं और प्रेमा से प्रेम करते हैं। प्रेमा अमृतराय की साली है। अमृतराय अमरनाथ का भाषण सुनकर प्रेमा से विवाह न कर किसी विधवा से विवाह करने की प्रतिज्ञा करते तथा अपना जीवन निस्सहाय विधवाओं की सहायता के लिए अर्पित कर देते हैं। प्रेमा का पिता उसका विवाह दाननाथ के

साथ कर देता है, यद्यपि प्रेमा और अमृतराय एक-दूसरे को अपने-अपने हृदय में स्थान दिये रहते हैं। प्रेमा पत्नी के रूप में अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न होकर पातिव्रत धर्म का पालन करती है।

गंगा में डूब जाने के कारण बसन्तकुमार की मृत्यु हो जाने के उपरान्त उसकी पत्नी पूर्णा प्रेमा के पिता लाला बदरीप्रसाद के यहाँ आकर रहने लगती है, किन्तु कृपण और दुराचारी तथा विलासी कमलाप्रसाद अपनी पत्नी सुमित्रा से उदासीन रहने के कारण अब पूर्णा को अपने प्रेमजाल में फाँसने की चेष्टा में रत रहता है और साथ ही अमृतराय की नारी-सहायता सम्बन्धी योजनाओं का विरोध करता है। दाननाथ भी अपने मित्र का विरोध करता है—अपने प्रति प्रेमा के प्रेम की परीक्षा करने के लिए। प्रेमा यद्यपि अपने पातिव्रत में कोई अन्तर नहीं आने देती किन्तु उसकी सहानुभूति पूर्णतः अमृतराय के साथ है और एक दिन एक सार्वजनिक सभा में पहुँचकर अमृतराय की सहायता भी करती है। उधर एक दिन कमलाप्रसाद पूर्णा को अपने बाग में ले जाकर बलात्कार करने की चेष्टा करने में उसके द्वारा घायल होता है। पूर्णा अमृतराय के आश्रम में चली जाती है। कमलाप्रसाद सुधरकर अपना दुराचरण छोड़ देता है और सुमित्रा के साथ सुखपूर्वक रहने लगता है। अमृतराय ने आश्रम के लिए जीवन अर्पित कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

उपन्यास में प्रेमचन्द का समाज-सुधार सम्बन्धी दृष्टिकोण और आर्य-समाज का प्रभाव मिलता है। कला की दृष्टि से वह उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं है।

—ल० सा० वा०

प्रद्युम्न—कृष्ण एवं रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न अपने ऐतिहासिक, पौराणिक व्यक्तित्व के साथ-साथ प्रतीकात्मक व्यक्तित्व भी रखते हैं। वैष्णव धर्म के चतुर्व्यूह की कल्पना में प्रद्युम्न को मन की संज्ञा दी गयी है। परम संहिता में उल्लेख मिलता है—"......वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते।" इस प्रकार प्रद्युम्न मन के प्रतीक ठहरते हैं। पौराणिक परम्पराओं के उल्लेख में इनके पुत्र अनिरुद्ध का नहीं, अपितु शम्बासुर नामक राक्षस द्वारा इन्हीं का अपहरण कराया गया है। इस दृष्ट से ये 'काम' के अवतार भी ठहरते हैं किन्तु अधिकांश परम्पराएँ इस कथा का नायकत्व प्रद्युम्न को न देखकर उनके पुत्र अनिरुद्ध को ही देती हैं।

—यो० प्र० सिं०

प्रद्युम्न विजय—(प्र० १८६४ ई०) ब्रजभाषा नाटककाल का गणेशकविकृत 'प्रद्युम्न विजय नाटक' प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण काव्य-नाटक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने निबन्ध 'नाटक' में लिखा है, "गणेश कवि ने काशिराज की आज्ञा से 'प्रभावती' नामक नाटक की रचना की थी" ('भारतेन्दु ग्रन्थावली', पहिला भाग, सं० ब्रजरत्नदास, प्र० सं० पृ० ७५२)। गणेश कविकृत एकमात्र 'प्रद्युम्न विजय' नामक नाटक मिला है और सम्भवतः यही वह नाटक है, जिसे भारतेन्दुजी ने 'प्रभावती' बताया है। इस अनुमान के निम्नलिखित कारण हैं—(१) 'प्रद्युम्न विजय' नाटक का निर्माण काशिराज की आज्ञा से हुआ था। कवि ने तत्कालीन काशिराज महाराज ईश्वरीनारायण सिंह की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। साथ ही कवि कहता है कि—"भूपमोलि श्री ईश्वरनारायन महाराज, लखि मेरे गुन रीझि कै आयसु दयो दराज। गये बीति अनगन बरस नाटक विधि ब्योहार, भये गुप्त तेहि प्रगट करि दरसावो सुखसार"।।१–२०।। अन्तिम पुष्पिका से भी पुष्टि होती है—"श्री ईश्वरीनारायण सिंह बहादुरकारिते कविविरचितसाहित्यसागरनामनि अलंकारप्रबन्ध चतुःषष्ट्यंगसहितप्रद्युम्नविजयनाटकनिरूपण नाम द्वादशस्तरंगः।" (२) भारतेन्दुजी का कथन है कि 'प्रभावती' नाटक नाटक-रीति से बना है (वही पृष्ठ ७५२)। 'प्रद्युम्न विजय' नाटक पर यह बात लागू होती है। ऊपर जो पुष्पिका दी गयी है, उससे स्पष्ट है कि यह नाटक चौसठों अंग रखता है (चतुःषष्ट्यंगसहित 'प्रद्युम्न विजय नाटक')। 'प्रद्युम्न विजय' नाटक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, वरन् गणेश कवि के 'साहित्य सागर' नामक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ का एक अंश है और नाटक के उदाहरणरूप यह वहाँ रखा गया है। राजा की आज्ञा हुई थी कि नाटकविधि और नाट्य-प्रयोग से सम्पन्न नाटक लिखो। उसी के फलस्वरूप यह नाटक लिखा गया है, जिसमें नाटक-विधि और नाट्य-प्रयोग हैं। (३) भारतेन्दुजी ने आगे कहा है कि 'प्रभावती' छन्दप्रधान ग्रन्थ है (वही पृष्ठ ७५२)। इस लक्षण पर भी 'प्रद्युम्न विजय' ठीक बैठता है। इसमें गद्य है ही नहीं। (४) प्रश्न यह है कि भारतेन्दुजी ने नाम दिया है 'प्रभावती', जब कि प्राप्त हस्तलेखों में नाम मिलता है 'प्रद्युम्न विजय'। इसका समाधान क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि गणेश कवि ने पहिले स्वतन्त्र रूप से जब नाटक लिखा था तब इसका नाम 'प्रभावती' था। सम्भव है भारतेन्दु बाबू ने स्वयं इसे देखा हो या सुना हो। पुनः जब गणेश कवि ने इसे 'साहित्य सागर' में स्थान दिया तो नाटक में थोड़ा सा हेर-फेर करके इसका नाम 'प्रद्युम्न विजय' कर दिया। वैसे इसका नाम 'प्रभावती' ही अधिक उपयुक्त है। कारण—(क) यह प्रेम नाटक है। संस्कृत एवं हिन्दी में प्रेम नाटकों में नामकरण प्रायः या तो नायिका अथवा नायक के नाम पर किया गया है अथवा नायक-नायिका दोनों के नामों पर। उदाहरणों की कमी नहीं है—नायिका के नामवाले नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'रत्नावली', 'कर्पूरमंजरी', 'प्रिय दर्शिका', 'सुभद्रा परिणय', 'भैरवानन्द', 'सौगन्धिका हरण', 'मुदित मदालसा', 'पार्वती परिणय', 'कुवलयाश्वचरित', 'बसन्तिका परिणय', 'वसुमतिं परिणय', 'मृगांक-लेखा', 'वस्तुमंगल' इत्यादि। नायक-नायिका नामवाले नाटक—'विक्रमोर्वशी', 'मालविकाग्निमित्र', 'मालती-माधव', 'पारिजात मंजरी' इत्यादि। संस्कृत की यह परम्परा भारतेन्दु काल में चल रही थी और नाटककार अपने प्रेम-नाटकों के नाम इसी प्रकार रख रहे थे, उदाहरण-'चन्द्रावली', 'ललिता', 'नीलदेवी', 'गंगोत्री', 'कुंदकली', 'मिथिलेश कुमारी', 'मयंक मंजरी', 'रणधीर प्रेम मोहिनी', 'कमल मोहिनी', 'भँवर सिंह', 'मालती बसन्त', 'रति कुसुमायुध', 'लावण्यवती', 'सुदर्शन' इत्यादि। (ख) पहिले और सातवें अंकों में कृष्णइन्द्र षड़यन्त्र एवं ब्रजनाभ-मरण कथा है। शेष पाँच अंकों में प्रभावती की ही कहानी द्रुतगति से दौड़ती है। थोड़े से हेर-फेर के साथ इन दोनों अंकों को सरलतया अलग किया जा सकता है और तब 'प्रभावती' नाटक नाम बन जाता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भिक रूप में नाटक में ये ही पाँच अंक थे। कवि ने बाद में

दो अंक जोड़कर 'प्रद्युम्न विजय' नाम कर दिया। (ग) 'प्रद्युम्न विजय' नाम से भासता है कि यह वीर-रस का नाटक होगा। किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से श्रृंगार रस का नाटक है, केवल सातवें अंक में युद्ध वर्णन है। इस युद्ध में भी प्रमुख पात्र हैं कृष्ण, न कि प्रद्युम्न। प्रद्युम्न की विजय तो प्रभावती पर हुई है, वह भी रति-क्षेत्र में।

नाटक में प्रद्युम्न द्वारा ब्रजनाभ की सुन्दर कन्या प्रभावती से गन्धर्व विवाह का वर्णन है। साथ ही प्रद्युम्न, प्रभावती के पिता ब्रजनाभ को मारते है और इन्द्र को उसका इन्द्रासन वापस दे देते है। नाटक के नायक प्रद्युम्न ही है, जो प्रभावती को प्राप्त करते हैं, जिसके फलस्वरूप ब्रजनाभ का मरण होता है। कृष्ण इस प्रकार नायक प्रद्युम्न के प्रधान सहायक या पीठमर्द हैं। नाटककार का कथन है कि नाटक में चौसठों अंग विद्यमान हैं एव यह नाटक अभिनय के लिए बना है। चौसठों अंग से उसका अभिप्राय है, चौसठ संध्यंग। अतः नाटयशास्त्र की दृष्ट से यह काव्य-नाटक महत्त्वपूर्ण रचना है।

अन्य ब्रजभाषा काव्य-नाटको की तरह यह काव्य-नाटक भी जन-नाटचशैली का नाटक है—(१) यह छन्दप्रधान नाटक है, (२) इसकी शैली भी प्रबन्धात्मक है। (३) इसमें जन-नाटच शैली से सम्बन्धित संकेत प्राप्त होते है। वे हैं—(क) पटमन्दिर से बाहर आई १–२६, (ख) नाटक में नृत्य-गान को पर्याप्त स्थान मिला है, (ग) कवि उस नाटक को उत्तम मानता है, जिसमे रस एव अभिनय के साथ-साथ नृत्य-गान का समावेश हो। सूत्रधार कहता है—"हे प्रिये जे गावती करि नृत्य गान विधान, परसपर संवाद करती भूरि कौतुक मान, हँसनि बोलनि चलनि चितवनि लरनि सुर मुस्क्यानि, गिरनि तर्जनि कलनि मैं उठि परनि जे रस पानि" ।।१–६३।। "करहिं जो सो होहि लीला ललित अद्भुत पुंज, तेहि हेत दरसन वचन नूतन गान प्रनतिहुं पुंज, देषिके अति चातुरी सुषमा बरी अनुराग, देत आदर नाटच को सब भरे मोद विभाग" ।।१-६४।। उत्तम नाटक कौन है, अन्यत्र कवि कहता है—"सूत्रधार—मोहि विलोकि महेन्द्र सो करि के कृपा दराज, आयसु दीन्हो करो नट प्रमुदित रसिक समाज" ।। "विविध नाटच में अति सुषद होय पवित्र विचित्र, अभि ने करिए नाटच सो जेहि लखि रीझै मित्र" ।।१-४०।। "कढ़त मधुर स्वर कण्ठ तें यती वस्तु जेहि माहिं। सो नाटक हाटक कहत ज्यों भूषन सरसाहिं" ।।१-४२।। यहाँ दृष्टव्य है कि नाटक के उदाहरण में रखे जाने वाले नाटक में उत्तम नाटक के ये लक्षण दिये गये हैं। इनमे उज्जवल गान, जो मधुर कण्ठ से निकले, सम्मिलित हैं। साथ ही 'विविध नाटच' भी नाटक में होने चाहिए, यह भी नाटककार का मत है। यह प्रभाव प्रचलित जन-नाटच शैली का था। नाटककार एक ओर विभाव, अनुभाव इत्यादि से साहित्यिक शैली की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर नृत्य-गान से जन-नाटच शैली की ओर। 'प्रद्युम्नविजय' ऐसा ही नाटक है।

—गो० ना० ति०

प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'—कवि और पत्रकार। पटना से प्रकाशित होनेवाले पत्र 'बिजली' और 'आरती' के सम्पादक रहे। कृतियाँ—'पतझड़', 'पाप-पुण्य', 'संन्यासी', 'लालिमा', 'धारा', 'जेलयात्रा', 'दो दिन की दुनिया'। —सं०

प्रबीनराय—ओरछा दरबार की नर्तकी प्रबीनराय का इन्द्रजीत सिंह से प्रेम सम्बन्ध था। केशव ने इसको काव्य-शास्त्र की शिक्षा दी थी। कहते है इसने वाणी-कौशल से अपने सतीत्व की रक्षा की और इन्द्रजीत सिंह का एक करोड़ का जुर्माना माफ करा दिया। यह परमसुन्दरी थी। अकबर ने इन्द्रजीत सिंह से उसे मँगनी माँगी। इन्द्रजीत सिंह इससे अधीर हो उठे। रायप्रबीन को भेज दें तो भी कुशल नही और न भेजें तो बादशाह जबरदस्ती उनसे छीन ले जा सकता था। रायप्रबीन ने कहा आप मेरे लिए चिन्तित न हो। मैं अकबर के पास जाती हूँ और फिर वहाँ से आपके पास वापस आ जाऊँगी। प्रबीनराय ने अकबर के सम्मुख निवेदन किया था—"विनती राय प्रवीन की, सुनिये साह जहान। जूठ पतोवा द्वै भावे, कौवा ओरो स्वान।" और इसी से प्रभावित होकर अकबर ने इसको ओरछा वापस भेज दिया था। इसके स्वतन्त्र छन्द प्राचीन संकलनों मे प्राप्त होते हैं। 'दि० भू०' आदि ग्रन्थो में उद्धृत छन्दों के आधार पर इनके काव्य में प्रेमपरक व्यंजन और ऊहात्मक कल्पना विशेष रूप से पाई जाती है।

—सं०

प्रबोधचंद्रोदय १—संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक के रचयिता कृष्णमिश्र हैं। ये जैजाकमुक्ति के राजा कीर्ति वर्मा के शासनकाल में हुए थे। कीर्तिवर्मा का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो सन् १०९८ ई० का है। इसके आधार पर कृष्णमिश्र का समय सन् ११०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' रूपकात्मक नाटक हैं। यह शान्तरसप्रधान है। इसमें वेदान्त के अद्वैतवाद का प्रतिपादन नाटकीय ढंग पर हुआ है। इसमें मोह, विवेक, दम्भ, ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, विद्या, बुद्धि आदि को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित किया गया है। इस प्रकार इस नाटक में अध्यात्म विद्या का उपदेश बड़े रोचक ढंग से दिया गया है। अतएव दार्शनिक दृष्टिकोण से यह नाटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है यह नाटक अंग्रेजी के रूपकात्मक नाटकों के ढंग का है।

संस्कृत के इस 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के हिन्दी में अनेक अनुवाद हुए, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. 'पाखण्ड विडम्बन', जिसके अनुवादक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। इसका प्रकाशन सन् १८७३ ई० मे बनारस प्रिंटिंग प्रेस द्वारा हुआ तथा संवत् १९९३ में रामनारायण लाल, इलाहाबाद द्वारा 'भारतेन्दु नाटकवली', द्वितीय भाग के अन्तर्गत हुआ।

२. 'प्रबोधचन्द्रोदय'—अनुवादक अनाथदास, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा सन् १८८३ ई० में प्रकाशित।

३. 'प्रबोधचन्द्रोदय'—अनुवादक कवि गुलाब सिंह, परमानन्द स्वामी, द्वारिका द्वारा सन् १९०५ ई० में प्रकाशित।

४. 'प्रबोधचन्द्रोदय'—अनुवादक महेशचन्द्र प्रसाद, सन् १९३५ ई० में पटना में प्रकाशित।

५. 'प्रबोधचन्द्रोदय' : (छन्दोबद्ध अनुवाद), अनुवादक ब्रजवासीदास।

६. 'प्रबोधचन्द्रोदय'—अनुवादक महाराज जसवन्तसिंह।

उपर्युक्त अनुवादो में सर्वप्रमुख भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'पाखण्ड विडम्बन' है। इसकी सूचना सर्वप्रथम ११ पौष कृष्ण सवत् १९२८ तदनुसार २६ दिसम्बर, सन १८७१ ई० में मिली। यह सस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के तृतीय अक का अनुवाद है। इसमें भावों का द्वन्द्व चित्रित किया गया है। नाटक के प्रमुख पात्र विवेक तथा मोह हैं। विवेक का प्रभुत्व बढ़ता देख मोह दम्भ को साथ लेकर काशी आता है। श्रद्धा और धर्म मे भेद पैदा करने के लिए वह मिथ्या दृष्टि को भेजता है तथा शान्ति को बन्दी करने की आज्ञा देता है। इसी के बाद से तीसरा अक आरम्भ होता है। इस अंक मे करुणा, शान्ति के साथ अपनी माँ श्रद्धा को खोजती हुई आती है। उसके वियोग मे वह आत्महत्या करने का विचार करती है किन्तु करुणा के कहने पर उसे खोजने के लिए तैयार होती है। तदनन्तर दिगम्बर जैन, बौद्ध और सोम सिद्धान्त वाले कापालिक एक-एक करके आते हैं और अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। सोमपान के पश्चात् दिगम्बर जैन तथा बौद्ध कापालिक के शिष्य हो जाते हैं और श्रद्धा को खोजने में तत्पर होते हैं। उनको ज्ञात होता है कि श्रद्धा और धर्म भी विष्णु भक्ति के पास हैं। अतः वे उन्हे वहाँ से खींच लाने का प्रयास करते हैं। यहीं पर 'पाखण्ड विडम्बन' नामक तृतीय अक समाप्त हो जाता है।

यह अनुवाद संवत् १९२९ में समाप्त हुआ। नाटक में वैष्णव धर्म की विशेषता दिखलाई गयी है। साथ ही इसमे भक्ति की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। अनुवाद गद्यपद्यमय है तथा भाषा अत्यन्त सरल। केवल एक अंक का अनुवाद होने के कारण इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुवाद ब्रजवासीदासजी का है। ये वृन्दावन के निवासी थे। ये वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी माने जाते हैं। इन्होंने अनुवाद में विविध छन्दों का प्रयोग किया है। अनुवाद की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, उसमें अवधी या बैसवाड़ी का नाम तक नहीं है। इसमें सरल, सुव्यवस्थित तथा चलती हुई भाषा का प्रयोग किया गया है। निरर्थक एवं व्यर्थ शब्दों का पूर्णतः अभाव है।

तीसरा उच्चकोटि का अनुवाद महाराज जसवन्त सिंह का है। यह पद्यात्मक अनुवाद है। इनके ग्रन्थ में पद्यरचना की पूर्ण निपुणता प्रकट होती है। महाराज जसवन्तसिंह का जन्म संवत् १६८३ में हुआ। ये मारवाड़ के प्रसिद्ध नरेश थे तथा महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे और संवत् १६९५ में सिंहासनारूढ़ हुए। ये अत्यन्त प्रतापी हिन्दू नरेश थे। शाहजहाँ के समय में इन्होंने कई लड़ाइयों में भाग लिया। औरंगजेब सदा इनसे भयभीत रहता था। कहा जाता है कि औरंगजेब ने इनको गुजरात का सूबेदार नियुक्त कर दिया था। ये शाइस्ता खाँ के साथ शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गये। अन्त में अफगानों के विरुद्ध ये काबुल भेजे गये। वहीं पर संवत् १७३८ में इनकी मृत्यु हो गयी।

—शि० शे० मि०

प्रबोधचंद्रोदय २—(नानकदास १७८९ ई०) "संवत सात अठादस अवर षष्ट चालीस, मंधर शुक्ल पंचमी पोथी पूर्ण करीस।" नानकदासकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' दोहे, चौपाइयों में लिखित है। प्रस्तावना में नानकदास ने कहा है कि कृष्णदास का एक शिष्य बडा मूर्ख था, क्योंकि उसे सदा युद्ध चर्चा ही भाती थी। इसी शिष्य का मन बदलने के लिए नाटक का निर्माण हुआ था। नट का कथन है कि कृष्णदास अपने शिष्य से राजा 'कीरत वर्मा' की कथा कहता है—एक राजा था कीरत वर्मा। उसने बचपन मे इच्छा की थी कि भगवान के भजन मे जीवन सार्थक बना लूँ किन्तु माया को यह बात न रुची और वह राजा से आकर चिपट गयी। फलतः राजा भगवान् से दूर हटता गया। उसने अनेक विजय पायी और राज्य से प्राप्त सुखों को भोगा। धीरे-धीरे मृगतृष्णा शान्त हुई। अतः अब राजा शान्त रस पीना चाहता है। मन्त्री गोपाल ने नट को आज्ञा दी कि राजा को 'प्रबोध चन्द्रोदय' का खेल दिखाओ। नट अपने साथियों के साथ राज कीरत वर्मा की राजसभा मे पहुँचा और अभिनय करने की आज्ञा मांगी।" नानकदास का कथन है कि मैंने यह नाटक यवन भाषा में लिखित बलीरामकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' के आधार पर रचा है—"यह पोथी पूरण करी बलीराम हरिसन्त, ताको भाषा यों रच्यो नानकदास विनवन्त" ।।१८०।। भाषा- नाटक-अक, कथा, पात्र इत्यादि का क्रम 'प्रबोध चन्द्रोदय' जैसा ही है। इसकी भाषा शैली सबल है।

इस नाटक का महत्त्व भी यही है कि यह जन-नाटच शैली के कुछ संकेत देता है—(१) एक कनात खड़ी की जाती थी। इस कनात के पीछे पात्र अपने वेश परिवर्तन करते थे। कनात को हटाकर पात्र सभा में प्रवेश करते थे—(क) "आगे करी कनात इक स्वांग बनावन काज, जाते आवें स्वांग वन देषे सकल समाज।" (ख) "तातें जाहु कनता के पाछे। रुचि-रुचि स्वांग पठाओ आछे।" (ग) "सो कनात के बाहर आयी।" (२) प्रत्येक अंक के आरम्भ होते समय वाद्ययन्त्र बजते थे और अभिनेता या अभिनेत्री दर्शकों के सामने कनात से बाहर आ कर नृत्य करती थी—(क) दूसरा अंक आरम्भ हो रहा है—"फिर नट वर एकठ होइ आए। राग अलाप बजन्त्र बजाए। ताछिन स्वांग दम्भ का आया। बड़े शब्द सो गरज सुनाया।" तीसरे अंक का प्रारम्भ—"फिरि बाजे बाजनि लागे, गाजे ढोल मृदग। सूत्रधार एकत्र मिल, उठयो राग को रंग।" पाँचवें अंक के आरम्भ होते समय भी यही होता है—"तब बाजन्त्री बाज बजाए। राग अलाप मधुर सुर गाए। ढोलक छैना अरु इक तुहरी। सभनो मिलकरि बड़ धुनि पूरी।" (३) पात्र ऊँचे स्वर से बोलते थे—(क) "ता दिन स्वांग दंभ का आया। बड़े शब्द सो गरज सुनाया।" (ख) "सो कनात के बाहर आयी। मगल सभा को गरज सुनाई।" (४) अभिनय रात को होता था—"मैत्री सर्धाकी सहचरी। जाम स्वांग आयो निसधरी।" (५) नाटक में कहीं-कहीं खड़ीबोली का भी प्रयोग मिलता है—(क) "ता छिन स्वांग दम्भ का आया, बड़े शब्द सों गरज सुनाया। तुम भी सावधान अब होवो। तन मन ते आलस सब षोवो।" (ख) "वेदों के ज्ञाता भी भ्रमे मन विरुद्ध सभद ही ते मूर्ख जन खेद अफल कर्ते हैं।।१८५।।"

गो० ना० ति०

प्रबोधचंद्रोदय ३—(ब्रजवासीदास १७६० ई०)। "ऋषि शशि धन गनपति रदन सम्मत सेस बिलास। तामे यह भाषा करी जन ब्रजवासी दास"।।२३।। संस्कृतमें श्रीकृष्णमिश्र रचित 'प्रबोध चन्द्रोदय'को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। विद्वानोंका मत है कि इस नाटकको रचना ग्यारहवीं शतीमें हुई

थी। इसके द्वारा शान्त रसको नाटकमें स्थान दिया गया है। दर्शन और अध्यात्मके कुछ तत्त्वोंको लेकर प्रतीकात्मक शैलीपर यह नाटक लिखा गया है। ब्रजभाषा-कालमें इस नाटकको बहुत मान प्राप्त हुआ। इसका अनुमान इसी बातसे लगाया जा सकता है कि इस कालमें 'प्रबोध चन्द्रोदय'के लगभग एक दर्जन अनुवाद या छायानुवाद हुए। इनमेंसे ब्रजवासीदासकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' प्रकाशित भी हो चुका है (विवेचनाका आधार यही प्रकाशित नाटक है, जो बनारस लाइट यन्त्रालय द्वारा मुद्रित हुआ था और जिसे लाला छेदीलालने मुंशी हरिवंशलाल एवं बाबा अविनाश लालके आज्ञानुसार शोधकर संवत् १९३२ वि० मे प्रकाशित किया था)। ब्रजवासीदासने इस नाटककी प्रस्तावनामें नाटकके सम्बन्धमें कुछ चर्चाकी है। भाषा नाटककी यह प्रस्तावना मूल नाटकसे भिन्न है। संस्कृत नाटकमें आनन्दस्वरूप ब्रम्हकी स्तुति (१-१) के पश्चात् महादेवकी ज्योतिका वर्णन है (१-२)। इस नान्दी पाठके अनन्तर सूत्रधार दर्शकोंको बताता है कि आज कीर्तिवर्मा राजाके सामने शान्तरससम्पन्न श्रीकृष्ण मिश्र रचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटकका अभिनय होगा, ताकि राजाको निर्वेद प्राप्त हो और उसका मन विजयों एवं वैभव-विलाससे हट जाय। ब्रजवासीदासने इस सूक्ष्म-सी चर्चाको बड़ा विस्तार दिया है और इसी प्रसंगमें अपने भाषा-नाटकके सम्बन्धमें भी कुछ कहा है। प्रारम्भिक आठ दोहोंमें भगवानकी स्तुति है। इसके बाद कई दोहोंमें सत्संगका गुण गाया गया है। तत्पश्चात् नाटकके जन्मकी कथा है, जो मूल नाटकसे भिन्न है। प्रस्तावनामें बताया गया है कि दक्षिणमें भक्ति और विद्यासे परिपूर्ण एक प्रसिद्ध पण्डित था, जिसका नाम था कृष्णदास भटट। उसका एक ब्राम्हण शिष्य था। गुरु बड़े स्नेहसे शिष्यको वेदान्त पढ़ाता था किन्तु श्रृंगारासक्त शिष्यका मन उधर जाता ही न था। फलतः गुरुने एक ग्रन्थ बनाया। वह ग्रन्थ कैसा था–"रला विदूषक खान अर्थसिद्धि वेदान्त मय।।१४।।" गुरुने इस ग्रन्थका नाम रखा 'प्रबोध चन्द्रोदय'। इस नाटककी रचना मूलतः संस्कृतमें शिष्यको पढ़ानेके लिए हुई थी। ब्रजवासी दास का कथन है कि जो कोई इस संस्कृत नाटक को रुचि से सुनेगा, पढ़ेगा एवं समझेगा, उसकी सांसारिक आपत्तियाँ दूर हो जायँगी–"(सुनै समुझै) पढ़े रुचि सों मिटे जगत विपति।।१६।।" ब्रजवासीदास आगे प्रस्तावनामें कहते हैं कि संस्कृत-प्राकृतमें होने से यह नाटक सर्वजन बोधगम्य न था। केवल कुछ विद्वान् व्यक्ति ही इसे पढ़ एवं समझ पाते थे। तब बलीराम ने इस संस्कृत को यवन-भाषा में लिखा। किन्तु यवन भाषा भी सब के लिए सुबोध न थी ('प्रबोध चन्द्रोदय', १८)। फलतः ब्रजवासीदास ने इसे भाषा में लिखा। कवि अपनी नम्रता प्रदर्शित करता है और कहता है–"नहि चतुर नहि रसिक वर नहीं कवि भक्त उदार, पाछौ लै हरिजन कहत लैहैं साधु सुधार।।२१।।" गुरु शिष्य को कथा सुनाता हुआ कहता है कि एक राजा था 'कीरतब्रम्ह' जिसका मन्त्री था 'गुपाल'। राजसभा में एक नट आया। नट के साथ उसके अनेक शिष्य थे। शिष्याएँ भी साथ थीं। इस नट-मण्डली के पास बहुत से बाजे थे। ब्रजवासीदास ने आगे बाजों के नाम भी गिनाये हैं। वे ताल मृदंग, ढोल की, मुहचंगबेन, बीन, उपंग, महुवरी, सारंग, सितार, खंजरी, करतार इत्यादि लिये थे। बाजों का नाम गिनाते समय नाटककार का ध्यान जन-नाटच शैली की ही ओर था। अन्यत्र भी इस शैली के संकेत प्राप्त होते हैं। उदाहरण–(१) "नट की यह शिष्य मण्डली नृत्य-गान में अत्यन्त निपुण थी। सभा में आकर मण्डली ने गीत गाये।।२८।।" (२) "पुनि इक पट मन्दिर रच्यो स्वांग साज तहं राखि। नट नटिनीनर्तित भए परम प्रेम अभिलाखि।।२९।। छिन निते करि नट कह्यो भुजा उठाय पुकार, तनक ढोलको थाम्भिकै चुप कीजो सब यार।।३०।। जब सब गाँवन से थम्भे रहिगो तन्त्री नाद, तब विद्वध नट नटी प्रति करन लग्यौ संवाद।।३१।।" (३) नट नटी से कहता है कि मैंने आकाशवाणी सुनी है, जिसमें कहा गया है कि राजा 'कीरत ब्रह्म'का मन परमार्थकी ओर जाता है किन्तु मन्त्री गोपाल उधर नहीं जाने देता है। अतः हे नटी तू मेरे साथ चल। राजाके सामने इस नाटक को गा एवं इसका स्वाग भी बना।।१४-४२।। भाषा नाटक में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये छन्द हैं–दोहा, चौपाई, रोला, सोरठा, कुसुमविचित्रता, तोमर, सुगीतिका, हाकलिका, सवैया, त्रोटक, भुजंग प्रयात, कवित्त, सुन्दरी, हरिगीतिका, पकजवाटिका, कुण्डलिया, अमृतगति, छप्पय, बरवै, छन्द, भुजंगी, चंचला, पद्मावती, कुमारलता, त्रिभंगी, निसिपालिका, मोहन, संयुता, मधुभार, सुप्रिया, अनुकूल, अग्नानी, अरिला, काव्य, गंगोदक, मालती, मोदक, दोधक, झूलना, भरहटा, शोभन, चम्पक, तारक, मनमोहन, अर्धभुजंगी, ब्रम्हरूपक, विद्युन्माल, रंगिका, नगस्वरूपनी, रवंधा, सिंह अवलोकन। अनुवाद सुन्दर है और केवल पद्यात्मक है।

–गो० ना० ति०

प्रभा–इस पत्रिका का प्रकाशन १९१३ ई० में खंडवा से हुआ। फिर १९१७ ई० से यह कानपुर से प्रकाशित होने लगी और सन् १९२३ ई० तक वहीं से प्रकाशित होती रही। माखनलाल चतुर्वेदी और फिर शिवनारायण मिश्र इसके सम्पादक थे। अन्य सम्पादकों में गणेशशंकर विद्यार्थी तथा श्रीकृष्णदत्त पालीवाल रहे। सन् १९२३ ई० से इसका सम्पादन-भार बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने लिया। उन्होंने इसका 'झण्डा अंक' निकाला।

प्रमुखतया यह एक राजनीतिक पत्रिका थी, किन्तु इसमें साहित्यिक निबन्ध एवं कविताएँ भी प्रकाशित होती थीं।

–ह० दे० बा०

प्रभा अध्यक्ष–सर कृष्ण अध्यक्षकी आधुनिकी पुत्री, भगवती चरण वर्माकृत उपन्यास 'तीन वर्ष'के पूर्वार्द्ध की नायिका। कक्षा के सबसे बड़े रईस अजित एवं सब से मेधावी छात्र रमेश एक साथ ही उसके सम्पर्क में आते हैं। लगता है कि प्रेम का शाश्वत त्रिकोण बनने जा रहा है, पर अजित अपनी ओर आकृष्ट होती प्रभा के प्रेम-सम्बन्ध को बढ़ावा नहीं देता और धीरे-धीरे रमेश प्रभा का प्रेम बढ़ता जाता है। आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति एवं विचारधारा के प्रभाव में ढली उस नारी के लिए न तो यौन नैतिकता ही महत्त्वपूर्ण है और न वह प्रेम के मध्यवर्गीय रोमाण्टिक आदर्शवाद को ही महत्त्वपूर्ण मानती है। वह यौवन को अराजकता का दूसरा नाम मानती है, उसके लेखे 'पाप-पुण्य भी मनुष्य के दृष्टिकोणकी विषमता का दूसरा नाम है।'

–दे० शं० अ०

प्रभाकर माचवे—जन्म २६ दिसम्बर, १९१७ को ग्वालियर मे हुआ। शिक्षा इन्दौर मे एम० ए० (दर्शन), एम० ए० (अंग्रेजी साहित्य), पी० एच० डी०। इन्दौर मजदूर सघ मे कार्य करते रहे तदुपरान्त माधव कालेज उज्जैन मे प्राध्यापक रहे। आकाशवाणी की सेवा के सिलसिले में प्रयाग, दिल्ली, नागपुर केन्द्रों पर काम किया। नई दिल्ली में साहित्य अकादमी के सचिव रहे। माचवे का लेखन कविता, कहानी, उपन्यास निबन्ध, समीक्षा ....कई विधाओ मे फैला हुआ है। मराठी और अंग्रेजी से अनुवाद भी किए हैं। 'तारसप्तक' (१९४३) के कवियोमे थे। उसके बाद दो कविता संग्रह और प्रकाशित हुए 'अनुक्षण' (१९५९) और 'मेपल' (१९६६)। पहला निबन्ध-सग्रह 'खरगोशके सींग' १९५० में छपा था, दूसरा 'बेरंग' १९५५ में। समीक्षा-पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है : व्यक्ति और वाड्मय' (१९५२); 'समीक्षा की समीक्षा) (१९५३); 'सन्तुलन' (१९५४), 'हिन्दी निबन्ध' (१९५५); 'मराठी और उसका साहित्य' (१९५६), 'नाट्य-चर्चा' (१९५७), 'हिन्दी साहित्य की कहानी' (१९५७)। उपन्यास : 'परन्तु' (१९५१), 'एक तारा' (१९५२), 'द्वाभा' (१९५५), 'साँचा'। एक कहानी-संग्रह भी है 'संगीनों का साया' जो १९४३ में प्रकाशित हुआ था। इसके अलावा कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है।

'अनुक्षण' में उनकी १९३३ से लेकर १९५६ तक की चुनी हुई पैंसठ कविताएँ संकलित है। उनमे से गुजरते हुए किसी गहरे वैशिष्ट्य की छाप मन पर नहीं पड़ती। न कोई निश्चित स्पष्ट विकासक्रम ही उनके भीतर से उभरता दिखाई पड़ता है। छन्द-शिल्पगत जिस लाघव और उत्साह को उनकी शुरू की कविताओं में हम सराहते आते हैं, वह अन्त तक कायम रहता है अवश्य; पर ऐसा नहीं लगता कि कवि के भाव-बोध मे उसके वेदना-तंत्रमे कोई उल्लेखनीय समृद्धि आई हो या कोई गहरे परिवर्तन हुए हों। निस्सन्देह कुछ कविताएँ अच्छी और ताजी भी लगती है पर कुल मिलाकर कोई बड़ा काव्य व्यक्तित्व नहीं उभरता : एक ही सामान्य स्तर शुरू से आखिर तक कायम रहता है, जो तीव्र संवेदना या किसी मौलिक पर्युत्सुकता के अभाव में, शिल्पगत उत्साह के बावजूद, एकरस, कुनकुना प्रभाव ही पैदा करता है। छन्द प्रयोगों के वैविध्य की ओर कवि का बराबर ध्यान रहा है और सन् ३३ में लिखी गई कविता 'द्रुतविलम्बित' एक ऐसी संभावना का संकेत देती थी जिसे कमोबेश पूरा हुआ समझना चाहिए। 'तुकों के मामले में कुछ नयापन लाने की कोशिश मैंने की है" यह दावा उनका ठीक ही है। दार्शनिक विषयों को कविता में लाने की कोशिश मैंने की है" यह दावा उनका ठीक ही है। दार्शनिक विषयों को कविता में लाने की कोशिशकी उन्होंने की; पर किसी गहरे विशिष्ट आत्मसंघर्ष के अभाव में ऐसी कविताओं का असर भी एक प्रीतिकर वैविध्य से ज्यादा नहीं होता। अर्थलाघव और अर्थक्षीणता को मानकर ही चला जा सके तो पठनीयता उनकी कविताओं मे है क्योंकि उतना वैचित्र्य और उत्साह तो उनके पद्य में होता ही है कि पाठक को रुचिकर हो सके। एक सतही सजीवता उनकी कविताओ में विशेषकर 'मेपल' की कविताओं में बराबर अनुभव होती है।

माचवे ने 'नयी हिन्दी कविता में छन्द प्रयोग' नामक एक लेख लिखा था, जिससे उनके एतद्विषयक आग्रहो और रुचियो का पता चलता है। हालाकि निराला, अज्ञेय आदि कवियो के छन्द प्रयोगो की जो पडताल माचवे ने की है, वह काफी चलताऊ ढग की है। उनके लेखो मे निश्चय ही बहुत सारा उपयोगी ज्ञान मिलता है जो कि उनकी ही तरह हमे भी उकसाता और प्रेरणा देता है, किन्तु इन तमाम आलोचनाओं में कोई ऐसा अन्तस्सूत्र ढूँढ़ निकालना कठिन है जो उनके आलोचक को व्यक्तित्व या रुचि की किसी विशिष्ट और दृढ़ भूमि पर स्थापित कर सके। यो उनकी पसन्द काफी लचीली है, किन्तु उनमें उस एकाग्रता और परात्मप्रवेश शक्ति याकि निस्संग विश्लेषण का अभाव है जोकि किसी कृति से या समस्या से जूझ सके। तो भी उन्होने अपने बहुमुखी अध्ययन के बलपर कतिपय ऐसी समस्याओ की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान आकर्षित किया है जो नई और महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के बीच माचवेजी ने एक सेतु का उपयोगी कार्य किया है।

ललित निबन्ध के क्षेत्र मे माचवे को कविता और आलोचना की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। दरअसल यही उनकी असल जमीन है। वैसे भी ललित निबन्ध की विधा के वैशिष्ट्य को वे जितनी अच्छी तरह समझते है, जितना उसके बारे में जानते हैं उतना हिन्दी में शायद ही कोई जानता समझता हो। ललित निबन्ध एक निरंकुश विद्या है और उसकी अगंभीर गभीरता का निर्वाह करनेके लिए जिस खास प्रकार की मानसिक बौद्धिक संरचना चाहिए, वह शायद माचवेजी के पास है। यहाँ माचवे की विद्वता भी रंग जमा लेती है। अन्यत्र उनका पाण्डित्य पथप्रदर्शक कम और उलझानेवाला जाल अधिक होता है : उसकी जो छाप पड़ती है वह प्रदर्शन और चमत्कार प्रियताकी छाप होती है, सचमुच के लाघव की, सचमुच की जटिलता की नहीं। उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति साधक कम, बाधक अधिक सिद्ध होती है। तो भी उनके निबन्ध चाहे वे कविता और रहस्यवाद सरीखे विषय पर हों, चाहे 'पूँछ' पर, पठनीय अवश्य होते हैं और उनमें कुछ न कुछ ज्ञानवर्धक या मनोरंजक तत्त्व अवश्य होता है। और वह उपयुक्त प्रसंग में खिलता भी खूब है। माचवे के ललित निबन्धों में भारतेंदु युग के निबन्धों जैसी जिंदादिली, वाग्वैदग्ध्य और सचोट व्यंग विनोद है।

माचवे रेखाचित्र बहुत अच्छे बनाते हैं। कलाविषयक ज्ञान भी उनका काफी है। एतद्विषयक उनके लेख जैसे 'आधुनिक साहित्य और चित्रकला, 'वस्तु और शिल्प-कला' उल्लेखनीय हैं।

—र० चं० शा०

प्रभाशंकर—प्रेमचन्दकृत 'प्रेमाश्रम'का पात्र। प्रभाशंकर पुराने दम्भ का आदमी है—कुल की मर्यादा, सन्तान-प्रेम और अतिथि-सत्कारके लिए जान देने वाला। लोक-निन्दा से उसे बहुत डर लगता है। वह अपने कारण किसी की आत्मा को कष्ट देना नहीं चाहता। यहाँ तक कि असामियों के प्रति सहानुभूति और उदारतापूर्ण व्यवहार करता है। वास्तव में प्रभाशंकर प्राचीन जमींदारी-प्रथा का भग्नावशेष है और पुराना स्वर्ग-सपना देखना चाहता है। वह सरल हृदय, निर्मल स्वभाव और श्रद्धालु प्रकृति का व्यक्ति है। कृत्रिमता उसे छू

तक नहीं जाती। उससे न तो धन कमाया जाता है और न धन का सदुपयोग ही किया जाता है। रईसी में आकर ही वह सन्तान को सुशिक्षा न दे सका। स्वादलोलुपता उसके चरित्र की एक दुर्बलता है।

—ल० सा० वा०

प्रभुदयाल मीतल—जन्म मथुरामें सन् १९०२ ई० में। इनके ग्रन्थ हैं—'मेवाड़की अमरकथाएँ', 'राजपूती कथाएँ' (कथासाहित्य)। 'भक्तकवि व्यासजी', 'सूरराम चरित्र' (जीवनी)। 'अष्टछाप-परिचय' (१९४७), 'ब्रजभाषा साहित्य का ऋतुसौन्दर्य' (१९५०), 'सूरदासकी वार्ता' (१९५१), 'सूर-निर्णय' (१९४९), 'सूर-सारावली' (१९५८), 'चैतन्यमत ब्रजसाहित्य' (१९६२)। आप ब्रजभाषा काव्य के मर्मज्ञ और सूर-साहित्यके विशेष अध्येता हैं। 'ब्रजभाषा साहित्य का ऋतुसौन्दर्य' हिन्दी साहित्य के लिए आपकी एक मौलिक योजना है। इसमें प्रथम बार इन्होंने प्रकृतिसम्बन्धी कविताओं का संकलन किया है सूरसम्बन्धी निष्कर्ष आपके गम्भीर अध्ययन के परिचायक हैं। आप मे आलोचक से अधिक एक अनुसन्धित्सु की प्रतिभा है। ब्रज क्षेत्र से संबद्ध आपके कई अध्ययन प्रकाशित हुए हैं—'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास (१९६६), 'ब्रज' के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास' (१९६८), 'ब्रजस्थ बल्लभ संप्रदाय का इतिहास' (१९६८), 'ब्रज की कलाओं का इतिहास (१९७२)।

—स० ना० त्रि०

प्रभुसेवक—प्रेमचन्दकृत 'रंगभूमि'में प्रभुसेवक प्रकृतिसौन्दर्य, निद्रा और विनोद—जीवन के इन तीन तत्त्वों पर बल देनेवाला पात्र है। वह धर्म को बुद्धि से अलग रखना चाहता है न तो उसे अपनी बहन सोफी का सत्यासत्य निरूपण ही बहुत अच्छा लगता है और न अपने पिता का व्यवसाय-प्रेम। वह अपना समय साहित्य, दर्शन और काव्य के अध्ययन में व्यतीत करना चाहता है। उसमें उत्साह और उमंग अवश्य है किन्तु उसकी सारी शक्ति शब्द-योजना तक ही सीमित रहती है। प्रभुसेवक के जीवन में सांसारिकता का अभाव है। उसमें राष्ट्रीय भावना भी है और सेवा-समिति का भार ग्रहण कर उसे उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से निभाता भी है,, किन्तु अपने विचार-स्वातन्त्र्य के कारण वह सीमित परिधि को छोड़कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सामने रख इंगलैण्ड और अमरीका में जीवन व्यतीत करता है। प्रेमचन्द उसके इस विश्वबन्धुत्व को निरर्थक समझते हैं, क्योंकि वह तो समता के आधार पर ही स्थापित हो सकता है। भारत तथा अन्य देशों के दास बने रहते हुए उनकी दृष्टि में यह आदर्श खोखला है।

—ल० सा० वा०

प्रमथ्यु—यह एक यूनानी पुराण पुरुष के रूप में विख्यात है, जो सृष्टि के आरम्भ में प्रथम बार स्वर्ग से द्युतिपर के प्रासाद से मानवीय त्राण के लिए अग्नि हर लाया था, जिसके दण्ड स्वरूप द्युतिपर ने उसे एक शिलासे बँधवा दिया था और एक गिद्ध निरन्तर उसके हृदय पिण्ड को खाते रहने के लिए नियुक्त कर दिया था। इस पाश्चात्य पुराण पुरुष की कथा के आधार पर डा० धर्मवीर भारती ने द्युतिपर अग्नि-युद्ध आदि के सन्दर्भ में 'प्रमथ्यु गाथा' नामक नाट्य गीत की रचना की है (दे० सात गीतवर्ष पृ० १८—२०)। —रा० कु०

प्रयाग रंगमंच—इस संस्था की स्थापना प्रयाग में रवीन्द्र शत वार्षिकी के अवसर पर ३० जुलाई १९६१ ई० को हुई। तब से आज तक २५ नाटकों के ४० प्रदर्शनों के अलावा नाट्य समारोह आदि करके यह संस्था प्रयाग में रंगमंच के प्रति नये बोध का कारण बनी है। २५ नाटकों में से १५ का निर्देशन डा० सत्यव्रत सिन्हा ने किया है। वे निसन्देह एक प्रतिभाशील कलाकार और सहज निर्देशक हैं। प्रयाग रंगमंच के कुल क्रियाशील कलाकारों की संख्या लगभग ५० है। नाटकों के प्रदर्शनों के अलावा समय-समय पर नाट्य गोष्ठियो और समारोहो का आयोजन भी इसका एक लक्ष्य रहा है। २६, २७, २८, फरवरी तथा १ मार्च १९६६ को अखिल भारतीय नाट्य समारोह किया गया। इसमें नेशनल स्कूल आफ ड्रामा और बहुरूपी संस्थाओं ने कंजूस 'सुनोजनमेजय' तथा 'राजा इडियस' का प्रदर्शन किया। भाषा की संभावना को हरकत, संवाद, गति स्थिरता आदि से असीम कर देना कलाकार और निर्देशक की सामर्थ्य तथा पकड़ का प्रमाण है। 'अंधेर नगरी' और गॉडो के इन्तजार' जैसे हो विभिन्न सवेदनाओं, कालों और स्थानों के नाटको को रंगमंच पर समय के मिथ के रूप में प्रस्तुत करके संस्था ने दर्शकों को शिक्षित करने का कार्य किया। संस्कृत रुचि का विकास ही संस्था का लक्ष्य हो सकता है और प्रयाग में प्रयाग रंगमंच को यह गौरव मिलना चाहिए।

—स० प्र० मि०

प्रवासीलाल वर्मा—जन्म १८९७ ई० में अगर-मालवा (मध्यप्रदेश) में हुआ था। कुछ दिनों तक आप 'सरस्वती' प्रेस में रहे। आपने कई पुस्तकें लिखी हैं।

आपके प्रकाशित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—'आरोग्य मन्दिर' (१९२२), 'वृक्ष विज्ञान' (१९२९), 'जंगल की भयानक कहानियां' (१९३७), 'मट्ठा उपयोग' (१९४८), 'सौराष्ट्र की लोक-कथाएँ' (१९५५)।

—ल० कां० व०

प्रसाद—दे० 'जयशंकर प्रसाद'।

प्रसेनजित्—प्रसादकृत नाटक 'अज्ञातशत्रु' का पात्र। कोशल नरेश प्रसेनजित् 'अजाशतत्रु' नाटक के प्रथम अंक में विरुद्धक के पिता के रूप में अदूरदर्शी, क्रोधी, दम्भी और ईर्ष्यालु स्वभाव का दिखाई पड़ता है। प्रसेनजित् विरुद्धक की कथा के आधार ग्रन्थ धम्मपद, अट्ठकथा, महावंश, दीर्घनिकाय भद्दसाल जातक और अवदान कल्पलता आदि हैं। मज्झिम निकाय के साक्ष्य पर काशी और कोशल का राजा प्रसेनजित् बिम्बसार और बुद्ध का घनिष्ठ मित्र था। बुद्ध के प्रति उसकी अडिग आस्था थी। उसके एक अन्य नाम 'अग्निदक्ष' का भी पता मिलता है। प्रसेनजित् की बहिन वासवी मगध सम्राट् बिम्बसार की बड़ी रानी है। अजात द्वारा बिम्बसार के बन्दी बना लिये जाने पर वह वासवी की इच्छा के अनुसार काशीकी प्रजाको कर न देनेके लिए आज्ञापत्र लिख देता है तथा इसी प्रसंग में अजातशत्रु के क्षुद्र विप्लव से उत्तेजित होकर अदूरदर्शिता से अपने पुत्र विरुद्धक के प्रति रुष्ट होकर उसे तथा उसकी माता को राज्याधिकार से वंचित कर देता है और उसे राष्ट्र का शत्रु बना लेता है। उसके इस कार्य की आलोचना करते हुए अमात्य ने कहा भी है—"किसी दूसरे के पुत्र का कलंकित कार्य सुनकर श्रीमान् उत्तेजित हो, अपने पुत्र को दण्ड दें, यह तो श्रीमान् की

प्रत्यक्ष निर्बलता है।"

प्रसेनजित्‌के चरित्रका जघन्यतम् कलंकित पक्ष अपने प्रधान सेनापति बन्धुलकी बढ़ती हुई शक्तिसे ईर्ष्यालु बनकर शैलेन्द्र नामधारी डाकूसे उसकी हत्या करवा देना है। इस प्रकार वह एक सच्चे स्वामिभक्त, रणकुशल पराक्रमी सेना नायकके प्रति विश्वासघात करके अपनी पाशविक प्रवृत्तियोंका परिचय देता है और राष्ट्रकी सैनिक शक्तिको निर्बल बना लेता है। अपनी इन्हीं क्षुद्रताओंके कारण वह अजातशत्रु द्वारा पराजित होकर बन्दी बनता है। अपने स्वामिभक्त सेनापतिके प्रति किये गये जघन्यतम् अपराधको वह मल्लिकाके समक्ष स्पष्ट स्वीकार करता है—"सेनापति बन्धुलके प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था।" बन्धुलकी धर्म पत्नी मल्लिकाके निश्छल एवं क्षमापूर्ण आचरणसे उसे आत्मग्लानिकी तीव्र लपटोंमें झुलसना पड़ता है—"देवि, एक अभिशाप भी दे दो, जिससे नरककी ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलनेमें सुख पावें।" अपनी मानसिक दुर्बलताके कारण वह अपने पापों को एकान्तमें मल्लिका के समक्ष स्वीकार कर उससे क्षमा तो माँग लेता है किन्तु सार्वजनिक रूपसे राजसभाके मध्य उसकी कहानी सुननेसे विमुख हो जाता है, किन्तु अन्तमें मल्लिका एवं गौतमके आदेशानुसार वह अपनी परिणीता भार्या एव अधिकारच्युत पुत्रको पुनः स्वीकार करके मृदुल हृदयका परिचय देता है। अपनी बहिन वासवीके प्रति अनुराग एवं सहानुभूतिका व्यवहार प्रसेनजित्‌के चरित्रका एक उज्ज्वल पक्ष है। वासवीके अनुरोधसे ही वह बन्दी अजातशत्रुको शीघ्र मुक्त करके अपनी पुत्री वाजिराका उसके साथ विवाह कर देता है। 'भद्दसाल जातक'में इसका विस्तृत विवरण मिलता है कि विद्रोही विरुद्धक गौतमके कहनेपर फिरसे अपनी पूर्ण मर्यादापर अपने पिताके द्वाराअधिष्ठित हुआ।

—के० प्र० चौ०

प्रहलाद—हिरण्यकशिपु और कयाधुके पुत्र, परम भागवत प्रह्लादको दत्तात्रेय तथा शुक्राचार्यके पुत्रोंने शिक्षा दी थी। विष्णुका विरोधी हिरण्यकशिपु प्रह्लादको भक्ति मार्गसे विरत करनेमें विफल हुआ तो उसने उन्हें हाथीसे कुचलवानेका प्रयत्न किया, पहाड़से नीचे फिकवाया, समुद्रमें गिराया, आगमें भस्म करनेकी चेष्टाकी, किन्तु प्रह्लादका बाल बाँका न हुआ। एक बार हिरण्यकशिपुकी सभामें प्रह्लादने हरि-भक्तिपर व्याख्यान दिया। क्रुद्ध हिरण्यकशिपुने पूछा, 'कहाँ है तेरा भगवान्?' प्रह्लादने उत्तर दिया—'सर्वत्र'। हिरण्यकशिपु गरज उठा, 'तो क्या वह इस खम्भेमें भी है?' प्रह्लादने दृढ़तासे कहा 'हाँ, निस्सन्देह'। इतना कहकर हिरण्यकशिपुने मुष्टिक एवं खड्गसे प्रहार किया। खम्भा टूटा और नरसिंह भगवान् प्रकट हुए, जिन्होंने हिरण्यकशिपुको मार डाला। हिरण्यकशिपुका वध करके भी नृसिंह क्रोधसे काँप रहे थे। इससे भयभीत देवोंने प्रहलादसे विनय की कि भगवान्‌को शान्त करो। प्रहलादकी स्तुतिसे भगवान् शान्त हुए और उससे वर माँगनेको कहा। प्रहलादने हरि-भक्तिका वर माँग लिया (दे० 'नरसिंह', 'हिरण्यकशिपु' और सूर० पद ४२०-४२५)

—मो० अ०

प्रहलाद कवि—सरोजकार और डा० ग्रियर्सन ने इस नाम के दो कवियों का उल्लेख किया है। प्रथम प्रहलाद अकबर कालीन कहे जाते हैं, जिन्होंने 'बैताल पचीसी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे प्रहलाद बन्दीजन ने चरखारी के महाराज जगतसिंह के आश्रय में काव्य रचना की है। इनके समय का उल्लेख नहीं हुआ है, केवल ग्रियर्सन ने इन्हें सन् १८१० ई० में उपस्थित होना माना है (द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, पृ० ११) वस्तुतः ये दोनों प्रहलाद रीतिकालीन कहे जाते हैं। इनकी फुटकर श्रृंगारिक रचना प्राचीन काव्य संग्रहों में यत्र-तत्र प्राप्त होती है। शिवसिंह सरोज में प्रथम प्रहलाद का एक कवित्त मिलता है। (शिवसिंह सरोज म० सं०, पृ० १८६)।

[सहायक ग्रन्थ—द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान', शिवसिंह सरोज, दिग्विजय भूषण]

—कि० ला०

प्राणचंद चौहान—इनका विशेष महत्त्व इनके 'रामायण महानाटक' के कारण है। यह दिल्ली के निवासी थे। इनका समय ईसा की १५वीं शताब्दी के अन्त तथा १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जा सकता है। इनका 'रामायण महानाटक' सन् १६१० ई० में लिखा गया, जिसका रचना काल इन्होंने इस प्रकार दिया है—"कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा।। ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना।। संवत सोरह से सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा।।"

इस नाटक में राम की सम्पूर्ण कथा दोहा-चौपाई में वर्णित है। शैली संवादात्मक है। रचना का उद्देश्य बतलाते हुए प्राणचन्द ने लिखा है—"रामचरित जो कहे बखाना, बाढ़े धर्म पाप होए हाना।। अरु जो सुनै श्रवन चितलाई सो जमपुर के निकट न जाई।। नारद बालमीक दुर्वासा। तिन्ह राम नाम की आसा।।" डा० गोपीनाथ तिवारी ने इसे हिन्दी का सबसे पहिला मौलिक नाटक कहा है। यह जन-नाट्य शैली में लिखा गया है।

इस प्रकार प्राणचन्द चौहान का हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास में प्रथम मौलिक नाटककार होने के कारण विशेष स्थान हो जाता है।

—ब० ना० श्री०

प्राणनाथ—प्रणामी मत के प्रवर्त्तक, महाराज छत्रसाल बुन्देला के धर्म-गुरु स्वामी प्राणनाथ ने मध्ययुग के अन्य सन्तों कबीर, नानक और दादू आदि की भाँति अविरोधी मानव-धर्म का सिद्धान्त स्वीकार कर न केवल हिन्दू और इस्लाम धर्म की एकता का समर्थन किया, बल्कि हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, गीता और भागवत, मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरान, इसाइयों के इंजील, यहूदियों के जम्बूर तथा दाऊद पैगम्बर के अनुयायियों के धर्मग्रन्थ तोरेत में मौलिक एकता मानकर विश्व-धर्म-समन्वय का ऐसा स्वप्न देखा, जो उस युग के लिए विस्मयजनक कहा जा सकता है। स्वामी प्राणनाथ का जन्म हल्लार जनपद के जामनगर (काठियावाड़), जिसे प्रणामी साहित्य में नवतनपुरी की संज्ञा दी गयी है, रविवार, ६ सितम्बर, १६१८ ई० (भाद्रपद कृष्ण चतुर्दशी, सं० १६७५ वि०) को हुआ था। इनके पिता का नाम केशव ठाकुर और माता का धनबाई था। इनके पिता जामनगर के प्रधानमंत्री थे। प्राणनाथ का बचपन का नाम मेहेराज (मिहिरराज) ठाकुर

था। इनके तीन बड़े भाई—श्यामल, गोवर्द्धन और हरवंश और एक छोटे भाई ऊधव थे। सन् १६३० ई० में १२ वर्ष दो मास और १४ दिन की अवस्था में इन्होंने अपने बड़े भाई के साथ नवतनपुरी में श्री देवचन्द की शिष्यता स्वीकार की। श्री देवचन्द ने मेहेराज को तारतम्य मन्त्र की दीक्षा दी। मेहेराज ने विवाह करके अपनी पत्नी राजबाई के साथ आजन्म गार्हस्थ्य धर्म का पालन किया।

सन् १६४६ ई० में श्री देवचन्द ने अपने एक प्रमुख शिष्य के भाई का समाचार लेने के लिए मेहेराज को 'बरारब' (बर्रे-अरब) भेजा। ४० दिन में ये नाव द्वारा अरब पहुँचे और वहाँ चार वर्ष तक रहे। सन् १६५५ ई० में देवचन्द का स्वर्गवास हो गया। मेहेराज ने उनके औरस पुत्र बिहारीजी को गद्दी पर आसीन कराकर स्वयं जामनगर के प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। राजबाई के साथ वे धर्म का प्रचार भी करते रहे। कुछ समय बाद उन्हें एक मिथ्या अपराध में कारावास में डाल दिया गया। कारावास-जीवन में मेहेराज की दिव्यवाणी प्रस्फुटित हुई और उनकी प्रथम गुजराती रचना 'रास' अवतरित हुई। प्रणामी मतानुयायी इस कारावास को 'प्रमोधपुरी' कहते हैं। कालान्तर में जाम राजा ने अपनी भूल स्वीकार की, मेहेराज से क्षमा मांगी और उन्हें कारावास से मुक्त किया। शीघ्र ही उन्हें राजनीतिक जीवन से विरक्ति हो गयी और वे उसे त्यागकर पूर्ण रूप से धर्म-जागरण के कार्य में लग गये।

अहमदाबाद से मेहेराज दीवबन्दर (आधुनिक ड्यू), पोरबन्दर, पाटण, माण्डवी, भोजनगर होते हुए तट्ठा नगर पहुँचे, जहाँ उन्होंने कबीरपन्थी साधु चिन्तामन को शास्त्रार्थ में परास्त कर शिष्य बनाया। मेहेराज के धर्मानुयायी 'सुन्दर साथ' कहलाते थे। 'सुन्दर साथ' के द्वारा ही उन्हें श्रद्धापूर्वक 'प्राणनाथ' की उपाधि दे दी गयी थी। तट्ठा में ही सन् १६६७ ई० में बीतक रचयिता लालदास ने उनसे दीक्षा ली और वे आजीवन सपत्नीक प्राणनाथ के साथ धर्म प्रचार में लगे रहे। धर्म-प्रचार के लिए प्राणनाथ ने बहुत दूर-दूर की यात्राएँ कीं। मस्कत, अब्बासी (अरब) आदि स्थानों के अतिरिक्त इन्होंने देश के अनेक प्रधान नगरों की यात्रा की। सन् १६६४ ई० में उन्होंने मेड़ते में जैनाचार्य लाभानन्द यती को शास्त्रार्थ में पराजित किया और महाराज जसवन्त सिंह राठौर को अपने मत में दीक्षित करने के लिए अपने शिष्य गोवर्द्धन को अटकपार भेजा किन्तु जसवन्त सिंह 'जाग्रत्' नहीं हो सके। यहीं पर एक दिन प्रातःकाल की नमाज के समय 'लाइलाहोइल्लिइलल्लाहो मुहम्मदुर्ररसूलइल्ला'' सुनकर उन्हें कलमा और तारतम्य मन्त्र में ऐक्य का अनुभव हुआ। यहीं पर उन्होंने निश्चय किया कि उन्हें औरंगजेब को धार्मिक ऐक्य का रहस्य समझाने के लिए सत्याग्रह का महाव्रत लेना चाहिए। अतः अग्निव्रत लेकर वे गोकुल, मथुरा और आगरा होते हुए सन् १६७८ ई० में दिल्ली पहुँचे। औरंगजेब को सत्यधर्म का परिचय कराने के उद्देश्य से उन्होंने लालदास की सहायता से पहले हिन्दवी में एक पत्र तैयार किया। बाद में साथियों की सलाह से उसे फारसी में किया गया परन्तु इस समय परिस्थिति उनके अनुकूल नहीं थी।

सन् १६७८ ई० में हरिद्वार के कुम्भ पर्व के अवसर पर प्राणनाथ ने रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, षट्दर्शनी आदि सम्प्रदायों के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित अपने 'निजानन्द सम्प्रदाय' की श्रेष्ठता सिद्ध की और 'निष्कलंक बुद्ध' की उपाधि अर्जित की। हरिद्वार में चार मास ठहर कर पुनः दिल्ली आ गये और लाल दरवाजे के पास रहने लगे। उन्होंने औरंगजेब के मुख्य वैयक्तिक सहायक शेख सुलेमान के पास एक पत्र भेजा किन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। दिल्ली से वे अपने शिष्यों में उठे हुए मत भेद को शान्त करने के उद्देश्य से अनूप शहर चले गये। वहाँ पर उन्होंने 'सनन्ध' नाम से कुरान की श्रीमद्भागवत के माध्यम से एक नवीन व्याख्या हिन्दुस्तानी या हिन्दवी में लिखी। इस रचना को उन्होंने औरंगजेब के पास भेजने का यत्न किया किन्तु इसमें वे सफल न हो सके। औरंगजेब को प्रभावित करने के लिए उन्होंने पुनः दिल्ली जाकर अपनी वाणियों को फारसी लिपि में लिखाकर औरंगजेब के उस्ताद, मुख्य काजी, प्रधान न्यायाधीश आदि के पास भिजवाया। उन्होंने कुरान की शरहों की नयी व्याख्या करके भी मुख्य-मुख्य व्यक्तियों के पास पत्र प्रेषित किया। पुनः उन्होंने अपने १२ शिष्यों को इस कार्य के लिए नियुक्त किया कि वे उनकी वाणियों को मस्जिद में जाकर उस समय पढ़ें जब औरंगजेब नमाज के लिए आये। शिष्यों ने जब ऐसा किया तो वे औरंगजेब के पास पकड़कर लाये गये। शिष्यों ने औरंगजेब से एकान्त में धार्मिक वाद-विवाद करने की माँग की, किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो सके। अपने इस गुरुतर प्रयत्न में असफल हो जाने पर स्वामी प्राणनाथ ने हिन्दू राजाओं को 'जाग्रत्' करने का निश्चय किया। स्वामी प्राणनाथ का राजाओं को 'जाग्रत्' करने का प्रयत्न केवल पन्ना के महाराज छत्रसाल के साथ सफल हुआ। छत्रसाल उनके शिष्य बन गये और उन्होंने स्वामी प्राणनाथ को बहुत-सी सम्पत्ति प्रदान की। २९ जून, सन् १६९४ ई० (आषाढ़ कृष्ण ४, सं० १७५१ वि०) को स्वामी प्राणनाथ ने चित्रकूट में अपने सहस्त्रों शिष्यों के समक्ष समाधि लेकर 'परमधाम' की यात्रा की।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वामी प्राणनाथ एक अत्यन्त जागरूक युग-पुरुष थे। वे विश्व-धर्म के आधार पर देश में वास्तविक एकता स्थापित करना चाहते थे। उनका प्रणामी धर्म अथवा निजानन्द सम्प्रदाय व्यापक मानव-धर्म का ही एक रूप था। इस धर्म के उपास्य क्षर-अक्षर से परे परब्रह्म श्रीकृष्ण माने जाते हैं। परमधाम इनकी लीला—भूमि है। दशधा भक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति उन्हें प्राप्त करने का परम साधन है। इस सम्प्रदाय में सूक्ष्म भक्ति भाव और कर्म को प्रधानता दी गयी है। मूर्ति-पूजा उसमें स्वीकृत नहीं है। सम्प्रदाय का एकमात्र उपास्य ग्रन्थ 'कुलजमस्वरूप' है, जिसमें स्वामी प्राणनाथ की प्रार्थना सभा में श्रीमद्भागवत के साथ कुरान का पाठ भी होता था। उन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्मों की एकता सिद्ध करने के लिए 'खुलासा', 'खिलवत', 'कयामतनामा' आदि रचनाएँ कीं। धार्मिक ऐक्य की भावना को ऐसे व्यावहारिक रूप में प्रकट करने वाला कोई दूसरा उदाहरण मध्ययुग में नहीं मिल सकता। स्वामी प्राणनाथ एक प्रगतिशील समाजसुधार के रूप में जाति-पाँति और ऊँच-नीच भावना पर खुलकर प्रहार करते थे। उनकी दृष्टि में चाण्डाल और ब्राम्हण में कोई अन्तर नहीं था।

इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ 'कुलजमस्वरूप' में संगृहीत हैं। यह संग्रह उनके एक प्रमुख शिष्य केशोदास ने उनकी समस्त बानियों को १४ ग्रन्थों में वर्गीकृत करके सन् १६९४ ई० में सम्पादित किया था। यह ग्रन्थ आज भी हस्तलिखित रूप में प्रत्येक प्रणामी मन्दिर में पूजा जाता है। प्राणनाथ की रचना में चाहे सूक्ष्म ...त्मकता के दर्शन न हों, किन्तु सीधी-सादी स्वाभाविक भाषा में उन्होंने काव्य और धार्मिकता जैसा सफल संगम क... है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनके 'किरन्तन' ... ग्रन्थ में ऐसे हजारों पद मिलेंगे, जिनमें उनकी उच्च कल्पना, तीव्र अनुभूति और प्रभावशाली अभिव्यंजना के दर्शन होते हैं। तत्कालीन युग के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए प्राणनाथ की रचनाएँ बहुमूल्य सामग्री प्रदान करती हैं।

भाषा की दृष्टि से प्राणनाथ की रचनाओं का विशेष महत्त्व है। यद्यपि उनकी भाषा गुजराती थी और उन्हें संस्कृत, फारसी, अरबी, सिन्धी, जाटी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, किन्तु उन्होंने अपनी वाणी का माध्यम हिन्दी भाषा को बनाकर अपनी बहुत बड़ी सूझबूझ प्रकट की थी। आज से ३०० वर्ष पूर्व खड़ीबोली पर आधारित हिन्दी को सर्वव्यापक और सर्वसुगम राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करके स्वामी प्राणनाथ ने एक राष्ट्र-निर्माता का कार्य किया था। उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में कहा है—"बिना रिसाबें बोलियाँ। भिनें सकल जहाँन।। सबको सुगम जानके। कहूगी हिन्दोस्तान।। बड़ी भाषा यही भली। जो सबमें जाहिर।। करने पाक सबन को। अन्तर माहे बाहिर।।"

भारतीय संस्कृति के मूलाधार—समन्वय के दृष्टिकोण को स्वामी प्राणनाथ ने पूर्णरूप में अपनाकर संस्कृति के एक महान् संरक्षक और उद्धारक का कार्य किया था। उनकी बानियाँ समन्वय के सिद्धान्त पर आधारित मानवता की अमूल्य निधि हैं।

[सहायक ग्रन्थ—कुलजमस्वरूप; हिन्दी अनुशीलन-वर्ष १०, अंक ४, पृ० १-१७; 'बीतक परिचय' शीर्षक लेख; वही, वर्ष ११, पृ० २७-३२, 'बीतक की ऐतिहासिक समीक्षा' शीर्षक लेख : श्री माताबदल जायसवाल।]

—मा० ब० जा०

प्राणसंकली—चौरंगीनाथ द्वारा रचित यह कृति 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संकलित है। इसमें चौरंगीनाथ ने "सालिवाहन घरे हमरा जनम उतपति...", "श्री गुरु मछन्द्रनाथ प्रसादे सिध चौरंगीनाथ ज्योति-ज्योति समाय", तथा मछन्द्रनाथ गुरु अम्हारा गोरखनाथ भाई" आदि कथनों के द्वारा अपने सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। इनके आधार पर चौरंगीनाथ तथा 'प्राणसंकली' के रचनाकाल का अनुमान किया जा सकता है।

प्राणसंकली की रचना का उद्देश्य बाहर और भीतर व्याप्त माया को नष्ट करना है। इस रचना में आदि से अंत तक सिद्ध संकेतों का उल्लेख हुआ है। यह सिद्ध संकेत ज्ञान की प्राप्ति और अज्ञान के विनाश के मूल साधन हैं। पिण्ड में ब्रह्माण्ड की स्थिति की ओर संकेत करते हुए चौरंगीनाथ आत्मदर्शन की प्रेरणा देते हैं तथा शरीर रचना, नाड़ी चक्र आदि का उल्लेख करते हुए यौगिक क्रियाओं का उपदेश देते हैं। शरीर की आदिम अवस्था के अष्टकुल नाग, अष्टपाताल और चतुर्दश भवन हैं। सात द्वीप, सात सागर, सात सरिताएँ, सात पाताल और सात दुर्ग तथा पंच कुल उसी के आश्रित हैं। ज्ञान, विज्ञान, जीव, योनियाँ अनेक नाम रूपों में इसी 'काय मध्य' में वर्तमान हैं। शरीर के विभिन्न अंगों में भी सिद्धों की रंगशाला है। जिव्हामूल, दन्तपटी और ताल के ऊपर गगन-गंगा है, दूसरी ओर यमुना है और इन दोनों के सम्मिलित केन्द्र पर त्रिवेणी स्थित है। साधक इसी त्रिवेणी में स्नान कर मुक्त होते हैं। इसके ऊपर शून्य (ब्रह्माण्ड) है और यहीं मन और पवन का संयोग होता है, जिसे चौरंगीनाथ ने पिण्ड में ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त कहा है। साधना के सम्बन्ध में चौरंगीनाथ कहते हैं कि साधना के द्वारा ब्रह्माग्नि स्फुटित होती है और वह षट्चक्रों को बेधती हुई ब्रह्म-मण्डल में प्रवेश करती है। इसके पश्चात् वह गगन को बेधती हुई अन्त में गगनगुहा में प्रवेश कर सहज आनन्द और मुक्ति के मुख का कारण बनती है। 'प्राणसंकली' के द्वारा सिद्धों की साधना का अच्छा परिचय मिलता है। हिन्दी के सन्त कवियों पर सिद्धों की परम्परा के प्रभाव के अध्ययन में 'प्राणसंकली' एक उपयोगी कृति है।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्त्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; योग प्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं०

प्रियप्रवास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७ ई०) की इस काव्य कृति को खड़ीबोली की प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-सृष्टि होने का गौरव प्राप्त है। इसका प्रकाशन १९१४ ई० में हुआ था। 'हिन्दी साहित्य कुटीर' बनारस से इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। 'प्रिय प्रवास' एक बृहत् विप्रलम्भकाव्य है। इसमें कृष्ण के मथुरागमन के उपरान्त ब्रजवासियों की विरह-व्यथा तथा उनके मनोभावों का बड़ा मार्मिक अंकन किया गया है। इसकी रचना कोमलकान्त तथा समस्त पदावली से सुशोभित संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में हुई है। रामचन्द्र शुक्ल तथा कुछ अन्य समीक्षक 'हरिऔध' की इस कृति को किसी समुचित कथानक के अभाव में प्रबन्ध-काव्य के अवयवों से अपूर्ण मानते हैं किन्तु महाकाव्यसम्बन्धी कुछ थोड़ी सी रूढ़ियों को छोड़ दिया जाय तो इस प्रवास-प्रसंग-गर्भित कृति में कृष्ण के जीवन की व्यापक झाँकियाँ मिलती हैं। 'प्रियप्रवास' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण-कथा को एक आधुनिक कलेवर देने की चेष्टा की गयी है और नायक श्रीकृष्ण तथा नायिका राधा को विश्व-कल्याण की भावना से परिपूर्ण शुद्ध मानव-रूप में चित्रित किया गया है।

—र० भ०

प्रीतम—दे० 'अली मुहीब खाँ'।

प्रेमघन—दे० 'बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन''।

प्रेत और छाया—इलाचन्द्र जोशीकृत 'प्रेत और छाया' (प्र० १९४४ ई०) का नायक पारसनाथ प्रारम्भ में एक सहज स्वाभाविक आदर्शवादी के रूप में सामने आता है किन्तु अपने पिता की आक्रोशपूर्ण वाणी सुनकर वह सहसा ऐसा भ्रान्त हो उठता है कि उसका जीवन एकदम बदल जाता है। पारसनाथ

के मन में जमी हुई हीन भावना के माध्यम से कथाकार ने इस उपन्यास की रचना की है। कथानक का आधार लेखक ने उपन्यास की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है—"आधुनिक मनोविज्ञान ने अत्यन्त परिपुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि मानव मन के भीतर अतल गहराई में एक ऐसा गहन रहस्यमय, अपार और अपरिमित जगत् वर्तमान है, जिसकी अपनी निजी स्वतन्त्र सत्ता है" ('प्रेत और छाया' की भूमिका)।

पारसनाथ अपने जारजपन की हीन भावना की क्षतिपूर्ति करने की कुंठा में फँसकर किस प्रकार उलटे पथ का पथिक बनता है, उसका मन किन विकृतियों में उलझ जाता है, इसी तथ्य का 'प्रेत और छाया' में उद्घाटन है। वह अपनी माँ के सतीत्व भंग के भ्रामक विश्वास से स्त्रीमात्र के प्रति सन्देहशील हो उठता है। वह प्रत्येक नारी में अपनी माँ की दुराचारिणी प्रतिच्छाया देखता है और अपने घृणित जीवन का सारा दायित्व नारी जाति पर मँढ़ देता है। फलतः नारी के नारीत्व से क्रीड़ा करना ही उसके मन की तृप्ति बन जाती है। वह समझता है कि यदि संसार में कोई भी नारी सती न रह जायगी तो उसका जारजपन अपने आप एक सामूहिक स्वरूप तथा स्वीकृति पा जायेगी। वस्तुतः उसका मन कुमारियों के कौमार्यहरण से ही सन्तुष्ट न होकर विवाहिताओं को भी भ्रष्ट करने की ओर लपकता है। अपने इस दुष्कर्म को वह सामाजिक विद्रोह की संज्ञा देने में भी नहीं चूकता। इस विकृत विद्रोह का बिगुल बजाने में वह गौरव का अनुभव करता है। छल-बल तथा विश्वासघात या किसी भी निम्न ढंग से नारी के सतीत्व हरण को वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। प्रेम, विवाह, सदाचार उसके लिए सामाजिक छलना मात्र हैं।

वह सहसा एक दिन यह जानकारी प्राप्त करता है कि उसके पिता ने योंही क्रोध में उसे जारज कह दिया था, यह सत्य नहीं, नितान्त मिथ्या है। इसके बाद उसके मन में क्षोभ, ग्लानि और पश्चात्ताप की एक ऐसी तीव्रतम प्रतिक्रिया होती है कि वह एक वेश्या से विधिपूर्वक विवाह करके सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत करने लगता है। इस परिवर्तन का आनयन उपन्यासकार ने किसी जादू की छड़ी से नहीं किया, बल्कि इसके लिए उसे नाना जीवन-चक्रों एवं घात-प्रतिघातों के तुमुल द्वन्द्वों का सविस्तार वर्णन एवं उद्घाटन करना पड़ा है।

पारसनाथरूपी सोने को उसकी सारी विकृतियों (मिलावटों) से अलगकर उसे उसके शुद्ध, सात्त्विक तथा मौलिक रूप में उपस्थित करना इस उपन्यास की चरम एवं परम सफलता है। मनुष्य की अन्तश्चेतना के बोध का महत्त्व ही इसका उद्घोष है।

—गं० प्र० पा०

प्रेमचन्द—(१८८०-१९३६ ई०)। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में 'प्रेमचन्द' (वास्तविक नाम धनपतराय) का शीर्ष स्थान है। उनका जन्म १८८० ई० में बनारस (वाराणसी) से पाँच-छः मील दूर लमही नामक गाँव में हुआ था। मृत्यु सन् १९३६ ई० में काशी में हुई। पिता का नाम मुंशी अजायबराय और माता का नाम आनन्दी देवी था। खेती उनके घर का मुख्य व्यवसाय था किन्तु निर्धनता के कारण परिवार का पालन-पोषण अत्यन्त कठिनाई के साथ हो पाता था। विवश होकर पिता को नौकरी करनी पड़ी। उन्हें वहीं डाकखाने में क्लर्की का स्थान मिला और जिस समय प्रेमचन्द का जन्म हुआ, उस समय उनके पिता को बीस रुपया मासिक वेतन मिलता था। वे यद्यपि अब किसान रह गये थे, तो भी उनके घर का वातावरण किसानों का सा और जीवनस्तर निम्न मध्यवर्ग का था। इसीलिए प्रेमचन्द को बाल्यावस्था से ही न केवल कृषक-जीवन के वातावरण से परिचय प्राप्त हुआ, वरन् निम्न मध्यवर्गीय परिवार में पालित-पोषित होने के कारण जीवन की कठिनाइयों का भी अनुभव हुआ और विपत्तियाँ झेलने की शक्ति मिली। उनकी छोटी-छोटी अभिलाषाएँ भी प्रायः अपूर्ण रह जाती थीं। अपूर्ण अभिलाषाओं और दरिद्र जीवन को लेकर वे जीवन-पथ पर अग्रसर हुए। प्रेमचन्द की तीन बहनें भी थीं किन्तु दो की तो अकाल मृत्यु हो गयी और तीसरी बहुत दिनों तक जीवित रही। पाँचवें वर्ष से उनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। पुरानी पीढ़ी के होने के कारण उनके पिता को उर्दू के प्रति अत्यधिक रुचि थी। अतएव प्रेमचन्द को भी प्रारम्भ में उर्दू की शिक्षा दी गयी। धीरे-धीरे प्रेमचन्द इस भाषा पर अधिकार प्राप्त करने लगे। जब वे आठ वर्ष के थे तो छः महीने की बीमारी के पश्चात् उनकी माता का देहान्त हो गया। इस प्रकार अपूर्ण अभिलाषाओं और दरिद्र जीवन सहन करने के साथ-साथ वे बचपन से ही मातृ-स्नेह से वंचित रह गये। इन अनुभवों की अभिव्यक्ति आगे चलकर उनके साहित्य में भी हुई। चार वर्ष बाद उनके पिता की बदली जीमनपुर हो गयी। वहाँ उनके पिता ने एक बहुत ही गन्दा मकान डेढ़ रुपया मासिक किराये पर लिया। मकान कितना गन्दा रहा होगा, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वे स्वयं एक तम्बाकू वाले के यहाँ तम्बाकू के पिण्डों के पीछे बैठकर 'तिलिस्म-इ होशरुबा' पढ़ा करते थे। यह बृहत् तिलिस्मी रचना उन्होंने बड़े चाव से पढ़ी। तेरह वर्ष की अवस्था तक प्रेमचन्द ने उर्दू के कई प्रसिद्ध ग्रन्थ पढ़ डाले थे। रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसबा और मौलाना शरर की रचनाओं का उन्होंने विशेष रूप से अध्ययन किया। सरशार के 'फसाने आजाद' का तो उन्होंने आगे चलकर 'आजाद कथा' के नाम से हिन्दी में अनुवाद भी किया वे निर्धन थे, किन्तु परिश्रम और ईमानदारी के साथ रुपया पैदा कर उपन्यास पढ़ते थे। कठिनाइयों से वे घबराये नहीं। इन सब आदर्शों के उदाहरण उनके साहित्य में बराबर मिलते हैं। कठिनाइयों की भीषणता जितनी बढ़ती गयी, उतना ही उनका अध्ययन-प्रेम बढ़ता गया। यहाँ तक कि जब कुछ पुराणों के उर्दू-अनुवाद प्रकाशित हुए तो वे भी उन्होंने पढ़ डाले।

जीवन के पथरीले और कण्टकपूर्ण ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलते समय प्रेमचन्द अपने लहू-लुहान पैर के साथ ही हृदय लिए निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये। वे टयूशन करते थे, अँधेरी कोठरी में तेल की कुप्पी से पढ़ते थे किन्तु शिक्षा प्राप्त करने में शिथिलता प्रदर्शित न करते थे। जैसे-तैसे उन्होंने १९१० ई० में इण्टर की परीक्षा में सफलता प्राप्त की। इसी समय उन्होंने महाजनों के कटु व्यवहार का भी अनुभव किया। निर्धनता के कारण उन्हें महाजनों से उधार लेना पड़ता था। उस समय गाँव-गाँव में महाजनों की तूती बोलती थी। इसी रुपये के बल पर वे गरीबों का खून चूसते और अत्याचार करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द ने व्यक्तिगत अनुभव

के आधार पर ही महाजनों का चित्रण अपने साहित्य में किया। इण्टर परीक्षा में सफलता प्राप्त करने से पूर्व उन्होंने अठारह रुपया मासिक वेतन पर एक स्कूल में नौकरी की।

१९०१ ई० से प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया। अपनी पहली पत्नी से असन्तुष्ट रहने के कारण उन्होंने उसे १९०५ ई० में त्याग दिया और शिवरानी देवी से विवाह किया, जो उस समय बाल-विधवा थीं। १९१९ ई० में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। उनकी जीविका का प्रधान साधन अध्यापन था। गोरखपुर, कानपुर, बनारस, बस्ती आदि स्थानों में वे अध्यापक रहे। साथ ही कुछ वर्ष डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब-इन्सपेक्टर के रूप में महोबे का जीवन भी उन्होंने अपनी आँखों से देखा। अध्यापक और सब-इन्सपेक्टर के रूप में प्रेमचन्द ने न केवल अपने जीवन मे कटु अनुभव प्राप्त किये, वरन् इतने बड़े भूभाग की जनता की निर्धनता का हृदय-द्रावक दृश्य भी देखा, जिसका चित्रण उन्होंने अपने साहित्य में किया है।

अनेकानेक कठिनाइयों में और संघर्षों का सामना करते हुए श्री प्रेमचन्द ने आत्म-गौरव की रक्षा की। आपके विचार बड़े ही उदार थे। आपके छोटे भाई का नाम श्री महताबराय था। ये विमाता के पुत्र थे। प्रेमचन्दजी बिलकुल सीधे-साधे ढंग से रहते थे, पर भाई को अच्छा से अच्छा खिलाने-पहनाने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। उनका यह गुणगान महताबरायजी बहुधा किया करते थे। शिवरानी देवीकृत 'प्रेमचन्द—घर में' (१९४४ ई०) द्वारा उनके व्यक्तित्व पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे अपने समय के सभी प्रगतिशील विचारों के समर्थक थे और उनकी सूक्ष्म दृष्टि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों तक व्याप्त थी। कुछ लोगों ने उन्हें साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने और परखने की चेष्टा की है। यह प्रेमचन्द के प्रति घोर अन्याय है। उनके साहित्य का अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वे संकीर्ण साम्प्रदायिकता से बहुत ऊपर थे। उन्होंने विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा करने और लेखक की स्वाधीनता को बनाये रखने की बराबर चेष्टा की। अंग्रेजी सरकार ने कई बार उनका दमन करना चाहा, किन्तु वे कभी भी नतमस्तक न हुए। कुछ दिनों तक उन्होंने काशी विद्यापीठ में, जो एक राष्ट्रीय शिक्षण-संस्था है, अध्यापन कार्य किया। लेखन कार्य के अतिरिक्त उन्होंने 'जमाना', ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'मर्यादा', 'माधुरी', 'जागरण' और 'हंस' नामक पत्रों का समय-समय पर सम्पादन-भार ग्रहणकर साहित्य के उच्च आदर्शों की स्थापना की। उर्दू में 'नवाबराय' (जो धनपतराय नाम का एक प्रकार से अनुवाद ही है) के नाम से लिखते थे। कहा जाता है, उन्हें 'प्रेमचन्द' नाम 'जमाना' के सम्पादक दयानरायन निगम ने दिया था। अंग्रेज सरकार की धमकियों के बाद ही उन्होंने प्रेमचन्द नाम से लिखना शुरू किया था। १९३० ई० में उन्होंने 'हंस' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था। १९३६ ई० में रोग-शय्या पर पड़े रहने पर भी उन्होंने 'हंस' की जमानत के लिए आवश्यक धन का प्रबन्ध किया। 'हंस' उन्हें बहुत प्रिय था और उसे वे किसी भी प्रकार बन्द नहीं होने देना चाहते थे। 'हंस' के लिए ही उन्होंने फिल्मी दुनिया में कदम रखा था, किन्तु उनका मन वहाँ रमा नहीं। आर्थिक दृष्टि से भी उन्हें वहाँ कटु अनुभव हुए। निर्धनता की यातनाएँ सहन करते हुए भी उन्होंने अपना आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव सुरक्षित रखा। साहित्य और कला के क्षेत्र मे उन्होने वणिक्-वृत्ति को कभी प्रश्रय न दिया।

प्रेमचन्द ने रवीन्द्रनाथ टैगोर की कई कहानियो के उर्दू अनुवाद प्रकाशित कराये। उन्होंने स्वयं कई मौलिक कहानियाँ भी उर्दू मे लिखीं, जो कानपुर के 'जमाना' और इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद के 'अदीब' नामक पत्रों में प्रकाशित हुईं। प्रेमचन्द की सबसे पहली मौलिक कहानी 'संसार का अनमोल रत्न' बताई जाती है, जो १९०७ ई० मे 'जमाना' में छपी थी। १९०८ ई० में उनका 'सोजेवतन' नामक उर्दू-कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ, जो राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण था। इस संग्रह के कारण प्रेमचन्द को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। इसके बाद ही वे प्रेमचन्द नाम से 'जमाना' मे सामाजिक कहानियाँ लिखने लगे। उनके कई जीवनी-लेखकों ने बताया है कि जब वे बस्ती में थे तो उनकी मन्नन द्विवेदी गजपुरी से, जो उस समय डुमरियागंज में तहसीलदार थे, भेंट हुई और उन्हीं की प्रेरणा से प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों को हिन्दी में रूपान्तरित करके प्रकाशित कराया। हिन्दी मे उनकी कहानियो को लोकप्रिय होते देर न लगी। इसके साथ-साथ उनके जीवनी-लेखकों ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि जब उनकी बदली गोरखपुर हुई तो उन्होंने महाबीरप्रसाद पोद्दार की प्रेरणा से 'सेवासदन' उपन्यास हिन्दी में लिखा। तब से वे हिन्दी में बराबर लिखने लगे और उनकी लोकप्रियता में भी अनुदिन वृद्धि होती गयी। तदनन्तर उनके अनेक उपन्यास और कहानी-संग्रह हिन्दी में प्रकाशित हुए और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ आदरपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगीं। आपने 'रूठी रानी' नामक ऐतिहासिक उपन्यास 'कृष्णा', 'वरदान', 'प्रतिज्ञा' आदि उपन्यास लिखे। इन्हें सन् १९०० ई० और १९०६ ई० के बीच में लिखित रचनाओं के रूप में माना जा सकता है। हिन्दी में उनकी तीसरी औपन्यासिक कृति 'सेवासदन' है। इस उपन्यास का प्रकाशन गोरखपुर में सन् १९१६ ई० में हुआ था। यद्यपि उसके रचनाकाल के रूप में सन् १९१४ ई० का उल्लेख मिलता है। उसका एक प्राचीन संस्करण सन् १९१८ ई० का भी है। 'प्रेमाश्रम' की रचना तो सन् १९१८ ई० में हुई बतायी जाती है किन्तु सन् १९२२ ई० में यह उपन्यास कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। 'निर्मला' १९२३ ई० में लिखी गयी किन्तु १९२७ ई० में वह लखनऊ से छपी। १९२८ ई० में उसका एक संस्करण इलाहाबाद से भी निकला। 'रंगभूमि' की रचना-तिथि १९२४-२५ ई० है और सर्वप्रथम यह उपन्यास लखनऊ से प्रकाशित हुआ। लखनऊ से ही उसके कई और संस्करण निकल चुके हैं। 'रंगभूमि' के पश्चात् 'कायाकल्प' १९२६ ई० में और 'गबन' १९३१ ई० में प्रकाशित हुए। 'कर्मभूमि' और 'गोदान' क्रमशः १९३२ ई० और १९३६ ई० में बनारस से छपे। 'प्रेमचन्द' का अन्तिम उपन्यास 'मंगल सूत्र' (१९३६ ई०) अपूर्ण है। आपके कई उपन्यासों के संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं।

उपर्युक्त औपन्यासिक कृतियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द के अनेक कहानी-संग्रह मिलते हैं, जिनमें कुल मिलाकर लगभग ३०० कहानियाँ हैं। उनकी कहानियों के संग्रह इस प्रकार

हैं—'सप्तसरोज' (१९१७ ई०, गोरखपुर), 'नमक का दरोगा' (१९२१ ई०, कलकत्ता), 'प्रेम पचीसी' (१९२३ ई०, कलकत्ता), 'प्रेम प्रसून' (१९२४ ई० लखनऊ), 'प्रेम द्वादशी' (१९२६ ई०, लखनऊ), 'प्रेम-प्रतिमा' (१९२६ ई०, बनारस, बाद को लखनऊ मे भी), 'प्रेम-प्रमोद' (१९२६ ई०, इलाहाबाद), 'प्रेम-तीर्थ' (१९२९ ई०, बनारस), 'पाँच फूल' (१९२९ ई०, बनारस), 'प्रेम चतुर्थी' (१९२९ ई०, कलकत्ता), 'प्रेम प्रतिज्ञा' (१९२९ ई०, बनारस), 'सप्त सुमन' (१९३० ई० बनारस), 'प्रेम पंचमी' (१९३० ई०, लखनऊ), 'प्रेरणा' (१९३२ ई०, बनारस), 'समर-यात्रा' (१९३२ ई० बनारस और कलकत्ता), 'पंच प्रसून' (१९३४ ई० कलकत्ता) और 'नवजीवन' (१९३५ ई० कलकत्ता)। इसके अतिरिक्त 'बैंक का दिवाला' (१९२४ ई०) तथा 'शान्ति' (१९२७ ई०) शीर्षक कहानी पुस्तकें कलकत्ता से और 'अग्नि समाधि' (१९२९ ई०) लखनऊ से प्रकाशित हुई। 'प्रेमचन्द' की मृत्यु के बाद भी उनकी कहानियों के कई सम्पादित संस्करण निकले, 'कफन और शेष रचनाएँ' (१९३७ ई० बनारस) और 'नारी जीवन की कहानियाँ' (१९३८ ई०, बनारस)। 'गल्प-रत्न' का एक सम्पादित संस्करण १९२९ ई० में बनारस और 'प्रेम पीयूष' का एक सम्पादित संस्करण १९४१ ई० में बनारस से छपा। 'प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ' (१९३३ ई०) शीर्षक एक संग्रह लाहौर से मुद्रित हुआ। यह संग्रह स्वयं प्रेमचन्द द्वारा संकलित किया गया था। 'गल्प-समुच्चय' (१९२८ ई०), 'हिन्दी की आदर्श कहानियाँ' (१९२७ ई०, बनारस), 'गल्प-संसार-माला' (१९३८ ई०, बनारस) आदि हिन्दी के अनेक संग्रहों में भी 'प्रेमचन्द की कहानियाँ' मिलती हैं। उनके एक कहानी-संग्रह 'ग्राम्य जीवन की कहानियाँ' का रचनाकाल अज्ञात है। प्रेमचन्द की लगभग सभी कहानियों का संग्रह 'मानसरोवर' नाम से आठ भागों में सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हो चुका है। कहानियों में नगर के निम्न मध्यवर्ग के अत्यन्त सजीव चित्रों के अतिरिक्त बुन्देलखण्ड के वीरतापूर्ण जीवन और ऐतिहासिक घटनाओं का सजीव चित्रण हुआ है। उनमें मानव-प्रकृति की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है।

उपन्यासकार और कहानी-लेखक के अतिरिक्त प्रेमचन्द नाटककार, निबन्धकार, सम्पादक, जीवनी-लेखक और अनुवादक भी थे। नाटकों के नाम हैं: 'संग्राम' (१९२३ ई०, कलकत्ता), 'कर्बला' (१९२४ ई०, लखनऊ) और 'प्रेम की वेदी' (१९३३ ई०, बनारस)। उनके आलोचनात्मक लेख 'जागरण' और 'हंस' की फाइलों में मिलते हैं। उनमें से कुछ का संग्रह 'कुछ विचार' (१९३९ ई०, बनारस) में है। उनकी सम्पादन-कला के 'जागरण' और 'हंस' ज्वलन्त उदाहरण हैं। जीवनियों में 'महात्मा शेख सादी' (१९१८ ई०, गोरखपुर), 'दुर्गादास' (१९३८ ई०, बनारस), और 'कलम, तलवार और त्याग' उल्लेखनीय हैं। 'जीवन-सार' शीर्षक आत्म-कहानी प्रेमचन्द ने १९३३ ई० में 'हंस' के आत्मकथांक मे प्रकाशित की। अनुवादों में: 'सुखदास' (जॉर्ज इलियट के 'साइलस मार्नर' का संक्षिप्त रूपान्तर, १९२० ई०, बम्बई), 'टॉल्सटाय की कहानियाँ' (१९२३ ई०, कलकत्ता), 'अहंकार' (अनातोले फ्रांसकृत 'थायस' का अनुवाद, १९२३ ई०, कलकत्ता), 'आजादकथा' (रतननाथ सरशारकृत 'फसान-ए-आजाद' का अनुवाद १९२७ ई० बनारस), 'हड़ताल' (गॉल्सवर्दी का नाटक, १९३० ई० इलाहाबाद), 'चाँदी की डिबिया' (गॉल्सवर्दी का नाटक, १९३१ ई० इलाहाबाद), 'न्याय' (गॉल्सवर्दी का नाटक, १९३१ ई०, इलाहाबाद), 'न्याय' (गॉल्सवर्दी का नाटक, १९३१ ई०, इलाहाबाद), और 'सृष्टि का आरम्भ' (बर्नार्ड शॉ का नाटक, १९३९ ई०, बनारस) हैं। उनकी शेष अन्य रचनाएँ स्फुट और बालोपयोगी हैं—'मनमोदक' (स०—१९२६ ई०, इलाहाबाद), 'कुत्ते की कहानी' (१९३६ ई०, बनारस), 'जंगल की कहानियाँ' (१९३८ ई०, बनारस) और 'रामचर्चा' (१९४१ ई० बनारस)। 'दुर्गादास' भी वास्तव में बालोपयोगी है। स्फुट रचनाओं मे 'स्वराज्य के फायदे' (१९२१ ई०, कलकत्ता) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अनूदित एवं बालोपयोगी पुस्तकों से प्रेमचन्द के विचारों की सामान्य रूपरेखा का परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द ने जिस समय कथा-साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया, उस समय हिन्दी मे कहानियों की तो कोई पुष्ट-परम्परा नहीं थी किन्तु उपन्यासों की अपनी एक परम्परा थी, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास से चली आ रही थी। नाटक की भाँति हिन्दी उपन्यास का जन्म भी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलनों की गोद में हुआ था। 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' मे वृद्ध-विवाह का खण्डन किया गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद के लेखकों ने भी या तो सामाजिक तथा गार्हस्थ्य जीवन से सम्बद्ध कथानक चुने और अनेक व्यक्तिगत एव सामूहिक दोषों का परिहार करने की चेष्टा की या भारतेन्दुकालीन भारतीय पुनरुत्थान के प्रथम चरण की भावना से प्रेरित होकर साहित्य, कला, शिल्प आदि के क्षेत्रों में देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा की गयी खोजों के फलस्वरूप उत्पन्न आत्मगौरव की उदात्त-भावना ग्रहण कर और राजनीतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप उत्पन्न तत्कालीन राष्ट्रीय-भावना से ओतप्रोत होकर ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर मौलिक अथवा अनूदित उपन्यासों की रचना कर अपनी व्यक्तिगत आन या देश की आन पर मर-मिटनेवालों के चित्र प्रस्तुत किये। उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास-लेखकों ने देश का भावी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक मार्ग प्रशस्त करने की अपने युग के अनुसार चेष्टा की। नवीन पाश्चात्य शिक्षा के अपने दोष थे किन्तु उस शिक्षा से कुछ लाभ भी हुआ, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। एक लाभ था वैज्ञानिक दृष्टि का विकास। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास-लेखकों ने मध्ययुगीन पौराणिकता और तज्जनित कुरीतियों तथा कुप्रथाओं का उन्मूलन कर व्यक्तिगत एवं सामूहिक चरित्र की दृढ़ आधार-शिला पर राष्ट्र की नींव स्थापित करनी चाही। प्रेमचन्द कम-से-कम अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में —'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन' और 'निर्मला' में—उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास-लेखकों की परम्परा की एक जाज्वल्यमान कड़ी के रूप में थे किन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, नये युग की नयी समस्याएँ ज्यों-ज्यों सामने आती गयीं, प्रेमचन्द का दृष्टिकोण भी निरन्तर व्यापक होता गया—यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी का समाज-सुधारवादी दृष्टिकोण वे अपनी अन्य रचनाओं 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि',

'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और यहाँ तक कि 'गोदान' मे भी पूर्णत. नही छोड पाये। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के लेखको की अपेक्षा प्रेमचन्द का दृष्टिकोण अधिक गहराई लिये हुए है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम उन्हे पूर्ववर्ती परम्परा मे एकदम अलग नहीं कर सकते। हाँ, उस परम्परा-सूत्र का उन्होंने अपने युग के अनुसार विकास अवश्य किया। एकदम नयी स्लेट पर उन्होंने लिखना शुरू किया हो, ऐसी बात नही है। यहाँ तर्क कि उपन्यास-कला की दृष्टि से भी उनके 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' जैसे उपन्यासो की कला बहुत-कुछ उन्नीसवी शताब्दी के उपन्यासों जैसी है, किन्तु कला की दृष्टि से प्रेमचन्द ने बहुत शीघ्र अपनी मौलिकता प्रकट की। कथा-संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती लेखकों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गये। कहानियों में निस्सन्देह उन्होंने अपनी पूर्णत: मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया।

प्रेमचन्द जीवन-सत्य का अनुसरण करने वाले कलाकार थे। वे पूर्णत: देश की मिट्टी से बने हुए थे। उन्होंने बाह्य प्रभाव स्वीकार किये—विचारों और कला दोनों ही दृष्टियों से, किन्तु उन्हे अपना बनाकर। इस पर भी उनके साहित्य की विशेषता यह है कि उसका आनन्द केवल भारतवासी ही नहीं, मानवमात्र उठा सकता है, क्योंकि युग-सत्य का अनुसरण करते हुए भी वे सार्वभौम मानवता के कट्टर समर्थक थे। प्रेमचन्द-साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् यह एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि वे परिवार को, जो व्यक्तियों द्वारा निर्मित होता है, जीवन का केन्द्र-बिन्दु मानकर चले हैं। उनके जीवन की परिधि इसी केन्द्र-बिन्दु से निरन्तर प्रसार की ओर उन्मुख होती है। किसी परिवार या किसी व्यक्ति का केवल अपने तक सीमित रहना संकीर्णता और संकुचित एवं सीमित दृष्टिकोण का परिचायक है। प्रेमचन्द की दृष्टि में प्रत्येक परिवार और व्यक्ति को अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार समाज और राष्ट्र की सेवा करनी चाहिए—भारतीय संस्कृति के अनुसार माने गये सभी ऋण चुकाने चाहिए। उनका परिवार और व्यक्ति समाज और राष्ट्र-सापेक्ष है। समष्टिगत जीवन को महत्त्व प्रदान करते हुए भी प्रेमचन्द ने व्यक्ति की सत्ता भुला नहीं दी। प्रेमचन्द-साहित्य में अपनी सारी तत्कालीन आशाओं तथा निराशाओं और आकांक्षाओं सहित १९०० ई० और १९३६ ई० के बीच का भारतीय जीवन और स्वतन्त्रता-संग्राम मे रत एक पतित एवं पराधीन देश का भावुकतापूर्ण आदर्श व्यक्त हुआ है और कला की दृष्टि से उसमें नवीनता है। उन्होंने एक अत्यन्त उच्च धरातल पर आसीन होकर जीवन के मूल तत्त्वों और सत्य का सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण से अनुसन्धान किया। विविध सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि समस्याएँ इसी सामंजस्यपूर्ण सत्यान्वेषण की प्रधान धारा की सहायक धाराओं के रूप में हैं। इन सब समस्याओं के बीच वे मानव की मानवता खोजते हैं, जो सेवा-भाव, आत्मगौरव, प्रेम और अहिंसा पर आधारित हैं। इस मानवोचित मार्ग से विचलित अपने प्रिय-से-प्रिय पात्र की भी वे तंबीह किये बिना नहीं रहे। अपने सभी पात्रो की दुर्बलताओं और सबलताओं के बीच उन्होंने उनमें छिपा हुआ मानव उभार कर रख दिया है। पतित से पतित और स्वार्थ-साधना मे लिप्त पात्र भी अन्त में कोई ठोकर खाकर अपना मानव रूप प्रकट करने लगता है। वे घूरा कुरेद कर सोना निकालने की तलाश मे रहते हैं। जहाँ ऐसा नहीं किया जा सका, वही जीवन खोखला, सारहीन और विनाशोन्मुख है। उसका दारुण अन्त तुरन्त पाठको के सामने आ जाता है। अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषण, पर-पीड़ा आदि का विरोध करते हुए भी वे समन्वय के पक्षपाती थे। वर्ग-संघर्ष अथवा किसी 'वाद' की दृष्टि से उन्हे देखना उनके साथ अन्याय करना और उन्हें सकीर्ण परिधि मे बाँधना है, उनके व्यक्तित्व को कम करना है।

[सहायक ग्रन्थ—प्रेमचन्द की उपन्यास कला : जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' (१९३३ ई०); प्रेमचन्द—घर मे : श्रीमती शिवरानी देवी (१९४४ ई०); प्रेमचन्द—एक अध्ययन (१९४४ ई०), प्रेमचन्द (१९४८ ई०), कलाकार प्रेमचन्द (१९५१ ई०) : रामरतन भटनागर, कलम का सिपाही : अमृतराय।]

—ल० सा० वा०

प्रेमशंकर—'प्रेमाश्रम' उपन्यास मे प्रेमशकर के विचार एक प्रकार से प्रेमचन्द के ही विचार हैं। वह उपन्यास का प्रधान आदर्श पात्र है। वह अमेरिका से अपने विचारो मे परिवर्तन लेकर लौटा है किन्तु वह प्रचलित अर्थ में क्रान्तिकारी न होकर, सुधारवादी है और अहिंसा तथा हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है। वह शान्त-प्रकृति, विचारशील है, पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति रखता है और विचार-स्वातन्त्र्य में विश्वास करता है। साहस और निर्भयता उसके जीवन के अंग हैं। उसमें व्यावसायिक बुद्धि नही है। अपने सिद्धान्त-प्रेम के कारण वह भ्रातृ-प्रेम मे अन्तर नहीं आने देता। अपनी पत्नी श्रद्धा के मिथ्या विश्वास से उसे हार्दिक दुःख अवश्य होता है किन्तु इतने पर भी इस बात का ध्यान रखता है कि उसे किसी प्रकार का आत्मिक कष्ट और मानसिक सन्ताप न हो। अपने धैर्य द्वारा ही वह श्रद्धा के हृदय में परिवर्तन उपस्थित करता है। वह न्यूनतम आवश्यकताओं में विश्वास करता है। इन्द्रिय-सुख का परित्याग, सेवा, संयम और साधना उसके जीवन का लक्ष्य है। वह हर एक व्यक्ति का उज्जवल पक्ष देखता है और अपने सम्पर्क से बुरे से बुरे व्यक्ति में भी अनन्त ज्योति का प्रकाश भर देता है। इसीलिए सब लोग उसे आदमी नहीं, फरिश्ता मानते हैं।

—ल० सा० वा०

प्रेमसखी—ये शृंगवेरपुर (सिंगरौर) के समीपस्थ किसी ग्राम के निवासी ब्राह्मण थे और १७३४ ई० के आसपास विद्यमान थे। छोटी आयु में ही विरक्त होकर ये चित्रकूट चले गये। महात्मा रामदास गुदर से दीक्षा लेकर इन्होंने कुछ काल तक चित्रकूट में निवास किया। यहाँ से ये मिथिला-अयोध्या होते हुए पुनः चित्रकूट चले आये और फिर इन्होंने उसे ही अपनी मुख्य साधनाभूमि बनाया। अपने समय में ये एक पहुँचे हुए भक्त के रूप में विख्यात थे। कहते हैं अवध के नवाब सआदत अली खाँ ने महात्मा रामप्रसाद से प्रशंसा सुनकर इनके पास सवा लाख की भेट भेजी थी। उसे अस्वीकार करके इन्होंने अपनी तीव्र विरक्ति का परिचय दिया था। इनकी तीन रचनाएँ ही अब तक प्रकाश में आ सकी हैं—'होली', कवित्तादि प्रबन्ध'

और 'श्री सीताराम नखशिख'। इनमें वर्णित राम की 'शृंगार-लीलाएँ' प्रेमसखी की वास्तविक अनुभूति का आभास देती हैं। ब्रजभाषा का बहुत ही निखरा हुआ, प्रवाहपूर्ण और अलंकृत रूप इनकी कृतियों में मिलता है।

—भ० प्र० मि०

प्रेमसागर—सन् १५६७ ई० में चतुर्भुज मिश्र ने ब्रजभाषा में दोहा-चौपाइयों में भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद किया था। उसी के आधार पर लल्लूलाल ने १८०३ ई० में जान गिलक्राइस्ट के आदेश से फोर्ट विलियम कालेज के विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए 'प्रेमसागर की' रचना की। इसमें भागवत के दशम स्कन्ध की कथा ९० अध्यायों में वर्णित है। इस ग्रन्थ को लल्लूलाल ने अपने संस्कृत यन्त्रालय (कलकत्ता) में सन् १८१० ई० में प्रकाशित किया। आगे चलकर योगध्यान मिश्र ने अपने कुछ संशोधनों के साथ १८४२ ई० में इसका पुनर्मुद्रण किया। उसके आवरण पृष्ठ पर लिखा है—" श्री योगध्यान मिश्रेण परिष्कृत्य यथामति समंकित लालकृत प्रेमसागरपुस्तकं।" लल्लूलाल ने अपने प्रकाशित संस्करण की भूमिका में उसकी भाषा के सम्बन्ध में लिखा है—"श्रीयुत गुन-गाहक गुनियन-सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से सं० १८६० में श्री लल्लूलालजी लाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्त्र-अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले, यामिनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ीबोली में कह, नाम 'प्रेमसागर' धरा।" अब तक इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण हो चुके हैं, जिनमें से काशी नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण सबसे प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि उसके सम्पादक ने उसका पाठ लल्लूलाल द्वारा प्रकाशित संस्करण के अनुसार ही रखा है।

'प्रेमसागर' की जो प्रति १८१० ई० में प्रकाशित हुई थी, उसके आवरण पृष्ठ पर 'हिन्दवी' शब्द अंकित है। इससे यह स्पष्ट है कि लेखक ने 'प्रेमसागर' की खड़ीबोली को हिन्दी ही माना है। यामनी भाषा से तात्पर्य फारसी-अरबी-तुर्की के शब्दों से ही था, जिनका 'प्रेमसागर' में सतर्कता के साथ बहिष्कार किया गया है। तुर्की का केवल एक शब्द 'बैरक' (बेरख) प्रमादवश आ गया है। अंग्रेज शासकों की तत्कालीन नीति के अनुसार हिन्दी वह थी, जिसमें अरबी-फारसी का कोई भी शब्द न आने पाये। इस कारण 'प्रेमसागर' की भाषा कुछ अंशों में कृत्रिम हो गयी है। उसकी कृत्रिमता का दूसरा कारण उसकी काव्यात्मकता भी है। उसमें ब्रजभाषा के जो मिश्रण पाये जाते हैं, उनमें कुछ तो चतुर्भुज मिश्र के मूलग्रन्थ के प्रभाव हैं। पर सबसे प्रधान बात तो यह है कि आगरे की खड़ीबोली में उसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार ही ब्रजरंजित प्रयोग स्वभावतः पाये जाते हैं।

'प्रेमसागर के' जो संस्करण अब तक देखने में आए हैं वे ये हैं (१) प्रेमसागर—सम्पा० तथा प्र० लल्लूलाल, कलकत्ता १८१० ई०, (२) 'प्रेमसागर'—कलकत्ता १८४२ ई०, (३) 'प्रेमसागर'—सम्पा० जगन्नाथ सुकल, कलकत्ता १८६७ई०, (४) 'प्रेमसागर'—कलकत्ता १८७८ ई०, (५) 'प्रेमसागर'—कलकत्ता १८८९ ई०, (६) 'प्रेमसागर'—कलकत्ता १९०७ ई०, (७) 'प्रेमसागर'—बनारस १९२३ ई०, (८) 'प्रेमसागर'—सम्पा० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, १९२२ ई० और 'प्रेमसागर'—दूसरा प्रकाशन, १९२३ ई०, (९) 'प्रेमसागर'—सम्पा० कालिकाप्रसाद दीक्षित, प्रयाग १८३२ ई०, (१०) 'प्रेमसागर'—सम्पा० वैजनाथ केडिया, कलकत्ता, १९२४ ई०, (११) 'प्रेमसागर'—अँग्रेजी में अनुवादित, अदालत खाँ, कलकत्ता, १८९२ ई०, (१२) 'प्रेमसागर'—अनुवादित, कैप्टन डब्ल्यू हौलिंग्स, कलकत्ता, १८४८ ई० (१३) 'प्रेमसागर'—सचित्र पंचम संस्करण, सन् १९५७ ई०, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई। (१४) इसके छः संस्करण अंग्रेजी में भी विभिन्न स्थानों में प्रकाशित हुए हैं।

—वि० प्र०

प्रेमाश्रम—'प्रेमाश्रम' (प्र० १९२२ ई०) प्रेमचन्द का सर्वप्रथम उपन्यास है, जिसमें उन्होंने नागरिक जीवन और ग्रामीण जीवन का सम्पर्क स्थापित किया है और जिसमें वे परिवार के सीमित क्षेत्र से बाहर सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। परिवारों की कथा का मोह तो वे इस उपन्यास में भी नहीं छोड़ सके, क्योंकि प्रभाशंकर, रायकमलानन्द, गायत्री और डिप्टी ज्वालासिंह के परिवारों की कथा से ही उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है, तो भी वे जीवन के व्यापक क्षेत्र में आते हैं। भारतीय स्वतन्त्रतासंग्राम की प्रथम झाँकी और भावनागत राम-राज्य की स्थापना का स्वप्न 'प्रेमाश्रम' की अपनी विशेषता है। उसका उद्देश्य है—'साम्य सिद्धान्त'। प्रेमशंकर द्वारा हाजीपुर में स्थापित प्रेमाश्रम में जीवन-मरण के गूढ़, जटिल प्रश्नों की मीमांसा होती थी। सभी लोग पक्षपात और अहंकार से मुक्त थे। आश्रम सारल्य, सन्तोष और सुविचार की तपोभूमि बन गया था वहाँ न ईर्ष्या का सन्ताप था, न लोभ का उन्माद, न तृष्णा का प्रकोप। वहाँ न धन की पूजा होती थी और न दीनता पैरों तले कुचली जाती थी। आश्रम में सब एक दूसरे के मित्र और हितैषी थे। मानव-कल्याण उनका चरम लक्ष्य था। उसका व्यावहारिक रूप हमें उपन्यास के 'उपसंहार' शीर्षक अंश में मिलता है। लखनपुर गाँव में स्वार्थ-सेवा और माया का प्रभाव नहीं रह गया। वहाँ अब मनुष्य की मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठा हुई है—ऐसे मनुष्य की, जिसके जीवन में सुख, शान्ति, आनन्द और आत्मोल्लास है।'

'प्रेमाश्रम' की कथा का सूत्रपात बनारस से बारह मील दूर लखनपुर गाँव से होता है। जमींदार ज्ञानशंकर की ओर से शुद्ध घी के लिए बयाना बँटता है। केवल मनोहर नहीं लेता। मनोहर की धृष्टता जमींदार और उसके कारिन्दा गौस खाँ के लिए असह्य थी। ज्ञानशंकर तो उससे बहुत नाराज होते हैं और इस मामले को लेकर अपने चाचा प्रभाशंकर तक से बिगड़ जाते हैं। प्रभाशंकर पुराने रईस हैं, बनारस के औरंगाबाद महल्ले में रहते हैं और अपने असामियों के प्रति भी वात्सल्य भाव रखते हैं। उनके भाई जटाशंकर के पुत्र ज्ञानशंकर को उनकी यह उदारता पसन्द नहीं। अपने चाचा की नीति से प्रसन्न न होने के कारण वे प्रभाशंकर के दारोगा पुत्र दयाशंकर पर चल रहे अभियोग में जरा भी सहायता करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं किन्तु उनके मित्र डिप्टी ज्वालासिंह ने दयाशंकर को छोड़ दिया। नौबत यहाँ तक पहुँची कि ज्ञानशंकर ने परिवार में बँटवारा करा लिया। डिप्टी ज्वालासिंह न्यायशील और दयालु

सन् १९१९ ई० रसायन के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त होकर बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में आये। वहीं अन्त में कालेज ऑव टेक्नोलौजी के प्रिंसिपल के पद पर रह कर १९५१ ई० में अवकाश ग्रहण किया। फिर छः वर्षों तक बिहार यूनिवर्सिटी में कॉलेजो के इंस्पेक्टर के पद पर कार्य किया। हिन्दी माध्यम से वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वालों में आपका नाम अग्रणी है। विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद के सभापति भी रह चुके हैं। आप काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी विश्व-कोश' के विज्ञान विभाग के सम्पादक थे।

कृतियाँ—'प्रारम्भिक रसायन-प्रथम भाग' (सन् १९२८ ई०), 'प्रारम्भिक रसायन द्वितीय भाग' (सन् १९३० ई०), 'साधारण रसायन', प्रथम भाग (सन् १९३२ ई०), 'मिट्टी के बरतन' (सन् १९३८ ई०), 'रबर' (सन् १९५५ ई०), 'पेट्रोलियम' (सन् १९५८), 'प्लास्टिक' (१९५६), 'कोयला' (सन् १९५८), 'खाद और उर्वरक' (सन् १९६० ई०) 'हिन्दी विश्व कोश', खण्ड २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११। विज्ञान अनुभाग का सम्पादन १९६१-१९६९ ई० तक।

फूलमंजरी—यह मतिराम की प्रथम रचना मानी जाती है। यह अभी तक अप्रकाशित है। इसकी प्रति भवानीशकर याज्ञिक को भरतपुर राज्य मे हिन्दी पुस्तकों की खोज के समय मिली थी। इसका विवरण ९ जुलाई सन् १९२४ की 'माधुरी' पत्रिका में (मायाशंकर याज्ञिक लिखित 'मतिराम और भूषण' लेख में) दिया गया है। इसके अनुसार यह एक छोटी सी पुस्तिका है। इसमें ६० दोहे हैं और प्रत्येक दोहे में एक फूल का नाम आता है, इसके साथ ही नायिका से सम्बन्धित वर्णन भी है। फूल का नाम श्लेष से उस वर्णन में भी खप जाता है। इस पुस्तक की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं और सबसे प्राचीन प्रति सन् १७९३ ई० (स० १८५०) की लिखी हुई है। ग्रन्थ के अन्तिम दोहे में यह स्पष्ट है कि यह पुस्तक जहाँगीर के लिए आगरे में बनायी गयी थी—''हुकुम पाय जहाँगीर के लिए आगरे धाम। फूलनि की माला करी, मति सों कवि मतिराम।।'' इससे स्पष्ट है कि जब जहाँगीर बादशाह हो गया और वह आगरे के महल में था, उस समय मतिराम कवि को 'फूलमंजरी' लिखने की उसने आज्ञा दी। यह समय 'मतिराम ग्रन्थावली' के सम्पादक के अनुसार वह था, जब जहाँगीर १६वें जलूसी वर्ष का उत्सव मना रहा था। 'जहाँगीरनामा' के प्रमाण के अनुसार यह उत्सव सं० १६७८ वि० (१०३० हि०) में मनाया गया था। अतः 'फूलमंजरी' का रचनाकाल भी इसी के आसपास माना जाना चाहिए। 'फूलमंजरी' जैसी रचना उत्सव के समय की ही कृति हो सकती है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार 'फूलमंजरी' की रचना में एक दो वर्ष लगे होंगे (महाकवि मतिराम, पृष्ठ १२६)। इस प्रकार इसकी समाप्ति सं० १८८२ या ८४ में हुई परन्तु मतिराम जैसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का ६० दोहों के लिए दो साल का समय लगाना उचित नहीं जान पड़ता। अतः 'फूलमंजरी' १६२१ ई० की ही रचना मानी जानी चाहिए। कृष्णबिहारी मिश्र के मतानुसार यदि उस समय उनकी किशोरावस्था की आयु १८ वर्ष के लगभग मानी जाये तो मतिराम का जन्म-काल १६०३ ई० के आसपास समझा जा सकता है।

'फूलमंजरी' एक सरस रचना है। इसमें मतिराम की रसिकता टपकती है। फूलों के नाम के साथ जहाँगीर का विभिन्न नायिकाओ के साथ विनोद इसमे वर्णित है—''निमि कारी भारी हुती, तरसत मेरी जीव। फूल निवारी को सरस, वारी तुम पर पीव।। कमल नैन लीने कमल, कमल मुखी के ठाँव। तन न्योछावरि राजकी, यहि आवनि बलि जाँव।।'' इसकी भाषा सरस एवं सरल है। फूलों के प्रसंग को लेकर इस प्रकार के ग्रन्थो की परम्परा हिन्दी में मिलती है और इस प्रसंग में 'कुसुमावली' और 'अनुराग बाग' के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनमें क्रमशः फूलों के साथ भगवन्नामोल्लेख एवं प्रेम का वर्णन हुआ है। मतिराम की जन्मतिथि निकालने की दृष्टि से 'फूलमंजरी' का विशेष स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्र कुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह।]

भ० मि०

फ्रेडरिक पिंकाट—जन्म १८३६ ई० मे इंग्लैंड में। घर की माली हालत अच्छी न होने के कारण एक प्रेस में अल्पायु मे ही कम्पोजिटरी का काम आरम्भ किया और फिर वहीं प्रूफ रीडर नियुक्त हुए। संस्कृत हिन्दी के अलावा उर्दू, गुजराती, बंगला, तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़ भाषाओं का ज्ञान किया। हिन्दी समाचार पत्रों में अनेक लेख प्रकाशित। इनकी लिखी पुस्तकें सिविल सेवा की परीक्षा में मान्य हुई। हिन्दी पुस्तकों पर ये अपनी सम्मति इंग्लैंड के पत्रों में छपवाते थे। मृत्यु के कुछ वर्ष पहले गिलबर्ट और रिविंगटन कम्पनी के पूर्वी विभाग के ये मन्त्री नियुक्त हुए और अन्त काल तक उसी पद पर रहे। सन् १८९५ ई० में ये भारत वर्ष में रीहा घास की खेती की उन्नति कराने के उद्देश्य से आए। वहीं सात फरवरी सन १८९६ ई० को लखनऊ में इनका देहान्त हुआ। इनके सात ग्रन्थों का पता चलता है। कई वर्षों तक इन्होंने एक व्यापार सम्बन्धी अखबार अंग्रेजी उर्दू और हिन्दी में निकाला था। हिन्दी-उर्दू भाषायी विवाद में इनका पत्र व्यवहार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हुआ था जिससे प्रकट होता है कि ये हिन्दी के प्रबल समर्थक थे और इनका मत तर्क और प्रमाणों से पुष्ट था।

[सहायक ग्रन्थ—भारतेन्दु की खड़ी बोली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन-डाॅ॰ श्याम कुमारी, हिन्दी कोविद रत्नमाला-भाग १]

कृ० शं० पा०

फोर्ट विलियम कालेज—इसकी स्थापना लार्ड वेलेजली के समय (सन् १८०० ई०) में हुई। वेलेजली ने भारत आकर यह अनुभव किया कि कम्पनी के कर्मचारी केवल एक व्यापारिक संस्था के कर्मचारी नहीं बल्कि अब एक सरकार के अधिकारी हैं। उनमें शिक्षा, जनभाषा-ज्ञान और सदाचरण की आवश्यकता है। अतः उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए जान गिल क्राइस्ट की अध्यक्षता में उन्होंने 'ओरियंटल सैमिनरी की स्थापना की। बाद में यही संस्था फोर्ट विलियम कालेज के रूप में परिवर्तित हुई और गिलक्राइस्ट उसके हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। कालेज में गिलक्राइस्ट साहब ने हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू को ही प्रोत्साहन दिया न कि लोक प्रचलित खड़ी बोली हिन्दी को। वे हिन्दुस्तानी की तीन शैलियाँ मानते थे—(क) दरबारी फारसी शैली (दी हाई कोर्ट आफ परशियन स्टाइल) (ख) मध्य या विशुद्ध हिन्दुस्तानी शैली

(दर्मिडिल आर जेनूयिन हिन्दुस्तानी स्टाइल) (ग) हिन्दवी या गवारू शैली (द वल्गर आर हिन्दवी) इनमे गिल क्राइस्ट ने मध्य या विशुद्ध हिन्दुस्तानी शैली को प्राथमिकता दी। इसमें उर्दू फारसी का बाहुल्य रहता था पर उसका मूल ढाँचा हिन्दी पर ही आधारित था, जिसके कारण उनकी विशेष माँग पर १९ फरवरी सन् १८०२ ई० में कालेज कौंसिल ने भाषा मुंशी के पद पर लल्लू जी लाल की नियुक्ति की। गिल क्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी मे पाठ्य पुस्तकों का अभाव देखकर प्रकाशन की एक योजना चलायी जिसके अन्तर्गत सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक और माधवानल का उल्लेख मिलता है। फोर्ट विलियम कालेज का महत्त्व पुस्तकों के प्रकाशन तथा टाइप सम्बन्धी सुधारों के लिए अधिक है। २६ फरवरी सन् १८०४ को गिलक्राइस्ट के त्याग पत्र देने से भाषायी दृष्टि से सुधार वर्षों तक नहीं हुआ बल्कि अधिकांश अंग्रेज अधिकारियों एवं विद्वानों द्वारा हिन्दी के महत्त्व को समझने के बावजूद भी वे उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे। टेलर रोयेबक, प्राइस आदि कालेज के परवर्ती अधिकारियों ने हिंदी शिक्षा के ह्रास का संकेत भी किया है। टेलर के बाद प्राइस हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष हुए। वे अपने को हिन्दी प्रोफेसर कहते थे और हिन्दी और हिन्दुस्तानी में लिपि तथा शब्दों का मुख्य अन्तर मानते थे।

[सहायक ग्रन्थ—फोर्ट विलियम कालेज—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय]

कृ० शं० पा०

बंधुल—प्रसादकृत नाटक 'अजातशत्रु' का पात्र। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र बन्धुल कुशीनारा का एक मल्ल सामन्त है। अपनी पत्नी मल्लिका की 'दोहद इच्छा' की पूर्ति के लिए उसने 'कमल-सरोवर' के रक्षक लिच्छिवि कुलपुत्रों के एक रेखा में खड़े ५०० रथों को एक ही तीर से बींधकर अपने अनुपम शौर्य का परिचय दिया। तक्षशिला में पढ़ते समय प्रसेनजित् की बन्धुल से मित्रता हो गयी थी। वह अपने पराक्रम, रणकुशलता, स्वामिभक्ति एवं न्यायप्रियता के कारण कोशल का प्रधान सेनापति बना। उसके अधिनायकत्व में कोशल के समस्त विद्रोही परास्त हो गये और कोशल के सीमान्त में "शान्ति स्वयं पहरा देने लगी।" यह अनुपम वीर होते हुए भी नितान्त सरल एवं निश्छल स्वामिभक्त है। मल्लिका ऐसे पति को पाकर स्वयं को धन्य समझती है। मल्लिका के शब्दों में "वे तलवार की धार हैं,...वीरता के वरेण्य दूत हैं।" प्रसेनजित् उसके बढ़ते प्रभाव से चिन्तित होकर उससे ईर्ष्या करने लगता है और उसकी वीरता से आतंकित होकर उसे षड़यन्त्र से काशी का सामन्त बनाकर भेजता है। विरुद्धक द्वारा प्रसेनजित् के स्पष्ट षड़यन्त्र की सूचना पाकर भी वह अपनी स्वामिभक्ति को दूषित नहीं होने देता और एक सच्चे वीर तथा स्वामिभक्त सेवक की भाँति अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहता है। क्रूर विरुद्धक छलपूर्वक उस पर आघात कर उसे मार डालता है और स्वयं उसके आघातों से घायल होकर बन्दी होता है। प्रसाद ने मल्लिका के दोहद-प्रसंग में 'वैशाली के कमल सर' के स्थान पर 'पावा के अमृत सर' का उल्लेख किया है। यह स्पष्ट ही ऐतिहासिक भ्रान्ति है। मूलकथा के अनुसार न्यायाधीश बनाये जाने के उपरान्त ही बन्धुल के प्रति प्रसेनजित् के मन में सन्देह उत्पन्न कराया गया था किन्तु नाटक मे बन्धुल पर सन्देह इसलिए हुआ कि वह सीमाप्रान्त के विद्रोह को दबाकर कोशल की जनता का प्रिय हो गया था। इस प्रकार घटनाक्रम में उलट-फेर किया गया है। वस्तुतः सीमान्त के विद्रोह को दबाने की घटना के ठीक बाद ही बन्धुल की हत्या कर दी गयी थी। बन्धुल विजयी होकर कोशल लौटा ही नहीं। प्रसाद ने बन्धुल की हत्या विरुद्धक के साथ काशी में लड़े गये छलपूर्ण द्वन्द्व-युद्ध में करवाई है, यह कल्पनाप्रसूत है ('प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक' : जगदीश चन्द्र जोशी, पृ० ९३)।

—के० प्र० चौ०

बंधुवर्मा—प्रसादकृत नाटक 'स्कन्दगुप्त' का पात्र। मालवनरेश बन्धुवर्मा नरवर्मा का पौत्र और विश्ववर्मा का पुत्र है। बहुत से इतिहासकार उसे स्वतन्त्र शासक न मानकर कुमार गुप्त का प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं। वह "वसुन्धरा का श्रृंगार" और "वीरता का वरणीय बन्धु" है। बन्धुवर्मा 'स्कन्दगुप्त नाटक का एक दीप्तिसम्पन्न व्यक्तित्व है, जिसका तेज स्कन्दगुप्त के प्रकाश के समक्ष भी मलिन नहीं होने पाता। विपत्ति में धैर्य, उत्साह और बलिदान की भावना उसके चरित्र को विशेष गौरव प्रदान करती है। हूणों से मालव की रक्षा स्कन्दगुप्त के द्वारा होने पर कृतज्ञतावश वह अपने राज्य को दे देता है और जयमाला के प्रतिरोध करने पर भी स्वयं को आर्य साम्राज्य का एक सैनिक समझने में गौरव का अनुभव करता है। वह एक रणकुशल और पराक्रमी योद्धा है। गान्धार घाटी में उसके नेतृत्व में होने वाले युद्ध में आर्य सैनिकों ने असीम साहस का परिचय दिया। उसने स्कन्द गुप्त से "नदी की तीक्ष्णधारा को लाल कर बहा देने" की जो भीषण प्रतिज्ञा की थी, उसकी पूर्ति अपने प्राणों की बाजी लगाकर की। बन्धुवर्मा का पराक्रम परमुखापेक्षी नहीं। आक्रमणकारियों द्वारा दुर्ग घेर लिये जाने पर वह अन्तिम क्षण तक विस्मयजनक साहस के साथ शत्रु का मुकाबला करता है तथा अपने अद्भुत शौर्य से प्राणों का उत्सर्ग करके विजय प्राप्त करता है। युद्ध में वीर-गति प्राप्त करने के बाद भी बन्धुवर्मा की शक्ति और उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहता है और जब उसके सहयोगी—जिनके लिए उसने अपने प्राणों की आहुति दी थी—अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं, तभी उसकी समाप्ति होती है। अपने चमत्कारिक चारित्र्य से बन्धुवर्मा नाटक के वस्तु-विन्यास में फल-प्राप्ति की एक सशक्त कड़ी सिद्ध होता है। उसमें क्षत्रियोचित साहस एवं शौर्य के अतिरिक्त शीलसौजन्यपूर्ण व्यक्तित्व एवं कर्त्तव्य की भावना भी है। अपनी व्यावहारिक बुद्धि से वह शीघ्र समझ जाता है कि "आर्यावर्त का एक मात्र आशा-स्थल युवराज स्कन्दगुप्त है।" अतः उसकी सेवा में अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है। आगे चलकर परिस्थितियों के प्रसाद से उसका यही निर्णय मांगलिकता का वरण करता है। स्कन्दगुप्त जब पारिवारिक दुरभिसन्धियों से ग्रस्त हो जाता है और देश के अहित होने की सम्भावना प्रतीत होती है, तब बन्धुवर्मा अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहता है—"आर्यावर्त का जीवन स्कन्दगुप्त के कल्याण से है और उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कन्दगुप्त। बन्धुवर्मा तो आज से आर्य साम्राज्य सेना का एक साधारण पदाति सैनिक है।" वह

अन्ततक सच्चे देश-भक्त की भाँति यही प्रचारित करता रहता है कि, "मालव का राजकुटुम्ब, एक-एक बच्चा, आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है।" बन्धुवर्मा निःस्वार्थ भाव से साम्राज्य की मर्यादा-रक्षा के लिए अपने राज्य एवं प्राणों तक को अर्पित कर देता है। स्कन्दगुप्त उसके इस लोकोत्तर त्याग की स्मृति उसके मरने के बाद भी करते रहते हैं—"जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण हो ऊँगा।" बन्धुवर्मा का उत्सर्गपूर्ण निःस्वार्थ चरित्र स्वदेश-प्रेम की भावना से परिपूर्ण, शौर्यशील एवं कर्त्तव्यनिष्ठा से युक्त तथा अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाने की अद्भुत क्षमता रखता है।

—के० प्र० चौ०

बंग महिला—(रचनाकाल १९०४ ई०) वास्तविक नाम श्रीमती राजेन्द्रबाला घोष। कलकत्ता के पास चन्द्र नगर के किसी गाँव में जन्म हुआ।

हिन्दी की प्रथम मौलिक (आधुनिक) कहानी लेखिका के रूप में 'बंग महिला' का नाम चिरस्मरणीय है। ये मीरजापुर के एक प्रतिष्ठित बंगाली महाशय राम प्रसन्न घोष की पुत्री और पूर्णचन्द्र की धर्मपत्नी थीं। मीरजापुर में रामचन्द्र शुक्ल के सम्पर्क में आने पर हिन्दी में लिखने लगीं। इन्होंने हिन्दी में बहुत सी बंगला कहानियों का अनुवाद प्रस्तुत करके आधुनिक हिन्दी कहानी का पथ प्रशस्त किया। बाद में कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें 'दुलाई वाली' प्रसिद्ध है। इस कहानी को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी होने का श्रेय दिया जाता है। यह १९०७ ई० की 'सरस्वती' (भाग ८, संख्या ५) में प्रकाशित हुई थी। स्थानीय रंगत (लोकल कलर), यथार्थ चित्रण तथा पात्रानुकूल भाषा की दृष्टि से यह कहानी द्रष्टव्य है। 'बंग महिला' की अन्य कहानियों (पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित) में भी ये विशेषताएँ पाई जाती हैं। आपका एक कहानी संग्रह 'कुसुम संग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् १९५० ई० के आस-पास आपकी मृत्यु हुई।

—र० भ०

बंगीय हिंदी परिषद, कलकत्ता— स्थापना—वसन्त पंचमी, १९४५ ई०; संस्थापक—स्वर्गीय आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल; कार्य एवं विभाग—१. साहित्यिक आयोजन—कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रसाद आदि की जयन्तियों के बृहत् सार्वजनिक आयोजन कलकत्ता में प्रथम बार प्रारम्भ किये गये। २. प्रकाशन—कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें मुख्य हैं—'मीरा-स्मृति-ग्रन्थ', 'काव्य-चर्चा', 'कबीर-परिचय', 'नवीन-दर्शन', 'प्रेमचन्द-प्रतिमा', 'भारतेन्दु-कला' तथा 'बुन्देले हर बालों के मुँह जिसने सुनी कहानी'। इसके अतिरिक्त मुंशी देवीप्रसादकृत 'मीराबाई', ठाकुर जगमोहन सिंह कृत 'श्यामा-स्वप्न', 'ऋतु-संहार', 'अमिताक्षर-दीपिका', बाबू गिरिधरदासकृत 'भारती-भूषण' आदि दुर्लभ ग्रन्थों को भी प्रकाशित किया गया है। ३. प्रतिमास के प्रथम रविवार को देशी और विदेशी विद्वानों के परिभाषणों का आयोजन किया जाता है। ४. कवि-कल्प—स्थानीय कवियों के प्रोत्साहनार्थ निर्मित इस संस्था की बैठक प्रतिमास तीसरे रविवार को होती है। ५. हिन्दी कक्षाएँ—पश्चिमी बंग के राजकीय कर्मचारियों के लिए हिन्दी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। ६. 'जन भारती' नामक त्रैमासिक पत्रिका निरन्तर आठ वर्षों से प्रकाशित हो रही है। ७. पुस्तकालय—परिषद का स्थायी पुस्तकालय है। स्थायी सदस्यों की संख्या ४५ है।

—प्रे० ना० टं०

बाँकीदास—जन्म सन् १७७१ ई० में मारवाड़ राज्य के भड़ियावास गाव में हुआ था। ये चारण थे। जोधपुर के राजा मान सिंह बाँकीदास की काव्य प्रतिभा से बड़े प्रभावित थे और इन्हें अपना गुरु मानते थे। बासठ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई। इनके सत्ताइस ग्रन्थों में 'सूर छत्ती सी' और 'वीर विनोद' नामक वीर काव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। बाँकीदास की भाषा प्रौढ़ परिमार्जित और विषयानुकूल है। इनकी कविता में ओज और प्रसाद गुणों का प्राधान्य है। शूरों को नमस्कार करते हुए कवि का उद्बोधन विचारणीय है—

नमस्कार सूराँ नराँ, पूरा सत पुरसाँह।
भारथ गज थाटाँ भिड़ैं, अड़ै भुजा उरसाँह।।

वस्तुत. बाँकीदास ने रीतिकालीन वीरकाव्यों के प्रणयन में अपनी काव्य प्रतिभा का जो परिचय दिया है, उससे वे कवि पहले, आश्रित बाद में प्रमाणित होते है।

कृ० शं० पा०

बकासुर—बकासुर कंस का अनुचर एवं पूतना का भाई था। कृष्ण-वध के लिए यत्न करनेवालों में बकासुर भी था। कंस ने इसे कृष्ण-वध हेतु वृन्दावन भेजा। वहाँ यह बक रूप में यमुना तट पर विचरण करने लगा। जब कृष्ण आये तो इसने उन्हें अपनी चोंच में दबा लिया। कुछ समय बाद बक का तालु जलने लगा और उसने कृष्ण को उगल दिया। पुनः कृष्ण को उदरस्थ करने के यत्न के पूर्व ही कृष्ण ने उसकी चोंच के दोनों भाग चीर दिये तथा उसकी मृत्यु हो गयी। सूर ने इस प्रसंग में एक बार बलराम और दुबारा कृष्ण द्वारा उसकी मृत्यु वर्णित की है (सू० सा० प० १९०)।

—रा० कु०

बकी—बकी नाम पूतना का ही पर्याय है। यह बकासुर की बहन थी। कंस ने इसे भी कृष्ण-वध के लिए भेजा था पर अन्त में कृष्ण के द्वारा ही मारी गयी (दे० 'पूतना')।

—रा० कु०

बख्शी हंसराज—जन्म पन्ना राज्य में सन् १७४२ ई० में इनके पूर्वज पन्ना राज्य में उच्च पदों पर आसीन थे। बख्शी जी भी पन्ना के महाराज अमानसिंह के दरबारियों में थे। बख्शीजी 'प्रेमसखी' उपनाम से कविता करते थे। इनकी उपासना सखीभाव की थी। वृन्दावन की व्यासगद्दी के विजयसखी नामक महात्मा के ये शिष्य थे। बृज के माधुर्यभाव की छटा इनकी रचनाओं में ओत-प्रोत है। इनकी चार प्रसिद्ध रचनाओं का इतिहास ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है-'सनेह-सागर', 'विरह-विलास', 'रामचन्द्रिका', 'बारहमासा'। इनके अतिरिक्त छोटी-छोटी लीला तथा पत्रिका भी इनकी लिखी बतायी जाती है, जिनमें 'चुनहारिन लीला', 'फाग तरंगिनी लीला', 'श्रीकृष्ण जू की पाती', 'जुगलस्वरूप पत्रिका' प्रसिद्ध है।

'सनेहसागर' का सम्पादन करके लाला भगवानदीन ने उसे प्रकाशित करा दिया है। शेष ग्रन्थ अभी हस्तलिखित रूप में ही

उपलब्ध हैं। 'सनेहसागर' नौ तरंगों में समाप्त हुआ है, जिसमें कृष्ण की लीलाएँ सार छन्द में वर्णित की गयी हैं। भाषा माधुर्यपूर्ण, प्रवाहपूर्ण और सरस है। अनुप्रास आदि का बोझ न होने से भावों में नैसर्गिकता बनी रही है। भाव-विधान के उचित प्रसंगों का उन्होंने चयन किया है और उसी के अनुकूल भाषा का विधान है। इनकी भाषा को आचार्य शुक्ल ने आदर्श भाषा स्वीकार किया है।

—वि० स्ना०

बच्चन—दे० हरिवंशराय 'बच्चन'।

बटुकनाथ शर्मा—जन्म सन् १८९५ ई० तथा मृत्यु सन् १९४४ ई० काशी में। शिक्षा एम० ए० संस्कृत (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा साहित्योपाध्याय। आपने लक्ष्मण शास्त्री तैलंग, भालचन्द्र शास्त्री तैलंग, गोपीनाथ कविराज आदि विद्वानों से संस्कृत का उच्च अध्ययन किया। महा महोपाध्याय पाण्डेय रामावतार शर्मा से भी आपका घनिष्ठ सम्पर्क था। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक थे और कुछ वर्षों तक संस्कृत विभाग के अध्यक्ष भी रहे। आपने संस्कृत ग्रन्थों तथा कवियों के सम्बन्ध में संस्कृत तथा हिन्दी में प्रभूत साहित्य लिखा है। जीवन के उत्तरकाल में आपने हिन्दी में अनेक कहानियाँ लिखीं, जो अप्रकाशित ही पड़ी है। संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों तथा लुप्तप्राय उनकी कृतियों को हिन्दी में लाने का श्रेय आपको ही है। आपका पुस्तकालय विशाल तथा दुर्लभ ग्रन्थों से अलंकृत था। आप पालि, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच भाषाओं के भी ज्ञाता थे।

कृतियाँ—'भामह और उनका काव्यालंकार', 'पीयूषवर्षी कवि जयदेव', 'रसिक गोविन्द और उनकी कविता' आदि।

—ल० शं० व्या०

बच्चन सिंह—जन्म जौनपुर जिला (उत्तर प्रदेश) केराकत, तहसील ग्राम भदवार (भद्रसेनपुर) में आषाढ़ शुक्ल ५ सं० १९७६ को हुआ। पिता श्री पुरुषोत्तम सिंह अपने क्षेत्र के कुलीन और सम्पन्न व्यक्ति थे। कृषक परिवार और जमींदारी के बीच विकसित व्यक्तित्व में सहजता के तत्त्व के प्रति एक लगाव है। प्रारंभिक शिक्षा जौनपुर में सम्पन्न करके आप बनारस आ गये जहाँ से आपने उच्चतम शिक्षा पूरी की। अध्ययन के समय में ही 'लोक जीवन' और लोक साहित्य के प्रति प्रगाढ़ रुचि के साथ-साथ साहित्य के प्रति जिज्ञासा का भाव भी व्यक्तित्व में निरंतर रसता रहा है। बनारस की विभिन्न साहित्यिक गोष्ठियों और नागरी प्रचारिणी सभा के साथ आपका लगाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। 'हिन्दू इन्टरमीडिएट कालेज' बनारस में अध्यापन करते समय भी बनारस से निकलने वाले 'समाज' 'जनवाणी' और 'आज' में आप बराबर लिखते रहे। उस समय के लेखों में एक गतिशीलता का आभास मिलता है। इसके बाद आप वहीं से बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गये जहाँ रीडर होने के काफी अरसे बाद हिमांचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष होकर चले गये। और वहीं से अवकाश ग्रहण किया। बच्चनजी के व्यक्तित्व में नवीनता और प्राचीनता की गत्यात्मक शक्ति की पहचान करने की क्षमता है। रीतिकाल से लेकर नयी कविता तक और भारतीय साहित्य सिद्धांत से लेकर पाश्चात्य साहित्य चिंतन तक अनेक विषयों, धाराओ और कृतियों का आपने विवेचन किया है। इससे लगता है कि उनके व्यक्तित्व मे समानुकूलता और गत्यात्मकता है।

कृतियाँ—'क्रान्तिकारी कवि निराला' (१९४७-४८ ई०), 'रीतिकालीन कवियो की प्रेमव्यंजना' (१९५८ ई०), 'हिन्दी नाटक (१९५८ ई०), 'बिहारी का नया मूल्यांकन' (१९६० ई०), 'आलोचक और आलोचना' (१९७० ई०), 'समकालीन साहित्य आलोचना को चुनौती' हिन्दी आलोचना के बीज-शब्द (१९८५)।

'क्रान्तिकारी कवि निराला' निरालाजी के काव्य पर पहली पुस्तक होते हुये भी रचनात्मक दृष्टि की समझ का प्रमाण प्रस्तुत करती है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा', 'कुकुरमुत्ता' आदि कविताओं का रचनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए लेखक ने ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का भी आश्रय लिया है। कृतिवा रामायण का प्रभाव स्वीकार करते हुये लेखक ने प्रभाव और सृजन का आन्तरिक सम्बन्ध प्रायः व्यक्त नहीं किया है, परन्तु कविता का मूल्यांकन और उसकी संवेदनागत गहराई तत्त्वदर्शी दृष्टि से विवेचित है। व्यंगकविताओं में अनुभूति के विस्तार के प्रति संकेत भी है। 'कुकुरमुत्ता' को भाग्यवादी आग्रहों से मुक्त करके लेखक ने उसे यथार्थ के दर्द के रूप में, व्यवस्था और तथाकथित विद्रोही दोनों पर व्यंग्य के रूप में व्याख्यायित किया है। काव्य की समझ के लिए उसके संरचनात्मक घटकों का उपयोग और एक गेस्टाल्ट के रूप में नियोजन करके अनुभूति और संरचना की समतुलित स्थिति की संभाव्यता की खोज यहाँ बच्चनजी का ध्येय प्रतीत होता है। 'रीतिकाल' से सम्बद्ध 'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना' और 'बिहारी का नया मूल्यांकन' में भी इस दृष्टि का प्रमाण है। पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्र के माध्यम से उन्होंने अपनी स्वतंत्र दृष्टि का विकास किया है और यही कारण है कि इन दोनों पुस्तकों में वे सृजन और शिल्प में भेद कर सके हैं। रीतिकालीन कवियों की परिवेशगत अनुभूति, सामंतीय वातावरण और काव्य सम्बंधी दृष्टि को काम सम्बंधी मनोविकारों और जीवन दृष्टियों के विवेचन के संदर्भ में समझते हुए आपने रीतिकाल के प्रति एक सही दृष्टि का परिचय दिया है। इसमें बाह्य उपकरणों को भूमिका के रूप में प्रस्तुत करके तीसरे, चौथे और सातवें अध्यायों में काव्य के माध्यम से रीतिकवियों की अनुभूति की समष्टिगत व्याख्या की गई है। बिहारी का नया मूल्यांकन' में टी० एस० इलियट इत्यादि का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने बिहारी को सामंती कवि तो स्वीकार किया है परन्तु दरबारी नहीं।

सैद्धांतिक समीक्षा की दृष्टि से 'आलोचक और आलोचना' एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें लेखक ने पाश्चात्य आलोचना और भारतीय काव्यदृष्टि का सिद्धांत और सम्प्रदाय की दृष्टि से मूल्यांकन किया है। वे मानते हैं कि आज की आलोचना के लिए सबसे जरूरी है आधुनिक मानवीय स्थिति के संदर्भ में भाषिक संरचना का विश्लेषण और मूल्यांकन। परन्तु इस दृष्टि का विश्लेषण या प्रवर्तन न करके इस प्रकार सिद्धांत की भूमिका प्रस्तुत की गई है। प्लेटो, अरस्तू, लांजाइनस, टी० एस० इलियट, युंग आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतों का उन्होंने

न केवल विवेचन प्रस्तुत किया है परतु उनकी समीक्षा भी की गई है। एक मत को परवर्ती आलोचकों के मत के माध्यम से मूल्यांकित करने के साथ ही साथ अपनी व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। मूल्यबोध को तनाव से जोड़कर बिम्ब और अनुभूति की समीकृत अवस्था से ऊपर उठ जाना उनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है। बच्चजी का विचार है कि "नये आलोचक का कार्य संरचना और मूल्यबोध को संश्लेष में देखना है" आलोचक और आलोचना पृ०-८२)। वे काव्य और उपन्यास की रचनात्मक परिकल्पना में मूलभूत अन्तर स्वीकार करते हुए दोनों की आलोचना पद्धतियों को भिन्न मानते हैं। कविता और कथा के भिन्न टेकश्चर की ओर संकेत करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि वास्तविकता और वैलक्षण्य का तनाव कथा साहित्य की विशेषता है जिसे मूल्यबोध से जोड़ा जा सकता है। भारतीय साहित्य सिद्धांतों की ऐतिहासिक व्याख्या के अतिरिक्त वक्रोक्ति इत्यादि की संरचनात्मक दृष्टि का संकेत करते हुए उन्होंने नगेन्द्र और शुक्लजी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का संकेत किया है, चाहे यह भूमिका के रूप में हो। 'हिन्दी नाटक में रंगमंचीय दृष्टि के विवेचन की अपेक्षा अर्थप्रकृतियों इत्यादि का विवेचन है। भारतेन्दु से लेकर भुवनेश्वर तक नाटक की परिकल्पना का बदलाव और यथार्थ के प्रति विवेकी परंतु आग्रही दृष्टि का संकेत भी उन्होंने किया है। यद्यपि भुवनेश्वर के 'कारवाँ' के मूल्यांकन से प्रतीत होता है कि उनके मानस में अंग्रेजी साहित्य दृष्टि का प्रभाव अधिक है।

बच्चन सिंह की समीक्षादृष्टि गहन अध्ययन मनन के कारण निर्मल है। शुक्लजी की परम्परा के वे आलोचक हैं। समकालीन आलोचना की चुनौती' में 'गोदान', "झूठ-सच', 'नदी के द्वीप' आदि का विवेचन उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि और साहित्यिक समझ का प्रमाण है। वे 'रचना' को केन्द्र मानकर आलोचना के वृत्त का निर्माण करते हैं और फिर वृत्त की परिधि से पर्त दर पर्त केन्द्र की ओर प्रस्थान। काव्य की अपेक्षा उनकी कथा-साहित्य की आलोचना अधिक महत्त्वपूर्ण और रचनात्मक है।

—स० प्र० मि०

बदरीनाथ भट्ट—संस्कृत के प्रसिद्ध पण्डित गोकुलपुरा (आगरा) निवासी रामेश्वर भट्ट के पुत्र। जन्म १८९१ ई० में हुआ। जीवन के अन्तिम वर्षों में लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में लेक्चरर रहे। साहित्य के क्षेत्र में इनकी ख्याति प्रधानतः इनके नाटकों के कारण है। कविताएँ भी लिखी हैं। १९३२ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हो गया था पर उसका व्यवस्थित रूप हमें द्विवेदी युग के कतिपय लेखकों में प्राप्त होने लगता है। बदरीनाथ भट्ट उन लेखकों में से एक हैं, जिन्होंने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। 'सरस्वती' के फरवरी १९१३ ई० के अंक में उन्होंने रीतिकाव्य की भाषा का विरोध करते हुए लिखा था, "भाषा के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है, जब असली कवित्व-शक्ति न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला-बुरा लिखकर शब्दों की खींचातानी दिखाते हुए अपनी लियाकत का इजहार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छन्द के खोल में दिया हुआ देख लोग उसी को कविता समझने लगते हैं।" स्पष्ट है कि रीतिकाव्य की रूढ़िबद्ध भाषा का यह विरोध स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का बढ़ाव ही है। आगे चलकर सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में भी इसी प्रकार रीति-परम्परा और उसकी भाषा का विरोध किया था। स्वयं अपनी कविताओं में भट्टजी ने नयी भाषा, नयी विषयवस्तु और नये काव्यरूपों का प्रयोग प्रारम्भ किया। १९१४ ई० के आसपास से उनकी ऐसी कविताएँ आने लगी थीं, जो मात्र इतिवृत्तात्मक नहीं थीं, जिनमें रहस्यात्मक वृत्तियों का समावेश होने लगा था। टकसाली सवैयों या घनाक्षरियों के स्थान पर भट्टजी ने लोकगीतों के कजरी, लावनी या भक्तिकाल के कवियों जैसे पदों को अपनी कविताओं में आजमाया है। यह सारा बढ़ाव स्वच्छन्दतावाद का था। निबन्धों के क्षेत्र में भी उन्होंने 'सभा की सभ्यता' जैसे निबन्धों में व्यंग्य की प्रवृत्ति को अपनाया है। यों 'हमारे कवि और समालोचक', 'हमारी कविता की भाषा' आदि विषयपरक निबन्ध भी लिखे हैं। उनके निबन्धों में संस्कृत के साथ ही अंगरेजी शब्दों का निर्बन्ध प्रयोग भी गद्य की भाषा का विकास ही कहा जायगा।

बदरीनाथ भट्ट का मुख्य क्षेत्र नाटक है। वस्तुतः भारतेन्दु और प्रसाद की मध्यवर्ती कड़ी वे ही हैं। आलोचकों ने इस ओर कम ही ध्यान दिया है, पर यह कहना असंगत न होगा कि भारतेन्दु के बाद नाटक के क्षेत्र में नयी जमीन तोड़ने का काम भट्टजी ने ही किया था। सन् १९०० ई० के आसपास हिन्दी नाटक क्षेत्र में मौलिक सृजन-शक्ति और नवोन्मेष का नितान्त अभाव दिखाई देता है। पारसी थियेटर कम्पनी के स्टेज के प्रति असन्तोष का भाव तो था पर जैसे कोई दिशा नहीं मिल रही थी। दिशा का अनुसन्धान सबसे पहले १९१२ ई० में प्रकाशित बदरीनाथ भट्ट के 'कुरुवन दहन' में प्राप्त होता है। श्रीकृष्णलाल ने नोट किया है कि 'कुरुवन दहन' में "नवीन नाट्यकला के अंकुर थे" (आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० २१३)। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि १९१२ ई० में ही प्रसाद का 'करुणालय' भी प्रकाशित हुआ था पर नाट्यकला की दृष्टि से वह अपेक्षाकृत 'कुरुवन दहन' से कम महत्त्वपूर्ण है। 'कुरुवन दहन' संस्कृत के 'वेणीसंहार' नाटक का हिन्दी रूपान्तर है, जो अनुवाद न होकर नयी परिस्थितियों एवं नवीन शिल्प के अनुसार रूपान्तर ही कहा जाना चाहिए। इस नवीनता की ओर नाटक की अंग्रेजी भूमिका में भट्टजी ने स्वयं इंगित किया है। यह भूमिका उस समय के नाटकीय विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भूमिका के अनुसार, "इसके स्थान पर, मैंने एक दूसरा पथ ग्रहण करने का निश्चय किया, जिसमें कि मुझे अधिक स्वच्छन्दता प्राप्त होने की आशा थी। यह रास्ता इसे रूपान्तरित करने का था।...मैंने छः के स्थान पर इसे सात अंकों में समाप्त किया और नाटकीय पात्रों के भाषणों को अनेक स्थलों पर घटा, बढ़ा और परिवर्तित करके इसे यथासम्भव आधुनिक रुचियों और परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। कहीं-कहीं आवश्यक समझकर मैंने कुछ नवीन पात्र और कुछ हास्यपूर्ण संवाद बढ़ा दिये हैं। वस्तुतः मैंने इस ग्रन्थ में अंग्रेजी और संस्कृत नाटकीय विधानों का समन्वय बनाने का प्रयत्न किया है। जहाँ कहीं नाटकीय प्रसंगों के लिए

आवश्यकता जान पड़ी, वहाँ 'वेणीसंहार' के अंकों के बीच रिक्त स्थलों को नवीन पात्रों के द्वारा भर दिया।'' यह दृष्टि एक नये युग की प्रवर्तिका है। इस नाटक में वस्तु संगठन, चरित्र-चित्रण और हासपूर्ण प्रसंगों की अवतारणा करके उसे आधुनिक रूचि के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया है। बहुधा लम्बे एवं महत्त्वपूर्ण संवादों के स्थान पर अधिक व्यंजक और सूच्य तथा संक्षिप्त संलापो का सहारा लिया गया है। कथा के विविध प्रसंगों पर बल भी नये ढंग से दिया गया, जैसे भीष्म की मृत्यु की सूचना तथा जयद्रथ-वध का अत्यन्त विस्तार से पूरे एक अंक में चित्रण। इसी प्रकार अंकों का दृश्यों में विभाजन भी नये ढंग के अनुरूप हुआ है। उनके संवादों ने कथानक के विकास तथा चरित्रों के शीलनिरूपण में सहायता दी है। वे प्रायः सजीव और सशक्त बन पड़े हैं। इस प्रकार नाटक में निर्देशन-नैपुण्य तथा कलात्मक संयम का सौन्दर्य प्राप्त होता है। यह अवश्य है कि इसमें भाषा तथा देशकाल के उपयुक्त वातावरण के निर्वाह पर उतना जोर नहीं दिया गया तथा चरित्रों के शीलनिरूपण पर भी अधिक बल नहीं दिया जा सका। संवादों में भी पारसी थियेटर कम्पनियों का पर्याप्त प्रभाव है। इन दोषों को दूर करने का दायित्व प्रसाद ने लिया।

'कुरुवन दहन' पौराणिक नाटक है, भट्टजी का 'बेनचरित' (१९२२) भी पौराणिक है तथा 'तुलसीदास' (१९२२) ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर आधृत होते हुए भी अपनी आत्मा में पौराणिक ही है। इन पौराणिक नाटकों की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह कि इनमें नाटककार ने पुराणों की कथाओं को ज्यों का त्यों न स्वीकार कर अपनी रूचि तथा कथा की प्रवृत्ति एवं नाटकीय आग्रहों से अनेक मौलिक परिवर्तन कर दिये हैं। इस प्रकार इन नाटकों में लेखक की कल्पना को (यह भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ही है) अधिक मुखर होने का अवकाश मिला है। दूसरे इन नाटकों में अतिप्राकृत प्रसंगों की न्यूनता हो गयी थी। कालक्रमसम्बन्धी दोष अवश्य बने रहे। वातावरण के चित्रण पर भी बल दिया गया। परन्तु सांस्कृतिक शक्तियों का जीवन्त चित्रण नहीं हो सका। कभी-कभी कालव्यतिक्रम के भी दोष मिल जाते हैं, जैसे कि 'तुलसीदास' में रानी पिस्तौल दिखाकर 'मेजर' और 'कैप्टेन' को बन्दी बनाती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ये नाटक पारसी थियेटर के नाटकों या भारतेन्दु-युग के नाटकों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। पर यह भी सत्य है कि इनमें मुख्य ध्यान कथावस्तु या कथासंघटन के पुनर्नवीकरण की ओर अधिक था, शील-निरूपण की ओर कम। मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थितियों के आकलन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इन नाटकों की भाषा भी उतनी सक्षम नहीं है, जितनी कि प्रसाद के नाटकों में आगे चल कर प्राप्त होती है।

भट्टजी के 'दुर्गावती' (सन् १९२६) एवं 'चन्द्रगुप्त' नामक दो ऐतिहासिक नाटक भी प्राप्त होते हैं। इन दोनों नाटकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव कुछ अधिक है। कलात्मक वैभव की दृष्टि से उनके ये नाटक पौराणिक नाटकों से नीचे पड़ते हैं।

नाटकों में प्रहसन के क्षेत्र में भी भट्टजी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके प्रहसनों में 'चुंगी की उम्मीदवारी' (१९१४), 'लबड़धोंधों' (१९२६), 'विवाह-विज्ञापन' (१९२७), 'मिस अमेरिकन' (१९२९) बहुत प्रसिद्ध हैं। समसामयिक समस्याओं तथा उनकी विकृतियों पर इनमे हास्य-व्यंग्य के सहारे प्रकाश डाला गया है। 'मिस अमेरिकन' में पाश्चात्य अर्थप्रधान सभ्यता पर गहरा व्यंग है। इन नाटको पर प्रसिद्ध फ्रांसीसी हास्य नाटककार मोलियर का भी कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है।

—दे० शं० अ०

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—(उपाध्याय) बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेन्दु मण्डल के प्रतिष्ठित लेखक थे। भारतेन्दु-युग के साहित्य-निर्माण में इनका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म सन् १८५५ ई० मे उत्तर प्रदेश के दत्तापुर, गोंडा जिले में हुआ था। कवि, नाटककार, पत्रकार और निबन्धलेखक के रूप में आपने उन्नीसवीं-बीसवीं ईस्वी के सन्धिकाल में हिन्दी के भाण्डार की श्री वृद्धि की। इनकी मृत्यु सन् १९२२ ई० में हुई।

बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने साहित्यिक जीवन का शुभारम्भ कवि-रूप में किया था। ब्रजभाषा में कवित्त-सवैया लिखने वाली परम्पराप्रथित पद्धति उन्हें बहुत प्रिय थी। आधुनिक युग के द्वार पर खड़े होकर भी उन्होंने अपना सम्बन्ध काव्य-रचना की इस पुरानी परिपाटी से बनाये रखा। समस्या-पूर्ति के कौशल में वे बहुत निपुण थे। इस दृष्टि से उनकी एक अति-प्रसिद्ध रचना उल्लेख्य है। इसकी विषयवस्तु सामान्य और श्रृंगारिक ही है किन्तु अनुप्रासों की छटा के कारण इसका काव्य-रस द्विगुणित हो उठा है-''बगियान बसन्त बसेरो कियो, बसिए तेहि त्यागि तपाइए ना। दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना।। 'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम, अहो! बिथा बारि बृथा बरसाइए ना। चित चैतकी चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबेकी चलाइए ना।।'' ब्रजभाषा की सरस फुटकर काव्य-रचना के अतिरिक्त-'प्रेमघन' ने कजली, होली, लावनी आदि की शैली में बहुत सी लोक-गीतात्मक कविताएँ भी लिखी हैं। 'कजली कादम्बिनी' के नाम से उनकेमीरजापुर धुनके कजली गानों का एक संग्रह प्राप्त होता है। पुरानी ब्रजभाषा परिपाटी और लोकगीत-परिपाटी की उनकी बहुत-सी रचनाएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

'भारतेन्दु युग' में प्रबन्धकाव्यों की सृष्टि नहीं के बराबर हुई, किन्तु बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किये थे। इनकी 'जीर्ण जनपद' नामक रचना प्रबन्धकाव्यात्मक है। इसमें तत्कालीन ग्रामीण जीवन के वास्तविक चित्र अंकित किये गये हैं और ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्ग के प्रतिनिधि-पात्रों की कमजोरियाँ दिखाई गयी हैं। इन्होंने कंस-वध पर एक महाकाव्य की रचना आरम्भ की थी किन्तु इनकी मृत्यु के कारण यह अधूरी रह गयी। 'प्रेमघन' भारतेन्दु मण्डल के उन उल्लेख्य कवियों में हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ीबोली में भी काव्य-रचना करने की सफल चेष्टा की थी। इनकी खड़ीबोली की अधिकाँश रचनाएँ समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक चेतना से ओतप्रोत हैं। उदाहरणार्थ इनकी 'आनन्द-अरुणोदय' शीर्षक रचना ली जा सकती है। इसमें भारतवासियों के नवजागरण का वर्णन किया गया है। इनकी अन्तिम रचना 'मयंक महिमा' भी खड़ीबोली में ही है। इसे इन्होंने बहुत बाद में सन् १९२२ ई० में लिखा था।

खड़ीबोली में लिखे गये इनके अनेक ओजपूर्ण कवित्त भी उपलब्ध होते हैं।

बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' कवि होने के साथ-साथ एक उत्कृष्ट गद्य-लेखक भी थे। नाटककार के रूप में इन्हें बड़ी ख्याति मिली थी। सर्वप्रथम सन् १८८६ ई० में इन्होंने 'वारांगना रहस्य' अथवा 'वेश्याविनोद' नामक सामाजिक नाटक की रचना एक बड़े पैमाने पर आरम्भ की थी किन्तु वह अपूर्ण रह गया। इनकी दूसरी नाट्य कृति 'भारत सौभाग्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एकांकी नाटकों की कोटि मे आती है। इसकी रचना सन् १८८९ ई० में कांग्रेस के अवसर पर खेले जाने के लिये की गयी थी। इसके पात्र विभिन्न प्रान्तों के हैं और भिन्न-भिन्न भाषाओं का उपयोग करते हैं। इसकी कथावस्तु में १८५७ ई० के गदर से लेकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तक की सामाजिक पृष्ठभूमि को समाहित करने की चेष्टा की गयी हैं। अभिनय की दृष्टि से यह कृति बहुत सफल नहीं है। 'प्रयाग रामागमन' इनका तीसरा नाटक है। इसकी रचना इन्होने १९०४ ई० में की थी। इसकी विषय-भूमि संक्षिप्त है। इसमे राम के भरद्वाज-आश्रम तक पहुँचने और वहाँ आतिथ्य ग्रहण करने का वर्णन किया गया है। इसमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि सीता ब्रजभाषा का प्रयोग करती है जबकि उन्हें मैथिली या कम से कम अवधी का प्रयोग करना चाहिये था। उपर्युक्त विवरण के आधार पर 'प्रेमघन' नाटककार के रूप में बहुत सफल नहीं कहे जा सकते।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'प्रेमघन' को विलक्षण-शैली के गद्य लेखक रूप में स्मरण किया है और लिखा है कि "वे गद्यरचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम-की कारीगरी समझने वाले—लेखक थे और कभी-कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, संशोधित संस्करण, १९४८, पृ० ४६९)। किन्तु इस प्रकार की उक्तियों से यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिये कि बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' साहित्यिक कोटि के निबन्धों के लेखक थे। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों की तुलना में उनके निबन्ध साधारण कोटि के लेख सिद्ध होते हैं। वस्तुतः उन्होंने सामयिक तथा चलते विषयों पर टिप्पणियाँ अधिक लिखी हैं। उनकी इस प्रकार की गद्य रचनाएँ 'आनन्द कादम्बिनी' तथा तत्कालीन अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

भारतेन्दु-युग हिन्दी के बहुमुखी विकास का युग माना जाता है। आधुनिक आलोचना पद्धति का सूत्रपात भी इसी युग में हुआ था और इसका श्रेय इस काल के दो लेखकों को दिया जाता है, एक तो (पण्डित) बालकृष्ण भट्ट को और दूसरा (उपाध्याय) बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' को। 'प्रेमघन' ने श्री निवासदासकृत 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना और गदाधर सिंहकृत 'बंगविजेता' के अनुवाद की आलोचना 'आनन्दकादम्बिनी' के कई पृष्ठों में विस्तार पूर्वक की थी। उनकी ये आलोचनाएँ उनकी व्यक्तिगत रुचि-अनुकूल आलोच्य पुस्तकों के गुण-दोष उद्घाटन तक ही सीमित हैं। कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी भूलों पर व्यापक रूप से विचार किया गया है।

हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में भी बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ऊपर 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र की चर्चा कई स्थानो पर की गयी है। इसे इन्होने सन् १८८१ ई० में मीरजापुर से निकाला था। इसमें तत्कालीन अन्य साहित्यकारों के लेखादि बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होते हैं और इसके विभिन्न अंकों में इन्हीं की कृतियाँ अधिकतर प्रकाशित हैं। 'आनन्द कादम्बिनी' के अतिरिक्त 'प्रेमघन' ने 'नागरी नीरद' नाम से एक साप्ताहिक भी निकाला था।

'प्रेमघन' के समस्त कृतित्त्व का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के विकास में उनके योगदान को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। उन्होंने काव्य-भाषा के लिए खड़ीबोली को भी अपनाकर उसका पथ प्रशस्त किया। गद्यकार के रूप मे उन्होंने भाषा के शुद्ध—परिमार्जित रूप का सायास प्रयोग करके उसे प्रौढ़ता प्रदान करने की चेष्टा की। उनकी शैली उलझी हुई, दुरूह और गद्य काव्यात्मक थी, फिर भी उन्होंने हिन्दी में सम्यक् आलोचना का सूत्रपात किया।

—र० भ०

बनादास—बनादास का जन्म गोंडा जिले के अशोकपुर नामक गाँव में सन् १८२१ ई० में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इनके पिता का नाम गुरुदत्तसिंह था। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण इन्होंने भिनगा राज्य (बहराइच) की सेना में नौकरी कर ली और लगभग सात वर्ष तक वहाँ रहे। इसके पश्चात् घर लौट आये वहाँ रहते अधिक दिन नहीं बीते थे कि इनके एकमात्र पुत्र का अकस्मात् निधन हो गया। पुत्र के शव के साथ ही १८५१ ई० की कार्तिक पूर्णिमा को ये अयोध्या चले गये और फिर वहीं के हो गये। आरम्भ में दो वर्ष देशाटन करके इन्होंने चौदह वर्षो तक रामघाट पर कुटी बनाकर घोर तप किया। साधना पूरी होने पर इन्हें आराध्य का साक्षात्कार हुआ। इसके अनन्तर इन्होंने विक्टोरिया पार्क से सलग्न भूमि पर 'भवहरण कुंज' नामक आश्रम बनाया। इसी स्थान पर सन् १८९२ ई० को इनका साकेतवास हुआ।

बनादास ने १८५१ ई० से १८९२ ई० तक विस्तृत कविताकाल में ६४ ग्रन्थों की रचना की थी। इन पंक्तियों के लेखक को उनमें से ६१ प्राप्त हो चुके हैं। उनकी तालिका इस प्रकार है-'अर्जपत्रिका' (१८५१ ई०), 'नाम निरूपण' (१८५२ ई०), 'रामपंचाग' (१८५३ ई०), 'सुरसरि पंचरत्न', 'विवेक मुक्तावली', 'रामछटा', 'गरजपत्री', 'मोहिनी अष्टक', 'अनुराग विवर्धक रामायण', 'पहाड़ा', 'मात्रा मुक्तावली', 'ककहरा अरिल्ल', 'ककहरा झूलना', 'ककहरा कुण्डलिया', 'ककहरा चौपाई', 'खण्डनखंग', 'विक्षेप विनास', 'आत्मबोध', 'नाम मुक्तावली', 'अनुराग रत्नावली', 'ब्रह्म संगम', 'विज्ञान मुक्तावली', 'तत्त्वप्रकाश वेदान्त', 'सिद्धान्तबोध वेदान्त', 'शब्दातीत वेदान्त', 'अनिर्वाच्य वेदान्त', 'स्वरूपानन्द वेदान्त', 'अक्षरातीत वेदान्त', 'अनुभवानन्द वेदान्त', 'वेदान्त पंचाग ब्रह्मायन द्वार' (१८७२ ई०), 'ब्रह्मायन तत्त्व निरूपण', 'ब्रह्मायन ज्ञान मुक्तावली', 'ब्रह्मायन विज्ञान छत्तीसा', 'ब्रह्मायन शान्ति सुषुप्ति', 'ब्रह्मायन परमात्म बोध', 'ब्रह्मायन पराभक्ति परत्', 'शुद्धबोध वेदान्त ब्रह्मायनसार', 'रकारादि सहस्त्रनाम' (१८७४ ई०), 'मकारादि सहस्रनाम' (१८७४ ई०), 'बजरंग विजय' (१८७४ ई०), 'उभय प्रबोधक

रामायण' (१८७४ ई०), 'विस्मरण सम्हार' (१८७४ ई०), 'सारशब्दावली' (१८७४ ई०), 'नाम परत्त' (१८७५ ई०), 'नाम परत्त संग्रह (१८७६ ई०), 'बीजक' (१८७७ ई०), 'मुक्त मुक्तावली' (१८७७ ई०), 'गुरु माहात्म्य' (१८७७ ई०), 'सन्त सुमिरनी (१८८२ ई०), 'समस्याबली' (१८८२ ई०), 'समस्याविनोद' (१८८२ ई०), 'झूलन पचीसी', 'शिवसुमिरनी', 'हनुमन्त विजय' (१८८३ ई०), 'राग पराजय' (१८८४ ई०), 'गजेन्द्र पचदशी', 'प्रह्लाद पंचदशी', 'द्रौपदीपचदशी', 'दाम दुलाई', 'अर्जपत्री', 'मोक्ष मजरी', 'सगुन बोधक' और 'बीजक राम गायत्री'।

गोस्वामी तुलसीदास के बाद रचना शैलियों की विविधता, प्रबन्ध पटुता और काव्य-सौष्ठव के विचार से ये रामभक्ति शाखा के अन्यतम कवि ठहरते हैं। इनकी रचनाओं मे निर्गुणपन्थी, सूफी तथा रीतिकालीन शैलियों का प्रयोग एक साथ ही मिलता है किन्तु प्रतिपाद्य सबका रामभक्ति ही है। अब तक इनके लिखे ग्रन्थों में से केवल 'उभय प्रबोधक रामायण' और 'विस्मरणसम्हार' मुद्रित हुए हैं।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय . भगवती प्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

बनारस अखबार— गोविन्द रघुनाथ थत्ते के सम्पादकत्व में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के स्वामित्व में यह साप्ताहिक पत्र काशी से १८४४ ई० मे निकला। इसका प्रमुख उद्देश्य भाषा का प्रचार था। साम्प्रदायिक नीति होने के कारण मिशनरियों का इसने विरोध किया। इस पत्र की भाषा-नीति-के विरोध में १८५० ई० में तारामोहन मैत्र के सम्पादकत्व में 'सुधाकर' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

—ह० दे० बा०

बनारसीदास—श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुयायी श्री माल वैश्य कुल में बनारसीदास का जन्म जौनपुर में सन् १५८६ ई० में हुआ। उनके पिता का नाम खरगसेन था और खरतरगच्छीय लघुशाखा के भानुचन्द्र उनके गुरु थे। लगभग सन् १६२३ ई० तक वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी रहे। उस समय तक रचित उनकी कृतियों में उक्त सम्प्रदाय की झलक मिलती है। उनकी ससुराल खैराबाद के निवासी अर्थमल ढोर के प्रभाव से बनारसीदास की आस्था श्वेताम्बर मत से हट गयी और वे क्रियाकाण्ड को छोड़ अध्यात्मी बन गये। रूपचन्द नामक जैन विद्वान् के प्रभाव से वे दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर झुके। परवर्ती जैनाचार्यों ने उनके मत को 'साम्प्रतिक अध्यात्ममत', 'आध्यात्मिक' या 'वाणरसीय' कहा है। बनारसीदास को वे पूर्णरूपेण दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं मानते। जैन धर्म को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए बनारसी दास ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया और उनके तथा उनके समान अन्य विद्वानों के प्रयासों के फलस्वरूप संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त सामान्य जनभाषा में भी जैन धर्म की रचनाएँ लिखी जाने लगीं। बनारसीदास के मत का समर्थन तथा विरोध करने के लिए अनेक कृतियाँ रची गयीं। जो हो, वे निर्भीक और स्वतन्त्र विचारक थे।

अपनी कृति 'अर्ध कथानक' में बनारसीदास ने अपने जीवन के पचपन वर्षों की अनेक घटनाओं का बहुत ही रोचक ढग से वर्णन किया है। वे व्यापार करते थे और बैलगाडियाँ लेकर आगरा तक आया-जाया करते थे। मार्ग मे उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता था। अनेक झझटों के बीच रहकर भी वे साहित्य रचना किया करते थे। उनका जीवन बहुत सुखी नही था। उनके कई लडके हुए किन्तु सब मर गये। अपने विषय मे उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है कि "वे क्षमावन्त, सन्तोषी हैं, कवित्त पढ़ने की कला मे दक्ष हैं, संस्कृत, प्राकृत और नाना देश-भाषाओं के ज्ञाता हैं, मिष्टभाषी हैं और जैनधर्म मे दृढ़ विश्वास रखते हैं।" अपने दोषों का भी अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। सब मिलाकर उनका पारिवारिक जीवन दुःखी था किन्तु उस दुःख को उन्होने दार्शनिक की भाति देखा, वे मस्त जीव थे।

बनारसीदास प्रतिभा सम्पन्न तथा बहुश्रुत व्यक्ति थे। अनेक प्रकार की कृतियाँ उन्होने लिखी हैं। चौदह वर्ष की अवस्था में लौकिक-प्रेम से सम्बन्धित दोहा-चौपाइयो में 'नवरस' नामक कृति की उन्होंने रचना की थी, जिसे उन्होंने स्वयं गोमती में प्रवाहित कर दिया था। उनकी प्राप्त कृतियो मे 'नाममाला' सबसे प्रारम्भ की कृति है। १७५ दोहों में समाप्त यह शब्दकोश है। वीर सेवा मन्दिर सरसावा से यह कृति प्रकाशित हो चुकी है। कुन्द-कुन्द की प्राकृत रचना तथा उस पर लिखी टीकाओं से प्रेरणा प्राप्त कर सन् १६३६ ई० में बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' की रचना दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, अरिल्ल, कुण्डलिया, सवैया और कवित्त आदि छन्दों में की। यह कृति हिन्दी और गुजराती में टीकाओं सहित प्रकाशित हो चुकी है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में इस कृति का समान रूप से प्रचार है। बनारसीदास की रचनाओं को उनकी मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद जगजीवन ने सन् १६४४ ई० में 'बनारसी विलास' के नाम से संगृहीत किया था। उसमें इनकी सभी रचनाएँ—लगभग छोटी-बड़ी ७५ कृतियाँ—संगृहीत हैं। जगजीवन ने कुछ रचनाओं का रचनाकाल भी दिया है। प्रायः सभी कृतियो का विषय धार्मिक या उपदेश प्रधान हैं। यह उनकी कृतियों के नाम से ही स्पष्ट हो जायगा—'ज्ञान बावनी', 'जिन सहस्त्रनाम', 'सूक्त मुक्तावली', 'कर्म प्रकृति विधान', 'अजितनाथ के छन्द', 'करमछतीसी', 'ज्ञान पचीसी', 'ध्यान बत्तीसी', 'पेडी', 'सूक्ति मुक्तावली', 'वेदनिर्णयपंचासिका', 'त्रेसठशलाका पुरुषों की नामावली', 'मार्गणाविधान', 'साधुवन्दना, 'सोलह तिथि', 'तेरह काठिया', 'आध्यात्म गीत', 'पंचपद विधान', 'मोहविवेकजुद्ध', 'बनारसी पद्धति' आदि। और भी इस प्रकार की अनेक कृतियो की इन्होंने रचना की है। इन छन्दोबद्ध कृतियों में काव्य की मात्रा बहुत ही कम है। मध्ययुगीन भावधारा तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए यह साहित्य मूल्यवान् है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास : कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; अर्ध कथानक : नाथूराम प्रेमी संस्करण, भूमिका; हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहास।]

—रा० तो०

बनारसीदास चतुर्वेदी—जन्म २४ दिसम्बर, १८९२ ई० को फिरोजाबद में हुआ। बनारसीदास चतुर्वेदी की गणना अग्रगण्य पत्रकार और साहित्यकारों में की जाती है, यद्यपि हिन्दी-साहित्य के प्रति अनुराग और लेखक की अभिरुचि के

लक्षण इनमे पत्रकार बनने से पहले ही दिखाई दे चुके थे। साहित्य-सृजन और सार्वजनिक सेवा ही ने इन्हें सुखी और सम्पन्न जीवन के प्रति उदासीन बना दिया और राजकुमार कालेज की स्थिर नौकरी छोड़ अस्थिर और अल्प वेतन वाले काम करने पर बाध्य किया। १९१४ ई० से ही प्रवासी भारतीयों की समस्याओं पर लिखने लगे थे। बनारसीदासजी की इन प्रवृत्तियों को यथेष्ट आश्रय पत्रकारिता में मिला। यह इनका सौभाग्य था कि ऐसे ही समय जब ये साहित्य सेवा के आदर्श से अनुप्राणित हुए, इनका सम्पर्क गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार और जननायक से हो गया। उनसे बनारसीदासजी ने जो कुछ सीखा और जो प्रेरणा पायी, उस ऋण से उऋण वे गणेशशंकरजी की स्मृति रक्षा में निरन्तर प्रयत्नशील रहकर ही हो सके।

बनारसीदासजी का पत्रकारिता-जीवन 'विशाल भारत' के सम्पादन से आरम्भ होता है। स्वर्गीय रामानन्द चटर्जी, जो 'मार्डन रिव्यू' और 'विशाल भारत' के मालिक थे, बनासीदासजी की सेवा भावना और लगन से बहुत प्रभावित थे। कलकत्ता मे रहते हुए उनका अनेक प्रमुख राष्ट्रीय नेताओ से परिचय हुआ। प्रवासी भारतीयों की समस्या में इनकी विशेष दिलचस्पी पहले से थी। इसके कारण ही महात्मा गाधी, सी० एफ० एंड्रूज और श्रीनिवास शास्त्री के विशेष कृपापात्र हो गए। इन महानुभावों का प्रवासी भारतीयों की समस्या से विशेष सम्बन्ध था। बनारसीदासजी ने 'विशाल भारत' को एक साहित्यिक और सामान्य जानकारी से परिपूर्ण मासिक पत्रिका बना दिया। इसके स्तम्भो में प्रायः सभी प्रमुख लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

'विशाल भारत' छोड़ने के बाद बनारसीदासजी ने टीकमगढ़ से 'मधुकर' का सम्पादन करना आरम्भ किया। ओरछा नरेश इनका विशेष आदर करते थे और हिन्दी प्रेमी थे। बनारसीदासजी ने वास्तव में जीवन भर पढ़ने और लिखने के सिवाय कुछ नहीं किया। उनका अध्ययन हिन्दी, संस्कृत और भारतीय साहित्य तक ही सीमित नहीं। अंग्रेजी के माध्यम से उन्होंने पाश्चात्य साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया है। बनारसीदासजी की अपनी शैली है, जो बातचीत की भाषा के निकट होते हुए भी ओजपूर्ण तथा प्रांजल है और अत्यधिक आकर्षक है। निबन्ध, रेखा-चित्र, वर्णन आदि के लिए उनके लेख-शैली विशेष रूप से उपयुक्त हैं। उनकी रचनाओ में 'रेखा-चित्र' (१९५२ ई०), 'साहित्य और जीवन' (१९५४ ई०), 'सत्यनारायण कविरत्न', 'भारतभक्त ऐंड्रूज' 'संस्मरण' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने लेखों और सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा उन्होंने अनेक तरुण लेखकों को प्रोत्साहित किया है। बनारसीदासजी ने जीवन को निकट से देखा है। इसलिए उनके रेखाचित्र सजीव हैं, वे चलते फिरते दिखाई देते हैं और बोलते से सुनाई पड़ते हैं। रेखा-चित्रों के क्षेत्र में इनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

चतुर्वेदीजी कभी-कभी अपनी डायरी लिखते हैं, जिसका सम्पूर्ण प्रकाशन हिन्दी साहित्य में अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होगा। वे रूसी लेखक संघ के आमन्त्रण पर रूस की सैर दो बार कर आये हैं और वहाँ से लौटकर उन्होंने सुन्दर लेखमाला लिखी है। दिल्ली में वे अनेक साहित्यिक संस्थाओं से किसी न किसी रूप से सम्बद्ध रहे हैं। बारह वर्ष तक राजसभा के सदस्य भी थे। यह सम्मान उन्हें अपनी हिन्दी सेवा के कारण ही मिला है। समद-सदस्य के रूप में दिल्ली-निवास की अवधि मे वे सभी साहित्यिक हलचलों के प्रमुख सूत्रधारों में रहे हैं। संसदीय हिन्दी-परिषद, हिन्दी पत्रकार संघ आदि संस्थाओं के संचालन मे रुचि लेने के साथ-साथ बनारसीदाजी को दिल्ली में 'हिन्दी भवन' खोलने का भी श्रेय है। 'हिन्दी भवन' राजधानी की साहित्यिक गतिविधि का केन्द्र बनता जा रहा है। हिन्दी भवन (दिल्ली) के अतिरिक्त सम्मेलन मे 'सत्यनारायण कुटीर', कुण्डेश्वर टीकमगढ़ में 'गाँधी भवन' अन्तर्जनपदीय परिषद, ब्रजसाहित्यमंडल, तथा शान्ति निकेतन में 'हिन्दी भवन' की स्थापना कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने का अथक प्रयास किया है। साहित्य सेवा के साथ-साथ सामाजिक सेवा भी आप का जीवन-व्रत रहा है। सन् १९१४ मे १९३६ तक आपने पूरी निष्ठा के साथ प्रवासी भारतीयो की सेवा की है। किसी भी विषय को लेकर संकलन अथवा प्रकाशन के कार्य में जहाँ कहीं कोई कठिनाई होती है, वहाँ बनारसीदासजी सदा सहायक के रूप मे तैयार रहते हैं। इसका उदाहरण स्वातन्त्र्य-सग्राम के शहीदो की जीवनियो का प्रकाशन है। शहीदों के श्राद्ध पर वे ग्रन्थो तथा विशेषांको के रूप में २२ चीजें निकल चुके हैं। सामग्री का सकलन बनारसीदासजी ने किया और इस काम का कार्यालय उनका घर ही है। इस प्रकार निशिदिन वे हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण मे संलग्न रहे। मृ० १९८५

कृतियाँ—'राष्ट्रभाषा' (१९१९ ई०), कविरत्न सत्य नारायण जी की जीवनी (१९०६ ई०), 'संस्मरण' (१९५२ ई०), 'रेखाचित्र' (१९५२ ई०), 'फिजी द्वीप मे मेरे २१ वर्ष' रानाडे की जीवनी' 'प्रवासी भारतवासी' (सन् १९१८ ई०), 'केशवचन्द्र सेन' 'फिजी मे भारतीय' 'फिजी की समस्या' 'हमारे आराध्य' 'सेतुबन्ध', 'साहित्य और जीवन'।

—ज्ञा० द०

बरवै नायिका भेद—रहीमकृत नायिका भेद के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में जाति, गुण, अवस्था आदि के अनुसार विभिन्न नायिकाओं के ७९ और नायकों के ११ भेदों का मात्र उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें मतिराम के लक्षणो को मिलाकर इसे लक्षण-लक्ष्य पद्धति का काव्य बना दिया गया है। 'समालोचक' (कृष्णविहारी मिश्र, १९२८ ई०) में यह ग्रन्थ 'नवीन-संग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ था। सम्भव है किसी 'नवीन' नामधारी कवि ने मतिराम के लक्षणों को मिलाकर इसे पूर्णता प्रदान की हो। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ—काशीराज पुस्तकालय की प्रति और कृष्ण बिहारी मिश्र की प्रति—प्रसिद्ध हैं। इसके कई सम्पादित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। मायाशंकर याज्ञिक (रहीम रत्नावली), ब्रजरत्नदास (रहिमन विलास), नकछेदी तिवारी (बरवै नायिका भेद), कृष्ण बिहारी मिश्र (बरवै नायिका भेद) और प्रभु दयाल मीतल (नायिका भेद) के संस्करण उल्लेख्य हैं। रहीम के ये बरवै अत्यन्त मोहक और कलात्मक हैं।

—रा० चं० ति०

बरवै रामायण—यह रचना तुलसीदास की है। इसमें बरवा छन्दों में रामकथा कही गयी है। रचना के मुद्रित पाठ में स्फुट ६९ बरवै हैं, जो 'कवितावली' की ही भाँति सात काण्डों में

विभाजित हैं। प्रथम छ: काण्डों मे रामकथा के छन्द हैं, उत्तराकाण्ड मे रामभक्ति के। मुद्रित पाठ को लिया जाय तो यह रचना बहुत स्फुट ढग पर निर्मित हुई है, या यो कहना चाहिए कि इसमे बहुत स्फुट ढंग पर रचे हुए रामकथा तथा रामभक्तिसम्बन्धी बरवा छन्दों का संग्रह हुआ है। किष्किन्धाकाण्ड मे सुग्रीव का राम से प्रश्न है, "कुजन पाल गुन वर्जित अकुल अनाथ, कहहु कृपानिधि राउर कर गुन नाथ।।" किन्तु यहीं पर किष्किन्धाकाण्ड समाप्त हो जाता है। लंकाकाण्ड में राम की जलधि सदृश राम की वाहिनी का एक छन्द में वर्णन किया गया है और यही एक मात्र छन्द लंकाकाण्ड की कथा का है। उत्तराकाण्ड की कथा का एक भी छन्द नहीं है।

किन्तु 'बरवा' की ऐसी प्रतियाँ भी मिलती हैं, जिनमें कथा विस्तार के साथ कही गयी है। कुछ ऐसी प्रतियाँ भी मिलती हैं, जिनमें रामकथा है ही नहीं, केवल रामभक्ति सम्बन्धी बरवै हैं। ऐसी दशा में इस रचना के पाठ की स्थिति अत्यन्त अनिश्चित हो जाती है। इतनी अधिक अनिश्चित स्थिति तुलसीदास की रचनाओं में से किसी के पाठ की नहीं है। हो सकता है कि दस-बीस स्फुट बरवै किसी समय तुलसीदास के रचे रहे हों, जिन्हें स्वतन्त्र रचना का रूप देना उन्होंने आवश्यक न समझा हो। उनके देहान्त के बाद उन्हीं इने-गिने बरवो में नवकल्पित बरवै मिलाकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियो ने भिन्न-भिन्न बरवा-संग्रह तैयार कर लिये।

इन परिस्थितियों में रचना का काल निर्धारण असम्भव है। यह रचना विभिन्न प्रतियों में जितने भी रूपो में प्राप्त है, उनमें से कोई भी रूप कवि के समय का कदाचित् नहीं है। उसके देहावसान के बाद ही संभवतः इस रचना के समस्त रूप निर्मित हुए, अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है।

—मा० प्र० गु०

बलदेव उपाध्याय—जन्म सोनबरसा, जिला बलिया (उत्तर प्रदेश) में सन् १८९९ ई० में। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की। वहीं संस्कृत के प्राध्यापक रहे। आपने दर्शन और सैद्धान्तिक साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध आकर साहित्य का उपयोग कर हिन्दी को समृद्ध बनाने की दिशा में बड़े महत्त्व का कार्य किया है। आपके इस योगदान से तथा गम्भीर लेखन की दृष्टि से हिन्दी की आन्तरिक क्षमता व्यक्त हुई है। सन् १९५७ ई० में प्रकाशित आपकी 'भारतीय दर्शन' नामक पुस्तक हिन्दी में अपने ढंग की अद्वितीय कृति है। इस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' दिया था।

कृतियाँ—'आचार्य शंकर' (जीवन चरित १९४८), 'भागवत सम्प्रदाय' (दर्शन १९५३ ई०), 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (समीक्षा १९५५ ई०), 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' (१९५५ ई०), 'बुद्ध दर्शन' (१९५५ ई०), 'भारतीय दर्शन' (१९५७ ई०)।

—श्री० शु०

बलदेव—ये दासोपुर (जिला सीतापुर) गाँव के निवासी थे। इनका जन्म १८४० ई० में हुआ था। इनका 'प्रताप-विनोद' नामक काव्य-शास्त्र का ग्रन्थ लगभग १८६९ ई० में लिखा गया। इसके अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ और प्राप्त हुए हैं—'मुक्तमाल, 'ब्रजराज-विहार' और 'शृगार-सुधाकर'। ये सभी रचनाएँ शृगारपरक और रीति-परम्परा की हैं।

—सं०

बलदेव मिश्र—ये औरगजेब के समकालीन आजमगढ़ के सस्थापक अजमत खाँ और आजम खाँ के आश्रित कवि थे। इनके नाम पर इन्होने 'अजमति खाँ यशवर्णन' नामक ग्रन्थ लिखा। इनके फुटकर छन्द सकलनो में मिलते हैं।

—सं०

बलभद्र मिश्र—ये ओरछा के सनाढय ब्राह्मण कुल के काशीनाथ के पुत्र और आचार्य केशवदास के बडे भाई थे। रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म १५४३ ई० के लगभग माना है। इनके रीति परम्परा से सम्बद्ध दो ग्रन्थ माने जाते हैं—'नखशिख' और 'रसविलास'। इनका रचना-काल १५८३ ई० के पहले माना गया है। गोपाल कवि ने बलभद्रकृत 'नखशिख' की टीका १८३४ ई० में लिखी, जिसमे इनके तीन और ग्रन्थो का उल्लेख किया है—'बलभद्री व्याकरण', 'हनुमन्नाटक', 'गोवर्द्धन सतसई टीका'। एक 'पृषण विचार' नामक पुस्तक का पता और चला है।

इनका 'नखशिख' प्रसिद्ध रहा है। इसमें नायिका के अंगों का वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है। 'रसविलास' में रसों का वर्णन अपनी विशेषता लिये हुए है। बलभद्र ने इसको महाकाव्य कहा है और इसमें संचारी, ललित और स्थायी भावों का ही वर्णन किया गया है। रस का स्वतन्त्र वर्णन नहीं है, वरन् इन वर्णनों के अनेक उदाहरण रसपूर्ण हैं। इनके काव्य में इनका भाषा पर अधिकार और पांडित्य प्रत्यक्ष है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

बलराम—महाभारत और पुराणों मे कृष्ण के साथ उनके भाई बलराम अथवा बलभद्र का उल्लेख प्रायः सर्वत्र हुआ है। परन्तु बलराम के जन्म का वर्णन कदाचित् सबसे पहले हरिवंश में ही मिलता है। बलराम देवकी के सातवें पुत्र थे परन्तु देवकी के गर्भ से ही उन्हें योगमाया के द्वारा संकर्षित करके रोहिणी के गर्भ में धारण कर दिया गया था। रोहणी वसुदेव की दूसरी पत्नी थीं, जिसे उन्होंने प्रसव के पूर्व ही नन्द के यहाँ भेज दिया था। इस प्रकार नन्द के यहाँ ही बलराम का जन्म हुआ। गर्भ संकर्षण के कारण बलराम का नाम संकर्षण पड़ा। श्रीमद्भागवत में कृष्णकथा के अन्य प्रसंगों की भाँति बलराम के जन्म और चरित्र के भी विवरण विस्तार से दिये गये हैं। वे शेषनाग के अवतार हैं तथा कृष्ण के दैवत् रूप के एक अंश हैं। अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण ही उनका नाम बलराम है। कृष्ण की असुर संहार-लीला में वे उनकी सहायता करते हैं। कंस द्वारा भेजे गये प्रलम्ब और धेनुक नामक असुरो का उन्होंने ही वध किया था। कंस द्वारा आयोजित धनुष-यज्ञ में भी वे कृष्ण के साथ मथुरा गये थे और कंस के मल्ल मुष्टिक का उन्होंने ही वध किया था। गदा-युद्ध में वे अत्यन्त निपुण थे। दुर्योधन को उन्होंने एक बार पराजित किया था, अतः दुर्योधन ने उनसे गदायुद्ध की शिक्षा ली थी, इसीलिए कृष्ण ने उन्हें युद्ध के पूर्व तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए भेज दिया था। कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय उन्होंने ब्रज की यात्रा भी की थी और

वहाँ अपने बल-प्रयोग के द्वारा यमुना के साथ मनमानी की थी (दे० सूर० पद ४८२१-४८२३)। हरिवंश से लेकर भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त तक सभी पुराणों में बलराम का स्वभाव क्रोधी और उद्दण्ड चित्रित किया गया है। मद्यपान उनके स्वभाव का अभिन्न अंग कहा गया है (दे० सूर० पद ४८१९-४८२०)। हल और मूसल उनके प्रमुख शस्त्र हैं, जिनके कारण उन्हें हलधर और मूसलधर भी कहा गया है।

सूरदास ने बलराम को कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के एक अंश के रूप में चित्रित किया है। एक पद मे सूरदास कहते हैं—वे रोहिणी सुत राम हैं। उनका रंग गौर है, लोचन सुरंग (लाल) हैं, मानो उनमें प्रलय का क्रोध प्रकट हुआ हो। एक श्रवण मे वे कुण्डल धारण किये हुए हैं।. .अंग पर नीलाम्बर पहने हैं, वे श्याम की कामना पूर्ण करने वाले हैं। उन्होंने तालवन मे वत्स को मारकर ब्रह्मा की कामना पूर्ण की थी। वे सूर प्रभु को आकर्षित करते हैं, इससे उनका नाम संकर्षण है (पद ३६६३)। अवस्था मे कृष्ण से बड़े होने के कारण वे कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव रखते हैं, यद्यपि कृष्ण के क्रीड़ा और गोचारण सहचर होने के कारण वे उनके सखा ही हैं। बलराम के चरित्र की सबसे बडी विशेषता सूरदास ने यह दिखाई है कि वे कृष्ण के वास्तविक रूप से परिचित हैं और उनकी लीलाओं का रहस्य जानते हैं। कृष्ण की मानव-लीलाओं को देखकर वे निरन्तर उनके अति प्राकृत व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हुए आश्चर्य प्रकट करते देखे जाते हैं। खेल में कृष्ण को चिढ़ाने के लिए जब वे यह कहते हैं कि न तो इसकी माँ है और न इसका बाप तथा यह हार-जीत कुछ नहीं समझता, इसीलिए सखाओ मे झगड़ा करने लगता है, तब बलराम के कथन में कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व का संकेत छिपा रहता है। सूरदास ने बलराम के द्वारा कृष्ण के माता-पिताहीन होने का अनेक बार उल्लेख कराया है। कृष्ण के प्रति बलराम का भ्रातृ-स्नेह उलूखल-बन्धन के प्रसंग में सबसे अधिक तीव्र रूप में प्रकट हुआ है। कृष्ण को बँधा देखकर वे अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं। पहले वे कृष्ण की स्नेहपूर्ण भर्त्सना करते हैं फिर यशोदा से अत्यन्त विनीत प्रार्थना करते हैं कि कृष्ण को बन्धन से छोड़ दें, चाहे उसके बदले मुझे बाँध दें। यशोदा की निष्ठुरता की निन्दा करते हुए वे अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और उन्हें धमकी तक देने लगते हैं। ऊलूखल-बन्धन से कृष्ण को बलराम ही छुड़ाते हैं और उन्हें हृदय से लगाकर उनका दुःख दूर करते हैं। सूरदास ने इस प्रसंग में बलराम का एक स्नेहशील अग्रज के रूप में स्वाभाविक चित्रण किया है। यद्यपि उन्होंने बलराम के इस स्वगत कथन का भी उल्लेख कर दिया है, जिसमे वे कहते हैं कि उन्हें कौन बाँध सकता है और कौन छोड़ सकता है, वे ही तो उत्पत्ति और प्रलय करते हैं। गोचारण के लिए वन जाने की आज्ञा कृष्ण को बलराम की सहायता से ही मिलती है। वन में जितने असुरों का कृष्ण ने संहार किया, उनमें से वत्स और धेनुक को बलराम ने ही मारा था। प्रलम्बासुर का वध भी उन्हीं के संकेत से हुआ था। असुरों के वध के अतिरिक्त अन्य लीलाओं में भी कृष्ण को उनसे सहायता मिलती है। कालियदह और गोवर्द्धनधारण के प्रसंगों में ब्रजवासियों को आश्वासन देकर उनकी व्याकुलता को दूर करने का सफल प्रयत्न बलराम ही करते हैं। कृष्ण भी उनका समुचित सम्मान करते हैं और जैसा कि यशोदा कहती हैं कृष्ण यदि किसी से सकुचते हैं तो केवल अपने 'बलभइया' से। कृष्ण को बलराम की सहायता अपने सभी संहार और उद्धार के कार्यों में मिलती है। सूरदास ने कृष्णलीला के इस पक्ष के वर्णन में बलराम को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। कृष्णावतार के मर्यादा-रूप के उद्देश्य की पूर्ति कराना बलराम पर निर्भर है। कृष्ण के मथुरा प्रस्थान के समय वे माता यशोदा को संसार की क्षणभंगुरता का उपदेश देते हैं और कृष्ण के महान् उद्देश्य की पूर्ति का संकेत करते हैं। सूरदास ने भी बलराम के मद्यपान का उल्लेख किया है और कहा है कि वारुणी उन्हें अत्यन्त प्रिय है। द्वारका मे जब वे ब्रज जाते हैं तो सुरापान मे उन्मत्त होकर वे कालिन्दी के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। ऐसा अनुमान होता है कि बलराम कृष्ण के तामस रूप के प्रतीक हैं। सूरदास ने कृष्ण से उनकी अभिन्नता के कारण कृष्ण-बलराम को अपने इष्टदेव के रूप मे स्वीकार किया है।

परवर्ती कृष्ण-काव्य में कृष्ण के साथ बलराम का नामोल्लेख तो कहीं-कहीं हो गया परन्तु उनके कार्यों का वर्णन बिल्कुल नहीं किया गया। कारण यही है कि परवर्ती कृष्ण-काव्य माधुर्य-भाव और श्रृंगार-रस से परिसीमित है। आधुनिक काल में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने 'प्रियप्रवास' में बलराम का कृष्ण के भ्राता के रूप में सामान्य उल्लेख किया है तथा उनके उत्साहपूर्ण कृत्यों, शौर्य और पराक्रम का भी किंचित् परिचय दिया है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' मे बलराम के माध्यम से अतीत के गौरव का ज्ञान कराया है और यद्यपि कृष्ण के मथुराप्रस्थान के समय वे कृष्ण के साथ ही थे फिर भी उनके द्वारा कृष्ण को स्मरण कराया है। कृष्ण-सम्बन्धी अन्य काव्यों में बलराम की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

[सहायक ग्रन्थ—सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

—ब्र० व०

बलवीर—इतिहास ग्रन्थों और खोज विवरणों में इनके 'उपमालंकार' तथा 'दम्पति विलास' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की चर्चा हुई है। पहले का रचना-काल १६८४ ई० और दूसरे का १७०२ ई० माना गया है। इस आधार पर इनके उपस्थित काल का अनुमान भी लगाया जा सकता है।

—सं०

बलि—बलि एक दैत्यराज के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये प्रह्लाद के पौत्र तथा विरोचन के पुत्र थे। बलि की पत्नी का नाम विन्ध्यावली कहा जाता है। कठोर तपस्या से संचित शक्ति के आधार पर बलि ने इन्द्र को भी पराजित किया था। इस प्रकार इसने तीनों लोकों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। बलि ने अन्त में अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करके दान देना प्रारम्भ किया। इससे इन्द्र को बलि द्वारा अपने पद के हस्तगत हो जाने का सन्देह हुआ। अतः इन्द्र की प्रार्थना पर विष्णु वामन रूप में बलि के सामने उपस्थित हुए। वामन ने बलि की प्रशंसा की तथा उससे तीन पग भूमि की याचना की। बलि इससे बड़े आश्चर्यचकित हुए। बलि के गुरु शुक्राचार्य ने उस समय उन्हें अस्वीकृति देने के लिए कहा। वे समझ गये कि वामन विष्णु के प्रतिरूप हैं किन्तु बलि ने उनका कहना नहीं माना। उन्होंने

कहा कि अपने द्वार पर आये हुए किसी भी व्यक्ति को मैं निराश नहीं जाने दूँगा। दान के संकल्प-पाठ के समय शुक्राचार्य ने जलपात्र की टोटी में बैठकर उसे अवरुद्ध कर दिया। सीके से जब जल को बाहर निकालने का यत्न हुआ तो शुक्राचार्य की आँख फूट गयी। इसके अनन्तर जब दान लेने का समय आया तो वामनरूपधारी विष्णु ने अपना अनन्त विस्तार किया तथा एक पग से समस्त भूमण्डल तथा दूसरे पग से स्वर्ग को नाप लिया। तीसरा पग उठाने पर उन्हें पग रखने की जगह भी न मिली। बलि से प्रश्न करने पर उसने अपने मस्तक पर रखने की बात कही। विष्णु ने इसे स्वीकार करके तीसरा पैर बलि के मस्तक पर रख दिया। बलि की यह अवस्था देखकर इस परिस्थिति से उनकी रक्षा हेतु स्वयं प्रह्लाद प्रकट हुए। उनके अनुनय, विनय तथा स्वयं बलि के पुण्य कार्यों से प्रसन्न होकर विष्णु ने बलि को विश्वकर्मा द्वारा निर्मित सुतल में रहने की आज्ञा प्रदान की तथा अन्त मे इन्द्रपदप्राप्ति का भी वरदान दिया। बलि उनकी आज्ञा स्वीकार कर उस रोग, जरा, मृत्युहीन लोक में जाकर अवस्थित हो गये।

—रा० कु०

बलिराम—इनके 'रस-विवेक' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। १७वीं शताब्दी का अन्त इनका समय माना जा सकता है।

—सं०

बलदेवप्रसाद मिश्र १—जन्म १८९८ ई० में राजनाँदगाँव (मध्यप्रदेश) में हुआ। शिक्षा एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्० तक। 'साकेत सन्त' (१९४६ ई०) आपका प्रसिद्ध महाकाव्य है। 'तुलसी दर्शन' आपकी शोध-कृति है।

—सं०

बलदेवप्रसाद मिश्र २—जन्म २९ अप्रैल, सन् १९१३ ई० मे काशी में तथा मृत्यु २० मई, सन् १९५६ ई० मे लखनऊ में। आपकी कहानियों के दो संग्रह काशी से सन् १९४७ ई० में प्रकाशित हुए हैं—'उलूकतन्त्र' और 'शवसाधन'। 'उलूकतन्त्र' में हास्यरस की कहानियों का संग्रह है और 'शवसाधन' में विभिन्न प्रकार की कहानियों का। आपकी कहानियाँ उच्चकोटि की हैं।

कृतियाँ—'अनुभूति', 'शवसाधन', 'उलूकतन्त्र' (कहानी संग्रह), 'दीपदान', और 'ब्रज-विभूति' (कविता संग्रह), 'मौलिकता का मूल्य' (लघुकथा, निबन्ध)।

—सं०

बहराम ओ गुल अंदाम—यह रचना दक्खिनी हिन्दी का एक प्रेमाख्यान है, जिसके रचयिता का नाम 'तबई' है। 'तबई' ने इसका रचनाकाल सन् १६७० ई० (१०८१ हि०) दिया है और कहा कि उसने इसे "रात दिन बेहिसाब" परिश्रम करके और "फिक्र" के साथ "चालीस दिनों में" लिखा है तथा इसके अन्तर्गत १३४० "वेतवेता" (अथवा शेर) गिने जा सकते हैं। इस रचना का नायक ईरान के सासानी वंश का चौदहवाँ बादशाह बहराम गोर (सन् ४२१-३८ ई०) है, जिसके विषय में प्रसिद्ध फारसी कवि 'निजामी गंजवी' (सन् ११४०-१२०३) ने 'हफ़ पेकर' या 'बहरामनामा' की रचना की है तथा यह भी प्रसिद्ध है कि इसी की जीवनी से सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर एक अन्य ऐसे ही कवि 'हातिफी' (मृत्यु सन् १५२१ ई०) ने भी अपना 'हफ़ मजर' काव्यग्रन्थ लिखा है। भारत के कवियों मे से भी अमीर खुसरो (सन् १५२३-१५२५ ई०) ने इस विषय पर फारसी में अपनी 'हम्न बिहिश्त' नामक रचना प्रस्तुत की है, जिसका दक्खिनी हिन्दी अनुवाद मलिक खुशनोद ने सन् १६४५ ई० (१५२६ हि०) मे किया है और निजामी की उक्त रचना का भी बगला अनुवाद अलाओल कवि ने सन् १६६० ई० मे किया है तथा दक्खिनी मे ही प्रायः स्वतन्त्र रूप से 'अमीन' ने सन् १६२० ई० मे 'बहराम ओ हुस्नबानू' का लिखना आरम्भ किया था, जिसे फिर सन् १६३८ ई० में 'दौलत' ने पूरा किया 'तबई' के लिए इस प्रकार के सभी काव्यग्रन्थ किसी न किसी रूप मे अपने आदर्श का काम दे सकते थे। 'तबई' के बाद मुहम्मद सैयदुद्दीन ने हैदराबाद में अपनी पुस्तक 'किस्सा बहराम ओ दिन आराम' की रचना की। अंग्रेज लेखक डा० आर्वेरी ने फारसी साहित्य के प्राचीनतम इतिहास के रचयिता 'ओफी' के आधार पर बतलाया है कि बहराम गोर ने ही फारसी का प्रथम पद्य भी रचा था। वह बादशाह एक बहुत बड़ा शिकारी था और अपने विशेष कर 'गोरखर' या जंगली गधे के शिकार के ही कारण वह 'गोर' कहलाकर प्रसिद्ध हुआ था। उसकी सात प्रमुख बेगमें थीं, जो सात भिन्न-भिन्न देशों की थीं, जो उसके साथ विभिन्न उद्यानों में रहती थीं और जिन सभी से वह प्रेम करता था। 'तबई' ने 'बहराम ओ गुल अन्दाम' के अन्तर्गत इसी बादशाह के विलासप्रिय जीवन पर प्रकाश डाला है। इस रचना का कोई सुन्दर प्रामाणिक संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं है और यह अधिकतर हस्तलिखित रूप में ही पाया जाता है। इसकी एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम में भी उपलब्ध है। कवि ने इसे नियमतः परमात्मा की स्तुति से ही आरम्भ किया है और फिर हजरत मुहम्मद, हजातअली तथा शाहराजू की भी प्रशसा या वन्दना की है। उसने यहाँ पर यह भी लिखा है कि किसी दिन स्वप्न में प्रसिद्ध कवि वजही ने आकर मेरी मसनवी की प्रशंसा की। काव्य-रचना का उद्देश्य यह अक्षयकीर्ति ही देता है।

मूल कथा का सारांश इस प्रकार है—बहराम ईरान के बादशाह यज्देगिर्द का पुत्र था और वह आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के लिए अरब प्रदेश में भेजा गया। वहाँ पर वह हीरा के अरब बादशाह नोमन के सरक्षण मेंरहने लगा, जिसने अपने पुत्र मंजन के साथ उसे उचित शिक्षा देना आरम्भ किया। शाहजादा बहराम के रहने के लिए उसने एक राजमहल पृथक् बनवा दिया, जो 'खबरनक' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ से वह प्रायः शिकार खेलने के लिए अपने घोड़े 'अशकर' पर निकल पड़ता और जंगली जानवर तथा विशेषकर बनैले गधों का शिकार किया करता। एक दिन उसे खबरनक महल के किसी गुप्त अंश में सुन्दरी राजकुमारियों के सात चित्र मिल गये, जो सात विभिन्न देशों की थीं और वह उन पर मोहित हो गया परन्तु लगभग उसी समय उसे अपने यहाँ से बादशाह यज्देगिर्द की मृत्यु का समाचार मिला, जिस कारण उसे ईरान वापस जाना पड़ गया। ईरान का सिंहासन सूना पाकर कर्मचारियों ने किसी व्यक्ति को उस पर बिठा दिया था, जिसे हटाने के लिए शाहजादे ने एक प्रस्ताव रखा। इसने कहलाया कि ईरानी राजमुकुट को दो सिंहों के बीच रख दिया जाय और उसे जो वहाँ से प्राप्त कर ले, उसे ही बादशाह बनाया जाय। तदनुसार दो

भयानक सिंहों के बीच उसे रखा गया तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी के हिचकने पर शिकारी शहजादे ने उसे सरलतापूर्वक हाथ में कर लिया। राज्य प्राप्त कर लेने पर बहराम ने सर्वप्रथम अपने अभिभावक नोमन को अनेक प्रकार के भेंट अर्पित किये और फिर दूसरों को भी सन्तुष्ट किया।

तदुपरान्त उसने फिर अपनी आखेटप्रियता का परिचय देना आरम्भ किया। वह नित्यप्रति इसके लिए निकलने लगा और अपने साथ अधिकतर अपनी प्रेयसी दासकन्या फितना या 'दिलाराम' को भी ले जाने लगा, जो अवकाश के क्षणों में उसका मनोरंजन संगीत द्वारा किया करती थी। एक दिन संयोगवश जब उसने तीर चलाने में विशिष्ट हस्तकौशल दिखलाया तो फितना ने उसकी सराहना नहीं की, प्रत्युत उसके प्रश्न कर उठने पर इसने यहाँ तक कह डाला कि यह तो केवल अभ्यास का परिणाम है, जो किसी दूसरे के लिए असम्भव भी नहीं है। बहराम गोर को यह सुनकर बड़ा क्रोध आया और उसने इसे मार डालने की आज्ञा दे दी परन्तु फितना ने मारनेवाले से कह-सुनकर उस समय अपने को बचा लिया और किसी निवास गृह में छिपकर रहती हुई वह वहाँ अपने कन्धे पर एक नवजात बछड़ा लेकर सात सीढ़ियों से नित्यशः चढ़ने-उतरने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि चार वर्ष के भीतर उसका शरीर क्रमशः अधिकाधिक पुष्ट और सुडौल बनता चला गया। फलतः एक दिन जब वहाँ आये हुए बहराम गोर की दृष्टि उस पर पड़ी और उसने इसके उक्त अभ्यास की कहानी सुनी तो वह इसे पहचानकर और भी अधिक प्रसन्न हुआ तथा न केवल उसने इसे फिर स्वीकार कर लिया, अपितु इस घटना की स्मृति में उसने वहाँ एक नवीन महल भी बनवा दिया। बहराम गोर ने इसी बीच कई युद्धों में शत्रुओं पर विजय प्राप्त की तथा चीनी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना करके उन्हें पीछे खदेड़ दिया।

सभी ओर शान्ति स्थापितकर लेने पर उसका ध्यान फिर उन सात चित्रों की ओर आकृष्ट हुआ, जो सात सुन्दरी राजकुमारियों के थे। तदनुसार उसने उनके देशों के राजाओं के यहाँ कहला भेजा कि अपनी-अपनी राजकुमारी का विवाह मेरे साथ कर दीजिये। उन राजाओं के यहाँ से स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर इसने विवाह कर लिये तथा उन पत्नियों के रहने के लिए किसी नवनिर्मित विस्तृत महल के सात उद्यान-खण्ड पृथक-पृथक सुसज्जित कराये। इनमें से प्रत्येक खण्ड को एक विशेष रंग से रंगा गया और उसी के उपयुक्त वहाँ पर बेगम भी ठहरायी गयी। वह उसी रंग में रंगा हुआ वस्त्र पहनकर स्वयं भी सप्ताह के दिन क्रम से उनसे मिला करता और वे अपनी-अपनी पारी से लम्बी कथा कहकर उसका मनोरंजन किया करतीं। तब तक उसके कतिपय प्रबन्ध-मन्त्री राज्य कार्य में कुछ न कुछ अनर्थ करते जा रहे थे, जिन्हें दण्ड देना उसके लिए आवश्यक हो गया और एक गड़ेरिये तथा उसके दुष्ट कुत्ते की घटना से प्रेरणा प्राप्त कर उसने उन्हें कठोरता के साथ दण्डित किया। अन्त में जंगली गधों के लिए आखेट में जाने पर ही एक बार वह किसी दलदल में फँस गया, जहाँ से किसी भी प्रकार निकल नहीं सका और 'गोर' ही वस्तुतः उसकी 'गोर' (कब्र) भी बन गये।

'तबई' ने 'बहराम ओ गुलअंदाम' के अन्तर्गत नायक एवं नायिका के जीवन पर पौराणिकता का रंग अधिक चढ़ाया है। इस रचना के अनेक स्थलो पर उसने असाधारण एव चमत्कारपूर्ण बातों को स्थान दिया है तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी किया है। वास्तव मे बहराम गोर एक ऐतिहासिक व्यक्ति होता हुआ भी भारतीय नरेश उदयन की भाँति बहुत काल तक लोकप्रिय काव्यों का नायक बनता आ रहा था और उसके विषय में अनेक प्रकार की अतिरंजित घटनाओ की कल्पना की जा चुकी थी तथा वे काव्य-रूढ़ियो की कोटि तक पहुँची कही जा सकती थी। 'तबई' ने प्रायः उन सभी का समावेश अपनी इस रचना के अन्तर्गत कर दिया है, जिसके कारण इसमें यथार्थता का अंश अल्पमात्र रह जाता है। फिर भी एक ओर जहाँ वर्ण्य-विषय अतिप्राकृत सा प्रतीत होता है, वहाँ दूसरी ओर इसमें वर्णनशैली के काव्योत्कर्ष को पूरा प्रश्रय मिलता भी दीख पडता है। इसका कवि इस दृष्टि से उन बहुत से ऐसे काव्य रचयिताओ से अधिक सफल कहा जा सकता है, जिन्होने उसके पहले या पीछे भी इस विषय को लिया है तथा इसी कारण केवल इस एक ही उपलब्ध रचना के भी आधार पर वह अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवियो तक मे गिना जाता है। उसे स्वयं भी अपने काव्य-कौशल पर गर्व है, जिसका एक पुष्ट आधार प्रदर्शित करने के लिए ही उसने अपने उपर्युक्त स्वप्न एवं वजही के साथ उसमे हुए अपने कल्पित वार्तालाप की ओर संकेत किया है तथा इस प्रकार उसके व्याज से इसका एक प्रमाण उपस्थित कर देता है। पता नहीं उसने इस रचना में अपने पूर्ववर्ती कवियों से कहाँ तक सहायता ली है अथवा वह उनका कहाँ तक ऋणी कहा जा सकता है परन्तु इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि यदि उसने किसी फारसी रचना का अनुवाद भी किया होगा तो भी यहाँ पर उसके कारण कोई हल्कापन नहीं आ पाया है।

[सहायक ग्रन्थ—उर्दू एकदीम : हकीम सैयद शम्सुल्ला कादरी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९२५ ई०; योरप में दक्खिनी मखतूतात : नसीरुद्दीन हाशमी, हैदराबाद, सन् १९३२ ई०; दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, पटना, १९५९ ई०; ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर : टी ग्राहम बेली, एसोसियेशन प्रेस, कलकत्ता, सन् १९३२ ई; क्लासिकल परसियन लिटरेचर : लन्दन, सन् १९५८ ई०।]

प० च०

बाइबिल—ईसाई धर्म का आधारभूत ग्रन्थ। इसके दो रूप हैं—'ओल्ड टेस्टामेण्ट' और 'न्यू टेस्टामेण्ट'। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' उसका पूर्व ऐतिहासिक रूप है, जो ३९ पुस्तकों का संकलन है। यह तीन वर्गों में विभाजित है—(क) नियम, (ख) भविष्यवाणी, धर्मोपदेश, और (ग) मिश्रित विषय। बाइबिल का प्राचीनतम रूप हिब्रू भाषा में सुरक्षित है। ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेण्ट मत के समर्थक 'बाइबिल' के कुछ सन्देहपूर्ण स्थलों को पृथक् करके उसका प्रयोग करते हैं किन्तु रोमन कैथोलिक मत के लोग 'क्वीन्स बाइबिल' को मान्यता देते हैं, जिसमें प्रोटेस्टेण्ट-मतवालों द्वारा बहिष्कृत अंश भी सम्मिलित रहता है। उसी की साक्षी देकर राजा को राज्याभिषेक के समय प्रतिज्ञा दिलाई जाती है। 'न्यू टेस्टामेण्ट' की बाइबिल ग्रीक भाषा में लिखी गयी थी तथा ऐसी प्रसिद्धि है कि ईश्वर प्रदत्त सन्देशों के आधार पर देव पुरुषों द्वारा इसकी रचना हुई किन्तु

इस सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्पूर्ण बाइबिल का लैटिन भाषा में अनुवाद ४०० ई० के लगभग हुआ। बाइबिल के कुछ अशो का प्राचीन अंग्रेजी मे अनुवाद ८वी शती मे हुआ था। तदनन्तर धर्मपुरुष बेडने सेण्ट जान के उपदेशो का अंग्रेजी मे अनुवाद किया। सन् १५३५ ई० मे कडर्वेलका सम्पूर्ण बाइबिल का अनुवाद प्रकाश मे आया। इसका पूर्ण प्रामाणिक संस्करण सन् १६११ ई० में जेम्स प्रथम के राज्यकाल में प्रकाशित हुआ था। सुन्दर शब्द चयन के कारण इसका अत्यन्त महत्त्व है। इसका परिवर्धित अमेरिकन संस्करण सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ ईसाई धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के अनुशीलन में बाइबिल आधारभूत ग्रन्थ है।

ईसाई मिशनरियों ने धर्मप्रचार के सिलसिले में बाइबिल के अनेक हिन्दी अनुवाद किये। सन् १८०६ ई० में डा० व्यूकमैन अपने साथ मालवार के सीरियन ईसाइयों का सीरियन भाषा में लिखा हुआ बाइबिल अपने साथ ले आये थे किन्तु इसका प्रयोग अल्प मात्रा में ही होता था। भारतीय भाषाओं में बाइबिल के अनुवादो की परम्परा को प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयो के द्वारा विशेष बल मिला। भारतीय भाषाओं में जीगनबाल्गकृत बाइबिल का तमिल अनुवाद सर्वप्रथम प्रकाश में आया। इसी समय उनके मित्र शुदज ने बाइबिल का एक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। १९वीं शती में फोर्ट विलियम कालेज और डेनिश मिशन के द्वारा बाइबिल के हिन्दी अनुवादों को विशेष प्रोत्साहन मिला। फोर्ट विलियम कालेज में पण्डितों और मुंशी लोगो की सहायता से बाइबिल के अनुवादों का कार्य एक विभाग के अन्तर्गत नियोजित किया गया। ब्राउन और व्यूकमेन, कोलब्रूक और विलियम हण्टर ने बाइबिल के हिन्दुस्तानी रूपान्तर प्रस्तुत किये। कैरे के निर्देशन में (सन् १८०७-१८११ ई०) मे 'न्यू टेस्टामेण्ट' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत हुआ तथा (सन् १८०९-१८११ ई०) छपकर तैयार हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का भी पृथक्-पृथक भागों में हिन्दी रूपान्तर (सन् १८१३-१८१८ ई० तक) भी प्रकाशित किया किन्तु ये अनुवाद अरबी-फारसी शब्दो के प्रयोग के बाहुल्य के कारण आगरा तथा उसके निकटवर्ती भूभागों में समादृत न रहे, जिसके फलस्वरूप चैम्बरलैन ने भाषा-विषयक संशोधनों के साथ उसे पुनः प्रकाशित किया। उसके पश्चात् कैरे ने (सन् १८१२-१८१८ ई० तक) बाइबिल का हिन्दी अनुवाद पाँच भागों में प्रकाशित किया। सन् १८५१ ई० में कैरेकृत 'उत्पत्ति की पुस्तक' और 'एक्सोड्स' का कुछ अंश का संशोधित संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। बाइबिल के इसके बाद के अनुवादों में हेनरी मार्टिनकृत 'न्यू टेस्टामेण्ट' के मौलवियों और पण्डितों की सहायता से अरबी लिपि (सन् १८१४-१८१५ ई०) तथा देवनागरी लिपि सन् १८१७ ई० में तैयार किये गये अनुवाद छपे। अरबी-फारसी के शब्दों के बाहुल्य के कारण यह लोकप्रिय न हो सका। अतः विलियम बाऊले ने संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके 'हिन्दई' भाषा में इसका रूपान्तर किया। इसके बाद कलकत्ते की एक बाइबिल सोसायटी द्वारा 'मती', 'मरकस' और 'लूक' नामक तीन सुसमाचार सन् १८१४ ई० में तथा 'यहून्ना' रूपान्तर सन् १८२० ई० में प्रकाशित हुए। सन् १८२६ ई० में सम्पूर्ण 'न्यू टेस्टामेण्ट' का हिन्दी रूपान्तर 'जगत तारक प्रभु ईसा मसीह का नया नियम—मंगल समाचार' नाम से चर्च मिशन प्रेस से छपा। बाऊले ने 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का हिन्दी अनुवाद दो भागों में (१८३४-१८३५ ई०) में प्रकाशित किया, जो बाइबिल के अंग्रेजी संस्करण पर आधारित था। इस प्रकार मार्टिन के बाद बाऊले के 'बाइबिल' के अनुवादों का कार्य विशेष महत्त्व का कहा जा सकता है।

इसके बाद भी बाइबिल के हिन्दी अनुवादों की परम्परा का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। बाऊले के परवर्ती बाइबिल के अनुवादों में येट्स और ऐड्लेसिलीकृत 'न्यू टेस्टामेण्ट' का हिन्दी अनुवाद (सन् १८४८, परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण सन् १८६८ ई०), बार्थ द्वारा सम्पादित 'न्यू टेस्टामेण्ट' का अनुवाद (सन् १८४९ ई०), जोजेफ ओवेनकृत 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का संशोधित अनुवाद दो भागों में (सन् १८५२ तथा १८५५ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु ये सब १९वीं शती पूर्वार्द्ध के हैं। सन् १८५० ई० के बाद के बार्थ की 'हिस्ट्री आफ दि बाइबिल' का 'धर्म पुस्तक के इतिहास' नामक अनुवाद उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त सन् १८७८ ई० के अमेरिकन संस्करण के आधार पर ओल्ड और न्यू टेस्टामेण्ट का हिन्दी रूपान्तर कैलसो नामक पादरी ने प्रस्तुत किया। सन् १८८३ ई० और १८९५ ई० के हिब्रू के ओल्ड टेस्टामेण्ट के अनुवाद भी महत्त्वपूर्ण हैं।

बाइबिल के इन अनुवादों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का खण्डन करने के उद्देश्य से मिशनरियों ने ईसाई धर्म तत्त्व निरूपक कुछ स्फुट संग्रह भी प्रकाशित किये। इनमें जे० डी० टाम्सन का 'दाऊद के गीत' (सनं १८३६ ई०), जान पारसमका 'गीत संग्रह', जान म्योर 'ईश्वरोक्त शास्त्र-धारा' (सन् १८४६ ई०) और टाम्पसनकृत 'इंजील की तफसीर' उल्लेखनीय हैं। १९वीं शती तक बाइबिल के हिन्दी अनुवादों की इस सशक्त परम्परा का उद्देश्य भारत में ईसाई धर्म का प्रचार मात्र था, हिन्दी गद्य को शक्ति प्रदान करना नहीं। फिर भी इनकी भाषा नीति और योजना से हिन्दी गद्य को प्रकारान्तर से अनेक पुष्टतत्त्व प्राप्त हुए। संस्कृत शब्दावली की प्रधानता इनकी भाषागत उल्लेखनीय विशेषता है। इसके अतिरिक्त ईसाइयों ने लोकभाषाओं की भी शब्दावली का यथास्थान प्रयोग किया है। भाषा में रूपकों और प्रतीकों का प्रयोग तथा प्रेषणीयता का युगपत् निदर्शन इन्हें सामान्य भारतीय जनता के निकट लाने में सहायक हुआ। भाषा के अतिरिक्त इनके अन्तर्गत जीवनी-साहित्य की भी परम्परा पल्लवित हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—आधुनिक हिन्दी साहित्य और आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।]

—रा० कु०

बाणभट्ट—हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का केन्द्रीय पात्र। उसके बाह्य जीवन के आधार पर लोग उसे 'बंड' और आवारा समझते थे। पर वह अत्यन्त सहृदय, साहसी, मेधावी तथा संयमी था। नारी शरीर को वह देवमन्दिर की भाँति पवित्र समझता था। यह उसकी उदात्त रोमाण्टिक प्रवृति थी। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वह भट्टिनी का स्नेहभाजन हो सका, निउनिया में देवता का दर्शन कर सका और स्वयं को काव्य के क्षेत्र में इतनी ऊँचाई पर उठा

पाया।

—ब० सिं०

बाणभट्ट की आत्मकथा—हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रारम्भ मे यह कथा 'विशाल भारत' मासिक मे प्रकाशित होती रही। पुस्तक के रूप में यह पहली बार सन् १९४६ ई० में छपी। इसके तीन संस्करण हो चुके हैं। साहित्य अकादमी द्वारा संविधान में स्वीकृत देश की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो भी चुका है।

बाणभट्ट और हर्ष की कृतियाँ इस उपन्यास के मुख्य उपजीव्य हैं। पर लेखक ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं और काल्पनिक प्रसगों के संयोग से इसे जो रूप दिया है, वह इसे विश्व उपन्यास की श्रेणी मे ला खड़ा करता है। बाणभट्ट घुमक्कड़ व्यक्ति है और वह इसका केन्द्रीय चरित्र है। सम्पूर्ण कथा उसके चतुर्दिक घूमती है। एक दिन घूमते-घूमते वह स्थाणीश्वर पहुँचा। वहाँ नाटच-मण्डली की अभिनेत्री निपुणिका (निउनिया) से उसकी भेंट हुई। निपुणिका ने उसे बताया कि मौखरिवंश के छोटे घराने में एक साध्वी राजकुमारी अपनी इच्छा के विरुद्ध बन्दी है। निपुणिका और बाणभट्ट ने उसका उद्धार किया। वह विषम समर विजयी, बाल्हीक विमर्दन प्रत्यन्त बाडव देव पुत्र तुवर मिलिन्द की राजकन्या थी। हर्ष के छोटे भाई कुमार कृष्ण की सहायता से ये लोग नौका द्वारा दक्षिण भेज दिये गये।

रास्ते मे उन्हे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किसी तरह ये लोग मध्येश्वर दुर्ग के आभीर सामन्त लोरिक देव के आश्रम मे पहुँच गये। देश पर दस्युओं का आक्रमण होने वाला था। केवल तुविर मिलिन्द ही ऐसे व्यक्ति थे, जो आक्रमणकारियों से देश की रक्षा कर सकते थे। स्थाणीश्वर नरेश ने उनके प्रीत्यर्थ भट्टिनी को अनुरोधपूर्वक अपने यहाँ बुला लिया, उसके सम्मानार्थ उसने स्कन्धावार में भी जाने का निश्चय किया। इस अवसर पर बाण ने हर्ष लिखित 'रत्नावली' के अभिनय का आयोजन किया पर वासवदत्ता की भूमिका में निउनिया रत्नावली का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देते समय इतनी विचलित हुई कि उसके प्राण पखेरू उड़ गये। निपुणिका के श्राद्धोपरान्त बाण को पुरुष पुर जाने की आज्ञा हुई। भट्टिनी ने आर्द्र कण्ठ से उसे जल्दी लौट आने के लिए कहा, किन्तु बाणभट्ट की आत्मा चीत्कार उठी—"फिर क्या मिलना होगा।" संक्षेप में कथा इतनी ही है।

इसके प्रमुख पात्रहैं—बाणभट्ट, भट्टिनी और निउनिया। बाणभट्ट लोगों की दृष्टि में 'बण्ड' है और निउनिया पतिता। पर दोनों ही मानवीय गुणों से ओत-प्रोत हैं। उनके हृदय में मनुष्य के प्रति अपार ममता है, सहृदयता है। ये सभी चरित्र मूलतः रोमाण्टिक हैं—अतः उनमें साहस की कमी नहीं है। रोमांस एक शक्ति है, जो व्यक्ति से बड़ा से बड़ा बलिदान कराती है। वह उसे ऊर्ध्वोन्मुखी बनाती है। इनके प्रेम में एक संयम है, सब कुछ निछावर कर देने की क्षमता है। प्रेम की चरितार्थता इसी में है। कुमार कृष्ण, सुगरभद्र, अघोर, भैरव, महामाया, सुचरिता, वाभ्रव्य आदि पात्रों को भी सप्राण बनाने में कुछ उठा नहीं रखा गया है। जिस पात्र के विकास के लिए अवसर नहीं मिला है, उसे भी एक अर्थपूर्ण रेखा द्वारा चमका दिया गया है। उदाहरणार्थ वृद्ध वाभ्रव्य को देखा जा सकता है।

इस उपन्यास के माध्यम से तत्कालीन धर्म-साधना, राजनीति, अभिजातीय वातावरण आदि का चित्रण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने एक उदात्त जीवन-दर्शन भी दिया है—"मनुष्य जितना देता है उतना ही पाता है. .आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और ग्रहीता दोनों को सार्थक करता है.. ।" "यह बन्धन ही चारुता है, संयम है, सुरुचि है। बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्मदान की सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं" इस उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र दाता हैं, संयमी हैं फ्रायडीय मनोविज्ञान के उन्नयन का सिद्धान्त भी यहाँ अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में चरितार्थ हुआ है। धर्म और आचार के सम्बन्ध में लेखक लकीर का फकीर नही है। जनता के प्रति उसका अदम्य विश्वास उनके जीवन-दर्शन के मेल मे है।

क्या वस्तु, क्या शैली दोनों दृष्टियों से यह उपन्यास हिन्दी मे अकेला है। संस्कृत की अलंकृत शैली को अपनाते हुए भी लेखक का विन्यास पूर्णतः स्वच्छन्दतावादी है। यदि अंग्रेजी शब्दावली का व्यवहार किया जाय तो इसे 'क्लासिकल धैर्य, संयम और विस्तार दिखाई देता है पर भावावेगों के चित्रण में उसकी गति मे तीव्रता और भावुकता आ जाती है।

—ब० सि०

बापू—(प्र० सन् १९३७ ई०) सियारामशरण गुप्त का गीतिकाव्य है, जिसमें कुल इक्कीस गीतियाँ संगृहीत हैं। किसी समसामयिक महापुरुष या महद्घटना पर काव्य-रचना करना विशेष कठिन कार्य है। प्रायः देखा गया है कि गान्धीजी पर बंगाल के अकाल, खादी आदि को विषय-वस्तु के रूप में ग्रहण कर कवियों ने साधारण ढंग की कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। कवि जब तक इन वस्तुओं से केवल बौद्धिक स्तर पर ही तादात्म्य स्थापित कर पाता है तब तक उसकी अभिव्यक्तियाँ अन्तर्मन के स्वर से विरहित रहती हैं। पर बापू के प्रति, उनके महान् रचनात्मक कार्यों के प्रति, उनके उच्च पवित्र सिद्धान्तों के प्रति गुप्तजी की अटूट आस्था है। इन आस्थाओं से ही उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, इन्हीं से वह गरिमापूर्ण बन सका है। इसीलिए 'बापू' के प्रति उनका आत्मनिवेदन उनके अन्तर्मन की वाणी से मुखरित हो उठा है। यह आत्मनिवेदन भक्त के आत्मनिवेदन से इस अर्थ में भिन्न है कि यह एक समसामयिक युगपुरुष के प्रति किया गया है। उससे मानवता को अशेष आशाएँ हैं—वह प्रेम-मन्त्र से मानव के समस्त कल्मष को धोकर उसे उचित स्थान पर अभिषिक्त करने में समर्थ है। भक्त के आत्मनिवेदन से वह एक दूसरे अर्थ में भी भिन्न है। भक्त की अभिव्यक्तियाँ सामान्यतः भावावेगों पर आश्रित रहती हैं पर 'बापू' की अभिव्यक्तियाँ मुख्यतः वैचारिक हैं, यद्यपि वे भाव के संस्पर्श से अछूती नहीं कही जा सकतीं। बापू की शान्त वाणी में जो ऊर्ज्वस्विता, बल, प्रेरणा और अकिंचन व्यक्ति में निर्धूम अग्निशिखा की भाँति ज्योतिर्मय शम समाहित है, उसे गुप्तजी ने सम्पूर्ण शक्ति से व्यंजित किया है। इसलिए इस ग्रन्थ में ओज की व्याप्ति आद्यन्त मिलेगी। यह एक अन्तर्वृत्तिनिरूपक मुक्तक काव्य है, जो संस्कृत की तत्सम पदावली से ओत-प्रोत तथा स्फूर्तिमय है।

—ब० सिं०

बाबूराव विष्णु पराड़कर—जन्म काशी में १६ नवम्बर, सन् १८८३ ई० में और मृत्यु १२ जनवरी, सन् १९५५ ई० में।

आपके पिता पण्डित विष्णुशास्त्री पराड़कर संस्कृत के विद्वान् थे। आपका बचपन का नाम 'सदाशिव' था। आप जिस समय भागलपुर के तेजनारायण कालेज में इण्टरमिडियेट में पढ़ रहे थे, १९०३ ई० में ही प्लेग से आपकी माँ का देहान्त हो गया और १५ वर्ष की उम्र में ही पिता का भी निधन हो गया। ऐसी परिस्थिति में आपको कालेज की पढ़ाई छोड़कर जीवन संघर्ष में कूदना पड़ा। जीविका की खोज में आप कलकत्ता पहुँचे। आपने वहाँ अपने मामा सखाराम गणेश देउस्कर के यहाँ रहते हुए 'हिन्दी बंगवासी' में सम्पादन कार्य आरम्भ कर दिया। 'बंगवासी' में केवल एक वर्ष तक (१९०६-७ ई०) कार्य करने के बाद आप १९०७ ई० से १० ई० तक 'हितवार्ता' और १९१० से १५ तक 'भारतमित्र' के संयुक्त सम्पादक रहे। 'हितवार्ता' में राजनीतिक विषयों पर गम्भीर समीक्षात्मक लेख प्रकाशित कर आपने हिन्दी पत्रकारिता में एक नयी परम्परा का प्रवर्तन किया। आपकी सम्पादन कला आरम्भ से ही राष्ट्र-सेवा की उत्कट भावना से स्फूर्ति पाती रही है। आप सम्पादन के साथ-साथ सक्रिय राजनीति में भी आ गये। आपका सम्पर्क रासबिहारी घोष तथा अरविन्द घोष से भी हुआ। आप धीरे-धीरे क्रान्तिकारियों के परामर्शदाता बन गये। एक क्रान्तिकारी पत्रकार के रूप में आपको काफी दिनों तक नजरबन्द रहना पड़ा। इसी बीच राष्ट्ररत्न बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने काशी में हिन्दी में उच्चकोटि के साहित्यिक प्रकाशन तथा दैनिक पत्र निकालने के संकल्प से 'ज्ञानमण्डल' की स्थापना की। १९२० ई० में पराड़करजी ज्ञानमण्डल में आ गये। तभी से आप ज्ञानमण्डल से प्रकाशित होने वाले दैनिक 'आज' के सम्पादक हो गये, जिस पद पर आप आजीवन बने रहे। आपने अपनी पत्रकारिता की अद्वितीय प्रतिभा से 'आज' को हिन्दी का सर्वप्रमुख स्वतन्त्र दैनिक पत्र बना दिया। 'आज' के माध्यम से हिन्दी भाषा के उन्नयन और राष्ट्रजागरण का जो कार्य आपने सम्पन्न किया है, वह सदा अविस्मरणीय रहेगा। नमक सत्याग्रह के दिनों में 'आज' पर प्रतिबन्ध लग जाने पर पराड़करजी ने सन् १९३० ई० में 'रणभेरी' नाम से एक गुप्त पत्रिका का भी सम्पादन और प्रकाशन किया था।

हिन्दी पत्रकारिता का निर्माण करनेवाली बृहत्त्रयी में पराड़करजी का स्थान अन्यतम है। आपने अपने अग्रलेखों में उच्चकोटि की अनुभूति और चिन्तन का जैसा समन्वय प्रतिष्ठित किया है, वह हिन्दी पत्रकारिता का निरन्तर मार्गदर्शन करता रहेगा। अर्थशास्त्रसम्बन्धी जटिल विषयों पर आपने समय-समय पर जैसे लेख प्रस्तुत किये वे उच्चकोटि के अंग्रेज पत्रों से भी आगे बढ़ गये। अपने अग्रलेखों में आपने जिस गम्भीर राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया, उससे देश के प्रमुख विचारशील नेता भी प्रभावित होते रहे हैं। हिन्दी भाषा के विकास में पराड़करजी के योगदान का अभी सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सका है। 'नेशन' के लिए 'राष्ट्र', 'इन्फ्लेशन' के लिए 'मुद्रास्फीति' जैसे सैकड़ों शब्द पराडकरजी के चलाये हुए हैं, जिनका प्रयोग आज सारे देश में हो रहा है। हिन्दी के सर्जनशील साहित्य के प्रति आपकी कैसी गम्भीर अन्तर्दृष्टि थी, इसका परिचय 'हंस' के 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' (सन् १९३७ ई०) में, जिसके आप सम्पादक थे, लिखे गये सम्पादकीय लेख से मिलता है। हिन्दी के साथ बंगला पर भी आपका असाधारण अधिकार था। आपने देउस्करजी की बंगला पुस्तक 'देशेर कथा' का अनुवाद 'देश की बात' के नाम से किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने शिमला के अपने सत्ताइसवें अधिवेशन का सभापति बनाकर आपको सम्मानित किया था।

—श्री० शु०

बाबूराम सक्सेना—जन्म १८९७ ई० में लखीमपुर जिले में हुआ। शिक्षा एम० ए०, डी० लिट्० प्रयाग तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में और लन्दन स्कूल ऑफ ओरियण्टल स्टडीज में हुई। आपका शोध-प्रबन्ध 'अवधी का विकास' हिन्दी से सम्बद्ध पहला प्रबन्ध माना जाता है। अनेक वर्षों तक प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे। फिर कुछ समय तक सागर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान विभाग के अध्यक्ष रहे। इसके बाद क्रमशः तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष और रायपुर विश्व विद्यालय के कुलपति तथा इलाहाबाद विश्व विद्यालय के कुलपति रहे। संस्कृत और भाषाविज्ञान दोनों ही आपके कार्य की प्रमुख दिशाएँ हैं। हिन्दी के भाषावैज्ञानिकों में आपका नाम अग्रणी है। आपके उद्योग और प्रेरणा से हिन्दी क्षेत्र में भाषाविज्ञानसम्बन्धी कार्य हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, भारतीय हिन्दी-परिषद् जैसी संस्थाओं में घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं और उनके अधिवेशनों की अध्यक्षता की है। प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय दृष्टिकोण होने के कारण भारतीय संस्कृति और हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में आपकी विशेष रुचि रही है।

डॉ० सक्सेना का शोध-प्रबन्ध 'अवधी का विकास' अपने ढंग का पहला अध्ययन है। इंग्लैण्ड में रहकर प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डॉ० टर्नर के सहयोग में आपने कार्य किया था। 'अवधी का विकास' में प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान के निष्कर्षों का प्रथम बार प्रयोग हुआ है। वस्तुतः आपका प्रबन्ध हिन्दी के भाषा वैज्ञानिकों के लिए आदर्श और मानक रूप में रहा है। भाषा-विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्षों पर भी आपने विचार किया है।

कृतियाँ—'अर्थ-विज्ञान' (१९५१ ई०), 'सामान्य भाषा-विज्ञान' (१९५३ ई०), 'दक्खिनी हिन्दी' (१९४३ ई०), 'कीर्त्तिलता' (सम्पादन—१९३० ई०), 'एवल्यूशन ऑफ अवधी' (अंग्रेजी में १९३८ ई०)।

-सं०

बारहखड़ी—दे० 'मलूकदास'।

बालअली—इनका मूल नाम बालकृष्ण नायक था। 'बाल अली' रस-साधनासम्बन्धी इनके भावदेह की संज्ञा थी। ये राजस्थान के निवासी थे। आरम्भ में इन्होंने रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षा ली और अहोबल गद्दी के परम्परानुसार वैष्णव चिह्न धारण करके कई वर्षों तक साधनामय जीवन व्यतीत किया किन्तु उससे इन्हें तृप्ति नहीं हुई। इसके पश्चात् ये अग्रदासजी गद्दी के चतुर्थ आचार्य चरणदास के शिष्य हुए। गुरु की साकेत यात्रा के उपरान्त ये रेवासा पीठ के अधिकारी बने। इनके लिखे आठ ग्रन्थ खोज में मिले हैं—'ध्यानमंजरी' (१६६९ ई०), 'सिद्धान्त तत्त्वदीपिका', 'दयाल मंजरी', 'ग्वाल पहेली', 'प्रेम पहेली', 'प्रेम परीक्षा', 'परतीत परीक्षा' और 'नेह प्रकाश' (१६९२ ई०)। इस आधार पर इनका कवित्व-काल

१६६९ ई० से १६९२ ई० तक निश्चित किया जा सकता है। इनका ध्यान अपनी कृतियों में काव्यगुणों की योजना की अपेक्षा सैद्धान्तिक विवेचन की ओर अधिक रहा है। श्रृंगारी रामोपासकों में इनके 'नेहप्रकाश' की बड़ी प्रतिष्ठा है।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवतीप्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

बालकृष्ण भट्ट—जन्म इलाहाबाद में २३ जून, १८४४ ई० में। माता का नाम पार्वती देवी, पिता का नाम बेनीप्रसाद भट्ट तथा पत्नी का नाम श्रीमती रमादेवी था। सन्तान—(१) मूलचंद भट्ट, (२) महादेव भट्ट (३) लक्ष्मीकान्त भट्ट (४) जनार्दन भट्ट। पिता इनके व्यापारी थे। माता सुसंस्कृत महिला थीं और उन्होंने इनके मन में पढ़ने की विशेष रुचि जगायी। प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत पढ़ी फिर प्रयाग के मिशन स्कूल से एण्ट्रेन्स की परीक्षा में सन् १८६७ में बैठे, पर सेकेण्ड लैंग्वेज संस्कृत की परीक्षा की व्यवस्था न होने से परीक्षा न दे सके। इस परीक्षा के बाद ही वे मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये। जहां पर सन् १८६९ से १८७५ तक रहे। ईसाई वातावरण में उनकी पट नहीं सकी और शीघ्र ही वे त्यागपत्र देकर अलग हो गये। इसके पश्चात् संस्कृत का स्वाध्याय उन्होंने अत्यन्त लगन के साथ किया। भट्टजी के पिता एवं अन्य सम्बन्धी चाहते थे कि वे पैतृक व्यापार में लगें पर भट्टजी का पण्डित मन व्यापार में नहीं रमा। इस प्रश्न पर गृहकलह के बवण्डर में अत्यन्त दु:खी होकर उन्हें अपना सम्पन्न पैतृक घर छोड़कर अलग रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। घर से अलग होने के बाद भट्टजी को सारा जीवन भयंकर आर्थिक कठिनाइयों के मध्य गुजारना पड़ा पर इस दृढ़ एव आत्मसम्मानी व्यक्ति ने कभी भी हिम्मत नहीं हारी। कर्मठतापूर्वक सारा जीवन उन्होंने साहित्य को अर्पित किया। सन् १८८५ ई० में सी० ए० वी० स्कूल इलाहाबाद में वे संस्कृत पढ़ाने लगे थे, तथा कुछ दिनों के बाद सन् १८८८ में वे कायस्थ पाठशाला इण्टर कालेज, इलाहाबाद में संस्कृत के अध्यापक हो गये, पर अपने उग्र राजनीतिक विचारों के कारण अन्ततः यह नौकरी भी उन्हें छोड़नी पड़ी थी। फिर उन्हें यत्र-तत्र लेखन और पत्रकारिता के द्वारा ही जीविका चलाने के लिए बाध्य होना पड़ा। जीवन के अन्तिम वर्षों में श्यामसुन्दर दास ने उन्हें हिन्दी-शब्द कोश के सम्पादन के लिए वैतनिक सहायक के रूप में बुलाया था पर भट्टजी के प्रति उनका व्यवहार बहुत अच्छा न था और स्वाभिमानी बालकृष्ण भट्ट शीघ्र ही उस कार्य से भी अलग हो गये। २० जुलाई, १९१४ ई० को उनकी प्रयाग में मृत्यु हो गयी।

भारतेन्दु-युग के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट का स्थान केवल भारतेन्दु के बाद आता है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है। विशेषतः निबन्धकार एवं पत्रकार के रूप में उन्हें इतिहास कभी भुला नहीं सकता। यों हिन्दी में व्यावहारिक आलोचनाओं के वे प्रारम्भिक प्रवक्ता हैं तथा उन्होंने नाटक, उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी हैं। इस लेखन के अतिरिक्त अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के माध्यम से उन्होंने अपने युग के तमाम लेखकों को प्रेरित और प्रभावित किया है।

भारतेन्दु युग के लेखकों के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वे सभी लेखक भी थे और पत्रकार भी। बल्कि यों कहें कि वे लोग मूलतः पत्रकार थे और उनका अधिकांश लेखन अपने-अपने पत्रो की कलेवर पूर्ति के लिए हुआ है। पर पत्रकारिता का उन लोगों ने एक ऐसे मिशन के रूप मे लिया था, जिसके कारण उस सारे लेखन मे भावना का सहज संस्पर्श घुलमिल गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रेरणा पाकर एवं उन्ही द्वारा लिखित सन्देश को 'मोटो' बनाकर १ सितम्बर, १८७७ ई० को 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र बालकृष्ण भट्ट ने इलाहाबाद से 'हिन्दी वर्द्धिनी सभा' की ओर से निकालना प्रारम्भ किया। इसमें छपने वाले विषयों की सूची मुख पृष्ठ पर इस प्रकार दी रहती थी, "विद्या, नाटक, समाचारवली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसम्बन्धी इतिहास के विषय में।" स्पष्ट है कि यह पत्र एक व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने का लक्ष्य लेकर प्रकाशित किया गया था। भट्टजी ने सरकार, ग्राहकों, अर्थ, आदि की अनेक दुर्लघ्य बाधाओं का डट कर मुकाबला करते हुए ३३ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन किया। फरवरी १९१० ई० के अंक के बाद 'हिन्दी प्रदीप' बन्द हो गया। हिन्दी पत्रकारिता के प्रारम्भिक युग मे ३३ वर्षों तक एक गम्भीर पत्रिका का चलाना जहाँ एक ओर ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, वहीं भट्टजी की असाधारण लगन और कर्मठता को भी सूचित करती है। इस पत्र के माध्यम से अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक भट्टजी ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योग दिया तथा राष्ट्रीय चेतना को बलवती बनाया।

निबन्ध को कला-रूप के अर्थ में लेकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि भट्टजी हिन्दी के पहले निबन्धकार हैं, जिनके निबन्धों मे आत्मपरकता, व्यक्तित्वप्रधानता एवं कलात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन में एक हजार के लगभग निबन्ध लिखे होंगे पर उनमें से सौ के लगभग महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। बहुत से लोग उन्हे हिन्दी का 'एडिसन' कहना चाहते हैं। युगीन अन्य साहित्यकारो की भाँति उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक सभी विषयों पर कलम चलायी है। राजनीतिक निबन्धों में जहाँ अत्यन्त प्रखर आक्रोश व्यंजित है तो साहित्यिक निबन्धों में भावना का ललित विलास। अपने सामाजिक निबन्धों में भट्टजी ने समाज में प्रचलित बुराइयों के प्रति ध्यान आकर्षित किया है एवं नये समाज का आदर्श भी उपस्थित करना चाहा है। इन तीनो प्रकार के निबन्धों में वक्तव्य वस्तु का फैलाव बहुत अधिक है। इन मोटे विभागों के तमाम उपेक्षित या अमहत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर भी उनकी दृष्टि गयी है। भावों या मनोविकारों पर लिखे गये उनके निबन्ध खड़ीबोली के प्रारम्भिक युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे। साहित्यिक-कलात्मक निबन्धों में उनकी मुहावरेदार, सरल एवं शब्द चयन की दृष्टि से उदार भाषा अत्यन्त शक्तिशालिनी बन सकी है। व्यंग्य, चुहल, कटाक्ष, भावना का अकृत्रिम आवेग, अशुचि के परित्याग की उत्कटता तथा शिव को ग्रहण करने की तीव्र लालसा इन निबन्धों में विद्यमान मिलती है।

हिन्दी आलोचना के जन्मदाता के रूप में राम विलास शर्मा ने भट्टजी को याद किया है (भारतेंदु युग, पृ० ११७)। सन्

१८८१ ई० के आस-पास उन्होंने वेदों की युक्तियुक्त समीक्षा की थी। 'हिन्दी प्रदीप' के प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद से (सन् १८७७ ई० के अन्तिम भाग) उसमें पुस्तक समीक्षाएँ भी प्रकाशित होनी प्रारम्भ हो गयी थीं। १८८६ ई० मे उन्होंने 'संयोगिता स्वयम्वर' की बड़ी कठोर आलोचना की थी। भट्टजी की आलोचनाओं का परिमाण अधिक नहीं है पर उनकी सतर्क, सजग एव प्रगतिवादी दृष्टि सर्वत्र देखी जा सकती है। प्राचीन साहित्य से लेकर समसामयिक साहित्य तक की वे खरी आलोचनाएँ किया करते थे। यह अवश्य है कि दोष-दर्शन की प्रवृत्ति उनमें अधिक थी, परन्तु पहली बार साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर साहित्य चिन्तन का प्रयास हमें उनमें उपलब्ध होता है।

सन् १८७९ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में 'रहस्यकथा' नाम से भट्टजी की एक औपन्यासिक कृति प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुई थी परन्तु बाद को वह पूरी नही हुई। इसके अतिरिक्त १८८६ ई० मे 'नूतन ब्रह्मचारी', १८९० ई० में 'सौ अजान एक सुजान' प्रकाशित हुए। 'गुप्त वैरी', 'रसातल यात्रा' (१८९२), 'उचित दक्षिणा', एव 'हमारी घड़ी' 'सद्भाव का अभाव' नामक उपन्यास भी भट्टजी ने लिखने और प्रकाशित कराने प्रारम्भ किये थे पर वे पूरे नहीं हो सके। सन् १८८२ मे लिखित 'गुप्तबैरी' नामक उपन्यास के थोड़े से अंश 'हिन्दी-प्रदीप' (जिल्द ५ सं० ९, १० और १२ मई, जून और अगसत १८८२ ई०) मे प्रकाशित हुए। यह उपन्यास पूरा नहीं छप सका"। (हिन्दी उपन्यास कोश, खण्ड १)। वस्तुतः कथा-साहित्य उनकी प्रतिभा का वास्तविक क्षेत्र न था। उनके ये उपन्यास सामाजिक उद्देश्यों को लेकर लिखे गये हैं तथा कला की दृष्टि से अपरिपक्व हैं।

भट्टजी द्वारा लिखित नाटको की संख्या इस प्रकार है—(१) 'पद्मावती', (२) 'चन्द्रसेन', (३) 'किरातार्जुनीय', (४) 'पृथुचरित या वेणी संहार', (५) 'शिशुपाल वध', (६) 'नल-दमयन्ती या दमयन्ती स्वयम्वर', (७) 'शिक्षादान', (८) 'आचार विडम्बन', (९) 'नयी रोशनी का विष', (१०) 'वृहन्नला', (११) 'सीता वनवास', (१२) 'पतित पंचम', (१३) 'मेघनाद वध' (पण्डित बालकृष्ण भट्ट—जीवन और साहित्य, पृ० ४०४) (१४) कट्टर सूम की एक नकल (१५) इंगलैंडेश्वरी और भारत जननी (१६) भारतवर्ष और कलि (१७) दो दूर देशी (१८) एक रोगी और वैद्य। इस सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पौराणिक और सामाजिक दो प्रकार के नाटक लिखे हैं। नाटक भी उनके उस महत्त्व के अधिकारी नहीं हैं, जितने कि उनके निबन्ध, आलोचना या पत्र-सम्पादन अधिकारी हैं। इन नाटकों में संवादों के माध्यम से कुछ घटनाओं का अंकन करने का प्रयास किया गया है पर न तो चरित्र उभरते हैं और न रंगमंच सम्बन्धी कोई नया प्रयोग ही है।

सब मिलाकर भट्टजी आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। हिन्दी के लिए व्यक्तिगत रूप से उनसे अधिक त्याग करने वाला साहित्यकार हमें अपने सम्पूर्ण इतिहास में कठिनता से मिलेगा।

सहायक ग्रन्थ—हिन्दी गद्य के निर्माता पण्डित बालकृष्ण भट्ट : राजेन्द्र शर्मा; निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट : गोपाल पुरोहित; बालकृष्ण भट्ट का व्यक्तित्व और कृतित्व—डॉ० मधुकर भट्ट।]

—दे० श० अ०

बालकृष्ण राव—देश में प्रसिद्ध उदारवादी नेता सर सी० वाई० चिन्तामणि के सुपुत्र बालकृष्ण राव (सी० बी० राव) का जन्म २७ दिसम्बर सन् १९१३ ई० को प्रयाग में हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सन् १९३७ ई० मे आई० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण करते हुए आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। उक्त आई० सी० एस० की प्रतियोगिता परीक्षा में आपने भारत में प्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १९५४ ई० में आई० सी० एस० से त्यागपत्र देकर राजकीय सेवा से निवृत्ति ले ली। आपमें बाल्यकाल से ही काव्य तथा साहित्य के प्रति गहरी रुचि थी। पहली कविता 'माधुरी' के मई १९२८ ई० के अंक में छपी। प्रायः १५ वर्ष की अवस्था से ही आप काव्य-रचना की ओर उन्मुख हुए थे और १९३१ ई० में आपकी कविताओं का एक सग्रह 'कौमुदी' नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह का अच्छा स्वागत हुआ था किन्तु सरकारी सेवा के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के कारण आपकी काव्य-साधना कुछ अन्तर्मुखी सी हो गयी। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'कवि और छवि' कोई ग्यारह वर्ष बाद १९४७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में आपकी चुनी हुई ४४ रचनाएँ संकलित हैं, जिन पर 'छायावाद' की स्पष्ट छाप दृष्टिगत होती है किन्तु बालकृष्ण राव को 'छायावाद' के कवि के रूप में स्वीकार करना बड़ी भारी भूल होगी। वे छायावादी काव्यधारा से प्रभावित अवश्य हुए हैं किन्तु उनके कवि व्यक्तित्व का क्रमशः स्वतन्त्र विकास हुआ है। १९५० ई० के बाद उनमें प्रयोगशीलता के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं और १९५५ ई० तक वे हिन्दी की नव्यतम कविता धारा 'नयी कविता' के साथ हो जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में तथा संग्रहरूप में प्रकाशित उनकी इधर की रचनाएँ उनके अधुनातन काव्य-बोध की परिचायिका हैं। बालकृष्ण राव ने चतुर्दशपदी (सानेट) के भी कुछ बहुत आकर्षक प्रयोग किये हैं। उनकी भाषा सरल, वाक्यरचना बोलचाल के निकट तथा अभिव्यंजना प्रणाली सहज तथा प्रभावोत्पादक होती है।

बालकृष्ण राव के अन्य साहित्यिक कार्यों में 'कवि भारती' (१९५३ ई०) का सम्पादन तथा मिल्टन के 'सैम्सन एगोनिस्टस' का काव्यानुवाद 'विक्रान्त सैम्सन' विशेषतः उल्लेखनीय है। पत्रकारिता तथा स्फुट लेखन में आपकी बराबर रुचि रही है। अंग्रेजी के कई पत्रों में विभिन्न विषयों (विशेषतः साहित्यिक विषयों) पर लिखते रहे हैं। हिन्दी में आपके समीक्षात्मक निबन्ध गम्भीर अध्ययन तथा गहरी सूझ-बूझ के परिचायक हैं। आकाशवाणी के महानिर्देशक पद पर कार्य करते समय आपने एक व्यापक योजना बनाकर हिन्दी के अनेक साहित्यकारों का सहयोग आकाशवाणी के लिए प्राप्त किया। वस्तुतः आकाशवाणी में हिन्दी से सम्बद्ध विभिन्न आयोजनों का मुख्य श्रेय आपको ही है। १९६० ई० में आपके सम्पादन में इलाहाबाद से 'कादम्बिनी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। बालकृष्ण राव 'सुकवि समाज' (प्रयाग) के मन्त्री, हिन्दुस्तानी अकादमी के मन्त्री (१९४३-१९४४ ई०) कविसम्मेलन-द्विवेदी मेला (प्रयाग) के

संयोजक तथा हिन्दी-साहित्य संघ (लखनऊ) के अध्यक्ष रह चुके हैं। कई प्रकार के उच्च सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित होकर देश की सेवा की है। सन् १९६१-१९६२ प्रयाग के नगरप्रमुख, १९६०-१९६१ कादम्बिनी के संपादक, १९६१-१९७० केंद्रीय हिंदी शिक्षणमंडल, आगरा के अध्यक्ष, सन् १९६२-१९७१ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शासन निकाय के सदस्य, सन् १९६२-१९६८ 'माध्यम' के सम्पादक, १९७०-१९७२ ई० गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहे। १९७५ में आपका देहावसान हुआ। तीन कार्य-कालों के लिए हिंदुस्तानी अकादमी के अध्यक्ष रहे हैं।

कृतियाँ—'कौमुदी' (१९३१ ई०), 'आभास' (१९३८ ई०), 'कवि और छवि' (१९४७ ई०), 'रात बीती' (१९५४ ई०), 'हमारी राह' (१९५७ ई०)—सभी काव्य-संकलन तथा 'विक्रान्त सैम्सन' (मिल्टन के 'सैम्सन एगोनिस्टिस' का काव्यानुवाद—१९५६ ई०)।

—र० भ०

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—जन्म ग्वालियर राज्य के भयाना नामक ग्राम में ८ दिसम्बर, १८९७ ई० को। वैष्णव माता-पिता के साथ बाल्यावस्था में कुछ दिनों 'नाथद्वारा' में रहने के बाद वे शिक्षा-दीक्षा के लिए शाजापुर आ गये थे। शाजापुर से अंग्रेजी मिडिल पास करके वे उज्जैन के माधव कालेज में प्रविष्ट हुए। राजनीतिक वातावरण ने उन्हें शीघ्र ही आकृष्ट किया और इसी से वे सन् १९१६ ई० के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन को देखने के लिए चले आये। इसी अधिवेशन में संयोगवश उनकी भेंट माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त एवं गणेशशंकर विद्यार्थी से हुई। सन् १९१७ ई० में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करके बालकृष्ण शर्मा गणेशशंकर विद्यार्थी के आश्रय में कानपुर आकर क्राइस्ट चर्च कालेज में पढ़ने लगे। सन् १९२० ई० में, जब वे बी० ए० फाइनल में पढ़ रहे थे, गान्धीजी के सत्याग्रह आन्दोलन के आवाहन पर वे कालेज छोड़कर व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में आ गये। २९ अप्रैल, १९६० ई० को अपने मृत्युपर्यन्त वे देश की व्यावहारिक राजनीति से बराबर सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे। उत्तर-प्रदेश के वे वरिष्ठ नेताओं में एक एवं कानपुर के एकछत्र अगुआ थे। भारतीय संविधान-निर्मात्री परिषद् के सदस्य के रूप में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार कराने में उनका बड़ा योग रहा है। १९५२ ई० से लेकर अपनी मृत्यु तक वे भारतीय संसद् के सदस्य भी रहे हैं। सन् १९५५ ई० में स्थापित राजभाषा-आयोग के सदस्य के रूप में उनका महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। स्वभाव से 'नवीन' जी अत्यन्त उदार, फक्कड़, आवेशी किन्तु मस्त तबियत के आदमी थे। अभिमान और छल से वे बहुत दूर थे। बचपन के वैष्णव संस्कार उनमें यावज्जीवन बने रहे।

जहाँ तक उनके लेखक-कवि व्यक्तित्व का प्रश्न है; लेखन की ओर उनकी रुचि इन्दौर से ही थी परन्तु व्यवस्थित लेखन १९१७ ई० में गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में जाने के बाद प्रारम्भ हुआ। इस सम्पर्क का सहज परिणाम था कि वे उस समय के महत्त्वपूर्ण पत्र 'प्रताप' से सम्बद्ध हो गये थे। 'प्रताप' परिवार से उनका सम्बन्ध अन्त तक बना रहा। १९३१ ई० में गणेशशंकर विद्यार्थी की मृत्यु के पश्चात् कई वर्षों तक वे 'प्रताप' के प्रधान सम्पादक के रूप में भी कार्य करते रहे। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा को आगे बढ़ाने वाली पत्रिका 'प्रभा' का सम्पादन भी उन्होंने १९२१-२३ ई० में किया था। इन पत्रों में लिखी गयी उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ अपनी निर्भीकता, खरेपन और कठोर शैली के लिये स्मरणीय है। 'नवीन' अत्यन्त प्रभावशाली और ओजस्वी वक्ता भी थे एवं उनकी लेखन शैली (गद्य-पद्य दोनों ही) पर उनकी अपनी भाषण-कला का बहुत स्पष्ट प्रभाव है। सब मिलाकर राजनीतिक कार्यकर्ता के समान ही पत्रकार के रूप में भी उन्होंने सारे जीवन कार्य किया।

राजनीतिज्ञ एवं पत्रकार के समानान्तर ही उनके व्यक्तित्व का तीसरा भास्वर पक्ष था कवि का। उनके कवि का मूल स्वर रोमाण्टिक था, जिसे वैष्णव संस्कारों की आध्यात्मिकता एवं राष्ट्रीय जीवन का विद्रोही कण्ठ बराबर अनुकूलित करता रहा। उन्होंने जब लिखना प्रारम्भ किया तब द्विवेदीयुग समाप्त हो रहा था एवं राष्ट्रीयता के नये आयाम की छाया में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन काव्य में मुखर होने लगा था। परिणामस्वरूप दोनों ही युगों की प्रवृत्तियाँ हमें 'नवीन' में मिल जाती हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा ने ही कवियों की चिर-उपेक्षिता 'उर्मिला' का लेखन उनसे १९२१ ई० में प्रारम्भ कराया, जो पूरा सन् १९३४ ई० में हुआ एवं प्रकाशित सन् १९५७ ई० में। इस काव्य में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, स्थूल नैतिकता या प्रयोजन (जैसे रामवन गमन को आर्य संस्कृति का प्रसार मानना) स्पष्ट देखे जा सकते हैं, परन्तु मूलतः स्वच्छन्दतावादी गीतितत्त्वप्रधान 'नवीन' का यह प्रयास प्रबन्धत्व की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। छः सर्गों वाले इस महाकाय ग्रन्थ में उर्मिला के जन्म से लेकर लक्ष्मण से पुनर्मिलन तक की कथा कही अवश्य गयी है पर वर्णनप्रधान कथा के मार्मिक स्थलों की न तो उन्हें पहचान है और न राम-सीता के विराट् व्यक्तित्व के आगे लक्ष्मण-उर्मिला बहुत उभर ही सके हैं। उर्मिला का विरह अवश्य कवि की प्रकृति के अनुकूल था और कला की दृष्टि से सबसे सरस एवं प्रौढ़ अंश वही है। यों अत्यन्त विलम्ब से प्रकाशित होने के कारण सम्यक् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस ग्रन्थ का मूल्यांकन नहीं हो सका है।

यह विलम्ब उनकी सभी कृतियों के प्रकाशन में हुआ है। सन् १९३० ई० तक वे यद्यपि कवि रूप में यशस्वी हो चुके थे परन्तु पहला कविता-संग्रह 'कुंकुम' १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ। इस गीत-संग्रह का मूल स्वर यौवन के पहले उद्दाम प्रणयावेग एवं प्रखर राष्ट्रीयता का है। यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत भी हैं, परन्तु उन्हें तत्कालीन वातावरण का फैशन-प्रभाव ही मानना चाहिए। "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ" तथा "आज खड्ग की धार कुण्ठिता है" जैसी प्रसिद्ध कविताएँ 'कुंकुम' में संगृहीत हैं।

फिर स्वातन्त्र्य-संग्राम का सबसे कठिन एवं व्यस्त समय आ जाने के कारण 'नवीन' बराबर उसी में उलझे रहे। कविताएँ उन्होंने बराबर लिखीं परन्तु उनको संकलित कर प्रकाशित कराने की ओर ध्यान नहीं रहा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी वे संविधान-निर्माण जैसे कार्यों में लगे रहे।

इस प्रकार एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् १९५१ ई० में 'रश्मि रेखा' तथा 'अपलक', १९५२ ई० में 'क्वासि' संग्रह और प्रकाशित हुआ। विनोबा और भूदान पर लिखी उनकी कतिपय प्रशस्तियाँ एवं उद्बोधनों का एक संग्रह 'विनोबा स्तवन' सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ। इस प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त कुकुम-क्वासि काल (१९३०-१९४९) की अनेक कविताएँ तथा 'प्राणार्पण' नाम से गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान पर लिखा गया खण्ड-काव्य अभी अप्रकाशित ही है। १९४९ ई० के बाद भी वे बराबर लिखते एवं पत्रों में प्रकाशित कराते रहे हैं। "यह शूल युक्त यह अहि आलिंगित जीवन" जैसी श्रेष्ठ आत्मपरक कविताएँ इसी अन्तिम अवस्था में लिखी गयी हैं। पर ये सब भी असंगृहीत हैं। 'नवीन' राष्ट्रीय वीर काव्य के प्रणेताओं में मुख्य रहे हैं परन्तु उनके प्रकाशित संग्रहों में ये कविताएँ बहुत कम आ सकी हैं। उनका गद्य-लेखन भी असंकलित रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है।

अब तक प्रकाशित संग्रहों में प्रणय के कवि 'नवीन' का संवेदना और शिल्प की समग्रता की दृष्टि से श्रेष्ठतम एवं प्रतिनिधि संग्रह 'रश्मिरेखा' है। इसमें 'नवीन' की मौजी एवं प्रेमिल अभिव्यक्तियाँ प्रचुर मात्रा में हैं। "हम अनिकेतन हम अनिकेतन' में अत्यन्त निर्लिप्त आत्मस्वीकरण के भाव में वे कह उठते हैं, "अब तक इतनी यों ही काटी, अब क्या सीखे नव परिपाटी? कौन बनाये आज घरौंदा, हाथों चुन-चुन कंकड माटी। ठाट फकीराना है अपना बाघम्बर सोहे अपने तन" (रश्मिरेखा' पृ० ११७)। प्रणय एवं विरह की कितनी ही मादक स्मृतियाँ, कितने ही मनोरम चित्र, कितनी ही व्याकुल बेसुध पुकारें एवं विवशता की कितनी ही चीत्कारें 'रश्मि रेखा' में संगृहीत हैं। यह प्रणयी अनिकेतन अत्यन्त उद्दाम भाव से कहता है, "कूजे दो कूजे में बुझने वाली प्यास नहीं, बार-बार 'ला! ला!' कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।" वस्तुतः हिन्दी में हालावाद के आदि प्रवर्त्तक 'नवीन' ही हैं तथा भगवती चरण वर्मा एवं 'बच्चन' ने उनकी ऐसी कविताओं के प्रभाव के तले लिखा है। 'बच्चन' ने स्वय इस बात को स्वीकार किया है (दे० साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', १ जुलाई, १९६०, पृ० ३५)।

'अपलक' और 'क्वासि' में संकलित कविताओं में यद्यपि कविताओं का रचनाकाल वही है, जो 'रश्मिरेखा' की कविताओं का है। पर इनमें जो कविताएँ संकलित हैं, उनमें प्रणय का वेग दर्शन एवं भक्ति-भावना से प्रतिहत होता लगता है। 'आध्यात्मिकता' का स्वर छायावाद के बहुत से आलोचकों को भी भ्रम और विवाद में डालता रहा है, परन्तु शिल्प के जिस लाक्षणिक वैचित्र्य के माध्यम से वह स्वर व्यक्त हुआ है, उसने उन कविताओं को अनगढ़ नहीं होने दिया। परन्तु 'नवीन' का छायावादकाल में ही लिखा गया यह अध्यात्म-निवेदन बहुत कुछ स्थूल एवं इतिवृत्तात्मक पदावली में व्यक्त हुआ है। छायावाद के शिल्प को वे मन से नहीं स्वीकार करते पर रहस्य या अध्यात्म की पदावली उन पर हावी प्रतीत होती है। परन्तु इन संकलनों में जहाँ उनका मस्त एवं प्रणयी व्यक्तित्व सहज ही व्यक्त हुआ, वहाँ काव्य नितान्त रसनिर्भर हो सका है। 'हम हैं मस्त फकीर' ('अपलक') 'तुम युग-युग की पहचानी सी' ('क्वासि'), 'मान छोड़ो (क्वासि), 'सुन लो प्रिय मधुर गान' ('अपलक') ऐसी ही कविताएँ हैं। आध्यात्मिक अन्योक्ति की दृष्टि से 'डोलवाला' ('क्वासि') उनकी श्रेष्ठतम कविता है।

ब्रजभाषा 'नवीन' की मातृभाषा थी। उनके प्रत्येक ग्रन्थ में ब्रजभाषा के भी कतिपय गीत या छन्द मिलते हैं। ब्रजभाषा में 'नवीन' भाव-संवेदना की अभिव्यक्ति का प्रयास कर उन्होंने ब्रजभाषा के आधुनिक साहित्य को समृद्ध किया है। 'उर्मिला' का एक सम्पूर्ण सर्ग ही ब्रजभाषा में है परन्तु उनका ब्रजभाषा-मोह जब खड़ीबोली के परिनिष्ठित प्रयोगों के मध्य आ प्रकट होता है तब पाठक के लिए रसभंग की स्थिति पैदा हो जाती है। ब्रजभाषा के क्रियापदों या शब्दों (जानूँ हूँ, सोचूँ हूँ, नैंक, लागी, नची, उमडाय दिया आदि) का निखरी तत्सम प्रधान खड़ीबोली में प्रयोग अत्यन्त अकुशल ढंग से हुआ है। वस्त्र के लिए 'बस्तर' ('क्वासि', पृष्ठ९) जैसे प्रयोग भी बहुधा खटकते हैं। वस्तुतः आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवियों में 'नवीन' से अधिक भाषा के भ्रष्ट प्रयोग मिल ही नहीं सकते। लगता है यह भी उनकी भाषणकला का ही प्रभाव था। सम्भवतः राजनीतिक व्यस्तता भी इस परिष्कारहीनता के मूल में थी। संस्कृत के भारी भरकम अप्रचलित एवं दुरूह शब्दों को लाने की प्रवृत्ति उनकी बराबर बढ़ती गयी है। सन् १९५०-५१ ई० के बाद की कविताओं में अध्यात्म मोह के साथ-साथ दुरूह अकाव्यात्मक शब्दावली (शब्द और अर्थ के वक्र कविव्यापारशाली सहभाव से विच्छिन्न) का उनका आग्रह उनके काव्य के रसास्वादन में बराबर बाधक बनता गया है। लगता है शैली जीतती गयी है और वे हारते गये हैं।

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी काव्य-धारा की जो परिणति छायावाद में हुई है, 'नवीन' उसके अन्तर्गत नहीं आते। राजनीति के कठोर यथार्थ में उनके लिए शायद यह सम्भव नहीं था कि वैसी भावुकता, तरलता, अतीन्द्रियता एवं कल्पना के पंख वे बाँधते, परन्तु इस बात को याद रखना होगा कि उनका काव्य भी स्वच्छन्दतावादी (रोमान्टिक) आन्दोलन का ही प्रकाश है। 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त आदि का काव्य छायावाद के समानान्तर सचरण करता हुआ आगे चलकर 'बच्चन', 'अचल', नरेन्द्र शर्मा, 'दिनकर' आदि के काव्य में परिणत होता है। काव्यधारा के इस प्रवाह की ओर हिन्दी आलोचकों ने अभी तक उपेक्षा का ही भाव रखा है। अस्तु, 'नवीन' के काव्य में एक ओर राष्ट्रीय संग्राम की कठोर जीवनानुभूतियाँ एवं जागरण के स्वर व्यंजित हुए हैं और दूसरे सहज मानवीय स्तर (योद्धा से अलग) पर प्रेम-विरह की राग-संवेदनाएँ प्रकाश पा सकी हैं। इसी क्रम में हालावादी काव्य की भी सृष्टि हुई है। इस प्रकार छायावाद के समानान्तर बहने वाली वीर-श्रृंगार धारा के वे अग्रणी कवि रहे हैं। कवि के अतिरिक्त गद्यलेखक के रूप में भी 'प्रताप' जैसे पत्र के माध्यम से उन्होंने ओज-गुणप्रधान एक शैली के निर्माण में अपना योग दिया है।

—दे० श० अ०

बालगंगाधर तिलक—जन्म २३ जुलाई, १८५६ ई० को पूना में और मृत्यु १ अगस्त, १९२० ई० में।

भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक विकासक्रम में तिलक एक आवश्यक कड़ी हैं। उन्हें प्रायः भारतीय प्रजातन्त्र

का पिता कहा जाता है। देश की दो विचारधाराओं को—गान्धीजी से पूर्व (१९१७ तक) और उनके द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करने के बाद-मिलाने का कार्य तिलक ने किया। यद्यपि यह कार्य अधिकतर राजनीति से सम्बन्ध रखता है किन्तु तिलक की सार्वजनिक सेवाओं का प्रभाव साहित्य के क्षेत्र पर भी पड़ा और हिन्दी उससे अछूती नहीं रही। वास्तव में जिन परिस्थितियों और प्रयत्नों को हिन्दी के उन्नयन का श्रेय दिया जाता है, उनके निर्माण में लोकमान्य तिलक का बहुत बड़ा हाथ है। अध्ययन, अध्यापन तथा लेखन उनके जीवन का विशेष व्यसन था। राजनीति से बाहर उन्होंने जो कार्य किया, उसे तीन रूपों में बाँटा जा सकता है-तिलक लेखक के रूप में, पत्रकार के रूप में और शिक्षक के रूप में।

अधिकांश लोग तिलक को 'गीता रहस्य' के लेखक और प्राचीन भारत के इतिहासवेत्ता के रूप में जानते हैं। संस्कृत और ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् होने के नाते और पाश्चात्य विद्या के गहन अध्ययन के कारण उन्होंने जो कुछ लिखा, उसे प्रामाणिक माना गया। इतिहास, भारतीय विज्ञान (इण्डोलोजी) और पुरातत्त्व विज्ञान आदि पर उन्होंने जो टीकाएँ लिखी, उन्हीं के आधार पर वह अपने समय के प्रथम श्रेणी के लेखकों में गिने जाने के अधिकारी हैं। मराठी और अंग्रेजी में लिखे हुए ग्रन्थ अपने आप उनके स्थायी स्मारक हैं। अनूदित रचनाओं से हिन्दी को भी तिलक-साहित्य का लाभ मिला है। तिलक लेखक पहले थे और राजनीतिज्ञ बाद में। राजनीतिक क्षेत्र में रहने के कारण आपको ग्रन्थ निर्माण करने का समय नहीं मिला। जेल-जीवन में अवकाश मिलने पर लोकमान्य तिलक ने तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनमें प्रथम ग्रन्थ है 'गीता रहस्य', दूसरा ग्रन्थ है 'ओरायन' (मृगशीर्ष) और तीसरे ग्रन्थ का नाम है 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' (आर्यों का मूल वासस्थान)। 'गीता रहस्य' का हिन्दी अनुवाद पूज्य ग्रन्थों में है। शेष दोनों ग्रन्थ अंग्रेजी में छपे हैं। आपकी कई पुस्तकें मराठी में है।

तिलक जैसे देशभक्त के लिए यह असम्भव था कि शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के पश्चात् वे राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर ध्यान न देते। तिलक की बौद्धिक प्रतिभा उदात्त और तर्कसंगत थी। इसलिए उनका चिन्तन उन्हें इस निष्कर्ष पर ले गया कि हिन्दी ही समस्त देश की भाषा हो सकती है। परिणामतः अपनी व्यस्तता के बावजूद हिन्दी प्रचार के लिए वे यथासम्भव प्रयत्न करते थे। सार्वजनिक भाषणों में हिन्दी के महत्त्व पर जोर देते थे। तिलक के हिन्दी प्रेम का आधार राष्ट्र की एकता की आकांक्षा और स्वराज्य की कल्पना थी। किसी भी राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के आयोजन को वह राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दी के माध्यम का उपयोग किये बिना सम्भव न मानते थे। राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में तिलक के विचार स्पष्ट और दृढ़ थे। उन्होंने एक बार लिखा था—"राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता सर्वत्र समझी जाने लगी है। राष्ट्र के संघटन के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है' जिसे सर्वत्र समझा जा सके। लोगों में अपने विचारों का अच्छी तरह प्रचार करने के लिए भगवान् बुद्ध ने भी एक भाषा को प्रधानता देकर कार्य किया था। हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है। राष्ट्रभाषा सर्वसाधारण के लिए जरूरी होनी चाहिए। मनुष्य हृदय एक दूसरे से विचार-परिवर्तन करना चाहता है, इसलिए राष्ट्रभाषा की बहुत जरूरत है। विद्यालयों में हिन्दी की पुस्तकों का प्रचार होना चाहिए। इस प्रकार यह कुछ ही वर्ष में राष्ट्रभाषा बन सकती है।" लखनऊ की एक भाषा और एक लिपि प्रचार परिषद् (सन् १९१६) में तिलक ने देवनागरी लिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाये जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था।

—ज्ञा० द०

बालदत्त पाण्डेय—जन्म १८९२ ई०। मृत्यु १९५१ ई० में कानपुर में हुई। आपकी शिक्षा कलकत्ता में हुई थी। आपने केवल एक उपन्यास 'वनदेवी' सन् १९२१ ई० में लिखा था, जिसके कई संस्करण कुछ ही दिनों में बिके थे। पत्र-पत्रिकाओं ने इस उपन्यास का अच्छा स्वागत किया था। 'सरस्वती', 'मर्यादा' आदि प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में आपके बहुत से महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। पाण्डेयजी बड़े ही मिलनसार, स्पष्टवादी और निर्भीक स्वभाव के थे।

—स०

बालदत्त मिश्र—हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक मिश्र बन्धुओं के पिता प० बालदत्त मिश्र का जन्म सं० १८९१ में भगवन्त नगर जिला हरदोई में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० बालगोविन्द मिश्र था। आपके चार पुत्र और दो कन्याएँ थी। आप प्राचीन काव्य के उत्कृष्ट प्रेमी थे और प्राचीन शैली की काव्य रचना भी किया करते थे। लेकिन बाद में काव्य रचना का यह क्रम व्यापार आदि में फंस जाने के कारण टूट गया।

वैसे आप स्थायी रूप से इटौंजा में ही रहते थे, लेकिन मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व सपरिवार लखनऊ में रहने लगे। देव और केशव की रचनाओं के आप बहुत बड़े मर्मज्ञ और पारखी थे। देव के प्रसिद्ध संग्रह ग्रंथ 'सुखसागर तरंग' का आपने सम्पादन भी किया था जो अयोध्या से सन् १८९८ में मुद्रित हो चुका है। [सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु विनोद, तृतीय भाग, सुखसागर तरंग]

—कि० ला०

बालमुकुंद गुप्त—बालमुकुंद गुप्त का हिन्दी गद्य-साहित्य के उन्नायकों में विशिष्ट स्थान है। आप भारतेन्दु और द्विवेदीयुग को जोड़नेवाली महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। आपका जन्म हरियाना प्रान्त के रोहतक जिले में गुड़ियाना ग्राम में सन् १८६५ ई० में हुआ था। मृत्यु दिल्ली में १८ सितम्बर, सन् १९०७ ई० में हुई। बचपन में अपने गाँव के मदरसे में ही आपने उर्दू माध्यम से पढ़ना आरम्भ किया। प्रारम्भ से ही आपकी प्रतिभा, लगन और अध्यवसाय का परिचय मिलने लगा था। चौदह वर्ष की अवस्था में ही आपको पितृ-वियोग सहन करना पड़ा। सन् १८८६ ई० में आपने मिडिल की परीक्षा पास की। इस अवधि में फारसी के विद्वान् मुंशी वजीर मुहम्मद की कृपा से आपने उर्दू लिखने का अच्छा अभ्यास कर लिया था। वह नवीन जीवन-चेतना के उदय का युग था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभावस्वरूप भारतीय जन-मानस में उल्लसित होनेवाली नवीन चेतना पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से स्फुटित हो रही थी। उन दिनों रोहतक जिले में दीनदयालु शर्मा प्रतिष्ठित पत्रकार थे। उनकी प्रेरणा से बाल मुकुन्द गुप्त ने 'मथुरा अखबार' में लिखना आरम्भ किया। सन् १८८६ ई० में आप 'अखबारे

चुनार' के सम्पादक नियुक्त हुए। यहीं से आपके पत्रकार-जीवन का आरम्भ होता है। जीवन-पर्यन्त (१९०७ ई० तक) आप पत्रकार ही रहे। सन् १८८६ ई० से सन् १९०७ ई० तक आपने दो उर्दू-'अखबारे चुनार' (१८८६-८८ ई०), 'कोहनूर' (१८८८-८९ ई०) और तीन हिन्दी-'हिन्दोस्थान' (१८८९-९१ ई०), 'हिन्दी बंगवासी' (१८९३-९८ ई०), 'भारत-मित्र' (१८९९-१९०७ ई०) पत्रों का सम्पादन किया। इनके अतिरिक्त आपका सम्बन्ध 'भारत प्रताप', 'अवध पंच' और 'नया जमाना' आदि पत्रों से भी था, जिनमें आप बराबर लिखते रहते थे।

पत्रकार के साथ ही आप एक सफल अनुवादक और श्रेष्ठ कवि भी थे। 'भारत मित्र' के सम्पादन काल में ही आपकी प्रायः सभी प्रसिद्ध कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं। आपकी सर्वाधिक लोकप्रिय कृतियाँ दो हैं-'शिवशम्भु के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और खत'। ये दोनो रचनाएँ १९०५ ई० मे भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। लगभग इसी समय आपके प्रमुख लेखों और निबन्धों का एक संग्रह 'गुप्त निबन्धावली' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके पहले ही आपकी दो अनूदित कृतियाँ-'मडेल भगिनी' (१८९१ ई०-बंगला उपन्यास का अनुवाद) और 'रत्नावली' (१८९८ ई०-हर्षकृत संस्कृत नाटिका का अनुवाद) प्रकाश मे आ चुकी थीं। १९०६ ई० मे आपकी कविताओं का एक संग्रह 'स्फुट कविता' शीर्षक से भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। सन् १८९६ ई० में आपकी एक अन्य कृति 'हरिदास' नाम से बंगवासी प्रेस, कलकत्ता से छपकर निकली थी। 'खिलौना', 'खेल-तमाशा' और 'सर्पाघात चिकित्सा' आपकी इन तीन अन्य कृतियों का उल्लेख भी मिलता है। इससे प्रकट है कि साहित्य के अतिरिक्त अन्य उपयोगी और सामान्य विषयों के प्रति भी आपकी रुचि थी। यह सब कुछ होते हुए भी साहित्य क्षेत्र में आपकी ख्याति 'चिट्ठों और खतों' के कारण ही हुई। आपका ओजस्वी व्यक्तित्व इन्हीं में अन्तर्निहित है।

हिन्दी-गद्य-साहित्य मे बालमुकुन्द गुप्त का महत्त्व कई दृष्टियों से आँका जा सकता है। वे एक निर्भीक, ओजस्वी, कर्तव्यनिष्ठ, देशप्रेमी और लोक-हितैषी पत्रकार थे। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र के साहित्यिक आदर्शों की रक्षा करते हुए उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। हिन्दी गद्य-शैली को व्यावहारिक, चुस्त, चुटीली, ओजस्वी, हास्य-व्यंग्य-गर्भित, प्राणवान् और प्रवाहमयी बनाने में आपको सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई। हिन्दी-गद्य के परिमार्जन में आपका बहुत बड़ा योग है। शब्दों की आत्मा की अद्भुत परख आपको थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी से 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर और 'वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक लज्जाराम मेहता से 'शेष' शब्द को लेकर आपने जो विवाद किया था, भाषा-परिमार्जन की दृष्टि से उसका स्थायी महत्त्व है। उर्दू और हिन्दी के विवाद में आपने सदैव हिन्दी का समर्थन किया। आप उर्दू की दुर्बलताओं से भलीभाँति परिचित थे। इसलिए आपके तर्क अकाटच होते थे। साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में लोक-कल्याण की भावना को कृति की उत्कृष्टता की कसौटी स्वीकार करके आपने युगानुकूल नवीन मूल्य की स्थापना की। साहित्यकारों का समीक्षात्मक परिचय लिखने का सूत्रपात आपने ही किया। तुलनात्मक समीक्षा का बीज भी आपकी आलोचनात्मक रचनाओं मे मिल जाता है। अनुवाद के रूप में भी आपकी सफलता संदिग्ध नही है। 'रत्नावली' और 'मडेल भगिनी' का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए आपने अभिव्यक्ति की प्रांजलता, मूलभाव के संरक्षण और संवादो के प्रवाह को बनाये रखने का भरपूर प्रयत्न किया है। निबन्धकार के रूप में आपने सदैव अन्याय को चुनौती दी है। चाहे लार्ड कर्जन हो, चाहे 'सरस्वती' सम्पादक महावीरप्रसाद द्विवेदी, यदि बालमुकुन्द गुप्त को उनके कार्यो मे अनौचित्य की गन्ध भी मिली तो उन्होंने मुक्तस्वर से उसका विरोध किया। 'भारत मित्र' के सम्पादक ने मौन रहना सीखा ही नहीं था। आपके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी-निर्भीकता। दृढ़ता, ओजस्विता, न्याय-निष्ठता, सरलता और विनोदप्रियता के सम्मिलित तत्त्वो ने आपको एक ईमानदार पत्रकार और सहृदय देशभक्त की प्रतिष्ठा दी थी। आपकी शैली चुटीली और व्यंग्य-प्रधान होते हुए भी आत्मीयता और विश्वास उत्पन्न करने वाली है।

-रा० चं० ति०

बालि-रामकथा काव्यों में बालि की कथा मिलती है। बालि किष्किन्धा का एक वानर अधिपति था। इसकी स्त्री का नाम तारा, भाई का नाम सुग्रीव और पुत्र का नाम अंगद था। बलि और सुग्रीव के जन्म के सम्बन्ध में ऐसी प्रसिद्धि है कि एक किसी सुन्दर स्त्री पर सूर्य और चन्द्र मोहित हो गये। उनका वीर्य क्रमशः उस स्त्री के मस्तक और गर्दन पर गिरा। मस्तक से बालि और गर्दन से सुग्रीव जन्मे। इस प्रकार सूर्य बालि के पिता थे। बालि ने अपने अनुज की स्त्री रूमा को छीन लिया था और उसे निष्कासित कर दिया था। बालि बड़ा पराक्रमी था। उसने एक बार रावण को अपनी काँख में दबा लिया था। राम जब वन में सीता की खोज कर रहे थे तो सुग्रीव ने उनकी सहायता की (दे० सुग्रीव)। राम ने उसके बदले बालि का वध करके उसकी पत्नी को मुक्त कराया था। बालि के अनन्तर अंगद किष्किन्धा का राजा हुआ।

-रा० कु०

बिंबसार-प्रसादकृत नाटक 'अजातशत्रु' का पात्र। बिम्बसार मगध का वृद्ध सम्राट् और अजातशत्रु का पिता है। इतिहास के द्वारा इसके राज्यारोहण की तिथि ५४४ ई० पू० सिद्ध होती है। सिंहली इतिहासों के साक्ष्य पर इसने ५२ वर्ष राज्य किया। बिम्बसार के विन्ध्यसेन और श्रेणिक नाम भी मिलते हैं। इसने अपना राजनीतिक प्रभाव अधिकांशतः वैवाहिक सम्बन्धों से बढ़ाया। सम्राट् की प्रमुख रानियों में प्रसेनजितु की भगिनी कोशल देवी (वासवी), लिच्छवी-वंश के राजा चेटक की पुत्री चल्हना (छलना) और मद्र (मध्य पंजाब) की राजकुमारी क्षेमा थी। इन विवाहों से मगध राजकुल की प्रतिष्ठा बढ़ गयी। कोशलदेवी के यौतुक में ही काशी की एक लक्ष की आय मगध के राजकोष में प्रतिवर्ष आने लगी। अजातशत्रु ने पिता को बन्दीगृह में डाल दिया। उसके इस आचरण से क्रुद्ध होकर प्रसेनजितु ने मगध को काशी की आय देनी बन्द कर दी, फलतः दोनों राज्यों में युद्ध छिड़ गया। बिम्बसार हमारे समक्ष नाटक में सर्वप्रथम जीवन की क्षणभंगुरता और नियति पर गम्भीर चिन्तन करने वाले दार्शनिक के रूप में आता है। उसने अपनी

छोटी रानी छलना और पुत्र अजातशत्रु के विद्रोह की आशंका से जीतेजी ही राज्यभार पुत्र को सौंपकर अन्यमनस्कता से वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर लिया है। ऐसा लगता है, वे वैभव की तृष्णा और वासवी की अनुमति न लिया हो क्योंकि राज्य-सुखों के प्रति उनका मन पूर्ण अनासक्त नहीं है। इसीलिए नगरी के राजत्व-प्राप्ति के लिए वासवी को प्रयत्नशील होना पड़ता है। अजातशत्रु के क्रूर व्यवहार एवं छलना के दम्भपूर्ण आचरण से बिम्बसार निराशावादी दार्शनिक बन जाता है। उसके मन में प्राय राग-विराग का द्वन्द्व छिड़ा रहता है। धीरे-धीरे नियति के प्रति विश्वास की भावना दृढ़ होने पर वह शान्तिप्रिय, सहनशील और अन्तर्मुखी वृत्तिवाला अकर्मण्यशील बन जाता है। वासवी द्वारा काशी की आय को हाथ में लेने का प्रस्ताव करने पर बिम्बसार निःस्पृहता से उत्तर देता है : "मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवि! जिन्हें अभी छोड़ आया।" जीवक द्वारा कोशल और कौशाम्बी तक मगध का समाचार पहुँचाने के प्रस्ताव का समर्थन न करते हुए यही कहता है : "नहीं जीवक! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता!" वह "सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के झुरमुट में एक अधखिला फूल" बनकर चू जाने की कामना करता है। गृह कलह, राज्य-विद्रोह, संघर्ष, हत्या अभियोग, षड्यन्त्र आदि भीषण दृश्यों को देखकर उसकी विरक्ति क्रमशः दृढ़ होती जाती है।

बिम्बसार के जीवन का अन्त प्रसादजी द्वारा परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तन और सुखानुभूति की अतिरंजना द्वारा चित्रित किया गया है। जब अजात और छलना अपने कुकृत्यों की क्षमा माँगने के लिए उसके पास जाते हैं और पद्मावती पौत्र-जन्म का शुभ समाचार सुनाने के लिए पहुँचती है तब उसका नैराश्यपूर्ण विषाद वात्सल्य में परिणत हो जाता है और सुखातिरेक से उसका क्षीण हृदय इतना सुख और एक साथ न सम्हाल सकने के कारण बैठ जाता है।

—के० प्र० चौ०

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना—बिहार राज्य की विधान सभा ने ११ अप्रैल, १९४७ ई० के दिन इस परिषद् की स्थापना का संकल्प ग्रहण किया था। भारत-पाक विभाजन सम्बन्धी असुविधाओं के कारण परिषद् का कार्य १९५० ई० में प्रारम्भ हो सका, जब शिवपूजन सहाय इसके मंत्री नियुक्त हुए। परिषद् का उद्घाटन ११ मार्च, १९५१ ई० के दिन हुआ। तबसे यह विभिन्न क्षेत्रों में द्रुतगति से कार्यशील है। उद्देश्यों की सफलता के लिए श्रेष्ठ साहित्य के संकलन और प्रकाशन की व्यवस्था की गयी। प्रारम्भिक एवं वरिष्ठ ग्रन्थ-प्रणेताओं एवं नवोदित साहित्यकारों को पुरस्कार देने की योजना बनी और सोचा गया कि उपयोगी साहित्य का सम्पादन करने वालों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। विशिष्ट विद्वानों के सारगर्भित भाषणों का प्रबन्ध हुआ और हस्तलिखित एवं दुर्लभ साहित्य की खोज का काम हाथ में लिया गया तथा भोजपुरी, मैथिली एवं मराठी आदि लोकभाषाओं के शब्द-कोश प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हुए। इस कार्यक्रम के अनुसार अब परिषद् के पास हस्तलिखित एवं दुर्लभ ग्रन्थों का विशाल संग्रह एकत्र हो गया है। उसके द्वारा साहित्यिक एवं अन्य विषयों से सम्बद्ध प्रायः ७० ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जो अपने क्षेत्र की मानक कृतियाँ हैं। परिषद् का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष भव्य समारोह के साथ सम्पन्न होता है। योग्य विद्वानों के भाषणों की व्यवस्था इसी अवसर पर होती है। परिषद् की ओर से त्रैमासिक 'परिषद् पत्रिका' का भी प्रकाशन होता है, जिसमें अधिकतर शोध-रचनाएँ रहती हैं।

—सं०

बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन, पटना—स्थापना सन् १९१९ ई०, कार्य एवं विभाग—(१) बदरीनाथ सर्वभाषा महाविद्यालय—इसकी स्थापना आचार्य बदरीनाथ वर्मा के सम्मान में हुई। उद्घाटन-समारोह तत्कालीन राज्यपाल र० रा० दिवाकर द्वारा ९, मई, १९५६ ई० को सम्पन्न हुआ था। विद्यालय में विभिन्न देशी तथा विदेशी भाषाओं के अध्ययन का समन्वित प्रबन्ध है, जिनमें मुख्य हैं—जर्मन, फ्रेंच, रूसी, तलगु और हिन्दी (अहिन्दी भाषिओं के लिए) (२) बच्चनदेवी साहित्य गोष्ठी—इसकी स्थापना ४ जुलाई १९५४ ई० को आचार्य शिवपूजन सहाय की दिवंगता पत्नी श्रीमती बच्चनदेवी की पुण्य स्मृति में हुई। उद्घाटन राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने किया। देश के प्रमुख साहित्यचिन्तक समय-समय पर इस गोष्ठी के मुख्य अतिथि पद को सुशोभित कर चुके हैं। (३) प्रकाशन—शोध समीक्षा प्रधान त्रैमासिक 'साहित्य' प्रकाशित होता है। इसके अतिरिक्त, 'साहित्य-सम्मेलन का इतिहास', 'बिहार की साहित्यिक प्रगति', 'उर्दू शायरी और बिहार', 'हिन्दी-फ्रांसीसी स्वयं शिक्षक' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। (४) अनुशीलन—इस विभाग में अध्ययन-अनुसन्धान का कार्य होता है (५) पुस्तकालय और वाचनालय—पुस्तकालय में ११६३१ पुस्तकें हैं। वाचनालय में ७ दैनिक, ३ पाक्षिक, २३ साप्ताहिक, २७ मासिक, ३ त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं (६) कलाकेन्द्र—इसमें ३० से अधिक छात्राएँ कण्ठ-संगीत, वाद्य-संगीत तथा विविध नृत्यों का प्रशिक्षण प्राप्त कर रही हैं। विष्णु दिगम्बर संगीत-समिति (प्रयाग) की विविध परीक्षाओं में २५ छात्राएँ १९५९ ई० में उत्तीर्ण हुई। बिहार प्रान्त में एक ही स्थान पर शास्त्रीय नृत्य, गायन और वादन तथा नाट्यकला की शिक्षा सुलभ करने का श्रेय कलाकेन्द्र को ही है। (७) प्रचार विभाग—हिन्दी दिवस तथा अन्य साहित्यिक समारोहों का प्रान्तव्यापी आयोजन किया जाता है। हिन्दी को राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा के पद पर व्यावहारिक रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए सम्मेलन सचेष्ट है। जिला सम्मेलनों का सुदृढ़ संगठन बनाया जा रहा है। शाहाबाद, सारन, पूर्णिया, दरभंगा, हजारीबाग, धनबाद, सिंहभूमि, मुंगेर, चम्पारन, सहरसा और भागलपुर में ये संगठन स्थापित हैं।

—प्रे० ना० टं०

बिहारी, बिहारीलाल—बिहारी हिन्दी रीति-काल के अन्तर्गत उसकी भाव-धारा को आत्मसात् करके भी प्रत्यक्षतः आचार्यत्व न स्वीकार करने वाले मुक्त कवि हैं। इनका जन्म १५९५ ई० में (संवत् १६५२ वि०) ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था। इनके एक भाई और एक बहिन थी। इनका विवाह मथुरा के किसी माथुर ब्राह्मण की कन्या से हुआ था। इनके कोई सन्तान न थी, इसलिए इन्होंने

अपने भतीजे निरंजन को गोद ले लिया। ये धौम्यगोत्री सोती घरबारी चौबे थे।

कहा जाता है केशवराय इनके जन्म के ७-८ वर्ष बाद ग्वालियर छोड़कर ओरछा चले गये। वहीं इन्होंने हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास से काव्यशिक्षा ग्रहण की। ओरछा में रहकर इन्होंने काव्यग्रन्थो और संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया और प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना के सम्पर्क में आये। जनश्रुति है कि इन्होने खानखाना की प्रशंसा मे कुछ दोहे कहे, जिससे प्रसन्न होकर उन्होने इन्हें पर्याप्त पुरस्कार दिया।

ये शाहजहाँ के कृपा-पात्र थे तथा जोधपुर, बूँदी आदि अनेक रियासतों से इन्हें वृत्ति मिलती थी। इन्होंने अपनी काव्यप्रतिभा से जयपुराधीश महाराज जयसिंह तथा उनकी पटरानी अनन्तकुमारी को विशेष प्रभावित किया, जिनसे इन्हे पर्याप्त पुरस्कार और ग्राम मिला तथा ये दरबार के राजकवि भी हो गये। जयपुर के राजकुमार रामसिंह का विद्यारम्भ संस्कार इन्हीं ने कराया था।

ये रसिक जीव थे, पर इनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता थी। इनका स्वभाव विनोदी और व्यंग्यप्रिय था। ये १६६३ ई० (संवत् १७२० वि०) के आसपास परलोकवासी हुए।

इनकी एक ही रचना 'सतसैया' मिलती है, जिसमें इनके बनाये ७१३ मुक्तक दोहे तथा सोरठे सगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त इनके तीन कवित्त भी उपलब्ध हैं। हिन्दी में समास-पद्धति की शक्ति का परिचय सबसे अधिक बिहारी ने दिया है। सांग रूपकों का निर्वाह, पर्याय-व्यापारों के समाहार और विविध चेष्टाओ के एक साथ संयोजन की बहार बिहारी के चुस्त दोहों में देखी जा सकती है।

काव्य के लिए अपेक्षित सभी विषयों का सामान्य परिचय इन्हें था। पर इन्हें उन सभी विषयों का विशेषज्ञ नहीं कह सकते। इनकी रचना में ज्योतिष की कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं, जो असाधारण हैं। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक बातें भी अप्रस्तुत रूप में आयी हैं। इनसे इनके लोकज्ञान का परिचय भर मिलता है। अप्रस्तुत रूप में बहुत सामान्य बातें लेकर इन्होंने अपनी काव्य-मर्मज्ञता भी दिखाई है।

लोकज्ञान और शास्त्रज्ञान के साथ ही साथ इन्हें काव्यज्ञान भी अच्छा था। रीति का इन्हें परिपक्व ज्ञान था। इन्होंने अधिक वर्ण्य सामग्री श्रृंगार के क्षेत्र से ली है। प्रेम के संयोग पक्ष में इन्होंने नखशिख का वर्णन अधिक किया है, पर ऋतुओं का नाम मात्र का।

विभाव-पक्ष के विधान में इन्होंने रूप-वर्णन पर अधिक ध्यान दिया, हृदय पर पड़े प्रभाव पर उतना नहीं। नखशिख के भीतर इन्होंने अधिक रचना नेत्रों पर की और उसके अनेक व्यापार दिखाये हैं—उनका संचार, बेधकता, चंचलता, विशालता आदि-आदि। कहीं सीधा वर्णन है, कहीं रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष आदि की लपेट में है। श्रृंगार के संयोग-पक्ष में सौन्दर्य, दीप्ति, कोमलता आदि की वस्तु व्यंजना बिहारी में काव्योपयुक्त है।

बिहारी ने पूर्वानुराग का वर्णन अधिक किया है, पर प्रवास का अधिकतर। मान को भी दूर तक नहीं घसीटा है, मान-विरह के कारण नदी तालाब नहीं सुखाये हैं। इनकी रचना में विप्रलम्भ के ये दो ही रूप पाये जाते हैं। विरह तो ऊहात्मक ही है, पर पत्रिका के वर्णन में प्रेम का विस्तार है। विरह-वर्णन में कहीं-कहीं तो स्वाभाविक उक्ति कही गयी है और कहीं-कहीं वह खिलवाड़ सी लगती है। उन्होंने विरह की व्यजना मे मध्यममार्ग का ही अवलम्बन किया है।

इनकी कविता श्रृंगार-रस की है इसलिए नायक या नायिका की वे चेष्टाएँ, जिन्हें हिन्दी वाले 'हाव' कहते हैं, इनमें पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं। अनुभावों की सम्यक् योजना इनकी बहुत बड़ी विशेषता है। कुछ ऐसी चेष्टाओ का भी इन्होंने वर्णन किया है, जो शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'हाव' के अन्तर्गत नहीं आतीं। वे रूप-चित्रण की दृष्टि से वर्णित हैं। हिन्दी के रीतिबद्ध कवियों मे ये इसलिए स्पष्ट पृथक् दिखाई पड़ते हैं।

'सतसैया' में अन्य रसों के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे मिर्जा राजा जयशाह की प्रशसा के छन्द वीररस के माने जा सकते हैं। हास्य-रस में 'पारावाले वैद्य' और 'मारक-जारज-योगवाले' ज्योतिषीसम्बन्धी दोहे रखे जा सकते हैं। 'परतिय दोष' कहने वाले पौराणिक जी भी हँसी के आलम्बन हैं।

इन्होंने भक्ति के उद्‌गार उक्ति-स्वारस्य के लिए समय-समय पर प्रकट किये हैं। ये निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित थे पर काव्य की सर्वसामान्य भूमि पर पहुँचकर निर्गुण और सगुण में या राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं मानते थे। कोरी भक्ति की कथनी इनमें नहीं है, काव्य की रसीली उक्तियाँ अवश्य हैं।

बिहारी ने अलंकार के उदाहरणों के रूप में रचना नहीं की है पर अलंकार की काव्योपयोगिता पर बराबर दृष्टि रखी है। चमत्कार को ही काव्य का उद्देश्य समझने वालों और भाव मे मग्न होनेवालों, दोनो को दृष्टि में रखकर कविता का निर्माण किया है। इनके दोहों में अनुप्रास, यमक, वीप्सा कई शब्दालंकार उलझे पड़े हैं, पर कहीं से भी उनका रूप नहीं बिगड़ा, उलटे सौन्दर्य आ गया। केशव के प्रभाव से समझिये या चमत्कार की रुचि के कारण इनकी रचना में कहीं-कहीं ऐसा अप्रस्तुत-विधान भी है, जो केवल शास्त्रकथित रूप-रंग को लेकर है, उसमें रूप ग्रहण कराने और रमणीयता उत्पन्न करने पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। परम्परासिद्ध उपमानों के अतिरिक्त इन्होंने सामान्य जगत् से भी उपमानों का विधान करने का प्रयत्न किया है। ये प्रतिभासम्पन्न थे, पर प्रतिभा का उपयोग इन्होंने चमत्कार और अनुभूति दोनों के लिए किया। कहीं चमत्कार ही चमत्कार है, कहीं अनुभूति और चमत्कार समान है। सर्वत्र चमत्कार पर ही दृष्टि न रखने के कारण अन्य मुक्तककारों से इनका पार्थक्य निश्चित है। इनकी रचना के मान का कारण चमत्कार नहीं, हृदय और कला दोनों पक्षों का समयोग है, जो उनके समानधर्माओ में नहीं था। इन्होंने केवल शुष्क कथन द्वारा नीति की उक्ति नहीं बाँधी। बराबर किसी ऐसे दृष्टान्त या युक्ति से काम लिया है, जो उस तथ्य की सार्थकता प्रमाणित करने में सहायक हो। इस युक्ति के कारण 'सतसैया' मे सूक्तियाँ तो पाई जाती हैं, पर कोरे नीति कथन नहीं। इनकी अन्य मुक्तक रचयिताओं मे यह भी एक

विशेषता है।

बिहारी प्रसंगों की ऊहा करने में अति प्रवीण थे। प्रेम के विस्तृत क्षेत्र में बहुत दूर तक धावा मारने का उद्योग इन्होने किया, कुछ बँधे प्रसंगों के भीतर ही अपनी कला दिखायी और इनके भीतर सरस सन्दर्भों को ग्रहण किया है। इसी कारण इनकी रचना लोगों को बहुत दिनों से रसमग्न करती आ रही है। यद्यपि रीतिशास्त्र की लकीर पीटनेवाले कवियों की भाँति इन्होने बँधकर अपनी रचना नहीं की, मुक्तक की पुरानी परम्परा पर ही स्वच्छन्द रूप से अपने को उड़ने दिया, तथापि समय का प्रभाव इन पर पड़ा ही, क्योंकि रीतिशास्त्र की लकीर से सटकर चलते हुए ये बराबर लक्षित होते हैं। रसखानि, ठाकुर, घनआनन्द आदि ने प्रेम की वेदना और आधिक्य को लेकर जैसा उसका विस्तार दिखाया, वैसा 'सतसैया' में थोड़ा बहुत बराबर मिलता है, पर साथ ही रीति के कवियों से भी होड़ लेने वाली कृति उसमें बहुत है।

बिहारी की भाषा बहुत कुछ शुद्ध ब्रज है, पर है वह साहित्यिक। इनकी भाषा मे पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं। खड़ीबोली के कृदन्त और क्रियापद अनुप्रास के आग्रह से रखे गये हैं। बुन्देलखण्ड में अधिक दिनों तक रहने के कारण बुन्देलखण्डी शब्दों और प्रयोगों का मिलना स्वाभाविक है। लिंग-विपर्यय भी इनमें बहुत है। एक ही शब्द कहीं पुल्लिंग और कहीं स्त्रीलिंग है पर इन्होंने पूर्वी अर्थ में किसी शब्द का व्यवहार नहीं किया। पूर्व और पश्चिम में अर्थभेद से प्रयुक्त होनेवाले शब्द को पश्चिमी अर्थ में ही प्रयुक्त किया है, जैसे 'सुघर' शब्द। इन्होंने कुछ शब्द पुराने भी रखे हैं, जैसे—'लोयन', 'बिय' आदि। पर ऐसे शब्द अधिक नहीं हैं। भाषा का आलंकारिक गुण देखा जाय तो इन्होंने अनुप्रास की योजना बहुत सावधानी से की है। कहीं-कहीं प्रसंगानुकूल झंकृति भी है। इनकी कविता पर मुसलमानी लाक्षणिकता का भी कुछ प्रभाव है पर अधिकतर वह ब्रज के अनुरूप ही है। भाषा में तोड-मरोड़ अति अल्प है। जहाँ ऐसा है, वहाँ छन्दानुरोध से ही।

बिहारी की भाषा व्याकरण से गठी हुई है, मुहावरों के प्रयोग, सांकेतिक शब्दावली और सुष्ठु पदावली से संयुक्त है। भाषा प्रौढ़ और प्रांजल है। वह विषय के अनुरूप अपना रूप बदलती है। भाषा भाव-विचार के अनुरूप और चुस्त है। उसमें साहित्यिक दोषो को ढूँढ़ निकालना श्रमसाध्य है। विन्यास सम्मत, प्रयोग व्यवस्थित और शैली परिमार्जित है।

बिहारी का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर जबर्दस्त पड़ा। इन्होंने 'सतसैया' की रचना करके कितने ही कवियों मे सतसई लिखने की चाह उत्पन्न कर दी। इनके बाद श्रृंगार की कितनी ही सतसइयाँ रची गयीं—'मतिराम सतसई', 'श्रृंगार-सतसई', 'विक्रम-सतसई' आदि। 'नौसई' और 'ग्यारहसई' भी लिखी गयीं। किसी-किसी ने 'हजारा' भी लिखा, जैसे 'रतन हजारा' पर सतसई नाम में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण हो गया और उसके लिए दोहा छन्द ऐसा निश्चित हो गया कि अब भी लोग बराबर सतसई-ग्रन्थ लिखते चले जा रहे हैं। ब्रज-भाषा में ही नहीं, लोग खड़ीबोली में भी सतसई लिख रहे हैं और वही दोहा छन्द चला आ रहा है।

'सतसैया' का काव्य-जगत् मे इतना प्रचार और आदर हुआ कि बिना पढ़े कोई पूरा साहित्यिक ही नहीं समझा जाता था। बिहारी के बाद होने वाले प्रसिद्ध से प्रसिद्ध कवियों तक ने उस पर टीकाएँ लिखीं। प्रत्येक दशक के बाद नये रंग-ढंग से 'सतसैया' की टीका मिलती है। आधुनिक समय में भी हिन्दी के तीन महारथियों ने उसकी अपने-अपने ढंग की टीकाएँ लिखी हैं। कुछ लोग और कुछ न कर सके तो दोहों पर कुंडलियाँ ही बाँधने लगे। जिस ग्रन्थ का इतना अधिक पठन-पाठन और अनुशीलन हुआ हो, उसका प्रभाव काव्य-जगत् पर पड़े बिना नहीं रह सकता। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को छोड़कर हिन्दी में ऐसा कोई दूसरा काव्य-ग्रन्थ नहीं दिखाई पड़ता, जिसका इतना अधिक मंथन हुआ हो। 'रामचरितमानस' पर भक्त-सम्प्रदाय और व्यास-सम्प्रदाय का धावा हुआ तो 'सतसैया' पर रसिक-सम्प्रदाय और कवि-सम्प्रदाय का। जिस प्रकार 'मानस' के अनोखे अर्थ किये गये उसी प्रकार 'सतसैया' के भी।

परवर्ती कवियों की कविता पर उनके भाव और भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। बिहारी की सी जबाँदानी प्राप्त करने या दिखाने का बहुतों का हौसला हुआ, इनके भावों पर कुछ कहने-सुनने की कइयों को लालसा हुई। उनकी भाषा की शब्दावली का प्रयोग, उनके बँधे हुए पदों का व्यवहार अपनी भाषा में सजीवता लाने के लिए वे बराबर करते दिखाई देते हैं। भाषा और भाव ही नहीं, उनकी शैली भी बहुतों ने ग्रहण की। 'मतिराम-सतसई' के अनेक दोहे 'सतसैया' के दोहों से मिलते हैं। भाषा की कसावट, भावों की उठान, पद्धति सब कुछ बिहारी के ढंग की है। 'श्रृंगार सतसई' के अनेक दोहों में 'बिहारी-सतसई' के भाव और भाषा दोनों की नकल की गयी है। 'रतन-हजारा' के पचासों दोहे 'सतसैया' के भाव में हेरफेर करके बने हैं। 'रस-निधि' पर बिहारी का अधिक रंग चढ़ गया था। सतसइयों को छोड़कर जिन अन्य कवियों ने उनका अनुगमन किया और उनकी शैली पकड़ी उनमें तीन प्रमुख हैं—रसलीन, पद्माकर और 'रत्नाकर'। रसलीन में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य बिहारी के ही ढंग का है। पद्माकर में चित्रण की विशेषता बिहारी के ढंग की है। अनुभावों का विधान तथा चित्रण का वैशिष्ठ्य बिहारी के बाद दो ही कवियों में विशेष पाया जाता है—एक पद्माकर में, दूसरे रत्नाकर में। बिहारी की कविता का सेवन करते-करते रत्नाकर जी भाव, भाषा और शैली तीनों ही बातों में बिहारी के अनुगामी हो गये। बिहारी का ऐसा प्रभाव उनकी कविता की उन विशेषताओं की महत्ता प्रतिपादित करता है, जो लोगों के हृदय को बेधने वाली है। इसी हृदय-बेधकता को लक्ष्य करके 'सतसैया' के दोहों को 'नावक के तीर' कहा गया है।

बिहारी के समान इतनी कम रचना करके इतना अधिक सम्मान प्राप्त करने वाला हिन्दी का कोई दूसरा कवि नहीं है। इनको जो सम्मान मिला, वह इसलिए नही किये कविता के उस क्षेत्र में अकेले हैं, बल्कि इसलिए कि इन्होंने रचना के लिए श्रृंगार का जो क्षेत्र चुना, उसमें उसी ढंग की मुक्तक-रचना करने वाला कवि जनता और काव्य-मर्मज्ञों की दृष्टि में इनसे बढ़कर नहीं। मुक्तक रचना मे जितनी भी विशेषताएँ सम्भाव्य हैं, इनकी रचना में सब पाई जाती हैं और वे अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची हुई हैं।

'सतसैया' सम्बन्धी वाङ्मय इतना विस्तृत है कि उसे कुछ पंक्तियों में समेटना सम्भव नहीं है। इसमें उसकी बहुत सी टीकाएँ हैं, उसके अन्य भाषाओं में पद्यात्मक भाषान्तर है। कुण्डलियाँ, कवित्त एवं सवैयें मे पल्लवित रूप हैं। तुलनात्मक आलोचनाएँ और फुटकल लेख हैं। इधर हिन्दी गद्य में खड़ी बोली के गृहीत हो जाने पर जो टीकाएँ लिखी गयीं, उनमें से अधिकांश में भूमिका है और बहुतों में बहुत बड़ी। सबमें बिहारी की जीवनी, उनकी काव्यप्रतिभा एवं टीकाओं आदि का उल्लेख है। राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' पत्र में एक लेख छपवाया था, जिसमे बिहारी की प्रशंसा के अतिरिक्त उनकी जाति आदि का भी निर्णय करने का प्रयत्न किया था। महेशदत्त ने 'भाषा काव्यसंग्रह' में बिहारी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा है। राधाकृष्ण दास ने भी एक निबन्ध लिखा, जिसमे प्रसिद्ध कवि केशव और बिहारी की कविता का मिलान करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि बिहारी केशव के पुत्र थे। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में किसी पुराने कवित्त के आधार पर कवि देवदत्त को बिहारी से पहले स्थान दिया। यह बात बहुतो को खटकी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में इसकी कड़ी टीका की। पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' के नाम से ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'भावार्थ-प्रकाशिका टीका' की आलोचना 'सरस्वती' में छपवाई। उन्होंने 'संजीवन-भाष्य' लिखना आरम्भ किया, जिसमे सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू के कवियों की रचना से बिहारी की कविता की तुलना करके यह दिखलाया गया है कि बिहारी ने जो कुछ कहा, वह सबसे बढ़कर है। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' पुस्तक प्रकाशित करवायी, जिसमें दोनों कवियों की कविता की बहुत विचारपूर्वक सयत ढंग से आलोचना की गयी है। लाला भगवानदीन ने जबलपुर की 'श्रीशारदा' में इसकी और साथ ही 'हिन्दी नवरत्न' में बिहारी के सम्बन्ध में प्रकट किये गये विचारों की कड़ी आलोचना की। इसे 'बिहारी और देव' के नाम से अलग पुस्तकाकार भी छपवा दिया। बिहारी के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण लेखमाला 'रत्नाकरजी' ने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' की भूमिका के अंश हैं। बिहारी की आलोचना के रूप में उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह अब 'कविवर बिहारी' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त बिहारी पर कितने ही लेख पत्र-पत्रिकाओं मे समय-समय पर निकलते रहे हैं। अधिकांश में या तो किसी दोहे की गुत्थी सुलझाई अथवा उलझाई गयी है या मुग्ध भाव से बिहारी की गुणावली गाई गयी है। 'जागरण' के एक लेख में बिहारी के 'ग्राम्य-वर्णन' पर कुछ अच्छा विचार किया गया है। बिहारी की बहुत संक्षिप्त, पर प्रौढ़ एवं तात्त्विक आलोचना रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में मिलती है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने आधुनिक विवेचना सरणि पर 'बिहारी की वाग्विभूति' और 'बिहारी' नामक दो आलोचनाएँ प्रकाशित करायीं। 'बिहारी' में उस युग की विचारधारा का विस्तृत उल्लेख है और नये रूप में 'सतसैया' की समीक्षा है। अन्त में पूरी 'सतसैया' भी टिप्पणी सहित अकारादि क्रम से दी गयी है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० न०; देव और बिहारी : कृष्ण बिहारी मिश्र, बिहारी और देव, भगवानदीन; बिहारी रत्नाकर (भूमिका) : सं० रत्नाकर; बिहारी की वाग्विभूति और बिहारी : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।]

—वि० प्र० मि०

बिहारीलाल चौबे—जन्म १८४८ ई० में काशी के निकट माथुरपुर गाँव में। ये पटना कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे। हिन्दी गद्य की प्रगति और विकास में इनका योग उल्लेखनीय माना जाता है। विभिन्न विषयों पर लिखी हुई आपकी पुस्तकें बिहार प्रान्त की शिक्षा योजना में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुईं। आपकी लिखी हुई पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं—१. 'भाषा बोध', २. 'पत्रबोध', ३. 'बिहारितुलसीभूषण', ४. 'वर्णनाबोध', ५. 'पदकाम्य बोध', ६. 'प्रबोध', ७. 'बालोपहार', ८. 'चालचलन बोध', ९. 'दशावतार', १०. 'तुलसी सतसई की टीका', ११. 'बंगभाषा की गीता का अनुवाद', १२. 'लैम्बस् टेल्स का अनुवाद', १३. 'दशकुमार चरित का अनुवाद', १४. 'शिक्षा प्रणाली, १५. 'वेंकटबिहारितुलसीभूषणबोध'। आपकी मृत्यु १९१५ ई० के आस पास हुई।

—प्र० ना० टं०

बिहारीलाल भट्ट—इनका जन्म बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत बिजावर में आश्विन शुक्ला विजयादशमी सं० १९४६ वि०, (१८८९ ई०) को हुआ था। इनका वंश कवि के नाते प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रहा है। इनकी बाल्यावस्था पितामह की देखरेख में व्यतीत हुई। हनुमत प्रसाद इनके काव्य-गुरु थे। सवाई महाराजा सावन्तसिंह ने इनकी काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें अपना दरबारी कवि नियुक्त किया और इनकी जीविका का समुचित प्रबन्ध कर दिया। कई नरेशों ने इनका सम्मान किया था। बिजावर नरेश ने इन्हें 'साहित्य सागर' नामक ग्रन्थ लिखने के लिए आज्ञा दी थी और उनकी प्रेरणा से इन्होंने तीन वर्ष लगातार परिश्रम के उपरान्त इस ग्रन्थ को लिखा, जिसका प्रकाशन १९३७ ई० में हुआ।

बिहारीलाल भट्ट मुख्यतः कवि थे, फलतः अपना काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इन्होंने काव्य में ही लिखा। रीतिकालीन आचार्य कवियों की परम्परा में बिहारीलाल भट्ट एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं और इसलिए काव्य विषयसम्बन्धी नवीनता और अभिव्यक्तिसम्बन्धी आधुनिक विशिष्टाओ को इनमें न ढूँढ़कर परम्परागत कवि-पण्डित की श्रेणी में इन्हें रखना उचित है। इन्होंने नायिका भेद का वास्तविक तत्त्व अध्यात्म के रूप में समझा और इसी रूप में इसका विवेचन किया है।

—नि० ति०

बिहुला—बिहुला की लोकगाथा करुण रस से परिपूर्ण है। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त बिहार तथा बंगाल में भी इसका प्रचार पाया जाता है। संक्षेप में इसकी कथा निम्नांकित है—

"चन्दू साहू नामक एक सुप्रसिद्ध सौदागर था। इसके लड़के का नाम बाला लखन्दर था। यह रूप-यौवन से सम्पन्न तथा सुन्दर युवक था। अवस्था प्राप्त होने पर इसका विवाह-सम्बन्ध बिहुला नामक एक परम सुन्दरी कन्या से किया गया। चन्दू साहू के ६ लड़के विवाह के अवसर पर कोहबर में साँप के काटने से मर चुके थे। अत. बाला लखन्दर के विवाह के समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि पूर्व दुर्घटना की पुनरावृत्ति न होने पाये। इस विचार से ऐसा मकान

बनाने का निश्चय हुआ, जिसमें कहीं भी छिद्र न हो। विषहरी नामक ब्राह्मण, जो चन्द्र सौदागर से द्वेष रखता था, बड़ी ही दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति था। उसने मकान बनाने वाले कारीगरों को घूस देकर उसमें सर्प के प्रवेश करने योग्य एक छिद्र बनवा दिया। बिहुला भी इस दुर्घटना को रोकने के लिए बड़ी सचेष्ट थी। उसने अपने मायके से पहरेदार भी चौकसी रखने के लिए बुलवाये थे। विवाह के पश्चात् जब वह बाला लखन्दर के शयनकक्ष में गयी तो देखा कि वह अचेत सो रहा है। सर्पदंश से रक्षा के लिए उसने उसकी चारपाइयों के चारों पायों में कुत्ता, बिल्ली, नेवला तथा गरुड़ को बाँध दिया और स्वयं चौकसी करती हुई लखन्दर के सिरहाने बैठ गयी। जिस कमरे में बाला सो रहा था, उसमें प्रकाश के लिए नौ मन तेल का अखण्ड दीप जल रहा था।

दुर्भाग्य से कुछ देर बाद बिहुला को भी नींद लगने लगी और लखन्दर के पास ही वह सो गयी। इसी बीच में विषहरी ब्राह्मण के द्वारा भेजी गयी एक नागिन आयी और उसने लखन्दर को डँस लिया। जब प्रातःकाल बिहुला की नींद खुली तो वह कन्या देखती है कि उसका पति मरा पड़ा है। उसकी लाश को देखकर उसने बड़ा करुण क्रन्दन किया और अपने भाग्य पर पश्चात्ताप करने लगी।

अन्त में वह नेतिया नामक धोबिन के पास गयी और उसकी सलाह के अनुसार काम करके उसने बड़ी युक्ति से अपने पति तथा चन्द्र साहू के ६ पुत्रों को जीवित कर लिया।

बिहुला की गाथा बड़ी कारुणिक है। बिहुला के विलाप का वर्णन करता हुआ लोककवि कहता है कि 'ए राम स्वामी स्वामी हाय स्वामी कहे रे दइया छाती पीटी रोदनिया करे ए राम। ए राम कोहबर में रोवे सती बिहुला रे दइया दइया सुनि लोग के छाती फाटे ए राम।।''

करुण रस से ओत–प्रोत बिहुला की उक्त कथा को सुनकर पाषाण हृदय का भी चित्त द्रवित हो उठता है। यही कारण है कि इस गाथा को लेकर अनेक छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना भोजपुरी में हुई हैं, जिनमें से 'बिहुला विषहरी' और 'बिहुला-गीत' नामक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।

बंगाल में बिहुला की कथा का बड़ा प्रचार है, जो वहाँ 'मनसा मंगल' के नाम से प्रसिद्ध है। बंगाल में 'मनसा' सर्पों की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है। अतः इसकी पूजा के अवसर पर ये गीत गाये जाते है। 'मनसा मंगल' के गीतों का कथानक कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ वही है, जो 'बिहुला' का है। बंगला भाषा के अनेक कवियों ने 'मनसा मंगल' की रचना की है, जिनका प्रकाशन कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा 'बंगीय साहित्य परिषद्' द्वारा हुआ है।

बंग प्रान्त में 'मनसा' देवी की पूजा बड़े प्रेम से की जाती है। इस अवसर पर इस कथा को नाटकीय रूप देकर अभिनय भी किया जाता है। इस उल्लेख से पता चलता है कि बिहुला की कथा कितनी लोकप्रिय और व्यापक है।

—कृ० दे० उ०

बीजक—यह कबीर वाणी का प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जाता है। यह कबीर द्वारा ही लिखा गया है, इसमे सन्देह है। कबीर ने जिस भाषा और शैली मे अपनी वाणी कही है, वह उनके साहित्यिक एव शास्त्रीय निष्ठा का प्रमाण नहीं देती। कबीर की साखी यह कहती है—''कबीर संसा दूर करु, पुस्तक देइ बहाय।'' और जनश्रुति यह कहती है कि ''मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'' तब उन्होंने बीजक ग्रन्थ 'लिखा' होगा, इसमें बहुत सन्देह होता है। कबीर ने तो अपने सिद्धान्त और उपदेश मौखिक रूप से ही दिये। उन्होंने सदैव ''कहै कबीर सुनो भाई सन्तो'' ही कहा, ''लिखै कबीर पढ़ो भाई सन्तो'' जैसी पंक्ति कभी नहीं लिखी। अतः जो 'वाणी' उन्होंने कही, वह मौखिक रूप से ही प्रचारित हुई। यह बात अवश्य कही जा सकती है कि जो कुछ भी उन्होंने कहा, उसे उनके शिष्यों ने लिखा और कबीर के नाम से प्रचारित किया। यह भी संभव है कि शिष्यों की बहुत सी वाणी कबीर के नाम से ही प्रचारित हुई हो। यही कारण है कि आज कबीर के नाम से लगभग ६१ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें से काफी संख्या ऐसे ग्रन्थों की है, जो कबीर के बाद लिखे गये और जिनमें उन सिद्धान्तों की चर्चा है, जिनमें बाह्याचार और कर्मकाण्ड का निरूपण विशेष रूप से हुआ। कबीर ने बाह्याचार और कर्मकाण्ड की सदैव ही निन्दा की। अतः वे ग्रन्थ कबीर द्वारा निर्मित नहीं हो सकते।

कबीरपन्थियों तथा सामान्य पाठकों में 'बीजक' कबीर साहब के सिद्धान्तों का मूल ग्रन्थ माना जाता है। कहा जाता है कि कबीर की चोरी से उनका एक भक्त भगवानदास 'बीजक' की प्रति को ले भागा। कहते हैं बीजक लेकर भागने के कारण ही यह भगवानदास 'भग्गू' के नाम से निन्दित हुआ। 'बीजक' की टीका लिखने वाले विश्वनाथ सिंह जू देव ने कबीर साहब के द्वारा कही गयी बीजक के सम्बन्ध में कुछ चौपाइयों का निर्देश किया है—

''भग्गूदास की खबरि जनाई। ले चरनामृत साधु पियाई।। कोऊ आप कह कालिंजर गयऊ। बीजक ग्रन्थ चोराइ ले गयऊ।। सतगुरु कह वह निगुरा पन्थी। काह भयौ लै बीजक ग्रन्थी।। चोरी करि वै चोर कहाई। काह भयो बड़ भक्त कहाई। बीजमूल हम प्रगट चिन्हाई। बीज न चीह्नो दुर्मति लाई।।''

कबीरपन्थी महात्मा पूरन साहेब ने 'कबीर साहब के मुख्य ग्रन्थ मूल बीजक' की जो टीका लिखी है, उसके अनुसार 'बीजक' के निम्नलिखित ग्यारह अंगों का निर्देश और विस्तार निम्न प्रकार से दिया है :—(१) रमैनी—८४, (२) शब्द ११५, (३) ज्ञान चौंतीसा ३४, (४) विप्रमतीसी १, (५) कहरा १२, (६) वसन्त १२, (७) चाचर २, (८) बेलि २, (९) बिरहुली १, (१०) हिंडोला ३, (११) साखी ३५३। इस भाँति बीजक में छन्दों की कुल संख्या ६१९ है।

'बीजक' शब्द तान्त्रिक उपासना से सम्बद्ध ज्ञात होता है। बौद्ध तन्त्र में जिन सूत्रों से रहस्यमय तत्त्व की उपलब्धि होती थी, उन्हें 'बीज सूत्र' या 'बीजाक्षर' का नाम दिया गया। इसी 'बीजाक्षर' में मन्त्रों की सृष्टि मानी गयी। इस भाँति बीजाक्षर से शब्द तत्त्व का भी बोध हुआ। बौद्ध धर्म की वज्रयानी परम्परा से कालान्तर में सन्त सम्प्रदाय के स्रोत मिलते हैं। इस सन्त सम्प्रदाय में शब्द का बहुत महत्त्व है। सन्त सम्प्रदाय के काव्य में 'शब्द' और 'साखी' का विशिष्ट अर्थ और महत्त्व समझा जाता है। इसी 'बीजक' ग्रन्थ में 'रमैनी' (३७) में 'बीजक' के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है—

''एक सयान सयान न होई। दूसर सयान न जाने कोई।।

तीसर सयान सयान दिखाई। चौथे सयान तहाँ ले जाई।। पचये सयान न जाने कोई। छठये मा सब गैल बिगोई।। सतयाँ सयान जो जानहु भाई। लोक वेद मों देउ देखाई।" साखी—"बीजक वित्त बतावै। जो वित्त गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीवको। बूझे बिरला कोय।"

उपर्युक्त उद्धरण में 'बीजक' का सम्बन्ध 'शब्द' से ही जोड़ा गया है। 'सयान' की मीमांसा निम्न प्रकार से समझी जा सकती है—एक सयान—ब्रह्म, दूसर सयान—माया, तीसर सयान—त्रिगुण—(भक्ति, ज्ञान और योग), चौथे सयान—चारों वेद, पचयें सयान—पाँचों तत्त्व (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी), छठयें सयान—मन के दोष (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर), सतयाँ सयान—शब्द।

इसी भाँति 'बीजक' वास्तविक तत्त्व का बोधक है। यह तत्त्व संसार में गुप्त रहता है। 'बीजक' के द्वारा ही ब्रह्म के वास्तविक तत्त्व (शब्द) का बोध होता है, जिससे समस्त सृष्टि का निर्माण हुआ है।

—रा० कु०

बीजगुप्त—महाप्रभु रत्नाम्बर बीजगुप्त का परिचय देते हुए भगवती चरण वर्माकृत 'चित्रलेखा' उपन्यास के आरम्भिक अंश में कहते हैं, "बीजगुप्त भोगी है,...वैभव और उल्लास की तरंगों में वह केलि करता है... । उसमें सौन्दर्य है, और उसके हृदय में संसार की समस्त वासनाओं का निवास।...आमोद और प्रमोद ही उसके जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी है।" भूत और भविष्य उसके लिए "कल्पना की चीजें हैं", जिनसे उसका "कोई प्रयोजन नहीं", वर्तमान के प्रति ही उसकी निष्ठा प्रतीत होती है।

बीजगुप्त का चरित्र उपन्यास में चित्रित कम, संकेतित अधिक है। वह उपन्यासकार की दार्शनिक दृष्टि को प्रतिबिम्बित करता है। मनुष्य को परिस्थित या नियति का दास मानने का दर्शन सबसे पहले वही प्रतिपादित करता है, बाद को चित्रलेखा भी इसी दर्शन को स्वीकार करती है और उपसंहार में रत्नाम्बर ने इसी दर्शन के आधार पर पाप की व्याख्या करनी चाही है। उसकी बौद्धिक दृष्टि की प्रखरता बहुधा उभरती है। प्रेम की नित्यता और अमरता के सम्बन्ध में उसका गहरा विश्वास है। वस्तुओं को नये परिप्रेक्ष्य एवं नये अर्थों द्वारा व्याख्यायित करने की उसकी शक्ति यशोधरा पर बड़ा प्रभाव डालती है। वह उसे विद्वान् मानने लगती है।

बीजगुप्त में समस्याओं के आरपार देख लेने की प्रबल शक्ति है। चित्रलेखा एवं कुमारगिरि के परिचय के बाद ही उसे आभास हो गया था कि दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो गये हैं और यह दोनों के लिए अनिष्ट कर सिद्ध होगा। इसी प्रकार चित्रलेखा, मृत्युंजय, यशोधरा, श्वेतांक आदि को मुख-मुद्राओं या संकेतों द्वारा ही उनके भावों और विचारों को उसने समझा है।

उपन्यास के अन्तिम अंश में वह सबसे अधिक उभरता है। उस समय उसकी ज्योति के आगे शेष सभी प्रभाहीन हो जाते हैं। एक ओर वह प्रेम का आदर्श अपनाकर यशोधरा के साथ विवाह का प्रिय प्रस्ताव ठुकराता है, दूसरी ओर स्वाभिमान की रक्षा करते हुए चित्रलेखा से बिना कुछ कहे तीर्थयात्रा के लिए चला जाता है। बीच में एक बार मानवसुलभ मानसिक द्वन्द्व उसे मथता है और उस समय वह यशोधरा से विवाह करने की सोचता है। यह द्वन्द्व अत्यधिक नाटकीय शैली में चित्रित हुआ है। पर तत्काल ही श्वेतांक का यह निवेदन कि वह यशोधरा से विवाह करना चाहता है, बीजगुप्त को पुनः सचेत कर देता है और तब उसकी मानवता अपने सर्वोत्तम रूप में सम्मुख आती है। श्वेतांक को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति एवं पदवी दान करके वह भिखारी के रूप में निकल पड़ता है पर उसका यह रूप इतना प्रभविष्णु है कि भारत का सम्राट् भी उसके समक्ष अपना शीश झुकाता है तथा उसे इस स्थिति तक पहुँचानेवाली चित्रलेखा जब आकर क्षमा माँगती है तब वह उसे क्षमा ही नहीं कर देता, साथ ले चलने के लिए भी प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार बीजगुप्त प्रारम्भ में चित्रलेखा का पूरक प्रतीत होता है पर अन्त में श्वेतांक का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है कि "बीजगुप्त देवता है।"

—दे० शं० अ०

बीर—दिल्लीनिवासी श्रीवास्तव कायस्थ। भाव, रस और नायिका भेद पर लिखा हुआ इनका ग्रन्थ 'कृष्ण-चन्द्रिका' नाम से उल्लिखित है। इसका रचनाकाल शुक्लजी ने सनं १७२२ ई० माना है। 'कृष्ण-चन्द्रिका' साधारण ग्रन्थ है। इसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं है। इनकी काव्य-प्रतिभा भी उच्चकोटि की नहीं थी।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०।]

—ह० मो० श्री०

बीरचरित्र, बीरसिंहदेव चरित्र—वह केशवदास की वीरकाव्यात्मक रचना है। इसकी रचना १६०७ ई० में हुई। इसके मुद्रित संस्करणों में—१. 'वीरसिंह चरित्र'—सं० रामनेत तैलंग, ओरछा दरबार, भारतजीवन प्रेस, काशी से सन् १९०४ ई० में मुद्रित। २. 'वीरसिंहदेव चरित्र'—सं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित।

'बीरचरित्र' तेंतीस अध्यायों में प्रस्तुत हुआ है। छन्द संख्या १६८४ है। इसकी कथा का उत्थापन लोभ और दान के संवाद रूप में हुआ है। दोनों में विवाद होता है। प्रत्येक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहता है। अन्त में दोनों विन्ध्यवासिनी देवी के निकट जाते हैं। उन्होंने बताया कि वीरसिंह के निकट जाकर निर्णय करा लो। तब लोभ ने जिज्ञासा की कि एक ही राजा के रामशाह और वीरसिंह दोनों ही पुत्र हैं, क्या कारण है कि एक ही घर में दो राजा हुए। वीरसिंह की कुलदेवी विन्ध्यवासिनी ने उनका चरित्र उन्हें विस्तार से सुनाया। रामशाह और अकबर में मित्रता थी। वीरसिंहदेव ने मुगल-राज्य के बहुत से स्थान अपने पिता मधुकर शाह द्वारा दी हुई बड़ौन स्थान की बैठक में रहते हुए ले लिये। इस पर अकबर की ओर से रामशाह को अपने भाई से युद्ध करना पड़ा। जहाँगीर की साँठ-गाँठ से वीरसिंह ने अबुलफजल का वध कर डाला था। जहाँगीर वीरसिंह के अनुकूल था। कथा समाप्ति पर लोभ-दान दोनों वीरसिंह के दरबार में गये। उन्होंने निर्णय किया कि "सन्तत सदा समान तुम"।

इस प्रशस्तिकाव्य में वीरसिंह के चरित्र तथा उनके विविध युद्धों का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। इसमें ऐसी-ऐसी घटनाओं का उल्लेख है, जिनसे उस समय के शासकों के पास लिखे अथवा उनके द्वारा

लिखवाये गये इतिहासों से मिलान करने पर पता चलता है कि किसी विशेष घटना को किस प्रकार दूसरा रंग दे दिया गया है। अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन इसमें मिलते हैं फिर भी उनकी उपयोगिता की स्वीकृति अस्वीकृत नहीं की जा सकती। केशव के ग्रन्थों में जो ऐतिहासिक सामग्री मिलती है, उसमें वीरचरित्र का विशेष महत्त्व है, जिसमें सबसे अधिक ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तार से उल्लेख है।

इसमें प्रमुख छन्द चौपई और दोहा है। अवध में जैसे चौपाई-दोहे का प्रचलन है, वैसे ही पछाहँ में अधिक चलन चौपई-दोहे का है। अपभ्रंश में भी चौपई (पज्झटिका) का कथा कहने के लिए विशेष व्यवहार होता था। केशव ने उसी प्रवाह को इसमें रक्षित रखा है। इसकी भाषा ब्रज है, जिसमें बुँदेली के अतिरिक्त कहीं-कहीं अवधी के भी शब्द आ गये हैं।

—वि० प्र० मि०

बीरबल—अकबर के नवरत्नों में बीरबल का नाम लोक-प्रसिद्ध की दृष्टि से अग्रगण्य है। व्यंग्य और विनोद के लिए इनका नाम इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया है कि इनके नाम से अनगिनत कहानियाँ रची जाती रही हैं। हिन्दी साहित्य में ये ब्रह्म कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि ये त्रिविक्रमपुर अर्थात् तिकवांपुर, जिला कानपुर के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण गंगादास के पुत्र थे। वहीं पर इनका बसाया हुआ एक गाँव अब भी बताया जाता है। बीरबल का असली नाम महेशदास था। प्रयाग के अशोक स्तम्भ में इनकी प्रयाग यात्रा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—"सं० १६३२ शाके...बदी ५ सोमवार गंगादास सुत बीरबल श्री तीर्थराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितम्"। बीरबल का जन्म १५२८ ई० (सं० १५८५ वि०) और देहान्त १५८३ ई० (सं० १६४० वि०) माना गया है। 'सुदामा चरित' नामक इनकी रचना का उल्लेख मिलता है परन्तु वह प्राप्त नहीं है। इनके कुछ फुटकर छन्द ही संग्रह-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। 'ब्रह्म' कवि नाम के १०० छन्दों का संग्रह डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल ने 'अकबरी दरबार' और हिन्दी कवि के अन्तर्गत प्रकाशित किया है। बीरबल का साहित्यिक जीवन भी अकबरी दरबार तक ही सीमित था। अतः उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य भी राजसभा का मनोरंजन ही था। उनके कवित्त और सवैया श्रृंगार रस की सरसता से ओत-प्रोत हैं तथा उनमें प्रायः मार्मिक काव्योक्तियों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। यह भी अनुमान होता है कि बीरबल के छन्द कदाचित् समस्यापूर्ति के रूप में रचे गये थे। मिश्र बन्धुओं ने इनकी समस्यापूर्ति प्रवृत्ति की बहुत प्रशंसा की है।

[सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु विनोद भाग १ : मिश्रबन्धु; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा; दिग्विजय भूषण।]

—यो० प्र० सिं०

बीसलदेव रासो—यह प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में लिखा गया श्रृंगार रस का एक गेय काव्य है। इसका रचयिता नरपति नाल्ह नाम का कवि है जिसके बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है (दे० 'नरपति नाल्ह')। यह रचना केदारा राग में गाये जाने के लिए एक भिन्न मात्रिक छन्द में लिखी गयी है, जिसमें प्रायः छः चरण आये हैं। इसके दो संस्करण प्राप्त हैं—एक सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित तथा दूसरा प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित और हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित। वर्माजी का संस्करण रचना की एक शाखा के पाठ पर आधारित है, जो किसी के द्वारा बहुत परिवर्द्धित की गयी है। रचना के पाठ की शेष समस्त शाखाओं में यह कथा वृद्धि नहीं है, केवल कुछ सामान्य विस्तारों के सम्बन्ध में अन्तर है। प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित पाठ रचना की समस्त शाखाओं की प्रतियों की सहायता से पाठलोचन के सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित किया गया है। इस पाठ में केवल १२८ छन्दों को प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार कथा यह है—बीसलदेव का विवाह राजा भोज की कन्या राजमती से होता है, जिसमें बीसलदेव को दायज के स्वरूप अनेक प्रदेश और प्रचुर रत्नराशि मिलती है। इस पर बीसलदेव को अभिमान होता है कि उसके समान अन्य राजा नहीं है। यह अभिमान संयोग से एक दिन वह अपनी स्त्री राजमती के सामने व्यक्त कर बैठता है, जिस पर राजमती कह पड़ती है कि उसे इस प्रकार का अभिमान न करना चाहिए क्योंकि पृथ्वीतल पर अनेक राजा उसके समान है—एक तो उड़ीसा का ही राजा है, जिसके राज्य में उसी प्रकार खानों से हीरे निकलते हैं, जिस प्रकार सांभर की झील से नमक निकलता है। यह बात बीसलदेव को लग जाती है और वह प्रतिज्ञा करता है कि बारह वर्षों के लिए उड़ीसा जायेगा और वहाँ से हीरे की खानें लेकर लौटेगा। वह तदनन्तर उड़ीसा चला जाता है और वहाँ के राजा की नौकरी करने लगता है। बारह वर्ष बीत जाते हैं। राजमती बहुत व्यथित होती है। अवधि पूरी होने पर वह एक ब्राह्मण को भेजकर उसे बुलवाती है। उड़ीसा के राजा को जब यह बात ज्ञात होती है कि यह अजमेर का चौहान शासक बीसलदेव है तो वह इसको बहुत सी रत्नराशि देकर विदा करता है। बीसलदेव घर आता है और राजमती से मिलता है। यहीं पर कथा समाप्त होती है।

कथा में ऐतिहासिकता की दृष्टि बिलकुल नहीं है। बीसलदेव (विग्रह राज) नाम के चार शासक अजमेर के हुए हैं। बीसलदेव तृतीय की रानी का नाम राजदेवी था। असम्भव नहीं कि उस काल के नायक-नायिका बीसलदेव और राजमती विग्रहराज (तृतीय) तथा यह राजदेवी ही हों। इनका समय १०९३ ई० (सं० ११५०) के लगभग पड़ता है, जब कि भोज का समय सन् १०५५ ई० (सं० १११२) के लगभग पड़ता है किन्तु राजदेवी भोज की कन्या थी, इस विषय में कोई अन्य साक्ष्य हमें प्राप्त नहीं है। बीसलदेव तृतीय कभी पूर्व की ओर गया हो, इस बात के भी प्रमाण नहीं मिलते हैं। वह अपने समय का एक प्रतापी शासक था। वह उड़ीसा के राजा के यहाँ बारह वर्षों तक नौकरी करता पड़ा रह सकता था, इतिहास की दृष्टि वाले किसी लेखक के लिए यह कल्पना करनी भी असम्भव ज्ञात होती है। ऐसी दशा में यह मानना पड़ेगा कि कथा के पात्र मात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, कथा ऐतिहासिक नहीं है और न उसमें ऐतिहासिकता का कोई दृष्टिकोण है।

रचना की तिथि भी उसमें नहीं दी हुई है, और न ऐसे कोई विशिष्ट उल्लेख आते हैं, जिनसे उसकी कोई तिथि निश्चित

की जा सकती हो। प्रायः विद्वान् इसे बीसलदेव के आश्रित किसी कवि की रचना मानते रहे हैं किन्तु बीसलदेव ने उडीसा के राजा के यहाँ बारह वर्ष तक नौकरी की हो, इस प्रकार की कथा का काव्य न वह स्वयं लिख सकता था और न उसका कोई वंशज ही। रचना की सबसे प्राचीन तिथियुक्त प्राप्त प्रति सन् १५७६ ई० (सं० १६३३) की है। इसके कुछ ही बाद की सन् १६१२ ई० (सं० १६६९) की एक प्रति है किन्तु दोनों प्रतियाँ सर्वथा भिन्न-भिन्न पाठ-परम्पराओं की है। इसी प्रकार का अन्तर और भी प्रतियों में मिलता है, जिनमें से अनेक इसी समय की होंगी, केवल उनकी प्रतिलिपि तिथियाँ नहीं दी हुई हैं। ऐसी दशा में प्रस्तुत लेखक का अनुमान है कि रचना का मूलरूप सन् १३४३ ई० (सं० १४००) के आस-पास का होना चाहिए। रचना की भाषा-शैली भी इस परिणाम का समर्थन करती है।

यह रचना अन्य कुछ दृष्टियों से भी बड़े महत्त्व की है। यह रास-परम्परा की कृति होते हुए भी छन्द-वैविध्य से रहित है, केवल प्रयुक्त छन्द मात्र तीन प्रकार की कड़ियों से बना है, जब कि प्रायः समस्त रास-रचनाएँ छन्द-वैविध्यपरक हैं। सारी रचना गेय हैं, जब कि अन्य रचनाएँ प्रायः पाठ्य हैं, केवल बीच-बीच में कुछ गान आ जाते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती रास-परम्परा की अभी तक प्राप्त समस्त रचनाएँ जैन कवियों की कृतियाँ हैं, जब कि यह न जैन-धर्म से सम्बन्धित है और न निश्चित रूप से किसी जैन कवि की कृति है। काव्य की दृष्टि से लोककाव्य के तत्त्व इसमें प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। रचना श्रृंगार-रस की है, जिसमें विरह का पक्ष अधिक विकसित हुआ है। बीसलदेव के वियोग में राजमती का जो बारहमासा है, वह ललित है किन्तु प्रवास के अनन्तर जो दोनों का मिलन कवि ने वर्णित किया है, वह भी बहुत सरस है। रचना का सन्देश यह है कि कोई स्त्री लाख गुणवती हो किन्तु यदि वह पति से कोई बात बिना भलीभाँति सोचे-समझे करती है, तो उससे उसका सब कुछ बिगड़ सकता है। इसलिए रचना श्रृंगारपरक होते हुए भी नीतिपरक है।

—मा० प्र० गु०

बुद्ध—कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र, जिनका आरम्भिक नाम सिद्धार्थ था। इन्हें प्रायः शाक्यसिंह, गौतम, महाश्रमण आदि नामों से पुकारा गया है। बुद्ध प्रायः सम्यक बोधि के अनन्तर का नाम है। इनका परिनिर्वाण कुशीनगर में हुआ था। हिन्दू पौराणिक साहित्य में बुद्ध को वैष्णव अवतार रूप में प्रायः रखा गया है। यद्यपि बुद्ध नास्तिक थे और पौराणिक धार्मिक परम्पराओं के कट्टर विरोधी थे किन्तु उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रायः अवतार के रूप में कल्पित कर लिया गया। जयदेव ने गीत-गोविन्द में केशव (कृष्ण) को बुद्ध रूप में अवतरित होने की बात कही है। भागवत के अवतारों में अंजन-सुत बुद्ध का नाम कलि के उद्धारकों में आता है। विष्णु महिम्न स्तोत्र में भी विष्णु के रूप में बुद्ध के अवतरित होने की चर्चा की गयी है। ये विष्णु के नवें अवतार कहे गये हैं। भागवत के ही आधार पर सूरदास ने पद सं० ४९३३ ई० में बुद्ध के अवतार की चर्चा की है। तुलसी भी इन्हें इसी रूप में मानते हैं।

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य बुद्ध के जीवन चरित, उनकी दार्शनिक विचारधारा आदर्शों आदि से प्रभावित मिलता है। इस श्रेणी की काव्य-रचनाओं में पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनूदित 'बुद्धचरित', अनूप शर्माकृत 'सिद्धार्थ' और मैथिलीशरण गुप्तकृत 'यशोधरा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रसाद के नाटकों पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण है।

—यो० प्र० सिं०

बुद्धि रासो—जल्ह की कृति 'बुद्धि रासो' का रचनाकाल अनिश्चित है। कृति की हस्तलिखित प्रति सन् १६४७ ई० (सं० १७०४) की लिखी हुई मिलती है। 'बुद्धि रासो' एक प्रेमकथा है, जिसमें चम्पावती नगरी के राजकुमार और जलधितरंगिनी नामक सुन्दरी के प्रेम वियोग और पुनर्मिलन की सरस कथा है। हिन्दी की मैनासत जैसी प्रेमकथाओं के समान ही कथा की रूपरेखा है। कृति के जो उद्धरण प्रकाशित हुए हैं, उनके आधार पर कृति की भाषा पृथ्वीराज रासो जैसे ग्रन्थों में प्राप्त भाषा से बहुत भिन्न नहीं लगती किन्तु 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा की कृत्रिमता उसमें नहीं मिलती। दोहा, छप्पय, गाहा, पाधड़ी, मोतीदाय, मुडिल्ल आदि छन्दों का प्रयोग कृति में हुआ है। कृति में १४० छन्द हैं। कथा और काव्य की दृष्टि से कृति का जितना महत्त्व है, उससे अधिक भाषा की दृष्टि से है। अपभ्रंश के चिह्नों से मुक्त उसे राजस्थानी ब्रजभाषा कहा जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थान का पिंगल साहित्य : मोतीलाल मेनारिया, बम्बई, १९५८ ई०; राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग १, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग; हिन्दी साहित्य का इतिहास, भाग २, प्रयाग १९५९ ई०।]

—रा० ति०

वृहस्पति—वैदिक साहित्य में 'वृहस्पति' सम्पन्नता एवं समृद्धि के देवता माने गये हैं। आगे चलकर इनकी मान्यता देवपुरोहित के रूप में हुई। ये अंगिरस के पुत्र कहे जाते हैं। इनकी पत्नी का नाम तारा था। इनकी तुलना प्रायः व्यास एवं सरस्वती के साथ की जाती है। पौराणिक कथाओं में इन्होंने अनेक बार अपने बुद्धिकौशल से देवताओं की रक्षा की थी। ठीक इनके विपरीत दैत्यों या असुरों के गुरु शुक्राचार्य से इनकी प्रतिद्वन्द्विता रहती थी किन्तु वेद में इनका चरित्र इस पौराणिक रूप से प्रायः भिन्न है। वहाँ ये सोमरक्षक ऋषि भी कहे गये हैं। इन्हें अनेक बार इन्द्र का सखा कहा गया है। इन्होंने अनेक बार इन्द्र के साथ ही यज्ञ-फल धारण किया था। ऋग्वेद में इन्द्र के साथ इनकी भी स्तुति मिलती है।

वृहस्पति की गणना नक्षत्रों में भी की जाती हैं। कृष्णभक्त कवियों ने वृहस्पति (गुरु) को उपमान रूप में प्रयोग किया है। "लोचन लोल कपोल ललित अति नासिक को मुक्ता रद-छद पर। यह उपमा कहि कापै आवै कछुक कहौं सकुचत हों हिय पर। नूतन चन्द्र रेख मधि राजति सुर गुरु सुक्र उदोत परस्पर" (दे० सू० सा० प० १०७०९)।

—यो० प्र० सिं०

बेनी प्रवीन—नायक-नायिका-भेदसम्बन्धी काव्य-ग्रन्थ लिखनेवाले रीतिकवियों की परम्परा में बेनी प्रवीन का स्थान मतिराम, देव और दास के परवर्ती तथा पद्माकर के समकालीन कवि के रूप मे निश्चित है। बेनी प्रवीन का वास्तविक नाम

बेनीदीन बाजपेयी था। 'प्रवीन' सम्भवत: कवि की उपाधि थी, जो उन्हें बेनी नामक भड़ौआ रचने वाले अन्य कवि के सत्परामर्श से प्राप्त हुई थी। इसमें दोनों नामों का पृथक्करण भी हो गया। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि यह शब्द उन्होंने अपने आश्रयदाता 'ललनजी' अथवा 'नवलकृष्ण परबीन' की कृपा से प्रशंसा रूप से उपलब्ध किया हो और दोनों एक दूसरे की प्रवीणता पर मुग्ध रहते हो। कवि ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'नवरस तरंग' के आरम्भ में अपने विषय में पर्याप्त परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके आश्रयदाता नवलकृष्ण लखनऊ निवासी थे और अवध के नवाब गाजीउद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण के पुत्र थे। धार्मिक दृष्टि से वे राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षित थे। श्री हित हरिवंश के वंशज बंशीलाल (हि० सा० बृ० इ०, भाग ६ में इन्हें वल्लभसम्प्रदायी कहा है) बेनी प्रवीन के भी गुरु थे और उन्हीं के माध्यम से दोनों का सम्बन्ध स्थापित हुआ—"बंशीलाल प्रसन्न है यह दीन्हों उपदेश। 'ललन' हमारे भक्त हैं सेवौ तिन्है हमेस।। ८।।"

कवि द्वारा दिये गये आत्मचरितपरक अश से ही ज्ञात होता है कि 'नवरस तरंग' की रचना उसने नवलकृष्ण की प्रशंसा के निमित्त १८१७ ई० में की (छन्द संख्या २७-२८)। ललनजी के आश्रय के पश्चात् उन्हें कुछ समय के लिए बिठूरनिवासी पेशवा नानाराव के आश्रय में रहना पड़ा, जहाँ उसने अपने अन्य ग्रन्थ 'नानाराव प्रकास' की रचना की। यह एक अलंकार ग्रन्थ है। 'श्रृंगार भूषण' नामक उनका तीसरा ग्रन्थ सम्भवत: प्रारम्भिक रचना है। सन्तानहीन होने के कारण कवि का अन्तिम जीवन सुख से नहीं बीत सका और वह तीर्थाटन की ओर प्रवृत्त हो गया कुछ लोगों के अनुसार बेनी प्रवीन की मृत्यु आबू में हुई और कुछ के अनुसार बदरीनाथ की यात्रा में।

'शिवसिंह सरोज' के चतुर्थ संस्करण में बेनी प्रवीन के विषय में लिखा गया था कि वे लखनऊ के निवासी थे और १८१६ ई० (सं० १८७३) में उत्पन्न हुए थे। यहाँ सरोजकार ने जन्म सवत् भ्रामक रूप में दिया है क्योंकि संवत् १८७४ तो 'नवरस तरंग' का रचनाकाल ही है। ग्रियर्सन ने इसी मत को बिना विचार किये स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार 'कविकीर्ति कलानिधि' नामक पुस्तक में उनका संवत् १८७३ (१८१६ ई०) माना गया है, जिसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। यह विभेद "समय देखि दिग दीपयुत सिद्धि चन्द्र बल पाइ" के विभिन्न अथवा अशुद्ध अर्थ से ही सम्भवत: उद्भुत है, जिसे किसी प्रकार कवि का जन्मकाल नहीं माना जा सकता। उनके जन्म और मरण की तिथियाँ ज्ञात नहीं हैं।

'बेनी प्रवीन' का शास्त्रकार लक्षणकार की अपेक्षा कवि के रूप में अधिक महत्त्व है। इनके काव्य का लालित्य अनेक स्थलों पर देव और मतिराम के समतुल्य है। कवित्व की दृष्टि से ही इनके ग्रन्थ 'नवरस तरंग' की प्रसिद्धि है। इनमें भावों का सरस प्रवाह और गहरी भावुकता मिलती है। चित्रांकन की मार्मिकता भी इनके काव्य की विशेषता है। इनके प्रकृति-चित्रण अपेक्षाकृत संश्लिष्ट और प्रभावपूर्ण हैं। भावपूर्ण, सजीव तथा मार्मिक काव्य की दृष्टि से इस कवि को रीतिकाल के सरस कवियों में गिना जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६); हि० सा० इ०; मि० वि०।]

—ज० गु०

बेनी बंदीजन—ये बेंती (जिला रायबरेली) के निवासी और अवध के प्रसिद्ध वजीर महाराज टिकैतराय के दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि एक बार सन् १८१७ ई० में इनमें और लखनऊ के प्रसिद्ध कवि बेनी बाजपेयी में टक्कर हो गयी, जिसमें इन्होंने बाजपेयी के महत्त्व को स्वीकारा और उन्हें 'प्रवीन' की उपाधि से विभूषित किया। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये काफी वृद्ध होकर सन् १८३५ ई० में मरे। इन्होंने 'टिकैतराय प्रकाश' (या 'अलंकार शिरोमणि'), 'रस-विलास' तथा अनेक भँड़ौवों की रचना की। इनके अतिरिक्त हाल की खोज से कवि की 'यश लहरी' (यह नाम हस्तलिखित प्रति के मालिक का दिया है—कवि का नहीं) का पता चला है। 'टिकैतराय प्रकाश' एक अलंकार ग्रन्थ है। इसकी रचनाएँ उत्कृष्ट नहीं कही जा सकतीं किन्तु इनका साधारण महत्त्व है। यह ग्रन्थ सन् १७९२ ई० में रचा गया। दूसरे ग्रन्थ 'रस-विलास' का निर्माण-काल 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा खोज विवरण (त्रै० १२) के आधार पर सन् १८१७ ई० (हि० का० इ० तथा हि० सा० बृ० इ० में सं० रचना-काल १८४९ वि० दिया गया है) हुआ। इसमें रस-भेद तथा भाव-भेद के साथ-साथ नायक-नायिका एवं नौ रसों का वर्णन भी बड़े ही विस्तार से किया गया है। आकार मे यह ग्रन्थ पद्माकरकृत 'जगद्विनोद' के बराबर है। शास्त्रीय और कवित्व दोनों ही दृष्टियों से यह सुन्दर रीति-ग्रन्थ है। इसकी रचना लछिमनदास के नाम से हुई थी। भँड़ौवों की रचना कवि के समस्त कृतित्व में एक अनोखे स्थान का अधिकारी है। इनसे उसको जितना यश मिला है, उतना उसकी अन्य रचनाओं से नहीं। उसके ३६ भँड़ौवे हस्तलिखित रूप में और शेष 'भँड़ौवा-संग्रह', में जो भारत जीवन प्रेस काशी से बहुत दिनों पहले प्रकाशित हो चुका है, पाये जाते हैं। 'येश लहरी' में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों के बहाने उनके यश का गान किया गया है। इस कारण उसका 'यश लहरी' नाम उचित ही है।

कवित्व की दृष्टि से उसके भँड़ोवों का स्थान महत्त्व का है। चूँकि इससे पूर्व भँड़ौवा-शैली की रचनाओं की कोई स्थिति नहीं थी, इस कारण मौलिकता के विचार से भी ऐसी रचनाओं का कम महत्त्व नहीं आँका जा सकता। भँड़ौवा बड़ी ही मनोरंजनात्मक शैली में उपहास की सृष्टि करता है। इस तरह की कविता में अक्सर किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की निन्दा को प्रधानता दी जाती है (वैसे इसके माध्यम से प्रशंसा भी की जा सकती है)। इसी नाते इसे व्यंग्यकाव्य कहा जाय तो उचित होगा। इसी को उर्दू में 'हजो' तथा अंग्रेजी में 'सटायर' कहते हैं। इस शैली में दयाराम के आमों, लखनऊ के ललकदास और किसी से पाई हुई रजाई की अच्छी खिल्ली उड़ाई गयी है। ये प्रसंग इतने रोचक बन पड़े हैं कि लगभग सभी प्राचीन काव्य-रसिकों की जबान पर देखे जाते हैं। यमक और अनुप्रास का भी ध्यान रखा गया है। कलात्मक चारुता और सुकुमार भाव-व्यंजना की भी कमी नहीं है। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें पद्माकर-श्रेणी का कवि माना है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (त्रै० १, २, १२); शि० स०;

दि० भू०; हि० सा० इ०।]

—रा० त्रि०

बेनीमाधवदास—बेनीमाधवदास का महत्त्व उनकी रचना 'मूलगोसाई चरित' के कारण है। 'गोसाई चरित' के सम्बन्ध में शिवसिंह सेंगर ने 'सरोज' में प्रथम सूचना दी थी। इस ग्रन्थ के अनुसार बेनीमाधवदास पसका ग्राम (गोंडा जिला) के निवासी थे। ये तुलसीदास के साथ पर्याप्त काल तक रहे। इनको सं० १६५५ वि० (सन् १५९८ ई०) में उपस्थित कहा गया है। इन्हें तुलसीदास का शिष्य भी कहा जाता है। 'सरोज' में इनकी मृत्यु तिथि सन् १६४२ ई० दी हुई है।

बेनीमाधवदास के 'मूलगोसाईं चरित' में तुलसीदास का विस्तृत जीवन-वृत्त मिलता है। यह ग्रन्थ अधिकाशतः हस्तलिखित रूप में मिलता है। सन् १९३४ ई० में गीता प्रेस ने इसे प्रकाशित किया। इसकी हस्तलिखित प्रति सर्वप्रथम भरूब, जिला गया (बिहार) निवासी रामानन्द तिवारी के यहाँ मिली थी। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है—"इति श्री वेणीमाधवदासकृत मूल गोसाई चरित समाप्तम्। श्री शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन त्रिपाठी रामरक्षमणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजयादशमी सं० १८४८ भृगुवासरे।।"

इस ग्रन्थ में हड़ताल द्वारा संशोधन भी किया गया है। प्रस्तुत लेखक के पास भी इसकी एक हस्तलिखित प्रति है, जो अयोध्या के एक महात्मा द्वारा उसे प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ की तिथियों की विस्तृत जाँच कर डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसे एक अप्रामाणिक रचना सिद्ध किया है।

—ब० ना० श्री०

बेताल—वे जाति के वन्दीजन कहे जाते हैं। इनके काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। सरोजकार के अनुसार इनका जन्म सन् १६७७ ई० में हुआ था किन्तु इन्होंने अपने अधिकांश छन्दों में "बेताल कहे विक्रम सुनौ" लिखा है, इस आधार पर कुछ लोगों ने इन्हें चरखारी के राजा विक्रम का दरबारी कवि माना है। इसी आधार पर रामचन्द्र शुक्ल ने सन् १८७२ ई० और सन् १८२९ ई० के बीच में इनका काल माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी इस सम्बन्ध में एक दूसरी ही बात कहते हैं। उनका कहना है कि "पुराने राजा विक्रमादित्य और उनके बैताल की निजन्धरी कथा के आधार पर किसी कवि ने यह रचना की है" यह मान लेने पर कवि के काल का निर्णय और भी कठिन हो जाता है। कवि के जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। बेताल ने नीति और व्यवहार के बड़े मार्मिक छप्पय लिखे हैं, जो हिन्दी-क्षेत्र की जनता में बहुत लोकप्रिय हैं। इनके प्रमुख विषय दुर्जन, सज्जन, ज्ञान, धन, बुद्धि, पुत्र, राजा, स्त्री आदि हैं। रहीम, वृन्द या दीनदयाल गिरि की तरह बेताल ने नीति-काव्योचित अलंकारों द्वारा अपने छन्दों में प्रभविष्णुता लाने का प्रयास नहीं किया है फिर भी वे कम आकर्षक नहीं हैं। इनके आकर्षण के आधार हैं, इनकी सटीक बातें तथा शब्दों की आवृत्ति द्वारा एक नवीन शैली। इनके प्रायः सभी छन्दों में किसी न किसी शब्द की (जैसे जीभ, चुप्प, मरे आदि) आवृत्ति की गयी है। इन्होंने छप्पय तथा दोहा छन्द का प्रयोग किया है। इनका लिखा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, केवल फुटकल छन्द ही मिलते हैं। इनके प्राप्त छन्दों की सख्या तीस से अधिक नहीं है। लगता है कि इनकी अधिकांश रचना खो गयी। रामचन्द्र शुक्ल तथा 'रसाल' जी ने इनको कुण्डलियों का रचयिता माना है किन्तु अभी तक इनकी कोई भी कुण्डलियाँ देखने में नहीं आतीं। 'गोरा बेवा', फ्री स्कूल स्ट्रीट कलकत्ता से १८८९ ई० में प्रकाशित गिरिधर के एक 'कुण्डलियाँ' शीर्षक ग्रन्थ में इनके कुछ छप्पय प्रकाशित हो चुके हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी नीति काव्य-संग्रह : भोलानाथ तिवारी।]

—भो० ना० ति०

बैताल पचीसी—संस्कृत की प्रसिद्ध कथाकृति 'बेताल पंचविंशतिका' अत्यन्त लोकप्रिय रही है। संस्कृत मे इसके गद्य और पद्य दोनो रूप आ जाते हैं। शिवदास ने इसकी रचना गद्य और पद्य दोनों में तथा जम्भलदत्त ने केवल गद्य मे की थी। संस्कृत 'बेताल पचविंशतिका' की रचना अनुमानतः १२वीं शताब्दी में हुई थी। हिन्दी में इस रचना के 'बैताल पचीसी' के नाम से पाँच अनुवाद प्रसिद्ध हैं। १७वीं शताब्दी के हरनारायण और सूरति मिश्र के अनुवाद हैं तथा १९वीं शताब्दी के लल्लूलाल, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा देवीदत्त द्वारा किये हुए अनुवाद। हरनारायण की बैताल पचीसी के अतिरिक्त सभी अनुवाद गद्य अथवा पद्य दोनों मे हैं। हरनारायण का अनुवाद पूर्णतया पद्यबद्ध है।

हरनारायण हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य के एक प्रसिद्ध कवि कहे जा सकते हैं। इस रचना में उन्होंने दोहा, चौपाई, सवैया और कवित्त छन्दों का प्रयोग किया है। छन्दों में काव्य का लालित्य और कला का सौन्दर्य भी देखा जा सकता है। कवि की रसिकता का भी यत्र-तत्र दर्शन हो जाता है। 'बेताल पचीसी' में मूलकृति के आधार पर राजा विक्रमादित्य और बैताल के वार्तालाप के रूप में पच्चीस उपदेश पूर्ण कहानियाँ दी गयी हैं। हरनारायण की यह कृति 'बेताल पंचविंशतिका' के अनुवादों में उत्कृष्ट कही जा सकती है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा।]

—यो० प्र० सिं०

बैरीसाल—मिश्रबन्धुओं ने इस कवि का जन्म अनुमान से सन् १७१९ ई० बताया है। ये असनी (जिला फतेहपुर) के निवासी और जाति के ब्रह्मभट्ट ब्राह्मण थे। अब भी वहाँ कवि की पक्की हवेली और उसके वंशज वर्तमान हैं। कवि स्वभाव से इतना अधिक विनम्र और विनयशील था कि अपने नाम तक को बताने में उसे बड़े संकोच का अनुभव होता था। 'भाषा-भरण' उसकी एकमात्र रचना है, जिसका रचना काल सन् १७६८ ई० है। इस ग्रन्थ के निर्माण का आधार संस्कृत का प्रसिद्ध आलंकारिक ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति कृष्ण बिहारी मिश्र पुस्तकालय, गन्धौली में प्राप्त है। 'भाषाभरण' ४७५ छन्दों का अलंकार ग्रन्थ है, जिसमें दोहों की संख्या सर्वाधिक है, घनाक्षरी तो दो-एक ही हैं। कवि पूर्ण लुप्तोपमा (जहाँ उपमा के चारों अंगों का अभाव हो) को भी अलंकार मान बैठा है, जो ठीक नहीं, क्योंकि उपमा के सर्वांगों के अभाव में उसकी स्थिति का बना रहना सम्भव

नहीं। इसके अतिरिक्त बैरीसाल ने रसवत्, उर्जस्वित्, भावसन्धि और भावशबलता आदि का भी समाहार अलंकारों में ही कर लिया है। वैसे कवि को अपने विषय का सम्यक् बोध है और उसकी अलंकार-विवेचन शैली स्पष्ट और पुष्ट है। उदाहरण कवित्वपूर्ण, सरस और भाव-तरलता से ओत-प्रोत हैं, जिसके कारण उसके दोहे बिहारी के उत्कृष्ट दोहों से टक्कर लेते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार अलंकारी आचार्य और कवि दोनों ही की हैसियत से ये अच्छे आचार्य कवि सिद्ध होते हैं, इसी नाते मिश्रबन्धुओं ने इन्हें पद्माकर-श्रेणी का कवि बताया है। पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' में 'भाषा-भरण' का आधार विशेष रूप से ग्रहण किया है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (त्रै० १, २, १२); मि० वि०; हि० का० शा० इ०।]

—रा० त्रि०

बृकोदर—दे० 'भीम'।

—रा० कु०

ब्रजकिशोर चतुर्वेदी—जन्म १९०४ ई० में कलकत्ता में हुआ। शिक्षा कलकत्ता, अलीगढ़ आगरा तथा लन्दन के विश्वविद्यालय में हुई। मध्य भारत हाईकोर्ट के न्यायाधीश रहे। १९५८ ई० में देहान्त हुआ। रचनाएँ 'श्रीमती बनाम श्रीमती' (१९४८ ई०), 'आधुनिक कविता की भाषा' (१९५१ ई०) आदि।

—सं०

ब्रजनंदन सहाय—ब्रजनन्दन सहाय का जन्म १८७४ ई० में हुआ। इन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी। उपन्यासों के प्रति आकर्षण आरम्भ से ही था। काव्यकोटि में आनेवाले भावप्रधान उपन्यास, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्रचित्रण या घटना वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिन्दी में न देख और बंग भाषा में काफी देख बाबू ब्रजनन्दन सहाय बी० ए० ने दो उपन्यास इस ढंग के प्रस्तुत किये—'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त' ('हि० सा० इ०' : रामचन्द्र शुक्ल, छठा संस्करण ५०१)। इनके उपन्यासों पर बंगला के 'उद्भ्रान्त प्रेम' जैसे उपन्यासों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। अलंकृत गद्य में कथा या आख्यायिका कहने का प्रचलन इस देश में प्राचीन काल से चला आ रहा है। कादम्बरी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस परिपाटी को हिन्दी में जगमोहन सिंह ने 'श्यामास्वप्न' में निभाने की कोशिश की किन्तु यह पद्धति बहुत दूर तक चल न सकी। बंगला में भावाकुल ललित गद्य में उपन्यास लिखने का प्रचलन बहुत पहले हो चुका था। हिन्दी पर उसका प्रभाव भी पड़ने लगा था। गद्यकाव्य का आधुनिक रूप भी हिन्दी में बंगला की ही देन है। ब्रजनन्दन सहाय ने इस शैली को अपना कर कई उपन्यास लिखे। इनमें सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' है, जिसने हिन्दी उपन्यास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश किया। हिन्दी में अब तक घटनाबहुल, चमत्कारिक तथा चरित्र-वैशिष्ट्य को उपस्थित करने वाले उपन्यास लिखे जाते थे। इनमें विभिन्न प्रकार की भावनाओं और अनुभूतियों का न तो विश्लेषण हो पाता था, न प्रेम के विभिन्न पक्षों का आधुनिक ढंग से आकलन ही किया जाता था। 'श्यामास्वप्न' में यद्यपि भावप्रधान शैली अवश्य अपनाई गयी, पर भावों के चित्रण में वहाँ परम्परा का अन्ध अनुकरण ही दिखाई पड़ता है। 'सौन्दर्योपासक' इस दृष्टि से हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास कहा जायेगा। इस उपन्यास का नायक अपने विवाह के समय अपनी साली के रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उससे प्रेम करने लगा। यह प्रेम सफल न हुआ। साली, जो अपने बहनोई को प्रेम करती थी अन्य व्यक्ति को ब्याह दी गयी। विषम-प्रेम की इस दारुण व्यथा में दोनों प्रेमी घुलते रहे। प्रेम की व्यथा धीरे-धीरे साली के शरीर और मन को जर्जर बना देती है और वह यक्ष्मा के रोग का शिकार हो जाती है। सौन्दर्योपासक की पत्नी इस भेद से अपरिचित न रही और पति तथा छोटी बहन के प्रेम के इस अन्त से वह निरन्तर दुखी रहने लगी और एक दिन वह भी यह संसार छोड़ कर चल बसी। पत्नी और प्रियतमा के वियोग के इस दुहरे शोक को सौन्दर्योपासक आजन्म ढोता रहा। इसी दुःखान्त कथा पर 'सौन्दर्योपासक' आधारित है, जिसमें यथावसर लेखक ने मिलन और विरह की विभिन्न अवस्थाओं का बड़ा सूक्ष्म और करुणापूर्ण वर्णन किया है। ब्रजनन्दन सहाय ने और भी कई उपन्यास लिखे हैं। इसी ढंग पर उन्होंने एक दूसरा उपन्यास 'राजेन्द्र मालती' लिखा। उनका 'लालचीन' एक ऐतिहासिक उपन्यास है।

—शि० प्र० सिं०

ब्रजपति भट्ट—इनके 'रंगभाव माधुरी' नामक रस पर लिखे गये ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। इसका रचना-काल १६२३ ई० माना गया है, इससे इनकी उपस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

—सं०

ब्रजप्रेमानंद सागर—यह ग्रन्थ अपनी विशालता, विविध रसपूर्णता, महाकाव्यानुरूपता और वर्ण्य-विषय की विविधता के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बहुत समय तक यह ग्रन्थ हस्तलिखित बना रहा, अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया किन्तु अब यह मुद्रित होकर प्रकाश में आ गया है और इसकी महत्ता सामने आने लगी है। यह काव्य-ग्रन्थ आख्यान-काव्य की शैली पर दोहा-चौपाई छन्द में राधाकृष्ण के शैशव से विवाह पर्यन्त कथाओं के आधार पर लिखा गया है। चाचा वृन्दावनदास इसके लेखक हैं।

ब्रज प्रेमानन्द का विभाजन लहरियों में किया गया है। ६८ लहरियों का यह विशाल सागर ६१४७ छन्दों (दोहा-चौपाई) में समाप्त हुआ है। वर्णन में सहजता होने पर भी भाव-गाम्भीर्य का इस ग्रन्थ में अभाव है। सरसता से आप्लावित होने के कारण शान्त-स्निग्ध पयस्विनी की निर्मल जल-धारा के समान पाठक के मन को आनन्द और उल्लास के सागर में निमज्जित करने की शक्ति इसमें है।

इस ग्रन्थ में ब्रज के सामाजिक जीवन की झाँकी बड़े जीवन्त रूप में प्रस्तुत की गयी है। विशेष रूप से गृहस्थ जीवन का इतना सजीव और सटीक वर्णन बहुत कम काव्यों में देखने में आता है। रस की दृष्टि से यह ग्रन्थ वात्सल्य और श्रृंगार का ही सागर है किन्तु हास्य और करुण उर्मियाँ भी इसमें लहराती हैं। ग्रन्थ की भाषा ब्रज है किन्तु दोहा-चौपाई की शैली स्वीकार करने के कारण कहीं-कहीं 'रामचरितमानस' की

शैली पर अवधी की पदावली भी इसमें समाविष्ट हो गयी है। 'रामचरितमानस' के पारायण का यह अलक्षित प्रभाव हो सकता है। नखशिख और ऋतु-वर्णन आदि में परम्पराभुक्त आलंकारिक शैली का पूरी तरह निर्वाह किया गया है। चाचा वृन्दावनदास की व्यापक काव्य शैली और प्रबन्धात्मकता का इस ग्रन्थ द्वारा अच्छा परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ संवत् १८३० (सन् १७७३ ई०) के आस-पास का लिखा प्रतीत होता है।

—वि० स्ना०

ब्रजरत्नदास—जन्म काशी में सन् १८९० ई० में हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पुत्री विद्यावती के सुपुत्र। पिता बलदेवदास। प्रारम्भ में घर पर ही हिन्दी, उर्दू फारसी तथा अंग्रेजी का अध्ययन। सन् १९२६ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० और सन् १९२९ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एल-एल० बी०। फिर वकालत करने लगे। साहित्य निर्माण की प्रेरणा अपने छोटे मातुल ब्रजचन्द और केदारनाथ पाठक से ग्रहण की। प्रथम रचना एक लेख 'चित्तौड़ का अन्तिम शाका' 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुई। आप सन् १९२० से १९२३ ई० तक नागरी प्रचारिणी सभा के उप-मंत्री, सन् १९२४ ई० में मन्त्री और सन् १९३८ से १९४० ई० तक अर्थमन्त्री रहे। प्रबन्ध-समिति के सदस्य प्रायः बराबर रहे हैं।

आपने प्रारम्भ में ऐतिहासिक विषयों पर ग्रन्थ लिखे—'सर हेनरी लारेंस', 'बादशाह हुमायूँ', 'यशवंत सिंह', 'स्वातन्त्र्य युद्ध', 'भारत की नारियाँ' तथा 'शाहजहाँ'। इसके बाद उनका ध्यान साहित्य के ऐतिहासिक अनुशीलन की ओर गया—'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'उर्दू साहित्य का इतिहास', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'हिन्दी नाट्य-साहित्य' और 'हिन्दी उपन्यास साहित्य'। हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद के आमन्त्रण पर आपने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विस्तृत जीवन-कथा लिखी। यह ग्रन्थ भारतेन्दुजी के जीवन वृत्त को ही नहीं, उनके युग की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक हलचलों को भी साकार कर देता है। भारतेन्दु युग के सम्यक् अनुशीलन के लिए इस ग्रन्थ की विशेष उपयोगिता है।

इन्होंने अन्य भाषाओं से अनेक ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। फारसी से गुलबदन बेगम का 'हुमायूँ नामा' और अब्दुल रज्जाक के 'मआसिरूलउमरा' (दो भाग) का अनुवाद किया। संस्कृत से दण्डी के 'काव्यादर्श' और भास के कई छोटे नाटक 'भास नाटकावली' संज्ञा देकर प्रकाशित किये। आपके सम्पादित ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है : 'खुसरो की हिन्दी कविता', 'प्रेम सागर', 'रहिमन विलास', 'संक्षिप्त रामस्वयंवर', 'मुद्राराक्षस', 'नन्ददासकृत भँवरगीत', 'भूषण ग्रन्थावली', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (द्वितीय भाग) 'भारतेन्दु नाटकावली' (दो भाग), 'भाषाभूषण', 'भारतेन्दु सुधा' तथा 'इंशा—उनका काव्य और कहानी'। आपने प्रारम्भ में काव्य-रचना का भी प्रयास किया था—कभी हिन्दी और कभी उर्दू में, बाद को भी लिखते रहे किन्तु ये सभी काव्य रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं। भारतेन्दुजी के पिता बाबू गोपालचन्द्र के 'जरासन्ध वध महाकाव्य' के अन्तिम भाग को आपने ही पूरा करके प्रकाशित कराया है।

ब्रजरत्नदास के पास संस्कृत, हिन्दी-फारसी और उर्दू के लगभग ३०० हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं एवं साहित्य का भी उनके पास अच्छा संग्रह है।

—वि० मि०

ब्रजवासीदास—ब्रजभाषा के विशाल प्रबन्ध काव्य 'ब्रजविलास' के लेखक ब्रजवासीदास का जन्म वृन्दावन में सन १७३३ ई० के आसपास हुआ था। इनकी सुप्रसिद्ध कृति 'ब्रजविलास' में रचनाकाल वि० संवत् १८२७ (सन् १७७० ई०) दिया हुआ है। यह प्रौढ़ आयु की रचना प्रतीत होती है, इसी के आधार पर इनके जन्मकाल का निर्णय किया गया है। प्रसिद्ध है कि ये वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त थे और मोहन गुसाईं के शिष्य थे। 'ब्रजविलास' की रचना इन्होंने तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' की प्रेरणा से की थी। उसी के अनुकरण पर कृष्ण-चरित को प्रबन्धात्मक शैली से लिखने का यह प्रयत्न है। श्रीकृष्ण चरित की प्रमुख लीलाओं को पूरे विवरण के साथ उपन्यस्त करने का प्रयास ही ब्रज विलास के प्रणयन का मूल कारण है। 'ब्रजविलास' में ८८९ दोहे-सोरठे, १०६००० चौपाइयाँ और १०६ अन्य छन्द हैं। इसकी भाषा ब्रज है किन्तु 'रामचरितमानस' की शैली के कारण कहीं-कहीं शब्दों का द्वित्वात्मक रूप अवश्य देखने में आता है। अधिकांश लीलाओं का आधार 'सूरसागर' ही है। स्वयं ब्रजवासी दास ने कहा है—"या में कछुक बुद्धि नहीं मेरी, उक्ति युक्ति सब सूरहि केरी।" ब्रजवासीदास की सफलता केवल इसमें है कि उन्होंने सीधी-सादी सरल भाषा में साधारण पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिए कृष्ण-कथा के रोचक लीला प्रसंग प्रबन्धात्मक शैली से जुटा दिये हैं। यही कारण है कि इस ग्रन्थ का साधारण जनता में खूब प्रचार रहा है और यह अनेक स्थानों से अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। जीवन की सर्वांगीणता और मर्मस्पर्शिता का इसमें अभाव ही है।

ब्रजवासीदास ने संस्कृत के 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' नाटक का भी विविध छन्दों में ब्रजभाषा में अनुवाद किया था।

—वि० स्ना०

ब्रजलीला—दे० 'मलूकदास'।

ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा—स्थापना २ अक्तूबर, १९४० ई०। उद्देश्य—बृहत्तर ब्रजक्षेत्र की भाषा, कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास की रक्षा और अनुसन्धान। कार्य और विभाग : (१) साहित्य—७सदस्यों की एक समिति के द्वारा संचालन। 'ब्रज-भारती' त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन। ग्राम-साहित्य के संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज की जाती है। (२) प्रचार—ब्रज-क्षेत्र में अनेक केन्द्र खोले गये हैं। वार्षिक सम्मेलन, कवि सम्मेलन तथा अन्य प्रचारात्मक योजनाएँ क्रियान्वित की जाती हैं। 'भारतेन्दु कलश', 'ताम्रपत्र' तथा 'श्रीनिवास पुरस्कार' दिये जाते हैं। (३) ब्रज-विद्यापीठ—इसके तीन उप-विभाग हैं—संग्रह, शोध, परीक्षा। ब्रजभाषा—व्याकरण तैयार किया जा चुका है। 'सूर सागर' के वैज्ञानिक सम्पादन की योजना बनायी गयी थी।

—प्रे० ना० टं०

ब्रजेश—महापात्र ब्रजेशजी का जन्म रीवां में सं० १९२८ को हुआ था। आपके पिता का नाम शीतला प्रसाद था। अपनी प्रतिभा के कारण ब्रजेश जी अत्यन्त अल्प आयु में ही रीवां नरेश श्री वेंकटरमण द्वारा सम्मानित हुए थे। इसके अतिरिक्त आप ओरछा नरेश के यहाँ राजकवि के रूप में एक लम्बे समय तक प्रतिष्ठित रहे। आप पर ताल्लुकेदार श्री छत्रधारी सिंह की भी बड़ी कृपा रही थी। उनकी कृपा से ही राय बरेली जिला के जलालपुर धाई नामक गाँव के समीप 'नारी की गढ़ी' में आप स्थायी रूप से निवास करने लगे।

ब्रजेश जी नीति परम्परा के एक उत्कृष्ट कवि थे और अपने को देव और दास से कुछ कम नहीं समझते थे। अपने इस दर्प और प्रखर पाण्डित्य का परिचय उन्होंने अपने कवित्त की कुछ पंक्तियों में इस प्रकार दिया है—

जाने अलंकार ध्वनि व्यंग्य लक्षणादिर रस,
छन्द रचना में देव दास ते न दबि हैं।
काव्य शास्त्र पंडित ब्रजेश ब्रजभाषा चाज्ञ,
छच्छ प्रतिपच्छिन पछरिबे मैं पबि हैं।

आपके दस ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जो इस प्रकार हैं—माधवविलास, रामायण-सोरठा शतक, विरह-वाटिका, ब्रजेश विनोद, विश्वनाथ शरण भूषण, सत्य शरीर, महात्मा गाँधी, रस समावेश, निर्णय, अलंकार निर्णय और श्रृंगार शिरोमणि। ये सभी ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। अपनी वेशभूषा के कारण ब्रजेश जी बीसवीं शताब्दी में भी मध्यगीन काव्य परम्परा के वेशभूषा वाले चारण और भांट जैसे लगते थे। इस कवि का देहान्त ८६ वर्ष की आयु में सं० २०१४ वि० में हो गया।

[सहायक ग्रन्थ—असनी के हिन्दी कवि—डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी]

—कि० ला०

ब्रह्मदत्त—ब्रह्म या ब्रह्मदत्त जाति के ब्राह्मण थे और काशी नरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। इनकी दो पुस्तकें 'विद्वद्विलास' (१८०४ ई०) तथा 'दीप-प्रकाश' (१८९१ ई०) हैं। 'दीपप्रकाश' भारत जीवन प्रेस, काशी से 'रत्नाकरजी' के सम्पादन में प्रकाशित हुआ था, जिसमें इसका लिपिकाल सन् १८११ ई०(सं० १८६७ वि०) माना गया है और रामचन्द्र शुक्ल ने इसका रचनाकाल सन् १८०९ (सं० १८६५) माना है किन्तु ग्रन्थ-पंक्ति "मुनि रस वसु ससि वरस नभ मास चतुर्थी स्वेत" के आधार पर सन् १८११ ई० ही रचनाकाल मानना उचित है। इस ग्रन्थ की रचना आश्रयदाता दीपनारायण सिंह के नाम पर तथा उन्हीं की आज्ञा से हुई है।

४९ पृष्ठ की छोटी सी रचना 'दीप प्रकाश' ७ प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में १५ दोहों में परिचय, दूसरे प्रकाश में ४७ दोहों में नायक-नायिका—भेद, तृतीय प्रकाश में भावादि तथा शब्दालंकार और चतुर्थ प्रकाश में अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। शेष तीन प्रकाश अन्य काव्यांगवर्णन के लिए हैं। वस्तुतः यह अलंकारविषय का ही ग्रन्थ है, फिर भी इसमें श्रव्य-काव्य के समस्त अंगों का थोड़ा बहुत विवेचन कर दिया गया है। विषय-विवेचन सामान्य-सा है, तथापि स्पष्ट है। विमल और सरल श्रृंगार रस के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए इस रचनाकार की प्रशंसा की जानी चाहिए। समस्त रचना दोहों में ही रची गयी है और एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण देने की शैली अपनाई गयी है। लक्षणों पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है। सम्भवतः अन्य काव्यांगों का वर्णन करने के कारण ही 'रत्नाकर' ने इसे 'भाषाभूषण' से उत्तम माना है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ० (शुक्ल तथा रसाल); हि० अ० सा०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।[

—आ० प्र० दी०

ब्रह्मा—ऋग्वेद में ब्रह्मा का उल्लेख चार ऋत्विजों के साथ मिलता है किन्तु आधुनिक या पौराणिक अर्थ में प्रयुक्त ब्रह्मा शब्द वस्तुतः ब्रह्म शब्द से ही निष्पन्न हुआ है। ब्रह्मा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कई मतवाद हैं। मनुस्मृति के अनुसार स्वर्ण के अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। रामायण के अनुसार ब्रह्मा की उत्पत्ति अन्तरिक्ष से हुई, जिससे काश्यप नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। मनु इन काश्यप के प्रपौत्र थे किन्तु पौराणिक परम्पराएँ ठीक इसके प्रतिकूल ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु-नाभि से उत्पन्न कमल से मानती हैं। ब्रह्मा को पंचानन भी कहा जाता है। शंकर ने अपने तृतीय नेत्र से इनका एक मुख नष्ट कर दिया, तब से ये चतुरानन हो गये। ब्रह्मा सप्तदेव समूह के लिए भी प्रयुक्त होते हैं ये क्रमशः मरीचि, अत्रि, आंगिरस्, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य एवं वशिष्ठ हैं। स्पष्ट है ये समस्त ऋषि ही हैं। इनकी पूजा का विधान हिन्दू-परम्परा से लुप्त हो गया है। इसका कारण इनके मानस पुत्र नारद का शाप कहा जाता है। हिन्दी साहित्य में त्रिदेवों के साथ इनका वर्णन कवियों ने प्रायः किया है।

—यो० प्र० सिं०

ब्राह्मण—यह मासिक १८८३ ई० में प्रतापनारायण मिश्र की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ। बारह पृष्ठ के इस पत्र का वार्षिक मूल्य एक रुपया था।

हिन्दी साहित्य मण्डली में 'ब्राह्मण' बहुत ही प्रिय पत्र था। इसने हिन्दी गद्य-साहित्य को विकसित करने में बड़ा योग दिया। हिन्दी सेवा के अतिरिक्त देशभक्ति और समाज सुधार की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। पूरी निर्भीकता और ईमानदारी के साथ कभी-कभी बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भी इसमें विचार किया गया।

कविता, सरस निबन्ध, उपन्यास, नाटक और आलोचना सभी कुछ इसमें प्रकाशित होता था। प्रतापनारायण मिश्र की टिप्पणियाँ स्फूर्तिप्रद और साहसप्रदायिनी हुआ करती थीं। यह पत्र १८९४ ई० तक चलता रहा।

—ह० दे० बा०

ब्यालीस लीला—ध्रुवदास रचित ग्रन्थों के संकलित रूप को 'ब्यालीस लीला' नाम से व्यवहृत किया जाता है। यथार्थ में 'ब्यालीस लीला' किसी ग्रन्थ विशेष का नाम न होकर संकलित रूप का ही नाम है। इसकी सभी लीलाओं को 'लीला' नाम से अभिहीत करना भी समीचीन नहीं है। न तो ये सब प्रकीर्ण रचनाएँ ग्रन्थ कोटि में आती हैं और न विषय को देखते हुए सभी लीला पद वाच्य होने योग्य हैं। कोई-कोई लीला तो केवल आठ दोहों में लिखी गयी है, अतः वह न तो ग्रन्थ की मर्यादा के अनुकूल है और न वर्ण्य की दृष्टि से लीला ही है। इनके साथ

लीला शब्द का प्रयोग रस-पद्धति के प्रचलित प्रयोग के कारण किया गया है। अतः इनमें किसी लीला विशेष का सन्धान नहीं करना चाहिए।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के धर्मप्रेमी व्यक्तियों की ओर से अब तक तीन बार 'ब्यालीस लीला' ग्रन्थ का प्रकाशन हो चुका है। यह ग्रन्थ अभी तक साम्प्रदायिक जगत् में ही पढ़ा जाता रहा। ध्रुवदास ने हित हरिवंश गोस्वामी के साम्प्रदायिक मन्तव्यों को इस ग्रन्थ द्वारा बड़े विशद रूप में सबसे पहली बार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। यथार्थ में 'ब्यालीस लीला' में संकलित अनेक ग्रन्थ हित हरिवंश के सिद्धान्तों का उद्घाटन करने के लिए ही लिखे गये थे। राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन करने वाला इस कोटि का दूसरा ग्रन्थ सम्प्रदाय में नहीं है। एक ओर इसमें सैद्धान्ति विवेचन है, तो दूसरी ओर व्यापक व्यावहारिक जीवन दृष्टि का भी विस्तार है। एक ओर दान-लीला, मान-लीला वन-लीला आदि वर्णित हुई हैं तो दूसरी ओर प्रेम की स्थिति, प्रेम में नेम और काम का स्थान, श्रृंगार और भक्तिका तारतम्य, श्रृंगार और माधुर्य का समन्वय आदि भी बड़ी विवेकपूर्ण शैली से कहा गया है।

'ब्रज माधुरी सार' और हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहले इन ग्रन्थों की संख्या में कुछ मतभेद था किन्तु सम्प्रदाय में इन्हें ४२ ही माना जाता है। ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—'जीवदशा लीला', 'वैद्यकज्ञान लीला', 'मनशिक्षा लीला', 'बृन्दावनसत लीला', 'ख्याल हुलास लीला', 'भक्तनामावली लीला', 'बृहदबावन पुराण की भाषा लीला', 'सिद्धान्त विचार लीला' (गद्यवार्ता), 'प्रीति चौवनी लीला', 'आनन्दाष्टक लीला', 'भजनाष्टक लीला', 'भजन कुण्डलिया लीला', 'भजन सत लीला', 'भजन श्रृंगार सत लीला', 'हित श्रृंगार लीला', 'सभा मण्डल लीला', 'रसमुक्तावली लीला', 'रस हीरावली लीला', 'रस रत्नावली लीला', 'प्रेमावली लीला', 'प्रियाजी नामावली लीला', 'रहस्य मंजरी लीला', 'सुख मंजरी लीला', 'रति मंजरी लीला', 'नेह मंजरी लीला', 'वन बिहार लीला', 'रंग बिहार लीला', 'रस बिहार लीला', 'रंग विनोद लीला', 'आनन्द विनोद लीला', 'रहस्यलता लीला', 'आनन्द लता लीला', 'अनुराग लता लीला', 'प्रेम दशा लीला', 'रसानन्द लीला', 'ब्रज लीला', जुगल ध्यान लीला', 'नृत्य विलास लीला', 'मान लीला', 'दान लीला'।

—वि० स्ना०

भँवरगीत—दे० 'नन्ददास'।

भक्तनामावली—ध्रुवदास रचित 'भक्तनामावली' ग्रन्थ भक्तों का परिचय कराने वाले 'भक्तमाल' कोटि का लघु ग्रन्थ है। इस नामावली में कुल १२४ भक्तों का परिगणन किया गया है और अति संक्षेप में भक्त के शील-स्वभाव का संकेत है। जीवन वृत्त लिखने की ओर लेखक ने ध्यान नहीं दिया। छन्दोबद्ध होने के कारण संक्षिप्तता की ओर ही लेखक का ध्यान रहा है। भक्तों की अपरिमेयता को ध्यान में रखकर ध्रुवदास ने प्रारम्भ में ही कहा है—"रसिक भक्त भूतल घनें, लघुमति क्यों कहि जाहिं। बुधि प्रमान गाये कछु जो आये उर माहिं।।" कुछ ऐसे भक्त भी इस नामावली मे हैं, जो शुद्ध रसिकमार्गी नहीं हैं। ग्रन्थ मे कुल ११४ दोहे हैं।

राधाकृष्णदास ने भक्तनामावली का सम्पादन करके काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इण्डियन प्रेस, प्रयाग द्वारा सन् १९२८ ई० में प्रकाशित किया था। सम्पादन करने में भक्तों का यथास्थान विवरण भी दिया गया है। ध्रुवदासजी ने 'भक्तनामावली' में कालक्रम का ध्यान रखकर भक्तों का वर्णन नहीं किया है। पौराणिक, ऐतिहासिक और समसामयिक भक्तों के चरित आगे पीछे करके लिखे गये हैं। जयदेव और कृष्ण चैतन्य के सम्बन्ध में लिखे हुए दो दोहे नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिससे ध्रुवदास की शैली का अनुमान किया जा सकता है—"प्रकट भयो जयदेव मुख अद्भुत गीत गुविन्द। कह्यौ महा सिंगार रस सहित प्रेम मकरंद।। गौड़ देस सब उद्धर्यौ प्रकटे कृष्ण चैतन्य। तैसेहि नित्यानन्द हू रसमय भये अनन्य।।"

—वि० स्ना०

भक्तमाल—नाभादासकृत 'भक्तमाल' मध्ययुग के भक्त कवियों का सामान्य रूप से और रामानन्द-सम्प्रदाय के भक्तों का विशेष रूप से परिचय उपस्थित करता है। 'भक्तमाल' मध्ययुग की एक प्रामाणिक रचना है। समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में इसको मान्यता प्राप्त है। कहा जाता है कि इसका प्रणयन अग्रदास के आदेश से हुआ था। नाभादास ने 'भक्तमाल' के प्रारम्भ में ही अग्रदास की इस आज्ञा का उल्लेख किया है। 'भक्तमाल' की रचना किस सन् में हुई, इसका कोई संकेत नाभादास ने नहीं दिया है। प्रियादास ने इसकी टीका नाभादास की इच्छा से सन् १७१२ ई० (सं० १७६९ फाल्गुन बदी ७) में की। यह टीका नाभाजी के जीवनकाल में न हुई होगी, क्योंकि नाभाजी अग्रदास (सं० १६१२ वि०) के शिष्य तथा तुलसी के समकालीन थे। तुलसी के जीवनकाल में ही उनकी गणना प्रौढ़ भक्तों में की जाने लगी थी, अतः सन् १७१२ ई० तक जीवित रहने के लिए उन्हें लगभग १५० वर्ष की आयु चाहिये। फिर स्वयं प्रियादास ने उनके मन में छा जाने की प्रार्थना की है (कवित्त ६३३)। 'भक्तमाल' में सन् १६४३ ई० तक के भक्तों का चरित्र लिखा गया है, अतः कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सन् १६५८ ई० के लगभग इस ग्रन्थ की रचना हुई। इस सम्बन्ध में महाबीर सिंह गहलोत ने 'सम्मलेन पत्रिका' में विशेष विस्तार से विचार किया है।

'भक्तमाल' भक्तों के बीच इतना लोकप्रिय रहा कि उसकी अनेक टीकाएँ की गयीं, साथ ही 'भक्तमाल' की एक परम्परा भी बन गयी। इसकी टीकाओं या इस शैली में लिखी गयी कुछ रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं : १. 'भक्ति रसबोधिनी टीका' (प्रियादास, सन् १७१२ ई०), २. भक्त उरवशी' (लाल चन्द्रदास सन् १७४३ ई०), ३. 'भक्तमाल टिप्पणी' (वैष्णवदास, १७४३ ई०), ४. 'फारसी भक्तमाल' (मुं गुमानीलाल, सन् १८४१ ई०), ५. 'गुरुमुखी भक्तमाल' (कीर्तिसिंह, सन् १८४१ ई०), ६. 'भक्ति प्रदीप उर्दू' (तुलसीराम, १८५४ ई०), ७. 'भक्त कल्पद्रुम' (प्रतापसिंह, १९०१ ई०), ८. 'रामरसिकावली' (रघुराज सिंह, १८६४ ई०), ९. 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' (जीवाराम, १८६८ ई०), १०. 'भक्तमाल छप्पय' (भारतेन्दु, १८८३ ई०), ११. 'रसूजे महोवफा' (तपस्वीराम, १८८७ ई०), १२. 'हरिभक्ति प्रकाशिका (ज्वालाप्रसाद मिश्र, १८९८ ई०), १३. 'भक्तनामावली ध्रुवदाम' (प्र० राधाकृष्णदास, १९०१ ई०),

'अंग्रेजी भक्तमाल" (भानु प्रताप तिवारी १९०८ ई०) १४. 'ग्लीनिग्स' (ग्रियर्सन, १९०९ ई०)। सन् १९०९ ई० में 'रूपकला' की टीका प्रकाशित हुई। सन् १९५१ ई० में इसका तृतीय संस्करण नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से निकला। वह 'भक्तमाल' की सबसे सुन्दर टीका है।

'भक्तमाल' के दो भाग हैं। पूर्वार्द्ध में कलियुग के पूर्व के भक्तों का वर्णन किया गया है। एक वर्णन एक-एक भक्त का अलग-अलग ढंग पर नहीं है, बल्कि विभिन्न निष्ठा के भक्तों का एक साथ ही एक छप्पय में वर्णन किया गया है। इतिहास की दृष्टि से उत्तरार्द्ध अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें चारों भक्तिसम्प्रदायों का विस्तृत वर्णन किया गया है, साथ ही अन्य ऐसे भी भक्त, जिनका कोई सम्प्रदाय नहीं था, इस खण्ड में आ गये हैं। 'भक्तमाल' में रामानन्द सम्प्रदाय का पूरा-पूरा विवरण मिलता है। स्वयं नाभा भी इसी सम्प्रदाय के एक भक्त थे, अतः इस सम्प्रदाय के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण मध्ययुगीन भक्तों के नाम उन्होंने गिना दिये हैं किन्तु उनकी प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं का ही वर्णन किया गया है।

'भक्तमाल' की भाषा ब्रज है। इसमें छप्पय, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। शैली बड़ी प्रौढ़ एवं परिमार्जित है।

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य से सम्बद्ध विचारधारा तथा उसके प्रवर्तकों एवं अनुयायियों की विशिष्टताओं को समझने के लिए 'भक्तमाल' का अध्ययन आवश्यक है। 'भक्तमाल' एवं 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' रामानन्द सम्प्रदाय का पूरा इतिवृत्त प्रस्तुत करते हैं।

Xसहायक ग्रन्थ—भक्तमाल-रूपकला।]

—ब० ना० श्री०

भक्तवच्छावली—दे० 'मलूकदास'।

भक्ति-विवेक—दे० 'मलूकदास'।

भगवंतराय खीची—महाराज भगवन्तसिंह या भगवन्तराय खीची असोथर (जिला फतेहपुर) के निवासी थे। ये बड़े गुणग्राही और अनेक सुकवियों के आश्रयदाता थे। कवियों ने इनका गुण-गान वैसा ही किया, जैसा 'भूषण' ने छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल का। ये सन् १७३६ ई० में अवध के प्रथम नवाब वजीर सआदत खाँ बुर्हान-उल-मुल्क से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। इनकी कुल दो रचनाएँ बतायी गयी हैं—'रामायण' और 'हनुमत-पचीसी'। 'रामायण' के सभी काण्डों की रचना कवित्त छन्द में ही की गयी है। 'हनुमत पचीसी' में हनुमान् के शौर्य-पराक्रम एवं यश को लेकर पचीस ओजस्वी छन्द लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त 'हनुमत-पचासा' भी पाया गया है, जिसमें कुल ५२ छन्द हैं। हो सकता है, यह 'रामायण' का ही कोई न कोई अंश हो। प्राचीन संग्रह-ग्रन्थों में इनके शृंगार के छन्द भी यहाँ-वहाँ दिखाई पड़ जाते हैं। इनकी कविता अनुप्रासमयी, ओजस्विनी एवं उत्साहपूर्ण है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (भा० १३); शि० स०; दि० भू; हि० सा० इ०; मि० वि०।]

—रा० त्रि०

भगवत रसिक—विरक्त साधु भगवत रसिक के पूर्व आश्रम तथा जन्म स्थान, जाति, वंश आदि का विवरण कहीं प्राप्त नहीं होता। ये स्वामी ललित मोहिनीदास के शिष्य बताये जाते हैं। ललित मोहिनीदास संवत् १८२३ से १८५८ तक टट्टी संस्थान की गद्दी पर आसीन रहे, अतः इस काल में भगवत रसिक भी जीवित थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इसी आधार पर इनका जन्म सन् १७३८ ई० में (संवत् १७९५) स्थिर किया गया है।

भगवत रसिक बहुत निर्भीक, निस्पृह, सत्यवादी और त्यागी स्वभाव के महात्मा थे। ललित मोहिनीदास के निधन के उपरान्त गद्दी का अधिकार भी आपने स्वीकार नहीं किया और एकान्त में रहकर भजन में लीन रहते थे। इनके काव्य को पढ़कर दो तथ्य बड़े स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। एक तो इनकी वाणी में सत्य कथन की प्रबल शक्ति है। पाखण्ड और दम्भ से इन्हें बहुत ही चिढ़ थी। ये अपने साथियों को भी फटकारने और उनकी कमजोरियों को छुड़ाने के लिए कठोर वचन कहने में नहीं चूकते थे। रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें सच्चा प्रेमयोगी महात्मा लिखा है। यथार्थ में इनका काव्य इसका पूरा-पूरा प्रमाण है। इनके काव्य की दूसरी उल्लेख्य विशेषता है कला समन्वित होना। साधुओं की वाणी प्रायः कलाविहीन और सीधी-सादी ही पायी जाती है किन्तु भगवत रसिक की वाणी में कला के अनुरूप अलंकार, लक्षण, व्यंजना, माधुर्य, ओज, व्यंग्य आदि सभी उपकरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है आपने संस्कृत काव्य-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन करके हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया था।

इनका एक ग्रन्थ 'अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ' संवत् १९७१ में लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। इनके १२५ पद, छप्पय, कवित्त, ८३ कुण्डलियाँ, ५२ दोहे और एक ध्यान मंजरी अभी तक उपलब्ध हुई हैं।

इनके पदों में प्रेमलक्षणा भक्ति के साथ व्यावहारिक दृष्टि से जीवन-निर्माण के उपाय भी मिलते हैं। अर्थसंचय में लीन लोभी मनुष्यों को सामने रखकर इन्होंने कहा है कि "जगत में पैसन ही की माँड़। पैसन बिना गुरु को चेला, खसमैं छाँड़े राँड़।" एक कुण्डलियाँ में भी भगवत रसिक ने इसका बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है : "परमेश्वर परतीति नहिं पैसन की परतीति।"

भगवत रसिक ने साम्प्रदायिक दृष्टि से भी बड़ी निःस्पृहता का रुख स्वीकार किया है। वे चतुःसम्प्रदाय की सीमाओं में अपने को बाँधना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा है—"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप, नित्य किशोर उपासनी, जुगल मन्त्र को जाप।। नाहीं द्वैता द्वैत हरि, नहीं विशिष्टा द्वैत, बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत।।"

—वि० स्ना०

भगवतशरण उपाध्याय—जन्म सन् १९१० ई० बलिया जिले में। संस्कृत साहित्य के कुशल अध्येता हैं। पुरातत्त्व, अनुसन्धानों में विशेष रुचि है। भारत के प्राचीन इतिहास का गहन अध्ययन है। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक तथ्यों एवं भारतीय संस्कृति पर विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। कुछ दिनों तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका के सम्पादक रहे। पुरातत्त्व विभाग, प्रयाग संग्रहालय के अध्यक्ष रहकर काफी काम किया। फिर लखनऊ संग्रहालय के भी अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् पिलानी में बिड़ला कालेज के

'वाद' को ठोंक-बजाकर देखने के बाद ज्योंही उन्हें विश्वास हुआ कि उसके साथ उनका सहज सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसे छोड़कर गाते-झूमते, हँसते-हँसाते आगे बढ़े। अपने प्रति, अपने 'अहं' के प्रति उनका सहज अनुराग अक्षुण्ण बना रहा। अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तों से घुमाता हुआ उनका 'अहं' उन्हें अपने सहजधर्म और सहजकर्म की खोज में जाने कहाँ-कहाँ ले गया। उनका साहित्यिक जीवन कविता से—सो भी छायावादी कविता से—आरम्भ हुआ, पर न तो वे छायावादी काव्यानुभूति के अशरीरी आधारों के प्रति आकर्षित हुए, न उसकी अतिशय मृदुलता को ही कभी अपना सके। इसी प्रकार अन्य 'वादों' में भी कभी पूरी तरह और चिरकाल के लिए अपने को बाँध नहीं पाये। अपने 'अहं' के प्रति इतने ईमानदार सदैव रहे कि जबरन बँधने की कभी कोशिश नहीं की। किसी दूसरे की मान्यताओं को बिना स्वयं उन पर विश्वास किये अपनी मान्यताएँ नहीं समझा। कहीं से विचार या दर्शन उन्होंने उधार नहीं लिया। जो थे, उससे भिन्न देखने की चेष्टा कभी नहीं की।

कवि के रूप में भगवतीचरण वर्मा के रेडियो-रूपक 'महाकाल', 'कर्ण' और 'द्रौपदी'—जो १९५६ ई० में 'त्रिपथगा' के नाम से एक संकलन के आकार में प्रकाशित हुए हैं, उनकी विशिष्ट कृतियाँ हैं, यद्यपि उनकी प्रसिद्ध कविता 'भैंसागाड़ी' का आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में अपना महत्त्व है। मानववादी दृष्टिकोण के तत्त्व, जिनके आधार पर प्रगतिवादी काव्यधारा जानी-पहचानी जाने लगी, 'भैंसागाड़ी' में भलीभाँति उभर कर सामने आये थे।

उनका पहला कविता-संग्रह 'मधुकण' के नाम से १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर दो और काव्य-संग्रह 'प्रेम-संगीत' और 'मानव' निकले। इन्हें किसी 'वाद' विशेष के अन्तर्गत मानना गलत है। यों रूमानी मस्ती, नियतिवाद, प्रगतिवाद, अन्ततः मानववाद इनकी विशिष्टता है ही, पर वर्माजी का संगीत वीणा या सितार का नहीं, हार्मोनियम का संगीत है, उससे गमक की माँग करना ज्यादती है।

पर भगवतीचरण वर्मा मुख्यतया उपन्यासकार हों या कवि, नाम उनका उपन्यासकार के रूप में ही अधिक हुआ है—सो भी विशेषतया 'चित्रलेखा' के कारण। 'तीन वर्ष' नयी सभ्यता की चकाचौंध से पथभ्रष्ट युवक की मानसिक व्यथा की कहानी है। इसमें और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' आदि बाद के उपन्यासों में, इनका प्रकृतवादी और मानववादी रूप उभरकर आगे आता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में प्रायः यन्त्रवत् परिचालित पात्रों के माध्यम से लेखक यह दिखाने की चेष्टा करता है कि समाज की दृष्टि में ऊँची और उदात्त जान पड़नेवाली भावनाओं के पीछे जो प्रेरणाएँ हैं, वे और कुछ नहीं केवल अत्यन्त सामान्य स्वार्थपरता और लोभ की अधम मनोवृत्तियों की ही देन है। 'आखिरी दाँव' एक जुआरी के असफल प्रेम की कथा है और 'अपने खिलौने' (१९५७ ई०) नयी दिल्ली की 'मॉडर्न सोसायटी' पर व्यंग्यशरवर्षण है। इनका बृहत्तम और सर्वाधिक सफल उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' (१९५९) है, जिसमें अनुभूति और संवेदना की कलात्मक सत्यता के साथ उन्होंने तीन पीढ़ियों का, भारत के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के तीन युगों की पृष्ठभूमि में मार्मिक चित्रण किया है।

भगवती चरण वर्मा की अन्य कृतियों में उल्लेखनीय हैं : 'इंस्टालमेण्ट', 'दो बाँके' तथा 'राख और चिनगारी' (कहानी-संग्रह, १९५३ ई०), 'रुपया तुम्हें खा गया' (नाटक, १९५५ ई०), 'वासवदत्ता' (सिनारियो) आदि।

—बा० कृ० रा०

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—जन्म कानपुर जिले के मंगलपुर ग्राम में सन् १८९९ ई० में। नियमित शिक्षा उन्हें मिडिल स्कूल तक ही मिल सकी। उसके पश्चात् माता-पिता आदि की मृत्यु हो जाने के कारण परिवार का बोझ आपके सर पर आ गया। अमृतलाल नागर के शब्दों में "आवश्यकतावश घर की गाय, भैंस, बकरियाँ चरायीं, खलिहानों में दायँ और उड़नई का काम किया, पैसों की थैली लादकर गाँव की साहूकारी की, उसके बाद गाँव के प्राइमरी स्कूल की अध्यापकी की, शहर की लाइब्रेरी में पन्द्रह रुपये मासिक पर लाइब्रेरियन रहे, किताबों का गट्ठर कन्धे पर लादकर बेंचा, बीबी के गहने बेचकर दूकानदार बने, चोरी हो गयी, बैंक की खजांचीगीरी के अप्रेन्टिस हुए; कम्पाउण्डर बने; प्रूफरीडर बने; सहकारी सम्पादक हुए; फिर सम्पादक बने..." (भ० प्र० बाजपेयी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २६)। बाजपेयीजी ने फिल्मों की दुनिया में भी अपना जोर आजमाया तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्यपरिषद् के सभापति भी रहे हैं।

बाजपेयीजी का लेखनकार्य सन् १९२० ई० के आसपास से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में उन्होंने कविताएँ लिखीं थीं। १९२२ ई० में जबलपुर की 'श्रीशारदा' नामक पत्रिका में उनकी पहली कहानी 'यमुना' प्रकाशित हुई थी। तब से उनका मुख्य प्रदेय कथा-साहित्य के क्षेत्र में रहा है, यद्यपि अन्य विधाओं में भी वे बराबर लिखते रहे। कहानीसंग्रहों और उपन्यासों के अतिरिक्त उनके काव्य-संग्रह और नाटक भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके २७ उपन्यासों, ११ कहानी संग्रहों, दो नाटकों एवं एक कवितासंग्रह की सूची इस प्रकार है—उपन्यास : 'प्रेमपथ', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'नियतिन' (प्रेम निर्वाह), 'लालिमा'; 'पतिता की साधना', 'पिपासा', 'दो बहनें' (१९४० ई०), 'निमन्त्रण', 'एकदा' (गुप्तधन का परिवर्द्धित रूप), 'चलते-चलते' (१९५१ ई०), 'पतवार' (१९५२ ई०), 'मनुष्य और देवता', 'धरती की साँस', 'भूदान' (१९५४ ई०), 'यथार्थ से आगे', 'विश्वास का बल' (१९५५ ई०), 'सूनी राह' (१९५६ ई०), 'रात और प्रभात', 'उनसे न कहना', 'चन्दन पानी', 'निरन्तर गोमती के तट पर', 'सावन बीता जाय', 'हिरनी की आँखें', 'पाषाण की लोच', 'उनसे कह देना'। इनमें से 'मीठी चुटकी', को उन्होंने शम्भूदयाल सक्सेना एवं विजय वर्मा के साथ तथा 'लालिमा' की प्रफुल्लचन्द्र ओझा के साथ संयुक्त रूप से लिखा है। कहानीसंग्रह : 'मधुपर्क', 'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'दीपमालिका', 'मेरे सपने', 'उपहार', 'उतार चढ़ाव', 'खाली बोतल', 'आदान प्रदान', 'अंगारे', 'स्नेह', 'बाती और लौ'। नाटक : 'छलना', और 'राय पिथौरा'। कविता संग्रह : 'ओस की बूँदें'। इनके अतिरिक्त वाजपेयी द्वारा सम्पादित निम्न संकलन भी प्रकाशित हुए हैं : 'हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ', 'नव कथा युगारम्भ' और 'नवीन पद्य-संग्रह'। उर्म्मि', 'आरती' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन भी उन्होंने किया है तथा

उनकी बालोपयोगी ८ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

संयोगों एवं घटनाओं का अपेक्षाकृत अधिक सहारा लेने वाली उनकी प्रारम्भिक कहानियों में एकसूत्रता एवं इतिवृत्तात्मकता अधिक है। आगे चलकर सन् १९३०-३२ ई० के आसपास से उनकी कहानियों में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर विश्लेषण एवं आकलन पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस कारण कथा सूत्र का निर्माण अधिक चमत्कारिक होने लगा। सन् '४० के लगभग उनकी कहानियो में शिल्प का एक नया विकास प्राप्त होता है। अब इतिवृत्तात्मकता को एकदम छोड़कर छोटे-छोटे घटनाखण्डों, चिन्तन एवं स्मृति अंशो के बीच से कथा-सूत्र को नियोजित करने का प्रयास प्राप्त होता है। शैली की दृष्टि से उन्होंने वर्णनात्मक, स्वगत कथन, पत्रात्मक एवं डायरी शैली आदि अनेक विधियों का प्रयोग किया है। कहानियों का ही समवर्ती विकास उनके उपन्यासों में भी देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द के बाद उभर कर आनेवाली पीढ़ी के मुख्य कथाकार हैं। इस पीढ़ी ने प्रेमचन्द के व्यापक सामाजिक चित्रों के स्थान पर व्यक्ति (मध्यवर्गीय) मन के गहन चित्रण पर अधिक बल दिया था। वाजपेयीजी ने सामाजिक उद्देश्यों की अपेक्षा मध्यवर्गीय मन के विविध ऊहापोह उपस्थित किये हैं। वे हमारे प्रारम्भिक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों में से हैं। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनका मनोविश्लेषण अकादमी कम, व्यावहारिक अधिक है। इस युग में नारी कुछ शिक्षित होकर स्वतन्त्र हो चली थी—ऐसी स्थिति में प्रेम, विवाह एवं यौन नैतिकता के अनेक प्रश्न समाज को क्षुब्ध करने लगे थे। मध्यवर्ग की इन आकांक्षाओं एवं कुण्ठाओं के चित्रण में वाजपेयी अत्यधिक तटस्थ रह सके हैं, यह उनकी कलागत शक्ति का प्रमाण है परन्तु इस चित्रण का जो परिप्रेक्ष्य है, वह शरतचन्द्रीय आदर्शवाद है—इसी कारण निराश-प्रेम की वेदना को वे अत्यधिक स्फीत करके उपस्थित कर सके हैं।

उनके प्रौढ़ उपन्यासों एवं कहानियों में घटना, चरित्र या दृश्य को कुछ रेखाओं में चित्रित कर देने की शक्ति प्राप्त होती है। उनमें उनकी भाषा अत्यधिक प्रासंगिक एवं सहजप्रवाहमयी है। धीरे-धीरे वार्द्धक्य के साथ ही वाजपेयीजी में रोमाण्टिक वृत्ति का मोह अतिरिक्त रूप से सघन होता दिखाई देता है। 'चलते-चलते' के प्रकाशन (सन् १९५१ ई०) के बाद यह मोह उनके कृतित्व को आच्छन्न करता प्रतीत होता है। इसके बाद के उपन्यासों में प्रेम का वही शाश्वत त्रिकोण एवं लगातार अति काव्यात्मकता की ओर बढ़ती भाषा इन्हें शिथिल बनाती है। वे प्रेम के प्रश्नों को नये सन्दर्भ में प्रतिष्ठित नहीं कर सके। नाटक एवं कविताओं में भी उनके कथासाहित्य की ही हलकी अनुगूँज है, पर उन क्षेत्रों में वे बहुत सफल नहीं हुए। वास्तव में सन् १९३० से १९५० ई० के बीच लिखा उनका कथा-साहित्य ही उनकी प्रसिद्धि का आधार है। मनोवैज्ञानिक कथाकार के रूप में मध्यवर्गीय जीवन की मन:स्थितियाँ इस युग के उपन्यासों में चित्रित कर उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को निश्चित रूप से आगे बढ़ाया है।

—दे० शं० अ०

भगवती प्रसाद सिंह—जन्म सन् १९१९ में अयोध्या के समीपस्थ गोंडा जिले के अनभुला नामक ग्राम में। आपने काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से हिन्दी में एम० ए० सन् १९४७ में, आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५५ में पी-एच० डी० तथा गोरखपुर विश्वविद्यालय से सन् १९५८ में डी० लिट्० किया। कुछ समय तक बलराम पुर में प्राचार्य रहे। गोरखपुर विश्वविद्यालय में सन् १९५७ से ७९ ई० तक विभिन्न पदों पर रहकर अवकाश ग्रहण किया। इस समय गोरखपुर में बेतिया हाता में "साकेत" में रहकर साहित्य चिन्तन में रत है।

आपकी कृतियाँ निम्नलिखित हैं—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, दिग्विजय भूषण, मनीषी की लोक यात्रा, भाई जी, पावन-स्मरण महन्त दिग्विजय नाथ स्मृति ग्रन्थ, गोरख दर्शन, अक्षय कुमार बंद्योपाध्याय की फिलासफी ऑव गोरखनाथ का हिन्दी रूपान्तर, राम भक्ति : साधना और साहित्य, तुलसीदास : भक्ति एवं रचना संदर्भ (सर जार्जग्रियर्सन के नोट्स आन तुलसी दास का हिंदी रूपान्तर, विस्मरण सम्हार, गुरु माहात्म्य, भुशुण्डि रामायण पूर्व खण्ड, भुशुण्डि रामायण, रामकाव्य धारा : अनुसंधान एवं अनुचिंतन, हिन्दी साहित्य : अनिर्दिष्ट शोध भूमियां, महात्मा बनादास : जीवन और साहित्य, उभय प्रबोधक रामायण, स्वामी भजनानंद अभिनंदन ग्रन्थ, कल्याणपथ : निर्माता और राही श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, गोदान दर्शन, आत्मबोध—महात्मा बनादास, बनादास ग्रन्थावली (संपादित)

कृ० शं० पा०

भगवानदास (डाक्टर)—जन्म उत्तर प्रदेश के वाराणसी नगर में १२ जनवरी १८६९ ई०। देहान्त उसी तीर्थ स्थान में १७ सितम्बर, १९५८ ई०। उनका कार्यक्षेत्र सदा काशी रहा। आपका जन्म बड़े ही सम्पन्न और प्रतिष्ठित घर में हुआ था। एम० ए० अठारह वर्ष की अवस्था में पास हुए थे। कुछ दिनों तक डिप्टी कलेक्टर भी रहे। उनके अध्ययन और लेखन की परिधि बड़ी व्यापक थी। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, वैदिक तथा पौराणिक वाङ्मय पर इनके ग्रन्थों ने साहित्य में मौलिक चिन्तन का स्तर ऊँचा किया है। आरम्भ से ही इनका सम्बन्ध थियोसाफिकल सोसायटी से रहा और श्रीमती एनी बेसेण्ट के वर्षों तक वे निजी सचिव रहे। इस सोसाइटी के सिद्धान्तों में, जिनका मूलाधार समन्वयवाद है, उनकी गहरी आस्था हो गयी। विचारों की इसी आस्था, मनन और चिन्तन का परिष्कृत रूप हमें उनके 'समन्वय' नामक ग्रन्थ में मिलता है। भगवानदासजी सारे विश्व में समन्वय देखते थे और इस भावना को सभी पदार्थों तथा प्राणियों में व्याप्त समझते थे। समन्वय प्राप्त करने के मुख्य उपाय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है : "विचार के विषय में यह प्रसिद्ध है कि सब प्रकार के आस्तिक दर्शन और सब प्रकार के नास्तिक दर्शन इस वेद-वेदांग-वेदोपांग-वेदान्त-रूपी ज्ञानसागर में भरे हैं। जब यह सिद्धान्त है कि सर्वव्यापक परमात्मा की, परमेश्वर की चेतना में, उसी की इच्छा से, सब कुछ है, तो इन विविध विचारों को भी उसी ने जगत् में स्थान दिया है, यह भी निश्चयेन होगा।"

डा० भगवानदास जीवन भर विद्यार्थी, अनुसन्धानकर्ता और लेखक रहे, किन्तु राजनीति से भी पृथक् नहीं रह सके। कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया।

कई वर्ष तक केन्द्रीय विधानसभा के सदस्य रहे। हिन्दी के प्रति अनुराग होने के कारण साहित्यिक संस्थाओं को भी पूरा सहयोग देते रहे। काशी विद्यापीठ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सन् १९२० ई० में सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन के सभापति भी रहे। भारतीय हरिजन सम्मेलन और भारतीय संस्कृति सम्मेलन के भी अध्यक्ष हुए थे। संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी और हिन्दी के विद्वान् थे/अतः उनके साहित्य में सभी भाषाओं के ज्ञान का समन्वय हुआ है और विषय-सामग्री की बहुलता ने उसे समग्रता प्रदान की है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विषयों पर वे जो कुछ लिखते थे, उस पर उन क्षेत्रों के नेताओं का ध्यान आकर्षित होता था और उन विषयों का सुलझा हुआ निदान भी सुलभ हो जाता था। शास्त्रीय विवेचनों से भरे उनके लेख और भाषण भी बड़े सुबोध होते थे। 'जन्मना-कर्मणा-ब्राह्मण' विषय पर 'आज' में उन्होंने वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी कई लेख लिखे थे, जो बड़े-बड़े पण्डितों को भी चकित करनेवाले थे। अंग्रेजी में तो उनका बृहत् दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध ही हैं, हिन्दी में भी 'दर्शन का प्रयोजन' अपने ढंग का अकेला है। 'समन्वय' उनकी सबसे प्रथम कृति है। आपका लिखा हुआ 'पुरुषार्थ' बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ है।

आपकी शैली विचार प्रधान है। आपके विचारों का सहज प्रवाह दार्शनिकता की ओर है। आपकी रचनाओं के कारण हिन्दी का क्षेत्र व्यापक हुआ है और भाषा को दार्शनिक तथा तात्त्विक विषयों के चिन्तन तथा विवेचन की क्षमता मिली है।

—ज्ञा० द०

भगवानदीन (लाला)—उपनाम 'दीन'। जन्म अगस्त, १८६६ ई०, बरबट, जिला फतेहपुर में। मृत्यु जुलाई, १९३० ई०। वे ग्यारह वर्ष तक अपनी जन्मभूमि में ही रहकर उर्दू और फारसी पढ़ते रहे। बाद में फारसी का विशेष अध्ययन किया। हिन्दी का अध्ययन घर पर ही किया। फतेहपुर में कुल सात वर्ष पढ़े। २४ वर्ष की अवस्था में एन्ट्रेन्स की परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में कायस्थ पाठशाला, प्रयाग और म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में भी शिक्षा ग्रहण की किन्तु बी० ए० न कर सके।

इसके बाद छतरपुर में अध्यापक हुए और उक्त पद पर सन् १८९४ से १९०७ ई० तक रहे। फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हुए। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास उनके सहयोगी थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के शब्द-कोश विभाग में भी कई वर्ष तक रहे।

छतरपुर में रहते हुए 'कविसमाज' और 'काव्यलता' नाम की दो संस्थाएँ स्थापित कीं। इसके साथ ही साथ भारती-भवन नामक पुस्तकालय खोला। १९०५ ई० में 'लक्ष्मी उपदेश लहरी' के सम्पादक भी रहे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वे केशवदास और बिहारी के मुख्य अध्यापक थे। इन्हीं के अध्यापन में उन्हें आनन्द भी आता था। आपने कविताओं और निबन्ध के अतिरिक्त वीरों के चरित्र भी लिखे। 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'कवितावली' और 'बिहारी सतसई' पर विद्वत्ता एवं भावुकतापूर्ण टीकाएँ लिखीं। 'दीन' जी के कई काव्य-संग्रह प्रकाशित है, जिनके नाम हैं—'नवीन बीन', 'नदी मे दीन' (नदीम-ए-दीन)। इनके सवैये बड़े ही मोहक हैं। 'वीरपंचरत्न' पद्य ग्रन्थ वीर-रस की सुन्दर पुस्तक है। ये खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में लिखते थे। कभी-कभी उर्दू छन्दों का भी प्रयोग करते थे। 'दीनग्रंथावली' नाम से इनकी समस्त कविताओं का संकलन काशी से प्रकाशित हो चुका है।

छायावादी रूमानी भावधारा को वे इतना हेय समझते थे कि मजाक-मजाक में वे उसे 'छोकरावाद' कहते थे। उन्होंने आलोचना के लिए व्याख्यात्मक समीक्षा की प्राचीन पद्धति अपनायी।

लालाजी ने एक अलंकारग्रन्थ तथा एक शब्दशक्तिसम्बन्धी ग्रन्थ का भी प्रणयन किया है। अलंकार ग्रन्थ है—'अलंकार मंजूषा'। इसमें १० शब्दालंकारों और १०८ अर्थालंकारों का अत्यन्त सरल एवं सुगम शैली में विवेचन किया गया है। प्रत्येक अलंकार के कई उदाहरण दिये गये हैं, और कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ने पर विशद व्याख्या भी की गयी है। उर्दू-फारसी के भी उदाहरण दियेगये हैं। यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि किस अलंकार का अधिक और सफल प्रयोग किस कवि ने किया है। शब्दशक्तिसम्बन्धी ग्रन्थ है—'व्यंगार्थमंजूषा'। इसमें शब्दशक्तियों का अपनी दृष्टि से अच्छा विवेचन किया गया है।

—ह० दे० बा०

भगवानदास केला—जन्म १८९० ई० में हुआ। हिन्दी माध्यम से विभिन्न उपयोगी विषयों पर लिखने वालों में आप का नाम प्रमुख है। अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में आपने विशेष रूप से कार्य किया। कुल मिलाकर आपकी ७३ पुस्तकें हैं। १९५७ ई० में आपका देहान्त हुआ।

प्रमुख कृतियाँ—'भारतीय शासन' (१९१५ ई०), 'भारतीय चिन्तन' (१९२३ ई०), 'भारतीय अर्थशास्त्र' (१९२४ ई०), 'अपराध चिकित्सा' (१९३६ ई०), 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' (१९५२ ई०), 'मानव संस्कृति' (१९५६ ई०)।

—सं०

भगीरथ—सूर्यवंशी राजा अंशुमान् के पौत्र तथा दिलीप के पुत्र भगीरथ अपने साठ सहस्र पूर्वजों को तारने के उद्देश्य से अल्पायु में ही तपस्या करने के लिए निकल गये थे। एक हजार वर्ष तक तपस्या करने के उपरान्त ब्रह्मा ने इनसे प्रसन्न होकर वर मांगने को कहा। फलस्वरूप भगीरथ ने दो वरदान मांगे। प्रथम तो यह कि कपिल के शाप से भस्म हमारे पूर्वज गंगा की धार से तरें और द्वितीय मेरा वंश चले। गंगा की तीव्र धारा को पृथ्वी पर लाने के लिए उसे पहले मन्दगति करना था, अन्यथा पृथ्वी जलमग्न हो जाती। अतएव धारा को रोकने के लिए शिव की तपस्या करके उन्हें प्रसन्न किया। अन्त में वे अपने सतत यत्नों से गंगा को पृथ्वी पर लाने में समर्थ हुए (दे० 'गंगावतरण' : जगन्नाथदास 'रत्नाकर')। शंकर गंगा के गर्व को चूर्ण करने के लिए एक हजार वर्षों तक उन्हें अपनी जटाओं में बन्द किये रहे। अन्त में भगीरथ की प्रार्थना पर उन्हें जटा से निकाला। गंगा तीव्र धार होकर बहीं। राजा भगीरथ दिव्य रथ में सवार हो आगे-आगे पथ-प्रदर्शन का कार्य कर रहे थे। इसीलिए गंगा को भागीरथी भी कहा जाता है। भगीरथ की एकाग्रता और लगन को दृष्टि में रखकर 'भगीरथ यत्न' नामक मुहावरा भी

प्रचलित है।

—रा० कु०

भगीरथ मिश्र—जन्म १९१४ ई० में सैठा (जिला-कानपुर) में। शिक्षा (एम० ए०, पी-एच० डी०) लखनऊ में। कुछ वर्षों तक वहाँ अध्यापन करने के बाद आप पूना विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे; बाद में सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हुए। हिन्दी रीतिकाल तथा काव्य-शास्त्र के विशेषज्ञों में आपका नाम प्रमुख है। इस क्षेत्र में 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' (१९४५ ई०) आपकी उल्लेखनीय रचना है।

—सं०

भदंत आनंद कौसल्यायन—बौद्ध भिक्षु। जन्म १९०५ ई० में हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचारकार्य से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहे। दो संस्मरण ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं-'जो न भूल सका' (१९४५ ई०) तथा 'रेल का टिकट'।

—सं०

भरत—रामकथा के पात्रों में भरत का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनकी चारित्रिक एकनिष्ठता ही उनके महत्त्व का कारण है। यही आदर्श-निष्ठा सम्पूर्ण राम-कथा को दु:खान्त होने से बचा लेती है। इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण से लेकर 'साकेत सन्त' तक उनका चरित्र निरन्तर उज्जवल मिलता है।

साधारणतया रामकथा के अन्य पात्रों की भाँति भरत का सर्वप्रथम उल्लेख वाल्मीकिरामायण एवं महाभारत में प्राप्त होता है। रामायण के दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार वे लक्ष्मण के अनुज थे। इस प्रकार के संकेत अन्यत्र भी उपलब्ध हो जाते हैं, जैसे—'उत्तर पुराण', भासकृत 'प्रतिमा नाटक' तथा 'दशरथ जातक के अनुसार इस परम्परा का अनुमोदन होता है किन्तु वाल्मीकीय रामायण के शेष दो पाठों, उससे सम्बद्ध परम्पराओं, पुराणों, संस्कृत के ललित-काव्यों के अनुसार भरत ही अग्रज ठहरते हैं।

अवतारवाद की प्रतिष्ठा हो जाने पर भरत के विषय में ब्रह्म अंशाशिभाव की कल्पना कर ली गयी। सर्वप्रथम 'उदार राघव' में भरत को विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार कहा गया। 'अद्भुत रामायण' में विष्णु की दाहिनी बाँह को भरत एवं बाई को शत्रुघ्न कहकर पुकारा गया। 'नारद पुराण' में भरत के 'प्रद्युम्न' के अवतार रूप में प्रकट होने की कथा मिलती है। निष्कर्षत: रामावतार के साथ परवर्ती काव्य एवं पुराण—साहित्य में उनके अन्य भ्राताओं के अवतार की भी चर्चा चल पड़ी। ठीक यही परम्परा 'रामचरित मानस' तक आती है।

भरत का चरित्र वाल्मीकि-रामायण में अपनी गरिमा के लिए प्रसिद्ध रहा है। निश्चय ही दशरथ द्वारा राज्य के अधिकारी के रूप में मनोनीत होने पर भरत मर्यादा, आदर्श एवं भ्रातृप्रेम के वशीभूत होकर न केवल उसका तिरस्कार ही करते हैं, अपितु ऐसी वांछा करनेवाली अपनी माँ कैकेयी को धिक्कारते भी हैं। इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण में उनकी राज्य एवं रामसम्बन्धी मनोवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से चित्रित की गयी हैं। संस्कृत के ललित साहित्य में भरत का चरित्र पूर्णत: वाल्मीकि-रामायण द्वारा ही अनुमोदित है। प्राप्य सूचनाओं के अनुसार तत्कालीन ललित साहित्य में भरत के चरित्र को निर्दिष्ट कर लिखी गयी किसी स्वतन्त्र कृति का उल्लेख नहीं मिलता।

हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम 'पउम-चरिउ' (स्वयंभू) में भरत के वाल्मीकि द्वारा निर्दिष्ट चरित्र का स्पष्ट ललित वर्णन प्राप्त होता है किन्तु स्वतन्त्र रूप से वह ईश्वरदासकृत 'भरत मिलाप' में उपलब्ध हो सका है। भरत के चरित्र का करुण पक्ष इस लघु-काव्य का वर्ण्य-विषय है। इस दिशा में तुलसीदासप्रणीत 'भरत मिलाप' कृतिका भी स्वतन्त्र रूप से उल्लेख मिलता है। 'मानस' एवं 'गीतावली' में निर्दिष्ट तुलसीदास द्वारा भरत के जिस निर्मल चरित्र की उद्भावना की गयी है, उसमें भरत के प्रति कवि की सहानुभूति का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। तुलसीदास भरत के चरित्र के साथ इतना अधिक एकात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि स्वत: भरत की प्रेम-निष्ठा कवि की आत्मकथा बन जाती है। भरत की आदर्श-भक्ति मानसकार को सदा प्रिय रही है। अस्तु 'चातक वृत्ति' को 'भरतवृत्ति' एवं 'भरतवृत्ति' को वह 'तुलसी वृत्ति' की संज्ञा अनेक स्थानों पर देता है। इसके साथ-साथ नैतिकता, आदर्श, भ्रातृप्रेम, उनके व्यक्तित्व के मुख्य अंश हैं किन्तु 'मानस' में उनके चरित्र का सर्वप्रमुख अंग भक्ति ही है।

आधुनिक युग में भरत के चरित्र को निर्मलतम बनाने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किये गये हैं। सर्वप्रथम साकेतकार युगानुकूल जनवाणी देने के लिए भरत एवं राम का चित्रकूट-संवाद प्रस्तुत करता है। भरत की तार्किक वाणी से राम उनके हृदय की निर्मलता स्वीकार कर किंचित् पश्चात्ताप प्रकट करते हैं। इस प्रकार भरत का चरित्र सम्पूर्ण 'साकेत' में भ्रातृप्रेम की निष्ठपूर्ण गरिमा से मण्डित है। उनके साधु-चरित्र को अधिकाधिक विकसित करने का प्रयत्न पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत सन्त' के माध्यम से किया है। तुलसीदास द्वारा संकेतित विषयक्रमों को नवीन सन्दर्भ देकर मिश्रजी ने भरत को भारतीय संस्कृति का आदर्श प्रतीक बना दिया है। निश्चय ही इसमें कवि को अधिकाधिक सफलता मिली है।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय इलाहाबाद; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय इलाहाबाद।]

—यो० प्र० सिं०

भरथरी—राजा भरथरी की लोकगाथा सारंगी बजाकर भिक्षा की याचना करने वाले जोगियों द्वारा बड़े प्रेम से गायी जाती है। ये जोगी इस गाथा को गाकर किसी को पूरा नहीं लिखाते। उनका विश्वास है कि इस सम्पूर्ण गाथा को लिखने तथा लिखानेवाले दोनों व्यक्तियों का सर्वनाश हो जाता है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि राजा भर्तृहरि को कौन नहीं जानता, जिन्होंने श्रृंगार, नीति तथा वैराग्य-शतकों की रचना कर अमरता प्राप्त की है। लोकगीतों में वर्णित भरथरी तथा राजा भर्तृहरि, दोनों एक ही व्यक्ति हैं, यह कहना कठिन है परन्तु दोनों के कथानकों में बहुत कुछ साम्य है। भरथरी की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

उज्जैन में राजा इन्द्रसेन राज्य करते थे, जिनके लड़के का नाम चन्द्रसेन था। भरथरी इन्हीं के पुत्र थे। इनकी माता का

नाम रूपदेई और स्त्री का नाम सामदेई था, जो सिंहल द्वीप की राजकुमारी थी। विवाह के पश्चात् जब भरथरी शयनकक्ष में गये, तब उन्होंने अपनी खाट को टूटा पाया तथा इसका कारण अपनी स्त्री से पूछा, जिसका सन्तोषजनक उत्तर वह न दे सकी।...संसार की झंझटों से ऊबकर भरथरी गुरु गोरखनाथ के चेले बन जाते हैं, परन्तु सन्यास धर्म में दीक्षित होने के पहले अपनी स्त्री से भिक्षा माँगकर लाना उनके लिए आवश्यक था। वे भिक्षा की याचना करने के लिए अपने घर गये। सामदेई ने यह पहचानकर कि भिक्षुक अन्य कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि मेरा पति ही है, भिक्षा देना पहले अस्वीकार कर दिया, परन्तु बहुत अनुनय-विनय के पश्चात् इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

भरथरी ने गोरखनाथ से दीक्षा ग्रहण कर कामरूप (आसाम) देश की यात्रा की। इस प्रकार वे अन्त तक भ्रमण करते हुए यति-धर्म का पालन करते रहे।

भरथरी की लोकगाथा भी कुछ कम प्रचलित नहीं है। उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में नाथपन्थी जोगी, जिन्हें 'साईं' भी कहते हैं, सारंगी बजाकर इस गीत को गाते फिरते हैं। भरथरी की गाथा में गोपीचन्द के समसामयिक होने का उल्लेख पाया जाता है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों के समय में बड़ा ही अन्तर है। लोकगाथाओं में गोपीचन्द तथा भरथरी, दोनों ही गोरखनाथ के शिष्य बतलाये गये हैं। सम्भवतः इसी के आधार पर दोनों के सम-सामायिक होने की कल्पना की गयी हो।

भरथरी की गाथा में श्रृंगार तथा करुण दोनों रसों का पुट पाया जाता है। जब राजा भरथरी अपनी स्त्री से भिक्षा माँग रहे हैं उस समय का दृश्य बड़ा मनमोहक है। कहीं-कहीं शान्त रस की छटा भी देखने को मिलती है। लोकगाथा के साहित्य में इस गाथा का विशेष स्थान है।

—कृ० दे० उ०

भरमी—इनके विषय में निश्चित कुछ भी ज्ञात नहीं है। शिवसिंह ने इनके एक नीति-विषयक छप्पय को 'सरोज' में स्थान दिया है, इससे ज्ञात होता है कि ये नीति के कवि रहे हैं। शिवसिंह ने इनका उपस्थिति-काल १६४९ ई० माना है। ग्रियर्सन इसे उपस्थिति-काल और मिश्रबन्धु रचना-काल मानते हैं। 'कालिदास हजारा' में इनके छन्द संकलित हैं इससे इनको १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का कवि मानना चाहिए। 'दि० भू०' में गोकुल कवि ने इनके नख-शिखसम्बन्धी चार छन्द उदाहृत किये हैं। इस प्रकार भरमी रीतिकालीन परम्परा के श्रृंगारी कवि ही जान पड़ते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; दि० भू०।]

—सं०

भर्तृहरि—प्रायः अनुमान है कि छठी शताब्दी के नीति, वैराग्य और श्रृंगारशतकों के प्रणेता महाराज भर्तहरि ही सिद्ध भर्तृहरि थे, परन्तु सिद्धों की परम्परा पर विचार करते भर्तृहरि का समय ११वीं शताब्दी के पूर्व नहीं पहुँचता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि महाराज भर्तृहरि ने अपने शतकत्रय के अतिरिक्त लोकभाषा में भी कुछ पद लिखे थे, वही कालान्तर में बदलते हुए सिद्धों की बानियों में सम्मिलित हो गये। 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में वैराग्य शतक के कई श्लोकों का भ्रष्ट रूपान्तर भी पाया जाता है विक्रम और उनके मन्त्री से भर्तृहरि की वार्ता से भी उनकी प्राचीनता का संकेत मिलता है। दूसरी ओर भर्तृहरि के पदों में गोरखनाथ का गुरु के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। पेशावर के रतननाथ का भर्तृहरि के शिष्य के रूप में उल्लेख हुआ है। इससे अनुमान होता है कि भर्तृहरि का काल १३वीं शताब्दी के आस-पास मानना उचित है। 'वर्णरत्नाकर' की सूची में इनका नाम लगभग अन्त में आता है। ऐसा जान पड़ता है कि छठी शताब्दी के महाराज भर्तृहरि से सम्बद्ध लोककथाओं तथा लोकगीतों में वर्णित उनका चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व १३ वीं शताब्दी के सिद्ध भर्तृहरि के व्यक्तित्व में घुल-मिल गया, जिससे दोनों को अलग कर सकना प्रायः असम्भव हो गया। भर्तृहरि के पद श्लोक और संवाद 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में ही संकलित मिलते हैं। उनकी वाणी का मुख्य भाव वैराग्य है। उन्होंने संसार की नश्वरता, भोगविलासपूर्ण जीवन के प्रति उपेक्षाभाव तथा धार्मिक जीवन के प्रति सहज अनुराग का वर्णन किया है। कहीं-कहीं नाथ सिद्धों की रहस्यमयी भाषा के प्रयोग से उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक हो गयी हैं। भर्तृहरि ने एक पद में हरि पद की चर्चा की है, जिससे उनमें सिद्धों की तुलना में एक नवीन विशेषता का दर्शन होता है उन्होंने कहा है—"भनत भरथरी हरिपद परस्या, सहज भया अविनासी"। हरिपद और अविनासी शब्दों के प्रयोग से विदित होता है कि भरथरी ११वीं-१२वीं शताब्दी से पहले नहीं हुए होंगे क्योंकि नाथों की परम्परा में इन शब्दों को स्थान नहीं मिला। भरथरी को हम नाथ-सम्प्रदाय और हिन्दी के सन्त-कवियों को जोड़नेवाली कड़ी के रूप में मान सकते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—पुरातत्त्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; योगप्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

—यो० प्र० सिं०

भवानीप्रसाद तिवारी—जन्म १९१२ ई० में सागर में हुआ। शिक्षा एम० ए० तक नागपुर विश्वविद्यालय से हुई। सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों के कार्य में रुचि रही। कई वर्षों तक जबलपुर के मेयर रहे। हिन्दी-कविता के क्षेत्र में वादों से अलग आपका स्वतन्त्र स्थान है। कविता के अतिरिक्त कहानियाँ, निबन्ध और नाटक लिखे हैं। कविता की दृष्टि से गीतात्मक तत्व आपकी रचनाओं का प्राण तत्त्व है। कृतियाँ-'प्राण पूजा' (कविताएँ १९५३ ई०), 'कथा वार्ता' (निबन्ध तथा कहानियाँ १९५६ ई०), 'गीतांजलि' (१९४८ ई०), 'कीचक वध' (नाटक)।

—सं०

भवानी प्रसाद मिश्र—जन्म १९१४ ई०। शिक्षा बी० ए० तक पाने के बाद पहले 'कल्पना' के संपादक थे, फिर आल इंडिया रेडियो में नौकरी की और अवकाश प्राप्त करने तक संपूर्ण गांधी वाङ्मय के संपादक मण्डल में रहे। ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना कहीं तो बहुत सूक्ष्म और आत्मगत है जैसे, 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख' आदि में; कहीं प्रत्यक्ष और परिवेश-संयुक्त है जैसे—'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा' 'गीत फरोश' आदि कविताओं में। इसी गीत फरोश कविता के कारण भवानी प्रसादजी को विशेष ख्याति मिली। यह रचना एकालाप नाटकीय कथोपकथन का

विलक्षण आकर्षण और माधुर्य लिए हुए है। यह रचना आज के पाठक की गिरी रुचि और काव्य के मूल्यों की डाँवाडोल स्थिति की सूचक है। एक प्रकार से आज के युग पर यह तीखा व्यंग्य है। आधुनिक कवियों में प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र का प्रमुख स्थान है। प्रकृति के साथ इन्होंने कुछ ऐसी गहरी आत्मीयता स्थापित कर ली है कि ये उसे स्थान-स्थान पर संबोधित करते पाये जाते हैं। मिश्र जी के विचारों पर भारतीय विचारधारा का गहरा प्रभाव पाया जाता है—विशेष रूप से गांधीवाद का। बीसवीं शताब्दी में प्रचलित अन्य लोक कल्याणकारी विचारधाराओं से भी ये किसी सीमा तक प्रभावित रहे हैं। विशेष बल इन्होंने इस बात पर दिया है कि हमारा जीवन सहज और सरल होना चाहिए इनकी रचनाओं में गीत फरोश (१९५६) चकित है दुःख, अँधेरी कविताएं, बुनी हुई रस्सी, खुशबू के शिलालेख, अनाम तुम आते हो, इदं न मम मुख्य हैं। आपकी मृत्यु सन् १९८५ में हुई।

—कृ० श० पा०

भवानीविलास—'भावविलास' और 'अष्टयाम' के पश्चात् यह रीतिकाल के सुप्रसिद्ध कवि देवकी तीसरी रचना मानी जाती है, जिसको उन्होंने अपने आश्रयदाता भवानीदत्त को अर्पित किया था। अन्तर्बाह्य किसी भी प्रकार के साक्ष्य से इसका रचनाकाल ज्ञात नहीं होता। अनुमानतः इसका निर्माण १६९३-९७ ई० (सं० १७५०-५५) के लगभग हुआ होगा। नगेन्द्र का यही अनुमान है ('देव और उनकी कविता' (पृ० ४२-४३)। ग्रन्थ की सम्पूर्ण छन्द संख्या ३८४ है। इसका प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, बनारस से सन् १८९३ ई० में हुआ है तथा हस्तलिखित प्रतियाँ गन्धौली, सूर्यपुरा, टीकमगढ़ और लखनऊ में उपलब्ध हैं।

इसमें 'भाव विलास' के अनेक छन्द उद्धृत मिलते हैं अतः इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। यह रसग्रन्थ है, जिसमें प्रायः आद्योपान्त श्रृंगार-रस की प्रधानता है। प्रथम सात विलासों में श्रृंगार-रस तथा उसके अंगोपांगों का विस्तार है। आठवें विलास में शेष आठों रस भेद-प्रभेद के साथ वर्णित हुए हैं। श्रृंगार का रस-राजत्व पूर्णतया प्रतिष्ठित किया गया है-"भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार। तेहि उछाह निर्वेद ले वीर सान्त संचार।।१०।।" "भाव सहित सिंगार में नवरस झलक अजत्न। ज्यों कंकन मनि कनक को ताही में नवरत्न।।१२।।"

देव ने श्रृंगार-रस को आकाश की तरह अन्तहीन बताया है, जिसमें अन्य रस पक्षी की तरह उड़ते-फिरते हैं। उसमें आयु, वंश, अनुराग की अवस्था तथा सत्त्व आदि अनेक आधार लेकर नायिका भेद का वर्णन किया गया है। अन्तिम विलास में किये गये रस-भेद उल्लेखनीय हैं। वीर-रस के प्रसिद्ध चार भेदों में धर्मवीर को न मानकर केवल तीन ही भेद किये गये हैं। शान्त रस के शरण्य और शुद्ध नाम से पहले दो भेद किये गये हैं फिर शरण्य के प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम ये तीन प्रभेद बताये गये हैं। हास्य के उत्तम, मध्यम, अधम तथा करुण के अति, महा, लघु और सुख को मिलाकर पाँच भेद किये गये हैं। इसमें लक्षण दोहे में और उदाहरण कवित्त-सवैयों में मिलते हैं, जैसा रीतिकाल में प्रचलित था।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; मि० वि०; हि० का० शा० इ०; री० भू० तथा दे० क०; देव के लक्षणग्रन्थों का पाठ और पाठ समस्याएँ (अ०) : लक्ष्मीधर मालवीय।]

—ज० गु०

भस्मासुर—पुराणों के अनुसार एक प्रसिद्ध दैत्य था, जिसका यथार्थ नाम वृकासुर था। यह शिव भक्त था। शिव ने उसे वर दिया कि तुम जिसके सिर पर हाथ रखोगे, वह भस्म हो जायेगा, वर के बाद यह पार्वती पर मोहित हुआ। अतः शिव को जलाने के लिए उनके सिर पर हाथ रखने चला। वर मिल चुका था अतः शिव लाचार होकर भागे। अन्त में विष्णु ने शिव का संकट देख मोहिनी-रूप धारण किया, जिस पर आकर्षित होकर भस्मासुर ने नाचने की मुद्रा में एक हाथ अपनी कटि पर और एक हाथ अपने सिर पर रखा। इस प्रक्रिया में वह स्वयं जल गया। एक अन्य मत से कृष्ण ने बटुक रूप धरकर छल से उसका हाथ उसके सर पर रख दिया, जिससे वह भस्म हो गया। 'स्कन्दपुराण' के अनुसार वह कश्यप और दिति का पुत्र था (दे० सू० सा० प० ४९२५)।

—रा० कु०

भाग्यवती—पंजाब के प्रसिद्ध और लोकप्रिय धार्मिक नेता, सामाजिक कार्यकर्ता, व्याख्यानदाता तथा साहित्य-सेवी श्रद्धाराम फुल्लौरी लिखित एक सामाजिक उपन्यास, जिसकी रचना सन् १८७७ ई० में हुई थी। इस उपन्यास को पर्याप्त प्रशंसा मिली। हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास में इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। कुछ विद्वानों द्वारा इसे हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास कहलाये जाने का श्रेय दिया है।

—प्र० ना० टं०

भान कवि—सम्भवतः 'भान' कवि का उपनाम था। उसका पूरा नाम क्या था, ज्ञात नहीं। कवि राजा जोरावर सिंह का पुत्र और राजा रनजोर सिंह बुन्देला के यहाँ रहनेवाला था। 'नरेन्द्र-भूषन' कवि की एकमात्र रचना है, जिसका रचना-काल सन् १७८८ ई० है। यह अलंकार-ग्रन्थ है, जिसमें श्रृंगार रस के अतिरिक्त वीर, भयानक, रौद्र आदि अन्य रसों को भी उदाहरण रूप में पर्याप्त मात्रा में दिया गया है, जो अन्य अलंकार-ग्रन्थों की अपेक्षा काफी नवीनता लिये हुए हैं। भावों की सानुभूतिक अभिव्यंजना और तदनुसार भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार था। अलंकारों के लक्षण उदाहरण, साफ सहज और बोधगम्य है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०।]

—रा० त्रि०

भारतदुर्दशा—(प्र० १८८० ई०) 'भारतदुर्दशा' से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देशभक्ति पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपनी इस रचना को नाट्य-रासक (या लास्यरूपक) कहा है। उसके छः अंकों में भारत के प्राचीन गौरव और समकालीन दुरवस्था का वर्णन हुआ है। दो पदवाले मंगलाचरण के पश्चात् प्रथम अंक में भारत के प्राचीन गौरव और विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमणों के फलस्वरूप देश की दीन-हीन दशा का वर्णन है। द्वितीय अंक में भारत अपनी दीनहीन दशा की गाथा सुनाते-सुनाते मूर्च्छित हो जाता है, किन्तु आशा उसके प्राण बचाती है। तीसरे अंक में नाटककार ने उन शक्तियों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा भारत का

सर्वनाश हुआ, जैसे फूट, सन्तोष, अपव्यय, स्वार्थपरता, हठ आदि। इन शक्तियों के कारण देश धन, बल और विद्या तीनों दृष्टियों से पतन के गर्त में डूब जाता है। चौथे अंक में भारत-दुर्दैव उसके निश्चित नाश का उपक्रम करता है। पाँचवें अंक में एक सभापति, एक बंगाली, एक महाराष्ट्रीय, एक सम्पादक, एक कवि और दो देशी महाशय नामक सात सभ्य देश को बचाने के उपाय सोचते हैं किन्तु डिसलायल्टी उन्हें 'इंगलिश पालिसी' नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से पकड़ ले जाती है। अन्तिम अंक में भारत-भाग्य अचेत पड़े हुए भारत को जगाने की चेष्टा करता है किन्तु उसके उठने की आशा न देखकर अपनी छाती में कटार का आघात कर लेता है। यद्यपि रचना में आशा की ध्वनि भी विद्यमान है तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निराश होकर 'भारतदुर्दशा' की रचना की। रचना-पद्धति की दृष्टि से उसमें नाट्य-रासक के सभी शास्त्रीय लक्षण नहीं मिलते।

—ल० सा० वा०

भारतभारती—'भारतभारती' मैथिलीशरण गुप्त की सर्वाधिक प्रचारित कृति है। यह सर्वप्रथम संवत् १९६९ में प्रकाशित हुई थी और अब तक इसके बीसों संस्करण निकल चुके हैं। एक समय था जब 'भारतभारती' के पद्य प्रत्येक हिन्दी-भाषी के कण्ठ पर थे। गुप्तजी का प्रिय हरिगीतिका छन्द इस कृति में प्रयुक्त हुआ है। भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना की जागृति में इस पुस्तक का बहुत हाथ रहा है। यह काव्य तीन खण्डों में विभक्त है : (१) 'अतीत' खण्ड, (२) 'वर्तमान' खण्ड (३) 'भविष्यत्' खण्ड। 'अतीत' खण्ड में भारत वर्ष के प्राचीन गौरव का बड़े मनोयोग से बखान किया गया है। भारतीयों की वीरता, आदर्श, विद्या-बुद्धि, कला-कौशल, सभ्यता-संस्कृति, साहित्य-दर्शन, स्त्री-पुरुषों आदि का गुणगान किया गया है। 'वर्तमान' खण्ड में भारत की वर्तमान अधोगति का चित्रण है। इस खण्ड में कवि ने साहित्य, संगीत, धर्म, दर्शन आदि के क्षेत्र में होनेवाली अवनति, रईसों और उनके सपूतों के कारनामें, तीर्थ और मन्दिरों की दुर्गत तथा स्त्रियों की दुर्दशा आदि का अंकन किया है। 'भविष्यत्' खण्ड में भारतीयों को उद्‌बोधित किया गया है तथा देश के मंगल की कामना की गयी है।

काव्य की दृष्टि से 'भारतभारती' उच्चकोटि की कृति नहीं है परन्तु रमणीयता का एकदम अभाव भी नहीं है-भारतीयों की अवनति एवं हीनता का करुण-चित्रण अत्यधिक प्रभावक्षम है। लाक्षणिक प्रयोग यद्यपि कम हैं, प्रायः अभिधाका ही आश्रय लिया गया है किन्तु शैली का प्रवाह एवं भाषागत ओज प्रस्तुत काव्य को दीप्ति प्रदान करते हैं और भावनाओं को उद्वेलित करने की अद्‌भुत शक्ति तो इसमें है ही। इसीलिए स्वतन्त्रता के पुजारी देश-सेवक इसका गान करते हुए सत्याग्रह-आन्दोलनों में भाग लेते थे। विद्वान् नेताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में इस काव्य के योगदान को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है।

—उ० का० गो०

भारत भूषण अग्रवाल—जन्म १९१९ में। एम० ए० (अंग्रेजी), पी-एच० डी० (हिन्दी) लखनऊ। प्रयाग और भोपाल में आकाशवणि से सम्बद्ध रहे। बाद में सहायक-मन्त्री, साहित्य-अकादमी, नई दिल्ली। 'तारसप्तक' के कवि।

भारतभूषण अग्रवाल की कविता केवल मार्क्सवादी नहीं है, यद्यपि कॉलेज के रंगीन स्वप्नों के दिनों में उनका परिचय मार्क्सवाद से अवश्य हुआ। मार्क्सवाद की ओर वे किसी राजनीतिक दृष्टिकोण से अग्रसर नहीं हुए। 'समाज-दर्शन' के आग्रह ने उन्हें इस ओर उन्मुख किया। बाद में उनका मोह-भंग हुआ और उन्हें लगा कि मार्क्सवाद व्यक्ति को एक 'अंक' या 'पुर्जा' से अधिक कुछ नहीं मानता। 'जागते रहो' और 'मुक्तिमार्ग' में उनका रचनाकार मार्क्सवाद से प्रभावित रहा। कालान्तर में 'ओ अप्रस्तुत मन'। 'अनुपस्थित लोग' और 'कागज के फूल' में उन्होंने आधुनिक जीवन की विसंगतियों और पिद्रूपताओं का साक्षात्कार किया और कराया। रचनाकार की बाद ग्रस्त स्थिति को उन्होंने अस्वीकारा है। उनकी कविताएँ, ईमानदारी की कविताएँ हैं, अनुभूतिजन्य रचनाएँ हैं। उनका रचनाकार 'मुक्ति का सूरमा' है। वह नियति वादी न होकर संघर्षशील है। उनकी कविताएँ परिवेश की घुटन और बेबसी की प्रतिक्रियाएँ हैं। समग्र विश्व में परिव्याप्त अनास्था, कुण्ठा और घुटन ने उनके कवि-मन को झकझोरा है। इसीलिए उनके कृतित्व को देशीय सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। उनका रचना-संसार विश्व-संवेदना और विश्वमानवता से जुड़ा हुआ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अपने ही देश में अजनबी और परदेशी बने हुए कवि को उन्होंने महत्त्व दिया है। भारतभूषण जिन्दगी की कड़ुवाहट के कवि हैं। उनकी कविता 'चौराहे' की कविता है, अनास्था में पनपती आस्था की कविता है। यथार्थ और आदर्श की टकराहट ने उन्हें निराशावादी न बनाकर गतिशील बनाया है। वे अंधविश्वासों से जूझते हैं और परम्परा का आलिंगन भी करते हैं। विरोधी परिस्थितियों से जूझना अमृत है और उनसे हारना विष। वे रसोपलब्धि नहीं, रस-प्रयत्न के आकांक्षी रचनाकार हैं। बाह्य दबाव की अपेक्षा आंतरिक विवशता ने उन्हें रचनाशील बनाया है। काव्य-रचना के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यावसायिक न होकर साहित्यिक है—रचना की श्रेष्ठता का मानदण्ड उन्होंने पुस्तक-बिक्री को कभी नहीं माना। उनका कवि समवाय के लिए व्यक्ति-समर्पण का हिमायती है। उनकी मूल्यगत संवेदना विधेयात्मक न होकर निषेधात्मक है-मूल्यों की अनुपस्थिति का अहसास वे करते और कराते रहते हैं। उनकी कविता सिर्फ, विलायती स्पंज' नहीं है—वे बाह्य जीवन को सोखकर, उगल देना ही कविता का लक्ष्य नहीं मानते। उसमें रोमान और बौद्धिकता का योग है।

आधुनिक यंत्रयुगीन बिम्बों, पौराणिक उपमानों और यौन-प्रतीकों के नियोजन के साथ साथ उन्होंने 'लिमरिक' (तुक्तक) का प्रयोग भी किया है। भारतभूषण की काव्य-भाषा 'यथार्थ भाषा' है, 'शब्द-कोश' की भाषा नहीं। उनकी भाषा में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ है। परिशुद्धतावादी काव्य-भाषा के वे हिमायती नहीं हैं। रचनाएँ : कवि के बन्धन (१९४१), जागते रहो (१९४२), मुक्तिमार्ग (१९४७), ओ अप्रस्तुत मंत्र, अनुपस्थित लोग (काव्य-संग्रह), किसने फूल खिलाये (बाल काव्य-संग्रह), पलायन (नाटक), लौटती लहरों की बाँसुरी (उपन्यास), सेतु बन्धन (१९५५), खाई बढ़ती गई (ध्वनि-रूपक), प्रसंगवश (निबन्ध संग्रह), चिरकुमार सभा,

चित्रांगदा, मुक्तधारा,, आदमी और कीड़े, पात्र-पात्री (बँगला से अनुवाद) रवीन्द्रनाथ-एक जीवनी (अंग्रेजी से अनुवाद), रंगीन रुबाइयाँ (सिन्धी से अनुवाद).

—शं० ना० च०

भारतीभूषण १—भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास ने १८३३ ई० (सं० १८९०) में 'भारतीभूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। इसमें ३६ पृष्ठ तथा ३७८ छन्द हैं। 'कुवलयानन्द' के आधार पर इस पुस्तक में केवल दोहा छन्द मे अलंकार-वर्णन है। लक्षणों में विशेष कसावट नहीं, परन्तु स्पष्टता है। उदाहरण सरल एवं सरस हैं। इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १८८१ ई० में हुआ था।

'भारतीभूषण' में प्रथम अर्थालंकार, तदनन्तर दो शब्दालंकारों—अनुप्रास तथा यमक—का विवेचन है। अलंकारों का क्रम, लक्षण तथा भेद सामान्यतः 'कुवलयानन्द' के ही अनुसार हैं। कवि पर संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरणों मे माधुर्य और सरसता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० अ० सा०; हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ओं० प्र०

भारतीभूषण २—अर्जुनदास केडिया लिखित अलंकार ग्रन्थ 'भारतीभूषण' का प्रकाशन १९३० ई० में भारतीभूषण कार्यालय, बनारस से हुआ। विकसित और परिष्कृत हिन्दी गद्य में अलंकारों का सम्यक् विवेचन न होना लेखक के लिए प्रस्तुत कृति की प्रधान प्रेरणा रही है। विषय की मौलिक विवेचना के प्रयत्न ने पुस्तक को गम्भीरता प्रदान की है। यद्यपि यह अवश्य है कि इसकी विवेचना-शैली प्राचीन परिपाटी की लीक नहीं छोड़ पायी है। जिन अलंकारों के कई भेद हैं, उनके मूल लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं कि वे सब पर घटित हो सकें। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने बड़े परिश्रम से अलंकारों के उदाहरण या तो स्वरचित दिये हैं या अत्यन्त परिश्रम से प्राचीन पुस्तकों से खोज करके रखे हैं। लेखक ने उदाहरण के लिए किसी संस्कृत पुस्तक से अनुवाद नहीं किया है। एक-एक अलंकार के कई-कई उदाहरण दिये गये हैं। ७५० उदाहरणों में से ३७५ स्वयं लेखक द्वारा रचित हैं, अन्य उदाहरण १२५ अन्य कवियों के लिये गये हैं।

८ शब्दालंकारों (लेखक वेणसगाई को भी सम्मिलित किया है) और १०० अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। केडियाजी ने सूचना और टिप्पणियों के रूप में बीच-बीच में अलंकारों के सम्बन्ध में अपनी मौलिक उद्भावनाएँ दी हैं, जिससे ग्रन्थ की गम्भीरता प्रमाणित होती है। अनेक प्राचीन अलंकारशास्त्रियों के (जयदेव, केशव, उत्तमचन्द भण्डारी, जगन्नाथ आदि) विवेचन का प्रभाव तो पुस्तक में स्पष्ट है ही,, किन्तु प्रस्तुत कृति की विशेषता परिष्कृत गद्य शैली मौलिक उदाहरण और कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप से अलकारचिन्तन में अधिक है।

—नि० ति०

भारतीय हिंदी परिषद्—स्थापना प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा की प्रेरणा और प्रयत्न से ३ अप्रैल, सन् १९४२ ई० को प्रयाग में हुई। हिन्दी के समस्त अंगों, भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के अध्ययन तथा खोज को प्रोत्साहन देना और उसकी प्रगति का विशेष रूप से निरीक्षण करना इसका उद्देश्य है।

भारतीय विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक, हिन्दी तथा हिन्दी प्रेमी एवं हिन्दी के उच्च अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान में रुचि रखने वाले व्यक्ति इस संस्था के सदस्य हैं।

मुख्यतया विश्वविद्यालय अध्यापकों एवं अनुसन्धानकर्ताओं की संस्था होने के नाते परिषद् अपने सामान्य उद्देश्य के अन्तर्गत उच्चतर हिन्दी अध्यापन और अनुसन्धान के नियोजन एवं संगठन तथा उच्चतर शिक्षा के सन्दर्भ में हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास, उन्नयन, प्रचार एवं प्रसार पर विशेष बल देती है। इसके निमित्त परिषद् जिन साधनों का उपयोग करती है, वे ये हैं—

वार्षिक अधिवेशन—भारतीय साइंस कांग्रेस तथा अन्य विषयों की परिषदो की भांति भारतीय हिन्दी परिषद् के भी वार्षिक सम्मेलन किसी विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित होता हैं। अब तक परिषद् के वार्षिक अधिवेश प्रयाग, लखनऊ, आगरा, पटना, जयपुर, नागपुर, बनारस, रायगढ़ (सागर), दिल्ली, वल्लभ विद्यानगर (आनन्द, गुजरात) कलकत्ता, उज्जैन, हैदराबाद, पूना, ग्वालियर में हो चुके हैं। इन अधिवेशनों में महत्त्वपूर्ण अभिभाषणों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा, साहित्य और संस्कृतिसम्बन्धी विविध विषयों पर (अ) विशेष गोष्ठियां होती हैं, (आ) समसामायिक तथा स्थायी महत्त्व के प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं, (इ) शोध-निबन्धों का पाठ एवं उन पर विचार-विमर्श होता है, (ई) तथा साहित्यिक योजनाएँ बनायी जाती हैं।

अब तक हिन्दी भाषा और लिपि के विकास, प्रचार एवं प्रसार से सम्बन्धित, राजभाषा हिन्दी से सम्बद्ध, हिन्दी अध्यापन एवं पाठ्यक्रम से सम्बन्धित एवं साहित्यिक तथा शोधसम्बन्धी विषयों पर विचार-गोष्ठियाँ हो चुकी हैं। विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम के लिए आवश्यक साहित्य निर्माण के लिए तथा परीक्षाओं के हिन्दी माध्यम को कार्यरूप में परिणत करने के लिए इसने प्रयत्न किया है। यह परिषद हिन्दी के दिवंगत प्रसिद्ध कवियों और लेखकों की स्मृति-रक्षा की ओर ध्यान आकर्षित करती रही है और समुचित रूप से स्मारक स्थापना की प्रेरणा भी देती रही है।

परिषद् एक त्रैमासिक पत्र 'हिन्दी अनुशीलन' का प्रकाशन करती है, जो अपने उच्चस्तरीय शोध-निबन्धों के कारण विद्वानों में अद्वितीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसके कई महत्त्वपूर्ण विशेषांक भी निकल चुके हैं : (१) भाषा अंक, (२) धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, (३) शोध विशेषांक।

—सं०

भारतेंदु हरिश्चंद्र—(१८५०-१८८५ ई०)। आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता और भारतीय नवोत्थान के प्रतीक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १८-१९ वीं शताब्दी के जगत्-सेठों के एक प्रसिद्ध परिवार के वंशज थे। उनके पूर्वज सेठ अमीचन्द (मृत्यु १७५८ ई०) का उत्कर्ष भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय हुआ था। नबाब सिराजुद्दौला के दरबार में उनका मान था। सिराजुद्दौला के साथ संघर्ष होनेपर सेठ अमीचन्द ने अंग्रेजों की सहायता की, किन्तु इतने पर भी अंग्रेजों

ने उनके साथ नीचतापूर्ण व्यवहार किया। उन्हीं के प्रपौत्र गोपालचन्द उपनाम गिरिधरदास (जन्म १८३३ ई०) के ज्येष्ठ पुत्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। भारतेन्दु का जन्म सन् १८५० ई० में उनके ननिहाल में हुआ था। जब वे पाँच वर्ष के थे तब उनकी माता पार्वतीदेवी का तथा जब वे दस वर्ष के थे तब पिता का देहान्त हो गया। विमाता मोहन बीबी का उन पर विशेष प्रेम नहीं था। इसलिए उनके पालन-पोषण का भार कालीकदमा दाई और तिलकधारी नौकर पर रहा। पिता की असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो सका। पिता की मृत्यु के बाद क्वींस कालेज, बनारस में पढ़ने जाने लगे किन्तु वे स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे, उनका स्वभाव चंचल और उद्धत था अतएव पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगता था। फिर भी तीन-चार वर्ष तक वे कालेज जाते रहे। यद्यपि पढ़ने में उनका जी बहुत न लगता था तो भी ऐसा कभी न हुआ कि वे परीक्षाओं में उत्तीर्ण न हुए हों। वे कुशाग्र बुद्धि और तीव्र स्मरणशक्ति वाले थे। उस जमाने के काशी के रईसों में केवल राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे। इसलिए भारतेन्दु हरश्चिन्द्र अंग्रेजी पढ़ने के लिए उनके यहाँ भी जाया करते थे और उन्हे गुरु-तुल्य मानते थे। कालेज छोड़ने के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त मराठी, बंगला, गुजराती, मारवाड़ी, पंजावी, उर्दू आदि भारतीय भाषाएँ भी उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिभा के बल पर सीख ली थीं। बाल्यावस्था से ही उनमें काव्य-रुचि थी। रसिक होने के कारण प्रारम्भ में उनका झुकाव श्रृंगार-रस की ओर अधिक था।

तेरह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह काशी के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री मन्नादेवी से सम्पन्न हुआ। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में घर की स्त्रियों के आग्रह के कारण उन्हें सकुटुम्ब जगन्नाथ-यात्रा करनी पड़ी। यह यात्रा जहाँ एक ओर उनकी शिक्षा में बाधक सिद्ध हुई, वहाँ दूसरी ओर उससे उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव और नवीन भावों एवं विचारों से परिचित होने के अवसर भी प्राप्त हुए। इसी समय से उनको ऋण लेने की आदत भी पड़ी। जगन्नाथजी की यात्रा से लौटकर वे बुलन्दशहर, कचेसर, कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, ब्रज, आगरा, पुष्कर, अजमेर, प्रयाग, पटना, डुमराँव, हरिहर क्षेत्र, कलकत्ता, वस्ती, गोरखपुर, बलिया, वैद्यनाथ, उदयपुर आदि अनेक स्थानों की यात्रा करने गये। यात्रा करने के साथ-साथ वे प्रत्येक स्थान के जीवनक्रम और वहाँ की साहित्यिक गतिविधियों का अध्ययन करते और अपने देश-प्रेमपूर्ण तथा मातृभाषोद्धार की भावना से पूर्ण भाषण देते थे। १८८० ई० में पण्डित रघुनाथ, पं० सुधाकर द्विवेदी पं० रामेश्वरदत्त व्यास आदि के प्रस्तावानुसार हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की पदवी से विभूषित किया गया।

१८८४ ई० की उनकी बलिया-यात्रा एक प्रकार से उनकी अन्तिम यात्रा थी। कुछ-कुछ तो वे पहले ही अस्वस्थ थे किन्तु बलिया से लौटने के अनन्तर कार्य-भार और कौटुम्बिक तथा अन्य सांसारिक चिन्ताओं के कारण उनका जर्जर शरीर और अधिक भार सहन न कर सका। ६ जनवरी, १८८५ ई० को चौंतीस वर्ष चार महीने की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। इस थोड़ी-सी आयु में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देश और हिन्दी भाषा तथा साहित्य की जो सेवा की, वह चिरस्मरणीय रहेगी। उनके दो पुत्र और एक पुत्री हुई थी किन्तु पुत्रों का बाल्यावस्था में ही देहान्त हो गया। उनकी पुत्री का नाम विद्यावती था। वे सुशिक्षिता थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी मन्नादेवी ने ब्यालीस वर्ष वैधव्य भोगकर १९२६ ई० में प्राण विसर्जन किये। उनमें अनेक गुण थे, जिनकी लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

भारतेन्दु की चौमुखी प्रतिभा और उनके हृदय के गुणों की सभी प्रशंसा करते थे, यद्यपि उनके विलासी, अपव्ययी और समाज की रूढ़िग्रस्त नैतिकता के विरोधी होने से लोग उन्हें भला-बुरा भी कहते थे। किन्तु सच बात तो यह है कि उनके जीवन के किसी भी पक्ष को हम लें, एक बात जो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है वह यह है कि वे प्रेमी जीव थे। वे संवेदनशील, परदुःखकातर और कोमल-हृदय, अपने इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने जीवन भर आर्थिक कष्ट सहन किया। लोग उन्हें 'अजातशत्रु' कहते थे। उनका साहित्यानुराग देश-विदेश सभी जगह प्रसिद्ध था। उन्होंने आजीवन समाज को कुछ-न-कुछ दिया ही, बदले की आकांक्षा कभी न की। वे हास्य और विनोदप्रिय थे। उनकी लेखनशक्ति और आशुकवित्व पर सभी गुणीजन मुग्ध रहा करते थे। एक शिक्षित धनिक वर्ग में जन्म लेने तथा वंशगत कुछ विशेषताएँ लिए होने के कारण पुरातन के प्रति कुछ मोह होने पर भी वे प्रगतिपूर्ण विचारों से सम्पन्न व्यक्ति थे। वे अपने देश-प्रेम, भाषा और साहित्य-प्रेम और ईश्वर-प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने जो कुछ किया कालगति पहिचान कर। वे काल-द्रष्टा थे। भारत के अतीत के प्रति तो उन्हें असीम श्रद्धा थी ही किन्तु साथ ही वे यह भी अच्छी तरह समझते थे कि यद्यपि अंग्रेजों ने भारत की स्वाधीनता का अपहरण और आर्थिक शोषण किया है तो भी भविष्य में उन्नति करने और जीवन में सुधार उपस्थित करने के लिए भारतवासियों को अंग्रेजों से बहुत-सी बातें सीखनी हैं—विशेषतः ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में। 'निज भाषा उन्नति' की दृष्टि से उन्होंने १८६८ ई०, १८७३ और १८७४ ई० में क्रमशः 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (जो आठ मास बाद 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और १८८४ ई० में 'नवोदिता' के नाम से प्रकाशित हुआ) और स्त्रियों के उपकारार्थ 'बाला-बोधिनी' नामक पत्र प्रकाशित किये और अनेक साहित्यिक संस्थाएँ स्थापित कीं। १८७३ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वैष्णव धर्म और ईश-भक्ति के प्रचारार्थ 'तदीय समाज' की स्थापना की, जिसमें गो-रक्षा प्रचार और मदिरा-मांस-सेवन रोकने का प्रयत्न भी किया जाता था। इस समाज से 'भगवद्‌भक्ति तोषिणी' नामक पत्रिका भी प्रकाशित होती थी, जो कुछ दिनों बाद बन्द हो गयी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने सार्वजनिक जीवन में स्पष्टवादी थे और देशहित उनका प्रधान उद्देश्य था। यही कारण है कि राजभक्ति प्रकट करते हुए भी उन्हें भारतीय सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दो ऐतिहासिक युगों के सन्धि-स्थल पर खड़े थे, इसलिए उनका ध्यान प्राचीन और नवीन दोनों की

ओर गया। उन्होंने न तो प्राचीन की उपेक्षा की और न उसके मोह में बँधे। साथ ही उन्हों[illegible] [illegible]ो नवीन का अन्धानुकरण किया और न उससे स[illegible] [illegible]। उन्होंने जो कुछ देखा आँखें खोलकर देखा और उनकी साहित्यिक प्रतिभा ने मणि-कांचन योग उपस्थित किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अल्पायु को देखते हुए उनका महान् साहित्यिक कार्य दैवी शक्ति से प्रेरित ही कहा जायेगा। स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास ने नाटक, आख्यायिका उपन्यास, काव्य, स्तोत्र, अनुवाद या टीका, परिहास, धर्मसम्बन्धी इतिहास तथा चिह्नादि वर्णन, माहात्म्य, ऐतिहासिक, राज-भक्ति सूचक, अस्फुट ग्रन्थ, लेख तथा व्याख्यान आदि, और सम्पादित, संगृहीत या उत्साह देकर बनवाये—इन बारह शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमशः बीस, आठ, अट्ठाईस, सात, आठ, अठारह, सात, नौ, सत्ताईस, तेरह, अठारह और पचहत्तर ग्रन्थों, लेखों आदि के हिसाब से हिन्दी गद्य और पद्य, साथ ही कुछ संस्कृत में उनकी दो सौ अड़तालीस रचनाओं का उल्लेख किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं के अनेक संग्रह भी प्रकाशित हो गये हैं जिनमें प्राचीनतम खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना द्वारा प्रकाशित है, जो 'भारतेन्दु कला' के नाम से ६ भागों में (१८८७-१९०१ ई०) उपलब्ध है। राधाकृष्णदास की सूची के अनुसार उनकी अनेक रचनाएँ या तो अपूर्ण और अप्रकाशित अथवा अप्राप्य हैं। शेष पूर्ण, प्रकाशित और प्राप्य रचनाओं में से बहुत-सी ऐसी हैं, जिनका विशेष महत्त्व नहीं। अस्तु, यहाँ उनकी केवल उन्हीं रचनाओं का उल्लेख किया जा सकेगा, जो साहित्यिक सौन्दर्य, भाषा-शैली और विचारों की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखती हैं।

गद्य-क्षेत्र में भारतेन्दु का ध्यान सर्वप्रथम नाटकों की ओर गया। उनकी नाटकीय रचनाएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं—अनूदित, मौलिक और अपूर्ण और जो विषय की दृष्टि से सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय एवं राजनीतिक हैं। उनके अनूदित नाटक शब्दशः अनुवाद न होकर रूपान्तर अधिक हैं। उनमें वे अपनी थोड़ी-बहुत मौलिकता लाये बिना न रह सके। यहाँ तक कि नान्दी, प्रस्तावना, काव्यांश, भरत वाक्य आदि अनेक बातें उन्होंने अपनी ओर से अपनी रुचि के अनुसार रखी हैं किन्तु इतने पर भी उनकी इन रचनाओं को 'मौलिक' नाम से अभिहित करना उचित न होगा। अनूदित (रूपान्तरित) नाट्य-रचनाएँ—'विद्यासुन्दर' (१८६८ ई० संस्कृत 'चौरपंचाशिका' का बंगला संस्करण), 'पाखण्ड विडम्बन' (१८७२ ई०, कृष्ण मिश्रकृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' का तृतीय अंक), 'धनंजय-विजय' (१८७३ ई०, मूल रचना कांचन कविकृत 'व्यायोग'), 'कर्पूर-मंजरी' (१८७५ ई०, ब्रजरत्नदास ने १८७६ ई० रचना-तिथि दी है, राजशेखर कविकृत शुद्ध प्राकृत में 'सट्टक'), 'भारत जननी' (१८७७ ई०, नाट्य-गीत) 'मुद्राराक्षस' (१८७८ ई०, विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस') और 'दुर्लभ बन्धु' (१८८० ई० में प्रथम दृश्य 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' में प्रकाशित हुआ। अपूर्ण रह जाने पर बाद को रामशंकर व्यास और राधाकृष्णदास ने उसे पूर्ण किया। शेक्सपियरकृत 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' के आधार पर)। मौलिक नाट्य-रचनाएँ—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' १८७३ ई०, प्रहसन), 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५ ई०), 'श्री चन्द्रावली' (१८७६ ई०, नाटिका), 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६ ई०, भाण), 'भारतदुर्दशा' (१८८० ई०, ब्रजरत्नदास के अनुसार १८७६ ई०, नाट्य-रासक), 'नीलदेवी' (१८८१ ई०, प्रहसन)। मौलिक अपूर्ण रचनाएँ—'प्रेमजोगिनी' (१८७५ ई०, प्रथम अंक के केवल चार दृश्य या गर्भांक, नाटिका) और 'सती प्रताप' (१८८३ ई०, केवल चार अंक, गीतिरूपक)।

उपन्यास—'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' (१८८९ ई० में प्रकाशित हो चुका था, मराठी उपन्यास के आधार पर सामाजिक उपन्यास)। भाषासम्बन्धी—'हिन्दी भाषा' (१८९० ई० में यह पुस्तक खड्ग-विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुई)। नाट्य-शास्त्र—'नाटक' (१८८३ ई०)। इतिहास और पुरातत्त्व—'कश्मीर कुसुम', 'महाराष्ट्र देश का इतिहास', 'रामायण का समय', 'अग्रवालों की उत्पत्ति' (१८७१ ई०), 'खत्रियों की उत्पत्ति' (१८७३ ई०), 'बादशाह दर्पण' (१८८४ ई०), 'बूँदी का राजवंश', 'उदय पुरोदय', 'पुरावृत्त संग्रह', 'चरितावली', 'पंच पवित्रात्मा', 'दिल्ली दरबारदर्पण' और 'कालचक्र'। पत्र-पत्रिकाएँ— 'कविवचन सुधा' (१८६८ ई०), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३ ई०, यही पत्र १८७४ ई० के जून मास से 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित हुआ), और 'बाला बोधिनी' (१८७४ ई०)।

इस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उनहत्तर छोटी-बड़ी रचनाएँ और अनेक स्फुट कविताएँ उपलब्ध हैं। उनमें मौलिक, सम्पादित और संगृहीत सभी प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं से ज्ञात होता है कि उन्होंने हिन्दी काव्य-साहित्य को विविधतापूर्ण और नवीन एवं व्यापक रूप प्रदान किया। काव्य-रचना की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक महान् साहित्यिक संगम की भाँति हैं, जहाँ लगभग सभी साहित्य-धाराएँ मिलकर एक नवीन धारा को जन्म देती हैं, जो फैलते-फैलते जीवन के प्रत्येक कोने को स्पर्श करने लगती हैं। उनकी रचनाएँ परम्परानुरूप और नवीन दोनों प्रकार की हैं। परम्परानुरूप काव्य-रचनाओं में श्रृंगार, भक्ति, दिव्य प्रेम आदि से सम्बन्धित रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मध्ययुगीन शैलियों का अनुसरण किया है। नवीन रचनाओं में राजभक्ति, देशभक्ति, भाषोन्नति तथा अन्य अनेक सुधारसम्बन्धी विचार प्रकट किये गये हैं। उनमें नवोत्थानयुगीन भावनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उनके मुख्य-मुख्य काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—परम्परानुरूप साम्प्रदायिक पुष्टिमार्गीय रचनाएँ : 'भक्ति सर्वस्व' (१८७० ई०), 'कार्तिक स्नान' (१८७२ ई०), 'वैशाख माहात्म्य' (१८७२ ई०), 'देवी छद्म लीला' (१८७३ ई०), 'प्रातः स्मरण मंगल पाठ' (१८७३ ई०), 'तन्मय लीला' (१८७४ ई०), 'दान लीला' (१८७४ ई०), 'रानीछद्मलीला' (१८७४ ई०), 'प्रबोधिनी' (१८७४ ई०), 'स्वरूप चिन्तन' (१८७४ ई०), 'श्रीपंचमी' (१८७५ ई०), 'श्रीनाथ स्तुति' (१८७७ ई०), 'अपवर्गदाष्टक' (१८७७ ई०), 'अपवर्ग पंचक) (१८७७ ई०), 'प्रातः स्मरण स्तोत्र' (१८७७ ई०), 'वैष्णव सर्वस्व', 'वल्लभीय सर्वस्व', 'तदीय सर्वस्व' ई०), 'भक्ति सूत्र वैजयन्ती' आदि। भक्ति तथा

दिव्य-प्रेमसम्बन्धी—'प्रेम मालिका' (१८७१ ई०), 'प्रेम सरोवर' (१८७३ ई०), 'प्रेमाश्रु-वर्षण' (१८७३ ई०), 'प्रेम माधुरी' (१८७५ ई०), 'प्रेम-तरंग' (१८७७ ई०), 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७ ई०), 'होली' (१८७९ ई०), 'मधुमुकुल', 'वर्षा विनोद' (१८८० ई०), 'विनय प्रेम-पचासा' (१८८० ई०), 'फूलों का गुच्छा' (१८८२ ई०), 'प्रेम फुलवारी (१८८३ ई०) और 'कृष्णचरित्र' (१८८३ ई०)। अन्य अनेक छोटी-छोटी रचनाओं में 'जैन कुतूहल' (१८७३ ई०) एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इन सभी रचनाओं में भारतेन्दु हश्चिन्द्र का व्यक्तित्व अंत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है। अपनी परम्परागत रचनाओं में 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७६-७७ ई०), 'गीत गोविन्दानन्द' (१८७७-७८ ई०) और 'सतसई-श्रृंगार' (१८७५-७८ ई०) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। नवीन रचनाएँ—'स्वर्गवासी श्रीअलवरत वर्णन अन्तर्लापिका' (१८६१ ई०), 'श्री राजकुमार-सुस्वागत पत्र' (१८६९ ई०), 'सुमनाञ्जलिः'' 'श्रीमान् प्रिंस आफ वेल्स के पीड़ित होने पर कविता' (१८७१ ई०), 'मुँह-दिखावनी' (१८७४ ई०), 'श्रीराजकुमार-शुभागमन-वर्णन' (१८७५ ई०), 'भारत भिक्षा' (१८७५ ई०), 'मानसोपायन' (१८७५ ई०, संग्रह), 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७ ई०), 'मनोमुकुलमाला' (१८७७ ई०), 'भारत वीरत्व' (१८७८ ई०), 'विजय वल्लरी' (१८८१ ई०), 'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयन्ती' (१८८२ ई०), 'नये जमाने की मुकरी' (१८८४ ई०), 'जातीय संगीत' (१८८४ ई०), रिपनाष्टक' (१८८४ ई०) आदि।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत भक्ति: प्रेम, श्रृंगार और नवीन विषयसम्बन्धी अनेक स्फुट दोहे कवित्त, सवैया, पद, गजल (उर्दू में वे 'रसा' नाम से कविता करते थे) आदि उपलब्ध हैं। व्यंग्य और हास्य की दृष्टि से उर्दू का 'स्यापा' (१८७४ ई०) और 'बन्दर सभा' (१८७९ ई०) उल्लेखनीय हैं। 'बकरी विलाप' (१८७४ ई०) धर्म और स्वर्ग के नाम पर हिंसात्मक बकराबलि पर बकरी का विलाप है। 'बसन्त होली' (१८७४ ई०) के १६ दोहों में मन पर पड़े ऋतुराज के प्रभाव और 'प्रातसमीरन' (१८७४ ई०) के २१ पयार छन्दों में प्रातःकालीन वायु के दिव्य प्रभाव का वर्णन है। 'श्री जीवन जी महाराज' (१८७२ ई०), 'चतुरंग' (१८७२ ई०) और 'मूक प्रश्न' (१८७७ ई०) जैसी रचनाएँ केवल मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गयी हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सुन्दरी तिलक' (१८६९ ई० में प्रकाशित) और 'पावस-कवित्त-संग्रह' नामक काव्य-संग्रह ग्रन्थ भी प्रकाशित किये. जिनमें परम्परानुसार श्रृंगारपर्ण कविताओं की प्रधानता है। दूसरे संग्रह के सम्बन्ध मे तो कोई मतभेद नहीं। 'सुन्दरी तिलक' का बाँकीपुर संस्करण भारतेन्दुकृत कहा गया है किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ का सम्पादन भारतेन्दु के कहने से 'द्विज' कवि मन्नालाल ने किया था। राधाकृष्णदास ने इसे "सम्पादित, संगृहीत और उत्साह देकर बनवाए" ग्रन्थों के अन्तर्गत रखा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं सम्पादन किया या किसी दूसरे से सम्पादित कराया, यह बात यहाँ स्पष्ट नहीं होती। अन्यत्र राधाकृष्णदास ने लिखा है—"उसी समय (१८७२ ई० से पहले) 'सुन्दरी तिलक' नामक सवैयों का एक छोटा-सा संग्रह छपा। तब तक ऐसे ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम था। इस ग्रन्थ का बड़ा प्रचार हुआ, इसके कितने ही संस्करण हुए, बिना इनकी आज्ञा के लोगों ने छापना और बेचना आरम्भ किया, यहाँ तक कि इनका नाम तक टाइटिल पर से छोड़ दिया। परन्तु इसका उन्हें कुछ ध्यान न था। अब एक संस्करण खड्ग विलास प्रेस में हुआ है, जिसमें चौदह सौ के लगभग सवैया हैं परन्तु इन सवैयों का चुनाव भारतेन्दु जी की रुचि के अनुसार हुआ या नहीं, यह उनकी आत्मा ही जानती होगी।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जिस समय आविर्भाव हुआ, उस समय भारतवर्ष मध्ययुगीन पौराणिक जीवन में लिप्त तथा पतित था। नवीन ऐतिहासिक कारणों से विशेषतः नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप हिन्दी-प्रदेश में नवयुग की अवतारणा हुई और लेखकों में विचारस्वातन्त्र्य का जन्म हुआ। भारतेन्दु हश्चिन्द्र नवयुग के अग्रदूत और हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के जन्मदाता थे। उनकी रचनाएँ देश-प्रेम से ओतप्रोत हैं। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज की सर्वतोमुखी अधोगति का हृदय-विदारक चित्र अंकित किया और उसके भावी उज्ज्वल भविष्य का स्वर्णिम स्वप्न देखा। भारतवासियों की परस्पर फूट, वैमनस्य और अभारतीयता उन्हें बहुत खटकती थी। अंग्रेजी राज्य में प्राप्त धार्मिक स्वतन्त्रता और विविध प्रकार के अत्याचारों और दिन-रात की अशान्ति से छुटकारा पाकर उन्होंने परमसुख और शान्ति का अनुभव किया और इसलिए अंग्रेजी राज्य का गुणगान भी किया। सुख-शान्ति के साथ-शाथ वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग, वैध शासन, सुन्दर न्याय-पद्धति आदि के फलस्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "बृटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जात" कहकर अपने भाव प्रकट किये। उन्होंने अंग्रेजों की प्रशंसा तो की किन्तु उन्होंने अपनी आत्मा और अपने व्यक्तित्व का हनन नहीं कर लिया था। देश का हित ही उनके लिए सर्वोपरि था। इसीलिए उन्होंने अंग्रेजी राज्य में बरती गयी अनीतियों का भली-भाँति विरोध भी किया और अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण, काले-गोरे के भेद-भाव अंग्रेज कर्मचारियों के दुर्व्यवहार आदि पर क्षोभ प्रकट किया। वे स्वतन्त्रता के जबरदस्त पक्षपाती थे किन्तु तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल औपनिवेशिक प्रतिनिधि शासन प्राप्त करना चाहते थे। उनका विरोध 'हिज मैजेस्टीज अपोजीशन' वाला विरोध था। भारतवासियों का पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण और निज भाषा के प्रति उदासीनता भी उन्हें बहुत अखरती थी। भारतीय जीवन की समस्त बुराइयों की उन्होंने निन्दाकर उसे स्वस्थ एवं प्रशस्त बनाने की चेष्टा की। धार्मिक दृष्टि से यद्यपि वे स्वयं वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव और पुष्टिमार्गीय थे, तो भी उनमें धार्मिक संकीर्णता बिल्कुल नहीं थी। हिन्दी नवोत्थान आन्दोलन के धर्म और साहित्य-सम्बन्धी दो प्रमुख पक्षों पर भारतेन्दु अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गये हैं। वास्तव में हिन्दी-प्रदेश या भारत वर्ष के ही नहीं, वरन् समस्त पूर्वी संसार के अलसाये जीवन में नवीन चेतना और स्फूर्ति उत्पन्न करने में उन्होंने अपना पूर्ण योग दिया।

[सहायक ग्रन्थ—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : ब्रजरत्नदास;

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : किशोरीलाल गुप्त।]

—ल० सा० वा०

भावविलास—यह रीतिकाल के प्रख्यात कवि देव की सर्वप्रथम रचना है। इसका रचनाकाल इसी की कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में प्राप्त निम्नलिखित दोहे के आधार पर सं० १७४६ ई० (सन् १६८९ ई०) निर्धारित किया जाता है, जब कवि की आयु १६ वर्ष की थी—"शुभ संवत से छयालिस, चड़त सोरहीं बर्ष। कढ़ी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष।।" इस ग्रन्थ का प्रकाशन तरुण भारत ग्रन्थावली, दारागंज, प्रयाग से हुआ है। 'अष्टयाम' युक्त इस ग्रन्थ की सराहना औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने की थी इसकी भी सूचना इसी स्थल पर कवि ने स्वयं एक अन्य दोहे में दी है तथा अपनी जाति एवं जन्मस्थान आदि का भी पृथक् दोहे में उल्लेख किया है (दे० 'देव')।

'भावविलास' कुल पाँच विलासों में पूर्ण हुआ है तथा इसमें दोहा, सवैया, कवित्त और छप्पय छन्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम और द्वितीय विलास में रसांगों का वर्णन है। तीसरे में रस तथा हावों का। चतुर्थ में नायिका भेद तथा पंचम में अलंकार वर्णित हैं। इस ग्रन्थ में देव ने केवल ३९ अलंकारों को समाविष्ट किया है, जिनमें रसवत्, ऊर्ज्जस्वित् और प्रेम भी है। इसकी रचना में कवि ने अपने पूर्ववर्ती केशवदास तथा भानुदत्त के ग्रन्थों के आधार को लिया है। उदाहरणों में यथेष्ट मौलिकता लक्षित होती है। इसकी विषय-वस्तु का कवि ने स्वयं निर्देश किया है—"कवि देवदत्त श्रृंगार रस सकल भाव संयुत संच्यो। सब नायिकादि नायक सहित अलंकार वर्णन रच्यो।।'

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; मि० वि०; हि० का० शा० इ०; री० भू० तथा दे० क०; देव के लक्षणग्रन्थों का पाठ और पाठ-समस्याएँ (अ०) लक्ष्मीधर मालवीय।]

—ज० गु०

भाषाभूषण—इसके लेखक महाराज जसवन्तसिंह जोधपुर वाले हैं और इसका रचनाकाल सन् १६४४ ई० है। इसके कई सम्पादित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसका सम्पादन ब्रजरत्नदास तथा गुलाबराय ने किया है। इसके मुख्य संस्करण मन्नालाल, बनारस (१८८६ ई०), वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई (१८९४ ई०) तथा रामचन्द्र पाठक, बनारस (१९२५ ई०) ने निकाले हैं। यह संस्कृत-ग्रन्थ 'चन्द्रालोक'- की शैली पर एक ही दोहे में लक्षणोदाहरण प्रस्तुत करते हुए अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' से प्रभावित होकर लिखा गया है। हिन्दी में अलंकार विषय को इतनी सरलता, सुगमता और संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करने वाला यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, जिसे सहज ही कण्ठस्थ किया जा सकता है। गोपाकृत 'अलंकार चन्द्रिका' इसकी पूर्ववर्त्ती रचना होकर भी इतनी प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं हुई। यह ग्रन्थ ऐसे व्यक्ति के लिए रचा गया है, जो 'भाषा' का पण्डित और काव्यरसिक हो। प्रौढ़ आचार्य तो संस्कृत ग्रन्थों से लाभ उठा ही लेते हैं, इसकी रचना तो शिक्षार्थियों के लाभार्थ हुई है। सम्भवत: इसी कारण लेखक ने इस रचना को 'नवीन' कहा है। "ताही नरके हेतु यह कीन्हों ग्रन्थ नवीन। जो पण्डित भाषा—निपुन, कविता—विषै प्रवीन" (२१०)। इससे पूर्व-प्रचलित ग्रन्थ परम्परा का संकेत भी ग्रहण किया जा सकता है।

ग्रन्थ की रचना ५ प्रकाशों मे हुई है। प्रथम प्रकाश में ५ दोहों में मंगलाचरण, द्वितीय में १७ दोहों में नायिकाभेद, तृतीय में १९ दोहों में हावभाव निरूपण, चतुर्थ में १५६ दोहों में अर्थालंकार तथा पाँचवें में १० दोहों में शब्दालंकारों का वर्णन है। अन्त में ५ दोहों में ग्रन्थ-प्रयोजन दिया गया है। लेखक की शब्दालंकारों के प्रति विशेष रुचि नहीं है, अनुप्रास का वर्णन भी यथेष्ट समझा गया है। केवल ३६ दोहों में अन्य काव्यांगों का संकेत कर दिया गया है। अलंकारप्राधान्य के कारण ही इसे 'भाषाभूषण' नाम दिया गया है। लेखक का विचार है कि विविध ग्रन्थों के अध्ययनोपरान्त लिखित इस ग्रन्थ के १०८ अलंकारों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति को साहित्य के विविधार्थ तथा रस सुगम हो जायेंगे।

अलंकारों के लक्षणों में स्वतन्त्रता से भी काम लिया गया है और कहीं-कहीं छायानुवाद भी रखा गया है। छायानुवाद अधिक सरस, मधुर और आकर्षक हैं। अलंकार भेदों के निरूपण के अवसर पर पहले एक साथ विशेष अलंकार के भेदों का लक्षण देकर तदुपरान्त एक साथ उदाहरण दिये गये हैं अन्यथा दोहे की एक पंक्ति में लक्षण तथा दूसरी में उदाहरण देने की शैली अपनायी गयी है। लक्षणों में कसावट और उदाहरणों की उपयुक्तता प्रशंसनीय है। "कुवलयानन्द' की आत्मा ही मानो भाषा में अवतरित हो गयी है।" अलंकार-भेद, उनके क्रम तथा उनकी संख्या 'कुवलयानन्द' के ही अनुकूल हैं तथा रसवत् अलंकार तथा भावोदयादि जैसे 'कुवलयानन्द' में परमत के रूप में उपस्थित हैं, वैसे ही 'भाषाभूषण' में भी उनकी उपेक्षा है। उपमा, रूपक, निदर्शनादि कुछ अलंकारों के लक्षणों के सम्बन्ध में लेखक मौन है। लक्षणों में संस्कृत-शब्दावली के कारण यत्र-तत्र कुछ क्लिष्टता आ गयी है। शब्दालंकारों के लिए लेखक मम्मट, विश्वनाथ तथा दण्डी का आभारी है।

इस ग्रन्थ की प्राचीन टीकाओं में वंशीधर, रणधीर सिंह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि तथा हरिचरणदास की टीका प्राप्य हैं तथा दलपतिराय वंशीधर का संनृ १७३६ ई० का 'अलंकार रत्नाकर' नामक तिलक महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक टीकाओं में गुलाब रायकृत (साहित्य रत्न भण्डार, आगरा द्वारा प्रकाशित) टीका प्रसिद्ध है तथा ब्रजरत्नदास, रामचन्द्र पाठक (बनारस), हिन्दी साहित्य कुटीर (बनारस), वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई), मन्नालाल (बनारस) की टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। प्राचीन लेखकों में रामसिंह के 'अलंकार दर्पण' के लक्षण इसी से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। सोमनाथकृत 'रसपीयूषनिधि' में इसके समान अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है तथा श्रीधर ओझा ने तो 'भाषाभूषण' नामक इसके समान एक ग्रन्थ की रचना ही कर डाली।

[सहायक ग्रन्थ—हि० अ० सा०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६)।]

—आ० प्र० दी०

भिखारीदास—दे० दास

भीखा साहब—भीखा साहब (भीखानन्द चौबे) बावरी पन्थ की भुरकुड़ा, गाजीपुर शाखा के प्रसिद्ध सन्त गुलाल साहब के शिष्य थे। आपका जन्म आजमगढ़ जिले के खानपुर बोहना गाँव में हुआ था। बचपन से ही साधु महात्माओं के प्रति आपकी विशेष रुचि थी। बारह वर्ष की अवस्था में विरक्त होकर आप

घर से निकल पड़े। गाजीपुर जिले के सैदपुर भीतरी परगना के अमुआरा गाँव में गुलाल साहब के एक पद का गान सुनकर इतने प्रभावित हुए कि सीधे भुरकुड़ा जाकर उनके शिष्य हो गये। भीखा साहब एक तेजस्वी महात्मा थे। सन् १७६० ई० में गुलाल साहब की मृत्यु के बाद आप भुरकुड़ा गद्दी के महन्त हुए। आपके दो प्रमुख शिष्य हुए—गोविन्द साहब और चतुर्भुजदास। गोविन्द साहब ने फैजाबाद में अपनी पृथक् गद्दी चलायी। चतुर्भुजदास भुरकुड़ा में ही रहे।

भीखा साहब की छः कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—'राम कुण्डलिया', 'राम सहस्रनाम', 'रामसबद', 'रामराग', 'राम कवित्त' और 'भगतवच्छावली'। इन रचनाओं का प्रमुख अंश बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित 'भीखा साहब की बानीं, और भुरकुड़ा गद्दी से प्रकाशित 'महात्माओं की बानी' में आ गया है। 'राम सबद' सबसे बड़ी रचना है, जिसमें भीखा साहब के अतिरिक्त अन्य सन्तों के समान भाव-धारा के छन्द भी संगृहीत हैं। आपकी कृतियों में संसार की असारता, चंचल मन का निग्रह, शब्द ब्रह्म की अद्वैतता और पूर्णता, शब्द-योग, नाम-स्मरण, दैन्य, प्रेम-निरूपण, गुरु की महत्ता, आत्मा की सर्वव्यापकता और संसारी जीवों का उद्बोधन वर्णित है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने आपकी विचारधारा को अद्वैत-वेदान्त-दर्शन के निकट स्वीकार किया है। आपने पद, कवित्त, रेखता, कुण्डलिया और दोहा (साखी) आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है। आपके गेय पदों की भाषा भोजपुरी के और रेखता की भाषा अरबी फारसी से युक्त खड़ी बोली के अधिक निकट है। सन् १७९१ ई० में आपने अपनी इहलीला समाप्त की। आप अपनी रचना-शैली की सुबोधता, पदों के लालित्य और विचारों की स्पष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; सन्तकाव्य : परशुराम चतुर्वेदी; सन्तबानी संग्रह, भाग पहिला, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।]

—रा० चं० ति०

भीम—महाभारत में भीम अपने ओजस्वी एवं विराट व्यक्तित्व के लिए सिद्ध हैं। ये कुन्ती एवं पवन के संसर्ग से उत्पन्न पाण्डु के पुत्र कहे जाते हैं। इनका सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत, तदनन्तर भारत से सम्बन्धित एवं उस पर आधारित अन्य कथाओं में प्रायः पाण्डु-पुत्रों के साथ मिलता है। इन्हें बज्रांग भी सम्भवतः इनके अमानुषिक पराक्रम के कारण कहा जाता है। भीम का व्यक्तित्व सर्वत्र उद्धत योद्धा, क्रोधी नायक के रूप में मिलता है। महाभारत में हिडिम्बा नामक एक राक्षसी से इनके व्याह का उल्लेख मिलता है। उससे उत्पन्न घटोत्कच नामक पुत्र भी कहा जाता है। दुर्योधन का वध इन्हीं की गदा के आघात से हुआ था। भीम का शरीर अत्यन्त विशाल और भारी था। इसी से 'भीमकाय' शब्द का प्रयोग चला है। उनका पेट भी बड़ा था तथा उनकी क्षुधा असाधारण थी। अतः उन्हें वृकोदर भी कहा जाता है। हिन्दी साहित्य में भीम का उल्लेख 'जयद्रथ-वध' (मैथिलीशरण गुप्त), 'रश्मिरथी' (रामधारी सिंह 'दिनकर'), 'कृष्णायन' (द्वारका प्रसाद मिश्र), 'हिडिम्बा' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि काव्यों में हुआ है।

—यो० प्र० सिं०

भीमसेन शर्मा—जन्म १८५४ ई० में हुआ। ये आरम्भ में आर्यसमाज के प्रचारक और स्वामी दयानन्द के सच्चे सहयोगी थे। हिन्दी-गद्य के विकास में आर्यसमाज के धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलन का बड़ा हाथ रहा है। आर्यसमाज के प्रचारकों ने अपने व्याख्यानों द्वारा हिन्दी-गद्य को प्रोत्साहित किया है और उसे विषय-संस्थापन तथा वाद-विवाद की एक निश्चित शैली दी है। पण्डित भीमसेन शर्मा मात्र प्रचारक अथवा व्याख्याता ही नहीं थे। इन्होंने १८८३-८५ ई० के आसपास हिन्दी में कई पुस्तकें लिखीं और संस्कृत ग्रन्थों के कई अनुवाद-भाष्य प्रस्तुत किये थे। आर्यसमाज की सेवा के लिए इन्होंने 'आर्य-सिद्धान्त' नामक एक मासिक पत्र निकाला था, जिससे हिन्दी की भी सेवा हुई थी। भीमसेन शर्मा हिन्दी के तत्सम रूप के प्रबल समर्थकों में थे। 'संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति' पर इन्हें बड़ा विश्वास था, इसी शीर्षक से इन्होंने एक लेख भी लिखा था और प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों को संस्कृतमय बना डालने की अपील की थी। 'शिकायत' को 'शिक्षायत्न', 'सिफारिश' को 'क्षिप्राशिष' और दुश्मन को 'दुःशमन' कर डालना इनकी नीति में जायज था।

बाद में आर्यसमाज से ये अलग हो गये। १९१२ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय में वेद के अध्यापक नियुक्त हुए।

—र० भ०

भीषनजी—सन्त कवि भीषनजी की जीवनी के सम्बन्ध में बहुत कम प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त है। भारतीय धर्म साधना के इतिहास में दो भीषन का उल्लेख मिलता है, इनमें से प्रथम वे हैं, जिनकी रचनाएँ ग्रन्थ साहिब में संकलित हैं और द्वितीय सूफी सन्त और विचारक हैं। लोगों ने इन दोनों के चरित्र, चरित और व्यक्तित्व को एक दूसरे से ऐसा मिला दिया है कि उन्हें पृथक् करना असम्भव हो गया है।

सन्त भीषनजी का जन्म एवं निवास स्थान लखनऊ के निकटस्थ काकोरी ग्राम था। इतिहासकार बदायूनी ने भी उन्हें लखनऊ सरकार के काकोरी नगर का निवासी माना है (दे० 'दि सिक्ख रिलीजन', भाग ६ : मेकालिफ)। पं० परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि इन्हें वर्तमान उत्तर प्रदेश के ही किसी भाग का निवासी मानना उचित जान पड़ता है (दे० 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा')। भीषनजी के काव्य के विषय और भाव-भूमि का रैदास, कमाल और धन्ना के काव्य-विषय से साम्य देखकर चतुर्वेदीजी उक्त निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। परीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भीषन उत्तर प्रदेश के ही निवासी थे और इसीलिए इतिहासकार मेकालिफ एवं बदायूनी के कथन सत्य प्रतीत होते हैं कि ये काकोरी के निवासी थे। सन्त भीषन का समय निश्चित रूप में ज्ञात नहीं है। बदायूनी का मत है कि उनका स्वर्गवास हि० सन् ९२१ (सन् १५७३ ई०) में हुआ। भीषनजी की रचनाएँ सिखों के आदि ग्रन्थ में संगृहीत हैं, अतः यह निश्चय है कि उनका समय अथवा उत्कर्षकाल सोलहवीं शताब्दी ईस्वी मानना चाहिए।

भीषन साहब की न तो बाल्यावस्था का कोई विवरण मिलता है, न उनकी शिक्षा-दीक्षा का। बदायूनी के मतानुसार वे गृहस्थाश्रम में रहकर साधना में तत्पर रहते थे और उनकी कई सन्तानें थीं, जो ज्ञान, विद्या और विवेक से सम्पन्न थीं। भीषनजी स्वतः बड़े विद्वान् तथा धर्म-शास्त्र के महान् पण्डित थे। वे बड़े दयालु और लोकसेवक थे।

भीषन साहब के दो पद गुरु अर्जुन सिंह द्वारा सम्पादित 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं (दे० श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ६५८)। इन पदों में राम और रामनाम की महिमा का गान किया गया है। प्रथम पद में कवि ने कहा है, वृद्धावस्था में जब शरीर शिथिल हो जाता है, नेत्रों से जल बहने लगता है और बाल दुग्धवत् श्वेत हो जाते हैं, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और शब्दों का उच्चारण करना भी कठिन हो जाता है, उस समय हे राम यदि तुम्हीं वैद्य बन कर पहुँचो तो भक्तों के कष्ट दूर हो सकते हैं। जब मस्तक में पीड़ा उत्पन्न हो जाती है और शरीर दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से दग्ध एवं संतप्त हो उठता है और जब कलेजे में व्यथा उत्पन्न हो जाती हैं तो हरिनाम के अतिरिक्त इन कष्टों से मुक्ति पाने के लिए कोई औषधि नहीं है। यह हरिनामरूपी अमृत जल सतगुरु के प्रसाद से ही प्राप्त होता है। द्वितीय पद में कवि ने राम-नाम की महत्ता और शक्तिमत्ता का वर्णन किया है।

इन दोनों पदों के वर्ण्य-विषय से स्पष्ट है कि कबीर, दादू, नानक, मलूकदास आदि की भाँति उनके हृदय में भी राम और नाम के प्रति अगाध प्रेम था। इन पदों के रचयिता भीषनजी सूफी नहीं थे, यह वर्ण्य-विषय से स्वयं प्रकट है। मैकालिफ के मत से साम्य रखते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि मेकालिफ का कहना है कि जिस किसी ने भी आदि ग्रन्थ में संगृहीत पदों को लिखा होगा, वह एक धार्मिक पुरुष अवश्य रहा होगा और शेख फरीद सानी की ही भाँति उस समय की सुधारसम्बन्धी बातों से प्रभावित भी रहा होगा। ऐसा अनुमान कर लेना सम्भव है कि वह भीषन कबीर का ही अनुयायी रहा होगा।

भीषनजी के दोनों पदों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य-प्रतिभासम्पन्न समर्थ कवि थे। उनके वर्णन भावपूर्ण और अभिव्यंजनाशैली प्रभावशाली है। इनकी काव्य-भाषा हिन्दी थी। मुहावरेदार भाषा लिखने में ये कुशल थे।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी।]

—त्रि० ना० दी०

भीष्म, भीष्मक—१. महाभारत के प्रसिद्ध पात्र के रूप में विख्यात भीष्म शान्तनु के ज्येष्ठ पुत्र थे, जो गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। अष्टवसुओं में आठवें वसु के ये अवतार थे। शान्तनु की प्रार्थना से गंगा ने इन्हें पृथ्वी पर छोड़ दिया। इनका नाम पहले गांगेय या देवव्रत था। भीष्म नाम पड़ने का कारण यह बताया जाता है कि इन्होंने भीष्म प्रतिज्ञा की थी। इनके पिता ने सत्यवती नामक स्त्री से विवाह करने की इच्छा प्रकट की परन्तु उस स्त्री ने शर्त रखी कि उसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र राज्याधिकारी हो। पिता को प्रसन्न रखने के लिए भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचर्य पालन किया। कालान्तर में सत्यवती के दो पुत्रों—विचित्रवीर्य और चित्रांगद के विवाह के लिए काशिराज की दो कन्याओं का इन्होंने अपहरण किया। सबसे ज्येष्ठ अम्बा ने इन्हीं के साथ विवाह करने का आग्रह किया। लेकिन अपनी प्रतिज्ञा के कारण इन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। अम्बा ने इसका बदला लेने के लिए घोर तपस्या की और महाभारतकाल में 'शिखण्डी' होकर जन्म लिया। शिखण्डी को भीष्म जानते थे, इसीलिए उन्होंने उस पर प्रहार नहीं किया तथा शिखण्डी के पीछे से वाणों की वर्षा करके अर्जुन ने इन्हें धराशायी किया। महाभारत के युद्ध में प्रारम्भिक दस दिनों तक भीष्म ने कौरव सेना को सेनापतित्व किया। ब्रह्मचारी होने के कारण मृत्यु इन्हें बिना इच्छा के नहीं ले जा सकती थी। धराशायी होते समय शुभ घड़ी नहीं थी, इसलिए बहुत दिनों तक बाणों की शैया में सोते रहे। उस समय पाण्डवों को इन्होंने उपदेश दिया, जो महाभारत के 'शान्तिपर्व' में उल्लिखित है। भीष्म हिन्दू जातिमात्र के पितामह कहे जाते हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म का चरित्र आदर्श पुरुष के रूप में वर्णित हुआ है।

२. कुण्डनपुर के भीष्मक नामक राजा को भी भीष्म कहा जाता है, जो रुक्मिणी के पिता थे।

—रा० कु०

भीष्म साहनी—जन्म ८ अगस्त सन् १९८५ में रावल पिण्डी में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हिन्दी व संस्कृत में हुई। स्कूल में उर्दू व अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के बाद गवर्नमेंट कालेज लाहौर से अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० और पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। वर्तमान समय में प्रगतिशील कथाकारों में साहनी जी का प्रमुख स्थान है।

बँटवारे से पूर्व साहनी जी ने व्यापार किया और इसके साथ वे अध्यापन का भी काम करते रहे। तदनन्तर पत्रकारिता एवं इप्टा नामक नाटक मण्डली में अभिनय का कार्य किया। फिल्म जगत में भाग्य अजमाने के लिए आप बम्बई गये, जहाँ काम न मिलने के कारण बेकारी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। वापस आकर पुनः अम्बाला के एक कालेज में अध्यापन खालसा कालेज अमृतसर में अध्यापन के बाद दिल्ली विश्वविद्यालय में स्थायी रूप से। इस बीच आपने लगभग सात वर्ष विदेशी भाषा प्रकाशन गृह मास्को में आनुवादक के रूप में बिताये। करीब ढाई वर्ष 'नई कहानियाँ' का सम्पादन किया। साथ ही प्रगतिशील लेखक संघ तथा अफ्रो एशियायी लेखक संघ से सम्बद्ध रहे। 'तमस' नामक कृति पर साहित्य अकादमी ने आपको सम्मानित किया है।

कृतियाँ—भाग्य रेखा, पहला पाठ, भटकती राख, पटरियाँ, 'वाङ यू' शोभायात्रा, निशाचर (कहानी संग्रह) झरोखे, कड़ियाँ तमस, वसन्ती (उपन्यास), हानुस, कबिरा खड़ा बाजार में, माधवी (नाटक), गुलेल का खेल (बालोपयोगी कहानियाँ)

कृ० शं० पा०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'—जन्म १२ फरवरी, सन् १९११ ई० को शाहाबाद जिलान्तर्गत बिहिया थाना के मिसरौली गाँव में। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी एवं अंग्रेजी में एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं तथा सन् १९५९ ई० में बिहार विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपके अनुसन्धान का विषय था 'रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना'। इसका प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से हुआ है।

आपने सन् १९३१ ई० से लेकर १९४२ ई० तक पत्रकार के रूप में हिन्दी की सेवा की और १९३१ ई० में ही क्रमशः प्रयाग से प्रकाशित 'भविष्य' और 'चाँद' तथा काशी से

प्रकाशित 'सनातन धर्म' का सम्पादन किया। सन् १९३२ से १९४२ ई० तक गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरू' का सम्पादन किया।

आपकी रचनाएँ हैं—'महाप्रबन्ध', 'धूप-दीप', 'जीवन', 'पूजा के फूल', 'सन्त-साहित्य', 'मीरा की प्रेम-साधना', 'श्री अरविन्द चरितामृत' तथा 'दि फिलासफी ऑव वल्लभाचार्य।'

—ह० दे० बा०

भुवनेश्वर—जन्म १९१० ई० में शाहजहाँपुर में। शिक्षा भी वहीं हुई। लेखक की रचनाओं के अनुशीलन से यही धारणा बनती है कि पश्चिम के आधुनिक साहित्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। इब्सन, शा, डी० एच० लारेन्स तथा फ्रायड के प्रति वे विशेष अनुरक्त प्रतीत होते हैं। जिन्दगी को उन्होंने कड़वाहट, तीखेपन, विकृति और विद्रूपता में ही देखा था। सम्भवतः इसी कारण उनमें समाज के प्रति तीव्र वितृष्णा, प्रबल आक्रोश और उग्र विद्रोह का भाव प्रकट हुआ है। जीवन की इस कटु अनुभूति ने ही उन्हें फक्कड़, निर्द्वन्द्व और संयमहीन बना दिया था।

भुवनेश्वर ने हिन्दी पाश्चात्त्य शैली के एकांकी की परम्परा चलायी। उनकी प्रथम रचना 'श्यामा—एक वैवाहिक विडम्बना' 'हंस' के दिसम्बर, १९३३ ई० के अंक में प्रकाशित हुई। इसके बाद अन्य एकांकी रचनाएँ 'शैतान' (१९३४ ई०), 'एक साम्यहीन साम्यवादी' ('हंस' मार्च, १९३४ ई०) 'प्रतिभा का विवाह' (१९३३ ई०), 'रहस्य रोमांच' (१९३५ ई०), 'लाटरी' (१९३५ ई०) प्रकाशित हुईं। इन्हें संगृहीत करके उन्होंने सन् १९३६ ई० में 'कारवाँ' संज्ञा देकर प्रकाशित किया। इन सभी एकांकियों पर पश्चिम की एकांकी-शैली की छाप है। विषय-वस्तु और समस्या के विश्लेषण में पश्चिम के बुद्धिवादी नाटककारों इब्सन और शा का प्रभाव है। परिशिष्ट करने वाले जो सूत्र-वाक्य दिये हैं, वे शा के व्यंग्य और फ्रायड की यौन-प्रधान विचारधारा का स्मरण दिलाते हैं।

भुवनेश्वर के और भी एकांकी प्रकाशित होते रहे—'मृत्यु' ('हंस' १९३६ ई०), 'हम अकेले नहीं हैं' तथा 'सवा आठ बजे' ('भारत'), 'स्ट्राइक' और 'ऊसर' ('हंस' १९३८ ई०)। इन रचनाओं में उनकी दृष्टि का विस्तार देखने को मिलता है। यौन-समस्या तथा प्रेम के त्रिकोण से ऊपर उठकर वे समाज के दुख-दर्द को भी देखने लगे। सन् १९३८ ई० में सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' पत्रिका में उन्होंने एक बड़े नाटक 'आदमखोर' का पहला अंक प्रकाशित कराया। इसमें उन्होंने जीवन की कटु वास्तविकताओं के उद्घाटन का घोर यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है। सन् १९४० ई० में उन्होंने गोगोल के प्रसिद्ध नाटक 'इन्सपेक्टर जनरल' को लगभग पौन घण्टे के एकांकी का रूप दिया। सन् १९४१ ई० में 'विश्ववाणी' में 'रोशनी और आग' शीर्षक एक प्रयोग उपस्थित किया, जिसमें ग्रीक नाटकों जैसा पूर्वालाप (कोरस) था। 'कठपुतलियाँ' (१९४२ ई०) में उन्होंने प्रतीकवादी शैली अपनायी।

इन प्रयोगात्मक रचनाओं के अनन्तर भुवनेश्वर की नाट्यकला परिपक्व रूप में देखने को मिली। 'फोटोग्राफर के सामने' (१९४५ ई०), 'ताँबे के कीड़े' (१९४६ ई०) में मनुष्य की बढ़ती हुई अर्थलोलुपता का उद्घाटन है। सन् १९४८ ई० में उन्होंने 'इतिहास की केंचुल' एकांकी लिखा और इसके अनन्तर उनके कई ऐतिहासिक एकांकी प्रकाशित हुए—'आजादी की नींव' (१९४९ ई०) 'जेरूसलम' (१९४९ ई०) 'सिकन्दर' (१९४९ ई०), 'अकबर' (१९५० ई०) तथा 'चंगेज खाँ' (१९५० ई०)। इन रचनाओं में राष्ट्रीयता का स्वर भी उभरा है। अन्तिम कृति 'सींको की गाड़ी' (१९५० ई०) है।

भुवनेश्वर की एकांकी रचनाएँ बड़ी सशक्त हैं। उनका सबसे पहला आकर्षण उनके काव्यात्मक, व्यंजनापूर्ण, मर्मस्पर्शी और कभी-कभी चुभती शैली में लिखित रंग निर्देश हैं। इन रंगसंकेतों द्वारा उन्होंने रंगमंच की व्यवस्था, वातावरण के निर्माण, पात्रों की रूप-योजना, उनकी चरित्रगत विशेषताओं के उद्घाटन के साथ ही, अपने मूल मन्तव्य नाटकीय प्रभाव को भी स्पष्ट कर दिया है। संवाद प्रारम्भ होते ही संघर्ष का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है, घटना क्रम के घात प्रतिघातों के साथ वह तीव्र होता जाता है और चरम सीमा पर पहुँचते ही यवनिका पतन होता है। चरित्र चित्रण में उन्होंने एक दो बातों से ही अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। आज के अभिजात वर्ग की दुर्बलताओं, विकृतियों और कुरूपताओं को उन्होंने कुरेद-कुरेद कर नग्न कर दिया है। आदर्श के घटाटोप के नीचे कितना कलुष है, कितनी गन्दगी है, उनकी रचनाएँ इसे प्रकट कर देती हैं। उन्होंने समस्याओं को उभार भर दिया है, उत्तर उन्हें सोचना है, जो स्वयं रोग-ग्रस्त हैं। भुवनेश्वर अगर अपनी निरंकुशता, कुण्ठाओं और सन्देहशील वृत्ति से अपने को किसी प्रकार मुक्त कर पाते तो उनकी रचनाओं में केवल किसी अस्पताल जैसी चीख-पुकार रोदन-कराह ही नहीं, वरन् किसी भव्य उपवन का मोहक वातावरण भी होता। उन्होंने कभी-कभी अंग्रेजी में कविताएँ भी लिखी थीं, जिनमें से कुछ उनके मित्र शमशेर बहादुर सिंह के पास संगृहीत हैं। 'कारवाँ' का एक नया संस्करण विपिन कुमार अग्रवाल की भूमिका के साथ १९७१ में प्रकाशित हुआ है।

—वि० मि०

भूतनाथ—देवकीनन्दन खत्री और उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री की सम्मिलित रचना है। देवकीनन्दन खत्री केवल दो खण्ड लिख पाये थे। शेष पाँच खण्डों को दुर्गाप्रसाद खत्री ने १९१६ ई० से लेकर १९३४ ई० तक १८ वर्षों में पूरा किया। इसका कथानायक भूतनाथ 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का ही एक पात्र है। इसमें आनेवाले अन्य पात्रों का उल्लेख भी 'सन्तति' में हो चुका है। गिरधर सिंह जमानियाँ के राजा हैं। शंकर सिंह (भैया राजा) उनके छोटे भाई और गोपालसिंह उनके पुत्र हैं। उनका दरोगा यदुनाथ शर्मा दुष्ट, धूर्त और क्रूर बुद्धिवाला व्यक्ति है। वह किसी प्रकार जमानियाँ की राजसत्ता हड़पना चाहता है। शंकर सिंह उसका विरोध करते हैं। लोभवश भूतनाथ उसका साथ देता है। भूतनाथ असाधारण बुद्धि, किन्तु अस्थिर चित्त का व्यक्ति है। उसकी जिन्दगी में एक भेद है। वस्तुतः वह अपने शत्रु राजसिंह के भतीजे को मार डालता है, किन्तु समझता यह है कि उसने अपने मित्र दयाराम की हत्या कर दी है। इस कलंक को छिपाने के लिए अन्य कुकर्म करता है। दरोगा के गुरुभाई इन्द्रदेव बड़े ही वीर, सज्जन और न्यायनिष्ठ व्यक्ति हैं। वे भूतनाथ का भला चाहते हैं। उनका विश्वास है

कि भूतनाथ की सद्वृत्तियाँ जगायी जा सकती हैं। अन्ततः यही होता है। भूतनाथ सुधर जाता है। गोपालसिंह और वीरेन्द्रसिंह का साथ देता है। उसके पापों का परिमार्जन हो जाता है। यह 'सन्तति' की ही शैली पर लिखा गया है। इसका प्रेरक भाव एक यथार्थजीवी व्यक्ति का जीवनवृत्त है। इसके अब तक तेरह संस्करण निकल चुके हैं, जो इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

—रा० चं० ति०

भूदेव मुखर्जी—स्वतन्त्रताप्राप्ति के पूर्व जिन अहिन्दी भाषा-भाषियों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रस्तावित और समर्थित किया था, उनमें से भूदेव मुखर्जी का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भूदेव मुखर्जी १८७६-७७ ई० में बिहार के शिक्षा विभाग के प्रधान अधिकारी थे। हिन्दी के राष्ट्रीय रूप में उनकी दृढ़ आस्था थी। इस प्रसंग में कई बार उन्होंने अपना मत अत्यन्त स्पष्टरूप से व्यक्त किया था और हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए कई प्रकार से यत्न किये थे।

—सं०

भूपति—अमेठी के राजा, इनका पूरा नाम गुरुदत्त सिंह है। इन पर सरस्वती और लक्ष्मी की कृपा तो थी ही, साथ ही साथ तलवार के भी धनी थे। स्वंय कवि, कवियों के आश्रयदाता और काव्यमर्मज्ञ थे। उदयनाथ कवीन्द्र इनके आश्रित कवि थे। इनकी एक कविता से भूपति की उस वीरता का पता चलता है, जब अवध के नवाब सआदत खाँ ने इनसे रुष्ट होकर इनके किले को घेर लिया था। ये नवाब के सामने ही उसके सैनिकों को मारते-काटते जंगल की ओर निकल गये थे। इनका रचना-काल सन् १७३५ ई० का माना जाता है क्योंकि श्रृंगारपरक दोहों की 'सतसई' (१७३४ ई० के लगभग) की रचना उसी समय की थी। कहा जाता है कि 'सतसई' के अतिरिक्त 'कण्ठाभूषण' और 'रसरत्नाकर' नाम के दो रीति-ग्रन्थों की भी रचना इन्होंने की थी, पर उनका पता नहीं चलता।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०।]

—ह० मो० श्री०

भूरिश्रवा—महाभारत में भूरिश्रवा के पराक्रम का उल्लेख मिलता है। यह अतिशय यशस्वी, कीर्तिमान, चन्द्रवंशीय राजा सोमदत्त का पुत्र था। यह महाभारत में कौरवों की ओर से युद्ध किया करता था। महाभारत युद्ध में सर्वप्रथम अर्जुन ने अपने प्रखर वाणों से इसकी भुजाओं को काट डाले थे। तदनन्तर सात्यकि ने तलवार से इसका मस्तक भी काट डाला। इसका उल्लेख 'जयद्रथ-वध' में मिलता है।

—यो० प्र० सि०

भूषण—भूषण हिन्दी रीति-काल के अन्तर्गत, उसकी परम्परा का अनुसरण करते हुए वीर-काव्य तथा वीर-रस की रचना करने वाले प्रसिद्ध कवि हैं। इन्होंने 'शिवराज-भूषण' में अपना परिचय देते हुए लिखा है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका गोत्र कश्यप था। ये रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे तथा यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर (तिकवाँपुर) में रहते थे, जहाँ बीरबल का जन्म हुआ था और जहाँ विश्वेश्वर के तुल्य देव-बिहारीश्वर महादेव हैं। चित्रकूटपति हृदयराम के पुत्र रुद्र सुलंकी ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि से विभूषित किया था (छन्द २५-२८)। तिकवाँपुर कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील में यमुना के बाएँ किनारे पर अवस्थित है।

कहा जाता है कि वे चार भाई थे—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ (उपनाम जटाशंकर)। भूषण के भ्रातृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इनके वास्तविक नाम पतिराम अथवा मनिराम होने की कल्पना की है पर यह कोरा अनुमान ही प्रतीत होता है।

भूषण के प्रमुख आश्रयदाता महाराजा शिवाजी (६ अप्रैल, १६२७—३ अप्रैल, १६८० ई०) तथा छत्रसाल बुन्देला (१६४९-१७३१ ई०) थे। इनके नाम से कुछ ऐसे फुटकर छन्द मिलते हैं, जिनमे साहूजी, बाजीराव, सुलंकी, महाराज जयसिंह, महाराज रानसिंह, अनिरुद्ध, राव बुद्ध, कुमाऊँ नरेश, गढ़वार-नरेश, औरंगजेब, दाराशाह (दाराशुकोह) आदि की प्रशंसा की गयी है। ये सभी छन्द भूषण-रचित हैं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उक्त-सभी राजाओं को भूषण का आश्रयदाता नहीं माना जा सकता। मिश्रबन्धुओं तथा रामचन्द्र शुक्ल ने भूषण का समय १६१३-१७१५ ई० माना है। शिवसिंह सेंगर ने भूषण का जन्म १६८१ ई० और ग्रियर्सन ने १६०३ ई० लिखा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार भूषण शिवाजी के पौत्र साहू के दरबारी कवि थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन विद्वानों का यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः भूषण शिवाजी के ही समकालीन एवं आश्रित थे।

भूषणरचित छः ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। इनमें से ये तीन ग्रन्थ—१. 'भूषणहजारा', २. 'भूषणउल्लास' और ३. 'दूषणउल्लास' अभी तक देखने में नहीं आये हैं। इनके शेष ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है: १. 'शिवराजभूषण'—भूषण ने अपनी इस कृति की रचना-तिथि ज्येष्ठ बदी १३, रविवार, सं० १७३० (२९ अप्रैल, १६७३ ई० रविवार) दी है (छन्द ३८२)। 'शिवराज-भूषण' में उल्लिखित शिवाजी विषयक ऐतिहासिक घटनाएँ १६७३ ई० तक घटित हो चुकी थीं। इससे भी इस ग्रन्थ का उक्त रचनाकाल ठीक ठहरता है। साथ ही शिवाजी और भूषण की समसामयिकता भी सिद्ध हो जाती है। 'शिवराज-भूषण' में ३८४ छन्द हैं। दोहों में अलंकारों की परिभाषा दी गयी है तथा कवित्त एवं सवैया छन्दों में उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें शिवाजी के कार्य-कलापों का वर्णन किया गया है। २. 'शिवाबावनी' में ५२ छन्दों में शिवाजी की कीर्ति और ३. 'छत्रसालदशक' में दस छन्दों में छत्रसाल बुन्देला का यशोगान किया गया है। भूषण के नाम से प्राप्त फुटकर पद्यों में विविध व्यक्तियों के सम्बन्ध में कहे गये तथा कुछ श्रृंगारपरक पद्य संगृहीत हैं।

भूषण की सारी रचनाएँ मुक्तक-पद्धति में लिखी गयी हैं। इन्होंने अपने चरित्र-नायकों के विशिष्ट चारित्र्य-गुणों और कार्य-कलापों को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। इनकी कविता वीररस-प्रधान है। इसमें चारों प्रकार के वीर, युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर—के वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, पर प्रधानता युद्धवीर की ही है। इन्होंने युद्धवीर के प्रसंग में चतुरंग चमू, वीरों की गर्वोक्तियाँ, योद्धाओं के पौरुष-पूर्ण कार्य तथा शस्त्रास्त्र आदि का सजीव चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि प्रायः समस्त रसों के वर्णन इनकी रचना में मिलते हैं पर उसमें रसराजकता वीररस

की ही है। वीर-रस के साथ रौद्र तथा भयानक रस का संयोग इनके काव्य में बहुत अच्छा बन पड़ा है।

रीतिकार के रूप में भूषण को अधिक सफलता नहीं मिली है पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से इनका प्रमुख स्थान है। इन्होंने प्रकृति-वर्णन उद्दीपन एवं अलंकार-पद्धति पर किया है। 'शिवराजभूषण' में रायगढ़ के प्रसंग में राजसी ठाट-बाट, वृक्षों, लताओं तथा पक्षियों के नाम गिनानेवाली परिपाटी का अनुकरण किया गया है।

सामान्यतः भूषण की शैली विवेचनात्मक एवं संश्लिष्ट है। इन्होंने विवरणात्मक-प्रणाली का बहुत कम प्रयोग किया है। इन्होंने युद्ध के बाहरी साधनों का ही वर्णन करके सन्तोष नहीं कर लिया है, वरन् मानव-हृदय में उमंग भरने वाली भावनाओं की ओर उनका सदैव लक्ष्य रहा है। शब्दों और भावों का सामंजस्य भूषण की रचना का विशेष गुण है।

भूषण ने अपने समय में प्रचलित साहित्य की सामान्य काव्य-भाषा ब्रज का प्रयोग किया है। इन्होंने विदेशी शब्दों का अधिक उपयोग मुसलमानों के ही प्रसंग में किया है। दरबार के प्रसंग में भाषा का खडा रूप भी दिखाई पड़ता है। इन्होंने अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द अधिक प्रयुक्त किये हैं, बुन्देलखण्डी, बैसवाड़ी एवं अन्तर्वेदी शब्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भूषण की भाषा का रूप साहित्यिक दृष्टि से बहुत परिष्कृत और ग्राह्य तो नहीं है पर व्यावहारिक दृष्टि से बुरा भी नहीं कहा जा सकता। इनकी कविता में ओज पर्याप्त मात्रा में है। प्रसाद का भी अभाव नहीं है। 'शिवराजभूषण' के आरम्भ के वर्णन और श्रृंगार के छन्दों में माधुर्य की प्रधानता है।

आचार्यत्व की दृष्टि से भूषण को विशिष्ट स्थान नहीं प्रदान किया जा सकता पर कवित्व के विचार से उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी कविता कवि-कीर्तिसम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। वे तत्कालीन स्वातन्त्र्यसंग्राम के प्रतिनिधि कवि हैं। भूषण वीरकाव्य-धारा के जगमगाते रत्न हैं। भूषण की रचनाओं के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं (दे० 'शिवराज-भूषण)'।

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा० इ०; हि० वी०; हि० सा०; भूषण ग्रन्थावलियों की भूमिकाएँ।]

–टी० तो०

भृगु–एक ऋषि थे, जो शिव के पुत्र माने गये हैं। इनके साथ ही ब्रह्मा के कवि और अग्नि के अंगिरा माने गये हैं। एक बार यह निर्णय करने के लिए कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों में कौन बड़ा है, इन्होंने तीनों का अपमान किया। ब्रह्मा और महेश क्रुद्ध हो गये। फिर क्षीरशायी विष्णु के सोते समय जाकर उनकी छाती पर इन्होंने एक लात मारी किन्तु जागने पर क्रोध करने के बजाय विष्णु ने पूछा कि आपके पैर में चोट तो नहीं लगी। इस पर भृगु विष्णु की महानता मान गये। भृगु के ही कुल में ऋचीक, जमदग्नि और राम हुए। अन्य पुराणों के अनुसार भृगु ब्रह्मा के मानस पुत्र तथा दक्ष प्रजापतियों में से एक थे। दक्ष कन्या ख्याति इनकी स्त्री थी। भृगु धनुर्वेद विद्या के प्रवर्तक थे। भृगुने एक बार शिव को भी शाप दिया था। नन्दी ने इन्हें भीतर जाने से मना कर दिया था क्योंकि शिव पार्वती के साथ सम्भोग में रत थे। इनके ही शाप से कलियुग में लिंग और योनि की पूजा होती है और इनका प्रसाद द्विजातियों को ग्राह्य नहीं है। वस्तुतः भृगुवंश के गौरव तथा भृगु के पदचिन्ह के विष्णु के वक्ष पर चिन्हित होने के कारण इनका काव्य में अनेक रूपों में वर्णन मिलता है–"कहा रहीम हरि को घटचो जो भृगु मारी लात।"

–रा० कु०

भैरवप्रसाद गुप्त–जन्म ७ जुलाई १९१८ ई० को ग्राम सीवान कला जिला बलिया (उ० प्र०) में हुआ। उपन्यास, कहानी और लेख–गद्य की प्रायः प्रत्येक विधा पर लिखा है। तेईस वर्षों की अवधि में तेरह नौकरियाँ छोड़ीं और १९६३ ई० से इलाहाबाद में रहकर स्वतंत्र लेखना विचारों से भैरव प्रसाद गुप्त पक्के मार्क्सवादी हैं। यही कारण है कि उनके लेखन में यह प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित होने के कारण ही उनके उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष तथा राजनैतिक-आर्थिक कारणों को मानवीय विडम्बनाओं का नियामक माना गया है। उनका उपन्यास 'मशाल' (१९५१ ई०) इसी प्रकार की सैद्धान्तिक आग्रहशीलता को प्रस्तुत करता है। उपन्यास का नायक नरेन निम्नवर्गीय समाज का पात्र है जो ग्रामीण जीवन की विषमताओं से लेकर मजदूरों (सर्वहारा) के जातीय चैतन्य को प्रस्तुत करता है। उपन्यास के उद्देश्य को प्रकाशित करते हुए लेखक ने भूमिका में कहा है : "मजदूरों के इस संयुक्त मोर्चे की आवाज कानपुर के मजदूर आन्दोलन के इतिहास में सदा अमर रहेगी। आठ मजदूर शहीदों और सत्तर घायल मजदूरों के लाल खून से कानपुर के मजदूरों ने जो जंगी एकता की क्रान्तिकारी मशाल जलाई है वह कभी न बुझेगी। उसकी लाल रोशनी धीरे-धीरे सारे हिन्दुस्तान में फैल जायेगी और जनता के सभी शोषित वर्गों को भी इन्कलाबी रास्ता दिखायेगी।"

"गंगा मैया" (१९५२ ई०) भैरव प्रसाद गुप्त का लघु-उपन्यास है। उपन्यास में बलिया जिले के एक गाँव की पृष्ठभूमि में ग्रामीण जीवन का प्रगतिशील दृष्टिकोण अंकित किया गया है। 'जंजीरें और नया आदमी' (१९५६ ई०), "सती मैया का चौरा" (१९५९ ई०) तथा "धरती" (१९६५ ई०) उपन्यासों में भी मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप में प्रस्तुत हुआ है। किसी विशिष्ट चिन्तनधारा से प्रभावित होने का यह आग्रह कहीं-कहीं इतना अधिक है कि 'वाद' का प्रतिपादन अधिक हो गया है और कला पीछे छूट गई है। 'अन्तिम अध्याय', 'बाँदी,' 'शोले', 'आशा' 'कालिन्दी', 'रम्भा', 'नौजवान', 'उसका मुजरिम' तथा 'हवेली' भैरव प्रसाद गुप्त के अन्य उपन्यास हैं।

उपन्यासों के अतिरिक्त भैरव प्रसाद गुप्त ने काफी मात्रा में कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी कहानियाँ भी स्थूल सामाजिक समस्याओं का चित्रण करती हुई जातीय चेतना के संघर्ष को मार्क्सवादी शैली में प्रस्तुत करती हैं। 'आँखों का सवाल', 'महफिल', 'सपने का अन्त' तथा 'बलिदान की कहानियाँ' उनके कहानी-संग्रह हैं। भारत की आधुनिक श्रेष्ठ कहानियाँ एवं 'मित्र तथा अन्य कहानियाँ' उनके द्वारा सम्पादित कहानी-संग्रह हैं।

प्रगतिशील साहित्य के अनुवादक के रूप में भैरव प्रसाद गुप्त उल्लेखनीय हैं। गोर्की के उपन्यास 'माँ' तथा 'मालवा',

वाल्तेया के 'कांदीद' तथा भवभूति के 'मालती माधव' का अनुवाद उन्होंने किया है। 'चन्दवरदायी' नाम से एक नाटक भी उन्होंने लिखा है।

कथा-साहित्य के लेखक के अतिरिक्त भैरव प्रसाद गुप्त का महत्त्व एक सफल पत्रकार के रूप मे भी है। 'माया' (१९४४–५४ ई०), 'कहानी' (१९५४–६० ई०) तथा 'नई कहानियाँ' (१९६०–६३ ई०) उनके द्वारा सफलतापूर्वक सम्पादित पत्रिकाएं हैं इन तीनों पत्रिकाओं के विशेषांक हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष महत्व के हैं।

'गंगा मैया' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसका अनुवाद फ्रेंच भाषा में हुआ है।

—ल० सि० ब०

भोगीलाल—ये कूर्म नरेश बख्तावर सिंहके आश्रित कवि महाकवि देवके प्रपौत्र थे। इन्होंने 'बखत विलास'नामक नायिका–भेदविषयक ग्रन्थ अपने आश्रयदाता के नाम पर १७९९ ई० में लिखा।

—सं०

भोज—१. राजा भोज नामसे अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुए हैं। वैसे भोज नामक कई राजा हुए, जिनमें धारा नगरीके राजा भोज ही अधिक कीर्तिमान् हुए। इनके नामपर आज भी अनेक कथाएँ हिन्दी–जगत् में प्रसिद्ध हैं। ये साहित्य और अनेक ललित कलाओं के मर्मज्ञ थे और उनके विकास में प्रयत्नशील रहते थे।

२. भोज नामक एक यदुवंशी राजा। इनकी नगरी मृतकवती थी, जो मालवाके निकट ही है।

३. एक ब्रजवासी, कृष्णभक्त गोप। श्रीकृष्ण के बाल सखा और भक्तोंमें पूज्य।

४. एक जंगली जातिका नाम, जो विन्ध्य क्षेत्रमें रहती थी।

—मो० अ०

भौमासुर—भौमासुर एक असुर था। इसके लिए नरकासुर नामका भी उल्लेख मिलता है। भौमासुर की उत्पत्ति वाराह अवतार के साथ विष्णुके धरतीसे संभोगके परिणामस्वरूप हुई थी। अन्य देवताओं को जब यह ज्ञात हुआ कि एक असुर पृथ्वी के गर्भ में आ गया है तो उन्होंने इसकी उत्पत्ति को ही अवरूद्ध कर दिया। इस पर विष्णु ने पृथ्वी से इसकी उत्पत्तिका निवेदन किया था तथा विष्णु ने यह भी वरदान दिया था कि त्रेता में रावण के निधन के अनन्तर इसकी उत्पत्ति होगी। अतः रावण–वध के बाद सीता के जन्मवाले स्थान से इसकी उत्पत्ति हुई। इसीलिए इसका नाम 'भौमासुर' पड़ा। १६ वर्षों तक राजा जनक ने इसका पालन पोषण किया। इसके उपरान्त पृथ्वी आकर इसे अपने साथ ले गयी। पृथ्वी ने अपना उसकी माता रूप में ज्ञान कराने के उद्देश्य से उसे उसकी उत्पत्ति का रहस्य बताया। उन्होंने विष्णु का स्मरण किया और वे प्रकट हुए। विष्णु ने नरक को ले जाकर 'नागज्योतिपुर' में प्रतिष्ठित किया। उसी समय विदर्भ राजकन्या माया से इसका विवाह हो गया। चलते समय विष्णु ने भौमासुर को उपदेश दिया कितुम ब्राह्मणों और देवताओं के साथ किसी प्रकार का विरोध मत करना। साथ में उन्होंने इसको एक दुर्भेद्य रथ भी प्रदान किया। पिता की आज्ञानुसार कुछ समय तक उसने उचित रीति से राज्य संचालन भी किया किन्तु वाणासुर के संसर्ग से इसमें राक्षसी प्रवृत्तियों का उदय एवं विकास आरम्भ हो गया। एक बार ऋषि बशिष्ठ कामाख्या देवी के दर्शनार्थ गये पर भौमासुर ने वशिष्ठ को नगर में प्रविष्ट भी नहीं होने दिया। अतः कुपित होकर ऋषि ने इसे पिता द्वारा वधित होने का शाप दिया। इसी शाप के फलस्वरूप कृष्ण ने प्रागज्योतिषपुर में भौमासुर का वध किया। भौमासुर से भगदत्त, मदवान, महाशीर्ष तथा सुमाली आदि पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि भौमासुर कुबेर से भी धनी था। यह कल्पवृक्ष रूप में कृष्ण को भौमासुर की मृत्यु के अनन्तर प्राप्त हुई थी। कृष्ण की असुरसंहारक लीलाओं के अन्तर्गत भौमासुर के वध की कथा मिलती है। (दे० सूर सा० प० ४८१२)।

—रा० कु०

मंगलदेव शास्त्री—जन्म बदायूँ में सन् १८९० ई० में। पंजाब विश्वविद्यालय से एम० ए०, एम० ओ० एल० की उपाधि प्राप्त की। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से डी० फिल० हुए। गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज, वाराणसी के प्रिंसिपल रह चुके हैं। बाद में कालेज जब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय मे परिणत हुआ तो कुछ समय तक उसके उपकुलपति भी रहे। हिन्दी में भाषा–विज्ञान विषय पर लिखने वाले आरम्भिव लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। आपकी 'भाषा विज्ञान पुस्तक सन् १९२६ ई० में ही प्रकाशित हुई। हिन्दी जर विश्वविद्यालयकी उच्चतर परीक्षाओं का स्वतन्त्र विषय बन तो भाषा–विज्ञान के अध्ययन में यह पुस्तक बड़ी उपयोर सिद्ध हुई।

भाषा विज्ञानके अतिरिक्त हिन्दी में भारतीय संस्कृति त वेद-साहित्य के सम्बन्ध मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण गवेषणापूर्ण लेखनका आरम्भ करने वालों मे भी आप विशिष्ट स्थान है। आपने इन विषयोंको लेकर जो साहि प्रस्तुत किया है, उसमें आर्य समाज द्वारा प्रवर्तित चिन्ताधा का प्रभाव सुस्पष्ट है। आपने वैदिक साहित्य में स्थान–स्थ पर उदात्त मानवीय गुणोंके सम्बन्ध में प्राप्त होने वा सूक्तियोंका बड़े अध्यवसाय से संकलन किया है। इधर अ वाराणसी में एकान्त भाव से अपने वैदिक स्वाध्याय केन वेदानुशीलन के कर्म में लगे हुए हैं।

अब तक आपकी लगभग तीस पुस्तकें प्रकाशित हो च हैं, जिनमें मुख्य ये हैं-हिन्दी : 'भाषा विज्ञान', 'भारतीय संस्व का विकास' (१९५६ ई०), संस्कृत (सम्पादित) : 'ऋग प्रातिशाख्य'-३ भाग (१९३१), 'रश्मि माला' (१९५४ इ 'अमृत मंथन' (१९५६, दोनों कविताएँ)।

-श्री०

मंगलसूत्र—अपने अन्तिम दिनों में प्रेमचन्द 'मंगल (१९३६ ई०) उपन्यास लिख रहे थे किन्तु वे उसे पूर्ण न सके। इस उपन्यास का अन्तिम रूप क्या होता, यह तो क कठिन है तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे इसकी र आत्मकथात्मक रूप में करना चाहते थे।

'मंगलसूत्र' में एक साहित्यिक के जीवनकी समस्या र गयी है। इस दृष्टि से यह उपन्यास प्रेमचन्द के अन्य उपन से भिन्न है। इसके चार अध्यायों में देवर

साहित्य–साधना–में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें कुछ व्यसन भी लगे हुए हैं। इन दोनों कारणों से उनका भौतिक जीवन तो सुखी नहीं होता। हाँ, उन्हें ख्याति अवश्य प्राप्त होती है। उनके दो पुत्र, वकील सन्तकुमार और साधुकुमार हैं। ज्येष्ठ पुत्र सन्तकुमार जीवन में सुख और ऐश्वर्य चाहता है और पिता के जीवनादर्शका समर्थन नहीं करता। छोटा पुत्र उनके विचारों और आदर्श से सहमत है। वह भी पिता की भाँति आदर्शवादी है। प्रेमचन्द ने देवकुमार को जीवनके संघर्षों के फलस्वरूप स्वनिर्धारित आदर्श से विचलित होता हुआ सा चित्रित किया है। भविष्य में क्या होता, इसका अनुमान मात्र प्रेमचन्द की पिछली कृतियोंके आधार पर किया जा सकता है। देवकुमार की एक पुत्री पंकजा भी है, जिसका विवाह हो जाता है।

-ल० सा० वा०

मंचित—बुन्देलखण्ड के मऊ स्थान के निवासी मंचित कवि अपनी 'कृष्णायन' नामक कृति के कारण विख्यात हैं। इनका जन्मकाल अनिर्णीत है किन्तु रचनाओं में दिये संवत् से पता चलता है कि वे सन् १७७९ (स० १८३६) में विद्यमान थे। उनकी दो रचनाएँ कृष्ण–चरित्रसम्बधी प्राप्त हैं-'सुरभीदानलीला' और 'कृष्णायन'। 'सुरभीदानलीला' सार छन्दमें कृष्ण–चरितकी सुप्रसिद्ध लीलाओं का वर्णन है। 'कृष्णायन' गोस्वामी तुलसीदासके अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में लिखा हुआ प्रबन्ध–काव्य है। गोस्वामीजी की पदावली का भी स्थान–स्थान पर अनुकरण देखने में आता है। मंचित की भाषा ब्रज होने के कारण 'रामचरितमानस' जैसा अवधी का प्रवाह इस ग्रन्थ में नहीं है फिर भी संस्कृत की पदावली के कारण कहीं–कहीं पद रचना अच्छी है। 'कृष्णायन' का कथानक लेखक पूरी तरह निभा नहीं सका है। लीला वर्णन के प्रसंग 'सुरभीदानलीला' में सरस बन पड़े हैं। इनकी रचना पढ़ने से इतना अवश्य लगता है कि अठारहवीं शताब्दी में भाषा तथा भाव दोनों क्षेत्र में ब्रज का साम्राज्य होने पर भी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' के अनुकरण का प्रयास जारी था।

-वि० स्ना०

मंझन—मंझन हिन्दी के एक प्रसिद्ध सूफी कवि थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त है। अभी तक इनकी एकमात्र रचना 'मधुमालती' का ही पता चला है। यह कहना कठिन है कि इनकी और कोई अन्य रचना है या नहीं। हाल में मधुमालती की एक अखण्डित प्रति (सम्पादक-डा० शिवगोपाल मिश्र, वाराणसी, नवम्बर १९५७ ई०) मिली है, जिसके आधार पर मंझन की जीवन सम्बन्धी कुछ बातों का पता चल जाता है। 'मधुमालती' में मंझन ने अपने सम्बन्ध में थोड़ा बहुत संकेत किया है। 'मधुमालती' की रचना सन् १५४५ ई० (हिजरी सन् ९५२) में हुई। इससे इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि ईस्वी सन्‌की सोलहवीं शताब्दी के मध्य में वे वर्तमान थे। यह काल शेरशाहके उत्तराधिकारी सलीमशाह का था। वह सन् १५४५ ई० में गद्दी पर बैठा। मंझन ने लिखाहै : ''साह सलेम जगत चातिहारी''।

लगता है, जैसे मंझन अपना निवास–स्थान छोड़ दूसरी जगह रहने लगे थे। 'मधुमालती' (उपर्युक्त संस्करण) में अपने सम्बन्ध में लिखते हुए मंझन ने कहा है-''तब हम भो दोसर बासा,जबरे पितै छोड़ा कबिलासा''। मंझन ने अपने गुरु का नाम शेख महम्मद या गोस महम्मद बतलाया है लेकिन इससे अधिक अपने गुरुके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। और न ही अपनी गुरु–परम्परा का ही जिक्र कियाहै। वैसे अपने गुरु के सम्बन्ध में उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि वे सिद्ध पुरुष थे तथा उन्हींकी कृपा से उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे आध्यात्मिक–जीवन की ओर प्रवृत्त हुए।

मंझन के काल आदि को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। उनके धर्म, उनके वास–स्थान आदि के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मत उपस्थित किये गये हैं। किसी ने मंझन को मुसलमानकहा है और किसी ने हिन्दू। इस मतभेद का कारण यह भी रहा है कि अभी तक 'मधुमालती' की खण्डित प्रतियाँ ही उपलब्ध रही हैं। ऊपर जिस अखण्डित प्रति का उल्लेख किया गया है, वह डा० शिवगोपाल मिश्र को एकडला से मिली थी। इस अखण्डित प्रति से कई बातों की जानकारी प्राप्त हो जाती है। सबसे पहले तो इस बात का निश्चय हो जाता है कि मंझन मुसलमान थे। एकडला वाली प्रति की पुष्पिका में मंझन का पूरा नाम गुफ्तार मियाँ मंझन बतलाया गया है। इसके अलावा 'मधुमती' के प्रारम्भ मे मंझन ने परमात्मा को स्मरण करते हुए चार प्रथम खलीफाओ-अबू बक्र, उमर, उस्मान और अली-के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित की है। हजरत मुहम्मद के सम्बन्ध में भी मंझन ने जो कुछ लिखा है, उससे उनकी इस्लाम धर्मसम्बन्धी मान्यताओं की पूरी जानकारी का पताचल जाता है।

उनके निवास स्थानके सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रकट किये गये हैं। 'मधुमालती' (उपर्युक्त संस्करण) की एक पंक्ति ''गढ़ अनूप बस नग्र चर्नाढ़ी, कलयुग भो लंका जो गाढ़ी'' के आधार पर मंझन के वास–स्थान का अनुमान लगाया गया है। रामपुर रियासत के राजकीय पुस्तकालय में परशुराम चतुर्वेदी को 'मधुमालती' की एक हस्तलिखित प्रति देखने को मिलीहै। (दे० 'सूफी काव्य संग्रह', प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सन् १९५१ ई०), जिसमें उपर्युक्त पंक्ति का खण्डित पद मिला है, जो इस प्रकार है-गढ़ अनूप बस नागरुढी''। चतुर्वेदी का अनुमान है कि या तो अनूपगढ़ मंझन का निवास स्थान होगा या ''ढी'' से अन्त होने वाला नगर। एकडलावाली प्रति के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नगर का नाम चर्नाढ़ी था। लेकिन डा० शिवगोपाल मिश्र इससे सहमत नहीं। उनके अनुसार चर्नाढ़ी 'मधुमालती' काव्य के नायक मनोहर के पिता सूरज भान की राजधानी थी किन्तु अन्य साक्ष्यों से चतुर्वेदी जी का मत ही ठीक जान पड़ता है।

मंझन सूफी कवि थे अतएव उन्होंने सूफियों की प्रेमपद्धति को ही अपनाया है। सूफियों का विश्वास है कि प्रेम के द्वारा ही परमात्मा को पाया जा सकता है। मंझन ने 'मधुमालती' में प्रेम का वर्णन सूफी-सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर किया है। 'मधुमालती' में मंझन ने आध्यात्मिक तत्त्वों का समावेश स्थान-स्थान पर अवश्य किया है, लेकिन उनका ध्यान कहानी कहने की ओर ही अधिक रहा है। 'मधुमालती' का कथानक जटिल है। कवि के लिए सब समय कथानिर्वाह की ओर ध्यान रखना सम्भव नहीं हो सका है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी

मंझन ने बहुत कुछ अपनी कुशलता का परिचय नहीं दिया है। 'मधुमालती' मे बारहमासे का वर्णन केवल परम्परा-पालन मात्र है। कहानी को अगर ध्यान में रखा जाय तो 'मधुमालती' के बारहमासे का कोई औचित्य नहीं। साधारणतः हिन्दी के सूफी कवियों ने अपनी कहानी को दुःखान्त बनाया है लेकिन मझन ने [illegible] कहानी का अन्त नायक-नायिका के सुखद मिलन में किया है। कवि ने जानबूझकर ऐसा किया है। मंझन ने कहा है : "रतपति जग जेती चलि आई, पुर्खमारि जग सती [illegible]। मैं छोहन्ह येहि मारिन पारेऊं, सहीं मरिहि जे कलि ओतारेऊं।" 'मधुमालती' से कवि की प्रतिभा तथा आध्यात्मिक तत्त्वों की उसकी जानकारी का पता चलता है।

[सहायक ग्रन्थ—मधुमालती : डा० शिवगोपाल मिश्र (सम्पादक), नवम्बर, १९५७ ई०, वाराणसी; सूफी काव्य संग्रह : परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९५१ ई०; हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका : रामपूजन तिवारी, ग्रन्थ वितान, पटना—१, सन् १९६० ई०]

—रा० पू० ति०

मंथरा—१. यह दशरथ की रानी कैकयी की प्रिय दासी थी। 'रामचरितमानस' के अनुसार इसी के कहने पर राम के राज्यभिषेक होने के अवसर पर कैकयी की मति फिर गयी थी और उसने राजा दशरथ से दो वरदान माँगे थे—एक भरत को राज्यपद और दूसरा राम को १४ वर्ष का वनवास। अनुश्रुति है कि पूर्वजन्म में मन्थरा, दुन्दुभि नाम की एक गन्धर्वी थी।

२. विरोचन दैत्य की कन्या। इसके अत्याचार करने पर इन्द्र ने इसका वध किया।

—मो० अ०

मंडन—ये जैतपुर (बुन्देलखण्ड) के निवासी तथा वहीं के राजा मंगद सिंह के आश्रय में थे। शिव सिंह के आधार पर अन्य इतिहासकारों ने भी इनका उपस्थितिकाल १६५९ ई० माना है। मिश्रबन्धु इनको तुलसी का समसामयिक मानते हैं, इनके रहीम की प्रशंसा में लिख गये एक छन्द से यह सिद्ध भी होता है। कुछ लोगों ने भ्रमवश इन्हें मतिराम या भूषण का भाई माना है।

इनके नाम से आठ ग्रन्थों की सूचना मिलती है—'जनक पचीसा', 'रस रत्नाकर', 'पुरन्दर माया', 'जानकी जू को व्याह', 'श्रृंगार कवित्त', 'बारामासी', 'नयन पचासा' और 'रस-विलास'। इनमें द्वितीय तथा अन्तिम ग्रन्थ रसविषय पर हैं। ये रस और नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं पर इनमें शास्त्रीय विवेचन नहीं है। 'रस रत्नावली' ग्रन्थ अपूर्ण प्राप्त हुआ है। इनकी भाषा सरल और शैली प्रसाद गुण से युक्त है। उदाहरण भाग से इनकी काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० का० शा० इ०; दि० भू० (भूमिका)।]—सं०

मंदोदरी—पौराणिक स्रोतों से मन्दोदरी के दो सन्दर्भ मिलते हैं—

१. मन्दोदरी पंचकन्याओं में से एक थी। इसके पिता का नाम मयासुर था तथा माता रम्भा नामक अप्सरा थी। मन्दोदरी का विवाह रावण से हुआ था तथा इससे रावण के इन्द्रजित नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। रामकथा-काव्यों में मन्दोदरी का चरित्र वर्णित हुआ है।

२. मन्दोदरी का दूसरा उल्लेख सिंहल द्वीप के राजा चन्द्रसेन तथा रानी गुणवती की कन्या के रूप में मिलता है।

—रा० कु०

मछंदरनाथ—दे० 'मत्स्येन्द्रनाथ'।

मतिराम १—मिश्रबन्धुओं के द्वारा हिन्दी कविता के नवरत्नों में परिगणित मतिराम अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न एवं ब्रजभाषा के उत्कृष्ट रीतिकालीन कवि हैं। मतिराम के जीवनवृत्त एवं उनके ग्रन्थों और कवित्व की सूचना प्रायः हिन्दी-साहित्य के समस्त इतिहास ग्रन्थों में मिलेगी परन्तु मतिरामसम्बन्धी उल्लेख भिखारीदासकृत 'काव्य-निर्णय', गोकुलकृत 'दिग्विजयभूषण' जैसे काव्य-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों—शिवसिंह सेंगर, गार्सां द तासी, जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास आदि ने जो सूचना उनके जीवनवृत्त और रचनाओं के सम्बन्ध में दी है, वह परम्परा-प्रसिद्ध एवं ग्रन्थों के उल्लेखों के आधार पर है। जिस ग्रन्थ में लगभग समस्त सामग्री का उपयोग पहले-पहल भली रीति से किया गया, वह है कृष्णबिहारी मिश्रकृत 'मतिराम-ग्रन्थावली'। सबसे पहले विस्तृत जीवनचरित देनेवाला ग्रन्थ 'हिन्दी नवरत्न' है, जिसका मुख्य आधार 'शिवसिंह सरोज' है परन्तु अब मतिराम की जीवनी और साहित्य को लेकर दो शोध-प्रबन्ध भी लिखे जा चुके हैं—एक महेन्द्रकुमार का 'मतिराम—कवि और आचार्य' और दूसरा त्रिभुवनसिंह का 'महाकवि मतिराम'। इन दोनों ग्रन्थों में लगभग समस्त उपलब्ध सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है परन्तु अनेक प्रमाण होते हुए भी इनमें मतिराम के नाम पर मिलने वाले समस्त ग्रन्थों का रचयिता एक ही प्रसिद्ध कवि मतिराम माना गया है।

इस सम्बन्ध में भगीरथ मिश्र मतिराम नाम के दो कवियों को स्वीकार करते हैं। इन ग्रन्थों अर्थात् 'फूलमंजरी', 'रसराज', 'ललितललाम', 'सतसई', 'अलंकार-पंचाशिका', 'छन्दसार (पिंगल) संग्रह' या 'वृत्तकौमुदी', 'साहित्यसार' और 'लक्षणश्रृंगार' के रचयिता दो मतिराम थे, इस बात की पुष्टि के लिए निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं— (१) मतिराम का जन्म समय १६०३ ई० (सं० १६६०) के लगभग आता है और 'कौमुदी' की रचना उन्होंने १७०१ ई० (सं० १७५८) में की और कुछ लोगों का विचार है कि साहित्यसार' आदि की रचना और भी बाद में हुई। एक ही व्यक्ति के सभी ग्रन्थ मानने पर 'वृत्तकौमुदी' की रचना ९८ वर्ष की आयु में और अन्य ग्रन्थों की रचना उसके भी बाद ठहरती है। इस अवस्था में मतिराम का श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा स्वरूप साहि बुन्देला के आश्रय में जाना और 'छन्दसारसंग्रह' या 'वृत्तकौमुदी' की रचना करना अधिक संगत नहीं जान पड़ता (२) दोनों मतिरामों के वंश परिचय भिन्न-भिन्न हैं और दोनों का सम्बन्ध भिन्न गोत्रों के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से है (महाकवि मतिराम, पृ० १०६)। (३) दोनों मतिरामों के समयों में थोड़ी भिन्नता ही नहीं, वरन् दोनों का कार्यक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न रहा है। मतिराम का आगरा, बूँदी आदि तथा दूसरे मतिराम का पहाड़ी क्षेत्र कुमायूँ, गढ़वाल आदि था। (४) दोनों की भाषा-शैली में भी भिन्नता परिलक्षित होती हैं। जहाँ 'रसराज' और 'ललितललाम' के रचयिता मतिराम की भाषा समर्थ, विदग्ध,

अलंकार एवं भावव्यंजना की अद्भुत क्षमता से सम्पन्न, ऐतिहासिक सन्दर्भ संयुक्त तथा छन्द प्रवाहपूर्ण, सुन्दर, मोहक और गतिवाले हैं, वहाँ वृत्तकौमुदीकार की भाषा सामान्य, छन्द शिथिल तथा शैली अभिधात्मक है। (५) 'रसराज' के प्रणेता मति राम ने कहीं किसी ग्रन्थ में न अपना परिचय दिया है और न रचनाकाल ही, क्योंकि वे स्वयं ही अति प्रसिद्ध कवि थे और उन के ग्रन्थ भी अति विख्यात थे। किसी भी दरबार में मतिराम जैसे कवि का जाना उसकी परम शोभा ही थी। अतः उन्हें अपने परिचय की आवश्यकता नहीं पड़ी परन्तु वृत्तकौमुदीकार की शैली ऐसी है, जिसमें रचनाकाल भी दिया हुआ है। अतः दोनों व्यक्तियोकी भिन्न पद्धतियाँ हैं। (६) यदि 'अलंकार पंचाशिका' और 'वृत्तकौमुदी' या 'छन्दसार सग्रह' ग्रन्थ बाद में प्रसिद्ध मतिराम द्वारा अधिक परिपक्वावस्था में लिखे गये होते, तो वह निश्चय ही वैचारिक और भाषा-सम्बन्धी अधिक प्रौढ़ता का द्योतन करते। यह हो सकता है कि उनमें कवित्व की मात्रा कम होती परन्तु उनमे अधिक सन्दर्भ-गर्भता होनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा नहीं है। उपर्युक्त कारणों से दोनों मतिराम भिन्न-भिन्न हैं, यह मानना उचित है। ऊपर लिखे हुए प्रथम चार ग्रन्थों के प्रणेता प्रसिद्ध कवि मतिराम हैं और दूसरे चार ग्रन्थो के रचयिता दूसरे मतिराम हैं।

प्रथम प्रसिद्ध मतिराम उत्तरप्रदेश के कानपुर जिले में स्थित टिकमापुर (त्रिविक्रमपुर) के निवासी और प्रसिद्ध आचार्य और कवि चिन्तामणि त्रिपाठी और भूषण के भाई थे। इसका उल्लेख 'वंशभास्कर' एवं 'तंजकिरये सर्व आजाद हिन्दी' में हुआ है। भूषण ने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—"दुज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर। बसत त्रिविक्रम पुर सदा, तरनि तनूजा तीर'।।२६।। इससे स्पष्ट होता है कि भूषण रत्नाकर के पुत्र और कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज त्रिपाठी ब्राह्मण थे। इस बात की पुष्टि मतिराम के प्रपौत्र तथा चरखारी नरेश महाराज विक्रमादित्य के राजकवि बिहारीलालकृत 'विक्रम सतसई' की टीका 'रसचन्द्रिका' के अन्तर्गत होती है। इसमें अपना परिचय देते हुए बिहारी लाल ने जो लिखा है, उससे स्पष्ट होता है कि भूषण और बिहारीलाल एक ही गोत्र के थे और निश्चित रूप से मतिराम और भूषण का सम्बन्ध भाई-भाई का था। नाती और पन्ती शब्दों से कुछ लोग दौहित्र (पुत्रीपुत्र) और प्रदौहित्र का अर्थ लगाने के पक्ष में है और इस प्रकार वे मतिराम को वत्सगोत्री परम्परा में डालकर उपर्युक्त वर्णन मतिराम की पुत्री के वंश की परम्परा में रखना चाहते हैं पर यह तर्कसंगत नहीं। पहली बात तो यह है कि वे कश्यप गोत्र षट्कुलों में से हैं और षट्कुलों में परस्पर विवाह की ही प्रथा प्रचलित रही है। वत्सगोत्रीय सम्बन्ध उनसे नहीं होते। दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा कुछ होता तो चिन्तामणि या भूषण से बिहारीलाल का अधिक सीधा सम्बन्ध होता, क्योंकि यदि मतिराम वत्सगोत्री होते और बिहारीलाल के परनाना होते तो या तो बिहारी लाल अपने परबाबा (प्रपितामह) का नाम देते और यदि वे भूषण या चिन्तामणि ही होते, तो अपने को इनका प्रपौत्र कहने में भी गर्व का अनुभव करते परन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया। उन्होंने पिता से पहले अपने बाबा (पितामह) के रूप में जगन्नाथ का और परबाबा (प्रपितामह) के रूप में ही मतिराम का स्मरण किया है। अतः पन्ती और नाती शब्द, प्रपौत्र और पौत्र के लिए ही आये हैं। ये शब्द इस क्षेत्र में इन अर्थों में ही प्रचलित हैं (लेखक का जन्मस्थान टिकमापुर से दस-बारह मील दूर ही है और उसने स्वयं वहाँ जाकर इसकी पुष्टि की है। अब भी वहाँ 'कबिन के घर' के रूप में घरों के खण्डहर विद्यमान हैं) अतः मतिराम और भूषण दोनो ही कश्यपवंशीय त्रिपाठी तथा परम्परा-प्रसिद्धि के अनुसार सहोदर भाई थे। वत्सगोत्रीय वनपुर निवासी मतिराम दूसरे थे।

इसके अतिरिक्त 'ललितललाम' ग्रन्थ में मतिराम ने जो लक्षण दिये हैं, लगभग वही लक्षण भूषण ने अपने ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' मे भी स्वीकार किये हैं। 'ललितललाम' पहले बना है, अतः निःसंकोच लक्षणों को ले लेने के कारण भी दोनो ही का सगे भाई होना प्रमाणित हो जाता है, जिसमें मतिराम बड़े और भूषण छोटे थे, यह भी स्पष्ट होता है। किंवदन्ती में भी भूषण का अपनी बड़ी भौजाई के ताना मारने पर घर से निकल जाने की ख्याति है। हो सकता है कि वे भौजाई मतिराम की स्त्री ही हों। इनके पति राजदरबारो में प्रसिद्धि और सम्पत्ति प्राप्त कर चुके थे। अतः चिन्तामणि, मतिराम और भूषण ये सगे भाई थे और इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था।

मतिराम ने किसी भी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः इनके जन्म समय के सम्बन्ध में भी कुछ कहना कठिन है। 'फूलमंजरी' के आधार पर इनका जन्म समय कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार १६०३ ई० (सं० १६६० वि०) के लगभग आता है। 'फूलमंजरी' इनकी सर्वप्रथम रचना है, जो जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में लिखी गयी। जहाँगीर अपने राज्यारोहण का १६ वाँ जलूसी वर्ष आगरे में मना रहा था, उसी समय के आसपास इसकी रचना हो सकती है। वह समय १०३० हिजरी या सं० १६७८ वि० था। मतिराम की यह किशोरावस्था की रचना मानने से उनकी अवस्था उस समय १८ वर्ष की रही होगी। अतः मतिराम का जन्म १६०३ ई० (सं० १६६० वि०) ठहरता है।

मतिराम का अधिकांश समय बूँदी दरबार में व्यतीत हुआ था और वहाँ के हाड़ा राजाओं की वीरता और चारित्र्य का वर्णन इन्होंने अपने अलंकार ग्रन्थ 'ललितललाम' में किया है। जिन राजाओं का वर्णन उसमें आया है, वे राव सुरजन, रावराजा भोज, राव रतनसिंह, महाराज छत्रसाल और दीवान भावसिंह हैं। 'फूलमंजरी' इन्होंने जहाँगीर के लिए बनायी। सम्भव है, बूँदी दरबार से इनका सम्बन्ध उस समय भी रहा हो और बूँदी नरेश के साथ ही ये आगरे गये हों। 'ललितललाम' ग्रन्थ दीवान भावसिंह के आश्रय में लिखा गया और इसके अनेक छन्द उनकी वीरता एवं दानकी प्रशंसा में हैं। इसके अतिरिक्त 'मतिराम सतसई' किन्हीं राजा भोगनाथ के लिए लिखी गयी, जिनका ठीक इतिहास अभी ज्ञात नहीं है। ये भी राजस्थान या मध्यप्रदेश के कोई राजा या धनीमानी, किन्तु रसिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं।

प्रसिद्ध मतिराम की केवल चार रचनाएँ ही प्रामाणिक मानी जानी चाहिए, जो रचना-क्रम के विचार से हैं—'फूलमंजरी', 'रसराज', 'ललितललाम' और 'सतसई'। 'फूलमंजरी' की सबसे प्राचीन प्रति १७९३ ई० (सं० १८५०) की प्राप्त होती है। 'फूलमंजरी' के प्रत्येक दोहे में एक फूल का नाम है, जिसके

श्लेषार्थ से नायिका का संकेत मिलता है। इस ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सहज प्रवाहयुक्त है। किशोर भावों को अभिव्यक्ति देने वाली इस रचना से मतिराम की रसिकता प्रकट होती है। इस रचना का सबसे बड़ा महत्त्व यही है कि इससे मतिराम की जन्मतिथि का अनुमान लगता है।

मतिराम की प्रसिद्धि का मुख्य आधार 'रसराज' है। यह श्रृंगार-रस और नायिका-भेद पर लिखा ग्रन्थ है। बिहारी की, 'सतसई' के समान ही रीतिकालीन ग्रन्थो में 'रसराज' प्रसिद्ध रहा है। 'रसराज' का रचनाकाल १६३३ ई० और १६४३ ई० के बीच ठहरता है। यह मतिराम की युवावस्था में लिखा गया ग्रन्थ है और 'ललितललाम' के पूर्व की रचना है, क्योंकि यह अधिक प्रौढ़ है। 'रसराज' किसी के आश्रय में न लिखा जाकर स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में श्रृंगार के आलम्बन नायिका-नायक तथा उनके भेदों का और उसके पश्चात् भावों, हावों एवं श्रृंगार रस के अंगों का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता सहज भावों का स्वाभाविक चित्रण है। बिहारी के समान इसमें हाव-भाव का चटकीला आकर्षण एवं मुखर रूप न होकर सहज किशोर एवं सुकुमार भावनाओं का मूक चित्रण है। अपने मौन रूप में चित्रण की विशेषता के कारण समस्त आन्तरिक भावभंगिमा छन्दों में मुखरित हो जाती है। 'रसराज' के नायक-नायिका, अधिक चतुर और क्रिया-विदग्ध न होकर अल्हड़, शिष्ट, सुकुमार एवं भावुक व्यक्ति हैं, जिनकी भावनाओं में प्रभावशीलता तथा सहानुभूति जाग्रत् करने की विशेषता है। वे सीधे-सच्चे सरल भावों वाले नायिका-नायक हैं। 'रसराज' को मतिराम ने भाव-सम्पत्ति से सम्पन्न किया है। इसमें जिन भावों का वर्णन है, वे प्रधानतया किशोर एवं युवावस्था से सम्बन्ध रखते हैं। 'रसराज' में मतिराम की प्रतिभा अलंकरण एवं अप्रस्तुत कल्पना की उतनी नहीं, जितनी विविध प्रसंगकल्पना की, अतएव अनेक छन्दों में घटना-वर्णन एवं प्रबन्ध वक्रता की-सी रोचकता निहित है। इन्हीं विशेषताओं के कारण 'रसराज' रसिक-जनों का कण्ठहार रहा है। इसकी अनेक टीकाएँ भी हुई हैं।

'ललितललाम' बूँदी नरेश दीवान भावसिंह के आश्रय में लिखा गया अलंकारों का रीति ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल १६६३ ई० के० आसपास माना जाता है। 'रसराज' की भाँति 'ललितललाम' की भी टीकाएँ हुई हैं और यह भी रीतिकाल का एक अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। राजवंश प्रशंसा के उपरान्त 'ललितललाम' ग्रन्थ में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। लक्षण तो 'चन्द्रालोक' एवं 'कुवलयानन्द' के आधार पर है परन्तु उदाहरण मतिराम के निजी हैं और वे अधिकांश राव भाव सिंह या उनके पिता, पितामह की वीरता या दान का वर्णन करने वाले हैं। 'ललितललाम' में 'रसराज' के भी कुछ छन्द उदाहरणस्वरूप आये हैं और 'सतसई' के भी। परन्तु 'ललितलाम' के छन्दों की विशेषता उनकी प्रौढ़ता एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ-गर्भता में देखी जा सकती है। इसमें मतिराम की सहज निश्छल भावुकता के स्थान पर सूक्ष्म एवं उच्च कल्पनाशीलता प्रकट हुई है।

मतिरामकृत 'सतसई' भी उनकी एक ललित एवं सुन्दर रचना है। इसके दोहों की रचना यद्यपि पहले भी होती रही होगी, परन्तु इसका संकलन १६८३ ई० के आसपास 'बिहारी सतसई' की प्रेरणापर किया गया। यह 'सतसई' किन्हीं भूप भोगनाथ के लिए की गयी, जो एक धनी एवं रसिक जीव थे और सम्भवतः ब्रज, राजस्थान या बुन्देलखण्ड के निवासी थे। 'सतसई' की भाषा सरस एवं ललित ब्रजभाषा है। इसका वर्ण्य-विषय मुख्यतया श्रृंगार है फिर भी कुछ दोहे सामान्य नीतिसम्बन्धी हैं। इस ग्रन्थ मे प्रेम, नायिका-भेद, रूप-सौन्दर्य, चेष्टा, विरह आदि पर स्मरणीय दोहे हैं। इनके अन्तर्गत शब्द लालित्य के साथ-साथ भाव भंगिमा एव नव्य-कल्पना का भी वैभव है।

मतिराम के उपर्युक्त ग्रन्थों में सभी महत्त्वपूर्ण हैं फिर भी इनकी विशिष्ट ख्याति के आधार रूप 'रसराज' एवं 'ललितललाम' ही हैं। मतिराम का रीतिकालीन कवियों के बीच अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है और हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत वे उच्च प्रतिभासम्पन्न कवियों में परिगणित होते हैं। ब्रजभाषा पर इनका सहज अधिकार, कल्पना का अपार वैभव एवं सूक्ष्म भावों की सरस, मधुर तथा अविस्मरणीय अभिव्यक्ति मतिराम के काव्य के विशिष्ट गुण हैं। रूप-सौन्दर्य, भाव-भंगिमा, चेष्टा एवं प्रेम की सूक्ष्मानुभूतियों का जैसा सजीव चित्रण मतिराम कर सके हैं, वह साहित्य में चिरस्थायी निधि के रूप में गृहीत है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० न०; मि० वि०; हि० सा० इ०; मतिराम ग्रन्थावली : सं० कृष्णबिहारी मिश्र; मतिराम कवि और आचार्य : महेन्द्र कुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह]

—भ० मि०

मतिराम २— भगीरथ मिश्र ने महाकवि मतिराम से भिन्न एक अन्य मतिराम को माना है। इन द्वितीय मतिराम का परिचय केवल 'वृत्तकौमुदी' के आधार पर ही प्राप्त होता है। इस 'वृत्तकौमुदी' का विवरण भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने अपने लेख तथा 'भूषण विमर्श' नामक ग्रन्थ में दिया है। इसके अनुसार मतिराम के पिता का नाम विश्वनाथ था, पितामह का बलभद्र, प्रपितामह का गिरिधर। ये वत्सगोत्रीय त्रिपाठी थे और इनका निवास-स्थान वनपुर था। ये प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न थे, जिनका परिचय बिहारी लाल की 'रसचन्द्रिका' में और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा ढूँढ़े गये मथुरा के चौबों के यहाँ प्राप्त वंशवृक्ष में मिलता है। इसके अनुसार मतिराम के पिता रतिनाथ और पुत्र जगन्नाथ, पौत्र शीतल तथा प्रपौत्र बिहारीलाल थे। अतः यह कल्पना भी सही नहीं उतरती कि मतिराम की पुत्री की वंश-परम्परा में बिहारीलाल थे और इस कारण गोत्र भिन्नता है। इसलिए दोनों मतिराम भिन्न-भिन्न थे और 'वृत्तकौमुदी' के रचयिता वत्सगोत्रीय द्वितीय मतिराम थे और वे 'रसराज' के रचयिता कश्यपगोत्रीय मतिराम से भिन्न थे। वत्सगोत्रीय, वनपुरनिवासी मतिराम द्वितीय का परिचय और अधिक प्राप्त नहीं होता। यों टिकमापुर के निकट ही जिला फतेहपुर में बनपुरा नामक ग्राम हैं और हो सकता है कि यहीं मतिराम द्वितीय का स्थान वनपुर हो।

इन मतिराम की लिखी हुई रचनाएँ है—'अलंकार पंचाशिका', 'साहित्यसार', 'लक्षण-श्रृंगार' और 'छन्दसार संग्रह' या 'वृत्तकौमुदी'। ये समस्त ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित

हैं। 'अलंकार पंचाशिका' जैसा कि नाम से ही विदित है, अलंकारों पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल १६९० ई० (सं० १७४७) है। इसके अनेक छन्दों में मतिराम की छाप है, अतएव यह मतिरामकृत ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नही। इसके प्रारम्भिक छन्दों से पता चलता है कि यह संस्कृत के ग्रन्थों के आधार पर कुमायूँ नरेश उदोतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द के लिए लिखा गया। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्दों में लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। इसके भीतर ४८ अलंकारों का भेद-प्रभेदों के साथ वर्णन किया गया है। छन्दों में ज्ञानचन्द्र के दान और वीरता का वर्णन आया है। 'पचाशिका' के छन्द ओजगुण प्रधान तथा सरल हैं। भाषा साफ है परन्तु छन्द की गति एवं कल्पना की नव्यता प्रसिद्ध मतिराम के ग्रन्थों की सी नहीं है।

'साहित्यसार' १० पृष्ठों का नायिका भेद पर लिखा द्वितीय मतिराम का ही जान पड़ता है। यह किसी समय दतिया राज पुस्तकालय में था पर अब प्राप्य नहीं है। इसका प्रतिलिपिकाल १७८० ई० (सं० १८३७) तथा रचनाकाल कृष्णबिहारी मिश्र के अनुसार १६८३ ई० (सं० १७४०) ठहरता है। यह सामान्य महत्त्व का ग्रन्थ है। 'लक्षण श्रृंगार' ग्रन्थ भी मतिराम द्वितीय द्वारा रचित श्रृंगार रसके भावों और विभावों का वर्णन करने वाला ग्रन्थ है। खोज रिपोर्ट के अनुसार इसकी १७६५ ई० (सं० १८२२) की हस्तलिखित प्रति बिजावर राज्य में थी। कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार इसका रचनाकाल १६८८ ई० (सं० १७४५) मानना चाहिए। यह भी सामान्य महत्त्व का ही ग्रन्थ जान पड़ता है। 'छन्दसार संग्रह' या 'वृत्तकौमुदी' मतिराम के नाम पर 'छन्दसार पिंगल' के रूप में प्रसिद्ध है। इसका यह नाम 'शिवसिंह सरोज' से चालू हुआ। वास्तव में इसका नाम 'छन्दसार संग्रह' (पिंगल) होना चाहिए था। मतिराम द्वितीय के ग्रन्थ 'वृत्तकौमुदी' में अधिकांश स्थलों पर 'छन्दसार संग्रह' ही ग्रन्थ का नाम आया है। यह ग्रन्थ गढ़वाल श्रीनगर के राजा फतेहसाहि बुन्देला के पुत्र स्वरूप साहि बुन्देला के आश्रय में लिखा गया था। 'छन्दसार संग्रह' और 'वृत्तकौमुदी' एक ही ग्रन्थ हैं, जिसका रचनाकाल १७०१ ई० (सं० १७५८) है। यह पाँच प्रकाशों में है। प्रथम प्रकाश में गणेश, सरस्वती की वन्दना के पश्चात् आश्रयदाता स्वरूप साहि बुन्देला की दान-वीरता की प्रशंसा है। इसके बाद से इसमें तथा अन्य प्रकाशों में छन्दसम्बन्धी विविध सूचनाएँ हैं। यह छन्द का विस्तृत विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही स्पष्ट है, अतः यह छन्दशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इस प्रकार द्वितीय मतिराम यद्यपि मतिराम की भाँति उत्कृष्ट प्रतिभा के कवि नहीं थे फिर भी रीतिकालीन आचार्य कवियों में उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनका राजाओं के दरबार में समुचित सम्मान हुआ था, यह उनके वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० न०; मतिराम ग्रन्थावली : सं० कृष्णबिहारी मिश्र; मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्रकुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह।]

—भ० मि०

मतिराम सतसई—इसकी खोज तीन हस्तलिखित प्रतियों—प्रथम हुसेनगंज (फतेहपुर) निवासी शिवदुलारे दुबे की प्रति, जो गंगा पुस्तक माला के मालिक दुलारे लालको दे दी गयी थी, द्वितीय भवानी शंकर याज्ञिक के पास खण्डित प्रति और तृतीय भगीरथप्रसाद दीक्षित (ग्राम मई, बटेश्वर, जिला आगरा) के पास उपलब्ध प्रति के आधार पर हुई है। सर्वप्रथम यह ग्रन्थ 'मतिराम ग्रन्थावली' (सं० कृष्णबिहारी मिश्र) में प्रकाशित हुआ है। इसके दोहे 'रसराज' और 'ललितललाम' में भी मिलते हैं। समस्त दोहों पर दृष्टिपातकरने से ऐसा जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ का अधिकांश उनकी युवावस्था में निर्मित हुआ और 'ललितललाम' के पूर्व बना। सतसई के रूप में इसका संग्रह 'बिहारी सतसई की ख्याति के पश्चात् हुआ। 'रत्नाकर' के कथनानुसार 'बिहारी सतसई' की सर्वप्रथम प्रतिलिपि १८६२ ई० में बिहारी के किसी शिष्य द्वारा की गयी थी। यद्यपि 'बिहारी सतसई' की १६६२ ई० में समाप्ति मानी जाती है पर १६८२ ई० के पूर्व उसकी प्रतिलिपि का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी दशा में मतिराम की 'सतसई' का संग्रह-काल १८६३ ई० के आसपास मानना चाहिए। 'सतसई' में एक दोहा शिवाजी की प्रशंसा में भी लिखा है—"सुरस ओज सों साह सुत, सिवा सूर सिरदार। सरद चन्द आतम कियो, सुचि आपत इक बार।।३२४।।" यह छन्द शिवाजी की मृत्यु के बाद लिखा जान पड़ता है अतः यह रचना १६३८ ई० के बाद ही संगृहीत हुई।

हम कह सकते हैं कि मतिराम ने अनेक दोहे अपने काव्यके प्रारम्भिक एवं मध्यकाल में बनाये होंगे और 'बिहारी सतसई' के प्रख्यात होने पर उन्होंने उसका संग्रह सतसई के रुप में १६९३ ई० के आसपास उसी के समान किया होगा। 'बिहारी सतसई' के दोहों की छाया 'मतिराम सतसई' के दोहों में देखी जा सकती है-"मो मन तम तोमहिं हरौ, राधा को मुखचन्द। बढ़े जासु लखि सिन्धु लौं, नन्दनन्दन आनन्द।। तेरी औरै भाँतिकी दीपसिखा सी देह। ज्यों ज्यों दीपति जगमगे, त्यों त्यों बाढ़त नेह।। औरै कछु चितवनि चवनि, औरै मृदु मुसकानि। औरे कुछ सुख देत हैं, सके न बैन बखानि।। नैन जोरि मुखमोरि हँसि, नेसुक नेह जनाई। आगि लेन आई हिये, मेरेगयी लगाई।।"

जिस प्रकार बिहारीने अन्त में दोहे में जयसाह का यश वर्णन और आशीर्वाद किया है, उसी प्रकार मतिराम ने भी सतसई के अन्त में किन्हीं राजा भोगनाथ के रूप, गुण, यौवन, दान और रसिकता की प्रशंसा में १८ दोहे लिखे हैं। इसके आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि सम्भवतः भूप भोगनाथ ने 'बिहारी सतसई' को देखकर मतिराम से भी सतसई लिखने का अनुरोध किया हो और उनको इसके लिए धन—मान दिया हो, अतः मतिराम ने उनको नायक रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने दोहों के संग्रह को सतसई रूप में प्रस्तुत कर दिया होगा। भोगनाथ सम्भवतः राजस्थान या मध्यप्रदेश के छोटे राजा याधनी व्यक्ति थे।

'सतसई' काव्य-वैभव की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है और इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी की 'सतसई' से भी कहीं-कहीं टक्कर लेती है और कुछ दोहे तो अपने कल्पना वैभव और शब्द-माधुर्य में बिहारी के दोहों से भी बढ़कर हैं—"लचको हीं सो लंक उर उचकौहीं सो ऐन। बिहँसौहे-से बदन में लसत नचो

हें नैन।। श्रम जलकन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल। पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल।। अरुन बरन बरनि न परे, अमल अधर दल माँझ। कैधों फूली दुपहरी, कैधों फूली साँझ।। दिन दिन दुगुन बढ़े न क्यों, लगनि अगिनिकी झार। उने उने दृग दहुन के, बरसत नेह अपार।।"

'सतसई' का वर्ण्य-विषय अधिकांश अलंकार और नायिकाभेद है और इनके सुन्दर उदाहरण इसमें प्रस्तुत हुए हैं। हिन्दी-साहित्य की सतसई-परम्परा में 'मतिराम सतसई' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—मतिराम ग्रन्थावली : सं० कृष्णबिहारी मिश्र; मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्र कुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह।]

—भ० मि०

मत्स्य—भगवान् विष्णु का प्रथम अवतार मत्स्यावतार माना जाता है। प्रलयकाल उपस्थित होने पर जब त्रिलोक जलमग्न हुआ तब महासमुद्र में सोए हुए ब्रह्मा के मुख से चार वेदों की उत्पत्ति हुई। उन्हें हयग्रीव ने चुरा लिया। इन्हीं के उद्धार के लिए विष्णु ने मत्स्य का अवतार लिया। भागवत में इसकी कथा सविस्तार वर्णित हुई है। कहा जाता है कि महामत्स्य के रूप में भगवान् ने राजा सत्यव्रत को बताया था कि आज के सातवें दिन प्रलय होगा। उस समय समस्त विश्व जलमग्न होगा, पर तुम्हारे उद्धार के लिए एक विराट् नौका बनाऊँगा। उसमें समस्त औषधियों, प्राणियों तथा सप्तर्षियों सहित तुम चढ़ आना। महासूर्य की रज्जु बनाकर मेरी सींग में उसे बाँध देना। ब्रह्मा की रात्रि जब तक न व्यतीत होगी तब तक मैं उस नाव की रक्षा करूँगा। ऐसा ही सातवें दिन हुआ। मत्स्य ने हिमालय की चोटी पर उस नाव को बाँधा था। उसी के आधार पर आज भी एक चोटी नौका बन्धन चोटी के नाम से प्रसिद्ध है। सत्यव्रत ही आगे चलकर वैवस्वत मनु कहलाये। 'मत्स्यावतार' की कथा से सृष्टि के आदि विकास पर प्रकाश पड़ता है। वैज्ञानिक मान्यताओं के आधार पर सृष्टि का प्रथम जीव एक प्रकार से मत्स्य ही है। सूरसागर में मत्स्यावतार की कथा वर्णित है (दे० सूर० सा० स्कन्ध ८ प० १६)

—रा० कु०

मत्स्येन्द्रनाथ—इनके अन्य नामों में मीनपाल, मीननाथ, मीनानाथ, मच्छेन्द्रपा, मच्छन्दरनाथ आदि प्रसिद्ध हैं। नाम के आधार पर इन्हें जाति का मछुआ कहा जाता है। यह कामरूप के निवासी थे, जो पूर्वी भारत (असम) के लौहित्यनद के तट पर स्थित है और जो तन्त्राचार के लिए प्रसिद्ध रहा है। किंवदन्ती है कि अपने मछली मारने के व्यवसाय में व्यस्त एक बार उन्हें एक मछली निगल गयी और १२ वर्षों तक अपने उदर में रखे रही। उसी रूप में घूमते-घूमते वे चर्पटीनाथ के पास पहुँचे और दोनों ने एक साथ दीक्षा ली। मछली के उदर में लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा होने के कारण उनका नाम मीननाथ, मत्स्येन्द्रनाथ पड़ा। यह भी प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ अपनी साधना की अवस्था में एक बार कामरूप की सुन्दरियों के विलास में पड़ गये थे किन्तु बाद में उनके शिष्य गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती परम्परा के अनुसार उनके पिता का नाम मीनपा या मीनानाथ बताया है परन्तु वास्तव में मीनपा स्वयं मत्स्येन्द्र नाथ ही थे। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' के अनुसार सिद्ध-साधना का प्रवर्तन उन्होंने किया था। 'वर्णरत्नाकर', 'ज्ञानदेव तथा गोरखनाथ' के आधार पर सिद्धों की जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें मीननाथ, मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मीनपा का नाम एक ही बार दिया गया तत्त्व निबन्धावली' में दी गयी सिद्धोकी सूची में भी मीनपा, मीननाथ अथवा मत्स्येन्द्रनाथ एक ही व्यक्ति के नाम आये हैं। अभिनव गुप्त के 'तन्त्रालोक' में मत्स्येन्द्रनाथ की श्रद्धा पूर्वक वन्दना की गयी है। इससे विदित होता है कि उनका जीवनकाल अभिनव गुप्त के काल अर्थात् १० वीं शती ईस्वी के पूर्व होना चाहिए। राहुलजी के अनुसार मीनपा राजा देवपाल के समसायिक थे अतः उनका समय नवीं शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्द्ध अनुमान किया जा सकता है। मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे। इसका समर्थन अन्तः और वाह्य दोनों साक्ष्यों से होता है। इस आधार पर भी मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

विद्वानों ने अनुमान किया है कि नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तकों में मत्स्येन्द्रनाथ अन्यतम हैं। 'वर्ण रत्नाकर' की सूची में पहला नाम मत्स्येन्द्रनाथ का ही है। ज्ञानेश्वर की सूची में सर्वप्रथम आदिनाथ का उल्लेख हुआ है तदुपरान्त मत्स्येन्द्रनाथ नाथ का। आदिनाथ तो भगवान् शिवको ही माना जाता है अतः मत्स्येन्द्रनाथ ही नाथपन्थ के प्रथम आचार्य सिद्ध होते हैं। कुछ परम्पराओं मे आदिनाथ का सम्बोधन जलन्धरनाथ के लिए मिलता है। राहुलजी ने भी नाथ पन्थ के आदि आचार्य का नाम लुईपा बताया है। किन्तु साथ ही अपनी टिप्पणी में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आदि आचार्य जलन्धरपाद ही थे। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में जिन नौ सिद्धों का उल्लेख हुआ है, उनमें सत्यनाथ, चर्पटनाथ और गोरक्षनाथ जैसे परवर्ती सिद्ध भी गिनाये गये हैं अतः यह सूची विश्वसनीय नहीं है। ज्ञानेश्वर की परम्पराको ही प्रामाणिक मानकर मत्स्येन्द्रनाथ नामपन्थ के आदि प्रवर्तक कहे जा सकते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ की संस्कृत में लिखी चार पुस्तकें डाक्टर प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पदित होकर प्रकाशित हुई हैं। वे इस प्रकार हैं-'कौल ज्ञान निर्णय', 'अकुलवीरतन्त्र', 'कुलानन्द' और 'ज्ञानकारिका'। हिन्दी के उनके कुछ पदों का संकलन डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में किया है। डाक्टर बड़थ्वाल ने भी अपने 'योग प्रवाह' नामक ग्रन्थ में इनके कुछ पदों का संकेत किया है। मत्स्येन्द्रनाथ की कृतियों का वर्ण्य—विषय शैव—परम्परा के अन्तर्गत आता है। उन्होंने शून्य, निरंजन, सिद्धों के आचार—विचार तथा कौलाचार आदि का संकेत अपनी संस्कृत और देशी मिश्रित भाषा की टिप्पणियों में किया है। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का महत्व एक कौलाचारी तथा सिद्ध—परम्परा के आदि आचार्य के रूप में ही है। उनकी रचना में साहित्यिक गुण नहीं प्राप्त होते।

[सहायक ग्रन्थ-पुरातत्व निबन्धावली : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ; हिन्दी काव्यधारा : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; नाथ सम्प्रदाय: डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; नाथ सिद्धों की बानियाँ : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; योग प्रवाह : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।]

-यो० प्र० सि०

मथुरानाथ शुक्ल—हिन्दी—गद्य के विकास—क्रम में

मथुरानाथ शुक्ल, रामप्रसाद 'निरंजनी' और दौलत राम की परम्परा में आते हैं। सन् १८०० ई० में इन्होंने 'पंचाग दर्शन' नामक ज्योतिष–ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी भाषा ब्रज–मिश्रित खड़ीबोली है। ग्रन्थ का आरम्भ पद्य में किया गया है। इनका गद्य साधु और व्यवस्थित नहीं है। उसमें पंडिताऊपन अधिक है। 'में' के स्थान पर 'मों' का प्रयोग–"प्रथम विवाह मो कन्या को ब्रहस्पति का बल विचार लेना"-'से' के स्थान पर 'सों' का प्रयोग-"उसी रीत 'सो' कन्या को विचारना"-'से' के लिए 'ते' का प्रयोग-"जन्म राश 'ते' तृतीय षष्ट दशम एकादश उत्तम है"-और इसी प्रकार 'का' के लिए 'को' का प्रयोग-"पुत्र को सूर्य का बल विचार लेना"–-इनकी भाषा में बराबर हुआ है। शब्द भी तत्सम रूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। 'रीति' के लिए 'रीत', 'राशि' के लिए 'राश' और 'शुद्ध' के लिए 'शुद्द' शब्दों का प्रयोग किया गया है। मथुरानाथ शुक्ल का विशेष महत्त्व इसलिए है इन्होंने फारसी–अरबी रहित खड़ीबोली हिन्दी–गद्य में-जिसकी एक स्वतन्त्र परम्परा फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के पहले से चली आ रही थी-ज्योतिष जैसे उपयोगी और व्यावहारिक विषय पर ग्रन्थ रचना की है। इससे प्रकट है कि खड़ीबोली गद्य के इस रूप का व्यवहार सभी प्रकार के विषयों पर लिखने के लिए किया जाता था।

-रा० च० ति०

मदन गोपाल-ये फतुहाबाद (जिला लखनऊ) के निवासी और महाराज दिग्विजय सिंह के पिता अर्जुन सिंह के आश्रित कवि थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता के नाम पर 'अर्जुन विलास' नामक ग्रन्थ १८१९ ई० में लिखा है। इसका प्रकाशन गोकुल कवि की भूमिका के सहित बलराम पुर के जंगबहादुरी यन्त्रालय से १८६१ ई० में हुआ था।

[सहायक ग्रन्थ-दि० भू० (भूमिका)।] -सं०

मदन मोहन-लाला श्री निवासदासकृत 'परीक्षा गुरु' का पात्र अंग्रेजी सभ्यता के चाकचिक्य और फैशन के चक्कर में पड़ा हुआ एक चाटुकारिताप्रिय निर्णयभीरू व्यक्ति है। मिथ्या प्रतिष्ठा और बड़प्पन का प्रदर्शन उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है, जिसका अनुचित फायदा उठाकर कोई भी उसे धोखा दे सकता है। वह इतना सीधा और दूसरों के प्रति इतना विश्वासपूर्ण है कि वह बेईमान और सच्चे व्यक्तियों में फर्क नहीं कर पाता। एक क्षण के लिए अपने सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की चेतावनी से वह विचलित होता है पर खुशामदी मित्रों के बीच आते ही वह ब्रजकिशोर की चेतावनी को अनधिकार हस्तक्षेप मानकर उसकी खिल्ली उड़ाने और चाटुकारों की वाह–वाही का मजा लूटने में तल्लीन हो जाता है। विपत्ति के समय उसकी सारी प्रतिष्ठा, मान–सम्मान, अंग्रेजी सभ्यता की फैशन–परस्ती सब कुछ हवा हो जाती है। और हवालात में अपनी मूर्खता पर बिसूरता रहता है। ठोकर खाकर उसे अक्ल आती है और वह फिर सही रास्ते पर आ जाता है।

-शि० प्र० सिं०

मदनमोहन मालवीय-जन्म २५ दिसम्बर १८६१ ई० प्रयाग में। महामना मालवीय जी ने सन् १८८४ में उच्च शिक्षा समाप्त की। शिक्षा समाप्त करते ही उन्होंने अध्यापन का कार्य शुरु किया पर जब कभी अवसर मिलता वे किसी पत्र इत्यादि के लिये लेखादि लिखते। बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' में हिन्दी के विषय में उन्होंने उन दिनों बहुत कुछ लिखा। सन् १८८६ ई० में कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अवसर पर कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह से उनका परिचय हुआ तथा मालवीयजी के भाषा से प्रभावित होकर राजा साहब ने उन्हें दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बनने पर राजी कर लिया। मालवीयजी के लिए यह एक यशस्वी जीवन का शुभ श्रीगणेश सिद्ध हुआ।

सन् १९०५ ई० में मालवीयजी की हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना प्रत्यक्ष रूप धारण कर चुकी थी। इसी के प्रचार की दृष्टि से उन्होने १९०७ ई० मे 'अभ्युदय' की स्थापना की। मालवीय जी ने दो वर्ष तक इसका सम्पादन किया। प्रारम्भ में यह पत्र साप्ताहिक रहा, फिर सन् १९१५ ई० से दैनिक हो गया। 'लीडर' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की स्थापना का श्रेय भी मालवीय जी को ही है। 'लीडर' के हिन्दी संस्करण 'भारत' का आरम्भ सन् १९२९ में हुआ और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का हिन्दी-संस्करण 'हिन्दुस्तान' भी वर्षो से निकल रहा है। इनकी मूल प्रेरणा में मालवीयजी ही थे। 'लीडर' के एक वर्ष बाद ही मालवीय जी ने 'मर्यादा' नामक पत्र निकलवाने का प्रबन्ध किया था। इस पत्र में भी वे बहुत दिनों तक राजनीतिक समस्याओं पर निबन्ध लिखते रहे। यह पत्रिका कुछ दिनों तक ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी से प्रकाशित होती रही। २० जुलाई, १९३३ ई० को मालवीय जी की संरक्षता में 'सनातन धर्म' नामक पत्र निकला। अन्य पत्रों की भी मालवीय जी सदा सहायता करते रहे। वे पत्रों द्वारा जनता में प्रचार करने में बहुत विश्वास रखते थे और स्वयं वर्षों तक कई पत्रों के सम्पादक रहे। पत्रकारिता के अतिरिक्त वे विविध सम्मेलनों, सार्वजनिक सभाओं आदि में भी भाग लेते थे। कई साहित्यिक और धार्मिक संस्थाओं से उनका सम्पर्क हुआ तथाउनका सम्बन्ध आजीवन बना रहा। सन् १९०६ ई० में प्रयाग के कुम्भ के अवसर पर उन्होंने 'सनातन धर्म' का विराट् अधिवेशन कराया, जिसमें उन्होंने 'सनातन धर्म–संग्रह' नामक एक बृहत् ग्रन्थ तैयार कराकर महासभा में उपस्थित किया। कई वर्ष तक उस 'सनातन धर्म सभा' के बड़े–बड़े अधिवेशन मालवीयजी ने कराये। अगले कुम्भ में त्रिवेणी के संगम पर इनका 'सनातन धर्म सम्मेलन' भी इस सभा से मिल गया। सनातन धर्म सभा के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ काशी से 'सनातन धर्म' नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित होने लगा और लाहौर से 'मिश्रबन्धु' निकला। यह सब मालवीयजी के प्रयत्नों का ही फल था।

मालवीय जी प्राचीन संस्कृति के घोर समर्थक थे। सार्वजनिक जीवन में उनका पदार्पण विशेषकर दो घटनाओं के कारण हुआ-(१) अंग्रेजी और उर्दू के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हिन्दी भाषा को क्षति न पहुँचे, इसके लिये जनमत संग्रह करना और (२) भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्वों को प्रोत्साहन देना। आर्य समाज के प्रवर्तक तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने हिन्दी की जो सेवा की थी, मालवीय जी उसकी कद्र करते थे किन्तु धार्मिक और सामाजिक विषयों पर वे आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे। समस्त कर्मकाण्ड, रीतिरिवाज, मूर्तिपूजन आदि को वे हिन्दू–धर्मका मौलिक अंग मानते थे। इसलिए

धार्मिक मंच पर आर्यसमाज की विचारधारा का विरोध करने के लिए उन्होने जनमत सगठित करना आरम्भ किया। इन्ही प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले 'भारतधर्म महामण्डल' और पीछे 'अखिल भारतीय सनातन धर्म सभा' की नीव पड़ी। धार्मिक विचारों को लेकर दोनों सम्प्रदायों में चाहे जितना मतभेद रहा हो किन्तु हिन्दी के प्रश्न पर दोनों का मतैक्य था। शिक्षा और प्रचार के क्षेत्र मे सनातन धर्म सभा ने हिन्दी को उन्नत करने के लिए जो कुछ किया, उसका श्रेय मालवीय जी को ही है। मालवीय जी एक सफल पत्रकार थे और हिन्दी–पत्रकारिता से ही उन्होंने जीवन के कर्म–क्षेत्र में पदार्पण किया। वास्तव मे मालवीयजी ने उस समय पत्रों को अपने हिन्दी–प्रचार का प्रमुख साधन बना लिया था और हिन्दी भाषा के स्तर को ऊँचा किया था।

धीरे–धीरे उनका क्षेत्र विस्तृत होने लगा-पत्र–सम्पादन से धार्मिक संस्थाएँ औरइनसे सार्वजनिक सभाएँ विशेषकर हिन्दीके समर्थनार्थ और यहाँ से राजनीति की ओर। इस क्रम ने उनसे सम्पादन–कार्य छुड़वा दिया और वे विभिन्न संस्थाओ के सदस्य, संस्थापक अथवा संरक्षक के रूप में सामने आने लगे। पत्रकार के रूप में उनकी हिन्दी–सेवाकी यही सीमा है, यद्यपि लेखक की हैसियत से वे भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। हिन्दी के विकास में उनके योगदान का तब दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ।

हिन्दी की सबसे बड़ी सेवा मालवीयजी ने यह की कि उन्होंने उत्तर प्रदेश की अदालतों और दफ्तरों में हिन्दी को व्यवहार–योग्य भाषा के रूप में स्वीकृत कराया। इससे पहले केवल उर्दू ही सरकारी दफ्तरों और अदालतों की भाषा थी। यह आन्दोलन उन्होंने सन् १८९० ई० में आरम्भ किया था। तर्क और आँकड़ों के आधार पर शासकों को उन्होंने जो आवेदन पत्र भेजा, उसमें लिखा कि-"पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की प्रजा में शिक्षा का फैलना इस समय सबसे आवश्यक कार्य है और गुरुतर प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस कार्य में सफलता तभी प्राप्त होगी, जब कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में नागरी अक्षर जारी किये जायेंगे। अतएव अब इस शुभ कार्य में जरा–सा भी विलम्ब न होना चाहिये।" सन् १९०० ई० में गवर्नर ने उनका आवेदन पत्र स्वीकार किया और इस प्रकार हिन्दी को सरकारी कामकाज में स्थान मिला। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति की स्थिति में उपाधिवितरणोत्सवों पर प्रायः वे हिन्दी में ही भाषण करते थे। उन्होंने 'हिन्दी प्रकाश मण्डल' द्वारा उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी में पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था की।

सन् १८९३ ई० में मालवीय जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभाकी स्थापना में पूर्ण योग दिया। वे सभा के प्रवर्तकों में थे और आरम्भ से ही सभा को उनकी सहायता का सम्बल रहा। सभा के प्रकाशन, शोध और हिन्दी प्रसार–कार्य में मालवीय जी की रुचि बराबर बनी रही और अन्तिम दिन तक वे उसका मार्गदर्शन करते रहे।

हिन्दी–आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता होने के कारण मालवीयजी पर हिन्दी–साहित्य की अभिवृद्धि का दायित्व भी आ गया। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सन् १९१० ई० में उनकी सहायता से प्रयाग में 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई। उसी वर्ष अक्तूबर मे सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ, जिसके सभापति मालवीयजी थे। मालवीयजी विशुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे और हिन्दी, हिन्दुस्तानी को एक नही मानते थे। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो अद्वितीय कार्य किया है, उसका भी एक आवश्यक अंग साहित्यिक है। आपने सन् १९१६ ई० मे काशी हिन्दूविद्यालय की स्थापना की और कालान्तरो मे यह एशिया का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय बन गया। वास्तव में यह एक ऐतिहासिक कार्य ही उनकी शिक्षा और साहित्य–सेवा का अमिट शिलालेख है। इसके अतिरिक्त 'सनातन धर्म सभा' के नेता होने के कारण देश के विभिन्न भागो में जितने भी सनातन धर्म कालेजों की स्थापना हुई, वह मालवीयजी की सहायता से ही हुई। इनमें कानपुर, लाहौर, अलीगढ़ आदि स्थानो के सनातनधर्म कालेज उल्लेखनीय हैं। शिक्षा के माध्यम के विषय मे मालवीय जी के विचार बड़े स्पष्ट थे। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था कि "भारतीय विद्यार्थियों के मार्ग मे आने वाली वर्तमान कठिनाईयों का कोई अन्त नहीं है। सबसे बड़ी कठिनता यह है कि शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा न होकर एक अत्यन्त दुरूह विदेशी भाषा है। सभ्य संसार के किसी भी अन्य भाग में जन-समुदाय की शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा नहीं है।"

'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' जैसी साहित्यिक संस्थाओ की स्थापना द्वारा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण केन्द्रों के निर्माण द्वारा और सार्वजनिक रूप से हिन्दी आन्दोलन का नेतृत्व कर उसे सरकारी दफ्तरों मे स्वीकृत कराके मालवीयजी ने हिन्दी की जो सेवा की है, उसे साधारण नहीं कहा जा सकता। उनके प्रयत्नों से हिन्दी को यश, विस्तार और उच्च पद मिला किन्तु इस बात पर कुछ आश्चर्य होता है कि ऐसी शिक्षा–दीक्षा पाकर और विरासत में हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करके मालवीयजी ने एक भी स्वतन्त्र रचना नहीं की। उनके अग्रलेखों, भाषणों तथा धार्मिक प्रवचनों के संग्रह ही उनकी शैली और ओज पूर्ण अभिव्यक्ति के परिचायक के रूप में उपलब्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे उच्च कोटि के विद्वान, वक्ता और लेखक थे। सम्भव है बहुधन्धी होने के कारण उन्हें कोई पुस्तक लिखने का समय नहीं मिला। अपने जीवनकाल में उन्होंने जो कुछ हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए किया, सभी हिन्दी–प्रेमियों के लिए पर्याप्त है किन्तु उनकी निजी रचनाओं का अभाव खटकता है। उनके भाषणों और फुटकर लेखों का भी कोई अच्छा संग्रह आज उपलब्ध नहीं है। केवल एक संग्रह उनके जीवनकाल में ही सीताराम चतुर्वेदी ने प्रकाशित किया था, वह भी पुराने ढंग का है और उतना उपयोगी नहीं जितना होना चाहिए। लोकमान्य तिलक, राजेन्द्र बाबू और जवाहर लाल नेहरू के मौलिक या अनूदित साहित्य की तरह मालवीयजी की रचनाओं से हिन्दी की साहित्य–निधि भरित नहीं हुई। इसलिए उनके सम्पूर्ण कृतित्वको आँकते हुए यह मानना होगा कि हिन्दी–भाषा और साहित्य के विकास में मालवीयजी का योगदान क्रियात्मक अधिक है, रचनात्मक साहित्यकार के रूप में कम। महामना मालवीयजी अपने युग के प्रधान नेताओं में थे, जिन्होंने 'हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्थान' को सर्वोच्च स्थान पर प्रस्थापित

कराया।

-ज्ञा० द०

मधुमालती—यह हिन्दी का एक प्रसिद्ध सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है। इसके रचयिता मंझन थे। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ९५२ हिजरी (सन् १५४५ ई०) है। 'मधुमालती' नामक और भी रचनाओं का पता चलता है लेकिन मंझनलिखित 'मधुमालती' जायसी के 'पद्मावत' के पाँच वर्षों बाद की रचना है।

इसकी कथा का आधार लोक—प्रचलित कहानी रही है। इसमें ऐतिहासिक अथवा अर्ध—ऐतिहासिक व्यक्तियों या घटनाओं का योग नहीं है। इसकी कथा पूर्ण रूप से काल्पनिक है। अभी तक इसकी खण्डित प्रतियाँ ही मिली थी लेकिन हाल में डा० शिवगोपाल मिश्र को एकडला से इसकी एक अखण्डित प्रति मिलगयी है। वैसे अभी तक वैज्ञानिक ढंग से इसका सम्पादन नहीं हुआ है।

'मधुमालती' की कहानी अत्यन्त रोचक है। कहानी संक्षेप में इस प्रकार है-मनोहर कनैगढ़ (कनेसर) के राजा सूरजभान का पुत्र है। १२ वर्ष की उम्र में राजा सूरजभान उसे गद्दी पर बिठाता है। मनोहर को नृत्य—गीतादि से बहुत प्रेम था। नृत्य को देखकर एक दिन आधी रात को जब मनोहर सो जाता है तब अप्सराएँ उसे देखती हैं और महासर नगर की राजकुमारी मधुमालती के उपयुक्त समझ उसे उसकी चित्रसारी में पहुँचा देती हैं। जगने पर दोनों एक दूसरे को देख मोहित हो जाते हैं। दोनो एक दूसरे पर अपना प्रेम प्रकट करते हैं। दोनों अपना—अपना परिचय देते हैं। मधुमालती बतलाती है कि महारस नगर के राजा विक्रमराव की वह पुत्री है। दोनों बातें करते—करते एक ही सेज पर सो जाते हैं। अप्सराएँ फिर मनोहर को उसके घर पहुँचा देती हैं। इधर सखियाँ जब भोर में मधुमालती को देखती हैं तो सब कुछ समझ जाती हैं। मधुमालती भी उनसे कुछ छिपाती नहीं। मनोहर और मधुमालती एक दूसरे के वियोग से व्याकुल हो जाते हैं। मनोहर अपनी धाय सहजा से अपने प्रेम की बात बतलाता है। बाद में सबकी बात अनसुनीकर मनोहर जोगी के वेश में मधुमालती की खोज में निकल जाता है। वह नौका पर समुद्र यात्रा करता है। तूफान से उसकी नौका टूट जाती है और उसके साथ के सभी साथी इधर—उधर बह जाते हैं। एक लकड़ी के तख्ते पर राजकुमार बहता हुआ एक जनशून्य जंगल में जा लगता है। जंगल में सेज पर सोई हुई उसे एक सुन्दरी मिलती है। राजकुमार के पूछने पर वह अपना नाम प्रेमा बतलाती है। चितविश्रामपुर के राजा चित्रसेन की वह लड़की है। वह बतलाती है कि सखियों के साथ खेलते समय उसे एक राक्षस ने पकड़ लिया और उसे जंगल में पहुँचा दिया। जंगल में अकेली वह एक वर्ष से है। इस बीच उसने किसी भी मनुष्य को नहीं देखा। प्रेमा अपनी कहानी बतलाती है, जिससे मनोहर को पता चलता है कि मधुमालती बचपन से उसकी सखी है। प्रेमा के दिये हुए अस्त्र से मनोहर राक्षस को मारता है और प्रेमा को लेकर उसे चितविश्रामपुर पहुँच जाता है। उसके पिता मनोहर का स्वागत करते हैं। एक विशेष तिथि को मधुमालती अपनी माँ के साथ प्रेमा के घर आया करती थी। इस बार जब वह आयी तो प्रेमा के प्रयत्न से वह मनोहर से मिलती है। मधुमालती की माँ रूपमंजरी को जब यह पता चलता है तो वह मधुमालती को बुरा—भला कहती है और उसे शाप देती है। शापवश मधुमालती पक्षी बनकर उड़ जाती है। पक्षी के रूप में उड़ती हुई मधुमालती मानगढ़ के कुँवर ताराचन्द को देखती है। वह उसे पकड़ लेता है। ताराचन्द को वह अपनी कहानी बतलाती है। ताराचन्द प्रतिज्ञा करता है कि मनोहर से वह उसका मिलन करायेगा। पिंजड़े में लेकर उसे ताराचंद अपने साथियों सहित महासर नगर पहुँचता है। मधुमालती के माता—पिता को यह पता चलता है और उसकी माँ उसे शापमुक्त करती है। ताराचंद से विवाह का प्रस्ताव करने पर वहकहता है कि मधुमालती उसकी बहन जैसी है। मधुमालती की माँ सब हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। अपनी माँ से छिपाकर मधुमालती भी पक्षी के रूप में बिताये हुए अपने एक वर्ष की विरह दशा का वर्णन लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। यह वर्णन बारहमासे के रूप में है। संयोगवश मनोहर उसी समय जोगी के वेश में प्रेमा के नगर में पहुँचता है। प्रेमा और मनोहर का पत्र पर मधुमालती के पिता सदल बल प्रेमा के नगर में पहुँचते हैं। मनोहर और मधुमालती का ब्याह होता है। ताराचन्द प्रेमा को देखकर मुग्ध होता है और दोनों का भी विवाह हो जाता है। कुछ दिनों वहाँ रहकर मनोहर तथा ताराचन्द अपनी पत्नियों को लेकर अपने—अपने नगर को चले जाते हैं।

मंझन ने बड़े रोचक ढंग से कहानी कही है। कहानी कहने में मंझन ने भारतीय कथानक तथा काव्य-रूढ़ियों का पूर्ण रूप से प्रयोग किया है। मंझन ने अपने गुरु को बड़ी भक्ति के साथ स्मरण किया है। अन्य सूफी कवियों की भाँति मंझन ने भी कुछ स्थलों पर 'मधुमालती' में आध्यात्मिक तत्वों का समावेश किया है। मधुमालती का वर्णन कई जगहों पर परोक्ष सत्ता के रूप में किया गया है। एक जगह मनोहर, मधुमालती के स्वरूप का वर्ण करते हुए कहता है कि वही सब कुछ है। समस्त सृष्टि, शिव, त्रिभुवन के प्राणी, राजा, रंक सभी में वही रूप अभिव्यक्त हो रहा है। (डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित 'मधुमालती', पृ० ३८)। बहुत जगहों पर मंझन ने अपने सूफी दर्शन की पूर्ण जानकारी का परिचय दिया है। ('मधुमालती' पृ० ४, ५, ११, ३७, ३८ आदि) अन्य सूफी कवियों की तरह मंझन ने भी प्रेम को ही सब कुछ माना है। ('मधुमालती' पृ० ११)। मंझन हिन्दू विचारधारा से भी प्रभावित थे। पूर्वजन्म, कर्मफल, पिण्डदान आदि की चर्चा 'मधुमालती' में की गयी है। मध्ययुगीन सन्तों के समान मंझन ने भी स्त्रियों की निन्दा की है। उन्हें पाप का घर कहा है तथा उनसे बचने की चेतावनी दी है।

'मधुमालती' में पाँच चौपाइयों के बाद दोहे का प्रयोग है। 'मधुमालती' की उपमान—योजना में भारतीय परम्परा को ध्यान में रखा गया है। मंझन ने एक जगह श्रृंगार को रसराज कहा है ('मधुमालती' पृ० १५)। काव्य की अन्य विशेषताएँ भी 'मधुमालती' में देखने को मिलती हैं लेकिन मनोहर के चरित्र—चित्रण में मंझन अत्यन्त असफल रहे। मनोहर का चरित्र कहीं—कहीं हास्यकर हो उठा है। जायसी से अगर तुलना करें तो मंझन को साधारण कवि ही कहना पड़ेगा।

सहायक ग्रन्थ-मधुमालती : सम्पादक डा० शिवगोपाल

मिश्र, वाराणसी, नवम्बर, १९५७/ जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, सं० २०१३ वि०।]

-रा० पू० ति०

मधुशाला-'बच्चन' की प्रसिद्ध काव्य-कृति, जो १९३५ ई० में प्रकाशित हुई। अकेले इस एक ग्रन्थ ने जिस प्रकार 'बच्चन' को इतना लोकप्रिय बनाया, वैसे उदाहरण इतिहास में विरल ही मिलेंगे। 'मधुशाला' लिखने के पूर्व 'बच्चन' 'खैयाम की मधुशाला' नाम से 'रूबाइयात' का अनुवाद प्रस्तुत कर चुके थे। यह मानो 'मधुशाला' लिखने की तैयारी थी। इस कृति में गिने-चुने प्रतीकों को लेकर कवि ने अपनी भाव-धारा को व्यक्त किया है, जो जीवन को भोगने की हामी है। 'मधुशाला' में यौवन का आवेग है तो दार्शनिक चिन्तन की मुद्रा भी है। सामान्य बोलचाल की भाषा में हाने के कारण 'मधुशाला'.के मुक्तक असंख्य पाठकों और श्रोताओं के निकट अत्यन्त प्रिय हो गये। कवि-सम्मेलनों में 'मधुशाला' का पाठ घण्टों चला करता और श्रोताओं को तृप्ति न होती। 'बच्चन' और हालावाद में सम्बन्ध स्थापित करने में 'मधुशाला' का ही सर्वाधिक योग रहा है।

मधुसूदनदास-यह इटावानिवासी माथुर चौबे और रामानुज सम्प्रदाय के वैष्णव थे। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'रामाश्वमेध' है, जिसका निर्माण सन् १७८२ ई० (आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार, सं० १८३९) को गोविन्ददास नामक किसी व्यक्ति की प्रेरणा से हुआ था। यह ग्रन्थ 'पद्मपुराण' के पातालखण्ड में वर्णित रामाश्वमेघ के कथानक पर आधारित है। इसके अन्तर्गत लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या लौटते हुए राम की भरत से नन्दिग्राम में भेंट, अयोध्या आगमन, राज्याभिषेक, अश्वमेघ यज्ञ का उपक्रम, शत्रुघ्न का यज्ञाश्व के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान, वीरमणि द्वारा हयग्रहण, शत्रुघ्न मूर्च्छा, हयमोक्ष, सुरथ द्वारा यज्ञाश्व बन्धन, राम सुरथ संवाद, लव-कुश उत्पत्ति, लव द्वारा भरत की पराजय, हनुमान् मूर्च्छा, लव-कुश विजय,युद्ध निवारण, सीताराम समागम, यज्ञपूर्ति आदि प्रसंगों का विस्तृत एवं रोचक वर्णन 'रामचरितमानस' की शैली पर हुआ है। इसकी भाषा अवधी है किन्तु ब्रजप्रदेश में निर्मित होने से स्थानीय भाषा की छाप पड़ी है। काव्य-सौष्ठव एवं प्रबन्ध कुशलता की दृष्टि से मधुसूदनदास की यह कृति 'रामचरितमानस' से इतनी मिलती जुलती है कि इसे निस्संकोच उसका परिशिष्ट बनाया जा सकता है। इस प्रसंग पर मधुसूदनदास के पहले और बाद को अनेक ग्रन्थ लिखे गये किन्तु भाषाका जैसा लालित्य और काव्य की जैसी छटा इस ग्रन्थ में दिखाई पड़ती है, उसकी छाँह भी अन्य कवि नहीं छू सके।

[सहायक ग्रन्थ-हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल खोज रिर्पोट : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।]

-भ० प्र० सिं०

मनसाराम-ये टेढ़ा गाँव (जिला उन्नाव) के निवासी थे। इनका एक संकलन 'मनसाराम के कवित्त' नाम से उपलब्ध है। इसमें कृष्णलीला, नायिका-भेद तथा श्रृंगारविषयक छन्द हैं। 'दि० भू०' में भी इनके विरह तथा नायिका-भेद प्रसंग पर दो कवित्त हैं।

-सं०

मनिकंठ-ये आजमपुर के रईस निरतनलाल अग्रवाल और नगरा (जिला गाजीपुर) के राजा फकीर सिंह के आश्रय में रहे। खोज विवरण (१९४४ ई०) में इनको मिश्र कहा गया है, पर 'कवीन्द्र चन्द्रिका' के साक्ष्य पर इनको त्रिपाठी माना जा सकता है। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य माना गया है। इनके रीति-परम्परा के श्रृगारिक तथा आलंकारिक छन्द कुमारिणि के 'रसिक रसाल' तथा गोकुल कवि के 'दिग्विजय भूषण' में उदाहृत हैं। इनकी एक रचना 'बैताल पचीसी' मानी गयी है।

[सहायक ग्रन्थ-दि० भू० (भूमिका)।]

-सं०

मनियार सिंह-जन्म १७५० ई० के लगभग काशी में। इनके पिता श्यामसिंह यहीं के मूल निवासी थे। 'हनुमत पचीसी' से यह विदित होता है कि इन्होंने कुछ दिन बलिया में भी बिताये थे। इनके काव्य-गुरु कृष्णलाल कवि थे और मुख्य आश्रयदाता रामचन्द्र पण्डित। अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं इन्होंने 'यार' उपनाम का प्रयोग छन्दानुरोध से किया है। इनके लिखे चार ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं-'सौन्दर्य लहरी' (१७८६ ई०), 'महिम्न भाषा' अथवा 'भावार्थ चन्द्रिका' (१७९४ई०), 'हनुमत पचीसी' और 'सुन्दर काण्ड रामायण'। इनमें से प्रथम दो क्रमशः शिव-पार्वती और अन्तिम दो हनुमान् तथा राम के भक्ति-विषयक हैं। 'महिम्न भाषा' पुष्पदत्त के 'महिम्न स्तोत्र' का भावानुवाद है, शेष तीन स्वतन्त्र कृतियाँ हैं। ये रचनाएँ इनकी अखण्ड शिव एवं रामभक्ति सिद्ध करती हैं। रामभक्ति-साधना में शिवोपासना एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता रहा है अतः मनियार सिंह की शिवसम्बन्धी रचनाएँ वैष्णव भावापन्न ही मानी जायेंगी। इनकी भाषा संस्कृतमिश्रित ब्रज है। अनुप्रास की छटा से अलंकृत होने के साथ ही वह अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है। परवर्ती भक्तिकाव्य में ऐसी ओजपूर्ण शब्दावली इने-गिने कवियों की ही रचनाओं में मिलती है।

[सहायक ग्रन्थ-हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; खोज रिपोर्ट : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।]

-भ० प्र० सिं०

मनीराम मिश्र-'शिवसिंह सरोज' के अनुसार कवि का समय सन् १७८२ ई० है। ये कन्नौज के निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र कान्यकुब्ज कात्यायनगोत्रीय ब्राह्मण अनिरुद्ध के शिष्य थे। इन्होंने 'आनन्दमंगल' और 'छन्द छप्पनी' नामक दो रचनाएँ कीं। दोनों का रचना-काल सन् १७७२ ई० है। 'आनन्दमंगल', 'श्रीमद्भागवत' के दशम् स्कन्ध का पद्यानुवाद है। 'छन्द छप्पनी' के केवल ५६ छन्दों में कवि ने पिंगल के समग्र विषय-विस्तार को बड़ी सफाई से समझा दिया है। इस दृष्टि से इसे छन्द-शास्त्र का सूत्र-ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत गण-भेद, गण-फलाफल तथा देवता, गुरु-लघु-लक्षण, गुरु-लघु संज्ञा, छन्दोभंग, वर्णवृत्त, और मात्रावृत्त पर संक्षिप्त किन्तु सम्यक् विचार किया गया है। कवि का विषय-विवेचन साफ और स्पष्ट है, जिसके कारण यह रचना बहुत अनूठी बन पड़ी है किन्तु सब कुछ होते हुए भी कवि की भाषा गम्भीर विषय-प्रतिपादन में सक्षम नहीं दिखाई पड़ती। हिन्दी पिंगल के इतिहास में मनीराम का महत्त्वपूर्ण

स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (त्रै० ३, १२); मि० वि०; शि० स०; दि० भू०।]

—रा० त्रि०

मनु—भारतीय वाङ्मय में सृष्टि के आदि पुरुष के रूप में परिकल्पित। प्रसादकृत 'कामायनी' के प्रमुख पात्र।

महाभारत में ८ मनुओं का उल्लेख है। इनमें से विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु का सम्बन्ध 'कामायनी' के नायक से जोड़ा जा सकता है। यों प्रसाद की कथा का मूल स्रोत 'शतपथ ब्राह्मण' है, जिसमें मनु को श्रद्धादेव कहकर अभिहित किया गया है। भागवत में भी इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

'कामायनी' मे मनु का चित्रण देवताओं से इतर मानवीय सृष्टि के व्यवस्थापक के रूप में विशेषतः किया गया है। देव-सृष्टि के संहार के बाद वे चिन्ता-मग्न बैठे हुए हैं। श्रद्धा की प्रेरणा से वे जीवन में फिर से रुचि लेते हैं पर कुछ काल के बाद श्रद्धा से असन्तुष्ट होकर उसे छोड़कर वे चले जाते हैं। अपने भ्रमण में वे सारस्वत प्रदेश जा पहुँचते हैं, जहाँ की अधिष्ठात्री इड़ा थी। इड़ा के साथ वे एक नयी वैज्ञानिक सभ्यता का नियोजन करते हैं पर उनके मन की मूल अधिकार-लिप्सा अभी गयी नहीं है। वे इड़ा पर भी अपना समूचा अधिकार चाहते हैं। फलस्वरूप प्रजाविद्रोह करती है, जिसमें मनु घायल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र मानव को लिए हुए मनु की खोज में सारस्वत प्रदेश तक आ जाती है, जहाँ दोनों का मिलन होता है। मनु अपनी पिछली भूलों के लिए पश्चात्ताप करते हैं। श्रद्धा मानव को इड़ा के संरक्षण में छोड़कर, मनु को लेकर हिमालय की उपत्यका में चली जाती है, जहाँ श्रद्धा की सहायता से मनु आनन्द की स्थिति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रसाद ने मनु के दोनों पक्षों—श्रद्धा और इड़ा के सामंजस्य को प्रतिपादित किया है।

—सं०

मन्नन द्विवेदी (गजपुरी)—जन्म १८८४ ई० में, गजपुर ग्राम, जिला गोरखपुर में; मृत्यु १९२१ ई०। शिक्षा क्रमशः जुबली स्कूल, गोरखपुर, क्वींस कालेज, काशी और म्योर कालेज प्रयाग में हुई। सरकारी नौकरी के सिलसिले में आपने तहसीलदार आदि कई पदों पर कार्य किया। आप बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। गद्य और पद्य दोनों विधाओं में आपकी समान गति थी। आप द्विवेदी युग के उन विशिष्ट गद्यलेखकों में अग्रणी हैं, जिनकी भाषा शैली नवीनता में अपने युग से कहीं आगे थी। सूफी सन्त मंसूर के सम्बन्ध में लिखा आपका निबन्ध इसका उदाहरण प्रस्तुत करता है। आपके इस तरह के निबन्धों में, छोटे-छोटे चुस्त वाक्यों में वक्रता और मुहावरेदानी के साथ-साथ ओज और शक्ति का दुर्लभ समन्वय हुआ है। आपकी कविताओं में भी प्रकृति-प्रेम और देश-प्रेम की अभिव्यक्ति जिस शैली में हुई है, वह अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इन्दु', 'प्रताप' 'स्वदेश' आदि पत्र-पत्रिकाओं में आपकी अनेक कविताएँ प्रकाशित हुई हैं, जिनका अभी तक संकलन नहीं हुआ है।

कृतियाँ—'प्रेम' (खण्डकाव्य), 'विनोद' (बालोपयोगी काव्यकृति); उपन्यास : 'रामलाल' और 'कल्याणी', 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' (दो खण्ड, प्र० मनोरंजन पुस्तक माला); गद्यरचना : 'भीषण ह्रास', 'आर्य-ललना', 'जमशेदजी नौसेरवानजी ताताका जीवन-चरित्र'।

—श्री० शु०

मन्नालाल द्विजपंडित बनारसी—इनके तीन संग्रह ग्रन्थों—श्रृंगार सुधाकर, श्रृंगार सरोज और सुन्दरी सर्वस्व का उल्लेख होता है। श्रृंगार सुधाकर में १५०० कवित्तों का सुन्दर संकलन है। यह ग्रन्थ लाइट प्रेस, बनारस से सन् १८८७ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ था। इनका दूसरा ग्रन्थ श्रृंगार सरोज है, जिसमें १५०० श्रृंगारिक दोहों का चयन हुआ है। इनके तीसरे संकलन ग्रन्थ सुंदरी सर्वस्व की रचना श्री महाराज द्विजराज श्री प्रताप नारायण सिंह बहादुर अवधेश के आदेशानुसार हुई थी। इस की भूमिका में कवि ने स्वयं इसका उल्लेख किया है। इसमें १५०० श्रृंगारिक छन्दों का संग्रह है और रीति परम्परा के परवर्त्ती कवियों के छन्दो का विशेष चयन हुआ है। रीति परम्परा के जिन १०८ उत्कृष्ट कवियों के छन्दों का संकलन इसमें हुआ है, उनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं :— श्रीपति, श्रीधर, केशव कमलापति, कविराज, ग्वाल, घनश्याम, जगदीश, जसवन्त, ठाकुर, पारस, पँगु, नृपशंयु, नूर, नाथ, ब्रह्म, बेनी प्रवीन, मतिराम, रसलीन, हनुमान, रसखान, सेवक सुन्दर आदि।

यह ग्रन्थ बनारस के अमर यंत्रालय में श्री अम्बिका प्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा सं० १९४२ में मुद्रित हो चुका है। इस ग्रन्थ के संकलन में द्विज कवि ने अपने शिष्य हनुमान कवि और कमलापति से भी सहायता ली है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने इसका कथन इस प्रकार किया है—

शिष्य सुकवि हनुमान को, कमलापति बुधिमान।
तिहिं मो कहे इहिं ग्रन्थ मै दीन्ही मदत महान।।

इनकी सम्पादित पुस्तकें निम्नलिखित हैं—श्रृंगार लतिका (द्विजदेव) श्रृंगार चालीसी (द्विजदेव)।

[सहायक ग्रन्थ—सुन्दरी सर्वस्व, श्रृंगार सुधाकर, श्रृंगार सरोज, ब्रजभाषा रीति शास्त्र ग्रन्थ-कोश-पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी।]

—कि० ला०

मन्मथनाथ गुप्त—जन्म १९०८ ई० में वाराणसी में। क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक क्रियाशील सदस्य रहे, जिन दिनों की चर्चा बाद में उन्होंने अपनी पुस्तक 'क्रान्तियुग के संस्मरण' (१९३७ ई०) में की है। वे संस्मरण इतिहास के साथ-साथ अकाल्पनिक गद्य-शैली के अच्छे नमूने भी हैं। आपने क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक विधिवत इतिहास भी प्रस्तुत किया है—'भारत में सशस्त्र क्रान्तिकारी चेष्टा का इतिहास' (१९३९ ई०)।

इन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में लिखा है। आपके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या ८० के लगभग है। कथा साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में आपका कार्य विशेष महत्त्व का है। 'बहता पानी' (१९५५ ई०) उपन्यास क्रान्तिकारी चरित्रों को लेकर चलता है। समीक्षाकृतियों में 'कथाकार प्रेमचन्द' (१९४६ ई०), 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' (१९५३ ई०) तथा 'साहित्य, कला, समीक्षा' (१९५४ ई०) अधिक ख्यात हुई हैं।

मनोविश्लेषण में आपकी काफी रुचि रही है। आपके कथा-साहित्य और समीक्षा दोनों में ही मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का आधार ग्रहण किया गया है। काम से सम्बन्धित आपकी कई कृतियाँ भी हैं, जिनमें से 'सेक्स का प्रभाव' (१९४६ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सम्प्रति आप केन्द्रीय सरकार के प्रकाशन विभाग से सम्बद्ध हैं।

—सं०

मर्यादा—नवम्बर, सन् १९१० ई० में कृष्णकान्त मालवीय ने 'अभ्युदय' कार्यालय, प्रयाग से इसे प्रकाशित किया इसके प्रथम अंक का प्रथम लेख 'मर्यादा' शीर्षक से श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने लिखा। इस मासिक पत्रिका को प्रारम्भ से ही हिन्दी के तत्कालीन समस्त शीर्षस्थ विद्वानों, लेखकों एवं कवियों का सहयोग मिला। प्रथम अंक में सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, माधव शुक्ल; बालकृष्ण भट्ट, राय देवी प्रसादपूर्ण, श्रीधर पाठक, मिश्रबन्धु आदि की रचनाएँ प्रकाशित हुई। प्रथमांक में आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'एक उपमापर दो हजार अशर्फियाँ' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित है।

इसी पत्रिका में पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी का सत्य घटनामूलक उपन्यास 'नौलखा-हार' धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ और राजा चेतसिंहसम्बन्धी चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद की लेखमाला निकली। १० वर्षों तक इस पत्रिका को प्रयाग से निकालने के बाद कृष्णकान्त मालवीय ने इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल, काशी को सौंप दिया। सन् १९२१ ई० से श्री शिवप्रसाद गुप्त के संचालन में और सम्पूर्णानन्दजी के सम्पादकत्व में 'मर्यादा' ज्ञानमण्डल से प्रकाशित हुई। असहयोग आन्दोलन में उनके जेल चले जाने पर धनपतराय (प्रेमचन्द) स्थानापन्न सम्पादक हुए पत्रिका का वार्षिक मूल्य ५) तथा एक प्रति का ।।) था। इसका आकार १०x७।। था। जब 'मर्यादा' सम्पूर्णानन्दजी के सम्पादकत्व में ज्ञानमण्डल से निकलने लगी तो इसका स्वरूप और भी निखर गया था। थी तों यह राजनीतिकप्रधान पत्रिका पर इसमें विविध विषयों पर अधिकारी विद्वानों के उच्चस्तर के लेख प्रकाशित हुआ करते, थे। प्रत्येक अंक में रंगीन चित्र के अतिरिक्त साहित्य-सुमन-संचय, सामयिक प्रसंग, साहित्य-परिचय, सम्पादकीय, स्थायी स्तम्भों के अन्तर्गत उच्चकोटि की पाठ्यसामग्री प्रकाशित होती थी। सम्पादकीय स्तम्भ में राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर सारगर्भित टिप्पणियाँ रहतीं थीं।

'मर्यादा' अपने समय की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका थी। उसे तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखकों, कवियों तथा विद्वानों का सहयोग प्राप्त था। सर्वश्री पद्मसिंह शर्मा, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्रेमचन्द, 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त इन्द्र विद्यावाचस्पति, लाला भगवानदीन, भाई परमानन्द, हरिभाऊ उपाध्याय, राजा महेन्द्रप्रताप, 'उग्र', उदयशंकर भट्ट भवानीदयाल सन्यासी आदि इसके स्थायी लेखकों में थे। प्रेमचन्द्रजी की आरम्भिक कहानियाँ इसमें प्रकाशित हुई। सन् १९२३ ई० में यह पत्रिका अनिवार्य कारणों से बन्द हो गयी। इसका अन्तिम अंक प्रवासी विशेषांक के रूप में बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन में निकला, जो अपनी विशिष्ट लेख-सामग्री के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अन्तिम अंक में पाठकों से निवेदन करते हुए डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी ने लिखा : "इस अंक के साथ 'मर्यादा' आपसे विदा होती है। कई मित्रों ने जो साहित्य प्रेमी और देश की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति के मर्मज्ञ हैं, यह विश्वास दिलाने की कृपा की है कि 'मर्यादा' ने लोक तथा साहित्य-सेवा का जो कुछ प्रयत्न किया है, वह निष्फल नहीं गया है। हमको खेद है कि अनिवार्य कारण से हम आपको इस सेवा से वंचित करते हैं।

—ल० श० व्या०

मलिक महुम्मद जायसी—हिन्दी के प्रसिद्ध सूफी कवि, जिनके लिए केवल 'जायसी' शब्द का प्रयोग भी, उनके उपनाम की भाँति, किया जाता है। यह इस बात को भी सूचित करता है कि वे जायस नगर के निवासी थे। इस सम्बन्ध में उनका स्वयं भी कहना है, "जायस नगर मोर अस्थानू। नगरक नाँव आदि उदयानू। तहाँ देवस दस पहुने आएऊँ। भा वैराग बहुत सुख पाएऊँ।।" ('आखिरी कलाम' १०)। इससे यह भी पता चलता है कि उस नगर का प्राचीन नाम 'उदयान' था, वहाँ वे एक 'पहुने' जैसे दस दिनों के लिए आये थे, अर्थात् उन्होंने अपना नश्वर जीवन प्रारम्भ किया था अथवा जन्म लिया था और फिर वैराग्य हो जाने पर वहाँ उन्हें बहुत सुख मिला था। जायस नाम का एक नगर उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले मे आज भी वर्तमान है, जिसका एक पुराना नाम 'उद्याननगर' 'उद्यानगर' या 'उज्जालिक नगर' बतलाया जाता है तथा उसके 'कंचाना खुर्द' नामक मुहल्ले में मलिक महम्मद जायसी का जन्म-स्थान होना भी कहा जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि जायसी की जन्म-भूमि गाजीपुर में कहीं हो सकती है किन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। जायस के विषय में कवि ने अन्यत्र भी कहा है, "जायस नगर धरम अस्थानू। तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू" ('पद्मावत' २३)। इससे जान पड़ता है कि वह उस नगर को 'धर्म का स्थान' समझता था और वहाँ रहकर उसने अपने काव्य 'पद्मावत' की रचना की थी। यहाँ पर नगर का 'धर्म स्थान' होना कदाचित् यह भी सूचित करता है कि जनश्रुति के अनुसार वहाँ उपनिषद्कालीन उद्दालक मुनि का कोई आश्रम था। गार्सां द तासी नामक फ्रेंच लेखक का तो यह भी कहना है कि जायसी को प्रायः 'जायसीदास' के नाम से अभिहित किया जाता रहा है।

जायसी की किसी उपलब्ध रचना के अन्तर्गत उसकी निश्चित जन्म-तिथि अथवा जन्म-संवत् का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। एक स्थल पर वे कहते है, "भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कवि बदी" ('आखिरी कलाम' ४)। जिसके आधार पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्म सम्भवतः ८०० हि० एवं ९०० हि० के मध्य, अर्थात् सन् १३९७ ई० और १४९४ ई० के बीच किसी समय हुआ होगा तथा तीस वर्ष की अवस्था पा चुकने पर उन्होंने काव्य-रचना का प्रारम्भ किया होगा। 'पद्मावत' का रचनाकाल उन्होंने ९४७ हि० ("सन् नौ से सैंतालीस अहै"—'पद्मावत' २४)। अर्थात् १५४० ई० बतलाया है। 'पद्मावत' के अन्तिम अंश (६५३) के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसे लिखते समय तक वे वृद्ध हो चुके थे, "उनका शरीर क्षीण हो गया था, उनकी दृष्टि मन्द पड़ गयी थी, उनके दाँत जाते रहे थे उनके कानों में सुनने की शक्ति

नहीं रह गयी थी, सिर झुक गया था, केश श्वेत हो चले थे तथा विचार करने तक की शक्ति क्षीण हो चली थी" किन्तु इसका कोई संकेत नहीं है कि इस समय वे कितने वर्ष की अवस्था तक पहुँच चुके थे। जायसी ने 'आखिरी कलाम' का रचनाकाल देते समय भी केवल इतना ही कहा है, "नौ से बरस छतीस जो भए।- तब यह कविता आखर कहे' ('आ० क०' १३), अर्थात् ९३६ हि० अथवा सन् १५२९ ई० के आ जाने पर मैने इस काव्य का निर्माण किया। 'पद्मावत' ('पद्मावत' १३-१७) में उन्होंने सुलतान शेरशाह सूर (सन् १५४०-४५ ई०) तथा 'आखिरी कलाम' ('आ० क०' ८) में मुगल बादशाह बाबर (सन् १५२६-३० ई०) के नाम शाहे वक्त के रूप में अवश्य लिये हैं और उनकी न्यूनाधिक प्रशंसा भी की है, जिससे सूचित होता है कि वे उनके समकालीन थे।

मनेरशरीफ (जिला पटना, बिहार) वाले खानकाह के पुस्तकालय में फारसी अक्षरों में लिखित पुरानी प्रतियों का एक संग्रह मिला है, जिसमें जायसी की 'अखरावट' की भी एक प्रति मिली है। उसमें उसका लिपिकाल जुमा ८ जुल्काद सन् ९११ हि० अर्थात् सन् १५०५ ई० दिया गया जान पड़ता है, जो प्रत्यक्षतः पुराना समय है। प्रोफेसर सैयद हसन असकरी का अनुमान है कि वह वस्तुतः 'अखरावट' का रचनाकाल होगा, जो प्रतिलिपि करते समय मूल प्रति से ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया होगा। तदनुसार उनका कहना है कि यदि वह जायसी की सर्वप्रथम रचना सिद्ध की जा सके तो उनके जन्म-संवत् का पता लगा लेना हमारे लिए असम्भव नहीं रह जाता। सन् ९११ हि०, अर्थात् सन् १५०५ ई० में उपर्युक्त ३० वर्ष का समय घटाकर सन् ८८१ हि० अर्थात् सन् १४७५ ई० लाया जा सकता है और यह सरलतापूर्वक बतलाया जा सकता है कि जायसी का जन्म इसके आस-पास हुआ होगा। इन प्रसंग में सन् ९१०-११ हि० के उस प्रचण्ड भूकम्प का भी उल्लेख किया गया है, जिसकी चर्चा अब्दुल्लाह की 'तारीख दाऊदी' तथा बदायूनी की 'मुन्तखबुत्तारीख' जैसे इतिहास-ग्रन्थों में की गयी है और उसके साथ जायसी द्वारा 'आखिरी कलाम' (४) में वर्णित भूकम्प की समानता दिखलाकर उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि का प्रयत्न भी किया गया है परन्तु यहाँ उपर्युक्त "तीस बरिस ऊपर कवि बदी" के अनन्तर आये हुए "आवत उधतभार बड़हाना' के 'आवात' शब्द की ओर कदाचित् यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। यदि उसका अभिप्राय 'जन्म लेते समय' माना जाये तो उससे ग्रन्थ-रचना के समय का अर्थ नहीं लिया जा सकता। अतः जब तक अन्य स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध न हों, जन्मसम्बन्धी उपर्युक्त धारणा सन्दिग्ध बनी रहती है। इसी प्रकार सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी ने किसी काजी सैयद हुसेन की अपनी नोटबुक में दी गयी जिस तारीख '५ रज्जब ९४९ हि०) (सन् १५४२ ई०) का मलिक मुहम्मद जायसी की मृत्यु तिथि के रूप में उल्लेख किया है (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५ पृ० ५८), उसे भी तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक उसका कहीं से समर्थन न हो जाय।

जायसी के नाम के पहले 'मलिक' उपाधि लगी रहने के कारण कहा जाता है कि उनके पूर्वज ईरान से आये थे और वहीं से उनके नामों के साथ यह जमींदार सूचक पदवी लगी आ रही थी किन्तु उनके पूर्वपुरुषों के नामों की कोई तालिका अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। उनके पिता का नाम मलिक राजे अशरफ बताया जाता है और कहा जाता है कि वे मामूली जमींदार थे और खेती करते थे। स्वय जायसी का भी खेती करके जीविका-निर्वाह करना प्रसिद्ध है। कुछ लोगों का अनुमान करना कि 'मलिक' शब्द का प्रयोग उनके किसी निकट सम्बन्धी के 'बारह हजार का रिसालदार' होने के कारण किया जाता होगा अथवा यह कि सम्भवतः स्वयं भी उन्होंने कुछ समय तक किसी सेना में काम किया होगा, प्रमाणों के अभाव में सन्दिग्ध हो जाता है। सैयद आले का मत है कि वे "मोहल्ला गौंरियाना के निगलामी मलिक खानदान से थे" और "उनके पुराने सम्बन्धी मुहल्ला कंचाना में बसे थे" और (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५, पृ० ४९)। उन्होंने यह बतलाया है कि जायसी का मलिक कबीर नाम का एक पुत्र भी था। जायसी ने 'पद्मावत' (२२) में अपने चार मित्रों की चर्चा की है, जिनमें से युसुफ मलिक को 'पण्डित और ज्ञानी' कहा है, सालार एवं मियां सलोने की युद्ध-प्रियता एवं वीरता का उल्लेख किया है तथा बड़े शेख को भारी सिद्ध कहकर स्मरण किया है और कहा है कि ये चारों मित्र उनसे मिलकर एक चिह्न हो गये थे परन्तु उनके पूर्वजों एवं वंशजों की भाँति इन लोगों का भी कोई प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं है।

जायसी ने अपनी कुछ रचनाओं में अपनी गुरु-परम्परा का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है, "सैयद अशरफ, जो एक प्रिय सन्त थे मेरे लिए उज्जवल पन्थ के प्रदर्शक बने और उन्होंने प्रेम का दीपक जलाकर मेरा हृदय निर्मल कर दिया। उनका चेला बन जाने पर मैं अपने पाप के खारे समुद्री जल को उन्हीं की नाव द्वारा पार कर गया और मुझे उनकी सहायता से घाट मिल गया, वे जहाँगीर चिश्ती चाँद जैसे निष्कलंक थे, संसार के मखदूम (स्वामी) थे और मैं उन्हीं के घर का सेवक हूँ" (पद्मावत १८)। "सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती के वंश में निर्मल रत्न जैसे शेख हाजी हुए तथा उनके अनन्तर शेख मुबारक और शेख कमाल हुए" (वही १९)। अपनी 'आखिरी कलाम' नामक रचना में भी उन्होंने सैयद अशरफ का नाम लगभग इसी प्रकार लिया है तथा अपने को उनके 'घर का मुरीद' बतलाया है (दे० 'आ० क०' ९)। 'अखरावट' (२६) से भी सूचित होता है कि इन्हीं गुरु के द्वारा निर्दिष्ट 'शरीअत' की शिक्षा ग्रहण कर वे "नाव पर चढ़े थे" परन्तु सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती, जो 'शिमनानी' नाम से भी प्रसिद्ध हैं और जिनका निवास-स्थान कछोछा (जिला फैजाबाद) बताया जाता है, सम्भवतः सन् १४०१ ई० में ही मर चुके थे। अतः उनके द्वारा जायसी का 'चेला' बनाया जाना ("लीन्ह कइ चेला") सम्भव नहीं जान पड़ता। अधिक सम्भव यह है कि जायसी को उनके वंशज या प्रशिष्य शेख मुबारक से प्रत्यक्ष प्रेरणा मिली होगी। इन्हें शेख मुबारक बोदला भी कहा जाता है। इस आधार पर इनके "हौं उन्हके घर बांद" ('पद्मावत' १८) एवं "तिनघर हौं मुरीद सो पीरु" ('आ० क०' ९) कथन सार्थक हो जाते हैं। हाल में उपलब्ध 'चित्ररेखा' नामक रचना में भी, जो जायसी द्वारा रचित कही जाती है, सैयद अशरफ के सम्बन्ध में केवल "हौं मुरीद सेवौं तिन बारा" कहा गया है तथा शेख मुबारक को "करिआ" (कर्णधार) तथा शेख जमाल को "खेवट" (नाव खेनेवाला) कहा गया है। ये शेख जमाल शेख

कमाल ही हैं।

जायसी ने अपने 'मोहदी' या महदी गुरु शेख बुरहान का भी उल्लेख किया है और कहा है कि उनका स्थान कालपी नगर था। उनका कहना है, "मैंने खेनेवाले महदी की सेवा की है, जिनका सेवक वेग के साथ चला करता है।" शेख बुरहान ने पथ-प्रदर्शन कर ज्ञान प्रदान किया, उनके गुरु अलहदाद थे, जो सैयद महम्मद के शिष्य थे तथा उनके पास सिद्ध पुरुष रहा करते थे। सैयद मुहम्मद के गुरु दानियाल थे, जिन पर प्रसन्न होकर ख्वाजा खिज्र ने उन्हे सैयद राजे से मिला दिया था। उन गुरु के द्वारा कर्म की योग्यता पाते ही मेरी वाणी खुल गयी और मैं प्रेम का वर्णन करने लग गया। उन्हीं की कृपा से मैं परमात्मा के दर्शन पा सकूँगा ('पद्मावत' १८)। उन्होंने अन्यत्र कहा है, "मैंने 'मीठा' महदी गुरु पा लिया, जिसका प्रिय नाम शेख बुरहान है और जिसका स्थान कालपी नगर है। उन्होंने गोसाई (परमात्मा) के दर्शन पा लिये हैं और उन्हें अलहदाद गुरु ने पन्थ लखाया था। अलहदाद 'नवेला' सिद्ध थे और वे सैयद मुहम्मद के शिष्य थे, जिन्हें अमर ख्वाजा खिज्र से सहायता पानेवाले दानियाल ने दीक्षित किया था" आदि ('अखरावट' २७)। इस परिचय का एक और भी अधिक स्पष्ट समर्थन 'चित्ररेखा' (पृ० ७४) की उन पंक्तियों से हो जाता है, जहाँ कहा गया है, "शेख बुरहान महदी गुरु है जिनका स्थान कालपी है, जिन्होंने चार बार मक्के की यात्रा की है तथा जो किसी को भी स्पर्श करके उसके पाप दूर कर देते हैं। वे ही मेरे गुरु हैं और मैं उनका चेला हूँ तथा उन्होंने अपना हाथ मेरे सिर पर रखकर मेरा पाप धो दिया है और प्रेम के प्याले को स्वयं चखकर उसकी बूँद मुझे भी चखा दी है।" सूफियों की परम्परा के इतिहास से पता चलता है कि उसकी चिश्तिया शाखा की 'अलाई' नामक उपशाखा मानिकपुर में स्थापित हुई थी, उसके प्रमुख प्रचारक शेख हिशामुद्दीन थे, जिनका देहान्त सन् ८५३ हि० (१४४९ ई०) में हुआ था और जिनके शिष्य सैयद राजे हामिद शाह (मृ० १४९५ ई०) थे। सैयद राजे के ही शिष्य दानियाल के विषय में कहा जाता है कि अमर ख्वाजा से उनकी भेंट हुई थी। ये जौनपुर के सुल्तान हुसेनशाह शर्की (सन् १४५७-७८ ई०) के समकालीन थे और इन्हीं के शिष्यों में सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृ० सन् ९११ हि०-१५०५ ई०) थे, जिन्होंने सन् ९०६ हि० अर्थात् सन् १५०० ई० में 'महदवी' आन्दोलन चलाया था तथा उसी के कारण सम्भवतः उनके अनुयायियों को भी 'महदी' कहा जाने लगा। सैयद मुहम्मद के शिष्य अलहदाद (मृ० सन् १५१७ ई०) हुए, जिनके शिष्य प्रसिद्ध शेख इब्राहीम दरवेश बुरहान 'कालपी वाले' (सन् ८७० हि०-९७० हि०-सन् १४६५-१५६३ ई०) थे और जान पड़ता है कि इन्हीं को जायसी ने अपने प्रत्यक्ष 'महदी गुरु' कहकर इनकी पूरी गुरु-परम्परा भी दे दी। इस प्रकार हो सकता है कि जायसी का मूल सम्बन्ध यद्यपि सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती के घराने से रहा हो, वे महदी शेख बुरहान द्वारा विशेष प्रभावित थे, जैसा उनकी रचनाओं से भी प्रमाणित हो जाता है तथा इसी कारण उन्होंने दोनों परम्पराओं का परिचय भी दो भिन्न-भिन्न शैलियों में दिया है। कुछ लोगों ने 'पद्मावत' एवं 'अखरावट' के 'महदी गुरु' को किसी विशिष्ट व्यक्ति शेख मुहीउद्दीन के रूप में शेख बुरहान से पृथक् मान लेने की भूल की थी, जिसका निराकरण 'चित्ररेखा' के "महदी गुरु बुरहानू" कथन द्वारा होता है और 'महदी' शब्द केवल पदवी मात्र सिद्ध होता है।

'पद्मावत' (३६७) के दोहे से पता चलता है कि जबसे जायसी का अपना प्रियतम उनके दाहिने होकर प्रत्यक्ष हुआ, तबसे उन्होंने बाईं दिशा की ओर से सुनना तथा उस ओर देखना भी छोड़ दिया, जिसका एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि उनके बायें नेत्र और कान शक्तिहीन थे। इस बात का समर्थन फिर उसी काव्य-ग्रन्थ के २१वें अंश से भी हो जाता है, जहाँ उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि "एक आँख का होने पर भी कवि मुहम्मद ने काव्य गुना है" तथा कुरूप होने पर भी "लोग उसका मुँह जोहते हैं" (२३)। कहते हैं कि जब ये केवल सात वर्ष के थे, इन्हें चेचक निकली थी और इनकी माँ ने मनकपुर की मनौती मानने का निश्चय किया था। अतएव हो सकता है कि अच्छे हो जाने पर भी इनकी एक आँख जाती रही हो और ये कुरूप हो गये हों। उनके एक ओर के हाथ पैर बेकार हो जाने तथा उनके टुकड़े तक बन जाने के विषय में प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि जब ये अकबर बादशाह (सन् १५५६-१६०५ ई०) के दरबार में गये तो वह इनके 'बदशक्ल और बदक्वी' होने पर हँस पड़ा, जिसकी चर्चा मीरहसन के 'रिमुजुल आरिज' नाम की मसनवी में की गयी जान पड़ती है परन्तु आश्चर्य है कि इस घटना का सुलतान शेरशाह के भी दरबार में होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उसके उत्तर में इन्होंने "मटियहिं हँसेसि कि कोहरहिं" कहकर हँसनेवालों को लज्जित कर दिया था (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, पृ० ३९०)। जायसी के लिए प्रसिद्ध हैं कि बचपन में इन्हे कुछ दिनों के लिए अपने ननिहाल में रहना पड़ा था और यह भी कहते हैं कि ये कुछ दिनों तक ससुराल में रहकर भी लिखते-पढ़ते रहे किन्तु इसके लिए हमें अभी तक कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। इनका स्वभाव नम्र एवं साधुवत् था तथा इनमें दानशीलता तथा एकान्तप्रियता के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। इनका अमेठी राज्य (जिला लखनऊ) के दरबार में एक उच्चकोटि के फकीर के रूप में प्रतिष्ठा पाना भी प्रसिद्ध है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ये अमेठी के ही निकट किसी मँगरा नाम के घने जंगल में रहकर अपनी साधना किया करते थे और कहा जाता है कि वहीं रहते समय इन्हें किसी ने शेर की आवाज के धोखें में आकर गोली मार दी और इस प्रकार इनका देहान्त हो गया।

जायसी की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं-(१) 'पद्मावत', (२) 'अखरावट', (३) 'आखिरी कलाम', (४) 'महरी बाईसी', (५) 'चित्रावत' और (६) 'मोस्तीनामा'। इनमें से प्रथम तीन पहले प्रकाशित हो चुकी थीं, चौथी कदाचित् 'महरीनामा' या 'मोराईनामा' की जगह प्रकाशित हुई है अथवा वह 'कहरनामा' से अभिन्न है (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, पृ० ४७५-७८) तथा पाँचवीं भी 'चित्ररेखा' के नाम से निकल चुकी है और छठी इधर 'मसालनामा' के रूप में मिली है। इसके अतिरिक्त 'मंसदा', 'कहरानामा', 'मुकहरानामा' वा 'मुखरानामा', 'मुहरानामा' या 'होलीनामा', 'खुर्वानामा', 'संकरानामा', 'चम्पावत', 'मटकावत', 'इतरावत', 'लखरावत', 'मखरावत' या 'सुखरावत', 'लहरावत',

'नैनावत', 'घनावत', 'परमार्थ जयजी' और 'पुसीनामा' रचनाएँ भी जायसी की बतायी जाती हैं किन्तु इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट प्रेम काव्य है, जिसे जायसी की रचनाओं में सदा सर्वोच्च स्थान दिया जाता है तथा कदाचित् अन्य सूफी प्रेम-काव्यों में यह सर्वश्रेष्ठ है। 'चित्ररेखा' के अन्तर्गत चन्द्रपुर के राजा चन्द्रभानु की पुत्री चित्ररेखा और कन्नौज के राजा कल्याण सिंह के पुत्र प्रीतमकुँवर की कथा आती है, जिसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार वह राजकुमार राजकुमारी के लिए निश्चित किसी कुबडे वर का स्वभाव ग्रहण कर उससे विवाह कर लेता है और अन्त में न केवल उसे ही पा लेता है, अपितु संयोगवश अल्पायु से दीर्घायुतक बन जाता है। कहते हैं कि यह रचना किसी लोकगाथा पर आधृत है। काव्य-कौशल की दृष्टि से इसे एक साधारण स्थान दिया जाता है। 'अखरावट' में कतिपय सूफी सिद्धान्तों का वर्णन पाया जाता है और 'अखिरी कलाम' द्वारा उस पुनरुत्थान के समय का एक चित्रण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है, जो इस्लाम धर्म की मान्यताओं के अनुसार सृष्टि के अन्त में होनेवाला है तथा जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है। इसी प्रकार 'महरी बाईसी' के अन्तर्गत चेतावनी और उपदेश आते हैं तथा अप्रकाशित रचनाओं में से 'पोस्तीनामा' में 'अफीमचियों का खाका खींचा' कहा जाता है।

यद्यपि जायसी की उपर्युक्त सभी रचनाएँ अभी उपलब्ध नहीं है तथा उनमें से कई के नामों के आधार पर ही यह अनुमान किया जा सकता है कि वे साधारण होंगी, इसमें सन्देह नहीं कि केवल अपने 'पद्मावत' नाम के प्रेमाख्यान के कारण ही वे एक श्रेष्ठ कवि कहे जाते हैं। उनके समय तक इस प्रकार के काव्य-साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था और इसके आदर्श केवल इने-गिने ही थे। जायसी ने इस रचना शैली की नवीन धारा को अपनाकर बहुत बड़ी सफलता दिखलायी और एक ऐसी सुन्दर कृति प्रस्तुत की, जो आगे के लिए नमूना बन गयी परन्तु जायसी केवल एक हिन्दी कवि ही नहीं, प्रत्युत एक सूफी सन्त भी हैं और इसी कारण उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करते समय हमारा ध्यान सम्भवतः उनकी उस विचारधारा की ओर जाता है, जिसे उन्होंने अपना धार्मिक कर्तव्य समझ कर प्रकट किया था। ये बातें उनकी अन्य उपलब्ध रचनाओं में भी पायी जाती हैं और उन सभी को संगृहीत करके अध्ययन कर लेने पर यह स्पष्ट होने में देर नहीं लगती कि उन्हें इस्लाम धर्म की ऐकान्तिक महत्ता के प्रति घोर निष्ठा है तथा इस दृष्टि से विचार करने पर उनके शुद्ध सूफी सिद्धान्त कुछ मर्यादित भी हो जाते हैं और हमें ऐसा लगता है कि उनके ऊपर महदवी आन्दोलन का प्रभाव भी कुछ-न-कुछ अवश्य पड़ा होगा। जायसी का वास्तविक महत्त्व उनके द्वारा प्रेमतत्त्व के व्यापक रूप का सफल चित्रण करने में ही देखा जा सकता है। उन्होंने इसे भारतीय जीवन की पृष्ठभूमि पर बड़े मार्मिक ढंग से अंकित किया है तथा समृद्ध बना दिया है, जिसके लिए हम उनके चिरऋणी रहेंगे।

[सहायक ग्रन्थ—जायसी ग्रन्थावली : सं० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी अकादमी, उ० प्र०, इलाहाबाद, सन् १९५२-५३ ई०; चित्ररेखा : सं० शिवसहाय पाठक, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९५९ ई०; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, भाग १४, संवत् १९९० और वर्ष ४५, सं० १९९७; जर्नल आफ दि बिहार रिचर्स सोसायटी, पटना, भाग ३९, खण्ड१-२, सन् १९५३ ई०; हिन्दी अनुशीलन—भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, जुलाई, सितम्बर, सन् १९५८ ई०; जर्नल आफ दि हिस्टारिकल रिसर्च—बिहार यूनिवर्सिटी, राँची कालेज, राँची, अगस्त सन् १९५९ ई०; हिन्दुई साहित्य का इतिहास : सं० और अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय]

—प० च०

मलूकदास—ये प्रयाग से लगभग ३६ मील उत्तर-पश्चिम गंगा के दाहिने किनारे पर बसे हुए कड़ा नामक कस्बे में उत्पन्न हुए थे। उत्तरी-पूर्वी भारत के उन कतिपय स्थानों में से कड़ा एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिनका मध्ययुग के इतिहास में विशेष राजनीतिक महत्त्व समझा जाता था। सथुरादास लिखित 'परिचई' के अनुसार मलूकदास का जन्म सन् १५७४ ई० (बैसाख कृष्ण पंचमी, संवत् १६३१ वि०) को हुआ था। उनके पिता का नाम कृष्ण बलदेव वर्मा के अनुसार बाबा श्यामसुन्दरदास, गणेशप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार लाला सुन्दरलाल परिचई लेखक सथुरादास के अनुसार सुन्दरदास था।

संसार से विरक्ति का जो भाव मलूकदास के हृदय में आगे चलकर पल्लवित और पुष्पित हुआ, उसका बीजारोपण उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। जीवन की अत्यन्त कोमल अवस्था से ही इनके मन में दया, धर्म, उदारता आदि मानवीय गुण विद्यमान थे और वे भगवत-भजन में मन लगाते थे। अवस्था के साथ उनकी भक्ति-भावना बढ़ती गयी। उनकी दमन की प्रवृत्ति देखकर उनके माता-पिता अत्यन्त चिन्तित होते थे। वे सोचते थे कि यह बालक कुल को नष्ट करने के लिए पैदा हुआ है। इनकी इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए उन्होंने कुछ उपाय करने का निश्चय किया। उनके यहाँ कम्बल बेचने का व्यापार होता था। सुन्दरदास ने अपने पुत्र को उस व्यापार में लगाने का प्रयत्न किया किन्तु इससे उन्हें दान देने के लिए और भी सरल साधन प्राप्त हो गया। वे कुछ कम्बल बेंचते और कुछ भिखमंगों को बाँट देते थे।

इनकी शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध नहीं है। 'परिचई' भी इस विषय में मौन है। किवदन्ती है कि पाँच वर्ष की अवस्था होने पर सुन्दरदास ने अपने पुत्र को ग्राम पाठशाला में भेजा था। गुरु ने जब उनकी पाटी पर वर्णमाला लिखकर उसका अभ्यास करने का उन्हें आदेश दिया तो बालक मलूकदास ने वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर पर एक साखी लिख डाली। गुरु को बालक की इस ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा को देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। मलूकदास के गुरु के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। आचार्य क्षितिमोहन सेन, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा 'सन्त बानी संग्रह' के सम्पादक के अनुसार उनके गुरु द्रविड़ देश के महात्मा विट्ठलदास थे। इससे भिन्न 'भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास' के लेखक शिवशंकर मिश्र का मत है कि वे कील के शिष्य थे। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि इन्होंने देवनाथजी से नाम मात्र के लिए शिक्षा ग्रहण की थी, उन्हें आध्यात्मिक जीवन में वस्तुतः दीक्षित करनेवाले गुरु मुरार स्वामी थे। 'सन्त बानी संग्रह' में उनके

गुरु का नाम विट्ठल द्राविड़ दिया हुआ है परन्तु यह अशुद्ध है। परिचई के लेखक सथुरादास के अनुसार इन्होने सर्वप्रथम देवनाथ के पुत्र पुरुषोत्तम से दीक्षा ली थी, विट्ठल द्राविड़ से नहीं। विट्ठल द्राविड़ तो देवनाथ के गुरु भाऊनाथ के गुरु थे।

'परिचई'कार ने मलूकदास के वैवाहिक जीवन पर कोई प्रकाश नहीं डाला। मलूकदासी सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त तथा उसके अनुयायियों को भी इसका कोई ज्ञान नही है। जनश्रुति भी इस विषय में मौन है। अनुमान है कि इनका विवाह कुल की रीति के अनुसार हुआ था परन्तु उनका मन गार्हस्थ्य जीवन में कभी भी अनुरक्त नहीं हुआ। विवाह के कुछ समय बाद एक कन्या का जन्म हुआ परन्तु जन्म होते ही माता के सहित उसका देहान्त हो गया। परिचई से ज्ञात होता है कि यद्यपि मलूकदास अपने परिवार में रहते हुए उसके साधारण कर्तव्यों का पालन करते रहे परन्तु उनका विरक्त मन उसकी माया से सदैव निर्लिप्त रहा। अपने पैतृक व्यवसाय—कम्बल के व्यापार में भी उनका मन नही लगा।

इनके पर्यटन तथा भ्रमण पर कोई अन्त:साक्ष्य उपलब्ध नहीं है परन्तु परिचई द्वारा इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। उन्होंने जगन्नाथजी, पुरुषोत्तम क्षेत्र, कालपी तथा दिल्ली जैसे सुदूर स्थानों की भी समय-समय पर यात्रा की थी। उनकी दिल्ली-यात्रा का उद्देश्य औरंगजेब से भेंट करना था।

मलूकदास ने सन् १६८२ ई० (बैसाख कृष्ण चर्तुदशी बुधवार, सं० १७३९) में सिंह लगन बिताकर सबको समाधान करते हुए और नाना रूप दिखाते हुए परमधाम को प्रयाण किया।

मलूकदास की प्रामाणिक कृतियाँ ये हैं—'ज्ञानबोध', 'रतनखान', 'भक्त वच्छावली', 'भक्ति-विवेक', 'ज्ञानपरोछि', 'बारहखड़ी', 'रामावतारलीला', 'ब्रजलीला', 'ध्रुवचरित', 'विभयविभूति' तथा 'सुखसागर'।

'ज्ञानबोध' इनका सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रथम विश्राम में ब्रह्म की भक्त-वत्सलता का वर्णन उनके अन्य ग्रन्थ 'भक्तवच्छावली' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, कहीं-कहीं, दोनों में समान पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'ज्ञानबोध' में तीर्थ-यात्रा, भेष-धारण, आश्रमत्याग आदि बाह्याचरण को व्यर्थ बताया गया है। मलूकदास ने ब्रह्म के अद्वैत, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के समन्वय का वर्णन किया है। ज्ञानबोध की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति महन्त कुटुम्ब के पुरुषोत्तमदास कक्कड़ के यहाँ प्राप्त हुई है। इसकी प्रतिलिपि मलूकदास के अनन्य भक्त और शिष्य प्रयागनिवासी दयालदास कायस्थ ने (सन् १७२७ ई०) सं० १७८४ वि० में की थी। इस ग्रन्थ की एक अन्य प्रति मलूकदास की गद्दी कड़ा में सुरक्षित है और वर्तमान महन्त बाबा मथुरादास के अधिकार में है। गद्दी पर इस ग्रन्थ की नित्य पूजा की जाती है।

'रतनखान' में इन्होंने अपने दार्शनिक विचारोंको प्रकट किया है। 'ज्ञानबोध' की भाँति इस ग्रन्थ में भी वैराग्य, संसारकी असारता, मोक्ष आदि के भाव व्यक्त किये गये हैं। अपने कथनों को इन्होंने उदाहरणों द्वारा पुष्ट कियाहै। 'रतनखान' की एक हस्तलिखित प्रति पुरूषोत्तमदास कक्कड़ के पास है। इसके प्रतिलिपिकर्ता भी दयालदास कायस्थ थे।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ 'भक्तवच्छावली' माना जाता है। इसमें ब्रह्म की भक्तवत्सलता का वर्णन है। यद्यपि इन्होने अपनी सभी कृतियो में भगवद्भक्ति का गुणगान किया है, परन्तु 'भक्ति—विवेक' में भक्ति का वर्णन एक स्वतन्त्र विषय के रूप में हुआ है। 'रतनखान' की भाँति इस ग्रन्थ की रचना भी दोहा—चौपाई में हुई है। इसकी भाषा अवधी है और इसमें भी खड़ी बोली का वह प्रारम्भिक रूप मिलता है, जो इनकी अन्य प्रामाणिक कृतियों में पाया जाता है। अपने विषय के समर्थन के लिए इन्होंने कथाओं का प्रचुर प्रयोग किया है। 'भक्तिविवेक' की एक हस्तलिखित प्रति बाबा मथुराप्रसाद के पास सुरक्षित है और इसकी भी नित्य पूजा की जाती है।

'ज्ञानपरोछि' में मलूकदास ने वैराग्य, आत्मा की नित्यता, सृष्टि—उत्पत्ति, अष्टांगयोग, प्राणायाम, ब्रहम के अद्वैत आदि विषयों पर विचार प्रकट किये हैं। वैराग्य की परिभाषा तथा उसके आवश्यक तत्व 'भक्ति—विवेक' से साम्य रखते हैं। कुछ विषयों में 'ज्ञानबोध' से भी साम्य पाया जाता है। इस ग्रन्थ की रचना भी दोहा—चौपाई में हुई है और भाषा भी अवधी है।

मलूकदास द्वारा लिखित 'बारहखड़ी' मलूकदासी सम्प्रदाय के बालकों को अक्षर ज्ञान कराने के पहले कण्ठाग्र करा दी जाती है। इस प्रकार मलूकदास की इस कृति का विशेष महत्व हो गया है। इसमें भी ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, वैराग्य आदि विषयों का वर्णन हुआ है। इसकी भाषा अवधी तथा इसका छन्द दोहा है।

'रामावतारलीला', 'ब्रजलीला' तथा 'ध्रुवचरित्र'—इन तीन रचनाओं में क्रमशः राम, कृष्ण तथा ध्रुव के चरित्र का वर्णन है। इन रचनाओं से सूचना मिलती है कि मलूकदास अपने प्रारम्भिक जीवन में अवतारवाद में विश्वास करते थे। मलूकदास के मकान के निकट एक ठाकुरद्वारे का भग्नावशेष भी उनकी सगुण उपासना का संकेत देता है। मलूकदास की इन कृतियों की शैली अपरिपक्व है, इससे यह सिद्ध होता है कि इनकी रचना उन्होंने जीवन के प्रारम्भिक काल में की होगी। 'रामावतारलीला' तथा 'ध्रुवचरित' की रचना भी अवधी भाषा और दोहा—चौपाई छन्दों में हुई है। 'ध्रुवचरित' की उपलब्ध प्रति के प्रतिलिपिकर्ता भी दयाल दास कायस्थ थे।

'विभयविभूति' से मलूकदास के दार्शनिक विचारों का परिचय मिलता है। ब्रह्म की महत्ता, उसको प्राप्त करने के विविध उपाय, प्राणायाम और उसके साधन की विधि, अष्टांग योग तथा—साधन के फल और प्रभाव आदि अनेक विषयों पर इसमें विचार प्रकट किये गये हैं। इसमें भी अवधी भाषा और दोहा—चौपाई छन्दोंका प्रयोग हुआ है।

'सुखसागर' में मलूकदास ने ब्रह्म के विभिन्न अवतारो का वर्णन किया है। यह भी उनकी प्रारम्भिक कृति जान पड़ती है। इसकी भाषा भी अवधी तथा दोहा—चौपाई है। इस रचना की हस्तलिखित प्रति भी दयालदास द्वारा प्रस्तुत की हुई मिली है।

'इनकी रचनाओं के उपर्युक्त परिचय से स्पष्ट होता है कि वे एक सन्त महात्मा थे। काव्य—रचना उनका उद्देश्य नहीं था। उनकी रचनाओं से तत्कालीन धार्मिक विचारों तथा आदर्शों का परिचय अवश्य मिलता है। निर्गुण विचारधारा के आधार पर मलूकदास ने धार्मिक समन्वय के सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया था, जिससे उनके विचारों की उदारता प्रकट होती है। इन्होंने अधिकतर अवधी भाषा का प्रयोग किया है यद्यपि उससे खड़ीबोली का प्रभाव परिलक्षित होता है। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से उनकी रचनाओं का महत्त्व है। उनके द्वारा प्रयुक्त दोहा–चौपाई छन्द 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का संकेत देते हैं।

[सहायक ग्रन्थ–हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : प० परशुराम चतुर्वेदी, मलूकदास : डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित।]

-त्रि० ना० दी०

महात्मा गाँधी–पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी। जन्म २ अक्तूबर १८६९ ई० को राजकोट (गुजरात) में तथा मृत्यु ३० जनवरी १९४७ ई० दिल्ली में। अपने कृतित्व से वह महात्मा गाँधी कहलाये। गाँधी का सम्पूर्ण जीवन एक खुली पुस्तक के समान था। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व विराट् था। उतना ही व्यापक प्रभाव उनका हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा है। भाषा की समस्या पर उनके विचार बड़े स्पष्ट थे। शिक्षित वर्ग उनसे परिचित हुआ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। सन् १९१८ ई० में वह सम्मेलन के सभापति बने। उन्होंने दक्षिण में हिन्दी प्रचार की योजना बनायी। सम्मेलन ने प्रचार का दायित्व सँभाला। उसी वर्ष उन्होंने शिक्षकों के प्रथम दल के साथ अपने पुत्र देवदास गाँधी को हिन्दी प्रचारार्थ दक्षिण भारत भेजा। दक्षिण में हिन्दी प्रचार का कार्य सन् १९१८ ई० से १९२७ ई० तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से गाँधी के संरक्षण में होता रहा। १९२७ ई० में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना की और यह कार्य उसके सुपुर्द हुआ। इस समस्त कार्य की देखरेख के लिए अलग से हिन्दी प्रचार समिति की स्थापना हुई, जिसका नाम १९३७ ई० में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' रखा गया। गाँधी के कार्यक्रम में हिन्दी प्रसार का यह सबसे बड़ा सफल प्रयास था। उन्होंने हिन्दी को सदा राष्ट्रीय एकता का प्रतीक माना। गाँधी जी ने स्वदेशाभिमान का आधार भी स्वभाषा को ही माना। वे हमेशा कहते रहे कि "स्वदेशाभिमान को स्थिर रखने के लिए हमें हिन्दी सीखना आवश्यक है।"

दक्षिण अफ्रीका के प्रवास–काल में ही गाँधी जी की यह धारणा बन चुकी थी कि हिन्दी राष्ट्रभाषा का स्थान ले सकती है। सन् १९०९ ई० में उन्होंने 'हिन्द–स्वराज्य' में लिखा था-'हर एक पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दी को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को पर्शियन का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिये।" अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा-"मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षणक्रम में मातृभाषा के उपरान्त राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए भी स्थान होना चाहिये।"

गाँधी जी स्वयं अहिन्दी–भाषी थे। उन्होंने हिन्दी सीखी और धीरे–धीरे हिन्दी भाषी लोगों से हिन्दी में पत्रव्यवहार आरम्भ किया। फिर सार्वजनिक सभाओं और कांग्रेस की परिषदों में भी वे हिन्दी के महत्त्व पर जोर देते थे। उन्होंने 'यंग इण्डिया' के बाद 'हरिजन' नामक साप्ताहिक प्रकाशित करना आरम्भ किया। गाँधी जी के कारण अनेक व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी। उनकी संकलित रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी है किन्तु उनकी सबसे बड़ी देन वास्तव में यह थी कि उन्होंने राजनीति, शिक्षा और समाज को हिन्दी के अनुकूल बनाया और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उच्च पद पर आसीन किया। १९३५ ई० में जब वे दुबारा अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के सभापति बने, तब उन्होंने कहा "हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय भाषा होने के लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है, जिसे अधिसंख्यक लोग जानते–बोलते हों और जो बोलने में सुगम हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही है...अन्य प्रान्तों ने भी स्वीकार कर लिया है।" गाँधीजी ने इस विचार का भारतीय राजनीति तथा राष्ट्रीयता की नवीन परिभाषा द्वारा व्यापक प्रचार किया। यह धारणा और हिन्दी को विशुद्ध साहित्य की परिधि से निकालकर राजनीति के मंच पर स्थापित करना गाँधी युग का प्रथम लक्षण है।

गाँधीजी का कार्य बड़ा विस्तृत था। विचारों को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने स्वाधीनता से पहले ही अनेक संस्थाओं की स्थापना की जैसे-गाँधी सेवक संघ, ग्रामोद्योग संघ, चर्खा संग, हरिजन सेवक संघ, गोसेवा संघ, आदिम जाति सेवक संघ, तालीमी संघ, राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा इत्यादि। इनका अधिकतर कार्य हिन्दी में होता था। इन गतिविधियों का सर्वाधिक प्रभाव हिन्दी के प्रचार के कार्य पर पड़ा और हिन्दी को देशव्यापी भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

महात्मा गाँधी ने जो कहा, वह अब हिन्दी का बहुमूल्य साहित्य है। उनका लिखित साहित्य तीन भागों में विभक्त है (१) पत्र–पत्रिकाओं में उनके सम्पादकीय तथा अन्य लेख, (२) उनके पत्र तथा रचनाएँ और (३) उनका प्रवचन साहित्य। अनेक राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर उन्होंने हिन्दी में अपने विचार व्यक्त किये।

साधन को साध्य के समकक्ष आदर्श बनाकर जो समन्वय और समीकरण उन्होंने उदात्त मर्यादित मानव–जीवन के लिए उपस्थिति किया, वही गाँधी–दर्शन का प्राण है और समस्त पीड़ित मानवता के लिए आशा का दीपक है। अगणित साहित्यकारों, कलाकारों, दार्शनिकों, राजनीति विशारदों, सुधारकों को उन्होंने प्रतिभावान युगप्रवर्तक बनाया।

गाँधी सत्य के पुजारी थे। इसी कारण जीवन के गूढ़तम सत्य को भी वे सूत्र रूप में कहने में समर्थ और सफल हुए। सत्य की व्याख्या उन्होंने एक ही वाक्य में इस प्रकार की है-"सत्य सर्वदा स्वावलम्बी होता है और बल तो उसके स्वभाव में ही होता है।" उन्होंने साहित्य पर लिखा है-"मैं ऐसी कला और साहित्य चाहता हूँ, जो लाखों से बोल सके।" सन्तकाव्य और बाईबल गाँधी जी की भाषा के आदर्श रहे हैं। गाँधीयुग की विचार धारा द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य को जो प्रोत्साहन मिला, हिन्दी के इतिहास में वह सर्वथा अपूर्व है। गाँधी–विचारधारा ने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया, इसलिए जिस किसी साहित्यिक ने देश के जीवन का विस्तृत चित्रण किया अथवा भारतीय जीवन के किसी भी पहलू को लेकर उसे अपनी रचना का आधार बनाया,

वह इस विचार धारा से प्रभावित हुए बिना न रहा। हिन्दी उपन्यास, गल्प, नाटक और काव्य—साहित्य के इन सभी अंगों पर गाँधी युग की विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष है।

गाँधी जी राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की परम्परा में थे। उनकी वाणी से निर्विकार सत्य सन्तों के वचनामृत की भाँति ही निःसृत होता था। यह अमृतवाणी शाश्वत साहित्य और कला की परम आत्मा है, जिससे प्रेरित होकर ही सर्वजनीय साहित्य की सृष्टि होती है।

-ज्ञा० द०

महादेव-रूद्र, शिव, महेश अथवा शंकर के ही पर्यायवाची शब्द के रूप में इस शब्द का प्रयोग होता है किन्तु अपनी विशिष्ट अवस्था में यह शब्द इन सबसे भिन्न है। महादेव वस्तुतः विनाश के प्रतीक न होकर पोषण के प्रतीक समझे जाते हैं। महादेव अपने शिवत्व के कारण शिव हैं और शिव तत्त्व का निर्माण अग्नि से न होकर सोम से हुआ है। शिव की अष्टमूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इन मूर्तियों में अन्तिम आठवीं मूर्ति ही शिव हैं। इनका निवास संकल्प रूप से चन्द्रमा में कहा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार शिव का यह महादेव रूप पंचतन्मात्राओं में पृथ्वी का प्रतीक है। हिन्दी साहित्य में शिव एवं शंकर के पर्याय रूप में यह नाम प्रयुक्त होता है।

-यो० प्र० सि०

महादेवी वर्मा-छायावादी कवियों की बृहच्चतुष्टयी में एक महादेवी वर्मा हैं। इनका जन्म १९०७ ई० में फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में एक सुसम्पन्न परिवार में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। फिर प्रयाग विश्वविद्यालय से इन्होंने बी० ए० और बाद में संस्कृत से एम० ए० किया। उसी समय ये प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या नियुक्त हो गयीं। पाठशाला में हिन्दी—अध्यापक से प्रभावित होकर ब्रजभाषा में समस्या—पूर्ति भी करने लगीं। फिर तत्कालीन खड़ीबोली की कविता से प्रभावित होकर खड़ीबोली में रोला और हरिगीतिका छन्दों में काव्य लिखना प्रारम्भ किया। उसी समय माँ से सुनी एक करुण कथा को लेकर सौ छन्दों में एक खण्डकाव्य भी लिख डाला। कुछ दिनों बाद उनकी रचनाएँ तत्कालीन पत्र—पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। विद्यार्थी—जीवन में वे प्रायः राष्ट्रीय और सामाजिक जागर्ति सम्बन्धी कविताएँ लिखती रहीं, जो लेखिका के ही कथनानुसार "विद्यालय के वातावण में ही खो जाने के लिए लिखी गयी थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरी कविता का शैशव भी समाप्त हो गया" ('आधुनिक कवि— महादेवी'— भूमिका, पृष्ठ ३०)। मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पूर्व ही उन्होंने ऐसी कविताएँ लिखना शुरु कर दिया था, जिसमें व्यष्टि में समष्टि और स्थूल में सूक्ष्म चेतना के आभास की अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। उनके प्रथम काव्य—संग्रह 'नीहार' की अधिकांश कविताएँ उसी समय की हैं। इनके कुल पाँच काव्य—संग्रह—'नीहार' (सन् १९३० ई०), 'रश्मि' (१९३२ ई०), नीरजा (१९३५ ई०) 'सान्ध्यगीत' (१९३६ ई०) और 'दीपशिखा' (१९४२ ई०)- प्रकाशित हो चुके हैं। 'यामा' में उनके प्रथम चार काव्य—संग्रहों की कविताओं का एक साथ संकलन हुआ है। 'आधुनिक कवि—महादेवी' मे उनके समस्त काव्य से उन्हीं द्वारा चुनी हुई कविताएँ संकलित हैं। कवि के अतिरिक्त वे गद्य लेखिका के रुप में भी पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुकी हैं। 'स्मृति की रेखाएँ' (१९४३ ई०) और 'अतीतके चलचित्र' (१९४१ ई०) उनकी संस्मरणात्मक गद्य रचनाओं के संग्रह हैं। 'श्रृखला की कड़ियाँ' (१९४२ ई०) में सामाजिक समस्याओं, विशेष कर अभिशप्त नारी जीवन के जलते प्रश्नों के सम्बन्ध में लिखे उनके विचारात्मक निबन्ध संकलित हैं। रचनात्मक गद्य के अतिरिक्त 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में तथा 'दीपशिखा', 'यामा' और 'आधुनिक कवि—महादेवी' की भूमिकाओं में उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा का भी पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है।

महादेवी छायावाद के कवियों में औरों से भिन्न अपना एक विशिष्ट और निराला स्थान रखती हैं। इस विशिष्टता के दो कारण हैं : एक तो उनका कोमल हृदया नारी होना और दूसरा अंग्रेजी और बंगला के रोमाण्टिक और रहस्यवादी काव्य से प्रभावित होना। इन दोनों कारणों से एक ओर तो उन्हें अपने आध्यात्मिक प्रियतम को पुरुष मानकर स्वाभाविक रूप में अपनी स्त्री—जनोचित प्रणयानुभूतियों को निवेदित करने की सुविधा मिली, दूसरी ओर प्राचीन भारतीय साहित्य और दर्शन तथा सन्त युग के रहस्यवादी काव्य के अध्ययन और अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन छायावादी कवियों के काव्य से निकट का परिचय होने के फलस्वरुप उनकी काव्याभिव्यंजना और बौद्धिक चेतना शत—प्रतिशत भारतीय परम्परा के अनुरूप बनी रही। इस तरह उनके काव्य में जहाँ कृष्णभक्ति काव्य की विरह—भावना गोपियों के माध्यम से नहीं, सीधे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकाशित हुई है, वहीं सूफी पुरुष कवियों की भाँति उन्हें परमात्मा को नारी के प्रतीक में प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

महादेवी का समस्त काव्य वेदनामय है। यह वेदना लौकिक वेदना से भिन्न आध्यात्मिक जगत् की है, जो उसी के लिए सहज संवेद्य हो सकती है, जिसने उस अनुभूति—क्षेत्र में प्रवेश किया हो। वैसे महादेवी इस वेदना को उस दुःख की भी संज्ञा देती हैं, "जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है" ('रश्मि'-भूमिका, पृष्ठ ७) किन्तु विश्व को एक सूत्र में बाँधने वाला दुःख सामान्यतया लौकिक दुःख ही होता है, जो भारतीय साहित्य की परम्परा में करुण रस का स्थायी भाव होता है। महादेवी ने इस दुःख को नहीं अपनाया है। कहती तो हैं कि "मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह, जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धनों में बाँध देता है और दूसरा वह, जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है" ('रश्मि'-भूमिका, पृष्ठ ७) किन्तु, उनके काव्य में पहले प्रकार का नहीं, दूसरे प्रकार का 'क्रन्दन' ही अभिव्यक्त हुआ है। यह वेदना सामान्य लोक हृदय की वस्तु नहीं है। सम्भवतः इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी सच्चाई में ही सन्देह व्यक्त करते हुए लिखा है, " इस वेदना को लेकर उन्होंने हृदय की ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखीं, जो लोकोत्तर हैं। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना, यह नहीं कहा जा सकता" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ७१९)।

इसी आध्यात्मिक वेदना की दिशा में प्रारम्भ से अन्त तक महादेवी के काव्य की सूक्ष्म और विवृत भावानुभूतियों का विकास और प्रसार दिखायी पड़ता है। प्रारम्भिक कृति 'नीहार' में उनकी कुतूहलमिश्रित वेदना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। 'रश्मि' में अनुभूति की अपेक्षा दार्शनिक चिन्तन और विवेचन की अधिकता है। 'नीरजा' में कवयित्री उस सामंजस्यपूर्ण भावभूमि में पहुँच गयी है, जहाँ दुःख सुख एकाकार हो जाते हैं और वेदना का मधुर रस ही उसकी समरसता का आधार बन जाता है। 'सान्ध्यगीत' में यह सामरस्य-भावना और भी परिपक्व और निर्मल बनकर साधिका को प्रिय के इतना निकट पहुँचा देती हैं कि वह अपने और प्रिय के बीच की दूरी को ही मिलन समझने लगती है। 'दीपशिखा' महादेवी की सिद्धावस्था का काव्य है, जिसमें साधिका की आत्मा की दीपशिखा अकम्पित और अचंचल होकर आराध्य की अखण्ड ज्योति में विलीन हो गयी है। इन पाँचों काव्य-संग्रहों के नाम कालानुवर्ती और प्रतीकात्मक हैं। 'नीहार' जीवन के उषाकाल की ही रचना है, जिसमें सत्य कुहाजाल में छिपा रह कर भी मोहक और कुतूहलपूर्ण प्रतीत होता है। 'रश्मि' युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों की रचना है। जब सत्य की किरणें आत्मा में ज्ञान की ज्वाला जगा देती हैं। 'नीरजा' कवयित्री की प्रौढ़ मानसिक स्थिति की कृति है, जिसमें दिन के उज्जवल प्रकाश में कमलिनी की तरह वह अपने साधना-मार्ग पर अपना सौरभ बिखरा देती है। 'सान्ध्यगीत' में जीवन के सन्ध्याकाल की करुणार्द्रता और वैराग्य-भावना के साथ-साथ आत्मा की अपने आध्यात्मिक घर को लौट चलने की प्रवृत्ति वर्तमान है। 'दीपशिखा' में रात के शान्त, स्निग्ध और शून्य वातावण में आराध्य के सम्मुख जीवन दीप के जलते रहने की भावना प्रमुख है। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन के अहोरात्र को इन पाँच प्रतीकात्मक शीर्षकों में विभक्त कर अपनी जीवन साधना का मर्म स्पष्ट कर दिया है।

वेदना की इस एकान्त साधना के फलस्वरूप महादेवी की कविता में विषयों का वैविध्य बहुत कम है। उनकी कुछ ही कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें राष्ट्रीय और सांस्कृतिक उद्‌बोधन अथवा प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण हुआ है। शेष सभी कविताओं में विषयवस्तु और दृष्टिकोण एक ही होने के कारण उनकी काव्यभूमि विस्तृत नहीं हो सकी है। इससे उनके काव्य को हानि और लाभ दोनों हुआ है। हानि यह हुई है कि विषय-परिवर्तन न होने से उनके समस्त काव्य में एकरसता और भावावृत्ति बहुत अधिक है। लाभ यह हुआ है कि सीमित क्षेत्र के भीतर ही कवयित्री ने अनुभूतियोंके अनेकानेक आयामों को अनेक दृष्टिकोणों से देख-परखकर उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-प्रभेदों को बिम्बरूप में सामने रखते हुए चित्रित किया है। इस तरह उनके काव्य में विस्तारगत विशालता और दर्शनगत गुरुत्व भले ही न मिले, पर उनकी भावनाओं की गम्भीरता, अनुभूतियों की सूक्ष्मता, बिम्बों की स्पष्टता और कल्पना की कमनीयता के फलस्वरूप गाम्भीर्य और महत्ता अवश्य है। इस तरह उनके काव्य विस्तार का नहीं गहराई का काव्य है।

महादेवी का काव्य वर्णनात्मक और इतिवृत्तात्मक नहीं है। आन्तरिक सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति उन्होंने सहज भावोच्छ्वास के रूप में की है। इस कारण उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में लाक्षणिकता और व्यंजकता का बाहुल्य है। रूपकात्मक बिम्बों और प्रतीकों के सहारे उन्होंने जो मोहक चित्र उपस्थित किये हैं, वे उनकी सूक्ष्म दृष्टि और रंगमयी कल्पना की शक्तिमत्ता का परिचय देते हैं। ये चित्र उन्होंने अपने परिपार्श्व, विशेषकर प्राकृतिक परिवेश से लिये हैं पर प्रकृति को उन्होंने आलम्बन रूप में बहुत कम ग्रहण किया। प्रकृति उनके काव्य में सदैव उद्दीपन, अलंकार, प्रतीक और संकेत के रूप में ही चित्रित हुई है। इसी कारण प्रकृति के अति परिचित और सर्वजनसुलभ दृश्यों या वस्तुओं को ही उन्होंने अपने काव्य का उपादान बनाया है। उसके असाधारण और अल्पपरिचित दृश्यों की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। फिर भी सीमित प्राकृतिक उपादानों के द्वारा उन्होंने जो पूर्ण या आंशिक बिम्ब चित्रित किये हैं, उनसे उनकी चित्रविधायिनी कल्पना का पूरा परिचय मिल जाता है। इसी कल्पना के दर्शन उनके उन चित्रों में भी होते हैं, जो उन्होंने शब्दों से नहीं, रंगों और तूलिका के माध्यम से निर्मित किये हैं। उनके ये चित्र 'दीपशिखा' और 'यामा' में कविताओं के साथ प्रकाशित हुए हैं।

-शं० ना० सिं०

महाभारत-रामायण एवं महाभारत संस्कृत साहित्य के 'उपजीव्य' ग्रन्थ हैं और हमारे जातीय इतिहास हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इतिहास-पुराण को पंचम वेद कहा गया है-"इतिहासपुराणं पंचम वेदानां वेदम्।" 'महाभारत' के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं। परम्परा के अनुसार 'महाभारत' में एक लाख अनुष्टुप छन्द हैं। इसीलिए इसे शतसाहस्री संहिता कहते हैं। 'महाभारत' के ही शब्दों में-"धर्मेह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।" अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ 'महाभारत' में है, वही अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है। हिन्दी में महाभारत के अनेक पद्यात्मक एवं गद्यात्मक अनुवाद हुए हैं-

१. 'महाभारत दर्पण'-काशिराज श्री उदितनारायण सिंह की आज्ञा से रघुनाथ कवीश्वरात्मज गोकुलनाथ, इनके पुत्र गोपीनाथ तथा इनके शिष्य मणिदेव ने सम्पूर्ण महाभारत और हरिवंश का सार रूप में अनुवाद किया, जो विविध छन्दों-अनुष्टुप, भुजंगप्रयात, रोला, हरिगीतिका आदि में लगभग दो हजार पृष्ठों में है। 'महाभारत दर्पण' का अधिकांश भाग गोकुलनाथ तथा इनके पुत्र गोपीनाथ द्वारा निर्मित हुआ है। सर्वप्रथम इसका प्रकाशन पण्डित लक्ष्मीनारायण द्वारा शुद्ध कराकर संवत् १८६६ (१९२९ ई०) में कलकत्ता के शास्त्र प्रकाश मुद्रायन्त्र से हुआ तथा इसका दूसरा संस्करण वाजपेयी रामरतन से शुद्ध कराकर नवल प्रेस लखनऊ से सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ। नवल किशोर प्रेस से ही इसकी तृतीय आवृत्ति सन् १८९१ ई० में हुई। यह वर्णमात्रावृत्त में सुन्दर रचना है। यह अनुवाद भावों की अभिव्यंजना, शब्दचयन, प्रवाह एवं ओजपूर्ण शैली, भाषा सौष्ठव और पदलालित्य तथा अन्य साहित्यिक शिल्प की दृष्टि से मूल रचना-'महाभारत' के कितना निकट पहुँच सका है, इसका

तथा सोरठा में वर्णनात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ—"राजा सुनौ जु कुन्ती अहई। पाँच पुत्र यहि ऐसे कहई।। तुम्हरे पिता केर यह राजू। कर्म्म दोष ते भयो अकाजू।।"

कवि ने व्यास द्वारा वर्णित कथा का ही आधार लिया है, जैसा वे स्वयं स्वर्गारोहण पर्व के अन्त में कहते हैं—"सबलसिंह मतिहीन, व्यास कहत तस कहेउ हम।।"

—शि० शे० मि०

महाराणाप्रताप सिंह—बाप्पारावल के प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न, चित्तौड़ के अधिपति महाराणा उदयसिंह के पुत्र एवं भारतीयों द्वारा 'हिन्दुओं के सूर्य' उपाधि से विभूषित प्रताप सिंह के चरित्र का यशोगान अनेक कवियों ने किया है। इन्होंने देश और धर्मरक्षा के लिए जो कष्ट सहे थे, इससे इनका नाम इतिहासप्रसिद्ध हो गया है। अम्बर के कुमार एवं अकबर के कृपापात्र मानसिंह के विरोध के कारण इन्हें आजीवन विपत्तियों का सामना करना पड़ा। हल्दीघाटी का अकबर और प्रताप के बीच हुआ युद्ध आज भी भारतीयों का स्मृति चिह्न बना हुआ है। इनके इस चरित्र को लेकर पण्डित श्यामनारायण पाण्डेय ने 'हल्दीघाटी' नामक महाकाव्य की रचना की है। यही नहीं, इनके चरित्र के विभिन्न सन्दर्भों को लेकर अनेक नाटकों की भी रचना हुई है। प्रसादजी ने 'महाराणा का महत्त्व' नामक काव्य लिखकर उनके धैर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

—यो० प्र० सिं०

महावीर—वर्धमान महावीर अन्तिम जैन तीर्थंकर थे। इनका जन्म ५९९ ई० पू० माना जाता है। ३० वर्ष की अवस्था में परिव्राजक हो गये थे। इनके गुरु पार्श्वनाथ कहे जाते हैं। इनके नाम के पश्चात् 'वीर' शब्द के कारण इनका सम्बन्ध कुछ विद्वान् यक्षों से भी जोड़ते हैं किन्तु वह अधिक समीचीन नहीं है। सिद्धिप्राप्ति के पश्चात् 'निर्ग्रन्थ' नामक साधुओं के नेता बने और उनका एक सम्प्रदाय भी चलाया। इनके ९ प्रसिद्ध शिष्य थे, जिन्हें 'गणधर' के नाम से अभिहित किया जाता है। इनके शिष्यों की परम्परा बिना किसी अवरोध के २ शती ईसा पूर्व तक चली थी। ७२ वर्ष की अवस्था में पारा के राजगृह में ५.७ ई० पू० में इनका परिनिर्वाण हुआ था। जैनधर्म के प्रचार में इनका अन्यतम योगदान रहा है।

—यो० प्र० सिं०

महावीरप्रसाद द्विवेदी—महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी गद्य साहित्य के युगविधायक हैं। आपका जन्म सन् १८६४ ई० में उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम रामसहाय द्विवेदी था। कहा जाता है कि उन्हें महावीर का इष्ट था, इसीलिए उन्होंने पुत्र का नाम महावीर सहाय रखा। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई। प्रधानाध्यापक ने भूल से आपका नाम महावीरप्रसाद लिख दिया था, हिन्दी-साहित्य में यह भूल स्थायी बन गयी। तेरह वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी पढ़ने के लिए आप रायबरेली के जिला स्कूल में भर्ती हुए। यहाँ संस्कृत के अभाव में आपको वैकल्पिक विषय फारसी लेना पड़ा। इस स्कूल में ज्यों-त्यों एक वर्ष कटा। तदुपरान्त कुछ दिनों तक उन्नाव जिले के रनजीत पुरवा स्कूल में और कुछ दिनों तक फतेहपुर में पढ़ने के बाद अन्ततोगत्वा आप पिता के पास बम्बई चले गये। बम्बई में आपने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी का अभ्यास किया। आपकी उत्कट ज्ञान-पिपासा कभी तृप्त न हुई किन्तु जीविका के लिए रेलवे में नौकरी कर ली। कुछ दिनों तक नागपुर और अजमेर में कार्य करने के बाद आप पुनः बम्बई लौट आये। यहाँ आपने तार देने की विधि सीखी और रेलवे में सिग्नलर हो गये। रेलवे में विभिन्न पदों पर कार्य करने के बाद अन्ततः आप झाँसी में डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिण्टेण्डेण्ट के आफिस में चीफ क्लर्क हो गये। पाँच वर्ष बाद उच्चाधिकारी से न पटने के कारण आपने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। आपकी साहित्य-साधना का क्रम सरकारी नौकरी के नीरस वातावरण में भी चल रहा था और इस अवधि में आपके संस्कृत ग्रन्थों के कई अनुवाद और कुछ आलोचनाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं।

सन् १९०३ ई० में आपने 'सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार किया। 'सरस्वती' सम्पादक के रूप में आपने हिन्दी के उत्थान के लिए जो कुछ किया, उस पर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। १९२० ई० तक यह गुरुतर दायित्व आपने निष्ठापूर्वक निभाया। 'सरस्वती' से अलग होने पर जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष आपने गाँव के नीरव वातावरण में व्यतीत किये। ये वर्ष बड़ी कठिनाई में बीते। २१ दिसम्बर सन् १९३८ ई० को रायबरेली में आपका स्वर्गवास हो गया। हिन्दी-साहित्य का आचार्य पीठ अनिश्चितकाल के लिए सूना हो गया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक देन कम नहीं है। मौलिक और अनूदित पद्य और गद्य ग्रन्थों की कुल संख्या अस्सी से ऊपर है। अकेले गद्य में आपकी १४ अनूदित और ५० मौलिक कृतियाँ प्राप्त हैं। कविता की ओर आपकी विशेष प्रवृत्ति नहीं थी। इस क्षेत्र में आपकी अनूदित कृतियाँ, जिनकी संख्या आठ है, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मौलिक कृतियाँ कुल ९ हैं, जिन्हें आपने स्वयं तुकबन्दी कहा है। आपकी समस्त कृतियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है—

पद्य : (अनूदित) 'विनय विनोद' (१८८९ ई०—भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहों में अनुवाद), 'विहार वाटिका' (१८९० ई०—गीत गोविन्द का भावानुवाद), 'स्नेह माला' (१८९० ई०— भर्तृहरि के 'श्रृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद) 'श्री महिम्न स्तोत्र' (१८९१ ई०—संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र का संस्कृत वृत्तो में अनुवाद), 'गंगा लहरी' (१८९१ ई०—पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का सवैयों में अनुवाद), 'ऋतुतरंगिणी' (१८९१ ई०— कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद), 'सोहागरात' (अप्रकाशित—बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद), 'कुमारसम्भवसार' (१९०२ ई०—कालिदास के 'कुमार सम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश)। मौलिक— 'देवी-स्तुति- शतक' (१८९२ ई०), 'कान्यकुब्जावलीव्रतम्' (१८९८ ई०), 'समाचार पत्र सम्पादक स्तवः' (१८९८ ई०), 'नागरी' (१९०० ई०), 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' (१९०७ ई०), 'काव्य मंजूषा' (१९०३ ई०), 'सुमन' (१९२३ ई०), 'द्विवेदी काव्य-माला' (१९४० ई०), 'कविता कलाप' (१९०९ ई०)।

गद्य : अनूदित– 'भामिनी-विलास' (१८९१ ई०–पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद), 'अमृत लहरी' (१८९६ ई०–पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद), 'बेकन-विचार-रत्नावली' (१९०१ ई०–बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद), 'शिक्षा' (१९०६ ई०–हर्बर्ट स्पेंसर के 'एज्यूकेशन' का अनुवाद), 'स्वाधीनता' (१९०७ ई०–जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद) 'जल चिकित्सा' (१९०७ ई०–जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद), 'हिन्दी महाभारत' (१९०८ ई०–'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर), 'रघुवंश' (१९१२ ई०–'रघुवंश' महाकाव्य का भाषानुवाद), 'वेणी-सहार (१९१३ ई०–संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद), 'कुमार सम्भव' (१९१५ ई०–कालिदास के 'कुमार सम्भवम्' का अनुवाद), 'मेघदूत' (१९१७ ई०–कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद), 'किरातार्जुनीय' (१९१७ ई०–भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद), 'प्राचीन पण्डित और कवि' (१९१८ ई०–अन्य भाषाओ के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितो का परिचय), 'आख्यायिका सप्तक' (१९२७ ई०–अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद)। मौलिक– 'तरुणोपदेश' (अप्रकाशित), 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' (१८९९ ई०), 'नैषधचरित चर्चा' (१९०० ई०), 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' (१९०१ ई०), 'वैज्ञानिक कोश' (१९०६ ई०), 'नाटचशास्त्र' (१९१२ ई०), 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' (१९०७ ई०), 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' (१९०७ ई०), 'सम्पत्तिशास्त्र' (१९०७ ई०), 'कौटिल्य कुठार' (१९०७ ई०), 'कालिदास की निरंकुशता' (१९१२ ई०) 'वनिता-विलाप' (१९१८ ई०), 'औद्योगिकी' (१९२० ई०), 'रसज्ञ रंजन' (१९२० ई०), 'कालिदास और उनकी कविता' (१९२० ई०), 'सुकवि संकीर्तन' (१९२४ ई०), 'अतीत स्मृति' (१९२४ ई०), 'साहित्य सन्दर्भ' (१९२८ ई०), 'अद्‌भुत आलाप' (१९२४ ई०), 'महिलामोद' (१९२५ ई०), 'आध्यात्मिकी' (१९२८ ई०), 'वैचित्र्य चित्रण' (१९२६ ई०), 'साहित्यलाप' (१९२६ ई०), 'विज्ञ विनोद' (१९२६ ई०), 'कोविद कीर्तन' (१९२८ ई०), 'विदेशी विद्वान्' (१९२८ ई०), 'प्राचीन चिह्न' (१९२९ ई०), 'चरित चर्या' (१९३० ई०), 'पुरावृत्त' (१९३३ ई०), 'दृश्य दर्शन' (१९२८ ई०), 'आलोचनांजलि' (१९२८ ई०), 'चरित्र चित्रण' (१९२९ ई०) 'पुरातत्त्व प्रसंग' (१९२९ ई०), 'साहित्य सीकर' (१९३० ई०), 'विज्ञान वार्ता' (१९३० ई०), 'वाग्विलास' (१९३० ई०), 'संकलन' (१९३१ ई०), 'विचार-विमर्श' (१९३१ ई०)।

उपर्युक्त कृतियों कें अतिरिक्त तेरहवें हिन्दी–साहित्य सम्मेलन (१९२३ ई०), काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये अभिनन्दन (१९३३ ई० और प्रयाग मे आयोजित द्विवेदी मेला, १९३३ ई०) के अवसर पर आपने जो भाषण दिये थे, उन्हें भी पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। आपकी बनायी हुई छः बालोपयोगी स्कूली रीडरें भी प्रकाशित हैं।

हिन्दी-साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ मे ही किया जा सकता है। वह समय हिन्दी के कलात्मक विकास का नहीं, हिन्दी के अभावोकी पूर्ति का था। आपने ज्ञान के विविध क्षेत्रों– इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान, पुरातत्त्व, चिकित्सा, राजनीति, जीवनी आदि से सामग्री लेकर हिन्दी के अभावोंकी पूर्ति की। हिन्दी गद्य को माँजने–सँवारने और परिष्कृत करने में आप आजीवन सलग्न रहे। यहाँ तक कि आपने अपना भी परिष्कार किया। हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक करने के लिए (खड़ीबोली के प्रचार–प्रसार के लिए) प्रबल आन्दोलन किया। हिन्दी गद्य की अनेक विधाओंको समुन्नत किया। इसके लिए आपको अंगरेजी, मराठी, गुजराती और बंगला आदि भाषाओं में प्रकाशित श्रेष्ठ कृतियों का बराबर अनुशीलन करना पड़ता था। निबन्धकार, आलोचक, अनुवादक और सम्पादक के रूप में आपने अपना पथ स्वयं प्रशस्त किया था। निबन्धकार द्विवेदी के सामने सदैव पाठकों के ज्ञान–वर्द्धन का दृष्टिकोण प्रधान रहा, इसलिए विषय–वैविध्य, सरलता और उपदेशात्मकता उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ बन गयीं। आलोचक के रूप में 'रीति' के स्थान पर आपने उपादेयता, लोक–हित, उद्देश्य की गम्भीरता, शैली की नवीनता और निर्दोषिता को काव्योत्कृष्टता की कसौटी के रूप में प्रतिष्ठित किया। आपकी आलोचनाओं से लोक–रुचि का परिष्कार हुआ। नूतन काव्य विवेक जागृत हुआ। सम्पादक के रूप में आपने निरन्तर पाठकों का हित–चिन्तन किया। नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त उन्हें अपना गुरु मानते हैं। गुप्तजी का कहना है कि "मेरी उलटी–सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी महाराज का ही काम था।" पत्रिका को निर्दोष, पूर्ण, सरस, उपयोगी और नियमित बनाया। अनुवादक के रूप में आपने भाषा की प्रांजलता और मूल भावों की रक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के कृतित्व से अधिक महिमामय उनका व्यक्तित्व है। आस्तिकता, कर्तव्यपरायणता, न्यायनिष्ठा, आत्मसंयम, परहित–कातरता और लोक–संग्रह भारतीय नैतिकता के शाश्वत विधान हैं। आप इस नैतिकता के मूर्तिमान् प्रतीक थे। आपके विचारों और कथनों के पीछे आपके व्यक्तित्व की गरिमा भी कार्य करती थी। वह युग ही नैतिक मूल्यों के आग्रह का था। साहित्य के क्षेत्र में सुधारवादी प्रवृत्तियों का प्रवेश नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण ही हो रहा था। भाषा–परिमार्जन के मूलों में भी यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा था। आपका कृतित्व श्लाध्य है तो आपका व्यक्तित्व पूज्य। प्राचीनता की उपेक्षा न करते हुए भी आपने नवीनता को प्रश्रय दिया था। 'भारत–भारती' के प्रकाशन पर आपने लिखा था-"यह काव्य वर्त्तमान हिन्दी–साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है।" कहना न होगा कि इस युगान्तर के मूल में आपका ही व्यक्तित्व कार्य कर रहा था। आपने अनन्त आकाश और अनन्त पृथ्वी के सभी उपकरणों को काव्य–विषय घोषित करके इसी युगान्तर की सूचना दी थी। आप नवयुग के विधायक आचार्य थे। उस युग का बडे से बड़ा साहित्यकार आपके 'प्रसाद' की ही कामना करता था। सन्

१९०३ ई० से १९२५ ई० तक (लगभग २२ वर्षों की अवधि में) आपने हिन्दी—साहित्य का नेतृत्व किया।

[सहायक ग्रन्थ-महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : उदयभानु सिंह।]

-रा० चं० ति०

महिषासुर—एक अत्याचारी दैत्य। देवी दुर्गा द्वारा इसका वध किया गया, इसीलिए दुर्गा को 'महिषासुरमर्दिनी' भी कहा जाता है। दुर्गा पाठ के अन्तगर्त महिषासुर का उल्लेख आता है, जिसमें देवी अत्याचारी दैत्य का वध करके पृथ्वी पर शान्ति स्थापित करती हैं।

मो० अ०

महेश्वर भूषण—गंगाधर उपनाम 'द्विजगंग' ने सन् १८१५ में अपने आश्रयदाता महेश्वर बक्स सिंह की आज्ञा से 'महेश्वरभूषण' नामक अलंकार—ग्रन्थ की रचना की। इसमें ११४ पृष्ठ तथा ५ उल्लास हैं। प्रथम में राजवंश वर्णन, द्वितीय में कवि—वंश वर्णन, तृतीय में अलंकार—निर्णय, चतुर्थ में श्रीराधिकाजी का नख—शिख वर्णन और पंचम में दान—वर्णन के अनन्तर चित्र काव्य—वर्णन है। अलंकारों के लक्षण दोहे में और उदाहरण कवित्त—सवैये में हैं। स्थान—स्थान पर तिलक की भी योजना है। अर्थालंकारों के अनन्तर शब्द के ५ अलंकार दिये गये हैं। मम्मट, कैयट तथा जयदेव, अप्पय दीक्षित का कवि पर प्रभाव है। 'महेश्वर भूषण' १८९६ ई० में पूर्ण हुआ और १८९७ ई० में भारत जीवन प्रेस, काशी से इसका प्रकाशन हुआ।

[सहायक ग्रन्थ—हि० अ० सा०।]

-ओं० प्र०

माखन कवि—रतनपुर (बिलासपुर) के रहने वाले थे। यहाँ के राजा राजसिंह (राज्यकाल १५९९ ई०—१६१९ ई०) के दरबार में ये और इनके पिता गोपाल दोनों राजकवि थे। पिता—पुत्र ने मिलकर कई ग्रन्थों की रचना की है। इनके सात ग्रन्थों की चर्चा की गयी है-'भक्त चिन्तामणि', 'रामप्रताप', 'जैमिनी अश्वमेध', 'खूब तमाशा', 'सुदामा चरित', 'छन्दविलास' तथा 'विनोद शतक'। इनमें प्रथम पाँच ग्रन्थ भक्तिपरक हैं और अन्तिम दो शास्त्रीय तथा श्रृंगारपरक हैं।

इनका प्रमुख ग्रन्थ 'छन्दविलास' है, जिसे 'श्रीनागपिंगल' (कहीं—कहीं 'श्रीनाथ पिंगल') कहा गया है। इनकी रचना कवि ने पिता की आज्ञा से रायपुर में की थी। इसमें प्रकरण न देकर शीर्षकों में विभाजन किया गया है। माखन ने पुस्तक का उद्देश्य प्रारम्भिक छात्रोंको शिक्षा देना स्वीकार किया है। इसमें कुछ नवीन छन्द भी हैं। इसकी भाषा बहुत सरल है और उदाहरण में कृष्ण—लीला के प्रसंग लिये गये हैं। शैली आलंकारिक और परिमार्जित है।

[सहायक ग्रन्थ-हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

-सं०

माखनलाल चतुर्वेदी—जन्म ४ अप्रैल, १८८९ ई० बावई, मध्यप्रदेश में। ये बचपन में काफी रूग्ण और बीमार रहा करते थे। चतुर्वेदी जी के जीवनीकार बस्आ का कहना है कि "दैन्य और दारिद्र्य की जो भी काली परछाइँ चतुर्वेदियों के परिवार पर जिस रूप में भी रही हो, माखन लाल पौरुषवान् सौभाग्य का लाक्षणिक शकुन ही बनता गया" ('शैशव और कैशौर' : मा० ला० चतुर्वेदी, पृष्ठ ५८)। परिवार राधावल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी था, इसलिए स्वभावतः चतुर्वेदी के व्यक्तित्व में वैष्णव पद कण्ठस्थ हो गये। प्राथमिक शिक्षा की समाप्ति के बाद ये घर पर ही संस्कृत का अध्ययन करने लगे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ और उसके एक वर्ष बाद आठ रूपये मासिक वेतन पर अध्यापकी शुरु की। १९१३ ई० में इन्होंने 'प्रभा' पत्रिका का सम्पादन आरम्भ किया, जो पहले चित्रशाला प्रेस, पूना से और बाद में प्रताप प्रेस, कानपुर से छपती रही। 'प्रभा' के सम्पादनकाल में इनका परिचय गणेशशंकर विद्यार्थी से हुआ, जिनके देश—प्रेम और सेवाव्रत का इनके ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। १९१८ ई० में 'कृष्णार्जुन युद्ध' नामक नाटक की रचना की और १९१९ ई० में जबलपुर से 'कर्मवीर' का प्रकाशन किया। १२ मई, १९२१ को राजद्रोह में गिरफ्तार हुए। १९२२ ई० में कारागार से मुक्ति मिली। १९२४ ई० में गणेशशंकर विद्यार्थी की गिरफ्तारी के बाद 'प्रताप' का सम्पादकीय कार्य—भार सँभाला। १९२७ ई० में भरतपुर में सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष बने। १९४३ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष हुए। इसके एक वर्ष पूर्व ही इनका 'हिमकिरीटिनी' और 'साहित्य देवता' प्रकाश में आये। १९४८ ई० में 'हिम तरंगिनी' और १९५२ ई० मे 'माता' काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए। माखनलाल चतुर्वेदी की मृत्यु १९६८ ई० में हुई।

हिन्दी काव्य के विद्यार्थी को माखनलाल जी की कविताएँ पढ़कर सहसा आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। कहीं ज्वालामुखी की तरह धधकता हुआ अन्तर्मन, जो विषमता की समूची अग्नि सीने में दबाये फूटने के लिए मचल रहा है, कहीं विराट् पौरुष की हुंकार, कहीं करुणा की अजीब दर्द भरी मनुहार। वे जब आक्रोश से उद्दीप्त होते हैं तो प्रलयंकर का रूप धारण कर लेते हैं किन्तु दूसरे ही क्षण वे अपनी कातरता से विह्वल होकर मनमोहन की टेर लगाने लगते हैं।

चतुर्वेदी जी के व्यक्तित्व में संक्रमणकालीन भारतीय समाज की सारी विरोधी अथवा विरोधी जैसी प्रतीत होने वाली विशिष्टताओं का सम्पुंजन दिखायी पड़ता है।

आपकी रचनाओं को प्रकाशन की दृष्टि से इस क्रम में रखा जा सकता है-'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९१८ ई०), 'हिमकिरीटिनी' (१९४१ ई०), 'साहित्य देवता' (१९४२ ई०), 'हिमतरंगिनी' (१९४९ ई०-साहित्य अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत), 'माता' (१९५२ ई०)। 'युगचरण', 'समर्पण' और 'वेणु लो गूँजे धरा' उनकी कहानियों का संग्रह है। परवर्ती निबन्धों का एक संग्रह 'अमीर इरादे, गरीब इरादे' नाम से छपा है।

कवि के क्रमिक विकास को दृष्टि में रखकर हम माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं को दो श्रेणी में रख सकते हैं। आरम्भिक काव्य, यानी १९२० ई० के पहले की रचनाएँ और परिणति काव्य, यानी १९२० ई० से बाद की काव्य—सृष्टि। उनकी रचनाओं की प्रवृत्तियाँ प्रायः स्पष्ट और निश्चित हैं। राष्ट्रीयता उनके काव्य का कलेवर है तो भक्ति और रहस्यात्मक प्रेम उनकी रचनाओंकी आत्मा। आरम्भिक रचनाओं में भी वे प्रवृत्तियाँ स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं। 'प्रभा' के प्रवेशांक में प्रकाशित उनकी कविता 'नीति—निवेदन' शायद उनके मन की तात्कालिक स्थिति का

पूरा परिचय देती है। कवि "श्रेष्ठता सोपानगामी उदार छात्रवृन्द" से एक आत्म–निवेदन करता है। उन्हे पूर्वजों का स्मरण दिलाकर रत्नगर्भा मातृभूमि की रक्तापर तरस खाने को कहता है। उसी प्रकार 'प्रभा' भाग १, संख्या ६ में प्रकाशित 'प्रेम' शीर्षक कविताओं से सबसे सात्विक प्रेम व्याप्त हो, इसके लिए सन्देश दिया है क्योंकि इस प्रेम के बिना "बेड़ा पार" होने वाला नहीं है। माखनलाल जी की राष्ट्रीय कविताओं में आदर्श की थोथी उड़ानें भर नहीं है। उन्होंने खुद राष्ट्रीय संग्राम में अपना सब कुछ बलिदान किया है, इसी कारण उनके स्वरों में 'बलिपन्थी' की सच्चाई, निर्भीकता और कष्टों के झेलने की अदम्य लालसा की झंकार है। यह सच है कि उनकी रचनाओं में कहीं–कहीं 'हिन्दू राष्ट्रीयता' का स्वर ज्यादा प्रबल हो उठा है किन्तु हम इसे साम्प्रदायिकता नहीं कह सकते, क्योंकि दूसरे सम्प्रदाय के अहित की आकांक्षा इनमें रंचमात्र भी दिखाई न पड़ेगी। 'विजयदशमी' और 'प्रवासी भारतीय वृन्द' ('प्रभा', भाग २, संख्या ७) अथवा 'हिन्दुओं का रणगीत', 'मंजु माधवी वृत्त' (भाग २, संख्या ८) ऐसी ही रचनाएँ हैं। उन्होंने सामयिक राजनीतिक विषयों को भी दृष्टि में रखकर लिखा और ऐसे जलते प्रश्नों को काव्य का विषय बनाया।

आरम्भिक रचनाओं में भक्तिपरक अथवा आध्यात्मिक विचारप्रेरित कविताओं का भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सही है कि इन रचनाओं में इस तरह की सूक्ष्मता अथवा आध्यात्मिक रहस्य का अतीन्द्रिय स्पर्श नहीं है, जैसा छायावादी कवियों में है अथवा कवि की परिणत काव्यश्रेणीगत आने वाली कुछेक रचनाओं में है। भक्ति का रूप यहाँ काफी स्वस्थ है किन्तु साथ ही स्थूल भी। कारण शायह यह रहा है कि इनमें कवि की निजी व्यक्तिगत अनुभूतियों का उतना योग नहीं है. जितना एक व्यापक नैतिक धरातल का, जिसे हम 'समूह–प्रार्थना कोटि' का काव्य कह सकते हैं। इसमें स्तुति या स्तोत्र शैलीकी झलक भी मिल जाती है। जैसा पहले ही कहा गया, कवि के ऊपर वैष्णव परम्परा का घना प्रभाव दिखायी पड़ता है। भक्तिपरक कविताओं को किसी विशेष सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखकर देखना ठीक न होगा, क्योंकि इन कविताओं में किसी सम्प्रदायगत मान्यता का निर्वाह नहीं किया गया है। इनमें वैष्णव, निर्गुण, सूफी सभी तरह की विचारधाराओं का समन्वय–सा दिखाई पड़ता है। कहीं प्रणय–निवेदन है, कहीं समर्पण, कहीं उलाहना और कहीं देश–प्रेम के तकाजे के कारण स्वाधीनता–प्राप्ति का वरदान भी माँगा गया है। 'रामनवमी' जैसी रचनाओं में देश–प्रेम और भगवत्प्रेम को समान धरातल पर उतारने का प्रयत्न स्पष्ट है।

परिणत काव्य–सृष्टि में उपर्युक्त मुख्य प्रवृतियों का और भी अधिक विकास दिखाई पड़ता है। क्षोभ, उच्छवास के स्थान पर पीड़ा को सहने और उसे एक मार्मिक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। 'कैदी और कोकिला' के पीछे जो राष्ट्रीयता का रूप है, वह आरम्भिक अभिधात्मक काव्य–कृतियों से स्पष्ट ही भिन्न है। उसी प्रकार 'झरना' और 'आँसू' में भावों की गहराई और अनुभूतियों की योग्यता का स्वर प्रबल है. किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि इस दौरान उन्होने उद्बोधन–काव्य लिखा ही नहीं। 'युग तरुण से', 'प्रवेश', 'सेनानी' आदि रचनाएँ उद्बोधन काव्य के अन्तर्गत ही रखी जायेंगी। उन्होंने राजनीतिक घटनाओं को दृष्टिमें रखकर श्रद्धांजलिमूलक काव्य भी लिखा। 'सन्तोष', 'नटोरियस वीर', 'बन्धन सुख' आदि में गणेशशंकर विद्यार्थी की मधुर स्मृतियाँ हैं तो राष्ट्रीय झण्डे की भेंट में हरदेवनारायण सिंह के प्रति श्रद्धा का निवेदन।

परवर्ती काव्य में आध्यात्मिक रहस्य की धारा स्तुति और प्रार्थना के आध्यात्मिक धरातल से उतर कर सूक्ष्म रहस्य और भक्ति की अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक भूमि पर बहती दिखाई पड़ती है। छायावादी व्यक्तित्व में विराट् की भावना का परिपाक है तो आध्यात्मिक रहस्य की धारा में किसी अज्ञात असीम प्रियतम के साथ ससीम आत्मा का प्रणय–निवेदन। प्रकृति और आध्यात्मिक रहस्य का यह नया आलोक छायावादी कवि की जीवन दृष्टि का आधार है। माखनलाल जी की रचनाओं में भी यह आलोक है किन्तु इसका रूप थोड़ा भिन्न है। भिन्न इस अर्थ में कि वे 'श्याम' या 'कृष्ण' की जिस रूपमाधुरी से आकृष्ट थे, उसको सुरक्षित रखते हुए रहस्य के इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं। अव्यक्त लोक में भी उन्हें 'बाँसुरी' भूल नहीं पाती। इसी कारण माखनलाल की कविताओं में छायावादी रहस्य भावना का सगुण मधुरा भक्ति के साथ एक अजीब समन्वय दिखाई पड़ता है। उनका ईश्वर (निराकार) इतना निराकार नहीं है कि उसे वे नाना नाम रूप देकर उपलब्ध न कर सकें। "वे खुदी को मिटाकर खुदा देखते हैं", इसी कारण उनकी रचनाओं में छायावादी वैयक्तिकता का ऐकान्तिक स्वर तीव्र नहीं सुनाई पड़ता है। रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी भावना का प्रभाव उन पर स्पष्ट है-"चला तू अपने नभ को छोड़, पा गया मुझमें तव आकार।" अथवा "अरे अशेष शेष कीगोदी, या मेरे 'मैं' ही में तो उदार तेरी अपनी है छुपी हार" आदि कृतियों में अज्ञात के प्रति निवेदन का स्वर स्पष्ट है, किन्तु राधा के मुरलीधर को अपना नटवर कहने में वे कभी नहीं हिचकते। उनका मन जैसे सगुण रूप में ज्यादा रमा है वैसे ही छायावादी शैली अपनाने पर भी वे आनन्द को व्यक्त करते समय 'नटवर' के प्रेम–आतंक से अपने को मुक्त न कर सके।

छायावादी काव्य में प्रकृति एक अभिनव जीवन्त रूप में चित्रित की गयी है। माखनलाल जी की कविताओं में प्रकृति चित्रण का भी एक विशेष महत्त्व है। मध्य प्रदेश की धरती का उनके मन में एक विशेष आकर्षण है। यह सही है कि कवि को प्रकृति के रूप आकृष्ट करते हैं किन्तु उसका मन दूसरी समस्याओं में इतना उलझा है कि उन्हें प्रकृति में रमने का अवकाश नहीं है। इस कारण प्रकृति उनके काव्य में उद्दीपन बनकर ही रह गयी है, चाहे राष्ट्रीय अधःपतन से उत्पन्न ग्लानि में शस्य-श्यामला भूमिकी दुरवस्था को सोचते समय, चाहे बन्दीखाने के सीकचों से जन्मभूमि को याद करते समय। छायावादी कवियों की तरह प्रकृति में सब कुछ खोजने का इन्हें अवकाश ही न था।

भाषा और शैली की दृष्टि से माखनलाल पर आरोप किया जाता है कि उनकी भाषा बड़ी बेड़ौल है। उसमें कहीं–कहीं व्याकरण की अवहेलना की गयी है। कहीं अर्थ निकालने के लिए दूरान्वय करना पड़ता है, कहीं भाषा में कठोर संस्कृत शब्द हैं तो कहीं बुन्देलखण्डी के ग्राम्य प्रयोग। किन्तु भाषा–शैली के ये सारे दोष सिर्फ एक बात की सूचना देते हैं कि

कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को इतनामहत्त्वपूर्ण समझा है कि उसे नियमों में हमेशा आबद्ध रखना उन्हे स्वीकार नहीं हुआ है। भाषा—शिल्पके प्रति माखनलाल जी बहुत सचेष्ट रहे हैं। उनके प्रयोग सामान्य स्वीकरण भले ही न पायें, उनकी मौलिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

गद्य रचनाओं में 'कृष्णार्जुन युद्ध' और 'साहित्य देवता' का विशेष महत्त्व है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' अपने समय की बहुत लोकप्रिय रचना रही है। पारसी नाटक कम्पनियों ने जिस ढंग से हमारी संस्कृति को विकृत करने का प्रयत्न किया, वह किसी प्रबुद्ध पाठक से छिपा नहीं है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' शायद ऐसे नाट्य प्रदर्शनों का मुहतोड़ जवाब था। गन्धर्व चित्रसेन अपने प्रमादजन्य कुकृत्य के कारण कृष्ण के क्रोध का पात्र बना। कृष्ण ने दूसरी सन्ध्या तक क्षमा न माँगने पर उसके वध की प्रतिज्ञा की। नारद को चित्रसेन का अपराध छोटा लगा, दण्ड भारी। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक सुभद्रा के माध्यम से अर्जुन द्वारा चित्रसेन की रक्षा का प्रण करा लिया। अर्जुन और कृष्ण के युद्ध से सृष्टि का विनाश निकट आया जान ब्रह्मा आदि ने दौड़—धूप करके शान्ति की स्थापना की। इस पौराणिक नाटक को भारतीय नाट्य परम्परा के अनुसार उपस्थित किया गया है। यह अभिनेयता की दृष्टि से काफी सुलझी हुई रचना कही जा सकती है। 'साहित्य देवता' माखनलाल जी के भावात्मक निबन्धों का संग्रह है।

[सहायक ग्रन्थ—माखनलाल चतुर्वेदी—एक अध्ययन : रामाधार शर्मा, सरस्वती मन्दिर, जतनवर, काशी; माखनलाल चतुर्वेदी (जीवनी) : ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६० ई०।]

—शि० प्र० सिं०

माता प्रसाद गुप्त—जन्म १९०९ ई० में मुँगरा बादशाहपुर (जिला जौनपुर) में हुआ। शिक्षा (एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्०) प्रयाग, विश्वविद्यालय में, जहाँ अनेक वर्षों तक सहायक प्रोफेसर थे। फिर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष तथा हिंदी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक रहे। हिन्दी जगत् में तुलसी-काव्य के विशेषज्ञ तथा पाठालोचन शास्त्र के प्रमुख पुरस्कर्त्ता के रूप में आपकी विशेष ख्याति है। मध्यकालीन कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं का संशोधित-सम्पादित पाठ आपने बड़ी सूझ-बूझ के साथ प्रस्तुत किया है। 'रामचरितमानस' का पाठ (१९५० ई०), 'जायसी ग्रन्थावली' (१९५३ ई०), 'बीसलदेव रासो' का पाठ, 'छिताई वार्ता' का पाठ और 'पृथ्वीराज रासो' का पाठ आपकी प्रख्यात कृतियाँ हैं।

—सं०

माधवप्रसाद मिश्र—माधव प्रसाद मिश्र बड़े ओजस्वी लेखक थे। आपका जन्म पंजाब प्रान्त के हिसार जिले में भिवानी के पास कूँगड़ नामक ग्राम मे सन् १८७१ ई० में हुआ था। आप संस्कृत और हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। राष्ट्र के प्रति आपकी अटूट निष्ठा थी। आप प्रायः प्रेरित होने पर ही लिखते थे, इसलिए चन्द्रधरशर्मा गुलेरी आपको छेड़ते रहते थे। पत्र-पत्रिकाओं में आपके जोशीले लेख प्रकाशित होते रहते थे। कुछ दिनों तक आपने 'वैश्योपकारक' पत्र का सम्पादन किया था। सन् १९०० ई० में काशी के देवकी नन्दन खत्री ने आपको 'सुदर्शन' का सम्पादक नियुक्त किया। यह पत्र सवा दो वर्ष चलकर बन्द हो गया। इसमें आपके विविध विषयों—पर्व, त्योहार, तीर्थ-स्थान, जीवनी, यात्रा, राजनीति आदि पर लिखे गये निबन्ध प्रकाशित हुए थे। आपके निबन्ध भावात्मक और आत्मव्यंजक होते थे। भाषा में प्रवाहमयता और शैली में प्रभावात्मकता थी। शब्दावली तत्समप्रधान होती थी। पद-पद पर उद्धरण देना आपको प्रिय था। स्वयं देवकी नन्दन खत्री के शब्दों में "सुदर्शन की लेख-प्रणाली को हिन्दी के धुरन्धर लेखकों और विद्वानों ने प्रशंसा के योग्य" ठहराया था। निबन्धों के अतिरिक्त आपने संस्कृत के पण्डितों और सनातनधर्म के समर्थक सेठ-साहूकारों की जीवनियाँ भी लिखी हैं। 'स्वामी विशुद्धानन्द का जीवन-चरित्र (१९०३ ई०, लहरी प्रेस, बनारस से प्रकाशित) आपकी प्रसिद्ध कृति है। सन् १९०७ ई० में आपका अपने गाँव में ही देहान्त हो गया। हिन्दी-साहित्य में एक ओजस्वी लेखक, सफल सम्पादक, आत्मव्यंजक और भावात्मक निबन्धकार तथा तत्सम पदावलीयुक्त प्रवाहमयी शैलीकार के रूप में आप सदैव स्मरणीय रहेंगे।

—रा० चं० ति०

माधव-विनोद—कविवर सोमनाथ माथुर ने १७५२ ई० में ("ठारह से अठनव बरष संवत आश्विन मास। शुक्ल त्रयोदशी भृगु दिना भयो ग्रन्थ परकास") 'माधव विनोद' नामक काव्य-ग्रन्थ का प्रणयन किया। सोमनाथ का पर्याय एवं उपनाम 'ससिनाथ' भी नाटक में प्रयुक्त है ("माधव अरु मालित के प्रेम कथा रसाल, वरनतु सो ससिनाथ कवि हुकुम पाइ के हाल ।।२१।।")। भरतपुर नरेश वदन सिंह के पौत्र और प्रताप सिंह के पुत्र बहादुर सिंह की आज्ञा से कवि ने इस काव्य—नाटक की रचना की। प्रताप सिंह ने एक दिन कवि से कहा कि संस्कृत के नाटक 'मालती माधव' को ब्रजभाषा में लिख डालो ("कही बहादुर सिंह ने एक दिना सुख पाय, सोमनाथ या ग्रन्थ की भाषा देहु बनाय।। २०।।")। माधव विनोद संस्कृत नाटक का शुद्ध अनुवाद नहीं है, क्योंकि दोनों मे समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है। यह ग्रन्थ डा० सोमनाथ द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है।

दोनों में अंक संख्या दस है। भाषा नाटक में कथा, कथा—क्रम, पात्र, पात्रों का चरित्र, संवाद—विष्कम्भक प्रवेशक वे ही हैं, जो संस्कृत नाटक में हैं। 'माधव विनोद' की प्रस्तावना मूल नाटक से भिन्न है—(१) मूल नाटक की प्रस्तावना शिव, गणेश एवं सूर्य की स्तुतियों से आरम्भ होती है। 'माधव विनोद' में गणेश एवं कृष्ण की वन्दनाएँ हैं। मूल नाटक का सूत्रधार महाकाल की यात्रा से आये हुए श्रेष्ठ दर्शकों के सामने अभिनय करने की घोषणा करता है किन्तु 'माधव विनोद' में कुँवर बहादुर सिंह की सभा में अभिनय करने का प्रस्ताव है (प्रस्तावना छन्द १२)। (२) मूल नाटक में अंकों का नामकरण नहीं किया गया है। अंक के अन्त में लिखा मिलता है-प्रथमोऽङ्कः या द्वितीयोऽङ्कः भाषा नाटक में अंकों का नाम रखा गया है। प्रथम अंक का नाम है 'बकुल बीथी' तो दूसरे अंक की संज्ञा है 'धवल गृह'। इसी प्रकार तीसरे अंक को 'शोक गृह' कहा गया है। (३) मूल नाटक के छन्दों का अनुवाद भी हुआ है एवं अनुवाद में घटाने और बढ़ाने का काम भी किया गया

है। (४) 'माधव विनोद' में गद्य का प्रयोग नही हुआ है, यहाँ केवल पद्य ही पद्य हैं। (५) मूल नाटक में पात्र—प्रवेश के समय पात्रों की वेष—भूषा का वर्णन नहीं है। भाषा—नाटक में जब पात्र प्रवेश करता है तब कवि उसकी वेष—भूषा का कथन करता है। (६) कविवर सोमनाथ ने 'माधव विनोद' में मूल नाटक से भिन्न जन—नाट्य शैली को अपनाया है। जन—नाट्य शैली सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत इस नाटक में प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इस नाटक का विशेष स्थान है। उदाहरणार्थ (१) सूत्रधार को रंगाचार कहा जाता था। यह शब्द आज तक स्वांगों में बहुत प्रयुक्त होता रहा है-"सभा निवासी नरन सों उचल्यो रंगाचार, मौन भए कौतिक लषौ हौ तुम सबै उदार।""यौ जब रंगाचार ने कह्यो वचन समझाई, बहुरि पारसिक नैं हरषि उत्तर दियौ बनाई।" (२) स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते थे-"कामंदिक को रूप धरि आयोबाहिर आप। अरु बनिके अवलोकिता नट आयोअनताप"।।१—१९।। (३) जब कोई पात्र रंगमंच पर प्रवेश करता था तो 'रंगाचार' या सूत्रधार उसकी वेष—भूषा का वर्णन करता था-"आयी पुनि अवलोकिता ताकी शिष्यिनी संग, कटि तट लों लटकति जटा भसम लपेटे अंग। भसम लपेटे अंग हत्थ पुस्तक और माला। वंदन विन्दी भाल कमल दल नैन विसाला।। वेर वेर हित सहित करति ससिनाथ बड़ाई, इहि विधि सब जगरूप मनो सो लूटि ले आई"।।१—२१।। (४) जब तक सूत्रधार पात्रका परिचय देता था एवं पात्र की वेशभूषा बताता था तब तक पात्र मंच पर नृत्य करता था या घूमता था। कुछ आलोचकों का मत है कि इन ब्रजभाषा नाटककारों ने संस्कृत नाटकों के नटयति का अनुवाद प्रमादवश "नाचता है या नाचती है" किया है। ऐसी बात नहीं है। ब्रजभाषा नाटककार जब लिखते हैं कि अभिनेता नाचता है या अभिनेत्री नाचती है तो वे ऐसा जानबूझ कर लिख रहे हैं। ये नाटककार तत्कालीन जन—नाट्य शैली में अपने नाटक लिख रहे थे अथवा अनुवाद कर रहे थे। इस जन—नाट्य शैली में नृत्य की अत्यन्त प्रधानता थी। प्रायः सभी पात्र नाचते थे। अभिनेत्रियाँ तो अधिकांशतः नृत्य करती ही थीं। कुछ पुरुष पात्र भी नाचते थे, हाँ कुछ पुरुष पात्र नाचने के स्थान पर घूमते थे। स्वांग या नौटंकी में आज तक यह परम्परा प्रचलित है। माधव विनोद नाटक इस पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश प्रक्षिप्त करता है-(क) नृत्य-"कामंदकि अवलोकिता इहि बिधि बाहर आइ, नृत्य कियो दोउन मिलिं लीनी सभा रिझाइ" ।।१-२२।। (ख) "आई ओसर धारि रंग भूमि में चाइ सों, नच्ची सभा मंझारि मालती सहित लवंगिय" ।।२-१८।। (ग) "पुनि समाज में नाचिके बुद्धिरक्षिता आप"।।३-३।। नृत्य करना या घूमना—(घ) "फिरि नाचि बहुविधि एठि कै। छिति में गयो पुनि बैठ के"।।१-२७।। (ङ) "वचन सुनत मकरंद को माधव इत उत डोलि" ।।१-१८।। (च) "यों कहि परिक्रमा सभामद्धि"—अंक (छ), "यों उचरि परिक्रमा करि अलि", अंक ८, (ज) "कामंद की पट उघारि फिरयो सुआई, घुम्मंति माधव गहे अति मोद छाई" ।।अंक ४।। (५) पर्दा पद्धति के भी अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक 'पट या पर्दा' टाँग दिया जाता था, जिसके पीछे से पात्र सभा में या रंगमंच पर आते थे—(क) "परदा तें बाहिर तहाँ आयो जन कलहंस"।।१—१।। (ख) "फेरि रंगपट टारि द्विज आयो मकरंद तहाँ"।।१-८।। (ग) "आई मंदारिका दासी पट को टारि"।।१-९।। (घ) "पुनि परदा को टारि तहँ आई चेरि दोइ"।।२-१।। (ङ) "इतने में पट टारि मालती औ लवंगिका" ।।२-१८।। (च) "इतने में बुद्धिरक्षिता आई अंबर टारि"।।३-१।।

—गो० ना० ति०

माधवराव सप्रे—जन्म १८७१ ई०। मृत्यु सन् १९३१ ई०। पथरिया गाँव जिला दमोह (मध्य प्रदेश) के निवासी माधवराय सप्रे की शिक्षा क्रमशः विलासपुर और जबलपुर में हुई। आप पहले पी० डब्लू० डी० में ठेकेदारी का काम करते थे। फिर लश्कर (ग्वालियर) तथा नागपुर में पढ़ना शुरू किया। सन् १९०० ई० में पेण्डरा से 'छत्तीसगढ़ मित्र' निकाला। यह पत्र केवल तीन वर्ष चलने के बाद बन्द हो गया। फिर १९०९ ई० में 'हिन्दी ग्रन्थमाला' (नागपुर) का प्रकाशन किया। तदनन्तर राजनीति और शिक्षा पर पुस्तकें लिखीं। फिर बाल गंगाधर तिलक के 'केसरी' पत्र से प्रेरित होकर 'हिन्दी केसरी' पत्र निकाला। फलस्वरूप अनेक यन्त्रणाएँ सहनी पड़ी। आपकी मातृभाषा मराठी थी। आपका हिन्दी-प्रेम सराहनीय है। आपने मराठी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के मराठी ग्रंथ 'गीतारहस्य' का आपने ही हिन्दी में अनुवाद किया है।

आप देहरादून में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे। 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'हिन्दी केसरी' और 'हिन्दी ग्रन्थमाला' के संचालन, सम्पादन तथा प्रकाशन में आपने कुछ भी नहीं छोड़ा। आप सरल, तपस्वी, साधु एवं अत्यन्त परिश्रमी व्यक्ति थे। मध्यप्रदेश के अधिकांश लेखकों को आपके प्रोत्साहन से साहित्यिक क्षेत्र में सफलता मिली।

—ह० दे० बा०

माधव शुक्ल—माधव शुक्ल राष्ट्रीय कविताओं के जन्मदाता अच्छे गायक, नाटककार और कुशल अभिनेता थे। ये प्रयागनिवासी मालवीय ब्राह्मण थे। इनके लिखे हुए नाटक ये हैं—'सीय स्वयंवर' (१८९८ ई०), 'महाभारत पूर्वार्द्ध' (१९१६ ई०) और 'भामाशाह की राजभक्ति'। 'सीय स्वयंवर', 'भामाशाह की राजभक्ति' ये दोनों नाटक अप्रकाशित रह गये। 'महाभारत पूर्वार्द्ध' से इन्हें अच्छी ख्याति मिली। नाटक-साहित्य की उन्नति के लिए इन्होंने अथक प्रयत्न किया। इन्हीं ने कलकत्ता में हिन्दी नाट्य परिषद् तथा लखनऊ और जौनपुर में नाटक-मण्डलियों की स्थापना की थी। आपके लिखे हुए 'महाभारत' और 'भामाशाह की राजभक्ति' ये दोनों नाटक कलकत्ता और इलाहाबाद में कई बार खेले गये। इन्हें दर्शकों ने बहुत पसन्द किया था। इनके नाटक पौराणिक है किन्तु उनमें सामयिक परिस्थितियों की खासी झलक मिलती है। 'सीय स्वयंवर' में शिव के धनुष की उपमा ब्रिटिश कूटनीति से देकर उस पर व्यंग्य किया गया है। इन्होंने प्रयाग में 'श्री रामलीला नाटक-मण्डली' का संघटन करने में बहुत उत्साह दिखाया था। रंगमंचीय नाटकों के रचयिताओं और उनके प्रचार के लिए सतत सक्रिय रहने वाले कलाकारों में माधव शुक्ल सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे। आपकी राष्ट्रीय कविताओं के संग्रह 'भारत गीतांजलि' तथा

'राष्ट्रीयगान' नाम से प्रकाशित हुए थे, जिनके कई संस्करण छपे थे। भारत-चीन युद्ध छिड़ने के बाद आपकी जोशीली कविताओं का संग्रह 'उठो हिन्द सन्तान' नाम से प्रकाशित हुआ। ये कविताएँ लगभग ४०-५० वर्ष पहले की लिखी हुई हैं पर वे आज भी बिलकुल नयी हैं। शुक्लजी की रचनाएँ सदा अमर रहेंगी। आप राष्ट्रीय आन्दोलन में कई बार जेल गये।

—रा० चं० ति०

माधवानल कामकंदला—मध्यकालीन प्रेमाख्यानों की परम्परा में माधवानल की कथा बहुत लोकप्रिय रही है। यही कारण है कि उसे अनेक कवियों ने अपना वर्ण्य-विषय बनाया। राजस्थानी साहित्य की प्रेमाख्यानक परम्परा में गणपतिकृत 'माधवानल प्रबन्ध दोग्धक', कुशलाभकृत 'माधवानल कामकन्दला चरित्र' और किसी अन्य कवि की 'माधवानल कामकन्दला चौपाई' प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अवधी में रचित आलमकृत 'माधवानल भाषा' अधिक प्रसिद्ध हुई है। आलम के पश्चात् बोधा कवि ने भी सुभान नामक वेश्या को सम्बोधित करके खेतसिंह के मनोरंजनार्थ एक अन्य 'माधवानल कामकन्दला' की रचना की थी। सन् १८१२ ई० में हरनारायण नामक कवि द्वारा भी 'माधवानल कामकन्दला' के प्रणयन का उल्लेख मिलता है। इन समस्त रचनाओं में आलमकृत 'माधवानल भाषा' सर्वोत्तम कही जा सकती है।

'माधवानल भाषा' के कवि आलम उन आलम से अभिन्न ज्ञात होते हैं, जिनकी प्रसिद्धि उनकी प्रेयसी शेख के साथ हिन्दी साहित्य में अमर हो गयी है। 'माधवानल भाषा' में आलम ने शाहंशाह जलालुद्दीन अकबर का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि यह अकबर के समकालीन थे। कुछ लोग इन्हें अकबर का राज्याश्रित कवि मानते हैं। 'माधवानल भाषा' का रचनाकाल सं० १६४० वि० (सन् १५८३ ई०), है। 'माधवानल कामकन्दला' के आख्यान का मूल आधार 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी' आदि नहीं है, जैसा कि इस आख्यान-काव्य के लेखकों ने भ्रमवश संकेत किया है। वस्तुत: यह कथा मध्ययुग की उन अनेकानेक काल्पनिक प्रेम-कथाओं में से एक है, जो लोक प्रचलित थीं और जिन्हें कवियों ने इसी कारण काव्य का विषय बनाया था : माधवानल की कथा पूर्णतया स्वच्छन्द प्रेम की एक रोमांचित कथा है। इसमें माधवानल नामक ब्राह्मण और कामकंदला नामक वेश्या के अद्वितीय प्रेम की कहानी एक अत्यन्त अनुरंजित वातावरण में कही गयी है। जहाँ एक ओर इसमे विलासपूर्ण जीवन के रंगीन चित्र हैं, वहाँ दूसरी ओर 'इश्क हकीकी' (ईश्वरीय प्रेम) के संकेत भी हैं। कामकंदला कामावती नदी के राजा कामसेन की वेश्या है। वीणा-वादन में प्रवीण माधवानल अपनी विविध चमत्कारपूर्ण वादन कलाओं से उसे मुग्ध कर लेता है किन्तु राजा के द्वारा निष्कासित होने के कारण उसे कामकंदला का वियोग सहना पड़ता है। अन्त में उज्जैन नगरी के सम्राट् विक्रमादित्य की सहायता से वह कामकंदला को पुन: प्राप्त करने में सफल होता है। इसके उपरान्त वह अपनी पूर्व प्रेयसी लीलावती को भी प्राप्त कर लेता है और अपना शेष जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करता है।

यद्यपि लौकिक प्रेमाख्यानों का काव्य के रूप में प्रयोग सूफी कवियों ने अधिक किया है परन्तु ऐसी काव्य-कृतियों की भी संख्या कम नहीं है, जिनमें एकान्तत: लौकिक प्रेम का ही रसमय वर्णन हुआ है और जो सूफी प्रेमवाद के धार्मिक और दार्शनिक तत्त्वों से सर्वथा रहित हैं। आलम की 'माधवानल.भाषा' इसी प्रकार की एक रचना है।

''माधवानल भाषा' की भाषा, शैली और छन्द वही हैं, जो प्रेमाख्यानकों में सामान्यत: प्रयुक्त हुए हैं। दोहा-चौपाई छन्दों तथा वर्णनात्मक शैली में कही गयी इस प्रेम कथा की भाषा में अवधी का अत्यन्त ललित और हृदयग्राही रूप उभरा है। शैली का माधुर्य तथा कथा की सरसता सहज ही पाठकों के हृदय को तल्लीन कर लेती है।

[सहायक ग्रन्थ—आलमकेलि : सं० लाला भगवानदीन; माधवानल भाषा : आलम; माधवानल कामकंदला : बोधा।]

—यो० प्र० सिं०

माधुरी—'माधुरी' का प्रकाशन अगस्त १९२१ ई० में लखनऊ से हुआ। इसके संस्थापक विष्णुनारायण भार्गव थे। प्रारम्भ में कई वर्ष तक इसके सम्पादक दुलारेलाल भार्गव और रूप नारायण पाण्डेय थे। बाद में प्रेमचन्द और कृष्णबिहारी मिश्र ने इसका सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त कुछ समय तक इसका सम्पादन जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और ब्रजरत्नदास भी करते रहे।

इस पत्र की प्रमुख विशेषताओं में इसकी स्तम्भ-प्रणाली थी। इसमें स्वस्थ साहित्यिक सामग्री प्रमुख रूप से कलात्मक रूप से प्रकाशित होती रहती थी। हिन्दी की प्रारम्भिक साहित्यिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती' के साथ ही 'माधुरी' की गणना होती है।

—ह० दे० बा०

माधोविलास—रघुराम नामक गुजराती कवि के 'सभासार' और कृपाराम कवि द्वारा पद्म पुराण में संगृहीत 'योगसार' नामक ग्रन्थों का सार लेकर लल्लूलाल ने 'माधव विलास' ('माधो विलास') नाम से इस ग्रन्थ को १८१७ ई० में प्रकाशित किया था। इसकी भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है। इसका कथा-प्रसंग इस प्रकार है—''तालध्वज नाम नगर तामें चार वर्ण ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र और छत्तीस जात रहैं।। राजपूत जात गूजर गोरए अहीर तेली तम्बोली धोबी नाई कोली चमार चूहरे हैं खटीक कुंजड़े लुहार ठठेरे कसेरे चुरहेरे लखेरे सुनार छीपी सूजी झीमर खाती कुनबी बढ़ई कहार धुनियें धानक काछी कुम्मार भठियारे बरियारे बारी माली अरु मल्लाह।। अपने अपने धर्म कर्म में अति सावधान बरत कोऊ कोऊ उनमें चौदह विधातिधान हो।। तहाँ विक्रम नाम राजा सो कुलवान अति रूप निधान महाजान सब गुण खान राजनीति में निपुण प्रजापालक यशस्वी तेजस्वी हरिभक्त गौ ब्राह्मण को हितकारी परोपकारी और सब शास्त्र को जानन हारो हो।''

इस ग्रन्थ में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का अच्छा वर्णन है। इसमें शास्त्र-सम्मत मर्यादाओं का उल्लेख करके सामाजिक गुण-दोषों को स्पष्ट किया गया है। इसमें रघुराम के 'सभासार' के कुछ पद्य ज्यों के त्यों, केवल क्रम में किंचित् हेर-फेर के साथ मिलते हैं। 'सभासार' के तद्भव शब्दों का इसमें तत्सम रूप देने की पद्धति दिखाई पड़ती है, जैसे निराधार के लिए निर्धार, पच्छी के लिए पक्षी।

उदाहरण:—"पुन्यसील, प्रजापाल न्याउ प्रतिपच्छिन कोई। कर सोंपे अधिकार, आप सम जानें कोई। रस भाषा रस निपुनि सत्र उर में नित साले। जो जिहि लायक होइ, ताहि तैसी विधि पाले।। सुख-करन भयरु सागर सरसि रत्न-ग्राह लीयें रहे। लछन अनन्त महिपाल के, सुबुद्धि प्रमान कविवर कहे (छप्पय, सभासार नाटक, पूर्व-भारतेन्दु नाटक साहित्य, पृष्ठ १३८ : डा० सोमनाथ गुप्त)। "पुन्यशील प्रजापाल, न्याव प्रतिपक्ष न कोई।। कर सौंपे अधिकार, आप सम जाने सोई।। रसभाषा रण निपुण, शत्रु उरमें हित सालै। जो जहिं लायक होय ताहि तैसी विधि पालै।। सुख करन भयद सागर सरस, रतनग्राह लीने रहै। लक्षण अनन्त महिसाल केसु, बुधि प्रमाण कवि रघु कहै"।।१६।। (माधव विलास, लल्लूलाल, सन् १८९८ ई०, पृष्ठ १०)।

[सहायक ग्रन्थ—माधव विलास, कलकत्ता, १८१७ ई० और इसकी दूसरी प्रति, कलकत्ता, १८६८; माधव विलास : सम्पादक उत्तमसिंह वर्मा, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सन् १८९८ ई०।]

—वि० ना० प्र०

मान—१. इनकी जन्मभूमि बैसवाड़ा (जिला रायबरेली) है। ये कम्पिलानिवासी सुखदेव मिश्र के काव्य-गुरु थे और हरिहरपुर (जिला बहराइच) के राजा रूपसिंह के आश्रित कवि थे। इनकी रचना का नाम 'कृष्ण कल्लोल' है, जो श्रृंगारपरक रचना है। इनका समय १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है। इनके श्रृंगारपरक छन्द संकलनों में प्राप्त होते हैं। 'दिग्विजय भूषण' में उदाहृत छन्द उपर्युक्त ग्रन्थ से लिये ज्ञात होते हैं।

२. खुमान। (दे० खुमान बंदी जन)

—सं०

मान कवि—मान कवि का जीवन-वृत्त अभी तक अन्धकार के गर्त में निहित है। कुछ विद्वान इन्हें भाट और कुछ जैन यति बतलाते हैं। ये मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (जन्म १६२९ ई०, राज्याभिषेक १६५२ ई०, मृत्यु २२ अक्तूबर, १६८० ई०) के राजकवि थे। मान ने अपने ग्रन्थ 'राजविलास' की रचना सं० १७३४, आषाढ़ शुक्ला सप्तमी बुधवार (२६ जून, १६७७ ई०) को प्रारम्भ की थी (छन्द ३८, पृ० ८)। यह ग्रन्थ १६८० ई० में समाप्त हुआ था अतएव यह कवि १६७७-१६८० ई० में वर्त्तमान थे।

शिवसिंह सेंगर ने मान कवि का समय १६९९ ई० (संवत् १७५६ वि०) और इनके ग्रन्थ का नाम 'राजदेव विलास' माना है। ग्रियर्सन के मतानुसार इनका रचनाकाल १६६० ई० तथा मिश्रबन्धुओं के अनुसार १६६३ ई० (सं० १७१७ वि०) था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी विद्वानों द्वारा दी हुई तिथियाँ अशुद्ध हैं।

'राजविलास' की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने मान के मुख्य नाम 'मण्डान' होने की कल्पना की है:— "तिन द्योस मात त्रिपुरा सुतवि कीनों ग्रन्थ मण्डान कवि। श्री राजसिंह महाराण कौ रचि यह जस जौ चन्द रवि" (छन्द ३८, पृ० ८)। मान ने 'राजविलास' में 'मण्डान' शब्द का प्रयोग अन्यत्र नहीं किया है। अतः अन्य साक्ष्य के अभाव मे मानके नाम सम्बन्धी इस अनुमान को ठीक नहीं माना जा सकता।

'राजविलास' में महाराणा राजसिंह के पूर्वजो से लेकर उनके जीवन के अन्त तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। मान ने इसमें युद्ध, वीरता, भय, आतंक और प्रताप का अच्छा चित्रण किया है। इनकी शैली वर्णनात्मक है। इन्होंने वीररस के अतिरिक्त श्रृंगार और शान्त रस का भी चित्रण किया है। अनुप्रास रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग वर्ण्य-विषय की सजीवता एवं भाव व्यंजना को बढ़ाने में सहायक हुआ है। मान की शैली में रीतिकालीन दरबारी कवियो की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इनकी भाषा ब्रज है, जिसमे राजस्थानी के शब्दों की भरमार है। इनकी रचनाएं कवित्व-शक्ति, भाषा-सौष्ठव, ओज तथा स्वाभाविकता से ओत-प्रोत हैं। मान वीरकाव्यधारा के एक सफल तथा उच्चकोटि के कवि हैं।

मान कविकृत 'राजविलास' भगवानदीन द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा १९१२ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०) : टीकमसिंह तोमर, हिन्दुस्तानी अकादमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०; हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, सम्पादक, धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान), ब्रजेश्वर वर्मा (सहकारी), भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग प्रथम संस्करण, मार्च, १९५९ ई०,।]

—टी० सिं० तो०

मानसिंह १—ये अकबर के समसामयिक थे। अम्बर के राजा भगवानदास के भतीजे एवं जगत सिंह पुत्र थे। भगवानदास ने सन्तान के अभाव में इन्हें अपना दत्तक पुत्र बनाया और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे वहाँ के राजा हुए। इन्होंने अपनी फूफी की शादी अकबर एवं बहिन की सलीम से की। फलस्वरूप इन्हें राज्य का उच्च पद मिला। ये एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं सेनापति कहे जाते हैं। इन्होंने पठानों से बंगाल छीन लिया था। शोलापुर के युद्ध से लौटते समय ये राणाप्रताप से रास्ते में मिले किन्तु वहाँ अपमानित हुए। इस मानहानि के ही फलस्वरूप हल्दीघाटी का युद्ध हुआ था। श्यामनारायण पाण्डेयकृत 'हल्दीघाटी' नामक काव्य के द्वितीय एवं पंचम सर्ग में यह वर्णन प्राप्य है।

—यो० प्र० सिं०

मानसिंह २—दे० 'द्विजदेव'।

मानमंजरी नाममाला—दे० 'नन्ददास'।

मांधाता—ये एक सूर्यवंशीय चक्रवर्ती राजा थे। इनके पिता प्रसिद्ध राजा युवनाश्व थे। इनके जन्म के सम्बन्ध में कथा है कि युवनाश्व के कोई पुत्र नहीं था अतएव उन्होंने यज्ञ करवाया। मन्त्राभिसिक्त जल को इन्होंने स्वयं पी लिया, फलस्वरूप इन्हें गर्भ रह गया और अन्त में पेट चीरने पर मांधाता का जन्म हुआ। पालन-पोषण के विषय में राजा के चिन्तित होने पर इन्द्र ने पालन का भार लिया और अपनी अँगुली पिलाकर बालक को एक दिन में बड़ा भी कर दिया। मांधाता आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध राजा घोषित हुए। इनका विवाह विन्दुमती से हुआ, जो शशिविन्दु की कन्या थी। बिन्दुमती से ५० कन्याएँ उत्पन्न हुई और तीन पुत्र पुरुकुत्स,

अम्बरीष तथा मुचुकुन्द।

—मो० अ०

मारीच—यह लका के राजा रावण का मामा, मुण्ड एवं ताड़का का पुत्र तथा सुबाहु का भाई था। सुबाहु-वध के अवसर पर राम ने उसे अपने बाण से लंका पहुँचा दिया था। सीताहरण के अवसर पर रावण ने मारीच की मायावी बुद्धि की सहायता ली। मारीच कंचन का मृग बन कर सीताहरण का कारण बना। इसी अवसर पर राम ने उसे अपने बाण से मारा था। राम-रावण युद्ध का सामान्यतः यह भी एक कारण समझा जाता है। "तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपट मृग भयऊ" ('रामचरितमानस')।

—यो० प्र० सिं०

मिलन—रामनरेश त्रिपाठी की यह काव्यकृति सन् १९१७ ई० में प्रकाशित हुई। १९५३ ई० तक हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग से इसके नौ सस्करण निकल चुके थे। यह एक प्रेमाख्यानक खण्ड-काव्य है, जिसमें कवि द्वारा निर्मित एक सूक्ष्म कथातन्तु के माध्यम से दाम्पत्य-प्रेम, प्रकृति तथा देशभक्ति की भावनाओं का बड़ा सरस वर्णन किया गया है। इसकी भाषा सरल प्रवाहयुक्त खड़ीबोली है तथा कविता की दृष्टि से इसमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो का समावेश हुआ है। खड़ीबोली के काव्यात्मक विकास के लिए रामनरेश त्रिपाठी की यह प्रारम्भिक कृति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

—र० भ०

मिश्रबंधु—दो अलग-अलग व्यक्ति एक साथ किसी पुस्तक की रचना तो करते हैं पर ऐसे उदाहरण शायद ही अन्यत्र कही मिलें, जब दो या तीन व्यक्तियों का व्यक्तित्व एक ही बन कर रचना में प्रवृत्त हो। वास्तव में इसके लिए अत्यधिक वस्तुनिष्ठ होने की आवश्यकता है तथा यदि समीक्षा के क्षेत्र में यह प्रयास होना है तो नितान्त बाह्य मानदण्डों का प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। हिन्दी में मिश्रबन्धुओं का व्यक्तित्व ऐसा ही है। वे सगे चार भाई थे पर लेखनकार्य में तीन प्रवृत्त हुए: गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र। इनमें भी मुख्य कार्य अन्तिम दो ने ही किया है। श्याम बिहारी एवं शुकदेव बिहारी का जन्म क्रमशः सन् १८७३ ई० एवं १८७८ ई० में लखनऊ जिले के इटौंजा ग्राम में प्रतिष्ठित और सम्पन्न कान्यकुब्ज परिवार में हुआ था। इन दोनो बन्धुओं की मृत्यु क्रमशः १९ फरवरी १९४७ ई० तथा १९ मई १९५१ ई० को हुई। दोनों भाइयों ने पहले कैनिंग कालेज, लखनऊ में शिक्षा प्राप्त की, फिर इनमें से श्यामबिहारी मिश्र ने इलाहाबाद से अंगरेजी मे एम० ए० पास किया तथा बाद को १९३७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट् की आनरेरी उपाधि भी दी। १८९७ ई० में वे डिप्टी-कलेक्टर नियुक्त हुए, उसके बाद अनेक ऊँचे सरकारी पदों पर वे आसीन हुए। सन् १९२४ ई० से १९२८ ई० तक वे कार्उसिल ऑफ स्टेट के सम्मानित सदस्य भी रहे। सरकार से उन्हें रायबहादुर तथा ओरछा दरबार से 'रावराजा' की उपाधियाँ भी मिली थीं। वे कई विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित थे। शुकदेव बिहारी मिश्र ने १९०१ ई० में वकालत पास करके ५ वर्ष तक वकालत की, पर उसे छोड़कर मुंसिफ हो गये, बाद में भरतपुर में दीवान रहे तथा कुछ दिनों सब-जज भी रहे। १९३० ई० में वे योरप भी गये थे तथा १९२७ ई० में ब्रिटिश शासन से उन्हें भी रायबहादुर की उपाधि मिली थी। प्रयाग एवं लखनऊ विश्वविद्यालयों से वे भी बराबर सम्बद्ध रहे हैं। शुकदेव बिहारी ने १९३० ई० में पटना विश्वविद्यालय की 'रामदीन सिंह रीडरशिप' व्याख्यान माला के अन्तर्गत 'भारतीय इतिहास पर हिन्दी का प्रभाव' शीर्षक से कुछ भाषण भी दिये थे, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हैं। मिश्रबन्धुओं ने साहित्य में शौकिया दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ की थी, पर बाद को वह उनके जीवन का मिशन बन गया।

मिश्रबन्धुओ का महत्त्व मुख्यतया उनके समीक्षक एवं साहित्यिक-इतिहास लेखक व्यक्तित्व में है परन्तु सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने प्रभूत लेखन किया है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के अनुसार "इन्होंने...एक हजार पृष्ठ मे ब्रजभाषा और खड़ीबोली में काव्यरचना की है। इनकी पद्य रचना में विचारों और भावनाओं का समावेश इन्हें तत्कालीन अन्य सभी कवियों से पृथक् करता है।" मिश्रबन्धुओं के अध्ययन का एक मुख्य विषय इतिहास भी रहा है। इस ज्ञान का उपयोग उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक उपन्यासों के सृजन में किया है। उनके 'उदयन', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'पुष्यमित्र', 'विक्रमादित्य', 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', 'वीरमणि' और 'स्वतन्त्रभारत' नामक सात ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। मिश्रबन्धुओं के पूर्व जो ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए, उनमें इतिहास नाम मात्र को ही रहता था। इन्होंने पहली बार इतिहास के तथ्यों, घटनाओं एवं चरित्रों को प्रामाणिकता के साथ उपस्थित किया। पर इन स्थूल तथ्यों के साथ प्रत्येक युग की एक आन्तरिक गति और चेतना होती है, उसे मिश्रबन्धु नहीं पकड़ सके। उनके समय तक के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की ही वस्तुतः यह सीमा थी। इसके अतिरिक्त देशकाल सम्बन्धी कतिपय दोष भी उनमें प्राप्त होते हैं। उनके उपन्यासों का दूसरा दोष यह है कि बहुधा विवरणों या संवादों के माध्यम से घटनाएँ उपस्थित तो की गयी हैं पर कथा-संघटन में उस वक्रता या कुशलता का अभाव है, जो उपन्यास के लिए आवश्यक होता है। इसी कारण उनके उपन्यासों में सरसता का अभाव बराबर खटकता रहता है।

मिश्रबन्धुओं का लिखा हुआ नाटक 'नेत्रोन्मीलन' (प्र० १९१५ ई०) भी प्राप्त होता है। इस नाटक में बड़े ही प्रभावोत्पादक एवं रोचक ढंग से उस समय की कचहरियों के वातावरण पर प्रकाश डाला गया है। 'शिवाजी' नामक उनका ऐतिहासिक नाटक भी प्रकाशित हुआ है।

१९१०-११ ई० में प्रकाशित 'हिन्दी नवरत्न' मिश्रबन्धुओं का प्रथम आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें हिन्दी के श्रेष्ठतम ९ कवियों को चुन कर उनकी विस्तृत समीक्षा की गयी है। इन नौ कवियों को भी वृहत्त्रयी, मध्यत्रयी तथा लघुत्रयी की तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। सन् १९१४ ई० में मिश्रबन्धुओं का बहुत बड़ा कवि-वृत्त-संग्रह 'मिश्र-बन्धु विनोद' के नाम से तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ तथा १९३४ ई० में आधुनिककाल के कवियों पर इसका चौथा खण्ड भी छपा। इसमें हिन्दी के लगभग ५००० कवियों के जीवन का वृत्त एवं काव्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

'हिन्दी नवरत्न' के बारे मे श्यामसुन्दरदास का कथन है : 'हिन्दी नवरत्न' में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ'' ('हिन्दी भाषा और साहित्य', सं० १९८७, पृ० ५००)। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० ४८५-६) में उन पर अपना आरोप लगाते हुए उनके महत्त्व को घटाना चाहा है। उन्होंने मिश्रबन्धुओ की कमियों की ओर ही इंगित किया है, जब कि तथ्य यह है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी-समीक्षा एवं साहित्यिक इतिहास दर्शन को आगे बढ़ाने में उनका प्रमुख हाथ रहा है। जिस समय मिश्रबन्धुओ ने अपनी आलोचनाएँ लिखीं, उस समय आलोचना के क्षेत्र में एक ओर तो बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि द्वारा प्रवर्तित और विकसित दोष दिखाने वाली (और वे भी मुख्यतः भाषा के) परिचयात्मक प्रणाली चल रही थी तब उसके साथ ही रायल एशियाटिक सोसायटी एवं पाश्चात्य पण्डितो के अध्ययनों द्वारा प्रारम्भ होने वाली ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक परीक्षावाली शैली भी 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' आदि में प्रारम्भ हो चुकी थी। मिश्रबन्धुओं ने उन दोनों ही प्रणालियों या पद्धतियो को ग्रहण करने की चेष्टा की है—यद्यपि यह ग्रहण समन्वय तक नहीं पहुँच सका और अलग-अलग कवियों में पृथक्-पृथक् मानदण्ड प्रयुक्त हुए हैं। द्विवेदीजी की पद्धति मुख्यतः 'बुक रिव्यू' के लिए थी, मिश्रबन्धुओं ने प्रौढ़ कवियों की आलोचना के कार्य को सम्पादित कर हिन्दी आलोचना को बहुत आगे बढ़ाया। द्विवेदीजी की प्रणाली में दूर तक प्रभाव डालनेवाला शोध नहीं था। मिश्रबन्धुओं ने यह भी किया कि दोष-दर्शन को छोड़कर आलोचना को सराहना और अभिशंसा के पथ पर आगे बढ़ाया। आलोचना के सम्यक् विकास के लिए आवश्यक था कि 'आलोचना' के अर्थ का विस्तार किया जाय और यह ऐतिहासिक कार्य मिश्रबन्धुओं द्वारा सम्पादित हुआ। उन्होंने अपनी आलोचना में कवि की कला, भावसंवेदना, विचारधारा तथा जीवन-सन्देश पर भी यत्र-तत्र विचार किया। इन्होंने यह बात पहली बार स्वीकार की कि समालोचक को रस, ध्वनि, गुण, अलंकार आदि के अतिरिक्त ''अन्य बहुत सी बातों'' का भी विचार करना पड़ता है। स्पष्ट है कि ये अन्य बहुत सी बातें ही आधुनिक आलोचना की विशेषताएं हैं। अभिव्यक्ति का सर्वांगीण सौष्ठव, जीवन-परिस्थिति, विचार-सम्पदा आदि का इसी कारण वे विवेचन कर सके थे।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में निर्णयात्मक समालोचना का पहला व्यवस्थित प्रयोग भी मिश्रबन्धुओं ने किया है। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य बहुत से समीक्षकों ने आलोचक के जज बनने पर आपत्ति प्रकट की है परन्तु जहाँ भी आकलन की चेष्टा होगी, वहाँ निर्णय अवश्य करने होंगे। यह निर्णयात्मक समीक्षा-प्रणाली उनके 'नवरत्न' के मूल में विद्यमान है। तमाम कवियों में से ९ को चुनना मूल्यांकन परक निर्णय ही है तथा उनमें भी तीन श्रेणियों में उनका जो विभाजन है—उसे संगत भले ही न माना जाय पर महत्त्वपूर्ण अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। 'विनोद' में प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधि काव्यगुणों का निर्देश कर देने के उपरान्त उन्होंने उस श्रेणी के शेष कवियों को उसी के अन्तर्गत रख दिया है, फिर अलग से विशेषताएं बताने से इस प्रकार बच गये हैं। इस प्रकार कथा-प्रसंगवाले कवि लाल, छत्र और मधुसूदन की श्रेणियों में तथा मुक्तक परम्परा वाले सेनापति, दास, पद्माकर, तोष, साधारण आदि श्रेणियों में रख दिये गये। इसके लिए उन्होंने आलोच्य कवियों की कृतियों का निरीक्षण परीक्षण किया तथा जिसका कृतित्व उन्हें श्रेष्ठ लगा, उसे ऊँची श्रेणी मे रख दिया। उन्होंने स्वय स्वीकार किया है कि यह एक प्रकार से निर्वाचन और परीक्षण प्रणाली है। इस पद्धति के दोष अत्यन्त स्पष्ट हैं। प्रथमतः इसके लिए अत्यन्त तटस्थ दृष्टि की आवश्यकता चाहिए, दूसरे परीक्षण का एकदम सुनिश्चित मानदण्ड चाहिए, तीसरे सभी कवियों के पीछे एक ही सामाजिक-मानसिक पृष्ठभूमि चाहिए। कहना न होगा कि उस समय ही नहीं, आज भी साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में ये बाते सम्भव नहीं हो सकी हैं। स्वयं मिश्रबन्धुओं ने माना है कि बहुधा वे इन कोटियों या उत्कर्षापकर्ष के निर्णय में हिचकिचाहट में पड़े है तथा उन्होंने अपने मन्तव्य बदले हैं। वस्तुतः इन निर्णयों के साथ ही एक प्रकार की प्रभावात्मक समीक्षा भी साथ चलती रही है। इसी प्रभाववादी समीक्षा के कारण वे देव को बृहत्त्रयी मे स्थान दे सके थे। इस आलोचना प्रणाली में एक अन्य तत्त्व अनिवार्यतः तुलनात्मक समालोचना का लगा हुआ था। श्रेणी विभाजन एवं कोटि निर्धारण में उन्हें कवियों की पारस्परिक तुलना करनी पड़ी है। अपनी तुलना में बहुधा उन्होंने यूरोपीय कवियो से भी तुलनाएँ की हैं, यद्यपि तुलनीय कवि बहुधा उचित ढग से नहीं चुने गये थे, फिर भी तुलसी और शेक्सपियर की तुलना पर्याप्त गम्भीर एव रोचक है।

मिश्रबन्धुओं ने अपने निर्णयों का आधार काव्योत्कर्ष माना है तथा काव्योत्कर्ष के लिए उन्होंने भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। भगवत स्वरूप मिश्र का यह कथन द्रष्टव्य है कि ''मिश्रबन्धुओ की आलोचना विशुद्ध, शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़तर उदाहरण मानी जा सकती है'' ('हिन्दी आलोचना—उद्भव और विकास', पृ० २८६)। अस्तु, इस शास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने 'नवरत्न' तथा 'विनोद' में कतिपय कवियों की अत्यन्त विशद एवं मार्मिक व्याख्याएँ की हैं। व्याख्यापरक जिस समीक्षा पद्धति की रामचन्द्र शुक्ल ने प्रशंसा की है, उसका भी एक अच्छा स्वरूप इन अंशों में दिखायी पड़ता है। 'विनोद' की भूमिका में तुलसी, बिहारी और देव के कतिपय छन्दों की आन्तरिक छानबीन और व्याख्या मार्मिक ढंग से हो सकी है। कवियों के अलंकारादि प्रयोग की सामान्य प्रवृत्ति की ओर भी उनका ध्यान गया है। मिश्रबन्धुओं ने भाषा की व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर संकेत करने के बजाय कवि विशेष की भाषा की साहित्यिक सामर्थ्य या भाषा-गुण का उद्घाटन अधिक करना चाहा है। मिश्रबन्धुओं की आलोचना पद्धति में पूर्व और पश्चिम की पद्धतियों के समन्वय की वह झलक मिलने लगती है, जिसे आगे रामचन्द्र शुक्ल ने अधिक विकसित ही नहीं किया, प्रौढ़ भी बनाया।

मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु विनोद' प्रारम्भ से आधुनिककाल तक के कवियों का वृत्त-संग्रह है, जिन्हें कुछ युगों, कुछ श्रेणियों में विभाजित करके कुछ की साहित्यिक आलोचना की गयी है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह

है कि मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' को हिन्दी-साहित्य का इतिहास कहने की गलती स्वयं नहीं की। यह भूल उनके परवर्ती आलोचकों ने ही की है। मिश्रबन्धु साहित्यिक इतिहास लिखना तो चाहते थे पर उसकी कठिनाइयों को भी समक्ष रहे थे। "...विनोद साहित्यिक इतिहास क्यों नहीं है, यह वे समझ पा सके हैं" ('साहित्य का इतिहास दर्शन', नलिन विलोचन शर्मा, पृ० ८६) तथा उन्होंने 'विनोद' को इतिहास नहीं कहा, इस सम्बन्ध में नलिन विलोचनजी की सम्मति है कि यह "उनके विवेक, अन्तर्दृष्टि और अपनी सीमाएँ समझने की शक्ति का परिचायक है" (वही, पृ० ८६)।

अस्तु, 'विनोद' इतिहास नहीं है, पर भीतर-भीतर इतिहास निर्माण की रुचि बनी रही है, इसी कारण उन्होंने प्रारम्भ में ही 'संक्षिप्त इतिहास प्रकरण' में हिन्दी-साहित्य के इतिहासों की चर्चा करते हुए सामाजिक परिस्थितियों एवं पृष्ठभूमि की भी विवेचना की है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को पूर्व, मध्य और उत्तर तीन युगों में (इनके भी दो-दो भाग) बाँटा। कहना न होगा कि यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने उन पर कटु व्यंग्य किये हैं पर स्वयं अपने काल-विभाजन में वे ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं, दोनों के ऋणी हैं। यही नहीं, आधुनिक काल के प्रसिद्ध साहित्यिक इतिहासकार और विचारक हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी के प्रारम्भिक विवादास्पद युग के लिए जो नाम (आदिकाल) दिया है, वह भी मिश्रबन्धुओं का ही है। कवियों के परिचय एवं जीवनवृत्त देने में रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी, दोनों ने मिश्रबन्धुओं के इस 'विनोद' से सहायता ली है। परिचय ही नहीं, रीतिकाल के कवियों की आलोचना में भी रामचन्द्र शुक्ल को मिश्रबन्धु की सहायता मिली है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के 'विधेयवादी' इतिहास लेखन के क्षेत्र में वे ग्रियर्सन के बाद दूसरे स्थान के अधिकारी सिद्ध होते हैं। हिन्दी-समीक्षा एवं साहित्यिक-इतिहास-लेखन के क्षेत्र में उनके महत्त्व का मूल्यांकन उन्हें श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी सिद्ध करता है।

—दे० शं० अ०

मीरन—इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। 'शिवसिंह सरोज' तथा 'दिग्विजय भूषण' जैसे ग्रन्थों में इनके छन्द उद्धृत है। ग्रियर्सन ने सरदार कवि के ग्रन्थ 'श्रृंगार संग्रह' में इनके छन्द संकलित कहे हैं और इनकी एक रचना 'नखशिख' का भी उल्लेख किया है।

—सं०

मीराँबाई—मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की आध्यात्मिक प्रेरणा ने जिन महान् कवियों को जन्म दिया, उनमें राजस्थान की मीराँबाई का विशिष्ट स्थान है। इनके पद गुजरात राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और बंगाल तक प्रचलित हैं और ये हिन्दी तथा गुजराती की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री मानी जाती हैं। नाभादास, प्रियादास, ध्रुवदास, मलूकदास, हरीराम व्यास आदि भक्तों और सन्तों ने इनका गुणगान किया है। इनके सम्बन्ध में पर्याप्त छानबीन की जा चुकी है किन्तु अभी तक इनका प्रामाणिक और विश्वसनीय जीवनवृत्त प्रस्तुत नहीं हो सका है। सबसे पहले कर्नल टाडने (ऐनल्स् एण्ड् एण्टीक्वीटीज आँव राजस्थान) मीराँ की जीवनी पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए सिद्ध किया कि वे मेडता के राठौर की पुत्री और मेवाड के राणा कुम्भ (१४३३-६८ ई०) की पत्नी थीं। टाड से प्रभावित होकर गोवर्धन माधोराम त्रिपाठी ने (क्लासिकल पोयट्स ऑफ गुजरात) मीराँ का समय ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी में निर्धारित किया और कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने (माइल स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर) उनका जन्म सन् १४०३ ई० और मृत्यु १४७० ई० मे स्थिर किया। टाडके ही साक्ष्य पर ग्रियर्सन ने मीराँ को सन् १४२० ई० मे उपस्थित माना और राजा कुम्भकर्ण को उनका पति बताया। शिवसिंह सेंगर ने भी टाड के आधार पर ही सन् १४१३ ई० मे मीराँबाई का व्याह राणा कुम्भकर्ण से होना निश्चित किया। टाड का मत बड़ी सरलता से भ्रान्त सिद्ध किया जा सकता था। टाड ने मीराँ को मेडतानी माना था और मेड़ता पर सबसे पहले जोधपुर के राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र दूदाजी ने सन् १४६१ ई० में अधिकार किया था। अतः १४६१ ई० के पूर्व मीराँ का अस्तित्व नहीं माना जा सकता था। जोधपुर के देवीप्रसाद मुंसिफ ने टाड के मत का खण्डन करके मीराँ के सम्बन्ध में बताया कि "मीराबाई मेड़तिया राठौर रतनसिंह की बेटी, मेड़ते के राव दूदाजी की पोती और जोधपुर के बसाने वाले राव जोधाजी की प्रपौत्री थी। इनका जन्म गाँव चोकड़ी (कुड़की) में हुआ था, जो इनके पिता की जागीर मे था। ये सन् १५१६ ई० में मेवाड के मशहूर महाराणा सांगा के कुँवर भोजराज को व्याही गयी थीं।" टाड की भ्रान्ति का निराकरण हर विलास सारदा ('महाराणा सांगा', अजमेर, १९१८) और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ('उदयपुर राज्य का इतिहास') ने भी किया। इन विद्वानों ने मीराँ का जन्म सन् १४९८ ई० के आस-पास निश्चित किया। अब यही मत साहित्य-जगत् में मान्य सा हो गया है और विद्वानों ने यत्किंचित परिवर्तन के साथ इसे ही स्वीकार किया है। परशुराम चतुर्वेदी और रामकुमार वर्मा को यह मत मान्य है। मिश्रबन्धुओं ने भ्रमवश विवाहकाल (१५१६ ई०) को जन्मकाल मान लिया है और रामचन्द्र शुक्ल ने इसी भ्रम को दुहरा दिया है। मेकालिफ ने मीराँ का जन्म १५०४ ई०, कन्हैयालाल मुंशी और वियोगी हरि ने १५०० ई०, तनसुख राम मनसुख राम त्रिवेदी (बृहत् काव्य-दोहन, भाग ७) ने १४९३ ई० और १५०३ के बीच, धीरेन्द्र वर्मा ने १५०३ ई० और श्रीकृष्णलाल ने १५०२ई० और १५०३ ई० के बीच माना है। सन् १४९८ ई० के बाद जन्मकाल मानने वालों का तर्क यह है कि १४९८ ई० जन्मकाल मानने पर विवाह के समय मीरा की अवस्था १८ वर्ष हो जाती है, जो तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए अधिक है।

मीराँ का जीवन दुखों की छाया में ही व्यतीत हुआ था। बाल्यावस्था में ही उनकी माता का देहान्त हो गया था। उनकी देख-रेख पितामह दूदा ने की थी। वे परम वैष्णव थे। उनकी भावनाओं का प्रभाव मीराँ पर भी पड़ा। दूदा की मृत्यु होने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव ने मीराँ का व्याह किया। विवाह के कुछ ही वर्षों बाद सम्भवतः सन् १५२३ ई० में मीराँ के पति भोजराज की मृत्यु हो गयी। सन् १५२७ ई० में उनके पिता रतनसिंह भी खानवा के युद्ध में मारे गये। इसी के आस-पास उनके श्वशुर राणासांगा का भी देहान्त हुआ। सन् १५३१ ई० में भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह की भी मृत्यु हो गयी और

मेवाड़ का शासन उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य के हाथ में आया। भौतिक जीवन से निराश मीरॉं की एकान्तनिष्ठा गिरधर गोपाल के प्रति बढ़ती गयी। उनके दिन सन्तों और भक्तों के स्वागत में व्यतीत होने लगे। राणा को यह सब असह्य हो गया और उन्होंने अनेक प्रकार से मीरॉं को पीडित करना आरम्भ किया। राणा के विष के प्याले को मीरॉं ने अमृत मानकर पी लिया—"राणे भेज्या जहर पियाला, अमरित कर पी जाणा"। सॉंप को हार के रूप में स्वीकार किया—"सॉंप पिटारो राणाजी भेज्यो, धो मेड़तणी गलडार। हँस-हँस मीरॉं कण्ठ लगायो, यो तो महारे नौसर हार" और सूली की सेज को पुष्प शय्या मानकर सो गयीं—"सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरॉं सुलाय। सॉंझ भई मीरॉं सोवण लागी मानो फूल बिछाय"। मीरॉं के नाम से प्रचलित अनेक पदो में इन कष्टों के उल्लेख से लगता है कि राणा ने कठोरता का व्यवहार अवश्य किया था। मीरॉं के चाचा वीरमदेव और चचेरे भाई जयमल इन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। सन् १५३३ ई० के आस-पास मेवाड़ से वे मेड़ता आ गयीं। १५३८ ई० में जोधपुर के राव मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। इसी समय मीरॉं के हृदय मे वैराग्य-भाव चरम सीमा पर रहा होगा और वे सब कुछ त्यागकर वृन्दावन चली गयी होंगी। सन् १५४३ ई० के आस-पास वे द्वारिका चली आयीं और जीवन के अन्त तक वहीं रणछोड़जी के मन्दिर में रहीं। प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका में अकबर और तानसेन का मीरॉंबाई से मिलना लिखा है। तानसेन अकबर के दरबार में १५६२ ई० मे आये थे। अतः अकबर और तानसेन के मिलने की बात मान लेने पर १५६२ ई० तक जीवित होना प्रमाणित होता है। इसी आधार पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मीरॉंबाई का शरीर त्याग १५६३ ई० और १५७३ ई० के बीच माना था। यह तिथि अविश्वसनीय नहीं है किन्तु अकबर और मीरॉं की भेंट का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है।

मीरॉं के दीक्षा—गुरु के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। रैदास—पंथी सन्त रैदास को इनका गुरु बताते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के लोग उनका गोसाई विट्ठलनाथ से दीक्षित होना सिद्ध करते हैं। बाबा वेणीमाधवदास पत्र—व्यहार द्वारा तुलसीदास से उनके दीक्षा—ग्रहण करने की बात कहते हैं। वियोगीहरि उन्हें जीव गोस्वामी की शिष्या मानते हैं। मीरॉं के पदों में रैदास को गुरु प्रमाणित करने वाले पद अधिक हैं किन्तु रैदास और मीरॉं के समय में पर्याप्त अन्तर है। विट्ठलनाथ की शिष्या होने की बात 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता से ही कट जाती है। वेणीमाधवदास का 'गोसाई चरित' अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। जीव गोस्वामी से मिलने की बात का उल्लेख भी प्रियादास की टीका में ही हुआ है किन्तु उससे शिष्या होना प्रमाणित नहीं होता। गौड़ीय वैष्णवों में मीरॉं के रूप गोस्वामी से मिलने की बात प्रचलित है अतः जीव गोस्वामी से तो मीरॉं का मिलना ही सन्दिग्ध है। सम्भवतः मीरॉं की भक्ति—भावना आत्मोद्भूत है। उन्होंने मुक्त—भाव से सभी भक्ति—सम्प्रदायों से प्रभाव ग्रहण किया था। किसी व्यक्ति विशेष से उनका गुरु—शिष्य सम्बन्ध नहीं था।

मीरॉंबाई के नाम से कुल सात—आठ कृतियों का उल्लेख मिलता है-'नरसीजी रो माहेरो', 'गीत गोविन्द की टीका', 'राग गोविन्द', 'सोरठ के पद', 'मीरॉंबाई का मलार', 'गर्वागीत', 'राग विहाग', और 'फुटकर पद'। प्रथम तीन कृतियो का उल्लेख मुशी देवी प्रसाद ने किया है किन्तु उनके देखने मे केवल 'नरसीजी रोमाहेरो' ही आया था। इसमें गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता की प्रशसा की गयी है। इसका विशेष साहित्यिक महत्व नही है। 'मीरॉंबाई का मलार' का उल्लेख गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने किया है। 'सोरठ के पद' का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट (१९०२ ई०) मे किया गया है। 'गर्वागीत' का उल्लेख कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने और 'राग विहाग' का स्वामी आनन्द स्वरूप ने किया है। लगता है कि इनमें कोई भी स्वतन्त्र कृति नहीं है। मीरॉं के 'फुटकर पदो' में उपर्युक्त सभी रागो के पद मिलते हैं। मीरॉं के भक्तों ने अपनी—अपनी रूचि से विभिन्न रागो के पद सगृहीत किये होंगे, कालान्तर मे इन्ही सग्रहों को स्वतन्त्र रचना मान लिया गया होगा। मीरॉंबाई की एकमात्र प्रामाणिक और महत्वपूर्ण कृति उनकी 'पदावली' है। इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इनमें 'मीरॉंबाई के भजन' (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ १८९८ ई०), 'मीरॉंबाई की शब्दावली' (बेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद, १९१० ई०), 'मीरॉंबाई की पदावली' (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९३२ ई०), 'मीरॉंबाई की प्रेम साधना' (अजन्ता प्रेस, पटना, १९४७ ई०), 'मीरॉं स्मृति ग्रन्थ' (बंगीय परिषद, कलकत्ता, १९५० ई०), 'मीरा बृहत् पद संग्रह' (लोक सेवक प्रकाशन, काशी, १९५२ ई०), 'मीरा माधुरी' (हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी १९५६ ई०) और 'मीरॉं सुधा सिन्धु' (मीरॉं प्रकाशन समिति, भलवाड़ा, राजस्थान, १९५७ ई०) प्रमुख हैं। मीरॉं के पदों में अन्य भक्तों और सन्तों के गीत भी मिल गये हैं। अतः प्रामाणिक पदों की निश्चित संख्या का निर्णय आसान नही है।

मीरॉंबाई की भक्ति दैन्य और माधुर्यभाव की है। इन पर योगियों, सन्तों और वैष्णव भक्तों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा है। इनके आराध्य कहीं निर्गुण निराकार ब्रह्म, कहीं सगुण साकार गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण और कहीं निर्मोही परदेशी जोगी के रूप संकल्पित किये गये हैं। मीरॉं के विरहाकुलतापूर्ण माधुर्य—भाव के पदों में विशेष तन्मयता है। इनका काव्य इनके जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। भौतिक सुख—स्वप्नों के टूटने पर मीरॉं की भावनाएँ अध्यात्मोन्मुख हुई। वे गिरधर गोपाल के अनन्य और एकनिष्ठ प्रेम से अभिभूत हो उठीं। तन्मयता के चरम क्षणों में उन्होंने निर्गुण निराकर के रहस्यमय सौन्दर्य का साक्षात् किया और अन्ततः संसार की असारता का संकेत करती हुई परम शांति का आलिंगन कर सकीं।

मीरॉं के पदों की भाषा में राजस्थानी, ब्रजी और गुजराती का मिश्रण पाया जाता है। कही पंजाबी, खड़ीबोली और पूरबी के प्रयोग भी मिल जाते हैं। इनकी भाषा का मूल रूप राजस्थानी रहा होगा। ब्रजी और गुजराती का मिश्रण अस्वाभाविक नहीं है किन्तु अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण उनके पदों के व्यापक प्रचार और दीर्घकालीन मौखिक परम्परा के कारण हुआ है।

मीरॉंके पद गेय है। वे विभिन्न रागों में विभाजित हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने इनमें सार, सरसी, विष्णुपद, दोहा, उपमान, समान सवैया, शोभन, ताटंक, कुण्डल और चान्द्रायन

छन्दों को ढूँढ़ निकाला है। इन छन्दो मे गायन की सुविधा के लिए यत्किंचित् परिवर्तन कर दिया गया है। इन पदों में विभिन्न अलंकारों की योजना भी देखी जा सकती है। किन्तु इस आधार पर मीराँ को काव्यरीति की पण्डिता नहीं कहा जा सकता है। उनकी भावाकुलता और तन्मयता ने उन्हें कवयित्री बना दिया।

मीराँ को चाहे फारसी के 'मीर' से सम्बद्ध किया जाय, चाहे संस्कृत के 'मिहिर' से, उन्हें 'बीराँ' से व्युत्पन्न बताया जाय, चाहे 'मि-इरा' से या 'महि-इरा' से। सत्य तो यह है कि उनका व्यक्तित्व आत्म-गरिमा से मण्डित है। 'मीराँ' को आरोपित महत्व की आवश्यकता नहीं है। मध्ययुगीन राजस्थानी और हिन्दी साहित्य में उनका काव्य अनुपम है।

[सहायक ग्रन्थ-मीराँबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी; मीराँबाई : श्रीकृष्णलाल; मीराँ एक अध्ययन : पद्मावती शबनम; मीराँ स्मृति ग्रन्थ-बगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता; राजस्थानी भाषा और साहित्य : डा० हीरालाल माहेश्वरी।]

-रा० चं० ति०

मीराँ पदावली–मीराँबाई की प्रसिद्धि का आधार उनकी पदावली है। यही उनकी सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है। उनके पदों में अन्य भक्तों और सन्तों के पद भी सम्मिलित हो गये है, अतः उनके प्रामाणिक पदों की वास्तविक संख्या का निर्णय करना कठिन हो गया है। अब तक सब मिला कर मीराँ के पदों के लगभग दो दर्जन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इससे उनकी पदावली की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

मीराँ के पदों का संग्रह प्रकाशित करने का क्रम उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल के कृष्णानन्द देव व्यास द्वारा संगृहीत 'राग कल्पद्रुम' से प्रारम्भ होता है। यह संग्रह संगीत शास्त्र की दृष्टि से किया गया है। इसमें ४५ पद मीराँ के भी हैं। सन् १९१३ ई० में 'बृहत काव्य दोहन' नाम से गुजराती काव्य का एक विशाल संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें मीराँ के ११३ पद संगृहीत हैं। हिन्दी में मीराँ के पदों का पहला संग्रह 'मीराँबाई के भजन' नाम से नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से १८९८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल २० पद संगृहीत हैं। इससे मीराँ की अनेक पदावलियाँ प्रकाश में आयीं। इनमें 'महिला मृदुवाणी' (सं० मुंशी देवी प्रसाद, ना० प्र० स०, काशी, पद २५), 'मीराँ शब्दावली' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१० ई० पद १६७), 'मीराँ मन्दाकिनी' (सं० नरोत्तम स्वामी, युनीवर्सिटी बुक डिपो, आगरा, १९३० ई०), 'मीराँबाई की पदावली' (सं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १९३२ ई०, पद २०१), 'मीराँबाई का काव्य' (सं० मुरलीधर श्रीवास्तव, सा० भवन लि० प्रयाग, १९३४ ई०), 'मीराँ की प्रेम साधना' (सं० भुवनेश्वर मिश्र, वाणी मन्दिर प्रेस, छपरा, १९३४ ई०), 'मीराँ की पदावली' (सं० सदानन्द भारती, एम० एस० मेहता एण्ड ब्रदर्स, बनारस, १९३५ ई०), 'मीराँ' (सन्त कार्यालय, प्रयाग, १९३६ ई०), 'मीराँ स्मृति ग्रन्थ' 'मीरा बृहत् पद संग्रह' (सं० पद्मावती शबनम, लोक सेवक प्रकाशन, काशी १९५२ ई० पद ५९०), 'मीराँ माधुरी' (सं० ब्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी, १९५६ ई०), पद ४६९, 'मीराँ सुधा सिन्धु' (सं० स्वामी आनन्द स्वरूप, मीराँ प्रकाशन समिति, भीलवाड़ा, १९५७ ई०, पद १३१२) उल्लेखनीय है। इन संग्रहों के अतिरिक्त 'मीरा पदावली' (सं० विष्णु कुमारी मजु, हिन्दी भवन, लाहौर), 'मीरा की प्रेम वाणी' (स० रामलोचन शर्मा, बम्बई पुस्तक भण्डार, कलकत्ता), 'मीराँ और उनकी प्रेम वाणी' (स० ज्ञानचन्द जैन), 'मीराँ जीवनी और काव्य' (स० महावीर सिंह गहलोत), 'साग्स् ऑव मीराँबाई' (स० रामचन्द्र टण्डन, हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद) आदि अन्य छोटे–मोटे संग्रह भी प्रकाशित हुए है। कुछ पद विभिन्न काव्य–संग्रहों और खोज रिपोर्टों के माध्यम से भी प्रकाश मे आये है। इनमें उदयसिंह भटनागर द्वारा 'राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' भाग ३ में प्रकाशित ५५ पद महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त समस्त संग्रहों में 'मीराँ मन्दाकिनी', 'मीराँ स्मृति ग्रन्थ' और उदयसिंह भटनागर द्वारा उद्धृत है। 'मीराँ मन्दाकिनी' का सम्पादन उन्नीसवीं शती की किसी हस्तलिखित पोथी के आधार पर हुआ है। 'मीराँ स्मृति ग्रन्थ' के सम्पादन में सन् १५८५ ई० की डाकोर की प्रति और १६७० ई० की काशी की प्रति का आधार लिया गया है। अतः प्राचीनता की दृष्टि से 'मीराँ स्मृति ग्रन्थ' का पाठ प्रामाणिक और सर्वोत्तम होना चाहिए किन्तु इसकी परीक्ष करके मोती लाल मेनारिया ने कहा है-"मालूम पड़ता है कि राजस्थानी भाषा से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति ने यह सारा जालरचा है।" उदय सिंह भटनागर द्वारा उद्धृत पद प्राय. सभी प्रमुख संग्रहों में पाये जाते हैं। अत. उन्हें प्रामाणिक माना जा सकता है। उपलब्ध पदावलियो में 'मीराँ मन्दाकिनी' (नरोत्तम स्वामी) और 'मीराँबाई की पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी) विश्वसनीय मानी जाती हैं। इस प्रकार अभी 'मीराँ पदावली' के पाठ–शोध की समस्या बनी हुई है।

'मीरा पदावली' की मूलभाषा का प्रश्न भी विवादास्पद है। सुनीति कुमार चटर्जी और झवेरचन्द मेघाणी के अनुसार मीराँ की भाषा शुद्ध राजस्थानी थी। लोक प्रचलित होने पर उसका रूप धीरे–धीरे परिवर्तित होता गया। मोतीलाल मेनारिया और नरोत्तम स्वामी उसमें राजस्थानी के साथ ब्रजी और गुजराती का सम्मिश्रण भी स्वीकार करते हैं। मीराँ के जो पद–संग्रह आज उपलब्ध हैं, उनमे तो-राजस्थानी, ब्रजी, गुजराती, पंजाबी, खड़ीबोली, पूरबी आदि कई भाषाओं का मिश्रण है। मीराँ का राजस्थान के अतिरिक्त गुजरात में भी निवास करना प्रमाणित होता है। सम्भव है वे कुछ दिन वृन्दावन में भी रही हों। अतः उनकी रचनाओं में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजी का मिश्रण तो स्वाभाविक जान पड़ता है किन्तु अन्य भाषाओं में प्राप्त पदों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

पद–रचना–परम्परा मीरा से पर्याप्त पहले प्रारम्भ हो चुकी थी। बौद्ध–सिद्धों और नाथ–पन्थी योगियों की चर्यागीति परम्परा से विकसित निर्गुण सन्तो की पद–रचना–पद्धति, वैष्णव भक्तों की टेकयुक्त और रागव्यवस्थित सगुण लीला पद–गान–परम्परा तथा लोक–गीत–परम्परा तीनों का सम्मिलित प्रभाव मीराँ के पदों पर पड़ा है। टेक, रागानुसार वर्गीकरण, दो या अधिक छन्दों का मिश्रण और इष्टदेव के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम का वर्णन वैष्णव–पद–रचना परम्परा की प्रमुख विशेषता रही

है। मीराँ के अधिकांश पद इसी परम्परा के निकट है। उनके कुछ पद कबीर, रैदास आदि निर्गुण सन्तो की शब्दी जैसे है। थोड़े से पद मारवाड़ी लोक—गीतों मे घुले—मिले हैं। सम्भव है ये पद जनता द्वारा रचे जाकर उनके नाम से प्रचलित हो गये हों। मीराँ की पदावली मे ढूँढने पर सार, सारसी, विष्णुपद, उपगान, दोहा, समान सवैया, शोभन, ताटंक, कुण्डल, चान्द्रायण आदि कई छन्द मिल जाते है। प्रायः दो या अधिक छन्दों के योग से पद—रचना की गयी हैं। कोई भी छन्द अपनी शुद्ध शास्त्रीय स्थिति में नहीं है। गायन की सुविधा के लिए अन्त में मात्राएँ घटा बढ़ा दी गयी है। इन पदो का महत्त्व इनकी संगीतात्मकता, भावमयता, मधुरता, सहजता और रचयिता की एकान्त तन्मयता के कारण हैं।

'मीराँ पदावली' का वर्ण्य-विषय सीमित ही कहा जायेगा। यदि मीराँ के व्यक्तिगत जीवन की ओर संकेत करने वाले पदों को-जिनमे उनके नाम, जन्मस्थान, कुल, पति, गुरु, स्वजनो से मतभेद आदि का उल्लेख है-अलग कर दिया जाय तो शेष पदों में आराध्य की स्तुति और विनय, सौन्दर्य—कल्पना, प्रणयानुभूति, विरहोद्गार, लीलागान, आत्म—समर्पण, अव्यक्त की अनुभूति और रागात्मक भाव का ही प्राधान्य है। वस्तुतः उनके काव्य का केन्द्रीय भाव प्रेम है। भौतिक प्रेम असफल होकर अध्यात्मोन्मुख हुआ है और क्रमशः रूपमय आराध्य से अरूप के प्रति अग्रसर होता हुआ विरहगर्भित होकर शान्ति के वातावरण में विलीन हो गया है।

मीराँ की पदावली गेयत्व की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की अन्यतम कलाकृति है। कलाविहीनता ही उसकी कलात्मकता है, सहजता ही उसका सौन्दर्य है। वह भक्तों, संगीतज्ञों और काव्य—रसिकों में समान रूप से आदृत है। अनेक सस्करणों के उपलब्ध होने पर भी उसके वैज्ञानिक सम्पादन और वर्गीकरण की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। मीराँ सच्ची प्रेम पुजारिन थीं। 'प्रेम—सौख्य—वेदना—विकल' इस गीत पुजारिन के पदों का उद्धार ही उसकी सबसे बड़ी सेवा होगी।

-रा० चं० ति०

मुंशीराम शर्मा 'सोम'—जन्म १९०१ ई० में ओखरा (जिला कानपुर) में हुआ। शिक्षा-एम० ए०, डी० लिट्०। सूर—काव्य के विशेषज्ञों में आपका नाम प्रमुख है। बहुत समय तक डी० ए० वी० कालेज, कानपुर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे हैं।

-सं०

मुकुंदी लाल श्रीवास्तव—जन्म रविवार, २५ अक्टूबर, सन् १८९६ ई०, सागर जिले के गोरझामर ग्राम में अपने मामा के यहाँ। आप जबलपुर (मध्य प्रदेश) के निवासी हैं। और गत ३१ वर्षो से काशी में ही रह रहे हैं। मैट्रिक तथा एफ० ए० में उत्तीर्ण छात्रों में सर्वप्रथम होने के कारण राज्य की ओर से आप छात्रवृत्ति पाते रहे। इसके बाद बी० ए० मे आपको सरकारी छात्रवृत्ति मिली। इनकी शिक्षा इनके मामा के यहाँ ही हुई। नवम्बर, १९१७ ई० में मामा की मृत्यु हो जाने के कारण उनके परिवार के भरण—पोषण की आवश्यकता बश आपने पढ़ाई छोड़कर स्टेट हाईस्कूल में नौकरी कर ली। बाद में बड़े मामा की नौकरी लग जने पर आप अपने घर जबलपुर चले आये और राबर्टसन कालेज से सन् १९२० ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की। दर्शनशास्त्र में एम० ए० करने के विचार से आप नागपुर चले गये और वहाँ के सरकारी महाविद्यालय में प्रविष्ट हो गये। उसी वर्ष नागपुर में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ। उसमें स्वीकृत असहयोग के प्रस्ताव से प्रभावित होकर आपने एम० ए० प्रीवियस की पढ़ाई समाप्त हो जाने पर कालेज छोड़ दिया।

आपके साहित्यिक जीवन का आरम्भ वस्तुतः उसी समय हो गया था, जब आप १५ वर्ष के थे। आपकी पहली रचना जून, सन् १९१२ ई० के 'बाल हितैषी' (मेरठ) में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद आपके कई लेख और कविताएँ विभिन्न पत्र पत्रिकाओ में प्रकाशित हुई।

जब आप एफ० ए० मे पढ़ते थे, तब 'अवनति क्यों हुई' शीर्षक ४० पृष्ठो का एक निबन्ध लिखने के कारण निबन्ध प्रतियोगिता में यवतमाल (बरार) के रामगोपाल काजीरिया की ओर से आपको एक रजत पदक पुरस्कार मे दिया गया।

इसी तरह तृतीय वर्ष की शिक्षा प्राप्त करते समय भी आपने मध्य प्रदेश के तीनों कालेजो की एक बड़ी प्रतियोगिता में भाग लिया और उसमें भी विजयी हुए। आपने लगभग एक ही महीनें मे 'रणधीर पराक्रम' नामक नाटक लिख कर २७ जुलाई, सन् १९१९ ई० को तीन सौ रूपये का नकद पुरस्कार प्राप्त किया। इस रकम से आपको बड़ी सहायता मिली और आप चतुर्थ वर्ष की पढ़ाई समाप्त कर बी० ए० की परीक्षा में सफलता प्राप्त कर सके।

आपने काशी के दैनिक 'आज' के लिए 'नीतिशास्त्र की उत्पत्ति' पर एक लेख भेजा, जो उसके तत्कालीन सम्पादक श्री श्रीप्रकाशजी को इतना पसन्द आया कि उन्होंने तुरन्त आपको अपने साथ काम करने के लिए काशी बुला लिया।

फरवरी १९२१ से जुलाई, १९२१ ई० त क आप दैनिक 'आज' के सहायक सम्पादक रहे और इस बीच आपने उसके लिए पचीसों अग्रलेख तथा कई टिप्पणियाँ लिखी। इसके बाद आप श्री रामदास गौड़ के हट जाने पर ज्ञान मण्डल प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष एवं प्रधान सम्पादक नियुक्त हुए। इसी समय आपको ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला के सम्पादन के साथ—साथ दो वर्ष तक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विषयों के उच्चकोटि के मासिक पत्र 'स्वार्थ' का सम्पादन कार्य करना पड़ा। यह पत्र भी ज्ञानमण्डल से ही प्रकाशित होता था।

ग्रन्थ माला के प्रकाशन का कार्य जब ज्ञानमण्डल में बन्द कर काशी विद्यापीठ के जिम्मे कर दिया गया तब आप भी विद्यापीठ में चले गये। वहाँ प्रकाशन कार्य के साथ—साथ आप हिन्दी के प्रधानाध्यापक का कार्य भी करते रहे। विद्यापीठ में आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाने पर लगभग दस वर्षो बाद, अन्य कई अध्यापकों के साथ आपको भी वहाँ से हटना पड़ा। जुलाई, १९३७ ई० में आप पुनः 'आज' में साप्ताहिक संस्करण के सम्पादक बनकर आ गये। सन् १९४३ ई० के अक्तूबर में आप 'आज' से पृथक हो गये और शीघ्र ही 'संसार' साप्ताहिक के सम्पादक नियुक्त हुए। बाद में कोई डेढ वर्ष तक आपको दैनिक 'संसार' का सम्पादन भार भी सँभालना पड़ा और लगभग ढाई वर्ष तक आप वहीं से प्रकाशित युगधारा मासिक पत्रिका के सम्पादक रहे। इसके बाद आप पुनः ज्ञानमण्डल के प्रकाशन विभाग म आ गये।

ज्ञानमंडल एवं काशी विद्यापीठ में रहकर लगभग २० पुस्तकों का सम्पादन करने के अतिरिक्त आपने 'ग्रीस और रोम के महापुरुष' एवं 'पश्चिमी यूरोप' के द्वितीय भाग के अर्धांश का अनुवाद किया। इसमें (स्वर्गीय) श्री राजवल्लभ सहाय का भी सहयोग आपको प्राप्त था। इसके अतिरिक्त आपने तथा आपके सहयोगी श्रीराजवल्लभ सहाय ने कई वर्षों के कठिन परश्रिम के बाद 'हिन्दी शब्द संग्रह' नामक एक बहुमूल्य कोश तैयार किया। इसमें आधुनिक हिन्दी के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि के उन बहुसंख्यक शब्दों का भी समावेश किया गया, जिनका प्रयोग हिन्दी के पुराने कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में हुआ था। विभिन्न प्रामाणिक पुस्तकों से इसमें कोई आठ हजार उदाहरण भी दिये गये हैं। जब यह कोश प्रकाशित हुआ था तब हिन्दी के अनेक विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा की थी।

इन रचनाओं के अतिरिक्त आपने 'साम्राज्यवाद' नामक एक और पुस्तक लिखी है। हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय विषयक साहित्य की यह एक अमूल्य निधि है। साम्राज्यवाद का अध्ययन करने वाले हिन्दी के पाठकों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की चीज है। इसकी भूमिका जवाहर लाल नेहरू ने लिखी थी। सन् १९५१–'५२ ई० में श्रीराजवल्लभ सहाय के साथ मिलकर आपने ज्ञानमण्डल द्वारा प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' का सम्पादन किया। सन् १९५५ ई० में आपने 'ज्ञान शब्द कोश', 'पारिभाषिक शब्द कोश' भी तैयार किये। फिर आपने अंग्रेजी से अनुवाद कर 'भारतीय पत्रकार कला', 'मेरे बचपन की कहानी' तथा 'कुछ स्मरणीय मुकदमें' प्रस्तुत किये। इसके बाद एक वर्ष तक 'आज' में आपने 'प्रतिदिन की समस्याएँ' नामक स्तम्भ चलाया, जो बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ। इस समय आप उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा संचालित 'हिन्दी समिति' के प्रधान सम्पादक हैं। विगत ७ वर्षों में यहाँ से ७५ ग्रन्थों का सम्पादन कार्य आप प्रकाशित करा चुके हैं। आपके लिखे लेखों की संख्या बारह तेरह सौ से कम न होगी।

अपने लेखों में आप यथासम्भव लघु वाक्यों का ही प्रयोग करते हैं आपके पैराग्राफ भी प्रायः छोटे ही हुआ करते हैं। आपको अपनी जिम्मेदारी का हमेशा बड़ा ख्याल रहा है। आपको अक्सर यह कहते सुना गया है-"या तो कोई काम बिल्कुल ही करने योग्य नही या वह अच्छी तरह ही करने योग्य है।" अपने साहित्यिक कार्यों में आप भरसक इसी सिद्धान्त का पालन करने का प्रयत्न करते हैं और यही आपकी सफलता का प्रमुख कारण है।

पत्र सम्पादक के रूप में आपने होनहार लेखकों को बराबर प्रोत्साहन देकर और उनकी रचनाओं को प्रकाशित कर हिन्दी की आधुनिक प्रगति में एक 'अज्ञात नामा' सेवक एवं अंशदाता का कार्य किया है। हिन्दी के हजारों पाठक तथा पचासों लेखक, जो आपकी सेवाओं से लाभ उठा चुके हैं, सहर्ष यह बात स्वीकार करेंगे। आप स्वभाव के बहुत ही सीधे, दयालु एवं क्षमाशील हैं। आत्माभिमानी होते हुए भी दर्प या अहमन्यता का भाव आपमें बिलकुल नहीं है। पाखण्ड और छलना से भरी हुई आज की दुनिया में भी आप बराबर सात्विक जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। सम्भवत. इसके कारण आपको कभी–कभी बड़ी परेशानी उठानी पडी है फिर भी ईश्वर पर भरोसा कर आप अपने पथ पर अडिग बने रहे हैं। चिन्तन में, वाणी में और प्रत्येक कार्य में सच्चाई का सहारा लेकर आगे बढ़ना ही आपको प्रिय रहा है। अपने छोटे से दायरे के भीतर आप इसी लिए सतत् प्रयत्नशील रहे हैं।

-दे० द्वि०

मुकुटधर पांडेय–जन्म सन् १८९५ ई० में बालपुर, बिलासपुर में हुआ। लोचनप्रसाद पाण्डेय आपके अग्रज थे। रायगढ़ के नटवर हाई स्कूल से प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में कई कारणों से इन्हे प्रयाग के एक महाविद्यालय से पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। अपने पूज्याग्रज स्वर्गीय लोचनप्रसाद पाण्डेय की प्रेरणा से सन् १९०९ ई० में लेख एवं कविताएँ लिखना प्रारम्भ किया। 'सरस्वती' आदि सभी प्रमुख पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

सन् १९१६ ई० में ब्रह्म प्रेस, इटावा से अग्रज मुरलीधर पाण्डेय के साथ इनका प्रथम काव्य-संकलन 'पूजा फूल' नाम से प्रकाशित हुआ। रचनाएँ छायावादी और कुछ एक रहस्य पुट से भी युक्त हैं। इनका 'कानन-कुसुम' सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। मुकुटधर पाण्डेय ने बाद में अपनी रचनाओं में "वाद-विहीन उदार धर्म" एवं "समता पूर्ण मानव धर्म" में ईश्वर की झाँकी देखी है। इनमें धर्म के संकीर्ण साम्प्रदायिक रूप का अभाव है। इन्होंने उच्च मानवीय मूल्यों पर बल देते हुए उपदेश के स्थान पर आन्तरिक संवेदना जगाने और इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावात्मकता को प्रधानता दी है। परमोच्च के प्रति आकुलता के दर्शन भी होते हैं। इनकी रचनाओं को छायावाद का पूर्वाभास कह सकते हैं क्योंकि पिछली रचनाओं की अपेक्षा उनमें आत्माभिव्यंजना, आध्यात्मिकता, लाक्षणिकता एवं व्यंजनात्मकता का बीज स्पष्ट है। इनकी कविताएँ अधिकांशतः प्रगीत–मुक्तक की श्रेणी में आती हैं। 'शैल बाला', 'समाज कण्टक', 'लच्छमा', 'परिश्रम' एवं 'हृदय–दान' नामक पुस्तकें भी उल्लिखित हुई हैं। 'शैल बाला', 'लच्छमा एवं 'परिश्रम' नामक रचनाएँ हरिदास एण्ड कं०, कलकत्ता से सन् १९१७ ई० मे, 'समाज कण्टक' वाहिती एण्ड कम्पनी, कलकत्ता द्वारा १९१८ ई० एवं 'हृदय–दान' हिन्दी गल्पमाला प्रेस, काशी से सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुई हैं। 'मिश्रबन्धुओं' ने इनकी 'कार्तिक महात्म्य' एवं 'इटालीय युवक' नामक पुस्तकों का भी उल्लेख किया है। खड़ीबोली की कल्पना–नूतनता और अन्तर्भाव–व्यंजना में मैथिलीशरण गुप्त एवं बदरीनाथ भट्ट के साथ इनका भी नाम संस्मरणीय है। शीर्षकों के अनाख्यापन, स्वानुभूतिपूर्ण वर्णन एवं चित्रात्मकता के प्रदर्शन की प्रवृत्तियाँ १९१३ ई० से ही इनके द्वारा सम्पन्न हो रही थीं। मुकुटधर जी में कविता को जीवन विस्तार में प्रतिष्ठित करने की आकुलता स्पष्ट थी। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास के परिवर्द्धित संशोधित संस्करण के पृष्ठ ७२४ पर इन्हें प्रकृति के सामान्य रूप पर प्रेम-दृष्टि डालकर रहस्य के सहज संकेतों को उभाड़ने तथा भाषा को मार्मिक रूप देकर कविता के अकृत्रिम एवं स्वच्छन्द मार्ग निकालने के कारण 'नयी धारा' (छायावाद) का प्रवर्त्तक माना है। इनके 'श्री शारदा' में निकले तत्कालीन छायावादसम्बन्धी लेख छायावाद के विकास–इतिहास के

ढूंढ़ने में मील के पत्थर का कार्य करेंगे।

-श्री सिं० क्षे०

मुबारक—इनका पूरा नाम सैयद मुबारक अली बिलग्रामी है। इनका जन्म, १५८३ ई० (स० १६४० वि०) और कविता—काल १६३३ ई० (सं० १६९० वि०) है। ये फारसी, संस्कृत और अरबी के अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी में इन्होंने 'ममारख' छाप से भी रचना की है। ये मुख्यतः श्रगारी कवि हैं। रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु आदि इतिहासकारों को इनके 'अलक शतक' और 'तिल शतक' ग्रन्थ ही उपलब्ध हुए हैं। इनका रचना—काल १६०३ ई० के आस—पास माना जाता है। इन दोनों ग्रन्थों का प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, बनारस से १८९१ ई० में हुआ है। पहले ग्रन्थ में नायिका की 'अलकों' तथा दूसरे ग्रन्थ में उसके 'तिल' पर दोहे सगृहीत हैं। इनके सम्बन्ध में ख्यात है कि इन्होंने नायिका के "दस अंगों को लेकर प्रत्येक पर सौ—सौ दोहे" लिखे थे। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार संस्कृत, फारसी और अरबी के पण्डित थे हिन्दी के सहृदय कवि। इन्होंने उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग में कल्पना की उड़ान से काम लिया है, 'अलक' पर उत्प्रेक्षा है-"परी मुबारक तिय—बदन अलक लोप अति होय। मनो चन्द की गोद में रही निसा सी सोय।" इसी प्रकार 'तिल' पर उक्ति है-"चिबुक कूप रसरी अलक, तिलसु चरस दृग बैल। बारी बैस सिंगार को, सींचत मनमथ—छैल।" दूर की कौड़ी लाने में मुबारक अपने सम—सामयिकों से कम नहीं थे।

[सहायक ग्रन्थ-हि० सा० इ० मि० वि० हि० सा० दि० भू० (भूमिका)।]

-वि० मो० श०

मुरलीधर मिश्र—इनका नाम मुरली भी है। ये आगरा के भारद्वाज गोत्रीय माथुर ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों का गंगा—यमुना के दोआब में स्थित गँभीर नामक स्थान था। इनके पूर्वज परमानन्द मिश्र का अकबर के दरबार में बहुत मान था। इनके पौत्र पुरुषोत्तम शाहजहाँ के आश्रित कवि थे। मुरलीधर के पिता दिनमणि मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में कवि थे। नादिरशाह का आक्रमण मुरलीधर के सामने हुआ था, इससे उनकी श्रृंगारी वृत्ति में परिवर्तन हुआ और ये रामभक्त हो गये थे। इनके ये छः ग्रन्थ कहे जाते हैं— 'श्रृंगारसार', 'नखशिख', 'नलोपाख्यान', 'पिंगल-पीयूष' (१६६४ ई०), 'रस-सरोवर' (१६६२ ई०) तथा 'राम-चरित्र' इनमें तीन ग्रन्थ काव्यशास्त्र से सम्बद्ध, एक पिंगल का और शेष दो कथात्मक हैं। अन्तिम रामभक्ति से प्रेरित काव्य-ग्रन्थ है।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

मुहम्मद (हजरत मुहम्मद)—मुहम्मद हजरत इस्लाम धर्म के प्रवर्तक थे। उन्हें ईश्वर का दूत 'पैगम्बर' कहा जाता है। मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० में मक्का के एक पुजारी वंश में हुआ था। अतः मुहम्मद साहब का लालन पालन उनके दादा और चाचा पर पड़ा। अपने चाचा अबूतालिब के संसर्ग में रहकर वे बाल्यकाल से ही व्यापार में दक्षता प्राप्त करने लगे। व्यापार के सिलसिले में भ्रमण के अनुभव के साथ उन्हें अरब के मूर्ति पूजक रूढ़िवादी धर्म के प्रति अविश्वास होता जा रहा था। इसके विपरीत ईसाई साधुओं के मठों की शान्ति, बौद्धिक वातावरण तथा यहूदियों की मूर्ति रहित एक ईश्वर भक्ति इन्हें प्रभावित करती जा रही थी। यहूदी और ईसाई धर्म की पुस्तकों का इन्होंने गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया था। ४० वर्ष की अवस्था में इन्होने अपने को अल्लाह का रसूल घोषित किया। सर्वप्रथम मुहम्मद के धर्म को उनकी स्त्री खदीजाने स्वीकार किया। मक्का के पुजारी कुरेश मोहम्मद के क्रान्तिकारी विचारों के फरस्वरूप इनकी जान के ग्राहक बन गये और मक्का छोड़कर सन् ६१४ ई० में इन्हें मदीना 'हिजत' पर जाना पड़ा। इसी की स्मृति पर मोहम्मद ने हिजरी संवत् भी चलाया। 'मदीना' के नामकरण का कारण 'मदीनत उलनवी' (नवी का नगर) बताया जाता है। मक्का तक मुहम्मद साहब एक धर्म के प्रचारक मात्र थे किन्तु मदीन में ये अपने अनुयायियो के आर्थिक-सामाजिक विचारक, व्यवस्थापक और सैनिक नेता भी बन गये। मुहम्मद साहब की मृत्यु सन् ६१२ ई० में हुई। उस समय भी कितने लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार नही किया। मलिक मुहम्मद जायसी तथा हिन्दी के श्रव्यसूफी कवियों ने ग्रन्थारम्भ में मुहम्मद साहब की स्तुति की है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'काबाकर्बला' में मुहम्मद साहब का ससम्मान चरित्र-चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी एक कविता में हजरत और उनके एक शिष्य का स्वतन्त्रता के प्रश्नोत्तर के सन्दर्भ में नाम लिया है।

—रा० कु०

मृगावती—अभी तक के हिन्दी के उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में 'मृगावती' का स्थान प्रथम है। इसके रचयिता कुतबन हैं। इसकी रचना हिजरी सन् ९०९ (अर्थात् सन् १५०३ ई०) में हुई। इसकी खण्डित प्रति ही प्राप्त हो सकी है। कुतबन ने बतलाया है कि पहले से आती हुई कहानी के आधार पर ही उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है। कुतबन के पहले 'मृगावती' जैसी अन्य किसी रचना का पता नहीं चलता लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की प्रेम-कथाएँ इसके पहले भी लिखी गयी हैं। इसके दो सौ वर्ष पहले की लिखी मुल्ला दाऊद की रचना 'चन्दायन' का उल्लेख बदायूनी ने 'मुन्तखबुत्तवारीख' में किया है और उसके सम्बन्ध में कहा है कि हिन्दी में लिखी वह एक मसनवी है, जिसमें लूरक और चान्दा के प्रेम की कथा कही गयी है। 'मृगावती' की कहानी संक्षेप में इस प्रकार है—चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र मृगावती पर मुग्ध होता है और उसे पाने के लिए नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। बहुत सी विघ्न-बाधाओं को पारकर राजकुमार मृगावती के पास पहुँचता है। मृगावती उड़ने की विद्या जानती है और एक दिन राजकुमार को धोखा देकर उड़ जाती है। राजकुमार जोगी होकर उसकी खोज में निकल पड़ता है। उसे खोजते हुए वह समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँचता है। उस पहाड़ी पर वह रुक्मिनी नामक एक सुन्दरी का एक राक्षस के हाथ से उद्धार करता है। रुक्मिनी का पिता प्रसन्न होकर उसे राजकुमार को सौंप देता है। दोनों का विवाह हो जाता है मृगावती के पिता की मृत्यु होती है और उसके स्थान पर मृगावती राज्य का शासनभार ग्रहण करती है। राजकुमार मृगावती के नगर में बारह वर्षों तक रहता है। बाद में उसके पिता को उसका समाचार मिलता है और पिता का सन्देश

पाकर राजकुमार मृगावती को लेकर चल पड़ता है। रास्ते में वह रुक्मिनी को भी ले लेता है। दोनो पत्नियों के साथ वह अपने घर पहुँचता और आनन्दपूर्वक जीवन बिताता है। शिकार करते हुए एक दिन वह हाथी से गिर जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है और दोनो रानियाँ सती हो जाती हैं।

'मृगावती' में जिन कथानक रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है, वे सम्पूर्ण रूप से भारतीय हैं। 'मृगावती' की कहानी, भारतीय कहानियों की परम्परा से बाहर नहीं है। वैसे हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक-दो कथानक-रूढ़ियो को विदेशी कहा है (हिन्दी साहित्य, पृ० २६५)। उनका कहना है कि नायक का ऐकान्तिक प्रेम और नायिका की प्राप्ति के लिए कठिन साधना इस देश की कथा-परम्परा के लिए नयी वस्तु है। उनका यह भी कहना है कि नायिका का धोखा देकर उड़ जाना और दूसरे देश मे राज्य करना एक ऐसी कथानक-रूढ़ि है, जो इस देश के लिए अपरिचित है, लेकिन इस मत से सहमत होना कठिन है। प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों के अध्येता के लिए ये कथानक रूढ़ियाँ बिलकुल ही अपरिचित नहीं हैं। मुनि कनकामर का 'करकण्डु चरिउ' ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है। इसमें करकण्डु के पत्नी-वियोग, उसकी व्याकुलता तथा उसकी खोज में नाना कष्टों और विपत्तियो का सामना करते हुए उसके सिंहलद्वीप पहुँचने का वर्णन है। इसी प्रकार ईस्वी सन् की पन्द्रहवी शताब्दी की रचना 'रमणसेहरी कहा' में भी राजा रत्नशेखर के सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नावती के रूप का वर्णन सुनकर सिंहल-यात्रा करने का वर्णन आया है।

वैसे 'मृगावती' में राजकुमार के प्रेम तथा वियोग का जैसा वर्णन है, वह अवश्य ही भारतीय साहित्य में देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार के वर्णनों में कुतबन ने बीच-बीच में परोक्षसत्ता की ओर संकेत किया है। सूफीमार्ग की सात मंजिलो का भी 'मृगावती' में संकेत मिलता है। सूफीमत से कुतबन का अवश्य ही परिचय था और बाद के हिन्दी के सूफी कवियों की रचनाओं में भी यह बात देखने को मिलती है। 'मृगावती' में हिन्दी के विभिन्न छन्दों का उपयोग किया गया है। अलंकारों तथा उपमान योजनाओं में भी कवि भारतीय साहित्य और वातावरण से ही प्रभावित है। न छन्दों की दृष्टि से और न उपमान-योजनाओं की दृष्टि से 'मृगावती' को फारसी की मसनवियों से प्रभावित माना जा सकता है।

—रा० पू० ति०

मृणाल—दे० जैनेन्द्र कुमार।

मेहता—प्रेमचन्दकृत उपन्यास 'गोदान' का पात्र मेहता यूनीवर्सिटी में दर्शन-शास्त्र का अध्यापक है। वह जीवन को सम्पूर्ण बनाना चाहता है। जीवन के विविध पक्षों के सम्बन्ध में उसके अपने विचार हैं। स्त्री को वह वफा और त्याग की मूर्ति समझता है, जो अपने-आपको मिटाकर सबको अपना बना लेती है। उसे इस बात में विश्वास नही है कि स्त्री-पुरुष के क्षेत्र में पदार्पण करे। वह प्रकृति का पुजारी है और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता है। दुःख और सुख का दमन करना वह कमजोरी समझता है। उसकी दृष्टि में जीवन आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द है, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं। वह भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। उसके लिए वर्तमान ही सब कुछ है। वह सारी शक्ति मानव-धर्म को पूरा करने मे लगाना चाहता है। ईश्वर और मोक्ष के चक्कर पर उसे हँसी आती है। जहाँ जीवन है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है। मानवता को पीस डालने वाला ज्ञान, उसकी दृष्टि में ज्ञान नहीं है। नारी के लिए वह मातृत्व को सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय समझता है। नारी का जीवन लय है, जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी। इसलिए वह सेवा—मार्ग की ओर झुकता है और इस क्षेत्र में वह जब मालती का 'मधुमक्खी' वाला रूप देखता है तो उसे कर्मण्य मानवता का रूप समझकर मुग्ध हो जाता है।

-ल० सा० वा०

मैत्रेय—भागवत में मैत्रेय एक ऋषि विशेष के रूप में वर्णित है। विदुर और मैत्रेय की परस्पर मित्रता रहा करती थी। विदुर की भाँति मैत्रेय को भी कृष्ण ने ज्ञानोपदेश दिया था। यह ज्ञानोपदेश उन्होंने व्यास से सुना था। 'सूरसागर' तृतीय स्कन्ध के ३८ वें पद में मैत्रेय का उल्लेख विदुर के साथ हुआ है।

-यो० प्र० सिं०

मैथिलीशरण गुप्त—जन्म १८८६ ई०, स्थान चिरगाँव, झाँसी, उत्तर प्रदेश। वर्तमान कालके सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। गत अर्द्ध—शताब्दी से ये अनवरत साहित्य—सेवा करते रहे। अब तक इनकी चालीस मौलिक तथा छः अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। गुप्त जी की आरम्भिक रचनाएँ कलकत्ता से निकलने वाले 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित हुईं। बाद में इनका परिचय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से हुआ और इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। द्विवेदीजी के आदेश और उपदेश तथा स्नेहमय प्रोत्साहनके परिणामस्वरूप मैथिलीशरणजी की काव्य—कला में निखार आया। इनकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' प्रकाशन सन १९१० में हुआ। सन् १९१२ में 'भारत भारती' निकली। इसी पुस्तक ने सबसे पहले हिन्दी-प्रेमियों को गुप्तजी की ओर आकृष्ट किया। 'भारतभारती' ने हिन्दी—भाषियोंमें अपनी जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएँ प्रबुद्ध कीं और तभी से ये राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हैं। इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में 'साकेत' (१९३२ ई०), 'यशोधरा' (१९३३ ई०), 'द्वापर', 'जयभारत' (१९५२ ई०) और 'विष्णुप्रिया' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। मैथलीशरण गुप्त की मृत्यु १९६४ ई० में हुई।

गुप्त जी रामभक्त कवि हैं। राम का कीर्तिगान इनकी चिरसंचित अभिलाषा रही है, साथ ही इन्होंने भारतीय जीवनको समग्रतामें समझने और प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। अतः इनका काव्य रामकाव्य है और प्रबन्धकाव्य है। 'मानस' के पश्चात् हिन्दी में रामकाव्य का दूसरा स्तम्भ मैथिलीशरणकृत 'साकेत' ही हैं और आधुनिक युग में प्रबन्ध की तो विलोपमान परम्परा के संरक्षक गुप्त जी ही हैं। इन्होंने दो महाकाव्यों और उन्नीस खण्डकाव्योंका प्रणयन किया है, परन्तु इस विपुलता मे पिष्टपेषण नहीं है, वरन् आधारभूत पृष्ठभूमि का समयोचित विस्तार है, अर्थात् इनके काव्यों में जीवन का अनन्त वैविध्य और विस्तार समाहित है। यह

वैविध्य—विस्तार देशगत भी है और कालगत भी। इन्होने जहाँ इस देश की तथा आधुनिक काल की कथा को अपने प्रबन्धों का विषय बनाया है, वहाँ विदेश सम्बन्धी एवं प्रागैतिहासिक सामग्री को भी वस्तु—रूप मे ग्रहण किया है। अज्ञात एवं अख्यात व्यक्तियों से लेकर महामहिम महीप तक इनके काव्यों के पात्र हैं। निस्सन्देह गुप्तजी की काव्य—सामग्री का यह बार्हत्य और क्षेत्र—विस्तार अद्भुत है। इनके अतिरिक्त ये विश्व के श्रेष्ठ प्रबन्ध कवियों के समान अमर चरित्रों के स्रष्टा या पुर्निर्माता भी हैं। उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया आदि इनकी अपूर्व और अभूतपूर्व चरित्र—सृष्टियाँ हैं। इनके चरित्र की परिकल्पना मैथिलीशरण जी की सृजन—प्रतिभा की परिचायक है। उधर माण्डवीका पूर्वरामायणों से अधिक चित्रण, कैकेयी के चरित्र मे परिवर्तन, हिडिम्बा, नहुष, दुर्योधन आदि के चरित्रोंका पुनस्स्पर्श कवि की पुनर्निर्माण—कला के जीवन्त प्रमाण हैं।

गुप्त जी ने तीन नाटक, प्रायः सभी प्रकार के प्रगीत और मुक्तक भी लिखे हैं किन्तु नाटको, प्रगीतों और मुक्तकों मे ये वैसी भाव—सृष्टि नहीं कर पाये, जैसा कि प्रबन्ध-काव्यों में। ये मूलतः प्रबन्धकार हैं-अन्य साहित्य-रूपों में इनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं मिलता। प्रबन्ध कार में नाटक, उपन्यास और कहानीकार की एकत्रित शक्ति आवश्यक मानी गयी है, उसे इस सभी विधाओंके प्रणयन की समंजित शक्ति लेकर साहित्य—क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ता है। अपने क्षेत्र में मैथिलीशरण को यह दुर्लभ वरदान प्राप्त है।

खड़ीबोली के स्वरूप—निर्धारण और विकास में गुप्तजी का योगदान अन्यतम है। खड़ीबोली को उसकी प्रकृति के भीतरही सुन्दर—सुघड़ रूप देकर काव्योपयुक्त रूप प्रदान करने का इन्होंने सफल प्रयत्न किया है। आज जिस सम्पन्न भाषा के हम अनायास उत्तराधिकारी हैं, उसे काव्य—भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले यही प्रथम कवि हैं। इन्होंने खड़ी बोली को प्रयोगार्ह ही नहीं बनाया, जनरूचि भी उस ओर मोड़ दी। 'जयद्रथ वध' (१९१० ई०) तथा 'भारतभारती' का प्रचार एवं लोकप्रियता मानों खड़ीबोली की विजय—दुन्दुभी थी। काव्य क्षेत्र में मैथिलीशरण के पदार्पण के समय खड़ी बोली काव्य मे व्यवहार्य छन्दों के विषय में भी कोई स्थिर नीति नहीं थी। खड़ीबोली पद्य में या तो संस्कृत के वर्ण—वृत्तों का प्रयोग होता था या फिर उर्दू बहरों का। उनके काव्य में पहली बार उसके लिए उपयुक्त छन्दों का सशक्त और साधिकार प्रयोग हुआ है। वैविध्य की दृष्टि से भी इन्होंने जितने प्रकार के छोटे—बड़े छन्दों का प्रयोग किया है, वर्तमान युग में कदाचित् उतने किसी ने भी नहीं लिखे। छन्द—प्रयोग में प्रसंगानुकूलता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। प्रस्तुत कवि अन्त्यानुप्रास का भी स्वामी है। यद्यपि कहीं कहीं उसका अतिरिक्त प्रयोग अरुचिकर भी सिद्ध हुआ है-किन्तु सुष्ठु प्रयोगों की तुलना में वे स्थल नगण्य हैं और अन्त्यानुप्रास का यह प्राचुर्य भाषा पर कवि के प्रभुत्व का द्योतक तो है ही।

मैथलीशरण जी भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता हैं। किन्तु ये अधुनातन सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं करते। मूलतः ये उस भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता हैं, जिसका मूलाधार हिन्दुत्व है। इनके काव्य के सांस्कृतिक पृष्ठाधार का अनुशीलन करने पर यह परिलक्षित होता है कि ये मानव जीवन का लक्ष्य सन्यास को नहीं, पुरुषार्थ को मानते हैं। अन्तिम क्षण तक कर्त्तव्यपालन ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। धार्मिक दृष्टि से राम में इनकी अनन्य भक्ति है, अन्य कोई देवता इनके हृदय को प्ररोचित नही कर पाता। किन्तु साम्प्रदायिकता से मैथिलीशरण गुप्त एकदम मुक्त हैं-ये धार्मिक सकीर्णतामुक्त उदार वैष्णव हैं। राजनीतिक क्षेत्र में जन्मजात संस्कारों के कारण राजतन्त्र के प्रति इन्हे अनुराग है परन्तु युगधर्म को इन्होंने सचेष्ट अपनाया है, अतः प्रजातन्त्र से भी ये पराङ्मुख नहीं हैं। राजतन्त्र के ही प्रजातन्त्रीकरण द्वारा इन्होंने युगधर्म और मज्जातन्तुगत संस्कारों की एक साथ रक्षा की है।

समाज की सुव्यवस्था का मेरुदण्ड ये मर्यादा को मानते हैं और सभी मर्यादाप्रेमी कवियों के समान गुप्त जी ने भी सम्मिलित परिवार मे आस्था प्रकट की है। साथ ही वर्णाश्रमधर्म में भी इनका दृढ़ विश्वास है, किन्तु तत्सम्बन्धी मध्यकालीन विकार इन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। नारी के प्रति इनका दृष्टिकोण बहुत आदरपूर्ण रहा है। इनके अनुसार नारी विलास का निर्जीव उपकरण मात्र न होकर पुरुष के कार्यों में समभाग लेने वाली अर्द्धांगिनी है, जिसके सहयोग बिना पुरुष के सभी कार्य अधूरे हैं। लौकिक जीवन को ये विगर्हणीय नहीं समझते, परन्तु उसे मर्यादित अवश्य देखना चाहते हैं। मानवीय मन की वृत्तियों की उन्मुक्त विवृति इन्हें सह्य नहीं। कम-से-कम लोभ और काम का नियन्त्रण तो होना ही चाहिये, तभी पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का प्रसार सम्भव है। इनका जीवन-दर्शन प्रगतिशील होने के साथ-साथ सर्वथा भारतीय है-भारत की परम्पराएँ और परम्परागत विश्वास इनके काव्य में सर्वत्र प्रोद्भासित हैं, जो देश की रीति-नीति और सांस्कारिक विधियों के प्रति इनकी निष्ठा के सूचक हैं।

भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता के साथ मैथिलीशरणजी प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि भी हैं। इनकी प्रायः सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हैं। उत्तर भारत में राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार में 'भारतभारती' के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। परवर्ती रचनाएँ भी असन्दिग्ध रूप से राष्ट्र-भावना से परिपूर्ण हैं, हाँ कवित्व में अभिनिवेशित उनकी राष्ट्रीयता रस-क्षीण आरम्भिक रचनाओं के समान मुखर नहीं है। अपनी कालानुसरण क्षमता के कारण गुप्तजी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। ये आधुनिककाल में प्रचलित काव्य की सभी शैलियों और भावनाओं को ग्रहण करने में समर्थ हैं। इनके काव्य में हिन्दी कविता के पिछले पचास-पचपन वर्षो का इतिहास सुरक्षित है—काव्य क्षेत्र के सभी आन्दोलन प्रतिबिम्बित हैं।

अपने विपुल-परिमाण साहित्य, अदभुत प्रबन्ध-कौशल, भाषा के निर्माण और विकास तथा जीवन को समग्रता में ग्रहण करने की क्षमता के कारण उत्तर भारत की तीन पीढ़ियों की युगचेतना को प्रभावित करने वाला भारतीय संस्कृति का अनन्य प्रस्तोता यह कवि निस्सन्देह ही महाकवि है।

—उ० का० गो०

मैना—'रूद्र संहिता' तृतीय खण्ड में मैना की उत्पत्ति-कथा ब्रह्मा नारद से कहते हैं। ब्रह्मा के पुत्र दक्ष की स्वधा नामक कन्या की, जिसका विवाह उन्होंने देव-पितर से किया था

ज्येष्ठ पुत्री का नाम मैना कहा गया है। यह मानसी होने के कारण अयोनिजा कही गयी है। सनत्कुमार के शापवश मैना श्वेत द्वीप से पृथ्वी पर आकर हिमालय की पत्नी बनी। मैनाक नामक नाग-पर्वत मैना का ही पुत्र था। कालिदास ने 'कुमार-सम्भवम्' नामक महाकाव्य में शिवपुराण के आधार पर सम्भवतः मैना और उनकी पुत्री पार्वती के परस्पर स्नेह का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' तथा 'पार्वती मंगल' में ठीक कालिदास के ही अनुरूप पार्वती-परिणय के प्रसगमे इसका उल्लेख किया है। यद्यपि तुलसीदास की मैना में मानव-सुलभ वह आग्रह न आ सका, जिसका समावेश कालिदास ने किया है। तुलसीदास ने धर्म और भक्ति के आवरण में मैना के मातृत्व की उपेक्षाकर शिव-भक्ति का बाना साग्रह आरोपित-सा कर दिया है।

—यो० प्र० सिं०

मैनासत—साधनकृत 'मैनासत' के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। एक अगरचन्द नाहटा द्वारा हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ वीथिका (हिन्दी विद्यापीठ, आगरा १९५६) और दूसरा पुस्तकाकार हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'साधनाकृत मैनासत' (ग्वालियर, १९५९ ई०), जिसमें ४१८ पद्य हैं। 'मैनासत' (सती मयना के पतिव्रत आदर्श की कथा) बहुत लोकप्रिय रही है। बंगला के कवि दौलतकाजी (सत्रहवीं शती) तथा अलाओल (१६५९ ई०), ने 'सती मयना ओ लोर चन्द्राणी' शान्तिनिकेतन, १९५८ ई० की रचना साधन की रचना के आधार पर की। सती मयना की कथा का अभिप्राय लोकप्रचलित अन्य प्रेमकथाओं से सम्मत है। सुन्दरी मैना का पति लालन व्यापार के लिए परदेश चला जाता है। वियोगिनी नायिका को रतना कुट्टी पथभ्रष्ट करने का प्रयास करती है किन्तु सती मयना दृढ़तापूर्वक पतिपरायणा बनी रहती है। पति के लौटने पर कुट्टिनी को यथोचित दण्ड मिलता है। वियोगिनी नायिका के प्रसंग में कृति में 'बारहमासा' का सुन्दर सरल वर्णन मिलता है। दोहा, चौपाई, सोरठा, छन्दों का कृति में प्रयोग हुआ है। कृति की भाषा ब्रजभाषा है। साधन को कुछ लोग मुसलमान कहते हैं किन्तु उनकी कृति में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिससे उन्हें हिन्दू न कहा जा सके। कुछ प्रतियों में प्रारम्भ में सरस्वती की वन्दना मिलती है। वे हिन्दू थे। 'मैनासत' की सबसे प्राचीन प्रति १५०४ ई० की मिलती है, अतः 'मैनासत' का रचनाकाल इससे पूर्व माना जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—मैनासत : हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, १९५९ ई०।]

—रा० सिं० तो०

मोतीचंद—जन्म १९०९ ई० में वाराणसी में हुआ। शिक्षा वाराणसी तथा लन्दन मे हुई। आप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भ्रातृपौत्र है तथा बम्बई के प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम के डाइरेक्टर तथा हिन्दी जगत् के भारतीय पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान् हैं।

मोतीचन्द एक प्रतिभासम्पन्न लेखक हैं। उन्होंने गम्भीर अध्ययन एवं मनन किया है। वे गवेषणापूर्ण उपयोगी एवं गहरे तत्त्वों से युक्त रचनाओं के लेखक हैं। भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व के वे प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। भारतीय पुरातत्त्व एवं कला के विविध अंगो को लेकर आपने पुस्तकें लिखी हैं। आपकी पुस्तके निम्नांकित हैं—'प्राचीन भारतीय वेष-भूषा' (१९५० ई०), 'सार्थवाह' (१९५३ ई०), 'श्रृंगार हाट' (यह पुस्तक आपने डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के सहयोग से लिखी है) तथा 'काशी का इतिहास'। हिन्दी के अतिरिक्त आपने अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें प्रमुख हैं—'जैन मिनिएचर पेन्टिंग इन वेस्टर्न इण्डिया' (१९४८ ई०), 'जियोग्राफिकल एण्ड एकोनामिक स्टडीज फ्राम दी महाभारत' (१९४५ ई०), 'टेक्निक आफ मुगल पेंटिंग' (१९४९ ई०)।

'प्राचीन भारतीय वेष-भूषा' मे आपने प्रागैतिहासिक काल से लेकर सातवीं सदी तक के भारतीय साहित्य, कला, पुरातत्त्व तथा इतिहास के परिशीलन से भारतीयों की वेष-भूषा एव उसके विकास-क्रम का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया है। प्राचीन मूर्तियों, शिल्पकृतियों, चित्रो तथा मुद्राओं से नख-शिख तक के केश एवं परिधान, विभिन्न वस्त्रों उनके प्रकार तथा ढंग के रेखाचित्र प्रस्तुत करते हुए आपने तत्कालीन वेष-भूषा पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेष-भूषा की नामावली भी वेदों, पुराणों एवं संस्कृत और प्राकृत साहित्य से खोज कर प्रस्तुत की है।

'सार्थवाह' पथ-पद्धति, प्राचीन भारतीय व्यापारियों के विषय मे जानकारी, उनकी यात्राएँ, क्रय-विक्रय की वस्तुएँ तथा व्यापार के नियम एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

—ह० दे० बा०

मोतीराम—मिश्रबन्धु विनोद और खोज रिपोर्ट्स में इस नाम के तीन कवियों का उल्लेख हुआ है। प्रथम मोतीराम की रचना 'माधोमल' बताई जाती है और इनका रचनाकाल सं० १७४० अभिहित किया गया है। दूसरे मोतीराम की तीन रचनाओं का उल्लेख खोज विवरणों मे प्राप्त हैं, परन्तु मिश्रबन्धुओं ने च० त्रै० रि० के अनुसार इनकी एक ही रचना 'ब्रजेन्द्र विनोद' की चर्चा की है, शेष दो रचनाएँ 'कवित्त संकलन' और 'रामाष्टक विनोद' में उल्लिखित नहीं है। तीसरे मोतीराम के संबंध में सरोजकार का मत है कि इनके छन्द 'कालिदास हजारा' में मिलते हैं और ये सम्वत् १७४० में उपस्थित थे। डा० भगवती प्रसाद सिंह का अनुमान है 'दिग्विजय भूषण' में मोतीराम का जो छन्द प्राप्त होता है, वह संभवतः तीसरे मोतीराम ही हैं। इसके अतिरिक्त 'मिश्रबन्धु विनोद' में एक ऐसे मोतीराम का उल्लेख है जिनकी एक मात्र रचना 'धीरज रस सागर' बताई जाती है, और 'विवरण' के अन्तर्गत बताया गया है कि ये धीरज सिंह ब्राह्मण के यहाँ रहते थे। इनका रचनाकाल सं० १८२७ माना गया है 'साहित्य प्रकाश' आदि अन्य प्राचीन काव्य संग्रहों मे अधिकांशतः तीसरे मोतीराम के ही छन्द हैं। यह अनुमान है कि धीरज रस सागर प्रथम मोतीराम की रचना है। इसके अतिरिक्त इस कवि के संबंध मे विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं होते।

[सहायक ग्रंथ—मिश्रबन्धु विनोद—द्वितीय भाग, दि० सं०; शिवसिंह सरोज—सातवाँ संस्करण, सन् १९२६ मे प्रकाशित; दिग्विजय भूषण—सं० डा० भगवती प्रसाद सिंह।]

—कि० ला०

मोहनलाल गुप्त—जन्म काशी, ज्येष्ठ कृष्ण २, सं० १९७१ वि०। प्रारम्भिक शिक्षा क्वींस कालेज, काशी। १९३९ ई०

में एम० ए० (हिन्दी) प्रयाग विश्वविद्यालय से। १९४३ ई० से ही पत्रकार जीवन अपनाया। आजकल 'आज' के साहित्य-सम्पादक हैं। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हास्य-व्यंग धारा मे वस्तु विन्यास, भाव-भाषा, शैली, शब्द-चयन आदि सभी दृष्टियों से 'आधुनिकता' का समावेश करने वाले लेखकों में आपका विशिष्ट स्थान है। राजनीतिक, सामाजिक चेतना से उद्वेलित होकर आपकी हास्य कृतियाँ भी प्रायः व्यंग्यप्रधान हो जाया करती हैं। अपनी हास्य कृतियों मे नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन नही किया है। गद्य और पद्य दोनों विधाओं का प्रयोग समान सफलता से किया है। आरम्भ में गम्भीर कहानियाँ भी लिखते रहे, जिनमें यौवनोचित स्वप्नप्रियता का ही प्राधान्य है। गद्य शैली में परिमार्जित उर्दू गद्य की रवानी, वक्रता और स्वच्छता मिलती है। साप्ताहिक 'आज' के 'अरबी न फारसी' स्तम्भ में आपकी लिखी व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ काफी लोकप्रिय हुई हैं।

कृतियाँ—कहानी (गम्भीर) : 'दो काली काली आँखें', 'अनदेखे चित्र आनबोले चेहरे'; कहानी (हास्य) : 'मखमली जूती', 'चिरकुमारी सभा'; कविता (हास्य) : 'रामझरोखा', व्यंग्यप्रधान गद्य : 'अरबी न फारसी', 'बनारसी रईस'; बाल साहित्य : 'बच्चों की सरकार' (एकांकी); 'देश हमारा' (राष्ट्रीय गीत)।

—श्री० शु०

मोहनलाल महतो 'वियोगी'—जन्म बिहार राज्य के उपरिडीह, गया में सन् १८९९ ई०। हिन्दी, संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी का इन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। इनकी लगभग ४५ से ऊपर रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। सामयिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखित 'अछूत' नामक कविता-संग्रह (१९२५ ई०), छायावादी-रहस्यवादी रचनाओं का स्फुट संग्रह 'निर्माल्य' नाम से (१९२६ ई०), एक संग्रह 'एक तारा' नाम से, 'रेखा' अभिधान से छायावादी शैली में लिखित कहानी-संग्रह (१९२९ ई०), युवाकालीन संस्मृतियों के आधार पर प्रणीत 'धुँधले चित्र' नामक कविता संकलन (१९३० ई०), 'कल्पना' नामक कविता-संकलन (१९३५ ई०), 'कला का विवेचन' (सम्पादन—१९२६ ई०), 'आरती के दीप', (१९४० ई०), 'विचारधारा' (निबन्ध-संग्रह—१९४१ ई०), तथा प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य 'आर्यावर्त' (१९४६ ई०) प्रकाशित हुए। 'आर्यावर्त' एक ऐतिहासिक महाकाव्य कहा गया है। प्रथम सर्ग में पूर्व-पीठिका रूप में औदास्यपूर्ण सान्ध्य-वर्णन के साथ देवी मण्डप में महाकवि चन्द और राणा समरसी प्रस्तुत हुए हैं। क्लान्तमना कवि महाराज पृथ्वीराज की खोज में युद्ध-स्थल पर जाता है। द्वितीय सर्ग में जयचन्द गोरी के दरबार में जाते हैं। पृथ्वीराज उन्हें फटकारते हैं। युद्ध होता है और बन्दी पृथ्वीराज की आँखें भारत-भाग्य के साथ ही फोड़ दी जाती हैं। तीसरे खण्ड में चन्द फिर देवी-मण्डप में आते हैं, समरसी मृत मिलते हैं। चन्द उनकी चिता सजाते हैं। चौथे सर्ग में, सभा में वृद्ध चारण दुःस्वप्न का वर्णन करता है। जयचन्द विषण्ण-भाव से रात भर उपवन में घूमते हैं। अन्त में निश्चय करते हैं कि "धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का।" पाँचवें-छठवें सर्ग में कवि चन्द 'रासो' की पूर्ति का भार पुत्र जल्ह को सौंपकर नाश-लीला में संलग्न होते हैं। कवि रानी देवी-मण्डप मे महारानी को शोक-समाचार सुनाती हैं। हताश जनता स्वतन्त्रता की चिन्ता से विदग्ध होती है। भारतेश्वरी संयोगिता के आर्य-ध्वजक के नीचे देश-देश के राजा एकत्र हुए। जयचन्द ने भी पश्चात्तापग्रस्त हो देश की बेड़ियाँ काटने की प्रतिज्ञा की। गोरी ने भी महारानी के पराक्रम की प्रशंसा की। भयानक युद्ध हुआ। गोरी से डटकर लड़ते हुए जयचन्द बाण-विद्ध हुए। आर्य सेना ने गोरी की सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। दशम् सर्ग मे छावनी के सामने उल्काओं के प्रकाश में आत्मग्लानिपूर्ण जयचन्द दिवगत हुए। गोरी भगा, पर पृथ्वीराज न मिले। चन्दने देवी-ध्यान से ढूँढ़ने का पथ प्राप्त किया। चन्द फकीर बनकर गोरी के यहाँ गये। वहीं सुलतान से पूजित हो वे कारागार में पृथ्वीराज से मिले। वहीं शब्द-वेधी बाण द्वारा तवा तोड़ने की व्यवस्था हुई तथा अन्तिम तेरहवें सर्ग में पृथ्वीराज ने गोरी का वध किया। चन्द और पृथ्वीराज दोनों आपस में कट मरे। महारानी और कविरानी ने अपने पतियों के प्रसन्न वदन भारत माता की गोद में देखे तथा जल्ह ने 'रासो' की अन्तिम पंक्ति समाप्त की। सारा प्रबन्ध तत्सम शब्दप्रधान, प्रवाहपूर्ण भाषा तथा अतुकान्त आन्तरिक लययुक्त छन्द में प्रभाव-रसपूर्ण शैली सहित कौशल के साथ लिखा गया है। जयचन्द की मृत्यु का दृश्य बड़ा प्रभावपूर्ण है। 'वियोगी'जी को वातावरण चित्रण की सशक्त भाषा-शैली प्राप्त है। काव्य 'पृथ्वी सूक्त' और 'साम गान' की गुंजार से अनुरंजित है। देशभक्ति और आर्य-गौरव के भाव पूर्णरूप से उभरे हैं। पुस्तक का प्रारम्भ जनवरी, १९४२ ई० में हुआ और १५-१६ मास के भीतर धारावाहिक रूप में सावेश लिखकर समाप्त की गयी। इसके अलावा 'सलिला' (कहानी-संग्रह), 'आरपार', 'शेषदान', 'आदमखोर' (उपन्यास), 'रजकण' (कहानी), 'धोखा', 'तथास्तु' (नाटक), 'उसपार' (आत्मकथा), 'साहित्य-समन्वय', (निबन्ध) तथा 'सात सुमन' (संस्मरण) नामक पुस्तकों के भी नामोल्लेख हुए हैं। एक अन्य महाकाव्य और ऋग्वेद पर एक विशाल ग्रन्थ लिखने में संलग्न होने की सूचना मिली है। इन्होंने गीतों से भी मधुर सवैये लिखे हैं।

'वियोगीजी' का छायावादी-रहस्यवादी काव्य के उत्थान में एक विशिष्ट योग है। अजटिल भावों, सहज कल्पनाओं और आन्तरिक उन्मेषों से पूर्ण उनकी रचनाएँ एवं प्रेम-विषयक गीत भावमय एवं हृदयस्पर्शी रहे हैं। भाषा सुपरिष्कृत एवं सुसंगठित होती है। वे 'कला, कला के लिए' के अनुयायी शुद्ध कला-साधक हैं। आत्मनिष्ठ भाव गीतों के अतिरिक्त दलितों के प्रति सहानुभूति एवं देश के प्रति गौरव के भाव भी उनके अनुभूति-कोष के समुज्ज्वल रत्न हैं। स्फुट कविता एवं प्रबन्ध लेखन में उन्हें समान अभ्यास है। गोरी के चरित्र-चित्रण में साम्प्रदायिकता लेशमात्र नहीं है। सारा 'आर्यावर्त' क्षुद्र जातिवाद और संकीर्ण साम्प्रदायिकता से परे शुद्ध राष्ट्रीयता का पवित्र प्रवाह है। कवि ने अनार्यों के प्रति डी० एल० राय आदि की भाँति द्वेष या घृणा के भाव व्यक्त नहीं किये हैं। मानव एवं बाह्य, दोनों ही प्रकृतियों के चित्रण में 'वियोगी'जी सफल हैं। उनकी रचनाओं में आवेश का ज्वार लहराता दिखाई पड़ता है। स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति दोनों अलंकार शैलियों में 'वियोगी'जी सिद्धहस्त हैं। पृथ्वीराज का चित्रण उनकी लेखनी

का अमृत पुष्प है। 'लो' (तक) जैसे ब्रजभाषा के विभक्ति चिह्न भी कहीं-कहीं माधुर्य-प्रवाह की अक्षुण्णता के लिए आ गये है पर इनकी भाषा सर्वत्र रसानुकूल एवं स्रोतस्विनी है। ये गीतकार से अच्छे प्रबन्धकार हैं।

—श्री० सिं० क्षे०

मोहनलाल मिश्र—इतिहास- ग्रन्थों मे इनका केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि इन्होंने नन्ददास के बाद और कृपाराम के पूर्व सन् १५८९ ई० में 'श्रृंगारसागर' नामक रस तथा नायिकाभेद निरूपक किसी ग्रन्थ की रचना की थी। यह रचना अब उपलब्ध हो चुकी है। डा० भाल चन्द्र राव द्वारा सम्पादित होकर शीघ्र प्रकाशित होने वाली है। रामचन्द्र शुक्ल ने इनको चरखारी का कहा है।

—आ० प्र० दी०

मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या—जन्म १९०७ वि० में हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ हिन्दी की उन्नति में योग देने वालों में इनका नाम उल्लेखनीय है। ये आधुनिक प्रकार की हिन्दी समीक्षा के आरम्भिक लेखकों में आते हैं। इन्होंने कुछ दिनों तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा निकाली गयी 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' को 'मोहनचन्द्रिका' के नाम से सम्पादित किया था। वस्तुतः ये 'पृथ्वीराज रासो' के संरक्षक और उसे असली सिद्ध करने वाले इतिहास-विद् के रूप में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने 'रासो-संरक्षा' नामक एक पुस्तक लिखकर उसे जाली ग्रन्थ बतानेवाले विद्वानों का खण्डन किया था। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में इनके आशय के कुछ पाण्डित्यपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे। बाद में ये काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'पृथ्वीराज रासो' के सम्पादन कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति समझे गये। इनके सहकारी सम्पादकों में (बाबू) श्यामसुन्दरदास और कृष्णदास भी थे। यह कार्य उक्त सभा द्वारा बाइस खण्डो में प्रकाशित है। 'रासो' का ऐतिहासिक अध्ययन और उसका सम्पादन इनकी कीर्ति को बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। आपकी मृत्यु ४ दिसम्बर, १९१२ ई० को मथुरा में हुई।

—रा० भ्रा०

मोहनसिंह सेंगर—जन्म जोधपुर में १२ सितम्बर, १९१४ ई०। 'भग्नदूत', 'राजनीति का एक विद्यार्थी' आदि के नामों से आप हिन्दी पत्रकारिता में आये। 'विशाल भारत' के सम्पादन के साथ-साथ आपने कहानी और निबन्ध भी लिखे हैं। आपकी लगभग ८ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आजकल आकाशवाणी में सहायक निर्देशक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

सम्पादक के रूप में मोहनसिंह सेंगर पत्रकारिता के उस काल में आये, जब छायावाद का आन्दोलन स्थिर हो चुका था, राष्ट्रीय स्तर पर हमारा आन्दोलन दृढ़ता प्राप्त कर चुका था, दिशाएँ और स्थितियाँ स्पष्ट थीं। इसलिए सेंगर के सम्पादनकाल में और उनकी शैली में हमें ओज की अपेक्षा विवेचन अधिक मिलता है। चाहे वह 'विशाल भारत' की टिप्पणी हो या आपके निबन्ध, दोनों में हमें समान रूप से यही दीखता है।

कहानीकार के रूप में सेंगर के पूर्व जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल की शैलियाँ स्थापित हो चुकी थीं। इन लोगों ने प्रेमचन्द की शैली और उनकी समस्याओं एवं दृष्टि से पृथक् मानवीय स्तर पर मानव-कुण्ठाओं, वेदनाओं और भाव-स्थितियों को देखना शुरू किया था। सेंगर ऐसी स्थिति में कहानी के क्षेत्र में अपनी कोई निश्चित शैली का प्रतिपादन नहीं कर पाये। यथार्थ को आभास रूप में और रोमाण्टिक प्रवृत्ति को अधिक निकट से ग्रहण करके सेंगर के शिल्प में कुछ नया और कुछ पुराना मिल-जुलकर प्रस्तुत हुआ है।

सेंगर के निबन्धों मे आत्मपरक शैली अधिक व्यक्त हुई है। 'भग्नदूत' और 'राजनीति के विद्यार्थी' के उपनामों से आपने जो वैयक्तिक अथवा सास्कृतिक निबन्ध लिखे हैं, उनमें विस्तृत क्षेत्र अधिक है, गहराई अपेक्षाकृत कम।

भाषा की दृष्टि से सेंगर अधिक आधुनिक हैं। राजनीतिक निबन्धों में तो खुले रूप में सहज और बोधगम्य शब्दों का चयन आपकी निजी विशेषता है। इसलिए सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्धों में भी उस प्रकार का आभिजात्य तो है किन्तु मौलिकता नहीं है।

सेंगर की शैली में आधुनिकता का पुट हमें स्पष्ट दीख पड़ता है। विषय, तथ्य और कथ्यकेपारस्परिक सम्बन्धों में सेंगर में तटस्थता का परिचय हमें मिलता है किन्तु मात्र इतना ही अपेक्षित नहीं था।

कृतियाँ—कहानी संग्रह : 'चिता की चिनगारियाँ' (१९३७ ई०), 'खून के धब्बे' (१९४२ ई०), 'नये युग की नारी' (१९४७ ई०), 'नर्क का न्याय' (१९५२ ई०), 'मुर्दे की मौत' (१९५४ ई०), 'डूबता सूरज' (१९५७ ई०)। निबन्ध संग्रह : 'जीवन का सत्य' (१९४७ ई०)।

—ल० कां० व०

यक्ष—एक अर्द्धदैविक योनि। विश्वा और कश्यप की सन्तान और रुद्र के अनुचर। इनके अधिपति कुबेर हैं। इनका वर्णन महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनूदित 'कुमार सम्भव' के प्रथम सर्ग में मिलता है।

—मो० अ०

यक्षेश्वर—कुबेर। युद्ध में शिव के अनुगामी, जिन्होने वामदेव शिव की सोम के विरुद्ध युद्ध में सहायता की।

—मो० अ०

यज्ञ पुरुष—समष्टि रूप से स्थूल जगत् की प्रतिकृति ही यज्ञ-पुरुष के रूप में ऋग्वेद के ऋषियों ने कल्पित की थी। चन्द्रमा उसका मन था, सूर्य आँख, वायु कर्ण और प्राण तथा अग्नि मुख था। इस प्रकार वैदिक यज्ञ-पुरुष यज्ञदेव के प्रतीक थे और यज्ञ-फल में उनका प्रमुख भाग था। यज्ञ-पुरुष अपनी महत्ता के कारण आगे चलकर एक स्वतन्त्र दैवी सत्ता के सूचक बन गये तथा भागवत पुराण में इनका अवतार-रूप में वर्णन किया गया। सूरदास ने इसी के आधार पर 'सूरसागर' में पद संख्या ३९८-४०० में उनका वर्णन किया है।

—यो० प्र० सिं०

यदु—ययाति और देवयानी के ज्येष्ठ पुत्र, यादव-वंश के संस्थापक। सहस्त्रजीत तथा अन्य पुत्रों के पिता। इन्हीं के कुल में आगे चलकर भगवान श्रीकृष्ण हुए। यदु ने अपने पिता को यौवन-दान करने से इनकार कर दिया, जिससे उन्हें शापभागी बनना पड़ा था।

—मो० अ०

यदुवंश—अनेक कुटुम्बों का, जिसमें लगभग १०१ मान्य हैं,

समष्टिगत एक नाम। इसके राजा उग्रसेन थे। कंस से पीड़ित ये लोग कुरु, पांचाल आदि प्रदेशों को चले गये। इनके पुरोहित गर्ग ऋषि थे।

—मो० अ०

यम—मृत्यु के देवता माने गये हैं। ये दक्षिण दिशा के दिग्पाल हैं। ये सूर्य के पुत्र हैं तथा इनका वाहन महिष है।

—रा० कु०

यमलार्जुन—दे० जमलार्जुन।

यमुना—हिमालय से प्रवाहित एक पवित्र नदी। यह सूर्य की पुत्री, यम की बहन कही गयी है। एक बार द्वारिका से मथुरा लौटकर बलराम ने उसे जलक्रीड़ार्थ आमन्त्रित किया था किन्तु यमुना को कुछ देर हो गयी। क्रुद्ध बलराम ने अपने हल से कर्षणकर यमुना की धारा को वृन्दावन के बीच कर दिया। कहा जाता है, तभी से यमुना का मार्ग बदल गया है (दे० सूर० पद ४८१८-४८२३)।

—मो० अ०

ययाति—नहुष और विरजा के पुत्र। एक बार मृगया को जाते समय इन्हें कुएँ के भीतर से किसी बाला की चीख सुनाई पड़ी। वहाँ जाकर उन्होने नग्नावस्था में खड़ी उस बालिका को वस्त्र देकर ऊपर निकाला। यह शुक्र की पुत्री देवयानी थी, जो बाद में उनकी स्त्री हुई। देवयानी के साथ दासी रूप में शर्मिष्ठा भी ययाति के यहाँ गयी। शुक्र ने देवयानी के देते हुए ययाति से यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि वह शर्मिष्ठा से सहवास न करेंगे। एक दिन ययाति से वह प्रतिज्ञा टूट गयी। फलतः देवयानी वापस चली गयी। ययाति भी उसके पीछे-पीछे गये। अतः शुक्र ने उन्हें वृद्ध हो जाने का शाप दिया किन्तु यह कहा कि यदि कोई पुत्र उन्हें अपना यौवनदान कर देगा तो उतने दिनों के लिए वह फिर युवा हो जायेंगे। ययाति की याचना पर केवल पुरु ने ही अपना यौवन देना स्वीकार किया। कुछ काल यौवनानन्द लूटकर अन्त में ययाति पुरु को राज्य देकर भगवद्‌भजन हेतु वन को चले गये (दे० 'देवयानी', 'शर्मिष्ठा')।

—मो० अ०

यशपाल—यशपाल हिन्दी के यशस्वी कथाकार और निबन्ध लेखक हैं। उनका जन्म ३ दिसम्बर, सन् १९०३ ई० में फिरोजपुरी छावनी में हुआ था। उनके पूर्वज कांगड़ा जिले के निवासी थे और उनके पिता को विरासत के रूप में दो-चार सौ गज तथा एक कच्चे मकान के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त हुआ था। उनकी माँ ने उन्हें आर्य-समाज का तेजस्वी प्रचारक बनाने की दृष्टि से शिक्षार्थ गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया। गुरुकुल के राष्ट्रीय वातावरण में बालक यशपाल के मन में विदेशी शासन के प्रति विरोध की भावना भर गयी।

लाहौर के नेशनल कालेज में भर्ती हो जाने पर उनका परिचय भगतसिंह और सुखदेव से हो गया। वे भी क्रान्तिकारी आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए। सन् १९२१ ई० के बाद तो ये सशस्त्र क्रान्ति के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे। सन् १९२९ ई० में वाइसराय की गाड़ी के नीचे बम रखने के लिए घटनास्थल पर उनको भी जाना पड़ा बाद में कुछ गलतफहमी के कारण वे अपने दल की ही गोली के शिकार होते-होते बचे। चन्द्रशेखर आजाद के शहीद हो जाने पर वे हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र के कमाण्डर नियुक्त हुए। इसी समय दिल्ली और लाहौर में दिल्ली तथा लाहौर षड्यन्त्र के मुकदमें चलते रहे, यशपाल इन मुकदमों के प्रधान अभियुक्तों में थे। पर ये फरार थे और पुलिस के हाथ में आ नहीं पाये थे। १९३२ ई० में पुलिस से मुठभेड़ हो जाने पर, गोलियों का भरपूर आदान-प्रदान करने के अनन्तर, ये गिरफ्तार हो गये। उन्हें चौदह वर्ष की सख्त सजा हुई। सन् १९३८ ई० में उत्तर-प्रदेश में जब कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना तो अन्य राजनीतिक बन्दियों के साथ उनको भी मुक्त कर दिया गया।

जेल से मुक्त होने पर इन्होंने 'विप्लव' मासिक निकाला, जो थोड़े ही दिनों में काफी लोकप्रिय हो गया। १९४१ ई० में उनके गिरफ्तार हो जाने पर 'विप्लव' बन्द हो गया किन्तु अपनी विचारधारा के प्रचार में इन्होंने 'विप्लव' का खासा अच्छा उपयोग किया। विभिन्न जेलों में उन्हें पढ़ने-लिखने का जो अवकाश मिला था, उसमें उन्होंने देश-विदेश के बहुत से लेखकों का मनोयोगपूर्ण अध्ययन किया। 'पिंजरे की उड़ान' और 'वो दुनियाँ' की कहानियाँ प्रायः जेल में ही लिखी गयीं। १९७६ में आपकी मृत्यु हुई।

यों यशपाल में लिखने की प्रवृत्ति विद्यार्थी काल से ही थी, पर उनके क्रान्तिकारी जीवन ने उन्हें अनुभव सम्बद्ध किया, अनेकानेक संघर्षों से जूझने का बल दिया। राजनीतिक तथा साहित्यिक, दोनों क्षेत्रों में वे क्रान्तिकारी हैं, उनके लिए राजनीति तथा साहित्य दोनों साधन हैं और एक ही लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हैं। साहित्य के माध्यम से उन्होंने वैचारिक क्रान्ति की भूमिका तैयार करने का प्रयास किया है। विचारों से वे काफी दूर तक मार्क्सवादी हैं, पर कट्टरता से मुक्त होने के कारण इससे उनकी साहित्यिकता को प्रायः क्षति नहीं पहुँची हैं, उससे वे लाभान्वित ही हुए हैं।

यशपाल पहले-पहल कहानीकार के रूप में हिन्दी जगत् में आये। अबतक उनके लगभग सोलह कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। यशपाल मुख्यतः मध्यवर्गीय जीवन के कलाकार हैं और इस वर्ग से सम्बद्ध उनकी कहानियाँ बहुत ही मार्मिक बन पड़ी हैं। मध्यवर्ग की असंगतियों, कमजोरियों, विरोधाभासों, रूढ़ियों आदि पर इतना प्रबल कशाघात करने वाला कोई दूसरा कहानीकार नहीं है। दो विरोधी परिस्थितियों का वैषम्य प्रदर्शित कर व्यंग्य की सर्जना उनकी प्रमुख विशेषता है। यथार्थ जीवन की नवीन प्रसंगोद्‌भावना द्वारा वे अपनी कहानियों को और भी प्रभावशाली बना देते हैं।

मध्यवर्ग अपनी ही रूढ़ियों में जकड़ा हुआ कितना दयनीय हो जाता है, इसका अच्छा खासा उदाहरण 'चार आने' है। झूठी और कृत्रिम प्रतिष्ठा के बोझ को ढोते-ढोते यह वर्ग अपने दैन्य और विवशता में उजागर हो उठा है। 'गवाही' और 'सोमा का साहस' में समाज के गलीज, नकाब, और कृत्रिमता की तस्वीरें खींची गयीं हैं। इस वर्ग के वैषम्य में निम्न वर्ग को रखकर उसके अहंकार और अमानवीय व्यवहार को बहुत ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करने मे यशपाल खूब कुशल हैं। 'एक राज' मे मालकिन और नौकर की मनोवृत्तियों की विषमताओं को इस तरह उभारा गया है कि पाठक नौकर की सहानुभूति मे तिलमिला उठता है। 'गुडबाई दर्द दिल' में रिक्शेवाले के प्रति की गयी अमानुषिकता पाठकों के मन में गहरी कचोट पैदा

करती है। इस प्रकार की विषमता को अंकित करने के लिए यशपाल ने प्रायः उच्च मध्यवर्गीय व्यक्तियों को सामने रखा है, क्योंकि सामान्य मध्यवर्गीय व्यक्ति तो अपनी उलझनों से ही खाली नहीं हो पाता।

यशपाल के व्यंग्य का तीखा रूप '८०/१००', 'ज्ञानदान' आदि में देखा जा सकता है। सामान्यतः कहा जाता है कि उन्होंने अपनी कथा के लिए रोटी और सेक्स की समस्याएँ चुनी हैं। यशपाल की कहानियों में कोई न कोई जीवन्त समस्या है, पर वे पूर्णतः कलात्मक आवरण मे व्यक्त हुई हैं। जहाँ उनकी समस्या को कलात्मक आच्छादन नहीं मिल सका, वहाँ कहानी का कहानीपन सन्दिग्ध हो गया है।

उपन्यासों में यशपाल का दृष्टिकोण और भी अधिक अच्छी तरह उभर सका है। उनका पहला उपन्यास 'दादा कामरेड' क्रांतिकारी जीवन का चित्रण करते हुए मजदूरोंके संघटन को राष्ट्रोद्धार का अधिक मंगल उपाय बतलाता है। 'देश द्रोही' कला की द्रष्टि से 'दादा कामरेड' से कई कदम आगे है। इस उपन्यास में गान्धीवाद तथा कांग्रेस की तीव्र आलोचना करते हुए लेखक ने समाजवादी व्यवस्था का आग्रह किया है। 'दिव्या' यशपाल के श्रेष्ठ उपन्यासों में एक है। इस उपन्यास में युग-युग की उस दलित-पीड़ित नारी की करुण कथा है, जो अनेकानेक संघर्षों से गुजरती हुई अपना स्वस्थ मार्ग पहचान लेती है। 'मनुष्य के रूप' में परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से मनुष्य के बदलते हुए रूपों को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है। 'अमिता' उपन्यास 'दिव्या' की भाँति ऐतिहासिक है।

अभी हाल में यशपाल का अत्यन्त विशिष्ट उपन्यास 'झूठा—सच' प्रकाशित हुआ है। विभाजन के समय देश में जो भीषण रक्तपात और अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसके व्यापक फलक पर झूठ—सच का प्रभविष्णु तथा रंगीन चित्र खींचा गया है। इसके दो भाग हैं-वतन और देश तथा देश का भविष्य। प्रथम भाग में विभाजन के फलस्वरूप लोगों के वतन छूटने और द्वितीय भाग में बहुत सी समस्याओं के समाधान का चित्रण हुआ है। देश के समसामयिक वातावरण को यथासम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में रखा गया है। विविध समस्याओं के साथ-साथ इस उपन्यास में जिन नये नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी है, वे रूढ़िग्रस्त विचारों को प्रबल झटका देते हैं।

एक सफल कथाकार होने के साथ-साथ यशपाल अच्छे व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धकार भी हैं। वे अपने दृष्टिकोण के आधार पर सड़ी-गली रूढ़ियों, ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों पर जमकर प्रहार करते हैं। उन्होंने सरस तथा व्यंग्य-विनोद गर्भ संस्मरण और रेखाचित्र भी लिखे हैं। 'न्याय का संघर्ष', 'देखा, सोचा, समझा', 'सिंहावलोकन' (तीन भाग) आदि में उनके निबन्ध, संस्मरण और रेखाचित्र संगृहीत हैं।

यशपाल हिन्दी के अतिशय शक्तिशाली तथा प्राणवान् कलाकार हैं। अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए ही उन्होंने साहित्य का माध्यम अपनाया है पर उनका साहित्य-शिल्प इतना जोरदार है कि विचारों की अभिव्यक्ति में उनकी साहत्यिकता कहीं पर भी क्षीण नहीं हो पायी है। आप की साहित्य सेवा तथा प्रतिभा से प्रभावित होकर रीवाँ सरकार ने 'देव पुरस्कार' (१९५५), सोवियत लैंड सूचना विभाग ने 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' (१९७०),—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' (१९७१) तथा भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान कर आप को सम्मानित किया है।

कृतियाँ : कहानी संग्रह-'ज्ञानदान' (१९४४ ई०), 'अभिशप्त' (१९४४ ई०), 'तर्क का तूफान' (१९४३ ई०), 'भस्मावृत चिनगारी' (१९४६ ई०), 'वो दुनिया (१९४१ ई०) , 'फूलों का कुर्त्ता' (१९४९ ई०), 'धर्मयुद्ध' (१९५० ई०), 'उत्तराधिकारी' (१९५१ ई०), 'चित्र का शीर्षक' (१९५२ ई०)। उपन्यास -'दादा कामरेड' (१९४१ ई०), 'देशद्रोही' (१९४३ ई०), 'पार्टी कामरेड' (१९४७ ई०), 'दिव्या' (१९४५ ई०), 'मनुष्य के रूप' (१९४९ ई०), 'अमिता' (१९५६ ई०), 'झूठा-सच' (१९५८-१९५९ ई०)। निबन्ध आदि-'न्याय का संघर्ष' (१९४० ई०), 'चक्कर क्लब (१९४२ ई०), 'बात—बात में बात' (१९५० ई०), 'देखा, सोचा, समझा' (१९५१ ई०), 'सिंहावलोकन' संस्मरण-(तीन भाग : पहला भाग सन् १९५१, दूसरा भाग सन् १९५२, तीसरा भाग सन् १९५५ ई०) 'गान्धीवाद की शव—परीक्षा' (१९४१ ई०)।

-ब० सिं०

यशवंत सिंह—दे० 'जसवन्तसिंह द्वितीय'।

यशोदा—नन्द की भाँति यशोदा का नाम भी कृष्ण-कथा के प्राचीन सन्दर्भों में अपेक्षाकृत बाद में सम्मिलित हुआ जान पड़ता है (दे० 'नन्द')। 'बौद्ध घत जातक' में कृष्ण को पालने वाली कंस की दासी का नाम नन्द गोपा बताया गया है। पुराणों में वर्णित कृष्ण की बाल-लीला में अवश्य यशोदा बराबर कृष्ण की वात्सल्यमयी माता के रूप में चित्रित हुई हैं। इस सम्बन्ध में भागवत पुराण में ही सबसे अधिक विस्तार पाया जाता है। भागवत से सूत्र लेकर सूरदास ने यशोदा के वात्सल्य का विशद् चित्रण किया है। मन, वचन और कर्म से यशोदा का बाह्याभ्यन्तर उनके स्नेहशील, सरल मातृत्व की सूचना देता है। वह इतनी सरल थीं कि सब पर विश्वास करती थीं। पूतना के कपटाचरण पर भी उन्हें आशंका नहीं हुई। उनके वात्सल्य की तीव्रता और अखण्डता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि न तो कृष्ण के द्वारा किये गये विस्मयजनक अलौकिक कृत्यों से प्रभावित होकर वे उनके प्रति दैन्यपूर्ण भक्ति भाव प्रकट करती हैं और न कृष्ण के गोपियों के प्रति किशोरसुलभ प्रेमाचरण के प्रमाण और उपालम्भ पाकर अपने भाव में परिवर्तन आने देती हैं। कृष्ण पर बड़े से बड़े संकट आते हैं, जिनका वे विस्मय जनक ढंग से क्षणमात्र में निवारण कर देते हैं। कभी-कभी यशोदा इसे देखकर चकित अवश्य हो जाती हैं परन्तु अन्त में उनका मातृ—हृदय कृष्ण के कुशल-क्षेम के लिए चिंतित, आशंकित और अधीर होता हुआ ही चित्रित किया गया है। सूरदास ने यशोदा के स्वभाव में चतुरता और विनोदप्रियता का भी सन्निवेश किया है। कभी—कभी वे श्याम और बलराम को यह कहकर चिढ़ाती हैं कि मैंने तुम्हें गायें चराने के लिए मोल लिया है, इसीलिए मैं रात दिन तुमसे टहल कराती रहती हूँ। गोपियों के उपालम्भ सुनकर यशोदा अत्यन्त क्रुद्ध होती हैं और क्रोध के वशीभूत होकर कृष्ण को बाँध देती हैं परन्तु अन्त में उन्हें अपने इस क्रूर कृत्य पर पछताना पड़ता है। राधा के प्रति

उनका ममतापूर्ण स्नेहभाव है। पहली भेंट मे ही वे राधा को कृष्ण की भावी पत्नी के रूप मे कल्पित करके मन ही मन प्रसन्न होती हैं और इसे कृष्ण के साथ खेलने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। सूरदास ने यशोदा के मातृ—व्यक्तित्व के चित्रण में अनेकानेक भावों का आश्रय लिया है और उन समस्त भावों के द्वारा वात्सल्य की व्यंजना की है। इस भाव चित्रण में सबसे अधिक मर्मस्पर्शी चित्र विरहावस्था के हैं। अक्रूर के साथ जिस समय कृष्ण-बलराम मथुरा जाने लगते हैं, उस समय यशोदा अत्यन्त दीन होकर अक्रूर से जो विनय करती हैं, उससे प्रकट होता है कि उनके व्यक्तित्व में ब्रज के प्रमुख की पत्नी होने के नाते जो भी गौरव गरिमा थी, वह एकमात्र कृष्ण पर ही आश्रित थी। विदा के समय यशोदा का स्नेहविह्वल हृदय अत्यन्त कातर हो जाता है और वे सभी से प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण को रोकने का कोई उपाय किया जाय। इसके बाद यशोदा का वात्सल्य दैन्य, आत्मग्लानि, पश्चात्ताप और आत्मत्यागपूर्णमंगल कामनाओं के रूप में ही प्रकट हुआ है। उनके व्यक्तित्व में वात्सल्य के अतिरिक्त कोई अन्य भाव नही है। इसका प्रबल प्रमाण उस समय मिलता है, जब नन्दके मथुरा से लौटने पर वे उन्हे अत्यन्त कठोर शब्दों में धिक्कारती हैं और कहती हैं कि तुम श्याम को छोड़कर जीवित कैसे लौटे, दशरथ की भाँति वहीं प्राण क्यों नहीं गँवा दिये। कृष्ण के वियोग में यशोदा की दीनता की पराकाष्ठा उस समय दिखाई देती है, जब वे पन्थी के द्वारा देवकी के पास अपना करूण सन्देश भेजती हैं और इच्छा प्रकट करती हैं कि कृष्ण की धाय के रूप में ही उनका स्थान सुरक्षित माना जाय। वियोग में यशोदा का पुत्र—प्रेम प्रेम की उस उत्कृष्ट स्थिति का आदर्श उपस्थित करता है, जिसमें प्रेम पात्र के कुशल क्षेम के अतिरिक्त और कोई आकांक्षा नहीं रह जाती।

सूरदास के बाद कृष्ण—काव्य में वात्सल्य का चित्रण प्रायः नहीं हुआ। इसलिए यशोदाका नामोल्लेख भी यत्र—तत्र माधुर्य—भक्ति और श्रृंगार रस के प्रसंगों में ही आया है। इस नामोल्लेख में सूर द्वारा चित्रित यशोदा के चरित्र का ही संकेत मिलता है। आधुनिककाल के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा अन्य ब्रजभाषा के कवियों ने भी यशोदा का कहीं—कहीं संकेत मात्र किया है। 'रत्नाकर' के 'उद्धव—शतक' की यशोदा उद्धव के हाथ कृष्ण के लिए नवनीत भेजकर अपना वात्सल्य प्रकट करती चित्रित हुई हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में एक सम्पूर्ण सर्ग यशोदा के मातृ—सुलभ कृष्ण—प्रेम के चित्रण के लिए लिखा गया है। प्रियप्रवास' की यशोदा के चरित्र की मौलिक विशेषता यह है कि वे अपने पुत्र के प्रवास पर शोकाकुल होते हुए भी उत्साह प्रकट करती हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि उनका पुत्र बाहर जाकर लोक—रक्षा और समाज—सेवा के कार्य करेगा। मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में यशोदा का चरित्र चित्रण बहुत कुछ सूर द्वारा वर्णित यशोदा के आधार पर ही किया है। वस्तुतः यशोदा के चरित्र—चित्रण में सूर के बाद किसी कवि ने उल्लेखनीय मौलिकता का परिचय नहीं दिया।

[सहायक ग्रन्थ—सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद् विश्व विद्यालय, इलाहाबाद।] -ब्र० व०

यशोदानंदन—'शिवसिंह सरोज' में लिखित इनके उपस्थिति काल १८२६ ई० (सं० १८८२) के अतिरिक्त और कोई परिचय नहीं मिलता। शुक्लजी ने इसे इनका जन्मकाल मान लिया है। रहीम के समान इनकी भी एक छोटी सी 'बरवै—नायिका—भेद' (सन् १८१५ ई०) नामक रचना बतायी जाती है, जिसे शुक्ल जी ने रहीम की रचना से अच्छी नहीं तो उसके टक्कर की तो माना ही है। इसमें ९ बरवै संस्कृत में तथा ५३ ठेठ अवधी में हैं, जिससे इनके संस्कृत—ज्ञान तथा ठेठ—भाषा में सुन्दर, सरस और कोमल पद विन्यास के साथ रचना करने का सामर्थ्य और इनकी मौलिकता का भी परिचय मिलता है। स्वाभाविकता तथा भावुकता मे यह रचना उच्चकोटि की रचनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ठेठ—भाषा को साहित्यिक रूप मे ढालने का सुन्दर प्रयत्न है। यथास्थान केवल प्रचलित फारसी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

[सहायक ग्रन्थ-शि० सि० स०; हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

-आ० प्र० दी०

यशोदानंदन अखौरी—(रचनाकाल—१९०४ ई०)। अखौरीजी यदा—कदालिखने वाले लेखकों में थे। आप पटना निवासी थे। आपने 'पाटलिपुत्र' तथा 'भारतमित्र' के सम्पादकीय विभाग में कार्य किया था। ये द्विवेदी युग के निबन्धलेखक थे तथा श्री कृष्णलाल ने 'इत्यादिकी आत्म कहानी' नामक इनके एक निबन्ध की चर्चा की है ('आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० ३४)। यह निबन्ध १९०४ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। जस्टिस शारदाचरण मित्र द्वारा प्रकाशित 'देवनगर' (१९०७ ई०) का संपादन किया।

-दे० शं० अ०

यशोधरा १—इसका प्रकाशन सन् १९३३ ई० में हुआ। अपने छोटेभाई सियारामशरण गुप्त के अनुरोध पर मैथिलीशरण गुप्त ने यह पुस्तक लिखी थी। 'यशोधरा' का उद्देश्य है पति—परित्यक्ता यशोधरा के हार्दिक दुःख की व्यंजना तथा वैष्णव सिद्धान्तों की स्थापना। अमिताभ की आभा से चकित भक्तों को अदृश्य यशोधरा की पीड़ा का, मानवीय सम्बन्धों के अमर गायक, मानव—सुलभ सहानुभूति के प्रतिष्ठापक मैथिलीशरण की अन्तःप्रवेशिनी दृष्टिने ही सर्वप्रथम साक्षात्कार किया। साथ ही 'यशोधरा' के माध्यम से सन्यास पर गृहस्थ प्रधान वैष्णव धर्म की गौरवप्रतिष्ठा की है। प्रस्तुत काव्य का कथारंभ गौतम के वैराग्य चिन्तन से होता है। जरा, रोग, मृत्यु आदि के दृश्यों से वे भयभीत हो उठते हैं। अमृत तत्व की खोज के लिए गौतम पत्नी और पुत्र को सोते हुए छोड़कर 'महाभिनिष्क्रमण' करते हैं। यशोधरा का निरवधि विरह अत्यन्त कारुणिक है। विरह की दारुणता से भी अधिक उसको खलता है प्रिय का "चोरी-चोरी जाना"। इस अपमानित और कष्टपूर्ण जीवन की अपेक्षा यशोधरा मरण को श्रेष्ठतर समझती है परन्तु उसे मरण का भी अधिकार नहीं है, क्योंकि उस पर राहुल के पालन—पोषण का दायित्व है। फलतः "आँचल में दूध" और "आँखों में पानी" लिए वह जीवनयापन करती है। सिद्धि प्राप्त होने पर बुद्ध लौटते हैं, सब लोग उनका स्वागत करते हैं परन्तु मानिनी यशोधरा अपने

कक्ष में ही रहती हैं। अन्ततः स्वय भगवान् उसके द्वार पहुँचते हैं और भीख माँगते हैं। यशोधरा उन्हें अपनी अमूल्य निधि राहुल को दे देती है तथा स्वयं भी उनका अनुसरण करती है। इस कथा का पूर्वार्द्ध चिरविश्रुत एव इतिहास प्रसिद्ध है पर उत्तरार्द्ध कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है।

यशोधरा का विरह अत्यन्त दारुण है और सिद्धि मार्ग की बाधा समझी जाने के कारण तो उसके आत्म गौरव को बडी ठेस लगती है। परन्तु वह नारीत्व को किसी भी अंश में हीन मानने को प्रस्तुत नही है। वह भारतीय पत्नी है, उसका अर्धांगी—भाव सर्वत्र मुखर है-"उसमें मेरा भी कुछ होगा जो कुछ तुम पाओगे।" सब मिलाकर यशोधरा आदर्श पत्नी, श्रेष्ठ माता और आत्मगौरवसम्पन्न नारी है। परन्तु गुप्त जी ने यथासम्भव गौतमके परम्परागत उदात्त चरित्रकी रक्षा की है। यद्यपि कवि ने उनके विश्वासों एवं सिद्धान्तों को अमान्य ठहराया है तथापि उनके चिरप्रसिद्ध रूपकी रक्षा के लिए अन्त में यशोधरा और राहुल को उनका अनुगामी बना दिया है। प्रस्तुत काव्य में वस्तु के संघटन और विकास में राहुल का सर्वाधिक महत्व है। यदि राहुल सा लाल गोद में न होता तो कदाचित् यशोधरा मरण का ही वरण कर लेती और तब इस 'यशोधरा'का प्रणयन ही क्यों होता। 'यशोधरा' काव्य में राहुल का मनोविकास अंकित है। उसकी बालसुलभ चेष्टाओं में अद्भुत आकर्षण है। समय के साथ—साथ उसकी बुद्धि का विकास भी होता है, जो उसकी उक्तियों से स्पष्ट है। परन्तु यह सब एकदम स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं तो राहुल प्रौढ़ो के समान तर्क, युक्तिपूर्वक वार्तालाप करता है, जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न बालक के प्रसंग मे भी निश्चय ही अतिरंजना है।

'यशोधरा' का प्रमुख रस श्रृंगार है-श्रृंगार में भी केवल विप्रलम्भ। संयोग का तो एकान्ताभाव है। श्रृंगार के अतिरिक्त इसमें करुण, शान्त एवं वात्सल्य भी यथास्थान उपलब्ध हैं। प्रस्तुत काव्य में छायावादी शिल्प का आभास है। उक्ति को अद्भुत कौशल से चमत्कृत एवं सप्रभाव बनाया गया है। यशोधरा की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है-प्रौढ़ता, कान्तिमयता और गीतिकाव्य के उपयुक्त मृदुलता और मसृणता उसके विशेष गुण हैं, इस प्रकार यशोधरा एक उत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है। केवल शिल्प की दृष्टि से तो वह 'साकेत' से भी सुन्दर है। काव्य—रूप की दृष्टि से भी 'यशोधरा' गुप्त जी के प्रबन्ध—कौशल का परिचायक है। यह प्रबन्ध—काव्य है—लेकिन समाख्यानात्मक नहीं। चरित्रोद्घाटन पर कविकी दृष्टि केन्द्रित रहने के कारण यह नाटच—प्रबन्ध है, और एक भावनामयी नारी का चरित्रोद्घाटन होने से इसमें प्रगीतात्मकता का प्राधान्य है। अतः 'यशोधरा' को प्रगीतात्मक नाटच प्रबन्ध कहना चाहिए, जो एक सर्वथा परम्परामुक्त काव्य रूप है।

-उ० का० गो०

यशोधरा २—भगवती चरण वर्माकृत उपन्यास 'चित्रलेखा' में विरागी सामन्त मृत्युंजय की कन्या यशोधरा चित्रलेखा को भी चमत्कृत कर सकी थी। यों चित्रलेखा के सौन्दर्य में उन्माद था और यशोधरा का सौन्दर्य शान्ति का प्रतीक था। "उसके पास बैठकर मनुष्य पवित्रता को देख सकता था, पवित्रता का अनुभव कर सकता था और पवित्र हो सकता था।" "उसकी अभेद्य गम्भीरता मे जीवनकी एक मौन पहेली छिपी थी।" उसकी सरलता में भी एक गम्भीरता थी। श्वेताक के उतावलेपन पर उसने उसे अनेक बार अत्यन्त कोमलता से संयत करने का प्रयास किया था। उसने श्वेतांक से कहा था, "मनुष्य का कर्त्तव्य है, दूसरे की कमजोरियों पर सहानुभूति प्रकट करना।" तथा उसके अनुसार "मनुष्य वही श्रेष्ठ है, जो अपनी कमजोरियोंको जानकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न कर सके।"

प्रणय की कोई गहरी पिपासा या आकुलता हमें यशोधरा में प्राप्त नहीं होती। पिता के प्रस्ताव के अनुसार ही वह पहले बीजगुप्त से विवाह करना चाहती है पर बीजगुप्त के अस्वीकार करने पर वह व्यथित भी नहीं होती। श्वेताक के प्रेम—प्रस्ताव पर उसे तनिक आश्चर्य अवश्य होता है पर उसका प्रत्याख्यान वह नहीं करती। सरलता एवं सहजता के साथ वह जीवन बिताने में विश्वास करती है। बीजगुप्त की प्रकृति की अपूर्णतावाली बातें या अन्य विचार उसे चकित करते हैं, वह उसके प्रति श्रद्धा का अनुभव अपने मन मे करने लगती है पर वह श्रद्धा प्रणयधर्मा नहीं है। अन्त में उसका विवाह सामन्त श्वेतांक के साथ हो जता है। सब मिलाकर उसका उपयोग उपन्यास में बीजगुप्त का मनोद्वन्द्व उभारने भर को ही हुआ है। इससे अधिक उसकी उपयोगिता नहीं है।

-दे० शं० अ०

याकूब खाँ—इनके विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। इनका लिखा हुआ 'रामभूषण' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसकी हस्तलिखित प्रति दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित है। मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल १७१८ ई० माना है। इस ग्रन्थ में रस अर्थात् नायिका—भेद और अलंकार का विषय एक साथ चलता है-" अलंकार संयुक्त कहौं नायिका भेद पुनि। बरनों क्रम निजु उक्ति लक्षन और उदाहरनि।।" कवि का कहना है कि अलंकार के बिना नायिका शोभित नहीं होती। बीच—बीच में ब्रजभाषा गद्य में टीका भी है। सर्वत्र दोहा तथा सोरठा छन्द का प्रयोग हुआ है। इस कृति में इस विषय पर भी प्रकाश पड़ा है कि कौन कौन अलंकार किस रस में अधिक उपयुक्त होता है।

[सहायक ग्रन्थ-हि० बृ० इ० (भा० ६), हि० का० शा० इ०।]

-सं०

याज्ञवल्क्य—व्यास की चौथी पीढ़ी में याज्ञवल्क्य का जन्म बताया जाता है। इनका दूसरा नाम बाजसनेय था। 'शुक्ल यदुर्वेद', 'शतपथ ब्राह्मण' तथा वृहदारण्यक उपनिषद्' के विशेष अधिकारी विद्वान् समझे जाते रहे हैं, इसीलिए यह भ्रम हो गया कि ये सब इन्हीं के द्वारा लिखे गये हैं किन्तु इतना तो माना जा सकता है कि इसमें से अधिकांश मन्त्रों के प्रणयन में इनका हाथ रहा है। इनके द्वारा लिखी हुई 'याज्ञवल्क्य स्मृति' निश्चित ही अपनी दिशा में न्याय की उच्चतम कृति कही जा सकती है। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरी टीका इसकी अन्य टीकाओं में अधिक प्रचलित है। इसके अतिरिक्त योग पर इनकी एक पुस्तक 'याज्ञवल्क्य गीता' प्रसिद्ध है। 'रामचरितमानस' में याज्ञवल्क्य रामकथा के वक्ता तथा भारद्वाज मुनि उनके श्रोता रहे हैं।

-यो० प्र० सिं०

यारी साहब—यारी साहब बावरी पंथ के प्रसिद्ध सन्त वीरू साहब के शिष्य थे। बावरीपन्थ के दो केन्द्र थे—उत्तर प्रदेश का गाजीपुर जिला और दिल्ली प्रदेश। यारी साहब का सम्बन्ध दिल्ली केन्द्र से था। इनका वास्तविक नाम यार मुहम्मद था। कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध किसी शाही घराने से था और इन्होंने ऐश्वर्यमय जीवन त्याग कर सन्त-जीवन स्वीकार किया था। इनकी जन्म और मृत्यु तिथियों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। डाक्टर बड़थ्वाल इन्हें सन् १६८६ ई० से सन् १७२३ ई० तक विद्यमान मानते हैं। 'रत्नावली' के सम्पादक के अनुसार यह अवधि सन् १६६८ ई० और सन् १७२३ ई० के बीच होनी चाहिए। परशुराम चतुर्वेदी इन्हें मलूकदास का समकालीन मानते हैं। इनके पाँच शिष्य प्रसिद्ध हैं—केशवदास, सूफीशाह, शेखन शाह, हसनमुहम्मद और बूला साहब। प्रथम चार शिष्यो का सम्बन्ध दिल्ली केन्द्र से था। पाँचवें शिष्य बूला साहब ने इनके पन्थ की एक गद्दी भुरकुडा, जिला गाजीपुर में स्थापित की, जो आज तक चल रही है। आपकी रचनाओ का एक संग्रह 'रत्नावली' नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। आपने प्रेम को साधना का केन्द्र-बिन्दु माना है। आपकी विचारधारा पर सूफी सन्तों का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। आपने "अन्दर यकीन निना" "इल्म" को व्यर्थ माना है। संसार को मिथ्या बताया है। एक ईश्वर में आस्था व्यक्त की है। सत्य को हृदयस्थ स्वीकार किया है और दरिया साहब (बिहार वाले) की भाँति योग-मार्ग को "विहंगम मत" कहा है। आपकी कविता अनलंकृत होने पर भी रमणीय है। मिलन और विरह के आध्यात्मिक चित्र अतीव भव्य हैं। आपकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं। आपने कवित्त, सवैया, साखी (दोहा), पद, झूलना आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है। आपकी वाणी, तन्मयता और निर्द्वन्द्वता की मन:स्थिति में नि:सृत हृदय का सहजोद्गार प्रतीत होती है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा और सन्त काव्य : परशुराम चतुर्वेदी; सन्त बानी संग्रह, भाग पहिला, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल।]

—रा० चं० ति०

युगपथ—(प्र० १९४८ ई०) सुमित्रानन्दन पन्त का नवाँ काव्य-संकलन। इसका पहला भाग 'युगान्त' का नवीन और परिवर्द्धित संस्करण है। दूसरे भाग का नाम 'युगान्तर' रखा गया है, जिसमें कवि की नवीन रचनाएँ संकलित हैं। अधिकांश रचनाएँ गान्धीजी के निधन पर उनकी पुण्य स्मृति के प्रति श्रद्धांजलियाँ हैं। शेष रचनाओ में कवीन्द्र रवीन्द्र, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और अरविन्द घोष के प्रति लिखी गयी प्रशस्तियाँ भी मिलती हैं। अनेक रचनाओं पर कवि के अरविन्द-साहित्य के अध्ययन की छाप स्पष्ट है। अन्तिम रचना 'त्रिवेणी' ध्वनि-रूपक है, जिसमें गगा, यमुना और सरस्वती को तीन विचारधारओं का प्रतिनिधि मानकर उनके संगम में मानव-मात्र के कल्याण की कल्पना की गयी है।

'युगपथ' का सबसे बड़ा आकर्षण 'श्रद्धा के फूल' शीर्षक सोलह रचनाएँ हैं, जिनमें कवि ने बापू के मरण में अभिनव जीवनकल्प की कल्पना की है, और इन्हें अपराजित अहिंसा की ज्योतिर्मयी प्रतिमा के रूप मे अंकित किया है। गान्धीजी के महान् व्यक्तित्व और कृतित्व को सोलह रचनाओं में समेट लेना कठिन है और 'युगान्त' तथा 'युगवाणी' मे कवि ने उनके वक्तित्व तथा उनकी विचारधारा को कवि-हृदय की अपार सहानुभूति देकर चित्रित किया है। परन्तु इन सोलह रचनाओ मे बापू को श्रद्धांजलि देते हुए कवि काव्य, कला और संवेदना के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। गान्धीजी के बलिदान पर प्रारम्भ में कवि स्तब्ध रह जाता है फिर शोक-भावना से अभिभूत, परन्तु अन्त में वह उनकी मृत्यु को 'प्रथम अहिसक मानव' के बलिदान के रूप मे चित्रित कर उनकी महामानवता की विजय घोषित करता है। वह शुभ्र पुरुष (स्वर्ण पुरुष) के रूप में बापू का अभिनन्दन करता और उन्हें भारत की आत्मा मानकर देश को दिव्य जागरण के लिए आहूत करता है। यह सोलह प्रशस्ति-गीतियाँ कवि की 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' साधना की प्रतिनिधि हैं।

संकलन की कुछ अन्य रचनाएँ भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति पर उद्‌बोधन अथवा जय-गीत के रूप में सामने आती हैं। कवि भारत को विश्व की स्वाधीन चेतना का प्रतीक मानता है और उसके स्वातन्त्र्य मे युग-परिवर्तन की कल्पना करता है।

राष्ट्रोन्नति का पर्व उसके लिए 'दीपपर्व' बन जाता है और 'दीपलोक' एवं 'दीपश्री' प्रभृति रचनाओं में वह मृण्मय दीपों में भू-चेतना की निष्कम्प शिखा जलती देखता है।

गान्धीजी की पुण्यस्मृति में लिखी रचनाओं के बाद इस संकलन की सबसे सशक्त रचना 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' है। कविता काफी लम्बी है परन्तु कवि अन्त तक भावना और विचरणा की उच्च भूमि पर स्थित रह सका है।

रचना के अन्त में कवि अन्तर्मन की सूक्ष्म संगठन की दुहाई देता हुआ भारत की सांस्कृतिक मेधा के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता है और कवीन्द्र के आशीर्वाद का आकांक्षी बनता है।

—रा० र० भ०

युगलकिशोर शुक्ल—कानपुर निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने कलकत्ता में कुछ समय तक सदर दीवानी अदालत में प्रोसीडिंग रीडर का कार्य किया तथा बाद में वकालत भी की। यह हिन्दी पत्रकार-कला के जन्मदाता माने जाते हैं क्योंकि इन्होंने १६ फरवरी, सन् १८२६ ई० को सरकार से लाइसेंस लेकर ३० मई, सन् १८२६ ई० को 'उदन्त मार्तण्ड' नामक समाचार पत्र की पहली संख्या प्रकाशित की। इससे पहले हिन्दी में कोई पत्र नहीं प्रकाशित था। पत्र साप्ताहिक था और प्रत्येक मंगलवार को प्रकाशित होता था। इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दी भाषा-भाषियों में विविध विषयों का ज्ञान प्रचारित करना था। इस पत्र में सरकारी अफसरों की नियुक्ति और स्थानान्तरण की सूचनाएँ, यात्रा-वर्णन, व्यापारिक तथा कानूनी सूचनाएँ, जहाजों की समय-सारिणी, विदेश-चर्चा, साहित्यिक सूचनाएँ, सार्वजनिक नोटिस आदि प्रकाशित होते थे। यह पत्र दिसम्बर सन् १८२७ ई० को ग्राहकों की कमी के कारण बन्द हो गया। 'उदन्त मार्तण्ड' के अवतरणों को देखने से यह प्रतीत होता है कि युगलकिशोर शुक्ल को कई भाषाओं का ज्ञान था क्योंकि

उनकी भाषा में संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी के साथ ब्रजभाषा और खड़ीबोली की परिमार्जित शैली मिलती है। 'उदन्त मार्तण्ड' जैसे सुसम्पादित पत्र के बन्द हो जाने पर इन्होंने सन् १८५० ई० में 'सामदण्ड मार्तण्ड' का प्रकाशन किया। यह पत्र भी जल्दी ही बन्द हो गया। इस प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश मे जो लोग हिन्दी गद्य के विकास की दिशा में प्रयत्नशील थे उनमें युगलकिशोर शुक्ल का नाम एक सफल पत्रकार तथा हिन्दी पत्रकार-कला के जन्मदाता के रूप में उल्लेख्य हैं।

—प्र० ना० ट०

युगल शतक—श्री भट्टरचित 'युगल शतक' निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों में ब्रजभाषा की प्रथम रचना है। सम्प्रदाय में यह आदिवाणी के नाम से भी विख्यात है। वाणी के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें शतक अर्थात् सौ दोहे हैं। दोहों के अर्थ के विशदीकरण के लिए विभिन्न रागों में ग्रथित उतने ही पद हैं। ग्रन्थ का विभाजन 'सुख' शीर्षक से किया गया है। कुल ६ प्रकार के सुखों का वर्णन है—सिद्धान्त सुख, ब्रजलीला सुख, सेवासुख, सहज सुख, सुरत सुख और उत्साह सुख। इस कृति के अध्ययन से निम्बार्कीय सिद्धान्त तथा उपासना पद्धति का तात्त्विक पक्ष सामने आता है। श्री भट्टकी यह वाणी उनके आभ्यन्तर रस का द्योतन करने वाली है। वृन्दावन के वैष्णव सम्प्रदायों में युगल मूर्ति की उपासना का विशेष विधान है। श्री भट्टजी ने इसी युगल मूर्ति राधाकृष्ण की दैनिक-लीलाओं का सरस एवं ललित पदावली में वर्णन किया है। वर्णन में चित्रात्मकता है। जिन सुन्दर दृश्यों की अवतारणा कवि ने दोहे में की है, वह इतनी सर्वागपूर्ण एवं सटीक है कि पाठक के नेत्रों के सामने वही दृश्य खड़ा हो जाता है। बिम्ब-विधान की दृष्टि से भी यह रचना बहुत सुन्दर है।

भाषा की दृष्टि से इस रचना में पूर्ण प्रासादिकता है। वाक्यावली लघु, अनुप्रासमयी और ललित है। 'युगल शतक' की भाषा को देखकर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि ब्रजभाषा का पूर्ण परिष्कार और प्रसार हो जाने के बाद यह काव्य लिखा गया होगा। प्रवाह और प्रांजलता की दृष्टि से इसके दोहे सूर से भी अधिक परिष्कृत हैं। साथ ही यह भी विदित होता है कि जिस भक्त कवि की यह रचना है, उसने और भी बहुत से पद ब्रजभाषा में अवश्य लिखे होंगे। यह कृति पहली नहीं मालूम होती। दोहे के नीचे भाव विशदीकरण के पदों में गेयता की मात्रा उत्कृष्ट कोटि की है। कहते हैं श्री भट्टजी इन पदों के गान के समय आत्मविभोर हो जाते थे और उन क्षणों में उन्हें भगवान् के युगलरूप के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते थे।

'युगलशतक' के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार यह ग्रन्थ संवत् १३५२ में लिखा गया किन्तु अन्य विद्वान् इसे संवत् १६४२ की रचना मानते हैं। इस विवाद का कारण 'युगलशतक' के अन्त में दिया हुआ दोहा है। दोहे में 'नयन बान पुनिराग शशि' को लेकर विवाद है। राम पाठ मानने से १३५२ और राग पाठ मानने से १६५२ संवत् बनता है। कुछ विद्वान् इस दोहे को भी प्रक्षिप्त ठहराते हैं किन्तु भाषा आदि के आधार पर यह रचना सं० १६५२ (१५९५ ई०)संवत् की ही प्रतीत होती है।

—वि० स्ना०

युगलानन्य शरण—इनका आविर्भाव पटना जिले के इस्लामपुर गाँव में सन् १८१८ ई० (कार्तिक शुक्ल, ७, सं० १८७८) को हुआ था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में सारन के श्रृंगारी रामोपासक युगलप्रिया के शिष्य होकर विरक्त वेष धारण कर लिया। कुछ दिन काशी मे रहकर ये अयोध्या चले आये। यही इनकी प्रधान साधना-भूमि बनी। अयोध्या में लक्ष्मण किला पर इनकी गद्दी अब तक स्थापित है। रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह और रघुराजसिंह ने इनकी प्रेरणा से चित्रकूट में भव्य राम मन्दिर और सन्त निवास निर्मित कराये। परवर्ती रसिक सन्तो में इनकी शिष्य-परम्परा सर्वाधिक विस्तृत एवं प्रख्यात हुई। इनकी रचनाओं की संख्या ८४ बताई जाती है। उनमें से निम्नांकित ७५ लक्ष्मण किला के 'सरस्वती भण्डार' मे सुरक्षित हैं—'सीताराम स्नेहसागर', 'रघुबरगुण दर्पण', 'मधुर मजुमाला', 'सीताराम नाम प्रताप प्रकाश', 'प्रेम परत्व प्रभा दोहावली', 'विनय विहार', 'प्रेम प्रकाश', 'नाम प्रेम', 'प्रवर्द्धिनी', 'सत्संग सतसई', 'भक्त नामावली', 'प्रेम उमंग', 'सुमति प्रकाशिका', 'हृदय हुलासिनी', 'अभ्यास प्रकाश', 'उपदेश नीति शतक', 'उज्जवल उत्कण्ठा विलास', 'मंतुमोद चौंतीसी', 'वर्णविहार', 'मनबोध शतक', 'विरतिशतक', 'वर्णबोध', 'बीसामन्त्र', 'पंचदशी मन्त्र', 'चौंतीसा मन्त्र', 'हर्फ प्रकाश', 'अनन्य प्रमोद', 'नवलनाम चिन्तामणि', 'सन्तवचन विलासिका', 'वर्णउमंग', 'रूप रहस्य पदावली', 'रूपरहस्यानुभव', 'सन्त सुख प्रकाशिका', 'अवधवासी परत्व', 'रामनाम परत्व पदावली', 'सीताराम उत्सव प्रकाशिका', 'अवध विहार', 'सुखसीमा दोहावली', 'उज्जवल उपदेश मन्त्रिका', 'साममय एकाक्षर कोश', 'योग सिन्धु तरंग', 'युगलवर्ण विलास', 'प्रबोध दीपिका दोहावली', दिव्यदृष्टांत प्रकाशिका', 'प्रमोददायिका दोहावली', 'वर्ण-विहार मोद चौंतीसी', 'उदरचरित्र प्रश्नोत्तरी', 'अष्टादश रहस्य', 'जानकी स्नेहहुलास शतक', 'नाम परत्व पंचाशिका', 'वर्णविहार दोहा', 'सन्तविनय शतक', 'विरक्ति शतक', 'विशदवस्तु बोधावली', 'तत्त्वउपदेशत्रयम्', 'बारहराशि सातवार', 'मणिमाल', 'अर्थपंचक', 'मन नसीहत', 'फारसीहरूफ तहज्जीवार झूलना', 'शिव-शिव अगस्त्यसुतीक्ष्ण संवाद', 'वैष्णवीययोगिनिर्णय', 'पंचायुध स्तोत्र', 'झूलन फारसीहरूफ', 'झूलन हिन्दी वर्ण', 'नींद बत्तीसी', 'पन्द्रा यंत्र', 'अष्टयाम ककहरा', 'अनन्य प्रमोद', 'प्रीतिपंचासिका', 'नाम विनोद बरसववन बरवै', 'नाम नवरत्न', 'गुरुमहिमा', 'सन्त वचनावली', 'पारस भाग' और विनोद विलास'।

युगलानन्यशरण संस्कृत और हिन्दी के तो अधिकारी विद्वान् थे ही, अरबी और फारसी साहित्य में भी उनकी गहरी पैठ थी। उनकी रचनाओं में सूफी प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इनकी अधिकांश कृतियों की भाषा अवधी है किन्तु उनमें खड़ीबोली के भी शब्द बहुतायत से मिलते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास पर उनका विशेष ध्यान रहता था। यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति में बाधक हुई है।

—भ० प्र० सिं०

युगवाणी—(प्र० १९३९ ई०) सुमित्रानन्दन पन्त का पाँचवाँ काव्य-संकलन है। कवि ने उसे 'गीत-गद्य' कहा है और

'विज्ञापन' मे स्पष्ट कर दिया है—''मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किंचिन्मात्र आभास इनमें मिल सका तो मैं अपने प्रयास को विफल नहीं समझूँगा।'' 'दृष्टिपात' (भूमिका) में कवि ने इस सकलन की रचनाओं पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला है। उसके अनुसार प्राकृतिक रचनाओं को छोड़ कर, इस संकलन में मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं : ''(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके। (२) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यावलोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह। (३) पिछले युगों के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास मे बाधक बन रही हैं। (४) मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव—जन-समाज का पुनः संगठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार। (५) बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता—राग भावना का विकास और नारी-जागरण।''

इन सूत्रों के सहारे हम 'युगवाणी' के विचार-पक्ष का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि 'युगवाणी' पन्त के जीवन और काव्य के एक निश्चित मोड़ की सूचना देती है, जो उसके आलोचकों के लिए वाद-विवाद तथा स्वीकार-अस्वीकार का प्रश्न रहा है। 'युगवाणी' में कवि गान्धीवादी विचारधारा के साथ (और कुछ अंशों में उसे छोड़कर भी) मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को अपनाता है और जनशक्ति की नवीन कल्पना के साथ समाज-चेतना का अग्रदूत बनकर उपस्थित होता है। उसकी रचनाओं पर बौद्धिकता और अध्ययन की छाप गहन होती जाती है और काव्य के तत्त्वों का ह्रास होता है। जिन लोगों ने पन्त को भावुक और कल्पनाप्रवण कवि के रूप में सौन्दर्य, प्रेम, प्रकृति और मानव के गीत गाते देखा था, वे इस अप्रत्याशित परिवर्त्तन के लिए तैयार नहीं थे। संक्षेप में 'युगवाणी' कवि की उस नयी भावभूमि की उपज है, जो प्रगतिवादी क़ाव्य-धारा के रूप में विकसित हुई है।

संकलन में ७७ प्रगीत-मुक्तक हैं। इनमें अनेक विचाराक्रान्त गद्यात्मक रचनाएँ हैं, जिनमें कवि मार्क्सवाद की व्याख्या प्रस्तुत करता है या गान्धीवाद-मार्क्सवाद की तुलनात्मक भूमिका सामने लाता है। 'मार्क्स के प्रति', 'भूतदर्शन', 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गान्धीवाद', 'धनपति', 'मध्यवर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी', प्रभृति एवं दर्जन रचनाएँ कवि की बुद्धिवादी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की देन हैं। इन पर उसके समाजवादी अध्ययन और नयी दीक्षा की छाप है। इनमें हमें मार्क्सवादी जीवनदर्शन की ऊहात्मक अभिव्यक्ति तथ्य-कथन के रूप में मिलेगी। परन्तु ऐसी रचनाएँ अधिक नहीं हैं और उनके आधार पर पन्त के परवर्त्ती काव्य को काव्यगुणों से एकदम हीन नहीं कहा जा सकता। दूसरी कोटि की रचनाएँ इस विचारणी का भावपक्ष कही जा सकती हैं, जिनमें कवि जन-जीवन, धरती के जीवन, नर-नारी के नये मान तथा नवजागरण के बौद्धिक पक्ष को अपनी कविता का विषय बनाता है। उसकी नयी कर्म जिज्ञासा 'चींटी' और 'घननाद' जैसी रचनाओं में मिलती हैं, जो साम्य पर आधारित जीवन-तन्त्र और श्रम को नये मूल्य के रूप में उपस्थित करती है।

'मानव', 'युग-उपकरण' और 'नवसंस्कृति' रचनाओ मे कवि की नयी जीवनदृष्टि पल्लवित हुई है। मार्क्सवाद, भौतिकवाद और श्रम पर आधारित नये वस्तु-दर्शन को कवि नये भू-दर्शन का रूप देता है। 'पुण्यप्रसू' शीर्षक कविता में वह आदर्शोन्मुखी जीवन-चेतना की धरती की ओर लौटने का निमन्त्रण देता है।

छोटे-छोटे अनेक प्रगीतों में कवि दलित-पतित मानवता को नये जीवन के प्रति उन्मुख करता है और उसके भावपूर्ण उद्‌बोधन नवनिर्माण के मन्त्र से अभिषिक्त दिखलाई देते हैं। कवि मार्क्स के अर्थशास्त्र से ही प्रभावित नहीं है, वह फ्रायड के कामदर्शन को भी मान्यता देता है और उसे भी अपने नवतन्त्र का अग बनाता है। अतीन्द्रिय प्रेम के प्रति दुराग्रह और कामवर्जना को वह अतिवाद मानता है। इसीलिए नर-नारी के यौनसम्बन्ध की नैसर्गिकता एवं अनिवार्यता पर उसकी दृष्टि जाती है। 'मानव-पशु', 'नारी' और 'नर की छाया' रचनाएँ नारी-मुक्ति और काममुक्ति के नये सन्देश से ओतप्रोत हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संकलन को 'बापू' रचना से आरम्भ करता हुआ भी कवि गान्धीदर्शन से धीरे-धीरे दूर हटता जाता है और वस्तु-जगत् ही उसकी चिन्तना एवं भावना का विषय बन जाता है।

कुछ रचनाओं में जैसे 'पलाश', 'पलाश के प्रति' और 'मधु के स्वप्न' मे कवि ने रक्तपलाश को अपनी नयी क्रान्तिचेतना का प्रतीक मान कर भावपूर्ण प्रकृति-काव्य प्रस्तुत किया है। धरती के प्रति कवि का आकर्षण 'हरीतिमा' शीर्षक कविता में मिलता है, जहाँ कवि हरितवसना धरा के प्रति हमारी सृजन-शक्तियों को प्रेरित करता है परन्तु प्रकृति के प्रति उसका दृष्टिकोण मार्क्सवादी ही है क्योंकि उसके विचार में निरुपम मानव की रचना कर प्रकृति हार गयी है और अपनी इस नवीन कृति में उसने पूर्णता प्राप्त कर ली है। फलतः प्रकृति मानव के लिए है, मानव प्रकृति के लिए नहीं। यह स्पष्ट है कि यह नया जीवन-दर्शन कवि के स्वर में नया मार्दव भरता है और उसमें यौवनोचित दृढ़ता तथा गम्भीरता का प्रसार करता है। तरुण जीवन की कर्मण्यता, साहस तथा नवनिर्माण की आकांक्षा द्वन्द्वात्मक जीवन-बोध के माध्यम से 'युगवाणी' की रचनाओं में स्पष्ट रूप से अभिव्यंजना पा सकी है।

—रा० र० भ०

युगांत—(प्र० १९३६) सुमित्रानन्दन पन्त का चौथा काव्य-संकलन है, जिसमें १९३४ ई० से लेकर १९३६ ई० तक की उनकी तैंतीस छोटी-बड़ी रचनाएँ संकलित हैं। इस रचना की भूमिका में कवि ने अपनी काव्यकला के नये मोड़ की अपने शब्दों में ही सूचना दी है। वे कहते हैं '' 'युगान्त' में 'पल्लव' की कोमलकान्त कला का अभाव है। इसमें मैंने जिस नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, मुझे विश्वास है, भविष्य में उसे मैं अधिक परिपूर्ण रूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकूँगा।'' एक प्रकार से हम इसे सन्धिकालीन रचना कह सकते हैं, जिसमें गान्धीवादी विचारधारा को स्पष्ट रूप से आधार बनाया गया है। बाद में यह रचना 'युगपथ' (१९४८)

के प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित हुई। इस नये संस्करण मे 'युगान्त' वाले अंश में कुछ नवीन कविताएँ भी सम्मिलित कर दी गयीं।

१९३४-३६ ई० का यह सन्धि-काल कवि के लिए हृदय मन्थन का समय है। इसमें महात्मा गान्धी के नेतृत्व में देश ने निर्माण-क्षेत्र में नये प्रयोग किये। स्वयं गान्धीजी देश की जन-शक्ति के प्रतीक बने। सत्याग्रह-संग्राम की विफलता ने भी उनके महामानवीय व्यक्तित्व को नयी तेजस्विता दी। इसीलिए इस संकलन की सर्वश्रेष्ठ रचना 'बापू के प्रति' में कवि ने उन्हें अपनी शतशः प्रणति दी। यह रचना गान्धी-दर्शन की जाज्वल्यमान मणि है। संकलन की अधिकांश रचनाएँ कवि के मानव-प्रेम और प्रकृति-प्रेम से ओतप्रोत हैं और स्वयं गान्धीजी में वह मानव की परिपूर्णता के ही दर्शन करता है।

संकलन में प्रकृतिसम्बन्धी अनेक रचनाएँ हैं, जो कवि के ऐश्वर्यशील कल्पनापूर्ण मनोयोग की उपज हैं परन्तु उनमें अभिव्यंजना का नया स्वरूप दिखलाई देता है। इन रचनाओं में हम 'गुंजन' की प्रकृति-चेतना का ही प्रसार देखते हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि पर चिन्तन की छाया बढ़ती जा रही है और उसकी सौन्दर्य-सृष्टि मानव के प्रति करुणा से संचालित तथा मंगल-भावना से निष्पन्न है। 'ताज' शीर्षक रचना में कवि ताजमहल के अपार्थिव सौन्दर्य में बह नहीं जाता क्योंकि ताज के निर्माण में मृत्यु का पूजन है, जीवन का श्रृंगार नहीं। ताज उसके लिए गत युग के मृत आदर्शों का प्रतीक बन गया है, जो मानव के मोहान्ध हृदय में घर किये हुए हैं। तात्पर्य यह है कि 'युगान्त' की यह रचना प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति कवि की नयी मानववादी दृष्टि की देन है।

—रा० र० भ०

यूसुफ जुलेखा—सूफी प्रेमाख्यानों में यूसुफ जुलेखा की कथा का अत्यन्त महत्त्व है। यूसुफ नबी याकूब के बारह पुत्रों में से सबसे छोटे थे और उनके अत्यन्त प्रिय पात्र थे। यूसुफ इतने अधिक रूपवान् थे कि उनके अन्य भाई उनसे ईर्ष्या करते थे। सबने मिलकर यूसुफ को एक बार कुएँ में ढकेलकर यह प्रचारित कर दिया कि उन्हें भेड़िया खा गया। इस पर यूसुफ के पिता नबी याकूब अत्यन्त दुखित हुए। कहा जाता है कि वे अन्धे तक हो गये। यूसुफ को कुछ व्यापारियों ने कुएँ से निकाला किन्तु उनके भाइयों ने उन्हें अपना गुलाम घोषित करके व्यापारियों से कुछ द्रव्य भी ले लिया। कहा जाता है कि पश्चिम देश के तैमूस नामक एक सुल्तान की रूपवती पुत्री जुलेखा का स्वप्न-दर्शन से ही यूसुफ से प्रेम हो गया। इसी बीच जुलेखा की धाय ने उसके पिता से कहकर उसका विवाह मिस्र देश के वजीर के साथ निश्चित कराया। जुलेखा ने समझा कि यूसुफ ही इस पद पर होंगे परन्तु उसे झूठ पाकर जुलेखा को पुनः यूसुफ का विरह भोगना पड़ा।

सौदागर यूसुफ को मिस्र के बाजार में दास के रूप में बेचने के लिए पहुँचे। यूसुफ के रूप की प्रशंसा धीरे-धीरे फैलने लगी। जुलेखा ने जब यूसुफ को देखा तो उसे पहिचान लिया। जुलेखा ने अपने पति से निवेदन करके यूसुफ को खरिदवा लिया। जुलेखा इससे अत्यधिक प्रसन्न हुई, परन्तु यूसुफ उदासीन रहता था। एक दिन प्रेमावेश में उसने जुलेखा का आलिंगन करना चाहा लेकिन अपने पिता की स्मृति आते ही उसने ऐसा करना अनुचित समझा। वह भागने लगा तो जुलेखा ने उसे रोकने के लिए उसके कुरते को पकड़ लिया लेकिन कुरता फट गया और जुलेखा के हाथ में फटा हुआ पल्ला आ गया। यूसुफ इसी अपराध में पुनः बन्दी बना लिया गया। एक दिन यूसुफ ने एक सवार के द्वारा अपने पिता के पास सन्देश भेजा। जुलेखा की इस घटना के आधार पर निन्दा होने लगी, जिसके परिणामस्वरूप वजीर ने उसका परित्याग कर दिया। आगे चलकर यूसुफ से प्रसन्न होकर मिस्र के सुल्तान ने उसे बन्दीगृह से मुक्त कर दिया। उसने यूसुफ को अपना मन्त्री बना लिया। मन्त्रिपद पर रहते हुए उसकी पिता से भेंट भी हुई और वह मिस्र का शासक भी बन गया। इधर जुलेखा यूसुफ के विरह में दृष्टिविहीन हो गयी। सुल्तान् यूसुफ ने एक बार राजकीय प्रयाण के समय मार्ग में खड़ी हुई स्त्रियों में जुलेखा को पहिचान लिया। यूसुफ के पिता ने आशीर्वचन के द्वारा जुलेखा को युवती बना दिया तथा यूसुफ का जुलेखा के साथ विवाह हो गया। याकूब की मृत्यु के अनन्तर यूसुफ नबी के पद पर आसीन हुए। जुलेखा ने यूसुफ को अन्तिम समय तक साथ दिया।

यूसुफ-जुलेखा की प्रेमगाथा में भारतीय तत्त्वों की प्रधानता है। इस विषय को लेकर फारसी, हिन्दी, उर्दू और बंगला के अनेक प्रेमाख्यानों की रचना हुई। फारसी के निजामी कवि की सन् १४८३ ई० की 'युसुफ-जुलेखा' इस कथा की आदर्श रचना है। निजामी ने यह रचना फारसी के हजाज छन्द में लिखी है। काव्यरूप की दृष्टि से मसनवी है तथा इसमें जीवन की सम्पूर्णता सामने लाई गयी है। हिन्दी के निसार कवि ने 'यूसुफ जुलेखा की कथा' नामक रचना प्रस्तुत की। इस विषय को लेकर उर्दू मे काव्यरचना करने वालों में बीजापुर के हाशिमी कवि का उल्लेख आवश्यक है। इन्होंने यूसुफ-जुलेखा के प्रेमाख्यानक को लेकर एक मसनवी की रचना की थी। बंगला में यूसुफ-जुलेखा के प्रेमाख्यान को लेकर काव्य-रचना करने वालों में गरीबुल्लाह, फकीर मोहम्मद अब्दुल हकीम का भी नाम उल्लेखनीय है।

कवियों ने यूसुफ-जुलेखा की प्रेमकथा के माध्यम से सूफी साधना के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति की है। यही कारण है कि यूसुफ की प्राप्ति के बाद जुलेखा का हृदय 'मजाज' की सीमा का अतिक्रमण करके 'हकीकत' की ओर मुड़ जाता है। सामान्य रूप से यही आदर्श रूप सूफी काव्यधारा में पल्लवित होता दिखाई पड़ता है। यूसुफ और जुलेखा के प्रेम में उदात्तता दिखलाई पड़ती है। जुलेखा की यूसुफ से भेंट तभी हो पाती है, जब उसकी समस्त वासनाएँ तिरोहित हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यूसुफ के प्रेम में जुलेखा का विरहोत्पीड़न इस कथा की अपनी विशेषता है। सूफी प्रेम-काव्यों में सामान्यतया नायक ही यत्नशील दिखाई पड़ते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि इस कथा का मूलाधार कुरान की कथा है। अतः उसमें परिवर्तन के लिए अवकाश नहीं था।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; हिन्दी प्रेमाख्यान : कमल कुलश्रेष्ठ; मध्ययुगीन प्रेमाख्यान : श्याममनोहर पाण्डेय।]

—रा० कु०

रंग खाँ—इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, केवल इनके 'नायिकाभेद' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है, जिसका

रचनाकाल १७८३ ई० के लगभग माना गया है। नाम से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ नायिका-भेद विषय पर है।

—सं०

रंग-तरंग—इस ग्रन्थ के लेखक वृन्दावननिवासी नवीन कवि हैं। यह ग्रन्थ नाभानरेश जसवन्तसिंह के पुत्र मालवेन्द्र सिह की आज्ञा से सन् १८२० ई० में लिखा गया। इसका प्रकाशन इण्डिया लिटरेचर सोसायटी, मुरादाबाद से सन् १८३३ ई० में हुआ है। कवि के अनुसार अपने आश्रयदाता की आज्ञा से उसने इसमें नवरस का रंगीन वर्णन किया है। उसने प्रारम्भ में राजा की प्रशंसा के साथ उसके वैभव, दरबार, नगर तथा प्रभुत्व आदि का वर्णन भी किया है। इसमें रचनाकाल का स्पष्ट निर्देश है, "अठरह से निन्यानबे"। इस ग्रन्थ में पाँच तरंग है। पहली में नायिका-भेद का विस्तार है, जो प्रायः भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है, जिसका प्रभाव अनेकानेक हिन्दी के नायिका-भेदसम्बन्धी ग्रन्थों पर पड़ चुका था। इसको उन्होंने आलम्बन विभाव के अन्तर्गत रखा है। दूसरी तरंग में उद्दीपन विभाव का विस्तार है, जिसमें षडऋतु वर्णन महत्त्वपूर्ण है। तीसरी तरंग में अनुभाव, चौथी में सात्त्विक भावों तथा दुखों का वर्णन है और पाँचवीं में रस-वर्णन है। श्रृंगार के अतिरिक्त कवि ने वीर रस का अच्छा निर्वाह किया है। इस ग्रन्थ में काव्यगत आकर्षण तथा मार्मिकता भी पर्याप्त मात्रा में है।

—सं०

रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर—जन्म ३० सितम्बर, १८९४ ई० को धारवार (कर्नाटक) में। बेलगाँव, हुबली, पूना और बम्बई में शिक्षा प्राप्त की। १९१६ ई० से १९२३ ई० तक दिवाकरजी ने धारवार और कोल्हापुर के स्कूल तथा कालेज में अध्यापन कार्य किया। इस बीच आपने अंग्रेजी और संस्कृत का विशेष अध्ययन किया।

संस्कृत के अध्ययन के कारण हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना भी सरल बन गया। साहित्य में पहले से ही रुचि थी, अतः राजनीति के साथ-साथ साहित्य-सेवा भी बराबर चलती रही। १९२१ ई० में 'कर्मवीर' नामक कन्नड़ साप्ताहिक निकाला और १९२३ ई० से १९३४ ई० तक एक अंग्रेजी साप्ताहिक का सम्पादन किया। स्वाधीनता आन्दोलन में कारावास की अवधि का उपयोग उन्होंने अध्ययन तथा लेखन कार्य में किया।

सन् १९३५ ई० में दिवाकरजी ने हुबली में 'नेशनल लिटरेचर पब्लिकेशन ट्रस्ट' स्थापित किया। पीपुल्स एज्युकेशन ट्रस्ट के ट्रस्टी के नाते 'संयुक्त कर्नाटक' (कन्नड़ दैनिक) पत्र निकालते रहे। ये 'कन्नड़ साहित्य सम्मेलन' के आजीवन सदस्य रहे।

सन् १९४८ ई० में दिवाकरजी भारत सरकार के सूचना एवं प्रसार मन्त्री रह चुके हैं। इस पद पर रहते हुए उन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की है और हिन्दी के प्रसार में योग दिया है। बाद में 'गाँधी स्मारक निधि' के अध्यक्ष पद से भी हिन्दी-साहित्य, विशेषकर गान्धी वाङ्मय में बड़ी रुचि लेते रहे। 'कर्नाटक राष्ट्रभाषा प्रचार सभा' के अध्यक्ष पद पर रहकर इन्होंने क्रियात्मक और रचनात्मक, दोनों ही प्रकार से हिन्दी की बड़ी सेवा की है।

धर्म, दर्शन और गान्धी-साहित्य में दिवाकरजी की विशेष रुचि है और इन विषयों पर कन्नड़ तथा अंग्रेजी मे कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनके कुछ अनुवाद हिन्दी मे हुए हैं और हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनके नाम हैं—'सत्याग्रह और विश्वशान्ति', 'गान्धीजी—जैसा मैंने देखा', 'सत्याग्रह मीमांसा', 'उपनिषदों की कहानियाँ' और 'कर्मयोग'।

इन पुस्तकों की भाषा बड़ी सरल और सुबोध होते हुए भी इनमें विचारो की गहराई, ज्ञान की गरिमा तथा दर्शनशास्त्र की महिमा है। इसमें अविचल विश्वास के दर्शन होते हैं। 'उपनिषदों की कहानियाँ' पढ़ते हुए अनुभव नही होता कि हम उपनिषद् के गम्भीर विषय को पढ़ रहे हैं। कन्नड़-भाषी होते हुए भी ऐसी सुन्दर और मनोरंजक शैली में इतने गम्भीर विषयों को चित्रित करने की निपुणता में उनकी लेखनी उद्भासित हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके शब्द-चित्रों में प्रादेशिक भाषा के रग का किंचित् सम्मिश्रण हम पाते हैं किन्तु वह संस्कृत के जल में धुला है, अतः हिन्दी-भाषा का चित्र उससे निखरा ही है। लेखक के रूप में दिवाकरजी ने निस्सन्देह हिन्दी को सात्विक रूप प्रदान किया है और उसकी साहित्य-सम्पत्ति को समृद्ध बनाया है।

—ज्ञा० द०

रंगभूमि—प्रेमचन्दकृत 'रंगभूमि' उपन्यास (प्र० १९२४-२५ ई०)। एक ओर तो काशी के कुँवर भरतसिंह और रानी जाह्नवी, जॉन सेवक और मिसेज सेवक, राजा महेन्द्रसिंह और इन्दु नामक परिवारों और ताहिर अली और कुसुम के परिवार की समाज और राजनीतिसापेक्ष कहानी है तो दूसरी ओर काशी के निकट पाँडेपुर के सूरदास, जगधर, बजरंगी, नायकराम पण्डा, ठाकुरदीन, भैरों और उसकी पत्नी सुभागी की कहानी है। प्रेमचन्द ने दोनों कथा-सूत्रों का समन्वय उपस्थित किया है। नौकरशाही और पूँजीवाद तथा देशी राज्यों के साथ जनवाद का संघर्ष चित्रित करना उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। प्रेमचन्द की सहानुभूति किधर हो सकती है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कुँवर भरतसिंह की पुत्री, इन्दु और पुत्र विनय है। जॉन सेवक की पुत्री सोफिया और पुत्र प्रभु सेवक है। इन्दु राजा महेन्द्रसिंह की पत्नी है। ताहिर अली की दो विमाताएँ हैं—जैनब और रकिया। ताहिर अली अपने सौतेले भाई माहिर अली की शिक्षा और परिवार-पालन के लिए आर्थिक कष्ट सहन करते-करते अन्त में गबन करता है और उसका मालिक जॉन सेवक उसकी सजा करा देता है। 'रंगभूमि' के कथानक में ताहिर अली और उसके परिवार की कथा एक प्रकार से स्वतन्त्र कथा है। शेष कथा में सेवा-समिति की देश-सेवाओं, जसवंत नगर के माध्यम द्वारा देशी रियासतों की शोचनीय दशा, पाँडेपुर में पूँजीवाद के भयंकर परिणामों, सूरदास की जमीन, झोपड़ी और अन्त में पाँडेपुर का जॉन सेवक द्वारा अपने कारखाने के लिए हथिया लिया जाना, विनय और सोफी के प्रेम के माध्यम के द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता, मिसेज सेवक के अभारतीय दृष्टिकोण द्वारा धार्मिक संकीर्णता, कुँवर भरतसिंह का जायदाद-प्रेम, जॉन सेवक की धन-लोलुपता, इन्दु और राजा महेन्द्रसिंह का संघर्ष और अन्त मे राजा साहब का सूरदास की मूर्ति के नीचे दबकर मरना, सूरदास की

सत्यनिष्ठा और अन्त में गोली खाकर मृत्यु को प्राप्त होना और ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित पात्रों द्वारा ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याओं (मद्य-पान, निराश्रिता स्त्री, आदि का) का वर्णन हुआ है।

किन्तु उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक समस्याएँ तो माध्यम मात्र हैं, प्रेमचन्द का दृष्टिकोण तो वास्तव में राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत और व्यापक जीवन से सम्बंधित है। प्रेमचन्द का राष्ट्रीय दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही है। वे चाहते हैं कि भारतवासी सभी व्यक्तिगत कामनाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठकर निःस्वार्थ भाव से देश-सेवा करे। उस समय देश को सब प्रकार से जगाने की आवश्यकता थी। देश की नवीन अवश्यक्ताओं, आशाओं और आकांक्षाओं की प्रतिमूर्ति विनय की माता रानी जाह्नवी है। प्रेमचन्द को स्वदेशानुरागी संन्यासियो की अवश्यकता थी। गार्ह्स्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए भी यह सन्यास ग्रहण किया जा सकता था। शर्त केवल इतनी थी कि गार्हस्थ्य जीवन संकीर्णता और वासना पर आधारित न होकर निरन्तर प्रसारोन्मुख हो। जीवन केवल 'स्व' में लिप्त न हो। विनय और सोफी के प्रेम को रानी जाह्नवी उस समय तक शंका की दृष्टि से देखती रही, जब तक उसे यह विश्वास न हो गया कि उनका प्रेम वासना पर आधारित नहीं हैं और वह प्रेम विनय के स्वदेशानुराग में बाधक न बनेगा।

'रंगभूमि' में जीवन के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। उपन्यास के नाम में ही उनका दृष्टिकोण छिपा हुआ है। जीवन क्रीड़ा—क्षेत्र है, रंगभूमि है। वहाँ हर एक व्यक्ति खेल खेलने आया है किन्तु खेलते समय "क्यों धरम—नीति को तोड़ै?" संसार में प्रायः लोग खेल—खेल की तरह नहीं खेलते, धाँधली करते हैं। प्रेमचन्द का कहना है कि भले ही दृष्टि जीत पर रहे, पर हार से कोई घबराये नहीं, ईमान न छोड़े। यही सत्पथ है, कीर्तिका मार्ग है। सूरदास और जाँन सेवक दोनों ने अपना—अपना खेल खेला। सूरदास ने सच्चे अर्थ में जीवन को रंगभूमि समझा। भौतिक दृष्टि से हारकर भी वह आत्मिक दृष्टि से सुखी था। उसके मन में कभी मैल न आया। जीता तो प्रसन्न, हारा तो प्रसन्न। खेल में सदैव नीति का पालन किया। प्रतिद्वन्दी पर कभी छिपकर चोट नहीं की। सूरदास दीनहीन था किन्तु उसमें आत्मबल था, हृदय धैर्य, क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भाण्डार था। देह पर माँस न था पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूमित भरी हुई थी। इसके विपरीत जान सेवक ने जीवन को, संसार को संग्राम क्षेत्र समझा, समर—भूमि समझा और इसीलिए छल, कपट, गुप्त आघात आदि सभी साधनों का आश्रय ग्रहण किया। भौतिक दृष्टि से विजयी होने पर भी वह आत्म—ग्लानि से पीड़ित रहा। 'रंगभूमि' में निहित प्रेम चन्द के दृष्टिकोण पर गान्धी जी का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। मनुष्य यदि अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए सत्य का अवलम्बन ग्रहण करते हुए, आत्म—सम्मान को दृष्टि—पथ में रखते हुए, निष्काम कर्म में प्रवृत्त हो तो वह दुःखी कैसे रह सकता है। आत्म बल की पशु बल पर विजय होनी ही चाहिए। सूरदास की मृत्यु ने जनसत्तावादियों में एक नयी संगठन—शक्ति उत्पन्न कर दी। तत्कालीन परिस्थिति में क्या वह विजय कम थी?

-ल० सा० वा०

रंभा—प्रसिद्ध अप्सरा रम्भा की उत्पत्ति देवासुर के समुद्र मन्थन से मानी जाती है। रम्भा सौन्दर्य के एक प्रतीक के रूप में प्रसिद्ध है। इन्द्र ने देवताओं से इसे अपनी राजसभा के लिए प्राप्त किया था। एक बार इन्होंने इसे विश्वामित्र की तपस्या को भंग करने के लिए भेजा था किन्तु महर्षि ने इससे प्रभावित होकर इसे एक सहस्र वर्ष तक पाषाण के रूप में रहने का शाप दिया। कहा जाता है कि एक बार जब यह कुबेरपुत्र के यहाँ जा रही थी तो कैलास की ओर जाते हुए रावण ने मार्ग में रोककर उसके साथ बलात्कार किया था।

-रा० कु०

रघु—सूर्यवंशीय दिलीप के पुत्र, श्री रामचन्द्र जी के प्रपितामह। 'रघुवंश' में इस नाम की निरुक्ति दिलीप के एक कथन से सम्बद्ध है। दिलीप ने अपने पुत्र के जन्म पर कहा था कि वह बालक सब शास्त्रों मे पारंगत एवं युद्धकाल में शत्रुओंको फाड़ता हुआ गमन करने वाला होगा। अस्तु, गमनार्थक 'रघु' धातु के आधार पर 'रघु' नाम रखा गया। रघु के पुत्र अज और अज के दशरथ हुए। रघु की दिग्विजय प्रसिद्ध है। इनकी किंचित् चर्चा 'मानस', 'साकेत', 'साकेत—सन्त' आदि में आती है।

-मो० अ०

रघुनंदन—१.श्रीरामचन्द्र जी का एक नाम, जो उनके रघु—वंश में उत्पन्न होने की ओर संकेत करता है।

२.श्री चैतन्य महाप्रभु के एक अनुचर भक्त। श्री गौरांग ने इन्हें अपनी गोद में बिठाकर बड़े आदर से सुमन माला पहनायी थी और पुत्र कहकर सम्बोधित किया था। इनका लिखा हुआ 'गौरनामामृतस्तोत्र' अत्यन्त सुन्दर, सरल संस्कृत में है।

-मो अ०

रघुनाथ—अब तक की उपलब्ध सूचनाओं में रघुनाथ नाम के चार कवियों का पता लगता है। इन में प्रथम हैं रघुनाथ प्राचीन। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका जन्म—काल सन् १८५३ ई० और काव्य—काल सन् १८६३ ई० है। ये प्रसिद्ध कवि गंग के शिष्य सम्राट जहाँगीर के समसामयिक थे। इनकी एकमात्र रचना है 'रघुनाथ विलास', जो संस्कृत—रस—ग्रन्थ 'रसमंजरी' का भाषानुवाद है। अपनी कविताओं से ये साधारण श्रेणी के कवि लगते हैं।

दूसरे रघुनाथ रसूलाबादी थे। इनका वास्तविक नाम था शिवदीन किन्तु 'रघुनाथ' सम्भवतः उनका काव्य—नाम था। सन् १८७३ ई० में इन्हें विद्यमान बताया गया है। इनकी कई छोटी—छोटी रचनाओं में 'भाषा महिम्न्' नामक केवल एक ही रचना हाथ लगी है। कविता के विचार से इन्हें भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

तीसरे रघुनाथ संडीला गाँव (जिला सीतापुर) के निवासी थे, जिनकी केवल एक रचना 'कृष्ण ग्वालनी का झगड़ा' प्राप्त हुई है। इनका रचना—काल है सन् १८२७ ई०। इनकी भी कविता बहुत साधारण कोटि की है।

चौथे और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि हैं रघुनाथ बन्दीजन। ये काशिराज महाराज बरिबण्डसिंह (१७४०—७० ई०) के दरबारी कवि थे और काशी के ही रहने वाले भी थे। कशी के

राजा ने इन्हे चौरा नामक गाँव दिया था, जिसमें ये रहते थे। इनके पुत्र गोकुलनाथ और पौत्र गोपीनाथ भी अपने समय के सुकवि थे। अब तक की सूचनाओं में इनकी कुल चार रचनाओ का पता चला है-(१) 'रसिक मोहन', (२) 'काव्य—कलाधर', (३) 'जगत मोहन', (४) 'इश्क महोत्सव'। इनके अतिरिक्त भी उक्त कवि की एक सतसई की टीका कही जाती है किन्तु वह उपलब्ध नहीं हो पायी है। इनमें एक ग्रन्थ 'रसिक मोहन' सन् १८९० ई० में मुंशी नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ था किन्तु अन्यों के विषय में ऐसी कोई सूचना नहीं है। इस ग्रन्थ का रचना—काल सन् १७३९ ई० है। यह अलंकार—ग्रन्थ है। इसमें कुल ३२३ छन्द हैं। 'काव्य कलाधार' की रचना सन् १७४५ ई० में हुई। इसका वर्ण्य—विषय है थोड़ा भाव—भेद तथ रस भेद और नायिका तथा नायक भेद। इसके पश्चात सन् १७५० ई० में 'जगत मोहन' की रचना हुई। वैसे देखने में तो यह काफी बड़ा ग्रन्थ है किन्तु इसके अन्तर्गत श्री कृष्ण की बारह घण्टे की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के वर्ण्य—विषय से केवल कविकी बहुज्ञता मात्र प्रगट होती है और कुछ नहीं। 'इश्क—महोत्सव' भी एक श्रृंगार—प्रधान रचना है किन्तु इसकी भाषा अन्य कृतियों से भिन्न ब्रजभाषा के बजाय खड़ी बोली है।

आचार्यत्व की दृष्टि से कवि के अलंकारों के उदाहरण तथा लक्षण बड़े साफ और स्पष्ट हैं। अलंकार—वर्णन के लिए कवि ने जिन विषयों को अपनाया है, उनमें अन्य श्रृंगारी कवियों की भाँति केवल श्रृंगार रस की ही प्रधानता नहीं है, वरन् अन्य रसों के द्वारा भी अलंकारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, यह विशेषता उसके 'रसिक मोहन' में सर्वाधिक पायी जाती है। दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि कवि ने जिन पद्यों को अलंकार निर्देशनार्थ अपनाया है, उनके चारो चरणों में एक ही अलंकार की स्थिति होती है। 'काव्य कलाधर' में कवि ने भाव—भेद को बहुत थोड़े में समाप्त कर नायिका और नायक—भेद को बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है परन्तु उसका अधिकांश परम्पराभुक्त होने के कारण उसके विवेचन में कोई नव्यता अथवा मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती। नायक—भेद को जरूरत से ज्यादा बढ़ाया गया है। इस कारण आचार्यत्व की दृष्टि से कवि अलंकार विवेचक के रूप में ही अधिक कृतकार्य हो पाया है, अन्यों में उतना नहीं। आचार्यत्व की अपेक्षा उसका कवित्व अधिक सबल और पुष्ट जान पड़ता है। कवि की भाव—व्यंजनाएँ सहज सरल होने के साथ—साथ बड़ी चुटीली, चमत्कारिणी और मार्मिक हैं। अपनी अदभुत कल्पना—शक्ति के सहारे दृश्यचित्रण में वह कभी—कभी कमाल कर दिखाता है। भाषा भी भावों का अच्छा सम्प्रेषण करती है, ऐसे काव्य—गुणपूर्ण छन्द अधिकतर अलंकार अथवा किन्हीं काव्यशास्त्रीय लक्षणों के उदाहरणों के रूप में आये हैं। इस प्रकार कवि का काव्य शास्त्र और कवित्व, दोनों हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि (भा० १,१३); मिं वि०; शि० स०; दि०; भू०; रा० ह० खो० (भा ३०)।]

-रा० त्रि०

रघुबरदास महात्मा—महात्मा रघुबरदास का परिचय सन् १९१२ ई० (ज्येष्ठ सं० १९६९ ई०) की 'मर्यादा' पत्रिका में इन्द्रदेवनारायण के एक संक्षिप्त लेख के द्वारा हिन्दी साहित्य सेवियों को हुआ है। उन्हें किसी 'तुलसी चरित' ग्रन्थ का लेखक कहा गया है। उनके जीवन—वृत्त आदि पर विद्वान् लेखक ने कोई प्रकाश नही डाला और न तो उनके ग्रन्थ का ही पूरा परिचय दिया। उसकी कुछ पंक्तियाँ मात्र उन्होंने प्रकाशित कर दी। उन पंक्तियों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ आत्मचरित शैली में लिखा गया है।

इस ग्रन्थ के अनुसार तुलसी की वंश—परम्परा इस प्रकार है-परशुराम—शकर—रूद्रनाथ—मुरारी—तुलसी—गणपति—हेश—मगल। तुलसी का ही दूसरा नाम तुलाराम था। इनके तीन विवाह हुए थे। तीसरा कंचनपुर हुआ और विवाह के कारण उन्हें गृहत्याग भी करना पड़ा। परशुराम मिश्र को सखार में मझौली से तेईस कोस दूर पर कसारा ग्राम का निवासी कहा गया है। ये तीर्थाटन के लिए चित्रकूट गये और फिर राजापुर में बस गये। इसमें तुलसी की जन्म—तिथि सन् १४९७ ई० दी हुई है। उन्हे सरयूपारीय ब्राह्मण भी कहा गया है।

'तुलसी चरित' अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। अतः उसकी प्रामाणिकता की जाँच सम्भव नहीं है। रघुबरदास का जो थोड़ा—बहुत महत्त्व है, वह इसी ग्रन्थ के कारण है।

[सहायक ग्रन्थ-तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त।]

-ब० ना० श्री०

रघुराज सिंह— रीवाँ—नरेश रघुराज सिंह का जन्म सन् १८२३ ई० तथा मृत्यु १८७९ ई० में हुई। इनके पूर्वज महाराज व्याघ्रदेव ने गुजरात से आकर बघेलखण्ड को जीता और उस पर अपना अधिकार जमाया। रघुराज सिंह के पिता महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव बान्धवेश (ज० १७८९ ई० और मृत्यु १८५४ ई०) और पितामह जयसिंह (ज० १७६४ ई० और मृ० १८३४ ई०) बड़े कवि तथा अनेक उत्तमोत्तम संस्कृत तथा भाषा—काव्य के रचयिता थे और अनेक सुकवियों के आश्रयदाता भी। इस प्रकार कवित्वप्रतिभा उक्त कवि को पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। सन् १८५४ ई० में अपने पिता महाराज विश्वनाथ सिंह की मृत्यु के पश्चात् रघुराज सिंह गद्दी पर बैठे। रघुराज सिंह ने बारह विवाह किये। ये हिन्दी तथा संस्कृत के पण्डित और सुकवि थे। मृगया का उन्हें व्यसन था। उन्होंने ९२ शेर, एक हाथी, १६ चीते तथा हजारों हरिण एवं पशुओं का शिकार किया था। वे स्वभाव से बड़े उदार, दानी और रामभक्त थे। वे नित्य २०,००० हजार विष्णुनाम जप किया करते थे। इस प्रकार उनका अधिकांश समय यों ही बीत जाता था। राज्य—प्रबन्ध के लिए वे बहुत कम समय दे पाते थे। वे बड़े काव्यरसिक और कवि—कल्पवृक्ष थे। अनेक विद्वान् और सुकवि उनके दरबार में रहते थे। मृत्यु के पाँच वर्ष पूर्व ही रघुराज सिंह ने राज—काज छोड़ दिया।

कवि ने अनेक रचनाएँ की हैं, जिनके नाम हैं—'सुन्दर-शतक' (सन् १८४७ ई०), 'पत्रिका' (१८५० ई०), 'रुक्मिणी-परिणय' (१८४९ ई०), आनन्दाम्बुनिधि (१८५३ ई०), 'श्रीमद्भागवत महात्म्य' (१८५४ ई०), 'भक्तिविलास' (१८६९ ई०), 'रहस्य पंचाध्यायी', 'भक्तमाल', 'रामस्वयंवर' (१८६९ ई०), 'यदुराज विलास'

(१८७४ ई०), 'विनयमाला', 'रामरसिकावली' (इसका रचनारम्भ १८४३ ई० में हो गया था किन्तु पूर्ति १८६४ ई० में हुई), 'गद्यशतक', 'चित्रकूट माहात्म्य', 'मृगयाशतक', 'पदावली', 'रघुराज विलास', 'विनयप्रकाश', 'राम-अष्टयाम', 'रघुपति शतक', 'गंगाशतक', 'धर्मविलास', 'शम्भु-शतक' 'राजरंजन', 'हनुमानचरित्र', 'भ्रमर गीत', 'परम प्रबोध' और 'जगन्नाथशतक'। इनमें 'रामस्वयंवर', 'आनन्दाम्बुनिधि', 'रुक्मिणी परिणय' और 'राम-अष्टयाम' ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थो में 'रामस्वयंवर' का प्रकाशन जगन्नाथप्रसाद द्वारा बनारस से १८९८ ई० मे हुआ। 'रुक्मिणी परिणय' का प्रकाशन भारत माता प्रेस, रीवाँ से १८८९ ई० में हुआ। 'भक्तमाल', 'रामरसिकावली', 'जगन्नाथ शतकम्', 'पदावली' तथा 'रघुराजविलास' का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से १८८९ ई० तथा १८९४ ई० में हुआ तथा 'रघुराज पचासा' का रामरत्न वाजपेयी द्वारा लखनऊ से १८९६ ई० में प्रकाशन हुआ।

कवि ने मुख्य रूप से इन रचनाओं में भक्ति और श्रृंगार रस का ही वर्णन किया है, वैसे प्रबन्ध-काव्यों तथा मुक्तक रचनाओं मे अन्य रसों को भी स्थान दिया गया है। वह प्रबन्ध तथा मुक्तक, दोनों ही प्रकार की रचना करने में कुशल था। वर्णनो के लिए उसे अपूर्व कौशल प्राप्त था। युद्ध, मृगया, नख-शिख, राजसी ठाठ-बाट, हाथी-घोड़े तथा रास आदि के उसने बहुत सुन्दर और सजीव वर्णन किये हैं। उसकी भक्तिपरक रचनाओं पर सूर-तुलसी आदि का प्रभाव स्पष्ट है। सरलता, रमणीयता, और प्रसादात्मकता आदि उसकी कविता के कतिपय गुण हैं।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि० (भा० २); खो० वि० (वा० १९०० ई०, १९०१ ई०, १९०३ ई० तथा १९०४ ई०); हि० सा० इ०।]

—रा० त्रि०

रघुवंशलाल गुप्त—अलीगढ़ में जन्म, म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद में शिक्षा। आई० सी० एस० के लिए चुने गये। भारत सरकार के वाणिज्य सचिव रहे। साहित्य में प्रारम्भ से ही रुचि रही। आपका 'उमर खैयाम' का अनुवाद अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया। 'रवि बाबू के कुछ गीत' आपकी पद्यबद्ध अनूदित रचना है।

—सं०

रघुवीर, आचार्य—जन्म सन् १९०२ ई० रावलपिण्डी में, मृत्यु सन् १९६३ ई० में एक कार-दुर्घटना में। शिक्षा पंजाब, लन्दन और यूट्रेक्ट विश्वविद्यालयों में। एम० ए०, पी० एच० डी, डी० लिट्० की उपाधियां प्राप्त की। आप भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक और इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले मान्य विद्वानों में अग्रणी थे। आपने अपने अथक प्रयास से ऐसे बृहत् पारिभाषिक अंग्रेजी-हिन्दीकोश का निर्माण कर दिया है, जिसकी सहायता से ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र की उच्चतम रचनाओं का अविकल रूपान्तर हिन्दी में प्रस्तुत किया जा सकता है और इन विषयों की उच्चतम शिक्षा हिन्दी माध्यम द्वारा दी जा सकती है। आपके अन्य कार्यों को छोड़ भी दिया जाय तो केवल यही एक कृति आपको अमरत्व प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है। हिन्दी शब्द भण्डार की अभिवृद्धिमें आपने संस्कृत के मूल स्रोत की महत्ता का पूर्ण आकलन एवं उपयोग किया है। आप संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के ऐसे प्रबल समर्थक थे कि 'रघुवीरी हिन्दी' संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के विरोधियों द्वारा उसके लिए व्यंग्यात्मक रूप में प्रयुक्त एक मुहावरा ही बन गया है। 'रघुवीरी हिन्दी' का आज देश में चाहे जितना भी विरोध किया जाय, किन्तु विदेशों से हिन्दी में आने वाली प्रचार सामग्री को सरसरी दृष्टि से देखने पर भी यह किसी से छिपा न रहेगा कि हिन्दी की मूल प्रकृति संस्कृतनिष्ठ ही है। इसे विदेशी भी समझ चुके हैं और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही सारे देश में सुगमता से समझी जा सकती है। संस्कृतनिष्ठता से ही हिन्दी पूर्णतः प्रतिमित एवं विज्ञान के प्रकाशन में सक्षम हो सकती है।

डाक्टर रघुवीर हिन्दी के अप्रतिम कोशकार तो थे ही, वे देश के मूर्द्धन्य भाषाशास्त्री भी थे। संस्कृत, तिब्बती, मंगोलियन, बालिनीज आदि भाषाओं का उन्होंने गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन किया था। अपने इसी अध्ययन के बल पर उन्होंने मध्य एशिया में सुदूर अतीत में फैली हुई गौरवपूर्ण भारतीय संस्कृति का इस युग में उद्घाटन किया और अपने पाण्डित्य से उस पर नया प्रकाश डाला। भारतीय संस्कृति के प्रचार, प्रसार अनुशीलन एवं अनुसन्धान की दिशा में आपने अपना सारा जीवन लगा दिया था। इसी उद्देश्य से आपने दिल्ली में 'भारतीय संस्कृति की अन्तरराष्ट्रीय अकादमी' की स्थापना की। इस संस्था के पास मध्य एशिया से आप द्वारा लायी गयी लगभग २० हजार प्राचीन दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ और भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं, जिनका सम्पादन और प्रकाशन अकादमी का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। अकादमी की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। सम्प्रति उनके पुत्र डाक्टर लोकेश उन ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य कर रहे हैं।

आपकी कुछ विशिष्ट कृतियाँ ये हैं—अंग्रेजी (सम्पादित) 'अथर्ववेद ऑव द पैप्पलादाज़' (२० भागों में, १९३६-४०), 'अलिकलि-विजहरम्' (संस्कृत-तिब्बती-मंगोलियन १९४१), 'फान फान यू' (भारतीय भौगोलिक नामों का चीनी शब्द कोश, १९४३), 'कम्प्रीहेंसिव इंगलिश-हिन्दी डिक्शनरी ऑव गवर्नमेण्टल ऐण्ड एजुकेशनल वर्ड्स ऐण्ड फ्रेजेज' (१९५५), 'मंगोलियन संस्कृत शब्द कोश' (१ भाग, १९५८), 'बृहत् पारिभाषिक अंग्रेजी हिन्दी कोश', 'स्वर व्यंजन' (कवि बालिनीज देवनागरी लिपि ग्रन्थ १९५५)।

—श्री० शु०

रघुवीर सिंह (महाराजकुमार)—सीतामऊ (मालवा) में महाराजकुमार रघुवीर सिंह भावात्मक गद्य-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। जन्म १९०८ ई० में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा बड़ौदा और इन्दौर में हुई। आगरा विश्वविद्यालय से आपको डी० लिट्० की उपाधि मिल चुकी है। आपकी चार प्रकाशित कृतियाँ उल्लेख्य हैं—'बिखरे फूल', 'जीवन कण', 'जीवन धूलि' और 'शेष स्मृतियाँ' (१९३९ ई०)। 'शेष स्मृतियाँ' का गुजराती और मलयालम में अनुवाद हो चुका है और रघुवीर सिंह की प्रसिद्धि का वास्तविक आधार उनकी यही पुस्तक है। उनकी उपर्युक्त चारों पुस्तकें वस्तुतः गद्य-गीतों के संग्रह हैं। छायावाद युग में गद्य-काव्य की जिस श्रेष्ठ विधा को प्रश्रय और

प्रोत्साहन मिला था, रघुवीर सिंह उसके प्रमुख शैलीकारों में हैं। 'शेष स्मृतियाँ' के अन्तर्गत संकलित रचनाएँ, जिनमें मुगल साम्राज्य के वैभव, विलास एवं उत्थान-पतन को बड़ी मार्मिकता तथा सहृदयता के साथ अंकित किया गया है, गद्य-काव्य के श्रेष्ठतम् उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इनकी कृतियाँ जिनमें कुछ अंग्रेजी में लिखी हुई हैं इतिहास तथा राजनीति से संबंध रखती है।

–र० भ०

रजक–रजक कंस का धोबी था। ऐसी प्रसिद्धि है कि देवकी की सात सन्तानों को वह पाटे पर रखकर मार चुका था, अतएव कृष्ण का उपहास किया करता था। एक दिन कृष्ण ग्वाल सखाओ के साथ रजक के पास गये तथा उसको शिला पर रखकर आकाश की ओर उड़ा दिया। रजक को मारकर कृष्ण ने कंस के कपड़े धोबियों में लुटा दिये। कंस को इससे बहुत चिन्ता हुई। सूर ने बाल मनोविज्ञान का रंग भरते हुए रजक वध-लीला का अत्यन्त मनोरंजक वर्णन किया है। (दे० सू० सा० प० ३६५५-३६६५)।

–रा० कु०

रज्जब–संत रज्जब का पूरा नाम रज्जब अली खाँ था। सांगानेर (राजस्थान) के पठान वंश में आपका जन्म संवत्१६२४ में हुआ था। पिता जयपुर राज्य की सेवा में एक प्रतिष्ठित पद पर थे, अतः सैनिक शिक्षा के साथ पढ़ने और लिखने की भी शिक्षा मिली। किम्बदन्ती यह भी है कि रज्जबजी का जन्म मद्य बेचने और निकालने वाली कलाल जाति के यहाँ हुआ था। बीस वर्ष की अवस्था मे आँबेर के पठान कुल में शादी के लिए जाते समय रास्ते में दाद्दयालजी से मिलने गये तो गुरु की कृपा और प्रभाव के कारण फिर आजीवन वहीं रहे। इस दृष्टि से इनका दीक्षा काल सं० १६४४ है। दाद्दयालजी पर इनकी अन्यतम श्रद्धा थी। शरीर से अत्यंत हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर व्यक्ति थे। संतों साधुओं का अपरिमित सम्मान करते थे। इनकी मृत्यु सं० १७४६ में १२२ वर्ष की अवस्था में हुई। सांगानेर इनकी गद्दी है, जहाँ इनसे सम्बद्ध वस्तुएँ रखी हैं। इनके चलाए हुए पंथ का नाम 'रजबावत' है।

संत समागम, गुरुकृपा और आत्मानुभूति के कारण रज्जब जी २० वर्ष की अवस्था से ही रचना करते थे। विविध छंदों में गुरुमहिमा, निर्गुण ब्रह्म की जटिल प्रतीति, नामसाधना आदि प्रमुख विषय हैं जिनको रज्जबजी ने अभिव्यक्ति दी है। स्वानुभूति का कथन और संतों की रचनाओं का संकलन दोनों का प्रमाण इनके ग्रंथो में है। इनके प्रसिद्ध तीन ग्रंथों 'अंगबधू', 'सब्बंगी' और 'वाणी' में अन्य संतों की वाणियों का भी सग्रह है। 'अंगबधू' दाद्दयाल की रचनाओं का सग्रह है। 'सब्बंगी' अप्रकाशित है। इसमें दादू के अतिरिक्त नामदेव कबीर, रैदास, पीपा, नानक आदि प्रसिद्ध संतों की बानियाँ हैं। 'वाणी' में स्वयं रज्जबजी की भी रचनाएँ संकलित हैं। इन्होंने साखी, पद, सवैया, अरिल्ल, छप्पय आदि विविध छंदों में रचनाएँ की हैं। इनकी उपलब्ध वाणियों का नवीन और अच्छा संस्करण 'रज्जब वाणी' शीर्षक से डॉ० बृजलाल वर्मा द्वारा संपादित होकर १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

[संदर्भ ग्रंथ : रज्जबवाणी–बृजलाल वर्मा, संत काव्य की परम्परा–परशुराम चतुर्वेदी]

–स० प्र० मि०

रघुवीर सिंह–'मिश्रबन्धु विनोद' के अनुसार ये सिगरामऊ (जिला जौनपुर) के जमीदार थे। जन्म सन् १८२० ई०। खोज विवरण (प्रथम त्रैवार्षिक) के अनुसार इनका जन्मकाल १८४० ई० है, जो भ्रामक है क्योंकि इनके ग्रन्थ 'काव्य रत्नाकर' का रचनाकाल ही १८४० ई० दिया हुआ है। इस ग्रन्थ की प्रति सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, टीकमगढ़ में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इनके चार ग्रन्थ और माने जाते हैं–'भूषण कौमुदी, 'पिंगल', 'नामार्णव' और 'रस रत्नाकर'। 'भूषण कौमुदी' में अलकार, 'पिंगल' मे छन्दशास्त्र, 'नामार्णव' में कोश और 'रस रत्नाकर' में रस के विषय का विवेचन हैं। 'काव्य रत्नाकर' मे काव्यशास्त्र के विविध अगो को एक साथ लिया गया है।

[सहायक ग्रन्थ–मि० वि०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा०६)।]

–सं०

रणमल्ल छंद–रणमल्ल-छन्द की रचना श्रीधर ने की थी। यह कवि ईडर के राजा रणमल्ल राठौर के आश्रित था। श्रीधर की जाति 'व्यास' बतलायी गयी है। 'रणमल्ल-छन्द' में केवल ७० छन्द हैं। इसमें पाटण के सूबेदार जफर खाँ और रणमल्ल के युद्ध का वर्णन है। रणमल्ल ने वीरतापूर्वक युद्ध करके अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित किया था। यह घटना १३९७ ई० की है। अतएव इसी तिथि के आस-पास श्रीधर ने इस काव्य की रचना की थी।

रणमल्ल–छन्द में वीर-रस का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। यह अत्यन्त ओजपूर्ण ग्रन्थ है। कवि का भाषा पर पर्याप्त अधिकार जान पड़ता है। श्रीधर ने ऐसी शब्द-योजना की है, जो ध्वनि की दृष्टि से वीर-रस के उपयुक्त होती है। इसमें आर्या, चुप्पई दूह (दूहा) सिंहविलोकित, पंचचामर, हांढकी, दुमिला, भुजंगप्रयात तथा छप्पय छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार श्रीधरकृत 'रणमल्ल-छन्द' चारणी साहित्य की परम्परामें विरचित शुद्ध डिंगल का एक उत्तम काव्य है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं की पूर्ण रक्षा हुई है। साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह काव्य-ग्रन्थ एक अत्यन्त सफल रचना है।

–टी० सिं० तो०

रतन कवि–अत्यन्त संक्षेप में 'शिवसिंह सरोज' में इस नाम के तीन कवियों की स्थिति बतायी गयी है। काल-क्रम के विचार से उनमें प्रथम हैं प्रसिद्ध संस्कृत रस-ग्रन्थ 'रसमंजरी' का भाषा में उल्था करने वाले पन्ना के राजा सभासिंह (शासनकाल सन् १७३९-१७५२ ई०) के आश्रित रतन, जिनका जन्मकाल था सन् १८६१ ई०, जिसकी पुष्टि ग्रियर्सन ने भी की है। दूसरे रतन श्रीनगर के राजा फतेहशाह बुन्देला के आश्रित 'फतेहशाह भूषण' और 'फतेहप्रकाश' के रचयिता हैं, जिनका जन्म समय सन् १७६१ ई० है। इसी प्रकार तीसरे रतन जाति के ब्राह्मण और बनारस के वासी थे। इनका जन्म-काल था सन् १८४८ ई०। ये 'प्रेमरतन' नामक भक्ति-भावपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता भी कहे गये हैं।

इनमें दूसरे रतन सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण हैं। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा मेदिनीशाह के पुत्र फतेहशाह के

(शासन-काल सन् १६८४-१७१६ ई०) दरबारी कवि थे। रामचन्द्र शुक्ल ने इनका काव्यकाल सन् १७७३ ई० के आस-पास माना है, जो आश्रयदाता के समय को देखते हुए ठीक नहीं ज्ञात होता। इस कवि की तीन कृतियाँ बतायी गयी हैं—'फतेहभूषण', 'फतेहप्रकाश' और 'अलंकार दर्पण'। 'अलंकार-दर्पण' दतिया राजपुस्तकालय, दतिया से प्राप्त है। 'फतेहभूषण' एक उत्कृष्ट रीति-ग्रन्थ है, जिसके अन्तर्गत शब्द-शक्ति-, काव्य-भेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का सुविस्तृत वर्णन किया गया है। उदाहरणों के रूप में श्रृंगारिक छन्दों को न रखकर कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा से सम्बद्ध छन्दों को ही अधिक रखा है। 'फतेहप्रकाश' भी ठीक इसी प्रकार का ग्रन्थ है। 'अलकार-दर्पण' का रचनाकाल सन् १७७० ई० है। इसमें अलंकारों का बड़ा विशद् निरूपण किया गया है। इनके अतिरिक्त भी खोज-विवरणों में 'बुध चातुरी विचार', 'चूक विवेक', 'विष्णुपद' नामक रचनाएँ भी रतन कविकृत ही कही गयी हैं किन्तु उनके रचना-काल की जानकारी के अभाव में यह निश्चय कर पाना कठिन है कि कौन किस रतन की रचनाएँ हैं। कवित्व तथा आचार्गत्व, दोनों ही दृष्टियों से दूसरे रतन कवि की तीनों रचनाएँ गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी हैं। लक्षण बड़े साफ और स्पष्ट हैं। काव्य-कौशल काफी प्रगाढ़ और भाव-व्यंजना पर्याप्त पुष्ट तथा स्वानुभूतिपूर्ण है। भाषा मधुर और विषयानुकूल स्फुरित होने वाली है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (वा० १९०४ ई०, त्रै० १, २, १२); मि० वि०; दि० भू०; शि० भू०; हि० का० शा० इ०।]

—रा० त्रि०

रतनखान—दे० 'मलूकदास'।

रतनबावनी—यह कवि केशवदास की प्रथम रचना है। रचनाकाल अनुमानतः सन् १६०१ और १६०७ के बीच माना जा सकता है। इसका प्रकाशन प्रताप प्रभाकर प्रेस, टीकमगढ़ से सन् १९१७ ई० में हुआ था।

'रतनबावनी' में मधुकर शाह के पुत्र रत्नसेन के वीरोत्साह का वर्णन ५२ छन्दों में किया गया है। गणपति वन्दना का एक छन्द तथा 'युद्ध के कारण' विषयक चार छन्द सहित ग्रन्थ में कुल ५७ छन्द हैं। युद्ध का कारण यह बताया गया है कि जब मधुकर शाह अकबर के दरबार में गये तो उसने इनका जामा देखकर पूछा कि आपका जामा ऊँचा क्यों है, उन्होंने उत्तर दिया कि हमारा देश कांटो से भरा है। इसी से जामा ऊँचा रखते है। 'काँटों से भरा' का व्यंग्यार्थ अकबर ने 'किसी के द्वारा अजेय' लगाया। उसने कुपित होकर कहा कि मैं आपका देश देखूँगा। मधुकर शाह ने इसका अभिप्राय जान लिया। उन्होंने अपने पुत्र रत्नसेन को पत्र लिख भेजा कि युद्ध के लिए प्रस्तुत रहना, बादशाह की सेना ही आक्रमण करनेवाली है। 'रतनबावनी' में इसी चढ़ाई और रत्नसेनकृत प्रतिरोध का वीरोल्लासपूर्ण वर्णन है। ब्राह्मण, स्वयं राम तथा साथियों के मना करने पर भी वह युद्ध से विरत नहीं होता। युद्ध में साथियों के वीरगति प्राप्त करने पर वह अकेला रक्तरंजित युद्ध करता हुआ होली खेलने वाले कन्हैया की शोभा को प्राप्त होता है। वह सारी सेना को मार डालता है और स्वयं भी युद्ध से बचकर नहीं जाता।

इस युद्ध का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलता। केशव ने 'वीरचरित्र' में रत्नसेन के अकबर द्वारा सम्मानित होने की चर्चा की है और साथ ही यह भी लिखा है कि इसने गौर देश जीतकर अकबर को दिया और उस युद्ध में मारा गया। पर इतिहास-ग्रन्थो में यह वर्णन भी नही मिलता। दोनों कथानकों में विरोध स्पष्ट है। अतः यही मानना पड़ता है कि 'रतनबावनी' का कथानक काव्यगत सत्य है, इतिहासगत नहीं।

'रतनबावनी' छोटा-सा संवादात्मक निबन्ध-काव्य है और युद्धादि के पारम्परिक वर्णन जिस प्रकार होते थे, उनका खासा नमूना है। संवादों के द्वारा उत्साह की अभिव्यक्ति बहुत ही मार्मिक हुई है। रत्नसेन का चारित्र्यगत वैशिष्ट्य एवं उसके शौर्य का वर्णन करना कवि को अभिप्रेत था जिसमें वह पूर्णतः सफल हुआ है।

इस ग्रन्थ की रचना व्यंजनों को द्वित्व करने एवं शब्दों को अन्त्यानुप्रासयुक्त रखनेवाली वीरगाथाओं की पुरानी शैली में है और उस युग में प्रचलित प्रसिद्ध दोहा और छप्पय छन्दों में की गयी है। इसकी भाषा में पुरानापन अधिक है।

—वि० प्र० मि०

रतनसेन—राजा रतनसेन 'पद्मावत' की प्रेमगाथा का नायक है, जिसे जायसी ने 'चितउरगढ़राजा चित्रसेन' का पुत्र होना बताया है (६-१) और कहा है कि उसका स्वर्गवास हो जाने पर यही उसका उत्तराधिकारी हुआ (७-६)। परन्तु इतिहास हमें किसी भी ऐसे रतनसेन का परिचय नहीं देता, प्रत्युत उससे यह पता चलता है कि वास्तव में यह रावल समरसी (समरसिंह) चित्तौड़नरेश का पुत्र था तथा यह "निश्चित है कि समरसिंह की मृत्यु और रत्नसिंह का राज्याभिषेक सन् १३०१-२ वि० सं० १३५८ माघ सुदी १० और वि० सं० १३५९ माघ सुदी ५ के बीच किसी समय होना चाहिए" ('ना० प्र० पत्रिका' भा० ११, पृ० १५), जिससे इसका सुल्तान अलाउद्दीन का सन् १२९६-१३१६ ई० (सं० १३५३-७३), समकालीन होना भी सिद्ध हो जाता है तथा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह एक ऐतिहासिक पुरुष था। जायसी ने इसका परिचय ठीक नहीं दिया है और न इसके सुल्तान के साथ होने वाले युद्ध की अवधि का ही सही पता दिया है। इतिहास के अनुसार सुल्तान ने सन् १३०२ ई० (सं० १३५९ माघ सुदी ९) को चित्तौड़ के लिए प्रस्थान किया, छः महीने के करीब लड़ाई होती रही, जिसमें रत्नसिंह मारा गया और "सन् १३०३ (वि० सं० १३६० भाद्रपद सुदी १४) को अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर अधिकार हो गया। यह समय सात महीने से कुछ ही अधिक का होता है परन्तु जायसी का कहना है "आठ बरस तक गढ़ घिरा रहा" (४३-१८) और तदन्तर परस्पर मेल की बातें चली तथा घनघोर युद्ध भी हुआ। अतएव जायसी ने अपने वर्णन में सम्भवतः कल्पना से काम लिया है और अन्य कई बातों की भाँति इसे भी इतिहास विरुद्ध रूप दे दिया है। इतिहास द्वारा अभी तक हमें उक्त राजा रतनसेन या रत्नसिंह के व्यक्तिगत जीवन का कोई विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है, जिसके आधार पर हम उसे एक आदर्श प्रेमी कह सकें अथवा इस दशा में उसकी सिंहल-यात्रा का ही कोई अनुमान कर सकें। अपने ऐतिहासिक रूप में वह "लगभग एक वर्ष ही चित्तौड़ का राजा रहा; उसमें भी अन्तिम छः मास तो अलाउद्दीन के साथ लड़ता

रहा'', जहाँ जायसी के अनुसार ''बारह मास तो उसकी रानी नागमती ने उसके वियोग मे रो रोकर बिता दिए'' (३०-१७) और उसकी दशा का पता पाकर सिंहल में वह अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर किसी प्रकार चित्तौड़ गढ़ वापस आ गया।

जायसी का राजा रतनसेन अत्यन्त भावुक है और यह सूए के मुख से पद्मावती का नख-शिख वर्णन सुनते ही मूर्च्छित हो जाता है, मानो इसे सूर्य की लहर आ गयी हो (११-१) और वह फिर उसकी प्राप्ति के लिए विषम यात्रा तक स्वीकार कर लेता है। वह एकांतनिष्ठ प्रेमी है और उसका कहना है, ''उसका द्वार छोड़कर मैं दूसरा नहीं जानता। जिस दिन वह मिलेगी उस दिन यात्रा पूरी होगी'' (२४-८) तथा इसी प्रकार अप्सरा बनकर आयी हुई पार्वती से स्पष्ट कह देता है, ''मैं स्वर्ग लेकर क्या करूँगा, मेरे लिए यही स्वर्ग है कि मैं उसके लिए प्राण दे दूँ। मेरा निश्चय है कि उसके द्वार पर जीवन बार दूँगा और सिर उतारकर न्योछावर कर डालूँगा'' (२२-४)। वह अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के प्रयत्न में कभी-कभी अधीर हो उठता है, सेंध लगाता है और झूठ भी बोलता है परन्तु इसके साहस और आशावादिता का परिचय इसकी सिंहल-यात्रा के प्रत्येक पग पर मिलता जान पड़ता है। जायसी के इस राजा रतनसेन में किसी प्रकार के छल-कपट का लक्षण नहीं पाया जाता और अलाउद्दीन जैसे शत्रु की चालों के विरुद्ध अपने हितैषियों द्वारा सचेत किये जाने पर भी वह भुलावे में आकर अनेक भूलें कर बैठता है, जो इसकी अदूरदर्शिता का भी परिचायक है। एक सच्चे राजपूत की भाँति वह अपनी आन की रक्षा के लिए मर-मिटने के लिए तैयार होना भी जानता है। वह अलाउद्दीन के प्रस्ताव को ठुकराते समय सगर्व कथन करता है और देवपाल के षड्यन्त्र का पता पाकर अमर्ष में भी आ जाता है। इस दूसरे अवसर पर वह सहसा कह उठता है, ''जब तुर्क चित्तौड़ गढ़ आकर पहुँचे, उससे पहले ही मैं उसे (देवपाल को) पकड़ लाऊँ तो मैं राजा रतनसेन हूँ'' (५५-१) और ''अपने शत्रु द्वारा आहत होकर भी वह उसे दो टुकड़े कर देने से नहीं चूकता'' (५५-२)। जायसी का राजा रतनसेन एक धीरोदात्त नायक होने के साथ ही, एक सच्चा प्रेमी भी है और सूफी साधकों का आदर्श होने योग्य है।

—प० च०

रति—रति का उल्लेख प्राचीनकाल से ही वेद, 'शतपथ ब्राह्मण' एवं उपनिषदों में होता चला आ रहा है। इन परम्पराओं में इसे सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी एवं उषा आदि के समकक्ष कहा गया है। पौराणिक परम्परा में दक्ष की पुत्री एवं 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार गन्धर्व कन्या के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। दक्ष एवं गन्धर्व वस्तुतः विलासी जातियाँ रही हैं, अस्तु रति का इनसे सम्बन्ध स्थापित करने का कारण वासनात्मक प्रवृत्ति ही है। इसके अन्य नामों में 'मायावती' नाम भी प्रायः उसके वासनात्मक रूप की ओर ही इंगित करता है। काम के मूर्तीकरण के अनन्तर 'रति' को उसकी पत्नी कहा गया है एवं कामदेवसम्बन्धी अनेकानेक कथाओं में इसे सहचारिणी भी बताया गया। शिव के मदन-दहन प्रसंग में उषा या मायावती के रूप में शोणितपुर के दैत्यराज बाणासुर एवं कोटरा नामक दैत्यानी से इसका जन्म कहा गया है। अपनी सखी 'चित्रलेखा' के योगबल की सहायता से कृष्ण के पौत्र एवं प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध से विवाह करती है, जो कामदेव के दूसरे अवतार कहे जाते हैं। महाभारत में यह भी उल्लेख मिलता है कि इनसे 'बज्र' नामक पुत्र भी पैदा हुआ था। हिन्दी-साहित्य में रति सम्बन्धी उल्लेख तुलसी, नन्ददास, प्रसाद आदि कवियों के काव्य में प्राप्त है।

—यो० प्र० सिं०

रत्नसिंह—मेवाड़ का एक वीर योद्धा रत्नसिंह राणा प्रताप का समसामयिक था। राणा प्रताप को हल्दीघाटी के युद्ध मे संकटग्रस्त जानकर इसने उनका मुकुट पहनकर उनके प्राणों की रक्षा की थी। मुगल सैनिकों ने इसी को राणाप्रताप समझकर मार डाला। श्यामनारायण पाण्डेय ने 'हल्दीघाटी' नामक महाकाव्य में इसके कौशल एवं वीरता का सजीव वर्णन किया है।

—यो० प्र० सिं०

रत्नांबर—महाप्रभु रत्नाम्बर के दर्शन 'चित्रलेखा' उपन्यास के प्रारम्भ में होते हैं और अन्त में, बीच-बीच में कभी-कभी बीजगुप्त के गुरुरूप में उनका उल्लेख आ जाता है पर उससे कोई चरित्रसम्बन्धी रूपरेखा नहीं बनती। जितनी देर के लिए वे सामने आते हैं, उससे ज्ञात होता है कि वे आकाशधर्मा गुरु थे। वे स्पष्ट रूप से, शिष्य के प्रश्न के उत्तर में, स्वीकार करते हैं कि उन्हें स्वयं नहीं ज्ञात कि पाप क्या है? उनका विश्वास था कि जो बात अध्ययन से नहीं जानी जा सकती, उसे अनुभव से जाना जा सकता है, पर वे अपने शिष्यों को सावधान कर देते हैं कि अनुभव के प्रवाह में ''स्वयं न बह जाना।'' अन्यत्र वे श्वेतांक से अच्छी वस्तु की कसौटी बताते हुए कहते हैं, ''अच्छी वस्तु वही है, जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो।'' उनके विचारों के सम्बन्ध में कुमारगिरि की टिप्पणी है कि वे ''नास्तिकता की ओर झुके हुए हैं।'' उपन्यास के अन्त में अपने दोनों शिष्यों के विचारों को जानने के पश्चात् वे अपना मत उपस्थित करते हुए कहते हैं, ''संसार में पाप कुछ नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।...मनुष्य अपना स्वामी नहीं, परिस्थितियों का दास है।...हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।'' पर इस मत को भी स्वीकार करने के लिए अपने शिष्यों को वे बाध्य नहीं करते।

—दे० शं० अ०

रत्नाकर—दे० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'।

रत्नावली—१.किंवदन्ती के अनुसार तुलसीदास की भारद्वाज गोत्रीया पत्नी का नाम रत्नावली था। आसक्तिवश जब वे वर्षा की रात्रि में सर्प को रस्सी समझकर उसके सहारे रत्नावली के पास पहुँचे तो उसने कहा—''लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ। धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ।। अस्थिचर्ममय देह मम तामें जैसी प्रीति। तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति।।'' इसे सुनकर तुलसीदास को सचमुच विरक्ति हो गयी। प्रियादासने 'भक्तमाल' की अपनी टीका में इसे लिखा है। 'तुलसी-चरित्र' और 'गोसाईं-चरित्र' में भी इसकी चर्चा है।

२. रत्नावली नाम की एक अनन्य हरिभक्त महिला भी थी। ये आमेर के राजा मानसिंह की भ्रातृवधू थीं। इनके पति

का नाम माधवसिंह था।

—मो० अ०

रमाकांत त्रिपाठी—जन्म १९०० ई० में कानपुर में हुआ। शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। जोधपुर के एक कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष तथा प्रधानाचार्य रहे। अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनों माध्यमों से आपने लिखा है। आपकी सर्वाधिक प्रसिद्ध समीक्षा-कृति 'हिन्दी गद्य मीमांसा' (१९२६ ई०) है। अन्य कृतियों मे 'प्रताप पीयूष' उल्लेखनीय है।

—सं०

रमानाथ—प्रेमचन्दकृत 'गबन' का पात्र। रमानाथ दयानाथ का पुत्र है। उसका पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से हुआ है, किन्तु जब तक वह प्रयाग में रहा अपने को धोखा देने के साथ-साथ दूसरों को भी धोखा देता रहा। वह अपनी वास्तविक स्थिति से बढ़-चढ़कर बात करता है और झूठी शान मारता है। विवाह के पश्चात् अपनी शौकीनी और पत्नी की आभूषणों की इच्छा पूर्ण करने के लिए हैसियत से बाहर काम करता है और अन्त में गबन कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप उसके सामने बड़ी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस पर भी वह अपने मन की बात हृदय में ही रखता है। वह स्पष्ट बात करने वाला होता तो कभी कठिनाई में न पड़ता। इसके अतिरिक्त उसमें दृढ़ता और साहस का अभाव है। वह पत्नी के जेवर चुराता है, माता-पिता से झूठ बोलता है, रतन को धोखे में रखता है और अपनी पत्नी जालपा के सामने सच बात कहने का साहस भी नहीं रखता। उसमें जबरदस्त प्रलोभन है और वह दुर्बल मनोवृत्ति का पात्र है। गबन करने के बाद वह कलकत्ता चला जाता है। रमानाथ का कलकत्ते का चरित्र उसके प्रयागवाले चरित्र का ही विकसित रूप है। वह पुलिस के प्रलोभनों में पड़कर झूठी गवाही देता है। अन्त में पत्नी की मध्यस्थता द्वारा उसमें सुधार होता है। रमानाथ मध्यम वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि है और वर्गगत सारी दुर्बलताएँ और सबलताएँ लिये हुए है। उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है।

—ल० सा० वा०

रमेश—भगवतीचरण वर्माकृत 'तीन वर्ष' उपन्यास का नायक रमेश सांसारिक वैभव से नितान्त अनजान, गरीब लेकिन मेधावी युवक है। एक विचित्र संयोग से वह एकदम वैभवशाली वर्ग के प्रतिनिधि अजित कुमार सिंह का मित्र बन इस नये लोक से अभिभूत होकर जिस जीवन की कल्पना करता है, उसमें उसकी सहपाठिनी 'प्रभा अध्यक्ष' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रोमाण्टिक आदर्शवाद से भरा हुआ यह मध्यवर्गीय युवक अपनी स्वर्गीय प्रेम की कल्पना को शीघ्र ही ध्वस्त होता देखता है, जब प्रभा उसके विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। अस्वीकारण का मुख्य आधार धन की असमानता है। उच्चवर्ग से दुत्कारे जाने पर वह अनुभव करता है कि "प्रभा के लिए प्रेम ढोंग है और उसके लिए अभिशाप"। हताशा से आक्रान्त रमेश अपने सबसे बड़े मित्र, उपकारक एवं उच्चवर्ग में प्रवेश कराने के बाद भी उस वर्ग की प्रवृत्ति के प्रति चेतावनी देते रहने वाले अजित की हत्या का असफल प्रयास करता है एवं इसी निराशा एवं फ्रस्ट्रेशन में वह पढ़ना भी छोड़ता है, शराब पीना शुरू करता है और कुछ-कुछ दार्शनिक किस्म का वेश्यागामी भी हो जाता है। वास्तव में इसी स्थल पर आकर उसका व्यक्तित्व सजग होता है और वह दूसरों पर अपनी छाप लगाने लगता है, अन्यथा उपन्यास के प्रारम्भिक भाग में तो वह अजित के व्यक्तित्व के समक्ष एकदम दबा रहता है। सरोज वेश्या उसके प्रेमपाश में बँध जाती है। पर रमेश अपने जिस अतीत को भुलाना चाहता है, वह उसकी चेतना को इतना आच्छन्न किये है कि इस प्रेम की सचाई का अनुभव उसे सरोज की मरणशैया में ही होता है। प्रेम के इस पवित्र निर्मल रूप ने उसकी आत्मा को पुनः मुक्त किया। वह सरोज को दिये गये वचन के अनुसार शराब छोड़कर पुनः विश्वविद्यालय में आ जाता है। 'प्रभा अध्यक्ष' सरोज के उत्तराधिकार में प्राप्त रमेश के धन को देखकर विवाह में कोई अड़चन नहीं देखती, पर रमेश के लिए उच्चवर्ग की यह नैतिकता शुद्ध रूप से वेश्यावृत्ति प्रतीत होती है। सम्पूर्ण उपन्यास में उसका चारित्रिक विकास कथा की विशिष्ट गति के अनुकूल है, बल्कि कहा यों जाय कि लेखक के अभीष्ट विचार के अनुकूल है। यह विचारानुकूलता विविध परिस्थितियों के मध्य उसके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध नहीं करती।

—दे० शं० अ०

रमैनी—कबीर पन्थ के प्रामाणिक ग्रन्थ 'बीजक' में 'रमैनी' का समावेश किया गया है। इनकी संख्या चौरासी है। इन रमैनियों में कबीर ने माया का निरूपण ही अनेक प्रकार से किया है। माया के निरूपण में जीव ही प्रधान रूप से वर्णित है क्योंकि वही माया में रमण करता है। इस प्रकार माया में रमण करने वाले जीव को ही कबीर के 'बीज़क' में 'रमैनी' का रूप दिया गया है।

मध्य प्रदेशान्तर्गत रायगढ़ जिले में खरसिया के एक सन्त का कथन है कि माया का तिरस्कार कर ईश्वर (राम) के पहिचान कराने वाले पदों को ही कबीर ने 'रमैनी' कहा है। 'रमैनी' में राम को पहिचानने एवं उनकी ओर आकृष्ट होने का भाव अनेक बार आया है। कुल चौरासी रमैनियों में राम का नाम पचीस बार आया है और सबमें यही भाव है : "कबीर और जाने नहीं राम नामकी आस" (रमैनी ३)।

'रमैनी' माया के अनेक अंग तथा उसके वास्तविक रूप को जानकर उससे बचने के लिए ही कही गयी है। पहली रमैनी में "अन्तर्जोति" के वर्णन करने के बाद दूसरी रमैनी में ही माया का निरूपण किया गया है : "बाप पूत की एकै नारी। एकै माय बियाय। ऐसा पूत सपूत न देखा। जो बापहि चीन्हैं धाय"।।

अन्तिम रमैनी में भी माया पर ही विचार किया गया है : "माया मोह बँधा सब कोई अन्तै लाभ मूल गा खोई।।" यह चौपाई लिखने के बाद यह साखी है : "आपु आपु चेतै नहीं, कहौं तो रुसवा होय। कहहि कबीर जो आपु न जागै निरस्ति आस्तिक न होय।।

स्वयं कबीर ने रमैनी को माया में रमण करने के अर्थ में लिखा है : "कर्मै कै कै जग बौराया। सक्त भक्ति कै बाँधिन माया।। अद्भुत रूप जाति की बानी। उपजी प्रीति 'रमैनी' ठानी।।" (रमैनी ४)।

अतएव 'रमैनी' का अर्थ जीव की उस दशा का वर्णन है, जिसमें वह माया के रूप से मोहित होकर तथा उसके वशीभूत होकर उसमें लीन हो जाता है, अथवा उसमें रमण करने लगता है।

मायाजनित "आकर चार लाख चौरासी" की दृष्टि से ही

हैं।

रहस्यात्मक अनुभूतियों के अतिरिक्त इस संग्रह की अनेक कविताओं में छायावाद की सामान्य प्रवृत्ति—विराट् विश्व के प्रति जिज्ञासामूलक दृष्टि वर्तमान है। विश्व-जीवन, उसके मूल स्रोत, विकास और नाश, जगत् का सौन्दर्य और वैचित्र्य, सभी उसके कुतूहलपूर्ण प्रश्नों के विषय हैं। इस जिज्ञासा-वृत्ति के फलस्वरूप वह अपने और अपने अज्ञात प्रिय के तात्त्विक रूप को पहचानने में सफल होती हैं। इस तरह उनकी विरह-वेदना ही उनकी व्यक्ति-सत्ता का समष्टि सत्ता से तादात्म्य स्थापित करती है। 'रश्मि' का प्रकाश उसी ज्वलन्त वेदना का प्रकाश है।

इस संग्रह में विषयों का वैविध्य कम है फिर भी 'नीहार' की अपेक्षा इसमें कुछ अधिक विषयों का समावेश हुआ है। प्रकृति के सौन्दर्य-दर्शन के साथ-साथ 'समाधि', 'दुविधा', 'अन्त' और 'मृत्युसे' शीर्षक कविताओं में कवयित्री ने भौतिक जगत् की वस्तुओं और समस्याओं पर भी दृष्टि डाली है।

—शं० ना० सिं०

रसखान—कृष्ण-भक्त कवियों में रसखान का बड़ा मान है। ये मुसलमान होते हुए भी वैष्णव-भाव में सराबोर रहे। ये दिल्ली के पठान सरदार कहे जाते हैं। मिश्रबन्धु इनका जन्मकाल १५४८ ई० (१६१५ वि०) के लगभग और मरणकाल १६२८ ई० (सं० १६८५ ई०) के लगभग मानते हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ ही अधिक प्रसिद्ध हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि ये पहले एक बनिये के लड़के पर आसक्त थे, सदा उसी के पीछे-पीछे फिरा करते और उसका जूठा खाया करते थे। एक बार इन्होंने दो व्यक्तियों को आपस में यह कहते सुना कि ईश्वर में ऐसा ध्यान लगाना चाहिए जैसा कि रसखान ने साहूकार के लड़के में लगाया। इसके बाद ही रसखान चौंक गये और श्रीनाथजी के दर्शनों के लिए गोकुल पहुँचे, जहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ग्रहण की। इनकी भक्ति की प्रबलता के कारण इन्हें गोस्वामी के २२५ मुख्य शिष्यों में स्थान प्राप्त हुआ। दूसरी आख्यायिका यह है कि इनकी प्रेमिका बड़ी मानिनी थी और इनका तिरस्कार किया करती थी। "एक दिन जब ये श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे तब उसमें गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम देखकर इनके मन में आया कि क्यों न उसी कृष्ण पर लौ लगाई जाय, जिस पर इतनी गोपियाँ उत्सर्ग हो रही थीं"। इसी में ये वृन्दावन गये।

इन्होंने 'प्रेम वाटिका' में अपने सम्बन्ध में लिखा है—'देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान। छिनहिं बादसा वंश की, ठसक छोरि रसखान। प्रेम निकेतन श्री वनहिं, आइ गोवर्धन धाम। लह्यो सरन चित चाहि के, जुगल सरूप ललाम। तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मानिनी मान। प्रेम देव की छविहिं लखि, भए मियाँ रसखान"। उपर्युक्त पंक्तियों में "तोरि मानिनी ते हियो" से बनिये के लड़के के प्रति आसक्ति की बात का समर्थन नहीं होता। ये अपने को पठान नहीं "बादसा वंश" के कहते हैं। उसी की ठसक उन्होंने छोड़ी थी। 'प्रेम वाटिका' के रचनाकाल के सम्बन्ध में उनका दोहा है—"विधु सागर रस इन्दु सम, बरस बरस रसखान। प्रेम वाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरख बखानि"। इससे सिद्ध होता है कि उसकी रचना १६१४ ई० (सं० १६७१ ई०) में हुई है। यह मुगल बादशाह जहाँगीर का समय है। हो सकता है, रसखान मुगल बादशाह के ही वंशज हों।

मिश्रबन्धु और रामचन्द्र शुक्ल इन्हें विट्ठलनाथ का शिष्य बतलाते हैं, परन्तु चन्द्रबली पाण्डे इस मत का समर्थन नही करते। उनका कहना है कि "श्रीनाथजी के जिस बाल-रूप की वल्लभ सम्प्रदाय में इतनी प्रतिष्ठा है, रसखान की रचना में उसका सर्वथा अभाव है। स्वयं रसखान ने भी कहीं इसका उल्लेख नहीं किया"। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'उत्तर भक्तमाल" मे इनकी कीर्ति गायी है और राधाचरण गोस्वामी ने भी 'नव भक्तमाल' में इनकी स्तुति की है और उसमें इन्हें 'बादसा-वंश-विभाकर' कहा है और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार श्रीनाथजी का भक्त बतलाया है।

इनके 'प्रेम वाटिका' और 'सुजान रसखान' नामक दो ग्रन्थ किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा वृन्दावन से १८६७ ई० में तथा भारत जीवन प्रेस, बनारस से १८९२ ई० में प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी ब्रजभाषा टकसाली सरस और सरल है, शब्दाडम्बर जरा भी नहीं है। उन्होंने दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। उनके निम्न दो सवैये तो प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी की जिह्वा पर नाचते रहते हैं—"मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन"। तथा "या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं"। 'वार्ता' में लिखा है कि इन्होंने अनेक 'कीर्तनों' की भी रचना की है पर वे उपलब्ध नहीं हैं। 'सुजान रसखान' में १२९ छन्द हैं, जिनमें सवैया और घनाक्षरी की प्रचुरता है। इनकी रचनाओं में प्रेम का अत्यन्त मनोहारी चित्रण हुआ है। यह कवि अपनी प्रेम की तन्मयता, भाव-विह्वलता और आसक्ति के उल्लास के लिए उतना ही प्रसिद्ध है, जितना अपनी भाषा की मार्मिकता, शब्द-चयन तथा व्यंजक शैली के लिए। रसखान ने अपनी रस-सिक्त रचनाओं से अपना नाम सार्थक कर दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०; हि० सा०; रसखान और घनानन्द : सं० अमीरसिंह।]

—वि० मो० श०

रसतरंगिणी—इसके रचयिता शम्भुनाथ मिश्र हैं। रचनाकाल लेखक ने स्वयं इस प्रकार दिया है—"रस वसु ससिधर बरस मैं पाय कविन को पंथ। फागुन बदि एकादसी पूरन कीनौं ग्रंथ।।४४४।।" इतिहासकार इस ग्रन्थ के बारे में या तो प्रायः मौन हैं या उन्होंने भ्रमपूर्ण सूचनाएँ उपस्थित की हैं। प्रायः इसका रचनाकाल सन् १७४९ ई० (सं० १८०६) माना गया है। 'हि० सा० बृ० इ०', षष्ठ भाग में दो स्थान पर यही संवत् मानकर भी पृष्ठ ४०२ पर इसका समय सं० १८२० के लगभग बताया गया है और नागरी प्रचारिणी सभा की किसी खण्डित प्रति के आधार पर सर्वथा किसी अन्य ग्रन्थ का परिचय दे डाला गया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सुरक्षित सम्पूर्ण प्रति हमारे देखने में आयी है और उसमें आरम्भ तथा अन्त में कवि के गुरु का नाम सुखदेव बताया गया है तथा प्रारम्भ में लेखक का नाम शम्भुनाथ तथा अन्त में समाप्ति पर शम्भुनाथ मिश्र स्पष्ट दिया गया है। ग्रन्थ का विषय रस-निरूपण तथा नायिका भेद मात्र है। सम्पूर्ण ग्रन्थ भानुदत्त मिश्र की 'रसतरंगिणी' का भाषानुवाद मात्र है, केवल उदाहरणों में

लेखक ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। ग्रन्थ मे कुल ४४५ छन्द हैं। लक्षण उदाहरण दोहो में दिये गये हैं। नवीनता केवल रसदृष्टि के कुछ नामों में है, यथा—कुणिता के स्थान पर कुत्सिता नाम दिया गया है, अर्द्धविकसिता, अर्द्धविवर्त्तिता तथा शून्या छोड़ दिये गये हैं तथा आवर्त्तिता, धर्मवर्त्तिता और अर्द्धवर्त्तिता नये रखे गये हैं। अनुवाद स्पष्ट और उदाहरण साधारण हैं। इस ग्रन्थ के देखते हुए हि० सा० बृ० इ० में दिया गया परिचय (पृ० ४०२-४०३) अग्राह्य है, जो नागरी प्रचारिणी सभा की किसी अन्य खण्डित प्रति के आधार पर दिया गया प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० भा० ६)।]

—आ० प्र० दी०

रसनिधि—इनका असली नाम पृथ्वीसिंह था और ये दतिया के एक जमींदार थे। ये १६६० ई० (सं० १७१७) तक वर्तमान थे। इनका रचनाकाल १६०३ ई० से १६४० ई० (सं० १६६० से १७१७) तक माना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रतन हजारा' है। इसके अतिरिक्त इनके अनेक फुटकर दोहे मिलते हैं। 'रतन हजारा' 'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर दोहा-छन्द में लिखा गया है। स्थल-स्थल पर बिहारी के भावों की झलक मिलती है। बिहारी के अतिरिक्त फारसी काव्य का भी यत्र-तत्र प्रभाव परिलक्षित होता है, जिससे रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "सुरुचि और साहित्यिक शिष्टता को आघात" पहुँचता है। 'रतन हजारा' के अतिरिक्त खोज में इनके 'विष्णुपद कीर्तन', 'कवित्त', 'बारहमासी', 'रसनिधि सागर', 'गीति संग्रह', 'अरिल्ला हिंडोला' आदि ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इनका एक अति प्रसिद्ध दोहा हैं : "लेहु न मजनू गोर ढिग, कोऊ लैला नाम। दरदवन्तको नेकु तौ लेन देहु बिसराम"।। रसनिधि को बिहारी-परम्परा का कवि माना गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; मि० वि०; हि० सा०।]

—वि० मो० श०

रसपीयूषनिधि—'रसपीयूषनिधि' सोमनाथ मिश्र का भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' से भी बड़ा काव्य के विविध अंगो का विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इसकी हस्तलिखित प्रति याज्ञिक संग्रहालय में प्राप्त है। इसमें प्रायः २२ तरंगें और ११२७ पद्य हैं। इसकी रचना सोमनाथ ने महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के विशेष आग्रह पर सं० १७९४ के ज्येष्ठ मास १०, कृष्णपक्ष में की थी। इसमें पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष आदि विषयों का निरूपण किया गया है। इसमें प्रथम तथा द्वितीय तरंग में वन्दना तथा परिचय आदि, तीसरी से पाँचवीं तरंग तक छन्द वर्णन, छठी तरंग में कविता की परिभाषा, उसका प्रयोजन तथा गुण और दोष की व्याख्या की गयी है। सातवीं में ध्वनि और भाव की मौलिक विवेचना, संचारी भावों के लक्षण, स्थायी भावों के लक्षण, रस, तत्पश्चात् विभाव, रस स्वामी, रस देवता का वर्णन है। आठवी में श्रृंगार-रस के संयोग और वियोग पक्षों का विवेचन तथा नायिका भेद है। ९वीं में परकीया, दसवीं में मान और मानमोचनी, ११वीं और १२वीं में नायिकाभेद, सखी दूत तथा १३वीं में नायक, सखा, दर्शन, अनुराग, चेष्टा आदि और १४वीं में हावों तथा १५वीं और १६वीं तरंग में वियोग-श्रृंगार तथा पूर्वानुराग की दस अवस्थाओं का वर्णन है। सत्रहवी में अन्य रसों और रसांगों, १८वीं में भाव-ध्वनि और रस-ध्वनि के साथ १२ प्रकार की अर्थ-ध्वनि और शब्दार्थ-ध्वनि का वर्णन है। १९वीं में गुणीभूत व्यग्य, २०वीं में दोषों के लक्षण और उदाहरण, २१वीं में गुण तथा २२वी में शब्दालंकार, चित्रालकार और अर्थालंकार का विस्तृत वर्णन है।

इस ग्रन्थ के निर्माण में सोमनाथ ने संस्कृत तथा हिन्दी के कतिपय आचार्यों के शास्त्र-ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया है। रस-प्रकरण भानु मिश्र की 'रसतरंगिणी' पर आधारित है, अन्य स्थलों पर मम्मट तथा विश्वनाथ का आश्रय लिया गया है। अलंकार-प्रकरण में शब्दालंकारो के लिए कुलपति के 'रस-रहस्य' का और अर्थालंकारों के लिए जसवन्तसिंह का आश्रय लिया गया है। नायक-नायिका-भेद के प्रकरण में भानुदत्त की 'रसमंजरी' का आधार है पर अधिकांशतः मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुसरण किया गया है। इन्होंने विषय को अधिक सरल बनाने की दृष्टि से सामग्री को संक्षेप रूप में और कभी-कभी अपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। सोमनाथ ने प्रस्तुत ग्रन्थ में लक्षण दोहे में और उदाहरण अन्य छन्दों में दिये हैं। इसमें लेखक ने यथास्थान अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देकर इसे काव्यशास्त्र का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ बना दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); क० कौ० (प्र० भा०)।]

—ह० मो० श्री०

रसप्रबोध—विलग्राम के रसलीन का रस के अन्तर्गत नायिका भेद प्रधान ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सन् १७४१ ई० है (सं० १७९८ की चैत्र शुक्ल ६, बुधवार)। जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना कहीं से आकर (फौज से छुट्टी लेकर) की गयी है। इसका प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, काशी तथा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें रस का वर्णन है। मुख्य रूप से श्रृंगार-रस और उसके अन्तर्गत नायिका-भेद का विशेष विस्तार है, अन्य रसों का तो अन्त में संक्षिप्त वर्णन दे दिया गया है। इनका सिद्ध छन्द दोहा है, समस्त ग्रन्थ इसी छन्द में है, लक्षण हों या उदाहरण।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी की पूर्ण व्याप्ति को इसमें रस माना गया है। रसलीन के अनुसार चित्त की भूमि पर स्थायी रूप बीच आलम्बन-उद्दीपन विभावरूपी जल के पड़ने पर अनुभावरूपी वृक्ष और संचारी भावरूपी फलों में व्यक्त हो जाता है और इन सबके संयोग से मकरन्द के समान रस की उत्पत्ति होती है। यह काव्यात्मक व्याख्या ही अधिक है। रसलीन ने सात्त्विकों को तन-संचारी माना है। श्रृंगार को रसराज इस कारण माना है कि इसके अन्तर्गत सभी स्थायी संचारी के रूप में आ जाते हैं। इनका नायिका-भेद प्रकरण 'रसमंजरी' पर मुख्यतः आधारित है पर कुछ नवीनता भी है। इसमें सामान्य ग्रन्थों की अपेक्षा विस्तार भी अधिक है। नायिका-भेद के बाद इसमें सखी, दूती, सखा तथा ऋतुसम्बन्धी विवेचन भी हैं।

इस समस्त विवेचन के अन्तर्गत कवि की भावुक तथा

कोमल दृष्टि सदा व्यक्त होती रहती है। विशेषकर चेष्टाओं, हाव-भावों तथा संचारियों का बहुत चित्रात्मक तथा व्यंजक वर्णन हुआ है। वस्तुतः इस ग्रन्थ से सिद्ध हो जाता है कि रसलीन शास्त्रीय सीमाओं में भी अपनी उक्ति की मार्मिकता तथा भावात्मक कोमलता का निर्वाह कर सके हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा०६); हि० का० इ०।]

—सं०

रसमंजरी १—दे० 'नन्ददास'।

रसमंजरी २—कन्हैयालाल पोद्दार द्वारा रचित 'काव्य-कल्पद्रुम' के प्रथम भाग का नाम 'रसमंजरी' है, जिसका प्रकाशन सन् १९३४ ई० में हुआ था। प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेच्य विषय रस है। रस, भाव, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना इत्यादि का विवेचन रस के अध्ययन के लिए लेखक ने आवश्यक समझा है। यह ग्रन्थ सात स्तवकों में समाप्त होता है। प्रथम में काव्य का लक्षण, भेद, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग, द्वितीय में शब्द और अर्थ, अभिधा लक्षण के विभिन्न भेद, तृतीय मे व्यंजना के भेदोपभेद, चतुर्थ स्तवक के प्रथम पुष्प में ध्वनि, द्वितीय पुष्प मे रस, तृतीय पुष्प में भाव, चतुर्थ पुष्प में संलक्ष्यक्रम व्यंग, ध्वनि, अलंकार और अलंकार्य, ध्वनियों की संसृष्टि, पंचम पुष्प में व्यंजना शक्ति का प्रतिपादन और महिम भट्ट के मत का खण्डन आदि किया गया है। पंचम स्तवक में गुणीभूत व्यंग, अगूढ़ अपरांग, वाच्यसिद्ध इत्यादि विभिन्न व्यंगों का विवेचन है। षष्ठ स्तवक में गुण और उसका सामान्य लक्षण और सप्तम में दोष का सामान्य लक्षण और उनका परिहार-विषय समझाया गया है।

इस विषय पर लिखी गयी पुस्तकों में 'रसमंजरी' असन्दिग्ध रूप से महत्त्व की पुस्तक है। लेखक का विवेचन अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तथा विषय के विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखकर अपेक्षया अधिक सन्तुलित ढंग से विश्लेषण और व्याख्या की गयी है। उदाहरण स्वरचित, संस्कृत से अनुवादित तथा हिन्दी के अन्य प्रतिष्ठित कवियों के काव्य से लिये गये हैं। भूमिका में लेखक ने काव्यावनति के कारण, काव्य से लाभ, साहित्य-शास्त्र पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत किया है। विषय का विवेचन सुलझा हुआ होने से पुस्तक की प्रौढ़ता और उपयोगिता बढ़ गयी है।

—नि० ति०

रसरंग—यह ग्वाल कवि का रसविषयक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सन् १८४७ ई० है—"सं० वेद रव निधि ससी माधव सित पख संग" अर्थात् सं० १९०४ वि०। हस्तलिखित प्रतियाँ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के निजी पुस्तकालय तथा याज्ञिक पुस्तकालय में प्राप्त हैं। इस ग्रन्थ में नौ रसों तथा रसांगों का विवेचन है। इसके आठ अध्यायों को उमंग कहा गया है। पहले में स्थायी भावों, अनुभावों, सात्त्विक भावों और संचारियों का, दूसरे, तीसरे, चौथे में नायिका-भेद का विषय, पाँचवें में सखी तथा दूती का वर्णन, छठे और सातवें में हाव, प्रवास, पूर्वानुराग, मान, वियोग की दस दशाओं का वर्णन तथा अन्तिम उमंग में शेष रसों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इसका आधार मुख्यतः भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' है। ग्वाल ने प्रत्येक रस के अनेक अनुभावों का वर्णन किया है। देव की भाँति ग्वाल ने अनुभावों के अन्तर्गत सात्त्विक भावों को न स्वीकार कर संचारियों को माना है। उन्होंने इसके तनज भेद को सात्विक और मनज को संचारी कहा है। अपने रस को छोड़कर अन्य रसों में जाने के कारण संचारी को व्यभिचारी कहने में विशिष्टता है। उन्होंने प्रत्येक इन्द्रिय से सात्त्विक भावों के प्रकट होने को स्वीकार कर चालीस सात्त्विक माने हैं परन्तु भगीरथ मिश्र के अनुसार इसमें "नवीनता अधिक और तथ्य कम जान पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय आठ सात्त्विक को प्रकट नहीं कर सकती।" ('हि० का० शा० इ०, पृ० १८६, प्र० सं० २००५ वि०)।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० का० शा० इ०; ब्रजभारती : मीतलजी का लेख (९।४)।]

—सं०

रस-रहस्य—इस ग्रन्थ के लेखक कुलपति मिश्र हैं और इसका रचनाकाल सन् १६७० ई० (सं० १७२७, कार्तिक बदी एकादशी) है। ग्रन्थ की रचना आश्रयदाता रामसिंह की आज्ञा से उनके विजयमहल में की गयी है। इसका प्रकाश बलदेव प्रसाद मिश्र के सम्पादन में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से सन् १९४० ई० में हुआ। रस-विवेचन को प्रधानता देते हुए भी इस ग्रन्थ में आठ वृत्तान्तों में ६५२ पद्यों में शास्त्रीय सिद्धान्तों को दोहा-सोरठा में तथा उदाहरणों को कवित्त-सवैया में रखते हुए 'काव्यप्रकश' तथा 'साहित्यदर्पण' के आधार पर अन्य विषयों का भी निरूपण किया गया है।

मंगलाचरण के पश्चात् राज-वर्णन, सभा-वर्णन, कंव्य-वर्णन, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, रस-लक्षण, दोष, गुण तथा अलंकार का निरूपण करके इस ग्रन्थ को सर्वांग निरूपक बनाने की चेष्टा की गयी है। मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों तथा अलंकार दोष एवं संकर तथा संसृष्टि अलंकारों के वर्णन की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। विवेचन-शैली पर 'काव्यप्रकाश' का इतना अधिक प्रभाव है कि इसे कुछ विद्वानों ने उसका छायानुवाद मान लिया है। रस-विवेचन में स्वयं लेखक ने अभिनवगुप्त का नाम लिया है और रस तथा अलंकार प्रकरण में 'साहित्यदर्पण' तथा 'रसिकप्रिया' का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। लक्षण मम्मट की अपेक्षा सरल तथा व्यावहारिक हैं और यत्र-तत्र इनकी मौलिक-सूझ का भी संकेत मिलता है। गद्य-वार्त्तिक द्वारा विषय को स्पष्ट बनाने की चेष्टा की गयी है किन्तु भाषा अपरिमार्जित, अस्पष्ट और वाक्य विन्यास दुरूह हो गया है। लक्षण-उदाहरण का समुचित समन्वय अवश्य प्रशंसनीय है। उदाहरण लेखक के स्वरचित हैं। भामह, रुद्रट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों के आधार पर लोकोत्तर चमत्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य की संज्ञा देकर इन्होंने समन्वय-बुद्धि और प्रौढ़ता का परिचय दिया है।

शान्त रस के नाटक में प्रयोग न किये जाने के कारण की खोज में इनकी मौलिक सूझ है कि नाटक बहुविषयी होता है, अतः शान्तरसप्रधान व्यक्ति भी अन्य बातों से बचने के लिए उसे नहीं देखेगा। इसी प्रकार काव्य-प्रयोजन निर्धारण में तथा काव्य-लक्षणों में विश्वनाथ का खण्डन प्रस्तुत करने में भी इनकी मौलिकता देखी जा सकती है। दोष-दृष्टि से वाचक शब्द, व्यंजना-शक्ति, तात्पर्यार्थ-वृत्ति, भाव-लक्षण और

उसके भेदों का निरूपण, उद्दीपन विभाव का स्वरूपवर्णन दोषपूर्ण है तथा दोष एवं गुण प्रकरण अपूर्ण है। ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद का निरूपण सम्भवतः इसलिए नहीं हुआ कि इन्होंने 'नखशिख' नामक एक अलग ही रचना प्रस्तुत की है। अलंकारप्रसंग में भूषण-शैली का अनुकरण करने पर भी आश्रयदाता की प्रशंसा ही अधिक रह गयी है। सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' के शब्दालंकार विवेचन में तथा प्रतापसाहि ने 'काव्यविलास' में अधिकांशतः इनसे प्रभाव ग्रहण किया है।

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० सा० इ०; हि० अ० सा०; हि० का० शा० इ०।]

–आ० प्र० दी०

रसराज–यह मतिराम द्वारा रचित श्रृंगार रस और नायिका भेद पर अत्यन्त प्रख्यात कृति है। शायद ही कोई हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों का प्राचीन पुस्तक संग्रह या पुस्तकालय हो, जिसमें मतिरामकृत 'रसराज' न मिलता हो। यह कहना एक तथ्य है कि जिस प्रकार बिहारी के कवि रूप की ख्याति का आधार उनकी 'सतसई' है, उसी प्रकार मतिराम के कवि यश का आधार 'रसराज' है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में ही इसकी कई प्रतियाँ हैं। सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति १७२३ ई० (सं० १७८० वि०) की लिखी हुई है। केशव की 'रसिकप्रिया', 'बिहारी सतसई' और 'रसराज'–ये तीन ग्रन्थ पहले के समय में साहित्य प्रेमियो के संग्रहों में अवश्य मिलते थे। अतः मतिरामकृत 'रसराज' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ यत्र-तत्र मिलती हैं। 'रसराज' का प्रथम मुद्रित प्रकाशन सन् १८६८ ई० (सं० १९२५) में लाइट छापाखाना, काशी द्वारा किया गया। इसके पश्चात् नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, भारत जीवन प्रेम, बम्बई, भारत जीवन प्रेस, काशी राजस्थान यन्त्रालय, अजमेर से भी 'रसराज' का प्रकाशन हुआ। सबसे प्रामाणिक संस्करण कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित मतिराम ग्रन्थावली में प्रस्तुत 'रसराज' का है, जो उपर्युक्त सामग्री के आधार पर प्रस्तुत की गयी।

'रसराज' की रचना-तिथि पर विद्वानों में मतभेद है। मिश्रबन्धुओं के विचार से यह मतिराम के अलंकारग्रन्थ 'ललित ललाम' के बाद की रचना है और उनके अनुसार इसका रचनाकाल १७१० ई० (सं० १७६७ वि०) के लगभग है, जब बूँदी के नरेशों से इनका सम्बन्ध छूट गया था। 'शिवसिंह सरोज' में भी 'रसराज' का नाम 'ललितललाम' के बाद आता है परन्तु कृष्णबिहारी का मत इससे भिन्न है। वे इसका रचनाकाल १६३३ ई० और १६४३ ई० के बीच मानते हैं, जब कि मतिराम की अवस्था ३०, ३५ वर्ष की रही होगी। यदि मिश्रबन्धुओं का समय मानें तो 'रसराज' की रचना के समय इनकी अवस्था १०० वर्ष से ऊपर बैठती है। मिश्रबन्धुओं ने मतिराम का जन्म १६३९ ई० के लगभग माना है और उस दृष्टि से भी मतिराम की अवस्था 'रसराज' की रचना के समय ७० वर्ष के लगभग होती है। इतनी वृद्धावस्था में 'रसराज' में व्यक्त किशोरावस्था के भावों का लालित्य और सुकुमारता सम्भव नहीं। अतः कृष्णबिहारी का मत मानना चाहिए। त्रिभुवन सिंह ने अपने ग्रन्थ 'महाकवि मतिराम' में भी इसी मत की पुष्टि की है। इस प्रकार 'रसराज', 'ललित ललाम' से पहले रचा गया और इसका रचनाकाल १६४३ ई० के आसपास है।

'रसराज' श्रृंगाररस और नायिकाभेद पर एक ललित ग्रन्थ है। श्रृंगार नायक-नायिका का आलम्बन प्राप्त करके विकसित होता है, अतः ग्रन्थ मे नायक-नायिका भेद वर्णन प्रथम और उसके पश्चात् भावों, हावों एवं श्रृंगार के अंगों का वर्णन किया गया है। नायिकाभेद के प्रसंगों में ये वर्णन प्रमुख हैं–स्वकीयता, परकीयता, गणिका तथा इनके भेद-प्रभेद, अवस्था के विचार से नायिकाभेद। इनके लक्षण सामान्य पर उदाहरण बड़े लक्षित हैं। मतिराम का यह नायिकाभेद एवं श्रृंगारवर्णन 'रसमंजरी' की परम्परा में है। इस पर केशव की 'रसिकप्रिया' एवं चिन्तामणि की 'श्रृगारमंजरी' का भी प्रभाव है।

'रसराज' की महिमा उसमें निहित काव्य-सौष्ठव और भावसम्पत्ति के कारण है। इस ग्रन्थ की रचना में कवि की तन्मय अनुभूति इतनी सहज एवं सच्ची है कि भाव और उसकी अभिव्यंजना को अलग-अलग देखना कठिन हो जाता है। सर्वरूपेण किशोरावस्था एवं युवावस्था के भावो का सजीव वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। नायिका के रूप, गुण, मनोभाव, चेष्टा आदि जैसे मतिराम की तूलिका से अपने समस्त सहज आकर्षण को सहेजकर चित्रित हुए हैं। उक्ति-वैचित्र्य के वैलक्षण्य में भटकना नहीं पड़ता, फिर भी रूप-सौन्दर्य एवं भाव-चित्रण की उक्तियाँ स्वतः अविस्मरणीय रूप मे हमारे मन में प्रवेश करती जाती है और ऐसा लगता है कि मतिराम के छन्द उनके सहज संस्कारी हृदय की निष्प्रयास अभिव्यक्ति हैं। नायिका के सहज गुणों के दाक्षिण्य का प्रभाव वर्णन करने वाले मतिराम के निम्नांकित दोहे से बढ़कर छन्द मिलना कठिन है–"जानति सोति अनीति है, जानति सखी सुनीति। गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति।।" 'रसराज' में विशेष रूप से किशोरावस्था के वर्णन अधिक सुकुमार एवं उत्कृष्ट हैं और समग्र रचना को पढ़ने पर लगता है कि मतिराम की युवावस्था में लिखा गया ग्रन्थ है। इसी से चढ़ती युवावस्था के चित्रण अति सरस हैं। इस प्रकार 'रसराज' मतिराम की सुकुमार भावचेष्टाओं का वर्णन करनेवाली सरस रचना है।

[सहायक ग्रन्थ–मतिराम–कवि और आचार्य : महेन्द्रकुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवनसिंह; मतिराम ग्रन्थावली : सं० कृष्णबिहारी मिश्र।]

–भ० मि०

रसरूप–ग्रियर्सन के अनुसार इस कवि का जन्म सन् १७३१ ई० में हुआ और वह लगभग सन् १७५४ ई० तक वर्तमान रहा। खोज में कवि की तीन कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं–(१) 'तुलसीभूषण', (२) 'नखशिख' और (३) 'उपालम्भ शतक'। 'तुलसीभूषण' अलंकार और छन्द-ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सन् १७५४ ई० है। इसके अन्तर्गत कवि ने 'काव्य प्रकाश', 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' के आधार पर तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में प्राप्त होने वाले अलंकारों का निर्देश किया है। 'दूसरे 'नखशिख' नामक ग्रन्थ में कवि ने राधा के अंग-सौन्दर्य का वर्णन किया है, जिसकी शैली रूढ़ और परम्पराभुक्त है। फलस्वरूप उसके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं जगती। कवि काव्यगत शास्त्रीयता पर जितना ध्यान देता है, भावपक्ष पर उतना नहीं। 'उपालम्भ शतक' में उद्धव और

गोपियों का संवाद दिखाया गया है। इस ग्रन्थ की एक प्रति कालाकांकर राज्य पुस्तकालय में मिली है, जिसका लिपिकाल सन् १८३२ ई० है। इस रचना का बहुप्रयुक्त छन्द कवित्त ही है।

इसके अतिरिक्त 'श्यामविलास' और 'विनय रसामृत' संज्ञक कवि की दो और रचनाओं का उल्लेख 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग ३ में किया गया है। किन्हीं विशिष्ट गुणों के अभाव में कवि का कवित्व साधारण कोटि का है।

[सहायक ग्रन्थ—खो० रि० (सं० ११, ७६, २३९); मि० वि०; शि० स०।]

—रा० त्रि०

रसलीन—रसलीन, सैयद गुलाम नबी का उपनाम है। इनके पिता का नाम सैयद मुहम्मद बाकर था और ये हुसेनी परम्परा के थे। ये हरदोई जिला के प्रसिद्ध कस्बा बिलग्राम के रहने वाले थे। इनके मामा मीर अब्दुल जलीम 'बिलग्रामी' भी हिन्दी के कवि थे ओर उनके दोहे रहीम के समकक्ष रखे जा सकते हैं। इन्हीं से रसलीन को हिन्दी काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई। रामनरेश त्रिपाठी ने अनुमान द्वारा इनका जन्म सन् १६८९ ई० माना है।

रसलीन केवल कवि नहीं थे, वरन् एक सुयोग्य सैनिक, तीरन्दाज और घुड़सवारी में निपुण व्यक्ति थे। ये नवाब सफदरगंज की सेवा में थे और उनकी सेना के साथ पठानों के विरुद्ध युद्ध करते हुए आगरा के समीप सन् १७५० ई० में मारे गये। शिवसिंह ने इनकी अरबी-फारसी का आलिम फाजिल और भाषा-कविता में अत्यन्त निपुण बताया है। एक प्रसिद्ध दोहा—"अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार। जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।।" जिसे बहुधा लोग बिहारी का समझा करते हैं रसलीन का ही है। इनकी रचना दोहों में ही है, जिससे जहाँ चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य का आनन्द पाठक को मिलता है, वहीं छन्द की सूक्ष्मता के कारण नाद-सौन्दर्य का लाभ कम हो जाता है। इनके लिखे दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—'अंगदर्पण', जिसकी रचना सन् १७३७ ई० में हुई और जिसमें १८० दोहे हैं, दूसरा 'रस प्रबोध', जिसमें ११२७ दोहे हैं और जिसकी रचना सन् १७४१ ई० में हुई है। 'अंगदर्पण' नखशिखसम्बन्धी ग्रन्थ हैं और 'रस प्रबोध' रस, भाव, नायिकाभेद, षट-ऋतु, बारहमासा आदि प्रसंगों से अपने ढंग का अच्छा सा ग्रन्थ है उदाहरण सभी बड़े रसपूर्ण हैं पर शास्त्रीय विवेचना का अभाव इसमें अवश्य है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०।]

—ह० मो० श्री०

रसवाटिका—गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा लिखित यह ग्रन्थ शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें उदाहरण वाले अंश प्राचीन कवियों से लिये गये हैं और परिभाषा आदि का निरूपण हिन्दी गद्य में हुआ है। यह ग्रन्थ दस क्यारियों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है:—

रसो की सामग्री, रस निरुपण, भाव निरुपण, रसाभास और भावाभास निरूपण, रस और भाव की प्रधानता का निरूपण, रस संकट निरूपण, गुण, वृत्ति और रीति निरूपण, रसदोष निरूपण, ध्वनि निरूपण, रसास्वदि निरूपण।

इस ग्रन्थ की रचना करते समय लेखक ने रसिकप्रिया (केशव) रसराज (मतिराम) जगद्विनोद (पद्माकर) रस रहस्य (कुलपति मिश्र) रस प्रबोध (रसलीन) और रस कुसुमाकर (ददुआ साहब) आदि ग्रंथों से सहायता ली है। 'रस वाटिका' सम्वत् १९६० में वेंक्टेश्वर प्रेस बम्बई से छप भी चुकी है।

[सहायक ग्रंथ—रसवाटिका]

—कि० ला०

रसविलास—यह रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि देवका श्रृंगार रस एवं नायिका-भेदविषयक एक प्रमुख लक्षण-ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल कवि ने स्वयं ग्रन्थ के एक संस्मरण में जो भोगीलाल को समर्पित किया गया तथा जिसमें पहले से लगभग १०० छन्द अधिक हैं, विजयादशमी सं० १७८३ (१७२६ ई०) दिया है। पहले संस्करण में यह उपलब्ध नहीं होता। नगेन्द्र के मत से "वास्तव में 'रसविलास' को 'जातिविलास' का संशोधित और परिवर्धित संस्करण कहना चाहिए।" लक्ष्मीधर मालवीय ने पाठ विज्ञान की पद्धति से यह निष्कर्ष निकाला कि 'जातिविलास' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर 'रसविलास' की ही एक खण्डित प्रति का भ्रमवश दिया हुआ नाम है, अतएव 'रसविलास' को 'जातिविलास' का संशोधित—परिवर्धित संस्करण कहना भी भ्रामक है। इस भ्रम का कारण निम्नलिखित दोहा है—"देवल रावल राजपुर नागरि तरुनि निवास। तिनके लच्छन भेद सब बरनत जाहि विलास।।७।।" 'रसविलास' के इस दोहे में 'जातिविलास' शब्द ग्रन्थवाची न होकर केवल विषय-बोधक है। भ्रमका मूल कारण 'विलास' शब्द का विचित्र प्रयोग है, जो प्रायः उस काल के ग्रन्थ-नामों में प्रयुक्त मिलता है। डा० नगेन्द्र ने 'जाति विलास' की दो प्रतियों का उल्लेख किया है, एक मिश्रबन्धुओं की अपूर्ण प्रति और दूसरी गोकुल चन्द्र दीक्षित की पूर्ण प्रति। उन्होंने पूर्णता-अपूर्णता का निश्चय सम्भवतः प्रारम्भ से न करके अन्त से किया है। 'रसविलास' आठ विलासों में समाप्त हुआ है, जब कि 'जातिविलास' नामक उसकी खण्डित प्रति में पाँच विलास ही हैं। खण्डित अंश में मूल से १६ प्रक्षिप्त छन्दों के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है। विलासों के अन्त में कहीं 'जातिविलास' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, सर्वत्र "इति श्री रसविलासे कवि देवदत्त कृते....." आदि मिलता है। 'जातिविलास' को स्वतन्त्र ग्रन्थ न मानने का लक्ष्मीधर के अनुसार यह अकाट्य आधार प्रतीत होता है।

'रसविलास' का एक संस्करण सन् १९०० ई० में भारत जीवन यन्त्रालय, काशी से प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन बाबू रामकृष्ण वर्मा ने किया। 'यह ग्रन्थ सीहोरनिवासी कवि गोविन्द गिला भाई की सहायता से हमको प्राप्त हुआ है।" यह वाक्य सम्पादक ने मुख पृष्ठ पर छापकर ग्रन्थ प्राप्ति के स्रोत का उल्लेख कर दिया है।

'रसविलास' के प्रथम विलास में नायिकाओं के देवल, रावल, नागरी एवं सखी इत्यादि भेद तथा उनके विविध कर्मों का वर्णन है, द्वितीय में जौहरनी से लेकर गणिका तक नगर-नागरियो का, तृतीय में पुर, ग्राम तथा पथ की वधुओं का,

चतुर्थ में नायिका के अष्टांग, पंचम में जाति, कर्म, गुण के पश्चात् देश-भेद के अनुसार वर्णन है, जो देव की निजी मनोवृत्ति का द्योतक है तथा ब्रजभाषा के नायिका भेद साहित्य मे विशेषतः चर्चित हुआ है। इसी के आधार पर उन्हें यायावरीय वृत्ति से सम्पन्न माना जाता है। छठे विलास मे अवस्था, वय, प्रकृति तथा सत्त्व के आधार पर नायिकाओं का संक्षिप्त वर्णन है और इसी प्रकार सातवें विलास में दस हावो तथा दस काम-दशाओं का। इस विलास मे कवि ने हावों तथा भावों के परस्पर संयोग से अनेक भेदोपभेदो की उद्‌भावना की है। अष्टम विलास में, जो द्वितीय संस्करण को रूप देने में की गयी आकारवृद्धि का परिणाम है, नायिकाओं के मुग्धा-मध्या आदि परम्परागत विभेद वर्णित हैं। आठ विलासों में कुल ४६६ छन्द मिलते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; शि० स०; हि० का० शा० इ०; रीo भू० तथा दे० का०; देव के लक्षणग्रन्थों का पाठ और पाठ-समस्याएँ (अ०) लक्ष्मीधर मालवीय।]

—ज० गु०

रससारांश—'रस सारांश' में दास ने रसो की विवेचना अत्यन्त विस्तार के साथ की है। इसका रचनाकाल शुक्लजी ने सं० १७९९ ई० (सन् १७४३) दिया है, वह ठीक नहीं लगता क्योंकि ग्रन्थ में ही एक दोहा प्राप्त होता है— "सत्रह से इक्यानबे, नभ, सुदि छठि बुधवार। अरबर देस प्रतापगढ़ ग्रन्थ अवतार।।" जिसके अनुसार सं० १७९१ ई० अर्थात् सन् १७३५ ई० में प्रतापगढ़ के अरवर प्रदेश में षष्ठी सुदी बुधवार के दिन इसकी रचना हुई थी। ग्रन्थकार ने इसका संक्षिप्त रूप भी प्रस्तुत किया है, मूल संस्करण में लक्षण तथा उदाहरण और संक्षेप में मात्र लक्षण हैं, इनमें क्रमशः ५८६ तथा १५८ पद्य हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति प्रतापगढ़ नरेश के पुस्तकालय में है और इसका प्रकाशन गुलशन-एअहमदी प्रेस, प्रतापगढ़ से (१९३४ ई०) हुआ है।

इसमें अन्य आचार्यो द्वारा विवेचित रस-ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ हैं, जैसे जहाँ अन्य कवियों ने दस हावों का वर्णन किया है, दास ने इनके साथ बोधन, तपन, चकित, हासित, कुतूहल, उद्दीपक, केलि, विक्षिप्त, मद और हेला दस हावों को और माना है किन्तु शुक्लजी ने इसे कोई विशेषता नहीं मानी हैं। वस्तुतः संस्कृत में इन हावभावादिक की चर्चा सात्त्विक अलंकारों में होती रही है। दूसरी विशेषता इनकी सुरुचि की परिचायिका है। देव ने निम्नवर्गीय स्त्रियों यथा—धाय, सखी, नटिन, सोनारिन, चुड़िहारिन, संन्यासिनी, धोबिन, कुम्हारिन, गन्धिन, मालिन आदि का वर्णन जहाँ नायिका के रूप में किया है, वहीं दास ने चतुराई के साथ दूती रूप में इनका वर्णन किया है। साथ ही साथ परकीया में साध्या परकीया का भी वर्णन है। श्रृंगार सम्बन्धी सामग्री के संचयन को आचार्य ने 'श्रृंगार-नियम-कथन' का नाम दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ उतना प्रसिद्ध नहीं है, जितना कि 'श्रृंगार निर्णय' और 'काव्य निर्णय' हैं, न इसमें वर्णन ही उत्कृष्ट कोटि के कहे जा सकते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ह० मो० श्री०

रसिक गोविंद—ये जयपुरनिवासी नटाणी जाति के वैश्य थे। इनका वास्तविक नाम गोविन्द था। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका रचनाकाल १७९३ ई० से० १८३३ ई० तक माना जा सकता है। 'रसिक' उपाधि इन्हें कृष्ण-भक्ति में दीक्षित होने के अनन्तर प्राप्त हुई थी। इनके पिता का नाम सालिग्राम और माता का नाम गुमाना था। रसिक गोविन्द ने अपने चाचा मोती राम और बडे भाई बालमुकुन्द का भी स्मरण बड़ी श्रद्धा के साथ किया है। बालमुकुन्द के ही पुत्र नारायण के लिए इन्होंने 'रसिक गोविन्दानन्द घन' की रचना की थी। परिवार की आर्थिक विपन्नता से इनके हृदय में तीव्र विरक्ति उत्पन्न हुई। फलतः सबको छोड़कर वे वृन्दावन चले आये। यहाँ इन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य सर्वेश्वरशरण देव से मन्त्र-दीक्षा ले ली। इसके पश्चात् इनका सारा जीवन ब्रजभूमि में आराध्य की लीला तथा शास्त्रीय विषयो पर काव्य-रचना करते हुए बीता।

अब तक रसिक गोविन्द के नौ ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं—'अष्टदेश भाषा,' 'पिंगल', 'समय प्रबन्ध', 'रामायण सूचनिका' अथवा 'ककहरा रामायण', 'रसिक गोविन्दानन्द घन', 'युगल-रस-माधुरी', 'लछिमन चन्द्रिका', 'कलिजुग रासो' और 'रसिक गोविन्द'। 'अष्टदेश भाषा' के अन्तर्गत पंजाबी, खड़ी बोली, पूरबी, रेख़ता आदि आठ भाषाओं मे राधा-कृष्ण की लीला वर्णित है। इससे रचयिता की बहुभाषाविज्ञता का पता चलता है। 'पिंगल' छन्दशास्त्रविषयक रीतिशैली में लिखी गयी एक छोटी सी रचना है। 'समय प्रबन्ध' का प्रतिपाद्य विषय है राधा-कृष्ण की विभिन्न ऋतुओं में श्रृंगारचर्या। 'रामायण सूचनिका' मे सम्पूर्ण राम-कथा अकारादि क्रम से ३३ दोहों में वर्णित है। इसके कई छन्द 'रसिक गोविन्दानन्द घन' में भी संकलित हैं। इससे विदित होता है कि इसकी रचना १८०१ ई० के पूर्व हो चुकी थी। 'रसिक गोविन्दानन्द घन' काव्य-शास्त्र पर लिखी गयी इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसकी रचना १८०१ ई० में हुई थी। 'युगल रस माधुरी' में राधा-कृष्ण की वृन्दावन लीला का वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण शैली में किया गया है। १९१५ई० में निम्बार्क पुस्तकालय नानपारा (जिला बहराइच) के व्यवस्थापक पं० माधवदास ब्रह्मचारी ने इसे प्रकाशित किया था। 'कलिजुग रासो' के १६ कवित्तों में कलि प्रभाव का वर्णन करते हुए रचयिता ने उसके अत्याचारों से त्राण पाने के लिए श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है। इसका निर्माण १८०८ ई० में हुआ था। 'लछिमन चन्द्रिका' की रचना का उद्देश्य था 'रसिक गोविन्दानन्द घन' के विषयतत्त्व जिज्ञासुओं के लिए संक्षेप में प्रस्तुत करना। यह ग्रन्थ काशीनिवासी जगन्नाथ कान्यकुब्ज के पुत्र लक्ष्मण के प्रीत्यर्थ १८२९ ई० में लिखा गया था। 'रसिक गोविन्द' एक अलंकार ग्रन्थ है। पूर्वरचित 'रसिक गोविन्दानन्द घन' से इसकी भिन्नता केवल इतनी है कि प्रथम में लक्षण गद्य में दिये गये हैं और उदाहरण कवित्त सवैयों में किन्तु इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों पद्यबद्ध हैं। इसका रचनाकाल १८३३ ई० है। 'रसिक गोविन्द' की यह अन्तिम कृति है। इस प्रकार इनका कविताकाल १७९७ ई० से १८३३ ई० तक माना जा सकता है। इनकी रचनाएँ आचार्यत्व एवं कवित्व, दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्यत्व इनकी

काव्यशास्त्र की मर्मज्ञता और कवित्व कृष्णभक्ति का प्रसाद था।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०;खो० वि०; काव्यानुशीलन : बलदेव उपाध्याय।]

—भ० प्र० सिं०

रसिक गोविंदानंदघन—रसिक गोविन्द की यह सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। इसकी रचना उन्होंने अपने मित्र आनन्दघन चौबे के नाम पर १८०१ ई० की बसन्तपंचमी को की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में कुछ दिन पूर्व उपलब्ध थी। जयपुर के पुस्तकालय में एक प्रति बतलाई जाती है। लक्षणा-व्यंजना को छोड़कर इसके अन्तर्गत दशांग काव्य का वर्णन बड़ी विद्वत्ता के साथ हुआ है। यह चार प्रबन्धों में विभाजित है, जिनमें क्रमशः रस, नायिका, नायक-भेद, काव्य-दोष, गुण और अलंकार का निरूपण किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषता है लक्षणों का गद्य में दिया जाना। अन्य रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः लक्षण पद्यबद्ध ही रखे हैं। उदाहरण परम्परानुसार इन्होंने भी दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों में ही दिये हैं। वे स्वरचित भी हैं और प्राचीन कवियों की रचनाओं से संगृहीत भी। इस ग्रन्थ की रचना में रसिक गोविन्द ने पूर्ववर्ती आचार्यों—भरत, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि का अनुसरण करते हुए भी अनेक स्थलों पर स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिक उद्‌भावना का परिचय दिया है। हिन्दी के रीति-साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); खो० वि०; काव्यानुशीलन : बलदेव उपाध्याय।]

—भ० प्र० सिं०

रसिकप्रिया—इसके रचयिता केशवदास हैं। रचनाकाल १५८९ ई० (सं० १६४८)। 'रसिकप्रिया' का मूल लीथों में लाइट प्रेस, बनारस से मुद्रित हुआ था। इस पर सरदार कवि की टीका वहीं से १८६६ ई० में, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १९११ ई० में तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से १९१४ई० में प्रकाशित हुई। नकछेदकृत टीका डुमराँव, शाहाबाद से १८३४ ई० में, लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी की टीका, मातृभाषा मन्दिर, प्रयाग से सन् १९५४ ई० में तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की टीका कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी द्वारा १९५८ ई० में निकली।

'रसिकप्रिया' में नायिकाभेद और रस का निरूपण है। पूरे ग्रन्थ में सोलह प्रभावों के अन्तर्गत ५३० छन्द हैं। इस ग्रन्थ की रचना केशव ने अपने आश्रयदाता ओरछानरेश इन्द्रजीत सिंह के लिए की थी। इसका प्रयोजन रसिकों का मनोरंजन है। इसीलिए इसका नाम 'रसिकप्रिया' रखा गया। इसके आधारभूत ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र', 'कामसूत्र', तो हैं ही, रुद्रभट्ट के 'श्रृंगारतिलक' का इसमें पूरा आधार ग्रहण किया गया है। इन्होंने संस्कृत की सारी सामग्री ली है। 'श्रृंगार तिलक' में सामान्या का विस्तार पर्याप्त है, जिसे इसमें नहीं रखा गया है। यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रजीत सिंह की पातुरों के शिक्षक और श्रृंगारी बहिरंग प्रवृत्ति के लिए कुख्यात केशव ने वेश्याओं के वर्णन को परित्यक्त कर दिया। आधार-ग्रन्थ के अनुसार इसमें श्रृंगार के दो भेद 'प्रकाश' और 'प्रच्छन्न' किये गये हैं।

यद्यपि प्रधानता इसमे श्रृंगार-रसवर्णन की ही है तथापि इस ग्रन्थ में रस, वृत्ति और अनरस (रस-दोष) का सामान्य निरूपण है। श्रृंगार के अन्तर्गत सब रसों का समावेश करने का भी उद्योग किया गया है। प्रत्येक प्रकाश में दोहों मे लक्षण देकर प्रायः कवित्त या सवैये में उदाहरण दिये गये हैं। छप्पय छन्दों का उपयोग यत्र-तत्र ही है। रस का आस्वाद लेने वालों के लिए इसका निर्माण हुआ, इसलिए उदाहरणों पर अधिक दृष्टि है।

केशव में परम्परा का आग्रह चिरंतन प्रवाह के कारण है, उसमें भी वे परिष्कारपूर्वक प्रवृत्त होते रहे हैं। श्रृंगारी उदाहरण लक्षण से समन्वय के कारण प्रस्तुत हुए हैं। केशव ने 'रसिकप्रिया' के अधिकांश छन्दों में नायक-नायिका के प्रेम तथा विविध अवस्थाओं और परिस्थितियों की एवं प्रेमी तथा प्रेमिका के भावों की राधाकृष्ण या गोपीकृष्ण को आलम्बन मानकर अत्यन्त ही सुन्दर एवं मार्मिक व्यंजना की है। इसमें अलंकार-योजना स्वाभाविक तथा भावनिरूपण में सहायक सिद्ध हुई है, कम स्थलों पर ही अस्वाभाविक हो पायी है।

'रसिकप्रिया' की भाषा बुँदेलीरंजित ब्रज है। इसमें मुहावरे तथा लोकोक्तियों की अच्छी बहार है। प्रायः वे वाक्य का सहज अंग बनकर ही प्रयुक्त हैं। इसमें केशव ने हिन्दी काव्य-प्रवाह के अनुरूप सशक्त, समर्थ और प्रांजल भाषा रखी है। उनकी अन्य रचनाओं से यह सबसे अधिक वाग्योगपूर्ण है। काव्यत्व की दृष्टि से भी 'रसिकप्रिया' उनकी सम्पूर्ण कृतियों से सर्वश्रेष्ठ है। इसमें ब्रज-भाषा का पूर्ण वैभव दिखाई देता है। यदि केशव ने इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग अपनी अन्य रचनाओं में भी किया होता तो उनका इस क्षेत्र में विरोध न होता।

—वि० प्र० मि०

रसिक बिहारी—इनका मूल नाम जानकीप्रसाद था। ये झाँसीनिवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्रीधर के पुत्र थे। इनका आविर्भाव १८४४ ई० में हुआ था। अपनी असाधारण प्रतिभा से थोड़ी ही आयु में ये पन्ना नरेश के कृपापात्र हो गये और राज्य के दीवान बना दिये गये। अयोध्या में कनक भवन के महन्त प्यारेरामजी इनके गुरु थे। उनके देहावसान के बाद राजसेवा त्यागकर ये कनक भवन के महन्त हो गये।

इनकी २६ रचनाओं का उल्लेख मिलता है—'काव्य-सुधाकर' (१८६३ ई०), 'मानस प्रश्न' (१८६५ ई०), 'नामपचीसी' (१८६५ ई०), 'सुमति पचीसी' (१८६७ ई०), 'आनन्दबेलि', 'पावसविनोद' (१८६७ ई०), 'सुयश कदम्ब' (१८६८ ई), 'ऋतुरंग' (१८६८ ई०), 'नेहसुन्दरी' (१८७० ई०), 'रस कौमुदी' (१८७० ई०), 'विपरीत विलास' (१८७१ ई०), 'इश्क अजायब' (१८७१ ई०), 'बजरंग बत्तीसी' (१८७३ ई०), 'विरह दिवाकर' (१८७४ ई०), 'ग्रन्थ प्रभाकर' (१८७४ ई०), 'कानून स्टाम्प' (१८७७ ई०), 'कानून जाप्ते अंग्रेजी' (१८७८ ई०), 'सतरंजविनोद' (१८७८ ई०), 'नवलचरित्र' (१८७९ ई०), 'षड्ऋतु विभाग' (१८७९ ई०) 'रागचक्रावली' (१८८० ई०), 'मोदमुकुर' (१८८० ई०), 'कल्पतरु कवित्त' (१८८१ ई०), 'दरिद्र मोचन' (१८८१ ई०), 'रामरसायन' (१८८२ ई०) और 'कवित्त वर्णविलास'। यह सूची ही रसिक बिहारी के जीवन के राजनीतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों पक्ष प्रत्यक्ष कर देती है। इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'राम रसायन' नामक प्रबन्धकाव्य है। राम की श्रृंगारी लीलाओं के वर्णन में संतुलन न रख सकने के

कारण इसके कथा-प्रवाह में शिथिलता आ गयी है। इनकी भाषा में रीतिकालीन कवि ठाकुर और पद्माकर की भी चमत्कारप्रियता के दर्शन होते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवतीप्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

रसिक मोहन—यह बन्दीजन रघुनाथ द्वारा रचित अलंकार ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सन् १७३९ ई० है। यह 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' के अनुसार भारत जीवन प्रेस, काशी से और 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के अनुसार नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ है। इसमें अलंकारों का उदाहरण देते समय लेखक ने केवल श्रृंगार-रस का ही नहीं, अपितु वीर आदि अन्य रसों के भी पर्याप्त उदाहरण दिये हैं। लक्ष्य करने की बात यह है कि किसी अलंकार का उदाहरण देते समय इनके कवित्त या सवैया का पूरा कलेवर उस अलंकार का प्रतिनिधि बन जाता है, जबकि अन्यान्य आचार्य केवल एक ही चरण में काम चला लेते हैं। इसमें ४८२ छन्द हैं, लक्षण के लिए दोहा और उदाहरण के लिए कवित्त तथा सवैया का प्रयोग है। प्रारम्भ में विवेच्य अलंकारों की सूची दे दी गयी है। सामान्यतः 'कुवलयानन्द' का लक्षणों में प्रभाव है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० अ० सा०; क० कौ० (प्र० भा०)।]

—ह० मो० श्री०

रसिक सुमति—मथुरिया टोला, आगरा के ईश्वरदास उपाध्याय के पुत्र, काश्यपवंशीय ब्राह्मण। इनका समय १८वीं शताब्दी का प्रारम्भिक दशक माना जा सकता है। इस समय तक कुलपति अपने ग्रन्थों की रचना कर चुके थे और वह इन्हीं के टोले में ६० वर्ष पहले रह चुके थे। द्वितीय त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट (सन् १९०९-१९११ ई०) से इनकी एकमात्र रचना 'अलंकार चन्द्रोदय' का पता चला है। इसमें कवि ने अपने को ईश्वरदास का पुत्र कहा है, जैसा कि ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है यह अलंकार-ग्रन्थ है।

'अलंकार चन्द्रोदय' के रचनाकाल के विषय में कवि ने कहा है—"सर (५) वसु (८) रिषि (७) ससि (१) लिखि लखौ सम्वत सावन मास। पुष्य भौम तेरसि असित कीन्हों ग्रन्थप्रकाश।।" अर्थात् उक्त ग्रन्थ की रचना श्रावण कृष्ण पक्ष त्रयोदशी, संवत् १७८५ (सन् १७२८ ई०) में हुई किन्तु रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उक्त कवि की इस कृति का रचनाकाल संवत् की जगह भ्रम से सन् १७८५ ई० में दे दिया है। इसके कुल छन्दों की संख्या २४० है। इस ग्रन्थ मे कवि ने संस्कृत अलंकार-ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलंकार के लक्षणों और उदाहरणों को एक ही दोहे में बाँधकर अलग-अलग दिखलाया है—"रसिक कुवलयानन्द लखि अलि मन हरष बढ़ाय। अलंकार चन्द्रोदयहिं बरनत हित हुलसाय।।" कहीं-कहीं लक्षण और उदाहरण एक में मिलकर उलझ गये हैं। परिणामस्वरूप उसमें अस्पष्टता आ गयी है। वैसे साधारणतः कहीं-कहीं दोहे अच्छे बन पड़े हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० इ०; खो० वि०।]

—रा० त्रि०

रहीम—अब्दुर्रहीम खाँ खानखाना मध्ययुगीन दरबारी संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। अकबरी दरबार के हिन्दी कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये स्वयं भी कवियों के आश्रयदाता थे। केशव, आसकरन, मण्डन, नरहरि और गंग जैसे कवियो ने इनकी प्रशंसा की है। ये अकबर के अभिभावक बैरम खाँ के पुत्र थे। इनका जन्म माघ कृष्ण पक्ष गुरुवार, सन् १५५६ ई० में हुआ था। जब ये कुल ५ वर्ष के ही थे, गुजरात के पाटन नगर में (१५६१ ई०) इनके पिता की हत्या कर दी गयी। इनका पालन-पोषण स्वयं अकबर की देख-रेख में हुआ। इनकी कार्यक्षमता से प्रभावित होकर अकबर ने १५७२ ई० में गुजरात की चढ़ाई के अवसर पर इन्हें पाटन की जागीर प्रदान की। अकबर के शासनकाल में इनकी निरन्तर पदोन्नति होती रही। १५७६ ई० मे गुजरात विजय के बाद इन्हें गुजरात की सूबेदारी मिली। १५७९ ई० में इन्हें 'मीर अर्ज' का पद प्रदान किया गया। १५८३ ई० में इन्होंने बड़ी योग्यता से गुजरात के उपद्रव का दमन किया। प्रसन्न होकर अकबर ने १५८४ ई० में इन्हे 'खानखाना' की उपाधि और पंचहजारी का मनसब प्रदान किया। १५८९ ई० में इन्हें 'वकील' की पदवी से सम्मानित किया गया। १६०४ ई० में शाहजादा दानियाल की मृत्यु और अबुलफजल की हत्या के बाद इन्हे दक्षिण का पूरा अधिकार मिल गया। जहाँगीर के शासन के प्रारम्भिक दिनों में इन्हें पूर्ववत् सम्मान मिलता रहा। १६२३ ई० में शाहजहाँ के विद्रोही होने पर इन्होने जहाँगीर के विरुद्ध उनका साथ दिया। १६२५ ई० में इन्होंने क्षमायाचना कर ली और पुनः 'खानखाना' की उपाधि मिली। १६२६ ई० में ७० वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गयी।

रहीम का पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं था। बचपन में ही इन्हें पिता के स्नेह से वंचित होना पड़ा। ४२ वर्ष की अवस्था में इनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी। इनकी पुत्री विधवा हो गयी थी। इनके तीन पुत्र असमय में ही कालकवलित हो गये थे। आश्रयदाता और गुणग्राहक अकबर की मृत्यु भी इनके सामने ही हुई। इन्होंने यह सब कुछ शान्तभाव से सहन किया। इनके नीति के दोहों में कहीं-कहीं जीवन की दुःखद अनुभूतियाँ मार्मिक उद्गार बनकर व्यक्त हुई हैं।

रहीम अरबी, तुर्की, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के अच्छे जानकार थे। हिन्दू-संस्कृति से ये भलीभाँति परिचित थे। इनकी नीतिपरक उक्तियों पर संस्कृत कवियों की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। कुल मिलाकर इनकी ११ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके प्रायः ३०० दोहे 'दोहावली' नाम से संगृहीत हैं। मायाशंकर याज्ञिक का अनुमान था कि इन्होंने सतसई लिखी होगी किन्तु वह अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। दोहों में ही रचित इनकी एक स्वतन्त्र कृति 'नगर शोभा' है। इसमें १४२ दोहे हैं। इसमें विभिन्न जातियों की स्त्रियों का श्रृंगारिक वर्णन है। रहीम अपने बरवै छन्द के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका 'बरवै नायिका भेद' अवधी भाषा में नायिका-भेद का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें भिन्न-भिन्न नायिकाओं के केवल उदाहरण दिये गये हैं। मायाशंकर याज्ञिक ने काशीराज पुस्तकालय और कृष्णबिहारी मिश्र पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रतियों के

आधार पर इसका सम्पादन किया है। रहीम ने बरवै छन्दों में गोपी-विरह वर्णन भी किया है। मेवात से इनकी एक रचना 'बरवै' नाम की इसी विषय पर रचित प्राप्त हुई है। यह एक स्वतन्त्र कृति है और इसमें १०१ बरवै छन्द हैं। रहीम के श्रृंगार रस के ६ सोरठे प्राप्त हुए हैं। इनके 'श्रृंगार सोरठ' ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है किन्तु अभी यह प्राप्त नहीं हो सका है। रहीम की एक कृति संस्कृत और हिन्दी खड़ीबोली की मिश्रित शैली में रचित 'मदनाष्टक' नाम से मिलती है। इसका वर्ण्य-विषय कृष्ण की रास-लीला है और इसमें मालिनी छन्द का प्रयोग किया गया है। इसके कई पाठ प्रकाशित हुए हैं। 'सम्मेलन पत्रिका' में प्रकाशित पाठ अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनके कुछ भक्ति विषयक स्फुट संस्कृत श्लोक 'रहीम काव्य' या 'संस्कृत काव्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। कवि ने संस्कृत श्लोकों का भाव छप्पय और दोहा में भी अनूदित कर दिया है। कुछ श्लोकों में संस्कृत के साथ हिन्दी भाषा का प्रयोग हुआ है। रहीम बहुज्ञ थे। इन्हें ज्योतिष का भी ज्ञान था। इनका संस्कृत, फारसी और हिन्दी मिश्रित भाषा में 'खेट कौतुक जातकम्' नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ भी मिलता है। रहीम लिखित 'रासपंचाध्यायी' का उल्लेख भी मिलता है किन्तु यह रचना प्राप्त नहीं हो सकी है। 'भक्तमाल' में इस विषय के इनके दो पद उद्धृत हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये पद 'रासपंचाध्यायी' के अंश हो सकते हैं। रहीम ने 'वाकेआत बाबरी' नाम से बाबरलिखित आत्मचरित का तुर्की से फारसी में भी अनुवाद किया था। इनका एक 'फारसी दीवान' भी मिलता है।

रहीम के काव्य का मुख्य विषय श्रृंगार, नीति और भक्ति है। इनकी विष्णु और गंगासम्बन्धी भक्ति-भावमयी रचनाएँ वैष्णव-भक्ति आन्दोलन से प्रभावित होकर लिखी गयी हैं। नीति और श्रृंगारपरक रचनाएँ दरबारी वातावरण के अनुकूल हैं। रहीम की ख्याति इन्हीं रचनाओं के कारण है। बिहारी और मतिराम जैसे समर्थ कवियों ने भी रहीम की श्रृंगारिक उक्तियों से प्रभाव ग्रहण किया है। व्यास, वृन्द और रसनिधि आदि कवियों के नीति विषयक दोहे रहीम से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। रहीम का ब्रज और अवधी दोनों पर समान अधिकार था। उनके बरवै अत्यन्त मोहक हैं। प्रसिद्ध है कि तुलसी को 'बरवै रामायण' लिखने की प्रेरणा रहीम से ही मिली थी। 'बरवै' के अतिरिक्त इन्होंने दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, मालिनी आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है। इनका काव्य इनके सहज उद्गारों की अभिव्यक्ति है। इन उद्गारों में इनका दीर्घकालीन अनुभव निहित है। ये सच्चे और संवेदनशील हृदय के व्यक्ति थे। जीवन में आनेवाली कटु-मधुर परिस्थितियों ने इनके हृदय-पट पर जो बहुविध अनुभूतिरेखाएँ अंकित कर दी थी, उन्हीं के अकृत्रिम अंकन में इनके काव्य की रमणीयता का रहस्य निहित है। इनके 'बरवै नायिका भेद' में काव्यरीति का पालन ही नहीं हुआ है, वरन् उसके माध्यम से भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन के लुभावने चित्र भी सामने आये हैं। मार्मिक होने के कारण ही इनकी उक्तियाँ सर्वसाधारण में विशेष रूप से प्रचलित हैं।

रहीम-काव्य के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'रहीम रत्नावली' (सं० मायाशंकर याज्ञिक—१९२८ ई०) और 'रहीम विलास' (सं० ब्रजरत्नदास—१९४८ ई०, द्वितीयावृत्ति) प्रामाणिक और विश्वसनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'रहिमन विनोद' (हि० सा० सम्मे०), 'रहीम कवितावली' (सुरेन्द्रनाथ तिवारी), 'रहीम' (रामनरेश त्रिपाठी), 'रहिमन चंद्रिका' (रामनाथ सुमन), 'रहिमन शतक' (लाला भगवानदीन) आदि संग्रह भी उपयोगी हैं।

रहीम एक सहृदय स्वाभिमानी, उदार, विनम्र, दानशील, विवेकी, वीर और व्युत्पन्न व्यक्ति थे। ये गुणियों का आदर करते थे। इनकी दानशीलता की अनेक कथाएं प्रचलित हैं। इनके व्यक्तित्व से अकबरी दरबार गौरवान्वित हुआ था और इनके काव्य से हिन्दी समृद्ध हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल; रहिमन विलास : ब्रजरत्नदास; रहीम रत्नावली : मायाशंकर याज्ञिक।]

—रा० चं० ति०

राउ जैतसी रो छंद—बीठू शाखा के चारण कवि सूजाजी ने सन् १५४३ ई० के आसपास 'राउ जैतसी रो छन्द' की रचना की। कृति में बीकानेर के महाराज राव जैतसी (१५२६-१५४१ ई०) और बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान के युद्ध का वर्णन है। कामरान इस युद्ध में पराजित होकर लौट गया था। मुसलमान इतिहास लेखकों ने इस युद्ध के विषय में कुछ नहीं लिखा है, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से कृति का बहुत महत्व है। कृति में ४०१ पद्य हैं—पद्धड़िया, दोहा, कवित्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। कृति की भाषा डिंगल है। कृति अप्रकाशित है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थानी भाषा और साहित्य : मेनारिया।]

—रा० तो०

राउ जैतसी रो रासो—डिंगल में लिखित 'राउ जैतसी रो रासो) के रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसका विषय 'राउ जैतसी रो छन्द' के समान है, जिसमें बीकानेर नरेश राव जैतसी (१५२६-१५४१ ई०) और बाबर के पुत्र कामरान के युद्ध का वर्णन है। कामरान पराजित होकर भाग गया था। वीर-रसप्रधान इस कृति की भाषा डिंगल है तथा दोहा, मोतीदाम और छप्पय छन्दों का प्रयोग हुआ है। कृति प्रकाशित हो गयी है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य खण्ड २, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, १९५९ ई०।]

—रा० तो०

राक्षस—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' का एक पात्र। बौद्ध अमात्य वक्रनास के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण राक्षस मगधसम्राट् नन्द का स्वामिभक्त सचिव एवं अनेक कलाओं में पारंगत एक कुशल राजनीतिज्ञ तथा सौन्दर्य पारखी संवेदनशील प्रणयी है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक में प्रधान पात्र के रूप में उसका चित्रण किया गया है। राक्षस और चाणक्य के बीच में चलने वाले विविध राजनीतिक घातप्रतिघातों को उभारते हुए विशाखदत्त ने उसे चाणक्य के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी के रूप में चित्रित किया है, साथ ही राक्षस की कूटबुद्धि एवं स्वामिभक्ति का निदर्शन करते हुए उसके व्यक्तित्व को प्रतिष्ठा प्रदान की है। उसकी पराजय का कारण उसकी स्वभावोचित हीनता नहीं, वरन् परिस्थितियों की विडम्बना बतायी गयी है। किन्तु

प्रसाद के 'राक्षस' में न तो वह गरिमा आ पायी है और न कूटबुद्धि एवं स्वामिभक्ति का ही चित्रण किया गया है उन्होंने उसके चरित्र को बहुत ही हल्का कर दिया है। चाणक्य की प्रखर राजनीति के समक्ष राक्षस का व्यक्तित्व धूमिल पड़ गया है। राजनीति का कुशल खिलाड़ी 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी का रसिक प्रणयी बनकर रह जाता है। उसमें नन्द के प्रति स्वामिभक्ति का भी अपेक्षाकृत अभाव है। इसका कारण विलासी नन्द द्वारा उसकी प्रेमिका सुवासिनी के प्रति अनुचित आकर्षण को माना जा सकता है। सुवासिनी राक्षस के समस्त कार्यकलापों एवं विचारों की केन्द्रविन्दु बन गयी है।

राजनीति की दृष्टि से राक्षस का चरित्र स्वार्थपूर्ण एवं निष्प्रभ है। वह व्यक्तिगत हितों से प्रेरित होकर राष्ट्र के शत्रु सिकन्दर के विरुद्ध पोरस को प्रत्यक्ष सहायता देना अस्वीकार करता है तथा नन्दवंश के विरोधी चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़कर उसे सिंहासन पर बैठाता है। यही नहीं, नन्द के हत्यारे शकटार के सहयोग में मन्त्रिपरिषद् के कार्य सम्पादन की स्वीकृति भी प्रदान करता है। राक्षस अपने वैयक्तिक स्वार्थ-पूर्ति के लिए विदेशी सिल्यूकस से मिलकर सारी भेद की बातें बताकर उसे आक्रमण करने के लिए उत्साहित करता है। कार्नेलिया उसके इस विश्वासघात एवं देशद्रोह पर लक्ष्य करती हुई कहती है : "मेरे यहाँ ऐसे ही लोगों को देशद्रोही कहते हैं। वह पाप की मलीन छाया है।" उसमें बुद्धि-बल का भी अभाव है। चाणक्य के अंगुलिनिर्देश से वह नाचता है। उसकी कूटनीति के चक्कर में आकर अपनी अंगुलीय मुद्रा तक उसे अर्पित कर देता है। इस प्रकार कूटनीतियुक्त बुद्धिबल के अभाव में वह चाणक्य का उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी नहीं प्रतीत होता। नाटक के अन्त में राक्षस के स्वभाव में परिवर्तन आता है। चाणक्य के प्रभाव से वह देशभक्त बन जाता है तथा देशभक्ति की भावना से प्रभावित होकर अपने पूर्व सहायतापेक्षी सिल्यूकस से युद्ध करता हुआ उसे घायल करता है और स्वयं मारा जाता है।

—के० प्र० चौ०

राघवचेतन—'पदमावत' के अन्तर्गत राघवचेतन एक अत्यन्त निपुण पण्डित के रूप में आता दीख पड़ता है। इसे वहाँ पर सहदेव जैसा पण्डित और "वररुचि के समान अपने चित्त में वेद का रहस्य चिन्तन कर चुकने वाला तथा वैसी ही बुद्धिवाला" भी बतलाया गया है। राजा रतनसेन के दरबार में आकर वह सिंहल द्वीपसम्बन्धी कोई ऐसी काव्यमयी कथा सुनाता है, जिसमें "समस्त पिंगल मथकर उसका सार भर दिया गया" जान पड़ता है और जिसे सुनकर वहाँ के कवि तक सिर धुनने लग जाते हैं और समझते हैं, जैसे वेद का नाद सुन रहे हों (३८-१)। तदनुसार जब एक दिन 'अमावस' रहती है और राजा के पूछने पर कि 'दोयज कब होगी' राघव के मुख से 'आज है' निकल जाता है और अन्य पण्डित इसके प्रतिवाद में 'कल है' कहते हैं और इस प्रकार दोनों दलों की परीक्षा का अवसर आ जाता है तथा दोनों ही शपथ ले लेते हैं तो यह अपनी इष्ट यक्षिणी के बल से अपने कथन की पुष्टि कर दिखलाता है जो बात पीछे वास्तविक 'दोयज' के आ जाने पर असिद्ध ठहर जाती है और सभी अन्य पण्डित ईर्ष्यावश इसके पीछे पड़ जाते हैं (३८-२)। फलतः राजा भी इस पर क्रुद्ध होकर इसे देश निकालने की आज्ञा दे देते हैं और यह बात सुनकर तथा इसके पाण्डित्य के प्रति श्रद्धा भाव रहने के कारण पदमावती इसे उपहार स्वरूप अपना कंगन उतारकर दे देती है (३८-६) तथा यह उसके रूप द्वारा अत्यन्त प्रभावित होकर दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन की ओर चलना चाहता है (३८-११) और इस प्रकार अन्त में उन सारे अनर्थों का कारण बन जाता है, जो भीषण युद्ध एवं चित्तौड़ पतन जैसे रूपों में आगे प्रतिफलित होते दीख पड़ते हैं।

ऐसे किसी राघवचेतन का पता हमें अपना इतिहास देता हुआ नहीं पाया जाता। अगरचन्द नाहटा का कहना है कि "राघव चैतन्य निश्चित रूप से एक ऐतिहासिक विद्वान् और मुहम्मद तुगलक के समय के सिद्ध होते हैं" तथा "अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के समय में राघव चैतन्य एक विद्वान् संन्यासी एवं प्रभावशाली व्यक्ति अवश्य हो गये हैं" ('ना० प्र० पत्रिका', वर्ष ६४, पृ० ६६) परन्तु केवल इतना कह देने मात्र से ही हम वैसे महापुरुष एवं 'पद्मावत' के राघवचेतन, इन दोनों को एक और अभिन्न ठहराने का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं देखते। प्रत्युत उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमान कर सकते हैं कि राघव चैतन्य नाम के कोई पुरुष, जिन्हें 'मुनि', 'ब्रह्मवादी' अथवा 'परमहंस परिब्राजकाचार्य' जैसी उपाधियाँ भी दी जा सकती थीं, सुल्तान अलाउद्दीन के समसामयिक रहे होंगे तथा जायसी ने उनके नाम का उपयोग, अपने प्रेमाख्यान के उस पात्र के लिए भी कर दिया होगा, जिसका स्वभाव वस्तुतः किसी साधारण से भले आदमी की दृष्टि से भी नितान्त विपरीत सिद्ध होता है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जायसी के अनन्तर 'पद्मिनी चरित्र' नामक पुस्तक के रचयिता लालचन्द या लब्धोदय ने राघवचेतन को चित्तौड़ का रहनेवाला कोई व्यास (कथावाचक पण्डित) कहा है, जिसका राजा रतन सेन के यहाँ बहुत सम्मान था तथा जिसे किसी एक दिन राजा एवं पद्मिनी के एकान्त में क्रीड़ा करते समय राजमहल में बिना सूचना दिये जाने के कारण प्रवेश कर जाने से वहाँ से निकाल दिया गया था। यह राघवचेतन भी अलाउद्दीन के यहाँ चला जाता है और उसे राजा रतन सेन के विरुद्ध उभाड़ता है ('ना० प्र० पत्रिका' भा० १५ पृ० १९३-४)। 'गोरा बादल की कथा' के रचयिता जटमल ने राघव चेतन का पदमावती के साथ 'सिंघल' से ही आना लिखा है (छप्पय २७) और यह भी बतलाया है कि मृगया के समय एक बार रतन सेन के कहने पर उसने पदमावती का एक हूबहू चित्र बना दिया और उसकी जाँघ की एक तिलतक का उसमें समावेश कर दिया, जिससे उसके ऊपर सन्देह करके राजा ने उसे अपने यहाँ से निकाल दिया (छप्पय ३१)।' 'फुतूह सनलातीन' ग्रन्थ (सन् १३५० ई०) के रचयिता एसामी का कहना है कि जिस समय सुल्तान अलाउद्दीन ने झिल्लम का 'षड्यन्त्र' नष्ट कर देने के लिए मलिक नायब को भेजा, उस समय "झिल्लम, राघव तथा रामदेव शाही सेना देखकर बड़े घबड़ाये" (खि० का० भारत पृ० २०१) और 'छिताई वार्ता' (नारायणदास) द्वारा पता चलता है कि रामदेव के विरुद्ध परामर्श करने के लिए सुल्तान ने राघवचेतन को बुलवाया था (पद्य ३१८) तथा उससे यह भी कहा था कि यदि कोई युक्ति अभी नहीं बतलाते हो तो कल सबेरे खाल खिचवा लूँगा (पद्य ३२६) परन्तु वैसी दशा में भी ऐसे राघव वा राघवचेतन के

साथ 'पदमावत' के पात्र की अभिन्नता का सिद्ध कर सकना सरल नहीं जान पड़ता ।

'पदमावत' का राघवचेतन एक गुणी व्यक्ति है किन्तु इसके साथ ही वह क्रूर प्रकृति का व्यक्ति है और प्रतिहिंसापरायण भी है। अपनी प्रतिशोधमयी प्रवृत्ति के कारण वह राजवंश के नष्ट हो जाने तथा विधर्मियों की शक्ति में वृद्धि आ जाने की ओर तक ध्यान नहीं देता । वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए इतना तुला है कि सुल्तान के साथ चित्तौड़ गढ़वाले स्वागत में बराबर रहता है, उसे पद्मावती के धोखे में उसकी सुन्दरी दासियों के फेर में न पड़ जाने की सलाह देता है (४६-९) तथा सुल्तान के दर्पण में रानी का प्रतिबिम्ब देखकर, बेसुध हो पड़ने को छिपाने के लिए उसे सुपारी का लगना बतलाता है (४६-१८)। राघवचेतन तथा सुल्तान के बीच ऐसे अवसर पर होने वाली बातचीत से जान पड़ता है कि ये दोनों कुछ काल के लिए अभिन्नहृदय मित्र' से भी हो गये हैं (४६-१९-२२)। यह पदमावती के सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता रहता है और चाहता है कि उस सुन्दरी रमणी के प्रति सुल्तान की लिप्सा में किसी भी प्रकार कमी न आने पावे । यदि यह राजा रतन सेन के दरबार में सचमुच कुछ दिनों से रहता आया था और वहाँ से उचित सम्मान भी पा चुका था, उस दशा में इसका अपने आश्रयदाता के विरुद्ध असाधारण षड्यन्त्र की रचना करना इसकी घोर कृतघ्नता का ही परिचायक कहा जायेगा। हो सकता है, इसे लोभवृत्ति ने भी उत्तेजित किया हो किन्तु उस दशा में इस खल-पात्र की नीचता और भी स्पष्ट हो जाती है ।

—प० च०

राजनाथ पांडेय—जन्म १९१० ई० में वाराणसी जिले में हुआ। शिक्षा एम० ए०, डी० फिल० प्रयाग विश्वविद्यालय से हुई। सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक थे। साहित्य के विभिन्न माध्यमों में आपने प्रयोग किये थे। कृतियाँ—'लंकादहन' (नाटक—१९४० ई०), 'वीर नाविक महाजनक' (कविता-१९४२ ई०), 'रत्नमंजरी' (कहानियाँ—१९५१ ई०), 'पुरुरवा की शपथ' (उपन्यास-१९५७ ई०)।

—सं०

राजनीति—सन् १८०९ ई० में लल्लूलाल द्वारा ब्रजभाषा में 'हितोपदेश' का अनुवाद है, जिसे लल्लूलाल ने जान गिलक्राइस्ट के आदेश से तैयार किया था।

इस ग्रन्थ का क्रम हितोपदेश के अनुसार ही है—(१) मित्रलाभ, (२) सुहृद भेद, (३) विग्रह, (४) संधि, (५) लब्धप्रणाश । परन्तु यह क्रम पंचतन्त्र का है। आजकल हितोपदेश की जो प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें चार ही परिच्छेद पाये जाते हैं। लल्लूलाल ने इसका क्रम यों रखा है—"याहि तें पाँच प्रकार की कथा करि कहत हों। पहली मित्रलाभ कहैं प्रीति करायबे की रीति। दूजी सुहृभ्देद कहैं स्नेह छुरायबे की रीति। तीजी विग्रह कहैं युद्ध करायबे की चालि। चौथी सन्धि कहैं मिलाप करायबे की युक्ति संग्राम तें पहिले होय कै पाछै। पाँचवीं लब्ध प्रनाश कहें एक वस्तु पायकरि हिराय दैनी।

लल्लूलाल के बाद इसका एक संस्करण इलाहाबाद से सन् १८५४ ई० में संशोधित रूप में प्रकाशित हुआ, जिसमें सात पृष्ठों की भूमिका तथा दस पृष्ठों में टिप्पणियाँ और चौदह पृष्ठों में शब्दानुक्रमणी दी गयी है। सबके अन्त में दो पृष्ठों में शुद्धि पत्र भी है। इसी संस्करण का एक शुद्ध शाब्दिक अनुवाद सी० डब्ल्यू० वोडलर वेल के द्वारा किया गया और कलकत्ते की थैकर स्पिक कम्पनी से सन् १८६९ ई० में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ की भाषा का नमूना यह है—"इतनौ कहि पुनि राजा बोल्यौ कि मेरे पुत्र गुनवान होंय तौ भलौं। यह सुनि कोऊ राजसभा में तै बोल्यो कि महाराज आयु कर्म वित्त विद्या अरु मरन ये पाँच बात देहधारी कौं गर्भ हीमें सिरजी हैं। ताते भावी में है सो बिना भये नाहीं रहति जैसें श्री महादेव जू कौं नग्नता अरु श्री भगवान कौं सर्प सय्या। तासौं चिन्ता मति करौं। जौ तिहारे पुत्रनि कै कर्म में विद्या लिखी है तो विद्यावान होंयगे। पुनि राजा कहि यह तौ साँच है पर मनुष कौं परमेश्वर ने हाथ अरु ज्ञान दयो है।"

[सहायक ग्रन्थ—राजनीति, संस्करण, इलाहाबाद, १८५४ ई०; राजनीति : सी० डब्ल्यू० वोडकर वेल द्वारा ब्रजभाषा से अंग्रेजी में अनुवाद, कलकत्ता, सन् १८६९ ई०]

—वि० ना० प्र०

राजपति दीक्षित—जन्म वाराणसी जिलान्तर्गत २० अक्तूबर सन् १९१५ ई०। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक थे। आपका शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास और उनका युग' (१९५२ ई०) तुलसी-समीक्षा का एक प्रमुख ग्रन्थ है, दूसरी कृति 'सन्त तुलसीदास और उनके सन्देश' (सन् १९५४ ई०) है। उक्त दोनों कृतियों में समकालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में तुलसी के सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक विचारों का विवेचन है।

—सं०

राजबली पांडेय—जन्म १९०७ ई०। करौंज जिला देवरिया में। शिक्षा (एम० ए०, डी० लिट्०) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई। अनेक वर्षों तक वहीं कॉलेज ऑफ इण्डोलाजी के प्रिंसिपल रहे। फिर जबलपुर विश्वविद्यालय में कुलपति हुए। कई वर्षों तक नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री के रूप में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' तथा 'हिन्दी विश्व कोश' की योजना के प्रमुख पुरस्कर्ताओं में से आप रहे हैं।

आपकी निम्नांकित रचनाएँ हैं—'इण्डियन पेलियोग्राफी' (१९५२ ई०), 'प्राचीन भारत—हिन्दू काल' (१९५४ ई०), 'विक्रमादित्य' (१९५९ ई०), 'हिन्दी में उच्चतर साहित्य' (१९५७ ई०), 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'—१ भाग (सम्पादित १९५७ ई०), 'हिन्दू संस्काराज' (१९४९ ई०)।

पुस्तकों के अध्ययन से उनके ज्ञान वैविध्य एवं ऐतिहासिक दृष्टि की क्षमता का परिज्ञान होता है। इतिहास के प्रति आपका अपना एक दृष्टिकोण है। हिन्दू संस्कारों एवं लिपि विज्ञान पर भी आपके विचार द्रष्टव्य है। लिपि-विज्ञान के आप अद्वितीय ज्ञाता हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए आप सहज प्रांजल भाषा का प्रयोग करते हैं।

—श्री० व०

राजवल्लभ सहाय—जन्म, सन् १८९० ई० में बिहार के सारन जिलान्तर्गत माँझी ग्राम में। मृत्यु २७ जनवरी, सन् १९६३ ई०। प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम विद्यालय में। अंग्रेजी, हिन्दी, फारसी का अध्ययन। कालेज में आप बहुत अच्छे छात्र समझे

जाते थे। सन् १९२१ ई० से असहयोग आन्दोलन में भाग लिया तथा जेल भी गये। बाद में भी राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया। सफल अध्यापक, सम्पादक तथा कोशकार। प्रारम्भ में देशभक्तिमूलक कविताएँ भी कीं। दैनिक 'आज' के सम्पादकी विभाग के भूतपूर्व अन्यतम सदस्य, साप्ताहिक 'आज' तथा 'समाज' के भूतपूर्व सम्पादक। सौर चैत्र, १९७७ में ज्ञानमण्डल प्रकाशन विभाग में सहायक सम्पादक होकर आये। प्रकाशन-विभाग के काशी विद्यापीठ जाने पर वहाँ गये, जहाँ आपने पुस्तकसम्पादन के साथ-साथ अध्यापन का भी कार्य किया। सौर १९९५ से साप्ताहिक 'आज' के सहायक सम्पादक, बाद में उसके सम्पादक हुए। उसी के 'समाज' रूप में निकलने पर सम्पादक बने। सौर २००४ के उत्तरार्ध में दैनिक 'आज' का भी सम्पादनकार्य मुख्यरूप से सँभाला। अनन्तर आप ज्ञानमण्डल से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' के सम्पादन कार्य में लगे, जहाँ से आपने सवत् २०१० में अवकाश ग्रहण किया। अनेक वर्षों तक आपने 'आरोग्य' मासिक पत्र के सम्पादन मे भी योग दिया। आप प्रचार से दूर रहकर जीवन भर हिन्दी भाषा एवं साहित्य की एकान्त साधना करने वाले साहित्यकार थे। भाषा के संस्कार तथा उसके साधु एवं सुन्दर प्रयोगों के प्रचलन में आपका योगदान स्मरणीय रहेगा। ज्ञानमण्डल से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' के सम्पादकों में आप प्रमुख रहे हैं। मौलिक साहित्य की रचना के साथ ही आपने सफल अनुवाद भी किये हैं। नाट्यशास्त्रसम्बन्धी मौलिक ग्रन्थ का भी प्रणयन आपने किया है जो अभी अप्रकाशित है। भारतीय सन्त—साहित्य की परम्परा में धरनीदास के सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर तत्सम्बन्धी अनुसन्धान के प्रेरक बने।

कृतियाँ—'ग्रीस-रोम के महापुरुष', 'ट्राटस्की की जीवनी', 'महासमर की झाँकी', 'पश्चिमी यूरोप (दूसरा भाग), 'बृहत् हिन्दी कोश' (सम्पादक), डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद की 'डिवाइडेड इण्डिया' के अधिकांश अंश का अनुवाद। प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य का अनुवाद।

—ल० शं० व्या०

राजविलास—'राजविलास' की रचना मान कवि ने आषाढ़ शुक्ल सप्तमी, बुधवार, सं० १७३४ वि० (२६ जून, १६७७ ई०) को प्रारम्भ की थी (छं० ३८, पृ० ८)। इसमें महाराणा राजसिंहविषयक १६८० ई० तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः 'राजविलास' की समाप्ति १६८० ई० में हुई थी।

'राजविलास' में १८ विलास हैं। विलास १ में सरस्वती विनय, मोरी-वंशज चित्रांगद का १८ प्रान्तों पर शासन करना, बापा रावल की उत्पत्ति तथा उनका चित्रांगद को पराजित करके चित्तौड़ पर अधिकार करना वर्णित है। द्वितीय विलास में बापा रावल की वंशावली, उदयपुर नगर तथा राजसिंह का ११ वर्ष तक की आयु का वर्णन है। तृतीय विलास में बूंदीनरेश छत्रसाल हाड़ा की पुत्री के साथ राजसिंह के विवाह और चतुर्थ विलास में 'ऋतु-विलास' उपवन का चित्रण है। पंचम विलास से सप्तम विलास तक महाराणा राजसिंह के राज्याभिषेक तथा रूप नगर की राजकुमारी रूपकुमारी (चारुमती) के साथ विवाह का वर्णन है। अष्टम विलास में सात वर्षीय अकाल 'राजसर', विष्णु-मन्दिर का निर्माण तथा महाराणा के तुलादान का उल्लेख है। नवम विलास में औरंगजेब के उत्तराधिकार-युद्ध, आतक, जोधपुर अधिकार, महाराजा अजीतसिंह का महाराणा राजसिंह के पास जाने आदि का वर्णन है। दशम से अष्टादश विलास तक महाराणा राजसिंह की मृत्युपर्यन्त (२२ अक्तूबर, १६८० ई०) तक के औरंगजेब के साथ युद्धों का चित्रण है। इसमें वीर-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। दोहा, गीतामालती, कवित्त (छप्पय), पद्धरी आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। राजस्थानीमिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार 'राजविलास' ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का सम्पादन लाला भगवानदीन ने और प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने सन् १९१२ ई० में किया है।

—टी० सिं० तो०

राजा शिवप्रसाद (सितारे हिंद)—जिस समय देवनागरी अक्षरों में "टूटी-फूटी चाल पर" लिखी जाने वाली हिन्दी संकटकाल से गुजर रही थी, राजा शिवप्रसाद उसके समर्थन और उत्थान का व्रत लेकर साहित्य-क्षेत्र में आये। आप परमारवंशीय क्षत्रिय थे। आपके पितामह, नवाब कासिमअली खाँ के अत्याचारों से ऊबकर मुर्शिदाबाद से काशी चले आये थे। आपका जन्म काशी में ही सन् १८२३ ई० में हुआ था। आपने हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला आदि कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। सबसे पहले आपने भरतपुर दरबार में नौकरी की और राज्य के हित में बड़े-बड़े कार्य किये। सन् १८४५ ई० में आप सरकारी नौकरी में आये। तृतीय सिख युद्ध में आप सरकारी नौकरी में आये तृतीय सिख युद्ध में अंग्रेजों की जी खोलकर सहायता की और शीघ्र ही सरकारी स्कूलों के इन्सपेक्टर हो गये। प्रारम्भ से ही साहित्य के प्रति आपकी विशेष रुचि थी। शिक्षा विभाग में रहकर आपने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

'मानवधर्मसार', 'योगवाशिष्ठ के कुछ चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद्सार', 'भूगोलहस्तामलक', 'छोटा भूगोल हस्तामलक', 'स्वयंबोध उर्दू', 'वामामनरंजन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना', 'वर्णमाला', 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'इतिहास तिमिरनाशक' (भाग १, २, ३) 'सिखों का उदय और अस्त', 'गुटका' (भाग १, २, ३) 'नया गुटका' (भाग १, २) 'हिन्दी-व्याकरण', 'कुछ बयान अपनी जुबान का', 'बालबोध', 'सैण्डफोर्ड और मारटन की कहानी', 'अंग्रेजी अक्षरों के सीखने का उपाय', 'बच्चों का इनाम', लड़कों की कहानी', 'बीरसिंह का वृत्तान्त', 'गीत गोविन्दादर्श', 'कबीर टीका' आदि आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इन कृतियों में से अधिकांश विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है। विषय की दृष्टि से विविधतापूर्ण होते हुए भी ये रचनाएँ महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकतीं। इनका महत्त्व भाषा की दृष्टि से अधिक है। वह समय हिन्दी-प्रदेशीय जनता की भावनाओं का आदर करते हुए और हिन्दी-भाषा की जातीय प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर हिन्दी-गद्य को सर्वमान्य रूप देने का था। इसके लिए निर्णयात्मक कदम उठाने के पूर्व पर्याप्त सोच-विचार की आवश्यकता थी। राजा शिवप्रसाद ने

सोच-विचारकर संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी और ठेठ हिन्दी सभी को मिलाकर एक सर्वमान्य भाषा बनाने की चेष्टा की। उन्होने 'भूगोल हस्तामलक', 'वामामनरंजन' 'राजा भोज का सपना' आदि कृतियों में ऐसी ही भाषा का प्रयोग भी किया। उनकी दृष्टि में यह 'आमफहम' और 'खासपसन्द' भाषा थी। 'वामामनरंजन' की भाषा का एक नमूना इस प्रकार का है—"विदर्भ नगर के राजा भीमसेन की कन्या भुवनमोहिनी दमयन्ती का रूप और गुण सारे भारतवर्ष में प्रख्यात हो गया था। निषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र सर्वगुण विशिष्ट अति सुशील धार्मिक नल से स्वयंवर में उसने जयमाल देकर विवाह किया।" यद्यपि सर्वत्र ऐसी भाषा का प्रयोग इस ग्रन्थ में भी नहीं है और उर्दू के पर्याप्त शब्दों का प्रयोग प्रायः किया गया है किन्तु सब मिलाकर इस ग्रन्थ की भाषा 'आमफहम' कही जा सकती है। कठिनाई आगे चलकर हुई। 'इतिहास तिमिर नाशक', 'सिखों का उदय और अस्त' तथा 'कुछ बयान अपनी जुबान का' आदि कृतियों में 'आमफहम' के नाम पर अरबी-फारसीगर्भित शुद्ध उर्दू का प्रयोग किया गया है। 'सिखों का उदय और अस्त' की भाषा का नमूना प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया जा सकता है—"गरज लाहौर के राज की खुदसरी व खुदमुख्त्यारी जो रंजीतसिंह ने इस मिहनत से काइम की थी अब हमेशा के वास्ते नेस्तनाबूद हुई और पंजाब भी मिसल और छोटे रजवाड़ों के सरकार का मुतीअ और फर्मांबर्दार हो गया।"

राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति के इस उत्तरोत्तर परिवर्तन का कारण है, उनका सरकारी नीति का निरन्तर समर्थन करते चलना। अंग्रेजी सरकार की प्रसन्नता उनकी प्रसन्नता थी। स्वभाव से भी वे संस्कृत-गर्भित या ब्रजभाषा-प्रभावित हिन्दी के समर्थक न थे। वे हिन्दी का गँवारपन दूर करना चाहते थे। उसे शिष्ट बनाना चाहते थे। अदालती भाषा को वे आदर्श मानते थे। उनकी दृष्टि में सदैव शिक्षित समुदाय रहता था, भारत का कोटि-कोटि जन समुदाय नहीं। लिपि के प्रश्न पर वे सदैव 'देवनागरी' के समर्थक रहे। यदि कहीं उन्होंने उर्दू-लिपि का समर्थन किया होता तो उन्हें हिन्दी-हितैषी मानने में भी संकोच होता। उनकी प्रेरणा से प्रकाशित 'बनारस अखबार' की भाषा भी उर्दू ही थी। यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें संस्कृत-मिश्रित हिन्दी लिखने का अभ्यास नहीं था। 'मानवधर्मसार', 'योग वाशिष्ठ', और 'उपनिषदसार' की भाषा भारतीय सांस्कृतिक जीवन के सर्वथा अनुकूल है। सरकार बहादुर की प्रेरणा या दबाव से ही वे "सरकार दरबार और हाट बाजार में" बोली जानेवाली हिन्दी के हिमायती बने और क्रमशः उर्दू के रंग में रंगते चले गये। फिर भी, उन्होंने जो कुछ किया, उसका महत्त्व और मूल्य कम नहीं है। मैकाले की शिक्षा-योजना के प्रभावस्वरूप उस समय ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि हिन्दी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। सरकारी दफ्तरों की भाषा तो 'उर्दू' हो ही गयी थी, सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए स्थापित किये जानेवाले मदरसों में भी हिन्दी-शिक्षा की व्यवस्था का विरोध हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा-विभाग में हिन्दी को स्थान दिलाना और उसकी रक्षा करना, उसमे विभिन्न विषयों पर पाठ्यक्रमानुकूल छात्रोपयोगी पुस्तके लिखना, नागरी लिपि का समर्थन करना और अपने को हिन्दी-हितैषी कहना ही अपने आप में बहुत बड़ी बात थी।

सन् १८७२ ई० में आपकी सेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेजी सरकार ने आपको 'सी० एस० आई०' की उपाधि दी। सन् १८८७ ई० में आपको 'राजा' की सम्मानित उपाधि मिली। २३ मई सन् १८९५ ई० में काशी में आपका स्वर्गवास हो गया। यदि आपने थोड़ी सतर्कता और दृढ़ता से काम लिया होता तो हिन्दी-गद्य के उस व्यावहारिक स्वरूप के जनक हुए होते, जिसका विकास आगे चलकर देवीप्रसाद मुंसिफ और देवकीनन्दन खत्री की कृतियों में हुआ।

—रा० चं० ति०

राजेंद्रप्रसाद—स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति। जन्म ३ दिसम्बर, १८८४ ई० को उत्तर बिहार के जीरादेई नामक छोटे से गाँव में हुआ। स्कूल में दाखिल होने से पहले उन्होंने घर पर मौलवी साहब से फारसी पढ़ी। प्राइमरी प्राठशाला में पहले-पहल हिन्दी पढ़ना शुरू किया और वहीं कुछ दिनों के बाद हिन्दी के बदले संस्कृत पढ़ी। पर चौथे दर्जे में पहुँचते-पहुँचते हिन्दी, संस्कृत दोनों को छोड़कर उर्दू और फारसी ले ली, क्योंकि उस समय समझा जाता था कि वकालत के पेशे में उससे कुछ मदद मिलेगी। पिता की इसी आशा के कारण हिन्दी से सम्पर्क टूट गया। एण्ट्रेंस और एफ० ए० तक फारसी पढ़ी। बी० ए० मे ऐच्छिक विषय के रूप में राजेन्द्र बाबू ने हिन्दी में लेख लिखा और पास हुए।

कलकत्ता में 'हिन्दी भाषा परिषद्' नाम की एक संस्था थी और बिहारियों का एक 'बिहारी क्लब' था, इन दोनों जगहों पर हिन्दी की चर्चा होती, लेख पढ़े जाते ओर भाषण दिये जाते थे। इन संस्थाओं में राजेन्द्रबाबू नियमित रूप से भाग लिया करते थे। वहाँ हिन्दी के कई प्रसिद्ध विद्वान् साहित्यकारों से उनका परिचय हुआ और इन सबके सम्पर्क ने राजेन्द्र बाबू में सहज ही हिन्दी के प्रति अनुराग पैदा कर दिया। उन्हीं दिनों कुछ लोगों का विचार हुआ कि 'बंगीय साहित्य परिषद्' की तरह हिन्दी साहित्यकारों का भी सम्मेलन हुआ करे तो अच्छा हो और इसी विचार से कई व्यक्तियों के साथ राजेन्द्र बाबू ने भी अखबार में एक पत्र लिखा। सन् १९१० ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ, जिसमें राजेन्द्र बाबू शरीक हुए और वहाँ पुरुषोत्तमदास टण्डन से उनका प्रथम परिचय हुआ। कलकत्ता में रहते हुए पद्मसिंह शर्मा से उनका परिचय हुआ, जिसके फलस्वरूप हिन्दी लेखन की ओर उनकी सहज प्रवृत्ति हो गयी और अब राजेन्द्र बाबू ने लेख लिखना आरम्भ किया। 'भारतोदय' में सन् १९१० में उनका प्रथम लेख 'समाज-संशोधन' प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका के सम्पादक पद्मसिंह शर्मा थे और उन्हीं की प्रेरणा से राजेन्द्र बाबू ने हिन्दी में यह लेख लिखा। यह उनके लिए बड़ी बात थी क्योंकि उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी में हो रही थी। यह लेख उनके हिन्दी प्रेम का द्योतक है।

जब कलकत्ता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो स्वागत समिति के अध्यक्ष पं० छोटेलाल मिश्र और मन्त्री राजेन्द्र बाबू बने। उसके बाद सम्मेलन से उनका सम्बन्ध बराबर बना रहा। जब १९२० ई० में पटना में सम्मेलन का अधिवेशन हुआ तो वह फिर स्वागत समिति के

पदाधिकारी बने और १९२६ ई० मे नागपुर सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये।

जब १९२८ ई० में राजेन्द्र बाबू इंग्लैण्ड गये वहाँ से उन्होंने अपने अनुभव कुछ लेखो के रूप में लिख भेजे। 'मेरी यूरोप यात्रा' शीर्षक लेख पटना से 'देश' नामक साप्ताहिक में प्रकाशित हुए। इस पत्र के वे सम्पादक भी रहे। इस कार्यकाल में आपका हिन्दी लेखकों और पत्रकारों से सम्पर्क बना रहा।

जब महात्मा गान्धी ने चम्पारन में रहते समय हिन्दी प्रचार का काम दक्षिण भारत में आरम्भ किया, राजेन्द्र बाबू ने भी उसमें पूरी रुचि ली और कई प्रचारकों को बिहार से दक्षिण भारत भेजा। जब नियमित रूप से सन् १९१८ ई० में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हुई तब से वे महात्मा गान्धी के आदेशानुसार उसके उच्च पदाधिकारी रहे। इसी प्रकार गान्धी जी की प्रेरणा से वे 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' से भी शुरू से ही सम्बद्ध रहे, 'नागरी प्रचारिणी सभा' के साथ भी सम्बन्ध बना और उसके प्रकाशनों में उनकी सदा रुचि रही। 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के निर्माण को प्रेरित किया और उसकी भूमिका भी लिखी।

राजेन्द्र बाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी सब रचनाएँ मौलिक रूप से हिन्दी में लिखीं। इसका एकमात्र अपवाद 'इण्डिया डिवाइडेड'—'खण्डित भारत' है। सन् १९४० ई० में उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' हिन्दी में लिखी। यह बृहत् ग्रन्थ हिन्दी पर उनके पूर्ण अधिकार का प्रमाण है। 'आत्मकथा' की भाषा परिष्कृत है, शैली सरल तथा प्रांजल है। इसी पर नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' दिया और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इन्हें दो पुरस्कार दिये—एक, सर्वप्रथम वयोवृद्ध हिन्दी सेवी होने के नाते और दूसरा, गान्धी साहित्य पर सर्वोत्तम रचना ('बापू के कदमों में') के लिए। उनकी प्रत्येक कृति का अपना उद्देश्य है और अपना व्यक्तित्व। 'मेरे यूरोप के अनुभव', 'संस्कृत का अध्ययन' और 'चम्पारन में महात्मा गान्धी' ये पुस्तकें १९३७ ई० से पहले लिखी गयी थीं। 'यूरोप के अनुभव' १९२८ ई० में राजेन्द्र बाबू की विदेशयात्रा के सम्बन्ध में लिखे गये अनुभवों का संग्रह है। 'संस्कृत का अध्ययन' में भारतीय संस्कृति का सुन्दर विवेचन है। 'चम्पारन में महात्मा गान्धी' की रचना का आधार लेखक की व्यक्तिगत जानकारी और महात्मा गान्धी ने चम्पारन (बिहार) में जो सत्याग्रह किया, उसके निजी क्रियात्मक सम्पर्क और दर्शन पर है। इसमें उन्होंने चम्पारन की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का भी पूरा चित्रण किया है। प्रायः सौ वर्षों की नील की कोठियों की श्रमिक जनता की समस्याओं का निदर्शन और महात्मा गान्धी के सत्याग्रह से उनका समूल उन्मूलन तथा जनजीवन की क्रान्ति का चित्रमय वर्णन है। इस पुस्तक के जन्म का आधार यही क्रान्तिपूर्ण कहानी है।

आगे 'आत्मकथा' और 'इण्डिया डिवाइडेड' (हिन्दी अनुवाद 'खण्डित भारत') जिसे ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ने प्रकाशित किया था, उन्होंने ये दो पुस्तकें लिखीं। 'खण्डित भारत' नाम की पुस्तक पहली बार १९४५ ई० में प्रकाशित हुई। 'आत्मकथा' में राजेन्द्र बाबू के सरल और सात्त्विक व्यक्तित्व के अतिरिक्त देश के इतिहास में विगत ४० महत्त्वपूर्ण वर्षों में जो घटनाएँ घटीं, लेखक ने उनमें क्या भाग लिया, भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारधार की प्रगति—इन सब बातों की अच्छी झाँकी मिलती है। पूर्वार्द्ध कथा का स्तर देहाती जीवन, साधारण पारिवारिक परिस्थितियाँ, हिन्दू-समाज के रीति-रिवाज आदि से ऊपर नहीं उठता। उत्तरार्द्ध पुस्तक का स्तर इतना ऊँचा है कि वह विशुद्ध आदर्शवाद, देशभक्ति, त्याग, निःस्वार्थ सेवा और उच्च बौद्धिक विकास—इन सभी से ओत-प्रोत है। सबसे बढ़कर 'आत्मकथा' के पन्नों में हमें एक सौम्य, सच्चे, विलक्षण और न्यायोन्मुख व्यक्तित्व के सम्पूर्ण दर्शन होते हैं।

'खण्डित भारत' मूलतः अंग्रेजी में लिखा गया था पर शीघ्र ही उसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित हो गया। सन् १९४० ई० में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया और तब उस विषय पर लोगों का ध्यान गया। जेल में रहते-रहते उन्होंने इस विषय पर अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया, जिसके मन्थन स्वरूप इस पुस्तक का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य यह था कि हिन्दू-मुसलमान दोनों इस विषय का तटस्थता पूर्वक अध्ययन करें और समझें कि मुसलमानों को क्या लाभ या नुकसान हो सकता है और जिन आधारों पर यह दावा पेश है, उनमें क्या तथ्य है। यह भी दिखलाया गया कि यदि मुस्लिम लीग के प्रस्ताव के अनुसार बँटवारा हुआ भी तो पाकिस्तान को क्या मिल सकता है।

परिपक्व लेख शैली, सुलझे हुए विचार, सफलता की छाया में द्विगुणित श्रद्धा—ये 'बापू के कदमों में' नामक पुस्तक की विशेषताएँ हैं। साहित्य की दृष्टि से इस पुस्तक को 'आत्मकथा' की अपेक्षा अधिक विकसित कहा जा सकता है। विषय सीमित है और अभिव्यंजना भावनाओं के सहारे शरद्कालीन सरिता की तरह स्वच्छ रूप में मन्द गति से प्रवाहित होती दीखती है। महात्मा गान्धी के प्रति लेखक की असीम श्रद्धा और उनके सिद्धान्तों में लेखक की आस्था की गहराई का आभास गान्धी जी के व्यक्तित्व पर ही प्रकाश नहीं डालता, वरन् स्वयं लेखक के व्यक्तितव को भी मानो उभार कर रख देता है। इस पुस्तक में भावनाओं की अभिव्यंजना, भक्तिपूर्ण श्रद्धांजलि और राजनीतिक आदर्शवाद को परिमार्जित साहित्यिक शैली में व्यक्त किया गया है।

'संस्कृत का अध्ययन' के अतिरिक्त राजेन्द्र बाबू की अन्य कृतियाँ 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति', 'भारतीय शिक्षा', 'गान्धी जी की देन' इत्यादि उनके अमूल्य अभिभाषणों के संग्रह हैं, जिनमें विविध विषयों पर उनके मौलिक विचारों का प्रवाह प्रवाहित हुआ है। इनकी भाषा बहुत ही प्रांजल और सुन्दर है।

—ज्ञा० द०

राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह—बिहार निवासी, संसद-सदस्य। विविध विषयों पर आपने पुस्तकें लिखी हैं। भारतीय जीव-जन्तुओं और पक्षिओं के सम्बन्ध में आपका विशिष्ट अध्ययन है। कृतियाँ—'भारत के पक्षी', 'भारत के वन्य जन्तु' आदि हैं।

—सं०

राजेश्वर प्रसाद सिंह—जन्म २६ फरवरी, सन् १९०३ ई० प्रयाग में। प्रयाग में ही शिक्षा एवं अध्ययन के उपरान्त आपने

हिन्दी पत्रकारिता में विशेष रुचि के साथ प्रवेश किया। साथ ही साहित्यिक रचनाओं की ओर भी ध्यान दिया। अब तक आपके आठ उपन्यास और सात कहानी-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। इनमें से अधिकांश सामाजिक हैं किन्तु कुछ वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित उपन्यास और लघु-कथाएँ भी हैं। रहस्य रोमांस में भी आपकी रुचि रही है और समय-समय पर आपने इस प्रकार की रचनाएँ भी लिखी हैं। आप कवि भी हैं और खड़ी बोली में विशेष कर सामाजिक यथार्थ और रोमानी सत्य को लेकर आपने अच्छी रचनाएँ की हैं।

उपन्यासों में आपकी भाषा बहुत कुछ प्रेम चन्द की भाषा जैसी सरल एवं सहज होती है। गद्य-शैली की दृष्टि से आप में वर्णनात्मक शैली ही प्रधान है। कथानकों में आपकी विशेष रुचि शिल्प की ओर रही है, जिसके कारण कहीं-कहीं शिल्प का चमत्कार तो मिलता है किन्तु कथा की गहराई छूट जाती है। जिस युग के राजेश्वर बाबू लेखक हैं, उस युग में वैज्ञानिक कथाओं और उनकी कल्पनाओं को उनके वैज्ञानिक उपन्यासों में देखकर आश्चर्य होता है, किन्तु मात्र शिल्प से उपन्यासों की आत्मा उठाने में आपको पूर्ण सफलता नहीं मिली।

आपकी कहानियों में भी यही होता है। इतिवृत्तात्मक शैली के समर्थक होने के नाते आपकी कहानियाँ जीवन के यथार्थ स्तर तक नहीं पहुँच पातीं। कथानक को शिल्प की दृष्टि से इतना पूर्ण कर देते हैं कि उसका ससपेन्स नहीं रह जाता।

आप 'माया' और 'मनोहर कहानियों' का सम्पादन पिछले दो दशकों से कर रहे हैं।

आपके प्रकाशित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार हैं : 'आदमी और जिन्दगी', 'अभिनय', 'सुलगती आग', 'खेल', 'रहस्यमयी', 'मृत्यु किरण', 'साथी' और 'इन्सपेक्टर बोस' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहानी संग्रहों में—'सोने का जाल' 'दीपदान,' 'कलंक,' 'फिर मिलेंगे', 'गल्पसंसार' प्रसिद्ध है।

—ल० का० व०

राजेश्वर गुरु—जन्म १९१८ में हुआ। मध्यप्रदेश के कई प्रमुख महाविद्यालयों में प्रध्यापन करते रहे। इस समय ग्वालियर के एक महाविद्यालय में प्राचार्य का कार्य कर रहे हैं। विविध क्षेत्रों में लेखन किया है।

कृतियों—शेफाली (१९३९, कविता), 'पाँच एकांकी' (१९५४), 'भोर से पहले' (१९५८, एकांकी), 'प्रेमचंद : एक अध्यापन' (१९५८)।

राज्यश्री—'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक रूपक है। राज्यश्री इसकी प्रमुख पात्र है। इस नाटक की घटनाएँ मुख्यतया बाण के 'हर्षचरित' तथा ह्वेनसांग के भ्रमणवृत्तान्त से ली गयी हैं। 'राज्यश्री' में कल्पना की अपेक्षा इतिहास की मात्रा अधिक है। यह घटना प्रधान नाटक है, अतः घटना-बाहुल्य के कारण पात्रों के अन्तर्जगततक पहुँचने का और उनकी मानसिक गुत्थियों को सुलझाने का अवसर नाटककार को नहीं मिलता। घटनाओं के प्रबल झंझावात में पात्रों का व्यक्तित्व मानो उड़ता फिरता है। "पात्रों के शील वैचित्र्य को पूर्णतया स्फुट बनाने के लिए स्थितियों में जिस उतार-चढ़ाव की आवश्यकता होती है, उसका इस रूपक में प्रायः अभाव-सा है।" प्रस्तुत नाटक में विकट-घोष और सुरमा की अवान्तर-कथा प्रसाद की अपनी कल्पना है, यद्यपि इसके समावेश से नाटकीय वस्तु या पात्रों के चरित्रपरिवर्द्धन में कोई सहायता नहीं मिलती। इस नाटक के समस्त घटनाचक्र के केन्द्र में राज्य श्री वर्तमान है, सबके मूल में राज्यश्री का सात्विक व्यक्तित्व छाया हुआ है। 'राज्यश्री' के प्राक्कथन में प्रसाद ने कहा है कि वह एक आदर्श राजकुमारी थी, उसने अपना वैधव्य सात्विकता से बिताया। अनेक अवसरों पर वह हर्ष के लौह हृदय को कोमल करने में कृत-कार्य हुई।

आदर्श आर्यनारी राज्यश्री कन्नौज के नरेश गृहवर्मा की पतिपरायणा सती पत्नी है। दानशीलता, आत्मगौरव, उदारता आदि अनुपम गुणों के कारण सहज ही में वह सब की श्रद्धा का केन्द्र बन जाती है। नाटक की नायिका राज्यश्री का सर्वप्रथम अवतरण एक सती साध्वी आर्य ललना के रूप में होता है। वह अपने शंकाकुल पति को सान्त्वना देती हुई कहती है : "नाथ, आप जैसे धीर पुरुषों को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शान्त है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती है ?" गृहवर्मा जब सीमान्त के वनों में आखेट के लिए चले जाते हैं, तब वह देवार्चन एवं दानादि मांगलिक कार्यों के द्वारा पति की मंगल-कामना करती है। मन्त्री द्वारा सीमान्त पर युद्ध छिड़ने का समाचार सुनकर अधीर न होते हुए एक वीरांगना की भाँति घोषणा करती है : "क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा! आप प्रबन्ध कीजिये, मैं निर्भय हूँ।" इस प्रकार राज्यश्री के चरित्र में क्षत्रियोचित् साहस एवं आत्मसम्मान की प्रबल भावना व्याप्त है। आन्तरिक गुणों से परिपूर्ण होते हुए वह बाह्याकर्षण में भी अद्वितीय है। वह एक रूप शिखा के समान है, जिस पर समस्त विलासी शलभ गिरकर भस्म हो जाते हैं। देवगुप्त की दृष्टि में यह अनुपम सौन्दर्य की राशि "विश्वराज्यश्री" है। मालवराज भी इस दुर्लभ मृगतृष्णा के पीछे पड़ा हुआ अनेक अनर्थ करता है। राज्यश्री साहस एवं निर्भीकता की सजीव मूर्ति है। देवगुप्त के सामने आते ही उस पर वीरता से शस्त्र-चालन करती है, उसके अधीन होकर भी उसके ऐश्वर्य-सुखको ठुकराकर अपने सतीत्व की रक्षा करती है। प्रवंचक देवगुप्त को अपने सतीत्व की तेजस्विता से हतप्रभ बनाते हुए कहती है : "तुम देवगुप्त ? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो—मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ। एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस।" उसका वध करने में असमर्थ होने पर आत्मगौरव की रक्षा में सतर्क एक खुली चुनौती के रूप में देवगुप्त से कहती है : "मैं तुम्हारा वध न कर सकी तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती।" आत्मगर्विता महिला के रूप में विपत्तिग्रसित स्थिति में वह दिवाकर मित्र को अपना परिचय देने में संकोच करती है : "जब विपत्ति हो, जब दुर्दिन की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपकार करना है।" राज्यश्री का सम्पूर्ण चरित्र आपत्तियों एवं कष्टों की एक करुण गाथा है। पति को खोकर वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपमानित होकर दारुण यन्त्रणा सहती है। राज्यवर्द्धन उसके उद्धार के प्रयास में छलपूर्वक मारा जाता है। पति और भाई को खोकर अनाथिनी की भाँति जगह-जगह घूमती है। जीवन-लता पर गिरे इन अनभ्र वज्रपातों से ऊबकर कभी तो

वह प्राणविसर्जन के लिए भी तत्पर दिखाई पड़ती है : "सखी! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।" इसी प्रकार अन्यत्र एक स्थलपर दिवाकर मित्र से भी कहती है : "दुखों-को छोड़कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर। आर्य मुझे आज्ञा दीजिये। स्त्रियों का पवित्र कर्त्तव्य पालन करती हुई इस क्षणभंगुर संसार से विदाई लूँ—नित्य की ज्वाला से यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे।" हर्ष की आकस्मिक उपस्थिति से राज्यश्री की प्राण-रक्षा होती है। एक दीर्घ दारुण दुःख रात्रि के बीतने पर राज्य श्री पुनः खोये वैभव को प्राप्त करती है। वह क्षमा की मूर्ति मानु देवी है। उसके व्रत-दान एवं उदारता की कोई सीमा नहीं है। अपने भाई के हत्यारे नरेन्द्र एवं विकट घोष जैसे नर-पिशाच को वह हर्षवर्धन से क्षमा करा देती है : "आज हमलोगों ने सर्वस्व दान दिया है,....क्या यही एक दान रह जाय— इसे प्राणदान दो भाई।" भारतीय नारी के एक अत्यन्त सात्त्विक, महामहिम चित्र की कल्पना राज्यश्री के रूप में साकार हुई है। वह हिमालय की सी शुभ्रता एव उच्चता तथा महासागर की सी अगाध गम्भीरता अपने विराट व्यक्तित्व में सँजोये हुए है। प्रवंचना, प्रतारणा, छल, विद्रोह एवं हत्या के भीषण झंझावात में भी वह शान्त बनी रहती है। उसी के सहज करुण पावन संस्पर्श में प्रति हिंसा से प्रेरित होकर लाखों का संहार करने वाला हर्ष राजा होकर भी कंगाल बनने का अभ्यास करता है। विदेशी यात्री सुएनच्वांग (ह्वेनसांग) उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है एवं कहता है : "सर्वस्व दान करने वाली देवी! मैं तुम्हें कुछ दूँ—यह मेरा भाग्य। तुम्हीं मुझे वर दान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊँ।" राज्यश्री के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर विलास की मृगतृष्णा से प्रवंचित सुरमा प्रायश्चित् स्वरूपकाषाय ग्रहण करती है। इस प्रकार बड़े कौशल और सतर्कता के साथ प्रसाद ने राज्यश्री का चरित्रांकन किया है। अपनी चारित्रिक उत्कृष्टता में वह अलौकिक प्रतीत होती है। उसके पूर्ण नारीत्व में भारतीय आदर्श नारी का चित्र अंकित किया गया है।

—के० प्र० चौ०

राणा रासो (दयालदास)—'पृथ्वीराज रासो' के समान शैली में लिखित दयालदास की कृति 'राणा रासो' है। मेवाड़ के राजवंश का इस कृति में छन्दबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस अप्रकाशित रचना की प्रतियों में सन् १६१८ ई० की लिखित प्रति का उल्लेख मिलता है किन्तु 'राणा रासो' में अनेक परवर्ती राजाओं का भी वर्णन मिलता है, अतः कृतिका यह अंश प्रक्षिप्त हैं या कृति पीछे की रचना है। महाराज जयसिंह का समय सन् १६२७ तक रहा, अतः कृति की रचना इसके बाद हुई होगी। 'राणा रासो' में ८७५ छन्द हैं। ब्रह्म से प्रारम्भ करके महाराणा जयसिंह तक की वंशावली में अनेक कल्पित नाम होंगे। इतिहास के ग्रन्थ की दृष्टि से 'राणा रासो' का कोई महत्त्व नहीं है। रसावला, विराज, साटक आदि विविध छन्दों का कृति में प्रयोग हुआ है। कृति की भाषा राजस्थानी मिश्रित 'पिंगल (ब्रज) कही जा सकती है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थान का पिंगल साहित्य : डा० मोतीलाल मेनारिया, बम्बई, १९५८ ई०।]

—रा० ति०

राधा—कृष्णकाव्य में राधा-कृष्ण प्रेम का आख्यान जितनी व्यापकता और लोकप्रियता के साथ प्रचलित है, उसे देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि कृष्ण की भाँति राधा के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख नहीं प्राप्त होते परन्तु यह अनुमान होता है कि सात्वत या आभीर जाति में प्रचलित गोपियों के साथ गोपाल-कृष्ण की लीलाएँ गीतों के रूप में उसी समय से प्रचलित रही हैं, जबसे कि सात्वतों की वासुदेवोपासना के प्रमाण मिलते हैं। कृष्ण की प्रेयसी एवं प्रेमिका गोपियों में निश्चय ही एक विशेष गोपी का उल्लेख होता रहा है, यही गोपी आगे राधा के नाम से प्रसिद्ध हुई जान पड़ती है। राधासम्बन्धी प्राचीन संकेतों में हम तमिल प्रदेश में प्रचलित आलवार सन्तों के गीतों का स्मरण कर सकते हैं। इन गीतों में जहाँ गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन हुआ है, वहाँ कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का 'नापिन्नाय' नाम से उल्लेख मिलता है। कृष्ण की यह प्रियतमा गोपी अत्यन्त सुन्दरी और लक्ष्मी का अवतार है। कदाचित् दाक्षिणात्य कृष्ण भक्ति की यह नापिन्नाय गोपी उत्तर भारत की राधा ही है।

प्राचीन साहित्य में राधा का प्रथम उल्लेख हालसातवाहन द्वारा संगृहीत 'गाहासत्तसई' में मिलता है। इस संग्रह का समय पहली शताब्दी ईस्वी अनुमान किया गया है परन्तु कुछ विद्वान् इसे ७ वीं शताब्दी का मानते हैं। जो हो, 'गाहासत्तसई' में प्राप्त राधासम्बन्धी उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि राधा-कृष्ण के प्रेम की कथाएँ ७ वीं शताब्दी से पहले अवश्य प्रचलित थीं। सत्तसई की जिन गाथाओं में गोपी-कृष्ण अथवा राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं के सन्दर्भ मिलते हैं उनकी प्रकृति पूर्णतया रोमाण्टिक है। उनके द्वारा राधा के जिस व्यक्तित्व का परिचय मिलता है उसकी दो विशेषताएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं—उनका अप्रतिम सौन्दर्य और दूसरी उनकी प्रेम-प्रवणता। कृष्ण की प्रियतमा हैं, इस कारण उनके चरित्र में असामान्य चातुर्य, विदग्धता और प्रगल्भता पायी जाती है। पुरातत्त्व में राधा का सबसे प्रथम प्रमाण बंगाल के पहाड़पुर नामक स्थान में प्राप्त एक मूर्ति में प्राप्त होता है, जिसमें प्रसिद्ध मुद्रा में खड़े हुए कृष्ण के साथ एक स्त्री की मूर्ति दिखाई गयी है। अनेक विद्वानों का अनुमान है कि मूर्ति राधा की ही है। पहाड़पुर की यह मूर्ति छठी शताब्दी की अनुमान की गयी है। यद्यपि संस्कृत साहित्य में राधा-कृष्ण की कथा को लेकर किसी स्वतन्त्र और सम्पूर्ण काव्य की रचना का प्रमाण १२ वीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता, तथापि इसके प्रभूत प्रमाण दिये जा सकते हैं कि यह कथा आठवीं शताब्दी ईस्वी के पहले से लोकप्रचलित थी। इन प्रमाणों में आठवीं शताब्दी के पहले के कवि भट्ट नारायणकृत 'वेणी संहार' नाटक के नान्दी श्लोक, ९ वीं शताब्दी के आनन्दवर्धनकृत 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत दो श्लोक, दसवीं शताब्दी में लिखित त्रिविक्रम भट्टकृत 'नलचम्पू' के एक श्लेषगर्भित श्लोक, दसवीं शताब्दी के ही सोमदेवसूरिकृत 'यशस्तिलकचम्पू' के एक श्लोक तथा ११ वीं शताब्दी के वाक्पतिराज के एक अभिलेख में एक श्लोक का उल्लेख किया जा सकता है। इन सभी में राधा और कृष्ण के अनन्य प्रेम-सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है और सभी में कृष्ण के विष्णु अथवा नारायण एवं राधा के लक्ष्मी होने का संकेत मिलता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि 'गाहासत्तसई' में इस प्रकार का कोई

संकेत नहीं पाया जाता। वहाँ राधा और कृष्ण लोक-सामान्य प्रेमियों के रूप में ही चित्रित हैं। इन प्रमाणों के अतिरिक्त 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' नामक दसवीं शताब्दी ईस्वी का एक कविता-संकलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें राधा-कृष्णविषयक ४ पद्य मिलते हैं, जिनसे राधा के अनन्य सौन्दर्य, कृष्ण के प्रति उनके तीव्र अनुराग, उनके वाग्वैदग्ध्य तथा अन्य गोपियो में अनुरक्त होते हुए भी उनके प्रति कृष्ण की विशेष प्रीति का परिचय मिलता है। उक्त ४पद्यों के अतिरिक्त इस संग्रह में कृष्ण की प्रेम-कीड़ाओं से सम्बन्धित कुछ अन्य पद्य भी हैं, जिनमें यद्यपि राधा का नामोल्लेख नहीं हुआ है फिर भी वर्णन से यह सूचित होता है कि पद्यों मे वर्णित नारी कृष्ण के विशेष प्रेम की भाजन राधा ही हैं।

१२ वीं शताब्दी से राधा-कृष्ण की कथा का प्रयोग काव्य में अपेक्षाकृत अधिकता से होता दिखाई देने लगता है। १२वीं शताब्दी के राधासम्बन्धी स्फुट सन्दर्भों में हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में उद्धृत श्लोक, रामचन्द्र गुणचन्द्र द्वारा लिखित 'नाटय-दर्पण' में निर्दिष्ट 'राधा विप्रलम्भ' नामक नाटक, जिसका रचयिता मेज्जल नामका अनुमानतः १० वीं शताब्दी का कोई कवि था, 'शारदा तनय' के 'भावप्रकाश' में निर्दिष्ट 'राम-राधा' नामक नाटक, जिसके एक श्लोक का कुछ अंश 'भावप्रकाश' में उद्धृत है तथा कवि कर्णपूर के 'अलंकार कौस्तुभ' में राधा सम्बन्धी 'कन्दर्पमंजरी' नामक नाटक का उल्लेख किया जा सकता है। १३ वीं शताब्दी के सागर नन्दी द्वारा रचित 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश' नामक ग्रन्थ में 'राधा' शीर्षक एक 'वीथि' का भी उल्लेख हुआ है। 'प्राकृत पिंगल' में भी राधाकृष्ण की प्रेम-क्रीड़ा से सम्बन्धित दो पद्य मिलते हैं। यद्यपि लक्षण-ग्रन्थों में निर्दिष्ट उपर्युक्त रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं परन्तु इतना तो सिद्ध ही है कि १२ वीं शताब्दी तक राधा-कृष्ण विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी, जिनमें राधा के सौन्दर्य, प्रेम और चातुर्य से पूर्ण व्यक्तित्व का विशद चित्रण हुआ था। १२ वीं शताब्दी के एक संकलन ग्रन्थ 'सदुक्तिकर्णामृत' का उल्लेख इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह में राधा-कृष्ण सम्बन्धी साठ श्लोक बारह शीर्षकों में विभक्त करके दिये गये हैं। कुछ श्लोक बहुत प्राचीन जान पड़ते हैं क्योंकि वे पूर्वोल्लिखित 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में भी पाये जाते हैं। राधा के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महाकवि जयदेव का 'गीत-गोविन्द' संस्कृत-साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। उसमें राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला का विस्तृत वर्णन है। कवि ने वसन्त के मनोरम वातावरण में विरह-व्यथित राधा को गोपी-वल्लभ कृष्ण की मुग्धमाधुरी के ध्यान में तल्लीन चित्रित किया है। कृष्ण संयोग के प्रयत्नों में सखियों के माध्यम से सन्देश-विनिमय का वर्णन करते हुए कवि विप्रलब्धा राधा के क्रमशः वासकसज्जा, खण्डिता, कलहान्तरिता, मानिनी और अभिसारिका रूप के मनोहारी चित्रण करता है और अन्त में राधा-कृष्ण मिलन और उनके केलि-विलास का वर्णन करता है। परवर्ती भाषा काव्यों में राधा के चरित्र-विकास का सूत्र बहुत कुछ 'गीतगोविन्द' में प्राप्त हो जाता है। 'गीतगोविन्द' के द्वारा एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की व्यंजना होती है। वह यह कि राधा-कृष्ण का प्रेमाख्यान भक्तों और काव्य-रसिकों, दोनों के लिए समान रूप से आल्हादकारी है। वस्तुतः राधा के व्यक्तित्त्व में सौन्दर्य और प्रेम का ऐसा उदात्तीकरण है कि उसमें सहज ही अलौकिकता की व्यंजना हो जाती है।

राधा की अलौकिकता लक्ष्मी के अवतार के अतिरिक्त ब्रह्म की शक्ति अथवा प्रकृति के रूप में भी चित्रित हुई है। कृष्ण और राधा के रूप में पुरुष और प्रकृति की कल्पना सांख्य दर्शन से प्रभावित है, जिसका वैष्णव भक्ति-दर्शन पर व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। शक्ति के रूप में राधा की प्रतिष्ठा बंगाल की शक्ति-पूजा, अर्थात् तान्त्रिक विचारधारा का प्रभाव प्रमाणित करती है। इस विषय में 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' की साक्षी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक स्थलों पर इस पुराण में राधा का वर्णन, चित्रण और स्तवन दुर्गा के रूप में हुआ है। परन्तु इस पुराण में राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन, विवाह और सम्भोग का जैसा नग्न और अश्लील वर्णन हुआ है, उस पर तान्त्रिक वाममार्ग का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। इसी प्रभाव के अन्तर्गत वैष्णव सहजिया मत में राधा कृष्ण के रूप में युगल तत्त्व की कल्पना हुई है। सहजिया मत के अनुसार नित्य वृन्दावन के 'गुप्तचन्द्र पुर' में राधा-कृष्ण के भीतर से सहज रस का जो निरन्तर प्रवाह होता है, उसी की अभिव्यक्ति संसार के सभी नर-नारियों के हृदय में प्रवाहित प्रेम-रस-धारा के रूप में होती है। यही नहीं, सहजिया मत में प्रत्येक पुरुष रूप में कृष्ण का विग्रह और प्रत्येक नारी रूप में राधा का विग्रह माना जाता है। जिस प्रकार तान्त्रिक विश्वास में प्रत्येक जीव के भीतर अर्धनारीश्वर तत्त्व विराजमान समझा जाता है, उसी प्रकार सहजिया मत में भी प्रत्येक जीव में राधा-कृष्ण का निवास माना जाता है। कहीं-कहीं दाहिनी आँख में कृष्ण और बाईं आँख में राधिका का निवास कहा गया है। यही दाहिना नेत्र साधक का श्यामकुण्ड है और बायाँ नेत्र राधाकुण्ड है। इसी विश्वास के आधार पर चण्डीदास ने सौन्दर्य-माधुरी की प्रतीक प्रेमस्वरूपणी नारी में राधा-तत्त्व के आस्वादन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनकी सहज साधना में गृहीत परकीया नायिका राधिकास्वरूपा है। राधा के चरित्र-चित्रण में परकीयावाद का प्रभाव कदाचित् सहजिया वैष्णवों की ही देन है।

हिन्दी का वैष्णव-काव्य मुख्यतया श्रीमद्भागवत पर आधारित है परन्तु यह विलक्षण बात है कि श्रीमद्भागवत में राधा का नामोल्लेख भी नहीं हुआ है। परन्तु भागवत के मध्ययुगीन वैष्णव व्याख्याताओं ने भागवत की भाषा को समाधि-भाषा कहकर उसमें राधा का संकेत ढूँढ़ निकाला है। भागवत के दशम् स्कन्ध में वर्णित रास-लीला में कृष्ण के अन्तर्धान होने का जो वर्णन हुआ है, उसमें कृष्ण की उस प्रियतमा गोपी को, जिसे लेकर वे प्रारम्भ में अन्तर्धान हुए, राधा ही माना गया है। उस गोपी को लक्ष्य करके अन्य विरह-व्याकुल गोपियों ने कहा था—"अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः। यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामन यद्रहः।। (१०।३०।२४)। इस श्लोक के 'अनया राधितः' शब्द में राधा का संकेत माना गया है। परन्तु वास्तविकता यह जान पड़ती है कि पुराणों में गोपाल-कृष्ण की लोक प्रचलित प्रेम-कथाओं को प्रारम्भ में पूर्णतया ग्रहण नहीं किया गया था। राधा-कृष्णसम्बन्धी प्रेम कथाएँ परवर्ती पुराणों में ही

सम्मिलित हुई। 'पद्मपुराण' में राधा का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। 'पद्मपुराण' के उत्तर खण्ड मे गोलोक का वर्णन करते हुए पुराणकार ने राधा द्वारा नन्द गृहेश्वरी के आराधित होने का उल्लेख किया है। यह पुराण भी राधा को आदि प्रकृति मानता है और उन्हें माहेश्वरी, रमा, आद्याशक्ति तथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शक्ति कहकर वन्दित करता है। एक स्थल पर स्वयं कृष्ण अपने को पुरुषरूपी राधा देवी कहते हैं। अन्य पुराणों में से मत्स्य, वायु, वराह, नारदीय आदि पुराणों में एकाध श्लोक राधासम्बन्धी मिलते हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के विद्वानों में राधा की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए 'गोपालोत्तरतापनी' नामक उपनिषद्, 'नारदपांचरात्र', 'बृहद्‌गौतमीयतन्त्र', 'ब्रह्मसंहिता', 'देवी भागवत', 'महाभागवत'—उपपुराण आदि अनेक ग्रन्थों की साक्षी दी है परन्तु राधासम्बन्धी पुराणों के उल्लेख अथवा अन्य ग्रन्थों के सन्दर्भ, सभी अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। वस्तुतः मध्ययुग की राधा-कृष्ण-भक्ति उन पर आधारित न होकर स्वयं उनका आधार है।

राधा की प्राचीनता के सम्बन्ध में जो भी निष्कर्ष हो, हिन्दी कृष्ण-काव्य, विशेष रूप से सूरदास के काव्य में राधा का चरित्र अत्यन्त उज्वल प्रेम और सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति के रूप में चित्रित हुआ है। सूरदास के चित्रण में राधा कृष्ण से अभिन्न उनकी मायारूपिणी आह्लादिनी शक्ति के रूप में मान्य होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक मानवीय रूप में चित्रित हुई है। राधा-कृष्ण के प्रेम-भाव के बाल्यावस्था से ही सहज आकर्षण के रूप में उदय होने का वर्णन उन्होंने 'भौंरा चक डोरी' के अत्यन्त रोमाण्टिक प्रसंग की उद्‌भावना करके किया है। सूरदास जहाँ एक ओर राधा को कृष्ण से अभिन्न कहते हैं, वहाँ दूसरी ओर मानव-लीला के रूप में उनके प्रेम का अत्यन्त मनोविज्ञानसम्मत विकास चित्रित करने के लिए अनेक प्रसंगो की मौलिक कल्पना करते जाते हैं। कृष्ण के प्रेम को अधिकाधिक प्राप्त करने में प्रयत्नशील राधा की प्रेमविकलता और व्यवहारकुशलता उनके चरित्र को अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक बना देती है। बाल्यावस्था का आकर्षण पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं को ज्यों-त्यों अतिक्रमण करते हुए उस स्थिति को पहुँच जाता है, जब राधा अत्यन्त प्रेम-विवश, अधीर और कातर हो जाती हैं। फिर भी कृष्ण के आदेश से उन्हें अपना प्रेम गुप्त रखना पड़ता है, जिसके कारण उनके आचरण में अत्यन्त गूढ़ता और रहस्यमयता का समावेश हो जाता है। राधा की प्रेम-विकलता उस समय और भी मार्मिक हो जाती है, जब वे मिलन में भी विरह का अनुभव करती हैं। अन्त में वियोग की अग्नि में तपकर जब उनके अहंभाव का सर्वथा परिहार हो जाता है और वे सर्वभावेन आत्मसमर्पण कर देती हैं, तभी उन्हें श्रीकृष्ण का संयोगसुख प्राप्त होता है। सूरदास ने रास-क्रीड़ा के अन्तर्गत वनभूमि के स्वच्छन्द वातावरण में राधा-कृष्ण के विवाह का भी वर्णन किया है। उसी के बाद राधा और कृष्ण दाम्पत्यभाव से प्रेम करते हुए चित्रित किये गये हैं। प्रेम की परिपूर्णता की स्थिति में राधा की महत्ता इतनी अधिक हो जाती है कि स्वयं श्रीकृष्ण उनके विरह में व्याकुल, उनके प्रेम की याचना करते हुए चित्रित किये गये हैं। संयोग के समय राधा का शरीर और मन सौन्दर्य, शोभा और हर्षोत्साह का आगार है। स्वभाव से वे अत्यन्त चंचल, चतुर और विनोदमयी हैं। उनके मनोभाव, उनके चपल अनियारे नयनों से अत्यन्त आकर्षक रूप में व्यंजित होते हैं परन्तु कृष्ण से वियुक्त हो जाने पर उनके शरीर की कान्ति अत्यन्त मलिन हो जाती है और उनका मन खिन्नता और आत्मग्लानि से परिपूर्ण हो जाता है। उनकी वाणी मूक हो जाती है और उनका प्रेम गूढ़ से गूढ़तर बन जाता है। उनके स्वभाव की चंचलता समाप्त हो जाती है और वे अत्यन्त गम्भीर बन जाती है। राधा के प्रेम की महत्ता और कृष्ण से उनकी अभिन्नता प्रमाणित करने के लिए सूरदास ने सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में उनके मिलन का वर्णन करके पुनः अपनी मौलिक उद्‌भावना-शक्ति का परिचय दिया है। यहाँ पर राधा और रुक्मिणी का तुलनात्मक चित्रण करते हुए सूरदास ने राधा और कृष्ण की कीट-भृंग की भाँति एकाकार होते हुए प्रदर्शित किया है। सूरदास द्वारा राधा का चरित्र-चित्रण पूर्ण मानवीय स्वाभाविकता के साथ हुआ है किन्तु साथ ही उसमें ऐसे सूक्ष्म रहस्यमय और अनुपेक्षणीय संकेत किये गये हैं, जिससे असन्दिग्ध रूप में उनके व्यक्तित्व की अलौकिकता व्यंजित होती है। यद्यपि सूर के समसामयिक तथा परवर्ती सभी कृष्णभक्त कवियों ने सामान्यतया राधा के चरित्र का निर्माण बहुत कुछ सूर के चरित्र-चित्रण की भाँति किया है, परन्तु किसी ने न तो मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के लिए उस प्रकार के प्रसंगों की उद्‌भावना की और न चरित्र-चित्रण में वैसी गूढ़ता और रहस्यमयता की व्यंजना की। उन्होंने अधिकतर सूर द्वारा चित्रित राधा-कृष्ण के प्रेमाख्यान को ही अपनी मानसिक पृष्ठभूमि में रखकर उनके प्रेम-विलास के ही चित्र दिये हैं। यद्यपि इस प्रकार के चित्रणों में प्रेमप्रगल्भा नायिका के अनेकानेक रूप और मनोभाव प्राप्त होते हैं, परन्तु है यह चित्रण अत्यन्त सीमित और संकुचित। राधा प्रेम-भाव की एक प्रतीक मात्र रह जाती हैं, इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य रूप नहीं मिलता।

कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में राधा का महत्त्व सबसे अधिक राधावल्लभीय सम्प्रदाय में मिलता है। गोस्वामी हित हरिवंश इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। यद्यपि वे सूरदास के समकालीन थे परन्तु उनका रचनाकाल सूरदास के बाद पड़ता है। उन्होंने अपने 'हितचौरासी' में 'तत्सुखिभाव' के प्रेम-सिद्धान्त तथा राधा-कृष्ण के अद्वैत का निरूपण करते हुए केवल उनके नित्य-विहार, सुरति, श्रृंगार, मान, रास आदि का ही स्फुट वर्णन किया है। अष्टछाप के कवियों ने अपनी स्फुट पद-रचना में राधा के स्वरूप की जो परिकल्पना की है, उसकी पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से 'सूरसागर' की भूमिका ही विद्यमान है। इन कवियों में नन्ददास अपनी रचनाओं में भागवत के अधिक निकट रहे हैं। अतः उन्होंने राधा की अपेक्षा सामूहिक रूप में गोपियों को अधिक महत्त्व दिया है। राधावल्लभीय हरिदासी निम्बार्क तथा गौड़ीय सम्प्रदायों के कवियों ने अपने-अपने सिद्धान्तानुसार युगल रूप, संयोग सुख, स्वकीया प्रेम अथवा परकीया प्रेम का चित्रण करते हुए राधा को अधिक महत्ता अवश्य दी है परन्तु उनके चित्रण अपूर्ण और एकांगी हैं। हित वृन्दावनदास ने 'लाड़-सागर' और 'ब्रजप्रेमानन्दसागर' में राधा के चरित्र के एक नवीन रूप का परिचय दिया है, जिसमें वे

वात्सल्य-स्नेह-संवलित स्वकीया नवोढ़ा के रूप में प्रकट होती हैं परन्तु यह चित्रण अत्यन्त सीधा और सरल है तथा उसमें कोई कलात्मक सौन्दर्य नहीं मिलता।

आधुनिककाल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भक्ति और रीति-परम्पराओं का सुन्दर समन्वय करते हुए अपने रीति पदों और स्फुट छन्दों में राधा का जो चित्र अंकित किया है, वह सूर द्वारा स्थापित परम्परा का ही अवशेष कहा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की राधिका श्रीकृष्ण की प्रियतमा तथा उनकी आराधिका 'स्वामिनीजी' हैं। भारतेन्दुजी ने अपनी 'चन्द्रावली नाटिका' मे उन्हें श्रीकृष्ण की प्रधान नायिका के रूप में प्रस्तुत किया है। प्राचीन परम्परा के अन्तिम महत्त्वपूर्ण आधुनिक कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' हैं, जिन्होने अपने 'उद्धव-शतक' में कृष्ण के प्रति राधा की तथा राधा के प्रति कृष्ण की परम्परा के अनुसार दोनों की अभिन्नता व्यक्त की है। कृष्ण की भाँति राधा के चरित्र-चित्रण में आधुनिक युग का प्रभाव अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'प्रियप्रवास' में मिलता है। 'हरिऔध' ने राधा के परम्परामुक्त विरह-व्याकुल व्यक्तित्व में वेदना का लोकव्यापी उदात्तीकरण चित्रित करते हुए लोक-मंगल की तीव्र आकांक्षा का सन्निवेश किया है। 'प्रियप्रवास' की राधिका पवन-दूत के माध्यम से अपने प्रियतम कृष्ण के लिए जो विरह-सन्देश भेजती है, उसमें उनकी व्यक्तिगत प्रेमासक्ति, पूर्ण विरह-व्यथा, लोक जीवन के कल्याण की पावन कामना के रूप में परिणत हो जाती है। यहाँ राधिका का चरित्र निश्चय ही आधुनिक युग की लोक-सेविका का चरित्र बन गया है। 'हरिऔध' के इस प्रयत्न का कई कवियों ने अनुकरण किया, जिनमें तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' का नामोल्लेख किया जा सकता है परन्तु 'दिनेश' के चरित्र-चित्रण में अनुकरण और कृत्रिमता के कारण काव्य-सौष्ठव का अभाव है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में राधा का चरित्र-चित्रण अनन्य प्रेमिका के रूप में करते हुए श्रीकृष्ण के लिए सर्व कर्म त्याग के आदर्श की प्रतिष्ठा की है। मैथिलीशरण गुप्त की राधिका सर्वात्समर्पणपूर्ण त्यागमयी प्रेमिका नारी का आदर्श उपस्थित करती है।

यद्यपि छायावादी कवियों ने यत्र-तत्र प्रसंगवश राधा के अनन्य प्रेम का उल्लेख किया है परन्तु उनकी वैयक्तिक प्रेमानुभूति में उनके चरित्र-चित्रण को कोई स्थान नहीं मिल सका। वर्तमानकाल के नवरचना के प्रयोगों में धर्मवीर भारती ने अपनी 'कनुप्रिया' नामक कृति में राधा का चरित्र नवीन रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। इस काव्य-कृति की राधिका का एक ओर चण्डीदास की प्रेम-विह्वल, कम्पित हृदय, वेदनामयी राधिका का स्मरण दिलाती है, तो दूसरी ओर आधुनिककाल की तर्कमयी, वाचाल अधिकार भावना से प्रेरित नारी का प्रतिनिधित्व करती जान पड़ती हैं। 'भारती' की राधिका अत्यन्द दर्दभरी, उपालम्भमयी नारी है, जो अपने प्रियतम कनु (कृष्ण) की मार्मिक आलोचना करती है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में राधा का चरित्र प्रेम के आदर्श प्रतीक के रूप में आज तक चित्रित होता आया है। विशेष के लिए द्रष्टव्य 'कृष्ण'।

[सहायक ग्रन्थ–श्री राधा का क्रम विकास : शशिभूषणदास गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी; हिन्दी साहित्य खण्ड २ : भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग; सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।]

–ब्र० व०

राधाकृष्ण–जन्म १९१२ ई०। राँची। 'घोस-बोस-बनर्जी-चटर्जी' के नाम से भी लिखते रहे हैं। हिन्दी के शिष्ट तथा उच्चस्तरीय हास्य लेखकों में आप प्रथम पांक्तेय हैं। रचनाएँ 'सजला' (१९३६), 'फुटपाथ' (१९४१), 'भारत छोड़ो' (नाटक १९४७) 'बोगस' (१९५३), 'सनसनाते सपने' (१९५७)।

राधाकृष्णदास–राधाकृष्णदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे और आयु में उनसे पन्द्रह वर्ष छोटे थे। आपका जन्म सन् १८६५ ई० में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध की हिन्दी का इतिहास आपकी साहित्य-सेवा भावना से भली प्रकार परिचित है। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। कवि, नाटककार, उपन्यास लेखक, जीवनी लेखक, निबन्धकार तथा पत्रकार के रूप में आपने हिन्दी के भाण्डार की अभिवृद्धि की। बयालीस वर्ष की अल्पायु में ही सन् १९०७ ई० में आपकी मृत्यु हुई थी।

राधाकृष्ण दास की प्रमुख कृतियों का संकलन और सम्पादन श्यामसुन्दर दास (बाबू) ने 'राधाकृष्ण ग्रन्थावली' (भाग १, प्रयाग १९३०) के अन्तर्गत किया है। विषयानुरूप इस ग्रन्थ के चार खण्ड किये गये हैं–(१) कविता : इसमें 'विजयिनी विलाप', 'पृथ्वीराज प्रयाण', 'देश दशा', 'प्रताप विसर्जन' प्रभृति ब्रजभाषा की १३ छोटी-बड़ी कविताएँ संगृहीत हैं। (२) लेख : 'पुरातत्त्व', 'मुसलमानी दफ्तरों में हिन्दी' आदि गम्भीर विषयों पर लिखे गये खोजपूर्ण निबन्ध संगृहीत हैं। (३) इस खण्ड के अन्तर्गत जीवन-चरितविषयक लेख आते हैं–इनमें 'सूरदास', 'नागरीदास का जीवन चरित्र', 'भारतेन्दु का जीवन चरित्र' प्रमुख हैं। (४) चौथा खण्ड नाटकों का है–इसमें 'दु:खिनी बाला', 'महारानी पद्मावती', 'धर्मालाप', 'महाराणा प्रताप सिंह' और 'सती प्रताप' नामक पाँच नाट्य कृतियाँ संकलित हैं।

राधाकृष्ण दास की ख्याति मूलतः नाटककार के रूप में हुई। 'दु:खिनी बाला' इनकी प्रथम नाट्यकृति है। इसमें बालविवाह तथा विवाहसम्बन्धी अन्य सामाजिक कुरीतियों का उद्घाटन किया गया है और उनके दुष्परिणाम दिखाये गये हैं। इनकी दूसरी प्रसिद्ध नाट्य रचना 'महारानी पद्मावती' अथवा 'मेवाड़ कमलिनी' है। इसका विषयाधार ऐतिहासिक है। चित्तौड़ गढ़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण और पद्मावती के जौहर की लोक-प्रसिद्ध घटना को लेकर इसमें राष्ट्रीय जीवन के एक विगत उज्ज्वल पक्ष को बिम्बित करने की सफल चेष्टा की गयी है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध नाट्यकृति 'महाराणा प्रताप' अथवा 'राजस्थान केसरी' है। इसकी रचना सन् १८९८ ई० में हुई थी।

राधाकृष्णदासकृत 'महाराणा प्रताप' नाटक को भारतेन्दु युग की सर्वश्रेष्ठ नाट्य रचना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसमें पौर्वात्य तथा पाश्चात्य नाट्यशैलियों का बड़ा सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया गया है और इस रूप में इसे नवीन शैली में लिखा गया हिन्दी का प्रथम नाटक कहा

जाना चाहिये। कथावस्तु की दृष्टि से इस नाटक में एक दुहरे दायित्व का निर्वाह किया गया है। इतिहास और लोक-वृत्त, तथ्य और कल्पना एव वीरत्व और रोमांस के सानुपातिक संस्थापन में लेखक को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस वीर-रसप्रधान ऐतिहासिक नाटक में श्रृंगार की एक लौकिक-धारा भी तरंगायित होती रही है। इस नाटक की लोकप्रियता का यही रहस्य है। चरित्र की दृष्टि से महाराणा का अंकन श्रेष्ठ धीरोदात्त नायक के रूप में किया गया है। नाटक की भाषा-शैली सहज है। हिन्दू पात्र शुद्ध हिन्दी बोलते हैं। मुसलमान पात्र उर्दू शब्दों का व्यवहार करते हैं। रंगमंच की दृष्टि से भी नाटक बहुत सफल सिद्ध हुआ है।

राधाकृष्ण दास ने 'नि:सहाय हिन्दू' नाम से एक छोटा सा उपन्यास भी लिखा है। इसकी कथावस्तु गोरक्षा आन्दोलन है और इसी माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम समाज की विभिन्न अच्छाइयों तथा बुराइयों पर प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में विषय-निर्धारण, देश-काल तथा पात्रचित्रण की दृष्टि से आधुनिक यथार्थवाद की आरम्भिक झलक दिखलाई पड़ती है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि राधाकृष्ण दास में एक समर्थ उपन्यास लेखक की प्रतिभा थी किन्तु उन्हें विकसित करने का समुचित अवसर नहीं मिल पाया।

उपर्युक्त कृतित्व के अतिरिक्त राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु के अधूरे छोड़े हुए नाटक 'सती प्रताप' को पूरा किया था। इन्होंने बंगला से 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' नामक कुछ उपन्यासों के सफल अनुवाद भी किये थे। 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' नाम से इनकी एक लघु पुस्तक उपलब्ध होती है, जिसे काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का प्रथम प्रकाशन होने का गौरव प्राप्त है।

राधाकृष्ण दास अपने समय के सुप्रसिद्ध साहित्योद्धारक और साहित्यसेवी माने जाते हैं। आप हिन्दी, उर्दू, फारसी, बंगला, गुजराती आदि कई भाषाओं के अच्छे जानकार थे। राष्ट्रीयता और समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर लिखनेवाले भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों में आपका नाम अग्रगण्य हैं। आपकी कृतियों में समाज सेवा और देश सेवा की भावना आद्यन्त परिलक्षित होती है। आपकी कुछ फुटकर रचनाएँ, खासतौर से लेख, गम्भीर विचारणा और शोधपूर्ण अध्ययन के व्यापक परिणाम के द्योतक हैं। आपके नाटकों की भाषा-शैली सहज, बोधगम्य और मनोरंजक है। निबन्ध विवेचनापूर्ण गम्भीर भाषा-शैली में लिखे गये हैं।

राधाकृष्ण दास आजीवन 'निजभाषा उन्नति' के मन्त्र से चालित रहे। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के अन्यतम सहायक और प्रथम सभापति एवं 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के ग्यारहवें वर्ष—१९०६ ई० में उसके सुयोग्य सम्पादक के रूप में आपकी हिन्दी के प्रति की गयी सेवाएँ चिरस्मरणीय हैं।

—र० भ्र०

राधाचरण गोस्वामी—जन्म तिथि २५ फरवरी, १८५९ ई०। निधन १९२५ ई०। गोस्वामीजी ब्रजभाषा के बहुत बड़े समर्थक ही नहीं, खड़ीबोली के विरोधियों में से थे। जिस समय खड़ीबोली का आन्दोलन चला था, गोस्वामीजी ने उसमें प्रमुख भाग लिया और हर प्रकार से खड़ीबोली को साहित्य को अयोग्य बताते हुए ब्रजभाषा को प्रमुखता दिलवाने की चेष्टा की थी। ये ब्रजनिवासी थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ ही साथ समाज-सुधारक, देशप्रेमी, साहित्यिक और रसिक व्यक्ति थे और इन पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का काफी प्रभाव पड़ा था और उससे प्रेरणा पाकर इन्होंने वृन्दावन से कुछ दिनों तक 'भारतेन्दु' नामक एक पत्र भी निकाला था। इनकी साहित्यिक प्रतिभा ने हिन्दी साहित्य को कुछ मौलिक नाटक, यथा—'सुदामा नाटक', 'सती चन्द्रावली', 'अमर सिंह राठौर' तथा 'तन-मन-धन श्री गोसाईजी के अर्पण' और कुछ बंगला उपन्यासों के अनुवाद, जैसे—'बिरजा', 'जाबिजी' तथा 'मृण्मयी' दिये थे। किन्तु गोस्वामीजी की साहित्यिक प्रसिद्धि का मुख्य कारण खड़ीबोली के पद्य का विरोध ही था। उन्होने सर्व प्रथम ११ नवम्बर, १८८७ ई० में 'हिन्दुस्तान' में खड़ीबोली के विरोध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये थे—

१. खड़ीबोली हिन्दी ब्रजभाषा से भिन्न कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, बल्कि ब्रजभाषा, कान्यकुब्जी और शौरसेनी आदि कई भाषाओं के मिश्रण से बनी है। खड़ीबोली और ब्रजभाषा में केवल क्रिया का अन्तर है।

२. खड़ीबोली में कवित्त, सवैया आदि हिन्दी के उत्तम छन्दों का निर्वाह नहीं हो सकता। इसमें केवल उर्दू के शेर, गजल आदि का ही प्रयोग सम्भव है।

३. खड़ीबोली में उत्तम कविता नहीं हैं। दयानन्दी, ईसाई और मिशनरी संस्थाओं ने जिस पद्य का प्रारम्भ इस भाषा में किया है, वह पूर्णतया काव्य गुण से वंचित है और रसिक समाज उसे 'डाकिनी' समझता है।

गोस्वामीजी के इन तर्कों का उत्तर श्रीधर पाठक ने २० दिसम्बर, १८८७ ई० के 'हिन्दुस्तान' में खड़ीबोली का समर्थन करते हुए दिया। इस तरह के अनेक आरोप प्रत्यारोप उस समय हुए। गोस्वामीजी ने कई स्थानों पर श्रीधर पाठक तथा अयोध्या प्रसाद खत्री के ऊपर खड़ीबोली का समर्थन करने के कारण व्यक्तिगत आरोप तक किये थे। वास्तव में उन्हें भय इस बात का था कि कहीं खड़ीबोली के स्थान पर थोड़े दिनों में उर्दू का ही प्रचार न हो जाय क्योंकि सरकारी पुस्तकों में फारसी का प्रभाव गद्य पर तो पड़ ही रहा था, पद्य पर भी पड़ा तो हिन्दी की और हानि होगी। किन्तु उनकी यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई।

—ह० मो० श्री०

राधामोहन गोकुलजी—अनेक हिन्दी पत्रों का सम्पादन किया था। नागपुर का प्रसिद्ध 'प्रणवीर' आपके सम्पादन में ही निकलता था। 'विप्लव' नाम से आपके लेखों का संग्रह प्रकाशित है। आपने 'नीतिशास्त्र' आदि तीन-चार पुस्तकें लिखी थीं। कलकत्ता में आप बहुत दिनों तक रहे। वहाँ 'मारवाड़ी सुधार' नामक मासिक पत्र का सम्पादन भी आपने कुछ दिनों तक किया था। १९३५ ई० में आपकी मृत्यु हुई।

—सं०

राधा सुधानिधि—गोस्वामी हित हरिवंश रचित 'राधा सुधानिधि' संस्कृत भाषा का राधास्तुतिविषयक स्तोत्र ग्रन्थ है। इसमें २७० श्लोक हैं। राधा की वन्दना, उपासना, प्रशस्ति, सेवा-पूजा, सौन्दर्य, रूपमाधुरी आदि विविध विषयों का सांगोपांग वर्णन करके गोस्वामी हरिवंश ने अपनी आराध्या

इष्टदेवी का सर्वोत्कर्ष सिद्ध किया है।

इस ग्रन्थ का साम्प्रदायिक भावना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। माधुर्यभक्ति को स्वीकार करनेवाले सम्प्रदायों में राधा का परमोत्कर्ष इसी ग्रन्थ के आधार पर सिद्ध किया जाता है। अत: जिन-जिन सम्प्रदायों में माधुर्यभक्ति की प्रतिष्ठा है, उनमें इस ग्रन्थ को लेकर विवाद होना स्वाभाविक है। चैतन्य मतानुयायी भक्तों का प्रारम्भ में ऐसा आग्रह था कि यह ग्रन्थ प्रबोधानन्द सरस्वती द्वारा रचा गया है। भक्तिप्रभा आफिस, हुगली से यह ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित किया गया था और उसमें चैतन्य के गौड़ीय मत के अनुसार प्रारम्भ मे चैतन्य महाप्रभु की वन्दना का एक श्लोक भी जोड़ दिया गया था किन्तु बाद में विद्वानों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ और सत्यानुसन्धान किया गया। इण्डिया आफिस के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इसका उल्लेख पाया गया और वहाँ देखा गया कि इसके प्रणेता का नाम स्पष्ट शब्दों में हित हरिवंश लिखा है।

'राधा सुधानिधि' के अन्त:साक्ष्य के आधार पर भी यह प्रमाणित होता है कि यह ग्रन्थ गोस्वामी हित हरिवंश द्वारा रचा गया है। राधा को गुरु और इष्टाराध्या स्वीकार करने वाले हित हरिवंश गोस्वामी ही हैं तथा राधा की उपासना, सेवा-पूजा, अर्चा आदि के जो रूप इसमें वर्णित हुए हैं, वे सब राधावल्लभीय पद्धति के अनुकूल हैं। राधा के बिना कृष्ण की आराधना का निषेध राधावल्लभ सम्प्रदाय में ही किया गया है। इसके अतिरिक्त राधावल्लभीय भक्तों के द्वारा इस ग्रन्थ की एक दर्जन टीकाएँ सत्रहवीं शताब्दी से ही मिलनी प्रारम्भ होती हैं और आज तक उनकी परम्परा चल रही है।

इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—राधा नाम महिमा, राधा का श्रृंगारमण्डन, कृष्ण का राधा के प्रति उत्कट प्रेम, कृष्ण का कैंकर्य भाव, राधा-कृष्ण की निकुंज लीला, राधा-कृष्ण के प्रेम में सूक्ष्म मान-विरह, राधा-कृष्ण का रासोत्सव, राधा का नखशिख वर्णन, वृन्दावन धाम वर्णन, यमुना वर्णन, नित्य-विहार वर्णन।

इस स्तोत्र-काव्य के अनुसार राधा अनेक प्रकार की शक्तियों से समन्वित होकर भक्तजन की आह्लाददात्री ही नहीं, वरन् सर्वसुखकल्याणकारिणी भी बनती हैं। वे ईश्वररूप कृष्ण की शची तथा परम सुख रूप वपुधारिणी परा और स्वतन्त्र शक्ति हैं। वे श्यामसुन्दर के रति-प्रवाह की लहरियों की बीजरूपिणी हैं। श्रीकृष्ण भी राधा के चरण-कमल का मकरन्द पाकर अपने को शक्ति-सम्पन्न अनुभव करते हैं। 'राधा सुधानिधि' में राधा-भक्ति के जिस भास्वर रूप को प्रस्तुत किया गया है, उसमें बाह्याडम्बर या शास्त्रीय विधि-निषेध मर्यादा के लिए कोई स्थान नहीं है। लौकिक-वैदिक क्रियाओं का सर्वथा परित्याग करने का इसमें स्पष्ट उल्लेख है।

ग्रन्थ की भाषा स्तोत्र-काव्य के सर्वथा उपयुक्त है। समास विरल, सरस पद रचना और भावानुकूल शब्द-विधान इसकी विशेषता है। भाषा में चित्रात्मकता है। भावों की पुनरावृत्ति अधिक है। अलंकारों की दृष्टि से उपमा और अनुप्रास की सुन्दर छटा सर्वत्र दृष्टिगत होती है। प्रसाद गुण से ओत-प्रोत यह ग्रन्थ भक्ति-सागर में निमज्जित कराने वाला है।

[सहायक ग्रन्थ—राधा सुधानिधि : बाबा हितदास द्वारा सम्पादित, वृन्दावन; अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल : डा० एस० के० डे; साहित्य रत्नावली : किशोरीशरण अलि, वृन्दावन; राधाबल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक।]

—वि० स्ना०

राधिकारमण प्रसाद सिंह—सूर्यपुरा, शाहाबाद, बिहार के एक सम्भ्रान्त कुल में राधिकारमण प्रसाद सिंह का जन्म सन् १८९० ई० में हुआ। आपने उच्च शिक्षा प्राप्त करते हुए एम० ए० की उपाधि ग्रहण की। हिन्दी के मंच पर आप कहानी लेखक के रूप में १९१३ ई० के आस-पास आये। उसी साल आपकी एक कहानी 'कानों में कँगना' काशी की 'इन्दु' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। यह एक अत्यन्त भावुकतापूर्ण, सरस रचना थी और इसने साहित्य-रसिकों का ध्यान आकर्षित किया था। राधिका रमण प्रसाद सिंह की कहानियों का स्वर प्राय: आदर्शवादी रहा है। आपके दो कहानी संग्रह 'कुसुमांजलि' तथा 'गान्धीटोपी' क्रमश: १९१२ ई० तथा १९३८ ई० में प्रकाशित हुए हैं। राधिकारमण प्रसाद सिंह की अतिशय भावुकता ने कभी-कभी काव्य-पथ का भी अनुसरण किया है। 'नवजीवन' या 'प्रेमलहरी' आपके गद्य-काव्यों का संग्रह है। यह १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ था। राधिकारमण प्रसाद सिंह एक सफल उपन्यास-लेखक भी रहे हैं। आपके चार उपन्यास उल्लेखनीय हैं—(१) 'राम-रहीम' (१९३६ ई०), (२) 'पुरुष और नारी' (१९३९ ई०), (३) 'संस्कार' (१९४४ ई०), (४) 'चुम्बन और चाँटा' (१९५७ ई०)। इन उपन्यासों में देश की सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों को अंकित करने की चेष्टा की गयी है। इनके पात्र समाज और सभ्यता के विभिन्न वर्गों से लिये गये हैं और अपने-अपने स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन उपन्यासों की भाषा-शैली भी बहुत लोकगम्य तथा रोचक है। राधिकारमण प्रसाद सिंह ने जीवन और समाज के अनेक मनोरम संस्मणात्मक चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। आपके द्वारा लिखे गये अधिकांश संस्मरण बहुत कलात्मक तथा प्रभावपूर्ण हैं। ये संग्रह रूप मे प्रकाशित होते रहे हैं—(१) सावनी समाँ' (१९३८ ई०), (२) 'टूटा तारा' (१९४० ई०), (३) 'सूरदास' (१९४२ ई०)। इनमें से 'सूरदास' नामक कृति अन्धों की दुनियाँ की करुणापूर्ण झाँकी प्रस्तुत करती है। राधिकारमण प्रसाद सिंह की दो नाट्य कृतियाँ भी हैं—(१) 'अपना-पराया' (१९५३ ई०), (२) धर्म की धुरी (१९५३ ई०)। इन नाटकों की सामाजिक विषय-सामग्री तथा ललित भाषा शैली उलेख्य है, वैसे आधुनिक नाट्य कला की दृष्टि से ये कृतियाँ मद्धिम है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राधिकारमण प्रसादसिंह ने गद्य-साहित्य की विभिन्न विधाओं को अंगीकृत किया है। कहानी, गद्य-काव्य, उपन्यास, संस्मरण, नाटक आदि सभी क्षेत्रों में आपने एकाधिक प्रयोग किये हैं। आपकी सफलता का रहस्य आपकी मनोरम भाषा-शैली है। आप हिन्दी के आधुनिक गद्यकारों में एक विशेष प्रकार की भावुकता प्रधान, काव्यात्मक, लच्छेदार तथा मुहावरेदार भाषा-शैली के कारण प्रसिद्ध हैं। तत्सम सामाजिक शब्द-योजना तथा तुकपूर्ण पदावली के कारण आपके लेखन में बंगला गद्य-शैली की

झलक पाई जाती है। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त आपकी कुछ अन्य गद्य-कृतियाँ ये हैं—'नारी क्या एक पहेली' (१९५१ ई०), 'पूरब और पच्छिम' (१९५१ ई०), 'हवेली और झोंपड़ी' (१९५१ ई०), 'देव और दानव' (१९५३ ई०), 'वे और हम' (१९५६ ई०), 'धर्म और मर्म' (१९५१ ई०), 'तब और अब' (१९५१ ई०)।

राधिकारमण प्रसाद सिंह ने विगत ५० वर्षों में अविराम भाव से हिन्दी की अमूल्य सेवाएं की। हिन्दी गद्य-साहित्य के उत्थान में आपका योगदान निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। आप आरा (शाहाबाद) की नागरी प्रचारिणी सभा तथा बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन (बेतिया-चम्पारन) के सभापति रह चुके हैं। आपकी मृत्यु २४ मार्च १९७१ को हुई।

[सहायक ग्रन्थ—राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह व्यक्तित्व और कृतित्व : कमलेश।]

—र० भ्र०

राधेश्याम कथावाचक—जन्म १८९० ई० में बरेली में हुआ। अल्फ्रेड कम्पनी के नाटककार की हैसियत से 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रहलाद', 'श्रीकृष्णावतार' आदि नाटक लिखे। पर सामान्य जनता में इनकी ख्याति इनके द्वारा लिखित रामायण की कथा को लेकर फैली। लोक-नाट्य की शैली को आधार बनाकर खड़ीबोली में इन्होंने रामायण कथा को कई खण्ड में पद्यबद्ध किया, जिसका प्रचार पिछले दशकों में बहुत हुआ। कई अंशों के ग्रामोफोन रिकार्ड बने। इनकी यह रचना 'राधेश्याम रामायण' के नाम से सर्वसाधारण में विख्यात है।

—सं०

रानी केतकी की कहानी—यह इंशा अल्ला खाँ की विख्यात गद्यकृति है। इसकी रचना लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ के आश्रय में (१८००-१८०८ के बीच) हुई थी। इसमें राजा सूरज भान के पुत्र उदय भान और राजा जगत प्रकाश की बेटी केतकी की प्रेम-कहानी वर्णित है। एक आखेट-यात्रा में कुँअर उदयभान केतकी को एक अमराई में अनेक सुन्दरियों के बीच में देखता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठता है। राजा सूरजभान पुत्र की चिन्ता दूर करने के लिए जगत प्रकाश पर आक्रमण कर देता है। जगत प्रकाश का गुरु योगी महेन्द्र गिरि सूरजभान के पूरे परिवार को हिरण-हिरणी बना देता है। बाद में केतकी के अविचल प्रेम के सामने सभी को झुकना पड़ता है और उसका ब्याह उदयभान से हो जाता है। कहानी भौतिक प्रेम का आदर्श उपस्थित करती है और मनोरंजन के लिए लिखी गयी है। लेखक ने अलौकिक घटनाओं के समावेश से कुतूहल उत्पन्न किया है। इसकी शैली बड़ी ही चुलबुली तथा भाषा बड़ी प्यारी, घरेलू और ठेठ है। लेखक की दृष्टि में इसमें "हिन्दवी छुट और किसी बोलीका पुट" नहीं है। यह ऐंग्लो ओरिएण्टल प्रेस, लखनऊ, (१९०५ ई०) और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९२८ ई०) से प्रकाशित हो चुकी है।

—रा० चं० ति०

राम—ऋग्वेद में राम का उल्लेख पाँच रूपों में हुआ है। कहीं वे प्रतापी यजमानों के रूप में उल्लिखित हैं और कहीं मार्ग वेय (वनवासी ?) के रूप में। भाष्य-साहित्य में राम शब्द रमणीय पुत्र के अर्थ में उल्लिखित है (सायण और कैय्यट)। ऋग्वेद में रघुवंश की परम्परा में 'इक्ष्वाकु शब्द' का भी एक बार प्रयोग हुआ है। दशरथ का नाम भी अनेक बार प्रतापी वीरों के साथ आया है। ऋग्वेद के दशरथ दानशील यजमानों में अत्यधिक कीर्तिलब्ध क्षत्रिय जान पड़ते हैं।

परन्तु ऋग्वेद में ऐसा कोई संकेत नही मिलता, जिससे सूचित होता हो कि राम इन्ही दशरथ के पुत्र थे। कालिदास ने 'रघुवंश में राम की वंशावली दी है, उसमें दिलीप-अज-रघु-दशरथ-राम का क्रम मिलता है परन्तु पुराणो में राम के पिता दशरथ के पूर्व कई पीढ़ियाँ दी गयी हैं और तब रघु-अज आदि आते हैं। डाक्टर ए० बी० कीथ ने पीढ़ियों की परम्परा के आधार पर अनुमान किया है कि राम का समय आठवीं शती ईस्वी पूर्व माना जा सकता है।

विद्वानों ने अनुमान किया है कि 'वाल्मीकि-रामायण' की रामकथा चारणों द्वारा गाथा-गीति के रूप मे लोक-प्रचलित थी। यह चारण 'लवकुश' जाति के थे। वाल्मीकि ने इसी लोक-प्रचलित वीराख्यान को प्रबन्ध का रूप देकर 'रामायण' महाकाव्य की रचना की। रामकथा और रामकाव्य के नायक राम के व्यक्तित्व में कितनी ऐतिहासिकता और कितनी कवि-कल्पना है, यह कहना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राम का व्यक्तित्व पूर्णतया काल्पनिक नहीं है, उसमे किसी अंश में ऐतिहासिकता अवश्य है।

राम के चरित्र में जो गौरव और महत्ता लोक-प्रसिद्ध है, उसका श्रेय महाकवि वाल्मीकि को ही है। 'वाल्मीकि रामायण' के प्रारम्भ में ही वाल्मीकि के प्रश्न करने पर नारद राम का जो वर्णन करते हैं, उससे उनके व्यक्तित्व का अत्यन्त प्रभावशाली परिचय मिलता है। वे विष्णु के समान वीर्यवान् हैं, पीनबाहु, उरु क्रम, उदार, धीर, गम्भीर और ओजस्वी हैं। वे असुरों के संहारकर्ता और प्रजा के रक्षक हैं। उनके चरित्र में तितिक्षा का गुण विशेष रूप में पाया जाता है। वाल्मीकि ने अपने राम के चरित्र-चित्रण में इन्हीं गुणों के आधार पर एक महामानव की सृष्टि की है। वाल्मीकि ने राम द्वारा सर्वत्र मानवोचित व्यवहार प्रायः कराया है किन्तु उनके कार्यों में जिस गरिमा और महत्ता का समावेश किया गया है, उसमें दिव्यता और अलौकिकता की व्यंजना सहज जान पड़ती है। आगे चलकर इसी व्यंजना के आधार पर राम के चरित्र में नारायणत्व का समावेश हो गया और राम का व्यक्तित्व अलौकिकता से समन्वित हो गया।

'महाभारत' के रामोपाख्यान में रामकथा का वही रूप पाया जाता है, जो 'वाल्मीकि-रामायण' में वर्णित है। यद्यपि कहा यह जाता है कि 'महाभारत' की रचना रामायण से पूर्व हुई थी तथापि जहाँ तक की राम की कथा का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट सूचित होता है कि महाभारत के रामोपाख्यान का आधार 'वाल्मीकि—रामायण' ही है। रामोपाख्यान में नारद के द्वारा राम के विष्णु होने का अनेक बार उल्लेख हुआ है। राम के व्यक्तित्व के दैवीकरण की जो प्रवृत्ति 'वाल्मीकि रामायण' के बाद विकसित हुई वह रामोपाख्यान का प्रथम प्रमाण प्रस्तुत करती है।

बौद्ध-साहित्य के 'दशरथ जातक' के राम गम्भीर, एकनिष्ठ, शान्त, स्थिरमति और पण्डित के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें राम के एकाकी वन में रहने तथा वन से लौटकर अपनी अनुजा सीता से विवाह कर लेने का उल्लेख हुआ है। इस

कथा में राम के व्यक्तित्व की अलौकिकता के भी कुछ संकेत मिलते हैं, यथा—अनुचित निर्णय होने पर पादुकाओं का परस्पर आघात, राम का स्वर्गारोहण आदि। कुछ अन्य जातक कथाओं मे भी राम का विभिन्न रूपों में उल्लेख हुआ है किन्तु इन कथाओं के राम् के व्यक्तित्व में कोई संगति और एकरूपता नहीं है। कथाओं का उद्देश्य रोचकता की सृष्टि करना ही जान पड़ता है।

जैन-साहित्य में रामकथासम्बन्धी अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। सर्वप्रथम तीर्थंकरों की जीवनी से सम्बन्धित 'त्रिषष्ठि लक्षण महापुराण' में राम, रावण और लक्ष्मण को अनेक पूर्व जन्मों से एक दूसरे के शत्रु के रूप में चित्रित किया गया है। विमलसेन सूरि ने अपने 'पउमचरिउ' में इसी का आधार लेकर रामकथा का वर्णन किया। इसके अनुसार राम का जन्म रावण वध के लिए ही होता है क्योंकि दोनों जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे के शत्रु हैं। 'पउमचरिउ' की कथा 'वाल्मीकि-रामायण' का अनुसरण करती है। विमलसेन सूरि के बाद रविषेण, हेमचन्द्र, सोमसेन आदि जैनाचार्यों ने अपनी रामकथासम्बन्धी रचनाओं में राम के चरित्र में मर्यादावाद और निष्ठापूर्ण शील-सौजन्य पर विशेष बल दिया है। जैन-साहित्य में राम के चरित्रमें अलौकिकता के संकेत बराबर किये गये हैं। सिद्ध जिनों की भाँति राम भी अलौकिक पुरुष हैं किन्तु मानव योनि में जन्म लेने के कारण वे लौकिक मर्यादाओं का पालन करते हैं। १९वीं शताब्दी तक जैन-साहित्य में राम के इसी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा होती रही है। काव्यों में राम का चरित्र सर्वप्रथम कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य में प्राप्त होता है। यद्यपि यह महाकाव्य रघुकुल की कीर्ति का वर्णन करता है किन्तु राम का चरित्र इसमें विशेष रूप में चित्रित किया गया है। महाकवि ने राम के व्यक्तित्व में पौराणिक तत्त्वों को प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है। चरित्र-चित्रण में कालिदास ने वाल्मीकि का ही अनुसरण किया है। कालिदास के अनन्तर अभिनन्द ने अपने 'रावण वध' में राम के पराक्रम और पौरुषपूर्ण चरित्र को उसी परम्परा के अनुसार चित्रित किया है। साकल्य मल्लकृत 'उदार-राघव', क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण मंजरी' आदि महाकाव्यों में भी राम का चरित्र वाल्मीकि की परम्परा के अनुसार ही चित्रित हुआ है।

संस्कृत नाट्य-साहित्य में भासकृत 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटकों में राम के शौर्य और पराक्रम का गुण-गान है। राम के जीवन के उत्तरार्द्ध को लेकर सबसे पहले भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' की रचना की। भवभूति के राम अत्यन्त करुण हृदय चित्रित किये गये हैं। कर्तव्यवश सीता का निष्कासन उनके लिए घोर आत्मग्लानि का कारण बनता है। राम के चरित्र के विकास में भवभूति का अन्यतम स्थान है। 'उत्तर रामचरित' के बाद 'कुन्दमाला' (दिङ्नाग), 'अनर्घराघव' (कवि मुरारि), 'राघव पाण्डवीय' (धनंजय), 'राघव नैषधीय' (हरिदत्तसूरि), 'जानकी-परिणय' (रामभद्र दीक्षित) 'उन्मत्त-राघव' (भास्कर भट्ट) और 'प्रसन्न राघव' (जयदेव) आदि नाट्य और काव्य-कृतियों में राम के चरित्र-चित्रण में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं पाई जाती। दामोदर मिश्रकृत 'हनमुन्नाटक' में राम के चरित्र का किंचित् मौलिक रूप से चित्रण मिलता है परन्तु यह मौलिकता विशेष सराहनीय नहीं कही जा सकती। नाटक के दूसरे अंक में सीता-विवाह के अनन्तर राम के संभोग का वर्णन रामचरित्र की मर्यादा के विपरीत है। रामकथासम्बन्धी कुछ ऐसे काव्यों की भी रचना हुई, जिनमें कालिदास के 'मेघदूत' और जयदेव के 'गीतगोविन्द' का अनुकरण पाया जाता है। ऐसे काव्यों में राम के विरही रूप से सम्बन्धित उनके चरित्र के ऐसे अंशों को उभारा गया है, जो गीतिकाव्य के अनुकूल है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण काव्य और नाट्य साहित्य में यद्यपि राम के अवतारी रूप के यदा-कदा संकेत मिल जाते हैं किन्तु उनके प्रति पूजा-उपासना की भावना स्पष्ट रूप में नहीं पायी जाती। राम के प्रति पूजा-उपासना की भावना अवतारवाद से सम्बद्ध है और अवतारवाद वैष्णव भक्ति-भावना का मुख्य आधार है। सम्भवतः अवतारवाद और भक्ति-भावना का विकास प्रारम्भ में दक्षिण भारत में हुआ। यद्यपि 'रामोत्तरतापनीय' और 'रामपूर्वतापनीय उपनिषद्' उत्तर भारत में रचे गये किन्तु उनकी मान्यता रामानुजीय सम्प्रदाय द्वारा ही प्रतिष्ठित हुई। कदाचित् सबसे पहले 'विष्णु पुराण' में राम को विष्णु का अवतार सिद्ध किया गया। 'विष्णु पुराण' की रचना चौथी शताब्दी ईस्वी में मानी जा सकती है। उसके बाद सभी पुराण राम को विष्णु के अवतार के रूप में वर्णित करते गये, फलस्वरूप कालान्तर में राम और विष्णु में एक प्रकार से कोई भेद नहीं रह गया। राम-कथा सम्बन्धी अन्य पात्रों को भी दैवी रूप दिया जाने लगा। विष्णु के रूप में रामभक्ति के अनेक सम्प्रदायों में इष्टदेव के रूप में पूजे जाने लगे। यही नहीं, बौद्ध और जैन-मतों में भी राम को बुद्ध और जिन की संज्ञा देकर उनके प्रति पूज्य भावना प्रकट की गयी। यद्यपि शैवमत में राम को शिव के व्यक्तित्व के साथ एकाकार करने का प्रयत्न नहीं हुआ किन्तु राम की शील-भक्ति की सराहना अवश्य की गयी। साथ ही शिव को भी राम का अनन्य प्रेमी चित्रित किया गया। इस दिशा में 'अध्यात्म-रामायण' का विशिष्ट स्थान है। 'अध्यात्म रामायण' में राम की कथा शिव के द्वारा पार्वती से कही जाती है। इस कथा का हेतु मायामय संसार से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करना ही है। राम के रूप में विष्णु का अवतार सन्तों की रक्षा के लिए होता है। सीता उनकी 'प्रकृति-अमल माया' हैं, उनके भाई तथा वानर आदि पार्षद और सहायक उन्हीं के अंश हैं। 'अध्यात्म रामायण' में राम के चरित्र में जो दैवीकरण हुआ, उसी की पुनरावृत्ति 'आनन्द रामायण' आदि राम-कथासम्बन्धी परवर्ती ग्रन्थों में होती गयी। राम के इस दैवीकरण की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें राम और शिव में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। 'अध्यात्म रामायण' के बाद राम के चरित्र का उल्लेखनीय विकास तुलसी के साहित्य में विशेष रूप से 'रामचरित मानस' में मिलता है। यद्यपि तुलसी के पहले सूरदास ने राम-कथासम्बन्धी कुछ मार्मिक स्थलों को लेकर राम के चरित्र की जिन विशेषताओं का उद्घाटन किया था, उनमें उनके अत्यन्त द्रवणशील, करुणा-कातर, पराक्रमपूर्ण, ओजस्वी और मर्यादावादी व्यक्तित्व की झलक मिलती है किन्तु सूर का यह चित्रण उनकी भक्ति-भावना और उनकी काव्य-रचना का मुख्य विषय नहीं था। तुलसीदास ने राम के प्रति अनन्य भक्ति प्रकट करते हुए उनके चरित्र का जो निर्माण

किया, वह राम के चरित्र-विकास का चरम कहा जा सकता है। राम के व्यक्तित्व के दैवीकरण के क्रम में राम को उन्होंने विष्णु-स्वरूप मानते हुए भी त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश से परे, साक्षात् परात्परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया। दूसरी ओर उनमें तुलसी ने महापुरुष की जिस मर्यादा की प्रतिष्ठा की, वह उन्हें सहज ही अभूतपूर्व महामानव के रूप में उपस्थित करती है। पर-ब्रह्म के रूप में तुलसी के राम अज, अद्वैत, निर्गुण और चिदानन्दघन हैं। विष्णु के रूप में वे करुणा के सागर, भक्त-वत्सल और भक्तों के उद्धार के लिए निरन्तर आतुर हैं। विष्णु-स्वरूप राम का यही गुण तुलसीदास के महामानव राम को अत्यन्त सहृदय और मानवीय बना देता है। इसी महामानव रूप में वे मर्यादा के रक्षक और धर्म के प्रतिष्ठापक हैं। तुलसी ने राम के रूप में जिस पूर्ण मानव की सृष्टि की, वह गीता के स्थितप्रज्ञ मनुष्य का जीवित उदाहरण कहा जा सकता है। विशेषता यह है कि तुलसी के राम में हृदय की सरसता, कोमलता और मधुरता उन्हें अनुकरणीय आदर्श के साथ-साथ सहज, स्वाभाविक प्रियता भी प्रदान करता है। तुलसी के राम व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में आदर्श की स्थापना करते हुए लोकमन की गहराइयों में जो स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो गये हैं, उसका कारण उनके चरित्र की प्रेम-प्रवणता ही है। प्रेम और मर्यादा का ऐसा समन्वय करके तुलसी ने अपने युग की एक बहुत बड़ी मांग को पूरा किया था। उस युग में प्रेमभक्ति का ऐसा अबाध प्रवाह हो रहा था कि जिसमें इष्टदेव के प्रति प्रपत्ति-सर्वात्मसमर्पण की भावना के अन्तर्गत जीवन की सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण अनिवार्य सा माना जाने लगा था। न केवल कृष्ण-भक्ति में, वरन् राम-भक्ति में भी प्रेम की इस ऐकान्तिक भावना की प्रतिष्ठा हो गयी थी। तुलसीदास के पहले स्वामी अग्रदास ने इसी भावना के प्रभाव के कारण राम के मर्यादावतार को न लेकर उनके लीलावतार को ही अपने 'रामाष्टयाम', 'राम ध्यानमंजरी' और 'रामज्योनार' में चित्रण किया। तुलसीदास ने रामचरित के लीलापक्ष को उनके मर्यादा रूप में ही घुला-मिला दिया और उनके लोकनायकत्व की प्रतिष्ठा की। परन्तु तुलसीदास का यह प्रयत्न लोक-मंगलकारी और लोक-भावना को प्रभावित करनेवाला होते हुए भी रामभक्ति के सम्प्रदायों में अधिक दिनों तक मान्य नहीं रह सका। १७वीं शताब्दी के अन्त होते-होते ही राम के मधुर-क्रीड़ा विलास के चित्रण होने लगे। सरयू के तट पर कुंज-भवनों की स्थापना होने लगी तथा राम और सीता की रसकेलि की विविध सामग्री जुटाई जाने लगी। राम को हिंडोल-लीला, फाग-क्रीड़ा और रासविलास में मग्न चित्रित करते हुए राम के व्यक्तित्व में तुलसीदास ने जिस मर्यादा की प्रतिष्ठा की थी, उसे पूर्णतया विस्मृत कर दिया गया परन्तु जनककिशोरी शरण, जनकलाड़ली शरण, परमेश्वरीदास, प्रेमसखी आदि जिन कवियों की रचनाओं में राम के व्यक्तित्व को इस प्रकार विकृत किया गया है, उनमें किसी प्रकार की काव्यगत सुन्दरता नहीं पाई जाती। वे कृष्णभक्ति-काव्य की असफल और भद्दी नकल मात्र हैं।

मध्यकाल में राम-कथासम्बन्धी कुछ ऐसी काव्यरचना भी हुई, जिसमें भक्ति-भावना का तीव्र उन्मेष नहीं है, अपितु अलंकरण की प्रधानता है। केशव की 'रामचन्द्रिका' इसका सबसे प्रमुख उदाहरण है। सेनापति ने भी रामसम्बन्धी कुछ छन्दों की रचना की तथा उत्तर मध्यकाल के कुछ अन्य कवियों ने भी रामसम्बन्धी स्फुट छन्द रचे परन्तु इस समस्त काव्य में राम को अवतार रूप में ही ग्रहण किया गया है तथा उनके प्रति सामान्य भक्ति-भावना सुरक्षित रखी गयी है। १९वीं शताब्दी में 'राम रत्नावली', 'आनन्द रघुनन्दन', 'राम-मन्त्र-रहस्य' (रघुबरशरण), 'परशुराम कथामृत' (गिरिधरदास) आदि रचनाओं के द्वारा राम-काव्य की परम्परा चलती रही। यद्यपि इन रचनाओं में राम के चरित्र-चित्रण में किसी महत्त्वपूर्ण विकास का परिचय नहीं मिलता, फिर भी उनमें यत्र-तत्र युग का प्रभाव और रचनाकार की अभिरुचि की झलक मिल जाती है।

आधुनिक युग में राम के चरित्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चित्रित करने के अनेक प्रयास हुए हैं। भक्ति-भावना के स्थान पर यथार्थ और स्वाभाविकता का आग्रह बढ़ा। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'वैदेही वनवास' में यद्यपि राम के मानवीय रूप पर ही विशेष बल दिया परन्तु उनका चरित्र-चित्रण भक्ति-भावना से विरहित नहीं हो सका। सीता राम के परमभक्त मैथिलीशरण गुप्त ने यद्यपि राम के प्रति भक्ति-भावना अक्षुण रखी तथा उनके अवतारी रूप का भी निश्चित संकेत किया फिर भी उन्होंने अपने 'साकेत' के राम को आधुनिक युग की भावना के अनुरूप मानव की सहजता से समन्वित करके ही चित्रित किया। साकेतकार ने वाल्मीकि के मर्यादा पुरुषोत्तम तथा तुलसी के महामानव राम की भूमिका में राम के जिस चरित्र का निरूपण किया, उससे राम हमारे जीवन के आदर्श होते हुए भी हमारे अधिक निकट आ गये। 'साकेत' में रामकथा का जो पारिवारिक परिवेश निर्मित हुआ है, राम उसके नायक हैं। मैथिलीशरण के राम के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता है। 'साकेत' के अतिरिक्त-'रामचरित चिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय), 'रामचन्द्रोदय' (रामनाथ ज्योतिषी), 'कोशलकिशोर' और 'साकेत सन्त' (बलदेव मिश्र) तथा 'रावण महाकाव्य' (हरदयाल सिंह) आदि राम-कथासम्बन्धी अनेक रचनाएँ आधुनिककाल में हुईं किन्तु उनमें राम के चरित्र-चित्रण में किसी उल्लेखनीय विशेषता और मौलिकता का दर्शन नहीं होता। 'साकेत सन्त' भरत के चारित्रिक गौरव का चित्रण करता है तथा 'रावण-महाकाव्य' में रावण के पराक्रम का वर्णन है। राम का चरित्र इनमें गौण हो गया है।

छायावादी काव्य-धारा के उन्मेष में पौराणिक आख्यान काव्य के उपजीव्य नहीं रहे। फलतः छायावादी कवियों ने राम-कथासम्बन्धी रचनाएँ नहीं कीं, परन्तु सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा' इसका अपवाद है। इसकी रचना कदाचित् माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' में वर्णित लक्ष्मण की शक्ति पूजा से प्रेरित होकर की गयी है। रावण के परम पराक्रम से आतंकित और भयभीत होकर राम को अपनी विजय में सन्देह होने लगता है। कवि उनके मन का अत्यन्त कुशलता के साथ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता हुआ उनमें मानवोचित दुर्बलता का आभास देता है। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए वे शक्ति-पूजा की ओर अग्रसर होते हैं। परम शक्ति उनमें प्रवेश करती हैं और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व

शक्ति का प्रतीक बन जाता है। युग-युग से पूजित राम के चरित्र में 'निराला' जी द्वारा दिया गया यह नया मोड़ उनकी मौलिकता का प्रमाण है और साथ ही पाठकों के कौतूहल का विषय भी।

राम के व्यक्तित्व ने अनेकानेक कवियों को प्रेरणा दी है, परन्तु उनके चरित्र-चित्रण में सर्वप्रथम वाल्मीकि और उनके बाद तुलसीदास ने जिस गौरव, उच्चता, भव्यता और दिव्यता का सन्निवेश किया, वही वस्तुतः उनके चरित्र-चित्रण के स्थायी प्रतिमानों के रूप में समय-समय पर गृहीत होता रहा। अन्य कवियों की मौलिक उद्भावनाएँ अपने आप में सराहनीय हो सकती हैं परन्तु उनके द्वारा वाल्मीकि अथवा तुलसी के राम के व्यक्तित्व में कोई ऐसा नया योगदान नहीं हो सका, जिसके द्वारा लोक-मानस पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता।

[सहायक ग्रंथ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त; कल्याण का मानस विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर; तुलसीदास और उनका युग : राजपति दीक्षित।]

—यो० प्र० सिं०

रामअवध द्विवेदी—जन्म सन् १९०७ ई०, गोरखपुर जिलान्तर्गत गजपुर ग्राम में। इनके पिता पण्डित मातादीन द्विवेदी ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे तथा इनके अग्रज पण्डित मन्नन द्विवेदी ने कविता तथा गद्यलेखन दोनों क्षेत्रों में प्रभूत ख्याति प्राप्त की। इस प्रकार द्विवेदीजी का जन्म एक साहित्यिक परिवार में तथा पालन-पोषण साहित्यिक वातावरण में हुआ।

दो-एक वर्ष तक जुबली स्कूल, गोरखपुर में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्कूल की शेष शिक्षा पूरी करने के लिए आप कानपुर चले गये। वहीं हाईस्कूल तथा बी०ए० की परीक्षा पास की। तदुपरान्त स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए, जहाँ १९३१ ई० में अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० तथा १९३२ ई० में एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। १९४६ ई० में आपने नाट्य-शास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध लिखकर अंग्रेजी साहित्य में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। विशिष्ट अंग्रेज विद्वानों ने इस प्रबन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

सन् १९३२ ई० में द्विवेदीजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य शुरू किया। सन् १९५९ तक वे निरन्तर अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक पद पर कार्य करते रहे। इस दीर्घकालावधि में उन्होंने अध्यापन और अनुसन्धान के क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया और इस प्रकार व्यापक यश प्राप्त किया।

छात्रावस्था से ही द्विवेदी को हिन्दी-साहित्य में अभिरुचि विकसित होने लगी और सन् १९२५ ई० से पत्र-पत्रिकाओ में उनके लेख और कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। १९२५ और १९३२ ई० के बीच में उनकी रचनाएँ 'माधुरी', 'सुधा', 'मनोरमा', 'वीणा', 'प्रताप', 'स्वदेश' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। सन् १९५० के बाद उनके गम्भीर आलोचनात्मक निबन्ध 'आलोचना', 'समालोचक', 'अवन्तिका', 'आज' आदि में प्रकाशित हुए।

द्विवेदीजी की प्रकाशित पुस्तकों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—'हिन्दी साहित्य के विकास की रूप-रेखा'—इसमें हिन्दी साहित्य की आधुनिक गतिविधि पर विशद प्रकाश डाला गया है। 'अंग्रेजी भाषा और साहित्य', 'साहित्य रूप'—इस ग्रंथ में काव्य-रूपों का तुलनात्मक अध्ययन है और भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के मतों पर विचार किया गया है। 'साहित्य-सिद्धान्त'—इस ग्रन्थ में साहित्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन है और पाश्चात्य सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

द्विवेदीजी उन इन-गिने विद्वानों में हैं, जिनका हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य पर समान अधिकार है। अतः हिन्दी साहित्य का नवीन मूल्यांकन प्रस्तुत करने में वे समर्थ हैं। नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'द हिन्दी रिव्यू' का उन्होंने पाँच वर्षों तक योग्यतापूर्वक सम्पादन किया। इस पत्रिका के माध्यम से देश में ही नहीं, वरन् विदेशों में भी हिन्दी-साहित्य की जानकारी और लोकप्रियता बढ़ी। आपकी कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ अंग्रेजी में भी प्रकाशि हुई हैं।

—ज० उ०

रामइकबाल सिंह 'राकेश'—जन्म २४ दिसम्बर, सन् १९१३ ई० में मुजफ्फरपुर जिला (बिहार) के भदई नामक ग्राम में हुआ। जी० बी० बी० कालेज मुजफ्फरपुर से इण्टरमीडियेट करने के बाद कुछ कारणों से पाठशाला की शिक्षा तो रुक गयी, पर जीवन की अनुभव-पाठशाला के छात्र के रूप में 'राकेश' जी बराबर पढ़ते और लिखते रहे। सन् १९३७ ई० में दैनिक 'सैनिक' आगरा के सम्पादकीय विभाग में कार्य करते रहे। सन् १९३८ ई० में ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना में अनुवाद का कार्य करते रहे, किन्तु जीवन के रूपरंग और धरती की गन्ध उन्हें बराबर बुलाती रही। अन्त में मैथिल भूमि के इस आह्वान को ये नहीं टाल सके और फिर ७-८ वर्षोंतक मिथिला की अमराइयाँ और बिहार की गीत-गर्भा वसुन्धरा के सीनों में शताब्दियों से गाते-तड़फते उन लोक-गीतों को चुनते रहे, जिसमें मिथिला की जन-परम्परा रोती-गाती आयी है।

'राकेश' जी की प्रथम प्रकाशित रचना 'स्तालिन' है, जो ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर से सन् १९३८ ई० में प्रकाश में आयी। सन् १९४२ ई० मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग केप्रकाशकत्व में उनका मैथिल-गीतों का सुप्रसिद्ध एवं सामान्य-संग्रह 'मैथिली लोक-गीत' नाम से अमरनाथ झा की गम्भीर भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ। मैथिली लोकगीतों के संग्रह-विवेचन की दिशा में कदाचित् यह सर्वप्रथम सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रयास है। लोक-साहित्य में इसे यथेष्ट सम्मान-समादर प्राप्त हुआ। पुस्तक की काया ४४२ पृष्ठों में विन्यस्त है। ८वीं शताब्दी से प्रवाहित मैथिल लोकगीतों की परम्परितधारा 'नचारी', 'समदाउनि' 'सोहर', 'झूमर', 'सम्मारि', 'लग्नगीत', 'फाग', 'चैतावर', 'जट-जटिन' एवं 'बारहमासा' आदि रूपों में आज भी मैथिल कण्ठों में मुखरित होती आ रही है। शिव-भक्तिसम्बन्धी 'नचारी' गीत मिथिला के विशेष लोकगीत हैं। 'समदाउनि' अत्यन्त करुण लोकगीत होता है। इन पंक्तियों की करुण-विह्वलता उदाहरण-स्वरूप आस्वाद्य है—''आम मजरि मह तुअल। तैं ओने पहुँ मोरा मूरल।। दीप जरिय बाती जरल। तै ओने पहुँ मोरा आँचल।।'' इसमें सन्देह नहीं कि

तिरहुत के जिस जीवनानुराग में मस्त होकर कोकटी के वस्त्र और शाक-भोज को भी विलास-जीवन पर वरीयता दी गयी है, 'राकेश' जी उसमें घुले-मिले और हंसे-बसे हैं। सन् १९४६ ई० में 'चट्टान', १९४९ ई० में 'गाण्डीव' एवं १९६० ई० में 'मेघ दुन्दुभि' नामक कविता-संग्रह प्रकाश में आये।

'राकेश'जी साहित्य मे प्रगतिशील विचारों के समर्थक हैं, किन्तु उन्होंने कला के परिधान की कभी उपेक्षा नहीं की। उनकी प्रगतिशील कविताओं के पीछे सांस्कृतिक एवं दार्शनिक अध्ययन की एक पीठिका सदैव प्रतिष्ठित मिलेगी। जीवन को सँवारने-बनाने का एक उत्सर्गमय उत्साह एव द्रवित भाव-बोध उनमें सर्वत्र मिलेगा। इन्होंने वस्तुसत्य के अंकन को ही वास्तविक वाणी श्रृंगार माना है, तभी तो जीवन के पथरीलेपन पर हरियाली लहराने के लिए कवियों को जीवन की हल्दीघाटी पर बुलाया है। 'राकेश'जी की प्रगतिशीलता देश की सास्कृतिक पृष्ठभूमि की विद्वेषिणी नहीं, वह तो अगस्त्य, यम और नचिकेता आदि के औपनिषदिक एवं पौराणिक प्रसंगों में नवीन सन्दर्भ देकर उनसे वर्तमानपरक नूतन-प्रेरणा-स्रोत निकालती है। 'हिमालय अभियान' नामक रचना में हिमालय का मानवीकरण बड़ा सजीव और ओजस्वी है।

—श्री० सिं० क्षे०

राम करुणाकर एवं हनुमान नाटक—निर्माणकाल १८४० ई० से पूर्व। ब्रजभाषा नाटककाल में जितने भी नाटक बने, वे बृहत् रूपक या अनेकांकी थे, कम से कम चार अंक वाले। किन्तु 'उदय' कवि ने दो लघु रूपक लिखे, जिनके नाम हैं—'राम करुणाकर' एवं 'हनुमान नाटक'। ये एक अंकवाले लघुरूपक हैं। दोनों राम के जीवन से सम्बन्धित हैं और 'रामचरितमानस' के आधार पर रचे गये हैं। उदय कवि ने इन लघुकाव्य नाटकों का निर्माण करते समय कथा तो 'मानस' से ली है और शैली नन्ददास से। प्रत्येक छन्द के अन्त में एक टेक है। 'राम करुणाकर' की टेक है 'राम करुणा करैं' और 'हनुमान नाटक' में टेक है 'रजाइस राम की'। 'राम करुणाकर' में ५७ छन्द हैं एवं 'हनुमान नाटक' में ७०। ये नाटक गाने के लिए बने थे। 'राम करुणाकर' के अन्त में कवि कहता है—"जो याकु सीखै सुनै उदय होय उर ज्ञान, जाकी सदा सहाय कुँ आय करै हनुमान—राम करुणा करैं।" इसी प्रकार 'हनुमान नाटक' के अन्त में कहा गया है—" यह नाटक हनुमान कहै सुनै नर कोई, ज्ञान ध्यान बलवान बुधि भकति उदै उर होइ रजाइस राम की"। शैली को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि एक या कई मनुष्य इसे गाते थे और टेक को कई कण्ठ समवेत स्वर में पड़ते थे।

इन दोनों नाटकों में कहीं भी निर्माणकाल नहीं मिलता है। इन नाटकों के साथ उदयकृत दो लीलाएँ—'अहिरावन लीला' और 'जोग लीला' भी मिली है (काशी नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय)। 'अहिरावन लीला' की अन्तिम पुष्पिका में संवत् १९१७ दिया हुआ है। यह प्रतिलिपिकाल या लेखन काल ज्ञात होता है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उदय कवि ने इन चारों का निर्माण १८४० ई० से पूर्व किया था।

एक प्रश्न स्वाभवतः उठता है—उदय कवि ने 'राम करुणाकर' एवं 'हनुमान नाटक' को नाटक की संज्ञा दी है, जब कि 'अहिरावन लीला' एवं 'जोग लीला' को लीला कहा है। शैली की दृष्टि से चारों में कोई भेद नहीं है। भेद इतना ही प्रतीत होता है कि नाटकों में रस की प्रधानता है, अतः वहाँ काव्य अधिक मुखर है, जब कि लीलाओ में चमत्कार की प्रधानता है। 'अहिरावन लीला' में हनुमान् वेश बदलकर राम-लक्ष्मण का उद्धार करते हैं तो 'जोग लीला' में कृष्ण जोगी का वेश बनाकर राधा से मिलते हैं। इन चारों में से अंकों में कोई भी विभाजित नहीं है क्योंकि प्रत्येक लघुरूपक हैं।

'राम करुणाकर' में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम का करुण-विलाप है। काव्य-नाटक मे करुण रस का सुन्दर प्रवाह है एवं राम की उक्तियाँ अत्यन्त हृदय-द्रावक हैं। राम कहते हैं—"उठि अब पीवइ दूध माता टेरत तोहिं भाई। चलि करि बाग-विहार वीर सरजू में न्हाई। भरत वीर बोलत तुमैं रिपुसूदन संग लाई। टेरत है तुमको चलौ षेलत वन में जाई—राम करुणा करैं।" सभी छन्द इसी सरल और गेय शैली के हैं। 'हनुमान नाटक' मे सीता की खोज होती है और हनुमानजी लंका दहन करते हैं। दोनों काव्य-नाटकों पर तुलसी का बड़ा प्रभाव मिलता है और अनेक उक्तियाँ तुलसी की प्राप्त होती हैं।

—गो० ना० ति०

रामकुमार वर्मा—जन्म मध्यप्रदेश के सागर जिले में १५ सितंबर, सन् १९०५ ई० में हुआ। इनके पिता लक्ष्मी प्रसाद वर्मा डिप्टी कलक्टर थे। वर्माजी की प्रारम्भिक शिक्षा इनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने अपने घर पर ही दी, जो उस समय की हिन्दी कवयित्रियों में विशेष स्थान रखती थीं। बचपन मे इन्हें 'कुमार' के नाम से पुकारा जाता था। कुमार में प्रारम्भ से ही प्रतिभा के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते थे। ये सदैव अपनी कक्षा में प्रथम आया करते थे। पठन-पाठन की प्रतिभा के साथ ही साथ आप शाला के अन्य कार्यों में भी काफी सहयोग देते थे। अभिनेता बनने की आपकी बडी प्रबल इच्छा थी। अतएव आपने अपने विद्यार्थी जीवन में कई नाटकों में एक सफल अभिनेता का कार्य किया है। आप सन् १९२२ ई० में दसवीं कक्षा में पहुँचे। इसी समय प्रबल वेग से असहयोग की आँधी उठी और आप राष्ट्र सेवा में हाथ बँटाने लगे तथा एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता के रूप में जनता के सम्मुख आये। इसके बाद वर्माजी ने पुनः अध्ययन प्रारम्भ किया और सब परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी विषय में एम० ए० में सर्वप्रथम आये। आपको नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पर डाक्ट्रेट दी गयी। अनेक वर्षों तक आप प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक तथा फिर अध्यक्ष रहे हैं।

आप आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि, एकांकी नाटक-लेखक और आलोचक हैं। 'चित्ररेखा' काव्य-संग्रह पर आपको हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ 'देव पुरस्कार' मिला है। साथ ही 'सप्त किरण' एकांकी संग्रह पर 'अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन पुरस्कार' और मध्यप्रदेश शासन परिषद् से 'विजयपर्व' नाटक पर प्रथम पुरस्कार मिला है।

आप रूसी सरकार के विशेष आमन्त्रण पर मास्को विश्वविद्यालय के अन्तर्गत प्रायः एक वर्ष तक शिक्षा कार्य कर चुके हैं।

पुस्तक रूप में आपकी रचनाएँ सन् १९२२ ई० से प्रारम्भ हुई। आपकी कृतियाँ इस प्रकार है : 'वीर हमीर' (काव्य–सन् १९२२ ई०), 'चित्तौड़ की चिता' (काव्य–सन् १९२९ ई०), 'साहित्य समालोचना' (सन् १९२९ ई०), 'अंजलि' (काव्य–सन् १९३० ई०), 'कबीर का रहस्यवाद' (आलोचना–सन् १९३० ई०), 'अभिशाप' (कविता–सन् १९३१ ई०), 'हिन्दी गीतिकाव्य' (सग्रह–सन् १९३१ ई०), 'निशीथ' (कविता–सन् १९३५ ई०), 'हिमहास' (गद्यगीत–सन् १९३५ ई०), 'चित्ररेखा' (कविता–सन् १९३६ ई०) 'पृथ्वीराज की आँखें' (एकांकी संग्रह–सन् १९३८ ई०), 'कबीर पदावली' (संग्रह सम्पादन–सन् १९३८ ई०), 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन् १९३९ ई०), 'आधुनिक हिन्दी काव्य' (संग्रह सम्पादन–सन् १९३९ ई०), 'जौहर' (कविता संग्रह–१९४१ ई०), 'रेशमी टाई' (एकांकी संग्रह–सन् १९४१ ई०), 'शिवाजी' (सन् १९४३ ई०), 'चार ऐतिहासिक एकांकी' (संग्रह–सन् १९५० ई०), 'रूपरंग' (एकांकी संग्रह–सन् १९५१ ई०), 'कौमुदी महोत्सव' आदि।

डॉ० वर्मा का कवि-व्यक्तित्व द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियों से उदित होकर छायावाद क्षेत्र में मूल्यवान् उपलब्धि सिद्ध हुआ। इनकी काव्यगत विशेषताओं में कल्पनावृत्ति, संगीतात्मकता, रहस्यमय सौन्दर्य-दृष्टि (रहस्यवाद) का स्थान अनन्य है। छायावादकाल की कविताएँ इनकी कवि प्रतिभा का सुन्दर प्रतिनिधित्व करती हैं।

हिन्दी रहस्यवाद क्षेत्र में इनकी अपनी विशेष देन है। अपनी रहस्यवादी कृतियों में इन्होंने प्रकृति और मानवीय हृदय के सूक्ष्म तत्त्वों, जिनमें अलौकिक सत्ता का अबाध प्रकाश है, बहुत बड़ा सहारा लिया है। इन्होंने प्रकृति की विराट् सत्ता में सर्वत्र ईश्वरीय संकेत की अनुभूति की है। इस प्रकार जहाँ इन्होंने अपने इस धरातल के काव्य-जगत् में एक ओर मानव आत्मा की सफल प्रेममय प्रवृत्तियों की थाह ली है, वहाँ उन्होंने प्रकृति के रहस्यों का भी सफल अन्वेषण किया है। सर्वत्र भावना क्षेत्र में तद्विषयक अभिव्यक्ति के लिए प्राय: रूपकों का सहारा लिया है, जिनमें एक ओर आध्यात्मिक संकेत हैं और दूसरी ओर एक अलौकिक व्यंजना।

नाटककार रामकुमार वर्मा का व्यक्तित्व कवि-व्यक्तित्व से अधिक शक्तिशाली और लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। नाटककार धरातल से उनका 'एकांकीकार' स्वरूप ही उनकी विशेष महत्ता है और इस दिशा में वे आधुनिक हिन्दी एकांकी के 'जनक' कहे जाते हैं, जो निर्विवाद सत्य है। प्रारम्भिक प्रभाव की दृष्टि से इन पर शा, इब्सन मैटरलिंक, चेखब आदि का विशेष प्रभाव पड़ा है किन्तु यह सत्य है कि डा० वर्मा इस क्षेत्र में, विशेषकर मनोवेगों को अभिव्यक्ति और अपने दृष्टिकोण में सदा मौलिक और भारतीय रहे हैं। 'बादल की मृत्यु' इनका सर्वप्रथम एकांकी नाटक था, जो १९३० ई० में 'विश्वमित्र' में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद डॉ० वर्मा ने क्रमशः 'दस मिनट', 'नहीं का रहस्य' 'पृथ्वीराज की आँखें', 'चम्पक' और 'एक्ट्रेस' आदि नाटकों (एकांकी) की रचना की तथा इस उदय के बाद इनका एकांकीकार-व्यक्तित्व आधुनिक हिन्दी नाट्यसाहित्य का प्रकाश-स्तम्भ हो गया।

'रेशमीटाई' के उपरान्त डॉ० वर्मा के कृतित्व में एक विशेष धारा ऐतिहासिक एकांकियों की विकसित हुई, जिसमें डा० रामकुमार एक ऐसे आदर्शवादी कलाकार के रूप में हिन्दी नाट्य जगत् के सामने आये, जिनमें उनके सांस्कृतिक और साहित्यिक मान्यताओं का सुन्दरतम समन्वय स्थापित हुआ है। "वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्मसंयम एवं क्षुद्रता से महानता का अन्वेषण करने में समर्थ हुए हैं–और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप मे प्रस्तुत किया है।"

आलोचना के क्षेत्र मे रामकुमार वर्मा की कबीरविषयक खोज और उनके पदों का प्रथम शुद्ध पाठ तथा कबीर के रहस्यवाद और योगसाधना की पद्धति की समालोचना विशेष उपलब्धि है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन क्षेत्र में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८ ई०) का विशेष महत्त्व है। सामाजिक तथा धार्मिक शक्तियों के अध्ययन परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के आदि युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है। इसके अतिरिक्त काव्य, कला और साहित्य के विभिन्न अंगों तथा माध्यमों पर ललित लेख डॉ० वर्मा के निबन्धकार व्यक्तित्व के सुन्दरतम उदाहरण हैं।

–ल० ना० ला०

रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर– जन्म सन् १९१४ ई० काशी में। मृत्यु १९६० ई० में लखनऊ में। बी-एस० सी० पास करने के बाद आप दैनिक 'आज' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। बीच में कुछ दिनों तक आप दैनिक 'संसार' के सहकारी सम्पादक रहे, उसके बाद आप फिर 'आज' के सहकारी सम्पादक हो गये। सन् १९५६ ई० से जून १९५९ ई० तक 'आज' के प्रधान सम्पादक रहे। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी के बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स के चेयरमैन भी आप थे। आपने एक बार हालैण्ड और दूसरी बार रूस की विदेश यात्रा की थी। आपकी रचनाएँ ये हैं–'परमाणुबम', 'हाइड्रोजन बम', 'आधुनिक पत्रकार कला'; 'हालैण्ड में पचीस दिन', 'कल की दुनिया', 'दो सिपाही', 'गान्धी हत्याकाण्ड', 'रेडियो', 'बदलते रूस में' तथा 'गणित चमत्कार'। इनमें 'आधुनिक पत्रकार कला' पर आपको बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से एक हजार रुपये का पुरस्कार मिला था। खाडिलकर जी बड़े ही सरल स्वभाव के थे। आपमें अपने विचारों की पूर्ण दृढ़ता थी। उत्तर प्रदेश की सरकार ने आपकी विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों के सम्पादन का भार सौंपा था।

–सं०

रामकृष्ण वर्मा–उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिन्दी सेवियों में रामकृष्ण वर्मा का नाम आदरपूर्वक लिया जाना चाहिये। ये भारतेन्दु-मण्डल के प्रमुख सदस्य रहे हैं और कवि, लेखक तथा पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सन् १८५९ ई० में हुआ था। काशी इनकी साधना-भूमि थी। १९०६ ई० में सैंतालीस वर्ष की अल्पायु में ही इनकी मृत्यु हो गयी, फिर भी इनकी साहित्य सेवाएँ स्मरणीय हैं।

रामकृष्ण वर्मा सुकवि थे। 'बलबीर' अथवा 'बीर कवि' के उपनाम से ब्रजभाषा में बड़ी सरस काव्य-रचना करते थे।

काशी का तत्कालीन 'कवि समाज' इनसे गौरवान्वित था। ये उसके 'सेक्रेटरी' भी थे। उक्त 'समाज' की ओर से प्रकाशित 'समस्यापूर्ति प्रकाश' की विभिन्न जिल्दों में इनकी बहुत-सी फुटकर रचनाएँ सुरक्षित हैं। श्यामसुन्दरदास ने इनकी 'बलबीर-पचासा' नामक एक काव्य पुस्तक का भी उल्लेख किया है ('हिन्दी के निर्माता', भाग १, पृ० ७७)। रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी गणना उस कोटि के साहित्य-सेवियों मे की हैं, "जिन्होंने एक ओर तो हिन्दी-साहित्य की नवीन गति के प्रवर्त्तन में योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाटी की कविता के साथ भी अपना पूरा सम्बन्ध बनाये रखा" (हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५८०)। इनके द्वारा की गयी 'अरुन उदै की कंजकली सी लसति है' विषयक समस्या की एक पूर्ति निम्नांकित है–

"राधिका नवेली वृषभान की किशोरी गोरी अंग-अंग जाकी आभा कुन्द-सी दिपति है। थोरी बैसवारी जरतारी कोरदार स्याम सारी मध्य जाकी प्रभा फूटि बिकसति है।। अंक की निकाई बिधनाने यों बनाई जाकी शुभ्र स्वच्छताई मनभाई सरसति है। देखिये बिहारी चलि रसिक रसीले लाल अरुण उदै की कंज कली-सी लसति है।।" ('समस्यापूर्ति प्रकाश', प्रथम भाग, काशी १८९४ ई०, पृ० २४)।

रामकृष्ण वर्मा हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू और बगला भाषाओं के भी बहुत अच्छे जानकार थे। इन्होंने इन दोनों ही भाषाओं के कतिपय लोकप्रिय उपन्यासों एवं श्रेष्ठ नाटकों के अनुवाद सहज भाषा एवं रोचक शैली में किये हैं। इनके द्वारा उर्दू से हिन्दी में अनूदित उपन्यास निम्नलिखित हैं–

(१) 'ठग वृत्तान्त माला' (१८८१ ई०), (२) 'पुलिस वृत्तान्त माला' (१८९० ई०), (३) 'अमला वृत्तान्त माला' (१८८४ ई०), (४) 'संसार दर्पण' (१८८५ ई०)। बंगला से इन्होंने द्वारकानाथ गांगुलीकृत 'वीरनारी', माइकेल मधुसूदनकृत 'कृष्णाकुमारी' और राजकिशोरदेवकृत 'पदमावती' नामक नाटच-कृतियों के अनुवाद किये थे। इन्होंने बँगला से 'चित्तौर चातकी' नामक एक उपन्यास का भी अनुवाद किया था। इनके अनुवाद कार्यो में सर्वाधिक महत्त्व 'कथासरित्सागर' के भाषानुवाद को दिया जाता है। इसे इन्होंने केवल दस भागों तक ही किया है।

रामकृष्ण वर्मा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में गिने जाते हैं। ये आजीवन उक्त सभा के सक्रिय सहायक और उन्नायक रहे। हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में भी इनकी सेवाएँ अमूल्य मानी जाती हैं। सन् १८८४ ई० में इन्होंने काशी मेंभारतजीवन प्रेस की स्थापना की थी और 'भारत जीवन' नाम से सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्र निकाला था। ये स्वयं ही उक्त प्रेस के अध्यक्ष और इस पत्र के सम्पादक थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसका नामकरण किया था।

–र० भ०

रामकृष्ण 'शिलीमुख'–हिन्दी आलोचना के विकास-काल के लेखकों में रामकृष्ण 'शिलीमुख' का नाम उल्लेखनीय है। आप अनेक वर्षों तक महाराजा कॉलेज, जयपुर में हिन्दी के प्राध्यापक रहे। आपकी समीक्षा-शैली रामचन्द्र शुक्ल के प्रभाव-क्षेत्र में विकसित हुई जान पड़ती है। 'सुकवि समीक्षा' आपके आलोचनात्मक अध्ययननों का संकलन है। –सं०

रामखेलावन पांडे–जन्म १९१३ ई०, शाहाबाद में। शिक्षा एम० ए०; डी० लिट्०। पहले पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक थे। आजकल आप राँची विश्वविद्यालय मे हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं। सैद्धातिक समीक्षा के क्षेत्र में आप का कार्य उल्लेखनीय है। यों, सन्त-साहित्य पर विशेष अध्ययन किया है। कृतियाँ–'गीति काव्य' (१९४७ ई०), 'हमारी सांस्कृतिक चेतना' (१९५२ ई०), 'काव्य और कल्पना' (१९५२ ई०), 'कविता कानन में (१९५३ ई०), 'मध्यकालीन सन्त साहित्य'।

–सं०

रामगुप्त–समुद्रगुप्त का पुत्र रामगुप्त (मृत्यु ३७५ ई०) प्रसादकृत 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का खल-पात्र है। वह निर्वीर्य, क्लीव, शंकालु, कपटाचारी एवं प्रवंचक है। इसी छल-प्रवंचना के बल पर वह गुप्तकुल के राजसिंहासन पर आसीन हो जाता है और चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी एवं श्रेष्ठ सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी पर भी अधिकार पा जाता है। यद्यपि ध्रुवस्वामिनी की दृष्टि मे वह अनार्य, निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव से अधिक नहीं है। उसमें न तो सम्राट् का कोई आदर्श है और न क्षत्रियोचित गरिमा। वह अपने चारो ओर कुबडे, बौने, हिजड़े और गूँगे जैसे विकलांग पुरुषों को रखता है और शिखर स्वामी जैसे चाटुकारों से घिरा हुआ राजकुल की परम्परागत मर्यादा को कलंकित करता है। उसका समस्त कार्यव्यापार विलासिता, छल-छद्म, कायरता एवं क्रूरता की कलंकित पृष्ठभूमि है। शासनसम्बन्धी गम्भीर से गम्भीर बातों को भी वह अपनी विलासजनित दुर्बुद्धि के कारण हँसी के रूप में ग्रहण करता है, यहाँ तक कि उसके खोखले व्यक्तित्व पर हँसी आये बिना नहीं रहती। प्रतिहारी द्वारा यह कहने पर कि शकों ने हमें दोनों ओर से घेर लिया है– उसका यह कहना कितना हास्यास्पद है: "दोनों ओर से घिरा रहने में शिविर और भी सुरक्षित है।" वह शत्रु के निन्द्य प्रस्ताव–ध्रुवस्वामिनी के समर्पण को भी–अपनी प्राणरक्षा के लिए स्वीकार कर लेता है और शत्रु के शिविर में चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी को भेजकर अपने राजनीतिक चातुर्य पर प्रसन्न है। मन्दाकिनी उसके पौरुष के सामने प्रश्न चिन्ह लगाते हुए ठीक ही कहती है: "वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छद्म की धूलि उड़ती है।" चन्द्रगुप्त जैसे साधुचरित भाई के प्रति रामगुप्त का व्यवहार बड़ा कृतघ्नतापूर्ण है। जिस भाई ने पिता द्वारा प्रदत्त साम्राज्य को प्रसन्नता के साथ उसे सौंप दिया, उसी के प्रति उसका इस प्रकार का षड्यन्त्र सर्वथा अक्षम्य है। शकराज के शिविर में ध्रुवस्वामिनी के साथ जाने की आज्ञा देता हुआ रामगुप्त कहता है: "सामन्त कुमारों के साथ जाने को प्रस्तुत हो जाओ।" वह अपने कलुषित स्वभाव के कारण चन्द्रगुप्त को सदैव शंका की दृष्टि से देखता है और ध्रुवस्वामिनी के हृदय में स्थित चन्द्रगुप्त की स्मृतिजन्य प्रीति को नष्ट कर देना चाहता है। रामगुप्त की क्रूरता की चरम परिणति निरीह मिहिर देव और कोमा जैसी भोली बालिका की निर्मम हत्या करने पर होती है। उसके इन दुराचारों के कारण राज्य के विश्वासी अनुचर सामन्त कुमार भी उससे विद्रोह कर बैठते हैं। पुरोहित उसके पुंस्त्वहीन दुराचारों की कथा सुनकर उसे "गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से

राजकिल्विषी क्लीव'' घोषित करते हैं। उसके कुकृत्यो का सम्यक् निरीक्षण कर परिषद् को यह निर्णय देना पड़ता है—''अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त गुप्तसाम्राज्य के पवित्र राज-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।''

अन्त में सभी ओर से अपराधी और निंदनीय घोषित किये जाने पर भी कृतघ्नी रामगुप्त की प्रतिशोध-भावना चन्द्रगुप्त की हत्या करने को उत्तेजित करती है तथा अपराध और लाछन की भावना से भरकर वह कायर की भाँति असतर्क चन्द्रगुप्त पर पीछे से प्रहार करने की चेष्टा करता है एवं अपनी इस दुश्चेष्टा के परिणामस्वरूप एक सामन्तकुमार द्वारा मार डाला जाता है। उसका जीवन आदि से अन्त तक कायरता, कृतघ्नता एवं प्रवंचना से परिपूर्ण है। अपने दुर्गुणों के चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर नाटकीयता के साथ उसका अन्त आदर्श के पूर्ण अनुकूल है। एक खल पात्र के रूप में उसके चरित्र में समस्त दुर्गुणों का चरम उत्कर्ष निहित है। प्रसाद ने रामगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी एवं सामन्तों का विरोध चित्रित किया है। परिषद् धर्मानुसार ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से मोक्ष का अधिकार दे देती है और उसे राजकिल्विष के कारण सिंहासन से च्युत कर दिया जाता है और अन्त में एक सामन्त पुत्र द्वारा उसका वध कर दिया जाता है। यह सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है और ज्ञात इतिहास के निष्कर्षों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। कथा के इस काल्पनिक मोड़ का कारण यह है कि प्रसाद अपने नाटक को एक समस्यामूलक नाटक बनाना चाहते थे। हाँ, रामगुप्त का वध ऐतिहासिक घटना से समन्वित है क्योंकि महाराजा चन्द्रगुप्त और महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय से नाटक समाप्त होता है। (दे० 'प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक' : जगदीशचन्द्र जोशी, पृ० १३८)।

—के० प्र० चौ०

रामगुलाम द्विवेदी—रामगुलाम द्विवेदी का जन्म मीरजापुर के असनी ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि बाल्यावस्था में ही ये पितृविहीन हो गये थे और गृहस्थी का सारा भार इन्हीं पर आ पड़ा था। मीरजापुर में पल्लेदारी का काम करके ये जीविकोपार्जन करने लगे। किसी समय इन्होंने बरसाती नदी को पार करके हनुमानजी का दर्शन किया था और कहा जाता है कि हनुमान् जी ने इन्हें मानस का अन्तर्दर्शन कराया था। आगे चलकर रामगुलामजी ने पल्लेदारी छोड़ दी और मानस की कथा द्वारा वे जीविकोपार्जन करने लगे। रामगुलाम जी अयोध्या (जानकीघाट) के प्रसिद्ध महात्मा राम प्रसाद के (ये पहले जफराबाद में रहते थे, बाद को जानकी घाट आ गये) शिष्य थे। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में इन्हें एक प्रसिद्ध रामायणी कहा गया है। एक किंवदन्ती के अनुसार ये जानकी घाट के महंत रामचरणदास के भी निकट सम्पर्क में आये थे और उनके साथ ही साकेतयात्रा का भी व्रत ले लिया था। मृत्यु के तीन दिन पूर्व इन्होंने रामचरणदास को साकेत-यात्रा का स्मरण दिलाया था, फलतः रामचरणदास ने माघ शुक्ल ९, सं० १८८८ (सन् १८३१ ई०) को शरीरत्याग किया। अतः इस जनश्रुति के अनुसार रामगुलाम द्विवेदी की भी यही मृत्यु तिथि हुई।

इनकी रचनाओं के नाम ये हैं : 'कवित्त प्रबन्ध', 'रामगीतावली', 'ललित नामावली', 'विनय नवपंचक', 'दोहावली रामायण', 'हनुमानाष्टक', 'रामकृष्ण सप्तक', 'श्रीकृष्ण पचरत्न पंचक', 'श्रीरामाष्टक', 'रामविनय', 'रामस्तव राज', 'बरखा',।

इनमें से कुछ रचनाएँ हस्तलिखित रूप में काशी के पं० सीताराम चतुर्वेदी के यहाँ सुरक्षित हैं। विषय इनके नामो से ही स्पष्ट है। रामगुलाम जी का विशेष महत्त्व उनके एक प्रमुख मानस-व्याख्याकार होने के नाते है।

—ब० ना० श्री०

रामगोपाल विजयवर्गीय—रंग और रेखाओं के जादूगर का जन्म नवम्बर १९०६, बालेर जयपुर में एक मारवाड़ी वैश्य व्यवसायी परिवार मे हुआ। पिता वहाँ के ठाकुर के कामदार थे। पुत्र को वकील बनाना चाहा पर बालक की रुचि प्रारम्भ से ही कला की ओर थी। सामंती परम्पराओं में पालन-पोषण तथा उर्दू-फारसी से शिक्षा प्रारम्भ हुई। १९ वर्ष की आयु में जयपुर के आर्ट स्कूल में दाखिल हो गये, और शैलेन्द्रनाथ दे के तत्वावधान मे कार्य करने लगे। डिप्लोमा प्राप्त कर कला की साधना में जुट गये। राजस्थान सरकार द्वारा संचालित महाराजा आर्ट्स क्राफ्ट स्कूल के सम्मानित प्रिंसिपल रहे। साहित्यिक कृतियाँ इस प्रकार हैं :

कहानी संग्रह : मेंहदी लगे हाथ और काज भरी आँखें, अधूरे रास्ते, विजयवर्गीय की कहानियाँ

कविता संग्रह : अलकावली, चिनगारियाँ, शतदल, अभिसार निसा, चित्र गीतिका (नृत्यनाटिका) तथा राजस्थानी चित्रकला, चित्रकला की रूपरेखा, मेघदूत चित्रावली, बिहारी सप्तक आदि।

भारतीय चित्रकारों में प्रमुख, विजयवर्गीय स्कूल के जन्मदाता। प्रारंभिक चित्रों में बंगाल स्कूल, और अजन्ता तथा कुछ पर मालवा शैली का प्रभाव है। परवर्ती चित्र राजस्थानी लोक संस्कृति से मुख्यतः प्रेरित हैं। यहाँ के जन-जीवन के अनगिनत दृश्य चित्रों को इन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से आँका है। चित्रों में लोक जीवन में बिखरे प्रसंगों, घटनाओं और विशेषताओं को उभार कर दर्शाया है।

—ओ० प्र० स०

रामचन्द्र—मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' मेंइस कवि के नाम पर अठ्ठाइसवें अध्याय को 'रामचन्द्र काल' माना है। पर 'शिवसिंह सरोज' में इनकी चर्चा तक नहीं की गई। इनके संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि काशी वासी मनियार सिंह ने 'भाषा महिम्न' में अपने आप को 'चाकर अखंडित' श्री रामचन्द्र पण्डित के लिखा है और चूँकि 'भाषा महिम्न' की रचना सं० १८४१ में हुई थी, इस कारण इनका समय सं० १८४० माना जा सकता है। इनकी एक ही पुस्तक 'चरण चन्द्रिका' प्राप्त है, जिसमें इनके परिष्कृत सौन्दर्य-बोध और व्यापक काव्योचित कल्पना का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है। इसकी भाषा लाक्षणिक होने के साथ ही सहज प्रवाह से मुक्त एवं पाण्डित्य-संवलित है। काव्य विषय की दृष्टि से 'चरण चन्द्रिका' में पार्वती के चरणों का वर्णन है। इसमें मात्र ६२ घनाक्षरी छन्द हैं, जो एक से एक बढ़कर हैं। यह ग्रंथ सं० १९२३ में प्रकाशित भी हो चुका है। खोज में इनके एक ग्रन्थ 'अरिल्यन' का भी पता लगा है। च० त्रै० रि० के अनुसार 'टीका गीत गोविन्द' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी इन्हीं के नाम

पर मिला है।

[सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु विनोद द्वितीय भाग, हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल]

—कि० ला०

रामचंद्र चंद्रिका (रामचंद्रिका)—यह केशवदास की प्रसिद्ध कृति है, जो सामान्यत: 'रामचन्द्रिका' कहलाती है। इसका रचनाकाल सन् १६०१ ई० है। इसका मूल लीथो मे कन्हैयालाल राधेलाल, लखनऊ के द्वारा तथा इसकी जानकी प्रसादकृत टीका वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सन् १९०७ ई० में और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १९१५ ई० में प्रकाशित हुई। लाला भगवानदीन की टीका का पूर्वार्द्ध साहित्य सेवासदन, बनारस से तथा उत्तरार्द्ध साहित्य भूषण कार्यालय, बनारस से १९२३ ई० में निकला। लाला जी की टीका की पुनरावृत्तियाँ सन् १९२९ ई० से रामनारायण लाल बुक्सेलर, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो रही हैं।

यह ग्रन्थ ३९ प्रकाशों में कथासूची सहित १७१७ छन्दों में पूरा हुआ है। यद्यपि इसमें सुप्रसिद्ध रामकथा वर्णित है तथापि यह काव्य का ग्रन्थ है, भक्ति का नहीं। केशव निम्बार्क सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के नाते राधाकृष्ण के उपासक थे, राम के नहीं। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में श्रृंगार रस का आलम्बन राधाकृष्ण को मानकर रचनाएँ की हैं। 'रामचन्द्रचन्द्रिका' में केशव श्रृंगार-रस से वीर-रस की ओर मुड़े हैं। इसमें आये वाल्मीकि के दर्शन-प्रसंग से इतना तो स्पष्ट है कि इसका निर्माण आदि कवि वाल्मीकि के 'रामायण' के आधार पर हुआ है, जो काव्य का ग्रन्थ है। यह और बात है कि उन्होंने राम को 'औतारी, औतारमनि' माना है और भगवत्ता से उनका किसी प्रकार विच्छेद नहीं होने दिया है। भक्तिपक्ष पर भी चले आने का परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर रामचन्द्र द्वारा उपदेश दिलाये हैं। अत: 'रामचरितमानस' की भाँति 'रामचन्द्र चन्द्रिका' में उपदेशात्मक अंश अधिक हो गया है, जिससे काव्यत्व को क्षति पहुँचती है। अधिकाधिक वर्णनों के नियोजन एवं उपदेशात्मक प्रवचन ओर नीतिकथन में केशव इतने उलझ गये हैं कि कथा की अपेक्षित बद्धता नहीं रह गयी है। 'रामचन्द्र चन्द्रिका' को क्षति पहुँचाने वाले और भी कई तत्त्व हैं। छन्दों की झटितिपरिवृत्ति भी एक हेतु है और भाषा तथा वर्णिक छन्दों का अधिक व्यवहार भी क्षतिकारक है। अत: प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से 'रामचन्द्र चन्द्रिका' समर्थ रचना नहीं दिखाई देती। वह मुक्तक उक्तियों का संग्रह ग्रन्थ जान पड़ती है।

'रामचन्द्र चन्द्रिका' के प्रणयन में तुलसीदास की भाँति केशवदास का भी लक्ष्य श्रव्य-दृश्य, दोनों रूपों में उसका उपयोग जान पड़ता है। इन्होंने उन्हीं की भाँति बहुत से रामाख्यानक संस्कृत नाटकों से सहायता ली है। इसमें संस्कृत के 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'कादम्बरी' आदि कई ग्रन्थों की विभिन्न स्थानों पर छाया है। कई अंशों का तो अनुवाद ही रख दिया है। नाटकों का आधार लेने से और कथा भाग छोड़ देने से संवाद के वक्ताओं के नाम इन्हें पद्य से पृथक् रखने पड़े हैं। संवाद-योजना नाटकीय ढंग से की गयी है, इसलिए दृश्य-काव्य के रूप में इसका उपयोग विशेष सरलता से हो सकता है। सम्प्रति जहाँ कहीं रामलीला होती है, इसके संवादों का प्राय: उपयोग होता है। 'रामचरितमानस' की रामलीला इतनी व्यापक हो गयी कि 'रामचन्द्रचन्द्रिका' की रामलीला की स्वतन्त्रता न रह सकी। यह सहायक रूप में ही रह गयी। बहुत से स्थानों पर 'मानस' की रामलीला में जैसे सुलोचना सती का क्षेपक दिखाया जाता है, वैसे ही 'रामचन्द्रचन्द्रिका' का रामाश्वमेध भी। संवादों का उपयुक्त विधान इसका बहुत बड़ा गुण है। राजनीतिक प्रसंग के संवाद तो विशेष उल्लेखनीय हैं। इसमें केशव ने कुछ पात्रों का चरित्र भी विशेष रूप से लक्षित कराया है। लवकुश की कथा में केशव ने अपनी विज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है। इसके युद्ध वर्णन 'मानस' से अधिक प्रभावपूर्ण हैं।

शैली की दृष्टि से देखते हैं तो इसमें विविध प्रकार के छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत करने की ही प्रवृत्ति है। जान पड़ता है कि ये किसी को पिंगल की पद्धति सिखा रहे हैं। एक वर्ण के छन्द से क्रमश: कई वर्णों के छन्दों तक वर्णन चला चलता है। आगे चलकर भी वर्णवृत्तों का कम विस्तार नहीं है। केशव ने इतने अधिक और ऐसे वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है, जो पिंगल-प्रस्तार से ही जाने जा सकते हैं।

'रामचन्द्र चन्द्रिका' की भाषा संस्कृतरंजित ब्रजी है। इसकी भाषा में संस्कृत की अधिक लपेट होने का कारण है संस्कृत वर्णवृत्तों का ग्रहण। संस्कृत शब्दो के अत्यधिक प्रयोग तथा अलंकार के चमत्कार के चक्कर में पड़ जाने से रचना बोझिल और क्लिष्ट हो गयी है। उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों की वैसी ही भरमार इसमें है, जैसी इसके आधार ग्रन्थ 'कादम्बरी' में। अन्तर केवल इतना ही है कि बाण ने वर्ण्य-विषयों के साथ तादात्म्य की प्रतीति खोई नहीं, पर केशव चमत्कार के फेर में उनकी ओर अपेक्षित दृष्टि न रख सके। केशव की पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति तथा शास्त्र-सम्पादन की इच्छा 'रामचन्द्रचन्दिका' में स्थान-स्थान पर लक्षित होती है। निस्सन्देह यह केशव के महान् पाण्डित्य एवं आचार्यत्व को पूर्ण-रूप से अभिव्यक्त करती है। प्राचीन हिन्दी साहित्य का मर्मज्ञ होने के लिए 'रामचन्द्रचन्द्रिका' का अध्ययन निर्विवाद रूप से अनिवार्य है। हिन्दी-साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके कटु आलोचक भी इसके पठन-पाठन पर बल देते आये हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ० (भा० ६); केशव की काव्य कला : कृष्ण शंकर शुक्ल; केशवदास : चन्द्रबली पाण्डेय; आचार्य केशवदास : हीरालाल दीक्षित।]

—वि० प्र० मि०

रामचंद्रिका—दे० 'रामचन्द्रचन्द्रिका'।

रामचंद्र भूषण—लछिराम द्वारा रचा हुआ अलंकार ग्रन्थ। इसका रचनाकाल सन् १८९० ई० है और इसका प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, बनारस से सन् १८९० ई० मे हुआ। इस ग्रन्थ की रचना अलकार विषय को समझाने के लिए राम-भक्ति के उदाहरणों द्वारा की गयी है—"श्री सीतावट चरितमय, अलंकार शुभ रीति'— (८)। इसमें लक्षण दोहों में और उदाहरण छप्पय, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया आदि छन्दों में हैं। कवि ने गुण-कीर्तन के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है और उदाहरण जुटाने में कवि का मन विशेष रूप से लगा है। प्रत्येक

अलंकार के एक से अधिक उदाहरण भी हैं, काव्य-लिंग के अनन्तर नियमपूर्वक उदाहरण के रूप में एक छप्पय और जोड़ा गया है।

इस ग्रन्थ में स्वयं कवि का लिखा हुआ सरल गद्य में अलंकार के अन्त में तिलक मिलता है। अनेक अलंकारों के बाद तिलक दिया गया है, जिसमें विवेचन की विशेष प्रवृत्ति नहीं है पर लक्षण-उदाहरण की संगति पर विचार किया गया है। लछिराम इस ग्रन्थ में शब्द (पद) तथा अर्थ द्वारा काव्य की शोभा बढ़ाने वाला अलंकार को मानते हैं और भूषण के समान इसे वाह्य स्वीकार करते हैं। इसमें एक शब्दालंकार और ९८ अर्थालंकारों का विवेचन है। इसमें गुणों के आधार पर श्लेष के तीन भेद—माधुर्य-गुण-संक्रमित श्लेष, ओजगुण-संक्रमित श्लेष तथा प्रसाद-गुण-संक्रमित श्लेष माने गये हैं। यह सामान्य कोटि का ग्रन्थ है। आचार्यत्व के साथ कवित्व भी बहुत कम है। इसकी भाषा अवश्य सरल है और लक्षण समझना आसान हो गया है। तिलक से इसकी स्पष्टता और बढ़ गयी है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ० ; हि० सा० इ० ; मि० वि०।]

—सं०

रामचंद्र वर्मा—जन्म ८ जनवरी, १८९० ई० काशी में। सन् १९०५ ई० में 'भारत जीवन' में लिखने लगे। सन् १९०७ ई० से 'हिन्दी केसरी' के सम्पादक हुए। यह पत्र नागपुर से निकलता था। बाद में 'बिहार बन्धु', बाँकीपुर और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के भी सम्पादक रहे। सन् १९१० ई० में अपनी विद्वत्ता के कारण 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादकीय विभाग में ले लिये गये और थोड़े ही दिनों बाद उसके सहायक सम्पादक हो गये। सहायक सम्पादक के रूप में सन् १९२९ ई० तक इन्होंने कार्य किया, फिर संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर' का सम्पादन किया।

इनके द्वारा अनूदित निबन्ध एवं पुस्तकें अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुई हैं। बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू तथा फारसी भाषाओं पर अच्छा अधिकार होने के कारण आपके इन सभी भाषाओं के अनुवाद सराहनीय हैं। आपने 'हिन्दू पॉलिटी' नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दूराज्यतन्त्र' नाम से किया था, जिसे देखकर काशीप्रसाद जायसवाल जैसे उत्कट विद्वान ने कहा था कि शायद इतना अच्छा अनुवाद मैं भी न कर पाता। अनुवाद की दृष्टि से आपके कार्य का महत्त्व है। इनका किया हुआ 'ज्ञानेश्वरी' का अनुवाद श्रेष्ठ अनुवादों में परिगणित होने के कारण भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ था पर विशेष रूप से आपका भाषा सम्बन्धी कार्य महत्त्वपूर्ण है। भाषा-सम्बन्धी पुस्तकें हैं— 'शिक्षा और देशी भाषाएँ, 'उर्दू हिन्दी कोश' (१९३६), 'अच्छी हिन्दी', 'हिन्दी प्रयोग', 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' (१९५०), 'हिन्दी कोश रचना' (१९५५)। कोश-कार्य एवं हिन्दी के व्याकरणिक एवं शुद्ध रूप पर आपके विचार आधिकारिक रूप से द्रष्टव्य हैं।

अनुवादों, संकलनों, जीवनियों, कोशों और स्वतन्त्र रचनाओं से हिन्दी के भण्डार की श्रीवृद्धि करने में वर्मा जी का नाम अग्रगण्यों में है। भाषा की शुद्धता और सुन्दरता पर आपने सदैव ध्यान दिया है। आपकी हिन्दी सेवाओं को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने आपको 'पद्म श्री' की उपाधि से विभूषित किया है। इधर सात वर्षों से आप हिन्दी के लिए सर्वश्रेष्ठ कोश सम्पादित करने के कार्य में लगे थे, जो अब पूरा हो गया है। वह 'मानक हिन्दी कोश' के नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है।

—ह० दे० बा०

रामचंद्र शुक्ल—जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में सन् १८८४ ई० में हुआ था। सन् १८८८ ई० में वे अपने पिता के साथ राठ जिला हमीरपुर गये तथा वहीं पर विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १८९२ ई० में उनके पिता की नियुक्ति मीरजापुर में सदर कानूनगो के रूप में हो गयी और वे पिता के साथ मीरजापुर आ गये। अध्ययन के क्षेत्र में पिता ने इन पर उर्दू और अंग्रेजी पढ़ने के लिए जोर दिया तथा पिता की आँख बचाकर वे हिन्दी भी पढ़ते रहे। सन् १९०१ ई० में उन्होंने मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा प्रयाग के कायस्थ पाठशाला इण्टर कालेज में एफ० ए० पढ़ने के लिए आये। गणित में कमजोर होने के कारण शीघ्र ही उसे छोड़ कर 'प्लीडरशिप' की परीक्षा पास करनी चाही, उसमें भी वे असफल रहे। परन्तु इन परीक्षाओं की सफलता या असफलता से अलग वे बराबर साहित्य, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन में लगे रहे। मीरजापुर के पं० केदारनाथ पाठक, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के सम्पर्क में आकर उनके अध्ययन-अध्यवसाय को और बल मिला। यहीं पर उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेजी के साहित्य का वह गहन अनुशीलन प्रारम्भ कर दिया था, जिसका उपयोग वे आगे चल कर अपने लेखन में जमकर कर सके।

मीरजापुर के तत्कालीन कलक्टर ने उन्हें एक कार्यालय में नौकरी भी दी थी, पर हेड क्लर्क से उनके स्वाभिमानी स्वभाव की पटी नहीं। उसे उन्होंने छोड़ दिया। फिर कुछ दिनों मीरजापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। सन् १९०९–१० ई० के लगभग वे 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में वैतनिक सहायक के रूप में काशी आ गये—यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न कार्यों को करते हुए उनकी प्रतिभा चमकी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी उन्होंने कुछ दिन किया था। कोश का कार्य समाप्त हो जाने के बाद शुक्ल जी की नियुक्ति हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में हिन्दी के अध्यापक के रूप में हो गयी। वहाँ से एक महीने के लिए वे अलवर राज्य में भी नौकरी के लिए गये, पर रुचि का काम न होने से पुनः विश्वविद्यालय लौट आये। सन् १९३७ ई० में वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए एवं इस पद पर रहते हुए ही सन् १९४१ ई० में उनकी श्वास के दौरे में हृदय गति बन्द हो जाने से मृत्यु हो गयी।

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व विविध पक्षोंवाला है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में लेख लिखे हैं और फिर गम्भीर निबन्धों का प्रणयन किया है जो 'चिन्तामणि' (दो भाग) में संकलित हैं। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली में फुटकर कविताएँ लिखीं तथा एडविन आर्नल्ड के 'लाइट आफ एशिया' का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया, 'बुद्ध चरित' के नाम से। मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा एवं व्यवहार

सम्बन्धी लेखों एवं पत्रिकाओं के भी अनुवाद किये हैं तथा जोसेफ एडिसन के 'प्लेजर्स ऑफ इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से एवं राखाल दास वन्द्योपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास का भी हिन्दी में रोचक अनुवाद किया। उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखा, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् संकलित होकर 'रस मीमांसा' नाम की पुस्तक में विद्यमान है तथा तुलसी, जायसी की ग्रन्थावलियों एवं 'भ्रमर गीतसार' की भूमिका मे लम्बी व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, जिनमें से दो 'गोस्वामी तुलसी दास' तथा 'महाकवि सूरदास' अलग से पुस्तक रूप में भी उपलब्ध हैं। शुक्लजी ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें काव्य-प्रवृत्तियों एवं कवियों का परिचय भी है और उनकी समीक्षा भी। दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी 'विश्व प्रपंच' पुस्तक उपलब्ध है। पुस्तक यों तो 'रिडल ऑफ दि यूनीवर्स' का अनुवाद है पर उसकी लम्बी भूमिका शुक्ल जी द्वारा किया गया मौलिक प्रयास है। इस प्रकार शुक्ल जी ने साहित्य में विचारों के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस सम्पूर्ण लेखन में भी उनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं कालजयी रूप समीक्षक, निबन्ध-लेखक एवं साहित्यिक इतिहासकार के रूप में प्रकट हुआ है।

नलिनविलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक सम्भवतः उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। यह बात विचार करने पर सत्य प्रतीत होती है, बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय हैं। अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद उनका पैनापन, उनकी गम्भीरता एवं उनके बहुत से निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ किसी भी भाषा के समीक्षा-साहित्य के लिए गर्व का विषय बन सकती हैं।

अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, "इस तृतीय उत्थान (सन् १९१८ ई० से) में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया" (पृ० ५१६, ग्यारहवाँ संस्करण)। कहना न होगा कि कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तः प्रवृत्ति की छानबीन की ओर ध्यान, सबसे पहले शुक्ल जी ने दिया है। इस प्रकार हिन्दी-समीक्षा को अपेक्षित धरातल देने में सबसे बड़ा हाथ उनका ही रहा है। समीक्षक के रूप में शुक्ल जी पर विचार करते ही एक तथ्य सामने आ जाता है कि उन्होंने अपनी पद्धति को युगानुकूल नवीन बनाया था। रस और अलंकार आदि का प्रयोग अपने समीक्षात्मक प्रयासों में शुक्ल जी से पहले के लोगों ने भी किया था पर उन्होंने इस सिद्धान्तों की, मनोविज्ञान के आलोक में एवं पाश्चात्त्य शैली पर, कुछ ऐसी अभिनव व्याख्या दी कि ये सिद्धान्त समीक्षा से बहिष्कृत न होकर पूरी तरह स्वीकार कर लिये गये। इस प्रकार जहाँ उन्होंने एक ओर अपनी आलोचनाओं का ढाँचा भारतीय रहने दिया है, वहीं पर उसका बाह्य रूप एवं रचना-विधान पश्चिम से लियाहै। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह निर्णय करना कठिन है कि उनकी समीक्षा में देशी और विदेशी तत्त्वों का मिश्रण किस अनुपात में हुआ है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस पद्धति का प्रयोग उन्होंने तुलसी, सूर या जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों की समीक्षाओं में ही नहीं, अपने इतिहास मे छोटे कवियो पर भी, उतनी ही सफलता से किया है।

रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षक-व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता या महानता है कि उन्होंने मानदण्ड-निर्धारण और उनका प्रयोग दोनों कार्य एक साथ किये हैं तथा इस दोहरे कार्य में कथनी और करनी का अन्तराल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, बल्कि यों कहें कि अपने मनोविकारों वाले निबन्धों में जीवन, साहित्य और भावों के मध्य जो सम्बन्ध देखा था, उसी के आधार पर उन्होंने अपनी समीक्षा के मानदण्ड निर्धारित किये एवं इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग उन्होंने फिर किया। सिद्धान्त एवं व्यवहार के मध्य ऐसी संगति श्रेष्ठतम आलोचकों में ही प्राप्त होती है।

उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता समसामयिक काव्य-चिन्तनसम्बन्धी जागरूकता है। उन्होंने जिन साहित्यमीमांसकों एवं रचनाकारों को उद्धृत किया है, उनमें से अधिकांश को आज भी हिन्दी के तमाम आचार्य और स्वनामधन्य आलोचक नहीं पढ़ते। सम्भवतः रामचन्द्र शुक्ल उन प्रारम्भिक व्यक्तियों में होंगे, जिन्होंने इलियट और कमिंग्ज जैसे रचनाकारों का भारत वर्ष में पहली बार उल्लेख किया है। १९३५ ई० में इन्दौर के हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (चिन्तामणि, द्वितीय भाग पृ० २४८) में इस जागरुकता के सबसे अधिक दर्शन होते हैं। उन्होंने जे०एस० फ्लिण्ट की चर्चा की है तथा हेराल्ड मुनरो की तारीफ की है तथा कैलिफोर्निया यूनीवर्सिटी के अध्यापकों द्वारा लिखित सद्यःप्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह की उद्धरणी दी है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पहली बार हिन्दी मे शुक्ल जी ने सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आधार पर किसी कवि की विवेचना करके आलोचना को एक 'व्यक्तिता' प्रदान की, उसे जड़ से गतिशील किया। एक ओर उन्होंने सामाजिक सन्दर्भ को महत्त्व प्रदान किया एवं दूसरी ओर रचनाकार की व्यक्तिगत मनःस्थिति का हवाला दिया।

शुक्ल जी के व्यक्तित्व का एक गुण यह भी है कि वे श्रुति नहीं, मुनि-मार्ग के अनुयायी थे। किसी भी मत, विचार या सिद्धान्त को उन्होंने बिना अपने विवेक की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं किया। यदि उनकी बुद्धि को वह ठीक नहीं जँचा, तो उसके प्रत्याख्यान में तनिक भी मोह नहीं दिखाया। इसी विश्वास के कारण वे क्रोचे, रवीन्द्र, कुन्तक, ब्लेक या स्पिन्गार्न की तीखी समीक्षा कर सके थे।

आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने सदैव लोक-संग्रह की भूमिका पर काव्य को परखना चाहा है तथा लोकसंग्रह सम्बन्धी धारणा में उनकी मध्यवर्गीय तथा कुछ मध्ययुगीन नैतिकता एवं स्थूल आदर्शवाद का भी मिश्रण था। इस कारण उनकी आलोचना यत्र-तत्र स्खलित भी हुई है।

शुक्ल जी ने अपने समीक्षादर्श में 'एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना' काव्य का लक्ष्य माना है तथा इस प्रेषणा के द्वारा मनुष्य की 'सजीवता' के प्रमाण मनोविकारों को परिष्कृत करके उनके उपयुक्त आलम्बन लाने में उसकी सार्थकता और सिद्धि देखी है। कवि की अनुभूति को सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त

समझने के कारण उन्होंने कविकर्म के लिए यह महत्त्वपूर्ण माना कि "वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे"। इस कसौटी की ही अगली परिणति है कि ऐसी भावदशाओं के लिए अधिक अवकाश होने के कारण उन्होंने महाकाव्य को खण्ड-काव्य या मुक्तक-काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया। कुछ इसी कारण 'रोमाण्टिक', 'रहस्यात्मक' या 'लिरिकल' संवेदना वाले काव्य को वे उतनी सहानुभूति नहीं दे सके हैं।

शुक्ल जी असाधारण वस्तु-योजना अथवा ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती भी इसीलिए नहीं थे कि उनसे प्रेषणीयता में बाधा पहुँचती है। इस सिद्धान्त के स्वीकरण के फलस्वरूप साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ नयी व्याख्या देते हुए उन्होंने 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' माना। यह उनके स्वतन्त्र काव्य-चिन्तन तथा अपने अध्ययन (विशेष रूप से तुलसी के अध्ययन) के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का परिचायक भी है। अपनी क्लासिकल रस-दृष्टि के कारण ही उन्होंने काव्य में कल्पना को अधिक महत्त्व नहीं दिया। अनुभूति-प्रसूत भावुकता उन्हें स्वीकार्य थी, कल्पना-प्रसूत नहीं। इस धारणा के कारण ही वे छायावाद जैसे काव्यान्दोलनों को उचित मूल्य नहीं दे सके। इसी कारण शुद्ध चमत्कार एवं अलंकार वैचित्र्य को भी उन्होंने निम्न कोटि प्रदान की। अलंकार को उन्होंने वर्णन-प्रणाली मात्र माना। उनके अनुसार अलंकार का काम "वस्तु-निर्देश" नहीं है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलंकार से भिन्न शैलीतत्त्व के अन्तर्गत माना है। काव्य-शैली के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना 'बिम्ब ग्रहण' को श्रेष्ठ मानने सम्बन्धी है, वैसे ही जैसे कि काव्य-वस्तु के क्षेत्र में प्रकृति-चित्रणसम्बन्धी विशेष आग्रह उनकी अपनी देन है।

शुक्ल जी ने काव्य को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हुए "भावयोग" कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है। काव्य को "मनोरंजन" के हल्के-फुल्के उद्देश्य से हटा कर इस गम्भीर दायित्व को सौंपने में उनकी मौलिक एवं आचार्य-दृष्टि द्रष्टव्य है। वे "कविता को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध" स्थापित करने वाला साधन मानते हैं, वस्तुतः काव्य को व्यक्ति के शील-विकास का महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम साधन उन्होंने माना।

नवीन साहित्य रूपों एवं चरित्रविधान की नयी परिपाटिओं के कारण उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त में केवल साधारणीकरण का ही नये सिरे से विवेचन नहीं किया, साथ ही "रसात्मक बोध के विविध रूपों" की चर्चा करते हुए अपेक्षाकृत हीनतर रस-दशाओं या 'शील-वैचित्र्य' बोध का भी विचार किया है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी उन्होंने "सिद्धावस्था" और "साधनावस्था" की दृष्टि से विभाजन किया है। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने अपने इतिहास में निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यरूपों के स्वरूप पर भी संक्षिप्त, पर महत्त्वपूर्ण सर्वांगीण विचार प्रकट किये हैं।

शुक्ल जी की समीक्षा का मूलस्वर यद्यपि व्याख्यात्मक है, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने आकलनसम्बन्धी निर्णय लेने में साहस की कमी नहीं दिखायी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनके 'इतिहास' का आधुनिककाल से सम्बन्धित अंश है। यह अवश्य है कि इन निर्णयों या व्याख्याओं में उनके वैयक्तिक एवं वर्गगत आग्रह तथा उस युग तक की इतिहास-दृष्टि की सीमाएँ थीं। वस्तुतः शुक्ल जी समीक्षा के प्रथम उठान के चरम विकास थे और आगे जिन लोगों ने उनका अनुगमन किया, वे प्रभावशाली नहीं बन सके। जिन्होंने उस परम्परा को छोड़ा, वही महत्त्वपूर्ण हुए। शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि की सम्भावनाएँ बहुत विकासशील नहीं थीं।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रथम साहित्यिक इतिहासलेखक हैं, जिन्होंने मात्र कवि-वृत्त-संग्रह से आगे बढ़कर, "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगठित काल-विभाग" की ओर ध्यान दिया ('हिन्दी साहित्य का इतिहास" : रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० १)। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को "शिक्षित जनता" के साथ सम्बद्ध किया और उनका इतिहास केवल कवि-जीवनी या "ढीले सूत्र में गूँथी आलोचनाओ" से आगे बढ़कर सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से संकलित हो उठा। उनके 'कवि' मात्र व्यक्ति न रहकर, परिस्थितियों के साथ आबद्ध होकर जाति के कार्य-कलाप को भी सूचित करने लगे। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर कालविभाजन और उन युगों का नामकरण किया। इस प्रवृत्ति-साम्य एवं युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने "सामूहिक प्रभाव" की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। वस्तुतः उनका समीक्षक रूप यहाँ पर भी उभर आया है। और उनकी रसिक दृष्टि कवियों के काव्य सामर्थ्य के उद्घाटन में अधिक प्रवृत्त हुई है, तथ्यों की खोजबीन की ओर कम। यों साहित्यिक प्रवाह के उत्थान-पतन का निर्धारण उन्होंने अपनी लोक-संग्रहवाली कसौटी पर करना चाहा है, पर उनकी इतिहास-दृष्टि निर्मल नहीं थी। यह उस समय तक की प्रबुद्ध वर्ग की इतिहास सम्बन्धी चेतना की सीमा भी थी। शीघ्र ही युग और कवियों के कार्य-कारण सम्बन्ध की असंगतियाँ सामने आने लगीं, जैसे कि भक्तिकाल के उद्भवसम्बन्धी उनकी धारणा बहुत शीघ्र अयथार्थ सिद्ध हुई। वस्तुतः साहित्य को शिक्षित जन नहीं, सामान्य जन-चेतना के साथ सम्बद्ध करने की आवश्यकता थी। उनका औसतवाद का सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक है। इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही उन्हें कवियों का एक फुटकल खाता भी खोलना पड़ा था। यदि वे युगों के विविध अन्तर्विरोधों को प्रभावित कर सके होते तो ऐसी असंगतियाँ न आतीं।

रामचन्द्र शुक्ल का तीसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व निबन्धकार का है। उनके निबन्धों के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया गया है कि वे विषयप्रधान निबन्धकार हैं या व्यक्तिप्रधान। वस्तुतः उनके निबन्ध आत्मव्यंजक या भावात्मक तो किसी प्रकार भी नहीं कहे जा सकते—हाँ, इतना अवश्य है कि बीच-बीच में आत्मपरक अंश आ गये हैं। पर ऐसे अंश इतने कम हैं कि उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। उनके निबन्ध अत्यन्त गहरे रूप में बौद्धिक एवं विषयनिष्ठ हैं। उन्हें हम ललित निबन्ध की कोटि में नहीं रख सकते। पर इन निबन्धों में जो गम्भीरता, विवेचन में जो पाण्डित्य एवं

तार्किकता तथा शैली में जो कसाव मिलता है, वह इन्हें अभूतपूर्व दीप्ति दे देता है। वास्तव में निबन्धों के क्षेत्र में शुक्लजी की परम्परा हिन्दी में बराबर चलती जा रही है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनके निबन्धों के आलोकपुंज के समक्ष कुछ दिनों के लिए ललित भावात्मक निबन्धों का प्रणयन एकदम विरल हो गया। उनके महत्त्वपूर्ण निबन्धो को मनोविकार सम्बन्धी, सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी एवं व्यावहारिक समीक्षासम्बन्धी तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है–यद्यपि इनमें आन्तरिक सम्बन्ध सूत्र बना रहता है। इनमें भी प्रथम प्रकार के निबन्ध शुक्ल जी के महत्तम लेखन के अन्तर्गत परिगणनीय हैं।

रामचन्द्र शुक्लने 'जायसी ग्रन्थावली' तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका में क्रमशः अवधी तथा ब्रजभाषा का भाषा-शास्त्रीय विवेचन करते हुए उनका स्वरूप भी स्पष्ट किया है। अनुवादक रूप में उन्होंने 'शशांक' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास तथा 'बुद्धचरित' जैसे काव्य का अनुवाद किया है। अनुवाद के रूप में उनकी शक्ति या निर्बलता यह थी कि उन्होंने अपनी प्रतिभा या अध्ययन के बलपर उनमें अपेक्षित परिवर्तन कर लिये हैं। 'शंशांक' मूल बंगला में दुःखान्त है, पर उन्होंने उसे सुखान्त बना दिया है। अनुवादक की इस प्रवृत्ति को आदर्श भले ही न माना जाय पर उसके व्यक्तित्व की शक्ति एवं जीवन का प्रतीक अवश्य माना जा सकता है।

साहित्यिक इतिहास लेखक के रूप में उनका स्थान हिन्दी में अत्यन्त गौरवपूर्ण है, निबन्धकार के रूप में वे किसी भी भाषा के लिए गर्व के विषय हो सकते हैं तथा समीक्षक के रूप में तो वे हिन्दी में अप्रतिम हैं अभी तक।

[सहायक ग्रन्थ–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : शिवनाथ; आलोचक रामचन्द्र शुक्ल : सं० गुलाबराय एवं विजयेन्द्र स्नातक।]

–दे० शं० अ०

रामचरणदास–इनका जन्म १७६० ई० के लगभग प्रतापगढ़ जिले में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में हुआ था। कुछ दिनों तक उसी प्रदेश में किसी राजा के यहाँ नौकरी करने के पश्चात् ये विरक्त होकर अयोध्या चले आये और महात्मा रामप्रसाद विन्दुकाचार्य के साधक शिष्य हो गये। अयोध्या से गुरु के साथ इन्होंने चित्रकूट और मिथिला की यात्राएँ कीं। श्रृंगारी साधना के रहस्यों का ज्ञानप्राप्त करने के उद्देश्य से ये रैवासा (जयपुर) गये। वहाँ 'अग्रसागर' पढ़ने के लिए इन्हें अपना तिलक परिवर्तित करना पड़ा। पर्यटन समाप्त करके ये स्थायी रूप से अयोध्या में जानकी घाट पर रहने लगे। इनकी सिद्धियों और सन्त-सेवा से प्रभावित होकर तत्कालीन अवध के नवाब ने जानकी घाट समस्त भूमि तथा कई गाँव भेंट रूप में अर्पित किये। श्रृंगारी रामोपासना के व्यापक प्रचार का श्रेय इन्हीं महाराज को है। इस कार्य में इन्हें अपने योग्य शिष्यों–युगलप्रिया तथा रसिकअली से विशेष सहायता मिली। इनकी दिव्यधाम यात्रा अयोध्या में ही माघशुक्ल ९, १८३५ ई० को हुई।

रामचरणदास द्वारा विरचित ग्रन्थों की संख्या २५ है। इनके नाम ये हैं–'अमृतखण्ड', 'शतपंचाशिका', 'रसमालिका', 'रामपदावली', 'सियाराम रस मंजरी', 'सेवाविधि', 'छप्पेरामायण', 'जयमाल संग्रह', 'चरणचिह्न', 'कवितावली', 'दृष्टांतबोधिका', 'तीर्थयात्रा', 'विरहशतक', 'वैराग्यशतक', 'नामशतक', 'उपासनीशतक', 'विवेकशतक', 'पिंगल', 'काव्य श्रृंगार', 'झूलन', 'कौशलेन्द्र रहस्य', 'राम नवरत्नसागर संग्रह', 'रामचरितमानस की टीका', 'अष्टयाम सेवाविधि' और 'रामानन्द लहरी'। साम्प्रदायिक आचार्य होने से इनकी कृतियों में सैद्धान्तिक विवेचन और साधना-पद्धतियों की व्याख्यासम्बन्धी प्रसंगों की ही चर्चा अधिक है। इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य 'रामचरितमानस' की प्रथम टीका का प्रणयन है। इनके द्वारा 'मानस' के सिद्धान्तों का भक्तों में व्यापक प्रचार हुआ।

[सहायक ग्रन्थ–रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवतीप्रसाद सिंह।]

–भ० प्र० सिं०

रामचरित उपाध्याय–रामचरित उपाध्याय का नाम द्विवेदी-युग के साहित्य-सेवियों में आता है। इनका जन्म सन् १८७२ ई० में जिला गाजीपुर में हुआ था। इनकी आरम्भिक शिक्षा संस्कृत में हुई। बाद में इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली पर भी समान अधिकार प्राप्त कर लिया। मातृभाषा की सेवा के क्षेत्र में वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव और प्रोत्साहन लेकर आये तथा द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' के मंच पर खड़ीबोली के कवि के रूप में अवतरित हुए। इनकी 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह', 'राष्ट्रभारती', 'भारत भक्ति', 'भव्य भारत' आदि छोटी-बड़ी फुटकर कविताएँ या तो 'सरस्वती' या कतिपय अन्य तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। ये सभी रचनाएँ खड़ीबोली में लिखी गयी हैं और इनके माध्यम से या तो किसी सामाजिक कुरीति का ज्ञापन किया गया है या राष्ट्रीय विचारधारा का पोषण। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने 'रामचरित चिन्तामणि' नामक एक प्रबन्ध-काव्य की भी सृष्टि की थी। इसमें परम्पराप्रथित राम-कथा को एक नूतन परिवेश देने की चेष्टा की गयी है। कथानक को राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'प्रियप्रवास' के नायक श्रीकृष्ण की भाँति राम को यथासम्भव मानव रूप में चित्रित किया गया है। रामचरित उपाध्याय अपने समय के अकेले सूक्तिकार माने जाते हैं। इन्होंने सूक्तियाँ और नीति के पद्य बहुत अधिक मात्रा में लिखे थे। उनके इस प्रकार की रचनाओं में कवित्व की मात्रा कम तथा तुकबन्दी प्रयास अधिक है। इन्होंने ब्रजभाषा में दो सौ दोहों की रचना की है जो 'ब्रज सतसई' के नाम से इंडियन प्रेस से सन् १९३७ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। इन्होंने 'देवी द्रौपदी' (१९२२ ई०) नामक एक उपन्यास भी लिखा था। यह कृति 'महाभारत' के एक कथांश पर आधारित तथा महिलोपयोगी है। रामचरित उपाध्याय के उपर्युक्त कृतित्व का समग्र मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि इन्होंने मातृभाषा की सेवा का जो व्रत लिया था, उसमें इन्हें सफलता मिली। हिन्दी खड़ीबोली के विकास तथा राष्ट्रीयता के जागरण में इनके योगदान को अनुल्लेखनीय नहीं मानना चाहिए। उपाध्यायजी की मृत्यु १९३८ ई० में हुई।

–र० भ०

रामचरितमानस–'रामचरितमानस' तुलसीदास की सबसे

प्रमुख कृति है। इसकी रचना सं० १६३१ ई० की रामनवमी को अयोध्या में प्रारम्भ हुई थी किन्तु इसका कुछ अंश काशी (वर्तमान वाराणसी) में भी निर्मित हुआ था, यह ध्वनि इसके किष्किन्धा काण्ड के प्रारम्भ में आने वाले एक सोरठे से निकलती है, उसमें काशीसेवन का उल्लेख किया गया है। इसकी समाप्ति-तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। तुलसीदास के एक चरितलेखक बेनीमाधवदास के अनुसार इसकी समाप्ति सं० १६३३ ई० की मार्गशीर्ष शुक्ला ५, रविवार को हुई थी किन्तु उक्त तिथि गणना से शुद्ध नहीं ठहरती, इसलिए विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। यह रचना अवधी बोली में लिखी गयी है। इसके मुख्य छन्द चौपाई और दोहा हैं, यद्यपि बीच-बीच में कुछ अन्य प्रकार के भी छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रायः ८ या अधिक अर्द्धालियों के बाद दोहा होता है और इन दोहों के साथ कड़वक संख्या दी गयी है। इस प्रकार के समस्त कड़वकों की संख्या १०७४ है। सम्पूर्ण रचना सात काण्डों में विभक्त है, जिस प्रकार 'वाल्मीकि-रामायण' अथवा 'अध्यात्म रामायण' है।

'रामचरितमानस' एक चरित-काव्य है, जिसमे राम का सम्पूर्ण जीवन वर्णित हुआ है। इसमें 'चरित' और 'काव्य' दोनों के गुण समान रूप से मिलते हैं। इस काव्य के चरितनायक कवि के आराध्य भी हैं, इसलिए वह 'चरित' और 'काव्य' होने के साथ-साथ कवि की भक्ति का प्रतीक भी है। रचना के इन तीनों रूपों में नीचे उसका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

'रामचरितमानस' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—दक्षों से लंका को जीतकर राक्षसराज रावण वहाँ राज्य करने लगा। उसके अनाचारों-अत्याचारों से पृथ्वी त्रस्त हो गयी और वह देवताओं की शरण में गयी। इन सब ने मिलकर हरि की स्तुति की, जिसके उत्तर में आकाशवाणी हुई कि हरि दशरथ-कौसल्या के पुत्र के रूप में अयोध्या में अवतार ग्रहण करेंगे और राक्षसों का नाशकर भूमि-भार हरण करेंगे। इस आश्वासन के अनुसार चैत्र के शुक्ल पक्ष की नवमी को हरिने कौसल्या के पुत्र के रूप में अवतार धारण किया। दशरथ की दो रानियाँ और थीं—कैकेयी और सुमित्रा। उनसे दशरथ के तीन और पुत्रों—भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने जन्म ग्रहण किया।

इस समय राक्षसों का अत्याचार उत्तर भारत में भी कुछ क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण मुनि विश्वामित्र यज्ञ नहीं कर पा रहे थे। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि दशरथ के पुत्र के रूप में हरि अवतरित हुए हैं, वे अयोध्या आये और जब राम बालक ही थे, उन्होंने राक्षसों के दमन के लिए दशरथ से राम की याचना की। राम तथा लक्ष्मण की सहायता से उन्होने अपना यज्ञ पूरा किया। इन उपद्रवकारी राक्षसों में से एक सुबाहु था, जो मारा गया और दूसरा मारीच था, जो राम के बाणों से आहत होकर सौ योजन के दूर पर समुद्र पार चला गया।

जिस समय राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम में रह रहे थे, मिथिला में धनुर्यज्ञ की अयोजना की गयी थी, जिसके लिए मुनि को निमन्त्रण प्राप्त हुआ था। अतः मुनि राम-लक्ष्मण को लिवाकर मिथिला गये। यहाँ पर शिव के एक विशाल धनुष को तोड़ने के लिए मिथिला के राजा जनक ने देश-विदेश के समस्त राजाओं को अपनी पुत्री सीता के स्वयंवर हेतु आमन्त्रित किया था। रावण और बाणासुर जैसे बलशाली राक्षस नरेश भी इस आमन्त्रण पर वहाँ गये थे किन्तु अपने को इस कार्य के लिए असमर्थ मानकर लौट चुके थे। दूसरे राजाओं ने सम्मिलित होकर भी इसे तोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु वे अकृतकार्य रहे। राम ने इसे सहज में ही तोड़ दिया और सीता का वरण किया। विवाह के अवसर पर अयोध्या निमन्त्रण भेजा गया। दशरथ अपने शेष पुत्रों के साथ बारात लेकर मिथिला आये और विवाह के अनन्तर अपने चारों पुत्रों को लेकर अयोध्या लौटे।

दशरथ की अवस्था धीरे-धीरे ढलने लगी थी, इसलिए उन्होंने राम को अपना युवराज पद देना चाहा। संयोग से इस समय कैकेयी-पुत्र भरत सुमित्रा-पुत्र शत्रुघ्न के साथ ननिहाल गये हुए थे। कैकेयी की एक दासी मन्थरा को जब यह समाचार ज्ञात हुआ, उसने कैकेयी को सुनाया। पहले तो कैकेयी ने यह कहकर उसका अनुमोदन किया कि पिता के अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है, यह उसके राजकुल की परम्परा है किन्तु मन्थरा के यह सुझाने पर कि भरत की अनुपस्थिति में जो यह आयोजन किया जा रहा है, उसमें कोई दुरभिसन्धि है, कैकेयी ने उस आयोजन को विफल बनाने का निश्चय किया और कोपभवन में चली गयी। तदनन्तर उसने दशरथ से, उनके मनाने पर, दो वर देने के लिए वचन लेकर एक से राम के लिए १४ वर्षों का बनवास और दूसरे से भरत के लिए युवराज पद माँग लिये। इनमें से प्रथम वचन के अनुसार राम ने वन के लिए प्रस्थान किया तो उनके साथ सीता और लक्ष्मण भी हो लगे।

कुछ ही दिनों बाद जब दशरथ ने राम के विरह में शरीर त्याग दिया, भरत ननिहाल से बुलाये गये और उन्हें अयोध्या का सिंहासन दिया गया, किन्तु भरत ने उसे स्वीकार नहीं किया और वे राम को वापस लाने के लिए चित्रकूट जा पहुँचे, जहाँ उस समय राम निवास कर रहे थे किन्तु राम ने लौटना स्वीकार न किया। भरत के अनुरोध पर उन्होंने अपनी चरण-पादुकाएँ उन्हें दे दीं, जिन्हें अयोध्या लाकर भरत ने सिंहासन पर रखा और वे राज्य का कार्य देखने लगे।

चित्रकूट से चलकर राम दक्षिण के जंगलों की ओर बढ़े। जब वे पंचवटी में निवास कर रहे थे रावण की एक भगिनी शूर्पणखा एक मनोहर रूप धारण कर वहाँ आयी और राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनसे विवाह का प्रस्ताव किया। राम ने जब इसे अस्वीकार किया तो उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया। यह देखकर राम के संकेतों से लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिये। इस प्रकार कुरूप की हुई शूर्पणखा अपने भाइयों—खर और दूषण के पास गयी, और उन्हें राम से युद्ध करने को प्रेरित किया। खर-दूषण ने अपनी सेना लेकर राम पर आक्रमण कर दिया किन्तु वे अपनी समस्त सेना के साथ युद्ध में मारे गये। तदनन्तर शूर्पणखा रावण के पास गयी और उसने उसे सारी घटना सुनायी। रावण ने उस मारीच की सहायता से, जिसे विश्वामित्र के आश्रम में राम ने युद्ध में आहत किया था, सीता का हरण किया, जिसके परिणामस्वरूप राम को रावण से युद्ध करना पड़ा।

इस परिस्थिति में राम ने किष्किन्धा के वानरों की सहायता ली और रावण पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के साथ

रावण का भाई विभीषण भी आकर राम के साथ हो गया। राम ने अंगद नाम के बानर को रावण के पास दूत के रूप में अन्तिम बार सावधान करने के लिए भेजा कि वह सीता को लौटा दे, किन्तु रावण ने अपने अभिमान के बल से इसे स्वीकार नहीं किया और राम तथा रावण के दलों में युद्ध छिड़ गया।

उस महायुद्ध में रावण तथा उसके बन्धु-बान्धव मारे गये। तदनन्तर लका का राज्य उसके भाई विभीषण को देकर सीता को साथ लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या वापस आये। राम का राज्याभिषेक किया गया और दीर्घकाल तक उन्होंने प्रजारंजन करते हुए शासन किया। इस मूल कथा के पूर्व 'रामचरितमानस' में रावण के कुछ पूर्वभवों की तथा राम के कुछ पूर्ववर्ती अवतारों की कथाएँ हैं, जो संक्षेप में दी गयी है। कथा के अन्त में गरुड़ और काग भुशुण्डि का एक विस्तृत संवाद है, जिसमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक विषयों का विवेचन हुआ है। कथा के प्रारम्भ होने के पूर्व शिव-चरित्र, शिव-पार्वती संवाद, याज्ञवलक्य-भारद्वाज संवाद तथा काग भुशुण्डि-गरुड़ संवाद के रूप में कथा की भूमिकाएँ हैं और उनके भी पूर्व कवि की भूमिका और प्रस्तावना है।

'चरित' की दृष्टि से यह रचना पर्याप्त सफल हुई है। इसमें राम के जीवन की समस्त घटनाएँ आवश्यक विस्तार के साथ एक सुसम्बद्ध रूप में कही गयी है। रावण के पूर्वभव तथा राम के पूर्वाकार की कथाओं से लेकर राम के राज्य-वर्णन तक कवि ने कोई भी प्रासंगिक कथा रचना में नहीं आने दी है। इस सम्बन्ध में यदि वाल्मीकीय तथा अन्य अधिकतर राम-कथा ग्रन्थों से 'रामचरितमानस' की तुलना की जाय तो तुलसीदास की विशेषता प्रमाणित होगी। अन्य रामकथा ग्रन्थों में बीच-बीच में कुछ प्रासंगिक कथाएँ देखकर अनेक क्षेपककारों ने 'रामचरितमानस' मे प्रक्षिप्त प्रसंग रखे और कथाएँ मिलायीं, किन्तु राम-कथा के पाठकों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और वे रचना को मूल रूप में ही पढ़ते और उसका पारायण करते हैं। चरित-काव्यों की एक बड़ी विशेषता उनकी सहज और प्रयासहीन शैली मानी गयी है, और इस दृष्टि से 'मानस' एक अत्यन्त सफल चरित है। रचना भर में तुलसीदास ने कहीं भी अपना काव्यकौशल, अपना पाण्डित्य, अपनी बहुज्ञता आदि के प्रदर्शन का कोई प्रयास नहीं किया है। सर्वत्र वे अपने वर्ण्यविषय में इतने तन्मय रहे हैं कि उन्हें अपना ध्यान नहीं रहा। रचना को पढ़कर ऐसा लगता है कि राम के चरित ने ही उन्हें वह वाणी प्रदान की है, जिसके द्वारा वे सुन्दर कृति का निर्माण कर सके।

'काव्य' की दृष्टि से 'रामचरितमानस' एक अति उत्कृष्ट महाकाव्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'महाकाव्य' के जितने लक्षण दिये गये हैं, वे उसमें पूर्ण रूप से पाये जाते हैं। कथा-प्रबन्ध का सर्गबद्ध होना, उच्चकुलसम्भूत धीरोदात्त नायक का होना, श्रृंगार, शान्त और वीर रसों में से किसी एक का अंगी और शेष रसों का अंगभाव से आना, उपयुक्त स्थलों पर सुन्दर वर्णन-योजना का होना, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से किसी एक का उसका लक्ष्य होना आदि सभी लक्षण उसमें मिलते हैं। पाश्चात्य साहित्यालोचन में 'इपिक' की जो विभिन्न आवश्यकताएँ बतलायी गयी हैं, यथा—उसकी कथा का किसी गौरवपूर्ण अतीत से सम्बद्ध होना, अतिप्राकृत शक्तियों का उसकी कथा में भाग लेना, कथा के अन्त में किन्हीं आदर्शों की विजय का चित्रित होना आदि, सभी 'रामचरितमानस' में पाई जाती हैं। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो 'रामचरितमानस' एक अत्यन्त उत्कृष्ट महाकाव्य ठहरता है। मुख्यतः यही कारण है कि संसार की महान् कृतियों में इसे भी स्थान मिला है।

तुलसीदास की भक्ति की अभिव्यक्ति भी इसमें अत्यन्त विशद रूप में हुई है। अपने आराध्य के सम्बन्ध में उन्होंने 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' में अनेक बार कहा है कि उनके राम का चरित्र ही ऐसा है कि जो एक बार उसे सुन लेता है, वह अनायास उनका भक्त हो जाता है। वास्तव में तुलसीदास ने अपने आराध्य के चरित्र की ऐसी ही कल्पना की है। यही कारण है कि इसने समस्त उत्तरी भारत पर सदियों से अपना अद्भुत प्रभाव डाल रखा है और यहाँ के आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया है। घर घर में 'रामचरितमानस' का पाठ पिछली साढ़े तीन शताब्दियों से बराबर होता आ रहा है और इसे एक धर्मग्रन्थ के रूप में देखा जाता है। इसके आधार पर गाँव-गाँव में प्रतिवर्ष रामलीलाओं का भी आयोजन किया जाता है। फलतः जैसा विदेशी विद्वानो ने भी स्वीकार किया है, उत्तरी भारत का यह सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ है और इसने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उच्चाशयता लाने में सफलता प्राप्त की है।

यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तुलसीदास ने राम तथा उनके भक्तों के चरित्र में ऐसी कौन-सी विलक्षणता उपस्थित की है, जिससे उनकी इस कृति को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। तुलसीदास की इस रचना में अनेक दुर्लभ गुण हैं किन्तु कदाचित् अपने जिस महान् गुण के कारण इसने यह असाधारण सम्मान प्राप्त किया है, वह है ऐसी मानवता की कल्पना, जिसमें उदारता, क्षमा, त्याग, निर्वैरता, धैर्य और सहनशीलता आदि सामाजिक शिवत्व के गुण अपनी पराकाष्ठा के साथ मिलते हों और फिर भी जो अव्यावहारिक न हों। 'रामचरितमानस' के सर्वप्रमुख चरित्र—राम, भरत, सीता आदि इसी प्रकार के हैं। उदाहरण के लिए राम और कौशल्या के चरित्रों को लीजिये।

'वाल्मीकि रामायण' में राम जब वनवास का दुःसंवाद सुनाने कौशल्याके पास आते हैं, वे कहते हैं : "देवि, आप जानती नहीं हैं, आपके लिए, सीता के लिए और लक्ष्मण के लिए बड़ा भय आया है, इससे आप लोग दुःखी होंगे। अब मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ, इससे आप लोग दुखी होंगे। भोजन के निमित्त बैठने के लिए रखे गये इस आसन से मुझे क्या करना है? अब मेरे लिए कुशासन चाहिये, आसन नहीं। निर्जन वन में चौदह वर्षों तक निवास करूँगा। मांस, खाना छोड़कर कन्द मूल फल से जीविका चलाऊँगा। महाराज युवराज का पद भरत को दे रहे हैं और तपस्वी वेश में मुझे अरण्य भेज रहे हैं" (२-२०-२५-३०)।

'अध्यात्म रामायण' में राम ने इस प्रसंग में कहा है, "माता मुझे भोजन करने का समय नहीं है, क्योंकि आज मेरे लिए यह समय शीघ्र ही दण्डकारण्य जाने के लिए निश्चित किया गया है। मेरे सत्य-प्रतिज्ञ पिता ने माता कैकेयी को वर देकर भरत को राज्य और मुझे अति उत्तम बनवास दिया है। वहाँ मुनि वेश में चौदह वर्ष रहकर मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, आप किसी

प्रकार की चिन्ता न करे।" (२-४-४-६)।

'रामचरितमानस' में यह प्रसंग इस प्रकार है—"मातु वचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला।। सुख मकरन्द भरे श्रिय मूला। निरखि राम मन भंवरु न भूला।। धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अमृत बानी। पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।। आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता।। जनि सनेह बस डरपति मोरे। आवहुँ अम्ब अनुग्रह तोरे।।" (२-५३--३-८)।

यहाँ पर दर्शनीय यह है कि तुलसीदास ने 'वाल्मीकि-रामायण' के राम को ग्रहण न कर 'अध्यात्म रामायण' के राम को ग्रहण किया है। वाल्मीकि के राम में भरत की ओर से अपने स्नेही स्वजनों के सम्बन्ध में जो अनिष्ट की आशंका है, वह 'अध्यात्म रामायण' के राम में नहीं रह गयी है और तुलसीदास के राम में भी नही आने पायी है किन्तु इसी प्रसंग में पिता की आज्ञा के प्रति लक्ष्मण के विद्रोह के शब्दों को सुनकर राम ने संसार की अनित्यता और देहादि से आत्मा की भिन्नता का एक लम्बा उपदेश दिया है (२-४-१७-४४), जिस पर उन्होंने माता से नित्य विचार करने के लिए अनुरोध किया है, "ते मातः! तुम भी मेरे इस कथन पर नित्य विचार करना और मेरे फिर मिलने की प्रतीक्षा करती रहना। तुम्हें अधिक काल तक दुःख न होगा। कर्म-बन्धन में बँधे हुए जीवों का सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता, जैसे नदी के प्रवाह में पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलती" (२।४।४४-४६)।

तुलसीदास इस अध्यात्मवाद की दुहाई न देकर अपने आदर्शवाद को अव्यावहारिक होने से बचा लेते हैं। वे राम को एक धर्मनिष्ठ नायक के रूप में ही चित्रित करते हैं, जो पिता की आज्ञा का पालन करना अपना एक परम पुनीत कर्तव्य समझता है,इसीलिए उन्होंने कहा है :"धरम धुरीन धरम गतिजानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी।।"

एक दूसरा प्रसंग लीजिये। वनवास के इस दुःख संवाद को जब राम सीता को सुनाने जाते हैं, 'वाल्मीकीय रामायण' में वे कहते हैं: "मैं निर्जन वन में जाने के लिए प्रस्तुत हुआ हूँ और तुमसे मिलने के लिए यहाँ आया हूँ। तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना, क्योंकि समृद्धिवान् लोग दूसरों की स्तुति नहीं सह सकते, इसलिए भरत के सामने तुम मेरे गुणों का वर्णन न करना। भरत के आने पर तुम मुझे श्रेष्ठ न बतलाना, ऐसा करना भरत का प्रतिकूलाचरण कहा जायेगा और अनुकूल रहकर ही भरत के पास रहना सम्भव हो सकता है। परम्परागत राज्य राजा ने भरत को ही दिया है;तुम को चाहिये कि तुम उसे प्रसन्न रखो, क्योंकि वह राजा है" (२।२५।२४-२७)।

'अध्यात्म रामायण' में इस प्रसंग में राम ने इतना ही कहा है, "हे शुभे! पिताजी ने मुझे दण्डकारण्य का सम्पूर्ण राज्य दिया है, अतः हे भामिनि! मैं शीघ्र ही उसका प्रबन्ध करने के लिए वहाँ जाऊँगा। मैं आज ही वन को जा रहा हूँ। तुम अपनी सासु के पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषा में रहो। मैं झूठ नहीं बोलता।...हे अनघे! महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कैकेयी को वर देकर भरत को राज्य और मुझे वनवास दिया है। देवी कैकेयी ने भरत को राज्य और मुझे वनवास दिया है। देवी कैकेयी ने मेरे लिए चौदह वर्ष तक वन में रहना माँगा था, सो सत्यवादी दयालु महाराज ने देना स्वीकार कर लिया है। अतः हे भामिनि! मैं वहाँ शीघ्र ही जाऊँगा, तुम इसमें किसी प्रकार का विघ्न न खड़ा करना (२. ४-५७-६२)।

'रामचरितमानस' में इस प्रकार सीता से विदा लेने गये हुए राम नही दिखलाये जाते हैं, इसमें सीता स्वयं कौशल्या के पास उस समय वनवास का समाचार सुनकर आ जाती हैं, जब राम कौशल्या से वनगमन की आज्ञा लेने के लिए आते हैं और सीता की राम के साथ वन जाने की इच्छा समझकर कौशल्या ही राम से उनकी इच्छा का निवेदन करती हैं। 'अध्यात्म रामायण' में ही भरत के प्रति किसी प्रकार की आशका और सन्देह के भाव राम के मन में नहीं चित्रित किये गये, 'रामचरितमानस' में भी राम के उसी उदार व्यक्तित्व को अंकित किया गया है।

किन्तु इतना ही नहीं तुलसीदास राम के चरित्र में भरत प्रेम का एक अद्भुत विकास करते हैं, जो अन्य राम-कथा ग्रन्थों में नहीं मिलता। उदाहरणार्थ—(१) चित्रकूट में राम के रहन-सहन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"जब-जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं। सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेह सील सेवकाई। कृपासिन्धु प्रभु होहि दुखारी। धीरज धरहिं कुसमय बिचारी" (२. १४१. ३-५); (२) भरत के आगमन का समाचार सुनकर लक्ष्मण जब राम के अनिष्ट की आशंका से उनके विरूद्ध उत्तेजित हो उठते हैं, राम कहते हैं—"कहीं तात तुम्ह नीति सुनाई। सबतें कठिन राजमद भाई।। जो अँचवत मातहिं नृपतेई। नाहिंन साधु समाजिहिं सेई।। सुनहु लषन भल भरत सरीखा। विधि प्रपंच महँ सुना न दीषा।। भरतहिं होइ न राज मद, विधि हरिहर पद पाइ। कबहुँ कि कांजी सीकरनि छीर सिन्धु बिनसाइ।। तिमिर तरुन तरिनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई।। गोपद जल बूड़ति घट जोनी। सहज क्षमा बरु छाड़इ छोनी।। मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृप पद भरतहि भाई।। लषन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना।। सगुन क्षीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता।। भरत हंस रवि बंस तड़ागा। जनमि लीन्ह गुन शेष विभागा।। गहि गुन पय तजि अवगुन बारी-। निज जस जगत कीन्ह उजियारी।। कहत भरत सुन सील सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ।।" (२, २३१, ६, से २, २३२, ८ तक); (३) चित्रकूट में भरत की विनय सुनने के लिए किये गये वशिष्ठ के कथन पर राम कह उठते हैं—"गुरु अनुराग भरत पर देखी। राम हृदय आनन्द विसेषी।। भरतहिं धरम धुरन्धर जानी।। निज सेवक तन मानस बानी।। बोले गुरु आयसु अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला।। नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरत सन भाई।। जो गुरु पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुं वेदहुं बड़ भागी।। राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू।। लखि लघु बन्धु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई।। भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई।।"(२, २४९, १-८)।

ये तीनों विस्तार मौलिक हैं और 'रामचरितमानस' के पूर्व किसी राम-कथा ग्रन्थ में नहीं मिलते। भरत के प्रति राम के

हैं—'वाणी', 'अर्थतत्त्व-सार', 'गर्भचित्रवनी'। किन्तु हाल के खोज-विवरणों से रामदासकृत कतिपय अन्य साम्प्रदायिक एवं दार्शनिक कृतियों का पता चला है, जो सम्भवतः इन्हीं दूसरे रामदास साधु की रचनाएँ होंगी ये रचनाएँ हैं—'आश्चर्य-अद्भुत-ग्रन्थ' (वेदान्तविषयक), 'रामायण' (रामकथाविषयक) और 'सूक्ष्म वेदान्त'।

तीसरे रामदास हैं नन्दगाँव बरसाने (ब्रज-प्रदेश) के निवासी, जिन्हें सन् १८७० ई० तक विद्यमान बताया गया है और 'गोवर्द्धन-लीला' तथा 'राधा-विलास' सज्ञक ग्रन्थो का रचयिता भी कहा गया है।

चौथे रामदास वल्लभमतानुयायी और 'रुक्मिणी विवाह' के रचयिता थे। इसी प्रकार एक पाँचवें रामदास का भी नाम लिया जाता है, जो किसी सूरदास के पिता थे। इन्हीं में से किसी रामदास की 'गंगा-विवाह' और 'तीर्थमाहात्म्य' नामक दो कृतियाँ बताई गयी हैं। काव्य की दृष्टि से उपर्युक्त कवियों की कविताएँ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण रीतिकालीन रामदास थे, जिनका वास्तविक नाम राजकुमार था। ये काशी और प्रयाग के बीच में स्थित हरिपुर के रहने वाले थे। इनका जन्मकाल है सन् १७८२ ई० और काव्य-काल सन् १८०८ ई०। ये नन्दकुमार के शिष्य थे। इनका एक 'कविकल्पद्रुम' (साहित्यसार) नामक ग्रन्थ खोज में प्राप्त हुआ है। इसकी रचना सन् १८४४ ई० में हुई थी। इसमें प्रमुख रूप से काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। काव्यशास्त्रीय सभी अंगों की विवेचना इसमें ध्वनि-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर की गयी है। यह ग्रन्थ अपने रचयिता के प्रगाढ़ एवं पुष्ट काव्यशास्त्रीय ज्ञान का परिचायक है।

कवि का शास्त्रीय विवेचन बड़ा साफ और सुस्पष्ट है। वर्णन-क्रम भी वैज्ञानिक है, जिससे रचयिता के तद्विषयक गम्भीर ज्ञान का पूर्ण परिचय मिलता है। उधर उदाहरण रूप में रचे गये छन्दों से भी उसकी उत्कृष्ट कवित्व-प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। कवि अपने विवेचन में काफी पुष्ट है। उसने अपने कवित्व और आचार्यत्व, दोनों से हिन्दी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। एक रामदास और हैं, जो महाराष्ट्र में हुए थे और समर्थ गुरु रामदास के नाम से विख्यात हैं। यह महाराज शिवाजी के गुरु थे और हनुमान् जी के अवतार माने जाते हैं। इनकी रचना का अनुवाद 'दासबोध' हिन्दी में प्रकाशित हुआ है। यह वेदान्त ग्रन्थ है। इसकी उत्कृष्टता विख्यात है। ये बहुत ही उच्चकोटि के महात्मा हुए हैं।

[सहायक ग्रन्थ—खो० वि० (सं० १, १३); रा० ह० ग्र० खो० (भा० ३); दि० भू०; शि० स०; मि० वि० (भा० २)।]

—रा० त्रि०

रामदास गौड़—जन्म १८८१ ई० में जौनपुर मे। मृत्यु १९३७ ई० काशी में। शिक्षा बनारस तथा इलाहाबाद में हुई। १९०३ ई० में म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद से बी० ए० किया। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में आप रसायनशास्त्र के प्राध्यापक रहे। असहयोग आन्दोलन के समय काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय की नौकरी छोड़ दी। साहित्यिक जीवन कविता से प्रारम्भ हुआ। इनके उपनाम 'रस' और 'रघुपति' थे। स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती होने के नाते प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' में स्त्र्युपयोगी विषयो पर बराबर लिखते थे।

हिन्दी के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वालो में रामदास गौड़ का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनके प्रयत्न से प्रयाग मे 'विज्ञान परिषद्' की स्थापना हुई, जिसके मुखपत्र 'विज्ञान' के लिए बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्रित करते थे। हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन का कार्य इन्होंने कई ढग से आगे बढ़ाया। विज्ञान के अतिरिक्त हिन्दू संस्कृति के विभिन्न पक्षों में भी आपकी रुचि थी। आपका ग्रन्थ 'हिन्दुत्व' (१९३८ ई०) आज भी अद्वितीय माना जाता है। यह महाग्रन्थ राष्ट्ररत्न श्री शिव प्रसाद गुप्त ने तैयार कराया था। इस ग्रन्थ से हिन्दू-धर्म की भूमिका और क्रम-विकास का पूरा ज्ञान हो जाता है। वेद, वेदांग, दर्शन, स्मृति, इतिहास पुराण, तन्त्र सम्प्रदाय, पन्थ आदि क्या हैं और उनमें क्या है, इन सब प्रश्नों का उत्तर देने वाला केवल हिन्दी में ही नही, प्रत्युत समस्त भारतीय-साहित्य में स्यात् यही एक मात्र ग्रन्थ है। इन्होंने 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद' नाम की पुस्तक भी लिखी है, जो सन् १९२० ई० में प्रकाशित हुई थी। इन्होने 'रामचरित मानस' का भी पाठशोधन किया था, जो बहुत प्रामाणिक समझा जाता है।

—स०

रामदीन सिंह—जन्म १८५५ ई० में बलिया में। १२-१३ वर्ष की उम्र मे ये पटना चले गए थे और ५-६ वर्ष तक वहीं संस्कृत का अध्ययन करते रहे। १८७७ ई० में इनको हिन्दी में दिलचस्पी हुई। मई १८८१ ई० में इन्होंने क्षत्रिय पत्रिका आरम्भ की और अपने मित्र राजा खड्ग विलास मल्ल के नाम से एक प्रेस स्थापित करने की योजना बनाई। उदयपुर नरेश महाराज सज्जनसिंह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जार्ज ग्रियर्सन से इनकी विशेष मित्रता थी। इनसे मित्रता होने के पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'भारत मित्र', 'मित्रविलास' और 'काशी पत्रिका' में लिखते थे, बाद में वे इनकी क्षत्रिय पत्रिका में लिखने लगे। अंधेर नगरी और कुछ अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन रामदीन सिंह ने ही किया था। इनकी मृत्यु १८२५ ई० में हुई।

[सहायक ग्रन्थ—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-मदन गोपाल राजपाल एण्ड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली, हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।]

—कृ० शं० पाण्डेय

रामधारी सिंह 'दिनकर'—जन्म १९०८ ई० में सिमरिया, जिला मुंगेर (बिहार) में हुआ। शिक्षा बी० ए० तक पटना विश्वविद्यालय से। सीतामढ़ी में सब-रजिस्ट्रार पद पर कार्य किया। संसदसदस्य (राज्यसभा : १९५२-१९६४), भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति (१९६४-१९६५), भारत सरकार के हिंदी सलाहकार (१९६५-१९७१)। प्रायः ५० कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। यह कहना तो शायद सही न होगा कि 'दिनकर' का काव्य छायावाद का प्रतिलोम है, पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी काव्य-जगत पर छाये छायावादी कुहासे को काटने वाली शक्तियों में 'दिनकर' की प्रवाहमयी, ओजस्विनी कविता का स्थान, विशिष्ट महत्त्व का है। 'दिनकर' छायावादोत्तर काल के उन्हीं के शब्दों में "छायावाद की ठीक पीठ पर आये"—कवियों में हैं, अतः छायावाद की उपलब्धियाँ उन्हें विरासत में मिलीं पर उनके काव्योत्कर्ष का

उष:काल छायावाद की रंगभरी सन्ध्या का समय था। कविता के भावक छायावाद के उत्तरकाल के निष्प्रभ शोभादीपों से सजे-सजाये कक्ष से ऊब चुके थे, बाहर की मुक्त वायु और प्राकृतिक प्रकाश और ताप का संस्पर्श चाहते थे। वे छायावाद के कल्पनाजन्य निर्विकार मानव के खोखलेपन से परिचित हो चुके थे, 'उस पार' की दुनिया के अलभ्य सौन्दर्य का यथेष्ट स्वप्न-दर्शन कर चुके थे, चमचमाते सैकत-प्रदेश में संवेदना की मरीचिका के पीछे दौड़ते थक चुके थे, उस लाक्षणिक और अस्वाभाविक भाषाशैली से उनका जी भर चुका था, जो उन्हें बार-बार अर्थ की गहराइयों की झलक-सी दिखाकर छल चुकी थी। उन्हें अपेक्षा थी भाषा में द्विवेदी-युगीन स्पष्टता की (पर उसकी शुष्कता की नहीं), व्यक्ति और परिवेश के वास्तविक संस्पर्श की, सहजता की ओर शक्ति की। 'बच्चन' की कविता में उन्हें व्यक्ति का संस्पर्श मिला, 'दिनकर' के काव्य में जीवन समाज और परिचित परिवेश का। 'दिनकर' का समाज व्यक्तियों का समूह था, केवल एक राजनीतिक तथ्य नहीं।

आरम्भ में 'दिनकर' ने छायावादी रंग में कुछ कविताएँ लिखीं, पर जैसे-जैसे वे अपने स्वर से स्वयं परिचित होते गये, अपनी काव्यानुभूति पर ही अपनी कविता को आधारित करने का आत्म-विश्वास उनमें बढ़ता गया, वैसे ही वैसे उनकी कविता छायावाद के प्रभाव से मुक्ति पाती गयी पर छायावाद से उन्हें जो कुछ विरासत में मिला था, जिसे वे मनोनुकूल पाकर अपना चुके थे, वह तो उनका हो ही गया। उनकी काव्यधारा जिन दो कूलों के बीच प्रवाहित हुई, उनमें से एक छायावाद था। भूमि का ढलान दूसरे कूल की ओर था, पर धारा को आगे बढ़ाने में दोनों का अस्तित्व अपेक्षित और अनिवार्य था। 'दिनकर' अपने को द्विवेदी-युगीन और छायावादी काव्य-पद्धतियों का वारिस मानते थे। उन्हीं के शब्दों में "पन्त के सपने हमारे हाथ में आकर उतने वायवीय नहीं रहे, जितने कि वे छायावादकाल में थे किन्तु द्विवेदी-युगीन अभिव्यक्ति की शुभ्रता हम लोगों के पास आते-जाते कुछ रंगीन अवश्य हो गयी। अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता की नयी विरासत हमें आप-से-आप प्राप्त हो गयी।"

'दिनकर' ने अपने कृतित्व के विषय में एकाधिक स्थानों पर विचार किया है। सम्भवतः हिन्दी का कोई कवि अपने ही कवि-कर्म के विषय में 'दिनकर' से अधिक चिन्तन-आलोचन न करता होगा। वह 'दिनकर' की आत्मरति का नहीं, अपने कवि-कर्म के प्रति उनके दायित्व के बोध का प्रमाण है कि वे समय-समय पर इस प्रकार आत्म परीक्षण करते रहे। इसी कारण अधिकतर अपने बारे में जो कहते थे, वह सही होता था। उनकी कविता प्रायः छायावाद की अपेक्षा द्विवेदीयुगीन कविता के निकटतर जान पड़ती है। शैली में द्विवेदीयुगीन स्पष्टता, प्रसादगुण के प्रति आस्था और मोह, अतीत के प्रति आदर-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, अनेक बिन्दुओं पर 'दिनकर' की कविता द्विवेदी-युगीन काव्यधारा का आधुनिक ओजस्वी, प्रगतिशील संस्करण जान पड़ती है। उनका स्वर भले ही सर्वदा, सर्वथा 'हुंकार' न बन पाता हो, 'गुंजन' तो कभी भी नहीं बनता।

'दिनकर' का नाम 'प्रगतिवादी' कवियों में लिया जाता था—पर अब शायद साम्यवादी विचारक उन्हें उस विशिष्ट पंक्ति में स्थान देने के लिए तैयार न हों क्योंकि आज का 'दिनकर' "अरुण विश्व की काली जय हो! लाल सितारोंवाली जय हो? के लेखक से बहुत दूर जान पड़ता है। जो भी हो, साम्यवादी विचारक आज के 'दिनकर' को किसी भी पंक्ति में क्यों न स्थान देना चाहे, इससे तो इनकार किया ही नहीं जा सकता कि जैसे 'बच्चन' मूलतः एकांत व्यक्तिवादी कवि हैं, वैसे ही 'दिनकर मूलतः सामाजिक चेतना के चारण हैं। उनके प्रथम तीन काव्य-संग्रह—'रेणुका' (१९३५ ई०), 'हुंकार' (१९३८ ई०) और 'रसवन्ती' (१९३९ ई०)— उनके आरम्भिक आत्म मन्थन के युग की रचनाएँ हैं। इनमें 'दिनकर' का कवि अपने व्यक्ति परक, सौन्दर्यान्वेषी मन और सामाजिक चेतना से उत्तम बुद्धि के परस्पर संघर्ष का तटस्थ द्रष्टा नहीं, दोनों के बीच से कोई राह निकालने की चेष्टा में संलग्न साधक के रूप में मिलता है। 'रेणुका' में अतीत के गौरव के प्रति कवि का सहज आदर और आकर्षण परिलक्षित होता है—पर साथ ही वर्तमान परिवेश की नीरसता से त्रस्त मन की वेदना का परिचय भी मिलता है। 'हुंकार' में कवि अतीत के गौरव-गान की अपेक्षा वर्तमान दैन्य के प्रति आक्रोश प्रदर्शन की ओर अधिक उन्मुख जान पड़ता है। 'रसवन्ती' में कवि की सौन्दर्यान्वेषी वृत्ति काव्यमयी हो जाती है पर यह अँधेरे में ध्येय सौन्दर्य का अन्वेषण नहीं, उजाले में ज्ञेय सौन्दर्य का आराधन है। 'सामधेनी' (१९४७ ई०) में 'दिनकर' की सामाजिक चेतना स्वदेश और परिचित परिवेश की परिधि से बढ़कर विश्व-वेदना का अनुभव करती कराती जान पड़ती है। कवि के स्वर का ओज नये वेग से, नये शिखर तक पहुँच जाता है। उसके बाद 'नील कुसुम' (१९५५ ई०) में हमें कवि के एक नये रूप के दर्शन होते हैं—यद्यपि इतने नये नहीं, जितने नयेपन का बोध स्वयं कवि को था। यहाँ वह काव्यात्मक प्रयोगशीलता के प्रति आस्थावान् है, स्वयं प्रयोगशील कवियों को जयमाल पहनाने और उनकी राह पर फूल बिछाने की आकांक्षा उसे विव्हल कर देती है नवीनतम काव्यधारा से सम्बन्ध स्थापित करने की कवि की इच्छा तो स्पष्ट हो जाती है पर उसका कृतित्व साथ देता नहीं जान पड़ता।

इन मुक्तक काव्य-संग्रहों के अतिरिक्त 'दिनकर' ने अनेक प्रबन्ध-काव्यों की रचना भी की है, जिनमें 'कुरुक्षेत्र' (१९४६ ई०), 'रश्मिरथी' (१९५२ ई०) और 'उर्वशी' (१९६१ ई०) प्रमुख हैं। 'कुरुक्षेत्र' में महाभारत के शान्ति पर्व के मूल कथानक का ढाँचा लेकर 'दिनकर' ने युद्ध और शान्ति के विशद, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषय पर अपने विचार भीष्म और युधिष्ठिर के संलाप के रूप में प्रस्तुत किये हैं। 'दिनकर' के काव्य में विचार-तत्त्व इस तरह उभर कर सामने पहले कभी नहीं आया था। 'कुरुक्षेत्र' के बाद उनके नवीनतम काव्य 'उर्वशी' में फिर हमें विचार-तत्त्व की प्रधानता मिलती है। साहसपूर्वक गान्धीवादी अहिंसा की आलोचना करने वाले 'कुरुक्षेत्र' का हिन्दी जगत् में यथेष्ट आदर हुआ। 'उर्वशी' जिसे कवि ने स्वयं "कामाध्यात्म" की उपाधि प्रदान की है—'दिनकर' की कविता को एक नये शिखर पर पहुँचा देता है। भले ही यह सर्वोच्च शिखर न हो, 'दिनकर' के कृतित्व की गिरिश्रेणी का एक सर्वथा नवीन शिखर तो है ही।

'दिनकर' आधुनिक कवियों की प्रथम पंक्ति में बैठने के

अधिकारी हैं, इस पर दो राय नहीं हो सकती। उनकी कविता में विचार-तत्त्व की कमी नहीं है, यदि अभाव है तो विचार-तत्त्व के प्राचुर्य के अनुरूप गहराई का। उनके व्यक्तित्व की छाप उनकी प्रत्येक पंक्ति पर है, पर कहीं-कहीं भावक को व्यक्तित्व की जगह वक्तृत्व ही मिल पाता है। 'दिनकर' की शैली में प्रसादगुण यथेष्ट है, प्रवाह है, ओज है, अनुभूति की तीव्रता है, सच्ची संवेदना है। यदि कमी खटकती है तो तरलता की, घुलावट की। पर यह कमी कम ही खटकती है, क्योंकि 'दिनकर' ने प्रगीत कम लिखे हैं। इनकी अधिकाश रचनाओं में काव्य की शैली रचना के विषय और 'मूड' के अनुरूप है। उनके चिन्तन में विस्तार अधिक और गहराई कम है पर उनके विचार उनके अपने ही विचार हैं, उनकी काव्यानुभूति के अविच्छेद्य अंग हैं, यह स्पष्ट है। यह 'दिनकर' की कविता का विशिष्ट गुण है कि जहाँ उसमें अभिव्यक्ति की तीव्रता है, वहीं उसके साथ ही चिन्तन-मनन की प्रवृत्ति भी स्पष्ट दीखती है। उनका जीवन-दर्शन उनका अपना जीवन-दर्शन है, उनकी अपनी अनुभूति से अनुप्राणित, उनके अपने विवेक से अनुमोदित—परिणामतः निरन्तर परिवर्तनशील। 'दिनकर' प्रगतिवादी, जनवादी, मानववादी आदि आदि रहे हैं और आज भी हैं पर 'रसवंती' की भूमिका में यह कहने में उन्हें संकोच नहीं हुआ कि "प्रगति शब्द में जो नया अर्थ ठूँसा गया है उसके फलस्वरूप हल और फावड़े कविता का सर्वोच्च विषय सिद्ध किये जा रहे हैं और वातावरण ऐसा बनता जा रहा है कि जीवन की गहराइयों में उतरने वाले कवि सिर उठाकर नहीं चल सकें।" गान्धीवाद और अहिंसा के हामी होते हुए भी 'कुरुक्षेत्र' में वह कहते नहीं हिचके कि "कौन केवल आत्मबल से जूझकर, जीत सकता देह का संग्राम है, पाशविकता खड्ग जो लेती उठा, आत्मबल का एक वश चलता नहीं। योगियों की शक्ति से संसार में, हारता लेकिन नहीं समुदाय है।"

'दिनकर की प्रगतिशीलता साम्यवादी लीक पर चलने की प्रक्रिया का साहित्यिक नाम नहीं है, एक ऐसी सामाजिक चेतना का परिणाम है, जो मूलतः भारतीय है और राष्ट्रीय भावना से परिचालित है। उन्होंने राजनीतिक मान्यताओं को राजनीतिक मान्यताएँ होने के कारण अपने काव्य का विषय नहीं बनाया, न कभी राजनीतिक लक्ष्य-सिद्धि को काव्य का उद्देश्य माना, पर उन्होंने निःसंकोच राजनीतिक विषयों को उठाया है और उनका प्रतिपादन किया है क्योंकि वे काव्यानुभूति की व्यापकता स्वीकार करते हैं, राजनीतिक दायित्वों, मान्यताओं और नीतियों का बोध सहज ही उनकी काव्यानुभूति के भीतर समा जाता है।

'दिनकर' की गद्य-कृतियों में मुख्य हैं—उनका विराट् ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' (१९५६ ई०), जिसमें उन्होंने प्रधानतया शोध और अनुशीलन के आधार पर मानव सभ्यता के इतिहास का चार मंजिलों में बाँटकर अध्ययन किया है। ग्रन्थ साहित्य अकादमी के पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ और हिन्दी जगत् में सादर स्वीकृत हुआ। उसके अतिरिक्त 'दिनकर' के स्फुट, समीक्षात्मक तथा विविध निबन्धों के संग्रह हैं, जो पठनीय हैं, विशेषतः इस कारण कि उनसे 'दिनकर' के कवित्व को समझने-परखने में यथेष्ट सहायता मिलती है। भाषा की भूलों के बावजूद शैली की प्रांजलता 'दिनकर' के गद्य को आकर्षक बना देती है। दिनकर की प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृतियाँ हैं—'मिट्टी की ओर' (१९४६ ई०), 'काव्य की भूमिका' (१९५८ ई०), 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' (१९५८ ई०), 'शुद्ध कविता की खोज' (१९६६ ई०) दिनकर जी की मृत्यु सन् १९७४ ई० में हुई।

—बा० कृ० रा०

रामनरेश त्रिपाठी—पूर्व छायावाद युग के कुछ थोड़े से समर्थ कवियों में रामनरेश त्रिपाठी का नाम उल्लेखनीय है। आपका जन्म जिला जौनपुर के कोइरीपुर नामक गाँव में सन् १८८१ ई० में हुआ और मृत्यु सन् १९६२ ई० में हुई। आपकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा जौनपुर में ही हुई और सन् १९११ ई० आस-पास लगभग बाईस वर्ष की आयु में आपने काव्य-रचना के क्षेत्र में पदार्पण किया।

रामनरेश त्रिपाठी स्वच्छन्दतावादी भावधारा के कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। इनसे पूर्व श्रीधर पाठक ने हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) को जन्म दिया था। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं द्वारा उक्त परम्परा को विकसित किया और सम्पन्न बनाया। देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की अनुभूतियाँ इनकी रचनाओं का मुख्य विषय रही हैं। हिन्दी कविता के मंच पर ये राष्ट्रीय भावनाओं के गायक के रूप में बहुत लोकप्रिय हुए। प्रकृति-चित्रण में भी इन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई।

इनकी चार काव्य-कृतियाँ उल्लेख्य हैं—'मिलन' (१९१८ ई०), 'पथिक' (१९२१ ई०), 'मानसी' (१९२७ ई०) और 'स्वप्न' (१९२९ ई०)। इनमें 'मानसी' फुटकर कविताओं का संग्रह है और शेष तीनों कृतियाँ प्रेमाख्यानक खण्ड-काव्य हैं। इन्होंने इन खण्ड-काव्यों की रचना के लिए किन्ही पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथा सूत्रों का आश्रय नहीं लिया है, वरन् अपनी कल्पना शक्ति से मौलिक तथा मार्मिक कथाओं की सृष्टि की है। कवि द्वारा निर्मित होने के कारण इन काव्यों के चरित्र बड़े आकर्षक बन पड़े हैं और जीवन के साँचे में ढले हुए जान पड़ते हैं। इन तीनों ही खण्ड-काव्यों की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनमें देशभक्ति की भावनाओं का समावेश बहुत सरसता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिए 'स्वप्न' नामक खण्ड-काव्य को लिया जा सकता है। इसका नायक बसन्त नामक नवयुवक एक ओर तो अपनी प्रिया के प्रगाढ़ प्रेम में लीन रहना चाहता है, मनोरम प्रकृति की क्रोड़ में उसके साहचर्य-सुख की अभिलाषा करता है और दूसरी ओर समाज का दुःख-दर्द दूर करने के लिए राष्ट्रोद्धार की भावना से आन्दोलित होता रहता है। उसके मन में इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व बहुत समय तक चलता है। अन्ततः वह अपनी प्रिया द्वारा ही उद्बुद्ध किये जाने पर राष्ट्र प्रेम को प्राथमिकता देता है और शत्रुओं द्वारा पदाक्रान्त स्वदेश की रक्षा एवं उद्धार करने में सफल हो जाता है। इस प्रकार की भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण रामनरेश त्रिपाठी के काव्य बहुत दिनों तक राष्ट्रप्रेमी नवयुवकों के कण्ठहार बने हुए थे।

रामनरेश त्रिपाठी अपनी काव्य-कृतियों में प्रकृति के सफल चितेरे रहे हैं। इन्होंने प्रकृति-चित्रण व्यापक, विशद और स्वतन्त्र रूप में किया है। इनके सहज-मनोरम प्रकृति-चित्रों में कहीं-कहीं छायावाद की भी झलक मिल जाती

है। उदाहरण के लिए 'पथिक' की दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"प्रति क्षण नूतन वेष बनाकर रंग-विरंग निराला। रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।" प्रकृति चित्र हों, या अन्यान्य प्रकार के वर्णन, सर्वत्र रामनरेश त्रिपाठी ने भाषा की सफाई का बहुत खयाल रखा है। इनके काव्यों की भाषा शुद्ध, सहज खड़ी बोली है, जो इस रूप में हिन्दी-काव्य में प्रथम बार प्रयुक्त दिखाई देती है। इनमें व्याकरण तथा वाक्य-रचना सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं मिलती। इन्होंने कहीं-कहीं उर्दू के प्रचलित शब्दों और उर्दू-छन्दों का भी व्यवहार किया है—"मेरे लिए खड़ा था दुखियो के द्वार पर तू। मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।। बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू। मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में।।"

रामनरेश त्रिपाठी ने काव्य-रचना के अतिरिक्त उपन्यास तथा नाटक लिखे हैं, आलोचनाएँ की हैं और टीका भी। इनके तीन उपन्यास उल्लेखनीय हैं—'वीरांगना' (१९११ ई०), 'वीरबाला' (१९११ ई०) और 'लक्ष्मी' (१९२४ ई०) तीन उल्लेख्य नाट्य कृतियाँ ये हैं—'सुभद्रा' (१९२४ ई०) 'जयन्त' (१९३४ ई०) और 'प्रेमलोक' (१९३४ ई०)। आलोचनात्मक कृतियों के रूप में इनकी दो पुस्तकें 'तुलसीदास और उनकी कविता' तथा 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' विचारणीय हैं। टीकाकार के रूप में ये अपनी 'रामचरितमानस की टीका' के कारण स्मरण किये जाते हैं। 'तीस दिन मालवीय जी के साथ 'त्रिपाठी'जी की उत्कृष्ट संस्मरणात्मक कृति है। इनके साहित्यिक कृतित्त्व का एक महत्त्वपूर्ण भाग सम्पादन-कार्यों के अन्तर्गत आता है। सन् १९२५ ई० में इन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और बंगला की लोकप्रिय कविताओं का संकलन और सम्पादन किया। इनका यह कार्य आठ भागों में 'कविता कौमुदी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसी में एक भाग ग्राम-गीतों का है। ग्राम-गीतों के संकलन, सम्पादन और उनके भावात्मक भाष्य प्रस्तुत करने की दृष्टि से इनका कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये हिन्दी में इस दिशा में कार्य करने वाले पहले व्यक्ति रहे हैं और इन्हें पर्याप्त सफलता तथा कीर्ति मिली है। १९३१ से ४१ ई० तक इन्होंने 'बानर' का सम्पादन-प्रकाशन किया था। इनके द्वारा सम्पादित और मौलिक रूप से लिखित बालकोपयोगी साहित्य भी बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध है।

इनकी प्रसिद्धि मुख्यतः इनके कवि-रूप के कारण हुई। ये 'द्विवेदीयुग' और छायावाद युग की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में आते हैं। पूर्व छायावाद युग के खड़ी बोली के कवियों में इनका नाम बहुत आदर से लिया जाता है। इनका प्रारम्भिक कार्य-क्षेत्र राजस्थान और इलाहाबाद रहा। इन्होंने अन्तिम जीवन सुलतानपुर में बिताया। इनका देहान्त सन् १९६२ ई० में हुआ।

—र० भ०

रामनाथ ज्योतिषी—जन्म रायबरेली जिला के भैरवपुर ग्राम मे १८७४ ई० में। व्याकरण, न्याय, ज्योतिष और काव्य का आपको अच्छा ज्ञान था। बारह वर्ष तक चन्दापुर नरेश के साथ रहने के बाद आप अयोध्या के राजा प्रताप नारायण सिंह के दरबार में राजकवि और राजज्योतिषी के रूप में बहुत दिनों तक रहे। रचना-काल १८९४ ई० है। आपकी कृतियाँ हैं—'वीर नारी', 'सी० आर० दास की महायात्रा', 'विधवाबत्तीसी', 'श्रीराम चन्द्रोदय काव्य', 'महाभारत महाकाव्य', 'लाहौर की कांग्रेस', 'मोतीलाल जीवनचरित्र', 'यतीन्द्र-नवरत्न', 'जोतिषी-सतसई', 'कृष्णदत्त काव्य', 'अयोध्या-शाकद्वीपी राजवंश', 'गान्धी और गोलमेज', 'शिवकुमार-जीवन-चरित्र', 'सामयिक साहित्यसरोवर', 'जगदेव-सुयश कदम्ब' और 'शान्ति कुटीर जन्म'। इनमें दृष्टि की नवीनता और विषय एवं शैली की विविधता है। पौराणिक चरित्रों, महापुरुषों की जीवनियों और सामयिक समस्याओं का निरूपण आधुनिक विचारधारा के अनुरूप हुआ है। 'रामचन्द्रोदय' कवि की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसका प्रकाशन १९३६ ई० मे हुआ था। ब्रजभाषा के इस महाकाव्य की प्रबन्ध-शैली केशव की 'रामचन्द्रिका' जैसी है। ज्योतिषी जी में रसात्मकता उतनी नहीं है, जितना पाण्डित्य, उक्ति चमत्कार और नयी सूझ। वे केशव की भाँति आचार्य कवि हैं। उन्होंने ब्रजभाषा की वर्णनात्मक महाकाव्य परम्परा को पुनर्जीवित किया है।

—स० ना० त्रि०

रामनाथ 'सुमन'—जन्म सन् १९०४ ई० में ढोलापुर ग्राम, वाराणसी में। भारतीय भाषाओं में हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती और विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी, फारसी एवं प्राचीन फ्रेंच का ज्ञान है। काफी अर्से तक आप दैनिक 'आज' में लेख लिखते रहे। आपने 'नव राजस्थान' (साप्ताहिक), 'मनोहर कहानियाँ' (मासिक) एवं 'सम्मेलन पत्रिका' (त्रैमासिक) का सम्पादन किया।

आप छायावादी-आन्दोलन के सक्रिय समर्थकों में प्रमुख रहे हैं। तत्सम्बन्धी रचनाएँ 'त्याग भूमि', 'माधुरी', 'चाँद', 'विश्वमित्र', 'सरस्वती', 'सुधा' एवं 'हंस' में प्रकाशित हुई हैं। आपका रचनात्मक जीवन प्रायः वाराणसी, अजमेर, दिल्ली और इलाहाबाद में बीता।

कई वर्षों तक महात्मा गान्धी के व्यक्तिगत सचिव रहे और सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया। उन्हीं के मशविरे से १९४२ ई० में इलाहाबाद में 'साधना सदन' नाम से स्वयं के प्रकाशन का श्रीगणेश किया।

आपने समीक्षा, कविता, अनुवाद, निबन्ध, कथा, राजनीति, संस्मरण, जीवनी, गान्धीवादी साहित्य एवं स्त्र्युपयोगी रचनाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी लिखा है।

समीक्षा-ग्रन्थों में 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' प्रसाद के काव्य-ग्रन्थों का समीक्षात्मक आकलन है। 'माइकेल मधुसूदन दत्त' में मधुसूदन दत्त की कविताओं का विवेचन किया गया है। 'कविरत्न मीर' (१९२६ ई०), 'मीर का सर्वांगीण अध्ययन' (१९५९ ई०), 'दागे जिगर' (१९२५ ई०) तथा 'प्रेम चन्द और उनकी देन' उनकी अन्य समीक्षासम्बन्धी रचनाएँ हैं।

'विपंची' नामक उनका एक प्रेम एवं दार्शनिक गीतों का संग्रह है। 'जीवन यज्ञ' और 'कठघरे से पुकारती वाणी' उनके दो निबन्ध संग्रह हैं। 'वेदी के फूल' एक कथात्मक पुस्तक है। 'गान्धीवाद की रूपरेखा' (१९३७ ई०), 'भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की रूपरेखा' (१९४२ ई०) उनके राजनीतिक

विषयक ग्रन्थ हैं। 'हमारे नेता' (१९४२ ई०), 'स्वर्गीय राष्ट्रनिर्माता' और 'शेरशाह' संस्मरण एवं जीवनग्रन्थ हैं। स्त्र्युपयोगी पुस्तको में 'भाई के पत्र' (१९३१ ई०), 'नारी जीवन' (१९४६ ई०), 'नारी' (१९४६ ई०), 'कन्या' (१९४३ ई०), 'आनन्दनिकेतन' (१९४१ ई०), 'घर की रानी' (१९४१ ई०), 'नारी : गृहलक्ष्मी और कल्याणी', 'नारी जीवन—कुछ समस्याएँ' प्रमुख हैं। 'गान्धी वाणी' (१९४२ ई०) 'गान्धी की राह' (१९६१ ई०) 'युगाधार-गान्धी' (१९४८ ई०), उनके गान्धीवादी दृष्टिकोण की परिचायक पुस्तकें हैं। 'योग के चमत्कार' (१९३८ ई०) उनके योगसम्बन्धी विश्वास को बल देती हैं। 'फोर्सेज एण्ड पर्सनेलिटीज इन ब्रिटिश पॉलिटिक्स', उनकी अंग्रेजी रचना है।

रामनाथ 'सुमन' किसी भी कथा, जीवनी अथवा निबन्ध को भावुकता का, कवित्त्व का, रसमयता का एक पुट देते हैं। विचार और चिन्तन के क्षणों में भी उनके गद्य में काव्य-स्फूर्ति बनी रहती है। सहज, प्रांजल एवं ललित भाषा के वे धनी हैं।

—ह० दे० बा०

रामनारायण मिश्र—इन्होंने स्वयं अपनी जन्मतिथि के विषय में जो विवरण दिया है, उसके अनुसार इनका जन्म सन् १८७६ ई० में दिल्ली में हुआ। मृत्यु सन् १९५३ ई० काशी में हुई। इनके पूर्वज अमृतसर में रहते थे। इनके मामा (डा०) धन्नूलाल इन्हें इनके माता-पिता सहित काशी ले आये (इन्हीं डा० धन्नूलाल के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा विज्ञान की सर्वोत्तम पुस्तक पर पुरस्कार दिया जाता है)। काशी आने के बाद से ये वहीं रहने लगे। क्वींस कालेज में इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के बाद ये शिक्षा-विभाग में सब डिप्टी इंस्पेक्टर हो गये। फिर इन्होंने प्रधान शिक्षा संचालक, डिप्टी इंस्पेक्टर, हेडमास्टर और प्रिंसिपल आदि पदों पर कार्य किया और असाधारण प्रबन्धपटुता का परिचय दिया। सामाजिक सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्य ये जीवन भर रुचि से करते रहे। इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की, जिनमें 'महादेव गोविन्द रानाडे', 'यूरोप में छः मास', 'बालोपदेश' तथा 'भारतीय शिष्टाचार' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संस्थापक-त्रय—श्यामसुन्दर दास, शिव कुमार सिंह तथा राम नारायण मिश्र—में एक थे। अपने पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी ये सभा के किसी-न-किसी पदाधिकारी के रूप में उससे जीवन भर सम्बद्ध रहे। इस प्रकार से हिन्दीभाषा के प्रचार-प्रसार का मार्ग प्रशस्त करने में इनका महत्त्वपूर्ण योग है। सन् १९१९ ई० में इन्होंने विदेश यात्रा की तथा यूरोप के अनेक देशों में भ्रमण करके वहाँ की शिक्षा-पद्धतियों का अध्ययन किया। स्त्री-शिक्षा के प्रचार में भी इन्होंने सक्रिय सहयोग दिया। इन्हें दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सम्मेलन (मद्रास) द्वारा सन् १९३२ ई० में, अखिल भारतीय आर्य कुमार सम्मेलन (मुरादाबाद) द्वारा १९४४ ई० में तथा राष्ट्रभाषा सम्मेलन (लाहौर) द्वारा १९४६ ई० में सम्मानित किया गया। १९४८ ई० में उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) ने 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ने इनकी पुण्य स्मृति में 'हीरक जयन्ती अंक' प्रकाशित किया। आपकी कृतियाँ नागरिकता, स्वदेशभक्ति तथा चरित्र निर्माण की प्रेरणा देती हैं और सहज सात्विकता की भावना भरती हैं। हिन्दी को राष्ट्र भाषा का स्थान दिलाने तथा उसके स्वरूप-विकास एवं प्रचार-प्रसार में आपका विशिष्ट योग है।

—प्र० ना० टं०

रामपूजन तिवारी—जन्म १५ मार्च १९१४ ई० में जिला शाहाबाद में। अनेक वर्षों से हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन में हैं। सूफी मत के सम्बन्ध में आपका कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में 'सूफी मत : साधना और साहित्य' एक प्रामाणिक कृति मानी जाती है। इस कृति पर आप को उत्तर प्रदेश सरकार तथा नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) द्वारा पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। इधर ब्रजबुलि से सम्बद्ध एक अध्ययन और प्रकाशित किया है। इनके अतिरिक्त 'हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका' (सन् १९६० ई०), 'जायसी' (१९६५ ई०), 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' (१९७१ ई०) अन्य प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं।

रामप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'—जन्म २८ जनवरी, १९१३ ई० गढ़वाल (उत्तर प्रदेश) में। शिक्षा के बाद ही आपने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। लगभग २० पुस्तकों के आप लेखक हैं। प्रारम्भ में तो आप विशुद्ध मांसल सौन्दर्य की पार्थिव अपीलवाले कहानी लेखक थे, किन्तु बाद में कुछ प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण आपके विचारों में मोड़ आया। फिर आपने कुछ सामाजिक यथार्थ पर आधारित कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे। कुछ दिनों आपने अखिल भारतीय ब्वॉय स्काउट की मुखपत्रिका 'सेवा' का भी सम्पादन किया था।

'पहाड़ी' के उपन्यासों का शिल्प और कथ्य बहुत कुछ एक अच्छे उपन्यास की प्राथमिक सामग्री होकर रह गया है। यद्यपि 'पहाड़ी' के उपन्यासों में हमें यथार्थ के प्रति जागरूकता दीख पड़ती है किन्तु उस यथार्थ का गलत मोह और गलत आग्रह हमें उनके उपन्यासों में बराबर मिलता रहा है। यही कारण है कि 'पहाड़ी' की लेखनी इधर कुछ वर्षों से शान्त और मौन है। उपन्यास इन्हीं कारणों से सुन्दर और रोचक कृति होने से वंचित रह गये हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा भी लगता है कि लेखक ने एक बड़े चरित्र को उठाकर एकदम तोड़-मोड़ कर रख दिया है, जैसे 'सराय' की रेखा।

कहानियाँ—विशेषकर 'हिरन की आँखें' जैसी कहानियाँ मांसलता की गतिशील जीवन्त दृष्टि न होने के कारण केवल उत्तेजनावर्धक कहानियाँ बनकर रह गयी है। मांसलता अपने में बुरी चीज नहीं है किन्तु प्रश्न यहाँ आकर टिकता है कि उस मांसल सौन्दर्य को कौन वहन कर रहा है।

'पहाड़ी' की भाषा भी इसी प्रकार उखड़ी-उखड़ी सी है। उसमें शक्ति नहीं लगती। लगता है 'पहाड़ी' जिस भाषा का आधार लेकर कहानियाँ लिख रहे हैं, उसमें जीवन के तत्त्वों को समेटने की क्षमता नहीं है। आपके प्रकाशित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—'हिरन की आँखें' (१९३९), 'चलचित्र' (उपन्यास—१९४९), 'छाया में' (कहानियाँ—१९४३), 'निर्देशक' (उपन्यास—१९४६), 'तूफ़ान के बाद' (कहानी संग्रह—१९५३), 'मालवती' (कहानी संग्रह—१९५८),

'सराय' (उपन्यास—१९४६)।

—ल० का० व०

रामप्रसाद 'निरंजनी'—हिन्दी खड़ीबोली-गद्य के इतिहास मे रामप्रसाद 'निरजनी' एक बहुत बड़े सत्य के साक्षी-रूप मे उपस्थित हैं। ग्रियर्सन और उनके अनुयायियो की यह मान्यता कि हिन्दी खड़ीबोली-गद्य का आरम्भ फोर्ट विलियम कालेज की छाया में लल्लू लाल के 'प्रेम सागर' से हुआ, उपहासास्पद प्रतीत होती है, जब हम रामप्रसाद 'निरंजनी' के गद्य पर विचार करते हैं। रामप्रसाद 'निरजनी' पटियाला दरबार के आश्रित थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इन्होंने सन् १७४१ ई० मे 'भाषा योग वासिष्ठ' की रचना की। फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दुस्तानी विभाग की स्थापना सन् १८०३ ई० मे हुई थी। इस प्रकार लल्लू लाल से ६२ वर्ष पूर्व ही इन्होंने उनसे अधिक व्यवस्थित और प्रौढ़ गद्य का उदाहरण प्रस्तुत किया था। इनका झुकाव सस्कृत की तत्समपदावली की ओर है। इनकी भाषा में उर्दू-फारसी का कदाचित् ही कोई शब्द दिखाई पड़े। 'भाषा योग वासिष्ठ' का विषय आध्यात्मिक है, इसलिए उसमें एक प्रकार की पारिभाषिकता भी है किन्तु गद्यविधान कहीं भी शिथिल नहीं होने पाया है। भाषा मे थोडा बहुत पण्डिताऊपन अवश्य है। "आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हौ", "समझाय के कहौ", इस प्रकार के प्रयोग मिल जाते हैं, किन्तु आज से २२० वर्ष पूर्व पूर्ण परिमार्जित गद्य की सम्भावना नही की जा सकती। अब तक की प्राप्त सामग्री के साक्ष्य पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'भाषा योग वासिष्ठ' परिमार्जित खड़ीबोली गद्य की प्रथम पुस्तक है और रामप्रसाद 'निरंजनी' हिन्दी के प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक हैं। आपकी भाषा 'श्रृंखलाबद्ध साधु और व्यवस्थित है। इस दृष्टि से हिन्दी गद्य के विकास में आपका स्थान अन्यतम है।

—रा० चं० ति०

रामप्रसाद त्रिपाठी—प्रसिद्ध भारतीय इतिहासविद्। जन्म १८९० ई० में। प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास—विभाग के अध्यक्ष रहे, फिर सागर विश्वविद्यालय के कुलपति। हिन्दी साहित्य से प्रारम्भ से ही अनुराग रहा है। ब्रजभाषा में काव्य रचना करते रहे। ब्रज-साहित्य मण्डल के मैनपुरी अधिवेशन के अध्यक्ष थे। सागर विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त कई वर्षो तक उत्तर प्रदेश की हिन्दी समिति के अध्यक्ष रूप में विविध विषयों पर प्रामाणिक पुस्तकें लिखवाने और प्रकाशित करने की योजना बनायी और उसे कार्य रूप में परिणत किया। आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के तत्वावधान में प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी विश्व कोश' के प्रधान सम्पादक रहे हैं।

—सं०

रामप्रसाद—उन्नीसवीं शताब्दी में अयोध्या के एक पहुँचे हुए रामभक्त साधु थे। इनकी स्फुट रचनाएँ अयोध्या में बहुत प्रचलित हैं। सीधी-सादी भाषा में मनोभाव व्यक्त कर देते थे। जैसे:—"धनि धनि केसवा कटत कलेसवा सेवत जाहि महेसवा रे। राम प्रसाद प्रहलदवा कारन रघवा होइगा बघवा रे।।"

—सं०

रामप्रिया शरण—ये मिथिलानिवासी रसिक रामभक्त थे। इनकी कुटी उक्त प्रदेश के माधोपुर ग्राम में बताई जाती है। इनके दीक्षा-गुरु नेह कली नामक कोई सखी भावोपासक भक्त थे, जो मिथिला के ही रहने वाले थे। इस सम्बन्ध का निर्वाह इन्होने अयोध्या मे कुछ दिनों रहकर किया था। इन्होंने रामायण के आदर्श पर 'सीतायन' की रचना १७०३ ई० में की थी। इसके अतिरिक्त इनके कुछ फुटकर छन्द भी प्राप्त हुए हैं। श्रृंगारी रामोपासकों की परम्परा मे 'सीतायन' की बाल एवं कैशोर लीलाओं के ही ध्यान तथा गान का विधान है। इनकी कृतियो में इस नियम का पालन साम्प्रदायिक निष्ठा के साथ हुआ है। इनकी रचनाओ में केवल 'सीतायन' का मधुरमाल काण्ड ही १८९७ ई० मे लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित हुआ था।

—भ० प्र० सिं०

राममनोहर लोहिया—जन्म—अकबरपुर (फैजाबाद, उ० प्र०), २३ मार्च, १९१०। शिक्षा अकबरपुर, बनारस और कलकत्ता में। बर्लिन विश्वविद्यालय से १९३३ ई० मे अर्थशास्त्र मे पी० एच० डी०। १९३४ मे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य, राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य, 'कांग्रेस सोशलिस्ट' (अंग्रेजी साप्ताहिक, कलकत्ता) का संपादन। १९३६-३८ में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के विदेश-सचिव। १९४२ की अगस्त क्रांति का नेतृत्व, विशेष रूप में कांग्रेस रेडियो का संचालन। १९४४ के आरम्भ मे गिरफ्तारी, लाहौर के किले में यातनाएँ। १९४६ में रिहाई के दो महीने बाद ही गोआ के मुक्ति संग्राम का नेतृत्व, नेपाल के लोकतांत्रिक आंदोलन का (१९५० तक) मार्ग-दर्शन। १९४६ मे बंगाल और बाद में दिल्ली में गाँधी जी के शांति प्रयत्नो में सक्रिय योग। १९४८ में हिन्दकिसान पचायत के अध्यक्ष। १९४७-५१ समाजवादी दल की विदेश नीति समिति के अध्यक्ष। १९४७ में विश्व-सरकार आंदोलन के सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में यूरोप यात्रा, १९५१ में विश्व यात्रा। १९५४, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के महामंत्री। १९५५-५६, सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना, प्रथम अध्यक्ष। १९५८, अंग्रेजी हटाओ, दाम बाँधों, और जाति विनाश आंदोलनों का सूत्रपात और संगठन। १९६२ में फर्रूखाबाद (उ० प्र०) से उप-चुनाव में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित। १९६४ में अमरीका यात्रा और रंगभेद के विरूद्ध सिविल नाफ़रमानी करने पर गिरफ्तारी। १९६६ में रूस और पूर्वी जर्मनी की यात्रा। १९३७ से १९६६ के बीच ब्रितानी, पुर्तगाली, और कांग्रेसी शासनों द्वारा कुल १८ बार गिरफ्तारी। एक नश्तर के बाद नई दिल्ली के बिलिंगडन अस्पताल में देहान्त, १२ अक्टूबर १९६७।

लोहिया अपने काल के सबसे प्रतिभाशाली विचारकों में थे। मार्क्सवाद की अपर्याप्तता का विश्लेषण करके उन्होंने विश्व समाजवाद का एक नया विचार-दर्शन प्रस्तुत किया। लोहिया ने हिन्दी गद्य को एक नयी शैली दी जो अपनी सादगी, कसाव, शब्दों के सटीक प्रयोग ओर अन्य भाषाओं के शब्दों को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल ढाल कर इस्तेमाल करने में बेमिसाल है। उन्होंने इतिहास, राजनीति धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र जैसे अनेक विषयों पर अपनी बहुसंख्यक रचनाओं में आधुनिक और जटिल से जटिल विचारों को अपनी

अनूठी शैली में अभिव्यक्त देकर न केवल हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति को प्रदर्शित किया बल्कि भाषा की अमता को नया विस्तार किया। अपने राजनैतिक चिंतन मे उन्होंने हिन्दी को रागात्मक और सृजनात्मक स्तर पर अन्य भारतीय भाषाओं से जोड़ा। हिंदी-क्षेत्र के चिंतन मे एक नया आत्मविश्वास विकसित करने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। कृतियाँ—इतिहास-चक्र (१९५४), 'हिन्दू बनाम हिन्दू (१९५५), कांचन-मुक्ति (१९५६), समाजवादी चिन्तन (१९५६), नया समाज—नया मन (१९५६), सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र निर्माण : एक आवाहन (१९५८), सिविल नाफ़रमानी : सिद्धान्त और अमल (१९५८), भारत विभाजन के अपराधी (१९५८), खोज, वर्णमाला, विषमता, एकता (१९६०), सिविल नाफ़रमानी की व्यापकता (१९६०), मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व, और रामायण मेला (१९६२), हिन्दू और मुसलमान (१९६३), पाकिस्तान में पलटनी शासन (१९६३), सरकारी मठी और कुजात गाँधीवादी (१९६३), अन्न समस्या (१९६३) भारत, चीन, और उत्तरी सीमाएं (१९६३), उर्वसीऊं से पत्र (१९६३), जाति—प्रथा (१९६४), नरम और गरम पथ (१९६६), निजी और सार्वजनिक क्षेत्र (१९६६), निराशा के कर्त्तव्य (१९६६), धर्म पर एक दृष्टि (१९६६), क्रांतिकरण (१९६६), समाजवादी आन्दोलन का इतिहास (१९६७)। इनके अतिरिक्त समलक्ष्य और समबोध संपूर्ण और संभव बराबरी समदृष्टि कृष्ण राम,कृष्ण,शिव,वशिष्ठ और वाल्मीकि, हिन्द—पाक युद्ध और एक और अन्य कई पुस्तिकाएँ।

अंग्रेजी में (जो हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं): फैगमेन्टस आफ ए वर्ल्ड माइंड (१९५२) आस्पेक्ट्स आफ सोशलिस्ट पालिसी (१९५४ विल टू पावर (१९५६) फारेन पालिसी (१९६३), मार्क्स गाँधी ऐन्ड सोशलिज्म (१९६३) इंटरवल ड्यूरिंग पालिटिक्स।

[सहायक ग्रन्थ : लोहिया, सिद्धान्त और कर्म—इंदुमति केलकर, लोहिया एन्ड अमेरिका मीट हैरिस वार्फड।
लोहिया की अप्रकाशित रचनाएँ राम मानोहर लोहिया समता विद्यालय न्याय हैदराबाद द्वारा क्रमशः प्रकाशित की जा रही हैं।]

—ओ० प्र० दी०

रामरखसिंह सहगल—जन्म १८९६ ई० में लाहौर के पास रखटेढ़ा नामक गाँव में। मुख्य कार्यक्षेत्र प्रयाग रहा। १९२२ ई० में अपना प्रथम पत्र 'चाँद' बिना किसी आर्थिक सहायता के निकाला। इसके बाद 'चाँद' का उर्दू संस्करण तथा 'भविष्य' नामक साप्ताहिक और दैनिक दोनों निकाले। इसके पश्चात् 'कर्मयोगी' मासिक निकाला। 'चाँद' कार्यालय क्रान्तिकारी विचारों और व्यक्तियों का केन्द्र बन गया, जिसके कारण आप कई बार सरकारी कोप के भाजन बने। १९५२ ई० में आपका देहान्त हो गया।

—सं०

रामरतन भटनागर—जन्म १९१६ में रामपुर में हुआ। शिक्षा लखनऊ तथा प्रयाग में। लखनऊ के निवास-काल में कविवर निराला के निकट संपर्क में रहे। कुछ समय तक प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक थे, फिर सागर चले गए जहाँ हिंदी विभाग मे प्रोफेसर थे। साहित्यिक जीवन का आरंभ तथा परिष्कार लखनऊ तथा प्रयाग में हुआ। छायावादी कवियों और काव्य के साथ आंतरिक सहानुभूति क्रमशः विकसित होती गई, जिसकी निष्पत्ति आप के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'निराला और नवजागरण' (१९६५) में हुई है। कुछ काल तक उन्मुक्त लेखन किया, जिस अवधि की आलोचनात्मक कृतियों में भी पूरी रचना-निष्ठा देखी जा सकती हैं। शोध-ग्रंध के रूप में हिंदी पत्रकारिता के इतिहस पर किया गया आप का कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है।

छायावादी काव्य की भारतीय पुर्नजागरण के संदर्भ में व्याख्या करते समय अपने ऐतिहासिक इतिवृत्त और संवेदनशील समझ दोनो का बहुत अच्छा सामंजस्य किया है। इस संदर्भ में इसका अध्ययन निराला और नवजागरण हिंदी अलोचना में अपने ढंग का अकेला है। वैसे तो पायः सभी छायावादी कवियों के विषय में आपने लिखा है, पर निराला के कार्य आप की समझ और सहानुभूति विशेष रूप से उन्मुख रही है। जहाँ हिंदी आलोचना के आरंभिक कार्यकर्त्ताओं के रूप में आप की ख्याति है, वहाँ आगे के छायावादी क्राव्य तथा निराला संबंधी अध्ययन में आपने समीक्षा के अत्यंत सूक्ष्म उपकरणों का प्रयोग किया है। और सबसे बड़ी बात यह कि प्रभूत परिमाण में लिखने के बावजूद आप आलोचना के अप्रिय विवादों से अलग रहे हैं। छायावादी काव्य की सूक्ष्म संवेदनशील अध्ययन प्रकिया को विकसित करने में डॉ० भटनागर का योगदान विशिष्ट महत्त्व का है।

—सं०

राम-रहीम—राधिकारमण प्रसाद सिंह की प्रथम औपन्यासिक रचना है। इसका प्रथम संस्करण १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ था। आमुख—दो शब्द के अनुसार लेखक के शब्दों में उपन्यास में रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी की टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की गयी है। इसमें इस युग के आचार-विचार और पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियों (बेला और बिजली) के जीवन पटपर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है कला की दृष्टि से 'राम-रहीम' एक सतर्क कृति है। कथानक संघटन तथा चरित्राकन में लेखक को सफलता मिली है। इस कृति का मूल उद्देश्य सामाजिक तथा सुधारवादी है। इसमें वर्त्तमान भौतिकता तथा हिन्दू समाज में व्याप्त धार्मिक अन्धविश्वासों की आलोचना की गयी है। भाषा-शैली व्यावहारिक तथा प्रवाहयुक्त है। कुछ भावुकता प्रधान अंश, संवाद तथा वर्णन, इतने विस्तृत हो गये हैं कि यत्र-तत्र कथा-रस में बाधा पड़ने लगती है। लेखक के अन्य उपन्यासों की तुलना में यह रचना अधिक लोकप्रिय हुई है।

—र० भ्र०

रामलला नहछू—यह रचना गोस्वामी तुलसीदास की है। इस रचना के दो पाठ प्राप्त हुए हैं :—एक वह, जो प्रकाशित मिलता है, जिसमें ४० द्विपदियाँ हैं, और दूसरा उससे छोटा जिमकी अभी तक एक ही प्रति मिली है और जिसमें केवल २६ द्विपदियाँ हैं और दोनों में समान द्विपदियाँ केवल १२ हैं। यह रचना सोहर छन्दों में है और राम के विवाह के अवसर के नहछू का वर्णन

करती है। नहछू नख काटने की एक रीति है, जो अवधी क्षेत्रों में विवाह और यज्ञोपवीत के पूर्व की जाती है। यह विशेष रूप से नाई या नाइन के नेगचार से सम्बन्धित होती है। नख काटने पर उसे नेग-चार दिया जाता है। यह रचना अवधी में है और सरल स्त्री लोकोपयोगी शैली मे प्रस्तुत की गयी है।

इसमें जिस नहछू का वर्णन हुआ है, वह अवधपुर में होता है : "आजु अवधपुर आनन्द नहछू राम कहो" (छन्द १२); "कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो" (छन्द २), किन्तु रामविवाह से पूर्व ही विश्वामित्र के साथ चले गये थे, जहाँ उनका विवाह हुआ, इसलिए इस रचना के सम्बन्ध में एक मत यह भी रहा है कि इसमें यज्ञोपवीत के अवसर का नहछू वर्णित हुआ है किन्तु इसमें राम के लिए 'वर' और 'दूलह' शब्द प्रयुक्त हुए हैं (छन्द ९, १०, १९) और इसमें मायन (मातृ का पूजन) का भी वर्णन हुआ है, जो विवाह के अवसर पर होता है (छन्द १९)। मायन में पावनी जातियों के स्त्री-पुरुष अपने उपहार लेकर आते हैं और यथोचित पुरस्कार पाते हैं। इस रचना में भी लोहारिन बरायन, अहीरिन दहेंडी, तंबोलिन बीड़ा, दरजिन दूल्हे के लिए जोड़ा-जामा, मोचिन पनही और मालिन मौर लाती है (छन्द ५—८)। इसलिए इसमें सन्देह तनिक भी नहीं है कि मुद्रित पाठ में वर्णित नहछू विवाह से सम्बन्धित है। मुद्रित पाठ में इन पावनी जातियों की स्त्रियों के हाव-भावकटाक्षादि का भी वर्णन किया गया है और दशरथ आगत अहीरिन के यौवन पर मुग्ध दिखाये गये हैं (छन्द ५-८)। पुनः इसमें कौसल्या की किसी जेठी का भी उल्लेख किया गया है, जिसके अनुशासन से वे नहछू कराती हैं (छन्द ९)

जो छोटा पाठ प्राप्त हुआ है, उसमें न मायन है और न यह हाव-भाव कटाक्षादि का वर्णन, दशरथ का चरित्र-शैथिल्य और कौसल्या का किसी जेठी से अनुमति प्राप्त करना भी नहीं है, शेष उपर्युक्त वर्णन—अयोध्या में नहछू का होना, और उसके प्रसंग में नाइन के द्वारा राम का नख काटा जाना उसमें भी है। उसमें कहा गया है कि जनक और कौसल्या को लगाकर गाली भी गाई जाती है। अतः यह प्रकट है कि इस पाठ के अनुसार भी नहछू अयोध्या में होता है और वह विवाह के पूर्व का है।

इन तथ्यों पर विचार करने पर मुद्रित पाठ तुलसीदास का ज्ञात नहीं होता, अमुद्रित छोटा पाठ ही उनका हो सकता है किन्तु यह छोटा पाठ भी कदाचित् उस समय का होना चाहिए, जब उन्हें कथा के सुजन समाज में प्रचलित रूप को अक्षुण रखने के लिए कोई ध्यान न रहा होगा। उन्होंने राम के विवाह का वर्णन अपनी राम-कथा विषयक शेष सभी रचनाओं में किया है किन्तु अवधपुर में राम के नहछू होने का उल्लेख किसी भी अन्य रचना में नहीं किया है। इसलिए यह रचना अपने छोटे पाठ में उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से ही हो सकती है। उनकी ज्ञात तिथिवाली रचनाएँ 'रामचरितमानस' (सं० १६३१) तथा 'रामज्ञा प्रश्न' (सं० १६२१) हैं, अतः इसे यदि हम 'रामाज्ञा प्रश्न' से भी कम से कम पाँच वर्ष सं० १६१६ के लगभग की रचना मानें, तो सम्भव है हमारा अनुमान वास्तविकता के निकट हो। रचना की शिथिल और अपरिपक्व शैली भी इसे तुलसीदास की अन्य स्वीकृत रचनाओं से पूर्व का बताती हैं।

—मा० प्र० गु०

रामलाल सिंह—जन्म १ जनवरी सन् १९१५ मे वाराणसी जिले के बथावर ग्राम में। शिक्षा—सकलडीहा मिडिल स्कूल वाराणसी, सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल काशी तथा काशी विश्वविद्यालय में हुई। काशी विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० करने के बाद सागर विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज उदयपुर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज नागपुर यूनिवर्सिटी, नागपुर, में प्राध्यापक रहे। सन् १९४८ में आप की नियुक्ति सागर विश्वविद्यालय, सागर, के.हिन्दी-विभाग मे हुई जहाँ आप फरवरी १९६८ तक प्रवक्ता तथा रीडर पद पर रहे। १९६८ मे लोकसेवा आयोग उत्तर प्रदेश के सदस्य मनोनीत हुए, सम्प्रति उसी पद पर हैं। आप की शैली पर आप के सीधे-सादे सरल व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। गूढ़ से गूढ़ विषय को भी सरल, सुबोध भाषा में बोधगम्य बना देना आप की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है।

प्रमुख कृतियाँ:—'कामायनी अनुशीलन' (१९४४ ई०), 'समीक्षा दर्शन' प्रथम भाग (१९५२), द्वितीय भाग (१९५३ ई०) आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त (१९५८ ई०), भाषा-दर्शन (१९६३ ई०), भाषा और साहित्य (१९६५ ई०), तुलसी काव्य-दर्शन (१९७२ ई०), संस्कृत शिक्षण (१९७२ ई०)।

रामलोचन शरण—जन्म मुजफ्फरपुर (बिहार) के राधाउर गाँव में १८९० ई० में हुआ था। वे बिहार प्रदेश के लेखक ही नहीं, प्रमुख प्रकाशक तथा साक्षरता आन्दोलन के प्रचारक भी थे। वस्तुतः सन् १९२० ई० से लेकर सन् १९४० ई० तक बिहार प्रदेश में हिन्दी की साहित्यिक गतिविधियों में उनकी गहरी दिलचस्पी रही। वे अपने आप में एक व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उनका वास्तविक महत्त्व उनके लेखन में न होकर सक्रिय साहित्यिक कार्यकर्ता और संयोजक होने में था। 'पुस्तक भण्डार' लहेरिया सराय, और पटना की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था के स्वामी थे। इस प्रकाशन संस्था का प्रारम्भ उन्होंने १९१५ ई० में किया था, जब कि वे गया जिला स्कूल में हिन्दी के शिक्षक थे। तब से इस संस्था के माध्यम से हिन्दी के प्रचार-प्रसार से लेकर उच्च कोटि के साहित्य प्रकाशन तक का प्रभूत काम हुआ है। राम लोचन शरण जी ने इस भण्डार की ओर से ही हिन्दी का प्रसिद्ध बाल मासिक 'बालक' निकाला, जिसने कि बाल-साहित्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया। यह सबसे पुराना बाल मासिक पत्र है, जिसका प्रकाशन आज भी अनवरत हो रहा है। रामलोचन जी स्वयं इसका सम्पादन करते थे। प्रारम्भ में उन्होंने बिहार में हिन्दी में भाषागत शुद्धता लाने की वैसी ही चेष्टा की थी जैसी कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक व्यापक क्षेत्र में की थी। उन्होंने बाल-साहित्य से सम्बन्धित बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में १९४२ ई० में उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया था। रामलोचन जी ने दो सौ से ऊपर पुस्तकें लिखीं या सम्पादित की हैं—इनमें अधिकांशतः शिक्षाप्रद या बाल-साहित्य सम्बन्धी हैं। १९६० ई० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने वयोवृद्ध साहित्यिक सम्मान पुरस्कार देकर सम्मानित किया। इसके पहले भारत सरकार ने १९४२ ई० और सन् १९४६ ई० मे सम्मानित किया था, तथा

१९३८ ई० में बिहार की पहली काँग्रेस सरकार ने राजेन्द्र स्वर्ण पदक देकर सम्मानित किया था। तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' उन्होंने सम्पादित करके प्रकाशित की तथा 'रामचरितमानस' का और समस्त तुलसी-साहित्य का मैथिली एवं नेपाली में अनुवाद किया। 'गान्धी जी के पदचिन्हों पर' तथा 'योग और नयी प्रवृत्तियाँ' संख्यामाला में उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनका देहावसान ८२ वर्ष केसाहित्यिक कर्मठ जीवन के बाद १४ मई १९७१ ई० को हुआ।

—दे० शं० अ०

रामविलास शर्मा—जन्म १९१२ ई० में। हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति के एक प्रमुख स्तम्भ। सन् १९७१ ई० में क० मुं० विद्यापीठ में अध्यापन प्रारंभ किया। सम्प्रति सेवानिवृत्त इसके पूर्व आगरा के ही बलवंत राजपूत कॉलेज में अँग्रेजी के प्राध्यापक रहे। अपने उग्र और उत्तेजनापूर्ण निबन्धों से आपने हिन्दी समीक्षा को एक गति प्रदान की है। सम्पूर्ण साहित्य—नये और पुराने को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने-परखने का प्रस्ताव आपने बड़ी क्षमता के साथ किया है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों समीक्षा-पद्धतियों से अपने विचारों को पुष्ट करने का यत्न किया और कर रहे हैं। 'समालोचक' नामक एक पत्र भी आपके सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। आपकी समीक्षा-कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं—'प्रेमचन्द और उनका युग' (१९५३), 'निराला' (१९४६ ई०), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'प्रगति और परम्परा', 'भाषा, साहित्य और संस्कृति' (१९५४ ई०), 'भाषा और समाज (१९६१ ई०) 'निराला की साहित्य साधना' (१९६९),।

रामविलास शर्मा ने यद्यपि कविताएँ अधिक नहीं लिखीं, पर हिन्दी के प्रयोगवादी काव्य-आन्दोलन के साथ वे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं। 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' (१९४३ ई०) के एक कवि-रूप में आपकी रचनाएँ काफी चर्चित हुई हैं।

—सं०

रामवृक्ष बेनीपुरी—जन्म जनवरी १९०२ ई०। जन्मस्थानग्राम बेनीपुर, जिला मुजफ्फरपुर (बिहार) शिक्षा साहित्य सम्मेलन से विशारद, १९२० ई० में मैट्रिक पास करने से पूर्व असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण स्कूली शिक्षा की परिसमाप्ति। 'रामचरित मानस' जैसे धार्मिक साहित्यिक ग्रन्थों के पठन-पाठन द्वारा साहित्य तथा काव्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई। साहित्य-सेवा के क्षेत्र में पत्रकारिता के माध्यम से आये। अब तक कोई एक दर्जन साप्ताहिक, मासिक एवं दैनिक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन कर चुके हैं। सम्पादन के काल-क्रम के अनुसार कुछ पत्रिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—'तरुण भारत' (साप्ताहिक, १९२१ ई०), 'किसान मित्र', (साप्ताहिक, १९२२ ई०), 'बालक' (मासिक, १९२६ ई०), 'युवक' (मासिक, १९२९ ई०), 'लोक संग्रह' और 'कर्मवीर' (१९३४ ई०), 'योगी' (साप्ताहिक, १९३५ ई०), 'जनता' (साप्ताहिक, १९३७ ई०), 'हिमालय', (मासिक, १९४६ ई०), 'नई धारा' (मासिक तथा 'चुन्नू-मुन्नू (बालोपयोगी मासिक, १९५० ई०)।

रामवृक्ष बेनीपुरी बहुमुखी प्रतिभावाले लेखक हैं। इन्होंने गद्य की विभिन्न विधाओं को अपनाकर विपुल मात्रा में साहित्य सृष्टि की है। इनकी रचनाओं में कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, यात्रा-वृत्तान्त, ललित लेख आदि के अच्छे उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। इनके लेखन का एक भाग बाल-साहित्य के अन्तर्गत आता है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादक की हैसियत से लिखी गयी इनकी टिप्पणियों तथा अग्रलेखों की संख्या भी कम नहीं है। इन कार्यों के अतिरिक्त इन्होंने कतिपय ग्रन्थों का सम्पादन किया है तथा कुछ टीकाएँ भी लिखी हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी की प्रकाशित तथा अप्रकाशित कृतियों की संख्या साठ से अधिक है। 'बेनीपुरी प्रकाशन' के तत्त्वावधान में इनके समस्त कृतित्व को 'बेनीपुरी ग्रन्थावली' की दस जिल्दो के अन्तर्गत प्रकाशित करने की योजना चल रही है। ग्रन्थावली के प्रथम खण्ड के अन्तर्गत इनके शब्द चित्र, कहानियाँ तथा उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—'माटी की मूरतें' (१९४१-४५ ई०), 'पतितों के देश में' (१९३०-३२ ई०), 'लालतारा' (१९३७-३९ ई०), 'चिता के फूल' (१९३०-३२ ई०), 'कैदी की पत्नी' (१९४० ई०), 'गेहूँ और गुलाब' (१९४८-५० ई०)। ग्रन्थावली का दूसरा खण्ड नाटकावली के रूप में प्रकाशित है। इसमें कुल छोटी-बड़ी बारह नाट्य कृतियाँ हैं—'अम्बपाली' (१९४१-४५ ई०), 'सीता की माँ' (१९४८-५० ई०), 'संघमित्रा' (१९४८-५० ई०), 'अमर ज्योति' (१९५१ ई०), 'तथागत), 'सिहलं विजय', 'शकुन्तला', 'रामराज्य', 'नेत्रदान' (१९४८-५० ई०), 'गाँव के देवता', 'नया समाज', तथा 'विजेता (१९५३ ई०)। बेनीपुरी की अन्य प्रकाशित कृतियों में 'विद्यापति की पदावली' (सम्पादित), 'बिहारी सतसई की सुबोध टीका', 'जयप्रकाश' (जीवनी) और 'वन्दे वाणी विनायकौ' (ललितगद्य, १९५३-५४ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

एक विशिष्ट प्रकार की अलंकृत भाषा तथा भावुकता प्रधान शैली के कारण हिन्दी गद्य के इतिहास में रामवृक्ष बेनीपुरी का अपना स्थान है। इस प्रकार की भाषा-शैली संस्मरण तथा रेखाचित्रों के लिए अधिक उपयुक्त होती है और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस दिशा में बेनीपुरी को पर्याप्त सफलता मिली है। इनकी 'माटी की मूरतें' नामक कृति बहुत प्रसिद्ध है। इसमें संकलित विभिन्न रेखाचित्र (शब्दचित्र) प्रतिदिन के सामाजिक जीवन तथा व्यक्तियों की सहज-सरस अनुकृति हैं। इन व्यक्ति-चित्रों के अंकन में बेनीपुरी के हृदय ने उनका साथ दिया है तथा उनकी "चपल खंजन सी फुदकती भाषा" ने उक्त चित्रों को अत्यन्त सजीव बना दिया है। किन्तु इसी प्रकार की भाषा-शैली के कारण उन्हें विचारों की गम्भीर अभिव्यक्ति तथा चिंतन के क्षेत्र में कठिनाई हुई है। उक्त प्रकार की ओजपूर्ण अलंकृत भाषा-शैली को वे कहीं छोड़ नहीं पाये हैं क्योंकि वह उनके लेखन की अनिवार्य विवशता है। उनकी शैली कहीं-कहीं उद्‌बोधन तथा भाषण-शैली के अनुरूप हो जाती है और उसमें उपदेशात्मकता की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। अस्तु, जब वे विचारों, तर्कों तथा स्थापनाओं के जगत् में उतरना चाहते हैं तो अनावश्यक रूप से भावुकता में उलझने लगते हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी की नाट्यकृतियाँ प्रायः ऐतिहासिक

कथानकों पर आश्रित हैं। 'अम्बपाली', 'तथागत' तथा 'विजेता' की कथावस्तु ऐतिहासिक ही है। इन नाटकों की रचना में बेनीपुरी ने रगमंच तथा अभिनय की सुविधाओं का विशेष ध्यान रखा है। वे नाटकसम्बन्धी 'युग की माँग' से परिचित हैं कि "नाटक छोटे हों, जो दो ढाई घण्टे में खेल लिये जा सकें। उतने ही दृश्य हों कि इण्टरवल के समय फिट कर लिये जायें। पात्र-पात्रियों की संख्या ऐसी हो कि कुछेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही लेकर अभिनय करा लिया जा सके" ('विजेता' की भूमिका)। इस प्रकार के रगमंचीय दृष्टिकोण के निर्वहन मे बेनीपुरी को पर्याप्त सफलता मिली है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा तथा कथोपकथनों की दृष्टि से उन्होने युग की माँग पर ध्यान नहीं दिया है। भाषा क्लिष्ट और अव्यावहारिक है एवं कथोपकथन लम्बे हैं और उनमे एक बात के लिए एक भाषण दे डालने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने संगठनात्मक तथा प्रचारात्मक कार्यों द्वारा भी हिन्दी की बड़ी सेवा की है। इनका नाम बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में लिया जाता है। ये सन् १९४६ ई० से १९५० ई० तक उसके प्रधानमन्त्री तथा १९५१ ई० में सभापति रहे हैं। १९२९ ई० में इन्होने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मन्त्री का भी कार्य किया था। भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई में इनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। १९३० से '४२ ई० तक इनके जीवन का महत्त्वपूर्ण समय जेल-यात्रा करते बीता है। आपकी मृत्यु १९६८ ई० में हुई।

[सहायक ग्रन्थ—बेनीपुरी ग्रन्थावली, पहला-दूसरा खण्ड।]

—र० भ्र०

रामशंकर व्यास—जन्म सन् १८६० ई० में। इन्होंने कई स्थानों पर नौकरी की थी और एक रियासत में मैनेजर भी रहे थे। इन्होंने 'खगोल दर्पण', 'वाक्य पंचाशिका', 'नैपोलियन की जीवनी', 'बात की करामात', 'बेनिस का बाँका', 'चन्द्रास्त', 'नूतन पाठ' और 'राय दुर्गाप्रसाद का जीवन चरित्र' नामक पुस्तकों की रचना की थी। इन पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने बंगला से सन् १८८६ ई० में 'मधुमालती' तथा 'मधुमती' का अनुवाद भी किया था। ये 'कविवचन सुधा' तथा 'आर्यमित्र' के सम्पादक भी रहे थे। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अत्यन्त घनिष्ठ मित्रों में थे और उन्हें यह उपाधि इन्होंने ही सबसे पहले प्रदान की थी। ये गद्य के बहुत सफल लेखकों में थे। इनका देहावसान सन् १९१६ ई० में हुआ।

—प्र० ना० टं०

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—जन्म बाँदा जिले के मऊ ग्राम, १८९९ ई० में। १९२७ ई० में एम० ए० पास कर आप कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ में अध्यापक हुए। १९३६ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। प्रयाग, सागर और गोरखपुर विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग में क्रमशः लेक्चरर, रीडर और प्रोफेसर के रूप में काम करने के बाद १९६० ई० में आपने अवकाश ग्रहण किया। कृतियाँ हैं—'रसालमंजरी', 'उद्धव-शतक' (अप्रकाशित), 'अजसमोचन' (ब्रजभाषा काव्य), 'काव्यपुरुष', 'भोजराज', 'गुरुदक्षिणा' (खड़ीबोली का काव्य); 'अलंकार पीयूष' भाग २, 'अलंकार कौमुदी' (काव्यशास्त्र), 'नाटयनिर्णय' (नाटयशास्त्र), 'सूर समीक्षा', 'आलोचनादर्श', 'गद्य-काव्यालोक' (आलोचना), 'भाषा शब्द कोश', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'साहित्य प्रकाश', 'साहित्य परिचय' (इतिहास), 'रचना-विकास', 'गद्य कुसुमांजली' (निबन्ध), 'आधुनिक ब्रजभाषा काव्य', 'मीरामाधुरी', 'नूतन ब्रजभाषा काव्य मजरी' (संग्रह), 'आगमन और निगमन शास्त्र' भाग २। आप एक सफल अध्यापक, ब्रजभाषा—साहित्य के मर्मज्ञ, काव्यशास्त्र के विशेषज्ञ और प्रतिभा सम्पन्न कवि-आचार्य थे। आपका 'काव्यादर्श' बहुत कुछ रीतिकालीन कवियों जैसा था। कविताओं में शाब्दिक चमत्कार की प्रधानता है। शास्त्रीय दृष्टि से आपने कुछ नवीन अलंकारों की उद्भावना भी की थी। कोशकार के रूप में आपकी विशेष उपलब्धि शब्दों को काव्यपंक्तियों से उदाहृत करने की थी। आपका देहान्त प्रयाग में हुआ।

—स० ना० त्रि०

रामसखे—ये १८ वी शती के उत्तरार्द्ध में जयपुर के एक कुलीन ब्राह्मण कुटुम्ब में उत्पन्न हुए थे। बाल्यकाल में ही इनके हृदय में रामभक्ति के अंकुर प्रस्फुटित हुए। बड़े होने पर गृह त्यागकर पर्यटन करते हुए ये उडुपी पहुँचे और माध्व सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य वशिष्ठ तीर्थ के शिष्य हो गये। उडुपी से अयोध्या आकर इन्होंने कुछ समय तक भजन किया। यहाँ से चित्रकूट गये और बारह वर्ष पर्यन्त अनुष्ठानपूर्वक 'रामनाम' का जप किया। पन्ना नरेश हिन्दूपति से इनकी भेंट यहीं हुई। इसके बाद १७७४ ई० में ये मैहर चले गये और फिर आजन्म वहीं रहे। मैहर के महाराज दुर्जनसिंह इनके शिष्य हो गये। इन्होंने रामसखे की प्रधान गद्दी मैहर में स्थापित करायी और अयोध्या में 'नृत्यराघव कुंज' नामक मन्दिर निर्मित करके इन्हें समर्पित किया। इन दोनों स्थानों पर इनकी शिष्य-परम्परा अबतक वर्तमान है।

रामसखे की निम्नलिखित कृतियाँ खोज में मिली हैं—'द्वैतभूषण', 'पदावली', 'रूपरसामृत सिन्धु', 'नृत्य राघव मिलन दोहावली', 'नृत्य राघव मिलन कवितावली', 'रासपद्धति', 'दानलीला', 'बानी', 'मंगल शतक' और 'रागमाला'। इनकी रचना-शैली प्रौढ़ और काव्यगुणयुक्त है। कवि होने के साथ ही ये संगीत शास्त्र के भी पारंगत विद्वान् थे।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवतीप्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

राम सतसई—इसके रचयिता रामसहाय दास हैं। 'श्रृंगार सतसई', 'रामसप्तसतिका' नामों से भी यह रचना ख्यात है। यह बिहारी के अनुकरण पर रची गयी है। सन् १८७७ ई० की इसकी प्रतिलिपि उपलब्ध होती है, जिसके आधार पर भारत जीवन प्रेस, काशी से इसका प्रकाशन हुआ था। श्यामसुन्दर दास ने 'सतसई सप्तक' ग्रन्थ में इसे भी प्रकाशित किया है। मिश्र बन्धुओं ने इसे 'परमोत्तम श्रृंगार ग्रन्थ' मानते हुए बताया है कि "इस सरस कवि ने बिहारी के पैरों पर पैर रखे हैं" तथा यह रचना बिहारी की रचना में मिश्रित होने योग्य है। यह बहुत ही मधुर ग्रन्थ है। रामनरेश त्रिपाठी भी इसके ७०० दोहों को बिहारी की टक्कर का मानते हैं। श्यामसुन्दर दास इसे

मतिराम की रचना के सदृश सरस तथा स्वाभाविक मानते हैं और इसमें माधुर्य तथा प्रसाद गुण की प्रचुरता स्वीकार करते हैं। यद्यपि इसमें सर्वत्र सुरुचि नहीं है, तथापि इसकी रसवत्ता असन्दिग्ध है। इसमें भी सन्देह नहीं कि भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टियों से ये बिहारी की रचना से पर्याप्त रूप में प्रभावित भी हैं। शुक्लजी को भी यह स्वीकार है कि "इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं" किन्तु उनका मत है कि "यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाये जा सकते हैं, रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नहीं, बिहारी को भी कुछ नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायेगा।" शब्दों की कारीगरी तथा वाग्वैदग्ध का अनुकरण करने पर भी हावों का सुन्दर विधान, चेष्टाओं का मनोहर चित्रण, भाषा का सौष्ठव, संचारियों की व्यंजना—इसमें बिहारी की रचना जैसी नहीं है।

[सहायक ग्रन्थ—सतसई सप्तक; क० कौ० (भाग १); हि० सा० इ०; मि० वि०।]

—आ० प्र० दी०

रामसहाय दास—ये अस्थाना कायस्थ थे और चौबेपुर, बनारस (उत्तरप्रदेश) के रहने वाले थे। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि इनके पिता का नाम भवानीदास तथा गुरु का नाम चिन्तामणि था। ये स्वयं महाराज उदितनारायण सिंह गहरवार, काशी नरेश के आश्रित थे। 'शिवसिंह सरोज' से सन् १८४५ ई० (सं० १९०१ वि०) में इनकी उपस्थिति का पता चलता है किन्तु जन्मकाल के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इतिहास लेखकों ने आपका कविता-काल सन् १८०३ से १८२३ ई० तक माना है। ये स्वभाव के बड़े विनम्र तथा भक्तहृदय व्यक्ति थे। यही कारण है कि इनकी 'भगत' नाम से प्रसिद्धि हो गयी थी और ये स्वयं भी 'भगत' छाप से रचनाएँ किया करते थे।

'सरोज' में आश्रयदाता तथा उपस्थिति-काल के अतिरिक्त केवल यह और बतलाया गया है कि इन्होंने 'वृत्ततरंगिणी सतसई' नामक पिंगल का बहुत सुन्दर ग्रन्थ बनाया है किन्तु 'मिश्रबन्धु विनोद' में 'रामसतसई' मात्र का उल्लेख हुआ है और रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' भाग १ में 'श्रृंगार सतसई' के सिवाय 'वृत्तरंगिनी', 'ककहरा', 'रामसप्तसतिका' और 'वाणी भूषण' के इनके द्वारा रचे जाने का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों में से 'रामसतसई' तथा 'श्रृंगार सतसई' एवं 'रामसप्तसतिका' तीनों एक ही पुस्तक के नाम जान पड़ते हैं और प्रायः लेखकों ने ऐसा स्वीकार भी किया है। 'वाणीभूषण' जैसा नाम से प्रतीत होता है, अलंकार का ग्रन्थ रहा होगा परन्तु अब 'ककहरा' के समान ही अनुपलब्ध है। 'ककहरा' जायसी के 'अखरावट' के समान छोटी-सी पुस्तक मानी गयी है और शुक्लजी इसे इनकी अन्तिम रचना मानते हैं क्योंकि उसमें धर्म और नीति के उपदेश हैं। 'वृत्ततरंगिनी' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में अब उपलब्ध है। यह छन्द वर्णन का ग्रन्थ है।

रचनाओं के विषय-विभाजन की दृष्टि से रामसहायदास लक्षणग्रन्थ लेखक के साथ ही लक्ष्यग्रन्थकार ठहरते हैं। विशेषतः इनकी प्रसिद्धि 'रामसतसई' के कारण ही हुई है, अतएव इन्हें मुख्यतः लक्ष्यकारों में रखना ही इतिहासकारों को प्रिय रहा है। श्रृंगारसम्बन्धी इनकी इस मुक्तक रचना के आधार पर इन्हें रीतिमुक्त बोधा, असनी तथा बुन्देलखण्ड के ठाकुर, द्विजदेव, पजनेस तथा सेवक के साथ रखा जाता है। रीतिकालीन कवियों में प्राचीन आधार पर नवीन छन्दों की रचना करनेवाले केशवदास, मतिराम, माखन तथा दशरथ के साथ रामसहाय दास का नाम ससम्मान लिया जायगा। इनकी यह भी विशेषता स्मरण करने योग्य है कि छन्द-विचारकों में केवल इन्होंने ही व्याख्या के लिए सम्पूर्ण ग्रन्थ में वार्ता नाम से गद्य का सहारा लिया है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; क० कौ० (भा० १) हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भाग ६)।]

—आ० प्र० दी०

रामसिंह (महाराज)—ये नरवरगढ़ (ग्वालियर) के नरेश और कूर्मवंशी राजा छत्रसिंह के पुत्र थे: "कूरम कुल नरवर नृपति छत्रसिंह परवीन। रामसिंह तिहिं तनय यह बरन्यो ग्रन्थ नवीन।।" खोज में इनकी चार रचनाएँ प्राप्त हुई हैं: (१) 'अलंकार-दर्पण', (२) 'रस-शिरोमणि', (३) 'रस-निवास' और (४) 'रस-विनोद'। पहिली रचना में अलंकारों और शेष अन्य तीन रचनाओं में रस-विशेषकर श्रृंगार-रस का वर्णन किया गया है। रीति-प्रवृत्ति अथवा परम्परा के अनुकूल ही इन रस-ग्रन्थों में अन्य रसों को उतना विस्तार से स्थान नहीं मिल पाया है, जितना श्रृंगार-रस और उसके अन्तर्भूत नायिका-भेद को। क्रम से अन्तिम तीन रसपरक रचनाओं के रचना-काल हैं: सन् १७७३ ई०, १७८२ ई० और १८०३ ई० और अलंकार ग्रन्थ 'अलंकार-दर्पण' की हस्तलिखित प्रति दतियाराज के पुस्तकालय में है। 'अलंकार-दर्पण' का प्रकाशन भी भारत जीवन प्रेस, बनारस से १८९९ ई० में हुआ था। इस ग्रन्थ के ३८३ छन्दों में केवल अर्थालंकारों का वर्णन है। रामसिंह अलंकार को काव्य का सहायक तत्त्व मानते हैं। इन्होंने प्रायः 'कुवलयानन्द' का अनुसरण किया है। 'रस-शिरोमणि' २३२ छन्दों का ग्रन्थ है। इसमें रस-श्रेष्ठ श्रृंगार का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है, इसी कारण इसका नाम 'रस-शिरोमणि' रखा गया है। संस्कृत की रचना 'रसमंजरी' के आधार पर ही इसमें नायिका-भेद का वर्णन किया गया है और श्रृंगारेतर रसों को केवल गिना भर दिया गया है।

'रस-निवास' कवि का सर्वश्रेष्ठ रस-ग्रन्थ है। इसमें भाव, विभाव, स्थायीभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं संचारी भाव आदि वर्णनों के साथ और रस और नायिका-भेद का सुन्दर वर्णन किया गया है। यही ग्रन्थ कवि के मौलिक चिन्तन का प्रतीक है। कवि के द्वारा प्रदत्त लक्षण-उदाहरण बड़े साफ और स्पष्ट हैं। देव आदि कवियों की भाँति ही उसने रस के लौकिक-अलौकिक संज्ञक भेद माने हैं। उसमें लौकिक रस को ही काव्य की संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त भी कवि ने स्वनिष्ठ और परनिष्ठ नाम से रस के दो भेद किये हैं। उसके अनुसार रसानुभूति का आत्मस्थ रूप स्वनिष्ठ और परानुभूत रूप परनिष्ठ रस कहलाता है। रस-वर्णन-प्रसंग में शान्तरस-वर्णन के पूर्व उसने माया-रस का वर्णन किया है, जिसकी स्थिति अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती। वास्तव में उसका समाहार श्रृंगारादि अन्य लौकिक रसों में हो जाता है, इसलिए अलग से माया-रस की स्थिति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इनके अतिरिक्त कवि ने

रस-दृष्टि, रस-भाव का सम्बन्ध, रस-विरोध और अलंकारों का रस तथा भावों से सम्बन्ध का सुन्दर और साफ वर्णन किया है। कवि के अनुसार रस का निरूपण तीन तरह से होता है–अभिमुख, विमुख और परमुख। जहाँ रस विभावानुभाव-संपोषित होकर आता है, वहाँ अभिमुख, जहाँ इनमें किसी प्रकार का कोई अभाव होता है, वहाँ विमुख और जहाँ भाव या अलंकार की प्रधानता होती है, वहाँ परमुख होता है। इस प्रकार कई ऐसी मान्यताएँ हैं, जिनके कारण कवि में मौलिक काव्य-चिन्तन की दृष्टि माननी पड़ती है। कवित्व की दृष्टि से भी इनका काव्य काफी पुष्ट और स्मरणीय है।

[सहायक ग्रन्थ–मि० वि०; खो० वि० (त्रै० १३); हि० का० शा० इ०; हि० अ० सा०।]

–रा० त्रि०

रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'–जन्म २१ नवम्बर, १९०२ ई० को अम्लिया, जिला फैजाबाद (उत्तर प्रदेश) में। प्रारम्भ से ही एक प्रतिभासम्पन्न छात्र थे। इन्होंने मुख्यतः शैक्षणिक संस्थाओं में कार्य किया है। ये अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषा तथा साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं। इन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी, दोनों भाषाओं में पुस्तकें लिखी हैं–'हिन्दी सौरभ' (काव्य–१९२७ ई०), 'अवधी कोश' (१९५५ ई०), 'दूजका चाँद' (अनुवाद–१९२८ ई०)। आपके अनुवाद विशेष सफल हैं। 'अवधी-कोश' आपकी आजीवन साधना का फल और हिन्दी-साहित्य के लिए महती देन है।

–स० ना० त्रि०

रामाज्ञा प्रश्न–गोस्वामी तुलसीदास की यह एक ऐसी रचना है, जो शुभाशुभ फल विचार के लिए रची गयी है किन्तु यह फल-विचार तुलसीदास ने राम-कथा की सहायता से प्रस्तुत किया है। यह सारी रचना दोहों में है, जो सात-सात सप्तकों के सात सर्गों में विभक्त है और प्रत्येक सप्तक सात दोहों का है। फल-विचार के लिए पुस्तक खोलने पर जो दोहा मिलता है, उसके पूर्वार्द्ध में राम-कथा का कोई प्रसंग आता है और उत्तरार्द्ध में शुभाशुभ फल। रचना अवधी में है और तुलसीदास की प्रारम्भिक कृतियों में है। रचना तिथि इसके निम्नलिखित दोहे में आती है–"सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान। होई सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान।।" शशि=१, नयन=२, गुण =६, नय =४ तथा बाण = ५ और दोनों का आधिक्य (अन्तर) =१। इस प्रकार रचना की तिथि सं० १६२१ है। इसमें स्वभावतः वह परिपक्वता नहीं है, जो 'मानस' अथवा अन्य परवर्ती रचनाओं में है। प्रबन्ध-निर्वाह में तो त्रुटि प्रकट है। तीसरे सर्ग तक कथा रामजन्म से सुन्दर-काण्ड के वानरसम्पाती-मिलन तक आकर लौट पड़ती है और आगे के तीन सर्गों में पुनः रामजन्म से प्रारम्भ होकर सीता अवनि प्रवेश तक चलती है। सातवाँ सर्ग बहुत स्फुट ढंग पर लिखा गया है, उसके छठे सप्तक में राम के वनगमन की कथा आती है किन्तु शेष छः सप्तकों में कथा न देकर राम भक्ति मात्र का सहारा लिया गया है।

कथा की दृष्टि से यह 'मानस' से कुछ विस्तारों में भिन्न है। जैसे इसमें विवाह के पूर्व का राम-सीता का पुष्प-वाटिका प्रसंग नहीं है। धनुर्भंग के बाद राम-विवाह का निमन्त्रण लेकर जनक की ओर से दशरथ के पास शतानन्द जाते हैं। परशुराम-राम मिलन स्वयंवर-भूमि में न होकर बारात के लौटते समय मार्ग में होता है। वनवास में राम का प्रथम पड़ाव तमसा तट पर न होकर सुरसरि तट पर होता है। चित्रकूट में जनक का आगमन नहीं होता। सीता की खोज में जाने पर विभीषण से हनुमान् की भेंट नहीं होती। सेतुबंध के अवसर पर शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख नहीं है। अंगद को रावण के पास दूतत्व के लिए नहीं भेजा जाता है। साथ ही, इसमें सीता-राम के अयोध्या लौटने पर सीता के अवनि प्रवेश तक के कुछ ऐसे कथा-प्रसंग आते हैं, जो 'मानस' में नहीं हैं। जैसे मृत ब्राह्मण बालक को जीवन-दान (६.५१६), बक-उलूक तथा यती-श्वान विवादों का समाधान (६-६-१-३), सीता-त्याग और लव-कुश जन्म (६-६-४-६) तथा (७-४) और सीता का अवनि-प्रवेश (६-७-६)। इन अन्तरों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कवि पर 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना तक 'प्रसन्न राघव नाटक', 'हनुमन्नाटक' तथा 'अध्यात्म रामायण' का उतना प्रभाव नहीं था, जितना बाद को 'मानस' की रचना के समय हुआ। 'रामाज्ञा-प्रश्न' पर 'वाल्मीकि-रामायण' तथा 'रघुवंश' का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव ज्ञात होता है।

रचना की तिथि निश्चित होने से यह ज्ञात होता है कि 'मानस' के पूर्व राम-कथा का कौन सा रूप कवि के मानस में था, इसलिए इसकी सहायता तुलसीदास की ऐसी रचनाओं के काल-निर्माण में सहायक हो सकी है, जिनमें रचना-तिथि नही आती है।

–मा० प्र० गु०

रामानुजलाल श्रीवास्तव–ऊँट उपनाम। जन्म १८९७ ई० में सिहोरा जबलपुर (मध्यप्रदेश) में। आजकल स्वतन्त्र रूप से जबलपुर में प्रकाशन-व्यवसाय कर रहे हैं। हिन्दी में हल्का-फुल्का गद्य, मनोरंजन साहित्य एवं हास्य-विनोद के लेखक के रूप में आपने विशेष योगदान दिया है। जिस समय विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का हास्य-प्रधान साहित्य 'माधुरी' में प्रकाशित हो रहा था और टटोलू रामजी टलास्त्री तथा दुबे जी की चिट्ठी आदि स्तम्भों में शर्मा जी हिन्दी का नया हास्य शिल्प प्रस्तुत कर रहे थे, उस समय अकबर इलाहाबादी, अजीम बेग चुगताई और इसी प्रकार के अन्य हास्य-रस के लेखकों का गम्भीर प्रभाव हमें रामानुजलाल श्रीवास्तव की कृतियों में मिलता है। हास्य से अधिक हमें उस समय की मानसिक चेतना की झलक मिलती है, जो विनोद प्रियता, व्यंग्य और हास्य में व्याप्त प्रवृत्तियों से बिल्कुल पृथक् थी।

रामानुजलाल श्रीवास्तव की शैली नितान्त सरल और मुहावरेदार भाषा में बात पैदा करने की है। आपके हास्य में इसीलिए 'बेढब' या 'बेधड़क' जैसी अभिधात्मकता नहीं मिलती। व्यंजना ही आपकी शैली का विशेष गुण है दूसरी विशेषता यह है कि आप सस्ते प्रकार का हास्य न लिखकर सन्दर्भों के आधार पर हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। कहानियों या स्केचों के अतिरिक्त आपने कविताएँ भी लिखी हैं–कुछ छायावादी ढंग की और कुछ हास्यविनोदपूर्ण।

आपकी प्रकाशित पुस्तकें इस प्रकार हैं–'उनींदी रातें' (काव्य-संग्रह १९५४ ई०), 'जज्बाते ऊँट' (हास्य काव्य १९५६ ई०), 'हम इश्क के बन्दे हैं' (कहानियाँ १९६०)।

–ल० कां० व०

रामायण महानाटक—प्राणचन्द चौहान ने १६१० ई० में इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें दस अंक हैं। दस अंक या अधिक अंकों वाले नाटक को महानाटक या परम नाटक कहा जा सकता है (दे० 'भावप्रकाश', अष्टम अधिकार, पृ० २३७, पंक्ति ५ तथा 'संस्कृत ड्रामा' : कीथ, पृ० २३२)। दस अंकोंवाला संस्कृत नाटक 'बाल रामायण' भी महानाटक कहा जाता है। फलतः कवि ने अपने नाटक को महानाटक कहा है। यह महानाटक गोस्वामी तुलसीदास के महाकाव्य 'रामचरित मानस' की दोहे-चौपाईवाली शैली में लिखा गया है। इसमे प्रायः १० अर्धालियों या ५ चौपाइयों के बाद एक दोहा रखा गया है। कहीं-कहीं भिन्नता भी दिखाई देती है क्योंकि अनेक स्थलों पर ११ या ९ अर्धालियों के बाद भी दोहा मिलता है। महानाटक की भाषा मधुर एवं सरस है।

'रामायण महानाटक' पर 'रामचरितमानस' का भरपूर प्रभाव है। दोनों ग्रन्थों की कुछ समानताएँ ये हैं— (१) राम को ब्रह्म और भगवान् माना गया है, (२) सेतुबन्ध का वर्णन एक समान ही है, नल के हस्त-स्पर्श से पाषाण तैरने लगते हैं, (३) लंकादहन वर्णन में भी बहुत समानता है, यहाँ तक कि प्राणचन्द ने तुलसी दास की उत्प्रेक्षाएँ तक ग्रहण कर ली हैं, उदाहरणार्थ—"कै बड़वानल कै परगासा, कै जनु बीजु घटा घनवासा।। बारह कला भये रवि लाला। कैदहुँ प्रलय अगिनि सम काला।।" लंकादहन के समय लंकावासियों की दुर्दशा का वर्णन भी 'मानस' जैसा ही है, यथा—"जरत अगिनि निकरीं सब रानी। क्वल सुखान कहत मृदुबानी।। भर्जाहि पुरुष छाँड़ि कई नारी।। बालक जरत तर्जाहि महतारी।। भार्जहि राकस करहिं पुकारा। गिरे पाग सब सीस उघारा।। निकट नीर हई सींचु कर, सब मिलि आवहु जाइ। दसहु दिसा भए भाषई, पानि-पानि गोहराई।। कंचन औटि भए सब पानी। बाढ़े नीर धर्म अकुलानी।। भागति नारि न चीर सँभारा। पीर्हाहि छाती ठोंकि कपारा। रोवहिं राकस उठहि पुकारी। बाल जरत तर्जाहि महतारी।।" (४) राम ने जब विभीषण को लंका का राज्य दे दिया तो 'मानस' की भाँति 'महानाटक' में भी कहा गया है—"लंका दीन्ह विभीषण काजा। बालि मार सुग्रीव नेवाजा। रावन पूजे सीस लगाई। सेवन कीन चरन चित लाई।। दस सिर रावन देई करि, पायेउ लंका राज। पाउँ छुअत सो पायेउ, राम गरीब नेवाज।।" (अंक ६)। 'वाल्मीकि-रामायण' का भी प्रभाव महानाटक पर दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—(१) जयन्त सीता के स्तनों में चोंच मारता है, (२) रावण सीता के रम्य रूप और सुघड़ अंगों की प्रशंसा करता है ताकि सीता उसकी ओर आकर्षित हों और (३) हनुमान् लंका में जाकर सीता को रनिवास में खोजते हैं।

यह हिन्दी का प्रथम काव्य-नाटक है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'राम चरित मानस' को अभिनीत होते देखकर प्राण चन्द चौहान को प्रेरणा मिली और उन्होंने इस नाटक की रचना की। इस नाटक से अनुमान होता है कि उस समय तक रामलीला का प्रचार हो चला था। नाटककार का ध्यान अभिनय की ओर विशेष है। इसी कारण उसने रामकथा के पात्रों की संख्या कम कर दी है। 'रामायण महानाटक' में हनुमान् जी सीता जी की खोज में अकेले ही जाते हैं। अभिनय को दृष्टि में रखकर नाटककार ने चूलिका-चमत्कारों का प्रयोग किया है। अशोक वाटिका में जब रावण सीता के पैरों पर गिरता है, तो नेपथ्य में हँसने का शब्द सुनाई देता है। यह हनुमान् जी की हँसी थी। रावण यह न जान सका कि यह हँसी कहाँ से आयी है। राम ने समुद्र सोखने के लिए बाग उठाया, उसी सयम नेपथ्य में यह शब्द हुआ कि ये विषबुझे बाण हैं। रावण ने राम-लक्ष्मण के कृत्रिम सिर लाकर सीता को दिखाये और कहा मैंने राम-लक्ष्मण को मार डाला है। सीता जी मूर्च्छित हो गयीं। उसी समय नेपथ्य से देववाणी होती है "सीते! विश्वास न कर, ये माया-निर्मित सिर हैं।" नाटककार ने नेपथ्य शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि उसके स्थान पर स्वयं कथन का प्रयोग किया है।

नाटककार ने स्वगत कथन भी कराये हैं। हनुमान् सीता की खोज के समय समुद्र का भयंकर रूप देखकर डर जाते हैं। वे सोचने लगते हैं, "क्या करूँ? क्या लौट जाऊँ?" हनुमान् के इस अन्तर्द्वन्द्व का चित्र है—"कहाँ अवध कहाँ दशरथ राजा। कहाँ कैकई कीन्ह अकाजा।। ओ का कीन्ह राम बन आई। केहि कारन कहँ त्रिया गँवाई।। रावन कवन कीन्ह एह काजा। भयेऊ चोर लंका का राजा।। हम समुद्र कर मरम न जाना। राम क पान लीन्ह अज्ञाना।। तब एह पंथ हर्माहि नहीं सूझा। अब विस्माद करे नहीं बूझा।।" इसी प्रकार राक्षसी सेना का नाश देखकर इन्द्रजीत मन में कहता है—देवगति कैसी विचित्र है? देवराज को जीतने वाला बल कहाँ गया? रावण का गुप्तचर जब राम की सेना की सूचना देता है तो रावण मन में कहता है—मैंने सुमेरु उखाड़ लिया है, कुबेर एवं इन्द्र को दण्डित किया है, त्रिभुवन मेरे संकेत से काँप उठता है। मुझको ये दो तपस्वी, बानर-भालुओं के साथ डराने आये हैं।

—गो० ना० ति०

रामानंद—रामभक्ति के प्रथम आचार्य स्वामी रामानन्द की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। डा० फर्कुहर उनका जीवन-काल १४०० ई० से १४७० ई० के बीच मानते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ईसा की १५ वीं शती के पूर्वार्द्ध तथा १६ वीं शती के प्रारम्भ के मध्यकाल में उनका उपस्थित होना कहा है। 'अगस्त्य संहिता' तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अनुसार रामानन्द का जन्म सन् १२९९ ई० में हुआ था। डा० फर्कुहर के मत का आधार है कबीर तथा रैदास एवं पीपा की जन्मसम्बन्धी किंवदन्तियाँ। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रामानन्द, तकी तथा सिकन्दर लोदी को समकालीन माना है और उन्होंने रामार्चन पद्धति तथा रघुराजसिंह के साक्ष्य को भी स्वीकार किया है किन्तु ये सभी आधार निस्सन्दिग्ध नहीं हैं। इस कारण विद्वानों का अधिकांश वर्ग 'अगस्त्य संहिता' तथा साम्प्रदायिक मत को ही स्वीकार करताहै। इस सम्बन्ध में भक्तमाल तथा रामानन्दी मठों की प्राप्त गुरु-परम्पराएँ भी 'अगस्त्य संहिता' के मत का ही समर्थन करती है। रामानन्द के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी उत्तर-दक्षिण का अन्तर है। फर्कुहर तथा मैकालिफ उन्हें दाक्षिणात्य मानते हैं, मैकालिफ ने मेलकोट (मैसूर) को उनका जन्म-स्थान बतलाया है। 'अगस्त्य संहिता' तथा साम्प्रदायिक विद्वान् प्रयाग को इनका जन्म-स्थान बतलाते हैं। प्रथम मत के पक्ष में प्रमाणों का अभाव है, दूसरे मत को सम्प्रदाय की आस्था एवं विश्वास का बल प्राप्त है, अतः इसको ही सही माना जाना चाहिये। 'अगस्त्य संहिता' में

रामानन्द के पिता का नाम पुण्यसदन माँ का नाम सुशीला कहा गया है। 'भविष्य पुराण' में पुण्यसदन के स्थान पर देवल और 'प्रसंग पारिजात' मे सुशीला के स्थान पर मुरवी नाम मिलते हैं किन्तु रामानन्द सम्प्रदाय में 'अगस्त्य सहिता' का मत ही मान्य है। मैकालिफ रामानन्द को गौड़ ब्राह्मण मानते हैं किन्तु 'अगस्त्य संहिता' में उन्हें कान्य-कुब्ज कहा गया है। रामानन्द के पूर्व नाम के सम्बन्ध में भी अनेक मत प्रचलित हैं। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के टीकाकार जानकी रसिक शरण ने उनका पूर्व नाम रामदत्त दिया है। 'वैष्णव धर्म रत्नाकर' में उन्हें रामभारती कहा गया है, किन्तु 'अगस्त्य संहिता' तथा 'भविष्य पुराण' में उनका नाम रामानन्द ही मिलता है। यही मत साम्प्रदायिक विद्वानों को भी मान्य है। किंवदन्ती है कि रामानन्द के गुरु पहले कोई दण्डी सन्यासी थे, बाद में राघवानन्द स्वामी हुए। 'भविष्य पुराण', 'अगस्त्य संहिता' तथा 'भक्तमाल' के अनुसार राघवानन्द ही रामानन्द के गुरु थे। अपनी उदार विचारधारा के कारण रामानन्द ने स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित किया। उनका केन्द्र मठ काशी के पंच गंगाघाट पर था, फिर भी उन्होंने भारत के प्रमुख तीर्थों की यात्राएँ की थीं और अपने मत का प्रचार किया था। एक किंवदन्ती के अनुसार छुआछूत मतभेद के कारण गुरु राघवानन्द ने उन्हें नया सम्प्रदाय चलाने की अनुमति दी थी। दूसरा वर्ग एकप्राचीन रामावत-सप्रदाय की कल्पना करता है और रामानन्द को उसका एक प्रमुख आचार्य मानता है। डा० फर्कुहर के अनुसार यह रामावत-सम्प्रदाय दक्षिण भारत में था और उसके प्रमुख ग्रन्थ 'वाल्मीकि-रामायण' तथा 'अध्यात्म रामायण' थे। साम्प्रदायिक मत के अनुसार एक मूल 'श्री सम्प्रदाय' की आगे चलकर दो शाखाएँ हुई एक में लक्ष्मी नारायण की उपासना की गयी, दूसरी में सीताराम की। कालान्तर में पहली शाखा ने दूसरी को दबा लिया, रामानन्द ने दूसरी शाखा को पुर्नजीवित किया। रामानन्द के प्रमुख शिष्य अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहर्यानन्द, पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन और सुरसुरी आदि थे। रामानन्द की मृत्यु तिथि भी उनकी जन्म-तिथि के अनुसार ही अनिश्चित है। 'अगस्त्य संहिता' में सन् १४१० ई० को उनकी मृत्यु-तिथि कहा गया है। सन् १२९९ ई० को उनकी जन्म-तिथि मान लेने पर यही तिथि अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। इससे स्वामी जी की आयु १११ वर्ष ठहरती है, जो नाभाकृत 'भक्तमाल' के साक्ष्य 'बहुत काल वपु धारि कै प्रणत जनन को पर दियो'' पर असंगत नहीं है।

रामानन्द द्वारा लिखी गयी कही जानेवाली इस समय निम्नलिखित रचनाएँ मिलती हैं—'श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर', 'श्रीरामार्चन-पद्धति', 'गीताभाष्य', 'उपनिषद्-भाष्य', 'आनन्दभाष्य', 'सिद्धान्त-पटल', 'रामरक्षास्तोत्र', 'योग चिन्तामणि', 'रामाराधनम्', 'वेदान्त-विचार', 'रामानन्दादेश', 'ज्ञान-तिलक', 'ध्यान-लीला', 'आत्मबोध राम मन्त्र जोग ग्रन्थ', कुछ फुटकल हिन्दी पद तथा 'अध्यात्म रामायण'। इन समस्त ग्रन्थों में 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' तथा श्री रामार्चन पद्धति' को ही रामानन्दकृत कहा जा सकता है। पं० रामटहल दास ने इनका सम्पादन कर इन्हें प्रकाशित कराया है। इन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं है। 'श्री वैष्णवमताब्जभास्कर' में स्वामीजी ने सुरसुरानन्द द्वारा किये गये नौ प्रश्नों—तत्त्व क्या हैं, श्री वैष्णवों का जाप्य मन्त्र क्या है, वैष्णवों के इष्ट का स्वरूप, मुक्ति के सुलभ साधन, श्रेष्ठ धर्म, वैष्णवों के भेद, उनके निवास स्थान, वैष्णवों का कालक्षेप आदि के उत्तर दिये हैं। दर्शन की दृष्टि से इसमें विशिष्टाद्वैत का ही प्रवर्त्तन किया गया है। 'श्रीरामार्चनपद्धति' में रामकी सांग तथा षोडशो पचार पूजा का विवरण दिया गया है। राम टहलदास द्वारा सम्पादित दोनों ग्रन्थ संवत् १९८४ (सन् १९२७ ई०) में सरयूवन (अयोध्या) के वासुदेव दास (नयाघाट) द्वारा प्रकाशित किये गये। भगवदाचार्य ने संवत् २००२ (सन् १९४५ ई०) में श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर, अट्टा (अलवर) से 'श्री वैष्णवमताब्जभास्कर' को प्रकाशित किया। शेष ग्रन्थों मे 'गीता भाष्य' और 'उपनिषद् भाष्य' की न तो कोई प्रकाशित प्रति ही मिलती है और न हस्तलिखित प्रति ही प्राप्त है। यही स्थिति 'वेदान्त विचार', 'रामाराधनम्' तथा 'रामानन्दादेश' की भी है। 'आनन्दभाष्य' स्वामी राम प्रसाद जीकृत 'जानकी भाष्य' का साराश एवं आधुनिक रचना है। 'सिद्धान्त पटल', 'राम रक्षास्तोत्र' तथा 'योगचिन्तामणि' तपसी-शाखा द्वारा प्रचलित किये गये ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार 'आत्मबोध' तथा 'ध्यान तिलक' तथा अन्य निर्गुण परक फुटकल पद कबीर-पन्थ में अधिक प्रचलित हैं और उनकी प्रामाणिकता अत्यन्त ही सन्दिग्ध है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' पुस्तक में संगृहीत फुटकल समस्त पदों में 'हनुमान् की आरती' को छोड़कर शेष सभी पद निर्गुण मत की प्रतिष्ठा करते हैं। लगता है निर्गुण पन्थियों ने रामानन्द के नाम पर इन रचनाओं को प्रचलित कर दिया है। इनका कोई प्रचार रामानन्द-सम्प्रदाय में नहीं है। 'भजन रत्नावली' (डाकोर) में रामानन्द के नाम से चार हिन्दी पद मिलते हैं, एक में अवधबिहारी राम का वर्णन है, दूसरे में सखाओं के साथ खेलते हुए राम का, तीसरे में राम की आरती का वर्णन है और चौथे में रघुवंशी राम के मन में बस जाने का वर्णन है। इन पदों का प्राचीन हस्तलिखित रूप नहीं मिलता, इनकी भाषा भी नवीन है। अतः ये प्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिन रचनाओं का सम्प्रदाय में कोई प्रचार न हो और न जिनकी हस्तलिखित पोथियाँ ही साम्प्रदायिक पुस्तकालयों में उपलब्ध हों, उनकी प्रामाणिकता नितान्त ही सन्दिग्ध होती है। सम्प्रदायों के इतिहास में भी यह बात देखने में आयी है कि समय-समय पर उनमें नयी विचार धाराएँ आती गयी हैं और उन्हें प्रामाणिकता की छाप देने के लिए मूल प्रवर्त्तक के नाम पर ही उन विचारों का प्रवर्त्तन करने वाली रचनाएँ गढ़ ली जाती हैं। कभी-कभी नयी रचनाएँ न गढ़कर लोग नये ढंग से मान्य एवं प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या ही कर बैठते हैं। इन सभी दृष्टियों से 'श्री वैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्री रामार्चनपद्धति' को ही रामानन्द की प्रामाणिक रचनाएँ मानना उचित होगा। 'आनन्द भाष्य' का प्रकाशन रघुवरदास वेदान्ती ने अहमदाबाद से १९२९ ई० तथा शेष हिन्दी रचनाओं का प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने १९५२ ई० में किया।

रामानन्द का महत्त्व अनेक दृष्टियों से हैं। वे रामभक्ति को

साम्प्रदायिक रूप देनेवाले सर्वप्रथम आचार्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से मध्ययुग तथा उसके अनन्तर प्रचुर रामभक्ति साहित्य की रचना हुई। कबीर और तुलसी, दोनों का श्रेय रामानन्द को ही है। रामानन्द ने भक्ति का द्वार स्त्री और शूद्र के लिए भी खोल दिया, फलतः मध्ययुग में एक बड़ी सबल उदार विचारधारा का जन्म हुआ। सन्त साहित्य की अधिकांश उदार चेतना रामानन्द के ही कारण है। यही नहीं, रामानन्द की इस उदार भावना से हिन्दू और मुसलमानों को भी समीप लाने की भूमिका तैयार कर दी। हिन्दी के अधिकांश सन्त कवि, जो रामानन्द को ही अपने मूल प्रेरणा-स्रोत मानते हैं, मुसलमान ही थे। रामानन्द की यह उदार विचारधारा प्राय समूचे भारतवर्ष में फैल गयी थी और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन रामभक्ति-साहित्य रामानन्द की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेरणा से लिखा गया।

[सहायक ग्रन्थ—रामानन्द सम्प्रदाय—बदरीनारायण श्रीवास्तव।]

—ब० ना० श्री०

रामावतारलीला—दे० 'मलूकदास'।

रामावतार शर्मा (पाण्डेय)—जन्म सन् १८७७ ई० छपरा (बिहार) में। मृत्यु ५२ वर्ष की अवस्था में सन् १९२९ ई० में पटना में। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। पिता पण्डित देवनारायण शर्मा संस्कृत के विद्वान् तथा प्रेमी थे। इन्होंने रामावतार शर्मा को ५ वर्ष की अवस्था में ही पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। संस्कृत के साथ उन्होंने अंग्रेजी का भी अध्ययन प्रारम्भ किया।

उन्होंने महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री सी० आई० ई० के पास पढ़कर साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। एम० ए० भी किया। इसके बाद हिन्दू कालेज, काशी में कुछ दिन अध्यापन करने के बाद २९ वर्ष की अवस्था में पटना कालेज में संस्कृताध्यापक नियुक्त हुए। बीच में २-३ वर्ष तक हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के प्रधान का कार्य किया।

शर्मा जी संस्कृत ऐसे प्रथम विद्वान थे, जिन्होंने अंग्रेजी में प्राप्त विपुल ज्ञान को संस्कृतज्ञों तक पहुँचाया। अपनी विद्वत्ता के कारण वे भारत-विख्यात थे। वे परम तार्किक थे। काशी प्रसाद जायसवाल के शब्दों में वे वस्तुतः कपिल और कणाद की श्रेणी के विचारक थे। साहित्य, ज्योतिष, विज्ञान आदि विषयों पर उनका समान अधिकार था। वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, लैटिन आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। भारतीय भाषाओं में तो शायद ही कोई भाषा उनसे अछूती रही हो। गम्भीरतम विषयों का प्रतिपादन वे अत्यन्त सरलता से करते थे। उनके निबन्ध दर्शन, काव्य, साहित्य, व्याकरण, इतिहास, पुराण, पुरातत्त्व, नृतत्त्व, शिक्षा, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, भाषा विज्ञान, खगोल, भूगोल एवं ज्योतिष विषयों पर उपलब्ध हैं। उनमें हिन्दीनिष्ठा के साथ-साथ शब्द-सर्जन की भी प्रवृत्ति थी।

वे कवि भी थे। उनकी कविता द्विवेदीकालीन थी। 'भारतोत्कर्ष' नामक कविता द्रष्टव्य है। महामहोपाध्याय पाण्डेय रामावतार शर्मा सरस्वती के वरद पुत्र थे। अद्भुत प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। इन्होंने श्लोकबद्ध संस्कृत कोश बनाया है। इसका नाम है 'विश्वविद्या' अथवा 'वाङ्मयार्णव'। यह एक अद्भुत कोश है।

उनकी पुस्तकें निम्नांकित हैं—'धर्म प्रबोध' (१९२१ ई०), 'भारत का इतिहास' (साहित्य रत्नमाला, बनारस, १९२७ ई०), 'व्याकरण संजीवन' (१९३५ ई०, साहित्य निकेतन, पटना), 'भारतीय ईश्वरवाद', 'भारतेन्दु चन्द्रिका' (सं० १९३४ वि०, सुन्दर साहित्य सदन, पटना), 'यूरोपीय दर्शन' (काशी ना० प्र० स०), 'आत्म-बोध-तरंगिनी' (१९२९ ई०, सम्पादन रामकुटीर शिवपुर, बनारस) एवं 'रामावतार शर्मा निबन्धावली' (पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५३ ई०)।

—श्री० व०

रामाष्टयाम—दे० 'अष्ट याम'।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'—जन्म सन् १९१५ ई०। जन्म स्थान—ग्राम किशनपुर जिला फतेहपुर (उ० प्र०)। १९३५ ई० में बी० ए० तथा १९४२ ई० में एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। १९४५ ई० में राबर्टसन कालेज, जबलपुर में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९५८ ई० में जबलपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। फिर शासकीय महाविद्यालय रायगढ़ में प्रिंसिपल रहे, साहित्य-साधना का श्रीगणेश सत्रह वर्ष की वय में १९३२ ई० के आस-पास किया। साहित्य सृजन की प्रेरणा पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। इनके पिता पं० मातादीन शुक्ल (मृ० १९५४ ई०) खड़ी बोली और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। उन्होंने 'छात्रसहोदर', 'तिलक', 'कर्मवीर', तथा 'माधुरी' आदि कई साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों का सम्पादन भी किया था। 'अंचल' की पहली कविता 'उस क्षण' 'माधुरी' ही में छपी थी और उसके तत्कालीन सम्पादक रामसेवक त्रिपाठी ने उनकी उस रचना को मुख पृष्ठ पर स्थान दिया था।

'अंचल' की पहली पुस्तक 'तारे' १९३७ ई० में प्रकाश में आयी। इसमें उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ संकलित हैं। दूसरा कहानी संग्रह 'ये वे बहुतेरे' १९४१ ई० में प्रकाशित हुआ किन्तु कहानी लेखन के क्षेत्र में उन्हें उतनी ख्याति नहीं मिल सकी, जितनी कि कविता के क्षेत्र में। उनकी कविताओं के संग्रह ये हैं—'मधूलिका' (१९३८ ई०), 'अपराजिता' (१९३९ ई०), 'किरण वेला' (१९४१ ई०), 'करील' (१९४२ ई०), 'लाल चूनर' (१९४२ ई०), 'वर्षान्त के बादल' (१९५४ ई०) और 'विरामचिन्ह' (१९५७ ई०)।

'अंचल' छायावाद युग के उत्तरार्द्ध के कवि हैं। 'मधूलिका' तथा 'अपराजिता' उसी काल की कृतियाँ हैं किन्तु उन्हें छायावादी नहीं कहा जा सकता। यह सच है कि आरम्भ में उनकी काव्य-कला का विकास छायावादी पृष्ठभूमि में हुआ है और वे पन्त, 'निराला' तथा महादेवी से प्रभावित हुए हैं। किन्तु बाद में विषय परिवर्त्तन तथा अनुभूतियों की कालयापित गहराई के साथ-साथ उनके छायायुगीन स्वर में काफी परिवर्त्तन हुआ है। उनकी अनुभूतिगत ईमानदारी ने उन्हें आरम्भ से ही छायावादी कवियों से भिन्न कोटि में स्थान दिया है। उन्होंने कल्पना के अतिरेक को कभी प्रश्रय नहीं दिया और वे स्वानुभूत जीवन-सत्यों के आधार पर मांसल-प्रेम की सहज अभिव्यक्तियों के प्रति निष्ठावान् रहे। छायावादी काव्य के

अतिशय कल्पनाप्रधान अशरीरी सौन्दर्य लोक ने उन्हें कभी आकर्षित नहीं किया और वे बराबर अपनी तीक्ष्ण अनुभूतियों के कारण धरती की चेतना के निकट आते गये। अपनी आरम्भिक कृतियों में वे उन्मुक्त प्रेम के गायक तथा सहज मानवीय सौन्दर्य के चितेरे हैं। परवर्त्ती कृतियों में भी उनकी प्रेम-तृषा कभी कम नहीं हुई है और वे सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा नारी-प्रेयसी से सदैव आन्दोलित होते रहे हैं।

'अंचल' का कवि विकसनशील रहा है। किसी एक मंजिल पर पहुँच कर उन्होंने अपनी यात्रा को विराम नहीं दिया, वरन् नयी दिशा ग्रहण करने की चेष्टा की है। उन्होंने अपनी कविता का आरम्भ रस और रोमांस से किया तथा एक लम्बे अर्से तक छायावाद के प्रभाव में रहे। फिर मार्क्सवादी विचारधारा के सम्पर्क मे आये और प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख हुए। उनका लगभग दस वर्षों तक का कवि जीवन मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आत्मसात् करते बीता है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि 'अंचल' ने मार्क्स के सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों आँख मूँदकर नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने प्रगतिवादी कविताओं की सृष्टि भारतीय सन्दर्भों में की है। उनकी जनवादी चेतना इस देश के परम्पराप्रथित रूढ़ तथा खोखले संस्कारों एवं जड़-जीवन मूल्यों के विरुद्ध मुखरित हुई है। उनकी प्रेरणा का मूल केन्द्र समसामयिक मानव जीवन रहा है और उन्होंने उसी के सामूहिक कल्याण के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है तथा विद्रोह के गीत गाये हैं। 'किरण वेला' तथा 'करील' की रचनाएँ उनकी क्रान्ति-दृष्टि तथा प्रगतिशीलता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

'अंचल' के काव्यात्मक विकास की तीसरी नवीन दिशा उन्हें अरविन्द के अध्यात्मवाद की ओर ले जाती है। अब उनकी दृष्टि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ओर गयी है और जिस 'समन्वयात्मक व्यापकता' के प्रति उनके भीतर एक 'तीव्र अन्वेषण' की भावना पहले से ही थी, उसकी सर्वाधिक उपलब्धि उन्हें अरविन्द के जीवन-दर्शन में हुई है। 'अंचल' के नवीनतम संग्रह 'विराम चिह्न' की रचनाएँ एक प्रकार के दार्शनिक गाम्भीर्य की परिचायिका हैं। यहाँ पहुंच कर 'मधूलिका' का उन्मुक्त प्रेमी तथा 'करील' का क्रान्तिद्रष्टा कवि जीवन की प्रौढ़तर भूमिका में प्रविष्ट होता है और उसकी भाव-दृष्टि सूक्ष्म तथा अन्तर्मुखी हो जाती है।

शैली-शिल्प की दृष्टि से 'अंचल' में निरन्तर निखार आया है। कविताओं की भाषा बोलचाल के निकट रही है और शब्दों के प्रयोग में कोई आग्रह नहीं जान पड़ता। अरबी-फारसी, संस्कृत तथा हिन्दी (तद्भव एवं ग्रामीण) सभी प्रकार के शब्द विषय तथा भावों के अनुरूप व्यवहृत हुए हैं। उन्होंने नये विशेषणों तथा नवीन उपमानों की खोज करके नूतन कल्पनाओं का सिंगार किया है। उनके छन्दों में सम्यक् गति-प्रवाह है और गीतों में सहज सांगीतिक लयात्मकता।

'अंचल' ने उपन्यास भी लिखे हैं। चार प्रकाशित हैं—'चढ़ती धूप' (१९४५ ई०), 'नयी इमारत' (१९४६ ई०), 'उल्का' (१९४७ ई०) और 'मरुप्रदीप' (१९५१ ई०)। इनमें भारतीय जीवन के कुछ पक्षों का उद्घाटन किया गया है तथा सांस्कृतिक-सामाजिक संघर्षों की समवेत अवतारणा की गयी है। इस दिशा में ये उपन्यास सफल माने जाते हैं किन्तु कल्पना की अतिशयता के कारण कथात्क परिवेश और उसमें उभरने वाले चरित्र यथार्थ की दुनिया से कुछ दूर रह गये हैं। इन उपन्यासों की भाषा 'अंचल' के कवि व्यक्तित्व के अनुरूप है।

'अंचल' की अन्य कृतियों में दो निबन्ध-सग्रह 'समाज और साहित्य' (१९४४ ई०) तथा 'रेखा-लेखा' (१९५७ ई०) और एक आलोचनात्मक ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य अनुशीलन' (१९५२ ई०) उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों द्वारा 'अंचल' एक विचारक तथा साहित्य के सुलझे हुए अध्येता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। —र० भ्र०

रामेश्वरी गोयल—जन्मतिथि—१९१० ई०, मृत्यु—१९३५ ई०। रामेश्वरी गोयल छायावादी युग की उन सशक्त कवयित्रियों में से हैं, जिनका कवि-व्यक्तित्व और सौन्दर्यदृष्टि उस युग के अधिकांश कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और संयमित और संवेदनपूर्ण रही है। रामेश्वरी गोयल के गीतों में व्याप्त करुणा और एक मर्मान्तक वेदना हमें उसी कोटि और उतनी ही हृदयग्राह्य रूप में मिलती है जितनी कि अंग्रेजी के कवि कीट्स की कविताओं में। अनुभूति की गहराई के साथ-साथ बिम्बों और अनुभूतियों के मानवीय वैयक्तिक स्वर को जो संवेदना हमें गोयल की कविताओं में मिलती है, वह इस बात की सूचक थी कि वे आगे चलकर हिन्दी के गीत-साहित्य को नया स्वर और नयी भावभूमि प्रदान करतीं। लेकिन जैसा कि होना था, उनकी मृत्यु इतने अल्पकाल में हो गयी कि उनकी प्रतिभा का पूर्ण योगदान हिन्दी की गीत-शैली को नहीं मिल सका।

भावनाओं के अनुकूल संयत भाषा और अभिव्यक्ति में स्पष्ट होते हुए भावस्थिति की कलात्मक व्यंजना रामेश्वरी गोयल की विशेषता थी। गीतों में जो दर्द और वेदना व्याप्त थी, वह कुछ ऐसे स्वर की थी कि यदि उसके साथ शिल्प की सोपान मर्यादा न निभाई जाती तो वह केवल शब्दमात्र रह जाती। छायावाद काल का यह वह समय था, जब उसको नयी संवेदना के अनुकूल सर्वथा नया शब्द-भाण्डार तो मिल गया था, लेकिन उन शब्दों का मर्म और उनकी पहचान उस समय के अधिकांश कवियों में उस शक्ति के साथ नहीं थी, जिस शक्ति के साथ होनी चाहिये थी।

शैली की दृष्टि से भी रामेश्वरी जी के गीतों में हमें जिस व्यक्तित्व का परिचय मिलता है, वह सजग, जागरूक शिल्पी के साथ-साथ धड़कता हुआ मानव हृदय है, जो सभी संवेदनाओं के प्रति मुक्त है, पर जो अभिव्यक्ति में वाचाल न होकर मार्मिक होने की गहरे उतरने की शक्ति रखता है। अनुभूति की सच्चाई के साथ-साथ रामेश्वरी गोयल के गीतों में हमे यह विशेषता भी मिलती है।

भाषा की दृष्टि से रामेश्वरी गोयल के गीत यद्यपि छायावाद द्वारा अन्वेषित शब्द-भाण्डार को स्वीकार करते हैं फिरभी उन शब्दों को लेकर उनके विभिन्न आयामों का कुशल प्रयोग कवयित्री ने किया है। अनुभूति को नितान्त सही बनाने में जिस चुनाव की आवश्यकता होती है, उसकी दक्षता हमें रामेश्वरी गोयल के गीतों में मिलती है।

कृति—'जीवन स्वप्न' (कविताओं और गद्य गीतों का संकलन, १९३७ ई०)।

—ल० कां० व०

रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी'—जन्म १९१६ ई० में केत्थर ग्राम, जिला उन्नाव (उत्तर प्रदेश) में। आपके पिता का नाम पं० उमाचरण शुक्ल था। इनके पिता तहसीलदार होते हुए भी काव्य में रुचि लेते थे। उन्होंने कई धार्मिक पुस्तकें लिखीं। पिता की मृत्यु के बाद माता की देख-रेख में इनका लालन-पालन हुआ। अपने मामा जनार्दन मिश्र, बड़ी बहिन इन्देश्वरी देवी तथा चाचा बालकृष्ण शुक्ल (उन्नाव के वकील) से इन्हें बहुत प्रेरणा मिली। फलतः इनकी रचनाएँ उस समय की प्रमुख पत्रिकाओं—'माधुरी', 'सरोज', 'सुकवि' आदि में सम्मानपूर्वक प्रकाशित होने लगीं। कवि-सम्मेलनों में भी इन्हें बहुत सम्मान मिला। 'सुधा' के प्रकाशन ने इन्हें प्रमुख कवयित्रियों में स्थान दिला दिया। 'विशाल भारत', 'विश्वमित्र' आदि पत्रों ने पुरस्कृत भी किया। सन् १९२९ ई० में इनका विवाह कवि-कथाकार लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' से लखनऊ में हुआ और कुछ ही दिनों बाद 'प्लूरिसी' रोग के असाध्य हो जाने के कारण इनकी अकाल मृत्यु सन् १९३५ ई० में हो गयी। इतनी कम उम्र में ही इनका इतना विकास इनकी प्रतिभा का अन्यतम उदाहरण है।

आपकी निम्नांकित रचनाएँ हैं—'उषा गीत' (अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ) 'किंजल्क', (१९३३ ई०), 'धूप छाँह तथा अन्य कहानियाँ' (१९६० ई०), 'मकरन्द' (१९३९ ई०)।

इनमें 'उषा गीत', 'किंजल्क' तथा 'मकरन्द' इनके गीतों तथा कविताओं के संग्रह हैं। 'धूप छाँह तथा अन्य कहानियाँ' इनकी कहानियों का संग्रह है। इनकी कविताओं में गम्भीर कल्पना, सुष्ठु विचार एवं प्रसाद गुण तथा प्रवाहमयता पाई जाती है। इनकी कविताओं में कल्पना एक सहज प्रवाह बनकर आयी है, चमत्कार बनकर नहीं। वह विषय के साथ उद्भूत होती है वस्तु को रूपायित करती हुई। उनकी कविताओं के विषय तत्कालीन समाज से जन्म लेते हैं। छायावादियों की भाँति वे केवल 'अलंकृत संगीत' गाकर नहीं रह जातीं। उनके स्वरों में कभी-कभी क्रान्ति और उत्साह भी हिलोरें लेता है। उनके प्रमुख छन्द आँसू, अरिल्ल, कवित्त, सवैया हैं। उन्होंने उर्दू छन्दों में भी बहुत सुन्दर रचनाएँ की हैं। जीवन के प्रति रहस्यवादी भावना केवल तात्कालिक प्रभाव एवं शिल्प बनकर ही आयी है। इनके गीतों में अद्वितीय एकान्विति है। गेय तत्त्वों की दृष्टि से इनके गीत बहुत सुन्दर हैं। इनमें जीवन के एक पक्ष का ही अंकन नहीं है। १९ वर्ष की कवयित्री से इससे अधिक आशा की भी नहीं जा सकती। इनकी भाषा में अद्वितीय प्रवाह और सादगी है। कृत्रिमता एवं आरोप कहीं नहीं है।

'चकोरी' की कहानियों में प्रेम की अभिव्यंजना आदर्श के भावुक पक्ष को विस्तार देते हुए की गयी है। इनके कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त, मार्मिक एवं पात्रानुकूल हैं।

—श्रीरा० व०

राय कमलानंद—प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में राय कमलानन्द का चित्रण एक आत्मदर्शी की भाँति किया है। वैसे तो यह एक सम्पन्न जमींदार है और जीवन में आनन्द का भोग करना उसका लक्ष्य है। उसे घोर सांसारिक अनुभव है, जिसके आधार पर वह ज्ञानशंकर के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। उसमें साहसपूर्ण और मनोवैज्ञानिक ढंग से बातचीत करने की अद्भुत क्षमता है। ज्ञानशंकर भले ही गायत्री की जायदाद पर अधिकार कर ले, उसकी दृष्टि में उसका सतीत्व अधिक मूल्यवान् है। सम्पूर्ण सांसारिकता के रहते हुए भी उसमें आश्चर्यजनक योग-शक्ति है, जिसके बल पर वह ज्ञानशंकर के दिये हुए विषतक को पचा जाता है। अन्त में वह साधुवेष धारण कर चित्रकूट में निवास करने लगता है। गायत्री ने उसीके साधुवेष की प्रसिद्धि सुनी थी और उसी के दर्शनों के लिए वह चित्रकूट गयी थी, जहाँ उसका अन्त हो जाता है।

—ल० सा० वां०

राय कृष्णदास—उपनाम 'नेही'। जन्म सन् १८९२ ई० वाराणसी में। प्रेमचन्द के समकालीन कहानीकार, गद्यगीत लेखक। चित्रकला, मूर्तिकला, एवं पुरातत्त्व में विशेष रुचि। सदस्य ललित कला अकादमी। बनारस के मान्य परिवार के हैं। प्रसाद जी के घनिष्ठ मित्रों में से। संस्थापक भारती भण्डार (साहित्य प्रकाशन संस्थान)। संस्थापक 'भारतीय कला भवन।'

राय कृष्णदास की कहानियों में भारतीय जीवन के सामाजिक व्यंग एवं सरसता, दोनों समान रूप से वर्तमान हैं। भावुक लेखक होने के नाते शिल्प में कथ्य और कलात्मक रचना की अपेक्षा आदर्श और यथार्थ के संघर्ष की अच्छी झाँकियाँ वर्तमान हैं। भाषा प्रांजल और अनुभूति नितान्त रागात्मक, दृष्टि मूलतः आदर्शवादी।

गद्य-गीतों में इसीलिए भावुकता इनकी शैली की एक सजीव एवं सप्राण प्रतीक बन गयी है। छायावादी रागात्मकता इनके गद्य-गीतों की जान है। मानवीय भावनाओं का भावुक एवं कोमल पक्ष आपकी रचनाओं में विशेष रूप से चित्रित हुआ है। गद्य-गीतकारों में माखनलाल चतुर्वेदी और रावी के साथ यदि किसी का भी नाम लियां जा सकता है तो वह है राय कृष्णदास का।

इन साहित्यिक रुचियों के अतिरिक्त शोधपरक कार्यों के लिए मूल रचनाओं की प्रामाणिक हस्त प्रतियाँ प्राप्त करना, नये लेखकों की मूल पाण्डुलिपियों का संग्रह करना, प्राचीन चित्र और मूर्तियों को संचित करना, पुरानी विभिन्न भारतीय शैलियों के चित्रों को संगृहीत करना—राय साहब की विशेष रुचि है। 'भारत की चित्रकला' (१९३९ ई०), 'भारतीय मूर्तिकला' (१९३९ ई०) आपके मौलिक ग्रन्थों में से हैं। राय कृष्णदास के इस अध्ययन और योजना के कारण आज 'भारतीय कला भवन' का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। शायद यही कारण है कि इधर राय साहब साहित्यिक रचनाओं की अपेक्षा भारतीय चित्रों और मूर्तियों को पहचानने, काल निर्धारित करने में अधिक समय देने लगे थे।

आपकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं में से 'साधना' कहानी संग्रह (१९१९ ई०), 'अनाख्या' (१९२९ ई०) 'सुधांशु' (१९२९ ई०) मुख्य हैं। 'प्रवाल' गद्य-गीतों का संग्रह है, जो १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ। भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला पर वैसे तो पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत लिखा है, किन्तु हिन्दी में विशेष अभिरुचि और विश्लेषण के साथ राय कृष्णदास की पुस्तकों ने हिन्दी साहित्य को सर्वांगपूर्ण और सम्पन्न बनाने में सहायता दी है। आपकी मृत्यु सन् १९८५ में हुई।

—ल० कां० व०

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—जन्म—जबलपुर में (मध्यप्रदेश) १८६८ ई० मे। इनके पिता राय वंशीधर वकील थे। चार वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो गयी। फलत: पालन पोषण का भार चाचा राय लीलाधर पर पड़ा। ये बड़े ही कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी थे। मिडिल से लेकर बी० ए० और वकालत तक की परीक्षाएँ उत्तम श्रेणी में पास कीं। ये कानपुर के प्रसिद्ध वकील और अनेक संस्थाओ के पदाधिकारी थे। आप 'धर्मकुसुमाकर' मासिक पत्र के सम्पादक, थियोसोफिकल सोसायटी तथा रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन के सदस्य और कानपुर की जनता के प्रिय नेता थे। इनको वेदान्त, गीता, शंकराचार्य के दार्शनिक ग्रन्थों और संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। ये कुशल वक्ता, संगीत-मर्मज्ञ और अभिनयपटु थे। कट्टर सनातनी, आर्यसमाज के प्रबल विरोधी, ईश्वर, राजा तथा देश के भक्त थे। राजनीतिक विचार 'नरम-दल' के थे।

कृतियों के नाम हैं—'धाराधर-धावन', (मेघदूत का पद्यानुवाद—१९०२ ई०), 'मृत्युंजय' (मृत्यु और ज्ञान पर ९१ अतुकान्त छन्द—१९०४ ई०), 'प्रदर्शनी-स्वागत' (सामाजिक अवस्था से सर्बधित खड़ीबोली के २०६ छप्पय—१९०६ ई०), 'राम रावण विरोध' (चम्पूकाव्य—१९०६ ई०), 'स्वदेशी-कुण्डल' (देशभक्तिविषयक ५२ कुंडलिया—१९१० ई०), 'राजदर्शन' (अंग्रेजी-हिन्दीमिश्रित काव्य—१९११ ई०), 'वसन्त वियोग' (खड़ी बोली का काव्य—१९१२ ई०), 'रम्भा-शुक संवाद' (संस्कृत के इसी नाम के ग्रन्थ का अनुवाद), 'तत्त्व-तरंगिणी' (शंकराचार्य के तत्त्वबोध का पद्यानुवाद) और 'चंन्द्रकला-भानुकुमार नाटक' (कल्पित कथानक पर आधारित सुखान्त नाटक)।

'पूर्ण' नैसर्गिक प्रतिभा के आशुकवि थे। इनकी अधिकांश कविताएँ ब्रजभाषा में हैं किन्तु कुछ कविताओं की भाषा उर्दू मिश्रित खड़ी बोली भी है। खड़ी बोली की कविताएँ प्राय: प्रचारात्मक और सामयिक हैं। रचनाओं के मुख्य विषय वेदान्त, सामाजिक अवस्था, धार्मिक आन्दोलन, राजभक्ति, देशभक्ति और प्रकृति-सौन्दर्य हैं। छन्दों में कुण्डलिया, छप्पय सवैया, कवित्त, रोला आदि प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुए हैं। अनुवादों के अतिरिक्त उन्होंने नाटक, चम्पू, मुक्तक और प्रबन्धमुक्तक लिखे हैं। पद्यकी भाषा गद्य से भिन्न है और उसकी बहुत बड़ी विशेषता स्वच्छन्दता है। छन्दों में तुकों का प्रयोग अनिवार्य न होकर छन्द के आग्रह पर है। 'पूर्ण' अपने समाज के यथार्थ चित्रकार और ब्रजभाषा के परम्परावादी कवि होते हुए भी नवीनता के पोषक थे। उनके काव्य में राजभक्ति एवं देशभक्ति तथा प्राचीन एवं नवीन विचारधाराओं का समन्वय है। उनका देहावसान ३० जून, सन् १९१५ ई० को हुआ था।

—स० ना० त्रि०

रावण—रामकथा के प्रतिपक्षी नायक के रूप में रावण के व्यक्तित्व की उद्भावना हुई है, अतः रावण की कल्पना रामकथा के प्रबन्धात्मक रूप के साथ ही जुड़ी हुई है। स्वतन्त्र रूप में रावणसम्बन्धी कोई उल्लेख भारतीय वाङ्‌मय में नहीं पाये जाते हैं। डा० याकूबी ने अनुमान किया है कि राम रावण-युद्ध की कल्पना इन्द्र और वृत्रासुर के संग्राम के आधार पर की गयी। बौद्ध-साहित्य में रावण सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते हैं, उनका आधार सम्भवत: 'वाल्मीकि-रामायण' तथा लोकप्रचलित रामकथा ही है। दिनेश चन्द्र सेन का यह अनुमान कि 'दशरथ जातक' रामकथा का आदिस्रोत है तथा रावण और वानरो से सम्बन्धित आख्यान रामकथा के प्रचलित होने से पूर्व प्रसिद्ध थे, प्रमाणपुष्ट और विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। श्री सेन ने बुद्ध और रावण के 'लंकावतार सूत्र' में वर्णित धर्म-युद्धविषयक आख्यान का उल्लेख करके यह सिद्ध करना चाहा है कि यही आख्यान राम-रावण युद्ध का मूलाधार है परन्तु वास्तव में राम रावण-युद्ध ही बुद्ध-रावण धार्मिक-विवाद का आधार कहा जा सकता है। 'लंकावतार सूत्र' के चीनी रूप में इस विवाद का कोई संकेत नहीं मिलता। इससे इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। 'राक्षस' शब्द मनुष्य के शत्रु के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। रामायण-काल तक यह शब्द अशुभसूचक बन गया था। अनुमान है कि वाल्मीकि ने द्रविड़ दस्युओं के नामों को राक्षसों की काल्पनिक कथा में मूर्त कर दिया।

रावण शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'भयंकर रवकारी'। उसकी विशेषताओं मे उसके दशमुख होने का भी अनेक बार उल्लेख हुआ है परन्तु यह उल्लेख आलंकारिक जान पड़ता है। रावण इतना अधिक शब्द करता है कि दशमुखों से निकले स्वर भी उसकी समानता नहीं कर सकते। क्दाचित् ऐसी कल्पना करते हुए ही उसे दशमुख की संज्ञा दी गयी और एक बार दशमुख के रूप में माना जाकर रावण स्वभावतः बीसबाहु बन गया। इस अनुमान का असन्दिग्ध प्रमाण यह है कि रामायण के अनेक स्थलों पर रावण के एक मुख होने का उल्लेख स्पष्ट रूप में किया गया है।

रावण के पिता का नाम कहीं-कहीं पुलस्त्य और कहीं-कहीं पुलस्त्य-पुत्र वैश्रवण और वैश्रवा तथा माता का नाम सुमाली मिलता है। परवर्ती साहित्य में पुलस्त्य रावण के पितामह के रूप में ही प्रसिद्ध हुए। रावण की वंशावली का उल्लेख 'रामायण', 'महाभारत', 'कूर्मपुराण', 'आनन्द रामायण', 'दशावतारचरितम्' (क्षेमेन्द्र) आदि में प्राप्त होता है। 'पद्मपुराण' के अनुसार हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दूसरे जन्म में रावण और कुम्भकरण के रूप में उत्पन्न हुए थे। 'देवी भागवत' के अनुसार विष्णु के पार्षद जय-विजय यथाक्रम असुर-योनि में उत्पन्न होते हुए रावण और कुम्भकरण के रूप में अवतरित हुए थे। रावणसम्बन्धी यह कल्पना प्रायः सभी पुराणों और बाद के काव्यों में पाई जाती है। निश्चय ही इसका आधार रामकथा का दैवीकरण और उसमें भक्ति-भावना का संयोग ही है।

राम-कथा की सार्थकता रावण-वध से ही सिद्ध होती है। इसीलिए राम और रावण से सम्बद्ध अनेकानेक रचनाएँ समय-समय पर होती रहीं। 'वाल्मीकि रामायण' से प्रारम्भ होकर रावण का चरित्र उत्तरोत्तर अधिक धीरोद्धत्त होता गया। प्राकृत के 'रावण वहो' अथवा 'सेतुबन्ध' नामक महाकाव्य में 'वाल्मीकि-रामायण' के युद्ध-काण्ड का प्रसंग अत्यन्त ओजस्वी और प्रभावशाली रूप में विस्तार से वर्णित है। इसमें रावण के शौर्य और पराक्रम तो चित्रण है ही, इसके कामिनी-केलि नामक अध्याय में उसके भोग-विलास का भी

विस्तृत वर्णन है। 'भट्टि काव्य' अथवा 'रावण-वध' नामक रचना में रावण का चरित्र 'वाल्मीकि-रामायण' पर ही आधारित है। 'महानाटक' में रावण प्रपंच अंक में रावण की ऐन्द्रजालिक क्रियाओं का अद्भुत वर्णन हुआ है। 'आश्चर्य चूड़ामणि' नामक रचना में बताया गया है कि रावण राम का वेष धारण कर सीता हरण करता है। दसवीं शताब्दी में 'कृत्यारावण' और 'स्वप्न-दशानन' नामक दो रचनाएँ हुईं, जिनमें रावण के चरित्र को प्रमुख रूप में चित्रित किया गया। हिन्दी में सर्वप्रथम तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में रावण का चरित्र विस्तृत रूप में मिलता है किन्तु तुलसीदास ने अपनी अनन्य रामभक्ति के कारण उसके पराक्रम और शौर्य का वैसा वर्णन नहीं किया, जैसा कि एक महाकाव्य के प्रतिनायक के लिए आवश्यक था। उन्होंने रावण की दुष्टता, क्रूरता, लम्पटता और अहं भावना पर ही विशेष बल दिया है। साथ ही उन्होंने रावण के चरित्र के एक अन्य पक्ष पर भी विशेष ध्यान दिया है, जो उनके सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण में अनिवार्यतः पाया जाता है। वह पक्ष है, उसकी अनन्य भाव की रामभक्ति का। वह निरन्तर राम का ही ध्यान करता रहता है, अन्तर केवल इतना है कि उसका ध्यान 'कुभाय' अर्थात् वैरभाव का है—रावण का जन्म ही राम के द्वारा वध पाकर मुक्त होने के लिए हुआ था। मृत्यु के अवसर पर राम का नाम लेने के कारण वह सद्गति का भागी बनता है। उसका सम्पूर्ण तेज राम में समा जाता है। केशव ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में रावण के ऐश्वर्य और वैभव का किंचित् परिचय दिया है तथा उसकी विद्वत्ता का भी उल्लेख किया है परन्तु 'रामचन्द्रिका' में पात्रों का चरित्र-चित्रण सम्यक्रूप में नहीं हो सका। केशव के काव्य का यह पक्ष प्रबल नहीं है।

राम-काव्य की माधुरी और रसिकता व्यंजक कृतियों में रावण का चरित्र-चित्रण सर्वथा अप्राप्य है और यह स्वाभाविक ही है। आधुनिक युग के 'रामचन्द्रोदय', 'साकेत' आदि काव्यों में रावण के चरित्र का कोई उल्लेखनीय चित्रण नही पाया जाता। रावण के चरित्र को प्रमुखता देते हुए उसे नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का एक उल्लेखनीय प्रयास हरदयाल सिंह द्वारा रचित 'रावण महाकाव्य' में अवश्य पाया जाता है। इसमें रावण के चरित्र के उज्वल पक्ष का उद्घाटन किया गया है। इसके अनुसार रावण महान् पण्डित, कुशल राजनीतिज्ञ और अत्यन्त पराक्रमी योद्धा था। इस प्रकार कवि ने रावण के चरित्र में यथा सम्भव श्रेष्ठ और उदात्त गुणों का समन्वय करने का यत्न किया है। 'रावण महाकाव्य' की रचना निश्चय ही माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' की प्रेरणा से हुई जान पड़ती है।

राम-कथा के सन्दर्भ में वर्णित और चित्रित रावण के लोक-प्रसिद्ध व्यक्तित्व के अतिरिक्त रावण के पाण्डित्य को भी पर्याप्त प्रसिद्धि मिली है। 'ऋग्वेद भाष्य', 'प्राकृत लंकेश्वर' तथा अन्य अनेक रचनाएँ रावणकृत कही जाती हैं, जिससे उसकी विद्वत्ता की सूचना मिलती है। ये रचनाएँ निश्चय ही अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि इनके रचयिता रावण और राम-कथा के रावण अभिन्न हैं।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त; कल्याण का मानस विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर; तुलसीदास और उनका युग : राजपति दीक्षित।]

—यो० प्र० सिं०

रावी—जन्म १९११ ई०। पूरा नाम रामप्रसाद विद्यार्थी है। रावी के नाम से हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध हैं। आगरा के रहनेवाले हैं। नाटक, कहानी-संग्रह, लघुकथाओं और निबन्धों के अतिरिक्त एक उपन्यास भी लिखा है। आपकी प्रसिद्धि मौलिक लघु-कथाओं के लेखक के रूप में अधिक है।

रावी मुख्यतः भावुकताप्रधान शैली के लेखक है। घटनाएँ अत्यन्त भावनाप्रधान, समस्याएँ जीवन के नितान्त निकट की, भाषा ओजमयी और कथ्य विशुद्ध साहित्यिक—यही आपकी विशेषता रही है। विडम्बनाओं और विरोधी स्थितियों के भावनात्मक निराकरणों में आपका अधिक विश्वास है।

लघु-कथाओं में आपकी शैली अधिक निखरकर आयी है। छोटी-छोटी कहानियों में जीवन की विविध अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। 'मेरे कथा गुरु का कहना है...' (१९५८ ई०) आपकी बड़ी ही सफल कृति मानी जाती है। यद्यपि आपकी सम्पूर्ण कृतियों पर छायावादी भावबोधका गहरा प्रभाव पड़ा है किन्तु आपकी लघु-कथाओं में उस तथ्य का बिलकुल भिन्न प्रभाव देखने में आता है। रागात्मक अनुभूतियों और जीवन के निकटतम सत्यों का एक सर्वथा नया पुट आपकी कथाओं में मिलता है।

नाटकों में यही शैली बाधाएँ उत्पन्न कर देती हैं क्योंकि पात्रों की रचना, उनकी स्थिति और उनकी सम्पूर्ण नाटकीय परिस्थिति इसीलिए भावुक अधिक और नाटकीय कम लगती है। 'नये नगर की कहानी' (१९५३ ई०) नामक उपन्यास में भी आपको सफलता अंशतः ही मिल पायी है। विभिन्न विधाओं का अतिक्रमण भी एक दूसरे में हुआ है। कुछ लघु-कथाएँ नितान्त नाटकीय हैं, कुछ एकांकी कहानी के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। उपन्यास की भी यही दशा हुई है।

पत्रकार होने के नाते आपने कुछ निबन्ध जैसे 'क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ' (१९५६ ई०) भी लिखे हैं। निबन्धों में भी भावप्रधान शैली होने के नाते कहीं-कहीं गद्य गीत जैसा लगता है, लेकिन यह सब होते हुए भी आपकी रचनाओं में आधुनिक स्वरों की झलक दीख पड़ती है।

आपके उल्लेखनीय ग्रन्थ इस प्रकार हैं—'पूजा' (एकांकी नाटक संग्रह, १९३७), 'पूर्व पश्चिम' (एकांकी नाटकों का संग्रह, १९५०), 'नये नगर की कहानी' (उपन्यास १९५३ ई०) 'पहला कहानीकार' (छोटी कहानियों का संग्रह, १९५४), 'क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ' (निबन्ध), 'वीरभद्र की गोष्ठी' (समाजशास्त्रसम्बन्धी पुस्तक, १९५६ ई०)।

—ल० कां० व०

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, नयी दिल्ली—कार्य और विभाग—(१) अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मलेन—९ और १० फरवरी, १९६० को नयी दिल्ली में इस सम्मेलन का आयोजन समिति के इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय है। देश के विभिन्न भागों से इसमें १५०० से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष गोपाल रेड्डी, अध्यक्ष अनन्तशयनम् अइयंगार, उद्घाटनकर्त्ता—पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रमाण-पत्रवितरक सरदार हुकुमसिंह, दीक्षान्त

भाषणकर्ता वियोगी हरि, राष्ट्रभाषा प्रदर्शनी के उद्घाटनकर्ता के० एल० श्रीमाली थे। इस अवसर पर महात्मा गाँधी पुरस्कार आचार्य काका कालेलकर को समर्पित किया गया और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन की सेवा में २५००१ रुपये की निधि पंजाब के तत्कालीन राज्यपाल न० वी० गाडगिल के हाथ समर्पित की गयी, जिसे उन्होंने वर्धा-समिति को राष्ट्रभाषा के प्रचारार्थ वापस कर दिया। सम्मेलन में लगभग २०००० रुपये व्यय हुए, जिसमें ९००० रुपये भारत सरकार और ५००० रुपये वर्धा समिति के द्वारा अनुदान स्वरूप मिला। (२) हिन्दी-दिवस–हिन्दी दिवस के अवसर पर साप्ताहिक कार्यक्रम मनाया जाता है। (३) परीक्षा–गृहमंत्रालय द्वारा संचालित परीक्षाओं में ५००० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष शामिल होते हैं। शिक्षण व्यवस्था के लिए समिति का कार्यालय ३६, केनिंग लेन में, महाविद्यालय चल रहा है। (४) शिक्षा–रेलवे कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने का दायित्व वर्धा-समिति को दिलाने के लिए प्रयत्नशील है।

–प्रे० ना० टं०

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा–हिन्दी नगर, वर्धा: स्थापना सन् १९३६ ई०; संस्थापक महात्मा गान्धी; विवरण–हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन में, जिसके सभापति डा० राजेन्द्रप्रसाद थे, हिन्दीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा के व्यापक प्रचार के लिए इस समिति का निर्माण हुआ। समिति के प्रथम सदस्य थे–सर्वश्री महात्मा गान्धी, डा० राजेन्द्र प्रसाद, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टण्डन, जमनालाल बजाज, आचार्य नरेन्द्र देव, काका कालेलकर, बाबा राघवदास, शंकर राव, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगीहरि, हरिहर शर्मा, ब्रजलाल बियाणी, नर्मदा सिंह, श्रीनाथ सिंह, लोक सुन्दरी रमन आदि। संस्था का मूलमन्त्र है, 'एक हृदय हो भारत जननी'। भारत के समस्त प्रदेशों के अतिरिक्त लंका, वर्मा, अफ्रीका, स्याम, जावा, सुमात्रा, मारीशस, अदन, सूडान तथा इंगलैण्ड में भी समिति के केन्द्र हैं।

कार्य और विभाग–(१) राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परीक्षाओं के देश-विदेश में २३९३ परीक्षा केन्द्र, ९३० शिक्षण केन्द्र, २७ राष्ट्रभाषाविद्यालय और महाविद्यालय, ६१७५ प्रमाणित प्रचारक हैं। अब तक विभिन्न परीक्षाओं में २१ लाख, ८८ हजार, १३६ परीक्षार्थी सम्मिलित हो चुके हैं। (२) संगठन–३५ सदस्यों की कार्यसमिति है, जिसमें १९ सदस्य हिन्दीतर प्रदेशों के प्रतिनिधि हैं। (३) प्रान्तीय समितियाँ–गुजरात, राजस्थान, असम, बंगाल, मणिपुर, उत्कल, मराठवाड़ा, दिल्ली, कर्नाटक, हैदराबाद में समिति की स्थायी समितियाँ हैं। प्रत्येक समिति का एक-एक स्थायी संचालक नियुक्त किया गया है। (४) राष्ट्रभाषा महाविद्यालय गत ८ वर्षों से वर्धा में एक महाविद्यालय संचालित है, जिसमें अहिन्दी भाषा-भाषियों के अध्ययन की विशेष सुविधा है। (५) राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन–प्रतिवर्ष यह सम्मेलन भिन्न-भिन्न प्रान्तों में होता है। अब तक वर्धा, अहमदाबाद, पूना, बम्बई, नागपुर, पुरी, जयपर, भोपाल तथा दिल्ली में सम्मेलन सम्पन्न हो चुके हैं। (६) महात्मा गान्धी पुरस्कार–'राष्ट्रभाषा के प्रति की गयी सेवाओं के सम्मानस्वरूप १५०१ रुपये का यह पुरस्कार प्रदान किया जाता है। अब तक आचार्य क्षितिमोहन सेन, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, आचार्य विनोबा भावे, प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी, सन्तराम बी० ए० और आचार्य काका कालेलकर को समर्पित किया जा चुका है। (७) 'राष्ट्रभाषा' तथा 'राष्ट्रभारती'–समिति की ओर से ये दो मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित की जाती हैं। (८) प्रकाशन–पाठ्यपुस्तकों के रूप में अब तक ५२ पुस्तकों की ६५ लाख प्रतियाँ प्रकाशित की जा चुकी हैं। समिति के पास अपना प्रेस है। विभिन्न विभागों में १५० कार्यकर्त्ता लगे हुए हैं। (९) पुस्तकालय–लगभग ८,००० पुस्तकें हैं।

–प्रे० ना० टं०

रासपंचाध्यायी–'भागवत पुराण' के दशम स्कन्ध के उन्तीसवें अध्याय से तैंतीसवें अध्याय तक पाँच अध्यायों को 'रासपंचाध्यायी' कहते हैं। इन पाँच अध्यायों को 'भागवत पुराण' का प्राण कहा जाता है। 'रासपंचाध्यायी' में रास प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की अन्तःप्रेरणा का तथा शारदीय पूर्णिमा की ज्योत्स्नाधवल विभावरी का बहुत ही सरस एवं काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है। ज्यों ही श्रीकृष्ण के मन में रासलीला करने का विचार आया, समस्त वनप्रान्त अनुराग की लालिमा से अनुरंजित हो उठा। कृष्ण ने अपनी प्रिय वंशी उठायी और उसकी तान छेड़ना प्रारम्भ किया। वंशीरव सुनते ही ब्रज की गोपियाँ अपने तन-मन की सुधि भूल, काम-काज को बीच में छोड़ भाग खड़ी हुई और कृष्ण के पास वन-वीथियों में जा पहुँची। श्रीकृष्ण ने सहज भाव से उन्हें अपने कर्तव्य का बोध कराया और वापस अपने घरों को लौट जाने का अनुरोध किया किन्तु गोपियों ने किसी मर्यादा को स्वीकार नहीं किया और अपनी टेक पर दृढ़ बनी रहीं। तब कृष्ण ने आनन्द पुलकित हो उनके साथ मण्डलाकार स्थित होकर रास रचाया। वैष्णव भक्तों ने इस रासलीला को ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति मार्ग की सरणि माना है। इस लीला का उपास्य काम-विजयी है, इसीलिए इसके द्वारा काम-विजयरूप फलप्राप्ति मानी जाती है।

'भागवत पुराण' के इन पाँच अध्यायों के आधार पर हिन्दी के अनेक कवियों ने 'रासपंचाध्यायी' काव्य लिखे हैं। सूरदास ने इस प्रसंग का बड़े विस्तार से मौलिक पूर्ण वर्णन किया है। स्वतन्त्र रूप से 'रासपंचाध्यायी' लिखने वालों में नन्ददास, रहीम खानखाना, हरिराम व्यास, नवल सिंह कायस्थ प्रसिद्ध हैं। नन्ददास की 'रासपंचाध्यायी' (दे० नन्ददास) रोला छन्द में है, भाषा सानुप्रास और साहित्यिक ब्रज है। हरिराम व्यास (दे० हरिराम व्यास) रचित 'रासपंचाध्यायी' त्रिपदी छन्द में ग्रथित है। कुल १२० त्रिपदी छन्दों में शारदीय रात्रि की रासलीला से प्रारम्भ करके अन्त में रासलीला श्रम से परिक्लान्त राधा का वर्णन किया गया है। व्यास जी की 'रासपंचाध्यायी' में माधुर्य-भक्ति का प्रभाव है। रहीम की 'रासपंचाध्यायी' अप्राप्य है। 'भक्तमाल' में रहीम के 'रासपंचाध्यायी' सम्बन्धी दो पद मिले हैं। कदाचित् उन्हीं के आधार पर अनुमान कर लिया गया है कि रहीम ने 'रासपंचाध्यायी' की रचना की थी। नवल सिंह (दे०) की 'रासपंचाध्यायी' भी सामान्य स्तर की है।

–बि० स्ना०

राहुल–मैथिलीशरणकृत 'यशोधरा' काव्य के मुख्य पात्रों में

से एक है। 'यशोधरा' काव्य के वस्तु-संगठन और विकास मे उसका सर्माधिक महत्त्व है। यदि राहुल-सा लाल गोद में न होता तो कदाचित् यशोधरा मरण का ही वरण कर लेती। और तब इस यशोगाथा का प्रणयन ही क्यों होता? 'यशोधरा' में राहुल का मनोविकास अंकित है। उसकी बालसुलभ चेष्टाओं में अद्‌भुत आकर्षण है। समय के साथ-साथ उसकी बुद्धि का विकास भी होता हे, जो उसकी उक्तियों से स्पष्ट है। परन्तु कहीं-कहीं राहुल बडों के समान तर्क, युक्तिपूर्वक वार्तालाप करता है, जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न बालक के प्रसंग में भी अतिरंजित प्रतीत होता है।

—उ० का० गो०

राहुल सांकृतयायन—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की जन्मतिथि है रविवार ९ अप्रैल, १८९३ ई० और मृत्युतिथि १४ अप्रैल, १९६३ ई०। जन्म स्थान है, उनका ननिहाल पन्दहा ग्राम, जिला आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश)। राहुल जी की अपनी भूमि थी पन्दहा से दस मील दूर कनैला ग्राम। पिता का नाम था गोवर्धन पाण्डे और माता का नाम था कुलवन्ती। कुल चार भाई और एक बहिन, परन्तु बहिन का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया। भाइयों में ज्येष्ठ राहुल जी थे। पितृकुल से मिला हुआ उनका नाम था केदारनाथ पाण्डे। 'राहुल' नाम तो बाद में पड़ा, जब वे बौद्ध हुए—सन् १९३० ई० में जब राहुल जी लंका में थे। बौद्ध होने के पूर्व राहुल जी 'दामोदर स्वामी' के नाम से भी पुकारे जाते थे। 'राहुल' नाम के आगे 'सांस्कृत्यायन' इसलिए लगा कि पितृकुल सांकृत्य गोत्रीय है।

राहुल जी का बाल्य जीवन ननिहाल अर्थात् पन्दहा ग्राम में व्यतीत हुआ। राहुल जी के नाना का नाम था पण्डित राम शरण पाठक जो अपनी युवावस्था में फौज में नौकरी कर चुके थे। नाना के मुख से सुनी हुई फौजी जीवन की कहानियाँ, शिकार के अद्‌भुत वृतान्त, देश के विभिन्न प्रदेशों का रोचक वर्णन, अजन्ता-एलोरा की किंवदन्तियाँ तथा नदियों, झरनों के वर्णन आदि ने राहुल जी के आगामी जीवन की भूमिका तैयार कर दी। इसके अतिरिक्त दर्जा ३ की उर्दू किताब में पढ़ा हुआ 'नवाजिन्दा-बाजिन्दा' का शेर "सैर कर दुनियाँ की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ, जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ"—राहुल जी को दूर देश जाने के लिए प्रेरित करने लगा। कुछ काल पश्चात् घर छोड़ने का संयोग यों उपस्थित हुआ कि घी की मटकी सम्हली नहीं और दो सेर घी जमीन पर बह गया। अब नाना की डाँट का भय, नवाजिन्दा बाजिन्दा का वह शेर और नाना के ही मुख से सुनी कहानियाँ—इन सबने मिलकर केदारनाथ पाण्डे (राहुल जी) को घर से बाहर निकाल दिया।

संक्षेप में राहुल की जीवन-यात्रा के अध्याय इस प्रकार हैं: पहली उड़ान वाराणसी तक, दूसरी उड़ान कलकत्ता तक, तीसरी उड़ान पुनः कलकत्ता तक, पुनः वापस आने पर हिमालय की यात्रा, सन् १९१० ई० से १९१४ ई० तक वैराग्य का भूत और हिमालय, वाराणसी में संस्कृत का अध्ययन, परसा के महन्त का साहचर्य, परसा से पलायन, दक्षिण भारत की यात्रा। 'नव प्रकाश' (१९१५-२२)—आर्य मुसाफिर विद्यालय, आगरा में पढ़ाई, लाहौर में मिशनरी, पुनः घुमक्कड़ी का भूत, कुर्ग में चार मास। राजनीति में प्रवेश (१९२१-२७)—छपरा के लिए प्रस्थान, बाढ़-पीड़ितों की सेवा, सत्याग्रह की तैयारी, बक्सर जेल में छः मास, जिला कांग्रेस के मन्त्री, नेपाल में डेढ़ मास, हजारी बाग जेल में, राजनीतिक शिथिलता, पुनः हिमालय, कौंसिल का चुनाव। लंका के लिए प्रस्थान (१९२७)—लंका में १९ मास, नेपाल में अज्ञात वास, तिब्बत में सवा बरस, लंका में दूसरी बार, सत्याग्रह के लिए भारत में, लंका के लिए तीसरी बार। यूरोप-यात्रा (१९३२-३३)—इग्लैण्ड और यूरोप में द्वितीय लद्दाख यात्रा, द्वितीय तिब्बत यात्रा, जापान कोरिया, मंचूरिया, सोवियत भूमि की प्रथम झाँकी (१९३५ ई०), ईरान में पहली बार, तिब्बत में तीसरी बार (१९३६ ई०) सोवियत भूमि में दूसरी बार (१९३७ ई०), तिब्बत में चौथी बार (१९३८ ई०), किसान मजदूरों के लिए आन्दोलन (१९३८-४४), किसान संघर्ष (१९३९), सत्याग्रह भूख हड़ताल, सजा, जेल और एक नये जीवन का प्रारम्भ—कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर। पुनः जेल में २९ मास (१९४०-४२ ई०), इसके बाद सोवियत् रूस के लिए पुनः प्रस्थान। रूस से लौटने के बाद राहुल जी भारत में रहे और कुछ समय पश्चात् चीन चले गये, फिर लंका।

राहुल जी की प्रारम्भिक यात्राओं ने दो दिशाएँ दीं। एक तो प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों का अध्ययन तथा दूसरे देश-देशान्तरों की अधिक से अधिक प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करना। इन दो प्रवृत्तियों से अभिभूत होकर राहुल जी महान् पर्यटक और महान् अध्येता बने। कट्टर सनातनी ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी सनातन धर्म की रुढियों को राहुल जी ने अपने ऊपर से उतार फेंका और जो भी तर्कवादी धर्म या तर्कवादी समाज शास्त्र उनके सामने आते गये, उसे ग्रहण करते गये और शनैः शनैः उन धर्मों एवं शास्त्रों के भी मूल तत्वों को अपनाते हुए उनके बाह्य ढाँचों को छोड़ते गये। सनातन धर्म से आर्य समाज, आर्य समाज से बौद्ध धर्म और बौद्धधर्म से मानव धर्म—यह राहुल जी के धार्मिक विकास का क्रम है। इसी प्रकार काश्तकारी से जमींदारी, जमींदारी से महंती, महंती से कांग्रेस कांग्रेस से किसान आन्दोलन और किसान आन्दोलन से साम्यवाद—राहुल जी के सामाजिक चिन्तन का क्रम है राहुल जी किसी धर्म या विचारधारा के दायरे में बँध नहीं सके। 'मज्झिम निकाय' के सूत्र का हवाला देते हुए राहुल जीने अपनी 'जीवन यात्रा' में इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है, "बड़े की भाँति मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, वह पार उतरने के लिए है, शिर पर ढोये-ढोये फिरने के लिए नहीं—तो मालूम हुआ कि जिस चीज को मैं इतने दिनों से ढूँढ़ता रहा हूँ, वह मिल गयी।"

यद्यपि राहुल जी के जीवन में पर्यटक-वृत्ति सदैव प्रधान रही परन्तु उनका पर्यटन केवल पर्यटन के लिए नहीं रहा। पर्यटन के मूल में अध्ययन की प्रवृत्ति सर्वोपरि रही। अनेक धार्मिक एवं राजनीतिक वलयों में रहने के बाद भी उनके अध्ययन एवं चिन्तन में कभी जड़ता नहीं आने पायी। राहुल जी बाल्यकाल से ही मेधावी थे। समूचे दर्जे में अव्वल होना उनके लिए साधारण बात थी। परिस्थितियों के अनुसार जिस विषय के सम्पर्क में वे आये, उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करना उनका व्यक्तिगत धर्म बन गया। वाराणसी में जब संस्कृत से अनुराग हुआ तो सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य एवं दर्शनादि को पढ़ लिया। कलकत्ता में अंग्रेजी से पाला पड़ा तो कुछ समय में

अंग्रेजी के ज्ञाता बन गये। आर्य समाज का जब प्रभाव पड़ा तो वेदों को मथ डाला। बौद्धधर्म की ओर जब झुकाव हुआ तो पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, तिब्बती, चीनी, जापानी, एवं सिंहली भाषाओं की जानकारी लेते हुए सम्पूर्ण बौद्ध-ग्रन्थों का मनन किया और सर्वश्रेष्ठ उपाधि 'त्रिपिटका चार्य' की पदवी पायी। साम्यवाद के क्रोड़ में जब राहुल जी गये तो कार्ल मार्क्स, लेनिन तथा स्तालिन के दर्शन से पूर्ण परिचित हुए। प्रकारान्तर से राहुल जी इतिहास, पुरातत्त्व, स्थापत्य, भाषा शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे।

अपनी 'जीवन यात्रा' में राहुल जी ने स्वीकार किया है कि उनका साहित्यिक जीवन सन् १९२७ ई० से प्रारम्भ होता है। वास्तविक बात तो यह है कि राहुल जी ने किशोरावस्था पार करने के बाद ही लिखना शुरू कर दिया था। जिस प्रकार उनके पाँव नहीं रुके, उसी प्रकार उनके हाथ की लेखनी भी कभी नही रुकी। उनकी लेखनी की अजस्रधारा से विभिन्न विषयों पर प्रायः १५० से अधिक ग्रन्थ प्रणीत हुए हैं। प्रकाशित ग्रन्थो की संख्या सम्भवतः १२९ है। लेखों, निबन्धों एवं वक्तृताओं की संख्या हजारों में है। राहुल जी की प्रकाशित कृतियों का क्रम इस प्रकार है–

कृतियाँ–हिन्दी : १. उपन्यास-कहानी (क) मौलिक 'सतमी के बच्चे' (कहानी, १९३९ ई०), 'जीने के लिए' (१९४० ई०), 'सिंह सेनापति' (१९४४), 'जय यौधेय' (१९४४), 'बोल्गा से गंगा (कहानी, १९४४), 'मधुर स्वप्न' (१९४९), 'बहुरंगी मधुपुरी' (कहानी १९५३), 'विस्मृत यात्री' (१९५४), कनैला की कथा' (कहानी १९५५-५६), 'सप्तसिन्धु'। (ख) अनुवाद–'शैतान की आँख' (१९२३), 'विस्मृति के गर्भ में' (१९२३), 'जादू का मुल्क' (१९२३), 'सोने की ढाल (१९३८), 'दाखुन्दा' (१९४७), 'जो दास थे' (१९४७), 'अनाथ' (१९४८), 'अदीना' (१९५१), 'सूदखोर की मौत' (१९५१), 'शादी' (१९५२)। २. कोश–'शासन शब्द कोश' (१९४८), 'राष्ट्रभाषा कोश' (१९५१)। ३. जीवनी–'मेरी जीवन यात्रा' (दो भाग में १९४४), 'सरदार पृथिवी सिंह' (१९४४), 'नये भारत के नये नेता' (१९४४), 'राजस्थानी रनिवास' (१९५३), 'बचपन की स्मृतियाँ' (१९५३), 'अतीत से वर्तमान' (१९५३), 'स्तालिन' (१९५४), 'कार्ल मार्क्स' (१९५४), 'लेनिन' (१९५४), 'माओत्से तुंग' (१९५४), 'घुमक्कड़ स्वामी' (१९५६), 'असहयोग के मेरे साथी' (१९५६), 'जिनका मैं कृतज्ञ' (१९५६), 'वीर चन्द्र सिंह गढ़वाली' (१९५७)। ४. दर्शन–'वैज्ञानिक भौतिकवाद' (१९४२), 'दर्शन दिग्दर्शन' (१९४२), 'बौद्ध दर्शन' (१९४२)। ५. देश दर्शन–'सोवियत भूमि' (दो भाग में १९३८), 'सोवियत मध्य एशिया' (१९४७), 'किन्नर देश' (१९४८), 'दार्जिलिंग परिचय' (१९५०), 'कुमाऊँ' (१९५१), 'गढ़वाल' (१९५२), 'नैपाल' (१९५३), 'हिमालय प्रदेश' (१९५४), 'जौनसार देहरादून' (१९५५), 'आजमगढ़ पुरातत्त्व' (१९५५), ६. बौद्ध धर्म–'बुद्धचर्या' (१९३० ई०), 'धम्मपद' (१९३३), 'मज्झिमनिकाय' (१९३३), 'विनय पिटक' (१९३४), 'दीर्घनिकाय' (१९३५), 'महामानव बुद्ध' (१९५६)। ७. भोजपुरी (नाटक)–'तीन नाटक' (१९४४), 'पाँच नाटक' (१९४४) ८ यात्रा 'मेरी लद्दाख यात्रा' (१९२६), 'लंका यात्रावलि' (१९२७-२८), 'तिब्बत में सवा वर्ष' (१९३९), 'मेरी यूरोप यात्रा' (१९३२), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (१९३४), 'यात्रा के पन्ने' (१९३४-३६), 'जापान' (१९३५), 'ईरान' (१९३५-३७) 'रूस में पच्चीस मास' (१९४४-४७), 'घुमक्कड़ शास्त्र' (१९४९), 'एशिया के दुर्गम खण्डों में (१९५६)। ९. राजनीति साम्यवाद–'बाईसवीं सदी' (१९२३ ई०), 'साम्यवाद ही क्यों' (१९३४), 'दिमागी गुलामी' (१९३७), 'क्या करें' (१९३७), 'तुम्हारी क्षय' (१९४७), 'सोवियत न्याय' (१९३९), 'राहुल जी का अपराध' (१९३९), 'सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास (१९३९), 'मानव समाज' (१९४२), 'आज की समस्याएँ' (१९४४), 'आज की राजनीति' (१९४९), 'भागो नहीं बदलो' (१९४४), 'कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं?' (१९५३)। १० विज्ञान–'विश्व की रूपरेखा' (१९२३ ई०), 'तिब्बत में बौद्ध धर्म' (१९३५), 'पुरातत्व निबन्धावलि' (१९३६), 'हिन्दी काव्यधारा' (अपभ्रंश, १९४४), 'बौद्ध संस्कृति' (१९४९), 'साहित्य निबन्धावलि' (१९४९), 'आदि हिन्दी की कहानियाँ' (१९५०), 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा' (१९५२), 'मध्य एशिया का इतिहास' १, २ (१९५२), 'सरल दोहा कोश' (१९५४), 'ऋग्वेदिक आर्य' (१९५६), 'अकबर' (१९५६), 'भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक' (१९५७), 'तुलसी रामायण संक्षेप' (१९५७)। १२. संस्कृत : (टीका, अनुवाद) –'संस्कृत पाठमाला' (१९२८ ई०), 'अभिधर्म कोश' (टीका, १९३०) 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध' (१९३४), 'प्रमाणवार्त्तिक स्ववृत्ति' (१९३७), 'हेतुविन्दु' (१९४४), 'सम्बन्ध परीक्षा' (१९४४), 'निदान सूत्र' (१९५१), 'महापरिनिर्वाण सूत्र' (१९५१), 'संस्कृत काव्यधारा' (१९५५), 'प्रमाणवार्त्तिक (अंग्रेजी)। १३. तिब्बती : (भाषा, व्याकरण)–'तिब्बती बालशिक्षा' (१९३३ ई०), 'पाठावली (१९३३ ई०), 'तिब्बती व्याकरण' (१९३३)। १४. संस्कृत बालपोथी (सम्पादन) दर्शन, धर्म : 'वादन्याय' (१९३५ ई०), 'प्रमाणवार्त्तिक' (१९३५), 'अध्यर्द्धशतक' (१९३५), 'विग्रहव्यावर्त्तनी' (१९३५), 'प्रमाणवार्त्तिकभाष्य' (१९३५-३६), 'प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति' (१९३६), 'प्र० वा० स्ववृत्ति टीका' (१९३७), 'विनयसूत्र' (१९४३)।

ऊपर की सूची से स्पष्ट है कि राहुल जी ने हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त धर्म, दर्शन लोक साहित्य, यात्रा साहित्य, जीवनी, राजनीति, इतिहास, संस्कृत ग्रन्थों की टीका और अनुवाद, कोश, तिब्बती भाषा एवं बालपोथी सम्पादन आदि विषयों पर अधिकार के साथ लिखा है। वस्तुतः यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे राहुल जी ने 'अपभ्रंश काव्य साहित्य' 'दक्खिनी हिन्दी साहित्य', 'आदि हिन्दी की कहानियाँ' प्रस्तुत कर लुप्तप्राय निधि का उद्धार किया है। राहुल जी की मौलिक कहानियाँ एवं उपन्यास एक नये दृष्टिकोण को सामने रखती हैं। साहित्य से सम्बन्धित राहुल जी की रचनाओं में एक और विशिष्ट बात यह रही है कि उन्होंने प्राचीन इतिहास अथवा वर्तमान जीवन के उन अछूते अंगों को स्पर्श किया है, जिस पर साधारणतया लोगों की दृष्टि नहीं गयी थी। उन रचनाओं में जहाँ एक ओर

प्राचीन के प्रति मोह, इतिहास का गौरव आदि है तो दूसरी ओर उनकी अनेक रचनाएँ स्थानीय रंगत को लेकर मोहक चित्र उपस्थित करती हैं। 'सतमी के बच्चे' और 'कनैला की कथा' इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। राहुल जी ने प्राचीन के खण्डहरों से गणतन्त्रीय प्रणाली खोज निकाली। धार्मिक आन्दोलन के मूल में जाकर सर्वहारा के धर्म को पकड़ लिया। इतिहास के पृष्ठों में असाधारण के स्थान पर साधारण को अधिक प्रश्रय दिया और इस प्रकार जनता, जनता का राज्य, मेहनतकश मजदूर यह सब उनकी रचनाओं के मूलाधार बने। साहित्यक भाषा, काव्यात्मकता अथवा व्यंजनाओं का सहारा न लेते हुए राहुल जी ने सीधी, सरल शैली का सहारा लिया। इसीलिए राहुल जी की रचनाएँ साधारण पाठकों के लिए भी मनोरंजक एवं बोधगम्य हैं।

—स० व्र० सि०

रुक्मिणी—रुक्मिणी की कथा के आधार 'भागवत' (दशमस्कन्ध, उत्तरार्द्ध, अ० ५२-५३-५४-६०), 'हरिवंश' (५९-४३),, 'विष्णु' (१०-६५-६७) आदि पुराण हैं। भक्तियुग के कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास और नन्ददास ने रुक्मिणी-परिणय के प्रसंग में उसका चरित्र-चित्रण किया है। रुक्मिणी कुण्डिनपुर के विष्णुभक्त राजा भीष्मक की पुत्री थी। वह आरम्भ से ही कृष्ण अनुरागिनी थी। रुक्मिणी के पिता उसका विवाह यदुराई से करना चाहते थे किन्तु उसके भाई ने उसका विवाह चन्देरी के राजा शिशुपाल के साथ करना चाहा। रुक्मिणी ने कृष्ण के पास अपना भावनापूर्ण मर्मस्पर्शी सन्देश भेजा। कृष्ण ने यथासमय रुक्मिणी की सहायता करके उसका वरण किया (सू० सा० प० ४७८४-४८०३)। रुक्मिणी कमला का अवतार कही गयी है, फिर भी भक्त कवियों ने-उसके व्यक्तित्व से भक्ति-भाव की ही व्यंजना करायी है। कृष्ण द्वारा ली गयी भक्ति की परीक्षा में वह खरी उतरती है (सू० सा० प० ४८१३)। रुक्मिणी का प्रेम दैन्यपरक है। उसे न तो कृष्ण के ऐश्वर्य का ही ज्ञान है और न उसका प्रेम ही ज्ञानजनित है। रुक्मिणी का स्वभाव सरल एवं उदार है। वह राधा के प्रति भी स्नेहभाव रखती है (सू० सा० प० ४८८९)। परोक्ष रूप में रुक्मिणी का चरित्र राधा के अगाध प्रेम की कसौटी है। कृष्ण के ऐश्वर्यपूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना रुक्मिणी के बिना अधूरी ही मानी जायेगी।

माधुर्य भाव के परिपोषक होने के कारण रुक्मिणी की सम्पूर्ण कथा में उसके परिणय के प्रसंग के प्रति ही मध्ययुगीन कवियों का विशेष अनुराग दिखाई पड़ता है। नन्ददास ने तो भागवत की मान्यता से भिन्न रुक्मिणी के कृष्ण के प्रति अनुराग का कारण नारद को बतला कर "जब ते तुम्हारे गुनगन मुनिजन नारद गाए" नये प्रसंग की उद्‌भावना की है किन्तु यह स्मरणीय है कि कृष्ण भक्ति काव्य में राधा और गोपियों की समकक्षता में रुक्मिणी का चरित्र विशेष समादृत न हो सका। केवल वल्लभ सम्प्रदाय को छोड़कर निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों में तो वह लगभग पूर्णतया उपेक्षित सा ही रहा है।

रीतियुग में रुक्मिणी का चरित्र एवं उसके परिणय की कथा सम्प्रदायमुक्त श्रृंगारी कवियों के लिए विशेष आकर्षक सिद्ध हुई। इसका कारण रुक्मिणी-परिणय के प्रसंग की श्रृंगारी प्रकृति का सामन्ती जीवन से तादात्म्य ज्ञात होता है। प्रस्तुत प्रसंग को लेकर १९ वीं शती तक रचे गये कथाकाव्यों में नवलसिंह कृत 'रुक्मिणी मंगल', रघुराज सिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय', रामलालकृत 'रुक्मिणी मंगल', मिहिरचन्द्रकृत 'रुक्मिणी मंगल', पदुमभगतकृत 'रुक्मिणी मंगल', विष्णुदासकृत 'रुक्मिणी मंगल', इसके प्रमाण हैं। इन रचनाओं में रुक्मिणी परिणय की कथा एवं उसके चिरत्र को सामन्ती रंग में रँगने के यत्न स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। रघुराज सिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' में तो एतद्‌विषयक सम्पूर्ण कथा के सन्निवेश के फलस्वरूप भी रुक्मिणी कृष्णप्रिया के स्थान पर सामन्ती पटरानियों की प्रतिच्छाया-सी मालूम पड़ती है।

आधुनिक युग में जनतान्त्रिक चेतना एवं सुधारवादी भावना के फलस्वरूप सामन्ती जीवन के प्रेरक तत्त्वों के परिपोषक होने के कारण रुक्मिणी का चरित्र कृष्ण कथा-काव्य में स्थान न पा सका। द्वारका प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' इसका अपवाद है किन्तु उसकी रचना की प्रेरणा भक्ति न होकर, कृष्ण-चरित की पूर्णता का निदर्शन एवं भक्त कवियों द्वारा उपेक्षित पक्ष का उद्‌घाटन है।

—रा० कु०

रुक्मिणी मंगल—मंगल काव्यों में किसी देवी अथवा देवता का माहात्म्य वर्णित रहता है। उनके अन्तर्गत जिस देवी अथवा देवता का माहात्म्य प्रदर्शित किया जाता है, उसमें अपने भक्त को सभी प्रकार की आपत्तियों से बचाने तथा अपने अत्याचारियों और विरोधियों को समाप्त करने की सामर्थ्य रहती है। फलस्वरूप उनमें शक्ति, वैभव एवं चमत्कार का कुछ-न-कुछ अंश समाविष्ट रहता है। मूलतः मंगल काव्यों की रचना प्रेरणा में किसी देवी अथवा देवता की पूजा भावना को उत्कर्ष देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है किन्तु भक्ति-साहित्य में मंगल-काव्यों का सम्बन्ध चैतन्य, अद्वैत आदि साम्प्रदायिक आचार्यों से ही दिखाई पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उनमें जीवनी-साहित्य की तथ्यात्मकता समाविष्ट होती गयी। कृष्णपरक कवियों ने रुक्मिणी और कृष्ण के विवाह प्रसंग को मंगल की भावना से अनुप्राणित करके रुक्मिणी मंगलों की रचना की। इस प्रसंग पर आधारित जो रचनाएँ प्राप्त हैं, उनके 'रुक्मिणी स्वयंवर', 'रुक्मिणी विवाह लो', 'रुक्मिणी विलास' आदि विविध नाम प्राप्त होते हैं।

कृष्ण और रुक्मिणी की कथा 'भागवत' (१०।५२-५४), 'विष्णु' (२६।८), 'हरिवंश' (५९।६०) आदि पुराणों में कतिपय अन्तर के साथ प्राप्त है परन्तु सामान्य रूप से इस कथा के प्रस्तुत अंश हैं—कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से निश्चित होना, नारद का हस्तक्षेप, रुक्मिणी का कृष्ण को पत्र लिखना, विवाह का आयोजन, कृष्ण का विवाहोत्सव के अवसर पर रुक्मिणी का हरण और शिशुपाल का वध करना। रुक्मिणी मंगलकारों ने प्रस्तुत कथा के विविध अंशों को अपनी कल्पना से अनुरंजित करके वातावरण विषयक अनेक परिवर्तन भी किये हैं। हिन्दी के अतिरिक्त तेलुगु, असमिया, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं में भी एतद्‌विषयक रचनाओं की एक पुष्ट-परम्परा प्राप्त होती है, विशेषकर मराठी और गुजराती कृष्ण भक्ति काव्य में कृष्ण के ऐश्वर्यपरक व्यक्तितव की उपासना के

प्रचलन के कारण रुक्मिणी परिणयविषयक रचनाओं को विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई।

हिन्दी में रुक्मिणी-परिणय के प्रसंग से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं परन्तु भक्तिकाव्य के अन्तर्गत यह प्रसंग अधिक समादृत नहीं हो सका। इसका कारण ब्रजप्रदेश के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों द्वारा पोषित राधा-कृष्ण की मधुर उपासना ज्ञात होती है। 'सूरसागर', 'भागवत' के भाषानुवादों में प्राप्त रुक्मिणी-परिणय का प्रसंग तथा नन्ददासकृत 'रुक्मिणी मंगल' जैसी रचनाएँ इस तथ्य के अपवाद ही कहे जायेंगे। निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय के किसी भी कवि की रुक्मिणी-परिणयविषयक रचना प्राप्त नहीं है।

इस परम्परा की सर्वप्रथम प्राप्त किन्तु अप्रकाशित रचना विष्णुदासकृत 'रुक्मिणी मंगल' है। डा० शिव प्रसाद सिंह के अनुसार विष्णुदास सूरदास के पूर्ववर्ती थे। विष्णुदास के 'रुक्मिणी मंगल' की भाषा तद्भव शब्दावली प्रधान ब्रजभाषा है। कवि ने लोकसंस्कृति का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। पद शैली एवं शास्त्रीय संगीत के कारण भाषा में प्रवाहमयता लक्षित होती है। इसके अनन्तर सूरसागर के दशम स्कंध उत्तरार्द्ध (प० ४१६७-४१८८) में रुक्मिणी परिणय प्रसंग प्राप्त है, जो 'भागवत' से प्रभावित ज्ञात होता है परन्तु कृष्ण की ब्रजलीलाओं के समान यह प्रसंग सूरदास की भक्ति-भावना का प्रकाशन नहीं कर सका है। नन्ददासकृत 'रुक्मिणी मंगल' भक्त कवि द्वारा रचित सर्व प्रथम स्वतन्त्र रचना है। यह रोला छन्द में रची गयी है तथा २६५ पंक्तियों में समाप्त हुई है। कथा संगठन की दृष्टि से इसे खण्डकाव्य कहा जा सकता है। भावाभिव्यंजना एवं काव्य गुणों की दृष्टि से रचना श्रेष्ठ कोटि की है। नन्ददास के 'रुक्मिणी मंगल' के उपरान्त राजस्थान के प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराजकृत 'वेलि कृसन रुकमिणी री' (सं० १६३७ ई०), इस परम्परा की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इसमें 'भागवत' के आख्यान को काव्यात्मक रूप दिया गया है। इसकी रचना राजस्थानी के 'वेलियोगीत' नामक छन्द के अन्तर्गत हुई है। 'वेलिक्रसन रुक्मिणी' री' की सबसे बड़ी विशेषता भक्ति और श्रृंगार का समन्वय है। वेलि की कथा का आधार भागवत है किन्तु यह आधार केवल कथानक का ही है। काव्य-सौन्दर्य और घटनाओं के प्रवाह में लेखक की मौलिकता है। वेलि के अनन्तर रुक्मिणी मंगलों की परम्परा में प्राप्त रचनाओं की सृजन प्रेरणा सर्वथा लौकिक है। इनमें अकबरी दरबार के नरहरि बन्दीजनकृत 'रुक्मिणी मंगल' (सं० १५६२-१६८५ वि०), समथर राज्य के आश्रित नवल सिंह (सं० १८७२-१९२७ वि०) कृत 'रुक्मिणी मंगल' तथा रीवाँ नरेश महाराज रघुराज सिंह (सं० १८८०-१९३६ वि०) कृत 'रुक्मिणी-परिणय' उल्लेखनीय हैं। नरहरि बन्दीजन का 'रुक्मिणी मंगल' एक छोटी सी प्रबन्ध रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति काशिराज पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसका सम्पादित संस्करण प्रकाशित नहीं है। इसमें मंगल और हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग हुआ है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रचना सामान्य कोटि की है। नवल सिंह का 'रुक्मिणी मंगल' ३०७ रोला छन्दों में समाप्त हुआ है। काव्य-सौष्ठव की दृटि से यह भी सामान्य कोटि की रचना है। रघुराज सिंह के 'रुक्मिणी परिणय' का वैशिष्ट्य उससे निरूपित राजकीय वातावरण की अभिव्यक्ति में है। विलास के प्रसंग में कक्षों की साज-सज्जा सामन्ती रंग-महलों के समान है। पाठक कथानक के प्रवाह को भूलकर वातावरण के वर्णन की ओर ही प्रमुख रूप से आकृष्ट रहता है। इस परम्परा की अन्य रचनाओं में कृष्ण दासकृत 'रुक्मिणी विवाह लो' (लि० का सं० १६९२), हरिनारायणकृत 'रुक्मिणी मंगल (लि० का सं० १९५२), ठाकुरदासकृत 'रुक्मिणी मंगल' (सं० १८९४), मानदास उपनाम कृष्ण चौबे (सं० १८०७ के लगभग) कृत 'रुक्मिणी मंगल', रामलालकृत 'रुक्मिणी मंगल' (रचनाकाल लि० का० सं० १८६२ लगभग), हरचन्द द्विजदासकृत 'रुक्मिणी मंगल', पदुम भगतकृत 'रुक्मिणी जी को ब्याहं लो' आदि का नाम लिया जा सकता है। इनकी कथा का संगठन 'भागवत' की कथा के सर्वथा अनुकरण पर नहीं हुआ है, वरन् कवियों ने कथा के विविध अंशों के आधार पर अपनी रुचि के अनुरूप में परिवर्धन एवं परिवर्तन भी किये हैं। इन रचनाओं का स्वरूप भी सर्वथा लौकिक कहा जायेगा।

रुक्मिणी मंगलों की रचना प्रायः प्रबन्धों के रूप में ही हुई है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि रुक्मिणी-परिणय के प्रसंग में कृष्ण के राजन्यरूप एवं नायकत्व की अभिव्यंजना स्फुट पदों और मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत ही अधिक सम्भव थी। केवल सूरदास को छोड़कर प्रायः अन्य सभी कवियों ने इस प्रसंग की उद्भावना रोला, दोहा, चौपाई, हरिगीतिका आदि वर्णनात्मक छन्दों के अन्तर्गत की है। रुक्मिणी मंगलों के रचना परिमाण की दृष्टि से १८ वीं १९ वीं शती महत्त्वपूर्ण है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य भाग २ तथा अन्य साहित्य ग्रन्थ; ना० प्र० स० की खोज रिपोर्ट—१९०५, १९०६-८, १९१२-१४, १९३२-३४, १९३८-४० आदि।]

—रा० कु०

रुद्र—वेद, तन्त्र, पुराणों आदि में 'रुद्र' शब्द की निरुक्ति कई प्रकार से की गयी है। यास्क और देवराज ने रुदन करते हुए दौड़ने के कारण इन्हें रुद्र कहा है। 'पाशुपतसूत्रम्' के अनुसार भय को पिघला कर बहा देना ही 'रुद्र' की रुद्रता है। 'गरुड़ पुराण' में क्षोभयुक्त होने के कारण इन्हें 'रुद्र' के नाम से पुकारा गया है। वैदिक साहित्य में 'रुद्र' भय एवं त्रास के देवता कहे गये हैं। सम्भवतः भारतीय अनार्य देव शंकर से अत्यधिक समानता के कारण इनका पर्यवसान उसी रूप में हो गया। तन्त्रकाल में ये रुद्र स्वतः शिव एवं शून्य के पर्याय हो गये। 'तन्त्रालोक', 'लिंगपुराण', 'तन्त्रराजतन्त्र' आदि में इनकी प्रतिमा और पूजन की अनिवार्यता प्रकट की गयी है। निष्कर्षतः रुद्र शिव की भयंकर प्रतिकृति के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। सामान्यतः रुद्र की संख्या एकादश बताई जाती है। सामवेदी 'जैमिनीय ब्राह्मण' के अनुसार वैदिक छन्द से सम्बन्धित होने के कारण इनकी संख्या ४४ है। काठक संहिता' में इनकी संख्या १० मानी गयी है किन्तु 'कपिष्ठल संहिता' के अनुसार उनकी संख्या १०० मानकर 'रुद्रशती' नामक स्तोत लिखा गया। पौराणिक परम्परा के हिन्दी साहित्य में ये शंकर या शिव के पर्यायवाची

रूप में प्रयुक्त होकर प्रलय या विनाश के देवता समझे जाते हैं।
–यो० प्र० सिं०

रूपनारायण पांडेय–जन्म–सन् १८८४ ई० रानीकटरा, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) में; मृत्यु सन् १९५९ ई०। समस्त शिक्षा-दीक्षा लखनऊ में ही सम्पन्न हुई। 'निगमागम चन्द्रिका', 'नागरी-प्रचारक' एवं जयशंकर प्रसाद द्वारा संस्थापित 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका के भी सम्पादक रहे। 'माधुरी' के आरम्भिक ५ वर्षों में उसका सम्पादन किया। लगभग १९३५ ई० से लेकर 'माधुरी' के अस्तकाल तक फिर उसके सम्पादक रहे। पहले ब्रजभाषा में कविताएँ करते थे पर 'द्विवेदी-युग' के प्रवाह में खड़ीबोली में रचनाएँ लिखने लगे। वे नवीन काव्य-प्रवृत्ति और छायावाद के सहानुभूति-कर्ताओं में थे। स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति के रूप में इनकी रचनाएँ छायावाद का पूर्वाभास देती हैं। जब रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद एवं रहस्यवाद के विरोध में लिखा था कि 'काव्य में रहस्य कोई वाद ही नहीं है, जिसे लेकर 'निराला' कोई पन्थ ही खड़ा करे'', तो पाण्डेय जी ने काव्य में ही इसका सशक्त प्रत्युत्तर दिया था, जिसकी तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं 'माधुरी', 'सरस्वती' आदि में पर्याप्त चर्चा हुई थी।

छायावादी-रहस्यवादी रचनाओं का संकलन 'पराग' सन् १९२४ ई० में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक के द्वारा कवि ने द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक औपदेशिकता से आगे बढ़कर भावुकतापूर्ण विषय-चयन द्वारा आन्तरिक अनुभूतियों और विषयी निष्ठ तत्त्वों की अभिव्यक्ति का मार्ग अभिनन्दित किया। 'वन-वैभव' प्रगीत-मुक्तकों का संग्रह नवीन काव्यानुभूति का समर्थनकारी संकलन है। 'वन विहंगम', 'आश्वासन', 'दलित कुसुम' आदि इनकी सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचनाएँ रही हैं। पाण्डेयजी का कृतित्व अत्यन्त विस्तृत एवं बहुमुखी रहा है। इनका अनुवाद-कार्य भी बड़ा विस्तृत है। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इनके अनुवादों की प्रांजलता को मुक्त रूप से स्वीकार किया है।

इनकी ब्रजभाषा और खड़ीबोली की रचनाएँ सरस एवं सहृदयतापूर्ण हैं। उपदेश एवं उपयोगितावाद की पार्थिव परिधि से आगे बढ़कर उन्होंने नरेतर जगत् एवं पशु-पक्षियों तक अपनी कवि-सहानुभूति प्रस्तुत की थी। 'वन-विहंगम' कविता ('कवि भारती', पृ० १३०) सवैया छन्द में एक हृदयपूर्ण रचना है, जो कपोत-कपोती के प्रेमोत्सर्ग को लेकर लिखी गयी है। इसमें तद्‌युगीन उपदेश-रुक्षता को मानवीय संवेदना की हार्दिकता मिली है और सुधारवाद को मानवतावादी भूमि प्रदान की गयी है। नाटकों में नाटकीयता का और उपन्यासों में चारित्रिकता का अभाव संलक्ष्य है पर ये समय की प्रगति के साथ रहे हैं। 'सम्राट अशोक' नाटक में ऐतिहासिक श्रृंगार एवं वीरता के विलास से आगे बढ़कर वातावरण निर्माण का प्रयास हुआ है। भाषा तत्सम-प्रचुर और भावानुसारिणी है, पर ब्रजभाषा के आदिम संस्कारों के कारण 'समुझाय के', 'धाय के' आदि प्रयोग भी बिखरे हुए हैं। इन्होंने बंगला से कई पुस्तकों का अनुवाद किया था।

–श्री० सिं० क्षे०

रूपमंजरी–दे० 'नन्ददास'।

रूपरसिक देव–हरिव्यास देव जी के शिष्य थे, जो निम्बार्क सम्प्रदायी थे। रूपरसिक देव ने श्री हरिव्यास देव के निकुंजवास के अनन्तर शिष्यत्व ग्रहण किया था, फल स्वरूप गुरु दर्शन इन्हें सुलभ न हो सका था। इनका रचना काल अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी चार कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं–लीला विंशति (१७३०), 'हरिव्यास यशामृत', 'नित्य बिहार पदावली', बृहदोत्सव मणिमाल'।

'लीला विंशति' निम्बार्क सम्प्रदाय के रसोपासना-सिद्धान्त का परिचायक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।' 'नित्य बिहार' में राधा-कृष्ण की रस-लीलाओं का चित्रण है। 'हरिव्यास यशामृत' में सखीभाव की उपासना की प्रशंसा की गयी है। 'बृहदोत्सव मणिमाल' में वर्ष भर के उत्सवों का वर्णन करने के अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति भावना का निदर्शन है।

कृ० शं० पा०

रूपसाहि–ये जाति के गुनियरवार कायस्थ और बागमहल पन्ना (बुन्देल खण्ड) के निवासी थे। कमलनैन इनके पिता, शिवराम पितामह और नरायनदास प्रपितामह थे। पन्ना निवासी छत्रसालवंशीय बुन्देला क्षत्रीय महाराज हिन्दूपति (१७५८ ई०–१७७७ ई०) इनके आश्रयदाता थे। इन्हीं के आश्रय में कवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रूप विलास' की रचना की, जिसकी समाप्ति ४ सितम्बर, सन् १७५६ ई० में हुई। इसकी हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में है। यह पूरा ग्रन्थ १४ विलासों में विभक्त है, जिसमें कुल ९०० दोहे ही हैं। इसमें प्रायः काव्य के सर्वांगों पर–काव्य-लक्षण, छन्द (पिंगल), नायक-नायिका, नौ-रस, अलंकार तथा षट्-ऋतुपर विचार किया गया है। अलंकार-वर्णन में कवि ने 'भाषा-भूषण' की पद्धति का अवलम्बन ग्रहण कर एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों दिये हैं। इसके अतिरिक्त उसने काव्य वृत्तियों को विभिन्न रसों का समवाय माना है, यथा–कैशिकी करुण, हास्य तथा श्रृंगार की भारती हास्य, वीर तथा अद्‌भुत की, आरभटी भयानक, वीभत्स तथा रौद्र की और सात्वती शान्त, अद्‌भुत तथा वीर रस की समवाय है। इस प्रकार काव्य के समस्त अंगों को (शब्द-शक्ति आदि को छोड़कर) आचार्य-कवि ने अत्यन्त ही संक्षेप में बड़ी सफाई और स्पष्टता से समझा दिया है किन्तु कवित्व की दृष्टि से उसका काव्य सामान्य कोटि का ही है।

[सहायक ग्रन्थ–खो० वि० (वा० १९०५; त्रै० १,११); हि० का० शा० इ०; मि० वि० भा०२; शि० स०।]

–रा० त्रि०

रेवती–यह राजा रैवत की पुत्री थीं और बलराम की पत्नी।

–रा० कु०

रेशमी टाई–आधुनिक एकांकी-साहित्य में रामकुमार वर्माकृत 'रेशमीटाई' (१९४१ ई०) का महत्त्व कई दृष्टियों से है। वस्तुतः विशुद्ध सामाजिक अनुभूतियों तथा जीवनगत चरित्रों को यथार्थवादी ढंग से ग्रहण कर उन्हें इस भाँति स्पष्ट निश्चित रंगमंच पर उतारने का यह पहला चरण है। दूसरे, हिन्दी एकांकी में समस्यामूलक संवेदनाओं की यह रंग स्थापना भी अपूर्व है। फिर इसके एकांकियों के अभिनय तत्त्व, रंग अनुष्ठान की शक्ति–इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इसमें पाँच एकांकी संगृहीत हैं : 'परीक्षा' (१९४०), 'रूप

की बीमारी' (१९४० ई०), '१८ जुलाई की शाम' (१९३७ ई०), 'एक तोले अफीम की कीमत' (१९३९ ई०) और 'रेशमी टाई' (१९३८ ई०)।

पाँचों एकांकी सामाजिक संवेदना के हैं—जीवन के साक्षात् प्रतिनिधि। इनकी भावधारा की प्रमुख विशेषता है, इनका समस्यापरक होना, समाजनिष्ठ होना। समस्यापरक नाटकों की मुख्य प्रवृत्ति है—रूढ़ियों, कमजोरियों तथा वैयक्तिक कुण्ठाओं पर प्रबल कुठाराघात और उन पर निर्मम व्यंग। ये समस्त एकांकी इसी स्वर के हैं। इन सबमें किन्हीं-न-किन्हीं स्तर तथा प्रसंग से रूप, यौवन और प्रेम के प्रश्न उठाये गये हैं। इनकी भी दो कोटियाँ हैं : प्रथम, पति-पत्नी की प्रेमपरक स्थितियों के चित्र और उसके बीच से गृहस्थीजन्य समस्याओं के एकांकी, जैसे 'परीक्षा' और 'रेशमी टाई'। दूसरी कोटि में वे एकांकी आते हैं हैं, जो दाम्पत्य जीवन और घर-गृहस्थी की सीमा से बाहर उन्मुक्त प्रेम या 'सेक्स' की स्थितियों को लेकर आते हैं। दाम्पत्य-जीवन अथवा पति-पत्नी के सम्बन्धों के बीच से उठने वाली स्थितियों में डॉ० वर्मा ने सदा पत्नीत्व को बहुत ऊँचा स्थान दिया है—सर्वथा भारतीय आदर्शों के अनुरूप।

'रेशमीटाई' एकांकी की पत्नी ललिता अपने गैर जिम्मेदार पति की सम्मान रक्षा में क्या नहीं करती? इसी तरह '१८ जुलाई की शाम' की पत्नी शिक्षित उषा किन्हीं भावुक क्षणों में एक रंगीन तबियत के पुरुष के प्रति पतित होते-होते रह जाती है क्योंकि उसे सहसा पति की सुधि हो आती है और पत्नीत्व के गौरव से वह अभिभूत हो उठती है।

शिल्पसंगठन की दिशा में 'रेशमीटाई' एकांकी के कथानक का रूप तब हमारे सामने आता है, जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उसके प्रारम्भिक अनुक्रममें, बल्कि कथोपकथनों में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं का आकर्षण प्रायः समस्त एकांकियों के स्वरूप में अति शक्तिदायक सिद्ध हुआ है। 'रेशमी टाई' का निर्माण और नाट्य संगठन बहुत स्पष्ट और निश्चित रेखाओं में उजागर है। प्रवेश कौतूहल की वक्रगति से होता है। घटनाओं की व्यंजना उत्सुकता से लम्बी हो जाती है, फिर गति और कौतूहल में पर्यवसित होती है।

'रेशमीटाई' के एकांकियों की भाषा-शैली बहुत ही सशक्त है। स्वाभाविक, पात्रानुकूल भाषा और उसके पीछे अभिनयात्मक दृष्टिकोण। रंगमंच की दृष्टि से 'रेशमीटाई' के प्रायः समस्त एकांकी 'ड्राइंगरूम' एकांकी हैं—यथार्थवादी मंच विन्यास के एकांकी। कुर्सी, टेबुल, आलमारी और सोफासेट के बीच प्रायः सब एकांकियों का विकास होता है। नाट्यस्थिति संयोजन, चरित्रों में स्वाभाविकता और मंच अनुष्ठान की व्यावहारिकता—एकांकी के ये प्रधानगुण 'रेशमीटाई' के सब एकांकियों में प्रायः समान रूप से मिलते हैं।

—ल० ना० ला०

रैदास—मध्ययुगीन सन्तों में रैदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सन्त रैदास कबीर के समसामयिक कहे जाते हैं। अतः इनका समय सन् १३८८ से १५१८ ई० (सं० १४४५ से १५७५ ई०) के आस-पास का रहा होगा। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर रैदास का चमार जाति का होना सिद्ध होता है—"नीचे से प्रभु ऊँच कियो है कह रैदास चमारा" आदि। सन्त रविदास काशी के रहने वाले थे। इन्हें रामानन्द का शिष्य माना जाता है परन्तु अन्तःसाक्ष्य के किसी भी स्रोत से रैदास का रामानन्द का शिष्य होना सिद्ध नहीं होता। इनके अतिरिक्त रैदास की कबीर से भी भेंट की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं परन्तु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। नाभादासकृत 'भक्तमाल' (पृ० ४५२) में रैदास के स्वभाव और उनकी चारित्रिक उच्चता का प्रतिपादन मिलता है। प्रियादासकृत 'भक्तमाल' की टीका के अनुसार चित्तौड़ की झालारानी उनकी शिष्या थीं, जो महाराणा सांगा की पत्नी थीं। इस दृष्टि से रैदास का समय सन् १४८२-१५२७ ई० (सं० १५३९-१५८४ वि०) अर्थात् विक्रम की सोलवीं शती के अन्त तक चला जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह चित्तौड़ की रानी मीराँबाई ही थीं और उन्होंने रैदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था। मीराँ ने अपने अनेक पदों में रैदास का गुरु रूप में स्मरण किया है—"गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुरसे कलम भिड़ी। सत गुरु सैन दई जब आके, जोत रली"। रैदास ने अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक भक्तों के सम्बन्ध में लिखा है। उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके सामने ही हो गयी थी। रैदास की अवस्था १२० वर्ष की मानी जाती है।

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। सन्त-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों में रूप में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। रैदास की रचनाओं का एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अन्तर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संगृहीत पदों को प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। रैदास के अनपढ़ और विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे पदों की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। अतः रैदास के पदों पर अरबी-फारसी के प्रभाव का अधिक संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना ही प्रतीत होता है।

रैदास की विचारधारा और सिद्धान्तों को सन्त-मत की परम्परा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति के लिए परम वैराग्य अनिवार्य माना है। परम तत्त्व सत्य है, जो अनिर्वचनीय है—"जस हरि कहिए तह हरि नाहीं। है अस जस कछु तैसा।" यह परमतत्त्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। वह अक्षर और अविनश्वर है और जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव में अवस्थित है। सन्त रैदास की साधनापद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है। विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है।

सन्त रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने 'सन्तनि में रविदास सन्त' कहकर उनका महत्त्व स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराँबाई आदि ने भी रैदास का ससम्मान स्मरण किया है। सन्त रैदास ने एक पंथ

भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि में पाये जाते हैं। आजकल रैदासी शब्द चमार नामक जाति के लिए रूढ़ हो गया है।

—रा० कु०

रोहिणी—वसुदेव की अर्द्धांगिनी तथा बलराम की माता का नाम रोहिणी था। इन्होंने देवकी के सातवें गर्भ को दैवी विधान से ग्रहण कर लिया था और उसी से बलराम की उत्पत्ति हुई थी। यदुवंश का नाश होने पर जब वसुदेव ने द्वारिका में शरीर त्यागा तो रोहिणी भी उनके साथ सती हुई थीं। वसुदेव देवकी के साथ जिस समय कारागृह में बन्दी थे, उस समय ये नन्द के यहाँ थीं और वहीं इन्होंने बलराम को जन्म दिया।

कृष्णभक्ति-काव्य में वात्सल्य की दृष्टि से रोहिणी का चरित्र यशोदा के चरित्र की छाया मात्र है। अतः उसका स्थान गौण ही कहा जायेगा। कृष्ण और बलराम की परिचर्या में ही उसका दो एक बार उल्लेख आया है। बलराम का यह कथन कि रोहिणी यशोदा के समान प्रेम नहीं कर सकतीं, कदाचित् देवकी के सम्बन्ध में ही प्रतीत होता है क्योंकि मथुरा में बलराम द्वारा रोहिणी की आलोचना में विशेष संगति नहीं है (दे० सू० सा० प० ४०५२)।

—रा० कु०

रौरव—एक भयानक नरक (दे०इ 'नरक')।

लंका—मय दानव किन्तु दूसरी परम्परा के अनुसार विश्वकर्मा द्वारा निर्मित, चित्रकूट पर्वत के बीच समुद्रों से घिरी कुबेर की स्वर्ग नगरी, जिसे बाद में रावण ने अपने पराक्रम से छीन लिया था। यद्यपि आधुनिक लंका में इसका किंचित् मात्र भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है किन्तु राम-कथा के प्रसंग में 'वाल्मीकि रामायण' से लेकर आज तक लिखे गये समस्त राम-काव्यों में इसका प्रयोग मिलता है। इस प्रदेश का ऐतिहासिक व्यक्तित्व सिंहल द्वीप आदि के रूप में सर्वथा काल्पनिक है।

—यो० प्र० सिं०

लक्ष्मण—लक्ष्मण का सर्वप्रथम उल्लेख 'वाल्मीकि-रामायण' में ही मिलता है। यद्यपि वे राम एवं भरत के अनुज के रूप में सर्वत्र ख्यात रहे हैं किन्तु अनेक स्थलों पर ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं, जहाँ वे भरत के ज्येष्ठ भ्राता कहे गये हैं। 'वाल्मीकि-रामायण' के दाक्षिणात्य पाठ में भी उनके अग्रज होने का उल्लेख हुआ है किन्तु शेष दो उत्तरी और पूर्वी पाठों में भरत को ही अग्रज कहा गया है। इन पाठों के इस प्रसंग को लेकर काफी विवाद चल चुका है किन्तु किसी उल्लेखनीय निर्णीत तथ्य का उद्घाटन नहीं हो सका। 'दशरथ जातक' में भी यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि लक्ष्मण ज्येष्ठ एवं भरत कनिष्ठ हैं। भासकृत 'प्रतिमा नाटक' में भी भरत की कनिष्ठता का स्पष्ट उल्लेख है। इन उल्लेखों का कारण कदाचित् राम और लक्ष्मण की परस्पर प्रीति एवं प्रवास-सहवास ही है। इसीलिए कदाचित् 'सेरीराम' खेतानी रामायण में लक्ष्मण को राम का भाई नहीं, सखा कहा गया है। इन उल्लेखों में राम और लक्ष्मण के प्रेम की अनन्यता निश्चित रूप से सूचित होती है।

अवतारवाद की प्रतिष्ठा हो जाने पर लक्ष्मण के भी पृथ्वी लोक में अवतार लेने की कल्पना की गयी। सर्वप्रथम उनके अवतार धारण करने की सूचना 'उदार राघव' में मिलती है। इसी प्रकार पुराणों में भी उनके अवतार धारण करने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। पांचरात्र सिद्धान्त के चतुर्व्यूह में 'संकर्षण' के लक्ष्मण रूप में अवतार लेने की बात कही गयी है। इसके अनन्तर कदाचित् उनके उग्र व्यक्तित्व के कारण 'अध्यात्म रामायण' में उन्हें शेष का अवतार कहा गया है। परवर्ती भक्ति-साहित्य में उनका यही व्यक्तित्व निरन्तर स्वीकृत रहा।

सम्पूर्ण राम-साहित्य में लक्ष्मण का व्यक्तित्व प्रायः एक प्रकार का ही पाया जाता है। वे राम के अनुज, पराक्रमी योद्धा के रूप में 'वाल्मीकि-रामायण' में चित्रित किये गये हैं। क्रोध उनके व्यक्तित्व का विशेष अंग है। जीवन भर वे राम के साथ छाया की भाँति रहते हैं। अस्तु, राम के प्रति उनकी अगाध-निष्ठा और अनन्य-प्रेम के कारण आगे चलकर भक्ति के आदर्श के रूप में गृहीत हुए हैं।

संस्कृत के ललित-साहित्य में लक्ष्मण को 'वाल्मीकि—रामायण' की भाँति एक कुशल योद्धा ही चित्रित किया गया है। वे प्रत्येक कार्य में राम के समभागी तथा सदैव राम के आज्ञानुवर्ती हैं। 'रघुवंश' तथा 'उत्तर रामचरित' आदि के अनुसार वे राम की आज्ञा से सीता को एकान्त वन में छोड़ आते हैं। पुराणों में लक्ष्मण की इस एकनिष्ठता को ही उनकी मृत्यु का कारण कहा गया है। 'अध्यात्म रामायण' में उनके अवतारवाद के साथ-साथ उनके भक्त होने का भी उल्लेख हुआ है।

लक्ष्मण के चरित्र की सम्पूर्ण परिचित विशिष्टताएँ वस्तुतः तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में उपलब्ध होती हैं। एक ओर उनकी चारित्रिक मर्यादा दया, विवेक, गम्भीरता, संकोच आदि गुणों से मण्डित है तो दूसरी ओर पराक्रम, सहज क्रोध, स्पष्टवादिता आदि गुण भी उनमें मिलते हैं। मानसकार द्वारा प्रस्तुत परशुराम और लक्ष्मणसंवाद जहाँ उनकी स्पष्टवादिता का प्रमाण प्रस्तुत करता है, वहाँ निषाद के संवाद में उनकी विचारशीलता और दार्शनिक चिन्तन का परिचय मिलता है। 'अरण्यकाण्ड' के राम और लक्ष्मण की परस्पर वार्ता को मानस-मर्मज्ञों ने 'लक्ष्मण-गीता' नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार मानसकार ने वाल्मीकीय लक्ष्मण के पराक्रम, धैर्य, उदारता, विवेकशीलता, गम्भीरता आदि गुणों को तो लिया ही है, साथ ही उन्हें भक्त दार्शनिक विचारक का भी बाना पहना दिया है। यही नहीं, संयम और मर्यादा के तो वे साक्षात् अवतार कहे जाते हैं। इस प्रकार लक्ष्मण का चरित्र सर्वथा गरिमामय बन गया है। तुलसी के अतिरिक्त केशवदास ने भी लक्ष्मण के चरित्र को उभारने का प्रयत्न किया है किन्तु 'रामचन्द्रिका' में चरित्र-चित्रणविषयक मौलिकता के लक्षण स्पष्ट नहीं हो पाते।

आधुनिक युग में लक्ष्मण के चरित्र को उर्मिला के पार्श्व में पुनः आंकने का प्रयत्न किया गया है। इस दिशा में सर्वप्रथम साकेतकार मैथिलीशरण गुप्त ही कृतकार्य हुए। यद्यपि गुप्तजी 'पंचवटी' में लक्ष्मण के साहस, पराक्रम, संयम एवं मर्यादा आदि का उल्लेख कर चुके थे किन्तु उनका एक विशिष्ट रूप अभी तक सम्पूर्णतः वाङ्मय में नहीं आ सका था। वह रूप था प्रणयी का। साकेतकार 'साकेत' के आरम्भ में उर्मिला एवं लक्ष्मण के परस्पर संवाद के द्वारा उनके प्रीतिजनित सुख का

वर्णन और उसके बाद चित्रकूट की 'राम-कुटी' में वियोग के अन्तर्गत क्षणिक संयोग-सुख का मार्मिक चित्र उपस्थित कर लक्ष्मण के इस व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है किन्तु इस दिशा में और अधिक सफलता बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को उनके खण्डकाव्य 'उर्मिला' के माध्यम से प्राप्त हुई। इसमें लक्ष्मण के चरित्र की ललित स्वभावशीलता स्पष्ट प्रकट हो जाती है। निष्कर्षत: आज तक लक्ष्मण का चरित्र अनेक दिशाओं में मोड़ ले चुका है। यद्यपि उन्हें नायकत्व के पद से च्युत करने के लिए माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने बंगला काव्य 'मेघनाद-वध' में प्रयास किया था किन्तु उनके चरित्र-चित्रण की एकरूपता ने उन्हें इस दिशा में कृतकार्य नहीं होने दिया।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डॉ० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त; हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

—यो० प्र० सिं०

लक्ष्मणनारायण गर्दे—जन्म सन् १८८९ ई० काशी में। मृत्यु सन् १९६० ई० में। इनकी शिक्षा काशी और झाँसी में हुई। एण्ट्रेंस की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आपने एफ० ए० में भी नौ मास तक अध्ययन किया, किन्तु बाद में पढ़ना स्थगित कर दिया। ये संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती एवं अंग्रेजी के विद्वान् थे। आप 'बंगवासी', 'भारतमित्र' तथा 'नवजीवन' के सम्पादक रहे। कुछ दिनों तक आप 'श्रीकृष्ण सन्देश' नामक साप्ताहिक के भी सम्पादक थे। यह पत्र बहुत ही थोड़े दिनों तक निकल कर बन्द हो गया। 'सन्मार्ग' (काशी) के सम्पादकीय विभाग में भी आपने कुछ दिनों तक काम किया था। 'कल्याण' के अनेक विशेषांकों का सम्पादन इन्होंने ही किया था। काशी में इन्होंने अध्यापन कार्य भी किया था। अध्यापक के रूप में भी आपकी सफलता कम नहीं थी। आपने 'नवनीत' नामक पत्र भी निकाला था।

आप केवल एक महान् सम्पादक ही नहीं, बल्कि गीता के प्रकाण्ड विद्वान् तथा सफल लेखक भी थे। हिन्दी पत्रकारिता की बृहत्त्रयी में आपकी गणना होती है। 'भारतमित्र' में प्रकाशित आपके अग्रलेखों की ख्याति सारे देश में फैल गयी थी। आपके इन अग्रलेखों का अनुवाद मद्रास के अंग्रेजी पत्रों में छपता था और उसके उद्धरण देश के तत्कालीन सभी प्रमुख पत्रों में प्रकाशित होते थे। गूढ़ से गूढ़ विषयों को सरल शब्दों में बोधगम्य शैली में प्रस्तुत करना आपकी प्रमुख विशेषता रही है। भारतीय संस्कृति तथा दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठभूमि में आधुनिक समस्याओं के आपके समाधान मननीय एवं महत्त्वपूर्ण हैं। आपने महात्मा गान्धी तथा देश के प्रसिद्ध नेताओं के संस्मरण बड़ी ही सजीव एवं प्रभावपूर्ण शैली में लिखें हैं। गर्दजी अरविन्द-दर्शन के अन्यतम व्याख्याकार थे। आपने अरविन्द लिखित 'दि मदर' तथा अन्य कृतियों का सफल अनुवाद किया है। उपन्यासकार के रूप में आपकी ख्याति उतनी नहीं है, लेकिन आपके दो उपन्यास उपलब्ध हैं—'नकली प्रोफेसर', 'मियाँ की करतूत'। ये उपन्यास जीवन के मर्म का बड़े ही अच्छे ढंग से उद्घाटन करते हैं। आपकी अन्य कृतियों में 'महाराष्ट्र रहस्य', 'सरल गीता', 'श्रीकृष्णचरित्र', 'एशिया का जागरण' आदि उल्लेख्य हैं। 'जापान की राजनीतिक प्रगति' का अनुवाद इन्हीं का किया हुआ था।

—ह० दे० बा०

लक्ष्मण सिंह, राजा—राजा लक्ष्मण सिंह पूर्व हरिश्चन्द्रयुग की हिन्दी गद्य-शैली के प्रमुख विधायक हैं। आपका जन्म आगरा के वजीरापुर नामक स्थान में ९ अक्तूबर सन् १८२६ ई० में हुआ तथा मृत्यु १४ जुलाई १८९६ ई० में हुई। १३ वर्ष की अवस्था तक आप घर पर ही संस्कृत और उर्दू की शिक्षा ग्रहण करते रहे। सन् १८३९ ई० में आपने अंग्रेजी पढ़ने के लिए आगरा कालेज में नाम लिखाया। कालेज की शिक्षा समाप्त करते ही आप पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर के कार्यालय में अनुवादक के पद पर नियुक्त हुए। आपने बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया और १८५५ ई० में इटावा के तहसीलदार नियुक्त हुए। सन् १८५७ ई० के विद्रोह में आपने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की और पुरस्कारस्वरूप आपको डिप्टी कलेक्टरी मिली। १८७० ई० में राजभक्त लक्ष्मण सिंह को 'राजा' की उपाधि मिली। सरकार की सेवा में रत रहते हुए भी आपका साहित्यानुराग जीवित रहा। सन् १८६१ ई० में आपने आगरा से 'प्रजाहितैषी' नामक पत्र निकाला। १८६३ ई० में महाकवि कालिदास की विश्व-प्रसिद्ध रचना 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का 'शकुन्तला नाटक' नाम से अनुवाद प्रकाशित कराया। इसमें 'असली हिन्दी का नमूना' देखकर लोगों की आँखें खुल गयीं। राजा शिवप्रसाद ने इसे अपनी 'गुटका' में स्थान दिया। १८७५ ई० में प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी फ्रेडरिक पिनकाट ने इसे इंग्लैंड में प्रकाशित कराया। इस कृति से लक्ष्मण सिंह को पर्याप्त ख्याति मिली और इसे इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्य-पुस्तक रूप में स्वीकार किया गया। १८७७ ई० में आपने 'रघुवंश' महाकाव्य का अनुवाद किया और इसकी भूमिका में अपनी भाषासम्बन्धी नीति स्पष्ट करते हुए हिन्दी को उर्दू से न्यारी, केवल हिन्दुओं की बोली घोषित किया और उसमें से सतर्कतापूर्वक अरबी-फारसी के चिर-प्रचलित तथा सर्वग्राह्य शब्दों को भी अलग कर दिया। सन् १८८१ ई० में आपने 'मेघदूत' के पूर्वार्द्ध का और १८८३ ई० में उत्तरार्द्ध का पद्यानुवाद—चौपाई, दोहा, सोरठा, शिखरिणी, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया और घनाक्षरी छन्दों में—प्रकाशित कराया। इसमें अवधी और ब्रज, दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

राजा लक्ष्मण सिंह को अपने जीवन-काल में पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'फेलो' और 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के सदस्य थे। सरकार के कृपापात्र और प्रजा के स्नेह भाजन, दोनों ही थे। सन् १८८८ ई० में सरकार की सेवा से मुक्त होने पर आप आगरा की चुंगी के वाइस चेयरमैन हुए और आजीवन इस पद पर बने रहे।

हिन्दी-गद्य के आविर्भाव-काल में जब राजा शिवप्रसाद "हिन्दुस्तानी" के नाम पर हिन्दी का "गँवरपन" दूर करने के बहाने खालिस 'उर्दू' लिख रहे थे, और दयानन्द सरस्वती संस्कृत के पाण्डित्य को तत्समप्रधान हिन्दी भाषा में सर्वजन सुलभ कर रहे थे, राजा लक्ष्मण सिंह ने सरल, सरस और सुबोध हिन्दी का आदर्श उपस्थित करके एक बहुत बड़े जन-समुदाय को उल्लसित कर दिया। कठिनाई केवल यह हुई कि राजा शिवप्रसाद की भाषा की प्रतिक्रिया में ये दूसरे सीमान्त पर पहुँच

गये। अरबी-फारसी के सहज-स्वीकृत शब्दों को भी अलग करके हिन्दी को शुद्ध करने का दृष्टिकोण न तो वैज्ञानिक है और न व्यावहारिक। इसीलिए आपकी भाषा ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों को व्यक्त करने में असमर्थ है। ऐसा नहीं था कि आप जन-भावना से परिचित न हों। आपने स्वयं स्वीकार किया है कि 'गवाह', 'अदालत' 'कलेक्टर' जैसे शब्दों को लोग इनके संस्कृत-उल्था से अधिक समझते हैं, फिर भी 'हिन्दी' को 'उर्दू' से न्यारी सिद्ध करने के लिए आपने अरबी-फारसी—शब्दावलीयुक्त भाषा को हिन्दी मानने से इन्कार कर दिया।

अनुवादक के रूप में आपको पर्याप्त सफलता मिली थी। आप शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद को उचित समझते थे। यहाँ तक कि विभक्ति-प्रयोग और पद-विन्यास भी संस्कृत की पद्धति पर ही करते थे। "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रत्तिपत्तये। जगतः पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ" का अनुवाद आपने किया था : "वाणी और अर्थ की सिद्धि के निमित्त मैं वन्दना करता हूँ वाणी और अर्थ की नाईं मिले हुए जगत् के माता-पिता शिव-पार्वती को।" कहना ना होगा कि यह वाक्य हिन्दी की वैयक्तिक प्रवृत्ति और परम्परा के अनुकूल नहीं है। आपके अनुवादों की सफलता का रहस्य भाषा की सरलता और भाव-व्यंजना की स्पष्टता है।

आपका गद्य परिमार्जित नहीं है। उसमे ब्रजभाषापन बना हुआ है। आपने 'कण्व' के स्थान पर 'कन्व', 'आश्चर्य' के स्थान पर 'अचरज', 'गुण' के स्थान पर 'गुन' और 'पश्चात्ताप' के स्थान पर 'पछताव' शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'पर' के स्थान पर 'पै' विभक्ति-चिन्ह का प्रयोग किया है और 'पूछा चाहती हूँ', 'काम कीजो', 'जाना कहा है' आदि क्रिया—पदों का प्रयोग क्रमशः 'पूछना चाहती हूँ', 'काम करना', 'जाने को कहा है' आदि पदों के लिए किया है। ऐसा ब्रज-भाषा के प्रभाव स्वरूप ही हुआ है। उर्दूरहित होते हुए भी आपका गद्य संस्कृतनिष्ठ नहीं है और उसमें 'गगरी', 'गण्डा', 'डिब्बा', 'ढीठ', 'राँड़', 'उनहार', 'आरबल', 'टहलुआ' जैसे ठेठ बोल-चाल के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि सब मिलाकर आपकी भाषा जनता के अधिक निकट है। भारतेन्दु को अपना पथ-प्रशस्त करने में राजा शिव प्रसाद की अपेक्षा राजा लक्ष्मण सिंह से अधिक प्रेरणा मिली होगी। हिन्दी गद्य-शैली के उन्नायकों में आपका ऐतिहासिक महत्त्व है।

—रा० चं० ति०

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा—यह रचना एक प्रेमाख्यान है, जिसके रचयिता ने इसे 'वीर कथा' नाम भी दिया है। उस दामो कवि के जन्मस्थान, जीवन-काल तथा जीवन-वृत्त के विषय में अभी तक प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं है। रचना के अन्तर्गत कदाचित् "कासमीर हुंती नीसरइ"(खण्ड १, पद्य २) आ जाने के कारण उसके पूर्व-पुरुषों का कश्मीर निवासी होना अनुमान किया जाता है तथा इसकी भाषा के आधार पर उसे राजस्थान अथवा गुजरात का रहने वाला भी मान लिया जाता है किन्तु इस प्रकार की कल्पनाओं को पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (पहला भाग, पृ० १४९ ई०) में इस रचना की एक हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल सन् १६१२ ई० (सं० १६६९ वि०) दिया हुआ है तथा अगरचन्द नाहटा (बीकानेर) के यहाँ सुरक्षित प्रति में भी यही समय मिलता है। रचना-काल के विषय में इसमें "संवत् पनरइ सोलोत्तरामझारि। ज्येष्ठ वदि नवमी बुधवार" (खण्ड १, पृ० ४) कहा गया है, जिससे विदित होता है कि उस समय सन् १४५९ ई० (सं० १५१६ ई०) में दिल्ली का शासन-सूत्र सुल्तान बहलोल लोदी (मृ० सन् १४८८ ई०) के हाथों में रहा होगा और इस प्रकार यह प्रेमाख्यान अब तक की उपलब्ध ऐसी रचनाओं में सर्वप्रथम ठहरता है। सुकुमार सेन ने उक्त सं० १५१६ का सं० १५७० (सन् १५१३ ई०) होना भी लिखा है किन्तु इसके लिए उन्होंने कोई कारण नहीं दिया है। प्रकाशित रूप में यह रचना केवल साधारण ३४ पृष्ठों में ही आ गयी है किन्तु इसमें दो खण्ड हैं, जो विस्तार में एक दूसरे के बराबर नहीं हैं। इसके दूसरे खण्ड के एक स्थल (पद्य ८१) से तो यह भी जान पड़ता है कि तीसरा खण्ड हो गया, अब चौथा आरम्भ होने जा रहा है। इसकी भाषा में राजस्थानी, गुजराती आदि का सम्मिश्रण दीख पड़ता है और इसके कुछ पद्य विकृत संस्कृत एवं प्राकृत के भी उदाहरण उपस्थित करते हैं। इसके छन्दों के नाम 'वस्तु', 'चउपही', 'दूहा' एवं 'नराच छन्द' जैसे मिलते हैं, जिनमें से कदाचित् किसी भी सभी नियमों का पूरा पालन किया गया नहीं जान पड़ता।

कथा का सारांश इस प्रकार है : सर्वत्र विचरण करने वाला सिधनाथ नाम का जोगी एक बार आकाश मार्ग से गढ़ सामौर पहुँचा, जहाँ का राजा हंसराय था और यह वहाँ उसकी कन्या पद्मावती के सौन्दर्य पर मोहित हो गया। राजकुमारी ने जब इसके यह पूछने पर कि वह विवाहिता है या नहीं, यह बतलाया कि मैं १०१ राजाओं का वध करने वाले को वरण करूँगी तो यह उसके लिए उपाय भी सोचने लगा। इसने किसी कुएँ से लेकर गढ़ सामौर तक एक सुरंग बनायी और उसमें क्रमशः चन्द्रपाल, चन्द्रसेन आदि ९९ राजाओं को लाकर डाल दिया। फिर अन्य दो राजाओं को भी लाने के प्रयत्न में यह विजौरा नींबू हाथ में लेकर लखनौती के राजा लखनसेन के द्वार पर पहुँचा और वहाँ पर हाँक लगा कर आकाश में उड़ गया। प्रतिहार के द्वारा इस बात का पता चलने पर जब इसे लखमसेन ने खोजकर बुलवाया तो यह उसे विजौरा देकर चला गया, जिसके चमत्कार से प्रभावित होकर वह इससे मिलने के लिएं और भी व्यग्र हो उठा और अपना राजपाट छोड़कर वन में चला गया। वहाँ जोगी से भेंट हो जाने पर जब राजा को प्यास लगी तो वह उसे कुएँ की पालपर ले गया और वहाँ इसने उसे करवे से पानी भरत समय नीचे ढकेल दिया। लखमसेन को जब कुएँ में जाने पर वहाँ पड़े हुए राजाओं द्वारा जोगी के छल का ज्ञान हो गया तो उसने उन सभी को धीरे-धीरे बाहर निकाल दिया और वह स्वयं वहाँ अकेला रह गया, इस बात का पता चल जाने पर वह वहाँ फिर जा पहुँचा और इसने कुँए के ऊपर एक बावन हाथ की शिला रख दी, जिससे भीतर अंधेरा हो गया। इस दशा से खिन्न होकर लखमसेन आत्महत्या करने को उद्यत हो गया और वह इसके लिए कुँए की ईटें उखाड़ने लगा। इस प्रकार उसे कुछ प्रकाश दीख पड़ा और वह क्रमशः उसकी ओर से मार्ग बनाकर किसी एक सुन्दर सरोवर के पास जा निकला। फिर वहाँ के

सुन्दर दृश्यों को देखता हुआ वह निकटवर्ती नगर में भी जा पहुँचा और वहाँ पर अपने को लखनौती के लखमसेन को पुरोहित बताकर किसी ब्राह्मण के घर रहने लगा। वह ब्राह्मण उसे किसी दिन दरबार में भी ले गया और उसने उसे पुरोहित का पद दिला दिया किन्तु एक बार वहाँ रहते समय उसकी वहाँ की राजकुमारी पद्मावती के साथ चार आँखें हो गयीं। पद्मावती उस समय विवाह योग्य हो चली थी, इस कारण स्वयंवर रचा गया, जिसमें अनेक राजाओं के बीच लखमसेन भी ब्राह्मण वेष में उपस्थित हो गया। राजकुमारी ने अन्य सभी को छोड़कर इसी के गले में वरमाला डाल दी, जिससे सभी बिगड़ खड़े हुए और इसे अपनी वीरता की परीक्षा देनी पड़ी तथा कनकावती के राजा वीरपाल के साथ इसे वहाँ पर घोर युद्ध करना पड़ा। अन्त में जब इस प्रकार वास्तविक परिचय मिल गया तो इसके साथ पद्मावती का विवाह विधिवत् सम्पन्न कर दिया गया।

उधर लखमसेन की इस सफलता के कारण द्वेषभाव में आकर सिधनाथ ने इसे स्वप्न दिया और कहा कि मुझे पानी पिला नहीं तो शाप दूँगा, जिससे भयभीत हो वह अपनी आँख खुलते ही पद्मावती से कहकर छागली में पानी लेकर उसके पास पहुँचा परन्तु जोगी ने इसके इस प्रतिज्ञा कर लेने पर ही जल ग्रहण किया कि आप जो कुछ आज्ञा देंगे, उसका पालन करूँगा और तदनुसार पद्मावती के गर्भ से पुत्र होने पर यह उसे उसके पास ले गया तथा इसने उसके आदेशानुसार उस शिशु के चार टुकड़े भी कर डाले। फलतः उनमें से प्रथम टुकड़े से एक धनुष बाण निकला, दूसरे से एक तलवार निकली, तीसरे से उसी प्रकार एक धोती निकली और चौथे से एक सुन्दरी निकल पड़ी। राजा इस घटना के कारण अत्यन्त मर्माहत हो गया ओर उसने फिर एक बार अपना घर-बार त्यागकर जंगल की राह ली तथा वहाँ से दूर निकल गया। वह इस प्रकार उपर्युक्त धोती पहनकर आकाश में उड़ा और कपूरधारा नगर में पहुँचा, जहाँ का राजा चन्द्रसेन था तथा जहाँ हरिया सेठ के पुत्र को उसने जल में डूबने से बचा लिया था। तदनुसार वह उस सेठ के यहाँ रहने लगा और संयोगवश जब उसकी राजकुमारी चन्द्रावती से देखादेखी हो गयी तो दोनों आपस में एक दूसरे पर आसक्त हो गये। वे दोनों चुपके-चुपके मिलने भी लगे, जिसका पता चल जाने पर चन्द्रसेन बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने लखमसेन को मरवा डालने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु वह सदा असफल रहा और उसे जब इसका वास्तविक परिचय मिल गया तो उसने दोनों का विवाह भी कर दिया। उधर पद्मावती लखमसेन के विरह में अत्यन्त व्याकुल थी और वह किसी भी प्रकार इसे फिर एक बार देख लेना चाहती थी। इस कारण वह विविध प्रकार के प्रयत्न कर रही थी, जिनके सम्बन्ध में ही कभी सिधनाथ एवं लखमसेन की आपस में मुठभेड़ हो गयी, दोनों लड़ गये तथा अन्त में राजा द्वारा जोगी मार डाला गया। फिर न केवल पद्मावती एवं लखमसेन ही एक दूसरे से मिले, अपितु पद्मावती की भेंट चन्द्रावती से भी हो गयी। लखमसेन अपनी इन दोनों पत्नियों को साथ लेकर प्रसन्नतापूर्वक हंसराय के यहाँ आया और फिर वहाँ से कुएँ के मार्ग द्वारा लखनौती भी आ पहुँचा, जहाँ सभी एक साथ रहकर जीवन व्यतीत करने लगे।

इस कथा के मूल स्रोत का पता नहीं लगता और न यही कहा जा सकता है कि यह नितान्त काल्पनिक मात्र है। इसकी रचना-शैली की दो-चार बातें उल्लेखनीय हैं। इस रचना के प्रथम पद्य में ही कहानी के वर्ण्य-विषय का उल्लेख सूत्र रूप में कर दिया गया है फिर आगे इसे 'वीर कथा' भी कहा गया है। इसमें साहस एवं वीरता को महत्त्व प्रदान किया गया है किन्तु इसके साथ ही कई स्थलों पर "करमगति" की प्रधानता भी स्पष्ट कर दी गयी है। इसके दोनों खण्डों के आरम्भ में सरस्वती एवं गणेश अथवा भैरवानन्द की वन्दना की गयी है, बीच-बीच में प्रसंगवश कतिपय नैतिक आदर्शों की दुहाई दी गयी है तथा दोनों के ही अन्त में फलश्रुति की भी चर्चा कर दी गयी है और यह भी कह दिया है कि इसे श्रवण करने वाले को "एक घड़ी का भी वियोग नहीं हो सकता" प्रत्युत वह "सर्वव्यापक हरि के पास बैकुण्ठ में निवास कर सकता है" (खण्ड २ प० १३०-१)। इसके अतिरिक्त कथा-प्रवाह के अन्तर्गत कभी-कभी "सुणो कथा आगलि जो हूँत" (खण्ड १ प० १४८) तथा 'इह कथा इण थलक रही, बाहुड़ि कथा पद्मावती गई" (खण्ड २ प० ८०) जैसे कथन भी कर दिये गये मिलते हैं, जिनसे और इसमें की गयी दो प्रेम-पात्रियों की सृष्टि से भी हमें ऐसा लगता है कि इसकी मूल कथा कोई लोकगाथा ही रही होगी। इस प्रेमाख्यान का नायक लखमसेन लखनौती का राजा है, जिस कारण वह प्रत्यक्षतः गौड़राज लक्ष्मणसेन (मृ० सन् ११७१ ई०) जैसा ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ता है। किन्तु उसकी प्रेमपात्री पदमावती अथवा चन्द्रावती में से किसी का भी कोई पता हमें इतिहास नहीं देता। इसी प्रकार इस कथा के अनेक अन्य पात्रों के नाम भी ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं किन्तु केवल इसी कारण इसमें आयी विविध घटनाओं का भी वास्तविक होना सिद्ध नहीं है। इसका जितना अंश उनके आकस्मिक संयोग एवं चमत्कार से प्रभावित है, उतना प्रेम व्यापार विषयक बातों से भी नहीं है। कहानी की एक विशेषता यह भी है कि इसका पात्र सिधनाथ 'जोगी' होता हुआ भी सुन्दरी पदमावती के प्रति अनुरक्त हो जाता है। यह उसे प्राप्त कर लेने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करने लगता है और अन्त में वह उस लखमसेन द्वारा ही मार डाला जाता है, जिसने कभी इसकी आज्ञाओं का अन्धभक्तवत् पालन किया था। सिधनाथ नामक एक जोगी की चर्चा फिर शेखनबी के 'ज्ञानदीपक' में भी की गयी मिलती है किन्तु यहाँ पर वह उसके नायक ज्ञानदीप को विरक्ति का उपदेश देता तथा उसे सन्मार्ग की ओर ले जाता और उसकी समय पर सहायता करता हुआ दीख पड़ता है।

[सहायक ग्रन्थ—लखमसेन पद्मावती कथा : सम्पादक नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, परिमल प्रकाशन, प्रयाग, सन् १९५९ ई०; इसलामि बंगला साहित्य : सुकुमार सेन, वर्द्धमान साहित्य सभा, बंगाल, १३५८ ई०; भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५६ ई०; त्रिपथगा, त्रैमासिक, लखनऊ, जुलाई, १९५६ ई०)]

—प० च०

लक्ष्मी—लक्ष्मी विष्णु की पत्नी के रूप में ख्यात हैं। समुद्र मंथन से प्राप्त चौदह रत्नों में से एक। 'लक्ष्मी' शब्द 'ऋग्वेद' में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है सौभाग्यवती। 'अथर्ववेद' में लक्ष्मी सौभाग्य एवं दुर्भाग्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में लक्ष्मी और श्री को आदित्य की पत्नी

कहा गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति ने श्री को जन्म दिया था। पौराणिक-साहित्य में लक्ष्मी की उत्पत्ति की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। लक्ष्मी धन की अधिष्ठात्री देवी हैं। लक्ष्मी का वाहन उल्लू है। सीता और रुक्मिणी लक्ष्मी का अवतार ही कही गयी हैं। विष्णु से इनका सम्बन्ध नित्य है (सू० सा० प० ४९३४)।

--रा० कु०

लक्ष्मीचंद्र जैन--जन्म १९०९ ई० में नौगाँव में हुआ। अंग्रेजी तथा संस्कृत में एम० ए० किया। कुछ दिनों तक दिल्ली के रेडियो केन्द्र से सम्बद्ध रहे। सम्प्रति साहू जैन औद्योगिक प्रतिष्ठान में हैं और भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली प्रकाशनों के सम्पादक तथा नियोजक है। ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'ज्ञानोदय' मासिक पत्र का सम्पादन किया। हिन्दी के नये साहित्य के प्रकाशन तथा प्रसार में आपका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी के नये ढंग के गद्य-लेखकों मे आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कई नये प्रकार के गद्य-माध्यमों का भी आपने प्रयोग किया है। 'ज्ञानोदय' के अंकों में प्रकाशित 'जो वे स्वयं न कह पाये' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। विभिन्न लेखकों के सहयोग से प्रस्तुत धारावाही उपन्यास 'ग्यारह सपनों का देश' की नियोजना आपने की। स्फुट विषयों पर लिखे गये निबन्धों के संकलन 'कागज की किश्तियाँ' (१९५८ ई०) तथा 'नए रंग, नए ढंग' (१९६१ ई०) शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं।

--सं०

लक्ष्मीधर बाजपेयी--जन्म १८८७ ई०। मैथा, जिला-कानपुर (उत्तर प्रदेश) में। मृत्यु सन् १९५३ ई०। पाठशाला की शिक्षा चौदह वर्ष की अवस्था तक प्राप्त की। साहित्य और कविता का प्रेम प्रारम्भ से ही था। १९०५ ई० में पण्डित माधवराव सप्रे से परिचय हुआ। नागपुर से प्रकाशित 'हिन्दी ग्रन्थ-माला' नामक मासिक पत्र के सम्पादन में सप्रेजी ने इन्हें बुला लिया। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से भी बराबर सम्पर्क रहा। रचनाएँ विविध प्रकार की हैं--काव्य, समीक्षा, जीवनी, धर्मशास्त्र आदि।

--सं०

लक्ष्मीनारायण मिश्र--जन्म सन् १९०३ ई०। आजमगढ़ जिले के बस्ती नामक ग्राम में। सेण्ट्रल हिन्दू कालेज, काशी से १९२८ ई० में बी० ए० किया। १८ वर्ष की अवस्था में आप साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख हुए। आपकी 'अन्तर्जगत्' (१९२१-२२ ई०) नामक काव्य-रचना उसी समय की है। इसके उपरान्त आपकी नाटकीय प्रतिभा का उदय होता है। 'अशोक' पहला नाटक है।

मिश्रजी की साहित्यिक कृतियों की, जिनमें मुख्यस्थान नाट्य कृतियों का है, कालक्रमानुसार सूची इस प्रकार है : 'अन्तर्जगत्' (कविता संग्रह १९२५ ई०), 'अशोक' (नाटक १९२६ ई०), 'संन्यासी' (नाटक, १९३० ई०), 'राक्षस का मन्दिर' (नाटक, १९३१ ई०), 'मुक्ति का रहस्य' (नाटक १९३२ ई०), 'राजयोग' (१९३३ ई०), 'सिन्दूर की होली' (१९३३ ई०), 'आधी रात' (१९३६ ई०), 'गरुड़ध्वज' (१९४५ ई०), 'नारद की वीणा' (१९४६ ई०), 'वत्सराज' (१९५० ई०), 'दशाश्वमेध' (१९५० ई०), 'अशोक वन' (एकाकी संग्रह, १९५० ई०), 'वितस्ता की लहरें' (१९५३ ई०), 'जगद्गुरु' एवं 'मृत्युंजय', 'चक्रव्यूह' (नाटक १९५५ ई०)। 'सेनापति कर्ण' नामक महाकाव्य, जिसका आरम्भ १९३५ ई० में हुआ था, अपूर्ण स्थिति में है। इब्सन के दो प्रसिद्ध नाटक 'पिलर ऑफ द सोसाइटी' और 'डाल्स हाउस' का अनुवाद आपने क्रमशः 'समाज के स्तम्भ' और 'गुड़िया का घर' नाम से किया है।

आपके नाटको की शिल्पविधि और मुख्यतः रंग-स्वरूप पर इब्सन और शा का स्पष्ट प्रभाव मिलता है, अर्थात् आपके नाटकों में भावुकता और कल्पना के स्थान पर यथार्थ और वास्तविक जीवन के चित्र आये हैं। हिन्दी में समस्यानाटकों के आप निश्चय ही प्रथम अधिष्ठाता हैं।

आपके समस्त नाट्यसाहित्य के दो वर्ग है : (अ) सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक, (आ) सामाजिक। आधारभूत सत्य की दृष्टि से आपके समूचे नाट्य-साहित्य में भारतीय संस्कृति के आदर्शों और मान्यताओं का प्रभाव है। सब नाटकों की शिल्पविधि और रूपगठन आधुनिक (पाश्चात्य) है, पर नाटक अपनी आन्तरिक प्रकृति में प्रायः भारतीय हैं; किन्तु उस अर्थ में भारतीय (प्राचीन) और पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों का समन्वय नहीं, जैसा कि प्रसाद के नाटकों मे हैं। दूसरे ही स्तर पर मिश्रजी के नाटक अपने बहिरंग में पाश्चात्य (आधुनिक) नाट्य-शिल्प के अनुरूप हैं और आन्तरिकता में विशुद्ध भारतीय हैं। यह सत्य वस्तुतः दृष्टिकोण और भावधारा के स्तर पर प्रतिष्ठित है। जहाँ तक शिल्प गठन का प्रश्न है, आपके नाटकों का विकास और निर्माण गीतों, स्वगत कथनों और भावुकतापूर्ण कवित्ववर्णनों के माध्यम से न होकर, बिल्कुल नये ढंग से होता है। ऐतिहासिक नाटकों में निश्चय ही तात्त्विक विवेचनों और सैद्धान्तिक विचार विनिमय के गहन तत्त्व हैं।

यों दृष्टिकोण में आप प्रायः यथार्थवादी हैं--प्रगतिशील स्तर पर नहीं, भारतीय स्तर पर। इनका यथार्थ अपनी ही तरह का है। 'मुक्ति का रहस्य' नामक नाटक में आपने अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के विषय में स्पष्ट रूप से कहा है : "जो यथार्थ नहीं है, वह आदर्श नहीं हो सकता। कल्पना की रंगीनी और असंगति साहित्य और कला का मानदण्ड नहीं बन सकती। जीवन की पाठशाला में बैठकर साहित्यकार अपनी कला सीखता है। अतः जीवन के अनुभव से परे उसे कहीं कुछ भी नहीं ढूँढ़ना चाहिए।"

आपके ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक प्रायः एक विशेष काल--हिन्दू संस्कृति के एक विशेष अध्याय और ज्वलंत चरित्र पर आधारित हैं और उनसे उस विशेष काल, अध्याय और चरित्र के बहाने प्रायः समूची वस्तुस्थिति पर ऐसा प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से 'गरुड़ध्वज', 'दशाश्वमेध' और 'नारद की वाणी' आपके प्रतिनिधि नाटक हैं। 'गरुड़ध्वज' नाटक का कथानक उस युग का है, जिसकी अधिक सामग्री हमें इतिहास आदि से नहीं प्राप्त होती। नाटककार ने अपनी कल्पना शक्ति से शुंग वंश के पृष्ठ पर सुन्दर प्रकाश डाला है। 'गरुड़ध्वज' में शुंग के वंशज अग्निमित्र की कथा है।

'वत्सराज' मिश्रजी का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है--उदयन की जीवन-घटनाओं से सम्बद्ध। 'दशाश्वमेध'

नाटक नागों के इतिहास पर आधारित है। 'नारद की वीणा' आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष और तदुपरान्त समन्वय की कहानी है।

'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग' तथा 'सिन्दूर की होली' इनके प्रसिद्ध समस्या नाटक (सामाजिक) है। व्यक्ति और समाज के जिस उत्तरोत्तर संघर्ष में हमारा जीवन पल-पल बढ़ रहा है, उसके किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण पहलू का आधार इन सामाजिक नाटकों मे विद्यमान है। 'मुक्ति का रहस्य' और 'सिन्दूर की होली' नाटककार के शिल्प और विचार, दोनो दृष्टियों से प्रतिनिधि नाटक है। 'मुक्ति का रहस्य' में स्त्री-पुरुष की सनातन काम-वासना का चित्रण है।

'प्रलय के पख पर' और 'अशोक वन' मिश्रजी के दो एकांकी संग्रह हैं। 'प्रलय के पंख पर' नामक एकांकी सग्रह मे लेखक के छः एकाकी संगृहीत है। प्राय. समस्त एकांकी समस्याप्रधान हैं। अधिकाश एकांकी विशुद्धत: नारी समस्या को आधार बनाकर लिखे गये हैं। दो-एक एकांकी ग्रामीण भावभूमि तथा वहाँ के जन-जीवन से उत्पन्न समस्याओ पर लिखे गये हैं। इन दो संग्रहों के अतिरिक्त 'भगवान् मनु तथा अन्य एकांकी' भी एक संग्रह है। इसके सभी एकाकी पौराणिक और ऐतिहासिक हैं। 'भगवान् मनु', 'विधायक पराशर', 'याज्ञवल्क्य', 'कौटिल्य', 'आचार्य शंकर'—एकांकी के ये नाम ही हिन्दुत्व और भारतीय संस्कृति के ऐसे उज्ज्वल उदाहरण लगते हैं कि हिन्दू मन इनसे सर्वथा अभिभूत हो जाता है।

इन एकाकियों की शिल्पविधि पर रेडियो एकांकी कला और उसके शिल्प संगठन का प्रभाव स्पष्ट है। वे एकाकी 'प्रसाद' के नाटकों की भाँति ही पठन-पाठन की सुन्दर सामग्री उपस्थित करते हैं, पर इनका रंगमंचीय पक्ष उतना ही निर्बल और जटिल है।

नाटककार मिश्रजी की शक्ति इनकी मौलिक विचारधारा है, वह चाहे ऐतिहासिक स्तर पर हो, चाहे पौराणिक अथवा सामाजिक स्तर पर। साथ ही चरित्रप्रतिष्ठा और उसके भीतर से 'ब्राह्मणत्व' का अनुपम आलोक और भारतीय संस्कृति का उदार स्वर्णिम चित्र इनके नाट्य-साहित्य की सबसे बड़ी देन है।

—ल० ना० ला०

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'—१८ जनवरी, १९०८ ई० को जिला पूर्णिया (बिहार) के रूपसपुर नामक गाँव में जन्म हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एम० ए० थे। साहित्य के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र के भी मुख्य कार्यकर्ता थे। बिहार विधान परिषद् के अध्यक्ष भी रहे थे। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने पटना की 'अवन्तिका' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया था। साहित्य के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार आलोचना है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (१९३८ ई०) तथा **'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त'** (१९४२ ई०) उनके **प्रमुख समीक्षा-ग्रन्थ हैं**, पर साथ ही कृति-साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने कार्य किया है। 'भ्रातृप्रेम' (१९२६ ई०) उनका उपन्यास है तथा 'गुलाब की कलियाँ' (१९२८), 'रसरंग' (१९२९) कहानियों के संग्रह। 'वियोग' शीर्षक उनका निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है।

'सुधांशु' की प्रतिभा समीक्षा के सैद्धान्तिक निरूपण में है और इसके लिए उन्होने मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र एवं प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के गहन अध्ययन द्वारा समुचित तैयारी की है। छायावाद की छाया तले पलने वाले इस समीक्षक पर रोमाण्टिक काव्य-शास्त्र का प्रभाव यथेष्ट है तथा उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल की शास्त्रीयता की कड़ियों को ढीला करने का प्रयास किया है।

रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को कोरा कलावाद कहते हुए उसे भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान कह दिया था। 'सुधांशु' ने अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत भाव-सत्ता का स्पष्ट प्रमाण देते हुए वक्रोक्तिवाद मे उसका प्रामाणिक अन्तर प्रतिपादित किया। यह कार्य अत्यन्त सन्तुलित ढंग पर 'काव्य मे अभिव्यंजनावाद' नामक ग्रन्थ में 'सुधांशु' ने किया। इस भ्रम के निराकरण के अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे अभिव्यंजनावाद की शब्दावली की ऐतिहासिक रूपरेखा भी दी है तथा काव्य मे अलंकारों के औचित्य, प्रभाव, प्रतीक और उपमान, अमूर्त और मूर्तविधान आदि अभिव्यंजना की विशेष प्रवृत्तियों का अध्ययन भी उपस्थित किया गया है।

'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक पुस्तक मे लेखक ने अपने समीक्षा सम्बन्धी विचारो को अधिक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहा है। इस पुस्तक में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधारभूमि पर काव्यसिद्धान्तो को परखने की चेष्टा की गयी है। रोमाण्टिक काव्यशास्त्र की धारणाओं के अनुरूप उन्होंने आत्मभाव की अभिव्यक्ति को ही कला का मुख्य उद्देश्य माना है।

काव्यानन्द की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विवेचन करके उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों को एक साथ समेटने की चेष्टा की है। संसार के समस्त व्यापारों के मूल मे मन का ओज स्वीकार करके वे काव्यानन्द को भी मन के अतिरिक्त ओज पर ही निर्धारित मान लेते हैं। काव्य के सृजन एवं आस्वादन से सम्बन्धित समस्याओं के अतिरिक्त लेखक ने इस कृति में लय और छन्द, ग्रामगीत की प्रकृति, कलागीत की प्रवृत्तियों आदि पर भी विचार किया है तथा अन्त मे आधुनिक नौ कवियों की प्रवृत्तिमूलक समीक्षा भी की है। परन्तु यह पुस्तक जिस संकल्प को लेकर जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य से प्रारम्भ की गयी थी, उसका निर्वाह नहीं हो सका। पूरी पुस्तक में न तो जीवन के तत्त्वों का ही गहन विश्लेषण हो सका है और न उन तत्त्वों के आधार पर काव्य-सिद्धान्तों की ही सम्यक् व्याख्या बन पड़ी है। पुस्तक का अन्तिम अंश और विशेषत: व्यावहारिक समीक्षावाला भाग दलीय हो गया है।

—दे० शं० अ०

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—जन्म १९१४ ई० अलीगढ़ में। शिक्षा एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्० प्रयाग से हुई, जहाँ हिन्दी विभाग मे अध्यक्ष थे। हिन्दी गद्य के विकास और उसके विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में आपका विशेष कार्य है। हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भी आपने गवेषणा की है। आपकी प्रकाशित कृतियाँ हैं— आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४१), 'फोर्ट विलियम कॉलेज' (१९४७), 'भारतेन्दु की विचारधारा' (१९४८), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९५२)। —सं०

लक्ष्मीशंकर व्यास—जन्म ३ जुलाई, सन् १९२० ई०, काशी में। पत्रकार है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० (इतिहास)। सन् १९३८ ई० से ही साप्ताहिक 'आज', 'माधुरी', 'विश्वमित्र' में साहित्य एव राजनीतिविषयक लेख प्रकाशित होने लगे। सन् १९४३ ई० में दैनिक 'आज' के सम्पादकीय विभाग में सहायक सम्पादक होकर आये। सन् १९५२ ई० मे आपकी 'चौलुक्य कुमारपाल तथा उसका युग' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जो उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई है।

कृतियाँ—'चौलुक्य कुमारपाल तथा उसका युग' (१९५४ ई०) तथा 'पराडकर जी और पत्रकारिता' (१९६० ई०)।

—म०

लछिराम—विभिन्न स्रोतों से अब तक इस नाम के कुल सात कवियों का उल्लेख मिलता है किन्तु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि इन सब मे अधिक प्रख्यात और बहुज्ञात कवि १९ वीं शती के अयोध्या अथवा अमोढ़ा (जिला बस्ती) वाले लछिराम ही है। कवि का जन्म सन् १८४१ ई० में बस्ती जिले के अमोढ़ा नामक बाजार के समीप स्थित शेखपुरा नामक गाँव मे हुआ। इनके पिता का नाम पलटन था। ये लोग जाति के ब्रह्मभट्ट थे। लछिराम के पितामह एक अच्छे कवि थे। कुछ समय तक तो कवि की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई, तत्पश्चात् वह सुल्तानपुर के उस समय के प्रसिद्ध कवि 'ईश' से काव्य-शास्त्र पढ़ने चला गया। १६ वर्ष की आयु में उसने राजा मानसिंह (अयोध्यानरेश) प्रसिद्ध कवि 'द्विज देव' से भेंट की। इसके पश्चात् कवि स्थायी रूप से उन्हीं के दरबार में रहने लगा। द्विजदेव के घने सम्पर्क में रहने के कारण तत्कालीन अन्य बडे राजाओं से भी लछिराम का परिचय बढ़ा। सभी परिचित राजाओं के नाम पर कवि ने एक-एक रचना की और उनको उन्हें समर्पित कर उनसे यथेष्ट द्रव्यादि प्राप्त किया। बताया गया है कि लछिराम के कवित्त पढ़ने का ढंग बड़ा ही प्रभावोत्पादक था। ६३ वर्ष की अवस्था में सन् १९४० ई० में अयोध्या मे उनका देहान्त हो गया।

कवि की कुल रचनाएँ, जिनमें छोटी-बड़ी सभी शामिल हैं—२२ है किन्तु उनमें प्रमुख हैं—'प्रेमरत्नाकर' (राजा बस्ती के नाम पर), महेश्वर विलास' (राजा रामपुर-मथुरा जिला सीतापुर के नाम पर), 'रावणेश्वर कल्पतरु' (गिद्धौर के राजा रावणेश्वर प्रसाद सिंह के नाम पर), 'मुनीश्वर कल्पतरु' (मल्लापुर नरेश के नाम पर), 'महेन्द्र भूषण' (ओरछा-टीकमगढ़ के राजा महेन्द्र सिंह के नाम पर), 'रघुवीरविलास' (गुरुप्रसाद सिंह, गिद्धौर के नाम पर), 'कमलानन्द कल्पतरु' (श्रीनगर पुर्निया के राजा कमलानन्द सिंह के नाम पर), 'लक्ष्मीश्वर रत्नाकर' (दरभंगा नरेश के नाम पर), 'प्रताप रत्नाकर' (प्रतापनारायण सिंह अयोध्या नरेश के नाम पर), 'रामचन्द्र भूषण' (भगवान रामचन्द्र जी के नाम पर), 'हनुमन्त शतक' और 'सरजू लहरी'। कवि की उपर्युक्त सभी कृतियाँ सन् १८७६ ई० के पश्चात् ही उसके अन्तिम समय तक रची गयीं। इनके अतिरिक्त भी लछिराम के 'राम रत्नाकर', 'मानसिंहाष्टक' और 'प्रताप रस भूषण' नामक ग्रन्थ और बताये जाते हैं परन्तु इनकी कहीं पर कोई प्रति अब तक देखी नहीं गयी है। इन समग्र ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय दो प्रकार का है : एक, जिसमे रस तथा उनके भेदो का वर्णन किया गया है और दूसरे, जिनमें अलंकारों, शब्द-शक्तियों एवं काव्य-प्रयोजन आदि का वर्णन किया गया है। प्रथम कोटि में 'प्रेम रत्नाकर', 'महेश्वर विलास', 'लक्ष्मीश्वर रत्नाकर' आयेंगे और शेष में 'प्रताप रत्नाकर' को छोड़कर सभी ग्रन्थ हैं। 'प्रताप-रत्नाकर' में राधा-कृष्ण के अष्टयाम का वर्णन किया गया है। लछिराम के उपर्युक्त ग्रन्थ प्राय भारत जीवन प्रेस, काशी और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ मे प्रकाशित हो चुके है। इन कृतियों में विवेचित रस अथवा अलंकार अपने व्याख्याता के पुष्ट विषय-बोध और गम्भीर ज्ञान के परिचायक हैं।

आचार्यत्व की दृष्टि से लछिराम ने किसी नवीन काव्यसिद्धान्त की स्थापना नहीं की और न कोई नवीन उद्भावना ही की परन्तु मुक्तप्रकेशी, अपह्नुति और गुणों के आधार पर श्लेष, ओज गुण-संक्रामित श्लेष और प्रसाद गुण संक्रमित श्लेष आदि नवीन अलंकारों की स्थापना की है। वैसे शेष अन्य काव्यशास्त्रीय विवेचन बड़े साफ और स्पष्ट हैं।

कवि की भाव-व्यंजना के मूल में श्रृंगारिकता बैठी हुई थी, जो तद्युगीन व्यापक प्रवृत्ति एव परम्परा का परिणाम थी। उसमें दृश्य-चित्रण की क्षमता अद्भुत थी। लक्षणों के उदाहरण के रूप में आये कवित्त एवं सवैया छन्द बड़े मार्मिक, सजीव एवं सरस हैं। अन्तिम दिनों की कविताएँ थके राग से उद्भूत शान्त रसोत्पादक हैं। ब्रजभाषा पर उसका व्यापक अधिकार था, जो उसके समग्र काव्य की भाषा थी। इस प्रकार आचार्यत्व और कवित्त्व, दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य मे उनका अपूर्व योग है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ० : हि० सा० इ० : मि० वि०।]

—रा० त्रि०

लज्जाराम शर्मा—जन्म सन् १८६३ (चैत्र कृष्ण दूज संवत् १९२०) बूंदी में। मृत्यु सन् १९३१ ई० बूंदी में। विख्यात नाम महता लज्जाराम शर्मा है। इनके पूर्वज बड़नगर से आकर राजस्थान में बस गये थे। १८ मास तक माँ के उदर में रहकर इनका जन्म हुआ ("राजस्थानी भाषा और साहित्य": मेनारिया पृ० २८३), जिसके कारण बहुत सी बीमारियाँ इनकी जीवन संगिनी बनकर आजन्म इनका साथ देती रहीं। ६८ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ। खाँसी, बवासीर और अनेक हृदय-रोगों से ये पीड़ित रहे। बाद में नींद लाने के लिए अफीम भी खाने लगे थे। स्कूली शिक्षा बहुत कम मिली थी पर इन्होंने स्वाध्याय से अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सन् १८८१ ई० में पिता की मृत्यु के बाद एक कपड़े की दूकान पर पिता की जगह पर १२ रुपये माहवार पर नौकरी करने लगे। बाद में एक सरकारी स्कूल में नौकरी की। वहाँ भी बहुत दिन न रह सके और उन्होंने 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के सहकारी सम्पादक का कार्यभार सँभाला। बाद में प्रधान सम्पादक भी हो गये। सन् १९०३ ई० में बम्बई से पुनः बूंदी वापस आये और महाराव राजा रघुवीर सिंह के यहाँ नौकरी करने लगे।

ये कट्टर सनातनी और आदर्शवादी थे। इन्होंने कुल २३ ग्रन्थ लिखे, जिनमें १३ उपन्यास और बाकी ऐतिहासिक तथा

संग्रह-ग्रन्थ हैं—'कपटी मित्र', 'छूत चरित्र', 'शराबी की खराबी', 'विचित्र स्त्री चरित्र', 'बीरबल विनोद', 'हिन्दू गृहस्थ', 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी', 'विक्टोरिया चरित्र', 'अमीर अबर्दुरहमान', 'आदर्शदम्पती', 'भारत की कारीगरी', 'सुशीला विधवा', 'बिगडे का सुधार', 'विपत्ति की कसौटी', 'उम्मेद सिंह चरित्र', 'पराक्रमी हाड़ाराव', 'जुझार तेजा', 'आदर्श हिन्दू', 'पं० गंगादास का चरित्र', 'आपबीती', 'पन्द्रह लाख पर पानी।'

इनमें 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी', 'धूर्त रसिक लाल' ये दो उपन्यास काफी चर्चित हुए। 'धूर्त रसिकलाल' को लेखक ने "एक परम बोधजनक सामाजिक उपन्यास" घोषित किया है जिसमें "अनेक शिक्षाजनक बातों का एक ही में वर्णन है।" धूर्त रसिक लाल अपने मित्र मोहन लाल को शराब खोरी, वेश्यागमन, तथा अन्य प्रकार के दुर्व्यसनों मे फँसा कर उसका सर्वनाश कर देता है। उसकी साध्वी पत्नी पर व्यभिचार का झूठा आरोप लगाकर उसे घर से निकलवा देता है। नाना प्रकार के व्यसनों में फँसकर मोहन लाल मरणासन्न हो जाता है और उसे तुरन्त समाप्त कर उसकी धन-सम्पत्ति को हड़पने के लिए रसिक लाल विष देने का प्रयत्न करते हुए पकड़ा जाता है। बाद मे पति-पत्नी दोनों का मिलन होता है। 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में पाश्चात्य ढंग की शिक्षा के वातावरण मे पली रमा के स्वच्छन्द आचरण तथा उसी की बहन लक्ष्मी के भारतीय संस्कार, सदाचरण आदि का अन्तर दिखाया गया है।

महता लज्जाराम के उपन्यास शैली-शिल्प की दृष्टि से कोई खास महत्त्व नहीं रखते। इनके उपन्यास कुल मिलाकर साधारण कोटि के ही कहे जा सकते हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "ये उपन्यासकार नहीं, अखबार नवीस थे" ('हि० सा० इ०', छठा संस्करण, पृष्ठ ५०१)।

—शि० प्र० सिं०

ललकदास—ललकदास लखनऊ निवासी रामानन्दीय सम्प्रदाय के गद्दीधारी वैष्णव सन्त थे। ये श्रृंगारी भाव के रामोपासक थे और अपनी विशाल शिष्य-मण्डली के साथ प्रायः पर्यटन किया करते थे। जान पड़ता है कि इनकी माधुर्य-भक्ति अध्यात्म क्षेत्र तक ही सीमित न थी, लौकिक जीवन में भी वह किसी-न-किसी रूप में प्रतिबिम्बित होती रहती थी। बेनी कवि (रायबरेली वाले) द्वारा इनके सम्बन्ध में लिखे गये तीन भड़ौवों से इसकी पुष्टि हो जाती है। भक्ति के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के भी ये अच्छे जानकार थे, जिससे आये दिन इनका कवियों से विवाद होता रहता था। कदाचित् इसी प्रकार के किसी विवाद से चिढ़कर बेनी कवि ने भड़ौवों के द्वारा इनकी खबर ली थी।

इनके दो ग्रन्थ मिले हैं—'सत्योपाख्यान' (१७६८ ई०) और 'भाषा कोशल खण्ड' (१७९३ ई०)। ये दोनों रचनाएँ उसी नाम के सस्कृत ग्रन्थों के पद्यबद्ध अनुवाद हैं। इनका प्रतिपाद्य विषय है—राम की विलास क्रीड़ाओं का वर्णन। 'भाषा कोशल खण्ड' में यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। यह ग्रन्थ पुराण-शैली में सूत-शौनक संवाद के रूप में दोहा-चौपाई छन्दों में लिखा गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; खोज रिपोर्ट : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।]

—भ० प्र० सिं०

ललित ललाम—प्रसिद्ध कवि मतिराम द्वारा रचित यह अलंकार पर लिखी गयी एक प्रौढ़ रचना है। 'ललित ललाम' में प्रस्तुत अनेक लक्षणों की छाया भूषण रचित 'शिवराज भूषण' ग्रन्थ के लक्षणों पर पड़ी जान पड़ती है। अतः इसकी रचना 'शिवराज भूषण' से पहले अर्थात् १६७३ ई० (स० १७३०) से पूर्व मानी जानी चाहिए। 'ललित लालम' ग्रन्थ बूंदीनरेश राव भाऊसिह के आश्रय में लिखा गया, जिनका राजत्वकाल १६५८ ई० से १६७९ ई० तक था। राव भाऊसिह को 'ललित ललाम' में 'बूँदीपति' के रूप में प्रकट किया गया है और अन्तिम छन्द में उनको आशीर्वाद भी दिया गया है। अतः निश्चय ही यह रचना उनके राजत्वकाल के प्रारम्भिक समय में हुई थी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह १६७३ ई० के भी पूर्व की रचना होनी चाहिए, अतः मतिरामकृत 'ललित ललाम' का रचनाकाल १६६३ ई० के आस-पास माना जा सकता है।

'रसराज' के समान ही 'ललित ललाम' की भी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। इसकी टीकाएँ भी हुई हैं परन्तु 'रसराज' की प्रतियाँ और टीकाएँ अधिक हैं। इसका मुद्रण भारत जीवन प्रेस, काशी मे हुआ। उसके बाद 'मतिराम ग्रन्थावली' में ही इसका प्रामाणिक सस्करण मिलता है। 'ललित ललाम' की 'ललित कौमुदी' नाम की गुलाब कवि की टीका प्रसिद्ध है।

'ललित ललाम' अलंकार ग्रन्थ है। मंगलाचरण के पश्चात् इसमें राजवंश का वर्णन किया गया है। इसमें बूँदी नरेशों राऊ सुरजन, भोज, रतन, गोपीनाथ, छत्रसाल और भाऊसिह की प्रशसा है। इन्हीं भाऊसिह को प्रसन्न करने के लिए मतिराम ने 'ललित ललाम' की रचना की थी। आगे चलकर भूषण ने 'ललित ललाम' के नमूने पर ही 'शिवराज भूषण' ग्रन्थ लिखा, जिसमें भी उसी प्रकार मंगलाचरण, नृपवंश वर्णन, नगर वर्णन और फिर अलकार वर्णन किया गया। 'ललित ललाम' का आधार चन्द्रालोक' है। इसमें वर्णित अलंकार क्रमशः भेद-प्रभेद सहित निम्न लिखित हैं—उपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रम, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याज निन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, परस्पर, विशेष, व्याघात, हेतुमाला, एकावली, मालादीपक, यथासंख्य, सार, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारक दीपक, समाधि, प्रत्यनीक, काव्यार्थापत्ति, अर्थान्तिरन्यास, विकस्वर, प्रौढ़ोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, विषाद, उल्लास, अवज्ञा, अनज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्‌गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, गूढ़ोत्तर, चित्र, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, प्रतिषेध, विधि और हेतु। ग्रन्थ भाऊसिह को आशीर्वाद देकर समाप्त हुआ है।

निश्चय ही यह अधिक प्रौढ़ावस्था का ग्रंथ है, जिसमें कवि भाऊसिह को आशीर्वाद दे सका है और अनेक ऐतिहासिक

उल्लेखों के साथ उनकी वीरता और दान की उसने प्रशंसा की है। भाऊसिह दिल्लीपति के सहायक रूप में चित्रित किये गये हैं। एक छन्द में भाऊसिह के शिवाजी के दिल्ली पर किये गये आक्रमण के रोकने का भी वर्णन किया गया है (छ० १३१)।

'ललित ललाम' के उदाहरणों में प्रौढ़ कवित्व देखने को मिलता है। अलंकारों के कुछ उदाहरण तो 'रसराज' के ही हैं। 'ललित ललाम' में प्रस्तुत दीवान भाऊसिह बूँदी नरेश की प्रशंसा में लिखे गये छन्द ऐसे हैं, जो कि भूषण को 'शिवराज भूषण' लिखने और महाराज छत्रपति शिवाजी की वीरता में छन्द लिखने की प्रेरणा देने वाले कहे जा सकते हैं (छं० १२९)। 'ललित ललाम' में ऊँची कल्पना और प्रौढ़ भाषा देखने को मिलती है। उदाहरण राव भाऊसिह के यशवर्णनवाले तो हैं ही. साथ ही साथ राधाकृष्ण तथा नायिकाओं के रूप-छवि-चेष्टा-सौन्दर्य का चित्रण करने वाले हैं। यह साहित्य का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

[सहायक ग्रन्थ—मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्र कुमार; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह; मतिराम ग्रन्थावली : सं० कृष्णबिहारी मिश्र।]

—भ० मि०

ललिता—कृष्ण भक्ति के निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों के ब्रजभाषा-काव्य में ललिता, राधा की अभिन्न एवं प्रधान सखी के रूप में वर्णित हुई है। कृष्ण-कथा के क्रम में गोवर्धन पूजा के प्रसंग में उसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है (सू० सा० प० १४५५)। दानलीला में चन्द्रावली के साथ उसके नाम का उल्लेख मात्र हुआ है (सू० सा० प० ४०७९-४०८५)। वह राधा की सबसे प्रिय सखी है। कृष्ण को बुलाने में वह राधा की सहायता करती है (सू० सा० प० २५९९)। राधा की वियोगावस्था में कृष्ण के पास जाती है (सू० सा० प० २७४५)। ललिता के कुशलतापूर्ण यत्नों से राधा-कृष्ण मिलन सम्भव होता है। राधा की सहचरी के अतिरिक्त ललिता का खण्डिता नायिका के रूप में भी चित्रण मिलता है। कृष्ण उसे रात्रि में मिलने का आश्वासन देकर अपने स्वभावानुसार एक अन्य गोपी शीला के पास रतिक्रीड़ा हेतु चले जाते हैं। ललिता रात्रि भर वासकसज्जा बनी बैठी रहती है (सू० सा० प० ३०९५-३१०८)। प्रातःकाल मिलनेपर ललिता कृष्ण को खरी-खोटी सुनाती है किन्तु अन्त में वह कृष्ण-कृपा से उनके प्रेम की भागी बनती है। ललिता में सफल दूती के अनुरूप मान, रूप, तीक्ष्ण बुद्धि, वाक्चातुर्य, नायक, नायिका के प्रति सहानुभूति, आत्मीयता तथा नायक को रिझाने के लिए व्यक्तिगत सौन्दर्य है। नित्य बिहारी राधा कृष्ण की वह अभिन्न सहचरी है। सखी भाव की उपासना में उसके व्यक्तित्व को आदर्श रूप में स्वीकार किया गया है।

—रा० कु०

ललिताप्रसाद त्रिवेदी ललित—कानपुर के रसिक समाज को अग्रसर करने वालों में ललिता प्रसाद त्रिवेदी 'ललित' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आप बहुत समय तक रसिक समाज के सभापति रहे और रीतिकालीन श्रृंगारिक काव्य परम्परा को पुरस्सर करने में महत्वपूर्ण योगदान करते रहे। मिश्रबन्धुओं के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के प्रायः अन्य इतिहासकारों ने आप की चर्चा नहीं की।

आप मल्लावाँ जिला हरदोई अवध प्रदेश के रहने वाले थे और जाति के ब्राह्मण थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये कानपुर में एक गल्ले की दुकान पर मुनीमी का काम करते थे। इन्होंने काव्य द्वारा जीविका नहीं चलायी। इनके जन्म और मृत्यु के संबंध में किसी भी प्रकार का विवरण प्राप्त नहीं है। अनुमानतः इनका काल उन्नीसवीं शताब्दी माना गया है।

कहा जाता है कि इन्होंने फुलवारी लीला नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी जिससे कानपुर के प्रसिद्ध रईस पं० गुरु प्रसाद शुक्ल के यहाँ रामलीला होती थी। इसके अतिरिक्त रामलीला नगर मंडलियों के लिए इन्होंने 'रामयणदर्शन' नामक एक अच्छे ग्रन्थ की भी रचना की थी जो दो भागों में सन् १९८२ ई० में कैलाश यन्त्रालय कानपुर से मुद्रित हो चुका है। इसी ग्रन्थ का एक संक्षिप्त सस्करण सुमतिरजन नाटक नाम से बिठूर (कानपुर) के ब्रह्म प्रकाश यंत्रालय से भी प्रकाशित हुआ है। द्वितीय त्रै० खोज में 'ख्याल तरंग' नामक इनका एक और ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। मिश्रबन्धुओं के कथनानुसार इनका एक ग्रन्थ दिग्विजय विनोद (सं० १८३०) है, जिसमें सरस छन्दों मे नायिका भेद निरूपण हुआ है। यह ग्रन्थ भी मुद्रित हो चुका है। [सहायक ग्रन्थ—वि० व० वि०, खोज रिपोर्ट्स, रामयणदर्षन नाटक]

—कि० ला०

लल्ली प्रसाद पांडेय—जन्म १८८६ ई० में साननोदा (सागर) में। आप 'हिन्दी केसरी', 'कलकत्ता समाचार' के सम्पादन विभाग में रह चुके हैं। नवलकिशोर प्रेस तथा इंडियन प्रेस से भी सम्बद्ध रहे हैं। आपके दो अनुवाद—'रायबहादुर' तथा 'ठोक पीट कर बैद्यराज' (मराठी से अनुवादित) और मौलिक ग्रन्थ 'कृष्ण चरितामृत' विशेष उल्लेखनीय है। 'बालसखा' के सम्पादक भी रहे। बंगला से किये हुए आपके अनुवाद पर्याप्त रूप से प्रशंसित हुए हैं।

—सं०

लल्लूलाल—आगरानिवासी गुजराती सहस्र औदीच्य ब्राह्मण। जन्म सन् १७६३ ई० में आगरा के गोकुल पुरा मुहल्ले में। मृत्यु १८३५ ई० कलकत्ता में। इनके पिता का नाम चैनसुख था। ये पौरोहित्य करते थे। जीविकावश घूमते फिरते वे सन् १७८६ ई० में मुर्शिदाबाद पहुँचे। वहाँ कृपा सखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदास से लल्लूलाल का सत्संग होता था। उन्हीं के द्वारा नवाब मुबारक उद्दौला से इनका परिचय हुआ। नवाब के द्वारा इनके भरण-पोषण की व्यवस्था होती रही। सात वर्षों तक ये मुर्शिदाबाद में रहे। गोपाल दास का देहान्त होने पर तथा उनके भाई के अन्यत्र चले जाने पर लल्लूलाल ने भी उदास होकर नवाब से विदा ले ली और कलकत्ता चले गये। वहाँ प्रसिद्ध रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण के आश्रय में वे रहने लगे। राजा रामकृष्ण का राज्य जब उन्हें मिला तो ये भी उनके साथ नाटोर गये। थोड़े समय के बाद राज्य में उपद्रव हो जाने के कारण राजा रामकृष्ण को कैद करके सरकार ने मुर्शिदाबाद भेज दिया। तब लल्लूलाल भी फिर कलकत्ता लौट गये। वहाँ जीविका के लिए वे इधर-उधर भटकते रहे पर कोई जुगाड़ न बैठा। इस बीच उन्होंने जगन्नाथपुरी की यात्रा की। वहाँ नागपुर के राजा मनियाँ बाबू

से इनकी भेट हुई। वे इनके गुणो पर रीझकर इन्हे अपने साथ नागपुर ले जाना चाहते थे पर किसी कारणवश ये उनके साथ नही गये और कलकत्ता वापस चले गये।

लल्लूलाल तैरना अच्छा जानते थे। आगरा के गोकुल पुर मुहल्ले में वह तालाब अब भी है, जिसमें लल्लूलाल तैरा करते थे। उनकी तैराकी की बदौलत कलकत्ते में गंगा मे डूबते हुए एक अंग्रेज की जान बची। वह जब डूब रहा था तो लल्लूलाल की दृष्टि उस पर पड़ी और वे तुरन्त गंगा मे कूदकर उसे किनारे निकाल लाये। बाद मे उस कृतज्ञ अंग्रेज ने इनकी बड़ी सहायता की। इनके लिए उसने एक प्रेस खुलवा दिया। यहीं इनसे पादरी बुरन से परिचय हुआ और रसेल तथा डाक्टर गिलक्राइस्ट के सम्पर्क में आये, जिसके फलस्वरूप सन् १८०० ई० में इनकी नियुक्ति फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी गद्य-ग्रन्थों की रचना करने के लिए की गयी। इस काल में इनकी सहायता के लिए काजम अली 'जवाँ' और मजहरअली 'विला' ये दो सहायक भी नियुक्त किये गये। फोर्ट विलियम कालेज में इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की। इनके प्रथम संस्करण का संकेत भी यहाँ कर दिया गया है।

'सिहासन बत्तीसी' (सुन्दरदास कविकृत ब्रजभाषा ग्रन्थ का खड़ी बोली में अनुवाद, सन् १७९९ ई०), 'बैताल पच्चीसी' (शिवदास कविकृत संस्कृत 'बेताल पंचविंशतिका' का सुरति मिश्र ने ब्रजभाषा में अनुवाद किया था। उसी का लल्लूलाल ने खड़ी बोली में रूपान्तर किया, सन् १७९९ ई०), 'शकुन्तला नाटक' (सन् १८०२ ई०), 'माधोनल' (मोतीराम कवि की ब्रजभाषा पुस्तक का खड़ी बोली में अनुवाद सन् १७९८ ई०), 'प्रेम सागर' (सन् १५१० ई० में चतुर्भुजदास ने ब्रजभाषा में दोहा-चौपाइयों में 'भागवत' दशम स्कन्ध का अनुवाद किया था। उसी के आधार पर लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना की (सन् १८०२ ई०), 'राजनीति' (सन् १८०९ ई०), 'भाषा कायदा'—इस ग्रन्थ का अब कोई पता नहीं चलता। 'बिहारी बिहार' की भूमिका में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा है कि इसकी एक कापी बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में अब तक है। इसी बात को श्यामसुन्दर दास जी ने भी दुहराया है। पर वहाँ पर बहुत खोज-बीन करने पर भी इसका कुछ पता नहीं चला और न भारत या विदेश के ही किसी अन्य संग्रहालय में अब तक इसके अस्तित्व का पता चल सका है। इतना अवश्य है कि यह पुस्तक छपी थी और इसकी विज्ञप्ति भी निकली थी, जैसा कि लल्लूलाल के प्रेस से छपी हुई कुछ पुस्तकों—'सभाविलास' (सन् १८१३ ई०), 'माधवविलास' (१८१७ ई०), तथा सुरति मिश्र के 'सरस रस' के अन्त में विज्ञापन के लिए दी हुई पुस्तक सूची से विदित होता है— 'लतायफे हिन्दी या नकलयाते हिन्दी' (सन् १८१०), 'लाल चन्द्रिका' (सन् १८१८), 'ब्रजभाषा व्याकरण' (सन् १८११ ई०)।

—वि० ना० प्र०

ललिताप्रसाद सुकुल—जन्म १८०४ ई०, अमरावती में। मृत्यु १९५९ ई० में। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रारम्भिक छात्रों में में थे। एम० ए० की उपाधि लेकर आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। कलकत्ता में हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में आपका कार्य विशेष महत्त्व का है। वहाँ की बंगीय हिन्दी परिषद् के प्रेरणा स्रोत आप ही रहे। आपकी रचनाएँ अधिकतर समीक्षात्मक है—'काव्य चर्चा', 'साहित्य जिज्ञासा', 'साहित्य चर्चा', 'नव कथा'।

—सं०

लहर—'लहर' में जयशंकर प्रसाद की प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। इसका प्रकाशन १९३३ ई० में हुआ। 'लहर' की समस्त कविताओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो स्फुट कविताएँ हैं, जिनकी मुख्य भूमिका गीतात्मक है। संग्रह के अन्त में 'अशोक की चिन्ता', 'शेर सिह का शस्त्रसमर्पण', 'प्रलय की छाया' आदि अपेक्षाकृत कुछ लम्बी कविताएँ हैं, जिनमें इतिहास की भूमिका का कार्य करती है। 'लहर' में प्रसाद की कुछ सर्वोत्तम कविताएँ संकलित हैं। उसमें कवि की आन्तरिक अनुभूति अनगढ़ रूप में प्रकाशित नहीं होती। उसे उसने चिन्तन का बल प्रदान किया है। उसमें कवि के व्यक्तित्व को जो विस्तार प्राप्त हुआ है, उसे कतिपय कविताओं में सहज ही देखा जा सकता है। गीतों के लिए जिस घनीभूत भावना, संग्रथित अभिव्यक्ति, मार्मिक नियोजन की अपेक्षा होती है, वह 'लहर' के गीतों में मिलती है। गीतिकाव्य की दृष्टि से प्रसाद का यह संग्रह अत्यन्त समृद्ध है। 'ले चल मुझे भुलावा देकर', 'बीती विभावरी जाग री', 'मेरी आँखों की पुतली में' आदि श्रेष्ठ गीत इस में संकलित हैं। 'लहर' में संकलित 'मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी' प्रसाद के व्यक्तिगत जीवन पर सांकेतिक प्रकाश डालती है। प्रेमचन्द्र जी के अनुरोध पर प्रसाद ने यह कविता 'हंस' के आत्मकथांक के लिए लिखी थी। इससे उनके जीवन में आनेवाले किसी व्यक्ति का आभास मिल जाता है, जिसकी प्रेरणा से 'आँसू' की सृष्टि हुई। लम्बी कविताओं में 'अशोक की चिन्ता' पर बौद्ध दर्शन की छाया है। 'शेरसिह का शस्त्र समर्पण' 'जलियानवाला बाग' से सम्बद्ध है। दोनों में राष्ट्रीय भावना सन्निहित है। 'प्रलय की छाया' 'लहर' की विशिष्ट रचना है और इसे प्रसाद की सर्वोत्तम गीत सृष्टि कहा जा सकता है। यद्यपि गुर्जर की रानी कमला ऐतिहासिक पात्र है पर उसके माध्यम से कवि ने नारी के आन्तरिक द्वन्द्व को अंकित किया है। पराजित सौन्दर्य कविता के अन्त में पश्चात्ताप की भूमिका पर प्रतिष्ठित है। चित्रांकन इस कविता का महत्त्वपूर्ण अंश है। प्रसाद का शिल्प इस कविता में अपने सर्वोत्तम रूप में आया है। 'झरना' यदि गीत सृष्टि की दृष्टि से प्रयोगशाला है तो 'लहर' उसका उत्कर्ष। यह प्रौढ़ता के बिन्दुपर पहुँचे हुए कवि का प्रतिनिधि काव्य संकलन है जिससे उसके निश्चित भविष्य का परिचय मिलता है।

—प्रे० शं०

लाक्षागृह—महाभारत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ वारणावत नगर में महादेव का मेला देखने गये। दुर्योधन ने इसकी पूर्व सूचना प्राप्त करके अपने एक मन्त्री पुरोचन को वहाँ भेजकर एक लाक्षागृह तैयार कराया। पुरोचन पाण्डव को जलाने की प्रतीक्षा करने लगा। योजना के अनुसार पाण्डव लाक्षागृह में रहने लगे। घर को देखने से तथा विदुर के कुछ संकेतों से पाण्डवों को घर का रहस्य ज्ञात हो गया। विदुर के एक व्यक्ति ने उसमें गुप्त सुरंग बनायी, जिसके द्वारा आग लगने की स्थिति में निकल सकना सम्भव

था। जिस दिन पुरोचन ने आग प्रज्ज्वलित करने की योजना की थी, उसी दिन पाण्डवों ने नगर के ब्राह्मणों को भोज के लिए आमन्त्रित किया। साथ में अनेक निर्धन खाने आये। सब लोग खा-पीकर चले गये पर एक भीलनी अपने पाँच पुत्रों के साथ वहाँ सो रही। रात में पुरोचन के सोने पर भीम ने उसके कमरे में आग लगायी। धीरे-धीरे आग चारों ओर लग गयी। वह माता भाइयों के साथ सुरंग से बाहर निकल गया। प्रातःकाल भीलनी को उसके पांच पुत्रों सहित मृत अवस्था में पाकर लोगों को पाण्डवों के कुन्ती के साथ जल मरने का भ्रम हुआ। इससे दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ किन्तु यथार्थता का ज्ञान होने पर उसे बहुत दुःख हुआ ('शिवराजभूषण', १९४८)। लाक्षागृह इलाहाबाद से पूरब गंगा तट पर है। सन् १९२२ ई० तक उसकी कुछ कोठरियाँ विद्यमान थीं पर अब वे गंगा की धारा से कट कर गिर गयीं। कुछ अंश अभी भी शेष है। उसकी मिट्टी भी विचित्र तरह की लाख की-सी ही है।

—रा० कु०

लाड़सागर— चाचा हित वृन्दावनदासरचित 'लाड़सागर', आराध्या राधा के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक श्रीकृष्ण के प्रति व्यक्त किये गये प्रेम का अगाध सागर है। शैशवावस्था की चपल क्रीड़ाओं का स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि ने अपनी भावना द्वारा राधा का जैसा मोहक चित्र अंकित किया है, वैसा इस विषय को लेकर किसी अन्य कवि ने नहीं किया। 'लाड़सागर' दस प्रकरणों में विभक्त है। इनमें राधा की बाल-लीलाएँ, श्रीकृष्ण की लीलाएँ और विवाह, उत्कण्ठा, कृष्ण-सगाई, विवाह-मंगल, गौनाचार आदि प्रसिद्ध विषय हैं। कृष्ण-चरित्र के एक अंश—बाल तथा किशोर चरित्र को आधार बनाकर उसी पर क्षीण कथापटका ताना-बाना बुना गया है। राधा-कृष्ण के बाल-जीवन की कहानी का इस ग्रन्थ से आभास मिल जाता है। वात्सल्य और श्रृंगार रस का इसमें गहरा पुट है। 'लाड़सागर' का श्रृंगार विवाह-संस्कार से परिमार्जित श्रृंगार है—स्वकीया रूप में राधा को चित्रित किया गया है। पूर्वानुराग, स्वप्न दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन और श्रवण दर्शन आदि सभी स्थितियों का मनोहारी वर्णन किया गया है। लाड़ अर्थात् वात्सल्य प्रेम की व्यंजनाओं का इसमें सर्वांगीण रूप दृष्टिगत होता है।

'लाड़सागर' की भाषा व्यावहारिक बोलचाल की ब्रजभाषा है। इसे हम ब्रजवासियों की घरेलू बोली कह सकते हैं। ब्रज के रीति-रिवाजों, त्यौहार-पर्वों और धार्मिक-सामाजिक कृत्यों के वर्णन से परिपूर्ण होने के कारण शायद जान-बूझकर चाचा वृन्दावनदास जी ने इसे साहित्यिक अभिव्यक्ति से बचाया है। संवाद-शैली की दृष्टि से इसकी भाषा में प्रवाह है। लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। "जल वसि कै वैर मगर सों किन छाती जु सिराई", "घर बैठे ही गाल बजायौ देर को परन निकेत है" आदि प्रचलित लोकोक्तियाँ इसमें खूब पाई जाती हैं।

'लाड़सागर' गेय पदों में लिखा गया है किन्तु दोहा, अरिल्ल, सीरण, कवित्त, छप्पय आदि छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। सम्पूर्ण 'लाड़सागर' में चालीस रागों का प्रयोग हुआ है। शास्त्रीय संगीत का ज्ञान इनसे स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'लाड़सागर' संवत् १८०४ से १८३५ (सन्१७४७ से १७७८ ई०) तक की रचना है। लेखक ने प्रत्येक प्रकरण के अन्त में रचनाकाल स्वयं दे दिया है। रीतिकालीन प्रबन्ध-काव्यों में 'लाड़सागर' का भक्ति-प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

—वि० स्ना०

लालकवि—लाल कवि उपनाम गोरेलाल के पूर्वज आन्ध्र देश के निवासी थे। रानी दुर्गावती (१४७८ ई०) के समय में इनके पूर्वज बुन्देलखण्ड में जाकर बस गये थे। १६५८ ई० में लाल कवि का जन्म हुआ था। छत्रसाल बुन्देलाने लाल कवि को बढ़ई, पठारा, अमानगंज, सगेरा और दुग्धा नामक पाँच गाँव दिये थे। ये दुग्धा में रहने लगे थे और अब भी उनके वंशज वहीं रहते हैं। 'छत्रप्रकाश' की प्राप्त प्रति में वर्णित अन्तिम घटना लोहागढ़ विजय है, जिसे छत्रसाल ने १६ दिसम्बर १७१० ई० को जीता था। अतः यदि 'छत्रप्रकाश' की वर्त्तमान प्रति को पूर्ण माना जाय तो लाल कवि की मृत्यु इसी तिथि के आस पास हुई होगी। मिश्र बन्धु तथा रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी मरण-तिथि १७०७ ई० मानी है जो अशुद्ध है। इनके लिखे हुए ये ग्रन्थ बतलाये जाते हैं :—

'छत्रप्रशस्ति', 'छत्रछाया', 'छत्रकीर्ति', 'छत्रछन्द', 'छत्रसालशतक', 'छत्रहजारा', 'छत्रदण्ड', 'राजविनोद', 'बरवै', 'छत्रप्रकाश'। 'छत्रप्रकाश' के अतिरिक्त इनके अन्य सभी ग्रन्थ अप्राप्य हैं। इन्होंने छत्रप्रकाश की रचना छत्रसाल की आज्ञा से की थी। इसमें बुन्देल-वंशोत्पत्ति, चम्पति-विजय एवं पराक्रम, छत्रसाल द्वारा अपने राज्य का उद्धार, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मुगलों से अविरल रूप में युद्ध करते रहना आदि १६ दिसम्बर १७१० ई० तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। 'छत्रप्रकाश' में दोहा तथा चौपाई छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इसमें ब्रजभाषा के प्रचलित साहित्यिक रूप का प्रयोग हुआ है। साहित्य और इतिहास दोनों दृष्टयों से लाल कवि 'छत्रप्रकाश' में पूर्ण रूप से सफल हुए है। 'छत्रप्रकाश' श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९१६ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

[सहायक-ग्रन्थ—हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८००): टीकमसिह तोमर, हिन्दुस्तानी अकादमी, उ० प्र० इलाहाबाद प्रथम संस्करण १९५४ ई० पृ०२७-३०, ४४-४६, ६६-६८, ८७-८८, १०९-१११, १६६-१६७, २६७-२८७।]

—टी० सिं० तो०

लालचंद्रिका—लल्लूलाल ने सन् १८१९ ई० में 'बिहारी सतसई' की कुछ प्राचीन टीकाओं की सहायता से महाकवि बिहारीलाल की प्रसिद्ध कृति 'सतसई' की खड़ीबोली गद्य में टीका लिखी। उन टीका-ग्रन्थों के नाम ये हैं—'अनवर चन्द्रिका' (शुभकर्ण), 'अमरचन्द्रिका' (सुरति मिश्र), 'हरिप्रकाश' (हरिचरण दास), 'कुण्डलिया' (राजगढ़ के नवाब मुलतान पठान)।

इनके अतिरिक्त किसी अज्ञात कवि की एक संस्कृत टीका की भी सहायता उन्होंने ली थी। लल्लूलाल के इस टीका-ग्रन्थ में नायिका-भेद और अलंकारों का निर्देश भी किया गया है तथा दोहों का क्रम आजमशाही पाठ के अनुसार रखा है। इसे उन्होंने अपने ही संस्कृत प्रेस में (कलकत्ता) सन् १८१९ ई० में

'पाश्चात्य साहित्यालोचन' (सन् १९५२ ई०) हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग की ओर से प्रकाशित की गयी। इस पुस्तक में यद्यपि विश्लेषणात्मक एवं मूल्यांकनपरक दृष्टिकोण का अभाव है तथा तुलनात्मक या ऐतिहासिक स्तर पर विवेचना का स्वरूप भी उपलब्ध नही होता, परन्तु फिर भी कुछ प्रमुख पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवरण इस पुस्तक में दिया गया है।

–दे० शं० अ०

लेखराज–ये 'गगाभरण' (१८७८ ई०) के लेखक नन्दकिशोर मिश्र हैं। ये गन्धौली ग्राम के रहनेवाले थे। 'मति राम ग्रन्थावली' के सम्पादक, प्रसिद्ध आलोचक कृष्णबिहारी मिश्र के ये पिता थे। नन्दकिशोर मिश्र ने 'लेखराज' उपनाम से कविता लिखी है। ये भारतेन्दु-युग के पुरानी परिपाटी के कवि है। 'गंगाभरण' अलकार की पुस्तक है, उदाहरणों में गंगा-महिमा के छन्द है।

–ओ० प्र०

लैला–लैला एक अभारतीय प्रेमाख्यान की अत्यन्त प्रसिद्ध नायिका है। सूफी प्रेमाख्यानों मे लैला के चरित्र का अत्यन्त विस्तृत और रोचक वर्णन मिलता है। लैला और मजनू के प्रेम सम्बन्धों को लेकर कवियों ने समय-समय पर नवीन सन्दर्भो पर आधारित काव्यों की भी रचना की है। लोकप्रसिद्धि के अनुसार लैला श्यामवर्ण की थी। अरबी में लैला का अर्थ अर्धरात्रि है। इसी के अनुकरण पर लैला (श्याम वर्णवाली) शब्द का निर्माण हुआ है। लैला के साथ उस पर आसक्त मजनू की भी चर्चा अनिवार्य रूप से आ जाती है। सक्षेप में लैला और मजनू की अनेक स्रोतो पर आधारित कथा का समन्वयात्मक रूप इस प्रकार है–

अरब देश के एक बादशाह के अनेक यत्नों के बाद एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कैस रखा गया। उसे दस वर्षो के बाद मकतब में भर्ती किया गया। उसी दिन उस मकतब में एक व्यापारी की पुत्री लैला भी आयी। लैला और मजनू एक दूसरे पर आसक्त हो गये। धीरे-धीरे उनके सम्बन्धों की चर्चा लोक में प्रसिद्ध हो गयी। लैला की माँ ने सामाजिक मर्यादा के भय से उसे मकतब से हटा लिया। फलस्वरूप दोनो को एक दूसरे का विरह सताने लगा। मजनू भिखारी का रूप धारण करके लैला के द्वार पर जाने लगा और लैला भी भीख देने के बहाने उसके निकट आने लगी। लैला की माँ को यह रहस्य भी मालूम हो गया। अतः उसने मजनू को वहाँ से निकलवा दिया। मजनू वन में भटकने लगा। मजनू का पिता उसे खोजता हुआ वन में पहुँचा। वहाँ वह लैला, लैला कहकर अपनी प्रियतमा का नाम जप रहा था। बादशाह ने किसी दरवेश से मजनू का पागलपन दूर करने की तदबीर की। इससे उसका पागलपन तो दूर हो गया पर उसकी लैला से आसक्ति नहीं छूटी। इस पर बादशाह ने अपने पुत्र की शादी का पैगाम लैला के सौदागर पिता के पास भेजा किन्तु लैला के द्वार पर पहुँचने पर मजनू उसके एक कुत्ते को देखकर उससे लिपट गया। इस पर लैला के पिता को मजनू के पागलपन पर सन्देह हो गया। मजनू के पिता ने उसे फिर दरवेश को दिखाया परन्तु कोई लाभ न हुआ और मजनू वन में जाकर पशुओं के साथ रहने लगा। इधर लैला के पिता ने उसका विवाह सालाम नामक बादशाह के साथ तय कर दिया परन्तु लैला और मजनू में पत्र-व्यवहार चलता रहा। एक दिन बादशाह की मजनू से भेंट हो गयी। उसने मजनू के प्रेम से प्रभावित होकर लैला के पिता को उसका मजनू के साथ विवाह कर देने को लिखा। लैला के पिता ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस पर बादशाह ने सौदागर पर चढ़ाई करके लैला को बुला मँगवाया और दोनो प्रेमियों की भेट हो गयी। लैला-मजनू के विवाह के उपलक्ष मे बादशाह ने शर्बत पिलाने के लिए लोगो को आमन्त्रित किया। मजनू के प्याले में विष घोल दिया गया, जिसे भ्रम से बादशाह पीकर मर गया। उस समय से लैला मजनू एक दूसरे के निवास-स्थानो से परिचित हुए बिना वन मे रहने लगे। लैला के पिता ने चाहा कि उसे घर वापस ले जाये किन्तु मार्ग में लैला का ऊँट मजनू के ऊँट से किसी प्रकार मिल गया। पहले तो लैला ने मजनू को नही पहचाना परन्तु जब पहचान लिया तो वह उसकी दशा देखकर मूर्छित हो गयी। सचेत होने पर लैला ने मजनू से अपनी विरह-कथा कही तो मजनू ने सिर नीचा कर लिया। इस पर लैला सौदागर के घर पहुँचा दी गयी। वहाँ उसने विरहाग्नि में संतप्त होकर अपने प्राण त्याग दिये। लैला की माता ने तब उस घटना का पता वन में जाकर मजनू को दिया तो सुनते ही वह धूल में लोटने लगा। उसकी मृत्यु से पशुवर्ग तक प्रभावित हुआ।

यद्यपि लैला और मजनू की कथा अभारतीय है फिर भी भारतीय साहित्य में इस कथानक पर आधारित अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। फारसी में लैला-मजनू के प्रेम कथानक पर आधारित जिन प्रेम गाथाओं की रचना हुई, उनमे निजामीकृत 'लैला मजनू' (११८९ ई०) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। निजामी के अनन्तर उनका प्रभाव ग्रहण करके अमीर खुसरो ने 'लैला मजनू' (१९१८ ई०) की रचना की। निजामीकृत 'लैला मजनू' सूफी विचारधारा के प्रेमादर्श का निरूपक प्रौढ़ काव्य है। उसने लैला और मजनू के माध्यम से हकीकी प्रेम की व्यंजना की है। लैला और मजनू की प्रेम-कथा इस प्रकार प्रतीकात्मक रूप धारण कर लेती है। लैला श्यामवर्ण की अवश्य थी पर उसे खुदा का नूर (ईश्वरीय ज्योति) प्राप्त था। मजनू के प्रेम मे साधक के प्रेम की एकनिष्ठता थी। लैला के नूर को केवल मजनू ही देख सका। वह मजनू के लिए अत्यन्त रूपवती और दिव्य प्रतिभासम्पन्न थी। वस्तुतः मजनू का प्रेम लौकिक न होकर अलौकिक था। इस कथा में यह व्यंजना होती है कि मृत्यु के उपरान्त ही सच्चा प्रेम प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए निजामी ने मृत्यु को 'बाग' और 'बोस्तां' कहा है। लैला और मजनू प्रेम के अशरीरी रूप के कारण उन्मत्त होकर एक दूसरे का आलिंगन नहीं करते।

भारतीय भाषाओं में बंगला में लैला-मजनू की प्रेमगाथा को लेकर कई ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें चटगांव के बहराम कवि की 'लयलि मजनू' और मोहम्मद खातिर की 'लयला मजनू' अधिक प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में लैला-मजनू के प्रेम कथानक पर आधारित कोई प्रसिद्ध प्रेमगाथा नहीं मिलती। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने मोहम्मद खातिर की 'लयला मजनू' नामक रचना पर मिलने वाले हिन्दी प्रभाव की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त इस कथानक पर आधारित हिन्दी में जान कविकृत 'लैला मजनू' और रामराय कविकृत 'लैला मजनू' नामक दो अन्य रचनाएँ भी प्राप्य हैं परन्तु ये दोनों अप्रकाशित

हैं। जान कविकृत 'लैला मजनू' की हस्तलिखित प्रति हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग संग्रहालय में सुलभ है तथा रामरायकृत 'लैला मजनू' की एक हस्तलिखित प्रति दतिया राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित है। वस्तुत: लैला-मजनू का कथानक लोक में इतना अधिक प्रचलित हुआ कि समय-समय पर उसमें नये संदर्भ जुड़ते गये। सूफी कवियों की कल्पना एव दार्शनिक मान्यताओं ने लैला और मजनू के व्यक्ति-तत्त्वों को जो प्रतीकात्मकता प्रदान की, उसका उनकी साधना के अन्तर्गत विशिष्ट स्वरूप एवं महत्त्व है।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय प्रेमाख्यान : प० परशुराम चतुर्वेदी; मध्ययुगीन प्रेमाख्यान : डा० श्याम मनोहर पाण्डेय; हिन्दी प्रेमाख्यान : डा० कमल कुल श्रेष्ठ; ना० प्र० स० खो० रि० १९०६-१९०८।]

—रा० कु०

लोकायतन—सुमित्रानन्दन पंत की इस कृति मे भारतीय जीवन की, स्वतन्त्रता के पहले और बाद की कथा को काव्य रूप दिया गया है। यह दो खण्डों में विभाजित है—बाह्य परिवेश और अन्तश्चैतन्य। इस प्रबन्ध की पट भूमि बहुत ही व्यापक है जिसमें स्वाधीनता के पहले से लेकर उत्तर स्वप्न तक का विशाल भारतीय जीवन अन्तर्भुक्त हो उठा है। पत जी युग जीवन के यथार्थ के हर पहलू को समझते थे, देश-विदेश के समस्त परिवर्तनों को, बदले मूल्यों को, पुरातन और नवीन के संघर्षों को, भौतिकता और आध्यात्मिकता के छन्दों को उन्होंने परखा था। प्रबन्ध को देखकर ऐसा लगता है कि यथार्थ दर्शन और आदर्श कल्पना, ये दोनों अध्ययन और जानकारी के परिणाम के रूप में उनसे संयुक्त हैं।

कृ० शं० पा०

लोचनप्रसाद पांडेय—जन्म सन् १८८६ ई० में मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले के बालापुर नामक स्थान में। मृत्यु १९५९ ई० में। बाद को रायगढ़ में रहने लगे थे। इनको 'काव्य विनोद' एवं 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधियाँ प्राप्त हुई। ये 'भारतेन्दु-साहित्य समिति' के एक सम्मानित सदस्य थे। स्वभाव सरल, निश्छल एवं आत्मीयतापूर्ण था। मध्यप्रदेश में इनके प्रति बड़ा आदर, सम्मान एवं प्रतिष्ठा का भाव है। हिन्दी, उड़िया अंग्रेजी एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे।

'दो मित्र' उद्देश्यप्रधान सामाजिक उपन्यास मैत्री आदर्श, समाज-सुधार, स्त्री-चरित्र से प्रेरित एवं पाश्चात्य सभ्यता की प्रतिक्रिया पर लिखित १९०६ ई० में प्रकाशित प्रथम कृति है। १९०७ ई० में मध्यप्रदेश से ही प्रकाशित 'प्रवासी' नामक काव्य-संग्रह में छायावादी, रहस्यमयी संकलनों की भाँति कल्पनागत, मूर्तिमत्ता एवं ईषत् लाक्षणिकता का प्रयास दिखाई पड़ता है। १९१० ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से 'कविता कुसुम माला', बालोपयोगी काव्य-संकलन एवं १९१४ ई० में 'नीति कविता' धर्मविषयक संग्रह निकले। १९१४ ई० में 'साहित्यसेवा' नामक प्रहसन प्रकाशित हुआ, जिसमें व्यंग्य-विनोद के लिए हास्योत्पादन की अतिनाटकीय घटना-चरित्र-संयोजन शैली का प्रयोग हुआ है। 'मेवाड़ गाथा' ऐतिहासिक खण्ड-काव्य सन् १९१४ ई० में ही प्रकाशित हुआ। सन् १९१५ ई० में 'पद्य पुष्पांजलि' नामक दो काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुए। सन् १९१५ ई० में ही उनके सामाजिक एवं राष्ट्रीय नाटक 'छात्र दुर्दशा' एवं अतिनाटकीयतायुक्त व्यंग्य-विनोदपरक 'ग्राम्य विवाह विधान' नाटक निकले। सन् १९१४ मे ही समाज-सुधारमूलक 'प्रेम प्रशंसा वा गृहस्थ-दशा दर्पण' नाट्य-कृति प्रकाशित हुई।

लोचनप्रसाद पाण्डेय का साहित्यिक-कृतित्व चरित्रोत्थान, नीति-पोषण, उपदेश-दान, वास्तविक-चित्रण एव लोककल्याण के लिए ही परिसृष्ट हुआ है। इनके काव्य का वस्तुगत रूपाधार अभिधामूलक, निश्चित एव असांकेतिक है। ये कथा एवं घटना का आधार लेकर वृत्तात्मक कविताएँ लिखा करते थे। सन् १९०५ ई० से ये 'सरस्वती' में कविताएँ लिखने लगे थे। भारतेन्दु का जागरण-तूर्य बज चुका था। द्विवेदी-युग के शक्ति-संचय काल में लोचनप्रसाद पाण्डेय का अभ्यागमन हुआ। इसी समय सहृदय सामयिकता, ओज, सन्तुलित पद-योजना एवं तत्सम पदावली से पूर्ण इनकी कविता ने सांकेतिकता एवं ध्वन्यात्मकता के अभाव मे भी हृदय-सम्पृक्त इतिवृत्त के कारण लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। स्फुट एवं प्रबन्ध, दोनों ही प्रकार की कविताओं द्वारा लोचनप्रसादजी ने सुधार-भाव को प्रतिष्ठापित किया। 'मृगी दुःखमोचन' नामक कविता में वृक्ष-पशु आदि के प्रति भी इनकी सहृदयता सुन्दर रूप मे व्यक्त हुई है। ये मध्यप्रदेश के अग्रगण्य साहित्य नेता रहे है।

—श्री० सिं० क्षे०

लोरिक—लोरिक वस्तुत: उस प्रेम-कथा का नायक है, जो 'लोरिक और चन्दा' के नाम से उत्तर प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ (म० प्र०) क्षेत्र मे प्रचलित है। कहीं-कहीं यह गीतकथा 'चन्दायिनी' कहलाती है। 'आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट' (पृ० ७९, खण्ड ८) के अन्तर्गत गया में लिपिबद्ध की गयी सामग्री के अनुसार लोरिक आभीर या रावत जाति का व्यक्ति था। उसी जाति की 'चन्दा' अथवा 'चन्दायिनी' थी। लोरिक को छत्तीसगढ़-क्षेत्र में 'लोरी' भी कहा गया है। कहानी की मोटी रूप-रेखा इस प्रकार है—

चन्दा वीर बावन की पत्नी थी। एक बार जब वह पति के घर से निकलकर अपने नैहर जा रही थी, मार्ग में वीर भटुआ नामक चमार ने उसका सतीत्व हरण करना चाहा। लोरिक इस अवसर पर वीर भटुआ को हरा देता है। व्याहता चन्दा लोरिक के शौर्य से प्रभावित हो उसके प्रति प्रेम करने लगती है। अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। एक दिन अपने प्रयास में चन्दा सफल होती है। कहानी के इस स्वरूप मे स्थानानुसार थोड़ा बहुत अन्तर लक्षित किया गया है। लोरिक का चरित्र कहीं-कहीं उत्कृष्ट रूप में उभरा है तो कहीं चन्दा का पति वीर बावन अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ है। कुछ स्थानों में लोरिक की पूर्व पत्नी मंजरीया भी गीत का एक पात्र बनी है। शाहाबाद में लिपिबद्ध किये गये कथांशों में चन्दायिनी का पति वीर बावन न होकर सेवधर है। कहते हैं, पार्वती के अभिशापवश वह अपनी पत्नी से वंचित हुआ। जब वह लोरिक अथवा लोरी से युद्ध करने जाता है तो पराजित होता है। लोरिक के साथ भागी हुई चन्दा अथवा चन्दायिनी को मार्ग में बाधाएँ प्राप्त होती हैं। महापतिया नामक चोर और जुआरी से लोरिक हार जाता है पर चन्दा की चतुराई से विजित होकर आगे बढ़ता है। ढोला-मारू की राजस्थानी गीत-कथा का प्रभाव भी 'लोरिक' पर पड़ा है।

शाहाबाद के कथानुसार लोरिक का विवाह बचपन में 'सतमनाइन' से हो गया था। चन्दाइन को लेकर जब वह आगे बढ़ा तो हरदुई के राजा से युद्ध ठन गया। कलिंग का राजा हरदुई पहुँचा। लोरिक पकड़ा गया.पर दुर्गा के वरदान से मुक्त हुआ। इस बीच सतमानइन बड़ी हो गयी थी। प्रचलित लोककथा-परम्परा के ढंग पर उसके सतीत्व की परीक्षा करने पर लोरिक ने उसे अपना लिया। क्रूक ने मीरजापुर में लोरिक की एक कथा को लिपिबद्ध किया है। उसमें कहीं भी चन्दाइन का उल्लेख नहीं है। 'मंजनी' नामक लोरिक की पत्नी प्रेमिका के रूप में आती है। कथा स्वरूप यों है—सोन नदी के तीर पर अगोरी के किले में एक राजा राज्य करता था। उसके यहाँ चरवाहे की लड़की 'मंजनी' लोरिक नामक चरवाहे से प्रेम करती थी। एक दिन दोनों वहाँ से भाग गये। राजा ने अपने जंगली हाथी पर बैठकर पीछा किया। भयानक युद्ध हुआ और वीर लोरिक अन्त में विजयी होकर मंजनी के साथ चैन से रहने लगा। वेरियर एलविन ने बिलासपुर में इस कथा का एक सुघड़ रूप उपलब्ध किया है। अतः कथा के भिन्न-भिन्न अंश प्रान्तीय वैशिष्टय से प्रभावित होकर भी एकरूप नहीं है।

—श्या० प०

लोरिक चंदा—दे० 'चंदायन'।

वंशीधर विद्यालंकार—जन्म १९०० ई०, डेरा गाजी खाँ में। १९२२ ई० में गुरुकुल कांगडी के स्नातक। रचनाएँ—'मेरे फूल', 'साहित्य', 'देव वन'। हैदराबाद (दक्षिण) में रहकर राष्ट्रभाषा के प्रचार-कार्य से सम्बद्ध रहे।

—सं०

वचनेश मिश्र—आधुनिककालीन ब्रजभाषा के कवि। राष्ट्रीय भावधारा और श्रृंगार रस से अनुप्राणित रचनाएँ लिखीं। आपकी कृतियों में 'शबरी' का विशेष महत्त्व है। आपके ब्रजभाषा के सवैये रीतिकालीन कवियों की तुलना मे रखे जा सकते हैं।

—सं०

वत्सासुर—'भागवत' में वत्सासुर का उल्लेख मिलता है। यह कंस का अनुचर एक राक्षस था, जो वत्स का रूप धारण करके कृष्ण-वध के उद्देश्य से आया था। कृष्ण ने बछड़ों के मध्य इसे पहिचानकर इसका वध कर डाला। सूर के वत्सासुर-वध में एक नवीनता यह है कि एक बार उसे बलराम और दुबारा कृष्ण द्वारा उसे मृत्यु प्राप्त हुई (दि० सू० सा० प० १०२८)।

—रा० कु०

वनिताभूषण—बूंदीनरेश रघुवीरसिंह के आश्रय में कवि गुलाब सिंह ने 'वनिताभूषण' की रचना १८९८ ई० (सं० १९४९) में की थी। इसकी मुख्य विशेषता नायिका-भेद तथा अलंकार-विषय का एकत्र विवेचन है। कवि ने नायिका को आधार माना है और उसके भेदों का वर्णन करते हुए वह अलंकार का विवेचन करता गया है। उत्तरार्द्ध में अलंकार मुख्य हैं और नायिका-भेद गौण। दोहरे विवेचन की दृष्टि से यह पुस्तक अपूर्व है। लक्षण-उदाहरण के बाद सरल ब्रजभाषा-गद्य में टीका भी है। गुलाबसिंह का अध्ययन विशाल था, जो उनकी रचना में स्पष्ट झलकता है। दूसरी रचनाओं से उदाहरण देकर कवि ने उदारता का परिचय दिया है। 'वनिताभूषण' में आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व का चमत्कार अधिक है।

—ओ० प्र०

वरदान—अपने इस प्रारम्भिक उपन्यास (प्र० १९०२ ई० के लगभग) में प्रेमचन्द ने प्रेम और पवित्रता, संयम, त्याग, स्वदेश-सेवा और बलिदान की कथा प्रस्तुत की है। इसकी रचना उस समय हुई, जब कि विश्व आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था, जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की थी, बंग-भंग आन्दोलन ने देश में राष्ट्रीयता की लहर फैला दी थी, एशियाई देशों में पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति फलफूल रही थी और देश के राजनीतिक रंगमंच पर लोकमान्य तिलक का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा था।

इस उपन्यास में न केवल 'कर्त्तव्य की कठोर साधना में रत रहने वाले पुरुष की प्रेमार्द्रता और अभाव से पूर्ण नारी हृदय की वेदना'' ही व्यक्त हुई है, वरन् उसमें अनेक पारिवारिक और सामाजिक समस्याओ पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रेमचन्द ने बनारस के तीन परिवारों को केन्द्र मान कर कथा का विकास किया है। एक परिवार तो सुवामा और मुंशी शालिग्राम का है, दूसरा परिवार संजीवन लाल और सुशीला का है और तीसरा परिवार डिप्टी श्यामाचरण और प्रेमवती का है। इन तीनों परिवारों की क्रमशः तीन सन्तान हैं :—प्रतापचन्द्र, विरजन या बृजरानी और कमलाचरण। देवी के वरदान के फलस्वरूप सुवामा को प्रतापचन्द्र पुत्र मिला था। उसने ''देश का उपकार'' करनेवाला पुत्र माँगा था। वह उसे मिल गया। प्रताप के पिता एक बार प्रयाग के कुम्भ मेले में स्नान करने गये तो फिर वापिस लौट कर न आये। सुवामा ने अपनी जायदाद और फालतू सामान बेचकर संजीवन लाल के परिवार को अपने मकान का एक हिस्सा किराये पर देकर अपनी आजीविका की व्यवस्था कर ली। यहाँ प्रताप और विरंजन में प्रगाढ़ता स्थापित हो जाती है किन्तु विरजन का विवाह डिप्टी श्यामाचरण के आवारा और अशिक्षित पुत्र कमलाचरण से हो जाता है। इससे प्रताप को ईर्ष्या भी हुई और घृणा भी। वह कमलाचरण के दुराचरण का बखान कर विरजन को प्रायः चिढ़ाया करता था। कमलाचरण की दुष्टताओं के कारण संजीवनलाल दुःखी रहने लगे और सुशीला तो मर ही गयी। विरजन के आने पर कमलाचरण उसके प्रेम के वशीभूत तो हो गया किन्तु शिक्षा की ओर ध्यान न दिया। संयोग से प्रताप और कमलाचरण दोनों ही प्रयाग पढ़ने जाते हैं। वहाँ बोर्डिंग से लगे हुए एक बाग के माली की लडकी सरयू से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने और पकड़े जाने के फलस्वरूप कमलाचरण ने चलती ट्रेन से कूदकर अपने प्राण त्याग दिए। विरजन विधवा हो गयी और उसके सास-ससुर भी मृत्यु को प्राप्त हुए।

कमलाचरण की मृत्यु के बाद प्रताप के हृदय में फिर विरजन के प्रति प्रेम जाग्रत् हुआ। वह चोरी से बनारस पहुँचा किन्तु दरवाजे की दरार से विरजन का सात्त्विक रूप देखकर प्रताप को अपने व्यवहार पर आत्म-ग्लानि हुई और उसने बालाजी नाम से संन्यास धारण कर देशसेवा का व्रत लिया। थोड़े ही दिनों में उसकी ख्याति देश में फैल गयी।

उधर विरजन ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण कर कीर्ति प्राप्त की। वह प्रायः अपनी सखी माधवी से बालाजी के गुणों का बखान किया करती थी, जिसके फलस्वरूप माधवी के हृदय मे

बालाजी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया और वह उनके दर्शनों के लिए उत्सुक रहने लगी। बारह वर्ष बाद जब बालाजी एक सार्वजनिक समारोह में भाग लेने के लिए बनारस आये तो विरजन ने युक्तिपूर्वक बालाजी और माधवी का सम्मिलन करा दिया। अन्त मे उनका विवाह हो गया किन्तु माधवी ने भी देश-सेवा का व्रत लिया और योगिन बनकर पति के साथ रहने लगी। उसको किसी ने कभी हँसते या रोते नहीं देखा। जिसके मन मे कामनाएँ न रह गयी हों वह क्या हँसे और क्या रोए?

प्रारम्भिक उपन्यास होने के कारण 'वरदान' में प्रेमचन्द की वास्तविक कला के दर्शन नहीं होते। उर्दू में इसका नाम 'जलवा-इ इसार' है।

—ल० सा० वा०

वराह—विष्णु के अवतारो में दूसरा अवतार वराहावतार माना जाता है। 'भागवत' (३।१३) और 'विष्णु' (१।१४) पुराणों में वराह-अवतार की कथा सविस्तार वर्णित हुई है। एक बार ब्रह्मा ने स्वायम्भुव मनु को अपनी भार्या शतरूपा से अपने ही समान गुणवती सन्तति उत्पन्न करके पृथ्वी का पालन और श्री हरि की आराधना का आदेश दिया। मनु ने ब्रह्मा को उत्तर दिया कि मेरी सन्तति के रहने के लिए स्थान बतलाइये क्योंकि समस्त पृथ्वी जल में डूबी है। मनु का उत्तर सुनकर ब्रह्मा सोचते रहे कि पृथ्वी को कैसे निकालूँ। तभी उनकी नाक से अकस्मात् अँगूठे के बराबर आकार का एक वाराह शिशु निकला। धीरे-धीरे वह हाथी के आकार का हो गया। तब वराह भगवान् अपने बाण के समान पैने खुरों से जल को चीरते हुए उस अपार जलराशि के उस पार पहुंचे। फिर वे जल मे डूबी हुई पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर लेकर रसातल से ऊपर आये और अपने खुरों से जल को स्तम्भित कर उस पृथ्वी को स्थापित किया। तदनन्तर वराह भगवान् अन्तर्धान हो गये। हिन्दी कृष्णभक्त कवियों में सूरदास ने (दे० सू० सा० प० ३९१) विष्णु के इस अवतार का वर्णन किया है।

—रा० कु०

वरुण—एक वैदिक देवता कहे जाते हैं, जो जल अधिपति हैं। पुराणों में इन्हें कश्यप पुत्र तथा दिग्पाल कहा गया है। ये पश्चिम दिशा के दिग्पाल हैं। साहित्य में ये करुण रस के देवता कहे गये हैं।

कंस से बचाने के लिए जब नन्द कृष्ण को ले जा रहे थे, तब कालिन्दी का जल बढ़ने लगा था। उस समय कृष्ण रूप विष्णु भगवान् के चरणों को वरुण ने बड़े प्रेम से स्पर्श किया था। वरुण का वर्णन सूरसागर के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी आया है (सू० सा० पद १०६२-१०६५)।

—रा० कु०

वर्धमान—'वर्धमान' महाकाव्य की उपाधि से प्रकाशित अनूप शर्मा का यह महाप्रबन्ध जुलाई, १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। कवि के शब्दों में यह ग्रन्थ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही जैन-आम्नायों का समन्वय-काव्य है। यह महाप्रबन्ध ५८५ पृष्ठों, १९९७ चतुष्पद छन्दों एवं १७ सर्गों में विन्यस्त है। ग्रन्थ में वंशस्थ छन्द ही प्रधान है पर यत्र-तत्र मालिनी, द्रुतविलम्बित एवं शार्दूलविक्रीडित भी प्रयुक्त हुए हैं। ग्रन्थान्त शिखरिणी छन्द से हुआ है।

कथा जैनों के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थकर एवं 'वीर', 'अतिवीर', 'महावीर', 'सन्मति' तथा 'वर्धमान' नामों से अभिहित महावीर स्वामी के जीवनाध्यात्म को लेकर निर्मित हुई है। इसमें ऐतिहासिक निरूपण या जीवनी-लेखन का प्रयास न कर कवि ने जैन-मत का निरुपण करते हुए एक अवान्तर सामंजस्य देने का प्रयत्न किया है और जीवन कथा एक सहायक तथा गौण भूमिका रूप में गृहीत हुई हैं। कवि-कल्पना द्वारा अध्यात्म-निरूपण की चेष्टा ही प्रमुख है। भगवान् बुद्ध के जीवन को प्रबन्धात्मक रूप देने के प्रयास तो कई हो चुके हैं पर महावीर स्वामी के जीवन के साथ हिन्दी में यह प्रथम प्रयास ही कहा जायगा। प्रबन्ध में जीवन-वैविध्य, कथ्य-विस्तार एवं सर्वरस-समावेश की आवश्यकता होती है। महावीर स्वामी के जीवन में इसका अभाव है। इतिहास-लेखकों द्वारा उनकी निर्वाण-भूमि पावा तथा जन्मभूमि कुण्डनपुर भी संदिग्ध कर दी गयी है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आम्नायो में ही महावीर स्वामी के विवाह, प्रथम उपदेश आदि घटनाओं पर विकट मतभेद है। कवि ने दोनों के बीच सहमति एवं समन्वय का मध्यम मार्गीय प्रयास किया है। संस्कृत-प्राकृत के महावीर-जीवन पर लिखे काव्यों में 'मार' को प्रतिनायक बनाकर श्रृंगार एवं जीवन की कोमल-वृत्तियों की अपेक्षा की पूर्ति की गयी है। प्रकृत कवि ने महावीर स्वामी की माता त्रिशला के श्रृगार-वर्णन एवं प्रकृति-चित्रण के ऋतु-वर्णनों से भी उसकी पूर्ति की है।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, निदर्शना, श्लेष, यमक आदि सभी प्रमुख अलंकारों की पूर्ण सजग सज्जा है। त्रिशला की ऊँगली महाभारत की कथा बन गयी है—"नलोपमा, अक्षवती, स-उर्मिका, मनोहरा सुन्दर पर्व-संकुला। नरेन्द्र-जाया-कर अँगुली लसी, कथा महाभारत के समान थी।।" (पृ० ६०, छं० सं० १०२, 'वर्धमान')। भाषा तत्सम-शब्दाकीर्ण और समास-बहुला है। इसे भक्ति-वैराग्यप्रधान महाकाव्य की अभिधा दी गयी है। शास्त्रीय विधानों की सम्पूर्ति होने पर भी इसमें महाकाव्यापेक्षित महाप्राणता एवं जीवन-गाम्भीर्य नहीं है। कवि 'सिद्धार्थ' से बहुत आगे भी नहीं बढ़ सका है।

—श्री सि० क्षे०

वल्लभ कवि—इनका पूरा नाम वल्लभ दास साधु था। डा० किशोरीलाल गुप्त के अनुसार यह राधावल्लभीय सम्प्रदाय के वैष्णव, ब्रजवासी और सेवक स्वामी के अनुयायी थे। इनका मृत्यु काल सं० १६१० माना गया है। मिश्रबन्धुओं ने दि० भै० रि० के अनुसार इनके 'सेवक बानी कौ सिद्धान्त' और स्फुट भजन का उल्लेख किया है। उन्होंने इनका रचना काल सं० १६१८ के लगभग माना है।

इधर सन् १८१२/१३ की खोज रिपोर्ट्स के अनुसार इनका मान-विलास नामक एक अन्य ग्रंथ भी मिला है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में राधा के मान का ललित कथन है इसमें कुल ४० छन्द हैं, जिनमें अधिकतर सवैया, कवित्त और दोहे हैं। यह ग्रन्थ लक्ष्मी वेंक्टेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई से पीताम्बर कवि कृत 'रसविलास' के साथ सं० १८८५ में प्रकाशित भी हो चुका है।

'सरोज सर्वेक्षण' में डा० किशोरीलाल गुप्त ने १९१७/१८ खोज रिपोर्ट्स के आधार पर इनके 'गूढ़शतक' नामक ग्रंथ

की भी चर्चा की है। इसमें कृष्ण के अंग, भूषण, वसन आदि का सुन्दर वर्णन है और भक्तिपूर्ण उक्तियों की प्रधानता है।

[सहायक ग्रंथ—सरोज सर्वेक्षण-डा० किशोरी लाल गुप्त, मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, मान-विलास, वल्लभ कवि, खोज रिपोर्ट्स १९१२/१३]

—कि० ला०

वसुदेव—भागवत तथा अन्य पुराणों के अनुसार वसुदेव कृष्ण के वास्तविक पिता, देवकी के पति और कंस के बहनोई थे। जिस प्रकार यशोदा की तुलना में देवकी का चरित्र भक्त कवियों को आकर्षित नहीं कर सका, उसी प्रकार नन्द की तुलना में वसुदेव का चरित्र भी गौण ही रहा। कृष्ण जन्म पर कंस के वध के भय से आक्रान्त वसुदेव की चिन्ता, सोच और कार्यशीलता से उनके पुत्र-स्नेह की सूचना मिलती है। यद्यपि उन्हें कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व का ज्ञान है फिर भी उनकी पितृसुलभ व्याकुलता स्वाभाविक ही है। (सू० सा० प० ६२०-६३०)। मथुरा में पुनर्मिलन के पूर्व ही वसुदेव को स्वप्न में उसका आभास मिल जाता है। वे अपनी दुखी पत्नी देवकी से इस शुभ अवसर की आशा में प्रसन्न रहने के लिए कहते हैं (सू० सा० प० ३०७-३०९)।

वसुदेव का चरित्र भागवत-भाषाकारों के अतिरिक्त सूर के समसामयिक एवं परवर्ती प्रायः सभी कवियों की दृष्टि में उपेक्षित ही रहा। आधुनिक युग में केवल 'कृष्णायन' (१/२) के अन्तर्गत उसे परम्परागत रूप में ही स्थान मिल सका है।

—रा० कु०

वाचस्पति पाठक—जन्म ५ सितम्बर, १९०५ को काशी में। प्रसाद, प्रेमचन्द और रायकृष्ण दास के साथ अपने समय के साहित्यिक आन्दोलन में बराबर भाग लेते रहे। अपनी पीढ़ी के कहानीकारों में आपका एक विशिष्ट स्थान रहा। जिस समय प्रसाद अपनी भावुकतापूर्ण कहानियों में इतिहास और भारतीय गरिमा का चित्रण कर रहे थे और प्रेमचन्द्र आदर्शवादी कथानकों के माध्यम से वर्तमान यथार्थ के चित्रण में लगे थे, उस समय पाठक जी की कहानियों में विशुद्ध अनुभूतियों पर आधारित मानवीय संवेदनाओं में हमें एक मनोवैज्ञानिक पुट मिलता है, जो उस समय के नये लेखकों में वेग से आ रहा था। पाठक जी की 'कागज की टोपी' कहानी बहुत प्रसिद्ध और मर्मपूर्ण है आपके दो कहानी-संग्रह 'द्वादशी' और 'प्रदीप' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। कई संग्रह भी आपने किये हैं, जैसे १९३६ में 'इक्कीस कहानियाँ'। १९५२ ई० में आपने एकांकी नाटकों का एक संग्रह 'नये एकांकी' के नाम से प्रकाशित किया। इक्कीस कहानियों का संकलन अपने समय का प्रतिनिधि कहानी-संग्रह है। एकांकी नाटकों के संग्रह में भी आपने प्रतिनिधि नाटककारों की कृतियों को एक साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। प्रारम्भ से ही हिन्दी की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था 'भारती भण्डार' (इलाहाबाद) से व्यवस्थापक तथा नियोजक के रूप में सम्बद्ध रहे। छायावादी काव्यों के उन्मेष को बड़ी सूझ-बूझ के साथ आपने सहयोग दिया और छायावाद-युग के प्रायः सभी प्रमुखों की रचनाएँ अपने यहाँ से प्रकाशित कीं। समकालीन साहित्यकारों के निकटतम सम्पर्क और उनके रोचक संस्मरणों को आप बराबर सुरक्षित रखे रहे। आप हिन्दी जगत् में एक व्यापक व्यक्ति थे। हिन्दी की सेवा ही आपका व्रत था। नये लेखकों की उत्तम रचनाओं को अच्छे प्रकाशकों के यहाँ से प्रकाशित करा कर तथा नये प्रकाशकों को अच्छी रचनाएँ प्रकाशनार्थ दिलवाकर आप लेखकों और प्रकाशकों का सदा हित करते रहते थे और उनका उत्साह बढ़ाते रहते थे। आप कला के बड़े प्रेमी थे। आपके पास चित्रों का अच्छा संग्रह था।

—ल० कां० व०

वामन—वामन विष्णु के अवतार माने जाते हैं। एक बार बलवान् दैत्यों ने माता अदिति को बहुत कष्ट दिया। उन्होंने अदिति का सर्वस्व हर लिया। तब अदिति ने भगवान् कृष्ण की आराधना की। भगवान् ने उनके सामने प्रकट होकर अंश रूप में अवतार लेकर उनकी सन्तान की रक्षा का आश्वासन दिया। अपने वचनानुसार भगवान् ने विजया द्वादशी को अभिजित मुहूर्त में जन्म लिया। ये चतुर्भुजधारी थे, जिनमें शंख, चक्र, गदा, पद्म थे। भगवान् ने अदिति और कश्यप को देखते-देखते वामन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया। उसी समय दैत्यों के राजा बलि नर्मदा के तट पर भृगुकच्छ नामक स्थान पर यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। वामन भगवान् वहाँ पहुँच गये। बलि के अनुनय पर उन्होंने केवल तीन पग भूमि उनसे माँगी। शुक्राचार्य ने बलि से वामन को यह दान देने के लिए मना किया पर बलि ने अपना वचन नहीं तोड़ा। इस पर शुक्राचार्य ने बलि को समस्त सम्पत्ति खो देने का शाप दे दिया फिर भी बलि ने अपना वचन नहीं बदला। वामन ने अपने त्रिगुणात्मक शरीर का विस्तार करके एक डग से बलि की सारी पृथ्वी, शरीर से आकाश और भुजाओं से दिशाएँ घेरकर दूसरे डग से स्वर्ग को नाप लिया। तीसरा डग रखने को स्थान ही नहीं रहा। यह देखकर दैत्यों ने बलि पर आक्रमण कर दिया पर भगवान् के पार्षदों ने उन्हें हरा दिया। इसके बाद भगवान् की आज्ञा से पक्षिराज गरुड़ने बलि को आबद्ध कर लिया। नरक में जाने के भय से बलि ने तीनों पग पूरा करने के लिए तीसरा पग अपने शीश पर रखने को कहा। इस पर भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे सावर्णि मन्वन्तर में इन्द्र होने तथा विश्वकर्मा निर्मित सुतल लोक में रहने का वरदान दिया।

हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास ने वामन अवतार की कथा वर्णित की है (दे० सू० सा० प० ४३९-४४२)। वामन अवतार की कथा 'वामन पुराण' में स्फुट रूप में आयी है। अन्य कवियों ने भी प्रसंगवश बलि की सत्यनिष्ठा आदि का उल्लेख किया है।

—रा० कु०

वासवी—प्रसादकृत नाटक 'अजातशत्रु' की पात्र। वासवी मगध-सम्राट बिम्बसार की बड़ी रानी पद्मावती की माँ और कोशलराज प्रसेनजित् की बहिन है। इतिहास में मगध की महादेवी का नाम कोशलकुमारी मिलता है। उसके विवाह के अवसर पर काशी कोशलदेवी को यौतुक के रूप में दी गयी थी। भगिनी की अकाल मृत्यु से भांजे पर क्रुद्ध होकर प्रसेनजित ने काशी नगरी की आय लौटा ली। इस पर मगध ने कोशल के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, किन्तु 'अजातशत्रु' नाटक में वासवी की मृत्यु नहीं दिखाई जाती। वे काशी की आय को मगध की राजकीय आय न मानकर अपनी व्यक्तिगत आय मानती हैं और उसे राज्य से विरक्त बिम्बसार के लिए उपयोग

में लाने की चेष्टा करती हैं। एक आदर्श पत्नी होने के साथ-साथ वासवी में स्त्री सुलभ कोमलता, सहिष्णुता एव स्निग्धता की भावना का प्राचुर्य है पातिव्रत की तो वे मानो मूर्तिमान् प्रतीक हैं। वे सुख-दुःख की प्रत्येक विपरीत परिस्थिति में अपने पति की चिरसंगिनी बनकर जीवनयापन करती हैं। वासवी ऐसी संतोषशीला धर्मपत्नी का ससर्ग बिम्बसार के लिए विशेष कल्याणकारी सिद्ध होता है। सपत्नी-पुत्र अजातशत्रु के प्रति वासवी की वात्सल्य-भावना अपने औरस पुत्र की भाँति है : "छलना! बहिन! यह क्या कह रही हो? मेरा वत्स कुणीक! प्यारा कुणीक! हा भगवन्! मैं उसे देखने न पाऊँगी।" राज्यसुख और अधिकार लिप्सा उसे तनिक भी कर्त्तव्यविमुख नहीं बना पाती और न छलना की कटूक्तियाँ उसकी शान्ति-भावना को विचलित कर पाती है। वासवी अपनी शान्त और स्निग्ध वाणी से बिम्बसार के उत्तेजित हृदय को शान्त बनाती हुई बुद्ध से कहती है "भगवान्! हम लोगों को तो एक छोटा-सा उपवन पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रहकर सेवा कर सकूँगी।" बिम्बसार की इच्छा देखकर वह अपना रत्नजटित स्वर्ण कंकणतक भिक्षुओं को हर्षपूर्वक दे देती है। यद्यपि उसकी सपत्नी छलना और अजातशत्रु पग-पग पर उसे अपमानित करते हैं और उसका अनिष्ट करते हैं किन्तु शान्तहृदया, क्षमाशीला वासवी अपकार का बदला उपकार से देती है। छलना के लिए निर्विकार हृदय से ईश्वर से सद्बुद्धि की प्रार्थना करती है और घायल बन्दी अजातशत्रु को अपने भाई प्रसेनजित् से शीघ्र मुक्त करवा लेती है। अजातशत्रु सद्बुद्धि प्राप्त होने पर वासवी की निश्छल प्रीति से प्रभावित होता है और उसकी गोद में बैठकर अपूर्व शीतलता का अनुभव करता है। छलना जब सन्मार्ग पर आकर अपनी भूल स्वीकार करती हुई बिम्बसार से अपनी त्रुटियों की क्षमा माँगती है, तब वहाँ भी उसकी सहायता करते हुए वासवी अपनी स्पृहणीय सहृदयशीलता का परिचय देती है। वासवी एक आदर्श भारतीय महिला, बुद्ध की सच्ची अनुयायिनी और निश्छलता तथा सेवा-भावना की प्रतिमूर्ति है। ऐसी लोकोत्तरगुणसम्पन्न पत्नी को पाकर बिम्बसार धन्य होते हैं। वे उसकी सराहना करते नहीं थकते : "वासवी! तुम मानवी हो कि देवी।" सचमुच अपनी अनुपम त्यागशीलता एवं पति की भक्ति-प्रवणता से वासवी मानवी रूप में स्वर्ग की एक देवी ही है।

—के० प्र० चौ०

वासुदेवशरण अग्रवाल—जन्म १९०४ ई०। सन् १९२९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से आपने एम० ए० पास किया। तदनन्तर आप १९४० ई० तक मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर रहे। सन् १९४१ ई० में आपने पी-एच० डी० तथा १९४६ ई० में डी० लिट्० की उपाधियां प्राप्त कीं। सन् १९४६ से लेकर १९५१ ई० तक आपने सेण्ट्रल एशियन एण्टिक्विटीज म्यूजियम के सुपरिण्टेण्डेण्ट और भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष पद का कार्य बड़ी प्रतिष्ठा और सफलतापूर्वक किया। सन् १९५१ ई० में आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कालेज ऑव इण्डोलाजी (भारती महाविद्यालय) में प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९५२ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय में राधाकुमुद मुखर्जी व्याख्यान-निधि की ओर से व्याख्याता नियुक्त हुए। व्याख्यान का विषय 'पाणिनि' था। आप भारतीय मुद्रा परिषद् (नागपुर), भारतीय संग्रहालय परिषद् (पटना), और आल इण्डिया ओरियण्टल कांग्रेस, फाइन आर्ट सेक्सन (बम्बई) आदि संस्थाओं के सभापति भी हो चुके हैं।

आपकी लिखी और सम्पादित पुस्तकें ये हैं—उरुज्योति' (१९५२ ई०), 'कला और संस्कृति' (१९५२ ई०), 'कल्पवृक्ष' (१९५३ ई०), 'कादम्बरी' (१९५८), 'मलिक मुहम्मद जायसी : पद्मावत' (१९५५ ई०), 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (१९५५ ई०), 'पृथ्वी-पुत्र' (१९४९ ई०), 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ' (१९५३ ई०), 'भारत की मौलिक एकता' (१९५४ ई०), 'भारतसावित्री' (१९५७ ई०), 'माता भूमि' (१९५३ ई०), 'हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' (१९५३ ई०), राधाकुमुद मुखर्जीकृत 'हिन्दू सभ्यता' का अनुवाद (१९५५ ई०)। 'श्रृंगारहाट' का सम्पादन भी आपने डा० मोती चंद के साथ मिलकर किया है।

आपने कालिदास के 'मेघदूत' एवं बाणभट्ट के 'हर्षचरित' की नवीन पीठिका प्रस्तुत की है। भारतीय साहित्य और संस्कृति के गम्भीर अध्येता के रूप में इनका नाम देश के विद्वानों में अग्रणी है।

—श्री० व०

विक्रमादित्य—शकारि समुद्रगुप्त के पुत्र एवं उज्जयनी के विख्यात विद्याप्रेमी सम्राट के रूप में ये प्रसिद्ध हैं। इनका वास्तविक नाम चन्द्रगुप्त है। अश्वमेध के अनन्तर इन्होंने 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की थी। आज तक इनका वास्तविक वृत तमसावृत है। इतिहास में इनकी सभा के नौ रत्न उस समय के अपने विषय में पारगंत एवं मनीषी विद्वान् थे। इनका नाम क्रमशः कालिदास, वररुचि, अमर सिंह, धन्वन्तरि, क्षपणक, वेतालभट्ट, वराहमिहिर, घटकर्पर और शंकु था। इनका समय इतिहास के विद्वान् लेखकों द्वारा ईसा पूर्व पहली शती निर्धारित होता है। इनके नाम से चलाया गया विक्रमी संवत् संवत्सर की गणना में आज भी प्रयुक्त होता है। हिन्दी साहित्य में इनकी दानवीरता के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

—यो० प्र० सिं०

विजय (नये)—प्रसादकृत उपन्यास 'कंकाल' का पात्र। किशोरी का पुत्र। वह आधुनिकतावादी है। बुद्धिवाद का आग्रह, रूढ़ियों या परम्परा की सड़ाँध का तीव्र विरोध, वैचारिक स्वातन्त्र्य और स्पष्टता या भावनाओं की खुली अभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से विजय 'अज्ञेय' के 'शेखर' के अधिक निकट प्रतीत होता है। वह उस धर्म का विरोध करता है, जो ढोंग और अन्याय पर आधारित है। निरंजन जब यमुना को पूजा-गृह में जाने से रोकता है तो वह उसका तीव्र विरोध करता है, "जिनके भगवान् सोने चाँदी से घिरे रहते हैं— उनको रखवाली की आवश्यकता होती है"। ब्रह्मभोज उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि उसमे अनाधिकारियों को मान्याता दी जाती है। कॉलेज में भी वह संशोधक-समाज की स्थापना करता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है बुद्धिवाद का उपयोग और हिन्दू धर्म में घुसने वाली रूढ़ियों का नाश। ब्रह्मचारी भिक्षुको का प्रदर्शन उसे पसन्द नहीं। वह धर्म में

स्वतन्त्रता का पक्षधर है। हिन्दू धर्म का विरोध वह केवल इस कारण करता है "स्वतन्त्रता और हिन्दू धर्म दोनों विरूद्धवाची हैं"। विजय के चरित्र की एक प्रमुख विशेषता जो उसे मंगल से ऊंचे धरातल पर प्रतिष्ठित करती है त्याग भाव की है। मंगल से वह कहता है, "किन्तु कुछ त्याग सो भी अपनी महत्ता का त्याग—जब धर्म के आदर्श मे नहीं है, तब तुम्हारे धर्म को मैं क्या कहूँ मंगल।" वह यमुना के लिए त्याग करता है, गाला के विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर घण्टी की रक्षा करता है, गाला के पिता बदन की सेवा करता है। प्रेमी के रूप में भी वह मंगल की अपेक्षा अधिक सच्चा है।

—शां० ना० च०

विजयपाल रासो—इसका रचयिता नल्ह सिंह है, जिसका प्रामाणिक परिचय प्राप्त नही है। रचना में कहा गया है कि लेखक विजयगढ़ (करोली) के यदुवंशी शासक विजयपाल का आश्रित था। इसी आधार पर रचना विजयपाल के समय (सं० ११०० वि० के लगभग) की मानी जाती है किन्तु यह रचना सं० १६०० वि० के पहले की न होनी चाहिए क्योंकि इसमें तोपों का उल्लेख होता है। इसकी भाषा-शैली भी सत्रहवीं शती विक्रमीय के पूर्व की नहीं ज्ञात होती है। अभी तक इसकी कोई लिखित प्राचीन प्रति नहीं प्राप्त हो सकी है, केवल मौखिक परम्परा द्वारा ४२ छन्द प्राप्त हो सके हैं। रचना का विषय विजयपाल की दिग्विजय यात्रा है। भाषा ब्रज है।

मा० प्र० गु०

विजयमल—'विजयमल' एक लोकगाथात्मक लोक-काव्य है। जिस प्रकार आल्हा में वीर-रस की प्रधानता पाई जाती है, उसी प्रकार इस गाथा में वीर रस की धारा प्रवाहित होती है। विजयमल की गाथा 'कुँवर विजयी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह कहना कठिन है परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि किसी सत्य घटना को लेकर ही इस लोकगाथा की रचना की गयी है। 'विजयमल' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

विजयमल का जन्म रोहीदस गढ़ (रोहतासगढ़) नामक स्थान पर हुआ था। इसके दादा का नाम बुद्धूमल और पिता का नाम धीड़मल सिंह था। इसकी माता मैनावती वीर क्षत्राणी थी। विजयमल का भाई हिरवा तथा भावज सोभामती थी। जब विजयमल युवावस्था को प्राप्त हुआ, तब इसका विवाह बावन गढ़ के राजा बावनसूबा की लड़की तिलकी से होना निश्चित हुआ परन्तु विवाह के लिए जब बारात बावन गढ़ पहुँची, तब वहाँ के राजा ने किसी कारण से रुष्ट होकर सभी बारातियों को जेलखाने में बन्द कर दिया। कुँवर विजयी किसी प्रकार से बचकर अपने देश को चला आया। यह बड़ा ही वीर और पराक्रमी व्यक्ति था। इसने बावन गढ़ के राजा से अपमान का बदला चुकाने के लिए बहुत बड़ी सेना एकत्र की और उस पर आक्रमण कर दिया। बावन गढ़ के राजकुमार का नाम मानिक चन्द था, जो बड़ा वीर तथा युद्धकुशल था। बावन गढ़ में कुँवर विजयी और मानिकचन्द का बड़ा ही घनघोर युद्ध हुआ। सैरोघाटन नामक स्थान पर भी इनमें संघर्ष हुआ, जिसमें कुँवर विजयी की मृत्यु हो गयी परन्तु देवी के आशीर्वाद से उसे पुनः जीवन प्राप्त हो गया और अन्त में युद्ध में इसकी विजय हुई। तिलकी से विवाह के पश्चात् कुँवर विजयी के चार पुत्र उत्पन्न हुए। वह सपरिवार आनन्द से राजसुख को भोगता हुआ अपने दिन बिताने लगा।

कुँवर विजयी की गाथा में मैना और गोबिना नामक दो प्रेमियों की कथा भी सम्मिलित है परन्तु इसका आधिकारिक कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। विजयमल की गाथा भोजपुरी प्रदेश में बहुत प्रचलित है। यह वीर-रस से ओत-प्रोत है। जब गवैये इसे लयपूर्वक गाने लगते हैं, तब श्रोताओं की एक खासी भीड़ इकत्र हो जाती है। ग्रियर्सन ने 'बंगाल एशियाटिक सोसायटी' की पत्रिका (भाग ५३ पार्ट ३ सन् १८८४ ई०) में 'विजयमल' के गीत के संकलन तथा सम्पादन के अतिरिक्त इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। आजकल वर्तमान लोक-कवियों के द्वारा लिखी कुँवर विजयी के गीत की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आरा जिलानिवासी महादेव प्रसाद सिंह की लिखी पुस्तक प्रसिद्ध है।

—कृ० दे० उ०

विजया—प्रसादकृत नाटक 'स्कंदगुप्त' की पात्र। विजया मालव के धनकुबेर की कन्या है, जिसमे विलास, कामना, धनप्रियता, कायरता, ईर्ष्या, लोभ आदि के कारण स्वार्थ परायणता की भावना का आ जाना स्वाभाविक है। वणिक संस्कारों के कारण उसमें साहस और त्याग का अभाव है। 'स्कंदगुप्त' नाटक में सर्वप्रथम विजया का अवतरण अवन्ति दुर्ग में राज परिवार के बीच विदेशी आक्रमण से भयभीत अपने धन-जीवन की सुरक्षा से आशंकित स्थिति में होता है। जयमाला और देवसेना उसकी इस स्वार्थवृत्ति एवं संकुचित आत्मकेन्द्रित भावना को लक्ष्य करती हुई कहती हैं कि तुमको केवल अपने धन की रक्षा का ध्यान है, देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ भी ध्यान नहीं है। विजया अपने संस्कारोचित स्वभाव के कारण इस बात की कल्पना भी नहीं कर पाती कि स्त्रियाँ दुर्ग-रक्षा का भार वहन कर सकती हैं तभी तो वह भीम वर्मा से दुर्गरक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति को सौंपने के लिए कहती है। "स्वर्ण रत्न की चमक देखनेवाली उसकी आँखें बिजली सी तलवारों के तेज" को सहन करने में असमर्थ हैं। जयमाला और देवसेना के शौर्यसंवलित साहस को देखकर विजया उन्हें "ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान" कहती है। लोभ की सहज मानसिक वृत्ति से परिचालित होने के कारण वह अपनी अपार धन राशि से देश-रक्षा के लिए एक क्षुद्र अंश तक का त्याग नहीं कर पाती एवं अपनी इस क्षुद्र भावना पर परदा डालती हुई जयमाला से वीरत्व की मिथ्या दुहाई देती है—"किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश के वीरता के प्रतिकूल है।" विजया अपनी उत्कट विलासिता के कारण प्रेम के क्षेत्र में भी अस्थिर और विवेकशून्य बनी रहती है और विलासिता की यही अदम्य तृष्णा उसके प्राणों का हरण कर लेती है। विजया की प्रेमभावना केवल रूप एवं ऐश्वर्यप्राप्ति से परिचालित है। सर्वप्रथम स्कंदगुप्त से आकृष्ट होकर भी जब वह उसकी वैराग्ययुक्त वार्ता सुनती है तो उसकी आशा छोड़कर वह चक्रपालित के प्रशस्त वक्ष और उदार मुखमण्डल को देखकर उसी का वरण कर बैठती है किन्तु चक्रपालित को भी अपनी प्राप्ति की सीमा से बाहर समझकर कुछ काल के अनन्तर वह भटार्क की ओर मुड़ती है। भटार्क का रूप और शक्ति तथा

महत्त्वकांक्षा विजया के स्वभाव के पूर्ण अनुकूल है। भटार्क को अपना लेने पर विजया उसके साथ वन्दिनी तक बन जाती है तथा मालव की राजसभा में सबके समक्ष निर्भय होकर अपना निश्चय प्रकट करती है : "प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकता।" विजया मिथ्याभिमान एवं संदेह के कारण अनेक कुत्सित कर्मों की ओर तीव्रता से बढ़ती जाती है। वह स्कंद की प्राप्ति के मार्ग में देवसेना को विघ्नस्वरूप मानकर ईर्ष्या भावना से प्रेरित होकर उससे प्रतिशोध लेने के लिए प्रपंचबुद्धि और भटार्क के साथ उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचती है। विजया के इस कलुषित पक्ष को देखकर स्कन्दगुप्त उससे घृणा करने लगता है। अनन्त देवी के संकेतों पर चलनेवाले भटार्क के पथ का अनुसरण करते हुए विजया भी अनन्त देवी की चाटुकारिता एवं पुरगुप्त की विलास साधना का उपकरण बनती है। वासना की आँधी मे एक दीर्घ समयतक निरुद्देश्य उड़ने से जब विजया ठोकर लगने से स्थिर होती है और अपने विगत जीवन पर विचार करती है तो उसे बड़ी निराशा होती है। वह प्रायश्चित्त के स्वरों में बड़े दुःखित भाव से कहती है : "स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख और उस लोक की शान्ति"। किन्तु उसका यह विवेक संस्कारों की प्रबलता के कारण स्थायी नहीं रह पाता। संस्कारजन्य हीन भावनाओं के कारण वणिकवृत्ति से अपनी अतुल धनराशि द्वारा वह स्कन्दगुप्त को क्रय करना चाहती है। वह उसके समक्ष भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत कर उसके साथ बचे हुए जीवन का आनन्द उठाना चाहती है। विजया में किसी मनुष्य की आन्तरिक वृत्ति की परख करने की बड़ी कमी है। इसी विवेकशून्यता के कारण उसे जीवन में पराजित एवं निराश होना पड़ता है। स्कन्दगुप्त ऐसे त्यागी, देश-सेवावृत्ति से परिचालित गम्भीर साधु चरित को वह दुबारा धन-यौवन के बल पर क्रय करने की भयंकर भूल करती है। उसका प्रतिफल भी उसे पूर्ण स्वाभाविक रूप में प्राप्त होता है। स्कन्दगुप्त उसे फटकार देता है : "विजया! पिशाची! हट जा; नहीं जानती ? मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है।" भटार्क की भर्त्सना और स्कन्दगुप्त की प्राप्ति की घोर निराशा से दुःखित होकर विजया अन्त में अनन्त अन्धकार की गोद में मुँह छिपा लेने को विवश होती है तथा छुरी मारकर आत्महत्या कर लेती है। विजया का इस प्रकार दुःखमय अवसान उसके ईर्ष्याप्रेरित अतृप्त विलास-जन्य जीवन के अनुकूल ही है।

—के० प्र० चौ०

विजयानंद त्रिपाठी—जन्म सन् १८५६ ई० में। स्थान जिला आरा। विजयानन्द त्रिपाठी का नाम भारतेन्दु-युग के उत्तरार्द्ध के साहित्य-सेवियों में लिया जाता है। आरम्भ में ये बहुत दिनों तक बाँकीपुर (पटना) के बी० एन० कॉलेजियट स्कूल में हेड पण्डित रहे। हिन्दी के तत्कालीन धुरन्धर विद्वानों में इनकी गणना होती थी और इन्हें संस्कृत का बहुत अच्छा ज्ञान था। ये भाषा और साहित्य के पूर्ण पण्डित माने जाते थे। सामाजिक जीवन में हिन्दी के सिद्ध वक्ता के रूप में इनका बड़ा सम्मान था। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में इन्हें बहुत आदरपूर्वक स्मरण किया है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इनकी गणना भारतेन्दुयगीन काशी "कवि समाज" के "सक्रिय सदस्य" के रूप में की है।

इनके आरम्भिक साहित्यिक कार्यों में 'रत्नावली नाटिका' की चर्चा की जाती है। इन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस अधूरे अनुवाद कार्य को पूरा किया था। इसके अतिरिक्त इन्होने श्रीनिवास दासकृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' का भी अनुवाद किया था। इनका यह अनुवाद संस्कृत में है। इसमें इन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई है। मूल ग्रन्थ में सभ्य और सामान्य पात्रों की भाषा में थोडा अन्तर है। इन्होंने इस विभेद को संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के आधार पर बनाये रखने की पूरी चेष्टा की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'अन्धेर नगरी' नामक प्रहसन बहुत लोकप्रिय हुआ था। भारतेन्दु की मृत्यु के कोई सात वर्ष उपरान्त १८९२ ई० में विजयानन्द त्रिपाठी ने प्रायः उसी दिशा में 'महा अन्धेर नगरी' नामक हास्य-रसप्रधान नाटक की रचना की। हिन्दी की प्राचीन हास्य-व्यंगयुक्त नाट्य-कृतियों में इस ग्रन्थ का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह "अपने ढंग का बड़ा विचित्र ग्रन्थ है।" भाषागत प्रयोगों और वाक्य-रचना प्रणाली की दृष्टि से इसका स्वरूप बोलचाल की टकसाली हिन्दी के बहुत निकट है—"ईमान ले ईमान; टके सेर ईमान; टके पर हम ईमान बेचते हैं। ईमान ही क्या, जात-पाँत, कुल-कानि, धर्म, कर्म, वेद पुरान कुरान बाइबिल यस ऐकमत्य गुन गौरव इज्जत प्रतिष्ठा मान ज्ञान इत्यादि सर्वत्र टके सेर! एक टका दो हम तुमको डिग्री देते हैं, टके पर हम अदालत में तुम्हारी ऐसी कहैं, टका खोल कर हमारी झोली में रखो अभी तुम्हें के० सी० एस० आई० बल्कि ए० बी० सी० डी० इत्यादि छब्बीस अक्षर और वर्णमाला भर का लम्बा पोंछ बढ़ा देवें।"—वही।

जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में लिखा है, विजयानन्द त्रिपाठी कवि भी थे और 'श्रीकवि' के उपनाम से ब्रजभाषा में बड़ी सुन्दर काव्य रचना करते थे। समस्या पूर्ति द्वारा श्रृंगारिक रचना करनेवाले कवियों में इनकी बड़ी ख्याति थी। अम्बिकादत्त व्यास और रामकृष्ण वर्मा द्वारा संचालित काशी के तत्कालीन 'कवि समाज' में इन्हें बहुत सम्मान दिया जाता था। इनकी रचनाएँ उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर रूप में बिखरी पड़ी हैं। स्वतन्त्र रूप से इनके किसी काव्य-संकलन के विषय में कुछ पता नहीं चलता।

विजयानन्द त्रिपाठी अपने समय के बहुत कर्मठ साहित्य सेवी थे। इन्होंने हिन्दी की सेवा विद्वान् वक्ता, कुशल अनुवादक, हास्य व्यंग लेखक और सरस कवि आदि कई रूपों में की। इन सबके अतिरिक्त मार्च, सन् १८८४ ई० में रामकृष्ण वर्मा द्वारा काशी से प्रकाशित किया जानेवाला 'भारत जीवन' नामक पत्र भी इन्हीं के उद्योग का सुफल बताया जाता है।

—र० भ०

विजयेंद्र स्नातक—२३ दिसंबर सन् १९१४ ई०, मथुरा में। सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर स्थायी रूप से कार्य कर रहे थे। आपने मध्यकालीन और आधुनिक साहित्य, दोनों का अध्ययन किया है। आपका शोध-प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' (१९५७ ई०) अपने क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस कृति पर आपको 'इरजीमल डालमिया' तथा 'उ० प्र०

हिन्दी समिति' का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। अन्य रचनाओं में 'कामायनी दर्शन' (१९५४), 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' (१९५४ ई०), 'समीक्षात्मक निबंध' (१९५६ ई०), 'चिन्तन के क्षण' (१९६५ ई०), 'विचार के क्षण' (१९७० ई०), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९५२ ई०), प्रमुख हैं।

—सं०

विज्ञानगीता—यह केशवदास की कृति है और इसका रचनाकाल १६१० ई० है। इसका मूल वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से १८९४ ई० में तथा इसकी श्यामसुन्दर द्विवेदीकृत टीका मातृभाषा-मन्दिर, इलाहाबाद से १९५४ ई० में निकली।

'विज्ञानगीता' में आध्यात्मिक विचारों का आधारभूत ग्रन्थों से संग्रह है। वस्तुतः यह संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' के आधार पर लिखी गयी है। इसमें १६८४ छन्द हैं। 'विज्ञानगीता' के अनुसार एक दिन ओरछानरेश मधुकरशाह के पुत्र वीरसिंह ने केशवदास से प्रश्न किया कि जप, तप, तीर्थ आदि करने पर भी मनुष्य के हृदय से विकार दूर नहीं होता, क्या कारण है। केशव ने कहा कि ऐसा ही प्रश्न पार्वती ने महादेव से किया था। उन्होंने उत्तर दिया कि जब विवेक मोह का नाश करके प्रबोध का उदय कराये, तभी विकार नष्ट होकर जीवन्मुक्ति की स्थिति हो सकती है। वीरसिंह ने विवेक द्वारा मोह के नाश के हेतु होनेवाले युद्ध का वृत्तान्त तथा प्रबोध का उदय-स्थान पूछा। उसी का इसमें विस्तृत-वर्णन है। अन्त में जीव के शुद्ध होने पर श्रद्धा और शान्ति आ मिलती हैं। इसके अनन्तर प्रह्लाद की कथा, बलि की कथा और योग की सात भूमिकाओं का वर्णन है। रामनाम के महात्म्य की चर्चा से ग्रन्थ की इतिश्री होती है। इसमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक से स्थान-स्थान पर भिन्नता की गयी है। शिव और पार्वती की कल्पना केशव की है। पेट का वर्णन, वर्षा-शरद् के श्लिष्ट वर्णन, सातों द्वीपों के वर्णन, गंगा, शिव वाराणसी-मणिकर्णिका तथा बिन्दु माधव के प्रभावों के वर्णन जोड़कर तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों से अनेक वृत्तियों, स्थितियों, भूमिकाओं आदि के अंश लेकर केशव ने बड़ा विस्तार किया है। अन्त में उन्होंने गंगातट वास की आकांक्षा की है और उसकी पूर्ति भी वीरसिंह ने कर दी है किन्तु केशव का काशी आने पर यहीं बस जाना सन्दिग्ध है।

अन्य बहुत-सी बातों के संग्रह के कारण 'विज्ञानगीता' का मूल रूप उलझ गया है। कहीं-कहीं तो मूल ('प्रबोध चन्द्रोदय') से नाम भेद तक हो गया है। कुछ लोगो ने केशव के आध्यात्मिक विचारों की छानबीन के लिए 'विज्ञानगीता' को आधार बनाया है पर यह उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ नहीं है।

इसकी भाषा 'रामचन्द्रचन्द्रिका' की भाँति संस्कृतनिष्ठ अधिक है। इसमें प्रमाण के लिए उद्धरण संस्कृत में ही स्थान-स्थान पर रखे गये हैं। छन्द भी प्रायः वर्णवृत्त ही रखे गये हैं। फल यह हुआ है कि भाषा संस्कृतमय हो गयी। संस्कृत के प्रयोगों या शब्दों को हिन्दी में रखने के कारण भाषा अत्यन्त दुरूह हो गयी है।

—वि० प्र० मि०

विट्ठलनाथ—ये पुष्टिमार्गीय आचार्य श्री वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सन् १५१५ ई० में (वि० सं० १५७२ पौष कृष्ण ९) काशी के सन्निकट चरणाट ग्राम (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। श्री वल्लभाचार्य का उत्तरकाल प्रयाग के निकट अरइल और काशी में व्यतीत हुआ। अतएव श्री विट्ठलनाथ का बाल्यकाल भी इन्हीं स्थानों में व्यतीत हुआ। काशी में इन्होंने वेद-वेदान्त, शास्त्र-पुराण आदि का ज्ञान अपने गुरु माधव सरस्वती से प्राप्त किया। इनका मन स्वमार्गीय सिद्धान्तों के अध्ययन में कम लगता था। इन्होंने 'भागवत' का विशेष परिशीलन किया था। यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि इन्हें चाचा हरिवंशजी से बहुत कुछ उपदेश प्राप्त हुए थे। यद्यपि आचार्य वल्लभाचार्य के जीवन-काल में इन्होंने अध्ययन के प्रति उपेक्षा दिखलाई थी तो भी उनके गोलोकवास के अनन्तर इन्होंने गहन अध्ययन कर अपने पिता के सिद्धान्तों का रहस्य लोकगम्य कराने में अथक परिश्रम किया। वास्तविकता यह है कि पुष्टिसम्प्रदाय को इन्होंने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से पुष्ट कर व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इनके दो विवाह हुए थे। प्रथम पत्नी से १० सन्तान और द्वितीय से केवल एक हुई। इनका द्वितीय विवाह सं० १६२४ में मध्यप्रदेश निवासी रामकृष्ण भट्ट तैलंग की पुत्री पद्मावती से रानी दुर्गावती के आग्रह से हुआ था। इन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों के उपनयन तथा विवाह-संस्कार बड़े ठाठ से किये। गुसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पुत्रों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध कर उन्हें विद्वान् बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। ये गृह-व्यवस्था की ओर भी विशेष ध्यान रखते थे और अपने पुत्रों से संस्कृत में पत्र-व्यवहार करते थे। श्री कण्ठमणिशास्त्री के अनुसार मुगलकाल में गुसाईं विट्ठलनाथ का ही पत्र-व्यवहार संस्कृत में उपलब्ध है। इनकी विद्वत्ता का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि इन्होंने साम्प्रदायिक-साहित्य की प्रचुर सृष्टि की। अपने पिता के ग्रन्थों का गहन विवेचन तो किया ही, स्वयं स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। इनके ये ग्रन्थ प्रमुख कहे जाते हैं—'विद्वन्मण्डन' 'अणुभाष्य का अन्तिम डेढ़ अध्याय', 'भक्ति हंस', 'भक्ति निर्णय', 'विज्ञप्ति', 'निर्णय ग्रन्थ', 'निबन्ध प्रकाश टीका', 'सुबोधिनी टिप्पणी', 'भक्ति हेतु,' 'षोडश ग्रन्थ टीकाएँ', 'श्रृंगाररस मण्डन', 'संस्कृत आभाएँ और पद', 'स्फुट स्तोत्रादि ग्रन्थ और टीका'। इनके छोटे-बड़े कुल ग्रन्थों की संख्या ५० मानी जाती है।

सम्प्रदाय में यह 'वाद' प्रचलित है कि प्रारम्भ में इन पर चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव पड़ा था, जिससे सम्प्रदाय में श्री राधिकाजी अथवा स्वामिनी की उपासना का भाव प्रचलित हो गया। 'श्रृंगार रस-मण्डन' नामक ग्रन्थ इसी प्रभाव का परिणाम कहा जाता है। आगे चलकर विट्ठलनाथ ने चैतन्य-प्रभाव से अपने को मुक्त कर अपने पिता के सिद्धान्तों का ही अनुसरण और प्रचार किया पर एक बार जो भाव सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गया, वह सर्वथा निःशेष नहीं हो पाया। श्री वल्लभाचार्य के पश्चात् इनके ज्येष्ठ भाई गोपीनाथ ने सम्प्रदाय का संचालन किया। इन्होंने अपने भाई की समय-समय पर सहायता की। बंगालियों के विरुद्ध शिकायत होने के कारण उन्हें श्रीनाथजी की सेवा से इन्होंने ही पृथक् किया था। इन्होंने पुष्टिमार्गीय मन्दिरों के सेवाकार्य से सजातीय पुरोहितों को भी अलग कर दिया। गोपीनाथजी के अनन्तर सं० १६८० में इन्होंने सम्प्रदाय का सफल नेतृत्व

ग्रहण किया और ४० वर्ष तक देश का (गुजरात, मध्यप्रदेश और दक्षिण का) भ्रमण किया और अपने पाण्डित्य से विद्वानो तथा जनता पर अपनी छाप अंकित की। इन्होने अनेक राजा, महाराजाओं तथा सेठ-साहूकारों को अपनी शिष्य-मण्डली मे सम्मिलित किया। इन शिष्यों में २५२ शिष्यो ने शुद्ध वैष्णव जीवन व्यतीत कर आदर्श उपस्थित किया। राजाओ में बान्दवगढ़ (बाँदा) के राजा रामचन्द्र बघेला और मध्यप्रदेश की रानी दुर्गावती तथा राजा मानसिंह का विशेष उल्लेख मिलता है। इन्होंने देश के जिन-जिन स्थानों में बैठकर धार्मिक उपदेश दिये हैं, वे 'बैठकें' कहलाती हैं, जिनकी संख्या २८ है। केवल ब्रज में १६ बैठकें हैं और शेष देश के अन्य भागो में।

गुसाईजी का अकबर बादशाह से भी परिचय हुआ था। यह बात 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' से ज्ञात होती है। सं० १६३४ में गुसाईंजी को स्थायी रूप से गोकुल में रहने का आज्ञापत्र मिला था। वहाँ की भूमि भी माफी में मिली थी। आज्ञापत्र बालकृष्ण शु० सभा, सूरत द्वारा प्रकाशित उत्सव पत्रिका नं० ५ मे गुजराती भाषा में अनुवादसहित दिये गये हैं। गुसाईंजी ब्रजभाषा के प्रेमी और पोषक थे। उसमे कविता भी करते थे। इन्होंने अपने चार और अपने पिता श्री वल्लभाचार्य के चार भक्त कवियों को मिलाकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। 'अष्टसखा' द्वारा रचित पद श्रीनाथजी की सेवा के समय गाये जाने की प्रथा प्रचलित की। अष्टसखा के सम्बन्ध में एक दोहा प्रचलित है : "कृष्ण जु कुम्भनदास है, सूर ही परमानन्द। नन्द चतुर्भुज दास जु, छीत स्वामि गोविन्द।।" गुसाईंजी वर्णाश्रम धर्म के प्रतिष्ठापक होते हुए भी भक्ति-पथ में जाति-पाँति का विचार नहीं करते थे। तानसेन, रसखान और अछूत मोहन को इनके द्वारा उपदेश प्राप्त होने की किंवदन्ती है। ये चित्रकला के भी प्रेमी थे और स्वयं चित्र बनाते थे। इनके द्वारा बनाया गया बालकृष्ण का चित्र आज भी विद्यमान है। सं० १६४२ में इनके लीला-प्रवेश की कथा में कहा गया है कि अपने जीवन का कर्तव्य समाप्त कर गुसाईंजी सम्प्रदाय के सात सेव्य (श्री सुरेश जी, श्री विट्ठलनाथजी, श्री द्वारिकाधीश जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुलचन्द्रमा जी, श्री बालकृष्ण जी और श्री मदन मोहन जी, जिनके स्थान क्रमशः कोटा, नाथद्वारा, कांकरोली, गोकुल, कामवन, सूरत और कामवन हैं) और सम्पत्ति अपने सात पुत्रों को सौंपकर श्रीनाथ के राजभोग कर मध्याह्न में गिरिराज की एक गुहा के द्वार पर पधारे। यहाँ उन्होंने अपने कण्ठ की माला गोकुलनाथ के गले में पहनायी और स्वयं कन्दरा के भीतर पधारे। जब ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी ने इनके नित्य-लीला में पधारने का समाचार सुना तो वे दौड़े हुए आये और उन्होंने गुसाईंजी का उत्तरीय वस्त्र खींचा। अपने उत्तरी वस्त्र द्वारा ही अपने उत्तर क्रिया करने का आदेश देकर गुसाईंजी सर्वदा के लिए भगवान् के नित्य-लीला विहार स्थल गिरिराज में सदेह लीन हो गये।

इन्होंने ब्रजभाषा काव्य के अतिरिक्त गद्य की भी अपूर्व सेवा की है। इनके तीन प्रसिद्ध गद्य-ग्रन्थ हैं : 'श्रृंगाररस मण्डन', 'यमुनाष्टक' और 'नवरत्नसटीक'। इनके अतिरिक्त इनके ब्रह्मसूत्रों का अणुभाष्य, 'श्रीमद्भागवत' की टीका और 'श्री सुबोधिनी' ग्रन्थ भी सम्प्रदायमान्य हैं। 'भक्तमाल' में इनके सम्बन्ध में कहा गया है : "राजभोग नित विविध रहत परिचर्या तत्पर। सज्या भूषण वसन रुचिर रचना अपने कर।। वह गोकुल, वह नन्दसदन दीच्छित कौ सोहै। प्रगट विभौ जहाँ घोष देखि सुरपति मन मोहै।। वल्लभसुत बल भजन के कलिजुग मे द्वापर कियौ। विट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यो लाल लड़ाय कै सुख लियौ।"

[सहायक ग्रन्थ—कांकरोली का इतिहास; हिन्दी साहित्य—द्वितीय खण्ड, हिन्दी परिषद्, प्रयाग); अष्टछाप परिचय . मीतल।]

—वि० मो० श०

विदा—'विजय', 'विकास', 'विसर्जन' आदि उपन्यासों के लेखक प्रतापनारायण श्रीवास्तव का प्रथम उपन्यास 'विदा' १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह बहुत लोकप्रिय हुआ और इसके कई संस्करण निकले। इस उपन्यास में 'सिविल लाइन्स' के बंगलों मे रहने वाले नागरिक जीवन की कहानी कही गयी है। क्लब, पार्टी, खेल के मैदान, सिनेमा गृह तथा पार्क आदि में होने वाली चहल-पहल का और उसके भीतर व्याप्त राग-द्वेष एवं संतोष-असंतोष की भावनाओं का मार्मिक चित्रण किया गया है। इस प्रकार की विषय-भूमि की दृष्टि से यह उपन्यास अपने प्रकाशन-काल के समय एकदम नया था। सर्वत्र इसका स्वागत हुआ। उपन्यास कला, कथानक संघटन तथा चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से भी यह एक सफल कृति है। इस उपन्यास की बड़ी भारी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने यूरोपीय सभ्यता के साँचे मे ढले हुए नागरिक जीवन के चित्रण के बावजूद विभिन्न पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों में भारतीयता को सुरक्षित रखा है। उपन्यास की भाषा-शैली सरस तथा रोचक है।

—र० भ्र०

विदुर—परम्परा से विदुर एक नीतिज्ञ के रूप में विख्यात हैं। अम्बिका और अम्बालिका को नियोग कराते देखकर उनकी एक दासी की भी इछा हुई कि वह भी नियोग कराये। उसने व्यास से नियोग कराया, जिसके फलस्वरूप विदुर की उत्पत्ति हुई। विदुर धृतराष्ट्र के मन्त्री किन्तु न्यायप्रियता के कारण पाण्डवों के हितैषी थे। विदुर के ही प्रयत्नों से पाण्डव लाक्षागृह में जलने से बचे थे। विदुर को उनके पूर्व जन्म का धर्मराज कहा जाता है। महाभारत-युद्ध को रोकने के लिए विदुर ने यत्न किये पर अन्ततः असफल रहे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'विदुर नीति' के अन्तर्गत नीति सिद्धान्तों का सुन्दर निरूपण हुआ है। युद्ध के अनन्तर विदुर पाण्डवों के भी मंत्री हुए। जीवन के अन्तिम क्षणों में इन्होंने वनवास ग्रहण कर लिया तथा वन में ही इनकी मृत्यु हुई। हिन्दी नीति काव्य पर विदुर के कथनों एवं सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

—रा० कु०

विद्याधर—नर योनि से भिन्न विद्याधर नामक एक योनि विशेष का एक प्रसिद्ध व्यक्ति विद्याधर नाम से विख्यात् हुआ है, जिसे अंगिरा ऋषि ने क्रोधवश शाप दिया और वह नाग हो गया। एक रात को जब नन्द आदि शयन कर रहे थे तो वह नन्द के पाँवों मे लिपट गया। नन्द ने घबराकर कृष्ण को पुकारा। उन्होने नन्द के पाँव छुए ही थे कि नाग पुनः विद्याधर हो गया और उनकी प्रार्थना करने लगा (दे० सू० सा० प० १८०२)।

—रा० कु०

विद्यापति—विद्यापति के जन्म-काल आदि के विषय में प्रामाणिक सामग्री का प्रायः अभाव है। यद्यपि उनका सम्बन्ध कई विशिष्ट राजपुरुषों के साथ था फिर भी उनके विषय मे इस प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है, जिस पर लोगों में मतैक्य हो। विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि कवि विद्यापति अपने पिता के साथ राज-दरबार में कई बार गये थे। 'कीर्तिलता' से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण संवत् २५२ में असलान द्वारा मारे गये। विद्यापति यदि उस समय दस वर्ष के रहे हों तो यह कल्पना की जा सकती है कि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण संवत् २४२ में हुआ। सबसे पहले नगेन्द्रनाथ गुप्त ने 'विद्यापति पदावली' (बंगला संस्करण १३१६, बगाब्द) में लिखा कि २४३ संवत् को राजा शिवसिंह का जन्म-संवत् मान लेने पर हम यह कह सकते हैं कि विद्यापति का जन्म ल० सं० २४१ के आस-पास हुआ क्योंकि ऐसी किंवदन्ती है कि शिव सिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्या पति उनसे दो साल बड़े थे। शिवसिंह का राज्यारोहण काल निश्चित है, यानी वे लक्ष्मण संवत् २९३ तदनुसार १३२४ शक के चैत मास की कृष्ण षष्ठी ज्येष्ठा नक्षत्र वृहस्पतिवार को गद्दी पर बैठे। लक्ष्मण संवत् के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कीलहार्न ने ('इण्डियन ऐण्टिक्वेटी भाग १२, सन् १८२० ई०) बड़े परिश्रम से इस विषय में खोज-बीन की और यह निष्कर्ष निकाला कि लक्ष्मण संवत् को १०४१ शाके या ११११ ई० में सर्वप्रथम प्रचलित मानने से मिथिला की पुरानी पाण्डुलिपियों की तिथि में गड़बडी नहीं होती। पश्चात् श्री जायसवाल ने 'दि जर्नल आव बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग १३' में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा कि १३५० ई० के पहले की पाण्डुलिपियों में लक्ष्मण संवत् में ११११ जोड़ने से और बाद की तिथियों में ११०९ जोड़ने से निश्चित तिथि का ठीक पता चल सकेगा। इन सभी अनुसन्धानों के बाद विद्यापति के जीवन के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले गये हैं। सन् १३८० ई० के आस-पास कवि का जन्म हुआ। १३९५-९६ ई० के बीच पद लिखकर उन्होंने गयासुद्दीन और नसरत शाह को समर्पित किया। १३९६-९७ ई० के बाद जौनपुर के प्रथम सुल्तान ने तिरहुत जीता। १४०० ई० के आसपास नैमिषारण्यनिवासी देव सिंह के आदेश से 'भू परिक्रमा' की रचना की। १४०२-१४०४ ई० के बीच इब्राहिमशाह द्वारा कीर्ति सिंह को मिथिला का सिंहासन प्रदान किया जाना और उसी समय 'कीर्तिलता' की रचना। १४१० ई० में उन्होंने 'पुरुष परीक्षा' की रचना की और देवी सिंह की मृत्यु के पहले अथवा पश्चात् उन्होंने 'कीर्ति पता का' लिखी। १४१०-१४१४ ई० के बीच शिव सिंह के राज्यकाल में दो सौ पदों की रचना की, जो अपनी मौलिकता और मार्मिकता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। १४१८ ई० में द्रोणवार के अधिपति पुरादित्य के आश्रय में राजवनोली में 'लिखनावली' की रचना की, जिससे कवि के जीवन के अर्थ-संकट का सहज अनुमान किया जा सकता है। १४२८ ई० में राजवनोली में भागवत की अनुलिपि की। १४४०-६० ई० के बीच 'विभागसागर', 'दान वाक्यावली' और 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' की रचना पूरी की। १४६० ई० में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मण-सर्वस्व का अध्यापन किया। इसी के आस पास मृत्यु हुई।

विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्परविरोधी विचारधाराओं का स्तवक है। वे दरबारी होते हुए भी जन कवि हैं, श्रृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं, शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, संस्कारी ब्राह्मण वंश मे पैदा होते हुए भी वे मर्यादावाली या रुढ़िसंत्रस्त नहीं हैं। वे तर्क कर्कश न्याय के ग्रन्थिल पथ और युवतियों के प्रेमगीतों के पिच्छल मार्ग पर समान रूप से बिना सन्तुलन खोये चल सकने के अभ्यस्त हैं। 'पुरुष परीक्षा' से पता चलता है कि वे दण्डनीति-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे और 'कीर्तिलता' उनके तत्कालीन परिपाटी विहित काव्य-ज्ञान का सूचक है। 'पदावली' देखने से पता चलता है कि कवि के ऊपर जयदेव का घना प्रभाव था। वे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण विद्या, समय-विद्या और राज्य-सिद्धान्त त्रयी के विशेषज्ञ थे। कामशास्त्र का भी उन्होंने व्यापक अध्ययन किया था। सौन्दर्यचित्रण तथा नखशिख वर्णन में कामशास्त्र और सामुद्रिक के लक्षणों को ज्यों का त्यों अपना लिया गया है। बाला, नवोढ़ा, मुग्धा, प्रौढ़ा आदि के वर्णन में कामशास्त्र के लक्षण काव्य के नियम बन गये। कन्या विश्रम्भण कामशास्त्र का प्रमुख प्रकरण है। दूती के द्वारा नायिका को नायक की ओर आसक्त कराने के प्रयत्नों में कन्याविश्रम्भण की कामशास्त्रीय रुढ़ियों का प्रचुर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

विद्यापति की रचनाओं के नाम उनके काल-निर्णय के सिलसिले में प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें 'कीर्तिलता' परवर्ती अपभ्रंश या अवहठ्ठ में लिखी हुई राजप्रशस्ति-काव्य है, जिसमें कीर्ति सिंह के राज्यप्राप्ति के प्रयत्नों का वर्णन किया गया है। भाषा और आख्यानक काव्यों की शैली के अध्ययन में इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है (दे० 'कीर्तिलता') 'कीर्तिलता' भी अवहट्ठ की ही रचना है और उसके कतिपय आरम्भिक पत्रों में मालूम होता है कि यह कीर्ति सिंह की प्रेम-गाथा पर आधारित है। पुस्तक अब तक अप्राप्य है और जब तक इसका प्रकाशन नहीं हो जाता, इसके बारे में कोई निश्चित मत व्यक्त कर सकना सम्भव नहीं है। 'भूपरिक्रमा' शिवसिंह की आज्ञा से लिखित भूगोल सम्बन्धी ग्रन्थ है। 'पुरुष परीक्षा' में कवि ने दण्डनीति का विश्लेषण किया है। 'लिखनावली' में चिठ्ठी-पत्री लिखने का निर्देशन है और 'शैवसिद्धान्तसार' नाम के अनुरूप ही शैव दर्शन के स्पष्टीकरण का प्रयत्न है। 'गंगा वाक्यावली', 'विभाग सार', 'दान वाक्यावली, 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' आदि साधारण महत्त्व की कृतियाँ हैं। इन रचनाओं को देखने से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि विद्या पति ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण काव्यरूपों में रचना करने का प्रयत्न किया किन्तु जिन रचनाओं के कारण वे उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध कवि और संसारप्रसिद्ध गीतकार माने जाते हैं, वे उनके पद या गीत हैं, जिन्हें देखकर जार्ज अब्राहम, ग्रियर्सन ने कहा था "हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण में विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो जाय, कृष्ण-प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे, तो भी विद्यापति के गीतों के प्रति, जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम का

वर्णन है, लोगों की आस्था और श्रद्धा कभी कम न होगी" (एन० इण्ट्रोडक्शन टू द मैथिली लैंग्वेज १८८१-८२)। 'पदावली' में संगृहीत पदों की प्रामाणिकता, संख्या तथा पाठ के बारे में काफी विवाद है (दे० 'विद्यापति-पदावली')।

विद्यापति के पदों के संग्रह का प्रयत्न सर्वप्रथम सम्भवतः शारदाचरण मित्र ने किया था और बाद में १८८१-८२ ई० में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने लोगों के मुख से सुनकर उनके ८२ पद एकत्र किये थे। तब से लेकर आज तक विद्यापति के जन्म-काल, धार्मिक मान्यताएँ तथा काव्य-गुणों के विषय में काफी ऊहापोह हुआ है। आरम्भ में विवाद का विषय यह था कि विद्यापति हिन्दी कवि हैं अथवा बंगाली। विद्यापति के प्रति जिज्ञासा और श्रद्धा का उद्रेक पहले बंगाली सहृदय जनों में दिखाई पड़ा, इसमें सन्देह नहीं और उन लोगों ने कवि की रचनाओं से मुग्ध होकर उन्हें अपना बताने का दावा भी पेश किया। विद्यापति मैथिलीभाषा के कवि थे ओर स्वाभावतः मैथिली लोगों के दाबे को स्वीकार करना पड़ा। विद्यापति के विषय में दूसरा विवाद यह था कि थे शैव हैं, वैष्णव हैं या श्रृंगारिक कवि हैं। इस विवाद के पीछे भी कुछ निराधार किस्म के पूर्वाग्रह कार्य करते रहे। शिवनन्दन ठाकुर उन्हें शैव मानते हैं ('महाकवि विद्यापति', लहरियासराय, पटना), उमेश मिश्र मात्र श्रृंगारिक ('विद्यापति ठाकुर', हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३७ ई० पृ० ८९-९०), रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'विद्यापति शैव थे, इन्होंने इन पदों की रचना श्रृंगार काव्य की दृष्टि से ही की है, भक्त के रूप में नहीं, विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिये" ('हि० सा० इ०', छठा संस्करण, सं० २००७, काशी, पृ० ५७-५८)। इन तर्कों की एकांगिता स्पष्ट है क्योंकि विद्यापति के समय की धार्मिक पृष्ठभूमि भुलाकर उन्हें कुछ निश्चित खानों में फिट करने का अनुचित प्रयत्न किया गया है। यह मान लेना कि कोई शैव भक्तिपरक श्रृंगारिक गीत नहीं लिख सकता, वस्तुस्थिति को नकारना है। शिव सिद्धिदाता थे और विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहडवार नरेश अपने को माहेश्वर कहते थे और विष्णु की स्तुति गाते थे। विद्यापति ने भी शिव और विष्णु की समवेत स्तुति की है : "भल हर भल हरि बल तुव कला खन पीत वसन खनहि बघछला"। श्रृंगार भक्तिका विरोधी है, यह परम्परा भी भारतीय भक्ति को न समझने के कारण उत्पन्न होती है। विद्यापति पर रहस्यवादी होने का भी आरोप किया गया है। ग्रियर्सन, कुमारस्वामी और जनार्दन मिश्र विद्यापति को रहस्यवादी मानते हैं। रहस्यवादी माननेवालों को विनयकुमार सरकार ने ('लव इन हिन्दू लिटरेचर', १९१६, पृ० २०-२१) उचित उत्तर दिया है। उन्होंने भक्ति और श्रृंगार का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कहा कि "ऐन्द्रिय भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्तर का चित्रण भारतीय-साहित्य में विद्यापति के अलावा और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया।" वस्तुतः विद्यापति शुद्ध मानवधर्मी कवि थे, जिनके सामने धार्मिक मान्यताओं के घेरे कोई महत्त्व नहीं रखते।

विद्यापति सौन्दर्य के कवि हैं। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य ही उनकी जीवन दृष्टि है। इस रूप को वे "जनम जनम" निहारते रहे और "नयन न तिरिपत भेल"। इसे वह "अपरूप" कहते हैं। सौन्दर्य के वे स्रष्टा थे और उसके उपभोक्ता भी। उनमें उपभुक्ति की लीनता है और द्रष्टा की तटस्थता भी। इसीलिए वे त्रिभुवनविजयी सौन्दर्य के अव्याज चारण हैं। सौन्दर्य को एक जीवित वस्तु के रूप में देखते हुए भी वे युगधर्म से इतने बँधे थे कि उन्होंने रूप चित्रण में नख-शिख वर्णन की परिपाटी का परित्याग नही किया। पुराने उपमानो और रूढ़ अप्रस्तुतों के वर्णन की अतिशयता से वे बच न सके। रूप के चित्रण में कभी-कभी वे स्थूल ऐन्द्रिय विवृति और नग्न-चित्रण के दोष के शिकार भी हो गये हैं। उपमा के प्रयोग में वे बेमिशाल हैं और दिनेश चन्द्र सेन का यह कहना उचित है कि "कालिदास के बाद किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो विद्यापति के नाम पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये" ('बंग भाषा और साहित्य', पृ० २२४)।

[सहायक ग्रन्थ—विद्यापति : खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमान बिहारी मजूमदार, हिन्दी संस्करण, पटना, १९५३ ई०; विद्यापति : शिव प्रासद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तक कालय, काशी, १९५७ ई०।]

—शि० प्र० सिं०

विद्यापति पदावली—विद्यापति चौदहवीं शती के कवि थे और निर्विवाद रूप से उनका यश सोलहवी शती के अन्त तक समस्त पूर्वी भारत में व्याप्त हो चुका था। उनके पदो के अनुकरण पर गीत लिखने वाले अनेकानेक कवि उत्पन्न हुए और उन्होंने रचनाओं में यदा-कदा विद्यापति का अतीव आदर के साथ स्मरण भी किया पर आश्चर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्व कवि के समस्त पदों को एकत्र उपस्थित करने वाला कोई संग्रह या संकलन-ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। पदावली की प्राप्त विभिन्न पाण्डुलिपियों को देखने से प्रतीत होता है कि ये तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती है:— (१) नेपाल से प्राप्त पाण्डुलिपि, (२) मिथिला की पोथियाँ— रागतरंगिणी, रामभद्रपुर की पोथी और तरोणी की तालपत्र की पोथी तथा (३) बंगाल में संकलित 'क्षणदागीत चिन्ता मणि', 'पदामृत समुद्र', 'पदकल्पतरु', 'संकीर्तनामृत' और 'कीर्तनानन्द'। नेपाल की पोथी पुरातन मैथिली लिपि में लिखी गयी है। काशी प्रसाद जायसवाल और अनन्त प्रसाद वन्द्योपाध्याय के उद्योग से मूल प्रति की फोटो कापी प्राप्त की गयी, जिसका एक खण्ड कालेज लाइब्रेरी में और दूसरा पटना विश्वविद्यालय लाइब्रेरी में सुरक्षित है। सब मिलाकर इसमें ३८७ पद हैं। 'रागतरंगिणी' सत्रहवीं शताब्दी में महीनाथ ठाकुर के राजत्व-काल में लोचन कवि ने लिखी, जिसमें कवि विद्यापति के ५१ पद संकलित हैं। इन ५१ पदों में तीन पद ऐसे हैं, जिनमें कवि भणिता के रूप में विद्यापति का नाम नहीं आता किन्तु इनके नीचे लोचन कवि ने "इतिविद्यापतेः" लिखा है, जिससे मालूम होता है कि ये पद भी विद्यापति के ही हैं। रामभद्रपुर की पोथी मूलतः विष्णु लाल झा को मिली थी, जिन्होंने शिवनन्दन ठाकुर को इसकी सूचना दी। ठाकुर ने इन पदों को उतार कर 'विद्यापति विशुद्ध पदावली' शीर्षक से अपनी पुस्तक 'महाकवि विद्यापति' में प्रकाशित कराया। उपलब्ध पदों की संख्या ९६ है किन्तु शिवनन्दन ठाकुर ने ८६ पद ही प्रकाशित किये थे। तरोणी की तालपत्र-पोथी आज उपलब्ध नहीं है। इसके विवरण के लिए नगेन्द्रनाथ गुप्त की सूचनाओं पर ही अवलम्बित होना पड़ता

है। इसमें ३५० पद थे, जिन्हें उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित 'विद्यापति पदावली' मे प्रकाशित कराया। बंगाल में विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे हैं। गौड़ीय वैष्णव भक्तों ने इन पदों को बडी सावधानी से सुरक्षित रखा। सबसे प्राचीन पोथी 'क्षणदागीत चिंतामणि' है, जिसे विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ईस्वी १७०५ में प्रस्तुत किया। 'पदामृत समुद्र' के संकलयिता राधामोहन ठाकुर हैं, जिन्होंने अनुमानतः अट्ठारहवीं शताब्दी में यह संग्रह उपस्थित किया। इस संकलन के पदों पर बंगला प्रभाव की अतिशयता है। मैथिल प्रयोगों के स्थान पर बंगला प्रयोगों की भरमार है। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोकुलानन्द सेन अर्थात् वैष्णवदास ने 'पद कल्पतरु' का संग्रह किया। यह बहुत वृहत् संकलन है। इसमें १३०१ पद हैं। विद्यापति के १६१ पद हैं। देशबन्धु चितरंजन दास के पास उपलब्ध 'संकीर्तनामृत' की पोथी में विद्यापति रचे केवल १० पद ही प्राप्त होते हैं।

विद्यापति के पदों के संकलन का कार्य सबसे पहले शारदा चरण मित्र ने किया। १८८१ ई० में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने गायकों के मुख से सुनकर ८२ पद एकत्र किये। बाद में बंगाल के नगेन्द्र नाथ गुप्त ने १३१६ बंगाब्द में 'विद्यापति पदावली' का सम्पादन किया। 'विद्यापति पदावली' नाम से एक संग्रह अमूल्य विद्याभूषण और खगेन्द्रनाथ मित्र ने किया। बंगाली संस्करणों में नगेन्द्रनाथ गुप्त का संकलन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन्होंने काफी सन्तुलित और परीक्षणात्मक ढंग से काम लिया किन्तु इनके संकलन का आधार सिर्फ नेपाल की पोथी ही नहीं थी, उन्होंने 'पदकल्पतरु' आदि से भी सहायता ली। फलस्वरूप उनके संकलन के बहुत से पद विद्यापति के पदों की आत्मा और भाषा से काफी दूर जा पड़ते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्पादन में पुस्तक भण्डार, लेहरियासराय से 'विद्यापति पदावली' प्रकाशित हुई (*प्रकाशन-तिथि नहीं दी गयी है*)। यह संकलन मुख्यतः नगेन्द्र नाथ गुप्त की 'विद्यापति पदावली' पर आधारित है। इन सभी प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्रियों के आधार पर खगेन्द्रनाथ मित्र और विमानबिहारी मजूमदार ने 'विद्यापति' नाम से एक बृहत् संकलन और तैयार किया। इसमें मजूमदार ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी है। इसका हिन्दी अनुवाद संवत् २०१० में पटना से छपा। १९५४ ई० में सुभद्र झा ने काशी से 'द सांग्स ऑव विद्यापति' नाम से एक नया संकलन छपवाया।

विषय की दृष्टि से विद्यापति के पद कई श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। अधिकांश पद राधा और कृष्ण के प्रेम के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करते हैं। कुछ पद शुद्ध प्रकृति सम्बन्धी हैं, इनमें प्रकृति ही वर्ण्य है, वही काव्य का आलम्बन है। कुछ पद विभिन्न देवताओं की स्तुति में लिखे गये हैं। स्तुति-पदों में सबसे अधिक पद शिव और उमा के सम्बन्ध में है। इसमें कई केवल शंकर की स्तुति के हैं। उमा-शिव विवाह वाले पदों में शिव में ईश्वरत्वबुद्धि और तज्जन्य श्रद्धा का समावेश है, किन्तु इनमें सामान्य-जीवन, हास-परिहास तथा व्यंग्य-विनोद का भी पुट कम नहीं है। "हम नहि आज रहब यहि आँगन गे माई" ('पदावली बेनीपुरी' पद संख्या २३५), "नाहि करब वर हर निरमोहिया" (२३६) "एत जप तप हम क्रिय लगि कैलहु" (२४२) आदि पदों में दुकुलावेष्टित सुन्दरी गोरी और गजाजिनवेष्टित भूतभावन शंकर के बेमेल विवाह पर व्यंग्य और अन्त में कन्या के अक्षय सौभाग्य की सदिच्छा व्यक्त की गयी है। इस तरह के गीत आज भी पूर्वी प्रदेशों में विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। प्रार्थना या नचारी वर्ग के पदों में दुर्गा, जानकी गंगा आदि की भी स्तुति की गयी है। कुछ पदों में कवि अपने दैन्य की अतिशयता का कारुणिक चित्रण करके स्तुत्य देवता से कृपा की याचना करता है। यह भक्तिकाल के कवियों की एक रूढ़ परिपाटी है। करुणोद्रेक के लिए अपनी हीनता का वर्णन भक्ति का आवश्यक अंग माना जाता था। ऐसे पदों को देखकर यह कहना कि शुरू में विद्यापति शृंगारिक थे, बाद में भक्त हो गये, अनुचित है।

पदावली के जिस वर्ग के पदों के लिए विद्यापति की प्रसिद्धि है, वह है राधा-कृष्ण प्रेम। इस वर्ग के कुछ पदों में राधा का नख-शिख वर्णन, रूपमाधुरी का चित्रण, आकर्षण और नायक या कृष्ण के हृदय में प्रेम-वैचित्र्य का उदय दिखाया गया है। राधा के ऐन्द्रजालिक कुसुमशायक सदृश रूप से घायल कृष्ण यमुना तटपर बैठकर बार-बार उसकी याद करते हैं। राधा कृष्ण के रूप को 'अपरूप' कहती हैं, जिसका वर्णन सुनकर लोगों को सहसा विश्वास न होगा। उसे देखते हुए राधा लज्जा और आकर्षण की द्विधा में काँटों में गिर पड़ीं : "उलटि हेरइत उलट परलौं चरन चीरल काँट"। दूतियाँ राधा और कृष्ण, दोनो की वैचित्त्यावस्था का वर्णन एक दूसरे को सुनाती हैं। इस प्रकार प्रणय, स्नेह, मान, राग, अनुराग, भाव और महाभाव की क्रमिक अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। यह ध्यान रखना चाहिये कि भक्ति के पक्ष में उपर्युक्त भाव-विकास का जो रूप है, वही सांसारिक प्रेम में भी। इसी कारण नख-शिख, प्रेम-प्रसंग, दूती, नोंक-झोंक (मान), सखी-शिक्षा, मिलन, अभिसार, छलना, मान, विदग्ध विलास (महाभाव या एकात्म्य) आदि शीर्षकों में विभाजित पदों में यथासम्भव क्रम निर्धारण कर लेना चाहिये। ये वर्गीकरण कृत्रिम और सुविधा के लिए बनाये हुए हैं। विद्यापति की सबसे बड़ी विशेषता है, इन रुढ़ियों का निर्वाह करते हुए भी उनके भीतर से राधा और कृष्ण के प्रेम का ऐसा चित्रण करना, जो अपनी तमाम परिस्थितियों, सुख-दुःख की भावनाओं, उल्लासपूर्ण मिलन और अश्रुसिक्त विरह की अवस्थाओं में पल कर एक जीवन्त वस्तु प्रतीत हो। राधा और कृष्ण के इस प्रेम के परिपार्श्व में उनकी सारी दिन चर्या, समाज, परिवार, अनुशासन, लज्जा, संकोच—सभी कुछ एक यथार्थ जीवन का अंग बनकर उपस्थित होते हैं। विद्यापति क्लैसिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्होंने काव्य-कौशल की सारी सम्पदा के साथ अपने अध्यवसाय और अभ्यास से अर्जित किया था किन्तु वे लौकिक जीवन से भी इस तरह सम्पृक्त थे कि उनकी रचनाओं मे लोकतत्त्व, लोकोक्ति, मुहावरे, अन्धविश्वास, रीति-रिवाज, प्रथाएँ आदि का भी बड़ा सुन्दर समावेश हो गया है। उनके कृष्ण नन्दराजा के पुत्र नहीं, सामान्य ग्वाल हैं, इसलिए प्रेम-प्रसंगों में गोपियाँ उन्हें अपने सामाजिक स्तर पर उतार कर अच्छी तरह बनाती हैं। सूरदास की गोपियों की इस बात के लिए प्रशंसा की गयी है कि उन्होंने उद्धव के तर्कों का उत्तर अपने-अपने आसपास की वस्तुओं—सीकर, दही, दूध, झोली, कनूकी, भूसी आदि के उदाहरण के माध्यम से देती हैं किन्तु

इसके लिए प्रशंसा करनी ही है तो विद्यापति की होनी चाहिये क्योंकि 'कान्ह गोवार' से बातचीत करने में इस शैली का प्रयोग विद्यापति की गोपियाँ कम नहीं करतीं।

प्रकृति का चित्रण विद्यापति ने अधिकांशतः अलंकरण के रूपों मे ही किया है। कुछ पद ऐसे अवश्य हैं, जिनमें प्रकृति आलम्बन के रूप में चित्रित हुई है। राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसगो की लीला-भूमि के रूप में प्रकृति नाना रूप रग में उपस्थित हुई है। नवलकिशोर और नवल किशोरी की सहचरी के रूप में प्रकृति ने भी नवल आभा धारण किया है : "नव वृन्दावन नव नव तरुगन नव नव विकसित फूलं", इसी क्षण-क्षण नूतन प्रतीत होने वाली प्रकृति के सूचक हैं। वसन्त तो जैसे कवि का प्रिय सहचर है। उसकी सुन्दरता, मोहकता और मादकता कवि को अनेक परिस्थितियों में आकृष्ट करती है। माघ मास की श्रीपंचमी को प्रकृति के गर्भ से जन्म धारण करने वाले वसन्त-शिशु के स्वागत में नागकेशर के पुष्पों की शंखध्वनि करता है और उसके युवक होने तक के हर अवसर पर अपनी स्नेहिल श्रद्धा का दान करता है। विद्यापति रूढ़ि परिपालन के लिए बारहमासा का भी प्रयोग करते हैं। षड्ऋतु का वर्णन प्राचीन साहित्य में प्रायः संयोग-श्रृंगार में और बारहमासा का विरह में किया जाता था। यह सच है किसर्वथा इस नियम का कड़ाई से ही पालन नहीं हुआ है विद्यापति ने बारहमासा का प्रयोग विरह मे ही किया है और परिपाटी के अनुसार आषाढ़ मास से आरम्भ भी किया है : "मास असाढ़ उनत नव मेघ, पिया विसलेस रहओं निरथेध" आदि।

विद्यापति के गीत अपनी रागात्मकता और मार्मिकता के लिए काफी प्रसिद्ध हैं। विद्यापति के पहले परवर्ती संस्कृत साहित्य में क्षेमेन्द्र और जयदेव ने मात्रिक गीत लिखने का प्रयत्न किया था किन्तु वे गीत पूर्णतया लोक-चेतना से प्रभावित न थे। विद्यापति ने गीतों को लोक-जीवन के अत्यन्त निकट ला खड़ा किया। बहुत बार तो उन्होंने लोकधुन और रागों तक को सीधे अपना लिया है। इन गीतों में गेयता है, इसका पता तो इनके आरम्भ में दिये हुए राग-रागनियों के उल्लेख से ही चल जाता है। कवि स्वयं इन्हें गाते प्रतीत होते हैं। इसी से बार-बार कवि भणिता में "विद्यापति कवि गाओल" की पुनरावृत्ति होती है। विद्यापति के गीतों की दूसरी विशेषता है—सहजता और स्वाभाविकता। इस दृष्टि से वे गीतों की आत्मा के पारखी थे। उनके गीत ग्वालियर घराने के संगीतकारों से प्रभावित कवियों सूरदासादि से भिन्न कोटि के हैं।

पदावली की भाषा प्राचीन मैथिली है, जिसमें ब्रजभाषा का भी प्रभाव है। इसे हम चाहें तो शिथिल अर्थ में ब्रजबुलि का प्राचीन रूप कह सकते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—विद्यापति ठाकुर : उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३७ ई०; विद्यापति : खगेन्द्रनाथ मित्र और विमानबिहारी मजूमदार, पटना, संवत २०१०; विद्यापति : शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी, १९५७ ई०; सांग्स आव विद्यापति : सुभद्र झा, काशी, १९५४ ई०।]

—शि० प्र० सि०

विद्याभूषण विभु—जन्म ४ दिसम्बर १८९२ ई० नाहरपुर, जलेसर जिला एटा तथा मृत्यु इलाहाबाद १९६६ ई०। आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० करने के उपरान्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय से 'अभिधान अनुशीलन' विषय पर डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। इस ग्रन्थ को उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत किया। सी० एम० एस० हाईस्कूल अलीगढ़, डी० ए० वी० कालेज, इलाहाबाद में अध्यापन कार्य किया। रामगढ़ के नारायण स्वामी इंटर कालेज के प्राचार्य भी रहे। अलीगढ़ से प्रकाशित 'माहौर मित्र' तथा प्रयाग से प्रकाशित 'शिशु' का सम्पादन किया।

साहित्यिक कृतियाँ इस प्रकार है : 'पद्यपयोनिधि' (१९२३), 'सोहराबरुस्तम' (१९२३), 'चित्रकूट चित्रण' (१९२४), 'अभिधान अनुशीलन' (१९५८), 'ज्योत्स्ना' (१९३९), 'विरजानंद विजय' (१९२४), 'पुरंदरपुरी' तथा 'यम का अतिथि,। इसके अतिरिक्त लगभग तीस पुस्तकें बाल साहित्य पर लिखीं।

विभु जी बालसाहित्य के प्रणेता के रूप में काफी प्रसिद्ध रहे। विभिन्न विषयों पर रोचक शैली में सहज और सरल ढंग से लिखना विभु जी की अपनी विशेषता है। मनोरंजन के साथ-साथ बालक की ज्ञान वृद्धि भी हो, लेखक का उद्देश्य यही रहा है। वस्तुतः हिन्दी बाल साहित्य में विभुजी का अपना एक स्थान है।

विभुजी की महत्त्वपूर्ण कृति 'अभिधान अनुशीलन' है, जिसके लेखन में लेखक ने अथक परिश्रम किया है। भाषा-विज्ञान से संबंधित इस विषय का यह प्रथम ग्रंथ है, जिसमें हिन्दी प्रवेश में प्रचलित पुरुष-नामों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नामों का उद्गम और स्वरूप, विश्लेषणात्मक विवेचन, निर्माण के मूल तत्त्व तथा उनके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व आदि विभिन्न पक्षों पर अत्यन्त गम्भीरता एवं वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।

—ओ० प्र० स०

विद्यावती 'कोकिल'—जन्म २६ जुलाई, सन् १९१४ ई०, हसनपुर, मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) में। आपके जीवन का बृहदंश प्रयाग में ही बीता है। इनका परिवार पुराना आर्यसमाजी तथा देश-भक्त रहा है। स्कूल-कालेज काल से ही काव्य-साधना का प्रारम्भ हो जाता है। अखिल भारत के काव्य-मंचों एवं आकाशवाणी केन्द्रों से फैलती हुई इनकी सहज-मधुर काव्य-स्वरलहरी इनके 'कोकिल' उपनाम को सार्थक करती रही है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में ये कारा-यात्रा भी कर चुकी हैं और अनेक सेवा-संस्थाएँ तथा जनायोजन इनके सहयोग से सम्पन्न होते रहे हैं। आजकल आप पाण्डीचेरी के अरविन्द आश्रम में रह रही हैं और अरविन्द-दर्शन को कवि-सहज अनुभूतियों का मर्म दे रही है।

सन् १९४० ई० में आपकी प्रारम्भिक रचनाओं का प्रथम काव्य-संकलन प्रणय, प्रगति एवं जीवनानुभूति के हृदयग्राही गीतों के संग्रह-रूप में प्रकाशित हुआ। सन् १९४२ ई० में 'माँ' नाम से आपका द्वितीय काव्य-संग्रह सामने आया। सम्पूर्ण विश्व को प्रजनन की एक महाक्रिया मानकर मातृत्व की विकासोन्मुख अभिव्यक्ति एवं लोरियों के माध्यम द्वारा 'माँ' में जीव के एक सतत विकास की कथा का द्योतन इस रचना का लक्ष्य है। सन् १९५२ ई० में 'सुहागिन' नाम की तृतीय कृति प्रकाश में आयी। इस संकलन के 'अब घर नहीं रहा, मन्दिर है'

और 'तुझे देश-परदेश भला क्या ?' आदि गीत जहाँ एक ओर सुहाग का एक विशद एवं महान् रूप उपस्थित करते हैं, वहीं स्वर के आलोक में परम-तत्त्व के साथ तादात्म्य और अन्तर्मिलन का मर्मस्पर्शी स्वरूप भी उद्घाटित करते हैं। इस कृति ने 'कोकिल' जी के गीतकार को महिमान्वित किया है। गीतों की विभोरता, तन्मयता एवं सहज अनुभूतिशीलता आज के नारी-मनोविज्ञान, सामाजिक यथार्थ एवं मानवीय आकांक्षा को भजनों की पावनता प्रदान करती दिखाई देती हैं। शब्द, स्वर एवं प्रभाव जल और लहरी की तरह अभिन्न हो चुके हैं। भाषा अत्यन्त सरल, सहज देशज प्रभावों से मधुर और प्रवाहपूर्ण होती है। इन गीतों में धरती के यथार्थ और आकाश के आदार्श का मणि-कांचन संयोग उपस्थित हुआ है, इसीलिए विद्वानों ने 'सुहागिन' में जीवन के तत्त्वों की गहन परीक्षा, सत्य की खोज, साम्य की अन्वेषणा एवं वेदना की मधुरता के साथ विकास की स्वस्थ आकांक्षा और जीवन जागरूकता का भी दर्शन किया है। 'सुहाग गीत' (लोकगीत संग्रह) सन् १९५३ ई० मे प्रकाशित हुआ। 'पुनर्मिलन' सन् १९५६ ई० में सामने आया। इन गीतों में रचयित्री ने उस प्रियतम के साक्षात् मिलन का स्पर्श प्राप्त किया है, जिसकी छाया के पीछे वह जीवन भर भागी है। नवम्बर, सन् १९५७ ई० में प्रकाशित 'फ्रेम बिना तस्वीर' नामक नाटक एक सत्यान्वेषी इंगलिश कुमारी का नाटचाख्यान है, जिसका घटनास्थल इंग्लैण्ड है। इसका नायक मंच पर सामने न आनेवाला एक भारतीय मनीषी है। नाटक का उद्देश्य पश्चिम पर पूर्व के प्रभाव का संकेत एवं पूर्व-पश्चिम-सम्मिलन के परिणामस्वरूप सम्भाव्य विचार, श्रद्धा, ज्ञान तथा अध्यात्म्य का सामंजस्य है। 'सप्तक' एक विस्तृत भूमिका के साथ अरविन्द की सात कविताओं का मूल युक्त हिन्दी अनुवाद है, जो सन् १९५९ ई० में सामने आया है। 'अमर ज्योति' नामक महाकाव्य अभी अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ में श्री और ओम् इन दो चरित्रों द्वारा ज्योति-स्वरूप-ज्ञान एवं उसे छूकर ज्योति-रूप-परिणत जीव का काव्यात्मक निरूपण हुआ है। 'कोकिल' जी महर्षि अरविन्द के 'सावित्री' महाकाव्य का हिन्दी-काव्य-रूपान्तर भी कर रही हैं। अब तक अनेक पुष्पों का रूपान्तर हो चुका है।

'कोकिल' जी मूलतः एक गीतिकार हैं। गीति-तत्त्व की सहज तरलता उनकी कविताओं की आन्तरिक विशेषता है। उनके स्वर में अन्तर के बोल की झंकार एवं वेदना की एक कोमल लहर होती है, जो पाठक श्रोता के मन को सिक्त कर अन्तर्लोक के द्वार की झाँकी कराने लगती है। अरविन्द के लोक-परलोक एवं भूत-अध्यात्म के समन्वयवादी अद्वैत से वे विशेष प्रभावित हैं। इनके काव्य में अरविन्ददर्शन को नारी-हृदय की अनुभूति का कोमल परिधान मिला है।

—श्री० सिं० क्षे०

विद्या-विभाग, कांकरोली (मेवाड़)—स्थापना संवत् १९८५ वि०; कार्य एवं विभाग—(१) पाठशाला विभाग— इसके अन्तर्गत ९ पाठशालाएँ कार्य कर रही हैं। (२) पुस्तकालय विभाग—विभिन्न स्थानों पर ८ पुस्तकालय हैं, जिनमें ३६०० ग्रन्थ हैं जिनकी लागत लगभग ५५००० रुपये है। (३) सरस्वती भण्डार—यह हस्तलिखित पुस्तकों का विशाल संग्रहालय है, जिसमें सं० ११०० से लेकर सं० १९९० तक के हस्तलिखित ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिनकी संख्या लगभग ७००० है। (४) स्वयंसेवक मण्डल—इसकी ९ शाखाओं में २०० स्वयंसेवक हैं जो विद्या-विभाग के कार्यक्रमों को मूर्तरूप प्रदान करते हैं। (५) श्री द्वारिकेश कवि मण्डल—इसे अभी तक लगभग १०० कवियों और चार-पाँच कवि मंडलों का सहयोग प्राप्त हो चुका है। कवियों की रचनाओ का एक संग्रह 'कविता कुसुमाकर' दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। कविवर कुमारणि का 'रसिक रसाल' तथा मंगलमणि-माला के अन्तर्गत १४ गुच्छ भी प्रकाशित हो चुके हैं। (६) श्री द्वारिकेश चित्रावली—इसमें लगभग ५००० साहित्यिक, सास्कृतिक एवं कलात्मक चित्रसंगृहीत हैं। (७) ज्ञान मन्दिर—इसके अन्तर्गत एक पुस्तकालय है, जिसमें लगभग ५०० पुस्तकें हैं। (८) इनके अतिरिक्त विद्वत्परिषद् और व्यायामशाला भी विद्या-विभाग- के अन्तर्गत कार्य कर रही हैं। (१०) सम्मानोपाधिवितरण—६० विद्वान् उपाधियों से विभूषित किये जा चुके है। (११) परीक्षा-विभाग—इसके द्वारा विभिन्न प्रकार की परीक्षाएँ संचालित की जाती हैं। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, ब्रजमण्डल यूनिवर्सिटी, मथुरा और भारतीय विद्वत् परिषद्, अजमेर के परीक्षा-केन्द्र भी हैं। (१२) अन्वेषण विभाग—साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अन्वेषण इस विभाग का प्रमुख कार्य है। अब तक लगभग ५० प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का अन्वेषण किया जा चुका है। (१३) ग्रन्थ प्रकाशन—लगभग डेढ़ दर्जन ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। (१४) विद्या-विभाग ने चैत्रशुक्ल १ सं० १९९४ वि० में अपना 'दशाब्दी महोत्सव' बड़े समारोह के साथ मनाया। (१५) आगामी प्रकाशन—हिन्दी तथा संस्कृत के प्राचीन कवियों का सचित्र प्रामाणिक जीवन-चरित्र, प्राचीन वार्ता-साहित्य एवं कांकरोली-दिग्दर्शन।

—प्रे० ना० टं०

विनयपत्रिका—यह तुलसीदास के २७९ स्तोत्रों-गीतों का संग्रह है। प्रारम्भ के ६३ स्तोत्रों और गीतों में गणेश, शिव, पार्वती, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान्, सीता और विष्णु के एक विग्रह विन्दु माधव के गुणगान के साथ राम की स्तुतियाँ हैं। इस अंश में जितने भी देवी-देवताओं के सम्बन्ध के स्तोत्र और पद आते हैं, सभी में उनका गुणगान करके उनसे राम की भक्ति की याचना की गयी है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तुलसीदास भले ही इन देवी-देवताओं में विश्वास रखते रहे हों किन्तु इनकी उपयोगिता केवल तभी तक मानते थे, जब तक इनसे रामभक्ति की प्राप्ति में सहयोग मिल सके। विनय के ही एक प्रसिद्ध पद में उन्होंने कहा है : "तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो। जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो।।" इन स्तोत्रों और पदों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह कोरा उपदेश नहीं था, वरन् अपने जीवन में उन्होंने इसको चरितार्थ भी किया है।

इस अंश के अनन्तर तुलसीदास के रामभक्ति और राम से आत्मनिवेदन के सम्बन्ध के पद आते हैं। अन्त के तीन पदों में वे राम के समक्ष अपनी विनयपत्रिका (आवेदन पत्र) प्रस्तुत करके हनुमान्, शत्रुघ्न, भरत, और लक्ष्मण से अनुरोध करते हैं कि वे राम से उनके अनन्य प्रेम का अनुमोदन करें और इनके अनुमोदन करने पर राम तुलसीदास की विनय-पत्रिका स्वीकृत

करते हैं।

'विनयपत्रिका' का एक अपेक्षाकृत छोटा रूप मिला है, जिसकी केवल एक प्रति प्राप्त हुई है किन्तु यह एक प्रति इतनी मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है, जितनी कवि की रचनाओं की कोई भी अन्य प्रति नहीं है, कारण यह है कि यह कवि के जीवन-काल की सं० १६६६ की है। इस प्रति के हाशिये मे रा० गी० संकेत लिखे हुए हैं और अन्त में एक श्लोक मे रचना का नाम 'रामगीतावली' दिया हुआ है, इसलिए यह निश्चित है कि 'विनय पत्रिका' के इस रूप का नाम 'राम गीतावली' था। यह पाठ केवल १७६ गीतों का है, जिनमें से कुछ पद प्रति के खण्डित होने के कारण अप्राप्य भी हो गयेहैं, जितने पद पूर्ण या आंशिक रूप में प्राप्त हैं, उनमें से भी पाँच पद ऐसे हैं, जो रचना के 'विनय पत्रिका' रूप में न मिलकर वर्तमान 'गीतावली' में मिलते हैं और 'गीतावली' के प्रसंग में अन्यत्र उसकी 'पदावली रामायण' पाठकी जिस प्रति का उल्लेख किया गया है, उसमें नहीं मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'राम गीतावली' पाठ में वर्तमान 'विनय पत्रिका' के अधिक से अधिक १७१ पद थे, १०८ या अधिक पद बाद में उसमें मिलाकर उसका 'विनय पत्रिका' रूप निर्मित किया गया, और उस समय इन पाँच या अधिक पदों को, जो अब 'गीतावली' में हैं, गीतावली के लिए अधिक उपयुक्त समझ कर उसमें रख दिया गया।

'पदावली रामायण' के इस रूप में रचना के वर्तमान 'विनय पत्रिका' रूप के अन्तिम तीन पद नहीं हैं, जिनमें राम के दरबार में विनय-पत्रिका (आवेदन पत्रिका) प्रस्तुत की जाती और स्वीकृत होती है। उसके अन्त में वर्तमान 'विनय पत्रिका' के स्तोत्र ३९ तथा ४० आते हैं, जो भरत और शत्रुघ्न की स्तुतियों केहैं। इससे यह प्रकट है कि इस गीत-संग्रह को 'विनय पत्रिका' का रूप देने की कल्पना भी बाद की है और कदाचित् उसी समय राम के दरबार में विनय-पत्रिका के प्रस्तुत किये जाने और उसके स्वीकृत होने के सम्बन्ध के पद उसमें रचकर रख दिये गये।

'विनय पत्रिका' के उपर्युक्त प्रथम ६३ तथा अन्तिम ३ स्तोत्रों-पदों के अतिरिक्त शेष में कोई स्पष्ट क्रम नहीं लक्षित होता है और इसीलिए किन्हीं भी शीर्षकों में वे विभाजित नहीं मिलते हैं। उनकी रचना किस क्रम में हुई होगी, यह कहना एक प्रकार से असम्भव ही है। हम इतना ही निश्चय के साथ कह सकते हैं कि 'राम गीतावली' पाठ में संकलित स्तोत्र और पद पहले के हैं और उनकी रचना सं० १६६६ के पूर्व हो गयी थी, शेष पद कदाचित् उन स्तोत्रों-पदों के बाद के हैं। इतना ही और भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'विनय पत्रिका' रूप भी कवि का दिया हुआ है, जिस प्रकार 'राम गीतावली' रूप उसका दिया हुआ था क्योंकि 'विनय पत्रिका' की दर्जनों प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं और उनमें से एक भी ऐसी नहीं हैं जिनमें कोई भी स्तोत्र या पद भिन्न हों अथवा उनका क्रम भी भिन्न हो। फिर 'राम गीतावली' के कुछ पद 'रामचरितमानस' के भी पूर्व रचे गये होंगे, यह इससे ज्ञात होता है कि उसके एक पद में, जो अब 'गीतावली' के अन्त में रख दिया गया है, परशुराम और राम का मिलन मिथिला से सीता के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान करने के अनन्तर होता है और कथा का यह रूप कवि की 'रामचरितमानस' के पूर्व की रचनाओं में ही मिलता है। इसलिए यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि 'विनय पत्रिका' के स्तोत्रों-पदों की रचना एक बहुत विस्तृत अवधि में हुई है और इसलिए वह कवि के आध्यात्मिक जीवन के एक बहुत बड़े भाग का परिचय प्रस्तुत करती है।

आत्म-निवेदनपरक गीति-साहित्य में 'विनय पत्रिका' की समता की दूसरी रचना हिन्दी साहित्य में नहीं है और कुछ आलोचकों ने कहा है कि इसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ आत्म-निवेदनपरक गीति-साहित्य में भी होनी चाहिए। इसके पदों में मन को जगत् की ओर से खींचकर प्रभु के चरणों मे अपने को लगाने के लिए उद्‍बोधन है, इसलिए यहाँ एक ओर संसार की असारता और उसके मिथ्यात्वका प्रतिपादन किया गया है, दूसरी ओर यह भी समझाया गया है कि राम से बढ़कर दूसरा स्वामी नहीं है। इन प्रसंगों में राम के शील-स्वभाव का विस्तृत गुणगान किया गया है और उनके नाम स्मरण को उनके स्नेह की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन बताते हुए मन को प्रायः नामानुराग का उपदेश दिया गया है। कुछ पदों में स्वामी की सेवा में करुणतम शब्दों में अपनी दीनता का निवेदन किया गया है। स्वामी के सम्मुख अपने को सभी प्रकार से हीन, मलिन और निराश्रय कहा गया है, जिससे वे करुणासागर द्रवित होकर दास को अपने चरणों की शरण में रख लें और उसके जन्म-जन्मान्तर की साध पूरी हो। साथ ही स्वामी की उदारता का उन्हें स्मरण कराने के लिए उनकी अशरण-शरण विरुदावली भी उनके सम्मुख प्रायः प्रस्तुत की गयी है। कभी-कभी याचक माँगते-माँगते थक जाता है, जब वह स्वामी की ओर से उपेक्षा का भाव देखता है किन्तु अपने में ही कमी का अनुभव करता हुआ आशा खोता नहीं है। कुछ पदों में जीवन के पश्चात्ताप के बड़े ही प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, मन की कुटिलता और इन्द्रियपरता की भरपूर भर्त्सना की गयी है किन्तु फिर-फिर उसको प्रभु के प्रेम के मार्ग में लगाने के लिए यत्न किया गया है। अन्त में भक्त अपने प्रयासों में सफल होता है और उसके स्वामी राम उसकी प्रार्थना को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इन पदों में वैराग्य के प्रथम सोपान से लेकर प्रभु-कृपा प्राप्ति तक के अनेकानेक सोपानों को तय करने का एक बहुत कुछ पूर्ण इतिवृत्त आता है। कमी इतनी ही है कि इन पदों का रचना-क्रम निश्चित नहीं है और न हमे यह ज्ञात है कि कौन-सा पद किन परिस्थितियों में रचा गया है। फिर भी ये जिस रूप में हमें प्राप्त हैं, उस रूप में भी ये तुलसीदास की साधना का अत्यन्त प्रमाणिक यथातथ्य और विशद परिचय देते हैं और इसलिए ये सामूहिक रूप से उनकी रचनाओं में प्रायः उतने ही महत्त्व के अधिकारी है, जितना उनकी और कोई रचना है।

—मा० प्र० गु०

विनयमोहन शर्मा—जन्म १६ अक्टूबर सन् १९०५ ई० करकबेल। (म० प्र०) में। वास्तविक नाम शुकदेव प्रसाद तिवारी है। यों 'वीरात्मा' उपनाम से उन्होंने कुछ कविताएँ इत्यादि भी लिखी हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी० ए०, एवं नागपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० तथा पी-एच० डी० तथा आगरा विश्वविद्यालय से एल० एल० बी० की उपाधि प्राप्त हुई। नागपुर विश्वविद्यालय में वे हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे तथा रायगढ़ के गवर्नमेंट डिग्री कालेज के प्रिंसिपल के पद से

उन्होंने १९६० ई० में अवकाश ग्रहण किया। आप कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। आपकी अनेक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं–'भूले गीत' (१९४४), 'कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ' (१९४५), 'हिन्दी गीत गोविन्द' (१९५५ ई०), 'दृष्टिकोण' (१९५० ई०), 'साहित्यावलोकन' (१९५२ ई०), 'हिन्दी को मराठी सन्तो की देन' (१९५७ ई०), 'साहित्य, शोध, समीक्षा' (१९५८ ई०), 'साहित्य कला' (१९४०), 'रेखा और रंग' (१९५५ ई०), 'हिन्दी के व्यावहारिक रूप' (१९६८ ई०), 'साहित्यान्वेषण' (१९६९ ई०), 'साहित्य–नया और पुराना' (१९७२ ई०), 'भाषा, साहित्य, समीक्षा' (१९७२ ई०)। इनमें से प्रथम कविता संग्रह है एवं तृतीय जयदेव के प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद। 'हिन्दी को मराठी-सन्तों का योगदान' उनका शोध-ग्रन्थ है तथा शेष पुस्तकें निबन्धों के संकलन हैं। इन निबन्धों में कतिपय अनुसन्धानपरक हैं एव कुछ में स्वतंत्र समीक्षात्मक प्रयास हैं। कुछ निबन्ध या समीक्षाएँ या तो छात्रोपयोगी हैं या फिर परिचयात्मक टिप्पणियाँ मात्र। उनकी पुस्तकों में संस्मरण भी मिल जाते हैं तथा 'कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ' में उन्होंने आँसू के कुछ दुरूह स्थलों की टीका भी की है। अपने शोध-ग्रन्थ एवं कुछ निबन्धों में उन्होंने अन्तरप्रान्तीय साहित्यों (हिन्दी और मराठी) के तुलनात्मक अध्ययन को उपस्थित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

विनयमोहन शर्मा की आलोचनाओं का मूल स्वर वस्तुत: 'अकादमिक' है। वे मुख्यत: अध्यापक रहे हैं और अध्यापक का स्वर उनमें सर्वत्र प्रमुख है। भरसक उन्होंने चेष्टा की है कि किसी भी 'वादी' दृष्टि में न बँधकर तटस्थ एवं वैज्ञानिक समीक्षाएँ लिखी जाएँ। अपने दृष्टिकोण को 'साहित्यावलोकन' के 'दृष्टिक्षेप' में उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है, "एक बात का यत्न मैंने अवश्य किया है कि साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को वादग्रस्त होने से बचाया है। अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य की कसौटी मान कर उसका रसास्वादन मेरा ध्येय रहा है।" पर इस रसवादी दृष्टिकोण में भी एक बात व्याख्या-सापेक्ष है और वह है 'अनुभूति का प्रकाश'। विनयमोहनजी ने इसके लिए बहुधा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रवर्तित शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है पर शुक्लजी के पूर्वाग्रहों से उन्होंने अपने को बचाकर 'सन्तसाहित्य' या 'छायावाद' को अपनी सहृदयता दी है। आधुनिक काल के दो प्रभावशाली मतवादों 'फ्रायडवाद' और 'मार्क्सवाद' को उन्होंने एकांगी माना है ('दृष्टिकोण' पृ० २, १९ और २५)। फ्रायड का तो उन्होंने बहुत विरोध किया है और मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर रचित साहित्य को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए वे अनुचित मानते हैं। प्रगतिवादी साहित्य के बारे में उनकी धारणा है कि उसमें "प्रेरणा नहीं प्रयास" होता है, इसी से उसके 'स्थायित्व में सन्देह है" उन्हें। उनकी समीक्षा–दृष्टि के मूल में "नैतिक आचार" और "समाज-स्वास्थ्य" की धारणा भी बराबर बनी रहती है। यह अवश्य है कि भौतिक प्रतिमानों को वे शाश्वत नहीं मानते पर उनकी परिवर्त्तमान सत्ता पर शर्माजी का विश्वास है। आदर्शवाद और यथार्थवाद के समन्वय पर भी उन्होंने बल दिया है। शर्माजी की भाषा शैली में भी एक अध्यापक की सरलता एवं स्पष्टता है।

–दे० शं० अ०

विनायक दामोदर सावरकर–इनका जन्म नासिक (महाराष्ट्र) के निकट मगूर नामक स्थान में २८ मई, १८८३ ई० को चितपावन ब्राह्मणपरिवार में हुआ था। सावरकरजी का जीवन क्रान्तिकारी घटनाओं से परिपूर्ण है और राष्ट्र-भक्ति एवं हिन्दुत्व उनके सार्वजनिक जीवन का मूलाधार हैं। बंग-भग आन्दोलन से सम्बन्धित जो प्रतिक्रियाएँ इस शताब्दी के आरम्भ में देशभर में हुईं, उनसे उन्हें प्रेरणा मिली। उनके जीवन की घटनाएँ रोमांचकारी हैं और किसी उपन्यास के घटना क्रम से कम रोचक नहीं। उत्साह, साहस तथा वीरता जैसे मानवोचित गुणों के अतिरिक्त सावरकर ने जन्मजात बौद्धिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। ४० वर्ष हुए जब उन्होंने मराठी में लिखना आरम्भ किया। उनके लेखों के कारण मराठी साहित्यिक क्षेत्रों में काफी हलचल मची, क्योंकि वे भाषा की विशुद्धता और शैली की गरिमा के कट्टर समर्थक थे। सावरकर का दृष्टिकोण अखिल भारतीय था, इसलिए आरम्भ से ही जो प्रयत्न उन्होंने मराठी को उन्नत करने के लिए किये, वही हिन्दी की प्रगति के हेतु भी किये। 'राष्ट्रभाषा हिन्दी का नया स्वरूप' शीर्षक लेख में उन्होने लिखा है कि "संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को ही हर हालत में राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए। मुसलमान लोगों को प्रसन्न करने के लिए हिन्दी को विकृत करने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी से संस्कृत शब्दों का बहिष्कार उचित नहीं।" इससे भाषा तथा लिपि के सम्बन्ध में सावरकरजी के विचार स्पष्ट हो जाते हैं। उनकी शैली इसी विचार के अनुरूप है और हिन्दी के लिए भी, जिसे उन्होंने सदा राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है, इसी मत का अवलम्बन किया है। सन् १९३७ में हुए अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के रत्नागिरि अधिवेशन में सावरकर के प्रयत्न से अखिल भारतीय भाषा के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसके अनुसार देवनागरी लिपि को राष्ट्रलिपि और संस्कृतगर्भित हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत किया गया। इस अवसर पर सावरकर ने अपने भाषण में समस्त देश के साहित्यिकों से अनुरोध किया कि वे सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखना आरम्भ करें। स्वयं सावरकर ने हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी में भाषण देने की परिपाटी को अपनाया। उन्होंने संस्कृत को देवभाषा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिया था। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है कि "हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा स्वीकार करने में अन्य प्रान्त की भाषा के सम्बन्ध में कोई अपमान की भावना या ईर्ष्यालु भावना नहीं है। हमें अपनी प्रान्तीय भाषाओं से भी उतना ही प्रेम है, जितना कि हिन्दी से। ये सब भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र में उन्नत होती रहेंगी। वास्तव में कुछ प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हैं परन्तु फिर भी हिन्दी अखिल हिन्दुत्व की राष्ट्रभाषा होने के लिए सब प्रकार से सर्वश्रेष्ठ है।"

–ज्ञा० द०

विनोदशंकर व्यास–जन्म १९०३ ई० वाराणसी में। शैलीकार के रूप में व्यास हिन्दी के मान्य लेखकों में से है। विविध प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं। आलोचनात्मक ग्रन्थों में

'कहानी कला' (१९३५ ई०) और 'उपन्यास कला' (१९३२) मुख्य हैं। आपकी 'प्रसाद और उनका साहित्य' नामक आलोचना पुस्तक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। यह पुस्तक सर्वप्रथम १९४० ई० में प्रकाशित हुई। १९५२ ई० में पाश्चात्य साहित्यकारों की जीवनी पर एक पुस्तक लिखी। इसी सिलसिले में १९५५ ई० में यूरोपीय साहित्य पर एक आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखा। अच्छे कहानी लेखक होने के नाते व्यासजी की कहानियों का भी विशेष महत्त्व है। १९५८ ई० में आपकी कहानियों का एक संग्रह 'मेरी कहानी' के नाम से प्रकाशित हुआ।

व्यासजी की शैली इतनी विशिष्ट है कि हिन्दी के साहित्यकारों पर आपके लिखित कुछ संस्मरण अपने युग का चित्र खींच देते हैं। कहानियों में भी कला पक्ष का पूर्ण निर्वाह शैली की प्रांजलता के साथ-साथ हुआ है। 'कहानी कला' पर आपकी पुस्तक में रूढ़िग्रस्त नियमों और उनकी उपलब्धियों पर अच्छी चर्चा की गयी है। उपन्यास कला पर भी आपने केवल 'कला' पक्ष के स्वीकृत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। व्यक्तिगत व्याख्या या दृष्टिकोण उसमें कम है। यूरोपीय साहित्यकारों पर लिखी गयी पुस्तक हिन्दी के पाठकों को प्राथमिक ज्ञान प्रदान करने में बड़ी सहायक हुई है। इस समय आप कुछ हिन्दी साहित्यकारों से सम्बन्धित संस्मरण लिख रहे हैं। आपने 'मधुकरी' नाम से एक कहानी संग्रह प्रकाशित कराया है।

—ल० कां० व०

विनोबा भावे—जन्म ११ सितम्बर १८९५ ई०, महाराष्ट्र में कुलाबा जिले के गागोदा ग्राम में। विनोबा भावे देश की सनातन परम्परा की लड़ी हैं। एक समय था जब सिद्ध, साधु-सन्त और परिव्राजक देश का भ्रमण करते थे और उनके परिव्रजन के कारण 'अवहट्ठ' अथवा एक देशव्यापी अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई। विनोबा की यात्राएँ, उनके दैनिक प्रवचन, सुलझे हुए विचार और सरल हिन्दी में उनके उपदेश—ये सब उसी क्रम की लड़ियाँ हैं। भाषा के विस्तार और विचारों के प्रसार का आज के वैज्ञानिक युग में भी भ्रमण से बढ़कर प्रभावपूर्ण माध्यम दूसरा कोई नहीं और जब यह यात्रा पैदल की जाती हो तो यह माध्यम और भी प्रभावोत्पादक और शक्तिशाली बन जाता है। हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती है—इस कथन को विनोबा प्रतिदिन व्यवहार की कसौटी पर कसकर सत्यरूप दे रहे थे। देश और काल से मुक्त हिमालय से निःसृत गंगा की धारा की तरह विनोबा की वाणी देश-प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं का विचार किये बिना निरन्तर बहती चलती है।

मराठी भाषी विनोबा का हिन्दी से सम्बन्ध उनके सार्वजनिक जीवन से भी पुराना है। संस्कृत से उनका अनुराग बाल्यावस्था में ही हो गया था। संस्कृत से अन्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी तक पहुँचने में उन्हें देर नहीं लगी। वे बराबर हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानकर अधिकतर उसी में बोलते और लिखते रहे हैं। देहातों में घूमते समय सत्याग्रह आन्दोलन के समय और कारावास-दण्ड की अवधि में उन्होंने विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रवचन-प्रणाली अपनायी। गीता पर उनके पहले क्रमबद्ध प्रवचन मराठी में हुए, जिनका हिन्दी रूपान्तर मराठी से भी अधिक लोकप्रिय हुआ। असहयोग आन्दोलन और सर्वोदय संचालन में भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया, जिसके फलस्वरूप बहुमूल्य निबन्धसंग्रह पाठकों को मिले। सन् १९३६-३७ ई० से विनोबा के प्रवचनों का एकमात्र माध्यम हिन्दी हो गयी और अब हिन्दी के विकास और विस्तार में भूदान-यात्रा का सबसे बड़ा सहयोग है।

विनोबा बहुभाषाविद् थे, अतः उनके विचारों का प्रसार और विस्तार अबाध बढ़ता जाता था। इसके अतिरिक्त गान्धीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुरूप भारत के चित्र को बदलने के लिए सतत प्रयत्नशील थे। सर्वोदय और भूदान उनके सार्वजनिक कार्यक्रम के अंग हैं ही, राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भी उन्होंने गहरा मनन किया है। विनोबा की दृढ़ धारणा है कि ज्ञान का प्रसार निजी भाषा द्वारा ही हो सकता है।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न विनोबा के लिए न पेचीदा है और न विषम। वे समझते है कि सारी बात सीधी-सादी है। बहुभाषाविद् विनोबा, जो भाषाओं के गुणों तथा व्यापकता के पारखी हैं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा तभी कहते हैं, जब उसे अधिकांश भाग मे प्रचलित पाते हैं और इसमें जन-जीवन की अविरल धारा प्रवाहित होते देखते हैं।

विनोबा के विलक्षण विचार और मौलिक सूक्ष ने एक नवीन शैली को जन्म दिया है। उनकी भाषा-शैली सूत्रमय होते हुए भी सरल है। उनकी भाषा पर प्राचीन परम्परागत सन्तों की वाणी का प्रभाव है। विचारों को सुग्राह्य बनाने के लिए वे दृष्टान्त का सहारा लेते हैं। ये दृष्टान्त भी दैनिक जीवन और चिन्तन की परिधि से बाहर नहीं होते। विनोबा का शब्द-भाण्डार बहुत विस्तृत है, जिसका कारण उनका विशद अध्ययन और पाण्डित्य है। एक और आधारभूत बात यह है कि वे शब्द-विन्यास अथवा भाषा-कलेवर की अपेक्षा विचारों के संचार को अधिक महत्त्व देते हैं। रमते योगी की तरह जन-जन की वाणी में हिन्दी का साक्षात्कार करते हैं और स्वयं हिन्दी द्वारा अपने विचारों को संचारित करते हैं। उनकी भाषा में एक उन्मुक्त निर्लिप्तता है, जो कबीर की वाणी की याद दिलाती है। उनकी वाणी में वही सरलता है, जो हमको रामकृष्ण परमहंस और गान्धीवचनामृत में मिलती है। वही सरलता, वही गहनता, वही पैठ, वही अनुभूति। कबीर ने एक स्थान पर कहा है—"तू कहता है कागद लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी"—सो सन्त विनोबा 'आँखिन देखी' कहते हैं, 'कागद-लेखी' नहीं। उनका पुस्तक-पाण्डित्य निस्सन्देह अगाध है पर वे जो कुछ कहते हैं, वह अनुभूत तत्त्व होता है, केवल पोथी-ज्ञान नहीं। विनोबा-वाणी से हिन्दी की अभिनव श्री सुन्दर और समृद्ध बनी है। अनेक पुस्तक-रत्न उसे विनोबा से भेंट मिले हैं, जिनके कुछ नाम हैं—'गीता-प्रवचन' (इसकी अबतक लाखों प्रतियाँ छप चुकी हैं), 'ईशावास्यावृत्ति' 'ईशावास्योपनिषद्', 'स्थितप्रज्ञ दर्शन', 'उपनिषदों का अध्ययन', 'विनोबा के विचार', 'शान्तियात्रा', 'गान्धीजी को श्रद्धांजलि', 'सर्वोदय विचार', 'जीवन और शिक्षण', 'शिक्षण विचार', 'आत्मज्ञान और विज्ञान', 'साहित्यिकों से', 'भूदान गंगा', 'शान्ति सेना', 'सर्वोदय सन्देश', 'त्रिवेणी', 'हिंसा का मुकाबला', 'कार्यकर्त्ता वर्ग', 'भूदानयज्ञ', 'गाँव-गाँव में स्वराज्य', 'स्वराज्य शास्त्र', 'भगवान् के दरबार में', 'सर्वोदय

का घोषणापत्र', 'जमाने की माँग', 'राजघाट की सन्निधि में', 'गाँव सुखी हम सुखी', 'सर्वोदय यात्रा' इत्यादि। इनका देहान्त सन् १९८२ में हुआ।

—ज्ञा० द०

विश्वयविभूति—दे० 'मलूकदास'।

विभीषण—रामकथा के पात्रों में विभीषण का महत्त्व रावण के बाद ही माना जा सकता है। कुछ सन्दर्भों के अनुसार विभीषण रावण का सहोदर भाई नहीं ज्ञात होता। एक किंवदन्ती के अनुसार अग्नि द्वारा दशरथ को दिया गया पायस एक काक काकषी नामक एक राक्षसी विशेष को दे देता है, जिससे विभीषण की उत्पत्ति होती है। रामकथा में विभीषण का महत्त्व राम के साथ उसका मैत्रीभाव ही है। यह अवश्य द्रष्टव्य है कि वाल्मीकि ने राम और विभीषण की मैत्री को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। 'रामचरित मानस' में तुलसीदास ने उसे एक परम भक्त के रूप में चित्रित करके रामकथा के पात्रों में उसका स्थान सम्माननीय बना दिया है। विभीषण के रूप में तुलसीदास ने एक ऐसे भक्त का चरित्र-चित्रण किया है, जो चारों ओर से विपरीत परिस्थितियों से घिरा रहकर रामभक्ति में अटल रहता है। रावण के बन्दीगृह में सीता को देखकर विभीषण अत्यन्त व्यथित होता है, वह रावण को सतुपथ पर लाने का यत्न करता है और अन्त में रावण के द्वारा तिरस्कृत और अपमानित होकर राम द्वारा लंका विजय की प्रतीक्षा करते हुए रामभक्ति में लीन हो जाता है। लंकाविजय में राम को विभीषण से बहुमूल्य सहायता प्राप्त होती है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर वह राम के दुःख में दुखी होता है और लक्ष्मण को पुनर्जीवित करने का उपाय बताता है। इस अवसर पर राम अपनी व्यथा और निराशा को प्रकट करते हुए लक्ष्मण, सीता और स्वयं अपने से भी अधिक विभिषण के लिए चिन्तित होते हैं। तुलसीदास ने केवल 'रामचरितमानस' में ही नहीं, वरन् अपने अन्य ग्रन्थों में भी जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिला है, राम की इस भावना को अवश्य व्यक्त किया है। यद्यपि इसमें प्रमुख रूप में राम के शील-सौजन्य की ही प्रशंसा है कि वे सबसे अधिक इस बात के लिए चिन्तित है कि रावण के द्वारा विजित हो जाने पर विभीषण की क्या गति होगी। विभीषण उनका शरणागत है, शरणागत की रक्षा करना परम धर्म है। वे अपने इस धर्म का किस प्रकार निर्वाह कर सकेंगे परन्तु इससे विभीषण के चरित्र की महत्ता भी प्रमाणित होती है। राक्षस-कुल में जन्म लेकर भी जिस व्यक्ति को राम का इतना विश्वास प्राप्त हुआ, वह निश्चय ही सराहनीय है। परन्तु भक्ति की दृष्टि से विभीषण की सराहना करते हुए भी लोक-मनास में विभीषण के प्रति किंचित् घृणा का भाव रहा है क्योंकि उसने अपने भाई और अपने देश के प्रेति द्रोह करके वैरी का साथ दिया। तुलसी के बाद राम-कथा सम्बन्धी काव्यों में विभीषण का चरित्र बहुत कुछ 'मानस' के आधार पर ही चित्रित हुआ है, यद्यपि आधुनिक काल के काव्यों में युग की भावना से प्रभावित होकर जहाँ रावण को सहानुभूति दी गयी है, वहाँ विभीषण की भी निन्दा हुई है (दे० रावण)।

—यो० प्र० सिं०

वियोगी हरि—जन्म सन् १८९६ ई०, छतरपुर राज्य, कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण ननिहाल में हुआ। हिन्दी और संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। मैट्रिकुलेशन की परीक्षा इन्होंने १९१५ ई० में छतरपुर के हाईस्कूल से पास की। किशोरावस्था से ही दर्शन-शास्त्र में विशेष अभिरुचि थी। छतरपुर की महारानी कमलकुमारी 'युगलप्रिया' के स्नेह-सिक्त सम्पर्क से उनके साथ भारत के प्रसिद्ध तीर्थों का इन्होंने भ्रमण किया। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन, प्राचीन कविताओं का संग्रह तथा सन्तों की वाणियों का संकलन किया है। कविता, नाटक, गद्यगीत, निबन्ध आदि के अतिरिक्त बालोपयोगी पुस्तकें और महापुरुषों की जीवनियाँ लिखी हैं। १९३२ ई० से साहित्यसाधना से विरत होकर हरिजन सेवक संघ, दिल्ली, गांधी स्मारक निधि एवं भूदान आन्दोलन का कार्य कर रहे हैं।

धर्म, दर्शन, भक्ति, हरिजन कार्य, सामाजिक सुधार, तथा अनेक साहित्यिक विषयों को लेकर वियोगी हरि ने लगभग ४०-४५ पुस्तकें लिखी हैं—'साहित्य विहार' (१९२२ ई०), 'छद्मयोगिनी नाटिका' (१९२२ ई०), 'ब्रज माधुरी सार' (१९२३ ई०), 'कवि कीर्तन' (१९२३ ई०), 'सूरदास की विनयपत्रिका' (१९२४ ई०), 'अन्तर्नाद' (१९२६ ई०), 'भावना' (१९२८ ई०), 'प्रार्थना' (१९२९ ई०), 'तुलसीदासकृत विनय-पत्रिका हरिजोणी टीका' (१९२३ ई०), 'वीर-सतसई' (१९२७ ई०), 'विश्वधर्म' (१९३० ई०), 'योगी अरविन्द की दिव्यवाणी', 'छत्रसाल ग्रन्थावली', 'मन्दिर प्रवेश', 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य-चरित' (१९२९ ई०), 'अनुरागवाटिका', 'मेवाड़ केशरी', 'चरखा स्तोत्र', 'चरखे की गूँज', 'गान्धी जी का आदर्श', 'प्रेमशतक', 'प्रेमपथिक', 'प्रेमांजलि', 'प्रेमपरिषद्', 'वीर बिरुदावली', 'गुरु पुष्पांजलि', 'सन्तवाणी', 'सन्त-सुधासार', 'युद्ध वाणी', 'यों भी तो देखिये', 'श्रद्धाकण', 'पावभर आटा', 'जपुजी', 'संक्षिप्त सूरसागर', 'सन्त सुधासार', 'दादू', 'शुकदेव खण्डकाव्य', 'तरंगिणी', 'मेरा जीवन प्रवाह' आदि। इनमें 'वीर सतसई' अत्यधिक प्रसिद्ध कृति है।

वियोगी हरि का अध्यात्म-चिन्तन सर्वेश्वरवादी है। उनकी प्रेमलक्षणाभक्ति, ज्ञान एवं कर्म की अविरोधिनी है। उस पर सूर, तुलसी, कबीर तथा सूफी कवियों की विचारधारा का प्रभाव पड़ा है। उनका धर्म समन्वयवादी विश्वधर्म है, जिसका आदर्श बहुत कुछ गान्धीवाद और आधार ईश्वरवाद है। सामाजिक विचार सुधारवादी और कबीर आदि सन्तों की भाँति खण्डनात्मक है। उनकी रचनाओं में मुख्यतः वीर और शान्त भावना की व्यंजना हुई है। उनके गद्य गीत चिन्तनप्रधान एवं व्यंग्यात्मक हैं। गद्यभाषा अलंकृत, काव्यात्मक, लाक्षणिक तथा काव्य-भाषा सरल और मिश्रित है। वियोगी हरि आधुनिक ब्रजभाषा के प्रमुख कवि, हिन्दी के सफल गद्यकार और देश के समाजसेवी सन्त हैं।

वियोगीहरि गत ४० वर्षों से हिन्दी-साहित्य की सक्रिय सेवा कर रहे हैं। सन् १९१७ ई० में श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन से इनका परिचय हुआ और इन्हीं से उन्हें लेखन और साहित्य-सेवा की सबसे पहले प्रेरणा मिली। इनकी प्रवृत्ति अस्पृश्यतानिवारण की दिशा में उन्होंने १९२० ई० में कानपुर के 'प्रताप' में एक लेखमाला लिखी थी। गान्धीजी के

सम्पर्क ने इन्हें इस कार्य से और अधिक बाँध दिया और यह कार्य ही उनके जीवन का एक उद्देश्य बन गया। गान्धीजी द्वारा प्रवर्तित 'हरिजन-सेवक' (हिन्दी संस्करण) के सम्पादन का कार्य भी इन्होंने सँभाल लिया। तभी से आज तक हरिजन सेवक संघ से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध और उसकेयह अध्यक्ष भी हैं।

इन्होंने १९२५ ई० में टण्डनजी के साथ प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की। सन् १९२८ ई० में 'वीर सतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषक भी पाया।

—स० ना० त्रि० और ज्ञा० द०

विरंची—(ब्रह्मा) वैष्णव धर्म के त्रिदेवों में विरंची प्रायः विश्वरचना विधायक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। इनके अन्य नामों में प्रजापति, ब्रह्मा, चतुरानन आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेद में अनेक प्रजापतियों का उल्लेख मिलता है। विष्णु एवं शिव की परम्परा में ये परवर्ती धार्मिक साहित्य में मिलते अवश्य हैं किन्तु उतने पूज्य नहीं हैं। इसका कारण वस्तुतः नारद का शाप कहा जाता है। इनके १० पुत्रों का उल्लेख मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ आदि के रूप में प्राप्त होता है। नारद इनके अन्तिम पुत्र कहे गये हैं। इनकी एक पुत्री सरस्वती का उल्लेख प्रायः समस्त पुराणों में मिल जाता है। यह भी परम्परा प्रचलित है कि ये इनकी प्रथम कृति थीं और इनके रूप दर्शन के लिए लालायित विरंचि को स्वतः चतुर्भुज़ बनना पड़ा और अन्त में इन्होंने सरस्वती से विवाह भी कर लिया। विरंचि की पूजा का विधान अब हिन्दू धर्म में पूर्णतः लुप्त हो गया है।

—यो० प्र० सिं०

विरहमंजरी—दे० 'नन्ददास'।

विराटा की पद्मिनी—लेखक—वृन्दावनलाल वर्मा, रचनाकाल—१९३३ ई०, प्रकाशन—सन् १९३६ ई०। पालर नामक स्थान में एक दांगी के घर कुमुद नामकी एक अत्यन्त लावण्यमयी कन्या थी, जो अपने गुणों के कारण दुर्गा का अवतार समझी जाती थी। दिलीपनगर के विलासी राजा नायक सिंह ने उसकी ख्याति सुनकर पालर के झील के पास डेरा डाला। राजा का दासी पुत्र कुंजर सिंह भी देवी के दर्शन करने पालर गया और कुमुद को देखकर उस पर मुग्ध हो गया, कुमुद भी उसकी ओर आकर्षित हुई। देवी के दर्शन से लौटते समय सेनापति लोचन सिंह और कालपी के नवाब अली मर्दान के सैनिकों में झगड़ा हो गया और दोनों राज्यों के बीच संघर्ष का सूत्रपात हुआ। इस संघर्ष में देवीसिंह नामक एक बुन्देली युवक ने, जो पालर के गोमती नामक लड़की से ब्याह करने जा रहा था , राजा की रक्षा की। राजा की मृत्यु के पश्चात् नीतिज्ञ मन्त्री जनार्दन शर्मा ने कुंजर सिंह को राजा न बनाकर देवीको राजा बनाया। कुंजर सिंह विद्रोही होकर घूमने लगा। युद्ध के भय से कुमुद का पिता उसे लेकर विराटा की गढ़ी में चला गया। गोमती भी अब कुमुद के पास रहने लगी। धीरे-धीरे कुंजर और कुमुद का प्रेम विकसित होने लगा। परिस्थितिवश अली मर्दान ने विराटा पर आक्रमण किया। विराटा के दांगियों ने जौहर किया और भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध में कुंजर सिंह सूखे फूलों की माला पहने हुए, जिसे कुमुद ने क्षणभर पूर्व पहनाया था, वीरता के साथ लड़ता रहा पर अन्त में मारा गया। देवी का अवतार समझी जानेवाली कुमुद छमछम करती हुई बेतवा की धारा में आत्मोसर्ग कर विलीन हो गयी।

इस उपन्यास के सभी पात्रों में कुछ-न-कुछ अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। राजा नायक सिंह का व्यक्तित्व कुछ विचित्र हैं—क्षण में ही क्रोधित और क्षण में प्रसन्न। राजा का मन्त्री जनार्दन शर्मा कुटिल नीतिज्ञ है। सेनापति लोचन सिंह वीर, उतावले स्वभाव का तथा आनपर मर मिटने वाला है। राजा का नौकर रामदयाल अत्यन्त ही कपटी, नीच और अवसरवादी है। छोटी रानी चतुर, वीर, नीतिज्ञ किन्तु निस्सहाय रमणी हैं।

कुंजर और कुमुद इस कथा के आदर्श पात्र हैं। कुंजर, कुमुद के रक्षार्थ अपना सब कुछ खो देता है और कुमुद कुंजर के लिए बेतवा में विलीन हो जाती है।

इस उपन्यास में जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण है ओर वह यह है कि प्रेम की अनुभूति मानवता का आग्रह है। वास्तविक प्रेम में त्याग की भावना प्रधान होती है, भोग की नहीं।

शैली 'गढ़ कुण्डार' की तरह ही मुख्यतया वर्णनात्मक है। कहीं-कहीं भावात्मकता का दर्शन होता है, विशेषतः प्रेम और रूप वर्णन के प्रसंगों में। उसमें बुन्देली संस्कार स्पष्टतया झलकता है।

—ज० गु०

विरुद्धक—प्रसादकृत नाटक 'अजातशत्रु' का पात्र विरुद्धक कोशलनरेश प्रसेनजित् का पुत्र और कोशल का राजकुमार है। 'अंगुत्तर निकाय' में इसका नाम विडूडूभ और इसकी माता का नाम वासभाखत्तिया बताया गया है। नाटक में उसका विचित्र व्यक्तित्व अजातशत्रु से भी अधिक वैचित्र्यपूर्ण चित्रित किया गया है। उसकी माता शक्तिमती दासीपुत्री है, अतः वह राजपद से वंचित कर दिया जाता है। विरुद्धक निर्भीक, साहसी, कार्यकुशल योद्धा है। अधिकारच्युत किये जाने पर उसमें विरोधमूलक दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। माता से प्रोत्साहान पाकर वह प्रतिशोध लेने के लिए राष्ट्रद्रोही बन जाता है। विरुद्धकसम्बन्धी कथानक का आधार 'धम्मपद' अट्ठकथा', 'अंगुत्तर निकाय', 'संयुत्त निकाय', 'महावंस', 'जातकग्रन्थ' आदि बौद्ध ग्रन्थ हैं। वंचित प्रणय की पीड़ा से निरुतसाहिते विरुद्धक को शक्तिमती उत्साहित कर "महत्त्वकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने को प्रस्तुत करती है।" कोशल की सीमा से निकलकर वह साहसिक बन जाता है और शैलेन्द्र नामधारी डाकू बनकर काशी की जनता में आतंक फैलाता है। हत्या और लूट के द्वारा शक्ति संचित करता है। लोभ में पड़कर वह कोशल सेनापति बंधुल की छलपूर्वक हत्या कर देता है। श्यामा के आलस्यपूर्ण सौन्दर्य की तृष्णा से अतृप्त रहते हुए भी उसे "भावी कार्यक्रम में विघ्नस्वरूप" मानकर उसका गला घोंटने के लिए प्रस्तुत होता है। इस प्रकार अपने अभीप्सित उद्देश्य की पूर्ति करने में कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटकों को निर्दयतापूर्वक हटा देता है। अपनी कार्यसिद्धि के लिए उचित-अनुचित साधनों का कुछ भी विवेक नहीं करता। श्यामा के प्रति उसका प्रेम वासनामय, मलिन और दोषपूर्ण है। वह प्रेम में विश्वासघात करके उसे मार डालने का असफल प्रयत्न करते हुए उसके आभूषण उतार

लेता है। साध्वी मल्लिका द्वारा सेवा पाकर अपनी कलुषित दृष्टि से उसे प्रेम पात्री समझने लगता है। अंत में मल्लिका के द्वारा सन्मार्ग में आकर और उसी की कृपा से प्रसेनजित् द्वारा पुनः स्वीकार किया जाता है।

साहसिक के रूप में वह निर्भीक, पराक्रमी और व्यवहार कुशल योद्धा है। पर्याप्त साधनों के अभाव में एवं अजातशत्रु की दुर्बलताओं के कारण ही वह असफल रहता है। उसमें आत्म-सम्मान की प्रबल भावना है। वह बंधुल से स्पष्ट कहता है : "मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिये, स्वत्व चाहिये।...मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा, क्षत्रिय कुमार हूँ, चिन्ता क्या है?" विरुद्धक के चरित्रगत दोष परिस्थितिसापेक्ष हैं। परिस्थितियों के कारण ही वह राष्ट्र-द्रोह करता है। मल्लिका ने प्रसेनजित् से उसके उज्ज्वल पक्ष की ओर संकेत करते हुए कहा है : "राजन्! विद्रोही बनाने का कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभ चिन्तक हो सकता था।" अन्त में मल्लिकादेवी द्वारा सद्बुद्धि प्राप्त होने पर वह अपने पिता से क्षमा माँगता है और उसे पुनः पिता का स्नेह, युवराज-पद और राजोचित सम्मान प्राप्त होता है।

विरुद्धकसम्बन्धी घटना का वर्णन 'अवदान कल्पलता' में भी मिलता है। बिम्बसार और प्रसेन दोनों के पुत्र विद्रोही थे और तत्कालीन धर्म के उलट-फेर में गौतम के विरोधी थे। इसीलिए उनका क्रूरतापूर्ण अतिरंजित चित्र बौद्ध-इतिहास में मिलता है। उस काल के राष्ट्रों के उलट-फेर में धर्म के दुराग्रह ने भी संभवतः बहुत-सा भाग लिया था। विरुद्धक ने कपिलवस्तु का जनसंहार इसलिए चिढ़कर किया था कि शाक्यों ने धोखा देकर प्रसेनजित् से शाक्यकुमारी के बदले एक दासी-कुमारी का ब्याह कर दिया था, जिससे दासी संतान होने के कारण विरुद्धक को अपने पिता के द्वारा अपदस्थ होना पड़ा था। शाक्यों के संहार के कारण बौद्धों ने इसे 'क्रूरता का अवतार' कहा है।

—के० प्र० चौ०

विरोचन—बलि का पिता तथा प्रह्लाद का पुत्र एक प्रसिद्ध असुरराज। वह प्रायः असुरों की सहायता के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करता रहता था। इसने गायरूपी पृथ्वी का दुग्ध निकालने के लिए असुरों के सहायतार्थ वत्स का रूप धारण कर लिया था। इसका नाम सूरदास आदि ने वैरोचन भी लिखा है। इसका उल्लेख 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध के १०४वें पद में हुआ है।

—यो० प्र० सिं०

विशाख—'विशाख' नामक नाटक की कथा का आधार कल्हण की 'राजतरंगिणी' का आरम्भिक अंश है। किंचित् परिवर्तन के साथ प्रसाद ने उस इतिवृत्त को स्वीकार कर लिया है। प्रस्तुत नाटक का कथा-काल नाटककार द्वारा ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्वीकार किया गया है। मुख्य पात्र के अनुरूप प्रेमानन्द और महापिंगल जैसे काल्पनिक पात्रों की अवतारणा भी की गयी है। नाटक का नायक विशाख तक्षशिला विश्वविद्यालय का नया-नया निकला हुआ सांसारिकता से शून्य एक ब्राह्मण युवक है, जिसमें सहानुभूति, संवेदनशीलता, गुरु-भक्ति एवं कर्त्तव्यपालन की भावना का प्राचुर्य है। "उन्नति के लिए पहली दौड़ लगाने के" पूर्व वह यह समझ लेता है कि यौवन को सुख का संदेशवाहक समझना भारी भ्रम है। आशाप्रद भावी सुखों के लिए इसे कठोर कर्मों का संकलन ही समझना उचित होगा। इस उद्देश्य से परिचालित होकर वह अनागत जीवन में नयी विघ्न-बाधाओं को बड़ी दृढ़ता के साथ निबटाता हुआ उन्नति पथ पर अग्रसर होता है। परदुःखकातरता एवं सेवा-भाव का संस्कार उसे अपने गुरु प्रेमानन्द की सत्-शिक्षा से प्राप्त हुआ है। अपने इसी वैयक्तिक स्वभाव के कारण वह दारिद्रय पीड़ित इरावती और चन्द्रलेखा की पग-पग पर सहायता करता है और चन्द्रलेखा को बौद्ध महन्त कुशील सत्यशील के बन्धन से मुक्त कराता है। इसी के प्रयत्न से सुश्रुवा नाग को अपनी अपहृत भूमि पुनः प्राप्त होती है। विशाख में निष्कपट हृदय से प्रेरित निर्भीकता की मात्रा यथेष्ट है। राजदरबार के कृत्रिम नियमों के कारण कभी-कभी इस अक्खड़पन के कारण उसे डाँट भी सहनी पड़ती है किन्तु अन्त में इसी गुण के कारण उसे सफलता मिलती है। आत्मबल से प्रेरित इसी निर्भीकता के बल पर वह दुराचारी सत्यशील के अन्यायपूर्ण कुकृत्यों को राजा नरदेव के समक्ष उद्घाटित करता है। यही नहीं, वह न्यायासन पर आसीन राजा नरदेव पर भी आक्षेप करता हुआ तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य में कहता है : "नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाय, जब कि अभियोग ही उलटा हो और जो अभियुक्त हो—वही न्यायाधीश हो।" विशाख में स्वाभिमान की भी कमी नहीं है। इसीलिए वह चन्द्रलेखा को नरदेव के हवाले करने का घृणित प्रस्ताव करनेवाले महापिंगल का मस्तक तलवार से काट डालता है। नरदेव को घायल देखकर भी उसके विरुद्ध उसकी प्रतिहिंसा जाग उठती है। विशाख के चरित्र का कोमलतम पक्ष चन्द्रलेखा के प्रति प्रेम की भावना है। इसी से परिचालित होकर वह पुरुषार्थ करता है और अन्यायों का प्रतिकार करता है। वह स्वयं स्वीकार करता है कि "चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि वह धर्मभाव न जागता।" उसका सारा जीवन चन्द्रलेखा के प्रेम से अनुप्राणित है। इस दृष्टि से विविध कार्य व्यापारों में उसकी संलग्नता स्वार्थप्रेरित प्रतीत होते हुए भी सात्त्विक मानी जा सकती है।

विशाखदत्त अपने आचार्य प्रेमानन्द का सुयोग्य शिष्य एवं गुरुभक्त है। वह उनके प्रत्येक आदेश को ग्रहणकर उनका अक्षरशः पालन करता है। उन्हीं की आज्ञा से भिक्षु और नरदेव की हत्या करने के लिए उत्तेजित होता हुआ भी रुक जाता है। इस प्रकार विशाखदत्त नायकोचित गुणों से परिपूर्ण है। नाटक का नामकरण भी उसी के नाम से हुआ है। वह पुरुषार्थी, परोपकारी, विनम्र एवं संवेदनशील है। नाटक की सभी प्रमुख घटनाओं से उसका सम्बन्ध है, नायिका की प्राप्ति भी उसी को होती है। प्रसाद की यह प्रारम्भिक नाट्यकृति होने के कारण नायक के रूप में जैसी उसकी सुव्यवस्था, विकास क्रम की सुस्पष्टता एवं उत्कर्षपूर्ण चरित्र चित्रण होना चाहिए, वैसा नहीं हो सका, यह तो स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है।

—के० प्र० चौ०

विशाल भारत—'विशाल भारत' सन् १९२८ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके संस्थापक थे रामानन्द चटर्जी। बनारसीदास चतुर्वेदी इसके प्रथम सम्पादक हुए और

वे सन् १९२८ से १९३७ ई० तक सम्पादन कार्य करते रहे। 'विशाल भारत' को उसका वास्तविक रूपाकार चतुर्वेदीजी ने ही प्रदान किया। इसके बाद सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', मोहनसिंह सेंगर तथा श्रीराम शर्मा इस प्रमुख पत्र का सम्पादन करते रहे।

'विशाल भारत', 'सरस्वती' के बाद सबसे अधिक ख्याति प्राप्त पत्र रहा है। इसी पत्र में प्रथम बार जनपदीय साहित्य की ओर ध्यान दिया गया। संस्मरण और पत्र-संग्रह की दृष्टि से भी इस पत्र का बहुत अधिक महत्त्व है। इसके कई विशिष्ट अंक निकले थे, जैसे रवीन्द्र अंक, एण्ड्रूज अंक, पद्मसिंह शर्मा अंक, कला अंक और राष्ट्रीय अंक।

प्रवासी भारतीयों के प्रसंग में जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उसका प्रमुख माध्यम 'विशाल भारत' ही था। इसके लेखकों में डा० राजेन्द्र प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय रामानन्द चटर्जी, कालिदास नाग प्रभृति थे। सामग्रीचयन और कलात्मक-मुद्रण, दोनों ही दृष्टियों से 'विशाल भारत' के प्रारम्भिक स्वरूप में हिन्दी पत्रकारिता के श्रेष्ठतम रूप का दर्शन होता है।

—ह० दे० बा०

विशाल सिंह—प्रेमचन्द्रकृत उपन्यास 'कायाकल्प' का पात्र माया-मोह का उपासक विशाल सिंह बहु-विवाह और सन्तान-लालसा से पीड़ित रहनेवाला व्यक्ति है। जमींदार के रूप में जब तक रानी देवप्रिया की जायदाद उसके हाथ न लगी तब तक वह जनवादी विचार प्रकट करता रहा किन्तु ठाकुर हरिसेवक सिंह और मुंशी वज्रधर के चक्र में पड़कर ऐश्वर्य भावना से उद्दीप्त होकर प्रजा पर अत्याचार करने से नहीं चूकता। यश-लिप्सा और टेक पर वह अपनी प्रजा-वत्सलता का बलिदान कर देता है। मनोरमा के प्रति आत्मसमर्पण करने पर उसमें सन्तान-लालसा तीव्र हो उठती है। लेकिन जब वह अपनी सुखदा और उसके पुत्र शंखधर को पा जाता है तो उसके जीवन में आनन्द का सागर उमड़ता है उसे जैसे जीवन का सर्वस्व मिल गया। कालान्तर में रोहिणी की मृत्यु से खिन्न होकर मनोरमा भी उसकी नजरों से उतर जाती है और जब शंखधर अपने पिता चक्रधर को खोजने चला जाता है तो उसकी हिंसा-वृत्ति फिर जाग उठती है और रियासत में अन्धेर मच जाता है किन्तु अहिल्या, शंखधर और उसकी बहू को पाकर फिर प्रसन्न हो उठता है। सन्तान की ओर से निराश होकर उसका धर्मानुराग भी शिथिल पड़ जाता है। शंखधर और कमला को पूर्वजन्म के क्रमशः महेन्द्र और देवप्रिया समझकर वह फिर अनिष्ट की आशंका से पीड़ित रहता है क्योंकि वह समझता है कि देवप्रिया सधवा नहीं रह सकती। शंखधर की मृत्यु से वह भी मृत्यु को प्राप्त होता है—जैसे संतान में ही प्राण उसके अटके हों। विशाल सिंह स्वभाव से कृपण, अधिकार, ऐश्वर्य और शासन को महत्त्व देनेवाला व्यक्ति है। उसे कभी वास्तविक शान्ति न मिल पायी—कारण के रूप में उसकी तृष्णा थी।

—ल० सा० वा०

विश्वंभरनाथ जिज्जा—जन्म १९०५ ई० में वाराणसी में। प्रसाद युग के साहित्यकारों में, विशेषकर पत्रकारों और कहानीकारों में जिज्जाजी का एक महत्त्वपूर्ण-स्थान रहा है। प्रसाद के नाटकों और कहानियों में सर्वथा नये शिल्प और प्राचीन ऐतिहासिकता को लेकर जब पुराने आलोचकों ने एक ओर से कटु आलोचनाएँ की थीं तो विश्वम्भरनाथ जिज्जा, नन्ददुलारे बाजपेयी एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे आलोचकों और लेखकों ने उन आलोचनाओं का खण्डन और नयी सवेदना का समर्थन सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया था।

आपके कहानी-संग्रह 'घूँघटवाली' की कई कहानियों से उस समय के भावबोध का पूर्ण परिचय मिलता है। जिज्जाजी की कहानियों में हमें विशिष्ट रोमानी तत्त्वो की अपेक्षा कुछ साधारण स्तर के अतिशय 'कामन प्लेस' तत्त्व अधिक मिलते हैं।

भाषा की दृष्टि से जिज्जा प्रायः बोधगम्य और शब्दवैभव की दृष्टि से काफी मुक्त लेखकों में से कहे जा सकते हैं। शिल्प की दृष्टि से यदि जिज्जा की रचनाओं का विश्लेषण किया जाय तो उनका विशेष महत्त्व नहीं जान पड़ता। केवल एक ऐतिहासिक क्रम मे सर्वथा प्रचलित परम्परा से थोड़ा आगे बढ़कर लिख सकने के साहस के कारण ही आपका महत्त्व हो जाता है। शैली साधारण और विचार भावुकतापूर्ण है, इसीलिए उसके बीच शिल्प की नवीनता छिप जाती है।

हमें जिज्जाजी की कहानियाँ केवल कल्पना के आधार पर विचित्र मनःस्थितियों का परिचय दिलाती हैं। उनको मार्मिक स्तर पक पहुँचाने में वे प्रायः असमर्थ सिद्ध होती हैं। जिज्जा ने अपने युवाकाल में ही ये कृतियाँ लिखीं हैं, इसलिए उनमें दृष्टि की वह प्रौढ़ता नहीं है, जो किसी भी कुशल साहित्यकार मे अपेक्षित है। कुछ दिनों तक आपने प्रयाग के 'भारत' में सहायक सम्पादक का कार्य भी किया था।

आपकी प्रकाशित रचनाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं—'स्त्रियों की स्वाधीनता' (१९२० ई०), 'पत्रकारिता का परिचायक', 'रूस में युगान्तर' (१९२३ ई०), 'तुर्क तरुणी' (उपन्यास १९२७ ई०), 'प्रेम की पूर्णिमा' (उपन्यास १९३० ई०), 'घूँघटवाली' (कहानी संग्रह १९४६ ई०)।

—ल० कां० व०

विश्वंभर 'मानव'—जन्म सन् १९१२ ई०, ग्राम डिबाई, जिला बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश)। मुख्यतः आलोचक किन्तु साहित्य की अन्य विधाओं में भी मौलिक कृतियाँ लिखी हैं। कवि, आलोचक, नाट्यकार एवं उपन्यासकार के रूप में हिन्दी के लेखकों और विचारकों में आपका एक निश्चित स्थान है। आपकी लगभग २० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। पहले अध्यापक रहे, फिर आकाशवाणी से सम्बद्ध। बाद में केवल लेखन का व्यवसाय। स्वतन्त्र लेखन और पत्रकारिता के साथ नयी कृतियों के सृजन में व्यस्त रहे।

'मानव' का मुख्य स्थान आलोचक का है—विशेषकर छायावाद, रहस्यवाद और गीत-साहित्य पर आपने अपने बहुमूल्य विचार दिये हैं। साहित्य के क्षेत्र में आप भाव पक्ष के समर्थक रहे हैं और प्रेषणीयता के लिए साहित्य की दुरूहता को श्रेयस्कर नहीं मानते। 'मानव'जी की आलोचना-शैली—विशेषकर 'नयी कविता' और 'खड़ीबोली' के गौरव ग्रन्थ' में—हम प्रभाववादी ही कह सकते हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी 'मानव'जी की प्रभाववादी शैली में निर्भीकता और विचार विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। प्रभाववादी आलोचक होने के नाते ही

हमें मानवजी की आलोचना में कविता के माध्यम से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के माध्यम से साहित्य को समझने की प्रक्रिया मिलती है। वे आलोचना को अपना धर्म मानते हैं। इधर उन्होंने ''आलोचकों का घोषणा पत्र' प्रकाशित किया है जो उनकी निष्ठा का प्रमाण है।

'मानव'जी की सबसे अधिक उपयोगी पुस्तकें 'कामायनी एक टीका', 'प्रेमचन्द' एवं 'खड़ीबोली के गौरव ग्रन्थ' हिन्दी आलोचना का विकास (१९७२ ई०) हैं।

नाटक्कार के रूप में 'मानव'जी का नाट्यसंग्रह 'लहर और चट्टान' रेडियो नाटकों का संग्रह है। नाटकों में कुछ प्रेम और वियोग जैसी स्थितियों के साथ-साथ काल-चक्र और कुछ जीवन की विवशताओं और अनिश्चित सम्भावनाओं के आधार पर रचे गये हैं। नाटकों में 'मानव'जी को वह सफलता नहीं मिली, जो आलोचना में।

उपन्यासकार के रूप में 'मानव'जी अधिकतर परिकल्पमावादी हैं, विशेषतः आपके उपन्यास 'प्रेमिकाएँ' में हमें यह स्पष्ट लगता है कि लेखक सामाजिक तथा तात्त्विक यथार्थ की अपेक्षा परिकल्पना को अधिक सबल माध्यम मानता है। यह दोष प्रायः प्रत्येक भावुकतावादी लेखक में आ जाता है।

कवि के रूप में 'मानव'जी की कविताएँ उत्तर छायावादी प्रवृत्तियों की पोषक रही हैं। आपने प्रायः गीत लिखे हैं। सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जैसे कवि की आत्मा सो रही है। अद्वितीय अनुभव की स्थिति और उसकी व्यंजना भावुकता की तरलता में कलात्मक तटस्थता को नष्ट कर देती है, इसीलिए कविता हल्की पड़ जाती है।

''मानव' जी के प्रकाशित ग्रन्थों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं—'खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ' (१९४३ ई०), 'महादेवी की रहस्य साधना' (१९४४ ई०), 'अवसाद' (काव्य-संकलन, १९४४), 'सुमित्रानन्दन पन्त' (आलोचना, १९५१ ई०), 'लहर और चट्टान' (नाट्य-संग्रह, १९५२ ई०), 'नयी कविता' (१९५७ ई०), 'प्रेमचन्द' (आलोचना, १९६१ ई०), 'प्रेमिकाएँ' (१९६० ई०) (पतझर १९४४ गद्य-गीत), अवसाद (१९४४ कविता), निराधार (१९४४ कविता), कामायनी की टीका (१९४६ टीका), सुमित्रानन्दन पंत (१९५१ आलोचना), लहर और चट्टान (१९५२ नाटक), नयी कविता : नये कवि (१९५७ आलोचना), औस और किरण (१९५९ नाटक), उजड़े घर (१९६१ उपन्यास), प्रसाद और उनकी कविता (१९६२ आलोचना), पीले गुलाब की आत्मा (१९६२ डायरी), कावेरी (१९६२ उपन्यास), नदी (१९६२ उपन्यास), काव्य का देवता : निराला (१९६३ आलोचना), हमारे प्रतिनिधि कवि (१९६२ आलोचना), हमारे प्रतिनिधि लेखक (१९६४ आलोचना), साकेत की टीका (१९६६ टीका), नारी का मन (१९६७ उपन्यास), प्रियप्रवास की टीका (१९६८ टीका), उन्नीसवी शताब्दी के उपन्यासकार (१९७० आलोचना), पंत और लोकायतन (१९७० आलोचना), आधुनिक आलोचना के सिद्धान्त (१९७२ आलोचना), आधुनिक आलोचना का विकास (१९७२ आलोचना)

—ल० कां० व०

विश्वनाथ प्रसाद—जन्म १९०५ ई०, जिला शाहाबाद (बिहार) में। शिक्षा एम० ए०, पी– एच० डी० पटना तथा लन्दन विश्वविद्यालय में हुई। अनेक वर्षों तक पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। वहाँ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के महत्त्वपूर्ण कार्य को अधिकतर आपने ही नियोजित किया। पटना के बाद आप आगरा के भाषा विज्ञान तथा हिन्दी विद्यापीठ के प्रथम संचालक नियुक्त हुए। उस विद्यापीठ के रूप को भलीभाँति संगठित करने के बाद आप शिक्षा मंत्रालय के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में निदेशक पद पर कार्य करते रहे।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का नाम हिन्दी के भाषा वैज्ञानिकों में अग्रणी है। अपने शोध के साथ उन्होंने भाषा-विज्ञान के कार्य को नियोजित किया है। भोजपुरी ध्वनियों के सम्बन्ध में किया गया आपका कार्य विशेष महत्त्व का है। भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी आपकी रचनाएँ हैं—'मोती के दाने' (१९३२ ई०), 'गुप्तकालीन कुछ प्राचीन उपाधियाँ' (१९३४ ई०), 'वेदों की प्रामाणिकता का रहस्य' (१९३४-३५ ई०), 'अनेकता में एकता' (१९४५ ई०), 'राष्ट्रभाषा में पारिभाषिक शब्दों की समस्या' (१९५१ ई०)। आपने लल्लूलाल की रचनाओं का प्रामाणिक और सुसम्पादित संस्करण भी प्रस्तुत किया है।

—सं०

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—जन्म १९०६ ई०, काशी में। पिता के एक मात्र पुत्र। इनकी तीन वर्ष की अवस्था में ही पिता का देहान्त हो गया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे। सन् १९६२ ई० में मगध विश्व विद्यालय, गया में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हुए। बहुत दिनों तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनेक पदों का दायित्व सँभालते रहे। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। स्वभाव से आप अध्यवसायी, स्पष्टवादी और स्वाभिमानी पुरुष थे। अनुसन्धान में आपकी मुख्य रुचि थी। आप मध्ययुगीन हिन्दी काव्य के मर्मज्ञ, रीतिकालीन स्वच्छन्द-कविता के विशेषज्ञ और काव्य-शास्त्र के पण्डित हैं। आपका कृतित्व बहुमुखी है। सम्पादन, आलोचना, अन्वेषण के अतिरिक्त अनेक दुरूह काव्य-ग्रन्थों की आपने प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं। श्यामसुन्दर दास की सम्पादन-कला, रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धति और लाला भगवानदीन की टीका-परस्परा को बड़ी सफलता के साथ अग्रसृत किया है। कुछ दिनों तक 'सनातनधर्म' और 'वर्णाश्रम-धर्म' नामक पत्रों का सम्पादन भी किया है। आपके लिखे ग्रन्थ हैं—'हिन्दी साहित्य का अतीत', 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', 'वाङ्मय विमर्श', 'हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'काव्यांग कौमुदी'। सम्पादित ग्रन्थ और टीकाएँ ये हैं—'रसखानि', 'घनानन्द-ग्रन्थावली', 'घनानन्द कवित्त', 'पद्माकर ग्रन्थावली', 'रसिकप्रिया', 'कवितावली', 'बिहारी', 'केशवदास', 'केशवदास ग्रन्थावली', 'भिखारीदास ग्रन्थावली', 'रामचरितमानस' (काशिराज संस्करण), 'भूषण ग्रन्थावली', 'जगद्विनोद' 'पद्माभरण', 'सुदामाचरित', 'सत्यहरिश्चन्द्र नाटक', 'हम्मीर हठ'।

मिश्र जी का चिन्तन परम्परा से प्रेरित होते हुए भी नवीन है। रूढ़ियों के आप कतई कायल नहीं हैं। प्रगतिशीलता को आप स्वीकार करते हैं किन्तु प्रतिक्रिया या विरोध के रूप में नहीं, अपितु परम्परा के सहज विकास की दृष्टि से। आपकी आलोचना का मूलाधार रस-सिद्धान्त है, किन्तु रस के अलौकिकत्व में आपको विश्वास नहीं। "रसप्रक्रिया में सामाजिकता प्रमुख है" ऐसी धारणा आपकी है। इसीलिए यह रस-सिद्धान्त जितना प्राचीन काव्यों के लिए सत्य है, उतना ही आधुनिक समाजवादी कृतियों के सम्बन्ध में भी। यही कारण है कि आपकी छायावाद, प्रगतिवाद जैसी अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियों की सैद्धान्तिक समीक्षाओं में भी पर्याप्त औचित्य है। आपकी समीक्षा-पद्धति विवेचनात्मक है। तथ्यो का सम्यक् शोध एवं विश्लेषण कर निष्कर्ष रूप में सत्य को उद्घाटित किया गया है। भाषा में विषय को स्पष्ट करने की पूर्ण सामर्थ्य है। मिश्र जी हिन्दी के सुधी सम्पादक और समर्थ साहित्यकार हैं।

'वाङ्मय विमर्श' पुस्तक को सन् १९४४ ई० में हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कृति मानकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इस पुस्तक पर 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वर्ण पदक' प्रदान किया था।

—स० ना० त्रि०

विश्वनाथ सिंह, महाराज—जन्म १७८९ ई०। मृत्यु १८५४ ई०। महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव का जन्म रीवाँ के ऐतिहासिक राजवंश में हुआ था। इनके पिता महाराज जयसिंह कवि होने के साथ ही अनन्य साहित्यानुरागी भी थे। इनकी मृत्यु के बाद १८३३ ई० में ये गद्दी पर बैठे और २१ वर्ष तक शासन किया।

विश्वनाथ सिंह श्रृंगारी-रामभक्ति के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। इन्होंने राम रसिक भाव की साधना प्रिया दास से सीखी थी कुछ साम्प्रदायिक विद्वानों ने इनकी श्रृंगारी रामभक्ति को अयोध्या के महात्मा रामचरण दास का प्रसाद बताया है। इनके पुत्र महाराज रघुराज सिंह ने 'रास बिहारी' में इनकी राम में निष्ठा और सखी भाव में आस्था का उल्लेख कर इन तथ्यों की पुष्टि की है। इनकी रामभक्ति सगुणोपासना तक ही सीमित न रही, निर्गुण क्षेत्र भी उसकी दिव्य आभा से आलोकित हुआ। 'कबीर बीजक' की 'पाखण्ड खण्डिनी' टीका में निर्गुण वाणी को सगुण राम पर घटाकर इन्होंने अपने अगाध पाण्डित्य का परिचय दिया है।

इनके लिखे हुए जिन ४६ ग्रन्थों का पता चला है, वे ये हैं : 'रामगीता टीका', 'राधावल्लभी भाष्य', 'सर्वसिद्धान्त रामरहस्य टीका', 'विनयपत्रिका टीका', 'वैष्णव सिद्धान्त टीका', 'धनुर्विद्या', 'रामचन्द्राह्निक तिलक', 'राग सागराह्निक', 'संगीत रघुनन्दन', 'भुक्ति मुक्ति सदानन्द संदोह', 'दीक्षा निर्णय', 'व्यंग्यार्थ चन्द्रिका', 'भागवत एकादश स्कन्ध टीका', 'सुमार्ग की ज्योत्स्ना टीका', 'रामपरत्व', 'व्यंग प्रकाश', 'विश्वनाथ प्रकाश', 'आह्निक अष्टयाम', 'धर्मशास्त्र त्रिंशल्श्लोकी परमधर्म निर्णय', 'शान्तिशतक', 'विश्वनाथ चरित', 'ध्रुवाष्टक', 'मृगया शतक', 'परमतत्त्व', उत्तम काव्य प्रकाश', 'गीता रघुनन्दन शतिका', 'आनन्द रामायण', 'गीता रघुनन्दन प्रामाणिक', 'सर्वसंग्रह', 'रामचन्द्र जू की सवारी', 'भजनमाला', 'आनन्द रघुनन्दन नाटक', 'वेदान्त पंचशति का', 'उत्तम नीति चन्द्रिका', 'अबाध नीति', 'ध्यान मंजरी', 'आदि मंगल', 'साखी', 'वसन्त चौंतीसी', 'चौरासी रमैनी', 'कहरा' और 'शब्द'। इनमें से कुछ रचनाएँ दरबारी कवियों द्वारा इनके नाम से लिखी गयी प्रतीत होती हैं। विश्वनाथ सिंह के काव्य में वर्णनात्मकता तथा उपदेशात्मकता अधिक मिलती है। परवर्ती रामसाहित्य को इनकी महत्त्वपूर्ण देन है 'आनन्द रघुनन्दन नाटक'। भारतेन्दुजी ने इसे हिन्दी का प्रथम दृश्य-काव्य माना है।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय : भगवती प्रसाद सिंह; मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु।]

—भ० प्र० सि०

विश्वामित्र—एक ऋषि तथा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के अनुसार कुश वंश के राजा कुशिक वंश के थे किन्तु परवर्ती साहित्य में महाराजा गाधि के पुत्र माने गये हैं। विश्वामित्र की जन्म की कथा बड़ी रोचक है। सर्वप्रथम गाधि के एक सत्यवती नामक कन्या उत्पन्न हुई थी, जिसे उन्होंने ऋषि ऋचीक को समर्पित कर दिया। ऋचीक ने सत्यवती को एक बार दो चरु लाकर दिये तथा उनमें से एक चरु को खा लेने को कहा जिससे ब्राह्मण गुणसम्पन्न पुत्र होगा। दूसरा चरु उन्होंने सत्यवती से अपनी माता के पास भेज देने के लिए कहा। ऋषि के जाते ही गाधि स्त्रीसहित उनके आश्रम में उपस्थित हुए। आदर-सत्कार के अनन्तर सत्यवती ने अपनी माता को दोनों चरु लाकर दिये। सत्यवती की माता ने श्रेष्ठ लाभ की सम्भावना से ऋचीक की पत्नी (सत्यवती) का चरु खा लिया। इन चरु के ही खाने से उनके विश्वरथ नामक ब्राह्मण गुणसम्पन्न पुत्र जन्मा, जो आगे चलकर ब्रह्मतेज के कारण विश्वामित्र के नाम से विख्यात हुआ। सत्यवती के दूसरे चरु खाने से यमदग्नि नामक एक पुत्र हुआ।

विश्वामित्र के व्यक्तित्व से सम्बन्धित कथाओं में उनकी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से प्रतिद्वन्द्विता ज्ञात होती है। इसके कुछ उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं। दोनों वेदों की ऋचाओं के रचनाकार थे। गायत्री मन्त्र विश्वामित्र का ही रचा हुआ कहा जाता है। उनकी अधिकांश ऋचाएँ ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में मिलती हैं। वशिष्ठ सप्तम मण्डल की ऋचाओं के रचनाकार थे। विश्वामित्र और वशिष्ठ दोनों ही महाराज सुदास के महा राजपण्डित थे। वशिष्ठ विश्वामित्र को क्षत्रीय कुलोद्भव होने के कारण हेय दृष्टि से देखते थे किन्तु विश्वामित्र स्वयं को वशिष्ठ के मुख से ब्रह्मर्षि कहलाना चाहते थे तथा इसके लिए उन्होंने वशिष्ठ पर बल का भी प्रयोग किया। उन्होंने उनके सौ पुत्रों का वध कर डाला। प्रतिशोध स्वरूप वशिष्ठ ने भी विश्वामित्र के पुत्र का वध कर डाला। 'महाभारत' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार विश्वामित्र ने गंगा से भी वशिष्ठ को लाने के लिए कहा था किन्तु जब गंगा वशिष्ठ को उनके पास नहीं लायीं वरन् उनकी पहुँच के बाहर एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आयीं तो उन्होंने गंगा की धारा रक्तरंजित कर दी। 'रामायण' में विश्वामित्र और वशिष्ठ की प्रतिद्वन्द्विता की कथा आयी है। महाराज के रूप में ये प्रायः वशिष्ठ के आश्रम में आया करते थे। एक बार इन्होंने वशिष्ठ की कामधेनु को

बलपूर्वक खोलकर अपने यहाँ ले आने का यत्न किया किन्तु क्रमधेनु अपनी अर्गला तुड़ाकर भाग गयी। विश्वामित्र ने उसे सयत्न ले जाने की चेष्टा की, लेकिन वशिष्ठ के पुत्रों ने उनका मार्ग रोक लिया। विश्वामित्र ने वशिष्ठ के १०० पुत्रों को मार डाला। अन्त में स्वयं वशिष्ठ ने उन्हें पराजित किया। अपमानित होकर विश्वामित्र ने तपस्या द्वारा अपने को ब्राह्मण वर्ण में परिवर्तित करने का यत्न किया। विश्वामित्र की तपस्या में ताड़का राक्षसी तथा उसके पुत्रों ने अनेक व्याघात उत्पन्न किये। फलस्वरूप विश्वामित्र, राम-लक्ष्मण को दशरथ से माँग कर ले आये। मार्ग में ही उन्होंने ताडका वध किया। जनक के धनुष यज्ञ में विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को ले गये थे। राम ने धनुष तोड़कर सीता से विवाह कर लिया। विश्वामित्र ने वशिष्ठ की प्रतिद्वन्द्विता से प्रेरित होकर एक बार त्रिशंकु को वशिष्ठ के अस्वीकार करने पर भी सदेह स्वर्ग भेज दिया था। इनकी घोर तपस्या को देखकर एक बार इन्द्र भी विचलित हो गये थे। उन्होंने अपने ऐश्वर्य के छीने जाने की सम्भावना से मेनका को विश्वामित्र की तपस्या को भंग करने के लिए भेजा था। इन्द्र को अपनी योजना में सफलता मिली। विश्वामित्र मेनका के सौन्दर्य से प्रभावित हुए तथा उसके संसर्ग से शकुन्तला का जन्म हुआ किन्तु इस दुष्कर्म से उत्पन्न ग्लानि के फलस्वरूप वे हिमालय में तपस्या करने चले गये। अन्त में वशिष्ठ ने विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि मान लिया तथा इस प्रकार इनका हठधर्म सफल सिद्ध हुआ। रामकथा में विश्वामित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

—रा० कु०

विष्णु प्रभाकर—जन्म २१ जून, १९१२ ई०, मीरनपुर ग्राम, जिला मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) में। पंजाब से बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त करने के बाद आपने हिन्दी लेखन के क्षेत्र में प्रवेश किया। लगभग दो दर्जन पुस्तकों के लेखक हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं में आपने एक साथ प्रयोग किये हैं—कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, स्केच और रिपोर्ताज इत्यादि में आपकी विभिन्न रचनाएँ हमें सर्वथा नयी भावभूमि से परिचित कराती हैं। यह भाव भूमि यथार्थ आदर्श और स्वाभाविकता की टकराहट से उपजी हुई लगती है। विष्णु जी की कृतियाँ इसीलिए महत्त्वपूर्ण भी हैं क्योंकि इन तीनों प्रवृत्तियों की सीमाएँ एक छोर पर आकर मिलती हुई-सी प्रतीत होती हैं।

कहानियों में हमें कोमल क्षणों की मार्मिक संवेदना मिलती है, कहीं-कहीं दुरूहता भी। किन्तु अभी तक केवल अच्छी झलकियाँ मात्र मिलती हैं, उसकी विवश अनिवार्यता इनकी कृतियों में नहीं दीख पड़ती। इसलिए यह आसानी के साथ कहा जा सकता है कि विष्णु जी की कहानियाँ रोचक होने के साथ-साथ संवेदनशील भी हैं। चरित्र-चित्रण में कहीं-कहीं आदर्शवादी वृत्ति खटकती अवश्य है, लेकिन कहानी के प्रवाह को वह रोकती नहीं। इसीलिए वह बाधा न पहुँचाकर जहाँ संघर्ष को तीव्र बनाती है, वहीं सफल भी हुई है।

उपन्यासों में से 'ढलती रात' या 'स्वप्नमयी', दोनों में रोमानी तत्त्व और कुछ मिथ्या आदर्शवादी तत्त्व मिलकर एक अच्छी कथावस्तु को उसकी संभावनाओं के विकसित होने से रोकते हैं। विष्णु जी के उपन्यासों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि जैसे उनका शिल्पी कम और कवि-मन अधिक जागरूक है। इसीलिए उपन्यास अच्छे होते हुए भी मार्ग-चिह्न नहीं बन सके। वे कुछ अधूरे सत्य और अधपके चरित्रों की सीमा तक ही सीमित रह गये हैं।

एकांकी नाटकों में हमें विष्णु जी के कुशल कहानी लेखक और नाटक लेखक के समान दर्शन होते हैं। कहानी की मार्मिकता नाटकों में उभर कर आ जाती है। सम्पूर्ण नाटक की व्यापक त्रुटियों की अपेक्षा एकांकी नाटकों में वे त्रुटियाँ हमें कम दीख पड़ती हैं, क्योंकि तत्परता और तात्कालिकता की अनिवार्यता विष्णुजी को भावुक होने से रोकने में समर्थ सिद्ध होती है। एकांकी नाटकों में विष्णु जी के कुछ नाटक तो बड़े ही सफल हैं और कुछ उतने ही असफल, लेकिन इन दोनों के बीच विष्णु जी जिस सत्य के अन्वेषण में तत्पर रहते हैं, वह है मानवीय अनुभूति।

स्केच और संस्मरण में विष्णु जी की सफलता यह है कि किसी भी व्यक्तित्व के भीतर उसकी व्यापक बाह्य विरुद्धता के बावजूद जो कोमल है, मानवीय है, उसको पकड़ने की चेष्टा बराबर बिना किसी आरोप के मिलती है। 'जाने अनजाने' के नाम से लिखे गये संग्रह में जिन विभिन्न स्तरों पर हमें उनके इस गुण के दर्शन होते हैं, उससे यह स्पष्ट पता चलता है कि इनकी शैली और इनकी भाव-व्यंजना में यह गुण इनकी मूल प्रकृति से स्रोतस्विनी की भाँति फूटता है—उसमें न तो भावुकता ही अधिक है और न कटुता। जीवन के साधारण स्तरों पर व्यवहृत अनुभूतियों के मार्मिक क्षणों को इस प्रकार साबित करके सुरक्षित रखना विष्णु जी की शैली की एक प्रमुख विशेषता है।

रिपोर्ताज की शैली में यदा-कदा जो विवरण आदि मिले हैं, उनको पढ़ने से ऐसा लगता है कि विष्णु जी के पास वह तटस्थ दृष्टि है, जो एकदम निरपेक्ष भाव से किसी वस्तु को देखकर उसे अक्षरों में लिपिबद्ध कर सके। साथ ही छोटी-छोटी झलकियों में वातावरण के मार्मिक परिप्रेक्ष्य को भी व्यक्त करने की बड़ी क्षमता है। फोटोग्रैफिक यथार्थ और अर्थ-अन्वेषण की दृष्टि में निरपेक्षता—ये तत्त्व आपकी कृतियों को जीवन और शक्ति प्रदान करते हैं। रिपोर्ताज की शैली में यद्यपि आपने बहुत नहीं लिखा है किन्तु जितना भी है, वह मार्मिक और सुन्दर होते हुए सफल और विवेचनात्मक है।

आपके प्रकाशित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—'आदि और अन्त' (१९४५ ई०), 'संघर्ष के बाद' (कहानी संग्रह १९५३ ई०), 'ढलती रात' (१९५१ ई०), 'स्वप्नमयी' (उपन्यास १९५६ ई०), 'नव प्रभात' (सम्पूर्ण नाटक), 'डाक्टर' (१९५८ ई०), 'प्रकाश और परछाइयाँ' (एकांकी नाटकों का संग्रह १९५५ ई०), 'जाने अनजाने' स्केच और संस्मरण (१९६०)।

—ल० कां० व०

वीणा १— (प्र० १९२७ ई०) सुमित्रानन्दन पन्त का काल क्रमानुसार तीसरा प्रकाशित ग्रन्थ और पहला काव्य-संकलन है। संकलन में ६३ स्फुट प्रगीत हैं। विज्ञापन के अनुसार इस संग्रह में दो-एक को छोड़कर अधिकांश रचनाएँ सन् १९१८-१९ ई० की लिखी हुई हैं। ग्रन्थ के लिए लिखी हुई भूमिका उसके साथ प्रकाशित नहीं हो सकी और अब 'गद्य पथ' में देखी जा सकती है। उससे कवि के दृष्टिकोण को समझने में

पर्याप्त सहायता मिलती है। 'साठ वर्ष-एक रेखांकन' में पन्त ने लिखा है कि उन्होंने वीणा' के प्रगीत हाई स्कूल की परीक्षा समाप्त होने पर छुट्टियों में कौसानी में लिखे और इनकी शैली तथा भावभूमि में बनारस में संचित अपने काव्य-संस्कारों को अपनी किशोर-क्षमता के अनुरूप वाणी देने की चेष्टा की। उन्होंने इन रचनाओं पर सरोजिनी नायडू, कवीन्द्र रवीन्द्र, कालिदास और अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों के प्रभाव की चर्चा की है परन्तु उनका आग्रह है कि इनमें पर्याप्त मात्रा में कुछ ऐसा भी है, जो केवल उनका है। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रगीत-रचनाओं में काव्य सृजन के नैसर्गिक संस्कार स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

'वीणा' में हमें पन्त का बाल-कंठ मिलता है, जो अत्यन्त आकर्षक है। छन्दों की नयी छटा के साथ नयी भाव-भंगिमा और नूतन काव्य-भाषा के भी हमें दर्शन होते हैं। बुद्बुद के रूप में ही सही, यहाँ हमें नवीन काव्य-धारा का स्वप्न-भग स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता है। 'वीणा' में कवि की बाल-सुलभ उत्सुकता, जिज्ञासा और भोलेपन का सजीव चित्र मिलता है। सबसे आकर्षक बात कवि की अपनी बालिका के रूप में कल्पना है। प्रकृति वाणी अथवा पराशक्ति को मातृ-रूप में संबोधित करते हुए कवि ने अपने स्फुट, तोतले बोलों में बाल चिंतन अथवा कोमल कल्पना का जो मधु भरा है, वह उसके प्रौढ़ काव्य में उपलब्ध नहीं है।

'वीणा' की विषय-भूमि बड़ी विस्तृत है। उसमें विचारों तथा भावनाओं के अनेक स्फुलिंग हैं, जो अपने क्षण-जीवन में ही चमत्कारक हैं। 'वीणा' के प्रगीतों में बाल-कवि का आत्मसंस्कारी संकल्प अत्यन्त मुखर है और यही स्वर उसके उत्तर काव्य को 'वीणा-पल्लव' काल की रचनाओं से अलग करता है। 'वीणा' में पन्त की जीवनव्यापी प्रवृत्तियों और साधना-दिशाओं का स्पष्ट आभास मिलता है और उसे हम उनके काव्य का पूर्वरंग कह सकते हैं। वह नितान्त आत्मिक है क्योंकि उसमें युगबोध भी व्यक्तिगत रसोद्रेक और आत्मसंस्कार की भूमिका पर ही गृहीत हुआ है।

—रा० र० भ०

वीणा २—यह मासिक पत्रिका इन्दौर से १९२६ ई० में प्रकाशित हुई थी। मध्य-भारतीय हिन्दी-साहित्य समिति ने इसके प्रकाशन में योग दिया था।

इसके सम्पादक क्रमशः कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर', अम्बिकादत्त त्रिपाठी, रामभरोसे तिवारी, शान्तिप्रिय द्विवदी, प्रयागनारायण, चन्द्रारानी एवं गोपीवल्लभ उपाध्याय रहे हैं।

सम्प्रति कमलाशंकर इसका सम्पादन कर रहे हैं।

—ह० दे० बा०

वीर चरित—केशवदासकृत 'वीरसिंह-चरित' की रचना सन् १६०७ ई० (सं० १६६४ ई०) के प्रारम्भ में वसन्त ऋतु के शुक्ल पक्ष की अष्टमी बुधवार को प्रारम्भ हुई थी (प्रथम-प्रकाश, छं० ४-५, पृ० १)। इसकी समाप्ति सन् १६०८ ई० के लगभग हुई होगी क्योंकि इसमें सन् १६०८ ई० तक की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख है। कतिपय विद्वान् इसका रचनाकाल सन् १६०७ ई० (सं० १६६४ वि०) मानते हैं, जो अशुद्ध है।

'वीरसिंहदेव-चरित' १४ प्रकाशों में विभक्त है। लोभ और दान के संवाद से ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ है, जो दूसरे प्रकाश तक चला है। आगे चलकर बुन्देल-वंशोत्पत्ति, वीरसिंहदेव की प्रारम्भिक विजय, मुराद की मृत्यु, अकबर की दक्षिण यात्रा, सलीम का मेवाड़ से आगरे लौटकर विद्रोह, वीरसिंह और सलीम की भेंट और अबुलफजल की हत्या के साथ ५वां प्रकाश समाप्त हुआ है। तदनन्तर वीरसिंह देव और अकबर के विविध युद्धों, अकबर की मृत्यु, जहाँगीर का राज्याभिषेक तथा उसके द्वारा वीरसिंहदेव के सम्मानित किये जाने का चित्रण है। अन्त में शाहजादा खुसरो का विद्रोह, अब्दुल्लाह का ओरछा पर आक्रमण तथा वीरसिंहदेव के बुन्देलखण्ड में पुनः लौटने का वर्णन है। इसी घटना के साथ 'वीरसिंहदेव-चरित' समाप्त होता है। इसमें बुन्देलखण्डसम्बन्धी तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का जितना सूक्ष्म विवेचन मिलता है, उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

'वीरसिंहदेव-चरित' में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता है। इसमें प्रमुख रूप से वीर-रस और प्रासंगिक रूप से रौद्र, करुण, वीभत्स एवं श्रृंगार रसों का चित्रण हुआ है। केशव ने इसमें अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि विविध अलंकारों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इस रचना में चौपई, दोहा, छप्पय, कवित्त, सवैया आदि १५ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें संवादों की प्रधानता है। इन्होंने वीर-काव्य की परम्परागत सूची गिनाने की पद्धति का बहिष्कार किया है पर ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है, जिस पर बुन्देलखण्ड का अधिक प्रभाव है।

इस प्रकार साहित्यिक एवं ऐतिहासिक, दोनों दृष्टियों से 'वीरसिंहदेव-चरित' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०) : टीकमसिंह तोमर, हिन्दुस्तानी अकादमी, उ० प्र० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५४ ई०।]

—टी० सिं० तो०

वीरेन्द्र कुमार जैन—जन्म १५ अक्टूबर १९१७; मन्दसौर (म० प्र०) में। आरम्भिक शिक्षा मन्दसौर में हुई और बी० ए० होल्कर कालेज इन्दौर से किया। एम० ए० हिन्दी में नागपुर से। साहित्यिक जीवन का आरम्भ इन्दौर में सन् ३४ के आसपास कहानी और कविता में एक साथ। कहानीकार के रूप में तो इनकी उस प्रचण्ड प्रतिभा के उन्मेष-काल का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जब इनकी मुश्किल से पाँच-छह कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं, तभी उन्हीं को देखकर प्रेमचन्द ने उस समय के सबसे अधिक संभावनाशील कथाकारों में इनकी गणना की थी। सन् ३६ में अपने एक अंग्रेजी लेख में प्रेमचन्द ने लिखा था "कहानी के क्षेत्र में जैनेन्द्र अग्रणी हैं और अज्ञेय, वीरेन्द्रकुमार जैन तथा सत्यजीवन वर्मा सबसे अधिक प्रतिभाशाली हैं।"

जन्मभूमि मालवा के गहरे रागात्मक संस्कारों के बावजूद वीरेन्द्रकुमार जैन के रचनात्मक व्यक्तित्व के संघटन में बम्बई की कर्मभूमि का ही साथ अधिक रहा है। सन् ४८ से वे वहीं हैं: असामान्य जीवन-संघर्षों के एक अटूट क्रम के समानान्तर ही

रचना-संघर्ष में संलग्न। वहाँ उन्होंने 'अभियान' और 'भारतमाता' का सम्पादन किया। तदुपरान्त 'धर्मयुग' के सहायक सम्पादक रहे १९५० से १९६० तक उसके बाद भारतीय विद्याभवन के मासिक मुखपत्र 'भारती' का पाँच वर्ष तक संपादन किया। मीठीबाई कालेज, विलेपार्ले में हिन्दी के प्राध्यापक पद से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं।

वीरेन्द्रकुमार जैन मूलत: कवि हैं हालांकि साहित्य के अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों, जैसे कहानी उपन्यास और चिन्तनात्मक निबन्ध को भी उनका योगदान काफी है। मौलिक साहित्य-सृजन के साथ-साथ उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण विदेशी पुस्तकों का अनुवाद भी किया है जिनमें मास्टर एकहार्ट, संत टेरेसा की आत्मकथा तथा सेण्ट आगस्टीन के कन्फेशन्स प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त गुजराती के झवेरचन्द मेधाणी और क० मा० मुन्शी की भी अनेक रचनाओं का सरस हिन्दी रूपान्तर इन्होंने किया है। कृतियाँ : 'आत्मपरिणय' (कहानी संग्रह : १९४०); 'शेषदान' (कहानी संग्रह : १९४७); 'मुक्तिदूत' (पौराणिक उपन्यास : १९४७); 'प्रकाश की खोज में' (चिंतनात्मक निबन्ध : १९४८); 'अनागता की आँखें' (कविता-संग्रह : १९५९); 'यातना का सूर्य-पुरुष' (कविता-संग्रह : १९६५)।

वीरेन्द्रकुमार जैन के काव्य की व्याख्या के लिए अगर कोई एक सूत्र हो सकता है तो वह है आधुनिकतम और भौतिक की संयोजक दृष्टि। शमशेर बहादुर सिंह के अनुसार वे "रोमैण्टिक कल्पना के कवि" हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रोमैण्टिक शब्द से जिस तीव्र भावाकुलता, आवेगात्मक ऊर्जा और कल्पना-समृद्धि का बोध होता है, वीरेन्द्रकुमार जैन की कविता निश्चय ही हिन्दी में उसके सर्वोत्तम उदाहरणों में से है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कभी उनकी कविता के विशिष्ट स्वाद को परिभाषित करने के लिए 'कामाध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग किया था। यह कामाध्यात्म-तत्त्व उनके समूचे काव्य-कृतित्व को एक तरह की एकता प्रदान करता है और जीवन-जगत् के प्रति कवि की एक मौलिक पर्युत्सुकता को भी उभारकर प्रस्तुत करता है। एक विशिष्ट और मौलिक काव्य-व्यक्तित्व की एक नितान्त विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणाली के रूप में उसे समझा जा सकता है। उनकी काव्य-रचना के पीछे एक सुचिन्तित दार्शनिक पार्श्वभूमि भी अवश्य है, जिसे समझने के लिए 'अनागता' की लम्बी भूमिका विशेष महत्त्व की है।

'अनागता की आँखें' में कवि का जीवन-दर्शन अपनी पूरी ताज़गी और नवजात सक्रियता में प्रकट होता दिखाई पड़ा था। इसलिए उसकी कविताएँ पढ़ते हुए कविता पर ही सर्वप्रथम ध्यान जाता है, कवि के आग्रहों-विश्वासों पर बाद में। 'यातना के सूर्य-पुरुष' की भी अधिकांश कविताओं में यह संघर्षशील प्रसंगगर्भता और जीवन्तता महसूस होती है। इसी कारण कवि एकरसता का शिकार होने से बच जाता है। वीरेन्द्रजी की एक प्रमुख विशेषता है उनकी ऐन्द्रिक संवेदनशीलता। दरअसल यही उनकी कविता की जान है। इसी सामर्थ्य के कारण वे अनेक ताज़ी बिम्बमालाओं तथा सर्वथा मौलिक-विलक्षण शब्द-संगतियों का निर्माण कर ले जाते हैं। उनकी यह ऐन्द्रिक-बोध संपन्नता और उत्कट आवेगात्मकता ही उनकी कविताओं को रूपहीनता से बचाती है। विचार या दर्शन अनेक कविताओं के बीच विशिष्ट व्यक्तित्व और स्वभाव की एकता के दर्शन करा सकता है। पर अपने-आप में वह अलग-अलग कविताओं को उनकी अपनी स्वतंत्र और विलक्षण रूप-संघटना प्रदान नहीं कर दे सकता। 'अनागता' की अधिकांश और 'यातना का सूर्य-पुरुष' की कुछ कविताओं में यह रूप-संघटना मिलती है। यह एक अजीब विरोधाभास है कि अपनी वैचारिकता और दृष्टि में विश्वचेतस् होते हुए भी, व्यक्तित्व के स्तर पर अत्यन्त आत्मीय और सहानुभूतिप्रवण होते हुए भी इस कविता की पहुँच सीमित होती है। किसी एक दृष्टि का अत्याग्रह, उसके साथ कवि-मानस का बुनियादी उलझाव ही मानो उसकी काव्य-क्षमता को घेरे में बाँध देता है; उसे अपनी पूरी स्वतन्त्रता में चरितार्थ नहीं होने देता। परम्परा के साथ भी ऐसी कविता का सम्बन्ध अनिश्चित रहता है।

यह कहना न्यायसंगत होगा कि वीरेन्द्रकुमार जैन की आध्यात्मिकता जीवन-निरपेक्ष या पलायनपरक नहीं है। उनकी कविता अध्यात्म को पारलौकिकता से स्वतंत्र विशुद्ध जीवनानुभूति के स्तर पर उतारलाने की अनिवार्य बेचेनी में से उपजती है। यह कहना भी बेजा न होगा कि हिन्दी में यदि किसी कवि ने सचमुच श्री अरविन्द के विचारदर्शन से अपनी कविता की केन्द्रीय उत्तेजना प्राप्त की है, तो वह वीरेन्द्रकुमार जैन ही हैं। वीरेन्द्रजी की कविता का अपना खास रेहटरिक भी है जिसके कारण उन्हें दो-चार पंक्तियों से ही अनेक कवियों की भीड़ में अलग से पहचाना जा सकता है।

सन् ६४ के आसपास 'भारती' में वीरेन्द्रजी ने 'सनातन सूर्योदयी कविता का घोषणापत्र' भी छापा था जो खासा विवादास्पद बना।

उपन्यास 'मुक्तिदूत' तब लिखा गया था जब लेखक की आयु केवल पचीस वर्ष की थी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'मुक्तिदूत' की विचारोत्तेजकता ही नहीं, रचना-सौष्ठव भी विस्मयकर जान पड़ता है। शिल्प प्रयोगों की नवीनता की दृष्टि से वह उल्लेखनीय है। वीरेन्द्रकुमार जैन के कथा-कृतित्व का गद्य भी विशिष्ट स्वाद रखता है और प्रसाद के आरंभिक गद्य की याद दिलाता है।

—र० चं० शा०

वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद्, टीकमगढ़—स्थापना—सन् १९३० ई० (मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध); संस्थापक—स्वर्गीय महाराज वीरेन्द्र जू देव ओरछानरेश; कार्य एवं विभाग—आचार्य केशवदास की स्मृति में स्थापित इस संस्था द्वारा बुन्देलखण्ड में हिन्दी-प्रचार का विशेष प्रयत्न होता रहा है। २००० रुपये का प्रसिद्ध 'देव पुरस्कार' एक वर्ष खड़ीबोली और दूसरे वर्ष ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ काव्य पर दिया जाता है। 'मधुकर' मासिक पत्र का प्रकाशन संस्था के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। परिषद् के द्वारा पाक्षिक गोष्ठी, साहित्यकारों की जयन्तियाँ तथा अन्य साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। जनपदीय साहित्य के शोध के लिए विद्वानों की गोष्ठियाँ भी आयोजित की जाती हैं।

—प्रे० ना० टं०

वृंद—नीति—साहित्य के यशस्वी प्रणेता वृन्द का वास्तविक नाम वृन्दावन दास था। वृन्द जाति के सेवक अथवा भोजक

थे। बृन्द के पूर्वज बीकानेर के रहनेवाले थे परन्तु इनके पिता रूपजी जोधपुर के राज्यान्तर्गत मेड़ते में जा बसे थे। वहीं सन् १६४३ (संवत् १७००) में वृन्द का जन्म हुआ था। वृन्द की माता का नाम कौशल्या और पत्नी का नाम नवरंगदे था। दस वर्ष की अवस्था में ये अध्ययनार्थ काशी आये और ताराजी नामक एक पण्डित के पास रहकर वृन्द ने साहित्य, दर्शन आदि विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। मेड़ते वापस आने पर जसवन्त सिंह के यत्नों से औरंगजेब के कृपापात्र नवाब मोहम्मद खाँ के माध्यम से वृन्द का प्रवेश शाही दरबार में हो गया। दरबार में "पयोनिधि पर्‌यो चाहे मिसरी की पुतरी" नामक समस्या की पूर्ति करके इन्होंने औरंगजेब को प्रसन्न कर दिया। उसने वृन्द को अपने पौत्र अजी मुशशान का अध्यापक नियुक्त कर दिया। जब अजी मुशशान बंगाल का शासक हुआ तो वृन्द उसके साथ चले गये। सन् १७०७ (सं० १७६४) में किशनगढ़ के राजा राजसिंह ने वृन्द को अजी मुशशान से माँग लिया। किशनगढ़ में ही सं० १७८० में वृन्द का देहावसान हुआ।

वृन्द की ग्यारह रचनाएँ प्राप्त हैं—'समेत शिखर छन्द', 'भाव पंचाशिका', 'श्रृंगार शिक्षा', 'पवन पचीसी', 'हितोप देश सन्धि', 'वृन्द सतसई', 'वचनिका', 'सत्य स्वरूप', 'यमक सतसई', 'हितोपदेशाष्टक' और 'भारत कथा' 'वृन्द ग्रंथावली' नाम से वृन्द की समस्त रचनाओं का एक संग्रह डा० जनार्दन राव चेले द्वारा संपादित होकर १९७१ ई० में प्रकाश में आया है। 'समेत शिखर छन्द' वृन्द की सर्वप्रथम रचना है। इसका रचनाकाल सं० १७२५ है। ८ छप्पय छन्दों के अन्तर्गत जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तीर्थ 'समेत सिखर' का इसमें माहात्य वर्णित हुआ है। 'भाव पंचाशिका' का रचनाकाल सं० १७४३ है। इसमें २२ दोहे और २५ सवैये हैं, जिनके अन्तर्गत श्रृंगार-रस की सामग्री विवेचित हुई है। इस ग्रन्थ की रचना औरंगजेब के दरबार में हुई थी। माधोराम कृत 'शक्ति भक्ति प्रकाश' के अनुसार वृन्द ने इस ग्रन्थ की रचना केवल एक रात्रि में की थी। 'श्रृंगार शिक्षा' की रचना सं० १७४२ में औरंगजेब के वजीर नवाब मोहम्मद खाँ के पुत्र मिर्जा कादरी की कन्या को पातिव्रत-धर्म की शिक्षा देने के प्रयोजन से की थी। यह नायिका-भेद विषयक ग्रन्थ है। 'पवन पचीसी' श्रृंगार-रसप्रधान रचना में पवन सम्बन्धी २५ छप्पय छन्द हैं। इसका रचनाकाल सं० १७४८ है। 'हितोपदेश सन्धि' का रचनाकाल सं० १७५९ है। यह संस्कृत ग्रन्थ 'हितोपदेश' की चौथी कथा का पद्यानुवाद है। 'वृन्द सतसई' वृन्द की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। यह सं० १७६१ में ढाका में औरंगजेब के पौत्र अजी मुशशान की प्रेरणा से रची गयी थी। वृन्द की सतसई नीति-साहित्य का श्रृंगार है। 'वचनिका' का रचनाकाल सं० १७६२ है। यह रचना किशनगढ़ के राजा रूपसिंह की युद्धवीरता से सम्बद्ध है। 'सत्य स्वरूप' का रचनाकाल सं० १७६४ है। इसमें औरंगजेब के पुत्रों का राज्य सिंहासन से सम्बद्ध युद्ध वर्णित है, जिसमें राजसिंह ने दारा की ओर से लड़कर अपनी युद्ध वीरता का परिचय दिया था। 'यमक सतसई' सात सौ दोहों की रचना है, जिसमें अधिकांश दोहे श्रृंगार विषयक हैं। 'हितोपदेशाष्टक' आठ घनाक्षरियों की शान्त-रसप्रधान रचना है। इसका रचनाकाल अज्ञात है। 'भारत कथा' महाभारत के एक प्रसंग पर आधारित रचना है। यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम जब सरोवर से पानी पीते हैं और फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, तब युधिष्ठिर आकर उनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं। यही प्रसंग इस रचना का वर्ण्य-विष्य है।

मिश्रबन्धुओं ने वृन्द की एक अन्य रचना 'प्रताप विलास' का उल्लेख किया है परन्तु डा० मोतीलाल मेनारिया के अनुसार यह वृन्द की प्रामाणिक रचना नहीं है। वृन्द की रचनाओं का ऐतिहासिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है। नीति-साहित्य में तो उनकी रचनाएँ मूर्धन्य स्थान की अधिकारिणी हैं। युग की श्रृंगारी मनोभावना भी उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। सम्मिलित रूप से बृन्द का उत्तर मध्यकालीन कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थान का पिंगल साहित्य, राजस्थानी भाषा और साहित्य : डा० मोतीलाल मेनारिया।]

—रा० कु०

वृंदावन—ब्रजमण्डल में १२ वन और २४ उपवन माने गये हैं। वनों के नाम—मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, कामवन, खदिरवन, वृन्दावन, भद्रवन, माण्डीरवन, बेल वन, लोहवन और महावन हैं। उपवनों के नाम—गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नन्दगाँव, संकेत, परमाद्र, अड़ीग, शेषसाई, मांट, ऊँचागाँव, खेलवन, श्रीकुण्ड, गन्धर्ववन, पारसोली, विलधू, वच्छवन, आदिवदरी, करहला, अडनोख, पिसाया, कोकिलावन, दधिगाँव, कोठवन और रावल हैं। वृन्दावन इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध है।

वृन्दावन की उत्पत्तिविषयक अनेक प्राचीन सन्दर्भ मिलते हैं। वृन्दावन के साधारणतया तीन अर्थ मिलते हैं—तुलसी का पौदा, राधा और जालन्धर की पत्नी। लोकप्रसिद्धि के अनुसार यहाँ कभी तुलसी का वन था, इसलिए इन स्थान का नाम वृन्दावन पड़ा। राधा के सोलह नामों में से एक नाम वृन्दा है। राधा का रम्य क्रीड़ा वन होने के कारण इसका नाम वृन्दावन पड़ा ('ब्रह्मवैवर्त' १७।१३)। वृन्दावन के ही आधार पर उनकी संज्ञा वृन्दावनी हुई। 'ब्रह्म वैवर्त' (१४।१९१।२०९) में यह भी वर्णित है कि केदार नाम के राजा की पुत्री वृन्दा द्वारा इस स्थान पर तप किये जाने के कारण यह वृन्दावन कहलाया। केदार राजा की इस कन्या का विवाह जालन्धर से हुआ था। यह कथानक अपेक्षाकृत परवर्ती है क्योंकि 'हरिवंश', 'भागवत', 'मत्स्य', 'विष्णु' आदि प्राचीन पुराणों में वृन्दावन सम्बन्धी विवरणों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। रूप सनातन के 'श्रीराधाकृष्ण गणोद्देश दीपिका' के अनुसार वृन्दा राधा की अत्यन्त रूपवती एवं अन्तरंग सखी का नाम है। उसके पिता का नाम चन्द्रभान तथा माता का नाम फुल्लरा है। महीपाल वृन्दा का पति है और मंजरी उसकी भगिनी है ('राधाकृष्ण गणोद्देश दीपिका', श्लोक ८४-९७)। प० कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार गिलगिट से प्राप्त संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों में एक यक्षी वृन्दा अथवा बेदा का नाम मथुरा की अन्य यक्षियों अलिका, मघा और तिमिसका के साथ आया है। ये यक्षियाँ अत्यन्त शक्तिशालीनी थीं। तिमिसका ५०० परिवार वाली थी। जब महात्मा बुद्ध मथुरा में आये, तब उन्होंने गर्दभ नामक दुर्दांत यक्ष का दमन करके चारों को

सन्मार्गोन्मुख किया था। अतः सम्भव है कि चारों में से वृन्दा अथवा वेदा का सम्बन्ध वृन्दावन से रहा हो ('सर्वेश्वर वृन्दावनांक' पृ० १६५)। इसके अतिरिक्त ऐसी भी मान्यता है कि वृन्दावन में वृन्दादेवी का मन्दिर गोविन्ददेव के मन्दिर के पास था। उसी के नाम पर इसका नाम वृन्दावन पड़ा।

वृन्दावन भगवान् कृष्ण की रासस्थली और कृष्णभक्ति सम्प्रदायों का प्रमुख केन्द्र रहा है। संस्कृत-साहित्य और भक्ति-काव्य में वृन्दावन का माहात्म्य प्रचुरता के साथ वर्णित हुआ है। 'भागवत' (१०।४१), 'पद्मपुराण' के पाताल खण्ड, 'स्कन्द पुराण' के वैष्णव खण्ड, 'नारद पांचरात्र' के श्रुति-विद्या संवाद, 'बृहत् ब्रह्म संहिता', अध्याय २, 'प्रबोध रघुवंश (सर्ग ६-४५-५९), प्रबोधानन्द सरस्वतीकृत 'वृन्दावन महिमामतम्' आदि प्राचीन ग्रन्थों में वृन्दावन का माहात्म्य प्रतिपादित हुआ है। वृन्दावन में ही निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, राधावल्लभ हरिदासी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों एवं भक्त कवियों ने अपनी भक्ति और काव्य की निर्झरिणी प्रवाहित की। वृन्दावन ब्रज की सास्कृतिक के समग्र रूप का स्वयं प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त स्थापत्य, चित्र, संगीत आदि कलाओं का भी प्रमुख केन्द्र रहा है।

कृष्ण-कथा में लीलावतारी कृष्ण की वृन्दावन-लीलाओं का विपुल विस्तार एवं स्वरूप विशेष महत्त्व रखता है। कृष्ण की वृन्दावन लीलाओं के दो भेद किये जा सकते हैं—अलौकिक वृन्दावन-लीलाएँ और लौकिक वृन्दावन-लीलाएँ। अलौकिक वृन्दावन लीलाओं मे वृंदावनगमन, वत्सासुर, वकासुर, अघासुर, धेनुकासुर आदि के वध, कालियदमन, दावानल पान, गोवर्धन धारण आदि सम्मिलित हैं। लौकिक वृन्दावन लीलाओं में गोचारण, राधासे मिलन, स्त्री रूप धारण, वैदक लीला, पनघट लीला वसन्त क्रीड़ा, दान लीला, मान लीला, रासलीला आदि आती हैं। अलौकिक वृन्दावन लीलाओं का वर्णन अधिकतर वल्लभ सम्प्रदाय के कवि सूर आदि कवियों की रचनाओं में तथा 'भागवत' के भाषानुवादो में मिलता है। लौकिक लीलाओं में राधाप्रधान कृष्ण-लीलाएँ माधुर्यभाव की पोषक हैं, अतः उनकी स्वीकृति सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में है। वृन्दावन-लीलाएँ कृष्ण-लीलाओं की सर्वाधिक आकर्षक एवं अनुरंजनकारिणी लीलाएँ हैं।

भक्त कवियों ने वृन्दावन को आराध्य युगल का पुनीत लीलाधाम होने के कारण प्रतीकात्मकता प्रदान करते हुए उसका प्रकट और अप्रकट रूपों में रसात्मक चित्रण किया है। प्रकट रूप उनकी लीला का परिकर है और अप्रकट रूप भक्त अपनी अन्तश्चेतना के द्वारा अनुभूत करता है। भक्त की वृन्दावनोपासना उसके ध्येय रूप के अभाव में अपूर्ण रहती है। भौतिक वृन्दावन अपनी लताओं, कुंजों से वेष्टित होकर श्रीकृष्ण और राधा की रसस्थली बनता है। वृन्दावन आराध्य-युगल के नित्य विहार का आधार है। लीलाधाम होने के कारण भौतिक होते हुए भी वह शाश्वत बन जाता है। भक्त अपनी जीवनलीला समाप्त करने के लिए वृन्दावन को ही परम पुनीत धाम मानकर चलता है : "माधो मोहि करो वृन्दावन रेनु। जिहि चरनि डोलत नन्दनन्दन दिन-दिन प्रतिदिन चारत धेनु"—सूर। वृन्दावन भगवान् कृष्ण के लिए स्वयं अत्यन्त प्रिय हैं : "वृन्दावन मोकों अति भावत। कामधेनु सुर तरु सुख जितने रमा सहित बैकुण्ठ भुलावत" आदि—सूर। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी वृन्दावन का माहात्म्य और उसके प्रति अपना अनुराग वर्णित किया है। एतद्विषयक कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—"मोहि वृन्दावन रज सो काज"—व्यासजी। "वृन्दावन में प्रेम की नदी बहे चहुँ ओर"—ध्रुवदास। "वृन्दावन बसि कष्ट जो होइ। कोटि मुक्ति सुख भुगते सोइ"—रसिकदास। "वृन्दावन चन्द जू महाप्रेम सुखदानि, अपनो ही गुन देत है ललित रंगीली बानि"—ललित किशोरी देव। "विष ले खाय आग में जरों, श्री जमुना में बूड़ हौं मरों। वृन्दावन छाड़ों नहीं"—अनन्य अलि।

कृष्ण भक्त के अतिरिक्त राम और निर्गुण भक्त कवियों की रचनाओं में भी वृन्दावन का महत्त्व एवं स्वरूप विवेचित हुआ है। तुलसीदास ने 'कृष्ण गीतावली' में "नहिं तुम ब्रजबसि नन्दनन्दन को बाल विनोद निहारो। नाहिन रास रसिक रस चाख्यो, ताते डेल सो डारो" कहकर वृन्दावन का माहात्म्य निरूपित किया है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' के अन्तर्गत राग गऊड़ी के ६६ वे पद में कबीर ने वृन्दावन का शून्य मण्डल के प्रमुख अंश के रूप में वर्णन किया है। सन्त चरण दास ने अपने 'ब्रजचरित्र' में वृन्दावन के प्रकट एवं अप्रकट रूपों का विवेचन किया है, यथा—"पुरुषोत्तम प्रभु लीलाधारी। वृन्दावन में सदा विहारी।। निज धामा की कहियत शोभा। वृन्दावन में रहे अलोभा।। दिव्य दृष्टि बिनु दृष्टि न आवे। सकल पुराण वेद यो गावै।।" आदि इसी प्रकार बुला साहब, भूषणदास, यारी साहब, रज्जब, सुन्दरदास, गुलाब साहब, जगजीवन दास, शिवनमायस आदि सन्तों की वाणियों में भी वृन्दावन और ब्रजभूमि का स्वरूप विवेचित हुआ है। वस्तुतः मध्ययुग में कृष्ण भक्ति की मधुर उपासना इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि उसके प्रभाव से निर्गुणोपासक भक्त भी अछूते न बचे।

[सहायक ग्रन्थ—सर्वेश्वर वृन्दावनांक, राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : विजयेन्द्र स्नातक; ब्रज और ब्रजयात्रा : सेठ गोविददास; मथुरा परिचय : कृष्णदत्त वाजपेयी।]

—रा० कु०

वृंदावनलाल वर्मा—जन्म ९ जनवरी १८८९ ई० में मऊरानीपुर झाँसी (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। पिता का नाम अयोध्या प्रसाद था। इनके विद्या-गुरु स्वर्गीय पं० विद्याधर दीक्षित थे। पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथाओं के प्रति बचपन से ही इनकी रुचि थी। प्रारम्भिक शिक्षा भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुई। बी० ए० करने के पश्चात् इन्होंने कानून की परीक्षा पास की और झाँसी में वकालत करने लगे। इनमें लेखन की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है। जब नवीं श्रेणी में थे, तभी इन्होंने ३ छोटे-छोटे नाटक लिखकर इण्डियन प्रेस, प्रयाग को भेजे और पुरस्कारस्वरूप ५० रूपये प्राप्त किये थे। 'महात्मा बुद्ध का जीवन-चरित' नामक मौलिक ग्रन्थ तथा शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' का अनुवाद भी इन्होंने प्रस्तुत किया था।

१९०९ ई० में 'सेनापति ऊदल' नामक नाटक छपा, जिसे सरकार ने जब्त कर लिया। १९२० ई० तक छोटी-छोटी कहानियाँ लिखते रहे। १९२१ से निबन्ध लिखना प्रारम्भ किया। स्काट के उपन्यासों का इन्होंने स्वेच्छापूर्वक अध्ययन किया और उससे ये प्रभावित हुए। ऐतिहासिक उपन्यास

लिखने की प्रेरणा इन्हें स्काट से ही मिली। देशी-विदेशी अन्य उपन्यास-साहित्य का भी इन्होंने यथेष्ट अध्ययन किया।

सन् १९२७ ई० में 'गढ़ कुण्डार' दो महीने मे लिखा। उसी वर्ष 'लगन', 'संगम', 'प्रत्यागत', 'कुण्डली चक्र', 'प्रेम की भेंट तथा 'हृदय की हिलोर' भी लिखा। १९३० ई० में 'विराटा की पद्मिनी' लिखने के पश्चात् कई वर्षों तक लेखन स्थगित रहा। १९३९ ई० मे धीरे-धीरे व्यंग तथा १९४२-४४ ई० मे 'कभी न कभी', 'मुसाहिब जू' उपन्यास लिखा गया। १९४६ ई० में इनका प्रसिद्ध उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' प्रकाशित हुआ। तबसे इनकी कलम अबाध रूप से चलती रही। 'झाँसी की रानी' के बाद इन्होंने 'कचनार', 'मृगनयनी', 'टूटे काँटे', 'अहिल्याबाई', 'भुवन विक्रम', 'अचल मेरा कोई' आदि उपन्यासों और 'हसमयूर', 'पूर्व की ओर', 'ललित विक्रम, 'राखी की लाज' आदि नाटकों का प्रणयन किया। 'दबे पाँव', 'शरणागत', 'कलाकार दण्ड' आदि कहानीसंग्रह भी इस बीच प्रकाशित हो चुके हैं।

भारत सरकार, राज्य सरकार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश राज्य के साहित्य पुरस्कार तथा डालमिया साहित्यकार संसद, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग (उ० प्र०) और ना० प्र० स० काशी के सर्वोत्तम पुरस्कारों से सम्मानित किये गये हैं।

अपनी साहित्यिक सेवाओं के लिए वृन्दावनलाल वर्मा आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किये गये। इनकी अनेक रचनाओं को केन्द्रीय एवं प्रान्तीय राज्यों ने पुरस्कृत किया है।

इतिहास, कला, पुरातत्त्व, मनोविज्ञान, साहित्य, चित्रकला एवं मूर्तिकला में इनकी विशेष रुचि है।

कृतियाँ : उपन्यास—'गढ़ कुण्डार' (१९३० ई०), 'लगन' (१९२८), 'संगम' (१९२८), 'प्रत्यागत' (१९२७), 'कुण्डलीचक्र' (१९३२), 'प्रेम की भेंट' (१९२८), 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६), 'मुसाहिब जू' (१९४६), 'कभी न कभी' (१९४५), 'झाँसी की रानी' (१९४६), 'कचनार' (१९४७), 'अचल मेरा कोई' (१९४८), 'माधवजी सिन्धिया' (१९५७), 'टूटे काँटे' (१९५४), 'मृगनयनी' (१९५०), 'सोना' (१९५२), 'अमरवेल' (१९५३), 'भुवन विक्रम' (१९५७), 'अहिल्याबाई'। नाटक—'धीरे-धीरे', 'राखी की लाज', 'सगुन', 'जहाँदारशाह', 'फूलों की बोली', 'बाँस की फाँस', 'काश्मीर का काँटा', 'हंसमयूर', 'रानी लक्ष्मीबाई' 'बीरबल', 'खिलौने की खोज', 'पूर्व की ओर', 'कनेर', 'पीले हाथ', 'नीलकण्ठ', 'केवट', 'ललित विक्रम', 'निस्तार', 'मंगलसूत्र', 'लो भाई पंचों लो', 'देखादेखी'। कहानी संग्रह—'दबे पाँव', 'मेंढ़क का ब्याह', 'अम्बपुर के अमर वीर', 'ऐतिहासिक कहानियाँ', 'अँगूठी का दान', 'शरणागत', 'कलाकार का दण्ड', 'तोषी'। निबंन्ध—'हृदय की हिलोर',।

'कचनार' उपन्यास इतिहास और परम्परा पर आधारित है। पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, घटनाएँ भी सत्य हैं। किन्तु समय और स्थान में ऐतिहासिकता का आग्रह नहीं है। इसमें एक साधारण नारी कचनार के सतत संघर्षशील तथा संयमित जीवन का चित्रण है। साथ ही दुर्व्यसनग्रस्त गुसाइयों की हीन दशा का भी चित्र प्रस्तुत किया गया है। कथानक का केन्द्र धमोनी है, जो एक समय राजगोंडों की रियासत थी। कचनार की कहानी कहने के साथ ही राजगोंडों की कहानी कहने का भी लेखक का उद्देश्य है। 'मृगनयनी' लेखक की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसमें १५वीं शती के अन्त के ग्वालियर राज्य के मानसिंह तोमर तथा उनकी रानी मृगनयनी की कथा है। अन्य उपकथाएँ भी साथ में हैं, जैसे लाखी और अटल की कथा। इसमें कथानक, चरित्र-चित्रण, देश-काल एवं वातावरण का चित्रण सब कुछ एक सजग कलात्मकता से सम्पन्न हुआ है, साथ ही १५वीं शती की राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण भी कुशलता से किया गया है। 'टूटे काँटे' में एक साधारण जाट मोहन लाल तथा उसकी पारिवारिक स्थिति के चित्रण के साथ प्रसिद्ध नर्तकी नूरबाई के उत्थान-पतनमय जीवन का भी चित्रण किया गया है। मोहनलाल तथा नूरबाई के जीवन के परिपार्श्व में ही १८वीं शती के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन का दिग्दर्शन इस उपन्यासों में कराया गया है। 'अहिल्याबाई' मराठा जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमे एक आदर्श हिन्दू नारी अहिल्याबाई की जीवन-कथा का समावेश है। 'भुवन विक्रम' में उत्तर वैदिककाल की कथा-वस्तु को कल्पना और ऐतिहासिक अन्वेषण के योग से पर्याप्त जीवन्त रूप में उपस्थित किया गया है। कथा की केन्द्र-भूमि अयोध्या है। अयोध्या के राजा रोमक, रानी ममता तथा राजकुमार भुवन इसके मुख्य पात्र हैं। इसमें वैदिक संयम, अनुशासन, आचार-विचार, सभ्यता, संस्कृति आदि का यथेष्ट संयोजन है। 'माधवजी सिंधिया' जटिल घटनायुक्त ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें १८वीं शती के पेशवा पटेल माधवजी सिन्धिया का महान् जीवन चित्रित है। इस उपन्यास के द्वारा १०वीं शती के भारत का सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन प्रत्यक्ष हो जाता है। 'गढ़ कुण्डार', 'झाँसी की रानी', 'विराटा की पद्मिनी' के सम्बन्ध में विवरण यथास्थान द्रष्टव्य है।

सामाजिक उपन्यास—'लगन', 'संगम', 'प्रत्यागत', 'प्रेम की भेंट', 'कुण्डलीचक्र', 'कभी न कभी', 'अचल मेरा कोई', 'सोना', तथा 'अमरवेल' हैं। 'लगन' में प्रेमकथा के साथ बुन्देलखण्ड के भरे-पूरे घर के दो किसानों की आनबान और मानव-संघर्ष का चित्रण है। 'संगम' और 'प्रत्यागत' का सम्बन्ध ऊँच-नीच की रूढ़िगत भावना से है। इन उपन्यासों में तत्कालीन जाति-पाँति की कठोरता, रूढ़िग्रस्तता, धर्मान्धता आदि का तथा उससे उत्पन्न अराजकता और पतन का सजीव चित्रण है। 'प्रेम की भेंट' प्रेम के त्रिकोण की एक छोटी-सी कहानी है। 'कुण्डलीचक्र' की पृष्ठभूमि में किसानों और जमींदारों का संघर्ष दिखाया गया है। 'कभी न कभी' मजदूरों से सम्बन्धित है। 'अचल मेरा कोई' में उच्च मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग का चित्रण है। 'सोना' उपन्यास एक लोककथा के आधार पर लिखा गया है। 'अमरवेल' में सहकारिता तथा श्रमदान के महत्त्व को दिखाया गया है।

ऐतिहासिक नाटक— 'झाँसी की रानी', 'हंसमयूर', 'पूर्व की ओर', 'बीरबल', 'ललित विक्रम' और जहाँदारशाह', है। 'झाँसी की रानी' में इसी नाम की औपन्यासिक कृति को नाटक रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'फूलों की बोली' में स्वर्ण रसायन द्वारा प्राप्त करने वालों की मूर्खता पर व्यंग किया गया है। 'हंसमयूर' का आधार 'प्रभाकर चरित' नामक जैन ग्रन्थ है।

'पूर्व की ओर' पूर्वीय द्वीपों में भारतीय संस्कृति के प्रचार की कथा का नाटकीय रूप है। 'बीरबल' में अकबर के दरबारी बीरबल के उन प्रयत्नों का चित्रण किया गया है, जिन्होंने अकबर को महान् बनाने में योग दिया। 'ललित विक्रम' की कथावस्तु 'भुवन विक्रम उपन्यास से ही गृहीत है। 'जहाँदारशाह' में जहाँदारशाह के सघर्षमय राजनीतिक जीवन का चित्रण किया गया है।

सामाजिक नाटक— 'धीरे-धीरे' कांग्रेस सरकार के सन् १९३७ ई० के मन्त्रिमण्डल की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। 'राखी की लाज' में राखी की श्रेष्ठ प्रथा को हिन्दू समाज मे बनाये रखने की भावना पर आग्रह व्यक्त किया गया है। 'बाँस की फाँस' कॉलेज के प्रेमसम्बन्धी हल्की मनोवृत्ति से सम्बद्ध है। 'पीले हाथ' में ऐसे सुधारकों का चित्र हैं, जो बारात की पुरानी प्रथाओं के दास हैं। 'सगुन' में चोरबाजारी का पर्दाफाश किया गया है। 'नीलकण्ठ' में वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक, दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय पर बल दिया गया है। 'केवट' राजनीतिक दलबन्दी से सम्बद्ध है। 'मंगलसूत्र' में एक शिक्षित लड़की के साथ एक अयोग्य लड़के के विवाह की कहानी है। 'खिलौने की खोज' में मनोबल द्वारा अनेक समस्याओं के सुलझाने का सुझाव है। 'निस्तार' का सम्बन्ध हरिजन सुधार से है। 'देखादेखी' में दूसरों की देखा-देखी में सामाजिक पर्वों पर सीमा से अधिक खर्च करने की वृत्ति पर व्यंग है।

कहानियाँ—'शरणागत', 'कलाकार का दण्ड' आदि ७ कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमे लेखक की विविध समय में रचित विभिन्न प्रकार की कहानियाँ संगृहीत हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा की विचारधारा उनके उपन्यासों से स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। इनकी दृष्टि सर्वदा राष्ट्र के पुनः निर्माण की ओर रही है। भारत के पतन के मूल कारण रूढ़ि-जर्जर समाज को इन्होंने अपनी सभी प्रकार की रचनाओं में प्रयोगशाला बनाया है तथा सामाजिक कुरीतियों की ओर इंगित किया है। ये श्रम के महत्त्व के प्रबल पोषक हैं। वर्माजी मानव-जीवन के लिए प्रेम को एक आवश्यक तत्त्व मानते हैं। यही नहीं, उनके विचार से प्रेम एक साधना है, जो साधक को सामान्य भूमि से उठाकर उच्चता की ओर ले जाती है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण प्रायः वही है, जिसका प्रतिपादन प्राचीन भारतीय संस्कृति करती है। इनके विचार से मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं।

मुख्यतया इनकी शैली वर्णनात्मक है, जिसमें रोचकता तथा धाराप्रवाहिता, दोनों गुण वर्तमान हैं। ये पात्रों के चरित्र-विश्लेषण में तटस्थ रहते हैं। पात्र अपने चरित्र का परिचय घटनाओं, परिस्थितियों एवं कथोपकथन से स्वयं दे देते हैं। इनके उपन्यासों की लोकप्रियता का यह एक प्रमुख कारण है। अधिकतर भाषा पात्रानुकूल होती है। इनकी भाषा में बुन्देलखण्डी का पुट रहता है, जो उपन्यासों की क्षेत्रीयता का परिचायक है। वर्णन जहाँ भावप्रधान होता है, वहाँ भी इनकी शैली अधिक अलंकारमय न होकर मुख्यतया उपयुक्त उपमा-विधान से संयुक्त दिखाई देती है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही वृन्दावनलाल वर्मा का कृतित्व विशेष महत्त्व रखता है। इनमें पूर्व हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई उपन्यासकार नहीं हुआ, जिसने इतनी व्यापक भावभूमि पर इतिहास को प्रतिष्ठित करके उसके पीछे निहित कथा-तत्त्व को शक्तिसंलग्नता और अन्तर्दृष्टि के साथ सूत्रबद्ध किया हो। वर्माजी के अनेक उपन्यासों में वास्तविक इतिहास रस की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से वे हिन्दी के अन्यतम उपन्यासकार हैं।

[सहायक ग्रन्थ—वृन्दावनलाल—उपन्यास और कला : शिवकुमार मिश्र; वृन्दावनलाल वर्मा—व्यक्तित्व और कृतित्व : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'; वृन्दावनलाल वर्मा—साहित्य और समीक्षा : सियारामशरण प्रसाद।]

—ज० गु०

वृत्त-तरंगिनी—इसके लेखक रामसहाय दास है। इसकी रचना अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सन् १८१७ ई० (सं० १८७३) में हुई। इसी रचना से लेखक के गुरु के नाम का पता चलता है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की हस्तलिखित प्रति में केवल चार ही तरंग हैं, शेष तरंगों का पता नहीं चलता। विवेचन वैज्ञानिक तथा विशिष्ट है और सहज ही इसे हिन्दी का सर्वोत्तम पिंगल-ग्रन्थ माना जा सकता है। विधिवत् वर्णन तथा विस्तृत प्रतिपादन कोदेखते हुए इन्हें आचार्य श्रेणी में स्थान देना भी उपयुक्त होगा। अपने द्वारा रचित उदाहरणों के अतिरिक्त इन्होंने अन्य कवियों के, विशेषतः सूरदास के उदाहरण भी लिये हैं। संस्कृत वृत्तों के लक्षण के उपरान्त उनके उदाहरण भी संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रन्थों से दिये गये हैं। दोहे में लक्षणोदाहरण देने की परम्परा अपनाने के अतिरिक्त इन्होंने सूत्रपद्धति में लक्षण और छन्दों के भेद दिये हैं। मात्राओं की संख्या के लिए कूटशैली का सहारा लिया है और उदाहरणों में गुरु-लघु चिह्न लगाते चले हैं। कूटो की स्पष्टता के लिए शब्दों के ऊपर अंक भी लिख दिये गये हैं। उदाहरण बड़े ही सरस हैं तथा कवि के स्वरचित उदाहरण कृष्ण-लीला से ही सम्बन्ध रखते हैं। शास्त्रीयता के साथ सुस्पष्टता, सरसता तथा विस्तार का ऐसा अनूठा मेल, आचार्य तथा कवि का ऐसा एकत्र सम्मिलन सभी लेखकों में नहीं मिल सकता।

रामसहाय दास की मौलिकता इस बात में भी है कि इन्होंने मात्रिक छन्दों में १२ मात्रा के माधुर्य, कलकण्ठ, १३ मात्रा के इन्दिरा तथा १५ मात्रा के नागर नामक नये छन्द विवेचित किये हैं और वार्णिक छन्दों में इन्होंने ६ वर्ण के कलिन्दजा, पंचवर्ण, मृगाक्षी, ७ वर्ण का ललितललाम, ९ वर्ण के नवल, जमाल, घृति तथा सुखनन्द, १० वर्ण के नागरी, मधु, मानिनी, कम्पटी, १३ वर्ण के दीप्ति, मेनका, रति तथा १४ वर्ण के रम्भामाला, केदार, दामिनी तथा तार नामक नये छन्द बताये। विवेचनक्रम के अनुसार प्रथम तरंग में लघु, गुरु, गण, गण-देवता, गण-योग, उनके प्रभाव तथा प्रत्यय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। दूसरी तरंग में मात्रिक छन्द बताये गये हैं। सभी जाति के छन्दों की सूची देने के अतिरिक्त १ से ३२ मात्रा के छन्दों की रचना की गयी है। मात्रा के आधार पर सम, अर्द्धसम, विषम और मात्रा दण्डक नामक चार भेद किये गये हैं। तीसरी तरंग में वर्णिक वृत्तों का वर्णन है। चतुर्थ तरंग में तुक का भेदों सहित वर्णन किया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—सतसई सप्तक; शि० स० क० कौ० (भा० १); हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—आ० प्र० दी०

वृषभानु—राधा के पिता तथा ब्रज के एक प्रतिष्ठित गोप के रूप में प्रसिद्ध हैं। वृषभानु की पुत्री होने के कारण राधा का नाम वृषभानुकुमारी पडा। कृष्णभक्ति-काव्य मे वृषभानु के चरित्र का गौण स्थान है। कृष्णभक्ति के सभी सम्प्रदायों के काव्य में वृषभानुकुमारी के नाम के साथ ही वे जाने जाते रहे हैं। राधावल्लभीय भक्त कवियो ने राधा की शैशव लीलाओ के प्रसंग में वृषभानु के राधा के प्रति वात्सल्य भाव का निरूपण किया है (दे० चाचा वृन्दावनदासकृत 'ब्रजप्रेमानन्द सागर', 'राधा लाडसागर')। प्रकारान्तर से वृषभानु भक्त है। वल्लभ सम्प्रदाय की वात्सल्य उपासना पद्धति में जो स्थान नन्द का है, राधावल्लभ सम्प्रदाय में वही स्थान वृषभानु का कहा जा सकता है।

—रा० कु०

वृषभानु पत्नी—राधा की माता कीर्ति के लिए 'वृषभानु पत्नी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। कृष्ण की माता यशोदा की तुलना मे उसका स्नेह संकुचित धरातल पर व्यक्त हुआ है। उसका आवास स्थान बरसाना है। कृष्ण भक्ति-काव्य में राधा की शैशव-लीलाओं के अन्तर्गत उसके व्यक्तित्व की सरलता एवं स्नेह की व्यंजना हुई है (दे० सू० सा० प० १२९५-९६)। उसे सामाजिक मर्यादा का भय है, इसीलिए वह राधा को असमय भ्रमण से रोकती है और उस पर क्रोध दिखाती है किन्तु अन्ततः वृषभानु पत्नी का क्रोध प्रेम में समा जाता है (दे० सू० सा० प० १३१६-१३१७)। गारुड़ी प्रसंग में प्रकारान्तर से उसकी कृष्णभक्ति व्यंजित हुई है। वह कृष्ण से राधा का विवाह कर देना चाहती है (दे० सू० सा० प० १३१९)।

कृष्ण-काव्य में कीर्ति का उल्लेख राधा की शैशव एव किशोरी लीलाओं में मिलता है। यशोदा की तुलना में उसका चरित्र संकुचित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत हुआ है। उसके चरित्र में राधावल्लभीय भक्त कवियों ने 'दे० चाचा वृन्दावनदास, सेवकजी, चतुर्भुजदास, ध्रुवदास आदि कवियों के पद तथा 'ब्रजप्रेमानन्द सागर', 'राधा लाड़सागर') मातृत्व के चित्रण मे वात्सल्य की उसी व्यंजना का यत्न किया है, जो अष्टछापी कवियों ने यशोदा के चरित्र के द्वारा की है। राधावल्लभीय भक्तों ने जिस रूप में वृषभानुपत्नी का राधा के माध्यम से कृष्ण के प्रति अनुराग व्यक्त किया है, लगभग उसी रूप में वल्लभसम्प्रदायी कवियों ने यशोदा का कृष्ण के माध्यम से राधा के प्रति स्नेह दर्शाया है किन्तु इसे सर्वथा साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य के रूप में स्वीकार करना भूल होगी।

—रा० कु०

वृषभासुर—कृष्ण को मारने के उद्देश्य से यह असुर एक दिन गायों के बीच वृषभ का रूप धारण करके आया था। उसके देखते ही गाएँ भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगीं। कृष्ण ने उसे पहिचान लिया। वृषभासुर कृष्ण को भी मारने के लिए दौड़ा। लेकिन कृष्ण ने उसे पैर पकड़कर मार डाला। इसे अरिष्टासुर भी कहा गया है (दे० सू० सा० प० २००४)।

—रा० कु०

वेंकटेशनारायण तिवारी—जन्म १८९० ई० में कानपुर में हुआ। उत्तर प्रदेश के हिन्दी पत्रकारों में आपका नाम अग्रगण्य रहा है। हिन्दी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में आपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं।

—सं०

वेलि क्रिसन रुकमणी री—डिंगल भाषा के उत्कृष्ट खण्डकाव्य 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' की रचना राठौड़राज पृथ्वीराज ने १५८० ई० में की थी। इसी रचना में डिंगल के छन्द वेलियो गीत का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण कृति ३०५ पद्यों में समाप्त हुई है। कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा कृति का विषय है। कवि ने विषय-वस्तु की प्रेरणा के लिए अपने को 'श्रीमद्भागवत' का आभारी माना है—"वल्ली तसु बीच भागवत वायो"। 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध उत्तरार्ध चार अध्यायों (५२-५५) में कृष्ण-रुक्मिणी की परिणयकथा है किन्तु पृथ्वीराज ने कथा की रूपरेखा को सामने रखकर मौलिक काव्य-ग्रन्थ की रचना की है। रुक्मिणी का नखशिख-वर्णन षट्-ऋतु, युद्ध-वर्णन जैसे प्रसंगों में कवि की मौलिकता के दर्शन होतेहैं। ब्राह्मण के द्वारा पत्र द्वारा सन्देश भेजना तथा रुक्मिणी के भाई रुक्म के सिर पर कृष्ण के हाथ फेरने से फिर केशों के उग आने के प्रसंग कवि कल्पित हैं। कृति में श्रृंगार और वीर-रस प्रधान है। अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी कृति महत्त्वपूर्ण है। शब्दालंकारो मे डिंगल के वयण सगाई अलकार का प्रयोग बहुत ही सफल हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक का प्रयोग विशेष आकर्षक है। ऋतु-वर्णन में राजस्थान की स्वाभाविक स्थानीय प्रकृति का आकर्षक वर्णन मिलता है। कवि ने साहित्यिक डिंगल भाषा का कृति में प्रयोग किया है। काव्य, युद्धनीति, ज्योतिष, वैद्यक आदि अनेक विषयों के जैसे संकेत कृति में मिलते है, उनसे पृथ्वीराज की बहुज्ञता का परिचय मिलता है।

राजस्थान मे 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' अत्यन्त प्रिय रही है। उसकी प्रसंशा में अनेक पद्य राजस्थान में प्रचलित हैं। पृथ्वीराज के समकालीन आढ़ाजी दुरसा चारण कवि ने 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' को 'पाँचवाँ वेद' तथा 'उन्नीसवाँ पुराण' कहा था। उस पर ढूंढाड़ी, मारवाड़ी तथा संस्कृत में टीकाएँ भी लिखी गयीं, जो पर्याप्त प्राचीन हैं। इस युग में 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' के साहित्यिक सौन्दर्य की ओर ध्यान आकर्षित करने के श्रेय इतावली विद्वान् एल० पी० तेस्सी तोरी को मिलना चाहिए। तेस्सी तोरी का सुसम्पादित संस्करण रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल से १९१७ ई० में निकला। कृति का दूसरा महत्त्वपूर्ण संस्करण हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग से १९३१ ई० में निकला। इधर और भी सस्ते संस्करण निकले हैं, जिनमें कोई विशेषता नहीं है। अकादमी का संस्करण पुराना होते हुए भी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।

[सहायक ग्रन्थ—राजस्थानी भाषा और साहित्य—मेनारिया : वेलि क्रिसन रुकमणी री; हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद १९३१ ई०।]

—रा० तो०

वैदेही—दे० 'सीता'।

वैदेही वनवास—यह 'प्रियप्रवास' के ख्याति-लब्ध कवि अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४१ ई०) की दूसरी प्रबन्धात्मक काव्य-कृति है। इसका प्रकाशन 'प्रिय प्रवास' के प्रकाशन के कोई २६ वर्ष बाद १९४० ई० में हुआ। अब तक इसके चार संस्करण निकल चुके हैं। 'हरिऔध' कृत खड़ीबोली के इस दूसरे प्रबन्ध काव्य में रामकथा के वैदेही वनवास प्रसंग को आधार बनाया गया है और करुण रसकी

निष्पत्ति कराई गयी है। किन्तु इसमें 'प्रियप्रवास' की तुलना मे बहुत कम लोकप्रियता मिल पायी है। यद्यपि इस कृति में कवि ने यथासाध्य सरल तथा बोलचाल की भाषा अपनायी है।

—र० भ्र०

वैराग्यसंदीपिनी—इसे प्रायः तुलसीदास की रचना माना जाता रहा है। यह चौपाई-दोहों में रची हुई है। दोहे और सोरठे ४८ तथा चौपाई की चतुर्ष्पदियाँ १४ हैं। इसका विषय नाम के अनुसार वैराग्योपदेश है। इसकी शैली और विचारधारा तुलसीदास की ज्ञात रचनाओं से भिन्न है। उदाहरणार्थ, 'निकेत' (दो० ३) का प्रयोग 'शरीर' के अर्थ में हुआ है किन्तु वह 'तुलसी ग्रन्थावली' में सर्वत्र घर के लिए आता है। दोहा ६ में 'तवा' के 'शान्त' होने की उक्ति आती है, इसका 'शीतल' होना ही बुद्धि-समस्त है। दोहा ८ में एकवचन 'ताहि' का प्रयोग 'संतजन' के लिए किया गया है, जो अशुद्ध है। दोहा १४ में 'अति अनन्य गति' का 'अति' अनावश्यक है। उसी में 'जानी' पूर्वकालिक क्रिया रूप असंगत लगता है। होना चाहिए था 'जानई' किन्तु परवर्ती चरण के 'पहिचानी' के तुक पर उसे 'जानी' कर दिया गया। पुनः इसमें सन्त-लक्षण-निरूपण करते हुए शान्ति पद का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। शान्ति पद का प्रतिपादन अधिकतर तुलसीदास के रामभक्ति सम्बन्धी विचारधारा से भिन्न प्रतीत होता है। शान्ति पद के सुख का प्रतिपादन न कर उन्होंने अन्यत्र सर्वत्र भक्ति-सुख का उपदेश दिया है।

—मा० प्र० गु०

वैशाली की नगरवधू—चतुरसेन (शास्त्री, आचार्य, १८९१-१९६० ई०) की सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक रचना है। यह उपन्यास दो भागों में है, जिसके प्रथम संस्करण दिल्ली मे क्रमशः १९४८ तथा १९४९ ई० में प्रकाशित हुए। इस उपन्यास का कथात्मक परिवेश ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक है। इसकी कहानी बौद्ध-काल से सम्बद्ध है और इसमें तत्कालीन लिच्छिवि संघ की राजधानी वैशाली की पुरवधू 'आम्रपाली' को प्रधान चरित्र के रूप में अवतरित करते हुए उस युग के हास-विलासपूर्ण सांस्कृतिक वातावरण को अंकित करने का प्रयास किया गया है। उपन्यास में घटनाओं की प्रधानता है किन्तु उनका संघटन सतर्कतापूर्वक किया गया है और बौद्धकालीन सामग्री के विभिन्न स्रोतों का उपयोग करते हुए उन्हें एक हद तक प्रामाणिक एवं प्रभावोत्पादक बनाने की चेष्टा की गयी है। उपन्यास की भाषा में ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करने के लिए बहुत से पुराकालीन शब्दों का उपयोग किया गया है। कुल मिलाकर चतुरसेन की यह कृति हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में उल्लेखनीय है।

—र० भ्र०

व्यंग्यार्थ कौमुदी—यह प्रतापसाहि द्वारा सन् १८३६ ई० में रची गयी। दतिया राजपुस्तकालय में इसकी हस्तलिपि सुरक्षित है। यह ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस, काशी तथा वाराणसी संस्कृत यन्त्रालय, काशी से मुद्रित हुआ। यह व्यंग्यार्थ-निरूपक शास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें मूल तथा वृत्ति दो भाग किये गये हैं और मूल भाग में केवल १३० पद्य हैं। आरम्भिक १४ पद्यों में गणेश वन्दना, शब्द-शक्ति विवेचन, अलंकार-स्वरूपनिरूपण और व्यंग्यार्थ के महत्त्व निरूपण के पश्चात् शेष १११ पद्यों में भानुदत्त मिश्र के आधारपर नायिका-भेद के लक्षणोदाहरण दिये गये हैं। यदि वृत्तिभाग को अलग कर दें तो यह एक लक्ष्य-ग्रन्थ ही रह जाता है। वृत्तिभाग में उदाहरणों से सम्बद्ध नायक नायिका-भेद, शब्दशक्ति, अलंकार भेद का गद्य-निर्देश करते हुए पद्य-बद्ध लक्षण भी दिये गये हैं।

विषय-विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने नाम की अवहेलना करता हुआ नायिका-भेद का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है। व्यंजना तथा नायिका-भेद के एक साथ वर्णन का यह सुन्दर नमूना है। गद्य में वृत्ति-भाग की योजना इसकी नवीन ही है। नवीनता की दृष्टि से गणिका के स्वतन्त्रता, अनन्याधीना तथा नियमिता और वासकसज्जा के ऋतुकालस्नानोपरान्ता तथा प्रवासी-पति की प्रतिक्षारत वासकसज्जा नामक भेद उल्लेख्य हैं। गणिका के उक्त भेद कुमारमणि के 'रसिक रसाल' तथा अकबरसाहि की 'श्रृंगारमंजरी' में भी उपलब्ध होते हैं। वासकसज्जा का प्रथम भेद प्रतापसाहि का स्वकल्पित हो सकता है और दूसरे को जिसे लेखक स्वयं आगतपति का भी कहता है श्रीधरदासकृत 'सदुक्तिकर्णामृत' में देखा जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); ब्र० सा० ना०]

—आ० प्र० दी०

व्यास— 'महाभारत' के रचनाकार के रूप में व्यास की प्रसिद्धि है। व्यास की माता सत्यवती और पिता चेदिराज उपरिचार थे। ये पाराशर के औरस पुत्र कहे जाते हैं। 'भागवत' में व्यास विष्णु के अवतार माने गये हैं। व्यास के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। यमुना के किसी द्वीप में जन्मने के कारण ये द्वैपायन कहलाये। श्यामवर्ण होने के कारण इन्हें 'कृष्ण मुनि' भी कहा जाता है। वेदव्यास नाम का कारण यह बताया जाता है कि वेदों चार संहिताओं में विभाजित करने के कारण इनका यह नाम पड़ा। धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर व्यास के आत्मज थे। महाभारत-युद्ध में व्यास ने कौरवों तथा पाण्डवों के मध्य समझौता कराने का यत्न किया था। तीन वर्षों के भीतर व्यास ने 'महाभारत' जैसे विशाल ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना कर डाली। 'महाभारत' में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसीलिए इसे 'शतसहस्त्री संहिता' भी कहते हैं। 'महाभारत' का वर्तमान प्राप्त रूप डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन है क्योंकि गुप्तकाल के एक शिलालेख में 'शत सहस्री संहिता' का उल्लेख मिलता है। व्यास का रचा हुआ 'महाभारत' अनेक प्रक्षेपों के कारण बदलता रहा है। बहुत समय तक उसकी परम्परा मौखिक रही है। 'महाभारत' का प्रामाणिक सम्पादन भी सुकन्थाकर ने सतत साधना के अनन्तर प्रस्तुत किया है। 'महाभारत' १८ खण्डों में विभाजित है। इन्हें पर्व कहते हैं : १. आदि २. सभा ३. वन ४. विराट ५. उद्योग ६. भीष्म ७. द्रोण ८. कर्ण ९. शल्य १०. सौप्तिक ११. स्त्री १२. शान्ति १३. अनुशासन १४. अश्वमेध १५. आश्रमवासी १६. मौसल १७. महाप्रस्थानिक १८. स्वर्गारोहण। 'हरिवंश पुराण' को कुछ लोग महाभारत का ही अंश मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में दुष्यन्त-शकुन्तला, मत्स्यावतार की कथा, रामोपाख्यान, शिव की कथा, सावित्री उपाख्यान तथा नल और दमयन्ती की कथाएँ भी सम्मिलित हैं। भारतीय संस्कृति के अध्ययन में व्यासकृत 'महाभारत' का अपूर्व स्थान है।

—रा० कु०

व्यास, हरिराम–ओरछाधीश मधुकर शाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास ब्रजमण्डल के प्रसिद्ध रसिक भक्तों मे हैं। वृन्दावन में हरित्रयी नाम से जो तीन महात्मा विख्यात है, उनमें से एक हरिराम व्यास भी हैं। व्यास जी के सम्बन्ध में नाभादासकृत 'भक्तमाल' में तथा भगवत मुदितकृत 'रसिक अनन्यमाल' मे पर्याप्त वर्णन मिलता है। 'भक्तमाल' के वार्तिक तिलक में अनेक जनश्रुतियों का वर्णन है। उत्तम दास ने भी अपने 'रसिकमाल' में बड़े विस्तार से व्यास जी का चरित्र लिखा है। इन तीनो चरित्रों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि हरिराम व्यास सस्कृत साहित्य और दर्शन शास्त्र के पूर्ण पारंगत विद्वान् थे। शास्त्रार्थ प्रेमी होने के कारण काशी आदि स्थानों में भ्रमण करने के बाद ये वृन्दावन आये थे। वृन्दावन आने पर उनका श्री हित हरिवंश से साक्षात्कार हुआ और उनसे शास्त्र-चर्चा के बाद उन्हें हरिवंश का मत सर्वश्रेष्ठ लगा और उनसे विधिवत् दीक्षा लेकर उन्होंने राधा-वल्लभीय मार्ग स्वीकार कर लिया।

व्यास जी का जन्म टीकमगढ़-ओरछाराज्य में बेतवा नदी के किनारे सं० १५५० के आसपास (सन् १४९२ ई०) ठहरता है। वे सं० १५९१ (सन् १५३४ ई०) में पहली बार वृन्दावन आये थे। व्यास जी के पिता का नाम समोखन शुक्ल था। व्यास शब्द हरिराम जी के नाम के साथ पाण्डित्य सूचक उपाधि के रूप में प्रारम्भ से प्रयुक्त हुआ था किन्तु बाद में यह जाति वाचक शब्द समझा जाने लगा। व्यास जी का विवाह आदि सद्गृहस्थों के रूप मे हुआ था। उनके तीन पुत्र और एक पुत्री थी। व्यास जी के अपनी 'वाणी' में लिखा है कि समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी जब शक्ति न मिली, तब रसिकों के बताने पर हित हरिवंश जी से मिला और उनसे अपनी समस्त शंकाओं का सच्चा समाधान पाया : "उपदेस्यो रसिकन प्रथम, तब पाये हरिवंश। जब हरिवंश कृपा करी, मिटै व्यास के संस।। मोह मयो के फन्द बहु, व्यास के लीनौ घेरि, श्री हरिवंश कृपा करी, लीनों मोंको टेरि।।" आगे वे अपने इष्टदेव और गुरु के विषय में कहते हैं–"राधावल्लभ व्यास को इष्टमित्र गुरुदेव। श्री हरिवंश प्रकट कियौ कुंज महल रसभेव।।"

कतिपय विद्वानों ने व्यास जी को माध्व या निम्बार्कमतानुयायी सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु समस्त 'व्यासवाणी' के पारायण करने पर कहीं भी माध्व या निम्बार्क विचारधारा का समर्थन प्राप्त नहीं होता। राधावल्लभीय उपासना का सार नित्य विहार-दर्शन है। 'व्यास वाणी' इसी नित्य विहार भावना से ओत-प्रोत है। व्यास जी कहते हैं– "व्यास भक्ति को फल लह्यौ श्री वृन्दावन धूरि। हित हरिवंश प्रताप तें पाई जीवन मूरि।।" व्यास जी को वैष्णव सम्प्रदायों में विशाखा सखी का अवतार माना जाता है। विशाखा सखी राधा-माधव मिलन में सहायक होती है और राधा का अनुगमन करती है। विशाखा का स्वभाव प्रेम, ममता, वात्सल्य और दया से परिपूर्ण माना गया है। व्यास जी के चरित्र में भी ये सभी गुण विद्यमान थे। व्यास जी के इष्ट ही "भक्त जन" हैं, भक्तों को आदर-सत्कारपूर्वक व्यास जी नमस्य मानते हैं। व्यास जी अपने अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध हैं। अतिथि को देवता के समान पूज्य मानकर उसका सत्कार करना ईश्वराधन के समान है। वे अपनी प्रसादनिष्ठा के लिए भी विख्यात हैं। वे निर्भीक, सत्यवादी, धर्मपरायण, साधुसेवी और प्रेमी स्वभाव के महात्मा थे। उनका निधन संवत् विवादास्पद है। वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'भक्तकवि व्यास जी' में इनकी निधन तिथि सं० १६७५ मे पूर्व लिखी है। संवत् १६७५ से पूर्व कहने से किसी निश्चित सवत् पर पहुँचना कठिन है। रचनाओं के आधार पर इनकी मृत्यु संवत् १६५५ (सन् १५९८ ई०) के आसपास स्थिर होती है।

व्यास जी के दो ग्रन्थ हिन्दी में और एक संस्कृत में हैं। हिन्दी के ग्रन्थो में 'व्यास वाणी' सुप्रसिद्ध है और तीन बार प्रकाशित हो चुकी है। 'रागमाला' संगीतशास्त्र का ग्रन्थ है, जिसमें ६०४ दोहे हैं। संस्कृत का ग्रन्थ 'नवरत्न' एवं 'स्वधर्म पद्धति' अप्राप्य हैं। व्यास जी को कवि और भक्त के रूप में ख्याति प्रदान करने वाला ग्रन्थ 'व्यास वाणी' ही है। 'व्यास वाणी' के प्रकाशकों ने अपनी रुचि के अनुसार ग्रन्थ का विभाजन कर लिया है। राधाकिशोर गोस्वामी ने 'व्यास वाणी' को दो भागों मे विभक्त किया है–सिद्धान्त रस विषय तथा श्रृंगार रस विषय। राधावल्लभीय वैष्णव सभा द्वारा प्रकाशित 'वाणी' का पूर्वार्द्ध सिद्धान्त रस तथा उत्तरार्द्ध 'श्रृगार रस विहार भागों में विभक्त है। 'भक्त कवि व्यास जी' में बिना विभाग के ७७५ पद तथा 'रास पंचाध्यायी' के ३० पद संकलित हैं। साखी शीर्षक से १४८ दोहे पृथक हैं।

'व्यास वाणी' का प्रतिपाद्य विषय माधुर्य भक्ति और राधा कृष्ण की निकुंज-लीला का वर्णन है। इस मुख्य विषय की स्थापना के लिए भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधक अंग, भक्ति-पथ के आकर्षण-विकर्षण, भक्त की मनःस्थिति राधा-कृष्ण के नित्य विहार, वृन्दावन के वैभव आदि का भी वर्णन है। माधुर्य भक्ति के लिए राधा-कृष्ण की कैशोर लीलाओं का ही वर्णन स्वीकार किया गया है। राधा का वर्णन स्वकीया-परकीया- भेद-विवर्जित रूप में ही हुआ है। वियोगपक्ष को सीठा बताया गया है। श्रृंगार की लीलाओं में पनघट लीला, दान लीला, मान लीला, फाग लीला आदि का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। रास-लीला के पदों की संख्या भी लगभग ५० है।

व्यास जी बहुत उदार और व्यापक दृष्टि से सम्पन्न जागरूक कोटि के व्यक्ति थे। भक्तिक्षेत्र के आडम्बरों और प्रपंचों का उन्हें ज्ञान था। उन्होंने अपनी 'वाणी' में सामाजिक तथा धार्मिक ढोंग-दम्भ का खूब तिरस्कार किया है। धर्म के नाम पर जीविकोपार्जन करने वाले ब्राह्मणों की बड़े कठोर शब्दों में आलोचना की है। उनकी वाणी में कबीर के समान समाजसुधारक का प्रखर स्वर सुनाई देता है। उनके साखी-संकलन में कबीर के समान समाज को सचेत करने वाले दोहों की बहुत बड़ी संख्या देखकर उनके ओजस्वी तथा निर्भीक स्वभाव का अच्छा परिचय मिलता है।

मूलतः 'व्यास वाणी' भक्ति-भावना का उन्मेष करने वाली प्रौढ़ रचना है। अन्तर की भावनाओं में उद्दाम आवेग आने पर भक्त की ओजस्वी वाणी से जो अभिव्यक्ति होती है, वही भक्ति साहित्य बनती है, इसका ज्वलन्त प्रमाण 'व्यास वाणी' है। सूरदास के समान व्यास जी ने अधिकांशतः पदरचना ही की है। ब्रजभाषा के मार्दव को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने पदों में संगीत का पूरा-पूरा निर्वाह किया है। संगीत का उन्हें

सशास्त्रीय ज्ञान था, अतः उसका समावेश उनके पदों में नैसर्गिक रूप से हो गया है। श्रृंगार-रस का अजस्र प्रवाह सर्वत्र विद्यमान है। इसके अतिरिक्त वैराग्यभावना में शान्त रस, पाखण्डविडम्बन में रौद्र रस, कलियुग वर्णन में वीभत्स रस आदि का भी अच्छा समावेश है। व्यास जी पर कबीर, नन्ददास और हित हरिवंश की रचना शैली का गहरा प्रभाव पड़ा था। स्वामी हरिदास के संगीत का प्रभाव भी उनके पदों पर दिखाई देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यास जी अपने युग के समर्थ विद्वान पण्डित होते हुए भी भक्त के रूप में ही अधिक विख्यात हैं। संगीत और संस्कृत ज्ञान का उपयोग उन्होंने ग्रन्थ-रचना में अवश्य किया किन्तु उनके जीवन की साधना भक्त के रूप में ही सफल हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—भक्त कवि व्यास जी : वासुदेव गोस्वामी; राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक; ब्रज माधुरीसार : श्री वियोगी हरि; व्यास वाणी : गोस्वामी राधाकिशोर वृन्दावन; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्रशुक्ल।]

—वि० स्ना०

व्योमासुर— व्योमासुर कंस का अनुचर एक राक्षस था जो कृष्ण और उनके ग्वाल सखाओं के मध्य एक गोप शिशु का रूप धारण कर कृष्ण-वध के प्रयोजन से आया था। कृष्ण ने उसकी गर्दन पकड़कर उसे मार डाला (दे० सू० सा० पद० २०१५)।

—रा० कु०

व्रजेश्वर वर्मा—जन्म १९१३ ई० में नभीगंज में हुआ। शिक्षा (एम० ए०, डी० फिल०) प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। प्रारम्भ में आपके दो उपन्यास प्रकाशित हुए—'समरकन्द की सुन्दरी' (१९४० ई०) तथा 'आखिरी सलाम' (१९४१ ई०), पर उसके बाद से हिन्दी समीक्षा तथा शोध आपका प्रमुख कार्यक्षेत्र रहा है। 'सूरदास' (१९४६ ई०) आपका प्रसिद्ध शोध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सूर-साहित्य की समीक्षा के रूप में 'सूर मीमांसा' (१९५३ ई०) प्रकाशित हुई। 'हिन्दी अनुशीलन' तथा 'आलोचना' (त्रैमासिक) का सम्पादन किया। भारतीय हिन्दी परिषद् द्वारा आयोजित इतिहास-ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य' के भी सम्पादक हैं। आप केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के निदेशक पद से अवकाश प्राप्त कर 'सूर सागर' के संपादन में संलग्न हैं।

—सं०

शंकर १— दे० महादेव।

शंकर २— दे० नाथूराम शर्मा 'शंकर'।

शंकरसहाय अग्निहोत्री—जन्म सन् १८३५ ई० और मृत्यु १९१० ई०। ये दरिया बाद, जिला बाराबंकी (उत्तर प्रदेश) के निवासी और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके केवल दो पुत्रियाँ थीं। प्रारम्भ में सोलह वर्ष तक अध्यापन कार्य किया और फिर बाईस वर्ष तक रामशंकर बली तालुकेदार के यहाँ जिलेदारी की। इनका लिखा हुआ एक अलंकार-ग्रन्थ 'कविता मण्डन' माना जाता है। इसमें तीन सौ अठहत्तर छन्द हैं, जिनमें सवैया अधिक हैं, घनाक्षरी कम। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। इन्होंने स्फुट छन्द भी लिखे हैं। इनमें काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ समीक्षक की योग्यता भी थी। कविता प्रेमी होते हुए भी ये स्वतन्त्र विचारक और कठोर आलोचक थे। इनकी कविता की भाषा सुन्दर है। "क्रोध में आकर इस कवि ने बहुत से भँड़ौवा भी बनाये हैं" (मिश्रबन्धु)। ये समाज-सुधार के कार्य में भी रुचि रखते थे।

—प्र० ना० टं०

शंखचूड़—'भागवत' में शंखचूड़ असुर का उल्लेख मिलता है। यह छद्मवेष धारण कर गोपियों के कृष्णसम्बन्धी प्रेम को एकान्त भंग करने आया था। गोपियाँ उसे देखकर अत्यन्त भयभीत हो गयीं और आर्त स्वर में कृष्ण को पुकारने लगीं। कृष्ण ने शीघ्र ही आकर मुष्टिक प्रहार द्वारा उसका वध कर डाला (दे० सूर० पद संख्या १८२६)।

—यो० प्र० सि०

शंखधर—प्रेमचन्द कृत उपन्यास 'कायाकल्प' का पात्र। चक्रधर का पुत्र शंखधर प्रारम्भ से धार्मिक वृत्तिवाला और पितृ-भक्त है। पिता के बिना उसे आराम और भोजन आदि कुछ अच्छा नहीं लगता। उसमें चरित्र की दृढ़ता है। जो बात मन में ठान लेता है, उसे पूरा करके छोड़ता है। पिता को ढूँढ़ने के लिए उसने जो व्रत लिया, उसे सब प्रकार के कष्ट सहन करते हुए भी पूर्ण किया। सुख और विलास की वस्तुओं के प्रति तो वह पहले से ही उदासीन है। संगीत से भी उसे थोड़ा-बहुत प्रेम है। वास्तव में पिता के पास से लौटने पर उसकी जीवन-धारा दूसरा मोड़ लेती है। उसकी पूर्व-स्मृतियाँ जाग्रत् हो उठती हैं। वह अपने को महेन्द्र और अपनी पत्नी कमलावती को देवप्रिया समझता है किन्तु राजकुमार होते हुए भी शंखधर तपस्वी है। विलास की किसी वस्तु से उसे प्रेम नहीं। वह कमला से भी दूर ही दूर रहता है। एक दिन देवप्रिया (कमला) की वासना में विभोर हो जाने से वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

—ल० सा० वा०

शंभुनाथ मिश्र—ये सन् १७३३ ई० के लगभग उपस्थित थे तथा असोथर (फतेहपुर) के राजा भगवन्तराय खीची के यहाँ रह रहे थे। शिवसिंह सेंगर ने इन्हें १७४६ ई० के आस-पास विद्यमान माना है। रामचन्द्र शुक्ल ने इनका कविता-काल १७४९ ई० स्वीकार किया है। इनके ग्रन्थ 'रसतरंगिणी' की हस्तलिखित प्रति देखने से पता चलता है कि सुखदेव कवि इनके गुरु थे (दे० 'रसतरंगिणी')। ये सुखदेव कवि सम्भवतः कम्पिला (जिला फर्रुखाबाद) के निवासी सुखदेव मिश्र जान पड़ते हैं, जिन्हें 'कविराज' की उपाधि भी दी गयी थी। ये स्वयं अनेक राजाओं के आश्रय में रहने के अतिरिक्त राजा असोथर के यहाँ भी रहे थे। सम्भवतः वहीं शम्भुनाथ ने इनको अपना गुरु बनाया होगा। शम्भुनाथ मिश्र को देवतहा (जिला गोंडा) के शिव कवि अपना गुरु मानते हैं। 'दिग्विजयभूषण' ग्रन्थ में इनके छन्द संगृहीत हैं। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'रसतरंगिणी', 'रसकल्लोल' तथा 'अलंकार दीपक' (सन् १७५१ ई० के लगभग)। प्रथम दो ग्रन्थ रसविषयक हैं और अन्तिम अलंकार-विवेचनसम्बन्धी। प्रथम ग्रन्थ भानुदत्त की इसी नाम की रचना का, लक्षणों के विचार से, भाषानुवाद मात्र है। 'अलंकार दीपक' में अधिकतर दोहे हैं, कवित्त, सवैया का कम उपयोग किया गया है। श्रृंगार की अपेक्षा आश्रयदाता भगवन्तराय खीची का यश और प्रतापका वर्णन विशेष है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०।]

—आ० प्र० दी०

शंभुनाथ 'शेष'—जन्म १९१५ ई०। शिक्षा बी० ए० तक। कार्य क्षेत्र प्रधानतः दिल्ली। गीत शैली में आपकी रचनाएँ विशिष्ट स्थान रखती हैं। रचनाएँ—'उन्मीलिका', 'सुवेला'। कई वर्ष पूर्व कवि का असामयिक देहान्त हो गया। 'शेष' के कवि व्यक्तित्व में छायावादोत्तर गीतकाव्य की नयी सम्भावनाओं का परिचय मिलता है।

—स०

शम्भुनाथ सिंह—जन्म देवरिया जिले के सरयू घाघरा नदी के दक्षिण भाग में बसे हुए रावतपार नामक ग्राम मे ठाकुर रामदेव सिंह के यहाँ १७ जून, १९१७ ई० को हुआ। प्रारंभिक शिक्षा रामगढ़ और मभौली गाँव मे सम्पन्न करके सन् १९३१ ई० में उदय प्रताप कालेज, वाराणसी में इन्होंने प्रवेश लिया। बी० ए० प्रयाग विश्वविद्यालय से और एम० ए० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से करने के पश्चात शम्भुनाथ जी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। 'अग्रगामी' पत्र मे सान्यालजी के साथ शिक्षणकाल में भी वे प्रायः कार्य करते रहे। शिक्षा के उपरान्त 'क्षेत्रीय मित्र' नामक पत्र का सम्पादन और 'उदय प्रताप कालेज' में अस्थायी अध्यापक का कार्य किया। कुछ दिनों के लिए 'आज' और 'नया हिन्दुस्तान' नामक पत्रों में पत्रकारिता का कार्य करने के बाद १९४८ ई० में आपकी नियुक्ति काशी विद्यापीठ में हिन्दी व्याख्याता पद पर हुई। १० वर्षों बाद शम्भुनाथ जी संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर चले गये, परन्तु कुछ दिनों बाद पुनः काशी विद्यापीठ में आ गये। और वहीं से अवकाश प्राप्त किया है।

काव्य संग्रह :— 'त्रिधारा' (१९३५ ई०), 'रूपरश्मि' (१९४१ ई०), 'छायालोक' (१९४५ ई०), 'उदयाचल' (१९४६), 'मन्वन्तर' (१९५० ई०), 'दिवालोक' (१९५३ ई०), 'खण्डित सेतु' (१९६६ ई०), 'समय की शिला पर' (१९६६ ई०)।

कहानी :—'रातरानी' (१९४६ ई०), 'विद्रोह' (१९४७ ई०)।

आलोचना :—'छायावाद युग' (१९५२ ई०) 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' (१९५६ ई०), 'मूल्य और उपलब्धि' (१९६० ई०), 'प्रयोगवाद और नयी कविता' (१९६६ ई०), 'हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका' (१९६६ ई०)।

नाटक :—'धरती और आकाश' (१९५३), 'दीवार की वापसी' (१९६७ ई०)।

शम्भुनाथजी की प्रारंभिक कविताओं पर पंत, प्रसाद और महादेवी का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'रूप रश्मि' नामक संग्रह की कविताओं पर यह छाप और गहरी है। 'छायालोक' में उनकी अति प्रचलित कविता समय की शिला पर संकलित है। इस संग्रह की कविताओं में गीत्यात्मकता और पीड़ा के साम्य के कारण भावाभिव्यंजकता अधिक है। 'उदयाचल' और 'मन्वन्तर' की कविताएँ राष्ट्रीय जीवन की आन्दोलनकारी और परिवर्तनशील प्रवृत्तियों से सम्बद्ध हैं। 'दिवालोक' प्रौढ़ कवि की रचनाओं का प्रमाण है। संघर्ष और वेदना के साथ ही साथ एक तटस्थ भोगी दृष्टि भी इस संग्रह में है। 'माध्यम मैं' में नयी कविता के दौर का प्रभाव और उसकी समझ स्पष्ट है तो 'खण्डित सेतु' में वह काफी परिपक्व दृष्टि के रूप में सामने आयी है। इसमें मूल्यों की मूल्यता के प्रति मोह एवं संघर्ष के बावजूद, भविष्य के प्रति आस्था विद्यमान है। 'नागफनी के काँटे' 'बूढ़ा बरगद' आदि प्रतीकों का प्रयोग यथार्थ के हेतुओं के प्रति उन्मुख दृष्टि प्रस्तुत करता है। इस संग्रह में अतीत की प्रतीकात्मक उक्तियों का उपयोग अच्छा हुआ है। नयी कविता की संरचना में गीत्यात्मकता का समावेश शम्भुनाथ जी से ही सभव हो सका है।

कहानी सग्रहो मे मध्यवर्गीय जीवन का किल्लोल अधिक है बेबसी कम। 'जीवन संघर्ष' 'और 'मृत्यु शैय्या' आदि कहानियों में बेबसी का बड़ा मार्मिक चित्र है, परन्तु इस सामाजिकता के बावजूद प्रेम और रोमांस की प्रमुखता है। कौतूहल और विस्मय इनके दोनो संग्रहों की कहानियों में व्याप्त है। जाहिर है कि इन कहानियों में कवि शम्भुनाथ की गहराई और व्यापकता नहीं है।

नाटकों की दृष्टि से शम्भुनाथ सिंह का नाटक 'दीवार की वापसी' निश्चय ही विवेच्य है। दीवारों के होने और न होने के बीच का अहसास और द्वन्द्व मूल्यात्मक संकट के बोध के साथ ही साथ आदमी के अहंवादी बंधन की परिणति को भी ध्वनित करता है। सचाई की नियति और यांत्रिक जीवन की विसंगति के माध्यम से प्राप्त निष्कर्ष, मानवीय विडम्बना का प्रमाण करके मनुष्य की उस ट्रेजडी को ध्वनित करता है-जिसे उस रूप में जानकर भी मनुष्य स्वीकार करता है। मुखौटों के बदलाव के माध्यम से असलियत का छिपाव और कृत्रिमता का पता चलने के साथ-साथ ही यथार्थ की व्यापकता और गहराई का भी अनुभव होता है। 'अकेला शहर' नाटक भी इसी प्रतीकात्मक सार्थकता का नाटक है लेकिन इसमें प्रतीक यथार्थ का नहीं वर्ग का अर्थ देता है।

आलोचना के क्षेत्र में शम्भुनाथजी की दो पुस्तकें 'छायावादयुग' और 'महाकाव्य स्वरूप और विकास' प्रसिद्ध हैं। गहराई और काव्य की पैनी समझ विवेचन में उतनी नहीं है जितनी काव्य की व्याख्या में है। काव्य को समझना एक बात है और उसे इतिहास के संदर्भ में संस्थित करना दूसरी बात है। शम्भुनाथजी दूसरी स्थिति के आलोचक नहीं हैं। 'छायावाद युग' में छायावादी काव्य विधा के विकासात्मक रूप और उसके विभिन्न पहलुओं का प्रभाववादी विवेचन है। 'महाकाव्य : स्वरूप और विकास' में ऐतिहासिक दृष्टि से समाज को वर्गों में विभाजित करके उसे मार्क्सवादी चिन्तन क्रम के वर्गों में बाँटकर महाकाव्य का अध्ययन और फिर विकसनशील, अलंकृत आदि रूपों का निर्धारण एक व्यापक गवेषणात्मक दृष्टि का परिणाम है। इस ग्रन्थ से शम्भुनाथजी की तथ्यान्वेषणवादी दृष्टि का आभास होता है। महाकाव्य की परिभाषा और स्वरूप का निर्धारण साहित्यिक और सांस्कृतिक समझ का परिणाम है। 'प्रयोगवाद और नयी कविता' नामक ग्रन्थ में विषय को पारस्परिक दृष्टि से विवेचित किया गया है।

—स० प्र० मि०

शकट—कृष्ण की अलौकिक बाल-लीलाओं में शकट (बैलगाड़ी) को एक असुर का रूप दिया गया है। यह असुर दूध-दही से भरी हुई गाड़ी के रूप में आया था परन्तु कृष्ण के चरण-कमल के पटकने मात्र से यह भग्न हो गया।

'शकटासुर वध' का प्रसंग 'भागवत' (१०-७) में वर्णित

है। 'भागवत में' पूतनावध के अनन्तर कृष्ण की इस लीला का समावेश हुआ है परन्तु 'भागवत' में शकटासुर का कंस से कोई सम्बन्ध चित्रित नहीं हुआ है। सूरदास और नन्ददास के काव्य में इस प्रसंग में घटनागत वैविध्य मिलता है। सूर ने शकट को कंस द्वारा प्रेरित लिखा है। शकटासुर के मुख से कृष्ण के संहार अथवा उनके जीवित लाने के आश्वासन को सुनकर कंस प्रसन्न होता है। नन्ददास ने शकट का असुर रूप विवेचित करते हुए भी उसे कंस से सम्बद्ध नहीं किया है। वस्तुतः शकटासुरभंजन के प्रसंग के समावेश का प्रयोजन कृष्ण के अलौकिकत्व का प्रतिपादन है (दे० सू० सा० प० २८२-२८६)।—रा० कु०

शकुंतला नाटक १—कविवर नेवाजकृत शकुन्तला काव्यनाटक एक सरस एवं प्रौढ़ कृति है। नेवाज ने अपने आश्रयदाता शाहजादा आजमशाह (१६५३-१७०७) की आज्ञा पाकर संस्कृत से शकुन्तला-दुष्यन्त की कथा लेकर 'शकुन्तला नाटक' का भाषा में निर्माण किया। कवि की स्वीकारोक्ति है—"आजिमखान निवाज को दीनी यह फुरमाइ। शकुन्तला नाटक हमें भाषा देहु बनाइ" (१-७)। "आजमखाँ के हुकुमतें सुकवि नेवाज विचारि। कथा संस्कृत की सकल भाषा लई उतारि" (१-८)। इससे सिद्ध है कि नेवाज कवि ने संस्कृत से कथा ली और ब्रजभाषा में 'शकुन्तला नाटक' लिखा। नेवाजकृत 'शकुन्तला नाटक' के अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं। एक हस्तलेख में इसका नाम 'शकुन्तला नाटक कथा' है (काशिराज, रामनगर के पुस्तकालय का १८४१ संख्यक हस्तलेख)। मुद्रित पुस्तकों में 'शकुन्तला' और 'शकुन्तला उपाख्यान' नाम भी मिलते हैं। 'शकुन्तला नाटक' ४ अंकों में विभाजित है। अंक के स्थान पर एक हस्तलेख में 'तरंग' नाम भी मिला है (काशिराज रामनगर के पुस्तकालय का १८११ संख्यक हस्तलेख)। 'शकुन्तला नाटक' के अन्त में कवि कहता है—"ये इतनी ह्वै चुकी कहानी" सम्भवतः इसी आधार पर नाटक को कथा या उपाख्यान कहा गया है किन्तु ऊपर के दोहे (१-७) से सिद्ध है कि कवि 'शकुन्तला नाटक' रचने बैठा था। भिन्न-भिन्न पुस्तकों में छन्द संख्या भी भिन्न है।

कवि के सम्मुख महाकविकालिदासप्रणीत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' अवश्य था और कथा भी उसने वहीं से उठाई है किन्तु उसने शैली वही नहीं अपनायी, वरन् उस काल में प्रचलित जन-नाट्य शैली को ग्रहण किया। इसे हम संस्कृत नाटक का अनुवाद नहीं कह सकते, छायानुवाद भले ही कह लें। दोनों में बहुत विषमता है—(१) संस्कृत नाटक में सात अंक हैं, जब कि भाषा नाटक में ४। (२) संस्कृत नाटक की प्रस्तावना एवं उसके अर्थोपक्षेपक (विष्कंभक-प्रवेशक) भाषा नाटक में नहीं है। (३) संस्कृत नाटक का आरम्भ दुष्यन्त की मृगया से होता है। ब्रजभाषा नाटक का प्रारम्भ होता है विश्वामित्र की तपस्या से, जिसे मेनका आकर खण्डित कर देती है और शकुन्तला का जन्म होता है। मूल नाटक में मेनकाप्रसंग कथोपकथन के बीच सूच्य है और आधे पृष्ठ का है। यही प्रसंग भाषा नाटक में चार पृष्ठ घेर लेता है और कथांश बन जाता है। (४) संस्कृत नाटक में उसका कथा जन्म से वर्णित है। (५) सबसे बड़ा अन्तर है शैली का। नेवाज ने पुस्तक निर्माण में मूल संस्कृत नाटक की शैली नहीं अपनायी है, वरन् उस काल में प्रचलित जन-नाट्य शैली को पकड़ा है।

कविवर नेवाज ने मूल संस्कृत छन्दों का भी अनुवाद किया है (छन्द संख्या-१-२९ एवं १-४४)। अनुवाद में प्रायः कवि ने घटाया-बढ़ाया भी है (१-२३ एवं १-५२)। प्रथम अंक के अन्त में गजके उत्पात से घबड़ाकर शकुन्तला राजा के पास जाती है। वह कुछ बहाना करके रुकती है, राजा की ओर देखती है और फिर आगे बढ़ जाती है। महाकवि कालिदास कहते हैं—"शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।" महाकवि कालिदास ने बहानों को स्पष्ट नहीं किया है, वरन् अभिनेत्री एवं सूत्रधार की बुद्धि पर छोड़ दिया है किन्तु कविवर नेवाज उनका वर्णन करते हुए कहते हैं—"उरझोई द्रुमन दुकूल सुरझाने लागि, काढ़नि लगति कटंक बहु पगनि सों। कबहूँ नेवाज खुले केसक कसन में, कबहूँ, अँगिरान लागति अंगनि सों।। ऐसे छिल छिद्र कै-कें ठाढ़ी ह्वै रहति, शकुन्तला निपट भई व्याकुल लगनि सों। सखियन की नजरि निवारि नारि फेरि फेरि, फेर महिपालहिं देखे दृगनि सों।।" (१-५८)। मौलिक कल्पनाओं से भरे छन्दों की तो भाषा नाटक में कमी है ही नहीं।

एक प्रश्न उठता है, जब संस्कृत नाटक सामने था, तब उसी शैली पर अनुवाद क्यों नहीं किया? इसका कारण है, उस काल में प्रचलित जन-नाट्य शैली। ये नाटककार संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने नहीं बैठे थे, वरन् प्रचलित जन-नाट्य शैली पर नाटकों का निर्माण कर रहे थे, चाहे वे खेले जांय, चाहे सुने जांय। भाषा नाटक में एक दोहा मिलता है—"जो देखा सोई लिखा मोर दोष जिनि देव। मात्रा अक्षर दोहरा बुध विचार करि लेव।।" एक सज्जन ने इस दोहे के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि नेवाजकृत 'शकुन्तला नाटक' मूल संस्कृत नाटक का शुद्ध अनुवाद है क्योंकि कवि स्वयं कहता है—मैंने संस्कृत नाटकों में जो कुछ पढ़ा है, वही लिखा। मुझे कोई दोष न देना। क्या 'देखा' का अर्थ है—'पढ़ा'? हम ऊपर दिखा आये हैं कि यह शुद्ध अनुवाद नहीं है। जब अनुवाद नहीं है और मूल नाटक से अत्यन्त भिन्न है, तो लोग दोष देंगे ही। फिर कवि यह क्यों कहता है कि मुझे दोष न देना, मैंने जो कुछ 'देखा' सोई लिख दिया। यह भी विचारणीय है कि दूसरी पंक्ति की संगति क्या है? इसका समाधान है कि नेवाज ने नाटक बनाकर खेलने के लिए दे दिया। फिर अभिनय रूप में जो कुछ देखा, उसी रूप में नाटक यहाँ प्रस्तुत है। अतः परिवर्तन के लिए मुझे दोष न देना। दूसरे शब्दों में नाटककार कहता है कि मैंने जो संस्कृत नाटक का रूप बदला है, उसके पीछे कारण है—आजकल की अभिनय शैली। मेरा दोष कुछ नहीं है। यह शैली है छन्दबद्ध नाटकों की। फलतः बुद्धिमान् लोग इस नाटक में प्रयुक्त छन्दों का विचार कर लें। छन्द विचारणीय है और मैं विचार करने की स्वतन्त्रता देता हूँ। नाटककार ने अभिनीत नाटक के छन्दों में परिवर्तन किया है, इसका विचार बुद्धिमानों द्वारा किया जा सकता है।

—गो० ना० ति०

शकुंतला नाटक २—धोंकलराम मिश्र ने १७९९ ई० ("ठारे से छप्पन बरस संवत् आश्विन मास। सित तेरस रविवार को ग्रंथ भयो उज्जास") में जन-नाट्य शैली में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का पद्यात्मक अनुवाद किया और इस काव्य नाटक का नाम रखा 'शकुन्तला'। धोंकल मिश्र महाराज

राम के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन न करने के कारण शत्रुघ्न का कार्यक्षेत्र सीमित कर दिया है परन्तु ऐसा नहीं है कि इससे रामकथा में परम्परा से प्राप्त उनका महत्त्व कम हो गया हो। तुलसी उनके व्यक्तित्व में प्रायः विनीत, उदार एवं यथावसर उग्र स्वभाव के वीर योद्धा का संकेत करते हैं। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त ने उनके पराक्रमसम्बन्धी सन्दर्भों को 'साकेत' में सुगठित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि मनोविज्ञानसम्मत स्वाभाविक चरित्र-चित्रण के अनुरोध से उनके उद्धत स्वभाव को कैकेयी और मन्थरा के सन्दर्भ में किंचित् मर्यादाच्युत कर दिया है। भरत के अभिन्न साथी होने के नाते 'साकेत सन्त' (बलदेवप्रसाद मिश्र) में उनके चरित्र में कुछ अधिक प्रमुखता मिल जाती है, यद्यपि अन्ततः उनका व्यक्तित्व एक पूरक पात्र के रूप में रहता है।

[सहायक ग्रन्थ–रामकथा : डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

–यो० प्र० सिं०

शब्दरसायन–दे० 'काव्यरसायन'।

शमशेर बहादुर सिंह–जन्म १९११ ई०। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। 'दूसरा सप्तक' (१९५१) के कवि। कविताओं के समान ही चित्रों में भी प्रयोग किये हैं। आधुनिक कविता में 'अज्ञेय' और शमशेर का कृतित्व दो भिन्न दिशाओं का परिचायक है–'अज्ञेय' की कविता में वस्तु और रूपाकार दोनों के बीच संतुलन स्थापित रखने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, शमशेर में शिल्प-कौशल के प्रति अतिरिक्त जागरूकता है। इस दृष्टि से शमशेर और 'अज्ञेय' क्रमशः दो आधुनिक अंग्रेज कवियों एजरा पाउण्ड और इलियट के अधिक निकट हैं। आधुनिक अंग्रेजी-काव्य में शिल्प को प्राधान्य देने का श्रेय एजरा पाउण्ड को प्राप्त है। वस्तु की अपेक्षा रूपविधान के प्रति उनमें अधिक सजगता दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक अंग्रेजी-काव्य में काव्य-शैली के नये प्रयोग एजरा पाउण्ड से प्रारम्भ होते हैं। शमशेर बहादुर सिंह ने अपने वक्तव्य में एजरा पाउण्ड के प्रभाव को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है–"टेकनीक में एजरा पाउण्ड शायद मेरा सबसे बड़ा आदर्श बन गया।"

शमशेर बहादुर सिंह में अपने बिम्बों, उपमानों और संगीतध्वनियों द्वारा चमत्कार और वैचित्र्यपूर्ण आघात उत्पन्न करने की चेष्टा अवश्य उपलब्ध होती है, पर किसी केन्द्रगामी विचार-तत्व का उनमें प्रायः अभाव-सा है। अभिव्यक्ति की वक्रता द्वारा वर्ण-विग्रह और वर्ण-संधि के आधार पर नयी शब्द-योजना के प्रयोग से चामत्कारिक आघात देने की प्रवृति इनमें किसी ठोस विचार तत्त्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है। शमशेर बहादुर सिंह में मुक्त साहचर्य और असम्बद्धताजन्य दुरूहता के तत्त्व साफ नजर आते हैं। उनकी अभिव्यक्ति में अधूरापन परिलक्षित होता है। हम कह सकते हैं कि शमशेर की कविता में उलझनभरी संवेदनशीलता अधिक है। उनमें शब्द-मोह, शब्द-खिलवाड़ के प्रति अधिक जागरूकता है और शब्द-योजना के माध्यम से संगीत-ध्वनि उत्पन्न करने की प्रवृत्ति देखी जा सकती हैं।

शमशेर की कविताएँ आधुनिक काव्य-बोध के अधिक निकट हैं, जहाँ पाठक तथा श्रोता के सहयोग की स्थिति को स्वीकार किया जाता है। उनका बिम्बविधान एकदम जकड़ा हुआ 'रेडीमेड' नहीं है। वह 'सामाजिक' के आस्वादन को पूरी छूट देता है। इस दृष्टि से उनमें अमूर्तन की प्रवृत्ति अपने काफी शुद्ध रूप में दिखाई देती है। उर्दू की गजल से प्रभावित होने पर भी उन्होंने काव्य-शिल्प के नवीनतम रूपों को अपनाया है। प्रयोगवाद और नयी कविता के पुरस्कर्ताओं में वे अग्रणी हैं। उनकी रचनाप्रकृति हिन्दी में अप्रतिम है और अनेक सम्भावनाओं से युक्त है। हिन्दी के नये कवियों में उनका नाम प्रथम पांक्तेय है। 'अज्ञेय' के साथ शमशेर ने हिन्दी-कविता में रचना-पद्धति की नयी दिशाओं को उद्घाटित किया है और छायावादोत्तर काव्य को एक गति प्रदान की है।

कृतियाँ–'दोआब' (निबन्ध), 'प्लाट का मोर्चा', (कहानियाँ-स्केच), 'कामिनी', 'हुश्शु और पी कहाँ' (सरशार के अनुवाद), 'कुछ कविताएँ' (काव्य-संग्रह १९५९) 'कुछ और कविताएँ'।

[सहायक ग्रंथ–'शमशेर' : सं० मलयज]

–श० ना० च०

शबरी–शबरी भिल्लनी का स्थान प्रमुख रामभक्तों में है। वनवास के समय राम-लक्ष्मण ने शबरी के यहाँ जूठे बेर खाये थे। राम उसके सद्व्यवहार और निष्ठा से बहुत प्रसन्न हुए तथा उसे परमधाम जाने का वरदान दिया। जनश्रुति है कि द्वापर में शबरी ही मथुरा में कुब्जा नामक दासी के रूप में जन्मी थी। शबरी की कथा 'रामायण', 'भागवत', 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'साकेत सन्त' आदि ग्रन्थों में मिलती है। भक्त कवियों ने स्फुट रूप में शबरी की भक्तिनिष्ठा का उल्लेख किया है।

–रा० कु०

शर्मिष्ठा–वृषपर्वा की पुत्री, देवयानी की सखी। एक बार क्रोध में उसने देवयानी को पीटा और कुएँ में डाल दिया। देवयानी को ययाति ने कुएँ से बाहर निकाला। ययाति के चले जाने पर देवयानी उसी स्थान पर खड़ी रही। पुत्री को खोजते हुए शुक्राचार्य वहाँ आये किन्तु देवयानी शर्मिष्ठा द्वारा किये गये अपमान के कारण जाने को राजी न हुई। दुखी शुक्राचार्य भी नगर छोड़ने को तैयार हो गये। जब वृषपर्वा को ज्ञात हुआ तो उसने बहुत अनुनय-विनय की। अन्त में शुक्राचार्य इस बात पर रुके कि शर्मिष्ठा देवयानी के विवाह में दासी-रूप में भेंट की जायगी। वृषपर्वा सहमत हो गया और शर्मिष्ठा ययाति के यहाँ दासी बनकर गयी। शर्मिष्ठा से ययाति को तीन पुत्र हुए (दे० 'देवयानी', 'ययाति')।

–मो० अ०

शांतनु–भीष्म पितामह के पिता शान्तनु की वीरता पर मुग्ध होकर गंगा ने उनका पत्नीत्व स्वीकार किया था। परन्तु शर्त यह थी कि जो संतान होगी, उसे तुरन्त जलसमाधि दे दी जायगी। सात सन्तानें जलमग्न कर दी गयीं। केवल आठवीं सन्तान देवव्रत भीष्म ही शेष रहे। ये आगे पूर्व जन्म के वसु थे, इन्हें शाप के कारण पृथ्वी में अवतार लेना पड़ा। महाराज शान्तनु ने एक बार सत्यवती नामक धीवर कन्या पर मुग्ध होकर उससे विवाह करना चाहा किन्तु उसने शर्त रखी कि

मुझसे जो सन्तान हो, वही राज्यपद प्राप्त करे। शान्तनु ने यह अस्वीकार कर दिया पर भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करके पिता के मन की बात पूरी की। सत्यवती से विचित्रवीर्य और चित्रांगद दो सन्तानें हुईं, इन्हीं से कौरव और पांडव वंश चले।

—रा० कु०

शांतिप्रिय द्विवेदी—जन्म १९०६ ई०। हिन्दी के आधुनिक आलोचकों एवं निबन्धलेखकों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आप आरम्भ में साहित्य के क्षेत्र में कवि रूप में आये। आपकी एक गद्य-काव्यात्मक कृति 'क्षमायाचना' 'प्रभा' नामक पत्रिका में जनवरी, १९२५ ई० में प्रकाशित हुई। आपने 'निरालाजी' के अनुकरण में मुक्त छन्द में भी कुछ कविताएँ लिखीं किन्तु काव्य रचना की दिशा में आपका मन ठीक तरह से न रम सका और शीघ्र ही आपने गद्य पथ का अनुसरण किया। आपकी प्रथम आलोचनात्मक कृति, जिसने विद्वज्जनों को आकर्षित किया, 'हमारे साहित्य निर्माता, नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हिन्दी के कुछ वर्त्तमान कवियो और लेखकों की प्रवृत्तियों का अच्छा विवेचन किया गया है। आपकी दो अन्य आलोचना प्रधान पुस्तकें 'साहित्यिकी' तथा 'कवि और काव्य' बहुत लोकप्रिय हुई। आप आधुनिक साहित्य के इतिहास लेखक के रूप में भी आते हैं। आपकी 'सामयिकी', 'संचारिणी' तथा 'युग और साहित्य' नामक पुस्तकें आधुनिक साहित्य की विकासात्मक गतिविधियों का परिचय कराती हैं। अपनी 'ज्योतिविहग' नामक कृति में आपने छायावाद के प्रतिनिधि कवि सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तिपरक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। छायावाद के समीक्षकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी का नाम अग्रणी है।

'वृन्त और विकास', 'परिव्राजक की प्रजा' तथा 'धरातल' आपके महत्त्वपूर्ण निबन्धसंग्रह हैं। इन पुस्तकों में विविध विषयों पर लिखे गये रचनात्मक कोटि के निबन्ध संकलित हैं। आपके दो अन्य उल्लेख्य पुस्तकों में 'पथचिह्न' एक संस्मरणप्रधान रचना है तथा 'दिगम्बर' (१९५४ ई०) एक औपन्यासिक रेखांकन। शुक्लोत्तर समीक्षा के आत्मव्यंजनाप्रधान आलोचकों में आपका नाम विशेष रूप से लिया जाता है। आप प्रकृति से कवि तथा दार्शनिक हैं और प्रवृत्ति से आलोचक तथा निबन्धकार। कवियों अथवा काव्य-कृतियों की आलोचना करते समय आपने अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का अंकन अधिक किया है। आपकी भाषा-शैली प्रांजल, परिमार्जित तथा प्रभावोत्पादक है।

कृतियाँ—'जीवन यात्रा' (१९२८ ई०) 'नीरव' (१९२९ ई०), 'हिमानी' (१९३४ ई०) 'हमारे साहित्य निर्माता' (१९३२ ई०), 'कवि और काव्य' (१९३७ ई०), 'साहित्यिकी' (१९३८ ई०), 'संचारिणी' (१९३९ ई०), 'युग और साहित्य' (१९४१ ई०), 'सामयिकी (१९४४ ई०), 'पथचिह्न' (१९४६ ई०), 'ज्योतिविहग' (१९५१ ई०), 'परिव्राजक की प्रजा' (१९५२ ई०), 'दिगम्बर' (१९५४ ई०), 'संकल्प' (१९५५ई०), 'आधान' (१९५७ ई०), 'चारिका' (१९५८ ई०), 'वृंत और विकास' (१९५९ ई०), 'समवेत' (१९६० ई०)।

—र० भ०

शारदाचरण मित्र—जन्म १८४८ ई०। १८७९ में बी० एल० परीक्षा पास करके आप हाई कोर्ट के वकील बन गये। वकालत के साथ ही साथ आप 'हाबड़ा हितकारी' तथा अन्य कई पत्रों के सम्पादक भी थे। आप देवनागरी लिपि के बड़े पक्षपाती थे। आप चाहते थे कि समस्त भारतवर्ष में उसी का प्रचार हो। इसी उद्देश्य से आपके सभापतित्व में 'एक लिपि विस्तार परिषद्' नामक सभा स्थापित हुई थी। उक्त परिषद् द्वारा आपने 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्र निकलवाया था, जिसमें भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के लेख देवनागरी लिपि में निकला करते थे।

—सं०

शिक्षार्थी—जन्म १९१८ में सुल्तानपुर में। अधिकतर कार्यकाल प्रयाग में बीता है। हिंदी क्षेत्र के कार्टूनकारों और व्यंग लेखकों में अन्यतम। हिंदी पत्रकारिता में कार्टूनकला विकसित करने वालों में शिक्षार्थी अग्रणी रहे हैं। इसी प्रकार बच्चों से लेकर बड़े बौद्धिकों तक के लिए आपने शिष्ट हास्य-कृतियों की रचना की है, जो विविध वर्गों की पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं। उपन्यास, कहानी, कविता, रेखाचित्र सभी माध्यमों का उपयोग किया है। 'लल्ला' पत्रिका के संपादक रूप में भी आपकी ख्याति रही है।

कृतियाँ-पेचीदा प्रेम' (१९३८), 'कुमारी' (१९३९) : दोनों उपन्यास। 'ऊँची उड़ान' (१९३९, कहानी-संग्रह), 'श्रीमतीजी' (१९४१), 'श्रीयुत घनचक्कर' (१९५४, एकांकी)।

—सं०

शिखंडी—भीष्म द्वारा अपहृता काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा का दूसरा अवतार शिखण्डी के रूप में हुआ था। प्रतिशोध की भावना से उसने शंकर की तपस्या के अनन्तर वरदान पाकर महाराज द्रुपद के यहाँ जन्म लिया। भीष्म और शिखण्डीसम्बन्धी यह कथा वस्तुतः 'महाभारत' में विस्तार से वर्णित है। भीष्म का शौर्य और ब्रह्मचर्य इस दिशा में एक प्रमाण बन गया है तथा शिखण्डी वस्तुतः उस प्रमाण की पुष्टि का एक उदाहरण। शिखण्डीसम्बन्धी यह कथानक वस्तुतः आगे चलकर भीष्म के शौर्य और उनकी दृढ़प्रतिज्ञता के सम्मुख समाप्तप्राय हो गया। भीष्मसम्बन्धी उल्लेख अनेक काव्यों में हुए हैं किन्तु शिखण्डी का नाम मात्र ही लिया जाता है।

—यो० प्र० सिं०

शिवकवि १—ये देवतहा के (जिला गोंडा) निवासी अरसेला के बन्दीजन थे। असोथर (जिला फतेहपुर) के शम्भु कवि इनके काव्य-गुरु थे। देवतहा के तालुकेदार जगतसिंह के ये काव्य-शास्त्र के शिक्षक रहे। इसके अतिरिक्त शिव कवि बाँदा के जुल्फकार अली खाँ और ग्वालियर के दौलतराय सिंधिया के आश्रय में रहे। शिव कवि ने पहले के आश्रय में 'पिंगल छन्दोबद्ध' की रचना की और दूसरे के आश्रय में 'वाग्विलास' की। इनको अपने जीवन में बहुत कटु अनुभव हुआ था और इन्होंने रीतिकाल के कवियों की दयनीय स्थिति का वर्णन भी किया है—"काहू के न धन्धन के निज पेट धन्धन के, दौलती मदन्धन के ढिग जाइबे परे।" इनका समय १८वीं शताब्दी के अन्त तथा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में मानना चाहिये।

—सं०

शिव कवि २—'मिश्रबन्धु विनोद' में एक शिव कवि की चर्चा है, जिन्होंने १९४३ ई० के आसपास 'रसिक विलास' तथा 'अलंकार भूषण' की रचना की थी। यहीं से अन्य इतिहास ग्रन्थों में इस कवि का परिचय दिया गया है। इससे अधिक किसी ने इस कवि पर प्रकाश नहीं डाला है।

—सं०

शिवकुमार सिंह (ठाकुर)—जन्म सन् १८७८ ई०। काशी के निवासी थे। आप डिप्टी इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स थे। आपने सन् १९०६ ई० के लगभग हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना की। ये बहुत उत्साही लेखक थे। सन् १८९५ ई० में, जब यह छात्रावस्था में ही थे, इन्होंने श्यामसुन्दर दास आदि के सहयोग से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी। इस सभा के जन्मदाता के रूप में इनका महत्त्व है। इनके समय में हिन्दी भाषा और लिपि का प्रचार बहुत कम था और उसके प्रसार के लिए आन्दोलन हो रहे थे। इन्होंने उस आन्दोलन में योग दिया और सभा-स्थापना की योजना बनाकर उसे कार्यान्वित किया।

—प्र० ना० टं०

शिवदान सिंह चौहान — जन्म १९१८ ई० में आगरा जिले में हुआ, शिक्षा इलाहाबाद यूनिवार्सिटी में। हिंदी के आधुनिक समीक्षकों में आपका विशिष्ट स्थान है। साहित्य-चिंतन को मार्क्सवादी संदर्भों में आपने खास तौर से विकसित किया है। प्रगतिशील लेखक संघ के कार्य-कलाप को पुरस्कृत किया। 'आलोचना' त्रैमासिक के संस्थापक संपादक के रूप में आपका व्यक्तित्व सदैव स्मरणीय रहेगा। 'आलोचना' के माध्यम से आपने हिंदी समीक्षा को एक नयी गति और भंगिमा दी।

कृतियाँ—'प्रगतिवाद' (१९४६), 'कश्मीर देश व संस्कृति' (१९५०), 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' (१९५४), 'साहित्यानुशीलन' (१९५५), 'आलोचना के मान' (१९५८), 'साहित्य की समस्याएँ' (१९५८)।

शिवनन्दन सहाय—जन्म १८६० ई० आरा (बिहार) के निकट। प्रारम्भिक शिक्षा फारसी की हुई। बाद में बाँकीपुर जाकर अंग्रेजी का अध्ययन किया। फिर वहीं जजी में क्लर्क और अनुवादक का कार्य करने लगे। साहित्य-सृजन की प्रेरणा प्रधानतः अम्बिकादत्त व्यास से मिली। गद्य और पद्य में अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'दयानन्दमतमूलोच्छेद', 'विचित्र संग्रह', 'सुदामा नाटक', 'कविता कुसुम', 'कृष्ण और सुदामा' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके पुत्र ब्रजनन्दन सहाय भी अच्छे लेखक हुए।

—सं०

शिवनाथ—ये बुन्देलखण्ड में १७०३ ई० के आसपास हुए हैं। इनको छत्रसाल के पुत्र जगतसिंह बुन्देला का आश्रय प्राप्त था। 'रसरंजन' नामक इनका एक ग्रन्थ रसविषय पर मिलता है। 'दिग्विजय भूषण' में आश्रयदाता की प्रशंसा में इनका एक छन्द मिलता है।

—सं०

शिवनाथ (द्विवेदी)—ये कुरसी गाँव (जिला बाराबंकी) के रहने वाले थे। पवायाँ (जिला शाहजहाँपुर) के राजा कुशलसिंह के आश्रय में इन्होंने रस-नायिका-भेद विषयक 'रसवृष्टि' नामक ग्रन्थ लिखा था। कुशलसिंह की मृत्यु १७७४ ई० में हुई, अतः इसका रचनाकाल मिश्रबन्धुओं ने १७७१ ई० के लगभग माना है। यह ग्रन्थ सोलह रहस्यों में विभक्त है। प्रथम में तो केवल मंगलाचरण, कवि तथा आश्रयदाता का वंश परिचय है। दूसरे में नायक-भेद और तीसरे से पाँचवे तक नायिका-भेद, छठे में मान, सातवें में मान मोचन, आठवें में सखी-भेद तथा सोलह श्रृंगार, नवें में दर्शन, दसवें में मिलन, ग्यारहवें में पुनः अष्ट नायिका-भेद, बारहवें में विप्रलम्भ श्रृंगार, तेरहवें में हाव, चौदहवें में नखशिख, पन्द्रहवें में वस्त्राभूषण और सोलहवें में नव-रसों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में 'रसिक प्रिया' और 'रस प्रबोध' का अनुसरण है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

शिवनारायण—जन्म चँदवार गाँव (जिला बलिया)। रचनाकाल सन् १७०० से १७८० ई० के बीच। शिवनारायणी सम्प्रदाय के प्रवर्तक और दुःखहरन दास के शिष्य थे। सम्प्रदाय के लोग दुःखहरन को दुःखहर्ता भगवान् मानते हैं और उनकी भौतिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। निर्गुण-सन्त परम्परा में मलूकदास के शिष्य 'पुहुपावती' के रचयिता गाजीपुर निवासी दुःखहरन का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः यही दुःखहरन शिवनारायण साहब के गुरु थे। इनकी जन्म और मृत्यु तिथियाँ निश्चित नहीं हैं। इनकी दो कृतियों—'गुरुन्यास' और 'सन्त सुन्दर'—की रचना क्रमशः सन् १७३४ ई० (संवत् १७९१) और सन् १७५४ ई० में हुई थी। ये जाति के नरौनी राजपूत थे। इन्होंने अपनी कृतियों में मुहम्मदशाह और अहमदशाह का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध है कि मुहम्मदशाह इनसे प्रभावित था और उसकी आज्ञा लेकर इन्होंने सम्प्रदाय प्रवर्तन किया था। रामनाथ, सदाशिव, लखनराम, लेखराज और जीवराज इनके प्रसिद्ध शिष्य हैं।

शिवनारायण साहब के नाम से अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें 'गुरुन्यास', 'सन्त उपदेश', 'सन्त आखरी' 'सन्त सुन्दर', 'सन्त बेलास', 'सन्त परवाना' और 'शब्दावली' प्रधान और प्रामाणिक कृतियाँ हैं। इनमें 'सन्त उपदेश' और 'सन्तपरवाना' के अतिरिक्त शेष सभी प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी कृतियों में ज्ञान, योग, भक्ति और सामान्य नैतिक उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। इनकी मान्यताएँ शास्त्रीय नहीं हैं और सामान्य जनता को दृष्टि में रखकर अत्यन्त सरल शब्दावली में व्यक्त की गयी हैं। अवतारवाद की ओर इनका झुकाव स्पष्ट लक्षित होता है। इन्होंने भौतिक संसार को काल-कर्म के बन्धन से युक्त माना है और 'सन्तदेश' के रूप में दिव्य और सूक्ष्म लोक की कल्पना की है। 'सन्तदेश' की भावना मन की निर्विकल्प अवस्था से प्रारम्भ होकर क्रमशः स्थूल होती हुई 'स्वर्ग' का पर्याय बन गयी है और आजकल तो इस सम्प्रदाय के लोग सन्तों की समाधि-भूमि को 'सन्तदेश' कहते हैं।

इनकी 'शब्दावली', जो गेय पदों का संग्रह है, भोजपुरी में लिखी गयी हैं और दोहे-चौपाई में रचित अन्य कृतियाँ अवधी में हैं। काव्य-दृष्टि से इनकी रचनाएँ साधारण हैं। गेय पदों में रचित और लोक-भावना से भावित होने के कारण एक मात्र 'शब्दावली' ही सरस हो सकी है। इनका महत्त्व सरल और बोधगम्य भाषा में उच्च नैतिक विचारों को जन-जीवन में

प्रचारित करने में है।

[सहायक ग्रन्थ—शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी काव्य : रामचन्द्र तिवारी (अप्रकाशित); उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी।]

—रा० चं० ति०

शिवनारायण मिश्र— जीवन-काल सन् १८९२ से १९२२ ई० के बीच। आप कानपुर निवासी प्रतिष्ठित वैद्य थे। मिश्र जी गणेश शंकर विद्यार्थी के अभिन्न मित्र थे। आप ही के सहयोग से 'प्रताप' अखबार निकाला गया था। आप राष्ट्र के हित के लिए कई बार जेल गये। हिन्दी और देश सेवा में समूचा जीवन लगा दिया। प्रकाश पुस्तकालय के नाम से देश हित के लिए राष्ट्रीय पुस्तकें प्रकाशित करते थे। यह पुस्तकालय 'प्रताप' कार्यालय के ही अन्तर्गत था, बाद में पुस्तकालय को अलग कर दिया गया। मिश्र जी बड़े ही विनम्र और कार्यकुशल नेता थे। आपने हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा की है।

—सं०

शिवपूजन सहाय—जन्म १८९३ ई० में। ग्राम उनवास, सब डिवीजन बक्सर, जिला शाहाबाद (बिहार)। मृत्यु १९६३ ई० में। १९१२ ई० में आरा नगर के एक हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। सामाजिक जीवन का शुभारम्भ हिन्दी शिक्षक के रूप में किया और साहित्य क्षेत्र में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आये। आपके आरम्भिक लेख तथा कहानियाँ 'शिक्षा', 'लक्ष्मी', 'मनोरंजन' तथा 'पाटलिपुत्र' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

आपकी सेवाएँ हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेख्य हैं। १९२१-२२ ई० के आसपास आपने आरा से निकलने वाले 'मारवाड़ी सुधार' नामक मासिक का सम्पादन किया। १९२३ ई० में कलकत्ता के 'मतवाला मण्डल' के सदस्य हुए और कुछ समय के लिए 'आदर्श', 'उपन्यास तरंग', तथा 'समन्वय' आदि पत्रों में सम्पादन कार्य किया। १९२५ ई० में कुछ मास के लिए 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। १९३० ई० में सुलतानगंज-भागलपुर से प्रकाशित होनेवाली 'गंगा' नामक मासिक पत्रिका के सम्पादक-मण्डल के सदस्य हुए। एक वर्ष के उपरान्त काशी में रहकर साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' का सम्पादन किया। आप काशी में कई वर्ष तक रहे। १९३४ ई० में लहेरियासराय (दरभंगा) जाकर मासिक पत्र 'बालक' का सम्पादन किया। स्वतंत्रता के बाद आप बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संचालक तथा बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित 'साहित्य' नामक शोध-समीक्षाप्रधान त्रैमासिक पत्र के सम्पादक थे।

आपकी लिखी हुई पुस्तकें विभिन्न विषयों से सम्बद्ध हैं तथा उनकी विधाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। 'बिहार का बिहार' बिहार प्रान्त का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करती है। 'विभूति' में कहानियाँ संकलित हैं। 'देहाती दुनिया' (१९२६ ई०) प्रयोगात्मक चरित्र प्रधान औपन्यासिक कृति है इसकी पहली पाण्डुलिपि लखनऊ के हिन्दू मुस्लिम दंगे में नष्ट हो गयी थी। इसका शिवपूजन सहाय जी को बहुत दुःख था। उन्होंने दुबारा वही पुस्तक फिर लिखकर प्रकाशित करायी किन्तु उससे आपको पूरा संतोष नहीं हुआ। आप कहा करते थे कि पहले की लिखी हुई चीज कुछ और ही थी। 'ग्राम सुधार' तथा 'अन्नपूर्णा के मन्दिर में' नामक दो पुस्तकें ग्रामोद्धारसम्बन्धी लेखों के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त 'दो घड़ी' एक हास्यरसात्मक कृति है, 'माँ के सपूत' बालोपयगी तथा 'अर्जुन' और 'भीष्म' नामक दो पुस्तकें 'महाभारत' के दो पात्रों की जीवनी के रूप में लिखी गयी हैं। शिव पूजन सहाय ने अनेक पुस्तकों का सम्पादन भी किया है, जिनमें 'राजेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) ने इनकी विभिन्न रचनाओं को अब तक चार खंडों में 'शिवपूजन रचनावली' के नाम से प्रकाशित किया है।

शिवपूजन सहाय का हिन्दी के गद्य साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। इनकी भाषा बड़ी सहज रही है। इन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से किया है और प्रचलित मुहावरों के सन्तुलित उपयोग द्वारा लोकरुचि का स्पर्श करने की चेष्टा की है। कहीं-कहीं अलंकरणप्रधान अनुप्रासबहुला भाषा का भी व्यवहार किया है और गद्य में पद्य की सी छटा उत्पन्न करने की चेष्टा की है। भाषा के इस पद्यात्मक स्वरूप के बावजूद इनके गद्य लेखन में गाम्भीर्य का अभाव नहीं है। शैली ओज-गुण सम्पन्न है और यत्र-तत्र उसमें वक्तृत्व कला की विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

शिवपूजन सहाय का समस्त जीवन हिन्दी-सेवा की कहानी है। इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग हिन्दी-भाषा की उन्नति एवं उसके प्रचार-प्रसार में व्यतीत किया है। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् नामक हिन्दी की दो प्रसिद्ध संस्थाएँ इनकी कीर्ति कथा के अमूल्य स्मारक के रूप में हैं। इनके संस्मरण में बिहार से 'स्मृति ग्रन्थ' भी प्रकाशित हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—शिवपूजन रचनावली (चार खण्डों में), बि० रा० भा० परिषद्, पटना।]

—र० प्र०

शिवप्रसाद—ये दतिया (जिला सुल्तानपुर) के रहनेवाले थे। इन्होंने 'रसभूषण' नामक ग्रन्थ १८११ ई० में लिखा। इन्होंने याकूब खाँ की इसी नाम की पुस्तक की शैली का अनुकरण कर रस तथा अलंकार का वर्णन एक साथ किया है। लक्षण की दृष्टि से इनका ग्रन्थ साधारण है पर उदाहरण के छन्द भावपूर्ण हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

शिव प्रसाद (सितारे हिंद)—दे० 'राजा शिव प्रसाद (सितारे हिन्द)'।

शिवप्रसाद गुप्त—जन्म सन् १८८३ ई० (आषाढ़ कृष्ण ८, सं० १९४० वि०) काशी में। मृत्यु सन् १९४४ ई० (वैशाख शुक्ल २, सं० २००१ वि०) काशी में। गुप्त जी ने अपने जीवन वृतान्त में लिखा है कि "मेरे जन्म के पूर्व मेरे माता पिता की कई सन्तानें छीज चुकी थीं। मेरे पूज्य पिता जी की अवस्था भी ३८ वर्ष की हो चुकी थी। अपने कई पुत्र-पुत्रियों की अकाल मृत्यु के कारण पूजनीया माता जी घर छोड़कर स्थानीय चौकाघाट पर राजा शिवलाल दूबे जी के बगीचे में वहाँ के प्रबन्धक की फूस की कुटिया में जा बसीं थी। उसी कुटिया में मेरा जन्म हुआ था। जिलाने के लिए मुझे एक नाल काटने वाली

चमारिन के हाथ ७ कौड़ी में बेचा गया था और फिर उसे धन देकर मैं खरीदा गया। यह कार्य उस समय के ख्याल के मुताबिक किया गया था। मुझे जिलाने तथा स्वस्थ रखने के लिए मेरे माता-पिता ने नाना प्रकार के कष्ट उठाये व वन-वन की खाक छान डाली।"

स्वनामधन्य श्री शिवप्रसाद गुप्त का जन्म बहुत बड़े धनाढ्य घर में हुआ था। आप हिन्दी के बड़े भक्त थे और अपनी राजनीतिक मान्यताओं के अनुसार आपने हिन्दी को उन्नत करने में अपना प्रचुर धन व्यय किया—प्रचुर भौतिक साधनों का भरपूर उपयोग किया। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी किन्तु अस्वस्थता के कारण परीक्षा नहीं दे सके थे। आपने ३० अप्रैल, १९१४ को विदेश की पहली यात्रा की थी। उस यात्रा में घरवालों ने पं० सुरेन्द्र नारायण शर्मा और विनयकुमार सरकार को आपके साथ कर दिया था। आपका इरादा ६ मास में पृथ्वी प्रदक्षिणा करके घर वापस लौट आने का था किन्तु २१ मास में वापस लौटे। मिस्र, इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड, अमेरिका, जापान, कोरिया, चीन, सिंगापुर आदि स्थानों का भ्रमण करके लौटे थे। इस यात्रा में आपको बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था और सिंगापुर में जेल में भी रहना पड़ा था। आपने 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' में इसका वर्णन भी किया है क्योंकि आपके इंग्लैण्ड पहुँचने के तीन महीने बाद ही प्रथम जर्मन युद्ध प्रारम्भ हो गया था, इसलिए जापान, सिंगापुर आदि देशों में भारतीयों की भारी दुर्गति की जा रही थी।

जिस समय महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उपक्रम किया, उस समय गुप्त जी ने मालवीय जी के काम में पूरा हाथ बँटाया और मालवीय जी के साथ बंगाल, बिहार, संयुक्तप्रान्त, पंजाब, राजपूताने का भ्रमण किया। इस उपक्रम के तीन मुख्य उद्देश्य थे—(१) हर प्रकार की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा मातृभाषा द्वारा देना। (२) साधारण शिक्षा के साथ-साथ कला-कौशल तथा उद्योग की शिक्षा देना। (३) सरकारी सहायता से बचे रहना। गुप्तजी को ये उद्देश्य बहुत पसन्द आये, इसलिए उन्होंने इस कार्य में पूरा योग दिया। आपने दूसरी बार सन् १९२९ में फिर विदेश यात्रा की थी। एक बार आप पृथ्वी प्रदक्षिणा कर आये थे, इसलिए इस बार की यात्रा में केवल इंग्लैण्ड आदि एक-दो जगहों में गये थे। पहली विदेश यात्रा के बाद भारत लौटने पर आपने सन् १९१६ ई० में हिन्दी लेखकों के प्रोत्साहनार्थ और हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के लिए उत्तमोत्तम ग्रन्थों को प्रकाशित करने के अभिप्राय से ज्ञानमण्डल की स्थापना की और ज्ञानमण्डल द्वारा प्रकाशन तथा मुद्रण का काम सन् १९१९ ई० में प्रारम्भ हो गया। संसार भ्रमण में ही आपने यह अनुभव किया था कि हिन्दी में अनेक विषयों के उच्चकोटि के ग्रन्थों का सर्वथा अभाव है, इसलिए उसकी पूर्ति करने के निमित्त एक प्रकाशन संस्था खोलना नितान्त आवश्यक है।

गुप्त जी हिन्दी के कट्टर हिमायती तो थे ही, राजनीतिक आन्दोलनों में भी काफी दिलचस्पी लेते थे। वह पहली बार सन् १९०४ ई० में बम्बईवाली कांग्रेस में प्रतिनिधि बनकर सम्मिलित हुए थे। सन् १९०५ ई० में काशी में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें पंजाब केशरी लाला लाजपतराय, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल आदि गण्यमान्य नेता आये थे। इन लोगों के राजनीतिक विचारों का प्रभाव गुप्त जी पर बहुत गहरा पड़ा और वह दिन-दिन दृढ़ होता गया। कांग्रेस में पदार्पण करने कुछ ही दिन बाद महात्मा गान्धी से इनका परिचय हुआ। कांग्रेस की अनुकूल नीति तथा समर्थन के लिए सन् १९२० ई० में आपने ज्ञानमण्डल से दैनिक 'आज' निकलवाना शुरू किया। पर्याप्त व्यय करके इसके लिए अमेरिका आदि से सीधे समाचार मँगाने का प्रयत्न किया गया, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी दैनिक 'आज' में अंग्रेजी समाचार पत्रों से भी पहले समाचार छपने लगे। उस समय हिन्दी पाठक 'आज' की विशेषताओं को नहीं समझ सके, इसलिए ग्राहक संख्या पर्याप्त न होने के कारण 'आज' में प्रति वर्ष लाखों रुपये की हानि होने लगी और आप उसकी सहर्ष पूर्ति करने लगे। 'आज' के प्रधान सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे प्रकाण्ड पण्डित हुए और श्री प्रकाश जी प्रधान व्यवस्थापक। भाषासौष्ठव और निर्भीक राष्ट्रीय नीति के प्रतिपादन के कारण 'आज' की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। ज्ञानमण्डल का स्थान भी कार्य तथा इसके उच्च कोटि के प्रकाशन के कारण हिन्दी सेवी संस्थाओं में बहुत ऊँचा है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के समय जब अंग्रेजी सरकार ने कुपित होकर सन् १९३० ई० में भारत के सभी राष्ट्रीय विचारवाले समाचार पत्रों को बन्द कर दिया, तब ज्ञानमण्डल ने साइक्लोस्टाइल पर 'रणभेरी' निकलवाना शुरू किया। कांग्रेस आन्दोलन के समाचार 'रणभेरी' में प्रकाशित होने लगे और उसका अंक हिन्दी भाषी क्षेत्रों में एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया। आचार्य नरेन्द देव जैसे उद्भट विद्वान और देशभक्त भी 'आज' परिवार के स्तम्भ थे। 'रणभेरी' निकालने में ज्ञानमण्डल को काफी क्षति उठानी पड़ी और अनेक तरह की आपदाओं का सामना करना पड़ा। आगे चलकर ३० जुलाई, सन् १९३१ ई० से ज्ञानमण्डल ने 'टुडे' नामक अंग्रेजी दैनिक डाक्टर सम्पूर्णानन्द के सम्पादकत्व में निकालना शुरू किया किन्तु अंग्रेजी पत्र के लिए काशी उपयुक्त स्थान न होने के कारण ३१ अक्तूबर सन् १९३१ ई० के बाद 'टुडे' का प्रकाशन बन्द हो गया। ज्ञानमण्डल ने 'मर्यादा' और 'स्वार्थ' नामक दो उच्च कोटि के मासिक पत्र निकाले थे, जिनका प्रकाशन कुछ दिनों बाद बन्द कर देना पड़ा। यहाँ से १८ जुलाई, सन् १९३८ ई० से साप्ताहिक 'आज' निकाला गया, जिसका नाम १९ जुलाई, १९४६ ई० से 'समाज' रखा गया। इस 'समाज' का सम्पादन आचार्य नरेन्द्र देव जी करते थे। कुछ दिनों बाद कई अनिवार्य कारणों से इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल को बन्द कर देना पड़ा।

गुप्त जी की एक बहुत बड़ी देन काशी विद्यापीठ है। उन्होंने १० लाख रुपये के दान से सन् १९२१ ई० में काशी विद्यापीठ की स्थापना की। गुप्त जी ने अपने स्वर्गीय छोटे भाई श्री हर प्रसाद के नाम से हर प्रसाद शिक्षा निधि की स्थापना करके काशी विद्यापीठ का खर्च उस निधि के जिम्मे कर दिया। उन्होंने अपने इस कार्य से अपने छोटे भाई को अमर कर दिया। जब गान्धी जी ने अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की आवाज उठायी तथा स्वदेशी शिक्षा पर बल दिया, उस समय गुप्त जी के दान, प्रयास और साधन से इस विद्यापीठ की

स्थापना हुई। इस संस्था का हिन्दी प्रगति और राष्ट्रीय आन्दोलनों में बहुत बड़ा हाथ रहा है और अनेक नेता तथा अच्छे प्रशासक इस संस्था ने देश को दिये हैं। काशी विद्यापीठ आज भी उत्तरोत्तर वृद्धि पर है और विश्वविद्यालय बन चुका है। राष्ट्रीय आन्दोलन में इस संस्था की सेवाएँ सदा स्मरणीय रहेंगी।

गुप्त जी बड़े ही स्वतन्त्र और निर्भीक विचार के थे। आप हर विषय में बिलकुल अनोखी और नयी बात सोचा करते थे। उसी के परिणामस्वरूप आपने भारत माता मन्दिर की भी कल्पना की। उन्होंने सन् १९३६ ई० में इसकी स्थापना की। यह मन्दिर काशी का ही नहीं,समूचे भारत का एक अलौकिक दर्शनीय स्थान है। यह गुप्त जी की अनूठी सूझ की देन है। यह मन्दिर तीस-पैंतीस वर्षों में बनकर तैयार हुआ था।

गुप्त जी देशभक्त और हिन्दी-प्रेमी तो थे ही, हिन्दी के उच्च कोटि के लेखक और अच्छे वक्ता भी थे। उनकी भाषा प्रांजल और सौष्ठवपूर्ण थी। 'आज' में वर्षों तक उनके फुटकल लेख राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों पर छपते रहते थे। आपने 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' (१९२४) नामक एक बृहत् ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का हिन्दी के यात्रा साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। कहा जा सकता है कि यात्रा सम्बन्धी ऐसा महाग्रन्थ हिन्दी में न तो पहले ही कोई निकला था और न उसके बाद ही। इसमें बहुत से रंगीन चित्र तथा सैकड़ों सादे चित्र दिये गये हैं।

एक बार गुप्तजी ने अपनी मोटर पर हिन्दी अंकों में नम्बर लगवाया और यह कहा कि भारत में मोटरों पर हिन्दी में नम्बर रहना चाहिये, अंग्रेजी में नहीं। परिणामस्वरूप अंग्रेज क्रुद्ध हो उठे। आप पर जोरदार मुकदमा चला। काफी रुपये खर्च हुए पर आप हिन्दी-प्रेम पर अडिग रहे। गुप्त जी कांग्रेस के प्रमुख नेता थे। कई वर्षों तक आप कांग्रेस के कोषाध्यक्ष भी थे। अनेक बार जेल गये। आप देश सेवा, दीन-दुखियों के पालन और विद्यार्थियों की सहायता के दृढ़व्रती थे। क्यों न हो, राजमहल में रहने वाली माता ने इन्हें फूस की कुटिया में उत्पन्न किया था। उसी का यह फल था कि आपको झोपड़ियों में रहने वाले लाल बहुत प्रिय थे। दीनों को अन्नदान, छात्रों को छात्रवृत्ति, विद्वानों को आर्थिक सहायता देने में आप सदा तत्पर रहते थे। वह सदा गुप्तदान किया करते थे। वे नहीं चाहते थे कि कहीं भी दान के लिए उनका नाम प्रकाशित हो। इससे उन्हें बहुत बड़ी चिढ़ थी। जीवन में उन्होंने बहुत दान किये पर एक भी जगह अपना नाम प्रकाशित नहीं होने दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि अनेक संस्थाओं को आपने पर्याप्त धन दिया किन्तु किसी प्रकार अपना नाम प्रकाशित नहीं होने दिया।

गुप्त जी ने बहुत से प्रमुख विद्वानों को आर्थिक सहायता देकर निःस्वार्थ भाव से ऐसे ग्रन्थ लिखवाये, जिनका हिन्दी में बहुत ऊँचा स्थान है। अन्नदान, वस्त्रदान, द्रव्यदान गुप्तजी का नित्य का काम था। आप अपने जीवन-काल में दानवीर के नाम से विख्यात थे। हिन्दी के इतिहास में आपकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। गुप्त जी देश के बेजोड़ रत्न थे। इसी से देश की जनता ने आपको 'राष्ट्ररत्न' की उपाधि से विभूषित किया था।

गुप्त जी के विद्यानुराग का ही यह परिणाम था कि उन्होंने माया-मोह छोड़कर अपने उत्तराधिकारी लाड़ले दौहित्र सत्येन्द्रकुमार गुप्त को विद्याध्ययन के लिए सन् १९३६ ई० में इंग्लैण्ड भेज दिया था। सत्येन्द्र कुमार जी विदेश से सन् १९३९ ई० में भारत लौटे थे। गुप्त जी ने शिक्षा दिलाने के लिए इतने लम्बे अरसे तक नाती को अपने से पृथक् रखकर वियोग का कष्ट सहन किया, पर अपने कर्त्तव्य-पालन में किसी तरह की त्रुटि नहीं होने दी। —सा० दे०

शिवमंगल सिंह "सुमन"—जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के झगरपुर ग्राम में १९१६ ई० में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा ग्राम में ही हुई। इसके बाद ग्वालियर के विक्टोरिया कालेज से बी० ए० किया। एम० ए० और डी० लिट्० की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त करने के बाद ग्वालियर और होल्कर कालेज, इन्दौर में अध्यापन का कार्य करने लगे। इसी बीच उनकी नियुक्ति नेपाल स्थित भारतीय दूतावास में सांस्कृतिक सहायक के रूप में हो गई। ३ वर्ष बाद वहाँ से लौटने पर वे १९६१ ई० में विक्रम विश्वविद्यालय के अन्तर्गत माधव कालेज, उज्जैन के प्रधानाचार्य हो गये। कुछ वर्षों बाद विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। इसी पद से अवकाश लेकर साहित्य सेवा में रत हैं। देहाती जीवन, बनारस का आवास और हिमालय दर्शन ने उन्हें निश्चय ही बहुत प्रभावित किया है। साम्यवादी व्यवस्था और सिद्धान्त का प्रभाव उन पर अक्षुण्ण है। इन सबका प्रमाण उनकी रचनाएँ हैं। सुमन जी मूलतः कवि हैं। काव्य संग्रहों की भूमिकाओं के आधार पर उनकी काव्य दृष्टि का अनुमान भी संभव है। इनकी रचनात्मक दृष्टि पर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के प्रभाव को जीवनगान आदि की भूमिकाओं से पता चलता है। अब तक उनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

'हिल्लोल' (१९३९ ई०), 'जीवनगान' (१९४१ ई०), 'प्रलयसृजन' (१९४४ ई०) 'विश्वास बढ़ता ही गया' (१९५५ ई०), 'पर आँखें नहीं भरी' (१९५५ ई०) 'विंध्य हिमाचल' (१९६६ ई०)

सुमन के गीतों में गीत्यात्मकता कम और गेयता अधिक है। यह विशेषता सभी संग्रहों में है, अन्तर इतना ही है कि कुछ में जैसे 'जीवनगान' और 'प्रलय सृजन' में गीतों का आधार गेयता युक्त वर्णनात्मकता भी है। रचना में सजग रूप से समाज की स्थिति का मान और लोकचेतना निदर्शन है। 'विश्वास बढ़ता ही गया' और विंध्य हिमाचल' में गीत्यात्मकता अधिक है और गेयता कम। गेयता रचना का विशेष गुण न होकर अतिरिक्त गुण है। सुमनजी की कविताओं की एक विशेषता मानवीय समता पर आस्था और क्रान्ति के प्रति विश्वास। उनके प्रथम संग्रह 'हिल्लोल' में मानुष जीवन के शाश्वत आवागमन पर विश्वास है। प्यार, पीड़ा और प्रेम की गहरी प्रतीति भी है, परन्तु साथ ही साथ इसी संग्रह में मंजिल न पाने तक अविराम चलने का संकल्प भी है। श्रमिक वर्ग के संघर्ष में स्वतंत्रता की कल्पना 'उद्‌बोधन' के रूप में सुमन की इन प्रारंभिक कविताओं में है। 'क्रान्ति' नामक कविता में हँसिए और हथौड़े का उल्लेख उनकी प्रगतिवादी प्रतिबद्धता का प्रमाण है। 'जीवन के गान' की भूमिका में सुमन ने नवीन और दिनकर के मतों का प्रतिवाद करते हुए प्रगतिवाद को जीवन और साहित्य का नया दृष्टिकोण कहा है। 'जीवन के गान'

संग्रह में ऊँच नीच के सारे आडम्बरों को भस्मसात् करने की प्रतिज्ञा, विद्रोह करो, विद्रोह करो का आमन्त्रण, 'मजदूर किसानों बढ़े चलों का उद्‌बोधन व्यापक रूप से है। भाषा में लोक शब्दों और लोकात्मक दबाव स्पष्ट है, और संभवतः यही इस संग्रह और इस प्रकार की कविताओं का महत्व है। रचना के मूल में साम्यवादी प्रतिबद्धता की प्रेरणा स्पष्ट है। इसके बाद के ही संग्रह 'प्रलयसृजन' में, जिसकी भूमिका राहुल सांस्कृत्यायन ने लिखी है, प्रगतिवादी विचारधारा काव्य की अनुभवबद्धता के बजाय निश्चय ही वैचारिक प्रतिबद्धता है। इस संग्रह की कविताओं में जहाँ एक ओर 'मास्को अब भी दूर है,' 'स्तालिनग्रेड' और चली जा रही है बढ़ी लाल सेना' जैसी कविताएँ हैं वहीं 'चल रही उसकी कुदाली', 'जीवन और गीत' आदि रचनाएँ भी हैं, जो परिवेश की पहचान के साथ ही साथ सृजनात्मकता की परिधि में भी आ सकती हैं।

'बंजर धरती को उर्वर बनाने' की चुनौती स्वीकार करना ही सर्जक का सब से बड़ा धर्म है। इस सर्जनात्मक निश्चय के साथ 'विश्वास बढ़ता ही गया' की कविताएँ विवेच्य हैं। शोषक और शोषित की विषमता और स्थिति के आधार पर स्थित परिवेश का अनुभव इन कविताओं में है। 'आज देश की मिट्टी बोल उठी है' और 'मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझानेवाला' आदि कविताएँ निश्चय ही उर्वरत्व की प्रमाण हैं। इसी संग्रह में निराला और प्रेमचन्द के प्रति लिखी गई कुछ कविताएँ भी संकलित हैं, जिनमें गुणात्मक भेद होते हुए भी एक सर्जनात्मक पहचान अवश्य है। पर 'आँखें नहीं भरीं' में गीतात्मकता, सघनता और प्रतीति की सान्द्रता विद्यमान है। भावबोध की तरलता इन कविताओं को पहले की कविताओं से कुछ अलग करती है। इनमें छायावादिता अधिक है। गांधी जी के प्रति लिखी गई कविताएँ सहज अनुभव और रचनात्मक बोध के घातुज योग की परिणाम हैं। 'विंध्य हिमाचल' नाम संग्रह की कविताओं में हिमालय की विराटता और प्रकृति की सहजता का बोध प्रमुख है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ 'नेपाल प्रवास के समय लिखी गई हैं।' शिव की शिवता का सम्यक् संकल्प और अगस्त्य की तपस्या की पावन प्रणति, गंगा और नर्मदा की सांस्कृतिक विशिष्टता-सब कुछ इस रचना की भूमिका में है।

—स० प्र० मि०

शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'—जन्म सन् १८७९ ई०, बछारावाँ, जिला रायबरेली (उत्तर प्रदेश) में। ये राम काव्य-परम्परा के कवि हैं। ब्रजभाषा, अवधी तथा खड़ीबोली में आपने कविताएँ लिखी हैं। आपकी कृतियाँ हैं—'श्री रामावतार', 'आर्य-सनातनी संवाद', 'प्रभुचरित्र' (१९०९ ई०), 'परिहास प्रमोद' (१९३० ई०), 'भरतभक्ति महाकाव्य' (१९३२ ई०), 'सिरस नीति सतसई' (१९३६ ई०), 'श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य' (१९५१ ई०)। शैली प्रसादगुण-सम्पन्न है। स्पष्ट भाषा में सामाजिक विरूपता पर मार्मिक व्यंग्य इन्होंने किये हैं। रामचरित्र जैसे बहुचर्चित विषय में भी आपने नूतन उद्‌भावनाएँ की हैं। नीति सतसई जीवन के नये सत्यों से भरी पड़ी है। आधुनिक अवधी काव्य के आप एक समर्थ कवि हैं।

—स० ना० त्रि०

शिवराज-भूषण—'शिवराज-भूषण' के रचयिता भूषण (सन् १६१३-१७१५ ई०) हैं। इन्होंने इसका रचनाकाल २९ अप्रैल, १६७३ ई० (सं० १७३०, ज्येष्ठ बदी १३ रविवार) दिया है (छन्द ३८२)। गणना के द्वारा खरी उतरने के कारण यह तिथि ठीक ठहरती है। पाठान्तर के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने इसकी रचना-तिथि सन् १६६३ ई० (कार्तिक सुदी १३ बुधवार, सं० १७३०—छन्द ३८०) मानी है और लाहौरवाली 'भूषण-ग्रन्थावली' में श्रावण सुदी १३ बुधवार, सं० १७३० मानी गयी है (छन्द ३८२)। ये दोनों तिथियाँ गणना की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। भूषण ने 'शिवराज-भूषण' की रचना के विषय में लिखा है : "सिवचरित्र लखि यों भयो, कवि भूषन के चित्त। भाँति-भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त।। सुकविन हूँ की कछु कृपा, समुझि कबिन को पन्थ। भूषन भूषनमय करत, सिवभूषन सुभ ग्रन्थ।।" (छन्द २९-३०)। इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि भूषण ने शिवाजी के चरित्र तथा सुकवियों की कृपा से यह अलंकार-ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा प्राप्त की थी। इसमें मंगलाचरण, राजवंश, रायगढ़ तथा कवि-वंश-वर्णन के अनन्तर अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

'शिवराज-भूषण' का प्रकाशन 'भूषण-ग्रन्थावली' में कई स्थानों से हो चुका है, जिनमें से प्रमुख ये हैं—सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, साहित्य-सेवक-कार्यालय, काशी, द्वितीयावृत्ति, १९३६ ई०, सम्पादक-श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पंचम संशोधित संस्करण, १९३९ ई०, सम्पादक-राजनारायण शर्मा, हिन्दी-भवन, लाहौर, सम्पादक-ब्रजरत्नदास, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, प्रथम बार, १९३० ई०।

इस ग्रन्थ में अर्थालंकार के अनन्तर शब्दालंकार हैं और उसके बाद संकर की चर्चा है। कुल मिलाकर १०५ अलंकारों की संख्या दी गयी है पर इसमें अलंकारों के भेद भी गिना दिये गये हैं। कवि के अनुसार ९९ अर्थालंकार हैं, ४ शब्दालंकार तथा १ चित्र और १ संकर। अलंकारों की नामावली इस ग्रन्थ का सबसे कमजोर अंश है। भूषण ने अलंकारों में उपमा को उत्तम मानकर सर्वप्रथम उसकी चर्चा की है। संस्कृत आचार्यों ने भी प्रायः इसी अलंकार से अर्थालंकार की चर्चा की है। भूषण ने स्वभावोक्ति तथा जाति, दोनों नामों को स्वभावोक्ति के लिए स्वीकार कर लिया है। मतिराम के लक्षणों का भूषण पर अत्यधिक प्रभाव है, कुछ लक्षण तो ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं।

इनके अधिकांश अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अस्पष्ट हैं, कहीं-कहीं दोषपूर्ण भी हैं। संस्कृत ग्रन्थों में जयदेव के 'चन्द्रालोक' का भूषण पर सर्वाधिक प्रभाव माना जा सकता है। 'चन्द्रालोक' के प्रतीपोपमा, ललितोपमा और भाविक-छवि जैसे अलंकारों की 'शिवराज-भूषण' में स्थिति से यह व्यक्त होता है क्योंकि अन्य समसामयिक ग्रन्थों में ये इस रूप में नहीं हैं। अनुप्रास के दो भेद छेक तथा लाट को लेकर यमक और पुनरुक्तवदाभास के साथ ४ शब्दालंकार की चर्चा की गयी है। चित्र का लक्षण न देकर केवल कामधेनु का उदाहरण दिया गया है। भूषण ने संकर का ठीक स्वरूप नहीं समझा है—"भूषण एक कवित्त में भूषण होत अनेक।" उदाहरण उन्होंने संसृष्टि का दिया है और दोनों का अन्तर भी नहीं समझाया गया है। अर्थालंकारों को 'शिवराजभूषण' में

'चन्द्रालोक' के आधार पर लिया गया है, इसी कारण समसामयिक ग्रन्थों में पाये जाने वाले ये ११ अलंकार—अल्प, कारकदीपक, गूढोक्ति, प्रतिषेध, मुद्रा, युक्ति, रत्नावली, ललित, विधि, विवृतोक्ति तथा प्रस्तुतांकुर—'चन्द्रालोक' में न होने के कारण इसमें भी नहीं हैं।

रीति-ग्रन्थ की दृष्टि से 'शिवराज भूषण' भले ही साधारण रचना हो पर उसमें अलंकारा के उदाहरण के लिए शिवाजी के जीवन के १६६५ ई० से लेकर २९ अप्रैल, १६७३ ई० तक की प्रमुख घटनाओं, युद्धों एवं शौर्यपूर्ण कार्य-कलापों की झाँकी मिल जाती है। यह वीर-रसप्रधान ग्रन्थ है। इसके युद्धवीर, दयावीर, दानवीर तथा धर्मवीर चारों प्रकार के वीरों के वर्णन मिलते हैं पर प्रधानता युद्धवीर की ही है। युद्ध-सामग्री का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। रौद्र, वीभत्स आदि रसों का भी सफल परिपाक हुआ है। भूषण ने गीतिका, दोहा, अमृतध्वनि, छप्पय, मालती, अरसात, किरीट, दुर्मिल, कवित्त, हरिगीति का आदि छन्दों का प्रयोग किया है। दोहों में अलंकारो के लक्षण और अन्य छन्दों में उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

इसमें साहित्यिक ब्रजभाषा के प्रचलित रूप का प्रयोग हुआ है। फारसी, अरबी, तुर्की, बुन्देलखण्डी, अन्तर्वेदी आदि भाषाओं के प्रचलित शब्दों का भी स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया गया है। इस प्रकार आचार्यत्व की दृष्टि से भूषण 'शिवराजभूषण' में विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सके हैं पर वीर-रस के चित्रण में उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा और काव्य-कौशल का परिचय दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० वी०; हि० अ० सा०; हि० सा०; भूषण-विमर्श : भगीरथ प्रसाद दीक्षित; भूषण-ग्रन्थावलियों की भूमिकाएँ।]

—टी० सिं० तो०

शिवलाल—रीति परम्परा के शिवलाल डौढिया खेरा (बैंसवाड़ा) के रहने वाले थे। शिवसिंह ने इनका समय १७८२ ई० के आस पास माना है। इनकी रचनाएँ नखशिख, षट्ऋतु, नीति के कवित्त और हास्य रस के छन्द हैं।

—सं०

शिव शंभु का चिट्ठा—हिन्दी गद्य-साहित्य में शिव शम्भु शर्मा के चिट्ठों का ऐतिहासिक महत्त्व है। ये चिट्ठे लार्ड कर्जन (सन् १८९९-१९०५ ई०) के निरंकुश और स्वेच्छाचारितापूर्ण शासन के विरोध में लिखे गये थे। राष्ट्र की राजनीतिक चेतना के सजग प्रहरी के रूप में 'भारत मित्र' सम्पादक (बालमुकुन्द गुप्त) ने 'शिव शम्भु शर्मा' के कल्पित नाम से लार्ड कर्जन के अहंकार पर उग्र, व्यंग्यपूर्ण और सांकेतिक प्रहार करते हुए आठ—'बनाम लार्ड कर्जन', 'श्रीमान् का स्वागत', 'वैसराय के कर्त्तव्य', 'पीछे मत फेंकिये', 'आशा का अन्त', 'एक दुराशा', 'विदाई सम्भाषण', 'बंग विच्छेद'—खुली चिट्ठियाँ लिखी थीं। ये चिट्ठियाँ पूरे एक वर्ष तक (सन् १९०४-१९०५ ई०) 'भारत मित्र' और 'जमाना' में प्रकाशित होती रहीं। इन्हें हिन्दी-प्रेमी जनता 'शिव शम्भु का चिट्ठा' के रूप में जानती है। इन चिट्ठों का देशव्यापी प्रभाव पड़ा था। बालमुकुन्द गुप्त के मित्र ज्योतीन्द्र नाथ बैनर्जी ने इनका अंग्रेजी भाषा में पुस्तकाकार अनुवाद प्रकाशित किया था, जो हाथोंहाथ बिक गया। तत्कालीन राजनीतिक चेतना के सजीव इतिहास के रूप में, व्यंग्यपूर्ण चुटीली चुस्त और चलती हुई शैली में लिखे गये ये चिट्ठे हिन्दी-साहित्य में सदैव अमर रहेंगे।

—रा० चं० ति०

शिवसहाय—इनका पूरा नाम शिवसहाय दास था। इनकी जन्म-तिथि, जन्म-स्थान या जीवन के विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं। रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें जयपुर का निवासी माना है। इनका रचनाकाल १८वीं सदी का मध्य था। इनके लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—'शिव चौपाई' और 'लोकोक्तिरस कौमुदी', जिनका रचनाकाल शुक्लजी ने १७४८ ई० माना है। 'लोकोक्तिरस कौमुदी' के दो संस्करण देखने में आये हैं। दूसरा संस्करण सुधाकर द्विवेदी के सम्पादकत्व में भारत जीवन प्रेस काशी से संम्वत् १९४७ वि० में प्रकाशित हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ ही अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें लोकोक्तियाँ हैं, किन्तु उनका प्रयोग नायिका-भेद के साथ किया गया है। कवि ने नाम में 'रस' शब्द का प्रयोग नायिका-भेद के लिए ही किया है। एक उदाहरण से इसका रूप स्पष्ट हो जायगा—"बोले निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गहि रोस। कहै पखानो जेहि गहि मौन। बैल न कूद्यो, कूदी गौन।" स्पष्ट है कि रचयिता ने प्रथम दो पंक्तियों में नायिकाभेद रखा है और अन्तिम पंक्ति में लोकोक्ति या परवाना। पूरी रचना इसी प्रकार की है। कविता अत्यन्त सामान्य कोटि की है और कहीं-कहीं तो तुकबन्दी मात्र है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; नीति छन्दावली : अज्ञात कवि का हस्तलिखित ग्रन्थ।]

—भो० ना० ति०

शिवसिंह सरोज—हिन्दी साहित्य के इतिहासों में प्रथम प्रयास शिवसिंहकृत 'सरोज' नामक 'वृत्त-संग्रह माना जाता रहा है। इसका प्रकाशन रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार १८८३ ई० में हुआ। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इसकी तिथि १८७७ ई० मानी है ('आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृ० १७६)। माताप्रसाद गुप्त 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में १८७८ ई० बताते हैं। इसे संकलन में एक सहस्र कवियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी रचनाओं के उदाहरण हैं। कुल मिलाकर 'सरोज' का महत्त्व प्राचीनता तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से हैं। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार "जहाँतक साहित्य इतिहास के रूप में 'सरोज' के महत्त्व का प्रश्न है, यह ग्रन्थ सही अर्थ में सर्व-वृत्त संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्यिक इतिहास तो दूर की बात है क्योंकि कवियों के जन्मकाल आदि के सम्बन्ध में जो विवरण है, वे भी अत्यन्त संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आश्रित हैं फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव नादर्न हिन्दुस्तान' में 'सरोज' को ही आधार बनाया है और इसके अभाव में मिश्रबन्धुओं को 'विनोद' तैयार करने में काफी कठिनाई होती" ('साहित्य का इतिहास-दर्शन', पृ० ७७)।

—सं०

शिवसिंह सेंगर—कौथानिवासी शिवसिंह सेंगर (१८३३-१८७८ ई०) द्वारा सम्पादित 'शिवसिंह सरोज' हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास के रूप में स्मरण किया जाता है। आगे के इतिहास लेखकों ने भी इस कवि-वृत्त-संग्रह से पर्याप्त सहायता ली है।

—सं०

शिवाधार पांडेय—जन्म १८८८ ई० बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) में। प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष। हिन्दी समीक्षा में बराबर रुचि रखी। छायावादी-काव्य के समर्थकों में से प्रमुख। सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाओं पर विशेष रूप से लिखा। इनकी दो पुस्तिकाएँ 'समर्पण' और 'पर्दापण' प्रकाशित हुईं। कविताएँ भी लिखी हैं पर मूलतः इनका महत्त्व छायावाद के प्रारम्भिक समीक्षक के रूप में है। सेवा-निवृत होकर प्रयाग में स्थायी रूप से रहते रहे। सुमित्रानन्दन पंत ने अपनी षष्टिपूर्ति के अवसर पर लिखे गये संस्मरणों में पाण्डेयजी की समीक्षाओं की चर्चा की है। आपका देहान्त सन् १९५२ ई० में हुआ।

—सं०

शिवा-बावनी—'शिवा-बावनी' के रचयिता भूषण हैं। इसमें कुल ५२ छन्द हैं। कवित्त और छप्पय में रचित यह एक मुक्तक रचना है। 'शिवा-बावनी' में शिवाजी (१६२७-१६८० ई०) के प्रताप, रण-प्रस्थान, युद्ध, तलवार, नगाड़ा, आतंक, तेज, पराक्रम तथा विजय का वर्णन है। इनमें आश्रयदाता के प्रताप और आतंक के चित्रण बड़े विशद हैं। इसमें शिवाजी विषयक १६५५ ई० से १६७७-७९ ई० तक की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। अतएव 'शिवा-बावनी' की रचना १६७७-७९ ई० के लगभग हुई होगी। 'शिवाबावनी' का प्रकाशन कई संग्रहों में हो चुका है (दे० 'शिवराज-भूषण')।

इस ग्रन्थ में वीर, रौद्र तथा भयानक रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। भूषण 'शिवा-बावनी' में शिवाजी के शत्रुओं की दुर्दशा का सजीव अंकन किया है। इसमें मालोपमा, रूपक, अत्युक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, भाविक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उपमा, विषम, विधि, काव्यलिंग, सम्भावना, अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों की अनुपम छटा द्रष्टव्य है। 'शिवा-बावनी' की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। इसमें फारसी, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी आदि भाषाओं के प्रचलित प्रयोग भी मिलते हैं। यह रचना साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से वीर-काव्यधारा की एक अक्षुण एवं स्थायी निधि है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० वी०; हि० सा०; भूषण ग्रन्थावलियों की भूमिकाएँ।]

—टी० सिं० तो०

शीलमणि—परमहंस शीलमणि का मूलनाम हर्षपन्त था। ये कुमायूँ प्रदेश के बीहड़ ग्रामवासी सुधीपन्त और सुभद्रादेवी की एकमात्र सन्तान थे। इनका जन्म १८२० ई० में हुआ था। दुर्भाग्य से बाल्यकाल में ही पिता का देहान्त हो गया। माता पति के साथ सती हो गयीं। अनाथावस्था में ये किसी साधु के साथ घूमते-घूमते अयोध्या पहुँचे और पयहारीजी के शिष्य हो गये। गुरु आज्ञा से इन्होंने महात्मा रामानुजदास से सख्यरस का सम्बन्ध ग्रहण किया। शीलमणि नाम इसी समय पड़ा। रसिकाचार्य रामचरणदास और युगलानन्यशरण के सम्पर्क से इन्होंने सख्य के साथ ही श्रृंगारी साधना का भी ज्ञान प्राप्त किया। अयोध्या में कनक भवन के द्वार पर 'लाल साहेब का दरबार' में इनकी गद्दी अब तक स्थापित है। इसी स्थान पर वैशाख शुक्ला एकादशी, १८७८ ई० को लोकयात्रा समाप्त कर ये दिव्यसखा के सहवासी हुए।

शीलमणि की १९ रचनाओं का पता लगा है—'कनक भवन महात्म्य', 'सम्बन्ध प्रकाश', 'अवधप्रकाश', 'पदावली संग्रह', 'पावस वर्णन', 'पंचीकरण', 'विनय पत्रिका', 'रसमेल दोहावली', 'रत्नमंजरी', 'रामकरमुद्रिका', 'सख्य रस दोहा', 'सख्यरसदर्पण', 'सियावर नाम मणिमाला', 'केदार कल्पवेदिक', 'कवितावली', 'होरी', 'ज्ञानभूमिका', 'सियावर मुद्रिका' और विवेक गुच्छा'। इनमें अन्तिम दो प्रकाशित हो चुकी हैं, शेष की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। इनका अधिकांश साहित्य ब्रज तथा अवधी में निर्मित है। कही-कहीं उनमें खडी बोली की भी छटा दिखाई देती है।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवती प्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

शुंभ—शुम्भ का एक राक्षस के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके भाई का नाम निशुम्भ था। शुम्भ दुर्गा के हाथों से मारा गया था ('शिवराज भूषण'—२२) और (दे० 'निशुम्भ')।

—रा० कु०

शुकदेव—शुकदेव महर्षि द्वैपायन (व्यास) के पुत्र थे। ये प्रकाण्ड पण्डित थे। 'भागवत पुराण' के वक्ता यही कहे जाते हैं। इसे इन्होंने राजा परीक्षित को कथा रूप में सुनाया था। इनके जन्म के सम्बन्ध में एक रोचक कथा प्रचलित है। एक बार महादेव पार्वती को ज्ञान की बातें सिखा रहे थे। पास ही खोडर में बैठा एक सुग्गे का अण्डा भी उसे सुन रहा था। धीरे-धीरे अण्डा फूटा और बच्चा निकला, जो शुकपुत्र होने के कारण शुकदेव के नाम से विख्यात हुआ। यह चुपचाप ज्ञान-चर्चा सुनता रहा। इसी बीच पार्वती सो गयीं और वह पार्वती के बदले हूँ-हूँ करता रहा। इस प्रकार शंकर को भ्रमित करके ज्ञान की सारी बातें उसने सुन लीं। अन्त में शंकर को इस रहस्य का ज्ञान हुआ, तब उन्होंने कुपित होकर शुक के पीछे त्रिशूल छोड़ा। शुक बचाव के लिए भागे-भागे घूमे। इसी समय इन्हें व्यास की स्त्री का पूजा के हेतु मुख खुला हुआ दिखाई पड़ा। यह उस मुखद्वार से उनके पेट मे चले गये। कहा जाता है कि बारह वर्षों तक वे उनके पेट में रहे, त्रिशूल घूमता रहा क्योंकि उसे स्त्री-वध निषेध था। व्यास की प्रार्थना पर शंकर ने उसे लौटा लिया। व्यास की स्त्री के पेट से निकलकर उसने जंगल की ओर प्रयाण किया। व्यास उसे अपना पुत्र मानकर लौटाने के लिए दौड़े पर उसने इन्हें उपदेश देकर लौटा दिया और स्वयं जंगल में चला गया। 'भागवत' के भाषानुवादों तथा 'सूरसागर' (दे० प० २२६) आदि में शुक का उल्लेख आया है।

—रा० कु०

शुक्राचार्य—शुक्राचार्य दैत्यों के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। महर्षि भृगु शुक्र के पिता थे। एक समय जब बलि वामन को समस्त भूमण्डल दान कर रहे थे तो शुक्राचार्य बलि को सचेत करने के उद्देश्य से जलपात्र की टोंटी में बैठ गये। जल में कोई व्याघात समझ कर उसे सींक से खोदकर निकालने के यत्न में इनकी आँख फूट गयी। फिर आजीवन वे काने ही बने रहे। शुक्राचार्य की कन्या का नाम देवयानी तथा पुत्र का नाम शंद और अमर्क था। वृहस्पति के पुत्र कच ने इनसे संजीवनी विद्या सीखी थी ('कबीर ग्रन्थावली', ३८७)।

—रा० कु०

शूर्पणखा—लंका के राजा रावण की बहन शूर्पणखा पंचवटी में राम को देखकर मुग्ध हो गयी और उसने राम से विवाह का प्रस्ताव किया। राम ने उसे अपने भाई लक्ष्मण से सम्बन्ध स्थापित करने का परामर्श दिया। वह लक्ष्मण के पास गयी और लक्ष्मण ने क्रुद्ध होकर उसके नाक-कान काट लिये। शूर्पणखा अत्यन्त कुपित और अपमानित होकर रावण के पास गयी। फलतः सीताहरण और राम-रावण युद्ध की घटनाएँ घटित हुईं। 'रामायण', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'साकेत', 'साकेत सन्त', 'पंचवटी' आदि रामकथा-सम्बन्धी काव्य-ग्रन्थों में शूर्पणखा का प्रसग वर्णित हुआ है।

—रा० कु०

श्रृंगारनिर्णय—भिखारीदास ने 'श्रृंगार निर्णय की रचना सन् १७५१ ई० मे अरबर (प्रतापगढ़) में की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति प्रतापगढ़ नरेश के पुस्तकालय में है और इसका प्रकाशन गुलशन-ए-अहमदी प्रेस, प्रतापगढ़ सन् (१८९२ ई०), भारत जीवन प्रेस, बनारस (१८९४ ई०) तथा बिहार बन्धु प्रेस, बाँकीपुर (१८९३ ई०) से हुआ है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है, यह श्रृंगारप्रमुख ग्रन्थ है, जिसमें नायक-नायिका भेद तथा संयोग-वियोग आदि का वर्णन है। इसमें ३२८ पद्य हैं।

लेखक ने मतिराम के 'रसराज' के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की है। वैसे इसमें दास जी की न तो वह विद्वत्ता, जो 'काव्य-निर्णय' में दीख पड़ती है, कहीं प्रकट होती है, न ही किसी गम्भीर अध्ययन की झलक दिखाई देती है। फिर भी काव्य में नायक-नायिका के वर्णन की आवश्यकता तथा पति की अनुकूल स्थिति की उपयोगिता की उन्होंने अच्छी विवेचना की है। दूसरे, उन्होंने नख-शिख का वर्णन न करके नायिका के सौन्दर्य वर्णन द्वारा ही व्याज से नखशिख का वर्णन कर दिया है। इसी प्रकार परकीया नायिका का विभाजन उन्होंने कई आधारों पर किया है, किन्तु स्वकीया के भेद जैसे औरों ने किये हैं,वैसे ही हैं। इन सबका आलम्बन विभाव के अन्तर्गत वर्णन करते हुए उन्होंने विरही के भेदों का विश्लेषण किया है। संयोग श्रृंगार की चर्चा करते हुए उन्होंने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखी, स्थायी आदि के नाम मात्र गिनाकर उदाहरण दे दिये हैं, हावों का भी चलता सा वर्णन कर दिया है। इसी प्रकार वियोग वर्णन में पूर्वानुराग, दर्शन, स्वप्न, छाया, माया, चित्र, श्रुति, विरह, मान और प्रवास तथा इन सभी में विरह की दस दशा मानते हैं। इसके अनुसार निराशा की अन्तिम परिणति ही मृत्यु का कारण होती है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ काव्यशास्त्र की विवेचना की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण नही है, जितना कि 'काव्य-निर्णय'। हाँ, उदाहरण इसमे इतने पर्याप्त हैं कि कहीं-कहीं लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही से काम चला लिया गया है। कविता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का रीतिकालीन ग्रन्थों में प्रमुख स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—ह० मो० श्री०

श्रृंगार संग्रह—इसकी गणन्त श्रृंगार काव्य के प्रसिद्ध संग्रहों में की जाती है। इसके संग्रहकर्ता ललित पुर निवासी सरदार कवि हैं। इसका प्रथम संस्करण फरवरी सन् १८८८ ई० में मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। इसमें १२५ कवियों की सर्वोत्तम रचनाएं संकलित हैं। इनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—कालिदास, केशवदास, पद्माकर, मतिराम बलदेव, सरदार, खानखाना, नारायण दास आदि। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसमें नायिका भेद का विस्तार पूर्वक विवेचन हुआ है और गौण रूप में षट्ऋतु और नखशिख का लालित्यपूर्ण कथन है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक इतिहासकारों का यह एक प्रकार से आधार ग्रंथ रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—श्रृंगार संग्रह—सादमकवि-खड़ी बोली, हिन्दी साहित्य का इतिहास कवि ब्रजरत्नदास]

—कि० ला०

शेख—ब्रजभाषा साहित्य में आलम की स्त्री तथा स्वय एक श्रेष्ठ कवयित्री के रूप में शेख की पर्याप्त मान्यता रही है। आलम के कवित्त-संग्रह 'आलमकेलि' में कतिपय छन्द 'शेख' छाप के भी उपलब्ध होते हैं, जिनकी रचना का श्रेय हिन्दी के अनेक इतिहासकारों द्वारा इन्हीं को दिया गया है। परन्तु 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ' मे 'आलम और रसखान' शीर्षक से प्रकाशित भवानीशंकर याज्ञिक के लेख मे यह मन्तव्य साधार व्यक्त किया गया है कि 'शेख' आलम नाम के पूर्व प्रयुक्त होने वाला जातिसूचक शब्द मात्र है तथा 'शेख' वाले सभी छन्द आलम के ही रचे हुए हैं। उनके मत से शेख को प्रचलित किंवदन्तियों के आधार पर आलम की स्त्री मानना सर्वथा भ्रामक है। शेख को स्वतन्त्र व्यक्ति मानने की परम्परा रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास और उसके आगे तक चली आती है। प्राचीन ग्रन्थों में सूदन कवि की सूची में शेख का नाम मिलता है तथा कालिदास के 'हजारा' में भी शेख के छन्द संगृहीत हैं। नवीन नामक एक कवि की 'कवि नामबद्ध दानलीला' के २१२ कवियों में शेख का नाम सम्मिलित है। शुक्लजी ने आलम का परिचय देते हुए शेख के विषय में लिखा है—"ये जाति के ब्राम्हण थे पर शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम में फंसकर पीछे से मुसलमान हो गये और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। आलम को शेख से जहान नामक एक पुत्र भी हुआ। शेख रंगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी।" इसके पश्चात् उन्होंने निम्नलिखित दोहे से सम्बद्ध किंवदन्ती देते हुए बताया है कि इसका उत्तरार्द्ध शेख द्वारा विरचित है और पूर्वार्द्ध आलमकृत है—"कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन। कटि कंचन को काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन।।"

'शिवसिंह सरोज' के अनुसार आलम को औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम शाह का समकालीन मानते हुए विकसित होने वाली एक अन्य किंवदन्ती भी शुक्ल जी द्वारा दी गयी है—"शेख बहुत ही चतुर और हाजिर जवाब स्त्री थी। एक बार शाहजादा मुअज्जमने हँसी से शेख से पूछा—'क्या आलम की औरत आप ही हैं?' शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहाँ पनाह! जहान की माँ मैं ही हूँ।"

इन किंवदन्तियों से शेख की काव्य-क्षमता तथा प्रत्युत्पन्नमति का जो परिचय मिलता है, उसके द्वारा एक सजीव प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व का आभास मिलता है। ब्रजभाषा काव्य-प्रेमियों ने 'आलमकेलि' के नेत्रविषयक "लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात है", जैसी चमत्कारिक पंक्तियों वाले अनेक सशक्त कवित्तों की रचना का श्रेय ही शेख को नहीं

दिया, वरन् 'आलम' छाप वाले कवित्तों में भी कौन कौन सी पंक्ति शेख की जोड़ी हुई है, इसका लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ "प्रेम रंग पगे जगमगे" से आरम्भ होने वाले कवित्त का अन्तिम चरण "चाहत हैं उड़िबे को, देखत मयंक मुख, जानत हैं रैनि ताते ताहि में रहत हैं" शेखकृत बताया जाता है कि शुक्ल जी ने इसका भी उल्लेख किया है।

शेख के अस्तित्वसम्बन्धी विश्वास की इस विकसित एवं परिपक्व स्थिति में याज्ञिक का पूर्वोक्त मन्तव्य सहसा एक अविश्वसनीय विडम्बना जैसा प्रतीत होता है परन्तु उनके द्वारा दिये गये तर्कों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यही धारणा बनती है कि कदाचित् शेखविषयक समस्त प्रचलित विवरण निराधार हैं और वास्तव में शेख नामक कोई कवयित्री ऐसी नहीं हुई, जिसका आलम से पृथक् अस्तित्व प्रमाणित किया जा सके। उनके द्वारा तीन प्रमुख कारण दिये गये हैं—१. शेख नाम किसी स्त्री का होना असंगत जान पड़ता है। २. शेख शब्द मुसलमानों के एक समुदाय विशेष का द्योतक है। ३. 'आलमकेलि' की प्राचीन हस्तप्रतियों के आदि अन्त में "शेख आलमकृत" शब्दों का स्पष्ट प्रयोग।

एक हस्तप्रति के आरम्भ में 'कवित्त सेषसाई' भी लिखा मिलता है, जिससे सर्वथा यह स्पष्ट हो जाता है कि शेख शब्द आलम के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्ष रूप में याज्ञिक का कथन इस प्रकार है कि "शेख और आलम एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। शेख तथा आलम छापयुक्त छन्द सभी प्रतियों में ऐसे घुले-मिले हैं और उनके भाव, भाषा आदि इतना अधिक साम्य रखते हैं कि दोनों प्रकार के छन्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता।....कुछ ऐसे छन्द भी हैं, जो आलम अथवा शेख दोनों के नाम से भिन्न-भिन्न प्रतियो में मिलते हैं। यदि एक प्रति में आलम छाप है तो दूसरी में वही छन्द कुछ पाठ-भेद से शेख के नाम से मिलता है। ये प्रतियाँ प्रामाणिक हैं।" लेखक ने ऐसे अनेक कवियों के नाम भी गिनाये हैं, जिन्होंने एक से अधिक छाप देकर काव्य-रचना की है, अतएव शेख और आलम को एक ही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है (दे० 'आलम')।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; आलम और रसखान : भवानीशंकर याज्ञिक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ)।]

—ज० गु०

शेख तकी—कबीर पन्थी मुसलमानों के अनुसार कबीर ने विख्यात मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी, लेकिन इसमें संशय है। यह अवश्य है कि शेख तकी के सत्संग से इन्होंने लाभ उठाया था। "घट-घट हैं अविनासी सुनहु तकी तुम सेख" से शेख तकी की गुरुता नहीं टपकती, समानता अवश्य प्रकट होती है (दे० 'कबीर')।

—मो० अ०

शेखनिसार—वास्तविक नाम गुलाम अशरफ था। इनके पिता शेख गुलाम मुहम्मद फैजाबाद के शेखपुर गांव के रहने वाले थे। ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में नवाब शेख निसार ने 'यूसुफ जुलेखा' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके पूर्व कासिम शाह ने 'हंस जवाहर' नामक सूफी प्रेमाख्यानक की रचना की थी। जिसे आधार मानकर ही निसार ने अपने ग्रन्थ का नाम 'यूसुफ जुलेखा' रखा। इस ग्रन्थ में प्रेमी यूसूफ को नाम पहले और प्रेमिका जुलेखा का नाम बाद में है। इस काव्य के नायक-नायिका काल्पनिक नहीं हैं। यूसूफ का वृतान्त कुरान में आया है, 'कुरान' का बारहवां सूरा 'सूरा यूसूफ' के नाम से पुकारा जाता है। कुरान शरीफ के उसी यूसूफ नामक व्यक्ति की प्रेम-कथा निसार ने अपने काव्य 'यूसूफ जुलेखा' में लिखी है। मसनवी शैली में लिखित इस कृति में आसफुद्दौला की प्रशंसा भी की गयी है, क्योंकि उन दिनों वही शाहे वक्त थे। 'यूसूफ-जुलेखा' की भाषा जनपदीय अवधी है और कथानक में अलौकिकता की भरमार है। शीरीं-फरहाद और लैला मजनूं की भाँति 'यूसूफ-जुलेखा' का कथानक भी प्रेम परक है। जुलेखा ने स्वप्न में यूसूफ को देखा था। इस पर उसकी जो दशा हुई, उसे कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

दिन भर मौन गहे रहे, भूख प्यास गई भूल।
पान खाइ न रस पियै, कॉट भये सब फूल।।
भूषन रतन उतारि जो डारा। दुख दायक भई सभै सिंगारा।
मनं मँह सोच करै मुरझाई। लैगा प्रान सरूप देखाई।
नाउँ ठाउँ कछु जानौं नाहीं। कहाँ सो खोज करौं जग माहीं।

शेख निसार ने अर्द्धालियो के बाद एक दोहा लिखने का क्रम अपना निजी ही रखा है। उन्होंने पाँच अथवा सात अर्द्धालियों के बाद दोहा लिखा है। शेष वर्णन पद्धति मसनवी शैली का ही अनुसरण करती है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के क्षेत्र में वे प्रायः बनी बनायी सीधी पगडण्डी पर ही चले हैं। जायसी की भाँति नवीन उद्भावनाएँ उनमें नहीं मिलती हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास-नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (षष्ठ भाग)]

कृ० श० पा०

शेखर—दे० 'शेखर : एक जीवनी'।

शेखर : एक जीवनी—लेखक : सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। यह उपन्यास "घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विजन' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।" लेखक के शब्दों में "शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है.....यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है।" पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय नवजागरण का वह युग है, जो ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध सिर उठा चुका था—कहीं क्रान्तिकारियों के खुले विद्रोह के रूप में, कहीं गान्धी के अहिंसात्मक आन्दोलन के रूप में। शेखर का विकास एक क्रान्तिकारी का विकास दिखाया गया है, जो घर की अनुचित रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह से आरम्भ करता है और विदेशी शासन को चुनौती देने के अभियोग में मृत्यु दंड तक की सम्भावना को जीता है। सम्भावित मृत्यु की उस भयानक रात में जब वह बन्दी बनाकर लाया जाता है, वह अपने सारे अतीत को कल्पना में पुनः जीता है। शेखर मानसिक यातना के जिन कातर क्षणों में अपने पिछले जीवन को विचारता है, उसकी उदास छाया बराबर कथानक पर पड़ती रहती है। उपन्यास में चित्रित घटनाएँ असाधारण नहीं, असाधारण हैं शेखर की वह पीड़ित मनः स्थिति, जो उसके अनायास नष्ट हो जाते जीवन को कोई विशेष अर्थ देने का प्रयत्न करती है।

शेखर, भाग १—(१९४० ई०) में शेखर का बचपन से

लेकर कालेज तक का विद्यार्थी जीवन विचित्र है। शेखर का विकास मुख्यतः चरित्रों के आधार पर होता है—घटनाओं के आधार पर कम, इसीलिए शायद उपन्यास में घटनाओं की अपेक्षा चरित्र ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषकर स्त्री-पात्र। शेखर के पिता को छोड़कर और कोई पुरुष-पात्र इतना सशक्त नहीं, जो उसके चरित्र को विशेष प्रभावित कर सके। स्त्री पात्रों में उसकी मौसी की लड़की शशि, उसकी माँ, बहन सरस्वती तथा घर के दायरे से बाहर शारदा—कुछ ऐसी प्रेरणाएँ हैं, जो शेखर को अपना सही व्यक्तित्व खोजने में प्रोत्साहित करती हैं। छोटी-छोटी तमाम घटनाओं द्वारा शेखर की उस विद्रोह-प्रधान प्रवृत्ति का विकास दिखाया गया है, जो क्रमशः उसे निर्भयता और आत्मविश्वास की ओर ले जाती है। बचपन में जहाँ उस पर माँ का प्रभाव मुख्यतः ध्वंसात्मक है, वहाँ सरस्वती का प्रभाव अधिक सान्त्वनामय। इसी प्रकार माता और पिता के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए लेखक एक स्थान पर कहता है : "पिता आवेश में आततायी थे, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय। पिता का क्रोध जब बरस जाता था, तब शेखर जानता था कि हम फिर सखा हैं; माँ जब कुछ नहीं कहती थी तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है।" शारदा शेखर के वयः सन्धिकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, जो उसमें प्रेम और विरह की पहली वेदना को जगाती है। मद्रास में उसका होस्टल-जीवन मुख्यतः कुमार, सदाशिव, राघवन् आदि के सम्पर्क में बीतता है पर वे शेखर में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं ला पाते और हम उपन्यास के अन्त में एक उतने ही अकेले और क्षुब्ध किन्तु अधिक प्रौढ़ शेखर को मद्रास से घर लौटते देखते हैं।

शेखर भाग २– (१९४४ ई०) में कथा की मूल प्रेरणा शशि है—शेखर की मौसी की लड़की। कांग्रेसी वालण्टियर शेखर की गिरफ्तारी तथा जेल में आजीवन बन्दी बाबा मदन सिंह, उद्दण्ड मोहसिन तथा निडर हत्यारा राम जी कुछ ऐसे असाधारण व्यक्तित्व हैं, जिनका सम्पर्क शेखर के विचारों को गहराई से आन्दोलित करता है। शशि का रामेश्वर से विवाह तथा शेखर को लेकर रामेश्वर का शशि पर सन्देह और उसका परित्याग आगे की कथा की मूल घटनाएँ हैं, जो शेखर और शशि के बीच एक नये सम्बन्ध को जन्म देती हैं—ऐसा सम्बन्ध, जिसका आधार एक दूसरे पर अधिकार नहीं एक दूसरे के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना है।

'अज्ञेय' की कृतियों में 'शेखर—एक जीवनी' का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं क्योंकि वह न केवल 'अज्ञेय' को एक प्रमुख उपन्यासकार के रूप में स्थापित करती है, बल्कि आत्मकथात्मक शैली तथा मनोविश्लेषणात्मक पद्धति—दो ऐसी प्रवृत्तियाँ सामने लाती है, जो हिन्दी में नयी थीं। पिछले उपन्यासों से 'शेखर' इस अर्थ में भी भिन्न है कि उसमें व्यक्ति को भी उतनी ही बड़ी विचारणीय समस्या माना गया है, जितना प्रेमचन्द-युग में समाज को।

लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से गण्य तथा काफी प्रसिद्ध होते हुए भी 'शेखर' शायद क्लासिक्स के स्तरतक नहीं पहुँचता। लगता है कि 'शेखर' के निर्माण के पीछे सच्ची प्रेरणा और उत्साह तो है पर उसमें आवश्यक परिपक्वता की कमी है उपन्यास के निर्वाह में भावुकता का एक तेज रोमाण्टिक बहाव है, वह स्थिर गहराई नहीं, जो एक प्रथम कोटि की कृति में होना चाहिये। जगह-जगह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्थल तथा तीक्ष्ण अनुभूतियाँ हैं, जो आकर्षित करते हैं, लेकिन वे ऐसी सजीव परिस्थितियों या चरित्रों के संघर्ष से उत्पन्न नहीं जान पड़ते कि मन पर कोई स्थायी प्रभाव छोड़ सकें—कथानक के हल्के ताने-बाने पर ऊपर से टँके हुए लगते हैं। शेखर का आत्म-चिन्तन इतना आत्म-केन्द्रित है कि उसके अतिरिक्त उपन्यास में अन्य कोई चरित्र विकसित नहीं हो पाता। अन्य चरित्र शेखर की स्मृति में घटनाओं की ही तरह घटित होते है, जीवित नहीं हो पाते। वह अपनी सारी संवेदनशीलता से अपने को देखता है, अपने से बाहर नहीं—मानो सारा बाह्य जगत् केवल उसकी अपेक्षा है, उसके बावजूद नहीं। यह कहना कि 'शेखर' मुख्यतः "एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है" इस दायित्व की अवहेलना नहीं कर सकता कि वह उपन्यास भी है—शायद सबसे पहले उपन्यास ही है—और उसकी सफलता या असफलता उन तत्त्वों पर भी निर्भर है, जिनके आधार पर इस ढंग के उपन्यासों का मूल्यांकन होता है। 'शेखर' की विशिष्टता मूलतः उस दृष्टिकोण के सशक्त चित्रण में है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के आत्म विश्वास तथा उसकी निडर जिज्ञासा से है।

—कुं० ना०

शैव्या—शैव्या राजा हरिश्चन्द की स्त्री और रोहिताश्व की माता थीं। इन्हें अपने एक पुत्र के साथ ब्राह्मण के घर बिकना पड़ा था। वहाँ एक सर्प ने इनके पुत्र को काट लिया। शैव्या अपने पुत्र का शव लेकर उसी श्मशान पर पहुँची, जहाँ हरिश्चन्द्र डोम का काम कर रहे थे। उन्होंने शैव्या से कफन माँगा किन्तु कफन न होने के कारण उन्होंने अपनी साड़ी फाड़कर दी। मतान्तर से हरिश्चन्द्र मारने जा रहे थे, तब तक विश्वामित्र और इन्द्र ने आकर पुत्र को जीवित कर और पुनः उन्हें राजा बनाकर पूर्ववत् कर दिया। हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा की यह कथा उनके आदर्श व्यक्तित्व की प्रमाण है।

—रा० कु०

शोभा कवि—ये भरतपुर के महाराज नवलसिंह के आश्रित कवि थे। इनका समय १७५९ ई० के आसपास ठहरता है। इनका 'नवल रस चन्द्रिका' नामक रस विषय पर लिखा हुआ ग्रन्थ प्राप्त है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के याज्ञिक संग्रह में इसकी एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है।

—सं०

शौनक—यह एक ऋषि थे। व्यास द्वारा कही गई कथा को इन्होंने भी सुना था। सूत से इस कथा को सुनकर ये अत्यन्त अभिभूत हुए थे और कृष्ण के प्रति इनका हृदय भक्ति से आप्लावित हो उठा था। अट्ठासी हजार शौनकों में यह सबसे प्रसिद्ध कहे जाते हैं (सू० सा० पद २२८)।

—रा० कु०

श्यामनारायण पांडेय—जन्म तिथि श्रावण कृष्ण पंचमी सम्वत् १९६४, ईसवी सन् १९०७ ई० ग्राम डुमराँव, मऊ,

आजमगढ़ (उ० प्र०)। आरम्भिक शिक्षा के बाद आप संस्कृत अध्ययन के लिए काशी आये। साहित्याचार्य की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। स्वभाव से सात्त्विक, हृदय से विनोदी और आत्मा से परम निर्भीक स्वभाव वाले पाण्डेय जी के स्वस्थ्य-पुष्ट व्यक्तित्व में शौर्य, सत्त्व और सरलता का अनूठा मिश्रण है। संस्कार द्विवेदीयुगीन, दृष्टिकोण उपयोगितावादी और भाव-विस्तार मर्यादावादी है। लगभग दो दशकों से ऊपर वे हिन्दी कवि-सम्मेलनों के मंच पर अत्यन्त लोकप्रिय एवं समादृत रहे हैं। इन्होंने आधुनिक-युग में वीर-काव्य की परम्परा को खड़ीबोली में प्रतिष्ठित किया है।

'हल्दी घाटी (१९३७-३९ ई०), 'जौहर' (१९३९-४४ ई०), 'तुमुल' (१९४८ ई०), 'रूपान्तर' (१९४८ ई०), 'आरती' (१९४५-४६ ई०), 'जय हनुमान' (१९५६ ई०) उनकी प्रमुख प्रकाशित काव्य-पुस्तकें हैं। 'माधव', 'रिमझिम', 'आँसू के कण' और 'गोरा वध' उनकी प्रारम्भिक लघु-कृतियाँ हैं। 'तुमुल' नामक पुस्तक 'त्रेता के दो वीर' नामक खण्ड-काव्य का ही परिवर्धित संस्करण है। 'परशुराम' अप्रकाशित काव्य है तथा 'वीर सुभाष' रचनाधीन ग्रन्थ है। उनके संस्कृत में लिखे कुछ काव्य-ग्रन्थ भी अप्रकाशित ही हैं। 'हल्दी घाटी' महाराणा प्रताप और अकबर के बीच हुए प्रसिद्ध ऐतिहासिक युद्ध पर लिखा गया महाकाव्य प्रबन्ध है। प्रताप के इतिहास-प्रसिद्ध शौर्य, त्याग, आत्म बलिदान, स्वातन्त्र्य-प्रेम एवं जातीय-गौरव भाव को प्रेरक आधार बनाते हुए कवि ने मध्यकालीन राजपूती मूल्यों को अत्यन्त श्रद्धा, सम्मान, सहानुभूति और पूजा के छन्दपुष्प अर्पित किये हैं। वीर-पूजा इस काव्य की सत्प्रेरणा और जातीय गौरव का उद्‌बोधन इसका लक्ष्य है। भाषा नाद से आगे बढ़कर भावोत्साह की दृष्टि से कवि ने रचना को रसमय बनाया है। यहाँ भाषा-नाद और आन्तर भाव का सामंजस्य कवि-कला की नूतनता का प्रमाण है। बीच-बीच में सुन्दर प्रकृति-वर्णनों की उत्फुल्ल योजना हुई है। भाषा तत्समप्रधान होकर भी प्रवाहमय और बोलचाल में उर्दू शब्दों को अपनाती चली है। तलवार, घोड़ा, बर्छे आदि के फड़का देने वाले वर्णन अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। ग्रन्थ में कुल १७ सर्ग हैं। इस रचना पर 'देव पुरस्कार' भी मिला है। 'जौहर' पाण्डेय जी का द्वितीय महाकाव्य है। कुल २१ चिनगारियों का यह प्रबन्ध चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी को कथाधार बनाकर रचा गया है। इस ग्रन्थ में वीर-रस के साथ करुण का भी गम्भीर पुट है। 'जौहर' की कहानी राजस्थान के इतिहास के लोमहर्षक आत्म-बलिदान की ज्वलन्त कथा है। उत्साह और करुणा, शौर्य और विवशता, रूप और नश्वरता, भोग और आत्म-सम्मान के भावों के प्रवाह काव्य को हर्ष और विषाद की अनोखी गहनता प्रदान करते हैं। 'जौहर' में पाण्डेय जी ने एक मौलिक वीर-रस शैली का उद्‌घाटन किया है। छन्दों में 'हल्दी घाटी' से अधिक वेग एवं भावानुकूल गति है। डोले का वर्णन एवं चिता-वर्णन की चिनगारियाँ अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी हैं। लोक-छन्दों के सहारे नवीन लयों एवं गतियों को पकड़ने का सफल प्रयास स्तुत्य है।

—श्री० सिं० क्षे०

श्यामलाल 'पार्षद'—जन्म सन् १८९६ ई० (भाद्र कृष्ण ४, संवत् १९५३ वि०)। प्रसिद्ध राष्ट्रगान 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' के लेखक। यह राष्ट्रगान १९२४ ई० में लिखा गया। १९२५ ई० में कानपुर कांग्रेस के समय ध्वजोत्तोलन पर यह प्रथम बार गाया गया। तब से १९४७ ई० तक प्रायः यही राष्ट्रगान के रूप में प्रमुख राष्ट्रीय उत्सवों पर गाया जाता रहा। अपने मूल रूप में गान काफी लम्बा था, जिसे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने काट-छाँट कर सम्पादित किया।

—सं०

श्यामसुंदर दास—जन्म सन् १८७५ ई०, काशी में। मृत्यु सन् १९४५ ई०। इनके पूर्वज लाहौरनिवासी थे और पिता काशी में कपड़े का व्यापार करते थे। इन्होंने १८९७ ई० में बी० ए० पास किया था। १८९९ ई० में हिन्दू स्कूल में कुछ दिनों तक अध्यापक थे। उसके बाद लखनऊ के कालीचरन स्कूल में बहुत दिनों तक हेडमास्टर रहे। सन् १९२१ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए।

प्रारम्भ से ही हिन्दी के प्रति आपकी अनन्य निष्ठा थी। नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना (१६ जुलाई, सन् १८९३ ई०) आपने विद्यार्थी-काल में ही अपने दो सहयोगियों रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिव कुमार सिंह की सहायता से की थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आने के पूर्व आपने हिन्दी-साहित्य की सर्वतोमुखी समृद्धि के लिए न्यायालयों में हिन्दी-प्रवेश का आन्दोलन (१९०० ई०), हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (१८९९ ई०), 'हिन्दी शब्द सागर' का सम्पादन (१९०७ ई०), आर्य भाषा पुस्तकालय की स्थापना (१९०३ ई०), प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन सभा-भवन का निर्माण (१९०२ ई०), 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन (१९०० ई०) तथा शिक्षास्तर के अनुरूप पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण-कार्य आरंम्भ कर दिया था। निश्चित योजना और अदम्य उत्साह के अभाव में अनेक दिशाओं में एक साथ सफलतापूर्वक कार्य आरम्भ करना सम्भव नहीं था।

ये आजीवन एक गति से साहित्य-सेवा में रत रहे। इनकी साहित्य-कृतियाँ हैं—

मौलिक कृतियाँ : 'नागरी वर्णमाला (१८९६ ई०), 'हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों का वार्षिक खोज विवरण' (१९००-१९०५ ई०), 'हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (१९०६-१९०८ ई०) का प्रथम त्रैवार्षिक विवरण' (१९१२ ई०) 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' भाग १, २ (१९०९ ई०), 'साहित्यालोचन' (१९२३ ई०), 'भाषा विज्ञान' (१९२४ ई०), 'हिन्दी भाषा का विकास' (१९२४ ई०), 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण' (१९२३), 'गद्य कुसुमावली' (१९२५), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१९२७ ई०), 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३० ई०), 'गोस्वामी तुलसीदास' (१९३१), 'रूपक रहस्य' (१९३१ ई०), 'भाषा रहस्य' भाग १ (१९३५ ई०), 'हिन्दी गद्य के निर्माता' भाग १, २ (१९४० ई०), 'मेरी आत्म कहानी' (१९४२ ई०)।

सम्पादित ग्रन्थ—'चन्द्रावली' अथवा 'नासिकेतोपाख्यान' (१९०१ ई०), 'छत्र प्रकाश' (१९०३ ई०), 'रामचरितमानस' (१९०४ ई०), 'पृथ्वीराज रासो' (१९०४

ई०), 'हिन्दी वैज्ञानिक कोश' (१९०६ ई०), 'वनिता विनोद' (१९०६), 'इन्द्रावती भाग १ (१९०६), 'हम्मीर रासो' (१९०८), 'शकुन्तला नाटक' (१९०८), 'प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की लेखावली' (१९११), 'बाल विनोद' (१९०८), 'हिन्दी शब्द सागर' खण्ड १-४ (१९१६), 'मेघदूत' (१९२०), 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली' (१९२१), 'परमाल रासो' (१९२१), 'अशोक की धर्मलिपियाँ (१९२३), 'रानी केतकी की कहानी' (१९२५), 'भारतेन्दु नाटकावली' (१९२७), 'कबीर ग्रन्थावली' (१९२८), 'राधाकृष्ण ग्रन्थावली' (१९३०), 'सतसई सप्तक' (१९३३), 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' (१९३३), 'रत्नाकर' (१९३३), 'बाल शब्द सागर' (१९३५), 'त्रिधारा' (१९४५), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१-१८ भाग), 'मनोरंजन पुस्तक माला' (१-५० सख्या), 'सरस्वती' (१९०० ई० तक)।

संकलित ग्रन्थ—'मानस सूक्तावली' (१९२०), 'संक्षिप्त रामायण' (१९२०), 'हिन्दी निबन्ध माला' (भाग १-२, (१९२२ ई०), 'संक्षिप्त पद्मावत' (१९२७), 'हिन्दी निबन्ध रत्नावली' भाग १ (१९४१)।

पाठ्य पुस्तकें (संग्रह)—'भाषा सार संग्रह' भा० १ (१९०२ ई०), 'भाषा पत्र बोध' (१९०२ ई०), 'प्राचीन लेख मणिमाला' (१९०३ ई०), 'आलोक चित्रण' (१९०२ ई०), 'हिन्दी पत्र लेखन' (१९०४ ई०), 'हिन्दी प्राइमर' (१९०५ ई०), 'हिन्दी की पहली पुस्तक' (१९०५ ई०), 'हिन्दी ग्रामर' (१९०६), 'गवर्नमेंट ऑव इण्डिया' (१९०८), 'हिन्दी संग्रह' (१९०८), 'बालक विनोद' (१९०८), 'सरल संग्रह' (१९१९), 'नूतन संग्रह' (१९१९), 'अनुलेख माला' (१९१९), 'नयी हिन्दी रीडर' भाग ६, ७ (१९२३), 'हिन्दी संग्रह' भाग १, २ (१९२५), 'हिन्दी कुसुम संग्रह' भाग १, २ (१९२५), 'हिन्दी कुसुमावली' (१९२७), 'हिन्दी प्रोज सेलेक्शन' (१९२७), 'साहित्य सुमन' भाग १-४ (१९२८), 'गद्य रत्नावली' (१९३१), 'साहित्य प्रदीप' (१९३२), 'हिन्दी गद्य कुसुमावली' भाग १, २ (१९३६), 'हिन्दी प्रवेशिका पद्यावली' (१९३९), 'हिन्दी गद्य संग्रह' (१९४५), 'साहित्यिक लेख' (१९४५ ई०)।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त आपके विभिन्न विषयों पर लिखे गये स्फुट निबन्धों और विभिन्न सम्मेलनों के अवसर पर दी गयी वक्तृताओं की सम्मिलित संख्या ४१ है। इस विस्तृत सामग्री का अनुशीलन करने से स्पष्ट है कि आपकी सतर्क दृष्टि हिन्दी के समस्त अभावों को लक्ष्य कर रही थी और आप पूरी निष्ठा से उन्हें दूर करने में प्रयत्नशील थे। वस्तुतः आप बहुत अच्छे प्रबन्धक थे। आपने विविध क्षेत्रों में हिन्दी के अभावों की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर देने की चेष्टा की है। इसलिए आप पूरी शक्ति का प्रयोग किसी एक क्षेत्र में नहीं कर सके हैं। इसलिए लेखक के रूप में, आलोचक के रूप में, सम्पादक के रूप में, काव्यकृतियों और सिद्धान्तों के व्याख्याता के रूप में या भाषा-तत्त्ववेत्ता के रूप में, चाहे जिस रूप में देखा जाय, सर्वत्र यही स्थिति है किन्तु इससे आपका महत्त्व या मूल्य कम नहीं होता है। कृति का मूल्य बहुत कुछ उसमें निहित रचनाविवेक और दृष्टिकोण पर आधृत होता है। "हिन्दी आलोचना का सैद्धान्तिक आधार संस्कृत और अंग्रेजी दोनों की काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं के समन्वय से प्रस्तुत होना चाहिए; हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण में कवियों के इतिवृत्त के साथ युगानुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन तथा काव्य और कला में तात्त्विक एकता होने के कारण, काव्य-विकास के साथ कला-विकास का अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए; सम्पादन में कृतियों की प्राचीनतम प्रति को प्रामाणिक मानकर चलना चाहिए; हिन्दी भाषा के विद्यार्थी को अन्य भाषाओं का सामान्य परिचय और हिन्दी के ऐतिहासिक विकास का ज्ञान होना चाहिये।"—रचना और अध्ययन का यह विवेक श्यामसुन्दरदास की बहुत बड़ी देन है। अभावों की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति को लक्ष्य में रखकर नियोजित ढंग से होनेवाले निर्माण-कार्य में व्यापकता, वैविध्य और स्थूल उपयोगिता का दृष्टिकोण ही प्रधान होता है। आपके सामने भी यही दृष्टिकोण था, इसीलिए आपमें मौलिकता और गहराई का अपेक्षाकृत अभाव है। व्यक्ति का मूल्य युग की सापेक्षता में ही आँका जाना चाहिये। आपकी बुद्धि विमल, दृष्टि साफ, हृदय उदार और दृष्टिकोण समन्वयवादी था। क्या साहित्य और क्या भाषा, सभी के संघटन में आपने औचित्य और सामंजस्य का ध्यान रखा है। हिन्दी भाषा के संघटन के सम्बन्ध में विचार करते हुए आपने हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों को भी ग्रहण करने की बात कही है, किन्तु वरीयता के क्रम से पहला स्थान शुद्ध हिन्दी शब्दों को, दूसरा संस्कृत के सुगम शब्दों को और तीसरा फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को दिया है। भाषासम्बन्धी यह दृष्टिकोण सभी विवेकशील व्यक्तियों को मान्य है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में भी आप सामंजस्य को लेकर चले हैं। इसीलिए आपकी आलोचना पद्धति में ऐतिहासिक व्याख्या, विवेचना, तुलना, निष्कर्ष, निर्णय आदि अनेक तत्त्व सन्निहित हैं। विदेशी साहित्य के प्रभाव से आक्रान्त हिन्दी जनता को आप जैसे उदार, विवेकशील, सतर्क, कर्मठ, स्वाभिमानी और समन्वयवादी नेता के कुशल नेतृत्व की ही आवश्यकता थी।

अपने जीवन के पचास वर्षों में अनवरत रूप से हिन्दी की सेवा करते हुए आपने उसे कोश, इतिहास, काव्यशास्त्र, भाषा विज्ञान, शोधकार्य, उपयोगी साहित्य, पाठ्य-पुस्तक और सम्पादित ग्रन्थ आदि से समृद्ध किया, उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा की, उसकी आवाज को जन-जन तक पहुँचाया, उसे खण्डहरों से उठाकर विश्वविद्यालयों के भव्य-भवनों में प्रतिष्ठित किया। वह अन्य भाषाओं के समकक्ष बैठने की अधिकारिणी हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आपको 'साहित्य वाचस्पति' और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने 'डी० लिट्०' की उपाधि देकर आपकी सेवाओं का महत्त्व स्वीकार किया।

—रा० चं० ति०

श्रद्धा—प्रसादकृत 'कामायनी' की प्रधान पात्र। काम गोत्र की होने के कारण उसका नाम कामायनी भी है, जिसके आधार पर प्रसाद की रचना का नामकरण हुआ है।

बुद्धिवाद की अतियों से ग्रस्त और विक्षुब्ध आधुनिक संसार को सन्देश देने के लिए श्रद्धा के माध्यम से प्रसाद ने मन की संकल्पात्मक वृत्ति का महत्त्व प्रतिपादित करना चाहा है। बुद्धि

या तर्क की विचारात्मक वृत्ति मनुष्य के लिए अधूरी है, जबतक कि उसे श्रद्धा का निर्देशन नहीं मिलता।

श्रद्धा की प्रतीकात्मक स्थिति के अतिरिक्त उसका अपना चरित्र-चित्रण प्रसाद की कला की अनुपम उपलब्धि है। श्रद्धा के माध्यम से प्रसाद ने भारतीय नारी की मौलिक वृत्तियों को रूपाकार प्रदान किया है। मनु द्वारा प्रवंचित और तिरस्कृत होने पर भी वह अपनी क्षमा और त्याग की वृत्तियों को नहीं छोड़ती। श्रद्धा मूलतः माँ है, जब कि इड़ा को प्रेयसी के रूप में चित्रित किया गया है। भारतीय व्यवस्था में माँ के गौरव के समक्ष प्रेयसी का आकर्षक व्यक्तित्व कहीं नहीं ठहरता। श्रद्धा और इड़ा के सौन्दर्य वर्णन में भी कवि ने इस अन्तर को बराबर ध्यान में रखा है। श्रद्धा का रूप-सौन्दर्य मनु के दुःखी और चिन्तित मन को शान्ति प्रदान करता है। इड़ा के व्यक्तित्व का आकर्षण मनु को उत्तेजित और आन्दोलित कर देता है। यहीं पर मन की संकल्पात्मक और विकल्पात्मक वृत्तियों का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है, श्रद्धा और इड़ा क्रमशः जिनकी प्रतीक हैं।

—सं०

श्रद्धानंद स्वामी—जन्म सन् १८५६ ई०, जालन्धर (पंजाब) में। इनका पहला नाम मुंशीराम था। जीवन के आरम्भ में स्वामी दयानन्द के प्रभाव में आये और उनके कार्यक्रम को अपनाया। कांग्रेस में सम्मिलित होकर नेतृत्व किया। जीवन के उत्तर-काल में शुद्धि-आन्दोलन में जी-जान से लग गये और इसी कारण धर्मांध मुसलमान उनसे चिढ़ गये। २३ दिसम्बर, १९३६ ई० को अब्दुल रसीद नामक एक उत्तेजित मुस्लिम युवक ने स्वामीजी पर, जब वे डबल निमोनिया से बीमार शैय्या पर लेटे थे, तीन बार गोली चलाकर उनके भौतिक जीवन का अन्त कर दिया।

स्वामी श्रद्धानन्द ने पंजाब और दिल्ली में शिक्षा तथा हिन्दी-प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वे अंग्रेजी के पठन-पाठन और पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के विरोधी थे। स्त्री-शिक्षा के समर्थक होने के कारण १८९१ ई० में जालन्धर कन्या महाविद्यालय की स्थापना की।

स्वामी श्रद्धानन्द पहले वकील थे। इन्हें उर्दू का अच्छा ज्ञान था और इस भाषा के वे प्रभावशाली लेखक थे, किन्तु सार्वजनिक जीवन में पर्दापण करने पर उन्होंने हिन्दी में बोलना और लिखना आरम्भ कर दिया, उर्दू का उपयोग केवल वकालत के काम तक ही सीमित रखा। उर्दू में निकलनेवाला 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। अपने साप्ताहिक उपदेश तथा शिक्षा और राजनीति सम्बन्धी लेख भी हिन्दी में लिखने लगे। जो ओज और प्रभाव उर्दू में था, उसी का दर्शन, उनके हिन्दी लेखों और भाषणों में भी हुआ। उन्होंने हिन्दी भाषा जनता के लिए सीखी और जन-मानस तक पहुँचने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपयोग किया। संस्कृत के अध्ययन और अंग्रेजी के ज्ञान के साथ-साथ पंजाबी मातृभाषा होने के कारण उनकी भाषा में तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ। स्वामीजी के संरक्षण में 'विजया' नामक हिन्दी दैनिक भी निकला, जिसके सम्पादक उनके सुपुत्र इन्द्र जी थे। आपने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी कहानी लिखी थी, जो सन् १९२४ ई० में ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी से प्रकाशित हुई थी।

—ज्ञा० द०

श्रद्धाराम फुल्लौरी—सन् १८६३ ई० से इनका नाम एक व्याख्यानदाता और कथाकार के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इनके व्याख्यान बहुत विद्वतापूर्ण और प्रभावशाली होते थे। पंजाबी तथा उर्दू में कुछ पुस्तकों की रचना करने के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी में अपना सिद्धान्त ग्रन्थ 'सत्यामृत प्रवाह' लिखा। सन् १८६७ ई० में इनहोंने 'आत्म चिकित्सा' नामक एक आध्यात्मिक पुस्तक लिखी और उसे सन् १८७१ ई० में हिन्दी में अनूदित करके प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त 'तत्त्व दीपक', 'धर्म रक्षा', 'उपदेश संग्रह (व्याख्यान संग्रह), 'शतोपदेश' (दोहे) तथा अपना एक बड़ा जीवन-चरित भी लगभग १४०० पृष्ठों में लिखा। सन् १८७७ ई० में इन्होंने 'भाग्यवती' नामक एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा था, जो हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। पंजाब के हिन्दू इन्हें धार्मिक नेता के रूप में मानते थे। इन्होंने अनेक आन्दोलनों का संचालन किया था। एक बार इन्हें सूचना मिली कि जालन्धर के एक पादरी गोकुलनाथ ने कपूरथला के नरेश के हृदय में ईसाई मत के प्रति झुकाव ला दिया है। यह जानते ही वे तुरन्त कपूरथला गये और नरेश की सभी शंकाओं का विद्वत्तापूर्ण समाधान करके उन्हें वर्णाश्रम धर्म की दीक्षा दी। ये पंजाब के विविध स्थलों में भ्रमण करते रहते और रामायण तथा महाभारत आदि की कथाएँ लोगों को सुनाते। इनके कथा सुनने के लिए हजारों आदमी जमा होते थे। इन्होंने अनेक धर्म-सभाओं की स्थापना भी की थी।

—प्र० ना० टं०

श्रवणकुमार—ये मातृ-पितृ भक्त के रूप में विख्यात हैं। ये अंधक मुनि के पुत्र थे। अपने अन्धे माता-पिता को बहँगी पर बिठाकर ढोया करते थे। एक बार वन में अपने माता पिता के लिए जल लेने गये। उसी समय महाराजा दशरथ उस वन में शिकार कर रहे थे। श्रवण कुमार के घड़े भरने की आवाज सुनकर दशरथ ने बाण छोड़ा, जिससे श्रवण आहत होकर गिर पड़े। दशरथ ने देखा तो वह श्रवण निकले। श्रवण ने दशरथ से अन्तिम समय माता-पिता को जल पिलाने की बात कही। दशरथ ने अंधक और उनकी पत्नी को अपने अपराध की कथा सुनायी। उन्होंने जल पीने से इन्कार कर दिया तथा दशरथ को शाप दिया कि तुम्हें भी मेरे समान पुत्र-शोक में प्राण त्यागना पड़ेगा। इसी के फलस्वरूप दशरथ को राम वन गमन पर शोकवश अपना प्राण त्यागना पड़ा था। श्रवण का चरित्र उनकी मातृ-पितृ भक्ति का आदर्श है।

—रा० कु०

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल—जन्म १८९४, मृत्यु १९६८। पालीवाल जी मुख्य रूप से जननेता तथा उपयोगी साहित्य के लेखक और पत्रकार थे। जननेता के रूप में वे कांग्रेस पार्टी और स्वतंत्र पार्टी से सम्बद्ध रहे तथा स्थानीय, प्रान्तीय एवं अखिल भारतीय नेता के रूप में उन्होंने ख्याति प्राप्त की।

पालीवाल जी का महत्त्व इस रूप में प्रकट होता है कि उन्होंने हिन्दी भाषा, हिन्दी पत्रकारिता, और हिन्दी के उपयोगी साहित्य के संवर्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। १९२४ में

उ० प्र० विधान परिषद् के सदस्य बनने पर सदन में हिन्दी में भाषण करने के अपने अधिकार के लिए उन्होंने संघर्ष किया और सफलता प्राप्त की। १९४७ में उ० प्र० के मंत्रिमण्डल में शामिल होने पर हिन्दी को राज्य को राजभाषा बनवाया। इसी प्रकार १९४७ में संविधान निर्मात्री सभा के सदस्य के रूप में हिन्दी को भारत की राजभाषा बनवाने के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हिन्दी-पत्रकारिता को उनकी देन का ऐतिहासिक महत्त्व है। आगरा को हिन्दी-पत्रकारिता का केन्द्र बनाने का श्रेय उन्हीं को है। वे हिन्दी में राष्ट्रीय, निर्भीक, और गंभीर पत्रकारिता के प्रवर्तकों में माने जाते हैं। इस दृष्टि से उनकी गणना बालमुकुन्द गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी और इन्द्र विद्यावाचस्पति के साथ की जाती है। आगरा में उनके द्वारा संस्थापित साप्ताहिक पत्र के लिए 'सैनिक' नाम का चयन उनकी पत्रकारिता के उपर्युक्त तीनों गुणों का साक्षी है। उन्होंने अपना पत्रकार जीवन मासिक 'प्रभा' के सम्पादन से आरंभ किया। पत्रिका का संपादन वे देवदत्त शर्मा के छद्म नाम से करते थे। शीघ्र ही वे गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में आ गए। विद्यार्थी जी से उन्होंने विधिवत् पत्रकारिता की दीक्षा ली और बाद में 'प्रताप' का सम्पादन भी किया। १९२५ में उन्होंने स्वतन्त्र रूप से 'सैनिक' निकालना शुरू किया। इस पत्र को उन्होंने प्राणपण से सींचा। 'सैनिक' और पालीवालजी एक दूसरे के पर्याय समझे जाते हैं।

साहित्यकार के रूप में उनकी देन उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में रही। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे : साम्यवाद (१९१६), 'सेवाधर्म और सेवामार्ग (१९१६), 'हमारा स्वाधीनता संग्राम (१९४५), 'किसानराज (पंचवर्षीय योजना) (१९४५), गाँधीवाद और मार्क्सवाद, गीतामृत, तीन करोड़ की तकदीर किसानों के कष्ट कैसे मिटें, दीन भारत (दादाभाई नौरोजी के लेखों का भावानुवाद), मेरी कहानी (जवाहरलाल नेहरु की आत्मकथा का हरिभाऊ उपाध्याय के साथ मिलकर अनुवाद), अमरपुरी (१९२५) (हालकेन के उपन्यास 'इटरनल सिटी' का अनुवाद)।

विषय का विवेचन-विश्लेषण करने वाले प्रसंगों में पालीवालजी की चिन्तन-शक्ति और शास्त्रज्ञान के दर्शन होते हैं। ये प्रसंग वे हैं जिनमें उन्होंने राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं की सैद्धान्तिक चर्चा प्रस्तुत की है। ऐसे प्रसंगों में उनकी भाषा संस्कृत शब्दबहुल हो उठती है। संस्कृत भाषा के उद्धरणों और हिन्दी की कहावतों का वे उपयुक्त प्रयोग करते हैं। शब्दसमूह में प्रसंगप्राप्त तथा अन्य शास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग रहता है जिससे विश्लेषण में स्पष्टता आती है। अनेक स्थलों पर पालीवाल जी विवरणात्मक शैली का प्रयोग करते हैं। किसानों की अवस्था के वर्णन में यह शैली मिलती है। इन प्रसंगों में विषयसम्बन्धी सूचना, आँकड़े आदि होते हैं। इनकी भाषा दैनिक व्यवहार की भाषा के निकट है। भाषा में सुबोधता, सहजता, और व्यावहारिकता है। अंग्रेजी और अरबी-फारसी के बहुप्रचलित शब्दों का प्रयोग है। सामान्य रूप से वाक्य आकार में छोटे और संरचना में सरल हैं।

परन्तु पालीवालजी की प्रतिनिधि शैली वह है जिसे संक्रामक, सजीव, व्यंग्यात्मक, प्रहारशील, रोचक, आकर्षक, ओजस्वी, चुटीली, तर्कपूर्ण जैसे विशेषणों से निर्दिष्ट किया गया है। उसमें बल, कठोरता, क्षिप्रता, स्पष्टवादिता, प्रबोध, उद्‌बोध और तीक्ष्णापन है। यही उनकी अंगी शैली है और इसके अंग रूप में ही उनकी पूर्वोक्त शैलियों का प्रयोग हुआ दिखाई पड़ता है। यह शैली उन स्थलों पर प्रयुक्त हुई है जिनमें किसानों की आर्थिक विपदाओं का वर्णन करते-करते पालीवालजी अनुभूति के आक्रोश में भर उठते हैं। यह उन प्रसंगों में भी दिखाई पड़ती है जिनमें लेखक की राष्ट्रीय भावना और ओजस्विता फटते ज्वालामुखी के समान प्रकट हुई है। इन प्रसंगों की भाषा में 'एण्टिथीसिस' वाक्यों की विशेषता है। वाक्यार्थ की दृष्टि से वृत्तिव्यवस्था की प्रधानता है; प्रश्नात्मक और निश्चयार्थक वाक्यों पर प्रधान रूप से कथ्य खड़ा है। भावात्मक शब्दावली अधिक है। शब्दों तथा वाक्यांशों की पुनरावृत्ति है। पत्रकारिता के माध्यम से हिंदी गद्य-शैली के विकास में पालीवालजीके योगदान का ऐतिहासिक महत्त्व है।

—सु० कु०

श्रीकृष्ण भट्ट काव्यकलानिधि—जन्म १६६८ ई०। ये तैलंग ब्राह्मण थे। प्रारम्भ में श्रीकृष्ण बूंदी के महाराव राजा बुद्धसिंह (१६९५-१७३९ ई०) के आश्रय में रहे। कालान्तर में ये जयपुराधीश सवाई जयसिंह (१६९९-१७४३ ई०) के दरबार में रहने लगे। महाराजा ने इन्हें 'काव्यकलानिधि' की उपाधि से विभूषित किया था। ये मन्त्र-शास्त्र के ज्ञाता तथा संस्कृत एवं भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। श्रीकृष्ण भट्ट ने संस्कृत और ब्रजभाषा में कई ग्रन्थों की रचना की है। वीर-काव्यसम्बन्धी उनकी कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'सांभर युद्ध' (लगभग १७३४ ई०)—इस काव्य में जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह और दिल्ली के सैयद भाइयों के युद्ध का वर्णन है। इसमें सवाई जयसिंह की वीरता का अच्छा चित्रण हुआ है। 'जाजव युद्ध', 'बहादुर विजय', 'जयसिंह गुणसरिता' में महाराजा जयसिंह का यशोगान किया गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण भट्ट की रचनाएँ साहित्य और इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

[सहायक ग्रन्थ—मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग (१९२७ ई०), हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, (१९०२ ई०) : धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान) और ब्रजेश्वर वर्मा (सहकारी)।]

—टी० सिं० तो०

श्रीकृष्णलाल—जन्म १९१२ ई० मीरजापुर में। शिक्षा एम० ए०, डी० फिल० प्रयाग से हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक थे। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास-१९००-१९२५' (१९४२ ई०) आपका महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थ है, जिससे आपकी इतिहासदृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है। लाला श्रीनिवासदास के ग्रन्थों का संपादन करके 'श्री निवास ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित कराया है। कई अन्य प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण भी प्रस्तुत किये हैं। आपकी मृत्यु सन् १९६७ में हुई।

—सं०

श्रीधर—१. ये एक प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। इन्होंने 'भागवत' की एक विस्तृत टीका लिखी है।

२. एक ब्राह्मण था, जो कर्म से कसाई था। वह कंस की

प्रेरणा से कृष्ण को मारने के लिए आया था। श्रीधर कृष्ण के यहाँ गोकुल पहुँचा। कृष्ण ने उसके रहस्य को पहचान लिया परन्तु ब्राह्मण होने के कारण उसके प्राण न लेकर केवल जीभ ही मरोड़ दी। फलतः वह कुछ कर न सका (दे० सूर० सा० प० ६७५-६७६)।

—रा० कु०

श्रीधर ओझा—रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म १६८० ई० में माना है। इनका नाम मुरलीधर भी है। ये प्रयाग के रहनेवाले ब्राह्मण थे। इनके 'जंगनामा' नामक ग्रन्थ में फरुखसियर तथा जहाँदार के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इनके अन्य ग्रन्थों में 'नायिका भेद' तथा 'चित्रकाव्य' आदि का भी उल्लेख हुआ है परन्तु इधर इनके एक ग्रन्थ 'भाषा भूषण' की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्राप्त हुई है। इसकी रचना नवाब मुसल्लेह खाँ के आश्रय में १७१० ई० में हुई। इस पर जसवन्तसिंह के 'भाषा भूषण' का प्रभाव है। दोनों की योजना में विशेष अन्तर नहीं है। १५० दोहों में अर्थालंकारों के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। दोनों मुख्य आधार 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' हैं पर इस ग्रन्थ के अन्त में ४२ दोहों में नायिका-भेद तथा रस आदि का वर्णन संक्षेप में किया गया है। इस भाग का नाम 'काव्य प्रकाश' दे दिया गया है। इस कवि को लक्षण देने तथा उदाहरण प्रस्तुत करने में सामान्य सफलता ही मिली है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

श्रीधर पाठक—जन्म सन् १८५९ ई०, जिला आगरा (उत्तर प्रदेश) के जोंधरी नामक ग्राम में, मृत्यु सन् १९२८ ई० में। इनके समस्त कृतित्त्व को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक के अन्तर्गत इनके अनुवाद कार्य आते हैं और दूसरे के अन्तर्गत इनकी मौलिक रचनाएँ। अनुवादों में गोल्डस्मिथ की तीन पुस्तकों के काव्यानुवाद उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले इन्होंने 'हरमिट' का अनुवाद सन् १८८६ ई० में 'एकान्तवासी योगी' के रूप में प्रस्तुत किया। यह पुस्तक एक भावुक प्रेमाख्यान है। अनुवाद की भाषा हिन्दी—खड़ीबोली है और छन्द लावनी पद्धति के हैं। इसके उपरान्त आपने गोल्डस्मिथ की एक दूसरी पुस्तक 'ट्रैवेलर' का अनुवाद 'श्रान्त पथिक' के नाम से किया। यह अनुवाद भी खड़ीबोली में ही है और इसमें रोला छन्द का व्यवहार किया गया है। पाठकजी द्वारा प्रस्तुत ये दोनों काव्यानुवाद कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनका वास्तविक मूल्यांकन खड़ीबोली के परवर्ती प्रबन्ध काव्यों की पूर्वपीठिका के रूप में किया जा सकता है। आपने दो अन्य काव्यानुवाद ब्रजभाषा में प्रस्तुत किये। इनमें से एक पुस्तक 'ऊजड़ ग्राम' गोल्डस्मिथ के डेजर्टेड विलेज पर आधारित है और दूसरी पुस्तक कालिदासकृत 'ऋतु संहार' है, जिसे बहुत ही सरस एवं सुन्दर सवैया छन्दों में प्रस्तुत किया गया है।

आपकी मौलिक काव्यकृतियों में सर्वप्रथम 'जगत सचाई सार' उल्लेख्य है। इसकी भावभूमि किंचित् दार्शनिक है। रचना का माध्यम खड़ीबोली है और छन्द सधुक्कड़ी धुन के हैं। इसका प्रकाशन सन् १८८७ ई० में हुआ था। दूसरी प्रसिद्ध काव्यकृति 'कश्मीर सुषमा' १९०४ ई० में प्रकाशित हुई यह पुस्तक आकार की दृष्टि से बहुत बड़ी नहीं है। इसका महत्त्व इस बात में है कि इसमें प्रकृति को देखने की एक नूतन दृष्टि का परिचय मिलता है। कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण करते हुए परम्परागत रूढ़ प्रकार के वर्णनों से आगे बढ़कर प्राकृतिक छटा का उन्मुक्त चित्रण किया है और प्रकृतिजन्य आनंन्द की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। तीसरी महत्त्वपूर्ण कृति 'भारत गीत' १९१८ ई० में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक लोकप्रचलित धुनों में गाये जाने योग्य फुटकर गीतों का संग्रह है। इसमें 'नौमिभारतम्', 'भारत स्तव' आदि राष्ट्रीय कविताएँ संकलित हैं, जिनसे कवि के उत्कट राष्ट्र-प्रेम का पता चलता है।

इनकी कुछ अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—'मनोविनोद' भाग १, २, ३, (क्रमशः १८८२, १९०५ और १९१२ ई० में प्रकाशित), 'धन विनय' (१९०० ई०), 'गुनवन्त हेमन्त' (१९०० ई०), 'वनाष्टक' (१९१२ ई०), 'देहरादून' (१९१५ ई०), 'गोखले गुणाष्टक' और 'गोखले प्रशस्ति' (१९१५ ई०), 'गोपिका गीत' (१९१६ ई०), 'स्वर्गीय वीणा' और 'तिलस्माती सुन्दरी' (१९१६ ई०)।

पाठकजी प्राकृतिक सौन्दर्य, स्वदेश-प्रेम तथा समाजसुधार की भावनाओं के कवि थे। छायावादी काव्य का पूर्व रूप इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। प्रकृति-वर्णन में इन्होंने एक निश्चित प्रकार की स्वच्छन्द प्रतिभा का परिचय दिया, जिसे रोमाण्टिक परम्परा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनसे पूर्व भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने भी प्रकृति-वर्णन किया था किन्तु उनके वर्णन परम्परागत रूढ़ियों से आगे न बढ़ पाये और उनके काव्यों में प्रकृति या तो अलंकरण की वस्तु बनी रही या उद्दीपन की पृष्ठभूमि। श्रीधर पाठक ने प्रकृति को उसके समग्र-सुन्दर रूप में वर्णन का मुख्य विषय बनाकर प्रस्तुत किया—"प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति। पल-पल पलटति भेस छनिक छबि छिन छिन धारति।। विमल अम्बु-सर मुकुरन महँ मुख बिम्ब निहारति। अपनी छबि पै मोहि आप ही तन मन वारति।।" ('कश्मीर सुषमा')। इस प्रकार के मनोरम प्राकृतिक चित्र उनकी रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्रकृति के स्वच्छन्दतावादी चित्रण के अतिरिक्त उन्होंने अपनी कविता में राष्ट्रवादिता का परिचय दिया। एक ओर तो उन्होंने भारत की आरती उतारी, स्वदेश के गौरव का गान किया और दूसरी ओर विधवाओं की व्यथा एवं शिक्षा-प्रसार जैसे सामाजिक विषय भी उनकी लेखनी से अछूते न रहे।

आपने काव्य-रचना के लिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों को अंगीकृत किया था। यह सच है कि उनकी ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक सरस तथा सुन्दर होती थीं किन्तु उनकी खड़ीबोली की कविताएँ ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु हैं, उन कविताओं से आधुनिक हिन्दी कविता का शुभारम्भ मानना चाहिये। भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के अन्य कवियों ने खड़ीबोली को मुख्यतः गद्य की भाषा के रूप में ग्रहण किया था। पद्य रचना अधिकतर वे ब्रजभाषा ही में करते थे। आपने काव्य-भाषा के लिए खड़ीबोली का प्रयोग शायद पहली बार

मुक्त रूप से किया।

इनके सम्पूर्ण कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अपनी कृतियों—अनूदित तथा मौलिक—द्वारा हिन्दी (खड़ीबोली) कविता का पथ निर्मित और प्रशस्त किया। स्वच्छन्दतावाद के दर्शन उनकी रचनाओं में पहली बार हुए और खड़ीबोली काव्य के साथ-साथ उन्होंने परवर्ती छायावाद के लिए भी एक जमीन तैयार की।

—र० भ्र०

श्रीधर (मुरलीधर)—श्रीधर प्रयागनिवासी ब्राह्मण थे। मुरलीधर इनका उपनाम था, यथा—"श्रीधर मुरलीधर उर्फ, द्विजवर बसत प्रयाग" ('जंगनामा', पंक्ति ५)। ग्रियर्सन के मतानुसार श्रीधर १६८३ ई० में वर्त्तमान थे परन्तु 'जंगनामा' में वर्णित घटना जनवरी, १७१३ ई० की है, अतः यह इसी तिथि के आसपास अवश्य वर्त्तमान रहे होंगे। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की थी। इनका एक ग्रन्थ राग-रागिनियों का, एक नायिका-भेद का, एक जैनियों के मुनियों के वर्णन का, श्रीकृष्ण-चरित की स्फुट कविता, कुछ चित्रकाव्य, फर्रूखसियर का जंगनामा और उस समय के अमीर कर्मचारियों और राजाओं की प्रशंसा की कविता है। शिव सिंह तथा ग्रियर्सन ने इनके बनाये हुए 'कवि विनोद' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इनकी प्रमुख रचना 'जंगनामा' है। इसमें १६३० पंक्तियाँ हैं। 'जंगनामा' में फर्रूखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है, जो जनवरी, १७१३ ई० में हुआ था। इसमें वीर-रसात्मक काव्य-शैली को अपनाया गया है। इसकी भाषा परिष्कृत तथा व्याकरण सम्मत ब्रज है पर उसमें डिंगल, बुन्देली तथा अवधी आदि के प्रयोग भी मिलते हैं। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से श्रीधर वीर-काव्यधारा में एक उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। 'जंगनामा' का सम्पादन श्रीराधाकृष्ण और श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने और प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने १९०४ ई० किया था।

[सहायक ग्रन्थ हिन्दी वीरकाव्य : टीकमसिंह तोमर, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।]

—टी० सिं० तो०

श्रीनाथ सिंह—जन्म १९०३ ई० मानपुर, जिला इलाहाबाद में। द्विवेदी-युग के साहित्यकार हैं, जो अब भी कुछ न कुछ लिखते आ रहे हैं। आपका 'सती पद्मिनी' नामक काव्य ग्रन्थ १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ था। अब तक आपकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'उलझन' (१९३४ ई०), 'क्षमा' (१९२५ ई०), 'एकाकिनी' या 'अकेली स्त्री' (१९३७) 'प्रेम परीक्षा' (१९२७), 'जागरण' (१९३७) 'प्रजामण्डल' (१९४१ ई०), 'एक और अनेक' (१९५१), 'अपहृता' (१९५२ ई०) आदि आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ है। आपने बहुत से निबन्ध महिलाओं के उपयोग के लिए लिखे हैं। कुछ समय तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया। प्रयाग से निकलने वाली 'दीदी' पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे हैं। आपके साहित्य का बहुत बड़ा अंश स्त्रियों के हित की भावना से प्रेरित है। बालोपयोगी रचनाएँ भी आपने बहुत सी लिखी हैं।

—रा० चं० ति०

श्रीनारायण चतुर्वेदी—जन्म २८ सितम्बर सन् १८९३ ई०, जिला इटावा (उत्तर प्रदेश) में। उपनाम 'श्रीवर'। इन्होंने क्रमशः प्रयाग तथा लन्दन विश्वविद्यालयों से इतिहास और शिक्षा शास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। साहित्य के क्षेत्र में आपकी ख्याति 'विश्वभारती' के सम्पादक के रूप में हुई। यह आकर ग्रन्थ विविध विषयों की सूचना देने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपने 'श्रीवर' का उपनाम धारण करते हुए ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली में कविताएँ भी की हैं। इनकी स्फुट कविताओं के दो संग्रह 'रत्नदीप' तथा 'जीवन के गीत' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी अन्य पुस्तकों में अंग्रेजी से किये गये अनुवाद हैं—'विश्व का इतिहास' तथा प्लाटो की 'अपोलोजी' का सम्पादन किया तथा 'शासक' नाम से मिकियावली के 'प्रिन्स' का अनुवाद किया, जो विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त साहित्यिक कार्यों के अतिरिक्त शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इन्होंने १९२६ ई० से १९३० ई० तक लोग ऑव नेशन्स, जेनेवा की शिक्षा समिति में भारत का प्रतिनिधित्व किया है तथा संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में शिक्षा प्रसार विभाग के अध्यक्ष पद पर बहुत दिनों तक कार्य किया है। जून १९५५ से अंत तक सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन करते रहे।

—र० भ्र०

श्रीनिवास दास, लाला—जन्म सन् १८५० ई० और मृत्यु १८८७ ई०। हिन्दी गद्य के आरम्भिक निर्माता-लेखकों में लाला श्रीनिवास दास का प्रमुख स्थान है। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन थे। ये मथुरानिवासी माहेश्वरी वैश्य थे। अपने अत्यल्प जीवन में इन्होंने कुल पाँच रचनाएँ लिखीं—चार नाटक और एक उपन्यास। इनका पहला नाटक 'प्रहलाद चरित्र' ११ दृश्यों का बड़ा सा नाटक है, जो कई दृष्टियों से असफल कृति कहा जा सकता है। उनकी मृत्यु के बाद यह रचना सन् १८९५ ई० में छपी। दूसरा नाटक 'तप्ता संवरण' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के १४ फरवरी १८७४ ई० तथा १५ मार्च १८७४ ई० के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ। बाद में १८८३ ई० में पुस्तकाकार भी छपा। तीसरा नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' है, जो १८७८ ई० में लिखा गया और उसी वर्ष सदादर्श सम्मिलित कवि वचनसुधा के पाठकों को बिना मूल्य वितरित किया गया। चौथा नाटक 'संयोगिता स्वयंवर', 'पृथ्वीराज रासो' की कथा पर आधारित एक ऐतिहासक रोमानी कृति है, जो १८८५ ई० में प्रकाशित हुआ।

१८८२ ई० में लाला श्री निवास दास का महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'परीक्षागुरु' प्रकाशित हुआ, जो अब तक हिन्दी का प्रथम उपन्यास कहा जाता है। अम्बिका दत्त व्यास ने 'गद्य-काव्य मीमांसा' में ७६ उपन्यासों के नाम और उनकी प्रकाशनतिथि आदि का जो ब्यौरा दिया है, उससे 'परीक्षा गुरु' ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास प्रतीत होता है। किन्तु 'परीक्षा गुरु' के पहले के लिखे दो अन्य उपन्यासों का उल्लेख भी मिलता है। हरिश्चन्द्र कृत 'पूर्णप्रभा चन्द्रप्रकाश' को गुजराती का अनुवाद मान कर छोड़ दें तो भी श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' को किसी भी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता।

श्री निवास दास प्रतिभाशाली और मेधावी लेखक थे।

रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि ''चारों लेखकों में (हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी) प्रतिभाशालियों का मनमौजी पन था पर लाला श्रीनिवास दास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा-नीचा समझने वाले पुरुष थे, अतः उनकी भाषा संयत और साफ सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी'' ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', संशोधित छठा संस्करण, पृष्ठ ४७३)।

'प्रह्लाद चरित्र' के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि ''इस नाटक के संवाद आदि अच्छे नहीं, भाषा भी अच्छी नहीं'' ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', छठा संस्करण, पृ० ४७३)। 'तप्ता संवरण' प्राचीन पौराणिक प्रेम-कथा पर आधारित है। संवरण ने तप्ता के रूप में आसक्त होने के कारण गौतम मुनि को न प्रणाम किया न उनका आदर-सत्कार किया। इस पर मुनि ने उसे शाप दे दिया कि जिसके ध्यान में तू इतना मग्न है, वह तुझे भूल जायेगा। संवरण की ग्लानि पर दयार्द्र होकर उन्होंने शाप का परिहार भी किया और बताया कि अंगस्पर्श होते ही उसे तुम्हारा स्मरण हो जायेगा। लेखक ने इस नाटक की भूमिका में लिखा है कि ''इसमें कुछ लोकोपकारी विषय नहीं पाया जाता। यह केवल श्रृंगारविषयक एक पुरानी चाल का नाटक है। परन्तु सज्जनों ने इसका यहाँ तक आदर किया कि गुजराती भाषा में इसका अनुवाद होकर मुम्बई के 'बुद्धिवर्धक' नामक प्रसिद्ध मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ।'' श्रीनिवास दास साहित्य का सोद्देश्य होना मुख्य गुण मानते थे, इस कारण इस रचना के प्रति भी उनके मन में बहुत सन्तोष न था। इस पर संस्कृत के प्राचीन प्रेम कथामूलक नाटकों की शैली का प्रभाव पड़ा है। 'तप्ता संवरण' पर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का प्रभाव स्पष्ट झलकता भी है। न केवल शैली में, बल्कि कथा-संयोजन में भी। गौतम के शाप और उसके परिहार के प्रसंग किंचित् हेर-फेर के साथ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के दुर्वाशा के शाप और शाप-शमनवाले प्रसंगों से मिलते-जुलते हैं। 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' नामक पुस्तिका में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के आरम्भिक नाटकों का जो क्रम निर्धारित किया है, उसमें उन्होंने पहला स्थान 'नहुष' को दूसरा लक्ष्मणसिंह के 'शकुन्तला' को, तीसरा 'विद्यासुन्दर' को और चौथा 'तप्ता संवरण' को दिया है। उपर्युक्त नाटकों को दृष्टि में रखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'तप्ता संवरण' हिन्दी का पहला मौलिक नाटक है, क्योंकि 'विद्यासुन्दर' और 'शकुन्तला' अनुवाद हैं और 'नहुष' का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

श्री निवास दास न केवल उच्चकोटि के प्रतिभासम्पन्न विचारवान् लेखक थे, जिन्होंने निश्चित उद्देश्य और प्रयोजन को दृष्टि में रख कर सम्पन्न भावानुभूति के बल पर नाना प्रकार की परिस्थितियों और चरित्रों की सृष्टि की, बल्कि वे अच्छे शैलीकार और सुलझे हुए भाषा-प्रयोक्ता भी थे। उनके समय में खड़ी बोली का जो रूप प्रचलित था, वह बहुत कुछ अव्यवस्थित और अनिश्चित था। भिन्न-भिन्न लेखक अपने-अपने व्यक्तिगत परिवेश के स्थानीय भाषिक प्रयोगों को खड़ी बोली के कलेवर में मिश्रित कर रहे थे। स्थान-स्थान के विभिन्न प्रकार के उच्चारणों के आधार पर लिखी गयी खड़ी बोली में एकरूपता का पूरा अभाव था। लाला जी ने दिल्ली के आसपास की भाषा को स्टैंडर्ड मानकर उसी में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने खड़ी बोली की तत्कालीन सीमाओं को पहचान कर स्थानीय प्रयोगों से बचने की बहुत कोशिश की पर उनकी भाषा विकृत पँछाही उच्चारण के आधार पर लिखे शब्द और प्रयोगों से पूर्णतया बच न सकी। उन्होंने लिखा है : ''संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन शब्दों की बनायी हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोल चाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गयी है। अलबत्ता जहाँ कुछ विद्या का विषय आ गया है, वहाँ विवश होकर कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं'' ('परीक्षा गुरु' निवेदन, 'श्रीनिवास दास ग्रन्थावली' पृष्ठ १५५)

[सहायक ग्रन्थ—श्रीनिवास दास ग्रन्थावली, सम्पादक : श्रीकृष्णलाल।]

—शि० प्र० सि०

श्री प्रकाश—जन्म १८८७ ई०, काशी में। पिता का नाम डाक्टर भगवान् दास। आप भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री, भारत के पाकिस्तान में उच्चायुक्त तथा महाराष्ट्र आदि कई प्रान्तों के राज्यपाल रह चुके हैं। सार्वजनिक कार्य के साथ हिन्दी साहित्य की सेवा में बराबर दिलचस्पी लेते रहे हैं। इनकी चार हिन्दी पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं : (१) 'भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार', (२) 'गृहस्थ गीता', (३) 'हमारी आन्तरिक गाथा' और (४) 'नागरिक शास्त्र'। इनकी शैली की विशेषता सरलता और भावों की सहज गति है। अंग्रेजी का प्रभाव इनके वाक्य विन्यास और विचारधारा पर एकदम स्पष्ट है। विचारों की अभिव्यक्ति इनका सर्वप्रथम ध्येय होता है, शब्दों का चयन और परम्परा का निभाव इनके लिए गौण है। इनकी कसौटी व्यावहारिकता है, अर्थात् भाषा का वही रूप वे सर्वोत्तम मानते हैं, जिसे अधिक से अधिक लोग समझ सकें और जिसके द्वारा बाह्य जगत् के वर्णन के साथ मनुष्य की भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त किया जा सके।

कुशल लेखक की तरह ही श्री प्रकाश सफल पत्रकार भी रहे हैं। आप बहुत दिनों तक दैनिक 'आज' ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी के प्रधान व्यवस्थापक थे। समय-समय पर आप अग्रलेख और टिप्पणी भी लिखा करते थे। 'लीडर', 'इण्डिपेण्डेण्ट', 'नेशनल हेराल्ड', 'संसार' आदि पत्रों से भी आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इनमें निरन्तर लेख लिखते रहे। राजनीति में व्यस्त रहते हुए भी वे कुछ न कुछ लिखकर हिन्दी साहित्य की सेवा करते रहे।

श्री प्रकाश जी बड़े ही विनम्र, मिष्टभाषी और परोपकारी थे। आपके विचार गम्भीर हैं। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के शासी निकाय के अध्यक्ष थे।

—ज्ञा० द०

श्रीभट्ट—निम्बार्क सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध भक्त श्रीभट्ट का जन्म काल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने तथा 'ब्रज माधुरी सार' में वियोगी हरि ने संवत् १५९५ (सन् १५३८ ई०) स्थिर किया है। साम्प्रदायिक परम्परा में श्री भट्ट जी को केशव कश्मीरी का शिष्य स्वीकार किया जाता है। प्राचीन भक्तमालों में केवल कश्मीरी और कृष्ण चैतन्य महाप्रभु की भेंट का विवरण उपलब्ध होता है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका में भी इसका उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि केशव कश्मीरी चैतन्य के समसामयिक थे। चैतन्य महाप्रभु

का समय संवत् १५४२ से १५९० (सन् १४८५ से १५३३ ई०) तक है। इसके आधार पर श्रीभट्ट का जन्म संवत् १५९५ (सन् १५३८ ई०) ही मानना उचित है। निम्बार्क सम्प्रदाय द्वारा प्रकाशित 'जुगल सतक' में रचनाकाल को व्यक्त करने वाला एक दोहा लिखा है : "नैन, बान, पुनिराम, ससि गिनो अंकगति बाम। श्रीभट्ट प्रकटजु जुगलसत यह संवत अभिराम।।" इसी दोहे के आधार पर 'जुगल सतक' का रचनकाल संवत् १३५२ (सन् १२९५ ई०) सिद्ध होता है किन्तु प्राचीन पोथियों में यह दोहा 'नैन बान पुनिराग' पाठ से भी मिलता है। राग का अर्थ छः है, अतः १६५२ (सन् १५९५ ई०) संवत् ही इसका रचनाकाल मानना चाहिए। भाषा की दृष्टि से भी इसका समय चौदहवीं शती कदापि नहीं हो सकता।

श्री भट्टजी अपनी भावना के लिए विख्यात हैं। ध्यान की तन्मयता में श्याम-श्यामा का प्रत्यक्ष दर्शन पद गायन के माध्यम से ही आप कर लेते थे, ऐसी इनकी प्रसिद्धि है। ये बड़े उच्चकोटि के महात्मा थे। 'जुगल सतक' को इन्होंने अपनी भक्त भावना के अनुरूप सौ दोहों में सीधी, सरल शैली में लिखा है। इनको श्रीहित् सखी का अवतार माना जाता है। 'जुगल सतक' में दोहों के साथ पद भी दिये हुए हैं। दोहों में प्रौढ़ता है। इनकी भाषा परिष्कृत और छन्दानुकूल है। तत्सम पदावली का प्राधान्य है। राधा-कृष्ण के सौन्दर्यवर्णन में पदावली ललित और माधुर्यगुणपूर्ण है : "चरन चरन पर लकुट कर धरे कक्ष तर रंग। मुकुट चटक छवि लटक लखि बने जु ललित त्रिभंग"। इसी प्रकार के अनेक सहज स्वाभाविक वर्णन आपकी रचना में उपलब्ध हैं।

—वि० स्ना०

श्रीमन्नारायण अग्रवाल—जन्म १९१२ ई० में इटावा में हुआ। शिक्षा कलकत्ता तथा प्रयाग विश्वविद्यालय में। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के महामन्त्री रहे। गान्धीवादी आर्थिक सिद्धान्तों के विशेषज्ञ। योजना आयोग के सदस्य रहे। संप्रति गुजरात के राज्यपाल हैं। साहित्य के प्रति प्रारम्भ से ही अनुराग रहा। 'रोटी का राग' (१९३६ ई०) तथा 'मानव' (१९४० ई०) दो काव्य-संकलन हैं।

श्रीराम शर्मा—उत्तर प्रदेश के मैनपुरी जिला में २३ मार्च, १८९२ ई० को जन्म हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। हिन्दी पत्रकारिता में आपका विशेष स्थान है। शिकार-साहित्य के लेखकों में श्रीराम शर्मा का नाम अग्रगण्य है। हिन्दी में शिकार और जंगल के साहसात्मक साहित्य का अब भी अभाव है किन्तु इस दिशा में शर्मा जी ने जो कार्य किया है, वह सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा जायगा।

आपकी पत्रकारिता में सम्पादन कार्य और संस्मरणात्मक निबन्धों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'विशाल भारत' का सम्पादन और उसके साथ-साथ शिकार-साहित्य का सृजन आपने किया है। आपकी शिकार सम्बन्धी मनोरंजक कहानियों के दो संग्रह हिन्दी के सम्मानित ग्रन्थ हैं।

'सन् बयालीस के संस्मरण' और 'सेवाग्राम की डायरी' आपने आत्मकथा शैली में लिखी है। यद्यपि ये आत्मकथा शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, फिर भी अपने ढंग की ये निराली पुस्तकें हैं। शर्मा जी ने जिन छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी घटनाओं को लिखा है, उनमें शैलीगत स्पष्टता के अतिरिक्त प्रामाणिक घटनाओं का उल्लेख बड़े मार्मिक ढंग से हुआ है।

शर्मा जी ने अंग्रेजी में नेता जी सुभाष बोस की जीवनी भी लिखी है। जीवनी में एक घटना-चक्र में लिपटा हुआ नेताजी का जीवन सम्पूर्ण राष्ट्रीय संवेदना को वहन करते हुए उसके मूर्धन्य तत्त्वों को मानवीय दृष्टिकोण से सम्बद्ध करता है।

शर्मा जी की शैली स्पष्ट और वर्णनात्मक है। स्थान स्थान पर स्थितियों का विवेचन मार्मिक और संवेदनशील होता है। शिकार-साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग शर्मा जी ने किया है, वह उसके वृत्तवर्णन, विस्तार और पशु मनोविज्ञान का साफ परिचय देता है। इस प्रकार के साहित्य के लिए जिस असम्पृक्त निर्वैयक्तिक शैली की आवश्यकता होती है, उसमें आपको सफलता मिली है।

शर्मा जी की भाषा सरल किन्तु भावानुकूल है। छायावाद काल के साहित्यकार होने के बावजूद भाषा में आप प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। प्रेमचन्द में जो सम्प्रेषणीयता है, उसका दूसरा रूप हमें शर्मा जी की भाषा में मिलता है। तद्भव और तत्सम दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपने औचित्य के साथ हुआ है।

शर्मा जी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण मुख्यतः युग की राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। 'सन् बयालीस के संस्मरण' या 'सेवा ग्राम की डायरी' या अंग्रेजी में नेता जी सुभाष बोस की जीवनी उनके इसी पक्ष का परिचय देते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहने से उनकी झाँकियाँ आपकी रचनाओं में दीख पड़ती हैं।

प्रकाशित ग्रन्थों में आपकी लगभग २२ रचनाएँ हैं, जिनमें से मुख्य हैं—'प्राणों का सौदा', 'शिकार', (१९३२ ई०), 'बोलती प्रतिमा' (१९३७ ई०), 'जंगल के जीव' (१९४६ ई०) — सभी कहानी संग्रह और 'सेवा-ग्राम की डायरी' (१९३६ ई०), 'सन् बयालीस के संस्मरण' (१९३८ ई०), 'नेता जी' (अंग्रेजी में जीवनी)।

—ल० कां० व०

श्रुतकीर्ति—राम के भाई शत्रुघ्न की पत्नी थीं। वे राजा जनक के भाई कुशध्वज की कन्या थी। इनके सुबाहु और श्रुतघाती नाम के दो पुत्र थे। 'रामायण', 'रामचरित- मानस', 'साकेत' आदि रामकथा विषयक मान्य ग्रन्थों में इनकी चर्चा मिलती है।

रा० कु०

श्याम सुंदर खत्री—आपका जन्म सन् १८९६ ई० में कलकत्ता में हुआ था। आपने अंग्रेजी, बंगला तथा हिन्दी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। उक्त तीनों भाषाओं पर आपका अच्छा अधिकार है। कविता के गुण-दोष का अच्छा ज्ञान रखते हैं। लगभग १८ वर्ष की अवस्था में ही कविताएँ लिखने लगे थे। वे पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं। आपकी रचनाओं में भाषासौष्ठव है। सभी रचनाएँ ओजपूर्ण हैं। भाव गाम्भीर्य तो है ही। समय-समय पर लिखी गयी आपकी अधिकांश कविताओं का संग्रह 'वेणु' नाम से १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ। आपने कवीन्द्र रवीन्द्र के 'चित्रांगदा', 'लक्ष्मी की परीक्षा', 'परिशोध' 'सामान्य क्षति' और 'पुजारिनी' काव्यों का बहुत ही सफल पद्यानुवाद किया है। यूस्टेस चेस्टर लिखित अंग्रेजी पुस्तक 'ग्रो अप ऐण्ड लिव' का भी आपने सुन्दर अनुवाद

किया है। यह पुस्तक हिन्दी में 'जियो जागो' नाम से १९५० ई० में छपी थी।

—सं०

श्वेतांक—भगवतीचरण वर्माकृत उपन्यास 'चित्रलेखा' में महाप्रभु रत्नाम्बर का वह शिष्य है, जिसने पूछा था, "पाप क्या है?" गुरु उसे पाप का पता लगाने के लिए भोगी बीजगुप्त के सांसारिक जीवन मे प्रविष्ट करा देते हैं। श्वेतांक, जो नारी, रूप और यौवन से अनभिज्ञ था, एकदम मे इन्हीं के आलोक मे चकाचौंध हो उठा। वह चित्रलेखा के प्रति अपने मन मे अनुराग जगा बैठा पर शीघ्र ही उसे अपना भ्रम ज्ञात हो गया। उसने एक ईमानदार आदमी की भाँति बीजगुप्त से अपना अपराध कह दिया।

वास्तव में श्वेतांक उपन्यास का मुख्य अभिनेता नहीं है, वह जोड़ने वाली कड़ी के समान है। एक ओर वह बीजगुप्त को विश्वास देता है और दूसरी ओर चित्रलेखा भी उसे अपने प्रति प्रतिश्रुत करा लेती है। यशोधरा प्रसंग में वह अभिनय की मुख्य भूमिकाओं के निकट आता है पर सर्वत्र एक उतावला पन और अविवेक उसमें प्राप्त होता है। अवसर का बिना विचार किये हुए वह अपने स्वामी बीजगुप्त के प्रति भी अपमानसूचक शब्द आवेश में कह जाता है, यों बाद को उसे पश्चात्ताप भी होता है। दुबारा वह यशोधरा की ओर उन्मुख होता है, उससे अपना प्रेम निवेदित भी कर बैठता है पर प्रतिदान में प्रोत्साहन उसे नही मिलता। इसी उतावलेपन में ही वह बीजगुप्त से अपना विवाह प्रस्तावित करने का भी अनुरोध करता है। अन्त में अपने गुणों से नहीं, बल्कि बीजगुप्त की महत्ता, त्यागवृत्ति एवं प्रेमादर्शने उसे धनसपन्न और पदवीसम्पन्न ही नहीं बनाया, उसे यशोधरा जैसी सुन्दरी पत्नी भी दिलायी। अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए जिस तटस्थता एवं गम्भीरता की आवश्यकता थी, उसका हमें श्वेतांक में अभाव मिलता है। वह वास्तव में अनुभव में बहने लगता है गुरु की चेतावनी के विपरीत।

—दे० शं० अ०

संगम १—इनका नाम संगमलाल था और ये टेढ़ाविगहपुर (जिला उन्नाव) के सुवंश शुक्ल के वंशजों में थे। इनके आश्रयदाता कोई राजसिंह थे। शिवसिंह ने इन्हें १७६७ ई० में उपस्थित माना है। इनका रचनाकाल १८०४ ई० से १८२७ ई० तक स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में भगवती प्रसाद सिंह ने 'दिग्विजयभूषण' की भूमिका में इन्हें सीतामऊ के राजसिंह के दरबार में बताया है। इनके दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—'कवित्त' और 'श्रीकृष्ण ग्वालिन की झगरा'। इनके मुक्तक छन्द श्रृंगारपरक, नायिका-भेद सम्बन्धी और रीति परम्परा के हैं। दूसरे ग्रन्थ का विषय दान-लीला है।

[सहायक ग्रन्थ—दि० भू० (भूमिका)।]

—सं०

संगम २—जून १९४२ ई० में इलाहाबाद से साप्ताहिक रूप में प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक थे इलाचन्द्र जोशी। इनके सम्पादकत्व-काल में 'संगम' साहित्यिक एवं वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पत्र बन गया था।

इलाचन्द्र जोशी के बाद कुछ दिनों तक कृष्णानन्द गुप्त इसके सम्पादक रहे। लेकिन जोशी पुनः इस कार्य के लिए आ गये और 'संगम' की उन्नति मे योग देने लगे।

गान्धीजी की मृत्यु के अवसर पर इसका एक विशिष्ट अंक निकला था। यह अंक चिरस्मरणीय रहेगा। इसी प्रकार 'सुभाष अंक' भी महत्त्वपूर्ण था।

कुछ समय बाद ही (१९५३ ई०) 'संगम' का प्रकाशन स्थगित हो गया। पर 'संगम' ने हिन्दी लेखकों का जो वृत्त तैयार किया, वह महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल की 'सरस्वती' के लेखक वृत्त का स्मरण दिलाता है। छायावाद तथा छायावादोत्तरकालीन सभी प्रमुख लेखकों की रचनाएँ 'संगम' में प्रकाशित होती रहीं।

—ह० दे० बा०

संतराम—जन्म १८८६ ई० में होशियारपुर में हुआ। हिन्दी गद्य के विकास-काल में विभिन्न विषयों पर निबन्ध तथा पुस्तकें लिखीं। आपकी प्रकाशित रचनाओं की संख्या लगभग ५० है।

—सं०

संपूर्णानंद—जन्म १ जनवरी, १८९० ई० में काशी (उत्तर प्रदेश) में हुआ। बाल्यकाल से ही वे साहित्य-साधना में लग गये। संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और बंगला-साहित्य का अध्ययन किया। विज्ञान के स्नातक होते हुए भी आरम्भ से ही लेखन और अध्ययन में गहरी दिलचस्पी रही। गोखले की मृत्यु पर उनके उमड़ते हुए भावों ने कविता का रूप लिया। सम्भवतः यह उनकी पहली कविता थी, जो फरवरी, १९१५ ई० के 'नवनीत' में प्रकाशित हुई। उदाहरणार्थ—"देशभक्त देहावसान, स्वार्थ त्यागि अनन्य कीन्हों जाति के हितकाज, ईश के संग सम्पूर्ण आनन्द परि करहि स्वराज।"

यह आश्चर्य की ही बात है कि साहित्य के क्षेत्र में पहले-पहल वे कवि के रूप में अवतरित हुए। उनके कविताओं का विषय प्रायः देशभक्ति और भक्तिभाव ही होता। किन्तु बाद में सम्पूर्णानन्दजी ने अधिकतर गद्य-साहित्य की रचना की है। उनके अथक परिश्रम और लगन के आगे गहन से गहन विषय सहज बन गये। वेद-वेदान्तों से लेकर इतिहास, विज्ञान आदि सभी को उनकी प्रतिभा ने समेट लिया। एक बार कारावास में पातंजल के योगसूत्रों को वे डेढ़ सौ बार पढ़ गये। उन्होंने छोटे-बड़े बहुत विषय के ऐतिहासिक, वेदसम्बन्धी, गणेशादि देवताविषयक, समाजशास्त्र, दर्शनादि विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। १९१८ ई० में इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन अधिवेशन में साहित्य विभाग के सभापति बने थे। ज्ञानमण्डल, वाराणसी के प्रकाशन काम में उन्होंने सदा सहयोग दिया। काशी विद्यापीठ से उनका वर्षों से सम्बन्ध बना रहा और उसे वह सार्वजनिक कार्य का ही एक अंग मानते थे। पत्रकार भी रह चुके है। १९३५ ई० में काशी से समाजवादी दल के एक हिन्दी साप्ताहिक सम्पादन करते थे। पराड़करजी के जेल जाने पर 'आज' का भी सम्पादन किया। काशी के 'जागरण' और 'मर्यादा' का भी सम्पादन किया है। वे राजनीतिक और साहित्यिक दोनों है। उनका बौद्धिक धरातल बहुत ऊँचा है, इसलिए गम्भीर विषयों के अद्वितीय लेखक और चिन्तक हैं। उनकी लेखन-शैली गम्भीर विचारप्रधान और पाण्डित्यपूर्ण होते हुए भी सुगम है। उनकी शैली की दृढ़ता और तार्किक प्रवाह का आभास किसी भी रचना से लग सकता है।

राजनीति में प्रवेश करते ही सम्पूर्णानन्दजी समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हुए थे। तभी उन्होंने 'समाजवाद' नामक पुस्तक लिखी। इस पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी पाया। भाषा और विषय-वस्तु की दृष्टि से इसकी गणना उच्चकोटि के राजनीतिक-साहित्य में होती है। स्पष्टोक्ति और विचारप्रधान लेखन के लिए उनकी ख्याति का आधार यही पुस्तक थी। अपने मन की बात कहने में यदि उसकी सच्चाई पर विश्वास है तो उन्हें कभी क्लेश अथवा आपत्ति नहीं होती। इसका सबसे बड़ा प्रमाण 'ब्राह्मण सावधान है'। इसमे उन्होंने तार्किक ढंग से किन्तु अपूर्व निर्भीकता से ब्राह्मण समाज को चेतावनी दी है और वर्ण व्यवस्था की आलोचना की है। इस आलोचना का आधार सदाशयता और देश-प्रेम ही है। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के बारें में उन्होंने 'भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की कुण्ठा' नामक एक लेख लिखा है, जो गम्भीर मनन और चिन्तन का द्योतक है।

लेखक और विचारक के रूप में सम्पूर्णानन्दजी की प्रतिभा निस्सन्देह बहुमुखी है। गम्भीर विषयों पर ही उन्होंने नहीं लिखा, वे लेखन को मनोरंजन का साधन भी मानते हैं। 'कर्मवीर गान्धी' और 'महाराज छत्रसाल' मनोरजन के लिए लेख नहीं है किन्तु इनकी शैली कथा-साहित्य के अनुरूप है। इसी प्रकार जीवनियाँ लिखने की ओर भी वे प्रवृत्त होते रहे। उसी प्रवृत्ति का फल 'हर्षवर्धन' और 'सम्राट अशोक' हैं। उनके अपने संस्मरण भी कम रोचक नहीं। इन संस्मरणात्मक लेखों में उनकी भाषा बहुत निखरी है। इधर-उधर हास्य के पुट का भी समावेश है, 'जेल संस्मरण' में बन्दियों की 'तिकड़म' पर सम्पूर्णानन्दजी का लेख इसका उत्तम उदाहरण है। सम्पूर्णानन्द को वैज्ञानिक उपन्यास पढ़ने और भूमिहीन खेती करने में बहुत रुचि थी। उनके वैज्ञानिक और साहित्यिक व्यक्तित्व का यह संगम ही रहा है। 'पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल' और 'अन्तरिक्ष यात्रा' जैसी रचनाएँ इस आकाश और धरती के संगम का प्रमाण हैं। उनका विज्ञान कला का अंग है। इसी से उनके बौद्धिक समन्वय का परिचय होता है। कलाओं में भी जो विचार सौन्र्यानुभूति पर व्यक्त किये हैं, वे आत्मानुभूति का ही फल हो सकते हैं। उन्होंने लिखा है—"इसीलिए सौन्दर्य का सच्चा अनुभव योगी को ही हो सकता है।...अविद्या के क्षय होने पर भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है और एक अद्वय अखण्ड चित्सत्ता अपनी लीला का संवरण करने अपने आप का साक्षात्कार करती है। उसका स्वरूप परमानन्द है। योगी पर निरन्तर सोम की वर्षा होती है"। उनके व्यक्तित्व के इस पहलू और उनके ज्ञान की व्यापकता ने सभी को प्रभावित कियाहै।

कृतियाँ—'कर्मवीर गान्धी', 'महाराज छत्रसाल', 'भौतिक विज्ञान', 'ज्योति विनोद', 'भारतीय सृष्टिक्रम विचार', 'भारत के देशी राष्ट्र', 'चेतसिंह और काशी का विद्रोह', सम्राट् हर्षवर्धन', 'महादाजी सिन्धिया', 'चीन की राज्यक्रान्ति', 'मिस्र की स्वाधीनता', 'सम्राट् अशोक', 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान', 'समाजवाद', 'व्यक्ति और राज', 'आर्यों का आदि देश', 'दर्शन और जीवन', ब्राह्मण सावधान', 'चिद्विलास', 'गणेश', 'भाषा की शक्ति', 'पुरुष सूक्त', 'पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल', 'हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान', 'व्रात्यकाण्ड', 'भारतीय बुद्धिजीवी', 'समाजवाद', 'अन्तरिक्ष यात्रा', 'स्फुट विचार', 'अलकनन्दा मन्दाकिनी के दो तीर्थ', 'चेतसिंह', 'देशबन्धु चित्तरंजन दास'।

—ज्ञा० द०

सगर—अयोध्या के प्रतापी सूर्यवंशीय राजा थे। सगर की दो पत्नियाँ थीं—विदर्भ-राज की कन्या केशिनी तथा कश्यपकन्या सुमति। इनके तप से प्रसन्न हो भृगु ने इन्हें साठ सहस्र और एक सौ पुत्रों का पिता होने का वर दिया। यथासमय केशिनी से 'असमंजस' नामक पुत्र हुआ, जो बड़ा अत्याचारी निकला। दूसरी स्त्री सुमति से साठ सहस्र पुत्र उत्पन्न हुए। एक बार सगर के अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा चुराकर इन्द्र ने कपिल मुनि के समीप बाँध दिया। घोड़ा खोजते जब ६० हजार पुत्र यहाँ पहुँचे तो उन्होंने कपिल मुनि को चोर जानकर उनका अपमान किया, जिससे रुष्ट होकर ऋषि ने इन्हें भस्म कर दिया। बहुत दिन बीत गये पर असमंजस के पुत्र अंशुमान ने खोजकर इनका पता लगाया और फिर गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए उन्होंने भी तप किया पर सफल नहीं हुए। आगे उनके वंशज भगीरथ ने इस कार्य में सफलता प्राप्त की (दे० 'भगीरथ', दे० 'रत्नाकर'कृत 'गंगावतरण')।

—रा० कु०

सतसई १—'सतसई' तुलसीदास की रचना मानी जाती है। इसमें अलग-अलग विषयों के ७०० के लगभग दोहे हैं। इसकी प्रतियाँ प्रायः एक पाठ की मिलती है। 'सतसई' का एक प्रमुख अंश 'दोहावली' में भी मिलता है। (जिसके विषय में अन्यत्र विचार किया गया है)। 'सतसई' के शेष अंश शब्द-रूप, शैली तथा विचार धारा की दृष्टियों से उस अंश से इतने भिन्न हैं कि वे अधिकतर प्रक्षिप्त ज्ञात होते हैं। उदाहरण के लिए उसके प्रारम्भ के ही निम्नलिखित दोहों को देखा जा सकता है—"नमो नमो नारायण परमातम नरधाम। जेहि सुमिरन सिधि होत है तुलसी जन मन काम।। परम पुरुष परधाम बर जा पर अपर न आन। तुलसी सो समुझत सुनत राम सोइ निरबान।। सकल सुखद गुन जासु सो राम कामना हीन। सकल कामप्रद सर्बहित तुलसी कहहिं प्रवीन।। जाके रोमे रोम प्रति अमित अमित ब्रह्मण्ड। सो देखत तुलसी प्रकट अमल सुअचल अखण्ड।।" उपर्युक्त पृथक दोहे का 'नमो नमो' तुलसी ग्रन्थावली में अन्यत्र नहीं मिलता है, यद्यपि "नम" के "नमाम", "नमामि" आदि रूप मिलते हैं। व्याकरण की दृष्टि से "सिधि" चिंत्य है, "जन मन काम" और "सिधि" में से एक ही "होत है" क्रिया का कर्ता हो सकता है। दूसरे दोहे में "परमधाम" के साथ "बर" अनावश्यक ही नहीं, निरा भरती का है। समानार्थियों "अपर" और "आन" में से एक ही होना चाहिए था, "समुझत" और "सुनत" प्रसंग में अनावश्यक ही नहीं, असंगत लगते हैं। तीसरे दोहे में "सकल" की पुनरुक्ति चिंत्य है। "सो" असंगत लगता है, "जो" कदाचित् अधिक संगत होता। चौथे दोहे का "रोम रोम", "रामावलि" आदि रूप तो 'तुलसी ग्रन्थावली' में मिलते हैं, "रोमे रोम" रूप कहीं नहीं मिलता है।

पुनः इसकी रचना-तिथि जो निम्नलिखित दोहे में दी हुई है, वह भी गणना से ठीक नहीं आती है—"अति रसना धन धेनु रस गनपति द्विज गुरुवार। माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार।।" इस दोहे के अनुसार तिथि सं० १६४२ वैशाख शु० ९ (सीता की जन्मतिथि) होती है किन्तु गणना से इस तिथि

को गुरुवार न पड़ करके बुधवार पड़ता है। अतः 'सतसई' अपने सतसई रूप में तुलसीदास की रचना नहीं है, उसका एक अंश ही, जो 'दोहावली' में पाया जाता है, तुलसीदास की रचना मानी जा सकती है।

—मा० प्र० गु०

सतसई २ (बिहारी)—दे० 'सतसैया'।

सतसैया—यह संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी में सात सौ छन्दों ('सप्तशती', 'सतसई', 'सतसई') के संकलनों की परम्परा में बिहारी की प्रसिद्ध रचना है (दे० 'सतसई', 'साहित्य कोश' प्रथम भाग)। इसका रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। 'सतसैया' ७१३ मुक्तक दोहों तथा सोरठों का संग्रह है। हिन्दी में 'सतसैया' पर इतना अधिक विचार हुआ और उसका मन्थन किया गया कि उसे लेकर पृथक वाङ्मय ही खड़ा हो गया। उसकी बहुत-सी टीकाएँ हुईं तथा उसके दोहों का विभिन्न क्रम बाँधा गया।

'सतसैया' की सबसे पहली गद्य-टीका कृष्णलाल की है। अन्त में उद्‌धृत दोहे के अनुसार उक्त टीका (१६६२ ई०) में बनी थी। यह टीका जयपुरी मिश्रित ब्रजी में लिखी गयी है। इसमें वक्ता-बोद्धव्य का उल्लेख है तथा साधारण अर्थ दिया गया है। इसकी प्रतिलिपि (१७६३ ई०) की लिखी मिलती है। दूसरी टीका मानसिंह की लिखी मिलती है, जिसका निर्माणकाल १६८० ई० के लगभग अनुमित है, इसकी एक प्रतिलिपि १७१५ ई० की मिलती है। इसमें नायिका-भेद का सामान्य उल्लेख तथा अर्थ है। तीसरी मुख्य टीका किसी अनवर खाँ के लिए लिखी गयी 'अनवरचन्द्रिका' है। इसकी रचना १७१४ ई० में शुभकरण और कमलयन नामक दो कवियों ने मिलकर की है। टीका में अर्थ न देकर काव्यांग की बातों पर ही विचार किया गया है तथा वक्ता-बोद्धव्य, अलंकार, ध्वनि आदि का। ध्वनि की चर्चा साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। इस टीका में अर्थ की जो कमी थी, उसे पन्ना के कर्ण कवि ने पूर्ण करके 'साहित्य चन्द्रिका' नाम की स्वतन्त्र टीका १७३७ ई० में लिखी। ध्वनि का विचार इसमें 'अनवर चन्द्रिका' की ही पद्धति पर किन्तु स्वच्छन्द किया गया है। जयपुराधीश के मन्त्री भण्डारी नाड़ला अमरचन्द के अनुरोध से १७३७ ई० में सूरतमिश्र ने इस पर 'अमर चन्द्रिका' नाम की टीका लिखी। इसमें अलंकारों का निरूपण पाण्डित्यपूर्ण है। इसका मत 'अनवर चन्द्रिका' से भिन्न है। सारी टीका दोहों में है। काशिराज महाराज बरिबण्ड सिंह के सभाकवि रघुनाथ बन्दीजन ने भी एक टीका १७४५ ई० में लिखी थी, जो नहीं मिलती। १७५२ ई० में ईसवी खाँ ने 'रस चन्द्रिका' नामक टीका लिखी। इसमें नायिका, वक्ता-बोद्धव्य, अर्थ और अलंकार दिये गये हैं। अलंकारों का वर्णन औरों से भिन्न है। १७७७ ई० में हरिचरणदास ने 'हरिप्रकाश' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। यह भारतजीवन प्रेस, काशी से छपी थी। इसमें सरल भाषा में शब्दार्थ और भावार्थ अच्छे ढंग से समझाये गये हैं तथा अलंकार-निर्देश भी है। कहीं-कहीं शब्दों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये हैं और खींचतान से अर्थ किया गया है। मनिराम ने 'प्रताप चन्द्रिका' नामक तिलक किया, जो सम्भवतः जयपुराधीश प्रतापसिंह के आश्रित थे। इन्होंने टीका कुछ नहीं की। ये 'अनवर चन्द्रिका' और 'अमर चन्द्रिका' के अलंकारों की छानबीन ही करते रहे और नये अलंकारों तथा काव्यांगों की विधि मिलाते रहे। १७०४ ई० में ठाकुर कवि ने देवकीनन्दन सिंह के प्रीत्यर्थ 'सतसैयावर्णार्थ' टीका लिखी, जिसका नाम 'देवकीनन्दन टीका' भी है। इसमें अर्थ बड़े विस्तार से किया गया है तथा गूढ़ार्थ खोलने में कवि ने बड़ा परिश्रम किया है। गुजरात प्रान्त के रणछोड़ दीवान ने १८०३ ई० १८१३ ई० (सं० १८६०-७०) के लगभग इसकी टीका लिखी। इसमें शब्दार्थ-भावार्थ के साथ अलंकारों का भी निर्णय है और काव्य का तारतम्य भी दिखाया गया है। लल्लूलाल की लिखी प्रसिद्ध टीका 'लाल चन्द्रिका' उत्तम तो नहीं है पर ग्रियर्सन साहब ने परिश्रमपूर्वक सम्पादित करके उसे प्रकाशित कराया। इसकी भाषा में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का मिश्रण है। इसका पहला संस्करण सन् १८११ ई० में कलकत्ता के संस्कृत प्रेस से, दूसरा काशी के लाइट प्रेस से, तथा तीसरा ग्रियर्सन का १८९६ ई० में कलकत्ता के गवर्नमेंट प्रेस से छपा था। नवलकिशोर प्रेस का संस्करण बहुत भ्रष्ट छपा है। प्रसिद्ध कवि सरदार ने भी 'सतसैया' पर टीका लिखी थी, जो उपलब्ध नहीं है। प्रभुदयाल पाण्डे की आधुनिक खड़ीबोली में लिखी टीका १८९६ ई० में कलकत्ता के बंगबासी आफिस से निकली थी। इसमें अन्वय, सरलार्थ और शब्दों की व्युत्पत्ति दी गयी है। ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'भावार्थ प्रकाशित टीका' १८९७ ई० में समाप्त हुई। इस टीका में पण्डिताई का प्रदर्शन करते हुए विचित्र पाठ एवं अर्थ दिये गये हैं तथा अलंकारों का भी निर्देश है। पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवनभाष्य' उनके स्वर्गवास से अपूर्ण रह गया। इसका पहला भाग १९२८ ई० में निकला, जिसमें बिहारी की आलोचना और अन्य कवियों के साथ उनकी तुलना की गयी है। दूसरे भाग का केवल प्रथम खण्ड ही निकल पाया, जिसमें १२६ दोहों की टीका २८४ पृष्ठों में की गयी है। लाला भगवानदीन की 'बिहारी बोधनी' वस्तुतः बहुत ही सुबोध है और इसका अत्यधिक प्रचार भी है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'बिहारी रत्नाकर' १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ लगभग २२ वर्ष तक अथक परिश्रम करके अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की सहायता से इसे सम्पादित किया गया है। 'सतसैया' पर यह सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है।

हिन्दी में नहीं, अन्य भाषाओं में भी इसकी टीकाएँ लिखी गयीं। संस्कृत की एक टीका का उल्लेख अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी बिहार' में किया है पर उसके लेखक का पता नहीं चलता। संस्कृत की दूसरी टीका का उल्लेख 'रत्नाकर' जी ने किया है। यह 'देवकीनन्दन टीका' का संस्कृत उल्था जान पड़ता है। इसकी गुजराती टीका का नाम है 'भावार्थ प्रकाशिका' और रचयिता हैं सविता नारायण कवि। इसका निर्माणकाल है १९३९ ई०। हिजरी सन् १३१४ में (सन् १८९५ के लगभग) श्री जोशी आनन्दीलाल शर्मा ने 'सफरंगे सतसई' नामक टीका फारसी में लिखी।

'सतसैया' का पद्यों में भी पल्लवन-अनुवदन हुआ है। पल्लवन कवित्त, सवैया, कुण्डलिया आदि बड़े छन्दों में है और पद्यानुवाद संस्कृत और उर्दू में। कुण्डलियों में पल्लवन १७०४ ई० के आसपास सबसे प्रथम पठान सुलतान का मिलता है पर पूरा नहीं। कुण्डलिया बाँधनेवाले दूसरे शख्स हैं नवाब

जुल्फिकार अली। ग्रन्थ के अन्त में १८४६ ई० समय उल्लिखित है। तीसरे सज्जन है ईश्वरीप्रसाद कायस्थ। इनका ग्रन्थ नहीं मिलता। चौथे व्यक्ति हैं सुप्रसिद्ध अम्बिकादत्त व्यास। इनके ग्रन्थ में बिहारी सम्बन्धी वाङ्मय की पर्याप्त सामग्री एकत्र है। बिहारी के समय, वंश तथा कवित्व की विस्तृत आलोचना से इसके महत्त्व में पर्याप्त वृद्धि हुई है। कुण्डलियों में विस्तार करने वाले पटना के सिख-संगत के महन्त साहबजादे बाबा सुमेर सिंह भी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पण्डा जोखूराम ने भी 'सतसैया' के कुछ दोहों पर कुण्डलियाँ लगायी थीं। कवित्त-सवैयोंवाली सबसे पहली टीका कृष्ण कवि की है, जिन्होंने १७२५ ई० में ग्रन्थ समाप्त किया। दूसरी 'रसकौमुदी' नाम की टीका जानकीप्रसाद उपनाम 'रसिक बिहारी' या 'रसिकेश' ने १८७० ई० में लिखी। दोहे को सवैया करनेवाले ईश्वर कवि नाम के एक सज्जन और हैं, जिनकी रचना का समय १९०४ ई० है। संस्कृत में इसके दो पद्यान्तर हुए, एक 'आर्यागुम्फ' और दूसरा 'श्रृंगार-सप्तशती'। 'आर्यागुम्फ' की रचना काशिराज चेतसिंह के दरबारी पण्डित और प्रधान कवि हरिप्रसाद ने १७८० ई० में की थी। 'श्रृंगार सप्तशती' १८६८ ई० में पद्यान्तर के साथ साथ संस्कृत में ही विस्तृत टीका पं० परमानन्द ने की थी और उसे भारतेन्दु और उनके मित्र रघुनाथ पण्डित के प्रीत्यर्थ बनाकर उन्हें समर्पित किया था। मुंशी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने उर्दू में 'गुलदस्तए बिहारी' नाम से दोहों को शेरों में बड़ी इल्मियत से ढाला है।

'सतसैया' पर दिमागी कसरत के जौहर भी दिखाये गये। सुना जाता है कि छोटूराम नाम के किसी व्यक्ति ने दोहों को वैद्यक पर घटाया था। लाला भगवानदीन ने बिहारी को शान्त करते हुए 'शान्त बिहारी' नाम से दोहा का अर्थ अपनी सम्पादित 'श्री विद्या' में निकाला था।

संक्षेप में 'सतसैया' के प्रमुख क्रम इस प्रकार हैं। इसके दोहों का पहले कोई क्रम न था। इसका पता विभिन्न टीकाओं और क्रम बाँधनेवालों की भूमिकाओं से चलता है। यों तो १३-१४ क्रमों का पता चलता है पर उनमें से प्रमुख और महत्त्वपूर्ण क्रम ५-६ ही हैं। सबसे प्राचीन पोथियों के आधार पर निश्चित किये गये क्रम की स्पष्ट विशेषता यह है कि १०-१० दोहों के अनन्तर दोहा नीति-सम्बन्धी या ईश्वर-विनय का रखा गया है। बीच के दोहों में और कोई विशेष क्रम नहीं है। कहा जाता है कि जिस क्रम से 'सतसैया' के दोहों का निर्माण हुआ, उसी क्रम से इसमें दोहे पाये जाते हैं। इस क्रम पर कृष्णलाल की गद्य टीका, मानसिंह विजय-गढ़वाले की टीका, फारसीवाली टीका और 'बिहारी रत्नाकर' हैं। दूसरों द्वारा बाँधे गये क्रमों में सबसे पहला कोविद कवि का क्रम है (१६८५ ई०), जिसमें विषय-क्रम के अनुसार पुराना क्रम तोड़ दिया गया है। यह कोई महत्त्वपूर्ण और अच्छा साहित्यिक क्रम नहीं है। प्रसिद्ध क्रमों में सबसे पहला पुरुषोत्तम दास का बाँधा है (१६८८ ई० के आसपास)। इसकी विशेषता यह है कि पहले नायिका-भेद और नखशिख के दोहे रखे गये हैं और अन्त में नीति एवं भक्ति के। इसी क्रम पर 'अमर चन्द्रिका', हरिप्रकाश टीका, जुल्फिकार की कुण्डलियाँ, 'बिहारी बोधिनी' और 'गुलदस्तए बिहारी' हैं। सबसे अच्छा क्रम 'अनवर चन्द्रिका' का है (१७१४ ई०)। यह क्रम रसनिरूपण के अनुसार है। इसमें सोलह प्रकाश हैं। पहले में कवि ने अपने प्रभु के वंश का वर्णन किया है। उसके आगे तेरह प्रकाश तक नख-शिख, नायिकाभेद, वियोग दशा, सात्त्विक एवं हावादि के दोहे हैं और अन्त में नवरस, षड्ऋतु और अन्योक्ति के। इस क्रम पर 'साहित्य चन्द्रिका', 'प्रताप चन्द्रिका' और रणछोड़ दीवान की टीका है। आजमशाही क्रम (१७२४ ई०) आजमगढ़ के तत्कालीन अधिकारी आजम खाँ के अनुरोध से जौनपुर के हरिजू कवि ने लगाया था। यह भी नायिका-भेद को ही लेकर चला है। इसका ग्रहण 'लाल चन्द्रिका', 'भावार्थ प्रकाशिका', 'बिहारी विहार', 'संजीवन भाष्य' और 'श्रृंगार सप्तशती' में किया गया है। कृष्ण दत्तवाली 'कवितावली बँध टीका' में भी स्वतन्त्र क्रम है, जो विषय के अनुसार है। इस क्रम पर प्रभुदयाल पाण्डेकी और गुजरातीवाली टीका है। ईसवी खाँ ने दोहों को अकारादि क्रम से रखा है। सम्भव है इन क्रमों के अतिरिक्त भी और क्रम हों क्योंकि एतत्सम्बन्धी बहुत सा वाङ्मय अप्राप्त है।

हिन्दी साहित्य की विशिष्ट रचनाओं में 'सतसैया' को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। इसकी साहित्यिक विशेषताओं एवं बिहारीसम्बन्धी वाङ्मय के लिए देखिये 'बिहारीलाल'।

—वि० प्र० मि०

सत्यनारायण (मोटरु)—जन्म २ फरवरी, १९०२ ई० को आन्ध्र प्रदेश के कृष्णा जिले में दोंडपाटु ग्राम में हुआ। गत ४० वर्षों से दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन का नेतृत्व किया है। कांग्रेस के सदस्य वे अवश्य रहे किन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दी प्रचार सभा को छोड़ उन्होंने किसी भी राजनीतिक अथवा सामाजिक सभा सोसायटी को नहीं अपनाया। उनके व्यक्तित्व के दो विशेष गुण हैं—हिन्दी प्रचार के लिए उनकी तल्लीनता और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उनका अथक परिश्रम।

सन् १९२१ ई० में गान्धीजी के निमन्त्रण पर हिन्दी प्रचार आन्दोलन में भाग लिया। हिन्दी अध्यापन के साथ साथ स्वयं पढ़ने का अध्यवसाय भी बराबर करते रहे। हिन्दी साहित्य का गहन अध्ययन किया और दक्षिण भारतीयों साथियों तथा विद्यार्थियों को अनुप्राणित किया। अपने व्यवस्थाकौशल से हिन्दी-परीक्षाओं के प्रबन्ध में सुधार किये। सन् १९३६ से १९३८ तक वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्कल, बंगाल और आसाम में हिन्दी प्रचार का संगठन किया। दक्षिण में हिन्दी प्रचार का कार्य चार शाखाओं में विभाजित किया। १९३८ से १९६० ई० तक दक्षिण प्रचार सभा के प्रधान मन्त्री रहे। वास्तव में तो सत्यनारायणजी और हिन्दी प्रचार सभा की प्रगति पर्यायवाची हो गये हैं।

सत्यनारायणजीने जो हिन्दी सेवा की है, वह प्रचार और साहित्य-सृजन दोनों की दृष्टि से स्तुत्य है। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिण में हिन्दी प्रचार का कार्य सुव्यवस्थित ढंग से चलता रहा है। इस कार्य के महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगता है कि आजकल दक्षिण से प्रायः दो लाख छात्र और छात्राएँ प्रतिवर्ष हिन्दी परीक्षाएँ देती हैं। आज हिन्दी का प्रचार दक्षिण में इतना आगे बढ़ चुका है कि नयी पीढ़ी के प्रायः सभी

लोग हिन्दी बोलने अथवा कम से कम समझने लगे हैं। इस बात का श्रेय दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा और सत्यनारायणजी जैसे उसके कर्मठ तथा त्यागशील कार्यकर्त्ताओं को ही है। हिन्दी के अतिरिक्त ये तेलुगु, तमिल, संस्कृत, मराठी, बंगला, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा ज्ञान रखते है।

—ग्रा० द०

सत्यनारायण कविरत्न—जन्म सराय नामक ग्राम में २४ फरवरी, १८८० ई० को और मृत्यु १६ अप्रैल, १९१८ ई० को हुई थी। इनका पालन-पोषण ताजगंज (आगरा) के बाबा रघुबरदास के यहाँ हुआ था। दिसम्बर, १८९६ ई० में मिढ़ाकुर के टाउन स्कूल से मिडिल स्कूल, जनवरी, १९०० ई० में मुफीदाम स्कूल से एन्ट्रेन्स और अप्रैल, १९०८ ई० में सेन्टपीटर्स कालेज से एफ० ए० की परीक्षाएँ इन्होंने पास की। सेन्टजान्स कालेज, आगरा से १९१० ई० मे बी० ए० की परीक्षा दी किन्तु उत्तीर्ण न हो सके। इनका विवाह 'मेरी शारदा-सदन' के अधिष्ठाता पं० मुकुन्दराम की ज्येष्ठ कन्या सावित्री से हुआ था। दोनों के रहन-सहन, आचार-विचार और शील-स्वभाव में काफी अन्तर होने के कारण इनका गार्हस्थ्य जीवन एकदम असफल रहा। कवि का जीवन दरिद्रता, अशान्ति, असन्तोष और सघर्ष का पर्याय था। चरित्र निष्कपट और स्वभाव सरल, मिलनसार एव हँसोड़ था। वे धर्म से सनातनी और जाति से सनाढ्य ब्राह्मण थे। उन पर स्वामी रामतीर्थ के विचारों और तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण का विशेष प्रभाव पड़ा था। वे सभी प्रकार के आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते थे। सभाओं में स्वागत-गान तथा अभिनन्दन-पत्रसम्बन्धी कविता लिखकर पढ़ते थे और आवश्यकता पडने पर प्रभावशाली व्याख्यान भी दे लेते थे।

कविरत्न की कवित्व-शक्ति का स्फुरण विद्यार्थी-जीवन में ही हो गया था। प्राचीन ढंग के विनय-पद, श्रृंगारिक समस्यापूर्तियों और अन्य कवियो के श्रृंगारपरक दोहों के भावों का टीका रूप में कवित्वमय पल्लवन उनके प्रारम्भिक प्रयोग हैं। १९०४ ई० के बाद उनकी प्रौढ़ रचनाओं के मुख्य विषय भक्ति, राष्ट्रीय भावना, देश-प्रेम और महापुरुषों के स्तवन हो गये। 'वन्देमातरम्' और 'करुणा-क्रन्दन' आदि कविताओं में भारत की दयनीय अवस्था का करुण चित्र उपस्थित किया गया है। १९१७ ई० में कुली-प्रथा के विरोध में लिखी गयी कविता 'दुखियों की पुकार' भी इसी क्रम की है। उनका करुणापूरित हृदय काफी उदार था। उन्होंने जहाँ अपनी माता की मृत्यु पर 'विलाप' किया, वहाँ राजमाता विक्टोरिया के निधन पर शोक गीत भी लिखा। 'श्री तिलक-वन्दना', 'श्री सरोजनी नायडू-षटपदी', 'रवीन्द्र-वन्दना', 'श्री रामतीर्थाष्टक' और 'गान्धी-स्तव' आदि कविताओं द्वारा उनकी वाणी अनेक महापुरुषों का स्तवन करती रही है। वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अतिरिक्त रेवरेण्ड जोन्स और सी० ए० डाब्सन आदि विदेशियों से भी हिन्दी के अभ्युदय के लिए निवेदन किया है। इस दृष्टि से 'श्री ब्रजभाषा' शीर्षक कविता अत्यन्त उत्कृष्ट है। इस प्रकार की फुटकर कविताएँ 'हृदय तरंग' नाम के संग्रह में संकलित हैं, जिसका सम्पादन बनारसीदास चतुर्वेदी ने किया है। इस संग्रह की दो अत्यन्त प्रसिद्ध कविताएँ 'भ्रमर दूत' और 'प्रेमकली' है। 'भ्रमरदूत' का कथानक प्राचीन है और शैली नन्ददास के 'भ्रमरगीत' की किन्तु चरित्र और भाव नये हैं। गोपियों का स्थान माता यशोदा ने ले लिया है। विप्रलम्भ श्रृंगार के स्थान पर वियोग-वात्सल्य और राष्ट्रीय भावना की व्यंजना हुई है। 'प्रेमकली' में प्रेम की गोपनीयता और अलौकिकत्व प्रतिपादित है। 'हृदय-तरंग' की इन स्वतन्त्र कविताओं के अतिरिक्त कवि ने कई अंग्रेजी कविताओं, रवीन्द्रनाथ के कुछ पदों, भवभूति के दो नाटकों—'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' तथा लॉर्ड मैकॉले की एक पुस्तिका का ('होरेशस' नाम से) अनुवाद भी किया है। इन अनुवादों मे कवि की सबसे बड़ी सफलता मूल भावों की रक्षा करते हुये इन्हें स्वतन्त्र कृति का रूप प्रदान करने की है। भवभूति के नाटकों का गद्यांश खडीबोली गद्य और पद्यांश ब्रजभाषा में अनूदित है। राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित कालिदासकृत 'शकुन्तला नाटक' का संशोधन और 'स्वदेश बान्धव' पत्र (आगरा) के पद्य-विभाग का सम्पादन इन्होंने किया है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त खडीबोली की कविताएँ भी लिखी हैं।

कविरत्न एक देशप्रेमी भक्त कवि हैं। उनके आराध्य भारतमाता और 'भूभार उतारन' 'रंगीलो साँवरो' हैं। प्रेम का आदर्श पतंग-प्रेम है, जिसमे प्रेमी का आत्मोसर्ग अनिवार्य है। आत्मनिवेदन उपालम्भ के रूप में है और दैन्य निजी न होकर देशपरक है। राष्ट्रीयता अखण्ड भारतीयता है। उसमें हिन्दू, सनातनी, आर्यसमाजी, ईसाई, मुसलमान अलग-अलग नहीं, अपितु एक जाति एक धर्म और एक राष्ट्र के हैं। अपने सामाजिक विचारों में कवि सर्वांगीण अभ्युदय का अभिलाषी है। उसकी दृष्टि में 'भारत वसुन्धरा' के गिरते हुए गौरव की रक्षा के लिए संकुचित भावना और सभी प्रकार की संकीर्णताओं का त्याग आवश्यक है। कविरत्न को प्रकृति प्रिय है और मानव को स्वतन्त्र रहने की प्रेरणा देती है क्योंकि वह स्वयं स्वच्छन्द है। वे एक समन्वयवादी कलाकार हैं। रसिया, पद, छप्पय, कुण्डलिया, अष्टक, षट्पदी, दोहावली, अन्योक्ति, स्तवन, गजल, शोक-गीत आदि प्राचीन-नवीन और देशी-विदेशी शैलियों का प्रयोग उनके काव्य में हुआ है। विषयों और विचारों में भी यह समन्वय-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनकी भाषा परिनिष्ठित किताबी ब्रजभाषा न होकर बोलचाल की जीवन्त भाषा है, जिसकी बहुत बड़ी विशेषता ग्रामीण सरलता एवं मधुरता है। कुल मिलाकर कविरत्न ने मध्ययुगीन भक्ति एवं श्रृंगार-परम्पराओं को नवीन भावनाओं से समृद्ध किया है। युग-चेतना और सामयिक विचारधारा से ब्रज-भाषा काव्य का अभिनव श्रृंगार किया है। ब्रजभाषा उनकी सहज ग्राम-भाषा की संजीवनी से अनुप्राणित होकर सजीवन एवं सशक्त हुई है। सत्यनारायण हिन्दी के राष्ट्रीय गायक और आधुनिक ब्रजभाषा काव्य की 'बृहत्त्रयी' (हरिश्चन्द्र, रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न) के कवि हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हृदय तरंग : सम्पादक—बनारसीदास चतुर्वेदी; कविरत्न सत्यनारायणजी की जीवनी : बनारसीदास चतुर्वेदी।]

—स० ना० त्रि०

सत्यप्रकाश—जन्म १९०५ ई० में हुआ। हिन्दी माध्यम से

वैज्ञानिक विषयों पर लिखनेवालों में अग्रणी। शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय मे हुई, जहाँ रसायन विभाग में प्राध्यापक तथा विभागाध्यक्ष रहे। विश्वविद्यालय से अवकाश लेने के बाद सन्यास ग्रहण कर लिया। अंग्रेजी-हिन्दी पारिभाषिक कोशो का निर्माण किया है। 'विज्ञान परिषद्' के प्रमुख सचालको में हैं। कृतियों मे प्रमुख है-'अंग्रेजी हिन्दी वैज्ञानिक कोश' (१९५०), 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' (१९५४ ई०), 'सामान्य रसायन शास्त्र'।

—सं०

सत्यभामा—यह कृष्ण की विवाहिता एवं जामवन्त की कन्या थी। जामवन्त से युद्ध होने पर जब अन्त में जामवन्त ने उन्हें पहचाना, तब उन्होंने अपने बेटी जामवन्ती का विवाह उनसे कर दिया। इस प्रकार सत्यभामा कृष्ण की अनुकम्पापात्री रूप में वर्णित हुई है (सू० सा० पद ४८०८)।

—रा० कु०

सत्यवती मल्लिक—१९०७ ई० में श्रीनगर मे जन्म हुआ। प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य में विशेष रुचि थी। रचनात्मक साहित्य की गद्यशैलियों में सत्यवती मल्लिककी शैली का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमती मल्लिकने केवल दो विधाओ में ही साहित्यिक रचनाएँ की हैं—पहली विधा तो कहानी और स्केच की है और दूसरी विधा व्यक्तिगत निबन्धो की है। कहानी के लगभग तीन सग्रह, जीवनी की एक पुस्तक और स्केच का एक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीमती मल्लिक की कहानियों में दो प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से पाई जाती हैं। पहली तो सहज रोमानी मूड में स्वप्निल दुनिया की झलकियाँ और दूसरे आदर्शवादी नायक की कल्पना को प्रतिष्ठित करने की भावना। यथार्थ और आदर्श की कटु परीक्षा की घड़ियों में उदात्त की रोमानी प्रतिष्ठा आपकी रचनाओं में समान रूप से मिलती है। श्रीमती मल्लिक की कहानियों की अन्य विशेषता यह है कि वह यथार्थ की मानवीय अनिवार्यता के साथ आदर्श की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहती है। प्राय: इन दोनों के संघर्ष में पात्रों की स्वाभाविकता को कुछ धक्का पहुँचता है किन्तु शायद जिस युग में श्रीमती मल्लिकने अपनी कहानियाँ लिखी हैं, वह युग ही इन विरोधी सघर्षों का था। फिर श्रीमती मल्लिक अपने समय की जागृति के प्रति भी जागरूक थीं, इसलिए कुछ कहानियाँ तो नितान्त प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।

उद्देश्यपूर्ण अन्त को दृष्टिगत रखने के नाते आपकी जीवनी 'मानव रत्न' की भी प्रेषणीयता सीमित रह जाती है। यही कमी आपके रेखाचित्रों 'अमिट रेखाएँ' में भी खटकती है। या तो चरित्रों के प्रति अतिरंजित दृष्टि अपना ली है या उसमें इतनी भावुकता भर दी है कि वह नाटकीय हो गये हैं। रंगविहीन वस्तुपरकता उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सकी है।

निबन्ध में इसी आत्मपरक शैली का महत्त्व निखर सकता था, लेकिन अति परिचित निबन्धों की अपेक्षा वे फिर भावनात्मक होकर रह गये हैं।

आपकी प्रकाशित कृतियाँ इस प्रकार हैं—'दो फूल' (कहानी संग्रह १९४८), 'मानव रत्न' (जीवनी १९४९), 'बैसाख की रात' (कहानी संग्रह १९५१), 'अमिट रेखायें' (रेखाचित्र १९५१), 'अमर पथ' (निबन्ध १९५४), 'दिन रात' (कहानीसंग्रह १९५५)।

—ल० कां० व०

सत्य हरिश्चंद—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। कथा पौराणिक और क्षेमेश्वरकृत 'चण्डकौशिक' पर आधारित, किन्तु विधान में मौलिक है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा भारत के घर-घर में प्रचलित है। उसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चार अकों में विभाजित कर प्रस्तुत किया है। पहले अंक में नारद से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर विश्वामित्र उन्हें तेजोभ्रष्ट करने का दृढ़ निश्चय करते हैं। दूसरे अंक में महारानी शैव्या का दुःस्वप्न है और हरिश्चन्द्र क्रोधी विश्वामित्र को राज-दान कर दक्षिणा के लिए एक मास की अवधि माँगकर देह, दारा, सुअन बेचने के लिए महल छोडकर चल देते हैं। तीसरे अक के अंकावतार में भैरव हरिश्चन्द्र के अगरक्षक नियुक्त होते हैं। तीसरे अंक में हरिश्चन्द्र अपने को चाण्डाल के हाथ बेचकर विश्वामित्र का ऋण पूरा करते हैं और मसान पर कफन का दान लेने मे प्रवृत्त हो जाते हैं। इस अंक के आरम्भ मे काशी और गगा का अच्छा वर्णन हुआ है। चौथे अंक में हरिश्चन्द्र अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। अन्त मे सत्य पर अडिग पाकर महादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इन्द्र और विश्वामित्र प्रकट हो जाते हैं। विश्वामित्र क्षमा-याचना करते हैं और महादेव, पार्वती और भैरव हरिश्चन्द्र को आशीर्वाद तथा वरदान देते हैं। इस अंक मे श्मशान के वर्णन और वीभत्स, भयानक तथा करुण रसों की सुन्दर अवतारणा हुई है। सम्पूर्ण नाटक मे वीर (सत्यवीर और दानवीर) रस की निष्पत्ति पाई जाती है। उसमें रूपक-रचना के लगभग सभी प्रमुख लक्षण पाये जाते हैं।

—ल० सा० वा०

सत्येंद्र—जन्म सन् १९०७ ई० में हुआ। साहित्य के प्रति रुचि पिता के कारण जागरित हुई। आप हिन्दी साहित्य परिषद्, मथुरा, सुहृद् साहित्य गोष्ठी तथा ब्रज साहित्य मण्डल के संस्थापकों में से हैं। लोक-साहित्य के परम मर्मज्ञ हैं। 'उद्धारक', 'ज्योति', 'साधना', 'ब्रजभारती' और 'आर्य मित्र' के सम्पादक रहे हैं।

प्रकाशित पुस्तकें निम्नांकित हैं—'साहित्य की झाँकी', 'गुप्तजी की कला', 'हिन्दी एकांकी', 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला', 'कुणाल', 'प्रायश्चित', 'मुक्ति यज्ञ', 'बलिदान', 'स्वतन्त्रता के अर्थ', 'नागरिक कहानियाँ', 'विज्ञान की करामात', 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन', 'कला, कल्पना और साहित्य', 'हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ', 'मध्यकालीन साहित्य का लोक-तात्त्विक अध्ययन'।

'साहित्य की झाँकी' उनकी प्रथम साहित्यिक रचना है, जो क्रमशः 'वीणा' में प्रकाशित हुई थी। 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' पी० एच० डी० के लिए लिखा गया प्रबन्ध है। 'बलिदान' और स्वतन्त्रता का अर्थ' उनके एकांकी नाटक हैं। 'नागरिक कहानियाँ' और विज्ञान की करामात' पाठ्य-पुस्तकें हैं। 'कला, कल्पना और साहित्य' एवं 'हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ' इनके साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। 'मध्यकालीन साहित्य का लोक-तात्त्विक अध्ययन' डी० लिट्० की थीसिस पर आधारित है।

सत्येन्द्र अपनी आलोचना में शब्दों और प्रवृत्तियों के

ऐतिहासिक विवेचन के कारण अन्य आलोचकों से सर्वथा पृथक् लगते हैं। उनकी आलोचना-पद्धति अंग्रेजी ढंग की है। दर्शन, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के आधार के साथ प्रभाववादी आलोचना के भी कुछ तत्त्व उनमें मिलते हैं। पर सत्येन्द्र का मुख्य कार्य-क्षेत्र लोक साहित्य का अध्ययन ही माना जायगा।

—ह० दे० बा०

सदल मिश्र—बिहार प्रान्त के शाहाबाद ज़िले के ध्रुवडीहा गाँव के रहनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नन्दमणि मिश्र था। इनका जन्म अनुमानतः सन् १७६७-६८ ई० में और मृत्यु सन् १८४७-४८ ई० में हुई थी। ये कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी विभाग में अध्यापक थे। सम्भवतः ये सदैव अस्थायी अध्यापक के रूप में ही कार्य करते रहे क्योंकि कालेज के स्थायी अध्यापकों की सूची में इनका नाम नहीं मिलता। इनकी दो गद्य कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—१. 'नासिकेतोपाख्यान' या 'चन्द्रावती' (१८०३ ई०) और २. 'रामचरित' (१८०६ ई०)। 'नासिकेतोपाख्यान', 'यजुर्वेद', 'कठोपनिषद्' और पुराणों में वर्णित है। सदल मिश्र ने इसे स्वतन्त्र रूप से खड़ीबोली गद्य में प्रस्तुत करके सर्वजन सुलभ बना दिया। इसकी वर्णनशैली मनोरंजक और काव्यात्मक है। यह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुकी है। 'रामचरित' 'अध्यात्म रामायण' का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी रचना गिल क्राइस्ट के आग्रह पर अरबी और फारसी के शब्दों से रहित शुद्ध खड़ीबोली में की गयी है। इधर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने 'सदलमिश्र ग्रन्थावली' के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों कृतियों—'नासिकेतोपाख्यान', 'रामचरित'—का सुन्दर संस्करण (१९६० ई०) प्रकाशित किया है।

प्रारम्भिक खड़ीबोली गद्य-लेखकों में सदल मिश्र का विशेष महत्त्व है। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है"। श्यामसुन्दर दास ने तत्कालीन गद्य लेखकों में इंशा के बाद इनका दूसरा स्थान स्वीकार किया है। यह होने पर भी इनकी भाषा परिमार्जित नहीं कही जा सकती। शब्द-संघटन और वाक्य-विन्यास दोनों में ही ब्रजभाषा, पूरबी बोली और बंगला इन तीनों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। 'फूलन्ह के बिछाने', 'सोनन के थम्भ', 'चहुँदिसि', आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। 'बरते थे', 'बाजने लगा', 'मतारी', 'जौन' आदि प्रयोग पूरबी बोली के हैं। इसी प्रकार 'कौंदती हैं' (रोने के अर्थ में), 'गाँछों' (वृक्ष के अर्थ में) आदि कई शब्द बंगला से आ गये हैं। कहीं कहीं खड़ीबोली के आग्रह और ब्रजभाषा के संस्कार के कारण शब्दों का एक नया रूप ढल गया है। 'आवते', 'जावते', 'पुरावते' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इन्होंने 'और' के लिए प्रायः 'वो' का प्रयोग किया है। इनमें व्याकरण की त्रुटियाँ भी हैं और पण्डिताऊपन के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाली शिथिलता भी। समस्त दुर्बलताओं के बावजूद आपकी भाषा में आधुनिक "हिन्दी-गद्य के मान्य स्वरूप का पूरा-पूरा आभास मिल जाता है। आपकी भाषा तत्सम तद्भव शब्द-राशि का अधिकाधिक भार वहन करने की शक्ति की परिचायक है और ईषत् परिष्कार से परिमार्जित आधुनिक हिन्दी का रूप ग्रहण कर सकती है।" इस दृष्टि से हिन्दी-गद्य के विकास में आपका ऐतिहासिक महत्त्व है।

[सहायक ग्रन्थ—सदल मिश्र ग्रन्थावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।]

—रा० चं० ति०

सदासुख लाल—हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य लेखकों में सदासुख लाल 'नियाज' का अन्यतम स्थान है। इन्होंने तत्कालीन हिन्दी खड़ीबोली गद्य का उर्दू से स्वतन्त्र निजी स्वरूप प्रस्तुत किया है। इनका जन्म दिल्ली में सन् १७४६ ई० में हुआ था। ये फारसी और उर्दू के अच्छे लेखक और शायर थे। सन् १७९३ ई० के लगभग ये कम्पनी सरकार की सेवा में चुनार में तहसीलदार के पद पर प्रतिष्ठित थे। आप स्वतन्त्र विचारोंवाले सज्जन और भक्त-हृदय व्यक्ति थे। सन् १८१८ ई० में आपने 'मुंतखबुत्तवारीख' लिखी, जिसमें अपने जीवन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया। ६५ वर्ष की अवस्था (सन् १८११ ई०) में आपने नौकरी छोड़ दी। शेष जीवन आपने प्रयाग में रहकर भगवद्भजन करते हुए व्यतीत किया। 'विष्णु पुराण' के कुछ उपदेशात्मक और नैतिक प्रसंगों को चुनकर आपने 'सुखसागर' नामक पुस्तक लिखी। यह कृति अधूरी प्राप्त हुई है। खास दिल्ली के निवासी होते हुए भी, पौराणिक प्रसंगों को लेकर पुस्तक रचना करते समय, आपने हिन्दी खड़ीबोली गद्य के उस रूप को स्वीकार किया, जो समस्त हिन्दी-प्रदेश के शिष्ट हिन्दुओं, कथावाचकों, पण्डितों और साधु-सन्तों में प्रचलित था। आपके गद्य में संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों का समावेश अधिक है। हिन्दी गद्य की यह परम्परा अंग्रेजी के प्रभाव क्षेत्र से अलग रामप्रसाद 'निरंजनी' और दौलतराम द्वारा पहले से ही प्रतिष्ठित चली आ रही थी। आपने उसे अधिक स्वच्छ, सरल और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया। पण्डिताऊपन आपके गद्य में भी है। "निजस्वरूप में लय हूजिए", "तोता है सो नारायण का नाम लेता है", "इससे जाना गया", "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए", "उन्हीं लोगों से बन आवै है" आदि प्रयोग पण्डिताऊपन के ही सूचक हैं। भाषा के संस्कृतमिश्रित रूप के प्रति आपके मन में विशेष मोह था क्योंकि 'भाखा' नाम से यह रूप परम्परा से चला आ रहा था। इस स्थान पर फारसी बहुल उर्दू गद्य की प्रतिष्ठा होते देख आपने कहा था—"रस्मोरिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया"। आपकी मृत्यु ७८ वर्ष की अवस्था में सन् १८२४ ई० में हुई।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल : आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।]

—रा० चं० ति०

सद्गुरुशरण अवस्थी—जन्म १९०१ ई० में हुआ। एम० ए० तक की शिक्षा कानपुर तथा आगरा में हुई। कानपुर के बी० एन० एस० डी० कॉलेज के प्रिंसिपल रहे। 'तुलसी के चार दल' तुलसी-साहित्य की समीक्षा है। प्रारम्भ में कुछ एकांकी नाटक भी लिखे।

—सं०

सनक-सनंदन—ऋषि सनक और सनंदन दोनों ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। इन दो के अतिरिक्त ब्रह्मा के दो पुत्र और थे—सनातन और सनत्कुमार। इन लोगों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ब्रह्मा ने इन्हें प्रजापति बनाना चाहा था पर सभी भाई

ईश्वरोपासना में लीन हो गये और इन्होंने प्रजापति होने से इन्कार कर दिया। विवश होकर ब्रह्मा ने अन्य पुत्र उत्पन्न किये।

इन ऋषियों का उल्लेख 'भागवत' आदि सभी पुराणों तथा हिन्दी भक्ति-काव्य में मिलता है।

—मो० अ०

सनातनधर्म—इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन २० जुलाई, सन् १९३३ ई० को महामना मालवीयजी के संरक्षण तथा संचालन में हुआ। यह पत्र हिन्दी का आदर्श साप्ताहिक पत्र था, जिसमें ज्ञान-विज्ञान के आधुनिकतम स्तम्भ थे और जिसे समकालीन अधिकारी विद्वानों, लेखकों तथा कवियों का सहयोग प्राप्त था। मालवीयजी स्वयं भी इसमें प्रायः अग्रलेख तथा विशेष लेख लिखते थे।

'सनातनधर्म' के प्रथम अंक का अग्रलेख मालवीयजी का लिखा हुआ है और उसका शीर्षक है—'सनातनधर्म का स्वरूप'। इस लेख की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं, उनमें सबसे प्राचीन वह धर्म है, जो 'सनातन' धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।" भगवान् मनु कहते हैं—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।" इस पत्र का सिद्धान्त वाक्य था—"जो हठि राखे धर्म को, तेहि राखे करतार।"

'सनातनधर्म' के प्रथम सम्पादक थे श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव'। उनके बाद यह साप्ताहिक पत्र श्री सीताराम चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में अपने जीवन के अन्तकाल (सन् १९४० ई०) तक निकलता रहा। इसके प्रथम अंक के स्तम्भों से ही इसके दृष्टिकोण की व्यापकता का परिचय मिल जाता है।

कवि सम्राट् 'हरिऔध', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डाक्टर अलतेकर, पण्डित चन्द्रवली पाण्डेय, आचार्य ध्रुव आदि उच्च कोटि के विद्वान् इसमें नियमित रूप से लिखा करते थे। 'सनातनधर्म' का वसन्त अंक, कृष्ण अंक, रामनवमी पर प्रकाशित विशेषांक, होली अंक आदि ने हिन्दी पत्रकारिता में एक मानदण्ड स्थापित किया है।

—ल० शं० व्या०

सनेही—दे० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'।

सप्तपुरी—अयोध्या, मथुरा हरिद्वार, काशी, कांची, उज्जयिनी और द्वारिका के सात पवित्र नगर अथवा तीर्थ, जो मोक्ष देने वाले कहे गये हैं।

—रा० कु०

सप्तर्षि—'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, यमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि तथा 'महाभारत' के अनुसार मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वशिष्ठ सप्तर्षि माने गये हैं। इसके अतिरिक्त सप्तऋषि से उन सात तारों का बोध होता है, जो ध्रुवतारा की परिक्रमा करते हैं।

—रा० कु०

सप्तसिंधु—पुराण और इतिहास में सप्तसिन्धु के सम्बन्ध में दो धारणाएँ प्रचलित हैं। पौराणिक परम्परा के अनुसार समस्त भूमण्डल सप्त-सिन्धुओं द्वारा घिरा है। ये सिन्धु क्रमशः लवण, इक्षु, क्षीर, मधु, मदिरा एवं घृत के हैं किन्तु ऐतिहासिक परम्परा भारत के पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के बीच गंगा-यमुना एवं पंजाब की पाँच नदियों से घिरे हुए प्रदेश के रूप में निर्देशित करती है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। इसी के आधार पर विद्वानों ने यह धारणा निश्चित की है कि आर्य इसी प्रदेश के मूल निवासी हैं। प्राचीन भारतीय परम्पराओं में सप्तसिन्धु या सप्तसिन्धु प्रदेश का अनेक बार उल्लेख हुआ है। हिन्दी साहित्य में प्रसादजी ने 'भारतवर्ष' शीर्षक कविता में इसी प्रदेश के लिए 'सप्तसिन्धु' शब्द का प्रयोग किया है।

—यो० प्र० सिं

सफीया—मोहम्मद साहब की बुआ (पिता की बहन) थी। इनके पिता का नाम अब्दुल मुत्तल्लिब था (दे० कर्बाकर्बला)।

—रा० कु०

सभासार नाटक—अहमदाबादनिवासी रघुराम नागर ने १७०० ई० में 'सभासार नाटक' की रचना की ("सजै सै सत्तवना, चैत्र तीज गुरुवार। या उज्वल उज्वल सुमति। कवि किय ग्रन्थ विचार।।" ('पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० ४२१)। बनारसीदासकृत 'समयसार नाटक' के समान यह पद्य-पुस्तक भी नाटक नहीं है। सम्भवतः कवि के सम्मुख बनारसीदास जैनकृत 'समयसार नाटक' था। इसी कारण उसने नाम रखा 'सभासार' और शैली भी वही, रखी जो 'समयसार नाटक' में प्रयुक्त थी। 'समयसार नाटक' में जैनधर्मसम्बन्धी कुछ आध्यात्मिक विषयों पर मुक्तक छन्द हैं तो इसमें राजसभा से सम्बद्ध व्यक्तियों के गुण-दोषों का कथन मुक्तक छन्दों में है। कवि कहता है—"सभा समुद्र अपार गुन पय ओगुन नीर जिम। राजा हंस विचारि करे सु देखे काढ़ि कै।।" कवि अपने ग्रन्थ के निर्माण का लक्ष्य बताता है—"ज्यों सब संगति जानिये, प्रभु सों कहो पुकार। सकल सभा वर्णन कहूँ, नृपति आदि निरधार।।" ऐसा प्रतीत होता है कि रघुराम नागर का सम्बन्ध किसी राजसभा से था। फलतः उसे राजसभा से सम्बद्ध व्यक्तियों का गहरा अनुभव था। उसी अनुभव के बल पर इस पुस्तक में स्वामी, गमखाइक, सभा चतुर, सभा विगार, वार्ता विगार, हस्त चांडक, बात-सुभ, मुतफन्नी, मुनसी, मसखरा, कोटवाल, चुगल, खुशामदी, गरजू, कुकवि, सुकवि, कायर, धीरज, अधीर, धर्म ठक, दुष्ट, महादुष्ट, दगाबाज, निर्लज्ज, मूरख इत्यादि के लक्षण छन्दबद्ध हैं।

—गो० ना० ति०

सम्मन—ये जाति के ब्राह्मण थे और इनका जन्म हरदोई जिले के मल्लावां नामक स्थान में सन् १७७७ ई० में हुआ था। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इनके लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं। 'पिंगल काव्य भूषण' छन्द अलंकार आदि का एक रीति ग्रन्थ है, जिसकी रचना सन् १८२२ ई० में हुई थी। यह ग्रन्थ सामान्य कोटि का है, इसीलिए प्रसिद्धि न पा सका। दूसरा ग्रन्थ 'सम्मन के दोहे' हैं। इसमें व्यवहार और समाजनीति के फुटकर दोहे हैं। सम्मन की प्रसिद्धि उनके इन नीति के दोहों के कारण ही है। इनमें विशेष काव्यत्व तो नहीं है किन्तु सीधी-सादी भाषा में इन्होंने रहीम और वृन्द की तरह ही नीति की बड़ी अनुभवपूर्ण बातें कही हैं। इनके मर्मस्पर्शी दोहे मौखिक रूप में ही सुने जाते हैं, उनका कोई बड़ा संग्रह अभी तक नहीं मिला। अपने दोहों में इन्होंने सर्वत्र अपना नाम रखा है। जो थोड़े-बहुत इनके दोहे मिलते हैं, उनके आधार पर भी

इनको नीति-काव्य का उच्चकोटि का रचयिता माना जा सकता है। इनकी कोई भी रचना प्रकाशित नहीं है। 'कविता कौमुदी', भाग १, बम्बई, १९५४ ई० तथा इसी प्रकार के अन्य संग्रहों में इनके कुछ दोहे मिलते है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी नीति काव्य संग्रह : भोलानाथ तिवारी।]

—भो० ना० ति०

समनेस—ये रीवाँ निवासी कायस्थ थे और रीवाँनरेश जयसिंह के बख्शी थे। इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—अलंकार.के विषय पर 'काव्य भूषण', रस के विषय पर 'रसिक विलास' और छन्द पर 'पिंगल' नामक ग्रन्थ। 'रसिक विलास' की हस्तलिखित प्रति दतिया राज पुस्तकालय में उपलब्ध है। इसका रचनाकाल इस दोहे के आधार पर १७७० ई० तथा १७९० ई० (सं० १८२७ ई० तथा सं० १८४७ वि०) लगाया गया है—"संवत रिषि जुग वसु ससी कुल पून्यो नभ मास।" यहाँ 'जुग' का अर्थ रामचन्द्र शुक्ल ने चार (युग से) लिया है और भगीरथ मिश्र ने दो लिया है। इसका रचनाकाल १८२२ ई० तक स्वीकार किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में नौ रसों, नायिका-भेद, दूती-कर्म और रस के अंगों का विवेचन है। लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ साधारण स्तर का है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

समयसार नाटक—बनारसीदास जैन ने १६३६ ई० मे 'समयसार नाटक' का प्रणयन किया ("सोरह से निरानवें बीते। असू मास सित पक्ष बितीते।। तिथि तेरस रविवार प्रबीना। तादिन ग्रन्थ समापति कीना।।"—७०७)। ये कवि गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। 'समयसार नाटक' में दोहा, सोरठा, सवैया, चौपाई, छप्पय, कवित्त, अरिल्ल, कुण्डलिया जैसे सरल छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिसकी संख्या ७२७ है। जैनियों में कुन्दकुन्दाचार्य मुनि प्रणीत 'समय पाहुड' नामक ग्रन्थ का समादर है। यह नाटक नहीं है, वरन् धार्मिक पद्य-ग्रन्थ का समादर है, जिसमें मुक्त जीवन, बद्ध जीव, पाप, पुण्य, मोक्ष, वैराग्य, ज्ञान, सत्य व्यवहार, उत्तम, मध्यम, अधम पुरुष, मूढ़ पुरुष, क्रिया-कर्ता, कर्म, पुद्गल देह, जगत् अहं बुद्धि इत्यादि आध्यात्मिक विषयों पर मुक्तक गाथाएँ अथवा छन्द हैं। इस ग्रन्थ की कई टीकाएँ हुईं। मुनि अमृतचन्द्रकृत 'आत्मख्याति संस्कृत टीका', जयसेनाचार्य की 'तात्पर्य-वृत्ति संस्कृत टीका', जयचन्द की 'भाषा टीका' एवं पाण्डे राजमल्ल जैन की 'भाषा टीका' प्रसिद्ध हैं। इनमें मुनि अमृतचन्द्र की टीका सबसे पहली है और नाटकाकार है। मुनि अमृतचन्द ने 'समय पाहुड' के जीव, अजीव, इत्यादि को पात्र बनाया एवं पूरी टीका नाटक रूप में लिखी। यह टीका हुई 'समयसार नाटक'। बनारसीदास जैन ने मूलग्रन्थ 'समय पाहुड' एवं राजमल्ल की टीका को सामने रखकर अनुवाद कियाहै, अमृतचन्द मुनि का नाटकाकार रूप ग्रहण नहीं किया है। फलतः बनारसीदास जैनकृत 'समयसार नाटक' में जीव, अजीव इत्यादि पात्र रूप में प्रवेश नहीं करते हैं, वरन् 'समय पाहुड' के समान भिन्न-भिन्न छन्द हैं। हाँ, कवि ने अमृतचन्द के अनुकरण पर अपने पद्य ग्रन्थ का नाम रख दिया है—'समयसार नाटक'। कवि ग्रन्थ निर्माण के सम्बन्ध में कहता है—"कुन्द-कुन्द मुनि मूल उधरता। अमृतचन्द टीका के करता।। समेसार नाटक सुषदानी। टीका सहित संस्कृत बानी।। पण्डित पढ़ि दिढ़मति बूझे। अलपमती को अरथ न सूझे।। या मैं राजमल्ल जिन धर्मी। समेसार नाटक के मर्मी।। तिन्ह गिरन्थ की टीका कीनी। बाला बोध सुगम करि दीनी। इहि बिधि बोध बचन की फैली। समो पार अध्यातम शैली।। प्रगटेउ जगत माहिं जिन बानी। घरि घरि नाटक कथा बखानी।।"

बनारसीदास जैनकृत 'समयसार नाटक' पद्य-ग्रन्थ किसी भी प्रकार से नाटक नहीं है। न इसमें साहित्यिक नाटकीय शैली है और न जन-नाटकों की। 'रामायण महानाटक', 'हनुमान् नाटक', 'शकुन्तला नाटक', 'आनन्द रघुनन्दन' इत्यादि अन्य पद्यात्मक ब्रजभाषा नाटक अंकों में विभाजित है, पात्रों का प्रवेश और निष्क्रमण रखते हैं एवं वर्णनात्मक शैली के साथ ही साथ पात्रों से कथोपकथन कराते हैं। 'समयसार नाटक' अंकों में विभाजित नहीं है, इसमें पात्र हैं ही नहीं एवं शिष्य के प्रश्न करने के अतिरिक्त संवादात्मक शैली में और कुछ भी नहीं है। यह 'योग वाशिष्ठ' या 'गीता' जैसा ग्रन्थ है, जिनके बीच में कभी-कभी प्रश्न होता है। कवि ने इस ग्रन्थ का निर्माण भी पढ़ने या सुनने के लिए किया है। वह कहता है—"सुनौ भाविक धरि प्रेम" (१६५), "सुनो भाविक धरि कान" (१६६)। 'वर्ननम्' 'कथनम्' शब्द भी यही बात कहते हैं कि कवि दूसरों को सुनाने के लिए कुछ आध्यात्मिक प्रसंगों का कथन कर रहा है।

—गो० ना० ति०

सरजूराम पंडित—सरजूराम अवधनिवासी ब्राह्मण थे। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं। इनकी एकमात्र प्राप्त रचना 'जैमुनि पुराण' है, जो जैमिनी विरचित 'महाभारत' के अश्वमेध पर्व की कथा पर आधारित है। इसका रचनाकाल १७४८ ई० है। साढ़े सात हजार के लगभग छन्दों का यह विशाल ग्रन्थ ३६ भागों में विभक्त है। इसके अन्तर्गत संक्षिप्त रूप में रामकथा भी आ गयी है। सारा ग्रन्थ युद्धवर्णनों से भरा है। इसकी भाषा परिष्कृत अवधी है। वस्तु-विन्यास तथा काव्य-सौष्ठव के विचार से यह हिन्दी का एक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य है।

[सहायक ग्रन्थ—खोज रिपोर्ट, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास : रामबहोरी शुक्ल, भगीरथ मिश्र।]

—भ० प्र० सिं०

सरदार कवि—ये काशिराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के दरबारी कवि थे। इनका रचना काल १८५० ई० से १८८३ ई० तक माना गया है। ये ललितपुर (झाँसी) निवासी हरिजन के पुत्र थे और इनके काव्य-गुरु चरखारी के कवि प्रतापसाहि थे। इनका अधिक जीवन काशी में बीता। ये काशी के भदैनी महल्ले में रहते थे। इनका देहान्त १८८५ ई० में हुआ। ये अच्छे टीकाकर हुए हैं। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'सूर के दृष्टिकूट' और 'बिहारी सतसई' की इन्होंने टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त इनके ग्रन्थों मे प्रमुख हैं—'साहित्य सरसी',

'वाग्विलास', 'षट्-ऋतु', 'हनुमत भूषण', 'तुलसी भूषण', 'श्रृंगार संग्रह', 'रामरत्नाकर', 'साहित्य सुधाकर' और 'रामलीला प्रकाश' आदि। इनके 'श्रृंगार संग्रह' में १२५ प्राचीन कवियों की रचनाएँ अद्धृत हैं। इनका टीकाकार के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का शा० इ०; दि० भू० (भूमिका)।

—सं०

सर प्रताप नारायण सिंह—सर प्रताप नारायण सिंह 'ददुआ साहब' इनका जन्म आषाढ़ कृष्ण १४ शुक्रवार सं० १९१२ में हुआ था। ये अयोध्या के महाराज मानसिंह उपनाम द्विजदेव के दौहित्र थे। महाराज के कोई संतान न होने के कारण राज्य के उत्तराधिकारी महाराज प्रताप नारायण सिंह ही हुए। उत्तराधिकार के संबंध में इनसे और महाराज मानसिंह के भतीजे लाल त्रिलोकी नाथ सिंह से काफी मुकदमें बाजियां भी हुई। अन्त में प्रिवी कौंसिल की सन् १८८० की डिग्री के अनुसार ये ही महदौना के राजा घोषित हुए। सन् १८८७ में ब्रिटिश सरकार ने आपको महाराज की पदवी प्रदान की और उसके तीन वर्षों के उपरान्त महदौना राज्य 'अयोध्य राज्य' हो गया। सन् १८९५ में महाराज को के० सी० आई० ई० की उपाधि मिली और सन् १९०६ ई० में आपकी विद्वत्ता के कारण आपको महामहोपाध्याय की उपाधि मिली।

बारह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह श्रीमती सूर्यकुमारी जी से हुआ। आपका दूसरा विवाह श्रीमती जगदम्बा देवी जी के साथ सन् १९०० में हुआ।

आपको इमारत बनवाने का भी काफी शौक था। अयोध्या के राजसदन और उसके अन्दर की मुक्ताभास कोठी आदि का निर्माण आपने ही करवाया था। इन सबके अतिरिक्त महाराज 'ददुआ साहब' प्राचीन हिन्दी काव्य के बड़े ही मर्मज्ञ और अनुरागी थे। यद्यपि द्विजदेव' की भाँति आप कवि तो नहीं थे पर काव्य रसिकों और कवियों के प्रभाव आश्रय दाता अवश्य थे। आपके दरबार में प्राचीन हिन्दी काव्य के बहुत से कवि एवं काव्य मर्मज्ञ रहा करते थे। जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं :— लछिलाल, पं० अम्बिकादत्त मन्नालाल द्विज मुंशी रामनारायण 'दीन' आदि।

आपने रसकुसुमाकर नाम से रस शास्त्र का एक अत्योत्कृष्ट ग्रंथ की रचना की है। इसके अतिरिक्त आपने महाराज मानसिंह उपमान द्विजदेव, की 'श्रृंगार लतिका' का 'श्रृंगार लतिका सौरभ' नामक एक विशद भाष्य भी प्रस्तुत किया है। हिन्दी के प्रचार और प्रसार में आप का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही कारण है कि सन् १९०० ई० में हिन्दी मेमोरियल लेकर ब्रिटिश सरकार से जो डेपुटेशन मिला उसमें आप ही प्रधान थे। हिन्दी काव्य के ऐसे हितैषी का देहावसान सं० १९६३ के अगहन मास कृष्ण ८ को हो गया था।

[सहायक ग्रन्थ—श्रृंगारक लिका सौरभ सं० जवाहर लाल चतुर्वेदी, द्विजदेव और उनका काव्य—डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी]

—कि० ला०

सरस्वती १—प्राचीन साहित्य में 'सरस्वती' की भावना विकासशील रही हैं। सरस्वती सरिता और विद्या की देवी के रूप में विख्यात हैं। वैदिक साहित्य में सरस्वती के सरिता रूप में उल्लेख मिलते हैं। आर्य संस्कृति में सरस्वती की पूजा का आदिकाल से विधान है। यह ब्रह्मावर्त प्रदेश की सीमा पर थीं। वैदिक मन्त्रों मे इड़ा और भारती के साथ सरस्वती का नामोंल्लेख मिलता है। वह यज्ञदेवी के रूप में प्रतिष्ठित थीं। इन्होंने वाचादेवी के द्वारा इन्द्र को शक्ति दी थी। वैदिक साहित्य के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराण साहित्य में भी सरस्वती की प्रतिष्ठा के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। इनके अन्तर्गत वह वाणी की देवी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो आदि द्वारा प्रतिपादित सरस्वती का विद्या देवी का ही रूप आज अधिक प्रख्यात है। इसके अतिरिक्त सरस्वती का ब्रह्मपुत्री और पत्नी के रूप में भी उल्लेख मिलता है। 'महाभारत' में ये दक्षकन्या कही गयी हैं। बंगाली वैष्णवों के बीच सरस्वती एवं लक्ष्मी के सम्बन्धों को लेकर एक रोचक कथा प्रचलित है। पहले सरस्वती विष्णु पत्नी थीं किन्तु लक्ष्मी से सपत्नीक वैमनस्य के कारण उन्होंने इन्हें ब्राह्मण को दे दिया। तभी से ये ब्रह्म पत्नी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

सरिता के रूप में सरस्वती का आज नामोल्लेख मात्र मिलता है। प्रयाग के संगम में इनकी धारा के प्रच्छन्न अस्तित्व का विश्वास लोक प्रख्यात है।

—रा० कु०

सरस्वती २—इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन इलाहाबाद से सन् १९०० ई० के जनवरी मास में हुआ था। ३२ पृष्ठ की क्राउन आकार की इस पत्रिका का मूल्य चार आने मात्र था। इसके सम्पादक थे जगन्नाथदास, श्यामसुन्दर दास, राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद, किशोरीलाल। दूसरे वर्ष केवल श्यामसुन्दर दास ही इसके सम्पादक रहे। १९०३ ई० में महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके सम्पादक हुए और १९२० ई० तक रहे। इसका प्रकाशन पहले झाँसी और फिर कानपुर से होने लगा था। महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, पुनः पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदयाल चतुर्वेदी और (आज-कल) श्री नारायण चतुर्वेदी, सम्पादक हुए। १९०५ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा का नाम मुख पृष्ठ से हट गया।

'सरस्वती' हिन्दी की पहली रूपगुणसम्पन्न प्रतिनिधि पत्रिका रही है। व्याकरण और भाषा की समस्याओं पर इसमें टिप्पणियाँ छपती रही हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसमें प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य विधा को व्याकरण और भाषा की दृष्टि से सन्तुलित किया और काव्य तथा गद्य में इतिवृत्तात्मकता को प्रश्रय दिया। उनके द्वारा कई साहित्यकारों को प्रोत्साहन मिला। इस पत्रिका के माध्यम से अब के कई प्रसिद्ध कवि और लेखक सामने आये। मैथिलीशरण गुप्त, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', लक्ष्मीधर वाजपेयी, स्वामी सत्यदेव, काशी प्रसाद जायसवाल, ठाकुर गदाधर सिंह, ठाकुर गोपालशरण सिंह, पं० रामचन्द्र शुक्ल, विश्वम्बरनाथ शर्मा 'कौशिक', रायकृष्णदास, 'सनेही', रूपनारायण पाण्डेय, सियाराम शरण गुप्त, गणेशशंकर विद्यार्थी, राम चरित उपाध्याय, प्रेम चद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, वृन्दावन लाल वर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, ज्वालादत्त शर्मा आदि इसके प्रमुख लेखक

एवं कवि थे।

'सरस्वती' में हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी 'दुलाई वाली' १९०७ ई० में छपी थी (भाग ८ से ५)। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी तो प्रथम अंक में ही छपी थी।

संस्कृति, साहित्य और साहित्यकार और विदेशी साहित्य का परिचय इसी पत्रिका द्वारा कराया गया। इस दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। द्विवेदी युग का इसमें पूरा लेखा-जोखा है। इस अकेली पत्रिका ने हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए जितना कार्य किया वह फिर बाद में पत्रिकाओं द्वारा न हो सका।

'सरस्वती' के लिए द्विवेदी जी द्वारा संशोधित लेखों की पाण्डुलिपियाँ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में अब भी सुरक्षित हैं। १९६२ ई० के जनवरी मास में 'सरस्वती' की हीरक जयन्ती मनाई गयी।

—ह० दे० बा०

सर्वदमन—यह शकुन्तला और पुरुवंशी सम्राट् दुष्यन्त का पुत्र था जो बाद में चक्रवर्ती भरत के नाम से विख्यात हुआ। सर्वदमन का सर्वप्रथम उल्लेख 'महाभारत' के उद्योग-पर्व में शकुन्तलाख्यान के रूप में कृष्ण सात्यकि से करते हैं। ठीक यही कथा 'पद्मपुराण' में भी प्राप्त होती है। कालिदास अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में सर्वदमन की उत्पत्ति के विषय में प्राय: 'पद्म पुराण' की परम्परा का समर्थन करते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रेमकथा पहले लोक आख्यानक के रूप में विख्यात रही होगी किन्तु जहाँ तक उनसे प्रसूत सर्वदमन का प्रश्न है, उसका उल्लेख एक निश्चित क्रम में प्राप्त होता है। हिन्दी में कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अनुवाद सर्वप्रथम लक्ष्मणसिंह ने किया था। इसके बाद इसके कई अनुवाद निकले। 'शकुन्तला' नामक एक खण्डकाव्य लिखकर मैथिलीशरण गुप्त ने सर्वदमन का उल्लेख ठीक उसी रूप में किया है।

—यो० प्र० सिं

सविता—सविता सूर्य के लिए प्रयुक्त होता है। 'ऋग्वेद' में सविता शब्द आया है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में सविता का सूर्य के अर्थ में ही उल्लेख मिलता है। 'कामायनी' में सविता शब्द का प्रयोग हुआ है—"विश्वदेव, सविता या पूषा। सोम, मरुत, चंचल पवमान"। सविता तेज का रूप माना गया है। बहुत प्राचीन काल से इसका अपना विशिष्ट महत्त्व है। वैदिक काल के त्रिदेवों में इन्द्र और अग्नि के साथ इनका भी नाम आता है। ये प्रकाश पुंजरूप में स्वीकृत हैं। एक स्थान पर उषा इनकी स्त्री के रूप में आती हैं। किन्तु वेद के दूसरे मन्त्र में ये उषा के पुत्र भी कहे गये हैं। आधुनिक काल में सूर्य का सविता नाम अधिक प्रचलित नहीं रहा।

—रा० कु०

सहजोबाई—प्रसिद्ध सन्त चरणदास की शिष्या थीं। इनका जन्म मेवात (राजपूताना) के डेहरा नामक स्थान में एक ढूँसर वैश्य कुल में हुआ था। इनका जीवनकाल सन् १६८३ ई० से सन् १७६३ ई० तक माना जाता है। ये आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सहज प्रकाश' सन् १७४३ ई० में लिखा गया था। यह बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। 'शब्द' और 'सोलह तत्त्व निर्णय' इनकी दो अन्य रचनाएँ बताई जाती हैं। अपने गुरु के साथ ही दिल्ली आकर इन्होंने भी सन्त जीवन यापन किया था। गुरु की महत्ता, नाम माहात्म्य, अजपाजाप, संसार का मिथ्यात्व और उसके प्रपंचों से दूर रहने की चेतावनी, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मान आदि का त्याग, कर्मफल पर विश्वास, प्रेम तत्त्व का विधि-निषेध-निरपेक्ष-स्थितिबोध और ब्रह्मतत्त्व का निर्गुण-सगुणनिरपेक्ष अनिर्वचनीय स्थिति का अनुभूतिपरक वर्णन इनकी वाणियों के प्रमुख विषय हैं। दोहा, चौपाई और कुण्डलिया छन्दों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है। मीराँ की भाँति इनकी पदावलियों में भी आराध्य के प्रति प्रेमप्रदर्शन में सगुण कृष्ण-भक्तों की शैली का प्रयोग हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; सहज प्रकाश, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; सन्तबानी संग्रह, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।]

—रा० चं० ति०

सहदेव—युधिष्ठर के सबसे छोटे भाई सहदेव ज्योतिष-कला विशारद के रूप में 'महाभारत' में प्रसिद्ध हैं। ये माद्री एवं पाण्डु के पुत्र थे। इनके विषय का कोई आख्यान महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी साहित्य में इनका उल्लेख मात्र मिलता है।

—यो० प्र० सिं०

सहस्रार्जुन—महिष्मती राजधानी के राजा तथा कृतवीर्य के पुत्र कहे जाते हैं। दत्तात्रेय की उपासना से इन्हें सहस्र भुजाएँ मिली थीं। नर्मदा नदी के तट पर जब रावण तप कर रहा था, उस समय इन्होंने अपनी रानियों के साथ केलिक्रीड़ा में अपनी सहस्र भुजाओं से जल का प्रवाह रोक लिया था। इस पर रावण से इनका युद्ध हुआ। किन्तु रावण परास्त हो गया। परशुराम से इनका युद्ध हुआ था। ये परशुराम के पिता जमदग्नि की गाय हठात् हँकवा रहे थे। परशुराम ने इनकी भुजाएँ काटकर इनका वध कर डाला था। पौराणिक राजाओं में इनका नाम प्रसिद्ध है।

—यो० प्र० सिं०

स० ही० वात्स्यायन—दे० 'अज्ञेय'।

सांध्यगीत—'सान्ध्यगीत' महादेवी वर्मा का चौथा काव्य संग्रह है। इसका प्रथम संस्करण सचित्र था, जो सन् १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें कवयित्री के ४५ गीतों का संकलन किया गया है। इनमें ऐसी वैराग्य-भावना मिलती है, जो साधक को दुःख-सुख दोनों में समरस बनाती है। 'नीरजा' की भाँति 'सान्ध्यगीत' में भी महादेवी के आदर्श दीपक और बादल हैं। वह अपने को ऐसा दीपक मानती हैं, जिसे उसके परोक्ष प्रियतम ने जीवन की ज्वाला देकर जलाया था और तब से वह जगत् के अन्धकार में अकेला घुल-गलकर जल रहा है। पर मृत्यु की झंझा इसे बुझा नहीं पायेगी क्योंकि यह आवागमन के रूप में बार-बार जलेगा, बुझेगा।

इस संग्रह में प्रकृति चित्रण की अपेक्षाकृत अधिकता है। इसमें उषा, सन्ध्या, रात्रि, वर्षा, बसन्त और हिमालय के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र गीत हैं पर उनमें भी महादेवी अपने को भुला नहीं सकी हैं। उसी तरह सन्ध्यावर्णन करते समय आधी कविता में विशुद्ध प्रकृति-चित्रण है और आधी में कवयित्री अपने तथा अपने प्रिय के बारे में चिन्तन करने लगती है। ऐसा ही अन्य गीतों में भी हुआ है किन्तु इस संग्रह की

प्रकृतिचित्रणवाली कविताओं में एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उनमें चित्रात्मक बिम्ब-योजना हुई है और उन बिम्बों की रंग-रेखा और गति स्वर का बहुत ही सूक्ष्म अंकन किया गया है। सम्भवतः चित्रकर्त्री और कवयित्री महादेवी ने एकात्म होकर ऐसी कविताओं का सर्जन किया है।

—शं० ना० सिं०

सांब—कृष्ण के पुत्र माने जाते हैं। सांब की माता का नाम जांबवती था। बलाधिक्य के कारण ये दूसरे बलदेव भी कहे जाते हैं। बलदेव ने सांब को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा भी दी थी। सांब रूपवान् थे किन्तु इन्हें अपने रूपवान् होने का इतना गर्व था कि एक बार इन्होंने दुर्वासा की कुरूपता का उपहास किया था। दुर्वासा ने रुष्ट होकर सांब को कोढ़ी होने का शाप दिया। इसी बीच कृष्ण की रानियाँ सांब के रूप पर मोहित हो गयीं, जिससे इनका वीर्य स्खलित हो गया। परिणामस्वरूप कृष्ण ने भी इन्हें रुष्ट होकर कोढ़ी होने का अभिशाप दिया। फलस्वरूप सांब कोढ़ी हो गये किन्तु सूर्य की उपासना से ये फिर स्वस्थ हो गये। सांब ने महाभारत युद्ध में भी योग दिया था। भारतीय परम्परा में जादूगरी के आविष्कारक के रूप में विख्यात हैं। 'महाभारत' में ऐसा उल्लेख है कि एक बार सांब ने दुर्योधन की पुत्री का हरण किया था किन्तु कर्ण के यत्नों से पकड़े गये। बलदेव ने युद्ध करके सांब को बन्धन से मुक्ति दिलायी। 'सूरसागर' में 'भागवत' के अनुकरण पर सांब की कथा वर्णित हुई है (दे० सू० सा० प० ४८२७)

—रा० कु०

सांवलिया बिहारी लाल वर्मा—जन्म १८ जून १८९६ ई० को छपरा नगर में हुआ। १९२० में अर्थशास्त्र से प्रथम श्रेणी में एम० ए० करने के पश्चात् १९२० ई० से १९२३ ई० तक पटना कालेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे। १९२३ ई० में एल० एल० बी० की परीक्षा पास करने के उपरान्त छपरा में वकालत प्रारम्भ की। १९३० ई० में नमक सत्याग्रह में भाग लिया। विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना में विशेष रुचि रहा। वर्मा जी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् और विधान परिषद् के आरम्भ से लेकर १९६२ ई० तक मान्य सदस्य रहे। इस समय बिहार राज्य ला कमीशन के सदस्य हैं।

प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ इस प्रकार हैं : 'यूरोपीय महाभारत' (१९१५ ई०), 'लोकसेवक महेन्द्र प्रसाद' (१९३७ ई०), 'बद्री केदार यात्रा' (१९४८ ई०), 'इस्लाम की झाँकी' (१९४८ ई०), 'विश्व धर्म दर्शन' (१९५३ ई०), 'दक्षिण भारत की यात्रा' (१९५६ ई०), 'रामेश्वर यात्रा' (भोजपुरी में १९६० ई०), 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि (१९६५ ई०)।

विश्व धर्म दर्शन' अत्यन्त उपादेय विषय पर लिखा गया ग्रन्थ है। अध्ययन मनन का एक आवश्यक अंग स्वयं संवेद्य अनुभव है। इसकी प्यास महान चरित्रों की एक विशेषता है। देशाटन इसका अनिवार्य आधार है। वर्मा जी के हृदय में देश की समन्वय चेतना का अंग बनने की उत्कट लालसा रही है। इसी प्रेरणा से वर्मा जी ने देश के सुदूर प्रदेशों की अनेक बार यात्रा की। यात्राओं पर लिखी विभिन्न पुस्तकें वर्मा जी की इसी रुचि की द्योतक हैं।

—ओ० प्र० स०

साकेत—(प्र० १९३२ ई०) आधुनिक युग के श्रेष्ठ महाकाव्यों में परिगणित मैथिलीशरण गुप्त की अमर कृति है। कवीन्द्र रवीन्द्र से प्रेरणा प्राप्त कर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक लेख में कवियों द्वारा उर्मिला की उपेक्षा पर खेद प्रकट किया था। फलतः उनके प्रिय शिष्य मैथिलीशरण गुप्त ने इस क्षतिपूर्ण का निश्चय किया 'साकेत' में यह संकल्प ही प्रतिफलित हुआ है। वैसे तो इसके प्रकाशन के पूर्व ही उर्मिला काव्य की रचना हो चुकी थी। पर कवि हृदय से रामभक्त है, इसलिए बहुत दिन तक उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा और अन्त में उसे वर्तमान 'साकेत' का रूप देकर ही संवत् १९८८ में प्रकाशित किया गया।

'साकेत' का कथानक भारत की चिरविश्रुत रामकथा है। गुप्त जी ने पूर्ववर्ती राम-साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण करते हुए भी इसे नवीन रूप में उपस्थित किया है। प्रस्तुत काव्य का आरम्भ लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेमालाप से होता है, जिसके अन्त में राम के राज्याभिषेक की सूचना दे दी जाती है। भरत ननिहाल गये हुए हैं। उनकी अनुपस्थिति में राम-अभिषेक को एक षड्यन्त्र बताकर दासी मंथरा कैकेयी को भड़काती है। यहाँ 'गई गिरा मति फेर' का आश्रय न लेकर मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित किया गया है। मंथरा के शब्द—"भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह"—कैकेयी के कानों में गूँजते रहते हैं। तब उसका क्षुब्ध मातृ-हृदय राम-बनवास और भरत अभिषेक की याचना करता है। इसके पश्चात् राम और उनके साथ सीता एवं लक्ष्मण वन को प्रस्थान करते हैं। उर्मिला भी सीता की तरह पति के साथ वन-गमन का हठ कर सकती थीं—परन्तु तब लक्ष्मण आराध्ययुग्म की सेवा न कर सकते। अतः वह साथ जाने का प्रस्ताव न कर दारुण विरह का वरण करती है। रघुकुल की इस सर्वाधिक दुःखिनी वधु का गौरव-गान ही 'साकेत' के कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। अतः आगे की सब घटनाओं का वर्णन उसने 'साकेत' में रहकर ही किया है—उर्मिला को छोड़कर वह नहीं जा सका। एक बार चित्रकूट गया भी तो सम्पूर्ण साकेत-समाज (जिसमें उर्मिला भी सम्मिलित हैं) को लेकर। राम-लक्ष्मण-सीता के वन-गमन के बाद दशरथ-मरण और उर्मिला की मूर्च्छा आदि का वर्णन है। भरत एवं शत्रुघ्न ननिहाल से बुला लिये जाते हैं। वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ हो वे बड़े दुःखी होते हैं, राम को लौटाने के लिए चित्रकूट जाते हैं। चित्रकूट की सभा में कैकेयी भी अपनी सफाई पेश करती है। वाल्मीकि और तुलसी दुष्कर्मा कैकेयी को अपनी बात कहने का, पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं देते। गुप्तजी सर्वप्रथम यह अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार उन्होंने कैकेयी के दोष-परिहार का सफल प्रयत्न किया है। इन सब प्रयत्नों के पश्चात् भी राम नहीं लौटते। यह अष्टम सर्ग तक की कथा है। नवम सर्ग में उर्मिला-विरह है। दशम सर्ग में उर्मिला का विरहवर्णन ही है, जिसमें कि रामायण के बालकाण्ड की कथा उर्मिला-स्मृति के रूप में आयी है। पहले की चिरपरिचित कथा का वर्णन आगे किया गया है, जिससे निश्चय ही रोचकता और औत्सुक्य की वृद्धि हुई है। एकादश और द्वादश सर्गों में शूर्पणखा-प्रसंग, खरदूषण-वध, सीता-हरण, लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग आदि कथित अथवा प्रदर्शित है। शूर्पणखा के विकलांग होने तथा खरदूषण

के वध की बात शत्रुघ्न सुनाते हैं, जिन्हें कि एक व्यवसायी से इसका पता लगता है। इसके आगे लक्ष्मण-शक्ति तक की कथा संजीवनी बूटी के निमित्त आये हुए हनुमान् सुनाते हैं। हनुमान् द्वारा लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का समाचार मिलते ही अयोध्या की सेना लंका-प्रस्थान को तैयार हो जाती है। इतने में महामुनि वशिष्ठ आ जाते हैं और सेना-प्रयाण को रोकते हैं। शेष युद्ध वे सबको अपनी योग-दृष्टि द्वारा साकेत में ही दिखा देते हैं। इस प्रकार गुप्तजी ने चिरपरिचित आख्यान को अधिक विश्वसनीय, रोचक एवं मौलिक बनाने के लिए अनेक नूतन उद्भावनाएँ की हैं, जैसे—उर्मिलाविषयक सम्पूर्ण वृत्त, कैकेयी के विक्षोभ का मनोवैज्ञानिक कारण, चित्रकूट की सभा में कैकेयी का सफाई पेश करना, पहले की घटना का बाद में वर्णन, लक्ष्मण को शक्ति लगने की बात सुनते ही अयोध्यावासियों की शस्त्र-सज्जा आदि।

मैथिलीशरणजी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता एव पोषक हैं। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'साकेत' का सांस्कृतिक पृष्ठाधार अत्यन्त पुष्ट हैं—क्योंकि एक तो यह प्रबन्धकाव्य है, दूसरे इसके चरितनायक ही भगवान् राम हैं, जो भारतीय संस्कृति के गौरवशाली संस्थापक हैं। वस्तुतः 'साकेत' में राम-रावण का युद्ध दो राजाओं का युद्ध न रहकर आर्य और कोणप—दो सस्कृतियों का युद्ध बन जाता है और राम की विजय को कवि आर्य संस्कृति की विजय मानता है—"आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ।

प्रस्तुत काव्य में सीता भी राम की भार्या-रूप में नहीं, वरन् आर्य अथवा भारत-लक्ष्मी के रूप में आयी हैं—"भारत—लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।"

अतः उनका उद्धार राम-पत्नी का उद्धार न होकर, भारतीय संस्कृति का उद्धार है। तात्पर्य यह है कि आर्यत्व अथवा भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा ही 'साकेत' का सांस्कृतिक उद्देश्य है।

'साकेत' का काव्य-वैभव अत्यन्त समृद्ध एवं श्लाघ्य है। इसमें शास्त्रविहित नवरसों में से न्यूनाधिक मात्रा में सभी उपलब्ध हैं। श्रृंगार अंगी-रूप में तथा अन्य रस अंग-रूप में आये हैं। शिल्प की दृष्टि से भी 'साकेत' श्रेष्ठ काव्य है। इसमें अनेक स्थिर तथा गतिमय, रम्य एवं आकर्षक, कलात्मक और भावपूर्ण चित्र अनायास ही उपलब्ध हैं। मुद्राओं का सफल अंकन प्रचुर मात्रा में हुआ है। इस काव्य की अप्रस्तुत योजना भी स्तुत्य है—सादृश्य, साधर्म्य एवं प्रभावसाम्य के अनेक उदाहरणों से यह पुस्तक आद्यंत आपूर्ण है। 'साकेत' की भाषा प्रौढ़ एवं प्रांजल खड़ीबोली है। गुप्तजी ने संस्कृत शब्दकोश को आधारस्वरूप ग्रहण किया है, किन्तु इसकी भाषा 'हरिऔध'जी के 'प्रियप्रवास' के समान क्लिष्ट एवं संस्कृतप्राय नहीं है। शैली को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कवि ने अन्योक्ति-समासोक्ति के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। उच्चकोटि के शिल्प के साथ ही 'साकेत' में कवि के जीवनव्यापी अनुभवों का सार तथा उसका जीवन-दर्शन भी सहज लभ्य है। उसके व्यक्तित्व की भारतीयता और हिन्दू संस्कृति के प्रति अतिशय अनुराग का परिचय हमें स्थान-स्थान पर मिलता है। 'साकेत' में दोषों का भी एकान्ताभाव नहीं है—इतने बड़े काव्य में वैसा होना सम्भव भी नहीं, तथापि वे उसके विपुल काव्य-वैभव के समक्ष उपेक्षणीय हैं। सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर 'साकेत' गुप्तजी की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

—उ० कां० गो०

साखी—सन्तसम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य 'साखी' में ही लिखा गया है। 'साखी' वस्तुतः दोहा छन्द ही है, जिसका लक्षण है १३ और ११ के विश्राम से २४ मात्रा, अन्त में जगण (।ऽ।) किन्तु सन्त साहित्य में शास्त्रीय परम्परा की उपेक्षा होने के कारण कभी-कभी यह साखी (दोहा छन्द) मनमाने ढंग से लिखा गया है, जैसे "निहकामी पतिव्रता कौ अंग" में तीसरी साखी है :—"मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा। तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे मेरा।।"

प्रथम पंक्ति में यदि एक मात्रा बढ़ गयी है तो दूसरी पंक्ति में एक मात्रा कम हो गयी है। यह दोहा अपभ्रंश काल से प्रयुक्त होता चला आ रहा है और नीति उपदेश मे इससे अच्छा कोई छन्द सिद्ध नहीं हो सका। प्राचीन छन्द होने के कारण सन्त सम्प्रदाय ने इसमें मनमाना उलट फेर कर दिया है।

नीति और ज्ञानोपदेश के लिए सबसे अधिक उपयुक्त इस छन्द को 'साखी' का नाम दिया गया। 'साखी' साक्षी का ही विकृत रूप है। यह साक्षी किसकी है, किसके सामने? इसका क्या रूप है?

इस सम्बन्ध में 'बीजक' की अन्तिम साखी देखिये, जिसमें 'साखी' का ही परिचय दिया गया है :—साखी आँखी ज्ञान की,, समुझि देखु मनु माँहि। बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं।।"

इसकी गुरुमुख टीका करते हुए महात्मा पूरन साहेब कहते हैं:—"साखी कहिये साक्षी सो साक्षी बिना ज्ञान अन्धा है याके वासते ज्ञान की आँखी साक्षी से गुरु कहते हैं कि अपने मनमें विचार करके देखता नहीं कि बिना साखी से संसार का झगरा टूटता नहीं।"

इस आधार पर साखी का अर्थ होता है 'प्रत्यक्ष ज्ञान'। यह प्रत्यक्ष ज्ञान गुरु शिष्य को प्रदान करता है। सन्त सम्प्रदाय में अनुभव ज्ञान की ही महत्ता है, शास्त्रीय ज्ञान की नहीं। इस प्रकार सत्य की साक्षी देता हुआ ही गुरु जीवन के तत्त्व-ज्ञान की शिक्षा शिष्य को देता है। संक्षेप में तत्त्व ज्ञान की शिक्षा जितनी प्रभावपूर्ण होती है, उतनी ही स्मरणीय भी। इसी कारण सन्त सम्प्रदाय में 'साखी' इतनी अधिक मात्रा में है।

'बीजक' में साखियों की संख्या ३५३ है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'कबीर ग्रन्थावली' में यह संख्या ८०९ है। ये ८०९ साखियाँ ५९ अंगों में विभाजित की गयी है। ये अंग हैं—गुरुदेव कौ अंग, सुमिरण कौ अंग, विरह कौ अंग, ज्ञान विरह कौ अंग, परचा कौ अंग आदि। सबसे अधिक साखियाँ चितावणी कौ अंग में हैं। इसमें ६२ साखियाँ हैं।

—रा० कु०

सात्यकि—यादववंशीय कृष्ण के सखा एवं सारथी के रूप में सात्यकि का उल्लेख मिलता है। पाण्डवों की अनेक गुप्त मन्त्रणाओं में ये अनेक बार सम्मिलित हुए थे तथा इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे गये थे। कृष्ण कथासम्भन्धी काव्यों में इनका उल्लेख मात्र हुआ है।

—यो० प्र० सिं०

सारंगा सदाबृज—उत्तर भारत का यह कथा-गीत गुजरात में 'सदेवत (सदयवत्स) सावलिंगा', छत्तीसगढ़ के गोंड़ों मे 'सदाविरज सारंगा' तथा मालवा और राजस्थान में 'सुदबुद सारंगा' नाम से प्रचलित है। जायसी ने इस प्रेम-कथा का उल्लेख किया है। अब्दुल रहमान रचित 'सन्देश रासक' में इसका उल्लेख आया है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित कथा उत्तर भारतीय रूप से तनिक भिन्न है। उसमें सारंगा का नवलखा हार कहीं खो जाता है। सदाविरज अनेक कठिनाइयों का सामना कर उसे खोज लाता है और सारंगा को प्रदान करता है। वस्तुतः कहानी बहुत पुरानी है। राजस्थानी और मालवी में इसके आधारपर अनेक 'ख्याल' और 'माच' (लोकनाट्य) की रचना हुई है।

—श्या० प०

सारंगधर—'सारंग' (शार्ङ्ग) लगभग ३६ पर्यायवाची शब्दों के रूप में उल्लिखित मिलता है किन्तु सारंगधर—शार्ङ्ग धनुष धारण करने वाले विष्णु और उनके अवतार कृष्ण के लिए रूढ़ हो गया है। यह शब्द 'भागवत' में अनेक स्थलों पर कृष्ण के लिए प्रयुक्त मिलता है।

—यो० प्र० सिं०

सारंधा—बुन्देल राजपूत अनिरुद्ध सिंह की बहन एवं ओरछा नरेश चम्पतराय की पत्नी सारन्धा बुन्देलखण्ड के इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके पुत्र का नाम छत्रसाल सिंह था, जिसका यशोगान भूषण ने अपने 'छत्रसाल दशक' में किया है। इतिहास में सारन्धा का स्पष्ट इतिहास कम मिलता है किन्तु जितना वर्णन प्राप्त है, उसके आधार पर यह एक स्वाभिमानिनी, स्वदेश प्रेम की भावना से मण्डित आदर्श राजपूत रमणी थी। चम्पतराय और शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह के बीच युद्ध भी हुआ था। इसी युद्ध में चम्पतराय काम आये थे। सारन्धा की कथा लेकर प्रेमचन्द ने 'रानी सारन्धा' शीर्षक कहानी लिखी है। इस कहानी में सारन्धा की वीरता, स्वाभिमान एवं स्वदेश प्रेम की सच्ची झलक मिलती है (दे० सारन्धा : मानसरोवर भाग ६)।

—यो० प्र० सिं०

सारस्वत—एक देश विशेष, ब्राह्मणों की एक जाति विशेष एवं सरस्वती नदी के अन्तर्वर्ती प्रदेश के लिए भी प्रयुक्त मिलता है। सरस्वती नदी एवं प्रदेश के रूप में इसका उल्लेख 'ऋग्वेद', 'शतपथ ब्राह्मण', 'बृहदारण्यक उपनिषद्' एवं पुराणों में प्राप्त होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' पर आधारित सारस्वत प्रदेशसम्बन्ध घटनाओं एवं उसके वैदिक उल्लेखों के आधार पर प्रसादजी ने 'कामायनी' की पृष्ठभूमि निर्मित की है। सारस्वत प्रदेश की यथार्थ सीमा आज लुप्त हो चुकी है। इस प्रदेश से सम्बन्धित सरस्वती नदी का भी आज पता नहीं चलता। इसके सांकेतिक अर्थ के लिए मस्तिष्क का भावनात्मक अन्तःप्रदेश संकेतित किया जा सकता है।

—यो० प्र० सिं०

साहित्य देवता—कवि माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्यिक भावप्रधान और व्याख्यात्मक निबन्धों का संकलन, जो १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ। 'साहित्य देवता' में कवि के दो प्रकार के निबन्ध संकलित हैं। एक वे, जो काव्योन्मुखी हैं यानची गद्यकाव्य की श्रेणी में आते हैं, दूसरे वे, जो विचारप्रधान या विवेचनात्मक हैं। 'गीतांजलि' के प्रचार के साथ ही साथ गद्य-काव्य लिखने की भी प्रेरणा उठी। हिन्दी में रायकृष्ण दास और वियोगीहरि जैसे गद्य-काव्य लेखकों की कोटि में हम माखनलाल जी को भी स्थान दे सकते हैं। गद्य-काव्य दो प्रकार के होते हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने 'शेष स्मृतियों' की भूमिका में इन्हें तरंग-शैली और धाराशैली कहना पसन्द किया है। धारा-शैली के निबन्ध पूर्णतः भावात्मक होते हैं और लेखक उनमें शुरू से अन्त तक अपनी भावनाओं को काव्यात्मक मंजुलता के माध्यम से व्यक्त करता है, जबकि तरंग-शैली में विचार सरणि के बीच-बीच में उच्छ्वासित काव्यात्मक गद्य-खण्डों का समावेश होता है, ऐसे स्थलों पर कवि की रचना में बुद्धि के स्थान पर हृदय के संवेगों की प्रधानता होती है। इन दोनों शैलियों में भावपक्ष की प्रधानता है, अभिव्यक्ति में काव्यात्मक कलातत्त्व की। 'साहित्य देवता' में 'असहाय', 'आशिक', 'तुम आनेवाले हो', 'श्यामघन', 'साहित्य देवता', 'मुक्तिभरत जहँ पानी', 'जनता', 'शास्त्रक्रिया' आदि निबन्ध इसी कोटि में रखे जा सकते हैं, जबकि 'अंगुलियों की गिनती की पीढ़ी', 'बैठे-बैठे का पागलपन', 'संवाददाता' आदि निबन्ध वैचारिक कोटि में परिगृहीत किये जा सकते हैं।

माखनलाल की गद्य-शैली काफी प्रौढ़ और अभिव्यंजनात्मक है। चित्रमयतापूर्ण अथवा बिम्ब प्रस्तुत करनेवाली भाषा उनकी अपनी निर्मिति है; यथा—"मेरा और मेरे विश्व के हरियालेपन का उतना ही सम्बन्ध होता है, जितना नर्मदा के तटपर हरसिंगार की वृक्षराशि मे लगे हुए टेलिग्राफ के खम्भे का" (सा० दे० पृ० ६)। लेखक की गद्यशैली की दूसरी विशेषता गद्य में अन्तरतुकान्त की है। अन्तरतुकान्त का प्रयोग आरम्भिक गद्यों में बहुत मिलता है। उदाहरण के लिए प्राचीन गुजराती गद्यों, ब्रजभाषा की वचनिकाओं और खड़ीबोली की आरम्भिक रचनाओं—'रानीकेतकी की कहानी' आदि में यह शैली स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इसके मूल में कुछ विद्वान् फारसी शैली का प्रभाव ढूँढ़ते हैं। उर्दू की मुहावरेदानी, लाक्षणिकता, व्यंग्योक्तियाँ और मनोरम सूक्तियों के सटीक प्रयोगों के कारण माखनलाल की भाषा अत्यन्त स्फूर्तिमय और जीवन्त दिखाई पड़ती है। नये फैशन के प्रति व्यंग-आक्रोश व्यक्त करते समय उनकी भाषा बहुत पैनी हो जाती है। देशी शब्दों और कहावतों का प्रयोग तो माखनलाल की अपनी विशेषता है ही। ये प्रयोग धरती की सोंधी गन्ध से ओत-प्रोत हैं और इनके कारण भाषा में एक अद्भुत प्राणवत्ता दिखाई पड़ती है।

—शि० प्र० सिं०

साहित्य लहरी—सूरदास की तथाकथित रचनाओं में 'साहित्यलहरी' की भी चर्चा की जाती है परन्तु इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। इसकी कोई पूर्ण हस्तलिखित प्रति नहीं मिली। जो भी इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ कही जाती हैं, वे सूरदास के दृष्टिकूट पदों के छिन्न पत्रों पर किये गये हस्त-लेख मात्र हैं। 'साहित्य लहरी' के मुद्रित रूपों में सबसे प्राचीन रूप जो प्रभुदयाल मीतल को मिला है, बनारस के लाइट प्रेस में छपा हुआ सन् १८६९ का संस्करण है। इसके बाद सन् १८९० ई० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा इसका पहला संस्करण प्रकाशित किया गया। तीसरा रूप खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर

का है, जो सबसे पहले सन् १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ। चौथा रूप लहेरियासराय के पुस्तक भण्डार से सर्वप्रथम सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ। 'साहित्य लहरी' की प्रतियाँ काशी नरेश महाराजा ईश्वरीनारायण सिंह के आश्रित सरदार कवि की टीका सहित हैं। यह टीका सरदार कवि ने सं० १९०४ ई० (सन् १८४७ ई०) में की थी। लखनऊवाली प्रति में उसका उल्लेख हुआ है। खड्गविलास प्रेसवाली प्रति में सरदार कवि की टीक के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की टिप्पणी भी कुछ पदों पर मिलती है। अनुमान होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रति के तैयार कराने में सरदार कवि की टीकावाली प्रति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रति की भी सहायता ली होगी। उन्होंने इसे खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन सिंह को प्रकाशनार्थ दिया था और बाबू रामदीन सिंह ने ही कदाचित् उसका सम्पादन किया तथा उसमें 'उपसंहार (ग)' शीर्षक से कुछ और पद सम्मिलित किये। इस प्रकार 'साहित्य लहरी' की दो प्रकार की सटीक प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं—एक केवल सरदार कवि की टीका सहित और दूसरी भारतेन्दु की टिप्पणी सहित। दोनों में पदों के क्रम तथा उनके पाठों में किंचित् अन्तर दिखलाई देता है। 'साहित्य लहरी' के सभी पदों में सूर, सूरदास, सूरज आदि कवि छापें प्रयुक्त हुई हैं, जिससे यह समझा गया कि यह रचना प्रसिद्ध कवि सूरदास की ही है। इसके एक पद में (संख्या ११८ अथवा संख्या ११५) में कवि ने अपना परिचय देते हुए अपनी लम्बी वंशावली दी है। इस पद में कवि ने अपना वास्तविक नाम सूरजचन्द्र बताया है तथा अपने पूर्वजों में चन्दबरदाई का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों ने 'साहित्य लहरी' को प्रमाणित मानते हुए भी इस पद को अप्रामाणिक ठहराया है, क्योंकि इसमें अन्य अविश्वसनीय बातों के अतिरिक्त उनके मतानुसार यह भी अविश्वसनीय है कि सूरदास चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। जो हो, 'साहित्य लहरी' प्रसिद्ध कवि सूरदास की प्रामाणिक कृति नहीं जान पड़ती। 'साहित्य लहरी' के वर्ण्य-विषय, उसके दृष्टिकोण, उसकी भाषा-शैली आदि के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकलता है कि यह रचना किसी अन्य सूर कवि की है, जिसका वास्तविक नाम कदाचित् सूरजचन्द था। इसका रचनाकाल १८वीं शताब्दी के पहले नहीं माना जा सकता।

'साहित्य लहरी' का वर्ण्य-विषय नायिका-भेद, अलंकार अथवा किसी-न-किसी काव्यांग का लक्षण और उदाहरण है। इस तथ्य का उल्लेख लगभग प्रत्येक पद में हुआ है। इस प्रकार 'साहित्य लहरी' के कवि का मूल दृष्टिकोण भक्ति-समन्वित न होकर, साहित्यिक है। यदि उसमें भक्ति-भाव माना जा सकता है तो उसी रूप में, जिस रूप में कि वह रीति-कवियों में पाया जाता है। परन्तु रीति और अलंकार ग्रन्थ होते हुए भी इस कोटि की रचनाओं में 'साहित्य लहरी' को कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि न तो लक्षणों और उदाहरणों की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व है और न भाषा-शैली और काव्य-कला की दृष्टि से। उसमें 'सूरसागर' के दृष्टिकूट पदों की शैली के अनुकरण का प्रयत्न अवश्य किया गया है परन्तु 'सूरसागर' के दृष्टिकूट पदों में जिस उच्च भावात्मकता और उत्कृष्ट काव्य-कला के दर्शन होते हैं, उसकी तुलना में 'साहित्य लहरी' के पद अत्यन्त निम्न कोटि के सिद्ध होते हैं।

साहित्य जगत् में 'साहित्य लहरी' की चर्चा केवल उसके उन दो पदों के कारण होती रही, जिनमें से एक में उसके रचनाकाल का संकेत है और दूसरे में उसके रचयिता का परिचय दिया गया है। पहला पद "मुनि पुनि रसन के रस लेख" से प्रारम्भ होता है। विद्वानों ने इस पद के आधार पर प्रारम्भ में सं० १६०७ निकाला था। इसी संवत् को 'सूरसागर-सारावली' का भी रचनाकाल अनुमान करके तथा उसके १००२ संख्यक छन्द में आये हुए "सरसठ बरस प्रवीन" शब्दों का यह अर्थ समझकर कि 'सारावली' की रचना सूरदास ने ६७ वर्ष की अवस्था में की होगी, यह अनुमान किया गया था कि सूरदास का जन्म सं० १५४० वि० में हुआ होगा परन्तु सूरसम्बन्धी खोजों के फलस्वरूप अब न तो यह माना जाता है कि सूरदास का जन्म सं० १५४० वि० में हुआ होगा और न यह कि 'सारावली' की रचना उन्होंने ६७ वर्ष की अवस्था में की होगी। 'साहित्य लहरी' के उपर्युक्त पद से क्या संख्या निकलती है, इस विषय में भी मतभेद है। डॉ० दीनदयाल गुप्त के मतानुसार उससे सं० १६०७ नहीं, बल्कि सं० १६१७ तथा डा० मुंशीराम शर्मा के मतानुसार सं० १६२७ निकलता है। इनके अतिरिक्त सं० १६७७ भी निकाला जा सकता है। दूसरा पद 'प्रथम ही प्रथ जागते' से प्रारम्भ होता है। इसके सम्बन्ध में पहले ही संकेत किया जा चुका है।

प्रसिद्ध कवि सूरदास से सम्बद्ध हो जाने के कारण 'साहित्य लहरी' साहित्यिक शोध का विषय बन गयी है और यह आवश्यक है कि उसके रचनाकार और रचनाकाल के सम्बन्ध में खोज करके निश्चित निर्णय किया जाय तथा उसका यथासम्भव पाठ-संशोधन के आधार पर अच्छा संस्करण प्रस्तुत किया जाय। प्रभुदयाल मीतल ने १९६१ ई० में साहित्य संस्थान, मथुरा से एक संस्करण प्रकाशित कराया है, जिसकी भूमिका में उन्होंने इसके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। डा० मनमोहन गौतम ने एक अन्य सटीक संस्करण प्रकाशित कराया है। अतः अब इस रचना का अध्ययन सुलभ हो गया है।

[सहायक ग्रन्थ—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; सूरदास : डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; सूरनिर्णय : प्रभुदयाल मीतल तथा द्वारकादास पारीख, साहित्य संस्थान, मथुरा; सूरसौरभ : डा० मुंशीराम शर्मा; लहरी—प्रभु दयाल मीतल; साहित्य संस्थान, मथुरा; सूरसौरभ : डा० मुंशीराम शर्मा; साहित्य लहरी : डा० मनमोहन गौतम, नयी सड़क, दिल्ली।]

—ब्र० व०

साहित्यसागर—बिजावर के राजकवि बिहारी लाल भट्ट ने 'साहित्य सागर' की रचना की, जिसका प्रकाशन सन् १९३७ ई० में गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ से हुआ। 'साहित्य सागर' की रचना दो भागों में हुई है। प्रथम भाग की ६ तरंगों में—प्रथम में राजवंश वर्णन, द्वितीय में साहित्य, तृतीय में छन्द-वर्णन, चतुर्थ में गणागण प्रकरण, पंचम में शब्दार्थ निर्णय तथा षष्ठ में श्रृंगार वर्णन का विवेचन हुआ है। दूसरे भाग की सातवीं तरंग में नायकवर्णन, अष्टम में षड्ऋतु-वर्णन, नवम में 'श्रृंगार-भेद वर्णन, दशम में अलंकार वर्णन, एकादश में अर्थालंकार वर्णन

(पूर्वार्द्ध) और द्वादश में उसी का उत्तरार्द्ध तथा त्रयोदश में आध्यात्मिक नायिकाभेद, चतुर्दश में निर्वाणनिरूपण और परिशिष्टांश में दान का विवेचन किया गया है।

लगभग ६०० पृष्ठों का यह विशाल रीति-ग्रन्थ २००० छन्दों में पूर्ण हुआ है। प्रस्तुत कृति की लक्षण आदि की विवेचनाओं का माध्यम पद्य है और इस दृष्टि से यह ग्रन्थ रीतिकालीन परम्परा का अवशेष कहा जा सकता है। बिहारीलाल भट्ट मूलतः कवि थे और इसलिए विषय-प्रतिपादन से अधिक महत्त्व काव्यत्व को मिल गया है। लक्षणों में मौलिकता का प्रायः अभाव है। कहीं-कहीं तो केशव आदि कवियों की छाया इतनी प्रगाढ़ हो गयी है कि थोड़े हेर-फेर से शब्द भी प्रायः वही रख दिये गये हैं। इस ग्रन्थ की विशेषताओं में नायिका-भेद का आध्यात्मिक रूप ही प्रधान है। दान प्रकरण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा और पाण्डित्यप्रदर्शन मूलतः यह दो बातें ही प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माण का कारण कही जा सकती हैं। विषय प्रतिपादन में नवीनता न होने से प्राचीन परिपाटी में एक और ग्रन्थ जुड़ जाने के अतिरिक्त इसका महत्त्व सन्दिग्ध है।

—नि० ति०

साहित्यसार—मतिराम (२) रचित यह ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं है। सभा की खोज रिपोर्ट और 'मतिराम ग्रन्थावली' के विवरण के आधार पर ही इसका परिचय देना सम्भव है। यह १० पृष्ठों की नायिका भेदपर लिखी गयी पुस्तिका है, जिसमें ३३ छन्द हैं। यह किसी समय दतिया राज पुस्तकालय मे थी, पर अब वहाँ नहीं है। १ फरवरी, सन् १९५६ ई० में विन्ध्य प्रदेश के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित दतिया पुस्तकालय की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में भी इसका नामोल्लेख नहीं है। इसका प्रतिलिपिकाल १७८० ई० (संवत् १८३७) का है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र इसे १६८३ ई० (संवत् १७४०) की रचना मानते हैं। यह 'रसराज' आदि के बाद की रचना है और प्रसिद्ध मतिराम के द्वारा इसके लिखे जाने का कोई तुक नहीं जान पड़ता है। अतः यह पुस्तिका भी सामान्य होने के नाते वनपुरनिवासी द्वितीय मतिराम द्वारा रचित मानी जा सकती है, जिनके अन्य ग्रन्थ 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' या 'वृत्तकौमुदी' हैं। 'छन्दसार' की भाँति उन्होंने 'साहित्यसार' की भी रचना की हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, वरन् उचित ही है। अतः इसे वनपुरनिवासी वत्सगोत्रीय मतिराम की रचना माननी चाहिए, 'रसराज' के रचयिता प्रसिद्ध मतिराम की नहीं।

[सहायक ग्रन्थ—मतिराम ग्रन्थावली : कृष्णबिहारी मिश्र; महाकवि मतिराम : त्रिभुवन सिंह; मतिराम—कवि और आचार्य : महेन्द्रकुमार।]

—भ० मि०

साहित्यसार २—दे० 'कवि कल्पद्रुम'।

साहित्य सुध निधि—यह जगतसिंह की प्रमुख रचना है, जिसके रचनाकाल के विषय में पाठ-भेद के कारण मतभेद है। 'हि० का० शा० इ०' में—"संवत वषु शर वसु शशि अरु गुरुवार" के आधार पर सं० १८५८ वि० (१८०१ ई०) माना गया है और 'हि० सा० बृ० इ०' भा० ६ में "दृग रस वसु ससि संवत अनु गुरुवार" के आधार पर सं० १८९२ वि० (१८३५ ई०) माना गया है। इसकी हस्तलिखित प्रति काशी ना० प्र० स० के आर्य भाषा पुस्तकालय में प्राप्त है। इसका प्रमुख आधार 'चन्द्रालोक' है पर कवि ने अन्य आचार्यों—भरत, भोज, मम्मट, विश्वनाथ, गोविन्द भट्ट, अप्पय दीक्षित तथा भानुदत्त का प्रभाव भी स्वीकार किया है।

इसमें १० तरंगे और ६३६ बरवै हैं। पहली तरंग में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-भेद पर मम्मट के आधार पर विचार किया गया है। दूसरी तरंग में शब्दस्वरूपनिरूपण है, जो 'चन्द्रालोक' पर आधारित है। अगली तीन तरंगों में व्यंजना, लक्षणा, अभिधा और गम्भीरा (व्यंजना) के अन्तर्गत गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण हुआ है। सातवीं तरंग में गुणों का विवेचन है। आठवीं तरंग में भी नौ रसों की चर्चा है। नवीं तरंग में रीतियों की अत्यन्त संक्षेप में चर्चा है और दसवीं तरंग में दोष-निरूपण है।

शास्त्रीय दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण है पर इसकी यह विशेषता है कि इसमें सभी अंगों को साथ प्रस्तुत किया गया है और समस्त विषयों को संक्षेप में लिया गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—सं०

साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास की यह कृति सर्वप्रथम सन् १९२२ ई० में एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों को आधुनिक आलोचना में तत्त्वों का आरम्भिक ज्ञान कराने के लिए पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट ग्रन्थों से संकलित सामग्री के आधार पर लिखी गयी थी। इससे सात अध्यायों में क्रमशः कला, साहित्य, काव्य, कविता, गद्य-काव्य, रस और शैली तथा साहित्य की आलोचना का विवेचन किया गया है। कला का विवेचन वर्सफोल्ड की लोकप्रिय रचना 'जजमेन्ट इन लिटरेचर' के प्रथम अध्याय के आधार पर और साहित्य, काव्य, कविता, गद्य-काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध, आलोचना तथा शैली का विवेचन विलियम हेनरी हडसन के 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिटरेचर' के अनुकरण पर किया गया है। 'कविता', 'रूपक' (नाटक), 'रस' और 'शैली' तथा 'साहित्य की आलोचना' का विवेचन करते समय यथास्थान भारतीय सिद्धान्तों को भी उपस्थित किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लेखक का समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट है। अब तक इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। नूतन संस्करणों में उत्तरोत्तर भाषा-शैली और शिल्प का परिमार्जन होता आया है। पुस्तक का साहित्यिक महत्त्व अब भी अक्षुण्ण है।

—रा० चं० ति०

सिंहरण—प्रसादकृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक का पात्र। मालव गणतन्त्र के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण एक वीर सेनानी और निर्भीक वक्ता है। स्पष्टवादिता और निर्भीकता के अतिरिक्त उसमें वंशोचित विनम्रता भी है। तक्षशिला की शिक्षा के भाव से स्वतन्त्रता के प्रति सहज आकर्षण एवं देश-भक्ति की उ..ट भावना उसमें विद्यमान है। सिंहरण को इस बात का ज्ञान भलीभाँति हो गया है कि उत्तराखण्ड के जो खण्ड राज्य द्वेष से जर्जर हैं, उनमें भयानक विस्फोट होने में अब बहुत विलम्ब नहीं है। यह चाणक्य द्वारा प्रचारित राष्ट्रभावना को भी अपने

हृदय में धारण कर चुका है, इसीलिए वह मालव या गान्धार तक ही अपनी देश-भक्ति को सीमित न कर समग्र आर्यावर्त का कल्याण चाहता है तथा अपनी सारी शक्ति को केन्द्रित कर यवनों के आक्रमणों से राष्ट्रभूमि की रक्षा के लिए सचेष्ट होता है। पंचनद में पर्वतेश्वर की यथेष्ट सहायता करके यवन-आक्रमण का स्वयं प्रतिरोध करते हुए घायल होता है। पर्वतेश्वर की पराजय होने पर भी सिंहरण निराश नहीं होता, अपितु मालव में चाणक्य और चन्द्रगुप्त की सहायता से सेना का संग्रह करके सिकन्दर की विश्वविजय की कल्पना को चूर-चूर कर देता है। सिंहरण एक निश्छल हृदय उन्मुक्त वीर सेनानी है। उसके इस कथन में निश्चिन्त उन्मुक्तता के साथ-साथ कर्त्तव्य की दृढ़ता का परिचय मिलता है : "अतीत सुखों के लिए सोच क्यों; अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा।" चाणक्य के प्रति उसकी अटूट आस्था है। वह उन्हीं के आदेशों से अपने कर्त्तव्य की सीमा निर्धारित करता है। चन्द्रगुप्त का अनन्य सुहृद् होने पर भी वह दोनों में अनबन हो जाने पर चाणक्य का ही साथ देता है। वैसे तो वह चन्द्रगुप्त के लिए अपने प्राण विसर्जन करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। फिलिप्स और चन्द्रगुप्त के द्वन्द्व-युद्ध के समय सिंहरण सेना के सहित सहायता के लिए तैयार ही था किन्तु मगध की राज्य-क्रान्ति में वह सक्रिय भाग लेने का अवसर न पा सका। फिर भी वह चन्द्रगुप्त से यही निवेदन करता है : "हाँ सम्राट्! और समय चाहे मालव न मिलें, पर प्राण देने का महोत्सव पर्व वे नहीं छोड़ सकते।"

सिंहरण के जीवन का मधुरिम पक्ष भी उसके ओजस्वी स्वभाव की भाँति कम आकर्षक नहीं है। गुरुकुल में ही वह गान्धार की राजकुमारी अलका के प्रणय-पाश में बँध जाता है। स्वभाव-साम्य के कारण दोनो की मैत्री और प्रेम उत्तरोत्तर गहरे होते जाते हैं। समान स्थिति एवं एक ही भावना से परिचालित होने के कारण दोनों अनन्य भाव से एक दूसरे के निकट आते जाते हैं तथा अन्त में वैवाहिक बन्धन में बँध जाते हैं। चाणक्य अपनी दूरदर्शी कूटनीति से पश्चिमोत्तर द्वार को सुदृढ़ बनाने के लिए सिंहरण को पंचनद प्रदेश का शासक बना देता है।

—के० प्र० चौ०

सिंहल—बौद्ध-साहित्य की जातक परम्पराओं द्वारा सिंहलद्वीप का प्रयोग लंका के पर्याय रूप से मिलता है। ऐतिहासिकता के विषय में अनेक विवाद हैं। अतः मतैक्य का निश्चय नहीं हो सका है। किसी का विचार है कि लंका से संलग्न अनेक छोटे-छोटे द्वीप, जो नष्ट हो चुके हैं, उन्हें सिंहल द्वीप कहा जाता था। जायसी के 'पद्मावत' में वर्णित सिंहल द्वीप पूर्णतः काल्पनिक स्थान है। मात्र अपनी प्रतीकात्मकता के कारण वह मानव के हृदय प्रदेश का प्रतिनिधित्व करता है (दे० लंका)

—रा० कु०

सिंहासन बत्तीसी—संस्कृत साहित्य के लोकप्रचलित आख्यानकों में 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका', 'विक्रम चरित' आदि नामों से प्रसिद्ध रचना गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाई जाती है। हिन्दी में भी इसके दोनों रूप मिलते हैं। 'सिंहासन बत्तीसी' का सर्वप्रथम पद्यमय अनुवाद सं० १६९० (सन् १६३३ ई०) के लगभग रायसुन्दर ने ब्रजभाषा में किया था। रायसुन्दर महाकवि कहे जाते थे। इसके उपरान्त सं० १८०७ वि० (सन् १७५० ई०) में सोमनाथ उपनाम 'ससिनाथ' ने 'सुजान विलास' नाम से इसका पद्यबद्ध अनुवाद सुन्दर साहित्यिक ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। आगे चलकर हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक काल में, लल्लूलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी' का गद्यानुवाद किया। यही तीन अनुवाद हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। इनमें सुन्दरकविकृत अनुवाद अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण कृति कही जा सकती है। दोहे, चौपाई, कवित्त और सवैया का प्रयोग करके कवि ने इसे एक स्वतन्त्र रचना का रूप दे दिया है।

—यो० प्र० सिं०

सिकंदर—प्रसादकृत नाटक 'चन्द्रगुप्त' का पात्र। ग्रीक सम्राट सिकन्दर साहसी, पराक्रमशील, धीर-गम्भीर कार्यकुशल एवं नीति-पटु विजेता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसने ३२६ ई० पूर्व में भारत पर आक्रमण किया। गान्धारनरेश आंभी (आंभीक) उससे मिल गया। पुरु (पोरस) ने विरोध किया; पर वह हार गया। उसकी वीरता से प्रभावित होकर सिकन्दर ने पुनः उसे व्यास और झेलम के दोआब का क्षत्रप नियुक्त किया। मालव और क्षुद्रकों ने मिलकर सिकन्दर को बुरी तरह घायल किया। वह मकदूनिया लौट गया और ३२३ ई० पूर्व में उसका देहान्त हो गया। वह अपनी अजेय वीरता से समस्त पश्चिमी एशिया खण्ड को पदाक्रान्तकर भारत में विजय की इच्छा से पदार्पण करता है एवं गान्धार नरेश आंभीक को अपनी ओर मिलाकर पंचनद पर आक्रमण करता है एवं पर्वतेश्वर को पराजित करके भी उसके साथ नृपोचित व्यवहार करता है। रण-कुशल योद्धा होने के अतिरिक्त सिकन्दर कूटनीति में भी पारंगत है। वह चन्द्रगुप्त को भी आंभीक की भाँति अपनी ओर मिलाकर मगध पर आक्रमण करने की चेष्टा करता है पर इसमें उसको सफलता नहीं मिलती। वह "अपनी कूटनीति से प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहता है। अपनी विद्रोही सेना को स्थल मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा वह स्वयं सिन्धु-संगम तक के प्रदेश विजय करना चाहता है।" किन्तु दुर्भाग्यवश उसे मालव के युद्ध में पराजित होना पड़ता है। सिकन्दर केवल सेनाओं को आज्ञा देने वाला वाक्शूर ही नहीं, वरन् आगे बढ़कर प्राणों को हथेली में लेकर युद्ध करने वाला साहसी योद्धा है। मालव के युद्ध में वह सिंहल के हाथों इसी कारण घायल होता है। सिकन्दर वीर एवं पराक्रमी होने के साथ-साथ आन्तरिक गुणों से भी युक्त है। वह महात्मा एवं गुणी पुरुषों के प्रति श्रद्धा की भावना रखता है और उन्हें सम्मानित करता है। दाण्डयायन के आश्रम में स्वयं जाकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करता है। चाणक्य के प्रति भी उसके हृदय में विशेष सौहार्द का भाव विद्यमान है। वह भारतीय संस्कृति के आचार-विचार, यहाँ के निवासियों के शील-सौजन्य एवं शौर्य से प्रभावित होकर भारत का अभिनन्दन करता है। वह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है कि "मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। सम्भवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।" प्रसाद ने अपनी अतिरंजित राष्ट्रीयता के आग्रह से सिकन्दर पर आरोप लगाया है कि "इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है।"

सम्भवतः ऐसा न करने पर चन्द्रगुप्त के चरित्र को वह उत्कर्ष न प्राप्त होता, जो नाटककार को अभीष्ट था। इतिहासकारों ने सिकन्दर की विजय-यात्राओं की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। चन्द्रगुप्त का प्रतिपक्षी होने के कारण ही प्रसाद ने कदाचित् उस पर नृशंसता, लोभ और क्रूरता का आरोप लगाया है। अभारतीय आदर्श वीरों के प्रति प्रसाद की इस प्रकार की मनोवृत्ति न्यायोचित नही कही जा सकती।

—के० प्र० चौ०

सिद्धांतपंचाध्यायी—दे० 'नन्ददास'।

सियारामशरण गुप्त—जन्म सन् १८९५ ई० में झाँसी जिले के चिरगाँव नाक स्थान में हुआ। ये राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। कवि, कथाकार और निबन्ध लेखक के रूप में उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की सरलता, विनयशीलता, सात्विकता और करुणा सर्वत्र प्रतिफलित हुई है।

गुप्त जी का रुग्णजीवन, पत्नी तथा अन्य आत्मीयों का असामायिक निधन तथा साहित्यक जगत् की उपेक्षा आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिन्होंने उनके व्यक्तित्व को करुणा और व्यथा से भर दिया है। व्यक्तिगत जीवन की ये करुण अनुभूतियाँ साहित्य के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो उठी हैं। जहाँ तक राजनीतिक जीवन का सम्बन्ध है, ये गांधी जीवन दर्शन के आन्तरिक पक्ष से अत्यधिक प्रभावित हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन की विफलताओं ने उन्हें और भी विषादपूर्ण बना दिया था।

'मौर्य विजय' (१९१४ ई०) उनका प्रारम्भिक काव्य है। 'अनाथ' (१९२१ ई०) में ग्रामीण जीवन का एक करुण चित्र उभारा गया है। 'दूर्वादल' (१९२९ ई० तक रचनाओं का संकलन) में कवि का आत्मपीड़न अपनी सीमाओं को अतिक्रमित कर नवीन तथा स्वस्थतर मार्गों की ओर उन्मुख होता दीख पड़ता है। सियारामशरण गुप्त के काव्य-विकास में इस संग्रह का विशिष्ट स्थान है। पर 'विषाद' (१९२९ ई०) की रचनाओं में वह वैयक्तिक करुणा के धरातल से ऊपर नहीं उठ पाया है। 'आर्द्रा' (संवत् १९२८ ई०) में उसकी करुणा समष्टिगत हो जाती है, वह सामाजिक असंगतियों को देखकर क्षुब्ध हो उठता है। 'एक फूल की चाह' में अस्पृष्यता पर कवि जो मार्मिक चोट करता है, वह पाठकों को विचलित कर देता है। 'खादी की चादर' भी इस संग्रह की दूसरी विशिष्ट रचना है। फिर तो यह करुणा सामाजिक स्तर से आगे बढ़कर बुद्ध की सार्वजनीन करुणा हो जाती है। 'आत्मोत्सर्ग' (१९३३ ई०) अमरशहीद गणेशशंकर विद्यार्थी की आत्मबलि से सम्बद्ध काव्य है। 'पाथेय' (१९३४ ई०) की रचनाओं में सात्विक चिन्ता तो है पर काव्यानन्द की कमी है। 'मृणमयी' (१९३६ ई०) में शान्तिदायिनी सात्विकता से संवलित धरती के गीत हैं, जिनमें एक सुनिश्चित जीवन-दर्शन भी अनुस्यूत है। 'बापू' (१९३८ ई०) में बापू के प्रति अनुभूतिमयी श्रद्धाजलियाँ समर्पित हैं। 'उन्मुक्त' (१९४१ ई०) एक गीति-नाटय है, जिसमें गाँधीवादी आदर्शों के आधार पर नये सामाजिक-निर्माण का संकेत किया गया है। 'दैनिकी' (संवत् १९९९) में सन् १९४५ ई० की युद्ध-विभीषिका की दैनिक कठिनाइयों का वर्णन किया गया है। 'नकुल' (संवत् २००३) 'महाभारत' के वन-पर्व की एक कथा के आधार पर लिखा गया एक खण्ड-काव्य है। 'नोआखाली' (संवत् २००३) और 'जयहिन्द' (संवत् २००५) की विषय-वस्तु सामयिक जीवन से सम्बद्ध है। 'गीता-संवाद' (संवत् २००३) 'गीता' का समश्लोकी अनुवाद है। गोपिका उनकी अंतिम अनूठी काव्यकृति है।

हिन्दी-उपन्यासलेखकों में गुप्तजी का विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार एक विशेष सात्विकता से उनका काव्य अपना अलग स्थान रखता है, उसी तरह उनके उपन्यासों में भी हृदय की सरलता, निष्कपटता और विनयशीलता मिलती है। उनके तीनों उपन्यासों—'गोद' (सन् १९३२ ई०), 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४ ई०) और 'नारी' (१९३७ ई०) में हृदय की इन्हीं दशाओं के चित्र अंकित हुए हैं।

इन तीनों उपन्यासों में उन रूढ़ियों और निराधार लांछनों पर आघात किये गये हैं, जो निरपराध व्यक्तियों के जीवन को अत्यधिक संकटग्रस्त बना देते हैं। 'गोद' की किशोरी और 'अन्तिम आकांक्षा' के रामलाल पर इस तरह के लांछन लगाये जाते हैं। 'गोद' का शोभाराम किशोरी का उद्धार कर लेता है और अन्त में उसके भाई और भाभी का हृदय परिवर्तन हो जाता है, जो गाँधीवादी सिद्धान्तों के मेल में है। 'अन्तिम आकांक्षा' के घरेलू नौकर में मानवीय मूल्य अभी पूर्णतः सुरक्षित हैं, जब कि मध्यवर्ग इस तरह के श्रेष्ठतर मूल्यों से च्युत हो गया है। 'नारी' उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, जिसमें विभिन्न पात्रों की सहनशीलता और छलनाओं का बहुत ही प्रभावोत्पादक उद्घाटन हुआ है। इस उपन्यास की नारी में पुराने-नये मूल्यों का जो समन्वय किया गया है, वह उसे महिमामयी बना देता है। इस उपन्यास के पात्रों पर भी गाँधी-दर्शन का पूर्ण प्रभाव है। प्रेमचन्द के उपन्यास मुख्यतः गाँधी दर्शन की बाह्य हलचलों को लेकर चलते हैं, वहाँ सियारामशरण के उपन्यास उनके अन्तर्दर्शन को।

साहित्य के अन्य रचना-प्रकारों में अपनी आत्माभिव्यक्ति को पूर्णतः प्रतिफलित न होते देखकर गुप्तजी ने निर्बन्ध-निबन्धों का आश्रय ग्रहण किया। यों तो प्रत्येक साहित्यविधा में रचयिता का व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता ही है पर निर्बन्ध-निबन्धों में वह अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह व्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि निर्बन्ध-निबन्धों का मूलाधार रचयिता का व्यक्तित्व ही है। उनके 'झूठ-सच' (१९३९ ई०) निबन्ध-संग्रह में इसी तरह के निबन्ध संगृहीत हैं। कुछ निबन्धों में चिन्तन का विशेष योग दिखाई देता है पर वे भी लेखक की वैयक्तिकता से बँधे हुए हैं। किसी निबन्ध में बाल्यकाल की मधुर स्मृतियाँ हैं तो किसी में स्नेहियों के संस्मरण। कभी वे हिमालय की भावात्मक झलक प्रस्तुत करने में संलग्न दीख पड़ते हैं तो कभी कवि-चर्चा में निमग्न हो जाते हैं। कभी वे जीवन के विभिन्न स्तरों का विनोदपूर्ण उद्घाटन करते हैं तो कभी अपूर्ण की पूर्णता का आस्वाद कराते हैं। खुले व्यक्तित्व की संहति, लेखक-पाठक के तादात्म्य, व्यंग्यविनोद के सन्निवेश आदि के कारण उनके निबन्ध हिन्दी-साहित्य के निर्बन्ध-निबन्धों की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में परिगणित होते हैं।

गुप्तजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनका संग्रह 'मानुषी' में हुआ है। इसमें सन् १९२३ ई० से १९३३ ई० तक की लिखी गयी कहानियाँ हैं। उनकी कहानियों को भी सात्विक

उज्ज्वलता का वरदान प्राप्त है। इस संग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ गाँधीवादी दर्शन से पूर्णतः प्रभावित हैं। कहानियों के कथानक स्वच्छ तथा भाषा-शैली अकृत्रिम हैं। उन्होंने 'पुराणपर्व' (संवत् १९८९) एक नाटक भी लिखा है, जिसकी परिधि अहिंसा केन्द्र के चतुर्दिक घूमती है, पर इसमें नाटकीय गति, बल और उतार-चढ़ाव का अभाव है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने एक से अधिक नाटक नहीं लिखा।

वास्तव में गुप्तजी मानवीय संस्कृति के साहित्यकार हैं। उनमें न कल्पना का उद्वेग है और न भावों का आवेग। उनकी रचनाएँ सर्वत्र एक प्रकार के चिन्तन, आस्था-विश्वासों से भरी हैं, जो उनकी अपनी साधना और गाँधी जी के साध्य-साधन की पवित्रता की गूँज से अभिमंडित हैं। लेखक के सरल व्यक्तित्त्व की तरह ही रचनाओं की वस्तु और शैली सरल है-कहीं पर भी वक्रता नहीं, बाँकपन नहीं जिनको सरल और निष्कपट व्यक्तित्व के प्रति आस्था है, उनको ये रचनाएँ विशेष प्रिय होगीं।

[सहायक ग्रन्थ—सियारामशरण गुप्त : सम्पादक नगेन्द्र।]

—ब० सिं०

सियालालशरण 'प्रेमलता'—इनका जन्म ग्वालियर राज्य के पनियार गाँव में १८७१ ई० में हुआ है। ये सनाढय ब्राह्मण थे। पिता का नाम मौजीराम था। नामसंस्कार के समय इनका नाम बालाराम रखा गया। आठ वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया। १८७६ ई० में माता भी परलोकवासिनी हुईं। इन आपत्तियों में उद्विग्न हो ये चित्रकूट चले गये। वहाँ कुछ काल निवास करके अयोध्या आये और महात्मा रामवल्लभाशरण का शिष्यत्व ग्रहण किया। बीस वर्षतक अखण्ड अवध वासकर १९३० ई० में ये सीतामढ़ी गये। वहाँ से लौटते हुए उसी वर्ष काशी में श्रावण की अमावस्या को स्थूल शरीर त्यागकर इन्होंने आराध्य युगल का सान्निध्य प्राप्त किया।

'प्रेमलता' की ३३ कृतियाँ बतायी जाती हैं—'बृहत् उपासना रहस्य', 'प्रेमलता पदावली', 'चैतन्य चालीसा', 'सीताराम रहस्य दर्पण', 'नाम रहस्यत्रयी', 'नाम तत्त्व सिद्धान्त', 'जानकी स्तुति', 'षड्ऋतु विमल विहार', 'सीताराम नाम रूप वर्णन', 'सीताराम नाम जापक महात्म्य', 'ज्ञान पचासा', 'मिथिला विभूति प्रकाशिका', 'वैराग्य प्रबोधक बहत्तरी', 'हितोपदेश शतक', 'प्रेमलता बाराखड़ी', 'नाम सम्बन्ध बहत्तरी', 'नाम वैभव प्रकाश चालीसा', 'जानकी विनय', 'नाम दृष्टान्तावली', 'सतगुरु पदार्थ प्रबोधिका', 'सन्त प्रसादी माहात्म्य', 'अनन्य शतक', 'निजात्मबोध दर्पण', 'अपेल सिद्धान्त', 'षोडशभक्ति', 'सन्त महिमा', 'उपदेश पेटिका', 'पंच संस्कार', 'अष्टयाम', 'जानकी बधाई', 'सार सिद्धान्त प्रकाश', 'नित्य प्रार्थना' और 'विश्वविलास बीसिका'।

इन ग्रन्थों के अनुशीलन से यह विदित होता है कि साधक होने के साथ ही ये श्रृंगारी-साहित्य के मर्मवेत्ता भी थे। इनका यह सिद्धान्तज्ञान रसात्मकता के समावेश में एक सीमातक बाधक हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : भगवतीप्रसाद सिंह।]

—भ० प्र० सिं०

सींगाजी—इनका जन्म वैशाख सुदी ११, सं० १५७६ (सन् १५१९ ई०) को मध्यभारत की रियासत बडवानी के खजूर गाँव या खजूरी में ग्वाल जाति के भीमागौली की पत्नी गौरबाई के गर्भ से हुआ था। जब ये पाँच-छः वर्ष के थे तो इनके पिता अपनी समस्त चल सम्पत्ति और तीन सौ भैंसों को लेकर खजूरी से हरसूद नामक ग्राम को चले गये और वहीं बस गये। हरसूद ग्राम में रहकर इनके पिता ने अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह आदि संस्कार किये। ये सं० १५९८ (सन् १५४१ ई०) में २१ वर्ष की अवस्था में रावसाहब भामगढ़ निमाड़ के यहाँ चिट्ठी-पत्री पहुँचाने के कार्य में एक रुपया मासिक वेतनपर नौकर हो गये। कालान्तर में नौकरी से जब उन्होंने अवकाश ग्रहण किया, उस समय इनका वेतन तीन रुपये मासिक था। कहा जाता है कि उनकी ईमानदारी तथा सच्चाई के कारण रावसाहब उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे।

बाल्यावस्था से ही सींगाजी संसार से विरक्त रहा करते थे। एक बार हरसूद से भामगढ़ के मार्ग पर ये घोड़े पर सवार अपनी ड्यूटी पर जा रहे थे। मार्ग में भैसाँवा ग्राम के महाराज ब्रह्मगीर के शिष्य मनरंगीर को उन्होंने भजन गाते हुए सुना। भजन ने सींगाजी के मर्म को आहत कर दिया। भजन में आये हुए—'अन्त न कोई अपणा' शब्दों ने संसार की निःसारता मानो प्रत्यक्ष रूप से उनके हृदय में अंकित कर दी। वे उसी समय घोड़े से उतर पड़े और मनरंगीर के चरणों में गिरकर आत्मसमर्पण कर दिया और उन्हें अपना आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक स्वीकार कर लिया। तदनन्तर भामगढ़ आकर उन्होंने राज्य की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पिपल्या के जंगलों की ओर चले गये। पिपल्या के जंगलों के एकान्त वातावरण में रहकर इन्होंने निर्गुण ब्रह्म की साधना बड़ी तत्परता और एकाग्रता के साथ की। यहीं इन्होंने योग की साधना करते हुए अनहद नाद से सम्बन्धित प्रायः आठ सौ भजनों की रचना की।

सींगाजी परम साधक और उच्चकोटि के विचारक थे। उनके पदों और भजनों से स्पष्ट हो जाता है कि वे अन्तस्साधना को ही सच्ची साधना समझते थे। परमतत्त्व को कहीं बाहर खोजने के लिए मन्दिर, मसजिद और तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं है। उसके दर्शन गंगा, यमुना और त्रिवेणी आदि सरिताओं में स्नान करने से नहीं होते। ब्रह्म निर्गुण निराकार रूप में हमारे हृदय में विद्यमान है—"जल बिच कमल, कमल बिच कलियाँ, जहँ वासुदेव अविनाशी। घट में गंगा, घट में जमुना, नहीं द्वारिका कासी।। घर वस्तु बाहर क्यों ढूँढो, बन बन फिरा उदासी, कहे जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुरे के वासी।।" सींगाजी की निर्गुणब्रह्मविषयक धारणा सन्त कबीर की निराकार, निर्विकार, अव्यय और अनादिविषयक ब्रह्म कल्पना से बहुत कुछ साम्य रखती है। सन्त सींगा का निर्गुण ब्रह्म रूपरेखा, कुल, गोत्र आदि से परे है: "रूप नाहीं रेखा नहीं, नाही है कुलगोत रे। विन देही को साहब मेरा, झिलमिल देखूँ जोत रे।।"

सींगाजी की विनयभावना और अहंहीनता बड़ी प्रभावशाली और मार्मिक है। उनके कथनों और उक्तियों में अप्रस्तुत योजना बड़ी यथार्थ और स्वाभाविक है। एक पद में वे

कहते हैं कि ज्ञान का प्रकाश मिलने के पूर्व मैं तो जानता था कि वह (ब्रह्म) दूर है परन्तु वह कितना निकट है। तुम्हारा हाथ मेरी पीठ पर है। इसीलिए तेरी सी रहनी रहकर मुझे अत्यधिक सामर्थ्य और शक्ति मिल गयी है। तुम सोना हो और मैं गहना हूँ। मुझमें माया और सांसारिकता का टांका लगा है। तुम निराकार, निर्विकार हो फिर भी विविध प्रकार के शब्द उत्पन्न करते हो और मैं देहधारी होकर सांसारिक भाषा में बोलता हूँ। तुम दरियाव और मैं मछली हूँ। मेरे जीवन के आधार तुम ही हो। तुम्हारा विश्वास ही हमारे जीवन का आधार है। जिस दिन यह शरीर पंचतत्व को प्राप्त होगा, उसी दिन मैं तुझमें समा जाऊँगा। तुम वृक्ष हो तो मैं वह लतिका हूँ जो, तुम्हारे चरणों (मूल) में लपटा है।

सन्त सींगा के रूपक सामान्य ग्रामीण जीवन से लिये गये अत्यन्त मार्मिक हैं। हरिनाम की खेती का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है-"श्वास प्रश्वास रूपी दो बैल हैं। उनमें सुरति की रस्सी लगा लो। तदनन्तर अनन्य प्रेम की लम्बी लकड़ी ग्रहण करके उसमें ज्ञान की नोकदार कांटी बैठा लो। फिर उन दोनों बैलों को लेकर हरिनाम की खेती करते रहो।" इसी प्रकार ये अनुभव के विषय में कहते हैं—"चौ दिशा से नाला आया, तब दरियाव कहाया रे। गंगा जल की मोटी महिमा, देसन देस बिकाया रे।।"

सन्त सींगाजी की रचनाएँ आत्मानुभूति की अभिव्यंजना से ओत-प्रोत हैं। उनके काव्य का माधुर्य साधारण से साधारण पाठक या श्रोता का मन अपनी ओर खींच लेता है। एक गीत में वे कहते हैं—"मेरे स्वामी की अटारी पर दो दीपक जगमग प्रकाश कर रहे हैं। वहाँ पर अखण्ड स्मृति का पहरा है। अपने झुके हुए मस्तक का फल लेकर मैं उसके द्वार पर चढ़ाने जाता हूँ। पर भीतर से कोई कह देता है 'ठहरो'। अब ठहरो सुनते सुनते बड़ा विलम्ब हो गया है। तुम्हारी आज्ञा की अपेक्षा तुम्हारा रोकना ही अधिक कोमल और मधुर प्रतीत होता है।" इन पंक्तियों से कवि की अनुभूति की भावुकता और कल्पना की कोमलता प्रमाणित है।

सींगाजी द्वारा विरचित पदों की संख्या ८०० बताई जाती है। इनकी भाषा निमाड़ी है। कुछ दिन पूर्व इनके काव्य का संग्रह 'सन्त सींगाजी' शीर्षक से सींगाजी साहिब शोधक मण्डल, खण्डवा से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में सींगाजी की जीवनी भी दी गयी है।

सींगाजी निमाड़ी क्षेत्र में बड़े लोकप्रिय और पूज्य हैं। वहाँ की जनता आज भी उनके भजनों और पदों का गान बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ करती है। प्रसिद्ध है—"सिंगा बड़ा अवलिया पीर। जिसको सुमिरै राव अमीर।।" तथा 'म्हारा सिर पर सिंगा जबरा। गुरु मैं सदा करत हूँ मुजरा।।'

सींगाजी ने किसी पंथ या सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की परन्तु सत्यानुभूति एवं माधुर्य से पूर्ण उनके गीत एवं पद निमाड़ प्रदेश की जनता के हृदय पर स्थायी प्रभाव स्थापित किये हुए हैं। सींगाजी के श्रद्धालु भक्तों की संख्या हजारों में है। निमाड़ क्षेत्र की जनता आज भी सींगाजी की समाधि पर श्रद्धांजलि अर्पित करके उनके यश और कीर्ति को अमर बनाये हुए है। उनकी समाधि के स्थान का चिह्न किंकड़ी नदी के तट पर विद्यमान है। आश्विन मास में प्रतिवर्ष वहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। सींगाजी ने श्रावण शुक्ल ९, १६१६ वि० (सन् १५५९ ई०) को किंकणी नदी के तट पर समाधि ली। इस प्रकार उन्होंने केवल ४० वर्षों का पवित्र और निष्कलंक जीवन व्यतीत किया।

[सहायक ग्रन्थ—सन्त सींगाजी, सींगाजी साहित्य शोधक मण्डल, खण्डवा।]

—त्रि० ना० दी०

सीता—'ऋग्वेद' में 'सीता' का अर्थ पृथ्वी पर हल से जोती हुई रेखा के लिए हुआ है। इसी के आधार पर सीता को कृषि की अधिष्ठात्री देवी तथा भूमिजा की संज्ञा दी गयी। सीता के पिता जनक एक वैदिक ऋषि और मिथिला नरेश दोनों रूपों में प्रसिद्ध रहे हैं। 'बृहदारण्यक', 'छांदोग्य' आदि उपनिषदों में जनक के सम्बन्ध में तो कथाएँ मिलती हैं किन्तु सीता का उल्लेख नहीं मिलता। सीता का सर्वप्रथम उल्लेख 'रामायण' और 'महाभारत' में हुआ है। 'वाल्मीकि रामायण' में उन्हें 'जनकानां कुले जाता' कहा गया है परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि सीता जनक की पुत्री थीं। 'वायु' और 'पद्म पुराण' में सीता के पिता का नाम 'सीरध्वज' बताया गया है। उत्तर राम चरित में भवभूति ने शीर ध्वज शब्द का प्रयोग जनक के पर्याय के रूप में किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय तक सीता जनकपुत्री के रूप में प्रसिद्ध हो गयी थीं।

'वाल्मीकि—रामायण' में सीता का चरित्रांकन महाकाव्य की नायिका तथा नायक के गौरव के अनुरूप हुआ है। उनके चरित्र की गरिमा के ही कारण कदाचित् अनेक स्थलों पर लक्ष्मी के साथ उसका साम्य दिखाया गया है। कालान्तर में ज्यों-ज्यों राम के व्यक्तित्व का दैवीकरण होता गया और वे विष्णु के अवतार के रूप में प्रसिद्ध होते गये, त्यों-त्यों सीता को भी विष्णुपत्नी लक्ष्मी से अभिन्न समझा जाने लगा। 'वाल्मीकि रामायण' के प्रक्षिप्त अंशों में लक्ष्मी और सीता में कोई भिन्नता नहीं रह गयी। पुराणों में तो असंदिग्ध रूप में उन्हें साक्षात् लक्ष्मी का अवतार माना गया है। 'रघुवंश' महाकाव्य में भी उनके देवी रूप की ही प्रतिष्ठा है। राम और सीता के व्यक्तित्व के दैवीकरण का एक अन्य रूप उनमें प्रकृति और पुरुष की कल्पना का भी है। कदाचित् सबसे पहले 'राम तापनीय उपनिषद्' में सीता और अमल प्रकृति को अभिन्न बताया गया है। 'अध्यात्म रामायण' में सीता को मूल प्रकृति की संज्ञा दी गयी है। 'स्कन्द पुराण' में ब्रह्म विद्या का साक्षात् अवतार बताया गया है। बौद्ध और जैन साहित्य में सीता सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं। 'दशरथ जातक' के अनुसार वे राम की छोटी बहन हैं, जिनके साथ राम प्रवासकाल के बाद वाराणसी लौटकर विवाह कर लेते हैं। विदेश में प्रचलित राम-कथाओं में भी सीतासम्बन्धी इसी प्रकार की विकृत कल्पनाएँ मिलती हैं। कहीं उन्हें मन्दोदरी पुत्री, कहीं राम की बहन और कहीं माता बताया गया है। संस्कृत काव्यों में सीता के चरित्र की अनेक विशेषताएँ चित्रित हुई हैं। कालिदास ने 'रघुवंश' में सीता को राम की आदर्श पत्नी के रूप में प्रस्तुत किया है। कालिदास ने उन्हें अयोनिजा तो बताया है किन्तु उनके चरित्र में उन अनेक कल्पनाओं का समावेश नहीं किया, जो पुराण-साहित्य में विकसित हो गयीं। आठवीं शताब्दी में रचित कुमारदासकृत 'जानकी-हरण काव्य' में सर्वप्रथम उनके

चरित्र के करुण पक्ष का चित्रण हुआ है। इसके बाद अभिनन्द कृत 'रामचरित', क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण मंजरी', साकल्य मल्लकृत 'उदार राघव' आदि काव्यों में सीता का चरित्र-चित्रण पौराणिक परम्परा के अनुरूप हुआ है। सीता के व्यक्तित्व में पातिव्रत धर्म के साथ-साथ उनके लक्ष्मी के अवतार की कल्पना बद्धमूल होती गयी, जिससे सभी परवर्ती काव्य अनिवार्य रूप से प्रभावित हुए। १७ वीं शताब्दी के चक्रकवि कृत 'जानकी-परिणय' में भी उन्हें अनन्त सौन्दर्यशालिनी महालक्ष्मी स्वरूप में चित्रित किया गया है।

संस्कृत नाट्य-साहित्य में भी राम के साथ सीता के व्यक्तित्व में उत्तरोत्तर गौरव-गरिमा की वृद्धि और दैवत स्वरूप की प्रतिष्ठा होती गयी। साक्षात् लक्ष्मी कहा गया है। अग्नि-परीक्षा के समय स्वयं अग्नि-देवता प्रकट होकर सीता को "इमां भगवतीं लक्ष्मीं" कहकर सम्बोधित करते हैं। सीता के करुण व्यक्तित्व का सबसे अधिक प्रभावशाली चित्र भवभूतिकृत 'उत्तर रामचरित' में मिलता है। साथ ही भवभूति ने उनके अनन्य प्रभाव का वर्णन करते हुए उनमें दैवी शक्ति की प्रतिष्ठा की है। उनकी शपथ तथा उनका विलाप सुनकर पृथ्वी माता प्रकट हो जाती हैं तथा राम के आगमन पर वे अदृश्य रूप में वार्तालाप करती हैं। 'हनुमन्नाटक' में सीतास्वयंवर, राम-सीता विवाह तथा सीताहरण के चित्रणों में सीता के अप्रतिम सौन्दर्य, उनके रतिविलास तथा उनकी विरह व्याकुलता के सरस चित्रण मिलते हैं। सीतासम्बन्धी इन्हीं निर्देशों और चित्रणों के आधार पर हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने उनके व्यक्तित्व का परम विकसित रूप अपने 'रामचरितमानस' में प्रस्तुत किया।

'रामचरितमानस' की सीता अपने दैवत रूप में ब्रह्म राम की माया शक्ति अथवा आदिपुरुष राम की मूल प्रकृति हैं। लौकिक-लीला के रूप में वे राम की अनन्यधर्मा और पतिव्रता भार्या हैं। इस रूप में वे परम साध्वी, पतिपरायणा, सती का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करती हैं। रावण के बन्धन में रहते हुए वे भय अथवा प्रलोभन किसी उपाय से उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखतीं। अपने पातिव्रत की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए वे रावण से तृण की ओट लेकर बात करती हैं। पति के साहचर्य और उनकी सेवा के उद्देश्य से ही उन्होंने राजभवनों के समस्त सुखों को त्यागकर आग्रह के साथ वनवास स्वीकार किया था। राम से वियुक्त होकर भी वे राम का स्मरण करते हुए रावण की बन्दिनी के रूप में घोर कष्ट सहन करती हैं और उन्हें इस बात का कभी पश्चात्ताप नहीं होता कि उन्होंने राम के साथ वन जाने का आग्रह क्यों किया था? तुलसीदास की सीता उस लज्जाशील, विनयशील और संस्कृत रमणी का आदर्श रूप हैं, जिसके लिए पति ही सर्वस्व है, पति की आज्ञा का पालन तथा उसी की आराधना-पूजा जिसका एकमात्र धर्म है। तुलसीदास ने सीता के चरित्र-चित्रण में आदर्श पत्नी का रूप प्रस्तुत करते हुए उन्हें वात्सल्यमयी माता के गुणों से भी समन्वित किया है। वे सीता को माता, अम्बा, जगज्जननी आदि संबोधनों से विभूषित करते हुए नहीं थकते। तुलसीदास ने रामकथा का उत्तर खण्ड अपनी काव्य-रचना में नहीं सम्मिलित किया। अपने इष्टदेव राम के सम्बन्ध में किसी प्रकार की ऐसी कल्पना करना उन्हें धर्मविरुद्ध लगता था, जिससे राम के चरित्र पर किंचिन्मात्र भी लाँछन आये। इसके अतिरिक्त उत्तर-चरित की उपेक्षा का एक कारण यह भी माना जा सकता है कि तुलसीदास अपनी सीता माता के चरित्र के विषय में किसी प्रकार के कलंक की कल्पना करना पाप समझते थे, भले ही वह कलंक सर्वथा निराधार हो। तुलसीदास की सीतासम्बन्धी जगज्जननी की कल्पना में आगे चलकर केशवदास और सेनापति जैसे दरबारी वातावरण के कवियों ने जगरानी, सियरानी और सम्राज्ञी की कल्पना सम्मिलित कर दी। युग के प्रभाव की दृष्टि से यह स्वाभाविक ही था।

रामभक्ति में माधुर्य और रसिकता के समावेश होने पर सीता के व्यक्तित्व में राम से भी अधिक महत्ता का संकेत किया जाने लगा। रसिक सम्प्रदाय के अनुसार जगत् मूलतः जानकी में ही समाहित है। जानकी की मधुर उपासना से राम विष्णुलोक के अधिकारी भक्तों को आश्रय देते हैं। यह भक्त राम के सखा और पार्षद हैं तथा सीताराम की मधुर लीला के परिकर हैं। रसिक सम्प्रदाय के भक्तों ने राम और सीता के केलि-विलास का वर्णन करने के लिए उसी प्रकार की लीलाओं की कल्पना कर डाली, जैसी कि राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्णसम्बन्धी कृष्ण की लीलाओं में वर्णित है। नाभादास के 'अष्टयाम', बालकृष्ण नायक 'बाल अलि' की 'रामध्यान मंजरी', 'रामप्रियशरण के 'सीतायन', यमुनादास के 'गीत रघुनन्दन', प्रेमसखी के 'सीताराम', जानकी रसिकशरण के 'अवधी सागर', लालदास के 'अवध विलास' आदि ग्रन्थों में सीता के जिस विलासपूर्ण चरित्र का वर्णन हुआ है, उससे न केवल उनकी माता सदृश लोकपावनता को आघात पहुँचता है, वरन् उनका सतीत्व की मर्यादा से मण्डित गरिमापूर्ण व्यक्तित्व भोग-विलास की कालिमा से कलंकित हो जाता है परन्तु संख्या में प्रचुर होते हुए भी रसिक सम्प्रदाय की रचनाओं का कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। ये रचनाएँ काव्य-गुणों से भी सर्वथा हीन हैं तथा उनमें चरित्र-चित्रण की कोई सम्यक् और युक्तियुक्त कल्पना नहीं पाई जाती। यही कारण है कि लोकमानस पर उनका कोई प्रभाव नहीं है और सीता असन्दिग्ध रूप में तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित अपने जगज्जननी और आदर्श पतिव्रता स्त्री के रूप में ही पूज्य हैं।

आधुनिककाल में सीता के चरित्र-चित्रण में उनके व्यक्तित्व के करुण पक्ष की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया गया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने 'वैदेही बनवास' में इसी पक्ष को विशेष रूप में उभारा। 'वैदेही वनवास' में सीता के चरित्रांकन में यद्यपि मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लिया गया है, तथापि उसमें अलौकिक तत्त्वों का अभाव नहीं है किन्तु 'साकेत सन्त' (बलदेवप्रसाद मिश्र) तथा 'साकेत' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि काव्यों में चरित्रांकन की पद्धति अधिक मनोवैज्ञानिक है तथा सीता के चरित्र में मानवीयता की अधिकाधिक प्रतिष्ठा करने का प्रयास देखा जाता है।

सीता का व्यक्तित्व पूर्णतया राम के व्यक्तित्व पर निर्भर है, अतः चरित्र-चित्रण में दोनों चरित्रों में समान रूप से विकास हुआ है। सम्पूर्ण रामकाव्य की सीता का चरित्र एक आदर्श भारतीय स्त्री का चरित्र है (दे० राम)।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के; तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त; कल्याण का मानस

विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर; तुलसी और उनका युग : रापजति दीक्षित।]

—यो० प्र० सिं०

सीतायन—इस ग्रन्थ की रचना मिथिलानिवासी श्रृंगारी रामोपासक रामप्रिया शरण ने १७०३ ई० में की थी। सीताचरित को लेकर लिखा गया यह हिन्दी का एक मात्र प्रबन्ध काव्य है। 'रामचरितमानस' की भाँति यह भी सात खण्डों में विभक्त है—बालकाण्ड, मधुरमाल काण्ड, जयमाल काण्ड, रसमाल काण्ड, सुखमाल काण्ड, रसाल काण्ड और माधुर्यपरक लीलाएँ वर्णित हैं। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार सीता-राम का संयोग नित्य है। वे कभी एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते। अतः सीताहरण तथा तत्सम्बन्धी कथानक इसमें स्थान नहीं पा सका है। इसकी रचना 'रामचरितमानस' की शैली पर अवधी के दोहा-चौपाई छन्दों में हुई है किन्तु इसमें न तो वैसा भाषा सौष्ठव है और न रोचकता। इतिवृत्तात्मकता और सम्बन्धनिर्वाह में शिथिलता के कारण यह रचना आकर्षणहीन हो गयी है। ग्रन्थकर्ता के कथानिर्माण में 'सुन्दरी तन्त्र' ऐसे शाक्ततन्त्रों से भी सहायता ली है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता कि है रसिक साधना पर वैष्णवेतर आध्यात्मिक साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है।

—भ० प्र० सिं०

सीताराम (लाला)—लाला सीताराम 'भूप' का जन्म कृष्णशंकर शुक्ल के अनुसार सन् १८५८ ई० (संवत् १९१५) में ('आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रथम संस्करण, १९३४, पृष्ठ ७७) तथा आचार्य चतुरसेन के अनुसार सन् १८५३ ई० में ('हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' १९४६, पृष्ठ ४५९) अयोध्या में हुआ था। हिन्दी, संस्कृत और फारसी के अतिरिक्त आधुनिक ढंग की शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने १८७९ ई० में बी० ए० की उपाधि प्राप्त की थी। वकालत की परीक्षा भी सीताराम ने पास की थी। बाद को कुछ दिनों 'अवध अखबार' का सम्पादन किया। इसके पश्चात् क्वीन्स कालेज के स्कूल विभाग में अध्यापन किया, वहीं से वे प्रधानाध्यापक होकर सीतापुर चले गये। सन् १८९५ ई० में वे डिप्टी कलेक्टर हो गये थे। शिक्षा के क्षेत्र से उनका सम्बन्ध सदैव बना रहा। उन्हें रायबहादुर की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। २ जनवरी, १९३७ ई० को उनकी मृत्यु प्रयाग में हुई।

लाला सीताराम ने संस्कृत और अँग्रेजी काव्यों तथा नाटकों का प्रामाणिक अनुवाद किया था। कविता में उनका उपनाम 'भूप' था। कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद १८८३ ई० में उन्होंने प्रकाशित कराया। इसके अनन्तर १८८४ ई० में 'कुमारसम्भवम्', १८८५ ई० में 'रघुवंश' के सर्ग ९ से १५, १८८६ ई० में 'रघुवंश' के सर्ग १ से ८ तथा १८९२ ई० में संपूर्ण 'रघुवंश' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसी बीच १८७७ ई० में 'नागानन्द' का भी उन्होंने अनुवाद छपवा दिया था। कालिदास के 'ऋतुसंहार' का अनुवाद १८९३ ई० में प्रकाशित हुआ। इन अनुवादों के अनन्तर उन्होंने संस्कृत के ही 'मृच्छकटिक', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव', 'महाबीर चरित्र' 'मालविकाग्निमित्र' के भी अनुवाद कर डाले। उनके इन अनुवादों के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिन्दी बहुत सीधी-सादी, सरल और आडम्बरशून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पायी है" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४५४)।

पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने १८९८ ई० में उनके कालिदाससम्बन्धी अनुवादों की भाषा तथा भावसम्बन्धी त्रुटियों की कटु समीक्षा 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' के नाम से की थी।

संस्कृत के उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त लाला सीताराम ने शेक्सपियर के नाटकों के भी हिन्दी अनुवाद किये, एवं 'हितोपदेश' तथा 'प्रजाकर्तव्य' दो ग्रन्थ और लिखे थे, पर उनका मुख्य प्रदेय संस्कृतानुवादसम्बन्धी ही है।

—दे० श० अ०

सीताराम चतुर्वेदी—जन्म १९०७ ई० में वाराणसी में हुआ। एम० ए० तक शिक्षा हुई। काव्यशास्त्र तथा नाटयशास्त्र पर विशेष रूप से कार्य किया। रचनाएँ-'महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय' (जीवन-वृत : १९३५), 'अभिनव, नाटयशास्त्र' (१९५१), 'समीक्षा शास्त्र' (१९५३), 'कालिदास ग्रन्थावली' (१९४५), 'भाषालोचन' (१९५५)।

—सं०

सुंद उपसुंद—निसुन्द नामक असुर के दो पुत्रों में बड़े का नाम सुन्द और छोटे का नाम उपसुन्द था। एक बार इन दोनों भाइयों ने विन्ध्याचल पर्वत पर घोर तप किया, जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें वर दिया कि तुम लोग आपस में ही लड़कर मर सकते हो परन्तु अन्य कोई तुमको नहीं मार सकता है। धीरे-धीरे सुन्द और उपसुन्द दोनों अत्याचार करने लगे तो देवताओं ने उनके अपकर्ष का उपाय सोचा। उन्होंने तिलोत्तमा नामक एक अपूर्व सुन्दरी अप्सरा उत्पन्न की। सुन्द उपसुन्द दोनों उस पर मोहित हुए और आपस में लड़कर समाप्त हो गये। 'सूरसागर' में सुन्द उपसुन्द की कथा वर्णित है— "देखि के नारि मोहित जो होवे। आपको मल या विधि सो खोवे।।" (दे० सू० सा० प० ४३८)।

—रा० कु०

सुन्दर—सुन्दर ग्वालियर निवासी ब्राह्मण थे। इनके जन्ममरण की तिथियाँ उपलब्ध नहीं हैं। ये मुगल बादशाह शाहजहाँ के दरबारी कवि थे, १६३१ ई० में वर्तमान थे इन्हें शाहजहाँ से प्रचुर सम्पत्ति एवं सम्मान के अतिरिक्त 'महाकविराय' की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। हैदराबाद के सन्त अकबरशाह ने अपने नायिकाभेदविषयक तेलुगू ग्रन्थ 'श्रृंगार मंजरी' (रचनाकाल १६७० ई० के लगभग) में इनके 'सुन्दर श्रृंगार' का उल्लेख किया है। 'सुन्दर श्रृंगार' श्रृंगार रस, नायिका-भेद एवं नख-शिखपर इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसकी रचना १६३१ ई० मे हुई थी। वाराणसी के भारत जीवन प्रेस से यह ग्रन्थ १८९० ई० में प्रकाशित हो चुका है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इनके दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है : (१) 'बारहमासी' (१९०६-०८ की रिपोर्ट, क्रम संख्या २४१ बी), (२) 'ध्रुवलीला' (१९२६-२८ की रिपोर्ट, क्रम संख्या ४६९ ए)। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्ल (हि० सा० इ०, १९५० ई०, पृ० २२९) तथा रामशंकर शुक्ल (हि० सा० इ०, १९३१ ई०, पृ० ४२४) ने इनके

'सिंहासन बत्तीसी' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है किन्तु ये तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं तथा अभी तक इनकी प्रामाणिकता की परीक्षा नहीं की गयी है।

'सुन्दर श्रृंगार' में इन्होंने व्यवस्थित और शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अनुप्रास और यमकादि शब्दालंकारों के प्रचुर प्रयोग से इन्होंने अपनी रचना को चमत्कारपूर्ण बनाने का सफल प्रयास किया है। इन्होंने लक्षणों के लिए दोहा तथा हरिपद छन्दों का तथा उदाहरणों के लिए कवित्त अथवा सवैया छन्द का उपयोग किया है। इनके लक्षण स्पष्ट है तथा उदाहरण कवित्वपूर्ण हैं। उदाहरणों में इन्होंने कहीं तो कृष्ण को नायक बनाया है और कहीं शाहजहाँ को। इस ग्रन्थ में हाव, सात्त्विक भाव, उद्दीपन विभाव, आलम्बन विभाव (नायक-नायिका भेद), विरह की दशाएँ आदि श्रृंगार-रससम्बन्धित सभी विषयों का समावेश किया है। केवल संचारी भाव छोड़ दिये गये हैं। इन्होंने मुख्य रूप से तो भानुदत्त की 'श्रृंगार मंजरी' का अनुकरण किया है किन्तु यत्र-तत्र अपनी मौलिक उद्भावनाएँ भी ग्रथित की हैं। नायिका-भेद लेखक के रूप में इन्होंने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अनेक परवर्ती लेखकों ने इनका उल्लेख भी किया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; ब्र० सा० ना०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६)।]

—रा० गु०

सुंदरदास—सुन्दरदास प्रसिद्ध सन्त दादूदयाल के शिष्य थे। निर्गुण सन्त कवियों में ये सर्वाधिक व्युत्पन्न व्यक्ति थे। इनका जन्म सन् १५९६ ई० में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्यौसा नगर में एक खण्डेलवाल वैश्य परिवार में हुआ था। दादूदयाल ने ही इनके रूप से प्रभावित होकर इनका नाम 'सुन्दर' रखा था। दादू के एक अन्य शिष्य का नाम भी सुन्दर था, इसलिए इन्हें छोटे सुन्दरदास कहा जाने लगा। कहते हैं कि ६ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। ११ वर्ष की अवस्था में ये अध्ययन के लिये काशी आये और १८ वर्ष तक वेदान्त, साहित्य और व्याकरण का अध्ययन करते रहे। अध्ययन के उपरान्त फतेहपुर (शेखावटी) लौटकर इन्होंने १२ वर्ष तक निरन्तर योगाभ्यास किया। फतेहपुर रहते हुए इनकी मैत्री वहाँ के नवाब अलिफ खाँ से हो गयी थी। अलिफ खाँ स्वयं भी काव्य प्रेमी था। इन्होंने देशाटन भी खूब किया था, विशेषतः पंजाब और राजस्थान के सभी स्थानों में ये रम चुके थे। इनकी मृत्यु सांगानेर में सन् १६८९ ई० में हुई।

सुन्दरदास की छोटी-बड़ी कुल ४२ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें 'ज्ञानसमुद्र', 'सुन्दर विलास', 'सर्वांगयोग प्रदीपिका', 'पंचेन्द्रिय-चरित्र', 'सुख समाधि', 'अद्भुत उपदेश', 'स्वप्न प्रबोध', 'वेद विचार', 'उक्त-अनूप', 'पंच प्रभाव' और 'ज्ञान झूलना' आदि प्रमुख हैं। इन कृतियों का एक अच्छा संस्करण पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित होकर 'सुन्दर ग्रन्थावली' नाम से दो भागों में राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता से सन् १९३६ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

सुन्दरदास ने भारतीय तत्त्वज्ञान के सभी रूपों को शास्त्रीय ढंग से हिन्दी-भाषा में प्रस्तुत कर दिया है किन्तु यह समझना भूल होगी कि ये षट्-दर्शनों के शास्त्रनिर्णीत मतवादों में एक पंडित जैसी आस्था रखते थे। इन्होंने शास्त्रीय तत्त्वज्ञान से अधिक महत्त्व अनुभव-ज्ञान को देते हुए कहा है—"जाके अनुभव-ज्ञान वाद मैं न बह्यौ है।" इनका जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण वही था, जो अन्य सन्तों का। ये योग मार्ग के समर्थक और अद्वैत वेदान्त पर पूर्ण आस्था रखने वाले थे। व्युत्पन्न होने के कारण इनकी रचनाएँ छन्दतुक आदि की दृष्टि से निर्दोष अवश्य हैं किन्तु उनका स्वतन्त्रभावोन्मेष रीत्यधीनता के कारण दब-सा गया। इनकी भाषा व्याकरणसम्मत है और इन्होंने अलंकारादि का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया है। रीति-कवियों का अनुसरण करते हुए इन्होंने चित्र-काव्य की रचना भी की है। वस्तुतः सुन्दरदासजी की रचनाएँ सन्तकाव्य के शास्त्रीय संस्करण के रूप में मान्य हो सकती हैं।

[सहायक ग्रन्थ—सुन्दर ग्रन्थावली : (सम्पादक) पुरोहित हरिनारायण शर्मा; उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; सुन्दर-दर्शन : त्रिलोकी नारायण दीक्षित; हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल।]

—रा० चं० ति०

सुकरात—यूनान के आदिकालीन चिन्तकों में सुकरात का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। सुकरात का समय ४७०-३९९ ई० पू० माना जाता है। उनका जन्म एथेन्स के एक निर्धन परिवार में हुआ था। उनकी माता एक सेविका और पिता मूर्तिकार था। पैतृक कार्य सीखकर उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया। नागरिक के रूप में उसने विभिन्न पदों को ग्रहण करके उसकी सेवा की। सुकरात ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। भगवान् बुद्ध के सदृश उसके उपदेशों को उसके शिष्यों ने कण्ठस्थ करके लोक में प्रचारित भी नहीं किया। इसी कारण उसके जीवन-दर्शन की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है। कैण्टो के शब्दों में वह एक स्वार्थी व्यक्ति था। उसके शिष्य अरस्तू ने उसे उच्च कोटि का दार्शनिक माना है। जोनोफन का सुकरात उसी के समान एक सदाचारी व्यक्ति था। अरिस्टोफेनीड़ा की दृष्टि में सुकरात एक ऐसा तार्किक था, जो किसी का आदर न करता था। वह अपने विचित्र विचारों में केन्द्रित एक ऐसे विद्यापीठ का संचालक था, जिसका यूनान के जीवन पर कुप्रभाव पड़ा।

सुकरात की दार्शनिक चिन्ताधारा में परम्परा एवं सामयिक मान्यताओं का प्रतिरोध मिलता है। वह कार्य-कारण के ज्ञान-सम्बन्धों का समर्थक था। उसने ज्ञानार्जन की एक नयी पद्धति चलायी, जो प्रश्नोत्तर की पद्धति थी। उसने ज्ञानार्जन के दो रूप निर्धारित किये। प्रथम तो बाह्य ज्ञान, जो लोक व्यवहार पर आधारित था और द्वितीय वास्तविक, जो उसकी दृष्टि में कार्य-कारणमूलक ज्ञान था। सुकरात के लिए ज्ञानोपलब्धि के क्षेत्र में महत्त्व की बात यह थी कि एक व्यक्ति किस प्रकार ज्ञानार्जन करता है। वह ज्ञान के परिमाण पर विशेष बल नहीं देता था। सुकरात ने ज्ञान और सदाचार में कोई अन्तर नहीं माना है। उसके विचार में सद्गुण आत्मा की सामान्य सामर्थ्यशक्ति का ही प्रतिरूप है, जिसके द्वारा सब कार्यों में सन्तुलन और एकस्वरता आ जाती है। सद्गुणों के भी उसने दो रूप निर्धारित किये। प्रथम तो साधारण, जो मत और स्वभाव आचरण पर निर्भर करता है और द्वितीय दार्शनिक, जो विवेक और अन्तर्ज्ञान का परिणाम है। वह मात्र बुद्धिवादी नहीं

कहा जा सकता क्योंकि वह प्रत्येक विचार की व्यावहारिकता का भी मूल्यांकन करता था।

सुकरात अपने समय की लोकतन्त्रवादी विचारधारा का विरोधी था। उसके अनुसार शासन कार्य का संचालन एक अद्भुत कला है, जो विशेषज्ञों के ही द्वारा संचालित होनी चाहिए। उसके क्रान्तिकारी विचारों के ही फलस्वरूप उस पर आरोप लगाये गये। अन्ततः उसे प्राणदण्ड दिया गया। उसके अन्तिम वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, जो इस प्रकार हैं "यह सत्य है कि कानून ने मुझे क्षति पहुँचाई है पर मैं केवल एक व्यक्ति हूँ और इसलिए अनुचित दण्ड का प्रभाव केवल मुझ पर ही पड़ा है। यदि मैं कारागार से भागूँगा तो कानून और एथेन्स दोनों को क्षति पहुँचाऊँगा। यह अक्षम अपराध होगा।"

सुकरात के व्यक्तित्व में उत्तम व्यक्ति और नागरिक के गुणों का अद्भुत समन्वय था। जब तक एथेन्स के लोकतन्त्र की चर्चा चलेगी, तब तक यह भी अनिवार्य रूप से प्रसिद्ध रहेगा कि उसी व्यवस्था ने सन्देह के कारण ७१ वर्ष के सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया। विचारकों के अनुसार सुकरात को प्राणदण्ड देने के कारण एथेन्स के इतिहास पर जो कालिमा लगी है, उसे वहाँ का २५०० वर्षों का इतिहास भी धोने में असमर्थ है। सुकरात का उल्लेख प्रसादजी ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में किया है।

—रा० कु०

सुखदा—प्रेमचन्दकृत उपन्यास 'कर्मभूमि' की पात्र। सुखदा अमरकान्त की पत्नी है। वह बड़े घराने की और लाड़-प्यार से पालित-पोषित युवती है। उसके स्वभाव में आराम और ऐश्वर्य के प्रति आकर्षण है। इसीलिए आरम्भ में उसमें और अमरकान्त में विचार-साम्य स्थापित नहीं हो पाता किन्तु वह जन-जागरण में भाग लेती है, क्रियाशीलता और कर्मठता प्रकट करती है। अछूतोद्धार और गरीबों के लिए मकानों की योजना के सम्बन्ध में आन्दोलन छेड़ती है। वह निराश होना नहीं जानती। साथ ही अमरकान्त की भाँति सहिष्णु भी नहीं है। उसके चरित्र में दृढ़ता और विचारों में हठ है। यह व्यक्ति का आदर करना जानती है और देश सेविका है।

—ल० सा० वा०

सुखदेव मिश्र—ये कम्पिल (जिला फर्रुखाबाद) के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका काल सन् १६३३ से १७०३ ई० तक है। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् कवीन्द्राचार्य सरस्वती इनके काव्यगुरु थे। इन्होंने काशी में साहित्य तथा तन्त्र का अध्ययन किया था। कई राजाओं के आश्रय में रहकर इन्होंने काव्य-रचना की है। असोथर के राजा भगवन्तराय खींची, डोण्डिया खेरे के राव मर्दानसिंह, औरंगजेब के मन्त्री फाजिलअली शाह तथा अमेठी के राजा हिम्मत सिंह से इन्हें विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। इनका अन्तिम समय मुरारमऊ के राजा देवी सिंह के यहाँ बीता, जिनसे इन्हें दौलतपुर नामक गाँव वृत्त रूप में प्राप्त हुआ था। इस गाँव में इनके वंशज अब भी विद्यामान हैं। इनको 'कविराज' की उपाधि राजा राजसिंह गौड़ से प्राप्त हुई थी (हि० सा० बृ० इ० में अलहयार खाँ द्वारा प्रदान बतलाई गयी है)।

इनके अधिकांश ग्रन्थ छन्दों पर हैं। 'अध्यात्म प्रकाश' (सन् १६९८), 'फाजिल अली प्रकाश' (सन् १६७८), 'नखशिख', 'मर्दान रसार्णव' (सन् १६७९), 'ज्ञान प्रकाश' (सन् १६९८), 'रस रत्नाकर', 'पिंगल छन्द विचार', 'पिंगल वृत्त विचार' (सन् १६७१) और 'छन्द निवास सार'—ये नौ ग्रन्थ इनके बतलाये जाते हैं। इनमें से 'पिंगल वृत्त विचार' और 'फाजिल अली प्रकाश' का प्रकाशन क्रमशः गोपीनाथ पाठक, बनारस से १८६९ ई० में तथा जैन प्रेस, लखनऊ से १८९८ ई० में हुआ। भगीरथ मिश्र ने 'रसार्णव' के प्रकाशित संस्करण की भी चर्चा की है। 'रस रत्नाकर' की एक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में भानुदत्तकृत 'रस मंजरी' के आधार पर नायिका-भेद का विषय लिया गया है। दूसरे ग्रन्थ 'रसार्णव' में नव रसों के साथ नायिका भेद का प्रसंग दिया गया है और यह ग्रन्थ डौण्डिया खेरे के राव मर्दानसिंह की आज्ञा से रचा गया है। इनका 'पिंगल वृत्त विचार' नामक ग्रन्थ हिन्दी के पिंगल ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की चार हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ के चार परिच्छेदों में से प्रथम में कवित्त और छप्पय हैं तथा मंगलाचरण के साथ कवि और आश्रयदाता राजसिंह का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में छन्दसम्बन्धी सामान्य नियमों का विवेचन है। तृतीय में वर्णिक वृत्तों को लिया गया है और चतुर्थ परिच्छेद में मात्रिक छन्दों को। इस ग्रन्थ की विवेचन शैली रोचक है। सुखदेव मिश्र का काव्य सरस और ओजगुण से युक्त है। आलंकारिक प्रयोगों में वे रीतिकाल के अच्छे कवियों में गिने जा सकते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ०; भा० ६; दि० भू०।]

—सं०

सुखसंपत्तिराय भंडारी—जन्म १८९५ ई० में हुआ। कई पत्रों—'वेंकटेश्वर समाचार', 'सद्धर्म प्रचारक', 'पाटलिपुत्र' आदि का सम्पादन किया। सात भागों में प्रकाशित इनके 'अंग्रेजी-हिन्दी कोश' की पर्याप्त सराहना हुई। विविध विषयों पर लिखी इनकी १८ पुस्तकें हैं।

—सं०

सुखसागर—दे० 'मलूकदास'।

सुखसागर-तरंग—रीतिकाव्य के सुप्रसिद्ध कवि देव का यह सम्भवतः अन्तिम ग्रन्थ है, जो उन्होंने १६६७ ई० के लगभग ९४-९५ वर्ष की नितान्त वृद्धावस्था में पिहानी के अधिपति अकबरअली खाँ को समर्पित किया था। देव ने स्वयं इसे 'संग्रह' कहा है—"...श्रीखान साहबअली अकबर खान कारिते देवदत्त कवि रचिते श्रृंगार सुखसागर तरंग संग्रह..."। लक्ष्मीधर मालवीय को इसी नाम की एक अपेक्षाकृत संक्षिप्त प्रति ऐसी मिली है, जो महाराज जसवन्त सिंह को समर्पित है। इससे अनुमान होता है कि इसके भी कवि ने दो संस्करण किये थे। 'सुखसागर' के बड़े संस्करण में लगभग ९०० कवित्त-सवैये हैं, जिनमें से अधिकतर देव के अन्यान्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। लगभग दो सौ छन्द ऐसे हैं, जो कहाँ से संगृहीत है, यह ज्ञात नहीं होता, जिसके कारण कुछ अनुपलब्ध ग्रन्थों की कल्पना भी की गयी है। लक्ष्मीधर मालवीय की यह धारणा है कि देव ने प्रारम्भ से ही अपने पास स्वरचित एक छन्द-संग्रह ऐसा रखा था, जिससे छन्द लेकर वे नये ग्रन्थों में समाविष्ट कर लेते थे तथा उसमें नये-नये छन्द समय-समय पर जोड़ते भी जाते थे। सम्भव है 'सुखसागर तरंग' इसी प्रकार के संग्रह का

परिवर्धित रूप हो परन्तु यह धारणा अभी सिद्ध नहीं मानी जा सकती। 'सुखसागर तरंग' की हस्तलिखित प्रतियाँ गन्धौली के ब्रजराज पुस्तकालय में तथा मिश्रबन्धुओं के पास मिली हैं। १८९३ ई० (सं० १९५४) में अयोध्या से बालदत्त ने इसे सम्पादित करके प्रकाशित भी किया था। यह संस्करण अब अप्राप्य है।

इसमें बारह अध्याय हैं। स्वरूप इसका लक्षण-ग्रन्थ जैसा है परन्तु लक्षण के दोहे नहीं दिये गये हैं। श्रृंगार रस और नायिका-भेद का इसमें आद्योपान्त इतना परिविस्तार है कि इसके प्रति 'नायिका-भेद के विश्वकोश' की भावना उत्पन्न होने लगती है, जैसा नगेन्द्र ने इसके विषय में कहा भी है। प्रथम अध्याय का मुख्य विषय श्री पंचमी महोत्सव का चित्रण है। दूसरे अध्याय से पूर्वराग आदि का वर्णन आरम्भ हो जाता है, फिर षड्ऋतु और अष्टयाम भी वर्णित किये जाते हैं, जिनकी समाप्ति तीसरे अध्याय में होती है। इसी में नख-शिख आदि भी समाविष्ट है। चौथे से लेकर अन्तिम अध्याय तक नायिका-भेद का ही विविध प्रकार से परिविस्तार मिलता है।

[सहायक ग्रन्थ—शि० स०; मि० वि०; हि० का० शा० इ०; रीo भू० तथा दे० का०; देव के लक्षणग्रन्थों का पाठ और पाठ-समस्याएँ (अप्र०) : लक्ष्मीधर मालवीय।]

—ज० गु०

सुग्रीव—सुग्रीव के चरित्र में एक साथ अनेक विशेषताओं का समावेश मिलता है। वे सूर्य-पुत्र प्रसिद्ध वानर, वीर बलि के अनुज, किष्किन्धा के राजा तथा राम के मित्र एवं भक्त थे। सीताहरण के पश्चात् राम की सुग्रीव से मित्रता हुई। उन्होंने बलि का वध किया तथा तारा सुग्रीव की पत्नी हुई। राम-रावण युद्ध में सुग्रीव ने राम की सहायता की थी। रामकथा काव्यों के अतिरिक्त भी सुग्रीव के भक्तरूप की चर्चा अन्य ग्रन्थों में भी मिलती है (दि० सू० सा० प० ४७७; 'स्कन्दगुप्त' १।२५)।

—रा० कु०

सुजान-चरित—सूदन कवि ने अपने आश्रयदाता सुजान सिंह (सूरजमल) के आश्रय में 'सुजान-चरित' ग्रन्थ की रचना की है। इस पुस्तक में सुजान सिंह के जीवन की १७४५ ई० से १७५३ ई० तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः इस काव्य की रचना १७५३ ई० के आसपास हुई होगी। 'सुजान चरित्र' राधाकृष्ण दास द्वारा सम्पादित नागरी प्रचारिणी सभा काशी से १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

'सुजान-चरित्र' के प्रारम्भ में सूदन ने १७५ कवियों के नामों का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् सूरजमल के वंश का वर्णन, उनके द्वारा लड़ी गयी सात लड़ाइयों का विस्तृत वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में सुजान सिंह के सम्पूर्ण जीवन का विवरण प्राप्य है। युद्ध की तैयारी, सैन्य-प्रयाण आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण इस काव्य में मिलता है। कवि ने वीररस का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है। साथ ही इसमें श्रृंगार, वीभत्स आदि रसों का भी सफल अंकन हुआ है। चरित्र-चित्रण में चरित्र-नायक के ऐश्वर्य, वैभव और गुणों का सुन्दर वर्णन करने के साथ ही प्रतिपक्षियों का भी उतना ही उत्तम चित्रण किया है। सूदन ने 'सुजान-चरित' में १०३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। छन्दों के रूप और नामपरिवर्तन करने की प्रवृत्ति द्वारा सूदन ने अपने पाण्डित्य एवं आचार्यत्व का परिचय दिया है। छन्दों में शीघ्र परिवर्तन द्वारा इस कवि ने अपनी रचना को रोचक बनाने की सफल चेष्टा की है। विविध वस्तुओं, नामों आदि की लम्बी सूचियों, संयुक्ताक्षर तथा नादात्मकता का जिन स्थलों पर प्रयोग हुआ है, वे अंश नीरस हो गये हैं। सूदन की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है पर उसमें पंजाबी, मारवाड़ी, बैसवाड़ी पूर्वी तथा फारसी का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। साहित्यिक एवं ऐतिहासिक, दोनों दृष्टियों से इसका एक प्रमुख स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० वी०; हि० सा० इ०; हि० सा० (भा० २); मि० वि०।]

—टी० तो०

सुदर्शन—सुदर्शन (जन्म १८९६ ई०) हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार हैं, यद्यपि इन्होंने उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। वास्तविक नाम बदरीनाथ है। जन्म पंजाब के सियालकोट नामक स्थान में हुआ था। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। प्रेमचन्द की भाँति सुदर्शन का साहित्यिक जीवन भी उर्दू से प्रारम्भ हुआ। उर्दू से ही वे हिन्दी में आये और शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली। १९२० ई० की 'सरस्वती' में उनकी सर्वप्रथम कहानी प्रकाशित हुई। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—'रामकुटिया' (१९१७ ई०), 'पुष्पलता' (कहानी १९१९ ई०), 'सुप्रभात' (कहानी १९२३ ई०), 'अंजना' (नाटक, १९२३ ई०), 'परिवर्तन' (कहानी १९२६ ई०), 'सुदर्शन सुधा' (कहानी १९२६ ई०), 'तीर्थयात्रा' (कहानी, १९२७ ई०), 'फूलवती' (कहानी १९२७ ई०), 'सुहराब और रुस्तम' (१९२९ ई०), 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (प्रहसन, १९२७ ई०), 'सात कहानियाँ' (१९३३ ई०), 'विज्ञान वाटिका' (१९३३ ई०), 'सुदर्शन सुमन' (कहानी १९३४ ई०), 'गल्पमंजरी' (१९३४ ई०), 'चार कहानियाँ' (१९३८ ई०), 'पनघट' (कहानी, १९३९ ई०), 'राजकुमार सागर' (१९३९ ई०), 'अँगूठी का मुकदमा' (कहानी, १९४०), 'झंकार' (१९३९ ई०) और 'भागवन्ती' (उपन्यास)। 'प्रमोद', 'नगीने' और 'खटपट लाल' भी उनके कहानी-संग्रह बताये जाते हैं।

जिस समय सुदर्शन ने कहानियों की रचना प्रारम्भ की, उस समय या तो "सादे ढंग से केवल कुछ अत्यन्त व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गम्भीर संवेदना या मनोभाव में पर्य्यवसित" होनेवाली कहानियों का प्रचार था या "परिस्थितियों के विशद और मार्मिक—कभी कभी रमणीय और अलंकृत—वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मन्द मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्य्यवसित" होने वाली कहानियों का प्रचार था। प्रेमचन्द की भाँति सुदर्शन ने इन दोनों पद्धतियों के बीच की पद्धति ग्रहण की और घटनाओं के चित्रण के साथ-साथ अपनी ओर से भी व्याख्या प्रस्तुत की। उनकी कहानियों के कथानक सामाजिक जीवन से लिये गये हैं और उनमें उनकी सुन्दर वर्णनात्मक शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि ये आर्यसमाज आन्दोलन से प्रभावित थे तो भी उनमें संकीर्णता नहीं थी। उन्होंने कहानियों के कथानक भारतवर्ष के जीवन से ही नहीं, वरन् विदेशों के जीवन से भी ग्रहण किये। कथा-संगठन में उत्सुकतापूर्ण स्थल रखकर वे उसमें सौन्दर्य

उत्पन्न करते और पाठक का मन रमाये रहते हैं। शान्त और गम्भीर रूप में प्रवाहित होती हुई कथा किसी स्थल पर एक दम परिवर्तित होकर आश्चर्य की सृष्टि करती है। कथोपकथन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उनकी कहानियाँ सफल हैं। वे स्वयं तो व्याख्या करते ही हैं किन्तु साथ ही अपने पात्रों को भी आत्म-विश्लेषण का अवसर प्रदान करते हैं। सुदर्शन की कहानियों की भाषा स्वाभाविक और लालित्यपूर्ण है। उनकी रचना-शैली में एक विशिष्टता है, जो तुरन्त पहचानी जा सकती है।

सुदर्शन का नाटक 'अंजना' यद्यपि पौराणिक कथानक पर आधारित है तो भी उससे वर्तमान पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है किन्तु वस्तु-संघटन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक में शिथिलता है। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' में दो मूर्ख देहातियों को मजिस्ट्रेट के रूप में चित्रित किया गया है। मूर्खों और सरकारी पिट्ठुओं द्वारा न्याय का गला किस प्रकार घोंटा जाता है और पद का दुरुपयोग किया जाता है, इस स्थिति का सुदर्शन ने अच्छा मजाक बनाया है। उन्होंने एक 'चन्द्रगुप्त' नामक एकांकी भी लिखी है। सुदर्शन कुछ दिन फिल्मी दुनिया में भी काम कर चुके हैं।

—ल० सा० वा०

सुदामा—कृष्ण-काव्य में सुदामा का उल्लेख कृष्ण के बाल सखा और सहपाठी के रूपों में प्राप्त होता है किन्तु काव्य में सान्दीपनि ऋषि के शिष्य एवं कृष्ण के सहपाठी सुदामा का ही चरित्र स्वीकृत हो सका। सुदामा, कृष्ण के ऐसे मित्रभक्त हैं, जिन्हें द्वारिकाधीश कृष्ण के प्रेम, औदार्य और भक्तवत्सलता का उत्कृष्ट रूप में लाभ होता है (सू० सा० प० ४८४२-४८६३)। दैन्यभाव की परिपोषक होने के कारण सुदामा दारिद्रय-भंजन की कथा पर्याप्त लोकप्रिय हो गयी। सूरदास और नन्ददास के पश्चात् अप्रत्याशित कृपा से विस्मयविमुग्ध सुदामा का चरित्र हृदय की निकटता के अभाव में साम्प्रदायिक भक्त कवियों के बीच अधिक लोकप्रिय न हो सका। आलम, नरोत्तम, गोपाल, कालीराम, महाराज दास, वीर, राखन, आनन्ददास आदि सम्प्रदाय मुक्त कवियों के ही द्वारा यह प्रसंग वर्णित हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग पर काव्य-रचना करनेवाले सभी कवियों ने सुदामा के दारिद्रय की अतिरंजना और कृष्ण की मैत्री के आदर्शीकरण के अतिरिक्त किसी अन्य तथ्य का समावेश नहीं किया है।

बीसवीं शती में मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' पृ० २०५-२२२ के अन्तर्गत सुदामा के चरित्र में भक्तिभावना के साथ ही स्वाभिमान और समाजवादी विचारों की आंशिक रूप में व्यंजना हुई है। कदाचित् इसीलिए कवि ने सुदामा को द्वारिका गमन के लिए उद्यत मात्र दिखाया है, उसका कृष्ण से साक्षात्कार नहीं होता।

—रा० कु०

सुदामाचरित—सुदामादारिद्रयभंजन की कथा। 'भागवत दशम स्कन्ध' के अध्याय ८१।८२ में वर्णित है। सुदामा सांदीपनि गुरु के आश्रम में कृष्ण के सहपाठी सखा थे। वे अत्यन्त दीन, दरिद्र और दुर्बल ब्राह्मण थे। कृष्ण जब द्वारिका में शासन करने लगे तो उनकी पत्नी सुशीला ने उनसे आग्रह किया कि वे अपने ऐश्वर्यसम्पन्न सखा कृष्ण के पास जाकर अपने दारिद्रय का परिहार करें। पत्नी के अत्यन्त आग्रह पर भगवान् को भेंट देने के लिए तण्डुल लेकर वे उनके पास गये। भगवान् कृष्ण ने सुदामा को सब प्रकार से सन्तुष्ट करके उनके दारिद्रय को दूर कर दिया। सुदामा और कृष्ण की मैत्री के इस आख्यान के आधार पर भारतीय भाषाओं में अनेक रचनाएँ हुईं। अष्टछाप के कवियों में सूरदास ने 'सूरसागर' के दशम् स्कन्ध (पद सं० ४२२४-४२४४) में सुदामा की कथा वर्णित की है। इसके अतिरिक्त पद संख्या ४२४४ में उन्होंने सम्पूर्ण सुदामा चरित्र को ग्रन्थित कर दिया है। अष्टछाप के एक अन्य कवि नन्ददासकृत 'सुदामा चरित' का भी उल्लेख मिलता है। डा० दीनदयाल गुप्त का अनुमान है कि यह रचना नन्ददासकृत 'सम्पूर्ण भाषा भागवत' का, जो अब अप्राप्य है, अंश है (दे० 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' भाग १ पृ० ३४७)। इस रचना में दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। नन्ददास के समसामयिक कवि नरोत्तम (संवत् १६०२) कृत 'सुदामा चरित' इस परम्परा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह एक संक्षिप्त खण्ड-काव्य है, जो दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों में रचा गया है। कथासंगठन, नाटकीय विधान, भाव, भाषा, छन्द आदि सभी दृष्टियों से नरोत्तमदासकृत 'सुदामा चरित' श्रेष्ठ रचना है तथा परवर्ती सुदामा-चरित सम्बन्धी रचनाओं को इससे प्रचुर प्रेरणा मिली। बहादुरशाह के समकालीन आलम कवि (संवत् १६८३ के लगभग) ने खड़ीबोली में एक 'सुदामा चरित' की रचना की। यह ६० पद्यों की छोटी सी रचना है, जो रेखता भाषा में लिखी गयी है। कृष्ण और सुदामाविषयक अभिव्यक्तियों में साम्प्रदायिकता का आभास नहीं मिलता है। इसी शती में कालीराम (संवत् १७३१) द्वारा ब्रजभाषा में रचित 'सुदामा चरित' भी प्राप्त हुआ है। सुदामाचरितों की रचना की दृष्टि से अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी विशेष महत्त्वपूर्ण है। अठारहवीं शती की एतद्विषयक रचनाओं में माखन कविकृत 'सुदामा चरित', खण्डन कविकृत 'सुदामा चरित' (संवत् १७९९), वीरकृत 'सुदामा चरित' उल्लेखनीय हैं। १९वीं शती के सुदामाचरितों में गोपाल कविकृत 'सुदामा चरित' (संवत् १८५३), 'प्राणनाथकृत 'सुदामा चरित' (संवत् १८१३) और बालकदास फकीरकृत 'सुदामा चरित' (संवत् १८९०) महत्त्वपूर्ण है। २०वीं शती में भी सुदामा चरितों की रचना होती रहीं। इस शती की रचनाओं में बिहारके हलधर कविकृत 'सुदामा चरित' (संवत् १९००), 'महाराज दासकृत 'सुदामा चरित' (संवत् १९१९) और कैथी लिपि में भूधरकृत 'सुदामा चरित' प्राप्त हैं।

सुदामा दारिद्रय-भंजन की कथा साम्प्रदायिक कृष्ण साहित्य में समादृत न हो सकी। सूरदास और नन्ददासकृत 'सुदामा चरित' अवश्य इस तथ्य के अपवाद कहे जा सकते हैं। वस्तुत: वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों की उपासनापद्धति में उत्तरोत्तर ब्रज-लीलाओं और माधुर्यभाव की अभिवृद्धि के कारण द्वारिकावासी कृष्ण की ऐश्वर्यपूर्ण लीलाएँ साम्प्रदायिक साहित्य में स्वीकृत नहीं हो सकीं तथा लोक में सम्प्रदायमुक्त कवियों द्वारा ही अधिक प्रचारित हुईं। उल्लिखित सुदामाचरितों की विषयवस्तु केवल दो प्रयोजन दृष्टिगत होते हैं। प्रथम तो सुदामा के दारिद्रय

केअतिरेक का निरूपण तथा दूसरे कृष्ण की मैत्री का आदर्शीकरण। मूलतः भक्तिप्रसूत होते हुए भी रीति-युग के राजकीय ऐश्वर्य एवं लोक के दारिद्रय की युगपत् अभिव्यक्ति कदाचित् इस प्रसंग के द्वारा सबसे अधिक मात्रा में सम्भव थी। इसीलिए उस युग में सुदामाचरितों की रचना को प्रेरणा मिली।

सुदामाचरितों की भाषा प्रायः ब्रजभाषा ही रही परन्तु आलम और गोपाल कवि की रचनाओं की भाषा खड़ीबोली से प्रचुर मात्रा में प्रभावित है। सुदामाचरितों के अन्तर्गत दोहा, चौपाई, सवैया, अरिल्ल आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। पद-शैली में इस प्रसंग की उद्भावना का श्रेय केवल सूरदास को ही प्राप्त है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य भाग २; ना० प्र० स० की खोज रिपोर्टें १९०५ १२-१४, २५-३०, ३२-३४, ३८-४०, २९-३०; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की खोज रिपोर्ट; इतिहास एवं अन्य सन्दर्भ ग्रन्थ।]

—रा० कु०

सुधांशु—दे० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'।

सुधाकर द्विवेदी—जन्म सन् १८६० ई० में काशी के समीप खजुरी ग्राम में हुआ था। आठ वर्ष की अवस्था तक आपकी शिक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध न हो सका था। आप अद्भुत प्रतिभा के बालक थे। देर से शिक्षा आरम्भ होने पर भी आपने शीघ्र ही संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। गणित और ज्योतिष में आपकी विशेष गति थी। 'सुधाकर शर्मा गणिते बृहस्पतिसमः' कहा गया है। अपने जीवन-काल में आपको विभिन्न पदो पर कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ था। सन् १८८३ ई० में काशी के प्रसिद्ध संस्कृत कालेज में पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुए। सन् १८८९ ई० में बापूदेव शास्त्री के अवकाश ग्रहण करने पर आपकी नियुक्ति संस्कृत कालेज के गणित-अध्यापक के पद पर हुई। १६ फरवरी, सन् १८८७ ई० में महारानी विक्टोरिया के जुबली-महोत्सव में आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी। क्वीन्स कालेज के गणित के अध्यापक एम० एन० दत्त के इन्सपेक्टर नियुक्त होने पर आप क्वीन्स कालेज में भी गणित का अध्यापन करने लगे। सार्वजनिक कार्यों में आप सक्रिय सहयोग देते थे। इसलिए हिन्दू कालेज की प्रबन्ध-समिति, प्रान्तीय पाठ्य-पुस्तक निर्धारिणी-समिति, ना० प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आप सम्मानित सदस्य थे। तुलसी स्मारक सभा के तो आप सभापति थे।

संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी आप हिन्दी के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते थे। संस्कृत भाषा में गणित, ज्योतिष और आध्यात्मिक विषयों पर लिखे गये आपके ग्रन्थों की कुल संख्या २९ से अधिक है। हिन्दी में भी आपने कम नहीं लिखा है। 'चलन कलन' (१८८६ ई०), 'चलराशि कलन' (१८८६ ई०), 'समीकरण मीमांसा' (भाग १, २), 'गति विद्या' आपकी प्रसिद्ध गणित की पुस्तकें हैं। 'तुलसी सुधाकर' (तुलसी सतसई पर कुण्डलिया), 'पदमावती' १-५ खण्ड (ग्रियर्सन के साथ सम्पादित) 'दादू दयाल शब्द' (सम्पादित), महाराज रुद्र प्रताप सिंहकृत 'रामायण' का मुद्रण, 'हिन्दी वैज्ञानिक कोश', 'हिन्दी भाषा का व्याकरण', 'भाषाबोध' (भाग १,२) 'राधाकृष्ण-दानलीला', 'रामकहानी' आदि आपकी हिन्दी में रचित और सम्पादित साहित्य कृतियाँ हैं। तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' और 'मानस' के बालकाण्ड का आपने संस्कृत में अनुवाद भी किया था। कुछ दिनों तक आपने 'मानस पत्रिका' नामक एक पत्रिका का सम्पादन भी किया था, जिसमें 'रामचरित-मानस' के सम्बन्ध में उठाई जानेवाली शंकाओं का समाधान किया जाता था।

आप विचारों से उदार और सुधारवादी थे। आप जन्म नहीं, कर्म के आधार पर वर्ण-निर्णय के पक्ष में थे। विलायत से लौटने वाले लोगों को जाति से बहिष्कृत होते देखकर आपको ग्लानि होती थी। ३० अगस्त, १९१० ई० को आपके सभापतित्व में काशी में एक विराट् सभा हुई थी, जिसमें आपने ओजस्वी स्वर में मात्र विलायत-गमन के कारण जातिच्युत लोगों को पुनः जाति में लेने के लिए अपील की थी। १९१० ई० में काशी में आपका स्वर्गवास हो गया।

आप सरल और सुबोध हिन्दी के पक्षपाती थे। आपका गद्य परिमार्जित, प्रसन्न और प्रवाहमय है। हिन्दी का सौभाग्य था कि उसे उसके विकास के प्रारम्भिक युग में ही वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में सोचने और लिखने में पूर्ण समर्थ सुधाकर द्विवेदी के रूप में एक प्रकाण्ड पण्डित उपलब्ध हुआ था।

—रा० चं० ति०

सुधानिधि—आचार्य और कवि तोषजी का लिखा हुआ यह रसभेद, भावभेदसम्बन्धी ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस से सन् १८९२ में रामकृष्ण वर्मा द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इसमें १८३ पृष्ठ और ५६० छन्द हैं। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में शुक्लजी ने संवत् १७९१ अर्थात् सन् १७३५ ई० लिखा है। किन्तु अयोध्या नरेश के पुस्तकालय से प्राप्त प्रति के अनुसार मिश्रबन्धुओं ने एक दोहे—"संवत् सोरह से बरस गो इकानबे बीति। गुरु आषाढ़ की पूर्णिमा रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति।। ५५५।।"—के आधार पर सन् १६३५ निश्चित किया है। इस तरह से इनके रचनाकाल में सौ वर्ष का अन्तर पड़ जाता है पर मिश्रबन्धुओं द्वारा निश्चित काल ही ठीक प्रतीत होता है। 'सुधानिधि' रस विवेचन का एक अच्छा ग्रन्थ है। इसमें नव रसों, भावों, भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता, रसाभास, रसदोष, वृत्ति तथा नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। सखा-सखी भेद, हाववर्णन तथा वियोग दशाओं के मनोहारी वर्णन हैं। श्रृंगारेतर रसों तथा संचारियों के विवेचन कम हैं पर उदाहरण अच्छे हैं। दोहा छन्द का प्रयोग प्रायः लक्षण देने के लिए और कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग लेखक ने उदाहरण के लिए किया है। इस ग्रन्थ में रस से सम्बद्ध किसी भी बात को लेखक ने छोड़ा नहीं है और उदाहरणों की मार्मिकता के कारण आचार्यत्व कुछ दबा-दबा-सा लगता है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० का० इ०; हि० सा० इ०।]

ह० मो० श्री०

सुनीता—जैनेन्द्र कुमार की प्रमुख औपन्यासिक कृतियों में एक, जिसका प्रकाशन सन् १९३५ ई० में हुआ। जैनेन्द्र को उपन्यास कला का प्रौढ़तम रूप इसी उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास में तीन चरित्रों—सुनीता, हरि प्रसन्न तथा श्रीकान्त की प्रमुखता है। उपन्यास की कथा का आधार इन्हीं

पात्र-पात्रियों के त्रिकोणात्मक चरित्रों की पृष्ठभूमि है। उपन्यास में कथानक के विकास के सामानान्तर ही दार्शनिक तत्त्वों का समावेश तथा उनका आग्रह भी क्रमशः बढ़ता जाता है। कुछ स्थलों पर वातावरण की प्रधानता होने के कारण उनका महत्त्व अवश्य है। परिणाम यह हुआ है कि न केवल यह उपन्यास ही घटनाप्रधान नहीं रह गया है, वरन् इसमें उनका अभाव भी है। पात्रों का व्यक्तित्व उन्हीं तत्त्वों के माध्यम से विकसित होता है, जो कथा-विकास का भी आधार हैं। 'सुनीता' की प्रस्तावना में जैनेन्द्र ने लिखा है—"पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य भी नहीं है। अतः तीन चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कन्वास की जरूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में समग्रता क्यों न दिखाई जा सके?"

'सुनीता' की कथा का आरम्भ एक ऐसे दम्पत्ति की परिस्थिति के उपस्थितिकरण से होता है, जिनके चरित्र रहस्यात्मक सूत्रों से निर्दिष्ट होते हैं। सुनीता और श्रीकान्त के विवाह को सम्पन्न हुए तीन वर्ष व्यतीत हो चुके हैं परन्तु वे अभी तक निःसन्तान हैं। उनके जीवन में कभी-कभी नीरसता की प्रतीति का यही कारण है। श्रीकान्त बहुधा अपने मित्र हरिप्रसन्न का स्मरण और चर्चा करता है। वह उसे पुराने पते पर पत्र भी लिखता है, जो लौट आता है। एक बार वह उसे प्रयाग में देखता भी है परन्तु भीड़ के कारण भेंट नहीं कर पाता। बाद में बड़े नाटकीय रूप में भेंट हरिप्रसन्न से दिल्ली में हो जाती है। वह उसे घर ले आता है। हरिप्रसन्न सुनीता से परिचित होता है और पति-पत्नी का चित्र भी बनाता है। श्रीकान्त उसे बाँधकर रखना चाहता है और सुनीता को भी अपना उद्देश्य बता देता है। एक बार श्रीकान्त के बाहर जाने पर हरिप्रसन्न सुनीता के पास आता है और अपने दल के क्रान्तिकारी युवकों का नेतृत्व करने की प्रार्थना करता है। वह आधी रात के समय उसके साथ निर्जन बन में मीटिंग में जाती है। वहाँ गुप्त संकेतों से पता चलता है कि पुलिस को सूचना हो जाने के कारण मीटिंग नहीं हुई। हरिप्रसन्न वहीं प्राण देने पर उतारू हो जाता है। उसके मुँह से यह सुनकर कि वह उसे चाहता है, सुनीता उसके सामने निरावरण हो जाती है। हरिप्रसन्न लज्जित होता है और दोनों लौट आते हैं। श्रीकान्त को भी इन दोनों के रात को जाने की बात मालूम हो जाती है। सुनीता उसे हरि के मन की डाँवाडोल स्थिति के विषय में बताती है। वे दोनों ऐसा अनुभव करते हैं, जैसे इस घटना के कारण वे परस्पर अधिक निकट आ गये हैं। इस प्रकार से इस प्रभावशाली उपन्यास की कथा समाप्त होती है।

—प्र० ना० टं०

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—जन्म १८९० ई० में शिवपुर (जिला-हाबड़ा) में हुआ। शिक्षा (एम० ए०, डी० लिट्०) कलकत्ता, लन्दन तथा पेरिस के विश्वविद्यालयों में हुई। भारत वर्ष के भाषा-वैज्ञानिकों में आपका नाम शीर्षस्थ रखा जाता है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा माननेवाले हिन्दी तर विद्वानों में आप प्रमुख रहे हैं। मुख्यतः हिन्दी में आपकी दो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं—'ऋतम्भरा' (निबन्ध संकलन) तथा 'राजस्थानी भाषा'।

—सं०

सुब्बासिंह (श्रीधर)—सरोजकार ने श्रीधर नाम के दो कवियों की चर्चा की है। इनमें एक श्रीधर प्राचीन कहे जाते हैं। अभी तक इनका कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आता है। इनकी कुछ फुटकर श्रृंगारिक रचनाएं प्राप्त हैं। दूसरे श्रीधर सुब्बासिंह हैं। ये ओयल के (जिला खीरी) निवासी राजा बख्तसिंह के लघु भ्राता थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका जन्म सं० १८५० के लगभग माना जाता है। इन्होंने सं० १८७४ से सुवंश शुक्ल की सहायता से विद्द्विनोदतरंगिणी' नामक विशाल संग्रह ग्रन्थ की रचना की। ठाकुर शिवसिंह ने अपने 'सरोज' के प्रणयन में इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता ली है। इस ग्रन्थ में ४४ कवियों की रचनाओं का संकलन हुआ है, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :—सुवंश, कविन्द, रघुनाथ, तोष, ब्रह्म, शंभु, देव, श्रीपति, बेनी, कालिदास, पद्माकर, दूलह, दास, निहाल, मोहन, परसार, नेवाज, लीलाधर, कविराज, सुमेर, युगराज, नन्दन आदि। सुब्बासिंह 'श्रीधर' उपनाम से स्वयं भी कविता किया करते थे। इनकी पच्चीस-तीस कविताऐं 'विद्वन्मोदतरंगिणी' में संकलित हैं। यह रीति ग्रन्थों में अत्यधिक महत्व का ग्रन्थ बताया जाता है। इसमें भावभेद, रसभेद और नायिका भेद का विशद एवं मार्मिक विवेचन हुआ है। श्रीधर ने इस ग्रंथ का विवेचन करते समय लक्षण तो अपने दिये हैं और उदाहरण अन्य प्राचीन ब्रजभाषा कवियों से लिये हैं। तृ० वा० रि० के अनुसार सं० १८६६ में लिखित इनके एक अन्य ग्रन्थ 'शालिहोत्र प्रकाशिक' का भी पता चला है। यह ग्रन्थ अद्यावधि मुद्रण का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सका। फुलस्केप साइज के ११६ पृष्ठों का यह ग्रंथ हमें हस्तलिखित रूप में बिसवां, सीतापुर से प्राप्त हुआ था। दिग्विजय भूषण की भाँति इस ग्रंथ का भी प्रकाशन अत्यावश्यक है।

[सहायक ग्रन्थ—मिश्रबंधु विनोद द्वितीय भाग, शिवसिंह सरोज (सं०).

—कि० ला०

सुभद्रा कुमारी (चौहान)—जन्म सन् १९०४ ई० (संवत् १९६१ वि०) में प्रयाग के निहालपुर मुहल्ले में हुआ था। आपका विद्यार्थी-जीवन प्रयाग में ही बीता। क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज में आपने शिक्षा प्राप्त की और शिक्षा समाप्त करने के बाद नवल पुर के सुप्रसिद्ध वकील ठा० लक्ष्मण सिंह के साथ आपका विवाह हो गया। बाल्यकाल से ही साहित्य में रुचि थी। प्रथम काव्य रचना आपने १५ वर्ष की आयु में ही लिखी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन में बराबर सक्रिय भाग लेती रहीं। कई बार जेल गयीं। काफी दिनों तक मध्य प्रान्त असेम्बली की कांग्रेस सदस्या रहीं और साहित्य एवं राजनीतिक जीवन में समान रूप से भाग लेकर अन्त तक देश की एक जागरूक नारी के रूप में अपना कर्तव्य निभाती रहीं। १९४८ ई० में अप्रैल के महीने में आपका स्वर्गवास हो गया।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान मुख्यतः कवयित्री थीं। उनकी कविताओं में दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से महत्त्व की हैं—पहली तो राष्ट्रीय भावना की और दूसरी घरेलू जीवन की। आपकी राष्ट्रीय कविताओं में समसामयिक देश-प्रेम और

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की गहरी छाप है। सुभद्रा जी ने अपनी राष्ट्रीय रचनाओं में जिस प्रतिभा के साथ सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय भावनाओं को समसामयिक राजनीतिक जीवन के तात्कालिक सन्दर्भों से जोड़ा था, उससे उनकी प्रतिभा का विशेष परिचय मिलता है। सुभद्रा जी की काव्य-शैली की विशेषता यह थी कि वह किसी भी जटिल से जटिल भाव को सम्पूर्ण सरलता के साथ रखती थीं भाव और अभिव्यक्ति, दोनों को एक दूसरे में ऐसा पिरोकर रखती थीं कि कहीं भी उनकी शैली में राष्ट्रीय भावना आरोप के समान नहीं लगता। बुन्देलखण्ड में लोक-शैली में गाये जाने वाले छन्द को लेकर उसी में झाँसी की रानी जैसी रोमांचक कथा लिखना उनकी प्रतिभा और दृष्टि दोनों का परिचय देता है। यही कारण था कि राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में यद्यपि 'झाँसी की रानी' काव्य को अंग्रेजी सरकार ने जब्त कर लिया था फिर भी वह हिन्दी भाषाभाषी जनता को कण्ठाग्र हो गया था। "बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी"—'झाँसी की रानी' काव्य की इन पंक्तियों ने देश में राष्ट्रीयता का जागरण किया और युवकों को काफी प्रेरणा दी। यह सरलता उनके घरेलू या सहज जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाओं में भी मिलती है। "वीणा बज सी पड़ी खुल गये नेत्र और कुल आया ध्यान, मुड़ने की थी देर मिल गया, उत्सव का प्यारा सामान" या "मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी" या "शैशव के सुन्दर प्रभात का मैंने नव विकास देखा, यौवन की मादक लाली में यौवन का हुलास देखा" आदि कविताओं में हमें यह स्पष्ट पता चलता है कि सुभद्राजी में गम्भीर से गम्भीर विषय को भी सरल रूप में प्रस्तुत करने की अदम्य क्षमता थी। लेकिन इस सरलता में सुभद्राजी की रचनाएँ अपनी सरसता नहीं खोतीं। भावव्यंजक. सरलता और हृदयस्पर्शी सरसता दोनों के योग से वह अपनी रचनाओं को बड़ा मधुर बना देती थीं। उनकी कविताओं के संकलन 'त्रिधारा' और 'मुकुल' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं।

काव्य के अतिरिक्त श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की दूसरी साहित्यिक विधा कहानी थी। कहानियों में भी वही सरल शैली और जीवन के मधुरतम भावुक क्षणों का मानवीय चित्रण इनकी विशेषता थी। राष्ट्रीय भावनाएँ और आदर्श और यथार्थ के मर्मस्पर्शी संघर्षों पर आधारित कहानियाँ समसामयिक राष्ट्र की मानसिक स्थिति का पूर्ण परिचय देती हैं। सुभद्राजी की कविताओं और कहानियों में उस युग की छायावादी प्रवृत्ति की बड़ी निर्मल झाँकी देखने को मिलती है। वही स्वप्नलोक, वही आदर्शवाद, वही उदात्त भाव आधारभूत रूप में आपकी रचनाओं में वैसे ही वर्तमान है किन्तु उनका सह-सम्बन्ध सुभद्राजी ने राष्ट्रीय और सहज जीवन के पक्षों से स्थापित किया है। उस छायावादी वातावरण से समसामयिक ऐतिहासिक दायित्व के लिए इतना भी निकाल लेना सुभद्राजी की प्रतिभा और सतर्क बुद्धि का परिचायक है। कहानियों को पढ़ने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। आपकी कहानियों पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से दो बार 'सेक्सरिया' पुरस्कार मिला था। आपकी कहानियों के संग्रहों का नाम है—'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी'।

कहानियों के अतिरिक्त सुभद्राजी ने अच्छे निबन्ध भी लिखे हैं। निबन्धों में भी आपने व्यक्तिगत शैली में ही अनेक प्रश्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। वस्तुतः सुभद्राजी का व्यक्तित्व इतना व्यक्तिगत था कि उसकी छाप जैसे उनके काव्य पर है, कहानियों पर है, ठीक उसी प्रकार निबन्धों पर भी है। निबन्धों का वैसे कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है किन्तु उनकी समस्त कृतियों की सापेक्षता में उनकी संगति है। उन निबन्धों को पढ़ने से उनकी रचना-प्रक्रिया और सोचने के ढंग का परिचय मिलता है, साथ ही उनकी मौलिक वृत्तियों को समझने का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट हो जाता है।

शैलीकार के रूप में सुभद्राजी की शैली में सरलता विशेष गुण है। भाषा भी रोज के बोलचाल की और उसके साथ उनका शिल्प भी अत्यन्त सहज और सुलभ पक्षों का समर्थन करता हुआ चलता है। नारी हृदय की कोमलता और उसके मार्मिक भाव-पक्षों को नितान्त स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करना सुभद्राजी की शैली का मुख्य आधार है। शिल्प के लिए इनकी रचनाओं में आरोपित आग्रह कहीं भी नहीं मिलता। गद्य भी इसी प्रकार सरल और आसानी से समझा जाने वाला है।

—ल० कां० व०

सुमन—प्रेमचन्दकृत उपन्यास 'सेवासदन' की पात्र। सुन्दर, चंचल, लाड़-प्यार से पालित-पोषित, अभिमानिनी, सबसे बढ़चढ़ कर रहने की इच्छा रखने वाली सुमन दारोगा कृष्ण चन्द्र की बड़ी लड़की है। पिता की आर्थिक कठिनाइयों के कारण गजाधर के साथ उसका अनमेल विवाह हो जाता है। गजाधर का जीवन दरिद्रता और कठिनाइयों से पूर्ण जीवन है। सुमन ने जीवन सुख से काटना सीखा है। उसने इन्द्रियों के आनन्दभोग की शिक्षा पायी है, न कि कुशल गृहिणी बनने की। यही कारण है कि वह धनाभाव के कारण अपनी इन्द्रियों को तृप्त न कर पाती थी। अपने सौन्दर्य और उच्चकुल के कारण वह दूसरों पर आधिपत्य जमाना चाहती है किन्तु पति की दरिद्रता के कारण उसे इन्द्रिय सुख प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता। भोली के कुसंग, पति की कठोरता और पद्मसिंह की अदूरदर्शिता के कारण वह वेश्या-जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर हो जाती है। वह समझती है मान-मर्यादा धन से होती है, धर्म या कर्त्तव्य-पालन से नहीं। यह उसकी गलत शिक्षा का परिणाम है। वेश्या बनकर भी उसने अपना शरीर नहीं बेचा। सदन सिंह के प्रति उसके हृदय में निःस्वार्थ प्रेम उत्पन्न होता है। अभी तक उसकी आत्मा का पूर्ण संहार नहीं हुआ। वह अपनी कुचेष्टाओं के कारण आग में कूद पड़ी थी, यह सोच-सोच कर उसमें आत्म-परिष्कार की भावना उत्पन्न होती है। वेश्या-जीवन छोड़ते समय उसका पुनर्जन्म होता है और उस समय उसके चरित्र में संयम और त्याग की झलक दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्द ने उसके भीतर का मनुष्य मरने नहीं दिया। थोड़े समय के बाद उसके मुख पर शुद्धान्तःकरण की विमल आभा छा गयी। वह समाज का श्रृंगार प्रतीत होने लगी। अब वह आत्मिक स्वास्थ्य-लाभ की ओर झुकती है। वह अपने पति को क्षमा कर देती है। सेवा-मार्ग को वह अपने जीवन का लक्ष्य बनाती है। वह प्रेम और पवित्रता की साक्षात् मूर्ति बन जाती है। 'सेवा सदन' की

स्थापना से उसके जीवन का प्रभात प्रारम्भ होता है।

—ल० सा० वा०

सुमित्रा—लक्ष्मण की माता के रूप में प्रसिद्ध होते हुए भी सुमित्रा राम-कथा की प्रायः मूक पात्र हैं। उनके चरित्र का कथा-विकास में विशेष महत्त्व नहीं है और न उसमें चारित्रिक जटिलताओं की कोई सम्भावनाएँ हैं। यही कारण है कि राम-कथासम्बन्धी अनेक प्रकरणों में उनका नामोल्लेख तक नहीं मिलता। लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता के रूप में सुमित्रा की प्रसिद्धि के अतिरिक्त राम-वन-गमन के अवसर पर सपत्नी के पुत्र के साथ अपने पुत्र को सहर्ष भेज देना उनकी चारित्रिक उदारता का प्रमाण है। वाल्मीकि ने कहा है कि वे कौशल्या और कैकेयी दोनों को प्रिय थीं। यद्यपि उन्हें अपने पति दशरथ की उपेक्षाओं एवं तिरस्कारों के मौन संकेतों का सामना करना पड़ा है फिर भी वे अन्त तक उनकी शुभेच्छु बनी रहीं। वाल्मीकि के उपरान्त सुमित्रा के चरित्र में राम-कथा के कवियों ने कोई उल्लेखनीय विकास नहीं दिखाया। 'रामचरितमानस' में उनके चरित्र में परम्परागत औदार्य के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताओं का भी कथन किया गया है, यद्यपि मानसकार भी उन्हें अधिक मुखर पात्र नहीं बना सके। मानसकार लक्ष्मण के प्रवास की अनुमति मांगने पर उनके पुत्र-प्रेम के साथ उनके साहस का भी परिचय देता है। यही नहीं, राम-कथा के अन्य अनुकूल पात्रों की भाँति तुलसीदास की सुमित्रा भी राम की भक्त हैं। वन-गमन के अवसर पर वे लक्ष्मण को राम की सेवा-भक्ति का जो उपदेश देती हैं, उससे उनके आध्यात्मिक-चिन्तन का भी प्रमाण मिलता है। वस्तुतः सुमित्रा के चरित्र के बहाने तुलसीदास ने दिखाया है कि मनुष्य जीवन की सार्थकता राम-भक्ति में ही है तथा जिस माता ने राम-भक्त पुत्र पैदा न किया, उसका जीवन पशु-तुल्य है। इसीलिए अपने पुत्र को राम के साथ वन भेजने में वे गर्व का अनुभव करती हैं। 'मानस' की अपेक्षा 'गीतावली' में सुमित्रा के चरित्र में मातृसुलभ वात्सल्य की अभिव्यंजना अधिक हुई है। विश्वामित्र के साथ वन जाने के अवसर पर वे राम-लक्ष्मण के कुशल क्षेम के लिए अत्यन्त चिन्तित होती हैं। दूसरी ओर जब उन्हें लक्ष्मण के शक्ति लगने का समाचार मिलता है, तब वे शत्रुघ्न को रण-क्षेत्र में जाने को प्रोत्साहित करते हुए एक वीरमाता के दर्प और गौरव को प्रकट करती हैं। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में सुमित्रा के चरित्र में इसी दर्प का चित्रण करते हुए उन्हें लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता के सच्चे रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु साकेतकार उनके चारित्रिक विकास की उन सम्भावनाओं का निर्देश नहीं कर सका है, जिन्हें उसने कैकेयी के चरित्र में दिखाया है, इसी कारण कुछ आलोचकों को उसकी उर्मिला विषयक कल्पना में अपरिपक्वता के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'उर्मिला' नामक खण्डकाव्य में सुमित्रा के चरित्र-चित्रण की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; तुलसीदास : डा० माता प्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

—यो० प्र० सिं०

सुमित्राकुमारी सिनहा—सुमित्राकुमारी सिनहा का जन्म फैजाबाद में सन् १९१५ ई० में एक सुशिक्षित एवं कला प्रेमी परिवार में हुआ। उनके पिता विभिन्न देशों का भ्रमण कर चुके थे और अपनी कन्या को भी उन्होंने शिक्षा देने का प्रयास किया था। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी की प्रारम्भिक शिक्षा घर से प्रारम्भ हुई और फिर कुछ समय तक उन्होंने स्कूली शिक्षा भी प्राप्त की। इस बीच उन्नाव के चौधरी राजेन्द्र शंकर से उनका विवाह हो गया। विवाह के बाद अकादमिक शिक्षा तो उन्हें नहीं मिल सकी पर पति ने उनके अध्ययन एवं लेखन को सदैव प्रोत्साहित किया।

यों तो कहानियाँ आदि लिखने की ओर उन्होंने सन् १९२७-२८ ई० के आसपास ही प्रवृत्ति दिखायी थी पर विधिवत् साहित्य के क्षेत्र मे उनका पदार्पण सन् १९३५ ई० के आसपास होता है जब वे कविताएँ लिखने लगीं। सुमित्राकुमारी सिनहा के अब तक पाँच कविता-संग्रह, दो कहानी-संग्रह एवं तीन बच्चों के लिए कहानी, कविता एवं रूपक-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जो इस प्रकार हैं—कविता-संग्रह : (१) 'विहाग', (२) 'आशापर्व' (प्र० १९४२), (३) 'पंथिनी', (४) 'बोलों के देवता', (१९५४), (५) 'प्रसारिका' (१९५५)। कहानी-संग्रह : 'अचल सुहाग' तथा 'वर्षगाँठ'। बाल-साहित्य के शीर्षक हैं :— 'कथाकुंज', 'आँगन के फूल' एवं 'दादी का मटका', जो क्रमशः कहानी, कविता एवं रूपक-संग्रह हैं।

सुमित्रा जी ने लिखना उस समय शुरू किया था, जब छायावाद अपनी अन्तिम श्रेष्ठतम परिणतियों पर पहुँच रहा था और दूसरी ओर उसके प्रति असन्तोष का अंकुर उभरने लगा था। इस सन्धिकाल का स्वर एक साथ जिन कवियों में उभरा था, उनमें इनका भी प्रमुख स्थान है। इनके प्रथम संग्रह 'विहाग' में छायावादी प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव है। वैसी ही भाषा एवं कुछ-कुछ वैसा ही रहस्यात्मक स्वर है। उस वैभव से मुक्ति पाना इतना सरल भी नहीं था, पर 'विहाग' में ही यत्र-तत्र सहज मानवीय-आकांक्षाओं का स्वर छायावादी कुहासे से उभरता प्रतीत होता है। 'पंथिनी' से आधुनिक नारी का अधिक दृप्त स्वर उपलब्ध होता है। प्रेम, काम आदि को मानवीय जीवन की सहज कामनाओं के रूप में एक स्त्री द्वारा स्वीकार करने का साहस भी उन्होंने इन कविताओं में दिखाया है। छायावादी नैराश्य के स्थान पर आशा की आस्था भी उनमें अधिक तीव्र है। प्रेम की ऐसी सहज अकुण्ठ अभिव्यक्तियाँ उनमें प्रचुर हैं :— "मैं सूनी सन्ध्या बेल में, दीप जला बैठी रहती हूँ। आँखों की बरुनी से पथ के काँटे चुन उर में रखती हूँ। कितने दिवस मास बीते, अब कब लौटोगे हे परदेशी।" 'बोलों के देवता' उनका सबसे प्रौढ़ संग्रह है, जिसमें भाषा भी अधिक स्वाभाविक हो जाती है एवं भावनाओं का रूप अधिक परिष्कृत, प्रौढ़ एवं विचारपुष्ट हो जाता है। सुमित्राजी की काव्य-शैली का बढ़ाव बराबर लोकजीवन की ओर हुआ है तथा गेयता का गुण उनमें प्रचुर मात्रा में है—प्रारम्भिक संग्रहों में आत्मपरकता का जो आधिक्य था, वह भी बाद में कम हो गया है।

सुमित्रा जी की कहानियों में उनका प्रगतिशील रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। इन कहानियों में पति, संयुक्त परिवार, सामाजिक आचार-संहिता आदि के नीचे सदियों से पिसती नारी का क्रन्दन भी है और उसके विद्रोह की क्षुब्ध वाणी भी।

कुल मिलाकर सुमित्राजी हिन्दी की श्रेष्ठतम लेखिकाओं में

से हैं, जो अब भी बराबर लिख रही हैं।

—दे० शां० अ०

सुमित्रानंदन पंत—जन्म २० मई, १९०० ई० को कूर्मांचल प्रदेश के कौसानी ग्राम में हुआ। कवि बचपन से ही मातृहीन हो गया और पिता तथा दादी के वात्सल्य की गम्भीर छाया में उसका प्रारम्भिक लालन-पालन हुआ। दोनों की मधुर, स्मृतियाँ कवि के मन में बराबर संचित रही हैं। 'आत्मिका' 'वाणी' संकलन की एक प्रमुख कविता, और 'साठ वर्ष एक रेखांकन' में कवि ने अपने बाल-जीवन के प्राकृतिक और मानवीय वातावरण का बड़ा सुन्दर और रोचक चित्र उपस्थित किया है। सात वर्ष की आयु में चौथी कक्षा में पढ़ते हुए ही कवि को छन्द-रचना की स्मृति बनी है और १९०७ ई० से १९१८ ई० काल को उसने अपने कवि-जीवन का प्रथम चरण माना है। उसने इन बारह वर्षों में प्रकृति के अंचल में रह कर ही काव्य-रचना की है। बड़े भाई के 'मेघदूत' के सस्वर पाठ, घर के धार्मिक वातावरण और 'अल्मोड़ा अखबार', 'सरस्वती', 'वेंकटेश्वर समाचार' प्रभृति पत्रों से कवि के मन ने काव्य के प्रति जो अभिरुचि प्राप्त की, वह धीरे-धीरे संस्कार के रूप में परिणत होकर प्रथम रचनाओं के लिए बुद्बुद बनी। मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचनाओं से कवि को छन्द-योजना में पर्याप्त सहायता मिली। कवि ने भी इन अग्रजों का बड़े सम्मान और प्रेम से उल्लेख किया है। उच्च कक्षा में पढ़ने के लिए अल्मोड़ा जाकर कवि को पहली बार नागरिक जीवन का परिचय हुआ और यहाँ उसने अपना नाम गुसाईं दत्त से बदलकर सुमित्रा नन्दन रख लिया।

१९१८ ई० में कवि अपने मँझले भाई के साथ बनारस चला आया और जयनारायण हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने लगा। यहीं से उसका वास्तविक कवि-कर्म आरम्भ होता है। १९१८ ई० कवि के जीवन का महत्त्वपूर्ण वर्ष है, जैसा उस वर्ष की प्रचुर रचना से स्पष्ट है। ये प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' (१९२७) में संकलित हैं। काशी में कवि सरोजिनी नायडू, कवीन्द्र रवीन्द्र और अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों की रचना से भी परिचित हुआ और यहीं उसने पहली बार काव्य-प्रतियोगिता में भाग लेकर प्रशंसा प्राप्त की। काशी-प्रवास में कवीन्द्र रवीन्द्र के साक्षात्कार तथा उनकी लोकमान्यता का कवि पर गम्भीर प्रभाव पड़ा और वह अन्तः संकल्पित होकर काव्य-रचना की ओर दत्तचित्त हुआ। काशी से लौटकर गर्मियों की छुट्टियों में कवि ने 'उच्छ्वास' और 'ग्रन्थि' की रचना की, जो उसके वयःसंधिक अतीन्द्रिय प्रेम-भाव और अस्पष्ट आन्तरिक आकुलता को वाणी देती हैं। १९१९ ई० की जुलाई में कवि म्योर, कालेज (प्रयाग) में भरती हुआ और शीघ्र ही 'छाया' और 'स्वप्न' प्रभृति रचनाओं द्वारा उसने काव्य-मर्मज्ञों में अपनी धाक जमा ली। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने पर इन रचनाओं ने उदीयमान कवि को युग प्रवर्त्तन का श्रेय दिया। १९२२ ई० में 'उच्छ्वास' और १९२८ ई० में 'पल्लव' के प्रकाशन ने नयी काव्यधारा के किशोर कण्ठ फूटने की स्पष्ट सूचना दी। इस काव्यकाल को 'वीणा-पल्लव काल' कहा जा सकता है। सन् १९२१ ई० में कवि ने अपने मँझले भाई के कहने पर कालेज छोड़ दिया परन्तु अपनी कोमल प्रकृति के कारण वह सक्रिय रूप से सत्याग्रह आन्दोलन में भाग नहीं ले सका। अपने नये जीवन में एकान्त चिन्तन और गम्भीर अध्ययन के द्वारा उसने शिक्षा की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया परन्तु भीतर और बाहर का अकेलापन उसकी 'गुंजन' की कविताओं में फिर भी स्पष्ट रूप से मुखरित होता है। १९३२ ई० में 'गुंजन' के प्रकाशन के साथ कवि की काव्य साधना का नया पक्ष उद्घाटित होता है, जो प्रकृति और मानव-सौन्दर्य के प्रति नवीन उन्मेष के साथ मानव के प्रति उसकी मंगल कामना और नवीन कला-चेतना की सूचना देता है। सन् १९३१ ई० में कवि कालाकांकर चला गया और वहीं उसकी युवावस्था के सर्वश्रेष्ठ वर्ष (सन् ३० से सन् ४० तक) वानप्रस्थ स्थिति में ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के साथ व्यतीत हुए। यहीं उसने 'ज्योत्स्ना' जैसे मनःकल्प की सृष्टि की, जो उसकी केन्द्रीय रचना मानी जा सकती है। गाँधीवादी और मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर नवीन जीवन-तन्त्र के सम्बन्ध में कवि का अन्तः संघर्ष भी इन्हीं दिनों की चीज है। 'युगान्त' से 'ग्राम्या' तक इस संघर्ष की गूँज स्पष्ट सुनायी देती है। अपने कालाकांकर-निवास के समय में कवि प्रयाग और लखनऊ के साहित्यिक जीवन से निकट सम्पर्क बना सका था और राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्रों की नवीनतम प्रवृत्तियों की उसे व्यापक रूप से जानकारी थी। सन् ४० में कवि पन्त कालाकांकर के स्वप्न-नीड़ से बाहर आये। सन् ४१ में प्रायः एक वर्ष उन्हें अल्मोड़ा में रहना पड़ा और १९४२ ई० में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के संत्रस्त वातावरण में उन्होंने 'लोकायन' नाम के एक व्यापक संस्कृति-पीठ की योजना बनायी। इस योजना को कार्यान्वित करने की आकांक्षा से कवि ने अल्मोड़ा के उदयशंकर संस्कृति केन्द्र से सम्पर्क स्थापित किया और १९४३ ई० में उदयशंकर की टोली के साथ दो-तीन महीने भारत-भ्रमण भी किया। सन् ४४ ई० में कवि ने उदयशंकर के 'कल्पना' चित्र के लिए गीत भी लिखे और इसी मद्रास-प्रवास में वह पहली बार योगी अरविन्द और उनकी दार्शनिक एवं साधनात्मक प्रवृत्तियों से परिचित हुआ। कवि ने सन् १९४५ से सन् १९५९ ई० तक के अपने जीवन-काल को 'नवमानवता का स्वप्न-काल' कहा है। 'स्वर्णधूलि' से 'उत्तरा' तक के स्फुट काव्य में कवि की अरविन्दवादी (चेतनावादी) काव्यभूमि के विशद दर्शन होते हैं। सन् १९४६ ई० में प्रयाग लौटकर कवि एक बार फिर नयी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के उन्नयन की दिशा में प्रयत्नशील हुआ और उसने 'लोकायन' की योजना को मूर्त्त करना चाहा, परन्तु साहित्यिक क्षेत्र की गुटबन्दियों के कारण कवि को इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सन् १९५० ई० में वह आल इण्डिया रेडियो के परामर्शदाता के पद पर नियुक्त हो गया और सन् १९५७ ई० की अप्रैल तक वह रेडियो से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहा। इस कार्यकाल में 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' और 'अतिमा' के नाम से उसके काव्य-रूपक तथा संग्रह प्रकाशित हुए। इनमें कुल मिला कर १३ काव्यरूपक हैं। 'अतिमा' में रूपकों के अतिरिक्त सन् १९५४ ई० की स्फुट रचनाएँ भी संकलित हैं। कवि का नवीन संग्रह 'कला और बूढ़ा चाँद' सन् '५८ की प्रसिद्ध रचनाओं का संग्रह है, जिसे ६१ में 'अकादमी पुरस्कार' दिया गया। इन रचनाओं का रूप विधान पिछली समस्त रचनाओं से भिन्न है।

पंत की प्रकाशित रचनाएँ इस प्रकार हैं :—काव्य

'उच्छ्‌वास' (१९२० ई०), 'ग्रन्थि' (१९२०), 'वीणा' (१९२७), 'पल्लव' (१९२८), 'गुंजन' (१९३२), 'युगान्त' (१९३६), 'युगवाणी' (१९३९), 'ग्राम्या' (१९४०), 'स्वर्ण किरण' (१९४७), 'स्वर्णधूलि' (१९४७), 'युगपथ' (१९४८), 'उत्तरा' (१९४९), 'रजत शिखर' (रूपक १९५१), 'शिल्पी' (रूपक, १९५२), 'अतिमा' (१९५५), 'वाणी' (१९५७), 'सौवर्ण' (रूपक, १९५७), 'कला और बूढ़ा चाँद' (१९५९), नाटक–ज्योत्स्ना' (१९३४), कहानी– 'पाँच कहानियाँ (१९३६), समीक्षात्मक गद्य–'गद्यपथ' (१९४९), आत्मकथा–'साठ वर्ष–एक रेखांकन' (१९६०), संचयन–'आधुनिक कवि' (१९४१), 'पल्लविनी' (१९१५) 'रश्मि-बन्ध' (१९५८), 'चिदम्बरा' (१९५९). अनुवाद–'मधुज्वाल' (१९३८)। काव्य-रचना के उत्तर काल में कवि ने अपना महाकाव्य प्रकाशित कियाहै 'लोकायतन' (१९६४)।

पन्त का सम्पूर्ण कृतित्त्व हिन्दी साहित्य की आधुनिक चेतना का प्रतीक है, जो इहलौकिक जीवनमूल्यों के निर्माण की ओर अग्रसर है और जिसने पारलौकिक चिन्ता और आध्यात्मिक साधना को ही एकमात्र लक्ष्य नहीं समझा है। यह श्रेय की बात है कि युगधर्म के भौतिक, सामाजिक और नैतिक पहलुओं के साथ पन्त का काव्य आध्यात्मिक चेतना के सूत्र भी समानान्तर लेकर चलता है और इस प्रकार उनका जीवन-चिन्तन एकांगी न रहकर सन्तुलित और परिपूर्ण बन जाता है। उन्होंने प्रकृति, नारी, सौन्दर्य और मानव-जीवन की ओर देखने की मध्यवर्गीय जीवनदृष्टि को अपरिमित परिष्कार दिया है और राष्ट्र-रंगभेद से ऊपर उठकर अखिल मानव की कल्याण-कामना को उसी तरह मुखरित किया है, जिस तरह हिन्दी के मध्ययुगीन सन्तों और भक्तों ने मानव की महनीयता की मुक्त कण्ठ से घोषणा की थी। उत्तर रचनाओं में कवि परात्पर सत्ता के आरोहण-अवरोहण के आध्यामिकता में निर्माण की ओर भी अग्रसर हुआ है, परन्तु इस चेतानावादी भूमि को छोड़ भी दें तो भी पन्त का भू-वाद अन्तर्राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न सार्वभौम मानवता का मंगलघोष है। यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग की सामान्य काव्यचेतना को विषयवस्तु और भावाभिव्यक्ति दोनों दृष्टियों से कहीं अधिक प्रशस्त और ठोस जीवन-भूमि पन्त के भविष्य-कल्प में प्राप्त हुई हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य को व्यक्तिमत्ता, भाषा-सामर्थ्य तथा नयी छन्द-दृष्टि प्रदान कर उन्होंने खड़ीबोली की काव्यशक्ति का जो संवर्द्धन और परिष्कार किया है, वह स्वयं अपने में एक सुन्दर महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है। यही नहीं, उनकी गद्य-रचनाएँ भी अनाविल आत्मिक चिन्तन और श्रेष्ठ अभिव्यंजना से पुष्ट हैं। काव्य के अतिरिक्त गद्य-क्षेत्र में पन्त का योगदान नाटककार, कहानीकार, समीक्षक, निबन्धकार और उपन्यासकार के रूप में रहेगा। उनका 'ज्योत्स्ना' (१९३४) रूपक श्रेष्ठ प्रतीक-नाटक है, जिसमें कवि-कल्पना रंग-बिरंगे कुतूहली पात्रों में मूर्तिमान् हुई है। पाँच कहानियाँ' नाम से उनका एक कहानी-संकलन भी प्रकाशित हो चुका है। 'साठ वर्ष–एक रेखांकन' में उन्होंने अपनी जीवन-कथा को भी मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। पन्त की काव्यकृतियों के परिचय यथास्थान द्रष्टव्य हैं। समीक्षात्मक निबन्धों और भूमिकाओं का संकलन 'गद्य पथ' के नाम से प्रकाशित है, और इस श्रेणी की अनेक रचनाएँ आकाशवाणी-वार्त्ताओं और स्फुट विवरणों के रूप में बिखरी हैं। साहित्य की अनेक दिशाओं को छूने का प्रयास पन्त के मूलगत कवि-व्यक्तित्त्व का ही प्रसार है, क्योंकि काव्य ही उनके अन्तस् की सबसे प्रौढ़ अभिव्यक्ति है। [सं० ग्र०– साठ वर्ष-एक रेखांकन : सुमित्रानंदन पंत, सुमित्रानंदन पंत : शांति जोशी]

–रा० र० भ०

सुमेरसिंह (बाबा)–निजामाबाद के निवासी थे। वहाँ ये सिखसम्प्रदाय के महन्त थे। ये गद्य के अच्छे लेखक थे। कहा जाता है कि इन्होंने कुछ कवित्त भी रचे हैं, जो 'सुन्दरी तिलक' में संगृहीत हैं। समाज-सुधार के कार्य में ये विशेष रुचि लेते थे। कविता से इन्हें बहुत प्रेम था इनके स्थान पर बहुधा कवि-गोष्ठियाँ हुआ करती थीं, जिनमें अनेक कवि भाग लेते थे। इन कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि भी थे। ये इस गोष्ठी में कविता सुनाते और समस्यापूर्तियाँ पढ़ते थे। इस प्रकार से अनेक नये कवियों ने इनसे प्रेरणा ग्रहण की और प्रोत्साहन पाया।

–प्र० ना० टं०

सुरति मिश्र–ये आगरा के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्मकाल १६८३ ई० माना जाता है। इनके पिता का नाम सिंहमनि और काव्य-गुरु का नाम 'गंगेस' था। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह, जोधपुर के दीवान अमर सिंह, बीकानेर के राजा जोरावर सिंह तथा नसरुल्ला खाँ के आश्रय में रहे। इनके शिष्यों में जयपुर के शिवदास और अलीमुहिम खाँ 'प्रीतम' ('खटमल बाईसी' के लेखक) महत्त्वपूर्ण हैं।

सुरति मिश्र के निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते हैं–'काव्य सिद्धान्त', 'अलंकार-माला', 'रस माला', 'सरस रस', 'रस ग्राहक चन्द्रिका', 'रस रत्नाकर', 'श्रृंगारसार', 'रसरत्न माल', 'नख-शिख', 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक', 'भक्त-विनोद 'बैताल पचीसी', 'रासलीला' 'दानलीला'। इनमें 'काव्य सिद्धान्त' महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति सवाई महेन्द्र पुस्तकालय ओरछा, टीकमगढ़ में उपलब्ध है। इसमें काव्य-शास्त्र के सभी अंगों पर विचार किया गया है। साथ ही कवि-शिक्षा का विषय भी इसमें आ गया है अन्य ग्रन्थों में अलंकार, रस, श्रृंगार तथा नख-शिख आदि विविध रीतिकालीन विषयों का स्वतन्त्र रूप से भी विवेचन किया गया है। कुछ ग्रन्थ भक्तिपरक हैं और इनके 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ के आधार पर इन्हें वल्लभसम्प्रदाय में भी माना जा सकता है।

ये टीकाकार के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने 'बिहारी सतसई' की 'अमरचन्द्रिका' नामक टीका और 'कविप्रिया' तथा 'रसिक प्रिया' की टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाओं से इनके काव्यशास्त्र के व्यापक ज्ञान तथा इनकी मार्मिक दृष्टि का परिचय मिलता है। 'अलंकार माला' का रचनाकाल १७०९ ई० तथा 'अमरचन्द्रिका' का १७३७ ई० दिया गया है। इसके आधार पर इनका समय १८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। पंडित विश्वनाथ मिश्र के अनुसार ये आगरा में एक कवि सम्मेलन के सभापति चुने गये थे जिसमें इन्होंने ब्रजभाषा काव्य-रचना सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये थे।

(हिन्दी साहित्य का आतीत भाग २)

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा० इ०; हि० का० शा० इ०; हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); दि० भू० (भूमिका)।]

–सं०

सूत–पुराणवक्ता के अर्थ में सूत का प्रयोग हुआ है। इस रूप में सूत पुराणवक्तओं की परम्परा की भी सम्मिलित संज्ञा मानी जा सकती है किन्तु सूतों में लोमहर्ष सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। लोमहर्ष महर्षि व्यास के कहे जाते हैं। परम्परा से ऐसी प्रसिद्धि है कि महर्षि सूत ने नैमिषारण्य में ऋषियों को समस्त पुराण सुनाये थे (दे० सू० सा० प० २२७)।

–रा० कु०

सूदन–सूदन ने 'सुजान-चरित्र' में अपना परिचय इस प्रकार दिया है–"मथुरा पुर सुभ-धाम, मथुरा कुल उतपत्ति वर। पिता बसन्त सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि।।" (छ०-१०, पृ० ३), अर्थात् सूदन मथुरा निवासी माथुर चौबे थे। इनके पिता का नाम बसन्त था। भरतपुराधीश बदनसिंह के पुत्र महाराज सुजान सिंह (सूरजमल) इनके आश्रयदाता थे। सूदन ने सूरजमल की प्रशंसा में 'सुजान चरित' (दे०) ग्रन्थ की रचना की है। इसमें सुजान सिंह के जीवन की १७४५ ई० से १७५३ ई० तक की घटनाओं का वर्णन है, अतः इसके आधार पर सूदन के विद्यमान होने और रचनाकाल का अनुमान लगाया जा सकता है। अपनी इस रचना के आधार पर सूदन वीर-काव्य-धारा के प्रमुख कवियों में माने जाते हैं और इनकी रचना का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व स्वीकार किया जाता है।

[सहायक ग्रन्थ–हि० वी०; हि० सा०; इ०।]

–टी० तो०

सूरदास १– धर्म, साहित्य और संगीत के सन्दर्भ में महाकवि सूरदास का स्थान न केवल हिन्दी-भाषी क्षेत्र, बल्कि सम्पूर्ण भारत में मध्ययुग की महान् विभूतियों में अग्रगण्य है। यह सूरदास की लोकप्रियता और महत्ता का ही प्रमाण है कि 'सूरदास' नाम किसी भी अन्धे भक्त गायक के लिए रूढ़ सा हो गया है। मध्ययुग में इस नाम के कई भक्त कवि और गायक हो गये हैं। अपने विषय में मध्ययुग के ये भक्त कवि इतने उदासीन थे कि उनका जीवन-वृत्त निश्चित रूप से पुनःनिर्मित करना असम्भवप्राय है परन्तु इतना कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास इस नाम के व्यक्तियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध और महान् थे और उन्हीं के कारण कदाचित् यह नाम उपर्युक्त विशिष्ट अर्थ के द्योतक सामान्य अभिधान के रूप में प्रयुक्त होने लगा। ये सूरदास विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे और पुष्टिमार्ग में उनकी वाणी का आदर बहुत कुछ सिद्धान्त वाक्य के रूप में होता है।

सूरदास का जन्म कब हुआ, इस विषय में पहले उनकी तथाकथित रचनाओं, 'साहित्य लहरी' (दे०) और 'सूरसागर सारावली' (दे०) के आधार पर अनुमान लगाया गया था और अनेक वर्षों तक यह दोहराया जाता रहा कि उनका जन्म संवत् १५४० वि० (सन् १४८३ ई०) में हुआ था परन्तु विद्वानों ने इस अनुमान के आधार को पूर्ण रूप में अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया तथा पुष्टि-मार्ग में प्रचलित इस अनुश्रुति के आधार पर कि सूरदास श्रीमद्वल्लभाचार्य से १० दिन छोटे थे, यह निश्चित किया कि सूरदास का जन्म बैशाख शुक्ल ५, संवत् १५३५ वि० (सन् १४७८ ई०) को हुआ था। इस साम्प्रदायिक अनुश्रुति को प्रकाश में लाने तथा उसे अन्य प्रमाणों से पुष्ट करने का श्रेय डा० दीनदयाल गुप्त को (दे० 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय') है। जब तक इस विषय में कोई अन्यथा प्रमाण न मिले, हम सूरदास की जन्म-तिथि को यही मान सकते हैं।

सूरदास के विषय में आज जो भी ज्ञात है, उसका आधार मुख्यतया 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' ही है। उसके अतिरिक्त पुष्टिमार्ग में प्रचलित अनुश्रुतियाँ जो गोस्वामी हरिराय द्वारा किये गये उपर्युक्त वार्ता के परिवर्द्धनों तथा उस पर लिखी गयी 'भावप्रकाश' नाम की टीका और गोस्वामी यदुनाथ द्वारा लिखित 'वल्लभ दिग्विजय' के रूप में प्राप्त होती हैं–सूरदास के जीवनवृत्त की कुछ घटनाओं की सूचना देती हैं। नाभादास के 'भक्तमाल' पर लिखित प्रियादास की टीका, कवि मियाँसिंह के 'भक्त विनोद', ध्रुवदास की 'भक्तनामावली' तथा नागरीदास की 'पदप्रसंगमाला' में भी सूरदास सम्बन्धी अनेक रोचक अनुश्रुतियाँ प्राप्त होती हैं परन्तु विद्वानों ने उन्हें विश्वसनीय नहीं माना है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर ने सूरदास से भेंट की थी परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि उस समय के किसी फारसी इतिहासकार ने 'सूरसागर' के रचयिता महान् भक्त कवि सूरदास का कोई उल्लेख नहीं किया। इसी युग के अन्य महान् भक्त कवि तुलसीदास का भी मुगलकालीन इतिहासकारों ने उल्लेख नहीं किया। अकबरकालीन प्रसिद्ध इतिहासग्रन्थों–'आईने अकबरी', 'मुंशिआते-अबुलफज्ल' और 'मुन्तखबुत्तवारीख' में सूरदास नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है परन्तु ये दोनों प्रसिद्ध भक्त कवि सूरदास से भिन्न हैं। 'आईने अकबरी' और 'मुन्तखबुत्तवारीख' में अकबरी दरबार के रामदास नामक गवैया के पुत्र सूरदास का उल्लेख है। ये सूरदास अपने पिता के साथ अकबर के दरबार में जाया करते थे। 'मुंशिआते-अबुलफज्ल' में जिन सूरदास का उल्लेख है, वे काशी में रहते थे, अबुलफजल ने उनके नाम एक पत्र लिखकर उन्हें आश्वासन दिया था कि काशी के उस करोड़ी के स्थान पर जो उन्हें क्लेश देता है, नया करोड़ी उन्हीं की आज्ञा से नियुक्त किया जायगा। कदाचित् ये सूरदास मदनमोहन नाम के एक अन्य भक्त थे।

गोस्वामी हरिराय के 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूरदास का जन्म दिल्ली के पास सीही नाम के गाँव में एक अत्यन्त निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके तीन बड़े भाई थे। सूरदास जन्म से ही अन्धे थे किन्तु सगुन बताने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। ६ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी सगुन बताने की विद्या से माता-पिता को चकित कर दिया था किन्तु इसी के बाद वे घर छोड़कर चार कोस दूर एक गाँव में तालाब के किनारे रहने लगे थे। सगुन बताने की विद्या के कारण शीघ्र ही उनकी ख्याति हो गयी। गानविद्या में भी वे प्रारम्भ से ही प्रवीण थे। शीघ्र ही उनके अनेक सेवक हो गये और वे 'स्वामी' के रूप में पूजे जाने लगे। १८ वर्ष की अवस्था में उन्हें पुनः विरक्ति हो गयी। और वे यह स्थान छोड़कर मथुरा के विश्राम घाट पर चले गये किन्तु मथुरा में वे नहीं ठहरे,

क्योंकि उन्हें डर था कि उनका माहात्म्य बढ़ जाने के कारण मथुरा के चौबे लोगों की हानि पहुँचेगी। अतः वे आगरा और मथुरा के बीच यमुना के किनारे गऊघाट पर आकर रहने लगे।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर का जीवनवृत्त गऊघाट पर हुई वल्लभाचार्य से उनकी भेंट के साथ प्रारम्भ होता है। गऊघाट पर भी उनके अनेक सेवक उनके साथ रहते थे तथा 'स्वामी' के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी थी। कदाचित् इसी कारण एक बार अरैल से जाते समय वल्लभाचार्य ने उनसे भेंट की और उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया। 'वार्ता' में वल्लभाचार्य और सूरदास के प्रथम भेंट का जो रोचक वर्णन दिया गया है, उससे व्यंजित होता है कि सूरदास उस समय तक कृष्ण की आनन्दमय ब्रजलीला से परिचित नहीं थे और वे वैराग्य भावना से प्रेरित होकर पतितपावन हरि की दैन्यपूर्ण दास्यभाव की भक्ति में अनुरक्त थे और इसी भाव के विनयपूर्ण पद रच कर गाते थे। वल्लभाचार्य ने उनका 'घिघियाना' (दैन्य प्रकट करना) छुड़ाया और उन्हें भगवद्-लीला से परिचत कराया। इस विवरण के आधार पर कभी-कभी यह कहा जाता है कि सूरदास ने विनय के पदों की रचना वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले ही कर ली होगी परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है (दे० 'सूरसागर') वल्लभाचार्य द्वारा 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्ण की लीला का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त सूरदास ने अपने पदों में उसका वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। 'वार्ता' में कहा गया है कि उन्होंने 'भागवत' के द्वादश स्कन्धों पर पद-रचना की। उन्होंने 'सहस्त्रावधि' पद रचे, जो 'सागर' कहलाये। वल्लभाचार्य के संसर्ग से सूरदास को "माहात्म्यज्ञान पूर्वक प्रेम भक्ति" पूर्णरूप में सिद्ध हो गयी। वल्लभाचार्य ने उन्हें गोकुल में श्रीनाथ जी के मन्दिर पर कीर्तनकार के रूप में नियुक्त किया और वे आजन्म वहीं रहे।

सूरदास की पद-रचना और गान-विद्या की ख्याति सुनकर देशाधिपति अकबर ने उनसे मिलने की इच्छा की। गोस्वामी हरिराय के अनुसार प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन के माध्यम से अकबर और सूरदास की भेंट मथुरा में हुई। सूरदास का भक्तिपूर्ण पद-गान सुनकर अकबर बहुत प्रसन्न हुए किन्तु उन्होंने सूरदास से प्रार्थना की कि वे उनका यशगान करें परन्तु सूरदास ने 'नाहिन रहयो मन में ठौर' से प्रारम्भ होने वाला पद गाकर यह सूचित कर दिया कि वे केवल कृष्ण के यश का वर्णन कर सकते हैं, किसी अन्य का नहीं। इसी प्रसंग में 'वार्ता' में पहली बार बताया गया है कि सूरदास अन्धे थे। उपर्युक्त पद के अन्त में 'सूर से दर्श को एक मरत लोचन प्यास' शब्द सुनकर अकबर ने पूछा कि तुम्हारे लोचन तो दिखाई नहीं देते, प्यासे कैसे मरते हैं। हरिराय ने लिखा है कि अकबर ने सूरदास को दो बार तथा बहुत सा द्रव्य देना चाहा परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया और केवल यह माँगा कि मुझसे फिर कभी मिलने का प्रयत्न न करना। हरिराय ने आगे लिखा है कि अकबर ने आगरा जाकर सूरदास के पदों की तलाश की और उन्हें फारसी में लिखाकर बाँचा। द्रव्य के लालच से अनेक कवीश्वर सूरदास की छाप लगाकर अकबर के पास पद लाने लगे। सूरदास के प्रामाणिक पदों की जाँच प्राप्त पदों को पानी में डालकर की गयी। जो पद सूरदास के थे, वे पानी में डालने पर भी सूखे बने रहे। 'वार्ता' में सूरदास के जीवन की किसी अन्य घटना का उल्लेख नहीं है, केवल इतना बताया गया है कि वे भगवद्भक्तों को अपने पदों के द्वारा भक्ति का भावपूर्ण सन्देश देते रहते थे। कभी-कभी वे श्रीनाथ जी के मन्दिर से नवनीत प्रिय जी के मन्दिर भी चले जाते थे किन्तु हरिराय ने कुछ अन्य चमत्कारपूर्ण रोचक प्रसंगों का उल्लेख किया है, जिनसे केवल यह प्रकट होता है कि सूरदास परम भगवदीय थे और उनके समसामयिक भक्त कुम्भनदास, परमानन्ददास आदि उनका बहुत आदर करते थे। 'वार्ता' में सूरदास के गोलोकवास का प्रसंग अत्यन्त रोचक है। श्रीनाथ जी की बहुत दिनों तक सेवा करने के उपरान्त जब सूरदास को ज्ञात हुआ कि भगवान् की इच्छा उन्हें उठा लेने की है तो वे श्रीनाथ जी के मन्दिर से परासौली के चन्द्र सरोवर पर आकर लेट गये और दूर से सामने ही फहराने वाली श्रीनाथ जी की ध्वजा का ध्यान करने लगे। परासोली वह स्थान है, जहाँ पर कहा जाता है कि श्रीकृष्ण ने रास-लीला की थी। इस समय सूरदास को आचार्य वल्लभ, श्रीनाथ जी और गोसाई विट्ठलनाथ का एक साथ स्मरण हो आया। उधर गोसाईं विट्ठलनाथ ने श्रीनाथ जी की आरती करते समय सूरदास को अनुपस्थित पाकर जान लिया कि सूरदास का अन्त समय निकट आ गया है। उन्होंने अपने सेवकों से कहा कि, "पुष्टिमार्ग का जहाज" जा रहा है, जिसे जो लेना हो ले ले। आरती के उपरान्त गोसाईं जी रामदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी और चतुर्भुजदास के साथ सूरदास के निकट पहुँचे और सूरदास को, जो अचेत पड़े हुए थे, चैतन्य होते हुए देखा। सूरदास ने गोसाई जी का साक्षात् भगवान् के रूप में अभिनन्दन किया और उनकी भक्तवत्सलता की प्रशंसा की। चतुर्भुजदास ने इस समय शंका की कि सूरदास ने भगवद्यश तो बहुत गाया, परन्तु आचार्य वल्लभ का यशगान क्यों नहीं किया। सूरदास ने बताया कि उनके निकट आचार्य जी और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है—जो भगवद्यश है, वही आचार्य जी का भी यश है। गुरु के प्रति अपना भाव उन्होंने "भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो" वाला पद गाकर प्रकट किया। इसी पद में सूरदास ने अपने को "द्विविध आन्धरो" भी बताया। गोसाई विट्ठलनाथ ने पहले उनके 'चित्त की वृत्ति' और फिर 'नेत्र की वृत्ति' के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो उन्होंने क्रमशः 'बलि बलि बलि हों कुमरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी' तथा 'खंजन नैन रूप रस माते' वाले दो पद गाकर सूचित किया कि उनका मन और आत्मा पूर्णरूप से राधा भाव में लीन है। इसके बाद सूरदास ने शरीर त्याग दिया।

सूरदास की जन्म-तिथि तथा उनके जीवन की कुछ अन्य मुख्य घटनाओं के काल-निर्णय का भी प्रयत्न किया गया है। इस आधार पर कि गऊघाट पर भेंट होने के समय वल्लभाचार्य गद्दी पर विराजमान थे, यह अनुमान किया गया है। कि उनका विवाह हो चुका था क्योंकि ब्रह्मचारी का गद्दी पर बैठना वर्जित है। वल्लभाचार्य का विवाह संवत् १५६०-६१ (सन् १५०३-१५०४ ई०) में हुआ था, अतः यह घटना इसके बाद की है। 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार यह घटना संवत् १५६७ वि० के (सन् १५१० ई०) आसपास की है। इस प्रकार सूरदास ३०-३२ वर्ष की अवस्था में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए होंगे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सूचित होता है कि सूरदास को गोसाईं विट्ठलनाथ का यथेष्ट सत्संग प्राप्त हुआ

था। गोसाईं जी सं० १६२८ वि० में (सन् १५७१ ई०) स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे थे। उनका देहावसान सं० १६४२ वि० (सन् १५८५ ई०) में हुआ। 'वार्ता' से सूचित होता है कि सूरदास का देहावसान गोसाई जी के सामने ही हो गया था। सूरदास ने गोसाईं जी के सत्संग का एकाध स्थल पर संकेत करते हुए ब्रज के जिस वैभवपूर्ण जीवन का वर्णन किया है, उससे विदित होता है कि गोसाईं जी को सूरदास के जीवनकाल में ही सम्राट् अकबर की ओर से वह सुविधा और सहायता प्राप्त हो चुकी थी, जिसका उल्लेख सं० १६३४ (सन् १५७७ ई०) तथा सं० १६३८ वि० के० (सन् १५८१ ई०) शाही फरमानों में हुआ है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास सं० १६३८ (सन् १५८१ ई०) या कम से कम सं० १६३४ वि० के (सन् १५७७ ई०) बाद तक जीवित रहे होंगे। मौटे तौर पर कहा जा सकता है कि वे सं० १६४० वि० अथवा सन् १५८२-८३ ई० के आसपास गोलोकवासी हुए होंगे। इन तिथियों के आधार पर भी उनका जन्म सं० १५३५ वि० के० (सन् १४७८ ई०) आसपास पड़ता है क्योंकि वे ३०-३२ वर्ष की अवस्था में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अकबर और सूरदास की भेंट का वर्णन हुआ है। गोसाईं हरिराय के अनुसार यह भेंट तानसेन ने करायी थी। तानसेन सं० १६२१ (सन् १५६४ ई०) में अकबर के दरबार में आये थे। अकबर के राज्य काल की राजनीतिक घटनाओं पर विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि वे सं० १६३२-३३ (सन् १५७५-७६ ई०) के पहले सूरदास से भेंट नहीं कर पाये होंगे। क्योंकि सं० १६३२ में (सन् १७७५ ई०) उन्होंने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना बनवाया था तथा सं० १६३३ (सन् १५७६ ई०) तक वे उत्तरी भारत के साम्राज्य को पूर्ण रूप में अपने अधीन कर उसे संगठित करने में व्यस्त रहे थे। गोसाईं विट्ठलनाथ से भी अकबर ने इसी समय के आसपास भेंट की थी।

सूरदास की जीवनी के सम्बन्ध में कुछ बातों पर काफी विवाद और मतभेद है। सबसे पहली बात उनके नाम के सम्बन्ध में है। 'सूरसागर' में जिस नाम का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है, वह सूरदास अथवा उसका संक्षिप्त रूप सूर ही है। सूर और सूरदास के साथ अनेक पदों में स्याम, प्रभु और स्वामी का प्रयोग भी हुआ है परन्तु सूर-स्याम, सूरदास स्वामी, सूर-प्रभु अथवा सूरदास-प्रभु को कवि की छाप न मानकर सूर या सूरदास छाप के साथ स्याम, प्रभु या स्वामी का समास समझना चाहिये। कुछ पदों में सूरज और सूरजदास नामों का भी प्रयोग मिलता है परन्तु ऐसे पदों के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सूरदास के प्रामाणिक पद हैं अथवा नहीं। 'साहित्य लहरी' के जिस पद में उसके रचयिता ने अपनी वंशावली दी है, उसमें उसने अपना असली नाम सूरजचन्द बताया है परन्तु उस रचना अथवा कम से कम उस पद की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जाती। निष्कर्षतः 'सूरसागर' के रचयिता का वास्तविक नाम सूरदास ही माना जा सकता है।

सूरदास की जाति के सम्बन्ध में भी बहुत वाद-विवाद हुआ है। 'साहित्य लहरी' के उपर्युक्त पद के अनुसार कुछ समय तक सूरदास को भट्ट या ब्रह्मभट्ट माना जाता रहा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इस विषय में प्रसन्नता प्रकट की थी कि सूरदास महाकवि चन्दबरदाई के वंशज थे किन्तु बाद में अधिकतर पुष्टिमार्गीय स्रोतों के आधार पर यह प्रसिद्ध हुआ कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। बहुत कुछ इसी आधार पर 'साहित्य लहरी' का वंशावली वाला पद अप्रामाणिक माना गया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मूलतः सूरदास की जाति के विषय में कोई उल्लेख नहीं था परन्तु गोसाईं हरिराय द्वारा बढ़ाये गये 'वार्ता' के अंश में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। उनके सारस्वत ब्राह्मण होने के प्रमाण पुष्टिमार्ग के अन्य वार्ता साहित्य से भी दिये गये हैं। अतः अधिकतर यही माना जाने लगा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे, यद्यपि कुछ विद्वानों को इस विषय में अब भी सन्देह है। डा० मुंशीराम शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सूरदास ब्रह्मभट्ट ही थे। यह सम्भव है कि ब्रह्मभट्ट होने के नाते ही वे परम्परागत कवि-गायकों के वंशज होने के कारण सरस्वती पुत्र और सारस्वत नाम से विख्यात हो गये हों। अन्तः साक्ष्य से सूरदास के ब्राह्मण होने का कोई संकेत नहीं मिलता बल्कि इसके विपरीत अनेक पदों में उन्होंने ब्राह्मणों की हीनता का उल्लेख किया है। इस विषय में श्रीधर ब्राह्मण के अग-भंग तथा महराने के पाँड़ेवाले प्रसंग द्रष्टव्य हैं। ये दोनों प्रसंग 'भागवत' से स्वतन्त्र सूरदास द्वारा कल्पित हुए जान पड़ते हैं। इनमें सूरदास ने बड़ी निर्ममता पूर्वक ब्राह्मणत्व के प्रति निरादर का भाव प्रकट किया है। अजामिल तथा सुदामा के प्रसंगों में भी उनकी उच्च जाति का उल्लेख करते हुए सूर ने ब्राह्मणत्व के साथ कोई ममता नहीं प्रकट की। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण 'सूरसागर' में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता, जिससे इसका किंचित् भी आभास मिल सके कि सूर ब्राह्मण जाति के सम्बन्ध में कोई आत्मीयता का भाव रखते थे। वस्तुतः जाति के सम्बन्ध में वे पूर्ण रूप से उदासीन थे। दानलीला के एक पद में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि कृष्ण भक्ति के लिए उन्होंने अपनी जाति ही छोड़ दी थी। वे सच्चे अर्थों में हरिभक्तों की जाति के थे, किसी अन्य जाति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

तीसरा मतभेद का विषय सूरदास की अन्धता से सम्बन्धित है। सामान्य रूप से यह प्रसिद्ध रहा है कि सूरदास जन्मान्ध थे और उन्होंने भगवान् की कृपा से दिव्य-दृष्टि पायी थी, जिसके आधार पर उन्होंने कृष्ण-लीला का आँखों देखा जैसा वर्णन किया। गोसाईं हरिराय ने भी सूरदास को जन्मान्ध बताया है परन्तु उनके जन्मान्ध होने का कोई स्पष्ट उल्लेख उनके पदों में नहीं मिलता। 'चौरासी वार्ता' के मूल रूप में भी इसका कोई संकेत नहीं। जैसा पीछे कहा जा चुका है, उनके अन्धे होने का उल्लेख केवल अकबर की भेंट के प्रसंग में हुआ है। 'सूरसागर' के लगभग ७-८ पदों में कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी प्रकारान्तर से सूर ने अपनी हीनता और तुच्छता का वर्णन करते हुए अपने को अन्धा कहा है। सूरदास के सम्बन्ध में जो भी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उन सब में उनके अन्धे होने का उल्लेख हुआ है। उनके कुएँ में गिरने और स्वयं कृष्ण के द्वारा उद्धार पाने एवं दृष्टि प्राप्त करने तथा पुनः कृष्ण से अन्धे होने का वरदान माँगने की घटना लोकविश्रुत है। बिल्वमंगल सूरदास के विषय में भी यह चमत्कारपूर्ण घटना कही-सुनी

जाती है। इसके अतिरिक्त कवि मियाँसिंह ने तथा महाराज रघुराज सिंह ने भी कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है, जिससे उनकी दिव्य-दृष्टि सम्पन्नता की सूचना मिलती है। नाभादास ने भी अपने 'भक्तमाल' में उन्हे दिव्य-दृष्टिसम्पन्न बताया है। निश्चय ही सूरदास एक महान् कवि और भक्त होने के नाते असाधारण दृष्टि रखते थे किन्तु उन्होंने अपने काव्य में वाह्य जगत् के जैसे नाना रूपों, रंगों और व्यापारों का वर्णन कियाहै, उससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने अवश्य ही कभी अपने चर्म-चक्षुओं से उन्हें देखा होगा। उनका काव्य उनकी निरीक्षण-शक्ति की असाधारण सूक्ष्मता प्रकट करता है क्योंकि लोकमत उनके माहात्म्य के प्रति इतना श्रद्धालु रहा है कि वह उन्हें जन्मान्ध मानने में ही उनका गौरव समझता है, इसलिए इस सम्बन्ध में कोई साक्षी नहीं मिलती कि वे किसी परिस्थिति में दृष्टिहीन हो गये थे। हो सकता है कि वे वृद्धावस्था के निकट दृष्टि-विहीन हो गये हो परन्तु इसकी कोई स्पष्ट सूचना उनके पदों से नहीं मिलती। विनय के पदों में वृद्धावस्था की दुर्दशा के वर्णन के अन्तर्गत चक्षु-विहीन होने का जो उल्लेख हुआ है, उसे आत्मकथा नहीं माना जा सकता, वह तो सामान्य जीवन के एक तथ्य के रूप में कहा गया है।

सूरदास की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना 'सूरसागर' हैं। एक प्रकार से 'सूरसागर', जैसा कि उसके नाम से सूचित होता है, उनकी सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन कहा जा सकता है (दे० 'सूरसागर')। 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'साहित्य लहरी' और 'सूरसागर सारावली' को भी कुछ विद्वान् उनकी प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं परन्तु इनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है (दे० 'सूरसागर सारावली' और 'साहित्य लहरी')। सूरदास के नाम से कुछ अन्य तथाकथित रचनाएँ भी प्रसिद्ध हुई हैं परन्तु वे या तो 'सूरसागर' के ही अंश हैं अथवा अन्य कवियों की रचनाएँ हैं। 'सूरसागर' के अध्ययन से विदित होता है कि कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन जिस रूप में हुआ है, उसे सहज ही खण्ड-काव्य जैसे स्वतन्त्र रूप में रचा हुआ भी माना जा सकता है। प्रायः ऐसी लीलाओं को पृथक् रूप में प्रसिद्धि भी मिल गयी है। इनमें से कुछ हस्तलिखित रूप में तथा कुछ मुद्रित रूप में प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए 'नागलीला', जिसमें कालियदमन का वर्णन हुआ है, 'गोवर्धन लीला', जिसमें गोवर्धनधारण और इन्द्र के शरणागमन का वर्णन है, 'प्राण प्यारी', जिसमें राधा-कृष्ण के विवाह का वर्णन है और 'सूर पचीसी', जिसमें प्रेम के उच्चादर्श का पच्चीस दोहों में वर्णन हुआ है, मुद्रित रूप में प्राप्त हैं। हस्तलिखित रूप में 'व्याहलो' के नाम से राधा-कृष्ण विवाहसम्बन्धी प्रसंग, 'सूरसागर सार' नाम से रामकथा और रामभक्ति सम्बन्धी प्रसंग तथा 'सूरदास जी के दृष्टिकूट' नाम से कूट-शैली के पद पृथक् ग्रन्थों में मिले हैं। इसके अतिरिक्त 'पद संग्रह', 'दशम स्कन्ध', 'भागवत', 'सूरसाठी', 'सूरदास जी के पद' आदि नामों से 'सूरसागर' के पदों के विविध संग्रह पृथक् रूप में प्राप्त हुए हैं। ये सभी 'सूरसागर के' अंश हैं। वस्तुतः 'सूरसागर' के छोटे-बड़े हस्तलिखित रूपों के अतिरिक्त उनके प्रेमी भक्तजन समय-समय पर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार 'सूरसागर' के अंशों को पृथक् रूप में लिखते-लिखाते रहे हैं। 'सूरसागर' का वैज्ञानिक रीति से सम्पादित प्रामाणिक संस्करण निकल जाने के बाद ही कहा जा सकता है कि उनके नाम से प्रचलित संग्रह और तथाकथित ग्रन्थ कहाँ तक प्रमाणित हैं।

सूरदास के काव्य से उनके बहुश्रुत, अनुभव सम्पन्न, विवेकशील और चिन्तनशील व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। उनका हृदय गोप बालकों की भाँति सरल और निष्पाप, ब्रज गोपियों की भाँति सहज संवेदनशील, प्रेम-प्रवण और माधुर्यपूर्ण तथा नन्द और यशोदा की भाँति सरल-विश्वासी, स्नेह-कातर और आत्म-बलिदान की भावना से अनुप्राणित था। साथ ही उनमें कृष्ण जैसी गम्भीरता और विदग्धता तथा राधा जैसी वचन-चातुरी और आत्मोत्सर्गपूर्ण प्रेम विवशता भी थी। काव्य में प्रयुक्त पात्रों के विविध भावों से पूर्ण चरित्रों का निर्माण करते हुए वस्तुतः उन्होंने अपने महान् व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति की है। उनकी प्रेम-भक्ति के सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों का चित्रण जिन असंख्य संचारी भावों, अनगिनत घटना-प्रसंगों बाह्य जगत् प्राकृतिक और सामाजिक—के अनन्त सौन्दर्य चित्रों के आश्रय से हुआ है, उनके अन्तराल में उनकी गम्भीर वैराग्य-वृत्ति तथा अत्यन्त दीनतापूर्ण आत्म निवेदात्मक भक्ति-भावना की अन्तर्धारा सतत प्रवहमान रही है परन्तु उनकी स्वाभाविक विनोदवृत्ति तथा हास्य प्रियता के कारण उनका वैराग्य और दैन्य उनके चित्तको अधिक ग्लानियुक्त और मलिन नहीं बना सका। आत्म हीनता की चरम अनुभूति के बीच भी वे उल्लास व्यक्त कर सके। उनकी गोपियाँ विरह की हृदय विदारक वेदना को भी हास-परिहास के नीचे दबा सकीं। करुण और हास का जैसा एकरस रूप सूर के काव्य में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। सूर ने मानवीय मनोभावों और चित्तवृत्तियों को, लगता है, निःशेष कर दिया है। यह तो उनकी विशेषता है ही परन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता कदाचित् यह है कि मानवीय भावों को वे सहज रूप में उस स्तर पर उठा सके, जहाँ उनमें लोकोत्तरता का संकेत मिलते हुए भी उनकी स्वाभाविक रमणीयता अक्षुण्ण ही नहीं बनी रहती, बल्कि विलक्षण आनन्द की व्यंजना करती है। सूर का काव्य एक साथ ही लोक और परलोक को प्रतिबिम्बित करता है।

सूर की रचना परिमाण और गुण दोनों में महान् कवियों के बीच अतुलनीय है। आत्माभिव्यंजना के रूप में इतने विशाल काव्य का सर्जन सूर ही कर सकते थे क्योंकि उनके स्वात्म में सम्पूर्ण युग जीवन की आत्मा समाई हुई थी। उनके स्वानुभूतिमूलक गीतिपदों की शैली के कारण प्रायः यह समझ लिया गया है कि वे अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन के प्रति पूर्ण रूप में सजग नहीं थे परन्तु प्रचारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यदि देखा जाय तो स्वीकार किया जाएगा कि सूर के काव्य में युग जीवन की प्रबुद्ध आत्मा का जैसा स्पन्दन मिलता है, वैसा किसी दूसरे कवि में नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि उन्होंने उपदेश अधिक नहीं दिये, सिद्धान्तों का प्रतिपादन पण्डितों की भाषा में नहीं किया, व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक जीवन के आदर्शों का प्रचार करने वाले सुधारक का बाना नहीं धारण किया परन्तु मनुष्य की भावात्मक सत्ता का आदर्शीकृत रूप गढ़ने में उन्होंने जिस व्यवहार बुद्धि का प्रयोग किया है, उससे प्रमाणित होता है कि वे किसी मनीषी से पीछे नहीं थे। उनका प्रभाव सच्चे कान्ता

सम्मित उपदेश की भाँति सीधे हृदय पर पड़ता है। वे निरे भक्त नहीं थे, सच्चे कवि थे–ऐसे द्रष्टा कवि, जो सौन्दर्य के ही माध्यम से सत्य का अन्वेषण कर उसे मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। युगजीवन का प्रतिबिम्ब देते हुए उसमें लोकोत्तर सत्य के सौन्दर्य का आभास देने की शक्ति महाकवि में ही होती है, निरे भक्त, उपदेशक और समाज सुधारक में नहीं।

[सहायक ग्रन्थ–सूरदास : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय; सूर साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी; सूर और उनका साहित्य : डा० हरिवंशलाल शर्मा; भारतीय साधना और सूरदास : डा० मुंशीराम शर्मा।]

–व्र० व०

सूरदास २–प्रेमचन्दकृत 'रंगभूमि' उपन्यास का खिलाड़ी सूरदास इन्सान नहीं, फरिस्ता है। निर्भीक, धुन का पक्का, सत्यनिष्ठ, न्यायप्रिय, निःस्पृह, शान्त, सेवात्याग-परोपकार-रत सूरदास की बाह्य दृष्टि बन्द थी, किन्तु अन्तर्दृष्टि खुली हुई थी। वह क्षीणकाय और मानवोचित दुर्बलताओं से समन्वित होते हुए भी अनुरागपूर्ण हृदयवाला और सच्चे अर्थों में वैरागी है, सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह का साक्षात् रूप है। वह अशरण-शरण, दीन-दुखियों की सहायता करने वाला, शत्रु-मित्र सभी को एक दृष्टि से देखने वाला और 'गीता' के निष्काम कर्म और स्थित-प्रज्ञ का व्यावहारिक रूप है। इसीलिए उसके शत्रु-मित्र सभी उसकी साधुता और दार्शनिकता के कायल हैं। समझदार के लिए उसका एक-एक शब्द विद्वानों के ग्रन्थों से भारी है। उसमें प्रतिशोध की भावना नहीं, वैमनस्य नहीं। वह खेल खेलने आया था, सच्चे और पवित्र हृदय से खेल खेलकर चला गया। उसकी झोपड़ी पत्र-पुष्पों का स्थान बन गयी। उसकी मृत्यु पर क्लार्क तक को अफसोस हुआ–यद्यपि वह एक सज्जन साम्राज्यवादी का अफसोस था। वास्तव में सूरदास की भौतिक हार में आत्मिक विजय का गौरव था और सबसे बड़ी विजय तो यह थी कि उसकी मृत्यु के फलस्वरूप जनसत्तावादियों की शक्ति अनुदिन संघटित होती गयी।

–ल० सा० वा०

सूरसागर–सूरदास की सर्वमान्य प्रामाणिक कृति 'सूरसागर' ही है, परन्तु यह खेद का विषय है कि 'सूर सागर' का कोई सुसम्पादित प्रामाणिक संस्करण अभी तक नहीं निकल सका है। सबसे पहले उसकी लीथो में छपी हुई प्रतियाँ आगरा, मथुरा और दिल्ली से १९ वीं शताब्दी में प्रकाशित हुई थीं। आगरा से डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित संस्करण प्रकाशित हो चुका है। संवत् १८९८ वि० (सन् १८४१ ई०) में कलकत्ता से प्रकाशित 'रागकल्पद्रुम' में भी 'सूरसागर' का प्रकाशन हुआ था। इसी का पुनर्मुद्रण 'सूरसागर रागकल्पद्रुम' के नाम से नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ। नवल किशोर प्रेस का पहला संस्करण संवत् १९२० वि० में (सन् १८६३) लीथो में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। व[illegible] संवत् १९३१ वि० (सन् १८७४ ई०) में ढले हुए टाइप में [illegible]काशित किया गया। संवत् १९५३ वि० में (सन् १८९६ ई०) श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से 'सूरसागर' का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ–शीर्षक था 'सूरदास रचित श्रीमद्भागवत् बारहों स्कन्धों का ललित राग-रागनियों में अनुवाद।'' उपर्युक्त मुद्रित प्रतियों में 'सूरसागर' के दो रूप प्राप्त होते हैं–एक लीला क्रमवाला रूप है, जिसमें मंगलाचरण के बाद प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है तथा अन्त में रामकथा तथा विनय सम्बन्धी पद संकलित किये गये हैं। नवल किशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'सूर सागर' लीलाक्रम वाले रूप का है। दूसरा रूप द्वादश स्कन्धी क्रम का है, जिसमें प्रारम्भ में विनय के पद देकर 'श्रीमद्भागवत' के द्वादश स्कन्धों के आधार पर पदों का विभाजन किया गया है। इसमें दशम स्कन्ध–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में श्रीकृष्ण की लीला सम्बन्धी पदावली दी गयी है। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों में भी उपर्युक्त दो रूप प्राप्त होते हैं। उपलब्ध प्रतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि लीलाक्रमवाली प्रतियाँ कदाचित् अधिक प्राचीन हैं। जयपुर के पोथीखाना में प्राप्त संवत् १६३० वि० की (सन् १५७३ ई०) प्रति अद्यावधि प्राचीनतम कही जा सकती है। मथुरा, नाथद्वारा, कोटा, झलरापाटन, कुचामन, बूंदी, बीकानेर, उदयपुर आदि अनेक स्थानों में प्राप्त प्रतियाँ १७ वीं या १८ वीं शताब्दी की हैं और ये लीला-क्रम का रूप उपस्थित करती हैं। द्वादशस्कन्धी क्रम की प्रतियाँ इनकी तुलना में बाद की है। इनमें काशी की प्रति सवत् १७५३ (सन् १६९६ ई०) की प्राचीनतम कही जा सकती है। पेरिस और लन्दन में प्राप्त प्रतियाँ १८ वीं शताब्दी की हैं तथा लखनऊ, महाबन (मथुरा), कोसवाँ (अलीगढ़) तथा कलकत्ता में प्राप्त प्रतियाँ १९ वीं शताब्दी की हैं। इस प्रकार प्राचीनता तथा संख्या की दृष्टि से लीला क्रमवाली प्रतियों को अधिक विश्वसनीय माना जा सकता है परन्तु 'सूरसागर' का प्रचलित रूप द्वादशस्कन्धी ही रहा है क्योंकि नवल किशोर प्रेसवाला संस्करण १९ वीं शताब्दी के बाद प्रकाशित नहीं हुआ, केवल वेंकटेश्वर प्रेस वाले संस्करण का ही पुनर्मुद्रण होता रहा। वेंकटेश्वर प्रेसवाला संस्करण 'सूरसागर' की किस हस्तलिखित प्रति अथवा किन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया था, इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण भी गत बीसों वर्षों से दुर्लभ हो रहा था क्योंकि उसका पुनर्मुद्रण रुक गया था। स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'सूरसागर' के सम्पादन और प्रकाशन स्तुत्य प्रयत्न वर्तमान शताब्दी के तृतीय दशक में प्रारम्भ किया था। उन्होंने 'सूरसागर' की अनेक हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र किया और उनके आधार पर सूरदास के नाम से प्रचलित अधिकाधिक पदों का संकलन करना प्रारम्भ किया। सं० १९९० वि० में (सन् १९३३ ई०) 'रत्नाकर' जी के प्रधान सम्पादकत्त्व में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से 'सूरसागर' का प्रकाशन छोटे-छोटे खण्डों के रूप में प्रारम्भ हुआ। इस रूप में प्रकाशित पदों के पाठान्तर भी पाद-टिप्पणियों में दिये जा रहे थे परन्तु १४३२ पदों के प्रकाशन के बाद यह कार्य रुक गया। 'रत्नाकर' जी का देहावसान हो गया था, अतः अनेक वर्षों तक उनके द्वारा संकलित की हुई सामग्री नागरी प्रचारिणी सभा में अप्रयुक्त पड़ी रही। कई वर्ष बाद उस सामग्री का उपयोग कर नन्ददुलारे वाजपेयी के सम्पादकत्त्व में 'सूरसागर' दो खण्डों में प्रकाशित किया गया। पहला खण्ड सं० २००५ वि० (सन् १९४८ ई०) तथा दूसरा खण्ड सं० २००७ वि० (सन् १९५० ई०) में

प्रकाशित हुआ'। इस संस्करण में पाठान्तर नहीं दिये गये। 'रत्नाकर' जी का उद्देश्य 'सूरसागर' के पदों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि करना था क्योंकि यह समझा जाता था कि भले ही सूरदास द्वारा रचित सवा लाख पदों की किंवदन्ती में अतिशयोक्ति हो, उनके पदों की संख्या प्राप्त पदों से कहीं अधिक होनी चाहिये। स्पष्ट ही इसमें पाठलोचन के सिद्धान्तों का कोई विचार नहीं किया गया था। वाजपेयी जी द्वारा सम्पादित 'सूरसागर' की भी यही स्थिति है। इसका रूप द्वादशस्कन्धी है क्योंकि इसमें पदों की प्रामाणिकता पर वैज्ञानिक ढंग से कोई विचार नहीं किया गया है, इसमें अनेक पद अन्य कवियों के सम्मिलित हो गये हैं। कुछ पद सूरदास, मदनमोहन, परमानन्ददास, कुम्भनदास, हितहरिवंश और हरिराम व्यास के स्पष्ट रूप में इंगित किये गये हैं। यह भी सम्भव है कि सूरदास द्वारा रचित अनेक पद, जो पुष्टि मार्गीय कीर्तनसंग्रहों में उपलब्ध होते हैं, सभा के संस्करण में सम्मिलित न हो सके हों। इसके सम्पादन में कीर्तन संग्रहों का उपयोग नहीं हुआ किन्तु अनेक त्रुटियाँ होते हुये भी 'सूरसागर' का यही संस्करण इस समय उपलब्ध है और इसी के आधार पर सूर की रचना पर विचार किया जा सकता है।

'सूरसागर' नाम से सूचित होता है कि यह सूर की सम्पूर्ण रचना का संकलन है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास की वार्ता के प्रसंग ३ के अनुसार ''सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं ताको सागर है यह सो सब जगत में प्रसिद्ध भये'' अर्थात् सूरदास ने हजार (हजारों) की संख्या में पद रचे थे, उन्हीं को 'सूरसागर' में संकलित किया गया है। वार्ता प्रसंग १ में उल्लेख है कि ''तब सूरदास जी को सम्पूर्ण भागवत स्फूर्तना भई पाछे जो पद किये सो भागवत प्रथम स्कन्ध तें द्वादश स्कन्ध पर्यंत (ताई) किये''। इससे यह सूचित होता है कि सूरदास ने अपनी रचना भागवत' के आधार पर की थी। इसी उल्लेख के कारण 'सूरसागर' को 'भागवत' का अनुवाद कहा जाने लगा। इस सम्बन्ध में 'सूरसागर' के अध्येता अब भी पूर्णरूप से इस स्पष्ट निश्चय पर नहीं पहुँच सके हैं कि 'सूरसागर' का वास्तविक स्वरूप क्या है। कभी सूरदास को स्फुट पदों का रचयिता मानकर 'सूरसागर' उनके पदों का संकलन कह दिया जाता है, कभी उसे श्रीनाथ जी के कीर्तनों का संग्रह कहा जाता है, क्योंकि सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वे श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा में नियुक्त हुए थे। 'सूरसागर' का उपलब्ध संस्करण द्वादशस्कन्धी रूप का है, अतः यह भ्रम अब भी किसी न किसी रूप से चलता है कि 'सूरसागर', 'श्रीमद्भागवत' का भावानुवाद या छायानुवाद है परन्तु 'सूरसागर' का निष्पक्ष भाव से सूक्ष्म अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि 'सूरसागर' का मुख्य वर्ण्य-विषय ब्रजवल्लभ श्रीकृष्ण की लीला का गायन है और यह गायन श्रीकृष्ण के जन्म से प्रारम्भ होकर उनके ब्रजवास की विविध क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए उनके मथुरा गमन तथा द्वारका-गमन और फिर कुरुक्षेत्र में ब्रजवासियों से भेंट करने तक की समस्त घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन करता है। गेय पदों की शैली में रचे जाने के कारण विविध प्रसंगों में पदों की वृद्धि होने की निश्चय ही इसमें अनेक सम्भावनाएँ रही हैं और इसी कारण उसका आकार बढ़ता रहा है तथा विविध लीलाओं की पुनरावृत्तियाँ भी होती रही हैं। 'सूरसागर' के द्वादशस्कन्धी रूप में भी श्रीकृष्ण की लीला ही, जो दशम् स्कन्ध में दी गयी है, 'सूरसागर' का मुख्य अंश प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त विनय के पद भी 'सूरसागर' का एक प्रमुख अंग है, जिनकी संख्या सभा के संस्करण में २२३ है। सूर की रचना का तीसरा मुख्य अंग राम-कथा सम्बन्धी पदों का है। इसमें सभा के संस्करण में १५६ पद मिलते हैं। 'सूरसागर' के शेष अंश में, जिसकी पद संख्या अत्यन्त न्यून है, 'भागवत' के विविध स्कन्धों में प्राप्त भक्ति भावसम्बन्धी कथाओं का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार 'सूरसागर' को सूरदास की रचना का संकलन कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण की लीला के गायन में भी अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं, जो कथा की दृष्टि से अपने में परिपूर्ण और स्वतन्त्र रूप में पढ़े जा सकते हैं। ये प्रसंग सम्बन्धित लीला के नाम से पृथक् रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित भी होते रहे हैं परन्तु ध्यान से देखने पर यह असंदिग्ध रूप में प्रमाणित हो जाता है कि ये प्रसंग भी वस्तुतः श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण लीला के अभिन्न अंग ही हैं। उनका पूर्ण रसास्वादन पूर्वा पर क्रम के आधार पर ही किया जा है। इसके साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि सूरदास ने कृष्ण-लीला का गायन यद्यपि 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्ण-लीला के आधार पर किया परन्तु यह आधार उन्होंने केवल सूत्र रूप में ही ग्रहण किया। विविध प्रसंगों के विवरणों में उनकी मौलिक कल्पना स्पष्ट प्रकट हो जाती है, साथ ही उन्होंने ऐसे अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना की, जिनका 'भागवत' में संकेत भी नहीं मिलता। अतः 'सूरसागर' को किसी प्रकार भागवत का अनुवाद, छायानुवाद या भावानुवाद नहीं कहा जा सकता। श्रीकृष्ण की लीला में ही नहीं, रामचरित सम्बन्धी पदों में भी सूरदास की मौलिकता असन्दिग्ध है। 'श्रीमद्भागवत' का अनुसरण कृष्ण और राम की कथाओं के अतिरिक्त अन्य कथाओं के वर्णन में अवश्य किया गया है। परन्तु इन कथाओं के वर्णन में न तो काव्य का सौष्ठव मिलता है और न भक्ति-भावना की वह उत्कृष्टता, जो कृष्ण-लीला के गायन में प्राप्त होती है।

'सूरसागर' के विनय-भावनासम्बन्धी पद द्वादशस्कन्धी क्रमवाली प्रतियों में प्रारम्भ में तथा लीलाक्रमवाली प्रतियों में अन्त में पाये जाते हैं। सामान्यतया इन पदों की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि इनमें कुछ पद बाद में प्रक्षिप्त हुए होंगे। वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण में इनकी संख्या ११२ थी किन्तु सभा के संस्करण में वह २२३ है। इन पदों के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा रही है कि इनकी रचना सूरदास ने वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पहले की थी। इस धारणा का आधार सूरदास की 'वार्ता' का वह प्रसंग है, जिसमें वल्लभाचार्य द्वारा उनका ''घिघियाना'' (दैन्य) छुड़ाने का उल्लेख किया गया है परन्तु इन पदों में व्यक्त विचारों की प्रौढ़ता, अनुभव की गम्भीरता, स्थिर मनस्विता और सम्पूर्ण जीवन पर दार्शनिक जैसी दृष्टि से विदित होता है कि इनकी रचना पर्याप्त वय और अनुभव प्राप्त व्यक्ति द्वारा ही होना सम्भव है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इन पदों की रचना सूरदास ने कृष्ण-लीला के वर्णन करते समय भी समय-समय पर स्फुट रूप में की होगी। यद्यपि कृष्ण-लीला के वर्णन में उन्होने वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों में ही अपनी

तल्लीनता प्रकट की है परन्तु दैन्य भाव इन भावों का विरोधी नहीं है। वस्तुतः दैन्य भक्ति का मूल भाव है, प्रत्येक भाव अनुभूति की चरम स्थिति में दैन्य समन्वित हो जाता है, जैसा कि सूर के सभी भावों के विरहसम्बन्धी पदों से स्पष्ट सूचित होता है। प्रपत्ति अर्थात् आत्मसमर्पण की भावना दैन्यप्रधान विनय के पदों में अत्यन्त प्रत्यक्ष और अपने शुद्ध रूप में प्राप्त होती है। अतः ये पद सूरदास की वैयक्तिक भक्ति-भावना के मूलाधार का परिचय देते हैं। इन पदों में संसार की असारता का अनुभूति पूर्ण वर्णन करते हुए वैराग्य की भावना दृढ़ की गयी है तथा भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता प्रमाणित की गयी है। भक्ति की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिए भगवान की असीम कृपालुता और भक्तवत्सलता का सोदाहरण वर्णन हुआ है और मन को भक्ति में दृढ़ रहने के लिए उद्‌बोधन दिया गया है। इसी उद्‌देश्य से सत्संग की महिमा तथा हरिविमुखों की निन्दा की गयी है। भक्ति के लक्षणों का भी यत्र-तत्र उल्लेख है, जिनमें नाम-स्मरण सर्वप्रमुख है परन्तु वस्तुतः भक्ति का मूल लक्षण प्रेमभाव है, जो इन पदों में दैन्यसमन्वित होकर दास्य रति के रूप मे प्रकट हुआ है। यद्यपि विनय के पदों की शैली व्यक्तिप्रधान आत्मगत शैली है, जिससे लगता है कि कवि संसार के सभी दोषों का आरोप अपने ऊपर कर रहा है परन्तु वास्तव में उसकी दृष्टि में समष्टिगत व्यापकता है। उसने सामान्य जीवन पर तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए उसके सुधार का दिशा-निर्देश किया है। कभी-कभी लोक-संग्रह की भावना इन पदों में इतनी अधिक मुखर हो गयी है कि कवि का दृष्टिकोण भक्ति के प्रचार का दृष्टिकोण हो गया है। इन पदों के आधार पर हम सूरदास के समय के मध्यम श्रेणी के समाज की स्थिति और उसके जीवनादर्शका यथार्थ परिचय प्राप्त कर सकते हैं। विनय के पदों में वस्तुतः उस युग के लोकचित्त का ही प्रतिबिम्ब दिया गया है। उस लोकचित्त को मूर्त रूप देने के लिए जो विवरण दिये गये हैं, वे अधिकतर सामान्य लोक-जीवन के ही विवरण हैं। शैली के कारण कभी-कभी उन्हें सूरदास के आत्मकथनों के रूप में मान लेने की भूल की गयी है परन्तु इस विषय में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। प्रसंगवश कुछ कथन ऐसे अवश्य हो गये हैं, जिनमें सूरदास के व्यक्तिगत जीवन की कुछ सूचनाएँ मिल जाती है। शैली की दृष्टि से ये पद आत्माभिव्यक्ति पूर्ण गीति रचना का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कुछ पदों में उपदेशात्मकता अवश्य आ गयी है परन्तु अधिकांश पदों में गीति-काव्य के उपयुक्त तीव्र भावात्मकता सुरक्षित मिलती है। पद-शैली में रचे होने के कारण संगीत का तत्त्व तो मिलता ही है, प्रत्येक पद में किसी एक ही भाव का अनुभूतिपूर्ण चित्रण होने के कारण भाव-संकलन भी सुरक्षित है। कुछ पदों में शान्त रस का शम स्थायी भाव देखा जा सकता है परन्तु अधिकांश पद दैन्यप्रधान हैं। संचारी रूप में कहीं कहीं सम्पूर्ण पद में ओज की प्रमुखता दिखाई दे जाती है परन्तु वास्तव में उसके द्वारा भी व्यंजना दैन्य की ही होती है। दैन्यभाव संकोचनशील भाव है उसमें भावविस्तार को स्थान नहीं मिल पाता। अतः ऐसा लगता है कि कवि के ऊपर संसार के समस्त पापों का एक भारी बोझ लदा हुआ है और वह घोर आत्मग्लानि से ग्रस्त है, जैसे उमंग और उत्साह उसके मन में रह ही न गया हो। भगवान् की कृपा का विश्वास उसे अवश्य है परन्तु वह उनके सम्मुख एक याचक के रूप में ही खड़ा है। इन पदों की भाषा शैली प्रौढ़ है, भाषा में तत्सम, तद्‌भव शब्दों का मिश्रण अधिक है तथा धार्मिक शब्दावली की प्रधानता है। जहाँ भाव की तीव्र अनुभूति और घनिष्ठ आत्मीयता प्रकट की गयी है, भाषा अधिक सरल और ठेठ शब्दावली से परिपूर्ण है। काव्य-सौष्टव की ओर कवि का कोई प्रयास नहीं दिखाई देता। अलंकारों का प्रयोग सहज रूप में भावों के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है।

'सूरसागर' के स्फुट पदों में राम-कथा सम्बन्धी पद भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें राम-जन्म बाल-केलि, धनुर्भंग, केवट-प्रसंग, पुरवधू-प्रश्न, भरत-भक्ति, सीता-हरण पर राम विलाप, हनुमान् द्वारा सीता की खोज, हनुमान-सीता संवाद, रावण-मन्दोदरी संवाद, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप, हनुमान् का संजीवनी लाना, सीता की अग्नि परीक्षा और राम का अयोध्या प्रवेश—ये मार्मिक स्थल हैं, जिन पर सूरदास का ध्यान गया है। लंका-काण्ड सम्बन्धी प्रसंगों के पद अपेक्षाकृत सबसे अधिक हैं।

इनमें रावण मन्दोदरी संवाद, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप तथा हनुमान् के संजीवनी लाने और मार्ग में अयोध्यावासियों से भेंट करने के सम्बन्ध में सबसे अधिक विस्तार किया गया है। मन्दोदरी और रावण के संवाद में सीता के उद्धार पर सूरदास ने अधिक ध्यान केन्द्रित किया है। सीता उद्धार पर विशेष ध्यान देने के कारण ही लंका-काण्ड के बाद सुन्दर-काण्ड का विस्तार सबसे अधिक है। हनुमान् और सीता की भेंट के प्रसंग में करुण भावों को व्यक्त करने में सूरदास ने अधिक तन्मयता दिखायी है। राम कथासम्बन्धी पद-रचना में भी सूरदास की रुचि करुण, कोमल भावों के प्रति ही अधिक दिखाई देती है। उन्होंने राम के शौर्य, पौरुष, धैर्य और पराक्रम का उतनी तन्मयता से वर्णन नहीं किया, जितनी तन्मयता और आत्मीयता के साथ सीता और लक्ष्मण के सम्बन्ध में उनकी वेदना, व्याकुलता और व्यग्रता का चित्रण किया है फिर भी सूरदास के राम मर्यादा का सदैव पालन करते हैं अन्य पात्रों के चरित्र-सम्बन्धी संकेतों में सूरदास ने मानवीय स्वाभाविकता के चित्रण पर विशेष बल दिया है किन्तु उनका कोई पात्र आदर्श से गिरने नहीं पाया है। राम कथासम्बन्धी पदों की भाव-धारा सामान्यतया विनय के पदों के समान है। उसमें दैन्य की ही प्रधानता है।

'सूरसागर' की कृष्ण-लीला विभिन्न प्रसंगों से सम्बद्ध स्फुट पदसमूह तथा विशिष्ट लीलाओं के रूप में रचे गये खण्ड काव्य जैसे अंशो से निर्मित हुई है। स्फुटपद और पदसमूह कृष्ण के शैशव, बाल्य और कैशोर काल की विविध दिन चर्या से सम्बद्ध हैं। इनके द्वारा कृष्ण-लीला की सामान्य रूपरेखा का निर्माण होता है, जिसके अन्तर्गत उनकी विशेष क्रीड़ाएँ वर्णित हैं। चन्द्र-प्रस्ताव, माखन-चोरी, ग्रीष्मलीला, यमुना-विहार, जल-क्रीड़ा, निकुंज-क्रीड़ा, अनुराग-समय, खण्डिता-समय, अँखियाँ-समय, नैनन-समय, फाग, होली, हिण्डोल आदि

विशेष प्रसंग संश्लिष्ट पद समूह के रूप में वर्णित हैं। इसी प्रकार पूतना, कागासुर, शकटासुर, वस्सासुर, बकासुर, धेनुक, शंखचूड़, वृषभ, केशी, भौमासुर आदि के संहारसम्बन्धी पद भी पदसमूह के रूप में प्राप्त होते है। ये पदसमूह पृथक रूप में भी आस्वाद्य हैं परन्तु उनका वास्तविक महत्त्व सम्पूर्ण कृष्ण-लीला के सदर्भ में ही प्रकट होता है। जिन प्रसंगों को खण्डकाव्य जैसी एकात्मकता प्राप्त हुई है, उनमें उलूखल बन्धन और यमलार्जुन उद्धार, अघासुर वध, बाल-वत्स-हरण लीला, राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन, कालीदमन लीला, राधा का पुनरागमन, चीरहरण, पनघट प्रस्ताव, यज्ञ-पत्नी लीला, गोवर्धन-लीला, दान लीला, रास लीला, मान लीला तथा दम्पति विहार, मध्यम मान लीला, बड़ी मान लीला, खण्डिता समय, हिण्डोल लीला, वसन्त लीला, उद्धव-ब्रज आगमन और भ्रमरगीत तथा कुरुक्षेत्र मिलन 'सूरसागर' में वर्णित कृष्ण लीला के बृहत् गीति-प्रबन्ध की श्रृंखला की वे कड़ियाँ हैं, जिनके द्वारा कृष्ण-लीला का वर्णन एक सम्यक् प्रबंध का रूप प्राप्त करता है। कृष्ण लीला का यह प्रबन्ध मंगलाचरण और कृष्णावतार के हेतु का संक्षेप में वर्णन करते हुए कृष्ण जन्म के आनन्दोल्लास के चित्रण से विधिवत् प्रारम्भ होता है।

मुख्य रूप में कृष्ण-लीला की दो धाराएँ प्रवाहित होती देखी जाती हैं—एक में कृष्ण के उन विस्मयकारी संहारकार्यों का वर्णन है, जिनका प्रारम्भ पूतना-वध से और अन्त कंस और उसके सहयोगियों के संहार में होता है। इस धारा में कृष्ण का चरित्र अतिलौकिकता का संकेत करता है किन्तु उसकी प्रतीति ब्रजवासियों को एक विशेष ढंग से कराई गयी है, जिससे उनके मन में कृष्ण के प्रति आतंक और गौरव की भावना जाग्रत् होकर उनके मानवीय प्रेम सम्बन्धों के सहज भाव को न दबा सके। ब्रज में कृष्ण के संहार-कार्य लीला-कौतुक के रूप में चित्रित किये गये हैं। मथुरा और द्वारिका के प्रवास में भी कृष्ण द्वारा सम्पन्न संहार-कार्यों का वर्णन भी हुआ है परन्तु उस वर्णन में सूरदास ने किसी प्रकार की भाव-तन्मयता नहीं दिखायी क्योंकि ब्रजवासी उस ओर से पूर्णतया उदासीन हैं। कृष्ण की संहार और उद्धार सम्बन्धी लीलाओं में जो उनका अवतारी रूप प्रकट हुआ है, उसके द्वारा उनकी आनन्दक्रीड़ाओं को चमत्कार प्राप्त होता है और ब्रजवासियों के प्रेम सम्बन्ध में रहस्यात्मकता और अलौकिकता की व्यंजना होती है।

कृष्ण-लीला की दूसरी धारा में कृष्ण के शुद्ध परमानन्द रूप की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें कृष्ण की वे सम्पूर्ण लीलाएँ आ जाती हैं, जिन्हें सख्य-क्रीड़ाएँ कह सकते हैं और जो वस्तुतः 'सूरसागर' की उत्कृष्ट भाव-सम्पत्ति का निर्माण करती हैं। कृष्ण की इन क्रीड़ाओं का भावात्मक विकास प्रमुखतया तीन दिशाओं में होता है : एक ओर उनके द्वारा यशोदा, नन्द तथा ब्रज के अन्य वयस्क नर-नारियों के हृदय में कृष्ण के प्रति अनुकम्पारति की विकास-वृद्धि होती है, दूसरी ओर कृष्ण के सखाओं के हृदय में उनके प्रति प्रेम-रति का उदय और विकास होता है तथा तीसरी ओर ब्रज की कुमारी, किशोरी और नवोढ़ा गोपियों के मन में मधुर अथवा कान्ता रति का उदय और उत्तरोत्तर विकास होता है। विविध लीलाओं के द्वारा सूरदास ने कृष्ण के प्रति प्रेम के इन तीनों भावों का जो अत्यन्त स्वाभाविक और मनोहारी चित्रण किया है, वह जहाँ उनकी उच्च भक्ति-भावना को प्रमाणित करता है, वहाँ उनके काव्य-कौशल का भी उससे असन्दिग्ध प्रमाण मिलता है। कृष्ण के संयोग समय के क्रीड़ा-विनोद तथा वियोग समय के दारुण दुःख—दोनों का चित्रण करने में सूरदास ने असंख्य मौलिक प्रसंगों की उद्भावना कर तथा मानव मन में उदय होने वाले असंख्य मनोरागों का बिम्बात्मक चित्रण कर अपनी काव्य प्रतिभा का जो परिचय दिया है, उससे उनके सम्बन्ध मे 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति चरितार्थ होती है। यदि महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा में बताये गये उसके बाह्य लक्षणों का विचार न किया जाय तो सूरदास के इस गीति-प्रबन्ध को महाकाव्य कहा जा सकता है। इसमें नायक, नायिका, प्रतिनायक, सखा, सखी अनेक पात्र, प्रधान कथा तथा अनेक प्रासंगिक कथाएँ, कथा की एक सूत्रता, कथानक का आरम्भ विकास, मध्य, चरम सीमा और उसका निश्चित परिणाम में अन्त, बाह्य प्रकृति के चित्रण आदि प्रबन्ध काव्य के लक्षण उसे महाकाव्य की कोटि तक पहुँचाने में समर्थ हैं। इस काव्य की विलक्षण विशेषता यह है कि इसमें कथावस्तु का निर्माण करने वाले विभिन्न कथानक पृथक व्यक्तित्व रखते हुए भी सम्पूर्ण काव्य के अभिन्न अंग हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं। इसकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि गीति-शैली में रचे जाने के कारण इसमें गीति और प्रबन्ध के परस्पर विरोधी लगने वाले तत्त्व समन्वित होकर एकाकार हो गये हैं (दे० 'सूरदास' : ब्रजेश्वर वर्मा)।

—ब्र० व०

सूरसागर सारावली (सूर सारावली)— सूरदास की कृतियों की प्रामाणिकता के विवेचन में 'सूरसागर सरावली' की चर्चा सभी विद्वानों ने की है परन्तु इस सम्बन्ध में अब भी मतभेद हैं कि इस रचना को 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास की प्रामाणिक कृति माना जाय अथवा नहीं। इसकी प्रामाणिकता में सन्देह होने का सबसे पहला कारण यह है कि इसकी कोई हस्तलिखित पोथी आज तक नहीं मिली। सूरसाहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् प्रभुदयाल मीतल इसे सूर की प्रामाणिक रचना मानते है। उन्होंने पता लगाया है कि 'सारावली' की प्राचीनतम प्रति, जो मुद्रित रूप में ही प्राप्त है, सं० १८८० वि० (सन् १८२३ ई०) के गुजराती अनुवाद के रूप में मिलती है। इससे विदित होता है कि 'सारावली' की परम्परा १९ वीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध तक जाती है। उसके पूर्व 'सारावली' का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत सूर की 'वार्ता' में भी इसका उल्लेख नहीं हुआ। वार्ताओं में परिवर्द्धन और उनकी व्याख्या करने वाले पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध विद्वान् गोसाई हरिराय ने भी, जो सूरदास के लगभग १०० वर्ष बाद हुए थे, 'सारावली' का कोई उल्लेख नहीं किया। हिन्दी में 'सारावली' का प्राचीनतम संस्करण सं० १८९८ वि० में (सन् १८४१ ई०) प्रकाशित 'रागकल्पद्रुम' में छपे 'सूरसागर' के साथ मिला है। इसी का पुनर्मुद्रित रूप सं० १९२० वि० में (सन् १८६३ ई०) प्रकाशित नवलकिशोर प्रेस के 'सूरसागर' के प्रथम सस्करण में मिलता है। 'सारावली' का तीसरा मुद्रित रूप सं० १९५३ वि० में (सन् १८९६ ई०) श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित 'सूरसागर' के प्रथम संस्करण में प्राप्त होता है। इसके अनन्तर श्री वेंकटेश्वर प्रेस से 'सूरसागर' के

पुनर्मुद्रणों के साथ 'सारावली' का प्रकाशन बराबर होता रहा। उपर्युक्त तीनों रूपों में 'सारावली' का पाठ मूलतः समान है, केवल परवर्ती संस्करणों में शब्दों को तत्सम रूप में करके शुद्धीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखाई देती है।

जैसा कि इसके शीर्षक तथा उसके नीचे दिये गये सवा लाख पदों के सूचीपत्र एवं अन्त में दिये गये "सूर सागरस्य सारावली समाप्तम्' आदि से सूचित होता है, 'सारावली' का उद्देश्य 'सूरसागर' का सार देना ही रहा है। यह बात 'सारावली' में प्राप्त इस कथन से भी प्रमाणित होती है—"श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो (छन्द ११०२) ता दिन में हरि लीला गाई एक लक्ष्य पद बन्द। ताको सार सूर सारावली गावत अति आनन्द" (छन्द ११०३)। हरि लीला-गायन की सार अवली होने के काण ही इसे 'सूरसागर' की सारावली के रूप में ही रची गयी। वह उसी पर आधारित है और उसके अनेक शब्दों और पंक्तियों को 'सारावली' में ज्यों का त्यों प्रयुक्त किया गया है परन्तु ऐसा होते हुए भी 'सूरसागर' और उसकी इस तथाकथित 'सारावली' में अनेक अन्तर हैं। प्रस्तुत लेखक ने अपने 'सूरदास' नामक ग्रन्थ में कुछ अन्तरों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि "सारावली', 'सूरसागर' के पदों का सूचीपत्र नहीं है, यह एक स्वतन्त्र रचना है, जिसकी कथावस्तु में 'सूरसागर' की कथा-वस्तु से घनिष्ट साम्य होते हुए भी उसे सूरसागर का संक्षेप भी नहीं कह सकते।" 'सारावली' को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् मीतलजी ने इस निष्कर्ष को अक्षरशः स्वीकार किया है परन्तु उनका कथन है कि 'सारावली' वस्तुतः एक स्वतन्त्र रचना है। वह न तो 'सूरसागर' का सार है और न उसका सूची पत्र, बल्कि उसकी रचना 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के आधार पर हुई है। "सूरदास ने हरि-लीला विषयक जिन कथात्मक और सेवात्मक पदों का गायन किया, उन्हीं के सैद्धान्तिक सार रूप में उन्होंने 'सारावली' की रचना की।" अपनी इसी मान्यता के आधार पर मीतलजी ने उसके प्रसिद्ध नाम 'सूरसागर सारावली' के स्थान पर उसे 'सूर सारावली' कहना अधिक उचित समझा है परन्तु सारावली के नाम के संशोधन तथा उसके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में मीतल जी की मौलिक मान्यता का समर्थन 'सारावली' के वर्तमान रूप से नहीं होता।

'सारावली' के प्रारम्भमें "वन्दौं हरिपद सुखदाई" की टेक वाला 'सूरसागर' का प्रसिद्ध प्रारम्भिक पद दिया गया है। उसके बाद सार और सरसी नाम के ११०७ छन्द हैं। प्रारम्भ में पूर्ण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम के नित्य विहार का उल्लेख करके सृष्टि विस्तार का संक्षेप में कथन हुआ है। सृष्टि रचना को कवि ने होली खेलने के रूप में प्रस्तुत किया है। २४ अवतारों का संक्षेप में वर्णन करते हुए रामावतार का विस्तार से वर्णन किया गया है। रामावतार के उपरान्त अन्य अवतारों का उल्लेख करके कृष्णावतार की भूमिका देते हुए कृष्ण लीला का क्रमिक वर्णन हुआ है। कृष्ण लीला के वर्णन में 'सूरसागर' की तुलना में 'सारावली' में अनेक नवीन बातें पाई जाती हैं परन्तु उन सबमें सबसे अधिक रोचक यह है कि 'भागवत' में वर्णित दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की सम्पूर्ण कथा कहने के बाद राधा-कृष्ण की विहार-लीला का पृथक् रूप में वर्णन किया गया है। अन्त मे 'सारावली' के पठन-पाठन का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जो इस 'सरस संवत्सर लीला' को गायेंगे और युगल चरण को चित्त में धारण करेंगे, वे 'गर्भवास बन्दी खाने में' फिर नहीं आयेंगे। इस अन्तिम कथन तथा ग्रन्थ के अन्त में दिये हुए "इति श्री सूरदास जी कृत संवत्सर लीला तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र समाप्त" कथन से सूचित होता है कि 'सूरसागर' का सार देने के अतिरिक्त इस रचना का उद्देश्य संवत्सर-लीला का वर्णन करना भी है। पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में श्री कृष्ण के स्वरूपों की 'नित्य सेवा' तथा वर्ष भर के व्रतोत्सवों की 'सेवा' श्रीकृष्ण की लीलाओं के आधार पर निश्चित करके चलाई गयी थी। वार्षिक व्रतोत्सवों की सेवा को ही संवत्सर-लीला की सेवा कहा गया है। 'सूरसागर सारावली' की रचना का उद्देश्य संवत्सर के व्रतोत्सवों की कृष्ण-लीला के आधार पर सूची देना ही है।

भाषा और शैली की दृष्टि से 'सारावली' का अधिक महत्त्व नहीं है। उसकी भाषा-शैली और 'सूरसागर' की भाषा-शैली में पर्याप्त अन्तर है। दोनों के दृष्टिकोणों में भी बहुत अन्तर है। काव्य गुणों की दृष्टि से भी 'सारावली' का कोई महत्त्व नहीं परन्तु पुष्टि मार्ग में उसका सांप्रदायिक महत्त्व असंदिग्ध है कदाचित् इसी कारण सूर साहित्य के अनेक विद्वान् उसे सूर की प्रामाणिक रचना मानने का लोभ नहीं छोड़ पाते। परन्तु इधर उसकी प्रामाणिकता में विद्वानों ने किंचित् सन्देह प्रकट करना प्रारम्भ किया है। डा० प्रेम नारायण टण्डन ने तो उसे पूर्ण रूप से अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिये हैं।

'सूरसागर' के नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण के साथ 'सारावली' नहीं दी गयी है। श्री वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण का पुनर्मुद्रण रुक गया था, अतः 'सूरसागर सारावली', प्रायः दुर्लभ हो गयी थी परन्तु प्रभुदयाल मीतल ने सं० २०१४ वि० (सन् १९५७ ई०) में 'सारावली' का 'सूर सारावली' नाम से एक अच्छा सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया है, जिससे 'सारावली' का अध्ययन सुलभ हो गया है।

[सहायक ग्रन्थ—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय इलाहाबाद; सूर निर्णय : प्रभुदयाल मीतल और द्वारकादास पारीख, साहित्य संस्थान, मथुरा; सूर सारावली : प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा।]

—ब्र० व०

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'—हिन्दी के छायावादी कवियों में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला कई दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनका व्यक्तित्व अतिशय विद्रोही और क्रान्तिकारी तत्त्वों से निर्मित हुआ है। उसके कारण वे एक ओर जहाँ अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों के स्रष्टा हुए, वहाँ दूसरी ओर परम्पराभ्यासी हिन्दी काव्य प्रेमियों द्वारा अरसे तक सबसे अधिक गलत भी समझे गये। उनके विविध प्रयोगों—छन्द, भाषा, शैली, भावसम्बन्धी नव्यतर दृष्टियों ने नवीन काव्य को दिशा देने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसलिए घिसी-पिटी परम्पराओं को छोड़कर नवीन शैली के विधायक कवि का पुरातनतापोषक पीढ़ी द्वारा स्वागत का न होना स्वाभाविक था। पर प्रतिभा का प्रकाश उपेक्षा और अज्ञान के

कुहासे से बहुत देर तक आच्छन्न नहीं रह सकता।

'निराला' का जन्म महिषादल स्टेट मेदनीपुर (बंगाल) में माघ शुक्ल ११, संवत् १९५३, कवि ६. ई० की वसन्त पंचमी को हुआ था। यों इनका अपना घर उन्नाव जिले के गढ़ाकोला गाँव में है। बंगाल में बसने का परिणाम यह हुआ कि बंगला एक तरह से इनकी मातृभाषा हो गयी। मैट्रीकुलेशन कक्षा में पहुँचते-पहुँचते इनकी दा निक रुचि का परिचय मिलने लगा। १६-१७ की ते ही इनके जीवन में विपत्तियाँ आरम्भ हो गयीं पर अनेक प्रकार के दैवी, सामाजिक और साहित्यिक संघर्षों को झेलते हुए भी इन्होंने कभी अपने लक्ष्य को नीचा नहीं किया। माँ पहले ही गत हो चुकी थीं, पिता का भी असामयिक निधन हो गया। इनफ्लुएँजा के विकराल प्रकोप में घर के अन्य प्राणी भी चल बसे। पत्नी की मृत्यु से तो ये टूट से गये। पर कुटुम्ब के पालन-पोषण का भार स्वयं झेलते हुए वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। इन विपत्तियों से त्राण पाने में इनके दार्शनिक ने अच्छी सहायता पहुँचायी।

सन् १९१६ ई० में 'निराला' की अत्यधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना 'जुही की कली' लिखी गयी। यह उनकी प्राप्त रचनाओं में पहली रचना है। यह उस कवि की रचना है, जिसने 'सरस्वती' और 'मर्यादा' की फाइलों से हिन्दी सीखी, उन पत्रिकाओं के एक-एक वाक्य को संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी-व्याकरण के सहारे समझने का प्रयास किया। इस समय वे महिषादल में ही थे। 'रवीन्द्र कविता कानन' के लिखने का समय यही है। सन् १९१६ में इनका 'हिन्दी-बंगला का तुलनात्मक व्याकरण' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ।

एक सामान्य विवाद पर महिषादल की नौकरी छोड़ कर वे घर वापस चले आये। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले रामकृष्ण मिशन के पत्र 'समन्वय' में वे सन् १९२२ में चले गये। 'समन्वय' के सम्पादन-काल में उनके दार्शनिक विचारों के पुष्ट होने का बहुत ही अच्छा अवसर मिला। इस काल में जो दार्शनिक चेतना उनको प्राप्त हुई, उससे उनकी काव्यशक्ति और भी समृद्ध हुई। सन् १९२३-२४ ई० में महादेव बाबू ने उन्हें 'मतवाला' के सम्पादक-मण्डल में बुला लिया। फिर तो 'मतवाला' में उनकी रचनाएँ धड़ल्ले से निकलने लगीं। उनकी काव्य-प्रतिभा को प्रकाश में ले आने का सर्वाधिक श्रेय 'मतवाला' को ही है। 'मतवाला' में भी ये २-३ वर्षों तक ही रह पाये। इस काल की लिखी गयी अधिकांश कविताएँ 'परिमल' में संगृहीत हैं।

सन् १९२७-३० ई० तक वे बराबर अस्वस्थ रहे। फिर स्वेच्छा से गंगा-पुस्तक-माला का सम्पादन तथा 'सुधा' में सम्पादकीय का लेखन करने लगे। सन् १९३० से '४२ तक उनका अधिकांश समय लखनऊ में ही बीता। यह समय उनके घोर आर्थिक संकट का काल था।

इस समय जीविकोपार्जन के लिए उन्हें जनता के लिए लिखना पड़ता था। सामान्य जनरुचि कथा-साहित्य के अधिक अनुकूल होती है। उनके कहानी-संग्रह 'लिली', 'चतुरी चमार', 'सुकुल की बीबी', (१९४१ ई०) और 'सखी' की कहानियाँ तथा 'अप्सरा, 'अलका' 'प्रभावती', (१९४६ ई०) 'निरुपमा इत्यादि उपन्यास उनके अर्थ संकट के फलस्वरूप प्रणीत हुए। वे समय-समय पर फुटकल लेख भी लिखते रहे। इन लेखों का संग्रह 'प्रबन्ध पद्म' के नाम से इसी समय प्रकाशित हु... .

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे जनरुचि के कारण अपने धरातल से उतर कर सामान्य भूमि पर आ गये। उनके काव्यगत प्रयोग चलते रहे। सन् १९३६ ई० में नये स्वरताल युक्त उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' नाम से प्रकाशित हुआ। दो वर्ष बाद अर्थात् सन् १९३८ ई० में उनका 'अनामिका' काव्य-संग्रह प्रकाश में आया। यह संग्रह सन् १९२२ ई० में प्रकाशित 'अनामिका' संग्रह से बिलकुल भिन्न है। सन् १९३८ ई० में ही उनके अन्तर्मुखी प्रबन्ध-काव्य 'तुलसीदास' का भी प्रकाशन हुआ।

हिन्दीकाव्य-क्षेत्र में 'निराला' का पदार्पण मुक्त वृत्त के साथ होता है। वे इस वृत्त के प्रथम पुरस्कर्त्ता हैं। वास्तव में 'निराला' की उद्दाम भाव-धारा को छन्द के बन्धन बाँध नहीं सकते थे। गिनी-गिनाई मात्राओं और अन्त्यानुप्रासों के बँधे घाटों के बीच उनका भावोल्लास नहीं अँट सकता था। ऐसी स्थिति में काव्याभिव्यक्ति के लिए मुक्त वृत्त की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। उन्होंने 'परिमल' की भूमिका में लिखा है—"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्म के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना हे। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह दूसरों के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं फिर भी स्वतन्त्र। इसी तरह कविता का भी हाल है।"

'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा हैं—'भावों की मुक्ति छन्दों की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वच्छन्द हैं।" रीतिकाल की कृत्रिम छन्दोबद्ध रचना के विरुद्ध यह नवीन उन्मेषशील काव्य की पहली विद्रोह-वाणी है।

भाव-व्यंजना की दृष्टि से मुक्तछन्द कोमल और परुष दोनों प्रकार की भावाभिव्यक्ति के लिए समान रूप से समर्थ हैं, यद्यपि 'निराला' का कहना है कि, "यह कविता स्त्री की सुकुमारता नहीं, कवित्त्व का पुरुष गर्व है" किन्तु 'जुही की कली' जैसी उत्कृष्ट कोटि की श्रृंगारिक रचना इसी वृत्त में लिखी गयी है।

'निराला' द्वारा प्रस्तुत मुक्त छन्द का आधार कवित्त छन्द है। इसमें कवि को भावानुकूल चरणों के प्रसार की खुली छूट है। भाव की पूर्णता के साथ वृत्त भी समाप्त हो जाता है। आज तो मुक्त वृत्त काव्य-रचना का मुख्य छन्द हो गया है, पर अपनी विशिष्ट नादयोजना के कारण 'निराला' ने उसमें प्रभावपूर्ण संगीतात्मकता ला दी है। 'शेफालिका', 'जागो फिर एक बार', 'महाराज जयसिंह को शिवाजी का पत्र' आदि रचनाएँ इसी छन्द में लिखी गयी हैं। 'पंचवटी प्रसंग'—गीति नाट्य के लिए इससे अधिक उपयुक्त और कोई छन्द नहीं हो सकता था। ये समस्त रचनाएँ 'परिमल' के तृतीय खण्ड में संग्रहीत हैं।

'परिमल' के द्वितीय खण्ड की रचनाएँ स्वच्छन्द छन्द में लिखी गयी हैं, जिसे 'निराला' मुक्तगीत कहते हैं। इन गीतों में तुक का आग्रह तो है पर मात्राओं का नहीं। पन्त के 'आँसू', 'उच्छ्वास' और 'परिवर्तन' भी इसी छन्द में लिखे गये हैं।

'परिमल' के प्रथम खण्ड में सममात्रिक तुकान्त कविताएँ हैं। मुक्त वृत्तात्मक कविताएँ आख्यान प्रधान हैं तो मुक्तगीत चित्रण प्रधान और मात्रिक छन्द में लिखी गयी कविताओं में भाव और कल्पना की प्रधानता देखी जा सकती है। उनकी बहु-वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा का परिचय प्रारम्भ से ही मिलने लगता है—विशेष रूप से सड़ी-गली मान्यताओं के प्रति तीव्र विद्रोह तथा निम्नवर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति उनमें प्रारम्भ से दिखाई देती है।

छायावादी कवियों ने मुख्यतः प्रगीतों की रचना की। ये प्रगीत गेय तो होते हैं पर ये शास्त्रानुमोदित ढंग पर नहीं गाये जा सकते। नाद-योजना की ओर अधिक झुकाव होने के कारण 'निराला' ने नये स्वर ताल से युक्त गीतों की सृष्टि की। अंग्रेजी स्वर-मैत्री का प्रभाव बंगला के गीतों पर पड़ चुका था, उसके रंग-ढंग पर बंगला गीतों की स्वर लिपियाँ भी तैयार की गयीं। हिन्दी के कवियों में 'निराला' इस दिशा में भी अग्रसर हुए। उन्हें हिन्दी संगीत की शब्दावली और गाने के ढंग दोनों खटकते थे। इसके फलस्वरूप 'गीतिका' की रचना हुई।

इनके गीत गायकों के गीतों की भाँति राग-रागिनियों की रुढ़ियों से बँधे हुए नहीं हैं। उच्चारण का नया आधार लिये हुए सभी गीत एक अलग भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। इनके स्वर, ताल और लय अंग्रेजी गीतों से प्रभावित हैं। पियानो पर गाये जाने वाले धार्मिक गीतों की झलक इन गीतों में मिलती हैं। इसलिए इन गीतों की गायन-पद्धति और भावविन्यास में पवित्रता का स्पष्ट संकेत मिलता है। यद्यपि 'गीतिका' की मूल भावना श्रृंगारिक है फिर भी बहुत से गीतों में माधुर्य भाव से आत्मनिवेदन किया गया है। जगह-जगह मनोरम प्रकृति-वर्णन तथा उत्कृष्ट देश-प्रेम का चित्रण भी मिलता है। इस संग्रह की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें संगीतात्मकता के नाम पर काव्य-पक्ष को कहीं पर भी विकृत नहीं होने दिया गया है। १९३५ ई० से १९३८ ई० तक 'निराला' की काव्य-रचना को प्रौढ़काल कहा जा सकता है। इस बीच लिखी हुई कविताएँ 'अनामिका' में संगृहीत हैं। 'अनामिका' का प्रकाशन १९३८ ई० में हुआ। 'अनामिका' में संगृहीत अधिकांश रचनाएँ 'निराला' की उत्कृष्ट भाव-व्यंजना तथा कलात्मक प्रौढ़ता की द्योतक हैं। 'प्रेयसी', 'रेखा', 'सरोजस्मृति', 'राम की शक्तिपूजा' आदि उनकी श्रेष्ठतम् रचनाएँ हैं। 'सरोजस्मृति' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोक-गीत है तो 'राम की शक्तिपूजा' अप्रतिम महाकाव्यात्मक कविता। 'सरोजस्मृति' में करुणा की पृष्ठभूमि पर श्रृंगार, वात्सल्य, हास्य, व्यंग्य इत्यादि अनेक भावों का काव्यात्मक संगुम्फन किया गया है। नाटकीय गुणों से ओत-प्रोत होने के कारण वह और भी प्रभावपूर्ण हो उठी है। काव्य में कर्त्ता के जिस निर्लेप व्यक्तितव का महत्त्व टी० एस० इलियट ने स्थापित कियाहै, वह इस कविता में अपनी चरम ऊँचाई पर पहुँचा हुआ है। 'राम की शक्तिपूजा' में कवि का पौरुष और ओज चरमोत्कर्ष के साथ अभिव्यक्त हुआ है। महाकाव्य में भावगत औदात्य के अनुकूल कलागत औदात्य आवश्यक है। इस कविता में दोनों प्रकार की उदात्तताओं का नीर-क्षीर सम्मिश्रण हुआ है।

'तुलसीदास' में कथा की अपेक्षा चिन्तन का विस्तार अधिक है। इस प्रबन्ध में तुलसी के मानस पक्ष का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन परिवेश का पूरा सहारा लिया गया है। चित्रकूट कानन की अलौकिक छवि कवि की चिन्ताधारा का प्रथम प्रेरणा केन्द्र है। प्रकृतिका जो चित्र कवि के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है, उसके दो पक्ष हैं—प्रकृति का स्वयं का पक्ष और तत्कालीन समाज का निरूपण। कवि ने इन दोनों पक्षों का निर्वाह बहुत ही कुशलतापूर्वक किया है। भारत के सांस्कृतिक ह्रास के पुनरुद्धार की प्रेरणा तुलसी को प्रकृति के माध्यम से ही मिलती है। इसे देखकर उनकी अन्तर्वृत्तियाँ मन्थित हो उठीं। इन्हीं अन्तर्वृत्तियों का निरूपण पुस्तक की मूल चिन्ताधारा है। इस प्रबन्ध में भी उनके शिल्पी का रूप सहज ही भासित हो जाता है। छन्दों की बंदिश, रूपकों की विशद योजना, नवीन शब्द-विन्यास आदि उनके अपने हैं। पर इस ग्रन्थ में ऐसे शब्दों का व्यवहार भी हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से इसे दुरुह बना देते हैं। फिर भी जो लोग काव्य में बुद्धि-तत्त्व की अहमियत स्वीकार करेंगे, वे इसे निर्विवाद रूप से एक श्रेष्ठ रचना मानेंगे।

प्रौढ़ कृतियों की सर्जना के साथ ही 'निराला' व्यंग्यविनोद पूर्ण कविताएँ भी लिखते रहे हैं, जिनमें से कुछ 'अनामिका' में संगृहीत हैं। पर इसके बाद बाह्य परिस्थितियों के कारण, जिनमें उनके प्रति परम्परावादियों का उग्र विरोध भी सम्मिलित है, उनमें विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। 'निराला' और पन्त मूलतः अनुभूतिवादी कवि हैं। ऐसे व्यक्तियों को व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत प्रभावित करती हैं। इसके फलस्वरूप उनकी कविताओं में व्यंग्योक्तियों के साथ-साथ निषेधात्मक जीवन की गहरी अभिव्यक्ति होने लगी। 'कुकुरमुत्ता' तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रगतिवाद के विरोध में तर्क उपस्थित करने लगता है। उपालम्भ और व्यंग्य के समाप्त होते-होते कवि में विषादात्मक शान्ति आ जाती है। अब उनके कथन में दुनिया के लिए सन्देश भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन है और है साहित्यिक-राजनीतिक महापुरुषों के प्रशस्ति अंकन का प्रयास। 'अणिमा' जीवन के इन्हीं पक्षों की द्योतक है, पर इसकी कुछ अनुभूतियों की तीव्रता मन को भीतर से कुरेद देती है। 'बेला' और 'नये पत्ते' में कवि की मुख्य दृष्टि उर्दू और फारसी के बन्दों को हिन्दी में डालने की ओर रही है। इसके बाद के उनके दो गीत-संग्रहों—'अर्चना' और 'गीतगुंज' में कहीं पर गहरी आत्मानुभूति की झलक है तो कहीं व्यंग्योक्ति की। उनके व्यंग्य की बानगी देखने के लिए उनकी दो गद्य की रचनाओं 'कुल्लीभाँट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को भूला नहीं जा सकता।

सब मिलाकर 'निराला' भारतीय संस्कृति के द्रष्टा कवि हैं—वे गलित रुढ़ियों के विरोधी तथा संस्कृति के युगानुरूप पक्षों के उद्घाटक और पोषक रहे हैं। पर काव्य तथा जीवन में निरन्तर रुढ़ियों का मूलोच्छेद करते हुए इन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। मध्यम श्रेणी में उत्पन्न होकर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से मोर्चा लेता हुआ आदर्श के लिए सब कुछ उत्सर्ग करने वाला महापुरुष जिस मानसिक स्थिति को पहुँचा, उसे बहुत से लोग व्यक्तित्व की अपूर्णता कहते हैं। पर जहाँ व्यक्ति के आदर्शों और सामाजिक हीनताओं

में निरन्तर संघर्ष हो, वहाँ व्यक्ति का ऐसी स्थिति में पड़ना स्वाभाविक ही है। हिन्दी की ओर से 'निराला' को यह बलि देनी पड़ी। जाग्रत् और उन्नतिशील साहित्य में ही ऐसी बलियाँ सम्भव हुआ करती हैं—प्रति गामी और उद्देश्यहीन साहित्य मे नहीं। निराला की मृत्यु अक्टूबर १९६१ ई० में प्रयाग में हुई।

-सहायक ग्रन्थ—क्रान्तिकारी कवि 'निराला' : बच्चन सिंह, निराला की साहित्य-साधना : रामविलास शर्मा।

—ब० सिं०

सूर्यकांत शास्त्री—सरसवा जिला सहारनपुर में १५ जुलाई, १९०१ ई० को जन्म हुआ। पंजाब एवं आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए०, डी० फिल की उपाधि प्राप्त की तथा आक्सफोर्ड से डी० लिट्० की। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत-पाली विभाग के अध्यक्ष रहे। अब तक हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि में मौलिक या अनूदित पचास से अधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं। 'साहित्य मीमांसा' (१९४३ ई०), 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३० ई०), 'महात्मा गान्धी : ए क्रिटिकल स्टडी' (१९५० ई०), 'दि फ्लड लीजेण्ड इन संस्कृत लिटरेचर' (१९५१ ई०) आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं से उन्होंने कतिपय अनुवाद भी किये हैं। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण कार्य 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' है। इसमें राम चन्द्र शुक्ल के उपरान्त की गयी शोध-सामग्री का नियोजन तो हुआ ही है, साथ ही अंग्रेजी-साहित्य से यंत्र-तंत्र तुलना की भी चेष्टा की गयी है। इस इतिहास में भाषा का अलंकरण कभी-कभी मूल कथ्य को आच्छादित करता प्रतीत होता है। 'साहित्य मीमांसा' में काव्य शास्त्रीय समस्याओं को विद्यार्थियों के लिए उपस्थित किया गया है।

—दे० शं० अ०

सूर्यनारायण व्यास—जन्म ११ फरवरी १९०२। विद्याध्ययन काशी में। साहित्य, संस्कृति तथा ज्योतिष के क्षेत्रों में विशेष कार्य। कार्य-क्षेत्र बहुत समय से उज्जैन है, जहाँ महाकवि कालिदास से संबद्ध अध्ययनों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित करते रहे हैं। १९३७ में यूरोप-प्रवास। १९४२ तक राजनैतिक कार्यों में सक्रिय भाग लिया। विक्रम मासिक पत्र का संपादन। अनेक पुस्तकों तथा विविध विषयों पर निबंधों के लेखक। राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' तथा डी० लिट्० की मानद उपाधि से अलंकृत।

सेनापति—इस कवि की जन्म-तिथि अथवा मृत्यु-तिथि दोनों ही अज्ञात हैं। इनकी कृति 'कवित्त रत्नाकर' का रचनाकाल संवत् १७०६ वि० (सन् १६४९ ई०) है। यह ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ कृति है। इसके अनेक छन्दों से प्रतीत होता है कि कवि अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम चरण में था। अतः यदि इस रचना की समाप्ति के समय कवि की आयु ६०-६५ वर्ष मान ली जाय तो उसका जन्म-काल सन् १५८४-८८ ई० के आस-पास माना जा सकता है और मृत्यु भी सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चरण के लगभग हुई होगी।

सेनापति के जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त है। कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग के पाँचवें छन्द से ज्ञात होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था। यज्ञादिक करने के कारण वे जन-जीवन में प्रशंसापात्र बने थे। गंगा को धारण करने वाले शिव जी के समान ही गंगाधर नामक इनके पिता भी लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। पिता गंगाधर ने गंगा तट पर बसी हुई 'अनूप' (नगरी) को पाया था—'गंगा तीर बसति अनूप जिनि पाई है''। इस पंक्ति के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि अनूप नगरी (अनूपशहर ?) इनके पिता को किसी व्यक्ति से प्राप्त हुई थी।

जनश्रुति अनूपशहर (जिला बुलन्दशहर) को सेनापति का निवास स्थान मानती आ रही है। इस प्रसिद्धि के प्रकाश में उपर्युक्त पंक्ति का अभिधेयार्थ ग्रहण कर यही मानना आकर्षक प्रतीत होता है कि किसी राजा ने उनके पिता को अनूपशहर दिया होगा किन्तु इस प्रकार की धारणा भ्रमपूर्ण है। बुलन्दशहर गजेटियर (पृ० १४८) से ज्ञात होता है कि सन् १६१० ई० में अनूप सिंह बड़गूजरने बड़ी वीरता के साथ एक चीते का सामना करके मुगल सम्राट् जहाँगीर की प्राण रक्षा की थी और फलस्वरूप 'अनीराय सिंह दलन' की उपाधि के साथ ही अनूपशहर का परगना भी प्राप्त किया था। यह घटना कवित्त रत्नाकर' के रचना काल से ३९ वर्ष पूर्व की है। अतः कल्पना की जा सकती है कि अनूप सिंह बड़गूजर ने जहाँगीर से अनूपशहर प्राप्त करने के कुछ समय बाद ही उसे सेनापति के पिता गंगाधार को दे दिया होगा, लेकिन यह कल्पना भी असंगत है। बुलन्दशहर गजेटियर के अनुसार अनूपसिंह की सम्पत्ति उनसे पाँच पीढ़ी बाद, उनके वंशज अचलसिंह के तारासिंह तथा माधो सिंह नाम के दो बेटों में विभक्त हुई थी और इस बटवारे में तारासिंह को अनूपशहर मिला था। इस इत्तिवृत्त के प्रकाश में यह मानना असंगत जान पड़ता है कि सेनापति के पिता ने किसी से अनूपशहर की आबादी दानस्वरूप प्राप्त की होगी।

अनूपशहर सेनापति का जन्म-स्थान था। यदि यह जनश्रुति निराधार नहीं है तो ''गंगा तीर बसति अनूप जिनि पाई है'' का यही अर्थ लेना पड़ेगा कि गंगा तट पर बसने वाले अनूपशहर को जिन्होंने अपने निवास स्थान के रूप में प्राप्त किया था। इसके विपरीत यदि उपर्युक्त जनश्रुति निर्मूल है, तब तो उक्त पंक्ति का यही अर्थ करना पड़ेगा कि जिसके पिता गंगाधर ने गंगा-तट पर बसी हुई (किसी) अनुपम बस्ती को पाया था अथवा निवास-स्थान के रूप में पाया था।

'कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग के छन्द ५६ की पहली पंक्ति है—''सूर बली बीर जसुमति कौ उज्यारौ लाल, चित्त कौ करत चैन बैनहि सुनाई के''। 'सूर बली बीर' के पाठान्तर को देखते हुए इस पंक्ति में सूर्यबली, बलबीर अथवा बीरबल नामक किसी राजा की प्रशंसा मानी जायगी। हो सकता है कि इस प्रकार का उनका कोई संरक्षक रहा हो। मिश्र बन्धुओं का अनुमान है कि सेनापति का सम्बन्ध किसी मुसलमानी दरबार से था। 'कवित्त रत्नाकर' की पाँचवी तरंग के छन्द ३३ की अन्तिम पंक्ति—''चारि बरदानि तजि पाई कंम लेच्छन के' पाइक मलेच्छन के काहे को कहाइए''—के आधार पर ही सम्भवतः इस प्रकार का अनुमान किया गया है पर ऐसे कथन व्यक्तिगत न होकर के सामान्य रूप से अथवा किसी दूसरे को सम्बोधित करके भी कहे जा सकते हैं।

'परिमल' के प्रथम खण्ड में सममात्रिक तुकान्त कविताएँ हैं। मुक्त वृत्तात्मक कविताएँ आख्यान प्रधान हैं तो मुक्तगीत चित्रण प्रधान और मात्रिक छन्द में लिखी गयी कविताओं में भाव और कल्पना की प्रधानता देखी जा सकती है। उनकी बहु-वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा का परिचय प्रारम्भ से ही मिलने लगता है—विशेष रूप से सड़ी-गली मान्यताओं के प्रति तीव्र विद्रोह तथा निम्नवर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति उनमें प्रारम्भ से दिखाई देती है।

छायावादी कवियों ने मुख्यतः प्रगीतों की रचना की। ये प्रगीत गेय तो होते हैं पर ये शास्त्रानुमोदित ढंग पर नहीं गाये जा सकते। नाद-योजना की ओर अधिक झुकाव होने के कारण 'निराला' ने नये स्वर ताल से युक्त गीतों की सृष्टि की। अंग्रेजी स्वर-मैत्री का प्रभाव बंगला के गीतों पर पड़ चुका था, उसके रंग-ढंग पर बंगला गीतों की स्वर लिपियाँ भी तैयार की गयीं। हिन्दी के कवियों में 'निराला' इस दिशा में भी अग्रसर हुए। उन्हें हिन्दी संगीत की शब्दावली और गाने के ढंग दोनों खटकते थे। इसके फलस्वरूप 'गीतिका' की रचना हुई।

इनके गीत गायकों के गीतों की भाँति राग-रागिनियों की रुढ़ियों से बँधे हुए नहीं हैं। उच्चारण का नया आधार लिये हुए सभी गीत एक अलग भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। इनके स्वर, ताल और लय अंग्रेजी गीतों से प्रभावित हैं। पियानो पर गाये जाने वाले धार्मिक गीतों की झलक इन गीतों में मिलती हैं। इसलिए इन गीतों की गायन-पद्धति और भावविन्यास में पवित्रता का स्पष्ट संकेत मिलता है। यद्यपि 'गीतिका' की मूल भावना श्रृंगारिक है फिर भी बहुत से गीतों में माधुर्य भाव से आत्मनिवेदन किया गया है। जगह-जगह मनोरम प्रकृति-वर्णन तथा उत्कृष्ट देश-प्रेम का चित्रण भी मिलता है। इस संग्रह की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें संगीतात्मकता के नाम पर काव्य-पक्ष को कहीं पर भी विकृत नहीं होने दिया गया है। १९३५ ई० से १९३८ ई० तक 'निराला' की काव्य-रचना को प्रौढ़काल कहा जा सकता है। इस बीच लिखी हुई कविताएँ 'अनामिका' में संगृहीत हैं। 'अनामिका' का प्रकाशन १९३८ ई० में हुआ। 'अनामिका' में संगृहीत अधिकांश रचनाएँ 'निराला' की उत्कृष्ट भाव-व्यंजना तथा कलात्मक प्रौढ़ता की द्योतक हैं। 'प्रेयसी', 'रेखा', 'सरोजस्मृति', 'राम की शक्तिपूजा' आदि उनकी श्रेष्ठतम् रचनाएँ हैं। 'सरोजस्मृति' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोक-गीत है तो 'राम की शक्तिपूजा' अप्रतिम महाकाव्यात्मक कविता। 'सरोजस्मृति' में करुणा की पृष्ठभूमि पर श्रृंगार, वात्सल्य, हास्य, व्यंग्य इत्यादि अनेक भावों का काव्यात्मक संगुम्फन किया गया है। नाटकीय गुणों से ओत-प्रोत होने के कारण वह और भी प्रभावपूर्ण हो उठी है। काव्य में कर्त्ता के जिस निर्लेप व्यक्तितव का महत्त्व टी० एस० इलियट ने स्थापित कियाहै, वह इस कविता में अपनी चरम ऊँचाई पर पहुँचा हुआ है। 'राम की शक्तिपूजा' में कवि का पौरुष और ओज चरमोत्कर्ष के साथ अभिव्यक्त हुआ है। महाकाव्य में भावगत औदात्य के अनुकूल कलागत औदात्य आवश्यक है। इस कविता में दोनों प्रकार की उदात्तताओं का नीर-क्षीर सम्मिश्रण हुआ है।

'तुलसीदास' में कथा की अपेक्षा चिन्तन का विस्तार अधिक है। इस प्रबन्ध में तुलसी के मानस पक्ष का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन परिवेश का पूरा सहारा लिया गया है। चित्रकूट कानन की अलौकिक छवि कवि की चिन्ताधारा का प्रथम प्रेरणा केन्द्र है। प्रकृतिका जो चित्र कवि के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है, उसके दो पक्ष हैं—प्रकृति का स्वयं का पक्ष और तत्कालीन समाज का निरूपण। कवि ने इन दोनों पक्षों का निर्वाह बहुत ही कुशलतापूर्वक किया है। भारत के सांस्कृतिक ह्रास के पुनरुद्धार की प्रेरणा तुलसी को प्रकृति के माध्यम से ही मिलती है। इसे देखकर उनकी अन्तर्वृत्तियाँ मन्थित हो उठीं। इन्हीं अन्तर्वृत्तियों का निरूपण पुस्तक की मूल चिन्ताधारा है। इस प्रबन्ध में भी उनके शिल्पी का रूप सहज ही भासित हो जाता है। छन्दों की बंदिश, रूपकों की विशद योजना, नवीन शब्द-विन्यास आदि उनके अपने हैं। पर इस ग्रन्थ में ऐसे शब्दों का व्यवहार भी हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से इसे दुरुह बना देते हैं। फिर भी जो लोग काव्य में बुद्धि-तत्त्व की अहमियत स्वीकार करेंगे, वे इसे निर्विवाद रूप से एक श्रेष्ठ रचना मानेंगे।

प्रौढ़ कृतियों की सर्जना के साथ ही 'निराला' व्यंग्यविनोद पूर्ण कविताएँ भी लिखते रहे हैं, जिनमें से कुछ 'अनामिका' में संगृहीत हैं। पर इसके बाद बाह्य परिस्थितियों के कारण, जिनमें उनके प्रति परम्परावादियों का उग्र विरोध भी सम्मिलित है, उनमें विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। 'निराला' और पन्त मूलतः अनुभूतिवादी कवि हैं। ऐसे व्यक्तियों को व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत प्रभावित करती हैं। इसके फलस्वरूप उनकी कविताओं में व्यंग्योक्तियों के साथ-साथ निषेधात्मक जीवन की गहरी अभिव्यक्ति होने लगी। 'कुकुरमुत्ता' तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रगतिवाद के विरोध में तर्क उपस्थित करने लगता है। उपालम्भ और व्यंग्य के समाप्त होते-होते कवि में विषादात्मक शान्ति आ जाती है। अब उनके कथन में दुनिया के लिए सन्देश भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन है और है साहित्यिक-राजनीतिक महापुरुषों के प्रशस्ति अंकन का प्रयास। 'अणिमा' जीवन के इन्हीं पक्षों की द्योतक है, पर इसकी कुछ अनुभूतियों की तीव्रता मन को भीतर से कुरेद देती है। 'बेला' और 'नये पत्ते' में कवि की मुख्य दृष्टि उर्दू और फारसी के बन्दों को हिन्दी में डालने की ओर रही है। इसके बाद के उनके दो गीत-संग्रहों—'अर्चना' और 'गीतगुंज' में कहीं पर गहरी आत्मानुभूति की झलक है तो कहीं व्यंग्योक्ति की। उनके व्यंग्य की बानगी देखने के लिए उनकी दो गद्य की रचनाओं 'कुल्लीभाँट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को भूला नहीं जा सकता।

सब मिलाकर 'निराला' भारतीय संस्कृति के द्रष्टा कवि हैं—वे गलित रुढ़ियों के विरोधी तथा संस्कृति के युगानुरूप पक्षों के उद्घाटक और पोषक रहे हैं। पर काव्य तथा जीवन में निरन्तर रुढ़ियों का मूलोच्छेद करते हुए इन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। मध्यम श्रेणी में उत्पन्न होकर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से मोर्चा लेता हुआ आदर्श के लिए सब कुछ उत्सर्ग करने वाला महापुरुष जिस मानसिक स्थिति को पहुँचा, उसे बहुत से लोग व्यक्तित्व की अपूर्णता कहते हैं। पर जहाँ व्यक्ति के आदर्शों और सामाजिक हीनताओं

में निरन्तर संघर्ष हो, वहाँ व्यक्ति का ऐसी स्थिति में पड़ना स्वाभाविक ही है। हिन्दी की ओर से 'निराला' को यह बलि देनी पड़ी। जाग्रत् और उन्नतिशील साहित्य में ही ऐसी बलियाँ सम्भव हुआ करती हैं—प्रति गामी और उद्देश्यहीन साहित्य में नहीं। निराला की मृत्यु अक्टूबर १९६१ ई० में प्रयाग में हुई।

-सहायक ग्रन्थ—क्रान्तिकारी कवि 'निराला' : बच्चन सिंह, निराला की साहित्य-साधना : रामविलास शर्मा।

—ब० सिं०

सूर्यकांत शास्त्री—सरसवा जिला सहारनपुर में १५ जुलाई, १९०१ ई० को जन्म हुआ। पंजाब एवं आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए०, डी० फिल की उपाधि प्राप्त की तथा आक्सफोर्ड से डी० लिट्० की। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत-पाली विभाग के अध्यक्ष रहे। अब तक हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि में मौलिक या अनूदित पचास से अधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं। 'साहित्य मीमांसा' (१९४३ ई०), 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३० ई०), 'महात्मा गान्धी : ए क्रिटिकल स्टडी' (१९५० ई०), 'दि फ्लड लीजेण्ड इन संस्कृत लिटरेचर' (१९५१ ई०) आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं से उन्होंने कतिपय अनुवाद भी किये हैं। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण कार्य 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' है। इसमें राम चन्द्र शुक्ल के उपरान्त की गयी शोध-सामग्री का नियोजन तो हुआ ही है, साथ ही अंग्रेजी-साहित्य से यत्र-तत्र तुलना की भी चेष्टा की गयी है। इस इतिहास में भाषा का अलंकरण कभी-कभी मूल कथ्य को आच्छादित करता प्रतीत होता है। 'साहित्य मीमांसा' में काव्य शास्त्रीय समस्यओं को विद्यार्थियों के लिए उपस्थित किया गया है।

—दे० शं० अ०

सूर्यनारायण व्यास—जन्म ११ फरवरी १९०२। विद्याध्ययन काशी में। साहित्य, संस्कृति तथा ज्योतिष के क्षेत्रों में विशेष रुचि। कार्य क्षेत्र बहुत समय से उज्जैन है, जहाँ महाकवि कालिदास से संबद्ध अध्ययनों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित करते रहे हैं। १९३७ में यूरोप-प्रवास। १९४२ तक राजनैतिक कार्यों मे सक्रिय भाग लिया। विक्रम मासिक पत्र का संपादन। अनेक पुस्तकों तथा विविध विषयों पर निबंधों के लेखक। राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' तथा डी० लिट्० की मानद उपाधि से अलंकृत।

सेनापति—इस कवि की जन्म-तिथि अथवा मृत्यु-तिथि दोनों ही अज्ञात हैं। इनकी कृति 'कवित्त रत्नाकर' का रचनाकाल संवत् १७०६ वि० (सन् १६४९ ई०) है। यह ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ कृति है। इसके अनेक छन्दों से प्रतीत होता है कि कवि अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम चरण में था। अतः यदि इस रचना की समाप्ति के समय कवि की आयु ६०-६५ वर्ष मान ली जाय तो उसका जन्म-काल सन् १५८४-८८ ई० के आस-पास माना जा सकता है और मृत्यु भी सत्रहवी शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चरण के लगभग हुई होगी।

सेनापति के जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त है। कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग के पाँचवें छन्द से ज्ञात होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था। यज्ञादिक करने के कारण वे जन-जीवन में प्रशंसापात्र बने थे। गंगा को धारण करने वाले शिव जी के समान ही गंगाधर नामक इनके पिता भी लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। पिता गंगाधर ने गंगा तट पर बसी हुई 'अनूप' (नगरी) को पाया था—'गंगा तीर बसति अनूप जिनि पाई है"। इस पंक्ति के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि अनूप नगरी (अनूपशहर ?) इनके पिता को किसी व्यक्ति से प्राप्त हुई थी।

जनश्रुति अनूपशहर (जिला बुलन्दशहर) को सेनापति का निवास स्थान मानती आ रही है। इस प्रसिद्धि के प्रकाश में उपर्युक्त पंक्ति का अभिधेयार्थ ग्रहण कर यही मानना आकर्षक प्रतीत होता है कि किसी राजा ने उनके पिता को अनूपशहर दिया होगा किन्तु इस प्रकार की धारणा भ्रमपूर्ण है। बुलन्दशहर गजेटियर (पृ० १४८) से ज्ञात होता है कि सन् १६१० ई० में अनूप सिह बड़गूजरने बड़ी वीरता के साथ एक चीते का सामना करके मुगल सम्राट् जहाँगीर की प्राण रक्षा की थी और फलस्वरूप 'अनीराय सिह दलन' की उपाधि के साथ ही अनूपशहर का परगना भी प्राप्त किया था। यह घटना कवित्त रत्नाकर' के रचना काल से ३९ वर्ष पूर्व की है। अतः कल्पना की जा सकती है कि अनूप सिंह बड़गूजर ने जहाँगीर से अनूपशहर प्राप्त करने के कुछ समय बाद ही उसे सेनापति के पिता गंगाधार को दे दिया होगा, लेकिन यह कल्पना भी असंगत है। बुलन्दशहर गजेटियर के अनुसार 'अनूपसिंह की सम्पत्ति उनसे पाँच पीढ़ी बाद, उनके वंशज अचलसिंह के तारासिंह तथा माधो सिंह नाम के दो बेटों में विभक्त हुई थी और इस बटवारे में तारासिंह को अनूपशहर मिला था। इस इत्तिवृत्त के प्रकाश में यह मानना असंगत जान पड़ता है कि सेनापति के पिता ने किसी से अनूपशहर की आबादी दानस्वरूप प्राप्त की होगी।

अनूपशहर सेनापति का जन्म-स्थान था। यदि यह जनश्रुति निराधार नहीं है तो "गंगा तीर बसति अनूप जिनि पाई है" का यही अर्थ लेना पड़ेगा कि गंगा तट पर बसने वाले अनूपशहर को जिन्होंने अपने निवास स्थान के रूप में प्राप्त किया था। इसके विपरीत यदि उपर्युक्त जनश्रुति निर्मूल है, तब तो उक्त पंक्ति का यही अर्थ करना पड़ेगा कि जिसके पिता गंगाधर ने गंगा-तट पर बसी हुई (किसी) अनुपम बस्ती को पाया था अथवा निवास-स्थान के रूप में पाया था।

'कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग के छन्द ५६ की पहली पंक्ति है—"सूर बली बीर जसुमति कौ उज्यारौ लाल, चित्त कौ करत चैन बैनहिं सुनाई के"। 'सूर बली बीर' के पाठान्तर को देखते हुए इस पंक्ति में सूर्यबली, बलबीर अथवा बीरबल नामक किसी राजा की प्रशंसा मानी जायगी। हो सकता है कि इस प्रकार का उनका कोई संरक्षक रहा हो। मिश्र बन्धुओं का अनुमान है कि सेनापति का सम्बन्ध किसी मुसलमानी दरबार से था। 'कवित्त रत्नाकर' की पाँचवी तरंग के छन्द ३३ की अन्तिम पंक्ति—"चारि बरदानि तजि पाई कंम लेच्छन के' पाइक मलेच्छन के काहे को कहाइए"—के आधार पर ही सम्भवतः इस प्रकार का अनुमान किया गया है पर ऐसे कथन व्यक्तिगत न होकर के सामान्य रूप से अथवा किसी दूसरे को सम्बोधित करके भी कहे जा सकते हैं।

सेनापति प्रधानतया रामभक्त ही थे। 'कवित्त रत्नाकर' के तीन मंगलाचरण सम्बन्धी छन्दों से इस बात का संकेत मिलता है। इसकी चौथी तरंग में राम—चरित्र वर्णित है। अन्यत्र भी राम का वर्णन कवि ने बड़े उत्साह के साथ किया है। कुछ स्थलों पर कृष्ण तथा शिव पर लिखे गये छन्द भी मिलते हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार सेनापति ने 'क्षेत्र संन्यास' ले लिया था और उसके बाद वे वृन्दावन में ही रहते थे। पाँचवी तरंग के छन्द २१ के आधार पर ही क्षेत्र संन्यास की कल्पना की गयी जान पड़ती है—"सेनापति चाहत है सकल जनम भरि, वृन्दावन सीमा तें न बाहिर निकसिबो। राधा-मन—रंजन की सोभा नैनकंजन की, माल गरे गुंजन की कुंजन कौं बसिबौ।"

सेनापति के स्वाभिमान एवं उग्र व्यक्तित्त्व की स्पष्ट व्यंजना उनके काव्य में यत्र—तत्र देखी जाती है। वे आत्म सम्मान को ही विशेष महत्व देते थे—संकटापन्न होने पर भी दुर्जनों से याचना करना उन्हें असह्य था। निरादृत करने वाले व्यक्ति के प्रति वे काष्ठ से अधिक शुष्क बन सकते थे। सांसारिक आकर्षणों के कारण धैर्य खो देना तथाउनकी प्राप्ति के लिए लालायित रहना—उनके स्वभाव के प्रतिकूल था (दे० पाँचवीं तरंग, छन्द ४)। अपने श्लिष्ट काव्य की महत्ता द्योतित करने के लिए उन्होंने जगह—जगह गर्वोक्तियाँ की हैं। उनकी वाणी की मर्यादा इसी में है कि उससे विविध प्रकार के अर्थ बरबस निकलते चले आते हैं। भक्ति—भावना के क्षेत्र में भी यह स्वाभिमानी प्रकृति दैबी न रह सकी। यदि कर्मानुसार ही संसार में मोक्ष प्राप्ति सम्भव है और आराध्य देव की कृपा का उससे कोई संबंध नहीं है, तब कवि अपने को ही सृष्टिकर्ता क्यों न मान ले—"आपने करम करिहों ही निबहोंगो, तोब हों ही करतार, करतार तुम काहे के?" (तरंग ५, छन्द २९)।

काव्य—रूप की दृष्टि से भी सेनापति रीतिकाल के अधिक निकट पड़ते हैं। उनका ग्रन्थ स्फुट छन्दों का संग्रह है। चौथी तरंग में यद्यपि रामचरित का विस्तार किया गया है किन्तु कवि ने प्रारम्भ में ही कथा—क्रम को प्रणाम कर लिया है और रामचरित के कुछ प्रमुख स्थलों पर ही रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। रामचरित की व्यापकता में भी कवि ने प्रधान रूप से राम के शौर्य और उनकी भक्त—वत्सलता पर ही विशेष ध्यान दिया है। सीता—स्वयंवर, परशुराम तेजोभंग, सीताहरण, राम—रावण युद्ध आदि असाधारण पराक्रमपूर्ण व्यापारों का बहुत ही आवेगपूर्ण चित्रण तीसरी तरंग में मिलता है। कवि ने 'उत्साह' की मार्मिक व्यंजना कराने के लिए उपर्युक्त स्थलों को विशेष रूप से चुना है। राम के प्रति असीम भक्ति—भावना के होते हुए भी उसने प्रतिपक्षी रावण की महत्ता को घटाया नहीं है। उसने रावण को भी एक महान् योद्धा के रूप में चित्रित किया है। प्रतिपक्षी की महानता की समकक्षता में नायक के शौर्यपूर्ण कृत्यों की महत्ता और भी बढ़ जाती है। रस की अभिव्यंजना में इससे विशेष सहायता मिलती है। 'उत्साह' के अतिरिक्त भगवद्विषयक 'रति' तथा 'निरवेद' भाव का विशेष प्रभाव कवि पर है। राम के प्रति प्रगाढ़ भक्ति-भावना तथा संसार की नश्वरता के अनेकानेक मार्मिक चित्र कविकी कृति मेंबहुतायत से मिलते हैं। 'श्रंगार—रस की दृष्टि से लौकिक रतिभाव से भी कवि अत्यधिक प्रभावित है। उसकी दूसरी तरंग (श्रृंगार वर्णन) 'उद्दीपन विभाव' के अन्तर्गत रखी जा सकती है। आलम्बन विभाव में स्वभावतः नायक—नायिका भेद का विस्तार सर्वाधिक है। यद्यपि छन्दो के ऊपर विभिन्न शीर्षक नहीं दिये गये हैं, फिर भी उनसे स्पष्ट है कि कवि वयःसन्धि, खण्डिता तथा मुग्धा आदि के वर्णन प्रस्तुत कर रहा है। कवि के भावजगत् की सीमाएँ बहुत अधिक व्यापक भले ही न हों, उसने जिस सीमित क्षेत्र को चुना, उसके सम्यक् निर्वाह के लिए सामान्य कवियों से अधिक प्रखर प्रतिभा का परिचय उसने दिया है। उसके भाव-चित्रण में परम्पराभुक्त प्रणालियों का अन्धानुसरण नहीं है। साथ ही मौलिकता का भी ऐसा आग्रह नहीं है कि दूरारूढ़ कल्पनाओं में कवि की भाव—धारा उलझ जाय। इसीलिए उसके संयोग और वियोग के वर्णनों में सरस प्रवाह और प्रासादिकता है, श्लेष तथा अनुप्रास आदि का अतिशय आग्रह उसे कुछ अंशों मे कुण्ठित कर दे, यह बात तो दूसरी है।

सेनापति की मौलिकता का ज्वलन्त उदाहरण उनकी ऋतु सम्बन्धी रचनाएँ हैं। इनका मुख्य सौन्दर्य प्रकृति के विभिन्न व्यापारों के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है। साहित्यिक ग्रन्थों में बार—बार दोहराई गयी पिटी—पिटाई बातों के अनुकरण पर ही इनकी रचना नहीं की गयी है। भारतीय जलवायु में जाड़ा, गरमी और बरसात ये ही प्रधान तीन ऋतुएँ हैं। कवि ने इन तीनों का ही यथातथ्य चित्रण नहीं किया, वरन् इन तीनों की सन्धियों की ओर भी ध्यान दिया है, तभी उसकी रचनाओं में एक अद्वितीय आकर्ष है।

ब्रजभाषा के प्रचलित साहित्यिक तथा मौखिक रूपों से सेनापति का घनिष्ठ परिचय था, उनके श्लिष्ट छन्दों के चमत्कार का बहुत बड़ा श्रेय कवि के भाषाधिकारी को है। ऐसे स्थलों पर अन्य रीतिकारों ने प्रायः संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का अवलम्ब ग्रहण किया है किन्तु अप्रयुक्त संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के प्रयोग से भाषा की प्रासादिकता तथा गतिशीलता को क्षति पहुँचती है। सेनापति के अभंग तथासभंग श्लेष और यमक बहुत करके ब्रजभाषा की व्याकरणगत विशेषताओं के आधार पर निर्मित हैं। इसीलिए न तो उनमें अधिक क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है और न अर्थ जानने के लिए संस्कृत कोशों की शरण में जाना पड़ता है। कई बार शब्दों के अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ के आधार पर ही शब्दों से दोहरे अर्थ निकाले गये हैं। लक्ष्य प्रयोगें में व्यंग्यार्थ निहित रहता ही है। अतः कवि के श्लेष व्यंग्यगर्भित हो गये हैं। श्लिष्ट छन्द के दोनों अर्थ अभिधेयार्थ (प्रस्तुत) माने जाते हैं किन्तु कुछ स्थलों पर ऐसी प्रगल्भ भाषा का प्रयोग किया गया है कि उससे मार्मिक व्यंजनएँ भी होती हैं। राम तथा सूर्य का वर्णन करता हुए कवि कहता है—"सब विधि पूरौ सुरवर सभा रूरौ, यह दिन कर सूरौ उतराय न चलत है"। रविवंशी राम, सब प्रकार से समर्थ तथा देवसभा में मुकुटमणि होते हुए भी अहंभावी नहीं है, जबकि उत्तम किरणें से संयुक्त दिन करने वाला श्रेष्ठ सूर्य सब प्रकार से पूर्ण होतो हुआ भी ग्रीष्म ऋतु में उत्तरायण चला जाता है। यहाँ पर राम प्रस्तुत (उपमेय) हैं तथा सूर्य अप्रस्तुत (उपमान) है। दोनों की तुलना करने पर राम उपमेय में सूर्य उपमान की अपेक्षा उत्तरायण जाने का—लोगों के लिए कष्टप्रद होने का—दुर्गुण नहीं है। अतः उद्धृत पंक्ति में अतिरेक ध्वनि है। भाषा की व्यंजकता का ऐसा चमत्कार कुछ अन्य स्थलों पर भी

पाया जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—कवित्त रत्नाकर (भूमिका) : सं० उमाशंकर शुक्ल।]

—उ० शं० शु०

सेल्यूकस—सिकन्दर का प्रमुख सेनापति था, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा। महत्त्वाकांक्षा वश उसने ३५० ई० पू० भारत पर आक्रमण किया था किन्तु उस समय के गुप्त शासक चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर दिया। सेल्यूकस ने अन्त में सन्धि कर ली तथा उसे बलूचिस्तान से लेकर हिरात तक का प्रदेश दे दिया। सेल्यूकस ने अपनी पुत्री हेलेन का चन्द्रगुप्त के साथ विवाह कर दिया (दे० चद्रगुप्त)।

—रा० कु०

सेवक—ये ठाकुर असली वाले के पौत्र थे और काशी के रईस हरिशंकर के आश्रय में रहते थे। इनका जन्म १८१५ ई० में और मृत्यु १८८१ ई० में हुई। इन्होंने नायिका—भेद विषय पर एक 'वाग्विलास' नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका बरवै छन्द में 'नख—शिख' नामक एक छोटा ग्रन्थ भी है। इनके सवैया जनसाधारण में प्रचलित हैं।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०]

—सं०

सेवकजी (दामोदरदास)—सेवक (दामोदरदास) हित हरिवंश की वाणी का मर्मोद्घाटन करने वाले परम भक्त कवि थे। इनका जन्मस्थान मध्यप्रदेश का गढ़ा नामक गाँव है, जहाँ संवत् १५७७ (सन् १५२० ई०) के आस पास इनका जन्म हुआ। भगवत मुदित, उत्तमदास और प्रियादास ने सेवकजी का चरित्र बड़े विस्तार से लिखा है। भगवत मुदित ने लिखा है कि सेवकजी रसिक वृत्ति के भक्त थे और दैनिक कार्य कलाप से अवकाश पाते ही हरिसेवा में लीन हो जाते थे। भगवद्भक्ति में इन्हें गुरू का अभाव खटकता था। इनकी इच्छा ऐसे गुरू को प्राप्त करने की थी जो सच्चा मार्ग बता सके। संयोग से ब्रजमण्डल के कुछ साधु महात्मा भ्रमण करते गढ़ा में पहुँचे। उनके मुख से हित हरिवंश का नाम सुनकर उन्हें इन्होंने अपना गुरू बनाना निश्चय किया। स्वप्न में इन्हें हित हरिवंश के दर्शन हुए और उनसे ही उन्होंने दीक्षा मन्त्र ग्रहण किया।

सेवक जी की वाणी को राधावल्लभीय सम्प्रदाय में बहुत बड़ा सम्मान प्राप्त है। उनकी वाणी हित चौरासी की पूरक वाणी मानी जाती है। "चौरासी अरू सेवक वाणी, इक संग लिखत पढ़त सुखदानी" के अनुसार दोनों को एक साथ ही लिखा और छापा जाता है। हित चौरासी के मर्मको समझने के लिए 'सेवक वाणी' टीका, भाष्य, व्याख्या सब कुछ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के तैंतीस महात्माओं ने 'सेवक वाणी' का माहात्म्य लिखा है। सम्पूर्ण 'सेवक वाणी' सोलह प्रकरणों में विभाजित है। इन प्रकरणों में सैद्धान्तिक भावना के साथ व्यावहारिक उपदेश के भी प्रकरण हैं। कलियुग के आचरण को देखकर कच्चे धर्मी और पाके धर्मी प्रकरणों में अनेक उपयोगी बातें मिलती हैं।

हित धर्म के सच्चे अनुयायियों में सेवकजी का स्थान मूर्धन्य कोटिका है। पर धर्म से दूर रहकर "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" का उपदेश सेवक जी ने बारम्बार दिया है।

सेवकजी भक्त कोटि के वाणीकार थे। जिस उच्च धार्मिक और आध्यात्मिक धरातल पर अवस्थित होकर वे अपनी वाणी द्वारा भाव—व्यंजना करने में लीन हुए थे, वह काव्य का स्वाभाविक धरातल नहीं कहा जा सकता। फिर भी सहज आत्माभिव्यक्ति जब अपनी हार्दिकता और प्राणवत्ता के साथ बाहर आती है, तब अनेकानेक आलंकारिक उपकरण स्वयं एकत्र कर लेती है। उसे अनलंकृत कहने का कोई साहस नहीं कर सकता। 'सेवक वाणी' की प्रभविष्णुता का कारण उसमें व्याप्त सहजता और प्रखरता ही है।

'सेवक वाणी' में ब्रजभाषा की बुन्देलखण्डीमिश्रित धारा दृष्टिगत होती है। कहीं—कहीं अवधी का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। गाथा छन्द में सेवकजी ने अपभ्रंश की प्रकृति का अनुसरण किया है। कहीं—कहीं संस्कृत के छन्दों का हिन्दी में उसी रूप में प्रयोग किया है, जैसे रासोकार ने किया है। 'सेवक वाणी' कला की दृष्टि से भी अच्छी रचना है।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक; गोस्वामी हितहरिवंश और उनका सम्प्रदाय : ललिता चरण गोस्वामी।.

—वि० स्ना०

सेवादास—इस नाम के कई कवियों का पता लगा है प्रथम और द्वितीय त्रैवार्षिक खोज—रिपोर्टों से एक ऐसे सेवादास की सूचना मिलती है, जो मलूकदास के शिष्य थे और जिनका समय था १७ वीं शती का उत्तरार्द्ध। इनमें इस कवि की तीन रचनाएँ बताई गयी हैं—(१) 'सेवादास की बानी', (२) 'परमार्थ रमैनी' और (३) 'परब्रह्मकी बारामासी'। इसी प्रकार पंजाब के हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ की खोज—रिपोर्ट (सं० ९९) में एक ऐसे सेवादास की चर्चा की गयी है, जो निरंजन मतावलम्बी और दीदवाना (जोधपुर) के स्वामी हरिदास के शिष्य तथा सन् १५४० ई० के लगभग (१) 'गुरु मन्त्र योग', (२) 'कुण्डलिया', (३) 'नाम महात्म्य योग', (४) 'पद' (५) 'सेवादास ग्रन्थमाला' नामक ग्रन्थों के रचयिता थे।

तृतीय त्रैवार्षिक खोज—रिपोर्ट से 'करुणा विरह प्रकाश' नामक ग्रन्थ के रचनाकर एक ऐसे सेवादास का पता लगता है, जिन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना अयोध्या में ही रहकर की थी। इस कृति का रचनाकाल है सन् १७६४ ई०। 'सृष्टिपुराण' संज्ञक एक गद्य—सिद्धान्त ग्रन्थी के रचयिता भी कोई सेवादास कहे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों के पन्द्रहवें खोज—विवरण से एक अन्य सेवादास की सूचना मिलती है, जिसका रचनाकाल सन् १७८३ ई० था और जिसने 'अलबेलेलाल जूके छप्पय,' 'रघुनाथ अलंकार', 'नख—शिख वर्णन' और 'रसदर्पण' जैसे रीति काव्य ग्रन्थों की रचना भी की थी। ये अलबेलेलाल के शिष्य थे। इनमें सभी ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ गोकुल (मथुरा) के मायाशंकर याज्ञिक के यहाँ सुरक्षित पाई गयी हैं। 'अलबेलेलाल जूके छप्पय' नामक ग्रन्थ में कवि ने श्री कृष्ण की शोभा—मधुरी का बड़ा ही मोहक और चटकदार वर्णन किया है। काव्य की दृष्टि से ये छप्पय बड़े ही उत्कृष्ट हैं। कवि की भक्ति—भावना मिश्रित भाव गरिमा की सुन्दर अभिव्यंजना इन छप्पय छन्दों में हुई है। 'रघुनाथ अलंकार' (लगभग सन् १७८३) नामक रचना में कवि ने उपमा रूपकादि लगभग समस्त प्रमुख अलंकारों का वर्णन बड़े

ही सुन्दर उदाहरणों द्वारा किया है। इस ग्रन्थ के उदाहरणो को देखकर यह समझने में देर नहीं लगती कि कवि का काव्य कौशल कितना पुष्ट और प्रगाढ़ था। भाव गरिमा के साथ-साथ कलागत वैशिष्टचकी पूरी-पूरी रक्षा की गयी है। कवि की सभी रचनाओं से भक्ति भावना की अभि व्यक्ति होती है। भक्ति काव्य सृजन की प्रेरणा के रूप में अधिक आयी है। 'नख शिख वर्णन' में भी कवि अलंकार अथवा रीतिवादी और भक्त दोनों ही रूपों में सामने आता है। कवि का चौथा और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'रसदर्पण' (रचनाकाल लगभग १७८३ ई०)। इसमें कवि ने नव रसों का सोदाहरण वर्णन किया है। कवित्व और आचार्यत्व दोनों ही दृष्टियों से उक्त कविका पूर्ववर्ती रीतिकालीन कवियों में विशेष स्थान है। कवि ने छप्पय के साथ कवित्त और सवैया को भी अधिकाधिक अपनाया है।

[सहायक ग्रन्थ-मि० वि०;खो० वि० (त्रै १, २, ३, १३, १५) ; हि० ह० पं० खो० वि०।]

—रा० त्रि०

सेवासदन—'सेवासदन' (१९१६ ई०) उपन्यास में प्रेमचन्द ने नारी-समस्या उठाई है। भारतीय नारी की निस्सहायावस्था, पराधीनता और पशुओं जैसी स्थिति पर उन्होंने प्रकाश डाला है। साथ ही समाज के धर्माचार्यों, मठाधीशों, धनपतियों, सुधारकों आदि के आडम्बर, दम्भ और ढोंग तथा चरित्रहीनता, दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, पुलिस की घूसखोरी, वेश्यागमन, हिन्दू समाज की कथनी और करनी में अन्तर और उसका खोखलापन, विवाह के समय धन का अपव्यय, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता, म्युनिसिपैलिटी के कारनामें, अधिकार-भोग, भारत की दरिद्रता आदि को भी उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया है। यह एक समाज सुधारवादी उपन्यास है और उसकी कथा को यदि प्रधानतः दारोगा कृष्णचन्द्र के परिवार की कथा कहें तो अनुचित न होगा। उसका सम्बन्ध मध्यवर्ग से है। प्रेमचन्द ने समाज के भग्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है। समस्याएँ भावनात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी हैं। नारी-जीवन की समस्या मूलतः आर्थिक है। प्रेमचन्द के इस उपन्यास में निहित दृष्टिकोण के अनुसार स्त्रियों को चतुर गृहिणी बनने और सुशिक्षा प्राप्त करने की ओर ध्यान देना चाहिए, न कि भोग विलास, इच्छाओं और लालसाओं की वृद्धि की ओर। ईश्वर यदि स्त्रियों को सुन्दरता दे तो धन से वंचित न रखे क्योंकि धनहीन सुन्दर स्त्री पर दुर्व्यसन का मन्त्र शीघ्र ही चल जाता है। मन्त्र से रक्षा आत्मबल और सन्तोष द्वारा हो सकती है।

दारोगा कृष्णचन्द्र और उनकी पत्नी गंगाजली की सुमन और शान्ता नामक दो पुत्रियाँ हैं। दारोगा कृष्णचन्द्र ईमान दारी से कार्य करते थे, कभी घूस न लेते थे। वे निःस्पृह भाव से कर्त्तव्य पालन करते थे। वे निर्लोभ थे किन्तु बच्चों और पत्नी के आराम के लिए किफायतशारी न करते थे। उनकी बड़ी लड़की सुमन में बचपन से ही श्रृंगार प्रियता थी। वह सुन्दर, चंचल, अभिमानिनी और सबसे बढ़चढ़ कर रहने की इच्छा रखने वाली लड़की थी। जब कृष्णचन्द्र को उसके विवाह की चिन्ता हुई तो दहेज एक बड़ी भारी बाधा सिद्ध हुई। उसे दूर करने के लिए उन्होंने घूस लेने की ठनी। इसी समय श्री बाँकेबिहारी लाल के महन्त, जागीर दार और साहूकार रामदास के मुस्टंडो द्वारा चेतू नामक असामी की हत्या के मामले को वे रिश्वत लेकर रफादफा कर देते हैं। रिश्वत लेने की आदत न होने के कारणवे अपने मातहतों को खुश न कर सके। फलतः भण्डाफोड़ हो गया और उन्हें पाँच साल का कारावास दण्ड भुगतना पड़ा। उनकी पत्नी दोनों लड़कियों को लेकर अपने भाई उमानाथ के यहाँ जाकर रहने लगी। मामा ने सुमन का विवाह पन्द्रह रूपया मासिक वेतन पाने वाले गजाधर के साथ कर दिया। यह विवाह सभी प्रकार से बेमेल था अवस्था, रूचि-अरूचि, स्वभाव आदि की दृष्टि से।

गजाधर और सुमन की थोड़े दिन तक तो चैन से कटी किन्तु एक ओर तो कृपणता थी, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण का अभाव था, दूसरी ओर अतृप्त आकांक्षाएँ थी। फलतः संघर्ष होना अनिवार्य था। सामने रहने वाली भोली वेश्या के ठाटबाट, आदर-सम्मान आदि ने सुमन की अतृप्त आकांक्षाओं और लालसाओं को उत्तेजित करने की दृष्टि से आग में घी का काम किया। भोली दुनिया देखे हुए थी। ताड़ गयी। उसने चारा डालना शुरू किया। कुछ प्रारम्भिक संकोच के बाद चिड़िया अड्डे पर जा बैठी। इससे पति पत्नी में और भी तनातनी रहने लगी। प्रेम और परिश्रम से सुमन के हृदय पर विजय-प्राप्त न कर सकने के कारण गजाधर शासनाधिकार चाहता था। उसे सुमन पर विश्वास भी न रह गया था।

इसी बीच में सुमन की मित्रता पद्मसिंह वकीलकी पत्नी सुभद्रा से स्थापित हो गयी। वह उनके घर आया-जाया करती थी। पद्मसिंह बहुत ही सज्जन व्यक्ति थे किन्तु चुंगी के चुनाव में जीत जाने के उपलक्ष्य में जब उन्होंने भी अपने घर में भोली का मुजरा कराया तो एक ओर तो सुमन पर उसका रंग और भी गहरा हो गया और दूसरी ओर जब वह घर देर से पहुँची तो गजाधर ने उसके चरित्र को अविश्वास की दृष्टि से देखकर उसे घर से निकाल दिया। उसने अपनी सहेली सुभद्रा के घर आश्रय लिया तो गजाधर ने पद्मसिंह को बदनाम करना शुरु किया। परिणाम यह हुआ कि बदनामी के डर से पद्मसिंह ने उसके अपने घर में रहने पर आपत्ति की। सुमन के लिए भोली के यहाँ आश्रय लेने के अतिरिक्त अब और कोई चारा न रह गया था। यहीं से उसका वेश्या जीवन प्रारम्भ होता है। उसने दालमण्डी में कोठा ले लिया। वास्तव में उसका वेश्या जीवन ग्रहण करना अपनी असहायावस्था और आर्थिक कष्टों के फलस्वरूप था। उसने अपना शरीर नहीं बेचा था।

सुमन के वेश्या-जीवन ग्रहण कर लेने का पता लगने पर पद्मसिंह वकील को अत्यन्त दुःख हुआ। उसके पतन का मूल कारण अपने को ही समझकर वे आजन्म आत्म-ग्लानि से पीड़ित रहे। उन्होंने अपने मित्र विट्ठलदास की सहायता से उसका उद्धार करने की सोची। विट्ठलदास ने इस बात की कोशिश की कि सुमन को कोई काम मिल जाय ताकि वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर रहकर सम्मान के साथ अपना जीवन यापन कर सके किन्तु इस दृष्टि से उन्हें निराश होना पड़ा। पद्मसिंह ने भी रमेशदत्त, प्रभाकर राव, भगतराम, रूस्तम भाई आदि की सहायता से वेश्याओं के उद्धार के लिए आन्दोलन चलाया। इसी बीच में अपने बड़े भाई मदनसिंह की फैशनरस्त, चंचल-चित्त और शिक्षा विमुख पुत्र सदनसिंह

यौवन काल की दुर्वासनाओं के वशीभूत हो सुमन के यहाँ पहुँचता है। किन्तु सदनसिंह के प्रति उसके हृदय में प्रेम की कल्पनाएँ उमड़ने लगती हैं और वह उसका जीवन नष्ट करना नहीं चाहती। पद्मसिंह अपने भतीजे का जीवन सुधारने के लिए वेश्यागमन की प्रथा मिटाने के लिए और भी कटिबद्ध हो जाते हैं। कहीं सफलता प्राप्त होते न देखकर विट्ठलदास अपने साहस के बल पर सुमन को विधवाश्रम में ले जाता है।

उधर उमानाथ ने सुमन की छोटी बहन शान्ता का विवाह सदन सिंह से पक्का कर दिया। सदन सिंह का पिता रूढ़िवादी था। उसे जब पता चला कि शान्ता की बहन सुमन वेश्या है तो वह बारात वापस लेआया। सुमन का पिता जब जेल से लौटकर आया तो विक्षिप्तों की भाँति जीवन व्यतीत करने लगा। बारात लौट जाने पर जब उसे सुमन के वेश्या जीवन का हाल मालूम हुआ तो जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष करता हुआ वह अन्त में गंगा में डूबकर जीवन लीला समाप्त कर देता है। सुमन के वेश्या बनने का उत्तरदायित्व अपनी असज्जनता और निर्दयता पर समझकर गजाधर गजानन्द नाम से साधु बनकर आत्म परिष्कार की चेष्टा करता है। एक बार जब सुमन गंगा में डूबने जा रही थी तो उसने उसके चरणों पर गिरकर क्षमा याचना की। वास्तव में अब उसमें उच्च भावों का उदय होगया। पद्मसिंह और विट्ठलदास शान्ता को भी सुमन के साथ विधवाश्रम में ले आये, जिस पर प्रतिक्रियावादियों ने बड़ा शोरगुल मचाया। यहाँ प्रेमचन्द ने म्युनिस्पैलिटी पर भी व्यंग्य प्रहार किया है। सदन सिंह शान्ता के यहाँ से बारात वापस ले आने का पहले से ही विरोधी था। अनेक व्याख्यान सुन और लेख पढ़ने के बाद वह वेश्या गमन का विरोधी भी हो गया था और उनका उद्धार भी करना चाहता था। उसमें भी शुद्ध—पवित्र भावों का उदय हुआ। शान्ता को लेकर सुमन जब आश्रम छोड़कर नाव से नदी पार कर रही थी तो उसने उन्हें रोककर शान्ता से विवाह कर लिया किन्तु थोड़े ही दिनों में वे दोनो सुमन से उदासीन रहने लगे। मल्लाहों को जब सुमन के वेश्या होने की बात मालूम हुई तो उन्होंने सदन का बहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया। इन बातों से सुमन को मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। शान्ताके पुत्र होने पर जब सदन के माता—पिता आये तो सुमन को सदन की कुटी भी छोड़ देनी पड़ी।

कुटी छोड़कर जब उसे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई दे रहा था, उस समय ईश्वर ने उसके हृदय को दृढ़ता प्रदान की। वह निर्भय हो गयी। इस संकट में पड़ कर उसमें आत्म विचार और सदिच्छा जाग्रत हो गयी। वह अपने साधु पति की कुटी में पहुँचकर सेवा मार्ग ग्रहण करती है, जिससे वह अपना ही नहीं, समस्त पीड़ित स्त्री जाति का उद्धार कर सकती थी। यह उसके जीवन का प्रभात था—सुहावना, शान्तिमय और उत्साहपूर्ण। उसने सेवा सदन संचालित किया। एक बार पद्मसिंह अपनी पत्नी सुभद्रा सहित उधर से निकले। सुभद्रा तो आश्रम देखने आयी किन्तु पद्मसिंह आत्मग्लानि के कारण न आ सके। सुमन नीचे गिरकर भी ऊपर उठी। उसके जीवन में पवित्रता की ज्योति जगमगाने लगी।

—ल० सा० वा०

सोफिया—प्रेमचन्दकृत उपन्यास 'रंगभूमि' की पात्र। धार्मिक स्वच्छन्दता, देवोपम त्याग, उन्नत हृदय, सिद्धान्तप्रिय, आनपर जान देने वाली, व्रतधारिणी, आदर्शवादिनी और विचारशीला सोफिया वास्तव में प्रेम-योगिनी है। वह विनय के प्रेम को अपने जीवन का वरदान समझती है—जैसे उसे जीवन का लंगर मिल गया हो। साथ ही वह विनय के कर्त्तव्य-पथ में बाधक बनना नहीं चाहती। सोफी प्रेम को बन्धन के रूपमें नहीं, आत्म-बलिदान की आधारशिला के रूप में देखती है। विनय के प्रेम के वशीभूत होकर ही वह क्लार्क के साथ प्रेमाभिनय और विडम्बनापूर्ण जीवन व्यतीत करती है। अपने अभिनय को वह बराबर नैतिक और मानसिक पतन समझती रही। इस दुस्सह मर्माघात को वह जाह्नवी के कारण सहन कर लेती है। सोफिया सदैव इस बात के लिए सचेष्ट रहती है कि वह जाह्नवी की शंका को निर्मूल सिद्ध कर दे। अन्त में उसकी आत्माकी पवित्रता ने जाह्नवी को मुग्ध भी कर लिया। विनय के प्रति उसकी कठोरता ने माता की न्याय भावना जाग्रत कर दी। तब भी धर्म सम्भवतः दोनोंके बीच में खाई बना हुआ था। विनय की मृत्यु के बाद उसे ऐसा लगा, जैसे एक नर-रत्न को धर्म की पैशाचिक क्रूरता पर बलिदान कर दिया गया हो। उसके बाद प्रेमानुराग की स्मृति मात्र सँजोये हुए वह गंगा में डूबकर प्राणान्त कर देती है। वास्तव में विनय को खोकर उसे जीवन में कोई रुचि न रह गयी थी। पिता की व्यावसायिकता और माता की साम्प्रदायिकता के प्रति तो उसे पहले से ही कोई आकर्षण नहीं था।

—ल० सा० वा०

सोमनाथ—सोमनाथ मिश्र विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे। इनका दूसरा नाम शशिनाथ भी है। ये गंगाधर मिश्र के अनुज और नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र थे। इनका वंश छिरोरा वंश के माथुर ब्राह्मण तथा प्रसिद्ध नरोत्तम मिश्र के परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि ये जयपुर नरेश महाराज रामसिंह के मन्त्र गुरु थे। इनके जन्मस्थान और काल के विषय में कुछ निश्चित रूप से पता नहीं चलता किन्तु इनकी कृतियों से इनका कविताकाल सन् १७३३ से सन् १७५३ ई० ठहरता है। सोमनाथ भरतपुर के महाराज बदनसिंह के छोटे पुत्र प्रतापसिंह के आश्रित कवि थे और जैसा कि इस दोहे—"कही कुँवर परताप ने सभा मध्य सुखपाय। सोमनाथ हमको सरस पोथी देउ बनाय।"—से पता चलता है कि उन्हीं के आग्रह पर इन्होंने अपने प्रसिद्ध रीतिग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' (दे०) की रचना सन् १७३७ ई० में की। यह काव्यशास्त्र पर एक पूर्ण ग्रन्थ है। इस बृहत् ग्रन्थ मे छन्द, काव्य प्रयोजन, ध्वनि, रस तथा अलंकार आदि का वर्णन है। दूसरे ग्रन्थ 'श्रृंगार विलास' में (हस्तलिखित प्रति याज्ञिक संग्रहालय में) श्रृंगार रस तथा नायिका भेद की सामग्री है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके तीन ओर ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं।—'कृष्णलीला पंचाध्यायी' (सन् १७४३ ई०), 'सुजान विलास' (सिंहासन बत्तीसी पद्य प्रबन्ध सन् १७५० ई०)' 'माधव विनोद नाटक' (प्रेम-प्रबन्ध सन् १७५२ ई०)।

इन ग्रन्थोंको देखने में उनकी चतुर्विध प्रतिभा के दर्शन होते हैं। जहाँ 'रसपीयूषनिधि' में उनका शास्त्रीय ज्ञान, उनकी विलक्षण विवेचना शक्ति का परिचय मिलता है, वहीं 'सुजान विलास' और 'माधव विनोद' में वे हिन्दी के प्रबन्ध कवि के रूप में अवतरित होते हैं।

सोमनाथ का स्थान रीतिकाल के कवियों में महत्त्व का है। कवित्व की दृष्टि से मतिराम तथा देव के समान भाव-व्यंजक कवि हैं। इनमें उक्ति-वैचित्र्य के स्थान पर सहृदयता अधिक है। ध्वनि-समन्वित श्रृंगार-रस की अभिव्यक्ति में विशेष सफलता मिली है। इनके काव्य में मतिराम जैसा प्रसाद तथा उत्साह है और भूषण जैसी ओजस्विता भी पाई जाती है। कल्पना-वैभव की दृष्टि से ये किसी भी श्रेष्ठ रीतिकाल के कवि के समकक्ष हैं पर इनमें भावात्मक अभिव्यक्ति की सरलता सर्वत्र बनी रही है। इसके बावजूद सोमनाथ में भाषा का संगीत तथा निखार अन्य प्रतिष्ठित कवियों से कम है। ये मुक्तक कविताओं में भी अपनी मार्मिकता और प्रसाद पूर्ण व्यंग्य के कारण प्रसिद्ध हैं। कविता ये 'ससिनाथ' के नाम से लिखते हैं। 'रसपीयूषनिधि' में कहीं-कहीं व्याख्या के रूप में इन्होंने ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी किया है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० इ०; हि० सा० बृ० इ०; (भा० ६) हि० का इ०।]

—ह० मो० श्री०

सोमनाथ गुप्त—जन्म १९०५ ई० में अमरोहा (उत्तर प्रदेश) में हुआ। शिक्षा प्रयाग तथा आगरा विश्वविद्यालय में हुई। राजस्थान में अनेक वर्षों तक हिन्दी के प्राध्यापक रहे। नाटक के सम्बन्ध में किया गया आपका कार्य उल्लेखनीय है, जो 'हिन्दी नाटक का इतिहास' नाम से १९५० ई० में प्रकाशित हुआ।

—सं०

सोरठी—सोरठी की लोकगाथा को 'रोमाण्टिक बैलड' कहा जा सकता है। अन्य लोकगाथाओं से इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें 'रोमांस' का पुट प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। सोरठी की गाथा को सुनकर हृदय में आश्चर्य एवं अद्भुत रस का संचार होता है। जादू-टोने का अलौकिक प्रभाव तथा विमान (उड़न-खटोला) द्वारा अमरपुरी की यात्रा के इसमें अनेक दृश्य पाये जाते हैं।

सोरठपुर देश के राजा दक्ष सिंह थे, जिनकी रानी का नाम कमलावती था। इनकी पुत्री सोरठी थी, जो अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण लोकप्रसिद्ध थी। जन्म लेते ही सोरठी में अलौकिक गुण दिखाई पड़ने लगे परन्तु ज्योतिषियों ने राजा को बतलाया कि इसके जन्म के ग्रह ऐसे बुरे हैं कि आपका राज्य नष्ट हो जायगा। अतः राजा ने काठ के बक्स के अन्दर सोरठी को रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया। उसके अलौकिक रूप सौन्दर्य को देखकर दर्शक मुग्ध हो जाते थे। केंका नामक कहार ने बक्स में बहती हुई सोरठी को पकड़ लिया और बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन किया। सोरठी जब बड़ी हुई, तब दक्ष सिंह को इस घटना का पता चला। वे सोरठी को घर ले आये और उसके विवाह के लिए स्वयंवर रचाया। इस समय दक्षिण देश में राजा टोडरमल सिंह राज्य करते थे, जिनकी रानी सुनयना थीं। इन्हीं का पुत्र बृजभान था, जो बड़ा ही रूपवान् युवक था। सुप्रसिद्ध मत्स्येन्द्र नाथ (मछन्दरनाथ) ने इसे अपना चेला बनाया। हेवन्तपुर के राजा का नाम हेवंचल था, जिसकी लड़की हेवन्ती बड़ी रूपवती थी। जब इसका स्वयंवर रचा गया, तब बृजभान मोढी का रूप धारण कर वहाँ पहुँचा। हेवन्ती ने इसी के गले में जयमाल डाल दी। इस प्रकार हेवन्ती और बृजभान का विवाह हो गया। कोहबर में जाते समय देव कन्या तथा सोरठी ने यह प्रतिज्ञा करा ली कि बृजभान उनके यहाँ अवश्य पधारेंगे।

गुजरात का राजा खेखड़मल बृजभान का मामा लगता था। बृजभान ने बड़े परिश्रम से सोरठी का विवाह अपने मामा से कराना चाहा परन्तु उसके अस्वीकार करने पर सोरठी को अपनी पत्नी बना लिया। सोरठी को प्राप्त करने में बृजभान को बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी तथा अनेक संकटों को झेलना पड़ा था। एक बार तो इस प्रयास में साँप के काटने से उसकी मृत्यु भी हो जाती है परन्तु फिर भी वह जी उठता है। अन्त में वह सोरठी को प्राप्त कर सुखपूर्वक निवास करता है। बृजभान, हेवन्ती तथा सोरठी से विवाह करने के पश्चात् धवलागिरि पर निवास करने वाली सुरिया और सुगेमरी नामक स्त्रियों के प्रेमजाल में फँस जाता है तथा आनन्दपूर्वक जीवनयापन करता है।

सोरठी की उपर्युक्त कथा रहस्य-रोमांच से भरी हुई है। सोरठी को पाने में बृजभान को अनेक कष्टों को झेलना पड़ता है, जिसके द्वारा लोककवि ने आत्मा द्वारा परमात्मा की प्राप्ति की ओर संकेत किया है। सोरठी की गाथा निर्गुन गीतों की लय में गाई गयी है परन्तु इसमें दूसरा छन्द भी पाया जाता है। दोनों नमूने इस प्रकार हैं—'झुन-झुन बाजे चलत झुनकी खउऊँवा हो। झूमत झामत कुँवर जात नू रे की।। एकि आये रामा सुनिलेहु राजा वचन हमार नू रे की। एकि आधे रामा को सोरठपुर में सोरठी कन्या बा रे नू रे की।।" समस्त गाथा में धाराप्रवाह सी गति मिलती है।

—कृ० दे० उ०

सोहनलाल द्विवेदी—जन्म २२ फरवरी सन् १९०६ ई० में बिन्दकी जिला फतेहपुर। पिता का नाम पं० वृन्दावन प्रसाद द्विवेदी। एम० ए०, एल० एल० बी० तक शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान है। इनका लेखनकार्य सन् १९२१ ई० से प्रारम्भ हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा मालवीय जी की छाया में काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में सम्पन्न हुई। देश की प्राचीन संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के प्रति इनमें जन्मजात स्वाभिमान एवं सम्मान का भाव है। खादी के लिए इनमें अपार स्नेह और देश के शिशुओं के प्रति अटूट स्नेह हैं। अपनी पौराणिक एवं राष्ट्रीय रचनाओं के लिए ये जनता, विद्वज्जनों एवं कवि सम्मेलनों में सदैव सम्मानित होते आये हैं। १९३८ से १९४२ ई० तक दैनिक राष्ट्रीय पत्र 'अधिकार' का लखनऊ से सम्पादन करते रहे। इसके बाद २-४ वर्षों तक 'बालसखा' के सम्पादन का अवैतनिक कार्य करते रहे। ये साहित्य-सेवा को व्यवसाय नहीं मानते। जीवन-यापनार्थ जमींदारी के बाद 'बैंकिंग' का व्यवसाय अपनाया है।

सन् १९४१ ई० में आपकी प्रथम रचना 'भैरवी' प्रकाशित हुई, जिसमें स्वदेश प्रेम के भावों की प्रधानता और छन्दों की टेकों में पुनरुक्ति द्वारा प्रभाव पैदा करने वाली शैली की शोभा है। 'भैरवी' के अभियानगीत भी प्रभावशाली हैं। सन् १९४२ ई० में 'वासवदत्ता' प्रकाशित हुई। इसमें भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव-भाव लक्षणीय है। 'वासवदत्ता' पर लिखित सुन्दर एवं नूतन कल्पनापूर्ण अप्रस्तुत विधानों वाली इसी नाम की

कथात्मक कविता पर पुस्तक का नामकरण हुआ है। सन् १९४३ ई० में 'कुणाल' प्रबन्ध-काव्य प्र श में आया, जिसमे ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं तत्कालीन जावन-रूप का अच्छा चित्रण हुआ है। भाषा सरस, सरल, मधुर, प्रवाहमयी एवं सुसंस्कृत है। अशोक और तिष्य रक्षिता के वर्णन प्रभावपूर्ण एवं मनौवैज्ञानिक हैं। आपकी राष्ट्रीय चेतनाप्रधान रचनाएँ हैं—'पूजा गीत' (१९४५ ई०), 'विषपान' (१९४५ ई०), 'युगाधार' (१९४४ ई०), 'वासन्ती' (१९४४ ई०), 'चित्रा' (१९४४ ई०) तथा 'पूजा-गीत' का एकत्र संग्रह, जो बापू के ७७ वें जन्म दिवस पर उन्हें समर्पित किया गया था। प्रमुख भारतीय भाषाओं की गाँधी सम्बन्धी सुन्दर रचनाओं को लेकर सन् १९४४ ई० में 'गाँधी अभिनन्दन ग्रन्थ' का सम्पादन किया। सन् १९५६ ई० में 'जय गाँधी' नाम से कवि की राष्ट्रीय रचनाओं का बृहत् प्रकाशन हुआ। इन्होंने बाल-साहित्य का भी सुन्दर एवं प्रभूत साहित्य लिखा है। सन् १९४४ ई० में 'बाँसुरी' और 'झरना' तथा 'बिगुल' का प्रकाशन हुआ। सन् १९४५ ई० में 'सात कहानियाँ' निकली। सन् १९४९ ई० में 'बच्चों के बापू' प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त 'चेतना', 'दूध-बताशा', 'बाल भारती', 'शिशु भारती', 'हँसो हँसाओ', 'नेहरू चाचा, 'सुजाता' 'प्रभाती' एवं 'मोदक' नामक रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

'पूजा के स्वर' द्वारा कवि ने जनता में नवजागरण की ध्वनि फूँकी है और युगकवि का महनीय कार्य किया है। कवि गाँधीवादी विचारधारा का पूर्ण अनुयायी बनकर आया है। 'भैरवी' में उच्च देश-प्रेम की पुकार है। द्विवेदी का कवि-मानस अव्यक्तिवादी, लोकमुखी, ग्रन्थिहीन एवं भावशाली है। उसमें भाव-विचारों की सहज तरंगें उठकर काव्य का सहज-सरल रूप ले लेती हैं। इनकी रचनाओं में स्वस्थ मानस की अभिव्यक्ति हुई है। विलास के स्थान पर सहज एवं शुद्ध उल्लास की तरलता तथा प्रेमासक्ति के स्थान पर सेवा-भक्ति का सौरभ इनके काव्य की विशिष्टता है। इनकी राष्ट्रीयता मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल एवं 'नवीन' से भिन्न है, जो अहिंसात्मक गाँधीवादी रक्तहीन क्रान्ति के मार्ग पर संचरित होकर उनके काव्य को जन-साहित्य का मर्मस्पर्शी एवं मनोरम रूप प्रदान करती है। इनमें वर्तमान और अतीत के गौरव के प्रति समान दृष्टि है। इनमें वीर पूजा के रचनात्मक भाव लहराते रहे हैं। १९६९ ई० में भारत सरकार ने आप को 'पद्मश्री' की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया है।

—श्री सिं० क्षे०

सोहनी महिवाल—पंजाब की लोक प्रचलित दुःखान्त गीतकथा। सोहनी चिनाब किनारे के एक गाँव के कुम्हार की लड़की थी। उसके रूपगुण पर रीझकर महिवाल नामक राजकुमार सोहनी को प्राप्त करने के लिए चिनाब के दूसरे किनारे पर धूनी रमाकर बैठ गया। सोहनी प्रति दिन पक्के घड़े की सहायता से चिनाब तैरकर राजकुमार महिवाल के पास जाया करती थी। एक दिन उसकी भाभी ने देख लिया। उसने चुपके से पक्का घड़ा उठाकर उसके स्थान पर मिट्टी का कच्चा घड़ा रख दिया। सोहनी प्रेम की भावना में डूबी हुई कच्चे घड़े के सहारे चिनाब पार करने लगी। बीच में घड़ा फूट गया और वह लहरों में समा गयी। 'महिवाल' का अर्थ है भैंसों का चरवाहा। कहते है, सोहनी को प्राप्त करने के लिए राजकुमार ने भैंस भी चरायी थी, इसीलिए कथा में वह महिवाल हो गया।

—श्या० प०

सौभरि—एक ऋषि। इनकी कथा शुकदेव ने राजा परीक्षित को सुनाई थी। एक बार ऋषि यमुना नदी के तट पर गये, वहाँ मच्छ को अपने परिवार सहित क्रीड़ा करते देख उनके मन में भी गृहस्थ होने की भावना जागी। वे राजा मान्धाता के पास गये और कन्या की माँग की। राजा ने कहा कि वे अन्तः पुर में जाकर स्वयं ही पचास पुत्रियों में से जिसको चाहें वर लें। मुनि ने अपनी वृद्ध काया को तपोबल से सुन्दर रूप मे परिणत कर लिया और उन्होंने सभी कन्याओं से विवाह कर लिया। उनसे उन्हें पाँच सौ पुत्र उत्पन्न हुए। बहुत काल तक सुखपूर्वक रहते हुए भी उनमें अतृप्ति की भावना बाकी रही। उनके मन में विचार आया कि विषयभोग से वास्तविक तृप्ति नहीं मिल सकती। वे तप मे निरत हुए और तन त्याग दिया। उनकी पत्नियाँ भी उन्हीं की सहगामिनी हुईं और सभी को मुक्ति मिली।

इस कथा के माध्यम से सांसारिक भोग से विरक्ति का उपदेश तथा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। (दे० सूर पद ४५२)

—मो० अ०

स्कन्दगिरि— बांदा निवासी स्कन्दगिरि का जन्म सं० १८९१ में हुआ था। 'बुन्देल वैभव' के लेखक ने इनका कविता काल सं० १९१९ वि० बताया है। सरोजकार के अनुसार ये हिम्मत बहादुर गोसाई के वंश के थे और काव्य के बड़े प्रेमी एवं गुणग्राहक थे। सरोजकार ने इनके नायिका भेद से संबंधित 'स्कन्द विनोद' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा की है। पर मिश्र-बन्धुओं और 'बुन्देल वैभव' के लेखक ने 'रसमोदक' नामक इनके एक अन्य ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

'रसमोदक' नायक—नायिका भेद पर लिखा गया एक अनुपम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ छः उल्लासों में विभक्त है। इसकी रचना सं० १९०५ वि० में हुई थी। यह पुस्तक सं० १९५७ वि० में वेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित भी हो चुकी है।

[महायक ग्रन्थ—बुन्देल वैभव, तृतीय भाग, शिवसिंह सरोज, मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग, ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रन्थ कोश]

—कि० ला०

स्कंदगुप्त १—जयशंकर प्रसादकृत नाटक, जो १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की रचना गुप्त युग की ह्रासोन्मुख अवस्था को लेकर हुई है। उस समय बाहर से बर्बर हूणों के आक्रमण हो रहे थे और इधर राजपरिवार में पारस्परिक विद्वेष फैला हुआ था। मालवा पर संकट के मेघ छा गये थे। समस्त सौराष्ट्र म्लेच्छों ने पदाक्रान्त कर दिया था। पाँच अंकों के इस नाटक में मुख्य कथा स्कन्द गुप्त से सम्बन्ध रखती है। अपनी महत्त्वाकांक्षा में पागल अनन्त देवी पुरगुप्त के लिए राजसिंहासन चाहती है। वह प्रपंच बुद्धि और भट्टारक के साथ मिलकर अनेक षड्यन्त्र रचती है। नाटक में अनेक उत्थान-पतन आते हैं पर अन्त में स्कन्द हूणों को परास्त कर देता है और गुप्त साम्राज्य अपने भाई पुरगुप्त के हाथों सौंप देता है। 'स्कन्दगुप्त' का मुख्य आकर्षण उसका द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व और संघर्ष दो भूमियों पर चित्रित है। राजनीतिक संघर्ष में

राजपरिवार का अपना आन्तरिक कलह है। शक, हूण, मंगोलों के आक्रमण हैं। गुप्त साम्राज्य जैसे संकटों से घिर गया हो, सम्राट् कुमार गुप्त अपनी विलासिता में खोये हैं। ऐसे अवसर पर स्कन्द एक नक्षत्र की भाँति उदित होता है और अन्त में दस्युओं को परास्त करता है। नाटक में एक दूसरा द्वन्द्व भी है, जिससे पात्रों के आन्तरिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। ऐतिहासिक पात्रों में इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व की नियोजना उन्हें निष्प्राण होने से बचा लेती है। वे एक मानवीय भूमिका पा जाते हैं। स्कन्द और देवसेना की प्रेमकथा इसी आन्तरिक द्वन्द्व से सम्बन्धित है। नाटक के आरम्भ में ही स्कन्द में एक निर्लिप्त भाव दिखाई देता है। वह कहता है—"अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है।" वह हूणों और शकों पर विजय प्राप्त करके भी अपनी प्रियवस्तु देवसेना को नहीं पाता। जैसे राजा होकर भी वह रिक्त है। पुरगुप्त के लिए राज्य सौंप कर वह वैराग्य भावना का परिचय देता है। देवसेना प्रसाद की चरित्रसृष्टि में भावना की दृष्टि से सर्वोत्तम कही जा सकती है। प्रेम का जो आदर्श उसमें निहित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन दो मुख्य द्वन्द्वों के अतिरिक्त बौद्धों और ब्राह्मणों के विभेद हैं। गुप्त युग में सनातन धर्म को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। ब्राह्मणों, बौद्धों की संकुचित मनोवृत्ति नाटक में प्रदर्शित है। अन्तर्द्वन्द्व में विजया का चरित्र अतिशय परिवर्तनशील है। प्रलोभनों से घिरी यह नारी अनेक बार प्रेम करती है।

'स्कन्दगुप्त' की रचना में प्रसाद के दो उद्देश्य सामने आते हैं। राष्ट्रीय, सांस्कृतिक भावना से परिचालित होने के कारण उन्होंने शक, हूणों पर स्कन्द की विजय घोषित की है। यह एक प्रकार की सांस्कृतिक विजय है, जो 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी विद्यमान है। गुप्त साम्राज्य जब ह्रासोन्मुख अवस्था में था, उस अवसर पर स्कन्द के रूप में एक वीर नायक का प्रतिष्ठापन प्रसाद की राष्ट्रीय भावना पर आधारित है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का अन्तर्द्वन्द्व उसका प्रमुख आकर्षण है। देवसेना अपनी आदर्शवादिता में इस धरती का पात्र नहीं प्रतीत होती। प्रेम और संगीत उसके जीवन के दो प्रमुख अंग हैं। प्रेम में जो त्याग वह करती है, उससे उसका गौरव बढ़ जाता है। 'स्कन्दगुप्त' के सभी चरित्र अपना एक व्यक्तित्व रखते हैं। उनका अपना विशिष्ट स्वरूप है— अच्छा या बुरा जो भी हो। शिल्प की दिशा में प्रसाद ने सफलता प्राप्त की है क्योंकि उन्होंने ऐतिहासिक, राजनीतिक घटनाओं को पारिवारिक और व्यक्तिगत घटनाओं से सम्बद्ध कर दिया है। दोनों का मेल हो गया है। समस्त वस्तु बिन्यास दो भूमियों पर चलता दिखाई देता है, जो चरित्रों को आकर्षक बनाता है। 'स्कन्दगुप्त' में घटनाव्यापार पर्याप्त गति से आगे बढ़ते दिखाई देते हैं। प्रश्न है कि यह नाटक सुखान्त है अथवा दुःखान्त। राजनीतिक जीवन में पुरगुप्त के लिए एक निष्कण्टक राज्य छोड़कर भी नाटक का नायक स्कन्द व्यक्तिगत जीवन में रिक्त है क्योंकि वह देवसेना को नहीं पाता। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की रचना जीवन की स्वाभाविक गतिविधि को ध्यान में रखकर की गयी है इसलिए उसे किसी विशेष वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

—प्रे० शं०

स्कंदगुप्त २— प्रसाद के नाटक 'स्कन्दगुप्त' (दे०) का नायक, गुप्तकाल (२७५ ई०-५४० ई० तक) अतीत भारत के चरम विकास का काल माना जाता है। उस समय तक आर्यसाम्राज्य का विकास मध्य एशिया से लेकर जावा-सुमात्रा आदि सुदूर पूर्वी द्वीपों तक हो चुका था। स्कन्दगुप्त इसी गुप्त वंश का देदीप्यमान नक्षत्र था किन्तु उसके राज्यारोहण के पूर्व ही साम्राज्य में आन्तरिक कलह एवं विघटन होना प्रारम्भ हो गया था। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का शासनकाल वस्तुतः निर्वाणोन्मुख दीपशिखा की अन्तिम ज्योति की भाँति शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य के पतन का काल है। स्कन्दगुप्त प्रसाद के नाटक का धीरोदात्त नायक है। उसमें गम्भीरता, धैर्यशीलता, शक्ति-शील-सौन्दर्य एवं विनम्रता का स्पृहणीय सामंजस्य पाया जाता है। प्रसाद ने प्रस्तुत नाटक के कथाशिल्प के निर्माण के लिए कोसल के मूर्नि लेख, इन्दौर के ताम्रपत्र, 'कथासरित्सागर' तथा 'राज तरंगिणी', 'गाथा सप्तशती' 'कालकाचार्य की कथा', 'प्रबन्धकोष', 'स्मिथ का इतिहास', जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' एवं कालिदास के ग्रन्थों को आधार बनाया है। स्कन्द के विहार, भिटारी और जूनागढ़ के लेखों से भी स्कन्द के चरित्र एवं उसके महत्त्वपूर्ण कार्यों का पता चलता है फिर भी इस नाटक के लिए जो ऐतिहासिक सामग्री ली गयी है, वह बहुत कम है। अतः इसे 'पूर्ण ऐतिहासक' न मानकर 'अर्द्ध ऐतिहासिक' या 'स्वच्छन्द ऐतिहासिक' मानना अधिक समीचीन होगा। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की कहानी उसके नायक स्कन्दगुप्त के अनासक्त कर्मठ व्यक्तित्व की गौरव गाथा है, उसकी दुर्बलताओं, शक्ति प्रदर्शन, प्रेम, त्याग आदि अन्तर्द्वन्द्वों के विकास की कहानी है। स्कन्दगुप्त के चरित्र में "नाटककार ने पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है।"

स्कन्दगुप्त नाटक का सबसे अधिक शक्तिशाली पात्र है। वह अलौकिक प्रतिभासम्पन्न, सबकी आशाओं का ध्रुवतारा एवं उदात्त चरित्र से सम्पन्न है। उसी के नाम पर नाटक का नामकरण हुआ है। उसमें कुलशील की उत्तमता के साथ शान्त प्रकृति, दृढ़ संकल्प एवं गम्भीर भावनाओं का अद्भुत योग है। वह गुप्त-कुल का अभिमान एवं आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति है। मालव-नरेश बन्धुवर्मा की दृष्टि में "उदार वीर हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त का एक मात्र आशास्थल, इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्रलिपियों से अंकित है। अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है।" प्रारम्भ में स्कन्दगुप्त विरक्त और विचारमग्न दिखाई देता है। अधिकार सुख को वह निस्सार और मादक समझता है। उसमें तितिक्षा और वैराग्य की भावना प्रभूत मात्रा में है। विचारों की गम्भीरता के कारण वह शान्त प्रकृति का है, गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकार-नियमों से भी उसमें चिन्ता का आविर्भाव होताहै। अपने भावी जीवन में उग्र परिस्थितियों से संघर्ष करने के कारण जब वह अन्त में प्रेम की शीतल छाया का भी अभाव पाताहै, तब उसकी विरक्ति और अधिक बढ़ जाती है। उसके जीवन की इतनी अधिक विरक्तिपरक चिन्तना नाटक के नायक होने में एक प्रश्न चिह्न उपस्थित करती है। फिर भी स्कन्दगुप्त की यह अतिरंजित विराग-भावना उसके व्यक्तित्व को शिवत्व प्रदान कर देवोपम बनाने में सहायक सिद्ध होती

है। स्कन्द का जीवन महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित न होकर अनासक्त कर्तव्य पालन के रूप में गतिशील होता है। वह स्वयं को साम्राज्य का एक सैनिक समझता है। मालव में राज्याभिषेक के अवसर पर गोविन्द गुप्त से कहता है : "इस समय मैं एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट् नहीं।" उसके हृदय में सदैव आदर्शों एवं यथार्थ जगत् के कार्य व्यापारों के बीच संघर्ष छिड़ा रहता है फिर भी वह कभी आदर्श का साथ नहीं छोड़ता। जिस समय भटार्क के कुचक्रों के कारण विदेशी आक्रमणकारी सफलता प्राप्त करते हैं और कुंभा के रण-क्षेत्र में स्कन्द की सेना पराजित होती है, उस समय स्कन्द गुप्त विक्षुब्ध होकर अनागत की बात सोचने लगता है। उसे न तो अपने दुखों की चिन्ता होती है और न संसार के आक्षेपों की ही वह परवाह करता है। उसे तो यही ग्लानि मारे डालती है कि "यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था, आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों से देखना था।" "यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय वृक्ष गुप्त साम्राज्य हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो।" स्कन्दगुप्त के इस कथन में उसका उदार और अनासक्त राष्ट्र-प्रेम व्यक्त हुआ है। उसका निर्लिप्त राष्ट्र-प्रेम परमुखापेक्षी नहीं है अन्यथा अतुल पराक्रम से अर्जित राज्यों को वह अपने छोटे भाई पुरगुप्त को देने की कामना न करता। शुद्ध बुद्धि से प्रेरित सच्चे कर्मयोगी की भाँति वह न तो किसी से शत्रुता रखता है और न उसकी कोई व्यक्तिगत लालसा है। देश-प्रेम से संवलित कर्त्तव्यभावना से प्रेरित होकर दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ वह एक स्थल पर भटार्क से कहता है : "भटार्क! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं, जन्म-भूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूंगा।" स्कन्दगुप्त यदि कोरा आदर्शवादी बनकर राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने से तटस्थ हो जाता तो वह अपने कर्मठ कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तित्त्व में एक प्रश्नचिह्न लगा लेता। स्कन्दगुप्त के आदर्श संघर्ष एवं समस्याओं की तीव्र लपटों में न झुलस कर और अधिक भास्वर हो उठते हैं। वह शर्वनाग, भटार्क, अनन्त देवी के जघन्य कार्यों को माता देवकी की आज्ञा से क्षमादान द्वारा दण्डित करता है। नाटककार ने स्कन्द के चरित्र में निर्लिप्त कर्त्तव्यनिष्ठा के अतिरिक्त प्रणय-भाव के मधुर पक्ष का चित्रण भी बड़ी कुशलता के साथ किया है। वह यौवन की प्रारम्भिक वेला में विजया के सौन्दर्य से आकृष्ट होता है। उसका प्रणय सतही न होकर सागर की सी गम्भीरता एवं विशालता छिपाये हुए है। विजया द्वारा भटार्क को पति रूप में वरण करने के कथन को सुनकर वह क्षुब्ध हो उठता है और स्वाभाविक आवेग में कह पड़ता है : "परन्तु विजया तुमने यह क्या किया?" इस स्वप्न के भंग हो जाने पर स्कन्द गुप्त के जीवन में देवसेना का प्रवेश होता है। श्मशान में मृत्यु के मुख में पड़ी देवसेना उसके शौर्य संवलित सौन्दर्य का ध्यान करती है और स्कन्द छिपा हुआ सुनता है। हूणों के दमन कार्य में रत हो जाने से उसे एक दीर्घ समय तक देवसेना से मिलने का अवकाश नहीं मिलता। पुनर्मिलन होने पर स्कन्द की सात्त्विक प्रणय-भावना इन शब्दों में मुखर हो उठती है : "जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुःखी लोग एक दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। इस नन्दन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ?" स्कन्दगुप्त के चरित्र की विशेषताओं पर नाटक के अन्य पात्रों द्वारा प्रकाश पड़ता है। मातृगुप्त "प्रवीर उदारहृदय स्कन्दगुप्त कहाँ है" की करुणा परक वाणी मे उसका आवाहन करता है। रामा उसके लोकोत्तर चरित्र की स्मृति में प्रलाप करती हुई कहती है : "वही स्कन्द, रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्यावर्तकी छत्र छाया।" इस प्रकार लोकोत्तर उदात्त चरित्र से सम्पन्न, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं देश प्रेम की भावना से मण्डित स्कन्दगुप्त सबकी आशा का केन्द्र प्रोज्ज्वलित ध्रुवतारा सिद्ध होता है।

—के० प्र० चौ०

श्यामसगाई—दे० 'नन्ददास'।

स्वप्न—रामनरेश त्रिपाठीकृत तीसरा आख्यानक खण्डकाव्य है। इसका प्रकाशन १९२९ ई० में हुआ था। 'मिलन' (दे०) और 'पथिक' (दे०) की भाँति इसकी कहानी भी एक प्रेमकहानी है। इसका नायक 'वसन्त' प्रारम्भ में अपनी प्रिया में अत्यधिक अनुरक्त है। बाद में अपनी प्रिया द्वारा ही उद्बुद्ध किये जाने पर उसे अपने कर्त्तव्यों का बोध होता है और वह शत्रुओं द्वारा आक्रान्त स्वदेश की रक्षा करने के लिए निकल पड़ता है। इस काव्य में भी समय-समय पर यथा प्रसंग प्रकृति के कल्पना-रंजित मनोरम चित्रों की प्रदर्शनी सजाई गयी है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नायक वसन्त का चरित्र प्रियतमा और राष्ट्र-प्रेम को लेकर चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व के कारण सजीव हो उठा है।

—र० भ०

स्वर्णकिरण—(१९४७ ई०) सुमित्रानन्दन पन्त का आठवाँ काव्य संकलन है। इसमें ३८ रचनाएँ संगृहीत हैं। इन रचनाओं में अन्तिम दो रचनाओं 'स्वर्णोदय' और 'अशोकवन' का आधुनिक हिन्दी काव्य में अपना निश्चित स्थान है। दोनों लम्बी रचनाएँ हैं। 'स्वर्णोदय' मानव-शिशु के जन्म, विकास, प्रौढ़त्व और अवसान की सम्पूर्ण जीवनगाथा है। इसे उत्तर रचनाओं में वही स्थान प्राप्त होना चाहिये, जो किशोर रचनाओं में 'परिवर्त्तन' को प्राप्त है। 'अशोकवन' में १९ प्रगीत हैं, जिनमें अधिकांश सम्बोधिगीत कहे जा सकते हैं। इन प्रगीतों में रामकथा के माध्यम से चेतनावाद की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। शेष रचनाओं को हम कई वर्गों में रख सकते हैं। सच तो यह है कि यह संकलन उत्तर पन्त के व्यक्तित्व का अन्य संकलनों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर रूप में प्रतिनिधित्व करता है। सुविधा की दृष्टि से संकलन की रचनाओं को चेतनावादी (अरविन्दवादी), प्रकृतिवादी, प्रशस्तिमूलक और व्यंग्य रचनाओं के शीर्षक दे सकते हैं। परन्तु सभी रचनाओं में कवि की नूतन जीवन दृष्टि, उसका नया अध्यात्मवाद और नवीन जीवनोल्लास दृष्टिगत होता है। छन्दों की भूमि प्रयोगात्मक न होकर भी नयी भावाभिव्यंजना में समर्थ है।

चेतनावादी रचनाओं की शीर्षमणि 'श्री अरविन्द दर्शन' शीर्षक रचना है। इस रचना में कवि योगी अरविन्द के साक्षात्कार से उत्पन्न व्यक्तिगत प्रभाव को ऊर्ध्व चेतना का रूप दे देता है। उन्हें दिव्य जीवन का दूत मानकर कवि तन, मन, प्राण, हृदय समर्पित करता है। उसके अनुसार युग-युग के

रचना से कवि के प्रेरणा-स्रोत का पता चलता है तो दूसरी रचना अरविन्द-दर्शन की स्पर्शमणि मातृचेतना को काव्योपम उपमानों में बाँधने का प्रयत्न है। दोनों रचनाएँ कवि की नयी भाव-दिशा की द्योतक हैं। तीसरी कोटि की रचनाएँ प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ हैं, जो कवि की प्रकृति चेतना का नया संस्करण प्रस्तुत करती हैं। अन्तःसलिला की भाँति प्रकृति-प्रेम पन्त की काव्यचेतना का अभिन्न अंग रहा है। इस स्वर्णसूत्र में उनका समस्त काव्य विकास ग्रंथित है। प्रत्येक नए मोड़ के साथ उन्होंने प्रकृति की ओर नई भाव मुद्रा से देखा है और नये प्रतीकों तथा शब्द सूत्रों में उसे बाँधा है। अरविंद वादी काव्य में वसंत और शरद चाँदनी और मेघ नई अध्यात्म चेतना के प्रतीक बन गये हैं। 'सावन', 'क्रोटन की टहनी' और 'तालकुल' जैसी नयी अभिव्यंजनाओं वाली रचनाएँ भी यहाँ मिलेंगी, जिनमें कवि दार्शनिक ऊहापोह और चिन्ता की मुद्रा को पीछे छोड़ कर एकदम प्रकृतिस्थ हो जाता है और कलाकार की भाँति नये परिपार्श्व से प्रकृति को छायाचित्र बना देता है। चौथी कोटि की रचनाएँ सद्योपलब्ध स्वातन्त्र्य का अभिनन्दन अथवा ध्वजवंदन हैं। संकलन की एक कविता का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। यह कविता 'लक्ष्मण' शीर्षक है। कवि के आत्मवृत्त में लक्ष्मण के प्रति उसके सतत् जाग्रत प्रशंसा-भाव का उल्लेख मिलता है और उनके सेवाधर्म को उन्होंने आदर्श माना है। इस रचना में इसी ममत्व ने वाणी पायी है।

—रा० र० भ०

स्वार्थ—राष्ट्ररत्न श्री शिवप्रसाद गुप्त ने हिन्दी में विविध विषय विकसित उच्चकोटि के मासिक पत्र के अभाव की पूर्ति के लिए ज्ञानमण्डल, काशी से सन् १९१९ ई०, कार्तिक धनतेरस से 'स्वार्थ' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहासविषयक मासिक पत्र था। इसके प्रथम सम्पादक थे जीवन शंकर याज्ञिक। बाद में नरसिंह दास ने और अन्त में प्रायः दो वर्षों तक मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव ने इसका सम्पादन किया। पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) था और प्रति अंक का आठ आना। इसका आकार ९ १/२x६। था विषय की दृष्टि से यह पत्र अद्वितीय था। ऐसे विषय पर हिन्दी में इसके पूर्व कोई पत्र नहीं निकला था। इसके प्रथम अंक के सम्पादकीय से उसकी नीति तथा प्रकाशन लक्ष्य का परिचय मिल जाता है। इसमें कहा गया है—"हिन्दी में 'स्वार्थ' अपने ढंग का पहिला ही पत्र है। जिन विचारों के फैलाने की यह चेष्टा करेगा, वे अवश्य ही महत्त्व के हैं। हमारे नेतागण देशोन्नति के लिए यथाशक्ति उद्योग कर रहे हैं। भारत संसार के समस्त देशों में अपना उच्च स्थान प्राप्त करेगा। इस महान् कार्य में 'स्वार्थ' भी कुछ सेवा का भार यथाशक्ति सिर पर उठाता है और आशा करता है कि सेवा-मार्ग पर चलते हुए जिस उत्साह और सहायता की आवश्यकता होगी, उसको अवश्य प्राप्त होगी।"इसके प्रथमांक के लेखकों और उनके लेखों के शीर्षकों से ही सहज विदित हो जाता है कि 'स्वार्थ अपने ढंग का अनोखा पत्र रहा है और आज भी उसके समान मासिक पत्र की आवश्यकता बनी हुई है। प्रथम अंक के प्रमुख लेखकों तथा उनके लेखों के शीर्षक इस प्रकार हैं-श्री प्रकाश : 'धन का बँटवारा', गंगा प्रसाद मेहता 'भारत के आर्थिक इतिहास की दिशा', बदरी नाथ भट्टः 'शंकर का व्यापार', मोहन सिंह मेहता :'अंकशास्त्र की प्रस्तावना', पीताम्बर दत्त पाण्डेयः, 'प्रजाबाद'। पुस्ताकालोचन, सामयिक संग्रह तथा सम्पादकीय इसके स्थायी स्तम्भ थे। सामयिक संग्रह स्तम्भ के अन्तर्गत ज्ञातव्य विषय, महत्त्वपूर्ण आर्थिक आँकड़े और तत्सम्बन्धी चार्ट प्रकाशित होते थे। 'स्वार्थ' मे प्रकाशित संसारके व्यवसायी इतिहास सम्बन्धी लेखमाला स्मरणीय रहेगी। इतने उच्चस्तर तथा श्रेष्ठ लेख सामग्री से युक्त मासिक पत्र का पाठकों तथा ग्राहकों के प्रोत्साहन के अभाव, ढाई—तीन वर्षों तक चल कर ही बन्द हो जाना, राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण कहा जायगा।

—ल० शं० व्या०

हंस—'हंस' का प्रकाशन सन् १९३० ई० में बनारस से हुआ। इसके संस्थापक प्रेमचन्द थे। उन्हीं के सम्पादकत्व में यह पत्रिका हिन्दी की प्रगति में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई। सन् १९३३ ई० में प्रेमचन्द ने इसका 'काशी विशेषांक' बड़े परिश्रम से निकाला। वे सन् १९३० से सन् १९३६ ई० तक इसके सम्पादक रहे। उसके बाद जैनेन्द्र और शिवरानी देवी ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया। इसके विशेषांकों में 'प्रेमचन्द्र-स्मृति अंक', 'एकांकी नाटक अंक' (१९३८), 'रेखाचित्र अंक', 'कहानी अंक', 'प्रगति अंक' तथा 'शान्ति अंक' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैनेन्द्र और शिवरानी देवी के बाद इसके सम्पादक शिवदान सिंह चौहान और श्रीपत राय फिर अमृत राय और फिर नरोत्तम नागर रहे।

बहुत दिनों बाद सन् १९५९ ई० में उसका बृहत् संकलन रूप सामने आया, जिसमें बालकृष्णराव और अमृत राय के सम्पादकत्व में आधुनिक साहित्य और उससे सम्बन्धित नवीन मूल्यों पर विचार किया गया।

—ह० दे० बा०

हंस कुमार तिवारी—जन्म १५ अगस्त १९१८ ई० में मानभूम में हुआ, जो पहले बिहार में था, अब बंगाल में है। प्राथमिक शिक्षा बंगाल में ही बंगला भाषा में, फिर ननिहाल में हुई। किशोरावस्था में कन्धों पर परिवार का बोझ आ जाने से सन् १९३४ में अध्ययन का क्रम टूट गया। रोटी-रोजी के लिये सतत संघर्ष करते हुए आपने अपने कर्मजीवन का प्रारम्भ स्वतंत्र लेखन तथा पत्रकारिता से किया। आप की साहित्यिक साधना की प्रथम उपलब्धि—'कला' नामक पुस्तक का प्रकाशन सन १९३८ ई० में हुआ। आलोचना के क्षेत्र में आप का यह प्रथम प्रयास है। इस कृति में लेखक ने कला के विविध पक्षों का आलोचनात्मक वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। विषय-प्रतिपादन तथा उपयोगिता की दृष्टि से इस पुस्तक का अपना विशिष्ट स्थान है।

तिवारी जी स्वतंत्र लेखक के साथ-साथ सफल पत्रकार तथा सम्पादक भी रहे हैं। सन् १९३८-३९ में आपने पटना से प्रकाशित 'बिजली' साप्ताहिक का सम्पादन किया तथा सन् १९४०-४१ में भागलपुर से एक मासिक पत्र निकाला। इसी बीच पटना के मासिक 'किशोर' का सम्पादन भी किया। सन् १९४३ से १९४७ तक गया में 'ऊषा' के सम्पादक रहे। सन् १९५१ में बिहार सरकार के राजभाषा पदाधिकारी नियुक्त हुए। उसी पद पर कार्य करते हुए अवकाश ग्रहण किया।

आलोचना के क्षेत्र में आप की प्रथम पुस्तक 'कला' सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुई। इसके बाद तीन साहित्यिक निबन्ध-संग्रह-'साहित्यिका' (१९४६ ई०); 'साहित्यायन' (१९४८ ई०), तथा 'संचयन' (सन् १९५० ई०) प्रकाशित हुए। इन संग्रहों में विविध साहित्यिक विषयों की सरल तथा सुबोध शैली में सुन्दर विवेचना की गई है। भाषा बड़ी प्राञ्जल तथा प्रसाद गुण से युक्त है। 'बँगलाभाषा और साहित्य' (१९६२ ई०); 'बंगाल' (देश परिचय, १९७० ई०)। लेखक की अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं।

कविताएँ:—प्रथम कविता-संग्रह 'रिम-भिम' १९३९ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद क्रमशः 'अनागत' (१९४३ ई०); 'नवीना' (१९४८ ई०); तथा 'मकड़ी मर गई' (१९४८ ई०) काव्यकृतियाँ प्रकाश में आईं।

नाटक:—'आधीरात का सवेरा' (१९६५ ई०); 'पुनरावृत्ति' (१९६६ ई०) तथा 'आकाश-पाताल' (सन् १९६७ ई०)।

कहानी:—दो संग्रह प्रकाशित हैं—'बदला' (१९४१ ई०); 'समानांतर' (१९४३ ई०)।

अनुवाद:—श्री तिवारी ने विशेष रूप से बँगला साहित्य को अपने अनुवाद का विषय बनाया है। आपने १९३६ ई० में 'भारतेर इतिहास चित्रेओ गल्पे' नामक पुस्तक-माला का सफल अनुवाद किया। उसके बाद अनुवादों की लम्बी श्रृंखला में बँगला के प्रमुख साहित्यकारों की मुख्य-मुख्य कृतियों का अनुवाद प्रस्तुत किया, जिनमें निम्नांकित साहित्यकारो की कृतियों का अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है—

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ:—'गीताञ्जलि' (पद्यानुवाद); 'आँख की किरकिरी; 'साहित्य के पथ पर'।

श्री शरदचन्द्र:—'श्रीकान्त (चारों भाग); 'गृह-दाह', 'दत्ता', 'ग्रामीण समाज', 'देवदास', 'बड़ी दीदी'।

श्री ताराशंकर बैनर्जी:—'रायकमल', 'धरतीमाता', 'आरोग्य निकेतन', 'राधा', 'महाश्वेता', 'न्यायमूर्ति', 'गणदेवता', 'आरती', 'दुनिया एक बाजार', 'कालिन्दी', 'रति-विलास', 'दो पुरुष'।

श्री विमल मित्र:—'साहब, बीबी, गुलाम'।

श्री शंकर:—'योग-वियोग'।

श्री हुमायूं कबीर :— 'नदी और नारी', 'बँगला काव्य की भूमिका'।

श्री मनोज बसु :— 'रात का मेहमान', 'सेतुबंधु', 'कैसे भूलूँ'।

श्री विभूतिभूषण बैनर्जी :—आख्यक।

अनुवादों की भाषा बड़ी साफ-सुथरी, सरल, सुबोध तथा चट-पटी और वक्रतापूर्ण है। वह मूल रचना के भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम सिद्ध हुई है। उसमें कृत्रिम शब्दाडम्बर और समास बहुल पदावली की वे बीहड़ भाड़ियाँ नहीं हैं, जिनमें पाठक उलभ कर रह जाता है, मूल रचना के भावों तक नहीं पहुँच पाता। लेखक ने बड़ी ही रोचक और लोचदार शैली में मूल रचना के भावों को हृदयंगम कराने का सफल प्रयास किया है। इस प्रयास में उसे पूरी सफलता मिली है।

—अ० रा०

हजारी प्रसाद द्विवेदी—डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के शीर्षस्थानीय साहित्यकारों में हैं। वे उच्चकोटि के निबन्धकार, उपन्यास लेखक, आलोचक, चिन्तक तथा शोधकर्त्ता हैं। साहित्य के इन सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा और विशिष्ट कर्तव्य के कारण विशेष यश के भागी हुए हैं। उनका व्यक्तित्व गरिमामय, चित्तवृत्ति उदार और दृष्टिकोण व्यापक है। उनकी प्रत्येक रचना पर उनके इस व्यक्तितव की छाप देखी जा सकती है।

उनका जन्म सन् १९०७ ई० (श्रावण शुक्ल ११, सं० १९६४) में बलिया जिले के 'आरत दुबेका छपरा' गाँव के एक प्रतिष्ठित सरयूपारीण ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके प्रपितामह ने काशी में कई वर्षों तक रहकर ज्योतिष का गम्भीर अध्ययन किया था। द्विवेदी जी की माता भी प्रसिद्ध पण्डित कुल की कन्या थीं। इस तरह बालक द्विवेदी को संस्कृत के अध्ययन का संस्कार विरासत में ही मिल गया था।

अपनी पारिवारिक परम्परा के अनुसार उन्होंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया और सन् १९३० ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य तथा इण्टर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उसी वर्ष वे प्राध्यापक होकर शान्ति निकेतन चले गये। सन् १९४० से १९५० ई० तक वे वहाँ पर हिन्दी भवन के डाइरेक्टर के पद पर काम करते रहे। शान्ति निकेतन में रवीन्द्र नाथ टैगोर के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर नये मानवतावाद के प्रति उनके मन में जिस आस्था की प्रतिष्ठा हुई, वह उनके भावी विकास में बहुत सहायक बनी। क्षितिमोहन सेन, विधुशेखर भट्टाचार्य और बनारसी दास चतुर्वेदी की सन्निकटता से भी उनकी साहित्यिक गतिविधि में अधिक सक्रियता आयी। शान्ति निकेतन में द्विवेदी जी को अध्ययन-चिन्तन का निर्बाध अवकाश मिला। वास्तव में वहाँ के शान्त और अध्ययनपूर्ण वातावरण में ही द्विवेदी जी के आस्था-विश्वास, जीवन-दर्शन आदि का निर्माण हुआ, जो उनके साहित्य में सर्वत्र प्रतिफलित हुआ है।

सन् १९५० ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के अनुरोध और आमन्त्रण पर वे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर होकर वहाँ चले गये। इसके एक वर्ष पूर्व सन् १९४९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उनकी हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवाओं के कारण उन्हें डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि (ऑनरिस काजा) प्रदान की थी। सन् १९५५ ई० में वे प्रथम 'आफिशियल लैंग्वेज कमीशन' के सदस्य चुने गये। सन् १९५७ ई० में भारत सरकार ने उनकी विद्वत्ता और साहित्यिक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया। १९५८ ई० में वे नेशनल बुक ट्रस्ट के सदस्य बनाये गये। वे कई वर्षों तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उपसभापति, खोज विभाग के निर्देशक तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक रहे हैं। सन् १९६० ई० में पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति के आमन्त्रण पर वे वहाँ के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर होकर चण्डीगढ़ चले गये। सन् १९६८ ई० में ये फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बुला लिए गए और वहाँ रेक्टर नियुक्त हुए और फिर वहीं हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण विभाग के निदेशक नियुक्त हुए। वह काम समाप्त होने पर उत्तर प्रदेश

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष हुए। आप की मृत्यु सन् १९७८ ई० में हुई।

यद्यपि मूलत: द्विवेदी जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के आलोचक हैं फिर भी साहित्य को एक अविच्छिन्न विकास-परम्परा में देखने पर बल देकर द्विवेदी जी ने हिन्दी समीक्षा को नयी दिशा दी। साहित्य के इस नैरन्तर्य का विशेष ध्यान रखते हुए भी वे लोक-चेतना को कभी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते। वे मनुष्य की श्रेष्ठता के विश्वासी हैं और उच्चकोटि के साहित्य में इसकी प्रतिष्ठा को वे अनिवार्य मानते हैं। संस्कारजन्य क्षुद्र सीमाओं में बँध कर साहित्य ऊँचा नहीं उठ सकता। अपेक्षित ऊँचाई प्राप्त करने के लिए उसे मनुष्य की विराट् एकता और जिजीविषा को आयत्त करना होगा। द्विवेदी जी ने चाहे काल विशेष के सम्बन्ध में लिखा हो, चाहे कवि विशेष के सम्बन्ध में, उन्होंने अपनी आलोचनाओं में यह बराबर ध्यान रखा है कि आलोच्य युग या कवि ने किन श्रेयस्कर मानवीय मूल्यों की सृष्टि की है। कोई चाहे तो उन्हें मूल्यान्वेषी आलोचक कह सकता है पर वे आप्त मूल्यों की अडिगता में विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में मूल्य बराबर विकसनशील होता है, उसमें पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती चिन्तन का मिश्रण होता है। संस्कृत, अपभ्रंश आदि के गम्भीर अध्येता होने के कारण वे साहित्य की सुदीर्घ परम्परा का आलोड़न करते हुए विकसशील मूल्यों का सहज ही आकलन कर लेते हैं।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (दे०) उनके सिद्धान्तों की बुनियादी पुस्तक है, जिसमें साहित्य को एक अविच्छिन्न परम्परा तथा उसमें प्रतिफलित क्रिया-प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा गया है। नवीन दिशा-निर्देश की दृष्टि से इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व है। अपने फक्कड़ व्यक्तित्व, घर फूँक मस्ती और क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण कबीर ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया। 'कबीर' पुस्तक में उन्होंने जिस सांस्कृतिक परम्परा, समसामयिक वातावरण और नवीन मूल्यानुचिन्तन का उद्घाटन किया है, वह उनकी उपरिलिखित आलोचनात्मक दृष्टि के सर्वथा मेल में है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में द्विवेदी जी ने नवीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो शोध परक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उससे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पुन: परीक्षण की आवश्यकता महसूस की जा रही है। 'नाथ सम्प्रदाय' में सिद्धों और नाथों की उपलब्धियों पर गम्भीर विचार व्यक्त किये गये हैं। 'सूर-साहित्य' उनकी प्रारम्भिक आलोचनात्मक कृति है, जो आलोचनात्मक उतनी नहीं है, जितनी भावात्मक। इनके अतिरिक्त उनके अनेक मार्मिक समीक्षात्मक निबन्ध विभिन्न निबन्ध-संग्रहों में संगृहीत हैं, जो साहित्य के विभिन्न पक्षों का गम्भीर उद्घाटन करते हैं।

द्विवेदी जी जहाँ विद्वत्तापरक अनुसन्धानात्मक निबन्ध लिख सकते हैं, वहाँ श्रेष्ठ निर्बन्ध निबन्धों की सृष्टि भी कर सकते हैं। उनके निर्बन्ध निबन्ध हिन्दी निबन्ध-साहित्य की मूल्यवान् उपलब्धि हैं। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में विद्वत्ता और सरसता का, पाण्डित्य और विदग्धता का, गम्भीरता और विनोदमयता का, प्राचीनता और नवीनता का जो अद्भुत संयोग मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन विरोधाभासी तत्त्वों से निर्मित उनका व्यक्तित्व ही उनके निर्बन्ध निबन्धों में प्रतिफलित हुआ है। अपने निबन्धों में वे बहुत ही सहज ढंग से, अनौपचारिक रूप में, 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गये', 'अशोक के फूल', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'कुटज' आदि की चर्चा करते हैं, जिससे पाठकों का आनुकूल्य प्राप्त करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। पर उनके निबन्धों का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए जगह-जगह बिखरे हुए सांस्कृतिक-साहित्यिक सन्दर्भों को जानना बहुत आवश्यक है। इन सन्दर्भों में उनकी ऐतिहासिक चेतना को देखा जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण निबन्ध पढ़ने के बाद पाठक नये मानवतावादी मूल्यों की उपलब्धि भी करता चलता है। उनमें अतीत के मूल्यों के प्रति सहज ममत्व है किन्तु नवीन के प्रति कम उत्साह नहीं है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्विवेदी जी का अपने ढंग का असमानान्तर उपन्यास है, जो अपने कथ्य तथा शैली के कारण सहृदयों द्वारा विशेष रूप से समादृत हुआ है। यह हिन्दी उपन्यास साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। इस उपन्यास में उनके विस्तृत और गम्भीर अध्ययन तथा कारयित्री प्रतिभा का अद्भुत मिश्रण हुआ है। इसके माध्यम से अपने जीवन-दर्शन के विविध पक्षों को उद्घाटित करते हुए उन्होंने इसे वैचारिक दृष्टि से भी विशिष्ट ऊँचाई प्रदान की है। हर्षकालीन जिस विशाल फलक पर बाणभट्ट को चित्रित किया गया है, वह गहन अध्ययन तथा गत्यात्मक ऐतिहासिक चेतना की अपेक्षा रखता है। कहना न होगा कि द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के निर्माण में इस ऐतिहासिक चेतना का बहुत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि वे समाज और संस्कृति के विविध आयामों को, उसके सम्पूर्ण परिवेश को, एक आवयविक इकाई (आरगैनिक यूनिटी) में सफलता पूर्वक बाँधने में समर्थ हो सके हैं।

इस उपन्यास में कुछ पात्र, घटनाएँ और प्रसंग इतिहासाश्रित हैं और कुछ काल्पनिक। बाण, हर्ष, कुमार कृष्ण, बाण का घुमक्कड़ के रूप में भटकते फिरना, हर्ष द्वारा तिरस्कृत और सम्मानित होना आदि इतिहास द्वारा अनुमोदित हैं। निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, महामाया, अवधूत पाद तथा इनसे सम्बद्ध घटनाएँ कल्पना-प्रसूत हैं। इतिहास और कल्पना के समुचित विनियोग द्वारा लेखक ने उपन्यास को जो रूप-रंग दिया है, वह बहुत ही आकर्षक बन पड़ा है। इस ऐतिहासिक उपन्यास में मानव-मूल्य की नये मानवतावादी मूल्य की–प्रतिष्ठा करना भी लेखक का प्रमुख उद्देश्य रहा है। जिनको लोक 'बण्ड' या कुल भ्रष्ट समझता है, वे भीतर से कितने महान् हैं इसे बाणभट्ट और निपुणिका (निउनिया) में देखा जा सकता है। लोक चेतना या लोक शक्ति को अत्यन्त विश्वासमयी वाणी में महामाया द्वारा जगाया गया है। यह लेखक का अपना भी विश्वास है। द्विवेदी जी प्रेम को सेक्स से असम्पृक्त न करते हुए भी उसे जिस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करते हैं, वह सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। प्रेम के उच्चतर सोपान पर पहुँचने के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करना पड़ता है। निपुणिका को नारीत्व प्राप्त हुआ तपस्या की अग्नि में गलने पर। बाणभट्ट की प्रतिभा को चार चाँद लगा प्रेम का उन्नयनात्मक स्वरूप समझने पर। सुचरिता को अभीप्सित की उपलब्धि हुई प्रेम के वासनात्मक स्वरूप की निष्कृति पर। शैली की दृष्टि से यह पारम्परिक स्वच्छन्दतावादी (क्लैसिकल

रोमाण्टिक) रचना है। बाणभट्ट की शैली को आधार मानने के कारण लेखक को वर्णन की विस्तृत और संश्लिष्ट पद्धति अपनानी पड़ी है पर बीच-बीच में उसकी अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति भी जागरूक रही है, जिससे लम्बी अलंकृत शैली की दुरूहता का बहुत कुछ परिष्कार हो जाता है। उनका दूसरा उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' भी प्रकाशित हो चुका है।

कृतियाँ—'सूर साहित्य' (१९३६ ई०) 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४० ई०), 'प्राचीन भारत में कलात्मक विनोद' (१९४० ई०), 'कबीर' (१९४२ ई०) 'बाणभट्ट, की आत्मकथा' (उपन्यास, १९४७ ई०), 'अशोक के फूल' (नि० १९४८ ई०), 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५० ई०), 'कल्पलता' (नि० १९५१ ई०), 'हिन्दी साहित्य' (१९५२ ई०), 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' (सम्पादित १९५७ ई०), 'विचार प्रवाह' (नि० १९५९ ई०) 'मेघदूत : एक पुरानी कहानी' (१९५७ ई०), 'सन्देशरासक' (संवत् १९६० ई०) 'विचार और वितर्क' (१९५४) 'पृथ्वीराज रासो' (सं०) कालिदास की लालित्य योजना' (१९६७ ई०), 'मध्ययुगीन बोध' (१९७० ई०), 'आलोक पर्व' (१९७१ ई०)

—ब० सि०

हनुमन्नाटक १—संस्कृत का यह नाटक महानाटक नाम से प्रसिद्ध है। इसके दो संस्करण प्राप्त हुए हैं। प्रथम संस्करण के रचयिता दामोदर मिश्र हैं। सम्भवतः यही प्राचीनतर संस्करण है। इसमें अंकों की संख्या १४ है। इसका कथानक रामायण के आधार पर है। इस नाटक की अनेक विशेषताएँ हैं। प्रथम विशेषता यह है कि इसके आरम्भ में नाटककार ने कोई प्रस्तावना नहीं दी है। दूसरी विशेषता यह है कि नाटक में कहीं पर प्राकृत का प्रयोग नहीं किया गया है। तीसरी विशेषता यह है कि इसमें पद्यात्मक अंशों का बाहुल्य तथा गद्यात्मक अंशों की न्यूनता है। चौथी विशेषता यह है कि इसमें पात्रों की संख्या बहुत है। अन्तिम विशेषता यह है कि इसमें विदूषक का अभाव है। इसके रचयिता दामोदर मिश्र के सम्बन्ध में कहा जाता है ये राजा भोज के यहाँ रहते थे। अतः इनका समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्व भाग समझना चाहिए।

संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के द्वितीय संस्करण के रचयिता मधुसूदनदास हैं। इस संस्करण में अंकों की संख्या ९ है।

हिन्दी में रामभक्त हनुमान् की उपासना में अनेक रचनाएँ हुईं। स्वामी रामानन्द ने हनुमान् जी की स्तुति लिखी। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अनेक स्थलों पर उनकी वन्दना की। 'हनुमानबाहुक' उन्होंने हनुमान् जी पर लिखा है। इसी प्रकार रायमल्ल पाण्डेय ने संवत् १६९६ में 'हनुमच्चरित्र' लिखा। रीतिकालीन कवि भगवन्तराय खीची ने 'हनुमत् पचीसी' तथा मनियार सिंह ने 'हनुमत् छब्बीसी' नामक रचनाएँ कीं। साथ ही इसी काल के खुमान कवि ने 'हनुमन नखशिख पंचक' तथा 'हनुमान पचीसी' नाम से रचनाएँ कीं।

संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के हिन्दी में दो अनुवाद हुए:— (१) हृदयरामकृत 'भाषा हनुमन्नाटक', (२) बलभद्र मिश्रकृत 'हनुमन्नाटक'।

इन दो अनुवादों के अतिरिक्त खोज में एक और 'हनुमाननाटक' रचना प्राप्त हुई है, जिसके रचयिता रीतिकालीन राम कवि कहे जाते हैं।

हृदयराम ने 'भाषा हनुमन्नाटक' की रचना संवत् १६८० (१६२३ ई०) में की। इसकी भाषा परिमार्जित है। इस नाटक में कवि ने कवित्त और सवैयों में संवादों की रचना की, जो अत्यन्त प्रभावशाली हैं। हृदयराम के पिता का नाम कृष्णदास था। ये पंजाब के निवासी थे। राम और हनुमान् के संवाद का कितना अच्छा उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में प्राप्त होता है:— "ऐहो हनू कह्यौ श्री रघुवीर कछू सुधि है सिय की छिति माँहीं।। है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहूँ रावन बाग की छाँही।। जीवति है? कहिवेई को नाथ, सु क्यों न मरी हम तें बिछुराही? प्रान बसै पदपंकज में जमं आवत है पर पावत नाहीं।।"

इसी प्रकार लक्ष्मण जी की सीता जी के प्रति श्रद्धा और भक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में झलकती है:— 'जानकी को मुख न विलोक्यो ताते कुण्डल, न जानत हौं, वीर पाँय छुवै रघुराइ के। हाथ जो निहारै नैन फूटियो हमारे, ताते कंकन न देखे, बोल कह्यो सतभाइके।। पाँयन के परिबे कौ जाते दास लछमन, यातें पहिचानत है भूषन जे पाँय के। बिछुआ हैं एई, अरु झझांर हैं एई जुग, नूपुर है तेई राम जानत जराई के।।"

दूसरा अनुवाद बलभद्र मिश्र का है। ये कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका जन्म संवत् १६०० (१५४३ ई०) के आस पास माना जाता है। ये ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पण्डित काशीनाथ था। इनकी प्रसिद्ध रचना 'नखशिख श्रृंगार' है। संवत् १८९१ (१८३४ ई०) में गोपाल कवि ने इस ग्रन्थ पर एक टीका लिखी। गोपाल कवि ने ही बलभद्र रचित तीन अन्य ग्रन्थों की सूचना दी है—'बलभद्री व्याकरण', 'हनुमन्नाटक' तथा 'गोवर्द्धनसतसई टीका।'

—शि० शे० मि०

हनुमन्नाटक २—हृदयराम पंजाबी ने सन् १६२३ ई० में 'हनुमन्नाटक' नामक काव्य-नाटक का प्रणयन किया। नाटककार का पूरा नाम हृदयराम भल्ला था। मैंने पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर के पुस्तकालय में इनका एक काव्यग्रन्थ 'सुदामाचरित' देखा था। इनका एक दूसरा काव्य ग्रन्थ, जो खण्डित प्रति के रूप में था, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के अनुसन्धान विभाग में था। इसका नाम था 'रुक्मिणी मंगल'। कविता में हृदयराम ने अपना उपनाम 'राम' रखा है।

'हनुमन्नाटक' संस्कृत 'हनुमन्नाटक' का शुद्ध अनुवाद नहीं है, छायानुवाद हम भले ही कह लें। दोनों में साम्य इतना ही है कि स्थूल रूप से अंक, कथा एवं पात्र एक ही हैं, नही तो वैषम्य बहुत है— १. हिन्दी 'हनुमन्नाटक' में ११८३ छन्द हैं। इनमें से शुद्ध अनूदित छन्द केवल ३८ हैं ('हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास' : डा० दशरथ ओझा, प्र० सं० पृ० १५४)। २. मूल नाटक में परशुराम जी धनुष भंग होते ही आ जाते हैं किन्तु हिन्दी नाटक में वे विवाहोपरान्त आते हैं। ३. संस्कृत नाटककार ने कैकेयी वरदान प्राप्ति और राम वनगमन प्रसंग को कोई महत्त्व नहीं दिया है और पूरे प्रसंग को तीन श्लोकों में समाप्त कर दिया है ('हनुमन्नाटक', मुम्बई में मुद्रित, प्र० सं० ३-३, ४, ५), हिन्दी नाटकों में इस प्रसंग का अत्यधिक विस्तार है और ८९ छन्दों में यह कथा कही गयी है ('हनुमन्नाटक' : हृदयराम, वेंकटेश्वर प्रकाशन, अंक—२ के सभी छन्द), ४. संस्कृत नाटक में राम-सीता की सुहागरात का घोर श्रृंगारिक

चित्रण है ('हनुमन्नाटक', संस्कृत, २-१० से ३० तक), जब कि हृदयराम ने इस पूरे प्रसंग को छोड़ दिया है, केवल एक पंक्ति में इसकी सूचना भर दे दी है। वह पंक्ति है—"राम समाज जुरोपुर में सिय राम मिले मन आनन्द भारी" (२-४)। ५. संस्कृत नाटक में राम-भरत का चित्रकूट पर मिलन-प्रसंग नहीं है। हिन्दी नाटककार ने इसको बहुत विस्तार दिया है ('हनुमन्नाटक' : हृदयराम, ३-१८ से ४९ तक)। यही नहीं, राम भरत को राजनीति की शिक्षा भी देते हैं ('हनुमन्नाटक' : हृदयराम, ३-४१ से ४३ तक)। ६. संस्कृत नाटककार ने शूर्पणखा प्रसंग छोड़ दिया है। हृदयराम ने इस प्रसंग को हृदय की पूरी भावुकता से संजोया है। फलतः यह पूरा प्रसंग नाटक के सुन्दरतम स्थलों में से एक है। हृदयराम की शूर्पणखा एक सुन्दर युवती है, जो बड़ी लम्पट है। राम के असाधारण सौन्दर्य को सुनकर वह दौड़ पड़ती है। उस समय उसकी कैसी दशा थी—"वैरी शिव जागो तकि तैसे पाछें लाग्यो, जैसे पारो जाय भाग्यो देख सुन्दर स्वरूप को। लाम्बी डग भरी ठौर ठौर गिर परी, राम देखे जिह धरि देख रही मुख रूप को।।" (३-६९)। नाटककार ने राम-शूर्पणखा संवाद अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक बनाया है, जो अत्यन्त मौलिक भी है। ७. संस्कृत नाटक में हनुमान् जी समुद्र लाँघकर तुरन्त सीताजी के पास पहुँच जाते हैं, इधर हिन्दी नाटक में वाल्मीकि का अनुगमन किया गया है। हनुमान् जी पर्वत, सरिताओं में खोजते हैं, अखाड़े और घर-द्वार देखते हैं, रावण-रनिवास में मन्दोदरी को देख कर उछल पड़ते हैं किन्तु निकट ही रावण को देखकर वे समझ जाते हैं कि यह सीता नहीं हो सकती। ८. संस्कृत नाटक में प्रस्तावना है, हिन्दी में नहीं है।

'रामायण महानाटक' एवं अन्य ब्रजभाषा नाटकों के समान इस नाटक की शैली प्रबन्धात्मक है। नाटक में पात्र तो कथोपकथन करते ही हैं परन्तु साथ ही कवि भी उपस्थित है और कथा कहता है, वर्णन करता है एवं पात्रों का प्रवेश निष्क्रमण कराता है बहुत से स्थानों पर लिखा मिलता है "कवि की उक्ति" या "कवि का वचन"। यही देखकर कुछ आलोचकों ने घोषणा कर दी है कि यह एवं ऐसे अन्य ब्रज भाषा नाटक नाटक नहीं हैं। उनका प्रधान तर्क है कि यह शैली प्रबन्धात्मक है, जिसमें कवि स्वयं कथा कह रहा है किन्तु यह शैली हृदयराम को संस्कृत नाटक से ही मिली है। मूल नाटक में भी कवि स्वयं कथा कहता है (१-५, ६ ७, सम्पूर्ण दूसरा अंक), वर्णन करता है (२-३ से १० तक) एवं पात्र प्रवेश कराता है (१-२८, २९, ३०, ३१)। हृदयराम ने इसी शैली को विस्तार से अपना लिया है। प्रबन्धात्मक शैली अपनाने का दूसरा कारण है तत्कालीन जन-नाट्य शैली, जो रामलीलाओं के माध्यम से जनता में प्रवेश कर रही थी। संस्कृत नाटक में भी पद्य की प्रधानता है। हृदयराम ने गद्य को बहिष्कृत ही कर दिया है। यह भी जन-नाट्य शैली का प्रभाव था। आगे आने वाले ब्रजभाषा नाटककारों ने जहाँ एक ओर प्रचलित जन नाटकों की ओर ध्यान दिया, वहाँ उन्हें 'रामायण महानाटक' और 'हनुमन्नाटक' से भी प्रेरणा मिली।

—गो० ना० ति०

हनुमान्—रामकथा के उत्तरांश में हनुमान् का महत्त्व शेष पात्रों से कहीं अधिक है। हनुमान् की उत्पत्ति-विषयक धारणाओं में प्रायः विद्वानों में वैमत्य है। राम-कथा को कृषि रूपक में घटित करने वाले पाश्चात्य विद्वान् डा० याकोबी का मत है कि हनुमान् वर्षा के देवता हैं। उन्होंने हनुमान् और इन्द्र को प्रायः पर्यायवाची सिद्ध करते हुए अपने मत की पुष्टि की है। इन्द्र के एक वैदिक पर्याय 'शिप्रावत्' का उल्लेख करते हुए निरुक्ति के सूत्र 'शिप्रे हनु नाषिके वा' का संकेत किया गया है। यही नहीं, हनुमान के अन्य नामों से मारुति, मारुत सुत आदि नाम इन्द्र के मरुत-संघों का स्मरण दिलाते हैं। इन्द्र एवं हनुमान् के परस्पर संघर्ष का उल्लेख पौराणिक कथाओं से भी हो जाता है—जहाँ इन्द्र के वज्र से हनुमान् की हनु (ठुड्ढी) के टेढ़े होने का उल्लेख मिलता है। दिनेश चन्द्र सेन का मत है कि 'वाल्मीकि रामायण' के पूर्व हनुमान् के वीरतासम्बन्धी अनेक आख्यान प्रचलित रहे होंगे वाल्मीकि ने स्वेच्छया उनका प्रयोग किया होगा। डा० कामिल बुल्के इन सबके विपरीत अपना मत देते हैं कि हनुमान् द्रविड़ देवता 'आणमन्द' वर्षा-कपिः के रूपान्तरण हैं।

हनुमान् अपने पराक्रम के लिए 'वाल्मीकि-रामायण' के द्वारा प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी वीरता का उल्लेख काल्पनिक योजनाओं से सम्बद्ध करके वाल्मीकि ने इतनी रमणीयता से किया है कि वे दैवी-शक्तिसम्पन्न ज्ञात होने लगते हैं। वे स्वतः अपने पराक्रम से रावण की अहम्मन्यताओं पर अनेक बार प्रहार करते हैं। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में भी हनुमान् के पराक्रम का उल्लेख रामोपाख्यान तथा महाभारत युद्ध में हुआ है। पौराणिक काव्य में वीरता के साथ-साथ उनमें कलात्मक सुरुचियों को भी समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया और 'हनुमान् संहिता' में उनकी कवि रूप में स्तुति की गयी। यही कारण है कि संस्कृत के ललित साहित्य में उनके द्वारा प्रणीत 'हनुमन्नाटक' का भी उल्लेख होता है किन्तु यह किंवदन्तीमात्र ही है। अवतारवाद की प्रतिष्ठा हो जाने पर हनुमान् को विष्णु के पार्षद-रूप में चित्रित किया गया है। यही नहीं, 'हनुमान् संहिता', 'सौर रामायण' तथा 'चान्द्र रामायण' में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, हनुमान् के परस्पर संवाद से उनके गौरवशाली व्यक्तित्व की सूचना मिलती है।

हिन्दी-साहित्य में राम-काव्य की परम्परा से सम्बद्ध 'हनुमंतगामीरास' का उल्लेख मिलता है। इसकी रचना १६ वीं शती विक्रमी के लगभग हुई थी। ठीक इसी के पश्चात् ब्रह्मरायमल्ल की 'हनुमंतगामी' कथा का उल्लेख मिलता है। इन्हीं के समकालीन कवि सुन्दरदास ने भी 'हनुमान् चरित' नामक एक लघु-काव्य की रचना की। इन तीनों रचनाओं का वर्ण्य-विषय वस्तुतः हनुमान् की अलौकिक शक्ति का निरूपण करना ही है। अस्तु इनमें हनुमान् के चरित्र की मौलिक विशेषता खोजना असमीचीन होगा।

ठीक इन्हीं रचनाओं के समानान्तर हिन्दी-साहित्य में भक्ति का आन्दोलन चल पड़ा। भक्ति-साहित्य में वीरता एवं पराक्रम के साथ-साथ इनका व्यक्तित्व भक्त-शरण्य के रूप में ग्राह्य हुआ। हिन्दी में सूरदास ने अपने राम-कथा सम्बन्धी स्फुट पदों में हनुमान् के अतुलित बल की सराहना करते हुए स्वयं राम के घोर संकट में उनके एकमात्र समर्थ सहायक होने का उल्लेख किया है। सीताहरण तथा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर वे राम की जो सहायता करते हैं तथा उन्हें आश्वासन देते हैं,

उसमें हनुमान् के प्रति व्यक्त किये गये इस लोकविश्वास की प्रथम अभिव्यक्ति हुई है कि वे सभी के संकट के साथी हैं। तुलसीदास ने भी इसी रूप में इनका चरित्र-चित्रण किया है।

तुलसीदास की रचनाओं से सूचित होता है कि हनुमान् उनके आदि इष्टदेव थे, जिनका उन्हें अपने प्रारम्भिक जीवन की निःसहायता में एकमात्र आश्रय मिला था। किसी हनुमान् मन्दिर में रहकर कदाचित् तुलसी ने भीख माँगकर अपनी बाल्यावस्था बितायी थी। 'हनुमान बाहुक' में तुलसीदास ने अपने घोर शारीरिक कष्ट के समय उनसे संकट निवारण की प्रार्थना की थी। तुलसी के काव्य में हनुमान् एक प्रमुख पात्र हैं तथा राम के सबसे निकट के सेवक होने के नाते तुलसी के विश्वसनीय आश्रय हैं। अतः उन्हें केन्द्र बनाकर तुलसी ने 'हनुमान बाहुक' के अतिरिक्त कहा जाता हैं 'हनुमान् चालीसा', 'हनुमान स्तोत्र', 'बजरंग बाण' रचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'रामचरितमानस' में हनुमान् का चरित्र पुनः वाल्मीकि के समान ही महत्त्वपूर्ण बन गया। वे 'वाल्मीकि रामायण' के समान मात्र साहस, पराक्रम, अनन्त शौर्य के लिए ही स्तुत्य नहीं हुए, अपितु राम के भक्त और सखा के रूप में तुलसी ने अनेक बार इनकी प्रशंसा की है। हनुमान् की वीरता का उल्लेख यद्यपि 'रामचन्द्रिका' में भी हुआ है किन्तु उसमें कृत्रिमता के अंश अधिक आ गये हैं। हनुमान् के इस ओजस्वी चरित्र का विकास आगे नहीं हो सका। आधुनिक काल में हनुमान् के शौर्य एवं पराक्रम को लेकर केवल एक ही काव्य 'जय हनुमान्' श्यानारायण पाण्डेय द्वारा लिखा गया है। प्रस्तुत काव्य में हनुमान्-चरित्र के वे ही स्थल आ पाये हैं, जो स्वतन्त्र कथात्मकता को गति दे सकते हैं।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा : डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग; तुलसीदास : डा० माता प्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।]

—यो० प्र० सिं०

हनुमान प्रसाद पोद्दार—शिक्षा समाप्त करने के बाद १९२२ ई० में आपने गोरखपुर में 'कल्याण' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और गीता प्रेस, गोरखपुर की स्थापना की। पोद्दार जी का मुख्य उद्देश्य था हिन्दू धर्म-ग्रन्थों को आधुनिक रूप में प्रस्तुत करना और संस्कृत में उपलब्ध साहित्य को खड़ीबोली हिन्दी में अनूदित करके सामान्य जनता तक पहुँचाना। इसमें सन्देह नहीं कि आपके इस कठिन परिश्रम से उत्तर भारत में हमारे पौराणिक और धार्मिक ग्रन्थों की व्यापकता और उसका प्रसार अधिकाधिक रूप में हुआ।

पोद्दार जी का कार्य कई प्रकार का है। आपने कुछ अनुवाद भी किये हैं और कुछ मौलिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। किन्तु इन सबसे बढ़कर आपका कार्य उस विशिष्ट प्रकार के सम्पादन को प्रस्तुत करना है, जो दर्शन की भाषा और जनता के बोध दोनों का निर्वाह कर सके। उपनिषदों के अनुवादों में, जहाँ हमें एक प्रकार की भाषा मिलती है, वहीं पुराणों के प्रकार में दूसरी विधा की भाषा न मिलकर एक ही स्तर की भाषा मिलती है। पुराण और उपनिषदों की विवेचना में इस साधारण स्तर को प्रयोग में लाकर प्रेषणीयता को इतना व्यापक बनाना—यह आपके सम्पादन, निर्देशन की सबसे बड़ी सफलता है।

अंग्रेजी में भी आपने कई ग्रन्थ लिखे हैं और 'कल्याणकल्पतरु' के नाम से एक मासिक पत्र भी निकालते रहे हैं, जिसमें हिन्दू धर्म के विभिन्न पक्षों पर विचार विनिमय एवं उसकी सूक्ष्म व्याख्या होती है।

—ल० कां० व०

हनुमान बाहुक—यह रचना तुलसीदास की है। इसमें कुल मिलाकर ४४ छन्द हैं। प्रारम्भ में दो छप्पय तथा एक झूलना है, शेष सभी छन्द कवित्त (घनाक्षरी) अथवा सवैया (मत्तगयन्द) हैं। यह रचना भी 'कवितावली' के अन्त में संकलित छन्दों की भाँति कवि के जीवन की एक विशेष घटना से सम्बन्ध रखती है। जीवन के अन्तिम वर्षों में वह वात-व्याधि से पीड़ित रहा करता था, सम्भवतः परिवर्धित होकर उसी ने बाहु पीड़ा और तदनन्तर शरीर के प्रायः समस्त अंगों की पीड़ा का रूप धारण किया था। इसके बाद शरीर भर में बरतो के जैसे फोड़े निकल आये थे, जिसकी वेदना असह्य हो गयी थी। इन्हीं सबके शमन के लिए हनुमान् तथा तदनन्तर राम से की गयी प्रार्थनाएँ 'बाहुक' के छन्दों में संगृहीत हैं।

रचना के प्रारम्भ के १९ छन्दों तक हनुमान् की विरुदावली का गान किया गया है और तदनन्तर ३५ छन्दों तक उनसे बाहु-पीड़ा के शमन के लिए प्रार्थना की गयी है। ३६ वें तथा ३७ वें छन्दों में इसी के लिए राम से प्रार्थना की गयी है। ३८ वें छन्द में बाहु-पीड़ा के साथ-साथ पाद-पीड़ा, पेट-पीड़ा, मुख-पीड़ा तथा समस्त शरीर की पीड़ा का उल्लेख किया गया है, जिनका शमन ३९ वें छन्द में राम-लक्ष्मण के स्मरण से बताया गया है। ४०-४२ वें छन्दों में बरतोर के फोड़ों से त्राण पाने के लिए राम से प्रार्थना की गयी है। ४३ तथा ४४ वें छन्दों में एक साथ राम, हनुमान् तथा शिव से रोग सिन्धु की गोपद-जल कर डालने के लिए अन्तिम बार प्रार्थना की गयी है किन्तु इस रोग के शमन का कोई उल्लेख 'बाहुक' के छन्दों में नहीं हुआ है।

इन छन्दों में हनुमान् और राम का स्मरण कवि ने जीवन के प्रारम्भ से ही अपने रक्षक के रूप में किया है। हनुमान् के लिए उसने कहा है कि जब वह बचपन में टुकड़ों के लिए दर-दर फिरता था, हनुमान् ने ही उसका भार सँभाला तथा पालन किया (छन्द २९, ३४)। ४० वें छन्द में उसने कहा है "बचपन में वह राम नाम लेता हुआ टुकड़े माँगता खाता फिरता था किन्तु फिर लोकरीति में पड़कर वह राम की पवित्र प्रीति का सम्बन्ध मोहवश अचानक तोड़ बैठा। इस समय वह खोटे आचरणों में पड़ गया किन्तु हनुमान् ने उन आचरणों से उसका उद्धार किया और पुनः कवि ने राम के करों की छाया प्राप्त की किन्तु तदनन्तर 'गुसाईं' हो जाने पर उसने पुनः कृतघ्नतावश राम को भुला दिया और इसी का फल वह भुगत रहा है। इसी कारण बरतोर के बहाने राम का नमक उसके शरीर से फूट-फूट कर निकल रहा है।" ४१ वें छन्द में उसने अपना यह अनुमान स्पष्ट व्यक्त किया है। इन छन्दों में पीड़ा की एक सबल अभिव्यक्ति हुई है और इनसे कवि के जीवन के कुछ अन्धकारपूर्ण अंशों पर आमूल प्रकाश पड़ा है, इसलिए 'बाहुक' के इन छन्दों का कवि की रचनाओं में एक अपना स्थान है।

—मा० प्र० गु०

हफीजुल्लाह खाँ— ये जाति के अफगान और जिला हरदोई के

निवासी थे। इन्होंने अपने 'हजारा' (ग्रन्थ की भूमिका में अपना परिचय इस प्रकार से दिया है :—

"मैं कौम अफगान का करजई, कसवै साँड़ी, मुहल्ला ऊँचा टीला निकट दरियाय गर्रा, जिला हरदोई, मुल्क अवध का निवासी २० वर्ष की अवस्था से मदर्सा बन्नापुर, डाकखाना बघौली, जिला हरदोई का अध्यापक हूँ जिसको दस वर्ष के करीब यहाँ व्यतीत हो गये।"

इनका जन्म सन् १८५७ ई० में हुआ था और ५ वर्ष की अवस्था से इन्होंने फारसी पढ़ना प्रारम्भ किया था। इन्होंने प्राचीन ब्रजभाषा के उत्कृष्ट छन्दों के कई अद्वितीय संकलन ग्रंथ प्रस्तुत किये हैं, जिनमें हफीजुल्लाह खां का 'हजारा' का प्रथम संस्करण सं० १९३२ में मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से निकला था। दूसरे दो भाग हैं जो एक ही ग्रन्थ में मुद्रित हुए हैं। प्रथम भाग में १०२२ छन्द हैं और द्वितीय भाग में कुल ११६२ चुने हुए छन्द संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ की विषय सूची इस प्रकार है:—

प्रथम भाग—वन्दना, राधिका और रूक्मिणी की स्तुति, वस्त्र और आभूषण वर्णन। द्वितीय भाग-षट्ऋतु वर्णन, दोहरे काफिये के छन्द, कलिगति का वर्णन, दुष्ट और सज्जन का वर्णन, दो अर्थी छन्द, समस्या भाषा और फारसी मिले हुए छन्द, फुटकर कवित्त।

इनका दूसरा महत्वपूर्ण संग्रह ग्रन्थ षट् ऋतु एक संग्रह है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सितम्बर सन् १८८९ ई० में मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से निकला था।

इन संग्रहों के अतिरिक्त इनके कुछ और संग्रह ग्रन्थ हैं, जो मुंशी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुके हैं—यथा, मनमोहिनी, नवीन संग्रह, प्रेमतरंगिनी आदि।

[सहायक ग्रंथ-खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास-ब्रज रत्नदास, षट् ऋतु काव्य संग्रह-हफीजुल्लाह खां का 'हजारा]

—कि० ला०

हम्मीर-हठ—'हम्मीर-हठ' काव्य के रचयिता चन्द्रशेखर वाजपेयी (१७९८-१८७५ ई०) हैं। इन्होंने अपने आश्रय दाता पटियाला नरेश नरेन्द्र सिंह (१८४५-६२ ई०) के आदेश से इसकी रचना फाल्गुन कृष्णा ४, रविवार सं० १८०२ (१७४५ ई०) को की थी (छं० ३-५)। यह पुस्तक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित लहरी बुकडिपो, बनारस से छप चुकी है (तृतीय संस्करण, १९३३ ई०) इसमें ४०३ छन्दों में रणथम्भोर के राव हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन किया गया है। सेना की तैयारी, आतंक, युद्ध, जौहर आदि का वर्णन करने में चन्द्रशेखर को पर्याप्त मात्रा में सफलता मिली है। इस काव्य के नायक हम्मीर तथा उनकी माता का चरित्र-चित्रण करने में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। प्रतिनायक अलाउद्दीन से मूषक को मरवाने में परम्परागत प्रसंग का अनुसरण किया गया है। फलतः उसके चरित्र का समुचित चित्रण नहीं हो सका है। इसमें वीर-रस की प्रधानता है। प्रासंगिक रूप में श्रृंगार, रौद्र तथा वीभत्स रसों का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह आदि अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग से इस रचना में काव्य-सौष्ठव का समावेश हो गया है। 'हम्मीर-हठ' में दोहा, सोरठा, चौपाई, सवैया, झूलना, कवित्त, त्रिभंगी, भुजंगप्रयात, छप्पय, पद्धरी, त्रोटक तथा मोतीदाम छन्दों का प्रयोग हुआ है।

'हम्मीर-हठ' की शैली पर तुलसीकृत 'रामचरितमानस' (छं० ९०-१०४, १२३-१२५, १९४-१९५, २६३), भूषण (छं० ११९) तथा जोधराज के 'हम्मीर रासो' (छं० ६२-६३, ३५९-३६१) की स्पष्ट छाप वर्तमान हैं। विषयानुसार भाषा का प्रयोग हुआ है। संस्कृत की माधुर्य, ओज और प्रसादमयी पदावली के अतिरिक्त इसमें हिन्दी के आरन्न (अरण्य) विरतन्त (वृतान्त), फारसी के अदाब (आदाब), दिमाक (दिमाग) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। नजर न चाय के, सुख मोटनि लूटन लगे, जनु पाई निधि रंक आदि मुहावरों एवं कहावतों के प्रयोग से यह रचना अधिक सजीव हो गयी है। इस प्रकार 'हम्मीरहठ' साहित्य और इतिहास दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कृति है। वीर-काव्य-धारा में इसका एक अच्छा स्थान है।

[सहायक ग्रन्थ—मि० वि०; हि० सा० इ०; हि० वी० ।]

—टी० तो०

हम्मीर रासो—हिन्दी में अद्यावधि प्राप्त हम्मीरविषयक साहित्य में प्राचीनतम कदाचित् 'प्राकृत पैंगलम्' में संकलित हम्मीर-विषयक छन्द हैं। ये विविध वृत्तों के उदाहरणों के रूप में उसमें उद्धृत हुए हैं और संख्या में सात है। ये समस्त छन्द एक ही भाषा और शैली में रचे हुए हैं और इनमें से कोई दो भी ऐसे नहीं हैं, जिनमें परस्पर किसी प्रकार की पुनरावृत्ति मिलती हो। इसलिए ये समस्त छन्द किसी एक ही प्रबन्धात्मक रचना के ज्ञात होते हैं। कला की दृष्टि से भी ये किसी सुकवि की रचना प्रतीत होते हैं। असम्भव नहीं कि ये किसी 'हम्मीर रासो' के छन्द हों। उस युग में रासो काव्यों का सर्वप्रमुख लक्षण छन्द-वैविध्य था, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अब्दुर्रहमान का 'सन्देश-रासक' है। 'प्राकृत पैंगलम्' में इस एक ही रचना से सात विविध वृत्तों के उदाहरण लिये गये हैं, इसलिए अवश्य ही उस रचना में अन्य कुछ प्रकार के वृत्त अवश्य ही रहे होंगे। ऐसी दशा में यह हम्मीर विषयक रचना रासो-परम्परा की ज्ञात होती है। एक प्राचीन 'हम्मीर रासो' शार्ङ्गधर का प्रसिद्ध रहा है। शार्ङ्गधर के पितामह राघवदेव हम्मीर के आश्रित थे। इसलिए शार्ङ्गधर का समय हम्मीर से लगभग पचास वर्ष बाद माना जा सकता है। इन छन्दों में एक आध ऐसी बातें मिलती हैं, जो इतिहास-सम्मत नहीं हैं, यथा हम्मीर की खुरासान विजय। इसलिए ये छन्द हम्मीर की समकालीन किसी रचना के नहीं माने जा सकते। असम्भव नहीं कि हम्मीर के निधन के कुछ समय पीछे इस प्रकार के शौर्यपूर्ण कार्य उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध हो गये हों और शार्ङ्गधर या अन्य किसी कवि ने अपने समय में प्रचलित किंवदन्तियों का भी आधार लेते हुए इस अर्द्ध-ऐतिहासिक काव्य की रचना की हो। राहुल सांकृत्यायन ने इन छन्दों को जज्जल की कृति माना है किन्तु जाज या जज्जल हम्मीर का एक सामन्त है, जो उसके साथ इन छन्दों में वर्णित कुछ युद्धों में सम्मिलित होता है। इस जाज या जज्जल और हम्मीर का संवाद एक छन्द में आता है, जिसमें हम्मीर को सम्बोधन किया गया है। इसी से यह भ्रांति हुई ज्ञात होती है।

हिन्दी की दूसरी प्राचीन रचना, जिसमें हम्मीर की कथा संक्षेप में ही आती है, मंछ का 'हम्मीर का कवित्त' है। यह पुरानी राजस्थानी में केवल २१ छप्पयों में रचित है, 'कवित्त'

शब्द 'छप्पय' का पर्याय है। यह अलाउद्दीन और हम्मीर के युद्ध का एक अति संक्षिप्त वृत्त प्रस्तुत करती है। इसमें कहा गया है कि महिमा (मुहम्मद) शाह मंगोल अलाउद्दीन की सेना से निष्कासित किये जाने पर हम्मीर की शरण में आता है। अलाउद्दीन हम्मीर के पास उसे अपने यहाँ न रखने के लिए आदेश भेजता है, साथ ही वह हम्मीर से उसकी कन्या भी इसके दण्डस्वरूप मांगता है। हम्मीर इसे अस्वीकार करता है और उसी प्रकार उससे उसकी मरहटी बेगम को भिजवाने के लिये कहलाता है। इस पर अलाउद्दीन आक्रमण कर देता है। इस युद्ध में जाजा नामक हम्मीर का एक सामंत उसकी ओर से बड़ी वीरता से युद्ध करता हुआ मारा जाता है। जब हम्मीर को जीतने की कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती है तो जौहर होता है। महिमा मंगोल और हम्मीर भी लड़ते हुए मरते हैं। यह रचना भी काफी प्राचीन प्रतीत होती है। आगे जिस 'हम्मीर दे चउपई' का परिचय दिया जा रहा है, उसमें इसके तीन कवित्त उद्धृत हैं। इसलिए इसका रचनाकाल उसके पूर्व का होना चाहिए।

हम्मीरविषयक तीसरी प्राचीन हिन्दी रचना भाणकृत 'हम्मीर दे चउपई' है। यह भी पुरानी राजस्थानी में लिखी गयी है और संवत् १५३८ (१४८१ ई०) की कृति है। यह चउपई-दोहों में है, केवल कहीं-कहीं एक दो अन्य प्रकार के भी वृत्त आये हैं। इन्हीं में उपर्युक्त तीन कवित्त भी हैं, जो 'हम्मीर का कवित्त' में पाये जाते हैं। इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के बीच हुए युद्धों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसमें कुल ३२१ चउपइयाँ हैं। यह विवरण प्रायः उतना ही विस्तृत है, जितना जयचन्द्र सूरि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हम्मीर महाकाव्य' में मिलता है, जिसकी रचना संवत् १४६० (१४०३ ई०) के लगभग हुई मानी जाती है। इस रचना के अनुसार हम्मीर के साथ प्रथम संघर्ष अलाउद्दीन के सेनापति उलुग खाँ का होता है, जब हम्मीर उसके द्वारा अलाउद्दीन की सेना से निकाले गये दो अमीरों महिमा और गात्ररू को शरण देता है। इस आक्रमण में जब उलुग खाँ असफल रहता है, अलाउद्दीन स्वयं हम्मीर पर आक्रमण करता है, जिसमें हम्मीर मारा जाता है। इसमें गढ़ के पतन का कारण रणमल और रायपाल नामक हम्मीर के दो प्रधानों का अलाउद्दीन से जा मिलना बताया गया है। जयचन्द्र सूरि के महाकाव्य में हम्मीर के दो प्रधानों धर्म सिंह और भीमसिंह के जो इतिहास प्रसिद्ध झगड़े हैं, वे इसमें नहीं आते हैं, इसलिए इसकी रचना में 'हम्मीर महाकाव्य' का प्रभाव नहीं लक्षित होता है। जाजा इसमें भी हम्मीर की ओर से उसी प्रकार युद्ध करता हुआ मारा जाता है, जिस प्रकार वह 'हम्मीर का कवित्त' में। इसमें हम्मीर का निधन ज्येष्ठ अष्टमी शनिवार संवत् १३७१ (१३१४ ई०) को बताया गया है, जो अवश्य अशुद्ध है।

हम्मीरविषयक हिन्दी की चौथी प्राचीन कृति महेश रचित 'हम्मीर रासो' है। इसमें हम्मीर, अलाउद्दीन के युद्ध के अतिरिक्त हम्मीर के पूर्व-पुरुषों की भी कथाएँ संक्षेप में आती हैं किन्तु वे 'हम्मीर महाकाव्य' तथा इतिहासों में मिलने वाले विवरणों से प्रमाणित नहीं है। युद्ध का कारण इसमें भी हम्मीर का महिमा मंगोल को शरण देना हे, जो स्वयं अलाउद्दीन के द्वारा उसकी एक बेगम से अनुचित सम्बन्ध के कारण निष्कासित किया जाता है। इसमें हम्मीर के साथ युद्ध में उसका छाणगढ़ का सामन्त रणधीर सम्मिलित होता है, इसलिए बादशाह छाणगढ़ पर भी आक्रमण करता है, जिसमें रणधीर मारा जाता है। तदनन्तर वह पुनः हम्मीर पर आक्रमण करता है। गढ़ का पतन सुरजन नाक गढ़ के कोठारी के बादशाह से जा मिलने के कारण होता है। गढ़ में जौहर होता है और हम्मीर तथा महिमा मंगोल लड़ते हुए मारे जाते हैं। इस रचना में अलाउद्दीन दक्षिण सेतु-बँध तक जाकर और वहाँ शिव लिंग का स्पर्श कर समुद्र में कूद पड़ता है और प्राण-विसर्जन करता है। प्रकट है कि यह रचना इतिहास से बहुत दूर जा पड़ी है। इसका समय अनुमान से विक्रमी अठारहवीं शती का मध्य माना जा सकता है।

हम्मीर विषयक पाँचवी हिन्दी रचना जोधराज की 'हम्मीर रासो' है। इसे कवि ने संवत् १७८५ में रचा था। यह पूर्णरूपेण महेश की कृति का अनुसरण करती है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं उसी की पंक्तियाँ तक ले ली गयी हैं। इसमें छाणगढ़ के युद्ध के अतिरिक्त अलाउद्दीन और हम्मीर के संघर्ष के प्रसंग में नल हारणों का भी एक युद्ध वर्णित है। छन्द वैविध्य इस रचना में यथेष्ट है, इसलिए महेश की रचना की तुलना में यह रासो की छन्द-परम्परा का अधिक निर्वाह करती है।

हम्मीरविषयक छठी हिन्दी रचना ग्वालकृत 'हम्मीर हठ' है और इसी के बाद की रचना इसी नाम की चन्द्रशेखर वाजपेयी की है। इन रचनाओं में पूर्ववर्ती कृतियों का पूरा उपयोग किया गया है और कोई नवीनता नहीं है। हम्मीर की ऊपर उल्लिखित रचनाओं में, इस प्रकार मंछ, तथा भाण की कृतियाँ 'प्राकृत पैंगलम्' के छन्दों के अतिरिक्त सबसे प्राचीन हैं और उनके एक सुसम्पादित संस्करण की आवश्यकता है।

—मा० प्र० गु०

हयग्रीव—'भागवत' में हयग्रीव नामक एक असुर का उल्लेख मिलता है। यह अत्यन्त उपद्रवी था। प्रलयकाल उपस्थित होने पर ब्रह्मा के मुख से वेदों को चुरा ले गया। वेदों का उद्धार करने के लिए विष्णु ने मत्स्यावतार धारण किया और इसका वध कर डाला। इस प्रकार हयग्रीव को भगवान् के हाथ से मारे जाने के कारण मोक्ष मिला। 'भागवत' में इसकी विस्तृत कथा प्रलयकाल के उपस्थित होने के प्रसंग में मिलती है।

—यो० प्र० सिं०

हरदयालु सिंह—जन्म महमूदाबाद, जिला सीतापुर (उत्तर प्रदेश) में १८९३ ई० में हुआ था। पिता मातादीन और माता महादेवी थीं। १९१२ ई० में महमूदाबाद से हाई स्कूल पास करने के बाद कानपुर में दो वर्षों तक इण्टरमीडिएट में पढ़े। कानपुर, मथुरा, इण्डियन प्रेस प्रयाग, सेण्ट्रल ट्रेनिंग स्कूल झाँसी और गोरखपुर में नौकरी करने के पश्चात् १९४८ ई० में महमूदाबाद लौट आये। प्रकाशित कृतियाँ ५२ और अप्रकाशित ४० हैं, जिनमें मुख्य हैं—टीकाएँ—'रघुवंश' (२, १३,१४ सर्ग), 'कुमार सम्भव' (५ सर्ग), 'दूतकाव्य'। सम्पादित एवं आलोचनात्मक—'देवदर्शन', 'मतिराम मकरन्द', 'भूषण भारती', 'बिहारी विभव', 'पूर्ण सुधाकर', 'सीताराम संग्रह', 'सूरमुक्तावली'। पद्यानुवाद—'वेणीसंहार', 'नागानन्द', 'रघुवंश', भास के तीन नाटक, 'स्वप्नवासवदत्ता'। संस्कृत नाटकों के संक्षिप्त रूपान्तर—'नाटक निचय', 'नाटक दर्शन', 'नाटक निरूपण',

'भासग्रन्थावली'। निबन्ध—'निबन्ध निरूपण', 'निबन्ध परिचय', 'निबन्ध निचय'। अलंकारग्रन्थ—'रीति रहस्य', 'रीति रत्न', 'रीति रत्नाकर'। मौलिक—'दैत्यवंश' (प्रकाशन-१९४० ई०), 'रावणमहाकाव्य' (प्रकाशन १९५२ ई०)। 'दैत्यवंश' और 'रावण' १८ तथा १७ सर्गों के शास्त्रीय लक्षणों से युक्त महाकाव्य हैं। दोनों की भाषा मिश्रित ब्रज और लक्ष्य दैत्यों का चरमोत्कर्ष है। कवि ने युगों से उपेक्षित दैत्यों एवं राक्षसों को अपने काव्यों का चरितनायक बनाया है। आधुनिक काल में ब्रजभाषा महाकाव्य की परम्परा को पुनर्जीवित तथा विकसित करने का श्रेय हरदयालु सिंह को है।

—स० ना० त्रि०

हरदेव बाहरी—जन्म १९०७ ई० में अटक जिले में हुआ। शिक्षा एम०ए०, एम० ओ० एल०, पी-एच० डी०, डी० लिट् पंजाब तथा प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। अनेक वर्षों तक प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे। १९७१ में अवकाश ग्रहण किया। डा० बाहरी का मुख्य कार्य-क्षेत्र भाषा-विज्ञान रहा है। हिन्दी के भाषा वैज्ञानिकों में आपका नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। आपके दो शोध-प्रबन्ध भाषा-विज्ञान के विषयों से सम्बद्ध हैं। इधर आपने कोश-कार्य में भी रुचि दिखायी है दो जिल्दों में प्रकाशित आपका अँग्रेजी-हिंदी कोश अपने क्षेत्र का प्रामाणिक कार्य है। प्रकाशित कृतियाँ—'हिन्दी की काव्य शैलियों का विकास' (१९४७ ई०), 'प्राकृत और उसका साहित्य' (१९५२ ई०), 'प्रसाद साहित्य कोश' (१९५७ ई०), 'हिन्दी सेमाण्टिक्स' (अंग्रेजी में), दो जिल्दों में प्रकाशित आपका अंग्रेजी-हिंदी कोश अपने क्षेत्र का प्रामाणिक कार्य है। —सं०

हरदौल—ओरछा राज्य के एक राजा हरदोल ने बुन्देलखण्ड के इतिहास में प्रसिद्धि प्राप्त की है। इनके बड़े भाई का नाम जुझार सिंह था। एक बार लोदी से युद्ध करने के कारण शाहजहाँ ने इन्हें दक्षिण का राज्य दे दिया। परिणामस्वरूप ये वहाँ चले गये। हरदौल अत्यधिक न्यायी और जनप्रिय थे। जुझार सिंह ने इनके दक्षिण से लौटने पर अपनी पत्नी और इनके सम्बन्ध के बीच शंका प्रकट की और अपने हाथों से ही इन्हें विष दे दिया किन्तु हरदौल की मृत्यु के पश्चात् इन्हें वास्तविकता ज्ञात हुई और इसके लिए उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। रानी सारंधा की भाँति प्रेमचन्द की यह कहानी भी हरदौल की चरित्रगत विशेषताओं पर आधारित है (दे० मानसरोवर भाग ६ : 'हरदौल')।

—यो० प्र० सि०

हरिऔध—दे० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।

हरिकृष्ण जौहर—जन्म काशी में १८८० ई० में हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में पढ़ना छोड़कर भारत जीवन प्रेस में नौकरी की। प्रारम्भ में ऐयारी तथा रहस्य-रोमांचक उपन्यास लिखे, जिनमें 'कुसुमलता' उल्लेखनीय है। बाद में विभिन्न विषयों पर लिखा और अनुवाद कार्य भी किया। कृतियाँ—'जापान वृत्तान्त', 'अफगानिस्तान का इतिहास', 'भारत के देशी राज्य', 'रूस-जापान युद्ध', 'पलासी की लड़ाई' 'सर्व सेटिलमेंट दर्पण'।

—सं०

हरिकृष्ण 'प्रेमी'—जन्म सन् १९०८ ई० में गुना, ग्वालियर में। परिवार राष्ट्रभक्त। बचपन से ही राष्ट्रीयता के संस्कार। दो वर्ष की अवस्था में माता की मृत्यु। प्रेम की अतृप्त तृष्णा ने उन्हें स्वयं 'प्रेमी' बना दिया। बन्धु-बान्धवों के प्रति स्नेहालु, मित्रों के प्रति अनुरक्त, स्वदेशानुराग, मनुष्य मात्र के प्रति सौहार्द-यही उनके अन्तर मन का विकास है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी के साथ 'त्यागभूमि' में पत्रकार के रूप में साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ। फिर कविताएँ लिखने लगे और उसके बाद नाटक रचना की ओर प्रवृत्ति हुई। लाहौर में पत्रकार और प्रकाशक रहे। सन् १९३३-३४ ई० में साहित्यिक कार्य किया। स्वाधीनता आन्दोलन में भी भाग लेते रहे। लाहौर से 'भारती' पत्रिका का प्रकाशन। सन् १९४६ में लाहौर में और उसके बाद बम्बई में फिल्म-क्षेत्र में कार्य। उसके बाद आकाशवाणी जालंधर में हिन्दी दिग्दर्शक रहे। बाद में बम्बई में फिल्म-क्षेत्र में कार्य करते रहे।

'प्रेमी' जी की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना 'स्वर्ण विहान' (१९३० ई०) गीति-नाट्य है। उसमें प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं की बड़ी रसात्मक अभिव्यक्ति है। पहले ऐतिहासिक नाटक 'रक्षा-बन्धन' (१९३८ ई०) में गुजरात के बहादुर शाह के आक्रमण के अवसर पर चित्तौड़ की रक्षा के लिए रानी कर्मवती द्वारा मुगल सम्राट् हुमायूँ को राखी भेजने का प्रसंग है। इस रचना का मूल उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य की भावना जागाना है। 'शिवा साधना' (१९३७ ई०) में शिवाजी की औरंगजेब की साम्प्रदायिक एवं तानाशाही नीति के विरोधी तथा धर्म निरपेक्षता और राष्ट्रीय भावना के संस्थापक के रूप में चित्रित किया गया है। 'प्रतिशोध' (१९३७ ई०) में छत्रसाल द्वारा बुन्देलखण्ड की शक्तियों को एकत्र करके औरंगजेब से टक्कर लेने का प्रसंग है। 'आहुति' (१९४० ई०) में रणथम्भौर के हम्मीर देव द्वारा शरणागत रक्षा के लिए अलाउद्दीन खिलजी से संघर्ष और आत्म बलिदान की कथा है। 'स्वप्नभंग' (१९४० ई०) में दारा की पराजय से धर्म निरपेक्षता के आदर्श के खण्डित होने का दुखःद दृश्य है। 'मित्र' (१९४५ ई०), 'नवीन संज्ञा', 'शतरंज के खिलाड़ी' में युद्ध-क्षेत्र में परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हुए भी दो व्यक्तियों के मित्रता निर्वाह का आख्यान है। 'विषपान' (१९४५ ई०) में मेवाड़ की राजकुमारी का स्वदेश-रक्षा के लिए आत्मघात का प्रसंग है। 'उद्धार', 'भग्न प्राचीर', 'प्रकाशस्तम्भ', 'कीर्तिस्तम्भ', 'विदा' और 'साँपों की सृष्टि' मेंभी मध्यकालीन कथा-प्रसंग ही लिये गये हैं। 'शपथ' और 'सवंत् प्रवर्तन' आदिमयुगीन इतिहास पर आधारित है। 'संरक्षक' का कथा-प्रसंग अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक काल से उसकी 'येन केन प्रकारेण' साम्राज्य विस्तार की नीति को स्पष्ट करने के लिए लिया गया है। 'पाताल विजय' (१९३६ ई०) 'प्रेमी' जी का एकमात्र पौराणिक नाटक है।

'प्रेमी' जी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं। 'बन्धन' (१९४० ई०) में मजदूरों और पूँजीपति के संघर्ष का चित्रण है। समस्या का हल गाँधी जी की हृदय-परिवर्तन की नीति पर आधारित है। 'छाया' (१९४१ ई०) में एक साहित्य कार के आर्थिक संघर्ष का चित्रण है। 'ममता' में दाम्पत्य जीवन की समस्याओं का उद्घाटन है। 'प्रेमी' जी की एकांकी रचना 'बेड़ियाँ' में भी इसी समस्या को लिया गया है। 'प्रेमी' जी के दो एकांकी संग्रह 'मन्दिर' (१९४२ ई०) और 'बादलों के पार'

(१९५२ ई०) भी प्रकाशित हुए हैं। पहले संग्रह की सभी रचनाएँ 'नयी संज्ञा' देकर नये संग्रह में भी हैं। 'बादलों के पार', 'घर या होटल', 'वाणी मन्दिर', 'नया समाज', 'यह मेरी जन्म भूमि है' और 'पश्चात्ताप' एकांकियों में आज की सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। 'यह भी एक खेल है', 'प्रेम अन्धा है', 'रूप शिखा', 'मातृभूमि का मान' और 'निष्ठुर न्याय' ऐतिहासिक एकांकी हैं। इनमें प्रेम के आदर्शवादी और विद्रोही स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है।

'प्रेमी' जी ने इधर गीति-नाट्य की शैली के कई प्रयोग किये हैं। 'सोहनी महीवाल', 'सस्सी पुन्नू', 'मिर्जा साहिबा', 'हीर राँझा' और 'दुल्लाभट्टी'। ये सभी पंजाब में प्रसिद्ध प्रेम-गाथाओ पर आधारित रेडियो के लिए लिखित संगीत रूपक हैं। प्रेम के एकनिष्ठ और विद्रोही रूपको इनमें भी उपस्थित किया गया है। 'देवदासी' संगीत-रूपक में भी काल्पनिक कथा को लेकर प्रेम को मनुष्य का स्वाभाविक गुणधर्म दिखाया गया है। 'मीराँबाई' में व्यक्तिगत जीवन की कठोरताओं से प्रेरित होकर गिरिधर गोपाल की माधुरी उपासना में आश्रय लेने वाली मीराँ की जीवन-कथा है।

'प्रेमी' जी का कविता-संग्रह 'आँखों में' (१९३० ई०) प्रेम के विरह-विदग्ध वेदनामय स्वरूप की अभिव्यक्ति है। 'जादूगरनी' (१९३२ ई०) में कबीर की 'माया महाठगिनी' के मोहक प्रभाव का वर्णन एवं रहस्यात्मक अनुभूतियों की व्यंजना है। 'अनन्त के पथ पर' (१९३२ ई०) रहस्यानुभूति को औरघनीभूत रूप में उपस्थित करता है। 'अग्निगान' (१९४० ई०) में कवि अनल वीणा लेकर राष्ट्रीय जागरण के गीत गा उठा है। 'रूप दर्शन' में गजल और गीति-शैली के सम्मिलित विधान में सौन्दर्य के मोहक प्रभाव को वाणी मिली है। 'प्रतिभा' में प्रेमी का प्रणय-निवेदन बड़ा मुखर हो उठा है। 'वन्दना के बोल' में गाँधी जी और उनके जीवन दर्शन पर लिखित रचनाएँ हैं। 'रूप रेखा' में गजल के बन्द का सशक्त प्रयोग और 'प्रेमी' के हृदय की आकुल पुकार है 'प्रेमी' जी ने मुक्त छन्द में भी कुछ रचनाएँ की हैं। 'करना है संग्राम', 'बेटी की विदा' और 'बहन का विवाह'— ये सभी संस्मरणात्मक हैं और इनमें 'प्रेमी जी' के विद्रोही दृष्टिकोण, नवीन मान्यताओं और नूतन आदर्शों की बड़ी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है।

'प्रेमी' जी का हिन्दी-नाटककारों में अपना विशिष्ट स्थान है। मध्यकालीन इतिहास से कथा प्रसंगों को लेकर उन्होंने हमें राष्ट्रीय जागरण, धर्मनिरपेक्षता तथा विश्व-बन्धुत्व के महान् सन्देश दिये हैं। उनके नाटकों में स्वच्छन्दतावादी शैली का बड़ा संयमित और अनुशासनपूर्ण उपयोग है, इसीलिए उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हैं। उनके सामाजिक नाटकों में वर्तमान जीवन की विषमताओं के प्रति तीव्र आक्रोश और विद्रोह का स्वर सुनने को मिलता है। किसी समस्या का चित्रण करते हुए वे उसका हल अवश्य देते हैं और इस सम्बन्ध में गाँधी जी के जीवन-दर्शन का उन पर विशेष प्रभाव है।

—वि० मि०

हरिचरनदास—ये टीकाकार हैं। इन्होंने जसवन्त सिंह के 'भाषाभूषण' की तथा 'बिहारी सतसई' की टीकाएँ की हैं। 'सतसई' की 'हरिप्रकाश' नामक इनकी टीका १७७७ ई० की है। अतः इसी के आसपास इनका समय स्वीकार किया जा सकता है।

—सं०

हरिजन—टीकमगढ़ (बुन्देलखण्ड) निवासी कवि हरिजन का जन्म काल मिश्र बन्धुओं ने सं० १६९० माना है किन्तु बुन्देल वैभव के लेखक ने सं० १८७० वि० बताया है। निश्चय ही मिश्र बन्धुओं द्वारा अनुमानित जन्म काल पर्याप्त भ्रमात्मक है। मिश्र बन्धुओं ने इनका कविता काल सं० १७२० वि० स्वीकार किया है, पर 'बुन्देल वैभव' के कर्त्ता ने सं० १८९० माना है जो ठीक प्रतीत होता है। ये जाति के कायस्थ थे और सरदार कवि के पिता थे। मिश्र बन्धुओं ने इन्हें तोष कवि की श्रेणी में माना है। 'शिवसिंह सरोज में इनके संबंध में विशेष सूचनाएं नहीं मिलती केवल इतना ही संकेत मिलता है कि इन्होंने महाराज ईश्वरी नारायण सिंह काशिराज के नाम से 'रसिक प्रिया' की टीका बनाई थी इसके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थों—'कवि प्रिया की टीका, और 'तुलसीचिन्तामणि' का और पता चला है। आपके पुत्र परमानन्द जी भी सुकवि थे और महाराज प्रताप नारायण सिंह के अश्रित थे। आपकी सरल एवं टकसाली रचनाएँ 'श्रृंगार संग्रह', 'रसकुसुमाकर' और 'श्रृंगार सुधाकर' आदि प्राचीन संग्रह ग्रन्थों में मिलती हैं।

[सहायक ग्रन्थ—बुन्देल वैभव तृतीय भाग, मिश्रबन्धु विनोद तृतीय भाग, दिग्विजय भूषण, शिव सिंह सरोज]

—कि० ला०

हरिदास स्वामी—वैष्णव भक्तिसम्प्रदायों में उंच्चकोटि के विरक्त महात्मा तथा संगीतशास्त्र के आचार्य के रूप में स्वामी हरिदास की बहुत अधिक ख्याति है। स्वामी के जन्म-स्थान, जन्म-संवत् और जाति के विषय में निम्बार्क मतावलम्बियों तथा विष्णु स्वामी सम्प्रदायवालों में विरोध है। निम्बार्क सम्प्रदायवालों का मत है कि हरिदास का जन्म वृन्दावन से एक मील दूर राजपुर गाँव में गंगाधर, सनाढ्य ब्राह्मण के घर सं० १५३७ ई० (सन् १४९० ई०) में हुआ। गंगाधर के गुरु का नाम आशुधीरस्वामी था। उन्हीं से स्वामी हरिदास ने भी निम्बार्क सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की थी किन्तु विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के गोस्वामी स्वामी हरिदास को हरिदासपुर (अलीगढ़) गाँव का निवासी, सारस्वत ब्राह्मण और आशुधीर का पुत्र मानते हैं। 'निजमत सिद्धान्त' ग्रन्थ के आधार पर स्वामी हरिदास तथा अष्टाचार्यों के सम्बन्ध में बहुत सी जानकारी उपलब्ध होती है किन्तु विष्णु स्वामी सम्प्रदायवाले इस ग्रन्थ को जाली रचना ठहराते हैं। स्वामी हरिदास के पदों के अनुशीलन से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनकी भक्ति माधुर्य भाव की है और 'जुगल उपासना' को उन्होंने स्वीकार किया है, विष्णु स्वामी सम्प्रदाय की बालभाव की उपासना उन्हें मान्य नहीं है। 'निकुंज लीला' के पद और राधाकृष्ण का नित्य बिहार वर्णन उन्होंने निम्बार्क और राधावल्लभीय विचारधारा के अनुकूल ही किया है। उन्हें ललिता सखी का अवतार माना जाता है। भगवत रसिक ने अपने को हरिदास स्वामी का शिष्य बतलाते हुए स्वतन्त्र सम्प्रदाय का अनुयायी कहा है—"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप। नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र को जाप। नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्ट द्वैत। बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत।।" स्वामी हरिदास की भावना इन्हीं दोहों के अनुरूप थी। सखी

भाव की उपासना के कारण उनका सम्प्रदाय सखी सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। बाँस की जाफरी (टट्टी) से घिरा होने के कारण इनकी शिष्य परम्परा का स्थान 'टट्टी संस्थान' के नाम से भी प्रसिद्ध है। कुछ विद्वान् उनके सम्प्रदाय को हरिदासी सम्प्रदाय के नाम से भी अभिहित करते हैं। इस प्रकार ये तीन नाम स्वामी जी के सम्प्रदाय के प्रचलित हैं।

स्वामी हरिदास ने युवावस्था में गृहत्याग करके वृन्दावन में लता-पत्रवेष्टित निधिवन को अपनी साधनास्थली बनाया था। संसार के समस्त सुख-वैभव के उपकरणों का त्याग कर कामरी और करुआ को अपनी सम्पत्ति मान लिया था। उनके इष्टदेव का विग्रह 'बाँके बिहारी' के नाम से विख्यात है। अपनी गान-विद्या के लिए वे अपने समय में ही भारत वर्ष में विख्यात हो गये थे। तानसेन जैसा सुप्रसिद्ध गायक उनका शिष्य था। ध्रुपद की रचना करके उन्होंने अपना स्थान अमर बना लिया था। सम्राट् अकबर भी उनकी संगीत् विद्या से प्रभावित था।

स्वामी हरिदास ने अपने सिद्धान्तों को स्वतन्त्र रूप से नहीं लिखा। श्याम-श्यामा की निकुंज-लीलावर्णन के लिए जो पद वे बनाते थे, उन्हीं में सिद्धान्तों का भी समावेश है। उनकी रचनाओं का संकलन 'केलिमाल' नामक पुस्तक में कर दिया गया है। 'केलिमाल' में १०८ पद हैं। १८ सिद्धान्त के पद अलग से संकलित हैं।

स्वामी हरिदास की वाणी बड़ी सरस और संगीतमय है। ब्रजभाषा का चलता रूप इनके पदों में देखा जाता है। राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन में पुनरावृत्ति अधिक है। माधुर्यभक्ति का मन मोहन रूप उनके पदों में सर्वत्र व्याप्त है। उनका निधन संवत् १६३२ (सन् १५७५ ई०) के समीप माना जाता है।

[सहायक ग्रन्थ–निम्बार्क माधुरी : बिहारी शरण; सिद्धान्त रत्नाकर : विश्वेश्वर शरण; केलिमाल; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल।]

–वि० स्ना०

हरिनाथ–इस नाम के दो कवियों का उल्लेख मिलता है। एक हरिनाथ महापात्र बन्दीजन असनीवाले और दूसरे हरिनाथ 'नाथ' गुजराती ब्राह्मण काशीवाले। 'शिव सिंह सरोज' में प्रथम हरिनाथ को सन् १६०७ ई० में विद्यमान बताया गया है। इन्हें नरहरि का पुत्र और बादशाह शाहजहाँ का कृपापात्र भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त भी इनका समादर तत्कालीन अनेक राजाओं-महाराजाओं ने हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, गाँव, लाखों नकदी और नाना प्रकार के वस्त्राभूषण आदि देकर किया था। ये सुकवि, गुणज्ञ और फक्कड़ थे। कहते हैं कि आमेर के राजा सवाई मानसिंह के यहाँ से २ लाख की विदाई पाकर लौटते समय उन्होंने एक नागर-पुत्र को, प्रशंसा में एक दोहा सुनकर सहज ही वह धन दान कर दिया था। इसी प्रकार ये जीवन भर अपनी ओर अपने पिता की अपार अर्जित सम्पत्ति लुटाते रहे। इनके स्फुट छन्द ही मिलते हैं, किसी ग्रन्थ विशेष का उल्लेख नहीं मिलता। फुटकर छन्दों को भी देखने पर कवि के अनूठे काव्य-कौशल का पता लगता है।

दूसरे हरिनाथ 'नाथ' नाम से काव्य-रचना करते थे। इन्होंने सन् १७६९ ई० में 'अलंकार दर्पण' नामक एक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि यह ग्रन्थ छोटा-सा ही है, पर इसमें आये हुए छन्दों के एक-एक पद में अनेक उदाहरणों की भरमार है। कवि पहले कई दोहों में लक्षणों को बाँधकर फिर उन सबके उदाहरण घनाक्षरी (कवित्तों) में प्रस्तुत करता है। वैसे इनका कवित्व साधारण कोटि का ही है।

[सहायक ग्रन्थ–खो० वि० (त्रै० १); मि० वि०; शि० स० क०-कौ० भा० १।]

–रा० त्रि०

हरिनाथ–जयपुर राज्यांतर्गत खंडेला के निवासी और वहाँ के राजा केसरी सिंह के आश्रित थे। इनका रचना काल १६८३ ई० से १६९७ ई० है। ये जाति के पारीक ब्राह्मण थे और इनका गोत्र शांडिल्य था। इन्होंने अपने आश्रय दाता केसरी सिंह के नाम पर उनके युद्धों को काव्यबद्ध कर केसरी सिंह समर नाम से अभिहित किया है। इस काव्य में शेखावत-वंश प्रवर्त्तक राव शेखा जी से आरम्भ करके राजा केसरी सिंह तक के इतिहास का वर्णन किया गया है। केसरी सिंह के विरुद्ध औरंगजेब का सेनापति नबाब अब्दुल्ला खाँ एक विशाल सेना लेकर आया था। खंडेले के पास हरीपुरा के मैदान में भारी संग्राम हुआ जिसमें केसरी सिंह वीरगति को प्राप्त हुए और उनकी चार रानियाँ उनके साथ सती हो गईं। यह घटना १६९७ ई० (सं० १७५४ वि०) की है। ग्रन्थ में इन सारी बातों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसकी पद्य सं० ४५९ है। ग्रन्थ वर्णनात्मक है, तथापि कवि ने मार्मिक स्थलों के सुन्दर चित्र किए हैं। इनकी एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में है जो दतिया से प्राप्त हुई है।

कृ० शं० पा०

हरिनारायण–इस नाम के दो कवि हुए–हरिनारायण मिश्र और हरिनारायण। हरिनारायण बेरी, जिला मथुरा के रहने वाले थे। खोज में इनकी दो रचनाएँ मिली हैं–'बारहमासी' और 'गोवर्धन-लीला'। प्रथम रचना में कान्ता अपने पति को प्रत्येक मास के बिछोह से होने वाले दुखों का वर्णन कर परदेश जाने से रोकती है। 'गोवर्धन-लीला' एक प्रबन्धात्मक रचना है। इसमें श्रीकृष्ण इन्द्र-पूजा का निषेध कर नन्द-गोपादिकों से गोवर्धन पुजवाते हैं। कवित्व की दृष्टि से दोनों ही रचनाएँ साधारण हैं।

दूसरे हरिनारायण भी जाति के ब्राह्मण थे और कुम्हेर (भरतपुर) रियासत के निवासी थे। इन्होंने 'माधवानल कामकन्दला', 'बैताल पचीसी' और 'रुक्मिणी मंगल' नामक तीन रचनाएँ कीं। इसमें 'माधवानल कामकन्दला' कथा प्रबन्धात्मक रचना है, जिसका निर्माण सन् १७५५ ई० में हुआ। 'बैताल पचीसी' में भी कथात्मकता का ही प्राधान्य है। 'रुक्मिणी मंगल' में रुक्मिणीहरण का वर्णन किया गया है। प्रथम की अपेक्षा इस कवि में काव्य-गरिमा अधिक है, वैसे यह भी साधारण श्रेणी का कवि है।

[सहायक ग्रन्थ–खो० वि० (वा० १९०५; त्रै० १५, १७); मि० वि०।]

–रा० त्रि०

हरिभाऊ उपाध्याय–जन्म १८९२ ई० में (चैत्र कृष्णा सप्तमी

सं० १९४९) उज्जैन जिला के भौंरोसा गाँव में हुआ। हरिभाऊ उपाध्याय ने हिन्दी-सेवा से सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया और पहले पहल 'औदुम्बर' मासिक पत्र के प्रकाशन द्वारा हिन्दी-पत्रकारिता जगत् में पदार्पण किया। सबसे पहले सन् १९११ ई० में वे 'औदुम्बर' के सम्पादक बने। पढ़ते-पढ़ते ही उन्होंने इसके सम्पादन का कार्य आरम्भ किया।

'औदुम्बर' में अनेक विद्वानों के विविध विषयों से सम्बद्ध पहली बार लेखमाला निकली, जिससे हिन्दी भाषा की स्वाभाविक प्रगति हुई। इसका श्रेय हरिभाऊ के उत्साह और लगन को ही है। सन् १९१५ ई० में महावीर प्रसाद द्विवेदी के सान्निध्य में आये। हरिभाऊजी स्वयं लिखते हैं—" 'औदुम्बर" की सेवाओं ने मुझे आचार्य द्विवेदी जी की सेवा में पहुँचाया।" द्विवेदी जी के साथ 'सरस्वती' में कार्य करने के पश्चात् हरिभाऊ जी ने 'प्रताप', 'हिन्दी नवजीवन' (सन् १९२१ ई०), 'प्रभा' के सम्पादन में योग दिया और स्वयं 'मालव मयूर' (सन् १९२२ ई०) नामक पत्र निकालने की योजना बनायी किन्तु यह पत्र अधिक दिन नहीं चल सका।

हरिभाऊ उपाध्याय की हिन्दी-साहित्य को विशेष देन उनके द्वारा बहुमूल्य पुस्तकों का रूपान्तरण है। कई मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने जवाहरलाल जी की 'मेरी कहानी' और पट्टाभि सीतारमैय्या द्वारा लिखित 'कांग्रेस का इतिहास' का हिन्दी में अनुवाद किया है। हरिभाऊ जी का प्रयास हमें भारतेन्दु काल की याद दिलाता है, जब प्रायः सभी हिन्दी लेखक बंगला से हिन्दी में अनुवाद करके साहित्य की अभिवृद्धि करते थे। अनुवाद करने में भी उन्होंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि पुस्तक की भाषा लेखक की भाषा और उसके व्यक्तित्व के अनुरूप हो। अनुवाद पढ़ने से यह प्रतीत नहीं होता कि हम पुस्तक का अनुवाद पढ़ रहे हैं, यही अनुभव होता है मानो स्वयं मूल लेखक की ही वाणी और विचारधारा अविरल रूप से उसी मूल स्रोत से बह रही है। इस प्रकार हरिभाऊ जी ने अपने साथी जननायकों के ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी साहित्य को व्यापकता प्रदान की है।

हरिभाऊ जी की अनेक पुस्तकें आज हिन्दी-साहित्य जगत् को प्राप्त हो चुकी हैं। उनके नाम ये हैं—'बापू के आश्रम में', स्वतन्त्रता की ओर', 'सर्वोदय की बुनियाद', 'श्रेयार्थी जमनालाल जी', 'साधना के पथ पर', 'भागवत धर्म', 'मनन', 'विश्व की विभूतियाँ', 'पुण्य स्मरण', 'प्रियदर्शी अशोक', 'हिंसा का मुकाबला कैसे करें', 'दूर्वादल' (कविता संग्रह), 'स्वामी जी का बलिदान' और 'हमारा कर्त्तव्य और युगधर्म'। इन रचनाओं से हिन्दी साहित्य निश्चय ही समृद्ध हुआ है। हरिभाऊ जी की रचनाएँ भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से बड़ी आकर्षक हैं। इनमें रस है, मधुरता और उज्ज्वलता है, इनमें सत्य और अहिंसा की शुभ्रता है, धर्म की समन्वयबुद्धि है और लेखनी की सतत साधना और प्रेरणा है।

—ज्ञा० द०

हरिराम— दे० 'व्यास हरिराम'।

हरिराय— इनका जन्म भाद्रपद कृष्ण ५, विक्रम सं० १६४७ ई० और देहावसान सं० १७७२ ई० में हुआ। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोविन्दराय जी के पौत्र थे। इनके पिता का नाम कल्याणराय था। इनकी ख्याति 'वार्ताओं' के सम्पादक और प्रचारक के रूप में अधिक है। यद्यपि 'वार्ताओं' के लेखक गोकुल नाथ जी कहे जाते हैं पर वास्तविकता यह है कि इन्होंने समय-समय पर प्रवचनों के अवसर पर अपने सम्प्रदाय के भक्तों का परिचय देने के लिए उनकी 'वार्ताएँ' कहीं हैं और उन्हें हरिराय जी ने लिपिबद्ध किया है। वार्ताएँ दो भागों में विभाजित हैं—(१) 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', और (२) 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता'। इनकी संस्कृत, गुजराती और ब्रजभाषा में अच्छी गति थी। तीनों भाषाओं में इनकी गद्य और पद्य-कृतियाँ प्राप्त होती हैं। ब्रजभाषा गद्य के तो ये प्रौढ़ लेखक थे, जिसका प्रमाण इनके द्वारा सम्पादित तथा रचित वार्ता-साहित्य में मिलता है। हिन्दी में टीका-साहित्य का प्रारम्भ इनकी टीकाकृति 'भाव प्रकाश' से माना जाना चाहिए। इसमें गोस्वामी गोकुल नाथ जी ने भक्तों की जो 'वार्ताएँ' कही थीं, उनके गूढ़ भावों का पुष्ट ब्रजभाषा गद्य में विशदीकरण किया गया है। सम्भवतः 'भाव प्रकाश' के ही अनुकरण पर प्रियादास ने नाभा जी के 'भक्तमाल' पर पद्य-टीका लिखी है। हरिराय जी का रचना काल सं० १६६७ से १७७२ ई० तक अनुमानित किया जाता है। 'भाव प्रकाश' इनकी अन्तिम कृति होनी चाहिए। इनके शिष्य विट्ठलनाथ ने सं० १७२९ ई० में 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें 'भाव प्रकाश' का उल्लेख नहीं है। इससे भी यह अनुमान निकलता है कि उस समय तक इसकी रचना नहीं हो पायी थी। सम्प्रदाय में इसकी सं० १७५२ ई० की पाण्डुलिपि उपलब्ध है। वार्ता-साहित्य के तृतीय संस्करण में 'भाव प्रकाश' की टीका जोड़ी गयी है। इसमें नयी खोज के आधार पर वार्ताएँ बढ़ाई भी गयी हैं।

हरिराय जी ने १२५ वर्ष की पूर्ण आयु का भोग किया और देश में कई बार यात्राएँ कर पुष्टि-मार्ग के प्रचार का पुण्य अर्जित किया। प्रारम्भ में गोकुल में ही रहे परन्तु जब औरंगजेब की हिन्दूविरोधी नीति ने उग्र रूप धारण किया, तब सं० १७२६ ई० में श्रीनाथ जी के 'स्वरूप' के साथ नाथ द्वारा चले गये।

हरिराय जी हिन्दी-साहित्य में प्रौढ़ ब्रजभाषा गद्यलेखक, सम्पादक एवं टीका कार के रूप में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे। उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध न होने से उनका हिन्दी के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थों में उल्लेख तक नहीं हो पाया। जिन एक दो ग्रन्थों में हुआ भी है, वहाँ बहुत कम।

[सहायक ग्रन्थ—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा०—दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप परिचय प्रभुदयाल मीतल।]

—वि० मो० श०

हरिवंश पुराण—हरिवंश वास्तव में पुराण न होकर महाभारत का परिशिष्ट है। शैली और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इसे पुराण कहना अनुचित नहीं है। यदि यह वास्तव में 'महाभारत' का परिशिष्ट माना जाय तो इसे सबसे प्राचीन पुराण कह सकते हैं। हिन्दी में इसका अनुवाद 'महाभारत' के प्रसिद्ध अनुवादकर्ता कवित्रय गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव ने काशी नरेश

महाराज उदित नारायण सिंह की आज्ञा से सन् १७६८ ई० (सं० १८२५ वि०) के आसपास किया था। इसमें परिमार्जित ब्रजभाषा तथा दोहा, चौपाई, घनाक्षरी, कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी शैली ललित और काव्य-गुणों से युक्त है। अनुवाद की दृष्टि से तो यह सफल है ही, काव्य की दृष्टि से भी इसकी श्रेष्ठता असंदिग्ध है। इसीलिए विद्वानों ने इसे एक मौलिक काव्य की भाँति आदर दिया है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य का इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल।]

—यो० प्र० सिं०

हरिवंश राय 'बच्चन'—जन्म १९०७ ई० में प्रयाग में हुआ। शिक्षा एम० ए०, पी० एच० डी० प्रयाग तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में हुई। अनेक वर्षों तक प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक रहे (१९४२-५२ ई०) कुछ समय के लिए आकाशवाणी के साहित्यिक कार्यक्रमों से सम्बद्ध रहे। फिर विदेश मन्त्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ होकर दिल्ली चले गये (१९५५ ई०)। विश्वविद्यालय के दिनों में कैम्ब्रिज जाकर (१९५२-५४ ई०) अंग्रेजी कवि यीट्सपर शोध प्रबन्ध लिखा, जो काफी प्रशंसित हुआ।

'बच्चन' की कविता के साहित्यिक महत्त्व के बारे में अनेक मत हो सकते हैं, और हैं, पर एक तथ्य ऐसा है, जिसे सभी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत होंगे—और वह है 'बच्चन' के काव्य की विलक्षण लोकप्रियता। इसमें सन्देह नहीं कि दस वर्ष पहले जो स्थिति थी, वह आज नहीं रही, 'बच्चन' की लोकप्रियता घट गयी है फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आज भी हिन्दी के ही नहीं, सारे भारत वर्ष के सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में 'बच्चन' का स्थान सुरक्षित है। इतने विस्तृत और विराट् भावकवर्ग का विरले ही कवि दावा कर सकते हैं।

'बच्चन' की कविता इतनी सर्वग्राह्य और सर्वप्रिय क्यों हुई? उसमें हिन्दी के बहुसंख्यक पाठकों और श्रोताओं को-क्यों कि 'बच्चन' की लोकप्रियता मात्र पाठकों के स्वीकरण पर ही आधारित नहीं थी—जो कुछ मिला वह उन्हें अत्यन्त रुचिकर जान पड़ा। वे छायावाद के अतिशय सौकुमार्य और माधुर्य से, उसकी अतीन्द्रिय और अति वैयक्तिक सूक्ष्मता से, उसकी लक्षणात्मक अभिव्यंजना-शैली से उकता गये थे। उर्दू की गजलों में चमक और लचक थी, दिल पर असर करने की ताकत थी, वह सहजता और संवेदना थी, जो पाठक या श्रोता के मुँह से बरबस यह कहला सकती थी कि "मैंने पाया यह कि गोया वह भी मेरे दिल में है"। मगर हिन्दी कविता जन-मानस और जन-रुचि से बहुत दूर थी। 'बच्चन' ने उस समय (१९३५-४० ई० के व्यापक खिन्नता और अवसाद के युग में) मध्यवर्ग के विक्षुब्ध, वेदनाग्रस्त मन को वाणी का वरदान दिया। उन्होंने सीधी, सादी, जीवन्त भाषा और सर्वग्राह्य, गेय शैली में, छायावादी की लाक्षणिक वक्रता की जगह संवेदनासिक्त अभिधा के माध्यम से, अपनी बात कहना आरम्भ किया—और हिन्दी काव्य-रसिक सहसा चौंक पड़ा क्योंकि उसने पाया यह कि गोया वह भी उसके दिल में है। 'बच्चन' ने लोकप्रियता प्राप्त करने के उद्देश्य से चेष्टा करके यह राह ढूँढ़ निकाली और अपनायी हो, यह बात नहीं है, वे अनायास ही इस राह पर आ गये। उन्होंने अनुभूति से प्रेरणा पायी थी, अनुभूति को ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति देना उन्होंने अपना ध्येय बनाया।

'बच्चन' की कविता की लोकप्रियता का प्रधान कारण उसकी सहजता और संवेदनशील सरलता है और यह सहजता और सरल संवेदना उसकी अनुभूतिमूलक सत्यता के कारण उपलब्ध हो सकी। 'बच्चन' ने आगे चलकर जो भी किया हो, आरम्भ में उन्होंने केवल आत्मानुभूति, आत्मसाक्षात्कार और आत्माभिव्यक्ति के बल पर काव्य रचना की। कवि के अहं की स्फीति ही साधारणीकरण और व्यापकता बन गयी। समाज की अभावग्रस्त व्यथा, परिवेश का चमकता हुआ खोखलापन, नियति और व्यवस्था के आगे व्यक्ति की असहायता और बेबसी—'बच्चन' के लिए ये सहज, व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित काव्य-विषय थे। उन्होंने साहस और सत्यता के साथ सीधी-सादी भाषा और शैली में सहज कल्पनाशीलता और सामान्य बिम्बों से सजा-सँवार कर अपने नये गीत हिन्दी जगत् को भेंट किये। हिन्दी जगत् ने उत्साह से उनका स्वागत किया।

यों तो एक प्रकाशन 'तेरा हार' उससे पहले भी हो चुका था पर 'बच्चन' का पहला काव्य-संग्रह १९३५ ई० में प्रकाशित 'मधुशाला' (दे०) से ही मानना उचित होगा। इसके प्रकाशन के साथ ही एक बारगी 'बच्चन' का नाम एक गगनभेदी राकेट की तरह तेजी से उठकर साहित्य जगत् पर छा गया। 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश'—एक के बाद एक, ये तीनों संग्रह शीघ्र ही सामने आ गये—हिन्दी में जिसे 'हालाबाद' कहा गया है, ये उस काव्य-पद्धति के धर्म ग्रन्थ हैं। उस काव्य—पद्धति के संस्थापक ही उसके एकमात्र सफल साधक भी हुए—क्योंकि जहाँ 'बच्चन' की पैरोडी करना आसान है, वहीं उनका सच्चे अर्थ में, अनुकरण असम्भव है। अपनी सारी सहज सार्वजनीनता के बावजूद 'बच्चन' की कविता नितान्त वैयक्तिक, आत्म-स्फूर्त और आत्मकेन्द्रित है।

'बच्चन' ने इस 'इलाहाबाद' के द्वारा व्यक्ति जीवन की सारी नीरसताओं को स्वीकार करते हुए भी उससे मुँह मोड़ने के बजाय उसका उपयोग करने की, उसकी सारी बुराइयों और कमियों के बावजूद जो कुछ मधुर और आनन्दप्रद होने के कारण ग्राह्य है, उसे अपनाने की प्रेरणा दी। उर्दू कवियों ने 'वाइज' और 'बजा', मस्जिद और मजहब, कयामत और उकबा की पर्वाह न करके दुनियाये-रंगो-बू को निकटता से, बार-बार देखने, उसका आस्वादन करने का आमन्त्रण दिया है। खैयाम ने वर्तमान क्षण को जानने, मानने, अपनाने और भली प्रकार इस्तेमाल करने की सीख दी है—और 'बच्चन' के 'हालावाद' का जीवन-दर्शन भी यही है। यह पलायनवाद नहीं है क्योंकि इसमें वास्तविक का अस्वीकरण नहीं है, न उससे भागने की परिकल्पना है, प्रत्युत वास्तविकता की शुष्कता को अपनी मनस्तरंग से सींचकर हरी-भरी बना देने की सशक्त प्रेरणा है। यह सत्य है कि 'बच्चन' की इन कविताओं में रूमानियत और कसक है पर 'हालावाद' गमगलत करने का

निमन्त्रण है, गम से घबराकर खुदकशी करने का नहीं।

अपने जीवन की इस मंजिल में 'बच्चन' अपने युवाकालके आदर्शों और स्वप्नों के भग्नावशेषों के बीच से गुजर रहे थे। पढ़ाई छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े थे। अब उस आन्दोलन की विफलता की कड़वी घूँट पी रहे थे। एक छोटे से स्कूल में अध्यापकी करते हुए वास्तविकता और आदर्श के बीच की गहरी खाई में डूब-उतरा रहे थे। इस अभाव की दशा में पत्नी के असाध्य रोग की भयंकरता देख रहे थे, अनिवार्य विद्रोह के आतंक से त्रस्त और व्यथित थे। परिणामतः 'बच्चन' का कवि अधिकाधिक अन्तर्मुखी होता गया। इस युग और इस 'मूड' की कविताओं के संग्रह 'निशा निमन्त्रण' (१९३८ ई०) तथा 'एकान्त संगीत' 'बच्चन' की सम्भवतः सर्वोत्कृष्ट काव्योपलब्धि हैं।

पर यह अँधेरा छँट गया और 'बच्चन' का कवि सारी व्यथा-वेदना झेलकर उनके ऊपर निकल आया। वैयक्तिक, व्यावहारिक जीवन में सुधार हुआ। अच्छी नौकरी मिली, 'नीड़ का निर्माण फिर' से करने की प्रेरणा और निमित्त की प्राप्ति हुई। 'बच्चन' ने अपने जीवन के इस नये मोड़ पर फिर आत्म-साक्षात्कार किया, मन को समझाते हुए पूछा : "जो बसे हैं वे उजड़ते हैं प्रकृति के जड़ नियम से, पर किसी उजड़े हुए को फिर बसाना कब मना है?"

परम निर्मल मन से 'बच्चन' ने स्वीकार किया कि "है चिता की राख करमें, माँगती सिन्दूर दुनिया"—व्यक्तिगत वेदना का इतना सहज, सफल साधारणीकरण दुर्लभ है।

कवि ने नये, सुख और सम्पन्नता के युग में प्रवेश किया। 'सतरंगिनी' (१९४५ ई०) और 'मिलन यामिनी' (१९५० ई०) में 'बच्चन' के नये उल्लास भरे युग की सुन्दर गीतोपलब्धियाँ देखने-सुनने को मिलीं।

'बच्चन' एकान्त आत्मकेन्द्रित कवि हैं। इसी कारण उनकी वे रचनाएँ, जो सहज-स्फूर्त नहीं हैं—उदाहरण के लिए बंगाल के काल और महात्मा गान्धी की हत्या पर लिखी कविताएँ—केवल नीरस ही नहीं सर्वथा कवित्व रहित हो गयी हैं। स्वानुभूति का कवि यदि अनुभूति के बिना कविता लिखता है तो उसे सफलता तभी मिल सकती है, जबकि उसकी रचना का विचार तत्त्व या शिल्प उसे सामान्य तुकबन्दी से ऊपर उठा सके—और विचारतत्त्व और शिल्प 'बच्चन' के काव्य में अपेक्षाकृत क्षीण और अशक्त हैं। प्रबल काव्यानुभूति के क्षण विरल होते हैं और 'बच्चन' ने बहुत अधिक लिखा है। यह अनिवार्य था कि उनकी उत्तर काल की अधिकांश रचनाएँ अत्यन्त सामान्य कोटि की पद्यकृतियाँ होकर रह जातीं। उन्होंने काव्य के शिल्प में अनेक प्रयोग किये हैं, पर वे प्रयोग अधिकतर उर्दू कवियों के तरह-तरह की बहरों में तरह-तरह की 'जमीन' पर नज्म कहने की चेष्टाओं से अधिक महत्त्व के नहीं हो पाये। हाँ, सामान्य बोलचाल की भाषा को काव्य-भाषा की गरिमा प्रदान करने का श्रेय निश्चय ही सर्वाधिक 'बच्चन' का ही है। इसके अतिरिक्त उनकी लोकप्रियता का एक कारण उनका काव्य-पाठ भी रहा है। हिन्दी में कविसम्मेलन की परम्परा को सुदृढ़ और जनप्रिय बनाने में 'बच्चन' का असाधारण योग है। इस माध्यम से वे अपने पाठकों-श्रोताओं के और निकट आ गये।

कविता के अतिरिक्त 'बच्चन' ने कुछ समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखे हैं, जो गम्भीर अध्ययन और सुलझे हुए विचार प्रतिपादन के लिए पठनीय हैं। उनके शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद और 'जनगीता' के नाम से प्रकाशित दोहे-चौपाइयों में 'भगवद् गीता' का उल्था 'बच्चन' के साहित्यिक कृतित्त्व के विशेषतया उल्लेखनीय या स्मरणीय अंग माने जायेंगे या नहीं, इसमें संदेह है।

कृतियाँ—'तेरा हार' (१९३२ ई०), 'खैयाम की मधुशाला', 'मधुशाला' (१९३५ ई०), 'मधुशाला' का एक अंग्रेजी अनुवाद 'हाउस ऑव वाइन' के नाम से लन्दन से प्रकाशित हुआ (रूपान्तरकार : मार्जरी बोल्टन तथा रामस्वरूप व्यास), 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा निमन्त्रण' (१९३८ ई०), 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', 'विकल विश्व', 'सतरंगिनी' (१९४५ ई०), 'हलाहल', मिलन यामिनी' (१९५० ई०), 'प्रणय पत्रिका', 'बुद्ध और नाचघर', 'आरती और अंगारे' (१९५४ ई०), 'जनगीता' (अनुवाद), 'मैकबेथ' (अनुवाद), 'प्रारम्भिक रचनाएँ' भाग १, २, ३, (कहानियाँ)।

—बा० कृ० रा०

हरिवंशलाल शर्मा—जन्म १९१५ ई० में मेरठ जिले में हुआ। शिक्षा एम० ए०, पी-एच० डी० लिट्०। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। सूर-साहित्य के विशेषज्ञ। प्रमुख कृतियाँ—'सूर और उनका साहित्य' (१९५४), 'सूर समीक्षा' (१९५५)।

—सं०

हरिवंश सहस्रनाम—'हरिवंश सहस्रनाम' स्तोत्र-पद्धति की ब्रजभाषा की रचना है। इसमें हितहरिवंश गोस्वामी के महत्त्व का वर्णन चाचा हितवृन्दावन दास (दे०) ने इस शैली से किया है कि पाठक हित महाप्रभु की जीवन झाँकी भी साथ ही साथ देखता चलता है। इस ग्रन्थ की उपादेयता केवल स्तोत्र ग्रन्थ होने के कारण नहीं है, वरन् इसके द्वारा अनेक भक्तों का नामोल्लेख भी प्राप्त होता है। साथ ही साथ राधावल्लभ सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक विशेषताओं के इस ग्रन्थ से संकेत मिलते हैं। कुछ पद इतने गूढ़ सांकेतिक अर्थों से भरे हुए हैं कि उन्हें पढ़कर चाचा हितवृन्दावन दास की विवेचन वर्णन-शैली पर आश्चर्य होता है। हित हरिवंश की नाम महिमा का पाठ करने के बहाने सिद्धान्तों का गहन तत्त्व भी इससे ज्ञात होता है, यही इसकी विशेषता है। कुछ विद्वानों ने इसके आधार पर भक्तों की सूची भी तैयार की है। एक प्रकार से भक्तमाल का भी यह काम देता है।

—वि० स्ना०

हरिशंकर शर्मा—ये नाथूराम शंकर शर्मा के आत्मज हैं। जन्मतिथि २१ अगस्त, १८९२ ई० है और जन्मस्थान हरदुआगंज, अलीगढ़। बहुत दिनों तक इन्होंने 'आर्यमित्र' का सम्पादन किया। पुस्तकें लगभग ५० हैं जिनमें मुख्य हैं—'रसरत्नाकर' (काव्यशास्त्र), 'उर्दू साहित्य परिचय', 'हिन्दी साहित्य परिचय', 'अंग्रेजी साहित्य परिचय' (इतिहास), 'घासपात', 'रामराज्य', 'कृष्ण सन्देश', 'महर्षि महिमा', 'वीरांगना वैभव' (काव्य), 'चिड़ियाघर', 'पिंजरापोल', 'मटकाराम मिश्र', 'गड़बड़ गोष्ठी', 'पाखण्ड प्रदर्शनी' (हास्यव्यंग्य), 'हिन्दुस्तानी कोश'। हरिशंकरजी इतिहास

लेखक, कोशनिर्माता, सफल व्यंग्यकार, हास्याचार्य, विख्यात पत्रकार, बहुभाषाविद् और छन्दशास्त्र के विशेषज्ञ हैं। भाषा सरल और शैली व्यंग्यात्मक है। कृतियों में परम्परा और प्रगति का अद्भुत सामंजस्य है। आप 'देव पुरस्कार' से पुरस्कृत हैं और पिछले दिनों आगरा विश्वविद्यालय ने डाक्टरेट की आनरेरी उपाधि से आपको सम्मानित किया है।

—स० ना० त्रि०

हरिश्चंद्र १—सूर्यवंश के प्रतापी नरेशों की सूची में हरिश्चन्द्र नाम प्राप्त होता है। वस्तुतः हरिश्चन्द्र कालिदास द्वारा निर्दिष्ट दिलीप से प्रसूत रघुवंश की परम्परा के बहुत पूर्व के ज्ञात होते हैं और इनके साथ जुड़ा हुआ विश्वामित्र का कथानक बाद का है। वेदादि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में इनके उल्लेख का अभाव मिलता है। इनका उल्लेख पुराणवादी परम्परा से ही प्राप्त होता है। वस्तुतः ये सत्यवादिता और दानवीरता के कारण प्रसिद्ध माने गये हैं। इनकी इस दानवीरता का उल्लेख संस्कृत में 'चण्डकौशिक' नामक नाटक में प्राप्त होता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी विषय को लेकर स्वतन्त्र नाट्यकृति की रचना की।

—यो० प्र० सिं०

हरिश्चंद्र २—दे० 'भारतेन्दु हरिश्चन्द'।

हरिश्चंद्र चंद्रिका—दे० 'हरिश्चन्द्र मैगजीन'।

हरिश्चंद्र देव वर्मा 'चातक'—जन्म १९०० ई० में अतरौली में हुआ। आधुनिक युग के ब्रजभाषा कवियों में आपका नाम उल्लेखनीय है। रचनाएँ—'वन्दना', 'चतुष्टय', 'वीणा', 'क्रान्तिदूत' आदि।

—सं०

हरिश्चंद्र मैगजीन—इसका प्रकाशन बनारस से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सन् १८७३ ई० में हुआ। यह एक मासिक पत्रिका थी। इसके आठ अंक निकलने के बाद इसका नाम 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' रख दिया गया। यह पत्रिका बीस-तीस पृष्ठ से अधिक की न थी और इसका वार्षिक मूल्य ६) मात्र था। सुविधा के लिए इसे हिन्दी, अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित किया जाता था। इसके प्रेरक और संस्थापक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे। वही उसके सम्पादक भी थे। इसका प्रथम संस्करण ५०० प्रतियों का था।

इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर लेख प्रकाशित होते रहते थे तथा उपन्यास, नाटक, इतिहास एवं काव्य भी प्रकाशन होता था। हिन्दी गद्य का परिष्कृत रूप प्रारम्भ में इसी पत्रिका में प्रकट हुआ। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी 'काल चक्र' नामक पुस्तिका में लिखा है—"हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।" 'चन्द्रिका' में भारतेन्दु स्वयं तो लिखते ही थीं, बहुत से लेखकों को भी प्रेरित करते थे।

इस पत्रिका की मौलिकता प्रशंसनीय थी। इसमें प्रकाशित हरिश्चन्द्र का 'पैगम्बर', मुंशी बालाप्रसाद का 'कलिराज की सभा', बाबू सीताराम का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न', कार्तिक प्रसाद खत्री का 'रेल का विकट खेल' आदि लेख बहुप्रशंसित रहे हैं।

—ह० दे० बा०

हरी घास पर क्षण भर—१९४९ ई० में प्रकाशित सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का तीसरा काव्य संग्रह, जो कवि की न केवल अत्यन्त प्रौढ़ कृतियों में से है, बल्कि जिसका छायावाद युग के बाद उभरने वाली नयी काव्य-चेतना के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व है। रचनाएँ १९४७-४९ ई० के बीच की हैं। कवि भाषा को भारतीय संस्कृति तथा नवीनतम विचारों के अनुकूल एक नया काव्योचित गठन दे सका है। कविता इस बात की सफल पुष्टि है कि कविता वास्तव में छन्द, तुक आदि की ऊपरी सजावट पर उतना निर्भर नहीं, जितना भाषा के अधिक बुनियादी तत्त्वों पर, जैसे प्रतीक, शब्द, अर्थ, लय, बिम्ब आदि पर निर्भर है। कविताओं में खोज एवं विशिष्टता है किन्तु टेकनीक और भाषा के सामर्थ्य को देखते हुए ऐसा लगता है कि विषय की दृष्टि से उनका क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित है। (दे० 'अज्ञेय' स० ही० वात्स्यायन)।

—कुँ० ना०

हर्षवर्धन—प्रसादकृत नाटक 'राज्यश्री' का पात्र। हर्षवर्धन (राज्यकाल ६०५-६४७ ई०) स्थाणीष्वर के प्रभाकरवर्धन का छोटा पुत्र और राज्यवर्धन और राज्यश्री का छोटा भाई है। उसकी माता का नाम यशोमती था, जिसे कुछ लोग मालवनरेश की दुहिता मान लेने का प्रयास करते हैं। हर्षवर्धन ने कामरूप, कश्मीर और वलभी के राज्य जीते थे ('राज्यश्री', प्राक्कथन)। हर्षवर्धन उदार, वीर, धार्मिक और कर्त्तव्यशील सम्राट् के रूप में हमारे समक्ष आता है। यह विदेशी हूणों को प्रताड़ित कर समस्त उत्तरापथ पर अपना राज्य स्थापित कर लेता है। तत्पश्चात् दक्षिण की ओर विजय की लालसा से बढ़ता है किन्तु वीर चालुक्य से उसे आंशिक पराजय मिलती है। चालुक्य नरेश पुलकेशिन से सन्धि करके वह प्रसन्नता के साथ कन्नौज लौट आता है। लूट-पाट, हत्या एवं नृशंसता के द्वारा अपने राज्य का विस्तार करने के पक्ष में नहीं है। पुलकेशिन के सामने अपनी इस भावना को व्यक्त करता हुआ हर्ष कहता है : "मुझे राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है। यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ तो कृतकृत्य हो जाऊँगा।" इस प्रकार राज्य के अनावश्यक विस्तार की अपेक्षा वह आदर्श शासन-व्यवस्था को राज्यधर्म का अनिवार्य अंग मानता है। इस प्रकार की भावना रखते हुए भी वह मगध सम्राटों की निर्वीर्यता से अरक्षित उत्तरापथ की हूणों से रक्षा करते हुए कामरूप से सौराष्ट्र और कश्मीर से लेकर रेवातक एक सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना करके अपने प्रबल शौर्य एवं कुशल शासक होने का परिचय देता है। शासक की अपेक्षा हर्षवर्धन एक सामान्य मनुष्य की दृष्टि से कहीं अधिक वरेण्य है। उसकी उदारता एवं सुजनता उसकी वीरता से कहीं अधिक महत्त्व रखती हैं। राज्यश्री के सम्पर्क में आने के बाद प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लक्ष-लक्ष प्राणियों की नृशंसा हत्या करानेवाला हर्ष दयार्द्र बनकर "राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास" करने लगता है। वह अपनी बडी बहिन की क्षमाशीलता, उदारता एवं परदुःखकातरता से विशेष प्रभावित होता है और नतमस्तक होकर सच्चे हृदय से अपनी विकृत राजन्य बुद्धिपर पश्चात्ताप करता है। इस प्रकार की विरक्ति की भावना का उसके चरित्र में प्रवेश एकदम नाटकीय नहीं है। राज्यश्री का छोटा भाई होने के नाते सात्त्विक वृत्ति के बीज उसके हृदय में संस्कार रूप में पहले से ही वर्तमान थे, हाँ, राजनीति के प्रखर ताप से वे झुलस गये थे। राज्यश्री के शीतल सुखद आचरण की

छाया पाकर वे पुनः अंकुरित होकर लहलहा उठे। फलतः शौर्य एवं शस्त्र बल के द्वारा अर्जित समस्त राजकीय सम्पत्ति को वितरित करके हर्षवर्धन जन-जन के मानस का यशस्वी सम्राट् बन जाता है। उसके अपूर्व त्याग, उदारता एवं क्षमाशीलता की प्रशंसा विदेशी यात्री सुएनच्वांग ने मुक्त कण्ठ से की है : "यह भारत का देवदुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट्! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसवभूमि हो सकती है"। हर्षवर्धन की एक अन्य अप्रतिम विशेषता निष्काम कर्मयोग की भावना है। राज्यसुख से सर्वतोभावेन विरक्त हो जाने पर भी वह न्यायबुद्धि एवं लोकसेवा के भाव को भुला नहीं देता। कुमार की हत्या के षड्यन्त्र का समाचार पाते ही वह क्षत्रियोचित तेज में भरकर तुरन्त आज्ञा देता है : "जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।" इसी प्रकार अपनी सारी सम्पत्ति का दान करने के पश्चात् भी वह लोकसेवा की भावना से शासन कार्य को बड़ी कुशलता से चलाता रहता है।

—के० प्र० चौ०

हसन—इस्लामी स्रोतों के अनुसार हसन अली के छोटे भाई और मोहम्मद साहब के नाती थे। इन्हें इमाम हुसेन भी कहा जाता है। 'खिलाफत' के संघर्ष में इन्होंने अपने लघु भ्राता हुसेन की सहायता की थी। ऐसी प्रसिद्धि है कि जादाविन अंशअस ने हसन को जहर दे दिया था। उस समय ये ४७ वर्ष के थे। मोहर्रम के अवसर पर आज भी मुसलमान 'हसन' का स्मरण करते हैं (दे० काबा-कर्बला)।

—रा० कु०

हस्ती—दे० 'कुवलया पीड'।

हिंदी अनुशीलन—इस त्रैमासिक शोध-पत्रिका का प्रकाशन भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग की ओर से सन् १९४७ ई० के अप्रैल मास में प्रयाग से हुआ। इसके प्रथम सम्पादक थे धीरेन्द्र वर्मा। 'हिन्दी अनुशीलन' का उद्देश्य है "हिन्दी तथा खोज के समस्त अंगों, भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के अध्ययन को प्रोत्साहित करना और उसकी गति का विशेष रूप से निरीक्षण प्रस्तुत करना।"

इस पत्रिका के लेखक प्रायः हिन्दी के प्राध्यापक, शोध छात्र एवं इस क्षेत्र में कार्य करने वाले अधिकारी विद्वान् ही हैं। इसके वर्तमान सम्पादक हैं रामस्वरूप चतुर्वेदी, राजेन्द्रकुमार तथा बालमुकुंद गुप्त।

'हिन्दी अनुशीलन' के कई महत्त्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं—(१) 'भाषा अंक' (२) 'धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक' (३) 'शोध विशेषांक। विषय की नवीनता एवं शोध की दृष्टि से ये दोनों अंक अत्यन्त उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

—श्री० व०

हिंदी प्रदीप—यह मासिक पत्र इलाहाबाद से ७ सितम्बर, १८७७ ई० को प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक बालकृष्ण भट्ट थे और पृष्ठ संख्या १६ थी। इसमें लेखों के अतिरिक्त नाटक भी प्रकाशित होते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार " 'हिन्दी प्रदीप' गद्य-साहित्य का ढर्रा निकालने के लिए ही" निकाला गया था।

'कविवचन सुधा' के बाद 'हिन्दी प्रदीप ही वह पत्र रह गया था, जो अपने पाठकों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कर सका। सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं पर स्वतन्त्र विचार प्रकाशन के कारण यह पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया और 'कविवचन सुधा' के बाद इसे ही सबसे अधिक ख्याति मिली।

—ह०दे०बा०

हिंदुस्तानी—इसका प्रकाशन सन् १९३१ ई० में धीरेन्द्र वर्मा के सम्पादकत्व में हुआ। यह त्रैमासिक पत्रिका है। उत्तर प्रदेशीय हिन्दुस्तानी अकादमी का यह मुख-पत्र है। राजस्थानी, ब्रजभाषा तथा हिन्दी की अन्यान्य बोलियों पर इसमें काफी सामग्री प्रकाशित होती रही है। शोध-कार्य, समालोचना एवं वैचारिकता के प्रति 'हिन्दुस्तानी' का झुकाव प्रमुख रूप से रहा है।

—ह० दे० बा०

हिंदी साहित्य का इतिहास—हिन्दी का प्रथम सुव्यवस्थित साहित्यिक इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी शब्द सागर' की विषद भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया। साहित्यिक इतिहास का उनका विभाजन इन पंक्तियों में बड़ी निश्चयात्मकता के साथ व्यक्त हुआ है—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चलता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थित के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितयों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—आदि काल (वीरगाथा काल, सं० १०५०-१३७५), पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, सं० १३७५-१७००), उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, सं० १७००-१९००), आधुनिक काल (गद्य काल, सं० १९००-१९५४)"।

'शब्दसागर' में लिखित 'हिन्दी साहित्य का विकास' को परिवर्तित तथा परिमार्जित कर उन्होंने १९२९ में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में प्रकाशित किया। अपने 'काल विभाग' शीर्षक प्रारम्भिक परिच्छेद में उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्त और पद्धति की ही पुनरावृत्ति की है, जिसका निर्वाह करने की क्षमता का भी परिचय देने में वे समर्थ सिद्ध होते हैं। शुक्लजी ने स्वकालीन पाश्चात्य वैदुष्य की उपलब्धि को, विलक्षण सजगता का परिचय देते हुए, हिन्दी साहित्येतिहास के निर्माण के लिए अपना लिया है—कदाचित् किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य के इतिहास-लेखक के पूर्व। उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम में साहित्येतिहास के क्षेत्र में विधेयवाद प्रचलित था। शुक्लजी ने इसी विधेयवाद को, उस समय के लिए आश्चर्यजनक नव्यवादिता के साथ, अधिकृत और व्यवहृत किया—उन्हीं शुक्लजी ने, जो काफी पुराने पड़ गये

रोमाण्टिक कवियों के हिन्दी अनुयायियों, छायावादियों, से कम ही सहानुभूति दिखाते हैं और 'किमाश्चर्यमतः परं', उनमें से कुछ पर तो कॉलरिज जैसे अंग्रेजी के उन कवियों के प्रभाव का भी सन्देह करते हैं, जिनका नाम भी उन कवियों ने जाने कितने दिनों बाद सुना होगा किन्तु शुक्लजी रचनात्मक साहित्य में जिस नवीनता के विरोधी हैं—उनके साथ न्याय किया जाय तो कहना पड़ेगा कि उनका अपना रचनात्मक साहित्य भी उनके आदर्श के अनुरूप अवश्य है। उसे साहित्येतिहास तथा साहित्यालोचन के क्षेत्र में उनकी जैसी तत्परता के साथ अपनाने वाले आज भी हिन्दी के कुछेक विद्वान् ही मिलेंगे। रिचर्ड्स और क्रोचे के सिद्धान्तों का उल्लेख ही नहीं, उनका खण्डन भी करने वाला यह व्यक्ति भारत तो क्या, पश्चिम के भी समकालीन दो-चार ही विद्वानों में एक रहा होगा।

शुक्लजी के वैदुष्य की यह भी एक विचित्रता है कि उन्हें जैसी मान्यता मार्क्सवादी-प्रगतिवादियों से मिली है, वैसी शायद ही किसी दूसरे हिन्दी के आचार्य को मिली होगी, यद्यपि इसका रहस्य स्पष्ट ही है। वह यह कि विधेयवाद अपने ढंग से मार्क्सवादियों को उतना ही ग्राह्य है, जितना शुक्लजी के समान विद्वानों को। दोनों ही साहित्य यथा पारिपार्श्विक परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध मानते हैं, अन्तर है तो दृष्टिकोण-मात्र का।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास की, इन विशेषताओं के बावजूद, जो त्रुटि है वह यह कि, अनुपात की दृष्टि से, उसका स्वल्पांश ही प्रवृत्ति-निरूपणपरक है, अधिकांश विवरण प्रधान ही है, और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसके लिए उनका मुख्य आधार वह 'विनोद' है, जिसके लेखक मिश्रबन्धुओं पर उन्होंने अनावश्यक रूप से कटु व्यंग भी किये हैं। शुक्लजी के इतिहास का जो अकल्याणकारी प्रभाव बाद के हिन्दी साहित्येतिहासकारों पर पड़ा है, अवश्य इसके लिए वे दोषी नहीं हैं, इससे तो उनकी सशक्तता ही प्रमाणित होती है।

—न० वि० शा०

हिंदी साहित्य की भूमिका—डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण साहित्येतिहास ग्रन्थ है। द्विवेदी जी की जिस ऐतिहासिक चेतना का उल्लेख किया जाता है, उसके बुनियादी सिद्धान्त इसी ग्रन्थ में उल्लिखित हैं। पहली बार यह सन् १९४० ई० में प्रकाशित हुआ और अब तक इसके आधे दर्जन से अधिक संस्करण छप चुके हैं। मूल पुस्तक में दस अध्याय हैं—१. हिन्दी साहित्य—भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास, २. हिन्दी साहित्य—भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास, ३. संतमत, ४. भक्तों की परम्परा, ५. योगमार्ग और सन्तमत, ६. सगुण मतवाद, ७. मध्ययुग के सन्तों का सामान्य विश्वास, ८. भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व, ९. रीतिकाल, १०. उपसंहार। इसके साथ एक महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी जुड़ा हुआ है। वास्तव में इस पुस्तक में साहित्य, संस्कृति, समाज, चिन्तन आदि को एक अविच्छिन्न परम्परा में देखने का जो प्रयास किया गया है, वह साहित्य के अध्येताओं और इतिहासकारों को नया दृष्टिकोण देता है।

—ब० सिं०

हिंदुस्तानी अकादमी, प्रयाग—स्थापना सन् १९२७ ई०; कार्य और विभाग—(१) आयोजन—साहित्यिक विषयों पर विद्वानों के भाषणों का आयोजन किया जाता है। (२) मौलिक रचनाएँ पुरस्कृत की जाती हैं। (३) पुस्तकालय—एक व्यवस्थित पुस्तकालय का संचालन किया जाता है। (४) प्रकाशन—अब तक बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। (५) पत्रिका—'हिन्दुस्तानी' नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है।

—प्रे० ना० टं०

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग—स्थापना सन् १९१० ई०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रेरणा से स्थापित; कार्य और विभाग—सम्मेलन का कार्य कई विभागों में बँटा हुआ है—(१) परीक्षा—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी परीक्षाओं में लगभग १०,००० विद्यार्थी प्रति वर्ष बैठते हैं। अहिन्दी-भाषी दक्षिणी भारत में उक्त परीक्षाओं का कार्य राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा को सौंप दिया गया है। पंजाब और कश्मीर में सभी परीक्षाओं की व्यवस्था। सर्वोच्च-परीक्षा 'साहित्यरत्न' की है। परीक्षाएँ उत्तर प्रदेशीय बोर्ड तथा अन्य प्रान्तों के विश्वविद्यालयों द्वारा मान्य हैं। केन्द्रों की संख्या ४०० से अधिक है। (२) प्रचार—प्रान्तीय एवं जनपदीय सम्मेलनों का आयोजन होता है। पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित किये जाते हैं। परीक्षा-केन्द्रों की व्यवस्था तथा कर्मचारियों में हिन्दी का प्रचार किया जाता है। (३) पुस्तकालय—इसमें १९,५०० से अधिक पुस्तकें हैं, वाचनालय में १५० से ऊपर पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। विभिन्न स्वर्गीय साहित्यिकों के अलबम भी तैयार हैं। (४) प्रकाशन—खोज द्वारा प्राप्त प्राचीन ग्रन्थों और अनूदित कृतियों के प्रकाशन का प्रबन्ध होता है। २०० से ऊपर ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। पारिभाषिक शब्दावली का भी निर्माण हो रहा है। त्रैमासिक 'सम्मेलन पत्रिका' प्रकाशित होती है। देशभर में ६० से अधिक संस्थाएँ इससे सम्बद्ध हैं। (५) पुरस्कार—मंगलाप्रसाद पारितोषिक, सेकसरिया महिला पारितोषिक, मुरारका पारितोषिक, जैन पारितोषिक, राधामोहन गोकुलजी पारितोषिक, नारंग पुरस्कार (केवल पंजाबनिवासी हिन्दी कवियों को), गोपाल पुरस्कार, रत्नकुमारी पुरस्कार—ये पुरस्कार अलग-अलग विषयों और नियमों के अनुसार दिये जाते हैं। सम्मेलन हिन्दी की विशेष संस्था है। इसे अनेक राष्ट्रीय नेताओं एवं प्रमुख साहित्यिकों का सम्पर्क प्राप्त हो चुका है। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन इसके प्रमुख प्रेरक व्यक्ति थे।

—प्रे० ना० टं०

हिडिंबा—'महाभारत' में हिडिम्ब नामक एक राक्षस का उल्लेख मिलता है। इसका वध भीम ने किया था। हिडिम्बा इसी हिडिम्ब नामक राक्षस की बहन थी। हिडिम्ब की मृत्यु के अनन्तर इसने एक सुन्दरी का रूप धारण कर भीम से विवाह किया। हिडिम्बा से भी भीम के घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (दे० 'हिडिम्बा' : मैथिलीशरण गुप्त)।

—रा० कु०

हित चौरासी—श्री हित हरिवंश गोस्वामीरचित ब्रजभाषा के चौरासी पदों का संग्रह ग्रन्थ 'हित चौरासी' राधावल्लभ सम्प्रदाय का आकर ग्रन्थ माना जाता है। इसी ग्रन्थ के आधार पर राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त को हृदयंगम किया जा

सकता है। इसी ग्रन्थ की हस्तलिखित प्राचीनतम प्रति सत्रहवीं शती की उपलब्ध है। यह रसोपासना के आधारभूत सिद्धान्तों को हृदयंगम करके स्वतन्त्र रूप से लिखे गये चौरासी पदों का संकलन है। इस ग्रन्थ को प्रेम-लक्षण या माधुर्य भक्ति का प्रतिपादक भक्ति-ग्रन्थ कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों का ऐसा भी आग्रह है कि इसमें चौरासी पद रखने में हरिवंश गोस्वामी का आशय यह था कि एक-एक पद के मर्म को समझने से लाख योनियों में चक्कर काटने से जीव बच सकता है। इस प्रकार चौरासी लाख योनियों का चक्कर मनुष्य से छूट सकता है।

इस ग्रन्थ के 'हरिवंश चौरासी', 'हित चौरासी धनी' '**चतुराशीजी**' नाम भी प्रसिद्ध हैं किन्तु मूल ग्रन्थ का नाम 'हित **चौरासी' ही है। अन्य सब नाम अप्रामाणिक हैं। 'हित चौरासी' एक मुक्तक पद रचना है, जिसमें भाववस्तु या वर्ण्य वस्तु का कोई कोटिक्रम नहीं है।** समय प्रबन्ध की दृष्टि से कुछ विद्वानों ने इसमें पदों का वर्गीकरण किया है किन्तु यह परवर्ती और साम्प्रदायिक दृष्टि से किया गया है। मूल प्रणेता का इस प्रकार वर्गीकरण करने का कोई आग्रह नहीं है।

'हित चौरासी' का वर्ण्य-विषय मुख्य रूप से अन्तरंग भावना से सम्बन्ध रखता है। श्रृंगार-रस की पृष्ठभूमि पर उन विषयों को हित हरिवंश ने प्रस्तुत किया है, जो उनकी भक्तिपद्धति के मेरुदण्ड हैं। राधाकृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्य विहार, रासलीला, मान, विरह, वृन्दावन, सहचरी आदि ही इस ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय हैं। सबसे पहले हित हरिवंश ने राधावल्लभीय प्रेमपद्धति का प्रतिपादन 'तत्सुखी' भाव के प्रेमवर्णन द्वारा प्रथम पद में ही प्रस्तुत किया है—"जोई जोई प्यारों करे सोई मोहि भावे, भावे मोहि जोई, सोई सोई प्यारे।" इस पद में अद्वय भाव की सृष्टि के लिए प्रिया-प्रियतम का एक दूसरे में लीन हो जाना ही प्रेम की पराकाष्ठा है। इस प्रकार के अद्वैत को कुछ विद्वानों ने राधावल्लभीय 'सिद्धाद्वैत' कहने की चेष्टा की है। प्रेम का वर्णन करने में हित हरिवंश की शैली स्वतन्त्र और उन्मुक्त है। उन्होंने बन्धनमय प्रेम प्रतीति को स्वीकार नहीं किया। "प्रीति न काहू की कानि बिचारे" कह कर प्रेम को स्वतन्त्र मार्ग कहा है। 'हित चौरासी' में राधा का रूप वर्णन बहुत ही मार्मिक और उदात्त कोटि का है। लगभग एक दर्जन पदों में राधा की रूप-माधुरी का वर्णन है। नखशिख की पूर्णता के लिए अवकाश न होने पर भी लेखक ने उसका परिपूर्ण आभास इन पदों में दे दिया है। रास वर्णन, वृन्दावन छवि वर्णन, नित्य विहार वर्णन और कृष्ण वर्णन के पद भी काव्य सौष्ठव तथा प्रांजल शैली के सुन्दर निदर्शन हैं।

'हित चौरासी' पर अभी तक लगभग दो दर्जन टीकाएँ प्रस्तुत हो चुकी हैं। इन टीकाओं का क्रम सोलहवीं शताब्दी से ही दृष्टिगत होता है। दामोदर दास (सेवकजी) ने 'सेवकवाणी' लिखकर एक प्रकार से 'हित चौरासी' के प्रतिपाद्य का ही वर्णन किया था। इसलिए 'हित चौरासी' और 'सेवक वाणी' को एक साथ पढ़ने, छापने, लिखने और रखने का विधान बन गया है। टीकाओं में प्रेमदास, लोकनाथ, केलिदास, रसिकदास और गोस्वामी सुखलाल की टीकाएँ पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

'हित चौरासी' यद्यपि साम्प्रदायिक ग्रन्थ माना जाता है किन्तु उसके माध्यम से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोस्वामी हरिवंश का ध्यान इस ग्रन्थ के पदों का प्रणयन करते समय किसी संकीर्ण भावना से आवृत नहीं हुआ था। उन्होंने इन पदों को रस में निमज्जित होकर सहज स्फूर्त रूप में ही प्रस्तुत किया है। हित हरिवंश के इन पदों का मूलाधार रस ही है। इन पदों का पाठ करते ही भक्त के मन में ही नहीं, सामान्य साहित्यप्रेमी के हृदय में भी अनाविल राधाकृष्ण प्रेम का अपार पारावार लहराने लगता है। पदों के लालित्य और माधुर्य को देखकर लगता है कि कदाचित् भक्तों ने इन पदों के माधुर्य के कारण ही हरिवंश को वंशी का अवतार कहा होगा। ब्रजभाषा का ऐसा परिष्कृत और प्रांजल रूप सूरदास और नन्ददास के पदों में भी दृष्टिगत नहीं होता। तत्सम पदावली के प्राचुर्य के साथ उनका उचित स्थान पर प्रयोग मणि-कांचन संयोग का स्मरण करानेवाला है। भाषा के चित्रधर्म और संगीतात्मकता को देखकर लगता है कि हित हरिवंश को ब्रजभाषा की प्रकृति का स्वाभाविक और सहज रूप विदित हो गया था। लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक प्रयोगों का भी 'हित चौरासी' में अभाव नहीं है। संक्षेप में 'हित चौरासी' ब्रजभाषा का एक अनूठा भक्ति ग्रन्थ है, जिसे साहित्य, संगीत और कला में समान रूप से सम्मान प्राप्त हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक; गोस्वामी हित हरिवंश और उनका सम्प्रदाय : ललिताचरण गोस्वामी; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; हित चौरासी, प्रकाशक गोस्वामी मोहनलालजी वृन्दावन; हितामृत सिन्धु, प्रकाशक हित गोवरधनदास जी।.

—वि० स्ना०

हिततरंगिणी—कृपाराम की नायिका भेदविषयक रचना है। यह हिन्दी काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल १५४१ ई० है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियों की सूचना है (१९०६-०८ की रिपोर्ट में क्रम संख्या २८० पर तथा १९०९-११ की रिपोर्ट में क्रमसंख्या १५७ पर)। १८९५ ई० में वाराणसी के भारत जीवन प्रेस से इसका प्रथम बार प्रकाशन हुआ (ग्रन्थ अप्राप्य है)। इसके एक सुसम्पादित संस्करण की बड़ी आवश्यकता है। इसका एक संस्करण पं० सुधाकर पाण्डेय द्वारा संपादित होकर नागपुर से प्रकाशित हुआ है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के रचनाकाल का स्वयं स्पष्ट उल्लेख किया है। फिर भी हजारी प्रसाद द्विवेदी (हि० सा०, १९५२ ई०, पृ० २९५) आदि कतिपय विद्वानों ने इसके इतने प्राचीन होने में सन्देह किया है। इस ग्रन्थ के भाषागत परिष्कार के कारण यह सन्देह हुआ है परन्तु नगेन्द्र ने रचनातिथि के असंदिग्ध उल्लेख के आधार पर इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। 'हिततरंगिणी' के कुछ दोहे बिहारी के दोहों से मिलते-जुलते हैं किन्तु इन दोहों के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल का यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि "या तो बिहारी ने उन दोहों को जानबूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिल गये" (हि० सा० इ०, १९५० ई०, पृ० १९९)। इसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

नायिका-भेद का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ होते हुए भी 'हिततरंगिणी' में इस विषय का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है। इसके लक्षण एवं उदाहरण प्रायः स्पष्ट है। कवि ने इसका आधार भरत का 'नाट्यशास्त्र' माना है—"कृपाराम यों कहत हैं, भरत ग्रन्थ अनुमानि।" पर उसने मुख्य रूप से भानुदत्त की 'रसमंजरी' का ही अनुकरण किया है। इस ग्रन्थ में उसने यथास्थान अनेक मौलिक भेदोंपभदों का भी समावेश किया है। उनमें से कुछ ये हैं : (१) प्रौढ़ा के दो भेद रतिप्रिया और आनन्दमत्ता, (२) धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा भेदों का मानवती के अन्तर्गत कथन, (३) स्वकीया के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेदों के साथ समहिता नाम के एक नये भेद का कथन, (४) उढ़ा के दो भेद—परप्रिया और परविवाहिता, (५) लक्षिता के तीन भेद—क्रियालक्षिता वचनलक्षिता, प्रत्यक्षलक्षिता।

'हिततरंगिणी' की रचना दोहा छन्द में तथा प्रौढ़ एवं परिमार्जित ब्रजभाषा में हुई है। कवि ने स्वयं घोषित किया है कि उसके पूर्व श्रृंगार-रस का विवेचन (वर्णन) विस्तृत छन्दों में किया जाता था पर उसने स्वयं दोहों में वर्णन किया है। बिहारी की 'सतसई' में इन दोनों का खप जाना इस बात का प्रमाण है कि सरसता और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से 'सतसई' के दोहों के लगभग समकक्ष ही हैं। हिन्दी काव्य-शास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ के नायिका-भेद के अनेक मौलिकताओं से पूर्ण ग्रन्ध के तथा सरस एवं श्रेष्ठ काव्यग्रन्थ के रूप में 'हिततरंगिणी' का महत्त्व निर्विवाद है।

[सहायक ग्रन्थ—हि० सा० बृ० इ० (भा० ६); हि० का० शा० इ०; हि० सा० (भा० २)।]

—रा० गु०

हित हरिवंश—'राधावल्लभ' नामक वैष्णवभक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तक, राधा के अनन्य उपासक श्री हित हरिवंश गोस्वामी के पूर्वज उत्तरप्रदेश के सहारनपुर जिले के देववन्द (प्राचीन देववन) नामक कस्बे के निवासी थे। इनके पूर्वजों का वर्णन साम्प्रदायिक वाणी ग्रन्थों में बड़े विस्तार से मिलता है, किन्तु उसका ऐतिहासिक आधार स्थिर करना कठिन है। हरिवंश के जन्म के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती वाणी ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। कहते हैं कि धन-धान्य सम्पन्न होने पर भी व्यास मिश्र (हरिवंश के पिता) को पुत्र का अभाव था। पुत्र के अभाव में उनका मन खिन्न रहता था। उनके मनस्ताप को देख कर एक दिन उनके अग्रज नृसिंहाश्रम (केशव मिश्र) ने भविष्यवाणी द्वारा यह सूचित किया कि निकट भविष्य में व्यास मिश्र को पुत्रप्राप्ति का योग है। व्यास मिश्र इस भविष्यवाणी को सुनते ही अपने भाग्योदय के समाचार से प्रमुदित होकर वसन्त पंचमी के दिन नौकर-चाकर तथा पत्नी सहित ब्रज-यात्रा के लिए निकल पड़े। ब्रजभूमि की यात्रा करते हुए जब वे मथुरा के निकटवर्ती बादगाँव में पहुँचे, तब उनकी पत्नी को प्रसव-पीड़ा का अनुभव हुआ। व्यास मिश्र ने यात्रा का कार्यक्रम स्थगित कर उसी स्थान पर पड़ाव डालने का निर्णय किया। कुछ काल के उपरान्त इसी बादगाँव में तारारानी के गर्भ से निरतिशय सौन्दर्ययुक्त बालक का जन्म हुआ। बालक का नाम हरिवंश रखा गया।

हरिवंश का जन्म वैसाख शुक्ल एकादशी, सोमवार विक्रम संवत् १५५९ (सन् १५०२ ई०) को हुआ था। बादगाँव में राधावल्लभीय भक्तों ने एक मन्दिर बनवाकर हरिवंश की जन्मस्थली को एक पूज्य स्थान के रूप में सुरक्षित किया है। हरिवंश का शैशव सामान्य बालकों से भिन्न असाधारण घटनाओं से ओत-प्रोत था। बचपन से ही उनके हृदय में भवगद्भक्ति की प्रेरणा उत्कट रूप से उत्पन्न हो गयी थी और उनके खेल-कूद के कार्यों में भी राधाकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण ही प्रायः रहता था। साम्प्रदायिक दृष्टि से यह प्रसिद्ध है कि हरिवंश ने किसी पुरुष को अपना गुरु नहीं बनाया, प्रत्युत राधा को अपनी इष्टदेवी तथा गुरु माना था। हरिवंश को साम्प्रदायिक दृष्टि से कृष्ण की वंशी का अवतार कहा जाता है।

षोडश वर्ष की आयु में हरिवंश का विवाह रुकिमनी देवी के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी उनकी धार्मिक निष्ठा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनका दाम्पत्य-जीवन सुखी, सम्पन्न और आदर्श कोटि का था। रुक्मिनी देवी से उनके एक पुत्री तथा तीन पुत्र उत्पन्न हुए। सोलह वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के बाद उनके मन में ब्रज-यात्रा की इच्छा जागरित हुई और उन्होंने सपत्नीक यात्रा का निश्चय किया किन्तु छोटे बच्चों के कारण रुक्मिनी देवी ने यात्रा करना उचित नहीं समझा, अतः वे एकाकी ही ब्रजभूमि के लिए चल पड़े। गृहस्थाश्रम में रहते हुए हरिवंश ने यह अनुभव कर लिया था कि संसार का तिरस्कार कर वैराग्य धारण करने का मार्ग ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र उपाय नहीं है। प्रत्युत गृहस्थाश्रम में रह कर भी ईश्वराराधना की जा सकती है और सब प्रकार का आत्मसन्तोष प्राप्त किया जा सकता है। दाम्पत्य जीवन के अनुभवों की प्रेम की कसौटी बनाकर, उनमें पूर्ण पवित्रता का आरोप करके प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति भगवत् प्रेम की प्राप्ति कर सकता है। फलतः ब्रज-यात्रा के समय उन्होंने मार्ग में चिरथावल गाँव के एक धर्म-परायण ब्राह्मण की दो युवती कन्याओं से उनके पिता के परम आग्रह पर विवाह कर लिया। इन कन्याओं के नाम कृष्णदासी और मनोहारी दासी थे। यात्रा करते हुए ये फाल्गुन एकादशी विक्रम सं० १५९० (सन् १५३३ ई०) को वृन्दावन पहुँचे। वृन्दावन पहुँचने पर मदनटेर नामक स्थान पर उन्होंने विश्राम के लिए डेरा डाला। उनकी मधुर वाणी और दिव्यरूप पर मुग्ध हो कर दर्शक मण्डली एकत्र होने लगी और शीघ्र ही वृन्दावन में उनके आगमन का समाचार फैल गया। वृन्दावन में स्थायी रूप से बस जाने पर उन्होंने मानसरोवर, वंशीघाट, सेवाकुंज और रास-मण्डल नामक चार सिद्ध केलिस्थलों का प्राकट्य किया। ये चारों स्थल आज भी वृन्दावन में विद्यमान हैं। मानसरोवर अब यमुना के किनारे पर जंगल में एक स्थान है, जहाँ प्रति वर्ष एक मेला लगता है और राधावल्लभीय भक्तों की भीड़ होती है।

हित हरिवंश ने अपनी उपासना पद्धति को प्रचलित करने के लिए सेवाकुंज नामक स्थान में अपने उपास्य इष्टदेव का विग्रह सर्वप्रथम स्थापित किया। सं० १५९१ में (सन् १५३४ ई०) प्रथम पाटोत्सव इसीं सेवाकुंज में सम्पन्न हुआ था। लगभग आधी शतीतक सेवाकुंज में ही श्री राधावल्लभ का विग्रह प्रतिष्ठित रहा। संवत् १६४१ (सन् १५९४ ई०) में अब्दुर्रहीम खानखाना के साथी दीवान या खजांची

दिल्लीनिवासी सुन्दरलाल भटनागर कायस्थ ने लाल पत्थर का मन्दिर बनवाया। लाल पत्थर का वह प्राचीन मन्दिर आज भी वृन्दावन में स्थित है किन्तु इसमें प्राचीन विग्रह प्रतिष्ठित नहीं है। ब्रज-प्रदेश में औरंगजेब के आक्रमणों के समय मन्दिर से विग्रह को उठाकर कामवन (भरतपुर) ले जाया गया। उसके बाद एक नया मन्दिर बनवाया गया और सं० १८४२ में (सन् १७८५ ई०) पुनः इसमें विग्रह की प्रतिष्ठा हुई। अंग्रेज लेखक ग्राउसने इस मन्दिर का विस्तृत वर्णन अपनी 'मथुरा मैमायर्स' नामक पुस्तक में किया है। मथुरा के प्राचीन गजेटियर में भी इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ब्रज की भक्ति-साधना के चरम उत्कर्ष का काल है। इस काल में कृष्ण-भक्ति की जो अजस्र निर्झरिणी वृन्दावन की कुंज-गलियों में होकर प्रवाहित हुई, वह अद्यावधि किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। हित हरिवंश के वृन्दावन आगमन के साथ ही स्वामी हरिदास, हरिराम व्यास, स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती आदि महान् भक्तों का ब्रजभूमि में आगमन हुआ। हरित्रयी की सरस पदावली और ऋजु भक्ति पद्धति ने माधुर्य भक्ति को सर्वजनसुलभ और सर्वसंवेद्य बनाने में अमित योग दिया। कृष्ण-भक्ति के इस नवीन मार्ग के प्रचार के लिए रासलीला अनुकरण की आवश्यकता अनुभव हुई और रास-लीला को अभिनेय बनाने के लिए रासमण्डल का निर्माण हुआ। रास-लीला अनुकरण के पुनरुज्जीवन का बहुत कुछ श्रेय हित हरिवंश को प्राप्त है। राधा-वल्लभीय सेवा-पूजा विधि में वैशिष्ट्य लाने के लिए 'खिचड़ी प्रथा' तथा 'ब्याहुलो' का प्रवर्तन भी हरिवंश ने ही किया था।

हित हरिवंश गोस्वामी के विचार और सिद्धान्तों में इतनी नवीनता है कि उसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने माध्व या निम्बार्क सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करके यह महान् परिवर्तन किया होगा। यथार्थ में वे स्वयं सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य की शक्ति लेकर आये थे और उनके सामने विष्णुभक्ति का नया रूप 'राधा-कृष्ण' भक्ति के माध्यम से आया था। 'बंगला भक्तमाला' आदि ग्रन्थों में गोपाल भट्ट को इनका गुरु सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया गया है, वह बहुत ही भ्रामक और पक्षपातपूर्ण है। यदि हरिवंश की विचारधारा का विधिवत् अनुशीलन किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन्होंने कहीं भी अनुगमन नहीं किया है। वे नूतन मार्ग के अन्वेषक, पथ-प्रदर्शक और नेता बनकर ही अवतरित हुए थे।

हरिवंश ने अपनी विचारधारा और नूतन उपासना पद्धति को व्यवस्थित रूप देने के लिए एक नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिसका नाम 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' है। यह सम्प्रदाय ब्रज के वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में अपनी राधाभक्ति के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है। माधुर्यभक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वरूप यद्यपि हरिवंश गोस्वामी से पहले ही प्रकट हो चुका था किन्तु ब्रजमण्डल में उसका निखार और प्रचार हरिवंश के प्रयत्नों से ही मानना चाहिये। हरिवंश ने अपने ग्रन्थों में प्रेम को परात्पर तत्त्व के रूप में स्थिर करके "रसो वै सः" की कोटि तक पहुँचाया। प्रेम की गरिमा और प्रभुता स्थापित करने के बाद उसे विलक्षण रूप देने के लिए शाश्वत तत्त्व माना गया और संसार में दिखायी देने वाली संयोग-वियोग दशाओं से सर्वथा रहित स्थित किया गया। हरिवंश के मतानुसार प्रेम या "हित तत्त्व" ही समस्त चराचर में व्याप्त है। यह प्रेम या हित ही जीव को आराध्य के प्रति उन्मुख करता है। इस प्रेम का पूर्ण परिपाक "जुगल प्रेम" में होता है। जुगल प्रेम (राधा-कृष्ण) को सांसारिक प्रेम से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र मानकर उसका बड़े विस्तार के साथ हरिवंश ने कथन किया है। राधा-कृष्ण के प्रेम में 'तत्सुखी' भाव की स्थापना कर उसे सांसारिक स्वार्थ या आत्मसुख कामना से पृथक् करके अलौकिक रूप दिया गया है।

हित हरिवंश गोस्वामी ने अपने सम्प्रदाय की उपासना पद्धति को रसोपासना कहा है। रस-भक्ति या रसोपासना शास्त्रीय भक्ति से सर्वथा नवीन शैली की है। शास्त्रीय मर्यादा का अंकुश इस रसभक्ति में स्वीकार्य नहीं है। विधि-निषेध के प्रपंच भी प्रायः यहाँ नहीं माने जाते। बाह्य विधि-विधान का बड़े प्रबल शब्दों में हरिवंश ने अपने 'राधा सुधानिधि' ग्रन्थ में खण्डन किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में नित्य बिहारी राधाकृष्ण की स्वीकृति है। वस्तुतः निकुंज-लीला या नित्य-विहार का समर्थन ही हरिवंश की वाणी का मूल स्वर है।

नित्य विहार से हरिवंश का आशय चार से है—राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी। राधा को श्रीकृष्ण से भी उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करके हरिवंश ने अपनी उपासना पद्धति में मौलिकता का समावेश किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा को उस अनादि वस्तु का रूप स्वीकार किया गया है, जो इस ब्रह्माण्ड में व्यक्त होकर अपनी नित्य क्रीड़ा के आनन्द की अभिव्यक्ति- करती रहती है। हरिवंश ने राधा को रसरूप बताया है। श्रीकृष्ण की स्थिति उनके मत मे राधा के बाद अर्थात् गौण है। वृन्दावन का भौतिक रूप ही हरिवंश को स्वीकार्य है और इसी का विस्तार से उन्होंने अपने ग्रन्थों में वर्णन किया है। सहचरी (सखी) अर्थात् जीवात्मा का ध्येय नित्य-बिहार में रत राधा-कृष्ण की निकुंज लीलाओं का दर्शन सुख पाने का अधिकारी बनना है।

हरिवंशगोस्वामीलिखित चार ग्रन्थ प्राप्त हैं। दो ग्रन्थ संस्कृत के हैं—'राधा सुधा निधि' और 'यमुनाष्टक' और दो हिन्दी के—'हितचौरासी' तथा 'स्फुट वाणी'। 'हितचौरासी' (दे०) उनकी सुप्रसिद्ध रचना हैं। इसमें ब्रजभाषा के चौरासी पद हैं। भाषा में लालित्य और माधुर्य का इतना समावेश अन्यत्र नहीं मिलता। 'स्फुट वाणी' में सिद्धान्त प्रतिपादक चौबीस पद हैं। ब्रजभाषा को समृद्ध बनाने में उनके अनुयायियों का योगदान अत्यधिक है।

हित हरिवंश का निधन विक्रम सं० १६०९ में (सन् १५५२ ई०) वृन्दावन में ही हुआ। वृन्दावन के जिस रसिक समाज की हित हरिवंश ने स्थापना की थी, वह उनके निकुंज गमन के बाद छिन्न-भिन्न हो गया और साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना फैलने लगी।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : विजयेन्द्र स्नातक; गोस्वामी हित हरिवंश और उनका सम्प्रदाय : ललिताचरण गोस्वामी; राधावल्लभ भक्तमाल : प्रियादास शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल; भागवत सम्प्रदाय : बलदेव उपाध्याय; ब्रज माधुरी सार : वियोगी हरि; हिन्दी विश्व कोश : बंगला साहित्य

समिति, कलकत्ता।]

—वि० स्ना०

हितवृंदावन दास (चाचा)—राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में हितवृन्दावन दास (चाचाजी) का प्रमुख स्थान है। काव्य परिमाण की विपुलता और शैली की विविधता की दृष्टि से जितना व्यापक विस्तार वृन्दावन दास का है, उतना किसी और कवि का नहीं। हिन्दी साहित्य की भक्ति एवं रीतिकालीन काव्य परिपाटी का जितनी समग्रता के साथ इन्होंने निर्वाह किया, गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर और कोई कवि नहीं कर सका। सरस्वती का दिव्य वरदान लेकर वे अवतीर्ण हुए थे, इसीलिए काव्यमयी सरस वाणी का अजस्र निर्झर उनके कंठ से आजीवन प्रवाहित होता रहा।

वृन्दावनदास के जन्म संवत् और जन्म स्थान के विषय में अभी तक प्रामाणिक रूप से निर्णय नहीं हो सका है। उनकी कृतियों में उल्लिखित संवतों को ध्यान में रखते हुए सं० १७५० से १७६५ (सन् १६९५ से १७१० ई०) के बीच उनका जन्म तथा सं० १८५० (सन् १७९३ ई०) के आसपास इनका निधन काल स्थित किया जाता है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म स्थान पुष्कर बताया है किन्तु इनकी रचनाओं द्वारा अथवा किसी ऐतिहासिक आधार पर इसकी पुष्टि नहीं होती। कृष्णगढ़ के राजा बहादुर सिह के साथ इनके सम्बन्ध का वर्णन अवश्य मिलता है, सम्भव है उसी के आधार पर पुष्कर को जन्म-स्थान लिखा गया हो। उनकी भाषा को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे ब्रजमण्डल के ही निवासी थे और युवावस्था में विरक्त होकर वृन्दावन में आ गये थे। बाद में मुगलों के आक्रमणें से तंग आकर इधर-उधर अनेक स्थानों में भटकते रहे। 'हरिकला वेली' नामक रचना में यवनों के आक्रमणों का उन्होंने बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

वृन्दावन दास केसाथ 'चाचाजी' शब्द का प्रयोग इस कारण होने लगा था कि तत्कालीन गोस्वामीजी के पिता के गुरु-भ्राता होने के कारण गोस्वामीजी की देखा-देखी और लोग भी उन्हें चाचा कहकर पुकारने लगे और समस्त समाज में वे चाचाजी नाम से विख्यात हो गये। वृन्दावन दास ने अपने उपनाम या छापके रूप में तीन शब्दों का प्रयोग किया—वृन्दावन हितरूप, वृन्दावन हित, वृन्दावन।

वृन्दावनदास ने सं० १७९५ के (सन् १७३८ ई०) आस-पास काव्य-रचना करना प्रारम्भ किया होगा। प्रथम रचना में १८०० संवत् का उल्लेख मिलता है किन्तु कुछ कृतियों में संवत् नहीं है और वे पहले की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि वृन्दावन दास स्वयं अपने हाथ से नहीं लिखते थे, उनके साथ सदा एक लेखक रहता था और जब उनकी इच्छा होती, पद रचना में लीन हो जाते थे, ब्रजभूमि से बाहर रहने पर भी उन्होंने काव्यरचना नहीं छोड़ी थी। संवत् १८३१ से १८३६ तक उन्हें ब्रज से बाहर रहने को विवश होना पड़ा था किन्तु उस समय भी उन्होंने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाड़ सागर' का प्रणयन किया था। ब्रज के भक्ति-सम्प्रदायों में जितने कवि हुए हैं, चाचा वृन्दावन दास की रचनाओं की सख्या सबसे अधिक है। राधावल्लभीय ग्रन्थ सूची 'साहित्य रत्नावली' में इनकी ग्रन्थ संख्या १५८ लिखी है, वैसे सवा लाख पद-रचना की बात भी इनके विषय में वृन्दावन में प्रसिद्ध है। केवल अष्टयाम के सम्बन्ध में ही यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने प्रत्येक दिवस के अनुसार ३६५ अष्टयाम लिखे थे। रामचन्द्र शुक्ल ने बीस हजार पद-रचना का संकेत अपने 'इतिहास' में किया है।

वृन्दावन दास के प्रमुख ग्रन्थों में कुछ प्रकाशित हो चुके हैं। इन ग्रन्थों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—'लाड़ सागर', 'ब्रज प्रेमानन्द सागर', 'वृन्दावन जस प्रकाश वेली', 'विवेक पत्रिका वेली', 'कृपा अभिलाषा वेली', 'रसिक पथ चन्द्रिका', 'जुगल सनेह पत्रिका', 'हित हरिवंश सहस्र नाम', 'कलि चरित्र वेली', 'आर्त्त पत्रिका', 'छद्मलीला', 'स्फुट पद'।

उपर्युक्त प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त लगभग ८० फुटकर ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। छतरपुर, भरतपुर, कृष्णगढ़ और वृन्दावन में उनके हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते हैं। वेली-काव्य का सर्वाधिक साहित्य आपका ही रचा हुआ है। वृन्दावनदास के साहित्य में राधावल्लभीय प्रेमभक्ति के इतिहास की सामग्री भी उपलब्ध होती है। 'हरिवंश सहस्र नाम' में भक्तों का सार रूप में परिचय दिया गया है, जो 'भक्तमाल' की कोटि में रखा जा सकता है। कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन उन्होंने अपने युग को दृष्टि में रखकर ही किया है।

चाचाजी के काव्य की भाषा व्यावहारिक बोलचाल की ब्रजभाषा है। इसे हम घरेलू ब्रजभाषा भी कह सकते हैं। कोमलकान्त तत्सम पदावली का आग्रह उन्हें नहीं था। रीतिकालीन कवियों के समसामयिक होने पर भी सानुप्रासिक परिमार्जित भाषा को बचाकर घरेलू भाषा का प्रयोग उन्होंने जानबूझकर ही किया है। उनकी भाषा में संवादात्मकता अधिक है। 'लाड़ सागर' और 'ब्रज प्रेमानन्द सागर' के आख्यान-प्रसंगों में नाटकीयता लाने के लिए उन्होंने संवादों को अधिक स्थान दिया है। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। अरबी, फारसी और तुर्की भाषा के शब्द भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

चाचाजी की रचनाओं का मुख्य विषय यद्यपि भक्ति था फिर भी उन्होंने श्रृंगार, वात्सल्य, हास्य और करुण रस के अनुकूल अनेक प्रसंगों की अवतारणा अपनी रचनाओं में की है। कलियुग के प्रसंग में करुण रस का अच्छा वर्णन है। श्रृंगार और वात्सल्य उनके सर्वाधिक प्रिय विषय थे।

छन्द-विधान में भी चाचाजी की कुशलता सर्वत्र देखी जा सकती है। प्रबन्ध-काव्य के अनुकूल दोहा-चौपाई का प्रयोग भी पर्याप्त है किन्तु कवित्त, सवैया, सोरठा, अरिल्ल, छप्पय, मंगल, करघा आदि छन्दों का विपुल प्रयोग है। लोकगीतो का प्रयोग भी उन्होंने किया है। विवाह-वर्णन प्रसंग में गाली गाने के गीत, बन्ना-बन्नी के गीत, घुड़चढ़ी के गीत बिलकुल लोकगीत और लोकगीत की धुनपर आधारित हैं। रास-लीला में आज भी उनके पदों का प्रयोग होता है। रास-लीला के लिए उन्होंने अनेक लीलाएँ संवादात्मक शैली में लिखी थीं।

वृन्दावनदास के विशाल साहित्य-सागर की सीमाओं का अभी तक न तो पूर्ण रूप से पता चला है और न ज्ञात साहित्य की विधिवत अवगाहना ही हुई है। उनके साहित्य के परिमाण को देखकर कहा जा सकता है कि यदि ब्रजभाषा के आदिकवि के रूप में सूरदास वाल्मीकि हैं तो ब्रजभाषा को विशद व्यापक

विस्तार देने का श्रेय महाकवि व्यास के रूप में चाचा वृन्दाबानदास को प्राप्त है। निश्चय ही वे ब्रजभाषा काव्य के व्यास हैं।

[सहायक ग्रन्थ—राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक; हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; ब्रज माधुरी सार : वियोयी हरि; लाड़ सागर भूमिका।]

—वि० स्ना०

हितैषी—दे० जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'।

हिमतरंगिनी—माखनलाल चतुर्वेदी की सुप्रसिद्ध कविताकृति। १९४७ ई० में प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ और १९५२ ई० में भारती भण्डार, प्रयाग से दूसरा संस्करण। लेखक ने पुस्तक के आरम्भ में 'दो शब्द' के अन्तर्गत लिखा है—"मेरे निकट तो ये (रचनाएँ) परम सत्य हैं। आज भी वे क्षण, वे उतार चढ़ाव, वे आँसू, वे उल्लास, वे जीवित चरण मेरे निकट खड़े से हैं। यही क्षण थे, जब मैं युग से हाथ जोड़कर कहता था—कभी-कभी मुझे अपना भी रहने दो।" सच ही इस संग्रह में लेखक कहीं युग के सामने खड़ा है तो कहीं अपनी अनुभूतियों की एकाग्रता में पूरी तरह 'अपना बनकर' उपस्थित है—"इस संग्रह की कविताओं के कवि को अपने कृतित्व पर पूरा भरोसा है, इसीलिए आत्मप्रचारक कवियों द्वारा अधिकृत धर्मशाला के द्वार से वह यह कह कर लौट जाना चाहता है 'इस धर्मशाला के द्वार पर बिस्तरे पेटी लादे खड़े रहने वाले कवि मित्रों! इसमें जगह नहीं है। जो सूझों की गंगा शिर पर लिए थे, वे लोकश्रद्धा के देवमन्दिरों में तो पहुँच गये किन्तु इस धर्मशाला के द्वार पर उन्हें उपेक्षित, प्रताड़ित और वायुभक्षी रहने का ही वरदान मिला" ('दो शब्द', पृष्ठ ५) अपनी इन रचनाओं के बारे में कवि कहता है, "पूजागीत कहे जाने की उम्मीदवार इन तुकबन्दियों की भी यही दुर्गति हुई है। ये गीत पूजा रहे नहीं, प्रेम बने नहीं, अतः यह निर्माल्य शिखर की ऊँचाई से भागते हुए 'निम्नगा' हो गये और 'हिमतरंगिनी' नाम पा गये" ('दो शब्द', पृष्ठ ६)।

इस संग्रह में कवि की कुल पचपन कविताएँ संगृहीत हैं। **'जो न बन पाई तुम्हारे', 'बोल राजा स्वर अटूटे', 'हे प्रशान्त तूफान हिये में', 'मैं नहीं बोली कि वे बोला किये' आदि गीत छायावादी रचना-प्रक्रिया की अनमोल उपलब्धि हैं। इन गीतों में न सिर्फ कवि के हृदय का ऐकान्तिक दर्द एक विश्वजनीन भूमि पर प्रस्तुत किया गया है, बल्कि उसमें छायावादी प्रतीकों के माध्यम से 'समीम और असीम' के बीच के सम्पर्कों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ चित्रित भी किया गया है। ऐसे रहस्यधर्मी गीतों में भी माखनलाल चतुर्वेदी का कवि अपने अभिव्यक्ति-कौशल औरसहज प्रणय-निवेदन में छायावादी कवियों से स्पष्ट अलग खड़ा दिखाई पड़ता है। इस विशिष्ट व्यक्तित्व का कारण है दर्द की वह वैयक्तिक अनुभूति और उसके बीच से फूटने वाली रहस्यमयता, जो छायावाद के किसी भी कवि को प्राप्त नहीं है।**

कुछ कविताएँ 'पूजा के गीत' के रूप में लिखी गयीं हैं, उनमें माखनलाल के वंशीधर हैं, उनकी बाँसुरी की माधुरी है और मनुहार है और कहीं-कहीं 'उर्दू इश्क' की शैली मे निठुराई पर उलाहने हैं और कहीं समसामयिक सामाजिक स्थिति की अभद्रताएँ हैं, जिनकी ओर 'मलिक' और 'राजा' (कृष्ण) का ध्यान आकृष्ट कराया गया है। जैसे, "जो गण सँभाले नहीं जाते" (गीत ७), "उड़ने दे घनश्याम गगन में" (गीत १३), "जिस ओर देखूँ बस अड़ी हो तेरी सूरत सामने" (गीत १४), "तुही है बहकते हुओं का इशारा" (गीत ५३), "महलों पर कुटियों को बारो" (गीत ३६), "तू ही क्या समदर्शी भगवन्" (गीत ३१) आदि। "जब तुमने यह धर्म पठाया" (गीत १५) प्रणय और मजहब (दिखावा) के तारतम्य को भली-भाँति व्यक्त करता है।

इन गीतों में कुछ एकदम वैयक्तिक भाव चेतना के भी गीत हैं, जिन्हें हम चाहें तो शोकगीत कह सकते हैं। ऐसे गीतों में कवि के हृदय की घनीभूत पीड़ा निर्व्याज ढंग से शब्दों में पिघल कर बरस उठी है। "भाई छेड़ो नहीं मुझे, खुलकर रोने दो..." गीत इस तरह के गीतों का प्रतिनिधि है। दिसम्बर, १९१४ ई० में अपनी पत्नी के स्वर्गवास पर कवि ने यह गीत लिखा, जो हिन्दी के बहुत थोड़े से शोकगीतों में एक कहा जा सकता है। "...पूजा के पुष्प गिरे जाते हैं नीचे, यह आँसू का स्रोत आज किसके पद सींचे"। 'ये तुम्हारे बोल' शीर्षक कविता भी इसी तरह की है।

इस संग्रह में कविका न तो बलिपंथी वाला रूप सामने आता है और न तो राष्ट्रीय संघर्ष के अग्रदूतवाला। कारण शायद यह है कि इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ वैयक्तिक मानसिक स्थिति को प्रकृत करने की समान धर्मिता के कारण संकलित की गयी है। इन कविताओं में सर्वत्र कोई अदृश्य निष्ठुर प्रिय अन्तर्हित है, इसीलिए कवि "मत उकसा मेरे मन मोहन कि मैं जगत हित कुछ लिख डालूँ, तू है मेरा जगत कि जगमें और कौन सा जग मैं पालूँ..." कहकर अपने प्रिय की सर्वत्र व्यापिनी अस्तिमयता में अपने को डूबो देना चाहता है। इस संग्रह में निःसन्देह कवि की काव्य चेतना उद्‌बोधन गीतों की स्थूलता से हटकर एक सूक्ष्म मानसिक धरातल पर आसीन प्रतीत होती है।

—शि० प्र० सिं०

हिमालय—पुस्तक-पत्रिका के रूप में इसका प्रकाशन सन् १९४७ ई० में पटना से हुआ। रामधारी सिंह 'दिनकर', रामवृक्ष बेनीपुरी तथा शिवपूजन सहाय इसके सम्पादक रहे। एक वर्ष के बाद ही जगन्नाथप्रसाद मिश्र इसके सम्पादक बनाये गये। इसका 'गान्धी अंक' एक उत्कृष्ट अंक निकला था।

—ह० दे० बा०

हिम्मतबहादुर-विरुदावली—पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०) ने 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' की रचना १८ अप्रैल, १७९२ ई० के आसपास की थी। इन्होंने इसमें अपने एक आश्रयदाता अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर के तीन युद्धों का वर्णन किया है। प्रथम युद्ध में उसने गूजरवशीय किसी शासक को पराजित किया था। दूसरे युद्ध में दतिया के राजा रामचन्द्रको गद्दी से उतारकर मनमानी चौथ ली थी। इसके अनन्तर हिम्मतबहादुर ने अजयगढ़ के अल्पवयस्क राजा का राज्य छीनना चाहा। उक्त राजा के संरक्षक नोने अर्जुनसिंह ने इसका सामना किया। नयागाँव (नौगाँव) और अजयगढ़ के मध्य भयानक युद्ध हुआ, जिसमे अर्जुनसिंह नोने मारे गये और हिम्मतबहादुर विजयी हुआ (१८ अप्रैल, १७९२ ई०)।

पद्माकर ने अन्तिम युद्ध का आँखों देखा विवरण दिया है। इसमें हिम्मतबहादुर का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है पर घटना ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है। पद्माकर ने अर्जुनसिंह नोने का भी सच्चा एवं तथ्यपूर्ण वृतान्त दिया है। पात्रों और अस्त्र-शस्त्र की लम्बी सूची भी दी गयी है। इसमें २१२ छन्द हैं। हरिगीतिका, हाकल, त्रिभंगी, डिल्ला, भुजंगप्रयात तथा छप्पय छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी शैली वर्णनात्मक और भाषा ब्रज है। इसमें अरबी, फारसी, बुन्देलखण्डी, अन्तर्वेदी आदि के शब्द स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयुक्त किये गये हैं। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पद्माकर को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी भाषाप्रयोग की दृष्टि से। इस ग्रन्थ का अधिकांश परम्परागत वर्णनों से भरा है, उदाहरणार्थ–राजपूतों की उपजातियाँ, वाद्य-यन्त्रों, हाथियों, घोड़ों, तोपों, बन्दूकों, तलवारों तथा अन्य हथियारों के नामों का विस्तृत वर्णन है। इनके कारण कथानक शिथिल और नीरस हो गया है। संयुक्ताक्षरों तथा नादात्मक शब्दों के प्रयोग भी घटना-क्रम में बाधक हुए हैं। पात्रों द्वारा लम्बे कथनों का प्रयोग किया गया है, प्रसंगानुकूल होते हुए भी जो बोझिल हो गये हैं। अलंकारों की प्रवृत्ति विशेष है पर सुन्दर प्रयोग कम ही स्थलों पर हुआ है। सब मिलाकर इस ग्रन्थ में काव्यात्मक उपलब्धि के स्थान पर परम्परापालन का दृष्टिकोण प्रधान हो गया है। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' का प्रकाशन निम्नलिखित स्थानों से हो चुका है–१. हिम्मतबहादुर विरुदावली : सम्पादक लाला भगवानदीन, नागरी प्रचारिणी सभा से मुद्रित होकर प्रकाशित; २. पद्माकर-पंचामृत : सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्रीरामरतन पुस्तक भवन, काशी, प्रथम संस्करण, १९९२ वि०। इस संग्रह में 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' सम्मिलित है।

[सहायक ग्रन्थ–हि० सा०; हि० वी०।]

–टी० तो०

हिरण्यकशिपु–*कश्यप* और अदिति का पुत्र, जिसने तीनों लोकों और लोकपालों को अपने अधिकार में कर लिया था। अपने भाई हिरण्याक्ष की मृत्यु से दुःखी होकर उसमें विद्वेष की भावना उत्पन्न हो गयी थी। विष्णु के प्रति इसी विरोध के कारण वह अगले जन्मों में रावण और चैद्य हुआ। ब्रह्मा की घोर तपस्या करके उसने वर प्राप्त किया था कि न तो ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न कोई प्राणी उसे मार सकेगा और न वह भीतर मरेगा, न बाहर, न दिन में मरेगा, न रात में, न पृथ्वी पर मरेगा, न आकाश में, न किसी अस्त्र-शस्त्र से मरेगा और न किसी आदमी, राक्षस, पशु या देवता द्वारा। इस प्रकार असीम शक्ति प्राप्त कर वह सबको पीड़ित करने लगा। अपने पुत्र प्रह्लाद को उसने नाना प्रकार के कष्ट और दण्ड दिये क्योंकि वह हरिभक्त था। अन्त में भगवान् ने नरसिंह रूप धारणकर, घर की देहली पर, सन्ध्या समय, अपने नखों से उसको मार डाला, दे० 'नरसिंह', 'प्रह्लाद' (सूर० सा० प० ४२०-४२५)।

–मो० अ०

हीड़–दीपावली के उपलक्ष्य में मालवा, राजस्थान, बुन्देलखण्ड और निमाण के गूजरों में 'हीड़' नामक प्रबन्ध गाया जाता है। अन्य गोपालक जातियाँ भी इसे गाती हैं। 'हीड़' का अर्थ है 'ज्योति' अथवा 'प्रकाश'। हीड़ के दो प्रकार प्रचलित हैं–१. धोल्या की हीड़ २. चालर हीड़। 'धोल्या' बैल का सूचक है। गूजरों के सम्पर्क से हीड़ने राजस्थान, मालवा, और निमाणके किसानों को बहुत प्रभावित किया। 'धोल्या की हीड़' वृषभपूजा का महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध और स्तुति गान होकर किसानों में प्रचलित हो गयी। इसी हीड़ का विकृत रूप निमाण के भीलों में भी प्रचलित है, जो उसे 'हीड़ा' या हीरा भी कहते हैं। 'चालर हीड़' बगड़ावत गूजरो का लोक-काव्य है। भोजा रावत के वंश में गूजरों ने देवनारायण को देवपुरुष माना है। देवनारायण की माता साढू (सेढा) थी। बगड़ावतों के पूर्वज बाघ जी के पास असंख्य गाएँ और भैंसें थी। भोजारावत और चौबीस बगड़ावत इन्ही के पुत्र थे, जो 'घड़ावत' नामक ग्राम (मेवाड़) के आसपास बस गये थे। भोजरावत और मिताय ग्राम के राव बाघसिंह में मित्रता थी। भोजा की प्रशंसा की जाने पर बुवाल गढ़ के ठाकुर ने अपनी बेटी जँमती को राव बाघ सिंह से ब्याह दिया। जब भोजा और बाघ सिंह में किसी कारणवश वैर हो गया तो भोजा मिताय पर आक्रमण करके जँमती को अपने यहाँ ले आया। भोजा की दो और स्त्रियाँ थीं। दूसरी स्त्री सेढा (साढू माता) गूजरी थी। बाघसिंह ने कुछ दिनों के बाद बदला लिया। भोजा काम आ गया। चौबीस बगड़ावत मौत के घाट उतर गये। सेढा उस समय गर्भवती थी। उससे देवनारायण का जन्म हुआ। मारवाड़ की जनगणना के अनुसार देव जी का जन्म संवत् १३०० के लगभग हुआ था। देवनारायण ने बड़े होकर अपने पिता का बदला लिया। हीड़ में यह कथा लोक परक विश्वासों और अभिप्रायों से विकसित हुई है। सम्भवतः इसका मूलरूप मारवाड़ में ही ढला और बाद घुमन्तू गूजरों के कारण दूर दूर तक फैल गया। कथा में पशुधन की महत्ता का भरपूर वर्णन उल्लेखनीय है। दीपावली के पहले से ही इसका सामूहिक गान आरम्भ हो जाता है। 'गयी दीवाली गाये हीड़' कहावत के अनुसार इसका गान उपयुक्त अवसर पर ही अभीष्ट माना गया है।

–श्या० प०

हीर-राँझा–हीर-राँझा पंजाब की लोकप्रचलित दुःखान्त प्रेम कथा है। कथा पर आधारित असंख्य गीतों के अतिरिक्त इनके विषय में अनेक स्वतन्त्र लोक गीतों की रचना भी हुई है। श्रृंगार परक पंजाबी गीतों में हीर-राँझा का आदर्श परम्परा की थाती बनकर उभरा है। हीर-राँझा का जन्म कब हुआ, इसका पता ठीक तरह से नहीं लग पाया है। अनुमानतः यह कहानी बाबर के समय की है। झंग में हीर की समाधि है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। क्षेत्र में हीर को 'हीर माई' का गौरव प्राप्त है। यहाँ से कोई अस्सी मील दूर तख्त हजारे में राँझा का जन्म हुआ था। यह स्थान चनाब अर्थात 'भुना' के तीर पर है। इसलिए प्रस्तुत कथा गीत में स्थान-स्थान पर भुना का उल्लेख आया है। दोनों प्रेमियों का जन्म जाट परिवारों में हुआ। राँझा का वास्तविक नाम 'धीदो' है और 'राँझा जाति थी। हीर 'सयाल' जाति की थी। लोक-प्रचलित कथा इस प्रकार है–

एक दिन बिना बाप के बेटे राँझा को भावजों ने ताना मारा कि रसिया बने फिरते हो, न कोई काम न धाम। फिर काहे का यह बनाव सिंगार? छैला तो ऐसे बने हो मानो हीर से विवाह करने की तैयारी है। राँझा ताने की चोट से घायल/होकर रूपवती हीर की खोज में पहुँचा। झंग में नदी के किनारे हीर के

पिता ने एक कुटिया बनवा रखी थी। राँझा जाकर उसमें सो गया और अपने मुँह पर चादर ओढ़ ली। जब हीर आयी तो चादर हटाते ही दोनों की आँखें मिलीं और प्रेम की चिनगारी जल उठी। अपने पिता से कहकर हीर ने राँझा को भैंस चराने के लिये रख लिया। पहले तो हीर के पिता ने राँझा से ही अपनी बेटी व्याहने का विचार किया था पर बाद में खेड़ा जाति के युवक सैदा से उसका विवाह रंगपुर में कर दिया। राँझा गोरखपन्थी हो गया और रंगपुर की ओर गया। हीर अपनी ननद सहती माँ की सहायता से राँझा तक पहुँची। सहती अपने प्रेमी मुराद के लिए बावली हो रही थी। अतः तीनों ने एक दूसरे को सहायता देने का वचन दिया। इसलिए एक दिन किसी बहाने सहती हीर को लेकर खेत में पहुँची। वहाँ हीर ने साँप डँस लिए जाने का अभिनय किया। विष उतारने के लिए राँझा बुलाया गया, हीर अपने सत पर डटी हुई थी। सैदे ने कहा 'हीर तो अपने तई कुँआरी है।' 'सैदे का पिता राँझा को लाने में सफल हुआ। बाहर एक कुटिया में कुँआरी सहती की परिचर्या में हीर को रखा गया। इधर सहती की मुराद से भेंट हो गयी और उधर मौका पाकर राँझा हीर को लेकर चल पड़ा। इस भेद का पता किसी तरह खेड़ाओं को लग गया और उन्होंने पीछा करके दोनों को पकड़ लिया। राजा के सामने फैसला हुआ। सैदे के पक्ष में फैसला होते ही नगर में आग की ज्वालाएँ उठने लगीं। तुरन्त राजा ने हीर का हाथ राँझा को सौंप दिया। राँझा अब अपने गाँव लौटने के बजाय झंग पहुँचा। हीर के पिता ने कपट से काम लिया। राँझा जब बारात लेकर आये, तभी हीर की शादी होगी, यह कहकर राँझा को उसने तख्त हजारे की ओर भेजा। इधर उसकी पीठ फिरी। तो हीर को जहर दे दिया गया। यह खबर राँझा को लगी तो उसने भी अपने प्राण त्याग दिये।

इस कथा को पहले किसने सँवारा, यह कहना निश्चित रूप से कठिन है। सूफी कवि बुल्ले शाह की 'हीर' के अतिरिक्त वारिसशाह लिखित 'हीर वारिसशाह' सारे पंजाब में लोकप्रिय कृति है। गुरु गोविन्द सिंह ने हीर के समर्थन में लिखा है "यारण दा सानूँ सथ्थर चंगरो, भट्ठखेड़ियाँ दा रहगाँ"। प्रिय के यहाँ दुःखमय निवास भी भला है, पर भाड़ में जाय 'खेड़ाओं' के रहना।

इस प्रकार सैकड़ों पंजाबी लोक गीतों में हीर-राँझा का उल्लेख प्रणय प्रसंगों के सन्दर्भ में आया है। वस्तुतः यह कथा कृष्ण और राधा की प्रणय-लीलाओं की तरह पंजाब की भूमि में लोकजीवन के श्रृंगार-प्रसंगों पर आरोपित हुई है।

वारिसशाह मुगल बादशाह मोहम्मद के जमाने में हुआ था। मौल्वी हाफिज गुलाम से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर उसने मकदूम जहाँ मियाँ से आध्यात्मिक आदर्श पाया। कहते हैं कि वारिस शाह पंजाबी के रहस्यवादी कवि बुल्लेशाह का समकालीन था। इस दृष्टि से दोनों मत एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न सिद्ध होते हैं। तिथियों का ठीक पता न लग पाने पर भी 'हीर-राँझा' का लोकप्रचलित एवं ऐतिहासिक अस्तित्व किसी भाँति भी सन्देहास्पद नहीं है। 'हीर वारिसशाह' के इस प्रामाणिकता के अभाव में भी यह पंजाब के कण्ठ में सहज भाव से बसी हुई प्रेम-कथा है।

'हीर-राँझा' किसी भी समय गाया जाने वाला प्रबन्ध है। लोकगीतों में आये हुए कथा प्रसंग अवसर की प्रतीक्षा नहीं करते।

—श्या० प०

हुमायूँ— (सन् १५३० से १५५६ ई० तक) मुगलवंश का दूसरा शासक था। वह १५३० ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। उसे जीवनभर कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था। अपने जीवनकाल में उसे गुजरात के बहादुर शाह, अफगान नेता शेर खाँ, लोदी वंश के सुल्तान महमूद आदि से गुजरात, युनान तथा जौनपुर में लोहा लेना पड़ा। प्रारम्भ में तो उसकी विजय हुई, लेकिन विलासिता के कारण उसे आजीवन कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, यहाँ तक कि उसे भारत छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। सन् १५३४ ई० में चौसा तथा सन् १५४० ई० में अफगान नेता शेरशाह ने उसे हराकर भारत से भगा दिया था तथा स्वयं शासक बन बैठा। १५ वर्षों के बाद सन् १५५५ ई० में उसने फिर भारतपर विजय पायी। सन् १५५६ ई० में अपने वाचनालय की छत से फिसलकर गिरने से उसकी मृत्यु हो गयी। उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह कल की बात नहीं सोचता था। हुमायूँ एक विद्वान् एवं सांस्कृतिक अभिरुचि का शासक था।

—रा० कु०

हुसैन—मुसलमानों में आदर भाव के कारण ये 'हजरत हुसैन अलैहिस्सलाम' के नाम से विख्यात हैं। हुसैन अली के पुत्र तथा मोहम्मद साहब के नाती (नवास) थे। मोहम्मद साहब के साथ 'कर्बला' में इन्हे भी वीरगति प्राप्त हुई थी। इनकी कर्बला की कठिनाइयों को स्मरण करके मुसलमान 'मुहर्रम' के महीने की पहली तारीख से १० वीं तारीख तक शोक का उत्सव मनाते हैं। मुसलमानों का विश्वास है कि मोहम्मद साहब का परिवार इन्हीं से है तथा प्रलय (कयामत) तक रहेगा। इनके वंश को 'खानदाने सादान' अर्थात् सैय्यदों का वंश कहते हैं। इसी वंश से काबा में उनके अन्तिम इमाम 'हजरत इमाम मेंहदी' का जन्म होगा (दे० 'काबा-कर्बला', पृ० १०१)।

—रा० कु०

हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश'—जन्म १९०५ ई० पाली शाहाबाद, जिला हरदोई में। आपने साहित्यिालंकार, दर्शनालंकार, मुंशी फाजिल की उपाधि प्राप्त की है। खड़ी बोली के स्वतन्त्र वर्ग के कवियों तथा गीतकारों में आपका विशिष्ट स्थान है। अधिकतर जीवन की करुणा ही आपकी रचनाओं में बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुई है। रचनाएँ 'संकीर्तन', 'शंखनाद' (काव्य १९२४ ई०), 'मनोव्यथा' (गद्यकाव्य १९२५ ई०), 'प्रेमपत्र' (खण्ड काव्य, १९३२), 'इंग्लैण्ड की सैर' (१९३२ ई०), 'पत्र प्रबोध' (१९३२ ई०), 'कसक' (काव्य, १९३४ ई०), 'मधुरिमा' (काव्य १९४८ ई०), 'प्रेम सन्देश' (खण्ड-काव्य, १९३८ ई०), 'करुणा' (खण्ड-काव्य, १९३८ ई०), 'सुषमा' (काव्य, १९४२ ई०), 'शैवालिनी' (काव्य, १९६१ ई०)। सम्पादित ग्रन्थ 'हिन्दी उर्दू कोश', 'वाणी विलास', 'साहित्य लहरी' आदि। आपकी कुछ नयी रचनाओं पर कई जगह पुरस्कार, पदक एवं उपाधियाँ मिली हैं।

—सं०

हृदयराम—हृदयराम का जन्म पंजाब में हुआ था इनके पिता का नाम कृष्णदास था। हृदयराम ने कवित्त, सवैया, छन्दों में सन्

१६२३ ई० में 'हनुमन्नाटक' की रचना की जिसका आधार संस्कृत का 'हनुमन्नाटक' है। हृदयराम की भाषा बड़ी प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। 'हनुमन्नाटक' यद्यपि नाटकीय शैली में लिखी गयी रचना है किन्तु इसे नाटक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि इसके संवाद बड़े मनोरम एवं उपयुक्त हैं, फिर भी नाटक होने के लिए उनमें जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका उसमें अभाव है। डा० गोपीनाथ तिवारी ने बड़े श्रम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इसमें केवल संवादप्रधान प्रबन्धात्मक शैली अपनायी गयी है, अन्यथा इसकी भाषा सरल है, पात्र का चरित्र-चित्रण किया गया है और जननाट्य-शैली का अनुसरण किया गया है। 'हनुमन्नाटक' की प्रबन्धात्मक शैली भी लोगों ने अपनायी। तुलसीदास ने प्रायः सभी काव्य शैलियों को अपनाया था, केवल नाटकीय शैली का कहीं उपयोग नहीं किया था, हृदयराम की रचना रामभक्तिसम्बन्धी रचनाओं में यह शैली भी सुन्दर ढंग से आ गयी है। अपने समय की नाटकीय शैली में लिखित सभी रचनाओं में हृदयराम का विशेष महत्त्व भी इसी के कारण है।

'हनुमन्नाटक' का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से हुआ है। हृदयराम की अन्य रचनाएँ हैं : 'सुदामाचरित्र' तथा 'रुक्मिणी मंगल'।

—ब० ना० श्री०

हृषीकेश चतुर्वेदी—जन्म आगरा (उत्तरप्रदेश) में हुआ। आपकी काव्यकृति 'विजयवाटिका' १९३६ ई० में प्रकाशित हुई और 'श्री रामकृष्ण काव्य' १९४३ ई० में जो विलोम काव्य का अच्छा उदाहरण है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य से भी आपका अनुराग है। आपने १९२६ ई० में कालरिज के 'द राइम ऑव द एनसियेण्ट मैरिनर' का 'वृद्ध नाविक' और १९३३ ई० में संस्कृत कवि कालिदास के 'मेघदूत' का 'समश्लोकी मेघदूत' नाम से हिन्दी रूपान्तर किया।

—स० ना० त्रि०

हेमचंद्र जोशी—जन्म १८९४ ई० में नैनीताल में हुआ। शिक्षा एम० ए०, डी० लिट्०। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान्, पत्रकार और कोशकार। अपने छोटे भाई इलाचंद्र जोशी के साथ कई पत्रों का सम्पादन किया। विशेष उल्लेखनीय—'विश्वमित्र' (कलकत्ता), 'धर्मयुग' (बम्बई)। अपने निर्भीक और स्वतन्त्र चिन्तन के लिए प्रसिद्ध। भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में पिशेल के प्राकृत व्याकरण का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिन्दी के 'व्युत्पत्ति कोश' का कार्य किया है।

—सं०

हेमराज—ये प्रारम्भिक काव्य-शास्त्र के लेखकों में गिने जाते हैं। इनका ग्रन्थ 'फतेहप्रकाश' अलंकार-ग्रन्थ है, जिसका रचनाकाल इतिहासकारों ने प्रायः १६२८ ई० माना है। कवि तथा उसके ग्रन्थ के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

—सं०

होमवती—जन्म २० नवम्बर, १९०२ ई०, निधन सन् ३ फरवरी, १९५१ ई०, वासस्थान मेरठ। होमवती की साहित्यिक अभिव्यक्ति के सामान्यतः दो ही माध्यम थे—कविता और कहानी। कविता के अन्तर्गत भी उन्होंने केवल प्रगीत-काव्य की रचना की। जहाँ तक ज्ञात है, सफल कहानीकार होने पर भी उन्होंने कोई खण्ड-काव्य या पद्यकथा नहीं लिखी। इन स्फुट कविताओं का प्रकाशन 'अर्घ्य' (१९३९ ई०) तथा प्रथम संग्रह 'उद्धार' (१९३६ ई०) के रूप में हुआ है। कवि के रूप में होमवती का मूल संवेद्य है करुणा। अनेक दैविक विपत्तियों से आहत उनके जीवन में करुणा सहज व्याप्त हो गयी थी। जीवन की अनुभूति का सहज विषय होने के कारण यह करुणा काव्य की अनुभूति का भी विषय अनायास ही बन गयी। उसी को सीधी-सरल भाषा के माध्यम से छायावाद के हल्के छन्दों में अभिव्यक्त करना उनकी कविता की विशेषता है। इस कविता में कल्पना का विलास नहीं है, इसलिए प्रतीक या बिम्बयोजना की समृद्धि यहाँ नहीं मिलेगी। छायावाद-युग में जाने पर भी रहस्य-भावना या अतीन्द्रिय अनुभूतियों के प्रयत्न भी यहाँ नहीं है। यहाँ तो व्यंजना का भी नसीब नहीं होता।

कहानी के क्षेत्र में होमवती अपेक्षाकृत अधिक सफल रही है। कवि की दृष्टि से हिन्दी-काव्य का इतिहासकार उनकी प्रशंसा करे या न करे—इस विषय में सन्देह हो सकता है किन्तु हिन्दी-कहानी के इतिहास में उनका अपना स्थान निश्चित है और लेखिकाओं में तो वे अग्रणी हैं। उनके चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'निसर्ग' (१९३९ ई०), 'धरोहर' (१९४६ ई०), 'स्वप्नभंग' (१९४८ ई०), 'अपना घर' (१९५० ई०)। यद्यपि उनकी कहानियों के प्रतिपाद्य पर विवाद की हल्की छाया प्रायः बनी ही रहती है फिर भी यहाँ अधिक वैविध्य है। मध्यवर्गीय जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद रागात्मक संघर्ष के चित्र इन कहानियों में अत्यन्त मार्मिक रूप से अंकित हैं। वास्तव में कविता के लिए भावुकता के साथ-साथ जिस वैदग्ध्य की अपेक्षा होता है—होमवती की साहित्यिक चेतना में उसका पर्याप्त समावेश नहीं है किन्तु कहानी के लिए रागपक्ष की समृद्धि के साथ-साथ जो अनुभव-प्रौढ़ जीवनदृष्टि चाहिए, उसका उनमें अत्यन्त सद्भाव था और यहीउनकी सापेक्षिक सफलता का रहस्य भी था।

अपने जीवन के अन्तिम दशक में, मृत्यु से दो-तीन वर्ष पूर्व तक, उनका साहित्यिक जीवन बड़ा सक्रिय रहा। उनमें संगठन की विचित्र क्षमता थी। अत्यन्त अध्यवसायपूर्वक अनेक प्रकार की सामाजिक बाधाओं का सामना कर कई वर्षों तक उन्होंने मेरठ के साहित्यिक जीवन का नेतृत्व और हिन्दी परिषद का अखिल भारतीय स्तर पर संचालन किया।

[सहायक ग्रन्थ—होमवती स्मारक संकलन : सं० अज्ञेय।]

न०

होरी—प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' का प्रमुख पात्र। होरी बेलारी गाँव का एक छोटा-सा आसामी है और परिश्रम द्वारा अपनी आजीविका पैदा करता है। वह भारतीय किसान का प्रतिनिधि और इसलिए दरिद्र है। ग्राम्यजीवन की आर्थिक व्यवस्था के कारण वह बिसेसरसाह, दुलारी सहुआइन, मँगरू, नोखेराम, दातादीन आदि सब का कर्जदार हो जाता है किन्तु वह व्यवहारकुशल और स्वार्थभीरु है। जमींदार से मिलने जाते समय अथवा भोला से गऊ लेते समय होरी अपनी चरित्रगत विशेषताओं को प्रकट करता है। दरिद्र होते हुए भी उसमें आत्मसम्मान या सम्मान-लालसा विद्यमान है। इसी लालसा

के वशीभूत होकर वह गाय रखकर अपने जीवनकी साध पूरी करना चाहता है। होरी उदार और विशालहृदय है। उसमें मानवमात्र के प्रति सहानुभूति है। वह कुल मर्यादा को प्राणों से भी अधिक मूल्यवान समझता है और सोभा तथा हीरा के प्रति पितृवत् स्नेह रखता है। होरी का चरित्र सरल है। वह बालकी खाल निकालना नहीं जानता और न बेकार झगडा मोल लेना चाहता है। जहाँ तक हो सकता है स्वयं दब जाना अधिक पसन्द करता है। वह समाज और घर में मर्यादा पालन की ओर विशेष ध्यान रखता है। उसकी प्रकृति में मनोविनोद की प्रवृत्ति भी है। होरी आदर्शवादी, धर्म, नीति और स्वार्थ के बीच डूबने-उतरानेवाला पात्र है। भारतीय किसान की सारी विशेषताएँ उसमें साकार हो उठी हैं। वह एक साधारण व्यक्ति है और अपना नेतृत्व स्वयं करता है। उसकी हार में भी विजय का उल्लास है। जीवन-मार्ग पर वह स्वयं अप्रतिहत गति से चलता रहता है।

—ल० सा० वा०